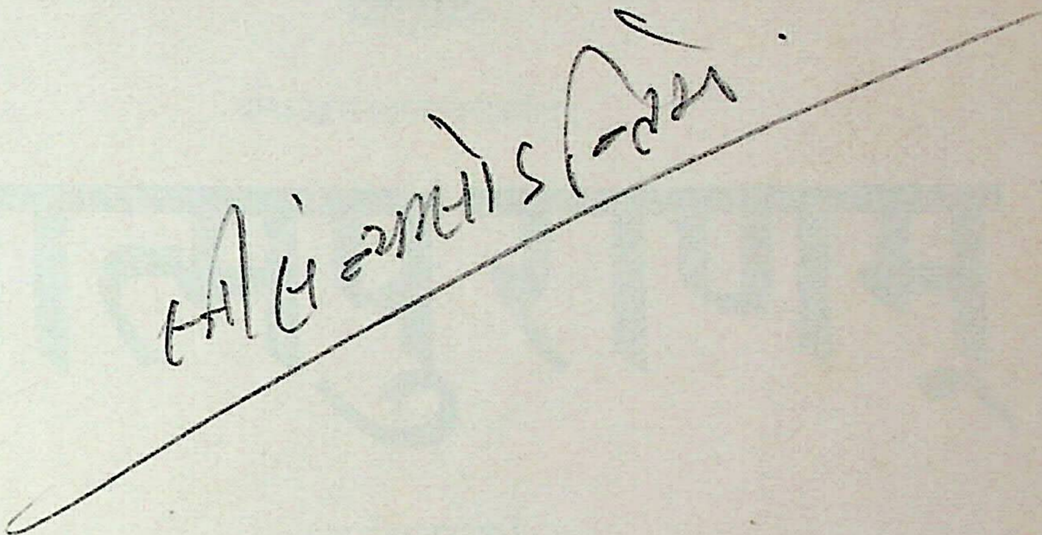
ॐ

आत्मपुराणम्

द्वितीयो भागः

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
काशी



श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–३८

श्रीमच्छङ्करानन्दसरस्वतीप्रणीतम्

आत्मपुराणम्

(उपनिषद्रत्नम्)

शुक्लयजुर्वेदोपनिषद्व्याख्यारूपाध्यायचतुष्टयात्मकः

द्वितीयो भागः

●

सत्प्रसवः

श्रीदत्तकुलतिलक-श्रीमद्रामकृष्णपण्डितकृतः

●

'दिव्यानन्द' हिन्दी व्याख्या

श्रीमत्परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी-४९/९ मिश्रपोखरा,
वाराणसी–२२१०१०

●

प्रथम संस्करण

शङ्कराब्द : १२१२

वैक्रमाब्द : २०५७

ख्रीष्टाब्द : २०००

मूल्य : 320.00 (तीन सौ बीस रुपये मात्र)

मुद्रक

निर्मल चित्रण सोंठ, की मण्डी, आगरा

विषयानुक्रमणिका

ॐ

भूमिका

आत्मपुराण के हिन्दी व्याख्या सहित द्वितीय खण्ड के प्रकाशन से हमें अत्यन्त सन्तोष तथा हर्ष हो रहा है । प्रथम खण्ड के अनुवादक श्री परमहंस स्वामी दिव्यानन्द गिरिजी के पंचत्वप्राप्ति के बाद काफी अन्वेषण करने पर भी अवशिष्ट अनुवाद नहीं मिल पाया । अतः इस अद्भुत वेदान्त ग्रन्थ की असंस्कृतज्ञों को दुर्लभता बनी रहेगी, हमारी इस चिन्ता से हमें छुटकारा दिलाने हमारे परम प्रेमास्पद श्री परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरिजी ने जो अनेक ग्रंथों के सिद्धहस्त व्याख्याता हैं, इस कार्य के लिये अपनी स्वीकृति दे दी एवं अल्पकाल में ही इस द्वितीय खण्ड को तय्यार कर दिया । प्रथम भाग भी इन्हीं के सम्पादन में संशोधित होकर मुद्रित हुआ था, अतः एक प्रकार से यह धारा का प्रवाह ही स्वीकार्य है ।

उपनिषदों में बृहदारण्यक में ग्रन्थगाम्भीर्य भी सर्वाधिक है, एवं अद्वैत के प्रतिपादन में परिमाणतः भी यह सभी उपनिषदों से बड़ी है । अद्वैत को सम्पूर्णतया इससे जाना जा सकता है । भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर ने अपने अत्यन्त सुयोग्य अन्तेवासी ब्रह्मावतार भगवान् सुरेश्वराचार्य को ही इस पर वार्तिक लिखने का आदेश दिया । उन्होंने भी बारह हजार श्लोकों में अतिविस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया । अतः साधकों में 'वार्तिकान्ता ब्रह्मविद्या' की उक्ति प्रसिद्ध है । जो भी प्रमेय है वह यहाँ पूरा हो जाता है । बाद के ग्रन्थों में तो उसी को परिष्कृत करके वादियों के वाक्छलों से बचाने का प्रयत्न है । प्रस्तुत खण्ड में बृहदारण्यक उपनिषद् को ही व्याख्यात किया है । इसमें भाष्य, वार्तिक व आनन्दगिरि सभी का संग्रह किया है, एवं शंकरानन्द स्वामी की प्रतिभा से उद्भूत अनेक ग्रन्थग्रन्थियों का यहाँ अद्भुत समाधान मिलता है । 'उपनिषद्रत्न' नाम सार्थक करते हुए बृहदारण्यकप्रमेयों को हीरे की तरह जौहरी स्वामी ने चमका दिया है । अद्वैत के साधक इनके चिर ऋणी तो हैं ही, टीकाकार ने भी सन्दर्भों को स्पष्ट करके मन्दप्रज्ञ साधकों का अद्भुत उपकार किया है । हिन्दी व्याख्याकार ने दोनों का सार उपस्थित तो किया ही है, सर्वत्र विषय का जैसा खुलासा किया है, वह सुज्ञ हृदयों को झकझोर कर रख देता है व आनन्द से रोमहर्षण करा देता है । अद्वैत मानो स्पष्टतम सत्य हो उठता है, व द्वैत प्रपंच का आभास बस केवल सुदूर सितारे की तरह रह जाता है । जगह जगह (यथा पृ. २४८, २५५, २६५, ५००, ५०५) प्रतिपाद्य विषयगत भेदों व उनके सम्बन्धों को हस्तामलकवत् स्पष्ट करने के लिये चित्रक बना दिये हैं । इसी प्रकार संस्कृत टिप्पणियाँ भी अनेक स्थलों पर गूढ विषयों को उनकी रहस्यमयता को प्रकट करके प्राज्ञों का भी मन हर लेती हैं । पृ. २१ पर टीका में 'ब्रह्मवेदन' पद ब्रह्मज्ञान के अर्थ वाला प्रतीत होता है । टिप्पणी में अनधिकारी को ब्रह्मज्ञान की असंभवता होने से वेदन का अर्थ आवेदन अर्थात् उपदेश करके गूढार्थ को खोल दिया है । साथ में श्लोक ११० के भिन्न दृष्टान्तों का प्रयोजनभेद भी सुझाया है । ऐसे अनेक स्थल टिप्पणीकार की प्रतिभा व वैदुष्य का परिचय देते हुये पाठक को रहस्यों का ज्ञान भी कराते हैं । हिन्दी वाले ऐसे सूक्ष्म विवेचन से घबरा न जावें अतः हिंदी में इस व्याख्या का ग्रहण ही नहीं किया है । ऐसा अन्यत्र भी है । संभवतः पुनरुक्ति से बचना भी उन्हें इष्ट हो । अतः केवल टिप्पणियाँ भी अमूल्य हैं । संस्कृतज्ञ उनका उपकार अवश्य स्वीकार करेंगे ।

यहाँ बृहदारण्यक को चार अध्यायों में विभाजित किया है । इसमें सर्वप्रथम चतुर्थ अध्याय में मधुकाण्ड का ग्रहण है । दध्यङ्ङाथर्वण को केन्द्र बनाकर इसका विस्तार किया है । फिर तीन अध्यायों में याज्ञवल्क्य ही केन्द्र हैं । पाँचवे में मुनिकाण्ड का संग्रह है जिसमें अनेक ब्रह्मवेत्ताओं से उनकी श्रेष्ठता प्रकट होती है । छठा जो १७३२ श्लोक वाला है, सबसे बड़ा है, जनक को दिये उपदेशों का संग्रह है । सातवाँ, याज्ञवल्क्य का अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को दिये उपदेशों से भरा है । उपनिषद् में इसको दो बार कहकर इसकी प्रधानता बताई है, जिसे भगवान् भाष्यकार ने प्रतिज्ञा व निगमन वाक्य बताकर समन्वित किया है । मात्र ५४० श्लोक वाला यह सबसे छोटा होने पर भी गंभीर है । दध्यङ्ङाथर्वण के उपदेशों को ८३४ श्लोकों में उपस्थापित किया है । ३१०६ श्लोक इस खण्ड में हैं । अजातशत्रु-प्रकरण कौषीतकी की व्याख्या में ही संगृहीत होने से यहाँ नहीं लिया गया है । यद्यपि वार्त्तिक से यह चौथा हिस्सा ही है, पर वास्तविक रूप से वार्त्तिक में अनेक दार्शनिक खण्डन-मण्डन होने से, पुराण का श्रोता उसका अनधिकारी है यह समझ कर उन हिस्सों का ग्रहण नहीं है, परन्तु साथ ही मन्दप्रज्ञ पुराण-श्रोता को स्पष्ट करने के लिये जो सरल दृष्टान्त, निरुक्ति आदि पुराणकार की विशेषता है उसका विपुल प्रदर्शन इस खण्ड में मिलेगा ।

बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के पंचम खण्ड के मात्र चार मंत्रों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण १४-१-१९ में दो अध्यायों के कंकालमात्र खाखे को पुराणकार ने ऐसा सुन्दर रूप चतुर्थ अध्याय के दध्यङ्ङाथर्वण की कथा में दिया है कि कोई भी साहित्यकार मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकता । यह ठीक है कि ऋग्वेद आदि अनेक स्थलों में प्रवर्ग्य ब्राह्मण के सन्दर्भ मिलते हैं, पर उन सबको एकत्र कर, फिर उसमें रंग भरना उन्हीं जैसे प्रातिभज्ञानी के लिये संभव है । इन्द्र के शाप से यज्ञभाग से वंचित होने पर शोकग्रस्त अश्विनी कुमारों को अद्भुत उपदेश देना, इन्द्र को वैराग्य का वर्णन आदि सभी अद्भुत हैं । मधु विद्या का स्पष्टीकरण तो भाष्य व वार्त्तिक में भी विस्तृत है, पर यहाँ उन्हीं बातों को साहित्य रूप में उपस्थापित करके स्त्री-बालकादि को भी समझ में आने लायक बना दिया है । ४.४३२ में शिवप्रवृत्ति को ज्ञानी गुरुओं की प्रवृत्ति से समझाया है । गुरुप्रवृत्ति दृष्ट है, अतः अदृष्ट ईशप्रवृत्ति समझाने में उपयुक्त है । नित्यमुक्त शिव सृष्टि करता है, यह बात भी ज्ञानियों की प्रवृत्ति से समझाई गई है । अधिकतर ज्ञानी की प्रवृत्ति को शिवप्रवृत्ति की तरह कहा जाता है । पर यहाँ ज्ञानी की प्रवृत्ति को सिद्धवत् मानकर उसे ही समझाने का द्वार बनाया है । इस बात को व्याख्याता ने टिप्पणी में स्पष्ट किया है । आत्मज्ञानी के स्वप्नव्यवहार की तरह ईशव्यवहार शंकरानंद स्वामी की अद्भुत कल्पना है । इस पर भी हिन्दी व्याख्याता ने टिप्पणी में सुन्दर आलोचन किया है । वामदेव के वाक्यों पर शङ्करानन्दजी ने अपनी प्रतिभा से सुन्दर दृष्टान्त बनाया है । देवताओं के विघ्नकर्तृत्त्व पर भी हिन्दी व्याख्याता ने टिप्पणी में युक्तिसंगत व्यवस्था बनाकर साधकों का उपकार किया है । इसके अभाव में सामान्य साधक तो देवपूजन से ही विरत हो सकता है (पृ. ९४) । इसी प्रकार

४.५४१ में विधिमुख की अपेक्षा निषेधमुख को ब्रह्मोपदेश का बेहतर तरीका बताया है जिसका तात्पर्य हिन्दी व्याख्या में स्पष्ट करके खोला है । पृ. १०८ में वेदप्रामाण्य का सम्यग्विचार हिन्दी व्याख्या में मनोहर है । मधु ब्राह्मण में जिस अयुतसिद्धावयवता का विचार है उसे पुराणकार ने अतिस्पष्ट किया है । इसके बिना मधुब्राह्मण का तात्पर्य अनवगत ही रह जाता है । इन्द्र शब्द से इस प्रकरण में ब्रह्म ही विवक्षित है यह स्पष्ट है । इसी न्याय से पुराणादि में विष्णु, रुद्र, दुर्गा, बृहस्पति, चन्द्रमा आदि की लीलाओं को समझना चाहिये । ध्यानार्थ जैसे सूर्यमण्डल को बताया है, वैसे ही चतुर्भुज, पंचमुख, दशभुज आदि रूपों को कहा गया है । इसे स्पष्ट समझे बिना पुराणों में विरुद्ध कथन प्रतीत होता रहता है ।

पाँचवें अध्याय में याज्ञवल्क्य का वर्णन काव्यात्मक है । उनकी कर्मिष्ठों द्वारा की गई निन्दा भी रोचक बन पड़ी है । आज भी वेद के रहस्य को न समझकर वेदवाक्यों को मनगढन्त टोना मानने वाले अनेक लोग देखे जाते हैं । इसी प्रसंग में धन-विषयक विचार भी पुराण में विस्तार से बताया है । 'याज्ञवल्क्य ने अभिभाषण (५.९९) किया' में अभिभाषण का अर्थ टिप्पणी में अपनी प्रतिभा से हिन्दी व्याख्याता ने किया है, जो सर्वथा संगत है । लाह्यायनी के प्रश्न में अद्भुत प्रसंग बताकर लौकिक या शास्त्रीय ज्ञान से बहिर्भूत बात पूछी गई है, पर याज्ञवल्क्य की सर्वज्ञता को इस प्रसंग में स्फुट किया है । वस्तुतः वेद से बहिर्भूत कोई प्रमा नहीं हो सकती इस बात को ही यहाँ पुराण बता रहा है । ५.२५८ में हिन्दी व्याख्या में श्रवणादि का मनोहर स्पष्टीकरण किया है व वार्तिक तथा विवरण दोनों का समन्वय प्रस्तुत किया है । भगवान् भाष्यकार नियमविधि बताकर इसकी नींव स्वयं ही डाल गये थे । ५.२८५ में गार्गी का प्रश्न क्यों अनुमान से है यह हिन्दी व्याख्याकार ने सुन्दरता से व्यक्त किया है । इसी प्रकार गायें ब्राह्मणों का स्वत्व कैसे हो गईं इसका उत्तर पृ. २१९ टिप्पणी २ में हृद्य है । इसी प्रसंग में गार्गी स्त्रियों को प्रायोरूप से बुद्धि, साहस, धैर्य, राग व क्रोध में पुरुषों से बढ़कर बताती है । इससे जो प्रायः लोग स्त्रियों को बुद्धिहीन समझते हैं उसका मुँहतोड़ जवाब है । साहस का अर्थ टीका में अविवेक है जो चिन्त्य है क्योंकि बुद्धि और अविवेक का तो सर्वथा विरोध है । इसी प्रकार पुरुष का लक्षण ब्रह्मज्ञान ही गार्गी ने किया है । पुराण में इसका विस्तृत विचार अनेक प्रश्नों का समाधान करता है । शास्त्र में स्त्री-पुरुष का भेद प्रायः लोग केवल देहभेद से मानते हैं परन्तु आत्माधिकार में तो यही पुराणोक्त अर्थ ग्राह्य है । इसी दृष्टि से ७.५१७ से मैत्रेयी के संन्यास का प्रतिपादन है । याज्ञवल्क्य व मैत्रेयी में केवल दण्डधारण का भेद था । याज्ञवल्क्य की गार्गीकृत प्रशंसा से उत्तेजित होकर शाकल्य ने जो ५.४२४ से ४६७ तक भला-बुरा सुनाया वह उसे किसी भी

नाटक के खलनायक की तरह चित्रित करता है । याज्ञवल्क्य को यहाँ उदात्तनायक बताया है, यहाँ तक कि शाप आदि भी आदित्यकर्तृक बताकर, एवं शाकल्य को इस विषय में सावधान करके दोषरहित सिद्ध किया है । कालिदास की अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा इस सन्दर्भ में स्मरणीय है । अन्ततः ६१४ से ६६५ श्लोकों तक याज्ञवल्क्य ने स्वयं प्रश्न कर अन्य ब्रह्मविदों से जवाब न आने पर उस प्रश्न का समुचित समाधान कर गार्गी की प्रशंसा व अपनी ब्रह्मिष्ठता को भलीभाँति सिद्ध कर दिया था ।

छठा अध्याय याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को दिये उपदेशों का संग्रह है । इसमें १७३२ श्लोक हैं । यह बृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय के प्रथम चार ब्राह्मणों का विचार है । भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इस भाग पर ३४६८ श्लोक लिखे हैं । यह सम्पूर्ण वार्त्तिक का प्रायः तीसरा हिस्सा है । शंकरानन्द स्वामी ने प्रायः उससे आधे श्लोकों में वार्त्तिक में आये सारे विषयों का प्रतिपादन कर दिया है, पर वार्त्तिक के दार्शनिक खण्डनमण्डनात्मक विवेचन को पुराणश्रोता के अनुपयुक्त समझ कर छोड़ दिया है । इस पर भाष्य भी प्रायः सम्पूर्ण बृहदारण्यकभाष्य का चतुर्थांश है । यद्यपि तृतीय अध्याय भी जनक ने सुना था अतः दोनों अध्यायों को जनकसम्बन्धी होने से मिलाया जा सकता है, तथापि सर्वरहस्यवेत्ता आनन्दगिरि की मान्य सम्मति में तृतीय जल्पकथा है, एवं चतुर्थ वाद कथा, अतः दोनों को अलग करना जरूरी था । भगवान् भाष्यकार तो ब्रह्म की ही वागादि में ब्रह्मदृष्टि के द्वारा पुनः अधिगति के उपायान्तर को बताने के उद्देश्य से इस अध्यायान्तर की प्रवृत्ति मानते हैं । पुराणकार तो पूर्व दिन की घटना के दूसरे दिन की घटना रूप से इसका वर्णन रोचक बना देते हैं । इन दोनों प्रकरणों को भाष्यकार ने हेतु वाक्य कहा है एवं मैत्रेयी ब्राह्मण को निगमन वाक्य माना है । प्रथम दो अध्याय आगम प्रधान हैं, एवं वहाँ मैत्रेयी ब्राह्मण प्रतिज्ञावाक्य है । इस प्रकार सारी उपनिषद् ही अनुमान रूप में बन जाती है । इस बात को पुराण से स्पष्ट समझा जा सकता है ।

पृ. २६५ पर हिन्दी व्याख्या में चित्रक द्वारा छओं विद्याओं को स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है । श्लोक ६१ में मन को मृत्यु का कुत्ता कहा है इसका कारण व्याख्या में स्पष्ट किया है । इसी प्रकार जनक के याज्ञवल्क्य को अभयदान का जो सुन्दर वर्णन पुराण में किया है वह २१७ की हिन्दी व्याख्या के बिना सुस्पष्ट नहीं होता । हिन्दी व्याख्याता ने इस प्रसंग के महत्त्व को सभी साधकों के लिये खोलकर रख दिया है ।

पुराणकार ने शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड के छठे अध्याय में आये अग्निहोत्र-प्रसंग को यहाँ उसी समय होने वाली घटना से जोड़कर रोचक प्रसंग बनाया है । उपनिषद् में तो पूर्व प्रसंग का ही संकेत है । पर पुराणकार ने उस प्रसंग को स्पष्ट करने की दृष्टि से ऐसा

करके साधकों का उपकार ही किया है। प्रायः तटस्थ लक्षण जीव व शिव का भिन्न होना प्रतिपादित किया जाता है। परन्तु याज्ञवल्क्य ने स्वप्न का स्रष्टा जीव को व सुषुप्ति में उसे संहर्ता बताकर उसमें भी साम्य बता दिया है। इसी से अनेक द्वैतवादियों को बाद में स्वप्न का स्रष्टा भी ईश्वर को बताने का प्रयास करना पड़ा था। इसी प्रकार स्वप्न में कार्यकारणभाव के मिथ्यात्व से जाग्रत् के कार्यकारणभाव का मिथ्यात्व पुराण में स्पष्ट किया है। ६.३९७ में आये 'जन्तु' पद पर हिन्दी व्याख्याकार ने टिप्पणी में विचार किया है, जो संभवतः हृदय के विषय में नहीं है। जहाँ भी विज्ञान स्फुट है वही हृदय है, ऐसा शाकल्य ब्राह्मण में स्पष्ट है। पर मुखतः यहाँ देहमध्य प्रतीत होने से टिप्पणी में प्रकाश डालना आवश्यक था पृ. ४७९ की प्रथम टिप्पणी में व्याख्याता ने स्वयं यह स्पष्ट किया है। इसी प्रकार ४३१ में देह देश को छोड़ने पर हिन्दी व्याख्या में भलीभाँति स्पष्टार्थ प्रतिपादित किया है, जो संस्कृत टीका में नहीं हो पाया है। ४३३ में 'केचित्' व 'महाधियः' का वार्त्तिक व भाष्य से उद्धृत होना बताकर हिन्दी व्याख्याता ने अपना गहन अध्ययन ही नहीं मेधाविता भी दर्शाई है। इसी प्रकार भामती के प्रमाणलक्षण व टीकाकार के प्रमाण लक्षण में फलवत् और असंदिग्ध का भेद दिखाना है (पृ. ३७४, टि. ३)। जड में ज्ञान की अशक्यता का पुराण में ४७५-४८० तक सुन्दर पर गंभीर विचार किया है एवं विस्तृत हिन्दी व्याख्या में इसे सुस्पष्ट किया है। ५३२ में भाष्य का व पुराण का अर्थभेद दिखाते हुए स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि ने भाष्य के कारणरूप से पुराण को लगाकर रुचिकर कार्य किया है। इसी प्रकार ५४३ में भी टीका में भाष्य व पुराण का भेद दर्शाया गया है। पुराणकार ने अपनी अद्भुत कल्पना के बल से विशिष्ट प्रकार से आत्मा को साम्‌ने देकर उसे अभिन्न विज्ञान कराने वाली को विद्या बताकर अखण्डवृत्ति से उपलक्षित चेतन को ही बताया है। संस्कृत टीकाकार ने इसे स्पष्ट किया है। इससे भिन्न सभी अविद्या है। इसी प्रकार ६८२ में छन्द शब्द के स्वर को ध्यान में न रखकर पुराण में गायत्री अर्थ किया है जिसे हिन्दी व्याख्याता ने स्पष्ट टिप्पणी में किया है। ८३५ से मरने का वर्णन पुराण में हृद्य है। ब्रह्मलोक का भी चित्रक देकर विषय को हस्तामलकवत् बनाने का स्तुत्य प्रयास है।

गीता की व्याख्या में परमहंसशिरोमणि स्वामी शंकरानन्द सरस्वतीजी ने जीवन्मुक्त के उपदेश आदि व्यवहार को असंभव मानकर उपदेश आदि केवल परोक्षज्ञानी ही कर सकते हैं ऐसा ऊहापोह से निर्णय किया है। 'परोक्षज्ञान्येव बहुधा कृतश्रवण आभासात्मज्ञानी अहंममादिबालवासनाबद्धो लोकसंग्रह-वचनस्य विषयः।' (गीता ३.१७ तात्पर्यबोधिनी व्याख्या पृ. ८७ निर्णयसागर संस्करण)। यहाँ तो पुराण में वासना से दृढ अपरोक्ष ज्ञानी की उपदेश आदि प्रवृत्ति स्वीकारी है। गीता में साधक को दृढ बोध में प्रवृत्त्यर्थ ऐसा किया होगा, एवं यहाँ भाष्य, वार्त्तिक की तरह सिद्धान्त बताया

है। विवेकी तो यह भी मानते हैं कि गीता पहले लिखी गई थी और पुराण की रचना देखकर स्पष्ट लगता है कि यह ग्रन्थकार की प्रौढावस्था की रचना है। प्रायः इसी प्रकार की परिस्थिति स्त्रियों के बारे में महामनीषी के विचारों की है। 'ततो न स्त्रीणां ज्ञानाधिकारः। ....स्त्रीणां वेदान्ताध्ययन-तदर्थविचारानधिकारात्।' (पृ. २७० निर्णयसागर संस्करण शंकरानन्दी गीता) यहाँ स्पष्टतः स्त्रियों को वेदान्त के अर्थ के विचार व ज्ञान दोनों का निषेध माना है। परन्तु यहाँ 'हन्त! जाये! प्रिये! तुभ्यं व्याख्यास्याम्यमृतं हि तत्' (पृ. ६४७) याज्ञवल्क्य स्पष्टतः उसे वेदान्तार्थ-विचार में लगाते हैं। पृ. ६६८ में वेद को ही परम प्रमाण कहकर स्पष्ट करते हैं कि वे उसे वेद से ही ज्ञान करा रहे हैं। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से सुनने के पूर्व भी 'मयैतद् बहुशः श्रुतं ब्राह्मणेभ्यो' (पृ. ६८१) आत्मविद्या का श्रवण किया था। याज्ञवल्क्य उसे पृ. ६८६ में स्पष्ट आदेश करते हैं 'आनन्दात्मानमात्मस्थमात्मनैवावधारय पतिपुत्रादिकं हित्वा दुःखजातमिदं प्रिये। ......एतावदेव विज्ञेयम्'। मैत्रेयी का संन्यास भी पृ. ६९१ में 'मैत्रेय्यपि चचार ह संन्यासलिंगरहिता' बताया है। लिंगधारण तो केवल ब्राह्मण के लिये है। यहाँ तक कि 'सम्प्रदायस्य विच्छेदे कामं त्रैवर्णिक-स्त्रियः। उपदेशान् प्रकुर्वन्तु।' आपत्ति में उसे वेदान्तसम्प्रदाय की रक्षार्थ आचार्य भी बनने की छूट है। पृ. २२४ में गार्गी ने भी अद्वैत ज्ञान से रहित को नपुंसक कहा था। उसे ही स्त्री भी कहा था। 'अयं मम पतिः..........इत्यादि शब्दसंघातः, स येषु वर्तते ते स्युः स्त्रियः' भी कहा एवं 'आत्मबोधेन ये पूर्णाः पुरुषास्ते' भी पृ. २२६ में स्पष्ट कहा है। इस प्रकार स्त्री के बारे में भी स्पष्ट विचार गीताटीका से अलग ही प्रतीत होता है। वैसे श्रीपरमहंस सम्प्रदाय में वृद्ध-परम्परा है कि गीताभाष्य श्रवण के लिये है अर्थात् शास्त्र के तात्पर्य-निर्णय में प्रधान है। जब तक श्रवण का अभ्यास करना है, यही प्रधान है। गीता की मधुसूदन सरस्वती स्वामीजी की गूढार्थदीपिका मनन के लिये है अर्थात् शास्त्रतात्पर्य के सारे विरोधी तर्क व अन्य दार्शनिकों से विरोधों का परिहार करने के लिये है। मननकाल में इसी का प्रधान रूप से स्वाध्याय करना लाभप्रद है। गीता की तात्पर्यबोधिनी जो शंकरानन्दस्वामी कर्तृक होने से शंकरानन्दी गीता के नाम से ही अधिक प्रख्यात है निदिध्यासन के साधकों के लिये अधिक उपयुक्त है। इस दृष्टि से निदिध्यासू के लिये आवश्यक प्रकार इसमें प्रकट किया गया है। आत्मपुराण तो समग्र शास्त्र के अधिकारियों के लिये होने से इसमें तो सभी रहस्य प्रकट करना आवश्यक होने से, गीता-तात्पर्यबोधिनी के अधिकारियों के भिन्न होने से यह भेद हो सकता है, अतः दोनों ही अपने उद्देश्यों की दृष्टि से प्रौढ रचना ही स्वीकार्य हैं।

संन्यास प्रसंग में ६.१६०७ से अभयदान का प्रसंग पुराण में बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। आधुनिक युग में यह और भी महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा भी इसी विचार का अंग है। स्त्रीसंग को हिंसा कहना स्वामी शंकरानन्दजी की अद्भुत दृष्टि है। विविदिषु संन्यास का भी ६.१६४७ से यौक्तिक प्रतिपादन है। सातवें अध्याय में आत्मा की परप्रेमास्पदता व संन्यास की ज्ञानांगता का विचार विशेषकर अपनी प्रिय पत्नी को उपदेश रूप से करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंग है।

इस प्रकार यह खण्ड अतिमहत्त्वपूर्ण है । अगले खण्ड में यजुर्वेद की अन्य शाखाओं का विचार आयेगा । श्री परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरिजी इस पर एकाग्रचित्त से लगे हैं व शीघ्र ही यह लोगों को मिल सकेगा । स्वामीजी का यह प्रयत्न सभी अद्वैतपथ के पथिकों का मार्ग-दर्शन कर सकेगा ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है । साधक मुमुक्षु इससे लाभान्वित होकर परमश्रेयस् को प्राप्त करें यही हमारा आशीर्वाद है । स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरिजी स्वस्थ व दीर्घ जीवन से युक्त होकर साधकों का इसी प्रकार उपकार करते हुये स्वयं जीवन्मुक्ति का रसास्वाद लेते हुये अन्यों को भी जीवन्मुक्त करें यही आशीर्वाद है ।

निर्मलचित्रण ने इस ग्रन्थ के मुद्रण व प्रकाशन में सभी प्रकार का सहयोग देकर इसे शीघ्र उपस्थित करने में हमें समर्थ किया इसलिये उन्हें भी हमारा इहलोक के सभी सुखों के साथ-साथ शिवभक्ति में लीन रहकर अद्वितीय भाव की प्राप्ति का आशीर्वाद है ।

श्री शंकर मठ — **भगवत्पादीय**

आबू — **महेशानंद गिरि**

ॐ

बृहदारण्यकमधुकाण्डसारार्थप्रकाशक-

ऋष्यश्विसंवादः

चतुर्थोऽध्यायः

शिष्यजिज्ञासा

एवं विचित्रमाख्यानं श्रुत्वा शिष्योऽतिविस्मितः। आदित्यकथितां विद्यां प्रष्टुकामो विहाय ताम् ।१

इन्द्रात् कौषीतकिर्भीत इति श्रुत्वाऽतिबुद्धिमान्। संशयाविष्टहृदयः पप्रच्छेदं गुरुं प्रति।।२।।

इन्द्रः किमकरोद् ब्रह्मन् यतः कौषीतकेर्भयम्। इन्द्रादभूद् विचित्रं तच्छ्रोतुमिच्छाम्यहं गुरो।।३।।

सत्प्रसव-व्याख्या

नमः पूर्णाय देवाय वेदाचार्यादिरूपिणे। यस्यान्तरस्यान्तरायगणं शमयति स्मृतिः।।

एवमृग्वेदोपनिषदौ व्याख्याय अथ यजुर्वेदोपनिषदामर्थं सप्तभिरध्यायैः प्रपञ्चयिष्यंस्तत्र त्रिभिर्बृहदारण्यकार्थं स्फुटयितुं तत्र शिष्यजिज्ञासां पूर्वमुत्थापितां दर्शयति– एवमिति त्रिभिः। उक्तम् आख्यानं श्रुत्वाऽतिविस्मितः सन् शिष्य आदित्येन याज्ञवल्क्याय कथितां विद्यां प्रष्टुकामः अपि तां **साक्षाद् नापृच्छत्, किन्तु** 'इन्द्रात् कौषीतकिर्भीतः' (३.३११) इति गुरुमुखात् श्रुत्वा संशयाविष्टहृदयः सन् इदं **भयनिमित्तमेव** पप्रच्छ यतः अतिबुद्धिमान् **भयनिमित्ता-भिधानद्वारैव एते सर्वं वदिष्यन्ति–इति गुरूणामाशयविद्; इति द्वयोः सम्बन्धः।।१-२।। प्रश्नमभिनयति–इन्द्र** इति। हे ब्रह्मन्! इन्द्रः किं क्रूरं कर्म अकरोद् यत **इन्द्रकृतात्क्रूरकर्मणो हेतोः इन्द्रसकाशाद्** भयं **कौषीतकिसंज्ञस्य मुनेः** अभूद् इति, तद् विचित्रम् आख्यानं श्रोतुमिच्छामि इति।।३।।

बृहदारण्यक के मधुकाण्ड का सारार्थ

ऋष्यश्वि-संवाद

चौथा अध्याय

ब्रह्मविद्याके बल पर शिष्य बनने योग्य व्यक्ति भी गुरु-स्थानीय हो जाता है यह विचित्र घटना गार्ग्य-अजातशत्रु-संवाद के रूपमें सुनकर शिष्य उस विद्या की महत्ता से चकित रह गया। कौषीतकि ने जो नहीं बताया वह आदित्यने याज्ञवल्क्य को बता दिया–यह सुनने से (३.३१०) शिष्य पूछना चाहता था कि आदित्य ने क्या उपदेश दिया, किन्तु गुरु जी ने कहा था कि कौषीतकि इंद्रसे डर गये (३.३११) अतः सूर्योपदेश छोड़कर पहले उसी संदर्भ में पूछने लगा। महर्षि के भयका निमित्त क्या रहा होगा ?–ऐसा प्रश्न शिष्यहृदय को उद्वेलित कर रहा था। अत्यन्त कुशलमति होने से शिष्य विश्वस्त था कि भयहेतु बताते हुए श्रीगुरु सभी आवश्यक विषय व्यक्त कर देंगे।।१-२।। शिष्य ने पूछा–'हे ब्रह्मरूप श्रीगुरो ! इन्द्र ने ऐसा क्या क्रूर कर्म किया जिसके कारण कौषीतकि महर्षि इन्द्रसे डर गये ? यह प्रसंग विचित्र प्रतीत होता है। मैं इसे सुनना चाहता हूँ।' ।।३।।

गुरोरुत्तरम्

एवमुक्ते गुरुश्चित्रां कथां मन्त्रसमीरिताम्। वक्तुकामोऽथ वेदोक्तां सस्मार गुरुपद्धतिम्।।४।।

वंशब्राह्मणाख्यानम्

पौतिमाषी जगत्यस्मिन् सर्वेषां जननी हि नः। यस्याः पुत्रोऽपि दुष्प्रापमदाज्ज्ञानं द्विजन्मनाम्।।५।।

एतमारभ्य सर्वांस्तान् गुरून् ब्रह्मावधीन् हि ते। कथयामि ततः सर्वं ज्ञातुं शक्तो भविष्यसि।।६।।

उत्तरमवतारयति—एवमिति। उक्ते पृष्टे सति चित्राम् अद्भुतां मन्त्रेण वंशव्याख्यानानन्तरं प्रदर्शयिष्यमाणस्वरूपकेण समीरितां स्फुटमभिहितां दध्यङ्ङश्वीन्द्रसम्बन्धिनीं कथां वक्तुकामो गुरुः वेदोक्तां मधुकाण्डयाज्ञवल्क्यकाण्डखिलकाण्डानामन्तेषु कीर्तितां गुरुपद्धतिं विद्यावंशर्षीणां परम्परां सस्मार तत्स्मरणस्य अध्ययनाङ्गताया भाष्यकारैरुक्तेः। तथा च मधुकाण्डवंशब्राह्मणे भाष्यम् 'मन्त्रश्चायं स्वाध्यायार्थो जपार्थश्चेति'। अयं ब्राह्मणरूपो वंशः। 'स्वाध्यायः स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वे सति अध्ययनं, जपश्च प्रत्यहमावृत्तिः' इति तद्व्याख्यातारः। मधुकाण्डादिस्वरूपं तु पूर्वाध्याये दर्शितम् (३.११)।।४।।

तत्र वंशेषु मधुकाण्डयाज्ञवल्क्यकाण्डयोरन्त्यौ पुल्लिँङ्गनामघटितत्वात् पुंवंशावित्याख्यायेते, अन्त्यस्तु स्त्रीनामघटितत्वात् स्त्रीवंश इति। तत्र अन्त्यस्य सर्वान्ते कीर्तनेन सर्वोपकारकतासूचनात् प्राधान्यं सर्वसम्मतम्। वंशत्रयवर्तिनामृषीणाममेदं केचिद् वदन्ति, केचिच्च भेदम्। तत्र अभेदस्य प्रतियोगिसापेक्षाद् भेदाद् अभ्यर्हितत्वेन, एकस्य ब्रह्मण एव आचार्यमूर्त्यावस्थानस्य सिद्धान्तितत्वेन च अभेदपक्षेण तावद् वंशं व्याकुर्वन्, स्त्रीवंश्यानाम् आसुरिपर्यन्तानाम् आसुरिपर्यन्तैः इतरवंश्यैर्बहुभिरभेदो 'भूयसामनुग्रहो न्याय्य' इति न्यायेन सम्प्रदायेन च यथा यथा सिद्धः तथा तथा दर्शयति—पौतिमाषीत्यादिना। पूतिमाषस्यापत्यं स्त्री पौतिमाषी, यञन्ताद् ङीप्। एषा सर्वेषां नोऽस्माकं विद्याधिकारिजनानां जननी मातृसमा गुरुजननीत्वात्। तदेवाह—यस्या इति। यस्याः पौतिमाष्याः पुत्रः, स्त्रीवंशस्य आदौ पौतिमाषीपुत्रपदेनोक्तः पुंवंशयोश्च पौतिमाष्यपदेनोक्तः, लोके द्विजेभ्यो मधुकाण्डाद्युक्तं ज्ञानं ददाविति। पौतिमाष्यपदे दौहित्रेऽपत्यत्वोपचारेण यञ् बोध्यः।।५।। एतमिति। एतं पौतिमाषीपुत्रं वंशब्राह्मणेषु प्रथमान्ततयैव उक्तम् आरभ्य उत्तरोत्तरं ये गुरवः पञ्चम्यन्ततया वंशेषूक्ता वंशपर्वनिभाः, ब्रह्मा हिरण्यगर्भः तत्पर्यन्ताः तांस्ते शिष्याय कथयामि। ततः तेषां श्रवणात् प्रतिबन्धकदुरितोपशमेन सर्वम् अर्थं ज्ञातुं शक्तो भविष्यसि तदनुसन्धानस्य स्वाध्यायार्थताया उक्तेः, 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः'।। (श्वे. ६. २३) इति श्रुतेश्चेति भावः।।६।।

यों पूछे जाने पर गुरु मन्त्रोक्त अद्भुत कथा सुनाना चाहते थे पर पहले उन्होंने वेदोक्त गुरुपरम्परा का स्मरण किया।।४।। बृहदारण्यक में तीन काण्ड हैं यह पहले (३.११) बता चुके हैं। तीनों में आचार्यपरंपरा वंशब्राह्मण के नामसे प्रदर्शित है। आचार्यों के नामों का प्रतिदिन उच्चारण पुण्य का हेतु है। परंपरा की जानकारी शिष्यको होनी चाहिये यह समझकर गुरु यहाँ उसका उल्लेख कर रहे हैं। पुराण के लिये वंश-प्रतिपादन आवश्यक अंग है अतः श्रीशंकरानंद स्वामी विस्तारसे इस विषयको स्पष्ट कर रहे हैं। प्रथम व द्वितीय काण्डों के वंशनाम पुल्लिँङ्ग शब्दों के सहारे निर्मित होने से इन्हें पुंवंश कहते हैं और स्त्रीलिंग शब्दों से बने नामों वाला होने से अंतिमको स्त्रीवंश कहते हैं जिसकी प्रधानता सभी मानते हैं। तीनों वंशों में कहे ऋषियों का अभेद मानना — अर्थात् प्रत्येक ऋषि का विभिन्न नामों से तीनों जगह उल्लेख स्वीकारना — ही उचित है। वस्तुतस्तु सिद्धान्त है कि एक परब्रह्म ही आचार्यों के रूपमें उपलब्ध होते हैं अतः आचार्यों का अभेद ही संगततर है। इसी रीतिसे शंकरानंदजी यहाँ वर्णन करेंगे। यद्यपि तत्तद् नाम का एकव्यक्तिप्रतिपादक होना सम्प्रदायसिद्ध है तथापि श्रीशंकरानंद जी का यह प्रशंसनीय अनुसन्धान ध्यान देने योग्य है।

अभेदपक्षेण परम्परा

स हि कात्यायनीपुत्राद् विद्यां गौपवनादगात्। भारद्वाज्यास्तु तनयः पौतिमाष्यो परोऽभवत्।।
तस्माद् गौपवनः सर्वां विद्यामेतामवाप्तवान्।।७।।

पाराशरीसुतः कश्चित् पुनर्गौपवनोऽपरः। अभूत्तस्मात् समाप्तोऽसौ भारद्वाजीसुतस्त्विमाम्।।८।।

औपस्वस्तीसुतः कश्चित् कौशिको नाम वै द्विजः। तस्माद् गौपवनो विद्यां प्राप्तवानखिलामिमाम्।।९

पाराशरीसुतः कश्चित् कौण्डिन्यो नामतोऽभवत्। कौशिकस्तु ततो विद्यां प्राप्तवानखिलामिमाम्।।१०।

कौशिकीतनयः कश्चित् शाण्डिल्यो नामतोऽभवत्। कौण्डिन्यस्तत एवेमां विद्यामधिजगाम ह।११

शाण्डिल्यस्य गुरू स्यातामुभौ कौशिकगौतमौ। आलम्ब्याश्च तथा वैयाघ्रपद्यास्तनयौ हि तौ।।१२

आलम्ब्यास्तनयो योऽसौ कौशिको नाम विश्रुतः। ब्रह्मप्रसादतः सोऽयं विद्यामेतामवाप्तवान्।।१३।।

वैयाघ्रपद्यास्तनयो गौतमो नाम नामतः। कापीपुत्रादाग्निवेश्यात् काण्वीपुत्राच्च लब्धवान्।।१४।।

स हीति। स पौतिमाषीपुत्रः स्त्रीवंशे कात्यायनीपुत्रपदोक्तात् पुंवंशयोः गौपवनपदोक्ताद् गुरोः विद्यामगात् प्राप्त इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि पुत्रपर्यायान्तं नाम स्त्रीवंशगतम्, इतरत् तु पुंवंशगतमिति बोध्यम्। भारद्वाज्या इति। उक्तो गौपवनः कात्यायनीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राभिन्नात् पौतिमाष्यात् पूर्वोक्तपौतिमाष्यभिन्नाद् एतां विद्यां प्राप्त इत्यर्थः। अत्र यद्यपि स्त्रीवंशे कात्यायनीपुत्रस्य गुरुः गौतमीपुत्रः तस्य गुरुः गौतमीपुत्रः तस्य गुरुः भारद्वाजीपुत्र इति प्रायः पुस्तकेषु पठ्यते, तथापि पुंवंशयोः गौतमीपुत्रस्य समसङ्ख्याकनामान्तरानुपलम्भाद् विद्यमाननाम्नां सरूपाणां बहूनामभेदस्य एवमेव अभिधाने सुबोधतामपि सन्धाय गुरोः परमगुरोश्च अभेदस्य लोकेऽपि प्रसिद्धत्वात् सर्वेषामेकरूपताया उपसंहारे वक्ष्यमाणत्वाच्च कात्यायनीपुत्रानन्तरं भारद्वाजीपुत्र एवोक्त इति बोध्यम्। एवमेव वक्ष्यमाणकौशिकीपुत्रे तच्छिष्यकात्यायनीपुत्रान्तर्भावो मन्तव्यः।।७।। पाराशरीसुत इति। भारद्वाजीसुतः पौतिमाष्यस्तु पाराशरीसुताद् गौपवनात् पूर्वोक्तगौपवनभिन्नाद् इमां विद्यां सम्प्राप्त इति।।८।। औपस्वस्तीति। उपस्वतेर्गोत्रापत्यं स्त्री औपस्वती, अणन्ताद् ङीप्, तस्याः पुत्रः कौशिक इति पुंवंशयोर्यः प्रसिद्धः तस्मात् पाराशरीसुतो विद्यां प्राप्तवान्।।९।। पाराशरीति। उक्तः कौशिकस्तु अपरपाराशरीसुतात् कौण्डिन्यनाम्नो विद्यां प्राप्त इति।।१०।। कौशिकीतनय इति। पाराशरीसुतः कौण्डिन्यः तु कौशिकीपुत्राद् शाण्डिल्याद् विद्यां प्राप्त इति। अत्र कौशिकीपुत्रे कात्यायनीपुत्रान्तर्भाव उक्तः।।११।। शाण्डिल्यस्येति। उक्तस्य कौशिकीतनयाभिन्नशाण्डिल्यस्य कौशिको गौतमश्च एतौ द्वौ पुंवंशोक्तौ गुरू अभूताम्। स्त्रीवंशे तु कौशिक आलम्बीपुत्रत्वेनोक्तः, गौतमस्तु वैयाघ्रपदीपुत्रत्वेनोक्तः। व्याघ्रपदो गोत्रापत्यं स्त्री वैयाघ्रपदी; यञन्ताद् ङीप्, ऐजागमश्च।।१२।। आलम्ब्या इति। आलम्बीपुत्रः कौशिकः तु तपसाराधितब्रह्मानुग्रहादेव विद्यां प्राप्त इत्यर्थः।।१३।। वैयाघ्रपद्या इति। वैयाघ्रपदीपुत्रो

गुरु जी ने उत्तर आरंभ किया : पूतिमाष की पुत्री पौतिमाषी इस संसार में हम सब विद्यार्थियों की मानो माता रही क्योंकि हमारे आदिगुरु को उन्हींने जन्म दिया। उनके पुत्र ने ही ब्राह्मणों को दुर्लभ ज्ञान का उपदेश दिया।।५।।

(स्त्रीवंशमें पौतिमाषीपुत्र कहा है और पुंवंशों में उन्हें पौतिमाष्य शब्द से कहा है।) इनसे लेकर ब्रह्मा तक सभी गुरुओं का मैं तुम्हारे हित के लिये कथन करता हूँ। इनके नामश्रवणसे तुम्हारा चित्त पवित्र होगा और तुम प्रतिपाद्य सारा विषय समझने में समर्थ होगे।।६।।

काण्वीपुत्रः कौशिकवल्लब्धवान् हि स्वयम्भुवः। उग्रेण तपसाऽत्यर्थं परितोष्य महेश्वरम्।।१५।।

आत्रेयीपुत्रतः प्राप्त आनभिम्लाततस्त्विमाम्। शाण्डिल्याच्चाग्निवेश्योऽयं क्लेशेन महता द्विजः १६

शाण्डिल्यो जन्मतः सिद्धः काण्वीतनयवद् महान्। अन्यस्माद् नाप्तवान् विद्यां मुक्त्वा ब्रह्माणमीश्वरम्।।१७।।

आनभिम्लात एवायं गार्ग्यो गोत्रत ईरितः। गौतमीतनयाद् भिन्नादानभिम्लाततस्त्विमाम्।।१८।।

गार्ग्याद्धि प्राप्तवान् विद्यामात्रेयीतनयो महान्। भारद्वाजीसुताद् गार्ग्यो गौतमादाप्तवानिमाम्।।१९।।

पाराशर्यास्तनयतः सैतवाद् गौतमस्त्विमाम्। प्राचीनयोग्यतश्चाप तावुभौ च सहोदरौ।।२०।।

वात्सीपुत्रादिमां विद्यां लब्धवन्तौ तपस्विनौ। पाराशर्यायणाख्याद्धि पाराशर्याद् महात्मनः।।२१।।

पाराशरीतनयतः पाराशर्यो महामनाः। भारद्वाजादिमां विद्यां प्राप्तो गार्ग्यायणाख्यतः।।२२।।

वार्कारुणीतनयतस्तद्वदुद्दालकायनात्। भारद्वाजाद् गौतमाच्च प्राप्तो गार्ग्यायणस्त्विमाम्।।२३।।

भारद्वाजस्त्विमां विद्यां ब्रह्मणः प्राप्तवान् मुनिः। वार्कारुण्यास्तनयतो जाबालायनशब्दितात्।। भारद्वाजाद्गौतमाख्यो विद्यां प्राप महामुनिः।।२४।।

यो गौतमो नाम स नामत आग्निवेश्यात् कापीपुत्राऽभिन्नात् तथा काण्वीपुत्राद् विद्यां प्राप्तः। काण्वीपुत्राऽभेदयोग्यः पुंवंशयोर्नास्ति इति नोक्तः। कपेर्गोत्रापत्यं स्त्री कापी, यञन्ताद् ङीप्।।१४।। काण्वीति। काण्वीपुत्रः तु स्वयम्भुवो ब्रह्मण एव विद्यां प्राप्तः। किं कृत्वा? तपसा परमेश्वरमाराध्य।।१५।। आत्रेयीति। कापीपुत्र आग्निवेश्यः तु आत्रेयीपुत्राऽभिन्नाद् आनभिम्लाताद् शाण्डिल्याच्च द्वाभ्यां गुरुभ्यामिमां विद्यां प्राप्त इत्यर्थः। शाण्डिल्याभेदयोग्यः स्त्रीवंशे नास्तीति नोक्त इति बोध्यम्।।१६।। शाण्डिल्य इति। आनभिम्लातशाण्डिल्ययोरन्यतरः शाण्डिल्यः तु ब्रह्माणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यस्माद् विद्यां नाप्तवान् इति।।१७।। आनभिम्लात इति। अयं महान् आत्रेयीपुत्र आनभिम्लात एव याज्ञवल्क्यकाण्डे गोत्रतो गार्ग्य इति ईरितः सन्, भिन्नाद् आनभिम्लाताद् गौतमीतनयाभिन्नाद् याज्ञवल्क्यकाण्डे गार्ग्यपदोक्ताद् इमां विद्यां प्राप्तः। गार्ग्यो गौतमीतनय आनभिम्लातस्तु भारद्वाजीसुताऽभिन्नाद् गौतमादिमां विद्यां प्राप्त इति द्वयोः सम्बन्धः। अत्र तृतीयानभिम्लातो द्वितीयेऽन्तर्भावित इति बोध्यम्।।१८-१९।। पाराशर्या इति। भारद्वाजीसुतो गौतमः तु पाराशरीपुत्राभिन्नात् सैतवात् प्राचीनयोग्याच्च आभ्यां मधुकाण्डोक्ताभ्याम् इमां विद्यां प्राप्तः। चतुर्थपादस्य उत्तरश्लोकेन सम्बन्धः।।२०।। वात्सीति। तौ सैतवप्राचीनयोग्यौ तु तपस्विनौ सोदरभ्रातरौ वात्सीपुत्रादिमां विद्यां प्राप्तौ। कीदृशाद्वात्सीपुत्रात्? मधुकाण्डे पाराशर्यपदोक्ताद् याज्ञवल्क्यकाण्डे पाराशर्यायणपदेनोक्तादित्यर्थः।।२१।। पाराशरीतनयत इति। पाराशर्यायणाख्यः पाराशर्यः तु पाराशरीपुत्राद् विद्यां प्राप्तः। कीदृशात्पाराशरीपुत्रात्? मधुकाण्डे भारद्वाजपदोक्ताद् याज्ञवल्क्यकाण्डे गार्ग्यायणसंज्ञात्।।२२।। वार्क्कारुणीति। भारद्वाजो गार्ग्यायणस्तु वार्कारुणीपुत्रात् तथा गौतमाद् द्वाभ्यां विद्यां प्राप्तः। कीदृशाद् वार्कारुणीपुत्रात्? याज्ञवल्क्यकाण्डे उद्दालकायनपदोक्ताद् मधुकाण्डे भारद्वाजपदेनोक्तादिति। वृकारुणस्य गोत्रापत्यं स्त्री वार्कारुणी।।२३।। भारद्वाजस्त्विति। गार्ग्यायणगुरुद्वयमध्ये भारद्वाजस्तु साक्षाद् ब्रह्मण एव विद्यां प्राप्तः। द्वितीयो गुरुर्गौतमस्तु अपरवार्कारुणीपुत्राद् याज्ञवल्क्यकाण्डे जाबालायनेतिशब्दिताद् मधुकाण्डे भारद्वाजपदोक्ताद् विद्यां प्राप्तः।।२४।। आर्तेति। गौतमगुरुः भारद्वाजः तु आर्तभागीपुत्राद् याज्ञवल्क्यकाण्डे

आर्तभागीतनयतः प्राप्तो माध्यन्दिनायनात्। पाराशर्यादिमां विद्यां भारद्वाजो महामुनिः।।२५।।

माध्यन्दिनायनः प्राप्तः शौङ्गीतनयतस्त्विमाम्। सौकरायणसंज्ञाद्धि मुनेः सन्दीप्ततेजसः।।२६।।

साङ्कृतीतनयात् प्राप्तो विद्यां काषायणादिमाम्। सौकरायणसंज्ञोऽयं मुनिर्धर्मविशारदः।।२७।।

आलम्बायनीतनयात् सायकायनशब्दितात्। बैजवापायनात् प्राप्तो मुनिः काषायणो महान्।।२८।।

आलम्बीतनयात् प्राप्तो विद्यां तां कौशिकायनेः। बैजवापायनाख्यस्तु मुनिर्धर्मपरायणः।।२९।।

जायन्तीतनयात् प्राप्तो विद्यां तां घृतकौशिकात्। कौशिकायनिरित्युक्तो मुनिर्धर्मरतः सदा।।३०।।

माण्डूकायनीतनयात् पाराशर्यायणाभिधात्। घृतकौशिकनामायं विद्यामेतामवाप्तवान्।।३१।।

माण्डूकीपुत्रतः प्राप्तः पाराशर्यान्महामुनेः। पाराशर्यायणाख्योऽयं विद्यामेतामनन्यधीः।।३२।।

शाण्डिलीतनयात् प्राप्तो जातूकर्ण्यान्महात्मनः। पाराशर्य इमां विद्यां दुर्लभां मनुजैर्भुवि।।३३।।

राथीतरीतनयत आसुरायणसंज्ञितात्। यास्काच्च प्राप्तवान् विद्यां जातूकर्ण्यो महामुनिः।।३४।।

यास्कः कौशिकवद् विद्यां प्राप्तवान् स स्वयम्भुवः। भाल्लुकीतनयात् प्राप्तस्त्रैवणेरासुरायणः।।३५।।

स्त्रीवंशेऽधिकानां निवेशः

क्रौंचिकीतनयाभ्यां हि भाल्लुकीतनयोप्ययम्। प्राप्तवांस्तावुभौ विद्यां प्राप्तौ वैदभृतीसुतात्।।३६।।

प्राप्तो वैदभृतीपुत्रः कार्षकेयीसुतादिमाम्। कार्षकेयीसुतोऽप्येतां प्राप्तवान् बहुदुःखतः।
प्राचीनयोगीतनयात् सर्वशास्त्रविशारदात्।।३७।।

माध्यन्दिनायनशब्देनोक्ताद् मधुकाण्डे पाराशर्यपदोक्ताद् इमां विद्यां प्राप्तः।।२५।। माध्यन्दिनायन इति। उक्तो माध्यन्दिनायनः तु शौङ्गीपुत्राद् याज्ञवल्क्यकाण्डे सौकरायणेतिप्रोक्ताद् तेजस्विनो मुनेः विद्यां प्राप्तः। मधुकाण्डे तु तत्तुल्यसञ्ज्ञो नास्तीति नोक्तः।।२६।। साङ्कृतीति। अयं शौङ्गीतनयः सौकरायणस्तु साङ्कृतीपुत्रात् काषायणाद् याज्ञवल्क्यकाण्डीयादेव इमां विद्यां प्राप्तः।।२७।। आलम्बायनीति। महान् मुनिः काषायणः तु आलम्बायनीपुत्राद् याज्ञवल्क्यीये सायकायनशब्दिताद् मधुकाण्डे बैजवापायनसंज्ञिताद् विद्यां प्राप्तः।।२८।। आलम्बीति। बैजवापायनाख्यस्तु मुनिः आलम्बीतनयाभिधानात् कौशिकायनेः पुंवंशयोरुक्ताद् विद्यां प्राप्तः।।२९।। जायन्तीति। कौशिकायनिर्मुनिः तु पुंवंशयोर्घृतकौशिकपदोक्ताज्जायन्तीपुत्राद् विद्यां प्राप्तः। इतः प्रभृति पुंवंशयोर्नामानि परस्परं समानरूपाणि बोध्यानीति।।३०।। माण्डूकायनीति। माण्डूकायनीपुत्राभिन्नात् पाराशर्यायणसंज्ञाद् घृतकौशिको विद्यां प्राप्तः।।३१।। माण्डूकीति। पाराशर्यायणाख्यः तु माण्डूकीपुत्राभिन्नात् पाराशर्याख्याद् विद्यां प्राप्तः।।३२।। शाण्डिलीति। पाराशर्यः तु शाण्डिलीतनयाभिन्नाद् जातूकर्ण्यात् प्राप्तो विद्याम् इति।।३३।। राथीतरीति। जातूकर्ण्यः तु गुरुद्वयाद् विद्यां प्राप्तः। गुरुद्वयं तु राथीतरीतनयाभिन्न आसुरायण एकः, यास्को द्वितीय इति।।३४।। यास्क इति। तयोर्मध्ये यास्कः तु साक्षात् स्वयम्भुवः सकाशादेव विद्यां प्राप्तः, वर्णितालम्बीतनय-कौशिकवद् इति। द्वितीय आसुरायणः तु भाल्लुकीतनयाभिन्नात् त्रैवणिसंज्ञात् तां प्राप्त इति।।३५।। अथ स्त्रीवंशेऽधिकान् षट् परस्परमभेदस्फुटीकरणाय

प्राचीनयोगीतनयः साञ्जीवीतनयादगात् । साञ्जीवीतनयोऽप्येनां प्राश्नीपुत्रादवाप्तवान् । स्त्रीवंशे प्रथितादन्ते स्थितादासुरिवासिनः । ।३८ । ।

प्राश्नीपुत्रोऽथ धर्मात्मा प्राप्तवानासुरायणात् । जातूकर्ण्यस्य गुरुतस्त्रैवणेः शिष्यरूपिणः । ।३९ । ।

आसुरिमारभ्य वंशभेदः

त्रैवणिः प्राप्तवान् विद्यामौपजन्धनितो मुनेः । औपजन्धनिरप्याप्त आसुरेर्यत एव हि । भेदो भवति वंशस्य ह्यसमाधेयरूपभाक् । ।४० । ।

पौतिमाषीतनयतः स्त्रीवंशं पृथगेव हि । वर्णयन्ति महात्मानः केचिदेकमथापरे । ।४१ । ।

पुंवंशेऽपि विभिन्नत्वमाग्निवेश्याद् वदन्ति हि । कौशिकायनिपर्यन्तं केचित्केचिदभिन्नताम् । ।४२ । ।

सर्वथाऽभिन्नतैव स्यादत्र स्त्रीपुंसवंशयोः । अतः पुंवंशमेवेममधुना कथयामि ते । ।४३ । ।

आसुरायणे निवेशयति—क्रौंचिकीति चतुर्भिः । भाल्लुकीतनयः त्रैवणिः क्रौंचिकीपुत्राभ्यां विद्यां प्राप्तः । तौ क्रौंचिकीपुत्रौ उभौ वैदभृतीपुत्रात् प्राप्तौ । ।३६ । । प्राप्त इति । वैदभृतीपुत्रः कार्षकेयीपुत्रात् प्राप्तः । कार्षकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्राद् विद्यां प्राप्त इति । कृषिकस्यापत्यं स्त्री कार्षकेयी, शुभ्रादित्वाड्ढक् । प्राचीनयोगीति यञन्ताद् ङीप् । ।३७ । । प्राचीनेति । प्राचीनयोगीतनयः साञ्जीवीतनयाद् विद्यां प्राप्तः । साञ्जीवीतनयः तु एतां विद्यां प्राश्नीपुत्रात् प्राप्तः । कीदृशात् प्राश्नीपुत्रात्? स्त्रीवंशे स्त्रीनामघटितपरम्परायाम् अन्ते स्थितत्वेन प्रसिद्धात्—प्राश्नीपुत्रपदाभ्यासेन अन्ते स्थितेः सूचनादिति भावः । पुनः कीदृशात्? आसुरिवासिनः आसुरिसंज्ञे देशविशेषे, गुरौ वा, वसनेन आसुरिवासीति नामान्तरशालिनः । ।३८ । । प्राश्नीपुत्रोऽथेति । प्राश्नीपुत्रः तु आसुरायणाद् विद्यां प्राप्तः । कोऽसावासुरायण इति चेद्? यो राथीतरीतनयो जातूकर्ण्यस्य गुरुः त्रैवणेः च शिष्यः उक्तः स एवेति गृहाणेत्यर्थः । ननु त्रैवणिगुरुपरम्परावर्तिनः प्राश्नीपुत्रस्य त्रैवणिशिष्यात् कथं विद्याग्रहणसम्भव इति चेद्? न; दृश्यते हि कृताध्ययनानामपि कुतश्चिद् निमित्ताद् विस्मरणे संशयोत्पादे वा पुनर्विद्याग्रहणम्, यथा महाभारते गदापर्वणि द्वादशाब्दिकदुर्भिक्षाद् विस्मृतविद्यानां सारस्वतात् सरस्वतीप्रसादजीविनोऽभ्यस्तविद्यादिति । ।३९ । ।

त्रैवणिरिति । आसुरायणगुरुः त्रैवणिः औपजन्धनिसंज्ञाद् मुनेः अपि विद्यां प्राप्तः । औपजन्धनिः तु आसुरेः वंशत्रयेऽपि समानाकारात् प्राप्तः । कीदृशोयमासुरिः? यतो यमासुरिमारभ्याधस्तनवंशस्य भेदो नानारूपतालक्षणो भवति ज्ञायते, विषयेण विषयिणो लक्षणात् । कीदृशो भेदः? असमाधेयरूपभाक् समाधातुमशक्यस्य रूपमाकारं सादृश्यमिति यावत्, तद्भजतीति स तथा । 'रूपमाकारश्लोकयोरपी'ति विश्वः । अस्माभिस्तु यथासम्प्रदायं समाहित इति भावः । ।४० । । आसुरिपर्यन्तानां वैरूप्यं सङ्ख्यावैषम्यं च दृष्ट्वा केचिद् भेदं वदन्ति; सारूप्यभूयस्त्वदर्शिनः अपरे तु अभेदमेवेत्याह—पौतिमाषीति । पौतिमाषीतनयमारभ्य स्त्रीवंशं केचिद् महात्मानः पृथग् वर्णयन्ति, अपरे तु एकम् एवेति । ।४१ । । पुंवंशेऽपीति । केचित् पुंवंशयोरपि आग्निवेश्यमारभ्य कौशिकायनिपर्यन्तं परस्परं नाम्नां वैरूप्यं दृष्ट्वा विभिन्नत्वं वदन्ति । आग्निवेश्यात् पूर्वतनेषु कौशिकायनेः परतनेषु तु अभेदमाहुरिति यावत् । केचित् त्वेकस्यापि नामद्वयसम्भवादिकमालोच्य तत्राप्यभेदमेवाहुरित्यर्थः । ।४२ । । सर्वथेति । मतभेदप्रयुक्तैः सर्वैः प्रकारैरपि अत्र आसुरौ स्त्रीवंशपुंवंशयोः अभेद एव । आसुरेरनन्तरं तु भेदो दुर्वच इति यावत् । अत आसुरिं प्राप्य वंशत्रयाभेदसिद्धेः पुंवंशमेव तुभ्यम् अधुना कथयामि । इतोऽग्रे पुंवंशयोरेकतायाम् अविवादस्फुटीकरणाय पुंवंशम् इत्येकवचनप्रयोगः । ।४३ । ।

भारद्वाजादासुरिस्तु भारद्वाजोप्यवाप्तवान्। आत्रेयादयमात्रेयो माण्टेर्माण्टिस्तु गौतमात्।।४४।।

गौतमो गौतमात् सोऽपि वात्स्याच्छाण्डिल्यतः स च। शाण्डिल्योऽपि य कैशोर्यात् काप्यात्
काप्योऽप्यवाप्तवान्।। कुमारहारिताख्यात् स गालवाद् दीप्ततेजसः।।४५।।

प्राप्तो विदर्भीकौण्डिन्याद् गालवो वेदवित्तमः। वत्सनयाद्बाभ्रवतः कौण्डिन्योऽपि समाप्तवान्।।४६।।

बाभ्रवोऽपि च सम्प्राप्तः पथः सौभरिसंज्ञितात्। पन्था अपास्याङ्गिरसादाभूतेस्त्वाष्ट्रतोऽपि सः।४७

अपास्यस्तु विश्वरूपात्त्वाष्ट्रादाभूतिसंज्ञकः। विश्वरूपः पुनस्त्वाष्ट्रो ह्यश्विभ्यां प्राप्तवानिमाम्।
ययोर्निमित्ते भगवानिन्द्रः क्षोभं चकार ह।।४८।।

आथर्वणादिमौ प्राप्तौ दधीचः शक्रदेशिकात्। दैवादथर्वणोप्येष दध्यङ्ङाथर्वणोऽपि च।।४९।।

दैवोऽथर्वा पुनः प्राप्तो मृत्योः प्राध्वंसनाद्धि सः। मृत्युः प्रध्वंसनात् प्राप्तो विद्यां प्रध्वंसनोऽपि
च। एकर्षेस्त्वेकर्षिः प्राप्तो विप्रचित्तेरिमां महान्।।५०।।

प्राप्तो व्यष्टेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टिः प्राप्तः सनारुतः। सनातनात् सनार्वाख्यः सनकात् तु सनातनः।।५१।।

परमेष्ठिनः स सनको ब्रह्मणः परमेष्ठ्यपि। अतः परं न वक्ताऽस्ति ब्रह्मणो हि स्वयम्भुवः।।५२।।

मधुकाण्डयाज्ञवल्क्यकाण्डान्त्ययोः पुंवंशयोः आसुरिमारभ्य प्रश्नपर्यन्तं वंशं कीर्तयति—भारद्वाजादिति दशभिः। उक्त आसुरिः भारद्वाजाद् विद्यां प्राप्तः। भारद्वाजः तु आत्रेयात् प्राप्तः। आत्रेयो माण्टिसंज्ञात् स च गौतमात्। एवमग्रेऽपि पञ्चम्यन्तो गुरुः प्रथमान्तश्च शिष्यो बोध्यः।।४४।। गौतम इति। गौतमः अपरगौतमात्, स च वात्स्यः शाण्डिल्यतः। शाण्डिल्यः कैशोर्याभिन्नात् काप्यात्। काप्यः कैशोर्यः अपि कुमारहारितेतिसंज्ञकात्। स कुमारहारितोपि गालवात्।।४५।। प्राप्त इति। विदर्भीकौण्डिन्यसंज्ञकाद् गालवः प्राप्तः। वत्सनयाच्चासौ बाभ्रवो वत्सनयाद्बाभ्रवः तस्माद् विदर्भीकौण्डिन्यो विद्यां सम्यगवाप्तवान्।।४६।। बाभ्रवोऽपीति। वत्सनयाद्बाभ्रवोऽपि सौभरीतिनामान्तरशालिनः पथः पथिसंज्ञकात् प्राप्तः। सौभरिः पन्था अपि अपास्यसंज्ञकात्, स आङ्गिरस अपास्य इत्युत्तरादपकर्षः, त्वाष्ट्रात् त्वष्टुरपत्याद् आभूतिसंज्ञकाद् विद्यां प्राप्त इति।।४७।। अपास्य इति। अपास्य इति पूर्वान्वितमुक्तम्। तु-शब्दो भिन्नक्रमः। आभूतिसंज्ञः त्वाष्ट्रस्तु विश्वरूपसंज्ञात् त्वाष्ट्रात्। विश्वरूपस्त्वाष्ट्रः तु अश्विभ्यां ययोः अश्विनोः उपदेशे निमित्ते सति इन्द्रो वक्ष्यमाणविधया क्षोभं जगामेति।।४८।। आथर्वणादिति। अथर्वणोऽपत्याद् दधीचः दध्यङ्संज्ञकात् शक्रदेशिकाद् इन्द्रगुरोः सकाशाद् इमौ अश्विनौ विद्यां प्राप्तौ। दध्यङ्ङाथर्वणोऽपि दैवाद् देवापत्याद् अथर्वणः प्राप्तः।।४९।। दैव इति। दैवोऽथर्वा तु प्राध्वंसनेतिनामान्तरशालिनो मृत्युसंज्ञकात्। प्राध्वंसनो मृत्युः तु प्रध्वंसनसंज्ञात् प्राप्तः। प्रध्वंसनसंज्ञस्तु एकर्षिसंज्ञाद्। एकर्षिः तु विप्रचित्तिसंज्ञात्।।५०।। प्राप्तो व्यष्टेरिति। विप्रचित्तिः व्यष्टिसंज्ञात्। व्यष्टिसंज्ञः सनारुसंज्ञात्। सनार्वाख्यः सनारुसंज्ञः स सनातनात्। सनातनस्तु सनकात्।।५१।। परमेष्ठिन इति। स सनकः परमेष्ठिनो विराजः सकाशात्; परमेष्ठी तु ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाद्। हिरण्यगर्भस्य जीवकोटिनिवेशाऽभिप्रायेण केचिद् वेदान्ताः प्रवृत्ताः, केचित् तु ईश्वरकोटिनिवेशाभिप्रायेणेति स्फुटम् 'अमुं यजामुं यज' (बृ १.४.६) इति वाक्यभाष्ये। तत्र इदं वाक्यमीश्वरकोटिनिवेशाभिप्रायेणैव प्रवृत्तमित्याह—अत इति। अतो ब्रह्मणः स्वयम्भूरूपात् परम् अग्रे वक्ता नास्ति इति।।५२।। वंशान्त्यवाक्यं व्याचष्टे—नम इति। तस्मै स्वयम्भुवे

नमोऽस्तु ब्रह्मणे तस्मै सर्वदैव स्वयम्भुवे। मूलभूताय जगतः तथा वेदद्रुमस्य च। एष पुंवंश उदितः स्त्रीवंशाऽभेदतस्तव।।५३।।

स्त्रीवंशे भेदपक्षः

स्त्रीवंशे सर्वथा भेदः[1] सम्यगित्येव भाति नः। ततो भेदेन नारीणां वंशमुक्तं निशामय।।५४।।

ब्रह्मपरम्परा

ब्रह्मा स्वयम्भूर्योऽयं ते पुंवंशान्ते समीरितः। तस्मात् प्रजापतिः प्राप्तो विद्यामेतां सुदुर्लभाम्।।५५।।

प्रजापतेस्तु सम्प्राप्तः कावषेयस्तुरो मुनिः। तस्माद् यज्ञवचा नाम राजस्तम्बायनो मुनिः।।५६।।

ततः कुश्रिस्ततो वात्स्यो वात्स्याच्छाण्डिल्यसंज्ञितः। वामकक्षायणस्तस्मात् तस्माद् माहित्थि-संज्ञितः।।५७।।

माहित्थेः कौत्सनामाप्तः कौत्साद् माण्डव्यसंज्ञितः। माण्डूकायनिर्माण्डव्यात् साञ्जीवीतनयस्ततः।।५८।

साञ्जीवीतनयस्यादावुक्ता शिष्यपरम्परा। स्त्रीनाम्ना सैवा विज्ञेया पुमाख्यां परिहाय हि।।५९।।

आदित्यपरम्परा

स्त्रीवंशे पुनरन्यच्च मूलमाहुर्मनीषिणः। यस्य देवस्य भर्गस्तद्वरणीयं महात्मभिः। [2]ध्यायेमेति धियो यो नः प्रचोदयति नित्यशः।।६०।।

ब्रह्मणे सर्वदैव नमोऽस्तु। कीदृशाय?—सर्वस्य जगतः तथा वेदात्मकद्रुमस्य मूलभूताय। उपसंहरति—एष इति। ल्यब्लोपे पञ्चमी, स्त्रीवंशाऽभेदपक्षमादाय पुंवंश उक्त इत्यर्थः।।५३।।

एवमभेदपक्षेण वंशत्रयं व्याख्याय भेदपक्षेण स्त्रीवंशव्याख्यानं प्रतिजानीते—स्त्रीवंश इति। पुंवंशयोः सारूप्यभूयस्त्वेनाऽभेदाङ्गीकारेऽपि स्त्रीवंशे संख्याभेदात् प्रकरणभेदाद्रूपभेदाच्च भेद एव सम्यग् योग्य इति नः चेतसि भाति। ततो भेदस्य योग्यत्वाद् भेदेन वर्णितं नारीणां वंशं निशामय शृण्विति।।५४।।

पूर्वं पौतिमाष्यमारम्य उत्तरोत्तरं गुरुनिर्देशक्रमेण आसुरिपर्यन्तांशः स्त्रीवंशस्य व्याख्यातः। अथ परमगुरुं ब्रह्माणमारभ्य अधोऽधः शिष्यपरंपरां साञ्जीवीपुत्रपर्यन्तां दर्शयन् 'समानमासाञ्जीवी'त्यतः परम् अंशं व्याकरोति—ब्रह्मेति पञ्चभिः। यः पुंवंशान्ते स्वयम्भूर्ब्रह्मा समीरितः उक्तः तस्माद् ब्रह्मणः प्रजापतिः विराड् एतां विद्यां प्राप्त इति।।५५।। प्रजापतेरिति। प्रजापतेस्तु सकाशात् कावषेयः कवषाया अपत्यं तुरेतिसंज्ञको मुनिः प्राप्तः। तस्मात् तुरात्कावषेयाद् यज्ञवचःसंज्ञकः राजस्तम्बायनः राजस्तम्बस्य युवापत्यरूपः प्राप्तः।।५६।। ततः कुश्रिरिति। ततो यज्ञवचसः कुश्रिसंज्ञः प्राप्तः, एवमग्रेऽपि; तस्मात् शाण्डिल्याद्वामकक्षायणसंज्ञः; तस्माद् माहित्थीतिसंज्ञकः।।५७।। माहित्थेरिति। माहित्थेः कौत्सः, कौत्साद् माण्डव्यः, माण्डव्याद् माण्डूकायनिसंज्ञः, ततो माण्डूकायनेः साञ्जीवीपुत्रः प्राप्त इत्यर्थः।।५८।। साञ्जीवीति। साञ्जीवीतनयस्य वंशपरंपराऽधोऽधः क्रमेण पौतिमाषीपुत्रान्ता या उक्ता सैव विज्ञेया, परन्तु पुमाख्यां स्त्रीनामाऽघटितां पौतिमाष्यगौपवनादिसंज्ञां परिहृत्य ज्ञेया। अयमत्र पक्षे विशेष इति शेषः। अन्तर्भावं च परिहायेत्यपि बोध्यम्।।५९।।

---

१. साञीवींतनयादारम्येत्यर्थतः। 'समानमा साञीवीपुत्राद्' इति खिलवंशउक्तेः। 2. तं ध्यायेम धिय इति टीकाकृत्पाठः।

आपो ज्योतिस्तथा ब्रह्म भूर्भुवः स्वारसोऽमृतम् । ओङ्कारनामा भगवानादित्यो मूलमीरितः । ।६१ । ।

आदित्यादम्भिणी प्राप्ता तस्या वाक् सर्ववक्त्रगा । कश्यपो नैध्रुविर्वाचो नैध्रुवेः शिल्पकश्यपः । ।६२ । ।

कश्यपो हरितः शिल्पात् प्राप्तो वार्षगणोऽसितः । हरितात्कश्यपाद् विद्यां बाध्योगश्चासितात् तथा । जिह्वावानिति विख्यातः ततो वाजश्रवा मुनिः । ।६३ । ।

वाजश्रवसश्च कुश्रिः उपवेशिश्च कुश्रितः । उपवेशेस्तु सम्प्राप्तान्मुनिरुद्दालकोऽरुणात् । ।६४ । ।

याज्ञवल्क्यस्ततः प्राप्तो याज्ञवल्क्यात्तथाऽऽसुरिः । आसुरायणनामापि प्राप्तवानासुरेस्त्वयम् । ।६५ । ।

आसुरायणतः प्राप्तः प्राश्नीपुत्रो महामुनिः । माण्डूकायनिशिष्यो यः साञ्जीवीपुत्र ईरितः । स एव पुनरप्येतां प्राश्नीपुत्रादवाप्तवान् । ।६६ । ।

पौतिमाषीसुतान्ता ये स्त्रीनामान्ता उदीरिताः । प्राचीनयोगीपुत्राद्याः सर्वे पुन्नामवर्जिताः । साञ्जीवीतनयस्यैषा ज्ञेया शिष्यपरम्परा । ।६७ । ।

समानमासाञ्जीवीत्यतः (बृ. ६.५.४) पूर्वतनमवशिष्टभागं व्याकुर्वन् आदित्यादपि परमगुरोः प्रवृत्तां साञ्जीवीपुत्रपर्यन्तां शिष्यपरम्परां पूर्ववद् निर्दिशति—स्त्रीवंशे पुनरित्येकादशभिः। स्त्रीवंशस्य मूलं स्वयम्भूब्रह्मरूपमेकमुक्तम् । ततः अन्यद् अपि मूलं मनीषिणः प्राहुः । किन्तद्? इत्याकाङ्क्षायामाह—यस्येत्यादि । यस्य आदित्यदेवस्य स्वरूपभूतं भर्गः तेजः तद् वेदान्तप्रसिद्धं[1] महात्मभिः संसारभीरुभिः वरणीयं सम्यग्भजनीयम् । कथं भजनीयम्? इत्यत आह—तं ध्यायेमेति । विजातीयवृत्तितिरस्कारेण सजातीयवृत्तिसन्तानगोचरं कुर्म इति । तं कम्? यः अस्माकं धियो वृत्तीः अन्तर्यामी सन् धर्मादिषु चोदयति प्रेरयति । ।६० । । तस्य सर्वात्मतामाह—आप इति । यो ब्रह्म अव्याकृतोपाधिब्रह्मरूपः अथ आपः हिरण्यगर्भोपाधिभूतापञ्चीकृतभूतरूपः, ततो ज्योतिः वैश्वानरात्मकः, भूरादिपदत्रयवाच्यलोकवेदावस्थादेवत्रयात्मकः, रसः सारभूतः, यद्वा वासन्तरसवद् नानावस्थाविकासहेतुः, अमृतं ज्ञातो मोक्षहेतुः । अध्यात्ममधिदैवं च तद्ध्यानप्रकारो योगयाज्ञवल्क्येनोक्तः—'रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः । तेजोमध्ये स्थितं सत्यं सत्यमध्ये स्थितोऽच्युतः । ।' इति । अत एव सार्धत्रिमात्रप्रणववाच्यः । एवं सशिरस्कसावित्रीप्रतिपाद्यः स भगवान् आदित्यः अपि नाममात्रेण भिन्नः मूलतयोक्तः । स्वारस इति रेफलोपेन (८.३.१४; ६.३.१११) दीर्घ इति द्वयोरर्थः । ।६१ । । आदित्यादिति । तस्माद् आदित्याद् अम्भिणीति संज्ञा देवता विद्यां प्राप्ता । तस्या अम्भिण्याः सकाशात् सर्वेषामास्यगता वागभिमानिनी देवता प्राप्ता । वाचः सकाशात् तु नैध्रुविः निध्रुवस्यापत्यं यः कश्यपः स प्राप्तः । नैध्रुवेः कश्यपात् तु शिल्पेति नामान्तरशाली कश्यपः प्राप्तः । एवमुत्तरत्रापि । ।६२ । । कश्यप इति । शिल्पात् कश्यपाद् हरितः कश्यपः प्राप्तः । हरितात् कश्यपाद् वार्षगणः वृषगणस्यापत्यं योऽसितनामा स विद्यां प्राप्तः । असिताद् वार्षगणात् जिह्वावानिति विख्यातो बाध्योगनामा प्राप्तः । ततो जिह्वावतो बाध्योगाद् वाजश्रवःसंज्ञो मुनिः प्राप्त इति । ।६३ । । वाजश्रवस इति । वाजश्रवसः कुश्रिसंज्ञः, कुश्रितः उपवेशिसंज्ञः, उपवेशेस्तु विद्यां सम्प्राप्ताद् अरुणसंज्ञाद् उद्दालको मुनिः सम्प्राप्त इति । तथा च—उपवेशिशिष्योऽरुणः, अरुणशिष्य उद्दालक इत्यर्थः । ।६४ । । याज्ञवल्क्य इति । तत उद्दालकाद् याज्ञवल्क्यः सम्प्राप्तः । याज्ञवल्क्याद् आसुरिः । आसुरेः आसुरायण इति । ।६५ । । आसुरायणत इति । आसुरायणात् प्राश्नीपुत्रः, एतस्मात् प्राश्नीपुत्रात् स साञ्जीवीपुत्रः अवाप्तवान् । स कः? यः स्वयम्भुवः प्रसृतविद्यासम्प्रदाये माण्डूकायनेः शिष्य उक्त इति । ।६६ । ।

---

१. 'तेजो यत्ते रूपम्' (ई. १६) 'ब्रह्मैव तेज एव' (बृ. ४.४.७) 'तत्तेजो विद्धि मामकम्' (गी. १५.१२) इत्यादी ।

पौतिमाषीति। **विपर्ययेण** प्राचीनयोगीपुत्राद्याः **पौतिमाषीसुतपर्यन्ता** य **उक्ताः; कीदृशाः?** स्त्रीनामान्ताः **सत्स्त्रीणां मातॄणां नामभिरन्ता मनोहराः प्रशंसां गता इति यावत्, 'अन्तः प्रान्तेऽन्तिके नाशे स्वरूपेऽतिमनोहरे' इति विश्वः। ते सर्वे पुन्नामवर्जिताः च कार्याः।** एषा **पौतिमाषीसुतान्तरूपा** साञ्जीवीतनयस्य शिष्यपरम्परा ज्ञेयेति।।६७।।

पुराणमें कही गुरुपरम्परा को तालिकारूप से व्यक्त कर देते हैं ताकि संक्षेपमें क्रम समझ आ जाये। 'म.' से मधुकाण्डीय वंशब्राह्मण और 'मु.' से मुनिकाण्डीय वंशब्राह्मण समझने चाहिये तथा इनसे रहित खिलकाण्ड के वंशब्राह्मण में कहे नाम हैं। कुछ आचार्य एक ही वंशमें कथित हैं, उनको भी परंपरा में उचित स्थान शंकरानन्दजी ने प्रदान किया है। कुछ के नाम प्रथम दो काण्डों में समान हैं तथा कुछ में भेद है। यह सभी इस तालिका से स्पष्ट हो जायेगा—(उत्तरोत्तर को पूर्वपूर्व का गुरु समझनां चाहिये। कहीं कहीं एक व्यक्ति के दो गुरुओं का भी उल्लेख है)।

पौतिमाष्य (म.मु.) पौतिमाषीपुत्र

↓

गौपवन (म.मु.) कात्यायनीपुत्र

↓

गौतमीपुत्र

↓

पौतिमाष्य (म.मु.) भारद्वाजीपुत्र

↓

गौपवन (म.मु.) पाराशरीपुत्र

↓

कौशिक (म.मु.) औपस्वतीपुत्र

↓

कौण्डिन्य (म.मु.) पाराशरीपुत्र

↓

कात्यायनीपुत्र

↓

शाण्डिल्य (म.मु.) कौशिकीपुत्र

↓ (दो शाखाएँ)

कौशिक (म.मु.) आलम्बीपुत्र; → ↓ ब्रह्म

गौतम (म.मु.) वैयाघ्रपदीपुत्र → ↓ (दो शाखाएँ)

- आग्निवेश्य (मु.मु.) कापीपुत्र; → ↓ (दो शाखाएँ)
  - शाण्डिल्य (म.);
  - आनभिम्लात (म.) गार्ग्य (मु.) आत्रेयीपुत्र
- काण्वीपुत्र → ↓ ब्रह्म

↓ ↓

ब्रह्म — आनभिम्लात (म.) गार्ग्य (मु.) गौतमीपुत्र

↓

आनभिम्लात (म.)

↓

गौतम (म.मु.) भारद्वाजीपुत्र

↓ ↓

सैतव (म.पु.) पाराशरीपुत्र; — प्राचीनयोग्य (म.) (सैतव का भाई अतः पाराशरीपुत्र)

↓ ↓

↓

पाराशर्य (म.) पाराशर्यायण (मु.) वात्सीपुत्र

↓

भारद्वाज (म.) गार्ग्यायण (मु.) पाराशरीर पुत्र

↓ ↓

भारद्वाज (म.) उद्दालकायन (मु.) वार्कारुणीपुत्र; — गौतम (म.)

↓ ↓

↓

भारद्वाज (म.) जाबलायन (मु.) वार्कारुणीपुत्र

↓

पाराशर्य (म.) माध्यन्दिनायन (मु.) आर्तभागीपुत्र

↓

सौकरायण (मु.) शौंगीपुत्र

↓

काषायण (मु.) सांकृतीपुत्र

↓

बैजावापायन (म.) सायकायन (मु.) आलम्बायनीपुत्र

↓

कौशिकायनि (म.मु.) आलम्बीपुत्र

↓

घृतकौशिक (म.मु.) जायन्तीपुत्र

↓

पाराशर्यायणं (म.मु.) माण्डूकायनीपुत्र

↓

पाराशर्य (म.मु.) माण्डूकीपुत्र

↓

जातूकर्ण्य (म.मु.) शाण्डिलीपुत्र

↓

- यास्क (म.मु.);
  ↓
  ब्रह्म
- आसुरायण[1] (म.मु.) राथीतरीपुत्र
  ↓
  त्रैवणि (म.मु.) भालुकीपुत्र
  ↓
  - औपजन्धनि (म.मु.)
    आसुरी (म.मु.)
    भारद्वाज (म.मु.)
    आत्रेय (म.मु.)
    माण्टि (म.मु.)
    गौतम (म.मु.)
    गौतम (म.मु.)
    वात्स्य (म.मु.)
    शाण्डिल्य (म.मु.)
    कैशोर्यकाप्य (म.मु.)
    कुमारहारीत (म.मु.)
    गालव (म.मु.)
  - क्रौंचीपुत्र-द्वय
    वैदभृतीपुत्र
    कार्षकेयीपुत्र
    प्राचीनयोगीपुत्र
    सांजीवीपुत्र
    - माण्डूकायनि
      माण्डव्य
      कौत्स
      माहित्थि
      वामकक्षायण
      शाण्डिल्य
    - प्राश्नीपुत्र आसुरिवासी
      आसुरायण[1]
      आसुरि
      याज्ञवल्क्य
      उद्दालक
      अरुण

---

१. दोनों जगह एक व्यक्ति ही कथित है (श्लो. ३६ टीका)।

विदर्भी कौण्डिन्य (म.मु.)	वात्स्य	उपवेशि
वत्सनपाद् बाभ्रव (म.मु.)	कुश्रि	कुश्रि
पथि सौभर (म.मु.)	यज्ञवचा राजस्तम्बायन	वाजश्रव
अयास्यांगिरस (म.मु.)	कावषेय तुर	जिह्वावान् बाध्योग्य
आभूति त्वाष्ट्र (म.मु.)	प्रजापति	वार्षगण असित
विश्वरूप त्वाष्ट्र (म.मु.)	हिरण्यगर्भ	हरित कश्यप
अश्विन द्वय (म.मु.)		शिल्प कश्यप
दध्यङ्ङाथर्वण (म.मु.)		नैध्रुवि कश्यप
अथर्वा दैव (म.मु.)		वाक्
मृत्यु प्राध्वंसन (म.मु.)		आंभिणी
प्रध्वंसन		आदित्य
एकर्षि (म.मु.)		
विप्रचित्ति (म.मु.)		
व्यष्टि (म. मु.)		
सनारु (म. मु.)		
सनातन (म. मु.)		
सनग (म. मु.)		
परमेष्ठी (म. मु.)		
हिरण्यगर्भ (म. मु.)		

।।७-६७।।

सांजीवीपुत्रेऽभेदः

द्विधा विनिर्गता विद्या ह्यादित्याच्च स्वयम्भुवः । साञ्जीवीतनये त्वैक्यं प्राप्ता लोके नदी यथा ।६८ ।

शृङ्गद्वयाद् विनिर्गम्य पर्वतस्य यथा नदी । कियद् दूरं समागत्य क्वचिदेकैव जायते । ।६९ । ।

ब्रह्मसूर्यविनिर्याता ह्यन्यविद्यानदी तथा । साञ्जीवीतनयं प्राप्य शिष्यद्वैधं जहावियम् । ।७० । ।

पुंवंशयोर्विशेषप्रदर्शनम्

पौतिमाष्यं समारभ्य यावद् ब्रह्माणमीश्वरम् । समानो मधुनः काण्डे याज्ञवल्क्यस्य चाप्ययम् । ।७१ । ।

मधुकाण्डे विशेषः

मधुकाण्डे तु वंशस्य ह्याग्निवेश्यादियं भिदा । शाण्डिल्याख्यानभिम्लातावाग्निवेश्यस्य वै गुरू ।७२

आनभिम्लातनाम्नोऽपि ह्यानभिम्लाततो गुरुः । तस्यापि गौतमस्तस्य गुरू स्यातामिमौ मुनी । ।७३ । ।

सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यस्ततो गुरुः । पाराशर्यस्य तु मुनेः भारद्वाजो मुनिर्गुरुः । ।७४ । ।

द्विधेति । आदित्यात् स्वयम्भुवश्च विनिर्गता प्रवृत्ता विद्या द्विधा सती साञ्जीवीतनयं प्राप्यैकतां गतेति । ।६८ । । 'लोके नदी यथे'ति दृष्टान्तं स्फुटयति—शृङ्गेति । ।६९ । । दार्ष्टान्तिके योजयति—ब्रह्मेति । ब्रह्मणः सूर्याच्च द्व्यवधिकनिर्गमेण अन्यवद्भासमाना इयं विद्यारूपा नदी साञ्जीवीपुत्रं प्राप्य शिष्यद्वैधं शिष्यसम्बन्धिनीं द्विरूपतामिति यावत्, जहौ त्यक्तवती । ।७० । । एवं स्त्रीवंशं भेदपक्षेण व्याकृत्य अत्र पक्षे पुंवंशयोः यावत् सारूप्यं यावच्च वैरूप्यं तदभिनयति— पौतिमाष्यमित्येकादशभिः । मधुनः काण्डे बृहदारण्यकस्य तृतीयचतुर्थाध्यायात्मके, याज्ञवल्क्यस्य काण्डे च पञ्चमषष्ठाध्यायरूपे अयं वंशः पौतिमाष्यम् आरभ्य स्वयम्भूब्रह्मपर्यन्तः समानः समानाकारः प्रायेणेतिशेषः । ।७१ । । तत् सारूप्यम् आग्निवेश्यकौशिकायन्योरन्तरालवर्तिषु नास्तीति वैरूप्यं तत्रावतिष्ठत इति वक्तुं तावद् मधुकाण्डे यो विशेषस्तमाह—मधुकाण्डेत्विति पञ्चभिः । आग्निवेश्याद् तदनन्तरम् इयं वक्ष्यमाणा भिदा विशेष इत्यर्थः । मधुकाण्डे कीर्तितस्य आग्निवेश्यस्य द्वौ गुरू एकः शाण्डिल्यः, द्वितीय आनभिम्लात इति । ।७२ । । आनभिम्लातेति । तयोः मध्य आनभिम्लातनाम्नो गुरुरपि अपर आनभिम्लात इत्यर्थः । तस्य तृतीयानभिम्लातस्य गौतमो गुरुः । तस्य गौतमस्य इमौ उत्तरश्लोकोक्तौ सैतवप्राचीनयोग्यसंज्ञौ मुनी गुरू इत्यर्थः । ।७३ । । सैतवेति । ततः सैतवप्राचनीयोग्ययोः गुरुः पाराशर्यः । पाराशर्यस्य गुरुः भारद्वाज इति । ।७४ । । भारद्वाजस्येति । तस्यास्य पाराशर्य-

दो स्रोतों से विद्या का उद्भव हुआ और दोनों वंश सांजीवीपुत्र में आकर मिल गये । उदाहरणार्थ दो पर्वतशिखरों से जल निकलकर कुछ दूर दो धाराओं में बहता है फिर दोनों मिलकर एक नदी हो जाती है। यह विद्यारूप नदी भी ब्रह्म और सूर्य दो आचार्यों के उपदेश से आरंभ हुई अतः दो धाराओं में (वंशों में) बँटी दीखती है किन्तु सांजीवीपुत्र तक आकर फिर भेद मिट गया है । ।६८-७० । ।

मधुकाण्ड और याज्ञवल्क्यकाण्ड में पौतिमाष्य से ब्रह्मा अर्थात् ईश्वर तक विद्यावंश प्रायः एक-सा है । ।७१ । । मधुकाण्ड में आग्निवेश्यसे आगे कुछ अंतर भी समझ आता है। आग्निवेश्य के दो गुरु हुए—शाण्डिल्य और आनभिम्लात । ।७२ । । आनभिम्लात के गुरु भी आनभिम्लात नाम वाले थे जिनके गुरु गौतम थे। गौतमके पुनः दो गुरु थे—सैतव और प्राचीनयोग्य । उन दोनों के गुरु थे पाराशर्य एवं उनके गुरु भारद्वाज मुनि थे । ।७३-७४ । । भारद्वाज के दो गुरु थे जिनमें एक का नाम तो भारद्वाज ही था व दूसरे का नाम था गौतम। इनमें गौतम के गुरु का नाम भी था भारद्वाज। नाम समान पर व्यक्ति भिन्न थे । ।७५ । । भारद्वाज के गुरु पुनः पाराशर्य नाम वाले थे तथा उनके गुरु

भारद्वाजस्य तस्यास्य भारद्वाजाख्यगौतमौ। गुरुर्गौतमनाम्नोऽपि भारद्वाजोऽपरोऽभवत्।।७५।।

भारद्वाजस्य तु गुरुः पाराशर्य इतीरितः। बैजवापायनस्तस्य तस्य स्यात् कौशिकायनिः।।७६।।

मुनिकाण्डे विशेषः

याज्ञवल्क्यस्य काण्डे तु भेदो यस्तं निशामय। आग्निवेश्याख्यस्य गुरुर्गार्ग्यस्तस्यापरोऽभवत्।
गार्ग्यस्तस्यापि च गुरुर्गौतमस्तस्य सैतवः।।७७।।

पाराशर्यायणस्तस्य सैतवस्य गुरुर्मतः। तस्य गार्ग्यायणस्तस्य गुरुरुद्दालकायनः।।७८।।

जाबालायननामाऽभूद् गुरुस्तस्य महात्मनः। माध्यन्दिनायनस्तस्य तस्याऽभूत् सौकरायणः।।७९।।

सौकरायणनाम्नोऽपि गुरुः काषायणोऽभवत्। सायकायन एतस्य तस्याऽभूत् कौशिकायनिः।।८०।।

वंशभेदाभेदविचारः

एष एव विशेषोऽत्र काण्डयोर्नापरोऽस्ति हि। काण्डभेदादयं वंशस्त्रिविधः कैश्चिदीरितः। अपरैः
कल्पभेदेन कथितो मुनिसत्तमैः।।८१।।

गुरोर्भारद्वाजस्य अपरो भारद्वाजो गौतमश्चेति द्वौ गुरू। तयोर्मध्ये गौतमनाम्नो गुरुरपरो भारद्वाज इति।।७५।। भारद्वाजस्य तु गुरुरिति। गौतमगुरोः भारद्वाजस्य अपरपाराशर्यो गुरुः। तस्य पाराशर्यस्य बैजवापायनः। तस्य बैजवापायनस्य कौशिकायनिः गुरुरिति।।७६।। याज्ञवल्क्यकाण्डीयं विशेषमाह—याज्ञवल्क्यस्येति चतुर्भिः। आग्निवेश्यगुरुः गार्ग्यः। तस्य गार्ग्यस्य अपरो गार्ग्यो गुरुः। तस्य अपरगार्ग्यस्य गुरुर्गौतमः। तस्य सैतव इति।।७७।। पाराशर्यायण इति। तस्य गौतमगुरोः सैतवस्य पाराशर्यायणो गुरुः। तस्य पाराशर्यायणस्य गार्ग्यायणः। तस्य गार्ग्यायणस्य उद्दालकायनः।।७८।। जाबलायनेति। तस्य उद्दालकायनस्य गुरुः जाबलायनः। तस्य जाबलायनस्य माध्यन्दिनायनः। तस्य माध्यन्दिनायनस्य सौकरायणः।।७९।। सौकरायणनाम्न इति। पूर्वार्द्धं स्पष्टम्। एतस्य काषायणस्य सायकायनः। तस्य सायकायनस्य कौशिकायनिरिति।।८०।।

एष एवेति। काण्डयोः मधुयाज्ञवल्क्यसम्बन्धिनोः उक्तस्य पुंवंशस्य विशेष एष एव एतावानेव। एतावद्विशेषादेव च केचिद् भेदमाहुरिति शेषः। केचित् तु एक एवायं वंशः काण्डत्रयान्तेषु कीर्तितः सन् काण्डोपाधिकं भेदं गत इत्याहुः। अपरे तु कल्पभेदादस्य भेद इत्याहुरिति।।८१।।

थे बैजवापायन जिनके गुरु का नाम कौशिकायनि था।।७६।। याज्ञवल्क्यकाण्ड के वंशमें जो वंशान्तर से भेद है वह भी समझ लो : आग्निवेश्यके गुरु हुए गार्ग्य जिनके गुरु का भी नाम गार्ग्य था। उनके गुरु गौतम और उनके सैतव गुरु हुए।।७७।। सैतवे के गुरु पाराशर्यायण, उनके गुरु गार्ग्यायण और उनके उद्दालकायन गुरु हुए।।७८।।

उद्दालकायनके गुरु जाबलायन, उनके गुरु माध्यन्दिनायन, उनके गुरु सौकरायण, उनके गुरु काषायण, उनके गुरु सायकायन तथा उनके गुरु कौशिकायनि हुए।।७९-८०।।

मधु व याज्ञवल्क्य काण्डों के वंशों में इतना ही भेद है, ज्यादा नहीं। कुछ लोग कहते हैं वंश है एक ही पर काण्डों के भेद से तीन प्रकार का हो गया है जबकि अन्यों का मानना है कि विभिन्न कल्पों के अनुसार वंशों का उल्लेख हुआ है।।८१।। वेद के अर्थ में निःशंक विचारक तो वंशकी अभिन्नता स्वीकारते हैं। तीन काण्डों में विभिन्न नामों से कहे व्यक्ति अलग-अलग नहीं समझने चाहिये। जिस काण्ड की अधिगति में आने वाली रुकावट जिस नामसे याद करने

अभेदमपरं प्राहुः केचिद् वेदार्थदर्शिनः। नामधेयविभेदोऽयं पुरुषे नास्ति वै भिदा।।८२।।

स्त्रीवंशेऽपि च भेदो यः सोऽपि नात्यन्तभेदकृत्। कौशिकायन्याग्निवेश्यमध्ये वंशद्वयं यथा।।८३।

पुरुषा अधिकाः क्वापि क्वचिद् न्यूना उदाहृताः। गुरुद्वयं क्वचित् क्वापि सम्प्रदायद्वयं तथा।८४।

आदित्योऽपि न भिन्नो हि ब्रह्मणोऽपि स्वयम्भुवः। परमेष्ठ्याद्या न ततोऽभेदो ज्ञेयोऽपि सोऽपि च।।८५।।

साञ्जीवीपुत्रतः साम्यं श्रुतिराह स्वयं यतः। आपौतिमाषीतनयं भेदो वंशेषु तेन न।।८६।।

सिद्धान्तकोटिमाह—अभेदमिति। 'अपरन्त्वधुनाऽर्थे स्याद्' इति विश्वः। तथा च अपरम् अधुना सिद्धान्तदशायामिति यावत्, केचिद् भाष्यकारादयो वेदार्थस्य अद्वैतस्य दर्शनशीला अभेदम् एव प्राहुः। तथा च भाष्यम्—'तच्चैतद् ब्रह्मप्रजापतिप्रबन्धपरम्परयाऽऽगत्य अस्मासु...प्रविसृतम्' (बृ.६.५) इति। नन्वभेदपक्ष एकवारं कीर्तनेनैव सर्वेष्टसिद्धौ त्रिधा कीर्तनं किमर्थम्? अत आह—नामेति। यथा एक एव प्राणो ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणभेदेन चिन्तनाद् भिन्नफलप्रदः तथा एकः पुरुषः परमात्मा तत्तन्नामधेयभेदेन भिन्न इव नाना फलानि ददातीति प्रसिद्धम्। तथा च मधुकाण्डान्ते विशिष्टानुपूर्वीकः कीर्तितो वंशः आगमप्रधानमधुविद्याप्रतिबन्धकमदृष्टं शमयति, याज्ञवल्क्यकाण्डान्त्यस्तु उपपत्तिप्रधानविद्याप्रतिबन्धकम्, अन्त्यस्तु सर्वविद्याप्रतिबन्धकम् इत्युक्तम्। अपरे—इति पाठेऽपि परे पूर्वपक्षिणस्तेभ्यो भिन्ना अपरे सिद्धान्तिन इत्यर्थः।।८२।। नन्वेवं सति स्त्रीवंशे सर्वथा भेदः सम्यगिति सम्प्रदायादिभेदेन भेदः कथमुक्तः? अत आह—स्त्रीवंश इति। स्त्रीवंशेपि यो भेदो विशेषः सोऽपि नात्यन्तभेदप्रयोजकः। एतदेव स्फुटयति—कौशिकेति। यथा कौशिकायनेराग्निवेश्यस्य च मध्ये वंशद्वयं वंशभेदव्यवहारप्रयोजकं नामभेदादिनाऽत्यन्तभेदकृत् तथा न्यूनाधिकपुरुषाभिधानं क्वचिद् गुरुद्वयाभिधानं सम्प्रदायद्वयाभिधानं च नात्यन्तभेदकृत्। धर्मिण एकत्वे प्रबलप्रमाणेन निश्चिते धर्मभेदः प्रतिहत्य धर्मेष्वेव पर्यवस्यतीति द्वयोर्भावः।।८३-८४।। वस्तुतः सम्प्रदायभेदोऽपि नास्तीत्याह—आदित्य इति। हि यतः आदित्यो ब्रह्मणो न भिन्नः, सावित्र्या सर्वात्मताया उक्तत्वादिति भावः। एवं स्वयम्भुवः सकाशात् परमेष्ठ्याद्या न भिन्ना इति सम्बन्धः। विराजो ज्ञानेन तद्भावं प्राप्तानामृषीणां च अनौपाधिकभेदस्य दुर्वचत्वादिति भावः। फलितमाह—तत इति। ततो नाममात्रे भेदो धर्मिणि तु सोऽभेद एव ज्ञेय इत्यर्थः।।८५।। ब्रह्मण आरभ्य साञ्जीवीपुत्रपर्यन्तं वंशो वाजसनेयिपञ्चदशशाखासु समानाकार इत्यर्थिका 'समानमासाञ्जीवीपुत्राद्' (बृ.६.५.६) इति श्रुतिरप्यभेदपक्षेऽनुकूलेत्याह—साञ्जीवीति। साञ्जीवीपुत्रमारभ्य ब्रह्मपर्यन्तमुक्ता श्रुतिः साम्यं समानाकारतां यत आह तेन प्रायोऽभेदाभिधानेन पौतिमाषीपुत्रान्तं भेदो न किन्त्वभेद एवेत्यर्थः।।८६।।

पर आचार्य हटा देते हैं उस काण्ड में वह नाम बताया गया है।।८२।। स्त्रीवंशमें जो विलक्षणता है उससे भी समूचे वंशको ही पृथक् नहीं समझना चाहिये। कौशिकायनि और आग्निवेश्य के मध्य में दो वंश हैं किन्तु बाकी वंश एक समझा जा सकता है। किसी सूची में कुछ अधिक पीढ़ियाँ और किसी में कम कह दी गयी हैं। कहीं दो गुरुओं का और कहीं दो सम्प्रदायों का उल्लेख हो गया है।।८३-८४।। वास्तव में तो आदित्य भी ब्रह्मा से भिन्न हैं नहीं अतः स्वयंभू से परमेष्ठी आदि को भी अलग नहीं समझना चाहिये। इसलिये सम्प्रदाय में भी वास्तविक भेद हो नहीं सकता। तत्त्वनिष्ठ ऋषि तत्त्वरूप होते हैं अतः उनमें परस्पर भेद केवल उपाधि-प्रयुक्त हो सकता है, स्वाभाविक नहीं जिससे उनकी परंपरा भी स्वतः भिन्न नहीं होती। इसलिये वंशब्राह्मणों में तत्तत् ऋषियों के नामों में ही भेद है, ऋषियों में नहीं।।८५।। स्वयं श्रुति ने सांजीवीपुत्रसे ब्रह्मपर्यन्त वंश की समानता कही है अतः पौतिमाषीपुत्र तक अभेद मानना ही श्रुति के भी अनुकूल है।।८६।।

स्मरणे तात्पर्यम्

भेदो वा यदि वाऽभेदः सर्वथा गुरवस्त्विमे। यजुर्वेदे समाख्याता विद्याया नापरे क्वचित्।।८७।।

सर्वथैव गुरुर्ज्ञेयो ह्यस्माकन्तु द्विजन्मनाम्। स्त्रीपुंसयोः पौतिमाष्यो वंशयोरुभयोरपि।।८८।।

वंश एष समाख्यातः त्वत्पृष्टं वक्तुमत्र हि। पौरुषेऽस्मिन् यतो वंशे कथा चित्रा श्रुता मया।।८९।

कथारम्भः

ऋषिणा केनचित् प्रोक्तमितिहासमिमं शृणु। इन्द्राश्विनां मर्मरूपमश्विनौ वीक्ष्य कोपतः।।९०।।

ऋषिः कश्चित् पुरा प्राप्तो ह्यश्विनौ कार्यगौरवात्। अवज्ञातस्ततस्ताभ्यामूचे तौ कुपितो हि सः ९१

अथवा तिष्ठतु भेदाभेदविचारः, एतावतां गुरूणां स्मरणमवश्यं कर्तव्यमित्येतावद् विवक्षितमित्याह—भेद इति। स्मर्तव्या इति शेषः। अपरे यजुर्वेदभिन्ने वेदे तु न स्मर्तव्या इत्यर्थः। न तु अपरइति गुरुविशेषणं, माध्यन्दिनादावधिकानामप्यभिधानात्। यद्वा यजुर्वेदब्रह्मविद्याया एत एव सम्प्रदायप्रवर्तकाः स्मर्तव्या इत्यर्थः, अधिकास्तु कर्मकाण्डज्ञान उपयुक्ता इति भावः।।८७।। सर्वेषां स्मरणाशक्तौ पौतिमाष्योऽवश्यं स्मरणीय इत्याह—सर्वथैवेति। अस्माकं मानवलोकवर्तिनां द्विजानां गुरुः पौतिमाष्यो ज्ञेयः; अत्र लोके तेनैव विद्याप्रवर्तनाद् इत्युक्तम्। कीदृशः पौतिमाष्यः? स्त्रीपुंसयोरुभयोरपि वंशयोः श्रुत इति शेषः।।८८।। उपसंहरति—वंश इति। त्वत्पृष्टं वक्तुम् एव अत्र प्रकरणे, एष वंशः समाख्यातः हि यस्माद् अस्मिन् वंशे भवन्ती चित्राऽद्भुता कथा मया श्रुता। कीदृशे वंशे? पौरुषे पुरुषाणां महाप्रभावाणामयं पौरुषस्तस्मिन्। तस्येदमित्यण् (४.३.१२०)।।८९।।

एवं मङ्गलार्थमादौ वंशब्राह्मणार्थं प्रदर्श्य अथ बृहदारण्यकतृतीयचतुर्थाध्यायरूपमधुकाण्डार्थं बुद्धिसौकर्याय इतिहासविधया दर्शयितुमितिहासमवतारयति—ऋषिणेति। भो शिष्य! त्वम् इमम् अध्यायान्तं यावत् प्रपञ्च्यमानम् इतिहासं शृणु। कीदृशम्? केनचिद् ऋषिणा मन्त्रदर्शिना अश्विनौ वीक्ष्य कोपतः प्रोक्तम्। पुनः कीदृशम्? इन्द्रश्चाश्विनौ च तेषां मर्मरूपं रहस्यव्यवहारप्रकाशकमिति यावत्।।९०।।

एतदितिहाससूचकौ 'तद्वां नरा सनय' इत्यादिकौ (२.५.१६,१७) द्वौ मन्त्रौ चतुर्थाध्यायान्ते मधुब्राह्मणानन्तरं पठितौ। तत्र तयोः प्रथमस्य पूर्वार्द्धार्थम् 'इदं वै तद्' इत्यादिपूर्ववाक्यार्थसहितं (२.५.१६)[1]

वंशों में भेद हो चाहे नहीं, हर हालत में उक्त सभी ऋषि आचार्य तो हुए ही हैं। इन सभी का स्मरण अवश्य करना चाहिये। यजुर्वेद के, उसमें भी खासकर ब्रह्मविद्या के ये आचार्य हुए हैं। अन्य वेदों के अध्ययनमें इन गुरुओं को याद करना नहीं पड़ता क्योंकि वहाँ की परंपरायें उन्हीं वेदों में कही हैं। यजुर्वेद में भी कर्मकाण्डभाग के अन्य आचार्य भी बताये गये हैं किन्तु ब्रह्मविद्यार्थी को उनसे सरोकार नहीं, यहाँ कहे आचार्यों का ही नामतः स्मरण आवश्यक है।।८७।। हर तरह से निश्चित है कि हम ब्राह्मणों के गुरु पौतिमाष्य हुए जिनका तीनों वंशों में कथन है। अतः सारी परंपरा प्रतिदिन याद न की जा सके तो कम से कम पौतिमाष्य का स्मरण कर लेना चाहिये।।८८।। तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देने के लिये ही मैंने यह विद्यावंश सुनाया है क्योंकि महाप्रतापी पुरुषों वाले इस वंश में घटी एक विचित्र कथा मैंने सुनी है।।८९।। किसी मन्त्रद्रष्टा ऋषिने अश्विनी कुमारों को देख क्रोधपूर्वक यह प्राचीन घटनाक्रम व्यक्त किया था जिसमें देवराज इन्द्र और अश्विनी कुमारों के मध्य हुआ अद्यावधि गुप्त व्यवहार प्रकट हुआ। तुम यह इतिहास सुनो।।९०।।

---

१. अयन्तत्र ग्रन्थः—'इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। तद्वां नरा सनये दँस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्नवृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति।।१६।। इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यँ शिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति।'।१७।।

ऋष्युक्तिः

अश्विनौ युवयोर्जाने कर्म पापतमं कृतम्। घनाघनो महावृष्टिं प्रकटीकुरुते यथा।।६२।।

प्रकटं दुष्कृतं कर्म करिष्यामि तथा ह्यहम्। करिष्यतो यदा नैतत् कार्यं मे मोहितौ युवाम्।।६३।।

अश्विनोर्मतिः

एवमुक्तौ महात्मानावश्विनौ दीर्घदर्शिनौ। आवयोः कीर्तिरिवेति मत्वेत्थं प्रोचतुर्मुनिम्।।६४।।

आवाभ्यां किं कृतं कर्म दुष्कृतं क्रूरवत् कथम्। केन वापि निमित्तेन तन्नौ वर्णय भो मुने।।६५।।

एतद् वृत्तं जानन् कश्चिदृषिरश्विनौ प्रति उक्तवान्—हे नरा! नराकारौ अश्विनौ! सनये विद्यालाभाय वां युवयोः द॑ँसः कर्म उग्ररूपम् आविःकृणोमि प्रकटीकरोमि, तन्यतुः मेघो वृष्टिं न—वृष्टिमिव; इत्याकारं त्रिभिर्दर्शयन् कोपत इत्युक्तं स्फुटयति—ऋषिरिति। कस्मैचित् कार्याय अश्विनोः समीपं गतः कश्चिद् ऋषिः ताभ्याम् अश्विभ्यां प्रत्याख्यानेन अवज्ञातः सन्, ततः अवज्ञारूपहेतोः कुपितः च सन् इदमुवाचेति। यद्यप्यत्र भाष्यकारैः 'ऋषिर्मन्त्र' इति व्याख्यातं तथापि मन्त्रमन्त्रदृशोरभेदस्तैर्विवक्षित इत्यविरोधः।।६१।।

अश्विनाविति। हे अश्विनौ! अहं युवयोः पापतमं कर्म युवाभ्यां यद् रहसि कृतं तत् जाने। युवां मोहितौ गर्ववशात् कर्तव्यानवधानवन्तौ सन्तौ मम एतत् कार्यं चेद् न करिष्यतः तर्हि घनाघनो मेघो यथा वृष्टिं प्रकटीकुरुते तथाऽहं युवयोः दुष्कृतं कर्म प्रकटं करिष्यामि इति द्वयोः सम्बन्धः।।६२-६३।।

एवं मन्त्रपूर्वार्द्धार्थेन इतिहासमुत्थाप्य प्रथममन्त्रोत्तरार्द्धं द्वितीयमन्त्रश्च व्याख्याक्रमप्राप्तमधुब्राह्मणव्याख्यानानन्तरमेव व्याख्यास्यत इति मनसि निधाय, मूलव्याख्यारम्भोपयोगिनीं कथां तावत् षडधिकशतश्लोकैः प्रपञ्चयति—एवमुक्तावित्यादिना। एवम् ऋषिणा प्रोक्तौ महात्मानौ महान् अविद्याकृतपरिच्छेदमतीतः आत्मा ययोस्तौ तथा, यतो दीर्घदर्शिनौ विद्वांसौ एतादृशौ अश्विनौ तं कुपितमृषिं प्रत्यूचतुः। किं कृत्वा? इति मत्वा। 'इति' किम्? यदनेन आवयोः उग्रकर्माविष्करणं तद् आवयोः कीर्तिरूपमेवेति। अज्ञस्य दुष्कृतकर्माविष्करणे हि तस्य भाविदुर्गतिसूचनेन निन्दा भवति; महात्मनान्तु उग्रं कर्म 'अहो! एषां विद्याप्रभावो यदेतैः कृतेनैतादृशेन कर्मणा लोमापि न च्छिन्नं यथा इन्द्रकृतेन विश्वरूपयतिवधादिना' इति प्रशंसामेव गमयतीति भावः।।६४।।

मधुब्राह्मण की समाप्ति में दो मंत्र हैं जो इस कथा के सूचक हैं। मंत्रों को ब्राह्मणग्रन्थमें ऋषिकथनरूपसे अवतरित किया जाता है अतः यहाँ ऋषिप्रोक्त इतिहास मानकर वर्णन है। मंत्रों में कहा है : 'हे पुरुषाकार अश्विनीकुमारों! तुम दोनों ने विद्याप्राप्ति के लिये जो घोर कृत्य किया था उसे मैं सर्वविदित कराता हूँ जैसे मेघ सर्वसुलभ वृष्टि करता है। दध्यङ् आथर्वण ने घोड़के मुखसे तुम्हें मधु का ज्ञान दिया। तुम्हीं ने उनके धड़ पर घोड़े का सिर प्रत्यारोपित किया था। उन्होंने अपनी सत्यवादिता का निर्वाह करते हुए त्वाष्ट्र और कक्ष्य (कर्मसंबंधी तथा ब्रह्मसंबंधी) मधु तुम्हें समझाये थे।' इसके आधार पर पुराणकार विस्तार से कथा सुनाते हैं—

प्राचीन काल की बात है। एक ऋषि किसी जरूरी काम के लिये अश्विनीकुमारों के पास गये किन्तु उन्होंने वह कार्य करने से इनकार कर दिया जिससे ऋषि को अपमान महसूस हुआ और नाराज़ होकर वे बोले : हे अश्विनी कुमारों! तुम दोनों ने छिपकर जो अतिपाप कर्म किया था वह मुझे मालूम है। तुम लोग गर्व के कारण कर्तव्यपरायण न होकर अगर मेरा कार्य सिद्ध नहीं करोगे तो जैसे बादल वर्षा प्रकट करते हैं ऐसे मैं आपके दुष्कर्म व्यक्त कर दूँगा।।६१-६३।।

रहस्यमावयोश्चेत् त्वं सम्यग्वक्ष्यसि मानद। करिष्यावस्ततः कार्यं त्वदीयं नानृतं हि नौ।।९६।।

इत्युक्ते मुनिरप्यात्मकार्यार्थी सर्ववित्तमः। तदीयं कर्म निखिलं सनिमित्तं तयोर्जगौ।।९७।।

ऋषिमुखेन कथाक्रमः

परमेष्ठिनमारभ्य पौतिमाष्यावधिर्महान्। विद्यावंशः प्रवृत्तोऽयं चित्रः शिष्यैरनेकधा।।९८।।

ब्रह्मणो द्वादशो यस्तु दध्यङ्ङाथर्वणः स्मृतः। पुंवंशेऽथर्वणः शिष्यो दैवस्य युवयोर्गुरुः।।९९।।

ब्रह्मविद्याभिसम्पन्नो मधुकाण्डार्थविन्मुनिः। युवां वेदं समध्याप्य कर्मकाण्डार्थमब्रवीत्। वेदान्तार्थं विहायैव युवयोरविरक्तयोः।।१००।।

अश्विनावूचतुः—आवाभ्यामिति **द्वाभ्याम्**। आवाभ्यां **क्रूरजनवत्** किं दुष्कृतं कृतं, कथं **वा कृतं**, केन निमित्तेन वा **कृतम्**? तत् **सर्वं नौ आवयोः पुरतो वर्णयेति**।।९५।। रहस्यमिति। आवयोः रहस्यं **गुह्यं कर्म** सम्यक् चेद् वक्ष्यसि वदिष्यसि ततो **रहस्याभिधानानन्तरं** त्वदीयं कार्यं करिष्यावः। नौ **आवयोः एतद् वाक्यम्** अनृतं **न किन्तु सत्यमेवेति**।।९६।।

इत्युक्त इति। इति **इत्थम् अश्विभ्याम्** उक्ते **सति आत्मीयकार्यसिद्धिकामो** मुनिः तदीयं **तयोरश्विनोः** सम्बन्धि कर्म निखिलं **निमित्तेन सहितं** तयोः **अश्विनोः पुरतो** जगौ **उक्तवानिति**।।९७।।

ऋषिरादित आरभ्य तद्वृत्तमनुकीर्तयति—परमेष्ठिनमिति **अध्यायान्तं यावद् ग्रन्थेन। ब्रह्मणः शिष्यं** परमेष्ठिनमारभ्य **पौतिमाष्यपर्यन्तः** शिष्यैः चित्रः **च यः** अयं **मधुकाण्डान्ते** विद्यावंशः अनेकधा प्रवृत्तः **तस्मिन् पुंवंशे पुंवंशतया प्रसिद्धे** ब्रह्मणः **अधः क्रमेण सङ्ख्यया** यो द्वादशो दध्यङ्ङाथर्वण **इति प्रसिद्धो** दैवस्य **अथर्वणः** शिष्यो युवयोर्गुरुः **ब्रह्मविद्यासम्पन्नः** मधुकाण्डार्थवित् **च स** मुनिः युवां **प्रति** वेदं **पाठतः** समध्याप्य युवयोरविरक्तयोः **अयोग्यं**

अश्विनीकुमारों ने महात्मता पा ली थी अर्थात् अविद्यासे हुए परिच्छेद से रहित हो चुके थे तथा दूरदृष्टि रखते थे अतः ऋषि के यों कहने पर उन्होंने सोचा कि यदि हमारा वह कर्म व्यक्त होता है तो इसमें हमारा यश ही है। इस विचार से उन्होंने मुनि से कहा 'हे मुनि! क्रूर व्यक्तिकी तरह हमने कौनसा दुष्कर्म किया? कैसे किया? किस हेतुसे किया? यह सब आप हमें बताइये। हमारे द्वारा किये गुप्त कार्य को यदि आप सही ढंगसे बता देंगे तभी हम आपका कार्य सिद्ध करेंगे। आप सम्मान देना जानते हैं अतः बताइये। हम भी अपने वचन निभायेंगे।' ।९४-९६।।

यद्यपि ऋषिने सोचा था कि अपकीर्तिसे अश्विनीकुमार डरेंगे तथापि उन देवताओं ने यह विचार किया कि अज्ञानी के पाप का प्रकाशन उसकी भावी दुर्गति इंगित करता है अतः निंदा होता है लेकिन ज्ञानी के उग्र कर्म को सुनकर तो यह भाव बनता है कि अहो! इनकी विद्या कितनी प्रभावशाली है कि ऐसे कर्म के कारण भी इनका बाल तक बाँका नहीं हुआ! जैसे इंद्रने विश्वरूप ब्राह्मण और हज़ारों संन्यासवेशधारियों को मार डाला पर उसका कुछ न बिगड़ा! इस प्रकार विद्यामाहात्म्य द्वारा वह ज्ञानियों की कीर्ति ही व्यक्त करता है। अतः उन्होंने ऋषि से उस कर्म का प्रकाशन करने को कहा।

सारी बात के जानकार मुनिको अपना कार्य निकालना था अतः अश्विनी कुमारों द्वारा उक्त मांग की जाने पर उन्होंने उनके सारे कर्म को और वैसा करने के कारण को कह सुनाया।।९७।।

परमेष्ठी ब्रह्मासे पौतिमाष्य तक यह उत्तम विद्यासंप्रदाय अनेक तरह फैला क्योंकि इसमें नाना प्रकार की विशेषता वाले शिष्यों का प्रवेश अनवरत होता रहा।।९८।। पुंवंशमें ब्रह्मासे बारहवीं पीढ़ी में दैव अथर्वा के शिष्य दध्यङ्ङाथर्वण

ऊचथुश्च[1] युवां तं हि यथाधीतं यथाश्रुतम् । त्वाष्ट्राय विश्वरूपाय ह्यन्यस्मै सोपि सोऽपि च ।।१०१।।

एवं परम्पराप्राप्ता पौतिमाष्ये त्वियं परा । विद्या सा पौतिमाष्योऽभूद् गुरुः सर्वद्विजन्मनाम् ।।१०२।।

दधीचश्चरितम्

दध्यङ्ङाथर्वणः पूर्वं ब्रह्मज्ञानाद् महायशाः । सम्प्रदायं प्रवर्त्यैवं क्वाप्यवात्सीत् कृताश्रमः ।।१०३।।

देवानामसुराणां च मनुष्याणामपि द्विजः । समो भूत्वा तदा तत्र निवसन्नकरोत् सुखम् ।।१०४।।

यस्मै यद्रोचते तस्मै फलं सोपायमादिशत् । उदर्कानपि तत्रत्यान् सुखदुःखकरान् बहून् ।।१०५।।

ब्रह्मविद्यार्थिनः पुंस एवं वक्ति द्विजोत्तमः । अधिकारं साधयत पश्चाद् वक्ष्यामि वस्त्विमाम् ।।१०६।।

वेदान्तभागार्थं विहाय कर्मकाण्डार्थमात्रम् अब्रवीद् इति त्रयाणां सम्बन्धः ।।९८-१००।। ऊचथुरिति। युवां तं दधीच आथर्वणात् प्राप्तं वेदं यथाधीतं यथाश्रुतं च त्वाष्ट्राय विश्वरूपाय ऊचथुः उक्तवन्तौ । सोऽपि विश्वरूपः अन्यस्मै आभूतये त्वाष्ट्राय। सोऽपि आभूतिस्त्वाष्ट्रोऽपास्यायाङ्गिरसाय उवाचेति। गुरोरक्षरग्रहणमध्ययनम्। श्रवणन्तु तात्पर्यावधारणमिति भेदः ।।१०१।। एवमिति । एवं विधया परम्परया इयं सा प्रसिद्धा परा उत्कृष्टा[2] विद्या पौतिमाष्ये प्राप्ता। स पौतिमाष्यो नृलोकवर्तिनां द्विजानां गुरुरभूदिति ।।१०२।।

दध्यङ्ङिति। एवं सम्प्रदायं प्रवर्त्य ब्रह्मज्ञानहेतुकं महद्यशः प्राप्तो दध्यङ्ङाथर्वणः क्वापि देशे कृताश्रमः सन् अवात्सीद् वासं कृतवान् इति ।।१०३।। देवानामिति । समः पक्षपातहीनतया उपकारको भूत्वा तत्र आश्रमे निवसन् देवादीनां सुखमकरोत् सुखप्रदोऽभूदिति यावत् ।।१०४।। यस्मा इति। यस्मै यादृशायाधिकारिणे यद् यत् फलं स्वर्गपशुपुत्रवैरिमरणादिरूपं रोचते तस्मै तत्तत् फलं सोपायमादिशद् अस्मिन् यागादिरूप उपाये कृते इदं फलं भवतीत्युपदिष्टवान्। तेषां पृच्छतां हितकाम्यया तत्रत्यान् तेषु फलेषु भाविनः सुखदुःखकरान् उदर्कान् उत्तराणि फलान्यपि बहून् बहुविधानुपादिशत्। अस्मिन् यागे कृते स्वर्गो भविष्यति, परन्तु पातादिदुःखं सत्कुले जन्मादि च भविष्यति। अस्मिन् यागे कृते शत्रुमरणं भविष्यति, तदनन्तरं नरकोऽपि भविष्यति। अस्मिन् कृते चित्तशुद्धिः, तदनन्तरं च ज्ञानाधिकारलाभः। इत्यादिविधया उपदिष्टवानित्यर्थः ।।१०५।। ब्रह्मेति। ब्रह्मविद्याकामान् जनान् प्रति तु एवं वक्ति स्म यद् यूयम् अधिकारं साधनचतुष्टयसम्पत्तिरूपं सम्पादयत, तत्सम्पत्तेरनन्तरम् इमां ब्रह्मविद्यां वक्ष्यामि उपदेक्ष्यामीति ।।१०६।।

हुए जो तुम्हारे गुरु हैं। वे महामुनि ब्रह्मज्ञानमें पारंगत हैं और मधुकाण्ड के अर्थ से पूर्ण परिचित हैं। तुम दोनों को वेद पढ़ाकर उन्होंने कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सभी विचार समझा दिये थे किंतु क्योंकि तुममें वैराग्य नहीं था इसलिये उपनिषदों का तात्पर्य उन्होंने नहीं समझाया ।।९९-१००।। तुम दोनों ने जैसा वेद गुरु से ग्रहण किया था और जो उसका तात्पर्य समझा था वैसा ही विश्वरूप त्वाष्ट्र को पढ़ा-समझा दिया एवं आगे उसने भी वैसी ही शिक्षा प्रदान की ।।१०१।। यों उत्तम ज्ञान पौतिमाष्यको साम्प्रदायिक विधिसे मिला। मनुष्यलोक के द्विजों के गुरु श्रीपौतिमाष्य ही हुए।।१०२।।

ब्रह्मज्ञानके कारण उज्ज्वल कीर्ति वाले दध्यङ् आथर्वण यों सम्प्रदाय प्रवृद्ध कर प्राचीन समय में कहीं आश्रम बनाकर निवास करते थे।।१०३।। देवता, मनुष्य व असुर सभी के प्रति वे पक्षपातरहित हो उपकार करते थे और स्वयं आनंदसे रहते हुए अन्य भी सभी को सुख पहुँचाते थे।।१०४।। जिस अधिकारी को जिस फल की अभिलाषा होती

१. न चैवं वेदान्तार्थपरम्परालोपः, तदर्थबोधात्पूर्वमेवाध्यापकत्वोक्तेरिति शङ्कनीयम्; अनन्तरमधिकारमाप्य विद्यावाप्तिर्यथाऽश्विनोस्तथा त्वाष्ट्रादेरपि वेदादिग्रहणानन्तरं सति योग्यत्वे तल्लाभसंभवात्।

२. वेदान्तार्थस्याद्याप्यलाभात् परेह न परब्रह्मणो विद्येत्यभिप्रेत्योत्कृष्टेति व्याख्या।

एवं व्यवस्थिते तस्मिन्नगमत् कीर्तिरस्य हि। लोकत्रयीं दिशश्चैव प्रदिशोऽपि महात्मनः।।१०७।।

ब्रह्मविद्यानुपदेशः

तत्रापि युवयोः स्नेहः तस्य भूयानभूद् मुनेः। बाल्यमारभ्य शिष्यौ च युवां तस्य महात्मनः।।१०८।

युवयोर्विषयासक्तिं वीक्ष्यासौ याचितोऽपि हि। नाऽदात् पूर्णात्मनो विद्यामधिकारविवर्जनात्।।१०६।।

अकाले हि यथा वृष्टिः यथा दीपो दिवाकरे। अन्नं यथा त्वजीर्णे स्याद् दत्तं वाऽपि गतस्पृहे।११०।

अधिकारं विना तद्वद् विफलं ब्रह्मबोधनम्। एवं वदन् मुनिर्नित्यमिच्छतामधिकारिणाम्।।१११।।

एवमिति। एवम् उक्तविधया तस्मिन् दधीचि व्यवस्थयां वर्तमाने सति अस्य महात्मनः कीर्तिः सर्वत्र प्रसृतवतीत्यर्थः।।१०७।। तत्रापीति। हे अश्विनौ! तत्र समत्वेन वर्तमानत्वेऽपि तस्य दधीचो महात्मनः स्नेहः युवयोः विषये भूयान् अधिकोऽभूद् यतः युवां तस्य बाल्यमारभ्य शिष्यौ इति।।१०८।। युवयोरिति। एवं स्नेहाधिक्येऽपि भवद्भ्यां याचितोऽपि च युवयोः विषयासक्तिं वीक्ष्य असौ दध्यङ्ङाथर्वणः पूर्णात्मनो विद्यां नाऽदाद् न दत्तवान्, युवयोस्तत्राधिकाराभावादिति।।१०६।। अकाले हीति। कीदृशो मुनिः? अधिकारिणाम् अधिकारमिच्छतां जनानाम् अधिकारसम्पादने तत्परतां सम्पादयितुम् एवं नित्यं वदन्। 'एवं' कथम्? अकाले वृष्टिः सूर्यस्य पुरः प्रकाशाय निहितो दीपः, अजीर्णे पूर्वान्नेऽन्नं भुक्तं, देयवस्तुनि स्पृहाहीने दत्तं च, एतानि यथा विफलानि तथा अधिकारं विना ब्रह्मवेदनमिति[1] द्वयोः सम्बन्धः।।११०-१११।।

उसे उस फल और उसकी प्राप्ति के उपायका स्वरूप वे समझा देते थे। साथ ही उनका हित चाहते हुए उन उपायों के दूरगामी फलों से भी अवगत करा देते थे क्योंकि कर्मों के प्रतिबद्ध फलों से अतिरिक्त भी कई सुख या दुःख देने वाले फल हुआ ही करते हैं।।१०५।। उदाहरणार्थ वे बताते थे कि इस यागसे स्वर्ग तो मिलेगा पर स्वर्गसमाप्ति पर दिव्य सुख छूटने का बहुत कष्ट भी होगा और फिर चाहे सत्कुल में ही सही पर जन्मदुःख भोगना ही पड़ेगा। ऐसे ही कहते थे कि इस अभिचार से शत्रु तो मर जायेगा लेकिन अनीतिपूर्ण हत्या के फलस्वरूप नरक जाना अनिवार्य होगा। इसी तरह समझाते थे कि फलकामना छोड़कर मोक्ष प्रयोजन से यज्ञ दानादि करोगे तो मन का रागादि मैल साफ हो जायेगा जिससे मोक्ष के उपायभूत ज्ञान को धारण करने की योग्यता तुम्हें प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार तात्कालिक ही नहीं स्थायी कल्याण की प्राप्ति हो इस भावना से वे उपदेश देते थे। अनधिकारी को हानि से बचाने के लिये वे नीति से काम लेते—वे उत्तम ब्राह्मण दधीचि, जो पुरुष ब्रह्मविद्या चाहते उन्हें सलाह देते थे 'साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर अधिकार हासिल करो उसके बाद तुम्हें यह विद्या बताऊँगा'।।१०६।। यों औचित्यपूर्ण प्रक्रियासे निर्वाह करने वाले ऋषि की कीर्ति तीनों लोकों में, आठों दिशाओं में फैल गयी।।१०७।। तुम दोनों बचपन से ही उन महाशय के शिष्य रहे अतः समभाव से बर्ताव करने पर भी उन मुनि को तुम पर अत्यधिक स्नेह था।।१०८।। फिर भी तुम्हारी विषयों के प्रति आकर्षणयुक्त स्थिति देखकर उन्होंने निष्प्रतियोगिक पूर्णता वाले आत्मा की, भूमतत्त्व की, विद्या का तुम्हें उपदेश नहीं दिया हालाँकि तुमने वह सुनने की प्रार्थना की थी। तुम्हें वह ज्ञान फल नहीं सकता था यह समझकर

---

१. वेदनमावेदनमुपदेश इत्यर्थः। ज्ञानन्त्वनधिकारिण्यसम्भवि। अकालवृष्टिर्वैयर्थ्ये, सति सूर्ये दीपो गतश्रीरवलोक्यइति दीपो विद्याया निःश्रीकत्वप्रतिभासे—विनाधिकारं श्रुतविद्यस्याविद्याद्यहानाद्विद्याऽविद्याहानासमर्थेति शंकाप्रसंग इत्यर्थः—गतस्पृहश्च श्रोत्रा विद्यातिरस्कारे दृष्टान्तः, निरीहो दीयमानमपि तुच्छी कुर्वन्नुपेक्षतएवममुमुक्षुः श्राव्यमाणोपि विद्यामित्यभिप्रायः। न नु गार्ग्येऽनधिकारेऽपि सत्यसंरक्षणाय विद्यादानस्योपपादितत्वादधिकारमार्गणमनित्यमिति चेन्न, तस्य सत्यार्थवादत्वात्। सत्यप्रतिज्ञत्वादि-हेत्वन्तराद्विद्यादानौचित्येप्यौत्सर्गिकत्वादधिकारान्वेषणस्यादोषाच्चेति।

अश्विनोरिन्द्रविरोधः

रूपविद्याभिसम्पन्नौ तरुणौ युद्धदुर्मदौ। अवज्ञां देवराजस्य चक्राते क्वचिदेव हि।।११२।।

यज्ञभागं सुरेन्द्रोऽपि युवयोर्विन्यवारयत्। अपूतौ भिषजावेतौ भूतपूर्वं नराधमौ।। यज्ञभागोऽनयोर्मा भूद् ममाज्ञेयं जगत्त्रये।।११३।।

सुराणां च मुनीनां च समक्षं ह्येवमीरिते। शक्रेण यज्ञभागोऽगाद् युवयोः सर्वयज्ञतः।।११४।।

गुरुसमक्षमश्विनोरात्मश्लाघा

युवामेवं सुदुर्दान्तौ यज्ञभागविवर्जितौ। सन्तप्तौ स्वगुरुं प्राप्य भागार्थं पर्यपृच्छतम्।।११५।।

शक्रेणाद्य सभामध्ये यज्ञभागो हतो गुरो!। आवयोः किन्तु युक्तं नौ कथय त्वं महामुने।।११६।।

आवां योधयितुं शक्तौ शक्रं सामरमाहवे। अनुज्ञातस्तव गुरो! सन्देहं मा कृथाः क्वचित्।।११७।।

ब्रह्माणं वा महेशं वा हरिं शक्रमथापि वा। एक एवावयोर्जेतुं शक्तो लोकत्रयीवृतम्।।११८।।

आवयोर्मरणं नैव शस्त्रैरस्त्रैश्च दारुणैः। व्याध्यादिभिर्यतश्चावां जानीवो मृतजीवनीम्।।११९।।

इत्थं मुनौ वर्तमाने सति भवतोरिन्द्रेण द्वेषः कुतश्चिन्निमित्ताज्जात इत्याह—रूपेति। क्वचिद् निमित्ते सति युवां देवराजस्य अवज्ञां कृतवन्तौ यतो रूपादिभिर्गर्वितौ इति।।११२।। यज्ञभागमिति। अवज्ञां दृष्ट्वा इन्द्रो युवयोः यज्ञभागं निवारितवान्। निवारणमभिनयति—अपूताविति। एतौ अश्विनौ यतो भिषजौ चिकित्सकौ पूर्वजन्मनि नराधमौ चास्तामतः अपूतौ अशुद्धौ। अशुद्धत्वादेव अनयोः यज्ञे यो भाग आश्विनग्रहादिरूपः सोऽद्यारभ्य माभूद्—इयम् एवमाकारा त्रिलोक्यां ममाज्ञा इति।।११३।। सुराणामिति। देवादीनां सम्मुखे इन्द्रेण एवम् उक्ते सति युवयोः यज्ञभागः सर्वेभ्यो यज्ञेभ्योऽगाद् निवृत्त इत्यर्थः।।११४।। युवामिति। एवम् अनेन प्रकारेण दुर्दान्तत्वाद्यज्ञभागहीनौ युवां सन्तप्तौ सन्तौ स्वगुरुं दध्यञ्चमाथर्वणं प्राप्य पुनर्यज्ञभागलाभाय उपायं पृष्टवन्तौ।।११५।। गुरोरग्रेऽश्वि-

वे उसे तुम्हें नहीं प्रदान कर रहे थे।।१०९।। अधिकार चाहने वालों को अधिकार-प्राप्ति में तत्पर करने की मंशा से वे कहा करते थे 'बेमौसम की बर्सात, सूरज के सामने दीपक, अजीर्ण होने पर पुनः भोजन, अनिच्छुक को वस्तुप्रदान जैसे फलोत्पादक नहीं होता—बल्कि नुकसान भी कर सकता है—ऐसे ही अधिकार के बिना ब्रह्मज्ञान विफल होता है।'।।११०-१११।।

उन दिनों तुम लोग जवान थे, रूप और विद्यासे संपन्न थे तथा लड़ाइयों में भी बहादुरी कर गुजरने का मानो तुम्हें नशा था! तभी किसी मौके पर तुमने देवराज इन्द्र का अपमान कर दिया।।११२।। इन्द्र भी क्रुद्ध हो गये और तुम्हे यज्ञों में हिस्सा मिलने पर उन्होंने यह घोषणा कर प्रतिबन्ध लगा दिया 'अश्विनि कुमार क्योंकि चिकित्सक हैं और पूर्व जन्म में अधम नर थे इसलिये अपवित्र हैं। इन दोनों को यज्ञों में जो हिस्सा मिलता रहा वह आज से इन्हें न दिया जाये। यह मेरी आज्ञा है जिसे तीनों लोकों में माना जाये।।११३।। (चिकित्सा में कुछ प्राणियों के सुखार्थ प्रयोगादिमें व औषधनिर्माण में अनेक प्राणियों को कष्ट देना पड़ता है, अस्पृश्य आदि स्थानों का स्पर्शादि करना पड़ता है इत्यादि कारणों से इसे अपवित्र व्यवसाय माना जाता है।) देवताओं व ऋषियों के समक्ष यों घोषणा हो जाने पर सभी यज्ञों से तुम्हारे यज्ञभाग समाप्त हो गये।।११४।। आत्मनियंत्रण न होने से तुम इस प्रकार भाग से वंचित रह जाने पर दुःखी हुए और पुनः यज्ञभाग पाने का उपाय अपने गुरु के पास जाकर पूछने लगे।।११५।। तुमने कहा—हे गुरो ! आज

मायाश्च न स्पृशन्त्यावां सुरासुरनरैः कृताः। विषाणि च विचित्राणि जङ्गमानि स्थिराणि च।।१२०।

औषधानि च मन्त्राश्च तथा भूतपिशाचकाः। अभिचाराश्च शापाश्च प्रयुक्ताश्च द्विजोत्तमैः।।१२१।।

आवां सर्वप्रतीकारं जानीवो मुनिसत्तम! । त्वत्प्रसादात् स्वभावाच्च सिद्धौ सर्वाधिकौ यतः।।१२२।।

एकौषधप्रयोगेण स्वर्धुनीनीरमध्यतः। सामरं देवराजं तं मारयावः क्षणाद् मुने!।।१२३।।

उच्चाटयावः स्वर्गाद् वा पातयावः क्षितावपि। मोहयावः क्षणाद् वैतं दिगन्तरगतिं गतम्।।१२४।।

उत्पादयावः कामं वा सामरस्य शचीपतेः। मर्त्यलोकवधूनां वा मुनीनां वातिमोहतः।।१२५।।

नोर्वाक्यगणमभिनयति—शक्रेणेति दशभिः। अद्य इन्द्रेण आवयोः यज्ञभागो हतो निवारितः। तत्र आवयोः किं कर्तुं योग्यं तत् कथय इति।।११६।। आवयोः सामर्थ्यं तावच्छ्रोतव्यमित्याशयेनाहथुः—आवामित्यादिना। सामरं शक्रम् अपि योधयितुं युद्धेन तर्पयितुमिति यावद्, आवां शक्तौ स्वः, यदि आहवे तव आज्ञा स्यादिति।।११७।। आवयोरेकोऽपि ब्रह्मादीन् सपरिकरान् जेतुं शक्तः किमुत सहितौ!—इत्याह—ब्रह्माणमिति।।११८।। शक्तत्वे हेतुमाहथुः—आवयोरिति। यत आवयोः शस्त्राद्यैः मरणं न, मृतजीविन्या विद्यया सहितत्वादिति।।११९।। प्रभावान्तरमाहथुः—मायाश्चेति। देवादिप्रयुक्ता मायाश्चावां न स्पृशन्ति तथा विषाणि जङ्गमानि सर्पादिसम्बन्धीनि स्थिराणि स्थावराणि कालकूटादीनि प्रत्येकं विचित्राणि न स्पृशन्ति।।१२०।। औषधानीति। शत्रुभिः प्रयुक्तानि क्रूरौषधानि मन्त्राश्च न स्पृशन्ति। तथा भूतानि पिशाचाश्च न स्पृशन्ति। द्विजोत्तमैः प्रयुक्ता अभिचाराः शत्रुमरणहेतवः श्येनाद्या यागाः शापाश्च न स्पृशन्तीति।।१२१।। श्लोकद्वयोक्तेऽर्थे हेतुमाहथुः—आवामिति। प्रतीकारं निवर्तनोपायम् आवां जानीवः यतः त्वदनुग्रहात् स्वभावाच्च सिद्धिशालित्वेन सर्वाधिकौ।।१२२।। एवं स्वीयां परैरजेयतामभिधाय परेषां युद्धं विनापि औषधमन्त्रादिप्रयोगमात्रेण मारणादिकं कर्तुं शक्तौ स्व इत्याहथुः—एकौषधेति। स्वर्गे वहन्त्या गङ्गायाः सलिलस्य मध्ये एकस्य औषधस्य प्रक्षेपमात्रेण देवैः सहितमिन्द्रं क्षणाद् आवां मारयाव इति।।१२३।। उच्चाटयाव इति। उच्चाटयावः उद्विग्नचित्तं कुर्वः स्वर्गात्। क्षितौ वा पातयावः; एतेन स्तम्भनं सूचितम्, आकाश उड्डीयमानानां पक्ष्यादीनामुड्डयनशक्तिस्तम्भेन भूमौ पातप्रसिद्धेरिति। अथवा एतं सामरं देवराजं दिगन्तरगतिं गतं दिशां मध्ये भ्रमन्तं मोहयावः मोहितं कुर्वः, मोहवशादन्यदिशि प्रस्थितमन्यदिग्गतं कुर्व इति यावत्।।१२४।। वशीकरणक्षमतामाहथुः—उत्पादयाव इति। अतिमोहतः इति ल्यब्लोपे पञ्चमी; अप्सरःसु देवानां मुनीनां च कामः पुराणादौ प्रसिद्धः, आवां तु सामरस्य शचीपतेर्वा मुनीनां वा अतिमोहं सम्पाद्य अधमानां मर्त्यलोक-वधूनाम् एव सम्बन्धिनं कामम् अभिलाषम् उत्पादयाव इति। अत्र द्वितीयो वाशब्द एवार्थे बोध्यः, 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चय' इति विश्वात्। प्रथमतृतीययोस्तु समुच्चयवाचितेति विशेषः।।१२५।।

भरी सभा में इन्द्र ने हम दोनों को यज्ञों में मिलने वाला हिस्सा मिलने पर रोक लगा दी है। किन्तु बताइये क्या हमारे प्रति उसका ऐसा व्यवहार उचित है? हे महामुनि! आप ही कहें हमारे लिये अब क्या करना लाभकारी है।।११६।। आपकी अनुमति हो तो हम देवताओं समेत इन्द्र से युद्ध में टक्कर लेने में समर्थ हैं इसमें कोई संदेह मत रखिये।।११७।। हम दोनों में प्रत्येक इतना सशक्त है कि ब्रह्मा, महेश, विष्णु या इन्द्र पर विजय पा सकता है चाहे त्रिलोकी उनके पक्ष से लड़ने आ जाये!।।११८।। अचूक शस्त्र-अस्त्रों से व व्याधि आदि से हम दोनों मर नहीं सकते क्योंकि हम मृतसंजीवनी (मरे को जिलाने वाली) विद्या जानते हैं।।११९।। देव, दानव, मनुष्यों द्वारा रची माया भी हमें हानि नहीं पहुँचा सकती और सजीव या निर्जीव जैसा भी विलक्षण विष क्यों न हो, हमें नुकसान नहीं दे सकता।।१२०।। (सजीव विष जैसे सर्पादिका या वनस्पतियों का और निर्जीव जैसे कालकूट या खनिज आदि।) शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त क्रूर औषधियाँ (रासायनिक

एवमादिवचःपूगैर्भवद्भ्यामात्मनो बलम्। उक्तं दधीचः पुरतो गुरोर्विश्वासकारणम्।।१२६।।

दधीचः प्रत्युत्तरम्

स विचार्य चिरं पश्चाद् युवां वचनमब्रवीत्। कोधशत्रोर्वशं यातं मा युवां शत्रुतापिनौ।।१२७।।

न शक्रो युवयोः शत्रुः शत्रुर्वामेष एव हि। शक्रं जेतुं पुरा कस्माद् युवयोर्नाऽभवद् मनः।। इदानीं केन वा जातमिति कस्माद् न चिन्त्यते।।१२८।।

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा कामक्रोधादिकिङ्करान्। युवां देवत्वमापन्नौ दुर्लभं सर्वदेहिभिः। अधुना तौ कथं क्रोधशत्रोर्वशमुपागतौ।।१२९।।

एवमादीति। **एवमादिवाक्यसमूहैः** आत्मीयं बलं दधीचो गुरोः पुरतो विश्वासाय उक्तम् इति।।१२६।।

स विचार्येति। स **भवतां गुरुः** विचार्य युवां **प्रति** वचनमब्रवीत्—**हे अश्विनौ! युवां शत्रुतापिनौ भूत्वा क्रोधसंज्ञस्यान्तरशत्रोः** वशं मा यातं **मा प्राप्तौ भवतमिति।।१२७।।**

क्रोधस्य शत्रुतां स्फुटयति—न शक्र इति। शक्रो युवयोः शत्रुः न भवति, किन्तु वां युवयोः शत्रुरेष **क्रोध एव हि निश्चयेन। ननु कः क्रोधस्यापराध इति चेद्? अनर्थे प्रभोरिन्द्रस्य वधे प्रवर्तनमेव तावादव-धार्यतामित्याह**—शक्रमिति। **इतः पूर्वमिन्द्रं** जेतुं युवयोर्मनो नाभवदिदानीं तु जातम् **अत्र को हेतुरिति—इति क्रोधस्य शत्रुताविकाशकं कुतो न युवाभ्यां** चिन्त्यते इति।।१२८।। **येन सामर्थ्येन कामक्रोधयोः शत्रुराजयोरिन्द्रियरूपान् किङ्करान्** जित्वा **कामक्रोधौ निरुध्य युवां देवभावम्** आपन्नौ, अधुना **तत्सामर्थ्यं क्व गतम्?** इत्याह—इन्द्रियाणीति।।१२९।।

हथियार), मन्त्र, भूत, पिशाच, ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त अभिचारप्रयोग व शाप आदि— इनमें कोई भी हम पर असर नहीं करता क्योंकि हम दोनों ही इन सबकी काट जानते हैं कारण कि कुछ तो जन्म से ही हमें सिद्धि प्राप्त रही और बाकी आपकी कृपा से सामर्थ्य मिली जिससे हम सभी प्राणियों से अधिक बलिष्ठ हो गये हैं।।१२१-१२२।। स्वर्ग की नदी में एक जहर डाल दें तो क्षणभर में इन्द्र और सारे देवताओं को हम समाप्त कर सकते हैं।।१२३।। देवताओं सहित इन्द्र के मनमें स्वर्ग के प्रति उद्वेग, अनिच्छा, पैदा कर भूमि पर गिरवा सकते हैं क्योंकि उसके आकाशगमन की शक्ति भी प्रतिबद्ध कर सकते हैं। तुरंत ही हम ऐसा दिग्भ्रम पैदा कर सकते हैं कि देवता और इंद्र सभी दिशाओं में भटकते ही रह जायें!।।१२४।। या इंद्र, देवता और जिन्होंने इंद्रकी आज्ञा मानी उन मुनियों के मन में पृथ्वीलोक की स्त्रियों के प्रति कामना पैदा कर सकते हैं जिससे वे स्वर्ग छोड़ अधोलोक खुद ही चले जायेंगे।।१२५।।

अपने गुरु दधीचिको तुम्हारे बल पर विश्वास हो इस उद्देश्यसे उनके सामने तुम दोनों ने इस तरह की बातों से अपनी ताकत का खूब ब्यौरा दिया।।१२६।।

उन महामुनिने काफी सोच-विचार कर तुम दोनों को समझाया—हे अश्विनि कुमारों! तुम शत्रुओं को हराने में समर्थ रहते हुए इस क्रोध नामक शत्रु के वश में मत हो जाओ।।१२७।। इन्द्र तुम्हारा दुश्मन नहीं बल्कि यह क्रोध ही तुम्हारा शत्रु है। अबसे पहले तुम्हारे मन में इन्द्र को जीतने की क्यों नहीं आयी? अभी ही क्यों यह प्रतिशोध भाव पैदा हुआ? यह क्यों नहीं सोचते?।।१२८।। पहले तुमने काम-क्रोधादि शत्रुओं के इन्द्रियरूप योद्धाओं पर विजय पाकर ही देवता योनि प्राप्त की है जो सर्वसुलभ नहीं है। ऐसे सामर्थ्यशाली तुम आज क्रोधरूप दुश्मन से कैसे जीत लिये गये?।।१२९।। मैं समझता हूँ कि इन्द्रियरूप योद्धाओं को वह पुराना वैर याद है और अब क्रोधरूप राजा के सहारे वे स्वर्ग में भी आकर तुम्हें मार गिराने पहुँच गये हैं।।१३०।। इस अवस्थामें तुम इन्द्र को कैसे जीतोगे ! बाहिरी

क्रोधराजं समाश्रित्य नूनमिन्द्रियकिङ्कराः। पूर्ववैरस्मृतिं प्राप्ता हन्तुं वामगमन् दिवि।।१३०।।

इन्द्रं जेतुं कथं स्यातां युवां शक्ताविहाधुना। क्रोधशत्रुर्हतो नैव युवयोर्हतयोर्हतिः।।१३१।।

कामशत्रुहतौ दृष्ट्वा युवां बलविवर्जितौ। वाक्सायकैः सभामध्ये शक्रेण निहतौ भृशम्।।१३२।।

कस्माच्छक्रः पुराऽवज्ञां नाऽकरोद् युवयोः प्रभुः। कस्मादिदानीमकरोदिति बुद्धिविवर्जितौ।।१३३।।

शक्रं जेतुं समर्थौ तौ कथं धीमत्पुरोगमम्। कामेनैकेन दुःसाध्या युवयोर्लघुता कृता।। अधुना क्रोधसहितः स तु किं न करिष्यति।।१३४।।

कामक्रोधौ शत्रुचणौ

कामक्रोधौ महाशत्रू देहिनां सहजावुभौ[1]। तौ विहाय परं शत्रुं यो जयेत् स तु मन्दधीः।।१३५।।

युवयोर्यदि सामर्थ्यं जेतुं शत्रून् हि विद्यते। जयतं दुर्जयौ शत्रू कामक्रोधौ महाबलौ।।१३६।।

कामेन विजितो ब्रह्मा कामेन विजितो हरः। कामेन विजितो विष्णुः शक्रः कामेन निर्जितः। अपरे त्वमराः किन्नु नारीक्रीडामृगा हि ये।।१३७।।

अहन्त्वेवं मन्ये यज्जितपूर्वाः क्रोधराजस्येन्द्रियरूपाः किङ्कराः पूर्ववैरं स्मरन्तः सन्तो युवां हन्तुं स्वर्गेऽप्यागता इत्याह—क्रोधेति।।१३०।। इन्द्रमिति। आन्तरशत्रोः क्रोधस्य जयाभावे इन्द्रं जेतुं युवयोः का शक्तिरिति! किञ्च इन्द्रेण युवयोर्वाक्सायकैर्या हतिः ताडना कृता सा पूर्वं कामेन हतयोः एव कृता।।१३१।। चतुर्थपादार्थं स्फुटयति—कामेति। निष्कामस्य तु विद्यया सर्वात्मभूतस्य कोऽपकर्तेति भावः।।१३२।। कामस्याप्यनर्थहेतुताऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवसेया, युवां तु तद्विवेकहीनावित्याह—कस्मादिति। कीदृशौ युवाम्? इति बुद्धिविवर्जितौ। 'इति' किम्?—कस्मादित्यादि।।१३३।। यदा एकेन कामेन युवयोरीदृशं लघुत्वं कृतं तदा धीमतामग्रगण्यत्वेन गुरुतरमिन्द्रं जेष्यथ इति का प्रत्याशेत्याह—शक्रमिति। दुष्टं साध्यं फलं यस्याः सा तथा। इदानीं तु युवयोः पूर्वं हन्ता स कामः क्रोधेन पुत्रेणापि सहितः सन् किं न करिष्यति, अपि तु सर्वमनर्थं करिष्यतीति।।१३४।।

कामक्रोधयोः शत्रुतामेव स्फुटयति—कामक्रोधाविति। तौ कामक्रोधौ विहाय उपेक्ष्य परं तद्भिन्नं यो जयेद् जेतुं प्रवर्तेतेति यावत्, स मन्दः।।१३५।। सामर्थ्यमस्ति चेत् तावेव तावज्जेयावित्याह—युवयोरिति। जयतं युवामिति शेषः।।१३६।। कामस्य महाबलतामभिनयति—कामेनेति। जगदीश्वरा अपि लीलाविग्रहेण कामलीलां दधानाः कामस्य जगत्यनुगमं दर्शयन्तीति भावः। अपरे त्विति। अपरेऽमराः कामस्य पुरतःकिं गणनीयाः! यतो नारीक्रीडामृगा इति।।१३७।। फलितमाह—पञ्चेति।।१३८।। कामादपि प्रबलस्य क्रोधस्य जये विशेषतो यत्नो विधेयो यतस्तेन कामजयिनोऽपि मुनयः प्रायो जीयमाना दृश्यन्त इत्याह—जयन्तीति।।१३९।।

दुश्मन क्या जीतोगे जब भीतरी दुश्मन क्रोध को ही समाप्त नहीं कर पाये? इन्द्र ने जो तुम्हारी ताडना की है वह मरे को मारने जैसा है क्योंकि तुम कामशत्रु से तो पहले ही घायल हो। इंद्र ने जब समझ लिया कि कामरूप दुश्मन की मार से तुम्हारा बल क्षीण हो चुका तब सभा में वाग्बाणों से उसने जमकर प्रहार किया। निष्काम व्यक्ति तो परमात्मज्ञान द्वारा सभी का आत्मा बन जाता है, उसका कौन अपकार कर सकता है?।।१३१-१३२।। तुम यह नहीं सोच पा रहे हो कि महाराजा इन्द्र ने अब से पूर्व क्यों नहीं तुम्हारा अपमान किया? अब ही क्यों उन्होंने यह प्रतिबंध लगाया?।।१३३।। एक कामना ने ही तुम्हें इतनी नीचता तक पहुँचा दिया जिससे तुम इंद्रादि के संमुख अपमानित हुए तो जब कामपुत्र

१. बालकादावपि दर्शनात्।

पञ्चबाणस्ततो जेयः शत्रुरस्ति हि देहिनाम्। युवाभ्यां च जितो नायं किन्तु तेन युवां जितौ।।१३८।
जयन्ति मुनयः केचित् पञ्चबाणं कथञ्चन। तदीयं तनयं क्रोधं शक्ता जेतुं न तेऽपि हि।।१३९।।
पितृपुत्रौ महावीर्यौ कामक्रोधौ दुरासदौ। विजित्य सकलं विश्वं वर्तेते जयकाशिनौ।।१४०।।
युवां यदि बलोपेतौ मानिनौ शत्रुकर्षिणौ। जित्वेमौ जयतं शक्रं सामरं बलदर्पितम्।।१४१।।

विद्याप्रलोभनप्रदर्शनम्

इत्येवमादिवचनैः क्रोधशान्तिकरैर्मुनिः। उक्तवान् नैव संशान्तौ युवां क्रोधाग्निदीपितौ।।१४२।।
यदा तदा मुनिः सामभेदौ त्यक्त्वाऽतिबुद्धिमान्। उपप्रदानमारेभे युवयोः क्रोधदीप्तयोः।।१४३।।
सर्वभूतैर्युवां वैरं त्यजथोऽथ यदा तदा। ब्रह्मविद्यां चिरं प्रार्थ्यां दास्याम्येव न संशयः।।१४४।।

तस्माद् भवतोः शक्तिश्चेत् तावेव जेयावित्याह—पितृपुत्राविति द्वाभ्याम्। पिता कामः पुत्रः क्रोध एतौ दुरासदौ दुःखेन आसत्तुमुपसर्पितुं शक्यौ शूराविति यावत्; जयेन काशितुं शीलं ययोस्तौ तथा।।१४०।। युवामिति। शत्रून् क्रष्टुं, तापयितुमिति यावत्, शीलं ययोस्तौ तथा। ईदृशौ यदि युवां तर्हि इमौ कामक्रोधौ जित्वा इन्द्रं जेतुमुत्साहं कुरुतमिति।।१४१।। इत्येवमिति। इत्यादिकैः क्रोधोपशामकैः वाक्यैः मुनिः युवयोर्गुरुः उक्तवान् वैरिनिवृत्तिमुपदिष्टवान्, तथापि युवां क्रोधाग्निदीपितौ यदा न शान्तौ तदा स मुनिः साम प्रियवचनैः क्रोधोपशमनरूपं, भेदः प्रकृते क्रोधशत्रुपक्षपाताद् विश्लिष्य आत्मीयपक्षे समतात्मके स्थापनरूपः, ईदृशौ सामभेदौ विहाय युवयोः उपप्रदानम् आरब्धवान्। उपप्रदानं नाम दानस्य संनिहितम्, इष्टद्रव्यदानप्रतिज्ञारूपम्। इति द्वयोरर्थः।।१४२-१४३।। मुनेर्द्रव्यं तु विद्यारूपमेवेति तद्दानं वैरनिवृत्तये प्रतिजानीते—सर्वेति। एतेन वक्ष्यमाणविद्याया अधिकार्यपि सूचितः।।१४४।।

क्रोध भी साथ जुड़ गया तो तुम्हारी कौन गति नहीं करेगा? काम-क्रोध से निर्बुद्धि हुए तुम बुद्धिमानों में अग्रगण्य इन्द्र को जीतने में समर्थ कैसे हो सकते हो।।१३४।। जन्मसे ही काम-क्रोध रूप महाशत्रु देहधारियों के पीछे लगे हैं। उनकी उपेक्षा कर दूसरे दुश्मनों को जीतने की कोशिश करने वाला मूर्ख ही है।।१३५।। तुममें अगर शत्रुको हराने का बल है तो इन अजेय पराक्रमी काम-क्रोध पर विजय पाओ।।१३६।। कामना के बल का क्या ठिकाना! ब्रह्मा, हर, विष्णु, इन्द्र भी कामना से हारे हुए हैं तो बाकी देवताओं का क्या कहना जो स्त्रियों के इशारों पर नाचते हैं।।१३७।। इसलिये वास्तव में प्राणी द्वारा जीता जाने लायक दुश्मन है कामना जो संमोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तम्भन—इन बाणों से प्रहार करने में दक्ष है। तुमने उसे जीता नहीं बल्कि उससे हार खा गये।।१३८।। इससे भी ज़्यादा बली है क्रोध। कुछ मुनि कामना पर किसी तरह विजय पाते हैं पर वे भी कामपुत्र क्रोध को नहीं जीत पाते।।१३९।। काम-क्रोध रूप पिता-पुत्र का जोड़ा अति बलिष्ठ है जिसका सामना करना मानो असंभव है। ये दोनों सारी दुनिया जीतकर अपनी विजय की दीप्ति से आभामण्डित रहते हैं।।१४०।। तुम यदि स्वाभिमानी, शत्रुतापक और बलशाली हो तो काम-क्रोध को पहले जीतो फिर देवसेनोपेत इन्द्र से लड़ने की हिम्मत करना।।१४१।।

तुम्हारा गुस्सा ठण्डा करने के लिये मुनि ने इस प्रकार की बातें कीं पर क्रोधाग्नि से जलते हुए तुम दोनों का कोप शांत हुआ नहीं। तब समझदार मुनि ने साम व भेद की नीति छोड़कर दाम की नीति अपनाई। (पहले साम अर्थात् विचारप्रधान वाक्यों से समझाया था। फिर क्रोधशत्रु से भेद—विभाजन—कर अपने समतारूप पक्ष में मिलाने की कोशिश की। अब दाम का सहारा ले रहे हैं अर्थात् अश्विनों को अभिलषित वस्तु देने की प्रतिज्ञा से प्रलोभित कर रहे हैं।)।१४२-१४३।। 'अगर तुम लोग सभी प्राणियों से वैर छोड़ दो तो मैं अवश्य तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश दे दूँगा जिसे तुम बहुत समय से माँग रहे हो।' ।१४४।।

अश्विनोर्हठः

एवमुक्तौ युवां कोपदीप्तौ तं प्रोचथुर्गुरुम्। नैव साम्नो गुरो! कालो न भेदस्यास्ति सम्प्रति।।१४५।

दानस्य च यतः पूर्वमसकृत् कथितं त्वया। अधिकारे हि सम्पन्ने दास्याम्येव न संशयः। आज्ञापय क्षणाच्छक्रं जेष्यावो नात्र संशयः।।१४६।।

एवमुक्ते गुरुर्दण्डरूपं वचनमुक्तवान्। युवयोर्हितकामः सन् सर्वभूतसमो मुनिः।।१४७।।

गुरोर्दण्डप्रयोगः

पञ्चानामपि यो भर्ता जन्तुर्भवति कश्चन। ईश्वरः स हि विज्ञेयः पञ्चभूतात्मकः पुमान्। यस्तं हन्तीह हन्यात् स सेश्वरं भूतपञ्चकम्।।१४८।।

यस्मादुपकृतः कश्चिद् हन्ति चेत्तं नराधमः। स हन्यात् पितरं स्वस्य जननीं च कुलैः सह।।१४९।।

एवमुक्ताविति। एवं गुरुणा प्रोक्तावपि युवां तं गुरुं प्रति इत्थमुक्तवन्तौ—हे गुरो! अयं कालः सामदानभेदानां नास्ति। साधिकारे विद्यादानन्तु प्रतिज्ञातं पूर्वम् एवेति न तल्लोभेनापि वैरं त्यजावः। तस्मादिन्द्रं जेतुम् आज्ञापय एवेति द्वयोरर्थः।।१४५-१४६।।

एवमुक्त इति। एवम् भवद्भ्याम् उक्ते सति युवयोर्गुरुः दण्डरूपं पराजयप्रयुक्तदण्डेन भयद्वारा धर्मे प्रवर्त्तकेन समानाकारं वचोऽब्रवीत्। युवयोः हितकामत्वादिति।।१४७।।

दण्डरूपं वचनमभिनयति—पञ्चानामिति विंशतिश्लोकैः। पञ्चानां प्राणिनाम् अपि भर्ता पालको यः कश्चिदपि जन्तुर्भवति पञ्चभूतपतौ तस्मिन्नाकाशादिपञ्चभूतशरीरस्येश्वरस्य सम्पत्तिसंज्ञाऽभेदभावना कर्तव्या। तं पञ्चानां भर्त्तारं प्राणिनमपि यो हन्यात् स सेश्वरसमष्टिभूतपञ्चकहननप्रत्यवायं[1] प्राप्नुयात्। भर्तुर्हननेन तदुपकार्याणामपि हननात्। किमुत इन्द्रस्य सर्वलोकभर्तुर्हनने! इति भावः।।१४८।। 'उपजीव्यस्य प्रभोर्हनने कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः' इत्यादिवचनेभ्यः प्रायश्चित्तैरपरिहार्यः कृतघ्नतादोषोप्यापततीत्याह—यस्मादिति। यः कश्चिद् यस्माद् उपकारं लब्धवान् स उपकृतः तम् उपकारिणं हन्ति चेत् तर्हि स्ववंश्यैरनेकैः सह मातृपित्रोर्हननप्रत्यवायं प्राप्नुयादिति।।१४९।। स कां गतिं गच्छतीत्याह—अन्धेति। नरकाधिपः नरकराजः। तमः-

दधीचि के यों समझाने व लुभाने पर भी क्योंकि क्रोधाग्नि से तुम तप्त थे इसलिये माने नहीं और बोले—हे गुरु! यह समय साम या भेद की नीति का नहीं है। दान के लोभ से भी हम वैर छोड़ेंगे नहीं क्योंकि यह तो आप पहले ही कई बार कह चुके हैं कि अधिकारसंपन्न होने पर हमें आप अवश्य विद्या देंगे। आप तो हमें तुरंत आज्ञा दीजिये और हम निःसंदेह इन्द्र को हरा डालेंगे।।१४५-१४६।।

इस तरह नियंत्रण में न आया देख तुम्हारे हितैषी गुरु ने दण्डनीति से सिक्त वचन कहे। अर्थात् हार से हो सकने वाले दण्ड के डर से धर्म में प्रवृत्त करने की कोशिश की।।१४७।। उन्होंने कहा—पाँच प्राणियों का भी भरण करने वाला कोई जन्तु हो तो उसे पाँच भूतों के शरीर वाला परमपुरुष समझना चाहिये क्योंकि ईश्वरकी तरह वह अन्यों के पालनके लिये उद्यम करता है। संसार में जो ऐसे व्यक्ति को मारे उसने ईश्वर-समेत पाँचों भूतों की हानि की है यह माना जाता है। पालनकर्ता को मारने से उस पर आश्रित पाँचों प्राणी भी मानो मार दिये गये अतः वह एक की हिंसा पाँच गुणा अधिक पाप हो जाती है। तुम तो सारे विश्वका भरण-पोषण करने वाले इंद्र को मारने की सोच रहे हो; यदि मारा तो कितना दोष हो जायेगा यह सोचो।।१४८।। जो नीच मनुष्य अपने उपकारी की हानि करे वह उसी

१. ईश्वरविरोधाय सङ्कल्पोपि महन्निरयहेतुरितीश्वरवधस्य किमु वाच्यमिति कृत्वा तत्प्रत्यवायस्योपमानता, निन्दाया एव विवक्षणादिति द्रष्टव्यम्।

अन्धतामिस्रनामा यो नरको नरकाधिपः। प्राणिनो निवसन्त्यत्र स्वामिद्रोहपरायणाः।।१५०।।

कल्पकोटिसहस्रान्ते ब्रह्महा नरकार्णवात्। मुच्यते नैव मुच्येत स्वामिद्रोहपरो जनः।।१५१।।

अपि भूमेः खण्डमात्रं पालयेद् यस्तु देहभाक्। स राजा नैव वध्यः स्याद् वशं प्राप्तोऽपि वैरिणाम्।।१५२।।

लोकपालवपुष्कत्वाद् राजाऽवध्यो हि देहिनाम्। लोकपालाः कथं नाम वध्याः स्वर्गनिवासिनः।।१५३।।

भूदेवा ब्राह्मणा नैव वधमर्हन्ति कर्हिचित्। देवा इमे कथं नाम वध्याः स्युः स्वर्गवासिनः।।१५४।।

यावन्त्यो देवताः स्वर्गे ब्राह्मणस्य वपुष्यमूः। वसन्ति देवविदुषो विप्रो वध्यो न तेन सः। देवता निखिलाः स्वर्गे वधमर्हन्ति केन ताः।।१५५।।

गवां वा ब्राह्मणानां वा देवतानां च योऽधमः। लोकोपकारिणां तद्वद् राज्ञां धर्मात्मनामपि।।१५६।।

कर्मणा मनसा वाचा कुरुते हिंसनं हि सः। नरकान्न विमुच्येत कल्पकोटिशतैरपि।।१५७।।

लोकपालांस्तथा देवानहत्वा शक्रमाहवे। हन्तुं शक्तो हि को नाम देवो वा दानवोऽथ वा।।१५८।।

इन्द्रमग्निं यमं रक्षो[1] वरुणं च प्रभञ्जनम्। धनेशमीश्वरं शेषं ब्रह्माणं हि जयेद्धि कः।।१५९।।

प्रचुरत्वाद् अन्धतामिस्रसंज्ञः। तत्र ते यान्तीति।।१५०।। ब्रह्मघ्नादपि चिरं तत्र वसन्तीत्याह—कल्पेति।।१५१।। अपि भूमेरिति। भूमेः एकदेशम् अपि यः पालयति स राजत्वाद् अवध्यः प्रसिद्धः, किमुतेन्द्रः त्रिलोकीपतिरिति।।१५२।। किञ्च येषां लोकपालानामिन्द्रादीनामंशसम्बन्धाद् राज्ञोऽवध्यता तेषां साक्षादवध्यता किमु वक्तव्येत्याह—लोकेति। लोकपाला वपुषि यस्य स तथा तस्य भावो लोकपालवपुष्कत्वं तस्मात्।।१५३।। अपि च भूमिनिरूपितं येषां पूज्यतारूपं देवत्वं तेऽपि ब्राह्मणा अवध्याः किमुत सर्वत्र ये देवाः! इत्याह—भूदेवा इति।।१५४।। ब्राह्मणानाम-वध्यत्वे राजवद् देवसम्बन्धोऽपि प्रयोजकः। तथा च स एव कैमुत्यन्याय इत्याह—यावन्त्य इति। स्वर्गे यावन्त्यो देवता अमूः एताः सर्वा ब्राह्मणस्य वपुषि शरीरे वसन्ति, तेन स विप्रोऽवध्यः किमुत साक्षात् ता देवता इति। देवविदुषः देवान् तत्प्रतिपादकमन्त्रान् जानतः।।१५५।। गोब्राह्मणदेवतानां धर्मिष्ठनृपाणां चापकारे यत् फलं तद् दर्शयति—गवामिति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।१५६-१५७।। किञ्च शिरसा गिरिभेदनवदशक्य इन्द्रजयो, लोकपालादिजय-पूर्वकत्वादिन्द्रजयस्येत्याह—लोकपालानिति।।१५८।। दशलोकपालान् दुर्जयान् दर्शयति—इन्द्रमिति। इन्द्रादयोऽष्टौ क्रमेण पूर्वादिदिक्पतयः। ब्रह्मा ऊर्ध्वदिक्पतिः। शेषोऽधोदिक्पतिः। अत्र इन्द्रस्य विग्रहविशेषः पूर्वदिक्पतिः विष्णोरिव पादेन्द्रियाधिपतिरिति बोध्यम्।।१५९।।

पाप का भागी होता है जो अपने माता, पिता और अन्य वंशजों को मार डालने से होता है।।१४९।। अपने मालिक से द्रोह करने वाले अन्धतामिस्र नामक नरक में निवास पाते हैं जो नरकों में प्रधान है, अधिक दुःखरूप है। ब्रह्महत्या करने वाला दस अरब कल्पों में तो नरक से निकल आता है लेकिन जो स्वामी से द्रोह करने में तत्पर हो वह नरक समुद्र से निकल ही नहीं पाता। (मालिक की अन्तर्गतता का प्रदर्शन करते हुए, उसका लाभ लेते हुए मालिक की हानि की कोशिश द्रोह है।)।।१५०-१५१।। पृथ्वी के हिस्से का पालनकर्ता राजा भी दुश्मन के काबू में आ जाये तब भी

१. नैर्ऋतिरित्यर्थः।

एतेषां सम्प्रसादेन युवयोर्हि बलं स्मृतम्। विमुखत्वे पुनस्तेषां युवां काष्ठसमौ मतौ।।१६०।।

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतः साध्यसंयुताः। [1]विज्ञेयास्ते महात्मानो युवाभ्यां केन हेतुना।।१६१।।

लोकपाला इमे देवा मुनयः सिद्धचारणाः। अन्यान्यपि हि भूतानि शक्रमेवानुयान्ति हि।।१६२।।

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्तयो विविधा अपि। भूतानि पञ्च सोमश्च ग्रहा नक्षत्रतारकम्। अन्यच्च सकलं विश्वं शक्रमेव समाश्रितम्।।१६३।।

संग्रामः सर्वदा[2] कार्यः समेन विषमैर्न च। भवद्भ्यामधिकः शक्रो बलबुद्धिसहायकैः।।१६४।।

भवतोर्यावदत्रास्ति वीर्यं तावत् सुरेष्वपि। एकैकस्यैव सर्वस्य देवमात्रस्य विद्यते।।१६५।।

युवयोरपि बलमेतेषामिन्द्रादीनामनुग्रहेण; तेषां कोपे तु क्व युवयोः सामर्थ्यमित्याह—एतेषामिति।।१६०।। किञ्च युवां द्वौ, आदित्यादयो द्वादशादिसंख्यगणाः, तान् कथं जेष्यथ?—इत्याह—आदित्या इति।।१६१।। इन्द्रेण युद्धे च सर्व एते पुरतो भविष्यन्ति तस्य सर्वाधिपतित्वादित्याह—लोकपाला इति द्वाभ्याम्। अनुयान्ति अनुसृत्य वर्तन्त इति।।१६२।। ब्रह्मेति। विष्णुः उपेन्द्रसंज्ञः। पञ्च भूतानि तदभिमानिदेवाः। सोमः चन्द्रः। नक्षत्राणि तारकाश्च तेषां समाहारस्तथा।।१६३।। अपि च युद्धप्रसक्तावपि समैर्योद्धव्यं नाधिकैः, इन्द्रस्तु बलेन बुद्ध्या सहायैश्च भवद्भ्यामधिक इत्याह—संग्राम इति।।१६४।। इन्द्रस्य सहायैराधिक्यं स्फुटयति—भवतोरिति। भवतोः अश्विनोः यावत् सामर्थ्यं तावद् देवानां मध्ये एकैकस्य सर्वस्यापि अस्ति, 'एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ.१.५.१३) इति श्रुतेः।।१६५।। प्रत्येकदेवसामर्थ्यमभिनयति — एकैक इति। इन्द्रान्तिकवासी एकैकोऽपि देवः

वध के योग्य नहीं, तो इन्द्र का क्या कहना!।।१५२।। राजा के शरीर में लोकपालों का वास माना जाता है इसीसे वह अन्यों द्वारा अवध्य स्वीकारा गया है तो स्वर्गवासी लोकपाल स्वयं अवध्य हैं इसमें क्या कहना!।।१५३।। भूमि पर देवता माने गये ब्राह्मण ही जब कभी वधयोग्य नहीं होते, यह धर्ममर्यादा है, तब ये स्वर्गवासी साक्षात् देवता वध के योग्य क्योंकर होंगे?।।१५४।। जो वेदपाठी ब्राह्मण मंत्रों का जानकार है उसके शरीर में उतने सब देवता रहते हैं जितने स्वर्ग में, इसीसे वह ब्राह्मण मारा जाने लायक नहीं होता। जिनके वास से ब्राह्मण अवध्य है वे स्वर्गवासी समस्त देवता वध के योग्य कैसे हो जायेंगे?।।१५५।। जो नीच गाय, ब्राह्मण, देवता, लोकोपकारी, राजा या धर्मात्मा की कर्मसे, मनसे या वचनसे हिंसा करता है वह अनन्त कल्पों तक नरक से छूट नहीं पाता।।१५६-१५७।। कोई भी देव या दानव लोकपालों और अन्य देवताओं को मारे बिना भला इंद्र को युद्ध में कैसे हरा सकता है?।।१५८।। इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईश्वर, शेष और ब्रह्मा इन दसों लोकपालों को कौन जीत सकता है?।।१५९।। इनकी कृपा से ही तुम दोनों को बल मिला है। जब ये ही विमुख होंगे—तुम पर कृपा नहीं करेंगे—तो तुम दोनों लकड़ी जैसे निश्चेष्ट रह जाओगे। यह मैं वास्तविकता समझ-बूझकर बता रहा हूँ।।१६०।। बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, उनन्चास मरुत; ये जब साध्यदेवों की सेनासे घिरे होंगे तो तुम दोनों जने उन्हें कैसे हरा सकते हो जबकि वे सभी महात्मा—न्यायपथ पर—हैं और तुम स्वार्थप्रेरित हो?।।१६१।। प्रसिद्ध लोकपाल, देवता, मुनि, सिद्ध, चारण आदि सभी लोग इन्द्र की ही तरफदारी करेंगे।।१६२।। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, विविध शक्तियाँ, पाँचों भूत, चन्द्र, तारे, नक्षत्र और अन्य भी सारा विश्व इन्द्र के सहारे चल रहा है।।१६३।। हमेशा याद रखो कि युद्ध करना हो तो बराबरी वाले से करना चाहिये, अधिक बलवाले पर आक्रामक होना हानिकारक होता है। बल, बुद्धि और सहायकों की दृष्टि से इन्द्र तुमसे ज्यादा शक्तिशाली है ही।।।१६४।। तुममें जितनी ताकत है उतनी तो हर देवता में है क्योंकि वेद ने कहा है 'ये सभी समान हैं, सब

१. विजेया इति युक्तं पठितुम्। २. स्वसङ्कल्पेन। आपदि युद्धाह्वानादौ तु गत्यन्तराभावइति भावः।

एकैकोऽपि समर्थोऽयं सृष्टिस्थित्यन्तकर्मणि। जगतः स्वर्गवासी यो देवः शक्रसमीपगः।।१६६।।

कारणं स्वर्गपातस्य द्वेषः स्वर्ग उदीरितः। त्यजथो द्वेषमेतेषु युवां स्वर्गार्थिनौ यदि।।१६७।।

इत्येवमादिवचनैरिहामुत्रभयङ्करैः। नानोपपत्तिसहितैः गुरुणा दण्डितौ युवाम्।।१६८।।

अश्विनोरसान्त्वनम्

यज्ञभागापगमनात् सभायां मानसंक्षयात्। दुःखितौ नैव वाक्यं तद् दधाते कर्णरन्ध्रयोः।।१६९।।

ऊचतुश्च युवां भूयो दुःखितौ हि[1] गुरुं प्रति। मरणं नरको वा नौ भवेद् युद्धं समादिश।।१७०।।

युवयोर्मानसं भावं विज्ञाय करुणावृतः[2]। यज्ञभागप्रसिद्ध्यर्थं गुरुः पुनरुवाच ह।।१७१।।

जगतः[3] सर्गादिकरणे शक्त इति।।१६६।। स्वर्गात् पातस्य लक्षणभूतत्वाच्च द्वेषो हेय इत्याह—कारणमिति। स्वर्गे स्वर्गवासिदेवेषु यो द्वेषः स राजसत्वेन तापकत्वाद् अमृतमयस्वर्गशरीरद्रावकत्वात् स्वर्गपातहेतुर्बुधैरुक्तः। पुण्यफले स्वर्गे द्वेषस्य पापफलस्य असमावेशाद्वा[4]। तस्माद् वृद्धिमिच्छतो मूलहानिरिति न्यायापातात् स्वर्गस्यापि हानिकरो द्वेषो हेय इति।।१६७।। रहस्यविकासको मुनिराह—इत्येवमिति। इत्यादिभिर्लोकद्वये भयप्रदर्शकैर्वाक्यैः सयुक्तिकैः युवां गुरुणा दण्डं नीतौ।।१६८।।

यज्ञेति। तथापि यज्ञभागापहारात् सभायाम् इन्द्रकृतमानभङ्गाच्च दुःखितौ युवां तस्य गुरोः वाक्यं कर्णयोः पतितमपि न दधाते नाङ्गीचक्रतुरिति यावत्।।१६९।। ऊचतुरिति। युवां भूयः तं गुरुं प्रति एवम् ऊचतुः—मरणादिकं यद् भवति तद् भवतु, युद्धमेव करिष्यावहे, तत् समादिश आज्ञापयेति।।१७०।। युवयोरिति। ततो युवयोः मनोनिष्ठमभिप्रायं पुनर्यज्ञभागलाभः कथं स्याद्—इत्येवमाकारं ज्ञात्वा यज्ञभागस्य प्रकर्षेण अनायासेन सिद्ध्य उपायं विवक्षुः गुरुः पुनरुवाच ह।।१७१।।

अनंत हैं'। स्वर्गीय जो देवता इंद्रके निकट हैं वे सभी लोग इसमें समर्थ हैं कि अपने ही बल-बूते पर बड़ी-बड़ी नवीन चीज़ें बना लें व उनकी रक्षा रखें और विशाल पदार्थों को अनायास नष्ट कर दें।।१६५-१६६।। हे कुमारों! स्वर्ग से गिराने वाला दोष बताया गया है द्वेष। यदि तुम स्वर्ग में अभी रहना चाहते हो तो देवताओं से द्वेष तत्काल छोड़ दो।।१६७।। इहलोक-परलोक दोनों का भय दिखाने वाले ऐसे ही अन्य वचनों से और युक्तियों से तुम अपने गुरु द्वारा फटकारे गये थे।।१६८।। तथापि यज्ञों में हिस्सा समाप्त होने से और भरी सभा में अपमानित होने से तुम इतने दुःखी थे कि वे बातें सुनकर भी तुमने अनसुनी कर दीं।।१६९।। दुःखवश ही तुम दोनों ने पुनः निवेदन किया 'हमें मरना पड़े या नरक जाना पड़े, आप तो हमें युद्ध की अनुमति दे ही दीजिये'।।१७०।। ऋषि ने तुम्हारी मनःस्थिति समझ ली। करुणावश तुम्हें पुनः यज्ञभाग दिलाने के अभिप्रायसे सुकर उपाय बताने के लिये उन्होंने भूमिका बाँधते हुए युद्ध की निंदा की।।१७१।। फूलों के हथियारों से भी लड़ाई लड़ना अनुचित है तो तीखे हथियारों से लड़ना नहीं चाहिये इसमें क्या कहना! युद्ध में अनेक दोष हैं। अन्त तक विजय संदिग्ध ही रहती है जिस कारण हमेशा तनाव रहता है। वीरों को प्राण खोने पड़ते हैं। विजय मिले तो भी शारीरिक घावों के और बान्धवमृत्यु के बिना मिलती नहीं। और हार हाथ लगे तो अपयश अलग हो जाता है। जिस अधर्मयुद्ध में मरने पर नरक और जीवित रहने पर अपकीर्ति मिलना निश्चित है उससे तो क्षत्रिय भी पलायन कर ले तो बेहतर ही है जबकि उसका धर्म है कि युद्ध से पलायन न करे।।१७२-१७४।। जिस युद्ध में

---

१. दुःखस्य राजसतया तदुद्रेके सत्त्वकार्यशमादेरसंभवो हिना हेतू क्रियते। २. एतेन श्रुतेस्तत्तत्फलककर्मविधानमुपपादितम्।
३. प्रतापातिशये तात्पर्याददोषो, जगदंशोत्पादनादौ तच्छक्त्युपपत्तेश्च।
४. स्वर्गस्य सुखतया सात्त्विकत्वेन रजउद्रेकस्य च सत्त्वाभिभवनान्तरीयकतया स्वर्गद्वेषयोर्यौगपद्यायोग इति भावः।

युद्धान्निवर्तनम्

पुष्पैरपि न योद्धव्यं तीक्ष्णैः शस्त्रैस्तु किं पुनः। सन्देहो विजये ध्रौव्यं प्रधानपुरुषक्षये।।१७२।।
अक्षतश्चापरिक्षीणबान्धवो न जयं व्रजेत्। पराजये च तावत् स्यादयशस्त्वधिकं त्विह।।१७३।।
मरणे नरको यत्र जीवनेऽपि यशःक्षयः। वरं क्षत्रियकस्यापि तस्माद्[1] युद्धात् पलायनम्।।१७४।।
विप्राणां बान्धवानां वा देवतानां च संक्षयः। यत्र युद्धे भवेत्तत्र धीमान् कुर्यान्न मानसम्।।१७५।।
असारेऽस्मिन् हि संसारे दुःखपूरितजीविते। अक्षिपक्ष्मप्रचलनसमाने जीविते पुमान्।।१७६।।
कुर्वीत सततं स्वस्मै हितं नाऽपरमण्वपि। न हितं युद्धमुद्दिष्टं[2] देवैर्लोकद्वयेऽपि हि।।१७७।।
अयुद्धे मरणं यत्र युद्धे जीवितसंशयः। तत्र युद्धं न युवयोः काल एष समागतः।।१७८।।
शस्त्रं मुक्तं निहन्त्येकमथवा तं च नैव हि। निहन्यात् सकलं विश्वं बुद्धिर्मुक्ताऽत्र धीमता।।१७९।।

सुकरमुपायान्तरं विवक्षुर्युद्धं तावन्निन्दति—पुष्पैरिति सप्तभिः। पुष्पकरणकमपि युद्धमप्रशस्तं, शस्त्रकरणकस्य अप्रशस्तता किमु वाच्या! यत एते युद्धदोषाः सन्ति। 'एते' के? श्रेष्ठपुरुषाणां क्षयस्यावश्यंभाविता; युद्धगतो व्रणं बान्धवक्षयं च विना जयं न गच्छतीति; पराजये परमनिन्देति चतुर्थः। इति द्वयोरर्थः।।१७२-१७३।। अधर्मयुद्धं लोकद्वयेऽनिष्टकरं क्षत्रियेणाऽपि परित्याज्यमित्याह—मरण इति।।१७४।। अधर्मयुद्धमभिनीय निषेधति—विप्राणामिति।।१७५।।

किञ्च क्षणभङ्गुरे संसारे दुर्लभमधिकारिदेहं प्राप्य हिततमं तत्त्वज्ञानं साधनीयं न तद्विपरीतं युद्धादीत्याह—असार इति द्वाभ्याम्। दुःखैः पूरितं जीवितं जीवनकालो यत्र; अक्षिपक्ष्मणोः प्रचलनेन निमिषेण समं जीवितं यत्र; एतादृशे संसारे स्वहितमेव कुर्वीत, न अन्यत्। युद्धं तु देवैः दैवसम्पदा युक्तैः हितं न प्रोक्तमिति द्वयोः सम्बन्धः।।१७६-१७७।।

तर्हि युद्धशास्त्रवैयर्थ्यम्? अतस्तत्कालं दर्शयति—अयुद्ध इति। यत्र काले एवं जानीयाद् यद् अयुद्धे युद्धाभावे मरणं निश्चितं, युद्धे तु जीवनस्य संशयः—स्यादपि जीवनमित्याकारः, तत्र काले युद्धं कुर्याद्। युवयोः तु एष युद्धकालो न आगतः, अन्यथापीष्टसिद्धेरिति भावः।।१७८।।

तर्हि किं कर्तव्यमिति चेद्? बुद्ध्याऽन्वेष्टव्य उपाय इति वक्तुं बुद्धेः पराक्रमादुत्कर्षं दर्शयति—शस्त्रमिति द्वाभ्याम्। शस्त्रं मुक्तं प्रयुक्तं सद् एकं शत्रुं निहन्ति जयति, कदाचित् तं नैव हन्ति इत्यपि संभाव्यते। उपायान्वेषिणी बुद्धिस्तु धीमता मुक्ता प्रयुक्ता सती सकलं विश्वं निहन्याद् जयेदिति यावत्।।१७९।। जन्तुरिति। जन्तुर्यानर्थान्

ब्राह्मण, बंधु और देवताओं के क्षीण होने का निश्चय हो, बद्धिमान् को चाहिये कि वैसे अधर्मयुद्ध के लिये मानस न बनाये।।१७५।। इस क्षणभंगुर संसार में क्या रस है! जीवनकाल दुःखक्षणों से ही भरा रहता है। ज़िन्दगी भी पलक झपकने जैसे अस्थिर है। इसमें तो पुरुष को सदा अपना हित करना चाहिये और कुछ नहीं। दैवीसम्पत् से युक्त विचारक तुमने जैसे युद्ध की ठानी है ऐसे युद्ध को न इहलोक के और न परलोक के हित का उपाय मानते हैं।।१७६-१७७।। जब स्थिति ऐसी हो कि बिना लड़े मरना निश्चित हो और लड़ने पर जीवित बचना संभावित हो तब युद्ध में प्रवृत्त होना उचित है। यह समय तुम्हारा नहीं आया, ऐसी परिस्थिति में तुम नहीं फँसे हो।।१७८।। शस्त्र छोड़ने पर तो एक ही को मारता है और निशाना चूके तो वह भी नहीं कर पाता लेकिन बुद्धिमान् यदि अपनी बुद्धिका प्रयोग करे तो सारे विश्व का विजेता बन जाता है।।१७९।। उपायों से जो विविध कार्य सिद्ध हो सकते हैं

१. धर्मविरुद्धादित्यर्थः। धर्म्ये तु सम्मुखे मरणात्सूर्यमण्डलभेदनमिति।

२. सहार्थेऽपि तृतीयामादाय योजयितुं शक्यं देवाःप्रतिपक्षे यत्र न तद्युद्धमुचितमिति।

जन्तुर्नानाविधानर्थान् साधयेद् यानुपायतः। पराक्रमान्न तान् कोपि साधयेज्जन्मकोटिभिः।।१८०।।

फलप्राप्त्युपायप्रकाशः

उपायं तेन वक्ष्यामि यज्ञभागप्रसिद्धये। युवयोर्युद्ध्यतोर्नाऽयं प्राप्तुं शक्यः कथञ्चन।।१८१।।

शर्यातिर्नाम भूपालो यष्टुमेष समुद्यतः। होतारं च्यवनं स्वस्य जामातारमथावृणोत्।। मनसा नेत्रहीनत्वात् सन्दिग्धश्चास्ति सर्वदा।।१८२।।

सुकन्या नाम कन्यास्य बाल्यात् क्वापि वने गता। सूर्यंपश्यं मुनिं सात्र च्यवनं तापसोत्तमम्। वल्मीकावृतदेहं तं चक्षुर्मात्रप्रकाशनम्।।१८३।।

दृष्ट्वा किमिदमित्येवं धिया भूबिलसंस्थिते। तृणेन केनचिद् नेत्रे च्यवनस्य बिभेद ह।।१८४।।

निर्गमाद्रुधिरस्यासौ राजा ज्ञात्वा मुनिं तदा। अन्धशुश्रूषणार्थं तां तस्य कन्यां हि दत्तवान्। मुनये नेत्रहीनाय सम्प्रार्थ्योद्विग्नमानसः।।१८५।।

उपायेभ्यो हेतुभ्यः साधयति तान् पराक्रमात् साधयितुं न शक्नुयाद्। यथा पराक्रमेण युद्धादिरूपेणाशक्यो ब्रह्मलोकजयो हिरण्यगर्भोपासनारूपोपायेन शक्यः कर्तुमिति प्रसिद्धम्।।१८०।।

ननु युद्धातिरिक्तमुपायं न जानीव इति चेत्? तर्हि श्रूयतामित्याह—उपायमिति। तेन उपायस्य दुष्करणेऽपि शक्तत्वेन, यज्ञभागलाभोपायं वक्ष्यामि यतः अयं यज्ञभागः युवयोः युद्धाद् न प्राप्तुं शक्य इति।।१८१।। उपायमभिनयति—शर्यातिरिति पञ्चभिः। शर्यातिर्नाम राजा यागायोद्यतो वर्तते। स च स्वस्य जामातारं च्यवनं नाम मुनिं होतृत्वेन ऋग्वेदोक्तकर्मकर्तृत्वेन मनसा अवृणोद् वृतवान्—याग एनं होतारं करिष्य—इति सङ्कल्पितवान्। परन्तु जामातुर्नेत्रहीनतामालोच्य—कथमार्त्विज्यं करिष्यति—इति सन्दिग्धोऽस्ति इति।।१८२।। ननु कथं शर्यातेर्जामाता च्यवनः, कथं वा नेत्रहीनः? इति शंकाद्वयं वारयति—सुकन्येति त्रिभिः। अस्य शर्यातेः सुकन्येति संज्ञिका कन्या पित्रा सह कुत्रचिद् वने गता सती सूर्यंपश्यं सूर्यमीक्षमाणं चिरस्थित्या वल्मीकावृतदेहं च चक्षुर्मात्रे प्रकाशनं यस्य एतादृशं तापसोत्तमं च्यवनं मुनिं दृष्ट्वा 'किमिदम्' इति आकारया धिया भूमिच्छिद्रगते च्यवनस्य नेत्रे केनचित्तृणेन बाल्याद् बिभेद ह इति द्वयोः सम्बन्धः।।१८३-१८४।। निर्गमादिति। ततो रुधिरस्य निर्गमाद् मुनिं ज्ञात्वा उद्विग्नं भीतं मानसं यस्य एतादृशो राजा तस्य च्यवनस्य अन्धत्वोपयोगिशुश्रूषणं कर्तुं तां सुकन्याख्यां कन्यां नेत्रहीनाय तस्मै मुनये सम्प्रार्थ्य दत्तवान् इत्यन्वयः।।१८५।। च्यवन इति। एवं च्यवनो नेत्रहीनो वृद्धश्च वर्तते, स

वे सिर्फ पराक्रम के बल पर करोड़ों जन्मों में भी नहीं हो पाते।।१८०।। तुम लोग लड़कर तो किसी तरह भी यज्ञभाग नहीं पा सकते लेकिन मैं एक उपाय बताता हूँ जो तुम्हारे लिये कारगर रहेगा।।१८१।।

शर्याति नामक राजा ने एक यज्ञ का आयोजन किया है। उनका संकल्प है कि अपने दामाद च्यवन को होता बनायेंगे, ऋग्वेदीय ऋत्विक् बनायेंगे। फिर भी च्यवन के अंधेपन के कारण शर्याति चिंतित हैं कि वे आर्त्विज्य कैसे कर पायेंगे।।१८२।। यह तो तुम जानते ही होगे कि शर्याति की पुत्री सुकन्या बचपन में पिता के साथ कहीं वन में गयी थी। वहाँ उत्तम तपस्वी च्यवन मुनि सूर्यमात्र की ओर दृष्टि एकाग्र रखकर चिरकाल से स्थित थे। उनके शरीर को दीमक ने ढक रखा था जिससे वल्मीक में सिर्फ ऋषि की आँखें चमक रही थीं। सुकन्या को जिज्ञासा हुई 'यह क्या है?' और बालसुलभ चपलता से उसने किसीं तिनके से मिट्टी के उन छेदों को खोदा जिससे च्यवन की आँखें फूट गयीं।।१८३-१८४।। जब छिद्रों से खून बहने लगा तब राजा की समझ में आया किसी मुनि के प्रति अपराध हो गया

च्यवनो नेत्रहीनश्च वृद्धश्चेन्नेत्रवान् युवा। युवाभ्यां क्रियते वां स यज्ञभागं प्रदास्यति।।१८६।।

उपायेन भागलाभः

एवमुक्ते भवद्भ्यां च तथैव सत्कृतो[1] मुनिः। दत्तस्तेनाऽपि युवयोर्यज्ञभागो महात्मना।।१८७।।

इन्द्रो दधीचोऽतिथिः

एवं स्थिते कदाचित्तु शक्र आश्रमं[2] आगतः। आथर्वणस्य युवयोः गुरोः सर्वहितस्य सः।।१८८।।

तेनापि स कृतातिथ्य उपविष्टो यथासुखम्। कथा नानाविधाः कृत्वा हृष्टचित्तः शचीपतिः।।१८९।।

एवं भवद्गुरुः प्राह सन्तुष्टं देवताप्रभुम्। करोम्यतिथये किन्ते[3] त्रिलोकीपतये प्रियम्।।१९०।।

इन्द्रस्य विद्याप्रार्थना

एवमुक्तस्तमाहेन्द्रः कुरुषे यदि मे प्रियम्। मह्यं विद्यां वदैकां त्वं दुर्लभां सर्वजन्तुभिः।।१९१।।

चेद् युवाभ्यां नेत्रवान् युवा च क्रियते तर्हि स वां युवाभ्यां यज्ञभागं दास्यतीति।।१८६।।

रहस्यप्रकाशको मुनिराह—एवमिति। एवं गुरुणा उक्ते सति भवद्भ्याम् अश्विभ्यां स च्यवनो मुनिः तथा युवा नेत्रवांश्च कृतः। तेन च्यवनेन अपि युवयोः यज्ञभागो बलेन दत्त इति भागवते नवमे विस्तरः।।१८७।।

एवं स्थित इति। एवं युवयोर्वृत्ते स्थिते सिद्धे सति युवयोः गुरोः आथर्वणस्य दधीच आश्रमं कदाचिद् इन्द्र आगतः।।१८८।। तेनापीति। तेन भवतोर्गुरुणा स इन्द्रः कृतातिथ्यः सन् यथासुखमुपविष्टो नानाविधाः कथाः कृत्वा हृष्टचित्तो जात इति।।१८९।। एवमिति। सन्तुष्टं देवराजम् एवं भवतोर्गुरुः प्राह। 'एवं' कथम्? तेऽतिथये त्रिलोकीपतये त्वां त्रिलोकीपतिं प्रीणयितुं किं प्रियं सम्पादयामि इति।।१९०।।

एवमुक्त इति। एवमुक्त इन्द्रस्तं भवद्गुरुम् एवं प्राह। 'एवं' कथम्? यदि मे प्रियं कुरुषे तर्हि सर्वैर्दुर्लभां विद्यां वद इति।।१९१।।

है। डरकर उसने मुनिसे प्रार्थना की और उन नेत्रहीन च्यवन ऋषि की सेवा के लिये उन्हें सुकन्या प्रदान कर दी।।१८५।। उन अंधे वृद्ध च्यवन को यदि तुम नेत्रयुक्त और युवा बना दो तो वे तुम्हें यज्ञभाग दे देंगे!।।१८६।।

गुरु द्वारा उपाय बताने पर तुमने वैसा ही किया और च्यवन को यौवन व दृष्टि प्रदान की। उन्होंने भी तुम्हें यज्ञभाग प्रदान किया क्योंकि वे महात्मा—कृतज्ञ—हैं।।१८७।।

इस घटना के बाद किसी समय तुम्हारे गुरु व सबके हितैषी आथर्वण के आश्रम पर इन्द्र का आगमन हुआ।।१८८।। दधीचि ने अतिथिसत्कार पूर्वक उन्हें बैठाया। विविध चर्चाओं से शचीपति भी प्रसन्न हुए।।१८९।। यद्यपि देवेन्द्र इस व्यवहार से सन्तुष्ट थे तथापि तुम्हारे गुरु ने पूछा 'आप अतिथि हैं, त्रिलोकीपति हैं, मैं आपकी प्रसन्नता के लिये क्या करूँ?'।।१९०।। इन्द्र ने जवाब दिया 'यदि मेरी प्रसन्नता के लिये कुछ करना चाहते हैं तो सभी जन्तुओं के लिये दुर्लभ जो प्रमुख विद्या है उसका मुझे उपदेश दीजिये।।१९१।।

---

१. स कृत इति टीकानुसारी पाठः।

२. आश्रममिति टीकापाठः।

३. देवानां खादनाद्यभावस्य श्रुतत्वाद्भोजनाद्यर्पणायोगात्प्रश्नोपपत्तिः।

ऋषेश्चिन्ता

एवमुक्ते तु शक्रेण दध्यङ्ङाथर्वणो मुनिः। संशयं परमं प्राप्तः कन्याया जनको यथा।।१६२।।

कस्मैचित्ते ददामीति ह्युक्त्वा कन्यां यथा पिता। गुणहीनत्वमालोक्य संशये पतितो भवेत्।।१६३।।

एवमेषोऽपि शक्राय प्रोक्तवान् न च तादृशः। गुरुभक्तिविरक्त्यादिवर्जितत्वेन देवराट्।।१६४।।

एकतो वचनं मिथ्या भवेद् विद्या तथैकतः। निष्फला चेति सन्देहं परमं प्राप्तवान् मुनिः।।१६५।।

विद्यानिष्फलतायां हि दोषस्तादृङ्न सम्भवेत्। मिथ्यावचसि यादृक् स्यादिति सञ्चिन्त्य सोऽवदत्।।१६६।।

इन्द्रायोपदेशः

शक्र दस्रौ हि मे शिष्यौ विदितौ तौ सदा तव। ताभ्यां सम्प्रार्थ्यमानोऽपि नाऽदामेतां कथञ्चन।
तामेतां कथयिष्यामि विद्यामत्यन्तदुर्लभाम्[1]।।१६७।।

एवमुक्ते त्विति। एवम् इन्द्रेण उक्ते सति भवद्गुरुः परं संशयं प्राप्तः यथा कन्यापितेति।।१६२।। दृष्टान्तं स्फुटयति—कस्मैचिदिति। यथा कन्यापिता कस्मैचित् 'ते तुभ्यं कन्यां ददामि' इति उक्त्वा अथ यस्मै कन्या दातुं प्रतिज्ञाता तस्य गुणहीनतामालोक्य 'न दद्यां, दद्यां वा' इत्याकारे संशये पतितो भवेद् इति।।१६३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमेष दध्यङ्ङाथर्वणोऽपि इन्द्राय इष्टं दातुं प्रतिज्ञातवान्, देवराट् तु गुरुभक्त्यादिहीनत्वेन तादृशो विद्यादानयोग्यो न भवतीति स मुनिः संशयं प्राप्त इति।।१६४।। एकत इति। ततः स मुनिः आथर्वणः इति 'न दद्यां, दद्यां वा' इत्याकारयोर्द्वयोरपि पक्षयोर्दोषमालोच्य संशयं प्राप्तः। 'इति' कथम्? एकतः एकस्मिन् पक्षे निषेधरूपेऽनृतं दोषः। एकतः विधिरूपे पक्षे विद्यानिष्फलतेति।।१६५।। तथाऽप्यनृतदोषप्राबल्यं विचार्य प्रतर्दनायेन्द्रवत् सत्यपाशबद्धो वक्तुमुपचक्रम इत्याह—विद्येति। स दध्यङ्मुनिः।।१६६।।

दध्यङ्ङाथर्वणो मुनिरुवाच—शक्रेति। हे शक्र! दस्रौ अश्विनौ मे शिष्यौ तौ तव त्वयापि विदितौ, 'क्तस्य च वर्तमाने' (२.३.६७) इति षष्ठी; ताभ्यां प्रियशिष्याभ्यां सम्प्रार्थ्यमानोऽपि याम् एतां विद्यां नाऽदाम् न दत्तवानस्मि तां विद्याम् अतिदुर्लभां ते कथयामीति।।१६७।।

यह सुनकर दध्यङ् आथर्वण मुनि बड़ी दुविधा में पड़ गये जैसे कन्या का पिता फँस जाता है।।१६२।। कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति किसी से कह देता है 'आपसे अपनी पुत्री ब्याह दूँगा' और बाद में पता चलता है कि वह व्यक्ति गुणहीन है तब कन्याका बाप 'दूँ कि न दूँ' इस दुविधा में फँस जाता है। ऐसे ही ऋषि ने कह तो दिया 'आपको जो इष्ट हो सो मैं करूँ' लेकिन इंद्र ने जो माँगा वह पाने की योग्यता उसमें थी नहीं क्योंकि गुरुभक्ति, वैराग्यादि से वह अस्पृष्ट था। अतः दधीचि सोचने लगे कि एक तरफ मेरा वचन झूठा होता है और दूसरी ओर विद्या निष्फल होती है क्योंकि अनधिकारी को मिलकर भी उसे फल नहीं मिल पाता। उन्होंने विचारपूर्वक निर्णय किया कि विद्या निष्फल होने से वैसा दोष नहीं जैसा झूठ बोलने से होता है। फिर उन्होंने इंद्र को समझाने का उपक्रम किया।।१६३-१६६।।

दधीचि ने कहा—हे इन्द्र! आप हमेशा से जानते हैं कि अश्विनि कुमार बालकपन से ही मेरे प्रिय शिष्य रहे हैं। उन्होंने ब्रह्मविद्या पाने के लिये कई बार मुझसे प्रार्थना की लेकिन अभी तक मैंने उन्हें इसका उपदेश दिया नहीं है। इस अत्यंत दुर्लभ विद्या का मैं आपको उपदेश दूँगा।।१६७।। 'विद्या' शब्द मुख्यरूपसे ब्रह्मज्ञान का ही बोधक

१. एतेन शक्रः सावधानी कृतः, बुद्धिमांश्चेद्वैराग्यवर्णनेनानुद्विग्नस्तिष्ठेद् दौर्लभ्यमालोच्य।

विद्यानिरुक्तिः

मुख्यो विद्येतिशब्दोऽस्यां नान्यस्यां तु कथंचन। विविधं वासनाजालमूलमज्ञानमुत्कटम्। द्यति सर्वात्मना यस्मात् तस्माद् विद्येति गीयते।।१९८।।

विशेषेणाऽहमस्मीति चानन्दात्मानमव्ययम्। दद्याद् वा द्योतयेद् वाऽतो विद्यैषा परिगीयते।।१९९।।

पूर्णमदः-श्लोकव्याख्या

पूरयत्यखिलं विश्वं पुरुषो ब्रह्मसंज्ञितः। स्वात्मनैव ततः सोऽयं पूर्णनामाऽभवत् पुमान्।।२००।।

परोक्षं यच्च किञ्चित्ते प्रत्यक्षं वा शचीपते। सदसच्छब्दधीगम्यं पूर्णमेवावधारय।।२०१।।

यथा सुखशब्दस्य मुख्यार्थत्वाद् भूमानन्दो दुर्लभः तथेयमित्याह—मुख्य इति। अस्यां वक्ष्यमाणायाम्। तदर्थं विद्याशब्दं व्युत्पादयति—विविधमिति। विविधं मूलाज्ञानरूपैरनेकविधं[1] वासनाजालानां मूलभूतम् उत्कटं भयप्रदम् अज्ञानं सर्वात्मना निःशेषेण यस्माद् द्यति खण्डयति तस्माद् विद्येति उक्ता। विपूर्वात् खण्डनार्थाद् दोधातोः (दि.प.अ.) ड्यप्रत्यये औणादिके साधुः।।१९८।। ददातेः द्युतेर्वा तस्मिन् प्रत्यये साधुरित्याह—विशेषेणेति। अव्ययमानन्दात्मानं विशेषेण ददाति अधिकारिणः करामलकवदधीनं[2] करोति। अथ वा द्योतयति अपरोक्षयति तस्माद् विद्या इति। इतरविद्यासु अज्ञानस्याभिभवमात्रं कुर्वाणासु गौणो विद्याशब्द इति यावत्।।१९९।।

अथेन्द्रायोपदेशविधया मधुकाण्डस्य निर्गुणविद्योपयोगिवाक्यानां मधुब्राह्मणपर्यन्तानामर्थं दिदर्शयिषुः प्रथमं समस्तोपनिषदर्थप्रदर्शकस्य मङ्गलार्थस्य च खिलकाण्डादौ पठितस्य 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' (५.१.१) इत्यादेर्मन्त्रस्यार्थमभिनयति—पूरयतीति पञ्चभिः। अयं समस्तोपनिषत्प्रतिपाद्यः साक्षादपरोक्षो ब्रह्मसंज्ञः पुरुषः[3] यस्माद् अखिलं विश्वं स्वात्मना स्वस्वरूपेण सच्चिदानन्दात्मकेन पूरयति व्याप्नोतीति यावत्, तस्मात् स पुमान् पूर्णसंज्ञां गत इत्यर्थः। तथा च पूरयतेः कर्तरि क्तप्रत्यये 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) इतीडभावे णिलोपे च पूर्णशब्दो व्युत्पन्न इति।।२००।। परोक्षमिति। यत् परोक्षम् असच्छब्दधीभ्यां गम्यं तत्पदार्थभूतं[4] मन्त्रे 'अदः'-शब्देन उक्तं, यत् च प्रत्यक्षं सच्छब्दधीभ्यां गम्यं त्वम्पदार्थभूतं, तदुभयं स्वीयेन वास्तवेन परमात्मरूपेण पूर्णमेव व्यापकमेवेति बुद्ध्यस्वेत्यर्थः। एतेन मन्त्रस्य प्रथमपादो व्याख्यातः[5]।।२०१।। ननूपाधौ पारोक्ष्याऽपारोक्ष्याभ्यां

है, अन्य जानकारियों के लिये इस शब्द का प्रयोग किसी भी तरह पूरा ठीक नहीं बैठता। 'वि' अर्थात् वृत्तिभेदों से जो विविध प्रकारों का अज्ञान है, जो जाल की तरह परस्पर फँसी वासनाओं का मूल है और अति भयानक है उसे 'द्या' अर्थात् पूरी तरह खण्डित कर देने से इसे 'विद्या' कहते हैं।।१९८।। या यों समझिये कि अक्षीयमाण निरवधिसुखरूप प्रत्यक् पदार्थ यह 'वि' अर्थात् विशेषतया, हाथ पर रखे आँवले जैसा, 'द्या' अर्थात् अधिकारी को दे देती है इसलिये विद्या है। अथवा परमात्मा का अपरोक्ष इससे होता है अतः इस 'विलक्षण' 'द्योतन' के कारण यह विद्या कहलाती है। अज्ञान नष्ट किये बिना उसे थोड़ा-बहुत निस्तेज कर देने मात्र से अन्य जानकारियाँ कह भले ही विद्या दी जाती हैं पर वे उस शब्द का मुख्य नहीं गौण ही अर्थ हो पाती हैं।।१९९।।

विद्याभ्यास आदि में मंगल से आरंभ होना चाहिये। उपनिषद्विचार के लिये प्रसिद्ध मंगल 'पूर्णमदः' आदि श्लोक है जो बृहदारण्यक के पाँचवे अध्याय का उपोद्घात है। उसका अनुसन्धान कर यहीं उसका अर्थ स्पष्ट करने के लिये

---

१. मूलं कारणाविद्या, अज्ञानं कार्याविद्या। २. प्रत्यक्सत्तातिरेकेणाव्ययानन्दात्मनः सत्त्वाभावस्य युक्त्यादिना बोधनमिहाधीनतेति भावः। अत्र च द्यतीत्यत्र विशरणावसादनयोर्ददाति द्योतयतीति च गतेरुपस्थापनेनोपनिषत्पदार्थः प्राकाशि। ३. प्रत्यक्त्वयोपस्थितये पुरुषपदम्, 'पुरः पुरुष आविशद्' इति श्रुतेः (बृ. २.५.१८)। ४. 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि श्रवणात् (तै. ब्र. ७)। ५. महावाक्यतयेति शेषः।

पूर्णादुत्पद्यते चैतत् पूर्णे संप्रति वर्तते। पूर्णे विलीयते चान्ते पूर्णमेवावशिष्यते।।२०२।।

नभसो[1] जायते तद्वद् मेघो नभसि वर्तते। विलीयते नभस्यन्ते नभ एवावशिष्यते।।२०३।।

आकाशसदृशं पूर्णं सर्वदैकस्वभावकम्। ज्ञानानन्दात्मरूपं तं महान्तो ब्राह्मणा विदुः।।२०४।।

अध्यारोपन्यायः

असङ्गे निर्गुणे पुंसि सृष्टिस्थित्यन्तवर्जिते। सृष्ट्यादिकं समाश्रित्य गुरवो बोधयन्ति तम्।।२०५।।

द्विविधे भेदके जाग्रति कथमपरिच्छिन्नत्वलक्षणपूर्णता?—इत्याशङ्क्य; उपाधेरुपादानात् पूर्णादव्यतिरेकमाह—पूर्णादिति। उत्पत्तिस्थितिलयेषु पूर्णं परित्यज्य न वर्तते, तस्माद् एतद् विश्वमुपाधिरूपं पूर्णमेव इति पादत्रयार्थः। एतेन मन्त्रस्य द्वितीयपादो व्याख्यातः। तत्र हि 'उदच्यते' इति पदस्य उद्गच्छतीत्यर्थः। मन्त्रोत्तरार्धार्थमाह—अन्त इति। वस्तुतः परिपूर्णस्योपाधेः कल्पितरूपस्यान्ते बाधेऽधिष्ठानविवेकलक्षणे कृते सति[2] पूर्णमेवावशिष्यत इति।।२०२।। अत्र दृष्टान्तमाह—नभस इति।।२०३।। उपाधिबाधेन पूर्णमात्रावशेषो विद्वदनुभवसिद्ध इत्याह—आकाशेति। तम् उक्तपुरुषम्। महान्तः शुद्धान्तःकरणाः।।२०४।।

तर्हि यथानुभवं स पुरुषो मह्यं वर्णनीयः—इतीन्द्राकाङ्क्षामालक्ष्य तस्य वागाद्यविषयत्वेन यथावद्वक्तुमशक्यत्वाद् अध्यारोपापवादन्यायेनैव निरूपणमित्याह—असङ्ग इति सप्तभिः। समाश्रित्य अध्यारोप्य।।२०५।।

दधीचि के मुख से पुराणकार उसकी व्याख्या करा रहे हैं— सारी उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मरूप यह पुरुष क्योंकि सारे संसार को अपने स्वरूपभूत सत्-चित्-आनन्द से पूरा अर्थात् व्याप्त करता है इसलिये इसे 'पूर्ण' कहा जाता है।।२००।। हे शचीपति! जो कुछ भी तुम्हारे लिये परोक्ष है, जिसे तुम 'असत्' कहते-समझते हो, जिसे महावाक्य में 'तत्' शब्द से कहा है, और जो कुछ भी तुम्हें प्रत्यक्ष है, जिसे तुम 'सत्' कहते-समझते हो, जो महावाक्य में 'त्वम्' शब्द से कहा है, उन दोनों को ही अपने वास्तविक परमात्मरूपसे तुम पूर्ण ही समझो। ('अदः' व 'इदं' कहे ईश्वर व जीव को अभिन्न समझो। असत् से कारण व सत् से कार्य कहना वेदान्तों में प्रचलित है। या 'नहीं है ऐसा जिसे कहा-समझा जा सकता है' वह असत् और जिसे वैसा नहीं कह-समझ सकते वह सत् है। त्वमर्थ का न होना कहा-समझा नहीं जा सकता यह स्पष्ट है।)।।२०१।। 'यह'-यों समझा जाने वाला संसार पूर्ण से उत्पन्न होता है, विद्यमानतादशा में पूर्ण में रहता है और विलीन भी पूर्णमें होता है जिससे जो बच जाता है वह पूर्ण ही है। उपाधियाँ बाधित होकर पूर्ण अधिष्ठान अवशेष रहता है।।२०२।। इसमें दृष्टान्त है : मेघ आकाश से जन्म लेते हैं, नभ में रहते हैं और अंत में विलीन भी आकाश में ही हो जाते हैं। मेघसमाप्ति पर आकाश यथावत् बचा रहता है।।२०३।। आकाश की तरह ही है पूर्वोक्त पूर्ण। उसका निज स्वरूप कभी किंचित् भी बदलता नहीं। अनुभव, प्रसन्नता और प्रत्यक्ता उस पूर्ण का शरीर है। शुद्धचेता ब्रह्मवेत्ता उसके अनुभव से सराबौर रहते हैं।।२०४।।

सम्बंध और विशेषताओं से रहित परम पुरुष का सृष्टि-स्थिति-संहार से कोई स्पर्श नहीं फिर भी गुरुजन उसके बारे में समझाने के लिये सृष्टि आदि का सहारा लिया करते हैं। कारण यह है कि व्यापक अपरोक्ष आत्मा न उन ज्ञान-साधनों से ज्ञेय है जो बाहरी विषयों के ग्राहक हैं और न उनसे जो आन्तरिक—पीड़ा, सुखादि—विषयों के ग्राहक हैं।

---

१. जलादेरपि प्रणाड्याऽऽकाशकार्यत्वात्तत्कार्यस्यापि नभःकार्यतोपपत्तिः। आपाततो वा क्रमिककारणोपलब्धिमन्तरेणाकाशे मेघदर्शनात्तेषां तत्कार्यता सङ्गच्छते। दार्ष्टान्ते पूर्णतासत्त्वादाकाशदृष्टान्तस्वारस्यम्। यद्वज्जायते तद्वद्वर्तते विलीयते चेति योजना।
२. पूर्णस्य=पूर्णकारणकतयोपाधेरपि पूर्णपदवाच्यस्य, पूर्णं=वास्तवं पूर्णत्वम्, आदाय=अवगत्य यदवशिष्टं तत्पूर्णमात्रं बाधावधिभूतं ब्रह्मेति मंत्रोत्तरार्धार्थः।

गम्यते नैवमात्मायमान्तरैः स बहिश्चरैः। करणैर्वान्यतो वापि स्वयं बोधस्वरूपतः।।२०६।।

एतादृशे च सृष्ट्यादि कथं स्यादितिबुद्धिभिः। माया नाम तदज्ञानरूपाऽत्र परिकल्प्यते।।२०७।।

अयं सर्वधियां साक्षी स्वप्रकाशैकबोधतः। आनन्दात्मा सदा स्वान्यभेदगन्धविवर्जितः।।२०८।।

अनुभूते हि विषये शब्दादौ यदि कश्चन। अन्यस्मै स्वसुखं ब्रूयाद् दृष्टान्तीकृत्य किञ्चन। तथा[1] तथैव पूर्णं च शक्र विप्रैरुदीर्यते।।२०६।।

तत्र हेतुम् अविषयतां दर्शयति—गम्यत इति। सोऽयमात्मा बहिश्चरैः बाह्यैः चक्षुरादिभिः[2] न गम्यते, आन्तरैः वा मनआदिभिः न गम्यते; अन्यतः तेभ्यो भिन्नाद् वा न गम्यते; स्वयम् एव बोधस्वरूपत्वादिति।।२०६।।

एतादृश इति। एतादृशेऽसङ्गत्वादिनोक्ते पुंसि सृष्ट्यादिकं तटस्थलक्षणतया विवक्षितं कथं स्याद् उपपद्येत इति एवमाकारा बुद्धिर्येषामेतादृशैः विद्वद्भिर्गुरुभिः माया नाम पदार्थः परिकल्प्यते।[3] सा मायाऽनुभूयमानादज्ञानान्नार्थान्तरम् इत्युक्तं प्रथमेऽध्याये।।२०७।। सा मायाऽपि तस्य स्वरूपं सर्वथा नावृणोति, तद्भास्यत्वाद्[4]; अन्यथा 'अस्मि भामि कदाप्यप्रियो न भवामि' इत्यादिरूपेण भानं न स्यादित्याशयेनाह—अयमिति। अयम् उक्तः पुरुषः स्वप्रकाशेनैकेनाऽखण्डेन बोधेन रूपेण सर्वधियां साक्षाद् द्रष्टा, आनन्दरूपः, सदा स्वातिरिक्तनिरूपितभेदेन[5] वर्जित इति।।२०८।। एवं स्वतः सिद्धस्यापि निरूपणाशक्तौ कैमुत्यन्यायमाह—अनुभूत इति द्वाभ्याम्। यथा शब्दादौ विषयेऽनुभूते सति जायमानं स्वकीयं सुखं यदि कश्चन अन्यस्मै ब्रूयत् तदा किञ्चन पदार्थान्तरं दृष्टान्तीकृत्य एव ब्रूयाद्, न तु विशेषतः शृङ्गग्राहिकान्यायेन वदेदिति यावत्। दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति।।२०६।। कैमुत्यं स्फुटयति—यथानुभूतमिति। यदा विषयजं सुखम् अपि यथा अनुभूतं तथा नैव वक्तुं शक्यं, तदा पूर्णस्याऽलौकिकस्य

बाहर-भीतर के प्रतिबंध से रहित जो ज्ञानोपाय हैं वे भी आत्मा की जानकारी में सक्षम नहीं। आत्मा चूँकि खुद ज्ञान है इसलिये यह अपने ज्ञेयभूत ज्ञानसाधनों का विषय बन सके यह ख्याल ही बेतुका है।।२०५-२०६।। ऐसे आत्मा में सृष्टि आदि कैसे उपपन्न हो—यह विचार कर विद्वान् गुरुओं ने आत्मा का अज्ञान ही जिसका स्वरूप है ऐसी माया नामक उपाधि की संकल्पना की है। सृष्टि आदि उपपन्न इसलिये करना पड़ता है कि शास्त्र ने तटस्थ लक्षण के रूपमें उसका कथन किया है। साथ ही यदि अनुभूयमान भेद आत्ममात्र-अधिष्ठानक उपपन्न न हो तो साधक सहज ही किसी अनात्माश्रित व्यवस्था को स्वीकार लेगा क्योंकि दृष्ट उपपन्न किये बिना अदृष्ट समझा नहीं जाता।।२०७।। वह अज्ञानरूप माया भी आत्मस्वरूप को पूरा आवृत करे यह संभव नहीं क्योंकि माया स्वयं आत्मासे प्रकाश्य है, यदि आत्म-प्रकाश रुक जाये तो बेचारा अज्ञान ही प्रतीत नहीं हो सकेगा। व्यापक स्वरूप ही ढाँका जाता है, 'मैं हूँ, अनुभूयमान हूँ, खुदको प्रिय हूँ' यों सच्चिदानन्दरूप नहीं। पूर्वोक्त पुरुष स्वप्रकाश अखण्ड ज्ञान स्वरूप से सभी बुद्धियों का साक्षात् द्रष्टा अर्थात् साक्षी है। उसका सारभाग आनंद ही है। कोई भेद उसमें संभावित नहीं जिसका प्रतियोगीरूपसे निरूपण करने वाला अनात्मा हो!।।२०८।। हालांकि आत्मा खुद-ब-खुद भासता है फिर भी उसका सही-सही वर्णन करना असंभव है।

---

१. यथेति टीकानुसारी पाठः। २. बुद्ध्यादिरादिशब्दार्थः। लिङ्गशब्दसादृश्यान्यप्यादिना गृह्यन्ते। अर्थापत्तेरपि कथंचिल्लिङ्गसम्भूतत्वात्। समाधिनापि न ब्रह्मग्रह इति च द्रष्टव्यम्। एतेनान्येप्यलौकिकसंनिकर्षाः प्रत्याख्येयाः। ३. मायायाः प्रामाणिकत्वे प्रमयाऽबाध्यतापत्तेः परिकल्प्यतावचनमुपपन्नम्। यत्तु शास्त्रवाक्यैः साध्यते तत्तस्या भावरूपतादि। तथा च शास्त्रप्रकाशिका 'न तावदविद्या मानविषयो यतो न सा ततो निवर्तेत, किन्तु ब्रह्मरूपानुभवगोचरः, स च प्रमाणाप्रमाण- साधारणश्चित्प्रकाशः। श्रुत्यादिमानन्तु तस्यां विप्रतिपन्नं प्रति अभावव्यावृत्तिमात्रं बोधयति।' इति सम्बन्धग्रन्थे (श्लो. १७७)। विवरणेऽपि (पृ. १३७) तथैव स्थापितम्। ४. अत्र राहुर्निदर्शनम्। ५. सजातीयविजातीययोरन्यभेदइत्याख्या स्वगतस्य च स्वभेद इति मत्वाऽपि योजयितुं युक्तम्। ब्रह्मांशा जीवा इति रामानुजादेरेवमत्र निरासोऽनुसन्धेयः।

यथानुभूतं नैवात्र वक्तुं शक्यं कथञ्चन। यदा सुखं विषयजं किमु पूर्णमलौकिकम्।।२१०।।

अतो मयाऽपि केनापि प्रकारेणोच्यतेऽधुना। तुभ्यं तं पक्वबुद्धिः सन् स्वयं चावगमिष्यसि।।२११।।

अनादाविह संसारे नियतौ रात्रिवासरौ। यथा तथैव जगतः सृष्टिनाशौ सुनिश्चितौ।।२१२।।

रात्रिवासरयोः सन्धिः लोके सन्ध्या यथेरिता। तथा स्थितिः समाख्याता सन्धिः सृष्टिविनाशयोः[1]।।२१३।।

जगतो नामरूपकर्मता

सर्वमेतज्जगच्छक्र नामरूपक्रियात्मकम्। विश्वमित्यादि नामास्य रूपं स्याद् भूतभौतिकम्।
सृष्टिस्थितिलयास्तस्य क्रियाः प्रोक्ता मनीषिभिः।।२१४।।

वक्तुमशक्यता[2] किमु वाच्येति।।२१०।। फलितमाह—अत इति। परिपक्वा शुद्धा बुद्धिर्यस्य स तथा।।२११।। तत्राध्यारोपं प्रपञ्चयति—अनादाविति। अनादौ अनिदंप्रथमेऽत्र संसारे यथा रात्रिदिवसयोः प्रवाहः सन्ततः तथा सृष्टिप्रलययोरित्यर्थः। सृष्टिरधिष्ठानावरणप्रयोजकत्वाद्[3] रात्र्योपमितेत्युक्तम्।।२१२।। तयोर्मध्यगतत्वात् स्थितिं सन्ध्ययोपमिनोति— रात्रीति।।२१३।।

मधुकाण्डीयाध्यायान्तर्गत-'त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म च' (बृ.१.६.१)-इत्यादिवाक्यानुसारेण सृष्ट्यादिप्रतियोगिनो जगतः स्वरूपं दर्शयति—सर्वमेतदिति चतुर्भिः। हे शक्र! एतत् सर्वं जगद् नामादित्रयात्मकमित्यर्थः। तत्रानुगतं नामादित्रयमुदाहरति—अस्य जगतो विश्वशब्दादिकं नाम, 'आदि' पदेन लोको दृश्यमित्यादिग्रहः। पञ्च भूतानि भौतिकानि तद्विकाराश्च एतेषां समाहारात्मकमस्य रूपम्। सृष्ट्यादिरूपास्तु सर्वस्य जगतः[4] क्रिया इति।।२१४।। असाधारणं नामादित्रयमुदाहरति—घटादिकमिति। घटस्य घटः कुम्भ इत्यादिकं नाम प्रसिद्धम्। वर्तुलं पृथुबुध्नोदरात्मकं रूपम्। जलानयनादिकाः क्रियाः। एवं विधया पटादिष्वपि नामादित्रयात्मकत्वं बोध्यम्।।२१५।।

सर्वानुभवसिद्ध शब्दादि विषयों से हुए अपने सुख का यदि किसी अन्य को ज्ञान कराना हो तो किसी उदाहरण का सहारा लेना ही पड़ता है, गाय की तरह सींग पकड़कर दूसरे के सामने उसे उपस्थित नहीं किया जा सकता। जब विषयजन्य सुखका ही यह हाल है कि जैसा उसका अनुभव हुआ वैसा-का-वैसा वह कहा जा सके यह किसी तरह संभव नहीं तब व्यापक और लोकातीत आनंद वाणी का अविषय है इसमें कहना ही क्या!।।२०६-२१०।। अतः मैं भी एक प्रक्रिया के सहारे वह आत्मवस्तु तुम्हें समझाने की कोशिश करता हूँ। बुद्धि शुद्ध रही तो तुम स्वयं उसे समझ लोगे।।२११।।

इस आरंभरहित संसार में जैसे रात-दिन नियत हैं—नियमित क्रमसे चलते हैं—वैसे ही जगत् के उत्पत्ति-विलय भी नियत हैं।।२१२।। जैसे रात व दिन का मिलनकाल सन्ध्या कहलाता है ऐसे सृष्टि-विनाश की सन्धि का नाम ही है स्थिति!।।२१३।। हे इन्द्र यह सारा जगत् नाम, रूप और कर्म इन तीनों से ही सस्वरूप है। 'विश्व' आदि शब्द इसके नाम हैं, महाभूत और उनके विकार—इनका समुदाय ही जगत् का रूप है। सृष्टि, स्थिति लय—ये इसकी क्रिया हैं। यह रहस्य कि जगत् नामादि-त्रितयात्मक है, मन पर पूर्ण नियंत्रण वाले वैदिक ऋषियों ने ही प्रकट किया है।।२१४।। संसार की हर चीज़ में यह देख सकते हैं : 'घट' आदि हैं घड़े के नाम। गोल आदि उसका रूप है और जल आदि लाना उसका कर्म है। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिये।।२१५।। नामादि भी वस्तु से स्वतंत्र, अत्यंत भिन्न कुछ नहीं है। वस्तु

---

१. एवं च सृष्टिविलयाभ्यामर्थान्तरभूता स्थितिरपोदिता। एतेन 'अव्यक्तादीनि भूतानि', 'आदावन्ते च यन्नास्ती' त्यादिस्मृतिप्रत्यभिज्ञापनेन पूर्वोत्तरमसत्तया स्थितिकालेऽप्यसत्त्वं प्रतिष्ठापितम्। २. 'सर्वमेव हि वाक्यं नेदन्तया वस्तुभेदं बोधयितुमर्हति; न हीक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदः शक्य आख्यातुम्' इति भामती (पृ. १२५)। ३. प्रयुक्तत्वादिति भावः। यद्वा सृष्ट्यन्यथानुपपत्तिसिद्धतया सृष्टेरविद्याप्रयोजकता। ४. कर्तृता निरूपितता वा षष्ठ्यर्थः।

घटादिकं घटस्योक्तं नाम रूपं च वर्तुलम्। जलाहरणमुद्दिष्टं क्रियैवं सर्ववस्तुषु।।२१५।

अवस्थाया विशेषः स्याद् वस्तुनोऽत्र क्रिया यतः। तस्माद् न रूपतो भिन्ना क्रिया नामात्र विद्यते।।२१६।।

नाममात्रेण रूपं स्याद् विचारे नास्ति तद्यतः। तस्माद् नामात्मकं कार्यं नाम्नो नान्यद्धि वस्तु सत्।। एकमेतत् त्रयं सर्वं नामरूपक्रियात्मकम्।।२१७।।

नामादि नैव भिन्नं स्यात् कारणात् स्वात्मनस्तथा। कार्यत्वेन यथा सर्पो रज्जोर्भिन्नो न विद्यते।।२१८

'तद्धेदम्' आदेरर्थः

इदं सर्वं जगच्छक्र! ब्रह्म पूर्णमभूत् पुरा। मेघादिकं यथाऽऽकाशं मेघाद्युत्पत्तितः पुरा।।२१९।।

नामादीनां वस्तुना[1] तादात्म्यं स्फुटयति—अवस्थाया इति द्वाभ्याम्। यतो नूलत्वपुराणत्वादिवत् क्रियाऽपि ध्रौव्यप्रच्यवात्मिका वस्तुनः अवस्थाविशेष[2] एव, तस्माद् वस्तुनः स्वरूपात् क्रिया नाम पदार्थो न भिन्न इत्यर्थः।।२१६।। नामेति। पटघटादे रूपं तद् नाममात्रेण निरूप्यं, यतो विचारे क्रियमाणे[3] तद् वस्तुनो रूपं नामातिरिक्तं नास्ति न दृश्यते। तस्मात् कार्यं विकारमात्रं नामात्मकं हि यस्माद् नाम्नोऽन्यद् विविक्तं वस्तु घटादि सत् निर्वचनीयं न अस्तीत्यर्थः। फलितमाह—एकमिति। एतद् वर्णितं नामादिरूपं त्रयम् एकं परस्परमभिन्नमित्यर्थः।।२१७।। अत्र अद्वितीयात्मबोधनाय अध्यारोप्यं द्वयम्—कार्यं कारणत्वं चेति। तत्र कार्यस्वरूपं दर्शितम्। अथ उपादानकारणतां सम्भावयितुमुक्तकार्यस्य तत्रात्मन्यभेदं दर्शयति—नामादीति। नामादि त्रयात्मकं कार्यं यथा परस्परमभिन्नं तथा स्वात्मनः[4] स्वस्य कार्यस्य वास्तवस्वरूपात् कारणाद् अभिन्नं, कार्यत्वाद्, यद् यदुपादानकं कार्यं तत् ततोऽभिन्नं, यथा रज्जोः सर्प इति। 'वाचारम्भणम्' (छां.६.१.३.) इत्यादि श्रुतिरप्यत्रानुकूला।।२१८।।

एवं सम्भावितां कारणतामुक्तपूर्णपुरुषे योजयन् कारणपरवाक्यानां 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीद्' (बृ १.४.७) इत्यादीनां तात्पर्यं दर्शयति—इदमिति षड्भिः। इदं नामाद्यात्मकं सर्वं जगत् पुरा सृष्टेः पूर्वं पूर्णम् अद्वितीयं ब्रह्म एव अभूद् इति श्रुतावुक्तम्; यथा मेघाद्युत्पत्तेः पुरा मेघादिकम् आकाशे कल्पितमाकाशमात्रमेवासीदित्युच्यते, तद्वदिति।।२१९।। नामरूपात्मकमिति। सृष्टेः पुरा ब्रह्ममात्रतयाऽवस्थितं विश्वमवगम्य ज्ञात्वा कारणतां विना

की क्रिया उसकी एक खास अवस्था ही है। जैसे नयापन, पुरानापन आदि वस्तु से अलग नहीं ऐसे स्थिरता से विचलित होना रूप क्रिया भी वस्तु के स्वरूप से स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं है।।२१६।। वस्तुओं का रूप भी सिर्फ नामके सहारे टिका है क्योंकि विचार करने पर वस्तु के रूपको नाम से अतिरिक्त नहीं समझ सकते। इसलिये सभी कार्य—आकाशादि घटपर्यन्त—नामस्वरूप ही हैं। नामसे जुदा की हुई वस्तु निर्वचन के योग्य नहीं रह जाती। अतः उक्त नामादि तीन भी परस्पर अभिन्न ही हैं।।२१७।। नामादि भी अपने वास्तविक स्वरूपात्मक कारण से भिन्न नहीं हो सकते क्योंकि कार्य हैं और कार्यों की मर्यादा है कि अपने कारण से भिन्न नहीं होते जैसे रज्जुसे भिन्न रज्जुसर्प हुआ नहीं करता।।२१८।।

---

१. वैयाकरणादयो नाम्नि रूपक्रिययोरन्तर्भावं स्थापयन्ति। आधुनिकवैज्ञानिकाः क्रियायां स्पन्दादिरूपायां नामरूपयोः। वयन्तु प्रथमं रूपेऽनन्तरमनुगताधिष्ठाने सद्वस्तुनीति विशेषः। सद्ब्रह्मण्येवाविद्यादिसर्वनामादिप्रतिभासाङ्गीकारान्नामाद्यन्यघटादेरनङ्गीकारेऽपि न वैनाशिकतेति। २. प्रत्यभिज्ञासिद्धविशेष्यैक्ये भिन्नविशेषणविशिष्टं स्वरूपमेव वस्तुनोऽवस्थान्तरम्। जागरादेरपि जीवावस्थात्वमेवमेव। ३. यद्यपि विना नामाध्यक्षादिसिद्धं रूपं, तथापि विचारः शब्दाश्रित एव प्रथते, रूपधेयमात्रमाश्रित्य सङ्केतादिना यत्किञ्चिद्व्यवहारसम्भवेऽपि विचारासम्भवादिति द्योतयितुं 'विचारे क्रियमाण' इत्युक्तम्। ४. स्वात्मैव कारणं तस्मादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—स्वस्येत्यादिना।

नामरूपात्मकं विश्वं ब्रह्ममात्रव्यवस्थितम् । अवगम्यात्र विद्वांसो मायां ते कल्पयन्ति हि । ।२२० । ।

मायाऽभिधायकैः शब्दैरवाङ्मनसगोचरम् । कारणत्वप्रसिद्ध्यर्थं तत् ते व्यवहरन्ति हि । ।२२१ । ।

अव्याकृतं तथाऽऽकाशमक्षरं माय्यधीश्वरः । अन्तर्यामी तथेशाख्यः कारणं ब्रह्म पूर्णकम् ।
इत्यादिनामभिर्देवं वदन्ति[1] व्यवहारिणः । ।२२२ । ।

जगतोऽस्य समग्रस्य ह्यव्यक्ते नामरूपके । भवतः प्रागवस्थायां तेनाव्याकृतमीरितम् । ।२२३ । ।

तस्मिन्नव्याकृते पुंसि सर्वापेक्षाविवर्जिते[2] । स्थितं जगत् समग्रं तत् पुनरेव प्रजायते । नामरूपात्मकं यद्वद् नभसो मेघमण्डलम् । ।२२४ । ।

मृत्युनेत्यादेरर्थः

भूतानि पञ्च च मन इन्द्रियाणि तथैव च । प्राणाः पञ्च च सूक्ष्मं तच्छरीरमिति गीयते । ।२२५ । ।

ब्रह्मणि विश्वावस्थानानुपपत्त्या कारणतानिर्वाहिकां मायामत्र ब्रह्मणि ते विद्वांसः कल्पयन्ति इति । ।२२० । । सा मायाप्यज्ञातब्रह्मणो नार्थान्तरमिति[3] दर्शयन्नाह—मायेति । शुद्धेऽनुपपन्नस्य कारणत्वस्य प्रसिद्धये उपपत्तये विशेषणतया मायाया अभिधायकैरव्याकृतादिशब्दैः तद् ब्रह्म व्यवहरन्ति इति । ।२२१ । । मायाशबलाभिधायकान् शब्दान् वेदान्तेषु प्रसिद्धान् दर्शयति—अव्याकृतमिति । अत्र मायी अधीश्वरः ईशः कारणम् इति शब्दाः श्वेताश्वतरादौ प्रसिद्धाः । इतरे तु अत्रैव काण्डत्रये इति । देवं परमिति शेषः । ।२२२ । । तत्राव्याकृतपदार्थमाह—जगत इति । अव्यक्ते अस्फुटे । ।२२३ । । तस्य सर्वकारणतामभिनयति—तस्मिन्निति । निरपेक्षेऽपि तस्मिन् परे पुंसि अव्याकृतोपाधौ स्थितं समग्रं नामाद्यात्मकं जगत् पुनः जायते, नभसः सकाशाद् मेघमण्डलवदिति । ।२२४ । ।

एवं परमेश्वरस्य कारणोपाधेः स्वरूपं प्रदर्श्य अथ कार्यब्रह्मतया प्रसिद्धस्य हिरण्यगर्भस्य स्वरूपप्रदर्शकानां 'मृत्युनैवेदमावृतमासीद्' (बृ. १.२.१) इत्यादिवाक्यानां तात्पर्यमाह—भूतानीति चतुर्दशभिः । भूतेन्द्रियप्राणानां प्रत्येकं पञ्चकानि मनश्च एतत् समुदायरूपं षोडशकलं सूक्ष्मं शरीरमिति उच्यत इति । ।२२५ । । हिरण्येति । अत्र

हे शक्र! बादल आदि की उत्पत्ति से पूर्व जैसे बादल आदि आकाशरूप होते हैं वैसे यह सारा जगत् पहले पूर्ण ब्रह्म था । ।२१६ । । यह समझकर कि अभिव्यक्तिसे पूर्व नाम-रूपादि-आत्मक विश्व सिर्फ ब्रह्मरूपसे था, विद्वान् लोग ब्रह्ममें कारणता को संभव करने वाली माया स्वीकार लेते हैं क्योंकि ब्रह्म में कारणता न हो तो उसमें संसार का रहना घटता नहीं । ।२२० । । शुद्ध ब्रह्म में अनुपपन्न कारणता की संगति के लिये मायावाचक पदों से विद्वान् लोग उस ब्रह्मका ही कथन करते हैं जो वाणी और मन का विषय नहीं । अज्ञात ब्रह्म से अतिरिक्त माया कोई चीज नहीं है ।२२१ । । उपदेशादि व्यवहार करने वाले गुरुजन परा देवता को ऐसे नामों से कहते हैं—अव्याकृत, आकाश, अक्षर, मायी, अधीश्वर, अन्तर्यामी, ईश, कारण, ब्रह्म, पूर्ण इत्यादि । ।२२२ । । इस सारे जगत् की पूर्वावस्था में इसके नाम-रूप अस्फुट होते हैं अतः कारण अव्याकृत कहा जाता है । ।२२३ । ।

---

१. 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत' (बृ. १.४.७) 'आकाशे तदोतं च प्रोतं च' (बृ. ३.८.४) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने' (बृ. ३.८.९), 'मायी सृजते' (श्वे. ४.९), 'व्यात्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' (श्वे. १.८) 'स कारणं करणाधिपाधिपः' (श्वे. ६.९), 'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' (श्वे. ६.१३), 'एष त आत्मान्तर्यामी' (बृ. ३.७.३), 'ब्रह्म वा इदमग्रआसीत्' (बृ.१.४.१०), 'पूर्णमदः' (बृ. ५.१) । 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' (श्वे ६.७) इत्यादेरर्थतोदाहरणमधीश्वरइति । २. कार्यायेतरसापेक्षत्वे तस्येतरस्य स्वातन्त्र्याद् द्वैतापत्तेः । ३. 'अज्ञानञ्च तदुत्थञ्च ह्यात्मैवाऽज्ञाततत्त्वक' इति वार्तिकम् (बृ. २.१.१७४) न चाऽज्ञातेत्युक्तेऽज्ञानतद्वतोर्भेदात्तदात्मकताऽन्याय्या; रज्ज्वात्मकेनापि सर्पेण रज्जोर्विशेष्यतादर्शनात् ।

हिरण्यगर्भ एष स्यादत्र मानी महेश्वरः। अस्य सूत्रं तथा मृत्युरशनाया प्रभञ्जनः। स्वयम्भूरीश इत्यादिसंज्ञास्ता ब्राह्मणैः कृताः।।२२६।।

अस्य रूपं सुदुर्लक्ष्यं[1] नानावर्णं महेश्वरः। इन्द्रियाणि तथा प्राणा विषयाश्च तथैव धीः।।२२७।।

अयं समग्रभूतानां[2] भौतिकानां च कारणम्। अस्य स्वप्नः समग्रं स्याद् विश्वमेतन्महात्मनः।।२२८।।

आत्मानमविदन्नेष जीवो भवति नित्यशः। जानाति तं सदैवायं परमात्मेति गीयते।।२२९।।

समष्टिसूक्ष्मशरीरे मानी[3] अभिमान्युक्तः कारणोपाधिः महेश्वर एव हिरण्यगर्भसंज्ञो भवति। अस्य हिरण्यगर्भस्य सूत्रादयः संज्ञाः ब्राह्मणैः वेदविद्भिः कृता वेदप्रसिद्धा इति यावत्। तत्र सूत्रसंज्ञा कुसुमानां सूत्रवत् सर्वलोकानां विधारकत्वात्। अशनेच्छोपलक्षितबुद्ध्युपाधिकत्वाद् अशनाया संज्ञा। अत एव मृत्युसंज्ञा, यो हि यं भक्षितुमिच्छति स तं हन्तीति लोकप्रसिद्धेः। प्राणोपाधित्वात् प्रभञ्जनेति संज्ञा। स्वयं भवनात् स्वयंभूरिति। महैश्वर्ययोगाद् ईशेति संज्ञा।[4] आदिपदेन अपरब्रह्मेत्यादिसंज्ञाग्रहः।।२२६।। अस्येति। अस्य हिरण्यगर्भस्य रूपं सुदुर्लक्ष्यं सूक्ष्ममिति यावत्। नानावर्णं वक्ष्यमाणहरिद्राकम्बलेन्द्र-गोपाद्युपमितवर्णशालि, सूक्ष्मोपाधिकत्वाद् नानाविधमिति वाऽर्थः। नानाविधत्वमभिनयति—महेश्वर इत्यादिना। उपाधिशुद्ध्यतिशयाद् अस्येश्वरकोटिनिवेशपक्षे महेश्वरोऽप्यस्य रूपम्, इन्द्रियादिकं च। विषयाः सूक्ष्मा इति शेषः। धीः अन्तःकरणम्।।२२७।। कारणोपाधिरीश्वरो बीजमिव विश्वकारणमयं हिरण्यगर्भस्त्वङ्कुरवदित्याह—अयमिति। अयं हिरण्यगर्भः। अस्य स्वप्ननिभः सर्वप्रपञ्च इति।।२२८।। नन्वस्य जीवत्वं विना कथं स्वप्नदर्शित्वम्?—इत्याशङ्क्य; विवक्षाभेदेन तस्मिन् जीवत्वमीश्वरत्वं चोभयं संमतमित्याह—आत्मानमिति। एष हिरण्यगर्भ उपाधिप्राधान्यविवक्षायाम् आत्मस्वरूपम् अविदन् अननुसन्दधानः

वह अव्याकृत पुरुष सत्ता-स्फूर्ति में सर्वथा निरपेक्ष है। यह नाम-रूपाद्यात्मक सारा जगत् उस अव्याकृत उपाधि वाले पुरुष में स्थित रहकर पुनः प्रादुर्भूत हो जाता है जैसे आकाश से मेघमण्डल।।२२४।। यह हुई कारणोपाधि की चर्चा।

अब कार्योपाधि का वर्णन करते हैं : पाँच भूत, इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन—इस समुदाय का नाम है सूक्ष्म शरीर।।२२५।। यही हिरण्यगर्भ है : कारणोपाधि महेश्वर जब समष्टि सूक्ष्मशरीर में अभिमान वाला होता है तब उसकी संज्ञा हिरण्यगर्भ हो जाती है। वेदवेत्ता इसके कई नाम बताते हैं : मालामें फूलों को धागे की तरह सभी लोकों को धारण करने वाला होने से इसे 'सूत्र' कहते हैं। भूखसे उपलक्षित बुद्धि इसकी उपाधि होने से यह 'अशनाया' (भूख) कहा जाता है। क्योंकि लोक में प्रसिद्ध है कि जो जिसे खाना चाहता है वह उसे मार डालता है इसलिये 'अशनाया' नाम के अनुरूप ही इसकी एक संज्ञा है 'मृत्यु'। प्राण भी इसकी उपाधि है अतः यह 'प्रभंजन' (वायु) है। यह स्वयं होता है, स्वेतर पिता आदि से जन्य नहीं अतः 'स्वयंभू' है। इसमें महान् ऐश्वर्य होने से इसे 'ईश' कहा जाता है।।२२६।। नाना वर्णों वाला इसका रूप सूक्ष्म है। यह सिर्फ महेश्वर ही नहीं, इन्द्रिय, प्राण, सूक्ष्म विषय और अन्तःकरण भी यही है।।२२७।। सभी पंचीकृत भूतों का और भूतविकारों का यह हिरण्यगर्भ ही कारण है। समग्र विश्व इस महात्मा हिरण्यगर्भ के स्वप्न की तरह है।।२२८।। आत्मा को न जानता हुआ यह हमेशा जीव है और क्योंकि हमेशा आत्मा को जानता

---

१. वैचित्र्यस्य सविशेष एव सत्त्वात्तस्य च मायिकतया वक्तुं बोद्धुमशक्यत्वात्।
२. पंचीकृतानामिति शेषः। ईशकर्तृकमपि पंचीकरणमेतद्द्वारकमिति ध्येयम्।
३. ईश्वरकोटितया मानाभावेऽपि कादाचित्कजीवकोटितायाअपि भाष्यादौ समर्थनान्मानसद्भावोपपत्तिः।
४. 'वायुर्वै तत् सूत्रम्' (बृ. ३.७.२.), 'आवृतमासीदशनायया' (बृ. १.२.१), 'ब्रह्म स्वयंभु' (बृ. २.६.३), 'परिभूः स्वयंभूः' (ई. ८), 'ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मु. ३.१.३) इत्यादिसञ्ज्ञाः।

अयं जडाजडं विश्वमयं देवाः सवासवाः। दिशोऽयं प्रदिशश्चायमध ऊर्ध्वमयं तथा।।२३०।।

एतस्यैव जगत्सृष्टिर्नापरस्य कदाचन। अयं विश्वमिदं सर्वं सृजत्यत्ति च पाति च।। महाभूतैः समं देवो मायावी बालको यथा।।२३१।।

एतस्मादधिको नान्यो जगत्यस्मिन् हि विद्यते। कुतः समो भवेदस्य पुंसः सर्वाधिकस्य हि।।२३२।।

कारयत्येष एवैतान् जन्तून् नानाशरीरगान्। भृत्यानिष्टानिव सदा कर्मणी साध्वसाधुनी।।२३३।।

यानयं नरकं नेतुं समिच्छति महेश्वरः। एतान् कारयति स्वामी पापं कर्मैव केवलम्।।२३४।।

स्वर्गं नेतुं हि यानिच्छेत् कारयेत् पुण्यमेव तान्। मनुष्यजातिं नेष्यन् स कारयेत् पुण्यपातके।।२३५।

सन् जीव इति सदोच्यते। चित्प्राधान्यविवक्षायां तु अयं हिरण्यगर्भः तम् आत्मानं सदैव जानाति इति अतः परमात्मा इत्युच्यत इत्यर्थः। अयं भावः—पूर्वकल्पे हिरण्यगर्भोपासनया हिरण्यगर्भभावं प्राप्नुवतामनुग्रहाय परमात्मैव तद्रूपेणावतिष्ठत इति वस्तुस्थितिः। तथा च यथा भारते द्रौपदीविवाहे पञ्चेन्द्रोपाख्याने पाण्डवेषु देवांशा अदेवांशाश्च समुच्चिता उक्ताः, तथाऽत्र हिरण्यगर्भे भूतपूर्वोपाध्यभिमानशालिजीवांशप्राधान्यविवक्षायां जीवव्यवहारः, इतरथा तु परमात्मव्यवहार इति।।२२९।। अस्य परमात्मतां स्फुटीकुर्वन् सर्वात्मतामाह—अयमिति। अयं हिरण्यगर्भः। प्रदिशः कोणाः।।२३०।। अस्य परमात्मत्वविवक्षया एव परमात्मनो धर्मान् जगज्जन्मादिकारणत्वादीन् अस्मिन् निवेशयति—एतस्यैवेति अष्टभिः। एतस्य एतत्कर्तृकैव जगत्सृष्टिः इति। मायाविबालकवद् महाभूतैः सहितं विश्वमयम् एव सृजतीत्यादि।।२३१।। निरतिशयैश्वर्यं दर्शयति—एतस्मादिति। सर्वाधिकत्वादेव समः अपि नास्ति। सति समे सर्वाधिकत्वानुपपत्तेरित्युत्तरार्द्धार्थः।।२३२।। अन्तर्यामितां दर्शयति—कारयतीति। यथा लोके इष्टान् प्रियान् भृत्यान् साध्वसाधुनी सम्यगसम्यग्रूपेण कर्मणी यथारुचि कुर्वाणान् राजादिः प्रेरयति तथाऽयं सर्वजन्तून् विहितनिषिद्धे कुर्वाणान् प्रेरयतीति। इष्टभृत्यदृष्टान्तेन तेषु द्वेषाभावः सूच्यते।।२३३।। तत्र व्यवस्थामाह—यानिति द्वाभ्याम्।।२३४-२३५।। कामानुरूपफलप्रदत्वमाह—राजेति। वैषम्याभावमाह—इच्छेति। तेषां जन्तूनां यत्र यत्र

है इसलिये परमात्मा कहा जाता है! पूर्व कल्प में हिरण्यगर्भ की उपासना सिद्ध होने पर आगे आने वाले कल्प में उसे हिरण्यगर्भ बनने का मौका मिलता है। चेतना आते ही हिरण्यगर्भ में पूर्व संस्कार से जीवता व्यक्त होती है पर तुरन्त शास्त्रसंस्कार उद्बुद्ध होकर जीवभाव बाधित हो जाता है। यों मुक्त होने पर भी आधिकारिक पुरुष होने से प्रारब्ध पर्यन्त जगत् की वह व्यवस्था करता है जिसके लिये उसे आहार्यरूप से जीवभाव अंगीकार करना अनुकूल रहता है जबकि वस्तुतः वह परमात्मभाव में अवस्थित रहता है।।२२९।। जड-चेतन विश्व, देवताओं समेत इंद्र, दिशायें, विदिशायें, ऊर्ध्व, नीचे, जो कुछ है वह सब यह हिरण्यगर्भ ही है।।२३०।। जगत् की सृष्टि इसी हिरण्यगर्भ की की हुई है, और किसी की नहीं। मायावी बालक की तरह यह देव ही महाभूतों समेत इस विश्व को रचता, रखता और समाप्त करता है।।२३१।। इस जगत् में हिरण्यगर्भ से अधिक ऐश्वर्यादि वाला कोई और नहीं है। क्योंकि सबसे अधिक शक्त्यादि वाला है इसलिये इसके समान भी कोई नहीं है।।२३२।। जैसे राजा के प्रिय कर्मचारी जब अपनी रुचि से यथेष्ट कोई कार्य करने को उद्यत होते हैं तो राजा भी उन्हें उस कार्य के लिये सामर्थ्यादि देकर प्रेरणा दे दिया करता है वैसे ही विभिन्न देहों में स्थित इन सब जन्तुओं को अच्छे-बुरे कर्म यह हिरण्यगर्भ कराता है : विहित या निषिद्ध करने को हमारे उद्यत होने पर वह हमें सामर्थ्य प्रदान करता रहता है।।२३३।। जगत् का मालिक यह महेश्वर जिन्हें नरक ले जाना चाहता है उनसे विशेषतः पाप कर्म करा लेता है और जिन्हें स्वर्ग ले जाना चाहता है उनसे विशेषतः पुण्य करा लेता है। मनुष्य योनि में पहुँचाना चाहे तो पुण्य व पाप प्रायः बराबर करा लेता है।।२३४-२३५।। राजा की तरह ही यह

राजेवाऽयं फलं दद्यात् कर्मणोः साध्वसाधुनोः। इच्छानुसारतस्तेषां कारयत्येष कर्मणी। विषमस्तेन नैवायं सर्वभूताधिपो महान्।।२३६।।

जननी जनको वापि सुखदुःखे यथैव हि। ददाति तद्वद्भगवान् भूतानां निर्घृणो न हि।।२३७।।

विचार्यैष जगत् सर्वं सृजत्यत्ति च पाति च। न च स्रष्टा परोऽस्त्येनं विनाऽऽत्मानं स्वयंभुवम्।।२३८।

'आपो वा' इत्यादेरर्थः

उत्पाद्य स्थूलभूतानि भगवान् भूतभावनः। नीरेषु स्वात्मनो वीर्यं सहसैव समाक्षिपत्।।२३९।।

क्षिप्तं तेन हि तद्वीर्यं नीराणामुपरि स्थितम्। दधिमण्डोपमं कालात् काठिन्यमभवद् घनम्।।२४०।

कठिना पृथिवी सेयं रूक्षा सा दृश्यतेऽधुना। तस्याः सारः समुद्भूतो गोलकोऽभून्महानयम्।।२४१।।

इच्छा तत्रैव यतः प्रवर्तयति, तेन तदिच्छानुसरणेन न विषम इति।।२३६।। अनिष्टफलानां नरकादीनां तच्छुद्ध्यर्थमेव प्रदानाच्च न निर्घृण इति सदृष्टान्तमाह—जननीति। भूतानाम् इत्यनन्तरं तेनेति शेषः।।२३७।। ईक्षणं स्रष्टव्यालोचनरूपं यच्छ्रुतं तदपि अस्य धर्म इत्याह—विचार्येति। विचार्य ईक्षित्वा। एनं स्वयंभुवं सर्वात्मानं विना पर एतद्भिन्नः स्रष्टा नास्तीति।।२३८।।

अथ ब्रह्माण्डोत्पत्तिद्वारा विराडुत्पत्तिप्रतिपादकानाम् 'आपो[1] वा अर्क' (बृ. १.२.२) इत्यादिवाक्यानामर्थं संगृह्णाति—उत्पाद्येति पञ्चभिः। भूतानि भावयति वर्धयति इति स तथा, नन्द्यादित्वाल्ल्युः। यद्वा भूतमतीतकल्पभवं सृष्टिप्रकारं भावयत्यनुस्मृतवेदेन अनुसन्दधातीति स तथा। एतादृशो भगवान् हिरण्यगर्भः जलप्रधानानि पञ्च भूतानि सृष्ट्वा तत्र जलेषु आत्मीयं वीर्यं शक्तिरूपम् उपासकानुष्ठितकर्मोपासनयोः सूक्ष्मपरिणाममयं समाक्षिपत् प्रक्षिप्तवान्, स्वकीयस्थूलशरीरात्मकविराडारम्भोन्मुखं कृतवानिति यावत्। मनुरप्येवमाह—'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजद्' (१.८) इति।।२३९।। क्षिप्तमिति। तेन भगवता क्षिप्तं तद्वीर्यं जलानाम् उपरि स्थितं कुर्वद्वीजवद् उच्छूनतां गतमिति यावत्, तदा दधिमण्डोपमं जातम्। साऽवस्था 'यदपां शर आसीद्' (बृ. १.२.२) इति श्रुतौ शरपदेनोक्ता। अथ घनं गाढं काठिन्यमभवत् प्राप्तमित्यर्थः। भू प्राप्तौ (चु.उ.से.) चौरादिको णिज्विनिर्मुक्तः परस्मैपदीत्युक्तम्।।२४०।। कठिनेति। सा तत्सङ्घातावस्था इयं प्रत्यक्षा पृथिवी सम्पन्ना। सा पृथिवी अधुना रूक्षा परुषा दृश्यते निर्गतसारत्वात्। कोऽसौ सारो योऽस्याः सकाशान्निर्गतः? इत्यत आह—तस्या इति। तस्याः पृथिव्याः सारः सम्यगुद्भूतः स्पष्टः सन् ब्रह्माण्डगोलकरूपोऽभवदिति।।२४१।। कुक्कुटेति। कीदृशो गोलकः? कुक्कुटाण्डनिभः

अच्छे-बुरे कर्मों का फल देता है। क्योंकि जीवों की जिधर इच्छा हो उधर ही यह प्रेरित करता है, जो वे चाहें वही करें इसे संभव करता है, इसलिये सब प्राणियों का अधिपति यह महादेव विषम व्यवहार वाला नहीं।।२३६।। माता-पिता बालक को पुरस्कार या दण्ड देते हैं तो निष्करुण नहीं समझे जाते। ऐसे ही भगवान् प्राणियों को सुख-दुःख देते हैं अतः करुणारहित हों ऐसा नहीं।।२३७।। यह हिरण्यगर्भ ही ईक्षणपूर्वक सारे जगत् को उत्पन्न कर इसका पालन और अंत में ध्वंस करता है। इस स्वयंभू सर्वात्मा से भिन्न कोई स्रष्टा हो ऐसा नहीं।।२३८।।

अतीत कल्प की सृष्टिप्रक्रिया का स्मरण कर महाभूतों की सृष्टि आदि करने वाले भगवान् हिरण्यगर्भ जल-प्रधान पाँचों भूतों को उत्पन्नकर उस भूत समूह में अपनी शक्ति का संचार करते हैं जो शक्ति उपासक द्वारा अनुष्ठित कर्म व उपासना का सूक्ष्मावस्थापन्न रूप है। तात्पर्य है कि हिरण्यगर्भ ऐसा व्यापार करते हैं कि उनका जो स्थूल शरीर विराट् बनना है उसके निर्माणार्थ महाभूत तैयार हो जायें।।२३९।। उनके द्वारा निहित वह सामर्थ्य महाभूतों पर स्थित

१. आप इति लेखनीयम्।

कुक्कुटाण्डसमाकारः सप्तलोकस्य संस्थितिः। अनुसंवत्सरं कालं नीरेष्वासीत् समन्ततः।।२४२।।

शुष्कालाबुसमो नित्यं वायुनाभ्याहतो भृशम्। स तु संवत्सरे पूर्णे विभिन्नः कुक्कुटाण्डवत्।।
तदन्तः पुरुषो जज्ञे सप्तलोकशरीरभृत्।।२४३।।

पुरुषसूक्तसमन्वयः

इदं सर्वं पुमानेव भूतं भावि स्थितं च यत्। एष भोगस्य मोक्षस्य सर्वदिष्टे महेश्वरः। अन्नेन वर्धयत्येष स्थावराणि चराणि च।।२४४।।

वक्ष्यमाणोऽस्य महिमा विज्ञेयः सर्वदा नृभिः। पादः सर्वाणि भूतानि त्रिपादात्मनि तिष्ठति।।२४५।।

महिमाश्रयभूतो यो महिम्नः सोऽधिको यथा। तथैवास्य महिम्नोऽपि पुमानभ्यधिको मतः।।२४६।।

भूरादिलोकसप्तकस्य आधारश्च, संस्थितिः इत्यधिकरणे क्तिन्। स गोलकः अण्डोत्पत्तेः पुरा संवत्सरव्यवहाराभावात् पश्चाद्भावी यः संवत्सरः तावन्तं कालं समन्ततः सर्वतः स्थितेषु नीरेषु आसीद् अवसदित्यर्थः। अत्र ब्राह्ममानेन संवत्सरो बोध्यः। पुराणेषु सहस्रसंवत्सरोक्तिरितरमानाभिप्रायेत्यविरोधः।।२४२।। शुष्केति। स गोलकः शुष्कतुम्बीफलसमो वायुना भृशं ताडितः सन् संवत्सरे पूर्णे सति कुक्कुटाण्डवद् विभिन्नो विदीर्णः। तस्य मध्ये सप्तलोकमयशरीरो विराट् पुरुषो जज्ञे प्रादुर्भूत इत्यर्थः।।२४३।।

यथाऽध्यात्मं प्राज्ञतैजसविश्वा एकात्मान एवमधिदैवमीश्वरहिरण्यगर्भविराज इति स्पष्टयितुं षोडशर्चस्य पुरुषसूक्तस्यात्र विराजि समन्वयं सप्तदशभिर्दर्शयन्, तत्र अर्थक्रमेण द्वितीयाया ऋचः 'पुरुषएवेदम्' इत्यादिकाया आरम्यार्थं दर्शयति—इदमित्यादिना। भूतं भावि स्थितं वर्तमानं च यदिदं सर्वं तद् एष विराडात्मकः पुरुष एव। एष पुरुषो भोगस्य स्वर्गादिसुखस्य आपेक्षिकामृतस्य, मोक्षस्य मुख्यामृतस्य च सर्वदिष्टे प्रदानसमर्थः प्रभुरिति यावत्। यतोऽयमेव अन्नेन चराचराणि भूतानि वर्धयति। एतेन श्रुतौ रोहतिपदम् अन्तर्भावितण्यर्थमिति दर्शितम्।।२४४।।

तृतीयाया ऋचोऽर्थमाह—वक्ष्यमाण इति द्वाभ्याम्। एतत्परिमाणो वक्ष्यमाणोऽस्य महिमा विभूतिर्बोध्यः। महिमानमभिनयति—पाद इति। सर्वाणि विश्वानि भूतानि तदीयमहिम्न एकः पादः अंश इति यावत्। परिशिष्टपादत्रयवान् महिमा तु तस्य आत्मनि दिवीतिपदेनोक्ते द्योतनात्मके स्वरूप एव तिष्ठति इति।।२४५।। अस्या द्वितीयपादार्थमाह — महिमेति। यथा लोके सेनापत्यादिरूपमहिम्नः सकाशाद् महिमाश्रयो विभूतिमान्

हुई और उगने वाले बीज की तरह फूल गयी एवं दही की मलाई की तरह सारभूत हो गयी। फिर कुछ समय में वह घनीभूत हुई, कड़ी पड़ने लगी।।२४०।। वह संहत-अवस्था वाली सामर्थ्य ही यह हमें दृश्यमान पृथ्वी है। अब यह रूखी दीखती है, क्योंकि इसका सार निकल चुका है; यह जो महान् ब्रह्माण्ड है वह पृथ्वी के सार की ही विकसित स्थिति है।।२४१।। मुर्गी के अण्डे जैसा यह ब्रह्माण्ड जो सातों लोकों का आधार है, वह उन सर्वत्र स्थित भूतों पर एक संवत्सर तक उस अवस्था में रहा। वस्तुतः जितने समय वह वैसा रहा वही एक संवत्सर का काल निर्णीत हुआ क्योंकि उससे पूर्व संवत्सरादि खण्डकालों का व्यवहार प्रचलित नहीं था। यहाँ ब्राह्म संवत्सर समझना चाहिये क्योंकि ब्रह्मा के ही स्थूल देहलाभ का प्रसंग है।।२४२।। वह ब्रह्माण्ड-गोल वायु के थपेड़े वैसे ही खाता रहा जैसे समुद्र की सतह पर तैरती सूखी तुम्बी। संवत्सर पूरा होने पर मुर्गी के अण्डे जैसे वह भी विदीर्ण हो गया और उसमें वह विराट् पुरुष प्रादुर्भूत हुआ, जिसका शरीर सातों लोक हैं।।२४३।।

भूत, भावी और वर्तमान जो यह सब है वह विराडात्मक पुरुष ही है। यह महेश्वर भोग-मोक्ष दोनों प्रदान करने में हमेशा समर्थ है। स्थावर-जंगम भूतों को अन्न द्वारा यही बढ़ाता है।।२४४।। (यहाँ पुरुषसूक्त की सोलह ऋचाओं

मार्गद्वयस्य कर्ताऽयं वैदिकस्य सदा प्रभुः। प्रवृत्तेश्च निवृत्तेश्च स्वर्गमोक्षपुरे प्रति।।२४७।।
अयमभ्यधिको यस्मात् सर्वस्माद्भौतिकात्मनः। तस्माद्विराडिति प्रोक्तो[1] विशेषाद्राजते यतः।।२४८।।
अधिष्ठाय पुरः सर्वाः स्थिरजङ्गमदेहिनाम्। पूरयत्यात्मना यस्मादतोऽयमधिपूरुषः।।२४९।।
सर्वस्मादधिकः सोऽयं ब्रह्माण्डान्तः स्थितः पुमान्। तस्य कार्यमिदं सर्वं गिरिदेहधरादिकम्।।२५०।।
अयं यज्ञः पुमान् हेतु[2] ऋक्सामयजुषां तथा। छन्दांस्यपि च सर्वाणि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे।
अस्मादजादयश्चापि विराजः पुरुषोत्तमात्।।२५१।।

राजादिरधिकः प्रसिद्धः तथाऽस्य पुरुषस्य महिम्नः सकाशाद् अयं पुमान् अधिकः।।२४६।।

चतुर्थीमृचं व्याकुर्वंस्तत्र पूर्वार्द्धं महिम्नः पादत्रयविशिष्टः पुरुष उपरिष्टात् स्थितः तस्यैकः पादः सर्वभूतात्मकोऽत्र व्यवहारभूमौ स्थित इत्यर्थकं व्याख्यातप्रायं मत्त्वा उत्तरार्द्धार्थमाह—मार्गेति। वेदपूर्वोत्तरकाण्डयोः प्रसिद्धस्य क्रमेण सकामनिष्कामाधिकारिकस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपस्य मार्गद्वयस्य अयम् एव पुरुषः कर्ता प्रवर्तकः। कीदृशस्य मार्गद्वयस्य? अशनेन भोगेन सहितं स्वर्गरूपं पुरं, तद्विपरीतं मोक्षरूपं पुरं च प्रति अभिलक्ष्य क्रमेण प्रसृतस्येति शेषः। तथा च स्वर्गमोक्षरूपेण प्रत्यक्पराग्भावेन अवस्थानात्[3] सर्वत्र व्याप्तिः तृतीयपादार्थ उपलक्षित इति।।२४७।।

पञ्चम्या ऋचोऽर्थमाह—अयमिति त्रिभिः। यस्मादयं सर्वभौतिकप्रपञ्चाद् अधिकः तस्माद् हेतोः विराट्संज्ञो जातः। तद्व्युत्पत्तिमाह—विशेषादिति।।२४८।। अधिदैवविराड्भावानन्तरं सर्वाध्यात्मभावेन अवस्थानाच्च[4] अधिपूरुषसंज्ञो जात इति व्युत्पत्तिं दर्शयन्नाह—अधिष्ठायेति।।२४९।। पूर्वपश्चिममध्यमेषु देशेषु कालेषु च सर्वत्र अतिरिक्तोऽधिकोऽभवदित्याकारमुत्तरार्द्धार्थमाह—सर्वस्मादिति। तत्र हेतुं सर्वकारणत्वमाह—तस्येति। धरा पृथिवी।।२५०।।

अस्मादेव पुरुषाद्यज्ञरूपाद् दधिमिश्रिताज्यात्मकपृषदाज्यप्रभृतिहविः पशवो वेदाश्छन्दांसि च जातानीत्याकारं षष्ठ्यादितिसृणामृचामर्थं सङ्कल्प्याह—अयं यज्ञ इति। अयम् एव पुमान् यज्ञरूपः, ऋगादीनां हेतुः कारणम्, तथा अस्माद् एव विराजः गायत्र्यादीनि च्छन्दांसि, अजश्छागस्तत्प्रभृतयो ग्राम्यारण्यपशवश्च जाता इति।।२५१।।

का अर्थ समझा रहे हैं क्योंकि उसमें विराट् का ही स्पष्टीकरण है।) विराट् की यह महिमा लोगों को हमेशा याद रखनी चाहिये : सारे भूत—महाभूत एवं प्राणी—उसकी महिमा का एक अंश ही हैं, चौथाई हिस्सा हैं। बाकी तीन हिस्सों वाली महिमा तो इसके द्योतनात्मक, ज्ञानरूप, स्वरूप में ही रहती है।।२४५।। लोक में सेनापति आदि रूप महिमा की अपेक्षा महिमा वाला जो राजा आदि होता है वह बढ़कर ही होता है। ऐसे ही अपनी महिमा से यह विराट् पुरुष बढ़कर है।।२४६।। स्वर्गनगर की ओर जाने वाला प्रवृत्तिमार्ग और मोक्षपुर की ओर जाने वाला निवृत्तिमार्ग—इन दोनों ही वेदप्रदर्शित रास्तों को विराट् प्रभु ने ही प्रवृत्त किया है। स्वर्ग अर्थात् पराग्रूपसे एवं मोक्ष अर्थात् प्रत्यग्रूपसे विराट् ही अवस्थित होने से वे सर्वत्र व्याप्त हैं।।२४७।। क्योंकि ये सारे ही भौतिक प्रपंचसे बढ़कर हैं, इसलिये विशेषतः विराजमान होने से इन्हें विराट् कहा जाता है।।२४८।। स्थावर-जंगम देहधारियों के सभी शरीरों को अधिष्ठित कर उन्हें आत्मा से भरा-पूरा कर देते हैं, अतः ये ही 'अधिपूरुष' भी कहे जाते हैं।।२४९।। ब्रह्माण्ड में स्थित ये आदिपुरुष सबसे बढ़कर हैं, पहाड़, शरीर, पृथ्वी आदि यह सब उन्हीं का कार्य हैं।।२५०।। ये पुरुष ही यज्ञरूप हैं और ऋग्-यजु-साम के—अर्थात् सारे वेदों के, क्योंकि अथर्व का ऋग् व यजु में अन्तर्भाव हो जाता है—हेतु हैं। इस पुरुषोत्तम विराट् से ही गायत्री आदि छन्द और बकरा आदि ग्रामीण और जंगली जानवर पैदा हुए।।२५१।। इन्द्र, अग्नि और ब्राह्मण विराट् के मुख से

१. विशेषा विराज्येव व्यक्ता हिरण्यगर्भादावव्यक्ता इति व्यक्तविशेषसद्भावेन राजमानतेत्यर्थः। २. रेफाभावो लेखकप्रमादात्। ३. नरकस्यापि पराग्भावेनावस्थानात्स्वर्गेणोपलक्षणम्। ४. समष्ट्यभिमानितया विराजोऽध्यात्ममप्यधिष्ठाय स्थितिरित्युच्यते, न तु विराड्विश्वयोरेवाभेदाभिप्रायेण, तैजसप्राज्ञयोरनुल्लेखात्तयोरिहानुपस्थापनापत्तेः।

इन्द्रश्चाग्निश्च विप्राश्च मुखतोऽस्य विनिर्गताः। क्षत्रिया बाहुतस्तद्वदूर्वोर्वैश्याश्च जज्ञिरे।।२५२।।

भूमिः शूद्रास्तथा पद्भ्यां जाता अस्य महात्मनः। चन्द्रमा मनसो जातो नेत्रात्तद्वद् दिवाकरः।२५३।

प्राणात्प्रभञ्जनो जातो नाभेस्तु गगनं महत्। मस्तकात् स्वर्गलोकोऽयं श्रोत्राज्जाता इमा दिशः।
एवमन्येऽपि पुंसोऽस्माज्जाता लोका महात्मनः।।२५४।।

द्रव्याणि च तथा कालो वसन्ताद्यात्मको महान्। देवता यजमानो वा क्रिया वाऽतः परा न हि।२५५।

सहस्रमस्तको देवः सहस्रेन्द्रियवानपि। भूतभौतिकजातं स आवृत्यात्मा परः स्थितः।।२५६।।

एतेन सर्वोपादानादस्मात्पुरुषादतिरिक्तपशोरलाभेन पूर्वे देवा ऋषयश्च एतमेव पशुं कल्पयित्वा एतमेव पूजितवन्त इत्यर्थिका नवमी ऋग् व्याख्यातप्रायेति मत्त्वा दशम्यादीनां चतसृणामृचामर्थमाह—इन्द्रश्चेति। इन्द्रो देवराजोऽग्निश्च एतौ देवौ विप्राश्च मुखाज्जाताः। क्षत्रिया देवेष्विन्द्रवरुणादयो मानवाश्च बाहुभ्याम्। ऊरुदेशाद् वैश्याः देवेषु गणशालिनो विश्वेदेवादयो मानवाश्च जाताः। यद्यपि इन्द्रो देवक्षत्रेष्वेव चतुर्थब्राह्मणे (बृ.१.४.११) पठितः तथापि तस्याग्निसमुच्चितस्य ब्राह्मणत्वसूचनाय 'मुखादग्निस्तथेन्द्रश्च प्राणाद्वायुरजायत' इति तैत्तिरीयशाखापुरुषसूक्तवाक्यानुसारेण मुखादुत्पत्तिरुक्तेति बोध्यम्[1]।।२५२।। भूमिरिति। भूमिः पूषसंज्ञो देवशूद्रो, मानवशूद्राश्च पद्भ्यां जाताः। शेषं स्पष्टम्।।२५३।। प्राणादिति। उक्तानामुपलक्षणत्वमभिप्रेत्याह—एवमिति। लोकशब्दस्य कर्मकरणव्युत्पत्या विषयाणां देवानां च ग्रहः।।२५४।। चतुर्दशीपञ्चदश्योश्चार्थं संगृह्णाति—द्रव्याणीति। द्रव्याणि आज्यादीनि, तत्तादात्म्यापन्नवसन्तादिरूपः कालः[2] एतदुपलक्षिता देवता यजमानो वा क्रिया वा कर्म वा अतः पुरुषात् परा भिन्ना न इति।।२५५।। उक्तः पुरुषो हृदये ध्येयः—इत्यर्थविधायकत्वादधुना प्रथमाया ऋचोऽर्थमाह-सहस्रेति। वृत्तौ सहस्रशब्दोऽसंख्यातवचनः, यानि लोके मस्तकादीनि तान्यस्यैवेत्यतः सहस्रमस्तकः। एवमग्रेऽपि। स पुरुषो भूतानि भौतिकानि च सर्वाणि आवृत्य अभिव्याप्य स्थितः संनिहितः दशाङ्गुलपरिमिते[3] हृदय इति शेषः। अत्र वृत्त्वा-पदस्यार्थ 'आवृत्य' इत्युक्तः। भूमिपदं च भूतोपलक्षणमिति दर्शितम्।।२५६।। तस्य

जन्मे हैं। क्षत्रिय भुजाओं से तथा वैश्य ऊरु अर्थात् जंघाओं से पैदा हुए हैं।।२५२।। इस महात्मा—महाशय—के चरणों से भूमि और शूद्र पैदा हुए, मन से चन्द्रमा तथा नेत्र से दिनकर की उत्पत्ति हुई।।२५३।। विराट् प्राण से वायु एवं नाभि से यह महान् गगन पैदा हुआ। मस्तकसे यह स्वर्गलोक और श्रोत्र (कानों) से ये दिशायें उत्पन्न हुई। इसी प्रकार सभी विषय और देवता इस महामना पुरुष से पैदा हुए।।२५४।। घृतादि द्रव्य, वसंतादि काल, देवता, यजमान, क्रिया—ये सभी इस परपुरुषसे भिन्न नहीं।।२५५।। असंख्य मस्तकों और इन्द्रियों वाला वह देव वास्तवमें परमात्मा है और सब भूत-भौतिक समूह को पूरी तरह घेर कर भी सबके हृदय में संनिहित है।।२५६।। हे इन्द्र ! इससे परे जो बुद्धिसाक्षी स्वप्रकाश आत्मा विद्यमान है, जो समूचे अज्ञान से अस्पृष्ट है उसे मैं साक्षात् जानता हूँ।।२५७।। वही परमात्मा नाम-

---

१. यद्वा इन्द्रस्य मुखतो जनिर्न विवक्ष्यतेऽपि तु वह्निविप्रयोरेव, इन्द्रस्य त्वभ्यर्हितत्वाद् दधीचः पुरतउपस्थितत्वाच्च प्राथम्यमात्रमिति सारल्येन योजना। २. 'कालस्त्वविधैवे' ति बिन्दुकृतः। रत्नावलीकाराः 'महाकाले मानाभावः, इदानीमिदम् इत्यादिबुद्धेः जन्यमात्ररूपखण्डकालमात्रविषयकत्वमेव, अयं साभासाविद्यारूपः, अविद्यागताऽऽभासाऽविविक्तचित एवेश्वरत्वस्यो-क्तत्वात्—साभासाविद्यायामीश्वरोपाधित्वमिति भाव' इति प्रतिपादयामासुः (पृ. १५२)। संवत्सरादिरूपकालस्योत्पत्तेः श्रुतत्वादीश्वरात्मा महाकाल एवादित्यादिभिरुपाधिभिः परिच्छिन्नः खण्डकालव्यवहारगोचर आकाश इव घटाकाशादिव्यवहारविषय इत्यभिप्रेत्य, उपहितस्य चोपाधिशुद्धाभ्यामनन्यत्वाऽयोगाज्जन्यतोपपत्तेर्निरूपकानां च विराड्रूपतेव निरूप्यस्य कालस्यापि तद्रूपता सङ्गच्छतइत्यनुस-न्धेयम्। ३. हृदयप्रदेशस्य परिमाणोक्तिर्ध्यानाधिष्ठानस्याङ्गुष्ठपरिमितत्वप्रसिद्धेः।

बुद्धिसाक्षिणमात्मानमेतस्मात्परतः स्थितम्। स्वप्रकाशमहं वेद सर्वाज्ञानविवर्जितम्।।२५७।।

नामरूपात्मकं सर्वं कृत्वाऽऽस्ते यो वदन्निह। शक्र यं धातृवदनात् सम्यग् विज्ञास्यते भवान्।२५८।

दिशोऽपि प्रदिशस्तद्वदध ऊर्ध्वं स एव हि। यतस्ततोऽत्र यज्ञेन यक्ष्यन्ते तेन तं द्विजाः। धर्मशब्देन तेनैते स्वर्गं यास्यन्ति तच्छिरः।।२५९।।

वैश्वानरविद्यासमन्वयः

पुंसोऽस्य मूर्द्धा स्वर्गः स्याच्चन्द्रसूर्यौ च चक्षुषी। प्राणः प्रभञ्जनः प्रोक्तो मध्यदेहोऽन्तरिक्षकम्।।२६०।।

जलानि विविधान्यस्य मूत्राशय उदीरितः। भूर्लोकस्तु समग्रोऽयं पादावस्य प्रकीर्तितौ।।२६१।।

वक्त्रमाहवनीयस्तु हृदयं च तथैव हि। यो गार्हपत्यनामा स्याद् दक्षिणाग्निर्मनो मतम्।।२६२।।

हृदये संनिधाने च 'वेदाहमेतं पुरुषम्' (श्वे ३.८) इति श्रुत्यनुसारिणं स्वानुभवं[1] दर्शयति—बुद्धीति। एतस्माद् दृश्यवर्गात्तमोरूपात् परतः परस्तात् स्थितं बुद्धिसाक्षिणं स्वप्रकाशं निरावरणं च आत्मानम् अहं वेद साक्षात्करोमीति।।२५७।। 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' (महावाक्योप. ३) इति श्रुतिमपि संवादयति—नामेति। कृत्वा इति विचित्य-पदस्यार्थः। वदन् अभिवदनादिव्यवहारं कुर्वन् इह हृदय आस्ते संनिहित इत्यर्थः। तवापि प्रतिबन्धक्षये तदपरोक्षं भविष्यतीत्याह—शक्रेति। हे शक्र! यम् आत्मानं धातुर्ब्रह्मणो मुखाद् एकशतवर्षब्रह्मचर्यानन्तरं भवान् अपि अपरोक्षीकरिष्यत इति।।२५८।

षोडशीमृचं व्याकरोति—दिश इति। यतोऽयमेव दिगादिरूपत्वात् सोपकरणयज्ञरूपः ततः तेन एतत्पुरुषात्मकेन यज्ञेन तम् एतं पुरुषं ये यक्ष्यन्ते पूजयिष्यन्ति ते महात्मानः तेन यज्ञेन पूर्वैः पूर्वैः धर्मशब्दव्यवहृतेन साधनेन तस्य विराजः शिरोरूपं स्वर्गं यास्यन्ति यत्र पूर्वे यज्ञकर्तारो गता इति शेषः। अत्र यास्यन्तीति 'सचन्त' इति पदस्यार्थः। एवं पुरुषसूक्तसमन्वयप्रदर्शनेन विराजः सकाशाद् वेदादिसृष्टिप्रतिपादकानि प्रथमाध्यायवाक्यानि प्रायो व्याख्यातप्रायाणीति बोध्यम्।।२५९।।

अयमेव पुरुषो वैश्वानरविद्यायां 'मूर्द्धैव सुतेजा' (छां ५.१८.२) इत्यादिवाक्येन प्रतिपादित इत्याह—पुंस इति चतुर्भिः। प्राणो मुखनासिकावर्ती प्रसिद्धः स तस्य वायुः। अन्तरिक्षलोको देहमध्यम्।।२६०।। जलानीति। मूत्राशयो बस्तिः।।२६१।। वक्त्रमिति। आहवनीयनामाऽग्निस्तस्य मुखम्। गार्हपत्यनामाऽग्निस्तस्य हृदयम्। दक्षिणाग्निनामाऽग्निः तस्य मन इति।।२६२।। उर इति। या यागे वेदिः संस्कृता भूमिः सा तस्य उरः वक्षः। कुशास्तु

रूपात्मक सारा प्रपंच रचकर अभिवदनादि व्यवहार करते हुए सबके हृदय में संनिहित है। हे शक्र! ब्रह्माजी के उपदेश से आप भी उसे सही-सही समझेंगे।।२५८।। दसों दिशायें इस विराट् का ही रूप हैं। जो सत्पुरुष इस पुरुषात्मक यज्ञसे इस पुरुष की पूजा करेंगे वे उस धर्मनामक यज्ञ के कारण विराट् के शिरोरूप स्वर्ग जायेंगे जहाँ पहले भी यज्ञकर्ता जा चुके हैं। (मंत्र में 'यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त' कहा है। सर्वरूप होने से विराट् यज्ञरूप भी है। यागादिरूप यज्ञमें विराट्-दृष्टि करते हुए 'इससे सर्वरूप परम पुरुष की आराधना कर रहा हूँ' इस भावना से अनुष्ठान करने पर श्रेयोलाभ निश्चित है यह अभिप्राय है।)।२५९।।

---

१. यद्यप्ययं तत्त्वधियो मोक्षहेतुतायामनुभववचनतयापि व्याख्येयः 'तमेवे' त्यादिवाक्यशेषात्तथापि ध्येयज्ञेययोरभेदात् श्रवणादिपरिपाकाय ध्यानस्य ग्रन्थकृत्सम्मतत्वाच्च ध्यानेन स्फुटीकृतोनुभवोनेनोच्यत इति टीकाग्रन्थ उपपन्नः। मूले सर्वाज्ञानेति सर्वविषयकमज्ञानमित्यर्थः। अज्ञानवर्जितत्वमात्रस्य यत्किञ्चिज्ज्ञानेनापि प्रयुक्तिसंभवात्सर्वपदोपयोगः।

उरो वेदिस्तथा दर्भा लोमजातमुरःस्थितम्। ओषध्यो वनस्पतयः शेषाः केशाः शरीरगाः।।२६३।।

किं बहूक्तेन शक्राद्य सङ्क्षेपेणावधारय। यदस्ति यच्च नास्त्यत्र तत् सर्वं स महेश्वरः।।२६४।

उक्तावस्थायामपि क्षुधा

एवंभूतं सुतं वीक्ष्य मृत्यः क्षुत्पीडितो भृशम्। हिरण्यगर्भो वदनमत्तुं व्यात्तमथाकरोत्।।२६५।।

अहो क्षुधा पिशाचीयं मतिभ्रंशं न कस्य हि। कुरुते यदयं देवः सुतमत्तुं समुद्यतः।।२६६।।

अस्मिन् समग्रसंसारे क्षुधारोगोऽतिदुःसहः।अस्य नास्ति प्रतीकारो विनाऽन्नस्य हि[1] भक्षणात्।।२६७।।

लोमानि। शेषाः लोमभिन्नाः केशा ओषधिवनस्पतिरूपाः। एवमुपासकेन स्वशरीरे ध्येयोऽयमिति भावः।।२६३।। फलितमाह—किं बहूक्तेनेति। अद्य अधुनेति यावत्। अत्र अस्मिन् लोके। नास्ति न दृश्यते।[2] स विराट्।।२६४।।

एवं हिरण्यगर्भविराजोः परमैश्वर्यमुपासनाकर्मणोः फलोत्कर्षावधिभूतं प्रदर्शितम्। अथ तत्र क्षुधा भयं कामवैक्लव्यमित्यादिदोषप्रतिपादकानि 'तं जातमभिव्यादाद्' (बृ. १.२.५) इत्यादिवाक्यानि व्याख्येयानि, दोषाभिधानं च मुमुक्षूणां तत्र वैराग्याय। क्षुधाभिधानं तु हिरण्यगर्भस्य भोक्तृत्वेनोपासनं विराजश्च अन्नत्वेन इति विधानायापि भवति। इत्येतत्सर्वमभिसन्धाय क्षुधावाक्यार्थं तावदाह—एवंभूतमिति। एववर्णितं विराजं पुत्रं वीक्ष्य क्षुधाशालित्वादेव मृत्युसंज्ञो हिरण्यगर्भः तं पुत्रम् अत्तुं भक्षितुं मुखं व्यात्तं प्रसृतं कृतवानिति।।२६५।। ननु कथं पुत्रादनेच्छा भगवतो हिरण्यगर्भस्य जाता?—इत्याशङ्कां वारयितुं क्षुधाया अनर्थकारित्वं दर्शयति—अहो इति षोडशभिः। अहो! विस्मयकरी क्षुधारूपा पिशाची कस्य बुद्धिभ्रंशं न कुरुते, यतः अयं देवः हिरण्यगर्भः सुतादने समुद्यतः कृत इति।।२६६।। अस्मिन्निति। स्पष्टम्।।२६७।। पुत्रस्येति। क्षुधयैतादृशं वैक्लव्यं संभाव्यते यतः

इस विराट् पुरुष की मूर्द्धा स्वर्ग है, चाँद व सूरज आँखें हैं, प्राण ही वायु है और देह का मध्य भाग अन्तरिक्ष है।।२६०।। उसका मूत्राशय ही सारा जल है और यह समग्र भूलोक उसके चरण हैं।।२६१।। विराट् का मुख आहवनीय नाम यज्ञाग्नि है, गार्हपत्याग्नि हृदय एवं दक्षिणाग्नि उसका मन है। (जिसमें होम की आहुतियाँ अर्पित करते हैं वह आहवनीय, जिसमें दक्षिणार्थ पाक करते हैं वह दक्षिण और जो निरन्तर सुरक्षित रहती है वह गार्हपत्य है जिससे इतर अग्नियाँ निकाली जाती हैं।)।।२६२।। यागों में जो वेदि नाम संस्कारयुक्त भूमि होती है वह विराट् का वक्ष है। वक्ष पर स्थित रोम ही कुश हैं जो वेदि में पात्रासन रूप से बिछाये जाते हैं। शरीरस्थ बाकी बाल सारी ओषधियाँ और वनस्पतियाँ हैं। अभिप्राय है कि उपासक अपने शरीर में उक्तरूप से उपासना किया करे—स्वयं में विराट्-दृष्टि और स्वावयवों में यज्ञांगदृष्टि।।२६३।। अधिक क्या कहें! संक्षेप में समझ लो कि इस लोक में जो कुछ भी 'अस्ति' स्थूल और 'नास्ति' सूक्ष्म है वह सब विराड्रूप महेश्वर ही है।।२६४।।

इस प्रकार हिरण्यगर्भ और विराट् की परमेश्वरता बतायी तथा उपासना समेत कर्म का चरमोत्कृष्ट फल जो आदिपुरुषभाव है उसका वर्णन किया। मुमुक्षु इससे भी वैराग्य करे। इस अभिप्राय से उपनिषत् में उस स्थिति को भी भूख, डर और अरति से युक्त बताया है। उस प्रसंग का अब वर्णन करते हैं—पूर्ववर्णित विराट्-रूप पुत्र को देखकर मृत्युनामक हिरण्यगर्भ भूख से अत्यधिक पीडित होने के कारण उस पुत्र को ही खा जाने के लिये मुँह फाड़ने लगे।।२६५।। अहो! यह भूख कैसी पिशाची है और किसकी मति नहीं भ्रष्ट कर देती, जो इसने देवोत्तम हिरण्यगर्भ को भी पुत्रभक्षण के लिये प्रेरित कर दिया।।२६६।। इस सारे संसार में भूखनामक रोग असह्य है जिसकी अन्नभक्षण से अतिरिक्त कोई

---

१. कण्ठकूपादिधारणायाअपि सनातनत्वाभावादप्रतीकारतेतिभावः। तत्कालं क्षुधादिपरिहारेऽपि धारणाद्यभ्यासाय पुष्टिलाभार्थमन्नस्यैवापेक्षणात्।

२. अमूर्तमव्यक्तं वेत्यर्थो, न त्वभावो नाम कश्चन पदार्थो विराडात्मोच्यते भाववस्तूनामिवाऽभावस्योत्पत्त्यश्रवणादिति ध्येयम्।

पुत्रस्य मरणे दुःखं निःसीमं जायते यतः। ततोऽधिकतमं दुःखं क्षुधाजं नास्ति संशयः।।२६८।।

यस्माद्धिरण्यगर्भोऽयं क्षुधादुःखप्रशान्तये। सुतस्य मरणाद् दुःखं तिरस्कृत्य प्रवर्तते।।२६९।।

पितृमातृगुरुभ्रातृपुत्रमित्रकलत्रकम्। क्षुधातुरो हिनस्त्यत्र निर्घृणो राक्षसो यतः।।२७०।।

सत्यं शौचं श्रियो धैर्यं बलं वीर्यं पराक्रमम्। यशो धर्मादिकांश्चान्यान् गुणान् हन्ति क्षुधा क्षणात्।।२७१।।

बुभुक्षितो निष्करुणः सद्य एव विजायते। श्ववद् भर्त्सयति स्वीयान् यतो भार्यादिकानयम्।।२७२।।

अस्या बलमहो चित्रं दृश्यते सर्वदेहिषु। यत एषा निहन्त्येतान् गुणान् दोषांश्च कृत्स्नशः।।२७३।।

मृदौ शुचौ शयानोऽपि यतो निद्रां न गच्छति। क्षुधितः क्रोधमायाति नैव चित्तापहारिणीः।।२७४।।

पीनोन्नतकुचा मृद्वीः पृथुश्रोणीः सुमध्यमाः। चन्द्रानना द्व्यष्टवर्षा मनोनेत्रसुखप्रदाः।।२७५।।

बिम्बोष्ठीर्मृदुभाषिण्यो नीलालकविराजिताः। सीमन्तिनीरप्सरोभिः समानाः काममोहिताः। नेच्छत्यालिङ्गितोऽप्याभिः क्षुधितो बालवद्युवा।।२७६।।

पुत्रस्य मरणे यद् दुःखं ततोऽधिकतमं क्षुधादुःखमिति।।२६८।। तत्र हिरण्यगर्भ एवोदाहरणमित्याह—यस्मादिति। मरणाद् यद् दुःखं तत् तिरस्कृत्य अगणयित्वा प्रवर्ततेऽत्तुमिति शेषः।।२६९।। अधुनाप्येवं दृश्यत इत्याह—पित्रिति। अत्र लोके[1]।।२७०।। सत्यमिति। बलं शारीरं, वीर्यं मानसं, पराक्रमो युद्धादिशक्तिः। चकारेण दयादिग्रहः।।२७१।। गुणहन्तृत्वं स्फुटयति—बुभुक्षित इति। क्षुधितः करुणया हीनो भवति यतः स्वीयान् भार्यादिकान् शुन इव तिरस्करोतीति।।२७२।। अस्या इति। अस्या क्षुधायाः चित्रं बलं यत एतान् सत्यादीन् गुणान् दोषांश्च प्रबलतया प्रसिद्धान् निद्रादीन् एषा हन्ति जयतीति। अतिबलतया दोषविजयाच्च तस्या महादोषत्वं पर्यवस्यतीति भावः।।२७३।।

तत्र निद्राक्रोधयोर्जयं दर्शयति—मृदाविति। क्षुधितः कोमलशय्यायामपि निद्रां न गच्छति। तथाऽन्नदातरि तिरस्कुर्वत्यपि क्रोधं नैव यातीति प्रसिद्धम्। चित्तापहारिणीरित्यस्योत्तरत्रान्वयः।।२७४।। कामजेतृत्वमाह—पीनोन्नतेति द्वाभ्याम्। यतः क्षुधितो युवाप्याभिः सीमन्तिनीभिः आलिङ्गितोपि एताः सीमन्तिनीः नेच्छति। चित्तापहारिणीः इत्यादीनि द्वितीयाबहुवचनानि सीमन्तिनीविशेषणानि बोध्यानि। भाषन्तीर्मृदु बिम्बोष्ठीः इति पाठः साधुः।।२७५-७६।।

दवा नहीं है।।२६७।। पुत्र के मरने पर असीम दुःख होता है लेकिन निःसंदेह भूख से होने वाला दुःख उससे भी तीव्र है, तभी तो यह हिरण्यगर्भ अपनी भूख के दुःखके उपशम के लिये पुत्रमरण के दुःखकी उपेक्षा कर पुत्रभक्षण में प्रवृत्त हुए।।२६८-२६९।। लोक में देखा जाता है कि भूख से आतुर होकर व्यक्ति निर्दय राक्षस बन जाता है और पिता, माता, गुरु, भाई, पुत्र, मित्र पत्नी आदि की भी हिंसा कर डालता है।।२७०।। भूख क्षणभर में ही सत्य, शौचाचार, ऐश्वर्य, कीर्ति, धर्म आदि सद्‌गुणों को नष्ट कर देती है।।२७१।। भूखा व्यक्ति तुरन्त करुणाहीन हो जाता है क्योंकि देखा जाता है कि वह तब अपनी पत्नी आदि पर भी कुत्ते की तरह भौंकता है! (भार्या का भरण करना पति का कर्तव्य है, जिसे पूरा न करने की शर्म महसूस करने की जगह वह पत्नी को ही डाँटता है।)।।२७२।। सब देहधारियों में होने वाली इस भूख का विचित्र बल है, जो सत्यादि गुणों व निद्रादि दोषों को पूरा ही समाप्त कर देती है।।२७३।। भूखे

१. तेषामधिकारो यत्रात्रे तस्य ग्रहणमपि तेषामेव हिंसेति द्रष्टव्यम्। वृष्ट्याद्यभावेनाद्यभावाद् दुर्घटनादौ वा क्वचिन्मानवमांसभक्षणमद्यापि वर्ण्यते।

हिरण्यं च पशून् वापि धान्यं[1] भूमिमथापि वा। लोकत्रयीं वित्तपूर्णां क्षुधितो नेच्छति क्वचित् ।२७७

कामः कोधस्तथा लोभो जितलोकत्रया इमे। क्षुधापिशाचीभयतः क्वापि यान्ति विभीतवत् ।।२७८।।

कामादयो यदा शूराः प्रापिता हि दशामिमाम्। तदा तैर्विजिता ये स्युर्वराका[2] हि गुणा इमे।।२७९।

कामादीनां पुरः स्थातुमेकस्यापि भवन्ति न। गुणाः सत्यादयस्ते हि कामाद्याः क्षुधया जिताः ।२८०

इयं सर्वाधिका लोके क्षुधा नामापि दुःसहा। अनया परिभूतः सन्नत्तुमैच्छत् सुतं स्वकम्।।२८१।।

विराजो विलापः

एवं प्रवृत्तं जनकं विदारितमुखं सुतः। निरीक्ष्य भयमापन्नः शब्दं भाणिति सोऽकरोत्।।२८२।।

लोभजयमाह—हिरण्यमिति।।२७७।। त्रयाणां कामादीनां महाबलानां विजयमभिनयति—काम इति। जितं लोकत्रयं यैस्ते तथा।।२७८।। कामादिभ्यो हीनबलानां गुणानां विजये कैमुत्यमभिनयति—कामादय इति।।२७९।। गुणानां कामादिभ्यो हीनबलतां स्फुटयति—कामादीनामिति। सत्यादयो गुणाः कामादीनां मध्य एकस्य अन्यतमस्य अपि पुरः अग्रे युद्धे स्थातुं क्षमा न भवन्ति। ते कामाद्या अपि क्षुधया जिता इति।।२८०।। फलितमाह—इयमिति। उत्तरार्द्धे देव इति शेषः।।२८१।। एवं हिरण्यगर्भे जीवकोटिपक्षपाती क्षुधादोषो दर्शितः। अथ प्रजापतिसंज्ञे विराजि [3]तादृशस्यैव भयस्यार्थात् प्रदर्शकं 'स भाणु' इत्याद्यंशं व्याकरोति—एवं प्रवृत्तमिति। एवम् अत्तुं प्रवृत्तं प्रसारितमुखं च पितरं विलोक्य भयं प्राप्तः सुतः विराट् भाणित्याकारं शब्दमकरोद् इति।।२८२।।

को कोमल स्वच्छ बिस्तर पर भी नींद नहीं आती। यदि तिरस्कारपूर्वक भी उसे अन्न मिले तो बिना क्रोध किये खा लेता है। अतः नींद और क्रोध को भूख अभिभूत कर ही लेती है। कामना भी भूख के सामने निस्तेज हो जाती है : मनोहारिणी, स्थूल व उत्थित कुचों वाली, कोमल स्पर्श वाली, विशाल कटि वाली, सूक्ष्म उदर वाली, चन्द्रमुखी, बिम्बतुल्य ओष्ठ वाली, मधुरभाषिणी, घने काले बालों वाली, मन व नेत्रों को सुख देने वाली, स्वयं उद्रिक्त कामना वाली, अप्सराओं के समान, सोलह बरस वाली ललनाओं द्वारा आलिंगित किया जाने पर भी भूखा युवक वैसे ही उनकी इच्छा नहीं करता जैसे कोई बालक हो।।२७४-७६।। लोभ भी भूखके सामने हार जाता है : भूख से तड़पता व्यक्ति स्वर्ण, पशु, धान्य, जमीन या धनसम्पन्न त्रिलोकी की भी इच्छा नहीं करता। (धान्य की अनिच्छा अर्थात् धान्य सुरक्षित रखने की, जमाखोरी की इच्छा न होना।)।।२७७।। तीन लोकों पर जिनकी विजयपताका फहराती है वे काम-क्रोध-लोभ इस भूख नामक पिशाची (डायन) के डर से भयभीत की तरह न जाने कहाँ छिप जाते हैं!।।२७८।। जब प्रतापी काम आदि की यह दशा है तो वे जिन बेचारे सद्गुणों को हरा लेते हैं उनका भूख के सामने टिक पाना भला कहाँ संभव है?।।२७९।। काम आदि में से कोई एक दोष ही जब अपने विकराल रूप का प्रदर्शन करता है तभी सत्यादि सद्गुण सब मिलकर भी उसका सामना नहीं कर पाते। उन कामादि को भी भूख हरा देती है।।२८०।। इसलिये भूख नामक पिशाची ही लोक में सबसे अधिक असह्य है। हिरण्यगर्भ भी इसीसे नियंत्रित होकर अपने पुत्रके भक्षण में प्रवृत्त हुए थे।।२८१।। इस प्रकार मुँह फाड़कर खाने को तैयार पिता को देखकर वह विराड्रूप पुत्र डरकर 'भाणु' यों रोने लगा। (उस उत्तम स्थिति में भी भय पिण्ड नहीं छोड़ता यह दर्शाना है।)।।२८२।।

---

१. धान्यादिकं धनत्वेन नेच्छति, अन्नतया त्विच्छत्येव। धनं हि वस्त्वन्तरार्थं रक्षितुं यत्यते, नैव क्षुधातुरो धान्यं रक्षतीत्यर्थः।
२. गुणानां झटिति त्याग औत्सर्गिकः, कामनादेः प्राबल्यादित्यमीषां वराकता। सत्त्वस्य वा रजसो दौर्बल्याद् गुणानां वराकता।
३. जीवकोटिपक्षपातिन इत्यर्थः।

देहाभिमाननिन्दा

अहो पापतमो देहाभिमानः प्राणिनामिह। क्षुधितं जनकं दृष्ट्वा यतो भीतः सुतोऽभवत्॥२८३॥

भक्षयिष्यन्त्यदः श्वानः सर्वथा स्वात्मनिर्गमे। तथाऽपि नाधुना देहं जनकायाऽपि यच्छति॥२८४॥

एतस्य वीर्यपाकेन जायते तदयं यदि। भक्षयेत् प्रतिकूलं किं भवेदत्र हि देहिनः॥२८५॥

परोपकारो देहेन भवेच्चेत् किमतः परम्। देहिनः करणीयं स्याज्जातं देहफलं यतः॥२८६॥

अन्नाद्यन्यशरीराणां ददत् स्वर्गं समाप्नुयात्। किमु स्वात्मशरीरस्य दानतो न फलं व्रजेत्॥२८७॥

यस्मै कस्मै च यत्किञ्चित् दत्त्वा स्वेष्टं फलं भवेत्। पित्रे स्वस्य स्वदेहं हि दत्त्वा किं नाम नाप्नुयात्॥२८८॥

येन संस्कारद्वारा विराज्यपि भयं जनितं तं देहाभिमानं सकारणं निन्दति—अहो! इति दशभिः। अहो! आश्चर्यरूपोऽनिर्वचनीयत्वात्, पापतमो जीवत एव अन्धतामिस्रादिसंज्ञके भये पातनाद्; एतादृशः प्राणिनां देहाभिमानः। एतत् स्पष्टयति—क्षुधितं पितरमपि दृष्ट्वा सुतः अपि सन् यतो देहाभिमानाद् भीतो भयवानभूदिति॥२८३॥

धर्मप्रतिबन्धकत्वाच्च देहाभिमानः पापरूप इत्याह—भक्षयिष्यन्तीति। यद्यपि अदः शरीरं श्वानो भक्षयिष्यन्ति इति सर्वथा जानाति तथाप्यधुना जीवद्दशायां जनकायाऽपि देहदानात्मकं धर्मं न करोति यतो देहाभिमानरूपात् प्रतिबन्धकात्तस्य पापरूपतायां कः संशयः!॥२८४॥ ननु देहाभिमानादन्यत्र देहदाने प्रतिबन्धकं भविष्यति इति चेत्? किमनिष्टसाधनताज्ञानं वा, वैफल्यज्ञानं वा? नाद्यः, न्यासवत् परकीयस्यैव परेण यथेष्टविनियोगे कृते प्रत्यर्पयितुरनिष्टासंभवादिति परकीयतां स्पष्टयन्नाह—एतस्येति। एतस्य जनकस्य वीर्यपरिणामेन इदं शरीरं जायते, तत् शरीरमित्थमात्मीयम् अयं जनको यदि भक्षयेत् तर्हि देहिनः वृथा देहाभिमानिनः किं प्रतिकूलं स्यात्? न किञ्चिदपि, देहस्य परकीयत्वादेवेति भावः॥२८५॥ न द्वितीय इत्याह—परोपकार इति। चेद् यदि देहेन परोपकारो भवेत् जायेत तर्हि अतः परोपकारात् परम् अधिकं किं करणीयम् अवशिष्यते? न किञ्चिदपि; देहफलस्य[1] जातत्वादिति॥२८६॥ देहदानस्य फलवत्त्वं कैमुत्येनाह—अन्नादीति। अन्यशरीराणां परकीयशरीराणामुपकारकमन्नादिकं ददत् प्रयच्छन् सन् स्वर्गं गच्छेत्। एवं सति स्वात्मनः शरीरस्यैव दाने किमु फलं वाच्यमिति॥२८७॥ कैमुत्यन्यायमेव प्रकारान्तरेणाह—यस्मा इति। यस्मै कस्मैचिद् अविज्ञातायाऽपि यत्किञ्चिद् अन्नादिकमपि दत्त्वा स्वेष्टफलं लभते, स्वस्य पित्रे स्वदेहस्यैव दाने फलं किमु वाच्यमिति॥२८८॥ अशुद्धावलम्बनत्वाच्च देहाभिमानः पाप इत्याशयेनाह—विण्मूत्रादीति। मलसङ्घाते शरीरे चेद् अहंमतिः क्रियते

अरे! संसारावस्था में प्राणियों को जो देहाभिमान है—देह से घनिष्ठ तादात्म्य है—वह एक आश्चर्य तो है ही क्योंकि उसका सद्रूपसे या असद्रूपसे निर्णय असंभव है, लेकिन साथ ही वह घोर पाप भी है क्योंकि जीवित रहते ही व्यक्ति को डरनामक नरक में डाल देता है। भूखे बाप को देखकर भी बच्चा डर गया—यह देहाभिमानवश ही हुआ अतः वह पापात्मक है।॥२८३॥ हम सब जानते हैं कि स्वात्मा निकल जाने पर इस देह को कुत्ते नोच-नोचकर खायेंगे फिर भी जीवित दशा में भूखे बापके लिये भी इसे समर्पण करने को तैयार नहीं हो पाते।॥२८४॥ पिता का शुक्र ही परिपक्व होकर यह शरीर है, अतः यह पिता की ही वस्तु है। इसे यदि वही खा जाये तो इस शरीर में वृथा अभिमान करने वाले जीवका जाता क्या है !॥२८५॥ यदि अपने शरीर से परोपकार हो जाये तो देहधारी को इससे ज्यादा करना क्या है? देह मिलने का यही तो फल है कि इससे किसी का उपकार हो जाये।॥२८६॥ शरीरान्तरों के उपकारक

१. यतः पितुः देहरूपं फलमुत्पन्नं तस्यानेनोपकारो जायेत चेत् ततोऽधिकं किमभिलषणीयमिति केषाञ्चिदिहाभिप्रायः।

विण्मूत्रादिमलानां हि सञ्चयो देह ईरितः। अस्मिन्नहंमतिश्चेत् स्याद् बाह्ये कस्माद् न सा भवेत्।।२८९।।

माया महेश्वरस्यैषा[1] मायिनामपि मोहिनी। अनया मोहितो यस्माद् विराण्मायाश्रयः पुमान्।।२९०।।

अस्वकीयमिदं देहं दुर्गन्धमशुचि क्षणात्। नश्वरं घटवन्नात्मरूपमास्थाविवर्जितम्। नाऽदाद् विमोहितः पित्रे क्षुधिताय विराट् पुमान्।।२९१।।

अहो विमोहः कस्याऽयं विदुषोऽपि न कारयेत्। किन्नाम पित्रे नादाद्यत् सुतः स्वं क्षुधिताय च।२९२

भाणित्येव विसृष्टा या विराजा वाग् विभीतितः। वर्णध्वनिस्वरूपा सा वागासीत् सर्वदेहिनाम्।।२९३।।

तर्हि बाह्ये शरीराद् बहिः पतितेऽपि तत्र मले क्रियताम्! नो चेद्, अत्राप्येवमस्तु; इत्यनौचित्यग्रस्तत्वाद् देहाभिमानः पाप इत्यर्थः।।२८९।। अथवा कार्याविद्यारूपदेहाभिमानस्यापि यत् कारणं मायाऽविद्यादिशब्दवाच्यं तदेव सर्वानर्थप्रयोजकमित्याह—मायेति। अनया मायया मायाश्रयो विराट्संज्ञः पुमान् यस्माद् विमोहितः तस्मात् पूर्वोक्तं युक्तमेवेति।।२९०।। कथं विमोहितः? अत आह—अस्वकीयमिति। अस्वकीयत्वादिविशेषणकमपि देहं पित्रेऽपि विराड् यद् नाऽदाद् न दत्तवांस्तन्मोहादेवेति। आस्था स्थिरत्वंनिश्चयः।।२९१।। यदा एतेन कार्यकारणताभ्यां द्विविधेन मोहेन विराज्यपि भयरूपोऽनर्थो जनितः तदाऽन्यत्र तज्जननं किमु वाच्यमित्याह—अहो! इति। अयं द्विविधो विमोहः कस्य विदुषोऽपि किम् अयुक्तं न कारयेद् न प्रयुञ्जीतेति यद् यतः पित्रेऽपि क्षुधिताय सुतः स्वम् आत्मशरीरं न अदाद् न दत्तवानिति।।२९२।। भाणिति। भाण् इति आकारा या वाग् विभीतितः भयाद् विराजा विसृष्टा प्रकटीकृता सा सर्वदेहिसम्बन्धिवैखरी वागासीदिति। कीदृशी? वर्णात्मिका[2] ध्वन्यात्मिका चेति।।२९३।।

अन्नादि के दान से स्वर्ग मिलता है तो क्या अपने शरीर का दान करने से अत्युत्तम फल नहीं प्राप्त होगा!।।२८७।। बिना पहचान वाले जिस किसी अधिकारी को जो कुछ भी प्रदान करने से जब मनोवांछित फल मिल जाता है तब अपने पिता को अपना शरीर दान देने से क्या मनोरथ सिद्ध नहीं किया जा सकता!।।२८८।। टट्टी पेशाब आदि गन्दगी के ढेर का नाम ही तो देह है। इसे यदि 'मैं' मानते हो तो बाहर पड़ी मैल को भी क्यों नहीं अपना स्वरूप मान लेते?।।२८९।। माया का प्रयोग करने वाले विराडादि को भी मोह में डाल देने वाली यह महेश्वर की माया है। विराट् स्वयं माया का आश्रय है क्योंकि प्रारंभ में इसने खुद पर आवरण का अनुभव किया। (कार्याविद्या कहलाने वाला देहाभिमान जिस कारणाविद्या से उत्पन्न होता है वही सारे अनर्थ का हेतु है।)।।२९०।। अशुद्ध, दुर्गन्धयुक्त, प्रतिक्षण नाशवान् यह देह स्वकीय भी नहीं है तो अपना स्वरूप नहीं इसमें कहना क्या! (हमारी इच्छासे न मिला, न छूटेगा, न चलता है, तो स्वकीय कहाँ?) घड़े की तरह जन्मादि विकारों वाला दृश्यभूत यह शरीर निश्चय ही गैर-आत्मा है। यह कोई स्थिर पदार्थ है, हमसे स्थायी संबंध वाला है इत्यादि सिर्फ हमारा भ्रम है, एक आस्था या भरोसा ही है। ऐसा शरीर भी विराड् ने अपने भूखे पिता को राजी होकर नहीं दे दिया यह उसका कितना अधिक मोह था।।२९१।। यह अभिमान किस विद्वान् से भी क्या अन्याय नहीं करा लेगा जिसने विराट् से ही घोर अनीति का आचरण करा लिया। बेटा अपने भूखे बाप को क्या नहीं दे सकता! ऐसी स्थिति में तो जो माँगे वही दे देने में विलंब अनुचित है और विराट् ने शरीर जैसी नाचीज़

---

१. विभक्तस्थूलसृष्टिकर्तृतया विराजो मायिताभिप्रेता। मायाप्रयोगदक्षाणां देवमुनिप्रभृतीनामिति वा। 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि से' त्यादि मार्कण्डेयोक्तमनुसन्धेयम्।

२. सार्थकपदघटकता वर्णता, श्रोत्रग्राह्यता ध्वनितेति विवेकः। 'भयप्रयुक्तं कष्टं ममास्ती' त्यर्थबोधकता भाणित्यानुपूर्व्या मन्तव्येति भावः।

ब्रह्मप्रतिक्रियया विद्यास्तुतिः

हिरण्यगर्भो भगवान् क्षुधया पीडितस्तदा। प्रवृत्तोप्यत्तुमेवामुं नाददद् विद्वानयं यतः।।२६४।।

अहो विद्या न कस्येयमुपकारं करोति न।[1] सुतहत्यां प्रवृत्तोऽयमनया विनिवारितः।।२६५।।

अकार्यं कुर्वतः पुंसो दीनां दीनतमां दशाम्। प्राप्तस्यापि भवेद् नित्यं विद्या धर्मकरी हि[2] सा।२६६।

विद्यया तरति प्राप्तं दुस्तरं स्वाऽऽपदर्णवम्। लोकद्वयक्षयकरं [3]स्फीतकीर्तिविनाशनम्।।२६७।।

विद्या हि सर्वजन्तूनां जननी नापरा स्मृता। जातोऽनया पुमान् यस्माद् गच्छेद् लोकद्वये सुखम्२६८

विद्या हि धनमुद्दिष्टमक्षयं सर्वदेहिनाम्। वृद्धिं प्रयाति दानेन मृतं च न विमुञ्चति।।२६९।।

ततः किं वृत्तम्? इत्यत आह—हिरण्येति। हिरण्यगर्भोऽत्तुं प्रवृत्तोपि अमुं विराजं सुतं नाददद् न भक्षितवान् यतोऽयं विद्वान्, विद्याबलेन निवृत्त इति यावत्।।२६४।। विद्याया अनर्थनिवारकत्वं युक्तमेवेत्याह—अहो विद्येति। सुतस्य हतिर्हननं तस्याम्। अयं हिरण्यगर्भः।।२६५।। विद्यां प्रशंसति—अकार्यमिति पञ्चभिः। अकार्यं कुर्वतोपि दीनां दीनतमां वा दशां प्राप्तस्यापि पुंसो विद्या धर्मकरी धर्महेतुर्भवति। धर्मशब्दः सुखतत्साधनसमुदाये लाक्षणिकः।।२६६।। विद्ययेति। प्राप्तं दुस्तरम् अपि आपद्रूपं समुद्रं लोकद्वयहानिकरं यशोनाशनं च विद्यया तरति इति।।२६७।। विद्या हीति। विद्या एव सर्वेषां माता यतः अनया विद्यया जातः प्रादुर्भूतः पुमान् सर्वत्र सुखीति।।२६८।। विद्या हि धनमिति। स्पष्टम्।।२६९।। क्षुधयेति। क्षुधादिभिः हन्यमानः अपि पुमान् तर्हि तस्मिन्

भी खुशी से अर्पित नहीं की, यह कैसी विडंबना है।।२६२।। अस्तु। विराट् ने डरसे 'भाण्' ऐसी जो आवाज़ प्रकट की वही यह वैखरी वाणी है जिसका सब देहधारी प्रयोग करते हैं और जो ककारादि वर्णरूप एवं हल्लादि ध्वनिरूप है। (भावाभिव्यक्त्यर्थ वाक् का प्रयोग है और जीवभाव में प्रथम, प्रधान भाव भयादि दुःख है अतः विराट् का विलाप ही वाक् का उद्भव है।)।।२६३।।

भगवान् हिरण्यगर्भ विद्यावान् थे अतः तब भूख से पीडित होकर उसे खाने को प्रवृत्त होने पर भी भाण् सुनते ही विचार कर उस कार्य से रुक गये। (बिना प्रेरणा विचार कर लेना श्रेष्ठ है। प्रेरणा से विचारना श्रेयान् है। नुकसान उठाकर विचार में लगना प्रशस्त है। फिर भी विचार न करना हेय है।)।।२६४।। अहा! विद्या के माहात्म्य का क्या कहना! इसने प्रजापति का उपकार नहीं किया, ऐसी बात नहीं क्योंकि पुत्रहत्या में प्रवृत्त होते ही विद्यावश ही वे विरत हुए। (आखिर रोते हुए को भी खा तो सकते ही थे!)।।२६५।। दुःखी से दुःखी, क्षीण से क्षीण अवस्था पाकर दुष्कर्म में प्रवृत्त पुरुष को भी विद्या धर्ममें लगाती है। (वासना प्रवृत्त करती है अर्थात् इच्छा पैदा करती है। उससे यत्न हो इससे पूर्व विद्या उसमें दोष दिखाकर यत्न प्रतिबद्ध कर देती है और धर्म के लिये प्रेरणा देती है। कभी यत्न के बाद ही विद्या कामयाब होती है तब क्रिया नहीं होने देती। कदाचित् तो क्रिया-प्रारम्भ होने के बाद ही विद्या अपना असर दिखा पाती है। विद्या के संस्कारों के कमो-बेश से यह अंतर होता है।)।।२६६।। यश नष्ट करने वाला, इह-पर लोकों में दुःख देने वाला जो अपने पर आयी आपत्तिरूप समुद्र होता है उससे पार निकलना अतिकठिन है लेकिन विद्या से वह कार्य भी आराम से सम्पन्न हो जाता है।।२६७।। सब जन्तुओं की परम माता विद्या ही है क्योंकि इसके गर्भ में

१. कस्य प्रजापतेरुपकारं न करोतीति नेति योजनीयम्।

२. एतेन धर्माप्रयोजिकाया विद्यात्वमेव मास्त्वित्युक्तम्।

३. कीर्तेरैहलौकिकत्वाल्लोकद्वयेत्यत्र संग्रहेऽपि स्वर्गे निवासाय कीर्तिरपेक्ष्यत इत्यस्य तत्र तत्र पुराणादौ प्रसिद्धेः, 'उत्तमा मानमिच्छन्ती' त्यादिलोकोक्तेश्च तस्या वैशिष्ट्यं बोधयितुं पृथग्ग्रहणम्। ह्रियाऽकार्याऽप्रवृत्तिः कीर्तय उपकारिणीति ज्ञेयम्।

क्षुधया कामतो वाथ क्रोधलोभादिभिः पुमान्। हन्यमानो जयेत् तर्हि विद्याशस्त्रेण वैरिणः।।३००।।

हिरण्यगर्भविचारः

धातारं क्षुधया भिन्नमर्यादं हृदि चैत्य सा। इदमाह न मृत्यो! त्वं सुतं भोक्तुं समर्हसि।।३०१।।

भवान् सर्वगुरुर्लोकमर्यादां यदि भेत्स्यति। अतः परं कथं तां हि पालयेयुः परे जनाः।।३०२।।

लोके नियामकः कश्चित् त्वादृशानां महात्मनाम्। न विद्यते विनैकां मां हृदये[1] तव संश्रिताम्।।३०३।

सुतस्य भक्षणाद् मृत्यो! तव लोकद्वयेऽपि हि। यशो धर्मस्वरूपं तत् सुखमेतद् विनश्यति।।३०४।।

मा कृथाः पातकं मृत्यो! चाण्डालैरपि निन्दितम्। क्षुधार्ता अपि चाण्डालाः सुतान् नादन्ति कर्हिचित्।।३०५।।

येऽपि गच्छन्ति जननीं स्वसारं च विमोहिताः। कामेन पशवस्तेऽपि सुतान् नादन्ति कर्हिचित्।।३०६

काले क्षुधादिरूपान् वैरिणः विद्यारूपेण शस्त्रेणैव जयेद् इति।।३००।।

धातारमिति। यस्या उक्तविधया माहात्म्यं दर्शितं सा विद्या क्षुधया मर्यादाभेदनोद्यतं धातारं हिरण्यगर्भं हृदयदेश एत्य प्राप्य इदं वचः प्राह। 'इदं' किम्? हे मृत्यो! त्वं सुतं हन्तुं न अर्हसीति।।३०१।। तत्र हेतुं लोकसङ्ग्रहस्य कर्त्तव्यत्वमाह—भवानिति। तां मर्यादाम्।।३०२।। लोकानां मर्यादास्थापका भवादृशाः। भवादृशानां तु मर्यादायां स्थापिकाऽहं विद्यैवेत्यतो मयैवमुक्तमित्याह—लोक इति। एकां त्वद्धृदयनिवासिनीं मां विना त्वादृशानां नियामकः अन्यः न अस्तीति।।३०३।। स्ववचनोल्लङ्घने दोषमाह विद्या—सुतस्येति। हे मृत्यो! सुतस्य भक्षणाद् लोकद्वयेऽपि प्रसृतं तत् प्रसिद्धं यशः, तथा एतत् प्रत्यक्षं पुत्रसुखं च विनश्यति। कीदृशं यशः? धर्मस्वरूपं धर्मपरिणामभूतमिति यावत्।।३०४।। अतिनिन्दितत्वाच्च मैवमित्याह—मा कृथा इति। सुतभक्षणात्मकं पातकं मा कुरु। कीदृशं पातकम्। चाण्डालैः अपिशब्दात् पशुभिश्च गर्हितम्। तन्निन्दितत्वं तेषां तत्राऽप्रवृत्तेर्निश्चितमित्याह—क्षुधार्ता अपीति। सुतान् न अदन्ति न भक्षयन्तीति।।३०५।। पशूनामत्राऽप्रवृत्तिमभिनयति—येऽपीति। ये पशवः कामेन विमोहिताः सन्तो जननीम् अपि स्वसारम् अपि च गच्छन्ति तेऽपि सुतान् नादन्ति इति।।३०६।।

रहकर जो निकलता है उसको दोनों लोकों में सुख मिलता है। अन्य माता तो विद्यायोग्य शरीर देने से अपरम है।।२९८।। सब देहधारियों के लिये अक्षय धन है विद्या, जो दान से बढ़ता है और मौत से भी बिछुड़ता नहीं।।२९९।। भूख, काम, क्रोध, लोभ आदि का हमला होने पर पुरुष विद्यारूप शस्त्र से ही इन दुश्मनों को हराता है।।३००।। भूखवश मर्यादा तोड़ने को उद्यत विधाता (हिरण्यगर्भ) के हृदय में आविर्भूत होकर विद्या ने समझाया : हे मृत्यु! तुम पुत्र को ख़ाओ यह अनुचित है।।३०१।। आप समस्त लोगों के गुरु हैं। आप ही जब मर्यादायें तोड़ेंगे तब अन्य लोग उनका पालन कैसे करेंगे?।।३०२।। आप जैसे महात्माओं का आपके चित्त में स्थित मुझ एक विद्या को छोड़कर और कोई नियामक नहीं हुआ करता।। ३०३।। हे मृत्यो! लोकों में सर्वत्र फैला यह तुम्हारा यश बहुत परिश्रमसे आचरित पुण्यका परिणाम है। यह उपस्थित पुत्र भी तुम्हें प्रत्यक्ष ही सुख देने वाला है। इसे खा जाओगे तो इन दोनों से हाथ धो बैठोगे।।३०४।। भूख से पीडित चाण्डाल भी अपने पुत्र को ख़ा नहीं जाता, कोई ऐसा सोचे भी तो दूसरे चाण्डाल निन्दा ही करते हैं। जानवर तक यों प्रवृत्ति नहीं करते। तुम ऐसा पाप मत करो।।३०५।। जो पशु कामवेगमात्रसे संचालित होकर जननी-भगिनी आदि विभाजन से बेखबर रहकर प्रजनन में संलग्न रहते हैं वे भी अपने पुत्रों को नहीं खाते। (जो कुछेक प्राणी स्वसुत भक्षण करते हैं वह भी सर्वलोकगर्हित है यह भाव है।)।।३०६।।

१. हृदयइति चित्त इत्यभिप्रायः। बुद्धिस्थतामात्रत्वे स्वाभाविकत्वाऽभावाद्यथावसरमनुपस्थितेः। किं च भावनोपेतज्ञानं यथा प्रेरकं तथा ज्ञानमात्रं नेति नः प्रत्यक्षम्।

सुतादनान्निवर्त्यान्तर्धानम्

इत्यादि विद्यया[1] सार्धं विचार्य हृदये निजे। अत्तुकामः क्षुधार्तोऽयं जातं जातं न्यवर्तत।।३०७।।

तस्मै दत्त्वाऽऽत्मविज्ञानं[2] वेदान् सृष्ट्यादिहेतुकान्। उक्त्वा च तनयायासौ तत्रैवान्तर्दधे पिता।।३०८

विराजो भीत्यभीती

मृत्युजः पुरुषाकारो विराडेकाक्यवस्थितः। अदृष्ट्वा पितरं भीतिमगाद् बालोऽजने यथा।।३०९।।

क्षणं विचार्य पश्चात् स जहौ भीतिं परः पुमान्। ब्रह्मदृष्ट्या स्वदृष्ट्या च भेददृष्टेरदर्शनात्।।३१०।।

इत्यादीति। इत्यादिकं विचारं हृदये प्रादुर्भूतया विद्यया सह कृत्वा न्यवर्तत निवृत्तोऽभवत्। कीदृशो मृत्युः? जातं जातम् उत्पन्नमुत्पन्नम् अत्तुकामः अपि। आदिपदेन सस्य अङ्कुरसमस्य अस्यैव अदनेऽन्नाल्पता स्यात्, स्थितौ तु चिरमनुवर्तमानस्यान्नस्य लाभो भविष्यतीत्यादिविचारपरिग्रहः। जातं जातमिति वीप्सया विराजा सृज्यमानेष्वपि मृत्योरदनेच्छा, विचारेण तन्निवृत्तिश्च सूचिता।।३०७।। ततः किं वृत्तम्? अत आह—तस्मा इति। तस्मै विराजे तनयाय आत्मज्ञानं दत्त्वा तथा सृष्ट्यादिहेतुभूतान् वेदान् दत्त्वा असौ पिता हिरण्यगर्भोऽन्तर्धानं गतः।।३०८।।

मृत्युज इति। मृत्योः सुतो विराड् एव एकाकी एकलः स्थितः सन् पितरमदृष्ट्वा क्षणं भयं प्राप्तः यथाऽजने जनरहिते देशे बालो भीतिं गच्छति तद्वदिति।।३०९।। क्षणमिति। क्षणम् इति पूर्वान्वयि। पश्चाद् विचारेण तां भीतिं जहौ त्यक्तवान्। विचारेण भयत्यागे भयकारणबाधं द्वारमाह—ब्रह्मेति। यदि ब्रह्म मद्भिन्नं स्यात् तदा सद्वितीयताऽऽपत्याऽद्वितीयतालक्षणं स्वरूपं जह्याद्। एवमात्मा मद्भिन्नश्चेत्स्याद् अनात्मैव तदा स्याद्। इत्थं ब्रह्मात्मपदार्थयोः दृष्ट्या आलोचनेन भेददृष्टेरदर्शनाद् लोपाद् बाधादिति यावत्। तथा च पदार्थद्वयेऽपि आलोचिते परस्य विनाशहेतोरदर्शनेन तद्दर्शननिमित्तकस्वोच्छेददर्शनात्मकं भयं जहाविति।।३१०।। भेददृष्टेर्भयकारणतां

कामना छोड़कर अपने हृदय में प्रादुर्भूत विद्या से इस प्रकार विचार कर वह भूखा हिरण्यगर्भ खाना चाहने पर भी जो कुछ विराट्से आगे उत्पन्न होता जा रहा था उस-उसको खाने से स्वयं को रोकता गया। (पुरुष का विचाररूप वीर्य कामना और विद्या रूप पत्नियों में गर्भित होकर कार्याकार ग्रहण कर सकता है। कामनाजन्य वंश भोगोन्मुख प्रवृत्तियाँ हैं तथा विद्यामाता की सन्तान मोक्षोन्मुख चेष्टायें हैं। इसी ध्वनि के लिये 'विद्या के साथ विचार कर' ऐसा पुराणकार ने कहा है।)।।३०७।। फिर उन पिता हिरण्यगर्भ ने अपने पुत्र विराट् को आत्मानुभूति करायी और सृष्ट्यादिप्रक्रियाके प्रतिपादक होने से सृष्ट्यादिकर्तव्यों के निर्वाहार्थ अवश्य ज्ञेय होने से वेदों का उसे उपदेश दिया। तदनन्तर हिरण्यगर्भ अन्तर्धान हो गये।।३०८।।

मृत्युनामक हिरण्यगर्भ से उत्पन्न वह विराट् नामक पुरुषाकार जब अकेला रह गया तो पिता न दीखने से क्षण भर के लिये डर गया जैसे निर्जन स्थान में बालक डर जाता है। (यद्यपि पूर्वश्लोक में उसे आत्मबोध-प्राप्ति कही थी तथापि ज्ञानदाढ्र्य के बिना अवसर आने पर तात्कालिक भयादि होते ही हैं यह बताने की इच्छा है।)।।३०९।। किंतु तुरन्त उसने विचार किया और भयमुक्त हो गया। उसने ब्रह्मदृष्टि से विचार किया : यदि ब्रह्म मुझसे भिन्न हो तो सद्वितीय होने से उसे अपना अद्वैत स्वरूप छोड़ना पड़ेगा जो निर्विकार में असंभव है। ऐसे ही उसने खुद की, आत्मा की दृष्टि से सोचा : यदि आत्मा मुझसे भिन्न हो तो अनात्मा ही होगा! ('आत्मा' अर्थात् चैतन्य और 'मुझ' अर्थात् प्रत्यक्।) यों दोनों पदार्थों का आलोचन करने से उसकी भेदबुद्धि बाधित हो गयी। जब उसे अपने नाशक किसी अन्य वस्तु के न होने का निश्चय हो गया तब उसका डर मिट गया क्योंकि अपने नाशका हेतु दीखने पर ही डर हुआ करता है।।३१०।।

१. न तु कामनयेत्यर्थः, विचारस्य कामप्रयुक्तत्वे सदोषनिर्णयहेतुत्वाद् विद्यानुसारित्व एव धर्मानुकूलत्वात्।

२. प्राजापत्याद्युत्तमपदासीनानामात्मज्ञानाभावे समुचितप्रवृत्त्ययोगादित्यभिप्रायः।

स्वात्मनः प्रतिकूलं हि भिन्नमन्यं यदा धिया। प्रपद्यते तदा सर्वो भयमेति न संशयः।।३११।।

धियमेतां यदा जह्याद् न तदा भयमाव्रजेत्। यथा तथैव भगवान् विराण्निर्भयतामगात्।।३१२।।

कामितयाऽरतिः

तथापि नैव तस्याभूत् कामिनः सुखमण्वपि। शून्य एव समग्रोऽभूदाकाशो वामभागगः। कामिनो हि यथा लोके युवतीनामभावतः।।३१३।।

स्फुटयति—स्वात्मन इति। प्रतिकूलं **सर्पादिकं**, भिन्नं **लोके भिन्नतयाऽभिमतमपि** यदा स्वात्मनः **अन्यधिया** प्रपद्यते **निश्चिनोति** तदा एव सर्वो जनो भयमेति **प्राप्नोतीति भेददृष्टेर्भयव्यापकता प्रसिद्धा।।३११।।** धियमिति। एताम् **भेदावगाहिनीं** धियं यदा जह्यात्तदा न भयं **गच्छेदिति** यथा **लोकेपि प्रसिद्धं** तथा विराड् अपि **भेददृष्टिबाधनेन निर्भयोऽभवदिति। एतेन श्लोकत्रयेण चतुर्थब्राह्मणगतस्य 'सोऽबिभेद्' इत्यादेः साक्षाद् भयप्रदर्शकस्य विद्यया तन्निवृत्तिं च प्रतिपादयतो वाक्यस्यार्थो दर्शितः।।३१२।।**

चतुर्थब्राह्मणगतस्य 'स वै नैव रेम' इत्यादेः कण्डिकाद्वयस्य कामवैक्लव्यप्रतिपादकस्यार्थमाह—तथापीति **ऊनविंशतिश्लोकैः। यद्यपि विद्यया भयं निवृत्तं** तस्य विराजः कामिनः **सृज्यप्राणिकर्मवशादुत्पन्नकामात्मकदोषशालिनः**[1] अणु **स्वल्पम्** अपि सुखं नाऽभूत्। **कामदोषेण सुखभानप्रतिबन्धे जननीये द्वारमाह**—शून्य एवेति। यथा लोके कामिनः **कामुकस्य युवतीनाम्** अभावे **वामभागावच्छिन्नः** समग्र आकाशः **शून्यतया भासते तथा विराजोऽपि स आकाशः शून्यतया मतोऽभूदिति। एकत्रांशे शून्यताभिमानजननं सर्वकामनासु प्रसिद्धं—यथा पशुकामो गृहाङ्गणात्मकाकाशं शून्यं मन्यते, पुत्रकामोऽङ्काकाशं, धनकामः कोशाकाशम्, एवमन्यत्रापि। निष्कामस्तु पूर्णमेवात्मानं मन्यत इति बोध्यमिति।।३१३।।** कन्दर्पेति। **कन्दर्पः कामः तद्रूपेण सर्पेण सन्दष्टः शून्यतयाऽभिमानात्मकेन तद्विशेषेण व्याप्त**

सभी लोगों में यह देखा जाता है कि अपने से अलग कोई विरोधी व्यक्ति या वस्तु के बारे में 'यह मुझसे अलग है' ऐसा जब निश्चय होता है तभी डर लगता है। भेददृष्टि के बिना भय नहीं होता यह असंदिग्ध है। जब भेद-विषयक निश्चय समाप्त हो जाता है तब डर भी नहीं रह जाता। (भेददृष्टि न रहने पर प्रतिकूलता भी भयहेतु नहीं बनती यह भाव है। अभेददृष्टिगोचर दुःखादि का प्रयोजक निश्चित होने पर भी भयोत्पादक नहीं होता, उसके प्रति जो भावना होती है वह भयशब्द से व्यवहृत नहीं होती। जहाँ खुद से डरने की रुग्णादि-अनुभूतियाँ होती हैं वहाँ भी भेदकल्पनापूर्वक ही। 'भिन्नमन्यं प्रपद्यते' से कहा कि स्वरूपसत् भेद भी भयजनक नहीं बन पाता। अत एव टीका में बताया कि भय भेदज्ञान से व्याप्त है। जब भेदज्ञान न रहने पर ही भय हट जाता है तब भेद ही मिट जाने पर भय का समापन कैमुत्य सिद्ध है जिसे तैत्तिरीय में (ब्र. ८) बताया 'डर का कोई कारण न बचने से डर रहता नहीं—न बिभेति कुतश्चनेति'।) जैसा यह लोकसिद्ध है वैसा ही विराट् के साथ हुआ और वे सर्वसमर्थ विराट् अभयपद पर प्रतिष्ठित हुए।।३११-१२।।

फिर भी कामुक होने से विराट् थोड़े भी सुख का अनुभव नहीं कर पा रहे थे। जैसे लोक में कामी को युवतियाँ न होने पर अपनी बाँयी बगल खाली लगती है ऐसे विराट् को सारा आकाश खाली प्रतीत हो रहा था। (किसी हिस्से का खालीपन सभी कामनाओं में रहता है जैसे पशु चाहने वाले को अपना आँगन सूना दीखता है, पुत्रेच्छुक को गोद सूनी लगती है, धन प्रेप्सु को खजाना खाली लगता है इत्यादि। निष्काम तो आत्मा को पूर्ण जानता है, कोई खालीपन उसे महसूस नहीं होता जिसे अनात्मा से भरना पड़े। 'बाँयी बगल' कहने में 'वामे...पत्नी' (बृ.४.२.३) आदि प्रसंग अभिप्रेत है। अथवा वामशब्द सौंदर्यद्वारा सुखमें लाक्षणिक है अतः सुखहेतु पदार्थ से रहित आकाश ही वामभागका आकाश है, दिशा में तात्पर्य नहीं। आत्मेतर में सुखबुद्धि रहते चाहे जितना निग्रह हो जाये व्यक्ति को रिक्तता का अनुभव अनिवार्य होने से ही आत्मकामुकों को उपरत विरक्त होना ज़रूरी बताया गया है)।।३१३।। कामनात्मक साँप से डसा जाने पर

१. लब्धात्मविद्यताया उक्तत्वाद् (श्लो. ३०८) अमुष्य कामनाऽयोगेनारत्ययोगाच्छिष्याद्यारब्धस्य गुरुदेहादिप्रयोजकत्ववत् स्रष्टव्यप्रारब्धस्य विराट्कामादिप्रयोजकता संगच्छते।

कन्दर्पसर्पसन्दष्टो विराडेतदचिन्तयत्। स्रक्ष्याम्यन्यमहं देहमात्मनः सुखकारणम्। अयं सर्वात्मको देहो भोक्तुं भोगान् न च क्षमः।।३१४।।

परिच्छिन्नदेहसृष्टिः

इति सञ्चिन्त्य भगवान् प्राणिकर्मप्रचोदितः। पञ्चबाणप्रभिन्नाङ्गो देहमन्यमथाऽसृजत्।।३१५।।

विराडजनयत् सत्यसङ्कल्पः शुक्तिकापुटम्[1]। यादृशं तादृशं देहं स्त्रीपुंसात्मकमीश्वरः।।३१६।।

हिरण्यगर्भो देहोऽयं विराड् वा सर्वदेहभृत्। एतौ स्त्रीपुरुषावेतावेतावेव नपुंसकम्।। एतौ नानाशरीराणि स्थावराणि चराणि च।।३१७।।

इति यावत्, एतादृशो विराडेतदचिन्तयद्। 'एतत्' किम्? अस्य व्यापकदेहस्य[2] भोगाक्षमत्वात् तत्समर्थं देहान्तरं स्रक्ष्यामि इति।।३१४।।

इति सञ्चिन्त्येति। इत्थं सञ्चिन्त्य प्राणिनां कर्मभिः प्रचोदितः भगवान् अन्यं देहम् असृजत्। कीदृशो भगवान्? पञ्चबाणेन कामेन विद्धमनाः[3]।।३१५।। विराडिति। ईश्वरत्वात् सत्यसङ्कल्पो विराड् यादृशं शुक्तिकयोः संपुटं मिलितयोराकारविशेषो भवति तादृशं देहमजनयद् इति। पुनः कीदृशम्? स्त्रीपुंसात्मकं संसक्त-स्त्रीपुरुषरूपमिति। पुटशब्दस्य टोपधत्वात् पुंस्त्वाहस्य नपुंसकेऽपि प्रयोगो दृश्यते, यथा भागवते 'बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य' इति। अत एवोक्तं 'लिङ्गमशिष्यम्' (पाणि. १.२.५३) इत्यादि।।३१६।। विराजा सृष्टेषु उक्तदेहप्रभृतिदेहेषु ईश्वरहिरण्यगर्भविराजां त्रयाणां समष्टितया तादात्म्यं बोध्यमिति वक्तुं हिरण्यगर्भविराजोस्तावदाह—हिरण्यगर्भ इति। अयं स्त्रीपुंसात्मकः देहः हिरण्यगर्भरूपो विराड्रूपोऽपि च मन्तव्यः, वा शब्दः समुच्चये; उभयोः सर्वदेहभृत्त्वाद्, अस्य च सूक्ष्मस्थूलसमुदायात्मकत्वादिति भावः। उभयोः सर्वदेहभृत्त्वमभिनयति—एताविति। एतौ हिरण्यगर्भविराजौ स्त्री लोके यावत् स्त्रीशरीरं तदेतन्मयं, पुरुषो वा पुरुषशरीरमपि एतन्मयं, नपुंसकशरीरमपि एतन्मयमित्यर्थः। तथा एतावेव स्थावरादिरूपाविति।।३१७।। त्रयाणां

विराट् यों सोचना लगा : 'यह सर्वरूप (व्यापक) शरीर भोग भोगने में अक्षम है अतः अपने को सुख देने वाले अन्य शरीर को पैदा करूँगा।' (भोग परिच्छिन्नदृष्टि से ही संभव है अतः भोगेच्छासे छूटने के लिये व्यापकभाव पाना चाहिये यह अभिप्राय है। कामना चांचल्यवश सर्प कही जाती है। रिक्तता की अनुभूति ही उसका दंश (डसना) है क्योंकि इस अनुभव के पूर्व सुप्त कामना अरति का दुःख नहीं दे पाती।)।।३१४।।

जीवजातके फलोन्मुख कर्मों से प्रेरित अत एव कामना से बिंधे मन वाले भगवान् विराट् ने उक्त विचार कर अन्य देह पैदा किया।।३१५।। ईश्वरकोटिके सत्यसङ्कल्प उन विराट् ने स्त्रीपुरुषात्मक ऐसा शरीर बनाया जैसे जुड़े हुए दोनों हिस्सों वाली सींप होती है। (विराट् के शरीर से यह नवीन पिण्ड पृथक् था अर्थात् उनका व्यापकभाव समाप्त हुए बिना ही इस पिण्ड में परिच्छिन्नभाव आया था। परस्पर आलिंगित स्त्री-पुरुष देह जैसे एक पिण्डात्मक दीखते हैं ऐसे वह पिण्ड था।)।।३१६।। यह जो स्त्री-पुरुषात्मक अभिन्न शरीर था उसे हिरण्यगर्भरूप और विराड्रूप (तथा ईश्वररूप भी) समझना चाहिये क्योंकि वे ही सब देह धारण करते हैं। संसार के सभी स्त्री पुरुष व नपुंसक शरीर इन दोनों के ही रूप हैं। स्थावर जंगम विविध शरीर ये दोनों ही हैं। सभी के सूक्ष्म देहों को हिरण्यगर्भ, स्थूल देहों को विराट् और

---

१. कीटविशेषः स्वनिःस्यन्देन शुक्तिकां रचयतीत्येतद्दृष्टान्तेन विराड्देहादन्य एव मनुशतरूपयोर्देह इति स्पष्टी भवति। समष्टिरूपत्वेऽपि लोकविशेष आकारविशेषो विराजो मन्तव्यो येनेन्द्रादिभ्यो विद्योपदेशादिसर्वव्यवहार उपपद्यतेतेति।

२. व्यापकबुद्धिकाले भोगाभावः, भोगाय परिच्छेदस्वीकारोऽपेक्षित इत्यनेनादर्शि।

३. अतएव यच्छरीरमसृजत्तदपि कामनापूर्णमिति भावः।

हिरण्यगर्भः सर्वेषां सूक्ष्मं देहमुदाहृतः। विराट् स्थूलं च विद्वद्भिस्तृतीयं कारणं स्मृतम्। ।३१८।।

स्त्रीपुंसवपुरादिष्टं विराजः कामिनो हि यत्। देहमन्यत् ततः सर्वा सृष्टिरेषा व्यजायत। ।३१९।।

अर्धनारीशरीरं तं निरीक्ष्य परमेश्वरः। द्विधा चकार भगवान् कीटः शुक्तिपुटं यथा। ।३२०।।

मनुशतरूपयोर्जन्म

शकले द्वे समाख्याते स्त्रीपुंसौ काममोहितौ। स्वायम्भुवः पुमान् ज्ञेयः शतरूपा तथा वधूः। ।३२१।।

आभ्यां हि मानवी सृष्टिः उत्पन्ना विविधा भुवि। भाविकर्मानुसारेण वधूरेतदचिन्तयत्। ।३२२।।

तदाह—हिरण्यगर्भः सर्वेषामिति। सर्वप्राणिनां समष्टिसूक्ष्मरूपो हिरण्यगर्भः, स्थूलसमष्टिरूपो विराट्, तृतीयं समष्टिशरीरं तु कारणोपाधिकेश्वररूपमित्यर्थः। ।३१८।। उक्तं शरीरं तु समष्टेर्विराजो देहान्तरत्वात् समष्टिकोटावेव गणनीयं न व्यष्टिमात्रमिति विशेषं दर्शयन्नाह—स्त्रीपुंसेति। यत् स्त्रीपुंसात्मकं वपुः आदिष्टम् उक्तं तत् कामिनो विराज एव देहमन्यद् देहान्तरमिति यावत्। ततो देहाद् एषा प्रत्यक्षादिसिद्धा सर्वा सृष्टिः जातेति। ।३१९।। ततः सर्वसृष्टिं प्रपञ्चयन्नाह—अर्द्धेति। अर्द्धं नारीशरीरं यस्मिन्नेतादृशं तं देहं दृष्ट्वा विराड् द्विधा चकार, शुक्तिसंपुटं कीट इवेति। ।३२०।।

शकले इति। तस्य ये द्वे शकले खण्डौ तौ काममोहितस्त्रीपुरुषरूपौ जातौ। तत्र पुमान् स्वायम्भुवो मनुर्ज्ञेयः स्त्री तु शतरूपासंज्ञा तत्पत्नी ज्ञेया। शतमसङ्ख्यातानि वक्ष्यमाणविधया रूपाणि यस्याः सा तथा[1]। ।३२१।। आभ्यामिति। आभ्यां मनुशतरूपाभ्यां मानवी मनुसम्बन्धितया प्रसिद्धा सृष्टिः मनुष्यसृष्टिरिति यावत्, सा प्रथममजायतेति। ततो भाविनां प्राणिनां कर्मानुसारेण वधूः शतरूपा[2] एतद् वक्ष्यमाणम् अचिन्तयद् इति। ।३२२।।

तीसरे शरीर को कारण (ईश्वर) विद्वानों द्वारा समझाया जाता है। (तीसरा शरीर है अज्ञान जो सभी का एक ही है। अथवा सभी के अज्ञानों का समष्टिरूप समझना चाहिये। या सभी जीवों के अनुभूयमान अज्ञानों को ईश्वरनिरूपक कहा जा सकता है।)। ।३१७-३१८।। जो स्त्रीपुरुषात्मक शरीर अभी बताया वह कामुक विराट् का ही एक अन्य शरीर था (अर्थात् विराट्की अपेक्षा व्यष्टि होने पर भी हमारी अपेक्षा समष्टि ही था) जिससे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। ।३१९।। जिसका आधा हिस्सा नारी था उस शरीर को देखकर परमशासक तथा हम जीवों के भोगोपयोगी गमनागमनादि व्यवहार समझने वाले विराट् ने उसे दो हिस्सों में बाँट दिया जैसे संपुटित सींप को उसका निर्माता कीड़ा फोड़ देता है। ।३२०।।

यों जो दो खण्ड बने उनमें एक हिस्सा स्वायंभुव मनु नामक कामनापूर्ण पुरुष था और दूसरा हिस्सा शतरूपा नामक उसकी कामनायुक्त पत्नी थी। (पुराण में यद्यपि स्त्रीपुरुष दोनों काममोहित कहे हैं तथापि आगे के श्लोकों से इतना अंतर स्पष्ट है कि पुरुष में कामना आग्रह रूप से थी और स्त्री में भोगार्थतया थी : मनु कर्तव्यरूपसे प्रजा-सृष्टि में संलग्न हुए, अतः लौकिक आचार के विरोधादि का विचार नहीं कर रहे थे, जबकि शतरूपा प्रजोत्पादन को भोगमात्र समझ रही थी धर्म नहीं, अतः आचारादि के ख्याल से उसे ग्लानि हो रही थी। आज भी हम भोग करते समय यदि वह लोक या शास्त्र के विरुद्ध हो तो लज्जा महसूस करते हैं जबकि वही कार्य जब कर्तव्यबुद्धि से करें तो वैसा अनुभव

१. एकरूपोऽपि पुमानुपाधिभेदाद्विभेदमाभजतइति ध्वन्यते।

२. यद्यपि धर्मविदा मनुनाप्येतद्विचारणीयं तथापि प्राथमिकसृष्टेरेकस्माद्धेतोरेव ध्रौव्याद्गत्यन्तराभावात्सृष्टिः कार्या चेदेवमेव भविष्यतीति विजानताऽऽत्मनश्च प्राजापत्यतयाऽमनुष्यत्वेन शास्त्राऽविषयत्वं समालोचयता न तथा चिन्तितमिति द्रष्टव्यम्। नन्वैतरेयके गवादिसृष्ट्युत्तरं मानवविग्रहोपजनिराम्नातेति प्रकृते तद्विरोधइति चेन्न; कार्येऽविगानस्यानपेक्षणाद् मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिन्यायात्सृष्टावतात्पर्यात्तत्रेशकृतत्वमत्र विराट्कृतत्वमिति भेदाच्चेति द्रष्टव्यम्।

शतरूपाचिन्ता

अयं मम पिता वा स्याद् भ्राता वा धर्मतः पुमान्। अनेनाहं कथं यामि स्वैरिणीव विनिन्दिता ।।३२३।

पुमानेष न जानाति धर्मं कामविमोहितः। अहं कस्मान्न जानामि धर्मं स्वर्गप्रदं सदा।।३२४।।

पुरुषाः प्रायशो दीनाः कामार्ता धर्मभेदकाः। न वध्वस्तदहं कस्मान्न जानाम्यात्मनो हितम्।।३२५।

इत्यादि बहुशो नारी चिन्तयित्वा मनोगतम्। उपायं चिन्तयामास पुरुषस्य निवारणे।।३२६।।

पुरुषः कामसम्भ्रान्तो मया नैव निवारितः।करिष्यत्यत एवाहमन्तर्द्धानं व्रजाम्यतः।।३२७।।

गवाद्युत्पत्तिः

इति सञ्चिन्त्य सा नारी गौरभूद ऋषभः पुमान्। तत्क्षणादभवत् सोऽपि भाविकर्मप्रचोदितः। अत्र गावः समुत्पन्ना लोकत्रयगता हि याः।।३२८।।

एवमश्वादिरूपेषु यत्र यत्र गता वधूः। तत्तज्जातिः पुमान् भूत्वा तत्र तत्र गतः पुमान्।।३२९।।

तच्चिन्तामभिनयति—अयं ममेति। अयं पुमान् मनुर्विराडभेदालोचने मम पिता स्यात्, सहोत्पन्नत्वालोचने तु भ्राता वा स्याद् इत्यतः अनेन सह गमनं विनिन्दितं स्वैरिणीवन्ममानुचितमिति।।३२३।। पुमानिति। यद्यपि एष पुमान् धर्मं न जानाति तथापि मया स ज्ञेयः।।३२४।। तत्र हेतुं स्त्रीणां कामाधिक्येऽपि धीरत्वप्रसिद्धिमाह—पुरुषा इति। कामार्ताः पुरुषा एव प्रायशो दीना धर्मोल्लङ्घकाश्च भवन्ति, वध्वः तु तथा न भवन्तीति। तत् तस्माद् अहम् आत्मनो हितं कुतो न चिन्तयामीति।।३२५।। इत्यादीति।। स्फुटम्।।३२६।। पुरुष इति। अयं पुरुषः निवारितः अपि कामसन्तप्तत्वाद् मदुक्तं नैव अङ्गी करिष्यति, अतः रूपान्तरग्रहणेन अन्तर्द्धानं व्रजामि इति।।३२७।।

इति सञ्चिन्त्येति। एवमालोच्य सा नारी शतरूपा गोरूपा जाता, तदा पुमान् मनुरपि वृषभरूपोऽभूत्। तत्र निमित्तकारणं सृज्यानां कर्माणीति। अत्र उभाभ्यामित्थं गोजातिरूपग्रहणे कृते सति लोकत्रयगता गावो जाता इति।।३२८।। एवमन्यत्रापि शतरूपाया वडवादिरूपग्रहणे कृते मनुनाऽपि तत्तज्जातीयपुंरूपग्रहणात् तत्तज्जातीय-

नहीं करते। एवमपि मनु काममोहित तो थे ही क्योंकि बिना कामना से प्रवृत्ति नहीं होती। प्रजाओं में कामना दीखने से प्रजापति में कामना समझना उचित है। संसार में दृश्य सैकड़ों रूप ग्रहण करने वाली होने से मनुपत्नी शतरूपा कही जाती है।)।।३२१।। इन दोनों से ही पृथ्वी पर मनुसंबंधी विविध सृष्टि (विविध मनुष्य देह) पैदा हुई। गैरमानवीय प्राणियों के फलोन्मुख कर्मों के अनुसार मनुपत्नी सोचने लगी—यह पुरुष धर्मदृष्टिसे देखा जाये तो मेरा पिता या भाई है। विशेषतः निन्दित स्वेच्छाचारिणी की तरह मैं इससे भोग करूँ यह कैसे हो सकता है? (मनु को विराट् से एक मानूँ तो यह मेरा पिता है। हम दोनों इकट्ठे ही पैदा हुए यह सोचूँ तो यह मेरा भाई है।)।।३२३।। यह कामसे अविवेकग्रस्त पुरुष धर्म याद नहीं रख पा रहा तो भी सदा स्वर्ग देने वाला धर्म मैं कैसे याद न रखूँ? कामना के वेग से पीडित पुरुष प्रायः उसकी पूर्ति के लिये अवश हो जाते हैं और मौके पर धर्म का उल्लंघन भी कर जाते हैं पर स्त्रियाँ ऐसी नहीं होतीं। अतः मुझे अपने हित का विचार करना ही चाहिये।।३२४-२५।। उस आदिनारी ने मनमें इसी तरह काफी विचार कर पुरुष को उस कर्मसे निवृत्त करने के लिये उपाय निकाल लिया।।३२६।। उसने सोचा—यह पुरुष कामनासे संतप्त है, अतः मेरे मना करने पर भी मानेगा नहीं। इसलिये मैं देहान्तर ग्रहण कर इस मनुकी दृष्टिसे छिप जाती हूँ।।३२७।।

यह सोचकर वह गाय बन गयी। उत्पाद्य प्राणियों के कर्मों से नियुक्त वह मनुरूप पुरुष भी तत्काल साँड देह वाले हो गये और तब उन दोनों से गायें उत्पन्न हुईं, जो त्रिलोकी में सर्वत्र मिल रही हैं।।३२८।। शतरूपा पुनः वैसा

एवं सर्वमिदं जातं स्त्रीपुंसात्मकमेव हि। प्राणिजातं स्थिरं चैव जङ्गमं च महीतले।।३३०।।

एवमेष पुरश्चक्रे द्विपदोऽपि चतुष्पदः। पदहीना[1] महेशानो लोकत्रयगता हि याः।।३३१।।

परमात्मनो देहेषु प्रवेशः

स एष जगतः स्रष्टा कारणं मृत्युरीश्वरः। विराड् विवेश सर्वासु पुरीष्वात्मस्वरूपधृक्।।३३२।।

महाकाशो मठाकाशे सोप्यान्तरगृहे पुनः। घटे सोऽपि च यद्वत् स्यात् प्रविष्टस्तद्वदीश्वरः।।३३३।।

चैतन्यरूपतो[2] नित्यसुखविग्रहवानयम्। आपादमस्तकं देहं जन्तूनां सङ्गवर्जितः[3]।।३३४।।

शरीराणि जनितानीति बोध्यमित्याह—एवमश्वादीति द्वाभ्याम्।।३२६।। एवमिति। स्थावरेष्वपि वल्ल्यादौ स्त्रीत्वव्यवहारः, वृक्षादौ च पुंस्त्वव्यवहारः प्रसिद्धः। तथा च स्थावरं जङ्गमं वा स्त्रीपुंसात्मकमिदं विश्वमेवं जातमित्यन्वयः।।३३०।। एवं यद् व्याख्यास्यमाने मधुकाण्डान्तगते 'पुरश्चक्रे द्विपदः' (बृ.२.५.१८) इत्यादिमन्त्रे द्विपदादिशरीरात्मकपुरीनिर्माणमुक्तं तदित्थमुपपन्नमित्याह—एवमेष इति। एष महेशान एवं द्विपदादिरूपाः पुरश्चक्रे द्वौ द्वौ पादौ यासु तास्तथा। एवं चतुष्पद इति। पदहीनाः पादरहिता उरगादिरूपाः।।३३१।।

एवं नामरूपात्मकोपाध्यध्यारोपपराणि सृष्टिवाक्यानि व्याख्यातानि। अथ परमात्मनस्तटस्थत्वभ्रमवारणद्वारा[4] तत्र जीवत्वाध्यारोपपरस्य प्रवेशवाक्यस्य 'स एष इह प्रविष्टः' (बृ. १.४.७.) इत्यादेरर्थमाह—स एष जगत इति। यः परमात्माऽव्याकृतादिपदवाच्यमायामनुप्रविष्टो जगत्स्रष्टा कारणमिति चोक्तः, ततः सूक्ष्मसमष्टिप्रविष्टः मृत्युरित्यादिपदैरुक्तः, स्थूलसमष्टिमनुप्रविष्टः विराड् इत्युक्तः स एष एव त्रिविध ईश्वरः सर्वासु व्यष्टिभूतासु पुरीषु प्रविवेश। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम् आत्मेत्यादि। यदि स न प्रविशेत् तर्हि पुर्यो निरात्मकाः स्युः, तदितरस्य आत्मनोऽभावादिति भावः।।३३२।। तस्य अव्याकृताद्युपाधीनामन्तरन्तरनुप्रवेशे दृष्टान्तमाह—महाकाश इति। यथा च महाकाशो मठेऽनुप्रविष्टो मठाकाशो भवति, स मठाकाशोऽपि मठान्तरगृहेऽपवरकसंज्ञेऽनुप्रविष्टः अपवरकाकाशो भवति, सोप्यपवरकाकाशो घटेऽनुप्रविष्टो घटाकाशो भवति; तद्वदीश्वरः सुखविग्रहवान् सुखरूपो जन्तूनां प्रतिदेहं चैतन्यरूपेण आपादमस्तकम् अनुप्रविष्ट इति द्वयोरन्वयः। अत्र मठोऽव्याकृतोपमानम्, अन्तर्गृहं तु सूक्ष्मस्थूलोपाध्योः, घटो व्यष्टिशरीराणामिति विवेकः।।३३३-३४।। अस्य प्रवेश उपाधिस्थतया यदुपलम्भनं

विचार कर घोड़ी, गधी, बकरी, भेड़ आदि चींटी पर्यन्त रूप लेती चली गयी लेकिन मनु भी उसी उसी जाति के पुरुषाकार लेकर तत्तज्जाति के प्राणियों को उत्पन्न करते गये। पृथ्वी पर स्त्री-पुरुषात्मक जितना भी स्थिर-चर प्राणिसमूह है वह इसी ढंगसे उत्पन्न हुआ। ३२९-३०।। यों इस महेश्वर ने दुपाये, चौपाये, बिना पैरों वाले आदि त्रिलोकी में वर्तमान सभी शरीरों को उत्पन्न किया।।३३१।।

जो परमात्मा माया में प्रविष्ट हुआ जगत्कारण है, समष्टि सूक्ष्मशरीर में प्रविष्ट हुआ मृत्यु या हिरण्यगर्भ है और स्थूल-समष्टि में प्रवेश कर विराट् है, वही ईश्वर व्यष्टिभूत सभी शरीरों में प्रविष्ट हुआ, क्योंकि वह ऐसा न करता तो सभी शरीर निरात्मक रह जाते, कारण कि उससे अन्य कोई आत्मा है नहीं।।३३२।। जैसे व्यापक अखण्ड आकाश

१. अर्थकामाभ्यामेव गच्छन्तो द्विपदः ताभ्यां धर्ममोक्षाभ्यां च गच्छन्तश्चतुष्पदः, अलसादितया वृथैव समयाकुर्वन्तो जना पदहीना इति केषाञ्चिदभिप्रायः। पश्वादेरेवं द्विपदता, मनुष्याणां च संस्कारवतामेव चतुष्पदतेति विपर्ययः। २. चैतन्यरूपस्याऽऽधारतया तदनुक्त्वाऽधिष्ठानरूपमाह—नित्येति। ३. पूर्वश्लोके ताटस्थ्यवर्जनविरोधो न शंकनीयः। परमार्थतयाऽसङ्गस्यैव सृष्टि-समसत्ताकेक्षणादिकर्तृत्वस्य विवक्षणात्। ४. तटस्थता नाम जीवाद्भिन्नता। न हि प्रतीचो वस्त्वन्तरभूतो जगद्धेतुः। किंच ईक्षत्य-धिकरणन्यायादीश्वरस्य सविचारं सर्जकत्वं, न तु रज्जुरिव सर्पादिकं प्रति परेशः स्वस्मिन्नारोपितं प्रति न स्वतन्त्रः। यद्यपि तत्रापि रज्ज्ववच्छिन्नचितः स्वातन्त्र्यं प्रतिषेधानर्हं तथापि यथाप्रतिभासमस्माकं भ्रमं प्रति रज्जुस्वातन्त्र्याऽप्रतिपत्तिमादाय दृष्टन्तः। सांख्यानां प्रधानमिवाविद्या स्वतो न जगद्रचयतीति भावः।

यथाऽऽकाशो घटाकाशे[1] वर्तमानो न विद्यते। एवमेष पुमानेषु वर्तमानो न विद्यते।।३३५।।

घटे जाते यथाऽऽकाशः प्रविष्टो गीयते जनैः। तथा शरीरे सञ्जाते प्रविष्ट इति गीयते।।३३६।।

क्षुरादिदृष्टान्तार्थः

यथासर्वगतो भानोः प्रकाशो लभ्यते क्वचित्। दाहादिहेतुरेवं स हृदये लभ्यते पुमान्।।३३७।।

नापितस्य यथा पात्रे क्षुराधारेऽतिविस्तृते। लभ्यतेऽत्र क्षुरः क्वापि देहे हृदि तथा पुमान्।।३३८।।

यथा सर्वगतो वह्निः काष्ठेष्वेवोपलभ्यते। एवं सर्वगतोऽप्यात्मा देहेष्वेवोपलभ्यते।।३३९।।

साम्प्रदायिकैराभासपदेनोक्तं तन्मात्ररूपो, न च गृहादाविव अन्नसंयोगादिरूप इति सूचयितुं वस्तुतस्तत्र वृत्तितानियामकसम्बन्धाभावं सदृष्टान्तमाह—यथाऽऽकाश इति। यथाऽऽकाशो घटे वर्तमानतया भ्रान्तैर्व्यवह्रियमाणोऽपि वस्तुतस्तत्र न विद्यते, एवम् अत्रात्मेति।।३३५।। तस्य प्रविष्टव्यवहारे उपाध्यारोप एव प्रयोजक इति सदृष्टान्तमाह—घट इति। पूर्वसिद्ध एव आकाशः घटस्यावच्छेदकस्योत्पत्त्या तत्र प्रविष्ट इत्युच्यते, तथा आत्मेति।।३३६।।

एवं शरीरप्रविष्टत्वेऽपि हृदये विशेषतः प्रवेश इति प्रदर्शकं श्रुतिगतं क्षुरदृष्टान्तं व्याकरोति—यथा सर्वगत इति द्वाभ्याम्। यथा सूर्यप्रकाशः सर्वगतः अपि क्वचिद् एव सूर्यकान्तादौ प्रविष्टः सन् दाहादिहेतुः, एवम् आत्मा हृदये स्थित इति।।३३७।। नापितस्येति। यथा नापितस्य विस्तृते क्षुराधारे पात्रे क्वापि एकदेशे क्षुरः शीघ्रं लभ्यते, तथा आत्मा देहनिष्ठे हृदय इति।।३३८।। देहे सामान्यव्याप्तिदर्शकं द्वितीयमग्निदृष्टान्तं विवृणुते—यथा सर्वेति पञ्चभिः।।३३९।। एतेन दृष्टान्तेन उपकृष्टत्वापकृष्टत्वलक्षणं तारतम्यमपि औपाधिकमिति दर्शितमित्याह—तारतम्यमिति।।३४०।। सर्वगतत्वे सर्वत्रोपलब्धिः स्याद्?—इति शङ्काऽपि अनेन दृष्टान्तेन समाहितेत्याह—मथनेनेति। श्रुतिः श्रवणं, तत्प्रभृत्युपायेन।।३४१।। उपाधिधर्मभाक्त्वम् उपाधिवशाद् नानारूपत्वं च अनेन दृष्टान्तेन

मठमें (घरमें) अनुप्रवेश कर मठाकाश 'बन' जाता है, वह मठाकाश भी भीतरी कमरे में घुसकर कमरे का आकाश बन जाता है और फिर वह भी घड़े में प्रवेश पाकर घटाकाश बन जाता है, ऐसे ही यह नित्यानन्दरूप निःसंग ईश्वर जन्तुओं के शरीरों में सिर से पैर तक चैतन्य (प्रत्यक्, ज्ञान) रूप से प्रवेश कर गया।।३३३-३३४।। जैसे घटाकाशरूप में व्यवह्रियमाण होने पर भी आकाश उस रूप में विद्यमान नहीं हो जाता ऐसे ही यह परमपुरुष इन शरीरों में व्यवहृत होने पर भी इनमें विद्यमान नहीं होता। (वर्तमान अर्थात् बर्ताव करता हुआ और विद्यमान अर्थात् सत्तावान् होता हुआ। परिच्छिन्न रूप का बर्ताव करते हुए भी वह रूप सत्ता वाला नहीं है, सच्चा नहीं है। 'उपाधि में मौजूद जैसा लगना' यह ईश्वर का प्रवेश कहा जाता है। इसे ही आचार्य आभास कहते हैं। झोले में गेहूँ जैसा यहाँ प्रवेश नहीं है।)।।३३५।। घट बनने पर लोग कह देते हैं कि उसमें आकाश घुस गया यद्यपि अनादि काल से आकाश निश्चल निर्विकार है। ऐसे ही शरीर उत्पन्न होने पर लोग ईश्वर का उसमें प्रवेश समझ लेते हैं। (उपाधि का आरोप हो जाने से ही 'प्रविष्ट' ऐसा व्यवहार हो जाता है। ईश्वरप्रवेश का शास्त्रीय व्यवहार भी अध्यारोपकी अपेक्षा से ही है।।३३६।।

जैसे सूर्यकी रोशनी सब ओर फैली होने पर भी सूर्यकान्त आदि किसी-किसी उपाधि में ही घुसने पर जलाने आदि का कारण बनती है, ऐसे ही वह आत्मा सारे शरीर में घुसा होने पर भी हृदय में ही (ध्यानादिद्वारा) प्राप्त होता है। (सामान्यतः हम अपने को अपने हृदय में मौजूद महसूस करते हैं।)।।३३७।। उस्तरा आदि रखने के लिये नाई काफी बड़ी पेटी रखता है लेकिन उसमें उस्तरा तो सिर्फ एक कोने में ही रहता है, ऐसे ही आत्मा भी देहवर्ती हृदयमें

---

१. घटाकाशाख्ये रूपे वस्तुतो न वर्ततइत्यर्थः।

तारतम्यं यथा दृष्टं वह्नेः काष्ठगतस्य हि। सर्वदेहस्थितस्यापि तारतम्यं तथाऽऽत्मनः।।३४०।।

मथनेन यथा क्वापि काष्ठे वह्निः प्रजायते। श्रुत्यादिना तथाऽऽत्माऽयं देहे क्वाप्युपलभ्यते।।३४१।।

यथा वह्निर्महानल्पः काष्ठभेदैः प्रजायते। एवमेष महानल्पः पुमान् देहविभेदतः।।३४२।।

यथेन्धनस्य भेदेन प्रकाशो विविधो भवेत्। तथा करणभेदेन भेदो[1] नानाविधो भवेत्।।३४३।।

विद्यमानो यथा रात्रौ प्रकाशो न प्रकाशते। विद्यमानस्तथात्मायमज्ञाने न प्रकाशते।।३४४।।

प्रकाशमाश्रयेद्यद्वद्दिवसे निबिडं तमः। तद्वदात्मानमाश्रित्य ह्यज्ञानं वर्ततेऽधुना।।३४५।।

'तं न पश्यन्ती' त्यादेरर्थः

उद्योते द्युमणौ चैव प्रकाशत्वं समं सदा। तथाऽपि द्युमणिः कृत्स्नप्रकाशो नापरो यथा। तथा घ्राणादिकरणे प्रकाशोऽकृत्स्न ईरितः।।३४६।।

दर्शितमित्याह—यथावह्निरिति द्वाभ्याम्।।३४२-३४३।। ननु भासमान आत्मनि कथमेवमध्यारोप इति चेद्? अज्ञानेन तस्य सम्यग्भानप्रतिबन्धादित्याह—विद्यमान इति। यथा रात्रौ सूक्ष्मरूपेण विद्यमानः[2] अपि सवितुः प्रकाशः तमसाऽभिभूतत्वाद् न प्रकाशते[3], तथा विद्यमानः अपि अयमात्मा अज्ञाने सति न प्रकाशत इति[4]।।३४४।। ननु प्रकाशरूपे कथमावरणसम्भवः? इत्याशङ्कावारणाय दृष्टान्तमाह—प्रकाशमिति। यथा दिवसे निबिडं तमः राहुरूपं, प्रकाशरूपमादित्यम् आश्रयेत् तद्ग्रास्यत्वात्, तथाऽत्र अज्ञानम्. इति। अधुना विद्यातः पूर्वदशायाम्।।३४५।।

उक्ताध्यारोपहेयताप्रतिपादकस्य 'तं न पश्यन्ति' (बृ १.४.७) इत्यादेः 'एकैकेन भवति' इत्यन्तस्य वाक्यस्यार्थमाह—उद्योत इति चतुर्दशभिः। यथा उद्योते सूर्यस्यातपैकदेशे द्युमणौ सूर्ये च प्रकाशत्वं यद्यपि समं तथापि कृत्स्नः पूर्णः प्रकाशो द्युमणिः एव गण्यते नापरः। तथा घ्राणादिरूपे करणे तदवच्छिन्नतया वर्तमानः चित्प्रकाशः अकृत्स्नः अपरिपूर्ण उक्त इति।।३४६।। ननु वस्तुतः पूर्णस्य कल्पितावच्छेदेन न पूर्णताक्षतिरिति चेत्? सत्यम्,

रहता है।।३३८।। जैसे सर्वव्यापक तेज लकड़ियों में ही मिलता है ऐसे ही सर्वव्यापक आत्मा शरीरों में ही मिलता है।।३३९।। अग्नि एकरूप होने पर भी लकड़ी में अभिव्यक्त वह्नि लकड़ियों के तारतम्य से कमो-बेश वाली होती है, ऐसे ही सब शरीरों में स्थित आत्मा में भी देहों के वैशिष्ट्य से न्यूनाधिक भाव उपलब्ध हो जाता है।।३४०।। रगड़ने से लकड़ी के किसी बिंदु पर ही आग पैदा होती है, ऐसे ही श्रवणादि उपायों से यह आत्मा शरीर में कहीं ही उपलब्ध होता है (हृदयस्थ बुद्धिमें ही सर्वप्रथम भासता है)।।३४१।। काष्ठों के भेद के कारण उनमें जलती आग बड़ी या छोटी हो जाती है (बड़ी लकड़ी में बड़ी आदि) ऐसे ही यह परमपुरुष देहों के भेद से बड़ा-छोटा हो जाता है।।३४२।। जैसे ईंधन के अन्तर से रोशनी अलग-अलग तरह की होती है ऐसे ही चक्षुरादि उपाधियों के भेद से ज्ञान या आत्मा के नानाविध भेद हो जाते हैं। (तात्पर्य है कि उपाधिधर्मों से युक्त प्रतीत होना और उपाधिवश अनेक रूपों वाला प्रतीत होना 'विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये' (बृ.१.४.७) दृष्टान्त से अभिप्रेत है।)।।३४२-३।। रात में रोशनी रहती जरूर है—तभी उल्लू आदि देख पाते हैं—पर हमें नहीं दीखती, ऐसे ही यह आत्मा विद्यमान होने पर भी अज्ञान रहते भासता नहीं।।३४४।। घनान्धकार रूप राहु दिन में ही प्रकाशरूप सूर्य पर आश्रित हो जाता है; इसी तरह विद्या से पूर्व अज्ञान आत्मा पर आश्रित रहता है। (अज्ञान की सत्ता-स्फूर्ति आत्माधीन होने से वह तदाश्रित है।)।।३४५।।

---

१. ज्ञानस्येति शेषः। पश्यन् चक्षुरित्यादिवक्ष्यमाणरीत्या पुंस इत्येव वा शेषः। २. तेनैव च कौशिकादिचाक्षुषोपपत्तेः। ३. अस्मान्प्रतीति भावः। ४. अज्ञानहेतुकः प्रकाशनाभाव इत्यर्थस्तेन न पुनरुक्तिः।

प्रत्येकं कृत्स्न एवायं तथाऽहंविषयो मतः। अकृत्स्नत्वेन वागादौ तत्र पश्यन्ति सूरयः।।३४७।।

कर्मनाम्नां व्याख्या

वागादीनि च नामानि कर्मणा न स्वरूपतः। वदन् वाक् कथितो देवः करणेन करेति च।।३४८।।

कुर्वन्नेव यतः सर्वमादत्ते च घटादिकम्। पदेस्तु गतिकर्मत्वं यस्मात् पादस्ततोऽभवत्।।३४९।।

पालनात् पायुरुद्दिष्टो विसर्गस्येह मोचनात्। विसर्गमोक्षरहिता न हि जीवन्ति जन्तवः।।३५०।।

तथापि विपरीताभिमानः संसारे पातयत्येवेति निश्चित्य बुधाः परिच्छिन्नदृष्टिं त्यजन्तीत्याह—प्रत्येकमिति। यद्यपि प्रत्येकं वागादौ वर्तमानोऽपि अयम् आत्मा वस्तुतः कृत्स्न एव, तथापि तथा वागादिरूपेण अहमिति ज्ञानस्य 'वागहम्' इत्याकारकस्य विषयः सन् अकृत्स्नत्वेन अपूर्णत्वेनैव मतः। तम् अकृत्स्नं परिच्छिन्नं सूरयो विद्वांसो न पश्यन्ति इति।।३४७।।

तस्य वागादिरूपस्य अकृत्स्नतां स्फुटयति—वागादीनीति। यथैकस्य देवदत्तस्य पाचकपाठकादीनि नामानि तत्तत्कर्मनिमित्तकान्येव न स्वरूपतः स्वरूपमात्रमालोच्य न भवन्ति, तानि च अकृत्स्नस्यैव उपस्थापकानि पाकक्रियाविशिष्टस्योपस्थापने पाठक्रियाविशिष्टस्यानुपस्थापनाद्; एवं वागादीनि नामानि बोध्यानीति। वागादिशब्दानां तत्तत्कर्मनिमित्तकताममभिनयति—वदन् इत्यादिना। वदनरूपं व्यापारं कुर्वन् देवो वाग् इत्युक्तः, तथा करणेन अनुष्ठानरूप व्यापारेण करेत्याकारिकां संज्ञां प्राप्तः।।३४८।। ननु पाण्योरादानं व्यापारः प्रसिद्धः कथं करणं व्यापारतया उक्तम्? इत्यत आह—कुर्वन्निति। यतः कुर्वन्नेव सव्यापारो भवन्नेव सन् घटादिम् आदत्ते गृह्णाति अत आदानादिव्यापकं करणमेव प्रवृत्तिनिमित्ततयोक्तमिति शेषः। यस्मात् पदेः पदधातोः गतिकर्मत्वं गतिरूपक्रियावाचकत्वं ततो गतिं कुर्वन् देवदत्तः पाद इति पदेनोक्तः।।३४९।।

पालनादिति। विसृज्यते त्यज्यत इति विसर्गो मलं तस्य मोचनद्वारा पालनं कुर्वन् पायुः इत्युक्तः। विसर्गमोक्षस्य जीवनहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धमित्याह—विसर्गेति।।३५०।। आनन्द इति। आनन्दः अनुभूयमानः प्रशंसायाः स्वजनकस्य स्तुतेः हेतुः, प्रयोजक इति, इति प्रसिद्धम्। तथा च प्रशंसापदं प्रशंसाहेतावानन्द उपचरितम्। सा प्रशंसा तु शंसेः धातोः (भ्वा.प.से.) अर्थः। ततः शंसति प्रशंसति आनन्दं जनयति इति व्युत्पत्त्या शिश्नः पदार्थो देवो जातः, आनन्दहेतुत्वादिति। शंसुधातोर्नप्रत्यये (पृषोदरादि. ६.३.१०९) उपधाकारयोरित्वेऽन्त्यस्य तालव्यत्वे च शिश्नशब्दः साधुः।।३५१।। उपतिष्ठतीति। उपपूर्वकतिष्ठतेः समीपस्थितिवचनत्वाद् ऊर्ध्वरेतसां ज्ञानफलमोक्षाधिकाराद् अधोरेतस्कत्वेन जन्तूनां पुण्यपापयोः फलभोगाधिकारी सन् उपस्थ इति नाम भजतीत्यर्थः।।३५२।। कर्मेन्द्रियसंज्ञासम्बन्धं तादात्म्याध्यासमूलकमभिधाय तथा ज्ञानेन्द्रियसंज्ञासम्बन्धमाह—

सूर्यकिरण और सूर्यमण्डल की प्रकाशरूपता हमेशा समान है फिर भी सूर्यमण्डल पूर्णप्रकाश है, किरण नहीं; ऐसे ही घ्राण आदि करणों में अवच्छिन्न (सीमित) रूपसे वर्तमान ज्ञान अपरिपूर्ण कहा जाता है।।३४६।। यद्यपि वागादि प्रत्येक उपाधि में वर्तमान होने पर भी यह आत्मा वास्तवमें परिपूर्ण ही है तथापि जब औपाधिक रूपको ही 'मैं' समझा जाता है तब आत्मा की अपूर्ण जानकारी ही है। अतः विद्वान् परिच्छिन्न रूपों को आत्मा नहीं समझते। (भले ही आत्मा सदा पूर्ण रहे पर उसे अपूर्ण समझना संसारचक्र में फँसा देता है, अतः बुद्धिमान् को परिच्छिन्नदृष्टि नहीं करनी चाहिये।)।३४७।। जैसे एक देवदत्त के ही पाकक्रियावश पाचक, पाठक्रियावश पाठक आदि नाम पड़ जाते हैं, ऐसे ही आत्मा के वागादि नाम उस-उस कार्य को निमित्त बनाकर हैं सिर्फ आत्मस्वरूपका विचार कर ये नाम नहीं हैं अतः अपूर्ण को ही उपस्थित कर पाते हैं। बोलना-रूप व्यापार करते हुए आत्मदेव को वाक् कहते हैं। क्योंकि सव्यापार होते हुए ही घटादि सब कुछ ग्रहण किया जाता है, अतः पकड़ना आदि का व्यापक जो 'करना' है उसे निमित्त बना आत्मा

आनन्दो हि प्रशंसाया हेतुः शंसेरियं स्मृता। अर्थः शिश्नं ततो लोक आनन्दस्यैकहेतुतः। ।३५१।।

उपतिष्ठति वा सर्वं पुण्याऽपुण्यफलं सदा। जन्तूनां तेन विज्ञेयमुपस्थ इति नाम तत्। ।३५२।।

जिघ्रन् घ्राणमयं देवः चष्टे चक्षुस्तथा भवन्। शृण्वन् श्रोत्रं हि रसयन् रसनं परिकीर्तितः। स्पर्शनं हि स्पृशन्नेष एवं नामान्यवाप्नुयात्। ।३५३।।

देहयन्त्रे[1] सदा यस्मात् प्रकर्षेण चलत्ययम्। [2]उत्तमश्चायमेतस्मात् प्राण एषोऽभिधीयते। ।३५४।।

मनुते[3] सकलं यस्माद् विश्वमात्मानमव्ययम्। तस्मान्मन इति ख्यातिमगाद् ब्रह्मस्वरूपधृक्। ।३५५।।

जिघ्रन्निति। जिघ्रन् गन्धमुपाददानो घ्राणसंज्ञो भवति। चष्टे व्यक्तं कथयति—दृष्टस्य निःशङ्कमभिधानप्रसिद्धेः—तथा भवन् दर्शनेन व्यक्तमभिधानसमर्थो भवन् चक्षुः इत्युक्तः। शृण्वन् इत्यादि स्पष्टम्। ।३५३।। प्राणसंज्ञां व्युत्पादयति—देहेति। देहरूपे यन्त्रे प्रकर्षेण अनन् चलन् सन् प्राण इत्युक्तः। ।३५४।। अन्तःकरणसंज्ञायोगमाह—मनुत इति चतुर्भिः। विश्वं जगद्भावापन्नम् आत्मानं सकलं मनुते विकल्पयति यतस्ततो मनःसंज्ञः। ।३५५।। दधातीति।

को 'कर' कहा जाता है। (पुराण में कहा कि 'करण' अर्थात् करना निमित्त मानकर आत्मा कर या हाथ कहा जाता है। हाथ का प्रसिद्ध व्यापार पकड़ना आदि हैं तब 'करण' को क्यों निमित्त कहा? पुराण में ही उत्तर दिया कि कुछ करते हुए ही पकड़ना छोड़ना आदि होता है, अतः पकड़ना आदि सभी व्यापारों के लिये अनिवार्य जो 'करना' है उसे ही निमित्त मानने में लाघव है। पकड़ने आदि के लिये जो हाथों की क्रिया अथवा इन्द्रियों की चेष्टा होती है उसे 'करना' समझना चाहिये।) क्योंकि पद-धातु का अर्थ गतिरूप क्रिया है, इसलिये गति करते हुए आत्मदेव पाद (पैर) हो गया। ।३४८-४९।। मल निकालने के द्वारा पालन करता है इससे पायु कहलाता है। जिन जन्तुओं का मलनिकास सर्वथा बन्द हो जाये वे जीवित नहीं रह पाते। ।३५०।। आनन्द अपने उत्पादक की प्रशंसा का हेतु बनता है और शंसधातु का अर्थ है प्रशंसा। इसी धातु से शिश्न-शब्द बना है, जिसका अर्थ है प्रशंसाप्रयोजक आनन्द का उत्पादक। यह करते हुए आत्मदेव ही शिश्न कहा जाता है। (प्रजोत्पादक इन्द्रिय शिश्नपदार्थ है। प्रजोत्पादन सुखप्रद होता है, अतः उसका कारण जो इन्द्रिय वह उपाधि होने पर आत्मा शिश्न नाम ग्रहण करता है।) ।३५१।। हमेशा जन्तुओं के पुण्य-पापके सब फलों के निकट रहता है, इसलिये उस आत्मा का उपस्थ नाम है यह समझना चाहिये। (प्रजननेन्द्रिय ही उपस्थ भी कहलाती है। ब्रह्मचर्य में स्थित लोग तो ज्ञानद्वारा मोक्ष पा लेने से पुण्य-पाप के फलों से बच जाते हैं। जो अधोरेतस्क अर्थात् प्रजोत्पादन करने की कोशिश में रहते हैं उनके उस प्रयास में सुख या दुःख होता है जो पुण्य व पाप का फल है। साफल्यमें सुख व नैष्फल्य में दुःख प्रसिद्ध है। उन सुख-दुःख का भोग जिस उपाधिपरिच्छेद से होता है वह उपस्थ कही जाती है और उपस्थिति करता आत्मा ही उपस्थ होता है। अथवा यहाँ तात्पर्य है कि जन्तुओं के कर्मफलों को उपस्थित करता है, तिष्ठति=स्थापयति, इससे वह उपस्थ है। साक्षात् तो सुखादिरूप में उपस्थापक है एवं पुत्रादि पैदाकर उनके द्वारा भी सुखादि उपस्थापित कर देता है, प्रजनन से तदनुकूल प्राथमिक व्यापार ही समझना चाहिये अतः प्रजा न होने पर भी या उसकी संभावना प्रतिबद्ध कर देने पर भी उक्त व्यापार संभव होने से उपस्थता संगत है।) ।३५२।। यह आत्मदेव सूँघते हुए घ्राण होता है और व्यक्त कथन में समर्थ होते हुए चक्षु होता है क्योंकि प्रसिद्ध

---

१. गतिमत्त्वाद् नियमनार्हत्वाच्च देहस्य यन्त्रता। यन्त्रवद् गतिराहित्ये देहो दुष्यतीति च। २. असुरैरविद्धतामुष्योत्तमता ज्ञेया। ३. उपस्थितपरिस्थितेः पक्षविपक्षयोर्युक्तिसंभावनाद्युपस्थापनं मनसः कार्यं, सचिववत्, निर्णयस्तु निश्चयवृत्त्युपाधिना जीवः स्वामिस्थानीयः कुर्याद्, अत एव विपक्षोपस्थापनं गुण एव मनसोऽन्यथा चयनस्य अनौचित्यसंभवादिति गुरवः।

दधाति निखिलं स्वस्यां वासनारूपतो यतः। धीरित्येष ततो देवः कथितो वेदवादिभिः।।३५६।।

चित्तिः संविदिति ख्याता संविद् वेदनकर्मतः[1]। चित्तमेष सदा ज्ञेयः सर्वज्ञः पुरुषोत्तमः।।३५७।।

अहमित्यात्मनो नाम जन्तुमात्रस्य कथ्यते। पृष्टमात्रो यतः पूर्वं मानवोऽहङ्करोत्ययम्।।३५८।।

एवमेतानि नामानि तथाऽन्यान्यपि कोटिशः।अकृत्स्न एष न ज्ञेयः किन्तु कृत्स्नो मनीषिभिः।।३५९।।

विद्यासूत्रविवृतिः

कृत्स्न आत्मेति विज्ञेयः सन्ततोऽयं नभो यथा। नाऽत्र कश्चिद् विभेदोऽस्ति स्वान्योत्थः कर्हिचित् क्वचित्।।३६०।।

स्वस्यां गर्भधारकस्त्रीसमे स्वरूपे वासनारूपेण सकलमतीतानागतवर्तमानात्मकं[2] विश्वं यतो दधाति धारयति ततो धीरिति उक्तः।।३५६।। चित्तिरिति। चित्तिः अनुसन्धानाख्या चित्संवलिता वृत्तिः संविद् इति प्रसिद्धा, ततः संवित्संज्ञवेदनरूपात् कर्मणो निमित्तात् चित्तम् इत्युक्तः।।३५७।। अहमिति। 'सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरद्' (बृ. १.४.१) इति श्रुतेः विराजा प्रथममुच्चरितत्वाद् अहम् इति आकारकं[3] नाम सर्वसाधारणं यतः अधुनाऽपि 'कोऽसि?' इत्यादिना पृष्टो जनः 'अहं देवदत्तः' इत्याद्युत्तरयन् अहंशब्दं पूर्वमभिदधानो दृश्यत इत्यर्थः।।३५८।। अकृत्स्नवर्णनमुपसंहरति—एवमिति। एवमेतानि अकृत्स्नोपस्थापकानि नामानि उक्तानि तथाऽन्यान्यपि देवमानुषासुरादीनि कोटिशः अकृत्स्नरूपस्य अभिधायकानि द्रष्टव्यानि तद्वाच्यः अकृत्स्नः तु मनीषिभिः न ज्ञेयः इति।।३५९।।

है कि देखी बात बिना संदेह कही जा सकती है। (या अनेकार्थता के सहारे 'चष्टे' से 'पश्यति' समझना चाहिये अर्थात् देखते हुए चक्षु बनता है।) सुनते हुए श्रोत्र, चखते हुए रसना एवं छूते हुए स्पर्शन नाम आत्मा के हो जाते हैं।।३५३।। क्योंकि शरीररूप यन्त्र में यह हमेशा प्रशंसित रूप से चलता रहता है और क्योंकि सब अनों की (क्रियासाधनों की) अपेक्षा उत्तम है, कारण कि यह पाप से विद्ध नहीं हुआ, इसलिये प्राण कहा जाता है।।३५४।। क्योंकि जगद्रूपसे अवस्थित आत्मा को सांश दीखने पर भी अव्यय मानता है, इसलिये स्वयं पूर्णस्वरूप होने पर भी मन कहलाता है। (अथवा—अव्यय आत्मा को भी प्राणादि कलाओं से उपेत विश्व अर्थात् जाग्रदभिमानी समझता है इसलिये मन है।)।।३५५।। सकल संसार को वासनारूप में खुद में रखने के कारण वेदवादी आत्मा को धी-शब्द से कहते हैं। (बुद्धि में संस्कार रहते हैं, उन्हें रखते हुए अर्थात् उस उपाधि से आत्मा बुद्धि कहलाता है।)।।३५६।। चित्ति—अनुसंधान या विचार नामक साभास वृत्ति—संवित् कही जाती है। संवित् नामक ज्ञान करने से यह हमेशा सर्वज्ञ रहने वाला पुरुषोत्तम चित्त कहलाता है। (अर्थात् अनुसंधान करता हुआ आत्मा चित्तपदार्थ है।)।।३५७।। जन्तुमात्र का अपना नाम 'अहम्' ('मैं') बताया जाता है क्योंकि 'कौन हो?' पूछते ही मानव पहले 'अहम्' ('मैं') ऐसा कहता है। (एवं च 'मैं' यों व्यवहार करते हुए आत्मा ही 'मैं' या अहंकार कहा जाता है। यद्यपि 'अहम्' शब्द को सबका नाम कह रहे हैं तथापि अहमर्थवाचक सभी शब्द और संकेत समझने चाहिये। ऐसे ही अन्य कर्मनामों में भी तत्तदर्थबोधक शक्त या सांकेतिक सभी शब्द उपलक्षित हैं क्योंकि आत्मा के सभी अपूर्णानुभव विवक्षित हैं।)।।३५८।। ये एवं ऐसे अन्य करोड़ों नाम अपूर्ण का ज्ञान कराते हैं। इनका वाच्य जो अपूर्ण आत्मा है उसे वास्तविक न समझें, यह मनीषियों का कर्तव्य है।।३५९।।

जैसे सभी प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब में अभिन्न हो जाते हैं, ऐसे पूर्वोक्त विशेष जिसमें अभिन्न हैं, उस पूर्ण को

---

१. यतो वेदनात्मकं कर्म करोति ततः सं-विद् उच्यत इत्यर्थः। २. यच्चित्तमिति प्रसिद्धं तदत्र धीरुक्तम्। आगामिनामपि संस्कारतयावस्थानं, कथमन्यथा परिणामवादेन व्यवस्था संगच्छेत! पूर्वं धियामत्यन्तमसतोऽनन्तरमपि तत्र निधानायोगादिति। ३. यद्यपि यथाश्रुति प्रकृतेऽहमित्यानुपूर्वी विवक्ष्यते तथापि प्रत्यग्बोधकपदमात्रे तात्पर्यम् तेन भाषान्तरीयशब्दा अप्यस्मदर्थवाचकाः संगृह्यन्ते।

आत्मधीशब्दयोर्यस्माद् विषयस्तद्विवर्जितः । आत्मेत्येव स विज्ञेयो ह्यहमस्मीति जन्तुभिः । ।३६१ । ।

एकस्मिन् हि घटे यद्वद् घट इत्येव जन्तुभिः । उच्यते वक्तृभेदेन वस्तुभेदो न संभवेत् । ।३६२ । ।

अहमित्येव चात्मानं जन्तवोऽत्र वदन्ति हि[1] । तत एकः स विज्ञेय आत्मा यद्वद् नभः स्थितम् । ।३६३

गृहे मठे घटे चास्य नभसो न यथा भिदा । नभोधीशब्दगम्यस्य ह्येवं शब्दात्मनो भिदा । ।३६४ । ।

उक्ताध्यारोपमेवकारेण अपोद्य कृत्स्नरूपाभिनयपरस्य 'आत्मे'त्यादेः (बृ. १.४.७.) विद्यासूत्रभूतस्य वाक्यस्यार्थमाह—कृत्स्न आत्मेति पञ्चभिः। आत्मा इति पदमत्रावर्तते। तथा च यथा उपाधिकल्पिता भेदाः प्रतिबिम्बरूपाः सूर्ये बिम्बभूते एकतां गताः, एवं यत्राऽऽत्मनि निरूपिता विशेषा एकतां गच्छन्ति स कृत्स्न आत्मा आत्मेति उपास्यः। इतिशब्दोऽविषये तत्रात्मशब्दोऽपि उपचरित इति द्योतयति। तस्य कृत्स्नतां स्फुटयति—सन्तत इत्यादिना। यथा घटाकाशादिविशेषे नभः सन्ततं तथा अयम् इति। अत्र आत्मनि स्वोत्थः स्वगतः अन्योत्थः सजातीयादिनिरूपितः च भेदो नास्ति इति। ।३६० । । तत्रानुपलब्धिं हेतुतयाह—आत्मधीति। यस्माद् आत्मेत्याकारकयोः धीशब्दयोर्विषयः संस्तेन भेदेन विवर्जितोऽनुभूयते, आत्मेतिरूपेण दृष्टे भेदो नोपलभ्यत इति यावत्। फलितमाह—आत्मेत्येवेति। तस्मात् सर्वान्तरबोधकेन आत्मशब्देन लक्षणया तत्समार्थेन अहंशब्देन वा स विज्ञेय इति। एतेनात्र वाक्य 'उपासीते'तिपदं प्रमारूपविज्ञानपरमिति सूचितम्। ।३६१। । नन्वनेकप्रमातॄणां तत्राहंशब्दप्रयोगभेदात् तत्र भेदः स्याद् देहवद्?—इत्याशंकां दृष्टान्तेन वारयति—एकस्मिन्निति। यद्वद् एकस्मिन् अपि घटेऽनेकैरपि वक्तृभिः जन्तुभिः घट इत्येव समानरूपेण उच्यते, तत्र च वक्तॄणां भेदेऽपि वस्तुनो घटस्य न भेदः सम्भवतीति। तथा च वक्तव्यभेदाधीनप्रयोगभेदो व्यभिचारीति भावः। ।३६२। । अत्रापि प्रयोगैकरूप्यं दर्शयति—अहमिति। अत्र लोकेऽपि सर्वे जन्तवः अहमिति एवम् आत्मानं यतो वदन्ति तत एक एव ज्ञेय इति। कीदृशमात्मानम्? यद्वद् नभः तद्वदेकरूपेण स्थितम् इति। ।३६३। । नभोदृष्टान्तं स्फुटयति—गृह इति। यथा घटाद्युपाधिकस्य नभसो घटाकाशादिरूपेण भेदेऽपि नभ इत्याकारकधीशब्दाभ्यां गम्यस्य भिदा भेदो न, एवं शब्दात्मनः शब्द आत्मा इत्याकारकः प्रतिपादकः यस्य शब्दात्मा तस्य, आत्मशब्दार्थस्येति यावत्, एतादृशस्यात्मनोऽपि न भेद इत्यर्थः। ।३६४ । ।

ही आत्मशब्द से लक्षित समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। घटाकाश आदि विशेषों में जैसे सामान्य है यह आकाश, वैसे ही आत्मा परमसामान्य है। इसमें कभी कहीं सजातीय, विजातीय या स्वगत कोई भेद नहीं है। ।३६० । ।

'आत्मा' यों समझी और कही जाने वाली वस्तु क्योंकि सभी भेदों से रहित है, इसलिये जन्तुओं को चाहिये कि उस आत्मा को ही 'मैं' समझें। (श्रुति में 'उपासना करे' कहा है उसी को समझाया कि यहाँ समझना—संशय-विपर्यय से रहित प्रमा पाना ही उपासना है।)। ।३६१ । । जैसे बहुतेरे वक्ता एक घड़े को 'घट' कहते हैं तो वक्ताओं के भेद से बोध्य वस्तु में (घड़े में) भेद नहीं हो जाता, ऐसे ही सब जन्तु आत्मा को 'अहम्' ('मैं') कहते हैं तो कहने वालों का भेद आत्मभेद का साधक न होने से उस आत्मा को अद्वितीय ही समझना चाहिये जिस प्रकार इस उपस्थित आकाश को एक समझते हैं। जैसे घर, मठ, घड़ा आदि उपाधिवश भेदव्यवहार का विषय होने पर भी आकाश समझा जाने वाला पदार्थ विभिन्न नहीं हो जाता, ऐसे ही आत्मा शब्दका अर्थ विभिन्न नहीं है। (प्रश्न होता है कि चाहे शब्द वही है पर देवदत्त जब 'मैं' कहता है और यज्ञदत्त 'मैं' कहता है तो उनका अर्थ एक कैसे मानें? उत्तर है कि दोनों 'मैं' कह रहे हैं तो जरूर मैं-पदार्थ में कोई विशेषता है, जिससे सभी उसे मैं कहते हैं, जैसे घड़े में घटत्वरूप विशेषतावश

---

१. वक्तृविशिष्टशब्दानां ज्ञातृविशिष्टज्ञानानां च व्यक्तिभेदेऽपि वाच्यज्ञेययोरैक्यात् न शब्द-ज्ञानपार्थक्यं वस्तुभेदे मानं प्रत्येकं घटस्य भेदापत्तेः।

आत्मनः पदनीयता

प्रापणीयमदो रूपं यदात्मेति मयेरितम्। नान्यच्छब्दादिकं लोके प्राप्त्यर्हं स्यात् कदाचन।।३६५।।
ग्रहे योग्यः सुखोदर्कः पदार्थो गीयते बुधैः।[1] विषया न सुखोदर्काः प्राप्त्यर्हाः स्युः कथं नु ते।।३६६।।
[2]विषयप्राप्तिहेतुः स्यात् स्थूलं सूक्ष्मं शरीरकम्। साज्ञानमत एवैतन्न प्राप्त्यर्हं कथञ्चन।।३६७।।
अभिन्नेन पदा यद्वद् गोर्गमितेन विन्दति। अभिन्नेनात्मनात्मानं लभते सुखरूपिणम्।।३६८।।
गोपदाङ्कां भुवं दृष्ट्वा गौर्गतात्र परत्र न। विज्ञाय लभ्यते तद्वत्तस्मिन् मार्गे शनैर्व्रजन्।।३६९।।
पदनीयं तथाऽऽत्मस्थमानन्दात्मानमेत्य सः। सर्वभूतस्थितं तादृग्रूपं तं लभतेऽमुना।।३७०।।

'तदेतत् पदनीयम्' इत्यादेः 'श्लोकं विन्दत' (बृ. १.४.७) इत्यन्तस्य वाक्यस्यार्थमाह—प्रापणीयमिति अष्टभिः। यदात्मेति शब्दगम्यं रूपं मयेरितम् अद एतदेवाधिकारिभिः प्रापणीयं ज्ञानलक्षणप्राप्तेर्विषयतां नेयमिति यावत्। अतः अन्यच्छब्दादिकं न प्राप्तव्यमिति।।३६५।। अन्यस्याप्राप्तव्यत्व उपपत्तिमाह—ग्रह इति। सुखमुदर्क उत्तरं फलं यस्य एतादृश एव पदार्थो ग्रहे ग्रहणे योग्यो बुधैः उक्तः। विषयाः तु न तथा इत्याह—विषया इति।।३६६।। विषयाणां दुःखोदर्कत्वाद् हेयत्वे सति विषयभोगसाधनं स्थूलसूक्ष्मकारणसंज्ञं शरीरत्रयमपि हेयमिति सिद्धमित्याह—विषयप्राप्तीति। साज्ञानम् अज्ञानेन कारणशरीरेण सहितं स्थूलं सूक्ष्मं च शरीरम्, अत एव दुःखोदर्कविषयप्राप्तिहेतुत्वादेव न प्राप्त्यर्हम् इति।।३६७।। एवं कारणशरीरपर्यन्तं दृश्यं परिहाय एतत्सङ्घातान्तर्वर्तिन्यात्मस्वरूपे सच्चिदानन्दतया परिचिते सति सर्वत्र तत्परिचयो भवतीत्यस्मिन्नर्थे पददृष्टान्तं विवृणुते—अभिन्नेनेति। यथा गोः वृषभस्य अभिन्नेन अखंडितेन पदा चरणाङ्कितदेशेन इति यावत्, तेन तं गां विन्दति एवमत्र सङ्घाते वागाद्यवच्छेदकैः अभिन्नेन अखण्डितेन[3] आत्मना परिचितेन सुखरूपिणं भूमानमात्मानं[4] लभते परिचिनोतीत्यर्थः।।३६८।। एतदेव स्फुटयति—गोपदाङ्कामिति। गोः पदेन अङ्को यस्यामीदृशीं भुवं भूमिखण्डं दृष्ट्वा अत्र एव देशे गौर्गता परत्र एतद्भिन्ने न गता इत्येवं विज्ञाय निश्चित्य तस्मिन् पदाङ्कवति मार्गे शनैर्व्रजन् स गौरन्वेषकैः लभ्यते।।३६९।। दार्ष्टान्तिके योजयति—पदनीयमिति द्वाभ्याम्। तथा पदनीयं प्राप्तव्यतयोक्तम् आत्मस्थं सङ्घातान्तर्वर्तिनमानन्दरूपमात्मानं पदाङ्कस्थानीयम्[5] एत्य प्राप्य अमुना परिचितेन सर्वभूतेषु स्थितं तादृक्स्वरूपं सच्चिदानन्दलक्षणमात्मानं लभते साक्षात्कुरुत इति।।३७०। आत्मनेति। निजचित्तरूपेऽध्वनि साक्षितया प्रचरणशीलेन[6] आत्मना पदरूपेण पदाङ्कसमेन

ही सब उसे घट कहते-समझते हैं। मैं की वह विशेषता प्रत्यक्-चिद्रूपता ही है और उपाधिपरामर्श छोड़ दें तो उस प्रत्यक् में कोई भेद कहा-समझा नहीं जा सकता। अतः मैं पदार्थ एक ही स्वीकारना संगत है। शास्त्र तो यह समझाता ही है। अभी हम उपाधितादात्म्य के कारण सोपाधिक अर्थात् अपूर्ण आत्मा को 'मैं' कहते-समझते हैं। श्रुतिका निर्देश है कि इस रूप से मैं-बुद्धि हटाकर पूर्ण स्वरूपको ही मैं समझें।)।।३६२-६४।।

जो यह पूर्ण तत्त्व मैंने आत्मा कहा है उसे ही प्राप्त करना—जानना—उचित है। इससे अन्य जो शब्दादि प्रपंच और तदुपाधिक रूप है वह कभी भी इस योग्य नहीं कि उसे प्राप्त करना उचित हो।।३६५।। विद्वान् उसे ही ग्रहण

---

१. अतो भगवानपि 'परिणामेऽमृतोपममि'ति श्रेष्ठसुखं वर्णयामास। २. उक्तन्यायान्मुमुक्षामुपपादयति—विषयेति। ३. अकृत्स्नरूपं हित्वा कृत्स्नेनेत्येतत्। ४. सुखरूपमिति वाच्ये तद्रूपिणमित्युक्तिर्व्यापकानन्दं बोधयितुमित्यर्थम्। ५. परिच्छिन्नसुखादिविज्ञातुर्वस्तुतः परब्रह्मताऽयोगात्तस्य पदांकितस्थानता युक्ता। तथापि परमब्रह्मणो लाभो भवेदनेनैवोपायेन, प्रतीच्येव तत्प्रत्यक्षसंभवात्। न च तादृशधीर्भ्रमः, परस्यापि वस्तुतः प्रत्यगभेदात्, जीवत्वाख्यवैशिष्ट्यस्यैव निरासान्न जीवात्मनइत्यन्यत्र विस्तरः। अत्र चैत्य प्राप्येत्यस्य स्वस्य पदस्थानतामनुभूय गवान्वेषणपरत्वे तात्पर्यम्। सुखमहमित्यादितया विज्ञानमात्रस्य सत्त्वेपि परमानन्दस्याऽऽभासमात्रमेतदित्यपरिस्फुरणात्। ६. तत्र प्रतिबिम्बनमेव प्रचारः। तादात्म्यमिति भावः।

आत्मना पदरूपेण निजचेतोध्वचारिणा। स्थावरं जङ्गमं सर्वं लभते स्वात्मरूपतः।।३७१।।

आत्मलाभात् परो लाभो लोके नास्तीह कश्चन। यशः कीर्त्यादिकं[1] तेन लब्धं फल्ग्वेव जायते।३७२

आत्मनः प्रेयस्त्वम्

आत्मापि प्रिय उद्दिष्टः प्रियं पुत्रादिकं यथा। अनयो र्निश्चितं प्रेयानात्मा नान्यत् सुतादिकम्।।३७३।।

पुत्रवित्तकलत्रादेः स्वात्मार्थं प्रियता मता। अन्यथा वैरिणः कस्मात् पुत्रादेः सा न संभवेत्।।
आनन्दात्मन एवातो लाभो भूयानुदाहृतः।।३७४।।

निश्चितेन स्थावरादिकं सर्वं सच्चिदानन्दात्मतया निश्चिनोतीति।।३७१।। तस्य परमफलरूपतामाह—आत्मलाभादिति। आत्मलाभस्य निरतिशयत्वात् तेन आत्मलाभेन तदपेक्षया फल्गु[2] **यशआदिकं** लब्धमेव **भवति ज्ञानफले सर्वान्तर्भावादिति भावः।।३७२।।**

अन्यत् परिहृत्य उक्तात्मतत्त्वनिष्ठैव कार्येत्यर्थपरायाः 'तदेतत् प्रेय' (बृ. १.४.८) **इत्यादिकण्डिकाया अर्थं निरूपयति—आत्मापीति अष्टादशभिः।** आत्मा प्रिय इत्युक्तः पुत्रादिकमपि प्रियम् उक्तम्। अनयोः **प्रिययोर्मध्ये निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वेन** निश्चितं **यथा भवति तथा प्रियत्वातिशयाद्** आत्मा प्रेयान् **सोपाधिप्रेमास्पदत्वाद् आत्मभिन्नं सुतादिकं तु तथा न इति।।३७३।। पुत्रादेः सोपाधिकप्रेमविषयतां स्फुटयति—पुत्रेति। पुत्रादेर्या प्रियता**

के लायक कहते हैं जिसका उत्तरभावी फल सुख हो। विषय ऐसे हैं नहीं, अतः वे प्राप्तव्य क्योंकर होंगे?।।३६६।। अज्ञान समेत सूक्ष्म व स्थूल शरीर विषयसंपर्क में ही हेतु बनते हैं, और संस्पर्शज भोग दुःखोत्पादक ही होते हैं, अतः इन तीनों शरीरों को पाने लायक नहीं कह सकते।।३६७।। जैसे गाय के अखण्डित पदचिह्न के मार्फत गाय को खोज लिया जाता है ऐसे अभिन्न आत्मा द्वारा सुखरूप आत्मा से परिचय हो जाता है। (पूर्वोक्तविधया अपूर्ण रूपों को छोड़ कर पूर्ण आत्मा प्रत्यक् रूप से पता चलता है किन्तु उसके सहारे ही महावाक्यार्थ-बोध होता है जिससे व्यापक आत्मा समझ आता है। पहले पदार्थशोधन कर शुद्ध त्वमर्थ में निष्ठा होनी पड़ेगी तभी उसका तदर्थाभिन्न स्वरूप भास सकता है। संघात-साक्षी को सच्चिदानंद जानना पहले हो तब सर्वव्यापक सच्चिदानंद प्रकाशता है।)।।३६८।। गायके पदचिह्नों से अंकित ज़मीन देखकर 'गाय इधर गयी है, उधर नहीं' यह पता चलता है, तब उस रास्ते धीरे-धीरे जाने पर गाय मिल जाती है। इसी प्रकार संघात में प्रकट जो प्राप्तव्य आनंदरूप आत्मा है उससे पहले परिचित होना पड़ता है, तभी सब भूतों में स्थित सच्चिदानंद आत्मा का साक्षात्कार हो पाता है। अपने चित्तरूप मार्ग पर साक्षीरूपसे विचरण करने वाला जो पदचिह्न-स्थानीय आत्मा है उसकी वास्तविकता समझ चुकने से स्थावर जंगम सारा संसार सच्चिदानंदरूपसे निश्चित हो जाता है।।३६९-७१।। संसार में कोई लाभ नहीं जो आत्मलाभ से बेहतर हो। आत्मा प्राप्त होने पर उससे तुच्छ जो यश, कीर्ति आदि प्रसिद्ध फल हैं वे तो अनायास मिल जाते हैं। वस्तुतस्तु आत्मलाभ से यशोलाभादि की तुच्छता स्पष्ट हो जाती है, वे फल्गु अर्थात् मूल्यशून्य हो जाते हैं।।३७२।।

आत्मा और पुत्रादि दोनों प्रिय कहलाते हैं। इनमें आत्मा ही अधिक प्रिय निश्चित होता है, क्योंकि उसकी प्रेमविषयता बिना किसी उपाधि (प्रयोजक) के है, जबकि आत्मा से अन्य पुत्रादि के प्रति उपाधिवश ही प्रेम होता है।।३७३।। पुत्र, धन, पत्नी आदि की प्रियता हमारे अपने उपकार के लिये मानी जाती है अन्यथा दुश्मन के पुत्रादि के प्रति भी प्रियता क्यों न हुआ करे? इसलिये मुख्य प्रिय होने से आनंदात्माका लाभ ही श्रेष्ठ बताया गया है।।३७४।।

---

१. ज्ञायमानस्य यशस्त्वं, तस्यैव गीयमानतायां कीर्तिता। २. न व्यापकात्मानुभवमात्रात्फलान्तरवैयर्थ्यप्रतीतिः किन्तु व्यापकात्मरूपमेव वास्तवमित्यत्र निश्चयादन्येषां फलानां फल्गुताप्याभाति।

[1]इन्द्रियाण्यान्तराण्यत्र विषयेभ्यो हि देहिनाम्। आन्तरं मन एतेभ्यो बुद्धिस्तस्मादिहान्तरा।।३७५।।

बुद्धेरथान्तरो जीवो गतोऽहन्तामतिस्थितिम्। अस्मात्परं सदा ज्ञेयमव्यक्तं कारणं हि यत्।।३७६।।

आन्तरस्तु ततो ज्ञेय आनन्दात्मा[2] मनीषिभिः। नातोऽन्तरतमं लोके विद्यते वस्तु किञ्चन।।३७७।।

तत्र युक्तिः

विषयानिन्द्रियैर्वेत्ति मनसा चेन्द्रियाण्यपि। मनः संशयरूपं तद्धिया निश्चितयाऽपि च।।३७८।।

धियं धीयुक्तरूपेण धीयुक्तं कारणात्मना। कारणं च स्वरूपेण स्वप्रकाशेन सर्वदा।।३७९।।[3]

सा स्वात्मार्थं स्वोपकारायैव मता, अन्यथा पुत्राद्यर्थत्वे पुत्रत्वाद्यविशेषाद् वैरिपुत्रादेः[4] सा प्रियता कुतो न स्यादिति। फलितमाह—आनन्दात्मन इति। अतो मुख्यप्रियत्वाद् भूयान् अभ्यधिकः इति यावत्।।३७४।। न केवलं बाह्यानां पुत्रादीनामेव सोपाधिकप्रेमविषयत्वं किन्तु सङ्घातवर्तिनां प्राणादीनामपीति सूचयितुं तेषां पुत्रादिवद् बाह्यतां स्फुटयन्नात्मनः सर्वान्तरत्वमाह—इन्द्रियाणीति त्रिभिः। अत्र दृश्यवर्गे विषयेभ्यो बाह्येभ्यः स्थूलशरीराकारपरिणतेभ्यश्च इन्द्रियाणि प्राणविशिष्टानि आन्तराणि अन्तर्भवानि। एतेभ्यो मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकम् आन्तरम्। ततोऽपि बहिर्मुखनिश्चयात्मिका बुद्धिः इति।।३७५।। बुद्धेरिति। ततो बुद्धेः अपि जीव आन्तरः। जीवस्वरूपमाह—गत इति। अहन्तावगाहिन्यां प्रत्यक्प्रवणायामहमित्याकारायां मतौ विषयतया स्थितिं गतः, अहङ्कारविशिष्ट इति यावत्। अस्माद् अहङ्कारविशिष्टरूपाज्जीवादपि परम् आन्तरम् अव्यक्तम् अव्याकृतादिशब्दवाच्यं कारणम् अज्ञानं यत् सुषुप्त्यादिप्रसिद्धं तदिति।।३७६।। आन्तरस्त्विति। ततः अव्यक्तात् शुद्धात्मा आन्तरः यत्रान्तरत्वतारतम्यं विश्रान्तमिति।।३७७।।

उक्तार्थेऽसम्भावनां वारयन् यथा वटद्रष्टा घटादान्तरः तथैतेषामान्तरत्वं परिचेयमित्याह—विषयानिति त्रिभिः। अयमात्मा इन्द्रियविशिष्टः सन् विषयान् वेत्ति ततो वेत्तृविशेषणत्वेन इन्द्रियाणामान्तरत्वं स्फुटम्, एवमग्रेऽपि। मनोविशिष्ट इन्द्रियाणि वेत्ति—पश्यामि, जिघ्रामि वेति। अथ संशयरूपं मनः तु निश्चितं निश्चयरूपा वृत्तिरस्त्यस्यामिति अर्शाद्यचि (५.२.१२७) निश्चिता निश्चयवृत्तिमती बुद्धिः तया पश्यति—अत्र सन्दिहानोऽस्मीति।।३७८।। धियमिति। उक्तनिश्चयरूपां धियम् अपि धीयुक्तेन अहङ्काराख्यबुद्धिवृत्तिरूपेण पश्यति—अहं निश्चिनोमीति। अथ उक्तधीयुक्तं जीवमपि कारणात्मना कारणाज्ञानोपाधिकसाक्षिरूपेण पश्यति। अज्ञानन्तु स्वप्रकाशेन स्वरूपेण एवेति।।३७९।। फलितमाह—आनन्दात्मेति। तत उक्तविधया-ऽऽत्मन्यान्तरत्वतारतम्यविश्रान्तेः सर्वेषामात्मैव सर्वान्तरः। सर्वान्तरत्वाच्च स एव आनन्दात्मा। आनन्दरूपत्वाच्च

विषयों की अपेक्षा देहधारियों की इंद्रियाँ भीतरी हैं, उनसे मन और उससे बुद्धि भीतरी है। बुद्धि से भीतरी है जीव, जो अहंता-ग्राहक निश्चयका विषय बनता है अर्थात् अहंकारविशिष्ट है। इससे भीतरी उस अव्यक्त को ही समझना चाहिये जो कारण है, सुषुप्ति आदि में प्रसिद्ध है। मनीषियों को चाहिये कि उससे भी भीतर जो आनंदरूप शुद्ध आत्मा है उसे समझें, जिससे भीतर लोकप्रसिद्ध कोई वस्तु नहीं है।।३७५-७७।।

---

१. अत्र 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादिकाठकमनुश्रीयते। यद्यपि तैत्तिरीये प्राणमयो मनोमयादिभ्यो बाह्यः तथापि प्रियत्वं तेन क्रमेण न योजनीयं, तत्र प्रियतायाअप्रतिपादनात्, प्राणेषु चेन्द्रियाद्यपेक्षया प्रेमाधिक्यात्तस्मादिह बुद्धेरप्यान्तरो यो जीव उक्तस्तत्रैव प्राणानामन्तर्भावः प्राणधारणस्य जीवनत्वादिति गुरवः। २. अज्ञानात्प्रेयानात्मा, अज्ञानहानेन प्रापित्सागोचरत्वाद्, धनादिव काम इति द्रष्टव्यम् सौषुप्तेतराविषयसुखस्य विना शास्त्रमप्रसिद्धेस्तल्लोभाय शास्त्रश्राद्धाएव यतेरन्निति मनीषिपदसार्थक्यम्। गुरुशास्त्रयोः शासने मनो येषां त एव मनीषिणः। ३. 'साक्षित्वमात्मतमसा, मतिकञ्चुकेन मातृत्वम्' इत्यादिसर्वज्ञरीतिराश्रितेतिभावः। ४. वैरिणो यः पुत्रस्तस्येत्यर्थः। वैरिभूतस्य पुत्रस्येति वा।

आनन्दात्मा ततो लोके सर्वान्तरतमः स्मृतः ।[1] पुत्रादिभ्यः प्रियश्चैव स्थिराणां च चरात्मनाम् । ।३८० । ।

प्रियं यस्मात् परं ब्रूयाद् देहपुत्रधनादि यः । मनुजस्यास्य सर्वं तद् रोत्स्यत्येव न संशयः । आनन्दात्मा कदाचित् स न रोत्स्यति स्वरूपतः । ।३८१ । ।

विदुषोऽग्रेऽनृतवर्जनम्

तस्मादन्यत्र वक्तव्यं प्रियं हि विदुषः पुरः । यदि ब्रूयात् क्षणादस्य रोत्स्यतीदं न संशयः । ।३८२ । ।

स एव पुत्रादिभ्यः कारणान्तेभ्यः प्रियः विवेकदशायामितरत्र दुःखत्वनिर्णयाद् अतिशयवाची तमबादिप्रत्ययोऽपि न प्रयोक्तुं शक्यत[2] इति भावः । ।३८० । ।

ननु मुख्यप्रियत्वस्य आत्मन्येव सम्भवेऽपि गौणप्रियत्वस्य इतरत्रापि सम्भवात् कथमात्मैव प्रिय इत्यवधारणम्?—इत्याशङ्क्य; आत्मेतरस्य 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ. ३.४.२) इत्यादिश्रुतेः विनाशित्वेन तस्य गौणप्रेम्णोप्यनर्हत्वाद् उक्तमवधारणमुपपन्नमित्याशयेनाह—प्रियमिति । यस्मात् परं सर्वान्तरात्मभिन्नं देहादिकं यः प्रियम् इति ब्रूयात् तस्य अस्य मनुजस्य तद् देहादिकं रोत्स्यति रोधं गमिष्यति । रोधो नाम आवरणं तच्च कारणेन कार्यग्रासात्मकविनाशरूपम् । तथा च विनंक्ष्यतीति भावः[3] । एतादृशे च प्रेम न युक्तमिति भावः । आत्मा तु स्वरूपेण कदाचिन्न विनंक्ष्यतीति[4] तत्रैव प्रेम्णो युक्तत्वात् स एव प्रिय इति भावः । ।३८१ । । इत्थमात्मन एव प्रियत्वे पारमार्थिकेऽन्यस्य च प्रियाभासत्वे सति यथा रजततत्त्वविदः समीपे रङ्गरूपं मिथ्यारजतं मूढेन रजतमित्युच्यमानं तत्त्वविदोऽनृतमसहमानस्य रङ्गमिदमिति वचनाद् विनश्यति, तथात्मेतरप्रियस्य विनाशभयात् प्रियात्मविदः समीप आत्मेतरत् प्रियं न[5] वक्तव्यमित्याह—तस्मादिति । तस्माद् आत्मेतरस्य विनाशित्वे सति अप्रियत्वाद् विदुषः प्रियात्मविदः पुरः समीप आत्मनः अन्यत् प्रियं न वक्तव्यम् । वदनेऽनर्थप्रसङ्गमाह—यदीति । मूढोक्तमनृतमसहमानो विद्वान् यदि इदं तव प्रियं विनाशीत्येवं ब्रूयात् तर्हि तत् प्रियं क्षणाद् रोत्स्यति एवेति । ।३८२ । । कथं विदुषो वचनमात्रेण आत्मेतरप्रियनाशः?

व्यक्ति विषयों को — स्थूल शरीर भी विषयकोटि में ही है—इंद्रियों से जानता है, अतः वेत्ता का विशेषण होने से इन्द्रियाँ भीतरी हैं। विशेषण इसलिये कि सेन्द्रिय रहते ही विषयज्ञान संभव है। आगे इंद्रियों का ज्ञान मन से अर्थात् मनोविशिष्ट होकर करता है, क्योंकि 'देख रहा हूँ, सूँघ रहा हूँ' आदि रूप से ही आँखादि जाने जाते हैं एवं ये अनुभव मानस हैं। उस संशयरूप मनको निश्चयवृत्ति वाली बुद्धि से जानता है, यथा 'मैं अमुक विषयमें संदिग्ध हूँ' । ।३७८ । । बुद्धि को अहंकारविशिष्ट होकर जानता है, यथा 'मैं निश्चय कर रहा हूँ' । कारणोपाधिक जो साक्षी उस रूपसे अहंकार को जानता है। अज्ञान को स्वयंप्रकाश-स्वरूप से सदा जानता है। इसलिये संसार में सबसे भीतरी तो आनंदरूप आत्मा ही है। चर-अचर, सबकी अपेक्षा भीतरी आत्मा ही पुत्रादिकी अपेक्षा प्रिय है। (अविवेकियों को पुत्रादि प्रिय अतः आत्मा प्रियतर लगता है। विवेकी तो पुत्रादि को दुःख जानते हैं अतः प्रिय नहीं समझते, उनके लिये एकमात्र आत्मा प्रिय है। आत्मा से उपाधिपरामर्श छोड़कर चेतन कहा जा रहा है यह तो स्पष्ट है ही।) । ।७६-८० । । जो मनुष्य आत्मा से भिन्न शरीर, पुत्र, धन आदि को प्रिय कहता-समझता है वह सब उस व्यक्ति के सामने नष्ट हो जाता है, अतः उसे दुःख

---

१. 'तदेतत् प्रेयः...अन्तरतरं यदयमात्मे'ति समभिव्याहारादान्तरत्वं प्रेयस्त्वप्रयोजकं श्रुत्या सूचितमिति भावः । उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोः प्रयोज्यप्रयोजकतयाऽन्वयनियमस्य सार्वत्रिकत्वाऽयोगात्—पीनोऽयं ब्राह्मण इत्यादौ पीनताया विप्रत्वेऽप्रयोजकत्वात्—उक्तसमभिव्याहारमात्रं नान्तरत्वस्य प्रियत्वहेतुतायां मानमपि तु सूचकमिति द्रष्टव्यम्। २. 'तदेतत्प्रेय' इत्युपक्रमस्तु विषयादौ भ्रमसिद्धप्रियत्वमपेक्ष्येति तात्पर्यम्। अतः 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत' इत्यत्रातिशयप्रत्ययाऽप्रयोगः । ३. 'अनात्मा भोगकालेऽस्य सुखं यावत्प्रयच्छति । तत्सहस्रगुणं दुःखं नाशकाले ददाति हि । ।' इति वार्तिकसारे (१.४.८६५) कथनात् प्रियतयाभिमतोऽनात्मा स्वयं विनश्य दुःखायैव जायत इति भोक्तुरपि नाशकतुल्य इति च ध्वन्यते। अतएव रोत्स्यति रोदनहेतुर्भवतीति केषांचिद्व्याख्या (पंचदशी १२.६४)। । ४. तथा च दुःखाय न भवतीति। ५. राजानमाहूय राजपुरुषस्तत्समीपे स्तूयते चेद्राज्ञोऽप्रीत्यै भवतीति लोकदृष्टानुसारं परमात्माभेदवेदितुः पुरतो विषयप्रियतोक्तिस्तदुद्वेगाय, 'एष ह्येवानन्दयाति' 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादिश्रुतेर्विषयाणामानन्दकरत्वस्य ब्रह्ममूलकत्वादिति श्रीचरणाः ।

ईशः प्रियात्मवित्[1] तस्मात् सन्निधौ तस्य नानृतम्। वदेत् स यत् फलं दद्याद् यदीशः पुण्यपापयोः।।३८३।।

अल्पानामपि देवानां सन्निधावनृतं यदि। वदेत्तेऽपि फलं दद्युरवदन्तोऽपि भूरिशः।। वदन् विद्वान् कुतो[2] नायं तत्फलं हि प्रदास्यति।।३८४।।

यथा रोधः प्रियस्य स्यादरोधोऽपि तथैव हि। सत्यवादफलं लोके देवानां संनिधौ यथा।।३८५।।

एकैकोऽपि फलं दद्याद् देवः स्थावररूपभाक्। जङ्गमोऽयं वदन् विद्वान् सर्वदेवः[3] कथन्तु न।।३८६।

—इत्यत आह—ईश इति। यतः प्रियात्मवित् तत्त्वज्ञत्वाद् अनृतं वाग्व्यापारेण नाशयितुम् ईशः समर्थः तस्माद् हेतोरित्यर्थः। एवं यदिपदाध्याहारेण 'ईश्वरो ही' त्यन्तस्यार्थो दर्शितः। अथ ईश्वरपदस्य परमेश्वरपरतां गृहीत्वा विदुषोपेक्षाशीलेन तथाऽनभिधानेऽपि दोषो भवतीत्याह— सन्निधावित्यादिना। तस्य विदुषः सन्निधौ समीपदेशे अनृतं न वदेत्। कुतः, यद् यतः स विद्वान् अब्रुवन्नपि फलं दद्यात्। तदेव कुतः? यद् यतो हेतोः पुण्यपापयोः फलप्रद ईश ईश्वरः, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९) इति श्रुतेः। तथा च गङ्गातीरादिवद् विद्वत्संनिहितदेशस्य कृतपुण्यपापयोरुत्कर्षाधायकत्वाद् 'उत्कृष्टपुण्यपापानामिहैव फलम्' इति प्रसिद्धेः न नैर्घृण्यदोषप्रसङ्गोऽपीति भावः।।३८३।। ब्रह्मवित्सन्निधेः पुण्यपापयोः शीघ्रफलप्रदत्वरूपोत्कर्षाधायकत्वे कैमुत्यन्यायमाह—अल्पानामपीति। यदि अल्पानां स्थावरत्वादिनाऽपकर्षशालिनाम् अपि देवानां सन्निधावनृतं वदेत् तर्हि ते देवा अवदन्तोऽपि फलं ददति, किमुत सर्वदेवात्मकः सवाग्व्यापारश्च विद्वानिति।।३८४।। एवं सति विदुषोऽग्रे 'आत्मैव प्रियम्' इति सत्याभिधान इष्टसिद्धिरपि भवतीत्याह—यथेति। यथा अनृताभिधाने प्रियस्य रोधो विनाशः स्यात् तथा सत्याभिधानस्य फलं प्रियस्य पुत्रादेः अरोधोऽपि भवेदिति।।३८५।। दृष्टान्तं स्फुटयति—एकैकोऽपीति। सर्वदेवः सर्वदेवात्मकः।।३८६।।

देता है। आनंदात्मा तो स्वरूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता, अतः वही प्रेम का उचित पात्र है।।३८१।। इसलिये प्रियात्मा के जानकार के सामने अनात्मा को प्रिय नहीं कहना चाहिये क्योंकि वह सुनकर जानकार यदि कह दे कि 'तुम्हारा यह प्रिय विनाशी है' तो वह अनात्मभूत प्रिय क्षणभर में नष्ट हो जाता है। प्रिय आत्मा का जानकार अपनी वाणी के व्यापार से ही असत्य का नाश करने में समर्थ होता है, अतः उसकी संनिधि में झूठ नहीं बोलना चाहिये। पुण्य-पाप का फल देने वाला होने से तत्त्ववेत्ता मुँह से न बोले तो भी फल तो दे ही देगा, अतः उसके सामने झूठ—कि अनात्मा प्रिय है—नहीं बोलना चाहिये। छोटे देवताओं की संनिधि में झूठ बोलने पर वे भी बिना कुछ कहे उस उत्कट पाप का अधिक दुःख रूप फल दे देते हैं, तब सर्वदेवरूप यह विद्वान् यदि बोल देगा तो फल कैसे नहीं होगा! (जिसे रांगे की सचाई पता है उसके सामने कोई भ्रांत उसे चाँदी कहे और वह जानकार वास्तविकता प्रकट कर दे तो भ्रान्त की चाँदी नष्ट हो जाती है। ऐसे ही अनात्मा की अप्रियता के जानकार का कथन प्रियत्वेन अभिमन्यमान अनात्मा का नाशक हो जाता है। किं च उसमें दिव्य सामर्थ्य होने से उसकी आज्ञा होने पर पदार्थ ही नष्ट हो जाता है। पुण्य स्थलों पर सामान्य पाप भी अधिक दोष का हेतु बनता है। तत्त्ववेत्ता की संनिधि पुण्य स्थान है, अतः वहाँ झूठ नहीं बोलना चाहिये। यद्यपि कहीं भी किये पापका फल ईश्वर देता ही है तथापि ईश्वर की खास उपाधि जो तत्त्वज्ञ उसके सामने किये पाप का फल वह तत्त्वज्ञ द्वारा कहलाकर प्रदान करता है ताकि हमें उस उपाधि पर श्रद्धा हो और उसके उपदेश पर विश्वास कर लें।)।।३८२-८४।। जैसे विद्वान् के सामने झूठ बोलने से अनात्मरूप प्रिय का विनाश होता है वैसा ही सच बोलने

---

१. प्रियो य आत्मा तस्य वेदिता। २. ननु करुणया न दास्यतीति चेन्न, तथात्वे पापकर्मणि प्रोत्साहयन्नन्ततो निरयपाताय प्रयोजकी भवन्नकरुण एव सिद्ध्येत्। न हि तत्कालं सुखदानं करुणाऽपि तर्हि वास्तवकल्याणप्रदानम्। एवं च यदा निकटस्थान्दण्डादिना नापि वारयति तदापि तत्संनिधिमात्रादस्माभिः क्रियमाणं पापजातं वज्रलेपो बोभवीतीति निश्चित्य तत्संनिधौ पापाचाराद्भेतव्यम्।
३. 'आत्मा ह्येषाँ स भवति' (बृ. १.४.१०) इतिश्रवणात्।

ततो यो लोक एतस्मिन् माययाऽतिविमोहितः। पुत्राद्यरोधमिच्छन् सोऽप्यात्मानं हि प्रियं सदा। उपासीताऽपि चेद् ध्यातुं शक्तो न मनुजो भवेत्।।३८७।।

उपासनपदार्थः

उपासनं हि तत् प्रोक्तं गुरुशास्त्रादिवाक्यतः[1]। जायते यद्धि विज्ञानं सत्यसत्यपि वस्तुनि।।३८८।।

विश्वासमात्रतो नृणां प्रत्ययानां प्रवाहतः। उपदिष्टे सजातीनां विजातीनां च वर्जनम्।।३८९।।

प्रियानन्दात्मविज्ञानात् सर्वदेववपुः पुमान्। विद्वान् भवति नैवात्र विचार्यं शक्र कर्हिचित्।।३९०।।

तत इति। ततः प्रियात्मविदुष ईश्वरत्वदर्शनात्तत्प्रियत्वाभिधानेऽपि[2] इष्टफलदर्शनाच्च सोऽपि मनुज आत्मानं प्रियरूपेण उपासीत। 'स' कः? यो माययाऽतिविमोहितः वैराग्याभावेनात्मनः प्रमारूपविज्ञानेऽनधिकृत इति यावत्, पुत्रादिरूपप्रियाणामरोधं[3] कामयमानश्चेति। ननु तादृश उपासनमपि कथं कुर्याद्? अत आह—अपि चेदिति। चेद् यदि ध्यातुम् अपि भावनासन्तानं कर्तुमपि न शक्तो भवेत् तथापि[4]कुर्यादेवेति। तथा चावश्यं कार्यान्तरं यथा हठेनापि करोति तथोपासनमपि कार्यमिति भावः।।३८७।।

ननु प्रमारूपविज्ञानादुपासनस्य को भेदः, इत्यतः तत्स्वरूपं दर्शयति—उपासनमिति द्वाभ्याम्। यद् विज्ञानं[5]सति विद्यमाने, असति अविद्यमाने वा वस्तुनि गुरुशास्त्रादिवाक्यमात्राधीनं वस्तुस्वरूपावरणभङ्गोदासीनमिति[6] यावद्, एतादृशं मानसवृत्तिरूपं जायते; जाते च तत्र ज्ञाने विश्वासमात्रेण उपदिष्टार्थविषयकानां तत्सजातीयानां प्रत्ययानां धीवृत्तीनां प्रवाहतः, विजातीनाम् अन्याकाराणां प्रत्ययानां वर्जनं; तद् एतावद् उपासनम् इत्युक्तमिति द्वयोरर्थः। एतेन उक्तज्ञानस्य वस्तुस्वरूपावरणभञ्जकत्वे[7] वस्तुसौन्दर्याच्च तत्र चेतसः स्थिरत्वे प्रमारूपत्वमिति सूचितम्।।३८८-३८९।। प्रमारूपप्रियात्मविज्ञानस्य फलमाह—प्रियानन्दात्मेति। प्रियत्वेनानन्दरूपस्य आत्मनो विज्ञानात् सम्यङ्निश्चयात्तु विद्वान् सर्वदेववपुः पुमान् सर्वात्मभूत ईश्वरो भवति; हे शक्र! अत्र अर्थे न विचार्यं न संशय इति यावत्।।३९०।।

का फल होता है कि हमारा प्रिय नष्ट नहीं होता। जैसे देवसंनिधि में पुण्य अधिक फलक होता है, वैसे ही विद्वत्संनिधि में। हर स्थावर देवता भी जब फल देता है तब सर्वदेवात्मक यह जंगम विद्वान् क्यों फलदान में असमर्थ होगा? (स्थावर से पीपलादि या प्रतिमादि समझने चाहिये। स्थावर उपाधियों के संमुख पुण्य-पाप करने पर उनसे उपहित जीवरूप देवता ही जब फलप्रद हो जाते हैं तब जंगम उपाधि से उपहित ईश्वररूप महादेव क्यों न होंगे? मंत्रादि से प्रतिमादि की तरह तत्त्वज्ञान से ज्ञानी का चित्त भी प्रकृष्ट उपाधि है।)।।३८५-८६।। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि आत्मा की प्रिय रूप से उपासना करे। मायावश अधिक मोह में पड़ा जो चाहे कि उसके पुत्रादि का विनाश न हो उसे भी इस संसार में सदा आत्मा की ही प्रिय रूप से उपासना करनी चाहिये। यदि मनुष्य वैसा ध्यान न कर सके तो भी हठपूर्वक वैसा ही चिंतन करने की कोशिश करते रहना चाहिये।।३८७।। ध्येय विषय विद्यमान हो चाहे न हो, गुरु शास्त्रादि के वाक्य से लोगों को जो ज्ञान उत्पन्न होता है और केवल श्रद्धाके कारण जो उपदिष्टविषयक एकाकार वृत्तियाँ बनती चली जाती हैं, अन्याकार वृत्तियाँ नहीं बनती हैं, इस प्रक्रिया को उपासना कहते हैं।।३८८-९।। प्रिय

---

१. शास्त्रं वेदः, स्मृतय आदिपदार्थः। २. यथाऽहंकारत्यागरूपार्थानुभूत्यभावेपि पंचाक्षर्यादिजपः फलाय भवति एवमात्मप्रियताकथनमपि स्यादिति भावः। ३. अविनाशम्। ४. एतच्च सर्वोपासनासु स्मर्तव्यमिति। ५. मनोवृत्तिविशेषत्वात् क्रियारूपत्वेऽपि उपास्तिवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः संगच्छते। ६. वैराग्याद्यभावप्रभृतिमनोदोषा उक्तोदासीनताप्रयोजका इति तेषां निवृत्तौ वृत्त्याऽऽवरणभङ्गो न विरुद्ध्यते। क्रियात्वेऽपि यथाऽर्थतया मानसतया चावरणविरोधसमर्थत्वादित्यनुसन्धेयम्। ७. तस्यास्तद्भञ्जकत्वं चोक्तदोषनिवृत्त्येत्यावेदितमधस्तात्। साफल्यस्यापि मानताहेतुत्वादाह वस्तुसौन्दर्याच्चेति। आपाततां वारयति—चेतसः स्थिरत्वइति। ननु मूले कथितसूचना न दृश्यते? मैवम्, उपास्तिमुक्त्वाऽनुपदं ब्रह्मतत्त्वप्रमां वर्णयन् मूलकार एवं तत्सूचयतीति मन्तव्यम्।

ब्रह्म किमज्ञासीत्

अत्र ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं विचारतः। अनेकेषां समाजे यद् ब्राह्मणानां महात्मनाम्। ।३६१।।

ब्राह्मणा मिलिता आसन् वेदवेदाङ्गपारगाः। एकदा क्वापि कस्मिंश्चिद्[1] निमित्ते समुपस्थिते। ।३६२।।

तत्र नाना कथा वृत्ता लोकवेदसमाश्रयाः। तत्रैषाऽपि कथा क्वापि प्रसङ्गे सत्यभूत् तदा। तत्र केचिन्महात्मान एवमाहुर्द्विजोत्तमान्। ।३६३।।

प्रश्नविकल्पाः

मानवाः सर्वभावाप्तिं वदन्ति ब्रह्मविद्यया। ब्रह्म किं ज्ञातवद् येन तदभूत् सर्वमेव हि। ।३६४।।

विप्रा! यदि न तज्ज्ञात्वा ब्रह्माभूत्सर्वमेव हि। अज्ञानात् सर्वदैव स्युः सर्वमेव नरा अपि। ।३६५।।

ब्रह्मान्यस्य यदि ज्ञानात् सर्वमेवाभवत् तदा। सन्तु तेनैव तत् ते किमनया ब्रह्मविद्यया। ।३६६।।

'तदाहुः' इत्यादेः 'सर्वमभवद्' इत्यन्तस्य (बृ. १.४.९) अर्थं प्रपञ्चयति—अत्र त इत्यादि द्विषष्टिश्लोकैः। अत्र आत्मविज्ञानात् सर्वात्मभावलाभ इत्यस्मिन् अर्थे ते तुभ्यमिन्द्राय पुरातनं वृत्तं वृत्तान्तं कथयिष्यामि। कीदृशं वृत्तम्?यदनेकेषां महात्मनां ब्राह्मणानां समाजे विचारतो निष्पन्नमिति शेषः। ।३६१।। ब्राह्मणा इति। ।३६२।। तत्रेति। तत्र समाजे कथा वाक्यप्रबन्धाः प्रवृत्ता निष्पन्नाः। समाश्रयो विषयः। एषा वक्ष्यमाणा। तत्र केचिन्महात्मान एवं द्विजोत्तमानाहुः पप्रच्छुः। ।३६३।।

प्रश्नमभिनयति—मानवा इति चतुर्भिः। मानवा विद्याधिकारिणः ब्रह्मणो विद्यया ज्ञानेन सर्वात्मभावलाभं वदन्ति। तत्रैवं विचार्यते—यस्य ब्रह्मणो विद्यया सर्वात्मभावः फलं तद् ब्रह्म अपि किं किञ्चिज्ज्ञात्वा सर्वात्मभूतम्, अज्ञात्वैव वा? आद्ये, तन्निरूपणीयं ब्रह्म किं ज्ञातवद् येन यद्विषयकज्ञानेन सर्वं सर्वात्मकम् अभूद् इति। ।३६४।। द्वितीयमनूद्य दूषयति—विप्रा इति। हे विप्रा! यदि तद् ब्रह्म न ज्ञात्वा ज्ञानं विना एव सर्वरूपम् अभूत् तर्हि नरा अपि सर्वदा अतीतादिकालेषु अज्ञानादेव सर्वं स्युः सर्वात्मभूताः स्युः किं ब्रह्मविद्यार्थं प्रयासेनेत्यर्थः। ।३६५।। आद्ये, अन्यस्य विज्ञानाद् ब्रह्म सर्वात्मभूतम्, आत्मन एव वा? तत्र नाद्य इत्याहुः—ब्रह्मान्यस्येति। यदि स्वस्माद् अन्यस्य ज्ञानाद् ब्रह्म सर्वम् अभवत् तदा तेन अन्यविषयकज्ञानेन एव ब्रह्मवत् ते मानवा अपि तत् सर्वं स्युः, अनया

होने से आनंदरूप जो आत्मा उसके सम्यक् निश्चय से जानकार पुरुष सबका आत्मा हो जाता है इस विषय में हे इन्द्र कोई संशय मत रखो। ।३६०।।

आत्मानुभूति से सर्वात्मता की प्राप्ति के बारे में तुम्हें एक प्राचीन घटना सुनाता हूँ, जो बहुत से शुद्धचेता ब्राह्मणों की सभा में विचाररूप से सम्पन्न हुई थी। ।३६१।। एक बार कहीं किसी निमित्तसे वेद-वेदांगों के तलस्पर्शी ज्ञानी ब्राह्मण एकत्र हुए थे। ।३६२।। विविध विषयों पर वहाँ नाना चर्चायें हुईं। तभी कोई ज्ञानप्रसंग आने पर यह विचार भी प्रवृत्त हुआ : कुछ महात्माओं ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों से यों प्रश्न किया—विद्यामें अधिकार रखने वाले मानव कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानसे सर्वात्मा हुआ जाता है। विचारणीय यह है कि जिस ब्रह्मको जानने से वह फल मिलता है वह ब्रह्म भी कुछ जानकर सर्वात्मा हुआ या बिना जाने ही? यदि जानकर हुआ तो वह क्या था जिसे जानकर वह वैसा हुआ?। ।३६२-६४।। हे ब्राह्मणो! यदि वह ब्रह्म कुछ जाने बिना ही सर्वरूप हो गया तो मनुष्य भी हमेशा अज्ञानवश ही सर्वरूप हो जाने चाहियें, ब्रह्मज्ञानार्थ प्रयास से क्या लाभ ?। ।३६५।। ब्रह्म यदि अपने से अन्य किसी को जानकर सर्वात्मा हुआ तो उसी तरह मानव भी ब्रह्मभिन्न उसी चीज़को जानकर सर्वरूप हो जायेंगे, पुनः ब्रह्मविद्या का क्या लाभ ?। ।३६६।। यदि ब्रह्म ने

---

१. अनिर्धारितदेशकालवृत्तान्तो घटनायाः सनातनत्वं द्योतयितुम्।

ब्रह्म चेत् स्वात्मविज्ञानात् सर्वभावं समाप्तवत्। नृणामप्यात्मविज्ञानात् स्याद्व्यर्था सा तथापि हि।।३६७।।

सिद्धान्तः

एवं विचारकैः पृष्टा ब्राह्मणाः शास्त्रकोविदाः। अज्ञानमन्यविज्ञानं परित्यज्योत्तरं ददुः।।३६८।।

नाज्ञं ब्रह्म न चान्यस्य विज्ञानसहितं च तत्। किन्तु स्वात्मन एवैतज्ज्ञानात् सर्वात्मतां गतम्।।३६९।।

सर्वात्मतासमाप्त्यर्थं विज्ञेयो मानवैरपि। स्वात्मा नैव हि तद्भिन्नं जन्तोः कस्यचिदात्मनः।।४००।।

ब्रह्मात्मपदयोस्तुल्यार्थता

बृहन्तं ब्रह्मणः शब्दः प्राहार्थं त्वात्मनोऽपि च। शब्दस्ततो न भिन्नार्थाविमौ पाणिकरोक्तिवत्।।४०१।।

वेदान्तप्रसिद्धया ऐक्येन ब्रह्मविषयकया विद्यया किं प्रयोजनमिति।।३६६।। द्वितीये दोषमाहुः—ब्रह्म चेद् इति। चेद् यदि ब्रह्म स्वात्मविज्ञानाद् एव सर्वभावं समाप्तवत् प्राप्तं, तर्हि नृणामपि यथास्वम् आत्मविज्ञानाद् एव सर्वभावप्राप्तिः स्यात्। तथापि सा प्रकृता ब्रह्मविद्या व्यर्थेति। आत्मभेदं मत्त्वा एषा कोटिरिति बोध्यम्।।३६७।।

सिद्धान्तमवतारयति—एवमिति। एवं विचारकैः विचारं कुर्वाणैः पृष्टाः शास्त्रतात्पर्यविदः ब्राह्मणा उत्तरं ददुः। किं कृत्वा? पूर्वोक्तपक्षाणां मध्येऽज्ञानपक्षमन्यविज्ञानपक्षं च परित्यज्य इति।।३६८।।

आत्मब्रह्मपदार्थगतो भेदो नास्तीत्याशयेन सिद्धान्तमभिनयति—नाज्ञमित्यादिना। ब्रह्म अज्ञम् अज्ञानविशिष्टं सद् न सर्वात्मतां प्राप्तम्; तथा अन्यविषयकविज्ञानविशिष्टं न सर्वात्मतां गतम्; किन्तु स्वात्मन एव ब्रह्मात्मपदाभ्यामुक्तस्य विज्ञानात् सर्वात्मतां गतमिति। अत्र ब्रह्मैव स्वस्मिन् कल्पितेन अज्ञानेन विद्याऽधिकारी भूत्वा आत्मविद्यया सर्वात्मभावं गतमित्यस्यार्थस्य प्रपञ्चो भाष्ये द्रष्टव्यः।।३६९।। सर्वात्मतेति। एवमात्मन एव ज्ञानस्य सर्वात्मतालाभप्रयोजकत्वे मानवैरपि सर्वात्मतासमाप्त्यर्थम्, आत्मैव विज्ञेयः। ननु ब्रह्मविज्ञानं विना कथमात्मज्ञानमात्रेण सर्वभावः?—इत्याशङ्कां ब्रह्मात्मपदार्थयोः ऐक्यस्फोरणेन वारयति—नैवेत्यादिना। हि यस्मात् तद् ब्रह्म कस्यचिद् अपि जन्तोः आत्मनः सकाशाद् नैव भिन्नम् इति।।४००।।

तत्र हेतुतया ब्रह्मात्मपदयोः समानार्थतामाह[1]—बृहन्तमिति। ब्रह्मणो[2] वाचकः शब्दो ब्रह्मेत्याकारको बृहन्तं त्रिविधपरिच्छेदशून्यम् अर्थम् आह प्रतिपादयति। तथा आत्मनोऽपि शब्द आत्मेत्याकारकः सर्वान्तरत्वेन तमेवार्थमाह। तत इमौ ब्रह्मात्मशब्दौ पाणिकरादिपर्यायशब्दवत्[3] समानार्थावित्यर्थः।।४०१।। पर्यायताशङ्कां

स्वात्मा के विज्ञान से ही सर्वता पायी तो मानव भी अपने-अपने आत्मा को जानकर सर्वरूप हो जायेंगे, फिर भी ब्रह्मविद्याका प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होगा।।३६७।। ये प्रश्न उपस्थित हुए।

इस प्रकार पूछे जाने पर शास्त्रके तात्पर्य से परिचित ब्राह्मणों ने न यह माना कि ब्रह्म बिना जाने सर्वरूप हुआ और न यही स्वीकारा कि स्वयं से भिन्न कुछ जानकर उसे वह फल मिला। उन्होंने यों उत्तर दिया : अज्ञानविशिष्ट ब्रह्म सर्वात्मा हुआ ऐसी बात नहीं और न यही स्थिति है कि स्वभिन्न के विषयमें जानते हुए वह सर्वरूप हुआ। ब्रह्म और आत्मा शब्दों से सूचित निज स्वरूपके ज्ञानसे ही ब्रह्म सर्वात्मा हुआ। अतः मानवों को भी सर्वात्मभाव की सही

---

१. शक्यतावच्छेदकैक्ये सति विभिन्नशक्ततावच्छेदककत्वं पर्यायत्वं, तदत्र ब्रह्मात्मपदयोः नोच्यते किन्तु प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकपर्यवसितार्थता बोध्यते। नह्येकार्थपरत्वे पर्यायता, अयं घट इति पदयोस्तथात्वापत्तेः। न चैवं शंकरः शर्व ईशान इत्यादौ पर्यायतातदभावयोः संशयः; प्रवृत्तिनिमित्तभेदस्य विवक्षाऽविवक्षाभ्यां निर्णयसंभवात्। २. वेदकमलासनविप्रादिव्यावृत्तम् 'ब्रह्म वा इदमग्र' आदौ प्रतिपिपादयिषितं यद्वस्तु तस्येत्यर्थः। ३. यथा पर्यायशब्दा एकार्थकाः तथा शब्दाविमावेकार्थावित्यर्थः, न तु तद्वत् पर्यायावपीति द्रष्टव्यम्।

बृहत्यती समानार्थौ निश्चितौ पदवेदिभिः। बृहतेस्त्वधिकं प्राह सन्ततं त्वततेर्वचः।।४०२।।

सर्वाधिक्यं हि मुख्यार्थो बृहतेर्नापरः क्वचित्। सर्वाभिन्नो भवेत् सोऽर्थो भेदे नैष प्रसिद्ध्यति।।४०३

अतिः सर्वेषु देशेषु कालेषु सत्स्वसत्सु च । अभिन्नं सन्तमाहातो न भिन्नार्थौ बृहत्यती।।४०४।।

देशेनाऽपि च कालेन सता वाऽप्यसताऽपि वा। भिन्नो मुख्यो भवेद् नार्थो ह्यधिकः सर्वगोऽपि वा।।४०५।।

प्रवृत्तिनिमित्तरूपद्वारभेदप्रदर्शनेन वारयन् समानार्थतां स्फुटयति—बृहत्यती इति। बृहतिः बृह वृद्धाविति धातुः (भ्वा. प.से), अतिः सातत्यार्थकोऽतधातुः (भ्वा.प.से.) च, एतौ परिच्छेदहीनत्वेन समानेऽर्थे पर्यवसन्नौ यतो बृहतेः वचो बृहतिघटितं ब्रह्मपदम् अधिकरूपमर्थमाह तथा अततेः वच आत्मपदं सन्ततम् आन्तरतया व्यापकम् आहेति।।४०२।। उभयोः पदयोरद्वितीयतायां पर्यवसानं दर्शयति—सर्वाधिक्यमिति त्रिभिः। हि यतः अश्वाद्गजो बृहन्नित्यादिप्रयोगेषु अश्वाद्यवधिवशात् परिच्छिन्नमहत्त्वबोधकत्वेऽपि सङ्कोचकं विना बृहतेः सर्वाधिक्यरूप एव मुख्योऽर्थः। सर्वाधिक्यं च त्रिविधपरिच्छेदहीनत्वात्मकत्वात् सर्वाभिन्नतारूपं; कुतश्चिदपि भेदे सति एष सर्वाभिन्नतारूपः अर्थः न सिद्ध्यति[1] न ज्ञानपथमारोहतीत्यर्थः।।४०३।। अतिरिति। सत्सु स्थूलेषु असत्सु सूक्ष्मेषु[2] अभिन्नं सन्तम् अभिन्नतया वर्तमानम् असङ्कुचितः अतिः अतिधातुघटितमात्मपदम् आह अत उभयोर्ब्रह्मात्मपदयोः समानार्थतेत्यर्थः।।४०४।। देशेनेति। अधिको ब्रह्मपदार्थः सर्वग आत्मपदार्थश्च देशादिभिर्भिन्नश्चेत् तर्हि मुख्यो न स्यात्। महाराजपदार्थो[3] मण्डलेश्वररूप इव गौण एव स्यादिति यावत्।।४०५।।

प्राप्ति के लिये स्वात्मा ही जानना जरूरी है, क्योंकि वह ब्रह्म किसी जन्तु के आत्मा से भिन्न नहीं है। (ब्रह्म व आत्मा एक के ही बोधक पद हैं, अतः एक का ज्ञान ही सर्वभावप्रद है। इस संदर्भ में भाष्यकारीय सिद्धांत स्मर्तव्य है कि ब्रह्म ही अपने में कल्पित अज्ञान से विद्यामें अधिकारी बनकर आत्मज्ञान से सर्वात्मा बना। कथानक की दृष्टि से इसे प्रथम जीव विराट् की सर्वरूपता प्राप्ति का प्रसंग समझ सकते हैं, लेकिन वास्तव में वह शास्त्रको अभिप्रेत नहीं। शास्त्रतात्पर्य ब्रह्मरूप आत्मा के ज्ञान से सर्वभाव अर्थात् अद्वैतरूपता की प्राप्ति बताने में है। जो स्वयं को अज्ञ समझता है वह स्वयं की वास्तविकता जानने से अद्वैत हो जाता है, इतना ही अभिप्रेत है।)।।३९८-४००।।

ब्रह्म-बोधक 'ब्रह्म' यह शब्द उस अर्थका प्रतिपादक है जिसमें देश-काल-वस्तुकृत तीनों तरह की सीमायें नहीं हैं। ऐसे ही आत्मबोधक 'आत्मा' यह शब्द सर्वान्तर रूप से उसी असीम वस्तु का प्रतिपादक है। अतः जैसे 'पाणि' व 'कर' शब्द अलग-अलग अर्थ नहीं कहते, ऐसे ही ब्रह्म और आत्मा शब्द परस्पर विलक्षण अर्थ नहीं बताते।।४०१।। पद-पदार्थों के जानकारों ने निश्चित किया है कि ब्रह्मशब्दघटक बृहधातु व आत्मशब्दघटक अतधातु जिस अर्थ को उपस्थित करते हैं वह वस्तु अभिन्न है; उसीके बारे में बृहधातु से निष्पन्न ब्रह्म शब्द कहता है कि वह अधिक है और अतधातु से निष्पन्न आत्मा-शब्द कहता है कि वह सतत अर्थात् आन्तर होने से व्यापक है। (एक शब्द व्यापकता और दूसरा प्रत्यक्ता बताता है, पर वस्तु वही है।)।।४०२।। बृहधातु का मुख्य अर्थ है सबसे अधिकता। इससे अन्य जो परिच्छिन्न महत्ता है वह लौकिक प्रयोगों में वाच्यों की योग्यतादि से समझनी पड़ती है, बृहशब्द का अर्थ वैसी सीमित महत्तायें

---

१. यद्यतो व्यापकं तत् ततोऽभिन्नं यथा घटाकाशाद्व्यापको मठाकाश इति सर्पाद्वा व्यापको रज्जुः। २. कार्यकारणे वा सदसती। ३. 'राजातु प्रणताशेषसामन्तः स्यादधीश्वर' इत्यमरः, तत्रैव पुनर्महच्छब्दः श्रैष्ठ्यवाची। मण्डलेश्वरस्त्वेकदेशाधिपः—'चतुर्योजन पर्यन्तमधिकारं नृपस्य च। यो राजा तच्छतगुणः स एव मण्डलेश्वरः।।' अतो नृपोन्य इत्यमरे नृपादन्यो नृपविशेषइत्यर्थः। अतो हलायुधीयाभिधानरत्नमालायाम् 'चक्रवर्ती सार्वभौमो, मध्यमो मण्डलेश्वर' इति। उत्तरत्र (श्लो. ४१२) रामकृष्णो महाराजपदं चक्रवर्तिपरं व्याख्यास्यतीत्यत्रापि तत्परत्वे 'चक्रवर्ती सार्वभौम' इत्यमरात् समुद्रान्तभूमेरीश्वरो महाराजा तदंशेशोन्य इति स्पष्टतरम्।

तयोरखण्डपरता

यथा नभसि भेदोऽयं तज्जैरभ्रादिकैः कृतः। तथा ब्रह्मणि भेदोऽपि तज्जैः सदसदात्मकैः।।४०६।।
गन्धर्वनगरेणादौ प्रासादैस्तत्र संस्थितैः। तत्र स्थितैरन्यगृहैः पदार्थैश्चात्र संस्थितैः।।४०७।।
यथा नभसि भेदोऽयं माययैव प्रजायते। एवमात्मनि भेदोऽपि माययैव प्रजायते।।४०८।।
आदौ पञ्चमहाभूतैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्च देहकैः। प्राणबुद्ध्यादिभिश्चापि चरस्थावरशब्दितैः।।४०९।।
आत्मनो ब्रह्मणो यस्माद् भेदः कोऽपि न विद्यते। ततः सर्वात्मताप्राप्तिः एकया ब्रह्मविद्यया।।४१०।।
मनुष्या यद्धि मन्यन्ते नानृतं तत् कदाचन। ब्रह्मज्ञानाद् यतो ब्रह्म सर्वमेतदभूत् पुरा।।४११।।

भेदस्य कल्पिततया वाचारम्भणमात्रविकारौपाधिकत्वेन गौणत्वात् च ब्रह्मात्मपदयोरखण्डपरतेति दर्शयति—यथेति चतुर्भिः। यथा तज्जैः नभसो जातैः मेघविद्युत्प्रभृतिभिः नभसि अखण्डे भेदः कृतः, तथा तज्जैः ब्रह्मविवर्तैः स्थूलसूक्ष्मैः ब्रह्मणि भेद इति।।४०६।। समष्टिव्यष्टिरूपोपाधिकृतकल्पितपरिच्छेदे दृष्टान्तमाह—गन्धर्वेति। यथा आदौ प्रथमं गन्धर्वनगरेण आकाशस्य भेदः, ततः तत्र गन्धर्वनगरान्तर्गतैः प्रासादैः भेदः, ततः तत्र प्रासादेषु अन्तःस्थितैः अन्यैर्गृहैरपवरकाख्यैः भेदः, ततः अत्र गृहेषु स्थितैः घटादिपदार्थैः भेदः मायामयः, एवमात्मनि पञ्चमहाभूतैः, तदन्तर्वर्तिस्थूलसूक्ष्मदेहैः, तदन्तर्वर्तिप्राणाद्यैश्च मायामयो भेद इति। कीदृशैः स्थूलैर्देहैः? चरस्थावरसंज्ञैः। इति त्रयाणामर्थः।।४०७-४०९।। फलितमाह—आत्मन इति द्वाभ्याम्। ब्रह्मात्मनोरैक्याद् ब्रह्मविद्यारूपेणैकेन साधनेन सर्वात्मताप्राप्तिः इति यद् मनुष्या मन्यन्ते तत् सत्यमेव, यतो ब्रह्म कारणादिसमष्टिव्यष्ट्युपाधिकं पूर्वं[1] पूर्वं ब्रह्मज्ञानात् सर्वात्मकम् अभूद् इति।।४१०-४११।।

नहीं। 'सबसे अधिकंता' का मतलब है तीनों परिच्छेदों से—सीमाओं से—रहितता अर्थात् सब से अभिन्नता। किसीसे भी भेद रहते यह सबसे अभिन्न रूप अर्थ समझा नहीं जा सकता।।४०३।। किसी संकोचक विशेषण के बिना अतधातुघटित आत्मशब्द उसे कहता है जो स्थूल व सूक्ष्म सभी से अभिन्न हुआ वर्तमान है, सभी देशों में व कालों में मौजूद है। इस प्रकार ब्रह्म व आत्मा शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु अभिन्न है।।४०४।। देश, काल, स्थूल या सूक्ष्म इनमें किसीसे भी भिन्न हो तो वह वस्तु न 'अधिक' समझी जा सकती हैं जो ब्रह्मशब्द का मुख्य अर्थ है और न सर्वगत समझी जा सकती है जो आत्मशब्दका मुख्य अर्थ है।।४०५।।

जैसे नभमें उपलभ्यमान भेद उसी से उत्पन्न मेघादि उपाधियों के कारण है वैसे ब्रह्म में भेद भी ब्रह्मविवर्तरूप स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचसे है, वास्तविक नहीं।।४०६।। उदाहरणार्थ जब गन्धर्वनगर दीखता है तब कहीं दूर दीखता है। एवं च पहले सारा नगर आकाश का परिच्छेदक बनता है; बाकी आकाश से 'उस' आकाश को भिन्न करता है 'जहाँ' वह नगर दृश्यमान है। फिर नगर के महल-मकानों की ओर ध्यान जाने पर वे भी आकाश के भेदक बनते हैं, नगराकाश से महलाकाश को पृथक् करते हैं। फिर महलों में स्थित कमरे आकाश में भेद लाते हैं व कमरों में पड़े पदार्थ और भी परिच्छिन्न आकाश निष्पन्न करते हैं। किन्तु ये सारे भेद मायामय ही हैं क्योंकि इनके निरूपक गंधर्वनगरादि ही मायिक हैं। इसी तरह आत्मामें भी मायासे ही भेद उत्पन्न होता है।।४०७-४०८।। पहले तो पंचमहाभूत आत्मा को सीमित करते हैं, फिर उन्हीं के एकदेशरूप स्थूल-सूक्ष्म शरीर उसमें भेद लाते हैं जिनमें कुछ शरीर सचर और कुछ अचर होते हैं। शरीरों में भी प्राण, बुद्धि आदि आत्मा में भेद (परिच्छेद) उत्पन्न करते हैं।।४०९।।

आत्मा व ब्रह्म शब्दों के अर्थ में क्योंकि कोई भी भेद नहीं है इसलिये मनुष्य यह जो मानते हैं कि एक मात्र ब्रह्मानुभवसे सर्वभाव हो जाता है वह गलत नहीं है, क्योंकि पहले भी ब्रह्मज्ञानसे ही ब्रह्म यह सब कुछ हुआ। (जानने

१. 'पुरा' इति प्रतीकेन भाव्यम्।

आज्ञानिको भेदः

महाराजो यथा सुप्तो वेत्ति नात्मानमीश्वरम्। एवं मायावृतं ब्रह्म वेत्ति नात्मानमञ्जसा।।४१२।।

यथा विशुद्ध आकाशे निर्भेदे भेदकारणम्। धूमाभ्रपवनादि स्याद् एवं मायाऽन्तरात्मनि।।४१३।।

यथा तमो निशाकाले प्रकाशं निरुणद्धि हि। एवं संसारकालेऽपि माया स्वात्मप्रकाशकम्।।४१४।।

अज्ञानहानिरनन्ता

वाहीकस्य यथाऽज्ञातं परसेनादि वर्तते। तद्दर्शने निवृत्तं चेत् पुनर्नैव प्रजायते।।४१५।।

एवं ब्रह्मण्यनाद्यस्मिन्नज्ञानं वर्तते यदा। ब्रह्मविज्ञानतो नष्टं पुनर्नैव प्रजायते ।।४१६।।

पूर्णस्यापि स्वरूपविस्मृतौ दृष्टान्तमाह—महाराज इति। यथा महाराजः चक्रवर्ती सुप्तः सन् आत्मानमीश्वरम् महाराजं न वेत्ति तथा ब्रह्म अपि मायावशाद् आत्मानम् इति; समष्ट्युपाधिनिष्ठं विशेषं तु 'कारणोपाधिसंस्थम्' (४.४२५) इत्यादिना वक्ष्यतीति बोध्यम्।।४१२।। आवरिका मायैव विक्षेपशक्त्या सविलासा सती भेदकारणमपि भवतीति [1]सदृष्टान्तमाह—यथा विशुद्ध इति।।४१३।। उक्ताज्ञानस्य जड आवरणवैयर्थ्यात् चिन्मात्रविषयतां सदृष्टान्तमाह—यथा तम इति। प्रकाशं चाक्षुषादिरूपम्[2]।।४१४।।

उक्ताऽज्ञानस्यानादितां दृष्टान्तेन स्फुटयति—वाहीकस्येति द्वाभ्याम्। यथा वाहीकस्य अरण्यवेष्टितग्रामवासिनः कस्यचित् शत्रुराजसेना-तत्कर्तृकं लुण्ठनादिकं च कीदृशं भवतीत्येवं परसेनादिकम् अज्ञातं वर्तते। कदाचित् तद्दर्शने सति निवृत्तम् अज्ञानं पुनर्न जायत इति।।४१५।। एवं ब्रह्मणीति। एवमस्मिन्[3] आत्मरूपे ब्रह्मणि अनादि उत्पत्तिहीनमेव अज्ञानं वर्तते तद् यदा ब्रह्मज्ञानाद् नष्टं तदारभ्य पुनर्न जायत इति।।४१६।।

व सर्व होने वाला ब्रह्म कारणादि-समष्टि-उपाधि वाला विराट् या व्यष्टि उपाधि वाले वामदेवादि समझ लेने चाहियें।)।।४१०-११।।

जैसे सोया हुआ महाराजा 'मैं राजा हूँ' ऐसा नहीं समझता वैसे माया से आवृत ब्रह्म अपने को ठीक-ठीक नहीं समझता कि 'मैं ही व्यापक प्रत्यक् हूँ'।।४१२।। निर्मल और भेदरहित आकाश में धुआँ, बादल पवन आदि के कारण भेद की प्रतीति हो जाती है। इसी तरह माया अंतरात्मा में भेद की प्रतीति करा देती है।।४१३।। जैसे रात में अंधेरा प्रकाशका निरोधक हो जाता है ऐसे ही संसारकाल में माया निजात्मरूप ज्ञानप्रकाश का निरोध कर लेती है। (अज्ञान अनात्मा पर आवरण डाले तो व्यर्थ है क्योंकि वह तो वैसे भी कुछ जान नहीं सकता। अतः अज्ञान आत्मा को ही आवृत करता है, जिससे उसे स्वयं की वास्तविकता का भान नहीं रहता। समग्र भेद भी विक्षेपशक्ति से अज्ञान ही उपस्थित कर देता है। अंधेरा प्रकाश का निरोधक सूर्यग्रहण में स्पष्ट है जब चन्द्रछाया रूप अंधेरा प्रकाशरूप सूर्य को ढका जैसा दिखा देता है। रात में भी रोशनी रहती है जिससे बिल्ली आदि देख लेते हैं लेकिन हमारे लिये उसे अंधेरा ही ढाँकता है यह दृष्टान्तका भाव है। ।।४१४।।

---

१. पूर्वोदीरितोदाहरणे सुषुप्तिं हित्वा स्वप्नमादायापि बोधनसंभवः।

२. आदिना भान्वादिग्रहस्तेषामपि राह्वादितमोभिर्निरोधात्। अत्र चाक्षुषेति न चक्षुरिन्द्रियं तैजसमुच्यते, तन्निरोधे तमसोप्यदर्शनापत्तेः, स्थूलेन च सूक्ष्मस्य निरोधायोगत् किन्तु चक्षुर्विषयतायोग्यमेवोष्णतादिनावसेयमुक्तमिति द्रष्टव्यम्।

३. वाहीकस्थानीयं ब्रह्म तच्छत्रुस्थानीयमज्ञानं तस्य च सेनास्थानीयं रागद्वेषादिकं तत्कर्तृकनिरवधिदुःखं चाजानन् भृशं क्लिश्नाति। रागादेरहितकारितामविदित्वैव तेषु विश्वसिति तानि पुनः 'आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि तरुण्य' इति न्यायादग्रे प्रियतया भासन्ते शनैश्च श्वभ्रे पातयन्तीति नः प्रत्यक्षम्।

अज्ञानं नाभावः

अज्ञानं न भवेत् विप्रा ज्ञानाभावः कथञ्चन। यतो ज्ञानं प्रकाशः स्यादात्मातो नापरं जडम्।।४१७।

जडे प्रकाशता येयं सा प्रकाशकृता भवेत्। दग्धृत्वमायसे पिण्डे तथा वह्निकृतं भवेत्।।४१८।।

प्रकाशो नात्मनो भिन्नो भेदे जाड्यं द्वयोरपि। जडयोर्नात्मता दृष्टा यथात्र घटशुक्लयोः।।४१९।।

न भिन्नं हि सुखं ताभ्यां भेदे त्रिष्वप्यनात्मता। यथान्यदेहगौरत्वदीपानां हि प्रतीतितः।।४२०।।

उक्ताज्ञानस्याभावरूपतां वारयति—अज्ञानमिति षड्भिः। हे विप्राः! अज्ञानं ज्ञानाभावरूपं न भवति यत आत्मा आत्मरूपः प्रकाश एव ज्ञानम्, अत आत्मनः अपरं[1] जडं बुद्ध्यादि तु न ज्ञानं जडत्वादिति। आत्मनोऽभावस्तु साधकाभावादयुक्त इति भावः।।४१७।। कथं तर्हि अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानव्यवहार इति चेद्? उपचारादित्याह—जड इति। प्रकाशकृता चित्तादात्म्याध्यासकृतेत्यर्थः। दृटान्तः स्फुटः।।४१८।। ननु मास्तु जडस्य प्रकाशता तथाऽपि प्रकाशरूपात्मनो धर्मः प्रकाशान्तरमस्तु, तदभावश्चाऽज्ञानम्?—इति शङ्कां जडत्वादिप्रसक्त्या वारयति—प्रकाश इति। आत्मभिन्नप्रकाशाभ्युपगमे 'यावद्विकारन्तु विभागः' (ब्र. सू. २.३.७) इति न्यायेन विकारत्वाद् द्वयोरपि जडत्वं प्रसज्येतेति[2]; इष्टापत्तौ तु घटतद्गतशुक्लरूपयोरिव जडत्वादनात्मत्वप्रसक्तिरित्यर्थः।।४१९।। आत्मन आनन्दरूपतां स्फुटयितुमुक्तन्यायं सुखेऽप्यतिदिशति—न भिन्नमिति। भेदे स्वीकृते हि त्रिषु आत्मप्रकाशसुखपदार्थेषु अपि अनात्मता स्याद्, न केवलमन्यतरस्यैवेत्यर्थः। त्रयाणां भेदशालिनामनात्मत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा परकीयदेहस्य तद्गतगौरत्वस्य तत्प्रकाशकदीपस्य च एषां भिन्नानामनात्मता प्रतीत्याऽनुभवेन सिद्धा तद्वदिति।।४२०।। किञ्च प्रकाशरूप आत्मनि प्रकाशाभ्युपगमो जडभानाय, आत्मभानाय वा? नाद्यः, आत्मप्रकाशेनैव निर्वाहात्। अन्त्ये; अनवस्थापादिका जडत्वापत्तिरित्याह—अन्यत इति। प्रकाशेऽन्येन बोध्यमाने स्वीकृते सति अप्रकाशता जडतैव स्यात्, चाक्षुषवृत्त्यवच्छिन्नचिद्भास्यदीपवदिति। तथा च प्रकाशस्य प्रकाशान्तरभास्यत्वनियमेऽनवस्थापत्तिरिति भावः।।४२१।। फलितमाह — तत इति। तत उक्तयुक्तेः अयम् आनन्दरूप आत्मा स्वयम्प्रकाशः प्रकाशान्तरानपेक्षप्रकाशः

जंगली गाँव का वासी यह जानता ही नहीं कि दुश्मन राजा, उनकी सेना, युद्ध, सेना की लूटपाट आदि हुआ करते हैं। लेकिन अगर कभी उसे यह सब दीख जाये तो उसका वह अज्ञान समाप्त हो जाता है और पुनः पैदा नहीं होता। ऐसे ही इस आत्मरूप ब्रह्म को अपने बारे में अनादि अज्ञान है। जब ब्रह्मसाक्षात्कार से वह मिट जाता है तब फिर यह संभव नहीं कि वह पुनः होवे।।४१५-१६।।

हे ब्राह्मणो! अज्ञानको ज्ञानका अभाव समझना किसी तरह संभव नहीं क्योंकि आत्मरूप प्रकाश ही ज्ञान है न कि उससे भिन्न वृत्त्यादि जड वस्तु जो अभावप्रतियोगी बन सके। आत्माका तो अभाव हो नहीं सकता क्योंकि तब पता कैसे चलेगा कि आत्माऽभाव है!।।४१७।। जैसे लोहपिण्डमें जलाने की सामर्थ्य आगसे आती है, वैसे ही अन्तःकरण की वृत्तिरूप जड पदार्थ में जो यह व्यवह्रियमाण ज्ञानता है वह चैतन्य पर तादात्म्येन अध्यास के कारण है (या वृत्ति से चैतन्य के तादात्म्यरूप संसर्ग के अध्यास के कारण है)।।४१८।। ज्ञानको आत्मा से अलग नहीं मान सकते क्योंकि

---

१. ननु ज्ञानाऽभावस्याऽप्रसिद्धत्वे ज्ञानभिन्नं जडमिति कुतः? उच्यते; स्वरूपज्ञानाभावाऽप्रसिद्धावपि तत्रैव तत्कल्पितत्वस्य सम्भवान्नासौ दोषः। भास्वरेऽपि भानौ कौशिका अन्धतामिस्रमुपलभमानाः प्रसिद्धाः। तदेवं बुद्धेरज्ञानत्वात्तदभावो नाऽज्ञानं, स्वाऽभावस्य स्वत्वाऽयोगात्; नाप्यात्माभावोऽज्ञानम्, अज्ञानस्याऽबोध्यतयाऽसिद्धतापत्तेः।

२. ज्ञानं यद्यात्मरूपं न स्यात्तर्हि ज्ञानमेव न स्यादिति ज्ञानतान्यथानुपपत्तिर्ज्ञानस्यात्मत्वे तर्कः, प्रमाणं तु शास्त्रमित्यर्थः। जाड्यस्य भेदव्यापकता घटरूपादौ प्रमीयत इति ज्ञाने भेदाभ्युपगमोऽस्य जडतां साधयेदित्यर्थः।

अन्यतो बोध्यमाने हि स्यात् प्रकाशेऽप्रकाशता। यथा दीपेऽत्र नेत्रेण प्रकाश्ये जडता स्फुटा।४२१।

ततः स्वयम्प्रकाशोऽयमानन्दात्मा सदैव सन्। असत्येवात्मता न स्याद् नरशृङ्गे यथा न सा।।४२२।

ब्रह्मविद्यानिरुक्तिः

स्वयम्प्रकाशस्य सत आनन्दात्मस्वरूपिणः। भेदशून्यस्य या विद्या ब्रह्मविद्येति सोच्यते।।४२३।।

ब्रह्मावृतम्

सन्तं स्वयम्प्रकाशं तमानन्दात्मानमद्वयम्। अनादिमायया ब्रह्मरूपेण ब्रह्म न ह्यवेत्।।४२४।।

सर्वभासकत्वाच्च सदैव सन् सद्रूपः। तस्य चाऽभावोऽसाक्षिको नाङ्गीकर्तुं शक्यते येन तदभावोऽज्ञानं स्यादिति भावः। नन्वात्मा शून्यरूपोऽस्तु तद्धर्मश्च प्रकाशः? इत्याशङ्क्यां व्याघातेन वारयति—असतीति। असति शून्ये नरशृङ्गवद् आत्मता न सम्भवति, अधिष्ठानत्वाद्यनुपपत्तेः, सर्वत्राऽसदवगाहिप्रतीत्यापत्तेश्चेति।।४२२।।

एवमज्ञानस्याभावरूपताऽसम्भवाद् भावरूपत्वं प्रदर्श्य तन्निवृत्त्या सफलां ब्रह्मविद्यां निरूपयति स्वयम्प्रकाशस्येति। स्वयम्प्रकाशस्य सद्रूपस्य आनन्दाभिन्नात्मना स्वरूपवतः, अत एव भेदशून्यस्य वस्तुनो विद्या तदाकारा चित्संवलिता[1] वृत्तिः ब्रह्मविद्येति उक्ता।।४२३।।

एतां विद्यां विनाऽऽत्मभूतमपि ब्रह्म संसाराद् न रक्षति, 'स एनमविदितो न भुनक्ति' (बृ. १.४.१५) इति श्रुतेरित्याह—सन्तमिति। सच्चिदानन्दाद्वयरूपमेनमात्मानं माययावृतं ब्रह्म कर्तृ हि यतो ब्रह्मरूपेण आविर्भूय[2] न अवेद् न रक्षेत्। तस्माद् मायानिवर्तकब्रह्मविद्यार्थं यत्नो विधेय इति भावः।।४२४।।

अलगाव वाली हर चीज़ विकार अर्थात् जड होती है और ज्ञान व आत्मा में आपसी अलगाव रहने पर दोनों जड हो जायेंगे! जड को आत्मा नहीं कह सकते जैसे घट व तद्गत शुक्ल रूप जड हैं तो आत्मा नहीं। (एवं च आत्मा से सच्चे भेद वाला उसका गुणविशेष ज्ञान है, यह न्यायवैशेषिकों की मान्यता निरस्त हुई। सुख के बारे में भी यही बात है, यह अगले श्लोक में कह रहे हैं।)।।४१९।। आत्मा और ज्ञान से भिन्न सुख भी कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि भेद होने पर पूर्वोक्त न्याय से तीनों ही अनात्मा हो जायेंगे; ऐसा कोई तरीका नहीं कि भेद का एक प्रतियोगी अनात्मा हो और दूसरा आत्मा बना रहे! जैसे परकीय शरीर, उसका गौर वर्ण और उसे प्रकाशित करने वाला दीपक तीनों हमें अनात्मा—अप्रत्यक्, गैर-मैं—प्रतीत होते हैं क्योंकि परस्पर भिन्न हैं, ऐसे ही परस्पर भेद होने पर आत्मा, ज्ञान व सुख तीनों अनात्मा सिद्ध होंगे।।४२०।। जैसे यह स्पष्ट है कि नेत्र से प्रकाश्य दीपक जड होता है वैसे ही प्रकाशरूप आत्मा को भी अप्रकाश मानना पड़ेगा अगर वह किसी अन्य द्वारा जाना जाये। (प्रकाशवान् मानने पर भेदप्रयुक्त अनात्मता के भय से आत्मा प्रकाशरूप स्वीकार्य है। उसमें पुनः धर्मभूत प्रकाश अनात्मभानार्थ मानना व्यर्थ है क्योंकि आत्मरूप प्रकाश से ही अनात्मभान का निर्वाह संभव है। आत्मभान के लिये गुणरूप प्रकाश मानने पर पुनः उस गुण के प्रकाशार्थ अन्यकी अपेक्षा रहने से अनवस्था होगी। इसलिये धर्मरूप ज्ञान अमान्य है।)।।४२१।। इसलिये स्वीकार्य है कि आनन्दरूप आत्मा स्वयंप्रकाश है और सबका भासक होने से हमेशा सद्रूप है। ज्ञान आत्मा है तो हमेशा सद्रूप ही हो सकता है, तब उसका अभाव असंभव है अतः अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं। आत्मा शून्य अर्थात् असत् हो जिसका धर्म ज्ञान हो यह संभव नहीं क्योंकि असत् में आत्मता वैसे ही नहीं हो सकती जैसे नृशृंग में। (आत्मा सद्बुद्धि-गोचर होता है जबकि असत् कभी वैसा नहीं होता।)।।४२२।।

स्वयम्प्रकाश होते हुए जिसका स्वरूप आनंदसे अभिन्न आत्मा है उस भेदरहित वस्तु की जो विद्या है वह ब्रह्मविद्या कहलाती है। (अद्वैत-ब्रह्माकार बोधेद्ध बुद्धि ब्रह्मविद्या का वाच्यार्थ है।)।।४२३।।

---

१. व्यर्थोऽपि प्रतिभास इतरवृत्तिवदन्त्यवृत्तावस्तीति निगदितम्। अथवा 'तदाकाराचित्संवलिता' इति एकं पदम्। अचिन्मनः। तदाकारं यन्मनस्तत्संवलिता तन्मयीत्यर्थः। यद्वा चित्संवलिता चिद्विषयेत्यर्थः। २. आविर्भावोऽनावृतत्वम्।

तत् स्वयमबुध्यत

कारणोपाधिसंस्थं तत् तथा मृत्युशरीरगम्। वेदान्तार्थपरिज्ञानात् स्वयमेव व्यबुद्ध्यत।।४२५।।
यथा शयानो मनुजो जलवृक्षविवर्जिते। चतुर्विधप्राणिजातै रहिते वायुनाऽपि च।।४२६।।
स्वप्नान् नानाविधान् पश्यन्नज्ञानेन समावृतः। सर्वविज्ञानशून्यो वा स्वयमेव विबुद्ध्यते।।४२७।
तथोपाधिद्वयस्थोऽपि ब्रह्मात्मा पुरुषः परः। आत्मनैवात्मविज्ञानाद् आत्मानं प्रतिपद्यते।।४२८।।
शयाने यादृशं कर्म तादृशं परमेश्वरे। उपाधिद्वयसंस्थेऽपि विद्यते नात्र संशयः।।४२९।।

समष्ट्युपाधिकनिष्ठं विशेषमाह—कारणोपाधीति। तद् ब्रह्म कारणाज्ञानसमष्ट्युपाधिकमीश्वरसंज्ञं सत् तथा मृत्युसंज्ञहिरण्यगर्भशरीरगतं सत् स्वयमेव उपदेशं विना वेदान्तार्थानुसन्धानाद् व्यबुद्ध्यत उक्तां विद्यां प्राप्तमित्यर्थः। तत्रापि कारणाज्ञानस्य संक्षेपशारीरकोक्तरीत्या[1] 'अहमज्ञ' इत्यहङ्काराारोहमन्तरेण आवरणाख्यव्यामोह-कारणत्वाभावाद् ईश्वरे चाहङ्काराभावात् सर्वज्ञतया निःश्वसिततुल्यवेदानुसन्धानं सदैव। हिरण्यगर्भस्य तु कार्याभिमानात् किञ्चिदावरणमनुभूय स्मृतवेदार्थानुसन्धानमिति विशेषो बोध्यः।।४२५।। स्वयं विबोधे दृष्टान्तमाह—यथेति द्वाभ्याम्। यथा भयव्यथाशब्दनोदनाद्यारा जागरणनिमित्तैः जलादिभी रहिते उत्कृष्टदेशे सुप्तो मनुष्यः स्वप्नान् पश्यन्, गाढं सुप्तो वा, परेणानुत्थापितः स्वयं विबुद्ध्यते जागरणं लभत इति द्वयोरर्थः।।४२६-४२७।। दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति। तथा कारणसमष्टिसूक्ष्मसमष्टिरूपोपाधिद्वयस्थोऽपि ब्रह्मात्मपदार्थः परः पुरुष आत्मनैव स्वयमेव आत्मविज्ञानाद् आत्मविद्यालाभाद् आत्मानं प्रतिपद्यते प्राप्नोति।।४२८।। ननूक्तविधया सर्वज्ञस्यापि उपाधिद्वयस्थस्य परमेश्वरस्य कथं सृष्ट्यादिकारणत्वं व्यापाराभावाद्? इत्याशङ्कां, सोपाधिकेऽस्त्येव कर्मेति प्रदर्शयन् वारयति—शयान इति। शयाने स्वप्नान् पश्यति, गाढं सुप्ते वा व्यष्ट्युपाधिके पुंसि[2] पुरुषे यादृशं कर्म स्वप्नपदार्थसृष्टिबीजभूताज्ञानानुभवः सन्निधिमात्रेण प्राणधारणमित्यादिरूपं[3] वर्तते तथा परमेश्वरेऽपि समष्ट्युपाधिके बोद्ध्यमित्यर्थः।।४२९।। उपाधिविमुक्ते तु निर्गुणत्वान्न कुत्रचिदपि[4] कर्मेत्याह—सुषुप्त इति।

वह भेदरहित आनन्दस्वरूप स्वप्रकाश विद्यमान होने पर भी अनादि माया के कारण ब्रह्मने उसे ब्रह्मरूप से नहीं जाना अर्थात् माया से ढका ब्रह्म अपने व्यापक रूप से निरावृत हुआ अपनी रक्षा नहीं कर पाया, डर आदि का आक्रमण झेल नहीं पाया।।४२४।।

कारणनामक उपाधि में स्थित और मृत्युनामक हिरण्यगर्भ के शरीर में स्थित ब्रह्म उपदेशके बिना खुद ही वेदान्तों के अर्थ का अनुसंधान कर ब्रह्मविद्या पा गया। (व्यष्टिउपाधि से परिच्छिन्न होने पर ब्रह्म यद्यपि उपदेशसाकांक्ष होता है तथापि समष्टि-उपाधि वाले ब्रह्मको यह अपेक्षा नहीं। कारणोपाधि ईश्वर में तो हमेशा यह अनुसंधान सिद्ध है जबकि कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ को आवरण का कुछ अनुभव होकर फिर पूर्वकल्प में समझे वेदार्थ की स्मृति होने पर अशंक साक्षात्कार होता है।)।।४२५।। जल से, वृक्षादि चारों प्रकार के प्राणियों से, वायु से व अन्य भी जागरण-निमित्तों से रहित स्थान पर सोया मनुष्य विविध स्वप्न देखता है या अज्ञान में डूबकर कुछ भी नहीं जानता लेकिन फिर खुद-ब-खुद उठ भी जाता है।।४२६-४२७।। इसी प्रकार कारणोपाधि और समष्टिसूक्ष्मोपाधि वाला ब्रह्मरूप परम पुरुष स्वयं ही आत्मज्ञान से आत्मा पा लेता है।।४२८।। जैसे सोये पुरुष की चेष्टा है वैसे ही उक्त दोनों उपाधियों वाले परमेश्वर की चेष्टा

---

१. 'अज्ञोऽहमित्यवगतिर्न परस्य पुंसः सर्वज्ञतावगतिरात्मनि नास्य पुंसः। अत्रापि कारणमहङ्कृतिवर्जितत्वं तद्वद्धता च परमेऽल्पतरे च पुंसि। ।।२.१७८।। इत्यादौ सर्वज्ञैः प्रत्यपादि।
२. पदमिदमुत्तरस्मिन् ग्रन्थव्याख्याने प्रतीकं पठनीयम्। इह प्रमादतः पातः।
३. एतच्च समष्ट्युपाधौ हिरण्यगर्भाभिप्रायं बोध्यम्।
४. समष्ट्युपलक्षिते व्यष्ट्युपलक्षिते च।

सुषुप्ते वा यथा स्वप्ने निर्गुणे पुंसि कर्म न। कारणे वाऽथ वा सूत्रे निर्गुणे तद् न विद्यते।।४३०।।

अन्तःकरणभोगार्थं यद्वदत्र प्रबुद्ध्यते। तथा जीवात्मभोगार्थं देव एष प्रबुद्ध्यते।।४३१।।

प्रबुद्धेशस्य प्रवृत्तिः

प्रबुद्ध्य गुरवो यद्वत् प्रवर्तन्ते सुखाय नः। उपाधिद्वयसंस्थः सन्नीश्वरोपि तथैव सः।।४३२।।

आश्रमान् हि यथा दद्युर्नानाक्लेशकरानपि। सुखायैव तथैषोऽपि दद्याद् देहेन्द्रियादिकम्।।४३३।।

गुरूक्तं पालयन् शिष्यो यथोदर्के सुखं व्रजेत्। ईश्वरोक्तं तथा देही कुर्वन् सुखमवाप्नुयात्।।४३४।।

नित्यमुक्तोऽपि सृजति

एक एव शयानः सन् ब्रह्मात्मानं विदन्नपि। पुरुषः सृजते स्वप्ने विश्वमेतच्चराचरम्।।४३५।।

यथा स्वप्नसुषुप्त्योरुपाधिविविक्ते निर्गुणे पुरुषे न किंचिदपि कर्म तथा कारणोपाधिके सूक्ष्मसमष्ट्युपाधिके सूत्रसंज्ञे वा तद्विविक्ते निर्गुणे तत् कर्म न इति।।४३०।। उक्तब्रह्मविद्यायाः सर्वज्ञताप्रयोजिकाया धारणमपीश्वरस्य नित्यमुक्तस्य परार्थमेवेत्याह[1]—अन्तरिति। यद्वदत्र व्यष्टिसंघातेऽभोक्तुः पुरुषस्य प्रबोधो जागरणमन्तः-करणनिष्ठस्थूलभोगार्थं तथा देवस्य परमेश्वरस्य प्रबोधो जीवानां भोगार्थ इत्यर्थः।।४३१।।

ईश्वरस्य सृष्ट्यादिप्रवृत्तिः परार्थैवेति सदृष्टान्तमाह—प्रबुद्ध्येति। यथा लोके गुरवः प्रबुद्ध्य प्रकृष्टं बोधं[2] लब्ध्वा स्वार्थनिरपेक्षाः सन्तो नः शिष्याणां सुखाय एव प्रवर्तन्ते तथा ईश्वरोऽपि जीवानां भोगायेति।।४३२।। यद्येवं कथं तर्हि देहकारागृहेषु जीवान् पातयति? इति शङ्कामपि दृष्टान्तेन वारयति—आश्रमानिति। यथा दृष्टनानाक्लेशशालिनोऽपि आश्रमान् ब्रह्मचर्यादिधर्मान् गुरवः शिष्येभ्यो दिशन्ति स चोपदेशः शिष्याणां शुद्धि-द्वारा सुखायैव भवति तथा ईश्वरः अपि अवश्यभोक्तव्यकर्मणां भोगायापवर्गाय च जीवेभ्यो देहादिकं दिशतीत्यर्थः।।४३३।। अभ्युदयनिःश्रेयससाधनं च वेदादिरूपेणोपदिशति यदनुतिष्ठन्तो जीवाः सुखिनः स्युरित्याह—गुरूक्तमिति। यथा गुरूक्तं पालयन् यथावदनुतिष्ठन् शिष्य उदर्क उत्तरफलकाले सुखी भवेत्। तथेश्वरोक्तम् अपीति।।४३४।।

है, इसमें क्या संदेह! (सोये व्यक्ति के पास कोई करणादि नहीं फिर भी जगनारूप क्रिया कर लेता है। ऐसे ही परमेश्वर बिना उपाय के स्वयं तत्त्वज्ञान पा लेते हैं।)।।४२९।। सपना लेता या सोया पुरुष यदि उपाधि से पृथक् देखा जाये तो निर्गुण होने से उसमें कोई कर्म नहीं। ऐसे ही सूत्रात्मा हो चाहे कारणब्रह्म, उपाधिसे अलग जो उनका स्वरूप है वह निर्गुण है, उसमें कोई कर्म नहीं। (तत्त्वज्ञान की प्राप्ति भी उपाधिसंपर्क से ही है, परमार्थतः तो अज्ञान ही नहीं कि उसकी निवृत्ति संभव हो।)।४३०।। जैसे व्यष्टिसंघात में अंतःकरणविशिष्ट होकर भोग करने के लिये प्रबोध—सोये से उठना—होता है, ऐसे ही जीवों के भोग के लिये इस समष्टि देव का प्रबोध—अविद्यानिवारण—होता है।।४३१।।

जगने पर जैसे गुरुजन हम लोगों के सुख के लिये नाना चेष्टायें करते हैं, ऐसे ही कारण व समष्टि कार्य दोनों उपाधियों में स्थित ईश्वर ने जीवों के उपभोगार्थ सृष्टिरचनादि चेष्टा की। ।।४३२।।

यद्यपि हमें पालन करने में अनेक क्लेशों से युक्त लगते हैं तथापि हमारे हितकारी होने से ही गुरुजन हमें ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में दीक्षित करते हैं। इसी तरह यह महादेव हमारे सुख के लिये ही हमें शरीर-इंद्रिय आदि प्रदान करते हैं। पाप दुःखभोग से समाप्त हो जाते हैं, यह भी सुख ही है क्योंकि उतना दुःखहेतु क्षीण हुआ।।४३३।। गुरुजनों के निर्देशों

१. परार्थमिति—परः परमेश्वरस्तदर्थमिति तु परमार्थतः। दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोरेवमेव संगतिः। औपाधिकं वादाय भेदं जीव एव परः।
२. तत्त्वनिष्ठा लोकदृष्टा इति दृष्टान्ती भूय परमेश्वरप्रवृत्तिमुपपादयन्तीति भावः।

माययैव यथा तद्वदीश्वरोप्येक एव हि। जानन्नात्मानमखिलं सृजते भूतभौतिकम्।।४३६।।

अलुप्तब्रह्मबोधः सन्नाप्तकामो यथा पुमान्। लीलयैव च संवीक्ष्य सृजते शयनेऽथ तत्।।४३७।।

एवमेष जगत्स्रष्टा प्राप्तकामो विदन्नपि। ईक्षित्वा सकलं विश्वं सृजते भूतभौतिकम्।।४३८।।

यथा स्वप्नदशायां स विद्वान् स्वप्नं विलोकयन्। आत्मानं च तथा स्वप्नं न भेदेन प्रपश्यति।४३९।

अहं हि सकलं विश्वं पश्यामि शयनं गतः। मदात्मकमिति ज्ञाने न च स्वप्नो विलीयते[1]।।४४०।।

ननु द्वैतभानविरोधिन्या विद्यया नित्यमुक्त ईश्वरः कथं सृष्ट्यादि करोतीति शङ्कामपि दृष्टान्तेन परिहरति—एक एवेति द्वाभ्याम्। यथा एक एव शयानो ब्रह्मविदपि स्वप्नभोगप्रदप्रारब्धकर्मवशात् स्वप्ने विश्वं सृजते तथा ईश्वरोऽपि। एतावांस्तु विशेषः—ब्रह्मविदः सृष्टिप्रवृत्तौ स्वयंकृतपूर्वाणि कर्माणि प्रयोजकानि[2], ईश्वरस्य तु जीवसम्बन्धीन्येव। इति द्वयोरर्थः।।४३५-४३६।। उक्तमेव स्फुटयति—अलुप्तेति। यथा ब्रह्मविद्याभ्यासेन अलुप्तब्रह्मबोधो ब्रह्मवित्त्वादेव निष्कामश्च विद्वान् पुरुषः शयने स्वप्नरूपे संवीक्ष्य सम्यगालोच्य[3] लीलामात्रेण अनायासेन रथादीन् सृजते; एवं परमेश्वरोऽपि नित्यमुक्तः प्राण्यदृष्टवशाद् ईक्षणपूर्वकं सृजतीति द्वयोरर्थः।।४३७-४३८।। ननु शुक्तितत्त्वज्ञानेन रजतमिव समष्ट्युपाधेरीश्वरस्य ब्रह्मात्मविज्ञानेन विश्वं कुतो न निवर्तते? इति शङ्काऽपि ब्रह्मवित्स्वप्नदृष्टान्तेन परिहृतेत्याह—यथा स्वप्नेति त्रिभिः। यथा सः अलुप्तप्रबोधो विद्वान् स्वप्नं विलोकयन् सन् आत्मानं तथा स्वप्नं स्वप्नदृष्टपदार्थजातं च भेदेन न पश्यति,[4] तस्य च इति ज्ञानेऽपि स्वप्नो न लीयते; 'इति' किम्? अहं शयनं गतः सन् सकलं विश्वं मदात्मकम अहमेवात्मस्वरूपं यस्य एतादृशं पश्यामि। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४४०।।

का पालन करे तो शिष्य आखिर में सुख पाता है, ऐसे ही देही ईश्वर के उपदेशानुसार चले तो सुख ही पाता है। (ईश्वराज्ञा अर्थात् वेद व तदनुकूल शास्त्र। किं च विविदिषन्तिश्रुति का अनुसरण करने वाला निष्कामकर्म-विधायक गीताप्रसंग भी समझना चाहिये।)।।४३४।।

ब्रह्मको आत्मा समझ चुका विद्वान् पुरुष अकेले ही सोते हुए स्वप्न में ऐसा ही चराचर संसार रच लेता है जिसमें साधन माया ही संभव है। ऐसे ही ईश्वर भी आत्मवेत्ता और अकेला है फिर भी भूत व तत्कार्य सभी कुछ माया से ही उत्पन्न कर लेता है।।४३५-३६।। जिसकी अन्तर्दृष्टि से ब्रह्मबोध ओझल नहीं होता ऐसा पूर्णकाम पुरुष जैसा विचार करके सोता है सपने में खेल-खेल में वही उत्पन्न कर लेता है। इसी प्रकार विश्वोत्पादक की कोई अपूर्ण कामना नहीं और कभी उसे आवरण ढाँकता नहीं, फिर भी विचारपूर्वक वह भूत-तत्कार्यरूप निखिल जगत् रच लेता है।।४३७-३८।। सपने में स्वप्न प्रपंच देखते हुए भी आत्मज्ञानी स्वयं को तथा उन पदार्थों को भेदबुद्धिसे नहीं देखता बल्कि उसे ज्ञान रहता है कि 'सोया हुआ मैं सकल विश्व देख रहा हूँ जिस विश्वका आत्मस्वरूप मैं ही हूँ', लेकिन उस अवबोध के रहते भी सपना दीखना बंद नहीं हो जाता। इसी तरह महेश्वर संसारनिर्वाहकरूपसे स्थित हैं फिर भी आनंदरूप अद्वय आत्मा का भान रखते हैं, स्थूल- सूक्ष्म दृश्य संसार को अपने से भिन्न नहीं समझते। 'यह सब मुझसे ही सात्मक है' ऐसा ईश्वरका अवबोध रहने पर भी यह प्रपंच विलीन नहीं हो जाता।।४३९-४४१।।

---

१. बाधस्याऽप्रतीत्यनापादकत्वस्य प्रतिबिम्बादौ दृष्टत्वात्। २. आश्रमस्वामिनस्तु शिष्यादिपरप्रारब्धमेव विद्वच्छरीरादिनिर्वाहकमवतारदेहादिवदिति समामनन्ति। तत्र 'मम स्वप्न एवमनुभवादीश्वरेप्येवमवगच्छन्तु' इत्युपदेशोपयोगाय तदीयस्वप्नोऽपि परप्रारब्धहेतुक इति ज्ञेयम्। तथा ज्ञेशयोरिह विवक्षितो विशेषो नित्यानित्यमुक्तत्वाभ्यामिति दिक्। ३. जागरे सम्यग्दृष्टस्यैव संस्कारद्वारा स्वाप्नवस्तुहेतुतया विद्वानपि जाग्रति यत्सम्यगालोचितवान् तदेव स्वप्ने पश्यन् तत्स्रष्टोच्यत इति द्रष्टव्यम्। ईशस्य तु आलोचना ईक्षत्यधिकरणादौ कृतसोपपत्तिविस्तरा। ४. ब्रह्मवित्त्वसंस्कारप्राबल्यात्।

तद्वद् ब्रह्मापि संसार आनन्दात्मानमद्वयम्। न पश्यत्यात्मनो भिन्नमदः सदसदात्मकम्।
अहमेवेदमित्यस्य ज्ञानेऽप्येतद् न लीयते।।४४१।।

कल्पितौ बन्धमोक्षौ

विदुषोऽलुप्तविज्ञाने स्वप्ने स्वप्नावलोकिताः। केचिज्जीवाः प्रमुच्यन्ते ह्यस्य मुक्तिं विनापि हि।।
अन्ये बद्धाश्च सन्त्यत्र स्वप्नसंस्थितिहेतवः।।४४२।।
एवमीशे ह्यमुक्तेऽपि मुच्यन्तेऽत्र मुमुक्षवः। बद्धाश्च केचिद्वर्तन्ते संसारस्थितिहेतवः।।४४३।।
अलुप्तात्मावबोधस्य स्वप्ने यद्वन्न विद्यते। बन्धमोक्षादिकं किञ्चित् पश्यतोऽत्र जडाजडम्।।४४४।।
नापि तेन प्रदृश्यानां बन्धमुक्तिजुषामपि। विचारे सति जीवानां भिन्नाभिन्नधियामपि।।४४५।।
विचारे सति नैवं स्याद् बन्धमोक्षादिकं सदा। ईश्वरस्य न जीवानां बन्धमुक्ती प्रधावताम्।।४४६।।

तद्वदिति। तथा ब्रह्म ईश्वरः संसारे निर्वाहतया स्थितेऽपि आनन्दरूपमात्मानम् अद्वयं पश्यति, अदः दृश्यं स्थूलसूक्ष्मात्मकम् आत्मनो भिन्नं न पश्यति। अस्य ईश्वरस्य इदं सर्वं मदात्मकमित्याकारकज्ञानेऽपि एतद् विश्वं न लीयत इति। अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः स्वीयपरकीयकर्मणामपि स्थितिहेतुतोक्ता न विस्मर्तव्या।।४४१।।

एवमैकात्म्यसिद्धान्ते सति कल्पितबन्धमोक्षव्यवस्थाऽपि विद्वत्स्वप्नदृष्टान्तेन उपपादनीयेत्याह—विदुष इति द्वाभ्याम्। यथाऽलुप्तं ब्रह्मात्मविज्ञानं यस्मिन्नेतादृशे विदुषो ब्रह्मविदः स्वप्ने स्वप्नावलोकिताः स्वप्नकल्पिताः केचिज्जीवाः प्रमातारः अस्य विदुषो विदेहमोक्षं विनापि विमुच्यन्ते मुक्ततया मन्यन्ते[1], तेभ्यः अन्ये संसारस्थितिप्रयोजका बद्धाः सन्ति तत्त्वेन मन्यन्त इति।।४४२।। एवमिति। एवम् ईश्वरेऽमुक्ते[2] संसारनिर्वाहकत्वेन स्थितेऽपि कल्पिता बन्धमोक्षव्यवस्था बोध्येत्यर्थः।।४४३।। परमार्थतस्तु बन्धमोक्षादिकं दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च नास्ति 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' (ब्रह्मबिं १०) इत्यादिश्रुतेरित्याह— अलुप्तात्मेति त्रिभिः। यथाऽलुप्तात्मविज्ञानकस्य विदुषः स्वप्ने जडाजडरूपं विश्वं पश्यतः अपि अत्र आत्मनि किञ्चिद् बन्धमोक्षादिकं न वर्तत वस्तुतो बन्धाभावादेवेति।।४४४।। नापीति। न केवलं विदुष एव बन्धाद्यभावः अपितु तेन स्वप्नदृशा ये कल्पिताः—एते भिन्नदृशो बन्धभाजः, एतेऽभिन्नदृशो मोक्षभाजः इति; परमार्थविचारे क्रियमाणे तेषाम् अपि बन्धादिकं न विद्यते, आत्मनो नित्यमुक्तस्य एकत्वादेवेति।।४४५।। विचार इति। एवं विद्वत्स्वप्नवद् वस्तुविचारे क्रियमाणे ईश्वरस्य न बन्धमोक्षादिकं न वा जीवानाम्। कीदृशानाम्? बन्धुमुक्ती बन्धं मोक्षं च प्रति धावतां शीघ्रं साधनैर्गच्छतामिति।।४४६।।

ब्रह्म की आत्मता का अनुभव जिसके मानस पर दृढतर अंकित हो चुका उसकी स्वप्नावस्थामें स्वप्नान्तर्गत दीखने वाले कुछ जीव मुक्त हुए दीखते हैं जबकि अभी वह स्वप्नद्रष्टा विदेहमोक्ष नहीं पा चुका है। स्वप्न के घटनाचक्र को चलाये रखने वाले बद्ध भी जीवान्तर उसे स्वप्न में दीखते रहते हैं। ऐसे ही ईश्वर यद्यपि मायाकी विक्षेपशक्ति से अनुपहित नहीं, अतः समूची माया से सर्वविध-सम्बन्ध-राहित्य रूप मोक्ष उन्हें अप्राप्त है तथापि संसार में मुमुक्षु मोक्ष पा लेते हैं और संसार बना रहे इसके लिये कुछ बुभुक्षु बद्ध हुए वर्तमान रहते हैं।।४४२-४३। विद्वान् स्वप्न में बंध-मोक्षादि देखता है लेकिन आत्मा में वे वास्तव में नहीं ही हैं। इतना ही नहीं कि विद्वान् का बंधादि नहीं वरन् उसके द्वारा स्वप्न में कल्पित जो बद्ध या मुक्त जीव हैं वे भी स्वयं कल्पित होने से वास्तव में बन्धादि से वर्जित ही हैं। स्वप्न में कुछ को वह भेददृष्टिवाला और अन्य गुरुजनादि को अभेददृष्टि वाला देखता है लेकिन सचाई यह है कि वे न भेद और न अभेद दृष्टि वाले हैं क्योंकि सिर्फ सपने में दीख रहे हैं, वस्तुतः हैं नहीं। विचार करने पर स्पष्ट होता है कि विद्वान् के स्वप्न की तरह सारा बंध-मोक्षादि हमेशा ही है नहीं। न ईश्वर बद्ध या मुक्त है और न जीव जो बंध या

१. तत्रापि त्यक्तप्राणा गुर्वादयो विदेहमुक्ता निश्चीयन्ते केचिच्चोपदेष्टारो जीवन्मुक्ताअपि।
२. विक्षेपराहित्यलक्षणविदेहमोक्षाभावेऽपि।

शास्त्रसार्थक्यम्

स्वप्ने यथोपदेशस्य वैयर्थ्यं नैव विद्यते। बहून् प्रति तथा चापि शास्त्रादेश्च न विद्यते।।४४७।।

स्वप्ने यथैव विद्वांसं स्वप्नद्रष्टारमेव हि। उपदेशस्य वैयर्थ्यं मुक्तानन्यांश्च देहिनः।।४४८।।

तथा जागरणेऽपि स्याच्छास्त्रादेर्व्यर्थता सदा। आत्मज्ञानवतः पुंसो ह्यपेक्ष्य च महेश्वरम्।।४४९।।

सर्वाधिकारता चात्र नैकस्यापि हि विद्यते। वैश्यस्तोमो यथा व्यर्थो राजविप्रावपेक्ष्य हि।।४५०।।

वैश्येषु च न सर्वेषु ह्यर्थित्वादिविशेषणात्। वैश्यानपेक्ष्य वैश्यः स्यात् कृतार्थो नान्यथा क्वचित्।।४५१।।

ननु परमार्थतो यदि बन्धाद्यभावः तर्हि शास्त्रस्य वैयर्थ्यमापतितमिति चेद्? न, अज्ञान् प्रति सार्थक्यादिति स्वप्नदृष्टान्तेनैवाह—स्वप्न इति। यथा स्वप्ने बहव उपदिष्टार्थानुष्ठानेन अभ्युदयनिःश्रेयसे प्राप्नुवन्तो दृश्यन्ते तान् प्रति उपदेशस्य न वैयर्थ्यं, तथा जागरणेऽपि शास्त्रं वेदः आदिपदेन, स्मृत्यादयः तेषां न एव वैयर्थ्यं विद्यते; अज्ञाना-मधिकारिणां लाभादिति[1]।।४४७।। विदुषः प्रति तु शास्त्रादिवैयर्थ्यमिष्टमेवेत्याह—स्वप्ने यथैवेति द्वाभ्याम्। यथा उक्तस्वप्ने स्वप्नद्रष्टारं विद्वांसं प्रति उपदेशस्य वैयर्थ्यमेव तथान्ये च ये जीवन्मुक्ततया कल्पिता देहिनः तान् प्रति चोपदेशस्य वैयर्थ्यमेव, निवर्त्याज्ञानाभावात्; तथा जागरणेऽपि आत्मज्ञानवतः पुंसः पुरुषान् प्रति तथा महेश्वरं च प्रति शास्त्रादेः वैयर्थ्यमिष्टमेवेति द्वयोः सम्बन्धः।।४४८-४४९।। वस्तुतस्तु न शास्त्रस्य वैयर्थ्यम्। तद्धि शास्त्रस्य सर्वान् प्रति प्रवृत्तौ स्यात्। शास्त्रं तु यथा उत्सर्गः अपवादविषयं परिहृत्य प्रवर्तते तथा अनधिकारिणः परिहृत्यैव प्रवर्तत इत्याशयेन सर्वसम्मतं सर्वत्राधिकाराभावं प्रतिपादयति—सर्वाधिकारतेति। सर्वत्राधिकारः फलार्थमनुष्ठेयतादिरूपः यस्य तत् सर्वाधिकारं तस्य भावः सर्वाधिकारता सा एकस्यापि कस्यचिदपि शास्त्रस्य न अस्ति हि यतः वैश्यस्तोमनामा यागविशेषो वैश्याधिकारिकत्वाद् राजानं ब्राह्मणं च अपेक्ष्य व्यर्थ एवेति।।४५०।। वैश्येष्विति। वैश्येषु अपि न सर्वेषु वैश्यस्तोमः सफलः किन्तु अर्थित्वं फलकामत्वम् आदिपदेन शक्तत्वं पातित्यादिदोषराहित्यं च गृह्यते, एतादृशविशेषणवतो वैश्यानपेक्ष्य एव सफलः। अर्थित्वादिमान् वैश्यः तु वैश्यस्तोमेन कृतार्थः स्याद् एव। इयं व्यवस्था क्वचिद् अपि अन्यथा न भवतीति।।४५१।। विज्ञेया इति। यत एवं वैश्यस्तोमवदेव ब्राह्मणाद्यधिकारिका मोक्षकी ओर दौड़ते नज़र आ रहे हैं।।४४४-४६।।

परमार्थ दृष्टि से भले ही बन्धनादि न हो फिर भी जैसे सपने में उपदेश देना व्यर्थ नहीं क्योंकि स्वप्नदृष्ट कई साधक उसका अनुसरण कर स्वर्ग व मोक्ष पाते हुए स्वप्न में ही देखे जाते हैं वैसे ही जागरण में भी व्यावहारिक वेदादि शास्त्र अज्ञानी अधिकारियों के लिये सफल हैं।।४४७।। जैसे स्वप्न में जो स्वप्नद्रष्टा विद्वान् तथा अन्य जो जीवन्मुक्तरूप से दीखते हैं उनके लिये शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता क्योंकि उससे मिट सकने वाला अज्ञान अब उनमें रह नहीं गया, वैसे ही जाग्रत् में भी ईश्वर और जीवन्मुक्तों के लिये शास्त्रादि हमेशा निष्प्रयोजन रहते हैं। (शास्त्रानुसंधान पूर्वक सृष्टि आदि होना जो बताया गया है, उससे ईश्वरार्थ शास्त्रप्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि सृष्टि आदि स्वयं ही अज्ञदृष्ट्या हैं, तज्ज्ञदृष्ट्या नहीं।)।।४४८-४९।। कुछके लिये व्यर्थ होने से शास्त्रार्थ को व्यर्थ नहीं मान सकते क्योंकि प्रायः कोई भी शास्त्रवचन सभी अधिकारियों को विषय नहीं करता जैसे वैश्यस्तोम नामक याग राजा (क्षत्रिय) और ब्राह्मण के लिये व्यर्थ है, उसमें सिर्फ वैश्यका अधिकार है। वैश्यों में भी सभी के लिये उसका प्रयोजन नहीं क्योंकि जो वैश्य पतित आदि नहीं, सामर्थ्य वाले हैं तथा यज्ञजन्य फल के इच्छुक हैं उन्हीं के लिये उसका उपयोग है। ऐसे ही बृहस्पतिसव, राजसूय आदि भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के ही काम के हैं वैश्यादि के नहीं। (जैसे उत्सर्ग या सामान्य शास्त्र का क्षेत्र अपवाद के विषय को छोड़े रहता है, ऐसे ही अनधिकारियों को छोड़कर ही शास्त्र प्रवृत्त होता है। 'सब,

१. तेषु च सतत्त्वताधियोऽभावेन न बन्धकतापत्तिः।

विज्ञेयाः सार्थका ह्येवं बृहस्पतिसवादयः। मोक्षशास्त्रं तथैव स्यात् सार्थकं ज्ञानवर्जिते[1]।।४५२।।

'यो यो देवानाम्' इत्यस्यार्थः

ब्रह्म सर्वात्मतां प्राप्तं यथैव ब्रह्मविद्यया। विराडादिस्तथा प्राप्तः प्राप्स्यन् प्राप्नोति चापरः।।४५३।।

ज्ञानसाधनेषु विकल्पः

क्वचित् स्वभावतो विद्या भवेद्यद्वद्विहायसि। पक्षिणां गमनं नीरे मत्स्यानां वापि जन्मतः।।४५४।।
पूर्वपुण्यविपाकेन क्वचिदेषा प्रजायते। यशआदिसुखं यद्वज्जायते यौवनादिषु।।४५५।।
गुरुशास्त्रोपदेशेन सर्वेषामेव जायते। नेत्राभ्यां हि यथैव स्याद्रूपज्ञानमनिन्दितम्।।४५६।।

एव बृहस्पतिसवादयः, आदिपदेन राजसूयादयः, एते सार्थका ज्ञेयाः तथा मोक्षशास्त्रम् अपि साधनचतुष्टयसम्पन्ने ज्ञानवर्जिते जिज्ञासौ सार्थकमिति।।४५२।।

'यो यो देवानाम्' (बृ. १.४.१०) इत्यादिवाक्यार्थमाह—ब्रह्म सर्वात्मताम् इति दशभिः। ब्रह्म कारणसूक्ष्मसमष्ट्युपाधिकं यथा ब्रह्मविद्यया सर्वात्मभावं प्राप्तं तथा स्थूलसमष्ट्युपाधिको विराट् तत्प्रभृतिर्मन्वादिरपि विद्यया सर्वात्मतां प्राप्तः। कश्चित्तु प्राप्स्यन् प्राप्तो भविष्यतीति यावत्। अपरः अधुना प्राप्त इति।।४५३।।

एवं ब्रह्मविद्यायाः फले विशेषाभावेऽपि उत्पत्तौ विशेषं दर्शयति—क्वचिदिति त्रिभिः। क्वचिद् विराट्कपिलसनत्कुमारादौ स्वभावतः निसर्गादागन्तुकनिमित्तमनपेक्ष्यैवेति यावद्, ब्रह्मविद्या जायते; यथा पक्षिणाम् आकाशगमनकौशलं मत्स्यादीनां नीरगमनकौशलं च जन्मत एव प्रभवति, तद्वदिति। तत्र विराड्विषयिका 'ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्।।' (वायु. पूर्वा. १.३.) इति स्मृतिः। अप्रतिघं कुतश्चिदपि प्रतिघातशून्यं सर्वविषयकमिति यावत्। 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानम्' (श्वे. ५.२) इत्याद्या श्रुतिः कपिलविषया। एवमन्यत्र अपि मानं बोध्यम्।।४५४।। पूर्वेति। क्वचिद् वामदेववाल्मीक्यादौ देशकालनिमित्तवशाभिव्यक्तफलाभिमुखपूर्वपुण्यतो विद्या जायते यथा यौवनादिकाले पुण्यविपाकाद् यशोधनपुत्रादिसुखं जायते तद्वदिति।।४५५।। गुर्विति। गुरुशास्त्रोपदेश उपदिष्टं शास्त्रमिति यावत्, कृदभिहित इति न्यायात्[2]। सर्वेषां ज्ञानकारणं, रूपज्ञानं प्रति चक्षुर्वदिति।।४५६।।

ब्राह्मण खायें, देवदत्त-यज्ञदत्त परोसें'—यहाँ 'सब' शब्द देवदत्त-यज्ञदत्त को छोड़कर वहाँ उपस्थित भोजन करने वाले ब्राह्मणों का बोधक है। ऐसे ही शास्त्रकी विधियाँ अनधिकारियों के लिये न होकर अधिकारियों के लिये हैं।) इसी न्याय से मोक्षोपायप्रदर्शक ज्ञानोत्पादक वेदान्तशास्त्र साधनचतुष्टय से युक्त किंतु अज्ञानी अतः जिज्ञासु मुमुक्षुओं के लिये सार्थक रहते अन्यों के लिये निरर्थक हो तो कोई दोष नहीं।।४५०-५२।।

कारणोपाधिक एवं समष्टिसूक्ष्मोपाधिक ब्रह्म ने जैसे ब्रह्मविद्यासे सर्वात्मता पायी वैसे ही समष्टिस्थूलोपाधिक विराट् ने एवं फिर मनु आदि ने पायी। अभी जो ज्ञान पा रहे हैं तथा आगे भी पायेंगे वे सभी समानरूप से सर्वभाव प्राप्त करेंगे। (देवता, ऋषि, पितर आदि जो कोई भी तत्त्वज्ञ होगा वह अखण्ड एकरस ब्रह्मरूप ही होगा। ऐसा नहीं कि पैगम्बर आदि की तरह कोई व्यक्तिविशेष ही विद्यावान् और सर्वरूप हो; यह मौका सब अधिकारियों के लिये उपलब्ध है।)।।४५३।। यद्यपि विद्याफल एकरूप है तथापि विद्या की उत्पत्ति में अंतर हो जाता है : विराट्, कपिल, सनत्कुमार आदि को आगन्तुक निमित्त (गुरु आदि) के बिना ही ब्रह्मज्ञान हो गया जैसे पक्षी और मछलियाँ जन्म से ही उड़ने और तैरने में सामर्थ्य वाले होते हैं। (यदि पक्षी आदि के भी संस्कारोद्बोधार्थ कोई निमित्त मान्य हो तो अन्यत्र भी स्वयंको अकेला देखकर विचार करना आदि कोई न कोई निमित्त मान सकते हैं। यहाँ जो निमित्त न होना कहा उसका मतलब है विहित सब निमित्त न होना, अतः कुछेक निमित्त होने से विरोध नहीं)।।४५४।। वामदेव, वाल्मीकि

---

१. एतच्चाध्यासभाष्ये स्फुटतरम्। २. 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत' इति न्यायः।

श्रवणं नियतोपायः

स्वयं भाता यदा विद्या यदा वा कर्मजा भवेत्। तत्रापि प्रथमं शास्त्रं भाति पश्चादियं ततः[1]।।४५७।

ब्रह्मविद्यासमुत्पत्तावुपायः श्रवणं ततः। नियतः सर्वपक्षेषु तृप्तौ यद्वद्धि भोजनम्।।४५८।।

ब्रह्मात्मशब्दधीशून्य उक्तो यो बृहतेरतेः। अर्थो भवामि नान्योऽहं शब्दधीविषयो जडः।
ब्रह्मविद्येयमाख्याता विप्रैः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः।।४५९।।

ननु कथं शास्त्रस्य विद्याकारणता, पूर्वोक्तेषु व्यभिचाराद्? अत आह—स्वयमिति। स्वयं भाता स्वभावजन्या कर्मजा पूर्वपुण्यपरिपाकजा वा यदा विद्या तत्रापि शास्त्रं विद्यातः प्रथमं भाति पक्षिणामाकाशगमनोपयोगिपक्षवत्। स्वभावत एवेत्याद्यवधारणं तु शास्त्रलाभे दृष्टमध्ययनादिरूपं साधनं वारयति इति भावः।।४५७।। एवमव्यभिचारे च वाक्यतात्पर्यावधारणरूपश्रवणस्य 'श्रोतव्य' इत्यादिश्रुतिसिद्धा कारणतोपपन्नेत्याह—ब्रह्म विद्येति। ततः अव्यभिचारात् सर्वेषु पक्षेषु 'क्वचित्स्वभावे' (४.४५४) त्यादिनोक्तेषु त्रिषु श्रवणरूप उपायस्तृप्तिं प्रति भोजनवद् नियतो व्यापक इत्यर्थः।।४५८।। ब्रह्मविद्यास्वरूपमभिनयति—ब्रह्मेति। बृहतेः धातोः अतेः च स्वारस्यात् सर्वाधिकसर्वान्तररूपो ब्रह्मात्मशब्दयोरर्थ उक्तः। स एव अर्थः ब्रह्मात्मशब्दाभ्यां तज्जन्यबुद्धिभ्यामपि विनिर्मुक्तः[2] सन् अहंशब्दवाच्यार्थान्तर्गतजडांशहीनः अहं भवामि इति इयम् एवमाकारा ब्रह्मविद्या विज्ञैरुक्तेति।।४५९।।

आदि कुछ लोगों को यह तत्त्वनिष्ठा पूर्वकृत पुण्यों के फलोन्मुख होने से प्राप्त हो जाती है, जैसे जवानी आदि आने पर यश आदि का सुख मिल जाता है। (पुण्यवश जो प्रतिबंधक थे वे हट जाते हैं तो पूर्वार्जित ज्ञान सफल हो जाता है। 'यशो वीर्यम्' (बृ. १.२.६) श्रुति से यौवन में वीर्यप्राप्ति व तज्जन्य सुखादि दृष्टान्तसे समझने चाहिये।)।।४५५।। पूर्वोक्त तो अपवादभूत दिव्य अधिकारियों के प्रसंग हैं, सर्वसामान्य के लिये तो गुरु व शास्त्रके उपदेशं से ही ज्ञान उत्पन्न होता है जैसे दोनों आँखों से ही निर्दुष्ट रूपज्ञान होता है, भले ही योगी आदि कुछ-एक लोग बिना आँखों के रूप देख सकें।।४५६।।

मोक्षप्रद विद्या चाहे स्वाभाविक हो और चाहे पूर्वपुण्यों के फलस्वरूप, वह सफल हो पाये इससे पूर्व शास्त्र का, महावाक्यका भान होता ही है तभी मोक्षफलक विद्या उत्पन्न होती है। (लोकतुल्य अध्ययनादि क्रम न होना ही स्वाभाविकता है। शास्त्रवचन की उपस्थिति तो चाहिये ही। ईश्वर में यदि ज्ञान नित्य है तो शास्त्र भी उनके लिये नित्य ही उपस्थित है।)।।४५७।। इसलिये हर हालत में तृप्ति के प्रति भोजन की तरह ब्रह्मविद्या की सफल उत्पत्ति में श्रवण निश्चित अर्थात् अव्यभिचारी उपाय है। (यहाँ श्रवणसे वाक्यतात्पर्य की समझ कह रहे हैं, सुनना नहीं।)।।४५८।।

सर्वाधिक सूक्ष्म पुरुषार्थ पा चुके वेदज्ञ ब्रह्मविद्या इस निश्चय को कहते हैं : बृह और अत धातुओं का अर्थ जो सर्वाधिक-सर्वान्तर उसका जब ब्रह्म-आत्मा शब्दों से और शब्दजन्य ज्ञानों से भी सापेक्षत्व नहीं रह जाता तब ऐसे 'मैं' रूप से स्फुरण जिसमें मैं शब्दके वाच्यार्थ के अन्तर्गत आने वाला जडांश नहीं रह गया है। (अर्थात् तत् और त्वम् पदार्थों का पूर्ण शोधन होने पर प्रकाशमान अद्वय तत्त्व जब अविद्यानिवृत्ति कर दे तब ब्रह्मविद्या कहलाता है।)।।४५९।।

---

१. 'कृत्स्नानात्मनिवृत्तौ च कश्चिदाप्नोति निर्वृतिम्। श्रुतवाक्यस्मृतेश्चान्यः, स्मार्यते च वचोऽपरः।। वाक्यश्रवणमात्राच्च पिशाचकवदाप्नुयात्। त्रिषु यादृच्छिकी सिद्धिः स्मार्यमाणे तु निश्चिता।। सर्वोऽयं महिमा ज्ञेयो वाक्यस्यैव यथोदितः। वाक्यार्थं न ह्यृते वाक्यात् कश्चिज्जानाति तत्त्वतः।।'२.२-४।। इति नैष्कर्म्यसिद्धिरनुसन्धेया। २. शब्देन शक्तिसम्बन्धराहित्यं शब्दशून्यत्वम्, उपाध्युल्लेखेन ज्ञेयताराहित्यं च धीशून्यत्वम्। एतेन वाक्यार्थबोधोपयोगिलक्ष्यार्थोपस्थितेः तस्याश्च यथार्थतया मानतेति समसूचि।

फलाय विद्याऽनन्यापेक्षा

अनया हि यथा ब्रह्म सर्वात्मकमभूद्धि तत्। सर्वात्मकस्तथाऽन्योऽपि स्यात्तथैव न संशयः।।४६०।।

मानवो वा मुनिर्वापि देवो वा दानवोऽथ वा। धीमानन्योऽपि यः कश्चिद् ब्रह्म स्याद् ब्रह्मविद्यया।।४६१।।

ब्रह्म सर्वात्मकं प्राप्ता बहवोऽत्र द्विजोत्तमाः। असुरा मुनयः सर्वे ब्रह्मास्मीत्यात्मबोधनात्।।४६२।।

वामदेवानुभवोदाहरणम्

परोक्षं नेदमस्माकं सर्वेषां ब्रह्मवेदिनाम्। वामदेवः स्थितो गर्भे कश्चिदस्मासु स द्विजः।।४६३।।

अनुग्रहार्थमस्माकं विश्वासं जनयन्निदम्। अस्मान् प्रत्यब्रवीद् वाक्यं पश्यन् सर्वात्मतामिमाम्।।४६४।।

ब्राह्मणाः शृणुतात्रैतद् विश्वासाय वदामि यत्। युष्मभ्यं ब्रह्मविद्याया हेतौ प्राप्ता समाप्य ताम्।।४६५।।

इयं विद्या उत्पन्ना सती फलप्रदाने जात्यादिकं नापेक्षत इत्याह—अनयेति त्रिभिः। अनया विद्यया यथा ब्रह्म सर्वात्मकमभूत् तथाऽन्योऽपि यः कश्चित् सर्वात्मको भवति एव इति।।४६०।। मानवइति। स्पष्टम्।।४६१।।

ब्रह्मेति। भगवद्गीतास्वप्युक्तम् 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (गी. ४.१०) इति।।४६२।।

उक्तविद्याफले वामदेवानुभवोऽपि मानमित्यर्थपरस्य 'तद्धैतद्' (बृ. १.४.१०) इत्यादेरर्थमाह—परोक्षमिति। इदं विद्याफलं सर्वेषां ब्रह्मवेदिनां परोक्षं न भवति किन्तु विद्योत्तरक्षण एवोपलभ्यत इति। यतः अस्माकम् अन्यतमः गर्भ एव विद्याफलं सर्वात्मतारूपं पश्यन् सन् अस्माकम् अनुग्रहार्थं विद्याफले विश्वासं जनयन् इदं वक्ष्यमाणं वाक्यम् अस्मान् प्रत्यब्रवीद्। इति द्वयोरन्वयः।।४६३-६४।।

वामदेव उवाच—ब्राह्मणा इति त्रयोदशभिः। भो ब्राह्मणाः! यद् अहं युष्मभ्यं वदामि तद् मत्सन्निधिं प्राप्ताः सन्तो यूयं शृणुत। कस्मै वदामि? ब्रह्मविद्याया हेतौ फले विश्वासाय। फलस्य हेतुत्वमध्ययनेन वसतीत्यादौ ('हेतौ' (२.२.२३) इत्यत्र कौमुद्याम्) प्रसिद्धम्। किं कृत्वा वदामि? ताम् विद्यां सम्यक् प्रतिबन्धराहित्यं यथा स्यात्तथा आप्य लब्ध्वा इत्यर्थः।।४६५।। वामदेव इति। अहं भवतां दृष्ट्या भवतां मध्ये कश्चिद् अन्यतमः वामदेवनामा

इस ब्रह्मज्ञान से जैसे वह ब्रह्म सर्वात्मा हुआ वैसे ही अन्य भी हो जाता है इसमें संदेह नहीं। मानव हो या मुनि, देव हो या दानव, बुद्धिमान् हो या नहीं, हर कोई ब्रह्मविद्या से ब्रह्म हो जाता है। (जन्मादिकृत विशेष का कोई अंतर ज्ञान से फल पाने में नहीं आता।)।।४६०।। संसार में बहुतेरे उत्तम ब्राह्मण, असुर एवं मुनि 'ब्रह्म हूँ' इस स्वस्वरूपविज्ञानसे सर्वात्मक ब्रह्म को पा चुके हैं।।४६२।।

यह बात हम लोगों के लिये छिपी हुई या सिर्फ सुनी-सुनायी नहीं है, सभी ब्रह्मवेत्ताओं का यही साक्षात् अनुभव है। हममें से ही एक वामदेव थे जो प्रतिबन्धकवश पुनः गर्भवास के लिये बाध्य हुए लेकिन गर्भ में ही स्फुटतम बोध होने पर हम पर कृपा कर इस तथ्य पर हमारा विश्वास जमाने के लिये इस सर्वरूपता का अनुभव करते हुए उन्होंने हम सभी को यह बताया : हे ब्राह्मणो! ब्रह्मज्ञान की सफलता पर आप सब के विश्वास के लिये अप्रतिबद्ध विद्या पा चुककर मैं जो इस बारे में बता रहा हूँ उसे सुनिये।।४६३-६५।। आपकी नज़रों में मैं वामदेव हूँ जो आप

वामदेवो भवद्दृष्ट्या गर्भे तिष्ठामि सम्प्रति। त्यक्तपूर्वशरीरः सन् भवतां कश्चिदेव हि। ।४६६।।
भवतां मम चाप्यासीदुपदेशो महात्मनाम्। विषयान्धधियः सर्वे दृष्टवन्तो न किञ्चन। ।४६७।।
हृदयस्थं स्वमात्मानं जात्यन्धाः स्वकरे यथा। न पश्यन्ति मणिं सन्तमादित्यसमवर्चसम्। ।४६८।।
तेन दोषेण मे देहकारागृहमदः परम्। जातं तद् भवतां मा भूद् यतध्वं स्वात्मबोधने। ।४६९।।
ब्रह्मविद्या समुत्पत्तौ सदा सर्वात्मता भवेत्। विश्वासार्थमहं वक्ष्ये प्राप्तां सर्वात्मतां द्विजाः। ।४७०।।

वामदेवः सर्वात्मतां ब्रूते

अहं मनुस्तथा सूर्यः कक्षीवानप्यहं मुनिः। अतीन्द्रियार्थद्रष्टृत्वात् प्रसिद्धो ब्राह्मणो हि यः। ।४७१।
शुक्लानां दीप्तिभाजां स्यां कुत्सङ्गोऽप्यमहं सदा। अहं संसारचक्रेऽस्मिन् जातो गच्छामि सर्वदा।।
नितरां योनिसाहस्रमुच्चावचगतं हि यत्। ।४७२।।

त्यक्तपूर्वशरीरः सन् सम्प्रति अधुना गर्भे तिष्ठामि। स्वदृष्ट्या तु सर्वात्मास्मीति भावः। ।४६६।। भवतां ममेति। पूर्वशरीरे मम भवतां च सनकादिमहात्मभिः कृत उपदेशः सम आसीत्। तदानीं सर्वे वयं विषयान्धधियः सन्तः हृदयस्थम् अपि स्वमात्मानं न दृष्टवन्तः यथा जन्मान्धाः करेऽपि स्थितमुज्ज्वलं मणिं न पश्यन्ति तद्वदिति द्वयोरन्वयः। ।४६७-४६८।। तेनेति। तेन प्रतिबन्धवशाद् आत्मसाक्षात्काराऽलाभरूपेण दोषेण मेऽदः देहरूपं कारागृहं जातम्, तद् देहकारागृहं भवतां यथा मा भूद् न भवेत् तथा बोधे यतध्वम् इति। ।४६९।। न च विद्याफले संशयो, मयाऽनुभूतत्वादिति—ब्रह्मविद्येति। सदा सर्वकालेषु, न तु कृतयुगादावेवेति नियमः। तत्र भवतां विश्वासार्थम् अहं विद्याफलं सर्वात्मतां वक्ष्य इति। ।४७०।।

वामदेवसूक्ताद्यऋक्त्रयार्थमाह[1]—अहं मनुरिति सप्तभिः। मनुः स्वायम्भुवादिः अहम् एवाभूवं तथा सूर्यः अहमेव तथा कक्षीवान्नाम्ना प्रसिद्धो मुनिः अप्यहमेवेति। ।४७१।। 'कुत्समार्जुनेयम्' इत्यंशस्यार्थमाह—शुक्लानामिति। शुक्लानाम् अर्जुनपदोक्तानां दीप्तिमतां यत् कुत्सं; कुत्सपदार्थमाह—गोप्यमिति। 'तमेव भान्तमि'त्यादिश्रुतेरा-दित्याभासकमपि यत् तत्त्वम् आदित्याद्यैर्व्यवहारभूमौ प्रकाशकतया प्रसिद्धैरपावृतमिद तदहमस्मीति। एतेन तत्पदार्थभावो दर्शितः। अथ ऋञ्ज इति पदेन आत्मनेपदगत्यर्थऋजिधातोः लडुत्तमपुरुषैकवचनप्रयोगरूपेण त्वम्पदवाच्यजीवरूपतामाह—अहं संसारेति। अहम्[2] एवास्मिन् संसारमण्डले जात उपाधिजन्मना जन्माभिमानी सन् उच्चावचलोकगतयोनिसहस्रं नितरां गच्छामीति। ।४७२।। 'अहं कवि' रित्याद्यंशस्यार्थमाह—क्रान्तेति। क्रान्ता

के ही समाज का एक व्यक्ति था और पूर्वशरीर पूरा होने पर अब पुनः गर्भ में आया हूँ। ।४६६।। जब मैं आपके साथ था तभी सनकादि महात्माओं ने हम सभी को समान उपदेश दिया था किंतु तब हम सभी की बुद्धियों पर विषयों का पर्दा पड़ा था अतः हम कुछ समझ नहीं पाये थे। सूर्य की तरह चमकदार मणि अपने हाथ पर रखकर भी जन्मान्ध उसे देख नहीं पाता, ऐसे ही हृदय में विद्यमान अपने ही आत्मा को—अविषय को—हम जान नहीं पाये थे। ।४६७-६८।। आत्मा का साक्षात्कार न कर पाने रूप उसी दोष से मुझे पुनः यह शरीररूप जेल मिली है। आपकी यह गति न हो इसके लिये निजस्वरूप का विज्ञान पाने की कोशिश में जुट जाइये। यह सार्वकालिक नियम है कि ब्रह्मज्ञान जब भली-भाँति हो जाता है तब सर्वात्मता निश्चित है। हे द्विजो! मुझे सर्वात्मता मिल गयी है, आपको विद्या-फल के बारे में कोई संदेह न रहे इसलिये बता रहा हूँ। ।४६९-७०।।

१. 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा।।' इति (४.२६.१) मन्त्रः।
२. न चैवं सकलक्लेशकक्षीकारापत्तिः, निवृत्तमायस्य समस्तजातादिष्वलीकताबुद्धेस्तत्प्रतिभासस्येश्वरवत् कष्टकरत्वाभावात्।।

क्रान्तदृष्टिरहं तद्वदुशना भार्गवो हि यः। जामदग्न्यवपुर्भूत्वा सर्वज्येष्ठाय वै पुरा।।
कश्यपाय क्षितिं सर्वामदां वित्तेन पूरिताम्।।४७३।।

अहं चतुर्विधायास्मै जन्तवे कर्मकारिणे। वृष्टिं ददामि मेघः सन् सुखदुःखप्रदां सदा।।४७४।।

अन्तर्बहिश्चरो नित्यमहं सूर्यस्वरूपधृक्। अन्तर्बहिस्त्रिलोकस्था नयाम्येता अपः सदा।।४७५।।

मामेव शरणं प्राप्ताः शक्राद्याः सर्वदेवताः। दैत्याभिभूता जननीं यथा बालाः क्षुधार्दिताः।।४७६।।

शम्बरस्यासुरेन्द्रस्य नवतीस्तु नवाधिकाः। माया भयङ्करीर्नित्यं देवतानां दुरात्मनः। व्यधमं तारको यद्वत् तम एतद् दुरासदम्।।४७७।।

इत्यादिना हि भो विप्राः स्वात्मनः सर्वभावताम्। वामदेवो वदत्यन्तः स्मृतौ नो वर्ततेऽधुना।४७८।

प्रसृता दृष्टिर्यस्य स तथा उशना शुक्रः। 'अहं भूमिमदामार्याये'त्यर्थमाह[1]– जामदग्न्येति। जामदग्न्यः परशुरामः सर्वज्येष्ठाय आधाय कश्यपाय अदां दत्तवानस्मीति।।४७३।। 'अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याये' त्यर्थमाह–अहं चतुर्विधायेति। चतुर्विधाय जरायुजादिरूपाय कर्मकारिणे दाशृधात्वर्थदानादिकर्मकृते जन्तवे मेघः सन् वृष्टिं ददामि इति। कीदृशीं वृष्टिम्? सम्यगसम्यग्रूपेण सुकृतदुष्कृतफलनानाशरीरोत्पत्तिनिमित्तत्वेन वा सुखदुःखदाम्।।४७४।। 'अहमपो अनवा' इत्यर्थमाह–अन्तरिति। त्र्यवयवो लोकस्त्रिलोकः तस्यान्तःस्था बहिःस्थाश्च एता अपः जलानि नयामि आकृष्टाः करोमि वैश्वानरादिरूपतयाऽन्तर्बहिःस्थितसूर्यात्मनेति।।४७५।। 'वशाना मम देवासो नु केतमायन्' इत्यर्थमाह–मामेवेति। वश कान्तौ (अ.प.से.) वशाना रक्षामिच्छन्तः शक्राद्या देवा मामेव महेश्वररूपं शरणं गता अन्नमिच्छन्तो बाला जननीम् इवेति।।४७६।। 'अहं पुर' इत्याद्यृगर्धार्थमाह[2] –शम्बरस्येति। मन्दम् अनायासेन स्यति असुरान् हन्ति इति मन्दसानः स्वामी कार्तिकेयः, तद्रूपः संस्तारकासुरपक्षपातिशम्बरस्य नवाधिकनवतिसङ्ख्या मायामयीः पुरः देवभयङ्करी व्यधमं व्यनाशयमिति यावत्। यथा तारकः प्रणव एतद् हार्दं दुरासदं तमो विधमति तद्वदिति।। इयं कथा गणेशपुराणे स्पष्टा।।४७७।। इत्यादिनेति। आदिपदेन 'शततमम्'

स्वायंभुव आदि मनु व सूर्य मैं ही हुआ था। इन्द्रियों से अगम्य फलभूत तत्त्व के जानकार होने से जो प्रसिद्ध हुआ वह कक्षीवान् नामक ब्राह्मण मुनि मैं ही था। स्वच्छ भास्वर तेजोमूर्तियाँ, जैसे सूर्य, जिसे ढाँके रहती हैं क्योंकि वास्तविक प्रकाश होने पर भी व्यवहारमें उसे नहीं बल्कि उन मूर्तियों को ही प्रकाशमय समझा जाता है और उन मूर्तियों की आराधना से वह दृष्टि मिलती है जिससे वे ही मूर्तियाँ उस तत्त्वको उघारने वाली बन जाती हैं, वह वेदान्तों में तत्पदार्थतया प्रसिद्ध वस्तु हमेशा मैं ही हूँ। इस संसार चक्र में पैदा होकर ऊँची-नीची हजारों योनियों में लगातार निश्चित रूप से जाने वाला, वेदान्तों में त्वंपदार्थतया प्रसिद्ध भी मैं ही हूँ।।४७१-७२।। दूरदृष्टि वाले जो उशना, शुक्र, प्रसिद्ध हैं वह मैं हूँ। जिन भार्गव ने प्राचीन समय में जामदग्न्य अर्थात् परशुराम शरीर लेकर धनपूर्ण सारी पृथ्वी सबसे वृद्ध कश्यप को दान में दी थी वह मैं हूँ।।४७३।। कर्म करने वाले चारों तरह के जन्तुओं के लिये यथायोग्य सुख-दुःख देने वाली वर्षा बादल बना मैं ही हमेशा देता हूँ।।।४७४।। त्रिलोकी में शरीरों के भीतर और बाहर जितना भी जल है उसका सदा संचालन देहसंचारी और बहिश्चर सूर्यरूप धारण कर मैं ही करता हूँ। (देहवर्ती सूर्य वैश्वानर या प्राण है।)।।४७५।। जैसे भूखे शिशु माता की शरण लेते हैं ऐसे दैत्यपराजित इंद्रादि सब देवता महेश्वररूप मेरी ही शरण लेते हैं।।४७६।। असुरराज दुष्ट शंबर की मायामयी निन्यानबे भयंकर पुरियाँ थीं, जिन्हें कार्तिकेय बनकर मैंने वैसे ही नष्ट किया जैसे हृदयस्थ अभेद्य अज्ञानान्धकार को ॐकार समाप्त कर देता है।।४७७।। इसी तरह के वाक्यों से

१. 'अहं भूमिमदामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्।।' (तत्र मंत्रः २)।
२. 'अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य। शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम्।।' (तत्र मंत्रः ३)।

पुराकल्पं दध्यङ्ङुपसंहरति

एवं तेऽकथयन् विप्राः शक्र! ब्रह्मात्मबोधने। अथापि ब्रह्मवित् तस्मात् सर्वात्मैव प्रजायते। यः कश्चिदपि देवो वा दानवो मनुजोऽथ वा।।४७९।।

ज्ञानफलप्रतिबन्धोऽशक्यः

त्वदाद्या अपि शक्रैनं नियन्तुं नेशते सदा। भवन्तो न स्वमात्मानं नियन्तुं प्रभवो यतः।।४८०।।

भवतां सर्वदेवानामात्मा ब्रह्मविदीरितः। सर्वात्मत्वान्न चाकाशः कस्यचिद्धृदये न हि।।४८१।।

अस्य यत् प्रतिकूलं स्याद् भवद्भिः कृतमण्वपि। भवतामेव तत् सर्वं भवेद् नाल्पं च तस्य तत्।।४८२।

इत्यादिशेषस्य दैवोदासिप्रतर्दनाद् भीतं हतकुलशतसङ्ख्यापूरणं वीतहव्यमाश्रमे प्रविष्टं भृगुरूपोऽहं ब्राह्मणजातौ प्रावेशयं जिघांसवे प्रतर्दनाय नात्राश्रमेऽब्राह्मणोऽस्तीत्यभिधानात्। प्रतर्दन एतादृशं सामर्थ्यं कुतः? इत्यत आह—दिवोदासमिति। यद् यतः दिवोदासं वीतहव्यंकुल्येभ्यो भीतं शरणागतं भारद्वाजरूपोऽहम् आवं रक्षितवान् अस्मि पुत्रकामेष्ट्या प्रतर्दनाख्यपुत्रप्रदानादित्याद्यर्थकस्य ग्रहः। इत्यादिना वाक्यगणेन वामदेव आत्मनः सर्वभावतां वदति, वर्तमानसामीप्ये लट्। तच्च नः अस्माकं स्मृतौ अन्तः स्मृतिमध्ये विषयितासम्बन्धेन वर्तत इति।।४७८।।

इतिहासमुपसंहरन् फलितं दर्शयति—एवं त इति। ते समुदिता विप्रा ब्रह्मात्मबोधविचार एवमकथयन् इति। तस्माद्यः कश्चिदपि देवादिरूपो विद्वान् स सर्वात्मरूपो भवत्येवेत्यर्थः।।४७९।।

उक्तविद्याफलं देवैरपि प्रतिबद्धुं न शक्यमिति प्रदर्शकस्य 'तस्य ह न देवा' (बृ.१.४.१०) इत्यादिवाक्यस्यार्थमाह—त्वदाद्या इति दशभिः। हे शक्र! त्वत्प्रभृतयो देवा अपि एनं विद्वांसं नियन्तुम् आज्ञोल्लङ्घनेऽभूतिप्रदर्शनेन वशे स्थापयितुमिति यावद्, नेशते न समर्थाः। तत्र हेतुं व्याघातमाह— भवन्त इति। भवन्तो देवा हि यतः स्वमात्मानं नियन्तुं न शक्ताः। न ह्यग्निरात्मानं दहतीति प्रसिद्धम्।।४८०।। नन्वात्मनो नियम्यत्वाभावेऽपि विदुषः कथं तथात्वमिति चेद्? विद्वानपि विद्यया सर्वात्मभूतत्वाद् भवतामात्मैवेत्याह—भवतामिति। नन्वात्मान्तरो भवति, विद्वांस्तु स्वदेहावच्छिन्नः कथमस्माकमात्मा?— इति शङ्कां दृष्टान्तेन वारयति—न चेति। यथा आकाशः घटाद्युपाधिविमुक्तः सन् कस्यचिद् अपि हृदयदेशे न अस्तीति न, किन्त्वस्त्येव; तथा विद्यया बाधिताविद्यकपरिच्छेदो विद्वानपि सर्वान्तःस्थत्वात् सर्वात्मेति।।४८१।। एवं विदुष आत्मत्वे च तदनिष्टप्रवृत्तिः स्वशिरस्ताडनप्रवृत्तिवत् स्वानिष्टहेतुरेवेत्याह—अस्य यदिति। अस्य विदुषः प्रतिकूलं तथाऽभिमतं यद् भवद्भिः अणु स्वल्पमपि कृतं तत् सर्वं भवतामेव सम्बन्धि जायते। तस्य विदुषः असङ्गस्य अनिष्टमल्पमपि सम्बन्धि न जायत इति।।४८२।।

वामदेव ने अपनी सर्वता प्रकट की। (श्लो. ३६१ से प्रवृत्त विचार करने वाले) ब्राह्मणों ने यह बात स्वीकारी कि वामदेव का अनुभवकथन उन्हें तब भी याद था।।४७८।।

हे इन्द्र! ब्रह्मात्मज्ञान के विचार के बारे में उन एकत्र मुनियों ने यही सब कहा था। उनके कथनानुसार एवं शास्त्रवचनानुसार यही निर्णय है कि देव, दानव या मनुज जो कोई ब्रह्मवेत्ता होता है वह सर्वात्मा ही हो जाता है।।४७९।।

हे शक्र! आप जैसे देवता भी ब्रह्मवेत्ता को पराधीन नहीं कर सकते क्योंकि बताया गया है कि सर्वात्मक होने से ब्रह्मवित् आप सब देवताओं का भी आत्मा है और आप अपने आत्मा को खुद पराधीन वैसे ही नहीं कर सकते जैसे आग स्वयं को जला नहीं सकती। विद्यासे अविद्यारूप परिच्छेद समाप्त हो जाने से ब्रह्मज्ञ किसी के हृदय में न हो ऐसा नहीं हो सकता। सभी के हृदयों में स्फुरने वाला चिदात्मा वही है।।४८०-८१।।

स्मेराननं यथा वीक्ष्य दर्पणे स्वस्य बालकः। तस्यानिष्टं विधास्यन् स स्वात्मनः कुरुते पुरः। पश्चात् तस्य न चैतेन जायते दुःखमण्वपि।।४८३।।

दर्पणे दृश्यमानस्य मुखस्यासङ्गरूपिणः। कर्तुरेव हि तत् सर्वं भवेद् दुःखं ससाधनम्।।४८४।।

असङ्गरूपिणस्तद्वद्विदुषो विद्यते न हि। अनिष्टं किन्तु भवतां भोक्तृत्वात् स्यात् ससाधनम्।।४८५।

जीवत्वे सत्येव दुःखम्

अलङ्काराच्छरीरे स्वे भवत्येषोऽप्यलंकृतः। तिरस्काराच्छरीरस्य प्रतिबिम्बस्तिरस्कृतः।।४८६।।

यथा तथैव भवतां विद्वान् बिम्बमुदाहृतः। भवन्तः प्रतिबिम्बानि नीरे यद्वत् प्रभाकृतः।।४८७।।

उक्तं विशदयन् सर्वेषां विद्वान् असङ्गं रूपं वास्तवं, कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानिरूपं तु द्वितीयं ससङ्गमाविद्यकम्। तत्र 'योग्यं योग्येन सम्बद्ध्यत' इति न्यायेन असङ्गरूपोद्देशेन प्रयुक्तमपि प्रतिकूलं ससङ्गरूप एव निविशत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—स्मेराननमिति द्वाभ्याम्। यथा बालः स्मेरं मन्दहासयुक्तं स्वस्य आननं दर्पणाऽसङ्ग्यपि दर्पणे सक्तं मत्वा तस्य दर्पणसङ्गितयाऽभिमतस्य मुखस्य अनिष्टं विकृतता रूपं विधास्यन् करिष्यन् चिकीर्षन्निति यावत्, पुरः प्रथमं स्वस्यात्मनः तथाभिमतसंघातस्य तद्विकृतता रूपम् अनिष्टं कुरुते पश्चात् तस्य दर्पणे दृश्यमानस्य मुखस्य कुरुते; एतावता दर्पणे दृश्यमानस्य असङ्गस्य मुखस्य न किञ्चिदनिष्टं जायते किन्तु बालस्याभिमानिके कर्तृत्वादिमति ससङ्गरूप एव ससाधनं सोपकरणं दुःखं जायत इति द्वयोरर्थः।।४८३-४८४।। दार्ष्टान्तिकमाह—असङ्गेति। तथा विदुषो निःसङ्गस्य तद् अनिष्टं न जायते, भवताम् एव तु कर्तृत्वाद्यभिमानिनां तज्जायते दुःखसाधनक्रियावत्त्वेन योग्यत्वादित्यर्थः।।४८५।।

नन्वस्मदभिन्नस्यापि विदुषो न दुःखं जायतेऽस्माकमेव तु जायत इत्यत्र किं नियामकमिति चेद्? उपाधिस्थत्वाभिमानलक्षणं प्रतिबिम्बत्वमेव, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वादित्याह—अलङ्कारादिति त्रिभिः। यथा बिम्बभूतशरीरालङ्कारापकाराभ्यां प्रतिबिम्बस्य तथात्वं तथा विदुषो ब्रह्मभूतस्य बिम्बत्वाज्जीवानां च प्रतिबिम्बत्वाज्जीवैः कृतं सुखादिकं जीवैरेव सम्बद्ध्यत इति त्रयाणामर्थः। भागवतेप्युक्तम्—

आप लोग ब्रह्मज्ञको प्रतिकूल होने वाला जो थोड़ा भी कुछ करेंगे वह सब आपसे ही सम्बद्ध होगा, उसे उससे कोई अनिष्ट नहीं होगा। (देवता देहतादात्म्यग्रस्त अतः अनुकूल-प्रतिकूल भोगते हैं, विद्वान् उससे अग्रस्त रहता है, अतः भोगता नहीं। विवेकी पिता व्यापार चलाते हुए भी समझता है कि उसका समय पूरा हो रहा है, उस कारोबार की उन्नति-अवनति से उसे विशेष फायदा-नुकसान नहीं। यदि उसके पुत्र पिता का विरोध करते हुए कोई नुकसान का काम करें तो वह घाटा पुत्रों को ही दुःख देगा, पिता को नहीं। इसी तरह व्यापार स्थानीय शरीर से विज्ञ का अभिमान हट गया लेकिन उसी शरीर में पुत्रस्थानीय देवों का नहीं हटा, अतः शरीर के प्रतिकूल कुछ करें तो उसका दुःख देवों को ही होगा, ज्ञानी को नहीं। यद्यपि समष्ट्यभिमानी होने से व्यष्टि किसी शरीर को पीडादि से देवताओं को दुःख संभव नहीं तथापि तात्पर्य है कि ज्ञानी के शरीर-मन को दुःख पहुँचाने के लिये की गई देवचेष्टा का श्रम ही देवों को होगा, उस श्रमका फल जो दुःख होना चाहिये वह ज्ञानी को नहीं होगा।)।।४८२।। उदाहरण से समझो : कोई बालक अपनी प्रसन्न मुखमुद्रा दर्पण में देखकर प्रतिबिंबित मुँह को क़िसी अन्य क़ा समझता है तो उस प्रतिबिम्ब की मुस्कराहट मिटाने के लिये—उसे चिढाने के लिये—पहले अपना बिम्बरूप मुँह बिगाड़ता है तब उस प्रतिबिंबित मुँह को विकृत कर पाता है। प्रतिबिंबरूप दर्पणस्थ मुख क्योंकि उस मुखाकृति में आसक्ति वाला नहीं इसलिये उसे कोई थोड़ा भी दुःख होता हो ऐसी बात नहीं। जो भी दुःख होता है और कुरूपता लाने के उपाय करने पड़ते हैं वह सब कर्तृत्वादियुक्त बालक के ही पल्ले पड़ते हैं। ऐसे ही निःसंग विद्वान् के लिये कुछ अनिष्ट नहीं किंतु आप लोग भोक्तृत्वाभिमानी हैं अतः अनिष्ट व उसके साधन आपके ही लिये हैं। (अभिप्राय है कि जैसे प्रतिबिंब को अभिमान नहीं तो दुःख नहीं, वैसे ही ज्ञानी को भी अभिमान न होने से दुःख नहीं।)।।४८३-८५।।

भवन्तो यद्धि कुर्वन्ति शक्राऽस्य विदुषः सदा। भवतामेव तत् सर्वं सुखं दुःखं न संशयः।।४८८।।

जलेन पांसुना वापि च्छादयेद् यो दिवाकरम्। तस्यैवाच्छादकं भूयात् तद् द्रव्यं नात्र संशयः।।४८९।।

अज्ञानां पशुत्वम्

आत्मनो व्यतिरिक्तं ये देवमेतदुपासते। भवन्तो हि नियन्तारस्तेषां शक्र! न संशयः।।४९०।।

अज्ञानजा महाशाला गवां भेददृशामियम्। भवतामुपजीव्यानां निर्मिताऽत्र स्वयम्भुवा।।४९१।।

'नैवात्मनः प्रभुरलं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः'।।(७.९.११)।। इति।

मुखे बिम्बे श्रीः कृता सती प्रतिमुखस्य प्रतिबिम्बस्य सम्बन्धिनी भवतीति तुर्यपादार्थः।।४८६-४८८।।[1] मुखस्य बिम्बस्यालङ्कारादिसंसर्गेऽपि विदुषो न संसर्गलेशोप्यतः तत्पूजनादिकं पूजकात्मानं प्रत्येव सफलं भवतीति दृष्टान्तेनाह—जलेनेति। पांसुर्धूलिः। तस्य आच्छादकस्य एव इति।।४८९।।

एवं सफलं विद्यास्वरूपं दर्शितम्। अथ अविद्यास्वरूपादिप्रदर्शकस्य 'अथ योऽन्याम्' (बृ.१.४.१०) इत्यादेः 'विदुः' इत्यन्तस्य वाक्यस्यार्थमाह—आत्मन इति एकादशभिः। एतत् प्रसिद्धं यथा भवति तथा य आत्मनः सकाशाद् भिन्नं मत्वा देवताजातम् उपासते तेषां भेददर्शनलक्षणाविद्याशालिनां भवन्तो नियन्तारः प्रभवः। हे शक्र! इति।।४९०।। उक्तविधाज्ञानशालिनः पशुत्वं निरूपयति—अज्ञानजेति त्रिभिः। अज्ञानरूपमृत्काष्ठोपादानिका स्वयम्भुवा परमेश्वरेण निर्मिता इयं संसृतिरूपा महती शाला वर्तते। कीदृशी? भेददर्शिरूपाणां गवां वासस्थानमिति शेषः। कीदृशानां भेददर्शिगवाम्? अत्र व्यवहारभूमौ भवतां देवादीनाम् उपजीव्यानां हव्यकव्यादिरूपवृत्तिप्रदत्वेन[2] आश्रयभूतानामित्यर्थः।।४९१।।

(अब बिंब-प्रतिबिंब दृष्टान्त का दूसरे ढंग से उपयोग करते हैं—) हम अपने शरीर पर अलंकार पहनते हैं तो प्रतिबिंब भी अलंकृत होता है और शरीर को टेढा आदि करें तो वह भी वैसा हो जाता है। आप इंद्रादि सब जीव प्रतिबिंब हैं और ब्रह्मरूप विद्वान् बिम्ब है जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिंब होता है। हे इंद्र! आप विद्वान् के लिये जो करेंगे वह चाहे सुख हो या दुःख आपको ही मिलेगा इसमें संदेह नहीं (क्योंकि बिम्ब पर किये का प्रतिबिंब में असर दीखता है। इसका यह मतलब नहीं कि बिंब को दुःख होवे तब प्रतिबिंबों को दुःख होगा! यहाँ इतना ही तात्पर्य है कि उपाधि जैसे दर्पण, के विकार उपाधिस्थ में ही मिलेंगे न कि अनुपहित में, अतः क्षेत्र में हुए दुःखादि क्षेत्राभिमानी जीवों में ही होंगे, अनभिमानी ब्रह्म या ज्ञानी में नहीं)।।४८६-८८।। जल या धूल से जो सूर्य को ढाकने की कोशिश करता है वही उन चीज़ों से ढकता है, न कि सूर्य। ऐसे ही चाहे देवरूप ही क्यों न हो, जो कोई जीव तत्त्ववेत्ता का उपकार-अपकार करने का प्रयत्न करता है वह स्वयं ही उपकृत-अपकृत होता है, तत्त्वज्ञ तो सूर्य की तरह उस सबके संबंध की गंध से भी दूर रहते हैं।।४८९।।

हे शक्र! इसमें संदेह मत रखो कि तुम्हारा शासन उन्हीं पर चलता है जो देवताओं को—जैसा कि प्रसिद्ध है—स्वयं से भिन्न समझते हैं।।४९०।। स्वयंभू परमेश्वरने अज्ञानरूप मिट्टी आदिसे यह संसाररूप विशाल शाला बनायी है, जिसमें भेददर्शीरूप गायें रहती हैं, जिनका आप देवतादि उपजीवन करते हैं, उनके दिये हव्यादि से जीवनयापन करते हैं।।४९१।।

१. प्रतिबिम्बविकृतये यतमानबिम्बस्यैव विकारो, न प्रतिबिम्बस्यैवं विद्वांसं दुःखाकर्तुं चेष्टमानस्यैव दुःखमिति पूर्वमुपापादि। सम्प्रति जीवानां परमात्मप्रतिबिम्बतया तस्य निर्दुःखत्वे किमित्यमीषां क्लेश इत्याशङ्क्य उपाधिदोषान्वयस्यैव प्रतिबिम्बत्वादज्ञानरूपस्योपाधेर्दुःखत्वाज्जीवानामेव परिच्छिन्नानां तत्, न भूम्नइतीह न्यरूपीति न पूर्वापरविरोधावकाशः। २. स्वामिस्थानीया देवा भृत्यस्थानीया गावो मनुजा इति स्मर्तव्यम्।

कामक्रोधादयः स्थूणास्तत्र श्रान्ता सहस्रशः। तास्वेकैव निबद्धेयं वाक्तन्तिः सुदृढा भृशम्।।४९२।।

तत्र नामानि दामानि पशूनां बन्धनानि च। कामधेनुसमस्त्वज्ञो भवतां शक्र सर्वदा।।४९३।।

एक एव यतोऽज्ञोऽयं सर्वान् वः पाति नाकभाक्। पितॄन् मुनींश्च मनुजान् प्राणिनोऽन्यांश्च सन् गृही। स्वधास्वाहाहन्तकारप्रमुखैर्नित्यमेव सः।।४९४।।

मनुजानामनेके स्युः पशवो मनुजः स तु। एकैकस्यापि भवतामेक एव पशुस्त्वयम्।।४९५।।

देवा विद्याविघ्नकराः

चोरादिहरणाद् दुःखं पशोरेकस्य जायते। नरस्य किमु वक्तव्यं सर्वेषां हरणे सति।।४९६।।

सर्वेषां हरणे यावद् भवेद् दुःखं कुटुम्बिनः। भवतां तावदेव स्याद् नरस्याऽज्ञाननाशने।।४९७।।

कामेति। तत्र शालायां कामक्रोधादिरूपाः स्थूणाः श्रान्ताः भारेण व्याकुला इव स्थिताः सन्ति तासु कामादिरूपस्थूणासु एका विधिनिषेधात्मकवेदलक्षणवाग्रूपा तन्तिः दीर्घरज्जुर्बद्धा वर्तते। कामिन एव कर्माधिकाराद् निष्कामस्य तु ब्रह्मवित्त्वाद् न विधिकैङ्कर्यमिति भावः।।४९२।। तत्रेति। तत्र वाग्लक्षणदीर्घरज्जौ अधिकार्युपस्थापक ब्राह्मणादि नामानि दामानि प्रतिपशुनिवेशिस्वल्परज्जुभूतानि वर्तन्त इति। तथा च श्रुत्यन्तरं 'तस्य वागेव तन्तिर्नामानि दामानि' (ऐ.आ. १.६.१.) इत्यादि। तेषु दामसु बहूनामज्ञपशूनां बद्धत्वेऽपि यागदानादिकारिगृहस्थरूपः अज्ञः तु हे शक्र! भवतां देवादीनां कामधेनुसम इति।।४९३।। कामधेनुसमत्वमुपपादयति—एक एवेति। यतः अयं सन् यागादिकारिगृहस्थरूपः अज्ञः नाकभाक् स्वर्गार्हः वो युष्मान् देवान् स्वाहाकारेण, पितॄन् स्वधाकारेण, मुनीन् स्वाध्यायेन, अतिथीन् हन्तकारेण, अन्यान् प्राणिनः बलिप्रभृतिकर्मणा पाति इत्यर्थः। 'अथोऽयमात्मा सर्वेषां भूतानां लोकः' (बृ. १.४.१६) इत्यादिश्रुतेः।।४९४।। 'अज्ञ' इत्येकवचनतात्पर्यं दर्शयति—मनुजानामिति। मनुजानामेकैकस्यापि अनेके बहवः पशवः स्युः, भवतां देवादीनां तु स तु सद्गृहस्थरूपः मनुज एक एव पशुः कामधेनुवत् सर्वोपकारक इत्यर्थः।।४९५।।

'एकस्मिन्नेव' (बृ. १.४.१०) इत्याद्यंशस्यार्थमाह—चोरादीति पञ्चभिः। यथा बहुपशुकस्य नरस्य चोरादिकर्तृकैकपशुहरणेऽपि दुःखं, किमुत सर्वेषां हरणे सति! तत्र सर्वेषां पशूनां हरणे यादृशं दुःखं नरस्य जायते तादृशं दुःखं सर्वपशुस्थानीयस्य नरस्य मनुष्यस्य अज्ञाननाशनरूपे हरणे सति देवादीनां जायत इति द्वयोरर्थः।।४९६-४९७।। उपद्रवमिति। यथा इतस्ततो धावतां पशुहारिणाम् उपद्रवम् इष्टसिद्धिप्रतिबन्धोपायं नानाविधं यत्ताः सावधानाः सन्तो नराः कुर्युः तद्वद् भवन्तो देवा अपि ब्रह्मविद्याकामनया ब्रह्मचर्यादिसेविनामुपद्रवं बुद्धिविपर्ययात्मकं यथाशक्ति कुर्वते—इति द्वयोरन्वयः। अत्रायं श्रुतेराशयो भाष्यकारैः काकुस्वरसूचितो दर्शितः—

उस शाला में काम-क्रोध आदि हजारों खूटे गड़े हैं मानो बहुत भारसे दबे पड़े हों! वैदिक विधि-निषेध रूप लम्बी एक रस्सी उन खूँटों से बँधी हुई है। उस रस्सी पर ही थोड़ी-थोड़े अंतराल से छोटी-छोटी रस्सियाँ बँधी हुई हैं जिनसे एक-एक जानवर बाँधा जाता है : अधिकारी को उपस्थित कराने वाले ब्राह्मण आदि नाम ही वे छोटी रस्सियाँ हैं। यद्यपि बहुत-से पशु बँधे हैं तथापि याग-दान आदि करने वाले गृहस्थरूप अज्ञानी ही तुम्हारे लिये कामधेनु के तुल्य हैं।।४९२-९३।। कामधेनु जैसा इसलिये है कि स्वर्ग पाने में अधिकृत सद्गृहस्थ हमेशा आप सब की सेवा करता है : स्वाहा कहकर देवताओं के लिये अर्पण करता है, स्वधा कहकर पितरों के लिये भोज्य देता है, स्वाध्याय से ऋषियों की सेवा करता है, हन्त कहकर अतिथिसत्कार करता है और गोग्रासादि भेंट से अन्य प्राणियों का पालन करता है।।४९४।। मनुष्यों में तो एक-एक के पास अनेक गाय आदि जानवर होते हैं लेकिन आपके पास तो सिर्फ एक सद्गृहस्थ ही पशु है, जो आप सभी का उपकार करता है।।४९५।।

उपद्रवं यथा कुर्युः चोराणां पशुहारिणाम्। अहर्निशं नरा यत्ता इतश्चेतश्च धावताम्।।४६८।।

ब्रह्मविद्यार्थिनां तद्वद् ब्रह्मचर्यादिसेविनाम्। उपद्रवं भवन्तोऽपि यथाशक्ति प्रकुर्वते।।४६६।।

नराणामप्रिया तद्वदवध्याः पशुहारिणः। पाटच्चरास्तथैवैते विद्वांसो भवतामपि।।५००।।

तस्मादयं सर्वदेवरूपः शक्र तथैव हि। देवेभ्योऽभ्यधिको नास्य संनिधावनृतं वदेत्।।५०१।।

तस्मान्मुमुक्षुर्विद्याकामः श्रद्धादिसम्पन्नो देवाद्याराधनपरो भवेद् यथा ते सद्बुद्धिप्रदानेन प्रतिबन्धाद् रक्षेयुरिति। तदुक्तम्—'न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्। यं हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्'।। इति।। देवपराङ्मुखानां हि विघ्नप्राचुर्यं दृश्यते। तदुक्तम्—'प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः'।। (बृ. वा. १.४.१५८४) इति। विद्यासिद्ध्यनन्तरं तु न काचित् प्रतिबन्धाशङ्का, ज्ञानसमकालं सर्वात्मभावादिति पूर्वमुक्तम्।।४६८-४६६।। नराणामिति। यद्वत् पशुहारिणः पाटच्चराः चौरा येऽवध्याः हन्तुमशक्याः ते नराणामप्रियाः, तथा एते विद्वांसो भवतां देवादीनाम् अप्रिया इति। अत्राप्यात्मभूतानां विदुषामप्रियत्वानुपपत्तेः[1] 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' (गी. ३.२६) इत्यादिशास्त्रोल्लङ्घिनामेव विदुषां देवद्वेषविषयत्वम्। तत्रापि 'सविशेषणे ही' ति न्यायाद् विशेषणांश[2] एव द्वेष इति तात्पर्यं बोध्यम्।।५००।। फलितमाह—तस्मादिति। तस्माद् विद्यालाभात्पूर्वं विघ्नसम्भवेऽपि विद्याफलस्य देवैरपि प्रतिबद्धुमशक्यत्वाद् अयं विद्वान् सर्वात्मभूतत्वात् सर्वदेवरूपः तथा ब्रह्मभूतत्वाद् देवेभ्यः अधिकश्च। अस्य विदुषः संनिधौ अनृतम् आत्मेतरप्रियरूपं न वदेद् इति यदुक्तं तदुपपन्नमिति।।५०१।।

मनुष्य का एक जानवर भी चोर आदि हर ले जायें तो मुनष्य दुःखी होता है। यदि सभी का हरण हो जाये तो दुःख का क्या ठिकाना! कुटुम्ब के मुखिया को अपने सब जानवर अपहृत होने से जितना दुःख होता है उतना ही आपको होता है, यदि एक नर का भी अज्ञान नष्ट हो जाये, क्योंकि आपके लिये एक की ही वह कीमत है जो उसके लिये सबकी।।४६६-६७।। मनुष्य सावधान होकर रात-दिन उन पर प्रतिबंध का उपाय करते हैं जो चोर कहीं स्थायी न रहकर पशुओं का अपहरण करते हैं। ऐसे ही ब्रह्मविद्या चाहकर ब्रह्मचर्य आदि का पालन करने वालों के मार्ग में आप लोग पूरी ताकत से उपद्रव मचाते हैं। (सद्बुद्धिप्रदान ही देवरक्षा और दुर्बुद्धि पैदा करना उपद्रव है। अनेकाग्रता, बहिर्मुखता, चुगलखोरी, झगड़ालुपन आदि उपद्रव मानो देवताओं की मुमुक्षुमार्ग में रोड़े डालने की कोशिश हैं। ये मनोवृत्तियाँ उनमें भी मुखर हो जाती हैं जो सांसारिक लाभों के प्रति आपाततः अनाकृष्ट और निश्चेष्ट होते हैं। यद्यपि इनके लिये साधक उत्तरदायी है तथापि देवाराधन में उसे प्रवृत्त करने के लिये यह अर्थवाद होने से प्रकृत ढंग से कथन किया।)।।४६८-६६।। जो पशुहरणकर्ता चोर मारे नहीं जा पाते वे मनुष्यों को अप्रिय रहते हैं, ऐसे ही उनसे आप को कोई प्रेम नहीं जो ब्रह्मवेत्ता खुद मुक्त होकर दूसरों को मुक्ति दिलाते हैं।।५००।।

इस प्रकार निश्चित हुआ कि विद्याप्राप्ति में विघ्न संभव होने पर भी विद्यासे फल को देवता भी नहीं रोक सकते, अतः ब्रह्मवेत्ता सर्वरूप होने से सभी देवताओं का स्वरूप है तथा ब्रह्मरूप होने से देवताओं की अपेक्षा अधिक भी है। ऐसे विद्वान् की संनिधि में अनात्मा को प्रिय कहना रूप असत्यभाषण नहीं करना चाहिये यह पूर्व में (श्लो. ३८२) उचित ही कहा।।५०१।।

---

१. ब्रह्मविद्योपदेष्टारः पाटच्चरस्थानीया इति मूलेऽभिप्रेयतेऽत एव शक्रो दध्यञ्चमुपदेशान्निवर्तयिष्यति।। यद्यपि श्रुतिपुराणयोरेवमथापि देवानां दैवीसम्पद्युक्तिसंगतेरेतादृशमात्सर्यानुपपत्तिमाकलय्य टीकाकारो 'जोषयेत्सर्वकर्माणि' इति भगवदाज्ञोल्लङ्घिनामेव देवद्वेष्यत्वमिति व्याचष्टे। २. विशेषणांश इति शास्त्रोल्लङ्घन इति यावत्।

अज्ञानात् क्षयः

पुत्रादेः प्रियमात्मानमज्ञात्वा यो मृतिं व्रजेत् । आनन्दात्मप्रकाशेन सोऽपि तं पालयेद् न च । ।५०२ ।

अनधीतो यथा वेदः स्वप्रकाशाद् द्विजोत्तमम् । न पावयेत्तथा चान्यत् सुकृतं न कृतं च तत् । ।५०३ ।

अज्ञात्वा चैनमात्मानमश्वमेधादिकं[1] यदि । कुरुते तदपि क्षीणं पुनर्दुःखं प्रयच्छति । ।५०४ । ।

उपास्ते योऽपि चात्मानमशक्तो ज्ञातुमञ्जसा । ज्ञानकर्मप्रसादेन कालाद् विद्यां समाप्नुयात् । ।५०५ । ।

संसारेऽपि वसन् योऽयं नानैश्वर्यसमावृतः । हिरण्यगर्भेण समः स वा भूयात् कदाचन । ।५०६ । ।

यद्यत् कामयते तत्तत् सृजते जगदीश्वरः । हिरण्यगर्भोऽत्र यथा ज्ञानकर्मप्रसादतः । ।५०७ । ।

'अथ यो ह वा' (बृ. १.४.१५) इत्यादिकण्डिकाया अर्थमाह—पुत्रादेरिति सप्तभिः । पुत्रादेः सकाशात् प्रियमात्मानमज्ञात्वा एव यो म्रियते तस्य स्वरूपभूतोऽपि आत्माऽज्ञातः सन् आनन्दरूपाविर्भावेण तम् अज्ञं न पालयेत् जन्मप्रवाहाद् न रक्षेदिति । ।५०२ । । अज्ञात आत्मा न रक्षतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—अनधीत इति । यथा गुरुपुस्तकादिद्वारा संनिहितोऽपि[2] वेदः अनधीतः सन् स्वरूपप्रकाशेन न द्विजं पावयति न पूतं करोति । यथा वा अन्यत् सुकृतं यागादिरूपं कर्म ज्ञातमपि न कृतम् अननुष्ठितं सद् न फलाय प्रभवति; तथा आत्माप्यज्ञात इति । ।५०३ । । अज्ञात्वेति । एनमात्मानमज्ञात्वाऽश्वमेधादिकं महदपि कर्म कृतं सत् फलरूपेण क्षीणं भूत्वा दुःखम् एव ददातीति । ततो नित्यानन्दमिच्छताऽऽत्मज्ञाने यत्नः कर्तव्य इति भावः । ।५०४ । । उपास्त इति[3] । ज्ञानाशक्तावुपासनमपि वरम् । उपासको ज्ञानस्य उपासनस्य कर्मणश्च प्रसादेन प्रभावेण हि चित्तशुद्धिद्वारा इह ब्रह्मलोके वा काले[4] प्रतीक्ष्य विद्यां प्राप्नुयादिति । ।५०५ । । अवान्तरं फलमुपासनस्याह—संसारेऽपीति । स उपासकः उपासनोत्कर्षानुसारेण हिरण्यगर्भसाम्यपर्यन्तमैश्वर्यं लभत इत्यर्थः । ।५०६ । । ऐश्वर्यमभिनयति—यद्यदिति । हिरण्यगर्भवद् इच्छामात्रेण कामितं सृजत इति । ।५०७ । ।

पुत्रादि की अपेक्षा अधिक प्रिय अपने आत्मा को जाने बिना जो मर जाता है, जन्म-प्रवाह से उसकी रक्षा वह आत्मा भी अपने भूमस्वरूप के आविर्भाव द्वारा करता नहीं। बिना पढ़ा वेद अपना स्वरूप दिखाकर किसी उत्तम द्विज को भी पवित्र नहीं करता चाहे पुस्तकादि रूप में उसके पास मौजूद हो। पुण्य भी अनुष्ठित हुए बिना किसी को फलप्रद नहीं होता। ऐसे ही आत्मा अज्ञात रहते किसी को मोक्ष नहीं देता। ।५०२-५०३ । । इस आत्मा को बिना जाने चाहे अश्वमेध ादि ही क्यों न कर लिये जायें, उनका पुण्य क्षीण होकर दुःख ही देता है। अतः नित्य आनंद चाहने वाले को आत्म-ज्ञान के लिये प्रयासरत रहना आवश्यक है। ।५०४ । । आत्मा की सही समझ में असमर्थ व्यक्ति यदि नित्यकर्मादि करते हुए आत्मोपासना भी करता है तो उस उपासना व कर्म के प्रभाव से चित्तशुद्धिद्वारा कुछ समय में यहीं या ब्रह्मलोक में विद्या पा लेता है। (इस बात का खुलासा ध्यानदीपप्रकरण में देखना चाहिये।)। ।५०५ । । जो उपासक संसार से परे नहीं जा पाता वह भी विविध ऐश्वर्यों वाला हो जाता है, हिरण्यगर्भ की समानता पा जाता है। जैसे जगदीश्वर हिरण्यगर्भ, वैसे ही वह उपासक उपासना-कर्म के फलस्वरूप अपनी इच्छा से कामित वस्तुएँ उत्पन्न कर लेता है। ।५०६-५०७ । ।

---

१. बृहस्पतिसवादयो महान्तो यागा आदिपदार्थः । २. शब्दराशिर्वेदइति पक्षेऽपि व्यापकतया वेदस्य सर्वसंनिधिः, मनोमयः कोशो वेदः—तदंगानां वेदरूपत्वात्—इति मतेऽपि मनस्विमात्रसंनिधौ तत्सत्त्वम् । ३. अंजसा शीघ्रं यथावच्च । ४. कालो यत्नान्तरस्योपलक्षणम् । यद्वा 'तदेवाविर्भवेत्साक्षाद्' इत्युक्तेः प्रयत्नान्तरमन्तरेणैवेश्वरो निर्गुणतयाऽऽविर्भविष्यतीत्यर्थः । निर्विशेषाविर्भावस्यैव कैवल्यप्रयोजकत्वात्तस्येश्वरकृतत्वेनापि सिद्धेः साधकयत्नस्य वैयर्थ्यात् । न चैवं ज्ञानानैकान्त्यहानिरुक्ताविर्भावस्यैवाज्ञानबाधकतया ज्ञानत्वात् ।

इन्द्रताभिमानो वान्तवत्

ब्रह्मास्मीत्यनया बुद्ध्या साक्षाद्यः कुरुते पुमान्। तस्य सर्वमिदं हेयं वान्तं शक्र यथा तव।।५०८।।

पूर्णेतरस्य ज्ञानं न मोक्षाय

इतोऽन्यद्यो विजानाति नाऽसावात्मज्ञ ईरितः। यथा दृप्तोऽत्र बालाकिः गार्ग्यो हि विदितस्तव।।५०९।।

अजातशत्रुशिष्योऽभूद् गुरुत्वेन समागतः। तां कथां त्वं च जानीषे काश्यां वृत्तां महीतले। ततः शक्र न विज्ञेयमन्यत् किञ्चित् कदाचन।।५१०।।

मूर्तामूर्तयोर्न ब्रह्मता

इन्द्रियैरुपलब्धिर्या स्थूलार्थानां प्रकीर्तिता। स्थूलदेहे न तत् सर्वं भवेद्वात्मा यथा घटः।।५११।।

स्वप्नेऽपि मानसं यत् स्याद् मायामात्रं तदीरितम्। देशकालाद्यभावेन[1] गन्धर्वनगरोपमम्।।
तदप्यनात्मेति ज्ञेयं जनिमृत्योश्च योगतः।।५१२।।

ब्रह्मवित्त्वीश्वररूपेण[2] सर्वं सृजन्नपि न किञ्चित् कामयत इति विशेषमाह—ब्रह्मास्मीति। ब्रह्मास्मीति आकारया बुद्ध्या य आत्मानं साक्षात् कुरुते तस्य विदुष इदं सर्वं दृश्यजातं हेयम् एव, हे शक्र! यथा तव देवराजत्वाभिमानिनो वान्तान्नं हेयमिति।।५०८।।

अथ चतुर्थाध्यायतात्पर्यप्रदर्शनमुपक्रममाणो यद् आत्मब्राह्मणे[3] तृतीयाध्यायगते विधिमुखेन प्रदर्शितं तत्त्वम् एतदेव मूर्तामूर्तब्राह्मणे निषेधमुखेनोच्यत[4] इति सूचयन्नजातशत्रुब्राह्मणं व्याख्यातमिति दर्शयति —इतोऽन्यदिति द्वाभ्याम्। इतो विधिमुखेन वर्णितात्मस्वरूपाद् अन्यत् प्राणादिरूपं य आत्मत्वेन जानाति असौ अनात्मज्ञ एव बालाकिवदिति महीतले प्रसिद्धमिति शेषः।।५०९।। फलितमाह—तत इति।।५१०।।

अथ मूर्तामूर्तब्राह्मणतात्पर्यार्थमभिनीय दर्शयति—इन्द्रियैरिति चतुर्भिः। या स्थूलदेहेऽभिमानिन इन्द्रियैः स्थूलार्थानामुपलब्धिः जागरणसंज्ञा उक्ता तत् सर्वं जाग्रत्त्रिपुटीरूपं साक्षिभास्यत्वेन[5] दृश्यत्वाद् घटवद् अनात्मैवेत्यर्थः।।५११।। स्वप्नेऽपीति। स्वप्नेऽपि यद् मानसं मनोविकारभूतं त्रिपुटीरूपं तन्मात्रमित्युक्तम्। तथा च भगवद्व्याससूत्रं 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वाद्' (३.२.३) इति। तदपि गन्धर्वनगरोपमत्वाज्जनिमृत्युयोगाच्च[6] अनात्मेति ज्ञेयम् इति।।५१२।। नाडीभिरिति। यः पुरीतद्रूपदुर्गमध्यगते हृदये

हे शक्र! 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जिसे आत्मसाक्षात्कार है उसके लिये सारा दृश्य संसार—जैसे तुम्हारा इन्द्र होने का अभिमान—पलटी किये अन्न की तरह त्याज्य है!।।५०८।।

पूर्वोक्त पूर्णात्मा से अन्य जिस-किसी का जानकार आत्मज्ञानी नहीं कहलाता जैसे दर्पयुक्त गार्ग्य बालाकि। भूतल के उस अभिमानी प्राणवेत्ता की अज्ञता आपसे छिपी नहीं है।।५०९।। गार्ग्य आया था अजातशत्रु का गुरु बनने और चेला बनकर लौटा! पृथ्वी पर काशी में हुआ वह वाकिया आप जानते ही हैं। अतः हे इन्द्र! आत्मासे अन्य कुछ भी कभी ज़ानने लायक नहीं है।।५१०।।

---

१. देशेति, उचितेति विशेषणीयम्। कार्यकारणताऽदिपदार्थः। २. ततश्च मुक्तरूपेण न कामयते न वा सृजते। ईश्वररूपेण 'सोऽकामयते' त्यादिसिद्धकामनया 'तत्तेजोऽसृजते' त्यादिश्रुत्युक्तसृष्टिमपि करोति न चैकस्य द्वैरूप्यायोगो, 'भ्रमादलभ्यं न हि किञ्चिदस्तीति' न्याय्यत्वात्। ३. उपनिषत्क्रमेण द्वितीयाध्याये आत्म-शिशु-मूर्तामूर्त-मैत्रेयी-मधु-वंशेति षड् ब्राह्मणाः। ४. अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव सूक्ष्मवस्तुसमर्पणौचित्यात्। ५. अनुव्यवसायस्य घटविषयकत्ववत्साक्षिभास्यतापि घटस्योन्नेया। ६. स्वप्ने मिथ्यात्वेन आद्यन्तत्वयोर्गृह्यते व्याप्तिर्येन जागरेऽसत्यता बोध्येति भावः।

नाडीभिर्हृदये गत्वा पुरीतद्दुर्गमध्यगे। अज्ञो भवति यः सोऽपि तेनानात्मा समीरितः। अज्ञत्वाद् घटवत् किन्तु स्वप्रकाशवपुर्हि सः। ।५१३। ।

सुषुप्ते हृदये योऽत्र यश्च स्वप्नेऽपि मानसे। देहे जागरणे योऽपि स आत्मा शक्र कथ्यते। ।५१४। ।

सत्यस्य सत्यम्

ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यस्य ह्यन्तःकरणमप्यदः। जायन्ते च विलीयन्ते जन्तोः सुप्तेर्गमागमे। ।५१५। ।

प्राणो यद्यपि नैवायं लीयते जायते च नः। सुप्तौ तेन भवेत् सत्यः तथाप्यस्मादसौ परः। ।५१६। ।

प्राणो जडस्तथाऽनात्मा तत एवापरः स्मृतः। सत्यस्य सत्य इत्येतदस्य नाम ततोऽभवत्। ।५१७। ।

नाडीद्वारेण गत्वाऽज्ञो भवति सोऽपि तेन अज्ञानविशिष्टित्वेन अज्ञत्वात् चिद्भिन्नत्वाद् घटवदनात्मा मुख्यात्मभिन्न इत्युक्तः, विशिष्टकेवलयोर्भेदादिति भावः। तर्हि किंस्वरूप आत्मेति पृच्छति—किन्त्विति। उत्तरयति—स्वप्रकाशेति। स हि निश्चयेन स्वप्रकाशरूप इत्यर्थः। ।५१३। । सुषुप्त इति। यः सुषुप्तावस्थायां हृदये कीर्तितः, स्वप्नकाले तु मनसि कीर्तितः, जागरणे तु स्थूलदेहे कीर्तितः स आत्मा अत्र प्रकरणे हे शक्र! कथ्यते निषेधमुखेन निरूप्यत इत्यर्थः। ।५१४। ।

अथ प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सार्थकं नाम यत् कौषीतकिना इन्द्रभयान्नोक्तमित्युक्तं[1] तत् तावद् दर्शयति—ज्ञानेति चतुर्भिः। सान्तःकरणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियाणां सुप्तेः गमेऽन्त आगम आदौ च यथोक्तमुत्पत्तिविनाशशालित्वमत एषाम् असत्यता स्पष्टेति भावः। ।५१५। । प्राण इति। यद्यपि प्राणः सुप्तौ न लीयतेऽत एव तदन्ते न जायत इति सत्यः, तथापि अस्मात् प्राणाद् असौ आत्मा परः परमार्थसत्यत्वेनोत्कृष्टः। ।५१६। । प्राणो जड इति। प्राणो हि यतो जडः अनात्मा च अत एव अपरः अपकृष्टः। एवं सति सत्यस्य सत्य इति नाम आत्मनः सिद्धमिति। ।५१७। । 'प्राणा वा' (२.१.२०) इत्यादिश्रुत्यनुसारिणीं नामव्युत्पत्तिमाह—सत्यमिति। भूतभौतिकसमुदायः

स्थूलदेह में अभिमान वाले को इंद्रियों से स्थूल विषयों की जो उपलब्धि होती है, जिसे जागरण कहते हैं, वह सब उपलब्धा, उपलभ्य व उपलब्ध—साक्षिभास्य अतः दृश्य होने से घटादि की तरह अनात्मा ही है। ।५११। । सपने में भी जो मनोविकार अर्थात् मनःकार्यात्मक त्रिपुटी हुआ करती है वह भी मायामात्र कही गयी है। उचित देश काल आदि से असंबद्ध होने के कारण वह गंधर्वनगर की तरह असत्य है। उत्पत्ति-विनाश वाला होने से स्वप्न प्रपंच भी अनात्मा ही है यह समझ लेना चाहिये। ।५१२। । पुरीतत् अर्थात् शरीर में स्थित हृदयमें नाडियों द्वारा जाकर जो अज्ञावस्था में रहता है वह भी क्योंकि अज्ञानविशिष्ट अतः अज्ञ है इसलिये चेतन न होने के कारण घटकी तरह अनात्मा ही है। आत्मा तो वह है जिसका स्वरूप स्वप्रकाश है। ।५१३। । जिसे सुषुप्ति के समय हृदय में, स्वप्न के समय मन में और जाग्रत् के समय शरीर में कहा जाता है उस आत्माका इस प्रकरण में निषेधमुखसे—मूर्तामूर्तभेदेन—निरूपण किया गया है। (बृहदारण्यक के द्वितीयाध्याय में प्रारंभ का प्रसंग गार्ग्यकथा द्वारा पूर्व में बता चुके हैं। उसका संकेत देकर तृतीय ब्राह्मण का सारार्थ बताया जा रहा है जिसमें 'नेति नेति' और 'सत्यस्य सत्यम्' का उपदेश है।)। ।५१४। ।

इन्द्र के डर से कौषीतकिने ब्रह्म का जो सार्थक नाम नहीं लिया था उसे बताते हैं : सर्वलोकप्रसिद्ध जन्तु की सुषुप्ति आने पर ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ व यह अन्तःकरण विलीन हो जाते हैं तथा सुषुप्ति समाप्त होने पर उत्पन्न हो जाते हैं। एवं च जन्म-नाश वाले होने से असत्य ही हैं। ।५१५। । यद्यपि हमारा प्राण सुषुप्तिनिमित्तक जन्म-नाश से रहित होने से सत्य है तथापि प्राण की अपेक्षा आत्मा पारमार्थिक सत्य होने से उत्कृष्ट है। ।५१६। । प्राण इसीलिये अपकृष्ट

१. पुराणे गताध्यायावसाने।

सत्यं वेदे समुद्दिष्टं सप्राणं भूतभौतिकम्। तस्यायं कारणं यस्मात् सत्यसत्यस्ततः पुमान्।।५१८।।

षष्ठ्यन्तसत्यपदार्थः

प्रत्यक्षयोग्यं लोकेऽस्मिन् प्रसिद्धं स्थितिमत्तथा। मूर्तं सन्दृष्टनाशं च सदित्येतद्धि गीयते।।५१९।।

तस्यैतस्य समुक्तस्य[1] सतः सार उदाहृतः। मण्डलं सवितुर्योऽयं तापात्मा पुरुषः परः।।५२०।।

परोक्षं शास्त्रगम्यं यत् प्रसिद्धं गतिमत्तथा। अदृष्टनाशं तज्ज्ञेयं त्यच्छब्देन समीरितम्।।५२१।।

सप्राणत्वात् छत्रिणो यान्तीतिवत् प्राणपदार्थः सत्यः। तस्य विवर्तोपादानत्वात् पुरुषः सत्यसत्य इत्युक्तः इति।।५१८।।

ननु अनृतस्य प्राणभूतभौतिकसमुदायस्य कथं सत्यपदार्थता?—इत्याशङ्कां वारयन् मूर्तामूर्तब्राह्मणकण्डिका-पञ्चकस्यार्थमाह[2]—प्रत्यक्षेति दशभिः। नीरूपस्यापि ब्रह्मणः प्रतिपत्त्युपायभूते द्वे रूपे। तत्राद्यं रूपं चतुर्विशेषणकम्। तत्र प्रत्यक्षयोग्यत्वेन लोकप्रसिद्धत्वात् सदित्युच्यते, परिच्छिन्नत्वात् स्थितिमद् इत्युच्यते, दृश्यमानावयवरचना-विशेषशालित्वाद् मूर्तम् इत्युच्यते, सन्दृष्टनाशकत्वाद् मर्त्यमित्युच्यत इत्यर्थः।।५१९।। तस्यैतस्येति।[3] तस्यैतस्य आद्यरूपस्य समुक्तस्य सतः स्थितत्वादिरूपेण वर्णितस्य सवितृमण्डलं सारो गोरसे नवनीतवत् प्रधानमुक्तः सर्वरूपाभिव्यञ्जकत्वादिति। किन्तन्मण्डलमत आह—योऽयमिति। अपरोक्षः तापात्मा तपनस्वभावः परः पुरुषः परमेश्वरविग्रहः प्रसिद्ध इत्यर्थः।।५२०।। द्वितीयरूपमपि[4] चतुर्विशेषणकत्वेन दर्शयति—परोक्षमिति। यद् द्वितीयं रूपं तत् परोक्षत्वेन शास्त्रमात्रगम्यत्वात् त्यच्छब्देन उक्तं ज्ञेयं, व्यापकत्वाद् गतिमद् इत्युक्तं, तथा अदृष्टसन्निवेशकत्वाद् अमूर्तमिति, अदृष्टनाशकत्वाद् अमृतमित्युक्तमिति।।५२१।। अस्य त्यस्येति। अस्य समुक्तस्य वर्णितस्य त्यस्य त्यच्छब्दार्थस्य सारः सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती लिङ्गसमष्टिरूपः हिरण्यगर्भाख्यः पुरुष उक्तः। तच्छरीरारम्भाय सूक्ष्मभूतसृष्टेरिति

समझा जाता है कि ज्ञानात्मक न होने से जड तथ साक्षिभास्य होने से अनात्मा (अप्रत्यक्) है। इसलिये आत्मा का यह नाम सिद्ध होता है—'सत्य का सत्य'।।५१७।। प्राणसमेत भूत-भौतिक प्रपंच वेदमें सत्य कहा गया है। उस प्रपंच का विवर्तोपादान कारण होने से यह परम पुरुष सत्त्यसत्य (सत्य का सत्य) कहलाता है।।५१८।।

उक्त नाममें जो पहला सत्त्यशब्द है वह अपारमार्थिक सत्य कहता है। इसे बृहदारण्यक में (२.३) जिस ढंगसे समझाया है उसी तरह व्याख्या करते हैं—ब्रह्म है नीरूप लेकिन उसकी प्रतीति का उपाय बनने वाले दो रूप भी हैं जिनमें पहले रूप की चार विशेषतायें हैं—इन्द्रियों से ज्ञेय और लोकप्रसिद्ध होने से वह सत् कहलाता है। परिच्छिन्न होने से उसे स्थितिमत् (स्थिति वाला या रुका हुआ) कहते हैं। उसके अवयव जिस ढंग से जुड़े हैं वह प्रत्यक्ष होता है अतः उसे मूर्त कहना संगत है। उसका नाश उपलब्ध हो जाने से वह मर्त्य भी कहा जाता है। (सत्, स्थित, मूर्त और मर्त्य—ये चार विशेषण हैं तथा इनसे विशिष्ट हैं पृथ्वी-जल-तेज ये तीनों महाभूत। एवं च सत्य शब्द के 'सत्' हिस्से से इन्हें कहा जाता है।)।।५१९।। यों भली-भाँति कहा जो यह सत् है उसका सार अर्थात् प्रधानभाग यह प्रत्यक्षदृश्य सूर्यमण्डल है, जिसका स्वभाव ही तपना है और जो परमेश्वर के विग्रह रूपसे प्रसिद्ध है। (भगवान् की आठ मूर्तियों में सूर्य गिना गया है।)।।५२०।। ब्रह्मप्रतीति का उपायभूत जो दूसरा रूप है उसकी भी चार विशेषतायें हैं—इन्द्रियगोचर न होने से

१. सम्यगुक्तस्येत्यर्थः। २. 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च, सच्च त्यं च', इति प्रथमकण्डिका। ३. 'तदेतन्मूर्तं तदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च, एतन्मर्त्यम् एतत् स्थितमेतत् सत्; तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति, सतो ह्येष रसः।' इति द्वितीयकण्डिका। ४. 'अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद् यत् एतत् त्यं, तस्यैतस्य अमूर्तस्यैतस्य अमृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, त्यस्य ह्येष रसः इत्यधिदैवतम्' इति तृतीया।

अस्य त्यस्य समुक्तस्य सवितुर्मण्डले पुमान्। सार उक्तोऽत्र विद्वद्भिः अधिदेवसमाश्रयात्। ।५२२। ।
अध्यात्मेऽपि च सारत्वं विज्ञेयं पूर्ववद् द्वयोः। चक्षुः सारः सतो ज्ञेयो दक्षिणेऽक्षण्ययं परः।
पुमांस्त्यस्य च सारः स्यादसारं भूतपञ्चकम्। ।५२३। ।
पृथिव्यापस्तथा तेजः सदित्येतदुदाहृतम्। वायुस्तथान्तरिक्षं च त्यदित्येतदिहोच्यते। ।५२४। ।
मण्डलं सवितुश्चक्षुः पुरुषस्याऽपि दक्षिणम्। एकमेव समुद्दिष्टं मूर्तं भूतत्रयात्मकम्। ।५२५। ।

भावः। एवमधिदैवं रूपद्वयं दर्शितमित्यर्थः। अत्र 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै. २.१) इत्यादिश्रुतौ यथा अन्नमयकोशे पुरुषशब्दप्रयोगः, तथा सूक्ष्मशरीरे बोध्यः। ।५२२। । अध्यात्ममपि[1] रूपद्वयं दर्शयति—अध्यात्मेऽपीति। अध्यात्मेऽत्र सङ्घातेऽपि स्थितयोः द्वयो रूपयोः पूर्ववत् सारभावो बोध्यः। तदेवाभिनयति—सत्पदार्थस्य सारः चक्षुरात्मको बोध्यः, 'शश्वद्धैरेतसः सिक्तस्य चक्षुषी एव प्रथमं सम्भवत' इति श्रुतेः चक्षुषः प्राधान्यादिति भावः। तथा[2] दक्षिणेऽक्षणि विशेषेण वर्तमानः परः स्थूलापेक्षया श्रेष्ठः पुमान् सूक्ष्मव्यष्टिरूपः त्यच्छब्दार्थस्य सूक्ष्मस्य सारो बोध्यः पूर्ववद् इति। इतो रूपद्वयादन्यद् भूतपञ्चकमसारम् इति। ।५२३। । सत्पदस्य त्यत्पदस्य चार्थावभिनीय दर्शयति—पृथिवीति। पृथिव्यादित्रयं प्रत्यक्षत्वात् सदिति उक्तं, वाय्वाकाशौ तु परोक्षत्वात् त्यदिति। एतेन 'सच्च त्यच्च सत्यम्' (द्रष्टव्य तै. २.६.१.) इति व्युत्पत्त्या सत्यशब्दस्यानृतेऽपि प्रयोग उपपन्न इति सूचितम्। ।५२४। । स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योः अभेदं साराऽभेदमुखेनाह— मण्डलमिति। सवितुः मण्डलं तथा पुरुषस्य दक्षिणं चक्षुः च एतद्द्वयमभिन्नमेव मूर्तभूतत्रयात्मकत्वाविशेषादिति। ।५२५। ।

वह शास्त्रके सहारे समझ आता है अतः त्यत् कहलाता है। क्योंकि वह व्यापक है इसलिये हर ओर गया हुआ अर्थात् गतिमान् कहा जाता है। उसकी संरचना प्रत्यक्ष नहीं जिससे वह अमूर्त है। तथा उसका नाश नहीं भासता अतः अमृत कहलाता है। (त्यत्, यत्, अमूर्त, अमृत—ये चार विशेषण हैं जिनसे विशिष्ट हैं वायु और आकाश ये दो महाभूत। इस तरह 'सत्त्य'-शब्दके 'त्य'-हिस्से से इन्हें कहते हैं। आकाशादि पाँच भूत ही इस सारे संसारके रूप में हैं अतः सत्-त्य कहने से समूचा संसार कह दिया जाता है।)। ।५२१। । यों वर्णित त्यत्-शब्दार्थ का सार या प्रधानभाग वह हिरण्यगर्भ पुरुष है जो सूर्यमण्डल में वर्तमान है और समष्टि सूक्ष्मशरीरात्मक है। मण्डल अधिभूत है तथा उसका सार है अधिदेव। यह समझकर ही विद्वान् उसे त्यत् का सार कहते हैं। (सूक्ष्मशरीर ही मण्डलान्तर्वर्ती पुरुष कहा गया है, चेतन नहीं; जैसे तैत्तिरीय में अन्नमयादिकोषों को पुरुष कह दिया है वैसे समझना चाहिये। मण्डल स्थूल शरीर और सार सूक्ष्मशरीर है।)। ।५२२। । अध्यात्म में अर्थात् व्यष्टिशरीरों के विषयमें भी पूर्वोक्त तरह से साररूपता समझ लेनी चाहिये—सत्-पद के अर्थ का (स्थूलशरीर का) सार है चक्षु (आँख का गोलक)। त्यत्पद का अर्थ जो सूक्ष्म उसका सार वह सूक्ष्मव्यष्टि है जो दायीं आँख में विशेषतः अभिव्यक्त है और स्थूल की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इन समष्टि-व्यष्टि सारों से अन्य जो अवशिष्ट महाभूतांश हैं वे निःसार हैं। ।५२३। । पृथ्वी, जल व तेज सत् कहलाते हैं और वायु व आकाश त्यत् कहलाते हैं। (एवं च अबाध्यतारूप सत्यता से असम्बद्ध ही सत्त्यशब्दार्थ प्रसिद्ध हो जाता है जिसमें सापेक्ष सत्यता भी होने से वह सत्यशब्द के शक्तिग्रहण का स्थल बन जाता है।)। ।५२४। । सूर्य का मण्डल और अध्यात्मसंघात की दायीं आँख, ये अभिन्न ही हैं क्योंकि तीनों मूर्तभूतों के ही संनिवेश हैं। ।५२५। । सूर्यमण्डलमें और दायीं आँख में एक ही अमूर्त पुरुष है, दोनों सूक्ष्म भी अभिन्न हैं। स्थूल की अपेक्षा भीतरी होने से ही उसे आत्मा कह दिया है, ज्ञानात्मकता के तात्पर्य से नहीं। ।५२६। ।

---

१. 'अथाध्यात्मम् इदमेव मूर्तं यदन्यत् प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतद् मर्त्यमेतत् स्थितम् एतत् सत्, तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्य एतस्य स्थितस्य एतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः' इति चतुर्थी। २. 'अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्य अमूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः त्यस्य ह्येषो रसः' इति पंचमी।

मण्डले सवितुर्योऽयं यश्चायं दक्षिणेऽक्षणि। अमूर्त एक एवाऽयं पुमानात्मेत्युदाहृतः।।५२६।।

वाय्वाकाशौ सुसूक्ष्मौ तौ विद्येते भूजलाग्निषु। पञ्चीकरणतस्तेन स्थूलं देहमिदं स्मृतम्।।५२७।।

खवाय्वोरपि विद्यन्ते सूक्ष्मास्ते भूजलाग्नयः। तेन सूक्ष्ममिदं देहममूर्तः पुरुषः स्मृतः।।५२८।।

सूक्ष्मदेहस्य रूपाणि

सूक्ष्मदेहस्य रूपाणि वासनाजान्यनेकशः। विद्यन्ते कानिचित्तानि शक्र वक्ष्यामि तेऽधुना।।५२९।।

हरिद्रारूषितं वस्त्रं यादृशं तादृशः पुमान्। क्वापि क्वापि भवेत् सोऽयं यथा श्वेतोऽत्र कम्बलः।५३०

इन्द्रगोपो यथा रक्तः तथा क्वापि भवेत् पुमान्। अग्नेरर्चिर्यथा दीप्ता पुमानेष तथा क्वचित्।।५३१

एवं सूक्ष्माभेदोऽपि बोध्य इत्याह—मण्डल इति। स्थूलान्तरत्वाद् आत्मेत्युक्तः अमूर्तः पुरुष उभयत्र एक एव इत्यर्थः।।५२६।। ननूक्तविधया स्थूलस्य भूतत्रयात्मकत्वे सूक्ष्मस्य भूतद्वयात्मकत्वे च शरीरत्वं न स्यात् 'पञ्चात्मकं पञ्चगुणम्' (द्रष्टव्य गर्भ. १) इत्यादिश्रुत्या शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वप्रसिद्धेः?—इति शङ्कां वारयन् शरीरत्वं साधयति— वाय्वाकाशाविति द्वाभ्याम्। पञ्चीकरणबलेन वाय्वाकाशयोः स्थूलेऽपि वर्तमानत्वात् स्थूलस्य देहत्वमित्यर्थः।।५२७।। खवाय्वोरिति। सूक्ष्मारम्भकयोः खवाय्वोः सूक्ष्मरूपेण[1] पृथिव्यादीनामपि वर्तमानत्वाद् अमूर्तः पुरुषः सूक्ष्मदेहसञ्ज्ञको बोध्य इति।।५२८।।

षष्ठकण्डिकाया[2] अर्थमाह—सूक्ष्मेत्यादिना। तत्र देहद्वयमध्ये सूक्ष्मदेहस्य तार्किकाणामात्मत्वप्रकारकभ्रमविषयस्य पूर्वपूर्ववासनाजन्यानि नानाविधानि रूपाणि विद्यन्ते तेषु कानिचिद् रूपाणि शृण्विति।।५२९।। हरिद्रेति। हरिद्रया रूषितं, रूष भूषायाम् (भ्वा.प.से.), रक्तमिति यावत्; तादृशवस्त्रसमरूपः क्वापि पुरुषो रजसा भवति यथा नार्यादिदर्शनकाल इति। क्वापि कुत्रचित् श्वेतकम्बलसमाकारः पुरुषो भवति; यथा पर्वतकम्बल ईषत्पाण्डुः पुरुषश्च तद्वत् सत्त्वेन श्रद्धादिमान् रजसा च रोषादिमानपीति यावत्।।५३०।। इन्द्रेति। इन्द्रगोपो वर्षाकालिको जन्तुविशेषः तद्वद् अत्यन्तरक्तरूपो भवति। यथा एकान्ते स्थितोऽपि रजसोऽतिशयेन विषयस्मरणपरः। क्वचित् च अग्नेः ज्वाला यथा प्रकाशमाना दहन्ती च तत्समरूपो भवति। यथा सत्त्वगुणेन विद्यावानपि रजसा ईर्ष्यादिना परेषां दुःखकर इति।।५३१।।

(स्थूल शरीर भूतत्रयरूप कहने पर प्रश्न होगा कि फिर उसे पाँचभौतिक क्यों माना जाता है? इसका उत्तर देते हैं—) सुतराम् सूक्ष्म जो वायु और आकाश वे पंचीकरण के कारण भूमि-जल-अग्नि में भी मौजूद हैं जिससे यह दृश्यमान देह स्थूल और पांचभौतिक समझा जाता है।।५२७।। सूक्ष्मशरीर के उत्पादक आकाश-वायु में भी सूक्ष्मरूप से, बीजरूपसे, भू-जल-अग्नि विद्यमान हैं, जिससे अमूर्त पुरुष को सूक्ष्मदेह-नामवाला समझना संगत है। (शरीर या देह पांच-भौतिक ही होता है यह व्याप्ति मानकर देहता उपपन्न करने के लिये यह ढंग अपनाया है।)।।५२८।।

हे शक्र! उक्त दोनों देहों में से जो सूक्ष्मदेह है, जिसे तार्किक लोग आत्मा मान बैठे हैं, उसके नाना प्रकार के रूप हैं जो पूर्व-पूर्व वासनाओं से बन जाते हैं। कुछ रूप मैं तुम्हें बताता हूँ सुनो।।५२९।। कभी पुरुष वैसा लाल होता है जैसा हल्दी से रंगा कपड़ा। (नारी आदि दीखने पर रजो गुण बढ़े तो यह रूप होता है।) कभी यह ऐसे रंग का होता है जैसे सफेद कंबल का रंग हो। (कंबल हल्के पीलेपन वाली सफेदी लिये रहता है। श्रद्धादि व क्रोधादि दोनों रहने पर सत्त्व-रज दोनों की कार्यकारिता होने से पुरुष का यह रंग होता हैं। पुरुष से सूक्ष्मशरीर कह रहे हैं यह तो स्मर्तव्य ही है।)।।५३०।। कभी पुरुष इन्द्रगोप की तरह गहरा लाल हो जाता है। (एक लाल रंग का बरसाती कीड़ा इंद्रगोप

१. कारणरूपेण, बीजतया, संस्कारतया, आवृतत्वेनेति यावत्। २. 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं—यथा माहारजनं वासः, यथा पाण्ड्वाविकं, यथेन्द्रगोपः, यथाग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकं, यथा सकृद् विद्युत्तम्' इति।

सिताम्भोजं यथा शुभ्रं मृदुलं च तथा पुमान्। क्वचित् क्वचिच्च पुरुषो विद्युद्दीप्तिसमो भवेत ।।५३२
विद्युद्दीप्तिसमाना श्रीरस्य पुंस उपासनात्। रागिणो जायते शक्र रागः शस्तो न कर्हिचित्।।५३३।।
एवमादीनि रूपाणि शक्र सन्ति सहस्रशः। तानि वक्तुं न शक्तोऽहं श्रुतिश्चाऽपि महात्मनः।।५३४।।
अविद्याकार्यमखिलं स्थूलसूक्ष्मात्मकं द्वयम्। अस्मिन्ननुगताऽविद्या तन्तवोऽत्र पटे यथा।।५३५।।

नेतिवाक्यस्यार्थः

स्थूलं सूक्ष्मं च साविद्यमिति यत् कथितं मया। न तदात्मेति विज्ञेयं दृश्यत्वेन घटो यथा।।५३६।।

सिताम्भोजमिति। यथा श्वेतकमलं स्वभावतः शुद्धत्वकोमलत्वादिमद् भवति तथाविधः क्वचित् पुरुषः जन्मनैव शमादिमान् भवतीति। क्वचिद् उत्कृष्टसत्त्ववशाद् विद्युद्दीप्तिवत् सर्वभासकज्ञानवान् भवति यथा हिरण्यगर्भः 'सह सिद्धं चतुष्टयम्' (वायुपु. पूर्वा. १.३) इति वचनात्।।५३२।। हिरण्यगर्भवत् सर्वज्ञताऽपि सकामोपासनफलत्वेन अनित्यतादिदोषशालित्वाद् मुमुक्षुभिर्न कामनीयेत्याह— विद्युद्दीप्तीति। रागिणः सकामस्य पुंसः सा जायते; रागः कामस्तु कस्यापि विषयस्य न युक्तो न योग्यः स्वरूपानन्दप्रतिबन्धकत्वादिति भावः।।५३३।। एवं ज्ञानकर्मवासनाभिव्यक्तगुणवशाद् नानाविधानि अमूर्तपुरुषस्य रूपाणि। सर्वाणि मया श्रुत्या च न गणयितुं शक्यानि इत्याह—एवमादीनीति।।५३४।। एवं वर्णितस्य रूपद्वयस्य निषेधयोग्यतां स्फुटयन् अज्ञानप्रयुक्ततामाह —अविद्येति। अस्मिन् द्वयेऽनुगता तादात्म्येन सम्बद्धा।।५३५।।

निषेधांशं व्याचष्टे—स्थूलमिति। स्थूलं सूक्ष्मम् अविद्या च एतत् त्रयमपि नात्मा दृश्यत्वाद् घटवदिति प्रथमनकारार्थ इति भावः।।५३६।।

है। एकांत में विषय याद आने से रजोगुण अधिक बढे तो यह रंग होता है। विषय पास रहते तो भोगमात्र का श्रम चाहिये अतः रजोगुण कम रहेगा जबकि विषय न होने पर उसकी प्राप्ति के लिये भी श्रम चाहिये अतः रजोगुण अधिक होगा।)। कभी पुरुष वैसे रूप वाला होता है जैसा प्रकाशमान जलती हुई अग्नि-ज्वाला। (सत्त्वगुणसे विद्यावान् जब रजोगुणवश ईर्ष्यादि द्वारा अन्यों को दुःख देता है तब ऐसा रंग होता है।)।।५३१।। जैसे श्वेतकमल शुभ्र और कोमल होता है वैसे ही कभी पुरुष होता है जैसे वह जो जन्मतः ही शमादि वाला हो। कभी पुरुष बिजली की चमक जैसा होता है, उदाहरणार्थ हिरण्यगर्भ जो उत्कृष्ट सत्त्व के कारण सर्वभासक ज्ञान वाले हैं।।५३२।। इस पुरुष की उपासना से रागवान् की ऐसी श्री—सर्वज्ञता— होती है जो बिजली की चमक की तरह हो। किन्तु इन्द्र! किसी भी विषय के प्रति राग अर्थात् कामना कोई अच्छी भावना नहीं है क्योंकि स्वरूपानन्द को प्रतिबद्ध करती है।।५३३।। अमूर्त पुरुषके इसी तरह हज़ारों रूप हैं जिन सभी को न वेद न मैं बता सकते हैं।।५३४।।

स्थूलरूप एवं सूक्ष्मरूप अखिल प्रपंच अविद्याका कार्य है, अतः कपड़े में धागों की तरह इन दोनों रूपों में अविद्या अनुगत अर्थात् तादात्म्य संबंध से युक्त है। (तन्तुओं से पट है अभिन्न पर लगता भिन्न है और तन्तु भी पटसे सम्बन्धित लगते हैं, अतः तन्तुओं का पटसे संबंध तादात्म्य कहना ठीक है।)।।५३५।।

सत्-त्यत्, उनके सार और अमूर्त के रूप बताकर श्रुति में कहा : 'अब यहाँ से आदेश बताते हैं—'नहीं'-ऐसा, 'नहीं'—ऐसा। इससे नहीं है। और परे नहीं है। अब नाम कहते हैं—सत्त्यका सत्य। प्राण ही सत्त्य हैं उनका यह सत्य है।' इसके 'नहीं' आदि हिस्से को समझाते हैं : हे इंद्र! मैंने जो अविद्या-समेत स्थूल व सूक्ष्म बताया वह आत्मा है ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि घटकी तरह ज्ञानका विषय बनता है।।५३६।। कार्य-कारणात्मक इस सभी का जो मैंने यों निषेध किया—अभाव बताया—वह भी आत्मा हो यह कभी मत समझना (क्योंकि अभाव अपने प्रतियोगी से अधिक सच्चा नहीं हो सकता अतः व्यावहारिक का अभव पारमार्थिक नहीं होगा जबकि आत्मा वह है जो पारमार्थिक

सर्वस्यास्य निषेधो यः कार्यकारणवस्तुनः। इत्थं मया कृतः सोऽपि नात्मा शक्र कदाचन।।५३७।।

एतदादेशनं मुख्यं शक्रानन्दात्मरूपिणः। नास्मादभ्यधिकं किञ्चिदस्त्यत्रादेशनं गुरोः[1]।।५३८।।

मुख्य आदेशः

आदिश्यते हि गुरुभिरयमात्मा सदा परः। भावाभावजडादन्यो नेति नेतीति सर्वदा।।५३९।।

अवाङ्मनसगम्योऽयं न वक्तुं शक्यते यतः। अतद्व्युदासतस्तस्मादात्माऽयमुपदिश्यते।।५४०।।

विधिमुखोपदेशोऽपकृष्टः

ब्रह्मास्मीति च यो बोधः कथितः शक्र ते पुरा। अयं शब्दानुवेधेन जायते न तु केवलः।।५४१।।

द्वितीयनकारार्थमाह—सर्वस्येति। सर्वस्य कार्यकारणरूपस्य यो निषेधः अभावः मया कृतः प्रकाशितः सोऽपि नात्मा अभावस्य प्रतियोगिसमानयोगक्षेमत्वादिति। न हि शुक्तिरजताभावः[2] सत्य इति भावः। एवं नकारद्वयार्थं ग्रन्थकृदेव स्फुटीकरिष्यतीति।।५३७।। नेतीत्यस्मादन्यदधिकमादेशनं ब्रह्मणो नास्तीत्यर्थकस्य 'नहि' (बृ. २.२.६) इत्याद्यंशस्यार्थमाह—एतदिति। आदेशनम् उपदेशप्रकारः। गुरोः गुरुकर्तृकमिति।।५३८।।

अस्यादेशस्य मुख्यतां चतुश्चत्वारिंशच्छ्लोकैः प्रपञ्चयन् ब्रह्मवित्सम्प्रदायप्रसिद्धतां तावदाह—आदिश्यत इति। अयं पर आत्मा[3] भावरूपजडभिन्नत्वेन रूपेण नेति नेतीति वाक्येनैव[4] सदाऽऽदिश्यत इत्यन्वयः। सर्वदा—इत्युत्तरान्वयि।।५३९।। आत्मन एतद्भिन्नोपदेशाऽयोग्यत्वाच्चायमुपदेशो मुख्य इत्याह—अवाङ्मनसेति। वक्तुं विधिमुखेन अभिधातुम्। अतस्य आत्मभिन्नस्य व्युदासो निषेधः तत एव सर्वदा अयमात्मोपदिश्यत इति।।५४०।।

अस्योत्कर्षं स्फुटयन् विधिमुखोपदेशस्य अपकर्षमभिनयति—ब्रह्मास्मीत्यादिना। अयं विधिमुखेन बोधः शब्दस्यानुवेधेन अनुगमेन विशिष्ट एव जायते, स च अवाङ्मनसगम्ये बाधित इति भावः।।५४१।। तत्र क्लेशान्तरं

हो। कहीं-कहीं जो अभाव को प्रतियोगी से अधिक सत्ता वाला कहा जाता है वह इस दृष्टि से कि कल्पित का अभाव अधिष्ठानरूप होता है और अधिष्ठान सदा अधिक सत्ता वाली सद्वस्तु होती है। एवं च प्रथम नहीं-शब्द संसार का निषेध करता है और द्वितीय से उस निषेध का भी निषेध किया जा रहा है।)।।५३७।। जो आनन्दस्वरूप व आत्मस्वरूप है उसके उपदेश का यही मुख्य प्रकार है। इससे ज्यादा कोई उपदेश इसके बारे में गुरुजन नहीं किया करते। (अविद्यानिवृत्ति ही की जाती है, ज्ञान तो स्वरूप है।)।।५३८।।

भावात्मक और अभावात्मक जो कुछ भी चेत्य है, ज्ञेय है, उससे विलक्षण है परमात्मा। गुरुजन इसका उपदेश हमेशा 'नेति नेति' के सहारे देते हैं।।५३९।। वाणी व मन का अगोचर यह आत्मा सीधे ही कहा नहीं जा सकता—शब्दकी शक्तिवृत्ति का विषय नहीं बनाया जा सकता—इसलिये अनात्मा का निषेध करने से ही इस निषेधावधिभूत आत्मा का उपदेश हमेशा किया जाता है।।५४०।। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो ज्ञान पहले बताया था उसमें शब्द की अनुगति रह जाती है, अकेला बोध नहीं होता। (वाक्यमात्रप्रयुक्त प्राथमिक बोध में तत्तदर्थतया शब्दों का और वाक्यार्थतया अखण्ड का भान होता है, भले ही बाद में उपस्थापक शब्द उपलक्षक काक की तरह अपेक्षित न रहें। निषेध वाक्य स्व-समेत सबका निषेध करता है अतः तत्प्रयुक्त बोध में तदीयता नहीं रहती यह भाव है।)।।५४१।। किं च विधिमुख से प्रतिपादन

---

१. निषेधांशार्पणमेव गुरुयत्नफलमात्मस्फूर्तेः स्वाभाविकतयाऽनाधेयातिशयत्वात्। किं च निषेधबोधनमेव शक्नोति गुरुः कर्तुं, तदवधेरात्मनो बोधे निष्ठाऽऽप्तिः शिष्यकार्यतां नातिवर्तते। २. शुक्त्यतिरिक्तस्तत्र कल्पितरजतस्याभावो न सत्य इत्यर्थः। शुक्त्यात्मनस्तु तस्य सत्यत्वानपायात्। ३. भावरूपेत्यत्र टीकायां भावाभावरूपेत्यादि युक्तं पठितुं मूलानुरोधात्, यथाश्रुतेपि सङ्ग्रहोऽभावस्योपलक्षणया बोध्यः। ४. न चैवं विधिवचसामप्रवृत्तिः, 'अन्यत्परमस्तीति' परमादिविधिभिरात्मनस्तत्रैवार्पणात्; तदेतत् 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय' इत्यधिकरणे (३.२.६) निपुणतरमुपापादि। सर्वज्ञमुनिः निषेधवाक्यानां विधिवाक्येभ्यो मुख्यतामाशङ्क्य सोपपत्ति निराकार्षीत् प्रथमप्रकरणे (श्लो. २५०-२६३) तत्तत्रैव द्रष्टव्यम्।

अपि बोधेऽत्र दृष्टोऽयं भेदस्तत्त्वं पदार्थयोः। पारोक्ष्यदुःखिताभ्यां स वाक्येन विनिवार्यते।
मुख्यार्थस्य परित्यागाल्लक्षणायाः समाश्रयात्।।५४२।।

त्वम्पदार्थस्य यद्वत् स्यादभेदो ह्यधिकारिणि। अभेदस्तद्वदेव स्याज्जन्तुमात्रस्थितात्मनि।
इत्येतदनुमानस्याप्यपेक्षा सहकारिता।।५४३।।

व्युदासश्च जडस्यायमपेक्ष्यो बहुधा पुनः। तदर्थमनुमानं स्यादपेक्ष्यं पुनरेव हि।।५४४।।

अनुमानस्य चापेक्षा भवेद् मानान्तरस्य च। अन्यथा नानुमानत्वं स्वतन्त्रं न भवेत् सदा।।५४५।।

प्रवर्तते मानमनु ह्यनुमानं तदीरितम्। स्वातन्त्र्येण भवेद् नाम निरर्थकमिदं यथा।।५४६।।

दर्शयति—अपीति। अत्र विधिमुखेन प्रवृत्ते बोधे पारोक्ष्यदुःखिताभ्यां तत्त्वम्पदवाच्यार्थगताभ्यां दृष्टो भेदः स जहदजहल्लक्षणाश्रयणाद्वारणीय इति क्लेशः।।५४२।। किञ्च विधिमुखेन बोधेऽनुमानापेक्षा गौरवं चेत्याह—त्वम्पदार्थस्येति। त्वम्पदार्थस्य सच्चिदानन्दलक्षणस्य यथाऽधिकारिस्वरूपोऽभेदः भेदाभावः तथा जन्तुमात्रे सर्वत्र स्थितात्मनि तत्पदार्थेऽपि भेदाभाव इत्यर्थसाधकानुमानस्यापि सहकारिता सम्भावनार्थमपेक्षणीयेति क्लेशः[1]। अनुमानस्वरूपं तु—त्वम्पदार्थः परमात्मनो न भिद्यते, सच्चिदानन्दलक्षणत्वाद्, अधिकार्यात्मवदिति। जडे मोक्षाधिकारबाधात् परमात्मैवोपाध्यनुप्रविष्टोऽधिकारीति प्रपञ्चितमाकरेषु।।५४३।। न केवलमेकमनुमानं तदापेक्ष्यं किन्तु पदार्थशोधनाय देहादिव्यावृत्तये बहूनीत्याह—व्युदास इति। जडस्य देहादिरूपस्य व्युदासो व्यावृत्तिः।।५४४।। ननु 'मन्तव्यः' (बृ. २.४.५) इति मननविधानात् तद्गौरवं सहिष्यत इति चेत्? तथापि निषेधवाक्यं विना न निस्तार इति वक्तुमनुमानस्य इतरसापेक्षतां पूर्वोक्तामनुवदति—अनुमानस्येति। अनुमानस्य मानान्तरापेक्षा भवत्येव अन्यथा अनुमानत्वहान्यापत्तिः, यतोऽनुमानं स्वतंत्रं न भवेत्। मानमनु प्रवर्तत इत्यनुमानमित्युक्तत्वादिति। स्वातन्त्र्ये निरर्थकत्वाच्च।[2] मानानुग्रहो हि तर्करूपानुमानस्य फलमिति भावः। इति द्वयोरर्थः।।५४५-४६।।

में यह क्लेश भी है कि तत्पदार्थ व त्वंपदार्थ में परोक्षता और दुःखिता के कारण जो भेद है उसे वाक्य से हटाना पड़ता है जिसके लिये शब्दों के शक्यार्थ छोड़कर लक्षणाका सहारा लेना पड़ता है। (लक्षणा से पूर्व अभिधा प्रवृत्ति करती है अतः दो व्यापार हो जाते हैं। निषेध में लक्षणा नहीं चाहिये अतः सुविधा है। आत्मबोधक निषेध स्वयं निषेध का भी है—यह लोकोत्तरता याद रखने का क्लेश वहाँ भी है यह बात अलग है।)।।५४२।। विधिमुख से कहने वाले वाक्यों को समझने के लिये युक्ति भी लगानी ज़रूरी हो जाती है, उदाहरणार्थ, यह समझना पड़ता है कि त्वम्पदार्थ जैसे अधिकारी से अभिन्न है, अधिकारिस्वरूप है, ऐसे ही जन्तुमात्र में स्थित आत्मा से वह अभिन्न है। यों सहायकरूप से अनुमान की ज़रूरत होने से भी निषेधापेक्षया विधि अपकृष्ट है। (यदि जन्तुमात्र के अन्तरात्मा को त्वमर्थ नहीं समझा

---

१. मा चैवमनपेक्षत्वव्याघातं शङ्कि, मन्तव्यश्रुतेर्विहितस्यैव विनियोगप्रदर्शनपरत्वात्सापेक्षत्ववादस्य। नन्वानुमानिकत्व औपनिषदत्वं न स्यादनधिगतत्वाभावादिति चेन्न, औपनिषदे पुंस्येव शङ्कावारणायोपयोगात्। ननु मानमेव स्वप्रमेयनिश्चायकमिति शङ्कापोहस्तत एवोचितः? सत्यम्, परीक्षितमानस्यैव तथात्वात्तर्कादिना तत्परीक्षाया एव सम्पादनादितिकर्तव्यताभागमित्यादिभट्टोक्तेः। न चैवं मेयविषयतर्काप्रसरः, मानपरीक्षाङ्गत्वान्मेयपरीक्षाया योग्यतायाः शाब्दबोधस्योपकारकत्वादिति दिक्।

२. मानान्तरसापेक्षत्वं न स्वरूपलाभे बोध्यं, यथाकथञ्चिदपेक्षा तु सर्वत्र स्यात्। शब्दोऽपि श्रावणप्रत्यक्षापेक्ष एव बोधकः, शक्तिग्रहेऽपि प्रत्यक्षादेरपेक्षणात्। किन्त्वनधिगतजातीयाबोधकत्वादनुमानस्य सापेक्षता। यज्जातीयेन लिङ्गसम्बन्धधीस्तज्जातीय एवानुमातुं शक्यः। शब्दस्त्वतज्जातीयमपि बोधयेत्। उपमानमपि अनधिगतजातीयगवयादिबोधि। एवमभावोऽपि। अर्थापत्तिश्चानुमानमिव ज्ञातजातीयं बोधयेत्। ननु शब्दोपि शक्तिसापेक्षबोधकतया ज्ञातजातीयनिवेदक इति? मैवम्; अलीकस्य शब्दाद्भानाङ्गीकारात्। धर्मब्रह्मादेरपि तदेकगम्यस्य ततो बोधाद्। आत्मनः ज्ञातजातीयत्वाभावनिश्चयादिति।

आत्मानुमानं श्रुतिसापेक्षम्

प्रत्यक्षं न भवेन्मूलमस्य क्वापि कदाचन। न हि प्रत्यक्षतो दृष्टमनात्मत्वं घटादिषु।।५४७।।

घटस्याऽनात्मता दृष्टा सा तस्य भवतात् सदा। मा भूदन्यस्य सा यस्माद् बाधकं नात्र दृश्यते।।५४८

प्रकृतात्मानात्मगोचरानुमानानां श्रुतिनैरपेक्ष्यरूपेण स्वातन्त्र्येण निरर्थकत्वं 'यथेति' पदेन प्रदर्शनीयतया प्रतिज्ञातं स्फुटयति—प्रत्यक्षमिति दशभिः। प्रमा हि यथार्थनिश्चयात्मिका प्रमाणफलम्। तच्च प्रकृतानुमानेन न जनयितुं शक्यम्, अनुमानस्य द्वे अङ्गे—व्याप्तिः, पक्षधर्मता चेति; प्रसिद्धव्याप्तिरूपाङ्गवैकल्येन दौर्बल्यात्। तच्च अनात्मत्वरूपसाध्यस्य जडत्वादिरूपहेतूनां च साहचर्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तदेतदुक्तं प्रत्यक्षमिति। अक्षरार्थस्तु अस्य देहाद्यनात्मता साधकानुमानगणस्य व्याप्तिग्राहकतया मूलभूतं प्रत्यक्षं न सम्भवति, यतः क्वापि कदापि वा जडादिषु, भावप्रधाननिर्देशेन, जडत्वादिषु हेतुषु सत्सु अनात्मत्वम् आत्मभेदरूपं प्रत्यक्षेन[1] दृष्टम् इति प्रत्यक्षस्य घटादिसत्त्वमात्रावगाहित्वात् प्रतियोग्यात्मनो विषयीकरणमन्तरा तद्भेदस्य दुर्ग्रहत्वादिति भावः[2]।।५४७।। आत्मनः प्रत्यक्षविषयत्वाभ्युपगमेऽपि विपक्षबाधकाभावेन व्याप्तिर्दुर्ग्रहेत्याह—घटस्येति। जडत्वेन[3] देहानात्मता-साधने दृष्टान्तस्य घटस्यानात्मता यद्यपि दृष्टा तथापि साऽनात्मता तस्य घटस्यैव भवताद् अस्तु, ततः अन्यस्य देहस्य मा भूद — इति केनचिद् विपक्षोद्भावने कृते सति बाधकं किञ्चिद् न दृश्यत इत्यर्थः।।५४८।। एतद् दृष्टान्तेन

तो जीवभेद प्रसक्त होगा अतः तत्से अभेद समझने से पूर्व यह पता लगा लेना पड़ता है कि त्वमर्थ विभिन्न नहीं है। यह जानकारी अनुमान से होती है। पंचकोशातीत सच्चिदानंद सभी प्राणियों में अभिन्न है क्योंकि उपाधिपरामर्श के बिना उसमें भेद समझा नहीं जा सकता जैसे इसी तरह का आकाश—इत्यादि अनुमान है। अथवा अधिकारी को स्वयं में तो सच्चिदानंदता अपरोक्ष भासती है पर ईश्वर भी सच्चिदानन्दमात्ररूप है—सर्वशक्ति आदि स्वरूप नहीं है—यह अनुमान से पता चलता है। अथवा सच्चिदानंद से अपना अभेद जानकर ईश्वर से अभेद जानने में अनुमान का सहारा लेना पड़ता है यह भाव है। यद्यपि शास्त्र को प्रमा पैदा कराने में प्रमाणान्तर के भरोसे नहीं रहना पड़ता तथापि प्रमोत्पत्ति में आयी रुकावटें उनसे मिटाना ज़रूरी हो जाता है।।५४३।। जड देहादि से व्यावृत्ति भी समझनी जरूरी रहती है जिसके लिये पुनः नाना प्रकार के अनुमान चाहिये। (निषेधवाक्य तो एक ही व्यापार में जडव्यावृत्ति कर देता है जबकि विधिवाक्य पहले शबल कहता है तब शोधन की जरूरत होती है।)।।५४४।। अनुमान स्वयं भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखता है, स्वतंत्र नहीं होता। यदि वह किसी मान (प्रमाण) का अनुसरण न करे तो अनु-मान ही कैसा! प्रमाणानुसारी प्रवृत्ति से ही उसका अनुमान नाम है जो इसे स्वतंत्र मानने पर सार्थक नहीं रहेगा। (अनुमानको अपेक्षित प्रमाण निषेधवाक्य ही होंगे अतः उनकी मुख्यता है यह अभिप्राय है।)।।५४५-४६।।

देहादि को अनात्मा सिद्ध करने वाले अनुमानों का मूल अर्थात् व्याप्तिग्राहक प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि यह प्रत्यक्ष से नहीं पता चलता कि घटादि अनात्मा हैं। (प्रमाण से उत्पन्न यथार्थ निश्चय प्रमा होती है। अनुमान का मुख्य अंग है व्याप्ति और यदि उसका औचित्य न रहे तो अनुमान निश्चायक न होकर संभावनामात्र उपस्थित करेगा।

१. प्रत्येक्षण न दृष्टमिति युक्तं पठितुम्। प्रत्यक्षे निमित्ते सति न दृष्टमिति वा योजनीयम्। २. अत्र ग्रन्थकर्तुरयं भावः—तत्त्वमादिवाक्यमापाततो विरुद्धार्थमिति यावद्विरोधो न दूरी क्रियते तावन्न बोधकमयोग्यताशङ्कायाअपि शाब्दप्रमाप्रति-बन्धकत्वात्। स च विरोधः प्रमाणेन निरसनीयः। तच्च प्रमाणं न विधिवाक्यान्तरं, विधिवाक्यानां प्रवृत्तिनिमित्तवशादेव बोधकतया निर्विशेषाऽबोधकत्वात्। नापि प्रत्यक्षानुमाने; आत्मनोऽप्रत्यक्षतया तद्गोचरविरोधधियोऽप्यध्यक्षनिवर्त्यताऽयोगात्, प्रत्यक्षायोग्येऽनुमानस्याप्यप्रवृत्तेस्तस्य मूलमानापेक्षत्वादनुमानान्तरस्य मूलत्वेऽनवस्थानात्। ततो नेत्यादिनिषेधवाक्यं शरणीकृत्यैव विधिवाक्यमात्मानं बोधयेत्तथा च निषेधानां प्राधान्यमिति। अत एवात्मनि प्रत्यक्षानुमानयोरसम्भवः प्रपञ्च्यते। ३. दृश्यत्वं जाड्यम्। देह आत्मेति लौकिकाः। देहो नात्मा दृश्यत्वाद्घटवदिति तान् प्रति प्रयोगे तेषां प्रश्नः—देहे दृश्यत्वसत्त्वेऽप्यनात्मता मास्त्विति? कोऽत्र समाधिः? परमसिद्धान्ते तु दृश्यतान्यथानुपपत्तिरेव; न हि दृश्यध्यासमन्तरा दृश्यत्वं, न चाऽदृग्रूपतां विना दृशि संभवत्यध्यासः, स्वस्मिन् स्वस्याऽध्यस्तत्वाऽयोगात्। इदमुत्तरमिह नोच्यते यतो निषेधवाक्यमुख्यतोपपत्तये यत्यते। ततश्चोक्तप्रश्नमसमाधेयमादाय ग्रन्थः प्रवर्तते।

घटे न स्तम्भता दृष्टा न सा स्तम्भाद् निवर्तते। तद्वद्घटादिगा मा भूदात्मता साऽस्तु चात्मनि ।५४९।
जाड्यदृश्यादयो नैव स्वभावं वस्तुनः क्वचित्। एतेऽन्यथयितुं शक्ता घटकुड्यादिरूपिणः ।।५५०।।
सत्त्वं यथा समग्रेषु वर्तते वादिनो मते। तथापि नैव तत्कुर्याद् वस्तुनोऽत्र विपर्ययम् ।।५५१।।
जाड्यदृश्यादयस्तद्वद् आत्मानात्मस्वरूपगाः। सन्तु किं वादिनश्छिन्नं येन स्युर्नात्मगा हि ते ।५५२।

स्पष्टयति—घट इति। यथा घटे स्तम्भता न दृष्टा घटत्वावगाहिप्रत्यक्षेण न गृहीता, तथापि सा स्तम्भाद् न निवर्तते किन्तु तत्र वर्तत एव। एवं घट आत्मता माऽस्तु, सा आत्मनि देहेऽस्तु—इत्यत्र किं बाधकमिति वक्तव्यमिति शेषः।।५४९।। ननु देहो यदि आत्मा स्यात् तर्हि जडो न स्याद् — इति तर्क एव विपक्षबाधक इति चेद्? न, विरोधमूलकस्य अस्य तर्कस्य देहस्य आत्मता स्वभाव इति वादिनश्चार्वाकस्य[1] पुरतोऽकिञ्चित्करत्वात्। न हि जडत्वं पदार्थस्वभावं विपरीतं करोति। घटे विद्यमानेन जडत्वेन घटस्य अघटताया असम्पादनादिति आह—जाड्येति। दृश्येति भावप्रधानो निर्देशः। घटकुड्यादिरूपिणः वस्तुनः स्वभावमन्यथयितुम् अन्यथा कर्तुम् एते जाड्यदृश्यत्वादयः न शक्ता इति सम्बन्धः। तथा च देहस्यात्मतालक्षणं स्वभावं कथमन्यथा कुर्युरिति भावः।।५५०।। जाड्यादीनां वस्तुस्वभावाविरोधित्वे दृष्टान्तमाह—सत्त्वमिति। यथा सत्त्वं सत्ता जातिः सर्वत्र वर्तमाना कस्यचिद् वस्तुनः विपर्ययम् स्वभावान्यथात्वं[2] न करोतीति।।५५१।। दार्ष्टान्तिके योजयति—जाड्यदृश्यादय इति। तद्वत् सत्त्ववत् जाड्यादयोऽपि आत्मनि च सन्तु वर्तन्ताम्, अत्र एवमभ्युपगमे वादिनः श्रुतिनिरपेक्षोक्तानुमानप्रयोक्तुः[3] किं कार्यकारणभावादि छिन्नं भग्नं भवति येन कार्यकारणभावादिभङ्गभयेन ते जाड्यादयः आत्मगा न स्युः इति उच्येतेति। वह्निं विना धूमाभ्युपगमे तयोः कार्यकारणभावभङ्गवद् अत्र न किञ्चिद् बाधकमिति भावः।।५५२।।

व्याप्ति अर्थात् हेतु और साध्य के साहचर्य का नियम। देह को अनात्मा सिद्ध करने में वह जड है, जन्म-नाश वाला है आदि हेतु दिये जायेंगे। किंतु आत्मा ऐन्द्रिय वस्तु न होने से 'अनात्मा है' यह ऐन्द्रिय ज्ञान से समझ नहीं सकते तो जड होना और अनात्मा होना समनियत है यह प्रत्यक्ष से कैसे जानेंगे? इसलिये देह को अनात्मा बताने वाला अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं।)।५४७।। किं च जब जड होने से देह को अनात्मा कहेंगे तब कोई पूछ सकता है—यद्यपि घट अनात्मा है तथापि अनात्मा होना घट की ही विशेषता क्यों न मानी जाये, घटसे अन्य जो देह है वह अनात्मा न हो तो हानि क्या है ? इस प्रश्न का प्रत्यक्षमूलक कोई उत्तर नहीं सूझ सकता। प्रश्नकर्ता यह दृष्टांत भी देगा - घड़े में खम्भारूपता नहीं दीखती इससे यह नहीं होता कि खम्भे से भी खम्भारूपता हट जाये! ऐसे ही घड़े में आत्मरूपता भले ही न हो, देहादि में रहे तो क्या विरोध है ? (अनुमान में तर्क होना चाहिये यथा धूम से वह्नि के अनुमानमें तर्क है यदि उनमें व्याप्ति न होती तो कार्यकारणता नहीं होती। ऐसे ही प्रकृत में तर्क चाहिये। यदि कहो कि यह तर्क है—देह आत्मा होता तो जड न होता; तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि देहात्मवादी तो 'आत्मा होना' यह देह का स्वभाव मानता है और जडत्व किसी पदार्थ के स्वभाव को तो बदल नहीं सकता। जड होने से घट की घटरूपता ही न रहे ऐसा नहीं होता। यही समझाते हैं—) जडता, दृश्यता आदि ये विशेषतायें घड़ा, दीवाल आदि रूप वाली वस्तु के स्वभाव को किसी तरह बदलने में समर्थ नहीं।।५४८-५०।। वादी मानते हैं कि सत्ता सब चीजों में रहती है फिर भी वस्तु के स्वभाव में हेरफेर नहीं करती। ऐसे ही जडता, दृश्यता आदि आत्मस्वरूप व अनात्मस्वरूप दोनों वस्तुओं में रह जायें तो वादी का क्या नुकसान है जो वह कह रहा है कि जडता आदि आत्मा में नहीं रह सकते ?।।५५१-५२।। आत्माकी चेतनता

---

१. मनुष्यादेश्चेतनवर्गस्य घटकुड्यादेश्च जडवर्गस्य सर्वसम्मतेः।
२. घटो न घटः सत्त्वात्पटवदिति वस्तुमयुक्तमिति भावः। एवं देहो नात्मेत्यपि व्याघातइति चार्वाकाभिप्रायस्तदन्यस्य चितोऽप्रसिद्धेः।
३. पूर्वोक्तप्रश्ने निदर्शितसमाधेरुक्तौ हेतुः—श्रुतिनिरपेक्षेति। दृश्यतानुपपत्तिर्हि स्वप्रभमात्मानमौपनिषदमुपगम्यैव, अन्यथा दृङ्मात्रस्यैवाऽसिद्धेस्तदाश्रितदृश्यताया दूरनिरस्तत्वादिति भावः।

अपि नात्मनि वर्तन्ते चक्षुरादीनि सर्वथा। तेनाऽयं मनसा ग्राह्यो विज्ञेयो वादिभिः पुमान्।।५५३।।

गृह्णाति च मनस्त्वेकमहमित्येव नाऽपरम्। तत्र केन निवर्तेत जाड्यमस्यात्मनोऽधुना।।५५४।।

जानामीति च यो बोधः स स्यादन्यस्य योगतः। यथा ताम्बूलयोगेन मुखे स्याद् रक्तिमा नृणाम्।।५५५।।

आत्मनश्चेतनत्वेन प्रत्यक्षं नैव विद्यते। कुतः सर्वगतत्वादौ यस्य नित्यं परोक्षता।।५५६।।

अनुमानं कथं तत्र मूलाभावात् प्रवर्तते। आगमस्तत एवास्य मृग्यो मूलं मनीषिभिः। सत्यं ज्ञान तथाऽनन्तं ब्रह्मेत्यादिर्हि स स्मृतः।।५५७।।

ननु आत्मनः चेतनत्वेन अनुभवात् तद्विरोधेन जडस्य आत्मता न मन्तुं शक्यत इति चेत्? किमत्र आत्मनश्चेतनत्वेन अनुभवे करणं; बहिरिन्द्रियाणि, मनो वा? तत्र नाद्यः, बहिरिन्द्रियविरोधादित्याह—अपि नेति। अन्त्यपक्षं दूषयितुमनुवदति—तेनेति। विज्ञेयो मन्तव्यः।।५५३।। मानसमहमित्याकारकं ज्ञानमात्मनः सत्त्वमात्रं साधयिष्यति न तु तस्य चैतन्यादिकं, तत्रौदासीन्यात्। तथा च जाड्यमबाधितं स्थितमेव स्यादित्याह—गृह्णातीति। परमतेऽपि इन्द्रियाणां मध्य एकम् अन्यतमं मनः अहमिति आकारेण एव आत्मानं गृह्णाति। तत्र अहमित्याकारेणात्मग्रहणेऽपि आत्मनो जाड्यं केन निवर्तेत—न केनापि। जाड्यविरुद्धचैतन्याऽनवगाहनादिति भावः।।५५४।। ननु जानामीति ज्ञानमात्मनश्चैतन्यमवगाहत इति चेद्? न; अस्य मनःसंवलितात्मविषयकत्वेन शुद्धात्मधर्मविषयकत्वाऽनवधारणादित्याह—जानामीति। अन्यस्य मनसः[1]। तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति।।५५५।। प्रत्यक्षेण आत्मनश्चेतनस्यैवाग्रहणे तस्य विभुत्वादिरूपेण[2] ग्रहणे का प्रत्याशेत्याह—आत्मन इति। यदा आत्मनः चेतनत्वेन रूपेण अपि प्रत्यक्षं न अस्ति तदा सर्वगतत्वादौ परोक्षतया परैरपि अभिमते प्रत्यक्षं कुतः स्यादिति।।५५६।। एवं श्रुतिं विना मूलान्तरमलभमानं विधिमुखप्रवृत्तवाक्यसाहाय्याय प्रवृत्तमनुमानं परिवृत्य श्रुतिवाक्यमेव शरणीकुरुत इत्याह—अनुमानमिति। तत्र

समझें भी कैसे? चक्षुरादि बहिरिन्द्रियाँ तो किसी तरह आत्मा को विषय करती नहीं। अतः वादियों को पुरुष अर्थात् चेतन का ग्रहण मन से ही मानना पड़ेगा। मन तो सिर्फ 'मैं' इस आकार से ही आत्मा को ग्रहण करता है, अन्य—चैतन्यादि—आकार से नहीं। तब इस आत्मा की जडता कैसे हटायी जाये ? (अर्थात् आत्मा जड हो तो कोई विरोध नहीं दिखा सकते क्योंकि आत्मबोधक मनोरूप साधन उसे 'मैं' रूप से विद्यमान ही सिद्ध करता है, ज्ञानरूप सिद्ध नहीं करता)।।५५३-५४।। 'जानता हूँ' यह अनुभव भी मन के संबंध से होता है, अतः इससे अकेला आत्मा ज्ञानरूप है यह सिद्ध नहीं होता। कत्था-चूना युक्त पान चबाने से लोगों के मुख में लालिमा आती है, अतः अकेले मुख का रूप लाल नहीं माना जाता!।।५५५।। जब यही प्रत्यक्षसिद्ध नहीं कि आत्मा चेतन है तब उसका सर्वव्यापक होना आदि प्रत्यक्षगोचर होंगे इसकी क्या आशा करें जो हमेशा परोक्ष माने जाने वाले धर्म हैं?।।५५६।। अतः आत्मा का निर्णय

---

१. चैतन्यं ज्ञानम्। आत्मनि चैतन्यमिति नोपलब्धिः, उपलब्ध्यनिरूपणात्। यच्चैतन्यमात्मनि तदेव स्वस्याऽऽत्माश्रितत्वं गोचरी कुर्यादन्यद्वा? नाद्यः, स्वस्य स्वविषयकताऽयोगात्। नान्त्यः, चैतन्यान्तरकाले पूर्वचैतन्यस्याभावात्, संयोगान्तर एव चैतन्यान्तरोत्पत्तिसंभवेन पूर्वसंयोगहानौ पूर्वचैतन्यनिवृत्तेरावश्यकत्वादिति दिक्। किं च मनोयोगे चैतन्यमिति नियमात्तदात्मनो वा मनसो वेति निर्णयाऽसंभव इत्यपि बोध्यम्। न च द्वयोरस्तु, गौरवात्। न च ज्ञानवानहमित्यनुभवादात्मन इति शङ्क्यम्, अस्यैवानुभवस्याऽसंभवताया निरूप्यमाणत्वात्। दृष्टेऽनुपपत्तेरकिंचित्करत्वेपि ज्ञानस्य मानसत्वे संभवत्यात्मन्यौपाधिकः तद्वत्ताप्रत्ययः ततश्चात्मनश्चैतन्याऽसिद्धिः, मनसएव तत्सिद्धिः। एवं चात्मचैतन्यस्यानुमानिकतासंभावनैव नेति।

२. महावाक्यार्थबोधोपयोगितया या आत्मपदार्थधीरपेक्षिता सा नानुमानिकीत्यर्थः।

विधिवाक्यमपि निषेधमुखेनाह

तस्यापि वाऽसदज्ञानपरिच्छेदव्युदासतः। आनन्द इति वाऽस्यापि दुःखस्यैव व्युदासतः। इष्टा प्रवृत्तिर्विदुषां न भिन्नार्थे कथञ्चन।।५५८।।

एकमेवाऽद्वयं ब्रह्म स्वसजातिविजातिजान्। भेदान् व्युदस्य सततं स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितम्।।५५९।।

आत्मनिर्णये। अस्य अनुमानस्य। किन्तच्छ्रुतिवाक्यमनुमानस्य मूलभूतमिति चेत्? पदार्थशोधकावान्तरवाक्यरूपमित्याह—सत्यमिति। समनुरूपानुमानस्य मूलभूत आगमः सत्यम् इत्यादिरूपो बोध्य इत्यर्थः।।५५७।।

वस्तुतस्तु तदपि सत्यमित्यादि वाक्यं नेतीतिवाक्यस्वभावमितरव्यावृत्त्या बोधनरूपमालम्ब्यैव अखण्डं बोधयत् सद् निषेधमुखोपदेशप्राधान्यं द्योतयतीत्याशयेनाह—तस्यापि वेति। वा अथवा तस्य सत्यमित्यादिवाक्यस्य अपि अभिन्न एकस्मिन्नखण्डेऽर्थे कथञ्चन लक्षणया प्रवृत्तिः विद्वद्भिः इष्टा सम्मता। केन द्वारेण? असदज्ञानपरिच्छेदानां व्युदासेन व्यावृत्त्या। तत्र सत्पदमसद्व्यावृत्त्या[1], ज्ञानपदमज्ञानव्यावृत्त्या, अनन्तपदं परिच्छेदव्यावृत्त्या ब्रह्मणि पर्यवस्यति। तथा 'आनन्दो ब्रह्मेति' वाक्यगतमानन्दपदं दुःखव्यावृत्त्या शुद्धे पर्यवस्यतीत्यर्थः।।५५८।। नन्वेवं निषेधमुखेन प्रवृत्तिः शास्त्रेण किमर्थमाश्रीयत इति चेत्? प्रमेयानुसरणेन प्रामाण्यलाभाय अविशिष्टस्य विशिष्टतया बोधने हि अप्रामाण्यं स्यादित्याशयेन प्रमेयस्य ब्रह्मपदार्थस्य स्वरूपमभिनयति—एकमिति। एकम् इत्यादिपदत्रयेण स्वगतादिभेदान् निरस्य भूमरूपेण स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितं यत् तद् ब्रह्म इति बोध्यमित्यन्वयः। स्वे महिम्नीति इतराश्रयतावारकं, यथा 'स्वयंदासास्तपस्विन' इतीतरदासव्यावृत्तिपरमिति बोध्यम्।।५५९।।

करने में अनुमान कैसे प्रवृत्त हो जब उसे कोई मूल उपलब्ध नहीं हो रहा है। इसलिये विचारशीलों को आत्मानुमान का मूल शास्त्रवचन ही खोजना चाहिये। 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है' आदि शास्त्रवाक्य ही वह मूल है जिस पर अनुमान टिका है।।५५७।।

पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्मबोधन के लिये निषेधवाक्यों की अधिक उपयुक्तता है। इसलिये विधिमुख से कहने वाले वाक्यों का भी अभिप्राय निषेध में समझ सकते हैं : सत्यशब्द असत् की व्यावृत्ति, ज्ञानशब्द अज्ञानकी, जड की, और आनंदपद दुःखकी व्यावृत्ति कर एक अखण्ड अर्थमें ही तात्पर्य वाले हैं, यह मानना उचित है। (आत्मवस्तु स्वतः ही भावात्मक रूपसे स्फुरमाण है, अतः तद्विषयक ग़लतफ़हमी हटाना ही शब्दकार्य संगत है जिससे आत्मा की शून्यादिता की भी आपत्ति नहीं। अथवा असत् से उपलक्षणया शून्य को भी व्यावर्त्यकोटि में रख लेना चाहिये। यदि असत्से अन्य शून्य अप्रसिद्ध है तब यथाश्रुत पर्याप्त है।)। हर हालत में विधिवाक्य भी भेदयुक्त अर्थ नहीं बताते।।५५८।। ब्रह्म निर्विशेष है इसलिये प्रमाणभूत वाक्यको जैसे हो वैसे उसका प्रतिपादन करना पड़ता है ताकि वाक्यीय ज्ञान सविशेष पदार्थ का हुए बिना अविद्या हटावे। शास्त्रबोध्य परब्रह्म एक ही है। उसे 'दूसरा' बनाने वाला कोई या कुछ नहीं। अपने समानजातीय पदार्थ से और भिन्नजातीय पदार्थ से उसमें कोई भेद नहीं अर्थात् न कोई समानजातीय और न भिन्न जातीय पदार्थ है। खुद वह एकरस है अतः स्वगत भी कोई अंश या धर्म नहीं जिसकी अपेक्षा ब्रह्म को अलग समझा जा सके। ब्रह्म किसी पर आश्रित नहीं : सांसारिक पदार्थ सत्ता-स्फूर्ति के लिये आत्मा की शरण लेते हैं लेकिन आत्मा बिना किसी सहारे प्रकाशमान सत् है।।५५९।।

---

१. अज्ञानपरिच्छेदयोरिवाऽसदपि न सदभावः किन्त्वावृतं सदेवेति।

यूपादिपदार्थवद् ब्रह्मपदार्थः

शास्त्रतोऽवगतं यस्माद् यूपादिवदलौकिकम्। ततः शास्त्रस्य विश्वासाद् ब्रह्म ज्ञेयं मनीषिभिः।।५६०।।

ननु एतादृशं ब्रह्म लोकेऽप्रसिद्धं कथं शास्त्रेण बोध्यते, पदार्थप्रसिद्धेर्वाक्यार्थबोधहेतुत्वाद्?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरंस्तस्य शास्त्रमात्रवेद्यतामाह—शास्त्रत इति। **उक्तलक्षणं** ब्रह्म अलौकिकम् **अपि यतः शास्त्रादेव गम्यते** ततः शास्त्रस्य **अप्रामाण्यप्रयोजकैः अबोधकत्वसांशयिकत्वगृहीतग्राहित्वबाधितार्थत्वैः हीनत्वेन** विश्वासाद् **विश्रम्भात् तेन ब्रह्म विवेकिभिः ज्ञेयम् अवधार्यमिति। यथाऽलौकिकोऽपि यूपपदार्थः 'यूपं तक्षति', 'यूपमष्टाश्रीकरोति' (वाराहगृह्य. १.६.१.१५) इत्यादिवाक्यवशात् संस्कारविशेषविशिष्टकाष्ठरूपोऽवधार्यते। आदिपदेन संस्कारविशेषविशिष्टाग्निरूपाहवनीयादिग्रहः। तथा ब्रह्मापि सत्यमित्यादिवाक्यादवधार्यत इति।।५६०।।**

प्रश्न उचित है कि उक्तविध परमात्मा लोक में कहीं मिलना नहीं तो शब्द से उसे कैसे समझें? वाक्यगत पदों के अर्थ अन्य उपायसे समझे हों तभी वाक्य से अर्थ पता चलता है यही सामान्य नियम है। अतः जो वाक्य ब्रह्म समझाने में प्रवृत्त हैं उनमें प्रयुक्त जो ब्रह्मार्थक शब्द हैं, उनका अर्थ समझने का उपाय क्या है ? इस जिज्ञासा को शांत करते हैं—समझाये स्वरूप वाला ब्रह्म लोकसिद्ध न होने पर भी क्योंकि शास्त्र से ही बुद्धिगत होता है इसलिये मननशीलों को चाहिये कि प्रमाणभूत शास्त्र पर श्रद्धा रख ब्रह्म का ज्ञान पायें जैसे 'यूप' आदि की जानकारी प्राप्त की जाती है। (यूपनामक कोई लौकिक वस्तु नहीं। वेद कहता है 'यूप से पशु बाँधो' तो यूप का मतलब क्या ? वेदमें ही अन्यत्र ढूँढने से 'यूप' के बारे में कई बातें मिलती हैं जैसे यूप कत्थे की (खैर की) लकड़ी का होता है, उसे छीला जाता है, वह अठपहलू होता है, अमुक माप लंबा होता है, चमकता है आदि। इन सब को जोड़कर पता चल जाता है लकड़ी का खास तरह तैयार खम्भा यूप-शब्दका अर्थ है। फिर उससे पशु बाँधना समझ आ जाता है। अतः लोकसिद्ध न होने पर भी वस्तुएँ शब्दों के सहारे समझी जा सकती हैं। ब्रह्म भी इसी तरह समझना पड़ेगा। अत एव सभी तटस्थलक्षण उपयुक्त हैं और उनसे ब्रह्मपदार्थ बुद्धिगत होने पर उसका स्वरूप अन्य लक्षणों से समझना संभव है। लौकिक कारणतादि और सत्यतादि के सहारे ही अलौकिक समझने पड़ेंगे जिसके लिये सभी प्रतिपादक वाक्यों का तालमेल बैठाना ज़रूरी है। इस प्रक्रिया का मूल है वेदविश्वास अन्यथा अनर्गल प्रलापकी तरह वेदोक्ति उपेक्षणीय हो जायेगी। शब्द के अप्रमाण होने में चार कारण प्रसिद्ध हैं जो वेदमें नहीं : १) अबोधकत्व—ज्ञान उत्पन्न न करा सकना। 'जगत् का उत्पादक ब्रह्म है', 'ब्रह्म सत्य है' आदि कोई ऐसा वाक्य नहीं जिसे सुनकर हमें ज्ञान न होता हो। २) संशय पैदा करना। वेद निश्चित बातें बताता है और सभी प्रकरणों की बातें मिलाने पर यह भी नहीं लगता कि परस्पर विरुद्ध कहा गया है। अतः वेद से परमात्मा का संशयरूप ज्ञान नहीं होता। ३) ज्ञात के बारे में ही कहना अर्थात् नया कुछ न बताना। वेद में यह कमी भी नहीं। अभिन्ननिमित्तोपादान निर्धर्मक ब्रह्म अज्ञात है जिसे वेद कहता है। ४) प्रमाणविरुद्ध बात बताना। वेदोक्त किसी प्रमाण से विरुद्ध नहीं बल्कि युक्तिसंगत ही है अतः यह दोष भी नहीं। इसलिये वेद विश्वसनीय है इसमें क्या शंका की जाये? ईश्वर के बारे में जो वेदविरुद्ध ग्रंथ बताते हैं वह सब युक्तिविरुद्ध पड़ता है जैसे कि वे उसे सर्वसमर्थ और शैतान पर नियंत्रण में असमर्थ इकट्ठे ही कहते हैं; दयालु और न्यायप्रिय मानते हुए जीवों को जन्मतः होने वाले दुःखों का प्रदाता मानते हैं जिन दुःखों के लिये उन जीवों ने कोई पाप नहीं कर रखा, भले ही किसी आदि आदम ने ईश्वराज्ञा का उल्लंघन किया था जिससे यह न न्याय और न दयानुरूप है कि उसके अनंत वंशजों को पीडित किया जाये; ईश्वर सर्वव्यापक है तो जीवरूप भी होना चाहिये जो वे नहीं मानते; ईश्वर ने सब कुछ बनाया मानकर ईश्वर को शरीरधारी स्वीकारते हैं तो क्या अपना शरीर भी उसने खुद बनाया?; ईश्वर के मसीहे या पैगंबर का अनुसरण करने से ही स्वर्ग मिलता है और इसके लिये जीव को एक ही मौका (जन्म) मिलता है तो उस मसीहे आदि के जन्म से पूर्व जो जीव पैदा हुए उन्हें स्वर्ग कैसे मिलेगा? पहले पैदा करना और फिर अनंत नरक देना कैसे संगत है ? इत्यादि सहस्रशः अयौक्तिकतायें दिखायी जा सकती हैं। अतः युक्तियुक्त वेद पर श्रद्धा करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये।)।।५६०।।

शास्त्रस्य ब्रह्मविधायकता

शास्त्रं चात्र प्रवृत्तं सत् प्रवृत्तिं कुरुते द्विधा। विधानेन निषेधेन लोकदृष्टिसमाश्रयात्।।५६१।।

शृङ्गग्राहिकया यद्धि बोधयेत् तद् विधायकम्। यथा लोके करे तेऽस्ति फलमित्यादिभाषणम्।।५६२।।

न चैवमभिगम्योऽयमवाङ्मनसगोचरः। आत्माऽतस्तदपि स्वस्मिन् व्यावृत्त्यैव प्रवर्तते।।५६३।।

ब्रह्मणि निषेधाः

निषेधकं तु यच्छास्त्रं प्रकृतान् समपेक्ष्य तत्। प्रवर्तते निषिद्ध्यैतान् परिशेषात् प्रबोधयेत्।।५६४।।

सत्यमित्यादिवाक्यस्य प्रथमं[1] या विशिष्टवाचकपदैः ब्रह्माभिधाने प्रवृत्तिः तावन्मात्रेण विधिशास्त्रत्वव्यवहारः। प्रमेयमनुसृत्य तु इदमपि निषेधशास्त्रतां भजत इति दर्शयितुं शास्त्रप्रवृत्तिद्वैविध्यं दर्शयति—शास्त्रमिति। अत्र आत्मनि प्रवृत्तं सच्छास्त्रं विधानेन साक्षाद्बोधनरूपव्यापारेण, इतरनिषेधरूपव्यापारेण च द्विविधां प्रवृत्तिं कुरुते; लोकदृष्टिसमाश्रयाद्—यथा कालवासनया युतं शिष्यं बोधयितुं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' (छां. ६.) इत्यत्र 'अग्र' इत्यभिधानं तथा विधाननिषेधाभ्यां द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां दृष्टिं प्राप्नुवतो लोकान् अनुरुध्येति यावत्।।५६१।। तत्र विधायकशास्त्रस्य लक्षणं लौकिकमुदाहरणं चाह—शृङ्गेति। शृङ्गस्य ग्रहणं यस्यां क्रियायां सा शृङ्गग्राहिका, 'सञ्ज्ञायाम्' (३.३.१०६) इति ण्वुल्। यथा गोव्रजे 'का मदीया गौः?' इति गोपः पृष्टःशृङ्गं गृहीत्वा गां प्रदर्शयेत् तथा बोधकं शास्त्रं[2] विधायकम् उच्यते। यथा हस्ते तवामलकमिति।।५६२।। आत्मनि तु एवं प्रवृत्तमपि शास्त्रं तदयोग्यतामालक्ष्य व्यावृत्तिपरतामालम्बत इत्याह—न चैवमिति। एवम् अभिगमयितुं बोधयितुं योग्यः अभिगम्यः न चात्मा भवति, अवाङ्मनसगोचरत्वाद्; अतः तत् सत्यं ज्ञानमित्यादिरूपं विधायकं शास्त्रम् अपि स्वस्मिन् आत्मनि इतरव्यावृत्तिमुखेनैव प्रवर्तत इति।।५६३।।

निषेधकं शास्त्रं लक्षयति—निषेधकमिति। यच्छास्त्रं प्रकृतान् प्रस्तुतान् लक्ष्यरूपतया भ्रान्तैरभिमतान् प्रतियोगितयाऽपेक्ष्य प्रवर्तमानम् एतान् प्रकृतान् निषिद्ध्य परिशेषाद् लक्ष्यं बोधयेत् तद् निषेधकम् उच्यत इति। प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्र अप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेष[3] इति।।५६४।।

आत्मा के बारे में बताने के लिये शास्त्र दो तरह की प्रवृत्ति करता है—एक है विधान अर्थात् शब्द का वह व्यापार जो आत्मा के स्वरूप का सीधे ही उल्लेख करता है, बताता है कि आत्मा क्या है; दूसरी प्रवृत्ति है निषेध अर्थात् शब्द का वह व्यापार जो अनात्मा के निषेधसे आत्मा को कहता है, आत्मा क्या नहीं है यह बताता है। यह प्रक्रिया लोगों की सामान्य समझने की रीति के अनुसार है क्योंकि दोनों तरह कहने पर ही सही बात समझ आती है।।५६१।। गायों की टोली खड़ी हो तो देवदत्त अपनी गाय यज्ञदत्त को दिखाने के लिये उसका सींग पकड़कर सामने लाता है और 'यह मेरी गाय है' कहकर उसे स्पष्ट कर देता है। इस तरह जब मानो संमुख उपस्थित किया जाये तब कहते हैं शृंगग्राहिका से कहना और ऐसे वचन का नाम है विधायक या विधान, विधिमुख। उदाहरणार्थ कहें 'तुम्हारे हाथ पर फल रखा है' तो इसे विधायक वचन कहा जायेगा।।५६२।। आत्मा वाणी और मनसे परे है अतः यों शृंगग्राहिका से नहीं कहा या समझा जा सकता। इसलिये 'सत्य ज्ञान' आदि वाक्य भी विधायक न होकर इतर की व्यावृत्ति करते हुए ही प्रत्यगात्मा के बारे में बताते हैं। (बल्कि यदि वे विधान करें तो प्रमाण नहीं रहेंगे क्योंकि आत्मा इस लायक ही नहीं कि विधि से उसकी सही जानकारी मिल सके।)।।५६३।।

---

१. पदशक्तेः सविशेषार्पणानपायाच्छक्योपस्थितिमन्तरा च लक्ष्यानुपस्थितेरादौ सत्यादिपदात् सत्यत्वविशिष्टस्यैव बोधः ततः विशेषणांशहानरूपनिषेधेन लक्ष्यमर्प्यतइति भावः। २. असाधारणधर्मनिर्देशेन विषयतया निर्देशः शृंगग्राहिकयोक्तिरिति कथ्यते। अविषयत्वान्निर्धर्मत्वाच्च नात्मैवं वक्तुं शक्यते। ३. अवधेरनिषेध्यस्य स्वतोऽपारोक्ष्यात्परिशेष्योपपत्तिः। न्यायस्तु वैयाकरणेषु प्रसिद्धतरः।

महाराजं यथा कश्चिदारामस्थण्डिलस्थितम्। स्वसमानैर्वृतं पुंभिः छत्रचामरशोभितैः। अज्ञात्वा मूढधीर्बालः पृच्छेत् प्रत्ययिनं नरम्।।५६५।।

बुबोधयिषुरेषोऽपि मूढं तं बालकं पुमान्। अयमित्येव न प्राह बाह्यबुद्धिविशारदः।।५६६।।

अयमित्येव चेदेनं वक्ष्याम्येषोऽत्र मूढधीः। गृह्णीयात् पुरुषं चान्यं तद्वच्छत्रादिकं च वा।।५६७।।

इत्थं विचार्य तं प्राह नैते वृक्षा महीपतिः। नाश्वा न करिणस्तद्वद् न रथा न पदातयः।।५६८।।

नानायुधधरा येऽत्र स्थण्डिलस्य समीपगाः। न तूर्याण्यपि चित्राणि सच्छत्राणि न चामराः।।५६९।।

न च तूर्यादिहस्ता ये पुरुषाश्च वधूगणाः। न नीलकञ्चुको राजा न चायं पीतकञ्चुकः।।५७०।।

न रक्तकञ्चुकस्तद्वद् न च चित्राम्बरोऽपि हि। न स्वर्णकरवालोऽयं न हेमधनुराश्रितः।।५७१।।

निषेधकं शास्त्रं लोक उदाहरति—महाराजमिति दशभिः। यथा आरामगतं स्वसमानवेशैः छत्रादिहस्तैर्वृतं च महाराजमज्ञात्वा कश्चिद् मूढः प्रत्ययिनं विश्वस्तं नरं पृच्छेद् इत्यन्वयः।।५६५।। बुबोधयिषुरिति। एष प्रत्ययी नरः तं मूढं बुबोधयिषुः बोधयितुमिच्छन् 'अयं राजा' इति न ब्रवीति[1], यतो बाह्यानां पामराणां बुद्धिवृत्तस्य साक्षादभिधानविपरीतग्राहित्वरूपस्य[2] विशारदोऽभिज्ञः।।५६६।। **बाह्यबुद्धिविशारदतां विशदयति**—अयमिति। एनं प्रति 'एष राजा' इति यदि वक्ष्यामि तर्हि राजपार्श्वगतम् अन्यं पुरुषं छत्रादिकम् एव वा राजतया मन्येत मूढधीत्वादिति।।५६७।। इत्थमिति। स बुबोधयिषुर्नरः तस्मै मूढाय एवं प्राह। 'एवं' कथम् ? एते वृक्षा महीपतिर्न भवन्ति, एतेऽश्वा अपि महीपतिर्न भवन्ति, एवमग्रेऽपि।।५६८।। नानेति। पूर्वार्द्धे नकारस्यानुषङ्गः।।५६९।। न चेति। स्पष्टम्।।५७०।। न रक्तेति। करवालः खड्गः। हेमपृष्ठकधनुषाऽऽश्रितः।।५७१।। इत्येवमिति। परान् भिन्नान्।।५७२।। **इतरव्यावर्तकत्वेऽपि परिशिष्टस्य भासने न शब्दस्य व्यापार इत्याह**—महाराजमिति। बालो महाराजं सर्वविलक्षणम् अध्यक्षेणैव जानाति। सर्वविलक्षणतार्थं विशेषणानि सुवर्णाङ्गमित्यादीनि। सुवर्णाङ्गं शोभनवर्णशाल्यङ्गकम्। पुरस्य वारवधूनां गणिकानां हस्ता एव पङ्कजानि तत्र प्रचारिभिः चामररूपहंसैः सेवितम्। स्फुटमन्यद्। इति द्वयोरर्थः।।५७३-५७४।। **दार्ष्टान्तिके योजयति**—एवमिति द्वाभ्याम्। एवं तद् निषेधशास्त्रम्

किसी विषयमें भ्रान्तधारणाओं को प्रतियोगी बनाकर उनके निषेध द्वारा जो बची संभावना है उसे समझाने वाला वाक्य निषेधक कहा जाता है। (सही और गलत मिल-जुलकर प्रतीत हों तो गलत हटा देने से ही सही का पता चल जाता है; यह ढंग निषेध कहा जा रहा है।)।।५६४।।

उदाहरण के लिये अपने बगीचे में चौकी पर कोई महाराज बैठा हो जिसके इर्द-गिर्द उसी की तरह शोभा वाले छत्रधारी, चँवरधारी आदि हों। कोई नासमझ बच्चा राजा को पहचान न पाने पर किसी विश्वस्त से पूछेगा 'यहाँ राजा कौन है?'।।५६५।। वह व्यक्ति उसे समझाना चाहने पर भी 'यह' इतना कहकर ही चुप नहीं होगा क्योंकि उसे पता है कि नासमझों को यों दूर से कहने पर वे प्रायः गलत ही समझते हैं तथा यह भी जानता है कि बड़े लोगों की ओर अंगुली से इशारा करना शिष्टाचार नहीं है।।५६६।। वह सोचता है कि 'यह' इतना ही कहने पर किसी अन्य पुरुष को या छत्र आदि किसी को ही यह राजा समझ लेगा।।५६७।। इसलिये वह समझाता है : ये पेड़, घोड़े, हाथी, रथ, पदाति, चौकीके पास खड़े शस्त्रधारी लोग, नगाड़े, छत्र, चँवर, नगाड़े वाले आदमी, औरतें, नीले कपड़े वाला, पीले कपड़े वाला, लाल कपड़े वाला, चितकबरे कपड़े वाला, स्वर्णिम खड्ग वाला, स्वर्णधनुष वाला—ये सब महाराज नहीं हैं। अर्थात् जो कुछ भी महाराज से अन्य वहाँ है उसका निषेध करता जाता है। बालक भी बचे हुए को महाराज़ समझ लेता है। उन सबसे अलग जो राजा है उसे बालक प्रत्यक्ष से ही जानता है। सुनहरी चमक वाला, सफेद छत्र के नीचे बैठा, सफेद

१. राजाद्यादरणीयानामङ्गुल्याऽनिर्देश्यत्वस्य शिष्टसम्मतत्वाद्, दार्ष्टान्ते च अयमिति विषयतया ब्रह्मणोऽनिर्देशार्हत्वात्।

२. अंगुल्याऽपि दूरान्निर्देशे राजसंनिहित एवाऽराज्ञि राजताग्रहसंभवादित्यर्थः।

इत्येवमादिवचनैर्महाराजात् परान् नरान्। निराकरोति बालोऽपि परिशिष्टं[1] प्रपद्यते।।५७२।।

महाराजं सुवर्णाङ्गं श्वेतच्छत्रविभूषितम्। पतद्भिरुत्पतद्भिश्च चामरैर्हंससन्निभैः।।५७३।।

पुरवारवधूहस्तपङ्कजौघप्रचारिभिः। सेवितं विलसच्छ्वेतदुकूलं दिव्यवर्चसम्। अध्यक्षेणैव जानाति बालः सर्वविलक्षणम्।।५७४।।

एवं[2] नानाविधाभावानात्मनोऽत्र विलक्षणान्। निषेधयति तच्छास्त्रमात्मनः परिशेषकृत्।।५७५।।

शास्त्रेण च निषिद्धेषु तेषु सर्वेष्वनात्मसु। परिशिष्टं तमात्मानमात्मनैव प्रपद्यते।।५७६।।

अयमेव हि सम्यक् स्यादुपायः स्वात्मबोधने। भावाभावविनिर्मुक्तमात्मानं को हि बोधयेत्।।५७७।।

अवाङ्मनसगम्यं को मनसा प्रतिपद्यते। वाक्यार्थभूतमात्मानमवाक्यार्थैकरूपिणम्।।५७८।।

यदा सर्वं निषिद्धयेत यत् स्यात् सदसदात्मकम्। प्रकाशते तदा देव आनन्दात्मा स्वयम्प्रभः।।५७९।।

आत्मनो विलक्षणान् नानाभावान् निषेधति व्यावर्तयति, आत्मानं च परिशेषयतीत्यर्थः।।५७५।। तत आत्मा स्वयमेव भासत इत्याह—शास्त्रेणेति। आत्मनैव स्वयमेव।।५७६।। निषेधवाक्योत्कर्षमुपपादितं निगमयति—अयमेवेति। उत्तरार्द्धस्य अन्यथेत्यादिः[3]।।५७७।।

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति नियमाद् मनोऽविषयत्वं साक्षादबोधनीयत्वे हेतूकरोति—अवाङ्मनसेति। तम् आत्मानं मनसा कः प्रतिपद्यते विषयीकरोति। कीदृशम्? महावाक्यानां तात्पर्यार्थभूतं जात्यादिहीनत्वात् [4]साक्षाच्छब्दसमुदायप्रतिपाद्यताहीनमित्यर्थः।।५७८।। अवाक्यार्थस्यापि निषेधवाक्यव्यापारानन्तरं स्वयमेव भाननियममात्रात् च तस्य वाक्यार्थत्वेन व्यवहार इत्याह—यदेति। सदसदात्मकं भावाभावरूपम्। प्रकाशते स्वयमेवेति शेषः।।५७९।। निषेधवाक्यस्य आत्मभान उपयोगे दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा दीपस्य भानप्रतिबन्धकतमोपनयन

कपड़े पहने दिव्य दीप्ति वाला राजा जिसके अगल-बगल चँवर डुल रहे हैं जिन्हें राजगणिकायें अपने कमल जैसे हाथों से डुला रही हैं, बालक को आँख से दीख जाता है। (आँख से पहले भी दीख रहा था लेकिन शब्द ने ग़ैर-राजा को हटा दिया तो 'राजा देख रहा हूँ' यह अनुभूति हो जाती है।)।।५६८-७४।। इसी तरह आत्मा से विलक्षण जो विविध अभाव हैं—भाव भी वास्तविक भावरूप आत्मा से अन्य होने से अभाव ही हैं!—उनका निषेध शास्त्र करता है और आत्मा को बचा लेता है, उसका निषेध नहीं करता। वे सब अनात्मा शास्त्र से निषिद्ध हो जाने पर बचे उस आत्मा को खुद-ब-खुद समझ जाता है।।५७५-७६।। स्वात्मज्ञापनमें यही उचित उपाय है। आत्मा भाव और अभावकी परिधियों में नहीं सिमटता अतः शृंगग्राहिका से उसे कौन समझा सकता है!।।५७७।।

आत्माको वेद वाणी व मन का अविषय घोषित कर चुका है, उसे मन से कौन समझ सकेगा? यद्यपि महावाक्यों का तात्पर्यार्थ आत्मा है तथापि वाक्यार्थ संसर्ग या विशिष्ट ही प्रसिद्ध हैं और आत्मा खासकर इनसे अलग है, न संसर्ग और न विशिष्ट है, अतः सामान्य रीति से वह वाणी का भी विषय नहीं।।५७८।। भाव-अभाव रूप सभी का

---

१. पुरःस्थितेष्वन्यतमो राजेति पूर्वमेवामुष्यासीन्निश्चय इत्यवगन्तव्यम् प्रकृतेऽपि 'एष तआत्मे'त्यादिश्रुतिभिः प्रत्यक्तया भासमानेष्वन्यतमआत्मेति जानत एव कोसाविति जिज्ञासायां कोशादिनिरासस्यात्मधीपर्यवसानमिति भावः।

२. 'नानाविधान्' इति युक्तं पठितुम्। आभावानिति वा छेदः। अभावान् वाऽनात्मरूपान् निषेधति निषेधेन बोधयतीत्यर्थः। निषेधयति इति; निषेधोऽभावधीस्तामधिकारी कुरुते शास्त्रं कारयतीति ध्वन्यते। न चैवं महावाक्यानुपयोगस्तस्यापि जीवब्रह्मभेदव्युदासमात्रसमर्पकत्वादिति मन्तव्यम्।

३. उत्तरार्धस्यारम्भोऽन्यथेति पदेन बोध्यः, तत्राध्याहारेणान्यथेति पदमन्वेतीत्यर्थः।

४. साक्षादिति। वाक्यार्थस्य शाब्दत्वमिति सिद्धान्ताच्छक्त्यानुपस्थाप्यत्वेनाखण्डार्थस्याऽसाक्षात्त्वमिति भावः। वाक्यार्थमात्रस्य लक्ष्यत्वमते च पदानां शक्यपरत्वे वाक्यार्थस्य साक्षात्त्वव्यपदेशः, तेषां च लक्ष्यपरत्वे तस्याऽसाक्षात्त्वव्यवहार इति ज्ञेयम्।

यथा दीपः समागम्य तमो नेत्रनिरोधकम्। निःसारयेत् ततो नेत्रं वस्तुजातं प्रपद्यते।।५८०।।

भावाभावात्मकं तद्वत् कार्यकारणरूपधृक्। नात्मेति बोधयेच्छास्त्रमात्मानं बुद्ध्यते स्वयम्।।५८१।।

निषेधप्राबल्यनिगमनम्

निषेध एव तस्मात् स्यादादेशः परमः सदा। आत्मबोधे यतस्तत्र नापेक्षा कस्यचिद्भवेत्।।५८२।।

इयदेव जडं प्रोक्तं मूर्तामूर्तं सकारणम्। यदभावे विभावश्च स्वात्मनोऽयं न चापरम्।।५८३।।

एव व्यापारो घटादिदर्शने तु चाक्षुषः पुरुषः स्वतन्त्र एवेति भावः। निःसारयेद् निवर्तयेत्। ततः प्रतिबन्धकापनयादित्यर्थः।।५८०।। दार्ष्टान्तिकमाह—भावेति। भावाभावरूपं कार्यकारणरूपं वा द्वैतं नात्मा इति यदा शास्त्रं बोधयेत् तदा स्वयम् एवाधिकारी आत्मानं बुद्ध्यत इत्यन्वयः[१]।।५८१।।

फलितमाह—निषेध इति। तस्माद् आत्मबोधार्थं निषेधरूप एवादेश उपदेशः परमः श्रेष्ठः यतः तत्र निषेधरूप आदेशे कस्यचित् पदार्थशोधनस्य अनुमानादेः वा अपेक्षा न अस्तीति[२]।।५८२।। ननु मूर्तामूर्तयोः श्रुतिगतयोः नञ्द्वयेन निषेधेऽपि यदि अतोन्यत् किञ्चिज्जडं स्यात् तर्हि तत्तादात्म्याध्यासादात्मभानं न स्यादिति शङ्कां वारयति—इयदेवेति। इयद् एतावद् एव जडं यत् सकारणं मूर्तामूर्तम् इति अधिकं तु नास्ति सकारणमूर्तामूर्तव्यतिरेकमात्रेण आत्मपरिचयस्य विद्वदनुभवसिद्धत्वादित्याह—यदभाव इति। यतः सकारणस्य मूर्त्तामूर्त्तस्य अभावे व्यतिरेके कृते सति आत्मनः अयम् अपरोक्षः विभावः परिचयो दृश्यते। 'विभावः स्यात् परिचय' इति विश्वः।।५८३।।

एतत् स्फुटयन् पूर्वं सूचितां नकारयोजनां दर्शयति—नकार एक इति। कारणपर्यन्तं भावम् एको नञ् निषेधयति, परस्तु तदभावमित्यर्थः[३]।।५८४।।उभयोर्निषेध आत्मपरिचयं दर्शयति—भावाभावाविति। स्पष्टम्।।५८५।।

निषेध होने पर स्वयंप्रकाश आनंदस्वरूप महादेव प्रकाशते हैं। निषेधपर्यन्त ही अन्यसहायता चाहिये, प्रकाशने के लिये नहीं।।५७९।। दीपक आकर नेत्र को रोकने वाले अँधेरे को मिटाता है तो नेत्र खुद ही चीज़ें देख लेता है, ऐसे ही शास्त्र समझाता है कि कार्य-कारणरूप वाली भाव-अभाव वस्तुएँ आत्मा नहीं, अर्थात् द्वैत आत्मा नहीं, तो अधिकारी स्वयं ही आत्मा को समझ लेता है।।५८०-८१।।

इसीलिये आत्मा समझाने के लिये निषेधरूप उपदेश ही श्रेष्ठ है क्योंकि उस प्रक्रिया में पदार्थशोधन, अनुमान आदि की पृथक् से कोशिश ज़रूरी नहीं रह जाती।।५८२।। क्योंकि सकारण मूर्तामूर्त का निषेध कर देने पर आत्मा का अपरोक्ष परिचय विद्वानों का अनुभव है इसलिये सारा जड बस इतना ही है—मूर्त, अमूर्त, कारण; इससे अतिरिक्त नहीं।।५८३।।

---

१. अतएवात्मज्ञाने न यत्नो विधेयोऽपि तर्ह्यनात्मधियो निरासमात्र इत्यादि गीताविवरणोदितं सङ्गच्छते।
२. शास्त्रेऽकम्पश्रद्धायास्त्वस्त्येवापेक्षाऽन्यथा प्रत्यक्षमुपलभ्यमानप्रपञ्चस्य नेतिनिषेधादभावावसानाऽसम्भवाद्विना चानात्माभावनिश्चयमात्ममात्रस्फुरणाऽयोगात्। ३. कार्यकारणाभावआद्यनञोऽर्थस्तस्य पुनरभावो द्वितीयस्य, न चैवं कार्यकारणसत्त्वापत्तिः कार्यकारणसमसत्ताकाभाव एव प्रथमनञर्थस्तस्य पारमार्थिकतानिषेधश्च द्वितीयस्य, यत्र प्रतियोगिसमसत्ताको निषेधाभावस्तत्रैव प्रतियोगिपुनरुज्जीवनसंभावना। मूले 'अनात्मकम्' इति—अनात्मभूतो योऽभावआद्यनञोक्तो ऽसौ द्वितीयेनापाक्रियते, यस्त्वधिकरणरूपो न तस्य निषेध इति तात्पर्यम्। असत्त्वापादकावरणविशिष्टप्रतियोग्युपलक्षितस्यैवाधिकरणस्वरूपस्य प्रतियोग्यभावरूपत्वम्, अन्यथा स्वरूपस्य सदाभावात्प्रतियोगिसमवधानेऽपि तस्याभ्युपेयतापत्तेः; उक्तावरणवैशिष्ट्यप्रयोजकस्य चाभावहेतुत्वव्यवहार इति दण्डादिर्घटाभावहेतुः, (प्रागभावस्त्वनादितया प्रयोजकं नापेक्षते)। तत्रोपलक्षणस्यापि अभावताव्यवहारेण तथाविधस्याधिकरणान्यत्वानपायादात्माधिकरणकत्वेऽनात्मत्वान्निषेधोपपत्तिरिति भावः।

नेतीत्यत्र नव्योजना

नकार एको भावाख्यं स्थिरं यत् कार्यकारणम्। तं निषेधति चान्योऽपि द्वयाभावमनात्मकम्। ।५८४।।

भावाभावौ यदा स्वस्माद् निर्गतौ जडरूपिणौ। तदानन्दात्मको बोधः स्वप्रकाशोऽवतिष्ठते। ।५८५।।

इन्धनेऽपगते वह्निर्यथा तिष्ठति रूपतः। तथाऽऽत्मापि गते तस्मिन् भावाभावात्मके जडे। ।५८६।।

अहं त्वं दृश्यमेतच्च तथाऽन्येऽपि च जन्तवः। मूर्तामूर्तविभेदोऽयं शक्र नात्मनि विद्यते। ।५८७।।

जगत एककार्यता

एकस्मिन् हि यथाऽऽकाशे धूमविद्युद्घनाघनाः। भेदं नानाविधं कुर्युस्तद्वदात्मनि जन्तवः। ।५८८।।

मूर्तामूर्तमिदं विद्धि मायाकार्यं न वस्तुतः। माया च न हि सत्या सा लोके मायाविनिर्मिता। ।५८९।

अत्र दृष्टान्तमाह—इन्धन इति। यथा विशेषभावप्रयोजक इन्धनेऽपगते दग्धे सति वह्निः सामान्यरूपेण अवतिष्ठते तथा तस्मिन्[1] जडे गते सति आत्मा स्वेन सच्चिदानन्दात्मनाऽवतिष्ठते भासत इति यावत्। ।५८६।। आत्मनो रूपमुपलक्षयति—अहं त्वमिति। अहन्त्वादिरूपो मूर्तामूर्तोपाधिप्रयुक्तो भेदो यत्र स्वरूपे न अस्तीत्यर्थः। ।५८७।।

अथ ब्रह्मात्मविद्याया निगमभूतं मधुब्राह्मणमेकादशभिरवतारयंस्तत्र सूचयिष्यमाणमिदमनुमानम्—जगद्, एककार्यं परस्परोपकारकत्वाद्, एकमातृजपुत्रवद्—इति। तत्र व्यावर्तनीयभेदमौपाधिकं दर्शयति—एकस्मिन्निति।। यथा धूमेन विद्युता घनाघनैः मेघैः च आकाशे कल्पितसम्बन्धैः आकाशस्य भेदः क्रियते तथा आत्मनि जन्तवः स्थूलसूक्ष्मशरीराणि भेदं कुर्युः इति। ।५८८।। दृष्टान्ते धूमादीनामाकाशोपादानकत्वाभावेऽपि दार्ष्टान्तिक उपाधीनामात्मोपादानकत्वमस्तीति विशेषं सूचयन् कथमात्मनः कारणतेति शङ्कावारणाय असङ्गस्याप्यात्मनो मायाशबलस्य, मूर्तामूर्तविवर्तोपादानता सम्भवतीत्याह—मूर्तेति। मूर्तं स्थूलम् अमूर्तं सूक्ष्मम् एतदात्मकम् इदं दृश्यं

श्रुति ने 'नेति नेति' यों दो न-शब्द कहे हैं जिनमें एक तो उसका निषेध करता है जो भाव कहलाने योग्य निश्चित किया जाता है वह चाहे कार्य हो या कारण। दूसरा न-शब्द अभाव कहलाने वाले का निषेध करता है। जो भी आत्मा नहीं उस सब के निषेध में तात्पर्य है। ।५८४।। जडरूप वाले भाव-अभाव जब आत्मा से निकल जाते हैं—आत्मा पर कल्पित भाव-अभाव का निषेध होने से उनका परोक्ष बाध हो जाता है; यह समझ आ जाता है कि ये भाव-अभाव आत्मा नहीं—तब आनन्दस्वरूप स्वप्रकाश ज्ञान ही अवस्थित रहता है, आत्मा निरावृत हो जाता है। ।५८५।। ईंधन समाप्त हो जाने पर जैसे अग्नि अपने सामान्य अर्थात् व्यापक स्वरूप से ही रह जाती है उसकी विशेष उपलब्धि अर्थात् ज्वालादि व उष्णतादि रूप अनुभूयमान नहीं रह जाते, वैसे ही भाव-अभाव रूप जड का निषेध हो चुकने पर आत्मा भी अपने निर्विशेष स्वरूप से ही बना रहता है। (वह्नि भुवन में प्रविष्ट है, सर्वत्र मौजूद है, इन्धनादि उपाधियों में अभिव्यक्त होती है यह मानकर दृष्टान्त है। प्रायः आकाश का ऐसे स्थल में उदाहरण दिया जाता है। बात एक ही है)। ।५८६।। हे इंद्र! मैं, तुम, यह मनोरम दृश्य, तथा अन्य भी सब जन्तु; यह सब भेद मूर्तामूर्त उपाधियों से ही प्रयुक्त है। जिस स्वरूप अर्थात् आत्मा में यह दीख रहा है उसमें वस्तुतः यह भेद सर्वथा नहीं है। ।५८७।।

अब मधुब्राह्मण का उपोद्घात किया जा रहा है। उस ब्राह्मण का अभिप्राय इस अनुमान से व्यक्त होता है कि सारा जगत् किसी एक का कार्य है क्योंकि जागतिक पदार्थ एक-दूसरे के उपकारक देखे जाते हैं, जैसे एक माता से उत्पन्न अनेक पुत्र। इस विषय को समझने के लिये भूमिका रचते हैं—जैसे धुआँ, बिजली, बादल एक ही आकाश में विविध भेद ला देते हैं वैसे ही जन्तुओं के स्थूल-सूक्ष्म शरीर अभिन्न आत्मा को विभिन्न बनाये हुए हैं। ।५८८।। स्थूल

१. इन्धनस्थानीयः सकारणप्रपंचइति भावः।

मूर्तामूर्तं यथा लोक इन्द्रजालं प्रतीयते। इन्द्रजालं तथैवैतदिन्द्रेणैव विनिर्मितम्।।५९०।।

मुख्य इन्द्रपदार्थः

इन्द्रो यो दृष्टवान् पूर्वमिन्द्र एव प्रतीयते। न त्वं शक्र यतो जातो मूर्तामूर्तवपुस्ततः।।५९१।।

इन्द्रत्वं त्वयि यल्लोका वदन्त्येतदपेक्षया। अस्मदादेर्यतस्तेऽस्ति ह्यैश्वर्यं महदत्र हि।।५९२।।

शक्रे श्वसमानता

ऐश्वर्येऽत्र शरीरे वा त्रिलोक्यां वा वधूजने। रागो महान् यथा तेऽस्ति तथाऽस्तीह शुनोऽपि च[1]।।५९३।।

मायाप्रयुक्तमत एव न वास्तवमिति। मायाया सविलासाया मिथ्यात्वं लोकेऽपि प्रसिद्धमित्याह—माया चेति। मायाविना निर्मिता प्रयुक्ता।।५८९।। चतुर्थपादार्थं विशदयति—मूर्तामूर्तमिति। यथा लोके मूर्तामूर्तं स्थूलसूक्ष्मपदार्थरूपम् इन्द्रजालम् ऐन्द्रजालिकनिर्मितं प्रतीयेत तथा एतद् मूर्तामूर्तम् इन्द्रेण निर्मितम् इन्द्रजालम् इति। 'जालो दम्भानाययोः' इति हेमचन्द्रः। दम्भश्च मिथ्याकृतिः। इन्द्रस्य मायाविनो जालमिन्द्रजालमिति। 'लिङ्गमशिष्यम्' इत्याद्युक्तेः क्लीबत्वम्।।५९०।।

दार्ष्टान्तिकेऽहमेवेन्द्र इति मन्यमानं प्रत्याह—इन्द्र इति। इन्द्रः स एव अत्र विवक्षितो यः पूर्वं सर्वात्मनात्मानं दृष्टवान् इदं दृष्टवान्[2] इति व्युत्पत्तेः समन्वयात्। परमैश्वर्यवाचकत्वेऽपीन्द्रपदस्य ब्रह्मात्मविदि एव समन्वय इत्याह—इन्द्र एवेति। यतो ब्रह्मात्मवित् सर्वज्ञत्वादिशालित्वाद् इन्द्रः परमैश्वर्यवान् एव प्रतीयते प्रसिद्धः। तथा च ब्रह्मैव मुक्तोपसृप्यमज्ञातमत्र इन्द्रपदार्थो जगत्कारणमिति भावः। त्वं तु मूर्तामूर्तदेहद्वयाभिमानित्वेन तत्कार्यत्वाद् नेन्द्रपदार्थ इत्याह—न त्वमिति। हे शक्र! त्वम् इन्द्रो न भवसि यतो मूर्तामूर्तशरीरतादात्म्याध्यासात् ततो जातः तत्कार्यमसीत्यर्थः।।५९१।। कथं तर्हि ममेन्द्रत्वप्रसिद्धिः? अत आह—इन्द्रत्वमिति। यत् त्वयि इन्द्रत्वं लोका मन्यन्ते तद् अस्मदादेः अपकृष्टैश्वर्यस्य अपेक्षया एव यतः तव अस्मदादिभ्यो महदैश्वर्यमस्तीति।।५९२।।

विवेकदृष्ट्या तु ब्रह्मात्मविदीश्वर एवेन्द्रः कार्योपाधिगतमुत्कर्षादिकं तु अभिमानमात्रं सच्चिदानन्दरूपात्मनः तादात्म्येन कीटादिशरीराणामपि प्रियत्वाविशेषाद् आपेक्षिकैश्वर्यादीनामपि मन्यमानत्वाद् आत्मविवेके तु देवशरीराणामपि दुःखत्वादिरूपेण भानादित्याशयेन अविद्यया देहाभिमानदशायाम् इन्द्रस्य शुनश्च ऐश्वर्यादिना साम्यमाह—ऐश्वर्य इत्यादिना। हे शक्र! यथा तव ऐश्वर्ये त्रिलोकीप्रभुत्वे तथा देवराजशरीरे भोग्यायां त्रिलोक्यां च स्वर्गवधूजने च रमणीयत्वबुद्ध्या तव राग आसक्तिः अस्ति तथा शुनोऽपि ऐश्वर्यादौ रागोऽस्तीति।।५९३।।

व सूक्ष्म जो कुछ भी इदमास्पद अर्थात् दृश्य है उसे माया का कार्य ही समझो, वह वास्तविक नहीं। इस भेद को दिखलाने वाली वह माया भी सच्ची नहीं जैसे लोक में बाजीगर द्वारा प्रयुक्त मायाजाल सच्चा नहीं होता।।५८९।। जिस तरह संसार में ऐन्द्रजालिक द्वारा निर्मित स्थूल-सूक्ष्म वस्तुओं का जाल प्रतीतिविषय होता है ऐसे ही यह आकाशादि प्रपंच इन्द्रजाल है और इसे भी 'इन्द्र' ने ही फैलाया है।।५९०।।

हे शक्र! जिसे मैंने इन्द्र कहा वह तुम नहीं हो! यहाँ विवक्षित इन्द्र वही है जिसने पहले सर्वात्मा का दर्शन कर लिया। ब्रह्म को आत्मा जानने वाला क्योंकि सर्वज्ञ आदि होता है इसलिये प्रसिद्ध है कि वह परम ऐश्वर्य वाला

---

१. मानवादयश्चार्थः श्वग्रहणं वैराग्याय; शुनो रागादिस्तत्प्रवृत्त्यनुमेयो, न तु तत्र मानान्तरमिति ज्ञेयम्। २. ननु यो दृष्टवान् नासौ रचयिता मुक्तस्य संसारहेतुत्वास्वीकाराद्, बन्धार्हस्यान्यस्याभावेन तस्यैव प्रवेशादिना पुनर्बन्धप्रसङ्गादिति चेन्न। प्रजापतेरिहाभिप्रेतत्वात्स ह्यहं ब्रह्मेति स्वात्मानं ददर्श ततश्च जगद्रचयामासेति निरूपितत्वादधस्तात्। तदितरजीवानां च भोक्तव्यशेषतया तेषामेव बन्धो, न मुक्तस्य विराजः। जीवैक्ये तु सन्दर्भस्यार्थवादादितयोपपत्तिरिति।

शुनोऽपि महदैश्वर्यमस्ति कीटाद्यपेक्षया। अस्ति देहोऽपि मृदुलः सूकरादेरपेक्षया।।५६४।।
वधूनां यादृशी प्रीतिः तव शक्रेह विद्यते। शुनोऽपि तादृशी प्रीतिः शुनीनां विद्यते भुवि।।५६५।।
यथाऽमृतं प्रियं तुभ्यं तथा वान्तं शुनोऽपि च। उपकारिणि सन्तोषं यथा शक्र प्रयास्यरम्। एवं स्वामिनि सन्तोषं श्वाऽपि गच्छति नित्यशः।।५६६।।
अपकारिणि कोपं त्वं यासि शक्र यथा तथा। श्वाऽपि याति मुखं कृत्वा विवृतं दन्तदर्शकः।।५६७।
उपकारमहं कुर्वे त्रिलोक्याः प्रतिपालनात्। सर्वस्य श्वा न च तथा मा मंस्था इत्थमण्वपि।।५६८।।

न च शुन आसक्तियोग्यमैश्वर्यादिकं नास्तीति वाच्यम्, आपेक्षिकस्य सत्त्वादित्याह—शुनोऽपीति। मृदुलः कोमलः।।५६४।। वधूनामिति। हे शक्र ! तव इह शरीरे यादृशी वधूनां प्रीतिः तादृशी प्रीतिः शुनः शरीरेऽपि शुनीनाम् अपि विद्यते। तथा च कमनीयशरीरतापि समेति भावः।।५६५।। भोज्ये रुचिसाम्यमप्याह—यथेति। प्रियं रोचकम्। तुभ्यं तव[1]। वान्तं छर्दितम्। आत्मत्वाभिमतशरीरानुकूले रागसाम्यमाह—उपकारिणीति। सन्तोषं प्रीतिं प्रयासि प्राप्नोषि अरं भृशम्। एवं स्वामिनि उपकारके श्वापि इति।।५६६।। प्रतिकूले द्वेषोऽपि सम इत्याह—अपकारिणीति। तथा प्रतिकूले कोपं श्वाऽपि याति यतो मुखं विवृतं विकासितं विकृतं कृत्वा दन्तदर्शक इति सम्बन्धः।।५६७।। उपकारकत्वेन अहमुत्कृष्ट इत्यभिमानोऽपि त्वया न कार्य इत्याह—उपकारमिति। इति मा मंस्था इत्यभिमानं मा कुर्विति।।५६८।।

होता है और इन्द्रशब्द का मूल इदिधातु परम ऐश्वर्य का ही वाचक है। इसलिये मुक्त जिसे पायेगा वह ब्रह्म ही अज्ञात रहते जगत् का कारण है, उसे ही इन्द्र कह रहे हैं। तुम तो अपने स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को 'मैं' माने बैठे हो, अतः तुम वस्तुतः इन्द्र नहीं बल्कि उससे पैदा हुए हो (जैसे घटाकाश महाकाश से या प्रतिबिंब बिंब से पैदा होता है)।।५६१।। लोग तुम्हें इंद्र इतने भरसे कहते हैं कि हम लोगों की अपेक्षा तुम्हारा ऐश्वर्य अधिक है। (तुम्हारी इन्द्रता सापेक्ष है न कि निरपेक्ष।)।।५६२।।

विवेककी दृष्टि से ब्रह्म-आत्मा का जानकार ईश्वर ही इन्द्र है। कार्य अर्थात् शरीर के उत्कर्ष आदि तो चेतन का स्वरूप नहीं वरन् शरीरों में तादात्म्याध्यास से ही वह शरीरवैशिष्ट्यसे स्वयं का उत्कर्ष समझता है। सच्चिदानंद आत्मा के स्वरूप हैं और कीड़े के देह में भी तादात्म्यवश सत्त्वादि वैसे ही भासते हैं जैसे ब्राह्मणादि देहों में। सापेक्ष ऐश्वर्य चाहे देवराज का हो, आत्मा में तो वह सिर्फ भ्रम से माना ही जा सकता है, सचमुच हो नहीं सकता। आत्मा-अनात्मा को पृथक् कर पहचानने पर तो देवशरीर भी वैसे ही दुःखादिरूप हैं जैसे कीटादि देह। इसलिये अविद्या से देहाभिमान होना इस समानता के रहते इन्द्र और कुत्ते का साम्य ही है! वैराग्य उपजाने के लिये उक्त तथ्य प्रकट करते हैं—हे शक्र! अपने ऐश्वर्य में, इस शरीर में, त्रिलोकी में (अर्थात् अपने राज्य में), देवांगनाओं में जैसे तुम्हें राग है, उन्हें रमणीय समझकर उनमें आसक्ति है, ऐसे ही कुत्ते को भी अपने सामर्थ्यादि में राग होता है।।५६३।। आखिर कीड़े आदि की अपेक्षा कुत्ते का भी ऐश्वर्य महान् है, सुअर आदि की अपेक्षा शरीर भी कोमल है। (सापेक्ष ही तुम्हारा भी ऐश्वर्य है, सौंदर्य है। अतः समानता स्पष्ट है।) ।।५६४।। जैसे तुम्हें स्वर्गीय नारियाँ प्रिय समझती हैं, तुम्हारे शरीर को कमनीय मानती हैं, ऐसे ही कुत्तियों को कुत्ते का शरीर भी बहुत प्यारा लगता है।।५६५।। तुम्हें अमृत प्रिय है तो पलटी किया हुआ भोजन कुत्ते का भी प्रिय आहार है। कोई तुम्हारा उपकार करे तो तुम खूब प्रसन्न होते हो, कुत्ता भी अपने उपकारक मालिक से प्रसन्न रहता है।।५६६।। जैसे अपकार करने वाले पर तुम्हें गुस्सा आता है ऐसे ही उसके प्रतिकूल कुछ करने पर कुत्ता भी क्रुद्ध हो जाता है, मुँह फाड़कर दाँत दिखाता है।।५६७।।

---

१. देवा न खादन्तीति श्रवणात्साक्षाद्भक्षणनिषेधः, वह्निमुखात्तु गृह्णन्त्येव; तदाऽमृतपदं सोमपरं सोमस्येन्द्रप्रियतायाः श्रुतत्वात्।

सर्वः सर्वोपकारकः

पृथिव्यापस्तथा वह्निः वायुः सूर्यस्तथा दिशः। चन्द्रो विद्युत्तथा मेघो नभो धर्मस्तथैव च।।५९९।।
सत्यवाक्यं मनुष्यादिजातिः पौरुषमेव च। देहद्वयं मनो बुद्धिः[1] प्राणादिकमिदं तथा।।६००।।
उपकारं करोत्यस्य सर्वः सर्वस्य सर्वदा। श्वाऽपि सर्वस्य भूम्यादेरुपकारं करोति हि।।६०१।।

तत्र हेतुतया मधुब्राह्मणस्य चतुर्दशकण्डिकापर्यन्तस्य अर्थं सङ्क्षेपेणाह—पृथिव्याप इति षड्भिः। पृथिवी स्थूलरूपा तदभिमानिसूक्ष्मशरीरात्मिका देवता च तेजोमयादिपदत्रयार्थभूता प्रथमकण्डिकायामुक्ता। तथाऽऽपो जलानि तदभिमानिसूक्ष्मात्मिका देवता च द्वितीयकण्डिकायामुक्ता। एवमग्रेऽपि कण्डिकाक्रमो बोध्यः। मेघः श्रुतौ स्तनयित्नुपदेनोक्तः। नभ आकाशः। धर्मो यागादिजन्यादृष्टरूपः शुभफलात्मककार्यद्वारा प्रत्यक्ष इवेति।।५९९।। सत्येति। सत्यं यथार्थवाक्यादिरूपः अनुष्ठीयमानो धर्मः अनयोः धर्मसत्ययोरपि प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं च मूर्तिद्वयमाकाशमूर्तिवत् तदीया स्थूलमूर्तिरपि न दृश्यत इति च बोध्यम्। एवं मनुष्यत्वादिजातिश्च द्विरूपा। तथा चतुर्दश्यां कण्डिकायामात्मपदेनोक्तं पौरुषं परिपूर्णस्य एकस्य पुरुषस्य सम्बन्धि मनोबुद्धिप्राणप्रभृतिरूपं देहद्वयं वैराजं हैरण्यगर्भं च द्वितीयात्मपदेनोक्तः चिदाभासश्चेत्यपि बोध्यम्।।६००।। उपकारमिति। एष सर्वः पृथिव्यादिपदार्थः अस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रुतौ भूतपदोक्तस्य उपकारं करोति भूतैर्दृष्टादृष्टद्वाराऽऽरब्धत्वात्। श्रुतौ मधुशब्दो हि दृष्टादृष्टद्वाराऽऽरब्धत्वप्रयुक्तोपकारकतावाचक इति भावः। तथा श्वापि श्वप्रभृतिप्राणिनां स्थूलसूक्ष्माख्यं शरीरद्वयमपि उक्तपृथिव्यादीनाम् उपकारं करोति पृथिव्यादीनां दृष्टादृष्टद्वारारम्भकत्वादिति

हे शक्र! तुम ऐसा थोड़ा भी अभिमान मत रखना कि त्रिलोकी की रक्षादि करके तुम तो सभी का उपकार करते हो जबकि कुत्ता सबका उपकारक नहीं है क्योंकि संसार में उपकार की स्थिति यह है :।।५९८।। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सूर्य, दिशायें, चंद्र, बिजली, मेघ, आकाश, धर्म (पुण्य), सत्यवचन, मनुष्यादि जाति, पौरुष दोनों देह जो मन, बुद्धि और प्राणादि रूप हैं; यह सब हमेशा इन सभी प्राणियों का उपकार करते हैं और कुत्ता भी पृथ्व्यादि सब का उपकार करता ही है। पुनः ये सभी कुत्ते के भी उपकारक हैं। अतः तुममें क्या खासियत है? इसलिये 'मैं हमेशा उपकार करता हूँ' ऐसा गर्व तुम कभी मत करना। (मधुब्राह्मण में पृथ्वी आदि का नाम लेकर कहा है कि वे सबके मधु हैं और सब भूत उनके मधु हैं। श्रुति ने पृथ्वी आदि के लिंगात्मा (सूक्ष्म शरीर, तदभिमानी देवता) और अध्यात्म अर्थात् शरीरान्तर्वर्ती लिंगात्मा का भी परस्पर मधु रूप से उल्लेख किया है। इस प्रकार हर पर्याय में—पृथ्वी आदि हर एक के संदर्भ में—पृथ्वी आदि एक-एक पदार्थ, सभी प्राणी और अधिदेव व अध्यात्म ये दो लिंगात्मा, यों चार का उल्लेख है, चतुर्विध मधु बताया है। मधु-शब्द यहाँ कार्य के अर्थ में है अर्थात् ये सब एक-दूसरे के कार्य हैं। जन्तु फलभोगार्थ पृथ्वी पैदा करते हैं और पृथ्वी अपने धरित्रीपन का भोग करने के लिये जन्तुओं को पैदा करती है। आचार्य विद्यारण्य ने इस परस्पर-उपकारकत्व की जानकारी को विषमता के क्लेश का अपहरण करने वाला कहा है 'इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी' (अनु. प्र. १६.८)। प्रकृत पुराण में भी पृथ्वी आदि शब्द स्थूल को और सूक्ष्म शरीररूप देवता को, दोनों को ही कहते हैं क्योंकि तभी श्रुति के अनुरूप होगा। धर्मशब्द अदृष्टका और सत्यवाक्य-शब्द अनुष्ठान किये जाते धर्मका बोधक है। इन दोनों के भी स्थूल व सूक्ष्म दोनों रूप समझने चाहिये। यद्यपि इनका स्थूल रूप भी समान्य दृष्टि से सूक्ष्म ही है क्योंकि चक्षुर्गोचर नहीं तथापि अपने-अपने अधिष्ठाता की दृष्टि से तो वह रूप स्थूल ही है। मनुष्यादि जाति के भी इसी तरह दो रूप समझ लेने चाहिये। चौदहवें पर्याय में आत्मशब्द से सर्वात्मा का कथन है अर्थात् समष्टि कार्य-करण-संघात को कहा है। पुराण में उसे 'पौरुष' पुरुषसंबंधी 'देहद्वय' कहकर 'मन-बुद्धि-प्राण आदि रूप' से स्पष्ट किया है। पुराण का कुत्ताशब्द सभी प्राणियों का उपलक्षक है। दृष्ट या अदृष्ट के द्वारा पैदा करने से जो उपकारकता है वही मधु पदका अर्थ है।)।।५९९-६०२।।

---

१. मनोबुद्धिप्राणादिकमिति समस्तः टीकापाठः। पौरुषं यद् देहद्वयं तद् मनआदिरूपमित्यर्थः।

शुनः सर्वेऽपि चैवैते विशेषः केन ते भवेत्। मा कृथास्त्वं ततो गर्वमुपकारकृतं सदा।६०२।

ईश्वर एवोपकारकः

उपकारं न कस्यापि कोऽपि किञ्चित् करोति हि[1]। किन्तु योऽयं मयाऽऽदिष्टो नेति नेतीति ते पुमान्।।६०३।।

एष एव पृथिव्यादौ स्थावरे जङ्गमेऽपि च। तिष्ठन् विनाशरहितः स्वयंभातः परः पुमान्।।६०४।।

भावः।।६०१।। शुन इति। शुनः श्वप्रभृतेः प्राणिजातस्य एते पृथिव्यादयः। फलितमाह—विशेष इत्यादिना।।६०२।।

एवं परस्परोपकारकत्वे च एकमातृजपुत्रवद् एककार्यत्वनिश्चये यस्य मायाशबलस्य इदं सर्वं कार्यं स एवैकः सर्वत्र तादात्म्येन अनुप्रविष्ट उपकारक इति सिद्धमित्याह—उपकारं नेति द्वाभ्याम्। कोऽपि **पृथिव्यादिः प्राणिविशेषो वा किंशब्दार्थः।** किञ्चिद् **अल्पमपि। कस्तर्ह्युपकारकः? इत्यत आह—**किन्त्वित्यादिना। यो मया तुभ्यं नेतीत्यादिनोपदिष्ट एष एव परः पुमान् **पृथिव्यादिकार्ये** तिष्ठन् **तादात्म्येनानुगतः सन्** विनाशरहितः **अमृतः स्वयम्प्रकाशश्च परो ब्रह्मत्वेन सर्वोत्कृष्टः सर्वोपकारक इति द्वयोरर्थः। अनेन श्लोकद्वयेन 'अयमेव स' इत्यादिरंशः सर्वकण्डिकान्तगतो व्याख्यातः।।६०३-६०४।।**

हे शक्र! तुम ऐसा थोड़ा भी अभिमान मत रखना कि त्रिलोकी की रक्षादि करके तुम तो सभी का उपकार करते हो जबकि कुत्ता सबका उपकारक नहीं है क्योंकि संसार में उपकार की स्थिति यह है।।५९८।। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सूर्य, दिशायें, चंद्र, बिजली, मेघ, आकाश, धर्म (पुण्य), सत्यवचन, मनुष्यादि जाति, पौरुष दोनों देह जो मन, बुद्धि और प्राणादि रूप हैं; यह सब हमेशा इन सभी प्राणियों का उपकार करते हैं और कुत्ता भी पृथ्व्यादि सब का उपकार करता ही है। पुनः ये सभी कुत्ते के भी उपकारक हैं। अतः तुममें क्या खासियत है? इसलिये 'मैं हमेशा उपकार करता हूँ' ऐसा गर्व तुम कभी मत करना। (मधुब्राह्मण में पृथ्वी आदि का नाम लेकर कहा है कि वे सबके मधु हैं और सब भूत उनके मधु हैं। श्रुति ने पृथ्वी आदि के लिंगात्मा (सूक्ष्म शरीर, तदभिमानी देवता) और अध्यात्म अर्थात् शरीरान्तर्वर्ती लिंगात्मा का भी परस्पर मधु रूप से उल्लेख किया है। इस प्रकार हर पर्याय में—पृथ्वी आदि हर एक के संदर्भ में—पृथ्वी आदि एक-एक पदार्थ, सभी प्राणी और अधिदेव व अध्यात्म ये दो लिंगात्मा, यों चार का उल्लेख है, चतुर्विध मधु बताया है। मधु-शब्द यहाँ कार्य के अर्थ में है अर्थात् ये सब एक-दूसरे के कार्य हैं। जन्तु फलभोगार्थ पृथ्वी पैदा करते हैं और पृथ्वी अपने धरित्रीपन का भोग करने के लिये जन्तुओं को पैदा करती है। आचार्य विद्यारण्य ने इस परस्पर-उपकारकत्व की जानकारी को विषमता के क्लेश का अपहरण करने वाला कहा है 'इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी' (अनु. प्र. १६.८)। प्रकृत पुराण में भी पृथ्वी आदि शब्द स्थूल को और सूक्ष्म शरीररूप देवता को, दोनों को ही कहते हैं क्योंकि तभी श्रुति के अनुरूप होगा। धर्मशब्द अदृष्टका और सत्यवाक्य-शब्द अनुष्ठान किये जाते धर्मका बोधक है। इन दोनों के भी स्थूल व सूक्ष्म दोनों रूप समझने चाहियें। यद्यपि इनका स्थूल रूप भी समान्य दृष्टि से सूक्ष्म ही है क्योंकि चक्षुर्गोचर नहीं तथापि अपने-अपने अधिष्ठाता की दृष्टि से तो वह रूप स्थूल ही है। मनुष्यादि जाति के भी इसी तरह दो रूप समझ लेने चाहिये। चौदहवें पर्याय में आत्मशब्द से सर्वात्मा का कथन है अर्थात् समष्टि कार्य-करण-संघात को कहा है। पुराण में उसे 'पौरुष' पुरुषसंबंधी 'देहद्वय' कहकर 'मन-बुद्धि-प्राण आदि रूप' से स्पष्ट किया है। पुराण का कुत्ताशब्द सभी प्राणियों का उपलक्षक है। दृष्ट या अदृष्ट के द्वारा पैदा करने से जो उपकारकता है वही मधु पदका अर्थ है।)।।५९९-६०२।।

---

१. अन्येनानुपकृतो यत्तस्य हिताय चेष्टते तदुपकारः प्रसिद्धः। समेषां परस्परमुपकारकत्वे क उपकर्ता को वोपकार्यः! ततश्च न कोपि कस्यचनोपकरोति। यात्वन्योन्यमुपकारकताप्रतीतिः साऽऽत्माऽद्वैतसाधिका, स्वस्यैव सदोपकार्यत्वात्; हस्तपादौ मिथो नोपकुर्वाते तथाप्यनयोः परस्परं दृश्यते ह्युपकारः, तत्कस्य हेतोः, तयोः स्वाधिष्ठातृद्वाराऽभिन्नत्वात्। एवं जगति सर्वेषामितरेतरमुपकारकत्वदर्शनं तेषामभेदं साधयतीत्यर्थः। उपकाराभावेप्युपकारदर्शनमेवाऽभेदसाधकं, वास्तवोपकारस्तु भिन्नयोरेव स्यादिति भावः।

पृथ्व्यादिमधुविवरणम्

पृथिव्यां वर्तमानः सन् शरीरं कुरुते हि सः। शरीरस्थश्च भूमेः स करोत्युपचयं पुमान्।।६०५।।

जले तिष्ठन् हि जन्तूनां रेतसो वृद्धिमीश्वरः। रेतस्ययमपां वृद्धिं कुरुते देहरूपतः।।६०६।।

उक्तं परस्परोपकारकत्वं विशदयति—पृथिव्यामिति त्रयोदशभिः। स परः पुरुषः पृथिव्यां वर्तमानः सन् सर्वप्राणिनां भोगसाधनानि शरीराणि कुरुत इति प्राणिनः प्रति पृथिव्युपकारिका। तथा शरीरस्थः सर्वप्राणिरूपः सन् आधारं विना भोगाऽसम्भवाद् आधारभूतभूमेः दृष्टादृष्टाऽन्यतमद्वारा उपचयं वृद्धिं करोति। तथा च पृथिव्या स्वारम्भकत्वेन स्वार्थानां प्राणिनां सृष्टेः, प्राणिभिश्च स्वारम्भिकाया भूमेः स्वार्थमेव सृष्टेः परस्परकार्यत्वं परस्परभोग्यत्वं च। तत्र जडांशप्राधान्येन कार्यत्वं भोग्यत्वं च, चित्प्राधान्येन भोक्तृत्वं च। तत्फलं च उक्त-विधानुमानेन[1] ऐकात्म्यसिद्धिरेवमग्रेऽपि बोध्यम्।।६०५।। जल इति। ईश्वरः जलरूपः प्राणिनां देहेषु रेतसः शुक्रस्य वृद्धिं करोति 'आपो रेतो भूत्वा प्राविशन्' (ऐ. २.४) इत्यैतरेयश्रुतेः। एवमग्रेऽपि अधिदैवरूपाणामध्यात्म-रूपोपबृंहकत्व ऐतरेयश्रुतयोऽनुसन्धेयाः। प्राणिरेतःस्थितः कार्यदेहरूपेण जलारम्भकदृष्टादृष्टव्यापारोत्पादनद्वारा जलवृद्धिं करोतीति पूर्ववत् सर्वं बोध्यमिति। इयमुपकारविधा इह अग्रेऽपि प्रकारान्तराणामुपलक्षणमिति।।६०६।।

वास्तविकता तो यह है कि कहे गये पृथ्व्यादि में से कोई भी किसी का कुछ भी उपकार नहीं करता किन्तु मैंने 'नेति नेति' से जिस पुरुष का उपदेश दिया वही अविनाशी, स्वयं प्रकाश, सर्वोत्कृष्ट पूर्ण तत्त्व पृथ्व्यादि सब स्थावर-जंगम उपाधियों में मौजूद हुआ सबका उपकारक है। (स्वयं उपकृत होने वाले को उपकारक कैसे कहें? वह तो लेन-देन का व्यवहार ही हुआ। अतः एक महामायावी परमशिव ही सबके उपकारक हैं। श्रुति में हर पर्याय में यह कहा है कि पृथ्वी (आदि), सारे भूत, अधिदैव और अध्यात्म पुरुष यही है जो यह आत्मा है, यह अमृत है, ब्रह्म है, सब है।' इस बात को पुराण में यहाँ एकत्र कर दिया है।)।।६०३-४।।

ईश्वर विभिन्न रूप लेकर परस्पर उपकार कैसे संभव करता है यह समझाते हैं—वह परम पुरुष पृथिवी में वर्तमान हुआ सभी प्राणियों के भोगसाधनभूत शरीरों को पैदा करता है जिससे प्राणियों के प्रति पृथ्वी की उपकारकता हो जाती है। इसी तरह सभी प्राणियों के शरीरों में स्थिति होकर वही पुरुष पृथ्वी की वृद्धि करता है जिससे प्राणी भी पृथ्वी के उपकारक हो जाते हैं। (पृथ्वी के प्राणियों के शरीरों में पार्थिवता होती है अतः पृथ्वीकी कारणता प्रसिद्ध है। आधारके बिना भोग असंभव है अतः अपने कर्मों से प्राणी भी पृथ्वी के प्रयोजक हैं क्योंकि प्राणि-अदृष्ट के निमित्त से ही भूतादिसृष्टि मानी गयी है। इस प्रकार भूमि जिन प्राणिनिकायों को उत्पन्न करती है वह उसके उपकारक हैं, अतः उसकी प्रवृत्ति स्वार्थ ही ठहरती है और यही बात प्राणियों की प्रवृत्ति के बारे में है। पृथ्वी और शरीरों के जडांश में परस्पर कार्यता है और भोग्यता है जबकि उनसे उपहित चिदंश में भोक्तापन है। अभिप्राय यही समझाना है कि एकात्मता ही है : स्वाप्न पदार्थ आपस में एक-दूसरे का सहारा बनते मिलते हैं और एकात्मक हैं क्योंकि एक स्वप्नद्रष्टा ही उन सबका आत्मा है, अतः परस्पर सहारा बनने वाले जाग्रत्पदार्थ भी एकात्मक समझने चाहिये। कार्य क्योंकि कारणात्मक होता है इसलिये सारा संसार सर्वात्मक है कारण कि सभी सबके प्रति कारण सिद्ध होते हैं; इस तरह भी एकात्मता निश्चित हो जाती है। यहाँ जो पुराण में पृथ्वी की वृद्धि करना कहा है वह उत्पत्ति का उपलक्षण है। वृद्धि का मतलब बढ़ाना है अर्थात् पृथ्वी बनी रहे, भाविकाल से सम्बद्ध हो इसके लिये प्राणि-अदृष्ट हेतु बनता है।)।।६०५।। जलमें (जलरूपसे) स्थित ईश्वर जन्तुओं के शुक्र की वृद्धि करता है और शुक्रमें स्थित हुआ अर्थात् शुक्रजन्य शरीररूप होकर यह जल की वृद्धि करता है।।६०६।। वह्नि में स्थित ईश्वर प्राणियों की वाणी को प्रवृत्त करने के द्वारा तथा धातुपाकादि के द्वारा प्राणियों का उपकार करता है। प्राणियों की वाणी में स्थित ईश्वर मंत्रोच्चारणादिके द्वारा आहवनीयादि संस्कृत

१. विमतानाम् एकहेतुतयास्त्यैकात्म्यं, मिथ उपकारकत्वात्सहोदरभ्रातृवदित्युक्तानुमानम्। किं च — विमतमेकात्मकम् उपकार्योपकारित्वात् स्वप्नद्वैतवत्; सर्वं सर्वात्मकं सर्वकारणत्वात् मूलकारणवदित्यादि वार्तिकटीकोक्तमनुसन्धेयम्।

वह्नौ वाचः प्रवृतिं स तिष्ठन् पाकादिकं तथा। मन्त्राद्युच्चारणाद् वाऽपि तिष्ठन् वह्नेरुपस्क्रियाम्।।
वायौ तिष्ठन् क्रियां प्राणैः तत्र वास्य प्रवर्तनम्।।६०७।।

सूर्ये तिष्ठन् हि नेत्राणामुपकारकरः पुमान्। नेत्रे सूर्यं च जानन् सन् तमप्युपकरोति सः।।६०८।।

दिक्षु स्थित्वा च कर्णानामनुग्रहकरो भवेत्। कर्णयोरपि संस्थित्वा[1] दिशां जानात्युपस्क्रियाम्।।६०९।।

चन्द्र एष पुमान् स्थित्वा मनः सर्वं प्रवर्तयेत्। मनस्येष व्यवस्थाय चन्द्रं सम्प्रतिपद्यते।।६१०।।

विद्युत्येष पुमान् स्थित्वा तमःस्तोमं निहन्ति हि। तैजसे च पुमान् स्थित्वा विद्युतः प्रतिपद्यते।।६११

घनाघनेऽप्ययं स्थित्वा सशब्दो ह्लादको नृणाम्। जन्तूनामपि शब्देऽसौ स्थित्वा तं बहु मन्यते।।६१२

वह्नाविति। वह्नौ तिष्ठन् ईश्वरः प्राणिनां वागिन्द्रियप्रवर्तनद्वारेण धातुपाकादिद्वारेण वा प्राणिनः प्रति उपकरोति। प्राणिनां वाचि तिष्ठन् च मन्त्रोच्चारणादिनाहवनीयाद्युत्पादिकाम् उपस्क्रियां संस्कृतिं कुरुत इति। पृथिवीरीत्योपकारस्तु[2] सर्वत्र अविशिष्ट एवेति च बोध्यम्। वायाविति। वायौ तिष्ठन् सर्वेषां प्राणप्रयुक्तां क्रियां प्रवर्तयति। वायुनिरोधस्थले प्राणनिरोधानुभवात्। तथा तत्र प्राणेषु तिष्ठन् अस्य वायोः प्रवर्तनं करोति, प्राण्यदृष्टैः वाय्वारम्भादित्युक्तप्रायम्।।६०७।। सूर्य इति। सूर्यस्थः सर्वप्राणिनां दृष्टिं प्रवर्तयन्नुपकारकः प्राणिदृष्टिस्थश्च सूर्योऽयमिति ज्ञानद्वारा सूर्योपकारको दृष्टिसृष्टिसिद्धान्तात्।।६०८।। दिक्ष्विति। दिक्षु स्थितः सन् सर्वप्राणिश्रोत्राणां दिगंशभूतानामनुग्राहकः। श्रोत्रस्थश्च दिशामुपस्क्रियां संस्कृतिं भेर्यादिजन्यशब्देन कृतां प्रतिध्वनिरूपां श्रुतौ प्रतिश्रुत्पदेनोक्तां जानाति। प्रतिध्वनिबलादेव हि विशेषतः पूर्वादिदिशो ज्ञायन्त[3] इति प्रतिध्वनिज्ञानद्वारा श्रोत्रस्य दिशः प्रति उपकारकत्वं युक्तमिति। एवं चन्द्रस्य मनःप्रवर्तकत्वेनोपकारकत्वं मनसश्च सङ्कल्पैः चन्द्रलोक-बृंहककर्मद्वाराऽऽह्लादकस्य च चन्द्रस्य साधकत्वेन वोपकारकत्वं बोध्यम्। इति द्वयोरर्थः।।६०९-६१०।। विद्युतीति। अधिदैवं विद्युति स्थितः सन् परः पुरुषः सकलप्राणिनां तमःपुञ्जं हन्ति। सकलप्राणिनामध्यात्मं तैजसे त्वग्गतोज्ज्वलतारूपतेजोऽभिमानिनि स्थितः सन् सर्वतो व्याप्तं विद्युतः प्रकाशं प्रतिपद्यते जानातीति सूर्ये वर्णितन्यायेनोपकारकता[4] बोध्या।।६११।। घनाघन इति। घनाघने मेघे स्थित्वा सशब्दः गर्जिताख्येन शब्देन सहितः सन् नृणाम् भूतानामाह्लादको हर्षजनको भवति। तथा नृणाम् अध्यात्मं ध्वनिरूपे शब्दे स्थितः संस्तं मेघं बहु प्रशस्ततया मन्यते। यथा मुखगता लाला बाह्यरसास्वादे हेतुः तथान्तर्ध्वनिः बाह्यशब्दग्रहण इति पूर्ववदुपकारकता बोध्या।।६१२।। नभसीति। अधिदैवमाकाशे स्थितः सर्वप्राणिनां हृदयच्छिद्रप्रदानेनोपकारकः। हृदयाकाशस्थितश्च

अग्नियों को उत्पन्न कर अग्नि का उपकार करता है। (संस्कृत अर्थात् संस्कारों से विशिष्ट। आग वही है लेकिन कुछ संस्कार जब उसके हो जाते हैं तब आहवनीय कहलाती है, अन्य संस्कारों से गार्हपत्यादि तत्तद् अग्नियाँ बन जाती हैं। पृथ्वी की तरह वह्निमात्र का उत्पादक तो प्राणी अदृष्टद्वारा होता ही है। यह उपकार सर्वत्र समझते जाना चाहिये।) वायुमें स्थित ईश्वर सभी की प्राणनिमित्तक क्रियाओं को संभव करता है। वायुका उत्पादनरूप उपकार प्राणों में स्थित ईश्वर करता है।।६०७।। सूर्यस्थ ईश्वर सबकी दृष्टि को प्रवृत्त करने से उपकारक है तथा नेत्रों में स्थित हुआ सूर्य को जानते हुए उसका उपकार करता है (क्योंकि यदि कोई नेत्र देखे नहीं तो रूपवान् सूर्य सिद्ध ही कैसे होगा? स्वयं सूर्य की सिद्धि उसके प्रति नेत्रका उपकार है।)।।६०८।। दिशाओं में स्थित ईश्वर कानों का उपकार करता है एवं

---

१. स स्थित्वेति पाठो भवेत्। २. वह्न्यादेरप्युत्पत्तिः प्राणिकर्मनिमित्ता तेषामुपभोगाय चेत्यनयोः परस्परमुपकारः। ३. रात्र्यादौ को दक्षिणतः को वोदीच्यामित्यादि ज्ञातुं शब्द एवाश्रीयत इति भावः। ४. दृष्टिसृष्टिरुक्तो न्यायः। यद्वा विद्युतः प्रतिपद्यत इति तत्प्रकाशं प्रकटी कुरुते, नरस्य त्वग्गता दीप्तिर्विद्युत्तेजस एवाध्यात्ममिति व्याख्येयम्।

नभस्येष व्यवस्थाय हृदि च्छिद्रं प्रयच्छति। हार्दे छिद्रे स्थितो देवो नभो जानाति सर्वगम्।।६१३।।

धर्मे स्थित्वा नराणां स सुखं यच्छति सर्वदा। धार्मिकेषु नरेष्वेष स्थित्वा धर्मं करोति च।।६१४।।

सत्यवाक्ये पुमान् स्थित्वा सम्यगर्थं निवेदयेत्। सत्यवाक्ये नरे स्थित्वा सत्यवाक्यं वदेत्तथा।।६१५।।

मानुषेऽपि च जात्यादौ स्थित्वा दद्यात्सुखं नृणाम्। मानुषे वपुषि स्थित्वा मानुषं स च गच्छति।६१६

सर्वव्यापकरूपतयाऽऽकाशं जानाति[1] इति तस्य साधकत्वेनोपकारकता। अत एव साम्प्रदायिकाः साक्षिभास्यं नभइत्याहुः। साक्षिणश्च हृदये विशेषतोऽवस्थानमिति।।६१३।। धर्म इति। धर्मरूपः सन् सर्वस्य सुखप्रदत्वेनोपकारकः। धार्मिकनररूपेण धर्ममुत्पादयन् धर्मं प्रति उपकारकः इति स्पष्टमिति।।६१४।। सत्येति। सत्यवाक्यरूपः यथावदर्थबोधनेनोपकारकः। तथा सत्यं वाक्यं यस्य तादृशे नरे स्थित्वा सत्यवाक्यम् उत्पादयति। इत्यपि स्पष्टं परोपकारकत्वमिति।।६१५।। मानुष इति।। मानुषत्वब्राह्मणत्वादिजातिरूपः सन् परमेश्वरोऽधिकारसम्पादनद्वारा जात्यभिमानिनां सुखप्रदत्वेनोपकारकः। तत्तद्व्यक्तिस्थितश्च अभिमानेन जातिं साधयन् दृष्टिसृष्टिन्यायेनोपकारक इति।।६१६।। पूर्वसङ्ग्रहवाक्ये पौरुषपदेनोक्तस्य सर्वसङ्घातस्य सर्वप्राणिबुद्धिप्रतिबिम्बितचिदाभासस्य च

कानों में स्थित होकर दिशाओं में मौजूद गूँज जानकर दिशाओं का उपकार करता है। (जहाँ दीखे नहीं वहाँ दायाँ बायाँ आदि गूँजसे समझ आते हैं, जिधर गूँज दूरसे आये उधर दिग्रूप जगह है व जिधर न आये उधर दीवाल आदि है यह सुनकर पता चलता है।)।।६०९।। यह ईश्वर ही चंद्रमें स्थित होकर सभी मनों को प्रवृत्त करता है और मनमें रहकर चंद्र को सिद्ध करता है अर्थात् संकल्पादिपूर्वक पुण्यादि कर चन्द्रवृद्धि करता है और आह्लादकारी समझकर चंद्रको उपकृत करता है क्योंकि यदि मन उसे आह्लादप्रद न समझे तो चाँद की विशेषता घट जाये!।।६१०।। परम पुरुष ही विद्युत् (बिजली) में स्थित होकर ढेरों अँधेरा मिटा देता है। सब प्राणियों के शरीरों में जो उज्ज्वलतारूप तेज है उसके अभिमानी रूप से स्थित ईश्वर ही विद्युत् के प्रकाश को जानकर उसका उपकार करता है क्योंकि कोई न जाने तो विद्युत् कैसे सिद्ध हो? (अथवा त्वचा की चमक रूप से विद्युत् की दीप्ति प्रकट होती है यह मानकर त्वग्रूप से स्थित को विद्युत् का उपकारक समझना चाहिये। उत्पादकता तो सर्वत्र है ही और तत्तदुपाधि के प्राधान्य से तत्तत् के प्रति उत्पादकता वाचनिक है।)।।६११।। मेघों में गरजते हुए स्थित होकर लोगों के हर्षका जनक वही ईश्वर है जो प्राणियों के ध्वनिरूप शब्द में स्थित होकर मेघ को बहुत बढ़िया समझता है! (अर्थात् प्राणी यह कहते हैं कि 'मेघ अच्छा है', यही उनका मेघके प्रति उपकार है। किं च प्राणियों को कर्णशष्कुली में जब ध्वनि हो तभी उन्हें सुनायी देती है अतः मेघगर्जन को कर्णस्थ ध्वनिसे जाना जाता है, यही उपकार है।)।।६१२।। हृदयमें रुधिरप्रवाहादि के लिये जगह देकर आकाशस्थ ईश्वर उसका उपकारक है और हार्दाकाशस्थ ईश्वर ही सर्वव्यापकरूप से आकाश को जानता है अतः उपकारक है। (हृदयमें विशेषतः अवस्थिति साक्षी की है और आकाश को साक्षिभास्य माना ही जाता है। यह 'अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे' इस अध्यासभाष्यकी टीकाओं से स्पष्ट होता है।)।।६१३।। धर्ममें विद्यमान ईश्वर नरों को हमेशा सुख देता है तथा धार्मिक नरों में रहकर धर्म उत्पन्न करता है।।६१४।। परम पुरुष सत्य वचन में स्थित होकर सही अर्थ ज्ञात कराता है और सत्यवादी पुरुष में रहकर सत्य वाक्य बोलता है।।६१५।। मानुषत्वादि जाति रूपसे स्थित ईश्वर नरों को सुख देता है। क्योंकि मनुष्यादि होने से ही तत्तत् कर्मों व भोगों में अधिकार आता है। अपने में मनुष्यताभिमान होने पर ही सुखादि भोगे जाते हैं। यदि किसी पशुता का अभिमान हो जाये तो उसके लायक भोग ही ज़रूरी पड़ेंगे, मानवोचित भोग संतोष

१. यावान्वेत्यादिश्रुत्यन्तरे बाह्याकाशतुल्यपरिमाणो हार्दाकाश इति वर्णनाद्बाह्यस्य चापरोक्षी कर्तुं पुंभिरशक्यत्वाद्धार्दस्य च समाधानेन प्रत्यक्षी कर्तुमर्हत्वादुक्तश्रुतिसहकारेणोपमानप्रमाणेन व्यापकस्यापि नभसो वेदनं सङ्गच्छते। यद्वा बहिर्विस्तृतमेवाकाशं सर्वगमित्यभिप्रेत्य तस्यापि चक्षुःसहकारेण मनःप्रत्यक्षत्वमुपेत्य साक्षिभास्यतामेव वादाय जानातीत्युदितम्। यद्यपि प्रत्यक्षं विषयदेश उत्पद्येत तथापि जानामीत्यध्यात्ममेवानुभूतेः सर्वगनभोज्ञानमपि हृदये स्थितस्य साक्षिणोऽगादीति द्रष्टव्यम्।

देहेन्द्रियमनःप्राणसङ्घाते बुद्धिपालिते। स्थित्वा जनिमृती तस्य कुरुते सर्वदेश्वरः।।६१७।।

बुद्धेः सर्वप्रचारेषु स्थित्वा तां विषयैः सह। अवगच्छति जन्तूनामात्मा तेऽपि शुनोऽपि च।।६१८।।

मधुशब्दोपपत्तिः

माक्षिकस्य रसो यद्वन्माक्षिकोपकृतः पुरा। उपकारं मक्षिकाणां कुरुते सर्वदैव हि।।६१९।।

एवमेव जगच्चक्रं पृथिव्यादिकमत्र हि। यस्योपकुरुते तद्धि तस्योपकुरुते पुनः।।६२०।।

विज्ञानमयपदोक्तस्य परस्परोपकारकतां दर्शयति—देहेन्द्रियेति द्वाभ्याम्। देहादिसङ्घाते बुद्धिपालिते बुद्धिप्रधानके बुद्धिपर्यन्त इति यावत्, स्थित्वा तस्य विज्ञानमयस्य जन्मादिकं करोति। बुद्ध्यादिरूपोपाधीनां धर्मैः विज्ञानमयं धर्मवन्तं करोतीति विज्ञानमयं प्रति सङ्घातस्योपकारकता। उपाधिधर्माध्यासेनैव हि भोक्तृत्वं तच्च अविद्यादशायां सुखवदवभासत इति प्रसिद्धमिति भावः।।६१७।। बुद्धेरिति। बुद्धेः प्रचारेषु वृत्तिसंज्ञपरिणामेषु स्थितः संस्तां बुद्धिं विषयैः सह अवगच्छति भासयति इति विज्ञानमयस्य सङ्घातं प्रत्युपकारकता। तं विज्ञानमयं तत्पदार्थे[1] निवेशयति—आत्मेति। एतादृश आत्मा ते शक्रस्य अपि शुनोऽपि अविशिष्ट इत्यर्थः।।६१८।।

परस्परोपकारे दृष्टान्तमाह—माक्षिकस्येति। यथा माक्षिकरसो मक्षिकाश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावमापन्ना इत्यर्थः।।६१९।। दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति। एवं पृथिव्यादिरूपं जगन्मण्डलं यं प्रति उपकुरुते तदुपकृतं तस्य उपकारकस्य उपकुरुत उपकारं करोति। यथा लोकेऽपि प्रभुर्वेतनेन भृत्यानुपकृतान् करोति भृत्याश्च सेवया तमुपकुर्वन्तीति प्रसिद्धम्।।६२०।।

नहीं दे पायेंगे। अत एव पाश्चात्य विचारकों में एक पक्ष है जो कुत्ते बिल्लियों की तरह प्राकृतिक होने को श्रेयस्कर मानता है! ऐसे ही ब्राह्मण्य आदि के सुख समझ लेने चाहिये।) मानुष (आदि) शरीर रूप व्यक्तिमें स्थित ईश्वर ही मनुष्यत्व (आदि) जाति को अभिमानरूप से सिद्ध करता है (क्योंकि जाति को अभिमानरूप ही समझ सकते हैं। जिसमें अभिव्यक्त हो उस व्यक्ति का अभिमान तो जाति है ही, जो अनेक व्यक्ति देखकर जाति को समझता है उसका भी वह एक अभिमान ही है! अत एव ब्राह्मण्यादि कुछ को प्रत्यक्षवत् समझ आते हैं और कुछ को सर्वथा नहीं।)।।६१६।। बुद्धि जिसमें प्रधान है ऐसे देह-इन्द्रिय-मन-प्राण के संघात में स्थित होकर विज्ञानमय का उत्पादक आदि वही ईश्वर है और सभी बुद्धिवृत्तियों में स्थित होकर — विज्ञानमय बनकर—विषयों समेत बुद्धि को जानने वाला भी वही है। (विज्ञानमय बुद्धि आदि धर्मों से ही धर्मवान् है अतः संघात को विज्ञानमयका निरूपक होने से उत्पादक समझना चाहिये। उपाधिधर्मों में अध्यास से ही भोक्तापन होता है जो अविद्याकाल में बड़ा मीठा लगता है।) हे शक्र! संघात से उपकृत हो उसका उपकार जैसे तुम्हारा आत्मा करता है ऐसे ही कुत्ते का भी करता है तो तुम दोनों में क्या फरक।।६१७-१८।।

शहद का उत्पादनरूप उपकार पहले मक्खियाँ करती हैं फिर वह शहद पोषण करना रूप उपकार उन मक्खियों का करता है। ऐसे ही इस संसार में जो पृथ्व्यादि जागतिक पदार्थों का चक्र है उसमें भी जो जिसका उपकार करता है वह पुनः उसी का उपकार करता है। (लोक में भी वेतन देकर मालिक और सेवा कर नौकर परस्पर उपकारक होते हैं।)।।६१९-२०।। पृथ्व्यादि के उपकार यहाँ तो दिग्दर्शन के लिये ही कहे हैं, यहाँ कही हर वस्तु के लाखों-करोड़ों उपकार हैं जो स्वयं समझे जा सकते हैं।।६२१।। भूम्यादि ये सभी, अपने से अन्य सबका उपकार करते हैं और वे सब भी हर एक का उपकार करते हैं। (पंचीकरणादि की रीति से पृथ्व्यादि का जलादि के प्रति उपकार समझना चाहिये।) सभी स्थलों पर उपकार करने वाला तो आत्मा ही विवक्षित है। (आपस में उपकारक वे होते हैं जिनका आत्मा एक हो जैसे

---

१. शुनइन्द्रस्य चात्मनोऽभेदकथनं विज्ञानमयपरमेश्वरयोरैक्यं विनानुपपन्नमिति तत्कथनमित्यर्थः।

ऐकात्म्यसिद्धिः

उपकाराश्च भूम्यादेर्दिङ्मात्रेण समीरिताः। एते ह्येकैकशः सन्ति लक्षशः कोटिशस्तथा।।६२१।।
भूम्यादिकमिदं सर्वं सर्वस्यान्यस्य चात्मनः। उपकारं करोत्येव ह्येकस्यान्यत् तथाऽखिलम्।
उपकारकरस्तत्र सर्वत्रात्मा समीरितः।।६२२।।
तेजसा स्वप्रकाशेन भ्राजमानोऽमृतोपमः। जरा वा मरणं वाऽपि विद्यतेऽस्य न कर्हिचित्।।६२३।।
अयमेव स आत्मा यो हृदये सर्वदेहिनाम्। नानाबुद्धिप्रचाराणां साक्षी सङ्गविवर्जितः।।६२४।।
समोऽयं सर्वदेहेषु स्थावरेषु चरेषु च। शक्र तेऽपि तथात्मेति शुनोऽपि परमेश्वरः।।६२५।।
यथा नभसि नैवास्ति भेदो घटमठादिगः। तथा नात्मनि भेदोऽस्ति शक्र नानाशरीरगे।।६२६।।
निर्भेदो यः पुमानुक्तो हृदये सर्वदेहिनाम्। जरामरणशून्योऽयं ब्रह्म सर्वात्मकं परम्।।६२७।।
अयमेवात्मविज्ञानात् सर्वमेवाऽभवत् पुमान्। ब्रह्मात्मा यः पुरोक्तस्ते ब्राह्मणानां विचारतः।।६२८।।

उक्ताश्चोपकारा उपलक्षणमवान्तरभेदानां बहुत्वादित्याह—उपकारा इति। दिङ्मात्रेण निदर्शनमात्रेण; प्रकृत्यादित्वात् तृतीया। एतत् स्पष्टीकृतं वार्तिककृद्भिः—'सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः। इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी।।' इति[1]।।६२१।। उक्तानामुदाहरणत्वे सति यत् फलं तदाह—भूम्यादिकमिति। पृथिव्यादिकं सर्वं प्रत्येकम् आत्मनः स्वस्वरूपाद् अन्यस्य सर्वस्य उपकारं करोति, यथा पृथिवी स्वातिरिक्तस्य जलादेरपि उपकारिका पञ्चीकरणादिविधया परिपोषकत्वात् तथा अन्यत् पृथिवीभिन्नं सर्वमेकस्य पृथिवीस्वरूपस्य उपकारकम्। एवमन्यत्रापीति। परस्परोपकारकाणां चैकात्मकत्वस्य एकशरीरावयवेषु दृष्टत्वात् सर्वत्रैकात्मकत्वं सिद्धमित्याह—उपकार इति। समीरितः अत्र ब्राह्मण इति शेषः।।६२२।। तेजोमयत्वादिविशेषणैः पृथिव्यादिसूक्ष्मशरीरविशिष्टपरत्व आपेक्षिकार्थपरत्वाद् बिभ्यद्भिः स एवात्मा प्रतिपाद्यत इत्याशयेन शुद्धात्मपरत्वं तेजोमयादिपदद्वयस्याह—तेजसेति। स्वरूपभूतप्रकाशात्मकेन तेजसा भ्राजमानः श्रुतौ स्वार्थिको मयडिति भावः। अमृतोपमः अमृते देवलोकप्रसिद्ध उपमा उपमितिः यस्य स तथा, परमामृत इति यावत्। तदेवाह—जरेति। मरणाभावेन इतराभावोऽपि[2] बोधित इति भावः।।६२३।। 'अयमेव स' इत्यादेरर्थमुपबृंहयति—अयमिति पञ्चभिः। सर्वदेहिनां हृदये वर्णित इति शेषः। कथम्? इत्यत आह—नानेत्यादि।।६२४।। स्वयं भिन्ना अप्युपाधयस्तं भेत्तुं नालमित्याह—सम इति। सम एकरूपः। हे शक्र! ते तव आत्मा, शुनः चात्मा परमेश्वर इति।।६२५।। भिन्नोपाधिगतस्यापि अभेदे दृष्टान्तमाह—यथेति। घटाद्युपाधिनिष्ठो भेदः यथा नभ आकाशं न स्पृशति तथाऽऽत्मानमित्यर्थः।।६२६।। अयमेव पूर्वं ब्रह्मात्मतया वर्णित इत्याह—निर्भेद इति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।६२७-६२८।।

देवदत्त के हाथ और पैर। इसलिये सारा संसार आपसी उपकारक है तो अवश्य उसका एक ही आत्मा है यह समझना उचित है।)।।६२२।। यह आत्मा निजी प्रकाश रूप तेज से—ज्ञानरूप ज्योति से—चमकता रहता है। स्वर्गीय अमृत से उपमित यह आत्मा परम अमृत है। जरा-मरण आदि कोई परिवर्तन इसमें कभी नहीं होते।।६२३।। यह वही आत्मा है जो सभी देहधारियों के हृदयमें विविध बुद्धिवृत्तियों का असंग साक्षी है।।६२४।। यह स्थिर-चर सभी देहों में एकरूप है। हे शक्र! तुम्हारा आत्मा और कुत्ते का आत्मा भी वही परमेश्वर है।।६२५।। घट, मठ आदि उपाधियों का भेद आकाश को छूता भी नहीं; ऐसे ही आत्मा नाना शरीरों में दीखे फिर भी उसमें कोई भेद नहीं है।।६२६।। जिस भेदरहित व जरा-मरणवर्जित पुरुष को सब शरीरधारियों के हृदय में मौजूद कहा था वही सर्वात्मा परब्रह्म है। यही वह पुरुष है

१. पूर्वार्द्धो वार्तिके २.५.२६। उत्तरार्धस्तु वार्तिकसारेऽनुभूतिप्रकाशे च। २. इतरेति विकारान्तरेत्यर्थः।

स एव सर्वभूतानामधिष्ठाय च पालकः। न त्वं शक्र तवाप्येष ह्यधिष्ठायात्र पालकः।।६२९।।

एष एव हि सर्वेषां भूतानां मध्यमः पुमान्। दीप्यते रविवद् न त्वं किन्तु तेनैव राजसे।।६३०।।

रथोदाहरणम्

रथचक्रस्य यद्वद्धि नेमिनाभ्योस्तु मध्यगाः। अरा नैते स्वतन्त्राः स्युः उभयत्र प्रतिष्ठिताः।।६३१।।

एवं विश्वं समग्रं स्यान्मध्येऽध्यात्माधिदैवयोः। उपकाराय सर्वत्र स्थितयोरात्मरूपयोः।।६३२।।

एकमेव यथा काष्ठं नेमिनाभ्यादिरूपभृत्। उपकार्योपकारादिभेदं गच्छति भूतले।।६३३।।

एक एव तथात्माऽयमधिदैवादिभेदभाक्। तत्र स्थितश्च सर्वेषामुपकारं करोति हि।। न त्वं शक्र न भूम्यादि ह्युपकारकरं स्मृतम्।।६३४।।

'स वा अयम्' (बृ. २.५.१५) इत्यादिवाक्यार्थमाह—स एवेति। स वर्णित आत्मा एव सर्वस्य अधिष्ठाय वशीकृत्य पालकः। तव तु अधिपतित्वमभिमानमात्रमित्याह—न त्वमिति। तत्र हेतुतया कार्याभिमानेन नियम्य-कोटिप्रविष्टत्वमाह—तवापीति। हि यत एष आत्मा तव देवराजशरीराभिमानिनः अत्र व्यवहारभूमौ नियामकः अन्तर्यन्तेत्यर्थः।।६२९।। 'राजे'ति पदस्यार्थमाह—एष एव हीति। एष एव सर्वेषां मध्यमो मध्ये भवः, मध्ये मा कान्तिर्यस्य; 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वे. ६.१४) इति श्रुतेः। एतादृशः सन् दीप्यते राजते रविवदिति। त्वं तु राजा न भवसि, तदधिष्ठानभासकत्वादित्यर्थः।।६३०।।

परस्परोपकारकस्य पृथिव्यादिजगच्चक्रस्य सापेक्षकत्व एकात्मकत्वे च दृष्टान्तं स्फुटयति — रथेति चतुर्भिः। यद्वद् रथचक्रस्य अवयवभूतयोः नेमिनाभिसञ्ज्ञयोः काष्ठयोः मध्यगता येऽराः तिर्यक्काष्ठरूपा एतेऽराः स्वतन्त्राः स्वाधीना न भवन्ति, किन्तु उभयत्र नेमौ नाभौ च प्रतिष्ठिताः सापेक्षवृत्तय इत्यर्थः।।६३१।। एवमिति। एवं सर्वं जगद् अध्यात्ममधिदैवं स्थितयोः आत्मनः स्वरूपयोः अंशयोः पृथिव्यादिवर्तिसूक्ष्माभिमानिनोः मध्ये वर्तते तयोरधीनं वर्तत इति यावत्। यथा सर्वभूतशरीराणि पृथिवी च अरानिभानि पृथिव्यभिमान्यात्मांशं नेमिनिभं शरीराभिमानिनमात्मांशं नाभिनिभं[1] च आश्रितानि। एवमन्यत्रापि बोध्यम्। कीदृशयोः? आत्मरूपयोः उपकाराय सर्वत्र पृथिव्यादौ वर्णितविधया स्थितयोरिति।।६३२।।एकमेवेति। दृष्टान्ते यथा एकमेव शिंशिपादि काष्ठं नेमिस्वरूपं नाभिस्वरूपमरास्वरूपञ्च बिभ्रद् उपकार्यभावमुपकारकभावम् आदिपदेन आधाराधेयभावादिकं गच्छति भूतले; इदं प्रसिद्धमिति शेषः।।६३३।। एक एवेति। एवम् एक आत्मैव अधिदैवादिभावं तदभिमानिपुरुषभावं च गतः

जो अपने अनुभव से सर्वात्मा हो गया था। वह आत्मा वही ब्रह्म है जिसके बारे में तुम्हें बताया था कि ब्राह्मणों ने एकत्र हो विचार किया।।६२७-२८।। सबको वशमें रखकर सबका पालन यही करता है। अरे शक्र! तुम न सबके अधिपति व न पालक हो। व्यवहारभूमिमें तो तुम्हारा भी नियामक और पालक वही है।।६२९।। सब प्राणियों में विद्यमान् यही पुरुष सूर्य की तरह भास्वर है तुम नहीं, बल्कि तुम्हारी भी दीप्ति उसी से है। तुम स्वयं को राजा समझते हो जबकि वास्तविक राजता उसकी है, तुम उसके एक औजार हो।।६३०।।

रथ के पहिये में नेमि और नाभि के बीच ताड़ियाँ होती हैं जो स्वतंत्र नहीं होती, नेमि व नाभि में ही फँसी रहती हैं। ऐसे ही यह सारा विश्व है : पृथ्व्यादि में अभिमानी आत्मांश नेमिकी जगह है, शरीराभिमानी आत्मांश नाभि की जगह है और सभी प्राणियों के शरीर व पृथ्व्यादि हैं ताड़ियों की जगह। अध्यात्म और अधिदैव आत्माके ही रूप हैं और उपकार के प्रयोजन से ही सर्वत्र स्थित हैं।।६३१-३२।। जैसे नेमि, नाभि, ताड़ियाँ आदि वस्तुतः एक लकड़ी

१. आत्मांशस्यैव धर्मादिकर्तृतया सर्वं प्रति निमित्तत्वौचित्यात्।

आत्मा समो वैशिष्ट्यमौपाधिकम्

उपकारं करोत्येष यथा ते हृदये स्थितः। शुनोऽपि भगवांस्तद्वत् कुरुते हृदये स्थितः।।६३५।।

किं बहूक्तेन देवेन्द्र सङ्क्षेपेणावधारय। समः संसार आत्मा च मम तेऽपि शुनोऽपि च।।६३६।।

निन्दयामो वयं यद्वत् कष्टं जन्म शुनोऽधुना। अस्माकं च तथैवैते निन्दन्ति ब्रह्मवादिनः।।६३७।।

उत्कृष्टता यथाऽस्माकं स्वदेहे शक्र विद्यते। शुनोऽपि च स्वदेहे सा तादृश्येव हि वर्तते।।६३८।।

अनात्मा हेयः

ततो देहं तथा स्वर्गमप्सरोगणमण्डितम्। अभिमानं बहिस्त्याज्यं विध्यात्मानं स्वमात्मना।।६३९।।

सन् सर्वत्रोपकारकः। तव पृथिव्यादेश्च उपकारकताऽभिमानमात्रमित्यर्थः।।६३४।।

उपकारकस्य चात्मन एकरूपत्वादुत्कृष्टोपाधावेवायमुपकारक इत्यभिमानो वृथेत्याह—उपकारमिति।।६३५।। वर्णितमात्मैक्यं निगमयति—किमिति। बहुनोक्तेन किं फलं?—न किमपि। ततः सङ्क्षेपेण तत्त्वं निश्चिनु। किम् अवधारयामि? इत्यत आह—सम इति। मम च ऋषेः सात्त्विकस्य, ते देवराजस्य राजसस्य, शुनः तामसस्य चात्मा सम एकरूप इति।।६३६।। तदुपाधीनामुत्कर्षापकर्षौ तु दृष्टिभेदेन सर्वत्र प्रतिष्ठिताविति दर्शयति—निन्दयाम इति द्वाभ्याम्। यथा वयं देवमनुष्यादयः शुनो जन्म कष्टम् इति निन्दयामः तथाऽस्माकं जन्म ब्रह्मवादिनः संसाराद् विरक्ता निन्दन्ति।।६३७।। आत्मतादात्म्याध्यासात्तु सर्वदेहेषूत्कृष्टता भासत इत्याह—उत्कृष्टतेति। यथा वयं स्वस्वदेहमुत्कृष्टं मन्यामहे तथा श्वाऽपि स्वदेहं सर्वोत्कृष्टं मन्यत इत्यर्थः।।६३८।।

तस्माद्यत्सम्बन्धाद् देहादिकं रमणीयतया भासते स आत्मैवोपादेयः, अन्यत् सर्वं हेयमित्याह—तत इति। हित्वेति शेषः। ततः त्वं देहं हित्वा तथा अप्सरोगणयुतं स्वर्गं च हित्वा; अलम् अवयुत्यानुवादेन, बहिः यावद् दृश्यगोचरमत एव अनर्थरूपत्वात् त्याज्यमभिमानं हित्वा आत्मानं स्वयमेव विद्धि इति सम्बन्धः।।६३९।।

ही है जो तत्तदाकार लेकर उपकार्य-उपकारकभाव प्राप्त कर लेती है। ऐसे ही एक परमात्मा अधिदैव आदि भेद ग्रहण कर उनमें स्थित हुआ सबका उपकार करता है। हे शक्र! न तुम और न पृथ्व्यादि उपकार करने वाले हैं।।६३३-३४।।

जैसे तुम्हारे हृदय में स्थित हुआ यह परमात्मा उपकार करता है ऐसे ही वह भगवान् ही कुत्ते के हृदय में स्थित हुआ भी करता है।।६३५।।

हे देवराज! अधिक विस्तार से क्या लाभ! संक्षेप में समझ लो : चाहे सात्त्विक ऋषिरूप मैं हूँ, चाहे राजस देवराज तुम हो और चाहे तामस कुत्ता है, हम सभी में —किंवा सारे संसार में—आत्मा एकरूप ही है।।६३६।। जैसे अभी हम कुत्ते का जन्म कष्टमय होने से उसकी निंदा करते हैं, ऐसे ही संसार से विरक्त ब्रह्मवादी लोग हमारे देहादिकी निंदा ही करते हैं।।६३७।। जैसे हम अपने देहों को उत्कृष्ट मानते हैं, वैसे ही कुत्ते भी अपने शरीरों को उत्कृष्ट ही मानते हैं। (मनुष्यों में हर एक अपने को श्रेष्ठ मानता है, इसीसे कुत्ते आदि में भी ऐसे अभिमान का अनुमान हो जाता है।)।।६३८।।

इसलिये तुम देहमें, अप्सराओं से युक्त स्वर्ग में, जो कुछ भी दृश्य है उस सभी में अभिमान छोड़ दो और अपने आत्मा को खुद ही जानो। (आत्मसंबंध से देहादि रमणीय लगते हैं अतः इन्हें छोड़ आत्मा ही उपादेय है। अनात्मा को पकड़ना अभिमानमात्र है, अतः उसे छोड़ना भी अभिमान छोड़ना ही है।)।।६३९।। हे शक्र ! सबका शरीर कुत्ते की

श्वविष्ठासदृशोदेहः शक्र सर्वशरीरिणाम्। हेयो धिया परित्यक्ते तस्मिन्नात्मा प्रकाशते।।६४०।।

शरीरेऽहंधियस्त्यागे ह्यन्यत्र ममताधियः। दुःखं समूलं देवेन्द्र नाशमाप्नोति देहिनः।।६४१।।

रहस्योद्घाटकर्षिवचनम्

इत्यादि बहुशः शक्रं दध्यङ्ङाथर्वणोऽब्रवीत्। अविरक्तं प्रजानानः सत्यपाशवशङ्गतः।।६४२।।

आथर्वणादिमां वाणीमानन्दामृतपूरिताम्। शक्रः श्रुत्त्वाऽतिरागान्धः कोपमेव जगाम ह।।६४३।।

तत्रापि देहाभिमानः प्रथमं परित्याज्यः साक्षादात्मभानप्रतिबन्धकत्वाद्। देहाभिमाननिवृत्तौ बाह्यगोचरममत्वनिवृत्तेः पृथक्[1] साधनानपेक्षत्वादित्याह—श्वेति द्वाभ्याम्। अन्यत्र काकविष्ठया हेयमुपमितम्[2] अत्र श्वविष्ठया इति। हेयः अभिमानादवतार्यः। तस्मिन् देहे।।६४०।।

शरीर इति। देहेऽहम्बुद्धित्यागे कृते सति अन्यत्र ममताशालिबुद्धेः हेतोः यद् दुःखं तत् समूलं सहेतुकं नश्यतीत्यर्थः।।६४१।।

एवं मधुब्राह्मणान्तमधुकाण्डप्रतिपाद्या ब्रह्मविद्या निरूपिता। अथ तत्स्तुत्यर्थं 'इदं वै तद्' (२.५.१६) इत्यादिर्ग्रन्थो व्याख्यातव्यः। तत्र प्रथमवाक्यस्य वैशब्देन स्मारिताया 'दध्यङ् ह वा' इत्यादिकायाः प्रवर्गकाण्डगताया भाष्येऽनूदिताख्यायिकाया उपबृंहण उपोद्धातभूतस्य कोपं, तेनेतरस्मै उक्तविद्यादाननिवारणं, ततो दधीचस्तूष्णीमवस्थानं च पञ्चाशच्छ्लोकैः दर्शयिष्यन् इन्द्राय दधीच उपदेशानुवादमश्विनो रहस्यज्ञ ऋषिरुपसंहरति—इत्यादीति। दध्यङ्ङाथर्वणः शक्रं प्रति इत्यादिकम्, आदिपदेन ब्रह्मविद्योपकारकाणां प्राणादिविद्यानां ग्रहः। बहुशः बहुविधमर्थजातमब्रवीत्। कीदृशो दध्यङ्? श्रोतारम् अविरक्तं जानानोऽपि सत्यवशेन वदने प्रवृत्तः इति।। ६४२।। आनन्ददायिकाऽपि मुनिवाणी इन्द्रस्य देहादिरागरूपदोषेण कोपहेतुर्जाता—इत्याह—आथर्वणादिति।।६४३।।

टट्टी जैसा है अतः छोड़ने लायक ही है। देह से आत्माभिमान छोड़ते ही आत्मप्रकाश उपलब्ध हो जाता है। (सबसे ज्यादा रुकावट शरीराभिमान करता है। शरीरातिरिक्त आत्मा समझ आ जाये तो प्राण-मन-बुद्धि अज्ञान से अन्य वह है यह समझना सरल हो जाता है।)।।६४०।। शरीर को 'मैं' समझना बंद होने पर कुछ भी 'मेरा' नहीं समझा जाता और दुःख वही देता है जिस पर ममता हो, जिसे अपना समझें। जब 'मेरा' कुछ नहीं रहता तब सारा दुःख नष्ट हो जाता है।।६४१।।

अश्विनीकुमारों को ऋषि सुनाते हुए कहते हैं—

दधीचि जानते थे कि इंद्र को वैराग्य नहीं है पर सत्यके पाश से बँधकर ही उन्होंने कई तरह इंद्र को वास्तविकता समझाने की कोशिश की।।६४२।। 'कई तरह' के अंतर्गत वे औपनिषद प्रसंग भी समझ लेने चाहिये जिन्हें पुराण में नहीं ग्रहण किया। पुराणकार ने सन्दर्भ की निरन्तरता बनाये रखने के लिये बीच-बीच के प्रसंग छोड़े या संक्षिप्त कर दिये हैं जिससे हमें समझने में सुविधा हो गयी है।

आथर्वण महर्षि का यह प्रवचन आनंदामृतसे भरपूर था लेकिन अत्यधिक राग से अन्धे हुए इंद्र ने इसे सुनकर ज्ञान न पाया बल्कि अत्यधिक क्रुद्ध हो गया!।।६४३।। अत्यन्त भूखे साँपको कोई दयालु दूध पिलाये और वह साँप उसी पर ऐसा गुस्सा करे जो उस व्यक्ति की जान पर आ बने, ऐसा ही इंद्र ने किया। श्री के नशे से अंधे हुए इन्द्र

१. चुम्बकसम्पर्काच्चुम्बकीभूतप्रथमसूच्याश्चुम्बकात्पृथक्कारे सूच्यन्तराणां पात इवाहंधियो निवृत्तौ सकलममधियो निवर्तन्ते, न यत्नमन्यं काङ्क्षन्ति। २. चिकित्साशास्त्रे मलान्तराणां क्वचिदुपयोगेऽपि काकविष्ठायाः कुत्रापि प्रयोगाऽवर्णनात्तस्या एव नितान्तं वैयर्थ्यं प्रसिद्धतरमिति प्रायस्तस्या उपमानतेति भावः।

अनधिकारादिन्द्रस्यान्यथाबुद्धिः

दयालुना यथा कश्चित् क्षुधितोऽति भुजङ्गमः। पायितः पय एतस्मिन् क्रोधं प्राणहरं व्रजेत्। श्रीमदान्धस्तथा शक्रो मनसैवमचिन्तयत्।।६४४।।

अयं द्विजोत्तमो नूनमसुरैरिह चोदितः। राज्यत्यागाय मे यस्माद् बुद्धिमेष प्रयच्छति।।६४५।।

अहो निष्ठुरभाषित्वं चित्रमस्य दुरात्मनः। शुना मम समानत्वं कुरुते सर्वथा यतः।।६४६।।

ब्रह्महत्याकरः क्वायं निन्दितः श्वा विडाशनः। अश्वमेधसहस्राणां योगी क्वाऽहं सुरेश्वरः।।६४७।।

क्व च देववधूगात्रं यज्ञैरपि सुदुर्लभम्। शुनीनां क्व च येनायं समास्ताभिः करोति ताः।।६४८।।

अहं वज्रधरो विश्वं नियन्तुमेक एव हि। समर्थस्तस्य मे केन शुना स्यात् सदृशं वपुः।।६४९।।

तस्मादेषोऽसुरः कश्चिदत्र स्वर्गजिघृक्षया। तापसं वपुरास्थाय बुद्धिभ्रंशार्थमागतः। ममाऽपि देवतानां च याज्ञिकानां च वर्णिनाम्।।६५०।।

मोदसाधनस्य रोषसाधनत्वे दृष्टान्तमाह—दयालुनेति। यथा दयालुना कश्चिद् अतिक्षुधितो भुजङ्गमः पयः पायितो दुग्धपानं नीतः सन्नपि क्रोधं व्रजेदिति। तथा श्रीमदान्ध इन्द्रः हितोपदेशं श्रुत्वाऽपि जातेन कोपेन एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अचिन्तयद् इति।।६४४।। तत्रेन्द्रस्य कोपजां विपरीतकल्पनामनुवदति—अयमिति एकादशभिः। अयं द्विजोत्तमः अपि असुरैः प्रेषित इति मन्ये, मम राज्याद् उच्चाटकत्वादित्यर्थः।।६४५।। वस्तुतस्तु नोत्तमः, अयुक्तभाषित्वादित्याह—अहो इति।।६४६।। स्वसादृश्यस्यायुक्ततां स्फुटयति—ब्रह्मेति। ब्रह्महत्याफलभूतशरीरः—'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोऽजाविमृगपक्षिणाम्। चाण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति'।।(मनु. १२.५५) इति स्मृतेः। निन्दितः स्पर्शे स्नानप्रयोजकत्वात्। विट् पुरीषम् आशनमशनसाधनं यस्य स तथा; 'तस्येदम्' इत्यण्; ईदृशः श्वा क्व? अहं क्व? इति। कीदृशोऽहम्? अश्वमेधाद्यसङ्ख्ययागानां योगी कर्ता देवतात्वेन प्रयोजकश्च। कारीति पाठे करणं कर्तृप्रयोजकव्यापारसाधारणं कारः, सोऽस्यास्तीति कारी।।६४७।। क्व चेति। यज्ञैरपि दुर्लभं देव-वधूगात्रं क्व? शुनीनां गात्रं क्व? एवं सति येन साधर्म्येण अयं मुनिः ता देववधूः ताभिः शुनीभिः समाः करोति, तत् किमिति, न ज्ञायत इति शेषः।।६४८।। अहमिति। अहं वज्रहस्तः सर्वं लोकं नियन्तुं वशे स्थापयितुम् एक एव समर्थः अस्मि। एतादृशस्य शुना साधर्म्यं केन धर्मेणोक्तमिति।।६४९।। तस्मादिति। तस्माद् अयुक्तभाषित्वाद् एष विप्रवेषः असुरः कश्चिद् अस्ति। कीदृशः स्वर्गग्रहणेच्छया मम, देवानां, यागाधिकारिणामन्येषां च बुद्धिभ्रंशार्थमागत इति।।६५०।। ब्राह्मणत्वेऽप्ययं दैत्यगुरुः स्यात्, तत्सुतयोः शण्डामर्कयोः अन्यतरो वा स्यादित्याह—वाग्मीति।

ने मन में यह विचार किया—।।६४४।। यह दधीचि उत्तम द्विज है, लेकिन जरूर यह असुरों द्वारा प्रेरित है क्योंकि मेरी बुद्धि राज्यत्याग के पक्ष में फेरना चाह रहा है, राज्यसे उच्चाटन कर रहा है।।६४५।। सोचा जाये तो यह कोई उत्तम व्यक्ति भी नहीं क्योंकि देखो इस दुर्मना ने कैसी कठोर बात कही! आश्चर्य है! मेरी कुत्ते से हर तरह की समानता बता रहा है!!।।६४६।। कहाँ तो नीचता की हद है कुत्ता जिसे छूने पर ही आदमी अशुद्ध हो जाता है और नहाना पड़ता है, ब्रह्महत्यारा कुत्ते की योनि पाता है जो टट्टी खाता है; और कहाँ अत्युच्च मैं देवताओं का राजा जिसने अश्वमेध आदि हज़ारों याग किये हैं तब यह पद पाया है। कहाँ तो अप्सराओं का शरीर जो यज्ञफलतया भी मुश्किलसे मिलता है और कहाँ कुत्तियों का देह! यह किस समानता से दोनों को बराबर कह रहा है समझ नहीं आता। वज्रधारी मैं अकेला ही विश्व को वशीभूत कर सकता हूँ। ऐसे मेरा कुत्ते से क्या सादृश्य?।।६४७-४९।। यों असंगत कथन करने वाला

वाग्मी वा कविरेष स्यादसुराणां गुरुर्मुनिः। पुत्रयोः कश्चिदेष स्यात्तस्य तौ धीधनौ श्रुतौ।।६५१।।

किमनेनाधुनैवाहमधमं तापसब्रुवम्। हन्मि वा स्थानतो वाऽस्मात् सद्यो निःसारयाम्यमुम्।।६५२।।

अद्य चैवं कृते कीर्तिर्मम नाशं गमिष्यति। उपायतस्ततस्त्वेनं घातयामि द्विजाधमम्।।६५३।।

अनेन मम देवौ तावश्विनौ धीधनावुभौ। मोहितौ कण्टकस्तस्माच्छेद्य एष मयाऽधमः।।६५४।।

आज्ञामस्य ततो दास्ये ब्रह्मविद्याऽसमीरणे। अतिक्रमे कृते पश्चाद् घातयिष्याम्यमुं द्विजम्।।६५५।।

इति सञ्चिन्त्य देवेन्द्रो रागान्धधिषणस्तदा। कोपादाज्ञापयामास ततोऽसौ युवयोर्गुरुम्।।६५६।।

इन्द्राज्ञा

अद्यप्रभृति चेद् विप्र विद्यामन्यस्य वक्ष्यसि। आहरिष्याम्यहं सद्यः शिरस्ते ब्रह्मवादिनः।।६५७।।

दधीचः सन्तोषः

इत्युक्ते स मुनिः स्वस्य कार्यं मेने कृतं महान्। न कोपं प्राप्तवान् शक्रे हृष्टचेता महामनाः।।६५८।

कविः शुक्रः। तौ शुक्रपुत्रौ धीधनत्वेन यतः प्रसिद्धाविति।।६५१।। किमनेनेति। अनेन अस्य ब्राह्मणत्वादिविचारेण किम्? स व्यर्थ इति यावत्। अहम् एनं तापसब्रुवम् आत्मानं तापसत्वेन ख्यापयन्तम् अधुनैव हन्मि, अस्मात् स्थानाद् निःसारयामि वा इति।।६५२।। किञ्चिद् विचार्य, तथाऽपि त्वरा न विधेयेत्याह—अद्येति। अद्य एव एवं करणे कीर्तिनाशभयाद् उपायेनैव अयं दण्ड्य इत्याह—उपायत इति।।६५३।। किञ्च पूर्वमप्यनेन अश्विनोः मत्तो विमुखीकरणरूपापराधस्य कृतत्वादयं कण्टकभूतो दण्ड्य एवेत्याह—अनेनेति। मोहितौ बुद्धिभ्रमं नीतौ।।६५४।। उपायमभिनयति—आज्ञामिति। ततः त्वरया दण्डे कीर्तिहानेः, अस्य मुनेः ब्रह्मविद्याया असमीरणेऽनुपदेश आज्ञां ददामि। तस्या अतिक्रमे कृते तु दण्डयिष्यामीति।।६५५।।

अथ इन्द्रकर्तृकमितरत्र ब्रह्मविद्योपदेशनिवारणं दर्शयति—इति सञ्चिन्त्येति द्वाभ्याम्। युवयोः अश्विनोः। आहरिष्यामि अपनेष्यामि।।६५६-६५७।।

होने से यह विप्रके वेश में कोई असुर ही लगता है जो स्वर्ग पर कब्जा करने के लिये मेरी, देवताओं की और यागाधिकारियों की बुद्धि भ्रष्ट करने आया है।।६५०।। या यह असुरगुरु शुक्रमुनि है क्योंकि वे भी बात बनाने में बहुत कुशल हैं और प्रसिद्ध कवि हैं। यह भी हो सकता है कि शुक्रके पुत्रों में से यह कोई हो क्योंकि सुना जाता है कि उनके दोनों पुत्र बहुत बुद्धिमान् हैं।।६५१।। ख़ैर, यह कौन है इस विचार से क्या लाभ! स्वयं को तपस्वी दिखाने वाले इस नीचको मैं अभी ही मार डालता हूँ या फिर यहाँ से भगा देता हूँ।।६५२।। लेकिन जल्दबाजी ठीक नहीं। आज ही दण्डित करने से मेरी अपकीर्ति होगी (क्योंकि इसने मेरा सत्कार ही किया और पूछने पर ही सब कुछ कहा, कोई व्यक्त अपकार नहीं किया कि इसकी दण्डनीयता सबको स्पष्ट हो)। इसलिये इस नीच ब्राह्मण को किसी उपाय से मारूँगा।।६५३।। अश्विनिकुमार नामक मेरे दो देवताओं की भी इसने बुद्धि भ्रम में डाल रखी है जबकि वे काफी बुद्धिमान् हैं। इसलिये यह देवसमाजके लिए कण्टक ही है। इस अधम को मुझे मार ही डालना चाहिये।।६५४।। अतः इसे आज्ञा देता हूँ कि ब्रह्मविद्या का किसी को कभी उपदेश न करे, फिर जब यह आज्ञा का उल्लंघन करेगा तब इस ब्राह्मण को मौत के घाट उतार दूँगा।।६५५।। रागसे कुण्ठित बुद्धि वाले देवराज ने यह पूर्वोक्त विचार (या कुविचार!) कर तुम्हारे गुरु को क्रोधपूर्वक यह आज्ञा सुनाई—'अरे विप्र! आज से बाद अगर तुम किसी और को यह विद्या सुनाओगे तो ब्रह्मवदन के अभिमानी तुम्हारा सिर मैं तुरन्त काट दूँगा।'।६५६-५७।।

मम निष्ठुरता नास्मिन् लोके क्वापि भविष्यति। अपात्रे च तथा दानं विद्याया न भविष्यति ।६५९।

अहो शक्रेण शिष्येण दत्ता मे गुरुदक्षिणा। इतः परं न वक्ष्यामि यदहं दुर्धियामिमाम्। ।६६०।।

कामक्रोधाभिभूतेभ्यो दत्ताऽपि विफला भवेत्। विद्या दत्ता यथा धेनुश्चाण्डालाय फलाय न ।६६१।

स्वसुता रूपसम्पन्ना यौवनाभिमुखा[1] यथा। दत्ता षण्ढाय विफला तथेयं दुर्धिये सदा। ।६६२।।

अथ मुनेः विचारेण तूष्णीम्भावेऽवस्थानं दर्शयति—इत्युक्त इत्यादिना। इति इत्थम् इन्द्रेण उक्ते दध्यङ्ङाथर्वणः मुनिः कार्यं कृतम् एव इष्टसिद्धिमेव मनुते स्मेति यावत्। यतो महान् अतो न चुकोप, किन्तु हृष्टचेता एवेन्द्रे बभूवेति। ।६५८।। तत्र यादृशविचारेण मुनिना हर्षो धृतः तमभिनयति—ममेति द्वादशभिः। इन्द्राज्ञानुष्ठाने मम दोषद्वयपरिहाररूपमिष्टं सिद्ध्यति। तत्र उपदेशे निष्ठुरता[2] एको दोषः, विद्याया अपात्रे दानं च द्वितीय इति। ।६५९।। अहो! इति इयमिन्द्रदत्ताऽऽज्ञा मम गुरुदक्षिणावदनुकूलैव यत आज्ञारूपहेतोः अहमिमां विद्यां दुर्धियां पुरतो न वक्ष्यामि इति। ।६६०।। अनधिकारिषु विद्यादानदोषं[3] स्फुटयति—कामेति। रागादिमद्भ्यो दत्ताऽपि विद्या विफला, चाण्डालाय दत्ता धेनुः इवेति। ।६६१।। अत्र दृष्टान्तान्तरमाह —स्वसुतेति। षण्ढाय क्लीबाय। इयं विद्या ।।६६२।। अशान्तायेति। अशान्ताय ब्रह्मविद्यादाने विद्याया वैफल्यरूपो घातः, श्रोतुरुभयभ्रंशः, वक्तुश्च

जब इंद्र ने दधीचि को यह आज्ञा दी तब उन महान् मुनि ने यही माना कि उनका अभिलषित ही सम्पन्न हुआ है। विशाल हृदय वाले ऋषि इंद्र पर नाराज़ नहीं हुए बल्कि उनका चित्त प्रसन्न ही हुआ। ।६५८।। उन्होंने सोचा कि अब कभी लोक में मेरी निष्ठुरता आवश्यक नहीं रहेगी। (उपदेश चाहने वाला अनधिकारी हो तो उसे मना करना निष्ठुरता है। अधिकारी को भी जब वैराग्य के लिये विषयदोष दिखाते हैं, सर्वस्व छुड़ाते हैं तब निष्ठुरता ही होती है।) अनधिकारी को विद्या देना रूप दोष भी अब मुझे नहीं करना पड़ेगा। ।६५९।। इस आज्ञा के बहाने मेरे शिष्य शक्र ने मुझे अच्छी गुरुदक्षिणा चढायी है जिसके सहारे अब दुर्बुद्धि लोगों के सामने इस विद्या को प्रकाशित नहीं करना पड़ेगा। ।६६०।। चाण्डालको गाय दान में दें तो जैसे कोई पुण्य नहीं होता, ऐसे ही काम-क्रोध से अभिभूत व्यक्तियों को विद्या देना फलशून्य ही होता है। ।६६१।। जवान होती अपनी रूपसी पुत्री हीजड़े से ब्याहना जैसे विफल है, ऐसे ही जिसकी बुद्धि में विवेक वैराग्यादि वीर्य नहीं उसे यह विद्या प्रदान करना निष्फल होता है। (जैसे देने के बाद कन्याका पिता दुःखी होता है ऐसे ही गुरु भी क्लेश पाते हैं कि क्यों विद्या की दुर्गति कराई!)। ।६६२।। स्नेह आदि से विवेक में अक्षम होकर जो

---

१. अप्रतिबद्धतां यातुमुपस्थिता विद्येति दार्ष्टान्ते ज्ञेयम्।

२. जनो यं देहादिकं सर्वस्वं निश्चित्य तिष्ठति तस्य सर्वस्य हेयताप्रतिपादनं, ततो विरक्तये प्रेरणं, प्रमातृस्वरूपबाधनं, द्वैतापोहः, स्वस्माद्भिन्नतयाऽभिमतेष्टदेवतादेरपवाद इत्यादिप्रकारैर्विविधा निष्ठुरताऽऽत्मोपदेशेऽनिवार्या। यद्वा उपदेशं प्रार्थितेऽनधिकार्यादितया न वच्मीत्यादिनिषेधाद् निष्ठुरतेत्यर्थः। ३. 'नाविरतो दुश्चरिताद्' (क. २.२३) 'विद्वानुपसन्नाय प्रोवाच' (मु.१.२.१३) 'नाप्रशान्ताय' (श्वे. ६.२२), 'इदं ते नातपस्काय' (गी. १८.६७) इत्यादिश्रौतस्मार्तनिषेधैरनधिकारिण उपदेशः पापायैव। विद्वांसस्तु विद्याबलाद् दोषं सोढुं समर्था यस्मै कस्मैचिद् दधीचिवद् वदेयुः परमन्यैर्न तथा कार्यं तद्दोषाद्विद्याप्रतिबन्धाधोगतिप्राप्त्यादिसंभवात् अनधिकारिणे त्वधिकारलाभोपाय उपदेष्टव्यः। अधिकार्युपदेष्टव्य इति नियमोऽपि लोकसङ्ग्रहकामं विद्वान्सं प्रत्येव। अविद्वांस्तु अनुपदिशन्नपि न निन्द्यस्तं प्रति तदविधानात्। न च विद्वत्कृते विध्ययोगः, विध्युल्लङ्घने दोषानभ्युपगमात्। कस्तर्हि विध्युपयोगः? अचतुर्गुणशौचवारणादिवदन्यविद्याऽनुपदेशं विद्वत्कृतमधिकारिणे विधिर्निश्चिनोति। साधनसम्पन्नायात्मधियं विहाय कर्मादि न विद्वानुपदिशेदित्यर्थः। ननु तदुपदेशेऽपि विदुषोऽदोष एवेति चेत्? निषेधोल्लंघनायोगस्य विदुष आकरेषु स्थापितत्वाद्यत्किञ्चिदेतत्। केचित्तु चाण्डालाय गोदानदृष्टान्ताद्, बहुत्र चाख्यानेषु अनधिकारितया निश्चितायापि विद्योपदेशदर्शनाद् बुद्धिभेदजनिरेव दोषाय, न ब्रह्मोपदेशः तस्य ब्रह्मबुभुत्सोत्पादकत्वेन साधनोपचयप्रवर्तकत्वाद्—इति समामनन्ति। तन्मतेऽविदुषाऽपि तत्कथनादि-बोधाभ्यासत्वेनानधिकारिण उपदेशेऽदोष एवोपदेष्टुः। शिष्यस्य श्येनादौ प्रवृत्त्याऽर्थादधर्मार्जनेपि न गुरोर्वेदोपदेष्टुर्यथा दोषः, एवं ब्रह्मात्मविद्याश्रवणात्तत्त्वमविज्ञायैव धर्मं विहायाधर्मं चरतः शिष्यस्य दोषवत्त्वेऽपि गुरोर्नासाविति दिक्।

अशान्ताय हि यो दद्याद् विद्यां स्नेहादिमोहितः[1]। आत्मानं च तथा विद्यां तं च हन्यात् स पापधीः ।।६६३।।

इतः परं हि तत् पापं शान्तं शक्रप्रसादतः। लोकयात्रापरस्याद्य तापसस्य मुनेर्मम।।६६४।।

किञ्च मे मनुजैर्वापि दानवैर्वा[2] बहिश्चरैः। ममात्मविदुषोऽनेकभेदबीजैर्दुरासदैः।।६६५।।

अयं नानाविधो जन्तुः यो योऽनुभवतीह यत्। स्वप्ने मृतौ च तत् सर्वं वासनाजं प्रपद्यते।।६६६।।

अयमेव च संसारो मम यद् ब्रह्मदेशनम्। देहमन्यं समाप्स्यामि नूनं वासनयाऽनया।।६६७।।

द्वेषलाभ इति। तथा चोक्तं भारते—'यश्चाधर्मेण विब्रूयाद्यश्चाधर्मेण पृच्छति। तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति'।। इति। तं श्रोतारम्।।६६३।। इत इति। इत उक्ताज्ञादिरूपाद् इन्द्रप्रसादाद् मम तद् अनधिकार्युपदेशप्रयोज्यं पापं शान्तं प्रसङ्गानर्हतया निश्चितम्। तत्प्रसङ्गे हेतुगर्भं विशेषणम्-लोकेति। 'स्याद्यात्रा यापने याने गतौ चे' ति विश्वः। तथा च शिष्टलोकानां गतौ मार्गेऽभ्यागतसम्मानरूपे परस्य तत्परस्य, 'गतिर्मार्गे दशायां चे' ति विश्वः। प्रकारान्तरेण तु न मम पापप्रसक्तिरिति द्योतयितुं तापसस्य मुनेः इत्युक्तमिति।।६६४।।

प्रकारान्तरेण पापप्रसङ्गाभावं स्पष्टयितुं ब्रह्मविद्यया पूर्णकामस्य मे न कुत्रचिद्राग इत्याह—किञ्चेति। मम विदुषो मनुजाद्यैः किं साध्यम्? कीदृशैः? बहिश्चरैः विषयप्रवणचित्तैः, अत एव सङ्गे नानाभेदबुद्धीनां बीजैः कारणैः दुरासदैः विवेकबुद्ध्याक्रम्य दुःखेन चित्तभूमेः बहिर्निःसार्यैरिति यावत्।।६६५।। तत्र भेदानुभवस्य परिणामदुःखतामाह—अयमिति। इह व्यवहारभूमौ यो यो जन्तुः यद् यद् अनुभवति तत् तत्सदृशमेव सर्वं विषयजातमनुभूतार्थवासनाजन्यं स्वप्न इव मृतिकालेऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः।।६६६।। मम तु भेदज्ञानप्रसक्तेः द्वारान्तराभावेऽपि विद्योपदेशप्रवृत्तिरूपं द्वारमस्तीत्याह—अयमेवेति। संसारो भेदज्ञानद्वारा संसारहेतुः अयमेव यद् ब्रह्मणो देशनमुपदेशः। नूनम् इति शङ्कायाम्; किमियं भेदवासना ममापि देहान्तरं करिष्यतीत्यर्थः।।६६७।। ननु भेदबुद्धेः कुतो जन्मान्तरहेतुता—इति

उपदेष्टा किसी शमादिहीन व्यक्ति को ब्रह्मविद्या का उपदेश देता है वह दुर्मति अपनी हानि करता है (क्योंकि खुद द्वेषका पात्र बनता है जैसे मैं इंद्रके द्वेष का विषय बन गया), विद्या की हानि करता है (क्योंकि वह मोक्षरूप फल नहीं दे पाती) और श्रोता की हानि करता है (क्योंकि ब्रह्मवेत्ता से द्वेषरूप पाप से वह दुर्गति पायेगा और गलत समझ गया तो ज्ञान व कर्म दोनों से भ्रष्ट हो जायेगा)।।६६३।। अनधिकारी को उपदेश देना रूप पाप अब इन्द्र की कृपासे मुझे नहीं करना पड़ेगा। मैं तपस्वी मुनि हूँ, और कोई पाप तो मुझसे संभव नहीं, अतिथिसत्कार के चलते यही पाप हो जाता था सो अब उससे भी छुट्टी मिली।।६६४।। विषयों की ओर ही लगे रहने वाला जिनका चित्त होता है ऐसे मनुष्यों से, दानवों से या देवताओं से मुझे मतलब ही क्या? उनके संगसे अनेक भेदबुद्धियों के बीज पड़ जाते हैं जिन्हें चित्तभूमिसे उखाड़ फैंकना मुझ जैसे आत्मवेत्ता के लिये भी मुश्किल हो जाता है।।६६५।। नाना प्रकार का यह जो कोई भी जंतु व्यवहारभूमि में जो अनुभव करता है, मरते समय वैसे ही संस्कारोत्पादित विषय उसे मिल जाते हैं।। जाग्रत् के संस्कारों से जिस प्रकार स्वप्न में विषयलाभ होता है उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये।।६६६।। मैं ब्रह्मका जो उपदेश देता हूँ यही मेरे लिये भेदज्ञान द्वारा संसारकारण है, अन्य कोई द्वार नहीं जिससे मुझे भेदज्ञान हो। क्या इन वासनाओं से मुझे नया देह भी लेना पड़ेगा? बिना अज्ञान के मैं कैसे समझ सकता हूँ कि मैं गुरु हूँ, यह शिष्य है; यह भेदबुद्धि अज्ञानसे ही संभव है। अतः मैं पामरों के समान ही हुआ! 'मैं-मेरा' यह शब्दात्मक और ज्ञानात्मक बंधन जब तक है तब तक शरीर नामक जेल से छुटकारा कहाँ? (उपदेशादि व्यवहार से ही अविद्यालेश मानना पड़ता है। यद्यपि ज्ञानी को व्यवहार

१. आदिना सत्यपाशादिग्रहः। २. अपिवाभ्यां देवादिग्रहः।

अहं गुरुरयं शिष्य इति मे भेदधीः कुतः। विना[1] मायामतोऽहं स्यां प्राकृतैः प्राणिभिः समः।।६६८।

अहं ममेति यावत् स्याच्छब्दज्ञानाख्यबन्धनम्। कुतो निःसरणं तावद् देहकारागृहाद्भवेत्।।६६९।।

दैवोऽथर्वा मम गुरुः ततोऽप्येष गुरुर्मतः। शक्रो यस्माद् बहिश्चित्तं मां निहन्तुमिहोद्यतः।।६७०।।

इत्यादि बहुशो दध्यङ् विचार्य हृदये निजे। सन्तोषं परमं प्राप तस्मिन् शक्रेऽपकारिणि।।६७१।।

अक्रोधप्राशस्त्यम्

सर्पाणां च शुनां वा को विशेषो विदुषां भवेत्। अपकारिणि चेत् कोपं कुर्वन्ति ज्ञानिनोऽपि च।।६७२।।

चेद्? अविद्याव्याप्यत्वादित्याह—अहं गुरुरिति। गुरुत्वाद्यवगाहिनी भेदबुद्धिरपि अद्वितीयात्मनि वस्तुतः अनुपपद्यमाना सती स्वप्रयोजकं मायालेशं सूचयतीति भावः। मायां विना भेदधीः कुतः स्यादित्यन्वयः। अतः अविद्याकार्यभेद-धीदर्शनरूपाद् हेतोः अहं प्राकृतैः पामरैः समः स्यां भवेयमित्यर्थः। अत एव भाष्यकारैः विदुषामपि व्यवहारे पश्वाद्यविशेष उक्तः 'पश्वादिभिश्चाविशेषाद्' (अध्यासभा.) इति।।६६८।। अहं ममेति भेददर्शने स्थिते च सर्वात्मभावरूपा मुक्तिः कथं वक्तुं शक्येत्याह—अहं ममेति। अहं ममेति-आकारके ये शब्दज्ञाने तद्रूपं बन्धनं यावद् न निवर्तते तावद् देहरूपात्[2] कारागाराद् निर्गमः कथं स्यादिति?।।६६९।। तस्मान्मयापि मनोनाशवासनाक्षया-भ्यासोऽपेक्षित एव। तत्र चोपायोपदेशपरम्परया प्रयोजको गुरुः, इन्द्रस्तु साक्षादेव तत्प्रयोजकः, विद्योपदेशायैव व्युत्थानयोग्यचित्तं मां प्रति पुनः उपदिशतः 'ते शिरश्छेत्स्यामि' इत्यभिधानाद्; अतो गुरोरप्यधिकं मान्य इत्याह—दैव इति। दैवोऽथर्वा वंशब्राह्मणोक्तः। ततोऽपि गुरुः मान्यः यतो माम् उपदेशव्याजेन बहिश्चित्तं सन्तं निहन्तुमुद्यतः हन्तुं प्रतिज्ञां कृतवानित्यर्थः।।६७०।। एवं विचारेण स क्षमां कृतवानित्याह—इत्यादीति। अपकारिणि अपीति शेषः।।६७१।।

ननु तथापीन्द्रस्य अयुक्तकर्मणः फलभूतः शापः कुतो न दत्त इति चेद्? विद्याप्रवृत्तानां शिक्षार्थमिति[3] गृहाणेति सूचयितुं यादृशविचारेण शापो न दत्तः तं विचारमभिनयति—सर्पाणामिति दशभिः। यदि ज्ञानिनोऽपि अपकारिणि कृतापराधे कोपं कुर्वन्ति तदा सर्पादितिर्यग्भ्यः प्रतिकारकर्तृभ्यः विदुषां विद्याप्रयुक्तः को विशेष के फलस्वरूप जन्मान्तर की प्राप्ति नहीं तथापि यदि उपदेश की भी वासना बन जाये तो बंधनतुल्य है क्योंकि जीवन्मुक्ति के अनुपम आनंद से वंचित रखती है यह भाव है। अश्वका सिर मिलना भी आंशिक देहान्तरप्राप्ति है जिसकी आशंका यहाँ त्रिकालदर्शी ऋषि व्यक्त कर रहे हैं। वस्तुतस्तु शास्त्रवासना से बचना चाहिये यही विवक्षित है। किं च लोकसंग्रह के बहाने निष्ठापरिपाक न करना अज्ञान व रागादि ही सूचित करता है यह सावधान करने के लिय पुराण प्रवृत्त है।)।।६६७-६९।। दैव अथर्वा मेरे गुरु थे पर यह शक्र तो उनसे भी तगड़ा गुरु है क्योंकि इसने प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं यदि उपदेश के बहाने बहिर्मुख हुआ तो यह मुझे मार डालेगा! (अतः अब मुझे मनोनाश और वासनाक्षय के लिये कोशिश करनी चाहिये।)।।६७०।। दधीचि ने अपने मन में इसी तरह का बहुत विचार किया और यद्यपि शक्र उनका अपकार करना चाहता था तथापि मुनि को उस पर परम संतोष ही हुआ।।६७१।।

---

१. गुरुशिष्यभेददृष्टिमन्तरोपदेशनिवर्त्याज्ञानाभावेनोपदेशाऽयोगाद्, निवर्त्याज्ञाने च सति तत्त्वबोधाऽयोगाद् अविद्यैक्यादिति भावः। भुक्त्यादिव्यवहारान्तरवदुपदेशादिरपि अविद्यालेशादुपपद्यत इति विदुषां पन्थाः। २. स्थूलदेहमात्रात्। सूक्ष्माद्वा कारणाद्वा देहादित्यर्थः। ३. अन्यशिक्षाया निवृत्तस्य दधीचोऽन्यशिक्षायै शापाद्विरतिरयुक्तेति चेद्? नायं मुनेरभिप्रायोऽपि तर्हि ग्रन्थकर्तुरित्याशयेन टीकाऽवतारयतीति द्रष्टव्यम्।

अपकारिणि ये कोपं न कुर्वन्ति महाधियः। उपकारं च कुर्वन्ति विद्वांसस्ते न चेतरे।।६७३।।

अपि कोपः कुतः कार्यो विद्वद्भिरपकारिणि। अपकारो जडे चेत्स्यात् किमायाति महात्मनः।।६७४।।

स्वहस्तेन यथा हस्तं पादं वा ताडयेत् पुमान्। एक एव तथा देहाद् देहमन्यं विनाशयेत्।।६७५।।

अत्र कोपः कथं नाम विदुषः सर्वदेहिनः। आत्मभूतस्य जायेत पुंसो हस्तान्तरे यथा।।६७६।।

भूतैरपकृतो यस्तु क्रुध्यतीह नराधमः। आत्महा स च विज्ञेयो नास्तिको भूतहिंसकः।।६७७।।

इति।।६७२।।कीदृशास्तर्हि विद्वांसः? इत्यत आह—अपकारिणीति। स्फुटम्।।६७३।। किञ्च कूटस्थं नित्यमात्मानं जानतः कोपो नोपपत्तिं सहते। तथा हि—किमात्मनोऽपकारे कुप्यति? जडस्य वा? नाद्यः कूटस्थेन विकारासम्बन्धादित्याह—अपीति। न द्वितीय इत्याह—अपकारो जड इति। अस्तु जडेऽपकारः तेन जडभिन्नस्यात्मनः किम् अनिष्टमायातं प्राप्तं, न किञ्चिदपीति। न हि पाषाणेन पाषाणघाते चेतनस्य[1] किञ्चिद् दुःखमिति भावः।।६७४।। अथ जडस्यापि शरीरसङ्घातस्य आत्मशेषत्वात् शेषापकारे शेषिण आत्मनः कोप उचित एव, राजपुरुषापकारे राज्ञ इव?—इति शङ्कां मधुब्राह्मणसिद्धान्तानुसारिदृष्टान्तेनापाकरोति—स्वहस्तेनेति। यथा एकशरीरे हस्तेन हस्तान्तरताडने कोपो न भवति, कुतः? यत एक एव आत्मेति; तथा एकदेहाद् देहान्तरस्य विनाशने प्रहारादिरूपे सत्यपि विदुषां कोपो न युक्तः, एकात्मकत्वस्य शास्त्रयुक्त्यनुभवैः सिद्धत्वादिति भावः।।६७५।। एतदेव स्फुटयति—अत्रेति। अत्र देहान्तरेण देहान्तरापकारे विदुषः कथं कोपः स्यात्? तत्र हेतुगर्भे विशेषणे—सर्वदेहिनः सर्वदेहाः शेषभूताः सन्त्यस्य स तथा, यत आत्मभूतस्य अनात्मभावमपोद्य आत्मयाथात्म्यमनुभवतः। तथा जडस्य शेषत्वेन दर्शनेऽपि स्वात्मन एव सर्वजडशेषित्वात् स्वाङ्गन्यायेन न कोपसम्भव इति भावः।।६७६।। तस्माद्य आत्मवित् स न कोपं करिष्यति, यस्तु करिष्यति स नात्मविदित्याह—भूतैरिति। भूतैः प्राणिभिः अपकृतः ताडनादिकं नीतः सन् यः कुप्यति स आत्महा[2] अनात्मन्यात्माभिमानाद्। अत एव नास्तिकः,[3] आस्तिकत्वे हि वेदान्तैः निर्णीतात्मैकताया न प्रमाद्येदिति भावः। प्रमादलिङ्गं दर्शयति—भूतहिंसक इति। न ह्यात्मैकत्वदर्शी भूतानि हन्तुं शक्नोतीति[4] भावः ।।६७७।। तिष्ठतु आत्मतत्त्वदर्शनम्। यो लोकप्रसिद्धसुखदुःखयोः पुण्यपापकार्यतामपि

यदि ज्ञानी लोग भी अपकार करने वाले पर गुस्सा करें तो साँपों और कुत्तों से उनमें क्या फरक रह जायेगा?।।६७२।। जो महामना अपकारी पर गुस्सा न कर उसका उपकार ही करते हैं वे ही असली विद्वान् हैं, दूसरे तो कहने भर के विद्वान् हैं।।६७३।। आत्मवेत्ता अपकारी पर क्रोध करे भी कैसे ? अपकार आत्मा का तो होता नहीं, क्योंकि वह कूटस्थ निर्विकार है। अनात्मा का उपकार हुआ भी तो आत्मरूप ज्ञानी को उससे क्या फरक पड़ेगा ?।।६७४।। जैसे एक आदमी अपने हाथ से अपने ही हाथ-पैर को चोट पहुँचा ले तो भी अपने हाथ पर नाराज़ नहीं होता। ऐसे ही एक देह से दूसरे देह का विनाश हो जाये तो भी सर्वात्मा ज्ञानी को क्रोध नहीं होता। (अथवा जैसे अपने हाथ से

---

१. तत्तादात्म्याऽनापन्नस्येति शेषः। तादात्म्ये तु गृहादिहानौ गृहपत्यादेः क्लेशदर्शनात्। २. आत्महननं निर्वक्ति—अनात्मनीत्यादिना। ३. हिंसा हि विद्यमानस्याऽभावाय यत्नः, नास्तिताप्रापणमित्येतत्। अस्तितावन्मात्रस्यात्मनो नास्तितायै यतमानस्य नास्तिकता युक्ता। ४. नन्वेवं 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्' 'मे तत्र न लोम च नामीयत' इत्यादिस्मृतिश्रुतिवादः कथम्? विद्वत्प्रशंसाया इति ब्रूमः। यथाऽत्मानात्मनोरपकारेऽकोपस्तथाऽऽत्मन्यकर्तरि हिंसनाशक्तिरनात्मनि नतरां कर्तृताभावात्। यस्य तु शक्तिरहंकर्तुस्तस्य बाधितत्वादहिंसैव फलति। 'न हिनस्त्यात्मनात्मानमि' त्यादिभगवदुक्तेः किमिच्छन्नित्यादिश्रुतेश्च। एवं सर्वव्यवहारेषु योज्यम्। अस्मदादिदृष्टो विदुषो व्यवहार उपदेशादिरूपः कोपादिरूपो वाऽस्मदाद्यविद्याविलास एव, न तस्मिन्नसौ। अत एव न समेषां समो भाति। उपदेष्टर्यपि दधीचि मुनौ शक्रस्य प्रतारकत्वदर्शनाद्, मधुपानादौ प्रवृत्तेऽपि दत्ते बहूनां ब्रह्मविद्याचार्यत्वदर्शनात्। नन्वेवं जीवन्मुक्तये दत्तोऽञ्जलिः? मैवमनुभूतायास्तस्या अनपलपनीयत्वात्। तद्व्यवस्था न युक्तिं सहत इत्येवेह विवक्षणात्। न च बद्धेऽपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञधर्मताविकल्पैर्न युक्तिं सहते हिंसादिप्रवृत्तिरिति शङ्क्यम्, अहंकर्तुः शक्तत्वोक्त्या दत्तोत्तरत्वात्।

पुण्यापुण्यनिमित्तं तत् सुखदुःखं ससाधनम् । जानाति चेत् कुतः कुप्येदात्मनस्त्वपकारिणि । ।६७८ । ।

एतादृशः कथं नाम विद्वान् स्याद् भारवाहकः । शास्त्रभारं वहत्येष मृद्भारं गर्दभो यथा । ।६७९ । ।

[1]अल्पं वा शृणुयाच्छास्त्रं न वा किञ्चिद् नरोत्तमः । द्रुह्येन्नैव च भूतेभ्यो यः स सर्वविदीरितः । ।६८० । ।

कर्मणा मनसा वाचा भूतद्रोहपरो नरः । न याति सुखमेतैः स इह लोके परत्र च । ।६८१ । ।

इत्यादि मनसा धीमान् विचार्यानन्दनिर्भरः । समर्थोऽपि न शक्राय शापं दातुं मनो दधे । ।६८२ । ।

निश्चिनुयात् तस्यापि कोपो न युक्तः, दुःखोदये मत्पापेनैव दुःखं जनितमितिबुद्ध्या कोपपरिहारसम्भवादित्याह—पुण्येति । साधनैरिष्टानिष्टपदार्थरूपोपकरणैः सहितं सुखादिकं पुण्यादिहेतुकमिति जानन्नपि कथं कुप्येद् इति । ।६७८ । । यस्तु शास्त्रादिना ज्ञात्वाऽपि कुप्यति सोऽज्ञ एव ज्ञेय इत्याह—एतादृश इति । एतादृशः कोपकर्ता कथं विद्वान् इत्युच्येत । विद्यावान्[2] हि विद्वान् । कोपने तु न विद्यास्पर्शः, विद्याफलादर्शनाद् । अतः स्वानुपकारकविद्यां धारयन् स भारवाहको वक्तव्यः । एतदेव स्पष्टयति—शास्त्रेति । ।६७९ । । यस्तु शास्त्रप्रपञ्चं विनाऽपि आत्मैक्यं सर्वत्र पश्यति स सर्वशास्त्रार्थविदित्याह—अल्पमिति । द्रोहो जिघांसा । तदुक्तं भारते—'आत्मानं चेद्विजानीयात्सर्वभूतगुहाशयम् । श्लोकेन यदि वार्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम्' । । क्षीणं समाप्तं सिद्धमिति यावत् । गीतासु (६.३२) च— 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः' । । इति । ।६८० । । द्रोहस्यानर्थकारितां दर्शयति—कर्मणेति । एतैः द्रोहैः प्रतिबन्धकैः स्वात्मभूतमपि सुखं न याति न लभते लोकद्वयेऽपीति । ।६८१ । । एवं विचारेण स्वात्मानंदप्रवणचित्तत्वाद्[3] इन्द्राय शापो न दत्त इत्याह—इत्यादीति । ।६८२ । ।

अपने पैरादि को पीटना मूर्खता ही है ऐसे ही एक देह से दूसरे देह पर क्रोधादि करना भी बुद्धिमानी नहीं ।) । ।६७५ । । एक देह से अन्य देह का कोई अपकार हो जाये तो आत्मज्ञानी को क्रोध क्योंकर आ सकता है ? सभी शरीर तो उसी के शेष हैं—उसी के लिये हैं—क्योंकि सब क्षेत्रों में जो क्षेत्रज्ञ है उससे अपना अत्यंत अभेद वह शास्त्र-युक्ति-अनुभव से समझ चुका है । एक हाथ पर लगी चोट के निमित्त से अपने दूसरे हाथ पर जैसे कोई पुरुष क्रुद्ध नहीं होता ऐसे ही ज्ञानी का किसी पर क्रोध असंभव है । ।६७६ । । जो अधम नर भूतों द्वारा अपकृत होने पर—प्राणी आदि द्वारा पीटा जाने आदि पर—क्रोधित हो जाता है, समझ लेना चाहिये कि वह आत्महत्यारा है क्योंकि अनात्मा को ही आत्मा मान रहा है, नास्तिक है क्योंकि प्रमाणसिद्ध एकात्मता के प्रति जागरूक नहीं और भूतों के प्रति हिंसा करने वाला है क्योंकि क्रोध से हिंसा में प्रवृत्ति होती है । ।६७७ । । आत्मतत्त्व की जानकारी तो बड़ी बात है, जो इतना भी जानता है कि सुख-दुःख व उनके साधन हमें अपने ही पुण्य-पाप के फलस्वरूप मिलते हैं वही उस पर गुस्सा कैसे कर सकता है जो अपना अपकार करता प्रतीत हो रहा है ? । ।६७८ । । जो कोप करता है वह विद्वान् कहाँ ? वह तो शास्त्र का बोझ ही ढोने वाला है जैसे गधा मिट्टी ढोता है । (क्रोध से स्पष्ट है कि उसे विद्याफल नहीं मिला अतः ग्रंथ याद भी हैं तो उसके किसी हित को नहीं साध रहे, फलतः वह शब्दात्मक भार का वाहकमात्र है ।) । ।६७९ । । नरों में उत्तम वह है जो भले ही शास्त्र का कम श्रवण करे या न भी करे लेकिन किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा की भावना न रखे । जो यों सर्वत्र आत्मैक्य देखता है वही सर्वज्ञ है । ।६८० । । जो नर कर्म मन या वाणी से प्राणिहिंसा में तत्पर रहता है वह कर्मजादि हिंसारूप प्रतिबंधकों के कारण ही इहलोक या परलोक में सुख से वंचित ही रहता है, चाहे सुख उसका आत्मा ही है । ।६८१ । । तुम्हारे बुद्धिमान् गुरु ने यों काफी विचार किया और पूर्ण प्रसन्न हुए । सामर्थ्य रहते भी शक्र को शाप देना उनके मनमें नहीं आया । ।६८२ । ।

---

१. पूर्वं (श्लो. ६७७) नराधमं निरूप्याथ नरोत्तममाह । २. विद्याया विनियोगे स्वतन्त्र इति भावः । ३. बलवत्तरानन्दसद्भाव एवैवंविधनिमित्तेऽपि कोपाभावोऽन्यथा सामर्थ्ये सति कोपस्य सहजत्वात् ।

इन्द्रमाह दधीचिः

उवाच च पुनः शक्रं करवाण्येवमेव तु। अतिक्रमे कृते च्छिन्धि[1] शिरो मे पाकशासन।।६८३।।

अतिथिस्त्वं सदा पूज्यो मम देवाधिपो महान्। तुभ्यं प्रियं किमद्याहं करोमि स्वर्गवासिने।।६८४।।

वित्तेन वपुषा वाऽपि येन केनाऽपि ते प्रियम्। तदहं साधयिष्यामि मा कृथाः संशयं क्वचित्।६८५।

इन्द्रस्य प्रत्युक्तिः

एवमुक्तेऽथ शक्रोऽपि भीतोऽयमिति[2] चिन्तयन्। सात्त्विकीं प्रकृतिं प्राप्तो वाक्यमेतदुवाच ह।६८६

उपद्रवं न कुर्वेऽहमपि विप्रर्षभस्य भोः। साधोस्तु भवतः केन करिष्यामि द्विजोत्तम।।६८७।।

विश्वरूपादयो विप्रा निहता यतयस्तथा। दुरात्मानो विचार्यैव न तु कोपवशान्मया।।६८८।।

अतिक्रमं ममाज्ञाया मा कृथा ब्राह्मणोत्तम। विश्वरूपादिमार्गं त्वमेवं नैव प्रयास्यसि।।६८९।।

प्रत्युतैवमाह—उवाच चेति। एवमेव करवाणि। एवं **त्वदुक्तानुसारेण अन्तर्मुख एव भवेयमित्यर्थः।** अतिक्रमे त्वदाज्ञाया इति शेषः।।६८३।। **उक्ताज्ञानुष्ठानं तु मदिष्टापत्तिभूतम्। तव स्वर्गादागतस्य अतिथेः इष्टसिद्ध्यर्थं तु मया किमनुष्ठेयमित्याह**—अतिथिस्त्वमिति।।६८४।। **अहं त्वदिष्टसाधनाय सर्वथोद्यतोऽस्मीत्याह**—वित्तेनेति।।६८५।।

ततः किं जातमत आह—एवमुक्त इति। प्रकृतिं **स्वभावम्।।६८६।।**

इन्द्रवाक्यमनुवदति—उपद्रवमिति चतुर्भिः। **विप्रर्षभस्य विप्रधर्माननुतिष्ठतो ब्राह्मणस्याऽपि; भवांस्तु तत्रापि साधुः सर्वोपकारक इति त्वदुपद्रवपराङ्मुखस्य मम किमुवाच्यमित्यर्थः।।६८७।। पूर्वमपि[3] ये मया दण्डितास्तेऽपि दुष्टचित्ततां ज्ञात्वैव दण्डिता इत्याह**—विश्वरूपादय इति।।६८८।। **फलितमाह**—अतिक्रममिति। मार्गं **शिरश्छेदयोग्यतारूपम्।।६८९।। यदुक्तम् 'अपेक्षितं ब्रूहि' इति (४.६८४); तत्तु त्वया मद्वचनाद् विद्योपदेशप्रवृत्तेन**

दधीचिने शक्र से कहा—हे स्वर्गशासक ! मैं ऐसा ही करूँगा और यदि आपकी आज्ञा का उल्लंघन हो तो मेरा सिर काट दीजियेगा।।६८३।। आप देवराज हैं, महान् हैं, हमेशा मेरे लिये पूज्य हैं और अभी तो अतिथि बनकर आये हैं। स्वर्गनिवासी आपकी प्रसन्नता के लिये अब मैं क्या करूँ ? धनसे, शरीरसे या जिस किसी उपायसे आपको जो प्रिय हो वह मैं संपन्न कर दूँगा इसमें संशय मत रखिये। (आपने विद्या माँगी सो तो मैं दे नहीं पाया क्योंकि बीच में ही आपने रोक दिया। आपकी आज्ञा तो मेरे लिये ही अभीष्ट स्थिति है, उसे स्वीकारने से भी मैंने स्वार्थ ही किया है, आपके लिये कुछ नहीं किया। अतिथिसत्कारार्थ कुछ करना चाहिये अतः जो इष्ट हो सो कर दूँगा।)।।६८५।।

यों सुनकर शक्र ने सोचा कि मुनि डर गये हैं। उसकी भी उत्तेजना शांत हो चुकी थी, अतः अपने देवोचित सात्त्विक स्वभावसे बोला—।।६८६।। स्वधर्मतत्पर ब्राह्मण का भी मैं कोई विरोध नहीं करता तो आप जो साधु अर्थात् सबके उपकारक हैं उनके प्रति विरोध क्योंकर करूँगा ?।।६८७।। विश्वरूप आदि ब्राह्मण और अरुन्मुख यति भी मैंने गुस्से से नहीं मारे वरन् विचारपूर्वक उन्हें दुरात्मा जानकर ही उन्हें दण्डित किया था।।६८८।। हे उत्तम ब्राह्मण!

---

१. गुरुणा ज्ञानप्रदानेन त्वया चावसरदानेन भूमिकारोहाय प्रेरितस्यापि तमकुर्वाणस्य च्छेद्यम् एव शिर इति भावः। २. भीतत्वाच्च न राक्षसः शुक्रस्तत्पुत्रो वेति निश्चिन्वन्निति च ज्ञेयम्। ३. नच कौषीतक्याद्यालोचनेन विश्वरूपहन्तुरिन्द्रस्य विद्वत्त्वादत्र विद्याप्रयुक्तकोपायोगः शङ्कनीयः। तत्रापि हननकाले तस्याऽविद्वत्वात्। ब्रह्मविद्याबलेनैव पूर्वकृतदोषदाहस्य कौषीतक्यादावुक्तेः। ज्ञानानन्तरं तु हननाद्यप्रवृत्तेः। तस्माद् हननाद्यनन्तरमिहागतोपीन्द्रोऽज्ञ एवेत्यदोषः। एवमेवान्येपीन्द्रकृत्या व्यवस्थापनीयाः। वस्तुतस्त्वर्थवादत्वेन कथासु न सूक्ष्मेक्षिकापेक्षा। तदुक्तं तन्त्रवार्तिके (१.२.१) 'नातीवोपाख्यानेषु तत्त्वाभिनिवेशः कार्य' इति।

अपेक्षितं त्वया विप्र कृतं मद्वचनात् पुरा। करणीयं ततो नास्ति स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम्।।६९०।।

रहस्योद्घाटनकर्ताऽऽह

इत्युक्त्वाऽथ गतः शक्रो मुनिस्तत्रैव संस्थितः। गुरुर्वां हि यथापूर्वं ह्रदोऽगाधजलो यथा।।६९१।।

ब्रह्मविद्यामिमां सर्वां प्रवर्ग्याख्यान्तथैव च। कर्माण्युपासनाजालमश्वादेर्विविधां तथा।। सृष्टिं च प्रोक्तवान् दस्रौ शक्राय युवयोर्गुरुः।।६९२।।

शक्रोऽपि गुरुणाऽऽदिष्टं युवयोरग्रहीत्तदा। ब्रह्मविद्यां विहायैव सर्वमेव महामनाः।।६९३।।

अश्विनोरधिकारलाभः

एवं स्थिते युवां कालात् परिपक्वात्ममानसौ। विरक्तौ[1] ब्रह्मविद्यार्थं प्राप्तौ तं मुनिपुङ्गवम्।।६९४।।

निष्पादितमित्याह—अपेक्षितमिति।।६९०।।

उपोद्घातं समापयति—इत्युक्त्वेति। वां युवयोः गुरुर्मुनिः तु पूर्णह्रदवद् अक्षुब्धः तत्र स्थित इति।।६९१।। ननु उक्तविद्याया इन्द्रस्य क्षोभहेतुत्वात् कथमिन्द्रेणोक्तम् 'अपेक्षितं त्वया पूरितम्' इति ?—इमामाशङ्कां वारयन् दधीचा मुनिना प्रवर्ग्यकाण्डयोः समग्रयोः इन्द्रं प्रति श्रावितत्वात् तत्र निर्विशेषात्मविद्याव्यतिरिक्तं सर्वमिन्द्रेण गृहीतमित्याह—ब्रह्मेति द्वाभ्याम्। इमां मधुब्राह्मणेन निगमनं नीतां; तथा प्रवर्ग्यकाण्ड आख्या निरूपणं यस्याः तादृशीं प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतमधुविद्यारूपां; तथा कर्माणि प्रवर्ग्यादीनि; तथा अश्वादेः अश्वमेधीयोऽश्वोऽग्निर्वा विराड्रूपः, आदिपदेन हिरण्यगर्भादिग्रहः; तद्गोचराणि उपासनानि; तथा विविधां सृष्टिं च हे दस्रौ ! युवयोः गुरुः शक्राय प्रोवाच। शक्रः च ब्रह्मविद्यां विना तत् सर्वम् अग्रहीद्। इति युक्तः 'अपेक्षित'-पदप्रयोग इन्द्रस्य। इति द्वयोरर्थः।।६९२-६९३।।

एवं कृतोपोद्घातां प्रवर्ग्यकाण्डगतां कथां द्व्यशीतिश्लोकैः उपबृंहयंस्तस्याश्चानुवादकौ द्वौ मन्त्रौ; तत्र एकः 'स नरासनये'त्यादिकः, यस्य पूर्वार्द्धार्थः 'इदं वै तद्' (बृ. २.५.१६) इत्यादिवाक्यार्थेन सहित इतिहासोत्थापनाय वंशव्याख्यानानन्तरं दर्शितः। परिशिष्टस्योत्तरार्द्धस्य'तद्वाम्' इत्यादिद्वितीयमन्त्रस्य चार्थः कथोपबृंहणेनैवोपबृंहितो भविष्यति इति मनसि निधाय, तत्र दध्यङ्मुनिराभ्यामश्विभ्यां मधुविद्यामुक्तवान् इत्येतावदर्थको भागो वक्ष्यमाणार्थप्रतिज्ञारूपः। तत्र हेतुभूतस्य 'तदेतयोः प्रियं धाम' (मा. शत. ४.१.५.१८) इत्यंशस्य तद् मधुतत्त्वम् अश्विनोः प्रेमास्पदमासीद् इत्यर्थकस्य तात्पर्यार्थमश्विनोः श्रद्धातिशयरूपं स्फुटयति—एवमिति त्रिभिः। एवं वर्णितविधया तूर्ष्णींभावेन मुनौ दधीचि स्थिते सति हे अश्विनौ ! तदन्तिकं प्राप्तौ। कीदृशौ ? कालात् परिपक्वे आत्मनि शुद्धरूपे मानसे ययोः तौ तथा। अत एव विरक्तौ इति।।६९४।।

आप मेरी आज्ञा का उल्लंघन मत करियेगा जिससे आपको विश्वरूपादि वाली गति न प्राप्त हो।।६८९।। विद्या की मेरी प्रार्थना पूरी कर आपने पहले ही मुझे जो अपेक्षित था वह संपन्न कर दिया। अब आपका मेरे प्रति कोई कर्तव्य नहीं। आपका कल्याण हो। मैं चलता हूँ।।६९०।।

यह कहकर शक्र तो चला गया। तुम्हारे गुरु मुनि दधीचि अपने आश्रममें ही बने रहे जैसे अगाध जल वाला सरोवर (आँधी-तूफान से भी उच्छृंखल नहीं होकर अपनी स्थिति से ही रहता है।)।।६९१।। ऐसा मत समझना कि इंद्र उनसे कुछ सीखकर नहीं गया ! प्रवर्ग्यकाण्ड कहलाने वाली जो प्रवर्ग्यनामक कर्म की अंगरूप मधुविद्या है, प्रवर्ग्यादि

१. एतेन वैराग्यमेव मुख्यमधिकारलक्षणम्, तदभावादेव पुराऽश्विनोर्विद्यायाः प्रत्याख्यानम्, इन्द्रस्य च तदग्रहणम्, तत्सद्भावएवाधुना दस्रयोस्तल्लाभ इत्याख्यायिकार्थोप्युदितः।

तयोर्विद्याप्रार्थना

आगत्य च तमब्रूतामावां विद्यार्थिनौ गुरो। अधिकारं हि सम्पाद्य प्राप्तौ ते चरणाम्बुजम्।।६६५।।

अधिकारे हि सम्प्राप्ते युवयोर्ब्रह्मवेदनम्। वक्ष्यामीति त्वया पूर्वं प्रतिज्ञातं गुरो सदा[1]। सत्यं तत् कुरु भो विप्र माऽनृतं त्वयि तिष्ठतु।।६६६।।

गुरोश्चिन्ता

युवाभ्यामेवमुक्तः स संशयं परमङ्गतः। मरणन्त्वेकतः स्वस्य ह्यन्यतोऽनृतभाषणम्।।
गोचक्रमध्यगो यद्वद् विद्वान् संशयमाव्रजेत्।।६६७।।

संशयं परमं प्राप्य स इमं निश्चयं गतः। वरं मे मरणं मा भूदनृतं वचनं क्वचित्।।६६८।।

निश्चितं जन्तुमात्रस्य जातस्य मरणं सदा। अवश्यं भावि तद् दुःखं नृणां केनाऽपि हेतुना।।६६९।।

आगत्येति। तं गुरुम। स्पष्टम्।।६६५।। भवता चैवं प्रतिज्ञातं पूर्वमित्याहथुः—अधिकार इति।।६६६।। अथ 'तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति' (मा. शत. ४.१.५.१८) इत्यंशं तद् मधुतत्त्वम् एनयोः अश्विनोः दातुम् एतेन विचारेण उपगमनं कृतवान्—इत्यर्थकमुपबृंहयन् मुनेः दधीचः संशयपूर्वकं निश्चयमभिनयति—युवाभ्यामिति सप्तभिः। यत एकतः उपदेशपक्षे मरणं निश्चितम्, अन्यतः अनुपदेशपक्षेऽनृतप्रसक्तिः, अतः परमं संशयं गत इति सम्बन्धः। तत्र दृष्टान्तः—गोचक्रेति। यथा शकटेनाक्रान्तः पुरुषः अग्रतो गमने गवां वृषभाणां पादाक्रमणभयं, पृष्ठतो गमने चक्राक्रमणभयमित्यालोच्य विवेकी संशयं गच्छति तद्वदित्यर्थः।।६६७।। संशयमिति। पूर्वार्द्धं स्पष्टम्। अनृताद् मरणं वरम् इत्युत्तरार्द्धार्थः।।६६८।। तत्र मरणदुःखाद् अनृतदुःखस्यैव गौरवं वक्तुं मरणदुःखस्यानृतदुःखादपकर्षं लाघवरूपं दर्शयति—निश्चितमिति। तद् मरणकालिकं दुःखं यत्किञ्चिद्निमित्तजन्यं जन्तोरावश्यकमिति। तथा मरणस्य जातं प्रति व्यापकत्वेन बहुशोऽनुभूतत्वाद् नाऽसह्यतारूप उत्कर्ष इति भावः।।६६९।। न चेन्द्रवज्रजन्यत्वेन उत्कर्षः, तस्यापि प्रसिद्धनिमित्तान्तर्गतत्वादित्याह—व्याधिरिति द्वाभ्याम्।

कर्म, अश्वादिसम्बन्धी उपासनायें, और नाना प्रकार की सृष्टियाँ—यह सब तो गुरुके उपदेश से शक्र समझ गया था क्योंकि उतनी योग्यता वाला था। केवल यह परब्रह्म की विद्या उसके गले नहीं उतरी। (भगवान् भाष्यकार ने भी साहस्री में कहा है कि जातिभ्रंश के डर से विप्र लोग इस अमृतबोध को ग्रहण नहीं करते। जैसे नशेबाज उस लत से परेशान होकर भी उससे छूटनेको तैयार नहीं होता इसी तरह हम नाम-रूपके नशे की लत से छूटने को राज़ी नहीं होते।)।६६२-६३।।

इस प्रकार काफी समय तक मुनि इस विद्या का उपदेश न देते हुए अतः प्रायः मौन रहते हुए (क्योंकि और कुछ बोलने लायक है नहीं) विराजते रहे। काल बीतने से विचारादि करते रहने के कारण तुम्हारे भी निजी मनों की शुद्धि पूरी हुई जिससे तुम्हे संसारसे विरक्ति हो गयी। अपनी योग्यता समझते ही तुम उन उत्तम मुनि के पास ब्रह्मविद्या पाने पहुँचे।।६६४।। तुमने उनसे निवेदन किया— हे गुरो ! हम ब्रह्मविद्या के प्रार्थी हैं। अधिकारिगुणों में मुख्य जो वैराग्य वह स्वयं में लाकर अब आपके चरणकमलों में उपस्थित हुए हैं। आपने पहले बार-बार कहा था कि हमें अधिकार सही तरह मिल जाने पर आप ब्रह्मज्ञान का उपदेश अवश्य करेंगे। अब अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। आपमें असत्य किसी तरह रहे यह उचित नहीं।।६६५-६६।। तुम्हारी प्रार्थना सुनकर वे महर्षि बड़ी चिन्तामें पड़ गये। जैसे कोई आदमी बैलगाड़ी के नीचे गिर जाये तो आगे जाने पर बैलों के पैर पड़ने से मरेगा और पीछे जाने पर पहियों से कटकर मरेगा, ऐसे ही उन्होंने सोचा कि यदि उपदेश दूँ तो मरना पड़ेगा और मना करूँ तो बात झूठी होगी। ऐसी स्थितिमें

---

१. सदा मुहुर्मुहुः प्रतिज्ञातमिति सम्बन्धः।

व्याधिर्वाप्यथवा सर्पश्चोरो वा व्याघ्र एव वा। विषमग्निर्जलं वापि शत्रुर्वाऽजीर्णमेव वा।।७००।।

निमित्तं मरणे किञ्चिद् एतादृक् देहिनो भवेत्। तेषामन्यतमं ह्येतच्छक्रो मे मरणं प्रति।।७०१।।

असत्यवादिनो मे स्याद् नरको भूरिदुःखदः। कल्पकोटिसहस्रान्ते यस्य नास्ति प्रतिक्रिया।।७०२।।

जीवन्मृतः पुमान् ज्ञेयो योऽनृतं वक्ति मोहतः। अत्र निन्दन्ति मनुजा मृतश्च नरकं व्रजेत्।।७०३।।

इत्यादि बहुधा विप्रश्चिन्तयित्वा मनोगतम्। युवां प्रति बभाषे स युवयोर्गुरुरात्मवान्।।७०४।।

अजीर्णं परिपाकमप्राप्तमन्नं जलं वा। एतादृक् व्याध्यादिविधं किञ्चिद् मरणे निमित्तं भवति। एवं सति शक्रो यद् मे मरणं प्रति निमित्तं भवेद् एतदपि तेषामन्यतमम् इन्द्रवज्रस्य दिव्याग्निरूपत्वादिति भावः।।७००-७०१।। अनृतदुःखस्य लोकद्वयेऽपि असह्यतारूपमुत्कर्षमाह—असत्येति द्वाभ्याम्। मेऽनृतदोषं जानतः ज्ञातकृतकर्मणः फलाधिक्यस्य स्मृतिषु प्रसिद्धत्वाद् इति भावः। उत्तरार्द्धस्य चिरभोग्ये तात्पर्यम्।।७०२।। जीवन्मृत इति। मोहो देहाद्यभिनिवेशः। एतेन मुनेरनृतफलभयप्रदर्शनेन विधीनामधिकारः सकामस्य, निषेधाधिकारस्तु निष्कामानामपि, प्रवृत्तमात्रस्य निषेधवाक्येषूद्देश्यत्वादिति वाचस्पतिना[1] प्रपञ्चितः सिद्धान्तः सूचितः।।७०३।।

'स होवाच इन्द्रेण वा' (मा. शत. १४.१.१.२२) इत्यादेः 'उपमनेष्य' इत्यन्तस्यांशस्यार्थमुपबृंहयति—इत्यादीति पञ्चाशता श्लोकैः। स युवयोर्गुरुः इत्यादिकमर्थजातं मनोगतं वाचानुच्चारितं यथा भवति तथा चिन्तयित्वा युवां प्रति वक्ष्यमाणविधया बभाष इत्यन्वयः।।७०४।।

कोई भी विद्वान् संशयग्रस्त हो जायेगा।।६९७।। इस कठिन संशय में पड़ने पर भी उन्होंने निश्चय किया— मैं मर जाऊँ यह श्रेष्ठ है, पर मेरा वचन कभी झूठा नहीं होना चाहिये।।६९८।। हर जन्मधारी का मरना हमेशा निर्णीत है, किसी न किसी निमित्त से होगा ही, वह दुःख तो पूर्व कई जन्मों में भोग भी चुका हूँ अतः अत्यंत असह्य नहीं होगा। देहधारियों के मरण में ऐसे ही निमित्त बनते हैं जैसे रोग, साँप, चोर, बाघ, जहर, आग, पानी, दुश्मन, अपच आदि। इन्हींमें से एक है शक्र, वही मेरे मरने में कारण बन जाये तो क्या हर्ज !।।६९९-७०१।। यदि मैं झूठ बोलूँगा तब मुझे बेहिसाब दुःख देने वाला नरक मिलेगा जिससे खरबों कल्पों में भी छूटना संभव नहीं।।७०२।। देहादि बचे रहें इस कामनासे जो झूठ बोलता है उस पुरुष को जीते हुए ही मरा समझना चाहिये। यहाँ मनुष्य उसकी निन्दा करते हैं और मरकर वह नरक जाता है । (प्रसंगवश जान लेना चाहिये कि विधिवाक्य उस पर लागू होते हैं जिसे श्रद्धादि हों लेकिन निषेध तो उन सभी पर लागू होते हैं जो उस निषेध का उल्लंघन करने को प्रवृत्त होते हैं। यह दिखाने के लिये ही विधि-निषेध से परे पहुँचे दधीचि 'झूठ मत बोलो' इस निषेध का स्वयं को विषय प्रदर्शित कर रहे हैं अर्थात् जब मुझ जैसे तत्त्वनिष्ठ भी निषेधोल्लंघन नहीं करते तो अन्यों को नहीं करना चाहिये इसमें क्या कहना !)।।७०३।।

---

१. 'निषेधशास्त्रं तु न श्रद्धामपेक्षतेऽपितु निषिध्यमानक्रियोन्मुखो नर इत्येव प्रवर्तत' इति (पृ. ६०) कर्मावबोधानन्तर्यभाष्ये भामत्यां लिखतेति शेषः। संक्षेपशारीरके (१.४०१ आदौ) दर्शितरीत्या निषेधस्याऽकार्यपरत्वेन विद्वद्विषयत्वे न विरोधः, विदुषोऽनियोज्यत्वस्यैव सिद्धान्ताभिमतत्वात्। न चैवं विद्वत्कृतदोषः पापाय, उत्तराघाश्लेषस्य आकरेषु (४.१.१३) स्थापितत्वात्। नन्वेवमुक्तभामतीविरोधः ? मैवमुत्सर्गापवादाभ्यामुपपत्तेः। सिद्धो न निषिद्धप्रवृत्तिरित्युत्सर्गः। कथंचित् तथा प्रवृत्तौ न तस्य तत्कृतपापसम्बन्ध इत्यपवाद एव तत्प्रवृत्तिः। अतएव नैष्कर्म्यसिद्धावगादि—'अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः। धर्मकार्ये कथं तत् स्याद् यत्र धर्मोऽपि नेष्यते'।।४.६३।। इति। रागवशादेव पापप्रवृत्तेर्नीरागतया न तत्र विद्वान्प्रवर्तेत। नन्वेवं निषेधस्य तद्गोचरतोक्तिर्व्यर्था, 'क्रियोन्मुखो नर' इत्युक्तत्वादस्य च तत्रानुन्मुखत्वादिति चेत् ? सत्यम्। फलेऽविशेषात्तथोक्तिः। यथा निषेधगोचरो निषिद्धान्निवर्तते तथाऽसौ ततो निवृत्तस्तिष्ठतीत्येतावताऽस्य तद्गोचरतोक्तिः। सत्यवदने नियुक्तोहमित्यनभिमानिनाऽपि सत्यवदने वैधमयमनुतिष्ठतीति लोकव्यवहारवन्निषिद्धान्निवृत्ते विदुषि तथा व्यवहारोपपत्तेः। यत्त्वत्र दधीचोऽसत्यमरणयोर्भयतोलनादि, तदपि साधकान्तसत्यमाहात्म्यं बोधयितुमेव। न हि विदुषो भयं सम्भवतीति ध्येयम्।

दध्यङ्ङाह

व्याहृतं नानृतं पूर्वमश्विनौ बाल्यतोऽपि वा। मया कथमिदानीं तत् स्थाविरे व्याहरिष्यते।। चिन्तितं यन्मया किञ्चिद् वक्ष्याम्यत्रापि कारणम्।।७०५।।

अहं वां विदितः शश्वदुपकारकरो मुनिः। देवासुरमनुष्याणामन्येषामपि देहिनाम्।।७०६।।

क्षपयन् पुण्यपापे स्वे प्रियाप्रियसमागमात्। हर्षं चैव विषादं च विहाय समतां गतः।।७०७।।

शत्रुर्मित्रमुदासीनो बन्धुर्द्वेष्योऽपि मध्यमः। न कश्चिद् विद्यते मेऽत्र सर्वत्र समदर्शिनः।।७०८।।

स्वदेहे स्थावरे चैव जङ्गमे वाऽखिलेऽपि हि। श्वदेहे ब्राह्मणे देहे सर्वत्राहं समः स्थितः।।७०९।।

पुमानहं तथा स्त्री च नपुंसकमहं तथा। महाभूतानि पञ्चापि भौतिकं सकलं ह्यहम्।।७१०।।

अहं मनुरहं सूर्यश्चन्द्रोऽहं वह्निरप्यहम्। ज्योतींषि च समग्राणि भूर्भुवः स्वर्महर्जनः। तपः सत्यं सपातालमहमेव न संशयः।।७११।।

दधीचो मुनेर्वचनमभिनयति—व्याहृतमित्यादिना। मया बाल्यतो बाल्यभावमारभ्य नानृतम् उक्तं, स्थाविरे वृद्धत्वे तद् अनृतं कथम् उच्येतेति। तथापि मनसा चिन्तितं शङ्कितं किञ्चिद् अनृतस्य कारणं प्रयोजकं वक्ष्यामीति।।७०५।। तच्च कारणम् अत्राऽपि 'महती चिन्ता' (४.७५१) इत्यादिना वक्ष्यते। तदुपयोगिनं स्वकीयपूर्ववृत्तान्तमश्विनौ प्रति श्रावयति—अहमित्यादिना। अहं वां युवाभ्यां देवादीनां सर्वेषामुपकारकत्वेन विदित इत्यर्थः।।७०६।। क्षपयन्निति। कीदृशोऽहम् ? प्रियसमागमेन पुण्यम्, अप्रियसमागमेन पापं च प्रारब्धरूपं क्षपयन् भोगेन समापयन् हर्षशोकौ विहाय समतायां स्थित इति।।७०७।। समतामेव सफुटयति—शत्रुरिति द्वाभ्याम्। तत्र शत्रुः अपकारं विनापि स्वभावादपकारकरः। मित्रम् उपकारमनपेक्ष्योपकर्ता। उदासीन उपेक्षकः। बन्धुः सम्बन्धेनोपकारकः। द्वेष्यः अपकारमपेक्ष्यापकर्ता। मध्यमः मध्यस्थो विवदमानयोर्द्वयोरपि हितैषी। एते मम न सन्तीत्यर्थः।।७०८।। स्वदेह इति। स्वेऽस्मिन् ब्राह्मणदेहे तथा अखिले स्थावरे जङ्गमे च देहे तथा ब्राह्मणे ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य सम्बन्धिनि देहेऽहं समः अस्मीति।।७०९।। साम्ये हेतुतया सर्वात्मभावं दर्शयति—पुमानिति चतुर्भिः। तत्र द्वयं निगदव्याख्यातम्।।७१०-७११।। सर्वात्मताऽपि विवर्तोपादानतयेत्याह—सदसदिति। सदसत् स्थूलं सूक्ष्मं

तुम्हारे दृढनिश्चयी गुरु ने मनमें पूर्वोक्त दिशामें काफी विचार कर तुमसे कहा—हे अश्विनिकुमारो ! बचपन से अब तक मैंने कभी झूठ नहीं बोला तो अब बुढौती में क्योंकर बोलूँगा ! तथापि मैंने जो इस बारे में कुछ विचार किया उसका कारण बताऊँगा।।७०४-७०५।। तुम जानते ही हो कि देव, असुर, मनुष्य आदि सबका मैं हमेशा उपकार ही करता हूँ। प्रियप्राप्तिसे पुण्यफलरूप सुख भोग लेता हूँ पर हर्ष नहीं करता और अप्रियप्राप्तिसे पापफलरूप दुःख भोग लेता हूँ पर विषाद नहीं करता। यों प्रारब्धको भोगकर समाप्त कर रहा हूँ क्योंकि समभावमें अर्थात् ब्रह्मरूपसे अवस्थित हूँ। मुझे सभी जगह सम परमेश्वर के दर्शन का स्वभाव हो गया है अतः न मेरा कोई दुश्मन है न दोस्त, न कोई मुझसे उदासीन अर्थात् उपेक्षाभाव रखते हुए रहता है, न मेरा कोई रिश्तेदार है न द्वेषी और न ही ऐसा जो मेरे किसी झगड़ेमें मध्यस्थ बने (क्योंकि मेरा किसी से झगड़ा ही नहीं)। चाहे मेरा यह ब्राह्मण शरीर है और चाहे संसारके सभी चराचर देह हैं, चाहे कुत्ते का गात्र है चाहे ब्रह्मा का देह, मैं सर्वत्र एक जैसा विद्यमान हूँ। पुरुष, स्त्री, नपुंसक, पाँचों महाभूत, सारा भौतिक संसार, मनु, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, सभी ज्योतियाँ, भूः भुवः स्वः महः जन तपः सत्य सातों लोक, पातालादि अधोलोक—ये सब मैं ही हूँ इसमें संदेह नहीं। जैसे स्वप्न पदार्थ स्वप्नद्रष्टासे भिन्न नहीं होते ऐसे ही स्थूल-सूक्ष्म सभी कुछ मुझसे भिन्न नहीं।।७०६-७१२।। ब्रह्माण्डरूप उदुम्बर में (गूलर में) स्थित चारों तरह के अच्छे-बुरे शरीरों का मैं ही आत्मा हूँ क्योंकि सीमित करने वाले अहंकार से रहित हूँ।।७१३।। मुझे न कामना है न क्रोध तो

सदसद्वस्तुजातं यद् मत्तो नान्यद्धि तद्भवेत्। स्वप्नदृष्टं यथा सर्वं स्वप्नद्रष्टुर्न चापरम्। ।७१२।।
ब्रह्माण्डोदुम्बरस्थानां चतुर्विधशरीरिणाम्। उच्चावचानामात्माऽहमहङ्कारविवर्जितः। ।७१३।।
न मे कामस्तथा क्रोधो लोभाद्याश्च कुतो मम। न च मायाऽपि येनाहं सर्वभेदविवर्जितः। ।७१४।।
उत्पादयाम्यहं सर्वं जगज्जातमनेकधा। स्थापयामि च तत् सर्वं संहरामि च लीलया। ।७१५।।
ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजत्यत्ति च पाति च। स्वात्मनैव तथैवाहममूर्तः सङ्गवर्जितः। ।७१६।।
भिन्ना नैव च विद्यन्ते संहारस्थितिसृष्टयः। मत्तः स्वप्नदृशो यद्वत् स्वप्ने दृश्यस्य वस्तुनः। ।७१७।।

इन्द्रायोक्तस्य सङ्क्षेपः

एवं स्थितस्य[1] कस्मिंश्चित् काले शक्र उपागतः। आश्रमं जगदीशोऽयमनुग्रहकरो मम। ।७१८।।
स मया पूजितः पूज्यो यथाशक्ति महेश्वरः। अतिथिः प्रार्थितः किन्ते करवाणि प्रियं वद। ।७१९।।
एवमुक्ते स मां प्राह विद्या याऽत्यन्तदुर्लभा। मह्यं प्रयच्छ तां विप्र प्रियं चेन्मे करिष्यसि। ।७२०।।

च सर्वं मत्तो न भिन्नं, स्वप्नद्रष्टुः स्वप्नदृश्यवदित्यर्थः। ।७१२।। ब्रह्माण्डोदुम्बरेति। ब्रह्माण्डरूपोदुम्बरगतानां जरायुजादिचतुर्विधशरीरिणाम् उत्कृष्टापकृष्टानां सर्वेषाम् अहमात्मा यतोऽहङ्कारेण परिच्छेदकेन मुक्त इति। ।७१३।। अहङ्कारविमुक्तत्वे हेतुतया विद्याबलात् सविलासाज्ञानराहित्यमाह—न मे काम इति। मायाऽपि विकाराणां प्रयोजिका मे न अस्ति, यतः अहं सर्वभेदरहितब्रह्मत्वेनात्मानं दृष्टवानस्मीत्यर्थः। ।७१४।। ममात्मैवाज्ञातो जगज्जन्मादिकारणमित्याह—उत्पादयामीति। स्पष्टम्। ।७१५।। तत्र दृष्टान्तमाह—ऊर्णनाभिरिति। यथोर्णनाभिः कीटः स्वात्मनैव स्वशरीरेतरापेक्षामन्तरेणैव तन्तुसृष्ट्यादिकं करोति तथाऽहम् अपि करोमि, परन्तु अमूर्तत्वम् अनवयवत्वम्, असङ्गत्वं च मयि विशेषः इति। ।७१६।। विवर्तोपादानता चोर्णनाभेर्मम विशेष इत्याह—भिन्ना नैवेति। यथा स्वप्नप्रपञ्चसृष्ट्यादयः स्वप्नदृशः पुरुषाद् न भिन्नाः तथा मत्तो जगत इति। ।७१७।।

एवमिति। एवं ब्रह्मनिष्ठतयाऽवस्थितस्य ममाश्रमं कदाचिदिन्द्रोऽनुग्रहेणागत इति। ।७१८।। स मयेति। स इन्द्रः मया पूजितः। अथ च किन्ते प्रियं करवाणि इति पृष्टश्चेति। ।७१९।। एवमुक्त इति। एवं मया उक्ते सति स इन्द्रः दुर्लभां ब्रह्मविद्यामेव याचितवानिति। ।७२०।। एवमुक्ते मयेति। एवं तेनेन्द्रेण उक्ते सति तस्मा इन्द्राय मधुकाण्ड-

लोभादि कैसे होंगे। विकारहेतु माया भी मुझमें नहीं—अज्ञानकी आश्रयताका प्रयोजक अहंकार न रहने से मुझे अज्ञान नहीं और विषयता भी बाधित हो जाने से मेरे बारे में अज्ञान नहीं।—अतः मैं सब भेदों से रहित हूँ। ।७१४।। समस्त जगत् को नाना प्रकारसे पैदा मैं करता हूँ, स्थापित रखता हूँ और सबका संहार करता हूँ। यह सब मैं लीलासे ही कर लेता हूँ। ।७१५।। जैसे मकड़ी जाल के जन्म-स्थिति-भंग करती है ऐसे ही मैं असंग व निरंश रहते हुए ही सिर्फ अपनेमें से सबका जन्मादि कर लेता हूँ। ।७१६।। स्वप्नदृश्यों का जन्मादि स्वप्नद्रष्टा से जैसे अभिन्न है ऐसे ही जगज्जन्मादि मुझसे अभिन्न हैं। ।७१७।।

मैं इस अद्वितीयभाव से रह रहा था। किसी समय मेरे आश्रम पर जगत्पालक शक्र पधारे, मुझ पर उनकी कृपादृष्टि रहा करती है। ।७१८।। मैंने सामर्थ्यानुसार उन पूज्य महाराजा का सत्कार किया। वे अतिथि थे अतः मैंने कहा 'आपकी पसंद का क्या कार्य करूँ ?' अन्होंने उत्तर दिया 'यदि मेरी पसंद का काम करना चाहो तो अत्यन्त दुर्लभ विद्या मुझे प्रदान करो।' ।७१९-७२०।। मैंने भी उन्हें मधुकाण्ड की प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या प्रदान की, अन्य विद्यायें नहीं क्योंकि

१. ननु सर्वदेहिनामात्माहमिति विजानता स्वस्मादन्य इन्द्र आजगामेति न वाच्यमिति चेन्न। प्रतीयमानत्वनिश्चयविषयत्वाभ्यां व्यवस्थोपपत्तेः। निश्चयस्तु मुनेरहमेव, नान्यन्मत्त इति। प्रतीतिस्तु यावत्प्रारब्धं विभिन्नानामपीति। अत उपदेशाद्ययोगसमाधिरप्युक्तः।

एवमुक्ते मया तस्मै मधुकाण्डार्थसंयुता। ब्रह्मविद्यैव दत्ता सा दुर्लभा नापरा यतः।।७२१।।
सुलभो विषयः स्वर्गे नरकेऽपि च देहिनाम्। ब्रह्मलोके च विष्ठायां जातानां कर्मिणामिह।।७२२।।
आत्मनो व्यतिरिक्तं हि प्राप्यते येन केनचित्। विद्यया कर्मणा वाऽपि दुर्लभं नैव तत् स्मृतम्।।७२३।।
बहवो ब्राह्मणा यत्र जानन्ति ज्ञानकर्मणी। ब्रह्मलोकादिसम्प्राप्तौ हेतुभूते न दुर्लभे।।७२४।।

सर्वत्र शरीरादिसाम्यकथनम्

ब्रह्मलोके च विष्ठायां शरीरं प्राणिनां ध्रुवम्। शरीरिणां सुखं यत् स्यादात्मज्ञानविवर्जितम्।
विषयेन्द्रियसम्प्राप्त्या तत् सर्वत्र समं स्मृतम्।।७२५।।

प्रतिपाद्या दुर्लभा च ब्रह्मविद्यैव उक्ता, नापराऽपरविषयिकेति। यत इति पदस्योत्तरेण सम्बन्धः।।७२१।। विद्याया दौर्लभ्यमितरसौलभ्यप्रदर्शनेन स्फुटयति—सुलभ इति। यतः स्वर्गे नरके वा वर्तमानो विषयः उत्कृष्टेऽपकृष्टे वा देशे जातानां कर्मिणां देहिनां सुलभः, अनादौ संसारेऽननुभूतपूर्वो नास्तीति यावत्। ब्रह्मविद्या तु संसारदर्शनरूपलिङ्गेन ज्ञायते यत्र लब्धपूर्वेति सैव दुर्लभेति भावः।।७२२।। एतदेव स्फुटयति[1]—आत्मन इति। अविद्यादशायां यद्यदात्मभिन्नं साधनैः साध्यमभिमतं तत् सर्वं विहितनिषिद्धत्वाभ्यां प्रत्येकं द्विविधाभ्यां विद्याकर्मभ्यां मानसशारीरव्यापाररूपाभ्यां न दुर्लभमिति।।७२३।। न चाभ्युदयसाधनभूते ज्ञानकर्मणी अपि दुर्लभे, तयोरपि बहुशो ज्ञायमानत्वादनुष्ठीयमानत्वाच्चेत्याह—बहव इति। ज्ञानं मानसं कर्म उपासनात्वेन प्रसिद्धम्। कर्म इष्टपूर्तादिरूपम्। कीदृशे द्वे अपि ज्ञानकर्मणी ? ब्रह्मलोकादिहेतुभूते। अतो न दुर्लभे इति। ब्रह्मविदो दौर्लभ्यं तु 'मनुष्याणां सहस्रेषु' (७.३) इत्यादिना भगवद्गीतासु प्रदर्शितमिति भावः।।७२४।।

लोके दुर्लभता तस्य प्रसिद्धा यत्सजातीयं न लभ्यतेऽन्यथा तत्तद्व्यक्तिरूपेण देशान्तरादाववर्तमानानां घटादीनामपि दौर्लभ्यापत्तेः। तथा च शरीरत्वादिना सजातीयानां शरीरादिसाधनानामाध्यासिकसुखादिरूपफलानां च सर्वत्र साम्यात् कुत्र सांसारिके दौर्लभ्यम् ? ब्रह्मविद्यायास्तु सविलासाज्ञानध्वंसरूपायाः किञ्चिदपि सजातीयं नास्ति इति सैव दुर्लभा—इत्याशयेन शरीरादिसमतामात्मैक्यज्ञानोपयोगिनीं प्रतिपादयति— ब्रह्मलोक इति अष्टादशभिः। ब्रह्मलोकादौ शरीरं विना भोगो नास्ति इति प्रसिद्धम्। तत्र च शरीरिणाम् आत्मज्ञानं विना विषयेन्द्रियसंयोगजन्यं यत् सुखं तत् सर्वत्र समम् अविशिष्टमित्यर्थः।।७२५।। एवं स्थूलशरीरसाम्यं प्रतिपाद्य

दुर्लभ तो वही है।।७२१।। पुण्य-पाप करने वाले देहधारियों को विषय तो सुलभ हैं। स्वर्ग हो, नरक हो या ब्रह्मलोक हो और चाहे मल ही क्यों न हो, जो जहाँ पैदा होता है वहाँ विषय तो पा ही लेता है।।७२२।। अनात्म-पदार्थ तो अच्छे-बुरे कर्मों से व वैसी ही उपासनाओं से मिल ही जाते हैं। उन्हें दुर्लभ नहीं कह सकते।।७२३।। ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति के उपाय उपासना व कर्म हैं यह तथ्य और तत्तत् फलके तत्तद् उपाय, यह तो बहुतेरे ब्राह्मण जानते हैं। इन्हें दुर्लभ कैसे मानें ! ।।७२४।।

जिसकी जाति का अन्य पदार्थ न मिले वही दुर्लभ हो सकता है। शरीरादि उपाय और आध्यासिक सुखरूप फल चाहे जितने दिव्य हों, उनके समानजातीय उपाय और फल सर्वत्र समान हैं क्योंकि कीट का हो या विराट् का, शरीरता दोनों में समान है; अतः सांसारिक कोई वस्तु दुर्लभ नहीं हो सकती। कार्यसमेत अज्ञानका ध्वंसरूप ब्रह्मज्ञान इकलौता है, उसके समान कोई नहीं और मिलना उसका प्रायः असंभव है, इसलिये वही दुर्लभ है। यही समझाने के लिये शरीरादि की सर्वत्र समानता व्यक्त करते हैं—ब्रह्मलोक हो चाहे विष्ठा, वहाँ होने वाले प्राणियों का शरीर—

---

१. अश्विनोर्विरक्तिपरीक्षणाय शक्रायोपदिष्टमपि संग्रहेण पुनः संगृह्णाति मुनिः। यद्यनयोर्वैराग्यमपक्वं स्यात्तर्हि स्वर्गादिवैशिष्ट्यं श्वादिसाम्यं च निशम्य सहस्राक्षवदुद्वेगेनेतो गच्छेतामिति दधीचो भावः।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणाख्यं च तथेन्द्रियम्। वाक्पाणिपायुचरणशिश्नाख्यानीन्द्रियाणि च।।७२६।।

अन्तःकरणसंयुक्ताः प्राणा अपि शरीरिणाम्। प्रायशो जङ्गमानां स्युः समाना विषमाः क्वचित्।।७२७।।

स्थावरेष्वपि विद्यन्ते ह्यभिव्यक्तिविवर्जिताः। एत एव ततस्तेऽपि जङ्गमैः सदृशाः स्मृताः।।७२८।।

गृहमध्ये स्थितो यद्वत् पुमान् बाह्यार्थवेदनम्। मनसा श्रोत्रयुक्तेन कुरुते नेन्द्रियैः परैः।।७२९।।

एवं न्यूनेन्द्रियाणां स्याज्ज्ञानं नेन्द्रियवर्जनात्। आवृत्तान्येव वर्तन्ते तेषामन्येन्द्रियाणि च।।७३०।

एकस्थानस्थितान्येव क्वचित्कार्याणि कुर्वते। पन्नगस्य यथा चक्षुर्गोलके श्रोत्रचक्षुषी।।७३१।।

सुखदुःखसाम्यम्

एकानेकेन्द्रियाणां स्यात् सुखं वा दुःखमेव च। जङ्गमानां स्थिराणां च मनस्येव न संशयः।।७३२।।

एकेन्द्रियात् प्रजातेऽस्मिन् तथाऽनेकेन्द्रियादपि। न सुखे नाऽपि दुःखेऽस्ति भेदः कोपीह मानसे।।७३३।।

सूक्ष्मशरीरसाम्यं सर्वत्र दर्शयति—श्रोत्रमिति त्रिभिः। श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि अन्तःकरणचतुष्टयं प्राणाः चैते सूक्ष्मशरीरावयवाः प्रायशो जङ्गमेषु समतया प्रसिद्धा एव। कुत्रचिद् विषमा अभिव्यक्तितारतम्येन वर्तमाना अपि भासन्त इति यावद्। इति द्वयोरर्थः।।७२६-७२७।। स्थावरेष्विति। एते वागादयः प्राणान्ताः स्थावरेष्वपि वर्तन्ते। तथा हि मोक्षधर्मेषु 'तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः' इत्यादिनेन्द्रियसत्त्वं स्थावरेषु प्रतिपादितं, परन्तु तत्र अभिव्यक्तिः स्फुटता नास्ति इति विशेषः। ततः सर्वेन्द्रियसत्त्वात् ते स्थावरा अपि जङ्गमा इति।।७२८।। नन्वनभिव्यक्तेन्द्रियाणां स्थावराणां कथमभिव्यक्तेन्द्रियैः जङ्गमैः साम्यमिति चेद् ? न। व्यापाररािहित्यरूपाया अनभिव्यक्तेर्जङ्गमेन्द्रियेष्वपि दृश्यमानत्वे न वैलक्षण्यप्रयोजकत्वादित्याशयेन जङ्गमेष्वपि यत्किञ्चिदिन्द्रियव्यापारकाल इन्द्रियान्तराणां व्यापाररािहित्यं दर्शयति—गृहेति। यथा गृहान्तःस्थः पुरुषो बाह्यार्थमश्वादिकं श्रोत्रेण शब्दरूपलिङ्गग्राहकेण, मनसाऽनुमितिव्यापारकेण यन्निश्चिनोति, तत्र च नेन्द्रियान्तरव्यापार इत्यर्थः।।७२९।। एवमिति। एवं गृहमध्यस्थवत् न्यूनेन्द्रियाणां बधिरादीनां स्थावराणां वा यद् ज्ञानं तद् इन्द्रियवर्जनाद् इन्द्रियैर्विना न भवति। किन्तु ? तेषां न्यूनेन्द्रियाणामभिव्यक्तेन्द्रियभिन्नानीन्द्रियाणि आवृत्तानि स्वव्यापारेभ्यो निवृत्तान्येव वर्तन्त इति बोद्धव्यमित्यर्थः।।७३०।।

न च कुत्रचिद् गोलकादर्शनाद् इन्द्रियाभावो बोध्यः, परगोलकेऽपि इन्द्रियान्तरस्य दर्शनादित्याह—एकस्थानेति। पन्नगस्य सर्पस्य। तथा च सर्वत्रेन्द्रियसत्त्वे न किञ्चिद्बाधकमिति भावः।।७३१।।

एवं करणसाम्यं प्रतिपाद्य तत्फलयोः सुखदुःखयोरपि साम्यं दर्शयति—एकेत्यादिना। एकमनेकं वाऽभिव्यक्तमिन्द्रियं येषां तेषां यत् सुखं दुःखं वा जायते तन्मनोनिष्ठमेव जायते, नान्यनिष्ठमिति। तच्च मानसं मनसि भवं सुखं दुःखम् एकेन्द्रियव्यापाराद् भवतु अनेकेन्द्रियव्यापाराद् भवतु, तयोः स्वरूपे न कोऽपि विशेष इति द्वयोरर्थः।।७३२-७३३।। सुखदुःखसाम्ये हेतुं तत्प्रयोजकरागद्वेषसाम्यमाह—यत्रेति। इन्द्रियैरर्थनीयेषु विषयेषु

भोगायतन—अवश्य होता है। आत्मज्ञान को छोड़कर बाकी जो भी विषय-इन्द्रिय सम्पर्क से होने वाला सुख है वह शरीरधारी को जहाँ कहीं अनुभवमें आये, सुखरूपसे समान है।।७२५।। श्रोत्र, त्वक्, आँखें, जीभ, नाक, वाणी, हाथ, पायु, पैर, उपस्थ ये दसों ज्ञान-कर्म की इंद्रियाँ, अंतःकरण और प्राण ये सब सूक्ष्मशरीर के अवयव हैं, जो जंगम शरीरधारियों

यत्र यस्य भवेद्रागो द्वेषो वा विषयेषु हि। इन्द्रियार्थेषु तत्प्राप्तौ सुखदुःखे समे स्मृते।।७३४।।
जायते व्यसनं यस्य जीवानां हिंसनं प्रति। गीतस्य वा तदाप्तौ हि सुखं यादृक् प्रजायते।
ललनालिङ्गनेऽपि स्यात् तादृगेव हि कामिनः।।७३५।।
कामिनो यादृगेव स्याद् वधूनां प्राप्तितः सुखम्। पुत्रार्थिनस्तादृगेव पुत्रप्राप्तौ प्रजायते।।७३६।।
पुत्रिणो यादृगेव स्यात् पुत्रप्राप्तौ सुखं हृदि। अन्नलाभात् क्षुधार्तस्य तादृगेव प्रजायते।।७३७।।
अनिष्टलाभतोऽप्येवं दुःखं ज्ञेयं समं सदा। एकानेकेन्द्रियैर्दस्रौ ! मानसे जायते हि यत्।।७३८।।

मध्ये यत्र विषये यस्य देहिनो राग इच्छा तत्र प्राप्ते सुखमेवं यत्र द्वेषः तत्र दुःखमिति। स च रागो यथा उत्कृष्टानां स्वशरीरादौ तथा निकृष्टानामपि स्वशरीरादौ वर्तत इति भावः।।७३४।। यस्य यत्र रागः तस्य तत्र सुखमित्येतत्स्फुटयति—जायत इति त्रिभिः। यस्य प्राणिहिंसने मृगयादौ तथा गीतश्रवणे वा व्यसनम् आसक्तिरूपं जायते तस्य तदाप्तौ मृगयादेरेव लाभे यादृशं सुखं जायते तादृशम् एव सुखं ललनाकामस्य ललनाप्राप्तौ जायत इत्यर्थः।।७३५।। कामिन इति। स्पष्टम्।।७३६।। पुत्रिण इति। स्पष्टम्।।७३७।। द्वेषप्रयुक्तदुःखसाम्यं स्पष्टयति—अनिष्टेति। हे दस्रौ ! अश्विनौ एकानेकेन्द्रियैः अनिष्टलाभतो यद् मानसे दुःखं जायते तद् अप्येवं सुखवदेव समं समानाकारं ज्ञेयम् इत्यन्वयः।।७३८।। तदुदाहरति—विष्ठायामिति। विष्ठायां जातस्य कृमेः मरणादिकाले

के प्रायःकर एकसे होते हैं और किन्ही में इंद्रियाभिव्यक्ति अर्थात् उनकी कार्यकारिता कमोबेश होती है। ये वागादि सब अवयव स्थावर प्राणियों में भी होते अवश्य हैं चाहे इनकी अभिव्यक्ति न भी हो अर्थात् ये कार्यकारी न हो पायें। इस तरह पशुवर्ग और वनौषधि वर्ग के शरीर समान ही हैं।।७२६-७२८।। घरमें बैठा व्यक्ति घरसे बाहर की चीज़ का ज्ञान कानसे आवाज़ सुनकर मनसे अनुमान द्वारा कर लेता है, अन्य इन्द्रियों से नहीं कर पाता फिर भी अन्य इन्द्रियाँ मौजूद रहती ही हैं। इसी तरह जिन प्राणियों में सारी इन्द्रियाँ कार्यकारी नहीं उन्हें भी जो ज्ञान होता है वह किसी-न-किसी इन्द्रियसे ही होता है, ऐसा नहीं कि बिना इन्द्रियके हो जाता हो। इतना अवश्य है कि कुछएक इन्द्रियाँ उनमें कार्यकारी रहती हैं और बाकी अपने व्यापार न करती हुई रहती हैं। कहीं यह भी होता है कि एक ही गोलकमें अनेक इन्द्रियाँ कार्य कर लेती हैं, जैसे साँप की आँख व कान एक ही गोलक से काम कर लेते हैं। (यदि तत्तद् शरीरावयवका भेद हो—नेत्रेन्द्रिय के कार्यस्थल का अंश और श्रोत्रके कार्यस्थल का अंश पृथक् हों—तो भी प्रकृत में कोई विरोध नहीं क्योंकि यहाँ इतना ही कह रहे हैं कि सब प्राणियों का सूक्ष्म शरीर समान अवयवों वाला होता है। आज जो उल्लू या गूलर है वही कल बैंगन या विद्याधर हो सकता है ! सूक्ष्मदेह मरण के बाद साथ जाता है यह वेदान्तों में माना गया है।)।।७२९-७३१।।

एक इन्द्रिय वाले हों या बहुत इन्द्रियों वाले, अचर हों या चर, सुख-दुःख तो सभी के मनमें ही होता है। वे चाहे एक इन्द्रियके व्यापारवश पैदा हों या अनेक इन्द्रियों के, मनःस्थित सुख-दुःखमें कोई फर्क नहीं।।७३२-७३३।। इन्द्रियाँ जिन विषयों की ग्राहक हैं उनमें जीव जिस विषय की ओर अपनी रागात्मक वृत्ति रखता है उसकी प्राप्तिसे जीव सुख पा लेता है और जिसके प्रति द्वेष रखता है वह मिलने पर दुःख पा लेता है। राग-द्वेष उच्च-नीच सब शरीर-धारियों में हैं, अतः सुख-दुःख सर्वत्र एक से हैं।।७३४।। जिसे शिकार खेलने में या संगीत में आसक्ति होती है उसे उनसे जैसा सुख मिलता है वैसा ही स्त्रीकामुक को स्त्रीके आलिंगन से मिलता है और पुत्रेच्छुक को वैसा ही पुत्रलाभसे प्राप्त हो जाता है। जैसा इन सबको सुख होता है वैसा ही भूखे को अन्नप्राप्ति से होता है।।७३५-७३७।। हे अश्विनिकुमारो! एक इन्द्रिय वाले प्राणी हों या अनेक इन्द्रियों वाले, जिसे प्रतिकूल समझते हैं उसकी प्राप्तिसे मनमें जो दुःख होता है वह भी सब को एक-सा होता है। मल के कीड़े को मरने में जैसी पीड़ा होती है, ब्रह्मलोकादिमें भी मरते वक्त वैसी ही पीड़ा होती है, उभयत्र दुःख समान है।।७३८-७३९।। विषय-इन्द्रिय संयोगवश होने वाला सुख जैसा परमेष्ठी ब्रह्मा

विष्ठायां यादृशं दुःखमसह्यं जायते कृमेः। तादृशं ब्रह्मलोकेऽपि मरणादौ प्रजायते।।७३९।।

उत्पद्यते सुखं यादृक् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। विष्ठाकृमेस्तादृगेव स्याद्योगादिन्द्रियार्थयोः।।७४०।।

विट्कृमेरपि सन्त्येव ह्यन्नं दारास्सुतास्तथा। ब्रह्मणोऽपि विशेषः स्यादनयोः केन हेतुना।।७४१।।

जायते म्रियते ब्रह्मा विट्कृमिश्च तथैव हि। सुखदुःखकरं तद्वत् सदेहत्वं समं द्वयोः।।७४२।।

इत्यादि मनसा स्वेन विचिन्त्यैनामथाब्रुवम्। सुदुर्लभां ब्रह्मविद्यां शक्रायातिथयेऽश्विचनौ।।७४३।।

इन्द्रप्रतिबन्धप्रदर्शनम्

श्रुत्त्वाऽदाद् दुष्टचित्तः सन्[1] सोऽपि मे गुरुदक्षिणाम्।। इतः परं ब्रह्मविद्यां कस्मैचिद् मा वद द्विज।।
स्नेहादिना यदा वक्ता तदा च्छेद्मीह ते शिरः।।७४४।।

अङ्गीकृतं मयाप्येतत्तथेति वचनात्तदा। अतश्चिन्तामहं प्राप्तः कार्येऽस्मिन् दुर्घटेऽधुना।।७४५।।

स्वनिर्णयोक्तिः

युवयोर्वचनं दत्तं ब्रह्मविद्यासमीरणे। मया तथैव शक्राय तदभावे समीरितम्।।७४६।।

यादृशमसह्यं दुःखं जायते तादृशम् एव ब्रह्मलोकादौ अपि मरणादौ जायत इति।।७३९।। सिंहावलोकनन्यायेन सुखसाम्यमुदाहरति—उत्पद्यत इति। रागसाम्यादिति शेषः।।७४०।। न च बाह्यपरिग्रहैरपि विशेषः, तेषामपि कल्पितानां सर्वत्र सम्भवादित्याह—विट्कृमेरिति। ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य। अनयोः परमोत्कृष्टतयाऽपरमोत्कृष्टतया च प्रसिद्धयोः केन धर्मेण विशेष इति।।७४१।। हर्षशोकप्रयोजकौ उपचयापचयावपि तयोः समावित्याह—जायत इति। एवं संसारमूलं देहाभिमानोऽपि तयोः समइत्याह—सुखदुःखकरमिति। 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति'—(छा. ८.१२.१) इति श्रुतेः। तस्मादशरीरताप्रयोजिका ब्रह्मविद्यैव दुर्लभेति सिद्धमिति भावः।।७४२।। इत्यादीति। हे अश्विनौ ! इत्यादि अर्थजातं विद्यादुर्लभतोपपादकं विचिन्त्य अथ एनां ब्रह्मविद्यां दुर्लभविद्यां याचकाय शक्रायातिथयेऽब्रुवम् इति सम्बन्धः।।७४३।।

श्रुत्वेति। सोऽपि शक्रः श्रुत्वा दुष्टं कुपितं चित्तं यस्य तादृशः सन् मे मह्यं गुरुदक्षिणामदात्। तामभिनयति—इत इत्यादिना। स्नेहादिना; आदिपदेन भयादिग्रहः। वक्ता वक्ष्यति भवानिति शेषः।।७४४।। अङ्गीकृतमिति। एतद् इन्द्रोक्तम्। अस्मिन् युवां प्रति उपदेशरूपे कार्ये वक्ष्यमाणविधया दुर्घटे चिन्ता ममास्ति इति।।७४५।।

ननु इन्द्रेण निषिद्धस्य कार्यतैव कथम् ?—इत्याशङ्क्य; उपदेशे प्रवृतौ मे प्रतिबन्धकं नास्तीत्याह—युवयोरिति पञ्चभिः। युवयोः विद्योपदेशे वचनं दत्तम् एव तथा शक्राय तस्योपदेशस्याऽभावे तद्वचनमुक्तं[2] तद् नियतं न वक्ष्यामीति आकारकं न उक्तम्। किन्तु वक्ष्यामि चेत्, त्वं मे शिरश्छिन्धि इत्याकारमेवोक्तम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।७४६-७४७।। एतादृशे च वचने यद्यहं मृत्युभीरुः स्यां तर्हि न प्रवर्तेयमेव। मृत्योरप्यधिकतया

का वैसा ही विष्ठा-कीटका। मल के कीड़े को भी भोजन मिलता है, उसकी पत्नी होती है, बच्चे होते हैं और ब्रह्मा को भी ये ही सुखद विषय मिलते हैं तो इन दोनोंके सुख में भेद क्यों होगा ? ब्रह्मा के भी जन्म-मरण होते हैं तथा मल कीट के भी। अतः देह धारण करना दोनों को एक जैसा सुख-दुःख देता है।।७४०-७४२।। मैंने मनसे इसी तरह कई उपपत्तियाँ सोचकर निर्णय किया कि ब्रह्मविद्या ही दुर्लभ है, अतः उसी का इन्द्र को उपदेश दिया।।७४३।।

१. एतेन शक्रात्मा निर्दोषः, दोषवच्चित्ततादात्म्यवशादेवैवंविधदक्षिणादानमिति सूचितम्। २. तद्वचनमित्यत्र यद्वचनमिति पाठेन भाव्यम्।

न वक्ष्यामीति नियतं न शक्राय समीरितम्। किन्तु वक्ष्यामि चेत् त्वं मे शिरश्छिन्धि महाबल।।७४७।।
वक्ष्याम्येवेति सततं युवाभ्यामीरितं मया। ततो वक्ष्यामि वां विद्यां मरणाद् भीतिवर्जितः।।७४८।।
केनचिद्धि निमित्तेन जातस्य नियता मृतिः। दुर्लभं कारणं मृत्योः देवराजो ममाद्य यत्।।७४९।।
सर्वस्वहरणं श्रेयो दारापुत्रसमर्पणम्। मरणं च न तु श्रेयो मिथ्यावाक्यस्य भाषणम्।।७५०।।

तत्र दुर्घटता

अत्रैव महती चिन्ता मिथ्यावाक्यस्य भाषणे। ब्रह्मविद्यां युवाभ्यां चेत् प्रवृत्ते वक्तुमश्विनौ।
शक्रस्तदैव शिरसश्छेदं कुर्याद् न संशयः।।७५१।।
केन वक्ष्यामि तां विद्यां शिरोहीनो युवां प्रति। पुनर्मिथ्यैव मे वाक्यं भविष्यति सुदारुणम्।
अपप्रतिज्ञो नरके यास्याम्यज्ञानकारणे।।७५२।।

मतादनृतादेव भीरुरहं कथमुपदेशे न प्रवर्तेयम् ?—इत्याह—वक्ष्याम्येवेति। यतो वक्ष्याम्येवेति आकारेण युवाभ्याम् उदितं ततः सत्यस्य परिपाल्यत्वाद् मरणभयहीनः सन् वां युवां प्रति विद्यां वक्ष्यामि इति।।७४८।। तत्र हेतुतया मरणाद्भीतेरनौचित्यमाह—केनचिदिति। नियता अवश्यंभाविनी। तत्र यद् यदि देवराजो मम मृत्योः कारणं भवेत् तद् दुर्लभं, सत्यं रक्षन् दध्यङ्ङाथर्वणो देवराजादपि न भीत इति[1] मद्यशःपरिपोषकत्वादिति भावः।।७४९।। अनृतस्यात्यन्तानौचित्यमाह—सर्वस्वेति। सर्वस्य स्वस्य धनस्य हरणम्।।७५०।।

एवं कृतियोग्यतामुपदेशस्योक्त्वाऽथ दुर्घटतामाह—अत्रैवेति त्रिभिः। अत्र वक्ष्यमाणविधया प्रवृत्तस्यापि पुनरनृतभाषणप्रसङ्गे महती चिन्ता अस्ति। तामभिनयति—ब्रह्मेत्यादिना। स्पष्टम्।।७५१।। केनेति। केन शिरसा

इन्द्र के चित्तमें रागात्मक दोष था अतः इस ज्ञानका श्रवणकर उसने गुरुदक्षिणा के रूपमें यह आज्ञा दी कि अबके बाद किसी को ब्रह्मविद्या न सुनाऊँ और स्नेहादिवश यदि सुनाऊँगा तो तत्काल वे मेरा सिर काट डालेंगे।।७४४।। उनकी आज्ञा मैंने भी उसी समय स्वीकार कर ली। इसीलिये तुम्हारी प्रार्थना सुनकर मैं सोचमें पड़ गया था कि अब यह विद्योपदेशरूप कार्य हो सकना मुश्किल है।।७४५।।

तुम्हें वचन दे चुका था कि योग्य हो जाओगे तो ब्रह्मविद्या बताऊँगा। शक्र को जो वचन दिया उसमें यह प्रतिज्ञा नहीं है कि ब्रह्मविद्या सुनाऊँगा ही नहीं बल्कि यही तय रहा कि यदि सुनाऊँ तो वे मेरा सिर काट लें। उपदेश न हो इसके लिये इतनी ही व्यवस्था हुई है। इन्द्रसे निर्णीत शर्त के बाद मृत्युभय से ही मैं उपदेश न दूँ यह संभव है किन्तु मुझे मृत्युकी अपेक्षा झूठसे ज्यादा डर है। तुम्हें हमेशा कहता आया हूँ कि जरूर विद्या दूँगा अतः मरणभय से रहित हुआ अवश्य ही उपेदश दे दूँगा। जो पैदा हुआ है उसे किसी निमित्तसे मरना अवश्य है। मेरे मरने में आज देवराज यदि कारण बनते हैं तो यह भी एक दुर्लभ योग है क्योंकि इससे मेरा यश ही बढेगा कि सत्यके पालन के लिये दध्यङ् आथर्वण देवराज से भी नहीं डरे ! यह बेहतर है कि अपना सर्वस्व लुट जाये, पत्नी व पुत्र किसी को देने पड़ें, या मरना भी पड़े, लेकिन यह कभी भी अच्छा नहीं कि झूठ बोला जाये।।७४६-७५०।।

तथापि मुझे एक बड़ी चिन्ता इस बात की है कि मैं तुम्हें दी प्रतिज्ञा कैसे पूरी करूँगा ? जैसे ही मैं तुम्हे ब्रह्मविद्या बताना आरम्भ करूँगा वैसे ही शक्र निःसंदेह मेरा सिर काट देगा तो बिना सिरके मैं तुम्हे उपदेश दे कैसे पाऊँगा ? अतः कोशिश करने पर भी अपनी बात रख नहीं पाऊँगा, मेरी बात झूठी हो जायेगी जो मेरे लिये परम कष्ट की बात है। अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने से मुझे नरक ही मिलेगा जो नासमझ और गैर-समझ को ही पैदा करता है।।७५१-७५२।। मुझे यही चिंता है। तुम दोनों बुद्धिमान् हो, इसलिये बताओ मैं क्या करूँ ?।।७५३।।

---

१. एतदपि सत्यप्रशंसायां योज्यम्।

इत्येव मम चिन्ताद्य वर्तते कापि नापरा। बुद्धिमन्तौ युवां तस्माद् वदतं किं करोम्यहम्।।७५३।।

दस्रोक्तोपायः

इत्युक्ते स्वार्थलोभाढ्यावूचथुस्तं युवां गुरुम्। मा भूच्छक्रादियं भीतिर्गुरोर्दुर्दान्तचेतसः।।७५४।।

अङ्गसन्धानकरणीं जानीवो मृतजीवनीम्। विफलं वज्रमेव स्याच्छक्रेणापि निपातितम्।।७५५।।

वैफल्यं तस्य चेन्नेष्टं भवता ब्राह्मणोत्तम। आवामुपायमपरं करिष्यावोऽत्र तं शृणु।।७५६।।

अश्वोऽयं दृश्यते तस्य शिरस्तद्वत्तवाऽपि च। छित्त्वा विपर्ययेणैते स्थापयावोत्र मस्तके।।
आवामश्वस्य शिरसा ब्रह्मविद्यां समीरय।।७५७।।

तां वक्ष्यामि इति। अज्ञानव्यामोहकारणं[1] फलं यस्य तादृशे नरके।।७५२।। फलितमाह—इत्येवेति। यतो बुद्धिमन्तौ अतो युवाम् अपि कर्तव्यं वदतम् इति।।७५३।।

अथ 'तौ होचतुः' (मा. शत. १४.१.१.२३-२४) इत्यादि 'प्रतिदधतुः' इत्यन्तं कथाशेषमुपबृंहयति—इत्युक्त इत्यादिद्वाविंशतिश्लोकैः। इति गुरुणा उक्ते सति हे अश्विनौ ! युवां स्वार्थलोभेन[2] आढ्यौ व्याप्तचित्तौ सन्तौ तं गुरुं प्रति इत्थम् ऊचथुः। 'इत्थं' कथम् ? अत आह—मा भूदित्यादि। दुर्दान्तचेतसः शक्राद् इयम् उक्तविधा भीतिः अस्मद्गुरोः मा भूद् यत आवां मृतजीवनीं विद्यां जानीवः यया वज्रमेव विफलं स्याद्; इति द्वयोः सम्बन्धः।।७५४-७५५।। वैफल्यमिति। चेद् यदि तस्य इन्द्रवज्रस्य अमोघतया प्रसिद्धस्य तद्विरुद्धं वैफल्यं मोघत्वं भवता इष्टं चिकीर्षितं न भवति,[3] तर्हि आवाम् उपायान्तरं करिष्याव इति।।७५६।। उपायान्तरं निरूपयतः—अश्वोऽयमिति द्वाभ्याम्। अयं सन्निहितः कश्चिद् अश्वो दृश्यते। तस्य अश्वस्य शिरः, तवापि च शिरो दृश्यते। एवं सति आवामेते द्वे अपि मस्तके शिरसी विपर्ययेण विनिमयेन स्थापयावः—तव शिरोऽश्वग्रीवायामश्वशिरस्तव ग्रीवायां च निदध्व इति यावत्। ततस्त्वमश्वमुखेन आवाम् उपदिशेत्यर्थः।।७५७।। शक्रेणेति। तस्मिन् तव ग्रीवानिहितेऽश्वशिरसि ब्रह्मणो वक्तरि उपदेशक इन्द्रेण छिन्ने सति यथापूर्वम् अश्वशिरोऽश्वग्रीवायां तव शिरः त्वद्ग्रीवायाम् आवां स्थापयाव इति।।७५८।। एवं कृत एतानि फलानि भविष्यन्ति इत्याहथुः—एवमिति। अश्वो भवांश्च मरणं न गच्छेद् इत्येकं

रहस्योद्घाटन करने वाले ऋषि ने अश्विनिकुमारों के उग्र कृत्य का पर्दाफाश किया—हे अश्विनिकुमारो ! तुम्हारे चित्त में स्वार्थ का लोभ भरा हुआ था, अतः गुरु के उक्त प्रश्न का तुमने यह जवाब दिया—हे गुरो ! क्रूरमना शक्रसे आप न डरें। हम उस विज्ञान में माहिर हैं जिससे मरा भी जिला लेते हैं, हम अंगों को पुनः जोड़ देने की कला जानते हैं, इसमें क्या शंका ! शक्र भी वज्र छोड़ेगा तो उसे अभीष्ट लाभ अर्थात् आपका मरण नहीं होगा।।७५४-५५।।

हे उत्तम ब्राह्मण ! यदि चाहें कि 'मेरा सिर काट लेना' ऐसा आप कह चुके हैं इसलिये उसके वज्रपात को सफल ही होना चाहिये तो हम दूसरा उपाय कर लेंगे। सुनिये : यह पास ही एक घोड़ा दीख रहा है। इसका सिर काट लाते हैं और अपकी गर्दन पर लगा देते हैं एवं आपका सिर इसकी गर्दन पर लगा देते हैं ! आप घोड़े के मुखसे ब्रह्मविद्या सुनाना प्रारंभ कीजिये। शक्र जब उस सिर को काट देगा तो हम पुनः आपका सिर आपके शरीर पर और घोड़े का उसके शरीर पर लगा देंगे। इस रीतिसे न घोड़ा मरेगा, न आप प्राणिहिंसामें निमित्त बनेंगे। यों आप मरने और झूठ बोलने दोनों से बच जायेंगे। (किं च वज्रसे मरना अपमृत्यु मानी जाती है; इस रीति से न मरने पर आप अपमृत्यु से

---

१. अज्ञानमावरणं व्यामोहो विक्षेपस्तयोः कारणमिति विग्रहः। इहापि कृतकृत्यस्य मुनेर्नरकपातान्न भयं, शिष्यशिक्षायाएवासावेवमुवाच। सुदारुणमिति; वाक्यं मिथ्या भविष्यतीति यत् तत्सुदारुणं महत्कष्टमित्यन्वयः। २. स्वम् =आत्मा सएवार्थः प्रयोजनं यस्यासौ लोभस्तेनेत्यर्थः, आत्मैकजिज्ञासयेति यावत्। ३. आज्ञोल्लङ्घने शिरश्छेदनस्य भवतैवानुज्ञातत्वादिति भावः।

शक्रेण तस्मिन् संछिन्ने ब्रह्मवक्तरि मस्तके। स्थापयावो यथापूर्वमावां हि शिरसी उभे।।७५८।।

एवमश्वोऽपि मरणं न गच्छेच्च भवानपि। आवयोर्गुरुहिंसा च भवतोऽभूतहिंसनम्। मिथ्यावादश्च मरणं न भवेद् ब्राह्मणोत्तम।।७५९।।

अङ्गीचकार हृष्टः सन्नेवमुक्ते गुरुस्तदा। सर्वभूतसमो विप्रो युवयोः स्वार्थलुब्धयोः।।७६०।।

तदनुष्ठानम्

अङ्गीकृतेऽथ वाक्येऽस्मिन् गुरुणा हितकारिणा। निर्दयौ क्रूरकर्माणौ युवां शस्त्रधरावुभौ।।७६१।।

पशोरिव गुरोस्तस्य शिरश्छित्त्वा महात्मनः। अश्वस्य शिरसा सार्धं सञ्चक्राथे विपर्ययम्।।७६२।।

ताभ्यामुपदेशः

आथर्वणो हयग्रीवः तदैव युवयोर्गुरुः। प्रवर्ग्यादीनि कर्माणि तद्वदश्वाद्युपासनम्।।७६३।।

हेयं हि बहुधोक्त्वा स ब्रह्मविद्यां समैरयत्। शक्राय यामुवाचादावाश्रमेऽतिथये मुनिः।।७६४।।

फलम्। आवयोर्गुरुहिंसा न भवेद् इति द्वितीयम्। तथा भवतोऽभूतमयुक्तं[1] हिंसनमपमृत्युरिति यावद्, इन्द्राशनिमृत्योरपमृत्युत्वेन स्मृतिषु प्रसिद्धत्वादिति, स न भवेद् इति तृतीयम्। तथा भवतो मरणं मरणरूपतया मतो मिथ्यावादश्च न भवेद् इति चतुर्थमित्यर्थः। 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' इत्यमरः।।७५९।। अङ्गीचकारेति। एवं युवाभ्याम् उक्ते सति युवयोः स्वार्थलुब्धयोर्गुरुः हृष्टःसन्नङ्गीचकार, यतः सर्वभूतसमः।।७६०।।

अङ्गीकृत इति। एवं गुरुणाऽङ्गीकृते सति युवां निर्दयत्वादिविशिष्टौ गुरोः शिरः छित्त्वा अश्वस्य शिरसा सह विपर्ययं चक्राथे इति द्वयोः सम्बन्धः।।७६१-७६२।।

आथर्वण इति। आथर्वणो युवयोर्गुरुः हयग्रीवः सन् प्रवर्ग्यकाण्डोक्तानि प्रवर्ग्यादिकर्माणि त्वाष्ट्रं मधु च प्रवर्ग्याङ्गमुक्त्वा तद्वद् मधुकाण्डोक्तम् अश्वाद्युपासनमुक्त्वा एवं शुद्धान्तःकरणेन मुमुक्षुणा हेयं कर्म उपासनं चोक्त्वा, ब्रह्मविद्यां द्वितीयमन्त्रे गोप्यार्थककक्ष्यपदेनोक्तां समैरयद् उपदिदेश; याम् इन्द्रायोक्तवान् इति द्वयोरर्थः।।७६३-६४।।

बचेंगे। मृत्यु कभी न कभी तो होगी ही लेकिन झूठ बोलना भी आपको मरणतुल्य लग रहा है, अतः इस मौत से तो आप बच ही जायेंगे।) तुम लोगों के इस उपाय को तुम्हारे गुरु ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार लिया। तुमने तो स्वार्थसिद्धि के लिये तरीका खोजा लेकिन वे विप्र प्राणिमात्र के प्रति समान भाव वाले थे, अतः शक्र की इच्छा, तुम्हारी जरूरत और अपनी प्रतिज्ञायें तीनों पूरी होने की परिस्थिति में उन्होंने सन्तोष किया।।७५६-७६०।।

हितकारी गुरु ने जब तुम्हारी बात मान ली तब क्रूर कर्म करने वाले दयाहीन तुम दोनों ने शस्त्र धारण किये और जैसे पशु काटा जाता है ऐसे ही गुरु का सिर काट कर घोड़े पर तथा घोड़े का सिर गुरुशरीर पर लगा दिया ! (यद्यपि गुरुहिंसासे दस्र बचे रहे तथापि गुरु को पीडा अवश्य दी, जैसे आज भी शल्यसे प्राणरक्षा भले ही हो पर शल्यप्रयुक्त पीड़ा तो सहनी ही पड़ती है, अतः उनकी यह चेष्टा उग्र तो कही ही जायेगी।)।।७६१-६२।।

तुम्हारे गुरु आथर्वण ने घोड़े के सिर वाले हो कर तुम्हें प्रवर्ग्य आदि कर्म, अश्वादि उपासनायें तथा अन्य बहुतेरी बातें बतायीं जिनका शुद्धमना मुमुक्षुओं के लिये कोई उपयोग नहीं, बल्कि उनके लिये छोड़ने ही लायक हैं। तदनंतर उन मुनि ने वह ब्रह्मविद्या प्रतिपादित की जो आश्रम आये अतिथिभूत शक्र को समझायी थी।।७६३-६४।। उन बुद्धिमान् मुनि ने ब्रह्मविद्या के संप्रदाय के प्रचलन के बारे में यह भी कहा—जो विद्या तुम दोनों की शिष्यपरम्परा में रहेगी, जो

१. अश्वो न मरणं गच्छेदित्यनेनैव भूतहिंसाऽभावस्योक्तत्वात्पुनरुक्तिभियाऽभूतेति छिनत्ति।

उवाच चेदं मतिमान् ब्रह्मविद्याप्रवर्तने। इतः परं ब्रह्मविद्या वंशे या युवयोः स्थिता।।७६५।।
तथा स्त्रीपुंसयोस्तद्वद् बह्वृचानां महात्मनाम्। कौषीतक्यादिकानां स्याच्छङ्कितेव कुले श्रुता।।७६६।।

याज्ञवल्क्यातिरिक्तानां भयम्

इन्द्रोऽयं वज्रपाणिः सन् मां हन्तुं नभसि स्थितः। उक्तायां ब्रह्मविद्यायां समग्रायाममुं द्विजम्।।
घातयामीति सङ्कल्पात् स्ववाक्यं परिपालयन्।।७६७।।
मद्वच्चेद् ब्रह्मविद्यां त्वमन्यस्मै कथयिष्यसि। समग्रां तत एवाहं हरिष्यामि शिरस्तव।।७६८।।
इति वाक्यं निजं शक्रः पालयन्नयशोभिया। नभःस्थितोऽधुना मां स घातयिष्यति देवराट्।।७६९।।
हते मयि त्रिलोकीस्था ब्राह्मणा भयमागताः। ब्रह्मविद्यां न वक्ष्यन्ति पुत्रायापि प्रियाय च।।७७०।।
सामि वक्ष्यन्ति वै केचित् कौषीतकिमुखा द्विजाः। एकैकस्यैव वा केचित् प्रवक्ष्यन्ति द्विजोत्तमाः।।
इन्द्राद् दुर्भयमागम्य कुलदेवप्रसादतः।।७७१।।

उत्तराध्यायोत्थापकाकाङ्क्षाजनकमाथर्वणवाक्यमनुवदति—उवाच चेति नवभिः। स मतिमान् दध्यङ्मुनिः ब्रह्मविद्यायां प्रवर्तने सम्प्रदायप्रवृत्तिविषयकम् इदं वाक्यमपि उवाच। 'इदं' किम् ? अत आह—इत इत्यादि। हे अश्विनौ ! इतः परं मत्कर्तृकोपदेशादुत्तरकाले सा ब्रह्मविद्या शङ्कितेव कथं प्रसृता भविष्यतीत्याकारकशङ्काविषयतामिव गता। सा का ? या युवयोः वंशे विश्वरूपादियुष्मच्छिष्यपरम्परात्मके मधुकाण्डान्ते कीर्तिते श्रुता। तथा या स्त्रीवंशे खिलकाण्डान्तगते श्रुता, तथा पुंवंशे याज्ञवल्क्यकाण्डान्तगते श्रुता, तथा बह्वृचानाम् ऋग्वेदविदां कौषीतक्यादीनां कुले श्रुता; इति द्वयोः सम्बन्धः।।७६५-६६।।

विद्यायाः शङ्कितत्वे हेतुमाह—इन्द्रोऽयमिति पञ्चभिः। यत इन्द्रोऽयं समग्रायां विद्यायाम् उक्तायां सत्याम् अमुं द्विजं घातयामि वज्रहतं करोमि इत्याकारकसङ्कल्पाद् नभसि स्थितः स्ववाक्यपरिपालनायेति हेतौ शतृप्रत्ययः[1]।।७६७।। 'स्ववाक्यं परिपालयन्' इति स्पष्टीकरोति—मद्वदिति द्वाभ्याम्। मद्वद् मह्यं यथा समग्रोपदिष्टा तथेत्यर्थः।।७६८।। इति वाक्यमिति। अयशसोऽनृतप्रयुक्ताद् भिया भयेन।।७६९।। हते मयीति। मयि एवं हते सति केचिद् विप्रा भीताः सन्तः पुत्रायापि न वक्ष्यन्ति इति।।७७०।। सामीति। केचित् कौषीतक्यादयः सामि अर्द्धमसमग्रामिति यावद्[2] वक्ष्यन्ति। केचित् तु एकैकस्यैव शिष्यस्य पुरतः प्रवक्ष्यन्ति। किं कृत्त्वा ? इन्द्राद् दुर्भयं दुर्गतमीषद्भयम् आगम्य प्राप्य। भयस्य ईषद्भावे हेतुमाह—कुलेति। विद्यावंशदेवस्य परमात्मनः प्रसादं तपःप्रभृत्युपायेन संपाद्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा चेश्वरानुगृहीता अपि उपदेशकाल इन्द्राद् भीता भविष्यन्तीति भावः। इन्द्रादभयम् इति पाठे—कुलदेवप्रसादतः इन्द्रादभयं भयाभावमासाद्य राजमानं याज्ञवल्क्यमित्युत्तरेण सम्बन्धः।।७७१।। उक्तस्य इन्द्रभीत्या उपदेशसङ्कोचस्य

बृहदारण्यकके स्त्रीवंश व पुरुषवंश में चलने वाली सुनी गयी है और जो कौषीतकि आदि ऋग्वेदी महात्माओं के वंश में मौजूद है, वह आज के बाद शंकित-सी हो जायेगी; उसका प्रसार शंकाका विषय हो जायेगा।।७६५-७६६।।

क्यों शंकित होगा यह दधीचि बताते हैं—वह देखो आकाश में इन्द्र हाथमें वज्र लिये मुझे मारने आ पहुँचे हैं क्योंकि उनका संकल्प था कि सारी ब्रह्मविद्या कह देगा तो इस ब्राह्मण को मार डालूँगा। अपनी बात पूरी करने आये हैं।।७६७।। उन्होंने कहा था 'जैसे मुझे सुनायी, ऐसे ही यदि और किसी को सारी ब्रह्मविद्या सुनाओगे तो तुम्हारा सिर काट दूँगा।' यदि अब सिर न काटें तो बात झूठी होने से उनकी अपकीर्ति होगी। अतः आकाशस्थित देवराज अब मुझे मार डालेंगे।।७६८-७६९।। विद्योपदेशके कारण जब मैं मारा जाऊँगा तो त्रिभुवन के सभी ब्राह्मण डर जायेंगे और

---

१. 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति पाणिनिरसूत्रयत् (३.२.१२६) तत्र लक्षणं क्रियायाः परिचायकं, हेतुः फलं कारणं चेति कौमुदी।
२. पदार्थमात्रबोधनं सामिबोधनम्। वैराग्योपयोगिवचनं विना सिद्धान्तकथनमप्येवं; विना संसारहेयतांप्रतिपादनं तत्र वैराग्यानुदये कृतमपि श्रवणं न फलाय कल्पते।

याज्ञवल्क्यं विहायैकं द्विजं वाजसनेयकम्। सूर्यशिष्यं महात्मानं सूर्यवद् दीप्ततेजसम्।।७७२।।

यजूंषि श्वेतरूपाणि तेनेमानि महीतले। याज्ञवल्क्यस्य नामैकं धारयिष्यन्ति सर्वतः।।७७३।।

दधीचः शिरश्छेदः

इति ब्रुवाणस्य मुनेर्हयग्रीवस्य देवराट्। शिरो न्यपातयद् भूमौ वज्रेण शतपर्वणा।।७७४।।

तच्छिरः पतितं दृष्ट्वा वाजिनस्तु गुरोः शिरः। समाहृत्य यथापूर्वं चक्राथे गुरुवाजिनोः।।७७५।।

पर्युदासो याज्ञवल्क्ये बोध्य इत्याह—याज्ञवल्क्यमिति। याज्ञवल्क्यमेकं द्विजं विहाय उक्तोपदेशसङ्कोचो बोध्य इति सम्बन्धः। कीदृशं याज्ञवल्क्यम्? वाजसनेयसंज्ञकम्। तद्व्युत्पत्तिस्तु[1] वाजैः केसरैः सनिः दानं यजुषां यस्य स वाजसनिः अश्वरूपधरः सूर्यः पुराणे वर्णितः। स वाजसनिर्भक्तिः सेव्योऽस्येति वाजसनेयः। 'नद्यादिभ्यो ढक्' (४.२.९७) इति शैषिको ढक्। तत्र हेतुगर्भं विशेषणं सूर्यशिष्यम् इति। अत एव महात्मानम् इत्यादि।।७७२।। यजूंषीति। तेन उक्तेन याज्ञवल्क्योत्कर्षेण इमानि काण्वादिपञ्चदशशाखारूपाणि यजूंषि शुक्लवर्णानि, तैत्तिरीयसंज्ञककृष्णयजुर्भ्यो विलक्षणानीति यावत्। एतानि महीतले याज्ञवल्क्यस्य एकं नाम धारयिष्यन्ति प्रसिद्धिरूपां पुष्टिं नेष्यन्ति पञ्चदशशाखाध्यायिषु वाजसनेयिपदप्रसिद्धेरिति भावः।।७७३।।

इति ब्रुवाणस्येति। शतं पर्वाणि ग्रन्थयो यत्र तत्तथा तेन।।७७४।। तच्छिर इति। तद् गुरुग्रीवायां स्थापितं वाजिशिरः पतितं दृष्ट्वा वाजिनः सकाशाद् गुरोः शिरः समाहृत्य आनीय गुरुवाजिनोः शिरसी यथापूर्वं युवां चक्राथे विन्यस्तवन्तावित्यर्थः।

अनया कथया एतत् सूचितं भवति यद् इन्द्ररक्षितेयं विद्याऽश्विभ्यामपि महता यत्नेन लब्धाऽत्यन्त-दुर्लभेति। अपि च मन्त्रयोरर्थश्च प्रदर्शितः। तत्र प्रथम एतावान् विशेषः—ईम् इत्यनर्थको निपातः। यत्प्रोवाचेत्यन्वयः। द्वितीयमन्त्रे तु प्रत्यैरयतं प्रापितवन्तौ; ऋतायन् सत्यं पालयन्; त्वाष्ट्रम् आदित्यस्य यज्ञपुरुषशिरस्त्वेन ज्ञानरूपं मधु, यदाख्यायिका यज्ञपुरुषस्य शिरो वल्मीकजन्तुभक्षितज्याकधनुष्कोट्याच्छिन्नं तत्सन्धानाय अश्विनौ देवैः प्रार्थितावित्यादिरूपा प्रवर्ग्यकाण्डे गता। यच्च कक्ष्यं गोप्यं मधुब्राह्मणोक्तं, तदुभयं प्रोक्तवानित्यर्थः।।७७५।।

अपने प्रिय पुत्रको भी ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं दिया करेंगे। कुछ जैसे कौषीतकि, अधूरा ही उपदेश देंगे और विद्यावंश के प्रवर्तक महादेव की कृपा से जिन्हें इन्द्रसे कम ही डर लगेगा वे भी किसी एक-आध शिष्य के सामने ही, अर्थात् अकेले में ही इसका प्रवचन करेंगे। (मेरी तरह सब के लिये सुलभ विद्याका सदावर्त कोई नहीं चलायेगा।)।।७७०-७१।। लेकिन इन्द्रका डर एक याज्ञवल्क्य को नहीं घेर पायेगा! महद्ब्रह्मसे आत्मा का अभेद जिन्हे साक्षाद् भासता है, ऐसे वे वाजसनेय नामक ब्राह्मण हैं, जो न केवल सूर्य के शिष्य हैं वरन् उनका स्वयं का तेज भी सूर्य की तरह उद्दीप्त है। उन्हीं के प्रतापसे ये यजुः कहलाने वाले मंत्र शुक्ल वर्ण वाले हो गये हैं और सारी पृथ्वी पर एक याज्ञवल्क्यके ही नाम से इनकी प्रसिद्धि रहेगी, काण्वादि पन्द्रहों शाखाओं वाले ब्राह्मण वाजसनेयी कहलायेंगे। (एवं च स्पष्ट है कि वेदाध्येताओं में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का नाम उसकी शाखा या वेद से जुड़ जाता है, ऐसा नहीं कि उन व्यक्तियों ने शाखा या वेद का प्रणयन किया हो।)।।७७२-७३।।

मुनि दधीचि यह कह ही रहे थे कि देवराज ने सौ पोरों (गाँठों) वाले अपने प्रसिद्ध वज्र के प्रहार से उनका सिर काटकर जमीन पर लुढका दिया!।।७७४।।

१. यद्वा वाजस्यान्नस्य सनिर्दानं तन्निमित्तककीर्तिमान्।

दधीचोक्तं ज्ञानम्

ब्रह्मविद्यां च गुरुणा दत्तामेतां वदामि वाम्। अश्विनौ स्मृतिसिद्ध्यार्थं युवयोर्हि गुरुद्रुहोः।।७७६।।

जगत्कारणभूतोऽयमात्मा सर्वशरीरिणाम्। महाराजोपमश्चक्रे शरीरं हि पुरोपमम्।।७७७।।

चतुष्पदः पुरश्चक्रे द्विपदोऽपि महेश्वरः। त्रिपदश्चैकचरणा ह्यपदा अपि काश्चन।।७७८।।

स्थूलास्वासु यथा पक्षी सूक्ष्मात् सूक्ष्मशरीरभाक्। एवमेवायमात्माऽपि प्रवेशमकरोद् विभुः।।७७९।।

एवं प्रवर्ग्यकाण्डोक्तकथानुवादकयोर्मन्त्रयोरर्थो दर्शितः। अथ सकलमधुकाण्डतात्पर्यार्थप्रदर्शकं 'पुरश्चक्रे' (बृ.२.५.१८) इत्यादिमृग्ब्राह्मणसमुदायरूपं ग्रन्थं व्याकुर्वन् 'असंवृतम्' (बृ.२.५.१८) इत्यन्तस्य तावदर्थमाह–ब्रह्मविद्याम् इति अष्टभिः। हे अश्विनौ या गुरुणा वां युवाभ्यां ब्रह्मविद्या दत्ता यत्कामनया युवाभ्यां गुरुद्रोहः कृतः तां युवयोः स्मृत्यर्थं सङ्क्षेपेण वदामि इति।।७७६।। जगदिति। जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानभूतः परमात्मा महाराजवद् महापुरसमं समष्टिशरीरं तावत् चक्रे कृतवानिति।।७७७।। ततो व्यष्टिशरीररूपाणि स्वल्पपुराणि कृतवानित्याह–चतुष्पद इति। चत्वारः पादा यासां तास्तथा पुरः शरीररूपपुराणि। एवमग्रेऽपि।।७७८।। स्थूलास्विति। आसु पूर्षु यथा पक्षी नीडे प्रविशन् सङ्कुचद्रूपो भूत्वा प्रविशति, तथा परिच्छेदाभिमानलक्षणं सूक्ष्मात्

अश्विनिकुमारों ने जैसे ही देखा कि गुरु जी की गर्दन पर लगाया अश्वशिर कट कर गिर गया है वैसे ही उन्होंने घोड़े के शरीर परसे गुरु जी का अपना सिर लाकर पूर्ववत् जोड़ दिया और घोड़े पर उसका सिर लगा दिया। (सारी कथासे शिक्षा लेनी चाहिये कि यह विद्या अधिकारप्राप्ति पर ही मिलती है और इसके लिये घोर परिश्रम करना ज़रूरी है क्योंकि दुर्लभ है। सभी करणों का–इन्द्रियों का–मालिक इन्द्र हमारा मन है जो इस विद्या पर प्रतिबंध लगाये हुए है। गुरु का वैराग्योपदेश सुनकर हम उद्विग्न होते हैं और उस साधन को बिना अपनाये विद्या लेना चाहते हैं। यही गुरु को भय है कि शिष्य विरक्त नहीं हुआ तो सिर ही कट गया क्योंकि आगे उपदेश निरर्थक रहेगा। घोड़ा इन्द्रियों का प्रतीक है। घोड़े के सिर से प्रवचन का तात्पर्य है इन्द्रियनिग्रह से प्रारंभ करना : गुरु भी उसे पहले विहित करे और शिष्य भी उसके लिये पूरा परिश्रम करे। फिर यदि मन वार करेगा तो भी व्यर्थप्राय होगा और दम उपरति आदि क्रम सुचारु रूपसे चल पड़ेगा। यद्यपि दधीचि का तो सिर ही कटा था तथापि हमें वह कथा उक्त प्रयोजन से सुनायी गयी है।)।।७७५।।

समग्र मधुकाण्ड के तात्पर्य का प्रदर्शन श्रुति ने 'पुरः चक्रे' आदि वाक्यों से किया है। अब उसका व्याख्यान पुराण में कर रहे हैं।

रहस्य सुनाने वाले ऋषि बोले–हे अश्विनिकुमारो ! जिसे चाहकर तुमने गुरु को इतनी पीडा पहुँचायी और जो ब्रह्मविद्या गुरु ने तुम्हें प्रदान की वह भी संक्षेप में सुना देता हूँ ताकि तुम्हें सारी घटना हू-ब-हू याद आ जाये।।७७६।।

जैसे कोई महाराज किसी महानगर का निर्माण करता है, ऐसे ही विश्वहेतु इस परमात्मा ने सब शरीरधारियों का–अर्थात् समष्टिभूत–शरीर बनाया। फिर व्यष्टि शरीर बनाये : पहले चौपाये देह तैयार किये फिर दो-तीन-एक पैर वाले बनाये एवं कुछ ऐसे बनाये जिनके पैर नहीं होते। जैसे पक्षी घोसले में घुसते हुए अपना आयाम सिकोड़ लेता है वैसे ही सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म परिच्छेदाभिमानात्मक रूप धर कर सब शरीरों में जगत्कारण परमात्मा ने प्रवेश किया।।७७७-७७९।। पुर-शब्दसे यहाँ देह कहे गये हैं अतः सभी पुरों में (देहों में) शयन अर्थात् वास करने से यह आत्मा पुरुष कहलाता है। किं च पुर को व्याप्त कर उसे पूरा करने वाला है, इसीलिये परमेश्वर को पुरुष कहते हैं।

पुरि यस्मादयं शेत एतांश्चैष प्रपूरयन्। स्वव्याप्त्या तत एवायं पुरुषः पर ईरितः।।७८०।।
अनेन पुरुषेणैतत् सर्वमेव समावृतम्। अन्तर्बहिश्च नभसा यद्वद्विश्वं समावृतम्।।७८१।।
ओतप्रोतो यथा तन्तौ पटस्तिष्ठति सर्वदा। एवमेव जगत्सर्वमात्मन्येव प्रतिष्ठितम्।।७८२।।
स एवायं पुरा योऽत्र प्रवेशमकरोद् हृदि। युवयोर्मम वान्यस्य पयो यद्वद् घटेष्विह।।७८३।।

'रूपं रूपम्' आदेरर्थः

एकरूपं पयः स्थूले घटे स्थूलं प्रकीर्तितम्। सूक्ष्मे सूक्ष्मं च सन्तप्ते सन्तप्तं तत्र कीर्त्यते।।७८४।।
शीतले शीतलं यद्वद्रजोयुक्ते रजस्वलम्। सुगन्धे च सुगन्धं तद् दुर्गन्धं च परत्र हि।।७८५।।

सूक्ष्मम् अतिसूक्ष्मं रूपं भजन् सन् प्रवेशमकरोद् इति।।७७९।। पुरुषपदार्थं द्विधाऽऽह—पुरीति। यस्मादयम् आत्मा पुरि इति जातावेकवचनं[1]—सर्वासु पूर्षु शेते वसति ततः पुरुष ईरितः। पुरुशब्दोपपदाद् वसधातोः औणादिके कप्रत्यये[2] सम्प्रसारणे च साधुः। अथवा एतां पुरं स्वव्याप्त्या पूरयेदिति पुरुषः, पृधातोः औणादिकः कुषन्प्रत्ययः इति।।७८०।। एतं पुरुषमुपाधयः परिच्छेत्तुं नालमित्याह—अनेनेति। अनेन पुरुषेण अन्तर्बहिः अवस्थितेन एतत्सर्वं विश्वमाकाशेनेव व्याप्तमिति।।७८१।। आन्तरत्वेन व्याप्तौ दृष्टान्तमाह—ओतेति। तन्तौ इत्यपि जातावेकत्वम्[3]। यथा सन्ततैः तिर्यग्भूतैश्च तन्तुभिः व्याप्त ओतःप्रोतश्च पटः तन्तुषु आन्तरेषु स्थितः तथा विवर्तोपादान आत्मनि विश्वं स्थितमिति।।७८२।। 'स वा अयम्' (२.५.१८बृ.) इत्यंशस्यार्थं दर्शयति—स एवेति। योऽत्र पूर्षु प्रवेशकृच्छुद्धः स एव युवयोर्मम वान्यस्य वा सर्वेषां हृद्देशे विशेषेण भासमानोऽस्ति। मध्ये भासमानस्य प्रवेष्टुरभेदे दृष्टान्तः—घटेषु प्रविश्य अवस्थितं जलमिति।।७८३।।

अथ 'रूपं रूपम्' इत्यादेः 'अनुशासनम्' इत्यन्तस्य अर्थम् 'एवं स युवयोः' इत्यतः (४.८३१) पूर्वतनेन ग्रन्थेन उपबृंहयन्नुक्तं दृष्टान्तमुपाधिसारूप्यपरतया तावन्निरूपयति—एकरूपमिति। यथा स्वत एकरूपम् अपि जलं स्थूलत्वादिमतो घटान् अनुरुध्य तथा तथा कीर्त्यते—इति त्रयाणां सम्बन्धः। स्थूलं विशालम्। तद्विपरीतं सूक्ष्मम्।

विश्व जैसे आकाश से घिरा है ऐसे ही आकाश समेत यह सारा प्रपंच भीतर-बाहर से इस पुरुष द्वारा घिरा है। ताने-बाने रूपमें स्थित तन्तु से व्याप्त कपड़ा जैसे धागे में ओत-प्रोत होता है वैसे ही सारा जगत् हमेशा विवर्तोपादानभूत आत्मामें स्थित है। (अभिप्राय है कि आत्मा विश्वका अधिष्ठान है। जिन धागों में जो कपड़ा स्थित माना जाता है उन्हीं में वह होता नहीं जैसे अन्य कपड़े उन धागों में नहीं हैं इत्यादि चित्सुखाचार्य की रीति से यह समझना चाहिये। एक परमात्मा ही है, द्वैत प्रपंच सिर्फ अनुभव हो रहा है, वास्तवमें है नहीं, जैसे धागे ही हैं; कपड़ा नामक कोई पदार्थ नहीं है, यह तात्पर्य है।)। जिस शुद्ध आत्माने शरीरों में पहले प्रवेश किया था वही तुम्हारे, मेरे और अन्य भी सभीके हृदयों में खासकर भासता है जैसे घड़ों में घुस कर जल भासता है।।७८०-७८३।।

स्वतः जल एकरूप है। वह बड़े घड़े में पड़े तो 'अधिक' और छोटे में हो तो 'कम' कहा जाता है। घड़ा तपा दें उसमें पड़ा पानी भी गर्म कहा जाता है और घड़ा ठंडा हो तो उसका पानी भी ठण्डा कहलाता है। घड़े में धूल होने पर उसका पानी भी धूलयुक्त कहा जायेगा। सुगंध या दुर्गन्ध वाले घड़े में पड़े पानी को भी अच्छी या बुरी गंध वाला कहा जाता है। यदि घड़े में हवा होगी (हवामें बहाव होगा) तो उसका पानी सकंप होगा और बिना हवा वाले का जल शांत होगा। सूर्यप्रकाश से युक्त घट का जल भास्वर दीखेगा और अँधियारे घड़े में काला।।७८४-७८६।। इसी प्रकार

१. श्रुतौ बहुपुरविवक्षायामपि मूलकारस्यैकजीवपक्षआदरातिशयाद्वाऽत्र सतात्पर्यमेकत्वमिति च केचित्।
२. 'स्रुवः कः' (२.६२) इति विहितः कः बाहुलकतया बोध्यः। 'पुरः कुषन्' (४.७५) इति च पुरत्यग्रं गच्छतीति प्रसिद्धा व्युत्पत्तिः।
३. दार्ष्टान्ते परात्मन् ऐक्याद् दृष्टान्तेप्यैक्यं विवक्षितमिति वृद्धाः।

वायुयुक्ते चलं तद्वद् निश्चलं वायुवर्जिते। सूर्ययुक्ते प्रभाभृत् तत्तामसे तामसं पुनः।।७८६।।

एवमात्माऽपि यादृक् स्याच्छरीरं तादृशो भवेत्। स्थूलः सूक्ष्मो जडो धीमान् श्रीमान् निर्धन एव च। उत्कृष्टश्च निकृष्टश्च सुखी दुःखी तथैव च।।७८७।।

इत्यादीन् बहुधा धर्मानुपाधेरेव मन्यते। आत्मा ह्येष विमूढः सन् कामीव च वधूगुणान्।।७८८।।

प्रिया चिन्तासमाविष्टा भवेच्चेत्कामिनोऽपि हि। चिन्ताविष्टचलच्चित्तश्चलतीव स कामुकः।।७८९।।

एवं बुद्धिशरीरादिधर्मिधर्मविवर्जितः। अनादिमायया मूढ आत्मा स्वात्मनि मन्यते।।७९०।।

'सर्वाणि रूपाणि' इत्यस्यार्थः

भौतिकानि स भूतानि सृष्ट्वा तत्रैकतां गतः। सृष्ट्वा शब्दप्रपञ्चं च नामानि विदधे प्रभुः।।७९१।

वाचा वचःप्रेरकया धिया चैक्यं समाप्य[1] सः। विद्यते त्वमहं तद्वदन्योप्येष महेश्वरः।।७९२।।

तत्र घटे वह्न्यादिना सन्तप्ते जलमपि तथा।।७८४।। शीतल इति। स्पष्टम्।।७८५।। वाय्विति। वायुना चालकेन युक्ते घटे तद् जलं चलं भवति। तद्विपरीते घटे निश्चलम् इति। सूर्यप्रकाशयुक्ते घटे तद् जलं प्रभाभृद् भास्वरमिति। तामसे तमसान्धकारेण व्याप्ते घटे तज्जलं तथेति।।७८६।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। एवमात्माऽपि स्थूलत्वादिभेदैर्यादृशं यादृशं शरीरं तत्र तादृशो भवति। एवंभाव एव चास्य प्रतिरूपपदेन श्रुतावुक्त इति भावः। उपाधिसारूप्यमभिनयति—स्थूल इत्यादिना।।७८७।। इत्यादीनिति। इत्यादीनुपाधेरेव धर्मान् स्वधर्मतया आत्मा मन्यते यतो विमूढः। अत्रैवापरो दृष्टान्तः—कामिन्या धर्मान् हर्षशोकादीन् आत्मनि मन्यमानः कामीति।।७८८।। कामिदृष्टान्तं विशदयति—प्रियेति। कामिनः प्रिया चेद् यदि चिन्तया समाविष्टा व्याप्ता भवति तदा स कामी चिन्ताविष्टं चलच्चित्तं यस्यैतादृशः सन् चलतीव इति व्यवह्रियत इति।।७८९।। दार्ष्टान्तिके—एवमिति। एवं मायामूढ आत्मा बुद्ध्यादिधर्मान् आत्मनि मन्यते। कीदृशः ? बुद्धिशरीरादयो धर्मिणो येषां तादृशैः धर्मैः विवर्जितः।।७९०।।

उक्तार्थे समन्वितायाः 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य' (महावाक्योप. ३) इत्यादिकायाः श्रुतेः अर्थं संगृह्णाति—भौतिकानीति द्वाभ्याम्। भौतिकानि शरीरादीनि तत्कारणानि भूतानि च श्रुतौ रूपपदेनोक्तानि सृष्ट्वा सञ्चितानि कृत्त्वा तत्र सृष्टेषु एकतां तादात्म्याभिमानं गतः सन् शब्दप्रपञ्चं च सृष्ट्वा प्रकटीकृत्य सृष्टानां नामानि विदधे कृतवानिति।।७९१।। वाचेति। वाचा इतीन्द्रियान्तराणामप्युपलक्षणम्। तथा च वागादीन्द्रियैः तथा वचसा वागिन्द्रियादेः प्रेरकया बुद्ध्या चैक्यं प्राप्य वदनादिव्यवहारं कुर्वंस्त्वद्रूपो मद्रूपोऽन्यरूपश्च महेश्वरो विद्यत इति।।७९२।।

जैसा शरीर होगा आत्मा भी वैसा ही कहा-समझा जाता है। विविध उपाधियों के धर्मों के अनुरोध से आत्मा निज में नाना प्रकार के धर्म मान बैठता है और मोटा, पतला, मूर्ख, पण्डित, धनी, गरीब, ऊँचा, नीचा, सुखी, दुःखी आदि बनता रहता है। जैसे कामिनीके हर्ष-शोकादि कामीको अपने लगते हैं, ऐसे ही उपाधिधर्म आत्मा को अपने लगते हैं। कामीकी प्रिया को चिन्ता लग जाये तो कामी के चित्त में भी चिन्ता होने लगती है और वह भी मानो विचलित हो जाता है। ऐसे ही जिन धर्मों के धर्मी तो बुद्धि-शरीरादि हैं उन्हें आत्मा स्वयं में मान लेता है क्योंकि अनादि माया से मोहग्रस्त है।।७८७-७९०।।

---

१. सम्यगाप्येति योज्यम्।

'प्रतिचक्षणाय' पदार्थः

यः स एव स्वरूपेण भेदगन्धविवर्जितः। ऐन्द्रस्य स्वस्वरूपस्य दर्शनायासृजद् भिदाम्। ।७६३।।

'इन्द्रो मायाभिः' इत्यस्यार्थः

सृष्ट्वा जगत्समग्रं स इदमात्मदृशा पुमान्। दृष्टवान् येन तेनाभूदिन्द्रनामा परः पुमान्। ।७६४।।

मायया बहुरूपोऽभूदात्मनो बहुरूपया। मायावी चैकरूपः सन् हस्तिव्याघ्रादिरूपभाक्। ।७६५।।

नान्यस्यान्यभावः

अन्यदन्यात्मतां नेतुं समर्थोऽपि न शक्नुयात्।[1] किन्तु तस्मिन् विशेषं हि कुरुते धीधनो नरः ।७६६

हेमीकर्तुं न शक्नोति सूत्रं कारुशतं तदा। काष्ठमेकं मृदं तद्वत्कुम्भकारसहस्रकम्। ।७६७।।

एवमध्यारोपितस्य अपवादार्थमयमस्य नानाभावः शास्त्राचार्यादिभेदद्वारा बुद्ध्यभिव्यक्तरूपेण स्वरूपस्य व्याख्यानाय श्रुतौ प्रतिचक्षणपदोक्ताय बोध्य इत्याह—यः स एवेति। स[2] उपाधितादात्म्यापन्नो वर्णितः स एव स्वरूपेण भेदलेशैरपि वर्जितः सन् यद् भिदामसृजत् तत् स्वस्वरूपस्य दर्शनाय एवेति। कीदृशस्य स्वरूपस्य ? ऐन्द्रस्य इन्द्रस्य सर्वात्मदर्शिनः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनः[3]। ।७६३।।

इन्द्रपदार्थमैतरेयवर्णितं स्मारयति—सृष्ट्वेति। समग्रं जगत् सृष्ट्वा इदं विश्वम् आत्मदृशा आत्मदृष्ट्या आत्मत्वेन यतो दृष्टवान् तेन इन्द्रसञ्ज्ञो जात इति। ।७६४।। नानाभावोपाधीनां बाधयोग्यतां वक्तुं मायामयत्वमाह—माययेति। एकरूप आत्मा आत्मनो मायया बहुरूपया बहुरूपोऽभूद् यथा लोक एकरूपो मायावी ऐन्द्रजालिको गजादिबहुरूपो भवतीति। ।७६५।।

भेदस्य मायामयत्वं द्रढयितुं प्रकारान्तरेण अनुपपत्तिमाह—अन्यदिति दशभिः। समर्थोऽपि नरः अन्यद् अन्यस्वभावकं वस्तु अन्यस्वभावतां नेतुं न शक्नुयात् किन्तु धीमान् नरः तस्यैव धर्मिणः कनकादेः विशेषं कुण्डलादिरूपं कुरुत आविर्भावं नयतीत्यर्थः। ।७६६।। अन्यस्यान्यात्मताया अकरणे दृष्टान्तद्वयमाह—हेमीति। यथा कारूणां शिल्पिनां शतमपि तन्तुमयसूत्रस्य सुवर्णभावं कर्तुं न शक्नोति, तथा कुम्भकाराणां सहस्रं काष्ठस्य मृद्भावं कर्तुं न शक्नोतीति। ।७६७।। ननु यद्यन्यद् वस्तु अन्यद् न भवति कथं तर्हि धातुविद्याविदः ताम्रादिकं

महाभूतों को और उनसे रचे शरीरों को बनाकर उस प्रभुने उनसे अभेदाध्यास कर लिया तथा शब्दप्रपंच प्रकट कर उत्पादित वस्तुओं का नामकरण कर दिया। वागादि इन्द्रियों से और उनकी प्रेरक बुद्धि से तादात्म्य पाया हुआ वह महेश्वर ही वदन आदि व्यवहार करते हुए तुम्हारे, मेरे व अन्य सभी रूपों में विद्यमान है। ।७६१-७६२।।

जिसे उपाधि से तादात्म्य पाया हुआ बताया वही अपने निज स्वरूप में किंचित् भी भेद से हमेशा रहित है। अपने ऐन्द्र स्वरूपके दर्शनार्थ ही उसने भेद उत्पन्न किया है। (ऐन्द्र अर्थात् सर्वात्मा का दर्शन करते हुए परमेश्वर से सम्बद्ध। अभिन्न व्यापक स्वरूप सनातन है पर अज्ञानसे आवृत है, जिसे उघाड़ने के लिये ही भेद—द्वैत—बनाया गया है।)। ।७६३।।

सारा जगत् उत्पन्न कर क्योंकि उसने इस विश्वको आत्मरूप से देखा—विश्वको अपने से भिन्न सत्ता-स्फूर्ति वाला नहीं समझा—इसलिये परम पुरुष 'इन्द्र' इस नाम वाला हो गया। एकरूप आत्मा अपनी नानारूपों वाली माया से बहुत रूपों वाला हो गया जैसे ऐन्द्रजालिक हाथी, बाघ आदि अनेक रूप धर लेता है। ।७६४-६५।।

चाहे जितनी सामर्थ्य वाला पुरुष हो, वह एक स्वभाव वाली वस्तु को अन्य स्वभाव वाला नहीं बना सकता। मनुष्य इतना ही कर सकता है कि धर्मिभूत वस्तु जैसे स्वर्ण में किसी विशेषको जैसे कुण्डल आदि को प्रकट कर दे। सैकड़ों शिल्पी भी सूतके धागे को सोना नहीं बना सकते और न हजारों बढई मिलकर लकड़ी को मिट्टी बना सकते हैं। ।७६६-६७।।

---

१. नान्यदन्यत्प्रकरणे सहस्रिकायामत्र विस्तरो द्रष्टव्यः। २. य इति पाठ उचितः। ३. वृत्तिं विनाऽविद्याघातासम्भवादिति द्रष्टव्यम्।

धातुवादेन ये धातौ कारयन्त्याशु धातुताम्। कारयन्ति न तेऽप्येतामसतीं तत्र कर्हिचित्।।७९८।।

किन्तु तस्यैव पूर्वस्य रूपादेः सङ्क्षयात् परम्। रूपादि जायते तत्र तेषामन्यदिति भ्रमः।।७९९।।

ततो यद्यादृशं रूपं तादृशं तत्र चान्यथा। कालान्तरेऽपि भवति विशेषं किन्तु गच्छति।।८००।।

विकारे साङ्ख्यमतनिरासः

विशेषो वस्तुनो नाऽयं स्वभावः क्वापि कस्यचित्। अस्य तस्य स्वभावत्वे तदपाये न तद् भवेत्।।८०१।।

स्वर्णादिभावं नयन्तः प्रसिद्धाः ?—इत्यत आह—धात्विति। धातुवादेन **धातुमारणादिप्रतिपादकशास्त्रानुसारेण** ये धातौ **ताम्रादौ** आशु **शीघ्रं** धातुतां **धात्वन्तररूपतां** कुर्वन्ति तेऽप्येतां **धात्वन्तरतां शशशृङ्गवद्** असतीं न कारयन्ति, **प्राकृतेर्थे णिच्—न कुर्वन्तीत्यर्थः। असदुत्पत्तौ विशेषाभावाच्छशशृङ्गादेरप्युत्पत्त्यापत्तिः, 'नासतो विद्यते भावः' (गी. २.१६) इत्यादिस्मृतिविरोधश्च स्यादिति भावः।।७९८।।**

कथं तर्हि धातुवादिनोऽसदुत्पत्तिं मन्यन्त इति चेद् ? भ्रमादित्याह—किन्त्विति। किन्तु तस्यैव **ताम्रादेर्यत् पूर्वरूपं रक्तिमादिकं** तस्य सङ्क्षयात् **तिरोभावात्** परं **पूर्वरूपभिन्नं पीतिमादिकं** यद् जायते **प्रादुर्भवति,** तत्र **धर्म्यभेदेऽपि धर्मान्तरोत्पत्तौ सत्यां** तेषां **धातुवादिनाम्** 'अन्यद् इदम्' इत्याकारको भ्रमो भवतीति।।७९९।। **तस्माद्धर्मी मृदादिरूपो न कदाचिदन्यथा भवति, धर्मैः पिण्डघटादिभिः आगमापायिभिः तादात्म्यमात्रेणान्यथाभावव्यवहारं भजत इत्याह**—तत इति। तत **उक्तयुक्तेः।** यद् **मृत्सुवर्णादिरूपं** वस्तुस्वभावो **यादृशम्** अस्ति तादृशम् **एव सदाऽस्ति,** कालान्तरेऽपि अन्यथा न भवति। **तर्हि दण्डादिकारकवैयर्थ्यम् ? अत आह**—विशेषमिति। किन्तु तद् **वस्तुरूपं** विशेषं **पिण्डादिधर्मात्मकं कारकैः** गच्छतीति **न कारकवैयर्थ्यं न वा व्यवहारानुपपत्तिरिति भावः।।८००।।**

उक्तं विशेषं साङ्ख्यादय उत्पत्तेः पूर्वमपि सन्तं तथा वस्तुस्वभावेन वास्तवभेदाभेदशालिनं च मन्यन्ते; तथा न मन्तव्यमिति सूचयन् वक्ष्यमाणमायामयत्वोपपत्तये तस्य वस्तुस्वभावाद् बहिर्भावमाह—विशेष इति चतुर्भिः।

जो लोग धातुरसायन विद्या के अनुसार एक धातु को शीघ्र ही अन्य धातु बना लेते हैं वह भी ऐसा नहीं कि जो जहाँ मौजूद नहीं उसे वहाँ पैदा कर लेते हों किन्तु उसी धातु का पुराना रूप छिप जाता है और नया रूप प्रकट हो जाता है, जिससे भ्रम होता है कि धातु ही बदल गया; बदला रूप है, न कि रूप वाला धातु। जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है वह हमेशा वैसा ही रहता है, केवल उसके आकारादि विशेषों में परिवर्तन किया जा सकता है। (अविद्यमान जैसे नरशृंग को विद्यमान नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार एक वस्तु अन्य वस्तु नहीं बना करती यह समझाया। यदि यह भी मानें कि संसार के द्रव्य सभी द्रव्यों में प्रक्रियाविशेष से बदले जा सकते हैं—जैसे लकड़ी सड़ा कर मिट्टी बनायी जा सकती है या आधुनिक रसायन से पदार्थान्तरण किया जा सकता है—तो भी उनका स्वरूप जो दृश्यता अर्थात् सत्ता-स्फूर्ति में आत्मापेक्षा, उसे नहीं ही बदल सकते, यह समझ लेना चाहिये। अनुवृत्त को धर्मी या स्वरूप एवं व्यावृत्त को धर्म या विशेष मानकर कहा है कि धर्मी वही रहेगा चाहे धर्म बदल जायें। मूल अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि भेद मायिक है : धर्मिभेद के बिना जैसे धर्मभेदरूप उपाधि से धर्मिभेद समझा जाता है, ऐसे ही सारा भेद औपाधिक है, वास्तविक नहीं।)।।७९८-८००।।

जिसे 'विशेष' कहा, जैसे मिट्टी के घड़ा आदि आकार, उसे भी सांख्यवादी सच्चा मानते हैं और उसका धर्मी से, जैसे मिट्टीसे, वास्तविक भेदाभेद मानते हैं। यह मान्यता ग़लत है। धर्मी से धर्म की सचाई घटकर ही होती है और

प्रकाशत्वस्य यद्वत्स्यादपाये तेजसः सदा। अपायस्तद्वदेव स्यादपायो वस्तुनः सदा।।८०२।।

अपाये हि विशेषस्य नैवमेषोऽत्र दृश्यते। घटीकृता यतः पृथ्वी मूर्तत्वं न जहाति सा।।८०३।।

ततो विशेषो विज्ञेय आगन्ता सर्ववस्तुषु। आगतो न स्वभावः स्यात् कोऽपि कस्यापि वस्तुनः।
हस्तित्वं न स्वभावः स्याद् यथा मायाविनोऽधुना।।८०४।।

विशेषो वस्तुसंश्चेत्स्यान्नापेयात्स्वस्वभाववत्। अपैति च ततोऽसन् स्यात् संश्चैवं यत्प्रतीयते।।८०५।।

इन्द्रियाणां हि संयोगे नरि शृङ्गं न दृश्यते। न तथाऽयं ततो माया तस्य हेतुः प्रकल्पिता।।८०६।।

उक्तो विशेषः वस्तुनः स्वभावो न भवति इति प्रतिज्ञा। तत्र हेतुं व्यापकत्वाभावमाह[1]—अस्येति। अस्य विशेषस्य तस्य वस्तुनः स्वभावत्वे सति तद् वस्तु तदपाये विशेषापाये न भवेद्, न दृश्येतेति विषयेण विषयिणो लक्षणाद्, दृश्यते तु घटभावं विनापि पृथिवी, इति अव्यापको घटो न पृथिवीस्वभाव इति यावत्।।८०१।। एतत् स्फुटयति—प्रकाशत्वस्येति। यद्वत् तेजःस्वभावस्य प्रकाशस्य अपायेऽपगमे सति तेजसः अपि अपायः दृश्यते[2] तद्वद् विशेषस्य वस्तुस्वभावत्वे विशेषापाये वस्तुनोऽपायः स्याद् इति।।८०२।। न चैवं दृश्यत इति सोदाहरणमाह—अपाये हीति। हि यतः विशेषस्य अपाये सति एष वस्तुनोऽपायः अत्र लोकेऽपि न दृश्यते यतः घनसंज्ञकमूर्तत्वस्वभावपृथ्वी मृत्पिण्डभावमपनीय घटीकृता घटभावं नीता सती पिण्डाख्यविशेषापगमेऽपि स्वस्वभावं मूर्तत्वं न जहाति न त्यजति इति प्रसिद्धम्। पृथिव्या मूर्तस्वभावता च 'मूर्तिर्भूमिः स्नेहो जलम्' इत्यादिना योगभाष्ये उक्ता।।८०३।। एवं च साङ्ख्याभिमतं वस्तुसत्त्वे विशेषसत्त्वं निरस्तमित्याह—तत इति। ततो वस्तुसत्त्वेप्यदर्शनाद् विशेष आगन्ता आगमनशीलो, निमित्ततन्त्र इति यावत्, सर्वत्र बोध्यः। आगन्तुकश्च पूर्वसिद्धस्य वस्तुनः कथं स्वभावः स्यात् ? न ह्यागन्तुकं व्याघ्रत्वं मायाविनः स्वभावः स्वरूपमिति।।८०४।। एवं विशेषस्य स्वभावाद् बहिर्भावं प्रसाध्य तस्य मायामयत्वं स्फुटयन् सदसद्भ्यां वैलक्षण्यमाह—विशेष इति। स विशेषो यदि वस्तुवत् सन् स्याद्, तर्हि वस्तुस्वभाववद् नापेयाद् न बाध्येत। परन्तु स विशेषः अपैति बाध्यत एव। ततोऽसन् सद्विलक्षणः स्यात्। तथा सन् असद्विलक्षणः च स्याद् यत् यतः एवं सद्रूपेण प्रतीयत इति।।८०५।। यो हि असन् भवति स न प्रतीतिविषयो भवति यथा नरशृङ्गमित्याह—इन्द्रियाणामिति। असन्नृशृङ्गमिन्द्रियसंयोगेन न दृश्यत इति प्रसिद्धम्। अयं विशेषः तु तथा नृशृङ्गवद् भानाविषयो न भवति। ततः सदसद्विलक्षणत्वेन मिथ्यात्वात् तस्य विशेषस्य हेतुतया माया कल्पितेति।।८०६।।

उनका आपसी संबंध अवास्तविक ही होता है। संसारमें सचाई तारतम्य वाली अर्थात् सापेक्ष मिलती है जबकि सारे संसार का धर्मी परमात्मा निरपेक्ष सच है, यह बात अलग है। इस विषय को स्पष्ट करते हैं—विशेष, अर्थात् बदले जा सकने वाले धर्म, वस्तु के स्वभावरूप नहीं होते क्योंकि यदि ऐसा हो तो विशेष हट जाने पर वस्तु भी हटनी चाहिये, जो होता नहीं। (काला घड़ा पक कर लाल हो जाता है अतः 'काला' यह विशेष हट जाता है पर घड़ा वही बना रहता है। घड़े-सिकोरे-गमले आदि रूप धारण करती चली जाने वाली मिट्टी वही रहती है।)।।८०१।। तेजोद्रव्य का स्वभाव है रोशनी, अतः देखा जाता है कि रोशनी हट जाने पर तेज भी नहीं दीखता। ऐसे ही यदि विशेष वस्तुका स्वभाव होता तो विशेष हटने पर वस्तु हट जानी चाहिये। लेकिन ऐसा होता नहीं कि विशेष न रहे तो वस्तु भी न रह जाये क्योंकि पिण्डात्मक विशेष हटकर घटात्मक विशेष आ जाये तो भी वह मिट्टी अपनी स्वभावभूत मूर्तता (घनता) नहीं छोड़ती।

---

१. स्वभावाभावो वस्त्वभावव्यापक इति स्वभावाभावे वस्त्वभावः स्यादेव। घटादिविशेषाभावेपि मृदभावादर्शनान्न घटादिर्मृदः स्वभावइत्याशयः। विशेषो न वस्तुस्वभावो वस्तुनस्तद्व्यभिचारित्वाद् वस्तु यद्व्यभिचरति तत्र वस्तुस्वभावो यथा जलं स्वव्यभिचारिघटस्य न स्वभावइति भावः। २. प्रकाशाभावे तेजसो न चाक्षुषप्रत्यक्षम्।

मायानिरूपणम्

अत्यन्तासत एवास्य प्रतीतिर्या न संभवेत्। इन्द्रियैस्तन्निमित्तस्य संज्ञा मायेति कीर्तिता।।८०७।।

असिद्धे सर्वथा भेदे नरशृङ्गविशेषयोः।[1] कल्प्यते माययैवैष मायाप्येषाऽसती पुनः।।८०८।।

गुहायां व्याघ्रवद् नात्र माया नामास्ति काचन। शशशृङ्गसमाप्यैषा कल्पिता माययैव हि।।८०९।।

विशेषनिमित्तभूतां मायां निरूपयति—अत्यन्तासत इति दशभिः। अस्य विशेषस्य वस्तुतः अत्यन्तासत एव या प्रतीतिः दृष्टिः असम्भवन्ती अनुपपत्तिशालिनी, तन्निमित्तस्य असदर्थप्रतीतेर्यन्निमित्तस्य[2] मायेति संज्ञा उक्ता। सनिमित्तस्य इति पाठे—सनिमित्ततया प्रसिद्धस्य वस्तुतोऽत्यन्ताऽसतः शुक्तिरूप्यादेर्यया प्रतीतिः सैव मायेति कार्यद्वारेण मायालक्षणं बोध्यमिति।।८०७।। ननु अत्यन्तासन्नपि विशेषो भावविषयो भवति, न तु नरशृङ्गमित्यत्र किं नियामकमिति चेद् ? माययैवेत्याह—असिद्ध इति। नरशृङ्गस्य विशेषस्य च भेदे सर्वथाऽसिद्धेऽनुपपन्नेऽपि सति एष नृशृङ्गविशेषयोर्भेदः माययैव अघटितघटनापटीयस्या कल्प्यत उपपत्तिमिव नीयते। न केवलं विशेषः असतस्तद्भेदश्च एतद् द्वयमेव मायया कल्प्यते, किन्तु एषा मायापि माययैव कल्प्यतेऽसत्त्वाऽविशेषादिति। तदुक्तम्[3] 'अविद्यायामिहासित्वा अविद्यास्तीति कल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं नासीदस्ति भविष्यति' इति।।८०८।। एतत् स्फुटयति—गुहायामिति। गुहायां व्याघ्रवत् प्रमाणैः अनुपलभ्यत्वेन असती माया माययैव कल्पिता इति।।८०९।।

(अथवा मूर्तता अर्थात् परिच्छिन्न होने से सक्रियता।)।।८०२-३।। इसलिये समझ लेना चाहिये कि सभी वस्तुओं में विशेष आगन्तुक—किसी निमित्तसे प्रयुक्त—होते हैं और किसी भी वस्तुका कोई आगमापायी (औपाधिक) धर्म स्वभाव नहीं हुआ करता जैसे अभी बताये दृष्टान्त के अनुसार, हाथी होना मायावी का स्वभाव नहीं हो सकता।।८०४।। विशेष यदि वस्तु की तरह सत्य हो तो वस्तुस्वभावकी तरह अपरिवर्तित—अबाध्य—रहना चाहिये जबकि वह परिवर्तित—बाधित—हो जाता है अतः उसे सत्य नहीं मान सकते। विशेष 'है'—यों प्रतीत होता है अतः उसे असत्य भी मानना ग़लत है, क्योंकि असत्य जैसे नरशृंग कभी 'है' ऐसा नहीं लगता, जैसे आदमी को आँखों से देखें तो उसका कोई सींग नहीं दीखता। विशेष यों कभी अनुभव में न आये ऐसा तो है नहीं, अनुभूयमान है। इसलिये सत् और असत् से विलक्षण होने के कारण विशेष के प्रति हेतु माया ही मानी जा सकती है।।८०५-६।।

अत्यन्त असत् इस विशेष की जो अयुक्तियुक्त प्रतीति है उसके निमित्त का ही नाम है माया। पदार्थों के विशेष किसी कारण से होने चाहिये, यह मानव मन में संस्थापित भावना है। योग्य विशेषों की इन्द्रियों से प्रतीति है लेकिन विचारसे वे असत् निश्चित होते हैं। इस परिस्थिति में उन विशेषों में जिसे नियामक माना जाता है वह माया है।।८०७।। यद्यपि नरशृंग और विशेष में कोई आपसी भेद नहीं सिद्ध होता तथापि मायावश इन्हें पृथक् मान लिया जाता है, असत् से उसे अलग मानते हैं जो कभी 'है' यों प्रतीत हो जाये। यह असत्य माया भी मायासे ही मानी जाती है ! (न केवल आकाशादि कार्य वरन् इसके कारणभूत अज्ञान की भी स्थिति वास्तविकता की दृष्टिसे है नहीं। अविद्या रहते ही अविद्या व तत्कार्य प्रतीत होते हैं अतः अविद्या भी आविद्यक कह दी जाती है। जैसे प्रकाश को चमकने के लिये प्रकाशांतर नहीं चाहिये ऐसे ही अविद्या स्वयं की भी कल्पना के लिये किसी अन्य अविद्या की अपेक्षा नहीं रखती।)।।८०८।। गुफामें बाघ की तरह (आत्मा में) माया नाम की कोई वस्तु नहीं है ! यह तो शशशृंगके समान ही है; माया द्वारा ही माया की कल्पना होती है। (कल्पनामात्र में द्वार होने से माया स्वकल्पना में द्वार कही जाती है, है अनादि कल्पनारूप।)।।८०९।।

---

१. मिथ्याऽसतोर्मिथो न भेदोस्मिन् पक्षे। अप्रतीयमानताप्रतीयमानतयोः भेदे सत्यपि तत्र विषयकृतत्वं नास्ति, कदाचित्तस्यापि प्रतीतेर्यदसद् मन्यते, नृशृंगस्याऽसत्त्वेन प्रसिद्धस्यापि शृङ्गिनामकर्षौ दर्शनात्। सद्विलक्षणत्वलक्षणमिथ्यात्वं तूभयानुगतमिति मन्तव्यम्। २. यन्निमित्तं तस्येत्यूह्यम्। ३. 'नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते।।' इति बृहदारण्यकसम्बन्धवार्तिकम् श्लो. १७५।

असतोऽस्य कुतो भेद इत्युक्ते याऽज्ञधीर्भवेत् । सैव मायेति विद्वद्भिः कीर्तिता दुर्घटा सदा । ।८१० । ।
न विद्यते स्वयं चैषा भवेद् भेदेऽपि कारणम् । आवृणोति च नो ज्ञानं माया या गमनात्ततः । ।८११ । ।
आनन्दात्मा तु सोऽसङ्गः स्वप्रकाशैकरूपभृत् । स्वसजातिविजात्युत्थभेदगन्धविवर्जितः । ।८१२ । ।
एवंस्वभावो जगतः कारणं जगदप्यभूत् । यतस्ततो बुद्धिमद्भिर्माया तत्राऽपि कल्पिता । ।८१३ । ।

मायासाधिकां प्रतीतिं निदर्शयति—असत इति । अस्य शुक्तिरूप्यात्मकविशेषस्य असतो नृशृङ्गादेः सकाशात् कुतो भेद इति पृष्टे सति याऽज्ञानां धीः 'न जानामी' त्यादिरूपा, सैव दुर्घटत्वात् स्वप्रकाशात्मनि माया माया-साधिकेत्यर्थः । ।८१० । । अस्या दुर्घटत्वं दर्शयन् मायापदस्य चतुर्विधाऽस्यां प्रवृत्तिरिति सूचयति—न विद्यत इति । या एषा स्वयं न विद्यतेऽतो माया; माशब्दस्य निषेधवाचित्वाद् या मा कालत्रयेऽपि नास्तीत्यर्थसमन्वयात् । तथा यतो भेदे कार्यकारणादिरूपे कारणं हेतुर्भवति ततो माया; मा माने (अ.प.अ.) इति धातोः औणादिके[1] यप्रत्यये साधु, मिमीते[2] वस्तुपरिच्छेदसंज्ञं भेदं कुरुत इति माया इत्यर्थसमन्वयात् । तथा नः अस्माकं स्वरूपभूतं ज्ञानमावृणोति ततो माया; डुमिञ् प्रक्षेपे (स्वा. उ. अ.) इत्यतः पूर्ववद् यप्रत्यये साधु, मिनोति स्वरूपप्रकाशं प्रक्षिपति[3] आवरणलक्षणं परिभवं नयतीत्यर्थसमन्वयात् । तुरीयमर्थं दर्शयति—गमनात्तत इति । ततो ज्ञानाद्धेतोः गमनाद् अपसरणाच्च माया, मया प्रमया यातीति माया इत्यर्थसमन्वयादित्यर्थः । ।८११ । । उक्तं व्युत्पत्तिचतुष्टयं पञ्चभिर्विशदं कुर्वन्, तत्र 'न विद्यते स्वयं चैषा' इत्येतद् दर्शयति—आनन्दात्मेति । यत आत्माऽसङ्गचिदानन्दाऽद्वितीयरूप एव वर्तते, तत्र कुतो मायायाः संभव इति भावः । ।८१२ । । 'भवेद् भेदेऽपि कारणम्' (४.८११) इत्येतद् दर्शयति—एवमिति । एवंस्वभावो वर्णितानन्दादिस्वभावोऽपि आत्मा जगतः कारणमभूत् तथा जगद् आकाशादिप्रपञ्चरूपः अपि[4] यतोऽभूत्ततः हेतोः तत्र वर्णितरूपेऽपि आत्मनि वैदिकैः माया कल्पिता । ।८१३ । । तुरीयां व्युत्पत्तिं विशदयति—

असत् नृशृंग आदि से शुक्तिरजतादि रूप वाले विशेष में अन्तर क्यों है ?—यह पूछे जाने पर जो यह अनुभव होता है 'पता नहीं', उसे ही ज़ानकारों ने माया कहा है जो हमेशा इसमें समर्थ है कि न घट सकने वाले को घटा कर दिखा देती है । स्वप्रकाश आत्मामें उसीसे माया सिद्ध हो जाती है (क्योंकि वास्तव में तो ज्ञान के संमुख अज्ञान रहना असंगत है) । ।८१० । ।

अघटितको घटाने में चतुर इस अज्ञान को माया कहते हैं क्योंकि यह शब्द इसे बताने के लिये उपयुक्त है। यह चार तरह समझ सकते हैं : १) 'या' जो यह स्वयं 'मा' है नहीं वही माया है ! २) कार्यकारणादि भेद में हेतु होने से माया है। 'मा' धातु मापने को कहता है। मापना अर्थात् सीमित करना, 'इतना ही, अधिक नहीं' यह निर्णीत करना। एवं च वस्तुकृत परिच्छेद—जिसे भेद भी कहते हैं—करने वाली का नाम हो जाता है माया। ३) हमारे स्वरूपभूत ज्ञान को ढके हुए है इसलिये माया है। 'मि' धातु परिभूत करना अर्थ में प्रचलित है, अतः स्वरूपभूत प्रकाश का आवरणरूप परिभव करने से माया नाम सार्थक है। ४) ज्ञान से हट जाती है इससे भी माया है। 'मा' अर्थात् ब्रह्मकी प्रमा, उससे 'या' अर्थात् चली जाती है अतः माया है ! । ।८११ । । वेदादिप्रसिद्ध आनंदरूप आत्मा तो निःसंबंध है, स्वप्रकाश ही उसका खास स्वरूप है, स्वगत सजातीय और विजातीय भेदों की गंध से भी रहित है। ऐसे स्वभाव वाला आत्मा क्योंकि जगत्कारण बना और सारा जगत् भी बन गया—जगत् का निमित्त और उपादान बन गया—इसलिये वेदविचारकों ने आत्मामें माया की कल्पना की। (अज्ञान से ही ऐसा संभव है यह शुक्तिरूप्य, स्वप्न आदि में स्पष्ट होने से अद्वितीय की सद्वयता उसकी समायता बताती है।) । ।८१२-८१३ । । ब्रह्मका तटस्थ अर्थात् परिचायक लक्षण है जगत् के जन्म स्थिति व संहार करने

१. 'माछाशसिभ्यो यः' (४.११०) । २. इदं तु रूपं जौहोत्यादिकस्य माङः । मातीत्येव स्वोक्तधात्वनुरूपं स्यात् । माधवीयवृत्तौ तु माङ्माने शब्दे चेत्यत्रैव ''मिमीत इति मायः 'श्याद्व्य' (३.१.१४१) इत्यादिना णे युक्; माया-टाप्' इति प्रदर्शितम् । युगित्यातो युक्चिण्कृतोरित्यतः (७.३.३३) । ३. यत् प्रक्षिप्यते तत् तुच्छी क्रियत इति मत्वा परिभावनं मिञोऽर्थः । ४. निरुक्तात्मनः कारणत्वं निर्वचनानर्हत्वं च कार्यस्य कार्यकारणत्वयोः मायिकत्वं गमयतीति वक्तुं कारणमभूद् इति जगदभूदिति च द्वयोरुल्लेखः । भेदं कथयितुं तु प्रतियोग्यनुयोगिनोरुपस्थापनमपेक्ष्यत एव ।

जगज्जनौ स्थितौ वाऽपि संहृतौ वा जगत्यपि। उत्क्रात्मनि तथा योग आशु याति तमो यथा।।८१४।

अज्ञानं तत एवैतदात्मनो ब्रह्मरूपिणः। विशेषभावो मायेति कथितं वेदवादिभिः।।८१५।।

मादृशो बुद्धिमान् दस्रौ यत्र यत्र[1] करोति माम्। तत्र तत्र न जानाति मायेत्येषा ततो भवेत्।।८१६।

जगज्जनाविति त्रिभिः। यदा **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. ३.१) इत्यादिशास्त्राज्जगतो जनिस्थितिसंहारेषु तटस्थलक्षणभूतेषु** योगः समाधिः **क्रियते,** तथा जगत्यपि **'अस्ति भाति प्रियं रूपम्' (वाक्यसु. २) इत्याद्यनुसारेण नामरूपे परिहृत्य समाधिः क्रियते** तथा उत्क्रात्मनि **सच्चिदानन्दरूपे स्वरूपलक्षणपरशास्त्रानुसाराद् महावाक्यानुसाराद्वा यदा समाधिः परिनिष्ठता, प्रमेति यावत्, क्रियते;** एवं योगे **क्रियमाणे** माया आशु **शीघ्रं** याति **निवर्तते, सूर्ये तमोवदित्यर्थः। तथा च प्रमयाऽपसरणं प्रमातुः पूर्वं ब्रह्मात्मस्वरूपावरणं च सिद्धमिति भावः।।८१४।।** अज्ञानमिति। तत एव **प्रमानिवर्त्यत्वादेव** एतदज्ञानं वेदवादिभिः मायेति कथितम्। **अज्ञानस्य बाधयोग्यतायां हेतुगर्भं विशेषणम्**—आत्मनो ब्रह्मरूपिणो विशेषभावः इति। **निर्विशेषस्य ब्रह्मात्मनो विशेषभावरूपमित्यर्थः। तथा च कथं न बाध्यतेति भावः।।८१५।। तुरीयव्युत्पत्तौ विद्वदनुभवं संवादयति**—मादृश इति। बुद्धिमान् **विवेकी** यत्र यत्र मां **प्रमां** करोति तत्र **दीपेनान्धकारमिव मायां यतो** न जानाति **न पश्यति** ततो मायेति **संज्ञा तुरीयव्युत्पत्त्या समन्वितेति।।८१६।।**

वाला; इस लक्षण के अनुसार लक्ष्य पर जब समाधि सिद्ध होती है तब क्योंकि अज्ञान शीघ्र ही नष्ट होता है इसलिये माया है। (जन्मादिहेतुता निर्विशेष का लक्षण है। अथवा सविशेष के साक्षात्कार के बाद 'तदेवाविर्भवेत्' आदि कल्पतरु के अनुसार निर्विशेष का आविर्भाव होने से अविद्या हट जाती है।) जगत् में भी नाम-रूपांश छोड़कर अस्ति-भाति-प्रिय पर चित्त समाहित हो जाये तो अज्ञान भाग जाता है। जब सच्चिदानंद आत्मा का अपने से अभेदेन स्फुरण होता है तब सूर्य आने पर अँधेरे की तरह अज्ञान लापता हो जाता है। निर्विशेष ब्रह्मरूप आत्मा का सविशेष होना ही माया है जो क्योंकि प्रमासे हटती है इसलिये वैदिकों द्वारा माया कहलाती है। अज्ञान; अविद्या, प्रकृति, शक्ति आदि इसी के नाम हैं।।८१४-१५।। हे अश्विनिकुमारों ! मुझ जैसा बुद्धिमान् जहाँ-जहाँ प्रमा करता है वहाँ-वहाँ इसे नहीं जानता इसलिये यह माया है। (दीपक से जैसे अँधेरा नहीं दीखता ऐसे ही विवेकी प्रमावृत्तिसे इसे विषय नहीं कर पाता। प्रमानिवर्त्य की प्रमेयता असंभव है। 'जहाँ-जहाँ' अर्थात् जब-जब और जिस-जिस विषय में : अज्ञानविशिष्ट घट की प्रमा करें तो विशेषणीभूत अज्ञान प्रमेय बनना चाहिये लेकिन बनता नहीं ! एवं च प्रमाके सामने टिक न पाना माया की खसूसियत है।)।।८१६।।

प्रमाणसे असिद्ध किन्तु उपपत्त्यर्थ स्वीकृत पदार्थ न्यूनतम मानने चाहिये। अतः माया एक मानने से काम चलते अनेक मायायें नहीं मानी जातीं। यहाँ बृहदारण्यक में मायाशब्द बहुवचनमें प्रयुक्त है 'इन्द्र ने मायाओं से अनेक रूप धरे'। इसका तात्पर्य है कि घट-पटादि-विषयक जितनी प्रमायें होती हैं उनसे मिटने वाले उतने अज्ञान मानना सही लगता है जबकि पूर्वोक्त लाघवनामक युक्तिसे अज्ञान एक मानना चाहिये, अतः ऐसी व्यवस्था स्वीकार्य है कि अज्ञान तो एक है लेकिन उसकी अवस्थायें या वृत्तियाँ (बर्ताव) अनंत हैं, जिन्हें तूलाज्ञान या अवस्थाऽज्ञान भी कहते हैं, घटादि-प्रमाओं से ये तूलाज्ञान मिटते हैं जबकि जो मूलभूत एक अज्ञान है वह केवल ब्रह्मसाक्षात्कारसे बाधित होता है। इस विषयको पुराणकार स्पष्ट करते हैं—वह माया एक होने पर भी बहुत रूपों वाली है क्योंकि प्रमायें अनंत रूपों वाली होती हैं जिन्हें निवर्त्य मायारूपों की जरूरत है। इसलिये वह इंद्र जब चेष्टा करता है तब उन मायारूपों से कर लेता है। (नाना रूपों वाला होना ही आत्मरूप इन्द्र की मायाकरणक चेष्टा है। सांसारिक विशेष भी बिना आत्मज्ञानके

१ तत्त्वज्ञो यदा घटादिप्रमां करोति तदा तेषां मायाभागं नामरूपाख्यं न पश्यति किन्तु अस्ति भाति प्रियमित्यात्मरूपमेव पश्यतीत्यर्थः। यद्वा यत्र यस्मिन् काले यत्र प्रतीचि माम् अखण्डधियं कुरुते लभते तत्र तस्मिन्नेव क्षणे तत्र प्रतीच्येव पुनर्मायां न पश्यतीत्यर्थः।

'मायाभिः' इति बहूक्तिगतिः

मानामनन्तरूपत्वादेका सा बहुरूपिणी। बभूव तेन मायाभिरिन्द्रोऽसौ चेष्टते सदा।।८१७।।
एकरूपोऽपि देवोऽसौ नानारूपो यथा नटः। विद्वद्भिः कथ्यते सर्वैर्भ्रष्टमायैर्महात्मभिः।।८१८।।
विशेषान् हि वदन्त्येते कार्यकारणसंश्रयात्। प्रमाणैर्विविधैर्विप्राः पदवाक्यविशारदाः।।८१९।।
कारणे कुण्ठतां दृष्ट्वा प्रमाणानां महाधियः। कल्पयन्त्यत्र ते मायां व्यवहारप्रसिद्धये।।८२०।।
हेतुमेकं विधायैते प्रमाणकुशला[1] द्विजाः। सर्वमेव वदन्त्येतच्छिष्यबुद्धिविवृद्धये।।८२१।।

सा माया लाघवेन 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्' (श्वे. ४.७) इति श्रुत्यनुसारेण चैकैव कल्प्यते। प्रकृतश्रुतौ 'मायाभिः' इति बहुवचनं तु व्यावहारिकसाधारणप्रमाव्यक्तिभेदेन निवर्त्यतूलावस्थादिपदवाच्यांशभेदाभिप्रायेणेत्याह—मानामिति। मानां प्रमाणां घटादिरूपानेकविधोपाध्यवच्छिन्नचैतन्यगोचराज्ञानविरोधिनीनाम् अनन्तत्वात् सा माया एकरूपाऽपि बहुरूपिणी बभूव। एवं मायापदार्थं प्रपञ्चेन उपपाद्य वाक्यार्थमाह—तेनेत्यादिना। तेन उक्तविधया मायायाः तद्बहुत्वस्य चोपपन्नत्वेन एको देवः मायाभिः चेष्टते नानारूपभावलक्षणां चेष्टां कुरुते सदा कालत्रयेपीत्यर्थ उपपन्न इति शेषः।।८१७।। माययैवात्मनोऽनेकरूपता न वस्तुत इत्यत्र विद्वदनुभवमपि संवादयति—एकेति। वस्तुतः एकरूपोऽपि देवः मायया नटवद् बहुरूपोऽभूद् इत्येवं सर्वविद्वद्भिः बादरायणादिभिः कथ्यते। कीदृशैः ? भ्रष्टमायैः भ्रष्टा प्रमया निवृत्ता माया येषां ते तथा तैः।।८१८।।

तस्य नानारूपतां यदभिदधति बुधास्तदेकरूपतामध्यारोपापवादन्यायेन स्फुटयितुमेव, न तु तेषां नानारूपतायां तात्पर्यम्। नानारूपताद्यभिधानप्रकारास्तु 'उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिता' इति न्यायेन अनियता इति सूचनेन वक्ष्यमाणेन्द्रियवृत्त्युपाधिभेदाध्यारोपे पौनरुक्त्यशङ्कां वारयति—विशेषानिति चतुर्भिः। एत आत्मनिरूपणे प्रवृत्ता विद्वांसः लौकिकविविधप्रमाणैः सिद्धान् भेदान् वदन्ति अनुवदन्ति। तेषां व्याख्यानकौशलं दर्शयति—पदेति।।८१९।। कारण इति। तत्र कारणे लौकिकप्रमाणानां कुण्ठतां मन्दप्रसरताम् आलोच्य ते महाधियः सर्वव्यवहारोपपादिकामेकां मायाम् एव कारणतया कल्पयन्ति; न तु कार्यभेदवत्कारणभेदं नानारूपतार्थमनुवदन्ति। वर्णनस्य लोकव्युत्पादनार्थत्वाल्लोकानां च कारणभेदौदासीन्यादिति[2] भावः।।८२०।। हेतुमिति। तस्माद् हेतुं मायारूपं कारणम् एकम् एव विधाय मनसि कृत्वा। यद्वा हेतुं फलमद्वैतबोधरूपम् एकम् उद्देश्यं कृत्वा। सर्वमेव अध्यारोपप्रकारभेदं वदन्ति। नानाप्रकारकथनफलं शिष्यबुद्धिविवृद्धिरिति।।८२१।।

बाधित होते देखे जाते हैं जैसे शुक्तिरूप्य या अनेक ऐसी चीज़ें जो पहले व्यावहारिक समझी जाती हैं और बाद में शास्त्र, विज्ञान, अनुभव आदि से बाधित हो जाती हैं। आत्मा ने उस विशेषका आकार यदि मूलाविद्यासे लिया हो तो बिना अद्वैतज्ञानके उसका बाध न होता। अतः मानना पड़ेगा कि उस विशेषका आकार तूलाविद्यासे ही ग्रहण किया गया है। यह 'मायाभिः पुरुरूप' श्रुति का खास अभिप्राय है।)।।८१७।। जिन्होंने प्रमासे माया निवृत्त कर ली है ऐसे बादरायण, शंकर आदि विद्वान् महात्मा कहते हैं कि महादेव वास्तव में अपरिवर्तनीय स्वरूप वाले हैं फिर भी नट की तरह माया से अनेक रूपों वाले हो जाते हैं। ('स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्' ऐसा अमलानंद जी ने बताया है।)।।८१८।। व्याकरण, मीमांसा आदि में पारीण वे वेदज्ञ आचार्य विविध लौकिक प्रमाणों से सिद्ध विशेषों का (भेदों का) अनुवाद

---

१. न जानीम इत्याकाराया मायायाः सर्वहेतुतयाङ्गीकारपौरुषस्य प्रमाणेष्वशौण्डेष्वसम्भवात्। प्रमाणसामर्थ्यविद एव तेषु कुशलाः सामर्थ्यं च मानानां कतिपयकोटिपर्यन्तमेव हेतुसमर्पणे। ये तु परमार्थहेतुतां प्रमित्सन्ति त एव कौशलाऽभावेन मायेतरकारणपक्षपातिन इत्यभिप्रायः। एवंविधं लोकेऽप्रचलितं हेतुमङ्गी कुर्वतां सम्बलमाह—द्विजा इति वैदिका इत्यर्थः। श्रुतिरेव तेषां बलम्।
२. घटादिकार्यप्रपञ्चमात्रगोचरत्वाल्लोकव्यवहारस्य प्रकृतिपरमाण्वादेरलौकिकतया लोकाऽप्रतिपित्सितत्वादित्यर्थः।

देहभेदो दधीचातो युवयोर्वर्णितः पुरा। आत्मनो भिन्नताहेतुस्तथान्योऽपि महात्मना। तत्रेन्द्रियकृतो भेद एवं तेन समीरितः।।८२२।।

'युक्ता ह्यस्य' आदेस्तात्पर्यम्

यथा स्वर्गगतेन्द्रस्य मायाभिर्बहुरूपिणः। रथेषु वाजिनो युक्ता विद्यन्ते वायुवेगिनः।।८२३।।

एवं संसृतिगेन्द्रस्य[1] नानादेहरथेष्वपि। इन्द्रियाश्वाश्च विद्यन्ते युक्ता अतिबला इमे।।८२४।।

फलितमाह—देहेति। अत उक्ताभिप्रायेण दधीचा आथर्वणेन देहभेद आत्मभेदारोपहेतू 'रूपं रूपम्' इत्यादिवाक्येन युवयोः प्रबोधार्थं वर्णितः। तथाऽन्योऽपि विषयेन्द्रियादिभेदः तुल्यन्यायेन सूचित इति। तत्रेति। तत्र सूचितभेदानां मध्य इन्द्रियकृतो भेद एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण 'युक्ता' इत्यादिवाक्येन दर्शितः।।८२२।।

तत्र दृष्टान्तं तावदाह—यथेति। यथा प्रसिद्धेन्द्रस्य त्रिलोकीगतनानाकार्यार्थं नानारूपधारिणः रथेषु नानाविधा महावेगिनः अश्वा युक्ताः संलग्ना इति।।८२३।। एवमिति। एवं संसारगतस्य आत्मरूपेन्द्रस्य देहरूपेषु रथेषु युक्ता इन्द्रियरूपा अश्वाः श्रुतौ 'हरि'पदोक्ताः सन्ति। अतिबला अतिदुर्जयाः।।८२४।। देह इति। एकत्र इसलिये करते हैं कि आत्मप्रतिपादनरूप कार्य के लिये वह (अनुवाद) सहायक (कारण) सिद्ध होता है। (एकात्मता को स्फुट करने के लिये अध्यारोप-अपवाद की प्रक्रिया अपनायी जाती है। आत्मा की नानारूपता इसी प्रक्रियाका अंग है, न कि विद्वानों को तात्पर्यतः अभिप्रेत। नानारूपता का कथन वेदादि में विविध ढंगों से है क्योंकि यह नीति है कि उपेय समझाने के लिये उपायों को अलग-अलग ढंगों वाला होना चाहिये अन्यथा मंदमति को उपायमें ही आग्रह हो जायेगा! यदि लड्डुओं से ही गिनती सिखाते रहेंगे तो बच्चे पत्थरों में भी गिनती होती है यह समझेंगे कैसे ? एवं च वेदादि के अध्यारोप-प्रसंगों में 'विगान' माना गया है।)।।८१६।। जगत्कारण के बारे में लौकिक प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो पाते यह समझ कर वे महामति आचार्य सारे व्यवहार को उपपन्न करने वाली एक माया ही स्वीकारते हैं, कार्यभेद से कारणभेद की कल्पना नहीं करते। एवं च प्रमाणप्रयोगमें कुशल वे द्विज अपने शिष्यों के बुद्धिवैशारद्य के लिये मायारूप एक कारण ही मनमें रखकर विभिन्न अध्यारोप-प्रकारों का वर्णन करते हैं। अद्वैत समझाना—इसी एक उद्देश्यसे अनेक तरीके वे अपनाते हैं। तरीके प्रक्रिया हैं। सभी से स्पष्ट यही करना है कि अद्वैत मायावश सद्वय है।।८२०-८२१।। इसी अभिप्रायसे पहले दधीचि ने आप दोनों को देह-भेद बताया था, आत्मा विभिन्न इसलिये प्रतीत होता है कि हम विभिन्न शरीरों को ही देखते हैं और उस भेद का आत्मा पर आरोप कर लेते हैं। देहभेद की तरह विषय-इन्द्रियादि भेद भी सूचित हो ही गये थे क्योंकि वे भी आत्मा की भिन्नता में प्रयोजक बनते ही हैं। उन भेदों में जो इन्द्रियों के कारण व्यवहृत होने वाला भेद है उसे उन्होंने यों समझाया था—।।८२२।।

त्रिलोकी के विविध कार्य सम्पन्न करने के लिये सामर्थ्य से नाना रूप धारण करने वाले स्वर्गस्थ इन्द्र के रथों में अत्यधिक वेग वाले अनेक तरह के घोड़े जुते रहते हैं यह प्रसिद्ध है। इसी तरह संसार में विद्यमान यह आत्मा नामक इन्द्र है, जिसके नाना देह ही रथ हैं जिनमें अत्यंत बलिष्ठ इन्द्रियाँ घोड़ों की तरह जुती हैं। हर शरीर में हर इन्द्रिय के वृत्तिभेद से दसियों रूप हैं और आगे उन दसों रूपों के सैकड़ों भेद हैं, जिनके पुनः हज़ारों लाखों भेद हैं। इस तरह शरीरधारियों के पास असंख्य इन्द्रियरूप घोड़े हैं जो अंतःकरण की वृत्तियों में भेद लाते हुए वृत्तिप्रतिफलित आत्मा को भी विभिन्न बना लेते हैं। (इन्द्रियों की वृत्ति अर्थात् व्यापार अनंत हैं क्योंकि अनन्त विषयों से अनंत बार सम्पर्क होता है और हर संपर्क केलिये वृत्ति बनती है। इन्द्रियाँ कामना का अधिष्ठान कही गयी हैं तथा क्रोधादि का मूल कामना होने से उन सब का भी इन्द्रियों में वास निश्चित है। इन भावों के उद्बोध से हर वृत्ति के अवांतर भेद बन जाते हैं

१. नानादेहेष्वेको जीव इति पक्षोऽत्र ध्वन्यते। इन्द्रियसंख्यायाः प्रत्येकं शरीर उपपादनमपि तदा घटते।

देह एकत्र सङ्ख्याता दशके दशके शतम्। शते सहस्रं तद्वत् स्यात् सहस्रेप्ययुतं तथा।।८२५।।

एवमेते ह्यसङ्ख्याता इन्द्रियाश्वाः शरीरिणाम्। अन्तःकरणसम्बन्धा आत्मनो भेदहेतवः।।८२६।।

अपवादः

भेदैर्यैर्भिद्यते देव आत्मा तत्सकलाश्रयः। सर्वभेदविनिर्मुक्तो नेति नेत्यवधारितः।।८२७।।

तत्पदार्थः

भेदैर्न भिद्यते वस्तु तद् ब्रह्मेत्यवधारितम्। पूर्वापरादिदेशेन कालेन च विवर्जितम्। अन्तर्बहिःस्वभावेन वस्तुना च विवर्जितम्।।८२८।।

अपि देह इन्द्रियाणां प्रत्येकं वृत्तिभेदाद् दशके दशसङ्ख्यापरिमिते गणे शतं भेदाः। एवं शतेऽन्तर्गताः सहस्रं भेदाः तथा सहस्रेऽयुतम् इति।।८२५।। एवमिति। एवम् अवान्तरभेदैरनन्ता इन्द्रियाश्वा अन्तःकरणस्य वृत्तीः भिन्दाना अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितस्य आत्मनो भेदका इत्यर्थः। सम्बन्धा इति पाठः।।८२६।।

एवमध्यारोपितस्येन्द्रियभेदस्य 'अयं वा' इत्यादिनोक्तमपवादं दर्शयति—भेदैरिति। देव आत्मा यैर्भेदैर्भिद्यते तत्सकलाश्रयः तेषां सकलानां भेदकानां सप्रपञ्चेन्द्रियाणामाश्रयो विवर्तोपादानतयाऽधिष्ठानमित्यर्थः। अत एव नेति नेति इति कल्पितनिरासेन सर्वभेदविमुक्तः अवधारितः इति। एतेन श्रुतौ 'अयम्' इति पदार्थस्य आत्मनश्च बाधासामानाधिकरण्यमिति सूचितम्।।८२७।।

एवं त्वम्पदार्थं परिशोध्य तत्पदार्थपरिशोधकस्य 'तदेतद्'[1] इत्यादेरर्थमाह—भेदैर्नेति। यद् वस्तु भेदैर्न भिद्यते तद् ब्रह्मेत्यवधारितं पूर्वमपीति शेषः। कीदृशं ब्रह्म ? पूर्वादिरूपेण देशेन कालेन च वर्जितम्। तथा अन्तःस्वभावेन बाह्यस्वभावेन[2] च पदार्थजातेन वर्जितमिति।।८२८।।सामानाधिकरण्येन वाक्यार्थं स्फुटयन् महावाक्यमप्यभिनयति—

और हर भेद में तारतम्यसे और भी भेद हो जाते हैं। यों अनन्त वृत्तियाँ हमारे पास हैं जिनसे हमारे मन की वृत्तियाँ विभिन्न होती हैं अर्थात् मन की वृत्ति रूपाकार बने या शब्दाकार इसका निर्णायक होगा चक्षु या श्रोत्र जो विषय से संपर्क करेगा अतः रूपाकार मनोवृत्ति को शब्दाकार मनोवृत्ति से भिन्न करने वाला नेत्र ही हुआ। मनोवृत्ति में ज्ञान का प्रतिफलन होता है अतः वह ज्ञान भी सभेद हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानरूप आत्माके भेद को औपाधिक सिद्ध कर दिया। उन वृत्तियों से हम स्वयं को तादृश अनुभव वाला मानते हैं इससे भी इन्द्रियाँ वृत्तिद्वारा हमें विभिन्न करती हैं यह समझ लेना चाहिये।)।।८२३-२६।।

जिन भेदक उपाधियों से आत्मदेव विभिन्न होता है उन सभी भेदकों का विवर्तोपादान अर्थात् अधिष्ठान वही आत्मा है! इसलिये सभी कल्पनाओं का निरास कर 'नेति नेति' श्रुति ने निर्णीत कर दिया कि सब भेदों से आत्मा सदा अस्पृष्ट है।।८२७।।

जो वास्तविक तत्त्व भेदक उपाधियों के कारण कभी भी सचमुच भेद वाला नहीं होता वही ब्रह्म है यह निश्चित है। पूर्व-अपर आदि देश-काल का भेद आत्मा में नहीं (अर्थात् पूर्वदिशा के आत्मा का पश्चिम दिशा के आत्मासे भेद नहीं और आत्मा समाप्त होने के बाद उससे आगे पूर्व या पश्चिमादि दिशायें बच जायें ऐसा भी नहीं। इस प्रकार न पुराने-नये आत्मा में अंतर है और न आत्मा न रहा हो या नहीं रहेगा ऐसा कोई काल ही है।)। ऐसी कोई वस्तु भी

१. 'तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनन्तरम् अबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्' इति पंचमब्राह्मणसमाप्तिवाक्यम्। तत्रापूर्वत्वमकारणत्वमनन्तरत्वं च कार्यराहित्यमेकरसत्वं वा। सर्वत्वादनुभवत्वाच्च सर्वानुभूः। अनुशासनमिति निरूपितविज्ञानस्यावश्यप्राप्यतोक्तेति भाष्यादौ विस्तरः। २. अन्तरिति स्थूलशरीरइत्यर्थः, बहिरपि ततएव। यद्वाऽऽत्मनोऽन्तः प्रत्यग्भूतः न कश्चन स्वभावो, नापि बाह्य; ततः प्रतीचोऽप्रसिद्धेः; बाह्यस्य चाऽतत्स्वभावत्वात्।

एकमेवाद्वितीयं यत् सोऽयमात्मा शरीरिणाम्। अहं ब्रह्मेति वाक्येन विज्ञेयो ब्रह्मरूपभृत्।।८२६।।

एषोऽनुभवति श्रीमान् सर्वमेव महेश्वरः। सर्वात्मा सर्वधीसाक्षी स्वप्रकाशसुखात्मकः।।८३०।।

रहस्यवक्तोपसंहरति

एवं स युवयोर्दध्यङ् कृतवाननुशासनम्। आनन्दात्मस्वरूपस्य ब्रह्मणो बोधरूपिणः।।८३१।।

अश्विनोः प्रतिक्रिया

एवमुक्तेऽतिसंहृष्टावश्विनौ जातकौतुकौ[1]। प्रणम्य तं महात्मानमृषिं सर्वार्थदर्शिनम्। चक्रतुस्तस्य तत् कार्यं यदर्थमयमागतः।।८३२।।

अध्यायसमापनम्

एवमाथर्वणं दृष्ट्वा निहतं[2] स्वोपकारिणम्। इन्द्रेण भीतिमगमद् द्विजः कौषीतकिस्ततः।।८३३।।

विचित्रमिदमाख्यानं कथितं तव सुव्रत। मन्त्रेरितं पुनः किं त्वं श्रोतुमिच्छसि तद्वद।।८३४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे बृहदारण्यकमधुकाण्डसारार्थप्रकाशक

ऋष्यश्विसंवादो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

एकमिति। स्पष्टम्।।८२६।। ननु कोयमात्मा ? इति पृच्छतां मन्दानामनुग्रहाय सर्वानुभवितेत्याह—एष इति। अनुभवति द्रष्टृश्रोत्रादिरूपेणेति शेषः।।८३०।।

एवमश्विनो रहस्यज्ञऋषिरितिहासं समापयति—एवमिति। हे अश्विनौ ! स दध्यङ् एवं युवां पुरस्कृत्य सर्वाधिकारिणः प्रति ब्रह्मणोऽनुशासनं कृतवान् इति।।८३१।।

एवमिति। उक्ते रहस्यविदेति शेषः।।८३२।।

त्वया यत् कौषीतकेर्भयनिमित्तं पृष्टमासीत् तत् समाहितमिति शिष्यं प्रति आह गुरुः—एवमाथर्वणमिति। स्वपदेन इन्द्रो ग्राह्यः।।८३३।।

उपसंहरति—विचित्रमिति।।८३४।।

उपाधिपरिहाणेन यः सर्वत्र प्रकाशते। सर्वानुभविता देवो राजते चित्तमन्दिरे।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनुजरामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतौ आत्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

नहीं जो स्वभावतः आत्मा के भीतर हो अर्थात् आत्मा उससे बाहर हो। ऐसी भी कोई वस्तु नहीं जो स्वभावतः आत्मा से बाहर रहे। (अर्थात् वस्तुकृत परिच्छेद आत्मा में नहीं।)।।८२८।। जो एक ही अद्वितीय है वही शरीरधारियों का यह आत्मा है। व्यापक रूप से सम्पन्न वही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य से साक्षात्कार के योग्य है।।८२९।। ये श्रीमान् महेश्वर ही सभी कुछ का अनुभव करते हैं, सर्वरूप हैं, सब बुद्धियों के व बुद्धिवृत्तियों के इकलौते साक्षी हैं, ऐसे स्वरूप वाले हैं जो स्वयंप्रकाश सुख है।।८३०।।

---

१. कुतोऽयमज्ञासीदिति एतेन सर्वत्र प्रकाशने किं भविष्यतीति च। २: पीडितमित्यर्थः।

दध्यङ् आथर्वण ने तुम दोनों को इस तरह उस आनंद-प्रत्यग्-रूप ज्ञानात्मक ब्रह्म का उपदेश दिया। (यद्यपि तुम्हें निमित्त कर उपदेश हुआ था तथापि सभी अधिकारियों के हितार्थ मुनि ने वह विस्तार किया था।)।८३१।।

रहस्य उद्घाटन करने वाले ऋषि ने जब यों सारी घटना कह सुनायी तो अश्विनिकुमार अत्यंत हर्षित हुए और उन्हें कुतूहल भी हुआ (कि इस ऋषि की कितनी सामर्थ्य होगी जो यह गुप्त वाकिया भी इन्हें पता चल गया)। उन सर्वार्थज्ञाता महात्मा ऋषि को अश्विनिकुमारों ने प्रणाम किया और जिस कार्य से वे ऋषि आये थे उनका वह कार्य दस्रों ने सम्पन्न कर दिया।।८३२।।

अब गुरु अपने शिष्यसे कहते हैं—इन्द्र का उपकार करने वाले आथर्वण को विद्योपदेश के निमित्त से इतना घोर कष्ट सहना पड़ा यह देखकर कौषीतकि नामक द्विज को इन्द्र से डर लगा था (जिससे उन्होंने रहस्यनाम नहीं बताया था जैसा पूर्वाध्याय के अंत में कहा था)।।८३३।।

हे सुव्रत ! मन्त्रोक्त यह विचित्र कथा तुम्हें सुनाई। अब बताओ तुम और क्या सुनना चाहते हो।।८३४।।

— चौथा अध्याय पूरा हुआ —

ॐ

बृहदारण्यकयाज्ञवल्क्यकाण्डार्थप्रकाशक-

ऋषियाज्ञवल्क्यसंवादः

पञ्चमोऽध्यायः

पूर्वोक्तविषयाः

इत्थमाख्यातमाकर्ण्य शिष्यः परमविस्मितः। प्रष्टुकामः पुनः किञ्चिद् गुरुं प्राह कृताञ्जलिः।।१।।

भगवन्नैतरेयस्य तथा कौषीतकेर्मुनेः। नानाख्यानसमायुक्तमात्मज्ञानं त्वयेरितम्।।२।

कौषीतकिश्च तत्याज यज्ज्ञानं तदपि त्वया। कथान्तरच्छलेनैव सत्यसत्यमुदाहृतम्।।३।।

सर्वात्मतोपपत्त्यापि यस्यैव परमात्मनः। सिद्धा तं परमेशानं वन्दे प्रत्यूहशान्तये।।

एवं प्रभ्वाज्ञानिभाऽऽगमप्रधानस्य मधुकाण्डस्यार्थो दर्शितः। अथ सुहृदुपदेशनिभोपपत्तिप्रधानस्य याज्ञवल्क्यकाण्डस्यार्थम् अध्यायद्वयेन निरूपयन् पञ्चमाध्यायार्थे शिष्यजिज्ञासां पूर्वाध्याये (श्लो. ७६५) उत्थापितामभिनयति इत्थमिति नवभिः। स्पष्टम्।।१।। तत्र स्वस्य मेधावितां सूचयन् शिष्यः श्रुतपूर्वमनुवदति—भगवन्निति षड्भिः। स्फुटम्।।२।। कौषीतकिरिति। यज्ज्ञानं यस्य सत्यसत्यस्य ज्ञानं कौषीतकिस्तत्याज इन्द्रभीत्या नोचे तत् सत्यसत्यं त्वया दध्यङ्ङश्विसंवादरूपकथान्तरेणोक्तमिति।।३।।

ऋषियों से याज्ञवल्क्यका संवाद
पाँचवाँ अध्याय

बृहदारण्यक उपनिषद् में दो-दो अध्यायों के तीन काण्ड हैं, जिनमें पहला है मुधकाण्ड, जो राजाज्ञा की तरह तत्त्वोल्लेख करता है क्योंकि उसमें प्रधानता शास्त्रकी है; उसके अर्थ का सार पूर्वाध्याय में प्रकाशित हो चुका है। दूसरा याज्ञवल्क्यकाण्ड है, जिसमें प्रधानता युक्ति की है, मानो कोई हितैषी मित्र समझा रहा हो; उसके अर्थ का सार अब दो अध्यायोंमें बतायेंगे। उपनिषत् के तीसरे अध्यायमें अनेक ऋषियोंसे मुनि याज्ञवल्क्यका संवाद वर्णित है, जिसे पुराण में पाँचवें अध्याय में प्रकाशित कर रहे हैं। भूमिकारूपमें पिछले अध्यायों का सन्दर्भ शिष्योक्तिसे भगवान् शङ्करानन्द दिखाते हैं—

श्रीगुरु द्वारा यों बतायी कथा सुनकर शिष्यको अतीव आश्चर्य हुआ और पुनः कुछ पूछना चाहते हुए वह हाथ जोड़कर गुरु से निवेदित करने लगा—हे भगवन्! विविध कथाओं से युक्त आत्मज्ञानचर्चा आपने सुनायी, जिसमें पहले ऐतरेय महर्षि फिर कौषीतकि मुनि के उपदेशों का वर्णन हुआ। कौषीतकि ने जो ज्ञान नहीं कहा था वह भी दधीचिकी कथाके बहाने आपने बताया कि ब्रह्मका रहस्यनाम 'सत्यसत्य' या 'सत्यका सत्य' है।।१-३।।

वंशश्चायं महान् ख्यात उपक्रम्य स्वयम्भुवम्। आदित्यं च त्रयीरूपं[1] पौतिमाष्यान्तमीदृशः।।
द्विमूलश्च त्रिपर्वा च स्त्रियाः पुंसोरयं महान्।।४।।
त्रिपर्वण्यपि वंशेऽस्मिन् द्विमूले बहवस्त्वया। पुरुषाः कथिता भिन्ना अभिन्ना अपि केचन।।५।।
तेषु शिष्यस्तु दैवस्य दीप्तस्याथर्वणो मुनेः। दध्यङ्ङाथर्वणः ख्यातो मधुकाण्डोपदेशकः।।
देवेन्द्रस्य च दौरात्म्यमश्विनोरर्थिताऽपि च।।६।।
तत्र दध्यङ् हयग्रीवश्छिद्यमाने स्वमस्तके। याज्ञवल्क्यं रवेः शिष्यमूचे[2] वाजसनेयकम्।। वक्तारं
ब्रह्मविद्याया अभीतं शक्रतोऽपि च।।७।।
अजातशत्रोः संवादे गार्ग्येणोक्तस्त्वयाऽपि च। प्राप्तविद्योऽयमादित्याद् याज्ञवल्क्यो महामुनिः।।८।।

वंशश्चेति। वंशश्चायम् उदाहृत इति लिङ्गविपरिणामेन सम्बन्धः। कीदृशो वंशः ? स्वयम्भुवं तथा त्रयीरूपादित्यं चोपक्रम्य पौतिमाष्यपर्यन्तं ख्यातः। इदृशोऽयं विद्यावंशो द्विमूलः द्वे स्वयम्भ्वादित्यरूपे मूले यस्य स तथा; त्रिपर्वा त्रिविधानि पर्वाणि शिष्याचार्यरूपाणि यस्मिन् स तथा। यत एकं पर्व स्त्रियाः स्त्रीसम्बन्धिनामजातेन घटितं, पर्वद्वयं तु पुंसोः मधु-याज्ञवल्क्यकाण्डान्तरूपस्थानभेदभिन्नपुन्नामजातघटितमित्यर्थः।।४।। त्रिपर्वणीति। अस्मिन् द्विमूले त्रिपर्वणि च वंशे केचित् पुरुषाः भिन्ना विरूपनामकाः, केचिद् अभिन्नाः सरूपनामकाः त्वया कथिताः।।५।। तेष्विति। तेषु वंशस्थपुरुषेषु अन्यतमस्य दैवस्य अथर्वणो मुनेर्दीप्तस्य तेजस्विनः शिष्यो दध्यङ्ङाथर्वणः ख्यातः प्रोक्तः योऽश्विभ्यामिन्द्राय च मधुकाण्डोपदेशक इति। तथा देवेन्द्रस्य दौरात्म्यं हितोपदेशे कोपरूपम् उक्तम्। तथा अश्विनोरर्थिता उग्रकर्मप्रवर्तिका लिप्सा प्रोक्तेति।।६।। तत्रेति। तत्र इन्द्रकोपादिनिमित्तके स्वमस्तके छिद्यमाने सति दध्यङ् हयग्रीवः सन् याज्ञवल्क्यं ब्रह्मविद्यावक्तारम् इन्द्राद् अभीतं च ऊचे। कीदृशं याज्ञवल्क्यम् ? रवेः शिष्यम् अत एव वर्णितनीत्या वाजसनेयकम्।।७।। न केवलं दधीचैव याज्ञवल्क्यो महाप्रभावत्वेन वर्णितः, किन्तु तत्र भवता भवताऽपि इत्याह—अजातशत्रोरिति। अजातशत्रोर्गार्ग्येण बालाकिना संवादे गततृतीयाध्याये त्वयाऽपि 'सविताऽपि तथा प्राह' (द्र. ३०९) इत्यादिश्लोकेन उक्त इत्यर्थः।।८।।

आत्मविद्या की आचार्यपरंपरा भी आपसे सुनने को मिली जो स्वयंभू तथा त्रयीरूप (नाम-रूप-कर्मात्मक) आदित्यसे प्रारंभ हुई। उसमें महान् व्यक्ति जुड़ते रहे हैं। पौतिमाष्य-पर्यन्त वह वंशावलि आपने बताई। उस परंपरा का प्रवाह दो उत्सों से प्रारंभ हुआ—स्वयंभू से और आदित्य से। उसके घटक व्यक्ति तीन तरह के रहे क्योंकि कुछ थे जिनके नाम उनकी माताओं के नामों के अनुसार थे तथा पितृनामानुसारी नाम वाले भी दो तरह के थे जिससे कुछ को मधुकाण्ड की समाप्ति में गिना गया और कुछ को मुनिकाण्ड की। तीनों तरहों से कहे व्यक्तियों की सूची में कुछ लोग तीनों में स्थान पा गये जबकि कुछ न पा सके।।४-५।।

पारंपरिक आचार्योंमें एक तेजस्वी मुनि बताये गये हैं दैव अथर्वा, जिनके प्रसिद्ध शिष्य थे दध्यङ् आथर्वण जिन्होंने इन्द्र व अश्विनिकुमारों को मधुकाण्ड का उपदेश दिया था। उन्हीं के संदर्भ में आपने देवेन्द्र की दुरात्मता बतायी, जिसने हिततम उपदेश के बदले क्रोध और हिंसा की। आपने यह भी बताया कि अश्विनिकुमार ब्रह्मविद्या केलिये इतने तीव्र इच्छुक थे कि उन्होंने गुरु को दो बार गर्दन कटने का दुःख सहन कराकर भी उपदेश लेकर ही छोड़ा ! घोड़े के सिर वाले दध्यङ् का जब सिर कटने को था तब उन्होंने सूर्यके शिष्य वाजसनेयक याज्ञवल्क्य की प्रशंसा की थी कि इन्द्रसे भी बिना डरे वे ब्रह्मविद्याके प्रवक्ता रहे। पहले गार्ग्य-अजातशत्रु संवाद सुनाते हुए भी आपने बताया था कि इन याज्ञवल्क्य नामक महामुनि ने आदित्यसे विद्या ग्रहण की थी।।६-८।।

---

१. वेदात्मानं, नामरूपकर्मात्मानं वा। २. प्रशशंस।

शिष्यप्रश्नः

तेन कस्मै कथं वाऽपि ब्रह्मविद्या समर्पिता। कीदृशी चेति वा ब्रह्मन् श्रोतुमिच्छाम्यहं गुरो।।९।।

गुरुरुत्तरयति

एवमुक्तेऽतिसंहृष्टो गुरुः शिष्यमथाब्रवीत्। शृणु चित्रामहं वक्ष्ये कथां वेदसमीरिताम्।।१०।।

आचार्यस्यादित्यस्य वर्णनम्

याज्ञवल्क्योऽथ घोरेण तपसा परमेश्वरम्। आदित्यमण्डलावासं नामरूपक्रियात्मकम्।।११।।

सुवर्णसदृशं देवं केशेषु च नखेषु च। एकरूपं हि सर्वत्र हित्वा नेत्रे विलोहिते।।१२।।

अमुष्माद् ये परे लोका अर्वाञ्चो ये च चाक्षुषात्। ईष्टे तेषां स कामानाम् अध्यात्मं भेदवर्जितः।।१३

यो जीवघन इत्यत्र पठ्यते वेदवादिभिः। यस्माद् विनिःसृता वेदाः श्वासा इव महात्मनः।।१४।।

एवमनूद्य पृच्छति—तेनेति। तेन याज्ञवल्क्येन कस्मै ब्रह्मविद्या दत्ता ? कथं वा दत्ता ? सा विद्या वा कीदृशी? इति प्रश्नत्रयम्।।९।।

गुरोरुत्तरमवतारयति—एवमिति। स्फुटम्।।१०।।

तत्र याज्ञवल्क्यस्येश्वरानुग्रहाद् महाप्रभावतां, जनकस्य तद्दिदृक्षां चोपोद्घाततया निरूपयति—याज्ञवल्क्य इत्यादिभिरष्टाविंशतिश्लोकैः। याज्ञवल्क्यो वैशम्पायनादधीतं वेदं परित्यज्य उद्विग्नः सन् अतिघोरेण तपसा परमेश्वरम् अतोषयद् इति शेषः। कीदृशम् ? आदित्यमण्डलावासम्, 'य एषोऽन्तरादित्ये पुरुषो दृश्यते' (१.६.६) इत्यादिच्छान्दोग्यश्रुतेः, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशाद्' इति (ब्र.सू.१.१.२०) न्यायाच्च। तथा च सर्वज्ञपरमेश्वरोपासनात् सर्वज्ञतालाभो याज्ञवल्क्यस्योचितः, मण्डलवाचकाऽऽदित्यादिपदानां तदन्तःस्थे लक्षणा चेति भावः। आदित्यान्तःस्थपुरुषस्य सर्वात्मतामाह—नामेति।'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म च' (बृ.१.६.१) इति श्रुतेः विश्वरूपभूतनामादित्रितयात्मकमिति। यद्वा सर्वपाप्मविनिर्मोकाभिधायकेन उदितिश्रुतिप्रसिद्धनाम्ना वक्ष्यमाण-रूपक्रियाभ्यां च युक्तम्—इत्यर्थेन सविशेषता सूचिता।।११।। तस्य देवस्य भक्तानुग्रहार्थं रूपम् 'आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्ण' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितं (छा.१.६.६) दर्शयति—सुवर्णेति। नेत्रयोरतिरक्तपुण्डरीकाकारत्वाद् नेत्रे विहाय सर्वाङ्गेषु स्वर्णवर्णमित्यर्थः।।१२।। तस्य च्छान्दोग्योक्तां सर्वेशनरूपां क्रियां दर्शयति—अमुष्मादिति। यो

हे गुरो ! हे ब्रह्मनिष्ठ ! अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि याज्ञवल्क्यने, किसे, किस तरह और कैसी ब्रह्मविद्या प्रदान की।।९।।

यह सुनकर गुरु अत्यंत प्रसन्न हो शिष्यसे बोले—वेदोक्त विचित्र कथा कहता हूँ, सुनो।।१०।।

महर्षि वैशम्पायन से पढ़े वेद को उनकी आज्ञा से ही जब याज्ञवल्क्य ने छोड़ दिया तब उद्वेगदशामें उन्होंने मानव गुरु न बनाने का निर्णय कर अत्यन्त घोर तपस्यासे परमेश्वर को प्रसन्न किया। परमेश्वर आदित्यमण्डल में बसते हैं, उस उत्तम उपाधि में उनकी विशेष उपलब्धि है। यद्यपि नाम-रूप-कर्म उनकी ही मानो गात्र है अर्थात् वे सर्वात्मा हैं तथापि उनका खास नाम है 'उत्' जिसका मतलब है सब पापों से हमेशा छूटा हुआ। ऐसे ही उनकी विशिष्ट सरूपता है एवं क्रिया है : अत्यंत लाल कमल के रंग की उनकी आँखें छोड़कर नख व केश पर्यन्त उनका सारा शरीर एक-सार सुनहरा है। आदित्यपुरुषसे ऊँचे तथा चक्षुर्वर्ती उन्हीं आदित्यसे नीचे जितने लोक हैं—एवं मध्यवर्ती भी जितने लोक हैं—उन सभी पर रहने वालों की कामनायें पूरी करना, इष्ट पदार्थ प्रदान करना, भगवान् की क्रिया है। आदित्यमंडल

ऋग्भिस्तपति पूर्वाह्णे यजुर्भिश्चापि मध्यतः। सायाह्ने सामभिः शश्वद् अथर्वाङ्गिरसा समम्।।१५।।

वेदद्विरेफै रचिते रक्तशुक्लासितात्मभिः। चित्ररूपे मधुन्यास्ते फलदः सर्वकर्मणाम्।।१६।।

कर्मपुष्परसो यस्मिन् नित्यमेव प्रधावति। विमुञ्चति च यो देवो वृष्टिं सर्वस्य कारणम्।।१७।।

बहिश्चरो हि यः प्राणः सर्वेषामिह देहिनाम्। स्थिराणां जङ्गमानां च ब्रह्मादीनां हृदि स्थितः।।१८।।

देवः अमुष्माद् आदित्यपुरुषाद् ये परे उपरितना लोकाः, ये च चाक्षुषात् चक्षुर्वर्तिनः तदीयरूपाद् अर्वाञ्चः अधस्तना लोकाः, सन्दंशन्यायेन मध्यवर्तिनश्च ये लोकाः, तेषां सर्वेषां लोकवर्तिजनानां सम्बन्धिनां कामानां काम्यमानपदार्थानाम् ईष्टे ईशो भवति, प्रदातेति यावत्। यत एक एव देवोऽध्यात्मं चक्षुषि अधिदैवमादित्यमण्डले च स्थित इति।।१३।। अयमेव देवः सूक्ष्मसमष्ट्युपाधिकत्वेन हिरण्यगर्भः, कारणोपाधिकत्वेनेश्वर इति च श्रुतावुक्त इत्याह—यो जीवेति। यो देवः जीवघन इति पदघटितेऽत्र वेदे 'स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र.५.५) इति प्रश्नवाक्यरूपे जीवसमष्टिवाचकजीवघनपदेन हिरण्यगर्भतया, ततः परम् ईक्षणीयेश्वरतया च वैदिकैः पठ्यत इत्यर्थः। अयमेव देवः 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः' (बृ.२.४.१०) इत्यादिश्रुतौ वेदयोनित्वेनोच्यत इत्याह—यस्मादिति। स्पष्टम्।।१४।। 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' (महाना. १२.१२)[1] इत्यादिश्रुत्यनुसारेण तस्य वेदत्रयात्मकतामाह—ऋग्भिरिति। ऋग्वेदरूपेण आदित्यपुरुषः पूर्वाह्णे त्रिधा विभक्तदिवसप्रथमभागे तपति। तथा मध्यतो मध्याह्ने यजुर्भिः। तथा सायाह्ने तृतीयभागेऽथर्वाङ्गिरसैर्युक्तैः सामभिः तपतीति।।१५।। तथाऽयमेव देवः छान्दोग्ये तृतीयप्रपाठके मधुविद्यायां निरूपित इत्याह—वेदेति द्वाभ्याम्। यो देवः सर्वकर्मफलप्रदः आदित्यरूपे मधुनि प्रसिद्धमधुवद् वस्वादिदेवानां मोदहेतौ आस्ते तिष्ठति; कीदृश आदित्यरूपमधुनि ? विचित्ररूपे रक्तशुक्लकृष्णातिकृष्णगुह्यात्मकपञ्चरूपोपपन्ने। पुनः कीदृशे ? यथाक्रमं रक्तादिरूपैर्ऋग्यजुस्सामाथर्वाङ्गिरसोपनिषदात्मकवेदरूपैः द्विरेफैः भ्रमरैः रचिते; यथा मधुमक्षिकाः पुष्पेभ्यो रसमाहृत्य मधुदेशं नयन्ति तथा ऋगादिवेदभ्रमरा यागादिकर्मरूपपुष्पेषु मन्त्ररूपेण गत्वा कर्मणां सूक्ष्मावस्थात्मकमदृष्टसंज्ञं रसं नयन्ति। तदेतदुक्तं कर्मपुष्परसो यत्र नित्यमेव प्रधावति इति। यत्र आदित्यमधुनि प्रधावति गच्छति। न केवलं वस्वादिदेवानामेव मोदहेतुः, अपि वृष्टिद्वारा सर्वेषामित्याह—विमुञ्चतीति। तदुक्तम् 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।' (मनु.३.७६) इति।।१६-१७।। बहिश्चर इति। तथाऽऽदित्यपुरुषः सर्वेषां बहिश्चरो बहिर्वर्तमानः प्राणः; तथा च प्रश्नश्रुतिः 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्र.१.८) इति। तथाऽयमेव पुरुषोऽन्तर्यामिब्राह्मणेऽन्तर्यामित्वेन निरूपित इत्याह—स्थिराणामिति।।१८।।

में स्थित और शरीरस्थ चक्षुमें स्थित एक ही देव है।।११-१३।। वैदिक लोग श्रुतियों में उन्हीं को 'जीवघन' शब्दसे भी कहते हैं, जो शब्द जीवों की समष्टि का वाचक होने से सूक्ष्मसमष्टि उपाधि वाले हिरण्यगर्भ का द्योतक है। द्रष्टव्य ईश्वर भी उन्हीं को कहा जाता है। जैसे बिना यत्नविशेष के हम साँस लेते-छोड़ते हैं ऐसे ही उन व्यापक स्वरूप वाले शास्त्रयोनि ने वेदों को प्रकट कर दिया।।१४।। आदित्यपुरुष दोपहर से पहले ऋग्वेदरूपसे तपता है, दोपहर में यजुर्वेद रूप से तथा शाम को अथर्वांगिरस सहित सामवेद रूपसे तपता है। (प्रातः मंडल प्रधान होता है जिसमें ऋग्दृष्टि करनी चाहिये। दिनमें सूर्यदेवता अपना पौरुष प्रदर्शित करते हैं, उस देवतास्वरूप में यजुर्दृष्टि करनी चाहिये। शाम को मण्डल डूब भी जाये तो किरणें दीखती हैं अतः अपराह्न किरणप्रधान है, किरणों में अथर्वसमेत साम की दृष्टि करनी चाहिये। यह तैत्तिरीयका प्रसंग यहाँ संकेतित है।)।।१५।।

---

१. मण्डलार्चिःपुरुषरूपा त्रयी तत्र वर्णिता। ऋचो मण्डलं, अर्चिः सामानि, यजूंषि पुरुषो देवतात्मेति।

याज्ञवल्क्योदन्तः

यस्तमाराध्य सन्तुष्टाद् देवाद् वेदानवाप्तवान् । आदित्यमण्डलस्थानाद् अस्मात् सर्वगरीयसः ।।१६।।

प्राप्य वेदान् मुनिः सर्वान् गृहस्थाश्रमधर्मवान् । चतुर्वेदार्थिनः शिष्यान् उपनिन्ये महामनाः ।।२०।।

चतुर्धा दृश्यते तस्य मुनेः शिष्यौघमण्डली । अध्यापनरतस्यैषा याज्ञवल्क्यस्य धीमतः ।।२१।।

चतुर्मण्डलमध्यस्थो राजते मुनिभास्करः । दिशां मण्डलमध्यस्थो यथाऽयं भगवान् रविः ।।२२

यस्तमिति । यो **याज्ञवल्क्यः** तं वर्णितमीश्वरम् आराध्य सन्तुष्टाद् अस्मात् **सर्वगुरोः** देवाद् **आदित्यान्तरस्थाद् वेदांश्चतुरो**ऽवाप्तवान् । यं ज्ञमिति पाठे यं देवं ज्ञं **सर्वज्ञम्** आराध्य सन्तुष्टादस्माद्वेदानवाप्तवान् **याज्ञवल्क्य इति शेषः।** यज्ञमिति पाठे वर्णितरूपं यज्ञं विष्णुं, **'यज्ञो वै विष्णुः'** (ऐ. ब्र. ३.४) इति श्रुतेः, आराध्य तस्मात् तुष्टाद् वेदानवाप्तवानिति सम्बन्धः ।।१६।। प्राप्येति । एवं वेदान् प्राप्य **याज्ञवल्क्य-मुनिः चतुर्णां वेदानामर्थिनः** अधिजिगांसून् शिष्यानुपनिन्येऽध्ययनाङ्गमुपनयनसंस्कारं प्रापितवानित्यर्थः ।।२०।। चतुर्धेति । तस्य मुनेः **शिष्यगणमण्डली** ऋगाद्यध्येतव्यवेदभेदेन **चतुर्विधा दृश्यत** इति ।।२१।। चतुर्मण्डलेति । **चतुर्विधशिष्यमण्डलमध्यस्थो मुनिः सूर्यवद्** राजते स्मेति, याज्ञवल्क्यस्य चतुर्वेदवित्त्वे लिङ्गं च व्याख्यास्यमाने गवामाश्रमं प्रति उत्कालनवाक्ये (श्लो.६६) शिष्यस्य सामाध्यायित्वेन सम्बोधनम् ।।२२

छान्दोग्य की मधुविद्यामें भी इसी देवका निरूपण है : जैसे शहद हमें प्रसन्न करती है ऐसे ही वसु आदि देवों को प्रसन्न करने वाला आदित्य भी मधु है, जिसमें सब कर्मों का फल देने वाले देव विराजते हैं। उस आदित्यरूप मधु के पाँच रूप हैं—रक्त, शुक्ल, कृष्ण, अतिकृष्ण और गुह्य। ऋक्, यजु, साम, अथर्वांगिरस और उपनिषत् इन पाँच भौंरों द्वारा वह मधु तैयार किया गया है। (ऋगादि वेद भ्रमर हैं, यागादि कर्म फूल हैं जिनकी ओर मंत्ररूपसे वेद जाते हैं अर्थात् फूल पर भ्रमर मँडराता है, ऐसे ही यज्ञों के दौरान मंत्र गूँजते रहते हैं। वहाँ से जो पुण्य ग्रहण होता है वही पुष्परस है।) पुण्यकर्मरूप पुष्परस हमेशा आदित्यरूप मधु तक पहुँचता है। आदित्यस्थ वे देव ही सभी की कारणभूत वर्षा भी करते हैं। (उन तक गया पुण्य ही जल रूपसे बरसकर सबका हित करता है।) सब प्राणियों के बाहरी शरीरों में चलने वाला प्राण भी उसी आदित्य का रूप है। ब्रह्मादि चराचर प्राणियों के हृदयमें वे ही अंतर्यामी रूपसे उपस्थित हैं।।१६-१८।।

अभी जिनका वर्णन किया वे आदित्यवासी देव जब आराधनासे सन्तुष्ट हुए तब उनसे याज्ञवल्क्य ने चारों वेदों की शिक्षा प्राप्त की। ईश्वर सभी के आदिगुरु हैं अतः उनसे कोई भी ज्ञान मिल सकता है और वह प्राप्ति भी सांप्रदायिक ही मानी जाये यह उचित है क्योंकि सभी संप्रदायों का उत्स तो वे ही हैं।।१६।। उन महामना ऋषि ने चारों वेद ग्रहण कर गृहस्थाश्रम अपनाया और सभी वेदों के अध्ययनार्थियों का उपनयनकर पढ़ाने लगे। अध्यापन में तत्पर उन विद्वान् याज्ञवल्क्य के शिष्य चारों वेद सीखने वाले होने से चार प्रकार के मिलते हैं—कुछ ऋगध्यायी, कोई यजुरध्यायी इत्यादि। दिङ्मण्डल के बीच सूर्य की तरह चारों प्रकारके शिष्यों की मंडली से घिरे मुनिरूप भास्कर शोभित होते हैं।।२०-२२।।

गुणनिमित्तक ख्याति मानो कोई वेश्या है जिसकी कीमत आँककर—सौंदर्य, कलादि की परख कर—विद्वान् उसका उपभोग करते हैं। याज्ञवल्क्य की कीर्तिरूप वेश्या त्रिलोकी में विद्यमान विद्वान् रूप सब रसिकों के सामने जाकर उनके हृदयों को तपाया करती थी। कुछ पुण्यात्मा बुद्धिमान् थे जैसे जनकादि, जिन्हें यद्यपि त्रैवर्णिक नर हमेशा मना करते थे तथापि वे उस वारांगना का आस्वादन किया करते थे। (यह कीर्ति-वारांगना इन रसिकों के पास मुदिता को दूती बनाकर पहले अपने अनुकूल कर लेती थी ताकि वे इससे सुख उठा लेते थे। अन्य को सुखी देखकर प्रसन्न होना मुदिता

कीर्तिवाराङ्गना[1] तस्य सर्वान् विद्वद्भुजङ्गमान्। लोकत्रयीस्थितान् प्राप्ता तेषां हृदयतापदा।।२३।।

एतां बुभुजिरे केचित् पुण्यात्मानो महाधियः। जनकाद्या वार्यमाणाः सदा त्रैवर्णिकैर्नरैः।।२४।।

अस्य तां मृदुलां वीक्ष्य ह्यसूयालयतां गताः। निन्दावधूं पिशाचीं तां जज्ञिरे कीर्तिदूषिकाम्।।२५।।

याज्ञवल्क्यस्य कीर्तिमसंवृतचारित्वेन दिव्यवाराङ्गनात्वेन निरूपयति—कीर्तीति द्वादशभिः। तस्य याज्ञवल्क्यस्य कीर्तिरूपवाराङ्गना त्रिलोकीगतान् सर्वान् विद्वद्भुजङ्गमान् कीर्तेर्गुणख्यातिरूपाया वाराङ्गनात्वे तस्या विवेकेनास्वादनरूपभोगशालिनां विदुषां सहृदयत्वेन प्रसिद्धानां 'भुजङ्गो गणिकापतिः' इति हैमकोशानुसारेण भुजङ्गत्वं विवक्ष्यते; तथा च विद्वांस एव भुजङ्गास्तान् प्राप्तेति। कीदृशी ? तेषां सहृदयानां हृदयस्य तापदा द्राविका संतापिका वेत्यर्थः। 'तप्तं तप्तेन सम्बध्यत' इत्यादिवाक्येषु अभिकाङ्क्षारूपं द्रवणमपि धातोरर्थः प्रसिद्धः। लोकेऽपि वाराङ्गनानां स्वविशेषाभिज्ञजनोपस्थानं तद्धृदयतापकत्वं च प्रसिद्धमिति।।२३।। तत्र सा येषां विदुषां हृदये द्रावणाख्यं तापं कृतवती तान् दर्शयति—एतामिति। एतां याज्ञवल्क्यकीर्तिवाराङ्गनां केचिज्जनकाद्या विद्वांसः त्रैवर्णिकैः लोहितशुक्लकृष्णवर्णशालिगुणत्रयाभिमानिभिर्जनैः आश्वलाद्यैः वार्यमाणा अपि बुभुजिर आस्वादितवन्तः, यतः पुण्यात्मानः, मुदितया योगसूत्रप्रसिद्धया (१.३३) दूत्येव तद्वशी कृता इति भावः। ननु कथं निवारिता अपि वाराङ्गनायां रताः? अत आह—महाधियः। कीर्तेर्दिव्यत्वेन निषेधानर्हत्वं पूर्वमङ्गीकृताया मुदिताया अपरित्याज्यत्वं पुरुषार्थप्रदायाः तत्त्वजिज्ञासासख्या अनुसरणीयत्वं चालोचयन्ती महती धीर्येषां ते तथा[2]। तथा च 'स्त्रीवशा निषेधं न गणयन्ती'ति लोकेऽपि प्रसिद्धमिति भावः।।२४।। अथ येषां सा सन्तापदाऽऽसीत् तेषां वृत्तमाह—अस्य तामिति। अस्य याज्ञवल्क्यस्य तां कीर्तिवाराङ्गनां मृदुलां कोमलां जनकराजादिमनोहारिणीमिति यावत्; एवंविधां वीक्ष्य केचिद् आश्वलाद्या असूयालयतां असूयया लयः संश्लेषो येषां तेषां भावस्तत्तां गताः सन्तो निन्दारूपां वधूं[3] वधूवत् तद्रहस्यचारिणीं कृष्णवर्णत्वेन पिशाचीतुल्यां शुक्लवर्णायाः कीर्तेः दूषणोद्यतां जज्ञिरे जनितवन्त इत्यर्थः। 'लयो विलासे संश्लेष' इति विश्वः। अयं भावः—यथा लोके वाराङ्गनासक्तं राजादिकं ततो निवर्तयितुं नूतनां वधूं वोढव्यां जनयेयुः तथा याज्ञवल्क्यं द्विषद्भिः निन्दावधूः असूयासङ्गेन जनिता, तथापि निन्दावध्वा उद्वेजकरूपत्वं तैर्नालोचितम् इति अहो ते नीतिशास्त्रतत्त्वमपि न जानन्तीति।।२५।। जनकराजपुरोहितादिकृतां

है। परमानंदरूपता पाये व्यक्ति की जानकारी प्रसन्नताहेतु होनी चाहिये। त्रैवर्णिक अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें ही अभिमान वाले, जिन्हे निस्त्रैगुण्यमें रमण नहीं होता, वे ब्रह्मवेत्ताके प्रति मुदिता रखने में बाधा डालते हैं। जनकादि बुद्धिमान् जानते हैं कि लौकिक वारांगना हेय हो सकती है पर दिव्य अप्सरा नहीं ! वैषयिक सुख वाले के प्रति मुदिता रखना बंधनहेतु है जबकि निर्विषय आनंद हो चुके के प्रति मोक्ष का हेतु ही है। यह मुदिता मानो तत्त्वजिज्ञासाकी सखी है क्योंकि उस ज्ञानी से मुदिता रखने पर स्वाभाविक है हम जानने को उत्सुक होंगे कि उसके पास सुखका कौन-सा स्रोत है। अतः जैसे स्त्रीके वशीभूत लोग निषेधों की परवाह नहीं करते, ऐसे ही बुद्धिमान् सांसारिक अभिमानों की उपेक्षाकर तत्त्ववेत्तासे शिक्षा पाने का प्रयास किया करते हैं।)।।२३-२४।।

राजा जनक आदि का मन हर लेने वाली याज्ञवल्क्य की उस कीर्तिवारांगनाको देखकर आश्वल आदि कुछ लोगों ने असूयासे संपर्क किया जिसने पिशाची-समान निंदा-नामक स्त्री उत्पन्न की, जो कीर्ति पर दोषारोपण करने उसी तरह जुती रहती थी जैसे गाँव-शहर की बहुएँ ! (राजा आदि यदि किसी वेश्या पर आसक्त हो जाये तो मंत्री आदि

१. कीर्तिर्मदीयाऽस्त्विति सर्वैः कामितत्वात्तस्या वाराङ्गनात्वं सङ्गच्छते, सापि नैकस्य स्वीया बुभूषति किन्तु तत्तत्कालं तस्य तस्य महावीर्यस्य भवति। २. विद्वत्कीर्तिमुपश्रुत्यैव तत्त्वधियो लाभाय विद्वांसं गमिष्यन्ति, ईर्ष्यया तु तदभिगमाऽयोगात्, विना गुरूपदेशमौत्सर्गिकरीत्या ज्ञानासंभवात्। ३. वधूर्हि स्वकीया भवतीति निन्दायाः कीर्तेर्विशेषः। न हि कीर्तिमिव निन्दां सर्वो जनो मेऽस्त्विति वष्टीति भावः।

पुरोहितकृता याज्ञवल्क्यनिन्दा

आदित्यादाप्तवान् विद्यां याज्ञवल्क्यो महामुनिः। वक्त्रेण न विना कस्मादेनामत्र वदत्ययम्।।२६।।

आदित्यस्य रथे स्थित्वा विद्याऽधीताऽमुना यदि। अधीते केन नैवाऽयं स्थित्वा प्रौढे विभावसौ।।२७

ज्योतिर्मात्रं यदादित्य उक्तवान् वेदमण्डलीम्। ज्योतिर्मात्रवपुर्वह्निर्नाधुना केन वक्त्यसौ।।२८।।

तपसा तोषमायाता प्रत्यक्षा यदि देवता। शरीरिणी कथं नित्या भवेदेषा यथा वधूः।।२९।।

ततोऽयं स्वेच्छया किञ्चित् स्वरवर्णानुकारतः। वेद इत्येव कृत्वा नो मोहयत्यल्पमानसान्।।३०।।

वर्णानामानुपूर्वी या सम्प्रदायानुसारतः। स वेद इति विज्ञेयो ह्यपरं नटभाषणम्।।३१।।

कम्पितानि सदा ब्रूते यजूंष्येष नटो यथा। पदवर्णक्रमैस्तद्वद्विहीनान्यतिसाहसी।।३२।।

निन्दामभिनयति—आदित्यादिति **अष्टभिः**। यदि अयं **लौकिकगुरोः** विद्यां **नाप्तः किन्तु अलौकिकाद्** आदित्याद् **गुरोः प्राप्तः** तदाऽलौकिकत्वादेव **मुखं** विना एव **विद्यां कुतो** न पाठयतीत्यर्थः।।२९।। आदित्यस्येति। **किञ्च** आदित्यस्य रथे स्थित्वाऽमुना **याज्ञवल्क्येन** विद्याऽधीता इति यदि उच्यते, तदा अयं प्रौढे **प्रज्वलिते** विभावसौ **अग्नौ** स्थित्वा **कुतो** न **पठतीति। 'विभावसुर्दिनमणौ हारभेदे च पावक'** इति **विश्वः**।।२७।। ज्योतिर्मात्रमिति। **किञ्च** ज्योतिर्मात्रं **तेजःपुञ्जमात्ररूप** आदित्यो **यदि अस्मै याज्ञवल्क्याय वेदमुक्तवान्, तर्हि तादृशो** वह्निः **अपि कुतो** न **वेदमुपदिशतीति**।।२८।। तपसेति। यदि **उच्यते—सा तुष्टाऽऽदित्यदेवता** शरीरिणी **सत्यस्मा उपदिदेश—इति, तर्हि** सा देवता शरीरिणी **वध्वादिवत्** कथं नित्या स्यादिति। **अनित्यत्वे, अस्मदादिभ्यः कोऽस्या विशेष इति भावः**।।२९।। तत इति। ततः **अस्य वेदलाभे उपपत्त्यभावाद्** अयं **याज्ञवल्क्यः स्वकल्पितं** वाक्यं **वैदिकस्वरवर्णादिसाम्येन पठन्, 'अयं वेद'** इति **प्रसिद्धं कृत्वा अस्मान्**[1] **अल्पज्ञान्** मोहयतीति।।३०।। **वेदलक्षणमाहुः**—वर्णानामिति। **सम्प्रदायानुसारेण स्वरादिविशिष्टा या वर्णानुपूर्वीपरिपाटी सैव वेदः, ततोऽन्यद् नटवाक्यसममिति। सम्प्रदायस्तु नास्य लोके प्रसिद्ध इति भावः**।।३१।। **किञ्च वेदान्तरविज्ञो भवतु नाम याज्ञवल्क्यः तथापि तैत्तिरीयादिप्रसिद्धक्रमादिविलक्षणत्वाद् न यजूंष्येष पठतीत्याहुः**—कम्पितानीति। एष **याज्ञवल्क्यः** कम्पितानि **हस्तकम्पयुक्तानि, तथा प्रसिद्धपदादिमर्यादाहीनानि** यजूंषि **नटवत्पठतीति। अत एव**—अतिसाहसी **अतिशयेन साहसी, अविमृश्यकर्ता**।।३२।।

हितैषी उससे उन्हें निवृत्त करने केलिये किसी नयी लड़की को तैयार करते हैं, जो राजादिसे ब्याही जाने लायक हो। ऐसे ही आश्वलादि ने निंदा तैयार की। किंतु कीर्ति-सी मनोहारिता निंदामें कहाँ !)।।२५।। वे जो निंदा करते थे वह कुछ यों थी : याज्ञवल्क्य स्वघोषित महामुनि है जिसने लौकिक गुरु के बजाये आदित्यसे विद्या पाने का अलौकिक चमत्कार किया था तो अब यह बिना मुँह के ही पढ़ा क्यों नहीं लेता ?।।२६।। सूर्य के रथ पर बैठकर अगर इसने विद्या ग्रहण की है तो धधकती आगमें बैठकर अब क्यों नहीं वेदपाठ करता?।।२७।। तेजःपुंज ही तो आदित्य है; यदि वह याज्ञवल्क्य को सारी वेदशाखायें सिखा सका तो तेजोरूप ही जो यह आग है यही क्यों वेदका उपदेश नहीं करती ?।।२८।। यदि तपसे प्रसन्न होकर देवता ने शरीरधारण किया और इसके सामने प्रत्यक्ष दर्शन दिया तो अवश्य वह देवता लौकिक स्त्रीकी तरह अनित्य ही है ! फिर याज्ञवल्क्य ने कौन-सा अजीब कार्य किया कि सूर्य से पढ़ लिया।।२९।। इसलिये सचाई तो यह है कि खुद कल्पित वाक्यों को यह वैदिक स्वर की नकल करते हुए सस्वर बोल देता है और 'यही वेद है' एसा कहकर अल्पज्ञ लोगों को ठग लेता है।।३०।। वेद तो उदात्तादि स्वरों से विशिष्ट निश्चित क्रम वाले वाक्यों का नाम है, जिन्हें संप्रदाय से ही ग्रहण किया जाता है। उससे अन्य तो नटों का भाषण ही होगा, वेद नहीं !।।३१।।

---

१. अस्मानल्पज्ञान् मत्वा मोहयितुमिच्छतीत्यर्थः।

यजुर्वेदं च यो नैव वेत्त्यधीतं स्वयं पुरा। वेदविप्लावकः सोऽयं जानीयादपरान् कथम्।।३३।।

इत्यादिनिन्दावचनैरसूयासहचारिणः। कीर्तिवाराङ्गनां रोद्धुं प्रवृत्ता नेशतेऽपि ते।।३४।।

मुनिस्तु क्षमी

याज्ञवल्क्योपि मतिमान् सर्वबुद्धिप्रचारवित्। स्वयं जानंस्तथा शृण्वन् ज्ञानादास्ते हसन्निव।।३५।।

प्रावृट्काले यथा मेघो वर्षत्येव न गर्जति। वेदान् सर्वांस्तथैवाह सार्थान्नोचे च तान् क्वचित्।।३६।।

जनकसमाचारः

जनकोऽपि महीपालो विदेहेषु वसन् सदा। मिथिलाधिपतिर्नित्यं याज्ञवल्क्यं दिदृक्षते।।३७।।

पुरोहितादयस्त्वेनमाश्वलप्रमुखा द्विजाः। निरुन्धन्ति सदोपायैर्विविधैर्निन्दयाऽपि च।।३८।।

किञ्च उपपातकेषु गणितेन अधीतनाशनेन[1] युक्तोऽयमित्याहुः—यजुरिति। स्वयं पुरा वैशम्पायनाद् अधीतं यजुर्वेदं नैव यो वेत्ति अतो वेदस्य विप्लावको विस्मर्ता अपरान् वेदान् स्वयं कथं जानीयाद् इति।।३३।। इत्यादीति। असूयया निन्दाजनन्या सहिताः केचिद् इत्यादिनिन्दावचनैः वचनपदेन रूपकोपयोगि वाग्दानमपि सूच्यते। कीर्तिवाराङ्गनां रोद्धुं प्रवृत्ता अपि नेशते न समर्था अभूवन्निति।।३४।।

याज्ञवल्क्यस्य क्षमाशीलतामाह—याज्ञवल्क्योऽपीति द्वाभ्याम्। प्रचारः प्रवृत्तिः। उत्तरार्द्धे—अपीति शेषः। ज्ञानात् ज्ञानप्रभावात्।।३५।। प्रावृट्काल इति। प्रावृट्कालिकमेघवद् आत्मश्लाघां गर्जननिभामकुर्वन्नेव याज्ञवल्क्यः सार्थान् सर्वांस्तथा पूर्ववदेव आह अपाठयत्, तान् निन्दकान् प्रति क्वचित् किञ्चिदपि नोचे—इति अनेन कीर्तियोग्यता सूचिता।।३६।।

उक्तरूपकस्य तात्पर्यार्थं दर्शयति—जनक इति द्वाभ्याम्। जनकः कीर्तिं श्रुत्वा याज्ञवल्क्यं दिदृक्षते द्रष्टुमिच्छति स्मेति।।३७।। पुरोहितादय इति। एनम् दर्शनोद्यतं राजानं विषयान्तरप्रवर्तनादिरूपैः उपायैः निन्दया च पुरोहितादयो निरुन्धन्ति स्मेति।।३८।।

और याज्ञवल्क्य यजु कह कर जो वाक्य बोलता है वह भी नट की तरह हाथ मटका-मटका कर गाता है ! (शुक्लयजुमें हस्तस्वर होता है।) इसमें विचार नहीं, हिंमत जरूर है, इसलिये पदों के व वर्णों के क्रमसे रहित वाक्यसमूह को भी वेद मनवाना चाहता है। (तैत्तिरीयादिमें प्रचलित क्रम से अलग होने के कारण यह लांछन लगाया है।)।।३२।। इसने पहले स्वयं जो वैशंपायनसे वेद पढ़ा वही अब इसकी बुद्धिमें है, नहीं तो ऐसा वेद भूलने वाला अन्य वेद क्या जानेगा! (पढ़ा वेद भूलना तो उपपातक है, ऐसा पापी वेद का जानकार कैसे ? स्वाध्यायत्याग को मनु ने उपपातक कहा है (११.५६)। वस्तुतस्तु अधीत वेद को भूल जाना तो सुरापानके तुल्य अर्थात् महापातकसमकक्ष ही है।)।।३३।। इस प्रकारके वचनों से 'असूया'के 'यारों' ने 'कीर्ति'-वारांगना को राजाको आकृष्ट कर पाने से रोकने के लिये 'निन्दा' का वाग्दान राजा को किया, पर वे अपना मनोरथ सिद्ध करने में सफल नहीं हुए।।३४।।

याज्ञवल्क्य तो बुद्धिमान् थे, बुद्धिवृत्तिमात्रके साक्षी थे। अतः यह सब सुनते और जानते हुए भी तत्त्वनिष्ठाके प्रभावसे अविचलित रहकर मुस्कुराते रहते थे।।३५।। जैसे बरसात के बादल गर्जे बिना ही बरसते रहते हैं ऐसे ही याज्ञवल्क्य अर्थ सहित वेद पढ़ाते ही रहते थे, न आत्मश्लाघा करते थे और न निंदकों के प्रति कुछ कहा ही करते थे।(इससे स्थितप्रज्ञव्यवहार सूचित है।)।।३६।।

---

१. 'गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः। गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च'।।११.५६।। इत्यादिना बहूनि मनुनोपपातकान्यवादिषत। अधीतवेदस्यानभ्यासेन विस्मरणं तु महत्पापतुल्यम्—'ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः। गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्'।।११.५६।। गर्हितं लशुनादि। अनाद्यं पुरीषादि। यद्वा 'न भोक्ष्य' इति यदुद्दिश्य संकल्पः पूर्वं कृतस्तदनाद्यम्।

राजाऽपि बुद्धिमांस्तेषां मतं विज्ञाय धार्मिक[1]:। आप्तांस्त्रैवर्णिकान् सर्वान् ब्राह्मणानयनेऽदिशत्।।३९।।

तेऽपि भृत्यास्तथा चक्रुर्गत्वा देशाननेकशः। समानयन् सशिष्यांस्तान् विप्रान् वेदार्थकोविदान्।।
याज्ञवल्क्येन सहितान् कुरुपाञ्चालकानपि।।४०।।

वेदध्वनिर्महानासीत्तस्य राज्ञो निवेशने। त्रैवर्णिकजनौघस्य कर्णदावाग्निहारकः।।४१।।

यज्ञे समागता ऋषयः

आश्वलस्तत्र होताऽऽगाज्जनकस्यास्य भूभुजः। आर्तभागस्तथा विप्रो जरत्कारुसुतो महान्।।४२।।

भुज्युर्लाह्यायनिस्तद्वद् उषस्तो ब्राह्मणोत्तमः। चाक्रायणश्च सर्वज्ञः कहोलोऽपि द्विजोत्तमः।।४३।।

'जनको ह वा' (३.१.१) इत्यादिप्रथमकण्डिकार्थमुपबृंहयति—राजापि इत्यादिना शास्त्रोक्ता गा इत्यतः (श्लो. ६७) पूर्वतनग्रन्थेन। तेषां पुरोहितादीनां मतं दुरभिप्रायं ज्ञात्वा याज्ञवल्क्यदिदृक्षया उपायान्तरं चिकीर्षन् आज्ञाकारिणस्त्रैवर्णिकान् आप्तान् विश्वस्तान् प्रति 'मया यागश्चिकीर्षितस्तदर्थं सर्वतो ब्राह्मणान् आकारयत' इति अदिशत् आज्ञां दत्तवान् इति।।३९।। तेऽपीति। ते विश्वस्ता राजभृत्या अनेकदेशेभ्यो ब्राह्मणानानयन्तः कुरुपाञ्चालदेशवासिनोऽपि विप्रान् तद्देशवासियाज्ञवल्क्येन सहितान् आनीतवन्त इति।।४०।।वेदेति। तेषामागमने सति जनकराजगृहे महान् वेदध्वनिरासीत्। कीदृशः ? शूद्रातिरिक्तजनानां सुखदः इति।।४१।।

तेषु प्रधानभूतान् दर्शयति—आश्वल इति पञ्चभिः। आश्वलनामा जनकस्य होता ऋग्वेदोक्तकर्मकर्ता आगात् आगतः। तथा जरत्कारुपुत्रः आर्तभागनामा।।४२।। भुज्युरिति। तथा भुज्युनामा लाह्यायनिः लह्यनामकस्यापत्यं लाह्यस्तस्यापत्यं लाह्यायनिरागतः, तिकादित्वात् (४.१.१५४) फिञ्। तथा चाक्रायणः चक्रनामकस्य युवापत्यम् उषस्तनामाऽऽगतः। तथा कौषीतकेयः कुषीतकस्यापत्यं, शुभ्रादित्वाद् ढक् (४.१.१२३) कहोलनामाऽऽगतः। तथा

विदेहवासी मिथिलानरेश राजा जनक ने जबसे याज्ञवल्क्य की कीर्ति सुनी तभी से उनके दर्शन पाने को उत्सुक हुआ। आश्वल आदि उसके ऋत्विक् ब्राह्मण नाना उपायों से और निन्दा द्वारा राजा को रोकते रहे कि वह याज्ञवल्क्यसे मुलाकात न कर पाये।।३७-३८।। राजा धार्मिक था अतः पुरोहितों की भी अवज्ञा नहीं करना चाहता था लेकिन उन सबके दुरभिप्रायको समझ वह गया था। बुद्धिमान् होने से उसने अपने मनोरथ को सिद्ध करने के लिये उपाय खोज लिया। उसने अपने त्रैवर्णिक विश्वस्त अधिकारियों को निर्देश दिया 'मैं एक विस्तृत यज्ञ करना चाहता हूँ, जिसके लिये सभी देशों के ब्राह्मणों को निमंत्रित करो।' उन अधिकारियों ने अनेक देशों में जाकर वेदज्ञ ब्राह्मणों को शिष्यमंडली समेत निमंत्रित किया और मिथिला ले आये। कुरुपांचाल देशों के ब्राह्मण भी लाये गये, जिनमें महामुनि याज्ञवल्क्य भी थे। इतने विद्वान् ब्राह्मणों के उस महासम्मेलन के स्थल उस जनकपुरी में महान् वेदघोष गूँज उठा था, जो सब त्रैवर्णिक वेदरसिकों के कानों को शीतल कर रहा था, क्योंकि सांसारिक चर्चाओं से सभी के कान प्रायः सन्तप्त रहते हैं।।३९-४१।।

राजा जनक के ऋग्वेदीय ऋत्विक् आश्वल उस समाज में आये थे। जरत्कारुके महान् पुत्र आर्तभाग नामक वेदज्ञ भी वहाँ उपस्थित थे। भुज्यु लाह्यायनि (लह्यके पौत्र), ब्राह्मणोत्तम उषस्त चाक्रायण, सर्वज्ञ द्विजोत्तम कहोल जो कुषीतक के पुत्र थे, ब्रह्मनिष्ठ स्त्रीरत्न गार्गी, उद्दालक आरुणि जिन्होंने गार्गी के प्रश्नों के बीच में अपना प्रश्न रखा था, इत्यादि बड़े-बड़े ब्रह्मवादी उस अधिवेशन में आये थे। शकलपुत्र विदग्ध भी वहाँ मौजूद था। वह अत्यंत बातूनी और वृथा अभिमानी था। पापसे उसका विवेक ग्रस्त रहने से वह हमेशा याज्ञवल्क्य से द्वेष रखता था। महर्षि याज्ञवल्क्य

१. पुरोहितप्रभृतीनां विप्राणां विरोधमकृत्वोपायविशेषानुष्ठाने हेतुर्जनकस्य धार्मिकता।

कौषीतकेयश्च तथा स्त्री गार्गी ब्रह्मवादिनी। उद्दालकश्चारुणिर्यो गार्ग्युक्तेर्मध्यतोऽवदत्[1]।।४४।।

शाकल्यश्च विदग्धाख्यो वावदूकोऽतिमानभाक्। याज्ञवल्क्याय यो द्वेष्टि सर्वदा पापमोहितः।।४५।।

याज्ञवल्क्यश्च मतिमांश्चतुर्वेदविशारदैः। बहुभिः संवृतः शिष्यैर्भास्करो भगणैरिव।।४६।।

आश्वलाद्याश्च मुनयः शिष्यैः स्वैः स्वैः समावृताः। अन्ये च शिष्यसहिता मिलिताः कोटिशोऽभवन्।।४७।।

याज्ञवल्क्यागमोपायं कृतवांस्तैरवेक्षितः। प्रसङ्गे कुत्रचिद् विप्रान् इदमाह कृताञ्जलिः।।
पुरोहितमुखान् सर्वान् सभायां संस्थितो नृपः।।४८।।

राज्ञो बुभुत्सा

यष्टुमिच्छाम्यहं विप्रा यज्ञैस्तैर्भूरिदक्षिणैः। अनुजानन्तु मां सर्वे घोषयिष्याम्यहं दिशः।।४९।।

तत्र तेषूपविष्टेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु। सर्वज्ञेषु बुभुत्साऽभूद् अनूचानतमं प्रति।।५०।।

सर्व एते महात्मानो वेदवेदाङ्गपारगाः। सदाचाराः सशिष्याश्च ह्येषु कोऽभ्यधिको द्विजः।।५१।।

एतत् कथं हि विज्ञेयम् आधिक्यं ब्राह्मणोत्तमे। कस्मैचिच्चेदहं प्रष्टा स ब्रूयात् स्वमनोगतम्।।५२।।

गार्गी स्त्री ब्रह्मवादिनी ब्रह्मनिष्ठा। तथा आरुणिः अरुणस्यापत्यम् उद्दालकनामाऽऽगतः यः श्रुतौ गार्ग्या उक्तेः प्रश्नपरम्परारूपाया मध्ये वदन् याज्ञवल्क्यं पृच्छन् निरूपयिष्यत इति शेषः। इति द्वयोरर्थः।।४३-४४।। शाकल्यश्चेति। शकलस्यापत्यं शाकल्यो विदग्धसंज्ञश्चागतः। कीदृशः ? वावदूकः अतिवादी, अतिमानी, याज्ञवल्क्यस्य सदा द्वेष्टा चेति।।४५।। याज्ञवल्क्यश्चेति। याज्ञवल्क्यश्च सशिष्य आगतः।।४६।। अन्ये चोक्तानुक्ताः सशिष्या आगता इत्याह—आश्वलाद्या इति। मिलिताः सङ्घीभूता अभूवन्।।४७।।

याज्ञवल्क्यागमोपायमिति। एवं जनको राजा तैः याज्ञवल्क्यं द्विषद्भिः पुरोहिताद्यैः अवेक्षितः अपि तद्दर्शन-प्रतिबन्धे सावधानैः प्रायो दृष्टिगोचरीकृतोऽपि याज्ञवल्क्यागमोपायं कृतवान् सन् कुत्रचित्प्रसङ्गे समवेतान् द्विजान् इदं वाक्यम् आह। इदं किम् ? हे विप्राः ! अहं भूरिदक्षिणैः अश्वमेधाद्यैः यज्ञैः देवान् यष्टुमिच्छामि तत्र भवन्तोऽनुजानन्तु, अहं दिशो घोषयिष्यामि यज्ञारम्भसूचकडिण्डिमशब्देन पूरयिष्यामि। इति राज्ञोक्ते सति तैर्विप्रैः राजाऽऽज्ञातः—यष्टुमारभ्यत[2]—इति शेषः। इति द्वयोरर्थः।।४८-४९।। तत्रेति। तत्र यागदेशे तेषु ब्राह्मणेषु उपविष्टेषु सत्सु सर्वेषु ज्ञेषु मध्ये को वाऽतिशयेनानूचानः साङ्गवेदार्थविद्—इत्याकारा जनकस्य बुभुत्सा जिज्ञासाऽभूद् इति।।५०।। जिज्ञासामेवाभिनयति—सर्व इति। स्पष्टम्।।५१।। तत्राधिकनिर्णयोपायं राजा चिन्तयति—एतदित्यादिना। एतत् सर्वाधिक्यं ब्राह्मणोत्तमे वर्तमानं कथं विज्ञेयं निर्णेयम् ? तत्राप्तवक्तुर्दुर्लभत्वात् प्रश्नो नाभ्युपाय इत्याह—कस्मैचिदिति। स पृष्टः स्वमनोगतं चित्तानुकूलम्।।५२।। तत्र रागद्वेषाभ्यां प्रायो विपरीताभिधानं दर्शयति—यस्येति द्वाभ्याम्।

चारों वेदों के ज्ञाता अपने बहुतेरे शिष्यों सहित भी वहाँ उपस्थित थे मानो किरणों समेत सूर्य हों। अपने-अपने छात्रों से घिरे आश्वल आदि सब मुनियों को मिला लें तो करोड़ों ब्राह्मण मिथिला में एकत्र थे।।४२-४७।।

यद्यपि याज्ञवल्क्यद्वेषी जागरूक रहते थे तथापि राजा ने उक्त उपाय से याज्ञवल्क्यके मिथिला-आगमन की योजना सफल कर ली ! किसी प्रसंग से जब पुरोहित आदि विद्वान् लोग सभामें इकट्ठे हुए तब राजा ने हाथ जोड़कर निवेदन किया 'हे विप्रो ! प्रभूत दक्षिणा वाले यज्ञ मैं करना चाहता हूँ। आप सब की अनुज्ञा मिल जाये तो इस आशयकी घोषणा सब दिशाओं में फैला दूँ।' सभी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा 'अवश्य ही यज्ञ प्रारंभ करो।'।।४८-४९।।

---

१. वदन्निति टीकापाठः। 2. आरभ्येत।

यस्य यत्र भवेद् द्वेषः स तं निन्देद्धि सर्वथा। अपि देवं गुरुं चैव ब्रह्माणं वा स्वयम्भुवम्।।५३।।

यस्य यत्र भवेत् स्नेहः तं स्तुवीत स सर्वथा। अप्यक्षरैकविज्ञानरहितं हालिकोपमम्।।५४।।

उदासीनो न जानाति गुणान् दोषांश्च कस्यचित्। तद्वक्त्रतः स्वयं ज्ञाते निर्णयो मे भविष्यति।५५।

पृच्छामि चेदमून् विप्रान् प्रत्येकमहमेव हि। तथापि निर्णयो न स्यात् स्वस्य को न्यूनतां वदेत्।।५६

अथ नानाविधैश्चोद्यैरमून् ज्ञास्याम्यहं यदि। तथापि कुपिता दद्युः शापं मे ब्राह्मणोत्तमाः।।५७।।

विवादं तत एवैषां कारयित्वाऽत्र संसदि। करोमि निश्चयं तेषामाधिक्यस्य विलोकयन्।।५८।।

कुरुध्वं ब्राह्मणा अद्य विवादमिति चेदमून्। वदामि कुपिताः कुर्युः भस्मतां मम दुर्धियः।।५९।।

तत एते मयानुक्ते स्वयमेव यथा द्विजाः। विवदेरंस्तथा कुर्व उपायं ब्राह्मणान् प्रति।।६०।।

द्वेषे सति बृहस्पतिप्रभृतीनपि निन्दन्तीति।।५३।। यस्य यत्रेति। रागे सति अक्षरस्य यदेकं केवलमर्थानवगाहि ज्ञानं तेनापि हीनं स्तुवन्तीति।।५४।। तर्हि उदासीनं पृच्छ—इत्याशङ्क्यं निर्णयाऽसिद्ध्या वारयति—उदासीन इति। उदासीनस्य आधिक्यव्याप्यगुणानां तदभावव्याप्यदोषाणां च ज्ञानाभावात् तन्मुखादाधिक्यनिर्णयाऽसिद्धिरिति। अथ त्वमेव उदासीनं प्रति गुणदोषौ श्रावयित्वाऽधिकं पृच्छेति चेत् ? तर्हि सिद्धसाधनमित्याह—तद्वक्त्रत इति। तस्योदासीनस्य वक्त्रतः यो मे निर्णयो भविष्यति स स्वयं ज्ञात एव भविष्यति, न त्वज्ञाते। यैर्मत्तः श्रुतैर्गुणैरुदासीनेन आधिक्यं ज्ञेयं तैर्गुणैर्लिङ्गभूतैरहमेव कुतो न जानीयाम्—इति भावः।।५५।। प्रत्येकं प्रश्नपक्षं दूषयति—पृच्छामीति। स्पष्टम्।।५६।। ननु दुरवगाह्यमर्थं तावत् पृच्छ, तत्र च यः सम्यक्तरं वदिष्यति तमधिकतरं जानीहि—इति विकल्पमनिष्टप्रसक्त्या दूषयति—अथेति। चोद्यैः प्रश्नैः ज्ञास्यामि निर्णेष्यामि। मे मह्यम्।।५७।। फलितमाह—विवादमिति। तत उपायान्तरस्याऽसम्भवाद् एषां ब्राह्मणानां परस्परं विवादमेव[1] कारयित्वा आधिक्यस्य निर्णयं करोमि, विलोकयन् प्रत्यक्षगोचरी कुर्वन् सन्निति।।५८।। अथ विवादोपायं राजाऽऽलोचयन् साक्षाद् 'विवदध्वम्' इति प्रेरणा तु बलवदनिष्टहेतुत्वाद् न कार्येत्याह—कुरुध्वमिति।।५९।। तर्हि किं कर्तव्यम् ? अत आह—तत इति। एते ब्राह्मणाः अनुक्ते कुरुध्वमित्यादिवाक्य इत्यनुषङ्गः, विवदेरन् विवादं कुर्युः तथा उपायं कुर्व इति।।६०।।

यागारंभ के अनंतर यागस्थल पर जब सब ब्राह्मण बैठे थे तब राजा ने जानना चाहा कि उन सर्वज्ञ महात्माओं में सर्वाधिक अनूचान अर्थात् अंगों समेत वेद को व उसके अर्थ को जानने वाला कौन है। उसने सोचा—ये सभी विशाल हृदय वाले हैं, वेद-वेदांग जानते हैं, अच्छे आचरण रखते हैं, इनके महान् शिष्य भी हैं, पर सबसे अधिक जानकारी वाला कौन है ? उत्तम ब्राह्मण में विद्यमान उत्कर्ष का मुझे कैसे पता चले ? यदि मैं किसीसे पूछूँगा तो वह अपने ही चित्तके अनुसार जवाब देगा और आप्त वक्ता इस विषयमें दुर्लभ है। जिसे जिसके प्रति द्वेष होता है वह हर तरह उसकी निंदा ही करेगा ! देवता, गुरु, ब्रह्मा या स्वयंभू के बारे में भी द्वेषी को निंदा करने में संकोच नहीं होता। जिस पर स्नेह हो वह चाहे हलवाहे जैसा निरक्षर हो तो भी उसकी हर तरह स्तुति भी रागवान् केलिये संभव हो जाती है। जो राग-द्वेष वाले नहीं वे प्रायः सबसे दूरी रखते हैं, अतः किसी के गुण-दोष जानते ही नहीं कि बता सकें। ऐसे व्यक्ति को मैं जिन-जिन की विशेषता बताऊँगा उनकी न्यायोचित तुलना कर यद्यपि वे उत्तमका निर्णय निष्पक्ष दे सकते हैं तथापि जिस जानकारी से वे निश्चय करेंगे वह तो मेरी दी हुई ही होगी, अतः उनसे पूछने की बजाय मैं ही क्यों न निर्णय तक पहुँच जाऊँ? यदि उपस्थित हर-एक ब्राह्मण से यह प्रश्न करूँ तो भी निर्णय होना मुमकिन नहीं क्योंकि अपनी कमी खुद कौन बताता

१. विदुषां विप्राणां विवादप्रियत्वान्मोदेनैव तत्र प्रवर्तेरंस्तत्र च जयपराजययोः प्रत्यक्षी भावेनानूचानतमस्य संभवी निर्णयः।

धनं विवादकरम्

विषयो बहुलः कस्य चेतःसङ्क्षोभदो न हि। अपि ब्रह्मविदां चित्तं क्षोभयेत् किं कुटुम्बिनाम्।।६१।।

द्रव्येण जायते कामः क्रोधो द्रव्येण जायते। द्रव्येण जायते लोभो मोहो द्रव्येण जायते।।६२।।

निष्किञ्चनस्य कः कामो नित्यं क्षुत्पीडितस्य हि। अन्नं यावत् प्रियाऽऽदद्यादद्मि तावदहं स्वयम्।। दरिद्र इति सञ्चिन्त्य स्त्रीमुखं न विलोकयेत्।।६३।।

दरिद्रं पुरुषं दृष्ट्वा नार्यः कामातुरा अपि। स्प्रष्टुं नेच्छन्ति कुणपं यद्वत् कृमिविदूषितम्।।६४।।

ब्राह्मादिभ्यो विवाहेभ्यः प्राप्ता नारी पतिव्रता। भर्तुर्दरिद्रस्य मृतिं वाञ्छति क्षुधयाऽर्दिता।।६५।।

दारिद्र्यमञ्जनं प्रोक्तं नराणां धर्मदर्शने[1]। दरिद्रः कासुचित् कामं न कुर्याज्जननीष्विव।। अन्नमेकं विहायाऽयं किञ्चिन्नेच्छति कर्हिचित्।।६६।।

स चोपायः पणत्वेनापर्यन्तंधननिधानमेवेति सिद्धान्तयितुं तदुपपत्तये धनस्य विवादोपयोगिक्षोभहेतुतामाह—विषय इति। बहुलो विषयः विषयभोगसाधनं धनमिति यावत्, स कस्य न क्षोभकः! यतो ब्रह्मविदां ब्रह्मसंस्थपदेन छान्दोग्यश्रुतौ (२.२३.१) प्रसिद्धानां यतीनाम् अपि चित्तक्षोभकः, किमुतान्येषाम् इति।।६१।। तत्र द्रव्यस्य क्षोभहेतुत्वे द्वारभूतं कामादिचतुष्टयं द्रव्यजन्यतया दर्शयति—द्रव्येणेति।।६२।। तत्र द्रव्यस्य कामहेतुतां स्फुटयन् द्रव्यव्यतिरेके कामव्यतिरेकं दर्शयति—निष्किञ्चनस्येति चतुर्भिः। क्षुत्पीडितस्य निष्किञ्चनस्य कः कामो—न कोऽपि इति। यतः दरिद्र 'इति' सञ्चिन्त्य स्त्रीमुखं न पश्यति। 'इति' किम्? यावदन्नं प्रिया विवाहादिसम्पादिता आदद्याद् भोजनार्थं गृह्णीयात् तावदहम् एव अद्मि, प्रियाया अन्नं कुतो दास्यामीति ?।।६३।। स्त्रियोऽपि तं न कामयन्त इत्याह—दरिद्रं पुरुषमिति। कुणपं शवम्।।६४।। दरिद्रे स्त्रीणां विरागं कैमुत्येन स्पष्टयति—ब्राह्मादिभ्य इति। 'ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता' इत्यादिना ब्राह्मादिविवाहा याज्ञवल्क्यादिस्मृतिषु प्रसिद्धाः, तेभ्यो हेतुभ्यः प्राप्ताऽपि पतिव्रताऽपि नारी क्षुधयाऽऽतुरा सती दरिद्रस्य भर्तुर्मृतिम् इच्छतीति।।६५।। दारिद्र्यमिति। श्रीमदान्ध-तानिवर्तकं धर्मरूपनिधानस्य दर्शकं च दारिद्र्यं सिद्धाञ्जनमिति, यतो जननीवत् कासुचिद् अपि नारीषु कामनां न करोति, अन्नमात्रम् इच्छति चेति।।६६।।

है ! अगर विविध प्रश्न पूछकर पता लगाऊँ तो ये उत्तम ब्राह्मण क्रुद्ध होकर मुझे शाप देंगे क्योंकि इनसे अधिक जानकार ही इनका परीक्षक हो सकता है, अतः मैं परीक्षा करूँगा तो इन्हें लगेगा कि मैं स्वयं को इनसे श्रेष्ठ मान रहा हूँ जिससे इनका ब्रह्मतेज क्षुब्ध होगा ही। किंतु विद्वानों को वाद-विवाद का शौक होता है ! अतः मैं इनका आपसी शास्त्रार्थ कराता हूँ। सभा में प्रत्यक्ष हो जायेगा कि इनमें अधिक विद्वान् कौन है। लेकिन अगर मैंने कहा 'हे ब्राह्मणो ! आप आपस में वाद-विवाद कीजिये।' तो भी ये नाराज होकर मुझे जला डालेंगे क्योंकि ऐसे आज्ञा तो बच्चों को दी जाती है ! यों कहना मेरी मूर्खता होगी। इसलिये ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे मुझे कहना न पड़े और ये खुद ही विवाद में प्रवृत्त हों।।५०-६०।।

बहुतेरा धन किसके चित्त को विचलित नहीं कर देता ! ब्रह्मविद् कहलाने वाले संन्यासी भी अधिक धन देखकर अपने अपरिग्रहव्रत को उपेक्षित कर देते हैं तो गृहस्थों का मन वित्तातिशयसे डोलेगा इसमें कहना ही क्या ? (अतः बहुत-सा धन पण या शर्त रूपसे घोषित कर देना चाहिये जिसके निमित्त ये ब्राह्मण वाद-विवादमें प्रवृत्त हो जायें।)।।६१।।

---

१. या तु बुभुक्षितस्याऽशङ्क्या पापाचारप्रवृत्तिर्नीतिप्रसिद्धा साऽधार्मिकपरेति कृत्वाऽयं ग्रंथः। श्लो. ७१ तमे स्पष्टमेतत्। यस्तु तत्र धर्मज्ञानवर्जितस्य पापानाचारः कथितः स धनसाध्यपापविषयः। वस्तुतस्तु धनस्य मोहकतां साधयितुमयमर्थवाद इति नात्राग्रहः।

विवेकीव दरिद्रोऽयं कोपं न कुरुते क्वचित्। राजादिभयतो नित्यं धर्मराजभयात्तथा।।६७।।

पुरा कृतानां पापानां फलमेतत् समाप्तवान्। दारिद्र्यं नाम किं नाम भूयस्तस्मात् परं भवेत्।।६८

जनन्या अपि जायायाः पुत्रादीनां तथैव च। दरिद्रो लङ्घनीयः स्याद् महापापीव सर्वदा।।६९।।

इतः परं दरिद्रत्वहेतुभूतं हि पातकम्। पश्यन् फलं कथं कुर्याम् सर्पस्येवात्र लङ्घनम्।। विचार्यैवं दरिद्रोऽयं कुरुते पातकं नहि।।७०।।

दरिद्रो धर्मविज्ञानगन्धेन रहितोऽपि यः। न सोऽपि कुरुते पापं धर्मज्ञः किम्पुनः पुमान्।।७१।।

परदारान्परद्रव्यं भीतस्तस्मान्न चेच्छति। क्षुधया पीडितश्चायं तुष्यत्यल्पेन सर्वदा।।७२।।

दरिद्रे कोपाभावं स्फुटयति—विवेकीवेति पञ्चभिः।।६७।। पुरा कृतानामिति। एवं विचार्य दरिद्रः पापं न कुरुते (श्लो.७०)। 'एवं' कथम्? अहं पुरा कृतानां पापानां फलं दारिद्र्यरूपं समाप्तवान् प्राप्तोऽस्मि, ततो दारिद्र्यात् परम् अधिकं भूयः पुनः किं पापफलं स्याद्! इति।।६८।। यतो जनन्यादीनामपि दरिद्रोऽनादरणीयः स्यात् महापापिवद् इति इतः परम् उक्तावस्थाप्राप्त्यनन्तरमपि फलं पश्यन् अहं दरिद्रत्वहेतुभूतं पापं कथं कुर्याम्? सर्पं मृत्युहेतुभूतं दृष्ट्वाऽपि को लङ्घयेद्? इति त्रयाणां सम्बन्धः। उक्तविचारेण मोहाभावोऽपि दर्शितः।।६९-७०।। अत्राऽपि कैमुत्यमाह—दरिद्र इति। गन्धो लेशः। पापं हिंसादिरूपम्।।७१।। लोभाऽभावमपि दरिद्रे दर्शयति—परेति। तस्मात् परस्माद् अयं दरिद्रः क्षुत्पीडितोऽपि अल्पेन तुष्यति इति।।७२।

काम-क्रोध-लोभ-मोह सभी धनसे पैदा होते हैं। भूख से हमेशा परेशान गरीब को कामना क्या सतायेगी ? वह तो सोचता है कि जितना अन्न पत्नी खायेगी उतना मैं ही क्यों न खा कर भूख मिटाऊँ ? ब्याह कर पत्नी लाने से तो बल्कि भोजन और बँटकर कम ही मिलेगा। इस विचार से वह भरसक पत्नी का मुख ही नहीं देखता तो क्या कामोपभोग करेगा! ।।६२-६३।। स्त्रियाँ भी चाहे कामातुर हों फिर भी पुरुषको दरिद्र देखकर उसे छूना भी नहीं चाहतीं जैसे कीड़े पड़े शवको कोई नहीं छूना चाहता।।६४।। ब्राह्म आदि विधि-अनुसारी विवाहों से प्राप्त तथा पतिव्रता भी स्त्री जब भूखसे अतीव पीडित होती है तब अपने दरिद्र पति की मौत चाहने लगती है !।।६५।। श्रीके मद को मिटाकर धर्मरूप निधि दिखाने वाला सिद्धांजन है दारिद्र्य ! जैसे कोई अपनी माता को कामुकदृष्टिसे नहीं देखता ऐसे ही निर्धन भी किसी स्त्री की ओर कामदृष्टिसे देखता नहीं ! एक अन्न छोड़कर वह कुछ और कभी नहीं चाहता। (यहाँ धर्मभीरु दरिद्र की मनःस्थिति समझनी चाहिये।)।।६६।।

राजा आदिसे और धर्मराजसे हमेशा डरने वाला दरिद्र कभी किसी पर क्रोध नहीं करता जैसे विवेकी सज्जन क्रोध से दूर रहते हैं। (धनी तो उत्कोच या घूस आदि द्वारा राजा से और प्रायश्चित्त द्वारा धर्मराजसे बचने की आशा में मौके पर क्रोध कर लेता है।)।।६७।। दरिद्र यों विचार कर पाप से बचता है—पहले किये पापों का फल तो मैंने यह दरिद्रता पायी है, जिससे अधिक दुःखद पापफल और कुछ नहीं, अब और पापकर अपने लिये दुःख क्यों बढाऊँ? जैसे महापापी का अनादर सारा समाज करता है, ऐसे ही दरिद्र का तिरस्कार माता, पत्नी, पुत्रादि सभी करते हैं। जैसे जो देख ले कि जहरीला साँप पड़ा है वह उसे लांघने की कोशिश नहीं करता, ऐसे ही गरीबी के कारणभूत पाप के फल का स्वयं अनुभव कर पुनः पाप कैसे करूँ ? धर्मज्ञानसे शून्य दरिद्र भी पाप नहीं कर पाता तो जो पुरुष धर्म जानता है वह नहीं करता इसमें कहना ही क्या ! पापसे डरा निर्धन परस्त्री या पराया धन नहीं हथियाना चाहता। भूखसे परेशान गरीब थोड़ा-बहुत जो कुछ मिल जाये उसी से हमेशा सन्तोष कर लेता है।।६८-७२।।

समर्थः श्रीमदान्धोऽयं राजानं देवतां गुरुम्। अवजानाति सहसा स्वात्मनो बलमाश्रितः।।७३।।

असह्यं दुःखमाप्नोति लोकद्वयभयङ्करम्। कीर्तिहानिं च धिग्वादं सद्यो गच्छति मोहितः।।७४।।

लोभश्चास्मिन् समर्थे स्यात् सदृशो जातवेदसा। यावद्यावदवाप्नोति ततो भूयः स इच्छति।।७५।।

पृथिवीं धनपूर्णां चेदिमां सागरमेखलाम्। प्राप्नोति पुनरप्येष स्वर्गमिच्छति नित्यशः।।७६।।

समर्थः स्वात्मलोभेन परदारधनादिकम्। हृत्वा चोपहसत्यन्यान् सर्वशोच्यो नराधमः।।७७।।

समर्थो मोहमापन्नो न जानाति हिताहितम्। स्वात्मानं द्वेष्टि चैवायं स्वात्मनो हितकारिणम्।।७८।।

मातरं पितरं पुत्रान् ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान्। कर्मणा मनसा वाचा समर्थो हन्ति मोहतः।।७९।।

दरिद्रस्य न लोभोऽस्ति न मोहश्च महात्मनः। इत्थमेष विचार्येव सुखं तिष्ठति निश्चलः।।८०।।

मह्यं कोऽपि कदाचिद्वा याचमानाय नित्यशः। न दद्यादन्नमात्रं च किमर्थं काङ्क्षयाम्यहम्।।८१।।

एवं धनव्यतिरेके दोषाणां व्यतिरेकमभिधाय अथ धनान्वये दोषान्वयं दर्शयति—समर्थ इति। समर्थो धनी मदान्धः सन् बलेन राजादिकम् अवजानाति न गणयति ततः सर्वदोषभाग् भवतीति भावः।।७३।। तत्र मोहस्य फलं लोकद्वयेप्यनर्थप्राप्तिं दर्शयति—असह्यमिति। परदारिकादिषु प्रसिद्धमीदृशं दुःखमिति।।७४।। समर्थे लोभं स्फुटयति—लोभश्चेति त्रिभिः। जातवेदसाऽग्निना। अग्निसाधर्म्यमुत्तरार्द्धेनोक्तमिति।।७५।। उत्तरोत्तरेच्छामुदाहरति—पृथिवीमिति।।७६।। लोभमोहयोः समुच्चितयोः कार्यं समर्थे दर्शयति—समर्थ इति। लोभेन पदार्थं हृत्वा सर्वशोच्यतामापन्नोऽपि यत् परान् उपहसति तद् नराधमतां विना न घटत इति।।७७।। समर्थस्य मोहमभिनयति—समर्थो मोहमिति द्वाभ्याम्। स्वात्मानं तथा स्वात्मनो हितकारिणं च द्वेष्ट्येव इति सम्बन्धः। स्वात्मद्वेषो मूढस्य भगवद्गीतास्वप्युक्तः 'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवद्' (६.६) इति।।७८।। हितकारिषु द्वेषमभिनयति—मातरमिति। मोहतः पूज्यानामपकार्यत्वेन दर्शनात्मकात्।।७९।। दरिद्र उक्तदोषाभाव इत्याह—दरिद्रस्येति। एष दरिद्र इत्थम् उत्तरश्लोकद्वयोक्तप्रकारेण विचार्य निश्चल उद्यममकुर्वन् सुखं तिष्ठति।।८०।। 'इत्थम्'-पदार्थप्रकारमभिनयति—मह्यमिति द्वाभ्याम्। मह्यं याचमानायापि कोऽपि अन्नमात्रम् अपि न दद्याद् अतः

धनी तो लक्ष्मीके नशेमें अंधा हो जाता है। वह राजा, देवता व गुरु की भी अवज्ञा कर देता है। उसे अपने धनबल का इतना भरोसा होता है कि बिना विचारे ही श्रेष्ठों का अनादर कर देता है।।७३।। यों सब दोषों से युक्त होकर धनी असह्य दुःख पाता है और इहलोक-परलोक दोनों जगह अनर्थ प्राप्त कर लेता है। मोहग्रस्त व्यक्ति शीघ्र ही अपकीर्ति और धिक्कार ही कमाता है।।७४।। जैसे आगको जितना-जितना ईंधन मिलता जाता है उतना-उतना वह अधिक ईंधन जलाने में समर्थ होती जाती है ऐसे ही धनी व्यक्ति का लोभ भी लाभसे बढ़ता ही जाता है। सागरपर्यन्त सारी पृथ्वी धनसे भरी हुई भी किसी को मिल जाये तो भी वह सदा स्वर्ग की कामनासे ग्रस्त रहता ही है। लोभी अन्यों के पत्नी-धनादि का अपहरण कर उनका उपहास करता है जबकि पापभारसे वस्तुतः वह स्वयं शोकयोग्य होता है। उसकी यह मनोवृत्ति स्पष्ट करती है कि धनमद नर को अधमता की सीमा तक पहुँचा देता है।।७५-७७।। धन के नशे में लोग न अपना हित पहचानते हैं न अहित और इस तरह न केवल अपने हितैषियों से वरन् स्वयंसे भी द्वेष ही कर बैठते हैं। धनसंपन्न तो माता, पिता, पुत्र, ब्राह्मण, विद्वान् आदि को भी मनसे, क्रियासे और वाणी से पीडित करने में हिचकिचाता नहीं क्योंकि उसकी मति धनसे संमुग्ध रहती है।।७८-७९।।

इयं माता पिता चाथ बान्धवो हितकृत्तथा। एते मह्यं वदेयुर्यत् करणीयं मया हि तत्।।८२।।

ततो धनेन सर्वे स्युः कामक्रोधादयो भुवि। अपि ब्रह्मविदां[1] किन्तु नराणां तु बहिर्दृशाम्।।८३।।

उपायनिर्णयः

ततो धनमपर्यन्तमधिकाय पणी कृतम्। सभायां स्थापयिष्यामि ब्राह्मणाय महात्मने।।८४।।

अधिकेन गृहीतेऽस्मिन्नपरे क्रोधमूर्च्छिताः। सर्व एव करिष्यन्ति विवादं स्वयमेव हि।।८५।।

न चैवं मम पापं स्याद्राज्ञां धर्मे कृते मया। उपायेनैव विज्ञेयो[2] राज्ञा सर्वाधिको द्विजः।।८६।।

न चैवं धनतः पापं तस्य विप्रस्य सम्भवेत्। सर्वाधिको धनं प्राप्य पापं कुर्यात् कथं त्वयम्।।८७।।

कामना व्यर्थेति विचारो लोभनिवर्तकः।।८१।। मोहनिवर्तकं विचारमाह—इयमिति। **मातृप्रभृतीनामाज्ञा मयाऽवश्यमनुष्ठेयेत्यर्थः।।८२।। फलितमाह**—तत इत।।८३।।

एवं धनस्य क्षोभहेतुता यस्योपायस्य विवक्षया वर्णिता तमुपायं सफलमभिनयति—ततो धनमिति। अपर्यन्तम् अतिप्रचुरमिति यावत्। अधिकाय **अधिकं निर्णेतुम्।** पणी कृतं **द्यूते** लापित**द्रव्यभावं नीतं** धनं महात्मने **विप्राय स्थापयामीति।।८४।। तत्फलमाह**—अधिकेनेति। अस्मिन् **पणी कृते धने।।८५।। नन्वेवं विप्राणां क्षोभहेतोस्तव पापप्रसक्तिः ? इत्याशङ्क्याह**—न चैवमिति। **राज्ञां धर्मो नीत्याऽभीष्टसाधनम्। तमेव प्रकृते योजयति**—उपायेनेति। **क्षोभस्तु विप्राणां स्वदोषप्रयुक्तो, न मत्कृत इति भावः।।८६।। सर्वाधिकस्य विप्रस्य मया पात्रतयाऽभिप्रेतत्वाच्चाऽपात्रदानप्रयुक्तपरम्परयाऽपि मे दोषप्रसङ्गो न भविष्यतीत्याह**—न चैवमिति। एवम् उक्त-विधया धनतः **धनमादाय** तस्य **सर्वाधिकस्य** विप्रस्य पापम् **अपि न भवेत्, पापप्रयोजकसदोषत्वविरोधिनः सर्वाधिकत्वादेव, सर्वाधिकः कथं पापं कुर्यादिति।।८७।।**

दरिद्र तो मानो महात्मा है ! उसे न लोभ होता है न मोह। वह तो यों विचारकर बिना उद्यम किये आराम से रहता है—लगातार भी चाहे माँगता रहूँ फिर भी मुझे कोई कुछ देगा तो है नहीं, फिर मैं कोई इच्छा क्यों रखूँ ? (अतः उसमें लोभ नहीं होता।) माँ, बाप, बंधु, हितैषी आदि मुझे जो बतायें वह मुझे अवश्य करना चाहिये। (अतः उसमें मोह या श्रेष्ठों के प्रति अवज्ञाका भाव नहीं होता।)।।८०-८२।।

इस तरह निश्चित है कि काम-क्रोधादि समस्त विकार संसारमें धनसे उत्पन्न होते हैं। वेदज्ञों में भी धनके निमित्तसे लोभादि संभव हैं तो बहिर्मुखी जनसामान्यका क्या कहना !।।८३।।

अतः सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण के निर्णयकेलिये मैं अतिप्रचुर धन पण (शर्त की राशि) रूपसे सभा में स्थापित कर दूँगा। जब कोई श्रेष्ठ उसे ग्रहण करेगा तब बाकी क्रुद्ध होंगे और खुद ही आपसी वादविवादमें प्रवृत्त हो जायेंगे। राजा का धर्म है कि विशिष्ट के सम्मानार्थ उपायसे पता लगाये कि श्रेष्ठ कौन है, अतः यों युक्ति से सर्वश्रेष्ठ की खोज करने पर मुझे कोई पाप भी नहीं लगेगा। अपात्रको धन देने से दाता भी दोषी होता है लेकिन इस प्रक्रियासे सर्वोत्तम को दान देने से मुझे कोई दोष नहीं होगा क्योंकि वह व्यक्ति कोई पाप करेगा नहीं, धनसे पापप्रवृत्ति तो नीचों में ही होती

१. श्रोत्रियतामात्रस्येह विवक्षा न परमात्मनिष्ठाया इति द्रष्टव्यम्। यद्यपि परविद्यानिष्ठो याज्ञवल्क्यस्तथैव च जनकोऽमुष्य कीर्तिं स्थापयितुं यतते विद्वद्गुणाश्चाक्रोधादयोऽस्य वर्ण्यन्ते, तथापि विवादादिप्रवृत्तिरत्र विप्राणां शास्त्रज्ञानकुशलानां विवक्ष्यते। याज्ञवल्क्यस्तु ब्रह्मविद्योत्कर्षप्रकाशनायैव गोग्रहीता वादे च जेता बुभूषति। मुनिरित्यादिविशेषणानि प्रकरणेऽस्मिन्नमुं यतिं न द्योतयन्ति किन्तु मननशीलमेवेति च द्रष्टव्यम्। २. विशिष्टविदुषः सामान्यपूजया दोषः स्यादतो विशिष्टो ज्ञातव्य इति धर्मः।

अपि सर्वाधिको नूनमेष वाजसनेयकः। सूर्यशिष्यो महाभागो याज्ञवल्क्यो मुनीश्वरः।।८८।।
नास्य कामो न च क्रोधो लोभो मोहो न चास्य वै। अस्य गर्वोऽपि नैवास्ति यतस्तिष्ठति मौनतः८९
धनं नायं स्वकामाय स्वीकरिष्यति कर्हिचित्। अनुग्रहमयो विप्रः प्राय एतान् हि जेष्यति।।९०।।
यद्येतद्धनजातं स्यादस्य हस्ते महामुनेः। भूतानामुपकाराय शरीरेण समं सदा।।९१।।
अस्य स्नेहो मयि महान् विद्यतेऽयं पुनः पुनः। निरीक्षते यथा कश्चित् पामरो भूभृतं जनः।।९२।।
मनस्येनं विधायैते ब्राह्मणा गर्वमागताः। दुरुत्तराणि भाषन्ते हसन्त इतरेतरम्।।९३।।
अज्ञवच्चैष विप्रेन्द्रः शृणोति वचनानि न। शृण्वन्नपि वचः किञ्चिद् भाषते न जडो यथा।।९४।।
इत्यादि बहुधा राजा चिन्तयित्वा मनोगतम्। कामधेनुसमानानां सहस्रं निदधौ गवाम्।।
चत्वारिंशत्सहस्राणि निष्काणामपि भूपतिः।।९५।।

न केवलं सर्वाधिकस्याऽनर्थप्रयोजकदोषाभावोऽनुमेय एव किन्तु योऽत्र संसदि सर्वाधिकतया सम्भावितो याज्ञवल्क्यः तस्य सर्वदोषराहित्यं प्रत्यक्षायमाणमित्याह—अपीति द्वाभ्यां। स्पष्टम्।।८८-८९।।

तर्हि वीतरागोऽयं त्वदर्पितं धनमपि कथं ग्रहीष्यति ? इत्याशङ्क्य; परोपकारायेत्याह—धनं नायमिति द्वाभ्याम्। अयं याज्ञवल्क्यः स्वकामाय स्वोपभोगाय। अनुग्रहमयः प्रचुरानुग्रहः। प्राय इत्युत्प्रेक्षायाम्। तथा च—एवं सम्भाव्यते यद् अयं मुनिः अनुग्रहेणैव धनं स्वीकृत्य एतान् विप्रान् जेष्यति इत्यर्थः।।९०।। उपकारं स्फुटयति—यद्येतदिति। अस्य धनं शरीरं च परार्थमित्यर्थः।।९१।। अस्य धनस्वीकारादिप्रयोजनकोऽनुग्रहोऽपि प्राधान्येन मद्विषयक एवेति दर्शयति—अस्येति। यथा पामरो लिप्सया भूभृतं राजानं पश्येत्तद्वद् यन्मां याज्ञवल्क्यो निरीक्षते ततो ज्ञायतेऽस्य मयि महान् स्नेहः अनुग्रहः स्निग्धदृष्टेः अनुग्रहलिप्सयोरन्यतरव्याप्तत्वाद् लिप्साया वीतरागे बाधाद्—इति भावः।।९२।। अस्य च वीतरागत्वं क्षोभाभावादिना लक्ष्यत इति वक्तुं क्षोभे निमित्तं दर्शयति—मनसीति। एनं याज्ञवल्क्यं मनसि निधाय—जेतुकामा इति यावत्; ईदृशा गर्विता ब्राह्मणाः परस्परं हसन्तः सन्तो दुरुत्तराणि दुरवगाह्यानि उत्तराणि येषामीदृशानि वाक्यानि भाषन्त इति।।९३।। एष याज्ञवल्क्यस्तु न क्षोभं गच्छतीत्याह—अज्ञवदिति। वचनानि तेषामिति शेषः। स्पष्टम्।।९४।। इत्यादीति। इत्यादिकं विचारं कृत्वा गवां

है, उत्तमों में नहीं। (नीतिकार कहते हैं कि जो असज्जनों के मदकारी होते हैं वे ही सज्जनों का दमन करने में समर्थ होते हैं !)।।८४-८७।। किं च प्रकृतमें तो कोई खास संशय भी नहीं क्योंकि अवश्य ही यह सूर्यशिष्य मुनीश्वर वाजसनेयक याज्ञवल्क्य महोदय ही यहाँ सर्वाधिक श्रेष्ठ है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, गर्व आदि कोई दोष इसमें नहीं क्योंकि किसी तरह के प्रदर्शनसे रहित यह शांतिसे बैठा है।।८८-८९।।

यह कभी संभव नहीं कि यह अपने उपभोग के लिये धन ले। यह विप्र तो अनुग्रहसे भरा हुआ है। लगभग तय है कि यही बाकी ब्राह्मणों पर विजय हासिल करेगा। इसके हाथ लगा तो यह धन वैसे ही सबके उपकार में लगेगा जैसे इसका शरीर सबका हित कर रहा है।।९०-९१।। इसे मुझपर अपार स्नेह है, तभी बार-बार मेरी ओर नज़र करता है जैसे कोई सामान्य व्यक्ति राजा की ओर देखता हो ! (सामान्य व्यक्ति श्रेष्ठ को देखे और दोनों की आँखें मिलें तो सामान्य जन आँखें झुका लेता है; फिर कुछ देर बाद उधर ही देखने लगता है। प्रेमी भी परस्पर यों ही देखते हैं ! याज्ञवल्क्य सामान्य आदमी तो है नहीं, अतः प्रेमी ही हो सकता है।)।।९२।। याज्ञवल्क्य को हराने की इच्छा से ही गर्वीले ये ब्राह्मण आपसमें हँसते हुए ऐसे प्रश्न पूछ रहे हैं जिनके उत्तर अतिदुर्बोध हैं। किंतु उनकी बातें सुनते हुए भी यह विप्रेन्द्र याज्ञवल्क्य कोई जवाब नहीं दे रहा, मानो अज्ञानी या मूर्ख हो या सुन ही न रहा हो।।९३-९४।।

शृङ्गे शृङ्गे गवां राजा निष्काणां विंशतिं हि सः। प्रत्येकं द्विसहस्रेषु शृङ्गेष्वर्पितवांस्तदा।।९६।।

पणघोषणा

शास्त्रोक्ता गाश्च संस्थाप्य ब्राह्मणानिदमब्रवीत्। भवतां ब्रह्मविच्छ्रेष्ठो यः स एता नयत्विति।।९७।।

द्विजानां स्तब्धता

एवमुक्तेऽथ विप्रेन्द्राः सर्वे तूष्णीमवस्थिताः। अधोमुखा अतिक्रान्तुं शेकुर्नैतान् द्विजोत्तमान्।।९८।।

याज्ञवल्क्यप्रागल्भ्यम्

तूष्णीं भूतेषु तेष्वेष याज्ञवल्क्योऽभ्यभाषत[1]। साम्नामध्ययने युक्तं शिष्यं स्वोक्तार्थकारिणम्।।९९।।

सामाध्यायिन् ! गृहे नो गा नय शीघ्रं विघुष्य च। ब्रह्मिष्ठो याज्ञवल्क्यो गा नयतीति द्विजन्मनाम्।।१००।।

सहस्रं तथा निष्काणां दीनाराणां चत्वारिंशत्सहस्राणि सदसि निदधौ स्थापितवानिति। 'पले दीनारेऽपि च निष्क' इत्यमरः।।९५।।दीनाराणां चत्वारिंशत्सहस्रत्वे हेतुमाह—शृङ्ग इति। हि यतः सहस्रसङ्ख्याकानां गवां द्विसहस्रसङ्ख्याकेषु शृङ्गेषु सत्सु प्रत्येकं शृङ्गे शृङ्गे निष्काणां दीनाराणां श्रुतौ कर्षचतुष्टयात्मकस्य पलस्य पादतया प्रतिपादितानां विंशतिं श्रुतौ द्विरावृत्तदशपदोक्तां बबन्धेति। तथा च सहस्रद्वयस्य विंशत्या गुणने उक्तसङ्ख्यासिद्धिरिति भावः। अत्र यद्यपि भाष्यकारैः श्रुतिगतदशदशपदद्वित्वं वीप्साऽभिप्रायेण व्याख्यातं 'पञ्च पञ्च पादा एकैकत्र शृङ्गे बद्धा' इत्युक्तेः, तत्र च दशसहस्राणि निष्कसङ्ख्या भवति, तथापि अनेन ग्रन्थकृता 'उपाख्यानेषु नात्यन्तमाग्रह' इति शबरस्वामिवचनानुसारेण जनकौदार्यातिशयप्रकटनाय च दशदशेति पदं विंशतिपरतया व्याख्यातमिति बोध्यम्।।९६।।

अथ 'तान् होवाच' इत्यादिद्वितीयकण्डिकार्थमुपबृंहयति—शास्त्रोक्ता इति अष्टाविंशतिश्लोकैः। शास्त्रे यथोत्तमकल्प[2] उक्तास्तथाविधास्ता गाः संस्थाप्य ब्राह्मणान् प्रति इदं जनक उक्तवानिति। 'इदं' किम् ? यो भवतां मध्ये श्रेष्ठो ब्रह्मवित् स एता गाः स्वाश्रमं प्रति नयत्विति।।९७।।

एवमिति। एवम् जनकेन उक्ते सति सर्वे विप्राः तूष्णीमधोमुखाः स्थिताः सन्त एतान् समवेतान् द्विजान् अतिक्रान्तुं विद्याधिक्येनाभिभूय प्रगल्भी भवितुं न शेकुः न समर्था बभूवुरित्यर्थः।।९८।।

तूष्णीमिति। तेषु ब्राह्मणेषु तूष्णीं भूय स्थितेषु सत्सु याज्ञवल्क्यः सामवेदपाठिनं शिष्यं प्रत्युवाच।।९९।। सामेति। हे सामाध्यायिन् ! त्वमेता गा नः अस्माकं गृहे शीघ्रं नय। किं कृत्वा? 'इति' विघुष्य डिण्डिमशब्दवत् स्फुटं

राजा ने इस तरह मन ही मन काफी विचार किया और यह पण रखा : कामधेनुतुल्य एक हज़ार गायें जिनके एक-एक सींग पर बीस-बीस दीनारों जितना सोना मढा था, फलतः कुल चालीस हजार दीनारें थीं। शास्त्रविहित ढंगसे गायें सांगोपांग सजाकर सभाके निकट खड़ी करायीं और ब्राह्मणों से राजा ने निवेदन किया—'आपमें जो श्रेष्ठ ब्रह्मवित् हो, वह इन्हें ले जाये।।९५-९७।।

जनक द्वारा यों कहे जाने पर सभी विप्र स्तब्ध हो गये और चुपचाप सिर झुकाकर बैठ गये क्योंकि उन एकत्र हुए ब्राह्मणों को अपनी विद्याके आधिक्यसे अभिभूत करने केलिये आवश्यक प्रागल्भ्य किसीमें उद्‌बुद्ध नहीं हो पाया।।९८।।

---

१. केनापि पणास्वीकारे ब्रह्मविदां तद्द्वारा च विद्यायाअपमानो मा भूदित्यभिप्रेत्य भाषणमभिभाषणम्। २. कल्पो दानप्रकारः। सामर्थ्यानुसारमुत्तममध्यमाऽधमाः प्रकाराः शास्त्रोक्ता आश्रीयन्ते दित्सुभिः।

सामाध्यायी प्रोक्तकारी शिष्यस्तस्य मुनेस्ततः। तथैव कृतवान् यद्वद् गुरुणोक्तं महात्मना।।१०१।।

इतरेषां क्रोधः

ततो गोषु विनीतासु ब्रह्मिष्ठेन द्विजन्मना। चुक्रुधुः सकला विप्रा नानादेशसमागताः।।१०२।।

अतुलं प्राप सन्तोषं जनको मिथिलेश्वरः। युगपद् याज्ञवल्क्योऽभूत् सुखदुःखकरस्तदा।।१०३।।

दर्शयन् सर्वभूतानां सुखदुःखे न वस्तुनि। किन्तु स्वस्यैव मनसि स्निग्धे द्विष्टे च सर्वदा।।१०४।।

कल्पनातः प्रजायेते सुखदुःखे अकारणे। महावने यथा जन्तोः प्राणिशून्ये स्वमानसात्।।१०५।।

चलितान्यासनान्येषां श्मश्रूणि च चकम्पिरे। अधरा दन्तपङ्क्तिर्या प्रविष्टाऽऽस्ये द्विजन्मनाम्।।१०६।।

केचिदश्रूणि मुमुचुः नेत्रैर्लोहितपूरितैः। जहसुः केचिदेवामी उन्मत्तसदृशा द्विजाः।।१०७।।

शब्दश्चाऽभूद् महांस्तत्र विप्राणां यज्ञमण्डपे। क्षोभो यथा समुद्रस्य पर्वकाल उपागते।।१०८।।

कथयित्वा। 'इति' किम् ? याज्ञवल्क्यो ब्रह्मिष्ठः अतिशयेन ब्रह्मवित्तया ब्रह्मवान् गा नयति इति।।१००।। सामाध्यायीति। तस्य मुनेः प्रोक्तकारी सामाध्यायी शिष्यः यथा गुरुणोक्तं तथैव कृतवान् इति।।१०१।।

तत इति। विनीतासु शिष्यद्वाराऽऽश्रमं प्रति प्रेषितासु सतीषु विप्राः क्रोधं प्रापुः।।१०२।। अतुलमिति। जनकः तु अभीष्टसिद्धिं मत्वा नितरां तोषं प्राप्तः। एवं सति याज्ञवल्क्यो युगपत् समकालमेव जनकस्य ब्राह्मणानां च सुखदुःखप्रदोऽभूदिति।।१०३।। दर्शयन्निति। किं कुर्वन् याज्ञवल्क्यः सुखदुःखप्रदोऽभूद् ? 'इति' दर्शयन्। 'इति' किम् ? यत् साङ्ख्या आहुः वस्तुनि विषयस्वरूपे सुखदुःखे वर्तेते इति, तथा न मन्तव्यम्। किन्तु ? स्वस्वमनस्येव ते वर्तेते। तत्र स्निग्धे स्नेहशालिनि चित्ते सुखं, यथा जनकस्य; तथा द्विष्टे द्वेषशालिनि चित्ते दुःखं, यथा ब्राह्मणानामिति।।१०४।। सुखदुःखयोर्मनोनिष्ठत्वे कल्पनाजन्यत्वं हेतुमाह—कल्पनात इति। कल्पना रमणीयत्वाद्यवगाही सङ्कल्पः, तत एव सुखदुःखे जायेते, यतः अकारणे बाह्यकारणहीने। तदुदाहरति—महेति। यथा प्राणिशून्ये महावने स्वमानसाद् एव वीतरागाणां सुखं, रागिणां दुःखं च जायत इति।।१०५।। अथ विप्राणां दुःखप्रयुक्तं कोपमभिनयति—चलितानीति त्रिभिः। या अधरा अधस्तना दन्तपङ्क्तिः सा मुखस्यान्तः प्रविष्टा, ऊर्ध्वदन्तपङ्क्त्या अधरस्याक्रमणादिति।।१०६।। कोपावेशस्य भूतावेशसाम्यमाह—केचिदिति। लोहितेन रुधिरेण पूरितैरिव नेत्रैः अश्रूणि मुमुचुः ।।१०७।। शब्दश्चेति । पर्वणि पूर्णिमायाम् ।।१०८।। धिगिति । महाशालाः महतीः शालाः,

सभी विद्वान् चुप हैं, यह देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने आज्ञाकारी सामवेदपाठी शिष्यसे कहा 'सामवेद पढ़ने वाले छात्र ! ये गायें शीघ्र हमारे घर पहुँचा दो यह घोषणा करते हुए कि ब्राह्मणों केलिये पणरूपसे रखी ये गायें ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ले जा रहा है।' मुनि का कहा मानने वाले उस शिष्यने महात्मा श्रीगुरु द्वारा कहा कार्य तुरंत कर डाला; गायें लेकर चल दिया।।९९-१०१।।

ब्रह्मिष्ठ द्विज याज्ञवल्क्यने जब गायें अपने आश्रमकी ओर भेज दीं तो अनेक देशों से आये ब्राह्मण क्रुद्ध हो उठे। मिथिलानरेश जनक को बेहद सन्तोष हुआ। यों याज्ञवल्क्य ने इकट्ठे ही कुछ को दुःख और अन्य को सुख प्रदान किया, जिससे यह दिखा दिया कि सब प्राणियों को अनुभूयमान सुख-दुःख किसी विषयका स्वरूप नहीं हैं, जैसा सांख्यवादी मानते हैं, वरन् अपने अपने मनमें ही ये होते हैं : स्नेहशाली चित्त में स्नेहास्पद के लाभसे सुख हो जाता है जैसे यहाँ जनक को हुआ और द्वेषशाली चित्तमें द्वेषास्पद के लाभसे दुःख हो जाता है, जैसे यहाँ ब्राह्मणों को हुआ। बाह्य विषय

धिक् कुलानि महाशाला अस्माकं धिक् च जीवितम्। गुरुशुश्रूषणं धिग्धिग् धिग्वेदाध्ययनं तथा।।१०९।।

विद्याविदस्तथा शिष्यान् कीर्तिं नो धिग्धिगेव हि। एक एव यतो विप्रो ह्यवजानाति नोऽखिलान्।।११०।।

इत्यादिवादिनो विप्रानालोच्य च विचार्य च। प्रष्टुमभ्याययौ कोपात् स्खलन्निव हसन्निव।। आगत्य च मुनिं शान्तं भर्त्सयन्निदमब्रवीत्।।१११।।

आश्वलकृतभर्त्सनम्

याज्ञवल्क्य ! दुराचार ! रे रे वाजसनेयक !। [1]अशुश्रूषितविप्रेन्द्रगुरुपादाम्बुजद्वय !।।११२।।

अस्माकं ब्रह्मकल्पानां ब्राह्मणानां महात्मनाम्। गर्वलोभादिदोषौघवर्जितानां शमात्मनाम्।।११३।।

अध्यापनगृहाणि धिग् इति।।१०९।। विद्येति। विद्या विविधाः विदन्ति जानन्ति इति विद्याविदः एतादृशान् शिष्यान् धिग् इति। सर्वत्र हेतुः—एक एवेत्यादिः। अवजानाति अतिक्रामति।।११०।। इत्यादीति। एवंवदतो विप्रानालोच्य कोपात् स्खलन्निव हसन्निव च अभ्याययौ, आगत्य च शान्तं याज्ञवल्क्यं प्रति इदं वक्ष्यमाणमुक्तवान्, आश्वलनामा इति शेषः।।१११।। याज्ञवल्क्येति। अशुश्रूषितं सम्यगसेवितं विप्रेन्द्रस्य प्रसिद्धविप्ररूपस्य गुरोः पादाम्बुजद्वयं येन स तथा। अनेन वैशम्पायनसम्प्रदायत्यागो ध्वनितः।।११२।। अस्माकमिति। किम् अस्माकं ब्राह्मणानां त्वमेवाधिकः

में सुख-दुःख के प्रति उत्पादकता नहीं वरन् रमणीयता-प्रतिकूलता विषयक संकल्प से ही सुख-दुःख पैदा होते हैं। प्राणियों से रहित महावन में वीतरागों को सुख और रागियों को दुःख होता है जो इस बात को पुष्ट करता है। (एवं च सांख्यपरिकल्पना गलत है कि विषय का सत्त्वादि गुण उसे सुखादिहेतु बनाता है।)।।१०२-१०५।। वहाँ उपस्थित अन्य द्विज क्रोधोद्वेगमें यों काँपे मानो उनके आसन डोलने लगे हों ! निचला ओठ दाँतों से दब रहा था, जैसा क्रोधमें सहज है, इससे सब की दाढ़ियाँ हिल रही थीं। खूनभरी आँखों से कुछ के कोपाश्रु बह रहे थे और अन्य लोग पागलों की तरह हँसने लगे (कि देखो कैसा मूर्खतापूर्ण दुःसाहस इस याज्ञवल्क्यने किया है)। उस यज्ञमण्डप में ब्राह्मणों का अत्यधिक कोलाहल हो गया जैसे पूर्णिमा आने पर समुद्र में ज्वार आता है।।१०६-१०८।। विप्र कहने लगे 'हमारे कुलों को धिक्कार है, हमारी पाठशालाओं को, जीवनको, गुरुसेवा को, वेदाध्ययन को, हम जैसे विद्वानों को, हमारे शिष्यों को, कीर्ति को, सभी को धिक्कार है क्योंकि यह अकेला ब्राह्मण हम सब की अवज्ञा कर गया !' सभास्थ द्विजों की ये सब बातें सुनकर तथा स्वयं विचार कर जनक का होता ऋत्विक् आश्वल क्रोधसे डगमगाता-सा और हँसता-सा आगे बढ़ा ताकि याज्ञवल्क्यसे कुछ पूछे। संमुख आकर वह उस शांत मुनि की भर्त्सना करते हुए कहने लगा—।।१०९-१११।।

'अरे रे ! याज्ञवल्क्य ! दुराचारी ! वाजसनेयक ! किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को गुरु बनाकर उनके चरणकमलों की सेवा बिना किये ही विद्वान् बनता है ? यहाँ उपस्थित हम ब्राह्मण लोग ब्रह्माके तुल्य हैं, सभी का हृदय गंभीर है, गर्व लोभ आदि दोष हममें हैं नहीं, उपशम हमारा स्वभाव बन चुका है, चौदहों विद्याओं की हमें पूरी जानकारी है और तर्कप्रयोगसे भी हम विद्यासिद्धान्तों की स्थापना कर सकते हैं। क्या हम सब की अपेक्षा तू ही एक श्रेष्ठ है ? अरे तू तो गर्व और लोभ इन दुर्गुणों में ही हमसे आगे है, सद्गुणों में नहीं। तू अधम ही है। कोई भी निर्लज्ज अपने को पण्डित तो घोषित कर ही सकता है जैसे हम ब्रह्मवादी मुनियों में तू स्वघोषित श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ बन बैठा है। गर्व और लोभ से भरे, विनयरहित,

---

१. दुराचारेति विशेषणमुपपादयति—अशुश्रूषितेत्यादिना।

चतुर्दशादिविद्यानां वेत्तॄणां तर्कसिद्धये। त्वमेवैकोऽधिको जातो गर्वलोभाधिकोऽधमः ।।११४।।
निर्लज्जः पण्डितो भूयान्न को नाम महीतले। ब्रह्मिष्ठो यत् त्वमस्माकं मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।।११५।।
कुले जातान् महावीर्यान् पन्नगान् कः पदा स्पृशेत्। कालकूटं विषं को वा भक्षयेद्योगवर्जितः ।।११६।।
मुष्टिना ज्वलितं वह्निं बध्वा कः स्वगृहं नयेत्। कः कोपयेदिमान् विप्रान् नानादेशसमागतान् ।।
मुक्त्वा त्वां गर्वलोभाढ्यं दुर्विनीतं द्विजाधमम् ।।११७।।
एकैकोऽपि दहेद्विश्वं कुपितो ब्राह्मणोत्तमः। नानादेशा इमे सर्वे किं पुनस्त्वां द्विजाधमम् ।।११८।।
इत्यादिभिस्तु वाक्शल्यैः कर्णरन्ध्रे प्रताडितः। आश्वलेन तदा विप्रो याज्ञवल्क्यो महायशाः ।।११९।

याज्ञवल्क्यप्रत्युक्तिः

गिरिर्जलधरैर्यद्वद् बहुपाषाणवृष्टिभिः। जगामाल्पं च न क्षोभं हसन्निदमुवाच ह ।।१२०।।
ब्रह्मिष्ठोऽत्र भवेद्यो यो ह्यधिको ब्राह्मणोत्तमः। तस्मै तस्मै नमस्कुर्मो वयमाश्वल ! सर्वदा ।।१२१।।

असि ? तदपि तवाधिक्यं गर्वलोभाभ्यामेव, न विद्ययेति।कीदृशानामस्माकम् ? ब्रह्मकल्पानां हिरण्यगर्भसमानां महात्मनां गर्वादिहीनानाम् उपशमशीलानां चतुर्दशादिविद्यानां विदुषां तर्कस्य मननस्य सिद्धये। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या एताश्चतुर्दश। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं तथेत्येता विद्या अष्टादश स्मृताः।' इति द्वयोरर्थः।।११३-११४।। निर्लज्ज इति। को वा निर्लज्जः सन् पण्डितो न भूयाद् इति। तत्र त्वमेवोदाहरणमित्याह—ब्रह्मिष्ठ इति।।११५।। तत्र वादादौ प्रसिद्धं वाचा धर्षणं निदर्शयति—कुल इति। कुलीनान् पन्नगान् वासुक्यादीन् कः पदा पादेन स्पृशेत् ? शम्भुवद् योगहीनः कालकूटं कः पिबेत् ? ज्वलितं वह्निं मुष्टिना को बध्वा नयेत् ? को वा इमान् विप्रान् त्वां विना कोपयेत् ? 'वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना' इति लक्षितो निदर्शनालङ्कारः।।११६-११७।। एकैकोऽपीति। स्पष्टम्।।११८।। इत्यादिभिरिति। इत्यादिवाक्यरूपशल्यैः कर्णच्छिद्रद्वारा आश्वलेन ताडितोऽपि याज्ञवल्क्यः मेघैः पाषाणवृष्ट्या ताडितगिरिवत् न क्षुब्धः, प्रत्युत हसन् सन् इदं वक्ष्यमाणश्लोकचतुष्टयात्मकं वाक्यम् उवाच। इति द्वयोरर्थः।।११९-१२०।।

अनौद्धत्यं ब्रह्मविदो लिङ्गमिति सूचयन् याज्ञवल्क्य आह—ब्रह्मिष्ठ इति चतुर्भिः। हे आश्वल ! अत्र ब्राह्मणसमवाये यो यो ब्रह्मिष्ठतया अधिको भवेत् तस्मै तस्मै वयं नमस्कुर्मः।।१२१।। तर्हि गावः कुतो हृता इति

नीच द्विज एक तुझे छोड़ कर कौन होगा जो विविध देशों से आये इन वेदज्ञों को नाराज़ करे, मानो घोर विषैली जाति वाले साँपों को पैर से छेड़ना हो, या योगसाधनासे रहित द्वारा कालकूट विषको खाना हो, या जलती आग मुट्ठी में बाँधकर घर ले जानी हो ! यहाँ जो उत्तम ब्राह्मण हैं इनमें प्रत्येक ऐसा समर्थ है कि क्रोधित हो जाये तो सारा संसार भस्म कर डाले। अनेक देशों से आये ये सभी कुपित होकर तुझ नीच ब्राह्मणको जला देंगे इसमें सोचना ही क्या ?' ।।११२-११८।। ऐसे ही अन्य भी वाग्बाणों से आश्वल ने याज्ञवल्क्य के कर्णच्छिद्रों पर घोर प्रहार किये।

बहुत ओले बरसाने वाले बादलों से जैसे पहाड़ चिढ़ता नहीं, ऐसे ही यशस्वी विप्र याज्ञवल्क्य आश्वल की बातों से विचलित हुए बिना मुस्कुराते-से हुए यों बोले—'हे आश्वल ! इस ब्राह्मणसभा में जो-जो उत्तम ब्राह्मण ब्रह्मनिष्ठा की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं उन सभी को मेरा सदा प्रणाम है। (इससे सूचित है कि ब्रह्मज्ञ की एक विशेषता है उद्धत न होना, गर्वसे अपना सिक्का जमाने वाला न होना।) मैंने यहाँ स्वर्णजड़ित गायें देखीं तो मुझे उन्हें ग्रहण करने की इच्छा हो

हेम्नाऽत्र सहिता गावो दृष्टास्तास्त्वभिलाषतः। हृता मया कुतो विप्राः कोपं कुर्वन्त्यकारणम्।।१२२।।

राजा दाता ह्यहं हर्ता गवां केन द्विजन्मनाम्। कोपो निष्कारणे जातो वदाश्वल ! महामुने !।।१२३।।

एतेऽप्येवं प्रगृह्णन्तु राज्ञोऽस्तु बहुलं धनम्। मद्वद् धनार्थिनश्चेत्स्युस्त्वं वाश्वल ! यथासुखम्।।१२४।।

एवमुक्तस्ततः क्षुब्धः पुनरप्याश्वलो मुनिः। घृताहुत्या यथा वह्निर्वादायोवाच तं मुनिम्।।१२५।।

आश्वलमुनिसंवादः

याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य ह्यादावष्टावथाकरोत्। प्रश्नांस्तत्रापि चत्वारोऽतिमोक्षाः सम्पदोऽपरे।।१२६।।

चेद् ? गोषु कामनोदयादित्याह—हेम्नेति। सुवर्णसहिता गाः संवीक्ष्य तास्वभिलाषात् कामनातः ता गावो मया हृताः, तत्र किमर्थं ब्राह्मणाः कुप्यन्तीति।।१२२।। यदि ब्राह्मणानां स्वं किञ्चिद् ह्रियेत तर्हि ते कुप्यन्तु नाम; मया तु राज्ञा दत्तं हृतम्, अतोऽयुक्तः कोप इत्याह—राजेति।।१२३।। नाप्यहं ब्राह्मणेभ्यो राजकर्तृकदानस्य प्रतिबन्धको येन ते कुप्येयुरित्याह—एतेऽपीति। यदि मद्वद् धनार्थिन एते ब्राह्मणास्तर्हि तेऽपि प्रतिगृह्णन्तु त्वम् अपि च प्रतिगृह्णीष्व, राजा च बहुलधनोऽस्तु युष्मभ्यं ददातु च, नाऽहं वारय इति।।१२४।।

एवमुक्त आश्वलो घृताहुत्या वह्निवत् पुनरपि क्षुब्धः सन् ततः याज्ञवल्क्येन ब्रह्मिष्ठस्य नमस्कार्यता योक्ता तां मनसि निधाय तं याज्ञवल्क्यं प्रति वादाय वादं कर्तुम् उवाच इति सम्बन्धः।।१२५।।

अथाश्वलप्रश्नोत्तररूपस्य कण्डिकाष्टकस्यार्थं संगृह्णाति—याज्ञवल्क्येति चतुर्भिः। आश्वलः सर्वप्रश्नानाम् आदौ याज्ञवल्क्य ! इति सम्बोध्य अष्टौ प्रश्नानकरोत्। तत्र तेषु मध्ये चत्वारः प्रश्ना अतिमोक्षाः मोक्षः कर्मिणां जनानां वागादीनामध्यात्मपरिच्छेदलक्षणस्य मृत्योर्निवृत्तिसाधनं ज्ञानं, फलत्वेन ततोऽप्युत्कृष्टा वागादीनामग्न्यादिभावप्राप्तिः अतिमोक्षः, तद्विषयकत्वात् प्रश्ना अपि अतिमोक्षाः इति। अपरे चत्वारः प्रश्नाः सम्पदः सम्पद्विषयकाः, सम्पन्नाम निकृष्टे किञ्चित्साम्येन उत्कृष्टदृष्टिः; यथा श्राद्धेऽन्नेऽमृतदृष्टिः, ब्राह्मणे विष्णुदृष्टिः साऽपि कर्मसमृद्धिकरी, इत्यष्टावपि प्रश्नाः कर्मसम्बन्धिन एवेति।।१२६।।

गयी, इसी से मैंने उन्हें आश्रम भेज दिया। इसमें कोई कारण नहीं कि ब्राह्मण मुझ पर क्रोध करें। ब्राह्मणों का तो मैंने कुछ अपहृत किया नहीं है। राजा देने वाला और मैं गायें ले जाने वाला। बीचमें ब्राह्मण कहाँ आ गये जो बिना कारण मुझपर क्रुद्ध हों ? आप तो मननसमर्थों में महान् हैं, कहिये मुझपर विप्ररोष कैसे संभव है ? मैंने राजा को यह तो कहा नहीं कि आगे दान न करे। मेरी तरह यदि धनेच्छुक हैं तो ये ब्राह्मण भी राजासे धन ग्रहण कर लें, आप भी ले लेवें। जो इन्हें अच्छा लगे वही लें। राजा के पास काफी संपत्ति है, भगवान् करे और बढ़े। मैं कहाँ मना करता हूँ।।११६-१२४।।

घी की आहुति से जैसे आग भड़क उठती है ऐसे ही याज्ञवल्क्य की बात सुनकर आश्वल उत्तेजित हो गया और मुनि होने पर भी उसने याज्ञवल्क्यको वाद केलिये ललकारा।।१२५।। उसने 'याज्ञवल्क्य !' यों संबोधित कर आठ सवाल पूछे, जिनमें चार 'अतिमोक्ष' के बारे में और बाकी 'सम्पद्' के बारे में थे। (इस प्रसंगमें मोक्षसे कहा है उस उपासना को जिससे कर्मनिष्ठ लोगों के वागादि प्राण सीमिततारूप मौतसे परे हो जाते हैं। उस मोक्षसे उत्कृष्ट है अतिमोक्ष जिसमें वागादि अपने व्यापकरूप अर्थात् अग्नि आदि अधिदैव रूप से स्थित रहते हैं। साधनभूत उपासना मोक्ष और फल उससें श्रेष्ठ अतः अतिमोक्ष है। सम्पत् कहते हैं किसी समानता के आधार पर निकृष्ट को उत्कृष्ट समझना जैसे श्राद्ध में अन्नको अमृत और ब्राह्मण को विष्णु समझा जाता है जिससे श्राद्धकर्म की सामर्थ्य बढ़ जाती है।)।।१२६।।

आश्वलकृत प्रथम चार प्रश्न यों थे—१) अग्निहोत्रादि कर्म यद्यपि ऋत्विक् आदि साधनों से संपन्न होता है तथापि परिच्छेद के प्रति हेतुभूत प्रमादरूप मृत्युसे व्याप्त ही होता है। तात्पर्य है कि शास्त्रविहित कर्म करने से इन्द्रियों की शास्त्रविरुद्ध

व्याप्तं हि मृत्युना सर्वमह्ना रात्र्या तथैव च। पक्षाभ्यां शुक्लकृष्णाभ्यामदस्त्यक्ता कथं भवेत्।
यजमानस्तथा यायात् केन खेऽत्र निराश्रये।।१२७।।

इत्युक्ते क्रमतः प्राह चतुर्णामुत्तरं मुनिः। वाक्चक्षुःप्राणमनसामधिदैवात्मना द्विज! होत्रा वाऽध्वर्युणा
तद्वदुद्गात्रा ब्रह्मणाऽपि च।।१२८।।

चतुर्णामपि कर्माणि प्रत्येकं सफलानि च। सम्पद्रूपाण्युवाचासौ तिसृभिस्त्वेवमादिना।।१२९।।

तत्र अतिमोक्षविषयकण्डिकाचतुष्टयस्य प्रश्नभागानामर्थं सङ्गृह्णाति—व्याप्तमिति। हे याज्ञवल्क्य ! सर्वम् ऋत्विगादिसाधनैः सम्पन्नमपि कर्म अग्निहोत्रादिकं मृत्युना प्रमादरूपेण परिच्छेदहेतुना व्याप्तमेव। यद्यपि शास्त्रोक्तानुष्ठानेन अशास्त्रीया इन्द्रियादिवृत्तयो निवृत्ताः तथापि परिच्छेदो ज्ञानं विना न निवर्तत इति भावः। अदः परिच्छिन्नं सर्वं त्यक्ता, तृन्प्रत्ययः, एतत्त्यागशीलः अपरिच्छिन्नफलगामीति यावत्; ईदृशो यजमानः कथं केन ज्ञानलक्षणप्रकारेण भवेद् इति प्रथमः प्रश्नः। तथा अहोरात्ररूपकालेन सर्वं परिच्छिन्नं, तदतिक्रमः केन ज्ञानेनेति द्वितीयः। तथा शुक्लकृष्णपक्षरूपकालेन सर्वं परिच्छिन्नं, तदतिक्रमः कथमिति तृतीयः। तथा एतं देहं त्यक्त्वा निराश्रये निरालम्बन आकाशे गच्छन् यजमानः केन साधनेन यायाद् गच्छेदिति चतुर्थ इत्यर्थः।।१२७।।

प्रश्नचतुष्टयस्य यथाक्रममुत्तराणि दर्शयन्नुक्तकण्डिकाचतुष्टयस्य उत्तरभागार्थं सङ्गृह्णाति—इत्युक्त इति। इति आश्वलेन उक्ते पृष्टे सति चतुर्णां प्रश्नानामुत्तरजातं क्रमेण मुनिः याज्ञवल्क्य आह स्म। कथमिति चेत् ? शृणु—अध्यात्मं या यजमानस्य वाक् तस्या अधिदैवं रूपमग्निः, तस्याएवाधियज्ञं यज्ञे वर्तमानं रूपं होता नाम ऋग्वेदविद् ऋत्विक्। एतेषां त्रयाणामभेदावगाहिनी 'अहमधिदैवाग्न्यात्मकयजमानवाग्रूपोऽग्निः' इत्याकारा होत्रा क्रियमणा दृष्टिः यजमानस्य प्रथमोक्तमृत्योः तरणसाधनम्। एवमितरदपीति भावः। तथा च वाक्चक्षुःप्राणानाम् अधिदैवरूपेण अग्निसूर्यवाय्वात्मकेन यथाक्रमम् ऐक्यमनुसन्दधानेन होत्राऽध्वर्युणोद्गात्रा च ऋत्विजा यजमान उक्तमृत्युप्रभृतित्रयकृतं परिच्छेदत्रयं तरति। तथा मनश्चन्द्रात्मैक्यं पश्यता ब्रह्मणा वेदत्रयविदा ऋत्विजा तज्ज्ञानप्रभावेण आकाशे सालम्बनो गच्छतीत्यर्थः। 'अध्वर्यूद्गातृहोतारो यजुःसामर्ग्विदः क्रमाद्' इत्यमरः।।१२८।।

अथ होत्रादीनां चतुर्णां सम्पद्रूपज्ञानविधायकस्य कण्डिकाचतुष्टयस्यार्थं सङ्गृह्णाति—चतुर्णामिति। अयं याज्ञवल्क्यः पूर्ववत् पृष्टः सन् चतुर्णां होत्रादीनां कर्तव्यानि सम्पद्रूपाणि सफलानि कर्माणि 'तिसृभिः' इत्यादिश्रुतिग्रन्थेन उवाच इति सम्बन्धः। तत्र कतिभिः ऋग्जातिभिः किंरूपेण चिन्तिताभिः होता कर्म कुर्वन् किम् फलं साधयति ?—इति प्रश्नोत्तरम्—याज्या-पुरोनुवाक्या-शस्यासञ्ज्ञाभिः। यजेति प्रैषानन्तरं पठ्यमाना याज्या। अनुब्रूहीति प्रैषानन्तरं पठ्यमानाऽनुवाक्या। एकनिःश्वासेन पठ्यमाना शस्या। इति लक्षिताभिः त्रित्वरूपसाम्येन त्रिलोकीरूपतया होत्रा दृष्टाभिः सर्वप्राण्यात्मकं लोकत्रयं यजमानस्य साधयतीति। एवम् अध्वर्युणा हुतासु आहुतिषु उज्ज्वलत्वसशब्दत्वाधोगामित्वैः त्रिविधासु उज्ज्वलत्वादिसाधर्म्येण देवपितृमनुष्यलोकत्वेन अध्वर्युणा दृष्टाभिः तल्लोकत्रयजयः फलम् इति द्वितीयमुत्तरम्। तथा उद्गात्रा गीयमानासु पूर्वोक्तयाज्याद्यृक्षु प्राणापानव्यानरूपतया क्रमेणोद्गात्रा दृष्टासु सतीषु भूरादिलोकत्रयजयः फलमिति चतुर्थमुत्तरम्। एवं ब्रह्मणा ध्यानमात्रव्यापारकेण अनन्तवृत्तिकत्वसाम्येन विश्वेदेवतया मनसि चिन्त्यमानेऽनन्तफलजयो यजमानस्य भवतीति दक्षिणाक्रीतैः ऋत्विग्भिः कृतस्य कर्मणः फलस्य यजमानगामित्वादिति श्रुतौ तृतीयमुत्तरमिति।।१२९।।

प्रवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं फिर भी सीमितता तो उपासनाके बिना हटती नहीं। वह कैसी उपासना है जिससे यजमान जो कुछ परिच्छिन्न है उस सब को छोड़कर असीम फल पाये ? २) दिन-रात रूप कालसे सब सीमित है, इससे परे जाने का क्या उपाय है ? ३) शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष रूप काल की सीमा कैसे लाँघी जाती है ? ४) वर्तमान शरीर छोड़कर यजमान किस सहारे से इस आश्रयरहित आकाशमें जाता है?

अष्टौ प्रश्नान् विधायैवं स होतोपरराम ह। अशक्तो लज्जितः पश्यन्नार्तभागमुखं मुहुः।।१३०।।

आर्तभागसंवादे ग्रहादिप्रश्नः

आर्तभागो ह्यथाहैनं स जारत्कारवो मुनिः। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य प्रश्नं दुर्भेदमल्पकैः।।१३१।।

आश्वलब्राह्मणार्थमुपसंहरति—अष्टाविति। स **आश्वल** उत **याज्ञवल्क्यस्याजेयताम् अनुसन्दधानः** उपरराम ह **प्रश्नव्यापाराद् निववृते। मयाऽजितम्, आर्तभागः कथंस्विदेनं जयतु**—**इत्याशयेन** आर्तभागमुखं पश्यन् **इति।।१३०।।**

अथाऽऽर्तभागप्रश्नपञ्चकतत्समाधानात्मकस्य द्वितीयब्राह्मणस्यार्थं पञ्चाशच्छ्लोकैः प्रदर्शयंस्तत्र प्रथम-प्रश्नसमाधानस्य नवकण्डिकामयस्य अर्थं पूर्वोक्तो देवताभावरूपो मोक्षोप्यापेक्षको ग्रहातिग्रहलक्षणमृत्युग्रस्तत्वादिति सूचकं निबध्नाति—आर्तभाग इति **पञ्चदशभिः**। अथ जारत्कारव आर्तभाग एनं **याज्ञवल्क्यं** याज्ञवल्क्य ! इति **सम्बोध्य अल्पकैः मन्दमतिभिः दुर्भेदं दुःसमाधानं प्रश्नमाह इत्यन्वयः।।१३१।।**

याज्ञवल्क्य ने क्रमशः चारों प्रश्नों का उत्तर दिया—१) अध्यात्ममें जो यजमानकी वाक् है उसका आधिदैविक रूप है अग्नि और यज्ञमें उसी का रूप है होता अर्थात् ऋग्वेद का जानकार ऋत्विक्। होता कर्मकाल में यह दृष्टि बनाता है 'मैं वह अग्नि हूँ जो यजमानकी वाक् का आधिदैविक रूप है।' इसके फलस्वरूप यजमान असीम फल पा लेता है। २) ऐसे ही चक्षु-सूर्य-अध्वर्यु का अभेदानुसंधान यदि अध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेदीय ऋत्विक् करे तो दिन-रात से यजमान परे चला जायेगा। ३) प्राण-वायु-उद्गाता का ऐसा चिंतन उद्गाता अर्थात् सामवेदी ऋत्विक् करे तो दोनों पक्षों की सीमा यजमान लाँघ जायेगा। ४) मन-चन्द्रमा-ब्रह्मा की इसी तरह की उपासना ब्रह्मा अर्थात् तीनों वेदों का जानकार ऋत्विक् करे तो यजमान आकाश में जाने के लिये सहारा पा जाता है।

आश्वल ने पुनः चार प्रश्न किये— १) होता यज्ञमें कितनी ऋचाओं का प्रयोग करेगा, वे कौन-कौन हैं और (उनमें किस ध्यान से) क्या फल होगा? २) अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ डालेगा, वे कौन-सी हैं और (उनकी कैसी उपासना से) क्या फल होगा ? ३) ब्रह्मा कितने देवताओं से यज्ञकी रक्षा करेगा, देवतानाम क्या है, (उपासना कैसी व फल क्या है) ? ४) उद्गाता कितनी स्तोत्रिया-ऋचायें गायेगा, वे हैं कौन-सी, अध्यात्ममें उनका क्या रूप है और उनकी उपासना का फल क्या है ?

इनका उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्यने यों दिया— १) होता यज्ञमें तीन तरह की ऋचाओं का प्रयोग करेगा—याज्या, पुरोनुवाक्या और शस्या। (विभिन्न कार्यों में विनियुक्त ऋङ्मन्त्रों के ये पारिभाषिक नाम हैं।) इनमें होता त्रिलोकी की दृष्टि करेगा जिसके फलस्वरूप यजमान को लोकत्रय प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि यज्ञकालमें यज्ञांगभूत उपासनाओं का फल यजमान पाता है, कारण कि वह दक्षिणा द्वारा ऋत्विजों को खरीद लेता है। २) अध्वर्यु द्वारा प्रक्षिप्त आहुतियों में जो उज्ज्वल हों उन्हें वह देवलोक समझे, जो सशब्द हों उन्हें पितृलोक समझे और जो नीचे बैठ जायें उन्हें मनुष्यलोक समझे तो अध्वर्युकृत इस उपासनासे यजमान ये तीन लोक जीत जाता है। ३) ब्रह्मा एक ही देवतासे यज्ञरक्षा करता है। वह देवता मन है। मनोवृत्तियाँ और विश्वेदेव अनंत हैं, अतः मन विश्वेदेव है ऐसी उपासना ब्रह्मा करता है, जिससे यजमानको अनंत फल मिलता है। ४) उद्गाता गान करते समय याज्या को प्राण, पुरोनुवाक्या को अपान और शस्या को व्यान समझता है, जिससे भूरादि तीन लोकों पर यजमान की विजय होती है।।१२७-१२९।।

इस प्रकार आठ प्रश्न पूछकर और सम्यक् उत्तर पाकर होता लज्जित हुआ और स्वयं अधिक परीक्षामें असमर्थ होने से आर्तभाग को प्रेरित करने के लिये उसकी ओर देखते हुए चुप हो गया।।१३०।। उपनिषत् में आर्तभाग ने पाँच प्रश्न उपस्थित किये हैं, जिनका सन्दर्भ अब पचास श्लोकों तक चलेगा। प्रथम प्रश्न का अभिप्राय है कि पूर्वकथित

ग्रहा अतिग्रहास्तद्वत् कतिसङ्ख्या उदीरिताः। उक्त इत्थमुवाचाष्टौ द्वये वाजसनेयकः।।१३२।।
आर्तभागो ह्यथाहैनं स जारत्कारवो मुनिः। पुनः के त इतीमं सग्रहान् संपृष्टवान् मुनिः।।१३३।।
घ्राणं वाग्रसना चक्षुः श्रोत्रं पञ्चममीरितम्। मनो हस्तौ त्वगित्यष्टौ ग्रहा उक्ता मनीषिभिः।।१३४।।
गन्धो नाम रसो रूपं शब्दः कामोऽपि कर्म च। अतिग्रहा इमे स्पर्शसहिता विषया मताः।।१३५।।
समुद्रे पतितो यद्वद् गृह्यतेऽत्र ग्रहैर्नरः। ते चाप्यन्यैरतिग्राहैर्गृह्यन्तेऽभ्यधिकैर्यथा।।१३६।
तथा संसारगो जन्तुरिन्द्रियैर्भक्ष्यते ग्रहैः। इन्द्रियाणि स्वविषयैर्भक्ष्यन्ते तान्यतिग्रहैः।।१३७।।
गृह्णन्ति पुरुषं ह्येते मार्जारो मूषकं यथा[1]। इन्द्रियाणि च गन्धाद्या मत्स्यहेव[2] जलाशयात्।।१३८।।

सङ्ग्रहेण प्रश्नोत्तरे पूर्वोत्तरार्धाभ्यामभिनयति—ग्रहा इति। ग्रहाणामतिग्रहाणां च का सङ्ख्या ? इति पूर्वार्धार्थः। एवम् उक्तः पृष्टो वाजसनेयको याज्ञवल्क्य इत्थमुवाच। 'इत्थं' कथम् ? द्वयेऽपि अष्टौ; ग्रहा अष्टौ अतिग्रहा अप्यष्टावित्युत्तरार्धार्थः।।१३२।। आर्तभागो हीति। आर्तभाग इमं याज्ञवल्क्यं प्रति इति पुनः सग्रहान् ग्रहैः सहितान् अतिग्रहान् संपृष्टवान्। 'इति' किम् ? ते ग्रहा अतिग्रहाश्च के किंस्वरूपा इति।।१३३।। याज्ञवल्क्यो ग्रहाणां स्वरूपमाह—घ्राणमिति। घ्राणादीन्द्रियाणि जीवस्य बन्धकत्वाद् ग्रहा इत्युच्यन्ते। अष्टत्वे तूपपत्तिर्वक्ष्यत इति।।१३४।। केवलानामिन्द्रियाणां बन्धकत्वमपि यदधीनं तान् विषयान् अतिग्रहत्वेन दर्शयति—गन्ध इति। घ्राणादीनां क्रमेण विषया गन्धाद्याः। काम इच्छा। कर्म क्रिया।।१३५।। उक्तानां ग्रहत्वमतिग्रहत्वं चोपपादयति—समुद्र इत्यादिना। ग्रहैः मकरादिरूपैः।अतिग्राहैः तिमिङ्गलाद्यैः।।१३६।।दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति। भक्ष्यते स्वाधीनी क्रियते। तथा स्वविषयरूपैः अतिग्रहैः इन्द्रियाणि भक्ष्यन्ते पुंबन्धनक्रियायां स्वाधीनीक्रियन्त

देवरूपता सापेक्ष मोक्ष ही है क्योंकि ग्रह और अतिग्रह कहलाने वाली मृत्यु से ग्रस्त ही है। ग्रहादि को याज्ञवल्क्यने स्पष्ट किया। इस विचार को पुराण में व्यक्त करते हैं—आश्वल के चुप हो जाने पर जारत्कारव आर्तभाग नामक मुनि ने 'याज्ञवल्क्य!' यों सम्बोधित कर महर्षि से ऐसा प्रश्न पूछा जिसे मंदमति लोग, अर्थात् परिच्छेदाभिमानी, समाहित कर नहीं सकते। प्रश्न था—'ग्रहों की और अतिग्रहों की गिनती कितनी बतायी जाती है ?' वाजसनेयक ने जवाब दिया 'आठ ग्रह हैं और आठ ही अतिग्रह हैं।' आर्तभाग ने याज्ञवल्क्यसे फिर पूछा 'ग्रह कौन हैं और अतिग्रह कौन हैं ?' याज्ञवल्क्य ने बताया 'मनस्वी विद्वान् इन आठ को ग्रह कहते हैं—घ्राण, वाक्, रसना, चक्षु, श्रोत्र, मन, हाथ और त्वक्। ये बाँधते हैं अतः ग्रह कहलाते हैं। जिनके अधीन हुए ये बंधक बन पाते हैं वे विषय अतिग्रह कहे जाते हैं जिनके नाम हैं—गंध, नाम, रस, रूप, शब्द, कामना, कर्म (क्रिया), और स्पर्श।।१३१-१३५।। समुद्र में कोई गिर पड़े तो मगरमच्छ आदि ग्रह उसे निगल लेते हैं और आगे वे ग्रह भी अपने से अधिक शक्तिशाली तिमिंगल आदि अतिग्रहों द्वारा खा लिये जाते हैं। इसी तरह संसार में आया जन्तु ग्रहरूप इंद्रियों द्वारा मानो खा लिया जाता है, क्योंकि इंद्रियाँ इसे वैसे ही अपने अधीन कर लेती हैं जैसे भोक्ता अन्नको पेट में डालकर कर लेता है। पुनः इन्द्रियों को अतिग्रह कहलाने वाले उनके विषय मानो खा जाते हैं क्योंकि विषयों का नियंत्रण इंद्रियों पर रहता है। चूहे को बिल्ली की तरह इंद्रियाँ पुरुष को काबूमें कर लेती हैं और धीवर जलाशयसे जैसे मछलियाँ पकड़ता है ऐसे ही गंधादि विषय इंद्रियों को पकड़े रहते हैं। किसी ग्रह (पिशाचादि) का आवेश हो जाने पर जंतु जैसे हित-अहित का विवेक खो बैठता है ऐसे ही अपनी इंद्रियों को प्रधानता देने वाला भोगी भी अपने हित-अहित का विचार नहीं कर पाता। कल्पना करो कि जैसे कुत्ते पाले जाते

१. ग्राहं ग्राहं त्यजति ततः शनैर्भक्षयति मार्जारो मूषकमेवमिन्द्रियाणि कामनया प्रेरयन्ति विषयोपलम्भमात्रे त्यजन्तीव—स्तब्धानीव भवन्ति, तृप्तिभ्रममुत्पादयन्तीति यावत्—पुनर्विषयोपभोगाय चोदयन्त्येव शनैः पुमांसं पुरुषार्थाऽयोग्यं कृत्वा विनाशयन्तीति भावः।
२. जालं जलाशयं व्याप्नोत्येवं विषया जगदिति क्वचन विद्यमानो नरो मत्स्यो जाल इव भोग्येषु निमज्जतीत्यर्थः।

ग्रहाविष्टो यथा जन्तुर्न पश्यति हिताहितम्। इन्द्रियाश्रयवानेवं न पश्यति हिताहितम्।।१३६।।

मकरो हि यथा बद्धो नरस्याभिमुखं व्रजेत्। अनिच्छन्नपि हन्तुं स ग्रहोऽतिग्रहमागतः।।१४०।।

घ्राणादीनीन्द्रियाण्येवं गन्धाद्यैर्विषयैः सदा। ग्रहा अतिग्रहैरेतैर्गृहीता यान्ति सर्वतः।।१४१।।

एकादश ग्रहास्तद्वत् तावन्तः स्युरतिग्रहाः। यद्यप्येते तथाप्यष्टौ प्रधाना इह कीर्तिताः।
त्वग्घस्तयोर्वेतरेषामन्तर्भावो मतो मुनेः।।१४२।।

सर्वदेहस्थितत्वेन त्वचो योषित्समागमात्। जायते यत् सुखं शिश्ने स्पर्शजत्वात् त्वचा हि तत्[1] ।१४३

पद्भ्यां च पायुना चैव कर्मजातं प्रजायते। पायुपादावतो हस्तवाक्यादुक्तसमौ मतौ।।१४४।।

पायुपादकराणां वा नाडीनां बन्धनं समम्। विसर्गमोक्षे च गतौ करयोश्चलनं यतः।।१४५।।

इत्यर्थः।।१३७।। एतदेव स्फुटयति—गृह्णन्तीति। हि यतः प्रसिद्धमेतद् एते इन्द्रियग्रहाः, तानि इन्द्रियाणि च गन्धाद्या विषया गृह्णन्ति, यथा मत्स्यहा धीवरो जलाशयाद् जलनिवासिनो मत्स्यान् गृह्णाति तद्वदिति।।१३८।। ग्रहशब्दो हैमकोशे पूतनादिबालग्रहवाचकोऽप्युक्त इतस्तत्साम्यमप्याह—ग्रहाविष्ट इति।इन्द्रियाश्रयवान् इन्द्रियप्रधानः।।१३६।। विषयाणामतिग्रहत्वेऽभूतोपमामाह—मकर इति। यथा मकरः केनचिद् बद्धो बद्ध्वेव प्रेरितः सन् स्वयम् अनिच्छन्नपि हन्तुं नरस्याभिमुखं गच्छेत् तदा स ग्रहो मकरः अतिग्रहं स्वप्रेरकरूपम् आगतः प्राप्तः सन्, दृष्टान्त इति शेषः।।१४०।। दार्ष्टान्तिकमाह—घ्राणादीनीति। एवं घ्राणादीन्द्रियरूपा ग्रहा एतैः गन्धादिविषयरूपैः अतिग्रहैः गृहीताः सन्तः सर्वतो यान्ति पुंसो बन्धाय प्रवर्तन्त इत्यर्थः[2]।।१४१।।

अथ तेषामष्टत्व उपपत्तिमाह—एकादशेति चतुर्भिः। यद्यपि सान्तःकरणज्ञानकर्मेन्द्रियाणि एकादश प्रसिद्धानि, एवं तद्विषया अपि, तथापि प्राधान्याद् अष्टौ इत्युक्तमित्यर्थः। अथ वा त्वग्घस्तयोः उक्तान्तर्गतयोः परिशिष्टानां पादपायूपस्थानाम् अन्तर्भावविवक्षया तथोक्तमित्याह—त्वग्घस्तयोरिति। मुनेः याज्ञवल्क्यस्य मतः अभिप्रेतः।।१४२।। तत्रोपस्थस्य त्वच्यन्तर्भावं स्पष्टयति—सर्वेति। यद् योषित्समागमात् शिश्न उपस्थे सुखं जायते तत् त्वचः सर्वदेहस्थितत्वेन स्पर्शजत्वात् त्वचा एव जन्यते, अत उपस्थस्य तत्रान्तर्भाव इति शेषः।।१४३।। पायुपादयोश्च हस्ते क्रियाहेतुत्वसाम्याद् हस्तेऽन्तर्भाव इत्याह—पद्भ्यामिति। कर्मजातं गमनरूपं मलोत्सर्गरूपं च। हस्तवाक्याद् 'हस्तौ वै ग्रह' (बृ.३.२.८) इत्यादिश्रुतिरूपात्।।१४४।। हस्तेऽन्तर्भाव उपपत्त्यन्तरमाह—पाय्विति। अथ वा पाय्वादीनां नाडीबन्धस्य साम्यमभिप्रेत्य हस्ते पायुपादयोरन्तर्भाव उक्तः। नाडीबन्धसाम्ये हेतुः—विसर्गेति। विसृज्यत इति विसर्गो मलं, तस्य मोक्षे पायुव्यापारे; गमने पादव्यापारे च क्रियमाणे यतः करयोश्चलनं स्थूलं सूक्ष्मं वाऽऽकुञ्चनप्रसारणादिरूपं यतो भवति, ततो ज्ञायते नाडीसम्बन्धः समः।।१४५।।

हैं ऐसे ही कोई व्यक्ति एक मगरमच्छ अपने वशमें कर ले और सामने कोई मनुष्य आये तो उसे मारने के लिये मगर को प्रेरित करे। ऐसी स्थितिमें मगर न चाहे तो भी मनुष्य को खाने केलिये आक्रमण करेगा ही क्योंकि उसका मालिक उससे अधिक समर्थ हुआ उसका संचालन कर रहा है। ऐसे ही गंधादि विषयरूप अतिग्रहों से नियंत्रित घ्राणादि इन्द्रियरूप ग्रह पुरुषों को बाँधने के लिये हर तरह से यत्नशील रहते हैं।।१३६-१४१।।

यद्यपि मन और इंद्रियाँ मिलकर ग्यारह ग्रह हैं और इतने ही इनके विषय अतिग्रह हैं तथापि प्रधानता की दृष्टि से यहाँ आठ का उल्लेख है। अथवा जो इंद्रियाँ यहाँ नहीं कही हैं उनका त्वक् और हाथ में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

१. अतएव योषिदानन्दमुख्यस्य द्विपस्य स्पर्शो घातस्थानमिति कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा हताः पञ्चभिरेव पञ्चेत्यादौ प्रसिद्धम्। २. विषया ग्राहपतिस्थानीया इन्द्रियाणि ग्राहस्थानीयानि जीवा तद्भक्ष्यस्थानीयाः।

तत्रैव मृत्युभक्षकप्रश्नः

एवमुक्ते पुनः प्रश्नमार्तभागश्चकार ह। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य सर्वज्ञं मुनिसत्तमम्।।१४६।।
जडाजडमिदं विश्वमन्नं मृत्योः समीरितम्। मृत्युरन्नं तु यस्याः स्याद् भवेत् सा देवताऽत्र का।।१४७।
याज्ञवल्क्य इदं प्राह ह्यापः सा देवता मता। यतः सर्वादनो वह्निरद्यतेऽयं जलैः सदा।।१४८।।
इत्युक्ते पुनरप्येनमार्तभागो ह्यपृच्छत[1]। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य गुह्यमर्थं महामुनिः।।१४९।।

अथ द्वितीयप्रश्नोत्तररूपाया दशमकण्डिकाया अर्थमाह—एवमिति त्रिभिः। स्पष्टम्।।१४६।। तत्र प्रश्नमभिनयति—जडेति। हिरण्यगर्भेऽपि क्षुत्कामादीनां वर्णितत्वेन उक्तग्रहातिग्रहलक्षणमृत्युना सर्वो लोकोऽन्नवत् क्रोडी कृतः तस्य मृत्योः अपि अत्ता कश्चिदस्ति न वा ? यद्यस्ति, तर्हि अनवस्था। नास्ति चेद्, मोक्षार्थं यत्नो वृथेति भावः।।१४७।।

याज्ञवल्क्यो दृष्टान्तेन परिहरति—याज्ञवल्क्य इति। सा मृत्योर्भक्षिका देवता जलदृष्टान्तेनाऽस्तीति सम्भाव्यतां यतः सर्वभक्षकोऽपि वह्निः जलैः भक्ष्यत इति प्रसिद्धम्। तथा चोक्तमृत्योः अग्निवत् तापकस्य अत्ता तत्त्वज्ञानात्मकः सुधापूरोऽस्तीत्येवं सिद्धान्तः। न चानवस्था, कतकरेणुवत् स्वयमुपरमादिति भावः।।१४८।।

अथ तृतीयप्रश्नोत्तररूपाया एकादशकण्डिकाया अर्थमाह—इत्युक्त इति सप्तभिः। उक्ते समाहिते। एनं याज्ञवल्क्यम्। गुह्यं गूढाभिप्रायकम्। अयं हि प्रष्टुरभिप्रायः—उक्तं तत्त्वज्ञानस्य मृत्युभक्षकत्वं तदा निश्चितं भवेद् यदि ब्रह्मविदि कश्चिद् विशेषो दृश्येत; स च कथं, लोकविरोधाद्—इति।।१४९।।

उपस्थका अन्तर्भाव त्वक् में है। स्त्रीसम्पर्क से उपस्थमें जो सुख होता है वह त्वक् से ही उत्पन्न होता है क्योंकि त्वगिन्द्रिय सारे शरीर में फैली है। (उपस्थ की कर्मेन्द्रियता तो क्रियासम्पत्ति से गतार्थ है, क्रियाकालिक सुख ज्ञानजनक त्वक् का ही फल है।) ऐसे ही पैरों से व पायुसे कोई न कोई क्रिया ही होती है, अतः हस्तेन्द्रिय के कथनसे पायु और पाद को भी कह दिया मान लेना चाहिये। किं च पायु, पैर और हाथों की नाडियाँ समान हैं क्योंकि मलत्याग करते समय और पैरों से चलते समय हाथों में सूक्ष्म या स्थूल क्रिया होती ही है। अतः हाथ कहने से पायु व पाद का संग्रह उचित है।।१४२-१४५।।

यों ग्रहप्रश्न का उचित उत्तर पाकर आर्तभाग ने पुनः पूछा—याज्ञवल्क्य ! जड-चेतन यह सारा विश्व मृत्यु का अन्न कहा गया है। मृत्यु जिसकी अन्न है—भक्ष्य है—वह देवता यहाँ कौन है ? (अभिप्राय है कि मृत्युनामक हिरण्यगर्भ भी भूख, कामना आदि से पीडित बताया जा चुका है अतः तद्रूप समस्त लोक ग्रह-अतिग्रह रूप मृत्यु द्वारा वैसे ही घिरा है जैसे भक्षक द्वारा अन्न घेर लिया जाता है। प्रश्न है कि उस मृत्यु का भी कोई समापक है या नहीं ? यदि हो तो पुनः उसका भी आगे समापक होगा ताकि अनवस्था दोष हो जायेगा और यदि मृत्युका समापक कोई नहीं तो मोक्ष केलिये प्रयत्न व्यर्थ है !)।।१४६-१४७।।

याज्ञवल्क्य ने सोदाहरण जवाब दिया—सबको मानो खा जाने वाली वह्नि भी सदा जलसे तो मानो खा ही ली जाती है, अतः मृत्यु का समापक कोई हो यह तो संगत ही है। अग्नि की तरह तापप्रद उक्त मृत्यु का समापक है तत्त्वज्ञान जो सुधा की मानो बाढ़ हो। अनवस्था दोष इसलिये नहीं कि जैसे फिटकरी पानी की मिट्टी के साथ स्वयं को भी तले में बैठाकर पानी साफ कर देती है ऐसे ही तत्त्वज्ञान न केवल मृत्युका वरन् स्वयं का भी उपशम करता है (वाचस्पतिमिश्रने बताया है (भाम. पृ. १५०) 'ब्रह्मसाक्षात्कार ....। स च निखिलप्रपंचमहेन्द्रजालसाक्षात्कारं समुन्मूलयन् आत्मानमपि प्रपञ्चत्वाविशेषाद् उन्मूलयतीति' ।)।।१४८।।

---

१. हि पृष्टवानिति सुवचम्।

तत्रैव विज्ञोत्क्रमणप्रश्नः

ब्रह्मवादी यदा देहं जह्यात् किं तस्य ते सदा[1]। प्राणा यथा मृतौ जन्तोरुत्क्रामन्ति शरीरतः।।१५०

उत्क्रामन्ति तथैवास्य तथा चेत् स शरीरभाक्। स्यादज्ञवद् न चेत् केन म्रियते प्राणसंस्थितौ।।१५१।।

एवमुक्ते मुनिः प्राह प्राणानामन्तरेव हि। नाशस्तस्मात् पुनर्देही न स्याद् नाप्यमृतः पुमान्।।१५२।।

प्राणानां विलये हेतुमुवाचाध्मानकारणम्। उच्छूनत्वं हि देहस्य जीवतो दृश्यते न तत्।।१५३।।

मृतः शेते पृथुर्भूत्वा देहो भेरीसमो यतः। लीनाः प्राणास्ततो यस्मादेषाऽवस्था न जीवतः।।१५४।।

उक्ताभिप्रायेण प्रश्नमभिनयति—ब्रह्मवादीति द्वाभ्याम्। ब्रह्मवादी ब्रह्मापरोक्षवान् यदा देहं त्यजति तदा तथाऽज्ञवत् तस्य शरीरात् प्राणा उत्क्रामन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्ति, न वा ? तथा चेदुत्क्रामन्ति चेत्; तर्हि स विद्वानपि अज्ञवद् लोकान्तरे शरीरभाग् एव स्यात्। न चेद् उत्क्रामन्ति; तर्हि प्राणानां स्थितौ सत्यां केन हेतुना स विद्वान् म्रियत इति व्यवह्रियते ? न हि स्थितप्राणं मृत इति लोका व्यवहरन्तीति द्वयोरर्थः।।१५०-१५१।।

एवमिति। एवं पृष्टे सति मुनिः याज्ञवल्क्य इदं प्राह। 'इदं' किम् ? विदुषः प्रारब्धक्षये प्राणानाम् शरीरान्तरेव नाशः विलयो भवति, नोत्क्रमणम् उत्क्रमहेतूनाम् अविद्याकामकर्मणाम् अभावाद् इति भावः। अयमेव चाऽज्ञाद्विशेष इत्याह—तस्मादिति। तस्मात् प्राणानामन्तर्विलयाद् विद्वान् पुमान् पुनः देहवान् न स्यात्, नाऽपि लोकविरोध इत्याह—नाप्यमृत इति। मृङ्धातोरर्थो हि प्राणसम्बन्धहानिः, सा चान्तर्विलयेनाऽपि भवतीति मृतव्यवहारो युक्त एवेति भावः।।१५२।। प्राणानामिति। विदुषः प्राणा अन्तर्विलीना इति कुतो निश्चितम् ? इति शङ्कावारकं हेतुं देहस्य उच्छूनत्वं शोथशालित्वरूपं प्राह स्म याज्ञवल्क्यः। कीदृशमुच्छूनत्वम् ? आध्मानकारणम्, आध्मानं वायोरन्तः पूरणं, तत् कारणं यस्य तत्तथा। उच्छूनत्वस्य मरणलिङ्गत्वोपपादिकां व्यतिरेकव्याप्तिमाह—जीवत इति। तद् उच्छूनत्वं जीवनावस्थायां न दृश्यत इति।।१५३।। एतत् स्फुटयति—मृतइति। यतो मृतो देहो धनञ्जयाख्यवायुना पृथुर्भूत्वा भेरीवद् दृश्यमानः शेते ततो ज्ञायते प्राणा लीना इति, यत एषा ईदृशी अवस्था जीवतो न आसीदिति।।१५४।।

मृत्युभक्षक-विषयक शंका का समाधान हो जाने पर महामुनि आर्तभाग ने गहन अभिप्राय वाला एक और प्रश्न पूछा। इसमें ब्रह्मज्ञ की विशेषता पूछी गयी है अतः अभिप्रायकी गहनता है। जारत्कारवने प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य! जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो चुका है वह जब शरीर छोड़ता है तब क्या अज्ञानी की तरह उसके शरीरसे प्राण उत्क्रमण करते हैं या नहीं ? यदि प्राणों का उत्क्रमण होता है तो अज्ञानी के समान विद्वान् को भी लोकांतर में शरीर धारण करना पड़ता होगा ! और अगर उत्क्रमण नहीं होता तो प्राणों के रहते विद्वान् मरता किस कारण से है ?।।१४९-१५१।। याज्ञवल्क्यने जवाब दिया—विद्वान्‌का जब प्रारब्धकर्म समाप्त हो जाता है तब उसके प्राण शरीर के अंदर ही विलीन हो जाते हैं, प्राण शरीर से उत्क्रमण नहीं करते क्योंकि उत्क्रान्ति के हेतुभूत अविद्या-कामना-कर्म बचे नहीं होते। क्योंकि अज्ञानी की तरह उत्क्रमण न होकर भीतर ही विलय होता है, इसलिये विद्वान् पुरुष पुनः शरीरान्तर धारण नहीं करता और क्योंकि व्यक्त होकर प्राण कार्यकारी नहीं रहते इसलिये 'मर गया' यह व्यवहार भी उसके बारे में संगत है।।१५२।। प्राणविलयमें याज्ञवल्क्य ने कारण बताया देह का फूल जाना जिसको संभव करता है वायु का देह में भर जाना। जीवित शरीर उस तरह फूलता नहीं, अतः वह फूलना देह के मृत होने का चिह्न है।।१५३।। मरा शरीर धनंजय-नामक वायु से फूलकर पड़ा रहता है मानो नगाड़ा हो ! जीवनकाल में यह स्थिति होती नहीं, अतः निश्चय होता है कि प्राण वहीं विलीन हैं।।१५४।। ब्रह्मज्ञकें प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता इसमें प्रमाण तो है शास्त्र, जो कहता है कि ब्रह्मवेत्ता-

१. तदेति टीकापाठः।

उत्क्रान्ताश्च न तस्येमे प्राणाः शास्त्रप्रमाणतः। उत्क्रान्तेषु ध्रुवं देही भवेद् मोक्षो न देहिनः।।१५५।

यदाऽयं म्रियते विद्वान् जहात्येनं तदा न किम्। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य प्रश्नं चक्र इमं पुनः।।१५६।

एवमुक्तो मुनिः प्राह लोकबुद्ध्यनुसारतः। नामैकं न जहात्येनं वामदेवादिनामवत्।।१५७।।

मुक्ता यद्यप्यसन्देहाद् नामरूपक्रियात्मभिः। मुक्तिभाजां तथाप्येते नाम गृह्णन्ति लौकिकाः।।१५८।।

अनन्तं नाम विज्ञेयं यतो मुक्तं च न त्यजेत्। विश्वेदेवसमं तस्य ज्ञानात् तादृक् फलं भवेत्।।१५६।।

तत्रैव मृतस्थितिप्रश्नः

ज्ञानिनं परिपृच्छ्यैवं पप्रच्छाऽज्ञानिनं पुनः। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य स जारत्कारवो मुनिः।।१६०।।

ननूत्क्रान्त्यभावे किं प्रमाणम् ? अत आह—उत्क्रान्तश्चेति। तस्य विदुषः। शास्त्रम्—'एवमेवाऽस्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्र.६.५) इत्यादिश्रुतिरूपम्। श्रुत्यर्थस्तु—यथा नद्यः समुद्रे लीयन्ते, एवमिमाः षोडशकला एकादशेन्द्रियपञ्चप्राणरूपाः परिद्रष्टुः ब्रह्मविदः सम्बन्धिन्यः, पुरुषायणा अधिष्ठानभूते पुरुषे प्रतीयमानाः पुरुषं प्राप्य लीयन्त इति। ननूत्क्रान्तिस्वीकारे को दोषः ? इत्यत आह—उत्क्रान्तेष्विति। उत्क्रान्तिस्वीकारे पुनर्देहान्तरप्रसङ्गः, देहिनः तु मोक्षो वक्तुं न शक्य इति, 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (छां.८.१२.१) इत्यादिश्रुतेरिति।।१५५।।

चतुर्थप्रश्नोत्तररूपाया द्वादशकण्डिकाया अर्थमाह—यदेति चतुर्भिः। आर्तभागो याज्ञवल्क्य ! इति सम्बोध्य इमं प्रश्नं चक्रे। 'इमं' किम् ? यदाऽयं पूर्वोक्तो विद्वान् म्रियते विदेहमुक्तिं भजते तदा एनं किं न त्यजतीत्यन्वयः। जीवन्मुक्तिवत् सावशेषो द्वैतलयः, किं वा निरवशेषः ? इति प्रष्टुरभिप्रायः।।१५६।। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्योऽविद्वद्दृष्ट्या नाममात्रं शिष्यत इत्युक्तवानित्याह—एवमुक्त इति। एनं मुक्तम्।।१५७।। नाम्नो लोकदृष्ट्या शिष्यमाणत्वं स्फुटयति—मुक्त इति। यद्यपि मुक्तिभाजः पुरुषा नामरूपक्रियात्मकैः भेदजातैः निःसंशयं मुक्तास्तथापि एते लौकिका जना मुक्तिभाजां वामदेवादिरूपं नाम गृह्णन्ति एवेति प्रसिद्धम्।।१५८।। एवं मोक्षेऽपि लोकदृष्ट्याऽवशिष्यमाणत्वाद् अनन्ते नाम्नि अनन्ततया प्रसिद्धानां विश्वेदेवानामभेदे चिन्तितेऽनन्तफलयोगो भवतीति प्रसङ्गेन श्रुत्योक्तमनुवदति—अनन्तमिति। तस्य विश्वेदेवाभिन्ननाम्नः ज्ञानाद् ध्यानात्। तादृग् अनन्तम्।।१५६।।

एवं विदुषो ब्रह्मभावरूपो मोक्षो यस्य ज्ञानाग्निदाहाद् भवति, यस्य च सत्त्वेन अज्ञानां ग्रहातिग्रहलक्षणमृत्योः पुनः पुनः प्राप्तिस्तस्य कर्मणः स्वरूपनिर्णयपरायाः पञ्चमप्रश्नोत्तररूपायाः त्रयोदशकण्डिकाया अर्थमाह—ज्ञानिनमिति

संबंधी ग्यारहों इंद्रियाँ और पाँचों प्राण पुरुष में उसी तरह लीन होते हैं जिस तरह समुद्र में नदियाँ। किं च प्राणों का उत्क्रमण माना जाये तो पुनः अन्य शरीर ग्रहण करना पड़ेगा और देहधारण की नियति रहते उसे मुक्त क्योंकर कहा जा सकेगा ? वेद ने बताया है कि शरीराभिमान रहते सुख-दुःख के शिकंजे से छुटकारा नहीं।।१५५।।

आर्तभाग ने एक और प्रश्न किया— हे याज्ञवल्क्य ! जब ब्रह्मवेत्ता विदेहमुक्ति प्राप्त करता है, जीवन्मुक्त रहकर मरता है, तब वह क्या है जो इसे नहीं छोड़ता ? अर्थात् द्वैत का विलय होने पर आत्मेतर कुछ बचता है या नहीं ?।।१५६।।

याज्ञवल्क्य ने लौकिक दृष्टिसे जवाब दिया कि मरने पर भी विद्वान् को नाम नहीं छोड़ता ! जैसे आज तक हम 'वामदेव' इस नाम से उन मुक्त ऋषि का स्मरण करते ही हैं। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि मुक्त लोग नाम-रूप-क्रिया —इस भेदसमूह की गिरफ़्त में नहीं, तथापि जो स्वयं को बद्ध अनुभव कर रहे हैं वे उन मुक्तों का नाम ग्रहण करते ही हैं। मुक्त को भी न छोड़ने से नाम अनंत है, अतः विश्वेदेवों के समान है। नाम का विश्वेदेवों से अभेद-ध्यान करने से अनंत फल मिलता है।।१५७-१५६।।

मुमूर्षोर्जन्तुमात्रस्य यदा वागग्निमाव्रजेत्। प्राणो वातं तथाऽऽदित्यं नेत्रं श्रोत्रं दिशस्तथा।।१६१

मनश्चन्द्रं शरीरं च पृथिवीमन्तरा स्थितः। आकाश आत्मशब्दाख्यो बाह्यमाकाशमेति च।।१६२।।

ओषधीर्लोममात्रं च केशास्तद्वद् वनस्पतीन्। लोहितं च तथा रेतो व्रजत्यप्सु मृते सति। तदा क्व सम्भवत्येष जन्तुर्ज्ञानविवर्जितः।।१६३।।

याज्ञवल्क्योऽतिगोप्यार्थं प्रश्नं मत्वा न संसदि। उक्तवान् किन्तु हस्ते तं गृहीत्वैकान्तगोऽब्रवीत्।।१६४।।

जानात्याबालगोपालं सर्व एव यतो जनः। मृतः कर्मानुसारेण प्रयाति नियतं पुमान्।।१६५।।

प्रश्नस्य तुच्छता मा भूदुत्तरस्य तथैव च। इति सञ्चिन्त्य मतिमानेकान्ते वाक्यमब्रवीत्।।१६६।।

ऊनविंशतिश्लोकैः। ज्ञानिनं परिपृच्छ्य ज्ञानिविषयकं प्रश्नं कृत्वा अथ अज्ञविषयकं प्रश्नं कृतवान् जारत्कारव आर्तभागः।।१६०।। प्रश्नमभिनयति—मुमूर्षोरिति त्रिभिः। जन्तुमात्रस्य सर्वस्यापि देहिनः मुमूर्षोः मरणाभिमुखस्य आध्यात्मिका वागादयो यदाऽधिदैवमग्न्यादिभावं प्राप्नुवन्ति—देवैरनधिष्ठिता भवन्तीति यावत्; देवाऽनधिष्ठितत्वरूप एव वागादीनां तत्र लय इत्याकरेषु (ब्र.सू.४.२.१) प्रपञ्चितत्वात्—तदा ह एषः अज्ञो जन्तुः क्व सम्भवति आमुष्मिकं फलं किमाश्रितो भुङ्क्त इति तृतीयेन सम्बन्धः। प्राणो वायुदेवतां व्रजति, नेत्रमादित्यं व्रजति, एवमग्रेऽपि।।१६१।। मन इति। शरीरं पृथिवीदेवतां व्रजति, तथा शरीरान्तरस्थित आकाशो बाह्याकाशरूपां देवतां व्रजति। कीदृश आन्तराकाशः ? आत्मशब्दाख्यः श्रुतावात्मशब्देन आख्या निरूपणं यस्य स तथा।।१६२।। ओषधीरिति। लोममात्रं सर्वाणि लोमानि ओषधीः देवताः प्रति व्रजन्ति। तद्वत् केशा वनस्पतिरूपदेवताः प्रति व्रजन्ति। लोहितरेतसी जलरूपे बाह्यजलरूपदेवतासु व्रजन्तीति।।१६३।। याज्ञवल्क्य इति। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्यः प्रश्नं रहस्यार्थकं[1] मत्वा संसदि उत्तरं नोक्तवान् किन्तु तम् आर्तभागं हस्ते गृहीत्वा एकान्तदेशे गत्वा उत्तरम् अब्रवीद् इति।।१६४।। ननु कर्मनिरूपणं किं वक्ष्यमाणब्रह्मविद्यानिरूपणादपि रहस्यं यदर्थमेकान्ते धावितम् ? इत्यस्वरसं मनसि निधाय प्रकारान्तरेण एकान्तगमनाभिप्रायमाह—जानातीति द्वाभ्याम्। आबालमा च गोपालं सर्वो लोक एतद् जानाति। 'एतत्' किम् ? मृतः पुमान् नियतं व्यवस्थितफलं कर्मानुसारेण प्रयाति इति।।१६५।। प्रश्नस्येति। एतादृशार्थविषयकत्वेन प्रश्नोत्तरयोः तुच्छता सिद्धसाधनत्वेन अनादरणीयता मा भूदिति अभिप्रेत्य वा एकान्ते वाक्यम् उक्तवानिति।।१६६।।

जारत्कारव ने ज्ञानिसम्बंधी प्रश्नके बाद अज्ञ के बारे में पूछा। इस प्रश्नमें उस कर्म के स्वरूप का निर्णय जिज्ञास्य है जिस कर्म के रहते अज्ञों को ग्रह-अतिग्रह कहलाने वाली मृत्यु बारंबार ग्रसती है और ज्ञानाग्निसे जिस कर्मके जल जाने पर ब्रह्मस्वरूपका लाभ अर्थात् मोक्ष हो जाता है।।१६०।। प्रश्न है—सभी देह-धारी जब मरणासन्न होते हैं तब आध्यात्मिक वाणी आदि पर आधिदैविक अग्नि आदि का अधिष्ठातृत्व बंद हो जाता है, जिसे वेद में यों कहा है कि वाणी अग्निरूप हो जाती है, प्राण वायुरूप हो जाते हैं, नेत्र आदित्यरूप, श्रोत्र दिग्रूप, मन चंद्ररूप, शरीर पृथ्वीरूप, शरीर में स्थित आत्मा कहलाने वाला आकाश बाह्याकाशरूप, सभी लोम ओषधिरूप, केश वनस्पतिरूप एवं लोहित और रेतस् जलरूप हो जाते हैं। (यहाँ सर्वत्र परिच्छिन्न इंद्रियादि का व्यापक देवभाव समझना चाहिये। आकाश, ओषधि आदि देवता विवक्षित हैं।) उस अवस्था में अज्ञानी जीव किस आश्रय पर स्थित हुआ परलोक पाकर कर्मफल का भोग करता है ?।।१६१-१६३।।

याज्ञवल्क्य जानते थे कि यह प्रश्न ऐसे तत्त्व को विषय करता है जो अत्यंत गोपनीय है अतः इसका उत्तर

१. शास्त्रमात्राधिगम्यता गोप्यतेति परविद्याया विशेषस्तस्यामनुभवस्यापि मानताङ्गीकारात्।

अमुना ये कृते पूर्वं देहिना पुण्यपातके। तयोरेव वसत्येष मृतो जीवन् यथाऽधुना।।१६७।।

पापी नरकमभ्येति पुण्यात्मा पुण्यमेव च। पुण्यपापकरो जन्तुः सुखदुःखकरं वपुः।।१६८।।

नाधिको न समो वापि न न्यूनोऽपि च विद्यते। जन्तुः किन्तु भवेदेवं स्वकर्मवशमागतः।।१६९।।

पुण्यात्माऽधिकतां याति पापो न्यूनत्वमेव च। पापपुण्यवतस्तद्वत् सुखं दुःखं निरन्तरम्।।१७०।।

कर्मणा मनसा वाचा सुखं वा दुःखमेव च। करोति यत् परस्याऽयं लभते तन्न संशयः।।१७१।।

उत्तरमभिनयति—अमुनेत्यादिना। अमुना देहिना ये पूर्वं पुण्यपापे कृते, तयोः तदाश्रित एव मृतो जन्तुः वसति। जीवनावस्थायामिव तस्य भोगारम्भे पुण्यपापे एव प्रधानकारणे इति यावत्।।१६७।। एतदेव स्फुटयति—पापीति। पुण्यं पुण्यफलं देवभावादिकं, सुखदुःखकरं मानुषादि।।१६८।। नाधिक इति। जीवः स्वरूपेणाऽऽधिक्यादिहीनोऽपि कर्मवशेन तत्तद्रूपो भवतीत्यर्थः।।१६९।। तदुदाहरति—पुण्यात्मेति। पुण्यात्मा पुण्यस्वभावः अधिकतां हिरण्यगर्भभावतां पुण्यकारितारूपां वा; न्यूनत्वं स्थावरान्तं पापकारित्वरूपं वा; मिश्रिताभ्यां मिश्रितं फलमिति।।१७०।। फलानामवान्तरविशेषेषु पुण्यपापयोरवान्तरविशेषान् प्रयोजकतयाऽऽह—कर्मणेति। कर्मणा शरीरव्यापारेण। तथा च शरीरादिभिः यत् परस्य सुखादिकं करोति तैरेव तथा सुखादिकं विन्दत इत्यर्थः।।१७१।। तद्विशेषहेतून् देशादीन्[1]

उस ब्रह्मसंसद् में न देकर वे आर्तभाग का हाथ पकड़कर उसे एकान्त में ले गये और वहाँ उसे उत्तर दिया। (शास्त्रसे निर्णय किया जा सकने वाला प्रश्न सभा में विचारा जायेगा तो अनेक तर्क-वितर्कों की बौछार होने पर उस अतर्क्य वस्तु का निश्चय संभव न होगा यह याज्ञवल्क्य का भाव था।) किं च महामुनि ने यह भी सोचा कि मृत व्यक्ति व्यवस्थित फल कर्मानुसार पाता है यह बात बच्चे व ग्वाले भी जानते हैं ! अतः इसी बारे में प्रश्न-उत्तर हैं यह देखकर लोगों को इस प्रश्न की गरिमा नहीं समझ आयेगी। एकांत में निर्णय करने पर लोग समझेंगे कि जरूर कुछ प्रक्रियारहस्य पूछा व बताया गया है, अतः प्रश्न-उत्तर के प्रति आदर होगा। (तात्पर्य है कि यद्यपि सर्वप्रसिद्ध है कि कर्मानुसार जीवगति होती है तथापि यह बात है केवल शास्त्रसे सिद्ध, चाहे अधिक प्रचारवश शास्त्रसे बेखबर लोग भी इसे जानते हों। शास्त्रीय-चर्चा में जब कर्म को निष्कर्ष रूपसे कहेंगे तब अल्पप्रज्ञ को लग सकता है 'शास्त्रमें इतना ही बताया है जो हम भी जानते हैं'; क्योंकि उसे यह समझ नहीं आयेगा कि वह जो जानता है उसका आधार शास्त्र ही है। एवं च शास्त्रीय निर्णय के बारे में अनादर न हो इसलिये गोपनीयता रखी गयी।)।।१६४-१६६।।

याज्ञवल्क्य ने यह उत्तर दिया—जैसे जीवित दशामें शरीरधारी कर्मों पर आश्रित रहता है ऐसे ही यह देही स्वयं पूर्व में किये पुण्य-पापों पर आश्रित हुआ ही रहता है। भोगलाभ में निर्णायक कारण पुण्य-पाप ही हैं।।१६७।। जिसने अत्यधिक पाप किये होते हैं वह नरक जाता है, पुण्याधिक्य से उसके फलस्वरूप देवभाव आदि पाता है और जिसके पुण्य-पाप प्रायः समान हों वह मानुष आदि शरीर प्राप्त करता है, जहाँ सुख-दुःख लगभग बराबर हैं। जन्तु अर्थात् जीव स्वरूपतः अधिक नहीं है—अत्यधिक सुखोपभोक्ता नहीं; और न ही वह न्यून है—अत्यधिक दुःखोपभोक्ता नहीं। वह सम भी नहीं अर्थात् सुख-दुःख का बराबर मात्रा में भोक्ता नहीं। अपने कर्मों के वश से अर्थात् उस उपाधि से ही जीव अधिक, सम या न्यून हो जाता है। पुण्यात्मा अधिक बन जाता है, हिरण्यगर्भ-पर्यन्त सद्गति पा लेता है। पापी न्यून हो जाता है, वृक्ष-पर्यन्त अधोगति पाता है। पुण्य-पाप दोनों बटोरने वाला मिश्रित रूपसे सुख-दुःख पाता है, सम होता है। यह प्रक्रिया बिना अंतराल के चलती रहती है।।१६८-१७०।। शरीर, मन या वाणी से दूसरे व्यक्ति को जो सुख या दुःख दिया जाता है वह कालान्तरमें स्वयं को अवश्य मिल जाता है। जैसे देश-कालमें, जैसे निमित्त से, जिस प्रकार,

---

१. कर्मकालिकदेशकालादेः फलकालिकत्वाऽसम्भवात्सादृश्यपर्यन्तमनुधावति 'यस्मिन्' इत्यस्य 'यादृशे' ति व्याख्यानेन।

यस्मिन् देशे यदा काले निमित्तेन नयेन वा। यावद् हि यादृशं येन वपुषा यच्च यः पुमान्।।१७२।।
करोति तत्ततो भूयः स्वयमुक्तविशेषणम्। सुखं दुःखं निमित्तं वा तयोराप्नोति वै सदा।।१७३।।
समं सर्वत्र विज्ञेयं सुखं वा दुःखमेव वा। निमित्तेन समं कर्तुरिह देहान्तरेऽथवा।।१७४।।
देशकालादियोगेन कोटिकोटिगुणं भवेत्। वर्षासु बीजसम्पन्नाः सुक्षेत्रे शालयो यथा।।१७५।।
वार्धुषेर्वृद्धिमभ्येति धनधान्यादिसञ्चयः। दिने दिने यथा तद्वत् पुण्यपापे च देहिनः।।१७६।।
वटधाना यथा लोके वटस्य महतो भवेत्। हेतुरेवं पुण्यपापे महतोः सुखदुःखयोः।।१७७।।
इत्यादिवचनस्यान्त आर्तभागो महामुनिः। याज्ञवल्क्यं शशंसाऽथ याज्ञवल्क्योऽपि तं मुनिम्।।१७८।।
प्रश्नोत्तराभ्यां विप्रेन्द्रावूचतुः कर्म केवलम्। शशंसतुस्तथाऽन्योन्यमेतयोरर्थमादृतौ।।१७९।।
आर्तभागो मुनिस्तत्र प्रश्नादुपरराम ह। भुज्युं लाह्यायनिं दृष्ट्वा स्मयमानो व्यवस्थितः।।१८०।।

दर्शयति—यस्मिन्निति। यस्मिन् यादृशे देशे काले वा, येन निमित्तेन वा, येन नयेन प्रकारेण वा, यावद् यत्परिमाणं, यादृशम् उत्कृष्टं निकृष्टं वा, येन शरीरेण वा, यंच्च परस्य सुखं दुःखं वा यः पुमान् करोति; यद्वया इति पाठे यादृशावस्थावानित्यर्थः; स भूयः पुनः तत्तत् फलं तन्निमित्तं देहादिकं च उक्तविशेषणं कर्मकालिकदेशादि-सजातीयदेशादिविशिष्टं प्राप्नोतीति द्वयोः सम्बन्धः।।१७२-१७३।। फलितमाह—सममिति। कर्तुः कर्मिणः इह लोके देहान्तरे वा समुपजायमानं सुखादिरूपं फलं निमित्तेन कर्मणा समं ज्ञेयम्; यादृशविशेषणकं कर्म तादृशविशेषणकं फलं लभत इति यावत्।।१७४।। कुत्रचिद् वाराणस्यादिदेशे, सूर्यग्रहणादिकाले वा, ब्राह्मणोपकारादिनिमित्ते वा कृतस्य स्वल्पकर्मणोऽपि महत् फलं भवतीति सदृष्टान्तमाह—देशेति। बीजं सम्यगुप्तं येषां ते तथा।।१७५।। एवमज्ञस्य कर्मवृद्धिरवश्यं भवतीत्यत्र दृष्टान्तान्तरमाह—वार्धुषेरिति। वार्द्धुषिः वृद्ध्यै धनप्रयोक्ता, तस्य यथा धनं वर्धते तथा देहाभिमानिनः कर्मेत्यर्थः।।१७६।। कर्मानुष्ठानानन्तरं सूक्ष्मभावं गतस्यापि कर्मणो महाफलारम्भे दृष्टान्तमाह—वटेति। यथा लोके सूक्ष्माऽपि वटस्य धाना बीजं महतो वटस्य हेतुः भवति तथा महतोः सुखदुःखयोः पुण्यपापे इति।।१७७।। इत्यादीति। इति याज्ञवल्क्येनोक्ते तौ परस्परं शशंसतुः तुष्टुवुरिति। ताभ्यां च कर्मैव फलकालेऽपि व्याप्रियमाणत्वात् कालादिभ्यः प्राधान्येन वर्णितमित्याह—प्रश्नोत्तराभ्यामिति। एतयोः प्रश्नोत्तरयोः अर्थं विषयम्।।१७८-९।। आर्तभागब्राह्मणव्याख्यानमुपसंहरति—आर्तभाग इति।१८०।।

जितना, जैसा, जैसे शरीर से जो पुरुष दूसरे के प्रति सुख-दुःख जो करता है वह पुनः वैसी ही विशेषताओं वाले सुख-दुःख स्वयं भी पाता है। (अर्थात् उसी तरह की परिस्थितियों में उसे भी सुख-दुःख मिलता है। यह जन्मान्तरीय फल का प्रसंग है, अतः लोक में क्रूर को सुखी, सर्वसेवक को दुःखी आदि देखकर इस व्यवस्था पर शंका नहीं करनी चाहिये।)।।१७१-१७३।। चाहे इसी लोक में हो या परलोक में, सभी जगह यह नियत है कि कर्मकर्ता को उतना ही फल मिलता है जितना पुण्य या पाप उसने कर रखा है जो फलोन्मुख है।।१७४।। देश, काल आदि के सम्बंध से कर्म का फल करोड़ों गुणा बढ भी जाता है, जैसे खेत की जमीन उपजाऊ हो और बरसात में बुआई की हो तो धान अधिक मात्रा में मिलते हैं जबकि मौसम व जमीन के अंतर से उतनी ही मेहनत का फल कम होता है। (काशी आदि देशमें, व्यतीपात आदि काल में, वेदज्ञ ब्राह्मणादि निमित्त से किया पुण्य अधिक फल देगा जबकि अन्यत्र उसी कर्म का फल सामान्य होगा। ऐसे ही पवित्र तीर्थोंमें, देवालयों में, ब्रह्मज्ञों की संनिधिमें किये पाप भी करोड़ों गुणा अधिक दुःख देते हैं।)।।१७५।। ब्याज कमाने वाले का धन-धान्य आदि संग्रह जैसे दिनों-दिन बढ़ता जाता है ऐसे ही देहाभिमानी का कर्मसंचय प्रतिपल अधिक होता जाता है।।१७६।। वट का बीज छोटा-सा होता है पर महान् वृक्ष पैदा कर देता

भुज्युयाज्ञवल्क्यसंवादः

याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य लाह्यायनिरवस्थितम्। भुज्युः दुष्टाभिसन्धिः सन् पप्रच्छैनमलौकिकम्।।१८१।।
मद्रदेशस्थिताः पूर्वं वेदाध्ययनतत्पराः। पतञ्जलस्य काप्यस्य दृष्टवन्तो गृहेऽद्भुतम्।।१८२।।
तस्य कन्या गृहीताऽभूद् गन्धर्वेणाग्निनैकदा। तमपृच्छाम कोऽसीति वयं सर्वे समागताः।।१८३।।
सुधन्वाङ्गिरसोऽस्मीति सोऽब्रवीद् नो द्विजोत्तमान्। तमपृच्छाम लोकानामन्तान् गन्धर्वपुङ्गवम्।१८४।।

अथ पूर्ववर्णितकर्मफलोत्कर्षावधिप्रतिपादकस्य भुज्युप्रश्नोत्तररूपस्य तृतीयब्राह्मणस्य कण्डिकाद्वयात्मकस्य अर्थं दर्शयति—याज्ञवल्क्येतीति चतुर्विंशतिश्लोकैः। ततो भुज्युनामा लाह्यायनिः लह्यस्यापत्यत्वेन प्रसिद्ध एनं याज्ञवल्क्यं जित्वा स्थितं नाम्ना सम्बोध्य अलौकिकं लोकेऽप्रसिद्धमर्थं पप्रच्छ। यतो दुष्टाभिसन्धिः दुष्टाभिप्रायः।।१८१।।

तत्र भुज्युः 'मया देवमुखादयमर्थो विदित' इति सूचनेन याज्ञवल्क्यात् स्वोत्कर्षं सूचयन् पूर्ववृत्तं श्रावयित्वा पृच्छति—मद्रेति चतुर्भिः। वयं वेदाध्ययनाय मद्रदेशे विचरन्तः सन्तः पतञ्जलनामकस्य कपिगोत्रस्य विप्रवरस्य गृहेऽद्भुतं वृत्तं दृष्टवन्त इति।।१८२।। तस्येति। तस्य पतञ्जलस्य कन्या एकदा अग्निना उपास्यदैवतेन भूतवद् गृहीता आविष्टाऽभूत्। कीदृशेनाग्निना ? श्रुतौ गन्धर्वशब्दोक्तेन। गन्धर्वशब्दो हि कोशेऽश्ववाचकतया प्रसिद्धः, अश्वसमानाकारतया व्याख्यायमानोपनिषत्प्रथमाध्याये वर्णितेऽग्नावपि वर्तत इति भावः। तम् अग्निं प्रति नामनि गोत्रे च पृष्टे तेन 'सुधन्वेति नामतः आङ्गिरसगोत्रेणाऽस्मि' इति उक्ते, अथ लोकानां कर्मफलानाम् अन्तान् प्रान्तान् स्वरूपाणि वयमपृच्छाम पृष्टवन्त इति। 'अन्तः प्रान्तेऽन्तिके नाशे स्वरूपेऽतिमनोहरे' इति विश्वः।।१८३-१८४।।

है। ऐसे ही पुण्यपाप हैं तो सूक्ष्म पदार्थ लेकिन बड़े-से-बड़े सुख-दुःख उन्हीं से पैदा होते हैं। (जैसे बीजमें वृक्ष प्रत्यक्षसिद्ध नहीं अनुमेय है, ऐसे ही कर्म से फल शास्त्रज्ञेय है। बीज तत्काल वृक्ष नहीं बनता, कर्म भी प्रायः तत्काल फल नहीं देता। बीज मिट्टी जल आदि सहायक चाहता है, कर्म भी भोग्य आदि सहायक चाहता है। बीज भूँजा जा सकता है, कर्म भी ज्ञानाग्नि से दग्ध किया जा सकता है। इत्यादि समतायें समझ लेनी चाहिए।)।।१७७।।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने जब शास्त्रीय रहस्य को उपपत्ति आदि से स्पष्ट कर दिया तो महामुनि आर्तभाग ने याज्ञवल्क्यकी प्रशंसा की और उन्होंने भी सूक्ष्मार्थक प्रश्न पूछने और उसका उत्तर समझने में कुशल होने से जारत्कारव की प्रशंसा की। प्रश्न-उत्तर द्वारा उन दोनों वेदज्ञश्रेष्ठों ने घोषणा की कि कालादि कारण भले ही बहुत से होते हैं पर फलकाल में भी निर्णायक भूमिका निभाने वाला कर्म ही प्रधान है। इस प्रकार प्रश्न-उत्तर के विषय की गंभीरता समझते हुए उन्होंने न केवल कर्म की वरन् एक-दूसरे की भी प्रशंसा की। उत्तर से संतुष्ट आर्तभाग मुस्कुराते हुए चुप हो गया पर भुज्यु लाह्यायनि की ओर यों देखकर कि वह कुछ पूछने को प्रेरित हो।।१७८-१८०।।

दो दिग्गजों पर विजय हासिल किये हुए याज्ञवल्क्य से भुज्यु लाह्यायनि ने एक ऐसा प्रश्न पूछा जिसका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध नहीं। यह सवाल कुटिल अभिप्रायसे पूछा गया था। (भुज्युका अभिप्राय था कि ऐसे रहस्य सार्वजनिक करना दोषावह है, अतः याज्ञवल्क्य यदि बता भी देगा तो उसे पाप लगेगा। पूर्व प्रश्नकी तरह एकांतमें जाकर बताना चाहेगा तो बार-बार समाजसे हटकर उत्तर देने पर समाज में स्थित विद्वान् नाराज़ होकर शाप देंगे।)।।१८१।।

भुज्युने पूछा—याज्ञवल्क्य ! हम वेदाध्ययन केलिये मद्र देशमें विचरण कर रहे थे। उस समय काप्य पतंजल के घर हमने एक अद्भुत वृत्तांत देखा। काप्यकी पुत्री पर अग्निदेव का आवेश था जैसे भूतावेश हो जाता है। वही अग्नि गन्धर्व शब्द से भी व्यवहृत है। उस देवतासे हम सभी आगन्तुकों ने पूछा 'तुम कौन हो ?' तो उपस्थित ब्राह्मणों को उसने अपना परिचय सुधन्वा आंगिरस बताया। गंधर्वश्रेष्ठ से हमने कर्मफलों के स्वरूपके बारे में जिज्ञासा की, जिसका हमें उचित उत्तर प्राप्त हुआ। लोकों का परिमाण गंधर्व ने यह बताया 'जहाँ पारिक्षित स्थित हैं वहाँ लोकों की समाप्ति

पारिक्षिताः स्थिता यत्र लोकान्तस्तत्र संस्थितः। इत्युक्ते लोकमानेऽस्मिन्नपृच्छाम पुनर्वयम्।।१८५।।

पारिक्षिताः स्थिताः कुत्रेत्युक्ते स्थानं स नोऽवदत्। तत् स्थानं किं च मानं किं लोकानां के च ते वद।। इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि सर्वमेतदुदैरयत्।।१८६।।

गन्धर्वेणेरितं पूर्वं तुभ्यमेतत् पुनः कथम्। देवगुह्यं समाजेऽस्मिन् जानन् सन् विप्र ! पृच्छसि।।१८७

विश्वासाय वदाम्येतत्तुभ्यं सङ्क्षेपतोऽधुना। अश्वमेधकृतो यत्र भुञ्जन्ति नृपपुङ्गवाः। अगच्छन् भवता पृष्टास्तत्र पारिक्षिता अपि।।१८८।।

एवमुक्तेऽप्यविश्वासाल्लाह्यायनिरभाषत। अश्वमेधकृतः कुत्र यान्तीति वद भो मुने !।।१८९।।

पारिक्षिता इति। तेन गन्धर्वेण इति लोकानां माने उक्ते उत्तरिते सति अस्मिन् अर्थे पुनर्वयं पृष्टवन्तः। 'इति' किम्? पारिक्षिता यत्र गच्छन्ति तत्र कर्मफलानामन्तः स्थितो निश्चितः, ततोऽधिकं कर्मफलं नास्तीति यावत्। पारिक्षितपदव्युत्पत्तिं तु ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति।।१८५।। पारिक्षिताः स्थिताः कुत्रेति। 'ते पारिक्षिता एव कुत्र स्थिताः' इति अस्माभिः उक्ते पुनः पृष्टे सति, स गन्धर्वः नः अस्मभ्यं पारिक्षितानां गतिं स्थानम् अवदद् इति। हे याज्ञवल्क्य! अधुना त्वं वद तत् स्थानं किम् ? तदवान्तर-लोकानां मानं किम् ? ते तत्स्थानगामिनः पारिक्षिताः च के किंस्वरूपाः? इति। इत्युक्त इत्थं पृष्टे सति एतत् सर्वं याज्ञवल्क्य उदैरयत् सङ्क्षेपेण विस्तरेण चोक्तवानित्यर्थः।।१८६।। तत्र सङ्क्षेपाभिधानप्रयोजकं सूचयन् याज्ञवल्क्यो भुज्युं तावदुपालभते—गन्धर्वेणेति। एतत् स्थानादिकं तुभ्यं गन्धर्वेण उक्तं त्वं जानन् सन् समाजे किं पृच्छसि ? समाजेऽस्य प्रश्नोऽयुक्तो यतो देवगुह्यं देवसम्बन्धिरहस्यमिति। तथा च ज्ञातत्वं देवगुह्यत्वं च विस्तरेणानभिधाने निमित्तमिति भावः।।१८७।। विश्वासायेति। तथापि तव विश्वासाय गुह्यत्वसंरक्षणाय च सङ्क्षेपेण अधुना वदामि। सोपासनाश्वमेधकृतो जनाः सोपासनाश्वमेधफलं यत्र भुञ्जन्ति तत्र त्वत्पृष्टाः पारिक्षिता अगच्छन् गताः इति। अत्र ये सोपासनाश्वमेधकृतस्त एव पारिक्षिता इति गुह्यत्वसंरक्षणाय नोक्तमिति बोध्यम्।।१८८।। एवमुक्त इति। एवं याज्ञवल्क्येन उक्तेऽपि याज्ञवल्क्यसर्वज्ञतायाम् अविश्वासाद् भुज्युः पुनरपृच्छद् अश्वमेधकृतः कुत्र यान्तीति।।१८९।।

है।' तात्पर्य है कि कर्मफल की वह चरम सीमा है। हमने आगे पूछा 'पारिक्षित कहाँ स्थित हैं ?'तो उसने हमें वह भी समझा दिया। अरे याज्ञवल्क्य ! अब तुम बताओ वह स्थान कौन-सा है ? उसके अन्तर्गत आये लोकों का परिमाण कितना है ? पारिक्षितों का स्वरूप क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने पहले संक्षेप में फिर विस्तार से सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया।।१८२-१८६।।

याज्ञवल्क्य ने उलाहना देते हुए कहना आरंभ किया—पहले गंधर्व ने तुम्हें जो बताया था वह देवसम्बन्धी रहस्य है यह जानते हुए भी यों समाजमें तुम उसके बारे में क्यों पूछ रहे हो ? तुम वेदज्ञ हो, श्रुतिमर्यादा समझते हो, तुमसे ऐसी आशा नहीं। फिर भी मुझे उक्त जानकारी है ऐसा तुम्हें विश्वास हो जाये इसलिये संक्षेपसे बता देता हूँ। अश्वमेध करने वाले श्रेष्ठ राजा जहाँ सुखभोग करते हैं वहीं वे पारिक्षित भी गये जिनके बारे में तुम पूछ रहे हो ! (उपासना-समेत अश्वमेध करने वालों का श्रुतिप्रसिद्ध नाम पारिक्षित है, यह याज्ञवल्क्य ने गोपनीयता बनाये रखने केलिये व्यक्त नहीं किया।)।।१८७-१८८।।

यह सुनकर भी लाह्यायनि को विश्वास नहीं हुआ, अतः उसने पूछा 'हे मुनि ! अश्वमेध करने वाले कहाँ जाते हैं यह तो बताइये।।'।।१८९।।

यों मुखतः पूछे जाने पर उस देवरहस्य को जनसंसत् में मुनि ने साफ-साफ कह डाला क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया था कि सावधान कर देने पर भी पुनः पूछने वाला भुज्यु ही रहस्यप्रकाशन के पाप का भागी बनेगा, मैं नहीं।

तत्रैवाश्वमेधिनां गतिः

इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि विस्पष्टं जनसंसदि। उक्तवान् देवतागुह्यं भुज्यौ पापं निधाय सः।।१६०।।

वित्तपूर्णा क्षितिर्येषामस्ति सागरमेखला। परिक्षितय इत्येत उक्ताः पारिक्षिता अपि। स्पष्टा इति न तानूचे लोकमानं तु सोऽब्रवीत्।।१६१।।

जम्बूद्वीपः समग्रोऽयमीरितो लक्षयोजनः। तावांस्तन्मेखलाभूतो वर्तते लवणोदधिः।।१६२।।

जम्बूद्वीपः समुद्रेण वृतो यद्वद्धि वर्तते। स सागरस्तथा द्वीपैर्वृतः षड्भिः ससागरैः।।१६३।।

द्वीपानां ससमुद्राणां स्थितानां परिवृत्य हि। अन्योन्यमावृतात्तस्माद् द्विगुणं द्विगुणं बहिः।।१६४।।

परिमाणममीषां यद् मिलितानां प्रकीर्तितम्। तावदेव तु विज्ञेयं भूमेः शुद्धोदकाद् बहिः।।१६५।।

इति पृष्टो याज्ञवल्क्यः 'समाजे रहस्यार्थप्रकाशनपापं पुनः पृच्छतो भुज्योरेव, न मम' इति मत्वा विस्तरेण वक्तुमुपचक्रम इत्याह—इत्युक्त इति।।१६०।।

ननु तथापि लोकानां मानमेव सविस्तरं याज्ञवल्क्येनोच्यमानं श्रुतौ दृश्यते, न तु अश्वमेधकृत एव पारिक्षिता इत्यर्थस्य व्युत्पत्तिकमभिधानम्; तत्र किं प्रयोजकमिति चेत् ? प्रसिद्धत्वाभिमान एवेति व्युत्पत्तिं दर्शयन्नाह ग्रन्थकृद्—वित्तेति। समुद्रान्ता पृथिवी येषां वशे अस्ति तेऽश्वमेधयाजिनः परिक्षितय इति पदेन उक्ताः, परितः सर्वतः क्षितिर्येषाम् इति व्युत्पत्तेः। परिक्षितिशब्दात् प्रज्ञादित्वात् (५.४.३८) स्वार्थिकेऽणि पारिक्षिता इति अपि तन्नाम। एवमश्वमेधयाजिनः पारिक्षितत्वेन स याज्ञवल्क्यो नोचे नोक्तवान्, अतो लोकमानम् एव अब्रवीद् इति।।१६१।। तत्र सर्वकर्मणां भोगस्थानं वैराजशरीरं भूलोकत्वेन वर्णयंस्तत्परिमाणं दर्शयति—जम्बूद्वीप इति षड्भिः। ईरितः पुराण इति शेषः। तावान् लक्षयोजन एव तस्य जम्बूद्वीपस्य मेखलावद् वेष्टकः क्षाराब्धिः।।१६२।। जम्बूद्वीपः समुद्रेणेति। यद्वज्जम्बूद्वीपः समुद्रेण वेष्टितः एवं स लवणसागरोऽपि षड्भिः प्लक्षादिद्वीपैः ससागरैः इक्षुरसोदाद्यसागरसहितैः वेष्टित इति।।१६३।। द्वीपानामिति। एवं ससमुद्राणां द्वीपानां पूर्वं पूर्वं परिवृत्य वेष्टयित्वा स्थितानां मध्ये आवृतात् तस्मात् पूर्वस्मात्पूर्वस्माद् बहिः उत्तरोत्तरं द्विगुणं द्विगुणं बोध्यमिति शेषः। यथा लक्षयोजनात् क्षारोदविशिष्टाज्जम्बूद्वीपाद् द्विलक्षयोजनाद् द्विगुण इक्षुरसोदविशिष्टः प्लक्षश्चतुर्लक्षयोजनः, एवमग्रेऽपि। तथा प्लक्षद्वीपावृतात्क्षारोदात् त्रिलक्षयोजनाद् द्विगुण इक्षुरसोदः शाल्मलिद्वीपविशिष्टः, एवमग्रेऽपीति।।१६४।। परिमाणमिति। अमीषां ससमुद्रद्वीपानां यावत् परिमाणं 'कोटिद्वयं त्रिपञ्चाशल्लक्षाणि च, ततः परं। पञ्चाशच्च सहस्राणि सप्त द्वीपाः ससागराः' इति शैवागमे प्रसिद्धम्, तावच्छुद्धोदकात् परस्ताद् भूमेः परिमाणं बोध्यमिति। तदनन्तरमेकोनचत्वारिंशल्लक्षोत्तरकोट्यष्टकपरिमिता स्वर्णभूमिरप्यस्तीत्यपि शैवागमानुरोधेन बोध्यम्।।१६५।। अत्रेति। अत्र पूर्वश्लोकोक्तदेशे

(यों कुटिलता से याज्ञवल्क्य बच गये और स्वयं भुज्यु ही उसमें फँस गया।)।।१६०।। धनसंपन्न व समुद्रपर्यन्त पृथ्वी जिनके वशमें है उन्हें परिक्षिति या पारिक्षित कहा जाता है, क्योंकि 'परि' अर्थात् सब ओर 'क्षिति' अर्थात् भूमि उन्हीं की होती है। यों अश्वमेध करने वालों का ही यह नामान्तर है जो स्पष्ट होने से याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं और लोकों का परिमाण बताने लगे। (किं च सारा रहस्य न बताने से स्वयं देवकोप से बचे भी रहे।)।।१६१।।

सभी कर्म जहाँ भोगे जाते हैं वह विराट् का शरीर ही है अर्थात् स्थूल प्रपंच में ही कर्मफल का उपभोग होता है। उस विराट्-शरीर का भूलोक के रूपमें वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य ने उसका माप बताना आरंभ किया—सारा यह जम्बू द्वीप एक लाख योजन विस्तृत है और इसे घेरकर विद्यमान नमकीन समुद्र भी इतना ही बड़ा है। जैसे जम्बू द्वीप सागर से घिरा है, ऐसे ही वह सागर छह द्वीपों से घिरा है, जो द्वीप सागरों से युक्त हैं। समुद्र-समेत अगला द्वीप समुद्र-समेत पूर्व द्वीप को घेरे है और घिरे हुए की अपेक्षा घेरने वाले का परिमाण दोगुना है। जैसे लवणोदक-समेत जम्बू द्वीप दो

अत्र तिष्ठति शैलेन्द्रो दुर्गवत् सर्वतो भुवः। तदन्तर्भास्करो गच्छेदहोरात्रेण सर्वदा।।१९६।।

अहोरात्रेण यावन्तं देशं गच्छति भास्करः। द्वात्रिंशद्गुणितः सोऽयं भूर्लोकः कथितो बुधैः।।१९७।।

भूर्लोकस्थण्डिलाद्बाह्याद् द्विगुणाऽऽवरणस्य भूः। द्विगुणो भूमितस्तस्याः समुद्रस्तां परिस्थितः।।१९८।।

क्षुरधारासमः सन्धी रूप्यहेमकटाहयोः। मक्षिकापत्रवद्वाऽयं सूक्ष्मस्तिष्ठति तत्र सः।।१९९।।

देवैर्नानाविधैरेते नीयन्ते स्वबलेन च। अश्वमेधकृतो ये ते पृष्टाः पारिक्षितास्त्वया।।२००।।

शैलेन्द्रो लोकालोकनामा मण्डलाकारः तिष्ठति, तदन्तः तस्य लोकालोकस्य अन्तः मध्ये तत्प्रावृतदेशमध्यवर्तिमानसोत्तरमूर्द्धनीति यावद्, अहोरात्रभ्रमणेन भास्करो गच्छति मानसोत्तरपरिमण्डलपरिमाणं तु योजनानां लक्षोत्तरसार्धनवकोटय इति पुराणानुरोध्यर्थः।।१९६।। अहोरात्रेणेति। अहोरात्रेण यावन्तं यत्परिमाणकं देशं मानसोत्तरपरिमण्डलरूपम् आदित्यः परिक्रामति, श्रुतौ तावान् देशो देवरथाह्ना-शब्देनोक्तः—देवस्य सूर्यस्य रथेन अह्ना अहोरात्रेण भोग्यत्वात्—स च देशः द्वात्रिंशद्गुणितो यावान् भवेत् तावान् देशो रविकिरणव्याप्तो बुधैः भूः भूमिरुक्तः, श्रुत्या तु लोक इत्युक्तः, लोक्यते कर्मफलं भुज्यतेऽत्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः।।१९७।। इतः परमुपासकैरेव गम्यो लोकशब्देन श्रुत्योक्तो यो देशः तमाह—भूर्लोकेति। भूर्लोकपदाभ्यां वर्णितो विराट्शरीरात्मको यो देशः स स्थण्डिलसमः, तस्य समन्ताद् भित्तिसमावरणत्वेन प्रसिद्धा भूमिः द्विगुणा वर्तते। तस्या आवरणभूमेः द्विगुणः तां भूमिं परिवेष्ट्य स्थितः समुद्रो वर्तते यं पौराणिका घनोदमिति वदन्ति।।१९८।। क्षुरेति। घनोदात् परो ब्रह्माण्डो यस्यैकः कपालो रजतमयो द्वितीयः सुवर्णमयः, तयोः सन्धिः तु क्षुरधारावत् तीक्ष्णः, मक्षिकापक्षवद् वा सूक्ष्मः, सोऽयम् एतादृशः सन्धिः तत्र ब्रह्माण्डाद् बहिर्गमनमार्गे तिष्ठति इत्यर्थः। अत्र घनोदो ब्रह्माण्डाद्बहिरिति पुराणाद् 'ब्रह्माण्डस्यासमन्तात्तु संनिविष्टोऽमृतोदधिः। समन्ताद्घनतोयेन धार्यमाणः स तिष्ठति।।' इत्यादि रूपात् प्रतीयते। श्रुत्या तु ब्रह्माण्डादन्तरिति। तयोर्विरोधस्तु साम्प्रदायिकैरित्थं समाहितः—'पुराणं बाध्यते श्रुत्या ध्यानार्था वा श्रुतिर्मता' इति। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्याद्' (जै१.३.३) इति न्यायेन प्रत्यक्षश्रुतिविरोधेऽनुमानं स्मृतिरूपम् अनपेक्षम् अग्राह्यम् इत्यर्थकेन पुराणं बाध्यम्। अथवा हिरण्यगर्भोपासकैः एतावच्छरीरमात्मनो ध्येयमित्यत्र श्रुतेस्तात्पर्यमिति तदर्थः।।१९९।। देवैरिति। हे भुज्यो ! ये त्वया पारिक्षितपदेनोक्ताः सोपासनाश्वमेधकृतः पृष्टाः ते देहत्यागानन्तरं नानाविधैर्देवैः स्वबलेन उपासनाबलेन च घनोदपर्यन्तं नीयन्त इति।।२००।। अश्वमेधं विनाऽपि ये केवलहिरण्य-

लाख योजन का है तो ईख के रसके समुद्र-समेत प्लक्ष द्वीप चार लाख योजन का है। इन सब को मिलाकर जो परिमाण होता है उतना ही उस भूमिका परिमाण है जो शुद्धोदक से परे है। वहाँ लोकालोक नाम पर्वतराज है मानो भूलोक को सब तरफ घेर कर किला हो। उस पर्वत से घिरे स्थानमें ही दिन-रात सूर्य चलता है। भास्कर दिन-रात में जितने क्षेत्र की यात्रा करता है उससे बत्तीस गुणा परिमाण भूलोक का विद्वानों ने बताया है।।१९२-१९७।।

भूर्लोक कहलाने वाला विराट्शरीररूप जो देश है वह स्थण्डिल की तरह है जिसके चारों ओर भीत की तरह स्थित भूमि उससे दोगुणी है और उसे घेरे स्थित समुद्र उससे भी दोगुणा है, जिसे अन्यत्र घनोद भी कहते हैं। घनोद से परे है ब्रह्माण्ड जिसका आधा हिस्सा अर्थात् एक कपाल रजतमय और दूसरा कपाल स्वर्णमय है। दोनों कपालों की संधि—जोड़—छुरे की धार-सी पैनी है, मक्खी के पंख-सी सूक्ष्म है। ब्रह्माण्ड से बाहर निकलने का वह रास्ता है। हे भुज्यु ! जिन पारिक्षितों के बारे में तुमने पूछा है वे जब मर जाते हैं तब अपनी उपासना के बल से विविध देवताओं द्वारा घनोद तक ले जाये जाते हैं।।१९८-२००।। उपासना-सहित अश्वमेध अनुष्ठान कर चुके राजा जब अश्वमेध का

अश्वमेधफलं चैते प्राप्ताः पारिक्षिता मताः। अश्वाद्युपासनाज्ञानाद् द्विजाः सर्वेऽपि सत्तमाः।।२०१।।

अतिसूक्ष्मे तदा मार्गे तत्र शक्रोऽपि न प्रभुः। किन्तु[1] देवाः परे ये स्युर्घनोदाऽपरतः स्थिता।।२०२

इन्द्रः पक्षिवपुर्भूत्वा घनोदं तान् विहायसि। सन्तार्य वायवे दत्वा स्वयं तस्मान्न्यवर्तत।।२०३।।

वायुस्तान् सूक्ष्मतां नीत्वा क्षिप्त्वा देहे निजे ततः। सन्धौ कटाहयोर्दत्वा न्यधाद् ब्रह्माण्डतो बहिः।।
अश्वमेधकृतो यत्र गताः पूर्वे महाधियः।।२०४।।

भुज्युर्लाह्यायनिः प्रश्नादवापोपरतिं ततः। उषस्तस्य कहोलस्य मध्यगो विस्मयाकुलः।।२०५।।

गर्भोपासकास्तेऽपि पारिक्षिता इति सूचयितुं पारिक्षितपदस्य व्युत्पत्त्यन्तरं सूचयति—अश्वमेधेति। एते सोपासनाऽश्वमेधकृतः अश्वमेधफलं प्राप्ताः सन्तः पारिक्षिता इत्युक्ताः। न केवलं त एव किन्तु अश्वस्तदाकारोऽग्निः प्रथमाध्यायोक्तः, आदिपदेन हिरण्यगर्भः, तदुपासनावन्तः सर्वेऽपि द्विजाः पारिक्षिता मताः; परितः क्षीयते दुरितमनेनेति परिक्षिद् अश्वमेधः, 'ब्रह्मविद्याश्वमेधाभ्यां[2] न परं पुण्यपापयोः' इति स्मृतेः; तादृशी उपासना च परिक्षित्; तद्वेदिनः पारिक्षिता इति व्युत्पत्तेः इति।।२०१।। अतिसूक्ष्म इति। तत्र ब्रह्माण्डकटाहसन्धिगतेऽतिसूक्ष्मे मार्गे शक्रः अश्वमेधदेवता विराड्रूपोऽग्निः सः अपि गन्तुं न शक्तः, ततः परे भिन्ना देवा न शक्ता इति किमु वाच्यम्! यतस्ते घनोदस्याऽपरत एव स्थिताः स्युः, घनोदमपि तर्तुं न शक्ता इति यावत्।।२०२।। तर्हि ते पारिक्षिताः कथं ब्रह्माण्डपारं गच्छन्ति? इत्यत आह—इन्द्र इति। इन्द्रो विराट् पक्षिरूपो भूत्वा तान् पारिक्षितान् घनोदं सन्तार्य विहायसि आकाशे स्थिताय वायवे हिरण्यगर्भरूपाय दत्वा स्वयं निवृत्तो भवतीति।।२०३।। वायुरिति। वायुस्तान् पारिक्षितान् सूक्ष्मतां नीत्वा निजे देहे क्षिप्त्वा स्वतादात्म्यं गतान् कृत्वेति यावत्, कटाहयोः सन्धिमार्गेण ब्रह्माण्डाद् बहिः करोति, पूर्वेऽपि उपासका यत्र गता इति। तथा च पारिक्षिता हिरण्यगर्भरूपेण ब्रह्माण्डाद् अन्तर्बहिश्च अभिव्याप्य अवतिष्ठन्त इति भावः।।२०४।। उपसंहरति-भुज्युरिति। एवं यथा गन्धर्वेणोक्तं तथैव याज्ञवल्क्येनोक्तं श्रुत्वा विस्मितो भुज्युः प्रश्नाद् उपरतः। कीदृशः? उषस्तस्य चाक्रायणस्य, कहोलस्य कौषीतकेयस्य च मध्यगतः; तौ[3] वादाय नोदयन्निवेत्यर्थः।।२०५।।

फल पा लेते हैं तब पारिक्षित कहलाते हैं। जो अश्व अर्थात् उस आकार वाले अग्नि की (जिसे बृहदारण्यक-प्रारंभमें बताया है) और हिरण्यगर्भ की उपासना करने वाले द्विज हैं वे सब भी पारिक्षित कहे जाते हैं। (जिससे पाप पूरी तरह क्षीण हो जाये वह अश्वमेध परिक्षित् है, अतः उसकी उपासना भी परिक्षित् है, जिससे उस उपासना को करने वाले पारिक्षित हों यह संगत ही है।)।२०१।। जब उस अत्यंत सूक्ष्म मार्ग से निकल कर जाने में अश्वमेध-देवता विराड्रूप अग्नि भी समर्थ नहीं तो घनोद से ही पीछे ही रह जाने वाले अन्य देवताओं के असामर्थ्य का कहना ही क्या! इन्द्र अर्थात् विराट् पक्षिरूप धारण कर पारिक्षितों को घनोद से पार करा कर आकाशस्थित हिरण्यगर्भरूप वायु को सुपुर्द कर निवृत्त हो जाता है। वायु उन पारिक्षितों को सूक्ष्म बना कर अपने से एक कर उक्त कपालद्वय-संधि मार्ग से ब्रह्माण्डसे बाहर निकाल देता है। पहले के उपासक भी वहीं स्थित हैं। तात्पर्य है कि हिरण्यगर्भरूप से पारिक्षित लोग सारे ब्रह्माण्ड को भीतर-बाहर व्याप्त कर मौजूद हैं।।२०२-२०४।।

इस प्रकार गंधर्व से प्राप्त जानकारी के अनुकूल ही सारा वर्णन याज्ञवल्क्यसे सुनकर चकित हुआ भुज्यु और कुछ पूछना छोड़कर उषस्त चाक्रायण और कहोल कौषीतकेय के बीच जाकर बैठ गया मानो दोनों को पूछने केलिये प्रेरित कर रहा हो।। २०५।।

---

१. किमु—इति टीकापाठः। २. ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यामिति पठितव्यम्। ३. आत्मप्रसङ्ग आरभ्यते कर्मप्रसङ्गं समाप्य, आत्मा च तत्त्वम्भ्यां द्विविधि इति तयोः प्रश्नाय द्वयोः प्रेरणमुचितमिति गुरवः।

उषस्तप्रश्नः

भुज्योरुपरतिं दृष्ट्वा ततश्चाक्रायणो मुनिः। उषस्तो याज्ञवल्क्येति सम्बोध्यैनं स्म पृच्छति।।२०६।।
उपचारेण रहितं प्रत्यक्षं स्वप्रकाशनात्। ब्रह्मैवात्मेति शास्त्राणि सर्वस्मादन्तरं जगुः।।२०७।।
सर्वान्तरत्वं ब्रह्मत्वं द्वयमास्तामिहात्मनः। आत्मा न तु शरीरादिसङ्घातात् स्याद् विलक्षणः[1]।।२०८।।
मह्यं व्यांचक्ष्व तेनाऽहं ज्ञास्ये ते बुद्धिकौशलम्।।

उत्तरम्

इत्युक्तो याज्ञवल्क्यस्तम् एष आत्मेत्युवाच[2] ह।।२०६।।

एवं सोपासनकर्मणां फलोत्कर्षो हिरण्यगर्भभावावधिः दर्शितः। तत्र चोक्तमृत्युसम्बन्धमालोच्य विरक्तस्यापि मोक्षे प्रवृत्तिः तदा सम्भवेद् यदि सङ्घातविलक्षणो मोक्षयोग्य आत्मा सम्भाव्येत इत्यतः तादृशात्मनिर्णयपरस्य कण्डिकाद्वयात्मकस्य उषस्तब्राह्मणस्य अर्थं दर्शयति—भुज्योरुपरतिमिति ऊनविंशतिश्लोकैः। भुज्योः प्रश्नाद् निवृत्तिं दृष्ट्वा चाक्रायणः चक्रनामकस्य युवापत्यम् उषस्तो 'याज्ञवल्क्य !' इति सम्बोध्य पृच्छति स्म इति।।२०६।।

प्रश्नमभिनयति—उपचारेणेति सार्धद्वाभ्याम्। घटादयो जडा हि वह्निव्याप्तलोहपिण्डवद् वृत्त्यभिव्यक्तचित्-सम्बन्धाद् भासन्त इत्यतो गौणं तेषामपरोक्षम्। स्वप्रकाशत्वात् तद्विपरीतं साक्षादपरोक्षपदाभ्यां श्रुत्योक्तं ब्रह्मैव सर्वान्तरत्वाद् आत्मा इति सर्वशास्त्राणि वदन्ति। तत्र सम्भाव्यत इति शेषः।।२०७।। कुतो न सम्भाव्यते ? इत्यत आह—सर्वान्तरत्वमिति। सर्वान्तरत्वं ब्रह्मत्वम् अद्वयरूपं च यद् आत्मन उच्यते, तदुभयम् आस्ताम् तिष्ठतु, आलोचयितुमनर्हमिति यावत्, तयोर्धर्मिणि एव संशयादिति भावः। तत्र हेतुमाह—आत्मेति। यतः आत्मा शरीरादिसङ्घाताद् विलक्षण एव न स्याद् न सम्भाव्यत इत्यर्थः।।२०८।। मह्यमिति। यद्यस्ति सङ्घातविलक्षण आत्मा तर्हि मह्यं व्याचक्ष्व यथाऽपरोक्षता स्यात् तथा निरूपय येन तव कौशलं जानीयामिति। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्यः स्वरूपत्वेन हस्तामलकादपि अव्यवहित आत्मनि असम्भावनैवानुचिता इति अत्यन्ताऽव्यवहितवाचकैतच्छब्दप्रयोगेण सूचयन् एष उक्तविशेषण आत्मा इति एतन्मात्रमाह स्मेत्यर्थः।।२०६।।

मोक्ष के प्रयोजनसे प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब देहादि के संघात से—शरीर-इंद्रिय-मन आदि स्थूल-सूक्ष्मांगक यंत्रसे—विलक्षण आत्मा हो, जो बद्ध और मुक्त हो सके। ऐसे आत्मा को समझाने के लिये उषस्त ब्राह्मण है, जिसका अब व्याख्यान करेंगे।

उषस्त चाक्रायण नामक मुनि ने जब देख लिया कि भुज्यु आगे कुछ नहीं पूछ रहे तब उन्होंने याज्ञवल्क्य का परीक्षण प्रारंभ किया—हे याज्ञवल्क्य ! शास्त्र बताते हैं कि स्वयं ज्ञानस्वरूप होने के कारण ब्रह्म स्वतंत्र प्रत्यक्ष है, न कि घटादि की तरह जो वृत्तिमें प्रकट हुए चेतनके सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होते हैं। वह ब्रह्म सबसे भीतरी है—देहादि का द्रष्टा है—अतः वही आत्मा है। किन्तु शास्त्रों का वह कथन संगत नहीं। 'सबसे भीतरी होना' और 'ब्रह्म होना' अर्थात् अद्वय होना, ये तो धर्म हैं। इनका विचार तब हो जब पहले इनका योग्य धर्मी सिद्ध हो। शरीरादि-संघात से भिन्न आत्मा हो यह संभव तो लगता नहीं। यदि है तो वह जैसे अपरोक्ष हो सके वैसे मुझे समझाओ तब पता चले कि तुम्हारी बुद्धि की कुशलता कितनी है।।२०६-२०८।। महर्षि याज्ञवल्क्यने पहले इतना ही उत्तर दिया 'यह आत्मा है।' उनका भाव था स्व-स्वरूप, अत्यन्त निकट, स्वतो भासमान आत्मा की असम्भावना ही कैसे हो सकती है ! 'यह' शब्द से निःसीम

१. सङ्घातसम्बद्धः कर्तृभोक्तृरूप आत्मा विद्यत इत्युपगम्य तदसम्बद्धः शुद्धो नास्तीति प्रश्नं व्याख्यान्ति। २. श्रुतौ 'एष त आत्मे' त्युक्तं, पुराणे तदिति त्यक्तं, निरवच्छिन्नप्रत्यक्ताया विवक्षणात् तदित्युक्ते सम्बोध्यमानं प्रत्येव प्रत्यक्त्वस्य कथनसम्भवात्।

कतमो याज्ञवल्क्येति पुनः पृष्ट उवाच तम्। तव प्राणं तथाऽपानमुदानं व्यानमेव च।।२१०।।
व्यापारयति देहस्य मध्यगः सूत्रधारवत्। सर्वान्तरः स देहादिसङ्घातात् स्याद् विलक्षणः।।२११।।
मर्कटानां यथा सूत्रैश्चालको बालको मतः। सूत्रधारः पृथग् दृष्टो मर्कटेभ्यो महाजनैः।।२१२।।
तथा सर्वान्तरोऽप्यात्मा देहादिभ्यः पृथक् सदा। एवमुक्त उषस्तोऽपि पुनः पप्रच्छ तं मुनिम्।।२१३।

कतम इति। एवम् अन्तर्मुखश्चेदयम् उषस्तः तर्हि 'एष आत्मा' इत्येतावता उत्तरेणैव तोषमेष्यति इत्याशयेन याज्ञवल्क्येन तथा उक्तेऽपि स तु बहिर्मुखत्वात् सन्दिग्धः पुनः पृष्टवान्—हे याज्ञवल्क्य ! स आत्मा कतम इति; किं स्थूलं देहम् ? किं वा सूक्ष्मम् ? किं वा साक्षी ? नाद्यौ, परिच्छिन्नत्वेन सर्वान्तरत्वव्याघातात्। नान्त्यः, तत्त्वे मानाभावाद्; इति प्रष्टुराशयः। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्यः प्रष्टुः स्वानुभवप्रदर्शनेऽनधिकारितामालोच्य तदनुग्रहाय अनुमानं साक्षिणि प्रदर्शयन्निदमाह। 'इदं' किम् ? यः तव प्राणापानादीनां सूत्रधारवत् प्रवर्तकः स उक्तलक्षण आत्मेति। सामान्यतो दृष्टानुमानस्वरूपं तु—प्राणादिनियन्ता[1] तद्भिन्नः, तत्प्रवर्तकत्वाद्, यो यत्प्रवर्तकः स तद्भिन्नो यथा सूत्रधार इति। न चानुमानप्रदर्शनेऽप्रमेयत्वविरोधः, परासम्भावनानिवृत्तिमात्रेऽनुमानस्य व्यापाराद् इति भावः। इति द्वयोरर्थः।२१०-२११।।

प्रकृते सूत्रधारपदार्थं दर्शयित्वा तत्र साध्यस्य नियम्यभेदस्य सत्त्वं दर्शयति—मर्कटानामिति। मर्कटानां सूत्रैः चालको नर्तको यो बालकः सोऽत्र सूत्रधारतया विवक्षितः। बालपदप्रक्षेपस्तु अज्ञानविशिष्टात्मनो दार्ष्टान्तिकत्वसूचनाय[2]। स च यथा महाजनैः प्रेक्षकैः मर्कटेभ्यः पृथग्भूतो दृष्टः इत्यर्थः।।२१२।। दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति। पूर्वार्धं स्पष्टम्। एवं मन्दानुग्रहाभिप्रायेण याज्ञवल्क्येन अनुमाने दर्शितेऽपि अभिप्रायमविदित्वा उषस्त उपहसन्निव पुनः पप्रच्छ इत्युत्तरार्द्धार्थः।।२१३।।

निकटता ही कहकर उन्होंने आत्मा की अस्तिता प्रसिद्ध की।।२०६।। यदि उषस्त अंतर्मुख होता तब तो तुरंत समझ लेता लेकिन वह उस समय विजिगीषु अतः बहिर्मुख था, इसलिये याज्ञवल्क्यके संक्षिप्त सूचनात्मक उत्तर से उसे संतोष नहीं हुआ। उसने पूछा 'स्थूल देह, सूक्ष्म देह व साक्षी, इनमें से आत्मा कौन है ?' उसका अर्थ था कि दोनों देह तो परिच्छिन्नादि होने से आत्मा हो नहीं सकते और साक्षी नामक पदार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं। याज्ञवल्क्य ने समझ लिया कि उषस्त इस लायक नहीं कि अनुभवका पर्यालोचन कर आत्माके बारे में असंदिग्ध हो सके। अतः उस पर कृपा कर साक्षी को अनुमानसे संभावित करते हुए उन्होंने समझाया—जो तुम्हारे देह में स्थित होकर तुम्हारे प्राण-अपान-उदान-व्यान आदि का सूत्रधार की तरह संचालन करता है वह सबसे भीतरी वस्तु ही देहादि-संघातसे अन्य आत्मा है। (विवक्षित अनुमान तार्किक तरीके से यह है : प्राणादि पर नियमन करने वाला, प्राणादिसे भिन्न है क्योंकि उन्हें प्रवृत्त करता है; जो जिसे प्रवृत्त करता है वह उससे भिन्न होता है, जैसे कठपुतलियों को प्रवृत्त करने वाला सूत्रधार। यह अनुमान आत्मा को संभावित करता है, प्रमाण नहीं क्योंकि स्वतः प्रकाश आत्मा अप्रमेय बताया गया है।) एक खिलौना आता है जिसमें बच्चे धागों द्वारा बंदरों को नचाते हैं। दर्शक स्पष्ट समझता है कि सूत्रों से बंदर नचाने वाला सूत्रधार बालक बंदरोंसे अलग है। इसी प्रकार सबसे भीतरी आत्मा भी देहादि से हमेशा अलग ही है। जैसे खेल बच्चा खेलता है, ऐसे ही शरीरादिका संचालन भी बच्चे की तरह ही जो अज्ञानी है वही करता है। यों स्पष्ट समझाने पर भी तात्पर्य से बेखबर चाक्रायण ने मुनिराजसे फिर प्रश्न किया।।२१०-२१३।।

---

१. सङ्घातपारार्थ्यन्यायं द्योतयितुं प्राणादीत्युदितमन्यथा प्राणेत्येवोच्येतेति द्रष्टव्यम्। २. स्तनन्धयानां पल्यङ्के मर्कटाद्याकृतयो बध्यन्ते सूत्रैर्बध्वा सूत्राणि च बालपादयोर्निबध्यन्ते तेन स्वभावतश्चरणचालने मर्कटादयो नृत्यन्ति रमते चापत्यमरोदमानो हसन्नेवेति दृष्टान्त इति भावः।

स्पष्टतायै पुनः पृच्छा

याज्ञवल्क्य ! त्वया नायं विस्पष्टः कथितो मम। यथाऽसौ गौरसावश्व एवं स्पष्टं समीरय।।२१४।।
आत्मा विलक्षणः पृष्टः सङ्घाताद्धि मयाऽधुना। व्यापारकारकः कश्चित् त्वया मेऽत्र समीरितः।२१५
व्यापारकारकस्तावत् सङ्घातोऽत्र प्रतीयते। विरुद्धमुत्तरं तेन गोप्रश्नेऽश्वस्य यादृशम्।।२१६।।
तत उक्तस्वरूपं त्वं करामलकवद्वद। इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि स्मयमानस्तमब्रवीत्।।२१७।।

स्पष्टीकरणम्

यं त्वं पृच्छसि सङ्घाताद्वदात्मानं विलक्षणम्। एष आत्मा तव प्रष्टुरहंबुद्ध्या गतस्त्वया।।२१८।।
इत्युक्ते कतमः सोऽयं बुद्ध्यादिष्विति तं वद। उषस्त एवं पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महामुनिम्।।२१९।।

पुनः प्रश्नमभिनयति—याज्ञवल्क्येति सार्धैस्त्रिभिः। हे याज्ञवल्क्य ! मया स्पष्टतया वर्णनीयत्वेन पृष्टोऽप्यात्मा त्वया स्पष्टो न उक्तः, अतोऽधुना स्पष्टं वर्णय यथा गौरश्वः च पृष्टः शृङ्गादौ गृहीत्वा प्रदर्श्यते तद्वदिति।।२१४।। 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्ट' इति न्यायेन गवाश्वदृष्टान्तस्य प्रकारान्तरयोजनेनोपहासं व्यञ्जयितुं मत्पृष्टाद् अन्यथा त्वयोक्तमित्याह—आत्मेति। मया सङ्घाताद्विलक्षण आत्मा कथं स्पष्ट[1] इति पृष्टः। त्वया तु कश्चित् प्राणादिव्यापारकारक इत्येतावन्मात्राकारेणोक्त इति।।२१५।। निर्व्यापारस्य लोके प्रयोजकत्वाप्रसिद्धेः त्वदुक्तलक्षणहेतुः अनात्मत्वव्याप्यत्वाद् विरुद्ध इत्याह—व्यापारेति।। तथा च गवि पृष्टेऽश्वप्रदर्शनमिव आत्मप्रश्नेऽनात्मप्रदर्शनं त्वया कृतमिति चतुर्थपादार्थः।।२१६।। फलितमाह—तत इति। एवं सोपहासं पृष्टोऽपि याज्ञवल्क्यो गाम्भीर्येण स्मयमानो मन्दं हसन्नेवोवाचेति।।२१७।।

साक्षादपरोक्षता मया प्रथममेव एतच्छब्दप्रयोगेण दर्शिता, तत्र तव मन्दतामालोच्य तु अनुमानं दर्शितमिति सूचयितुं याज्ञवल्क्येन 'एष' इत्यादिवाक्यं पुनः पठितं; तदर्थमाह—यं त्वमिति। सङ्घाताद्विलक्षणमात्मानं वद इति यत् त्वं पृच्छसि स तव प्रष्टुः अपि आत्मा एष सुतरामपरोक्षः, यतः त्वयाऽपि अहंबुद्ध्या गतः अहमाकारवृत्त्या विषयी क्रियमाण इत्यर्थः।।२१८।। इत्युक्त इति। इति याज्ञवल्क्येन उक्तेऽपि अहम्प्रत्ययविषयत्वस्य बहुषु दर्शनाद् बुद्ध्यादीनां मध्ये कतमोऽसाविति न ज्ञायते, अतः पृथक्कृत्य दर्शयेति पुनः उषस्तः पप्रच्छ इत्यर्थः।।२१९।।

उसने पूछा—याज्ञवल्क्य ! तुमने आत्मा का स्पष्ट रूपसे वर्णन मुझे नहीं सुनाया। जैसे सींग पकड़ कर सामने लाकर दिखाते हैं 'यह गाय है' या कान पकड़कर दिखाते हैं 'यह घोड़ा है' यों साफ-साफ आत्मा का प्रदर्शन करो। मैंने पूछा था कि संघातसे विलक्षण आत्मा स्पष्ट कैसे है और जवाब तुमने दिया 'प्राणादि का व्यापार कराने वाला कोई है !' व्यापार कराने वाला तो संघात ही प्रतीत होता है, इससे अन्य नहीं। (किं च प्रयोजक भी सव्यापार ही देखा गया है, अर्थात् जो अन्यमें क्रिया का हेतु बने उसे स्वयं किसी न किसी क्रिया वाला होना पड़ता है जैसे सेवकों का प्रयोजक राजा स्वयं भी कुछ न कुछ करता ही है। आत्मा भी यदि प्राणादिका प्रयोजक हो तो उसे सक्रिय होना पड़ेगा, जिससे उसकी निष्क्रियता बताने वाले वचन अप्रमाण हो जायेंगे। इसलिये 'जो प्राणादि का प्रेरक वह आत्मा' यह लक्षण ही ग़लत है।) अतः शास्त्रोक्त स्वरूप वाले आत्मा को तुम यों बताओ कि हाथमें रखे आँवले-सा वह स्पष्ट हो जाये।।२१४-२१७।।

इस तरह पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया—'संघातभिन्न आत्मा समझाओ' यों तुम जिसके बारेमें पूछ रहे हो वह तुम्हारा; प्रश्न पूछने वाले का, आत्मा है। वह निःसंदेह अपरोक्ष है क्योंकि 'मैं' इस मानस अनुभूतिका वही विषय है, उसे ही 'मैं' समझा जा रहा है।।२१८।।

---

१. तन्निरपेक्षबोधः स्पष्टो, न तु देहाद्यपेक्षः, सापेक्षस्य तत्क्रोडीकरणेनाऽस्पष्टत्वादिति भावः।

उषस्तं याज्ञवल्क्योऽपि वाक्यमेतदभाषत। उक्तोऽपि न मया शक्यः त्वया द्रष्टुं कथञ्चन।।२२०।।

बुद्ध्या सर्वं विजानाति यतोऽयं भूतभौतिकम्। बुद्धिं च तस्या द्रष्टारं केन पश्यसि तद्वद।।२२१।।

घटोपलम्भकं नेत्रं न घटेनोपलभ्यते। यथा तथाऽत्र बुद्धीनां द्रष्टा ताभिर्न लभ्यते।।२२२।।

बाह्यान्तरविभेदानामिन्द्रियाणां हि या धियः। तासां द्रष्टाऽत्र ताभिर्यो न दृश्यस्त्वेष आन्तरः।
आत्मा तव विनाशेन वर्जितोऽतो विलक्षणः।।२२३।।

एतस्माद्व्यतिरिक्तं यद् देहबुद्धीन्द्रियादिकम्। विनाशि तज्जडत्वेन जन्मयोगि यथा घटः।।२२४।।

उषस्तमिति। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्य इदमाह। 'इदं' किम् ? या विद्वदनुभवसिद्धा तस्याऽपरोक्षता तत्त्वेन निरूपणेन वाग्रहः[1], किं वा घटादिवद् इन्द्रियविषयत्वरूपापरोक्षत्वेन ? आद्ये, विद्वांसो यथा तं निरूपयन्ति तथा मया उक्तोऽपि त्वया बहिर्मुखत्वाद् न द्रष्टुं शक्य इत्यर्थः।।२२०।। न द्वितीयः, तस्याऽविषयस्वभावत्वादित्याह—बुद्ध्येति। यः अयं नित्यापरोक्ष आत्मा बुद्ध्या स्वबिम्बग्राहिण्या नानेन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या सहितः सर्वं जानाति, तां बुद्धिं च स्वयमेव भासयति, एवं तस्या बुद्धेः द्रष्टारं केन त्वं पश्यसि विषयी करोषि ? न किञ्चित्करणजातं तं विषयी कर्तुं शक्नोतीति यावत्।।२२१।। सेन्द्रियबुद्धेः साक्षिभास्यायास्तद्भासने न शक्तिरिति सदृष्टान्तमाह—घटोपलम्भकमिति। यथा घटप्रकाशकं चक्षुः घटेन न प्रकाश्यते तथा बुद्धीनां तत्तदिन्द्रियसम्बन्धेन दृष्टिश्रुतिघ्रात्यादिसंज्ञानां द्रष्टा प्रकाशक आत्मा ताभिः बुद्धिभिः न दृश्यत इति।।२२२।। एतत् स्फुटयति—बाह्येति। बाह्यान्तरविषयकत्वेन भिन्नानाम् इन्द्रियाणां सम्बन्धेन दृष्टिश्रुत्यादिसंज्ञा या धियो बुद्धिवृत्तयः तासां यो द्रष्टा भासकः अत एव ताभिरप्रकाश्यः, स तव आत्मा सर्वान्तरो विनाशहीनः अतः सङ्घाताद् विलक्षण इति।।२२३।।

ननु तथापि तद्भिन्नं बुद्ध्यादि सत्यम् असत्यं वा ? आद्ये, कथं सर्वान्तर इत्युक्तम् ? न हि घटः पटस्यान्तरः! अन्त्येऽपि, कथं सर्वपदप्रयोगः, सर्वस्याऽभावाद् ? इत्याशङ्क्यां; यथा रज्जौ कल्पितानामुरगजलधारादण्डादीनां रज्जुरान्तरः तद्वद् एतद् द्रष्टव्यमित्याशयेन परिहरति—एतस्मादिति। एतद्भिन्नं सर्वं जडत्वाद् जन्मनाशरूपार्तिमद्, अतः कल्पितमिति यावत्।।२२४।।

उषस्त ने महामुनि याज्ञवल्क्यसे कहा—'मैं' तो शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि अनेक समझे जाते हैं ! इनमें से आत्मा कौन है यह बताओ।।२१६।।

याज्ञवल्क्य ने चाक्रायण को उत्तर दिया—निरस्त-अज्ञान महात्माओं को आत्मा जैसे अपरोक्ष है वैसा मैं कहूँ तो भी बहिर्मुखी होने से तुम समझ नहीं सकते। अगर तुम इन्द्रियों से आत्मदर्शन चाहते हो तब तो अत्यंत असंगत है! विभिन्न इन्द्रियों द्वारा फैलने वाली बुद्धि आत्मप्रकाश ग्रहण करती है, उसे करण बनाकर यह आत्मा भूत-भौतिक सभी कुछ जानता है, बुद्धि को भी जानता है। जिसके द्वारा सब जाना जाता है उस बुद्धि को भी जो जानता है उसे किस साधनसे विषय करोगे ? बताओ। घटद्रष्टा नेत्रको घट नहीं देखता। ऐसे ही बुद्धियों को देखने वाले को बुद्धि विषय नहीं कर सकती। (विभिन्न इन्द्रियों से सम्बद्ध होने पर बुद्धि विभिन्न नाम व कर्म पा जाती है जैसे दृष्टि, श्रुति, घ्राति आदि। अतः 'बुद्धियों को' यों बहुवचन कहा।) कुछ इंद्रियाँ देहसे बाहर की चीज़ों को ही विषय करती हैं व कुछ भीतरी को भी विषय कर लेती हैं। दोनों तरह की इन्द्रियों के सम्बन्ध से दृष्टि, श्रुति आदि कहलाने वाली जो बुद्धिवृत्तियाँ हैं, उनका जो द्रष्टा अर्थात् प्रकाशक है, वह उनके द्वारा प्रकाशित हो नहीं सकता। वही तुम्हारा आत्मा है जो विनाशसे रहित और संघात से अन्य है।।२२०-२२३।।

---

१. 'निरूपणे तवाग्रहः'—इति पिपठिषामि।

बुद्धिमानयमित्येव विज्ञायोषस्त आत्मवान्। कहोलस्य समीपस्थः प्रश्नादुपरराम ह।।२२५।।

कहोलप्रश्नः

कौषीतकेयो मतिमान् कहोलस्तमभाषत। उषस्तोक्तमनूद्येत्थमात्मा ब्रह्म कथं भवेत्।।२२६।।

आत्मा संसारधर्माऽयं[1] क्षुधितश्च पिपासितः। शोकमोहसमाविष्टो जायते म्रियते तथा।।२२७।।

षडूर्मिरहितं ब्रह्म तादात्म्यं ह्यनयोः कथम्। इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि तमाह मुनिपुङ्गवम्।।२२८।।

उषस्तब्राह्मणार्थमुपसंहरति—बुद्धिमानयमिति। अयं याज्ञवल्क्यो बुद्धिमानिति एवं विज्ञाय निश्चित्य उषस्तो मौनं चक्र इति।।२२५।।

एवं बन्धमोक्षयोग्यः सङ्घातविलक्षण आत्मा उषस्तब्राह्मणे निर्धारितः। अथ तस्य मोक्षो येन ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन भवति तस्य ससाधनस्य निरूपणपरं यत् कहोलब्राह्मणं तस्यार्थः प्रदर्श्यते—कौषीतकेय इत्यादिसप्तचत्वारिंशच्छ्लोकैः। अथ कुषीतकस्यापत्यं कहोल नामा तं याज्ञवल्क्यमपृच्छत्। किं कृत्वा ? य उषस्तेन पृष्ट आत्मा तद्विषयक एव मम प्रश्न इति सूचयितुम् उषस्तोक्तं 'यत् साक्षाद्' इत्यादि वाक्यम्[2] अनूद्य पुनः पठित्वा। प्रश्नाशयमभिनयति—आत्मेति। अयम् आत्मा ब्रह्मभावं गतः कथं भवेद् ? इति।।२२६।। ब्रह्मभावाऽसम्भवहेतुं तयोर्वैधर्म्यमाह—आत्मेति। अयम् एतत्सङ्घातप्रकाशकः आत्मा, 'क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू षडूर्मय' इति प्रसिद्धषडूर्मिलक्षणसंसारधर्मकोऽनुभूयते। ब्रह्म तु षडूर्मिरहितं श्रूयते। अनयोः विरुद्धधर्मिणोः तादात्म्यं भेदसहिष्णुरभेद इत्युक्तलक्षणमपि न सम्भवति, कुत ऐक्यम् ? इति। तथा च प्रत्यक्षविरुद्धम् आत्मनो ब्रह्मत्वमिति प्रष्टुराशयः। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्य आह स्मेति द्वयोरर्थः।।२२७-२२८।।

शंका होती है आत्मासे अन्य जो बुद्धि आदि हैं वे सत्य हों तो आत्मा सर्वान्तर नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा कुछ होता नहीं जो सभी सत्य पदार्थों के अंदर हो। आकाश को भी कारण मानने पर ही अन्यों के अन्दर कह सकते हैं, अन्यथा ठोस वस्तु में 'यहाँ कोई जगह नहीं' ऐसा अबाधित ही व्यवहार होता है। और यदि बुद्धि आदि सत्य नहीं तो आत्मा सबके भीतर कैसे कहा जायेगा, जब 'सब' कुछ है ही नहीं ? इसका समाधान याज्ञवल्क्य करते हैं—इस साक्षात् अपरोक्ष आत्मासे अन्य देह, बुद्धि, इंद्रियादि जो कुछ प्रतीत होता है वह जड होने से घटादि की तरह जन्म-नाश वाला है। अर्थात् मिथ्या है। रस्सी पर कल्पित साँप, जलधारा, दण्ड, माला आदि सबके *भीतर* तो रस्सी ही है। ऐसे ही आत्मा पर सारा संसार कल्पित होने से वह सर्वान्तर है। जन्म-नाश वाला होना इस बात का द्योतक है कि वस्तु मिथ्या है क्योंकि जिन्हें निश्चित मिथ्या जानते हैं उन स्वप्न, इंद्रजाल आदि का आरंभ व समापन देखा जाता है।।२२४।।

उषस्त भी आत्मवेत्ता थे, अतः समझ गये कि याज्ञवल्क्य चरम सत्य से पूर्ण परिचित हैं और उसका समुचित अभिव्यंजन करने में सक्षम हैं। अतः वे कहोल के पास जाकर चुप-चाप बैठ गये।।२२५।।

आत्मा का वर्णन हो चुका। आत्मा का मोक्ष जिस विज्ञान से होता है उसका और उसके साधनों का निरूपण बाकी है, जिसे अब समझायेंगे। कहोल कौषीतकेय बुद्धिमान् ब्राह्मण थे। उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछना आरम्भ किया। पहले उन्होंने पूर्वोक्त आत्मा के स्वरूप का अनुवाद किया ताकि स्पष्ट रहे कि वे उसी संदर्भ में पूछ रहे हैं। फिर प्रश्न रखा—याज्ञवल्क्य ! अभी जिस आत्मा को बताया वह ब्रह्म कैसे होता है? यह आत्मा तो संसारधर्मों वाला है, भूखा-प्यासा, शोक-मोह से ग्रस्त, जन्म-मरण वाला है। इससे विपरीत ब्रह्म है, जिसमें भूख आदि कोई संसारधर्म कभी नहीं है। ऐसे आत्मा व ब्रह्म का तादात्म्य (अभेद) कैसे हो सकता है ?।।२२६-२२८।।

१. क्षुदादिसमेषां सति चैतन्यतादात्म्यस्फुरणे भासमानत्वात् सुषुप्तिमूर्च्छादावभासनात्तेषां हठान्नात्मधर्मताव्यतिरेकः शक्योऽवगन्तुमिति भावः। २. 'यदेवे' त्येवकारोऽधिकः कहोळवचसि पूर्वेतरव्यावृत्तये।

तदुत्तरम्

षडूर्मयो न सन्त्यत्र प्राणबुद्धिशरीरगाः। आत्मन्येतेन स ब्रह्म कथ्यते वेदवादिभिः।।२२९।।

आत्मज्ञानवतां पुंसां संसारो नैव बाधकः। कुत आत्मन एष स्यात् सर्वदा ब्रह्मरूपिणः।।२३०।।

असंसारिणमात्मानं ब्रह्माभिन्नं निरञ्जनम्। बुद्धिसाक्षिणमेतं तं विज्ञायाऽत्र द्विजोत्तमाः।
वामदेवसमाः पूर्वे प्रव्रजन्ति गतैषणाः।।२३१।।

एषणाः

सुतो भवतु मे तद्वद् वित्तं दैवं च मानुषम्। सुखं लोकद्वयं चैतद् एषणात्रयमीरितम्।।२३२।।

स्यादेव प्रत्यक्षविरोधो यदि आत्मा क्षुत्पिपासाधर्मिप्राणरूपः, शोकमोहधर्म्यन्तःकरणरूपो वा, जरामृत्युधर्मिशरीररूपो वा भवेत्। स त्वेषां प्रकाशक एव। प्रकाश्यधर्माश्च प्रकाशकं न स्पृशन्तीति प्रसिद्धमादित्यादौ। अत ऐक्यबोधकस्य वेदान्तप्रमाणराजस्य स्वार्थप्रकाशने न केनचिद् मानान्तरेण विरोध इत्याशयेनोत्तरयति—षडूर्मय इति। प्राणबुद्धिशरीरगाः षडूर्मयः अत्र आत्मनि न सन्ति, एतेन हेतुना स आत्मा संसार-धर्मराहित्यरूपब्रह्मलक्षणशालित्वाद् ब्रह्म एवेति वेदविद्भिः कथ्यते इत्यर्थः।।२२९।। आत्मनि संसारधर्माभावे कैमुत्यमाह—आत्मज्ञानेति। अविद्यालेशेन भासमानोऽपि संसार आत्मविदां बन्धप्रसवलक्षणां बाधां कर्तुं यदा न शक्तः तदा किमु वक्तव्यम् आत्मनः संसारधर्मराहित्य इत्यर्थः।।२३०।। एतादृशात्मज्ञानस्य विक्षेपपरिहारेण दृष्टद्वारोपकारकमङ्गं संन्यास इत्याह—असंसारिणमिति। एतं पूर्वार्द्धेनानूदितम् एतद्ब्राह्मण उक्तं तं बुद्धिसाक्षितया उषस्तब्राह्मणवर्णितम् आत्मानं विज्ञाय गतैषणाः परित्यक्तकामाः सन्तः पूर्वे वामदेवादयः प्रव्रजन्ति स्म संन्यस्तवन्त इत्यर्थः।।२३१।। तत्रैषणायाः स्वरूपभेदानाह—सुत इति त्रिभिः। लोके कामनानामनेकविधत्वेऽपि अनुमतानि त्रीणि रूपाणि ईरितानि श्रुतौ। तत्रैकं रूपं सुतो भवतु इत्याकारं पुत्रैषणात्वं येन दारसङ्ग्रहादौ प्रवर्तते। द्वितीयं वित्तैषणात्वम्। वित्तमपि द्विविधम्—दैवं मानुषं च। तत्र दैवं देवलोकजयसाधनमुपासनात्मकज्ञानम्, मानुषं तु मनुष्यलोकभोगसाधनं पशुहिरण्यादि। तृतीयं लोकैषणात्वम्; लोकपदेन च देवमनुष्यलोकवर्ति सुखं गृह्यते—

मुनिश्रेष्ठ कहोलसे याज्ञवल्क्य बोले—भूख आदि संसारधर्म प्राण-बुद्धि-शरीर में ही होते हैं न कि आत्मा में, अतएव वैदिक ऋषि आत्मा को ब्रह्म कहते हैं। यदि आत्मा वास्तवमें संसारधर्म वाला होता तभी उसका ब्रह्मसे अभेद असंभव होता। जब वह है ही संसारधर्मों से रहित तब उसे ब्रह्म ही समझना पड़ेगा क्योंकि संसारधर्मवर्जित चेतन ही तो ब्रह्म है। आत्मा के यथार्थ ज्ञान वाले विद्वानों के लिये भी संसार बंधहेतु नहीं बन पाता तो सदा ब्रह्मरूप आत्मा को यह बाँध सके इसकी कहाँ संभावना ? विद्वानों को यद्यपि अविद्यालेशसे संसार प्रतीत होता है तथापि उन्हें उससे स्वयं में परिच्छिन्नता प्रतीत नहीं होती। (जब आत्मज्ञानी का यह हाल है तब आत्मा का कहना ही क्या ! यद्यपि आत्मज्ञानी आत्मा ही है तथापि जीवनदशा में लेशप्रयुक्त प्रतीयमान भेद है, यह मानकर ही कैमुत्य दिखाया गया है।)।२२९-२३०।।

ब्रह्मसे अभिन्न, निर्दोष, बुद्धिसाक्षी, संसारधर्मों से रहित, वेदान्तों में सर्वत्र प्रसिद्ध इस आत्मा का अनुभव कर प्राचीन द्विजश्रेष्ठों की एषणाएँ समाप्त हो गयीं और उन्होंने सभी कुछ संन्यस्त कर दिया क्योंकि वे वैसे ही निष्ठावान् हो चुके थे जैसे वामदेव।।२३१।।

एषणा अर्थात् कामना के तीन रूप श्रुतिमें कहे हैं : १) पुत्रैषणा—मुझे पुत्रलाभ हो। इस एषणा से विवाहादि में प्रवृत्ति होती है। २) वित्तैषणा—मुझे दैववित्त और मानुषवित्त की प्राप्ति हो। देवलोक जाने का साधन जो उपासना वह दैववित्त कही जाती है। मनुष्यलोक में भोगों का साधन—पशु, स्वर्ण आदि मानुषवित्त हैं। ३) लोकैषणा—मनुष्यलोक व देवलोक का सुख मुझे मिले। वस्तुतः एषणायें दो हैं। खेत, पशु आदिकी तरह पुत्र भी पिता केलिये धन ही है क्योंकि

पितुः पुत्रो भवेद्वित्तं यथा क्षेत्रं यथा पशुः। वित्तं च सुखदं तद्वदिहलोके परत्र च।।२३३।।

ततः सुखस्य तद्वत् स्यात् तद्धेतोश्चैषणाद्वयम्। एषणाद्वैतमेवाऽत्र वस्तुतः सर्वदेहिनाम्।।२३४।।

इच्छत्यपि यतः सर्वः सुखमस्त्विति नाऽपरम्। सुखं चात्मन्यसंसारे सर्वानन्दातिशायिनि।।२३५।।

स्वप्रकाशे[1] सति प्रज्ञे सर्वभेदविवर्जिते। नाऽपरत्र यतः सर्वम् उदर्के दुःखदं स्मृतम्।।२३६।।

संसारं दुःखाकरोति

जननी सर्वजन्तूनां प्रसिद्धा सुखकारिणी। स्तन्यदानात्तथा शश्वद् रक्षणाद् भूर्यपायतः।।२३७।।

मलाद्यपनयात् तद्वत् चित्रात् स्नेहादिलौकिकात्। कोपतो मरणाद् वा सा दद्याद् दुःखं सुदुःसहम्।।२३८।।

इत्यर्थः।।२३२।। वस्तुतस्तु द्वे एव सकलकामनाऽनुगते रूपे इत्याह—पितुरिति द्वाभ्याम्। यथा क्षेत्रं पशुः गवादिश्च एतल्लोकभोगसाधनत्वाद् वित्तम् इति प्रसिद्धं, तथा पुत्रः अपि पितुर्वित्तम् एव, 'पुत्रेण जय्योऽयं लोक' इति (बृ. १.५.१६) श्रुतेः एतल्लोकजयसाधनत्वात्। वित्तपदं च इहलोके परलोके वा यत् सुखदं सुखसाधनं तत्र प्रसिद्धम्। तथा च वित्तैषणात्वेन सकलसुखसाधनैषणानां सङ्ग्रहः। अत एव श्रुतौ पुत्रैषणावित्तैषणयोरभेद उक्त इति भावः। लोकैषणापदेन च सकलफलकामनानां सङ्ग्रहः, लोकपदस्य सुखपरतायाः पूर्वश्लोक उक्तत्वात्। तस्माद् एषणानामनुगतरूपालोचनायां द्वैतं द्वित्वम् एव। इति द्वयोरर्थः।।२३३-२३४।। एषणाद्वित्वे लोकानुभवमनुकूलयति— इच्छत्यपीति। यतः सर्वो जनः प्रथमं फलभूतं सुखम् एव इच्छति फलस्य साक्षाद्यत्नसाध्यतामालोच्य तत्साधनमपीच्छति, इति एषणाद्वित्वमुपपन्नमेवेति शेषः। एतदभिप्रायेणैव श्रुतौ वित्तैषणालोकैषणयोरभेद उक्त इति भावः। अस्त्वेवं, तथापि विद्वांसो यदेषणापरित्यागं कुर्वन्ति तत्र को हेतुरिति चेद् ? एषणामूल-भूताऽविद्याहानिरेवेत्याह—सुखं चेति। 'यो वै भूमा तत् सुखम्' (छा. ७.२४.१) इत्यादिश्रुतेः आत्मनि एव सुखं, नान्यत्र। अयन्तु पुरुषस्य चैतन्यमितिवद् निर्देशः यतः सर्वं सांसारिकपदार्थजातम् उदर्के परिणामे दुःखदम्। तथा चाज्ञा एवैषणाभाजः। इति द्वयोरर्थः।।२३५-२३६।।

सांसारिकपदार्थानां दुःखरूपतां प्रपञ्चयति—जननीति अष्टादशभिः। या जन्तूनां जननी स्तन्यदानादिना सुखकारिणीत्वेन प्रसिद्धा साऽपि कोपमरणाभ्यां दुःखं दद्याद् इति द्वयोः सम्बन्धः। स्तन्यं पयः। भूरिभ्यो बहु-विधेभ्यः अपायेभ्योऽपायहेतुभ्यो जलाग्न्यादिभ्यो रक्षणात्, चित्राद् अद्भुतात् स्नेहादिलौकिकात् स्नेह आदिः कारणं यस्य

उन्हीं की तरह लोकजयका साधन है, वेद ने बताया है कि इस लोक को पुत्रसे ही जीता जा सकता है। इस लोक या परलोकमें जो सुखका उपाय हो वही वित्त कहलाता है। इस प्रकार वित्तैषणा से साधनविषयक सभी कामनायें एकत्र हो जाती हैं। अतः दो ही एषणायें हुईं—एक सुख की और दूसरी सुखसाधन की। सभी देहधारियों को ग्रस्त करने वाली ये दो ही एषणायें समझनी चाहिये।।२३२-२३४।। सब लोग पहले सुख ही चाहते हैं, जब देखते हैं कि सुख तो एक फल है जिसे किसी उपायसे पाया जाता है तब सुख-साधन भी ग्रहण करना चाहते हैं। विचारशील कामनात्याग इसलिये करते हैं कि शास्त्र से समझ लेते हैं कि अपरिवर्तनीय और सभी सुखों से अधिक आनंद आत्मस्वरूपमें ही है। वह सुख साधनों की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि जिस आत्मा से वह अभिन्न है वह अपने अपरोक्ष भान केलिये किसी पर निर्भर नहीं। आनंदात्मा का न होना असंभव है, उसका अभान असंभव है और किसीसे उसमें सच्ची सद्यता आये यह असंभव है। उस आत्मा से अन्य कुछ नहीं जिसमें सुख हो, क्योंकि सांसारिक सभी पदार्थ परिणाम में अवश्य दुःख देते हैं। यह वास्तविकता जिन्हें पता नहीं, हृदयसे जँचती नहीं, वे ही एषणायें पाले रहते हैं, उन्हें आस्तीन का साँप समझकर दूर नहीं फेंक देते।।२३५-२३६।।

---

१. आत्मसुखस्य साधननैरपेक्ष्यं वक्तुं स्वप्रकाशतोक्तिः।

जनन्या मरणं बाल्ये दाराणां यौवने तथा। वार्धके तनयानां च वज्रपातसमं स्मृतम्।।२३९।।

नाग्नेः प्रवेशने दुःखं छेदने वपुषो न च। जीवतः शूलसङ्क्षेपे भृगोर्वा पतने नहि।।२४०।।

तादृशं दुःसहं दुःखं नान्यस्मादपि कारणात्। जनन्यादिमृतौ दुःखं बाल्यादौ जायते यथा।।२४१।।

प्रियाणि सर्वभूतानि पित्रादीनि जनस्य हि। वियोगे दुःखमत्यर्थं जनयन्ति सुदुःसहम्।।२४२।।

वियोगः सर्वथा भावी संयोगे सति देहिनाम्। अचिकित्स्यनिमित्तेन कालरोगकृतेन हि।।२४३।।

अप्रियाणि च भूतानि संयोगेन दहन्त्यमुम्। अग्निर्यथा स्वसंयुक्तं सर्वमेव दहत्ययम्।।२४४।।

चेतनानि यथा तद्वज्जडान्यपि च सर्वदा। जन्तून् योगवियोगाभ्यां प्रीत्यप्रीतिकराणि च।
दहन्त्यविरतान् शश्वच्छलभान् पावको यथा।।२४५।।

तादृशाद् लौकिकाद् मुखचुम्बनादिरूपाद् इत्यपि द्वयोरर्थः।।२३७-२३८।। तत्र जनन्या मरणाद् दुःखदत्वं तुल्ययोगितया स्फुटयति—जनन्या इति। स्पष्टम्।।२३९।। उक्तदुःखस्योत्कर्षं स्फुटयति—नाग्नेरिति द्वाभ्याम्। शूलसङ्क्षेपे शूलोपरि निधाने। भृगोः पर्वतोच्चदेशात्।।२४०।। तादृशमिति। स्पष्टम्।।२४१।। जननीन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—प्रियाणीति।।२४२।। न च वियोगो वारयितुं शक्य इत्याह—वियोग इति। अचिकित्स्येन प्रतिकर्तुमशक्येन येन केनचिद् निमित्तेन संयुक्तानां वियोगः अवश्यं भावीत्यन्वयः। निमित्तस्य अचिकित्स्यत्वे हेतुगर्भं विशेषणं कालेति। रोगवच्छरीरपरिणामहेतुत्वाद् रोगसमेन कालेन[1] प्रयुक्तेनेत्यर्थः।।२४३।।

एवं प्रियत्वाभिमतानां दुःखदत्वमुपपादितम्। अप्रियाणां तु दुःखदत्वं प्रसिद्धमेवेत्याह—अप्रियाणि चेति। दहन्ति तापयन्ति। अमुं देहाभिमानिनम्।।२४४।। जननीप्रभृतिचेतनेषूक्तं न्यायं जडेष्वप्यतिदिशति—चेतनानीति। चेतनवत् जडान्यपि वस्तूनि प्रीतिकराणि चेद्, वियोगेन; अप्रीतिकराणि चेद्, योगेन; अविरतान् विरागहीनान्

सभी पदार्थ दुःखद कैसे ? यों हैं—माता सब जन्तुओं को सुख देती है यह सर्वसंमत है। अशक्ततम अवस्था में अपने शरीर का साररूप दूध पिलाकर बच्चे को पुष्ट करती है, अनेक हानिप्रद तत्त्वोंसे रक्षा करती है, शिक्षा देकर तो जीवन भर रक्षा करने वाली है क्योंकि जीवननीति की प्राथमिक सीख साक्षात् या उपायों से माता ही दे पाती है। दृष्ट मल तो स्तनन्धय के साफ करती ही है, मन का मालिन्य भी यथाशक्ति मिटाने को तत्पर रहती है। नाना प्रकार से प्रकट होने वाला उसका वात्सल्य सच ही लोकातीत है। लेकिन वह भी नाराज़ हो जाये तो बालक असह्य दुःख पाता है और मरने पर तो माता अपने प्रौढ या वृद्ध भी पुत्र को सहन होने में मुश्किल दुःख देती है। बचपनमें माताका मरण, जवानीमें पत्नी का मरण और बुढापे में पुत्रों का मरण वज्रपात की तरह दुःख देता है। जीवित जलने से, शरीर खण्डशः कटने से, सूली चढ़ने से, ऊँचे पहाड़ से गिरने से या और किसी भी हेतु से भी वैसा असह्य कष्ट नहीं होता जैसा बचपन आदि में माता आदि की मृत्यु से होता है।।२३७-२४१।। पिता आदि सभी प्रिय प्राणी अपने वियोग द्वारा अत्यधिक असह्य दुःख अवश्य प्रदान करते हैं। प्राणियों का परस्पर संयोग होता है तो वियोग भी ज़रूर होना ही है। जिसे हटा नहीं सकते ऐसा कोई कारण बन ही जाता है कि वियोग होवे। कालनामक महामारी का न तो प्रतिरोध संभव है और न उपचार ! अतः वह तो हर हालत में वियोग कर ही देगी।।२४२-२४३।। यह तो प्रियों का हाल है!

अप्रिय पदार्थ तो संयोगदशा में भी देहधारी को सन्ताप देते हैं। जैसे अपने सम्पर्क में आये सभी को आग जला डालती है, ऐसे ही अप्रिय वस्तु स्वसम्बद्ध को दुःख देती है।।२४४।। प्राणियों की तरह जड पदार्थ भी संयोग-वियोग से हमेशा ही जन्तुओं को प्रसन्नता-अप्रसन्नता देते रहते हैं। अविरागी पतंगों को जैसे आग जलाती ही चली जाती है,

१. कालकृतं रोगकृतं वा यदचिकित्स्यं निमित्तं तेनेति वार्थः।

पुत्रा वित्तानि लोकाश्च शरीरं च सबान्धवम्। एते दुःखकराः सर्वे दृश्यन्ते सर्वजन्तुभिः।।२४६।।

यद्यत्कर्तुं प्रवृत्तः सन्नशक्याद् विनिवर्तते। इच्छया सहितस्तत्तद् दुःखमुक्तं मनीषिभिः।।२४७।।

प्रवृत्तिं कुरुते शश्वदुपकारापकारयोः। शत्रुमित्रार्थमत्राऽयमशक्त्या विनिवर्तते।।२४८।।

शरीरेन्द्रियजा सेयं क्वचित् क्वापि सुतादिजा। अशक्येच्छाविघातः स्याद् दुःखमिच्छावधे-र्महत्।।२४९।।

शरीरेन्द्रियपुत्राद्या ब्रह्मणोऽपीश्वरस्य वा। भवन्ति सर्वथा सर्वे स्वाधीना नैव सर्वदा। ततो दुःखं समुद्दिष्टा इमे सर्वे शरीरिणाम्।।२५०।।

सुखत्वं विद्यते नैव वस्तुनः कस्यचित् क्वचित्। व्यभिचाराद् यतो दृष्टा हेतुता सुखदुःखयोः। पर्यायेण च वस्तूनां सर्वेषां सर्वदेहिभिः।।२५१।।

शलभान् पावकवद् दहन्ति तापयन्तीत्यर्थः।।२४५।। सांसारिकभावानां दुःखहेतुता रागान्धताहीनैः सर्वैरनुभूयत इत्याह—पुत्रा इति। एते पूर्वार्द्धोपदर्शिताः।।२४६।। तत्रापि विहन्यमानेच्छैव दुःखप्रयोजिकेत्याह—यद्यदिति। इच्छया सहितो जन्तुः यद्यत् कर्तुं प्रवृत्तः सन् यस्माद् अशक्याद् विनिवर्तते तत्तद् दुःखकरत्वाद् दुःखम् इति उक्तम् इत्यर्थः।।२४७।। तदुदाहरति—प्रवृत्तिमिति। अयं लोकः प्रायः शत्रूणामपकाराय मित्राणामुपकाराय च प्रवृतिं कुरुते, तत्र च अशक्त्या एव ततो निवर्तत इति प्रसिद्धमिति शेषः।।२४८।।

तत्र चेच्छायाः प्रयोजकम् अहंममाध्यासरूपं विपर्ययज्ञानं तथा इच्छाकार्यं दुःखस्वरूपं चाह—शरीरेति। सेयम् अशक्येच्छा कर्तुमशक्येऽप्यर्थे इच्छा क्वचिच्छरीरेन्द्रियजा शरीराध्यासजा, इन्द्रियाध्यासजा वा; क्वापि कुत्रचित् सुतादिविषयकममत्वाध्यासजा, अहंममाभिमानेन अशक्येच्छामपि कुर्वन्तीति यावत्। एवं सति इच्छावधेः कुड्यादश्वः पततीत्यत्र आरोढुमशक्यं कुड्यं यथाऽवधिः विभागाश्रयत्वात् तथेच्छा स्वकार्यद्वारा यमारोढुमशक्ता सोऽशक्यपदार्थ इच्छावधिः, बुद्धिकृतमपादानं; तस्माज्जातो इच्छाया वैयर्थ्यात्मको विघातः तद्रूपं महद् दुःखम् इत्यर्थः; विहन्यमानेच्छैव दुःखरूपेण परिणमत इति यावत्।।२४९।। एवमनर्थप्रयोजकाः शरीरादयः, इच्छाप्रयोजकं च तेषामननुकूलतयाऽवस्थानं सर्वत्र सममित्याह—शरीरेन्द्रियेति। ते च शरीरादयो हिरण्यगर्भभावपर्यन्तं सर्वत्र सन्ति। ते च सर्वदा स्वाधीना अनुकूलरूपा न सन्तीत्यपि प्रसिद्धमिति शेषः। ततः सर्वथानुकूलत्वाभावाद् इमे शरीराद्याः सर्वेऽपि दुःखम् इत्युक्ताः।।२५०।। एवमनात्मनि दुःखत्वमुक्त्वा सुखत्वव्यतिरेकमपि तेषां स्फुटयति

'इतने पतंगे जला लिये अब तृप्ति हो गयी' ऐसा कभी उसमें नहीं होता, इसी तरह सांसारिक वस्तुएँ भोगोन्मुखों को पीडा देने से कभी पीछे नहीं हटती।।२४५।। सब लोग अनुभव करते हैं कि पुत्र, धन, लोग, शरीर, बंधुजन आदि सभी दुःखहेतु बनते रहते हैं।।२४६।। जन्तु जो कुछ करना चाहता है और पाता है कि वह करना संभव नहीं तो उसे करना छोड़ देता है लेकिन इच्छा तो बनी ही रहती है अतः दुःखी होता है। इस प्रकार न किया जा सकने वाला अभिलषित कार्य या भोग ही विचारशीलों द्वारा दुःख कहा जाता है।।२४७।। लोग प्रायः शत्रुओं के अपकार केलिये व मित्रों के उपकार केलिये प्रवृत्ति करते हैं और कर पाने में असमर्थ होने पर ही निवृत्त होते हैं। न किये जा सकने के बारे में इच्छा कभी शरीराध्याससे, कभी इन्द्रियाध्यास से तो कभी पुत्रादिविषयक ममत्वाध्यास से उत्पन्न होती है। अशक्य-विषयक इच्छा जब विहत होती है अर्थात् पूरी नहीं हो पाती तभी दुःख होता है, अतः इच्छा की अपूर्ति ही दुःख है। इच्छा जितनी अधिक होती है उतना ही दुःख भी अधिक होता है, अतः इच्छा की तीव्रताके अनुपात से दुःख की तीव्रता उपपन्न होती है।।२४८-२४९।। ब्रह्मा के हों चाहे रुद्र के, शरीर-इन्द्रिय-पुत्रादि सब हमेशा हर तरह अपने नियंत्रण में रहें यह कभी नहीं होता। अतः शरीरधारियों के लिये ये सब पदार्थ दुःख ही कहे जाते हैं।।२५०।। किसी भी पदार्थ को 'यह सुख'

यत्राऽपि सुखहेतुर्हि दृष्टं तत्राऽपि नाऽस्य तत्। आत्मरूपं सुखं यस्माद् हेतुभ्यो न जनिं व्रजेत्।।२५२
जायमानं भवेद् दुःखमात्मनो भिन्नरूपतः। पुंसो वैरिसुखं यद्वज्ज्ञातमप्यसुखं भवेत्।।२५३।।
ततोऽभिव्यक्तिरेवाऽस्य सुखस्यात्मस्वरूपिणः। कारणैर्लेशतो यद्वत् खद्योतैर्नभसो निशि।।२५४।।

—सुखत्वमिति। कस्यचिद् अपि वस्तुनः सुखत्वं नैव विद्यते। कुतः ? सुखत्वं विनाऽपि अवस्थानरूपाद् व्यभिचारात्। व्यभिचारेऽपि किं मानमिति चेद्? लोकानुभव एवेत्याह—यतो दृष्टेत्यादि। यदेव वस्तु सुखदं तदेव कालान्तरे दुःखदमित्येवं सर्वजन्तुभिः सर्वेषां वस्तूनां पर्यायेण परिपाट्या, अनियमेनेति यावत्, सुखदुःखयोः जनकता दृष्टेति।।२५१।। तत्राऽपि पदार्थानां या सुखहेतुतादृष्टिः सा भ्रम एवेत्याह—यत्राऽपीति। यत्र देशे काले वा कश्चित् पदार्थः सुखहेतुः मतः तत्राऽपि तत् सुखम् अस्य सुखहेतुतयाऽभिमतपदार्थस्य कार्यतया न दृष्टं प्रमाणेन न गृहीतम्। मानाभाव एव कुत इति चेद्? 'आनन्दो ब्रह्म' (तै.३.६) इत्यादिश्रुतेः सुखस्य आत्मरूपत्वेन अजन्यत्वादित्यर्थः।।२५२।। यदि च सुखं जन्यं स्यात् तर्हि दुःखरूपमेव स्यादित्याह—जायमानमिति। सुखं यदि जायमानं स्यात् तर्हि दुःखम् एव स्याद्, आत्मनो भिन्नरूपत्वात्; यत्र यत्र आत्मभिन्नत्वं तत्र तत्र दुःखत्वमिति। अत्र लोकसिद्धदृष्टान्तमाह—पुंस इति। यथा वैरिसुखं सुखत्वेन ज्ञातमपि आत्मभिन्नत्वेन दृष्टं सद् दुःखत्वेन लोकैरनुभूयत इति प्रसिद्धम्।।२५३।। कथं तर्हि विषये सुखजनकत्वानुभवो लोकानामिति चेत्? सुखाभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्त्युत्पत्तेः तत्र आरोपादित्याह—तत इति। यथा खद्योतैः व्यापकस्याऽऽकाशस्य किञ्चिदवच्छेदेन अभिव्यक्तिः क्रियते, तद्वत् सुखसाधनत्वाभिमतैः व्यापकात्मस्वरूपस्य सुखस्य तदभिमुखवृत्त्युत्पादनद्वारा किञ्चिद् अभिव्यक्तिः क्रियते—इत्यर्थः। तस्मात् पूर्णात्मानन्दार्थिन एषणाः परित्यजन्तीति यदुक्तं तदुपपन्नमेवेति भावः।।२५४।।

है' ऐसा कभी नहीं समझ सकते क्योंकि हर चीज़ सुख-दुःख दोनों प्रदान करने से दोनों से ही नियत सम्बन्ध वाली नहीं। सभी शरीरधारियों को सभी पदार्थ कभी सुख तो कभी दुःख के जनक अनुभवमें आते हैं, जिससे निश्चय होता है कि पदार्थ न स्वयं सुखादि हैं और न सुखादिके कारण।।२५१।।

यद्यपि पदार्थों से सुख होता प्रतीत होता है तथापि जब जहाँ कोई वस्तु सुखप्रद समझी जाती है तभी वह सुखकारण है इसमें प्रमाण नहीं क्योंकि सुख है आत्मरूप, जैसा कि परम प्रमाण वेद ने कहा है 'आनंद ब्रह्म है'; और आत्मा किसी हेतु से उत्पन्न हो नहीं सकता तो आत्मरूप सुख कैसे किसी कारण से पैदा होगा? (सुख ऐंद्रिय न होने से प्रत्यक्ष नहीं और इसीलिये अनुमेय नहीं। मन कोई प्रमाण नहीं। अतः सुखमें केवल शास्त्र प्रमाण है। साक्षी तो प्रमा-अप्रमा के प्रति साधारण कारण है, अतः उसे भी सुखमें प्रमाण कहना नहीं बनता।)।।२५२।। किं च सुख यदि उत्पाद्य होगा तो वह भी दुःख ही होगा क्योंकि तब वह आत्मासे अन्य ही होगा और जो आत्मासे अन्य होता है वह दुःख ही हुआ करता है, जैसे दुश्मन का सुख हमें आत्मासे अन्य दीखता है तो वह हमारे लिये दुःख ही होता है। (एवं च अनुमान यह है—उत्पत्तिशील सुख को दुःख ही समझना चाहिये क्योंकि वह आत्मा से अलग है जैसे दुश्मनका सुख।)।।२५३।। इसलिये यही निश्चित है कि जैसे रातमें जुगुनुओं द्वारा थोड़ा-सा आकाश दिखाई दे जाता है ऐसे ही आत्मा का स्वरूपभूत सुख विषयादि कारणों द्वारा थोड़ा सा अभिव्यक्त हो जाता है। (इच्छा-पूर्ति कहलाने वाली जो आकृष्ट मन की स्वस्थता है, इच्छारहित स्थिति है, उस दशा में मनमें पड़ा आत्मप्रतिबिम्ब ही हम लोगों को अनुभूयमान वैषयिक सुख है। अथवा 'इच्छा पूरी हो गयी' ऐसी वृत्ति से विशिष्ट आत्मा वैषयिक सुख है। अतः इस वृत्ति के न रहने पर निवृत्त इच्छा भी सुख नहीं देती और अनुत्पन्न इच्छायें भी सुखप्रद नहीं होतीं; अन्यथा यदि इच्छारहित मनोदशा सुखप्रयोजक हो तो हमेशा अनंत इच्छाओं का अभाव रहने से सदा सुखाविर्भाव बना रहे!)

इस प्रकार क्योंकि एषणायें अनात्मविषयक होती हैं और अनात्मा दुःख है, इसीलिये जो समूचा आनंद चाहने वाले मुमुक्षु हैं वे एषणायें छोड़ें यही संगत है।।२५४।।

श्रवणमननविधिः

प्ररूढेन्द्रियता नूनं दुःखहेतुर्द्विजैः स्मृता। अप्ररूढेन्द्रियो यस्माद् बालो दुःखं न गच्छति।।२५५।।

अप्ररूढेन्द्रियस्तस्माद् बालवद् निवसेद् मुनिः। सुखैषणां विहायाऽयं स्वप्रकाशसुखोदधिः।।२५६।

ब्राह्मणो जातविज्ञानः पदवाक्यार्थकोविदः। जानन् दुःखैकहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकतः। सर्वैषणासमेतस्य शरीरस्यास्य नाशिनः।।२५७।।

एवमात्मज्ञानस्य फलभूतः साधनभूतश्च संन्यास एषणापरित्यागात्मकवैराग्यसहितो निरूपितः। अथ आत्मज्ञानोत्पत्तौ दृष्टद्वारोपकारकाणां श्रवणमनननिदिध्यासनानां विधायकस्य 'तस्माद् ब्राह्मण' इत्यादिग्रन्थस्य[1] (बृ.३.५.) अर्थमाह—प्ररूढेति सप्तदशभिः। तत्रार्थक्रमेण चतुर्णामेव सम्बन्धः। ब्राह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्वप्रकाशसुखोदधिरूपं ब्राह्मणभावमिच्छन् वेदान्तवाक्याज्जातविज्ञानः, तत्राऽपि पदार्थवाक्यार्थकोविदत्वलक्षणं पाण्डित्यं प्राप्य, विनाशिनः सर्वविकारशालिनः अस्य शरीरस्य सङ्घातस्य आसङ्गद्वारा सर्वैषणाजनकस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दुःखहेतुतां जानन् विषयसुखैषणां विहाय बालवद् निवसेत्—बहिर्मुखस्य हि वेदान्तार्थमननं नोपपद्यतेऽयन्तु बालवद्भावरूपं मननं कुर्यादिति यावत्। तत्र बाल्येन साम्यम् अप्ररूढेन्द्रियत्वम्; प्ररूढत्वं रागद्वेषाभ्यां विषयप्रवणत्वम्; तद्रहितेन्द्रियकत्वरूपम्। एतदेव बालसादृश्यं प्रकृतोपयोगाद् ग्राह्यमिति सूचयितुं प्ररूढेन्द्रियतेत्याद्युक्तमिति भाष्यानुरोध्यर्थः। ग्रन्थकृता तु बालवद्भावो यत् प्रथमं निर्दिष्टः तत्राऽयं भावः—जिज्ञासुर्वेदान्तश्रवणादपि पूर्वं रागद्वेषराहित्यरूपं बालभावमभ्यसेदिति।।२५५-५७।।

संन्यास आत्मज्ञान का उपाय है और ज्ञान हो चुकने पर स्वतः सिद्ध है क्योंकि तब सब कामनायें निवृत्त हो जाने से निष्कामता से विशिष्ट आत्मरूप संन्यास ही रह जाता है। केवल इच्छात्यागसे परमात्मा की अपरोक्ष जानकारी नहीं होती, उसकेलिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन अवश्य चाहिये। मुख्यतः तो संन्यास भी ज्ञानोत्पत्ति के समय जरूरी है, फिर भी कभी प्रतिबंधकवश उसके न हो पाने पर भी ज्ञान हो जाता है, अतः जन्मान्तरीय संन्यास को ज्ञानके प्रति हेतु कहीं-कहीं मान लिया गया है। किंतु श्रवणादि दृष्ट अर्थात् इसी लोक में होने वाले द्वार से उपकार करते हैं, अतः इनका ज्ञानार्थ अनुष्ठान अव्यभिचारी है। श्रवणादि यत्नसाध्य होने से कर्मविशेष हैं, जिनका फल निश्चयोत्पत्ति तथा असंभावना-विपरीतभावना की निवृत्ति हैं जिन्हे 'दृष्ट द्वार' कहा जाता है, क्योंकि इन्हें संभव करने पर ही अज्ञाननिवृत्ति केलिये सशक्त तत्त्वज्ञान श्रवणादिसे उत्पन्न होता है। यद्यपि वैध होने से श्रवणादि का भी अदृष्ट फल होता है तथापि जिस शरीर में तत्त्वज्ञान हो उसी में श्रवणादि को किसी-न-किसी ढंगसे उपस्थित तो होना ही पड़ता है चाहे वह स्मरणरूप से ही हो। इसलिये श्रवणादि को विहित ही मानना संप्रदाय-शास्त्र-युक्ति से सिद्ध है। कुछ विचारकों ने स्वाध्यायविधिसे ही गुजारा चलाने की कोशिश की है और श्रवणादिविधियों को अनावश्यक करार किया है लेकिन वह न केवल भाष्याशयसे विरुद्ध है वरन् मनोविज्ञान के भी प्रतिकूल है; क्योंकि आदर्श अधिकारी तो हमेशा असंभव ही होगा, हर अधिकारी में कमियाँ होंगी ही जिससे यह ज़रूरी होगा कि उसे श्रवणादिमें प्रेरित करने का कोई शक्त उपाय हो। स्वाध्यायविधि तो आपातविचार से भी गतार्थ है। अपरोक्षपर्यन्त विचार ही आवर्तनीय है, यह उस विधिसे प्राप्त नहीं होता। अत्यन्त विवेकवैराग्यशील अधिकारी भले ही बिना श्रवणविधि के श्रवणमें तत्पर हो लेकिन सामान्य अधिकारी केलिये वह संभव नहीं होगा और प्रायः सभी अधिकारी सामान्य श्रेणी में ही आते हैं। इसलिये वैचारिक लाघव होने पर भी श्रवणादिविधि न मानना ऐसा आग्रह है जो मुमुक्षुओं की श्रवणादितत्परता का अप्रयोजक ही होता है। वस्तुतस्तु विधि उपायज्ञापन ही करती है, अतः तत्त्वबोधके प्रति श्रवणादि की उपायता स्वीकारने केलिये श्रवणादिविधि अवश्य

१. 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः। अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः।' इति वाक्यम्। निर्विद्य प्राप्य।

निदिध्यासनम्

गुरूपदेशात् सञ्जातविज्ञानो ध्यानतत्परः। अप्ररूढेन्द्रियत्वं तद्रागद्वेषविवर्जितम्।
स्वात्मविज्ञानपाण्डित्यसहितं प्राप्य निर्भयः।।२५८।।

निदिध्यासनविधायकस्य 'अथ मुनिः' इत्यन्तस्यार्थं दर्शयति—गुरूपदेशादिति। गुरूपदेशात् सञ्जातविज्ञानो रागद्वेषविवर्जितत्वरूपम् अप्ररूढेन्द्रियत्वं श्रुतौ बाल्यपदोक्तं, तथा स्वात्मनो यद्विज्ञानं वेदान्ततात्पर्यविषयत्वेनावधारणं श्रुतौ पाण्डित्यपदोक्तं, तच्च प्राप्य ध्याने निदिध्यासने मननेन असम्भावनानिवृत्तौ यत् फलभूतं ज्ञानं तद्रूपे तत्परो भवेदित्यर्थः। निर्भय इति पदस्योत्तरेण सम्बन्धः।।२५८।।

मान्य है। इन्हें लोकसिद्ध इसलिये नहीं कह सकते कि लोक में न केवल मोक्ष के वरन् तत्त्वज्ञान के भी विभिन्न परस्पर विरुद्ध उपाय आस्तिक-अर्धनास्तिक-नास्तिक मतावलंबी मानते व सिखाते देखे जाते हैं। कुछ तो मोक्ष न मानने वाले भी हैं और कैवल्य न मानने वाले तो सभी गैर-अद्वैती हैं ! ऐसे में श्रवणादि की उपायता लोकसिद्ध कहना हास्यास्पद ही है। शास्त्रमें श्रद्धालु शास्त्रीय उपायका जिज्ञासु होता है। लोक में पुत्रादिलाभ के विविध टोने-टोटके आदि उपाय हैं, भूतप्रेतादि की अर्चनायें हैं, लेकिन शास्त्रश्रद्धा वाला उन्हें अशास्त्रीय जानकर ही शास्त्रप्रदर्शित उपायों का अनुष्ठान करता है जिससे उन उपायों की विधि सार्थक हो जाती है। ऐसे ही श्रवणादिविधि भी सार्थक है। विधि प्रेरक नहीं लेकिन कर्तव्यबोध प्रेरक बना रहता है, उपाय न करने पर वह बोध ही ग्लानि पैदा कर उपाय के अनुष्ठान केलिये मजबूर करता है। कर्तव्यबोध श्रद्धास्पद से अवगत विधि का फल है। इसलिये मुमुक्षु को शास्त्रसे यह ज्ञात होना चाहिये कि लौकिक प्रवृत्तियाँ छोड़ने पर श्रवणादि उसका कर्तव्य है और इसकेलिये विधि ही एकमात्र उपाय है। इसलिये मनोविज्ञान की उपेक्षा से ही कुछ विचारक श्रवणादिविधि मानने से कतराते रहे।

याज्ञवल्क्य इनका विधान पाण्डित्य बाल्य और मौन शब्दों से करते हैं। इस प्रसंगको पुराणकार समझाते हैं—लोलुपता-समेत विषयभोग में समर्थ इंद्रियों का विषयसंपर्क अवश्य दुःखकारक है यह वेदवेत्ताओं ने माना है, क्योंकि देखा जाता है कि उक्त प्रकार की इंद्रियों से रहित बालक उन सब दुःखों से बचा रहता है जो वैसी इंद्रियों वालों को अवश्य होते हैं। इसलिये मुनि को चाहिये कि बालक की तरह अपनी इंद्रियों को राग-द्वेषवश लोलुप और भोगप्रवण न होने दे। विषयप्रयुक्त सुखों की इच्छायें छोड़कर इसे अपने उस स्वरूप में स्थिर रहना चाहिये जो खुद ही भासने वाले सुखका समुद्र है। इसकेलिये ज़रूरी है कि जो ब्रह्मरूप होना चाहे वह अधिकारी वेदान्तवाक्यों का पदार्थज्ञान और तात्पर्यार्थका ज्ञान प्राप्त करे जिसे पाण्डित्य कहते हैं। उसे असंदेह समझ लेना चाहिये कि परिवर्तनशील, नश्वर, यह कार्यकरणसंघात आसक्ति द्वारा सारी कामनाओं का जनक है इसलिये दुःखहेतु है। यह तथ्य इस जागरूकतासे प्रकाशित होता है कि दुःख तभी होता है जब देहाध्यास हो और देहाध्यास न रहने या अस्फुट हो जाने पर दुःख भी नहीं होता जैसे गहरी नींद में। शरीर की दुःखप्रदता जानकर इस समेत सभी विषयों के प्रति विरक्त होकर वेदान्तों के अर्थ पर मनन करना चाहिये। बहिर्मुखता रहते मनन संभव नहीं। (श्रुति में ब्राह्मण से मुमुक्षु अधिकारी कहकर पाण्डित्यसे श्रवण का तथा बाल्यसे मननका विधान है। बाल्य अर्थात् बचपना। प्रकृत में रागद्वेषराहित्य लक्षित है और लक्षितलक्षणासे मनन विहित है क्योंकि रागादि न होने पर ही मनन संभव है।)।।२५५-२५७।।

श्रीगुरु के सदुपदेश से आत्मसाक्षात्कार तो हो जाता है क्योंकि अपरोक्ष वस्तु की प्रमा साक्षात्काररूप होती है किन्तु उसे अविद्यानिवृत्ति केलिये कारगर होने में रुकावट डालती हैं ये भावनायें कि 'मेरा ब्रह्म होना संभव नहीं' और 'मैं परिच्छिन्न प्रतीत हो रहा हूँ'। इसलिये श्रवणसे ज्ञान पाने के बाद साधक को चाहिये कि निजस्वरूप की जानकारी रूप पाण्डित्य बरकरार रखते हुए राग-द्वेषरहिततारूप बचपने में स्थित होकर ध्यान में तत्पर रहे, श्रुत व विचारित आत्मनिश्चय से विपरीत कोई निश्चय न बनने दे और न ही उस तथ्य के प्रति बेखबर रहे। यह ध्यान समाधिरूप भी हो सकता

अवाङ्मनसरूपोऽहमानन्दात्मा स्वयंप्रभः। स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितः।।२५९।।

एवं मननिष्ठः सन् मुनिकर्मसमाश्रितः। बाल्यपाण्डित्यमौनानामभिज्ञो ब्राह्मणो मतः।।२६०।।

मुख्यब्राह्मण्यम्

बाल्यपाण्डित्यमौनानि विहायोक्तानि केन सः। ब्रह्मात्मा ब्राह्मणो भूयादुपायेनाऽपरेण हि।।२६१।।

रागद्वेषादिराहित्यं गुरुशास्त्रोपदेशनम्। स्वयं चावगमस्तद्वत् तर्कतो ध्यानतस्तथा।।२६२।।

बाल्यपाण्डित्यमौनानि कथितानि मनीषिभिः। साधनानि फलं तद्वद् ब्राह्मणो ब्रह्मबोधधृक्।।२६३

अथ 'मौनं चे'त्यादेः 'अथ ब्राह्मण' इत्यन्तस्य अर्थं निदिध्यासनस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमभिनयति—अवाङ्मनसेति द्वाभ्याम्। वाङ्मनसपदेन वाङ्मनसविषयभूतं दृश्यजातं लक्ष्यते, तद्विलक्षणरूपः; अत एव स्वयंप्रभः, सजात्यादिभेदराहित्येन आनन्दरूपः निर्भयः चाहम्—इति एवम्-आकारे मनने निदिध्यासने निष्ठा यस्य स तथा। उक्तनिदिध्यासनात्मकं मुनेरुत्तमाश्रमिणः कर्म, तदाश्रितः सन् बाल्यपाण्डित्ययोः श्रुतौ 'अमौन'पदोक्तयोः, मौनस्य निदिध्यासनस्य च अभिज्ञ आदरनैरन्तर्यसत्कारैरासेवको ब्राह्मणः ब्रह्मभावहेतुब्रह्मविद्याशाली मतः इति। ब्रह्मशब्दाद्वेदेत्यर्थेऽण्प्रत्ययः। इति द्वयोरर्थः।।२५९-२६०।।

'स ब्राह्मणः केन'[1] (बृ.५.१) इत्यंशस्यार्थम् उपायान्तरप्रश्नरूपमभिनयति—बाल्येति। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मुं.३.२.९) इति श्रुत्यन्तरात् ब्रह्मात्मा ब्राह्मणः ब्रह्मभावरूपं ब्राह्मण्यमिति यावद्; एतदुक्तेभ्यः अपरेण केनोपायेन स्याद्? यद्यस्ति उपायान्तरं तर्हि तदपि वाच्यमिति भावः।।२६१।।

अथ 'येन स्यद्' इत्यादेः उत्तरस्यार्थमभिनेतुं तदाशयं दर्शयति—रागेति सार्धैस्त्रिभिः। रागद्वेषादिराहित्यरूपं बाल्यम्, गुरुशास्त्रोपदेशनरूपं पाण्डित्यम्, तर्कतो विचारेण, ध्यानेन वा स्वरूपसाक्षात्काररूपं मौनं च; एतान्येव साधनानि; एषां फलं तु ब्रह्मवित्त्वरूपं ब्राह्मण्यम्; इति द्वयोरर्थः[2]।।२६२-२६३।।

है और श्रवणादिकी पुनरावृत्तिरूप भी; वैयक्तिक मानसिकता के अनुसार प्रक्रिया बदल सकती है पर होना यही चाहिये कि अद्वैतनिश्चय स्थिर हो।।२५८।। श्रुति ने निदिध्यासनको 'मुनि' का कर्म कहा है, क्योंकि संन्यासी का वही कृत्य रह जाता है। उसकी निष्ठा निरंतर इस निश्चय पर टिकने की रहती है कि मैं निर्भय हूँ, वाणी व मनसे विषय किये जाने वाले दृश्यमात्रसे विलक्षण स्वरूप वाला हूँ, आनंद हूँ, प्रत्यक् हूँ, स्वयंप्रकाश हूँ, स्वगत-सजातीय-विजातीयभेदों से रहित हूँ। इस अभिप्रायको शब्द-युक्ति के सहारे याद रखें या उनके बिना, यही निदिध्यासन है जो मुनियों का कार्य है। श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक लगातार जो 'बचपने' सहित 'पण्डिताई' और 'मौन' का सेवन करता है, वही प्रमुख ब्राह्मण है। जन्मना ब्राह्मण क्योंकि इस निष्ठाको पाने का खास अधिकारी है इसलिये ब्राह्मण कहलाता है। ('बचपना' अर्थात् रागादि से प्रेरित होकर इंद्रियों से भोगमें न लगना। 'पण्डिताई' अर्थात् वेदान्ततात्पर्य का विचार, श्रवण। 'मौन' अर्थात् निदिध्यासन। मननको 'बचपने' से लक्षित-लक्षणा द्वारा कहा है यह बता चुके हैं।)।।२५९-२६०।।

प्रश्न हो सकता है कि पूर्वोक्त बाल्य, पाण्डित्य और मौन को छोड़कर अन्य कौन-सा उपाय है जिससे ब्रह्मभावात्मक ब्राह्मणता मिलती है?।।२६१।। उत्तर है कि इन से ही ब्रह्मता मिलती है, इनके बिना नहीं। राग-द्वेषसे रहित होना, गुरुसे वेदान्तशास्त्र का रहस्य समझना और विचार एवं ध्यानसे खुद उस रहस्य के बारे में निःशंक होना; ये तीन ही विचारकों द्वारा बताये साधन हैं। इनसे युक्त ब्राह्मण ही ब्रह्मज्ञान में परिनिष्ठित होता है। इन तीनों को ही श्रुतिमें बाल्य, पांडित्य व मौन कहा है। (श्रुतिमें प्रश्न है 'वह किस उपायसे ब्राह्मण होता है' और उत्तर है 'जिस उपायसे होता है

---

१. 'स ब्राह्मणः केन स्याद् ? येन स्यात्तेनेदृश एव।' इति वाक्यम्। २. पुनः कथनादवधारणफलतेति भावः।

स्वप्रकाशसुखं ब्रह्म नामरूपविवर्जितम्। बोद्धृबोध्यादिराहित्याज्ज्ञाता ब्राह्मण ईरितः।।२६४।।
उपायान्तरतः सोऽयं न भवेद्धि कदाचन। अस्तु वा येन तेनाऽयमीदृशो नाग्रहो मम।।२६५।।
पारं नावाऽपि गन्तव्यं नद्याः सेत्वादिनाऽपि तत्। गम्यते चेत् किमर्थं स्यादादानं नाव एव हि।।२६६
महावेगाऽगाधजला विस्तीर्णा चेद्भवेन्नदी। नौरेवोपाय उद्दिष्टः सेत्वादिस्तत्र[1] नापरः।।२६७।।
यथा तथाऽत्र बाल्यादिरुपायो नापरो भवेत्। ब्राह्मणत्वे यतो नेदृग्ब्राह्मण्यं प्राप्यते नरैः।।२६८।।

ब्राह्मणत्वप्रयोजकं ब्रह्मबोधमभिनीय स एव प्रकृते ब्राह्मणपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति दर्शयति—स्वप्रकाशेति। स्वप्रकाशं साक्षादपरोक्षं यदुषस्तब्राह्मण आत्मनो रूपमुक्तं तदेव सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकद्वैतविवर्जितत्वात् तस्य बोद्धृबोद्धव्यादित्रिपुटीरहिताद् निर्विकल्पाज्ज्ञानाद् निमित्ताद् विद्वान् ब्राह्मण इत्युक्तः।।२६४।। उपायान्तरत इति। बाल्यादिभिन्नादुपायात् सोऽयं वर्णितो ब्राह्मणो न भवति, किन्तु त एव बाल्यादय उपाया इति पूर्वार्द्धार्थः। एवमाशयमुपवर्ण्योत्तरमभिनयति—अस्तु वेति। उक्ताभिप्रायेण श्रुतावेवमुत्तरितम्। 'एवं' कथम्? येन केनोपायेन अयं ब्राह्मण ईदृशो वर्णितलक्षणः अस्तु सम्पद्यताम्, अत्र साधनेषु मम आग्रहो हठो न अस्तीति।।२६५।। साधनाऽऽग्रहाऽभावं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—पारमिति। नदीपारगमनरूपं फलं सेतुनोडुपादिना वा सिद्ध्यति चेत् को नाव एवोपादाने हठं कुर्यादित्यर्थः।।२६६।। उक्तस्योत्तरस्य पर्यवसानं वर्णिताशये दर्शयितुं दृष्टान्तमुपन्यस्यति—महावेगेति। यदा महावेगत्वाऽगाधत्वविस्तीर्णत्वैर्हेतुभिः सेत्वादिना दुस्तरा नदी भवति तदा नौरेव तरणोपाय इति।।२६७।। वर्णिताशये दृष्टान्तं योजयति—यथेति। यथा महावेगत्वादिशालिनद्युत्तारे नौरेवोपायः तथाऽत्र ब्राह्मणत्वे बाल्यादिः एव उपायः यत ईदृग् ब्राह्मण्यं नरैः उपायान्तरेण न प्राप्यते; दुर्लभमिति यावत्। अयं भावः—भवदप्युपायान्तरं, हिरण्यगर्भाद्युपासनरूपम् अश्वमेधाद्युत्कृष्टकर्मरूपं वा भवेत्; तत् सर्वं कालविलम्बादिदोषग्रस्तं ब्रह्मबोधोत्पत्तौ बाल्यादिसापेक्षमेव। द्वैतदर्शनादुद्विग्नेन अतिशुद्धान्तःकरणेन अनुष्ठातुमशक्यं च। तत्र धावनानन्तरमपि फलम् एतावदेव। अत एवमुक्तमिति।।२६८।।

उससे ऐसा ही होता है।' इसी का यहाँ स्पष्टीकरण है कि वहाँ इसी फल केलिये उपायान्तर की अनुमति नहीं वरन् इन्हीं का अवधारण है।)।।२६२-२६३।।

नाम-रूपात्मक द्वैत से निरपेक्ष साक्षाद् अपरोक्ष आनंद भूमतत्त्व ही ब्रह्म है और जिसे उसका ऐसा निर्विकल्पक ज्ञान है जिसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय यह त्रिक नहीं होता, वह ब्राह्मण है। यह ब्राह्मण पूर्वोक्त उपायों से ही बनता है, अन्य तरीके से नहीं। तथापि प्रधान यह है कि साधक निर्विशेष परिपूर्ण चेतनका निर्विकल्पक निश्चयात्मक अपरोक्ष पा ले। अतः साधनों की इयत्ता में मेरा (याज्ञवल्क्यका) कोई अभिनिवेश नहीं, इतना ही तात्पर्य है कि ये उपाय तो अवश्य इस उपेय को संपन्न करते हैं।।२६४-२६५।। नदीसे पार नावसे भी जा सकते हैं और सेतु आदि से भी। जहाँ सेतु की सुविधा हो वहाँ नावसे ही जाने का आग्रह क्यों होगा! अगर नदी गहरी हो, बहाव तेज हो और पाट चौड़ा हो तो सेतु का निर्माण कर नदी पार करने की अपेक्षा नौका का प्रयोग ही समुचित होता है। ऐसी स्थिति में सेतु आदि को उपाय नहीं माना जाता। (जो नदियाँ अपना बहाव बदलती रहती हैं उन पर सेतु बनाना भी अव्यावहारिक होता है, वहाँ नौका का ही प्रयोग सुलभ होता है।) इसी प्रकार प्रकृत ब्राह्मणता पाने केलिये बाल्यादि ही साधन हैं, अन्य तरीकों से ऐसी ब्राह्मणता नहीं मिलती। (अर्थात् हिरण्यगर्भोपासनादि उपाय भी हैं सही पर एक तो उनमें काल बहुत लगता है और दूसरा उनके अवलंबन के बाद भी बाल्यादि का सहारा तो फिर भी चाहिये ही। अतः सीधे ही इन उपायों का अनुष्ठान करना उचित है। वस्तुतस्तु निर्विशेष आत्मबोध के अव्यभिचारी साधन ये ही हैं, उपासनादि तो तत्तत् फलों केलिये हैं, भले ही उन फलों सहित ऐसी शुद्धि भी सिद्ध हो जाये कि धूप-छाया की तरह सुस्पष्ट आत्मज्ञान सुलभ हो जाये।)।।२६६-२६८।।

---

१. सेतुं निर्माय पारगमनं नावं निर्माय पारगमनाद् महत्कठिनमिति द्रष्टव्यम्।

'अतोन्यदार्तम्'

'कामक्रोधादिसहित उपदेशविवर्जितः। गुर्वादेर्मननध्यानशून्यो विषयलम्पटः। ईदृशो ब्राह्मणः कस्य लोके तं दर्शयाधुना।।२६९।।

अन्नादानं यथा तृप्तावुपायो नियतस्त्विह। ब्राह्मणत्वे तथैव स्याद् बाल्याद्येव हि साधनम्।।२७०।।

एवमुक्ते कहोलोऽपि प्रश्नादुपरराम ह। निरीक्ष्य गार्गीं धर्मात्मा स्वात्मनः पुरतः स्थिताम्।।२७१।।

गार्गी पृच्छति

गार्गी वाचक्नवी साऽथ पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य तर्ककर्कशधीधना। अनुमानं समाश्रित्य पञ्चावयवया धिया।।२७२।।

अथ 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ.३.५) इत्यंशस्य 'अतो' बाल्यादिरूपसाधनकदम्बाद् 'अन्यत्' सांसारिकमवस्थाजातम् 'आर्तम्' आर्तिग्रस्तमित्यर्थमभिप्रेत्याह—कामेति। कामक्रोधादिमत्तया बाल्यहीनो, गुर्वादेः गुरुप्रभृतेः उपदेशहीनत्वेन पाण्डित्यवर्जितः, मननादिहीनत्वेन मौनवर्जितः, विषयलम्पटत्वेन एषणाव्युत्थानहीनः, ईदृशः अपि ब्राह्मणः वर्णितब्राह्मणत्वं प्राप्तः कस्य देवादेरपि लोके वर्तते? न कुत्राप्यस्तीति यावत्।।२६९।। फलितमाह—अन्नादानमिति। अन्नादानं भक्षणं यथा तृप्तेः नियत उपायः तथा बाल्यादि ब्राह्मणत्व इत्यर्थः। अत एव हिरण्यगर्भस्याऽपि महावाक्यस्य क्षणमनुसन्धानेनैव स्वात्मसाक्षात्कारोत्पत्तिरुक्ता, योगिनोऽपि महावाक्यसमानार्थकप्रणवार्थानुसन्धानेनैव आत्मानं साक्षात्कुर्वन्तीति प्रसिद्धमिति भावः।।२७०।। उपसंहरति—एवमुक्त इति।।२७१।।

अथात्मनः सर्वान्तरत्वविनिर्णयपरस्य अक्षरब्राह्मणान्तग्रन्थस्य अर्थं प्रदर्शयंस्तत्रादौ गार्गीब्राह्मणस्यार्थमभिनयति—गार्गीति त्रयोविंशतिश्लोकैः। गार्गी नाम्ना वाचक्नवी वचक्नुसंज्ञकस्य कन्या सा प्रसिद्धा याज्ञवल्क्य! इति सम्बोध्य मुनीन्द्रं पप्रच्छ। कीदृशी? तर्केण कर्कशा तर्कप्रधाना या धीः ज्ञानं तदेव धनं यस्याः सा तथा। किं कृत्वा पप्रच्छ? पञ्चावयवया प्रतिज्ञादिपञ्चावयवावगाहिन्या धियाऽनुमानं समाश्रित्येति।।२७२।।

कामुक, क्रोधी, तथा ऐसे ही अन्य विकारों वाला अर्थात् बाल्यरहित, गुरु और शास्त्र के उपदेश को न समझने वाला अर्थात् पाण्डित्यरहित, मनन व ध्यान में न लगा रहने वाला, विषयसेवा-परायण अर्थात् एषणायुक्त व्यक्ति पूर्वोक्त ब्राह्मण्य पा गया हो ऐसा किस लोकमें देखा गया है? हे कहोल! कहीं देखा हो तो बताओ। (अतः हमें आग्रह नहीं लेकिन तथ्य ही यह है कि ये निश्चित उपाय हैं।)।।२६९।। इसलिये जैसे भूख मिटाने का नियत उपाय अन्नभक्षण ही लोकसिद्ध है, ऐसे ही ब्राह्मण्यलाभ का उपाय बाल्यादि ही है। (चाहे हिरण्यगर्भ ही क्यों न हो, वह भी तत्त्वज्ञानोदय केलिये महावाक्य का अनुसंधान करने पर ही उस वृत्ति को प्राप्त करता है। समाहितात्मा योगी भी यदि महावाक्य के अर्थ का अनुसंधान न करें तो सिर्फ चित्तवृत्ति के निरुद्ध हो जाने मात्रसे आत्मसाक्षात्कार नहीं पा सकते। महावाक्य का अर्थ विशिष्ट शब्दों से ही सोचा जाये यह ज़रूरी नहीं, प्रणव आदि के सहारे भी उस तात्पर्य को सोच-समझ सकते हैं पर जिसके सहारे विचार होगा उसका स्वयं प्रामाण्य होना चाहिये और साधक को उसके प्रामाण्यका निश्चय होना चाहिये। वेदेतर ग्रंथ वेदसापेक्ष ही प्रमाण हो सकते हैं, अतः वैदिकों केलिये वेदवाक्यों के श्रवणका नियम है। अनधिकारी वाक्यांतर का समाश्रयण कर सकते हैं।)।।२७०।।

धर्मात्मा कहोल ने यों ब्रह्मभावके साधनों का खुलासा समझकर आगे कुछ पूछना ज़रूरी न समझा, क्योंकि साधनों का यों निश्चय उसी को संभव है जिसने साध्य पा लिया है, यह उन्हें समझ आ गया। अपने सामने बैठी गार्गी की ओर देखकर कहोल चुप हो गये।।२७१।।

---

१. साधनेष्वाग्रहाभावेऽपि बाल्यादीनां निश्चितोपायतेति सम्मतेराह—कामेत्यादिना। अतो दृष्टे फले न साधनाऽदर्शनापराधेन फलाभावश्चोदयितुमुचितः किन्तु सिषाधयिषवे बाल्यादिरेवोपायइति सिद्धांतः।

कार्यं हि कारणव्याप्तमूतं चैव सदा भवेत्। कार्यत्वाद्धि यथा तन्तौ ओतः प्रोतः पटः सदा।।२७३।

ब्रह्माण्डं सकलं तद्वद् अपि कार्यमुदीरितम्। ओतप्रोतमतोऽप्स्वेव स्थावरैर्जङ्गमैः सह। आप ओतास्तथा प्रोताः कुत्रेत्येतत् समीरय।।२७४।।

मुनेरुत्तरम्

गार्गि! वायाविति प्राह याज्ञवल्क्योऽपि तां स्त्रियम्। यद्यपि स्यादपामत्र हेतुस्तेजस्तथाऽपि हि। तेजसस्त्विन्धने लब्धिर्नान्यत्रास्तीह कर्हिचित्।।२७५।।

अनुमानं पञ्चावयवमभिनीय प्रश्नाकारमाह—कार्यमिति द्वाभ्याम्। विमतं कार्यं कारणेन व्यापकेन सूक्ष्मेण चोपादानेन व्याप्तं बहिरावृतम्, ऊतं च अन्तरनुप्रविष्टं च—इति प्रतिज्ञा। कार्यत्वाद्—इति हेतुः। तन्ताविति जातावेकवचनम्; तन्त्वाश्रितः तैः ओतः प्रोतः अन्तर्बहिर्व्याप्तः पटो यथा—इति दृष्टान्तः।।२७३।।

ब्रह्माण्डमिति। ब्रह्माण्डपदं मनुष्यलोके वर्तमानसकलपार्थिवधातुपरम्। तथा च सकलम् इदं पार्थिवम् अपि स्थावरजङ्गमैः सह कारणव्याप्तत्वव्याप्यकार्यत्ववद्—इत्युपनयः। तस्मात् पृथिवीकारणत्वेन प्रसिद्धासु अप्सु स्थितं ताभिरोतं प्रोतं च वर्तते—इति निगमनम्। अन्यथा सक्तुमुष्टिवद् विशीर्येत—इत्यनुकूलस्तर्कोऽपि बोध्यः। एवं पृथिव्यां कारणव्याप्तत्वनिश्चये सति तद्दृष्टान्तेन अद्भिरपि कार्यत्वात् कुत्रचिद् ओतप्रोताभिर्भवितव्यम्। तथा च आपः कुत्र ओतप्रोता वर्तन्त इति प्रथमप्रश्न इत्यर्थः।।२७४।।

गार्गीति। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्यः तां स्त्रियं प्रति हे गार्गि! वायौ आप ओतप्रोता इति प्राह स्म। तत्र जलोपादानत्वेन प्रसिद्धं तेजो विहाय वायोर्जलोपादानत्वाभिधाने हेतुमाह—यद्यपीत्यादिना। यद्यपि अत्र औपनिषदमते अपां हेतुः उपादानकारणं तेज इति प्रसिद्धम् अतस्तदेव जलाधारत्वेन वर्णनीयं, तथापि लोके तेजसो वह्न्यादिरूपस्य काष्ठादिरूप इन्धन एव उपलब्धिः नान्यत्र इन्धनस्थितवह्नेस्तु निर्धूमस्य जलविरोधितैव प्रसिद्धा, न तु जलोपादानतेत्यतस्तथोक्तमिति भावः।।२७५।।

उपनिषत् में कहोलके बाद गार्गी ने प्रश्न किया है किन्तु उसमें कुछ अनौचित्य होने से याज्ञवल्क्य ने उसे सावधान किया तो वह चुप हो गयी। तब उद्दालक ने सूत्रात्मा व अन्तर्यामी के बारे में पूछा जिस पर विस्तृत प्रकाश महामुनि याज्ञवल्क्य ने डाल दिया तो गार्गी ने पुनः दो प्रश्न पूछे, जिनमें द्वितीयके उत्तरमें अक्षर तत्त्व का विस्तृत वर्णन याज्ञवल्क्य ने किया। ज्ञेय ब्रह्मकी चर्चा वहीं तक है। फिर शाकल्य ने कर्म व उपासना के प्रश्न उठाये हैं। गार्गी सम्बंधी दो ब्राह्मणों में प्रथम ब्राह्मण का विस्तार अब पुराणकार करते हैं।

वचक्नु ऋषि की एक प्रसिद्ध पुत्री हो चुकी है गार्गी। वह तर्कप्रधान बुद्धि की धनी थी। प्रतिज्ञा आदि न्यायशास्त्रप्रसिद्ध पाँच हिस्सों वाले अनुमान का चिंतन कर उसी के सहारे उसने मुनिश्रेष्ठ से प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य! कार्य हमेशा कारण से घिरा रहता है और कार्य के भीतर भी कारण घुसा रहता है। इसमें हेतु उसका कार्य होना ही है! उदाहरणार्थ पट कार्य है तो उसके भीतर-बाहर उसके कारणभूत तंतु ही उसे घेरे रहते हैं। ऐसे ही सारा ब्रह्माण्ड (पार्थिव पदार्थमात्र) भी कार्य कहा गया है और स्थावर-जंगमों सहित यह ब्रह्माण्ड (सभी पार्थिव पदार्थ) भीतर-बाहर से जल द्वारा घिरा है क्योंकि जल को पृथ्वी का कारण माना जाता है। यदि जलसे घिरा न होता तो मुट्ठी भर सत्तू की तरह ब्रह्माण्ड बिखर जाता! किंतु जल भी तो कार्य है, अतः यह बताओ कि जल किसमें ओत-प्रोत है अर्थात् उसे भीतर-बाहर से किसने घेर रखा है? ।।२७२-७४।। मुनि ने बताया—गार्गी! जल अपने कारणभूत वायु में ओत-प्रोत है, उससे घिरा है। तुम पूछ सकती हो कि उपनिषदों के मानने वालों के अनुसार जलका उपादान तेज होने से उसमें

इन्धनेन विना वह्निर्जलाधारो न लभ्यते। शास्त्रमेकं विहायाऽतस्त्यक्त्वा वायुमथाऽब्रवीत्।।२७६।।

वायुं तथाऽन्तरिक्षाख्यलोकं तद्वत् परानपि। लोकान्[1] गन्धर्वजातीनां सूर्याचन्द्रमसोरपि।।२७७।।

ओतप्रोतपरम्परा

नक्षत्रदेवदेवेन्द्रप्राजापत्यात्मनामपि। पप्रच्छ पूर्ववद् गार्गी स्थानं प्रत्येकमेव सा।।२७८।।

उत्तरोत्तरमेतेषामाश्रयं चाऽब्रवीद् मुनिः। स्थूलाकाशमदो लोके त्वन्तरिक्षाख्य ईरितः।।२७९।।

गन्धर्वाद्यास्तथा लोका इन्द्रलोकान्तगा अपि। अवस्था अत्र विज्ञेयाः सूक्ष्मा भूतेषु काश्चन।।२८०।।

अपेक्षया हि पूर्वस्य सूक्ष्मा अप्युत्तरस्य च। अपेक्षयाऽभवन् स्थूला इन्द्रान्ताः षडमूः सदा।।२८१।।

उक्तं स्फुटयति—इन्धनेनेति। इन्धनविमुक्तो वह्निर्जलोपादानतया शास्त्रं विना न प्रसिद्धः। आर्द्रेन्धनसम्पृक्तस्य धूमसम्पर्कद्वारा जलकारणत्वं तु आर्द्रेन्धनगतजलेऽपि सन्दिग्धमिति भावः। इत्याशयेन तेजः त्यक्त्वा वायुं जलाधारत्वेन अब्रवीद् इति। न तु प्रमेयविरोधः, परमकारणस्य स्वकार्यकार्याधारतायाः कैमुत्यन्यायसिद्धत्वादिति भावः।।२७६।। वायुमिति। एवं दत्तोत्तरा गार्गी वायुप्रभृतीन् प्रत्येकम् अनूद्य—'वायुः कुत्रौतप्रोतः? अन्तरिक्षलोकाः कुत्रौतप्रोताः?' इत्येवमाद्याकारेण पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं स्थानम् उपादानभूतमाधारं पप्रच्छ। लोकान् इति पदस्य गन्धर्वादिभिः नक्षत्रादिभिश्च प्रत्येकं सम्बन्धो द्रष्टव्यः। लोकानिति बहुवचनं च पञ्चभूतसमुदायात्मकत्वेन उद्भूतावयवभेदविवक्षया ज्ञेयम्। इति द्वयोरर्थः।।२७७-२७८।। उत्तरोत्तरमिति। मुनिः याज्ञवल्क्यस्तु एतेषां वाय्वादीनां गणितानां मध्य उत्तरोत्तरम् आश्रयत्वेन उपादानत्वेन अब्रवीत्। तत्र वाय्वाधारत्वेनोक्तस्यान्तरिक्षलोकस्य स्वरूपमाह—स्थूलेति। यद् अदः अवकाशरूपेण लोके प्रसिद्धं स्थूलाकाशम् अस्ति तदेव अन्तरिक्षलोकपदेनोक्तमित्यर्थः।।२७९।। गन्धर्वलोकादिपदानामर्थमाह—गन्धर्वाद्या इति। गन्धर्वलोकप्रभृतय इन्द्रलोकपर्यन्ताः शब्दा भूतानामुत्तरोत्तरं सूक्ष्मावस्थानां वाचका इत्यर्थः। तथा चान्तरिक्षाकारपरिणतभूतेभ्यः सूक्ष्माणि अन्तरिक्षलोकं सर्वतः परिवेष्ट्य स्थितानि च गन्धर्वशरीरारम्भकाणि भूतानि सन्ति, तानि परिवेष्ट्य स्थितानि सूर्यलोकारम्भकाणि भूतानि, ततः सूक्ष्माणि च; एवमग्रेऽपीति निष्कर्षः।।२८०।। सूक्ष्मतायास्तारतम्यमभिनयति—अपेक्षयेति। गन्धर्वलोकमारभ्य इन्द्रान्ता इन्द्रलोकपर्यन्ताः षडमूः एता भूतावस्थाः पूर्वपूर्वापेक्षया सूक्ष्मा अप्युत्तरोत्तरापेक्षया स्थूला एव बोध्याः। यथा गन्धर्वलोकापेक्षया सूक्ष्मा अपि सूर्यलोकाः चन्द्रलोकापेक्षया स्थूलाः, एवमग्रेऽपि।।२८१।।

ओत-प्रोत कहना चाहिये, वायु में ओत-प्रोत क्यों कहा? मेरा अभिप्राय है कि लोक में वह्नि आदि रूप तेज काष्ठ आदि रूप इन्धनमें ही मिलता है, बल्कि जल को वह्नि का विरोधी मानते हैं, इसलिये जिस वायुके बिना तेज नहीं मिलता उसे ही मैंने व्यापक कहा है। जल का साक्षात् उपादान वायु है यह मेरा कथन नहीं। बिना ईंधन के जल को ही उपादान बनाने वाली वह्नि शास्त्रमें भले ही प्रसिद्ध हो, लोकमें प्रायः नहीं मिलती, इसलिये सामान्य दृष्टि से स्पष्टता रखने केलिये जल छोड़कर वायु का उल्लेख किया है। फिर भी शास्त्रविरोध नहीं क्योंकि तेजका कारण वायु है ही, अतः तेज द्वारा वह जल को ओत-प्रोत करता ही है, यहाँ केवल द्वार का उल्लेख नहीं किया इतने से मुख्य बात में अंतर न आने से शास्त्र का अपलाप नहीं हुआ।।२७२-७६।।

याज्ञवल्क्य के उत्तर पर गार्गी पुनः-पुनः ओत-प्रोतता का प्रश्न उठाती गयी : गार्गी ने पूछा 'वायु किसमें ओत-प्रोत है?' याज्ञवल्क्य ने बताया 'अंतरिक्षलोकों में।' 'अंतरिक्षलोक किसमें ओत-प्रोत है?' 'गंधर्वलोकों में।' 'गन्धर्वलोक?'

१. गन्धर्वलोकः = सूक्ष्मपृथ्वी। सूर्यः = सूक्ष्मजलम्। चन्द्रमाः = सूक्ष्मवायुः। नक्षत्राणि = सूक्ष्मतेजः। देवलोकः = सूक्ष्माकाशः। देवेन्द्रलोकः = विराट्। प्रजापतिलोकः = सूत्रात्मेति भाष्यादौ ज्ञेयम्।

इन्द्रो विराड्वपुर्ज्ञेय इदं यो दृष्टवान् प्रभुः। सर्वमेतद्यतो विश्वं विराड्वपुषि तिष्ठति।।२८२।।
ब्रह्माण्डगोलकाद्बाह्यः प्रजापतिरितीरितः। पारिक्षितास्तु यं प्राप्ताः सूत्रात्मानं महेश्वरम्।।२८३।।
अस्याऽव्याकृतमेव स्यात् प्रतिष्ठा सर्वकारणम्। ब्रह्मलोकवचोगम्यमेकानेकात्मकं हि तत्।।२८४।।

अत्रेदं बोध्यम्—भाष्यकारैर्यद्यपि इन्द्रपदार्थः त्रिलोकीपतिः, प्रजापतिपदार्थश्च विराट्, ब्रह्मलोकपदार्थश्च अण्डारम्भकानि भूतानि उक्तानि; तर्कमर्यादया प्रश्नानर्हत्वं च सूत्रात्मनि यथाश्रुति व्याख्यातम्; तथापि एतैर्निर्गुणविद्याप्रधानैः भाष्यकृद्व्याख्याने यत् कैमुत्यन्यायसूचितं शुद्धात्मनस्तर्कमर्यादया प्रश्नानर्हत्वं तत्रैव गार्गीब्राह्मणे पर्यवसानं दर्शयितुं तदनुकूला इन्द्रप्रजापतिब्रह्मलोकशब्दानामर्थाः प्रतिपाद्यन्ते—इन्द्र इति त्रिभिः। अत्र इन्द्रपदार्थो विराड्रूपो बोध्यः इदं सर्वम् आत्मत्वेन दृष्टवान् इति व्युत्पत्तेः पूर्वमुक्तत्वात्। सम्भवति चेयं व्युत्पत्तिः तत्रैवेति दर्शयन्नाह—सर्वमेतदिति।।२८२।।

प्रजापतिपदार्थमाह—ब्रह्माण्डेति। ब्रह्माण्डगोलकाद् बहिरपि स्थितः सूत्रात्माऽत्र प्रजापतिपदार्थः पारिक्षिता यं प्राप्ता भुज्युप्रश्ने वर्णिता इति।।२८३।।

ब्रह्मलोकपदार्थमाह—अस्येति। अस्य सूत्रात्मनः अव्याकृतं मायाऽज्ञानमित्यादिपदवाच्यत्वेन प्रसिद्धं यत् सर्वकारणं तद् एव चात्र ब्रह्मलोकपदार्थः। कीदृशं तत्? समष्टिरूपेण एकं, व्यष्टिरूपेण अनेकं चेत्यर्थः[1]।।२८४।।

'आदित्यलोकों में।' 'आदित्यलोक?' 'चन्द्रलोकों में।' 'चंद्रलोक?' 'नक्षत्रलोकों में।' 'नक्षत्रलोक?' 'देवलोकों में।' 'देवलोक?' 'इन्द्रलोकों में।' 'इंद्रलोक ?' 'प्रजापतिलोकों में।' 'प्रजापतिलोक ?' 'ब्रह्मलोकों में।' 'ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत हैं?' 'अरे गार्गी! अतिप्रश्न मत कर। कहीं तेरी गर्दन कट कर न गिर जाये। जिस देवता के बारे में अतिप्रश्न—तर्काधारित प्रश्न—नहीं करना चाहिये उसके बारे में अब पूछ रही है। गार्गी! ऐसा मत कर।' यह सुनकर गार्गी चुप पड़ गयी। इस भागका पौराणिक विवरण है :

वायु, अंतरिक्षनामक लोक, गंधर्वजाति वालों के लोक, सूर्य व चंद्र के लोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, देवेंद्रलोक, प्रजापतिरूप परमात्मा के लोक—इन सबके बारे में जैसे-जैसे महामुनि बताते गये गार्गी भी प्रत्येक से व्यापक का प्रश्न उठाती गयी। लोकों का बहुवचनांत उल्लेख यह द्योतित करने केलिये है कि वे पांचभौतिक ही हैं। पूर्वलोक का आश्रय अगला लोक है। यह इस क्रममें नियम है। वायु का आधार अंतरिक्ष लोक कहा है जिसका अभिप्राय इस आकाशसे ही है जो जगह रूप से सर्वत्र प्रसिद्ध है। गंधर्वलोकसे इन्द्रलोक तक के शब्द महाभूतों की क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्मतर अवस्था के बोधक हैं। अर्थात् अंतरिक्षके आकार में परिणत महाभूतों से सूक्ष्म वे हैं जो गंधर्वशरीर के आरंभक भूत हैं तथा उनसे सूक्ष्म हैं सूर्यलोक के आरंभक भूत, इत्यादि।।२७७-२८०।। पूर्व-पूर्व से सूक्ष्म होने पर भी हर अगले लोक से पूर्व लोक स्थूल ही रहता है। इंद्रलोक तक जो महाभूतों की छह अवस्थायें कही हैं, उनमें यही न्याय समझना चाहिये।।२८१।।

इंद्रलोक, प्रजापतिलोक तथा ब्रह्मलोक शब्दों का पुराणकार स्वयं स्पष्टीकरण करते हैं—यहाँ विराट् को इंद्र कहा है, जिसने इस सब को—सभी दृश्य को—आत्मरूपसे देख लिया था। यह सारा विश्व विराट् के शरीर में ही विद्यमान है। प्रजापति यहाँ उस सूत्रात्मा को कहा है जो ब्रह्माण्ड-गोलक से बाहर भी मौजूद है, जिस महेश्वर के बारे में कहा था कि पारिक्षित उसे प्राप्त करते हैं। ब्रह्मलोक यहाँ सूत्रात्मा की भी अव्यक्त स्थिति कही है जो सभी कुछ का कारण है और माया, अज्ञान आदि नामों से भी जाना जाता है। समष्टिरूपसे वह एक है और व्यष्टिरूपों से अनेक है। (यहाँ पुराण से भाष्य के व्याख्यान में किंचिद् भेद है पर तात्पर्यतः अंतर नहीं; भाष्यमें जो सूचित अर्थ है वही यहाँ कथितार्थ है।)।।२८२-२८४।।

---

१. यद्वा एकमनेकं वेति वक्तुमशक्यमनिर्वाच्यमित्यर्थः।

ओतप्रोतं सदा कार्यं कारणेनैव कारणम्। मायाख्यमात्मरूपेऽस्मिन्ननुमानैर्न गम्यते। व्याप्तिलिङ्गाद्यभावेन नैतद् गार्गी व्यधारयत्।।२८५।।

अतिप्रश्नः

अविचार्यैव पप्रच्छ मुनिमाग्रहतो हि सा। कस्मिन्नोतास्तथा प्रोता ब्रह्मलोका इतीदृशम्।।२८६।।

शिरःपातभयप्रदर्शनम्

याज्ञवल्क्यस्तया पृष्ट एवं स मुनिपुङ्गवः। अर्थं शास्त्रैकसङ्गम्यमनुमानेन मौर्ख्यतः।। उवाच तां तदा गार्गीम् अतिप्रश्नं वृथाऽकृथाः।।२८७।।

आश्रयो नानुमानेन गम्यते केनचित् क्वचित्। अनुमानादियं नैव प्रष्टव्या देवता त्वया।।२८८।।

यदि पृच्छसि मूर्धा ते निपतिष्यति भूतले। मानसादाग्रहाद्गार्गि ! विचाररहिता सती।।२८९।।

आत्मनस्तर्कमर्यादया प्रश्नाऽयोग्यतां स्फुटयन्नाह—ओतप्रोतमित्यादिना। गार्गी एतद् न व्यधारयद् न विचारितवती। 'एतत्' किम्? तत् कारणम् अव्याकृतम् आत्मरूपे वर्तमानमपि अनुमानैर्न गम्यते। कुतः? तदनुकूलव्याप्तेर्लिङ्गस्य चाऽभावात्। स एव कुत इति चेत्? शृणु—कार्यं कारणे व्याप्तमित्याकारैव व्याप्तिरुक्ता, कार्यत्वमेव च लिङ्गमुक्तम्; तदुभयम् अव्याकृताश्रयत्वेन आत्मज्ञाने न युज्यते, अव्याकृतस्य अकार्यत्वाद् आत्मनश्च कार्यकारणोभयविलक्षणत्वादिति। वस्तुतस्तु सूत्राऽऽत्मापि नानुमानगम्यः, अनुमानस्य दृष्टानुरोधेनैव प्रवृत्तेः। अत एव ब्रह्माण्डाद्बहिः सूत्रात्माऽस्तीति कुत्रचिदपि तार्किकैः न लिखितमिति बोध्यम्।।२८५।।

अविचार्यैवेति। गार्गी उक्तं विचारमकृत्वा एव आग्रहतः तर्कपक्षपातेन मुनिं प्रति इतीदृशम् इत्याकारं प्रश्नं कृतवती। 'ईदृशं' कीदृशम्? हे याज्ञवल्क्य! ब्रह्मलोका अव्याकृतरूपाः कुत्र ओतप्रोताः—इति।।२८६।। याज्ञवल्क्य इति। मुनिपुङ्गवो मुनिश्रेष्ठो याज्ञवल्क्यस्तया गार्ग्या एवं शास्त्रमात्रवेद्यम् अर्थम् आत्मतत्त्वरूपं मौर्ख्यादनुमानरीत्या पृष्टः सन् तां गार्गीं प्रतीदम् उवाच। 'इदं' किम्? हे गार्गि! त्वम् अतिप्रश्नं प्रष्टव्यस्यात्मनः प्रश्नमर्यादामागमेनैव प्रष्टव्यत्वरूपामतिक्रान्तं प्रश्नं वृथाऽकृथाः कृतवत्यसीत्यर्थः। अत्र पृष्ट इति गुणकर्मणि क्तप्रत्यये मुख्यकर्मणोऽर्थस्यानुक्तत्वाद् द्वितीया—इति।।२८७।। अतिप्रश्नाऽयोग्यतां श्रुतौ 'अनतिप्रश्न्य'पदोक्तां स्फुटयति—आश्रय इति। आश्रयः सर्वाधिष्ठानमात्मा अनुमानेन यतो न गम्यते, अत इयम् आत्मरूपा देवता अनुमानविधया न प्रष्टव्या इति। आश्रयपदप्रयोगे चायमभिप्रायः—यदाऽऽपेक्षिकाऽऽश्रयताशालिनी सूत्राऽव्याकृते अपि नानुमाननिर्णेये, किमुत सर्वाधिष्ठानमात्मा!—इति।।२८८।। यदीति। तथापि यदि मानसाद् मनोनिष्ठाद् दुराऽऽग्रहाद् अतिप्रश्नं करिष्यसि तर्हि ते मूर्धा पतिष्यति इति।।२८९।। परमोत्कृष्टमपकृष्टेन समं पश्यतोऽनर्थो

कार्य हमेशा कारण से भीतर-बाहर घिरा ही रहता है। आखिरी कारण है माया जो यद्यपि आत्मरूपमें—आत्मा की रूप्यमाण, प्रतीयमान स्थितिमें—वर्तमान है तथापि अनुमानों से उसका निश्चय नहीं किया जा सकता क्योंकि व्याप्ति, लिंग आदि उपलब्ध नहीं हैं। (बतायी गयी व्याप्ति है कि कार्य में कारण व्याप्त रहता है; अतः लिंग हुआ कार्य होना। अव्याकृत (माया) तो कार्य नहीं है तब उसे व्याप्त करने वाला जो आत्मा है, उसे उक्त अनुमान द्वारा कैसे कहा-समझा जाये? आत्मा कारण भी है नहीं कि स्वस्वभाववश ही माया को व्याप्त करले; वास्तवमें तो सूत्रात्मा भी अनुमानसिद्ध नहीं, इसीलिये तार्किकों ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है। यह शास्त्रैकगम्य वस्तु है।) किंतु प्रश्न के उत्साह में गार्गी ने यह विचार नहीं किया कि अब तर्कमूलक प्रश्नों की चरम सीमा पर बात पहुँच चुकी है; बिना विचारे उसने मुनिसे हठपूर्वक यह पूछ दिया 'ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत हैं?'।।२८५-२८६।।

अस्त्रं पाशुपतं यद्वत् करस्थं फाल्गुनस्य हि। अनुमानाच्छरैरन्यैः समी कर्तुं न शक्यते।।२९०।।

आग्रहादनुमानेन समतां कुरुते यदा। तदा तस्य शिरः सद्यः तन्निकृत्य निपातयेत्।।२९१।।

यथाऽभिचारमन्त्राणामथर्वाङ्गिरसामलम्। कोपिनो वा हृदिस्थानामनुमानसमाश्रयात्।।२९२।।

वर्णैः समानतां नेतुर्मूर्धा भूमौ विशीर्यते। एवं तवाऽपि गार्गि स्याद् देवतातिक्रमाद् ध्रुवम्।।२९३।

एवमुक्ताऽतिभीता सा कर्तव्यं न व्यधारयत्। अगमत् सहसा विप्रमेषोद्दालकमारुणिम्।।२९४।।

उद्दालकप्रश्नः

उद्दालको भृशं क्षुब्धो याज्ञवल्क्यं स्म पृच्छति। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य गोप्यार्थं देवतोदितम्।।२९५।।

भवतीत्येतद् दृष्टान्ताभ्यां स्फुटयति—अस्त्रमिति चतुर्भिः। यथाऽर्जुनकरस्थं पाशुपतास्त्रम् 'इदमन्यशरसमम्, अस्त्रत्वात्, शरान्तरवद्' इति अनुमानेन शरान्तरैः समी कर्तुं न शक्यम्। समी क्रियेत चेत् तर्हि तत् पाशुपतास्त्रं तस्य विपरीतदर्शिनः शिरो निकृत्य छित्वा निपातयेद् इति द्वयोरर्थः।।२९०-२९१।। द्वितीयं दृष्टान्तमाह—यथाऽभिचारेति। यथाऽथर्वाङ्गिरसाम् अथर्ववेदोत्पन्नानाम् अभिचारमन्त्राणां, तत्रापि अलम् अत्यर्थं कोपिनो दुर्वासःप्रभृतेः हृदिस्थानाम् अनुमानबलेन प्राकृतवर्णैः साम्यं नेतुः अभिमन्तुर्मूढस्य मूर्धा भूमौ विशीर्णः सन् पतति। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। द्वयोरर्थः।।२९२-२९३।। उपसंहरति—एवमुक्तेति। एवम् उक्तं श्रुत्वाऽतिभयेन व्याकुला सा एषा गार्गी आरुणिम् अरुणस्याऽपत्यम् उद्दालकनामानम् अगमत्, वादाय प्रेरयितुं तत्समीपे तस्थावित्यर्थः।।२९४।।

अथ सूत्रात्माऽन्तर्यामिणोः अपि तत्त्वम् आगमविधयैव विज्ञेयमिति प्रदर्शनपूर्वकं सप्तमब्राह्मणम् एकत्रिंशच्छ्लोकैः व्याकुर्वन्नादौ तयोरागमवेद्यताबोधिकायाः प्रथमकण्डिकाया अर्थमितिहासविधया निरूपयति—उद्दालक इति चतुर्दशभिः। उद्दालको देवतोदितं देवतया गन्धर्वेण स्वस्मा उपदिष्टं गोप्यम् अर्थं याज्ञवल्क्यं प्रति पृच्छति स्म इति सम्बन्धः।।२९५।।

सिर्फ शास्त्र से जिसे सही तरह समझा जा सकता है उसे मूर्खतावश अनुमानके ढंगसे जब गार्गी ने पूछा तो वे मुनिश्रेष्ठ उस गार्गी से बोले—गार्गी! तूने प्रश्न-मर्यादा लांघकर यह सवाल व्यर्थ ही उठाया है। सभी का अधिष्ठान जो आत्मा है उसे कभी कोई अनुमान से नहीं समझ सकता, अतः इस परा देवता के बारे में तुझे अनुमानके सहारे प्रश्न नहीं पूछना चाहिये। गार्गी! मनोनिष्ठ दुराग्रहके कारण विचार किये बिना यदि पूछने का साहस करेगी—अनुमान से ही समझना चाहेगी—तो तेरी मूर्धा भूमि पर गिर जायेगी! उत्कृष्टको निकृष्टतुल्य मान लेने से अनर्थ ही होता है। यह आनुमानिक निर्णय सही नहीं कि अर्जुन के हाथ में स्थित पाशुपतास्त्र अन्य बाणों के समान ही है क्योंकि है तो अस्त्र ही, जैसे अन्य योद्धाओं के बाणादि! यदि हठ से कोई इस अनुमान को प्रमा मानेगा तो इसी भरोसे लड़ने पहुँच जायेगा और वह दिव्यास्त्र तुरंत उसका मस्तक काट कर गिरा देगा।।२८७-२९१।। इसी तरह अत्यधिक क्रोधी को परंपरा से ज्ञात शत्रुमारण के अथर्ववेदीय मंत्रों को कोई अनुमानसे प्राकृत अक्षरों के तुल्य समझ कर उन ब्राह्मणों को उत्तेजित कर देगा तो वे उन मंत्रों के बल पर उसकी गर्दन काट ही देंगे। ऐसे ही देवाधिदेव के बारे में जैसे नहीं पूछना चाहिये वैसे पूछेगी तो तेरी भी दुर्गति अवश्य होगी।।२९२-२९३।।

यह सुनकर गार्गी बहुत डर गयी, किंकर्तव्यविमूढ हो गयी। वह तुरंत उद्दालक आरुणि के निकट जाकर बैठ गयी ताकि अब वे कोई प्रश्न उठायें।।२९४।।

सभी ब्राह्मण और अंतमें अतिप्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी गार्गी भी याज्ञवल्क्य से स्वयं को श्रेष्ठ प्रदर्शित नहीं कर पाये। यह देखकर उद्दालक को काफी क्षोभ था, अतः उन्होंने ऐसा गोपनीय विषय पूछा जिसका उन्हें उपदेश किसी देवता ने दिया था।।२९५।। उन्होंने भूमिका बाँधते हुए कहा—याज्ञवल्क्य ! हम बहुत-से ब्रह्मचारी, यज्ञप्रतिपादक वेदवाक्यों

इतिहासः

मद्रदेशे वयं पूर्वं पतञ्चलगृहे स्थिताः। यज्ञवाक्यान्यधीयाना बहवो ब्रह्मचारिणः।।२६६।।

पतञ्चलस्य भार्याऽऽसीद् गन्धर्ववशमागता। अपृच्छामैतमागम्य कोऽसीति गुरुणा सह।।२६७।।

सोऽब्रवीद् ब्राह्मणानस्मान् सगुरून् स्त्रीवपुःस्थितः। आथर्वणः कबन्धोऽहं गन्धर्वो लोकविश्रुतः। उपकाराय सम्प्राप्तो गुरोश्च ब्रह्मचारिणाम्।।२६८।।

एवमुक्त्वा पुनर्वाक्यमेतद् गन्धर्व उक्तवान्[1]। गुरुं पतञ्चलं काप्यमस्माभिः परिवारितम्।।२६९।।

काप्य! जानासि सूत्रं त्वं येन बद्धमिदं जगत्। लोकद्वयं च भूतानां भूतानि निखिलानि च।।३००।।

नाहं जानामि तत् सूत्रं निमित्तं प्राह नो गुरुः। पुनरप्याह गन्धर्वो ह्यस्माभिः सहितं गुरुम्।।३०१।।

अन्तर्यामिणमीशानं काप्य! जानाति किं भवान्। इत्युक्ते नेति तं प्राह गन्धर्वं पूर्ववद्गुरुः।।३०२।।

एवमुक्तः पुनः प्राह गन्धर्वः कृपयान्वितः। काप्य! सूत्रं मया पृष्टमन्तर्यामिणमेव च। यो वेत्ति सकलं विश्वं वेत्ति सोऽत्र न संशयः।।३०३।।

स ब्रह्माणं तथा लोकान् देवान् वेदांस्तथाऽपरान्। प्राणिनः पञ्चभूतानि स्वात्मानं सर्वमेव च। जानाति नाऽत्र सन्देह इत्युक्त्वोभयमब्रवीत्।।३०४।।

उद्दालकः स्वस्य देवोपदिष्टार्थवित्त्वेनाऽऽधिक्यं सूचयितुं भुज्युवत् पूर्ववृत्तमाह—मद्रेत्यादिना। वयं बहवो ब्रह्मचारिणो यज्ञवाक्यानि यज्ञप्रतिपादकानि वेदवाक्यानि अधीयानाः पठन्तः सन्तो मद्रदेशे पतञ्चलनामकस्य कपिगोत्रकस्य विप्रवरस्य गृहे स्थिता इति।।२६६।। पतञ्चलस्येति। तस्य पतञ्चलस्य भार्या गन्धर्वेणाग्निनाऽऽविष्टा आसीत्। तदा एतं गन्धर्वं सर्वे वयं गुरुणा सह अपृच्छाम 'त्वं कोऽसि?' इति।।२६७।। सोऽब्रवीदिति। स गन्धर्वः स्त्रीवपुःस्थितः अस्मद्गुरोर्भार्याशरीरे स्थितः सगुरून् गुरुसहितान् ब्राह्मणान् प्रति इदम् अब्रवीत्। 'इदं' किम्? आथर्वणो गोत्रतः कबन्धो नामतः लोकप्रसिद्धो गन्धर्वोऽहं भवताम् उपकाराय आगतश्चेति। अत्र केन जलेन बन्धः परिवेष्टनं वासाधारतया यस्य स तथा—इति कबन्धपदस्य अग्नौ समन्वयो बोध्यः।।२६८।। एवमुक्त्वेति। एवमुक्त्वा पुनरेतद् वक्ष्यमाणं वाक्यं स गन्धर्वः कपिगोत्रायास्मद्गुरव उक्तवान्।।२६९।।

तद्वाक्यमभिनयति—काप्येति। हे काप्य! पतञ्चल! त्वं तत् सूत्रं जानासि येनेदं सर्वं जगद् बद्धं मालाकुसुमवद् धृतम्? जगत्स्वरूपमाह—लोकेत्यादिना। प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन लोकद्वित्वं विवक्षितम्। कीदृशं लोकद्वयम्? भूतानाम् आधारभूतमिति शेषः; तद्गतानि भूतानि च इति।।३००। नाहमिति। एवं पृष्टो नः अस्माकं गुरुः एवं प्राह। 'एवं' कथम्? अहं यत् सर्वलोकस्य धारणे निमित्तं सूत्रं तन्न जानामि इति। ततः स गन्धर्वः पुनः अस्मद्गुरुम् आह।।३०१।। अन्तरिति। हे काप्य! सूत्राऽज्ञानेऽपि अन्तर्यामिणं भवान् किं वेत्ति? इति गन्धर्वेण उक्तेऽपि अस्मद्गुरुः न जानामीत्येव आह स्मेति।।३०२।। एवमुक्त इति। एवमुक्तः अस्मद्गुरुणा स्वाऽज्ञानावेदनेन दत्तोत्तरः स गन्धर्वः पुनः सूत्रान्तर्यामिणोर्ज्ञानोत्कर्षं प्राह स्म। कथमित्यत आह—काप्येति। हे काप्य! मया पृष्टं सूत्रमन्तर्यामिणं च यो वेत्ति स सर्वज्ञ इत्यर्थः।।३०३।। स ब्रह्माणमिति। स ब्रह्माणं परमात्मानं वेत्ति तथा लोकान् भूरादिकान् तथा सर्वान् देवादीन् जानाति नाऽत्र संशयः—इति प्रभावम् उक्त्वा उभयं सूत्रमन्तर्यामिणं च सशिष्याय अस्मद्गुरवेऽब्रवीत्।।३०४।।

१. नापृष्टो ब्रूयादिति नियमात्काप्यादौ जिज्ञासामुत्पादयितुमुवाचेति भावः। विना जिज्ञासातीव्रतामुपदिष्टाऽपि विद्याऽनवस्थिता भवति।

शपथेन सह प्रश्नः

जानामि तद् द्वयं चाऽहं तदजानन् भवान् यदि। ब्राह्मणानां हि गाः सर्वा अज्ञानेन गृहीतवान्।।
तदा सद्यः शिरःपातो भवतोऽद्य भविष्यति।।३०५।।

उत्तरप्रतिज्ञा

इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि तमाहोद्दालकं मुनिम्। वेदाऽहं तद् द्वयं यत्तु गन्धर्वस्तुभ्यमुक्तवान्।।३०६।।

विस्तरशुश्रूषा

इत्युक्ते कोपसहितं[1] गौतमो वाक्यमब्रवीत्। वेद वेदेति वचनं भाषसे पामरो यथा। न तु तत्
कथयस्यज्ञ! जानन्नेवं न संवदेत्।।३०७।।

जानामीति। **एवं देवोपदेशेन** अहं तद् द्वयं **सूत्रान्तर्यामिरूपं** जानामि। भवांस्तु तद् द्वयम् अजानन् **सन्** ब्राह्मणानां **स्वभूता[2]** गाः सर्वा गृहीतवान् **आश्रमं प्रति प्रेषयिता भविष्यसि तर्हि ते** शिरःपातो भविष्यति **इति**।।३०५।।

इत्युक्त इति। इति **उद्दालकेन गौतमेन उक्ते सति** याज्ञवल्क्यस्तं **प्रतीदम्** आह। **'इदम्' किम्?** यद् गन्धर्वस्तुभ्यमुक्तवांस्तद् द्वयमहं वेद **इति**।।३०६।।

इत्युक्ते कोपेति। **एवं याज्ञवल्क्येन उक्ते सति सकोपं** वाक्यं गौतम **आह स्म। तद्वाक्यमभिनयति**—वेदेत्यादिना। **अहं** वेद वेद **जानामि जानामि** इति **आकारं** वचनम् **अज्ञवद्** भाषसे, न तु तत् **सूत्रान्तर्यामिस्वरूपं** कथयसि **स्पष्टं निरूपयसि, अतः अज्ञोऽसि। यो हि** जानन् **भवति स एवं वेदेत्येतावन्मात्रं न वदेदिति**।।३०७।। यदीति।

का अध्ययन करते हुए मद्रदेश में पतंचल काप्य के घर रहते थे। पतंचल की पत्नी पर गंधर्व (अग्नि) का आवेश था। पतंचल समेत हम सबने उससे पूछा 'आप कौन हैं ?' स्त्रीके शरीर पर आविष्ट उस गंधर्व ने हमारे गुरु व हम सब ब्राह्मणों को बताया 'मैं आथर्वण गोत्रका कबंध-नामक गंधर्व हूँ जो आप ब्रह्मचारियोंके व आपके गुरु के उपकारार्थ आया हूँ' ('कबंध' शब्द का अर्थ है अग्नि क्योंकि क अर्थात् जलसे बंध अर्थात् परिवेष्टन जिसका हो उसे कबंध कहते हैं। अग्नि भी विराट् विवक्षित है।) गन्धर्व ने हम सबसे फिर यों कहा—'काप्य! क्या तुम उस सूत्रको जानते हो जिससे यह सारा जगत् माला में फूलों की तरह टिका है? प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाले और केवल शास्त्रादि से ज्ञात सभी तरह के लोक, सभी प्राणी और उनका संचारक्षेत्र—यह सब उस एक सूत्र ने धारण कर रखा है।' हमारे गुरु पतंचल ने जवाब दिया 'समस्त संसार का धारण करने में कारण बनने वाले सूत्रको मैं नहीं जानता।' गंधर्व सब से पुनः बोला—'काप्य! क्या आप अन्तर्यामी ईशान को जानते हैं?' गुरुजी ने साफ कह दिया कि वे इस ज्ञानसे भी अभी तक वंचित हैं। गंधर्व ने करुणायुक्त होकर बताया 'काप्य! मैंने जिस सूत्र व अंतर्यामी के बारे में पूछा, उनकी जिसे जानकारी होती है, वह निःसंदेह सारे ही विश्व को जानता है। इनका ज्ञान इतना महान् है। इनका ज्ञाता परमात्मा, भूरादि लोक, सभी देवता, वेद, अन्य प्राणी, पाँचों महाभूत, निजात्मा, किं बहुना, सभी कुछ जानता है इसमें संशय नहीं।' फिर, गंधर्व ने हम सभी को सूत्र व अन्तर्यामी का उपदेश दिया।।२९९-३०४।।

याज्ञवल्क्य! मैं—उद्दालक गौतम—उन दोनों से अभिज्ञ हूँ। यदि आपने उनके ज्ञान से रहित रहते हुए ही ब्राह्मणों के लिये अभिप्रेत गायों का मोहवश ग्रहण किया होगा तो आज आपका सिर तुरंत कटकर गिर जायेगा!।।३०५।।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने मुनि उद्दालकसे कहा 'गंधर्व ने जिनका उपदेश आपको दिया उन दोनों से मैं परिचित हूँ'।।३०६।।

---

१. याज्ञवल्क्यस्तु देवगुह्यतया सदस्यवाच्यतामालोचितवानयं तदजानन् चुकोपेति। २. यदि कश्चन ब्रह्मिष्ठतामात्मनो न प्रख्यापयेत्तदा राजा सर्वेभ्यो विभज्य दद्यादिति ताः समेषां स्वभूता उक्ताः।

यदि जानासि तद् ब्रूहि किमर्थं गर्जनं वृथा। इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि गौतमं वाक्यमब्रवीत्।।३०८।।

सूत्रात्मविवरणम्

वायुरेव हि तत् सूत्रं सर्वबन्धनकारणम्। अयं लोकस्तथाऽन्यश्च भूतानि निखिलान्यपि।। वायुनैव निबद्धानि तन्तुभिस्तु पटो यथा[1]।।३०९।।

यतः सूत्रमयं वायुस्तत एवाऽस्य निर्गमे। अङ्गानां शीर्णतां प्राहुर्मृतं दृष्ट्वा मनीषिणः।।३१०।।

अङ्गी चकार तद्वाक्यमेवमेवेति वाक्यतः। अन्तर्यामिणमात्मानं याज्ञवल्क्य! वदाऽधुना।।३११।।

अन्तर्यामिकथा

पृथिव्यामप्सु चैवाग्नावन्तरिक्षेऽनिले दिवि। आदित्ये च तथा दिक्षु देवो यश्चन्द्रतारके। आकाशे तमसि प्राज्ञस्तेजस्यास्तेऽधिदैवतम्।।३१२।।

स्पष्टम्।।३०८।।

याज्ञवल्क्यः प्राणप्रधानत्वेन वायुरूपं सूक्ष्मशरीरं समष्टिव्यष्टिरूपं सूत्रत्वेनाह—वायुरेवेति। यत्त्वया पृष्टं सर्वबन्धनकारणं सूत्रं तद् वायुरूपम् एव यतो वायुना प्राणात्मनाऽधिदैवमध्यात्मं च स्थितेन सर्वं लोकादिकं निबद्धं धारितं दृश्यते।।३०९।। तत्र लोकप्रसिद्धामुपपत्तिमाह—यत इतिं। यतोऽयं वायुः सूत्रं सूत्रवद् विधारकः[2] तत एवाऽस्य वायोः निर्गमे मृतं दृष्ट्वा मृतस्य अङ्गानां शीर्णतां सूत्राकर्षणे कुसुमवद् विशकलिततां शिथिलतामिति यावत्, प्राहुः वर्णयन्तीत्यर्थः।।३१०।। अङ्गीचकारेति। एवमुक्तं श्रुत्वा गौतमस्तु याज्ञवल्क्यवाक्यम् 'एवमेव' इति वाक्यमभिधाय अङ्गी चकार, 'अन्तर्यामिणं वर्णय' इत्युवाच चेति। एतेन द्वितीयकण्डिकार्थो दर्शितः।।३११।।

याज्ञवल्क्येन एकविंशतिकण्डिकाभिर्निरूपितमन्तर्यामिणम् उक्तस्य सूत्रस्य नियमेन चालकरूपं प्रतिपादयति—पृथिव्यामिति त्रयोदशभिः। यो देवः अधिदैवं देवेषु निरूपणप्रस्तावे पृथिव्यादिषु द्वादशसु श्रुत्या निरूपितः सः अन्तर्यामीति षष्ठेन (श्लो.३१७) सम्बन्धः। अनिले वायौ, दिवि स्वर्गे, चन्द्रतारके चन्द्रतारकसमाहारे, आकाशे भूते, अन्तरिक्षपदेन तु भुवर्लोकग्रह इत्यपुनरुक्तता; तमसि अन्धकारे। कीदृशो देवः? प्राज्ञः सर्वज्ञः।।३१२।। अधिभूतमिति। तथा अधिभूतं निरूप्यमाणो यो देवः स्थावरेषु चरेषु च भूतेषु निरूपितः।

उद्दालक गुस्से से बोले 'अरे! 'जानता हूँ-जानता हूँ' ऐसे कहे जा रहे हो जैसे कोई पागल हो! जो जानते हो वह बता क्यों नहीं रहे ? जानकार सिर्फ 'जानता हूँ' तो बोलेगा नहीं। अगर पता है तो बताओ, व्यर्थ क्यों शोर मचाते हो!'।।३०७-३०८।।

याज्ञवल्क्यने गौतम से कहना आरम्भ किया—सभी कुछ को बाँधकर रखने वाला सूत्र वायु ही है। यह तथा अन्य लोक और सारे भूत, वायु द्वारा ही निबद्ध हैं जैसे तन्तुओं से कपड़ा निबद्ध होता है। (समष्टि-व्यष्टि सूक्ष्म शरीर में प्रधान प्राण है जो वायुका ही एक रूप है, उस सूक्ष्मोपाधि वाले को ही यहाँ सूत्र कहा है।)।।३०९।। क्योंकि यह वायु ही सूत्र की तरह धारण करने वाला है इसीलिये वायु निकल जाने पर जो मर गया उसे देखकर कहा जाता है कि जैसे धागा निकाल देने पर मालाके फूल बिखर जाते हैं, ऐसे ही अब इस शवके अंग विशीर्ण हो रहे हैं, सड़कर समाप्त हो रहे हैं।।३१०।।

गौतमने याज्ञवल्क्य के उत्तर को स्वीकारा कि गंधर्व ने ऐसा ही बताया था और अंतर्यामीके बारे में कहने केलिये प्रेरित किया।।३११।।

---

१. मणिषु सूत्रमिति दृष्टान्ते मणिसूत्रयोर्भेद इति तथाऽत्र मा ग्रहीत्कश्चिदतउदाहरणान्तरमाह स्मेति द्रष्टव्यम्। २. कर्मफलदातृतया विधारकता सूत्रस्य।

अधिभूतं हि सर्वेषु स्थावरेषु चरेषु च। अध्यात्मं च तथा प्राणे वाचि चक्षुषि सर्वदा।। श्रोत्रे मनसि सर्वात्मा त्वचि विज्ञानरेतसोः।।३१३।।

एकविंशतिसंस्थेषु तिष्ठन् स्थानेषु यः पुमान्। एतेभ्यो भिन्न[1] एवायं गृहाद् यद्वद् गृही पुमान्।।३१४

एतानि न विदुस्तद्वदेनं स्वहृदये स्थितम्। शरीरं यस्य चैतानि पृथिव्यादीनि सर्वदा। यथाऽस्माकं वपुः प्रोक्तं शुक्रशोणितसम्भवम्।।३१५।।

पृथिव्याद्यभिमानानि चेतनानि समन्ततः। सर्वाण्येव य एतानि नियच्छति महेश्वरः। व्यापारेषु निजेष्वेको राजा भृत्यान् यथा भुवि।।३१६।।

अन्तर्याम्येष आत्मा ते यं त्वं गौतम पृच्छसि। विवर्जितः सदाऽत्रत्यमरणादिषडूर्मिभिः।।३१७।।

तथाऽध्यात्मं **प्राणाद्यष्टसु निरूपितः**। विज्ञानं बुद्धिः, रेत उपस्थेन्द्रियम्।।३१३।। एकविंशतीति। एवम् **एकविंशतिप्रकारा संस्था व्यवस्था येषामीदृशेषु** स्थानेषु यः पुमांस्तिष्ठन्नेतेभ्यः **पृथिव्यादिस्थानेभ्यो** भिन्नो वर्तते यथा **गृहपतिः** गृहाद् **भिन्नः**। **एतेन श्रुतिगताऽन्तरशब्दस्य भेदरूपार्थपरता दर्शिता। 'संस्था नाशे व्यवस्थायाम्' इति हेमचन्द्रः। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः।**।३१४।। एतानीति। एतानि पृथिव्यादीनि यं **स्वान्तःस्थितं न विदुः न जानन्ति,** यस्तु एतानि नियन्तुं **शरीरान्तराणि नोपादत्ते किन्तु यथाऽस्माकं जीवानां शुक्रशोणितमयं** शरीरं **तद्वत्तस्य** पृथिव्यादीनि **एव शरीरभूतानीति**।।३१५।। पृथिव्याद्यभिमानानीति। **पृथिव्यादीनि आत्मत्वेनाऽभिमन्यमानानि** चेतनानि **लिङ्गरूपाणि** एतानि **लक्षणया पृथिव्यादिपदार्थभूतानि** सर्वाणि नानाव्यापारेषु राजा भृत्यान् **इव** यो महेश्वरो **मायाऽधिपतिः** नियच्छति **नियमेन प्रवर्त्तयति[2]**।।३१६।। अन्तरिति। **स** एषोऽन्तर्यामी **तवापि** आत्मा हे गौतम! यं पृच्छसि **इति। अमृतपदार्थमाह**—विवर्जित इति। **यो मरणोपलक्षितषडूर्मिभिर्वर्जितः;**
याज्ञवल्क्य ने बताया—सूत्र को नियमतः चलाने वाला अंतर्यामी है। देवताओं के संदर्भ में उसे बारह स्थानों में रहने वाला बताया है—पृथ्वी, जल, अग्नि, भुवर्लोक, वायु, स्वर्ग, सूर्य, दिशा, चाँद-तारे, आकाश, अंधेरा और रोशनी। भूतों के संदर्भ में निरूपण करते हुए तो उसे चर-अचर सभी भूतों में उपस्थित कहा है। अध्यात्ममें उसके आठ स्थानों का उल्लेख है—प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, बुद्धि और उपस्थ। यों इक्कीस प्रकार से व्यवस्थित स्थानों में जिस सर्वरूप, पूर्ण, प्राज्ञ देव को स्थित कहा है वही अंतर्यामी है। जैसे घर का मालिक पुरुष घर से अलग होता है, ऐसे ही यह महादेव उक्त स्थानों से विलक्षण है। (इक्कीस समझाने केलिये स्थान कहे, तात्पर्य तो यही है कि वह सभी में है।)।।३१२-३१४।। ये पृथ्वी आदि उस अंतर्यामी को जानते नहीं, भले ही यह उन्हीं के हृदयमें वर्तमान है। पृथ्वी आदि पर शासन करने के लिये अंतर्यामी कोई स्वतंत्र शरीर धारण करता हो ऐसा नहीं; जैसे हम जीवों के ये शुक्रशोणितमय देह हैं, ऐसे ही पृथ्वी आदि उस अंतर्यामी को भी शरीररूप से काम दे जाते हैं। (अर्थात् नियम्य शरीर से अन्य किसी देह के बिना ही अंतर्यामी उसका नियमन कर लेता है।)।।३१५।। लोक में जैसे राजा कार्यकर्ताओं को कार्यों में लगाता है, ऐसे ही वह महेश्वर अकेला ही उन सब चेतनों को (सूक्ष्म देहों को) अपने-अपने कार्यों पर नियुक्त करता है, जो पृथ्वी आदि स्थूल देहों से तादात्म्यापन्न हैं।।३१६।। हे गौतम! जिसके बारे में तुमने पूछा है वह यही अंतर्यामी है । तुम्हारा भी यही आत्मा है। लोकसिद्ध मरण आदि छह ऊर्मियों से यह सदा अछूता है। (भूख-प्यास, विषाद-असन्तुलितमनस्कता, जन्म-मरण; ये छह ऊर्मि अर्थात् पीडायें प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम द्विक प्राणसंबद्ध है, द्वितीय मानस और तीसरा दैहिक है।)।।३१७।।

---

१. एवं च सूत्राद् विशेषस्तस्य तन्तुस्थानीयतया पटान्यताऽयोगात्। एवं च सूत्रान्तर्यामिरूपाभ्यां सर्वव्यापकता सर्वस्मादुत्कृष्टता चेति परेशस्योभयोः विशेषयोरुपन्यासः। २. तेषु सामर्थ्यप्रदश्चेत्यर्थः।

एकविंशतिवारं स उक्तवान् मुनिसत्तमः। पृथिव्यादिषु देवेशं प्रत्येकं तन्नियामकम्।।३१८।।

अन्तर्यामिधर्माः

एवमुक्त्वाऽथ तस्याऽन्यान् सर्वधर्मनिषेधकान्। धर्मानुवाच धर्मज्ञो नेति मन्त्रं समाश्रितः।।३१९।।

नेत्रैर्नानाविधैरेष न दृष्टो ज्ञानिनामपि। श्रोत्रैश्च[1] न श्रुतस्तद्वद् मनोभिर्न मतः पुमान्।।३२०।।

बुद्धिभिश्च विशुद्धाभिर्न विज्ञातः कथञ्चन। द्रष्टा श्रोता तथा मन्ता विज्ञाता जगदीश्वरः।। दृष्टेः श्रुतेर्मतेस्तद्वद् विज्ञातेरपि सर्वदा।।३२१।।

'क्षुधा तृषा शोकमोहौ जन्ममृत्यू षडूर्मय'[2] इति।।३१७।। एकविंशतीति। एवं तं नियामकम् अन्तर्यामिणं परमदेवं याज्ञवल्क्य एकविंशतिवारं पृथिव्यादिषु स्थितम् उक्तवान् इति।।३१८।।

अन्त्यकण्डिकागतस्य 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्यादेरर्थमाह—एवमुक्त्वेत्यादिना। एवम् अन्तर्यामिणम् उक्त्वा प्रतिपाद्य तस्यान्यान् अनुक्तान् धर्मान् अदृष्टत्वादीन् उवाच। कीदृशान् धर्मान्? सर्वधर्माणामभावाभिव्यञ्जकान्[3]। कीदृशो याज्ञवल्क्यः? नेति इत्याकारं मन्त्रम्[4] अन्तर्यामिणो देवस्य प्रादुर्भावप्रयोजकं समाश्रितः तन्निष्ठ इति यावत्।।३१९।। तान् धर्मानभिनयति—नेत्रैरित्यादिना। एष देवो ज्ञानिनां प्रशस्तज्ञानशालिनाम् अपि नेत्रैः चक्षुर्भिः अद्ययावद् न दृष्टो न विषयीकृतः, अतोऽदृष्टत्वं तस्य धर्मः, एवमग्रेऽपि। स्वयं तु सर्वस्य द्रष्टा, एवमग्रेऽपीति। तथा दृष्टिश्रुत्यादिपदार्थभूतानां बुद्धिवृत्तीनां प्रकाशकत्वाद् द्रष्टा इत्यादिपदैरुक्त इति द्वयोरर्थः।।३२०-३२१।।

इस प्रकार उस अन्तर्यामी महादेव को पृथ्वी आदि हर-एक के नियामक रूपसे उनमें स्थित बताते हुए मुनिवर ने इक्कीस बार वर्णन किया।।३१८।। फिर उसके जो धर्म अभी नहीं बताये थे उनका उल्लेख किया जो धर्म ऐसे हैं कि सभी धर्मों का अभाव अभिव्यक्त करते हैं! इस वर्णन में धर्मवित् महामुनि ने 'नहीं' इस मन्त्र का सहारा लिया। (अर्थात् 'नहीं'—यही मंत्र है जिससे निर्धर्मा परमात्मा का वर्णन संभव है। क्योंकि वह स्वतः स्फुरमाण परमार्थ तत्त्व है इस लिये निषेधमुखसे उपदेश होने पर भी उसकी असत्ता नहीं समझी जा सकती यह सिद्धान्तरहस्य है। स्थूलदृष्टि वालों के लिये तो भावभूत धर्मों के द्वारा भी समझाया ही जाता है।)।।३१९।।

बहुतेरी जानकारियों वाले विद्वानों की भी विविध शक्तियों वाली आँखों से ये महादेव आज तक देखे नहीं गये अतः अदृष्टता उनका धर्म है। वह पूर्ण पुरुष न कानों से व न शब्दों से सुने गये हैं और न ही मनों से उनका मनन ही हो पाया है। चाहे जितनी परिशोधित हों, बुद्धियों द्वारा किसी तरह उन्हे अभी तक जाना नहीं गया। वे जगन्नाथ दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति अर्थात् नेत्रादिप्रयुक्त अन्तःकरणवृत्तियों के सदा प्रकाशक हैं जिससे उन्हे द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता आदि कहा जाता है।।३२०-३२१।। सभी इन्द्रियों की बाहरी-भीतरी गतिविधियों को ये महेश्वर जानते ही हैं किन्तु कोई भी इन्द्रिय इन्हें कभी भी विषय नहीं कर पाती।।३२२।। पृथ्वी आदि सर्वत्र स्थित इस अन्तर्यामी से अन्य कोई चेतन द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता आदि नहीं है।।३२३।। हे गौतम! यही तेरा आत्मा है क्योंकि इससे अन्य कोई है ही नहीं जो द्रष्टा आदि हो! इससे अन्य सब जड ही है अतः विद्यासे बाध्य ही है, मिथ्या ही है।

---

१. श्रोत्रमिति शब्दस्याप्युपलक्षणं, यद्वाचानभ्युदितमिति तलवकारश्रुतेः। २. 'ऊर्मिः पीडाजवोत्कण्ठाभङ्गप्राकाश्यवीचिषु वस्त्रसङ्कोचलेखायाम्' इति हेमचंद्रः। ३. यद्यपि द्रष्टृत्वाद्यप्युच्यते तथापि विषयतयाऽनुपस्थापनात्तेषामपि निषेधतुल्यतेत्यभिप्रायः। अत एव संसारधर्मनिषेधपरमेतद्वाक्यमिति भाष्यम्। ४. 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिवचः। अथवा 'नेति नेत्यात्मे'त्यादि पूर्वोक्तसन्दर्भम्।

सर्वेन्द्रियाणां व्यापारमेष वेत्ति महेश्वरः। बाह्यमाभ्यन्तरं वाऽपि नेन्द्रियं वेत्त्यमुं सदा।।३२२।।

अन्तर्यामिण एतस्मात् पृथिव्यादिषु संस्थितात्। द्रष्टा श्रोता तथा मन्ता विज्ञाता चास्ति नाऽपरः।।३२३।।

आत्मा त एष एवाऽतो नाऽपरो गौतमास्ति हि। एतस्मादपरं यत्तु तद् विनाशि जडत्वतः। उद्दालकस्ततो विप्रः प्रश्नादुपरराम ह।।३२४।।

गार्गी ब्राह्मणानुमतिं याचते

गार्गी वाचक्नवी विप्रांस्तत एतदुवाच सा। हन्त विप्रा वचो मेऽद्य भगवन्तोऽत्र सङ्गताः। शृणुताऽहमिमं विप्राः पृच्छामि द्वावनिन्दितौ।।३२५।।

तौ चेद्वक्ष्यति विप्रोऽयं याज्ञवल्क्यो महाशयः। कदाचित् कोऽपि नैवामुं जेतुं युष्मासु सम्भवेत्।।३२६

ब्रह्मोद्यं ब्राह्मणं कोऽपि खद्योतेषु यथा रविम्। अनुजानन्तु मां तस्मात् सर्व एव द्विजोत्तमाः।३२७। शापाद्भीता तदा गार्गी ब्राह्मणानुमतिं मुहुः।।

उक्तमेव स्फुटयति—सर्वेन्द्रियाणामिति। एष सर्वेन्द्रियव्यापारं वेत्ति, एनं तु इन्द्रियाणि न विषयी कुर्वन्तीत्यर्थः।।३२२।। अन्तर्यामिण इति। एतस्मादन्तर्यामिणः सर्वत्र स्थिताद् अन्यो द्रष्ट्रादिरूपचेतनो न अस्ति, किन्तु अयमेव सर्वत्र द्रष्ट्रादिरूप इत्यर्थः।।३२३।। आत्मेति। अतः तद्भिन्नस्य द्रष्ट्रादेरभावात् तव एष एव आत्मा। स चाद्वितीय इत्याह—एतस्मादिति। एतद्भिन्नं जडत्वाद् विनाशि विद्याबाध्यं तुच्छमिति[1]यावत्। सप्तमब्राह्मणार्थमुपसंहरति—उद्दालक[2] इति।।३२४।।

आत्मयाथात्म्यवेदकस्य अष्टमब्राह्मणस्यार्थं न्यूनश्लोकशतेन उपबृंहयंस्तत्र प्रथमकण्डिकाया अर्थमभिनयति—गार्गीति चतुर्भिः। तत उद्दालकोपरमानन्तरं वचक्नुसुता गार्गी एतद् वचो विप्रान् प्रति उवाच। 'एतत्' किम्? हे अत्र सङ्गताः समवेता विप्राः! भगवन्तः पूजाशालिनो यूयमिदं मद्वचः शृणुत। 'इदं' किम्? अहमिमं याज्ञवल्क्यं प्रति द्वावनिन्दितौ प्रश्नौ पृच्छामि इति।।३२५।। ताविति। तौ मत्प्रश्नौ अयं याज्ञवल्क्यो महाशयो महामतिः वक्ष्यति चेत् तर्हि अमुं जेतुं युष्माकमन्यतमः कोऽपि कोऽपि प्रजापतिसदृशोऽपि न क्षमो भवेदिति। कीदृशममुम्? ब्रह्मोद्यं ब्रह्मवक्तारम्; छान्दसत्वात् कर्तरि क्यप्। दृष्टान्तः स्पष्टः। फलितमाह—अनुजानन्त्विति। इति द्वयोरर्थः।।३२६-३२७।।

यों दोनों रहस्यों की जानकारी याज्ञवल्क्य में देखकर विप्र उद्दालक ने और कुछ पूछा नहीं, चुप हो गये।।३२४।।

उद्दालक के चुप हो जाने पर गार्गी वाचक्नवी ने विप्रों से निवेदन किया—'हे वेदज्ञो! यहाँ उपस्थित आप सभी पूज्य लोग अब मेरी प्रार्थना सुनिये। मैं याज्ञवल्क्यसे दो दुरूह प्रश्न पूछूँगी। यदि यह याज्ञवल्क्य महाशय उनका उत्तर दे सका तो आपमें से कोई कभी इसे जीत नहीं सकता। जैसे जुगुनुओं में कोई कितना ही बड़ा हो, सूर्य को प्रकाशमें हरा नहीं सकता, इसी तरह ब्रह्मवादी ब्राह्मण को कोई ग़ैर-ब्रह्मवादी हरा नहीं सकता। यदि मेरे प्रश्नों की यह महत्ता आप लोगों को स्वीकार हो—यह उन प्रश्नों का उत्तर दे दे तो आप सब भी हार मान लेने को तैयार हों—तो आप सभी उत्तम द्विज लोग मुझे पूछने की अनुमति प्रदान करें।' गार्गी पूर्व में शिरःपात के भयसे चुप हो चुकी थी, अब दूसरा मौका चाहती थी। सभामें एक मौके के सब अधिकारी थे, पुनः पूछने का अवसर सबकी अनुमतिसे ही मिल सकता

१. अनित्यत्वस्याऽसत्यत्वपर्यवसायित्वादित्यर्थः। २. अन्यवत् प्रष्टुं प्रेरयन् नापश्यन्न वा समीपं कस्यचनोपविवेश। तथापि गार्गी पप्रच्छ। गौतमदृष्ट्याऽन्तर्यामिणः परस्याभावात्प्रश्नानवकाशेऽपि गार्गीदृष्ट्या निर्विशेषस्याद्याप्यवशेषादिति भावः।

अनुज्ञाता पृच्छति

प्रार्थयामास पृच्छेति लब्धानुज्ञाऽतिधीधना। पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं तमिदमाभाष्य संसदि।।३२८।।

स्वीययोग्यतां दर्शयति

प्रसिद्धा सर्वलोकेषु गार्गी वाचक्नवी ह्यहम्। प्रायो बुद्ध्याऽधिका लोके पुरुषेभ्योऽपि योषितः३२९

साहसेन च धैर्येण रागतः क्रोधतोऽपि च। तासां मां प्रथमां विद्धि सरस्वत्या समां धिया।।३३०।।

अहं पश्यामि विप्रेन्द्र जगदेतदपौरुषम्। नपुंसकमहं तद्वदहं स्त्री च पुमानहम्।।३३१।।

अज्ञाःषण्ढाःस्त्रियो वा

नपुंसकः पुमान् ज्ञेयो[1] यो न वेत्ति हृदि स्थितम्। पुरुषं स्वप्रकाशं तमानन्दात्मानमव्ययम्।।३३२।।

ब्राह्मणानुज्ञाप्रार्थने हेतुमाह—शापादिति। कश्चित् प्रश्नोद्यतो मां पृच्छन्तीं स्त्रियं मत्वा मा शपेदिति शङ्काऽऽविष्टा सती गार्गी विप्राज्ञां प्रार्थितवती यतोऽतिशयेन धीधना धीशालिनी। ततो लब्धविप्राज्ञा सती याज्ञवल्क्यमाभाष्य सम्बोध्य इदं पप्रच्छ।।३२८।।

द्वितीयकण्डिकार्थं चतुर्विंशत्योपबृंहयन् 'समयोर्विवाद' इति न्यायमनुरुद्ध्य सर्वज्ञेन याज्ञवल्क्येन स्वस्य वादयोग्यता या गार्ग्यहंपदप्रयोगेण सूचिता तामभिनयति—प्रसिद्धेत्याद्यष्टादशभिः। हे मुने! भवानपि प्रसिद्धः अहम् अपि प्रसिद्धा गार्गी इति। यदि भवान् बुद्ध्याऽधिकः, तत्त्वं मय्यपि सम्भाव्यत इत्याह—प्राय इति। पुरुषाऽपेक्षया बुद्ध्याऽऽधिक्यं योषितां प्रसिद्धं, 'बुद्धिश्चासां चतुर्गुणा' इति प्रसिद्धेः।।३२९।। साहसेनेति। साहसादिचतुष्टयेन चाऽधिका—इत्यनुषङ्गः। साहसम् अविवेकः, रागः कामः। तासां बुद्ध्यादिनिरूपिताधिक्यशालिनीनां मध्ये प्रथमां प्रथमगणनेन[2] बुद्ध्या प्रथमगणनीयां मां विद्धि यतो धिया सरस्वतीसमाम्।।३३०।। ननु काऽसौ तव बुद्धिर्यया त्वमाधिक्यमभिमन्यसे? इति चेत्; तत्त्वधीरेवेत्याह—अहमिति। हे विप्रेन्द्र! अहमेतत् स्वव्यतिरिक्तं जगदपौरुषं पौरुषेण पुरुषस्य भावेन कर्मणा वा हीनं पश्यामि। किं तत्पौरुषमिति चेत्? सर्वात्मभावदर्शनमेवेत्याशयेनाह—नपुंसकमिति। नपुंसकादिभेदभिन्नं सर्वं जगद् अहम् एवेति बाधासामानाधिकरण्येन ज्ञानमेव पौरुषमिति।।३३१।।

था अन्यथा अक्रमसे पूछने पर अन्य जो अब तक पूछ नहीं पाया वह रोषपूर्वक शाप दे सकता था। इसलिये शापके डरसे गार्गी ने अनुज्ञाप्रार्थना की। सर्वप्रसिद्ध था कि गार्गी अत्यन्त विदुषी है, अतः सब ब्राह्मणों ने सहर्ष अनुमति दी 'पूछो गार्गी।' तब उसने संसद् में भूमिका बाँधते हुए याज्ञवल्क्यसे पूछना आरंभ किया।।३२५-३२८।।

पहले गार्गी दिखाती है कि सर्वज्ञ याज्ञवल्क्यसे वाद करने के लिये वह योग्य प्रतिपक्षी है : सभी लोग जानते हैं कि मैं वचक्नु ऋषि की कन्या गार्गी हूँ। (केवल याज्ञवल्क्य ही प्रसिद्ध नहीं; मैं भी हूँ!) यह तो प्रायः देखा ही जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बौद्धिक क्षमता अधिक होती है। अविवेक, धीरज, कामना और क्रोध भी स्त्रियों में पुरुषों से ज्यादा होता है। स्त्री होने से यों ही मेरी बुद्धि पुरुषों से (अतः याज्ञवल्क्य से भी) अधिक है और फिर मैंने ज्ञानमें सरस्वती की समानता प्राप्त की हुई है, इसलिये स्त्रियों में भी मुझे सर्वाधिक बुद्धिमती समझ लीजिये। (अविवेकादि पर मैंने विजय पा रखी है, स्त्रीसुलभ वे गुण मुझमें नहीं हैं।)।।३२८-३३०।। मैं कोई शिल्पशास्त्रादि तुच्छ जानकारियों से स्वयं का आधिक्य नहीं कह रही, वरन् तत्त्वज्ञानंसे कह रही हूँ। 'नपुंसक, स्त्री, पुरुष मैं ही हूँ' यों बाधसामानाधिकरण्य से सर्वात्मता का अनुभव ही परमार्थतः पौरुष है और मैं अपने से भिन्न सारे जगत् को इस पौरुषसे हीन देख रही हूँ।।३३१।।

---

१. 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' इति प्रसिद्धेरनतिशयानन्दस्याऽव्यवहितत्वेऽपि शोकादिसंसारधर्माविष्टमात्मानमवगच्छतः पुंस्त्वं शङ्कास्पदमेवेति स्पष्टम्। २. न त्वविवेकरागक्रोधेषु इति भावः।

अयमेव पुमान् योषिद् नाऽहं पीनपयोधरा। यतः स्वस्मात् परस्तस्य पतिरस्ति स्त्रिया यथा। ।३३३।

कामक्रोधादिभिस्तद्वद् भुजगैर्भुज्यते पुमान्। अज्ञो वाराङ्गनातुल्यो नाऽहमेवं कथञ्चन। ।३३४।।

अज्ञो गर्भं दधात्यत्र धातुं सप्तममातुरः[1]। कालेन पुरुषेणाऽसौ संयुक्ता ललना यथा। ।३३५।।

नाऽहमस्मिन् वयस्यद्य दुःसहे यौवने वरे। वर्तमाना स्थिता यूनां मध्य एमीह विक्रियाम्। ।३३६।।

नग्नाऽहं भवतां मध्ये स्थितास्म्येकान्तगा यथा। निरीक्षन्ते न मां विप्रा विक्रियाभीरवः स्वयम्।।
पश्यन्त्यहममून् सर्वान् स्पृशाम्यात्मकरादिभिः। ।३३७।।

उक्तपौरुषव्यतिरेके नपुंसकत्वं स्त्रीत्वं वा पर्यवस्यति इत्याह—नपुंसक इति चतुर्भिः। स पुमान् अपि नपुंसको ज्ञेयः। आत्मनोऽपि ज्ञानेऽशक्तस्य हि पौरुषं दुर्वचमित्यर्थः। ।३३२।। उक्तज्ञानहीनस्य स्त्रीत्वं स्पष्टयति—अयमेवेति। अयम् अज्ञः पुमान् एव योषित्, पारतन्त्र्येण स्त्रीसमत्वादित्यर्थः। ।३३३।। स्त्रीत्वेऽपि वाराङ्गनासमोऽज्ञ इत्याह—कामेति। कामक्रोधादय एव भुजगा वेश्यापतयः, तैर्वाराङ्गनाभूतः अज्ञः सम्भुज्यते, स्वस्ववृत्तिदशायामाक्रम्यत इति यावत्। स्वस्मिंस्तद्व्यतिरेकमाह—नाहमिति। ।३३४।। गर्भधारयितृत्वमप्यज्ञे स्त्रीसाम्यमित्याह—अज्ञ इति। सप्तमो धातू रेतोरूपः, तदात्मकं गर्भं कालरूपपुरुषसंयुक्ताऽसौ अज्ञरूपा स्त्री चतुर्थाग्निभूता पञ्चमाग्नियोषावद् दधाति अत्र संसारे, 'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति' (२.१) इत्याद्यैतरेयश्रुतेः। एतदर्थप्रपञ्चः प्रथमेऽध्याये गत इति। ।३३५।। स्वस्मिन् दोषप्रयोजकदेहाभिमानमूलनिवृत्त्या उक्तलक्षणस्त्रीत्वव्यतिरेकं स्फुटयति—नाऽहमिति। वरयौवनरूपे वयसि अवस्थायां वर्तमानाऽपि यूनां मध्ये स्थिताऽपि च विक्रियां न एमि प्राप्नोमि। ।३३६।। नग्नेति। स्पष्टम्। ।३३७।।

अपने हृदयमें विद्यमान आनंदरूप अव्यय स्वप्रकाश परिपूर्ण तत्त्व को जो नहीं जाने उसे नपुंसक समझना चाहिये, भले ही वह दीखता पुरुष हो! ।३३२।। स्त्री भी वैसा ही व्यक्ति है क्योंकि उसका मालिक उससे अन्य होता है, जैसे स्त्रीका पति स्त्रीसे अन्य होता है। चाहे मैं पीन पयोधरों वाली हूँ पर मैं स्त्री नहीं क्योंकि मेरा परमेश्वर मैं स्वयं हूँ। जैसे वारांगना का उपभोग वेश्यागामी करते हैं, ऐसे ही अज्ञानी व्यक्ति काम, क्रोध आदि द्वारा आक्रान्त रहता है, अतः वह स्त्री ही नहीं वारांगना-सा नीच है। मैं किसी तरह ऐसी नहीं हूँ। ।३३३-३३४।। स्त्री गर्भधारण करती है; यह बात भी अज्ञानी व्यक्ति में घटती है—पुरुषसंपर्कसे जैसे ललना गर्भधारण करती है, ऐसे ही काल-रूप पुरुषके सम्बंधसे कामातुर अज्ञानीरूप स्त्री रेतस् रूप गर्भ धारण करता है! (अर्थात् सकाम पुरुष यौवनादि काल में रेतस्वी होता है। रेतस् भी गर्भ ही है, यह ऐतरेयादिमें स्पष्ट है। निष्काम की धातुपाकप्रक्रिया से ओज निष्पन्न हो जाता है, अतः गर्भधारण केलिये कामातुर को योग्य कहा। यहाँ अज्ञान-निंदामें तात्पर्य है, अतः 'सभी अज्ञ स्त्री होते हैं' इस व्याप्ति का निर्वीर्यो में व्यभिचार इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिये।) मुझमें ऐसा स्त्रीत्व नहीं है। चढती जवानी का जोश नियंत्रित रखना अति कठिन होता है; मैं अभी भरी जवानी में हूँ, पर युवकों के मध्य स्थित रहने पर भी मुझमें किंचिद् भी कामविकार नहीं आता। आप सबके मध्य मैं सर्वथा नग्न हूँ मानो किसी जंगल में होऊँ। विप्र लोग मेरी ओर देखने में संकोच कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि स्वयं उनमें विकार उत्पन्न हो सकता है! मैं तो आप सभी को देखती हुई अपने हाथ से, अंगुली से आप का स्पर्श भी कर लेती हूँ फिर भी देहाभिमान न रह जाने से तन्मूलक कामादि कोई दोष मुझमें प्रकट नहीं हो सकता। ।३३५-३३७।।

---

१. विना कामनां शुक्रस्याधोगतिर्न संभवतीत्यातुरस्यैव तन्निःसरणलिंगकतदुपजनिर्ज्ञायते। केचित्तु निष्कामानां शुक्रं नोपजायते, ओजएव समुद्भवतीति मन्वते।

स्त्री का

ततः स्त्री नाम सा ज्ञेया स्त्यायतेरर्थधारिणी। या लोके नाऽहमेवं स्यां कथं तेन वधूरहम्।।३३८।।

स्त्यायतेः शब्दसङ्घातः स्मृतोऽर्थोऽत्र मनीषिभिः। अहं वधूः समीचीना युवतिः सुपयोधरा।।३३९

कामिनी मत्समाना का विद्यतेऽत्र नितम्बिनी। अयं मम पतिः पुत्रस्तद्वदेषा सुता तथा। धनं धान्यं गृहे मेऽस्ति वन्ध्या चाऽहं कुटुम्बिनी।।३४०।।

इत्यादिशब्दसङ्घातः स्त्यायत्यर्थ उदाहृतः। मायापिशाचीसम्पर्कादात्मनो बोधशून्यतः।। स येषु वर्तते ते स्युः स्त्रियोऽत्र मुनिसत्तम।।३४१।।

के पुरुषाः

आत्मबोधेन ये पूर्णाः पुरुषास्त उदाहृताः। यादृशास्तादृशाः सन्तु शरीरेण द्विजोत्तम।।३४२।।

ननु शास्त्रदृष्ट्या त्वयि स्त्रीत्वाभावेऽपि लोकदृष्ट्या तु स्यादिति चेद्? न; स्त्रीशब्दावयवार्थ-समन्वयाऽभावाद्—इति वक्तुं तद्व्युत्पत्तिमाह—तत इति। स्त्यायतेः 'स्त्यै शब्दसङ्घातयोः' (भ्वा.प.अ) इति प्रसिद्ध-धातोः ड्रट्प्रत्ययान्तस्याऽर्थं या धारयति सा एव लोकेऽपि स्त्री वाच्या। अहं तु एवम् उक्तविधा न अस्मि, तेन वधूः स्त्री कथं स्याम् इति।।३३८।। कोऽसौ स्त्यायतेरर्थः? इति वीक्षायामाह—स्त्यायतेरिति। यद्यपि 'शब्दे सङ्घाते च' पृथक्-पृथक् शक्तिरुक्ता, अत एव संहन्येते शुक्रशोणिते अस्यामिति स्त्रीशब्दव्युत्पत्तिमाहुर्वृद्धाः, तथाप्येतैः सापेक्षार्थसङ्घते प्रतियोगितया शब्दस्यैव संनिहितस्य अन्वयो योग्य इति मत्वा शब्दसङ्घात इत्येकवचनं प्रयुक्तमिति बोध्यम्। केषां शब्दानां सङ्घातः स्त्रीशब्दार्थः? इत्याकाङ्क्षायाम्; अविवेकिप्रयुज्यमानान् अहंममाऽभिमानविषयवाचकान् शब्दान् दर्शयति—अहमित्यादिना। स्पष्टम्।।३३९-३४०।। स्त्रीशब्दार्थनिरूपणं निगमयति—इत्यादीति। उदाहृतो बुधैरिति शेषः। स च मायापिशाचीयोगेन आत्मबोधहीनत्वाद् येषु प्राणिषु अस्ति तेषां स्त्रीत्वं बोध्यम् इत्यर्थः।।३४१।।

लोकमें भी स्त्री उसे ही समझना चाहिये जिसमें 'स्त्यै' धातु का अर्थ घटता हो। मुझमें वह घटता नहीं तो मैं स्त्री कैसे हो सकती हूँ?।।३३८।। 'मैं' अभिमान और 'मेरा'-अभिमान के विषयों के वाचक शब्दों का समूह 'स्त्यै' धातु का अर्थ है, उनका स्वयं केलिये जो प्रयोग करे वह स्त्री है, यही मनीषियों का कहना है। वे शब्द हैं जैसे—मैं वधू हूँ, सुंदर हूँ, जवान हूँ, दर्शनीय शरीर वाली हूँ, मेरे समान और कौन नारी है?, यह मेरा पति है, यह पुत्र है, यह पुत्री है, मेरे घर में धन-धान्य है, मैं बाँझ हूँ, मेरा कुटुम्ब श्रेष्ठ है—इत्यादि। मायारूप पिशाची के संबंध से आत्मज्ञानविहीन लोग ही ऐसे शब्द अपने लिये प्रयोग करते हैं। वे लोग ही स्त्री कहे जाने योग्य हैं।।३३९-३४१।।

हे उत्तम द्विज! शरीर से चाहे जैसे हों, पुरुष कहलाने योग्य तो वे ही हैं जो आत्मज्ञान से भरे-पूरे हैं। रूपों का भेद कल्पित है, वह वास्तविक एकता का विरोध नहीं कर पाता। नट कभी पुरुषवेश में सामने आता है तो स्त्रियों का मन हर लेता है और क्षण-भर में स्त्रीवेश धारण कर आता है तो पुरुष उस पर मुग्ध हो जाते हैं। कल्पित दोनों रूपों का अखण्ड नट से कोई विरोध नहीं। ऐसे ही आनन्दरूप महेश्वर ही एक परिपूर्ण तत्त्व है, पुरुष है। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पुरुष या स्त्री का देह ग्रहण करता है। ग्रहण किये देहों से महेश्वर के अद्वैत स्वरूपमें अन्तर

यथा नटः पुमान् भूयाद् योषितां हृदयङ्गमः। क्षणेन ललना वा स्याद् नरधैर्यविनाशिनी ।।३४३।।
एवमेष पुमानेक आनन्दात्मा महेश्वरः। पुंसो वा योषितो वाऽपि गृह्णाति वपुरिच्छया ।।३४४।।
पुमान् स्त्री कुञ्जरो वाजीत्यादिभेदोऽत्र मायया। स्वप्ने यद्वद्भवेत्पुंसस्तद्वदेषो ह्युदाहृतः ।।३४५।।

प्रश्नयोर्बाणता

ततः सर्वज्ञरूपा त्वां ललनादेहमास्थिता। ब्राह्मणानां विजेतारं विप्रं सर्वज्ञमानिनम् ।।३४६।।
उभाभ्यां प्रश्नबाणाभ्यां वाक्कोदण्डे निधाय तौ। हन्तुमभ्यागता स्थैर्यं भज वाऽवनतिं व्रज ।।३४७
दिवोदाससुतो यद्वदुग्रपूर्वजधर्मवान्। क्षत्रधर्मरतः शक्रं योद्धुकामः प्रतर्दनः ।।३४८।।
जनको वा[1] विदेहोऽत्र स्वशत्रून् प्रति सङ्गरे। सुवर्णमणिरत्नादिभूषं कोदण्डमात्मनः ।।३४९।।
ज्याहीनं सहसाऽधिज्यं कृत्वाऽथाकर्णपूरितम्। तीक्ष्णलोहौ शरौ हस्ते गृहीत्वा चाऽतिकोपनः ।।
सपत्नानां व्यथाहेतुरुपतिष्ठति वीर्यवान् ।।३५०।।

स्वस्मिन् पुरुषत्वमावेदयितुं लक्षयति—आत्मेति। ये प्रमातार आत्मबोधेन पूर्णास्ते पुरुषा उदाहृताः, 'स वा एष पुरुषः सर्वासु पूर्षु' (बृ.२.१५.१८) इति श्रुत्येति शेषः। ते च शरीरेण यादृशास्तादृशाः सन्तु, न काचित् क्षतिरिति। बहुत्वमुपाधिदृष्ट्या बोध्यम् ।।३४२।। कल्पितेन रूपभेदेन वास्तवैक्यस्य न क्षतिरिति सदृष्टान्तं बोधयति—यथेति द्वाभ्याम्। यथा स्त्रीपुंवेशैर्नटस्य नान्यथाभावः तथाऽऽत्मनोऽपीति द्वयोरर्थः।।३४३-३४४।।

एकस्य मायया नानाभावेऽपरं दृष्टान्तमाह—पुमानिति। वाजी अश्वः। एष जाग्रति दृश्यमानः।।३४५।। फलितमाह—तत इति। तत आत्मबोधलक्षणपौरुषशालित्वात् सर्वज्ञरूपा प्रशस्ता सर्वज्ञा; सर्वज्ञतायाः प्राशस्त्यम् आपेक्षिकत्वराहित्यम्। एतादृश्यहं द्वौ प्रश्नरूपबाणौ वागिन्द्रियरूपकोदण्डे निधाय त्वां हन्तुमागताऽस्मि। तत्त्वया वादरूपयुद्धाय स्थैर्यं वा कर्तव्यम् अवनतिर्वा कार्येति द्वयोरर्थः।।३४६-३४७।। श्रौतं दृष्टान्तभागं व्याकरोति—दिव इति त्रिभिः। काशिराजस्य दिवोदासस्य सुतः क्षत्रधर्मेण उग्राणां पूर्वजानां पितामहादीनां समानधर्मा अत एव शक्रेण योद्धुकामः प्रतर्दनो जनको वा शत्रूणामभिमुखे सङ्ग्रामे सुवर्णादिभूषितम् आत्मनः कोदण्डं ज्यया गुणेन

नहीं।।३४२-३४४।। स्वप्नमें स्वप्न-द्रष्टाके विविध रूप बन जाते हैं जैसे पुरुष, स्त्री, हाथी, घोड़ा आदि। ऐसे ही जगत् में दीखने वाले भेद मायासे उपलब्ध हैं। स्वप्न-स्थानीय माया है और स्वप्नद्रष्टा-स्थानीय आत्मा है।।३४५।।

इस प्रकार आत्मज्ञानरूप पौरुष मुझ में है, भले ही ललनाके शरीर में मैं उपस्थित हूँ। मेरी सर्वज्ञता निरपेक्ष है क्योंकि निरपेक्ष सर्वात्मा को मैं जानती हूँ। तुम (याज्ञवल्क्य) स्वयं को सर्वज्ञ समझते हो और कई ब्राह्मणों को जीत भी चुके हो। मैं तुमसे वादरूप युद्ध करने आई हूँ। वाणीरूप धनुष पर दो प्रश्न रूप बाणों से तुम पर प्रहार करूँगी। वार सहने केलिये तैयार हो जाओ और अगर भयभीत हो तो पराजय स्वीकार लो।।३४६-३४७।। दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन शूरता में अपने पूर्वजों के समान है, क्षत्रियोचित वृत्ति से रहता है, अतः मौके पर इंद्रसे भी लड़ने को तैयार हो जाता है। या इन मौजूद विदेहराज जनक को ही लो; यह भी सुवर्ण, मणि, रत्नादिसे सज्जित अपने सीधे धनुष पर तुरन्त प्रत्यंचा चढ़ा कर और हाथमें तीखे लोहे के बाण लेकर उन्हें धनुष पर कान तक खींचकर युद्ध में शत्रुओं पर छोड़ता है, तब यह वीर आक्रोशपूर्वक शत्रुओं की व्यथा का कारण बन जाता है। इसी तरह मैं धैर्यपूर्वक यहाँ उपस्थित हूँ, तुम्हें बाणतुल्य प्रश्नों से व्यथातुल्य निरुत्तर करने के लिये। हे द्विज! यदि ज्ञान हो तो मेरे प्रश्नों के उत्तर देना।

---

१. आक्रामकत्वेन सादृश्यं प्रतर्दनोदाहरणार्थः, प्रतिरक्षातत्परत्वेन च जनकदृष्टान्तार्थोऽतोऽत्र विदेहपदमपि युक्तं स्वकीयमप्यदेहभावं बोधनाय प्रयुक्तमिति गुरवआविष्कुर्वन्ति।

उपस्थिताऽस्मि तद्वत्त्वां प्रश्नाभ्यां धैर्यमास्थिता। तौ प्रश्नौ ब्रूहि मह्यं त्वं यदि जानासि तौ द्विज। इत्युक्ते ब्रूहि गार्गीति याज्ञवल्क्यो वचोऽब्रवीत्।।३५१।।

प्रथमप्रश्नः

एवमुक्ता मुनिं प्राह गार्गी वाचक्नवी वचः। दिवो यदूर्ध्वमुदितमर्वाग्यच्च भुवस्तथा।।३५२।।

द्यावापृथिव्योर्यन्मध्ये भूतं भावि भवच्च यत्। कस्मिन्नेतद्भवेदोतं प्रोतं च मुनिसत्तम।।३५३।।

ब्रह्मलोकान् पुनः शब्दभेदादागमसंश्रयात्। पप्रच्छ सूत्रसंलग्नान् न तु सूत्रविवर्जितान्।।३५४।।

उत्तरम्

एवं पृष्टो मुनिर्वाक्यमनूद्याऽस्या वचोऽब्रवीत्। कार्यं कारणविक्षेपरूपमेतत्त्वयेरितम्।।३५५।।

हीनमधिकृष्टज्याकं कृत्वा तथाऽऽकर्णमाकृष्टं कृत्वा स शरहस्तः सन् शत्रून् व्यथयितुं तान् उपतिष्ठति—इति त्रयाणामर्थः।।३४८-३५०।। दार्ष्टान्तिकमाह—उपस्थिताऽस्मीति। इति गार्ग्या उक्ते सति; ब्रूहि पृच्छ।।३५१।।

तृतीयकण्डिकार्थमाह—एवमिति त्रिभिः। तर्काभिमानं परित्यज्यागमविधया गार्ग्या कृतं प्रश्नमभिनयति—दिव इत्यादिना। यत् सूत्रात्मस्वरूपं दिव ऊर्ध्वाण्डकपालाद् ऊर्ध्वम् उपरिष्टात् स्थितमुदितमागमिकैः; तथा भुवः अधोऽण्डकपालाद् अधस्तात् स्थितमुदितम्; तथा द्यावापृथिव्योः अण्डकपालयोः मध्ये च स्थितम् उदितम्; अतीतानागतवर्तमानात्मकसर्वप्रपञ्चात्मकं चोदितम्; तत् कुत्रौतप्रोतं वर्तते? इति द्वयोरर्थः।।३५२-३५३।। नन्वेवं भङ्ग्या गार्ग्या किं पृष्टम्? इत्याकाङ्क्षायामाह—ब्रह्मेति। पूर्वं हि सूत्राऽव्याकृताश्रयांस्तर्केण प्रश्नाऽयोग्यान् निश्चितवती गार्गीत्यत आगमविधया तन्निश्चयमिच्छन्ती प्रजापतिपदोक्तसूत्रेण संलग्नान् आधारतया सम्बद्धान् ब्रह्मलोकान् अव्याकृतरूपतया वर्णितानेव पुनः पप्रच्छ। किं कृत्वा? पूर्वपरिपाटीत्यागसूचनाय शब्दभेदं विधाय—ल्यब्लोपे पञ्चमी। तत्र हेतुः आगमसंश्रय इति। अत्र शब्दभेदश्च सूत्रं प्रजापतिपदेनाननूद्य दिवो यदूर्ध्वमित्यादिवाक्येनाऽनुवादरूपः। तत्र च सूत्रमपि मया तर्काऽगम्यत्वेन अवधारितमिति सूचनमपि प्रयोजकम्, तदेतदुक्तम्—न तु सूत्रविवर्जितान् इति।।३५४।।

तुर्यकण्डिकार्थमाह—एवं पृष्ट इति द्वाभ्याम्। अस्या गार्ग्या वाक्यम् 'यदूर्ध्वम्' इत्यादिकम् अनूद्य तद्वत् पठित्वा। उत्तरमभिनयति—कार्यमिति। एतद् यदूर्ध्वमित्यादिना दर्शितं सूत्रात्मरूपं कार्यं यत् त्वयेरितम् अनूदितं,

याज्ञवल्क्य ने तुरंत कहा 'पूछ गार्गी।' ३४८-३५१।।

तार्किक होने का अभिमान त्यागकर शास्त्रजिज्ञासा के अनुकूल ढंग से गार्गी ने प्रश्न रखा—'जो सूत्रात्मा द्युलोकसे (ऊपरी ब्रह्माण्ड-कपालसे) ऊँचा बताया गया है, भू से (निचले ब्रह्माण्ड-कपाल से) नीचे बताया गया है, द्यु व भू के बीच भी बताया गया है, जिसका रूप यह सारा ही प्रपंच है जिसमें अतीत, आगामी और वर्तमान सभी का निवेश है, वह सूत्र किसमें ओत-प्रोत है?'।।३५२-३५३।। यद्यपि पूछी बात वही है जिसे गार्गी ने पहले मौके पर जानना चाहा था तथापि वहाँ तर्क से जानने का प्रयास था, जिसे छोड़कर अब शास्त्रीय ढंगसे प्रश्न कर रही है। अतः पूर्व प्रश्न की अपेक्षा यहाँ शब्दों का अंतर है क्योंकि प्रजापति-शब्द नहीं रखा है। सूत्र और उसके आधाररूप अव्याकृत का यहाँ प्रश्न है। अव्याकृत ही नहीं सूत्रात्मा भी तर्क से समधिगम्य नहीं है—इस तात्पर्य से सूत्र को बिना छोड़े सूत्रसम्बद्ध अव्याकृत को पूछा है। इस प्रकार समान विषयक वही प्रश्न होने पर भी प्रश्नके आधारका अंतर है, जिससे यह अतिप्रश्न नहीं, अतः महर्षि उत्तर देते हैं।।३५४।।

कारणस्य सदैवैते तिष्ठन्त्यावरणात्मनि। आकाशे कारणे गार्गि! सदाऽव्याकृतरूपिणि।।३५६।।

एवमुक्ताऽथ गार्गी तं नमस्कृत्य वचोऽब्रवीत्। धारयस्व मनो विप्र परप्रश्नोत्तराय मे।। पृच्छ गार्गीति तामाह पुनर्वाक्यं द्विजोत्तमः।।३५७।।

प्रश्नपुनरावृत्तिः

एवमुक्ता ततो गार्गी पप्रच्छोक्तं पुनर्द्विजम्। उत्तरं च पुनः प्राह पूर्वोक्तं सावधारणम्।।३५८।।

गृहं स्तम्भेषु कुड्येषु यथा तिष्ठति किं तथा। तथाऽऽकाशे परत्राऽपि याज्ञवल्क्यात्र तिष्ठति।। एतन्निधाय मनसा[1] गार्गी पप्रच्छ तं पुनः।।३५९।।

तत् कारणस्य आवरणविक्षेपरूपशक्तिद्वयशालिनो विक्षेपरूपं मतम्। एते विक्षेपाश्च कार्यरूपाः कारणस्य आवरणभूत आत्मनि तिष्ठन्ति इति प्रसिद्धमिति शेषः। एत इति बहुवचनं व्याप्तिसूचनाय। किं तत् सूत्रकारणम्? अत आह—आकाश इति। अव्याकृताकाशतया प्रसिद्धे कारणे मूलाज्ञाने सूत्रं तिष्ठतीति द्वयोरर्थः।।३५५-३५६।।

पञ्चमकण्डिकार्थमाह—एवमुक्ताऽथेति। कारणतत्त्वं दुर्वचमपि त्वयोक्तमिति सूचनाय नमस्कृतिः। परं द्वितीयम्। स्फुटमन्यत्।।३५७।।

षष्ठसप्तमयोः कण्डिकयोरर्थमाह—एवमुक्ता तत इति पञ्चभिः। एवमुक्ता गार्गी द्वितीयप्रश्नं चिकीर्षन्ती तावत् पूर्वम् उक्तम् एव पृष्टमेव पुनः पप्रच्छ, पूर्वोक्तमुत्तरम् एव च मुनिः आह स्मेति। अवधारणवाचकैवपदप्रयोगमात्रं चाधिकं कृतवानित्यर्थः।।३५८।।

तस्यैव प्रश्नस्य पुनः करणे गार्ग्याः कोऽभिप्रायः? इत्यत आह—गृहमिति। गार्गी एतद् मनसि निधाय पुनः पप्रच्छ। 'एतत्' किम्? यथा गृहं न केवलं स्तम्भाश्रितं किन्तु कुड्याश्रितमपि तथा सूत्राऽऽत्मापि अव्याकृताकाशे तथा परत्र अन्यस्मिन् कुत्रचिद् अपि किं तिष्ठति? इति।।३५९।।

शास्त्रार्थ की मर्यादानुसार मुनिवर वाजसनेयक ने पहले गार्गीप्रोक्त वाक्य को यथावत् दुहराया फिर जवाब दिया : ''हे गार्गी! तुमने 'जो' आदिसे जिस कार्य का उल्लेख किया वह आवरण विक्षेप शक्तियों वाले कारण का विक्षेपात्मक रूप है। कारणब्रह्म का जो आवरणात्मक स्वरूप है, अव्याकृत-आकाश कहलाने वाला मूलाज्ञान है, वही विक्षेपों का कारण है, अतः ये सर्वत्र व्याप्त विक्षेप हमेशा अपने उस कारणमें ही रहते हैं।''।।३५५-३५६।।

यह सुनकर गार्गी ने याज्ञवल्क्यको प्रणाम कर कहा 'हे विप्र! मन एकाग्र कर लो ताकि मेरा दूसरा प्रश्न समझ सको।' मुनि ने कहा 'पूछ गार्गी।'।।३५७।। किंतु गार्गी ने पूर्वोक्त प्रश्न ही फिरसे पूछ दिया! तो महामुनि ने भी पुनः वही उत्तर दिया, बस इतना ही अंतर किया कि पहले उन्होंने कहा था 'वह आकाश में ओतप्रोत है' और अब कहा 'वह आकाशमें *ही* ओतप्रोत है।' गार्गी ने वही सवाल फिर क्यों पूछा था? उसके प्रश्न का तात्पर्य था—जैसे घर खम्भों पर और दीवारों पर स्थित रहता है क्या ऐसे ही सूत्रात्मा भी अव्याकृत-आकाश में एवं अन्य भी किसी में ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने 'ही' जोड़कर जवाब की पुनरुक्ति की। उसका तात्पर्य है कि घर की तरह सूत्रात्मा दो पर आधारित नहीं है वरन् जैसे बादल अकेले आकाश पर टिके होते हैं, ऐसे ही सिर्फ कारणभूत अव्याकृत-आकाश पर सूत्र आधारित है।।३५८-३६१।।

१. मनसीति टीकापाठो भाति।

उत्तरपुनरुक्तिः

याज्ञवल्क्योऽपि नैवं तदुभयत्र व्यवस्थितम्। किन्तु मेघो यथाऽऽकाशे केवलेऽत्र प्रतिष्ठितः।।३६०।।
केवले तद्वदाकाशे कारणे तद्व्यवस्थितम्। एवं[1] मनसि सन्धाय पुनरुत्तरमभ्यधात्।।३६१।।

द्वितीयः प्रश्नः

याज्ञवल्क्येन कथित उत्तरे सावधारणे। याज्ञवल्क्यं पुनर्गार्गी पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्।।
याज्ञवल्क्याऽयमाकाश ओतप्रोतश्च कुत्र सः।।३६२।।

प्रतिवचनम्

एवमुक्त उवाचैतामक्षरेऽस्मिन् प्रतिष्ठितः। प्रत्यक्षे सर्वलोकानां बुद्धिसाक्षिणि चात्मनि।।३६३।।
यत्र स्थितोऽयमाकाश एतदेव तदक्षरम्। आत्मरूपं सुखं व्याप्तं विनाशरहितं तथा।।३६४।।

उत्तरस्य पूर्वोक्तस्यैव दाने य आशयस्तमाह—याज्ञवल्क्योऽपीति द्वाभ्याम्। याज्ञवल्क्योऽपि एतद् मनसि निधाय उत्तरम् उक्तवान्। 'एतत्' किम् ? यथा मेघस्य केवलो भूताकाश आधारस्तथा सूत्रात्मनः अव्याकृताकाशः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।३६०-३६१।।

शिष्टांशार्थमाह—याज्ञवल्क्येनेति। सोऽयम् अव्याकृतसंज्ञक आकाशः कुत्रौतप्रोतः? इति। अत्राऽयं गार्ग्याऽऽशयः—अव्याकृताधिष्ठानमात्मतत्त्वं वागगोचरं यदि न वदिष्यति तदा कथनप्रकाराऽबोधरूपम् अप्रतिभासंज्ञं निग्रहस्थानमेष यास्यति। यदि तु वदिष्यति, तदा विप्रतिपत्तिसंज्ञं विरुद्धाभिधानरूपं तद् यास्यति—इति। पराजयहेतुर्निग्रहस्थानम्।।३६२।।

अष्टमकण्डिकार्थमाह—एवमुक्त उवाचेत्याद्येकादशभिः। किम्? आश्रयतया त्वत्पृष्टोऽव्याकृताकाशः तस्मिन् सर्वसाक्षितया साक्षादपरोक्षात्मरूपेऽक्षरे तिष्ठतीत्यर्थः।।३६३।। कथमात्मन एवाऽक्षरत्वम्? इत्यत आह—यत्रेति। अयम् अव्याकृताकाशो मूलाऽज्ञानरूपो यत्र तिष्ठति तदेवाऽक्षरम् उक्तम्; अज्ञानाधारश्च शुद्धात्मैव। तदुक्तम् 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' (सं.शा. १.३१९) इति। किञ्च अश्नुते व्याप्नोतीति वा, न क्षरतीति वा अक्षरपदस्य व्युत्पत्त्याऽप्यात्मन एवाऽक्षरत्वमित्याह—आत्मेति। आत्मनः स्वरूपभूतं सुखं यतो व्याप्तं विनाशलक्षणक्षरत्वहीनं च, अत आत्मन एव अक्षरत्वमिति।।३६४।। अथाऽक्षरात्मनः स्वरूपम् अतन्निरसनेन

तब विदुषी ने दूसरा प्रश्न उपस्थापित किया : 'याज्ञवल्क्य! वह यह आकाश कहाँ ओत-प्रोत है?' उसका मनोभाव था कि अव्याकृत का अधिष्ठान तो आत्मतत्त्व है जो वाणी का अविषय है। यदि वाणी से परे होने के कारण उसे याज्ञवल्क्य कह नहीं पाया तो 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त माना जायेगा और कहीं उसको वाणीसे परिच्छिन्न करने लग गया तो अवाच्य-वदनरूप विरुद्धकथनसे 'विप्रतिपत्ति' नामक निग्रहस्थान में फँस जायेगा। यों उभयतः पाशा रज्जु फैंकने जैसा दाव था। निग्रहस्थान उन दोषों को कहा जाता है जिन्हें तर्कशास्त्रमें पराजयका हेतु माना गया है।।३६२।।

याज्ञवल्क्य साम्प्रदायिक शिक्षा पाये हुए थे, अतः जानते थे कि शास्त्रका अनुसरण करते हुए पूर्वाचार्यों ने जैसा कथन किया है वैसे कथन से उस अकथनीय को भी शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है, इसलिये निडर हो उन्होंने विस्तारसे उत्तर दिया : हे गार्गी! अव्याकृत रहता है इस अक्षर आत्मामें, जो साक्षाद् अपरोक्ष है, सभी लोगों की बुद्धियों का साक्षी है। 'अक्षर' में उसे ही कह रहा हूँ जिस पर यह मूलाज्ञानरूप आकाश विद्यमान है। जीव-ईश्वर इस विभाजन

१. एतदिति टीकापाठः

न स्थूलं न तु तत् सूक्ष्मं घटवत् तद्धि सर्वदा। न ह्रस्वं न च दीर्घं तद् दृश्यते तृणतालवात्।।३६५।।
न लोहितं यथा वह्निः स्नेहवन्न जलोपमम्। न च्छायासदृशं यद्वद् भूमिः कृष्णा प्रतीयते।।३६६।।
तमालश्यामलं नैव तमोवन्नेत्ररोधकम्। न वाय्वाकाशरूपं तद् गतिच्छिद्रविवर्जितम्।।३६७।।
न च तेजःस्वरूपं तद् अमूर्तं सङ्गवर्जितम्। न जलं न च भूमिश्च द्रवगन्धविवर्जितात्।।३६८।।
न च ज्ञानेन्द्रियाण्यस्य न च कर्मेन्द्रियाण्यपि। न मनो नाऽपि तेजोवद् बुद्धिः सर्वप्रकाशिका।।३६९।।
न चाऽहङ्कारचित्ते स्तो ह्यन्तःकरणरूपके। न प्राणो न मुखाख्यं च शरीरं सूक्ष्मसंज्ञितम्।।३७०।।
मात्रा नैव च तस्याऽस्ति याऽविद्येति प्रकीर्तिता। मन्तारमेकं सा यस्माद् माति मात्रा ततः स्मृता३७१
अन्तर्बाह्यविहीनं तत् सर्वसाक्षिस्वरूपकम्। अभोक्तृ तदभोग्यं च परमात्मस्वरूपभृत्।।३७२।।
यथा नभसि मेघौघो विप्रकाशे[1] तमो यथा। स्रजि सर्पो यथाऽध्यस्तः सर्वमेतत्तथाऽक्षरे।।३७३।।

निरूपयन्नप्रतिपत्तिं विप्रतिपत्तिं च निराकरोति—न स्थूलमित्यादिना। घटो यथा बिल्वाद्यपेक्षया स्थूलः, पर्वताद्यपेक्षया च सूक्ष्मः; तद्वद् यद्यत् स्थूलं सूक्ष्मं वा, तद्विलक्षणम्—इति पूर्वार्द्धार्थः। तृणवद् यद् ह्रस्वं तालवद् यच्च दीर्घं, तद्विलक्षणम्—इत्युत्तरार्द्धार्थः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्।।३६५।। न लोहितमिति। वह्निवद् रक्तवर्णाच्च विलक्षणं तथा छायासदृशभूमिवत् कृष्णाद् विलक्षणमिति।।३६६।। तमालेति। तमालश्यामलतया नेत्ररोधकृत् तमःसदृशं यत् तद्विलक्षणम्। गतिवर्जितत्वाद् वायोः, छिद्रवर्जितत्वाद् आकाशाद् विलक्षणम्।।३६७।। श्रुतौ तेजोव्यावृत्तये 'असङ्ग'पदमित्याशयेनाह—न च तेज इति। मूर्तत्वेन ससङ्गं हि तेजः, अक्षरं तु तद्विलक्षणमिति। द्रवो रसः, तद्धीनत्वाद् न जलं, गन्धहीनत्वाद् न भूमिः इति।।३६८।। श्रुतौ चक्षुःश्रोत्राभ्यां ज्ञानेन्द्रियाणि, वाचा च कर्मेन्द्रियाणि उपलक्षितानि, नञा तत्तादात्म्यं निषिद्ध्यते—इत्याशयेनाह—न चेति। अस्य अक्षरस्य स्वरूपमिति शेषः। अन्तःकरणरूपतां निषेधति—न मन इति। श्रुतौ तेजःपदेन प्रकाशकतया तत्सदृशी बुद्धिर्विवक्ष्यत इति भावः।।३६९।। मनोबुद्धिभ्यामहङ्कारश्चित्तं चोपलक्षितमित्याह—न चाऽहमिति। तथा क्रियाशक्तिरूपः प्राणः अपि न अस्य स्वरूपमिति शेषः। तथा मोक्षावधिस्थायित्वेन लोकद्वयगामित्वात् स्थूलशरीरापेक्षया प्रधानमत एव मुखशब्देन श्रुतौ विवक्षितं सूक्ष्मशरीरम् अपि न अस्येत्यर्थः।।३७०।। अमात्रपदार्थमाह—मात्रेति। मीयतेऽद्वितीयोऽपि मन्ता आत्मा परिच्छिद्यते जीवेश्वरादिभेदं नीयतेऽनयेति व्युत्पत्त्या मात्रा नाम अविद्या, कारणशरीरं, तद्वर्जितमित्यर्थः।।३७१।। अन्तरिति। यदि तद् आन्तरमेव स्याद् तदा बाह्यं कः पश्येत्? यदि च बाह्यमेव तदाऽऽन्तरं कः पश्येत्? पश्यति चैतदक्षरं लोकस्याऽऽन्तरं बाह्यं च, अतः सर्वसाक्षित्वाद् अन्तर्बाह्यभावविहीनम्। एतेन त्वम्पदलक्ष्यार्थता दर्शिता। 'न तदश्नाति' (बृ.३.८.८) इत्यादिना च भोक्तृभोग्यभावराहित्यप्रतिपादनेन तत्पदलक्ष्यार्थता दर्शितेत्याह—अभोक्त्रिति उत्तरार्द्धेन।।३७२।। फलितमाह—यथेति। तथा च वस्तुतः सर्वपरिच्छेदहीनमिति भावः।।३७३।।

से निरपेक्ष चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय तथा विषय है। आत्मस्वरूप सुख क्योंकि अविनाशी है इसलिये आत्मा अक्षर है।।३६३-३६४।। जैसे घड़ा लड्डू आदि से स्थूल व पर्वतादिसे सूक्ष्म होता है, ऐसे ही जो भी कुछ स्थूल या सूक्ष्म है उस सभी से आत्मा विलक्षण है, न वह सापेक्ष स्थूलता वाला है और न सापेक्ष सूक्ष्मता वाला। तिनके या तालवृक्ष की तरह आत्मा सापेक्ष ह्रस्वता या दीर्घता वाला नहीं है।।३६५।। वह आग जैसा लाल नहीं, पानी जैसा स्निग्ध नहीं और

---

१. प्रकाशराहित्यइत्यर्थः। आद्योदाहरणयोः शास्त्रादिविचारेणैव स्पष्टता, तृतीयं दृष्टमेव। तत्रापि नभःस्थलेऽभिन्ननिमित्तोपादानता, प्रकाशाभावे तमआरोपो व्यावहारिकः, स्रजि च प्रातिभासिको भुजंगइति वैलक्षण्यम्।

लिङ्गैरक्षरपरिचयः

अक्षरस्याऽस्य गार्ग्येतौ प्रवर्तेते प्रशासने। सूर्याचन्द्रमसौ दीप्तौ जगतोऽस्य नियामकौ। ।३७४।।

द्यावापृथिव्यौ च तथा सर्वभूतविधारिके। विधृते तिष्ठतो गार्गि बालकेनेव[1] वाससी। ।३७५।।

काल एष तथाऽत्युग्रो निमेषादिर्महान् प्रभुः[2]। संवत्सरान्तो भूतानां हिताऽहितकरोऽस्ति हि। ।३७६

एवमागमविधया वर्णितमपि अक्षरस्वरूपं यस्य चेतसि नावतरति तदनुग्रहाय अन्तर्यामिविषयकाणि लिङ्गानि श्रुत्या दर्शितानि मायोपाधिकेऽन्तर्यामिणि परिचिते ह्यन्तर्यामिलक्षणानामुपलक्षणत्वेन अक्षरमपि परिचितं भवतीत्याशयेन। तानि लिङ्गानि दर्शयति—अक्षरस्याऽस्येति। जगतो व्यवहारप्रवर्तकौ सूर्यचन्द्रौ अस्याऽक्षरस्य प्रशासन आज्ञायां वर्तेते नियतप्रवृत्तिकत्वाद् भृत्यवदिति। ।३७४।। एवम् द्यावापृथिव्यौ अपि गुरुत्वादिसत्त्वेऽपि पतनादिविरहात् केनचिद् विधृते नियमेन धारिते वस्त्रादिवदित्याह—द्यावेति। ।३७५।। काल एष इति। तथा एष प्रसिद्धः कालो निमेषमुहूर्तादिसंवत्सरान्तरूपो राजनियुक्तप्रदेशाधिपसमः सर्वेषां भावानामायुरादिकं परिगणयन् वर्तते यत् तदपि अक्षरस्य प्रशासितुः सत्त्वे लिङ्गमिति शेषः। ।३७६।। श्वेतेभ्य इति। अत्र श्वेतशब्दः 'छत्रिणो

न वह छाया जैसा है, जैसी भूमि काली प्रतीत होती है। आँखों पर मानो रुकावट डालने वाले अंधेरे की तरह आत्मा तमालकी श्यामलता वाला नहीं है। (एक काले तने वाला वृक्ष तमाल कहलाता है।) आत्मा गतिशून्य होने से वायुविलक्षण है और निश्छिद्र होने से आकाश जैसा नहीं है। तेज मूर्त होने से संग वाला है जबकि निःसंग अतः अमूर्त होने से आत्मा तेजोरूप नहीं। रस और गंध से रहित वह तत्त्व न जल है, न भूमि। ।३६६-३६८।। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन और सब जानने वाली प्रकाशतुल्य बुद्धि भी अक्षर का स्वरूप नहीं हैं। अन्तःकरण के ही रूप जो अहंकार और चित्त तथा क्रियाशक्ति रूप प्राण—ये भी इसका स्वरूप नहीं हैं। मोक्ष तक बना रहने से, लोकांतरगामी होने से, स्थूलदेह की अपेक्षा प्रधान होने से सूक्ष्म-नामक शरीर जो 'मुख' कहलाता है, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो अविद्या है वह 'मात्रा' कही जाती है, वह भी इसका स्वरूप नहीं है। मन्ता अर्थात् मननका साक्षी आत्मा है तो अद्वितीय, फिर भी क्योंकि अविद्या उसे परिच्छिन्न कर देती है, जीव ईश्वर विभाग वाला बना देती है इसलिये उस अविद्या को 'मात्रा' शब्द से भी कहते हैं। ।३६९-३७१।। आत्मा यदि सिर्फ भीतरी होता तो बाहरी को कौन जानता? यदि वह केवल बाहरी होता तो भीतरी को कौन जानता? संसारमें अंदर-बाहर जो कुछ है उसे यह सबका साक्षी अक्षर आत्मा जानता ज़रूर है इसलिये निश्चय ही इसमें बाहरी-भीतरीपन नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जीववाचक त्वम्पद का यह लक्ष्यार्थ है। तत्पद का भी लक्ष्य जो परम आत्मस्वरूप है, वह न भोग करने वाला है और न भोगा जाने वाला। नभ में बादलसमूहों की तरह, प्रकाशरहित स्थल में अँधेरे की तरह, माला में साँप की तरह यह सारा दृश्य उस अक्षर पर अध्यस्त है। ।३७२-३७३।।

शास्त्रोक्त रीति से अक्षर का स्वरूप समझा देने पर भी सामान्य मति वाले को वह सही-सही समझ नहीं आता अतः कृपाकर श्रुति ने अंतर्यामीके चिह्नों का प्रदर्शन किया है कि माया उपाधि वाले अंतर्यामी का परिचय मिल जाने पर उसके लक्षणों से उपलक्षित अक्षर भी बुद्धिस्थ हो जायेगा। लक्षण स्वसापेक्ष के होते हैं तथा जब वे स्वनिरपेक्ष की भी प्रमामें उपयोगी हों तो उसके उपलक्षण बन जाते हैं : काक वाले गृहका लक्षणभूत काक ही गृह का उपलक्षण हो जाता है। उन चिह्नों को महर्षि ने व्यक्त किया : हे गार्गी! इस जगत् के व्यवहारों के प्रवर्तक दीप्तिमान् सूर्य व चंद्र इस अक्षर परमात्मा के आज्ञावशवर्ती हैं जैसे नियमित चेष्टा करने वाले कर्मचारी राजादि के प्रशासनमें रहते हैं। सब प्राणियों को धारण किये हुए द्यु व भू लोक इस अक्षर द्वारा ही टिकाये रखे हैं, जैसे बालक पहने हुए कपड़ों को सहारा दिये रहता है। भार आदि रहने पर भी लोक गिर नहीं पड़ते तो अवश्य किसी ने इन्हें धारण किया है; वह अक्षर ही है। ।३७४-३७५।। जैसे राजा प्रदेशों के अधिकारी नियुक्त करता है, ऐसे ही निमेष से संवत्सर तक के रूपों वाला

---

१. वस्त्रं धारयामीत्यभिमानराहित्यं परशिश्वोः साम्यम्। २. नियामकः कालवशत्वात्समेषाम्।

श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यो या जाताः सर्वदिशोगताः। नद्यो नानाविधा गार्गि स्यन्दन्ते सुखदा नृणाम्[1] ।।३७७

ददतो जुह्वतस्तद्वत् स्वधाकारं च कुर्वतः। मनुष्या अमरास्तद्वत् पितरश्च समाश्रिताः।।३७८।।

एवमेतज्जगत् सर्वमक्षरस्य प्रशासने। गार्गि तिष्ठति यत्राऽयमाकाशः स्थित ईरितः।।३७९।।

वर्षपूगान् बहूनेनमज्ञात्वा यदि कुर्वते। यागहोमतपोमुख्यं कर्म तत् क्षीयते क्षणात्।।३८०।।

यान्ति' इत्यत्र छत्रिशब्दवत् श्वेताऽश्वेतसमुदाये वर्तते। तथा च हिमालयादिपर्वतेभ्यः प्रभूता गङ्गादिनद्यः यां यां दिशं प्रति प्रवृत्तास्तां तां दिशमेव प्रति अद्ययावत् प्रवर्तमाना नियताः स्यन्दन्ते यत् तदपि प्रशासितुर्लिङ्गमिति।।३७७।। ददत इति। ददतो दानं कुर्वतो जनान् मनुष्याः प्रामाणिका अपि यत् सम्यक् प्रशंसापूर्वकम् आश्रयन्ते तदपि प्रशासितुर्लिङ्गम् अन्यथा द्यूतादिव्यसनेषु वृथा व्ययं कुर्वत उपेक्षमाणाः शिष्टाः शास्त्रोक्तदानकर्तॄनपि कथं न निन्देयुः, कथं चाश्रयेयुः, यदि ईश्वरं तत्फलप्रदातारं न पश्येयुः? इति भावः। एवं जुह्वतो होमोपलक्षितं यागं कुर्वाणान् देवाः समाश्रिता राजानं वृत्तिकाङ्क्षिण इवाश्रिताः, अन्यथाऽपि जीवने शक्ता इति शेषः। एवं स्वधाकारं कुर्वतः श्रुतिगतदर्वीपदोपलक्षितदर्वीहोमादिपित्र्यकर्मकारिणो जनान् पितरः श्रिताः। तथा च देवपितॄणां हव्यकव्यार्थित्वेन मनुष्याधीनतारूपहीनवृत्तिभाक्त्वं प्रशासितारं कल्पयतीति भावः। दर्वीहोमो नाम एकया ऋचा क्रियमाणो होमः, यागस्तु याज्यापुरोनुवाक्यासंज्ञऋग्द्वयेन होम इत्यन्यत्र विस्तरः।।३७८।। फलितमाह—एवमिति। एवं श्लोकपञ्चकोक्तप्रकारेण।।३७९।। किञ्च येन प्रभुणा 'मदज्ञाने सर्वं कर्म अन्तवद् अस्तु' इति नियमः कृतः तस्य प्रभोः सत्त्वे न असम्भावना युक्तेत्याह—वर्षेति। एनम् अक्षरं प्रशासितारमजानता बहुकालं कृता अपि यागादयः क्षयिष्णुफला भवन्तीत्यर्थः।।३८०।।

यह प्रसिद्ध काल प्रशासक अक्षरसे नियुक्त हुआ ही सब पदार्थों की आयु आदि गिनते हुए कार्यरत है।।३७६।। हे गार्गी! हिमाच्छन्न पर्वतों से निकली विविध नदियाँ सभी दिशाओं में नियमित रूपसे बह रही हैं और प्राणियों को सुख दे रही हैं। यही पर्याप्त प्रमाण है कि सर्वप्रशासक अक्षर जगन्नियन्ता है।।३७७।। दान, होम, स्वधाकार आदि शास्त्रीय कृत्यों में तत्पर लोगों का सत्पुरुष, देवता और पितर समाश्रयण लेते हैं, जिससे निश्चित है कि कर्मफलों का प्रदाता अक्षर है। यदि ऐसा न होकर सत्कर्म व्यर्थ होते तो जुआ आदि में धन गँवाने वाले की तरह कर्मठ जन भी शिष्टादि से निंदा ही पाते। देवता अपनी सामर्थ्य से जीविकोपार्जन में सक्षम हैं फिर भी जैसे रोजगार चाहने वाले लोग राजा का सहारा लेते हैं ऐसे ही वे कर्मानुष्ठाता मनुष्यों पर आश्रित रहते हैं। यही स्थिति पितरों की है। अपनी अपेक्षा निकृष्ट जो मानवयोनि वाले, उनके भरोसे रहना यह देवताओं व पितरों में तभी हो सकता है जब इन्हें ऐसा करना अनिवार्य हो, किसी नियामक ने यही विधान बना रखा हो। अन्यथा कौन ऐसी हीन वृत्ति से जीवन चलायेगा! यह सब अक्षर को सिद्ध करता है।।३७८।। हे गार्गी! यों यह सारा संसार उस अक्षर के शासन में रहता है जिसमें आकाश को स्थित बताया है।।३७९।। यदि इस अक्षर को जाने बिना बहुत समय तक याग-होम-तप आदि कर्म किये जाते रहें फिर भी उनका फल अत्यंत शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। उस प्रभु ने ही यह नियम बना रखा है कि उनका अज्ञान रहते सभी कर्म क्षयिष्णु फल वाले हों। उस परमेश्वर की सत्ता की असंभावना कहाँ!।।३८०।। इसी—वर्तमान—देह द्वारा श्रवणादि संपन्न कर जो अक्षरको जाने बिना मर जाता है वह सब प्राणियों में सर्वाधिक शोकपात्र है, जैसे वह कुत्ता जिसके शरीर में कीड़े पड़ गये हों। अक्षर को न जानना ही कृपण होना है।।३८१।। जो पुरुषधौरेय इस अक्षर का साक्षात्कार कर यह शरीर छोड़ता है वही इस संसारमें ऐसा है जिसने वह सब कर लिया जो करने योग्य है। ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ही मुख्य ब्राह्मण है जिसका

१. प्राण्यन्तराणामुपलक्षणम्। इह सर्वत्र नियता प्रवृत्तिश्चेतनश्रितेति प्रथमं साधनीयं ततः चेतनस्य नियता प्रवृत्तिर्नियामकाधीनेति साध्यम्। न चेश्वरस्यापि नियामकान्तरप्रसंगः, तस्य प्रवृत्तेरेवानभ्युपगमात्। अप्रवृत्तः प्रवर्तको हि भगवान्।

कार्पण्यकृतकार्यते

अनेनैव शरीरेण न ज्ञात्वा यो मृतिं व्रजेत्। स शोच्यः सर्वभूतानां कौलेयः क्रिमियुग्यथा।।३८१।।

विज्ञायाऽक्षरमेतद्यो व्रजेदस्माच्छरीरतः। कृतकृत्यश्च लोकेऽस्मिन् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।।३८२।।

विज्ञानोपाय एतस्य बाल्यं कामादिवर्जनम्। पाण्डित्यं श्रवणं ध्यानं मौनं मननमीरितम्।। कहोलं प्रति मत्वेत्थं पुनरत्र न चोक्तवान्।।३८३।।

साक्षात्कारसमाख्येन ब्राह्मण्येन फलेन तत्। अविनाभावसम्बन्धाद् गार्गीं तामुक्तवान् मुनिः।। ब्राह्मणोक्त्या कहोलाय यदादावुक्तवान् स्वयम्।।३८४।।

एतदज्ञानमेव च कृपणत्वस्य शोच्यताप्रयोजकस्य लक्षणमित्याह—अनेनेति। अनेन पुरुषरूपेण शरीरेण एतदक्षरं न ज्ञात्वा यो मृतः स कौलेयः श्वा कृमियुतस्तद्वत् शोच्यः।।३८१।।

एतद्विज्ञानाच्चाऽमृतो भवतीत्याह—विज्ञायेति। स एव च कहोलं प्रति वर्णितविधो ब्राह्मण इति चतुर्थपादार्थः।।३८२।।

नन्वक्षरस्य विज्ञानसाधनजातमपि मुनिना कुतो नोक्तम्? इत्याशङ्क्य द्विधा समाधत्ते—विज्ञानोपाय इति द्वाभ्याम्। एतस्य अक्षरस्य विज्ञानोपायभूतं कामादिवर्जनरूपं बाल्यम्, श्रवणरूपं पाण्डित्यम्, तथा मननध्यानोभयरूपं मौनं च एतत्त्रितयं कहोलं प्रति उक्तमेव गार्ग्याऽपि च श्रुतम् इत्थं मत्वा इत्याशयेन अत्र गार्गीं प्रति बोधनकाले पुनः पुनः नोक्तवान् इति योजना। यद्यपि भाष्यकारैः पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणमनननिदिध्यासनरूपत्वेन व्याख्यातानि, श्रवणानन्तरमेव रागादिपरित्यागात्मकं बाल्यं सम्भवतीत्याशयात्; ग्रन्थकृता तु उत्कटविविदिषायामपि बाल्यं सम्भवतीत्याशयेन अर्थक्रमेण बाल्यस्य पूर्वं निर्देशो, मननस्य च मौने निवेशः कृतः। अत एव कहोलब्राह्मणव्याख्याने मौनस्वरूपं ग्रन्थकृतैवमुक्तम् 'स्वयं चाऽवगमस्तस्य तर्कतो ध्यानतोऽथवा' (श्लो. २६२) इति बोध्यम्।।३८३।। शङ्कायां द्वितीयं समाधानं वदन् वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन इहापि साधनजात-मुक्तप्रायमेवेत्याह—साक्षात्कारेति। ब्राह्मणो हि ब्रह्मविदुक्तः, तस्य विशेषणं भावप्रत्ययेन अभिधेयं साक्षात्कार-रूपब्रह्मविद्यात्मकं फलमेव ब्राह्मण्यं; फलस्य च साधनजातेनाऽविनाभावो व्याप्यव्यापकभावरूपः सम्बन्धो वर्तत एव; अतो यथा काचिद् वृद्धा कुमारी 'वरं ब्रूहि' इति इन्द्रेणोक्ता 'सुता मे कांस्यपात्र्या क्षीरं भुञ्जीरन्' इति वचनभङ्ग्या सर्वमिष्टजातं वृतवती, तथा ब्राह्मण्यस्य फलस्योक्त्या मुनिः तत् साधनजातमपि गार्गीं प्रति उक्तवान् यत् कहोलायादौ पूर्वमुक्तवानित्यर्थः। एतेन दशमकण्डिकान्तं यावद् व्याख्यातम्।।३८४।।

उल्लेख कहोलको समझाते हुए (श्लो. २५९ आदि) किया था।।३८२।।

इस अक्षरका अनुभव पाने के उपाय हाल ही में कहोल को सभामें सुनाये हैं जिन्हें सभी ने सुना है, अतः उन्हें पुनः कहना अनावश्यक है ऐसा मानकर याज्ञवल्क्य ने गार्गी को उपायोपदेश अलगसे नहीं किया। वे उपाय हैं :

(१) बालकपन—कामना आदि से रहित होना। (२) पण्डिताई—वेदान्तों के तात्पर्य का सविचार निश्चय कर लेना। (३) मौन—उक्त निश्चय का युक्ति व प्रमाणों से विरोध नहीं यह निर्धारित कर उस निश्चय का सतत प्रवाह बनाये रखना।

(यहाँ ध्यान देने योग्य है कि भगवान् भाष्यकार ने पाण्डित्यसे श्रवण, बाल्यसे मनन और मौनसे निदिध्यासन को विवक्षित माना है क्योंकि रागादि को छोड़ना तभी संभव है जब श्रवणजन्य निश्चय प्राप्त हो जाये। पुराणकार का विचार है कि तीव्र जिज्ञासा होने पर भी अनात्माकर्षण क्षीण हो सकता है, अतः अर्थक्रम के अनुसार बालकपन को पहला साधन कह दिया है। अत एव मनन-निदिध्यासन को मौनमें एकत्र करना पड़ा है।)।।३८३।।

अक्षरान्तर्यामिणोरभेदः

य उक्तो गौतमायाऽऽदौ द्वितीयप्रश्ननिर्णये। अन्तर्यामी तदेवैतदक्षरं नाऽपरं ततः।।
एतदर्थमपृष्टत्वादुक्तवान् मुनिसत्तमः[1]।।३८५।।

सर्वस्याऽस्य हि तत् साक्षी सर्वैर्दृश्यैर्न गम्यते। जीवोऽपि न परस्तस्मादस्ति कुड्याद् घटो यथा।।३८६

एतस्मिन्नक्षरे गार्गि सदाकाशः प्रतिष्ठितः। आत्मावरणरूपोऽयं विक्षेपस्याऽस्य कारणम्।।३८७।।

अथैकादश्याः कण्डिकाया अर्थं त्रिभिः सङ्गृह्णन् तत्र जायमानां शङ्काम्—नन्वन्तर्यामिब्राह्मणान्तगतवाक्यसमानाकारं वाक्यमपृष्टेनाऽपि मुनिना कथमुक्तम्? इत्याकाराम्—वारयति—य उक्त इति। शुद्ध आत्माऽक्षरमित्युच्यते, स एव मायोपाधिः सृष्टिस्थितिसंहृतिनियमनप्रवेशान् कुर्वन्नन्तर्यामीत्युच्यते। एतदर्थसूचनाय पुनरुक्तिरित्यर्थः। सूत्रप्रश्नापेक्षयाऽन्तर्यामिप्रश्नस्य द्वितीयत्वम्।।३८५।। सर्वस्येति। स्वयं चक्षुराद्यविषयोऽपि सर्वसाक्षीति विज्ञात्रन्तभागस्यार्थः। 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इत्यादिग्रन्थेन च द्रष्टृश्रोत्रादिरूपतया प्रसिद्धस्य जीवस्वरूपस्य ततो भेदो निराकृत इति भावः। कुड्याद् घटो यथा परो भिन्नः तथा जीवः अस्माद् न भिन्न इति दृष्टान्तार्थः।।३८६।। एतस्मिन्निति। अयं साक्षिप्रत्यक्षसिद्ध आत्मावरणरूप आकाशः अस्य स्थूलसूक्ष्मात्मकस्य

वस्तुतस्तु वृद्धकुमारीवर की कहावत के अनुसार महर्षि ने गार्गी को भी साधननिर्देश कर ही दिया है! कोई कुँवारी बुढ़िया थी जिसपर किसी कारण इन्द्र प्रसन्न हो गये और उससे एक वर माँगने को कहा। उस चतुर वृद्धा ने वर माँगा 'मेरे बहुतेरे पुत्र काँसे की थालियों में दूध पिया करें!' इस एक ही वर में उसने अपने सभी अभीष्ट माँग लिये। इसी तरह याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा 'जो अक्षर को जानता है वह ब्राह्मण है।' कहोलप्रश्नमें बताया था कि एषणात्यागादि मौननिर्वेद पर्यन्त साधनों के अनुष्ठान के बाद ब्राह्मण होता है। इस प्रकार यहाँ 'ब्राह्मण' जिस विशेषतावश ब्राह्मण होता है उसका नाम है ब्राह्मण्य (ब्राह्मणता) जो प्रकृतमें साक्षात्कार कहलाने वाली फलरूप ब्रह्मविद्या ही है। फल का साधनों से निश्चित सम्बंध है, कि फल है तो साधन अवश्य हैं। एवं च फलावस्था 'ब्राह्मण' शब्द से कहकर याज्ञवल्क्य ने गार्गी को भी वे साधन बता दिये जो स्वयं उन्हीं ने पहले कहोल को समझाये थे। तात्पर्य है कि साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और अक्षर एक ही है।।३८४।।

गार्गी के प्रति उपदेशसमाप्ति में याज्ञवल्क्य ने बताया कि उक्त अक्षर दीखता नहीं, देखता है; सुनाई नहीं देता, सुनता है; सोचा जा नहीं सकता, सोचता है; अनुभव किया नहीं जा सकता, अनुभव करता है। इससे अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं। इसीमें 'आकाश' ओत-प्रोत है। लगभग इन्हीं शब्दों में उद्दालक आरुणि को अन्तर्यामी समझाने का उपसंहार किया था। यों पूर्वोक्त का पुनरुल्लेख क्यों? इसका समाधान करते हैं—पूर्व में गौतमके (आरुणिके) द्वितीय प्रश्नका उत्तर देते हुए जिसे अंतर्यामी कहा था, वही यह अक्षर है, उससे अन्य नहीं। यही स्पष्ट करने के लिये मुनिश्रेष्ठ ने पूर्वोक्ततुल्य वाक्य कहा। गार्गी को वास्तवमें यह पूछना चाहिये था लेकिन उसने पूछा नहीं। अतः महर्षि को स्वयं स्पष्ट करना पड़ा ताकि इस बारे में कोई शंका रह न जाये कि शुद्ध आत्मा अक्षर है। माया रूप उपाधि से सृष्टि आदि करने पर वही अंतर्यामी है। ये कोई अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं।।३८५।। इस सारे संसार का वह साक्षी है। सभी दृश्य उसे नहीं विषय कर पाते। उससे अन्य कोई जीव भी नहीं जैसे भीतसे घड़ा अन्य होता है।।३८६।। हे गार्गी! साक्षी को अनुभूयमान जो यह आत्मा को ढाँकने वाला आकाश है, वही स्थूल-सूक्ष्मात्मक इस विक्षेप का कारण है और हमेशा इस अक्षर में ही प्रतिष्ठा पाये रहता है।।३८७।।

जैसे बादल से शीतल वर्षा होती है ऐसे ही कानों में लगी भेदवाणीश्रवणरूप दावाग्नि के उपशमका हेतु यह वाक्यरूप अमृत याज्ञवल्क्य से गार्गी ने सुना जो अपने आप में एक आश्चर्य था। उसके नेत्र आनंदाश्रुओं से भर गये, वह रोमांचित हो गयी और उसका मन प्रसन्न हो गया। कृपायुक्त हो वह ब्राह्मणों से कहने लगी।।३८८-३८९।।

---

१. न हि द्वे ब्रह्मणीइत्यादिभाष्यमप्यनुसन्धेयम्।

श्रुत्वेदमद्भुतं गार्गी याज्ञवल्क्याद् घनाघनात्। वाक्यामृतं तदा कर्णदावाग्निपरिहारकृत्। ।३८८।।

आनन्दपूर्णनयना समुत्थिततनूरुहा। प्रसन्नमानसा विप्रानिदमाह कृपान्विता। ।३८९।।

गार्गी पराजयं स्वीकरोति

ब्राह्मणाः शृणुतेदं मे पक्षपातविवर्जितम्। वचनं यत् सभामध्ये वक्ष्याम्यात्ममनोगतम्। ।३९०।।

मुनिप्रशंसा

पुरुषा बहवो दृष्टाः प्रासादा धवला इव। धुरन्धरसमाः केचित् केचिच्छुकनिभाननाः। ।३९१।।

केचित् पद्मपलाशाक्षा अन्धैर्हि सदृशास्तथा। नेत्राभिरामा अपरे चित्रेषु लिखिता यथा। ।३९२।।

दृष्टाः केचिन्महाभागाः सहसाऽऽह्लादकारिणः। उदर्के दुःखबीजानि कुपथ्याशनसन्निभाः। ।३९३।।

व्याघ्रेण सदृशाः केचिद् केचिन्मर्कटसन्निभाः। अज्ञानमदिरापानविमूढधिषणास्तथा[1]। ।३९४।।

विक्षेपस्य यः कारणं स उक्तेऽक्षरे प्रतिष्ठित इति सम्बन्धः। ।३८७।। द्वादश्याः कण्डिकायाअर्थमुपबृंहयति—श्रुत्वेति त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकैः। याज्ञवल्क्यरूपाद् घनाघनाद् मेघादुत्थितं वाक्यरूपम् अमृतं कर्णयोर्दावाग्नेः सन्तापस्य हारकम्, अत एव अद्भुतं श्रुत्वा श्रोत्रपुटेन गृहीत्वा गार्गी प्रसन्ना विप्रानिदमाह इति द्वयोरन्वयः। ।३८८-३८९।।

गार्गीवाक्यमभिनयति—ब्राह्मणा इत्यादिना। हे ब्राह्मणाः! इदं मे वचनं शृणुत । कीदृशम्? पक्षपातहीनम् आत्ममनोगतं च, आत्मीयमनसि आलोचनरूपेण स्थितम्। 'इदं' किम्? यत् सभामध्ये वक्ष्यामि इति। ।३९०।।

याज्ञवल्क्य एव पुरुष इति वक्तुं तत्त्वज्ञानहीनत्वेन इतरान् निन्दति—पुरुषा इति। यद्यपि बहबो बहुविधाः पुरुषाः दृष्टाः तथापि याज्ञवल्क्यसमो न दृष्ट इति वक्ष्यमाणेन (श्लो.४१३) सम्बन्धः। तथाहि—केचिद् धवलप्रासादवद् दूरतो रमणीया अपि तमोऽतिशयाज्जडा एव दृष्टाः। तथा केचिद् धुरन्धरैर्भारवाहकैः वृषभादिभिः समाः, बाह्यशास्त्रार्थस्य स्वयमनुपयोगात्। केचित् तु शुकसारिकादिवद् वाचा परचित्तहारित्वेऽपि स्वभाषितस्यार्थमजानाना दृष्टा इति। ।३९१।। केचिदिति। केचित् पद्मदलाक्षा अपि अन्धा दृष्टाः, वस्तुतत्त्वाऽदर्शनात्। केचिद् रमणीयदर्शना अपि चित्रलिखितवत् कार्याक्षमा एवेति। ।३९२।। दृष्टाः केचिदिति। केचित् तु लोकदृष्ट्या महाभागाः सदसि सदुपदेशकत्वात् सहसा आपातम् आह्लादकारिणः अपि रहस्यसदुपदेशकत्वाद् उदर्के परिणामे दुःखबीजभूता दृष्टाः, अत एव कुपथ्यभोजनसमा इत्यर्थः। ।३९३।। व्याघ्रेणेति। केचिद् व्याघ्रवत् पराऽभिभवपराः। केचित् च मदिरामत्तकपिवद् अतिचपला अज्ञानरूपमदिरापानमत्तत्वाद् दृष्टा इति। ।३९४।। कामेति। केचित् कामस्य शत्रोः

हे ब्राह्मणो! सभा में मैं अपने मनकी पक्षपात रहित बात कहती हूँ, आप सुनें। ।३९०।। मैंने बहुतेरे पुरुष देखे हैं पर याज्ञवल्क्यके समान आज तक कोई नहीं देखा। कुछ लोग उजले महलों जैसे दूर से तो रमणीय होते हैं पर समझ-बूझसे वंचित हुआ करते हैं। अन्य पुरुष भारवाहकों के तुल्य होते हैं जिन्हें शास्त्र व अर्थ याद तो है लेकिन खुद उनके काम वह नहीं आ पाता। कुछेक का मुँह तोते-सा होता है, जो दूसरों का मन हर लेने वाले वचन ही जानते हैं, उन वचनों के तात्पर्य से अनभिज्ञ हैं। बहुत-से लोगों की आँखें कमल की पंखुड़ियों जैसी सुन्दर होती हैं लेकिन बेचारे हैं अंधों के समान क्योंकि वास्तविकता नहीं देख पाते। ऐसे भी हतभाग्य हैं वे जिन्हें देखते ही मन प्रसन्न हो जाये पर वे मानो चित्रमें मढ़े हुए हैं, कुछ भी कार्य नहीं संपादित कर सकते। ।३९१-९२।। जैसे कुपथ्य खाना भला लगता है, पीछे पछताना पड़ता है, ऐसे भी कुछ लोग देखे : वे महाशय चार लोगों के सामने तो सदुपदेश देते हैं अतः आपाततः लगता है सुखकारी हैं पर एकान्त में ऐसी शिक्षा दे देते हैं जो फलतः दुःखबीज बो जाती है!। ।३९३।। कोई तो बाघ की तरह दूसरों पर

१. अज्ञत्वे सर्वज्ञताभिमानः किंचिज्ज्ञत्वे बह्वबुद्धतादर्शनं सार्वज्ञ्ये च मौनावलम्बनमिति प्रसिद्धः पन्थाः।

कामक्रोधादिशत्रूणां केचित्तत्र वशं गताः। त्रैवर्णिकाः सुरास्तद्वद् वेदवेदाङ्गपारगाः।।३६५।।

स्वप्ने जागरणे चैषां वैषम्यं नावलोकितम्। आदावन्ते सदा जन्तुरज्ञानेन समावृतः।। मध्ये त्रैवर्णिकानां स्याद् देवानामपि बोधनम्।।३६६।।

विदुषां पदवाक्यादि सप्रमाणतया क्वचित्। क्वचिद् बुद्धिर्विवृद्धैव नैवात्मविषये क्वचित्।।३६७।।

आत्मनो विषये येषां ज्ञानमस्ति महात्मनाम्। असमग्रं समग्रं च न तु कार्यक्षमं क्वचित्।।३६८।।

वशं गताः दृष्टाः, केचित् क्रोधस्य, केचिन्मोहस्येति। येऽपि शास्त्रोक्तवृत्तिशालित्वेन सुरा देवाः—'द्वया ह वै प्राजापत्या' इति (बृ.१.३.१) श्रुत्यनुसारित्वेन प्रसिद्धाः—वेदवेदाङ्गपारगाः तेऽपि त्रैवर्णिकाः सत्त्वादिगुणत्रयप्रयुक्तरागशालिन एव दृष्टाः, न तु गुणातीतत्वं कुत्रचिद् दृष्टमिति भावः। अत एव भगवतोक्तं 'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।' इति।।३६५।। उक्तार्थे त्रिगुणाऽज्ञाननिद्राया अनुत्थानं हेतुतयाऽऽह—स्वप्न इति। यत एषां सुराणां स्वप्नजागरणयोः विशेषो न दृष्टः। जागरणस्य हि स्वप्नाद् निद्राम-ध्यगतादयमेव विशेषो यद् निद्राविरोधित्वं, तच्चैषां त्रैगुण्याभिमानिनां नास्ति, एषां बोधेन अज्ञानोच्छेदस्य अकरणादिति भावः। उक्तमाशयं स्फुटयति—आदाविति। यतोऽयं जन्तुरादौ पूर्वं जन्मनो वा जागरणाद्वा अज्ञाननिद्रया वृतः प्रसिद्धः; अन्ते च तयोरुत्तरत्र च प्रसिद्धः, तथा सदा आवृतो ज्ञेय इति शेषः। यतः त्रैवर्णिकानां देवानाम् उक्तलक्षणानां यद् बोधनं तत्पदार्थविषयको बोधः सोऽपि अज्ञाननिद्राया मध्यम एव स्याद् न त्वन्ते। लौकिकप्रमाणैः मूलाऽज्ञानस्याऽभिभवमात्रं क्रियते न तूच्छेद इति सिद्धान्तस्य प्रतिष्ठितत्वादिति भावः।।३६६।। उक्तार्थे हेतुतया तेषां सर्वाधिष्ठानप्रत्यगात्मपरत्वाभावमाह—विदुषामिति। यद्यपि लोके पदवाक्यादि विदुषां पदं वाक्यम् आदिपदग्राह्यं प्रमाणं धर्ममर्यादां च जानतां सप्रमाणतया पदादिस्वरूपे प्रमाणभूतैः व्याकरणमीमांसान्याय-धर्मशास्त्रैः सहिततया क्वचित् क्वचिद् विषये बुद्धिर्विवृद्धा दृष्टा, तथापि आत्मनो विषये देशे, उपलब्धिस्थानभूते वेदान्तशास्त्र इति यावत्, तद्बुद्धेः विवृद्धिः तत्परता न दृष्टेति शेषः।।३६७।। आत्मन इति। आत्मशास्त्रे येषां ज्ञानं दृष्टं तदपि प्रायः असमग्रं दृष्टम्। समग्रत्वेऽपि प्रतिबन्धकवशात् कार्यं मूलाज्ञानोच्छेदरूपं कर्तुमसमर्थं दृष्टम् इत्यर्थः।।३६८।। समग्रत्वेऽपि ज्ञानस्य कार्यारम्भे प्रतिबन्धकस्वरूपं सदृष्टान्तं निरूपयति—यथा भ्रष्टा इत्यादिना।

झपटते ही रहते हैं, अन्यों को पराभूत करने में ही यत्नशील होते हैं। अज्ञानरूप शराब से जिनकी बुद्धि असन्तुलित हो चुकी है, ऐसे बंदर की तरह अतिचपल पुरुष भी मैंने देखे हैं।।३६४।। प्रायः लोग काम क्रोध आदि शत्रुओं में से किसी एक के या सभी के वशीभूत मिलते हैं। वेद-वेदांगों में पारंगत, दैवीसंपत् को अभिलक्षित कर पैदा हुए ब्राह्मणादि भी सत्त्वादि गुणों के परवश ही दीखे, गुणों से अतीत कोई नहीं मिला।।३६५।। ऐसों के सोने और जगने में मुझे कोई अंतर नहीं मिला! ये हमेशा त्रिगुणात्मक अज्ञानकी नींदमें ही रहते हैं। यदि जगे होते तो निद्रारूप अविद्या मिट गयी होती। जन्मसे और जगने से पहले जैसे ये जन्तु अज्ञान से आवृत थे बाद में भी वैसे ही आवृत रहते हैं। यों ये हमेशा ही सोये पड़े रहते हैं। दैवी संपत् से संपन्न त्रैवर्णिकों को जो कोई भी बोध होता है वह अज्ञाननिद्रा के रहते ही होता है क्योंकि महावाक्य से अन्य सभी प्रमाण मूलाज्ञान को केवल कुछ समय तक, सीमित परिप्रेक्ष्यमें कार्य-अक्षम बना पाते हैं, उसका उच्छेद नहीं कर सकते।।३६६।। पद-वाक्यादि शास्त्रों के प्रामाणिक जानकारों की भी बुद्धि किसी-किसी विषयमें ही उपचित होती है, परमात्मा के बारे में या उसके प्रतिपादक वेदान्तशास्त्रमें भी उनकी बुद्धि की गति कहीं नहीं मिली।।३६७।। जिन महात्माओं में आत्मविषयक ज्ञान है वह भी प्रायः अधूरा ही मिला। जिन दुर्लभ पण्डितोंमें सारा ज्ञान मिला उनमें भी वह प्रतिबद्ध होने से मूलाज्ञानका समापन रूप अपना फल नहीं पैदा कर पाया था।।३६८।।

यथा भ्रष्टाः स्थिता धाना न फलाय कथञ्चन। एवं कामादिचित्तानां ज्ञानं न फलदं क्वचित्।।३९९

अहङ्कारोऽत्र संसारकारागृहविधारणे। मूलस्तम्भस्ततः कामक्रोधाद्याश्च परे स्मृताः।।४००।।

अहङ्कारो ज्ञानप्रतिबन्धकः

मूलस्तम्भे स्थिते शाला न नश्यति यथा तथा। अहङ्कारे स्थिते नाशं संसारोऽपि न गच्छति।।४०१।

न पश्यामि क्वचिज्जन्तुमहङ्कारविवर्जितम्। कामाद्यन्यतमेनैते द्वाभ्यां वा बहुभिश्च वा।। दृश्यन्ते रहिता विप्रा नाऽहङ्कारविवर्जिताः।।४०२।।

[1]कामाद्याः शत्रवः सर्वे भवन्ति विदिता अमी। शास्त्रात्स्वानुभवाद् विप्रा अहङ्कारविवर्जिताः।।४०३।।

अहङ्कारात् सुखं नास्मिन् लोके प्राप्नोति कर्हिचित्। अमुं दोषं समाश्रित्य भ्रान्तो भवति तत्क्षणात्।।४०४।।

यथा अग्निसंयोगरूपप्रतिबन्धकवशाद् हतशक्तयो धाना बीजानि फलं जनयितुं न शक्ता एवं कामक्रोधादिप्रतिबन्धकसमानाधिकरणं ज्ञानम् अपि न फलदम् इत्यर्थः।।३९९।।कामाद्यपेक्षयाऽपि प्रतिबन्धकतायामहङ्कारोऽग्रगण्य इत्याह—अहङ्कार इति। संसार एव कारागृहं जीवानां बन्धनालयः तस्य विधारणे पतनप्रतिबन्धे हेतुभूतो मूलस्तम्भरूपः अहङ्कारो मतः। ततः तमाश्रित्य परे कोणस्तम्भादिभूताः कामक्रोधादयो मताः इति।।४००।।

उक्तं स्फुटयति—मूलेति। स्पष्टम्।।४०१।। अहङ्कारस्य सर्वत्र अनुगमं समवेतविप्रोदाहरणेनाह—न पश्यामीति। अहङ्कारः सर्वजन्तुषु प्रतिष्ठितो यत एते विप्राः कामादीनां मध्ये एकेन द्वाभ्यां बहुभिः दोषैर्हीना अपि अहङ्कारविवर्जिता न दृश्यन्त इत्यर्थः।।४०२।। अहङ्कारस्य परमदोषतां विशदयन् मित्राकारशत्रुवद् अयमनिष्टं कुर्वन्नपि लक्ष्यत इत्याह—कामाद्या इति। हे विप्राः! कामादीनां शत्रुत्वं शास्त्रतो वा अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्वानुभवाद् वा विदितं परीक्षितमपि प्रायो भवति। अहङ्कारस्य शत्रुत्वं तु अधीतशास्त्रैरपि न ज्ञायते, तेष्वहङ्कारदर्शनादित्यर्थः।।४०३।। तत्प्रयुक्तमनर्थमभिनयति— अहङ्कारादिति। एतल्लोकेऽपि दुःखप्रदोऽहङ्कारः। तथा हि—अमुम् अहङ्काररूपं दोषं मद्यसमं समाश्रित्य भ्रान्तो विपरीतदर्शी संश्च पितृप्रभृतीन् अवजानाति अनादृतान् करोतीति द्वयोरर्थः।।४०४-४०५।।

जैसे भुँजे हुए धान सफल खेती के कामके नहीं, ऐसे ही कामना आदि से युक्त चित्तों में बनी आत्माकार वृत्ति भी फलप्रद हो ऐसा कहीं संभव नहीं।।३९९।। जीवों को बन्धक बनाये रखने वाली जेल यह संसार ही है। यह जेल गिर न पड़े इसके लिये इसे जिस प्रधान खम्भे का सहारा है वह है अहंकार। उसी के सहायक स्तम्भ होते हैं काम-क्रोधादि। अतः कामादिकी अपेक्षा अहंकार ही अधिक प्रतिबंधक है।।४००।। मुख्य स्तम्भ सुदृढ रहे तो जैसे घर गिर नहीं सकता ऐसे ही अहंकार (अनात्माभिमान) पुष्ट रहते संसार-कारागार समाप्त होना असंभव है।।४०१।।

मुझे कोई जन्तु अहंकारसे रहित नहीं मिला। विप्रों में कोई कामनादिमें से एक, दो या अनेक दोषों से रहित मिलते भी हैं किंतु अहंकारसे शून्य वेदज्ञ भी नहीं दीखते।।४०२।। हे ब्राह्मणो! शास्त्र और निजी अनुभव से इन कामनादि की शत्रुता तो पता चल भी जाती है लेकिन अहंकार प्रमुख शत्रु है यह रहस्य ही बना रहता है, तभी तो शास्त्र पढ़े हुए भी अहंकारी देखे जाते हैं।।४०३।। अहंकार से इहलोकमें कभी सुख नहीं मिलता। इस अहंकाररूप दोष का सहारा लेना शराब के व्यसन जैसा है। यह तुरंत विपरीतदर्शी बना डालता है। पिता, माता, देवता, बंधु, मित्र, विद्वान् ब्राह्मण—इन

---

१. अहंकारजये तस्य शत्रुतायाअप्रसिद्धिं हेतू करोति—कामाद्याइति।

अवजानाति पितरं मातरं देवतामपि। बान्धवानपि मित्राणि ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान्।।४०५।।
कालसर्पसमान् राज्ञः प्रसुप्तानिव पन्नगान्। अनेकबुद्धिसम्पन्नांस्तद्वत्त्रैवर्णिकानपि।।४०६।।
अवजानन् सदैवं स निखिलान् स्थिरजङ्गमान्। सद्य एव फलत्येष दुःखं प्राणान्तमाप्नुयात्।
प्रत्यवायात्परत्राऽपि नरकं रौरवं व्रजेत्।।४०७।।

मुनिर्निरहङ्कारः

यतोऽहङ्कारदोषोऽपि याज्ञवल्क्ये न दृश्यते। कुतः कामादयोऽन्यस्मिन् स्वस्मिन् सत्येव सन्ति ये।
पुरुषो याज्ञवल्क्योऽयं त्रिलोक्यां नास्ति चाऽपरः।।४०८।।

अनेन पूर्णमखिलं विश्वं सदसदात्मकम्। एक एव पुमान् लोके विद्यते नापरः क्वचित्।। दृष्टः
शास्त्राद् मया विप्रा आन्तरानुभवादपि[1]।।४०९।।

कालेति। तथा कृष्णवर्णसर्पसमान् राज्ञः अपि अवजानाति। तथा प्रसुप्तसर्पसमान् महाबुद्धीन् त्रैवर्णिकानपि अवजानातीत्यनुषङ्गः।।४०६।। ततः किं भवति? इत्यत आह—अवजानन्निति। सदैवं निखिलानवजानन् सन् एष जन्तुः सद्यः शीघ्रम् एव फलति फलवान् भवति। फलशब्दाद् अर्शआद्यजन्तात् क्विप्। ततश्चाऽत्रैव लोके प्राणान्तदुःखसमं दुःखमाप्नुयात्, अवज्ञाजन्यात् प्रत्यवायाद् दुष्कृताच्च परत्र परलोकेऽपि रौरवं तत्समं जन्ममरण-प्रबन्धं च प्राप्नोतीत्यर्थः।।४०७।।

एतादृशोऽहङ्कारः सर्वदोषाणां यो व्यापकः सोऽपि यदा याज्ञवल्क्ये नास्ति तदा तद्व्याप्यानां कामादीनां का सम्भावनेत्याह—यत इति। ये कामादयः स्वस्मिन् स्वकीये, अन्यस्मिन् परकीये च सति अहङ्कारवशाद् भासमाना एव भवन्ति—इति चतुर्थपादार्थः। फलितमाह—पुरुष इति।।४०८।। पूरणात् पुरुष इति व्युत्पादितश्रौतप्रसिद्धोप्ययमेव पुरुष इत्याह—अनेनेति। अनेन ब्रह्मविद्यया सर्वात्मभूतेन याज्ञवल्क्येन। त्वया अयमेवंभूतः कथं ज्ञातः? इत्याकाङ्क्षायामाह—दृष्ट इति। मया शास्त्रानुभवाभ्यामस्य स्वरूपं विज्ञातमित्यर्थः।।४०९।। इदानीमिदमाश्चर्यं

सभी की अवज्ञा करने केलिये प्रेरित करना अहंकार का स्वभाव है।।४०४-४०५।। राजा लोग काले नाग जैसे खतरनाक हुआ करते हैं; महान् बुद्धिमान् त्रैवर्णिक भी सोये साँपों की तरह सावधानीसे व्यवहार्य होते हैं; किन्तु अहंकार के नशेमें जन्तु हमेशा ऐसों का अनादर करने में तत्पर रहता है। जब बलशाली और समझाने वालों की ही वह हेठी करता है तब जो आदरणीय स्थावर हैं—अश्वत्थादि, देवप्रतिमादि—उनका क्या सम्मान करेगा! किंतु प्रायः यही देखा जाता है कि अभिमानी को जल्दी ही प्राणांततुल्य दुःख यहीं मिल जाता है। अवज्ञाजन्य पापसे आगे तो रौरव नरक उसे जाना ही है।।४०६-४०७।।

महर्षि याज्ञवल्क्य में क्योंकि अहंकार नामक महादोष भी नहीं दीखता इसलिये इसमें कामनादि दोष होने की संभावना ही कहाँ ? अहंकारयुक्त 'मेरा-तेरा' भेद होने पर ही कामना आदि कार्य करते हैं, अतः बिना अहंकार के उनका होना संभव नहीं। अतः मेरा तो निश्चय है कि त्रिलोकी में यह याज्ञवल्क्य ही एक पुरुष है—पुरुष कहलाने योग्य है—और कोई नहीं।।४०८।। हे विप्रो! ब्रह्मज्ञानसे सर्वात्मा हुए इस याज्ञवल्क्य से सद्-असद् रूप (व्यक्ताव्यक्त, कार्यकारण) सारा विश्व पूर्ण है। लोक में पुरुष एक ही होता है, अन्य भी हो ऐसा मान्य नहीं। (परम पुरुष से अभिन्न होने पर ही मुख्य पुरुषता होती है और पुरुषोत्तम तो एक ही है।) मैंने शास्त्र और अपने भीतरी अनुभवसे याज्ञवल्क्य की पुरुषता पहचानी है।।४०९।। 'मांसमय नेत्रों से वह पुरुष साफ-साफ देखा नहीं जा सकता' इस वेदोक्ति को मैं आज असत्यसा हुआ समझती हूँ क्योंकि मैं इन मांसनेत्रों से ही सामने खड़े इस पुरुष को देख रही हूँ जिसे याज्ञवल्क्य

१. पूर्वमहमेव पुमानित्यचूचुददत्र च याज्ञवल्क्यएवेति विरोधो मा शङ्किः परब्रह्मात्मनैव स्वस्यापि पुंस्त्वमब्रवीद् याज्ञवल्क्यस्यापि तत्त्वं तदात्मनैव ब्रवीति; योऽहं स एवासाविति प्रत्यभिज्ञाय वदति गार्गीति न पूर्वापरविरोधः। स्वयं पुमानेव पुरुषं जानीयान्नान्यः।

मांसजाभ्यां न नेत्राभ्यां शक्योऽसौ द्रष्टुमञ्जसा। इति वाक्यं श्रुतेर्यत्तद् मन्ये सत्यमिव स्थितम्॥४१०
आभ्यामेव च नेत्राभ्यां पश्यामि पुरतः स्थितम्। पुरुषं याज्ञवल्क्याख्यमेनं वाजसनेयकम्॥४११॥
धन्योऽस्य जनकस्तद्वज्जननी च वसुन्धरा। राजाऽहं च तथा विप्राः सभा चाऽनेन मण्डिता॥४१२
नानेन सदृशः कश्चिदासीदस्ति भविष्यति। पुमान् जगति विप्रेन्द्रा जन्तुरन्यः कथं भवेत्॥४१३॥

आदरणीयोऽसौ

मा कृढ्वं मथनं विप्राः शीतले चन्दनोपमे। क्षीरोदधौ याज्ञवल्क्ये ह्यस्मिन् वाजसनेयके॥४१४॥
कालकूटं विषं मा भूद् वह्निर्वा विश्वदाहकः। क्षीरोदधिसमादस्माद् मुनीशाद्धरिचन्दनात्॥४१५॥
अहङ्कारं ततो विप्रा लोकद्वयविनाशनम्। परित्यज्य सभामध्ये नमस्कुर्वन्त्वमुं गुरुम्॥४१६॥
उपक्रान्तो विवादोऽयं वृथाऽस्माभिरबोधतः। याज्ञवल्क्येन विज्ञानवादिनाऽन्ते सुदुःखदः॥४१७॥

पश्यतेत्याह—मांसजाभ्यामिति द्वाभ्याम्। 'न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा' (मुं.१.३.८) इत्यादिश्रुतेः समानार्थं 'यद्' इति वाक्यम्। 'इति' किम्? असौ पुरुषो मांसनेत्राभ्यां न दृश्यते इति तद् इदानीं सत्यमिव असत्यतां भ्रान्तिगोचरतामपि स्पृशत् स्थितं, यतोऽहं मांसजनेत्राभ्याम् एनं याज्ञवल्क्यं पुरुषं पश्यामि इति द्वयोः सम्बन्धः। वस्तुतस्तु श्रुतिवाक्यं सत्यमेव, मांसनेत्रैर्भवद्भिरेतत्तत्त्वाऽदर्शनात्। प्रत्यभिज्ञायामतीतांशग्रहणे संस्कारस्येव एतत्तत्त्वदर्शने मदीयशास्त्रान्तरानुभवयोरेव व्यापारात्, शास्त्रान्तरानुभवमांसनेत्राणां त्रयाणामेकलोलीभावविवक्षया नेत्रदृश्यताऽभिधानेऽप्यविरोधादिति भावः॥४१०-४११॥

एतत्सम्बन्धिनः सर्वे कृतार्था इत्याह—धन्य इति॥४१२॥ तस्मादेतत्साम्यमन्यत्र नास्तीत्याह—नानेनेति। स्पष्टम्॥४१३॥ तस्मात् क्षीरोदधिसमे चन्दनसमे चाऽस्मिन् विवादरूपं मथनं मा कुरुतेत्याह—मा कृढ्वमिति॥४१४॥ अतिमथने कृते यथा क्षीराब्धेः विषं, चन्दनाच्च वह्निः जायते, तद्वद् भवतां विनाशकः शापो माऽस्माज्जायतामित्याह—कालकूटमिति॥४१५॥

तर्हि किं कुर्मः? इत्याकाङ्क्षायामाह—अहङ्कारमिति। स्पष्टम्॥४१६॥ एतस्य नमस्कारेणाऽर्चने सर्वाऽभीष्टसिद्धिः 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' (मुं.३.१.१०) इत्याथर्वणश्रुतेरिति वक्तुं प्रस्तुत-विचारारम्भजनितदुष्कृतस्य प्रायश्चित्तमपि एतन्नमस्क्रियैवेत्याह—उपक्रान्त इति पादोनत्रिभिः श्लोकैः।

और वाजसनेयक कहते हैं। या वह वेदोक्ति आज सत्य ही हो गयी है! केवल आँखों से दीखता तो आप सब भी देख लेते। यह तो जैसे प्रत्यभिज्ञा में संस्कारसहकृत इन्द्रिय से ज्ञान होता है ऐसे शास्त्र, स्वानुभव और नेत्र तीनों मिलने पर पुरुषकी पहचान हो पाती है। व्यवहारदशा में जीवन्मुक्त चक्षुरादि का विषय रहता ही है, पर उसका महत्त्व उक्त दोनों सहायकों के बिना सर्वसामान्य केलिये तिरोहित ही रहता है।॥४१०-४११॥

इस महामुनि के माता-पिता व जन्मभूमि धन्य हैं। राजा जनक, मैं तथा सभी विप्र इसके दर्शन और उपदेश पाकर धन्य हैं। इसी से सभा की शोभा है। इस जैसा कोई पुरुष भी जगत् में न था, न है, न होगा, तो कोई अन्य जंतु इसके समान कहाँ से होगा!॥४१२-४१३॥ हे विप्रो! क्षीरसमुद्र व चंदन की तरह शीतल इस वाजसनेय याज्ञवल्क्य से विवाद कर इसका और मंथन मत कीजिये। अधिक मथने पर क्षीरसागरने कालकूट उगल दिया था। चंदन भी ज्यादा रगड़ने पर आग पैदा करता है। आपके अधिक विवादसे कहीं सर्वनाशक शाप इसके मुँह से न निकल पड़े।॥४१४-४१५॥ अतः इह-परलोकों में दुर्गतिहेतु अहंकार छोड़कर सभा में इस जगद्गुरु को सब प्रणाम कीजिये।॥४१६॥ यह विवाद

उल्लङ्घनार्थमस्माभिः पदा स्पृष्टो मुनीश्वरः। ज्ञानवारांनिधिस्तस्य मुक्तिः पापस्य भो द्विजाः।।४१८।।

एतस्मै याज्ञवल्क्याय सततं या नमस्क्रिया। विद्यते न परा काचिदिहाऽमुत्र सुखप्रदा।।४१९।।

ब्रह्मोद्यं[1] ब्राह्मणं नैनं कदाचित् कोऽपि जेष्यति। किमु युष्मासु विप्रेन्द्रा देवैरप्येष दुर्जयः।।४२०।।

इत्युक्त्वाऽवनता भूत्वा गार्गी वाचक्नवी तदा। याज्ञवल्क्याय मुनये प्रश्नादुपरराम ह।।४२१।।

[2]गार्गीवाक्यपयः पीतं सर्वैस्तैर्ब्राह्मणोत्तमैः। प्रणेमुः शिरसा केचिद् मनसाऽन्ये परे गिरा।।४२२।।

याज्ञवल्क्याय मुनये ब्रह्मोद्याय महात्मने। विहायैकं विदग्धाख्यं शाकल्यं कालमोहितम्।।४२३।।

शाकल्यस्य दुरात्मता

विविधाभिरसूयाभिर्याज्ञवल्क्यस्य कालतः। दग्धो भविष्यतीत्येवं ज्ञात्वा नक्षत्रसूचकाः।।४२४।।

विदग्ध इति तस्यैतन्नाम चक्रुर्महाधियः। रूढ्या पाण्डित्यकथनं पित्रोः सुखकरं तदा।।४२५।।

उपक्रान्तः प्रारब्धः। विज्ञानवादिना विज्ञानेन वस्तुतत्त्वाऽपरोक्षेण साधनभूतेन वादकर्त्रा याज्ञवल्क्येन सह अस्माभिः परोक्षज्ञैः; लोकेऽपि परोक्षाऽपरोक्षदर्शिनोर्विवादोऽनुचितत्वेन प्रसिद्ध इति भावः। अन्ते परिणामे।।४१७।। उल्लङ्घनार्थमिति। अयं मुनिः ज्ञानसिन्धुः अस्माभिः प्रतिवादिभिः उल्लङ्घनार्थं पदा स्पृष्टः पादस्पर्शमिव वादित्वं नीतः, तत्प्रयुक्तपापस्य मुक्तिः प्रायश्चित्तभूता एतत्प्रीत्यर्थं नमस्क्रिया एवेति द्वयोः सम्बन्धः। कीदृशी नमस्क्रिया? आथर्वणश्रुतेः लोकद्वयहितावहेति।।४१८-४१९।। एतज्जयाशां तु दूरतः परिहरध्वमित्याह—ब्रह्मोद्यमिति। व्याख्यातप्रायम्।।४२०।। अष्टमब्राह्मणार्थमुपसंहरति—इत्युक्त्वेति। याज्ञवल्क्याय तं प्रीणयितुम्।।४२१।।

अथ नवमब्राह्मणस्य उक्तात्मनो विभूतिख्यापनपूर्वकं स्वरूपनिर्धारणपरस्य अर्थमध्यायान्तं यावद् ग्रन्थेन निरूपयन् वक्ष्यमाणोपयोगाय विदग्धस्य दौरात्म्यं तावत् प्रपञ्चयति—गार्गीवाक्यपय इत्याद्यष्टचत्वारिंशच्छ्लोकैः। ततो गार्ग्या वाक्यरूपं पयः क्षीरं सर्वैः द्विजैः श्रोत्रपात्रैः पीतं, तेन विमुक्ताऽहङ्काररूपपित्तविकाराः सन्तो याज्ञवल्क्याय शारीरादिकां प्रणतिं यथारुचि चक्रुः। तेषु विदग्धाख्य एकः शाकलगोत्र उक्तं न चकार, यतः कालेन संनिहितमृत्युना विपर्यस्ततरमतिः—इति द्वयोरर्थः।।४२२-४२३।। विविधाभिरिति। नक्षत्रं सूचकं भाव्यर्थबोधकं येषां ते ज्योतिर्विदः कालान्तरे भाविनीं दशामालोच्य *वि*विधं याज्ञवल्क्यासूयादिभिः *दग्धो* भविष्यति इति योगार्थं मनसि निधाय विदग्ध इति तस्य नाम चक्रुः। कीदृशं नाम? रूढ्या समुदायशक्त्या पाण्डित्यस्य नैपुण्यस्य प्रकाशकत्वेन मातापित्रोः

हम लोगों ने बिना समझे-बूझे व्यर्थ ही प्रारंभ कर दिया। हमें तो परतत्त्वकी परोक्ष ही जानकारी है, जबकि यह जो कुछ कहता है उसके पीछे इसके स्वानुभवका बल है। इससे हठपूर्वक विवाद करना परिणाममें अत्यधिक कष्टप्रद बन जायेगा। यह मुनीश्वर ज्ञानसागर है, पर हमने प्रतिवादी बनकर मानो इसे लाँघने केलिये इसका पैरों से स्पर्श कर दिया है। इस पाप से छुटकारे का एक ही उपाय है कि इसे हमेशा नमस्कार करें। और किसी तरीके से इस लोक व परलोक में हमारा कल्याण नहीं हो सकता।।४१७-४१९।। ब्रह्मप्रतिपादक इस ब्राह्मण को कोई नहीं जीत सकता। आप विप्रेंद्रों की क्या कही जाये, देवताओं से भी यह अजेय है।।४२०।।

यों कहकर गार्गी वाचक्नवी याज्ञवल्क्य के प्रति श्रद्धावनत हुई और अन्य कुछ पूछने से विरत हो गयी।।४२१।।

---

१. ब्रह्मिष्ठताया ऐकरूप्यात्तारतम्यं ब्रह्मप्रतिपादन एव तत्र चायं निपुणतमोऽवाच्यस्यापि 'ब्राह्मणा अभिवदन्ती' त्येवमेनेनेरणादिति भावः। २. गार्गी मातृतयाभिप्रेत्याह—गार्गीति।

पयो यथा भुजङ्गानां विषवृद्धिं प्रयच्छति। कृतवद्वचनं गार्ग्या विदग्धस्य तथैव हि।।४२६।।

आदित्यात् प्राप्तविद्योऽयं याज्ञवल्क्यो यदा श्रुतः। असूयया तदारभ्य दग्धो विविधया द्विजः।४२७

आदित्याद्याज्ञवल्क्योऽयं शुक्लं यजुरवाप्तवान्। एवं प्रसङ्गतो वाक्यं विदग्धश्चेच्छृणोत्ययम्।।४२८।।

तदा तं भाषते विप्रो वचनं कर्णकर्कशम्। रक्तमाथर्वणं सोमात् काण्डमेष समाप्तवान्। इत्येवमादि कठिनं भाषतेऽहर्निशं जनान्।।४२९।।

अवज्ञया न चायाति विवादायाऽपि कुत्रचित्। याज्ञवल्क्येन मुनिना सूर्यशिष्येण धीमता।।४३०।।

अर्जुनाय यथा कर्णः शक्राय नमुचिर्यथा। विदग्धो याज्ञवल्क्याय तथा संस्पर्द्धते सदा।।४३१।।

सुखप्रदमिति द्वयोरर्थः।।४२४-४२५।। 'असम्भवति रूढ्यर्थे योगार्थप्रसरो ध्रुवः' इति न्यायेनापि तत्र योगार्थो ग्राह्यः, हितकरस्यापि गार्गीवचनस्य शाकल्ये प्रतिकूलतादर्शनेन नैपुण्याभावनिश्चयादित्याशयेनाह—पय इति। गार्ग्या वचनं विदग्धस्य तथैव कोपविषस्य वृद्धिं कृतवद्—इत्युत्तरार्द्धान्वयः।।४२६।। योगार्थस्य सम्भवोऽस्तीत्याह—आदित्यादिति। द्विजः शाकल्यः।।४२७।। असूयामभिनयति—आदित्याद्याज्ञेति द्वाभ्याम्। शुक्लं यजुः आदित्याद् याज्ञवल्क्यः प्राप्तः इति वचः यदाऽयं विदग्धः शृणोति तदा तं याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य वक्तॄन् जनान् प्रति इत्येवमादि कठिनं वच उपहसन् भाषते। 'इति' किम्? एष याज्ञवल्क्यः सोमाच्चन्द्रमसो रक्तवर्णमथर्ववेदकाण्डं प्राप्तवानिति। आदिपदेन हरितमृक्काण्डं भौमादित्यादिग्रह इति द्वयोरर्थः।।४२८-४२९।। अवज्ञयेति। असूयामसहद्भिर्लोके विवादाय प्रेरितोऽपि अवज्ञया 'मत्समो नास्ति' इत्यभिधानप्रयोजिकया याज्ञवल्क्येन विवादायाऽपि नायातीति।।४३०।। स्पर्द्धया तु सदा दह्यत इत्याह—अर्जुनायेति। नमुचिः दानवः।।४३१।। नन्वीर्ष्याकुलेन विदग्धेन जनकसभायां

उसके हितोपदेश को सभी उत्तम ब्राह्मणों ने मनोयोग से सुनकर कुछ ने सिर नमाकर, अन्यों ने मनसे और किसी-किसी ने वाणीसे याज्ञवल्क्य को प्रणाम किया। एक विदग्ध नामक शाकल्य ही ऐसा था जिसका अंतकाल पास होने से वह अविवेकग्रस्त बना रहा और ब्रह्मवादी महात्मा याज्ञवल्क्य मुनि को उसने प्रणाम नहीं किया, मनमें भी उसके वाजसनेयक के प्रति आदर तो दूर असद्भाव ही स्फुरने लगे।।४२२-४२३।।

शाकल्य का जब नामकरण हो रहा था तब विद्वान् ज्योतिषियों को यह पता था कि याज्ञवल्क्य के प्रति नाना प्रकार की असूया—दोषारोपण—के कारण यह बेसमय ही जल जायेगा, अतः उन्होंने इसका नाम रखा था 'विदग्ध' (वि = विविध असूयाओं से, दग्ध = जला हुआ)। किन्तु यह शब्द पाण्डित्य अर्थ में प्रसिद्ध है, अतः उस वक्त इसके माता-पिता इस नामसे प्रसन्न ही हुए थे।।४२४-४२५।। जैसे दूध साँपों का जहर ही बढ़ाता है, ऐसे ही गार्गी के वचनों ने शाकल्य का क्रोध ही बढ़ाया।।४२६।।

विदग्ध ने जब से सुना था कि इस याज्ञवल्क्य ने साक्षाद् भगवान् आदित्य से शिक्षा पायी है तभी से यह तरह-तरह की असूयासे जला जा रहा था।।४२७।। यदि किसी प्रसंगमें किसीके मुखसे यह सुनता था कि याज्ञवल्क्य ने सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त किया है तो यह तुरंत उससे ऐसी कर्णकटु बातें सोपहास कहता 'अरे इसने तो चंद्रमासे लाल रंग का अथर्ववेद भी पाया है! इसका क्या कहना! मंगल से हरा ऋग्वेद भी तो सीखा होगा!'।।४२८-४२९।। वह याज्ञवल्क्य को अपने से इतना निकृष्ट समझता था कि उस सूर्यशिष्य बुद्धिमान् मुनि से वाद-विवाद करने भी कहीं उपस्थित नहीं होता था।।४३०।। जैसे अर्जुनसे कर्ण या इन्द्र से नमुचि राक्षस हमेशा स्पर्द्धा रखता था, ऐसे ही विदग्ध याज्ञवल्क्य के प्रति स्पर्द्धा रखता था और इस प्रकार विदग्ध याज्ञवल्क्य के प्रति स्पर्द्धा से हमेशा जला करता था।।४३१।।

याज्ञवल्क्येन गोग्रहणे विदग्धविचारः

याज्ञवल्क्येन हि यदा हृता गावः समागताः[1]। विदग्धः स्मयमानः संस्तदा तत्र व्यवस्थितः ।।४३२।।

इत्थं विचार्य मतिमानहो साहसमस्य किम्। ब्राह्मणानां परोक्षं यदेष एवं विडम्बनम्।। कुरुते कर्मणस्तस्य फलमेतत् समागतम्।।४३३।।

लोके यज्जीवनं पूर्वमस्यासीत् तद्गतं खलु। अस्माभिरप्यवज्ञातो जीवताद् भण्डवद् द्विजः।।४३४।।

तदप्ययं न जानाति रूपं पापविमोहितः। एकस्यापि पुरः शक्तः स्थातुं नाऽयं कथञ्चन। बालस्यापि च विप्रस्य कथमेषां महात्मनाम्।।४३५।।

इत्यादि बहुधा विप्रः शाकल्यो मनसा स्वयम्। विचार्यासीत् पुरा तूष्णीं गर्वपर्वतमाश्रितः।।४३६।।

गार्गीविरतौ शाकल्यकोपः

ब्रह्मकल्पान् मुनीन् दृष्ट्वा जितान् गार्ग्याश्च संनतिम्। कोपाकुलितनेत्रः सन् पादाहत इवोरगः४३७

प्रथममेव कुतो न पृष्टम्? इति शङ्कां वारयति—याज्ञवल्क्येन हीति पञ्चभिः। यदा याज्ञवल्क्येन गावो हृताः तदा तत्र समागतः अपि विदग्धः इत्थं विचार्य स्मयमानो मन्दं हसन् व्यवस्थितः। इत्थं कथम्? अहो! अस्य याज्ञवल्क्यस्य गवाहरणरूपं साहसम् अविमृश्य कृतिः। किन्तु यद् अनेन ब्राह्मणानां परोक्षे आदित्यशिष्यतादि विडम्बनरूपं पापं कृतं तस्य फलमेतत् साहसप्रवृत्तिरूपेण आगतम्; इति द्वयोरर्थः।।४३२-४३३।। लोक इति। यद् अस्य अद्ययावत् लोके जीवनमासीत् तद् अधुना गतं समाप्तम् इति ज्ञायत इति शेषः, यतः अस्माभिः अपिशब्दादन्यैश्च द्विजैः 'इति'—बुद्ध्या उपेक्षितोऽजीवत्। 'इति' किम्? अयं द्विजो विडम्बनपरः भण्डवज्जीवताद्[2] इति।।४३४।। ब्राह्मणानां पुरतस्तु विडम्बनं न निर्वहति यथा भास्वतः पुरतो नीहार इत्याशयेनाह—तदपीति। तत् प्रसिद्धं ब्राह्मणानां रूपं नीहारविरोध्यादित्यरूपसमम् एष याज्ञवल्क्यो न जानाति यतः पापमोहितः। अन्यथा येषां मध्य एकस्यापि बालस्याऽपि तेज इन्द्रेणापि असह्यं तेषां पुरतः कथमेवं कुर्यादित्यर्थः।।४३५।। इत्यादीति। स्पष्टम्।।४३६।। ब्रह्मकल्पानिति। यदा तु ब्रह्मणा समा मुनयो जिता दृष्टास्तथा गार्ग्याः प्रणतिर्याज्ञवल्क्ये दृष्टा तदा पादाहतसर्पवत् कोपाकुलो भृकुटीकुटिलललाटो निःश्वसंश्च विदग्धः दैवं मनसा 'धिग् दैवम्' इत्येवं निन्दितवान् मृतपुत्रकवद्—इति द्वयोः सम्बन्धः। भृकुटीति शब्दो यद्यपि पाणिनीये न सिद्ध्यति तथापि चण्डीपाठे भगवद्व्यासप्रयुक्तत्वात् साधुः। अत एवोक्तं मल्लिनाथेन 'यान्युज्जहार माहेशाद्व्यासो व्याकरणार्णवात्। तानि किं

यद्यपि जनक की इस सभा में शाकल्य आरंभ से ही था तथापि जब याज्ञवल्क्य ने पणभूत गायें अपने आश्रमकी ओर भेजीं तब यह दुर्मति मुस्कराते हुए वहाँ खड़ा सोच रहा था—अहो! यह कैसा अविचारपूर्ण कार्य है। अब तक जो यह पीठ पीछे ब्राह्मणों की हेठी करता था, खुद को सूर्यशिष्य कहने से अपनी श्रेष्ठता जतला कर, उस पाप का यह फल उपस्थित हुआ है कि इसने यह साहस किया। अब ब्रह्मकोपसे यह समाप्त हो जायेगा।।४३२-४३३।। अब तक जो संसारमें यह जी लिया वह मौका अब समाप्त हो गया। हम लोग तो यह सोचकर इसकी उपेक्षा किये हुए थे कि बेचारा ब्राह्मण है, भाँड़ों की तरह हाथ हिला-हिलाकर कुछ गाकर जीवन चला रहा है तो चलाने दो। किन्तु पापी मोह में पड़कर यह हमारी उदारता समझ ही नहीं पाया। हमारे एक बालक के सामने भी टिक सकने में यह किसी तरह समर्थ नहीं तो इन महान् विद्वान् तपस्वियों के सम्मुख क्या रह पायेगा जो इसने यह पण स्वीकार लिया!—यों मनमें बहुत तरह के विचार करते हुए यह मानो गर्व के पहाड़ पर चढा पहले चुप रहा था।।४३४-४३६।।

---

१. समागत इति टीकापाठः। २. शुक्लयजुरध्येतृणां हस्तस्वरप्रदर्शनमभिप्रेत्य भण्डतोक्तिः।

भृकुटीकुटिलं कृत्वा ललाटं निःश्वसन् मुहुः। मनसा गर्हयामास दैवं मृतसुतो यथा।।४३८।।

अधीतस्य बलं नैव न कुलस्य बलं तथा। मन्त्रादेर्न बलं ज्ञेयमहो दैवबलं बलम्।।४३९।।

नूनं सत्यं वचो जातं लोकानामैतिहासिकम्। निमेषादिः सर्वहरः काल एष दुरत्ययः।।४४०।।

ब्रह्मणा सदृशा विप्रा दुर्धिया केनचिज्जिताः। पाखण्डिना यथा विप्रा बालका गुरुवर्जिताः।।४४१।।

भवतीह सदा नूनमवश्यं भवितव्यता। उपायानां सहस्राणि यस्य नास्ति प्रतिक्रिया।।४४२।।

कृपणो याज्ञवल्क्योऽयमेष वाजसनेयकः। क्व च क्वेमे ह सर्वज्ञा ब्रह्मकल्पा मुनीश्वराः।।४४३।।

ममैव यशसे वाऽथ काल एष समागतः। पूर्वान् निर्जितवानेष जेष्याम्येनमहं द्विजम्।।४४४।।

गार्गीयाज्ञवल्क्ययोर्मानसं कुत्सनम्

इत्यादि मनसा भूयश्चिन्तयित्वा द्विजोत्तमः। विदग्धः प्रष्टुमारेभे याज्ञवल्क्यं मुनीश्वरम्।।४४५।।

गार्ग्या भाव्यर्थविज्ञानवत्या यत् कीर्तितं हितम्। तिरस्कृत्य प्रवृत्तस्तदनया सहितं धिया।।४४६।।

पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे।।' इति।।४३७-४३८।। किंच इत्येवं चिन्तितवानित्याह—अधीतस्येति। अध्ययनादिबलानि अभिभूय दैवबलम् एवोत्कृष्टत्वाद् बलपदं भजत इत्यर्थः।।४३९।। नूनमिति। निमेषादिरूपः कालः सर्वहरः सर्वेषामन्यथाभावकारको दुरत्ययः दुःखेनात्येतुमुल्लङ्घयितुं शक्यश्चेत्येतदितिहासे प्रसिद्धं वचः अद्य सत्यं जातम् इति।।४४०।। दैवबलस्योत्कृष्टत्वे कालस्य दुरत्ययत्वे च हेतुमाह—ब्रह्मणेति। यत इमे विप्रा ब्रह्मणा समा अपि केनचिद् अप्रसिद्धेन दुर्धिया याज्ञवल्क्येन जिताः, यथा पाखण्डिना गुरुहीना विप्रा बाला जीयेरन्निति।।४४१।। भवतीति। भवितव्यतेति भवितृप्रधानो निर्देशः। तथा च—यद्भवितव्यं तद् अवश्यं भवति इति सम्बन्धः। यस्य भवितव्यस्य उपायसहस्रमपि प्रतिक्रिया प्रतिरोधसाधनं नास्ति इत्यर्थः।।४४२।। याज्ञवल्क्यजयस्य भवितव्यताऽभावे काऽस्य जययोग्यता? इत्याह—कृपण इति। ह इति खेदे। कृपणो याज्ञवल्क्यः क्व! इमे सर्वज्ञा मुनयश्च क्व इति।।४४३।। ममैवेति। अथ वा ममैव यशो वर्द्धयितुम् एष कालो यदि एनं सर्वजेतारं जयेयमिति।।४४४।। इत्यादीति। स्पष्टम्।।४४५।। गार्ग्येति। भाविनमर्थं विजानन्त्या गार्ग्या यद् हितं कीर्तितं तदनया वक्ष्यमाणया धिया सहितं संयुक्तं यथा भवति तथा तिरस्कृत्य प्रष्टुं प्रवृत्त इत्यन्वयः।।४४६।। गार्गीविषयां विदग्धस्य दुर्भावनामभिनयति—इयमित्यादिना। मुष्करेषु प्रशस्ताण्डवत्सु, कामुकेषु इति यावत्, सस्पृहा।

जब शाकल्य ने देखा ब्रह्मतुल्य मुनि याज्ञवल्क्य द्वारा जीत लिये गये और सब जिसे सद्भावसे देखते थे वह गार्गी भी उसके प्रति सन्नत हो गयी तब पैर की ठोकर खाये साँपकी तरह वह क्रोधसे आकुल हो गया, उसकी भृकुटि चढ गयी, माथे पर त्यौरियाँ पड़ गयीं और फुफकारता-सा हुआ वह भाग्यको कोसने लगा, मानो उसका पुत्र मर गया हो! उसके मनमें आया—अध्ययन, कुल, मंत्रादि का कोई बल नहीं क्योंकि एक दैवबल (भाग्य) ही इन सबको अभिभूत कर देता है। लोगों में यह इतिहास की सूक्ति प्रचलित है कि निमेषादि रूप काल सभी के परिणाम का हेतु हो जाता है, इस काल के वशसे छूटना अशक्य है। आज यह वचन हमारे सामने सत्य हो गया। ब्रह्मा के समान वेदवेत्ता किसी दुर्बुद्धि द्वारा जीत लिये गये मानो निगुरे बच्चों को किसी पाखण्डी ने हरा दिया हो! यह निश्चित है कि जो होना ही है वह अवश्य होकर रहता है, हज़ारों उपाय भी उसे रोक नहीं सकते। बड़े खेद की बात है! कहाँ तो यह सर्वथा अज्ञानी वाजसनेयक याज्ञवल्क्य और कहाँ ये ब्रह्मसम सर्वज्ञ मुनीश्वर! इन्हें पराजित करना भवितव्यता ही कहनी पड़ेगी अन्यथा इसमें ऐसी योग्यता कहाँ ? अथवा मेरे यश केलिये ही यह समय उपस्थित हुआ होगा क्योंकि पहले वालों को तो इसने जीत लिया, अब मैं इस ब्राह्मण को हरा दूँगा।।४३७-४४४।।

इयं कुमारी युवतिर्ब्राह्मणानां गृहाद्बहिः। निर्गता स्वैरिणी नित्यं मुष्करेषु धृतस्पृहा।।४४७।।

सदाचारा इमे सर्वे सभास्था ये द्विजोत्तमाः। इमां नग्नां न चेक्षन्ते तस्यां कुर्युः स्पृहां कुतः।।४४८।

स्नानशौचरता नित्यं जटाश्मश्रुविधारिणः। तापसा धमनीव्याप्तदेहा वृद्धसमा द्विजाः।।४४९।।

विटवेषो युवा स्निग्धो मुष्करो देहपोषकः। वेदविप्लावको भण्डो याज्ञवल्क्योऽतिकामुकः।। योनिं वक्त्रं स्तनौ ह्यस्या वीक्षते पापचक्षुषा।।४५०।।

आगतस्याऽस्य पश्याम उभयत्र व्यवस्थिताम्। दृशं राजनि वामोरौ वाचक्नव्यां च संसदम्।।४५१।।

गुरुपादार्चनपराः शिक्षिता ब्राह्मणाः परे। वर्तन्ते शतशः सर्वे नासाग्रन्यस्तलोचनाः।।४५२।।

हेमयोषित्कृते तेन सभायामागतोऽधमः। याज्ञवल्क्यो न विद्यायाः प्रकाशार्थं समागतः।।४५३।।

स्वैरिणी स्वैरिणं वेत्ति तां स्वैरी स्वैरिणीं पुनः। अनुभूतं हि जानाति सर्वः सर्वं न चेतरत्।।४५४।।

जले यद्वद् विजानाति मत्स्यो मीनं गतागतम्। बाल्यादारभ्य गार्गीयं स्वैरिणी कामचारिणी।।४५५।।

'ऊषशुषिमुष्कमधो र' इति (५.२.१०७) रप्रत्ययः।।४४७।। एते मुनयस्तु एतत्स्पृहणीया न भवन्तीत्याह—सदाचारा इति द्वाभ्याम्। स्पष्टौ।।४४८-४४९।। याज्ञवल्क्यस्तु तथेत्याह—विटेति। विटः **षिङ्गः, 'विटस्तु मूखके खदिरे लवणे षिङ्गे' इति हेमचन्द्रः।** विप्लावकः **अन्यथाकर्ता;** हि यतः।।४५०।। आगतस्येति। अस्य **याज्ञवल्क्यस्य** संसदं सभाम् आगतस्य उभयत्र राजनि **जनके गार्ग्यां च संसक्तां दृष्टिं पश्याम इत्यन्वयः।।४५१।। अन्ये त्वीदृशा न भवन्तीत्याह**—गुर्विति।।४५२।। हेमेति। **सुवर्णार्थं योषिदर्थं च सभाम्** आगतः।।४५३।। **स्वसमानजातीयं सर्वः परिचिनोतीत्याह—स्वैरिणीति। स्वैरिणी व्यभिचारिणी।** तां **स्वैरिणीं स्वैरी पुरुषो** वेत्ति। पुनः **शब्दोऽप्यर्थः। तत्र हेतुः**—अनुभूतमिति।।४५४।। **अनुभूतस्य परिचये दृष्टान्तमाह**—जल **इति।** गतागतं **गमनागमनशालिनं** मीनम्। **गार्ग्यपि स्वैरिण्येवेत्याह**— बाल्यादिति।।४५५।। **स्वैरिणीत्वे कुलाङ्गनाचरितव्यतिरेकं हेतूकरोति**—भर्तारमिति

यों द्वेषपूर्ण बहुत-सा विचार कर द्विजोत्तम विदग्ध ने मुनीश्वर याज्ञवल्क्यसे प्रश्न करने की ठान ली।।४४५।। भविष्य में होने वाले अनर्थ की जानकार गार्गी द्वारा कही हित की बात का तिरस्कार कर शाकल्य ने जो निर्णय किया उसके पीछे उसकी यह मनोभावना थी—यह गार्गी कुँवारी है, ब्राह्मणों के घरों से बाहर ही स्वेच्छाचारी हुई फिरती है, हमेशा बलिष्ठ पुरुषों की कामना रखती है। सभामें स्थित ये द्विजश्रेष्ठ सभी सदाचारी हैं, इस नंगी की ओर देखते भी नहीं तो इसकी ओर आकृष्ट क्या होंगे? जटा-दाढ़ी धारण किये ये तापस हमेशा स्नान-शौच में लगे रहते हैं और व्रतों से इन्होंने अपने शरीर सुखा डाले हैं, धमनियाँ उभरी हुई हैं, सभी बुड्ढों-से दीख रहे हैं। इनसे विपरीत यह याज्ञवल्क्य है : विटों का-सा ('मजनुओं' जैसा) इसका वेष है। जवानी का हृष्ट-पुष्ट ताकतवर दीखने वाला देह है, जिस पर तेल-मालिश आदि से इसने रूखापन नहीं रहने दिया है। वेद में ही जो मन-माना परिवर्तन करने से नहीं चूका वह भण्ड अपनी कामुकता से क्या नहीं कर लेगा! पाप-भरी आँखों से यह गार्गी के योनि, मुँह और स्तन ही देखे जा रहा है। जब से संसत् में घुसा है तब से एक नज़र राजा पर और एक इस सुंदर जंघाओं वाली वचक्नुकन्या पर टिकाये है। बाकी भी सैंकड़ों ब्राह्मण हैं पर सब गुरुओं की चरणसेवा में तत्पर होकर शिक्षित हैं, अतः इधर-उधर देखे बिना अपनी नाक के ही अग्रभाग पर दृष्टि एकाग्र किये हैं। निश्चित ही यह नीच याज्ञवल्क्य धन और स्त्री पाने इस सभा में आया है, न कि इसलिये कि इसका ज्ञान सब विद्वानों के सामने आये। व्यभिचारिणी ही व्यभिचारी को और वही उसे पहचानते हैं, क्योंकि सभी लोग वही सब समझ पाते हैं जिसका उन्हें अनुभव है। जलमें मछली ही अन्य मछलियों की हरकत समझ सकती है। यह गार्गी बचपन से ही यथेष्ट आचरण करने वाली अनियंत्रित लड़की है।।४४६-४५५।। कुलीन

भर्तारं तनयं वाऽपि भ्रातरं वा सहोदरम्। मातुलं श्वशुरं वा स्वं साध्वीं वा ललनां पराम्।।४५६।।

हित्वा नाऽतिक्रमं कुर्युर्देहल्या वेश्मनः सदा। कुलस्त्रियः स्त्रीयन्त्वेका याति लोकत्रयं वधूः। स्वैरिणः पुरुषाँल्लोके वीक्ष्यमाणा[1] ततस्ततः।।४५७।।

अस्मिंस्त्रेतायुगे नैते वर्तन्ते ते यथा कलौ। अनाश्रमी नाऽवर्णी स्यात् कोऽपि कुत्राऽपि भूतले।।४५८

गृहिणः पुत्रकामास्ते ऋतौ दारान्निजानपि। व्रजन्ति तेषु नैवाशा गमने परयोषितः।।४५९।।

ऊर्ध्वरेतस्तया नैव व्रजन्त्याश्रमिणोऽपरे। अन्त्यजा अपि दारान् स्वान् हित्वा नेच्छन्ति योषितम्। त्रेतायुगेऽन्यललनामिच्छेयुः किम्परे जनाः।।४६०।।

देवाद्या मानवीमेतां न स्पृशन्ति कथञ्चन। पशवो नैव गच्छन्ति विजातीयां वधूं क्वचित्।।४६१।।

इयं कामातुरा नित्यं नग्ना भूत्वा पुरः स्थिता। पुरुषाणामिमे सर्व ईक्षन्ते तां न कर्हिचित्।।४६२।।

पापमेकममुं हित्वा कलिजातसमं नरम्। मुष्करं याज्ञवल्क्याख्यं युवानं नटवत् स्थितम्।।४६३।।

निरीक्ष्यैनं दुरात्मानं स्वैरिणं स्वैरिणी स्वयम्। ब्रह्मविद्व्याजतस्त्वेनमेकान्ते गन्तुमुद्यता। स्वैरिणीमतमास्थाय कुरुते पादवन्दनम्।।४६४।।

द्वाभ्याम्। कुलस्त्रियो **भर्त्रादीन् विहाय** वेश्मनो देहल्या अतिक्रमं न **कुर्वन्ति**, इयन्तु स्त्री सती पुरुषान् वीक्षमाणा लोकत्रयं चरति इति द्वयोरन्वयः।।४५६-४५७।। **अनया स्वसमो याज्ञवल्क्य एव दृष्ट इति वक्तुमाह**—अस्मिन्निति। त एते **स्वैरिणः पुरुषाः** त्रेतायुगे **कलिवद्** न वर्तन्ते **यतो वर्णाश्रमरहितो** न कोऽपि **अस्तीति**।।४५८।। गृहिण इति। **यतः** पुत्रकामा गृहिणोऽपि ऋतौ **एव** निजान् दारान् व्रजन्ति **इत्यन्वयः**।।४५९।। ऊर्ध्वेति। परे **गृहस्थभिन्ना** आश्रमिण ऊर्ध्वरेतस एव। अन्त्यजाः **श्वपचाः**। परे **उत्कृष्टाः**।।४६०।। देवाद्या इति। **स्पष्टम्**।।४६१।। इयमिति। पुरुषाणां पुरः स्थिता, तामिमे **सभ्याः** सर्वे याज्ञवल्क्यं कलियुगजातसमं विना नेक्षन्ते—इति **द्वयोः सम्बन्धः**।।४६२-४६३।। निरीक्ष्यैनमिति। एनं स्वैरिणं निरीक्ष्य **इयम्** एकान्ते गन्तुमुद्यता। **स्वैरिणीनां मतं कौशलम्** आस्थाय **अस्य** पादवन्दनं कुरुते ब्रह्मविद्व्याजतः **अयं ब्रह्मविदिति प्रख्यापनव्याजेनेत्यर्थः**।।४६४।। ब्राह्मणानामिति। अहं **ब्राह्मणादीनां** पश्यताम्

नारियाँ पति, पुत्र, भाई, बंधु, मामा, ससुर, किसी अन्य भद्रमहिला आदि के बिना घर की देहली भी नहीं लाँघा करतीं जब कि यह स्त्री अकेली ही स्वैरी पुरुष खोजते हुए इधर-उधर भटकती रहती है। कलियुगकी तरह इस त्रेता युगमें स्वेच्छाचारी पुरुषों की भरमार नहीं है। अभी तो भूतल पर वर्णाश्रम धर्म का पालन न करने वाले दुर्लभ ही हैं। गृहस्थ लोग पुत्रलाभके लिये ही—न कि कामुकता से—केवल अपनी ही पत्नियों से समागम करते हैं, वह भी ऋतुकाल में ही, न कि जब कभी। वे परायी स्त्री से सम्पर्क करें इसकी कोई आशा नहीं। बाकी तीनों आश्रमों वाले तो ब्रह्मचर्य पालन करते हैं ही। अन्त्यज भी अपनी पत्नियाँ छोड़कर अन्य स्त्रियों की कामना नहीं किया करते। बाकी श्रेष्ठ लोग अपनी-अपनी धर्मलब्ध पत्नी से अतिरिक्त किसी ललनाकी ओर आकृष्ट हों यह इस त्रेतायुग में कहाँ संभव है! देवता तो इस मानवी गार्गी को छुएँगे तक नहीं और पशुओं में यह देखा नहीं गया कि वे विजातीय मादा का उपभोग करें।।४५६-४६१।। यह हमेशा कामातुर होने से निर्वस्त्र हो पुरुषों के सामने मौजूद रहती है, पर ये सज्जन तो इसे किसी तरह देखते भी नहीं। बस एक पापी याज्ञवल्क्य है जो कलियुगमें जन्मे की तरह है। नट की तरह रहने वाला यह उत्तेजनाशील जवान आदमी है। इस दुष्ट स्वैरी को पहचान कर खुद भी स्वेच्छाचारिणी यह गार्गी स्वैरिणियों के ढंग से 'यह ब्रह्मज्ञ है' ऐसा

१. वीक्षमाणा-इति टीकायां युक्तं च।

ब्राह्मणानां तथा राज्ञः पश्यतां सर्वदेहिनाम्। अहं व्यभिचरिष्यामि प्रच्छाद्येति व्यवस्थिता।।४६५।।
स्तुतिमस्य करोत्येषा भूयो भूयो द्विजन्मनाम्। पुरतस्तेऽपि संभ्रान्ताः स्वैरिण्या वाक्यमोहिताः।।४६६।।
धर्मात्मनां पुरो गन्ता राजाऽप्येष विमोहितः। स्वैरिणे स्वैरिणीवाक्याद् यन्नमस्कुरुते स्वयम्।।४६७।।
इत्यादि कालपाशेन मोहितः स द्विजोत्तमः। अवज्ञाय हितां गार्गीं सर्वदा ब्रह्मचारिणीम्।।४६८।।
ज्ञानोदधिं याज्ञवल्क्यमुल्लङ्घयितुमास्थितः। महावह्निं यथा दीप्तं शलभो नाश आगते।।४६९।।

शाकल्यप्रश्न उत्तरं च

याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य सङ्ख्यां देवगतां हि सः। पप्रच्छ बहुभिः प्रश्नैराग्रहं समुपाश्रितः।।
तावद्भिरुत्तरैरेष प्रत्युत्तरमभाषत।।४७०।।

अपि प्रच्छाद्य स्वकौशलेन ऐन्द्रजालिकवदेषां दृष्टिं प्रतिबद्ध्य व्यभिचरिष्यामि इति निश्चयेन व्यवस्थिता एषा गार्गी अस्य याज्ञवल्क्यस्य स्तुतिं द्विजन्मनां पुरतः करोति, तेऽपि सम्भ्रान्ताः सम्पन्ना इति द्वयोः सम्बन्धः।।४६५-४६६।। धर्मात्मनामिति। पुरो गन्ता अग्रगण्यो राजाऽपि मोहितः यतः गार्गीवाक्याद् अस्मै नमस्कुरुत इति।।४६७।। इत्यादीति। इत्यादिकं कल्पयन्निति शेषः। यतः कालपाशेन मोहितः द्विजोत्तमः अपि हिताम् अपि गार्गीमवज्ञाय दीप्तं वह्निं शलभवद् याज्ञवल्क्यमुल्लङ्घयितुम् उद्यतोऽभवदिति द्वयोरन्वयः।।४६८-४६९।।

एवं विदग्धस्य याज्ञवल्क्यद्वेषं वक्ष्यमाणोपयोगाय प्रपञ्च्य अथ तयोः प्रश्नोत्तररूपाणां सप्तदशकण्डिकानामर्थं सङ्क्षिप्याह—याज्ञवल्क्येतीति द्वाभ्याम्। ततः स विदग्धः आग्रहम् 'अन्यैरजितमपि जेष्याम्येवैनम्' इत्याकारं हठम् उपाश्रितः सन् 'कति देवा' इत्याद्याकारैः बहुभिः प्रश्नैः देवानाम् अन्तर्यामिनियम्यसूत्रात्मविभूतीनां सङ्ख्यां पप्रच्छ। एष याज्ञवल्क्योऽपि तावद्भिः प्रश्नसमसङ्ख्यैः उत्तरैः अवान्तरभेदशालि प्रत्युत्तरं समाधानम् अभाषतेत्यर्थः।।४७०।। विस्तरादिति। तच्च प्रत्युत्तरम् इति अनेन प्रकारेण सङ्क्षेपविशिष्टविस्तरमादाय—ल्यब्लोपे पञ्चमी—अभाषत। 'इति' किम्? विस्तरमादाय वैश्वदेवाख्यस्य शस्त्रस्य ऋग्वेदप्रसिद्धस्य गानवर्जितस्तुतिरूपस्य सम्बन्धिनी या निवित्—देवतासङ्ख्यावाचकमन्त्रपदसमुदायरूपा तस्या घटकानि यानि पदानि 'त्रयश्च त्री च' इत्यादीनि तदुक्तसङ्ख्यया षडधिकत्रिंशताधिकत्रिसहस्ररूपया आनन्त्योपलक्षणभूतया प्रत्यभाषत। सङ्क्षेपात् तु वस्वाद्यात्मत्रयस्त्रिंशदाद्यात्मना प्रवृत्ताद् अन्तर्भावात् तमादाय 'अध्यर्द्ध'-पदोक्तस्य बाह्यवायोः अन्तर्भावस्थानं प्राणो यस्य सर्वे देवा विभूतयः स एवैको देव इत्यभाषत। तथा अष्टौ प्रश्नान् 'पृथिव्येव यस्यायतनम्' इत्यादिना कृतान् परान् पूर्वोक्तभिन्नान् इमान् बुद्धिस्थान् शाकल्येन दुराग्रहेण कृतान् अभाषत इत्यनुषङ्गः, समादधावित्यर्थः। अत्रायं सङ्क्षेपाभिप्रायः—नवकण्डिकानामर्थो निगदेनैव स्पष्टः। 'पृथिव्येव' इत्याद्यष्टानामर्थस्तु 'अष्टावायतनानि' (३.९.२६) इत्यादिवाक्यव्याख्यानेन (श्लो. ५७६) व्याख्यातो भविष्यतीति।।४७१।।

कहकर इसकी चरणवंदना कर रही है और इसके साथ एकान्तवास पाने को यत्नशील है। ब्राह्मण, राजा और बाकी भी लोगों के देखते ही देखते मैं अपनी कुशलता से ऐन्द्रजालिक की तरह सबकी आँखें बाँधकर व्यभिचारकर्म कर लूँगी—इस निश्चयसे यह ब्राह्मणों के सम्मुख इसकी बारंबार स्तुति किये जा रही है। आश्चर्य है कि इस स्वैरिणी की बातों में आकर ये विद्वान् भी भ्रममें पड़ गये हैं। धर्मात्माओं में अग्रगण्य राजा भी इस पुंश्चली की बात मानकर इस स्वच्छंदाचार याज्ञवल्क्य को खुद नमस्कार कर रहा है!।।४६२-४६७।।

काल के पाशमें फँस चुकने से सही ढंगसे सोचने में अक्षम शाकल्य इसी तरह की अनर्गल कल्पनाओं में डूबा रहा। नित्य ब्रह्मचारिणी गार्गी यद्यपि उस समेत सभी के हित की बात कह चुकी थी फिर भी उसकी अवज्ञाकर ज्ञानसागर याज्ञवल्क्य को मानो लाँघ जाने को विदग्ध तैयार हो गया। अपना नाश उपस्थित होने पर जैसे पतंगा जलते हुए जंगल की ओर जाये ऐसे ही शाकल्य ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य से विवाद करने को उद्यत हुआ।।४६८-४६९।।

याज्ञवल्क्य को सम्बोधित कर उस दुराग्रही ने बहुतेरे प्रश्नों सहित देवताओं की संख्या पूछी पर याज्ञवल्क्य ने तुरंत सभी प्रश्नों का पूरा खुलासा कर दिया। देवसंख्या की विस्तृत गणना वैश्वदेवनामक शस्त्र की निवित् में आये

विस्तराद् वैश्वदेवस्य निविदः पदसङ्ख्यया। सङ्क्षेपात् प्राण एवैक इति सङ्क्षेपविस्तरात्।। अष्टौ प्रश्नान् परांश्चेमान् शाकल्येनाऽऽग्रहात् कृतान्।।४७१।।

मुनिस्तं सावधानी करोति

अनन्तरमुवाचेदं शाकल्यं मूढचेतनम्। कालसर्पमुखप्राप्तमण्डूकसदृशं तदा।। शाकल्येति च सम्बोध्य कुलनाम्ना द्विजोत्तमम्।।४७२।।

नैवं ते पूर्वजाश्चक्रुर्द्वेषं कुत्राप्यकारणम्। न ब्राह्मणाः परे नैव वर्णिनो मनुजा न च।।४७३।।

अष्टादश्याः कण्डिकाया अर्थमुपबृंहयति—अनन्तरमुवाचेत्यादित्रिंशच्छ्लोकैः। तदनन्तरं शाकल्य! इति गोत्रप्रत्ययान्ततया कुलस्य गोत्रस्य अभिधायकेन नाम्ना शाकल्यं सम्बोध्य इदं वक्ष्यमाणं वच उवाच। कीदृशं शाकल्यम्? कृष्णसर्पमुखप्राप्तमण्डूकवत् कालवशम्, अत एव मूढधियमिति।।४७२।। कुलनाम्ना सम्बोधनाशयं स्फुटयति — नैवमिति। पूर्वजाः पितृप्रभृतयः तथा परेऽन्येऽपि ब्राह्मणा ऋषिवंश्यास्तथा वर्णिनो ब्रह्मचारिणो

पदों के अनुसार उन्होंने बतायी और संक्षिप्त गणना कही कि प्राण ही एक देव है। यों संक्षेप व विस्तार से उत्तर दिये। और भी आठ प्रश्न दुराग्रह से शाकल्य ने उठाये, उनका भी जवाब मुनि ने दे दिया। ('शस्त्र'—न गायी जाने वाली स्तुति। निवित्—देवताओं की संख्या बताने वाले मंत्रगत शब्द। प्रकृतमें संख्या कही थी तीन हजार तीन सौ छह। फिर-फिर पूछे जाने पर संख्यायें बतायीं—तेंतीस, छह, तीन, दो, अध्यर्ध (डेढ़!) और एक। तेंतीस आदि कौन-कौन हैं? यह भी विस्तार से बताया। फिर प्राणरूप ब्रह्मके आठ प्रकार के भेदों के बारे में प्रश्नोत्तर हुए, जिनका सार है—

	आयतन (आश्रय)	लोक (अवलोकनोपाय)	ज्योति (संकल्पादिसाधन)	पुरुष	देवता
१	पृथ्वी	अग्नि	मन	शारीर	अमृत
२	काम	हृदय	मन	काममय	स्त्रियाँ
३	रूप (शुक्लादि)	चक्षु	मन	आदित्यगत	सत्य
४	आकाश	श्रोत्र	मन	श्रौत्र-प्रातिश्रुत्क	दिशायें
५	तम	हृदय	मन	छायामय	मृत्यु
६	रूप (प्रकाशक)	चक्षु	मन	आदर्शगत	असु (प्राण)
७	आप (जल)	हृदय	मन	जलगत	वरुण
८	रेतस्	हृदय	मन	पुत्रमय	प्रजापति

इस विषय पर श्लो. ५७६ आदि में व्याख्यान ग्रंथकार को करना है।)।।४७०-४७१।।

यों निर्विशेष ब्रह्म की बात चलते ब्रह्मविद्यासमानतासे शाकल्य ने उपास्य तत्त्व की चर्चा छेड़ी लेकिन याज्ञवल्क्य ने उस पर भी पूर्ण प्रकाश डाला। अब वे स्वयं उसे सावधान करते हैं : काले साँप के मुँह में फँसे मेंढक जैसे शाकल्य को, जिसकी मति मारी गयी थी, याज्ञवल्क्य ने कुलबोधक नाम से संबोधित कर कहा—हे शाकल्य! तुम्हारे पूर्वजों ने इस तरह किसी से बिना कारण द्वेष नहीं किया। अन्य ब्राह्मण, ब्रह्मचारी व मनुष्य भी यों निर्हेतु द्वेष नहीं किया करते।

किमर्थं व्यर्थमत्यर्थं द्वेषं मयि करोषि भोः। मा भूत्ते मरणं विप्र द्वेषिणो मम सर्वदा।।४७४।।

पितृमातृसुतादीनां मदीयानां[1] यथा मयि। त्वदीयानां त्वयि तथा तेषां मा भूदिहाऽप्रियम्।।४७५।।

सूर्याल्लब्धा मया विद्या तेजसा दुःसहा यतः। माऽवजानीहि तां विप्र धक्ष्यति त्वां क्षणादियम्।।४७६

आदित्यात्प्राप्तविद्योऽहं यदाऽऽगां पृथिवीतलम्। तदा मां सविता प्राह हृष्टचित्तः सुरोत्तमः।।४७७।।

अवज्ञास्यति यो विद्यां मया दत्तां स्थितां त्वयि। भस्मसात्तमहं सद्यः करिष्यामि न संशयः।।४७८।

एवमुक्ते मयाऽऽदित्यः प्रार्थितो[2] बहुधा प्रभुः। वरैर्नानाविधैः पश्चादवधिं सोऽकरोत्त्विमम्।।४७९।।

विद्यावंश्यास्तथाऽन्येऽपि मनुजा **मनोर्वंशजा एवं त्वद्वद् द्वेषं न चक्रुः। त्वं तु मयि द्वेषं किमर्थं करोषि? हे विप्र! मम विप्रस्य द्वेषेण सूचितं** ते मरणं मा भूद् **इतीच्छामीति शेषः। इति द्वयोरर्थः।।४७३-४७४।। त्वन्मरणं न केवलं तवाऽनिष्टं किन्तु त्वद्बान्धवानामपि इत्याह**—पित्रिति। यथा मदीयानां **पित्रादीनां** मयि **प्रेमेति शेषः**, तथा त्वदीयानां त्वयि **वर्तते**। इह **त्वन्मरणे तेषामप्रियं** मा भूद् **इति सम्बन्धः।।४७५।। ब्रह्मद्वेषस्य सर्वत्र अनिष्टसाधनत्वेऽपि याज्ञवल्क्यः स्वद्वेषस्य विशेषतोऽनर्थजनकत्वे हेतुं दर्शयति—सूर्याद् इत्यष्टभिः। इयं सूर्यलब्धा विद्याऽवज्ञाता सती** त्वां क्षणाद् धक्ष्यति **दग्धं करिष्यतीति चतुर्थपादार्थः**।।४७६।। आदित्यादिति। यदा **सूर्याद्विद्यां प्राप्य** अहं पृथिवीतलम् आगाम् **आगमम्**, तदा **आगमनकाले** सविता **सूर्यो** माम् **'इति'** आह। **'इति'** किम्? यो मया दत्तां विद्यामवज्ञास्यति **न मानयिष्यति** तमहं भस्मसात्करिष्यामि **इति द्वयोः सम्बन्धः।।४७७-४७८।।** एवमुक्त इति। **एवमुक्ते सति नानाप्रकारैः** वरैः **'कस्यचिदपि भस्मीभावो मा भवतु' इत्यर्थपरवाक्यरूपैः** आदित्यो मया प्रार्थितः **अभूत्ततः** स **आदित्यः** इममवधिं **कृतवानिति**।।४७९।।

अरे! तुम मुझ से इतना ज़्यादा द्वेष किसलिये करते हो? हे विप्र! हमेशा मुझसे द्वेष रखने वाले तुम्हारा इसी कारण कहीं मरण न हो जाये। मेरे पिता, माता, पुत्रादि को जैसे मुझसे प्रेम है ऐसे ही तुम्हारे भी बांधवों का तुमसे ज़रूर होगा। तुम्हारी अकालमृत्युसे वे सब दुःखी हों ऐसा मत करो। मैंने भगवान् भास्कर से जो विद्या प्राप्त की है उसका तेज सहन कर पाना मुश्किल है, अतः उसकी अवज्ञा मत करो अन्यथा तुम्हें क्षणभर में जला डालेगी। हालाँकि ब्राह्मणमात्र से द्वेष का फल अनिष्ट ही होता है लेकिन विशिष्ट विद्या धारण किये भूदेव के प्रति द्रोहबुद्धि खासकर अनर्थकारी होती है।।४७२-४७६।। आदित्यसे विद्या पाकर जब मैं पृथ्वी की ओर लौटने लगा था तब उन प्रसन्न देवश्रेष्ठ ने कहा था 'मैंने जो विद्या तुम्हें दी है और तुममें प्रतिष्ठित हो गयी है, उसका यदि कोई अनादर करेगा तो मैं उसे तुरंत भस्म कर दूँगा, इसमें संशय मत रखो।' यह सुनकर मैंने उन प्रभु की बहुत तरह प्रार्थना की और वर माँगे कि मेरे निमित्त किसी की मृत्यु न हो। तब उन्होंने इस सीमा का निर्धारण किया—'हे विप्र याज्ञवल्क्य ! जो तुम्हारे सामने ही बीस बार अवज्ञा कर देगा उस पापी दुर्मति को मैं तुम्हारी जीभ पर स्थित होकर शाप दूँगा और अवज्ञारूप मेरा विरोध करने के कारण वह सद्यः भस्म हो जायगा।' अधिक रियायत की माँगसे कहीं आचार्य आदित्य क्रोधित न हो जायें, इस डर से मैंने भस्म होने वाले प्रावधानको हटाने की आगे प्रार्थना नहीं की। तुम मोह के वशीभूत होकर हमेशा मुझसे द्वेष करते हो,

---

१. याज्ञवल्क्यस्य द्वौ पुत्रौ पुराणान्तरस्मृतौ। २. विद्यावज्ञा विद्वदवज्ञाऽविनाभूतेति विद्यावज्ञायामज्ञकर्तृकायां विद्वान् निमित्ती भवेत्तदहिंसकतया नेच्छति मुनिः। शिष्यादयोऽपि आपातबोधकाले शक्नुवन्त्यवज्ञातुं यद् दृष्ट्वा गुरुः पुनः प्रबोधयेत्। तेऽप्येवं म्रियेरन् येन सम्प्रदायो न चलिष्यतीत्यपि तदाशयः।

समक्षं तव यो विप्र ! यदा विंशतिसङ्ख्यया। अवज्ञास्यति तस्याऽहं दुर्धियः पापकारिणः।।४८०।।

स्थित्वा त्वदीयजिह्वायां शापं दास्यामि दारुणम्। येन भस्मी भवेत् सद्योऽवज्ञानान्मद्विरोधतः४८१

इतः परमहं भीतः प्रार्थनात उपारमम्। मा त्वं मोहवशं प्राप्तो मह्यं द्विष्ठा ह नित्यशः।।४८२।।

मद्गुरुं सवितारं च पापाद् नैवावगच्छसि। जानेऽहं च भवन्तं तं[1] द्वेषिणं कालमोहितम्।।४८३।।

स्वस्य द्वेषशून्यतामाह

त्वत्कृते जायते चिन्ता ममादित्यसमीरणात्। नाहं द्वेष्मि कदाचित्तु भवते पापकारिणे।।४८४।।

मयि यद्वत्त्वयि तथा यतोऽन्यत्राऽपि संस्थितः। अहमेव वसाम्यत्र स्थावरेषु चरेषु च।।४८५।।

अहं सर्वमिदं विश्वं सृष्टिस्थित्यन्तसंस्थितम्। मत्त एव च सृष्ट्याद्या जगतो द्वयरूपिणः[2]।।४८६

'इमं' कम्? इत्याकाङ्क्षायाम् अवधिमभिनयति—समक्षमिति द्वाभ्याम्। हे विप्र! यः समक्षं **संमुखे विंशतिवारं त्वाम्** अवज्ञास्यति तस्य **विनाशकं** शापं **त्वज्जिह्वायां** स्थित्वाऽहं दास्यामि येन स भस्मी **भविष्यति इति द्वयोः सम्बन्धः। दृश्यते चाऽत्र नवमब्राह्मणे विंशतिवारं विदग्धप्रयुक्तं याज्ञवल्क्येति सम्बोधनरूपमवज्ञानमिति भावः।।४८०-४८१।।** इतः परमिति। इतः परं **वरत्वेन प्रार्थनेऽपि एतादृशोक्तानन्तरम्** अहं **भयेन पुनः** प्रार्थनात उपारमं **निवृत्तोऽभवम्। तस्मात्** त्वं **मोहवशेन** ह **इति खेदे** मह्यं मा द्विष्ठाः **मयि द्वेषं मा कुर्वित्यर्थः।।४८२।।** मद्गुरुमिति। अहं च भवन्तं कालमोहितम् **एव** जाने **यतस्त्वं** मद्गुरुं सवितारं **प्रसिद्धतममपि पापप्रतिबन्धाद्** न **जानासीति।।४८३।।**

त्वत्कृत इति। **आदित्यस्य समीरणवचनमनुस्मृत्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी, त्वत्कृते त्वदर्थं 'काऽस्य गतिर्भविष्यति'** इत्याकारा चिन्ता जायते **भवतीत्यर्थः। द्वेषस्य** मन्निष्ठतां तु **मा सम्भावयेत्याह—**नाहमिति। **पापकारिणेऽपीति[3]शेषः।।४८४।। द्वेषाऽभावे दोषबीजदाहिकाया ब्रह्मविद्यायाः सत्त्वं हेतुमभिप्रेत्य विद्यामभिनयति—**मयीति **सार्द्धत्रिभिः।** मयि **एतच्छरीरे** यद्वत् संस्थितः **अस्मि तद्वत्** त्वयि **त्वच्छरीरे** अन्यत्राऽपि **च** यतः संस्थितः **अस्मि ततः सर्वत्र स्थावरादौ** अहमेव वसामि; **तथा च सर्वान्तरोऽहमित्यर्थः।।४८५।।** अहमिति। **सृष्टिस्थित्यन्तेषु संस्थितं सम्बद्धमिति यावत्।** इदं सर्वं विश्वं जगदहमेव **यतो** मत्त एव जगतः **सृष्ट्याद्याः श्रुतिप्रसिद्धाः। तथा**

बड़े खेद की बात है। ऐसा मत करो। अपने पाप से ढँकी मति वाले तुम मेरे गुरु श्रीसविता की महत्ता समझ नहीं पा रहे। तुम्हारा अंतसमय तुम्हें सही विचार नहीं करने दे रहा है, जिससे तुम उनसे द्वेष कर रहे हो यह मुझे पता है।।४७७-४८३।। आदित्य की बात याद कर मुझे तुम्हारी चिंता है। मैं तो कभी तुमसे द्वेष करता नहीं चाहे तुम कितने ही पापी हो। द्वेषादि दोषों की बीजभूत अविद्या को जला डालने वाली ब्रह्मविद्या से संपन्न मुझमें द्वेष की संभावना कहाँ! इस 'याज्ञवल्क्य' कहलाने वाले शरीर में, तुममें तथा अन्यत्र भी चराचर सभी में क्योंकि मैं ही हूँ इसलिये द्वेषादि का प्रसंग नहीं। जन्म-स्थिति-नाश वाला यह सारा विश्व मैं ही हूँ। अद्वयरूप मुझसे ही जगत् के जन्मादि होते हैं। इसलिये सुख-दुःखादि द्वन्द्व मेरे लिये हो सकें यह कभी संभव नहीं। घटादि नष्ट हों चाहे बने रहें, आकाश में अंतर नहीं आता, ऐसे ही शरीर रहने-जाने से मुझमें कोई परिवर्तन नहीं होता। हननादि कोई क्रिया न मैं करता हूँ न मुझे विषय कर सकती है। कोई जन्तु कभी भी मुझे मार नहीं सकता। वेदांतों में जो निर्विकार स्वरूप मेरा बताया है वही तुम्हारा भी है, लेकिन कीड़े की तरह तुम्हारा ज्ञान वास्तविकताके अज्ञानसे आच्छादित है, जिससे आत्मज्ञानी मुझे भी तुम खुद जैसे

१. शाकल्यकर्तृकद्वेषविषय आदित्य इति कर्मतोपपत्तिः। २. अद्वयरूपिण इति टीकाकारश्चिच्छेद। द्वयं नाम-रूपात्मकं, दृग्दृश्यरूपं वेत्यर्थः। ३. तस्योपेक्षणीयमात्रत्वस्मरणात्।

सुखदुःखादिकं द्वन्द्वं मम नैवास्ति कर्हिचित्। शरीरस्य विनाशे मे स्थितौ नातिशयो मम।।४८७।।

घटादीनां यथा नाशे स्थितौ वा नभसो न सः। नाऽहं हन्मि न मां हन्युः सर्वदा सर्वजन्तवः।।४८८।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तव यद्वत् कृमेरिह। तेन मां मनुजैस्तुल्यं मन्यसे पापकारिभिः।।४८९।

विदग्धस्य भाविदुर्दशा

पापाग्निना प्रदग्धं त्वां मा शोचन्तु जना इमे। मा रोदीद् भवतो जाया सर्वाभरणवर्जिता।। निर्लज्जा बान्धवान् दृष्ट्वा दीनाऽऽस्या विधवा सती।।४९०।।

मित्राणि बान्धवा मा ते पुत्राद्याः शोकसागरे। पतन्तु वैरिणो मा ते सन्तोषावगमं त्विह।।४९१।।

[1]धर्मराजपुरं मा त्वं विलोकय सुदुःखितः। क्षुत्पिपासापरिश्रान्तः प्रेतो भूत्वाऽतिदुःखितः।।४९२।।

काकवद् बलिभुङ् मा त्वं भूया ब्राह्मणसत्तम। तप्तगात्रो भृशं दीनः पिब मा त्वं तिलोदकम्।।४९३।

अयं च मृदुलो देहो मा भूदग्नेः शुनोऽपि वा। तव शिष्यान् विहायैतानेकाकी मा व्रजाधुना।।४९४।

अनेककालसंजातो ब्रह्मविद्वेषपादपः। प्रयच्छतु फलं मा ते कारस्करफलोपमम्।।४९५।।

चाऽद्वयोऽस्मीति।।४८६।। सुखेति। आदिपदेन अशनायापिपासादिकं ग्राह्यम्। अत एव मत्सम्बन्धितयाऽभिमतस्य शरीरस्य विनाशे स्थितौ वा ममातिशयो विशेषो न अस्ति, घटाद्युपाधिनाशस्थित्योः नभस आकाशस्य यथा सः अतिशयो न अस्तीति। यतो मय्यद्वितीये सर्वक्रियाकारकत्वाऽभाव इत्याह—नाऽहमिति। हन्मि इति सर्वक्रियोपलक्षणम्। इति द्वयोरर्थः।।४८७-४८८।। यथा मदीयं स्वरूपमुक्तविधं वेदान्तेषु सिद्धं तथा तवाऽपि अस्ति परन्तु त्वं कृम्यादिसमतापादकेन अज्ञानेन प्रमत्तोऽसि येन मह्यं द्वेक्षीत्याह—अज्ञानेनेति। ज्ञानम् अद्वितीयज्ञानात्मकमात्मस्वरूपम् अज्ञानेन आच्छादितं तव कृमिनिभस्य येन अज्ञानप्रभावेण आत्मापह्नवलक्षणपापकारिभिः मनुजैस्तुल्यं माम् आत्मयाथात्म्यविदं मन्यस इति।।४८९।।

अथ याज्ञवल्क्यो विदग्धस्य भाविनीं दुर्दशां त्रिकालज्ञतयाऽनुसन्धायाऽनुग्रहाविष्टः सा मास्तु इत्याह—पापाग्निनेति सप्तभिः। पापेन ब्रह्मविद्वेषलक्षणेन प्रदग्धं प्रसिद्धाग्नितोऽप्यधिकं तापितं त्वां लोका मा शोचन्तु; तथा भवतो जाया बान्धवान् दृष्ट्वा निर्लज्जा दीनमुखी च सती मा रोदीद् इति।।४९०।। मित्राणीति। मित्राणि बान्धवाः च ते शोकसागरे मा पतन्तु, तथा वैरिणः सन्तोषावगमं सन्तोषप्राप्तिं मा व्रजन्तु इति शेषः।।४९१।। धर्मेति। त्वं प्रेतो भूत्वा धर्मराजपुरं मा विलोकय इति।।४९२।। काकेति। बलिः निर्वापरूपः।।४९३।। अयमिति। अयं तव देहः अग्नेः शुनो वा भक्ष्यो मा भूदिति। तथा शिष्यान् विहाय एकाकी मा परलोकं व्रज इति।।४९४।। अनेकेति। अनेकेषु कालेषु उद्दीपकसंनिधिरूपेषु संजातः प्रादुर्भूतो ब्रह्मणो ब्रह्मविद्यया ब्रह्मभूतस्य मम यो द्वेषरूपः पादपः तव चित्तभूमौ वर्तमानः स ते कारस्करफलसमं फलं मा ददातु। कारस्करशब्दः पारस्करादित्वात् (६.१.१५७) सुटि निष्पन्नो यद्यपि त्रिकाण्डशेषे वृक्षसामान्यवाचक उक्तः[2], तथापि प्रकृते 'कारो वधे निश्चये च' इति विश्वात् कारं

पापी (अज्ञानी) मनुष्यों के तुल्य मान रहे हो। आत्माका अपह्नव—वह जैसा है वैसा उसे न स्वीकार कर जैसा नहीं है वैसा मानते रहना—वह पाप है, जिसके अन्तर्गत सभी दुष्कर्म आ जाते हैं। (मनु महाराज ने भी ऐसे आत्मचोर के लिये कहा 'उससे न किया गया कौन-सा पाप बच गया!')।।४८४-४८९।।

पापरूप आगसे तिलशः जले हुए तुम्हारे बारे में इन लोगों को कहीं शोक न करना पड़े। ऐसा न हो कि तुम्हारी पत्नी विधवा होकर सब आभूषण उतारकर, दीनता भरा चेहरा लेकर, बाँधवों को देखकर, लाज छोड़कर दहाड़ मार

---

१. न केवलमिहानिष्टं तव किन्त्वपरत्रापीत्याह—धर्मेति। २. 'कारस्करो वृक्षः' इति (६.१.१५६) पाणिनिस्तत्रैव सुट्, अन्यत्र 'कारकर' इति प्रावादीत्।

मा तवाऽस्थीनि विप्रेन्द्र ह्यन्त्यजाः संस्पृशन्त्विह। माऽग्नावादित्यजिह्वेऽस्मिन् पत त्वं शलभो यथा।।४९६।।

'अङ्गारावक्षयणम्' पदार्थः

भोजा यथा महोखायां महान्तं जातवेदसम्। अशक्ताः स्वकरैः स्प्रष्टुं ज्वलन्तं सुदुरासदम्।।४९७।।

दर्वीं लोहमयीं कृत्वा प्रौढामङ्गारधारिणीम्। दीर्घदण्डां स्पृशन्त्येनं तया नैव निजैः करैः।।४९८।।

प्रस्तोभयन्ति ये केचिद् ब्राह्मणास्त्वां सभासदः। कुर्वन्ति बुद्धिसंयुक्तास्त्वां तथाङ्गारधारिणम्।।४९९।।

वधं करोतीति व्युत्पत्त्या भल्लातकवाचकः; तत्फलोत्कर्षस्य अशुभं फलं वृक्षायुर्वेदउक्तम्—'आम्रैः क्षेमं, भल्लातकैर्भयम्' इति। साक्षादपि भल्लातकफलानाम् अनर्थकरत्वं लोके प्रसिद्धमिति दृष्टान्तता।।४९५।। मा तवेति। हे विप्रेन्द्र! तवाऽस्थीनि चोररूपा अन्त्यजाः चाण्डाला मा स्पृशन्तु; तथा अस्मिन् मद्रूपेऽग्नौ त्वं शलभवद् मा पत। कीदृशे मद्रूपेऽग्नौ? आदित्यजिह्वे आदित्यो जिह्वायां संनिहितो यस्य स तथा तस्मिन्।।४९६।।

एवमार्थिकमर्थं प्रपञ्च्य श्रौतमर्थं विशदयति—भोजा इति पञ्चभिः। भोजशब्दोऽत्र भोजयन्ति धानादिकम् इति व्युत्पत्त्या पचाद्यजन्तो भ्राष्ट्रोपजीविपरः। महोखाशब्दश्च भ्राष्ट्रपरो विवक्षितः। तथा च—यथा भोजा भ्राष्ट्रिका महोखायां भ्राष्ट्रे स्थितं ज्वलन्तं वह्निं स्प्रष्टुमशक्ताः सन्तो दीर्घकाष्ठमयदण्डशालिन्या दर्व्यैव स्पृशन्ति—इति द्वयोरर्थः।।४९७-४९८।। प्रस्तोभयन्तीति। तथा ये त्वां प्रस्तोभयन्ति वादायोत्साहयन्ति ते बुद्धिमन्तः स्वरक्षणकुशलाः त्वामङ्गारधारिणं कुर्वन्ति अङ्गारधारकपात्रवत् पुरतः कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा च ब्राह्मणैरपि हन्तव्यत्वेन मतोऽसि, परन्तु दह्यमानमात्मानं न बुद्ध्यस इति भावः। 'अङ्गारावक्षेपणम्' इति[1] पदस्य—अवक्षीयन्ते बलात्कारेण धार्यन्तेऽत्र

कर रोती रहे! तुम्हारे मित्र, बंधु, पुत्रादि शोकसागर में न डूबें। कहीं तुम्हारे वैरियों को ही सन्तोषलाभ न हो जाये। भूख-प्याससे पीडित, अत्यंत दुःखी, पूर्ण कष्ट में पड़े हुए तुम्हें कहीं यमराज के नगर का दर्शन न करना पड़े। हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! ऐसा न हो कि तुम कौवे की तरह बलि खाते रहो। तपे देह वाले, अत्यधिक पीड़ित हुए तुम्हें तिलोदक न पीना पड़े। यह तुम्हारी कोमल गात्र आग का या कुत्तों का भक्ष्य कहीं न बन जाये। अपने शिष्यों को निराचार्य छोड़कर तुम अब अकेले ही परलोक मत सिधार जाओ। ब्रह्मविद् ! मुझ ब्रह्म से जो द्वेषरूप वृक्ष तुम्हारी चित्तभूमि में बहुत समय से बढ़ रहा है वह तुम्हें विषवृक्षकी तरह अनर्थकारी फल न दे देवे। तुम्हारे फूल कहीं अन्त्यजों के हाथ न लगें। हे विप्रेन्द्र! आदित्य जिसकी जीभ पर हैं, ऐसी मुझ अग्निमें पतंगे की तरह तुम मत आ गिरो।।४९०-४९६।।

भाड़ में बहुत तेज़ आग जल रही होती है तो उसके पास नहीं जाया जा सकता। तब भड़भूँजे उसे हाथ से छूकर इधर-उधर तो कर नहीं सकते इसलिये लोहे की एक बड़ी कड़छी-सी रखते हैं जिसमें अंगारे भर कर दायें-बायें किये जा सकें। उस कड़छी का दण्डा लंबा होता है ताकि दूर से ही आग व्यवस्थित की जा सके। उसी से वे अग्नि छूते हैं न कि अपने हाथों से। इसी तरह जो कोई भी सभासद् ब्राह्मण तुम्हें वाद केलिये प्रेरित-उत्साहित कर रहे हैं वे बुद्धिमान् हैं, क्योंकि वे स्वयं दूर रहकर तुम्हीं को आगमें झोंक रहे हैं, मानो तुम्हें वैसी कड़छी (या बेलचा) बनाये हुए हैं। ब्राह्मण भी तुम्हें जलने योग्य ही समझ रहे हैं, पर तुम स्वयं इससे बेखबर हो कि अब जलने ही वाले हो, यही दुःखकी बात है।।४९७-४९९।। यह सभा ही भाड़ है, मैं ईंधनरूप लकड़ी का ढेर हूँ, मेरे ये गुरुदेव सूर्य जलती आग

---

१. 'शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यः। त्वाँ स्विद् इमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति' ३.९.१८। 'अंगारा अवक्षीयन्ते यस्मिन् सन्दंशादौ तद्' इति भाष्यम्। अत्रापि व्युत्पत्तिप्रदर्शनानुसारम् 'अवक्षयणम्' इत्येव सुवचम्।

अहं काष्ठानि सूर्योऽयं गुरुर्मे ज्वलितोऽनलः । उखा सभा समुद्दिष्टा भोजा एते सभासदः । ।५०० । ।

त्वं च काष्ठमयं पात्रमादित्याग्नेर्विधारणे । कृतोऽसि ब्राह्मणैर्नैवमात्मानमवगच्छसि । ।५०१ । ।

शकल्यस्य दुर्मतिः

एवमुक्तो विदग्धोऽथ याज्ञवल्क्येन धीमता । कालपाशावृतो द्वेषं चक्रे सोऽप्यधिकं पुनः । ।५०२ । ।

मुमूर्षुर्हि यथा द्वेष्टि सुहृदे भिषजे वृथा । गतश्रीको यथा राजाऽमात्याय हितकारिणे । ।५०३ । ।

भाग्यहीनो यथा राज्ञे गुरवे पातकी यथा । विदग्धो याज्ञवल्क्याय तथा द्वेष्टि पुनः पुनः । ।५०४ । ।

जनयत्येष मे भीतिं शिशूनामिव मन्दधीः । सर्वज्ञं मां न जानाति सर्वतो भयवर्जितम् । ।५०५ । ।

ग्रामेषु नगरेष्वेष खेटखर्वटकेष्वपि । काष्ठादिषु[1] यथा बालगोपाललललनादिषु । मध्यगो भाषते तद्वदत्राप्येष प्रभाषते । ।५०६ । ।

इति व्युत्पत्त्याऽधिकरणे ल्युट् श्रुतौ बोध्यः । ।४९९ । । दृष्टान्तसाम्यं विशदयति—अहमिति । अहम् अग्निज्वालककाष्ठरूपः, मद्गुरुरादित्यो मज्जिह्वासंनिहितोऽग्निरूपः, इयं सभा वर्णितोखारूपा, विप्रा वर्णितभोजरूपाः, त्वं तु काष्ठमयदर्वीरूप आदित्याग्निविधारणाय ब्राह्मणैः कृतोऽसि । तत्रेदमतिचित्रं यच्चेतनोपि आत्मानं दह्यमानं न जानासीति द्वयोरर्थः । ।५००-५०१ । ।

एवमुक्तोऽपि विदग्धो विपरीतमेव मेन इत्याह—एवमिति अष्टभिः । स्पष्टम् । ।५०२ । । तत्र दृष्टान्तमाह—मुमूर्षुरिति । पातकी पातकोदयेन पातकोद्यतः, 'पापः पापेन कर्मणा' (बृ.४.४.५) इति श्रुतेः । स निवारकाय गुरवे यथा द्वेष्टि । शेषं स्फुटम् । ।५०३-५०४ । ।

विदग्धो यया बुद्ध्या पुनः पुनर्द्वेष्टि स्म तां बुद्धिमभिनयति—जनयतीत्यादिना । एष याज्ञवल्क्यः बालानां यथा भयं जनयेत् तथा मम भयं जनयति, मां सर्वज्ञं निर्भयं च न जानातीति । ।५०५ । । ग्रामेष्विति । यथा ग्रामादिषु काष्ठादिजडानां बालादिमूढानां च मध्यगो भाषेत तथाऽत्र सभायामु अपि एष निःशङ्कं भाषते । तत्र खेटाः कर्षकाणां हैं, ये सभासद् यहाँ भड़भूँजे हैं। ब्राह्मणों ने तुम्हें वह काठ का बर्तन बना रखा है जिससे आदित्यरूप अग्निको वे छेड़ रहे हैं। (सामान्य भड़भूँजे बर्तन लोहे का रखते हैं ताकि जले नहीं, लेकिन यहाँ ब्राह्मण तुम्हारी दुर्गति ही चाहते हैं, अतः तुम लकड़ी की कड़छी जैसे ही हो।) लेकिन तुम हो कि अपनी इस शोचनीय दशा से बेखबर होकर बढ़-बढ़कर विवाद करते ही जा रहे हो। ।५००-५०१ । ।

बुद्धिमान् याज्ञवल्क्य ने विदग्ध को भरसक सावचेत कर दिया पर वह तो कालके फँदे में फँसा था! उसका द्वेष ही बढा। मरणासन्न अपने हितैषी वैद्य से द्वेष कर लेता है। जिस राजा की श्री समाप्त हुआ चाहती है वह अपने हितकारी मंत्री से द्वेष करता है। अभागे का द्वेष राजासे होता है। पापरत व्यक्ति अपने गुरुसे ही द्वेष कर बैठता है। ऐसे ही विदग्ध याज्ञवल्क्य से द्वेष कर बार-बार उसे अवज्ञादि द्वारा प्रकट किये जा रहा था। ।५०२-५०४ । । उसने सोचा—इस मूर्ख को देखो! मुझे ऐसे डरा रहा है मानो बच्चों को धमका रहा हो। इसे ख्याल ही नहीं कि मैं सर्वज्ञ हूँ, मुझे किसीसे भय नहीं। देहात में, शहरों में, खेतिहरों की बस्तियों में, पहाड़ियों के गाँवों में, सीमाप्रान्तों में, बच्चों ग्वालों और औरतों के बीच जैसे यह अपनी बड़ाई हाँकता रहा है, वैसे ही इस विद्वत्सभा में भी खुद ही अपनी श्रेष्ठता जतला

१. सीमाप्रान्तस्थिताध्ययनादिशून्यजनेष्वित्यर्थः ।

अस्य चेद् गुरुरादित्यो द्वेषिणं मां हि धक्ष्यति। इतः पूर्वं कुतो नायं दग्धवान् किमयं जडः। ।५०७।

शब्दार्थौ न विहायात्र देवता नाम विद्यते। विद्यमानापि सा कर्म हित्वा किञ्चित् करोति न। ।५०८।।

क्वाऽयं विटः क्व चैष स्यादादित्यो नभसि स्थितः। इत्यादि चिन्तयित्वाऽसाववज्ञामकरोत् पुनः। ।५०९।।

शाकल्यो मुनिं निन्दति

याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य कोपं परमुपागतः। इदं वचनमाहैनं याज्ञवल्क्यं मुनीश्वरम्। ।५१०।।

कुरुपाञ्चालदेशस्थान् ब्राह्मणान् जितवान् भवान्। भाव्यनेकशरीरेषु भविता ब्रह्मराक्षसः। ।५११।।

अरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मस्वहरणोद्यतः। सोऽयं ससाहसः किंस्विद् ब्रह्म जानासि तद्वद। ।५१२।।

याज्ञवल्क्योऽपि सर्वात्मा ब्रह्मवित्त्वं प्रदर्शयन्। दिशो वेदेति तं प्राह विदग्धं पापमोहितम्। ।५१३।।

ग्रामाः। खर्वटाः पर्वतग्रामाः। ।५०६।। अस्य चेदिति। अस्य याज्ञवल्क्यस्य गुरुरादित्यो यदि मम दहनसमर्थो भविष्यति तर्हि इतः पूर्वम् अपि द्वेषिणं मां कुतो न अधक्ष्यदिति। वस्तुतस्तु अयम् आदित्यः किं किं कर्तुं शक्तः! यतो जडः। ।५०७।। जडत्वमुपपादयति—शब्दार्थाविति। यतः शब्दार्थमयी देवतेति पक्षे शब्दस्याकाशगुणस्य जडत्वं प्रसिद्धम्, अर्थस्य तेजोमयमण्डलस्यापि तथात्वं प्रसिद्धम्; शब्दार्थाभ्यां भिन्ना तु देवता न विद्यते। सत्त्वेऽपि कर्मनिरपेक्षा किञ्चित् कर्तुं न शक्ता। मम तु दुष्कर्महीनस्य किं करिष्यतीत्यर्थः। ।५०८।। अस्यादित्यशिष्यत्वं दुर्घटम्, अनयोः सम्बन्धस्य दुर्घटत्वादित्याह—क्वाऽयमिति। अयं याज्ञवल्क्यः विटसमो भूमिस्थः क्व, नभःस्थ आदित्यः च क्व! इति। इत्यादि विपरीतं चिन्तयित्वाऽसौ विदग्धो याज्ञवल्क्यस्य अवज्ञामकरोद् इति। ।५०९।।

एकोनविंशकण्डिकाया अर्थमाह—याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य इति चतुर्भिः। ततः परं कोपमुपागतो विदग्धः एनं याज्ञवल्क्य याज्ञवल्क्य! इति सम्बोध्य इदं वचनमाह। ।५१०।। इदं-पदेन उक्तं वचनमभिनयति—कुर्विति द्वाभ्याम्। भवान् यत् कुरुपाञ्चालदेशवासिनो ब्राह्मणान् जितवान्, ब्रह्मस्वहरणोद्यतो ब्राह्मणधनाऽपहारी च, तज्जन्यदुष्कृतेन भाविषु अनेकशरीरेषु निर्जलाऽरण्यदेशवृत्तिब्रह्मराक्षसत्वलाभयोग्यः सोऽयम् एवंविधस्त्वं ससाहसः साहसेन अविमृश्यकृतब्राह्मणावज्ञारूपेण सह वर्तमानः, स्विद् इति वितर्के, किं ब्रह्म जानासि का ब्रह्मविद्या सफला साक्षात्कृता यद्बलेनैवं विप्रान् अवजानासि? इति द्वयोरर्थः। ।५११-५१२।। याज्ञवल्क्योऽपीति। एवमुक्तो याज्ञवल्क्योऽपि जनकेन ब्रह्मविदेव गोभिरभिप्रेतोऽतो मम गवामुत्कालने न दोष इति सूचनाय[1] ब्रह्मवित्त्वं प्रकटयन् सन् इति विदग्धं

रहा है। (वहाँ तो श्रोता नासमझ होते हैं, बेचारे इसे भेंट-पूजा दे देते हैं पर यहाँ इस आत्मश्लाघा से यह किसे प्रभावित कर पायेगा?) इसका गुरु सूर्य यदि द्वेष करने वाले मुझे जला सकता तो अब तक क्यों नहीं उसने जला डाला? वास्तव में तो आदित्य क्या कर सकता है, वह तो जड पिण्ड है। 'आदित्य' आदि शब्द और उनके मण्डल आदि अर्थ को छोड़ देवता नामके कोई चेतन तो हैं नहीं। अगर मान भी लें कि हैं तो कर्मानुसरण के बिना कुछ कर नहीं सकते। मुझ निष्पाप का क्या बिगाड़ेंगे? कहाँ यह भूमिस्थ विट और कहाँ आकाशमें वर्तमान आदित्य! उससे यह पढ़ आया आदि सब गप्प हैं।—यों विपरीत विचार रखकर विदग्ध पुनः अपमान करने में प्रवृत्त हुआ। ।५०५-५०९।।

अत्यधिक क्रुद्ध होकर वह मुनीश्वर याज्ञवल्क्यसे बोला—याज्ञवल्क्य! तुमने कुरु-पांचाल देशोंके ब्राह्मणों को जीत कर अपमानित किया है और ब्राह्मणों केलिये घोषित गोधन का अपहरण कर ले गये हो। इस विचारहीन कृत्य के फलस्वरूप तुम्हें जलरहित जंगल में अनेक जन्मों तक ब्रह्मराक्षस बनना पड़ेगा। यों साहस करने वाले तुमने किस ब्रह्मविद्याका फलपर्यन्त साक्षात्कार किया है, जिसके बल पर ब्राह्मणों की अवज्ञा कर रहे हो? । ।५१०-५१२।।

१. विदग्धो दिग्वेत्तेति च जानन् 'यत्तव समग्रं ज्ञानं तन्ममास्ति ततोऽधिकञ्चे'ति च सूचनाय।

दिक्प्रश्नः

पप्रच्छ पुनरप्येष देवतादि दिशां तथा। देवतानां प्रतिष्ठानमिन्द्रियाणां तथैव च।। विषयाणां स सर्वेषां याज्ञवल्क्योऽप्युवाच तत्।।५१४।।

मुनेरुत्तरम्

आदित्योऽथ यमस्तद्वद्वरुणः सोम एव च। अग्निश्चेति हि पञ्चानां दिशां देवो भवाम्यहम्[1]।।५१५।।

प्रति प्रत्याह। 'इति' किम्? अहं सदेवाः सप्रतिष्ठाश्च दिशो वेद, सप्रपञ्चम् आत्मतत्त्वपर्यवसायि च दिग्विषयं ज्ञानं ममाऽस्तीति।।५१३।।अथ कण्डिकापञ्चकस्यार्थं सप्तत्रिंशच्छ्लोकैरुपबृंहयन्, तत्र श्रौतमर्थं सङ्कलय्य दर्शयति—पप्रच्छेति अष्टभिः। एष विदग्धो दिशां पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वरूपाणां देवतादिकं पप्रच्छ। आदिपदग्राह्यमाह—देवतानामिति। प्रतिष्ठानं कारणम्। तथा च उत्तरोत्तरं देवतादीनां कारणं पप्रच्छेत्यर्थः। याज्ञवल्क्यस्तत् पृष्टं सर्वम् उवाच इति।।५१४।।कथमुवाच? इत्याकाङ्क्षायामाह—आदित्य इत्यादि। पूर्वादिक्रमेण चतसृणां दिशाम् आदित्यादयश्चत्वारो देवाः, ऊर्ध्वदिशश्च ध्रुवापदोक्तायाः प्रकाशभूयिष्ठाया अग्निर्देवता। एवं दिगभिमानिदेवरूपेणाऽवस्थितोऽहमित्यर्थः।।५१५।। अथ देवानां किं कारणम्? इत्याकाङ्क्षायाम्; हिरण्यगर्भोपासनया हिरण्यगर्भभाविनो यानि

सर्वात्मा हुए याज्ञवल्क्यने भी अपनी वह ब्रह्मज्ञता दिखाने केलिये जिसे शाकल्य समझ सके उस पापमुग्ध विदग्धसे कहा 'मैं दिशाएँ जानता हूँ।' अर्थात् देवों, प्रतिष्ठाओं सहित दिशाओं का मुझे ज्ञान है, वह उपासना मेरी संपूर्ण है, अतः अपने से तादात्म्यापन्न संसार मुझे भास रहा है।।५१३।।

इस पर शाकल्य ने प्रश्न किया : दिशाओं के देवता कौन हैं? देवताओं की प्रतिष्ठा (कारण) क्या-क्या हैं? इन्द्रियों की व विषयों की प्रतिष्ठा क्या है?।।५१४।।

महर्षि ने सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। श्रुतिके शब्दों के अनुसार उत्तरका यह संक्षेप है।

	दिशा	देवता	तत्प्रतिष्ठा	तत्प्रतिष्ठा	तत्प्रतिष्ठा	तत्प्रतिष्ठा
१.	प्राची	आदित्य	चक्षु	रूप	हृदय	
२.	दक्षिणा	यम	यज्ञ	दक्षिणा	श्रद्धा	हृदय
३.	प्रतीची	वरुण	अप्	रेतस्	हृदय	
४.	उदीची	सोम	दीक्षा	सत्य	हृदय	
५.	ध्रुवा (ऊर्ध्व)	अग्नि	वाक्	हृदय	हृदय	

पुराणकार इसका व्याख्यान करते हैं : याज्ञवल्क्य ने बताया—पाँचों दिशाओं के देवता मैं हूँ, उन देवरूपों से मैं ही स्थित हूँ। पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर और ऊर्ध्व दिशाओं के देवताओं के क्रमशः नाम हैं आदित्य, यम, वरुण, सोम और अग्नि।।५१५।। ये आदित्यादि देव जिनमें प्रतिष्ठित हैं उन्हें सुनो : प्रतिष्ठा का अर्थ है कारण। हिरण्यगर्भ की उपासना से जो व्यक्ति हिरण्यगर्भ बनता है उसकी जो अध्यात्ममें (व्यक्तिगत शरीर में) चक्षु आदि इन्द्रियाँ होती हैं वे ही आदित्यादि देवताओं के रूपमें परिणत हो जाती हैं। (यह बृहदारण्यकादि में व्यक्त है)। अतः इन्द्रियाँ ही देवताओं की प्रतिष्ठा हैं। आदित्य देवता चक्षु इन्द्रियमें प्रतिष्ठित है। यम देवता श्रोत्रमें प्रतिष्ठित है। श्रुति में श्रोत्र के अभिप्रायसे प्रयुक्त शब्द है 'यज्ञ', क्योंकि यज्ञविधियों को श्रोत्रसे ही ग्रहण किया जाता है और यज्ञके दौरान भी श्रोत्र सहायक बनता ही है।

---

१. उपास्यतादात्म्यं प्राप्तोस्मीति प्रकाशयितुमुत्तमपुरुषप्रयोगः।

नेत्रे यज्ञवचोग्राहिश्रोत्रे वा सहकारिणि। रसने दिव्यभावे च क्षीणदोषे मनस्यपि। वागिन्द्रिये क्रमाद् देवा आदित्याद्याः प्रतिष्ठिताः।।५१६।।

प्रतिष्ठा चक्षुषो ज्ञेया रूपेषु विविधेष्विह। यज्ञशब्दस्य वेदस्य ह्यर्थोऽत्र द्विविधः स्मृतः।।५१७।।

वाक्कायमनसां पूर्वं क्लेशः कर्मात्मको हि यः। अत्र प्रतिष्ठितो ज्ञेयो यज्ञो वेद उदीरितः।।५१८।।

आस्तिक्यं हि द्वितीयं स्यात् तस्मिन् कर्म प्रतिष्ठितम्। रसरूपं यतो रेतः तत्रापो रसनात्मिकाः५१९

अध्यात्मं चक्षुरादीन्द्रियाणि तान्येव आदित्यादिरूपेण परिणामित्वात् तत्कारणानीत्याह—नेत्र इति। आदित्यदेवो नेत्रे चक्षुरिन्द्रिये प्रतिष्ठितः। यमस्तु श्रोत्रे प्रतिष्ठितः। ननु श्रुतौ पितृयाणप्राप्यचन्द्रलोकस्य यमाधीनस्य यज्ञसाध्यत्वाऽभिप्रायेण यज्ञे यमः प्रतिष्ठित इत्युक्तम्; कथमुच्यते श्रोत्र इतीति चेत्? शृणु—श्रुतौ यज्ञपदेन परलोकजयसाधनक्षमा यज्ञावस्थोच्यते। सा च यद्विना नोपपद्यते तस्यापि यज्ञपदार्थे निवेशो वक्तव्यः, इत्यतो 'विद्वान् यजेद्' इति नियमेन अश्रुतपूर्वकाण्डस्य यागेऽप्रवृत्तेः श्रोत्रस्याऽपि तत्प्रवेशः। तत्र च हेतुभूतं श्रोत्रस्य विशेषणद्वयम्; यज्ञवचसां ग्राहकत्वाद्वा, यज्ञसहकारित्वाद्वा श्रोत्रस्य यज्ञपदार्थे प्रवेश इति तदर्थः। एवं वरुणो रसनेन्द्रिये प्रतिष्ठितः। कीदृशे रसनेन्द्रिये? दिव्यभावे दिव्यो देवतात्मक उक्तविधया भावः परिणामो यस्य स तथा तस्मिन्। श्रुतौ च जलीयेन्द्रियमेव अप्पदेनोक्तमिति भावः। एवं सोमो देवो मनसि प्रतिष्ठितः। श्रुतौ च दीक्षापदेन यागाङ्गव्रतविशेषनिर्वाहकं मन एव विवक्षितम्। एतत्सूचनायैव क्षीणदोष इति मनोविशेषणमिति भावः। वागिन्द्रिये य अग्निः प्रतिष्ठितः पूर्ववदित्यर्थः।।५१६।। अथ इन्द्रियाणां विषयरूपं कारणं श्रुतौ प्रतिष्ठापदेनोक्तमाह—प्रतिष्ठेति। चक्षुरिन्द्रियस्य प्रतिष्ठा कार्यतया स्थितिः रूपेषु शुक्लादिषु ज्ञेया, विषयैः स्वप्रकाशनाय इन्द्रियस्यारम्भात्। तथा यज्ञशब्दस्य यज्ञशब्दार्थप्रविष्टतया विवक्षितस्य वेदस्य श्रोत्रगृह्यमाणपूर्वकाण्डस्य द्विविधोऽर्थः प्रतिपाद्यतया विषयः स्मृतः प्रसिद्धः।।५१७।। तद्द्वैविध्यमाह—वागिति सार्धेन। तत्र प्रथमः—वागादिक्लेशात्मको व्यापाररूपो यो वेदार्थः स श्रुतौ दक्षिणापदेन दक्षिणया ऋत्विग्भ्यः क्रेतव्यार्थवृत्तिकेनोक्तः, तस्मिन् यज्ञो वेदोक्तः प्रतिष्ठितः, तन्मयत्वाद्यज्ञस्येत्यर्थः।।५१८।। आस्तिक्यमिति। द्वितीयवेदार्थभूतम् आस्तिक्यं 'श्रद्धया देयम्' (तै.१.११.३) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धश्रद्धारूपं, तत्र प्रथमवेदार्थभूतं कर्म प्रतिष्ठितम्। अत एव गीतासूक्तम् 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्'

समष्टिरूपमें देवता बनने वाली रसनेन्द्रियमें ही वरुण प्रतिष्ठित है। रसना को ही श्रुति ने जलवाची अप्-शब्दसे कहा है। सोम देवता निर्दोष मनमें प्रतिष्ठित है। मनकी दोषरहितता द्योतित करने केलिये ही श्रुति ने 'दीक्षा' शब्द से मनका उल्लेख किया। अग्नि की प्रतिष्ठा है वागिन्द्रिय।।५१६।। इन्द्रियों की प्रतिष्ठा अर्थात् कारण हैं विषय (जैसा भगवान् श्रीशंकर ने कहा है 'विषयस्यैव हि स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम' बृ.भा.२.४.११)। इसलिये (१) चक्षु की प्रतिष्ठा—कार्यरूपसे स्थिति—शुक्लादि विविध रूपों में समझनी चाहिये। (२) श्रोत्रकी प्रतिष्ठा सविचार जाननी पड़ेगी : श्रोत्रको श्रुतिमें यज्ञशब्दसे कहा है, क्योंकि यज्ञबोधक वेद श्रोत्रग्राह्य है। उस वेद के प्रतिष्ठाभूत विषय अर्थात्, अर्थ दो प्रकार के हैं। पहला है वाणीआदि का व्यापार, जो क्लेशात्मक है। वैध कर्म वाणी, देह या मनसे किये जाने वाली क्रियायें ही हैं और उन्हें करने में क्लेश ही होता है, मेहनत ही पड़ती है। इसी को श्रुति ने 'दक्षिणा' शब्द से व्यक्त किया है। ऋत्विजों की मेहनत दक्षिणा से खरीदी जाती है, अतः उस शब्द से उक्त अर्थ में लक्षणा है। इस प्रकार वेद की पहली प्रतिष्ठा हुई कर्म। यह कर्म प्रतिष्ठित है आस्तिकता अर्थात् श्रद्धा में। यही वेद का द्वितीय प्रकार का 'अर्थ' है। एवं च जैसे चक्षु रूपमें प्रतिष्ठित है, ऐसे ही श्रोत्र कर्म में और कर्म श्रद्धामें प्रतिष्ठित है। (३) क्योंकि अध्यात्ममें (हिरण्यगर्भदेह में) जो रेतस् है वही अधिदैवमें रसगुण वाला जल बनता है, इसलिये रसनेन्द्रियरूप जल की रेतस् प्रतिष्ठा है।।५१७-५१८।। (४) जैसे निर्दोष मन की स्थिति सत्य अर्थ में बतायी है, वैसे ही (५) वाणी की भी उसी में समझ लेनी चाहिये (क्योंकि अन्यत्र कहा है 'जो मन से सोचता है वह वाणी से बोलता है')। इसीलिये श्रुति में वाक् की हृदयातिरिक्त कोई प्रतिष्ठा, अर्थात् कारण, कहना आवश्यक नहीं समझा गया।।५२०।। सारे जल की इकलौती प्रतिष्ठा जैसे समुद्र

मनसः क्षीणदोषस्य यथाऽर्थे स्थितिरीरिता। सत्ये वाचोऽपि तत्रैव तेन वागिन्द्रियस्य न।। उक्तं हृदयतो भिन्नं प्रतिष्ठाकारणं[1] तदा।।५२०।।

हृदयं स्थितिहेतुः स्यात् सर्वेषामेकमेव हि। समुद्र इव नीराणां स्थानानां स्थानिनामपि।।५२१।।

दृष्टान्तेन स्पष्टयति

भित्तौ यथा भवेच्चित्रं चित्रे वर्णाः सितादयः। वर्णेषु द्रव्यजातं स्याद् दुग्धाञ्जनमुखं सदा।। प्रतिष्ठितं भवेत् सर्वं भित्तावेव च संश्रितम्।।५२२।।

(१७.२८) इत्यादि। तथा च चक्षूरूपेष्विव श्रोत्रं प्रथमश्रोतव्यवेदोक्तकर्मसु प्रतिष्ठितम्, कर्माणि च श्रद्धायामिति भावः। यतोऽध्यात्मरेत एव अधिदैवं रसरूपं रसगुणकजलरूपं सम्पन्नम् अतो रसनेन्द्रियरूपा आपः तत्र रेतसि प्रतिष्ठिताः श्रुतावुक्ता इति शेषः।।५१९।। मनस इति। क्षीणदोषस्य मनसः श्रुतौ दीक्षापदोक्तस्य यथा सत्येऽबाधिताऽर्थे विषये औत्सर्गिकी स्थितिः उक्ता, तथा तत्र सत्येऽर्थे वाचोऽपि स्थितिरुक्तप्रायैव, 'यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति' इति[2] श्रुतेः वाङ्मनसयोः समानविषयत्वस्य सिद्धत्वात्। एतेन पञ्चमकण्डिकायां वागिन्द्रियस्य विषये प्रतिष्ठा नोक्तेति न्यूनताशङ्का निरस्तेत्याह—तेनेत्यादिना। तेन वाग्विषयस्य उक्तप्रायत्वेन वागिन्द्रियस्य हृदयतो भिन्नं कारणं श्रुतौ नोक्तं किन्तु हृदयमेव कारणमुक्तमित्यर्थः।।५२०।। हृदयमिति। हृदयं तु सर्वेषां स्थानानाम् उक्तानामिन्द्रियाणां विषयाणां च तथा स्थानिनां देवानां च एकमेव स्थितिहेतुः कारणं स्यात्। यथा सर्वनीराणां समुद्र इति। अत्र हृदयपदेन हृदये सन्निहितो मायाशबलब्रह्मरूपोऽन्तर्यामी विवक्षितः। तस्य च मनोद्वारेण सकलजगत्कारणत्वं श्रुत्यन्तरेप्युक्तम्, 'असतोऽधि मनोऽसृजत मनः प्रजापतिमसृजत, प्रजापतिः प्रजा असृजत तदिदं सर्वं मनस्येव प्रतिष्ठितम्' इति। असतः अव्याकृतोपाधिकात् मनो हिरण्यगर्भः। प्रजापतिः विराड्; इति श्रुतिपदार्थः।।५२१।।

एवं श्रौतार्थमभिधाय आर्थिकमर्थं सदृष्टान्तं प्रपञ्चयति—भित्तावित्यादिना। यथा लोके भित्तौ कुड्ये चित्रं रेखामात्रं देवतामूर्त्यादिरूपं प्रतिष्ठितं भवेत्, तत्र च श्वेतादयो वर्णा प्रतिष्ठिता भवेयुः, तेषु वर्णेषु च देवतामुखादौ अर्पितं दुग्धादिकं प्रतिष्ठितं भवेद्—व्यवह्रियेत; वस्तुतस्तु सर्वं चित्रादिकं भित्त्याश्रितमेवेति।।५२२।। एवमिति।

है ऐसे ही सब स्थानों की—सविषय इन्द्रियों की—और सब स्थानियों की—देवताओं की—प्रतिष्ठा अर्थात् स्थितिहेतुभूत कारण एक हृदय ही है। यहाँ 'हृदय' शब्द वहाँ संनिहित अंतर्यामी अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म का बोधक है। वही ब्रह्म मनके (हृदयके) द्वारा सारे जगत्का कारण बनता है यह अन्यत्र भी समझाया है। अध्यात्म मन ही समष्टि हिरण्यगर्भ है, अतः ईश्वर हिरण्यगर्भ द्वारा विराट् बनते हैं यह तात्पर्य है। इस प्रकार पुराण में समझाये पंचक हैं : (१) पूर्व-आदित्य-चक्षु-रूप-हृदय। (२) दक्षिण-यम-श्रोत्र-कर्मश्रद्धा-हृदय (३) पश्चिम-वरुण-रसना-रेतस्-हृदय। (४) उत्तर-सोम-मन-सत्य-हृदय। (५) ऊर्ध्व-अग्नि-वाक्-सत्य-हृदय।।५२१।।

उदाहरण से विषय और स्पष्ट होगा : भींत पर पहले रेखांकन किया जाता है। रेखाचित्र में सफेद आदि रंग भरे जाते हैं। रंगों में मुँह, अंजन, मुख आदि द्रव्यों का व्यवहार होता है। किन्तु सभी कुछ प्रतिष्ठित भींत पर ही है। ऐसे ही हृदयकमल से अवच्छिन्न परमात्मा में दिगादिरूप व आदित्यादिदेवतारूप यह विश्व साक्षात् या परम्परा से प्रतिष्ठित है। वृत्तियों समेत अंतःकरण साक्षात् और बाकी सब परंपरा से स्थित है।।५२२-५२३।। भींत पर मिट्टी का लेप कर दें तो चित्र नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मानुभूतिरूप मिट्टी का लेप कर देने से यह हृदयप्रतिष्ठित चित्र भी बाधित

---

१. प्रतिष्ठैव कारणम्। २. 'मनसा सङ्कल्पयति, वाचा वदती'ति गर्भोपनिषदि।

एवं साक्षाद् हृदंभोजे स्यात् परंपरयाऽपि च। दिगादिकमिदं विश्वमादित्यादिस्वरूपधृक्॥५२३॥

भित्तेर्यथा मृदा लेपाच्चित्रं नाशं प्रयाति हि। ब्रह्मज्ञानमृदा लेपाद्[1] हार्दं चित्रं च नश्यति॥५२४॥

समायामेव भित्तौ स्याच्चित्रं विषमरूपधृक्। समे हृदि तथैवैतद् विषमं विश्वचित्रकम्॥५२५॥

वर्णैर्नानाविधैर्यद्वद् भित्तौ चित्रं विरच्यते। अज्ञानजैस्तथा बोधैर्हृदि चित्रं विरच्यते॥५२६॥

चित्रकारो[2] यथा चित्रं भित्तौ लिखति सर्वदा। हृदि बुद्धिस्तथा विश्वचित्रं लिखति नित्यशः॥५२७॥

काष्ठादिरचितं यद्वद् बिम्बं[3] चित्राङ्गधारकम्। सहसा रचयेद् भित्तौ चित्रं संनिधिमात्रतः॥५२८॥

[4]चित्ररूपं तथा भित्तिः बिम्बसन्निधिमात्रतः। रचयत्यनिशं नृणां हृदि चित्रं जगन्मयम्॥५२९॥

एवं हृदम्भोजावच्छिन्ने परमात्मनि इदं विश्वं दिगादिकमादित्यादिदेवतारूपं च साक्षात् किञ्चित् परम्परया च प्रतिष्ठितम्। तत्र सवृत्तिकमन्तःकरणं साक्षाद्, अन्यत् परम्परयेत्यर्थः॥५२३॥ उक्तदृष्टान्तेन समानधर्मान् विशदयति—भित्तेरित्यादिना। मृदा चित्राधारकुड्यलेपे यथा चित्रम् अदर्शनं याति तथा विचारकाले विश्वरूपं चित्रम् इत्यर्थः। ब्रह्मज्ञानमेव मृत्, तया लेपात्॥५२४॥ यथा दृष्टान्ते भित्तिः समा, चित्रं तु नतोन्नतं; तथाऽत्र उत्कर्षापकर्षवद्विश्वं समे हृदयावच्छिन्न आत्मनि कल्पितमित्याह—समायामिति॥५२५॥ दृष्टान्ते यथा नानाविधा रागाश्चित्रपरिपोषकाः, तथाऽत्र विपर्ययरूपा बोधा बोध्या इत्याह—वर्णैरिति॥५२६॥ अत्र च चित्रकारस्थानीयाऽनेकवासनासंस्कृता बुद्धिर्बोद्धव्येत्याह[5]—चित्रकार इति॥५२७॥ विश्वचित्रनिर्माणे बुद्धेः प्रकारान्तरेणापि हेतुतां दर्शयन् हृदयस्य बुद्धेश्च द्वयोरेवाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतेत्याह—काष्ठादीति द्वाभ्याम्। बिम्बपदेनाऽत्र चित्रकाराणामुपकरणविशेषः 'छाया'-इति भाषायां प्रसिद्धो ग्राह्यः। तथा च काष्ठादिनिर्मितं चित्राङ्गस्य चित्रोपायस्य रागस्य धारकं च बिम्बं सहसा बलेन सङ्घट्टितं यथा स्वसंनिकर्षमात्रेण भित्तौ चित्रं रचयेद् इति बिम्बस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणता प्रसिद्धेति शेषः। 'बिम्बं गात्राऽन्तिकोपाये' इति विश्वः॥५२८॥ चित्ररूपमिति। तथा भित्तिः अपि बिम्बस्य संनिधिमात्रेण चित्रस्य रूपम् आकारम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां रचयतीत्यपि प्रसिद्धम्। भित्त्यभावे हि चित्रं कुत्र स्यात्! एवंविधं जगन्मयं चित्रं हृदि मायाशबलचिद्रूपे भित्तिभूते नानावासनाऽन्वितबुद्धिबिम्बनिर्मितमित्यर्थः॥५२९॥

हो जाता है। भींत तो समतल होती है पर चित्र में नींचा-ऊँचापन दीखता है, गहराई आदि दीख़ती है। ऐसे ही हृदयसे अवच्छिन्न आत्मा तो सम है जिसपर यह उत्कर्ष-अपकर्ष वाला विश्वात्मक चित्र प्रतीत हो रहा है। जैसे विविध रंगों से दीवाल पर चित्र बनाया जाता है वैसे अज्ञानजन्य नानाविध विपर्ययात्मक ज्ञानों से हृदयात्मा में विश्वचित्र तैयार होता है। जैसे हमेशा चित्रकार ही भींत पर चित्र बनाता है ऐसे प्रतिदिन बुद्धि हृदयमें विश्वचित्र बनाती है। (ईश्वर भी बुद्धिके अवच्छेद से रहने वाले कर्मसंस्कारों की अपेक्षा से ही बनाते हैं अतः बुद्धि की हेतुता है ही।)॥५२४-५२७॥ चित्रणीय शरीर के अंगों के आकार में कटा लकड़ी, गत्ते आदि का बिम्ब (पुतला) रोशनी रहते दीवालके सामने लाया जाने पर केवल संनिधिवश भींत पर तुरन्त चित्राकार (छायारूपमें) उत्पन्न कर देता है। इस कार्य में भींत की सहायता भी सराहनीय है क्योंकि बिंब की संनिधिसे ही वह खुद पर चित्राकार बना लेती है; दीवाल ही न होती तो चित्र (छाया) बनता कहाँ!

---

१. लेपाच्चित्रस्यादर्शनमेव, न बाध इति दृष्टदार्ष्टान्तयोर्भेदो द्रष्टव्यः। २. 'दिवाविभा'-दिसूत्रात् (३.२.२१) चित्रोपपदकृञष्टस्तेन चित्रकर इति पाणिनेः संमततरम्। ३. पुमाद्याकारस्याङ्कने काठिन्यात्पुरतो दीपं निधाय मानवादिकं तदाकारमूर्तिं वा संस्थाप्य तच्छायां भित्तौ पटे वाऽऽदाय यावच्छाया पतति तावदेव रेखाचित्रं लिख्यत इति काचिद्वर्तते पद्धतिः। पूर्वदृष्टान्ते तु चित्रलेखनोक्तेः कश्चन विकारो भित्तौ जायते, अस्मिंस्तु प्रतिच्छायामात्रं दृश्यतइत्यविकारा भित्तिस्तिष्ठतीति विशेषः। एतदभिप्रेत्यैव 'संनिधिमात्रत' इत्यवोचत्। ४. बुद्धेर्हेतुतां दर्शयित्वा परमेश्वरस्यापि तामाह—चित्रेति। ५. यद्यपि निमित्तमीश्वरस्तथाप्यसौ प्राणिबुद्धिकर्मवासनापेक्षएव तथेति 'वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात्, तथा हि दर्शयति' (२.१.३४) सूत्रे स्थापितत्वादत्र धियश्चित्ररचयितृतया व्यपदेशः।

विश्वचित्रनिवृत्तिः

पुनः पुनर्मृदो लेपे यथा नैव प्रतीयते। चित्रं स्वल्पं च भित्तौ तद् विद्यमानं सदैव हि।।५३०।।
एवं पुनः पुनर्ब्रह्मविज्ञानेन विलेपनात्। विश्वं चित्रं[1] स्वहृदये विद्यमानं न दृश्यते।।५३१।।
[2]यथा मायाविनाऽऽकाशे चित्रं सैन्यं प्रदृश्यते। एवं बुद्ध्या स्वहृदये विश्वमेतत् प्रदृश्यते।।५३२।।
मायाविनि मृते यद्वत् सुप्ते वा व्यग्रतां गते। नभःस्थितं न तद् दृश्यं चित्रमेतज्जडाजडम्।।५३३।।
एवं बुद्धौ विनष्टायां सुप्तायां वा निजात्मनि। स्थितायां चित्रमेतद्धि हृदिस्थं नोपलभ्यते।।५३४।।

अस्य विश्वचित्रस्य निःशेषं निवृत्तिः मायाशबलस्य भित्तिस्थानीयस्य विशेषणनिवृत्त्या निवृत्तौ प्रारब्धान्तोपलक्षितायामेव भवति, जीवन्मुक्तिदशायान्तु विचारकालेऽदर्शनमात्रं भवति, इति दृष्टान्तानुरोधेनाह—पुनरिति द्वाभ्याम्। यथा चित्रोपरि मृत्तिकायाः पुनः पुनर्लेपे कृते भित्तौ स्वल्पं लेशमात्रेण अवस्थितमपि चित्रं बहिः न दृश्यते, तथा ब्रह्मज्ञानरूपमृदो विलेपनात् प्रारब्धपर्यन्तं लेशमात्रेण हृदये विद्यमानम् अपि विश्वचित्रं समाध्यादिकाले न दृश्यत इति द्वयोरर्थः।।५३०-५३१।। तस्याऽदर्शने तु मायावि-चित्रकरसमाया बुद्धेर्विलय एव प्रयोजक इति दर्शयितुं बुद्धेस्तन्निर्माणे प्राधान्यमाह—यथेति। मायाविना हेतुभूतेन चित्रं नानारूपं यथा दृश्यते तथा बुद्ध्या हेतुभूतया प्रपञ्च इति।।५३२।। बुद्धेः प्राधान्यव्युत्पादनफलं दर्शयति—मायाविनीति। यथाऽऽकाशे जडचेतनात्मकचित्रकर्तरि मायाविनि मृते सति व्यग्रतां कार्यान्तरासक्ततां गते वा सति तत् चित्रं न दृश्यते एवं बुद्धौ रोगादिना नष्टायां सुप्तायां वा आत्मनि स्थितायां समाहितायां वा हृदयगतं विश्वरूपं चित्रं न दृश्यत इति द्वयोः सम्बन्धः।।५३३-५३४।।

इसी प्रकार विश्वरूप चित्र हृदय में बना है। यहाँ मायाविशिष्ट ब्रह्म भींत है और नाना वासनाओं वाली बुद्धि बिम्ब—पुतला—है। (इस बात को 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम्' आदि दक्षिणामूर्तिस्तोत्र व उसके वार्तिक द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है।)।।५२८-५२६।।

संसारचित्र पूर्णतः तभी समाप्त होगा जब भींतस्थानीय मायाविशिष्ट ब्रह्म की विशेषणभूत माया का बाध, निरवशेष नाश, हो और प्रपंचप्रतीतिरूप औपाधिक कार्य के प्रति प्रयोजक प्रारब्धरूप उपाधि न रह जाये। मायाबाध होने पर भी जीवन चलते समय विश्वानुभूति हुआ करती है यद्यपि विचार काल में प्रपंचदर्शन नहीं होता और व्यवहारकाल में भी जगत्सत्यता का अनुदर्शन नहीं रहता। इस बात को पुराणकार चित्रोदाहरण से ही प्रकट करते हैं—सचित्र भींत पर बार-बार मिट्टी का लेप करने पर चित्र दीखना बन्द हो जाता है, हालाँकि भीतर लेशमात्रतो वह बचा ही रहता है (क्योंकि मिट्टी धुलने पर पहचानी जा सके ऐसी झाई दीख ही जाती है)। विश्वरूप चित्र भी प्रारब्ध रहने तक हृदय में बना ही रहता है, चाहे लेशमात्र हो, किन्तु ब्रह्माकारवृत्ति रूप मिट्टी का आवृत्तिरूप लेप बारंबार करने से वह चित्र दीखना बन्द हो जाता है। (प्रसिद्ध है कि ग्रंथकार भूमिकारोह क्रम की प्रधानता स्वीकारते हैं अतः बाध को अप्रतीतिपर्यन्त मानते हैं। यहाँ आवृत्ति के अंगीकार से भाष्यसिद्धान्त के विरोध की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि मिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक अप्रतीतिप्रयोजक वृत्ति को ही तत्त्वज्ञान मानकर उसकी प्राप्ति के उपायरूप से आवृत्ति कही जा रही है जो सूत्रादिकार (४.१.१) को संमत है ही।)।।५३०-५३१।। क्योंकि मायावी खेल दिखा रहा होता है इसलिये आकाशमें विविध तरह की सेना आदि दीखते हैं; ऐसे ही परमार्थतः स्वात्मरूप किन्तु व्यवहारदशामें हृदयभूत में बुद्धि के कारण यह विश्व दीखता है। मायावी मर जाये, सो जाये या कार्यान्तर में लग जाये तो आकाशमें दीखने वाला वह चित्र दीखना समाप्त हो जाता है, वहाँ दीखने वाले अस्त्र, रथादि और भट, अश्वादि कोई नहीं दीखते। इसी तरह बुद्धि रोगादि से नष्ट हो जाये, सो जाये या आत्मामें समाहित हो जाये तो अभी जो यह विश्व हृदयमें दीख रहा है यह उपलब्ध नहीं हुआ करता। (रोगसे

१. विश्वचित्रमिति टीकापाठः। २. बिम्बच्छायाऽपि भित्तिं विकुर्यादिति शंकामपाकर्तुमुदाहरणान्तरमाह—यथेति।

नभःस्थितं यथा चित्रं मायाव्येव ततोऽपरम्। कालत्रयेऽपि नैवैतदासीदस्ति भविष्यति।।५३५।।
हृदि स्थितं तथा विश्वं चित्रं बुद्धिर्न चाऽपरम्। कालत्रयेऽपि नैवैतदासीदस्ति भविष्यति।।५३६।।
तमो यथा नभस्येतद् दृश्यते तमसैव[1] हि। हृद्यात्मनि तथा बुद्धिर्बुद्ध्यैवैषा प्रतीयते।।५३७।।
यथा विशुद्ध आकाशे प्रकाशेन न दृश्यते। निरीक्ष्यमाणं च तमो नेत्रैर्दोषविवर्जितैः।।५३८।।
हृद्यात्मनि तथा शुद्धे बुद्धिरेषा सकारणा। आत्मविज्ञानतो दृश्या न भवेद्धि कदाचन।।५३९।।

असतो व्यावहारिकत्वम्

शशशृङ्गं यथाशब्दात् स्वविज्ञानकरं भवेत्। कार्यकारणसंयुक्ता बुद्धिरेवं विबोधकृत्।।५४०।।

नभइति। यथा मायाविनिर्मितं नभःस्थं चित्रं मायाविस्वरूपमेव, ततो मायाविस्वरूपाद् भिन्नं कालत्रयेऽपि नास्ति; तथा हृदये स्थितं विश्वरूपं बुद्धिः एव, ततो बुद्धिस्वरूपाद् भिन्नं कालत्रयेऽपि न—इति द्वयोः सम्बन्धः।।५३५-५३६।। सा च बुद्धिः स्वस्याऽपि विश्वचित्रान्तर्गतस्य भानप्रयोजिका। न चाऽऽत्माश्रयः, 'अविद्यायामेव चाऽऽसित्वाऽविद्याऽस्तीति कल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या[2] त्वविद्येयं नासीदस्ति भविष्यति।' (बृ.पृ. ४५) इति वार्तिकोक्तविधयाऽविद्याया इवाऽनिर्वचनीयत्वेनाऽदोषत्वाद् इत्याशयेन तत्सदृष्टान्तमाह—तम इति। यथा आकाशस्थितोऽन्धकारोऽन्धकारेणैव दृश्यते, न तु तेजसा, तेन विरोधात्; तथा हृदयावच्छिन्नात्मनि वर्तमाना बुद्धिः बुद्धिकाल एव दृश्यत इति।।५३७।। उक्तमर्थं व्यतिरेकेण स्फुटयति—यथेति। यथा सूर्यादिप्रकाशेन विशुद्ध आकाशे तमो न दृश्यते निर्दोषदृग्भिः, तथा आत्मविज्ञानेन शुद्धे निरावरणे आत्मनि सति बुद्धिर्न दृश्या भवेद् इति द्वयोरर्थः।।५३८-५३९।।

नन्वेवं सति प्रमाणस्पर्शमसहन्त्या बुद्धेरसत्त्वमागतं, तथा च तया कथं व्यवहाराः साध्यन्ते? इत्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति—शशेति। यथा शशशृङ्गम् असदपि[3] स्वशब्दाद् विकल्पात्मकं ज्ञानं जनयति तथा बुद्धिः कार्यैः कारणेन च सह असद्रूपा विबोधं विविधं बोधं विपर्ययात्मकं करोति इति।।५४०।। ननु बुद्धेरसत्त्वेऽपि

नाश का अर्थ मूर्छादि अवस्था है। यहाँ इतना ही विवक्षित है कि विश्वका दीखना-न दीखना बुद्धि की बहिर्मुखी कार्यकारिता के होने-न होने पर निर्भर करता है। अतः तत्त्वज्ञान अकेला दृश्यानुपलम्भ नहीं करता वरन् मनोनाश-वासनाक्षय ही उसमें प्रयोजक हैं। तत्त्वज्ञान तो यह संभव कर देता है कि बुद्धिनाशके बाद (प्रारब्धनाशके बाद) पुनः दृश्यदर्शन असंभव रहे अन्यथा सुषुप्तितुल्य ही समाधि भी रह जायेगी जैसी हैरण्यगर्भों की हुआ करती है।)।।५३२-५३४।। आकाशमें 'स्थित' चित्र दीखने से पूर्व, दीखते समय और दीखना बन्द होने के बाद, हर वक्त केवल मायावी ही था, न कि उससे स्वतंत्र सत्ता वाला। हृदयमें, मायाशबल ब्रह्ममें, 'स्थित' विश्वचित्र भी बुद्धि ही है, और कुछ नहीं। अनुभूतिसे पूर्व, अनुभूतिके समय तथा अनुभूति न रह जाने पर, सदा वह चित्र बुद्धि ही है। (यद्यपि विश्वचित्र तीनों कालों में 'हृदय' है ऐसा कहना चाहिये था तथापि क्योंकि बुद्धिसंस्कारों के अनुरूप ही विश्वानुभव होता है इसलिये 'बुद्धि है' ऐसा कहा। किन्तु स्वाभाविक प्रश्न होता है कि स्वयं कार्यरूप बुद्धि किमात्मिका है अर्थात् उसकी उपलब्धि किंप्रयुक्त है? इसका उत्तर देते हैं।—) जैसे नभ में यह अँधेरा किसी रोशनी से नहीं दीखता, अतः कह सकते हैं कि अँधेरे से ही दीखता है, वैसे ही हृदयात्मामें बुद्धिसे ही यह बुद्धि प्रतीत होती है। (घट पैदा होता है, बनता या दीखता है, इस सबमें घट भी हेतु होना आवश्यक है, अतः आत्माश्रयता को अवकाश रहेगा ही; बुद्धिदर्शन भी यों आत्माश्रय से पीडित हो तो क्या हानि है? अनिर्वचनीय संसार में ये दोष होना स्वाभाविक ही है।)।।५३५-५३७।। साफ आसमानमें नीरोग नेत्रों से निरीक्षण करने पर प्रकाश द्वारा अंधकार नहीं देखा जा सकता है। शुद्ध हृदयात्मा में भी आत्मप्रमा द्वारा यह बुद्धि और इसका कारणभूत अज्ञान कभी नहीं दीख सकते।।५३८-५३९।।

---

१. स्वेतरसहायनिरपेक्षताऽवधारणार्थः। यद्यपि तमश्चक्षुषा दृश्यतइति स्वान्यानपेक्षतायै ज्योतिर्दर्शनं दृष्टान्ती कर्तव्यं नेत्रस्यापि तेजस्त्वात्तथापि अज्ञानस्य तामसतया तमोदृष्टान्तः संगच्छते। २. ब्रह्मदृष्ट्येति परमार्थभूमावित्यर्थः। ३. सद्विविक्तत्वलक्षणमसद्।

सर्पेऽसति यथा केचित् प्राणान् मुञ्चन्ति जन्तवः। शङ्काविषात् सर्पशब्दश्रवणेन भयातुराः।।५४१।।
असत्येव तथाऽज्ञाने बुद्धिदेहादिकारणे। सुखदुःखकरं घोरं संसारं यान्ति मानवाः।।५४२।।
एक एव यथा सुप्तो बहुधा जायते पुमान्। एक एव तथाऽविद्यावशादात्माऽपि जायते।।५४३।।
अन्धो यथा निधिं स्पृष्ट्वा करेणाऽपि न विन्दति। विदग्ध! त्वादृशा एनं न विदुर्हृदये स्थितम्॥५४४
अज्ञानाद् दृश्यसंसारचित्रस्याश्रय ईरितः। हृदयं किं विदग्धाऽन्यत् प्रष्टुमिच्छसि तद्वद।।५४५।।

तत्कारणमज्ञानं सद् भविष्यति यत् सर्वानर्थबीजमिति चेद्? न; 'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः' इति न्यायेन तस्यापि असत्त्वाद् इत्याशयेन असतोऽपि अनर्थजनकत्वे दृष्टान्तमाह—सर्प इति। यथा केचिद् भीरवः असति अपि सर्पे सर्पशब्दमात्रेण मक्षिकाशनभ्रम इव शङ्काविषात् प्राणान् मुञ्चन्ति।।५४१।। दार्ष्टान्तिकमाह—असत्येवेति। स्पष्टम्।।५४२।। वस्तुतोऽसतोऽप्यज्ञानस्य विविधप्रपञ्चनिर्माणसामर्थ्यं स्वप्ने परीक्षितमित्याह—एक एवेति।।५४३।। एवं विद्वद्दृष्ट्याऽसदप्यज्ञानं त्वादृशानां दुराग्रहिणां वज्राचलवद् दुर्भेदत्वेन स्थितं यद्वशाद् हृदयस्थोऽपि आत्मा न भासत इत्याह—अन्ध इति। यथाऽन्धः करसंस्पृष्टमपि निधिं न विन्दति तथा त्वादृशा हृदयस्थमप्यात्मानमिति।।५४४।। उपसंहरति—अज्ञानादिति। अज्ञानाद् दृश्यं यत् संसाररूपं चित्रं तस्याश्रयभूतं तत्त्वं दिग्विज्ञानमुखेन हृदयत्वेनोक्तम्। किमन्यत् श्रोतुम् इच्छसि? इति।।५४५।। 'कस्मिन् हृदयं प्रतिष्ठितम्' इति प्रश्नमवतारयति—एवमुक्तेऽपीति चतुर्भिः। एवं दिग्विज्ञानमुखेनाऽऽत्मतत्त्वे याज्ञवल्क्यमुनिना उक्तेऽपि सति असौ विदग्धो मूढ उक्तेऽप्यप्रसरन्मतिः

जैसे शब्दवश शशशृंग स्वाकार विकल्पवृत्ति बना लेता है, वैसे ही कार्यों एवं कारण से सहकृत बुद्धि विविध विपर्ययों को संभव करती है। (यद्यपि कुछ विचारक विकल्पोत्पादक केवल शब्दको स्वीकारते हैं, असत्पदार्थ को विकल्पजनक नहीं मानते तथापि ग्रन्थकार असत्से सद्विलक्षण कहना चाहते हैं जो स्वसिद्धान्तमें मिथ्या प्रसिद्ध है। पुनरपि अनिर्वचनीय विषय ज्ञातैकसत् होने से स्वगोचर ज्ञानके प्रति कारण नहीं हुआ करते किन्तु प्रतिकर्मव्यवस्था के लिये वैसी प्रक्रिया रची गयी होने से भ्रमस्थल में भी ज्ञानके प्रति विषयकी हेतुता का उपचार कर लिया जाता है अन्यथा अर्थाध्यास को स्थान नहीं होगा। पुराणमें पहले भी 'असत्' की कार्यकारिता पर पर्याप्त विचार हो चुका है।)।।५४०।। ऐसा भी नहीं कि बुद्धि ही सद्भिन्न हो, इसका कारणभूत अज्ञान कोई सद्वस्तु हो! देखा जाता है कि भ्रमसिद्ध अतः सद्भिन्न सर्प होने पर भी कोई डंक लगे और तत्काल कोई कह दे 'अरे तुम्हें साँपने डस लिया!' तो 'मुझे विष चढ़ गया' इस विषकी शंकासे भी लोग मर जाते हैं क्योंकि भयसे आतुर हो जाते हैं। ठीक इसी तरह बुद्धि-देहादि (विषों) का कारण (सर्परूप) अज्ञान असत् ही है लेकिन खुद में उसे मानने पर, 'मैं अज्ञानी' यह अनुभूति रहते, मानव सुख-दुःख देने वाले इस घोर संसार में भटकते रहते हैं। बेशर्म की तरह अज्ञान प्रतिदिन अपनी यह चमत्कारी योग्यता का नमूना पेश भी करता रहता है, शायद हमें चिढ़ाने के लिये कि 'जिससे तुम परेशान हो वह तो ऐसा है, देख लो!' लेकिन हम हैं कि समझने को तैयार ही नहीं! सोया पुरुष अकेला ही रहकर सपने में बहुत तरह से 'प्रादुर्भूत' हो जाता है : अविद्यावशवर्ती आत्मा भी है एक ही पर नाना तरह से 'पैदा' हो जाता है।।५४१-५४३।।

याज्ञवल्क्य सखेद कहते हैं—अंधे के हाथ खजाना भी लगे तो भी वह उसे देख नहीं सकता। विदग्ध! तुम जैसे दुराग्रही स्वचित्तसाक्षिभूत इस महादेव को जानो यह भी वैसा ही असंभव है। (आग्रह अर्थात् दृश्य के प्रति, सविशेषके प्रति राग।) शाकल्य! दृश्यात्मक संसाररूप चित्र का अज्ञानवश आश्रय बने तत्त्व को दिशासम्बद्ध उपासना के वर्णन द्वारा 'हृदय' रूपसे मैंने विस्तार से समझा दिया। और कुछ पूछना चाहते हो तो बोलो।।५४४-५४५।।

जब मेढक की मौत आती है तो वह टर्र-टर्र कर मानो फणधर सर्प को अपने पास आने केलिये आमंत्रण देता है! याज्ञवल्क्य द्वारा यों कार्यब्रह्म और अवसर पाकर कार्यमिथ्यात्व द्वारा अद्वैततत्त्व सुस्पष्ट समझा देने पर भी उपदेश

हृदयप्रतिष्ठाप्रश्नः

एवमुक्तेऽप्यसौ मूढः प्रश्नान्नोपरतिं गतः। मण्डूकसदृशः कालसर्पाह्वानकरीं गिरम्। विससर्ज ततो याज्ञवल्क्योऽभूदतिदुःखितः।।५४६।।

याज्ञवल्क्यस्य कृपालुता

अहो! अस्य मृतिः प्राप्ता समीपे दुर्धियोऽधुना। मण्डलादुत्तरत्येष पुमाँल्लोहितलोचनः।।५४७।।

सविता मम जिह्वायां स्थातुं वेदत्रयात्मकः। अतः परवशा जिह्वा शापमेषा प्रदास्यति।। मम येन भवेदेष भस्मीभूतः क्षणाद् द्विजः।।५४८।।

इति सञ्चिन्त्य मनसा कृपया परयान्वितः। प्रश्नेऽस्मिन् मरणं मा भूदित्येवैष व्यवस्थितः।।५४९।।

विदग्धोऽपि मुमूर्षुः सन् पुनः पप्रच्छ मूढधीः[1]। हृदयं कुत्र तद्विश्वचित्रधृक् समवस्थितम्।।५५०।।

अहल्लिकपदार्थः

अहल्लिकेति सम्बोध्य याज्ञवल्क्योऽप्यभाषत। नामान्तरेण यस्मात्त्वं लीयसेऽहनि संशयात्।[2] ।५५१।।

प्रश्नाद् अनुपरतः सन् यथा मण्डूकः कृष्णसर्पस्य आह्वानस्याकारणस्य हेतुभूतां गिरं वचमुत्सृजति तथा कालरूपसर्पस्य आह्वानकरीं गिरं पुनःप्रश्नरूपामुत्ससर्ज। ततः तं तादृशं वीक्ष्य करुणया याज्ञवल्क्योऽतिदुःखितोऽभूदिति।।५४६।।

अहो! इति। अहो ! इति खेदे। अस्य दुर्धियो मृतिः समीपे प्राप्ता यतोऽस्मै शापं दातुं मम जिह्वायां स्थातुं सविता सूर्यो मण्डलाद् अवतरति, अतो मम एषा जिह्वा एतद्विनाशकं शापं दास्यतीति सञ्चिन्त्य याज्ञवल्क्यः कृपाविष्टः सन् कथंस्विद् अस्य मरणं मा भूद् इति चिन्तयन्नेव व्यवस्थितः—इति त्रयाणां सम्बंधः।।५४७-५४९।। विदग्धोऽपीति। मुमूर्षुः मरिष्यतीत्याकारकशङ्काविषयो मूढधीः च विदग्ध इति पप्रच्छ। 'इति' किम्? तद् विश्वरूपचित्रधारकत्वेन वर्णितं हृदयं कुत्र प्रतिष्ठितम्; किमाश्रयकम्? इति यावत्।।५५०।। पञ्चविंशतितम्याः कण्डिकाया अर्थमाह—अहल्लिकेति सप्तभिः। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्यो विदग्धम् अहल्लिकेति नामान्तरेण सम्बोध्य वक्ष्यमाणमुत्तरम् अभाषत। अस्य नाम्नो व्युत्पत्तिर्वार्तिककृद्भिर्यद्यप्येवमुक्ता—अहनि लीयते, रात्रौ च प्रादुर्भवतीत्यहल्लिकः; प्रेतभावित्वात् तत्सम्बोधनम्।

की गंभीरता से बेखबर रहने वाले तथा प्रतिष्ठा पाने को उतावले विदग्ध ने प्रश्न उठाना छोड़ा नहीं। वह पुनः पूछ रहा है यह देखकर मुनि याज्ञवल्क्य करुणासे दुःखी हुए सोचने लगे—अरे बड़े खेद की बात है! इस दुर्मति की मृत्यु संनिकट है। मेरे गुरु आदित्यपुरुष मण्डल से उतर कर सामने आ गये हैं ताकि मेरी जीभ पर बैठकर इसे शाप दें। त्रिवेदी रूप इन सूर्यदेव को विद्यातिरस्कार देखकर अत्यन्त अप्रसन्नता हो गयी है जो इनकी लाल-लाल आँखों से व्यक्त है। अव मेरी जीभ इनके परवश होकर इसे शाप देगी जिससे यह मर जायेगा। यह ब्राह्मण है पर क्षणभर में मुझे निमित्त बनाकर सूर्य इसे समाप्त कर देंगे यह सोच महामुनि करुणापीडित थे। 'इसके आगे प्रश्न पूछकर यह मर न जाये' यही उनका भाव था। लेकिन विदग्ध तो मरना ही चाह रहा था ! उस मूर्ख ने पुनः प्रश्न किया 'विश्वचित्र धारण करने वाला हृदय कहाँ प्रतिष्ठित है?' ।।५४६-५५०।।

याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को उसके एक अन्य नाम 'अहल्लिक' से सम्बोधित कर तब उत्तर दिया। इस शब्द के कई अर्थ हैं। (एक अर्थ तो वार्तिककार ने बताया है—दिन में छिप जाये, रात में प्रकट हो अर्थात् प्रेत; शाकल्य

१. याज्ञवल्क्याभिप्रेततात्पर्यानवगमो मूढतामुष्य। २. शङ्कस्वात्मभूते सदा भासमाने सर्वाधारे कथितेऽपीति संशयानोऽन्ध एव।

अथवा हृदयेनाऽयं रहितोऽहल्लिकः स्मृतः। इतः परं हि को नाम पृच्छेद्धीमान् पुमानिह।। अत्राऽपि यदयं प्रश्नं कुरुतेऽहृदयस्ततः।।५५२।।

अथवा पतिते देहे हृदयं पृथिवीस्थितम्। ग्रामसिंहाः समद्युर्यत्ततोऽहृदय ईरितः।।५५३।।

अह्नां वा कारको देवो लयं[1] तेऽत्र करिष्यति। अहल्लिकेति नाम्ना तमिदमाह मुनीश्वरः।।५५४।।

मुनेरुत्तरम्

मय्येव स्थितमेतद्धि हृदयं चित्रधारकम्। [2]मच्छरीरं विना नैव स्थूलं सूक्ष्मं स्थितिं व्रजेत्।।५५५।।

तथा अहन्शब्दनकारस्य रेफादेशे रलयोः सावर्ण्याल्लकारपाठे संज्ञायां कन्प्रत्यये 'केऽण' इति(७.४.१३) ईकारस्य ह्रस्व इति तद्व्याख्यातृभिरुक्तम्—तथापि एतैः सम्भवाभिप्रायेण अर्थान्तराण्यपि प्रदर्श्यन्ते। तत्र प्रथमोऽर्थः चतुर्थपादेनोक्तः। यस्मात् त्वमहनि अहर्वत् प्रकाशभूयिष्ठेऽपि मदुक्तेऽर्थे संशयाल्लीयसे लययोग्यो भवसि 'संशयात्मा विनश्यति' (गी.४.१०) इति स्मृतेः, तस्माद् अहल्लिकेति उक्तोऽसीति तदर्थः। अत्र साधनिका सैवेति।।५५१।। द्वितीयमर्थमाह—अथवेति। यो हि सूक्ष्मावधारणकुशलः स सहृदय इत्युच्यते। अयं तु तद्विपरीतत्वाद् अहृदयस्ततोऽहल्लिकेति उक्तः। 'हल्ल विकसने' (   ) इत्यस्माद् घञन्ताद् मत्वर्थेऽनुप्रत्यये हल्लिशब्दो विकाशशालिहृदयवाची; तद्रहितस्तथेति भावः। कथमस्य विवेकराहित्यमित्यत आह—इतः परमित्यादि। इतः परं स्पष्टोक्तेरनन्तरमपि कः पृच्छेद्? अयं तु विदग्धः पृच्छति; ततः अहृदयो विवेकरहित इत्यर्थः।।५५२।। एतामेव व्युत्पत्तिमादाय तृतीयमर्थमाह—अथवा पतित इति। अथवा देहे पतिते सति यद् मांसमयं हृदयं ग्रामसिंहाः श्वानोऽद्युः भक्षयेयुः तदेव त्वया बुद्धं; मद्विवक्षितः परमात्मरूपो हृदयपदार्थो न बुद्ध इत्याशयेन अहृदयो विदग्धोऽहल्लिकेत्युक्तः। तथा च अविद्यमानमज्ञातं हल्लि हृदयं परमात्मरूपं येन स तथेत्यर्थः।।५५३।। 'पदान्तरैरपि निर्ब्रूयाद्' इति यास्कोक्तिमनुरुध्य चतुर्थमर्थमाह—अह्नामिति। देवः सूर्यः। ते मोहेन पृच्छतः। अत्र सदसि। तथा च अहः तत्कर्ताऽऽदित्यो लियं नाशं करिष्यतीति व्युत्पत्तिकेन अहल्लिकनाम्ना सम्बोध्य इदम् उत्तरम् आह इति सम्बन्धः।।५५४।।

उत्तरमभिनयति—मय्येवेति। एतद् विश्वचित्रधारकं हृदयं त्वया मांसखण्डत्वेन यन्मतं तद् मयि मत्सूक्ष्मशरीरे प्रतिष्ठितं यतो मदीयं सूक्ष्मं शरीरं विना स्थूलं न स्थितिं व्रजेत्। तत्स्थूलं विना च सूक्ष्मं न स्थितिं व्रजेद् इति

अकालमृत्यु के कारण प्रेतयोनि पायेगा इस अभिप्राय से यह संबोधन है। अन्य अर्थ पुराणकार बता रहे हैं—) I—याज्ञवल्क्य का अभिप्राय था कि मैंने जो विषय समझाया वह दिन की तरह सुस्पष्ट है लेकिन उसमें भी संशय से तुम लयके, विनाशके योग्य बन रहे हो अतः अहल्लिक हो। II—अथवा जो सूक्ष्म बात समझ सके वह सहृदय कहलाता है। तुम इस सूक्ष्म वस्तु को समझने में सर्वथा अक्षम हो अतः अहृदय हो। (अ नहीं है, अल्लिक हृदय वाला।) जो मैंने बताया, इससे आगे कौन बुद्धिमान् पुरुष पूछेगा? फिर भी यह पूछने से बाज नहीं आ रहा तो ज़रुर अविवेकी है। III—अथवा मुनि का तात्पर्य था—मरने पर शरीर गिर जायेगा तो तुम्हारे जिस मांसपिण्ड रूप हृदय को कुत्ते खायेंगे उसे ही तुम 'हृदय' समझ रहे हो जबकि मैंने परमात्मा के लिये 'हृदय' शब्द का प्रयोग किया है। अतः हृदय-पद का सही अर्थ न समझने से तुम अहृदय हो, अहल्लिक हो। किं च तुम्हारा शव समूचा जल नहीं पायेगा क्योंकि हृदय कुत्ते नोच खायेंगे इसलिये अहल्लिक हो। IV—अथवा मुनि सावचेत कर रहे हैं—'भगवान् दिवाकर हालमें ही तुम्हारा नाश कर देंगे' इस अर्थ को कहने के लिये अहल्लिक नाम दिया। (अहल् अहस्कर सूर्य, क्योंकि अहन् दिन को कहते हैं। लिक लीन, नष्ट कर देंगे।)।।५५१-५५४।।

यों संबोधित कर वे बोले—जिसे मैंने विश्वचित्र का धारक हृदय कहा उसे तुम मांसखण्ड ही समझ रहे हो तो यही जानो कि वह मेरे सूक्ष्मशरीर में प्रतिष्ठित है क्यों कि मेरे सूक्ष्मशरीरके बिना मेरा स्थूल शरीर स्थित नहीं रह सकता।

१. लियमिति टीकापाठः प्रतीयते। २. त्वं हृदयं यदवगच्छसि तत्तु मम सूक्ष्मदेहं विना न तिष्ठति, सूक्ष्मवियुक्तं च श्वादिभक्ष्यं भवति, अहं हृदयं परमात्मानं वच्मि यत्त्वं न जानासीति भावः।

सूक्ष्माच्छरीरतो यर्हि स्थूलं देहं पृथग्भवेत्। हृदयेन समं तर्हि श्वान एतददन्ति हि।। पक्षिणः खण्डशः कृत्वा नयेयुर्वा समन्ततः।।५५६।।

अतोऽस्मच्छब्दसंयुक्तं सूक्ष्मं[1] देहमुदीरितम्। स्थानं स्थूलस्य देहस्य हृदयेन सहैव हि।।५५७।।

देहाश्रयादिप्रश्नः

हृदयं परमात्माख्यमविज्ञाय यथा पुरा। पृष्टवांस्तद्वदेवाऽयं पुनः पप्रच्छ मन्दधीः।।५५८।।

स्थूलं सूक्ष्मं च देहं तदाश्रयाश्रयिकीर्तितम्[2]। प्रतिष्ठितं हि कुत्रेति पप्रच्छेदं पुनर्द्विजः।।५५९।।

प्राण इत्याह तं सोऽपि प्राणः कुत्रेति पृष्टवान्। अपान इति तं प्राह शाकल्यं बुद्धिवर्जितम्।।५६०।।

अपानः क्वेति सोऽपृच्छद् व्याने सोऽप्याह धीधनः। व्यानः कुत्रेति संपृष्ट उदान इति सोऽब्रवीत्।। उदानः क्वेति स प्राह समाने सोऽप्यभाषत।।५६१।।

प्रसिद्धमेवेति।।५५५।। सूक्ष्मादिति। सूक्ष्माच्छरीरात् स्थूलम् अन्यत्रापि तिष्ठतीति न मन्तव्यं यतो यर्हि सूक्ष्माच्छरीरात् स्थूलं पृथग् वियुक्तं भवेत् चेत् तर्हि हृदयेन त्वदभिमतेन सहितम् एतत् शरीरं श्वानः अदन्ति भक्षयन्ति, पक्षिणः च खण्डं खण्डं कृत्वा नयेयुः इति।।५५६।। अत इति। अत उक्ताभिप्रायेण सूक्ष्मं देहं स्थूलस्य हृदयेन सहैव वर्तमानस्य स्थानम् इत्युक्तमित्यन्वयः। कीदृशं सूक्ष्मम्? अस्मच्छब्दसंयुक्तं श्रुतिगताऽस्मच्छब्देन विवक्षितमित्यर्थः।।५५७।। अथ षड्विंशतितम्याः कण्डिकाया अर्थमष्टपञ्चाशता श्लोकैरुपबृंहयंस्तत्र 'समान' इत्यन्तभागस्याऽर्थमाह—हृदयमिति चतुर्भिः। याज्ञवल्क्येन हृदयपदेन हृदयमिति[3] व्युत्पत्त्या परमात्मोक्त इति अविज्ञाय यथा पूर्वं हृदयाश्रयं पृष्टवान् तथा पुनः आधारविषयकं प्रश्नं कृतवानित्यर्थः।।५५८।। स्थूलमिति। स्थूलसूक्ष्मदेहौ यावन्योन्यमाश्रितौ श्रुतिगतयुष्मदात्मशब्दाभ्यां कीर्तितौ तौ कुत्र प्रतिष्ठितौ इति आकारं प्रश्नं विदग्धः कृतवानित्यर्थः। द्विज इत्युत्तरान्वयी।।५५९।। प्राण इति। ततः द्विजो याज्ञवल्क्यः तं विदग्धं प्रति शरीरद्वयमूर्ध्ववृत्त्यात्मके प्राणे स्थितम् इत्याह। ततः सोऽपि विदग्धः प्राणः कुत्रेति पृष्टवान्। तदुत्तरम्—अपानेऽधोवृत्तिरूप इति।।५६०।। अपानः क्वेति। प्रथमेन चतुर्थेन च स-पदेन विदग्धः, इतरैस्तु याज्ञवल्क्यो ग्राह्यः। व्यानः प्राणापानयोः सन्धिः शृङ्खलासमः, उदानः तत्र कीलसम इति, समानः तु सूत्रवच्छरीरधारक[4] इति विवेकः।।५६१।।

स्थूल के बिना सूक्ष्म भी कार्यसमर्थ नहीं होता यह तो प्रसिद्ध ही है। जब सूक्ष्मदेह से स्थूलदेह का विच्छेद हो जाता है तब मांसमय हृदय समेत इस स्थूल देह को कुत्ते खाते हैं, पक्षी नोच-नोच कर इसे तितर-बितर कर देते हैं। इसलिये जो 'मैं' शब्द से जुड़ा रहता है, मैंका अर्थ है, मैं से तादात्म्यापन्न है, उस सूक्ष्म शरीर को हृदय सहित स्थूल देह का वासस्थान कहा। (श्रुतिमें याज्ञवल्क्य ने इतना ही कहा—'हृदय को मुझसे अन्यत्र मान रहे हो ? जब यह मुझ से अन्यत्र होगा तब इसे कुत्ते खायेंगे या पक्षी मथ डालेंगे।' अतः हृदय मुझमें प्रतिष्ठित है यह अर्थ निकला। 'मुझ' का व्याख्यान पुराण में कर दिया कि यहाँ सूक्ष्मशरीर मैं या मुझ का अर्थ है।)।।५५५-५५७।।

श्रुति में आगे शाकल्य ने पूछा 'तुम और आत्मा दोनों किसमें प्रतिष्ठित हो?' उत्तर मिला 'प्राण में'। आगे प्रतिष्ठाप्रश्नोत्तरक्रम में अपान, व्यान, उदान और समान का उल्लेख हुआ, फिर याज्ञवल्क्य ने आत्मा का वर्णन किया कि वही प्रत्यक्स्वरूप अतद्व्यावृत्ति से बोध्य है, वह अग्राह्य है, अविनाशी है, असंग है, बंधव्यथासे और हिंसित होनेसे बचा रहता है। इस संदर्भ को पुराण में समझाते हैं।

जैसे पहले मंदमति शाकल्य ने यह बिना समझे कि याज्ञवल्क्य हृदयपदसे परमात्मा को कह रहे हैं, हृदयके आश्रयका प्रश्न कर दिया था वैसे ही पुनः तात्पर्य समझे बिना पूछने लगा—'आश्रय व आश्रित रूपसे जिन्हें तुमने कहा

१. असमच्छब्दवाच्यं लिंगमित्यर्थः। केचिदहङ्कारमेवात्र जिघृक्षन्ति। २. परस्परमाश्रयाश्रयितया कीर्तितमित्यर्थः। ३. हृदयमिति-इति पिपठिषामि। ४. सूत्रं सूत्रात्मा।

विदग्धाऽबोधप्रदर्शनम्

हृदयं याज्ञवल्क्येन परमात्मा समीरितः। जन्तूनामखिलानां यदास्ते हृदयमीश्वरः।। तस्याधारो मांसखण्डो ज्ञातस्तेन द्विजन्मना।।५६२।।

अस्मच्छब्दोऽप्यहङ्कारविषयः शब्दबोधयोः। अनाश्रयः स आत्मोक्तो याज्ञवल्क्येन धीमता।। सूक्ष्मो देहो विदग्धेन ज्ञातो बुद्धिविवर्जनात्।।५६३।।

प्राणः प्राज्ञः समुद्दिष्टो याज्ञवल्क्येन धीमता। अपानाद्यैस्तथा शब्दैः स एव परमेश्वरः।।५६४।।

अथ याज्ञवल्क्यतात्पर्यविषयीभूतमात्मस्वरूपं 'स एष नेति' इत्यादिश्रुत्या संवादरूपाद्व्युत्थाय निरूपितं; तद्विदग्धेन न बुद्धमिति वक्तुं व्याख्यावाक्येषु याज्ञवल्क्याभिप्रेतार्थविपरीतार्थो यो यो विदग्धेन गृहीतस्तं दर्शयति—हृदयमिति सप्तभिः। याज्ञवल्क्येन दिग्विज्ञानवाक्येषु हृदयपदेन परमात्मैवोक्तः, हृदि बुद्धौ अयम् अपरोक्षस्तत्साक्षित्वादित्याशयादित्यर्थः। तस्येति। तेन विदग्धेन तु तस्य अन्तःकरणस्य आधारो मांसखण्ड एव ज्ञातः, अत एव तदाश्रयं पृष्टवान्, अन्यथा 'स भूमा कुत्र प्रतिष्ठितः? स्वे महिम्नि' (छां.६.२४.१) इति श्रुतिविरुद्धं हृदयपदार्थपरमात्माऽऽधारं कथं पृच्छेद् इति भावः।।५६२।। अस्मच्छब्द इति। तथा हृदयाश्रयप्रश्नोत्तरवाक्येऽस्मच्छब्दः अस्मच्छब्दार्थभूतः स आत्मा याज्ञवल्क्येनोक्तः। 'स' कः? शब्दस्य बोधस्य च अनाश्रयः अविषयः सन् अहङ्कारविषयः अहमितिप्रतीतौ भासमान इत्यर्थः। विदग्धेन तु अस्मच्छब्दार्थतया सूक्ष्मशरीरमेव बुद्धमिति। एतेन—पूर्वं सूक्ष्मशरीरत्वेन व्याख्यानमपि विदग्धबुद्ध्यनुरोधेन कृतमिति—सूचितम्।।५६३।। प्राण इति। याज्ञवल्क्येन प्राण-

वे स्थूल और सूक्ष्म शरीर कहाँ प्रतिष्ठित हैं?' मुनि ने कहा 'प्राण में।' उसने पूछा 'प्राण कहाँ है?' 'अपानमें।' 'अपान?' 'व्यानमें।' 'व्यान?' 'उदान में।' 'उदान कहाँ प्रतिष्ठित है?' 'समानमें।' (यहाँ ऊर्ध्ववृत्ति अर्थात् मुख-नासिका से चलने वाले को प्राण, अधोमार्गों में कार्यशील को अपान, प्राण-अपान की गाँठ को व्यान और जिस कील पर वे बँधे हैं उसे उदान कहा है। सूत्रकी तरह शरीर को धारण किये रहने वाला समान है।)।।५५८-५६१।।

याज्ञवल्क्य का अभिप्राय न समझकर शाकल्य ने क्या समझा—यह बताते हैं—याज्ञवल्क्य ने दिक्सम्बंधी उपासनाके प्रसंगमें 'हृदय' शब्दसे परमात्मा ही कहा था क्योंकि हृत्शब्दित बुद्धिमें उसका साक्षी यह शिव ही अपरोक्ष भासमान है। समस्त जन्मधारियों के मन का वही इकलौता प्रकाशक है। किन्तु जहाँ वह प्रत्यक्ष होता है उस अंतःकरण के आधार मांसपिण्ड को ही विदग्ध हृदय समझ बैठा! यदि सही अर्थ जान गया होता तो आगे प्रतिष्ठा न पूछता क्योंकि उसे वेदप्रसिद्ध तथ्य याद आ जाता कि परमात्मा अपने से अन्य किसी में प्रतिष्ठित नहीं है।।५६२।। इसी तरह ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य ने हृदयाश्रयके प्रश्न के जवाबमें जो 'मैं' शब्दका प्रयोग किया उससे उनका अभिप्राय उस आत्मासे था जो मन-वाणी की गिरफ़्त में नहीं आता लेकिन 'मैं'-इस प्रतीति के रहते सुस्पष्ट भास जाता है। इस तथ्य से अपरिचित विदग्ध को समझ आया कि याज्ञवल्क्य ने सूक्ष्मशरीर को 'मैं'-शब्द से कहा है! आगे प्राण, अपान आदि शब्दों द्वारा भी उन वृत्तियों के प्रवर्तक प्रज्ञारूप परमात्मा को मुनि ने बताने की कोशिश की थी। प्राणादिशब्दों में 'अन'-इतना जो हिस्सा है उसका विद्वानों ने लोकप्रचलित अर्थ बताया है चलना। सभी जन्तुओं का चलना प्रज्ञारूप प्रेरक परमात्माकी संनिधिसे ही होता है। अतः 'अन' से उन परमेश्वर को कहना संगत है। प्राणादिशब्दों के जो प्र-अप आदि हिस्से हैं उनके अर्थ हैं—प्र : नासिका आदि ऊँचे देहांगों से सम्बन्ध। अप : अधोवयवों से संबंध। वि : वह विशेषता जो प्राण-अपान के निरोध से प्रकट होती है। उद् : ऊँचापन, ऊपर की ओर धक्का दिये रहना। सम् : सब तरफ सही तरह फैले रहना। ये पाँचों विशेषण 'चलने' के ही हैं, चलने के ही ये ढंग हैं। इन सभी को अपनी संनिधिसे संभव करने वाला

अनितिः कथितो लोके चलनार्थो मनीषिभिः। चलनं सर्वजन्तूनां प्राज्ञादेव प्रजायते।।५६५।।

प्रकर्षश्चापकर्षश्च विशेषश्चोर्ध्वतापि वा। सम्यक्त्वं चेति भेदाः स्युश्चलनस्यास्य सर्वतः।।५६६।।

शाकल्यो वायुभेदांस्तान् प्राणादीन् प्रतिपद्य हि। पप्रच्छ कुत्र कुत्रेति मुमूर्षुर्बुद्धिवर्जितः।।५६७।।

समानः सर्वभूतानामाश्रयो वायुरेव हि। शाकल्यावगतो नाऽयं याज्ञवल्क्यसमीरितः।।५६८।।

'स एष ने' त्यादेरर्थः

किन्तु सर्वात्मको देव आनन्दात्मा महेश्वरः। नेति नेति वचोगम्यः स्थूलसूक्ष्मविवर्जितः।।५६९।।

भावाभावधिया युक्तो भावाभावविवर्जितः। स्वसजातिविजात्युत्थपरिच्छेदविवर्जितः।।५७०।।

पदेन अपानादिपदैश्च मायोपाधिः तत्प्रवर्तकः परमात्मैव लक्षणयोक्तः।।५६४।। प्राणादिपदानां परमात्मनि लक्षणाप्रयोजकं प्राणादिप्रेरकत्वरूपं सम्बन्धमाह—अनितिरिति। प्राणादिघटकः अनितिः अनधातुः चलनार्थकः प्रसिद्धः। तत् चलनं तु संनिधिमात्रेण प्रेरकादात्मन एव हेतोर्जायत इति।।५६५।। प्राणादिशब्दपञ्चक उपसर्गाणां द्योत्यार्थानाह—प्रकर्षश्चेति। प्रकर्षो नासाद्युन्नतदेशसम्बन्धः। अपकर्षः अधःसम्बन्धः। विशेषः प्राणापानयोर्निरोधो धनुराकर्षणादौ प्रसिद्धः। शेषं स्फुटम्। भेदा विशेषणानि।।५६६।। शाकल्य इति। शाकल्यः तु वाच्यार्थभूतान् वायुभेदान् एव प्रतिपेदे, अत एवोत्तरोत्तरं 'कुत्र कुत्र' इति पप्रच्छ इति।।५६७।। समान इति। अन्ते निरूपितत्वात् सर्वेषां भूतानां वर्णितानामाश्रयः समानो वायुरूप एवेति शाकल्येन बुद्धः, परन्तु अयं वायुर्याज्ञवल्क्येन नोक्तः।।५६८।।

याज्ञवल्क्येन समानपदार्थः किमाकारको विवक्षित इति चेद् ? वायोरन्तर्यामिरूपेण यो नियन्ता स विवक्षित इति वदन् 'स एष नेती' त्यादिश्रुत्यर्थमाह—किन्त्विति षड्भिः। किन्तु सर्वात्मको देवो याज्ञवल्क्यसमीरितः। कीदृशः?—इत्याकाङ्क्षायाम्—आनन्दात्मेत्यादि। नञ्द्वयेन स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चयोर्निषेध इति भावः।।५६९।। भावाभावेति। अथवाऽविद्यादशायां नानाविधभावाभावावगाहिबुद्ध्या युक्तो विषयी कृतोऽपि नञ्द्वयेन वीप्सया सर्वभावाभावविवर्जितो

परमात्मा इन शब्दोंसे महामुनिको अभिप्रेत था। किन्तु निर्बुद्धि शाकल्य तो मानो मरने को उतावला हो रहा था, अतः बिना विचारे, जो आपात अर्थ विभिन्नगतिक वायु, उसे ही समझ गया और 'कहाँ?' 'कहाँ?' यों बार-बार प्रतिष्ठाविषयक प्रश्न पूछता गया।।५६३-५६७।।

अन्तमें जिसे समझाया कि वह वर्णित सभी भूतों का आश्रय है—उस 'समान' को शाकल्य ने वायुरूप समझा जबकि याज्ञवल्क्य का तात्पर्य वायुसे नहीं था। उनका अभिप्राय था उस सर्वात्मा आनन्दरूप महेश्वर देव से जो 'यह नहीं, यह नहीं' इस वचनसे कहा जाता है। प्रत्येक 'नहीं' से उस आत्मा में स्थूल व सूक्ष्म प्रपंचों का निषेध किया जाता है, महादेवमें दोनों नहीं हैं। अध्यारोपदशा में जितने भाव या अभाव को विषय करने वाले ज्ञान हैं उनसे यद्यपि सद्-आदिरूप परमात्मा ही विषय होता लगता है तथापि उक्त दो निषेधों से उसे भाव-अभावसे रहित समझाया गया है। स्वगत, सजातीय, विजातीय—तीनों सीमायें या भेद आत्मतत्त्वमें नहीं हैं। संसारमें सर्वान्तर आत्मा बुद्धि आदि करणों से ग्रहण किया जाने के अयोग्य है, अतः किसी भी प्राणी द्वारा किसी तरह उस महेश्वर को ग्रहण नहीं कर सकते। काल से भी वह अनिरूपित है अतः कपड़े आदिकी तरह जीर्ण-शीर्ण नहीं हो सकता, जिससे यह निश्चित है कि वह ऐसी स्थितिमें नहीं पहुँचता जिसमें वह नाशोन्मुख हो। कपड़ा आदि सांश पदार्थ ही संसार में कालवश पुराने होने पर नष्ट होने लगते हैं। जैसे जलादि में वर्तमान भी आकाश उनसे संग वाला नहीं होता, ऐसे ही आत्मा कभी बुद्धि आदिसे संग वाला हो नहीं सकता।

आत्मा गृह्योऽत्र बुद्ध्याद्यैः करणैर्न कथञ्चन। अतो न गृह्यते सर्वैः प्राणिभिः स महेश्वरः।।५७१।।

कालेनाऽपि न शीर्योऽयमत एव न शीर्यते। यथा वस्त्रं हि कालेन पुराणं शीर्यते भुवि।।५७२।।

आकाशो हि यथाऽसङ्गो जलादिषु तथैव हि। आत्मा बुद्ध्यादिभिस्तेन सङ्गं नोपैति कर्हिचित्।।५७३

अबद्धः सर्वदा यस्मात्तस्मान्न व्यथतेऽपि च। विनाशरहितस्तेन हिंस्यते नैव केनचित्।।५७४।।

मुनिवाचाऽऽदित्योऽप्राक्षीत्

एष एव न जानाति शाकल्योऽज्ञानसंयुतः। एवं पप्रच्छ जिह्वायां स्थित्वाऽऽदित्यस्तथा मुनेः।।
याज्ञवल्क्यस्य शिष्यस्य समयं प्रतिपालयन्।।५७५।।

अष्टावायतनानि

पृथिवी च तथा कामो रूपाण्याकाश एव च। तमोरूपाणि चापश्च रेतश्चायतनानि हि।।५७६।।

बोध्यत इति। तथा चाऽद्वयत्वसिद्धिरित्याह—स्वेति।।५७०।। आत्मेति। आत्मा सर्वान्तरः। कथं तर्हि करणैर्न दृश्यते? इत्यत आह—गृह्य इति। यतो ग्रहीतुमयोग्यः अतः प्राणिभिः करणैः कृत्वा न गृह्यते, योग्यतानियतत्वात् करणानामिति भावः।।५७१।। अशीर्यपदेन च वस्त्रादिवत् कालपरिच्छेदोऽन्यथाभावरूपो वा वार्यत इत्याह—कालेनेति।।५७२।। असङ्गपदार्थमाह—आकाश इति।।५७३।। नित्यमुक्तताप्रतिपादकस्य 'असित'-इत्याद्यंशस्यार्थमाह—अबद्ध इति। व्यथा दुःखसम्बन्धः। यतोऽपि नाशाऽयोग्यः तस्मान्न केनचिद्धिंस्यते। श्रुतिगत-रिषधात्वर्थभूतां हिंसां नैति; तथा चाऽमृतरूप इति।।५७४।।

एवं बहुशः पृष्टेन याज्ञवल्क्येन 'एतान्यष्टावायतनानि' इत्यादिवाक्येन विदग्धं प्रत्येकः प्रश्नः कृतः, तमवतारयति—एष एवेति। एष शाकल्यो वर्णितमात्मानम् अज्ञानसंयुतत्वाद् न जानाति, एष वृथा ब्रह्मविदा स्पर्द्धत इत्ययमर्थो यथा स्पष्टो भवेद् एवमादित्य एव शिष्यस्य जिह्वायां स्थित्वा विदग्धं प्रति पप्रच्छ। किमर्थम्? समयं विंशतिवारं मदुक्तविद्याऽवज्ञाता मया शापेन धक्ष्यत इति वर्णितां प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्, तदर्थमित्यर्थः।।५७५।। तदुपयोगाय 'पृथिव्येवे' त्यादिकण्डिकाष्टकस्य पूर्वमव्याख्यातस्य अर्थं सङ्गृह्णाति—पृथिवीति चतुर्भिः। अत्र प्राणस्यैकदेवत्वेन उक्तस्य अष्टौ विभूतयः शरीरादिसंज्ञाश्चतुर्थश्लोके गणिताः तेषामायतनानि निवासभूमयः पृथिव्यादिरूपा यथासङ्ख्यं बोध्या इति सम्बन्धः। तथा हि—तत्र पृथिवी शरीरे यन्मातृजं कोशत्रयं त्वङ्मांसरुधिरात्मकं तद्रूपा शारीरसंज्ञकपुरुषायतनम्। तथा कामः स्त्रीसङ्गमाभिलाषरूपः काममयसंज्ञपुरुषस्य आयतनम्। रूपाणि शुक्लादीनि आदित्यपुरुषस्यायतनम्। आकाशः श्रौत्रपुरुषस्य; कीदृशस्य? प्रातिश्रुत्कस्य—प्रतिश्रुतौ प्रतिध्वनौ विशेषेणाभिव्यक्तस्य। तमः अन्धकारश्छायामयस्य पुरुषस्यायतनम्। रूपाणि भास्वराण्यादर्शे प्रतिबिम्बग्राहिपदार्थे स्थितस्य प्रतिबिम्बसंज्ञपुरुषस्य आयतनम्। आपो जलानि अब्निष्ठपुरुषस्यायतनम्। रेतः शुक्रमुपस्थेन्द्रियमिति यावत्, पुत्रसंज्ञपुरुषस्यायतनमित्यर्थः।।५७६।।उक्तक्रमेणैव शारीरादिपुरुषाणां चक्षुष्ट्वेन ध्येयान् पदार्थानाह—

क्योंकि वह हमेशा बंधननिर्मुक्त है, इसलिये दुःखका उससे कोई संबंध नहीं। नाश के अयोग्य होने के कारण किसी के द्वारा उसकी हिंसा नहीं की जाती।।५६८-५७४।।

'यह शाकल्य अज्ञानी है, उक्त आत्मा से अपरिचित है, व्यर्थ ही ब्रह्मवेत्तासे स्पर्धा कर रहा है' यह बात स्पष्ट हो जाये इसलिये मुनि की जीभ पर स्थित होकर आदित्य ने विदग्ध से प्रश्न किये। सूर्यदेव का यह भी अभिप्राय था कि उनके शिष्य याज्ञवल्क्य से जो शर्त तय हुई थी कि बीस बार मेरी विद्या का अपमान करने पर मैं शापसे जला दूँगा, वह भी पूरी हो जाये।।५७५।।

अग्निश्च हृदयं चक्षुः श्रोत्रं हृदयचक्षुषी। हृदयं हृदयं चेति लोका अष्टावुदाहृताः।।५७७।।

अमृतं च स्त्रियः सत्यं दिशो मृत्युरसुस्तथा। वरुणः सप्तमो देवो ह्यष्टमस्तु प्रजापतिः।।५७८।।

शारीरोऽयं काममय आदित्ये पुरुषस्तथा। प्रातिश्रुत्को हि यः श्रोत्रस्तथा छायामयोऽपरः।। आदर्शे च तथा योऽप्सु पुत्राख्यः पुरुषोऽष्टमः।।५७९।।

एतान्यायतनान्यष्टौ लोकान् देवांश्च पूरुषान्। सम्प्राप्यैतत्स्वरूपेण स्थित्वा निर्वहतीश्वरः।। तन्तवो हि यथा प्राप्य पटं तं निर्वहन्ति ते।।५८०।।

अग्निश्चेति। अग्न्यादयः अष्टौ शारीरादिपुरुषाणां लोकाः चक्षूंषि उदाहृताः 'पृथिव्येवे' त्यादिकण्डिकाष्टके क्रमेणोक्ताः। तत्राग्निचक्षुःश्रोत्रपदार्थाः प्रसिद्धाः। हृदयपदेन बुद्धिर्ग्राह्येति।।५७७।। शारीरादिपुरुषाणां देवतापदेनोक्तानि कारणानि यथासङ्ख्यं बोध्यान्याह—अमृतमिति। अमृतम् आहारजः परिणामः शारीरपुरुषस्य कारणम्। स्त्रियः काममयस्य; सत्यं चक्षुरिन्द्रियमधिदैवस्यादित्यपुरुषस्य कारणम्, अध्यात्मेन्द्रियाणामधिदैवात्मना परिणामात्; दिशोऽधिदैवात्मिका अध्यात्मं स्थितस्य श्रौत्रपुरुषस्य कारणम्, देवतानामध्यात्मरूपेणावस्थानात्; एवं मृत्युः देवोऽध्यात्मरूपस्य छायामयपुरुषस्य कारणम्; तथा असुः प्राणो बलरूपेण निघर्षणादिना दर्पणादेः प्रतिबिम्बयोग्यताकरणात् प्रतिबिम्बपुरुषस्य कारणम्; वरुणः वृष्टिजलरूपो भूमिस्थजलवासिपुरुषस्य कारणम्; पुत्राख्यपुरुषस्य प्रजापतिः उपस्थेन्द्रियदेवता कारणम् इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—श्रुतौ 'वद' इति पदस्य पृच्छेत्यर्थः। सर्वेषां देवानां मनो लोकपदोक्तेन सर्वव्यवहारसाधनप्रकाशत्वेन ध्येयमिति।।५७८।। देवानभिनयति—शारीर इति। व्याख्यातम्।।५७९।। एवमुपोद्घातत्वेन शिष्टकण्डिकाष्टकस्यार्थमभिधाय 'एतानि' इत्यादिवाक्यार्थमुपबृंहयति

उपनिषद् में कण्डिका दस इत्यादि के प्रश्नोत्तरों का उपस्थापन करते हैं (श्लोक ४७० के प्रसंग में इसका उल्लेख कर दिया था)—पृथ्वी, काम, रूप, आकाश, तम, रूप, जल और रेतस्—ये आठ निवासभूमियाँ हैं। अग्नि, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, हृदय, चक्षु, हृदय और हृदय—ये आठ लोक हैं। अमृत, स्त्री, सत्य, दिशाएँ, मृत्यु, प्राण, वरुण और प्रजापति—ये आठ देव हैं। शारीर, काममय, आदित्यमें पुरुष, श्रोत्र-प्रातिश्रुत्क, छायामाय, आदर्शमें, जलगत और पुत्रमय—ये आठ पुरुष हैं। यहाँ ग्रंथकार ने यथाक्रम सम्बंध की विवक्षा रखते हुए सभी को एकत्र कर दिया है। यह ध्यानका प्रसंग है, अतः याद रखने की सुविधा से ऐसा करना रुचिकर है। एक देवता जिस प्राण को बताया उसकी आठ विभूतियों को ही शारीर आदि कहा है। उनके आठ आयतन अर्थात् रहने के स्थान हैं। शारीरपुरुषके रहने का स्थान पृथिवी है क्योंकि शरीर में त्वचा, मांस और खून ये पृथ्वीरूप हैं जहाँ शारीर प्रतिष्ठित रहता है। इसी पुरुष के लोक अर्थात् नेत्ररूप से ध्यान करना है अग्नि का। शारीर का देवता अर्थात् कारण अमृत है; भोजन का जो पाचन होने पर देहपोषक रस परिपक्व होता है वह यहाँ अमृत कहा गया है। दूसरी विभूति काममय पुरुष है, जिसका निश्चित स्थान है काम अर्थात् स्त्रीसंबंध की अभिलाषा। इस पुरुषके आँखरूपसे हृदय अर्थात् बुद्धि का ध्यान करना चाहिये और कारण इसका स्त्रियाँ होने से वे देव हैं। तीसरी विभूति है आदित्यगतपुरुष, जिसका आयतन (वासस्थान) शुक्लादि रूप है, चक्षु ही लोक या नेत्ररूपसे ध्येय है और कारण है सत्य अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय क्योंकि अध्यात्म-इन्द्रियाँ ही अधिदेव अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठाता देवता रूप से अवस्थित होती हैं। प्रतिध्वनि या गूँज में जिसकी खास अभिव्यक्ति है उसीको 'प्रातिश्रुत्क-श्रौत्र' कहा है जो यहाँ चौथी विभूति है। उसका निवास है आकाश, नेत्ररूपसे ध्येय है श्रोत्र और दिशाएँ देवता या कारण हैं क्योंकि देवता ही करणों के रूप में शरीरमें स्थित हैं जैसा ऐतरेयकादि में वर्णित है। अगली विभूति है छायामय पुरुष जिसका आयतन अन्धकार, नेत्ररूपसे ध्येय बुद्धि और देव या कारण है मृत्यु। इसी तरह प्रतिबिम्बपुरुष विभूति है (दर्पणादि में प्रतिफलित को ही 'आदर्शमें पुरुष' कहा है), विविध रूप उसके वासस्थान हैं, चक्षु नेत्ररूपसे ध्येय है तथा प्राण कारण है क्योंकि दर्पणादि को प्रतिबिम्बग्राही बनाने के लिये घिसना आदि पड़ता है जो बलसाध्य है और बल प्राण का रूप है। भूमि पर जो जल है उसमें स्थित पुरुष विभूति है जिसका निवास जल में ही है, नेत्ररूपसे ध्येय बुद्धि है और वरुण या वृष्टिरूप जल ही कारण है क्योंकि वही बरसकर पृथ्वी पर आता है। पुत्रविभूति का आयतन उपस्थेन्द्रिय है, नेत्ररूपसे ध्येय बुद्धि और कारण प्रजापति है।।५७६-५७९।।

पुनः स्वात्मतया सर्वान् दिगादिक्रमतः पुमान्। समानान्तमिमान्नीत्वा प्रतिकूलं वहत्ययम्।।५८१।।

पटं यथा स्वरूपाद्धि प्रच्याव्यैतेऽत्र तन्तवः। कारणात्मतया स्थित्वा प्रतिकूलं वहन्ति ते।।५८२।।

औपनिषदपुरुषप्रश्नः

एवमेतान्निरुह्यैष प्रत्यूह्य च महेश्वरः। अत्यक्रामदिमान् सर्वान्नभो यद्वद् घटादिकान्।।५८३।।

अन्तर्बहिः स्थितो विश्वं व्याप्य सर्वात्मकः पुमान्। केवलोपनिषन्मानगम्यो न परमानतः।।५८४।।

—एतानीत्यादिना। एतानि वर्णितानि अष्टावायतनानि, तथाष्टौ लोकान्, तथा देवान् कारणरूपान्, तथा पुरुषान्, एतान् सर्वान् सम्प्राप्य कारणत्वेनानुप्रविश्य, तत्तद्रूपेण स्थित्वा च निर्वहति लोकव्यवहारक्षमान् करोति ईश्वरः परमात्मा इति प्रसिद्धं वेदान्तेष्विति शेषः। उक्ताष्टकचतुष्टयमुपलक्षणं सकलकार्यवर्गस्य इत्यपि बोध्यम्। कार्येष्वनुप्रविष्य कारणमेव सर्वं निर्वहतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—तन्तव इति। तथा च व्याससूत्रं 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' (२.४.२०); त्रिवृत्कुर्वतः परमात्मन एवेयं कृतिर्यन्नामरूपकल्पना, तस्यैव सर्वकारणत्वेनोपदेशादित्यर्थः।।५८०।। एवं श्रुतिगत'निरुह्ये'तिपदार्थं प्रदर्श्य 'प्रत्यूह्ये'तिपदार्थमाह—पुनरिति। अयं पुमान् ईश्वरः पुनः उपसंहारकाले दिगादिक्रमतः दिशः स्ववर्तिपदार्थैः सहिताः सूर्यादिदेवेषु उपसंहृत्य, तानि इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि विषयेषु, विषयान् हृदये, तच्च शरीरद्वये, तत् प्राणादावित्युक्तक्रमेण समानपर्यन्तं नीत्वा उपसंहृत्य प्रतिकूलं वहति कार्यभावविपरीतं प्रत्यग्रूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः।।५८१।। अत्र दृष्टान्तमाह—पटमिति। यथा तन्तवः पटं स्वकार्यं पटरूपात् प्रच्याव्य तद्धीनं कृत्वा केवलं कारणमात्ररूपेण स्थिताः प्रतिकूलं वहन्ति इति व्यवह्रियन्ते, तद्वदित्यर्थः।।५८२।।

एवम् इति। एवं गतश्लोकत्रयोक्तप्रकारेण एतान् आयतन-लोक-देव-पुरुषात्मकचतुष्टयाष्टकादिपदार्थान् निरुह्य प्रत्यूह्य च इमान् उपाधींस्तद्धर्मांश्च अत्यक्रामद् उल्लङ्घितवान्, कार्यत्वकारणत्वहीने स्वरूप एव स्थित इत्यर्थः

श्रुति में आत्मा के बारे में 'न रिश्यति' के बाद आया है 'एतानि अष्टावायतनानि अष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः, स यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्युह्य अत्यक्रामत् तं तु औपनिषदम्'। आठ-आठ आयतन-लोक-देव पुरुषों का निर्वाह और उपसंहार करने वाला उपनिषद्बोध्य पुरुष है। जिनका निर्वाहादि करता है उनका परिचय देकर अब उस परम पुरुष का ग्रंथकार वर्णन करते हैं—पूर्वोक्त आठों आयतनों, लोकों, देवों और पुरुषों में जो कारणरूप से प्रविष्ट होता है, उन-उन रूपों में उपस्थित रहता है और उन्हें सांसारिक व्यवहार में सक्षम बनाता है वह परमात्मा वेदान्तों में प्रसिद्ध है। जैसे धागे पटरूपता पाकर पट को व्यवहारयोग्य बनाते हैं, ऐसे ही ईश्वर संसार की प्रत्येक वस्तु का कारण है और वही सबको व्यवहारयोग्य बनाने वाला है।।५८०।। जैसे ईश्वर सबको उत्पन्न और व्यवस्थित रखता है, ऐसे ही संसार के उपसंहार का समय आने पर वह सभी का उपसंहार कर अपने से अभिन्न बना लेता है। इस विलय का भी एक खास क्रम है—अपने में स्थित सभी पदार्थों सहित सभी दिशायें सूर्यादि देवों में लीन होती हैं, देवता इंद्रियों में, इन्द्रियाँ विषयों में, विषय हृदय में हृदय स्थूलसूक्ष्म शरीरों में और शरीर प्राणों में—इस प्रकार समानपर्यान्त उपसंहार कर ईश्वर इसके प्रतिकूल हो जाते हैं कि यह कार्यावस्था बनी रहे, अतः वह समान भी ईश्वरातिरिक्त कुछ रह नहीं जाता, प्रत्यग्रूप वे ही अकेले रहते हैं। लोक में भी देखा जाता है कि ये धागे अपने कार्यभूत कपड़े को कपड़ा-दशा से हटाकर उसे सिर्फ कारणरूप—धागा-रूप—से रख लेते हैं। इसे ही कहा जाता है कि अब धागे कपड़े के प्रतिकूल हो गये। ऐसे ही जब प्रलयमें केवल परमात्मा रहते हैं तब, समझ सकते हैं कि, वे सृष्टि-स्थिति के प्रतिकूल हैं।।५८१-५८२।।

इस प्रकार इन सबका निर्वाह और उपसंहार कर वे महेश्वर इन उपाधियों और इनके धर्मों से अतीत हैं अर्थात् कार्य-कारणतासे रहित स्वरूप से विद्यमान रहते हैं। इसमें उदाहरण आकाश ही है जिससे सारे व्यवहार का निर्वाह होने पर भी वह सभी उपाधियों से अस्पृष्ट रहता है। घट आदि उपाधियाँ रहते आकाश में बाहिरी-भीतरी विभाग प्रतीत

तं त्वां[1] पृच्छामि पुरुषमेकवारमहं वद। बहुवारं त्वया पृष्टं तुभ्यमुक्तं मया यतः।।५८५।।

न चेदत्र जनाकीर्णे पुरे तीर्थविवर्जिते। कृष्णपक्षे पर्वरात्रावस्यान्ते दक्षिणायने। पतिष्यति शिरो भूमौ गतप्राणस्य दुर्धियः।।५८६।।

अस्थीन्यपि न ते गेहं प्राप्स्यन्त्यत्यन्तविद्विषः। मम चोरास्तु चाण्डाला हरिष्यन्त्यर्धमार्गतः।।५८७।।

याज्ञवल्क्यवचस्येवं स्थित्वाऽसौ सविता पुमान्। अभाषत भृशं क्रुद्धः सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।।५८८।।

यथा नभो घटादिस्थितिकालेऽन्तर्बहिर्भावेन व्यवहृतमपि उपाधिपरित्यागेऽन्तर्बाह्यभावपरित्यागात्मकमतिक्रमणं करोति तद्वद् यः सर्वमतिक्रम्य परिपूर्णोऽवस्थितः, केवलोपनिषद्रूपप्रमाणेनैव गम्यो, रसनया रसवत्; परेण उपनिषद्भिन्नमानेन न गम्यश्च, तं पुरुषं ते तुभ्यं विदग्धाय एकवारमहं पृच्छामि। तत्स्वरूपं त्वं वद, यतः त्वत्पृष्टं मया बहुवारमुक्तम्। इति त्रयाणामर्थः।।५८३-५८५।। न चेदिति। न चेद् वदिष्यसि तर्हि ते शिरः अत्र अशुभे देशे, अशुभे काले च भूमौ पतिष्यति इति सम्बन्धः।।५८६।। अस्थीनीति। तेऽस्थीन्यपि गेहं न प्राप्स्यन्ति। कीदृशस्य ते? मम ब्रह्मविद्रूपस्य अत्यन्तद्वेषकारिणः। यतः चोरभूताः चाण्डाला अर्धमार्गे हरिष्यन्ति इति।।५८७।। एतादृशः शापो याज्ञवल्क्येन न दत्तस्तत्र क्रोधादिबीजदाहात्, किन्तु जगन्मर्यादापालकेन सकलकर्मफलप्रदेन आदित्यात्मनेश्वरेणैवेत्याह—याज्ञवल्क्येति।।५८८।।

होता रहता है लेकिन आकाश में ऐसा कोई विभाजन न होने से वह उस भेद से अतीत ही रहता है। उसी प्रकार सर्वरूप परिपूर्ण आत्मदेव सारे विश्वको अंदर-बाहर से घेरकर भी बना उससे अस्पृष्ट ही रहता है। केवल उपनिषत् ही उस परमेश्वर के बारे में अज्ञान का समापन करने वाला बोध प्रदान कर सकती है। जैसे स्वाद में प्रमाण जीभ ही है, ऐसे ही परमात्मामें इकलौती श्रुति ही प्रमाण है। अन्य कोई प्रमाण उसके बारे में प्रवृत्त होकर सफल नहीं होता।।५८३-५८४।।

हे शाकल्य! तूने बहुत प्रश्न पूछे; मैं तो एक ही बार प्रश्न कर रहा हूँ; मैंने तेरे सभी सवालों का जवाब दिया, तू भी मेरे सवाल का जवाब दे : जिस परम पुरुषका मैंने अभी वर्णन किया है उसी के बारे में पूछ रहा हूँ, बता वह कौन है, कैसा है?।।५८५।। यदि नहीं बता पायेगा तो अभी तेरा सिर कट कर ज़मीन पर गिर पड़ेगा! तेरी मृत्यु अभी यहीं होने वाली है। यह जगह मृत्यु के लिये उचित हो ऐसी बात नहीं, क्योंकि विविध प्रकारों के लोगों की भीड़ वाला यह शहर है, कोई तीर्थ नहीं। समय भी अशुभ है—दक्षिणायन, कृष्णपक्ष, अमावस्या। तुझ दुर्बुद्धि के प्राण अब गये हुए ही हैं, तेरा सिर गिरने ही वाला है।।५८६।। तू मुझ जैसे परमात्मवेत्ता से अकारण अत्यन्त द्वेष करता है, इसलिये तेरी हड्डियाँ भी तेरे घर नहीं पहुँच पायेंगी! तेरी मिट्टी भी बिगड़ेगी। यहाँ जलाकर तेरे फूल लेकर जब तेरे शिष्य तेरे घर ले जा रहे होंगे तब चाण्डाल चोर रास्ते में ही हड्डियाँ यह सोचकर चुरा लेंगे कि जनक की यज्ञसभा से धन लेकर ये ब्राह्मण लौट रहे हैं!।।५८७।।

सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाले भगवान् सूर्य ने ही अत्यंत रोष से ये वचन याज्ञवल्क्य की वाणी में आविष्ट होकर कहे। स्वयं महर्षि तो शाप देते यह संभव नहीं क्योंकि क्रोधादि विकारों का बीज जो अज्ञान है, वह तो उनके द्वारा जलाया जा चुका था। आदित्यको तो जगत् की मर्यादायें स्थापित रखनी हैं, सभी अच्छे-बुरे कर्मों का यथायोग्य फल देना है, इसलिये उन्होंने ब्रह्मवेत्ता से द्वेष करना रूप घोर अपराध का ऐसा कठोर दण्ड दिया।।५८८।।

---

१. त्वामित्यत्र त इति टीकापाठः।

अज्ञाशाकल्यस्य दुरवस्था

एवमुक्ते यथा कल्प[1] आत्मज्ञानविवर्जितः। तूष्णीं स्थितो मनस्तस्य वाग्वृत्तिः सहसा गता।।५८९।

पुरे राजगृहेऽनेकजनकोटिनिषेविते। सभायां निशि मूर्धा च न्यपतद्भूतले तदा।। सद्यो वज्रहतो यद्वन्नमुचेः स्वर्गवासिनः।।५९०।।

हाहेति शब्दः सुमहान् विदग्धे पतिते ह्यभूत्। जगाम क्षोभमतुलमखिला राजमण्डली।। रुरुदुस्तस्य शिष्या ये बान्धवाश्च द्विजोत्तमाः।।५९१।।

विदग्धं पतितं भूमौ दृष्ट्वा धिग्धिग्वदन्ति हि। सभास्थिताः जनाः सर्वे द्विजा बालाः स्त्रियोऽपि हि।।५९२।।

ब्रह्मज्ञद्वेषो महादोषः

प्रादुरासीत्तथैषा वाक् सभावक्त्रसमीरिता। अहो फलमनेनैतत् प्राप्तमद्य सुदुःसहम्।। ब्रह्मविद्द्वेषवृक्षस्य कारस्करसमस्य तु।।५९३।।

अयं सर्वगुणोपेतो दोषेणैकेन घातितः। ब्रह्मविद्द्वेषसंज्ञेन दुःसहेनाद्भुतेन च।।५९४।।

एवमुक्त इति। एवमुक्ते सति विदग्धोऽनात्मवित्त्वात् तूष्णीम् एव स्थितः। तदनन्तरं तस्य विदग्धस्य मनः सकलेन्द्रियाध्यक्षं वागिन्द्रियं च इतरेन्द्रियैः सह उत्क्रान्तं शरीरादित्यर्थः।।५८९।। पुर इति। तत्र पुरे सभारूपे, अशुभे देशे दक्षिणायनकृष्णपक्षरात्रिरूपेऽशुभे काले च शापेन शिरो न्यपतद् यथा नमुचेः असुरस्य देवान् जित्वा स्वर्गवासिनः शिरो वज्रेणेति।।५९०।। हाहेति।। श्लोकद्वयं निगदव्याख्यातम्।।५९१-५९२।।

प्रादुरिति। ततः सभास्थितजनानां मुखेभ्य उद्गता एषा वक्ष्यमाणा वाक् प्रादुरासीत्। तामभिनयति—अहो! इत्यादिना। अनेन विदग्धेन कारस्करसमस्य ब्रह्मविद्द्वेषरूपवृक्षस्य फलं प्राप्तम् इति। कारस्करपदार्थः त्रिकाण्डशेषानुरोधी दर्शितः। प्रपञ्चसारे तु 'कुचला'-इति प्रसिद्धे वृक्षे प्रयुक्तः, तस्य विषरूपता प्रसिद्धैवेति दृष्टान्ततोपपन्ना।।५९३।। अयमिति। अयं सर्वगुणोऽपि एकेन प्रबलेन अद्भुतसामर्थ्येन ब्रह्मविद्द्वेषरूपेण दोषेण

परमात्मा से अपने अभेद को न जानने वाले शाकल्य का वैसा ही हाल हुआ जैसा मुनिमुख से भगवान् आदित्य ने निर्धारित कर दिया। औपनिषद पुरुष के बारे में वह कुछ भी जानता था नहीं अतः उनके प्रश्न का उत्तर देने में अक्षम होकर वह चुप हो गया। तुरन्त ही उसकी वाणी आदि सभी इन्द्रियाँ और इन्द्रियपति मन शरीर छोड़ गये। नमुचि असुर ने जब स्वर्ग पर कब्ज़ा कर लिया था तब उसका सिर वज्र से जैसे काट डाला गया था वैसे ही शहर में, वहाँ भी राजा के महल में नाना प्रकार के करोड़ों लोगों के सम्मुख उस रात उसकी मूर्धा भूतल पर गिर पड़ी! विदग्ध कट कर गिर गया तो 'हा! हा!' का भीषण कोलाहल होने लगा। राजपुरोहित की ऐसी दुर्गति देखकर राजा की सारी मण्डली को असीम दुःख हुआ। जो उत्तम द्विज उसके शिष्य या बांधव थे वे सभी रो पड़े। बालक, स्त्रियाँ आदि जितने भी द्विज लोग सभा में उपस्थित थे सभी ने कट कर भूमि पर शाकल्यको गिरा देखकर उसे खूब धिक्कारा।।५८९-५९२।।

सारी सभा में ऐसी ही चर्चायें होने लगीं : ब्रह्मवित् से द्वेष करना अवश्य ही अमोघ जहर का पौधा है जिसका कष्टसे भी सहा न जा सकने वाला फल इसे हमारे सामने मिल गया है। शाकल्य में सभी अच्छे गुण थे, फिर भी इस एक दोष के कारण—कि वह ब्रह्मज्ञ से द्वेष ही करता था—वह मारा गया। इस दोष की सामर्थ्य अद्भुत है क्योंकि जैसे संसार में सागर सूख जायेगा ऐसी हम संभावना भी नहीं कर सकते, उसी तरह यह भी संभव नहीं कि विदग्ध जैसा कर्मी उपासक किसी सामान्य ब्राह्मणके शाप से मर जाये! ब्रह्मवेत्ता से द्वेष करना रूप पाप से जब इस जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मण की यह दुर्दशा हो गयी तो इस दोष से किसकी क्या दुर्गति नहीं हो सकती ! यह जो सनातन श्रुति है कि ब्रह्मवेत्ता

१. मुन्युक्तदेशकालयोरित्यर्थः।

एक एव यथा वह्निर्दहेद्विश्वं चराचरम्। ब्रह्म विजानतः पुंसो द्वेष एकस्तथैव हि। गुणराशिं दहेत्
सर्वं संशयो नात्र विद्यते।।५९५।।

विद्वत्तमो विदग्धोऽयं गुणानामाकरस्तथा। क्षणमात्रेण निर्दग्धो ब्रह्मविद्द्वेषवह्निना।।५९६।।

संभाव्यते यथा नैव सागरस्येह शोषणम्। संभाव्यते[1] तथा नाऽस्य मरणं ब्रह्मशापतः।।५९७।।

दशामेतामयं प्राप्तो यदा ब्राह्मणसत्तमः। ब्रह्मविद्द्वेषपापेन तदा कः कां न चाप्नुयात्।।५९८।।

ब्रह्मवित् परमाप्नोति सत्येयं शाश्वती श्रुतिः। विदग्धं हि निहन्यात् को विना ब्रह्म परं सदा।।५९९

ब्रह्मज्ञः सर्वात्मा

सर्वात्मा ब्रह्मविन्नूनं परोक्षं नो न चास्ति तत्। विदग्धे निहते यस्मात् सुखमस्ति शरीरिणाम्[2]।।६००।।

शत्रौ स्वस्य हते यद्वत् सुखमाप्नोति देहभाक्। विदग्धे निहते तद्वज्जन एष सुखं गतः।।६०१।।

विदग्धमेव निन्दन्ति जनाः सर्वे न चेतरम्। हन्तारं याज्ञवल्क्याख्यं सर्वात्माऽयं ततो मुनिः।।६०२।

ब्रह्महत्या कृता पुंसो दद्याज्जन्मान्तरे फलम्। ब्रह्मविद्द्वेष एतस्मिन् फलं जन्मनि यच्छति।
जन्मान्तरेऽपि शाकल्ये दृष्टमेतद्यतोऽधुना।।६०३।।

घातितः। ततः स न कर्तव्य इति।।५९४।। ब्रह्मविद्द्वेषस्य दुःसहत्वं स्फुटी क्रियते—एक एवेति। ब्रह्म विजानतो ब्रह्मविदो द्वेषस्तथा वह्निवत् सकलगुणान् दहेद् विफलं कुर्यादिति यावत्।।५९५।। अत्र चोदाहरणं विदग्ध एवेत्याहुः—विद्वत्तम इति। विद्वत्तमो बहुविद्यासु कुशलः।।५९६।। ब्रह्मविद्द्वेषस्य कार्याद्भुतत्वकथनेन अद्भुतत्वं स्फुटी क्रियते—संभाव्यत इति। संभावना शङ्का।।५९७।। दशामिति। यदाऽयं सर्वगुणाढ्योऽपि ब्रह्मविद्द्वेषेण एतां दुर्गतिं प्राप्तः तदा इतरस्तेन कः कां दुर्गतिं न प्राप्नुयाद्! इति।।५९८।। ब्रह्मेति। ब्रह्मविदो ब्रह्मभावप्रतिपादिका 'ब्रह्मवित् परमाप्नोति' (तै.२.१) इत्याकारा श्रुतिः सत्येयम् अबाधितार्थतयाऽनुभूता यतो जीवैः कर्तुमशक्यम् अचिन्त्यशक्तेः परमात्मनः कर्म विदग्धस्य नानाविद्याशालिनो दण्डनं याज्ञवल्क्ये ब्रह्मविदि दृष्टमित्यर्थः।।५९९।। किञ्च ब्रह्मवित् सर्वभावमाप्नोतीत्यर्थिका 'यो यो देवानाम्' (बृ.१.४.१०) इत्याद्या व्याख्याता श्रुतिरपि सत्या दृष्टा यतो ब्रह्मविदो याज्ञवल्क्यस्य शत्रौ हते स्वशत्रुनाश इव सर्वजनानां हर्षो जातः। यतश्च परकृतिदूषका अपि जना याज्ञवल्क्यकृतिं न निन्दन्ति। न ह्येतद् याज्ञवल्क्यस्य सर्वात्मभावं विना घटत इत्याह—सर्वात्मेति त्रिभिः। नः अस्माकं तत् प्रथमपादोक्तं परोक्षं न किन्त्वपरोक्षमेवेत्यर्थः। शेषं स्फुटम्।।६००-६०२।। ब्रह्मविदो द्वेष इतरब्रह्महत्याया अपि अधिको, लोकद्वयेऽपि दुष्टफलदर्शनादित्याह—ब्रह्महत्येति। ब्रह्महत्या जन्मान्तर एव दुष्फलदा, प्राय इति शेषः। तद्द्वेषस्तु इह जन्मनि जन्मान्तरे च दुष्फलदः। अत्रोदाहरणं शाकल्य इत्यर्थः।।६०३।।

परमात्मा को पा लेता है यह अवश्य सत्य है, क्योंकि परब्रह्मसे अन्य और कौन विदग्ध को समाप्त कर सकता था? जीवों के बूते का तो यह काम हो ही नहीं सकता।।५९३-५९९।।

हम लोगों ने पहले केवल सुन रखा था कि ब्रह्मको जानने वाला सभी का आत्मा हो जाता है, लेकिन अब वह बात हम लोगों के लिये परोक्ष नहीं रह गयी है क्योंकि ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य के शत्रु विदग्ध के मरने पर सभी लोगों को वैसे ही सन्तोष हो रहा है जैसे स्वयं उन्हीं का कोई शत्रु मरा हो! सभी केवल शाकल्य की निन्दा कर रहे हैं, याज्ञवल्क्य की निंदा कोई नहीं कर रहा यद्यपि वही हत्यारा दीखा। इस प्रकार सभी को याज्ञवल्क्यशत्रु के प्रति शत्रुबुद्धि होना और उसकी मृत्यु पर सन्तोष होना इसे प्रत्यक्ष कर रहा है कि यह मुनि सभी का आत्मा है क्योंकि यदि यह सबसे अभिन्न न होता तो सभी को इससे ऐसा तादात्म्य संभव नहीं था।६००-६०२।।

१. यैः प्रोत्साहितो विदग्धस्ते विचारयन्ति—नास्माभिरेतत् संभावितं यदयं याज्ञवल्क्यशापान्मरिष्यतीति, अन्यथा नैवमकरिष्यामेति।

२. कोप्येनं न निंदतीत्यतोऽनुमोदन्ते सर्वइति गम्यत इत्यर्थः।

शाकल्यस्य दुर्गतिः

वरशय्यासनार्होऽयं देशे देहोऽत्र भूतले। पांसुना गुण्ठितो यद्वत् पिशाचोन्मत्तदेहकः।।६०४।।

कृष्णपक्षे पर्वरात्रौ निर्गतो दक्षिणायने। शाकल्यः शापतो नूनं नरकं हि प्रयास्यति।।६०५।।

अहो! अस्य विमूढत्वं शाकल्यस्यातिदुर्धियः। याज्ञवल्क्यं मुनिं यस्माद् द्विष्टवान् व्यर्थमेव हि६०६

अनेन पातिताः सर्वे बान्धवाः शोकसागरे। आत्माऽपि नरके जाया विधवानां गणेऽपि च। भूमौ देहोऽपि पापाग्नौ सुकृतं च पुरा कृतम्।।६०७।।

अहो! लोकद्वयभ्रंशं कस्य नाऽयं करोति हि। ब्रह्मविद्द्वेषतो जातो दुःसहो वडवानलः।।६०८।।

इत्यादिवादिनः सर्वे याज्ञवल्क्यं महाधियम्। शशंसुर्वर्णिनस्तत्र गार्ग्या राज्ञा च संयुताः।।६०९।।

शाकल्यस्य इहैव यद् दुष्फलं तदभिनयति—वरेति। अत्र तीर्थभिन्ने देशे। उत्तरार्द्धे—दृश्यत इति शेषः।।६०४।। जन्मान्तरानर्थस्तु दुर्देशकालमरणेनानुमीयत इत्याहुः—कृष्णेति। पर्व अमावास्या। निर्गतो मृतः।।६०५।। अस्य दुष्फलदमज्ञानमपि द्वेषादेवाऽस्माभिर्निश्चितमित्याहुः—अहो! इति। द्विष्टवान् द्वेषविषयं कृतवान्।।६०६।। अनेनेति। अनेन विदग्धेन पातिता इति पदस्य सर्वैः सप्तम्यन्तैर्विपरिणामेन सम्बन्धः।।६०७।। अहो! इति। स्फुटम्।।६०८।। इत्यादीति। वर्णिनः चातुर्वर्णिकाः शशंसुः तुष्टुवुः।।६०९।। ततः किं जातम्? अत्त

ब्रह्महत्या महापाप है, लेकिन ब्रह्मज्ञसे द्वेष तो उससे भी घोरतर है! ब्राह्मण की हत्या करने वाले पुरुष को प्रायः अगले किसी जन्म में उस पाप का दुष्फल मिलता है किंतु शाकल्यके प्रसंग में हमने हाल में ही देख लिया कि ब्रह्मज्ञसे द्वेष तो इस जन्म में भी अत्यधिक पीड़ा देता है और अशुभ देश-काल आदि में हुई मृत्यु से यह भी निश्चित है कि इससे परलोक भी बिगड़ता है क्योंकि द्वेष का फलरूप यह आकस्मिक निमित्त न होता तो शाकल्य जैसे कर्मनिष्ठ-उपासनानिष्ठ ब्राह्मण की मृत्यु ऐसे अशुभ ढंगसे न होती।।६०३।। था तो यह इस लायक कि किसी अतिश्रेष्ठ शय्या पर बैठता लेकिन आज इसका शरीर इस गैर-तीर्थस्थान में भूतल पर धूल-धूसरित हो रहा है, मानो किसी ऐसे का देह हो जो किसी पिशाचके प्रवेश आदि में उन्मत्त हो गया हो।।६०४।। दक्षिणायन-कृष्णपक्ष-अमावस्या की रात को शाकल्य ब्रह्मशाप से मरा है तो अवश्य नरक ही जायेगा।६०५।। आश्चर्य है कि इस मूर्ख शाकल्य ने इतनी मूढता की कि व्यर्थ ही महामुनि याज्ञवल्क्य से इतना अधिक द्वेष करता रहा। इस द्वेष के कारण ही इसने अपने नाते-रिश्तेदारों को शोकसमुद्र में धकेल दिया, खुद को नरक पहुँचा लिया, अपनी पत्नी को विधवा बना दिया, शरीर नंगी भूमि पर गिरा दिया और पहले से अर्जित पुण्य पापरूप आगमें जला डाला! ब्रह्मज्ञसे द्वेष के कारण पैदा हुई असह्य वडवाग्नि—समुद्री आग—सभी के इहलोक-परलोक नष्ट करने में समर्थ है।।६०६-६०८।।

गार्गी एवं जनक समेत जितने भी ब्राह्मणादि वहाँ उपस्थित थे सभी ने महद् ब्रह्म का निश्चय रखने वाले याज्ञवल्क्य की इसी तरह और भी प्रशंसा की।।६०९।।

शाकल्यके शिष्यों ने लौकिक अग्नि में शवदाह किया और फूल चुनकर विदग्ध के आश्रमकी ओर लौट चले। आदरवश उन्होंने शहर से बाहर निकलते समय गुरु की हड्डियाँ एक रेशमी कपड़े में लपेट कर साथ रख लीं। रास्ते में चाण्डाल जाति के चोरों ने काफिला देखा तो सोचा कि राजा के यज्ञ से पुरोहित के शिष्य लौट रहे हैं तो अवश्य इतना सँभाल कर स्वर्णादि धन ही ले जा रहे होंगे। चोरों को वह धन पाने की उत्कट इच्छा भी थी और यह भी भय

अमन्त्राग्नावमुं दग्ध्वा तस्यास्थीनि गृहं प्रति। शिष्या नेतुं यदा मार्गे प्रस्थिताः पुरतो बहिः।।६१०।

दुकूले स्थापितान्यस्य ह्यस्थीन्यादरसंयुतैः। चाण्डालजातिभिश्चौरैस्तदा तानि हृतानि वै।।६११।।

सुवर्णं मन्यमानैस्तै राजभीतैः समुत्सुकैः। हत्वा शिष्यानमून् कांश्चिदस्थिहारान् सुनिर्घृणैः।।६१२।।

शाकल्ये निहते तस्मिन् शब्दे चोपरते सति। उवाच ब्राह्मणान् सर्वान् याज्ञवल्क्यो महायशाः।।६१३

याज्ञवल्क्यः सर्वान् पृच्छति

ब्राह्मणा भगवन्तो ये नानादेश्याः समागताः। मदीयं वचनं सर्वे शृणुताऽद्य महाधियः।।६१४।।

यो वः कामयते प्रष्टुं स मां पृच्छतु भूसुरः। यस्तु कामयते तं वा पृच्छामि ब्राह्मणोत्तमम्।।६१५।।

पृच्छताऽत्र हि ये केचिद् ब्राह्मणाः सर्व एव वा। अहं पृच्छामि वा सर्वान् युष्मानत्र समागतान्।।६१६

एवमुक्ते तदा विप्रा नेशते ब्रह्मवादिनम्। प्रष्टुं वक्तुं च तत्पृष्टं सर्वज्ञसदृशा अपि।। तूष्णीं भूता निरीक्ष्यैते शाकल्यं नष्टचेतसम्।।६१७।।

आह—अमन्त्रेति। अमन्त्रे लौकिकेऽग्नौ अमुं विदग्धं दग्ध्वा तदीयास्थीनि गृहं नेतुं यदा शिष्याः पुराद् बहिः प्रस्थिताः तदा आदरेण श्रद्धया युतैः शिष्यैः अस्थीनि दुकूले स्थापितानि। तानि तु राजभीत्या चौरैः चाण्डालैः कांश्चित् शिष्यान् अस्थीनि नयमानान् हत्वा हृतानि। कीदृशैः? समुत्सुकैः लुब्धैः। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।६१०-६१२।। 'सप्तविंशतितमकण्डिकार्थमाह—शाकल्य इति पञ्चभिः। महायशाः ब्रह्मस्वं ब्राह्मणानुमतिमनासाद्य नीयमानमनर्थाय स्याद् इति लोकान् शिक्षयितुं, विजयेऽपि ब्राह्मणानुमतिसम्पादनपरत्वात्। स्फुटमन्यत्।।६१३।। ब्राह्मणान् प्रति याज्ञवल्क्यवचनमभिनयति—ब्राह्मणा इति। हे ब्राह्मणाः! भगवन्तो मान्याः, नानादेश्याः दिगादित्वाद्यत्।।६१४।। यो व इति। भूसुरो ब्राह्मणो युष्माकं मध्ये यो मां प्रष्टुम् इच्छति स पृच्छतु। यदि वा मत्प्रश्नं समाधातुमिच्छति तर्हि तम् अहं पृच्छामि इति।।६१५।। पृच्छताऽत्रेति। अथ वा सर्वे मां पृच्छत। अहं वा सर्वान् पृच्छामि इति।।६१६।। एवमिति। एवमुक्तेऽपि सर्वे विप्राः तं ब्रह्मवादिनं प्रष्टुं तत्पृष्टं वक्तुं समाधातुं वा नेशते स्म प्रगल्भा न बभूवुः, यत एते शाकल्यदशां वीक्ष्य तुष्णींभूताः।।६१७।। पूर्वं 'नेति नेति' इति निषेधमुखेन प्रतिपादितस्य आत्मनो विधिमुखेन प्रतिपादिकाया अन्त्यकण्डिकाया[2] अर्थमाह—पृष्टवान् इत्यादिना आऽन्तग्रन्थेन। तांस्तूर्ष्णींभूतानपि सर्वान्

था कि शिष्यों ने लौटकर राजा को बता दिया तो सारा इलाका घेर कर या अन्य तरह से हमें खोज कर दण्डित किया जायेगा। अतः जो वे कुछ शिष्य हड्डियाँ लिये थे, चोरों ने उन्हें जान से ही मार डाला और उन निर्दयों ने सोना मानकर शाकल्य की हड्डियाँ चुरा लीं!।।६१०-६१२।।

विदग्ध मर जाने पर हुआ कोलाहल जब शान्त हो गया तब यशस्वी याज्ञवल्क्य ने सभी ब्राह्मणों को यों संबोधित किया : नाना देशों के वासी यहाँ आये पूज्य विद्वान् ब्राह्मणों! आप भी अब मेरी बात सुनें—आपमें से जो विप्र मुझसे कुछ भी पूछना चाहे पूछ ले या मेरे सवाल का जवाब देना चाहे तो उस उत्तम ब्राह्मण से मैं प्रश्न करूँगा। अथवा आप सब मिलकर मुझसे कोई प्रश्न कर लीजिये! या फिर मैं ही आप सभी से प्रश्न करता हूँ !!

यद्यपि उन उपस्थित ब्राह्मणों में गार्गी, उद्दालक आदि जैसे सर्वज्ञतुल्य विप्र भी थे लेकिन शाकल्य को मरा देखकर सब चुप हो गये। ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य से उन्हें न कुछ पूछने की हिम्मत हुई और न उनके प्रश्न का समाधान करने की।।६१३-६१७।।

---

१. 'अथ होवाच—ब्राह्मणा! भगवन्तो! यो वः कामयते स मा पृच्छतु, सर्वे वा मा पृच्छत। यो वः कामयते तं वः पृच्छामि, सर्वान् वा वः पृच्छामि—इति। ते ह ब्राह्मण न दधृषुः।।२७।।' २. 'तान् हैतैः' इत्यादि—'तद्विद इति'-पर्यन्तग्रंथोऽन्त्यकण्डिका।

पृष्टवान् याज्ञवल्क्योऽथ ब्राह्मणान् स्वयमेव हि। मन्त्रैर्मन्त्रविदः सर्वान् मन्त्रविव्प्रथमो मुनिः।।६१८

वनस्पतिर्यथा वृक्षोऽमृषा लोके प्रतीयते। अश्वत्थादिस्तथैवैष मृषा देहः प्रतीयते।।६१९।।

यथा वृक्षस्य पत्राणि लोमान्येवं शरीरिणः। कठिना बाह्यतस्त्वगु या वृक्षस्योत्पाटिका हि सा।।
यथा तथाऽत्र पुंसोऽपि त्वगुक्ता बाह्यतः स्थिता।।६२०।।

पुरुषस्य यथा रक्तं त्वच एव विनिःसरेत्। उत्पटः श्वेतवसनसदृशस्त्वान्तरत्वचः।।६२१।।

एवं कुठारनिहते वृक्षे रक्तोपमो रसः। उत्पटश्च विनिर्याति त्वच उत्पाटिकात्मनः।।६२२।।

एवं पुंसस्त्वचश्छेदे रक्तं चोत्पाटिकाऽपि च। निर्गच्छति बहिस्तेन तुल्यता वृक्षदेहयोः।।६२३।।

कुठारच्छेदतो यान्ति[1] शकलानि वनस्पतेः। विनिर्गच्छन्ति तान्यस्य पुंसो मांसोपमानि हि।।६२४।।

वृक्षे ह्यन्तः शिराः स्थैर्यसहिता ग्रन्थिकारिकाः। यथा तथैव पुंसः स्यात् किनाटं ग्रन्थिसंनिभम्।।
शिरआदिषु सूक्ष्माणां नाडीनां मेलनं भवेत्।।६२५।।

अस्थीनि पुंसि यद्वत् स्युर्दारूण्यन्तरतस्तथा। वृक्षे मज्जा न भेदोऽस्ति मज्जा पुंसस्तरोरपि।।६२६।।

ब्राह्मणान् प्रति मुनिर्याज्ञवल्क्यः स्वज्ञानप्रकर्षप्रकटनाय मन्त्रैः श्लोकरूपैः पृष्टवान्, यतः प्रथमः प्रथमगण्यो मन्त्रविद् वेदवित्। कीदृशान् ब्राह्मणान्? मन्त्रविद इति।।६१८।।

तत्र प्रश्नवाक्यार्थमभिनयति—वनस्पतिरिति अष्टादशभिः। अश्वत्थः पिप्पलः तत्प्रभृतिः वनस्पतिः विना पुष्पं फलग्राही वृक्षो यथा लोके प्रसिद्धः तथैवैष मनुष्यादिः मृषाभूतो देहः प्रतीयत इत्येतदमृषा, सत्यमेव, नात्र संशय इत्यर्थः।।६१९।। साम्यमभिनयति—यथेति सप्तभिः। वृक्षस्य पत्रसमानि अस्य शरीरिणो लोमानि। तथा या बाह्या कठिना त्वक् सा श्रुतौ उत्पाटिका-शब्देन उक्ता, सा यथा वृक्षस्य तथा अस्य पुंसोऽपि प्रसिद्धेत्यर्थः।।६२०।। पुरुषस्येति। यथा पुरुषस्य निर्भिन्नायाः त्वचः सकाशाद् रक्तम् उत्पटश्च निःसरति प्रादुर्भवतीति। उत्पटपदार्थमाह—श्वेतेति। श्वेतवसनसमो यः त्वच आन्तरो भागः स उत्पट इति श्रुतावुक्त इत्यर्थः।।६२१।। एवमिति। एवं पुरुषवद् वृक्षे कुठारनिहते सति रक्तसमो रसः तथा उत्पटश्च वर्णित उत्पाटिकात्मन उत्पाटिकासंज्ञाया बाह्यत्वचः सकाशाद् निर्यातीति।।६२२।। यथा च वृक्षस्य त्वङ्निर्भेदे रसोत्पटयोर्निर्गमः तथा पुरुषस्य रक्तोत्पटयोः। तथा च साम्यं दृढमित्याह—एवं पुंस इति।।६२३।। कुठारेति। यानि कुठारच्छेदेन वृक्षसकाशात् शकलानि खण्डानि निर्गच्छन्ति तान्यस्य पुंसो मांसखण्डसमानीति।।६२४।। वृक्ष इति। या वृक्षान्तःस्थिताः शिराः नाड्यो मिलिताः सत्यो ग्रन्थिकारिकाः ताः श्रुतौ किनाटपदोक्ताः। तच्च किनाटं यथा वृक्षशरीरे तथा पुंसः अपि शरीरे स्याद् यतः पुंसः शिरःप्रभृत्यङ्गेषु सूक्ष्माणां नाडीनां मेलनं सञ्जातो ग्रन्थिनिभो दृश्यत इति।।६२५।। अस्थीनीति। यथा यद्वत् पुंसः शरीरे अस्थीनि सन्ति तथा वृक्षान्तर्दारूणि सारसंज्ञानि प्रसिद्धानि। तथा मज्जा अस्थ्नामन्तर्गतो रसः, स यथा पुंसः तथा तरोः वृक्षस्य अपि। तस्य वृक्षे पुंसि च नामान्तरकृतो भेदो नास्तीत्यर्थः।।६२६।।

जनक की शर्त थी कि ब्रह्मिष्ठ गायें प्राप्त करेगा, अतः जब तक निश्चित न हो जाये कि किसी अन्य ब्राह्मण का उन गायों पर अधिकार नहीं तब तक ब्रह्मधनरूप उन्हें अकेले याज्ञवल्क्य रखें यह अनुचित होता। इसलिये सबके चुप रहने पर भी महर्षि ने स्वयं सभी से एक विलक्षण प्रश्न किया। वाजसनेयक तथा सभी विद्वान् मंत्र-मंत्रार्थ के जानकार थे ही, अतः मन्त्रों द्वारा ही मुनि ने प्रश्न रखा : यह सत्य है कि जैसे लोक में पीपल आदि वनस्पतियाँ प्रतीत होती

---

१. यानीति टीकापाठः।

पुरुषस्याऽपि वृक्षस्य तुल्यमेतदुदीरितम्। विशेषोऽयं कुतो विप्राः कथयन्तु महाधियः।।६२७।।

प्ररोहति तरुश्छिन्नो मूलान्नवतरः पुनः। देहश्छिन्नः पुनर्मूलाज्जायते न पुनर्नवः।।६२८।।

जीवतो जायते रेतो यस्मात्तस्मान्न रेतसः। ततो मूलं किमस्यास्ति पुंसो वृक्षसधर्मणः।।६२९।।

एवमुपपादितं साम्यमनूद्य शङ्कते—पुरुषस्येति। अयं वक्ष्यमाणः।।६२७।। अयं-पदोक्तं विशेषमाह—प्ररोहतीति। वृक्षः छिन्नः अपि दृश्यमानाद् मूलात् प्ररोहन् पुनः अङ्कुरं लभमानो दृष्टः, देहः तु पुनः दृश्यमानाद् मूलाद् नवतरत्वेन जायमानो न दृश्यते। भवितव्यं चाऽस्याऽपि मूलेन केनचित्। तद् ब्रूतेत्यर्थः।।६२८।। जीवत इति। रेतोरूपान्मूलाद् देहो जायत इति न वक्तव्यं यस्माद् रेतो जीवतः प्राणान्धारयतो धर्मो दृश्यते, मया तु छिन्नदेहपदेन सर्वकार्यवर्गाभावशालिन्यवस्थोच्यते। तस्यां तु सुषुप्तप्रलयादिसंज्ञायां रेतआधारभूतं पित्रादिशरीरं नोपलभ्यत इति भावः। ततो दृश्यमानमूलस्य वक्तुमशक्यत्वाद् अस्य वृक्षसधर्मणः वृक्षसमस्य पुंसः तदुपलक्षितस्य सर्वजगत इति यावत्, किं मूलम्? इति।।६२९।।

हैं वैसे ही यह मिथ्या शरीर भी प्रतीत होता ही है। केवल इतनी ही देह और वृक्षमें समानता नहीं, और भी बहुत-सी बातें हैं—जैसे वृक्ष के पत्ते होते हैं ऐसे ही शरीर में रोयें होते हैं। शरीर की चमड़ी भी ऊपर से कठोर (मज़बूत) होती है और वृक्ष की ऊपरी छाल भी—जिसे उत्पाटिका कहते हैं—कठोर ही हुआ करती है। पुरुषकी त्वचा से ही खून और उत्पट निकलता है। उत्पट कहते हैं भीतरी चमड़ी को जो सफेद कपड़े की तरह होती है। वृक्ष पर भी कुल्हाड़ी मारें तो खून-जैसा रस निकलता है और भीतरी छाल भी बाहरी की अपेक्षा वैसी ही कोमल, सफेद आदि होती है जैसी शरीर की भीतरी चमड़ी। वृक्ष हो या शरीर, जब बाहरी त्वचा काटी जाती है तब रक्त और उत्पट बाहर निकलते हैं, यह भी दोनों में तुल्य है। वृक्ष काटने पर जो रस निकलता है वह शरीर के रक्त जैसा ही है। वनस्पति को कुल्हाड़ी से काटें तो टुकड़े-टुकड़े बाहर निकलते हैं। ऐसे ही शरीर काटने पर मांस के टुकड़े निकलते हैं। नाड़ियों की गाँठ को 'किनाट' कहते हैं। वृक्षों में भी नाड़ियाँ होती हैं जो स्थिरभावसे गाँठें बनाती हैं और शरीर के भी शिर आदि स्थल में नाडी-ग्रंथियाँ होती ही हैं। शरीर में हड्डियाँ होती हैं तो वृक्ष की भीतरी लकड़ी—जिसे 'सार' कहते हैं—भी वैसी ही होती है। हड्डियों के अंदर का जो रस मज्जा है, वह भी वृक्ष और शरीर में तुल्य है।।६१८-६२६।।

हे बुद्धिमान् ब्राह्मणो! पुरुष (शरीर) और वृक्ष में यों बहुतेरी समानता है फिर भी एक महान् अंतर है, उसका हेतु आप लोग बताइये। दोनों का वह भेद यह है कि वृक्ष कट जाये तब भी उसका जो दीखता हुआ मूल होता है उससे वृक्ष पुनः अंकुरित हो जाता है लेकिन शरीर कट जाये तो उसका कोई दीखने वाला मूल नहीं जिससे पुनः शरीर उग आता हो! आखिर शरीर का भी कोई मूल तो होना ही चाहिये। यह नहीं कह सकते कि शुक्र वह मूल है जिससे शरीर पैदा होता है। क्यों? इसलिये कि जब तक शरीर कट नहीं गया है तभी तक शुक्र अवस्थित रहता है जबकि देह कटने से मेरा मतलब उस अवस्था से है जिसमें सारे ही कार्यों का अभाव हो जाता है। ऐसी सुषुप्ति या प्रलय में शुक्रधारक पिता आदि का शरीर तो मिलेगा नहीं जो मूल बन सके। अतः दृश्य कोई मूल निर्धारित होता नहीं। आप बतायें कि वृक्षतुल्य शरीर का—शरीर से उपलक्षित सारे जगत् का—मूल क्या है?।।६२७-६२९।।

कह सकते हैं कि जैसे अश्वत्थादि किसी दृश्यमान मूल के बिना भी बीज से ही नये होकर पैदा हो जाते हैं ऐसे ही यह शरीर वृक्षमूल के समान मूल के बिना पैदा हो जाता है अतः 'इसका क्या मूल है?' यह प्रश्न निरर्थक है। किन्तु आप ऐसा न कहें क्योंकि मेरा तात्पर्य है कि मूल या बीज चाहे जिसके समान हो, इस मरणधर्मा का कारण क्या है जिससे नया देह पैदा हो जाता है जब मृत्यु से एक देह नष्ट हो चुकता है ? अभिप्राय है कि किसी वृक्ष का

अथ मूलं न चाऽत्रास्ति तथाऽप्येष प्रजायते। नवो भूत्वा यथाश्वत्थो धानाभ्यो मूलवर्जितः।।६३०।।

मूलबीजसमं किंस्विद् मर्त्यस्याऽस्य हि कारणम्। मृत्युना गतदेहस्य नवो देहो यतो भवेत्।।६३१।।

जातो न जायते; यस्मात् तेनाऽदृष्टमकारणम्। जातस्यैव यतस्तस्मादजाते दृश्यते न हि। नरशृङ्गे न तद् दृष्टं सदा जन्मविवर्जिते।।६३२।।

शरीरेण विना नैतददृष्टं जायते क्वचित्। अदृष्टेन विना नैतच्छरीरं च द्विजोत्तमाः।।६३३।।

बीजाङ्कुरादिवन्नैषा कार्यकारणसङ्गतिः। अनादिर्यत एतस्यां पृथिव्यनुगताऽस्ति हि।।६३४।।

अदृष्टदेहयोः किञ्चिद् वर्ततेऽनुगतं द्विजाः। कारणं मूलभूतं तत् पृच्छाम्यद्य समागतान्।।६३५।।

अथेति। अथशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे। तथा च यथाऽश्वत्थो दृश्यमानं मूलं विनाऽपि वृक्षान्तरोपरि वन्दारूपेण जायमानो धानाभ्यो बीजेभ्य उद्भवन् दृष्टः तथैष देहो वृक्षमूलसमं मूलं विनाऽपि जायत इति चेत्? तर्हि अस्य किम्? अस्य बीजसमं कारणम् इति शेषः।।६३०।। तस्माद् वृक्षस्य मूलसमं बीजसमं वा देहादिरूपजगतः कारणं वक्तव्यमित्याह—मूलेति। स्विदिति वितर्के। वितर्कस्य फलं तु यथा वृक्षोच्छेदे चिकीर्षिते तन्मूलबीजयोश्छेददाहाभ्यां नाशः क्रियते तथाऽस्यापि मूलादिनिर्णयेऽसङ्गशस्त्रेण छित्वा तत्त्वज्ञानाग्निना दग्ध्वा च तन्नाशस्य सुकरतारूपं श्रुतिसूचितं बोध्यम्। अयं भावो गीतासु 'ऊर्ध्वमूलम्' (१५.१) इत्यादिना स्फुटी कृतः।।६३१।। अत्र स्वभाववादिनश्चार्वाकस्य मतं निराकरोति—जात इति। ननु यो जातः स जात एव स न पुनः जायते किन्त्वपूर्व एव स्वभावतः प्रादुर्भवति, तत्र किं मूलविचारेण? इति प्रथमपादेन शङ्का। तदुत्तरं—नेति; नैवं वाच्यमित्यर्थः तत्र कृतनाशाऽकृताभ्यागमप्रसङ्गं दोषमाह—यस्मादित्यादिना। यस्मात्तेन अजातस्यैवोत्पत्तिस्वीकर्तृमतेन अदृष्टं धर्माधर्मात्मकम् अकारणम् अप्रयोजकं व्यर्थमिति यावद्, एतादृशं स्याद्; न चैतदिष्टमिति शेषः।

कथं तर्ह्यदृष्टस्य साफल्यं निर्वहति? इत्यत आह—जातस्यैवेति। यः पूर्वं जातः स एव पुनर्जायत इति स्वीकारे हि अदृष्टरूपकारणस्य तत्कार्याणां च सामानाधिकरण्यं निर्वहति, नाऽसत उत्पत्तौ, यतः असता कार्येण न अदृष्टस्य सद्रूपस्य सम्बन्धो भवतीति भावः। तद् अदृष्टं पूर्वं जातस्यैव धर्मः स्याद् उपपद्येत यतोऽजाते कदाचिदपि अननुभूतोत्पत्तिके वर्तमानं न दृश्यते, यथा नृशृङ्ग इत्यर्थः।।६३२।। नन्वस्तु तर्हि शरीराऽदृष्टयोर्बीजाङ्कुरवत् कार्यकारणभावः; न चानवस्था दोषः, अनादित्वस्य तद्दोषाङ्कुशत्वेन सिद्धान्तिततत्वाद्? इत्याशङ्कां वारयति—शरीरेणेति द्वाभ्याम्। शरीरादृष्टयोः बीजाङ्कुरवत् परस्परापेक्षया या एषा कार्यकारणसङ्गतिः कार्यकारणभावसम्बन्धः सोऽनादित्वाद् अदुष्ट इति न वाच्यम्। तत्र हेतुः दृष्टान्तवैषम्यरूपो यत इत्यादिनोक्तः। यत एतस्यां दृष्टान्तभूतायां बीजाङ्कुरयोः परम्परायां पृथिवी बीजाङ्कुरयोर्धर्मयोर्धर्मिभूताऽनुगता दृश्यते, दार्ष्टान्तिके तु न किञ्चिद् दृश्यत इत्यर्थः। अयं भावः—सत्यमनादिरनवस्था न दोषाय, यदि सा प्रामाणिकी स्यात्। प्रामाणिकी हि दृष्टान्ते। तत्र धर्मयोः कार्यकारणभावनिर्वाहकस्य पृथिवीरूपधर्मिणः प्रत्यक्षादिसिद्धत्वात्। दार्ष्टान्तिके तु देहाऽदृष्टयोर्धर्मी न लौकिकमानसिद्धः। एवमपि तत्स्वीकारेऽन्धपरम्परादोषापत्तिरिति द्वयोरर्थः।।६३३-६३४।। फलितमाह—अदृष्टेति। एवं प्रकारान्तरेणानुपपत्तौ सत्याम् अदृष्टदेहयोः कार्यकारणयोर्धर्मितयाऽनुगतं किञ्चित् कारणं वेदैकमानसिद्धमस्ति यदेव सर्वजगतो मूलभूतं, तस्य स्वरूपं लक्षणञ्च समस्तान् ब्राह्मणान् प्रति पृच्छामि इति।।६३५।।

संपूर्ण नाश करना हो तो उसके मूल को काट दिया जाता है, बीज जला दिया जाता है तब वह पुनः उत्पन्न नहीं होता। इसी तरह इस शरीर के परम कारण की जानकारी हो जाये तो उसे नष्ट करें ताकि शरीर पुनः हो ही न पाये। इसके

अदृष्टदेहयोर्हेतुः को न्वेनं जनयेत् पुनः। परित्यक्त्वा पुराऽदृष्टशरीरे वृक्षवन्नरम्।।६३६।।

विप्राज्ञाने श्रुतिर्वक्ति

एवं पृष्टास्तदा विप्राः कारणं न प्रपेदिरे। विज्ञानं जडवर्गस्य सदा सदसदात्मनः। आनन्दं दुःखतो भिन्नं हेम्नो दातुः परायणम्।।६३७।।

उक्तप्रश्नस्यैव निष्कर्षमाह—अदृष्टदेहयोरिति। अदृष्टदेहयोर्हेतुः उपादानभूतः को नु एनं नरं वृक्षसमं जनयितुं शक्तोऽस्ति; पुरा पुरातनम् अदृष्टं शरीरं च वर्णितदोषं वर्जयित्वा? स हेतुर्वक्तव्य इति।।६३६।। एवमिति। एवं पृष्टा द्विजा जगतः कारणं न प्रपेदिरे न ज्ञातवन्तः, तन्निरूपणं च दूरनिरस्तमिति पराजिता बभूवुरिति भावः। श्रुतिस्त्वधिकारिणां हिताय जगत्कारणस्य स्वरूपतटस्थलक्षणे वदतीत्याह—विज्ञानमिति। विज्ञानानन्दौ स्वरूपलक्षणम्। हेम्नो रातिपदोक्तस्य दातुः परायणत्वं फलप्रदाने प्रतिभूसमत्वं, मर्यादाविधारकत्वमिति यावत्, तत्तटस्थलक्षणमिति विवेकः।।६३७।।

भी मूल को असंगतारूप कुल्हाड़ी से काटना होगा, बीज को तत्त्वज्ञानरूप आग से जलाना होगा, तभी शरीर पूरी तरह समाप्त हो सकता है। (गीता पंचदशाध्याय के प्रारंभ आदि में यह विषय व्यक्त है।)।।६३०-६३१।।

यदि कहो कि जो शरीर अभी उत्पन्न है वह तो उत्पन्न हो ही चुका है, उसे पुनः उत्पन्न होना नहीं, उत्पन्न कोई नया ही शरीर होगा। शरीर का स्वभाव ही है कि बिना मूल के पैदा हो जाता है! अतः इसके मूल का विचार करना व्यर्थ है। तो यह कहना गलत है। यदि सर्वथा नवीन की उत्पत्ति हो तो धर्माधर्मरूप अदृष्ट व्यर्थ ही हो जायेगा। पहले पैदा होकर जो किया है उसके ही फल को भोगने केलिये पुनः पैदा होना पड़े तभी अदृष्ट की कारणता संगत होती है। यदि स्वभावतः ही नवीन वस्तु उत्पन्न हो जाये तो अदृष्ट का क्या प्रयोजन होगा! उसे निष्प्रयोजन मानना तो किसी आस्तिक को स्वीकार है नहीं। अदृष्ट उसी का होगा जो पहले भी पैदा हो चुका है। जिसकी कभी उत्पत्ति हुई नहीं उसका कोई अदृष्ट हो यह संभव नहीं। कभी जिसका जन्म नहीं हुआ ऐसे नरशृंग का कोई धर्माधर्म हो यह किसी तरह मान नहीं सकते।।६३२।।

हे उत्तम ब्राह्मणो! सामान्यतः मानते हैं कि शरीर के बिना इसका अदृष्ट कभी पैदा नहीं होता और अदृष्ट के बिना यह शरीर कभी पैदा नहीं होता, इसलिये इनका कार्य-कारणभाव बीज-अंकुर की तरह प्रवाहरूप से है। किंतु यह मान्यता भी अस्वीकार्य है : बीज और अंकुर जिसके धर्म हैं वह धर्मिभूत पृथ्वी अनुगत मिलती है जो दोनों का संबंध संभव कर देती है। ऐसे अदृष्ट व शरीर में धर्मिरूप अनुगत तो कुछ दीखता नहीं कि इस दृष्टान्त से देह-अदृष्ट की अनादिपरंपरा मान्य हो।।६३३-६३४।। फिर भी हे विप्रो! अदृष्ट और देह में अनुगत कुछ होना ज़रूर चाहिये अन्यथा धर्मादि अनुपपन्न होंगे। वह अनुगत प्रत्यक्षादिसे सिद्ध नहीं है, लेकिन वैदिक प्रमाण से अवश्य सिद्ध है। वही इस सारे जगत् का मूलभूत कारण है। यहाँ आये आप सभी से मैं उसका स्वरूप और लक्षण पूछ रहा हूँ।।६३५।। इस तरह मेरा प्रश्न है : पुराने शरीर और अदृष्ट से अतिरिक्त, शरीर और अदृष्ट का वह कौन उपादान कारण है जो इस वृक्षतुल्य पुरुष को पैदा कर पाता है?।।६३६।।

यों पूछे जाने पर वहाँ उपस्थित ब्राह्मण उस मूल कारण को समझ ही नहीं पाये तो उसका निरूपण क्या करते! अतः सभी याज्ञवल्क्य से हार गये यह सभी को स्पष्ट हो गया, याज्ञवल्क्य का गायों पर वास्तविक अधिकार निश्चित हो गया।

ब्राह्मण लोग तो याज्ञवल्क्यके प्रश्नका उत्तर नहीं दे पाये लेकिन समझदार अधिकारियों का आत्यन्तिक हित

वृक्षस्य मूलतो नाशे भवेदत्र हि कारणम्। बीजानि तद्वदस्यापि पुंसः सूक्ष्मशरीरकम्। ।६३८।।

बीजानां हि यथा नाशे तिष्ठेद् भूमिः सदा तथा। सुप्तौ सूक्ष्मस्य देहस्य नाशेऽज्ञानं व्यवस्थितम्६३६

अदृष्टं कारणं यद्वद् वृक्षस्य भवने सदा। बीजानां सूक्ष्मदेहस्य तद्वत् स्थूलजनौ हि तत्। ।६४०।।

एवं श्रुतिसिद्धे कारणे सति शरीरस्य वृक्षसाम्यं सम्यगुपपन्नम्, अस्यापि बीजसमस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्षेत्रस्थानीयस्य च कारणाज्ञानस्य लाभादित्याह—वृक्षस्येति द्वाभ्याम्। यथा वृक्षस्य समूलस्य नाशेऽपि अत्र पुनर्वृक्षोत्पत्तौ बीजानि कारणं भवन्ति, तथा पुंसः स्थूलशरीरनाशेऽपि सूक्ष्मं शरीरं कारणं भवेद् इति। ।६३८।। बीजानामिति। यथा बीजानाम् अपि नाशेऽदर्शने सति भूमिः तिष्ठति तथा सूक्ष्मशरीरनाशेऽपि अज्ञानं सुषुप्तप्रलययोः अवशिष्यत इत्यर्थः। ।६३६।। नन्वेतत् साम्यमुक्तलक्षणपरमात्मनोऽनभ्युपगमेऽपि कथं नोपपद्यते? इति शङ्कां पद्यभिर्वारयन्, सूक्ष्मस्य स्वोत्पत्तौ परमात्मापेक्षां तावद् दर्शयति—अदृष्टमिति द्वाभ्याम्। यथा बीजानां वृक्षस्य भवने तत्तद्वृक्षाकारपरिणामे कारणं व्यवस्थापकं निमित्तम् अदृष्टं प्रत्यक्षादिप्रमाणैरविषयी कृतम् एवं सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलरूपेण परिणामेऽपि व्यवस्थापकं तथेत्यर्थः। तथा च व्यवस्थापकतया सूक्ष्मशरीरस्य परमात्मापेक्षा—इति

साधने केलिये जगत्कारण का स्वरूप और तटस्थ लक्षण स्वयं श्रुति अपने शब्दों में बताती है—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विदः'। इसका अब व्याख्यान पुराण में किया जा रहा है। हमेशा जो सदसद्रूप में ही विभक्त रहता है, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण, भाव-अभाव आदि कोटियों वाला है, उस सारे जडसमूह का कारण वह विज्ञान है जो ऐसा आनन्द है जिसमें दुःखका कोई स्पर्श नहीं। स्वर्णादि का दानादि करने वालों को सत्फलादि मिलेगा इसमें वही आनंदरूप विज्ञान परायण है अर्थात् क्योंकि वह सारी मर्यादाओं का विधारक है इसलिये यह विश्वास किया जाता है कि अच्छे-बुरे कर्मों का अच्छा-बुरा फल मिलेगा और मिलता भी नियम से है। अभिप्राय है कि जगत् के कारण का स्वरूपलक्षण विज्ञान-आनंद है तथा कर्मफल देना तटस्थ लक्षण है। विज्ञान का अर्थ चैतन्य और आनंद से भूम-स्वरूप समझना चाहिये। ।६३७।।

शरीर और वृक्ष की काफी समानता है। जैसे वृक्ष का बीज होता है वैसे तो स्थूल के प्रति सूक्ष्मशरीर कारण है और जैसे वृक्ष किसी खेत आदि भूमि में उपजता है ऐसे ही परमात्मरूप जगत्कारण का अज्ञान वह खेत है जहाँ शरीर पैदा होता है। यह समझाते हैं—जिस तरह वृक्ष का समूल नाश हो जाने पर भी पुनः वह उत्पन्न हो इसमें बीज कारण बनते हैं, उसी तरह स्थूल शरीर का नाश होने पर भी पुनः उत्पत्ति के प्रति सूक्ष्म शरीर कारण बन जाता है। वृक्षके कारणभूत बीज जब नहीं भी उपलब्ध होते तब भी जहाँ वृक्ष उत्पन्न हुआ करते हैं वह भूमि तो हमेशा रहती ही है। ऐसे ही सुषुप्ति और प्रलय में सूक्ष्म शरीर भले ही नष्ट हो जाता हो लेकिन भूमिस्थानीय अज्ञान तो हमेशा बना ही रहता है। (हमें बीज सामान्यतः दीखते नहीं फिर भी भूमि रहती है तो वर्षादि होने पर पुनः घास आदि वनस्पति उग जाती है। ऐसे ही अज्ञान रहने पर हमें भले ही सूक्ष्म शरीर उपलब्ध न हो फिर भी भोगने योग्य कर्मादि होने पर सभी कुछ पुनः उत्पन्न हो जाता है।)। ।६३८-६३६।।

विज्ञानादि स्वरूप वाले कर्मफलप्रदाता परमात्मा न हों तो शरीर-परंपरा संगत नहीं होगी। सूक्ष्म को उत्पन्न होने केलिये परमात्मा की जरूरत है। बीज ही वृक्ष के आकार में परिणत होता है किंतु इस व्यवस्था को निश्चित रखने वाला निमित्त प्रत्यक्षादि बाह्य प्रमाणों का गोचर नहीं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर अवश्य स्थूल शरीरको उत्पन्न करता है किन्तु यह व्यवस्था जिससे नियमित है उसकी तो ज़रूरत रहेगी ही। ।६४०।। केवल व्यवस्थापकरूप से ही नहीं, सूक्ष्मके प्रति निमित्तभूत संस्कारों को प्रकाशित करने के लिये भी परमात्मा की आवश्यकता सदा रहती है। बीजों का संस्कार—अर्थात्

पृथिव्यां बीजलाभे हि कारणं बीजसंस्कृतिः। अज्ञानस्याऽपि सूक्ष्मत्वे कारणं सूक्ष्मसंस्कृतिः।।६४१।।

अज्ञानं परमात्मापेक्षम्

पृथिवी यद्वदेवैषा सर्वाऽपि नभसि स्थिता। अज्ञानं तद्वदेवैतद् विज्ञानात्मन्यवस्थितम्।।६४२।।

अमूर्ते यद्वदाकाशे दृश्यते मूर्तसंश्रयः। विज्ञाने तद्वदेव स्याद् अज्ञानस्य समाश्रयः।।६४३।।

लोके यो निर्धनो दृष्ट आश्रयेद् धनिकं हि सः। दुःखात्मकं तथाऽज्ञानमानन्दं ज्ञानमाश्रयेत्।।६४४।।

विज्ञानानन्दाभेदः

आनन्दो हि न विज्ञानादन्यो लोकेऽपि दृश्यते। इदं सुखमिति ज्ञानं विना नाऽऽनन्दसम्भवः।।६४५।।

भावः।।६४०।। न केवलं सूक्ष्मस्योक्तविधयैव परमात्मनोऽपेक्षा, किन्तु सूक्ष्मनिमित्तानां संस्काराणामालोचकत्व-लक्षणकर्तृत्वेनाऽपीत्याह—पृथिव्यामिति। यथा पृथिव्यां पतितानां बीजानां कार्यद्वारा लाभे ज्ञाने कारणं प्रयोजिका बीजानां संस्कृतिः संस्कारभावेनाऽवस्थानमिति यावत्, एवं कारणस्य अज्ञानस्य सूक्ष्मत्वे तत्तत्सूक्ष्मशरीराकारपरिणामे प्रयोजिका सूक्ष्मशरीराणां संस्कृतिरिति। ते च संस्कारा ईश्वरातिरिक्तेन दुर्ज्ञेया। इति भावः।।६४१।।

अथाऽज्ञानस्य परमात्मापेक्षां दर्शयति—पृथिवीति त्रिभिः। यथा सर्वावकाशदे नभसि पृथिवी स्थिता तथा चिद्रूप आत्मनि अज्ञानं स्थितमिति। न हि जडेऽज्ञानं स्थातुमर्हति; पश्चाद्भावित्वात्, तत्रावरणकृत्याऽभावाच्चेति भावः।।६४२।। एतत् स्फुटयति—अमूर्त इति। अमूर्ते घनीभावहीने। संश्रय-समाश्रय-शब्दावत्र स्थितिवाचकौ।।६४३।। आत्मनः सर्वेषु स्वस्मिन्नारोपितेषु सत्तादिप्रदत्वादपि तदाश्रितत्वमज्ञानस्येति सदृष्टान्तमाह—लोक इति। धनिकम् उपकारकमिति शेषः। अज्ञानमिति च्छेदः। स्पष्टमन्यत्।।६४४।।

अथ विज्ञानानन्दपदयोः सामानाधिकरण्यसूचितं विज्ञानानन्दयोरैक्यमुपपादयति—आनन्द इति दशभिः। लोकेऽपि विज्ञानभिन्नमानन्दस्वरूपं न दृष्टं यतः सुखमिति-आकारकं ज्ञानं विना आनन्दस्य सम्भवः सत्तादिलाभो न कुत्राऽप्यस्तीत्यर्थः। तथा च ज्ञानविमुक्तसुखस्वरूपस्याऽदर्शनाद् लौकिकमपि सुखमात्मरूपमेव, विषयतया भानं तु वृत्त्युपाधिकमिति भावः।।६४५।। ननु दुःखमपि तथाऽस्तु? इति शङ्कां वारयति—नैवमिति। एवं सुखवद् दुःखम् अपि विज्ञानात्माऽभिन्नम् अस्तु—इति न शंक्यम्; यतः अस्य दुःखस्य सत्त्वे सदात्मरूपत्वे किञ्चिद् मानं प्रत्यक्षादिकं न दृश्यते। न हि कश्चिद् अहं दुःखमिति अनुभवति! आनन्दस्य तु आत्मरूपत्वे प्रकृतश्रुतिरूपः प्रमाणराजोऽस्तीति।।६४६।। यद्यपीति। अलब्धलाभो योगः, लब्धप्रतिपालनं च क्षेमः। यद्यपि सुखदुःखे तुल्य-

सूक्ष्मरूपसे बीज—पृथ्वीमें होता है, इसी कारण से मौके पर बीजकार्यभूत अंकुरादि से स्पष्ट पता चल जाता है कि इस भूमिमें इस वनस्पति का बीज था। इसी तरह कारणभूत अज्ञान उस-उस सूक्ष्म शरीर के आकार में परिणत हो इसमें प्रयोजक (निमित्त) होता है उस-उस सूक्ष्मशरीर का संस्कार। भूमि एक है, उसमें जहाँ जिस बीज का संस्कार है वहीं उस का अंकुर निकलेगा, अन्यत्र नहीं। अज्ञान भी एक है फिर भी अनेक सूक्ष्मदेह उत्पन्न होते हैं तो अवश्य इसमें निमित्त है कि उस-उस सूक्ष्मदेह के संस्कार की अपेक्षा से ही उस-उस का जन्म होता है। उन संस्कारों को जानना ईश्वर से अन्य किसी की सामर्थ्य में है नहीं। अतः परमेश्वर की ज़रूरत रहनी है ही।।६४१।।

सूक्ष्म ही नहीं कारण भी ईश्वर की अपेक्षा रखता है। वृक्ष का उत्पत्तिस्थल भूमि सारी ही सभी को जगह देने वाले आकाशमें स्थित है, ऐसे ही यह अज्ञान उस आत्मा में प्रतिष्ठित है जो विज्ञान-आनंदरूप है।।६४२।। आकाश मूर्त अर्थात् घनीभूत नहीं है, उसमें मूर्त (घने) पदार्थों की स्थिति उपलब्ध होती है। इसी तरह परमात्मा अज्ञान से विपरीत विज्ञानस्वरूप है और उसमें अज्ञान का स्थित होना संगत है। परमात्मा से अन्य जो जडजात है उसमें अज्ञान हो सकता भी नहीं क्योंकि अज्ञान तो जड के प्रति हेतु है अतः जडोत्पत्ति से पूर्व कहीं आश्रय चाहता है। किं च अज्ञान का फल है ज्ञान को आवृत करना; जडों में ऐसा कोई आवरण हो नहीं सकता क्योंकि वहाँ ऐसा कोई ज्ञान है नहीं जो ढँका

नैवं दुःखं यतो नास्य सत्त्वे मानं हि दृश्यते। आनन्दस्य तु सत्त्वेऽस्ति मानं श्रुतिरिहाधुना।।६४६।।

यद्यप्येते सदा तुल्ययोगक्षेमे उदीरिते। सुखदुःखे तथाप्येष विशेषो नैजकोऽस्त्यपि।।६४७।।

सुखमिच्छति सर्वोऽपि भूयादेतत् सदा मम। इत्थं दुःखं तथा द्वेष्टि मा भूदेतत् कदापि मे।।६४८।।

इत्थं यस्मिन् भवेदेतद् अनुकूलं स्वशब्दभाक्। प्रतिकूलं परं न स्वं लोके वैरिसुखे तथा।।६४९।।

वैरिदुःखे अपि सदा स्यातां सम्बन्धशब्दने। तथापि नात्मसम्बन्धं तयोरिच्छति कर्हिचित्।।६५०।।

योगक्षेमतया सर्वतन्त्रेषूक्ते, तथा च सुखस्यात्मस्वरूपताङ्गीकारे दुःखस्यापि साङ्गीकार्या, अन्यथा तुल्ययोगक्षेमताप्रसिद्धिर्नोपपद्येत—इति शङ्का। तामेतां शङ्कां 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इति न्यायेन वारयन्, सा प्रसिद्धिः सुखाकारवृत्तेरेव उत्पत्तिनाशादिसाम्यप्रतिपादनपरा—इति दर्शयति—तथापीति। तथापि एष वक्ष्यमाणो विशेषोऽपि सुखदुःखयोः अस्ति। कीदृशो विशेषः? नैजकः निजः असाधारणः, निज एव नैजः, मूढैरज्ञातो नैजो नैजकः।।६४७।। सुखदुःखयोर्नैजं विशेषं दर्शयति—सुखमिति त्रिभिः। सर्वोऽपि जनः इत्थं सुखमिच्छति। इत्थं कथम्? एतत् सुखं सदा मम भूयाद् इति। तथा एतद् दुःखं कदापि मे मा भूद् इति दुःखं द्वेष्टि इति।।६४८।। नन्वेतावता को विशेषः सुखे लब्ध इति चेद्? अनुकूलत्वे सति स्वरूपो योऽन्यत्र निरुपाधिकेच्छाविषयत्वेन प्रसिद्ध इत्याह—इत्थमिति। इत्थं 'भूयादेतत्सदा मम' इत्याकारेण इच्छा यत्र यद्विषयिका भवेद्, एतद् वस्तु अनूकूलम् अनुकूलत्वेन व्यवहार्यं स्वशब्दभाक् स्वशब्देन व्यवहार्यं च भवति। 'भूयादेतद्' इत्यंशेन अनुकूलत्वम्, 'मम' इत्यंशेन च स्वशब्दार्हत्वं हि सूचितमिति भावः। परं तद्विपरीतं तु प्रतिकूलम् इति न स्वं स्वशब्दानर्हम् इति च व्यवह्रियते। ननु सर्वस्यात्मनि कल्पितत्वेन आत्ममात्रत्वे प्रतिकूलत्वादिकं कथं भासत इति चेद्? अविद्याबलाद् इति सूचयन् प्रतिकूलत्वोदाहरणमाह—लोक इति। लोके सुखरूपेणेष्टमपि सुखं यदा वैरिसम्बन्धमात्रेण प्रतिकूलं दृश्यते तदा साक्षात् परत्वेनैव कल्पितस्य प्रतिकूलत्वादिकं किमु वाच्यमिति भावः। वैरिसुखे तथा प्रतिकूलत्वादिकं दृष्टमित्यर्थः।।६४९।। ननु स्वशब्दभाक्त्वमात्रं सुखस्य विशेषो वक्तव्यः, किमिति इष्यमाणत्वात्मकानुकूलत्वेन स्वपदार्थो विशेषितः? इति शङ्कां वारयन्, अनुकूलपदकृत्यमाह—वैरीति। वैरी च दुःखं च एते अपि सम्बन्धशब्दने स्ववैरी स्वदुःखम् इत्येवम्, आत्मसम्बन्धेन शब्दनं प्रतिपादनं ययोस्ते तथा, एतादृशे स्याताम्। तथापि तयोः वैरिदुःखयोः आत्मसम्बन्धित्वेन इष्यमाणत्वं न दृश्यते। इत्यतस्तद्व्यावृत्तये 'अनुकूल'-पदप्रयोग इति भावः।।६५०।।

जाये। अतः जड में अज्ञान नहीं रहता बल्कि विज्ञानस्वरूप में ही रहता है यह उचित है।।६४३।। लोक में यही देखा गया है कि निर्धन व्यक्ति धनी का सहारा लेता है। इसके यह अनुरूप ही है कि दुःखस्वरूप अज्ञान आनंदस्वरूप ज्ञान का सहारा ले।।६४४।।

श्रुति में 'विज्ञान आनंद ब्रह्म है' इस पदसंरचना से स्पष्ट किया है कि जो विज्ञान है वही आनंद है। लोक में भी आनंद का ऐसा कोई स्वरूप देखा नहीं जाता जो अनुभवसे स्वतंत्र हो, पृथक् हो। 'सुख' या 'यह सुख है' ऐसे ज्ञान के बिना आनंद सत्तासम्पन्न हो नहीं सकता। ज्ञानसे असम्बद्ध सुख सर्वथा अप्रसिद्ध होने से निश्चित है कि लौकिक सुख भी आत्मा ही है। वह जो विषय के ढंग से प्रतीत होता है उसमें उपाधिभूत वृत्ति कारण है : वृत्ति के उपधान से आत्मरूप आनंद लगता है मानो अपने से अलग अनुभूयमान कोई विषय हो।।६४५।। सुख की तरह दुःख भी विज्ञानरूप आत्मा से अभिन्न हो—यह संभावना नहीं क्योंकि सद्-आत्मरूप आत्मा से दुःख अभिन्न है इसमें कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण है नहीं; किसी को ऐसा तो लगता नहीं 'मैं दुःख हूँ'! आनंद आत्मरूप है, इसमें तो यह श्रुतिवाक्य ही प्रमाण है। अन्य भी अनेक श्रुतियाँ इसे प्रमाणित करती हैं।।६४६।। यद्यपि कहा जाता है कि लोकसिद्ध सुख-दुःख का लाभ और परिपालन एक-सा होता है तथापि इनमें एक निजी खासियत है जिसे मूढ लोग जान नहीं पाते। सभी लोग चाहते हैं 'मुझे हमेशा

कारकाणामभावेन शेषे सम्बन्धधीभ्रमः। सम्बन्धेऽविद्यमानेऽपि यथा स्वस्य स्वयं तथा।।६५१।।

ननु अनुकूलत्वे सति स्वत्वरूपो यः सुखस्य विशेष उक्तः तत्र स्वपदार्थः कः—आत्मीयत्वम्, आत्मत्वं वा? आद्ये, कथमात्मरूपता? अन्त्ये, कथं लोका आत्मीयत्वेन सुखमिच्छन्ति? कथं वा सुखं मम भूयाद् इति षष्ठीप्रयोगः? इत्याशंक्य; अन्त्यपक्षमङ्गीकुर्वंस्तत्रोपपत्तिमाह—कारकाणामिति। सुखस्यात्मरूपत्वेन भेदघटिते सम्बन्धेऽविद्यमानेऽपि सुखस्याऽजन्यत्वात् कारकाणां द्वितीयादिविभक्तिप्रयोजकानाम् अभावेन परिशेषेण शेषे शेषार्थकषष्ठीविभक्तौ प्रयुज्यमानायां सम्बन्धधीर्या जायते सा भ्रमो—विकल्परूपेति यावत्। तदुक्तम्—'अत्यन्ताऽसत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' (श्लो.वा.) इति। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (यो.सू.१.९) इति च। तत्र दृष्टान्तः—स्वस्येति। यथा स्वस्य स्वयम् उपकरोतीति प्रयोगे, आत्मनि भेदाभावेऽपि शब्दबलात् स्व-स्वयं-पदार्थयोर्भेदो भासते; तद्वद् 'मम सुखम्' इत्यत्रापीत्यर्थः। तथा च सुखात्मनोरभेद एव। लोका अपि 'कथमिदं सुखं ममात्मैव स्याद्' इत्येव इच्छन्ति, परन्तु ते सुखस्यात्मतामजानन्तः सुखात्मप्रतिबिम्बग्राहिवृत्तिद्वारा एतत्सम्बन्धं लब्ध्वा सुखमात्मीयत्वेन अभिमन्यमाना एव तुष्यन्तीति भावः।।६५१।।

सुख हो' और 'यह मुझे कभी न हो'—यों दुःख से सदा द्वेष करते हैं। जिसके बारे में 'यह मुझे हमेशा हो' ऐसी इच्छा होती है वह वस्तु अनुकूल तथा 'स्व' शब्द से कही-समझी जाती है। 'यह होवे' इससे अनुकूलता और 'मुझे' इससे 'स्व'-शब्द के योग्य होना समझे जाते हैं। इससे विपरीत जो प्रतिकूल होता है वह 'स्व' शब्द के अयोग्य समझा जाता है। यद्यपि सभी कुछ आत्मा ही है तथापि अविद्यावश किन्ही पदार्थों में प्रतिकूलतादि प्रतीत होते हैं। लोक में भी सुखरूपसे निश्चित पदार्थ यदि शत्रुसे सम्बद्ध पता चल जाये तो प्रतिकूल लगने लगता है; जब अपने से भिन्न का संबंध ही प्रतिकूलता का आपादक हो जाता है तब जो स्वयं ही पर रूपसे कल्पित है वह पदार्थ प्रतिकूल हो इसमें क्या कहना! तात्पर्य है कि सुख आत्मरूप है, दुःख नहीं—यह विभाजन अज्ञानदृष्टि से है। विज्ञानदृष्टि से तो दुःख है ही नहीं कि वह आत्मरूप हो इसकी संभावना उठ सके।।६४७-६४९।। सुख केलिये अनुकूल या इष्यमाण होना और 'स्व'-शब्द का विषय होना दोनों जरूरी हैं। वैरी का और दुःखका भी हमेशा अपने से सम्बंध बताया जाता है—'मेरा वैरी है' 'मेरा दुःख है'—तथापि कोई चाहता नहीं कि उनसे अपना सम्बन्ध हो। इसलिये 'अपना होना' और 'चाहा जाना' दोनों हों तभी सुख हो सकता है।।६५०।।

जिसमें अनुकूलत्व और स्वत्व हो वह सुख है। यहाँ 'स्वत्व' से आत्मीय या अपना, आत्मसम्बन्धी, है कह सकते हैं। तब सुख को आत्मरूप कैसे कहा? आत्मा को तो आत्मसम्बन्धी मान नहीं सकते क्योंकि संबंध विभिन्नों में होता है। और यदि स्वत्व से आत्मत्व ही विवक्षित है तो लोग सुख की आकांक्षा 'मुझे मिले, मत्सम्बन्धी बने' इस तरह करते हैं वह संगत नहीं होगा। इन समस्याओं का समाधान किया जा रहा है—सुख आत्मरूप है, इसलिये आत्मा से उसका कोई सम्बंध नहीं हो सकता, क्योंकि संबंध वहाँ होता है जहाँ भेद हो। फिर भी आत्मरूप होने से सुख अजन्य है, जिससे द्वितीयादि विभक्तियों का प्रयोग आवश्यक करने वाले कारकों का—क्रियाहेतुओं का—उसके संदर्भ में प्रयोग होता नहीं तो द्वितीयादि के अर्थों से अतिरिक्त सभी अर्थों के लिये छठी विभक्ति का प्रयोग संमत होने से उसका प्रयोग कर लिया जाता है न कि छठी विभक्ति के सम्बंधरूप अर्थ की विवक्षा से। उसके प्रयोग से जो यह लगता है कि कोई संबंध है आत्मा और सुख में, वह भ्रम ही है। उदाहरणार्थ, जब कहा जाता है 'खुद ही खुद का उपकार करता है' तब यद्यपि दो 'खुद' हैं नहीं तथापि 'खुदका' सुनकर लगता ज़रूर है कि खुद से संबंध वाले किसी खुद का प्रसंग है! ऐसे ही 'मेरा सुख' में भी 'मेरा' यों जो संबन्ध सुनाई देता है वह भ्रमवश ही है। 'मुझे सुख मिले' यह भी चाहना सुख आत्मा है, इसके अज्ञान से ही होती है। सुख को अपना आत्मा ही बनाने से संतोष होगा। अज्ञान रहते हम सुखरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाली वृत्ति द्वारा सुखको अपने से अलग करते हैं और फिर उसका संबंध पाकर 'सुख मेरा है' इस अभिमान से समझ लेते हैं कि जो कुछ हो सकता था वह हो लिया! इसीलिये हमारा असंतोष मिट नहीं पाता।।६५१।।

स्वशब्दो यः सुखे दृष्टो नासौ स्वीये भविष्यति। तथा च सति सम्बन्धो भवेद् नित्यं सुखात्मनोः।।६५२।।

अनित्ये सति सम्बन्ध आत्मनः प्रतिकूलता। भवेद्, न दृश्यते चैषा प्राणिनः कर्हिचित् क्वचित्६५३

नित्ये च सति सम्बन्धे तादात्म्यान्नापरो भवेत्। सम्बन्धो, नेति नेतीति श्रुतिरन्यमपाकरोत्।।६५४।।

विज्ञानमात्मा

आत्मनस्तत एवैतद् विज्ञानं नात्मनः पृथक्। पृथक्त्वे बुद्धिविज्ञानं[1] सदृशं तज्जडं भवेत्।।६५५।।

उक्तविचारफलमाह—स्वशब्द इति। तस्मात् सुखे यः स्वशब्दो दृष्टः प्रयुज्यमानः असौ स्वीय आत्मीयरूपार्थे वर्तमानो न भविष्यति किन्त्वात्मरूपार्थ एवेत्यर्थः। तत्रोपपत्तिमप्याह—तथा चेति। तथा सति सुखवृत्तिस्वशब्दस्य आत्मरूपार्थपरत्वे सति सुखात्मनोः सम्बन्धः तादात्म्यरूपो नित्यः स्यात्। तथा च सदाऽऽत्मनि निरतिशयप्रेमोपपत्तिरिति भावः।।६५२।। एतदेव व्यतिरेकेण द्रढयति—अनित्य इति। यदि आत्मनः सुखसम्बन्धोऽनित्यः स्यात् तदा कदाचिद् आत्मनि प्रतिकूलता द्वेषविषयताऽपि भवेत्; सा तु कदापि कस्यचिदपि न दृश्यत इति।।६५३।। ननु सम्बन्धस्य नित्यत्वेऽपि भेदघटितसमवायरूपत्वमस्तु? इत्याशङ्कां वारयति—नित्ये चेति। नित्ये सम्बन्धेऽन्विष्यमाणे सुखात्मनोः कल्पिताकल्पितभेदाभेदात्मकं तादात्म्यमेव वक्तव्यं, नाऽपरो भेदघटितः समवायः; यतो नेति नेतीति श्रुतिः आत्मनः अन्यं भिन्नं वस्तुजातम् अपाकरोद् इति।।६५४।।

आत्मन इति। आत्मन इति पदं पूर्वान्वयित्वेन व्याख्यातम्। तत एव नेति नेतीति श्रुतिभयादेव विज्ञानम् अपि नात्मनो भिन्नं तत्समवेतमिति मन्तव्यम्; किन्तु? आत्मरूपमेव। एतेन अर्शआद्यजन्तत्वकल्पना[2] परास्ता। न केवलं श्रुतिभयादेव विज्ञानस्यात्मरूपता, किन्तूपपत्तेरपीत्याह—पृथक्त्व इति। विज्ञानस्य पृथक्त्वे स्वीक्रियमाणे तद्वद् आत्मलक्षणभूतमपि विज्ञानं जडं स्याद् यथा बुद्धिरूपं गौणं ज्ञानमित्यर्थः।।६५५।। तथा चाऽनवस्था,

इस विचार से निष्कर्ष निकला कि सुख के बारे में कहने के लिये प्रयोग किये 'स्व'-शब्द का अर्थ कोई आत्म-सम्बन्धी पदार्थ नहीं बल्कि आत्मा ही उसका अर्थ है। अतएव सुख-आत्मा नित्य अभिन्न हैं, एक दृष्टिसे सुख कहते हैं और अन्य दृष्टिसे आत्मा—बस यों शब्दप्रवृत्ति का ही अंतर है, अर्थभूत वस्तु में अंतर नहीं। एवं च सुखरूप होने से आत्मा में सभी को निःसीम प्रेम होता है वह उचित ही है।।६५२।। यदि आत्मा का सुखसे अनित्य (कादाचित्क) सम्बंध होता अर्थात् आत्मा कभी सुखवाला और कभी सुखरहित होता तो सुखरहित आत्मा के प्रति द्वेष भी हुआ करता! लेकिन ऐसा कभी कहीं देखा जाता नहीं।।६५३।। सुख-आत्मा का यह नित्य सम्बन्ध तादात्म्य ही हो सकता है, समवायादि वैसा नहीं जो सर्वथा विभिन्नों में परस्पर होता माना जाता है। 'नेति नेति' श्रुति ने स्पष्ट किया है कि आत्मा से भिन्न कोई भी वस्तु 'है' कहलाने लायक नहीं। अतः वास्तविक भेद की अपेक्षा रखने वाला कोई संबंध संभव ही नहीं। तादात्म्य तो अकल्पित अभेद के रहते कल्पित भेदरूप होता है अतः आत्मा-सुख वस्तुतः एक होने पर भी उनमें कल्पना से भेद प्रतीत होने पर उनका परस्पर सम्बंध संगत हो जाता है। जहाँ भी अव्यभिचरित संबंध निश्चित हो वहाँ अभेद को ही वास्तविक जानना चाहिये, भेदप्रतीति कल्पनासे समझनी चाहिये। गुणादि भी द्रव्यादि से वास्तविक भेद वाले पदार्थान्तर नहीं हैं, अतः वहाँ भी तादात्म्य ही है यह रहस्य है।।६५४।।

जैसे सुख आत्मा से अन्य नहीं, ऐसे ही विज्ञान, अनुभूति, चैतन्य भी आत्मासे अन्य कुछ नहीं है। अलग हो तो भेदमिथ्यात्वबोधक 'नेति' आदि श्रुति से विज्ञान भी 'है' कहलाने लायक नहीं रह जायेगा। अतः यह ग़लत है जो वैष्णव व्याख्या करते हैं कि जहाँ आत्मा को ज्ञान, सुख आदि कहा है वहाँ 'ज्ञान वाला, सुख वाला' आदि मानना चाहिये। विज्ञान आत्मा से पृथक् स्वीकारा जाये तो भले ही उसे आत्मा का असाधारण धर्म मानें फिर भी वह वैसे ही जड होगा

१. बुद्धिविज्ञानसदृशमिति युक्तं पठितुम्। २. वैष्णवव्याख्यातॄणाम्। तार्किका अपि नात्मानं ज्ञानस्वरूपं मन्यन्त इति तेऽप्यत्र निराकार्याः।

जडानां हि परापेक्षा नियताऽत्र घटादिषु। परापेक्षमविज्ञानं घटादिवददो भवेत्।।६५६।।

विज्ञानं ब्रह्म

विज्ञानानन्दरूपोऽयमात्मा ब्रह्मगिरोच्यते। अध्यस्तत्वप्रसिद्ध्यर्थं जडजातस्य सर्वतः।।६५७।।

यथैकस्मिन्नभस्यैषा कर्णनासादिकल्पना। ब्रह्मण्येवमिहैकस्मिन्नज्ञानादिप्रकल्पना।।६५८।।

असन्नेव यथा भेदो मायावपुषि मायिनः। तत्र वा नभसो यद्वद् ब्रह्मण्येवं हि स स्मृतः।।६५९।।

विज्ञानत्वत्यागश्च दोषः स्यादित्याह—जडानामिति। जडानां स्वनिर्वाहाय परापेक्षा नियताऽवश्यंभाविनी दृष्टा यथा घटे। तथा चोत्तरोत्तरं विज्ञानकल्पनायाम् अनवस्था। किं च परापेक्षाणां घटादीनाम् अविज्ञानत्वस्य विज्ञान-भिन्नत्वस्य दर्शनाद् अद आत्मलक्षणभूतं विज्ञानमपि अविज्ञानं भवेद्! अतः स्वप्रकाशात्मरूपमेवैष्टव्यमित्यर्थः।।६५६।।

ब्रह्मप्रयोगतात्पर्यमाह—विज्ञानानन्देति त्रिभिः। विज्ञानाऽभिन्नानन्दरूपो य आत्मा स सर्वजडवर्गकल्पितत्वस्फुटीकरणाय ब्रह्मपदेनोक्त इति। कथं ब्रह्मपदप्रयोगेणाध्यस्तत्वं स्फुटी क्रियत इति चेद्? इत्थम्—ब्रह्मशब्दः त्रिविधपरिच्छेदहीनत्वलक्षणनिरतिशयमहत्त्वप्रतिपादकः। यदि जडजातं सत्यं स्यात् तदा तन्निष्ठान्योन्याभाव-प्रतियोगित्वलक्षण-वस्तुपरिच्छेदापत्तिः स्याद्, इत्यतः स्वबोध्यभिन्नस्य[1] मिथ्यात्वं बोधयतीति।।६५७।। तत्र सजातीयभेदस्यौपाधिकत्वेन अध्यस्तत्वं दृष्टान्तत्वेन स्फुटयति—यथैकस्मिन्निति। यथा एकमेव शारीरं नभः, तत्र कर्णनासाद्युपाधिभिर्भेदकल्पना, तथा एकस्मिन् एव ब्रह्मणि अज्ञानाद्युपाधिभिर्भेदकल्पनेति।।६५८।। विजातीयभेदस्या-ध्यस्तत्वम् उपाधीनामध्यस्तत्वबोधनद्वारा सदृष्टान्तमाह—असन्नेवेति। यथा आकाशे मायाविना निर्मिते मायामयवपुषि उपाधौ सति मायिनो य आकाशादौ भेदः, तत्र मायाविनि वा आकाशादेर्भेदः, सः असन्नेव उपाधेरपि कल्पितत्वात्; तथाऽज्ञानाद्युपाधीनां कल्पितत्वात् तत्प्रयुक्तो भेदो ब्रह्मणि असन्नेव इति। स्वगतभेदस्य अध्यस्तता विज्ञानानन्दैकरसत्वप्रतिपादनेन सूचितेत्यपि बोध्यम्।।६५९।।

जैसे बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान। बुद्धिगत ज्ञान जन्य होने से अनात्मा है ही, आत्मगुणरूप ज्ञान भी आत्मभिन्न होगा तो उसे बुद्धिज्ञान से पृथक् कैसे कहा जा सकेगा? जो तो आत्मा में जन्य गुण स्वीकारते हैं वे भूल जाते हैं कि आने-जाने वाले धर्म धर्मी को विकृत ही करते हैं, अतः निर्विकार आत्मा में अनित्य गुण नहीं माने जा सकते।।६५५।। घटादि जडों में निश्चित है कि सभी जड अपने निर्वाह के लिये स्वयं से अन्य किसी चेतन की जरूरत रखते हैं। अतः आत्मगुण ज्ञान जड (अनात्मा) होगा तो स्वयं से भिन्न चेतन ज्ञान की ज़रूरत रखेगा ही। वह दूसरा ज्ञान भी जड ही हो तो उसे तीसरे की ज़रूरत होगी और इस तरह कोई भी ज्ञान अपना निर्वाह नहीं करा पायेगा। यदि दूसरे ज्ञान को स्वयं चेतन (आत्मा) मानना हो तब तो पहले ज्ञान ने ही क्या अपराध किया था कि उसे जड (आत्मभिन्न) माना! इतना ही नहीं; जो कोई भी परसापेक्ष होता है वह विज्ञानसे भी भिन्न ही होता है, यह नियम घट पट आदि सहस्रों स्थलों पर निश्चित है। आत्मगुणरूप ज्ञान भी अगर अपने से भिन्न किसी आत्मा की अपेक्षा रखे, जैसा कि गुण होने पर आवश्यक होगा क्योंकि गुण गुणी की अपेक्षा रखता ही है, तो वह ज्ञान ही नहीं रह पायेगा। इसलिये आत्मा ही स्वयम्प्रकाश है, यही युक्तियुक्त सिद्धांत शास्त्र-अनुभव के अनुसार है।।६५६।।

श्रुति ने परम कारण को न केवल विज्ञान और आनंद कहा वरन् ब्रह्म भी कहा। विज्ञान-आनंद रूप यह आत्मा 'ब्रह्म' शब्द से इसलिये कहा गया ताकि यह स्पष्ट हो सके कि सारा ही जडवर्ग अध्यस्त है। ब्रह्म का अर्थ है देश-काल-वस्तु की सीमाओं से रहित। जड सत्य हो तो आत्मा वस्तु से परिच्छिन्न ही रहेगा क्योंकि आत्मा जडभिन्न ही होगा। जब आत्मा को ब्रह्म कह दिया तो निश्चित हो गया कि उसे सीमित करने वाला कोई देश-काल-वस्तु संभव नहीं।।६५७।।

---

१. स्वं ब्रह्मेति पदम्।

ब्रह्म कर्मफलदम्

इदं विशुद्धचैतन्यसुखं ब्रह्म न कारणम्। किन्तु मायासमेतं तत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति च।।६६०।।

एतद् दर्शयितुं वेदो वदान्यानां परायणम्। कर्मणां फलदाने च देहकारणमब्रवीत्।।६६१।।

परायणम्

तत्राप्यहेतुतां मत्वा जडस्यावरणात्मनः। परायणं परं ब्रह्म प्रोक्तवान् केवलं हि यत्।।६६२।।

'रातेर्दातुः परायणम्' इत्युक्तेस्तात्पर्यमाह—इदमिति त्रिभिः। इदं निरूपितं विज्ञानानन्दैकरसं यद् ब्रह्म तद् विशुद्धं, जगतः कारणं न भवति, किन्तु मायोपाधिकं सर्वज्ञत्वादिशाल्येव सत् कारणम्। एतत् तात्पर्यं दर्शयितुं वेदः प्रकृता श्रुतिः एवम् अब्रवीत्। 'एवं' कथम्? वदान्यानां धनदानपराणां सम्बन्धीनि यानि कर्माणि तेषां फलदाने यत् परायणं प्रतिभूसमं जगद्विधारकं तद् देहस्य तत्प्रभृतिजगतः कारणम्। इति द्वयोरर्थः। न हि शुद्धस्य कर्मफलदत्वमिति भावः।।६६०-६६१।। परमालम्बनवाचके परायणशब्दे परपदप्रयोगाशयमाह—तत्रापीति। तत्रापि मायाया अपि कारणबोधनाय मायाशबलस्य कारणत्वोक्तावपि इयमनुपपत्तिर्भासते। 'इयं' का? यद् माया चैतन्यसत्तां विना आत्मानमपि धारयितुमशक्ता कथं प्रपञ्चनिवहि शक्ता स्याद्! इति। एतस्या अनुपपत्तेरनुसन्धानेन जडस्य आवरणात्मनो मायासंज्ञस्य अहेतुताम् अनुपपन्नां हेतुतां मत्वा वेदो यत् केवलं ब्रह्म तदेव परायणम् इत्यब्रवीत्, तस्यैवाधिष्ठानत्वेन सर्वनिर्वाहकत्वादिति भावः।।६६२।। शुद्धस्य ब्रह्मणो न केवलं मायाया

शरीरपरिच्छिन्न आकाश एक ही है लेकिन नाक-कान आदि के कारण नासिकाकाश, कर्णविवराकाश आदि भेद कल्पित हो जाता है। ऐसे ही एक ब्रह्म में ही अज्ञानादि की यह सुदृढ कल्पना सर्वजनप्रसिद्ध है।।६५८।। मायावी आसमानमें मायिक शरीर दिखा देता है और उस असत्य शरीर के कारण मायावी में सद्वितीयता का व्यवहार होता है—'यह मायावी नीचे खड़ा है, जो आसमान में दीख रहा है वह दूसरा है!' इत्यादि। मायादेह से आकाश में भी परिच्छेद-व्यवहार हो जाता है—'उसके सामने की जगह में, पीछे की जगह में' इत्यादि। ये सभी भेद सर्वथा असत्य हैं क्योंकि जिस उपाधि के निमित्त से हैं वह मायिक देह भी असत्य है। ऐसे ही अज्ञानादि उपाधियाँ भी कल्पित हैं तो उनसे संभव होने वाला भेद असत्य है इसमें कहना ही क्या! इस प्रकार एक होने से सजातीयभेद-रहित, अद्वितीय होने से विजातीयभेदरहित और एकरस होने से स्वगतभेदरहित आत्मा ही जगत्कारण है।।६५९।।

विज्ञान-आनन्दैकरस रूप से निरूपित विशुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है फिर भी मायारूप उपाधि से वही सर्वज्ञ-सर्वशक्ति होकर जगत्कारण हो जाता है। यह तात्पर्य स्पष्ट करने केलिये यहाँ श्रुति ने कहा कि धनदानमें संलग्न लोगों से सम्बद्ध कर्मों के फललाभ केलिये जो प्रतिभू-तुल्य है (जमानतदाता की तरह है, जिस पर भरोसा कर ही लोग कालांतर में फल पाने की आशा से कर्म करते हैं) वही शरीरादि जगत् का कारण है। शुद्ध ब्रह्म कर्मफलदाता नहीं, मायोपाधिक ही फलदाता है।।६६०-६६१।।

यद्यपि शुद्ध चेतन फलप्रद जगत्कारण हो नहीं सकता तथापि श्रुति ने विज्ञानानंदरूप ब्रह्म को ही फलप्रदादि कह दिया है। इसमें यह अभिसन्धि है : मायाशबल को कारण कहने पर माया भी कारणकोटि में आ जाती है किंतु माया जड होने से चेतनकी सत्ता के बिना अपना ही धारण नहीं कर सकती तो प्रपंचका निर्वाह क्या करेगी! आवरणशील जड अज्ञानरूप माया जगद्धेतु हो यह संगत नहीं—ऐसा समझकर श्रुति ने केवल ब्रह्म को ही 'परायण' अर्थात् परम अवलम्बन कहा है क्योंकि वही अधिष्ठान है जिसके सहारे सभी अवस्थित है।।६६२।। शुद्ध परमात्मा केवल माया

अनेन वचसा वेद तिष्ठमानस्य तद्विदः। आत्मानं यः प्रकाश्यास्ते ब्रह्मचर्यादिसाधनः। ब्रह्माहमिति तस्यापि स्यात् तद् ब्रह्म परायणम्।।६६३।।

ब्रह्म विज्ञानमानन्दं कर्मणां फलदातृ च। ब्रह्मवित्स्वात्मरूपं च न विदुः कारणं द्विजाः।।६६४।।

याज्ञवल्क्येन पृष्टास्ते कोन्वेनं जनयेदिति। अस्माभिस्तु महाभाग! श्रुतं वेदस्य वाक्यतः।।६६५।।

कथोपसंहारः

एवं महानुभावः स एष वाजसनेयकः। याज्ञवल्क्यः सूर्यशिष्यो धीमतां हि पुरः स्थितः।।६६६।।

गवां छलेन जित्वैवं ब्राह्मणान् पृथिवीगतान्। विदग्धं भस्मसात् कृत्वा ब्रह्मविद्द्वेषकारिणम्।।६६७।।

अधिष्ठानत्वेन परायणत्वं, किन्तु मुक्तं प्रत्यपि परायणमित्याह—अनेनेति। एवमत्रान्वयः—तत् केवलं ब्रह्म तस्यापि विदुषः परायणम्। 'तस्य' कस्य? यः 'तिष्ठमानस्य तद्विदः' इति अनेन श्रुतिवचसा इत्थं प्रतिपादितः इति शेषः। 'इत्थं' कथम्? यो ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नः सन् ब्रह्माहमिति आत्मानं प्रकाश्य निरावरणं कृत्वा आस्ते, ब्रह्माहमिति वेद चेति। अत्र 'तिष्ठमानस्य' इति आत्मनेपदं 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोः' (१.३.२३) इति सूत्रेणेति सूचयितुं 'प्रकाश्याऽऽस्त' इति तदर्थ उक्तः। 'ब्रह्माहमिति, वेदेति' तद्विद इति पदस्यार्थ उक्त इति विवेकः।।६६३।।
प्रकृतवाक्यस्य सम्पिण्डितमर्थमाह—ब्रह्मेति। यद् ब्रह्म विज्ञानानन्दरूपं मायोपाधिकं कर्मणां फलदातृ; केवलं तु ब्रह्मविदः स्वात्मभूतं च; तदेव जगतः कारणम् इत्येवं द्विजा न विदुः[1]। कीदृशाः? 'को नु एनं जनयेद्' इति याज्ञवल्क्येन पृष्टाः। अस्माभिस्तु अधिकारिभिः केवलमनुग्रहेण वदतो वेदस्य वाक्यात् श्रुतम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।६६४-६६५।।

का ही अधिष्ठान होने से परायण हो इतना ही नहीं वरन् मुक्त का भी परायण है। जिस विद्वान् केलिये श्रुति ने 'तिष्ठमानस्य तद्विदः' द्वारा कहा है कि ब्रह्मचर्य आदि साधनों से सम्पन्न जो अधिकारी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस तरह अपने पर से आवरण हटा कर बाध की अवधिरूपसे रहता है और 'ब्रह्म मैं हूँ' इस निश्चय वाला होता है, उस विद्वान् का परायण—परम अधिष्ठान—भी वही ब्रह्म है जो विज्ञानानन्दरूप है।।६६३।।

इस प्रकार 'इसे कौन पैदा करता है?' यों महामुनि याज्ञवल्क्यने जिन उपस्थित ब्राह्मणों से परमात्मविषयक प्रश्न किया, वे द्विज उस विज्ञान-आनंदरूप परमेश्वर को नहीं जानते थे जो मायोपाधिवश कर्मफलदाता है और निरुपाधिक रूप में ब्रह्मवेत्ता का निज स्वरूप है। याज्ञवल्क्य के प्रश्न का 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि उत्तर जनक-सभा में उद्घोषित नहीं हुआ था। यह तो केवल कृपामात्रसे प्रेरित भगवान् वेद के वाक्य से हम जैसे अधिकारियों ने सुना-समझा है। (यद्यपि यहाँ आये सभी वाक्य वेद के हैं तथापि जो वाक्य किसी व्यक्तिविशेष जैसे याज्ञवल्क्य, उद्दालक, शाकल्य आदि द्वारा कहे गये रूप से नहीं उल्लिखित हैं उन्हें स्वयं वेद का वाक्य है ऐसा व्यवहार हो जाता है, जैसे नाटक में कुछ वचन पात्रों के और कुछ नाटककार के हैं ऐसा व्यवहार होता है जबकि पात्रवचन भी मूलतः नाटककार के ही होते हैं, वैसे प्रकृत में भी समझ सकते हैं।)।।६६४-६६५।।

शिष्य को औपनिषद उपाख्यान सुनाने वाले श्रीगुरु इस कथा का उपसंहार करते हैं: 'याज्ञवल्क्य, जिनका उपनाम 'वाजसनेयक' था और जिन्होंने साक्षात् भगवान् सूर्य से शिक्षा ग्रहण की थी वे बुद्धिमानों में अग्रगण्य निश्चित हुए यह इस प्रसंग में स्पष्ट है। जनक द्वारा गायों की घोषणा और मुनि द्वारा उन्हें आश्रम की ओर भेज देना तो एक बहाना था, वस्तुतः तो महर्षि की ब्रह्मनिष्ठा के प्रदर्शन द्वारा परमात्मविज्ञान की महत्ता का ख्यापन अभीष्ट था। तथापि पृथ्वी

१. नात्रारुणिगार्ग्यादीनामज्ञत्वं विवक्षितं किन्तु याज्ञवल्क्यस्य ब्रह्मिष्ठत्वमिति द्रष्टव्यम्।

मिथिलापतये राज्ञे जनकायोत्सुकाय हि। सूर्योक्तं दिष्टवान् ज्ञानं यत् स्वयं पृष्टवान् द्विजान् ।६६८

।इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे बृहदारण्यके याज्ञवल्क्यकाण्डसारार्थप्रकाशे ऋषियाज्ञवल्क्यसंवादो नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

इतिहासमुपसंहरन्नुत्तराध्यायजिज्ञासामुत्थापयति—एवमिति त्रिभिः। याज्ञवल्क्यो धीमतां पुरतः स्थितः अग्रगण्यो गवां छलेन गवामाश्रमं प्रति प्रेषणरूपनिमित्तव्याजेन ब्राह्मणान् सर्वान् जित्वा, विदग्धं दग्ध्वा च जनकाय उत्सुकाय श्रद्धालवे ज्ञानम् उपदिष्टवान्। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।६६६-६६८।।

अज्ञानामपि विज्ञानां य एकोऽसि परायणम्।
सच्चिदानन्दरूपाय सर्वज्ञायेश ते नमः।।

।। इति श्रीदत्तकुलतिलक-कृष्णचन्द्रात्मज-दिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतौ आत्मपुराणटीकायां सत्रसवाख्यायां पञ्चमोध्यायः।।५।।

भर से आये विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओं पर याज्ञवल्क्य ने विजय तो प्राप्त कर ही ली। इतना ही नहीं, ब्रह्मज्ञों से द्वेष करने वाले विदग्ध शाकल्य को याज्ञवल्क्य की वाणी में स्थित हो आदित्य ने भस्मावशेष भी कर दिया। (इससे दोनों बातें बतायीं कि ब्रह्मविद्वरिष्ठता पाने का प्रयास करते रहना चाहिये और ब्रह्मवेत्ताओं से कभी थोड़ा भी द्वेष नहीं करना चाहिये।)।।६६७।। मिथिलानरेश जनक सभामें अनिर्णीत विषय के प्रति सश्रद्ध जिज्ञासु हो गया, अतः याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों से जो पूछा था उसका उत्तर जैसा आदित्यसे उन्होंने समझा था वैसा राजा को विस्तार से समझाया।'।।६६८।।

।। ऋषि-याज्ञवल्क्य-संवाद नामक पाँचवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

ॐ

बृहदारण्यकयाज्ञवल्क्यकाण्डार्थप्रकाशक-

याज्ञवल्क्यजनकसंवादः

षष्ठोऽध्यायः

शिष्यप्रश्नः

एवं गुरुमुखाच्छ्रुत्वा शिष्यो नानाविधाः कथाः। आत्मविज्ञानसम्बद्धाः पप्रच्छ स्वगुरुं पुनः।।१।।

भगवन् भवताऽऽख्यातमैतरेयसमीरितम्। ज्ञानं कौषीतकिप्रोक्तं तथाऽऽदित्यसमीरितम्।।
इतिहासैस्तथाऽऽख्यानैः सहितं विविधैरपि।।२।।

अधिकारिजनाऽऽख्यानं तद्वदैन्द्रप्रतर्दनम्। अजातशत्रुगार्ग्याख्यं दध्यङ्ङाथर्वणं तथा।।३।।

आख्यानं याज्ञवल्क्यस्य विप्रसंवादरूपभृत्। विविधं चात्मविज्ञानमत्र सर्वत्र कीर्तितम्।।४।।

यदुक्तं याज्ञवल्क्येन जनकाय महीभुजे। ज्ञानं तच्छ्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्प्रसादतः।।५।।

गुरोरुत्तरम्

एवमुक्ते गुरुः प्राह शिष्यं स्नेहसमन्वितः। जनकाय यथा ज्ञानं याज्ञवल्क्यो यदुक्तवान्।।६।।

शृणु वक्ष्यामि तत् सर्वमुक्तवान् यद् मुनीश्वरः। जनकाय स्वशिष्याय याज्ञवल्क्यो ह्यगाधधीः।।७।।

यः षष्ठः पञ्चभूतानि संवर्धयति रश्मिभिः। मुनिना वर्णितः षष्ठे स षष्ठे नः प्रसीदतु।।

अस्यार्थः—यः परमात्मा सिद्धान्ते षष्ठतत्त्वात्मको रश्मिभिः सत्तांशैः तत्त्वान्तराणि वर्धयति, स मुनिना याज्ञवल्क्येन आरण्यकषष्ठाध्याये वर्णितो नः अधिकारिणाम् इन्द्रियपञ्चकापेक्षया षष्ठेऽन्तःकरणे, अत्राध्याये वा, प्रसीदतु आविरस्तु—इति।

अथ जिज्ञासोः शिष्यस्य प्रश्नं तत्समाधानप्रतिज्ञां च गुरोर्वर्णयति—एवमिति सप्तभिः। श्रुतं सङ्क्षेपेणानुवदति—भगवन्निति।।२।। तदेव विस्तरेणानुवदन् प्रथमाद्यध्यायचतुष्टयार्थं संवादचतुष्टयेनाह—अधिकारीति।।३।। पञ्चमाध्यायार्थमनुवदति—आख्यानमिति।।४।। यदुक्तम् इत्यादित्रयं स्पष्टम्।।५-७।।

श्रीयाज्ञवल्क्य का राजा जनक से संवाद

छठा अध्याय

शिष्य ने श्रीगुरुके मुख से आत्मा के अनुभवसे संबद्ध अनेक प्रकार की कथायें सुनकर पुनः जिज्ञासा की : हे भगवन्! आपने कृपाकर महर्षि ऐतरेय द्वारा प्रतिपादित, महामुनि कौषीतकि द्वारा एवं भगवान् आदित्य द्वारा उपदिष्ट नाना प्रकार के इतिहासों और कथाओं समेत आत्मज्ञान मुझे सुनाया।।१-२।। पहले अधिकारिजनों ने आपस में क्या विचार किया, किस निश्चय पर पहुँचे यह बताया। फिर महाराजा इन्द्र ने प्रतर्दनको, राजर्षि अजातशत्रु ने बालाकि गार्ग्य को, महर्षि दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनिकुमारों को जिस तरह परमात्मा का उपदेश दिया वह क्रमशः सुस्पष्ट किया। तदनन्तर ऋषिप्रवर याज्ञवल्क्य का विविध ऋषियों से जो ब्रह्मज्ञान-विषयक संवाद हुआ वह आपने विस्तार से समझाया। सभी प्रसंगों में तरह-तरह से परमात्मा के साक्षात् स्वरूप का और उसके साक्षात्कार के उपायों का यथाशास्त्र युक्तियुक्त वर्णन

प्रसङ्गः

शाकल्ये निधनं प्राप्ते ब्राह्मणेषु जितेष्वथ। व्युष्टायामपि शर्वर्यामुदिते रविमण्डले।।८।।

वादित्रैर्विविधैस्तद्वद् बन्दिभिर्मधुरस्वरैः। अप्सरःसदृशस्त्रीभिर्नानानीराजनैरपि।।६।।

मुक्तनिद्रो महाराजः कृतपौर्वाह्णिकक्रियः। ब्राह्मणानां च वृद्धानां परिगृह्य जयाशिषः।।१०।।

वादित्राणां विचित्राणां घोषैर्गान्धर्वमिश्रितैः। सर्वालङ्कारसम्पन्नो ह्यगादेष सभां प्रति।।११।।

प्रवालमणिरत्नौघहैमराजतनिर्मिताम्। सुधर्मासदृशीं भाभिर्भासयन्तीं दिशो दश।।१२।।

चित्रे सिंहासने तस्यामासाञ्चक्रे जनेश्वरः। विदेहो जनको धीमांस्त्रैवर्णिकजनैर्वृतः।।१३।।

[1]कालेऽस्मिन्नागतस्तत्र सूर्यशिष्यो महायशाः। आराध्य स्वगुरुं देवं सावित्र्या शिरसा सह।।१४।।

पौर्वाह्णिकी क्रियाः कृत्वा शिष्यैः सर्वैः समावृतः। चतुर्वेदार्थिभिर्याज्ञवल्क्यो वाजसनेयकः।।१५।।

तत्र[2] प्रथमकण्डिकार्थमुपबृंहयति—शाकल्य इत्यादि सप्तत्रिंशच्छ्लोकैः। व्युष्टायां प्रभातभावं प्राप्तायाम्। एवं सति वादित्राद्यैः मुक्तनिद्रो राजा जनको ब्राह्मणाद्याशिषः परिगृह्य वाद्यघोषैरुपलक्षितः सभामगाद् इति चतुर्ण्णां सम्बन्धः।।८-११।। सभां विशिनष्टि—प्रवालेति।।१२।। चित्र इति। तस्यां सभायां जनको राजोपविष्टवान्।।१३।। काल इति। अस्मिन् राज्ञः सदसि उपवेशनोपलक्षिते काले तत्र राजसदसि याज्ञवल्क्य आगतः। किं कृत्वा? शिरोविशिष्टगायत्रीमन्त्रेण स्वगुरुम् आदित्यम् आराध्य, पौर्वाह्णिकीः पूर्वाह्णे विहिताः क्रियाः समाप्य चेति

आपने किया।।३-४।। भगवन्! मेरी अभिलाषा है कि आपकी कृपा से मैं वह उपदेश भी सुन लूँ जो महर्षि याज्ञवल्क्य ने भूपति जनक को दिया था।।५।।

शिष्य की इस प्रार्थना पर वात्सल्यवान् श्रीगुरु ने उसे वह ज्ञान सुनाया जो याज्ञवल्क्य ने जनक को सभा में विस्तार से समझाया था।।६।। गुरु जी बोले—हे शिष्य! अथाह ज्ञान के सागररूप मुनिराज याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य जनक को जो आत्मविद्या का उपदेश दिया वह सारा ही मैं तुम्हे सुनाता हूँ, एकाग्र होकर सुनो।।७।।

विदग्ध शाकल्य का निधन और ब्राह्मणों पर याज्ञवल्क्य की विजय होने तक दिन समाप्त हो चुका था। वह रात बीती, सूर्यमण्डल उदयाचल पर पहुँचा, उस समय विविध वाद्यों की कोमल ध्वनियों से, मधुरस्वर वाले बन्दियों के गीतों से तथा अप्सरा-तुल्य स्त्रियों द्वारा किये जाते नीराजनों से—विभिन्न आरतियों से—महाराजा जनक नींद से जगे। प्रातःकालिक कर्मों से निवृत्त होकर उन्होंने ब्राह्मणों और वृद्धों से सदा विजयी रहने के आशीर्वाद प्राप्त किये। फिर वे अपनी राजसभा की ओर चल दिये। विचित्र बाजों के घोषों से तथा गीतों से उनका स्वागत किया जा रहा था। राजा स्वयं तो सभी आभूषणों से विभूषित थे ही, उनका सभाभवन भी रत्न-सोना-चाँदी से दसों दिशाओं को ऐसा जगमगा रहा था मानो वह पृथ्वी नहीं स्वर्ग की सभा हो!।।८-१२।। विदेह राजा जनक उस सभा में रंगबिरंगे सिंहासन पर विराजमान हुआ। उस बुद्धिमान् नरेश को विशिष्ट त्रैवर्णिक सज्जन घेरे हुए थे।।१३।।

उसी समय महायशस्वी आदित्यछात्र याज्ञवल्क्य सभा में उपस्थित हुए। वे अपनी प्रातःकालिक अग्निहोत्रादि क्रियायें सम्पन्न कर चुके थे, शिरोयुक्त गायत्री मंत्रसे अपने गुरुदेव भगवान् सूर्य की आराधना कर चुके थे और अपने

१. 'अथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। तँ होवाच—याज्ञवल्क्य! किमर्थमचारीः? पशून् इच्छन्, अण्वन्तानि? इति।' इति श्रुतिवाक्यम्।

२. षष्ठे प्रथमं षडाचार्यब्राह्मणम्। 'ॐ जनको ह वैदेह आसांचक्रे' इति कण्डिकाभागोपबृंहणमेतत्।

तमागतं तदा राजा त्रैवर्णिकजनैर्वृतः। अभ्युत्थानार्घ्यपाद्याद्यैरर्चयामास धर्मवित्। ।१६।।

प्रवालमणिरत्नौघमण्डितं कनकोद्भवम्। आसनं मृदुलं चाऽदाद् मुक्तादामविभूषितम्। ।१७।।

उपविष्टस्तदा तस्मिन्नासने मुनिसत्तमः। अन्वजानात् स राजानं सर्वांस्त्रैवर्णिकानपि। वर्णिभिश्च तथा राज्ञा स्वासनेषूपविश्यताम्। ।१८।।

इत्युक्ते राजसहिता वर्णिनो हृष्टचेतसः। स्वासनेषूपविष्टास्ते नमस्कृत्य मुनीश्वरम्। ।१६।।

अतिथिं माननीयं तं राजा विनयसंयुतः। उवाचेदं नमस्कृत्य धर्मयुक्तं तदा वचः। ।२०।।

राजोक्तिः

ब्राह्मणा एव लोकेऽस्मिन् दैवं नापरमीरितम्। प्रभवन्ति यतस्त्वेते सृष्टिस्थित्यन्तकर्मणि। ।२१।।

देवानामपि किञ्चान्यज्जन्तूनां देहधारिणाम्। परमात्मा यथा शक्तस्तथैवैते द्विजोत्तमाः। ।२२।।

सर्वभूतसमाः शान्ता दान्ता विगतमत्सराः। आप्तकामा महात्मानो भूतानुग्रहचेष्टिताः।। विचरन्ति महीमेतां व्याजं किञ्चिद् विधाय हि। ।२३।।

पशुधान्यादिलाभाख्यं व्याजं सम्पाद्य केचन। तत्त्वनिर्णयसंज्ञं च केचित् तद्वद् महाधियः। ।२४।।

भूपतीन् मज्जतोऽगाधसंसारजलधिस्थितान्। उद्दिधीर्षव आयान्ति याज्ञवल्क्य ! भवादृशाः। ।२५।।

द्वयोरर्थः। ।१४-१५।। तमिति। ।१६।। प्रवालेति। विद्रुमादिविभूषितं मृदुलमासनमदाच्च इति। ।१७।। उपविष्ट इति। तत्र आसन उपविष्टो मुनिः राजानं सभ्यांश्चैवम् अन्वजानात् आज्ञप्तवान्। 'एवं' कथम्? वर्णिभिः त्रैवर्णिकैः राज्ञा च स्वस्वासनेषु उपविश्यताम् इति। ।१८।। इत्युक्त इति। ।१६।। अतिथिमिति। तं याज्ञवल्क्यं मानार्हम् अतिथिं प्रति इदं वक्ष्यमाणं वचः अब्रवीत्। कीदृशम्? धर्मयुक्तं 'वाक् चतुर्थी च सूनृता' इति धर्मशास्त्रेण विहितम्। ।२०।।

राजवाक्यमभिनयति—ब्राह्मणा इत्यादिना। अत्र लोके ब्राह्मणा एव परमदैवतं यत एते देवानामपि सृष्ट्यादौ प्रभवन्ति शक्ता भवन्ति परमात्मवत्, किमुत अन्यजन्तूनामिति द्वयोरर्थः। ।२१-२२।। सर्वेति। सर्वभूतसमत्वादिना पूर्णकामा अपि भूतानुग्रहायैव विचरन्ति। विचरणहेतुं पृष्टाश्च प्रयोजनान्तरं प्रख्यापयन्तीत्यर्थः। ।२३।। व्याजं स्फुटयति—पश्विति। केचित् पृष्टाः 'पश्वादिलाभाय चराम' इति वदन्ति। केचित्तु 'सत्संवादेन तत्त्वनिर्णयाय चराम' इति वदन्ति इत्यर्थः। ।२४।। अहं त्वेवं मन्य इत्याह—भूपतीनिति। संसाराब्धौ मज्जतो भूपतीन् उद्दिधीर्षव

सभी शिष्यों से घिरे थे जो शिष्य उनसे चारों वेदों की शिक्षा ग्रहण करने उनके अन्तेवासी थे। ।१४-५।। उन्हें आया देख अपने सभासदों सहित धर्मज्ञ राजा ने उठकर स्वागत किया और अर्घ्य-पाद्य आदि उपचारों से उनकी अर्चना की। ।१६।। राजा ने मुनि केलिये आसन उपस्थित किया जो स्वर्ण से (ज़री से) निर्मित था, विद्रुम आदि अनेक मूल्यवान् रत्नों से शोभित था और मोतियों की लड़ियों से सजा था। उस आसन पर बैठकर उन मुनिश्रेष्ठ ने राजा तथा सभ्यों को भी अपने आसनों पर बैठ जाने के लिये कहा। तब सभी लोग प्रसन्नतापूर्वक मुनिको प्रणाम कर आसीन हुए। ।१७-१६।।

संमान्य अतिथि रूप श्रीयाज्ञवल्क्य से विनयशील राजा जनक ने उसी प्रकार के सत्य और प्रिय वचन कहे जैसों का धर्मशास्त्र में विधान है। ।२०।। राजा ने निवेदन किया—इस भूलोक पर ब्राह्मण ही परम देवता है। क्योंकि अन्यों का क्या कहना, देवताओं के भी जन्म-स्थिति-भंग करने में उत्तम द्विज वैसे ही समर्थ होते हैं जैसे परमात्मा स्वयं इसमें समर्थ हैं। (ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मरूप होते हैं, अतः ऐसा कहना संगत है। तपस्वी ब्राह्मण अनुग्रह-शापादि द्वारा और हविरर्पणादि द्वारा देवताओं के प्रति कारण बनते हैं यह भी स्पष्ट है।) ।२१-२२।। श्रेष्ठ श्रोत्रिय परमात्मवेत्ता

सूर्यशिष्यो भवान् किन्ते कार्यं लोकत्रयेऽस्ति हि। ज्ञानानन्दात्मविज्ञान एषणात्रयवर्जितः।।२६।।

एकं कार्यमहं मन्ये भवतो दीनवत्सल। अस्मिन् संसारपङ्के मां सीदन्तं त्रातुमागतः।।२७।।

अस्थिस्थूणमिमं देहं दुर्गन्धं सुजुगुप्सितम्। अहन्धिया गृहीत्वाऽहं श्ववदत्र व्यवस्थितः।।२८।।

जुगुप्सितशरीरस्थः कृमिकीटसमावृतः। कर्णपुच्छादिविकलो व्याधिभिः परिपूरितः।।२९।।

विष्ठादिग्धं यथा शुष्कमस्थि किञ्चिन्निधाय हि। दन्तपङ्क्तौ परैर्वैरं बलिभिः कुरुते श्वभिः।। ततो दुःखं समाप्नोति प्राणान्तं सुखवर्जितम्।।३०।।

अहमेवं मुने देहं गृहीत्वा राज्यकामुकः। स्थितोस्मि सुखलेशेन वर्जितो दुःखभाजनम्।।३१।।

उद्धर्तुमिच्छव एव भवादृशाः चरन्तीति।।२५।। तत्रापि भवतः सुतरां निष्कामस्य मदुपकारायैवागमनमित्याह—सूर्येति द्वाभ्याम्। भवान् यतः सूर्यशिष्यो ज्ञानानन्दरूपात्मगोचरेण विज्ञानेन अपरोक्षानुभवेन सम्पन्नः, अत एव गतैषणश्च; अतः तव लोके किं कार्यं प्रयोजनमस्ति! न किञ्चिदपि। तथापि मदुद्धरणमेव प्रयोजनम्। इति द्वयोरर्थः।।२६-२७।। संसारदुःखमभिनयति—अस्थीति। अस्थीन्येव स्थूणाभूतानि यत्र एतादृशं दुर्गन्धं देहम् अहम्बुद्ध्या गृहीत्वा श्वेव स्थितोस्मीति।।२८।। श्वदृष्टान्तं स्फुटयति—जुगुप्सितेति द्वाभ्याम्। यथा रुग्णः सकृमिः श्वा असदस्थि दन्तेषु धृत्वा बहुभिः वैरं कुर्वन् महादुःखमाप्नोति—इति द्वयोरर्थः।।२९-३०।। दार्ष्टान्तिके योजयति—अहमिति।।३१।।

सभी प्राणियों के प्रति समान रहते हैं, उनकी बाह्य-आंतर इन्द्रियाँ सर्वथा प्रशान्त हो चुकी होती हैं, वे सभी की प्रसन्नता से सदा प्रसन्न रहते हैं तथा उनके मनमें कोई अपूर्ण संकल्प नहीं रह जाता है। ऐसे महात्मा भी भूमि पर विचरण करते हैं क्योंकि प्राणियों के प्रति अनुग्रह उन्हें प्रेरित करता है। फिर भी वे यह रहस्य प्रकट नहीं करते बल्कि अपने घूमने का कोई और ही बहाना कहा करते हैं। कोई कह देता है 'मैं पशु धान्यादि की अपेक्षा से आया हूँ।' कोई महान् ब्रह्म के निश्चय वाले ब्राह्मण कह देते हैं 'वास्तविकता के निर्णय के लिये हम घूमते हैं।'।।२३-२४।। हे याज्ञवल्क्य! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि आप जैसे ब्रह्मनिष्ठ मुझ जैसे राजाओं का उद्धार करने केलिये पधारते हैं, जो अथाह संसार-समुद्र में डूब रहे हैं।।२५।। विशेषतः आपके बारे में तो यह बात और भी सत्य है। साक्षात् भगवान् सूर्य के आप शिष्य हैं। तीनों लोकों में ऐसा क्या हो सकता है जो आपकी चेष्टा का प्रयोजन हो! ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा के अपरोक्षानुभव से आप सम्पन्न हैं। पुत्र-वित्त-लोक सम्बंधी कोई कामना आपमें है नहीं। अतः वस्तुतः किसी मतलबसे आप भ्रमण करें यह माना ही नहीं जा सकता। दीन-दुःखियों पर वात्सल्य बहाने वाले हे महर्षि! इस संसाररूप दलदल में फँसकर दुःखी होते मेरी रक्षा करना ही वह इकलौता कार्य है जिसके लिये आपने यहाँ आने की कृपा की है।।२६-२७।। हड्डियाँ ही जिसका मूलस्तम्भ है, ऐसे दुर्गन्धयुक्त अत्यन्त घृणित इस शरीर को 'यह मैं हूँ' इस तरह पकड़ कर मैं कुत्ते की तरह मौजूद हूँ! घृणास्पद शरीर में स्थित कुत्ते के हाल जैसा मेरा हाल है। ∵ छोटे-बड़े कीड़े कुत्ते के देह में पड़ जाते हैं। अनेक रोग हो जाने पर उसके कान और पूँछ गल कर गिर जाते हैं। मल से सनी किसी सूखी हड्डी को वह अपने दाँतों में फँसा कर अन्य बलशाली कुत्तों से वैर भी कर बैठता है! इस सब से उसे प्राणान्तक कष्ट ही होता है, सुख तो थोड़ा भी नसीब नहीं होता।।२८-३०।। हे मुनिवर! मैं भी ऐसी ही स्थिति में हूँ। यह क्षत्रिय शरीर ग्रहण कर राज्य की कामना वाला होकर मैं सुखरहित दुःख ही भोगे जा रहा हूँ। रोज़ भूख से पीडित होकर मैं जौ-चावल आदि स्थावर प्राणियों को और जिन्हे खाने से बचना प्रायः असंभव है ऐसे घुन आदि को खा डालता हूँ, जैसे राक्षस लोग पुरुषों को चबा जाते हैं। इस तरह मुझ पर दुतरफा मार है : न खाऊँ तो भूख सताती है और खाने पर दुःख होता है कि मैं राक्षसों जैसा घृणित कार्य कर रहा हूँ।।३१-३२।। श्मशानों में यदि कोई शव जलने से रह जाये तो जैसे उस पर पिशाच टूट पड़ते हैं, ऐसे ही कामना का भूत चढ़ने पर मैं भी (सोती हुई अतः) शवतुल्य नारी के शरीर का भोग

क्षुधया पीडितो नित्यमद्मि भूतान्यहं मुने। स्थावराणि चराण्यत्र पुरुषादो यथा नरान्।।३२।।

कामग्रहसमाविष्टो नारीकुणपमाश्रये। प्रेतं यथा श्मशानेषु पिशाचो दाहवर्जितम्।।३३।।

स्थावराणामहं गात्रं सुगन्धं गन्धलोभतः। घर्षयित्वाऽत्र दुर्गन्धे स्थापयामि कलेवरे। निर्घृणोऽत्र यथा कश्चिद् राक्षसो नरगात्रकम्।।३४।।

अहं हन्मि वृथा जन्तून् मृगयायां विमोहितः। तृणपर्णाशिनः शान्तान् मुनीन् यद्वद्धि राक्षसः।।३५।

तैलकारो यथा तैलं तिलान्निष्पीड्य यन्त्रतः। गृह्णाति तद्वदेवाहं प्रजानां द्रव्यमाददे।।३६।।

नराणां च गजानां च करभाणां च वाजिनाम्। स्कन्धपृष्ठानि बाधेऽहं रोगो यद्वद्धि दुःसहः।।३७।।

अधः स्थितेषु सर्वेषु वर्णिषूच्चासनं भजे। प्रासादशिखरं यद्वत् काकः कर्णोपतापनः।।३८।।

रक्षयाम्यहमत्रस्थं द्रव्यं नानाविधं मुने। महानिधिं यथा सर्पः कोपसंरक्तलोचनः।।३९।।

पुत्रभार्यादिसंसक्तो यथाऽयं ग्रामसूकरः। तथाऽहं मुनिशार्दूल! शोच्यः शोच्यतमोऽधुना।।४०।।

स्वस्य दुःखभाजनतां सर्वव्यवहाराणां दुःखात्मतानिरूपणेन विशदयति—क्षुधयेति नवभिः। अहं क्षुधार्तः सन् स्थावराणि व्रीह्यादिरूपाणि चराणि नान्तरीयकभक्षणानि घुनादीनि, मृगादिरूपाणि वा, अद्मि भक्षयामि, रक्षोवत्। तथा चाभक्षणे क्षुद्दुःखं, भक्षणे तु रक्षःसाम्यलाभो दुःखम्। एवमग्रेऽपि बोध्यम् इति। भोगे परिणामादिदुःखमपि अनुसन्धेयम्।।३२।। कामेति। नारीकुणपं मृतशरीरसमं नारीशरीरम्। प्रेतं मृतशरीरम्।।३३।। स्थावराणामिति। स्थावराणां चन्दनादीनां गात्रं घृष्ट्वा दुर्गन्धे स्वशरीरे स्थापयामि। तत्र दृष्टान्तमाह—निर्घृण इत्यादिना।।३४।।

अहमिति। अत्रापि अहनने मृगयारूपं व्यसनं दुःखं, हनने तु राक्षससाम्यमुक्तमेवेति।।३५।। तैलेति। अत्रापि प्रजाभ्यो द्रव्याऽनादाने लिप्सा दुःखं बोध्यम्। यन्त्रतो यन्त्रेण।।३६।। नराणामिति। करभा उष्ट्राः। नरादीनां स्कन्धान् पृष्ठानि च स्वस्य सोपकरणस्य भारेण बाधे पीडयामि, तत्रोपजातगडुरोगवदित्यर्थः। साम्यं पूर्ववत्।।३७।। अध इति। स्पष्टम्।।३८।। रक्षयामीति। अत्र राज्ये स्थितम्।।३९।। पुत्रेति। शोच्यः तत्त्वविद्भिः—अयमज्ञः कां गतिं गमिष्यति—इत्याकारेण शोचनीयः। क्षुधादिदुःखमालोच्य भोगदशां राक्षसादिसाम्यापादिकामालोच्य तु शोच्यतमः।।४०।। एवं यस्य तत्त्वज्ञानस्य व्यतिरेके निकृष्टैरविशेषः तस्य तत्त्वज्ञानस्योपदेशेन मामुद्धरेत्याशयेनाह

करने के लिये उस पर टूट पड़ता हूँ। (यहाँ भी भोग न करने पर कामना दुःख देती है तथा भोग करने पर पिशाचतुल्य हो जाने का कष्ट होता है।)।।३३।। चंदन आदि वृक्षों का शरीर सुगंधित होता। सुगन्धि के लोभ से मैं उनके उस सुवासित देह को घिस कर अपने दुर्गंधित देह पर चर्चित करता हूँ। कितनी नीचता है! मानो कोई दयारहित राक्षस किसी पुरुषशरीर को रगड़ कर अपने लिये लेप तैयार कर स्वयं को सजाने की कोशिश कर रहा हो!।।३४।। जिस तरह राक्षस शान्त मुनियों की हत्या किया करते हैं, उसी तरह अविवेकग्रस्त हुआ मैं शिकार के प्रसंग में तिनके व पत्ते खाने वाले निरीह पशुओं की व्यर्थ ही हिंसा करता हूँ।।३५।। तेली यन्त्र से तिलों को पेर कर जैसे तेल निकालता है ऐसे ही मैं भी प्रजाओं से कर आदि द्वारा धन ग्रहण करता हूँ।।३६।। मनुष्य, हाथी, ऊँट, घोड़ा आदि के कंधों या पीठों पर चढकर मैं उन्हें कष्ट देता हूँ, मानो उनके कंधे आदि पर कोई असह्य पीडाप्रद गाँठ हो गयी हो!।।३७।। सभा आदि में ब्राह्मणादि नीचे आसनों पर बैठे होते हैं और मैं ऊँचे आसन पर बैठता हूँ जैसे कर्णकटु आवाज वाला कौवा महल के शिखर पर चढ़ कर बैठा हो!।।३८।। राज्यस्थ नानाविध धनादि की मैं उसी तरह रक्षा करता रहता हूँ जिस तरह क्रोध से लाल आँखों वाला साँप किसी महान् खजाने पर पहरा दे रहा हो।।३९।। गाँव में मैला खाने

दुःखत्रयत्रिशाखेऽस्मिन् स्वात्माऽज्ञानसमुत्थिते। संसारशूले पतितं मां पातुं त्वमिहार्हसि।।४१।।

कथयाऽद्य मुने व्याजं किन्त आगमने भवेत्। राज्ञः पशूनवाप्स्यामि बहूनेवमुदीर्य किम्।
इहागतोऽसि सर्वेषां पुरतो द्विजसत्तम।।४२।।

अथवा ज्ञानशुद्ध्यर्थं राज्ञो यास्याम्यहं सभाम्। एवमुक्त्वा समागास्त्वं याज्ञवल्क्य मुनीश्वर।।४३।।

याज्ञवल्क्यवचनम्

एवमुक्ते स राजानम् उभयं त्विति चोक्तवान्। सम्राड्! इति हि सम्बोध्य जनकं मिथिलेश्वरम्।।४४।।

एवमुक्त्वा च तं प्राह पुनरेव मुनीश्वरः। तुभ्यं बुद्धिमते विप्रो यज्ज्ञानं कश्चिदब्रवीत्। तदहं श्रोतुमिच्छामि न चेद् गोप्यं महीपते।।४५।।

एवमुक्तो मुनिं प्राह याज्ञवल्क्यं महीपतिः। स्वात्मने मुनिराहान्यो विज्ञानं यदनेकधा।।४६।।

—दुःखेति। अध्यात्मादिदुःखत्रयमेव त्रिशाखं शाखात्रयं यस्य एतादृशेऽज्ञानरूपलोहजे संसारशूले पतितं मां त्रातुमेवागतोऽसीति।।४१।। एवमागमनाभिप्रायो मया ज्ञात एव। व्याजं तु द्विधा प्रसिद्धं निरूपयेत्याह—कथयेति द्वाभ्याम्। सर्वेषां प्रष्टॄणां पुरतः एवमुदीर्य किमागतोऽसि ? 'एवं' कथम्? राज्ञो बहून् पशूनवाप्स्यामीति।।४२।। द्वितीयं व्याजमभिनयति—अथवेति। ज्ञानशुद्धिः संवादेन निर्णयभावः। समागा आगतोऽसि।।४३।।

एवमिति। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्यो जनकं राजानं हे सम्राड्! इति सम्बोध्य, पशुलाभज्ञानशुद्धिरूपम् उभयं प्रयोजनम् इत्युक्तवान् इत्यर्थः।।४४।। अथ द्वितीयादिषण्णामृचामर्थं सङ्कलय्य दर्शयन् सगुणब्रह्मोपासनं वक्ष्यमाण-निर्गुणविद्यासाधनमिति सूचयति—एवमुक्त्वेति दशभिः। एवम् उभयमित्याकारेण उक्त्वा पुनः एवमुक्तवान्। 'एवं' कथम्? हे महीपते! इतः पूर्वं विप्रो जातावेकवचनं, तुभ्यं विवेकिने यद् यद्यद् ज्ञानम् उपदिष्टवान्, तद् यदि रहस्यं न भवति, तदा श्रावय। श्रुत्वा च पुनरहं वक्ष्यामीत्यर्थः।।४५।।

एवमुक्त इति। एवं पृष्टो राजा स्वस्मै यदनेकधा मुन्यन्तरेण नानासंज्ञकेन यद्यदुपदिष्टं ज्ञानं तद्

वाले सुअर की तरह मैं भी पुत्र-पत्नी आदि में आसक्ति रखकर जी रहा हूँ। हे मुनिवर! आप जैसे तत्त्ववेत्ता मेरे लिये शोक करें यही योग्य है कि 'अरे! इस अज्ञानी की क्या गति होगी!' भूख आदि पीडाका और उसे हटाने केलिये भोग करने पर राक्षसादि के समान बनने का विचार करने पर तो लगता है कि मुझसे ज़्यादा शोक के योग्य कोई है ही नहीं।।४०।। निज स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न इस संसाररूप त्रिशूल की तीन नोकें त्रिविध ताप ही हैं। इस सूली पर चढ़े मेरी रक्षा आप अवश्य करने की कृपा करें।।४१।। हे मुनि! इस तरह आपके आने का अभिप्राय तो मैं समझता ही हूँ कि मुझ-सरीखों के कल्याणार्थ ही आप आये हैं। लेकिन आप जिस बहाने से पधारे हैं वह बतावें। हे ब्राह्मणोत्तम! अपने शिष्यादिकों के सामने क्या आप यह घोषित करके आये हैं कि 'राजा से बहुतेरे पशु प्राप्त करूँगा', या यह कहकर आये हैं कि 'राजा की सभा में इसलिये जा रहा हूँ ताकि विद्वानों से संवाद द्वारा तत्त्वविषयक निर्णय पर पहुँचा जाये।'।।४२-४३।।

राजा ने जब इस तरह स्वागतपूर्वक जिज्ञासा की तब महर्षि ने मिथिलानरेश जनक को 'सम्राट्!' यों सम्बोधित कर कहा 'पशु-प्राप्ति और तत्त्व-निर्णय दोनों को ही बहाना बनाकर मैं यहाँ आया हूँ। तुम विवेकशील हो, अब तक जिस-किसी ब्राह्मण ने तुम्हें जो कोई ज्ञान दिया है वह यदि रहस्यभूत न हो तो मुझे बताओ, मैं सुनना चाहता हूँ। (सुनने के बाद जो मुझे समझाना उचित लगेगा वह मैं तुम्हें बताऊँगा।)।।४४-४५।।

राजा षड्ब्रह्मरूपाण्याह

जित्वा शैलिनिनामा यस्तद्वत् शौल्बायनः पुनः। उदङ्काख्यस्तथा वर्कुर्वार्ष्णिस्तद्वत् परो मुनिः।।४७

गर्दभीविपीतसंज्ञो भारद्वाज इतीरितः। जाबालः सत्यकामश्च विदग्धो यो मृतोऽधुना।।४८।।

एते वै मुनयो विप्र! षड् ब्रह्माण्यवदन् हि मे। वाग्-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि मनो हृदयमेव च।।४९।

उक्तरूपाणां पादत्रयम्

इत्युक्ते तान् प्रशस्यासौ एकपात्त्वेन षट्स्वपि। न्यूनतामभिधायात्र पादत्रयमथाऽब्रवीत्।।५०।।

प्रत्येकमाश्रयं तद्वत् सर्वाश्रयमथापरम्। षट्सूपनिषदः प्राह याज्ञवल्क्यः फलैः समम्।।५१।।

याज्ञवल्क्याय आह श्रावयामास।।४६।। पूर्वोपदेष्टृणामृषीणां षण्णां नामान्याह—जित्वेति। जित्वा नाम्ना, शिलिनसंज्ञकापत्यतया शैलिनसंज्ञकश्च प्रथमः। शुल्बसंज्ञकस्य युवाऽपत्यम् उदङ्कसंज्ञो द्वितीयः। वृष्णेरपत्यं वर्कुसंज्ञस्तृतीयः। भारद्वाजगोत्रो गर्दभीविपीतसंज्ञश्चतुर्थः। जबालायाः पुत्रः सत्यकामः पञ्चमः। विदग्धः शाकल्यः षष्ठ इति द्वयोरर्थः।।४७-४८।। एत इति। हे विप्र! एते वर्णितनामकाः षट्, षड् ब्रह्माणि सगुणब्रह्मणो रूपाणि वागाद्यात्मकानि अवदन् उक्तवन्तः इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—वागादिशब्दाः क्रमेण देवतानाम् अग्नि-वायु-सूर्य-दिक्-चन्द्र-प्रजापतीनां लक्षकाः। उपासनं च सर्वेषां समुच्चयेनैव, 'देवान् प्राप्नोति'[1] इति बहुदेवभावप्राप्तेः फलस्योक्तेरिति।।४९।।

इत्युक्त इति। इत्युक्ते सति असौ याज्ञवल्क्यः तान् वागादिदेवान् सर्वजगन्निर्वाहकत्वेन उपास्यत्वाय प्रशस्य, तावतैव संतोषवारणाय तेषु एकपात्त्वेन पादहीनत्वेन शैलिनिप्रभृतीनामुपदेशेषु न्यूनताम् उक्त्वा, अथ शैलिन्याद्यैरनुक्तं प्रत्येकं पादत्रयम् उक्तवानित्यर्थः।।५०।। वागादिदेवतारूप एको पादो दर्शितः। एवं शिष्टं पादत्रयं दर्शयति—प्रत्येकमाश्रयमिति। प्रथमपादरूपाणां वागादिदेवतानाम् आश्रयं कारणत्वेनाधारभूतं वागाद्याध्यात्मिकमिन्द्रियं द्वितीयपादत्वेनोक्तवान्। अथ अपरं तृतीयं पादं तु सर्वाश्रयम् अव्याकृताकाशादिपदैः प्रसिद्धम् अत्र श्रुतौ प्रतिष्ठापदेनोक्तम् उक्तवान्। चतुर्थः पादस्तूपनिषद्रूपः। उपनिषत्पदेनात्र रहस्यं नामोच्यते। तानि च वागादिनामानि क्रमेण प्रज्ञा, प्रियं, सत्यम्, अनन्तम्, आनन्दः, स्थितिः इत्याकाराणि बोध्यानि। तदुपासनफलानि च श्रुतावुक्तानि। अत्र प्रथमपादचिन्तने हिरण्यगर्भस्य स्मृतिः, द्वितीये विराजः, तृतीय ईश्वरस्य, चतुर्थे तुरीयस्य, इति प्रयोजनमपि बोध्यम् इति।।५१।।

मुनि द्वारा यों पूछे जाने पर जनक ने उन्हें वह नाना प्रकार का विज्ञान (विशिष्ट ब्रह्म सम्बद्ध उपासना) सुनाया जो अन्य मुनियों ने पूर्व में राजा को सिखाया था।।४६।। राजा ने बताया कि उसे छह श्रेष्ठ मुनियों ने विद्या दी थी। छहों के नाम थे—जित्वा शैलिनि, शौल्बायन उदङ्क, वर्कु वार्ष्णि, गर्दभीविपीत भारद्वाज, सत्यकाम जाबाल और अभी-अभी जिसके मरने का प्रसंग आया वह विदग्ध शाकल्य। राजा ने कहा 'हे विप्र! इन मुनियों ने मुझे छह ब्रह्म—सगुण ब्रह्म के छह रूप—बताये। वे रूप हैं—वाक्, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय। (वागादि से अधिदैवरूप समझने चाहिये—अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, चंद्र और प्रजापति।)।।४७-४६।।

राजा ने जब अपनी जानकारी व्यक्त की तो मुनि ने उपदेष्टाओं की भी प्रशंसा की और उपास्यदेवताओं की भी प्रशंसा की कि वे जगत् का निर्वाह करते हैं। महर्षि ने छहों उपदेशों के बारे में कहा कि वे चौथाई हिस्से का ही

१. प्रत्येकं पर्याये 'देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वान् एतद् उपास्त' इत्युक्तम्।

मुनिर्दक्षिणां न गृह्णाति

एकैकस्मिन्नभिहिते चतुष्पादि महात्मना। ब्रह्मण्युवाच राजाऽमुं दातुं स गुरुदक्षिणाम्।।५२।।

यस्मिन् हस्तिसमानोऽस्ति वृषभस्तत्सहस्रकम्। तरुणीनां गवां तेऽहं दास्यामि गुरुदक्षिणाम्।।५३।।

षड्वारमेवमुक्तोऽपि प्रत्युवाच मुनीश्वरः। षड्वारं नाऽकृतार्थस्य शिष्यस्य गुरुदक्षिणा। स्वीकार्या भवतीत्येवं पिता मामुपदिष्टवान्।।५४।।

एकैकस्मिन्निति। एवं वागादिरूपैः चतुष्पादि पादचतुष्टयशालिनि ब्रह्मणि षड्वारं महात्मना याज्ञवल्क्येनोक्ते सति स जनको गुरुदक्षिणां दातुम् एवम् उवाच। 'एवं' कथम्? हस्तिसमानऋषभयुक्तं गोसहस्रं ते गुरुदक्षिणां ददामीति द्वयोरर्थः।।५२।। षड्वारमिति। एवं गुरुदक्षिणावाक्यं षड्वारमुक्तो याज्ञवल्क्यो मुनिः षड्वारम् एवैवमाह। 'एवं' कथम्? यावच्छिष्यः कृतार्थो न भवति तावद् गुरुदक्षिणा न ग्राह्येति पितुरुपदेशमनुसृत्य न गृह्णामीति। एतेन—उपासनामात्रज्ञानेन कृतार्थता न भवतीति—सूचितम्।।५४।।

उपदेश हैं! यों पूर्वोपदेशों में कमी बताने पर राजा की प्रार्थना पर याज्ञवल्क्य ने छहों विज्ञानों के बाकी तीन चरणों का रहस्य भी प्रकट किया। हर देवता का आश्रय बताया, सबके आश्रय का उल्लेख किया और छहों के उपनिषद् अर्थात् उपासनीय रहस्यभूत नाम भी बताये। इससे अतिरिक्त, उपास्तिफल का भी वर्णन किया। इसका संक्षेप इस प्रकार हैः

	उपदेष्टा	देवता	आश्रय (शरीर)	प्रतिष्ठा (त्रैकालिक आश्रय)	उपनिषत्	फल
१	जित्वा शैलिनि	अग्नि	वाक्	आकाश (अव्याकृत)	प्रज्ञा	वाक् छोड़ती नहीं, सब भूत बलि देते हैं, देवभावप्राप्ति।
२	शौल्बायन उदङ्क	वायु	घ्राण	,,	प्रिय	घ्राण छोड़ता नहीं, ,, ,,
३	वर्कु वार्ष्णि	सूर्य	चक्षु	,,	सत्य	चक्षु छोड़ती नहीं, ,, ,,
४	गर्दभीविपीत भारद्वाज	दिक्	श्रोत्र	,,	अनंत	श्रोत्र छोड़ता नहीं, ,, ,,
५	सत्यकाम जाबाल	चंद्र	मन	,,	आनंद	मन छोड़ता नहीं, ,, ,,
६	विदग्ध शाकल्य	प्रजापति	हृदय	,,	स्थिति	हृदय छोड़ता नहीं, ,, ,,

(हृदयके विश्लेषणार्थ पूर्वाध्याय के शाकल्यप्रश्न का अनुसंधान कर लेना चाहिये। यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि प्रथम पाद का—देवताओं का—चिन्तन करने से हिरण्यगर्भ का स्मरण होता है, द्वितीय पाद के चिंतनसे विराट् की स्मृति होती है, तीसरे के चिंतनसे ईश्वर की और चौथे—रहस्यनाम—के चिन्तन से तुरीय की याद आती है। तत्त्वज्ञान के प्रसंग में उपस्थापन का प्रयोजन भी यों सर्वानुगत तुरीय का अनुस्मरण ही है।)।।५०-५१।।

हर बार जब महात्मा याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म के तीन चरणों का उपदेश दिया तब राजा ने उन्हें गुरुदक्षिणा भेंट करने की पेशकश की। नवप्रसूता एक हजार गायें और एक हाथी-सा तगड़ा साँड—यह दक्षिणा हर पर्याय पर राजा देना चाहता था। किन्तु छहों बार राजा ने जब निवेदन किया तब मुनीश्वर ने एक ही जवाब दिया, 'मेरे पिता ने मुझे उपेदश दिया था कि जब तक शिष्य कृतार्थ न हो जाये, उसका यह भ्रम मिट न जाये कि अभी कोई प्रयोजन साधना बचा है, तब तक उससे गुरुदक्षिणा न लेना।' (इससे सूचित किया कि केवल उपासना के ज्ञान से, अनुष्ठानसे, कृतकृत्यता नहीं हो जाती।)।।५२-५४।।

राजा जनक ने मुनीश्वर याज्ञवल्क्य को यों निर्लोभ और अपने पर इतना कृपालु देखा तो अत्यंत आश्चर्य और

अथ कूर्चब्राह्मणम्

एवं तं लोभरहितं याज्ञवल्क्यं मुनीश्वरम्। निरीक्ष्यानुग्रहकरं स्वस्य राजातिविस्मितः।।५५।।

सिंहासनं परित्यज्य भूमौ स्थित्वा कृताञ्जलिः। दण्डवत् प्रणतो भूत्वा मुनिमेतदभाषत।।५६।।

राजाऽप्राक्षीत्

याज्ञवल्क्य! मुने! नित्यं नमस्तेऽस्तु महामुने। मामन्धसदृशं शाधि मार्गमावृत्तिवर्जितम्।।
पृच्छन्तमज्ञं पतितं घोरे संसारकानने।।५७।।

कन्दर्पसर्पसंवीते नारीगर्तसमाकुले। अनेककरणग्रामवृककोटिनिषेविते।।५८।।

अहङ्कारमहासिंहनादपूर्णदिगन्तरे। क्रोधाग्नवह्निनिर्दग्धसर्वशाद्वलपादपे।।५९।।

मनःकौलेयकं हस्ते गृहीत्वा मृत्युलुब्धकः। काले धनुषि सन्धाय जराव्याध्यादिकान् शरान्।
मुक्त्वाऽत्र बाधते सर्वान् जन्तून् काननवासिनः।।६०।।

यावत् प्राणहरो बाणो मम नायाति तावता। शाधि शीघ्रं विलम्बस्य नायं कालो मुनीश्वर!।।६१।।

एवमात्मज्ञाने चित्तैकाग्र्यद्वारोपकारकोपासनपरस्य प्रथमब्राह्मणस्यार्थं प्रदर्श्य, द्वितीयस्य विस्तरेणार्थमुपबृंहयंस्तत्र प्रथमकण्डिकाया अधिकारिलक्षणपराया अर्थं निरूपयति—एवं तमिति पञ्चत्रिंशच्छ्लोकैः। एवं निर्लोभं स्वस्यानुग्रहकरं च मुनिं वीक्ष्य अतिचकितो राजा यस्य ज्ञानेन कृतार्थता भवति तज्जिज्ञासमानः, श्रुतौ कूर्चपदोक्त-सिंहासनं त्यक्त्वा दण्डवत् प्रणम्य एतद् वक्ष्यमाणं वच आहेति द्वयोरन्वयः।।५५-५६।। राज्ञो जिज्ञासा-वाक्यमभिनयति—याज्ञवल्क्येति पञ्चभिः। हे मुने! तुभ्यं नमोऽस्तु। माम् अन्धं संसारकाननपतितं मार्गं पृच्छन्तं च प्रति मार्गं शाधि[1] शिक्षयेति।।५७।। संसारस्योग्रकाननसाम्यं विशेषणैः स्फुटयति—कन्दर्पेति द्वाभ्याम्। कन्दर्प एव सर्पस्तेन नानारूपेण व्याप्ते। नार्य एव गर्तास्तैर्दुर्गमे। इन्द्रियरूपैः वृकैर्जुष्टे। अहङ्कारसिंहेन शब्दिते। क्रोध एवाग्नेयास्त्रवह्निः तेन निर्दग्धाः चित्तभूमिरूपशाद्वलदेशो गुणरूपाः पादपाश्च यत्र। एतादृशे संसारकानन इति द्वयोरर्थः।।५८-५९।। तत्र परमभयप्रदं मृत्युं व्याधत्वेन निरूपयति—मन इति। मनोरूपः श्वा यस्याधीन एतादृशो मृत्युरूपो व्याधः, क्षणलवाद्यात्मककालरूपे धनुषि जराव्याध्यादिरूपान् शरान् सन्धाय मुञ्चन् जन्तून् मृगान् निघ्नन् क्रीडति। तस्य च बाणो मदभिमुखं यावद् नायाति तावत् त्वरितं शाधि इति द्वयोरर्थः।।६०-६१।।

विनय से भर गया। वह अपने सिंहासन से उतर गया तथा उसने महामुनि को भूमि पर लेट कर अंजलि बाँधे दण्डवत् प्रणाम कर यह प्रार्थना की : 'हे याज्ञवल्क्य! हे मननकुशल हे मुनिश्रेष्ठ! आपको हमेशा प्रणाम हो। मैं अज्ञानी हूँ, इस संसाररूप घोर जंगल में आ गिरा हूँ और अंधे जैसा हूँ। मैं आपसे श्रद्धापूर्वक पूछ रहा हूँ, मुझे ऐसे मार्ग की शिक्षा दीजिये जिस पर चलूँ तो इस संसारजंगल में पुनः लौटना न पड़े।।५५-५७।। इस जंगल में कामदेव वह साँप है जो इसे तरह-तरह से घेरे हुए है। इसमें संचरण बहुत मुश्किल है क्योंकि कदम-कदम पर नारीरूप गड्ढे हैं। अनेक इंद्रिय-समूह रूप भेड़िये इस वन का सेवन करते हैं। इसकी दिशाएँ अहंकाररूप महासिंह की दहाड़ों से गूँजती रहती हैं। क्रोध ही आग्नेय-अस्त्र की वह्नि है, जो चित्तभूमिरूप हरी-भरी ज़मीन को सुखा डालती है और सद्गुणरूप पेड़ों को जला डालती है।।५८-५९।। इस भीषण जंगल में परम भयप्रद व्याधा है मृत्यु! वह जिस कुत्ते की डोरी अपने हाथ में लिये है वह

१. 'ॐ जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच 'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य! अनु मा शाधि' इति। स होवाच 'यथा वै सम्राड्! महान्तमध्वानम् एष्यन् रथं वा नावं वा समाददीत एवमेव एताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मासि। एवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसि?' इति। 'नाहं तद् भगवन् वेद यत्र गमिष्यामि' इति। 'अथ वै तेऽहं तद् वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसि' इति। 'ब्रवीतु भगवान्' इति।'

एवमुक्ते कृपाविष्टो दयालुः स निसर्गतः। याज्ञवल्क्यस्तमाहेदं राजानमधिकारिणम्।।६२।।

मुनिर्गन्तव्यं पृच्छति

मार्गोऽत्र भवता पृष्टः शक्यो वक्तुं मया न हि। अविज्ञाय हि गन्तव्यं यत् स्यादभिमतं तव।।६३।।

राजन्! जनो यथा गच्छन् दूरं मार्गं स्थले जले। आददीत रथं नावं तथोपनिषदो भवान्।।६४।।

प्रज्ञाप्रिये तथा सत्यमनन्तानन्दकौ स्थितिः।[1] रथनौसदृशश्चैताः सर्वोपनिषदस्तव।।६५।।

आढ्य एता गृहीत्वा त्वं लोके सुरवदर्चितः। अधीतवेदो विज्ञातरहस्यो धीधनो[2] महान्।।६६।।

इतः शरीरतो मुक्त्वा शरीरं कुत्र यास्यसि। तत् त्वं कथय गन्तव्यं पश्चान्मार्गं वदाम्यहम्।।६७।।

एवमुक्त इति। एवम् उक्तः प्रार्थितो निसर्गतः स्वभावेन दयालुत्वात् कृपाव्याप्तचित्तो राजानमधिकारिणं परीक्षमाण इदं वक्ष्यमाणं वच आह इति। यद्ययं कुतर्कादिना पृच्छति तदा श्रद्धामान्द्याद् नाधिकारिता। यदा तु अज्ञानात् तदा श्रद्धोत्कर्षादुत्तमः—इत्याशयो मुनेरिति बोध्यम्।।६२।। मुनिवाक्यमभिनयति—मार्ग इति सप्तभिः। हे राजन्! भवता पृष्टो मार्गः तावद् वक्तुं न शक्यते यावत् त्वदिष्टं गन्तव्यं न ज्ञायते। तस्मात् त्वमादौ स्वाभिमतं गन्तव्यं निरूपयेति भावः।।६३।। त्वया विज्ञातानि कर्माणि उपासनानि च सत्त्वशुद्धिद्वारा कस्यचिद् गन्तव्यस्य प्राप्तिसाधनानि एव, तैः प्राप्यं जानासि चेद् वदेत्याह—राजन्निति चतुर्भिः। हे राजन्! यथा दूरं मार्गं गच्छन् जनः स्थले रथं जले नावं च गतिसाधनतया आददीत गृह्णीयात् तथा भवान् उपनिषदो रहस्यानि नामानि तदुपलक्षितानि उपासनानीति यावद्, उपाददातीति सम्बन्धः।।६४।। वागादिषड् ब्रह्मणां नामानि दर्शयति—प्रज्ञेति। इष्टप्राप्तिसाधनत्वेन रथनौभ्यां सदृशः तुल्याः तवैता इति।।६५।। आढ्य इति। एतैः साधनैः आढ्यः सम्पन्नः, अत एव दैवसम्पच्छालित्वाद् देववन्मान्यः। अधीतो वेदः पूर्वकाण्डरूपो येन; नाना ऋषिभ्यो ज्ञातानि रहस्यानि उपासनानि येन स तथा। महामतिः महत्त्वेन लोके प्रसिद्धश्च। एतादृशः त्वम् इतः शरीरत इत्यस्यार्थः—इदं शरीरं मुक्त्वा कुत्र यास्यसि इति कथय। तत् श्रुत्वा मार्गो मया सम्यग् वक्तव्य इति द्वयोरर्थः।।६६-६७।। गन्तव्याज्ञाने तु

कुत्ता मेरा मन ही है। काल उसका धनुष है, बुढ़ापा, बीमारी आदि उसके बाण हैं। जंगली सभी जन्तुओं को वही मारता फिरता है। मेरे प्राण लेने वाला बाण जब तक नहीं छूट जाता तब तक शीघ्र मुझे उपदेश दे दीजिये। हे मुनीश्वर! देर करने का मौका नहीं है।' (मन मृत्यु के निर्देश को टाल नहीं पाता, जैसे ही आज्ञा मिलती है 'निकलो', वैसे ही वह न चाहकर भी तुरंत शरीर छोड़ देता है इसलिये मृत्यु का मानो पालतू कुत्ता है।)।।६०-६१।।

इस प्रकार पूछे जाने पर स्वभावतः कृपालु याज्ञवल्क्य को और भी अधिक कृपा का उद्रेक हुआ और अधिकारी रूप से निश्चित उस राजा से उन्होंने यह कहा : हे राजन्! आपने मार्ग पूछा है लेकिन आपने जिस गन्तव्यका निर्णय किया है उसे जाने बिना मैं मार्ग बता ही नहीं सकता। अतः पहले मुझे अपना गंतव्य बताओ। तुमने जिन कर्म-उपासनाओं को समझा और किया है वे अवश्य मनोनैर्मल्य द्वारा किसी गंतव्य पर पहुँचाने वाले उपाय हैं। उनसे क्या प्राप्य है यह जानते हो तो बताओ। कोई व्यक्ति लम्बे रास्ते जाना हो तो ज़मीन की यात्राके लिये रथादि, जल की यात्रा केलिये नौका आदि वाहन की व्यवस्था रखता है। इसी प्रकार तुमने उपासनायें अनुष्ठित कर रखी हैं जिनके सहारे तुम इस संसार से आगे की यात्रा करोगे। ब्रह्मके जिन छह रूपों की अभी चर्चा हुई वे प्रज्ञा, प्रिय, सत्य, अनन्त,

१. प्रज्ञा वाक्, प्रियं प्राणम्, सत्यं चक्षुः, अनन्तं श्रोत्रम्, आनन्दो मनः, स्थितिः हृदयमिति भावः। २. 'विज्ञातरहस्योऽसि महामतिः' इति सम्भाव्यते टीकाकृत्पाठः।

एष पन्था विदेहानां कोशलानामयं तथा। आनर्तानामयं तद्वत् त्रिगर्तानामयं[1] परः।।६८।।

इत्यादिकथने यद्वद् दिङ्मात्रमिह कथ्यते। गन्तव्याज्ञानतस्तस्मादुक्तं नोक्तसमं तथा। तथा मा भवताद् राजंस्ततो गन्तव्यमीरय।।६९।।

राज्ञस्तदबोधः

इत्युक्ते याज्ञवल्क्येन राजा तं प्राह धर्मवित्। नाहं जानामि गन्तव्यं स्वात्मनापि परेण च।।७०।।

भगवंस्तत्र यद्वत् सन्नन्धो वैदेशिको वने। दिङ्मूढः क्षुत्पिपासार्तो वृद्धो विस्मृतिमागतः।।७१।।

पृच्छन्नशेषगन्तव्यमार्गं[2] ज्ञानविवर्जितः। दयापरं हि देशानां मर्मज्ञं कञ्चनातुरः।। भवेत् तादृगहं ब्रह्मन् पृच्छामि त्वां मुनीश्वर।।७२।।

अनेकधा दिङ्मात्रेण मार्गाभिधानं व्यर्थमिति लौकिकदृष्टान्तेनाह—एष इति। यथा विदेहादिदेशानां दिङ्मात्रेण उक्तोऽपि मार्गोऽनुक्तसमः, विशेषाज्ञानेन विशेषानभिधानात्, तथा माऽस्तु। इत्यतः गन्तव्यं निरूपयेति द्वयोः सम्बन्धः।।६८-६९।।

एवमुक्तो राजा स्वस्य दृढां जिज्ञासां श्रद्धां चावेदयन्नाह—इत्युक्त इति द्वादशभिः। मया वा परेण वाऽधिकारिणा यद् गन्तव्यं साधनैः तत्त्वं, तदहं न जानामीति।।७०।। आत्मतत्त्वे स्वस्यात्यन्तमज्ञतां दर्शयितुं दृष्टान्तमाह—भगवन्निति। हे भगवन्! तत्र सर्पादिव्याप्तत्वेन प्रसिद्धे वने; एतादृशः अन्धो यथा भवेत् तादृगहं पृच्छामि इति द्वितीयेन सम्बन्धः। वैदेशिकः विकटदेशे वर्तमानः। दिङ्मूढः दिग्भ्रान्तः। दयापरं, देशवृत्तज्ञं पृच्छन्नातुरः चेति

आनंद और स्थिति नामों से सम्बद्ध हैं और उनकी उपासना रथ, नाव आदि यानके तुल्य है। इन उपासनाओं से तुम संपन्न हो, लोक में देवता जैसे अर्चित हो, वेद पढ़े हुए हो, विविध उपासनाओं से परिचित हो, ज्ञान को धनरूप से एकत्र आदि करने में रुचि रखते हो, अतः वस्तुतः महान् ही हो। इतने विचारशील हो इसीलिये पूछ रहा हूँ—इस शरीर को छोड़ने पर कहाँ जाओगे? तुम्हारा गन्तव्य क्या है? यह बताओ, तब मैं मार्ग भी स्पष्ट कर दूँगा। यदि किसी गंतव्य को निश्चित किये बिना यों ही कहा जाये—यह रास्ता विदेह देश को जाता है, यह कोशल राज्य की ओर जाता है, यह आनर्त (गुजरात) देश का मार्ग है, यह त्रिगर्त का रास्ता है—तो यों दिशा का निर्देश कर देने पर भी मार्ग नहीं कहा जैसा ही रह जाता है। हे राजन्! यदि तुम्हारे गन्तव्य को जाने बिना मैं भी मार्गनिरूपण करने लगूँ तो ऐसा ही हाल होगा! यों न हो इसलिये तुम जहाँ जाना चाहते हो वह बताओ, उसी के रास्ते का विस्तृत वर्णन कर दूँगा ताकि तुम बेखटके उस पर चलते रह सको और मंज़िल तक आरामसे पहुँच जाओ।।६२-६९।।

महर्षि ने जब यों गंतव्य पूछा तब जनक ने अपने अज्ञान का प्रकाशन किया ताकि स्पष्ट हो कि वह किसी परीक्षार्थ या कुतर्कादि से नहीं पूछ रहा वरन् श्रद्धापूर्वक जिज्ञासा से पूछ रहा है। राजा ने कहा—हे गुरो! मुझे न अपने ही गंतव्य का पता है और न यह मालूम है कि कोई भी अधिकारी किस गंतव्य को प्राप्त करता है।।७०।। हे भगवन्! मेरा हाल ऐसे अंधे का है जो अपने देश से विस्थापित होकर परदेश में जंगली जानवरों से घिरे जंगल में भटक गया हो, दिशाओं की जानकारी उसे हो न पा रही हो, दिशाओं को उल्टा-पुल्टा समझ रहा हो, भूख-प्यास से पीडित हो और बुड्ढा होने से कुछ भी याद न कर पा रहा हो! ऐसा आतुर कुछ भी नहीं जानता, 'कहाँ से आया हूँ? कहाँ मेरा गाँव है?' यह भी उसे याद नहीं, अतः विविध देशों के जानकार किसी दयालु को पाकर वह सभी देशों के समूचे मार्ग पूछता जाता है। (सब देशों का उल्लेख होगा तो उसकी जन्मभूमि भी कही जायेगी जिसे सुनने पर उसे स्मृति होना सहज है

१. पटियाला-लुधियानाभ्यां दक्षिणदिशि विद्यमानो मरुदेशः त्रिगर्तः। २. गन्तव्यस्याऽशेषं संपूर्णं मार्गमित्यर्थः, अंधादितया स्वतो न कोऽपि विशेषो ज्ञायेत।

आगतोऽस्मि कुतो ब्रह्मन् जानाम्येतदपीह न। अनुभूतं स्वयं केन जाने नागंतमात्मनः।।७३।।
गन्तव्यमपि कोऽहं स्याम् जाने नेदमपि प्रभो। सुखदुःखे तथा हेतूंस्तयोरप्याप्नुवन् सदा।।७४।।
दुःखमेकं सदा जाने बाल्यादारभ्य सर्वतः। कस्य तत् केन वा कीदृग् जानामीत्यपि नैव भो।।७५।।
महाग्नौ पतितो यद्वत् पतङ्गो मृतिवर्जितः। वायुना भ्राम्यमाणः सन् दुःखमेवावगच्छति।।७६।।
नात्मानं न परं वापि न दुःखस्यापि कारणम्। प्रकारं वापि जानाति दुःखमूर्तिरिव स्थितः।।७७।।
एवमेवात्र संसारे नाहं जानामि किञ्चन। क्लेशमेकं विजानामि प्रकाररहितं सदा। अहमेतादृशो मूढो गन्तव्यं केन वेद्मि भो।।७८।।

अन्धविशेषणानि।।७१-७२।।राजा स्वाऽविद्यामेवाभिनयति—आगतोऽस्मीत्यादिना। कुतः सिन्धुतुल्याल्लवणखिल्यतुल्य आगतोऽस्मि इति एतद् न जानामि इति[१]सुषुप्त्याद्यवस्थागतात्मस्वरूपाऽबोधो दर्शितः। तथा यत् स्वयमनुभूतम् अतीतमिति यावद्; आगतम् उदितं वर्तमानम्; गन्तव्यं भविष्यदिति प्रसिद्धम्; एतत् त्रयम् आत्मनः केन धर्मेण वा स्वरूपेण वा जाने—इत्येतदपि न जानामीति [२]जाग्रदादिगतात्मस्वरूपाऽबोधो दर्शितः। अहं को वस्तुतः किंस्वरूपः स्यां भवेयमिति शुद्धात्मस्वरूपाबोधो दर्शितः। तथा सुखदुःखे आप्नुवन् भुञ्जानः अपि तयोः सुखदुःखयोः हेतून् उत्पत्तिज्ञप्तिप्रयोजकान् न जान इति संसारनिमित्तानामबोधो दर्शितः। इति द्वयोरर्थः।।७३-७४।।

तर्हि त्वं किं जानासीति चेद्? दुःखमेव, विवेकिदृष्ट्या सर्वसंसारस्य दुःखरूपत्वादित्याह—दुःखमेवेति। अहं सर्वावस्थासु दुःखम् एव जानामि। परन्तु दुःखस्य भोक्तृत्वेन सम्बन्धिनं हेतुं विशेषं च न जानामि इत्यर्थः।।७५।। दुःखमात्रावगतौ दृष्टान्तमाह—महाग्नाविति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।७६-७७।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमेवेति।

और तब मार्ग पता चल जायेगा। किं च उससे बात-चीत होगी तो दयालु भी उसके देशादि के बारे में कुछ-न-कुछ समझ जायेगा और अपनी ही ओर से उसे किसी सही सरल रास्ते पर भेज देगा—यह भाव है)।।७१-७२।। हे ब्राह्मणदेवता! मुझे यह भी नहीं पता कि मैं आया कहाँ से हूँ। (गहरी नींद या प्रलय में जहाँ जाकर लौटता हूँ उसका मुझे कुछ पता नहीं।) खुद जो अनुभव कर चुका हूँ, उपस्थित जिस अनुभव को कर रहा हूँ तथा आगे जो अनुभव करूँगा—तीनों ही अनुभव आत्मा के किस वैशिष्ट्य या स्वरूप से होते हैं इससे भी मैं बेखबर हूँ। (जगा और सपने देखते हुए मैं वस्तुतः कैसा हूँ इसकी भी मुझे जानकारी नहीं।) जब विशिष्टरूपों को ही नहीं जानता तब वास्तव में किस स्वरूप वाला हूँ यह कैसे जानूँगा! मैं सुख-दुःख भोग रहा हूँ लेकिन क्यों वे उत्पन्न होते हैं, क्यों मुझे उनका अनुभव होता है इसकी मुझे जानकारी नहीं, मेरे संसरणका क्या निमित्त है यह मुझे अज्ञात ही है।।७३-७४।। हे महर्षि! बचपन से आज तक मैं केवल एक दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। वह भी किसे, किससे, कैसे होता है, इससे मैं सर्वथा अपरिचित हूँ! कोई महान् आग जली हो, जंगल जल रहा हो, उसमें कोई पतंगा फँस जाये पर जले नहीं और हवासे बार-बार ज्वालाओं में पड़ता रहे तो जैसे उसे दुःखातिरिक्त कुछ पता नहीं चलता, न वह खुद को याद रख पाता है, न और किसी पशु-पक्षी की ओर उसका ध्यान जाता है, दुःखका कारण क्या है यह भी समझने की उसे फुर्सत नहीं रहती, दुःख किस तरह का है यह विश्लेषण वह कर सके यह सर्वथा नामुमकिन है, वह तो दुःखका मानो एक मूर्तिमान् रूप ही हो जाता है; ऐसे ही मैं इस संसार में कुछ नहीं जानता, क्लेश ही मेरे अनुभव में आ रहा है, यहाँ तक कि उस क्लेश के प्रकार भी मैं विविक्तकर नहीं जान सक रहा हूँ! ऐसा मूर्ख मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि मुझे जाना कहाँ है? इस संसार से परे क्या है जो मेरे लिये प्राप्तव्य है? हे भगवन्! अगर मुझे गन्तव्य पता होता तो उस तक पहुँचने का रास्ता भी मैं जान ही लेता! जिस यात्री को गन्तव्य की सही जानकारी होती है वह अन्य राहगीरों से पूछ-पूछ कर वहाँ पहुँच

१. सुषुप्त्यादीत्यादिना मृत्युर्ग्राह्यः। २. जाग्रदादीति स्वप्न आदिपदार्थः।

अपि गन्तव्यविज्ञाने मार्गोऽपि सुशको भवेत्। ज्ञातुं यथैव पान्थानां पथिकेभ्यः समन्ततः।।७९।।

शरीराद् निर्गतः को वा कथं वाऽत्र गमिष्यति। किं वा तदत्र को वेद पुमानर्थमतीन्द्रियम्।।८०।।

अत एव तु पृच्छामि सूर्यशिष्यं महाधियम्। भगवन्तं महात्मानम् इहामुत्रार्थकोविदम्।।८१।।

प्रश्नद्वैरूप्यवर्णनम्

जनकेनैवमुक्तस्तं याज्ञवल्क्योऽप्युवाच ह। अहं वक्ष्यामि गन्तव्यं तव मा भूद् भयं नृप।।८२।।

गन्तव्यं यन्मया पृष्टं तत्र वक्ष्यामि कारणम्। भवते धर्मयुक्ताय वदान्याय महीभुजे।।८३।।

लोके स्याद् द्विविधः प्रश्नोऽजानतो जानतोऽपि वा। गन्तव्यस्य यदा ज्ञानात् तदापि द्विविधो भवेत्। संवादार्थं भवेत् क्वापि सन्देहाद् वा विपर्ययात्।।८४।।

फलितमाह—अहमेतादृश इति।।७८।। किञ्च यद्यहं जानीयाम्, तदा तन्मार्गमपि जानीयामेव! दृश्यन्ते हि इष्टगन्तव्यमार्गं पथिकेभ्यो जानन्तः। तथा च मार्गप्रश्नभङ्ग्या मया गन्तव्यमेव भवते पृष्टमित्याह—अपीति। ज्ञातुं सुशकः शक्य इति सम्बन्धः।।७९।। तिष्ठतु मुक्तोपसृप्यस्य परमगन्तव्यस्य दुर्ज्ञेयता, कर्मफलरूपं गन्तव्यमपि लोके दुर्ज्ञेयमित्याह—शरीरादिति। शरीराद् निर्गतः सन् कः किंस्वरूपः, कथं केन प्रकारेण, किं फलं गमिष्यति—तदेतद् अतीन्द्रियं लोके को वेद! इति।।८०।। एवंविधाऽज्ञाननिवर्तनायैव मम भवन्तं महात्मानं प्रति प्रश्न इत्याह—अत एवेति।।८१।।

जंनकेनेति। एवमुक्तो मुनी राज्ञ उत्तमाधिकारितामालक्ष्य तस्य तत्त्वप्रदर्शनं भयनिवर्तकं प्रतिजज्ञावित्यर्थः।।८२।। मुनिना पूर्वं 'कुत्र गमिष्यसि?' इति यत् पृष्टं तस्याशयं मुनिमुखेनाह—गन्तव्यमिति। कारणम् प्रयोजकम्।।८३।। लोक इति। अजानत्कर्तृकः, जानत्कर्तृकश्चेति द्विविधः प्रश्नः। तत्राद्यो यथा भवत्कृतः। इति पूर्वार्धार्थः। सम्यग्ज्ञानिकर्तृकोऽसम्यग्ज्ञानिकर्तृकश्च—इति जानत्कर्तृको द्विविधः। तत्राद्यः—संवादार्थं स्वज्ञानपरज्ञानयोः समानविषयत्वनिश्चयार्थं भवेत्। द्वितीयस्तु संशयेन विपर्ययेण वा कृतः, तन्निवृत्तिफलक इत्यर्थः।।८४।। संवादार्थमिति। संवादार्थः प्रश्नोऽपि स्वबुद्धेः परबुद्धेर्वा वैमल्यज्ञानरूपप्रयोजनभेदेन द्विधा

ही जाता है। अतः मार्ग पूछने का मतलब यही है कि आप गन्तव्य बतायेंगे।।७५-७९।। मुक्त कहाँ जाता है इसका अज्ञान कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि कर्मफलरूप प्राप्तव्य को जान पाना भी अत्यन्त कठिन होता है। स्थूल शरीर से कौन निकलता है और निकलने पर किस स्वरूप वाला रहता है; कैसे निकलता है और कैसे भावी लोक, शरीर आदि तक जाता है; मर कर फल क्या मिलता है; ये सब इन्द्रियों से अतीत बातें हैं, इन्हें लौकिक लोगों में कौन जानता है! इसीलिये मैंने आपसे यह प्रश्न किया है। आप स्वयं महान् विद्वान् हैं और आपके श्रीगुरु सूर्यदेव सर्वज्ञ हैं इसमें क्या कहना? इस लोक के और परलोक के बारे में आप सारी जानकारी रखते हैं। आप महात्मा हैं, सर्वत्र आत्मदर्शन करने से आप मेरे दुःख को समझते हैं और दयास्वभाव वाले होने से उसे दूर करने को उद्यत हैं। इसमें आप सफल भी होंगे ही क्योंकि आप भगवान् हैं, ऐश्वर्यशाली हैं।।८०-८१।।

राजा जनक ने जब अपनी कष्टमय स्थिति का उल्लेख किया तब याज्ञवल्क्य ने उन्हें ढाढस बँधाते हुए कहा 'हे नरेश ! डरो मत। मैं तुम्हें तुम्हारा गंतव्य बताऊँगा। मैंने तुमसे जो गन्तव्य के बारे में पूछा उसमें एक रहस्य था। तुम धार्मिक, दानशील राजा हो अतः तुम्हें उसके बारे में समझाता हूँ : संसार में प्रश्न दो तरह के होते हैं—अज्ञानी द्वारा पूछा गया और जानकार द्वारा पूछा गया। केवल गन्तव्य ही नहीं सभी विषयों में यही बात है। जब जान कर प्रश्न किया जाता है तब भी वह दो तरह का हुआ करता है—दूसरे के ज्ञानसे अपने ज्ञान का मिलान कर निश्चय की दृढतरता के लिये प्रश्न—यह एक प्रकार है। दूसरा प्रकार है कि संदेहवश या भ्रमवश पूछा जाता है ताकि संदेह या भ्रम मिट जाये।।८२-८४।। अन्य के ज्ञान से मिलान करने के लिये किया प्रश्न भी दो तरह का होता है : एक तो अपनी

संवादार्थं यदा प्रश्नः तदाऽप्येष द्विधा भवेत्। आत्मनो बुद्धिवैशद्यज्ञानाद्यर्थं परस्य वा।।८५।।

पक्षेष्वेतेषु धीमद्भिर्गन्तव्यस्य विनिश्चये। वक्तव्योऽत्र भवेद् मार्गो नान्यथा राजसत्तम।।८६।।

अज्ञानेन तु गन्तव्यं मार्गं ब्रूयान्नराधिप। दयालुर्बुद्धिमान्नैव मार्गमात्रं कथञ्चन।। मा कृथा नृप सन्देहं सावधानमनाः शृणु।।८७।।

इत्युक्ते प्राह विप्रेन्द्रं राजा संहृष्टमानसः। ब्रवीतु भगवानित्थं सावधानः स्वयं स्थितः।।८८।।

अथ ज्ञानोपदेशः

इत्युक्ते याज्ञवल्क्यस्तं ज्ञानमादित्यकीर्तितम्। अब्रवीदात्मविद्यार्थं नानोपायमिति प्रभुः।।८९।।

वैश्वानरस्वरूपम्

इन्द्रियैर्विषयानेष कोऽपि गृह्णाति देहभाक्। यस्तं जागरणावस्थं द्विधा देहेऽवधारय।।९०।।

भवेदित्यर्थः।।८५।। पक्षेष्विति। एतेषु जानत्कर्तृकप्रश्नभेदरूपेषु पक्षेषु सत्सु प्रष्टृसम्बन्धिगन्तव्यस्य निश्चये सत्येव धीमद्भिः मार्गो वक्तव्यो भवति नान्यथा इति।।८६।। अज्ञानेनेति। यदा तु अज्ञानेन पृच्छति तदा दयालुर्बुद्धिमांस्तस्मै गन्तव्यं तदीयं मार्गं च ब्रूयात्। तत्रापि मार्गमात्रं कथंचन न ब्रूयात् किन्तु तद्विशेषमपि ब्रूयादित्यर्थः। एवं स्थिते, हे राजन्! तुभ्यमज्ञानेन पृच्छतेऽहं गन्तव्यं तावत् कथयामि, तत्र चेतसोऽवधानमेव मार्ग इत्यतः सन्देहं परित्यज्य सावधानमनाः सन् शृणु इति।।८७।। इत्युक्ते प्राहेति। इति मुनिना उक्ते सति राजा इत्थमाह। 'इत्थं' कथम्? भगवान् ब्रवीतु अहं सावधानः स्थितः अस्मीति।।८८।। इत्युक्त इति। इति राज्ञा उक्ते सति मुनिः तं राजानं प्रति इति वक्ष्यमाणप्रकारेण आदित्यकीर्तितं ज्ञानमब्रवीत्। कीदृशम्? आत्मविद्यार्थम् आत्मसाक्षात्कारहेतुं नानोपायं नानारूपैरन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनैर्लभ्यम्।।८९।।

अथ विश्वतैजसप्राज्ञानुवादेन तुरीयप्रदर्शनपरस्य 'इन्ध' इत्यादिकण्डिकात्रयस्यार्थम् एकोनचत्वारिंशदधिकशतेन उपबृंहयंस्तत्र विश्वस्य वैश्वानरात्मनः स्वरूपप्रदर्शनपरस्य 'विराड्' इत्यन्तभागस्यार्थं[1] दर्शयति—इन्द्रियैरिति एकविंशतिश्लोकैः। यः कोऽपि लौकिकप्रमाणाविषयोऽपि देहभाक् अविद्यया देहतादात्म्याभिमन्ता एष सर्वापरोक्ष आत्मा इन्द्रियैर्विषयान् यदा गृह्णाति तदा जागरणावस्थो भवति। तं देहे द्विधा वक्ष्यमाणेन्द्रेन्द्राणीरूपाभ्यामवस्थितं जानीहीत्यर्थः।।९०।। तत्र इन्द्रतां व्युत्पादयति—माययेति। मायया सृष्टम् इदं सर्वं दृष्टवान् इति व्युत्पत्त्या इदन्द्र

बुद्धि का सहीपन जाँचने के लिये और दूसरा अन्य की बुद्धि की सूक्ष्मता परखने केलिये। इन सब पक्षों को सोचकर प्रष्टा के गंतव्य का निश्चय कर तब बुद्धिमानों को चाहिये कि मार्ग बतायें, अन्यथा नहीं। यदि पूछने वाला गंतव्य समझ कर पूछ रहा हो तो जवाब देने वाले को उसी से पता लगाना चाहिये कि वह कहाँ जाना चाह रहा है और उसी के अनुसार रास्ता बताये।।८५-८६।। अगर प्रष्टा को गंतव्यका भी अज्ञान है तो दयालु बुद्धिमान् को चाहिये कि उसे गंतव्य भी समझाये और उसके मार्ग का भी विस्तृत परिचय दे। मैंने तुम्हारी स्थिति समझने केलिये ही तुम से गंतव्यका प्रश्न किया था। अब मैंने समझ लिया है कि तुम सर्वथा अज्ञान में हो अतः मैं गन्तव्य और वहाँ पहुँचने का उपाय दोनों सुस्पष्ट करूँगा इसमें संदेह मत रखो और सावधान होकर सुनो।' ।।८७।।

इस पर आनंदित मन से राजा ने विप्रराज से कहा 'हे भगवन्! आप उपदेश दें, मैं सावधान हूँ।' तब याज्ञवल्क्य

---

१. 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तं वा एतमिन्धꣳ सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव। परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।।२।। अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपम्, एषाऽस्य पत्नी विराट्' इति खण्डस्यार्थमिति भावः।

मायया सकलं विश्वं सृष्ट्वा यद्भूतभौतिकम्। दृष्टवानिदमात्माऽयमिन्द्र इन्धश्च स स्मृतः।।९१।।

अस्य भासा विश्वमिदं विभातीह चराचरम्। नाऽयं सूर्येण भातीशो नैव चन्द्रेण नैव वा।।९२।।

तारकाभिः समग्राभिः कुतोऽग्निस्तं प्रकाशयेत्। नेन्द्रियैर्ज्ञानसंशब्दैः कुतः कर्मेन्द्रियैरयम्।।
मनसाऽपि न गम्योऽयं कथं शब्देन गम्यते।।९३।।

सर्वप्रकाशको देवो न चायं न प्रकाशते। स्वप्रकाशस्ततः स्वात्मा विद्वद्भिः परिपठ्यते।।९४।।

इन्द्रः

स्वप्रकाशात्मबोधाख्यदीप्त्या विशदया युतः। इन्द्र इत्युच्यते देवैरिन्ध एष महेश्वरः।।९५।।

इति वक्तव्योऽपि परोक्षनाम्ना स्मृत इत्यर्थः।।९१।। एतत् स्फुटयन्नस्य इन्धतां चतुर्भिः प्रपञ्च्य ततः परैः पञ्चभिः इन्द्रपदस्य परोक्षनामतामुपपादयति—अस्येति। अस्य भासा दीप्त्या सर्वं भाति, अन्येन तु न प्रकाश्यत इति द्वयोरर्थः।।९२-९३।। सर्वेति। यतः सर्वस्य प्रकाशक एव, न प्रकाश्यस्तथापि अयं स्वयं न प्रकाशत इति न; किन्तु प्रकाशत एव। अत इतराऽप्रकाश्यत्वे सति प्रकाशमानत्वार्थकेन स्वप्रकाशपदेन विद्वद्भिः उच्यत इत्यर्थः।।९४।। स्वप्रकाशत्वे च दीप्तत्वलक्षणमिन्धत्वं तत्परोक्षरूपमिन्द्रत्वं चोपपन्नमित्याह—स्वप्रकाशात्मेति। स्वप्रकाशात्मस्वरूपभूतया

ने सूर्यसे प्राप्त विद्या का राजा को उपदेश दिया। वह ज्ञान आत्मा के साक्षात्कार का हेतु है। मुनि ने ज्ञान प्राप्त करने के अंतरंग व बहिरंग साधनों का भी परिचय राजा को दिया ताकि उस मार्ग पर वह चल सके। (विविदिषा-उत्पादक साधन बहिरंग और ज्ञानोत्पादक शमादिसाधन अंतरङ्ग कहे जाते हैं।)।।८८-८९।। महामुनि ने उपदेश प्रारम्भ किया : सभी को स्वरूपतः अपरोक्ष आत्मतत्त्व अविद्यावश देह में तादात्म्याभिमान कर देहधारी हुआ जब इन्द्रियों से विषय ग्रहण करता है तब उसे जाग्रद् अवस्था में विद्यमान समझा जाता है। यह आत्मा लौकिक प्रमाणों से निर्णेय स्वभाव वाला नहीं है। देहधारी शरीर में दो तरह उपस्थित है—एक इन्द्ररूपसे और दूसरा इन्द्राणीरूप से।।९०।। जिस भूत-भौतिक विश्व की आत्मदेव ने माया से सृष्टि की है उस सब को इसने देख लिया इसलिये आत्मा का नाम पड़ गया इन्द्र। यद्यपि इदं अर्थात् विश्व का द्रष्टा होने से 'इदन्द्र' कहलाना चाहिये तथापि पूज्यों का साक्षात् नाम लेना अनुचित होने से आत्मा इन्द्र ही प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार स्वप्रकाशात्मक दीप्ति वाला होने से इसे 'इन्ध' कहना चाहिये लेकिन सीधे ही नाम लेना उचित नहीं इसलिये ऋषियों ने इन्द्र नाम ही रखा है। (अर्थात् 'इदन्द्र' ही नहीं 'इन्ध' का भी ईषद् विकृत रूप इन्द्र-शब्द को समझना चाहिये।)।।९१।। संसार में विद्यमान जड-चेतन यह संसार इस आत्मा की स्फूर्ति से ही भासमान है जबकि यह आत्मदेव सूर्य, चंद्र, सारे तारे, अग्नि, मन या शब्द से भी प्रकाशित नहीं होता, विषय नहीं किया जाता। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ इस आत्मा को विषय करें यह सर्वथा असंभव है।।९२-९३।। यह देव सब का प्रकाशक है और ऐसा कभी कहीं नहीं होता कि यह स्वयं भासमान न हो इसलिये विद्वान् इसे स्वप्रकाश कहते हैं, अन्यों से प्रकाशित न होकर प्रकाशमान होना ही स्वप्रकाश होना है। (यहाँ 'प्रकाश' से ज्ञान समझना चाहिये, चाक्षुष रोशनी नहीं समझनी चाहिये, वह तो तेजस्तत्त्व का गुण है, आत्मा का नहीं।) स्वयं ही प्रकाशमान आत्मा की स्वरूपभूत सुस्पष्ट दीप्ति से युक्त होने से यह महेश्वर है तो 'इन्ध' कहलाने लायक पर देवता इसे इन्द्र कहते हैं। स्वप्रकाश आत्मा का सीधा नाम इन्ध है, सात्त्विक लोग इसका परोक्ष नाम इन्द्र व्यवहार में लाते हैं। सात्त्विक स्त्री-पुरुष पिता, माता, गुरु, मालिक आदि का नाम सीधे ही कभी ग्रहण नहीं करते। ऐसा तो तामस लोग ही कर सकते है! सात्त्विक तो अन्यों के भी ऐसे व्यवहार को सह नहीं पाते जिसमें माननीयों के प्रत्यक्ष नाम का ग्रहण हो। पिता आदि पूज्यों को भी क्योंकि

स्वप्रकाशात्मनो नाम प्रत्यक्षं हीन्धशब्दितम्। परोक्षं चेन्द्र इत्येतदुच्यते सात्त्विकैर्जनैः।।९६।।

सात्त्विका न पितुर्नाम मातुर्नैव गुरोरपि। स्वाम्यादेरपि नैवैते नाम गृह्णन्ति कर्हिचित्।।९७।।

प्रत्यक्षं तामसा यद्वत् स्त्रीपुंसवपुराश्रिताः। प्रत्यक्षं गृह्यमाणं तत् सहन्ते न परैरपि।।९८।।

परोक्षं हि प्रियं तेषां पित्रादेर्नाम सर्वदा। ततो व्यवहरन्त्येते नाम्ना केनापि तादृशा।।९९।।

सात्त्विकानामिमे मौलिभूता देवा उदाहृताः। अग्न्यादयस्ततो हीन्धमिन्द्रनाम्ना वदन्ति ते।।१००।।

सोऽयं जागरणावस्थ इन्द्रनाम्ना परः पुमान्। अधिष्ठायेन्द्रियगणमास्तेऽस्मिन् दक्षिणेऽक्षणि।।१०१।।

प्रासादे वैजयन्ताख्य इन्द्रो यद्वद् दिवि स्थितः। भोगान् नानाविधान् गृह्णन् देवैः सर्वैः समर्पितान्।।१०२।।

अग्न्यादिभिस्तथा देवैरर्पितान् विविधान् शुभान्। विषयान् बहुधाऽऽदत्ते प्रासादे दक्षिणेऽक्षणि।।१०३।।

इन्द्राणी

यद्वदिन्द्रस्य चेन्द्राणी सभास्थस्य परत्र सा। प्रासादे कुत्रचित् तिष्ठेत् तादृग्भोगसमन्विता।।१०४।।

एवमस्यात्मनो जाया वामे चक्षुषि तिष्ठति। सदा जागरणावस्थां गतस्य जगदीशितुः।।१०५।।

दीप्त्या युतत्वाद् इन्धसंज्ञ एष महेश्वरो देवैरिन्द्र इत्युच्यत इति।।९५।। स्वप्रकाशात्मन इति। स्वप्रकाशस्यात्मन इन्ध इति प्रत्यक्षं नाम 'इन्धी दीप्तौ' (रु.आ.से.) इति स्मृतेः। इन्द्र इति तु परोक्षम् इत्यर्थः।।९६।। मान्यानां परोक्षनाम्ना व्यवहरणं लोकेऽपि सात्त्विकजनेषु प्रसिद्धमित्याह—सात्त्विका इति। एते सात्त्विकाः स्त्रीपुरुषवपुराश्रिताः पुमांस स्त्रियो वा तामसजनवत् पित्रादीनां नाम प्रत्यक्षं न गृह्णन्ति, परैः प्रत्यक्षं गृह्यमाणं न सहन्ते चेति द्वयोरर्थः।।९७-९८।। परोक्षं हीति। यतः तेषां सात्त्विकानां परोक्षं पित्रादीनां नाम प्रियम् अत एव एते सात्त्विकाः तादृशा मुख्यनामसदृशेन केनचिद् नाम्ना पित्रादीन् व्यवहरन्ति इति।।९९।। यदा लौकिकसात्त्विकानामपि अयं स्वभावः तदा परमसात्त्विकानां ब्रह्मादिदेवानां किमु वाच्यः! इत्युक्त्वा फलितमाह—सात्त्विकानामिति। स्पष्टम्।।१००।। अस्य देवस्य विशेषाभिव्यक्तिस्थानं दक्षिणं नेत्रं बोध्यमित्याह—सोऽयमिति। अधिष्ठाय वशे कृत्वा।।१०१।। प्रसिद्ध इन्द्रो यथा वैजयन्ताख्ये मन्दिरे तिष्ठति सर्वदेवाधिपतिः संस्तथा दक्षनेत्र इत्याह—प्रासाद इति द्वाभ्याम्। अग्न्यादिभिः वागादिदेवैः आदत्ते गृह्णाति दक्षिणाक्षिरूपे प्रासादे स्थित इति द्वयोरर्थः।।१०२-१०३।।

दक्षिणेऽक्षणि प्रकाशाधिक्यं वामे तु किंचित् प्रकाशाल्पत्वमित्यनुभवसिद्धम्। तदादाय वामेऽक्षणि विश्वस्य रूपम् इन्द्राणीत्वेन वैश्वानरोपासकैर्ध्येयमित्याह—यद्वदिति। यथा सभास्थस्य इन्द्रस्य भोग्या इन्द्राणी इन्द्रसमैश्वर्यशालिनी सन्निहिते कुत्रचित् प्रासादे तिष्ठेद्, एवमस्य विश्वस्य आत्मन इन्द्रस्य दक्षाक्षिस्थस्य जाया इन्द्राणी वामे तिष्ठति इति द्वयोः सम्बन्धः।।१०४-१०५।। तस्या विराट्संज्ञां द्वेधोपपादयति—विविधमिति द्वाभ्याम्। सा इन्द्रवल्लभा इन्द्राणी

यही अच्छा लगता है कि पुत्रादि उनके साक्षात् नाम का उच्चारण न करें इसलिये सात्त्विक पुत्रादि पिता आदि के मुख्य नाम के समान किसी अन्य शब्द से ही उनका व्यवहार करते हैं।।९४-९९।। अग्नि आदि देवता तो सात्त्विकों के भी मूर्धन्य हैं। इसलिये वे इंध को 'इन्द्र' नाम से कहते हैं।।१००।। इन्द्र-नामक यह परम पुरुष जब जगने की अवस्था में होता है तब इंद्रियों को वशमें कर इस दायीं आँख में निवास करता है।।१०१।। जैसे स्वर्गस्थ इन्द्र वैजयन्त नामक महल में रहकर सभी देवताओं द्वारा अर्पित विविध भोग ग्रहण करता है वैसे ही चक्षुरादि अध्यात्मदेवों द्वारा बहुत तरह अर्पित नाना प्रकार के शुभ (और अशुभ) विषयों को दायीं आँख रूप महल में रहकर अध्यात्म इंद्र (देहभाक् आत्मा) ग्रहण करता है।।१०२-१०३।।

विविधं राजते ह्येषा स्थूलभोगभुजा सह। भर्त्राऽनेन विराडुक्ता विद्वद्भिः सेन्द्रवल्लभा।।१०६।।

दशेन्द्रियाणां बाह्यानामधिष्ठाता यथा पुमान्। तथा साऽपि ततो वा स्याद् विराड् इन्द्रस्य वल्लभा।।१०७।।

एवमिन्द्रः सहेन्द्राण्या चक्षुषा समवस्थितः। चक्षुष्मतां हि सर्वेषामभिन्नोऽपि विभिन्नवत्।।१०८।।

इयं जागरणावस्था यस्यां त्वं वर्तसेऽधुना। भोगान् नानाविधान् राजन् भुञ्जानः पृथिवीपतिः१०९

अग्नीषोमात्मकता

अग्नीषोमात्मको लोकव्यवहारस्य कारकः। स्त्रीपुंसवपुरेकस्मिन् द्विधा राजन् मयेरितः।।११०।।

जाग्रति स्थूलभोगभुजाऽनेन भर्त्रा इन्द्रेण सह यतो विविधं राजते ततो विराडितिपदेन श्रुतिविद्भिः उक्ता।।१०६।। अथवा दशाक्षरच्छन्दोवाचकं विराट्पदं दशेन्द्रियतादात्म्येन दशधाभूतायामस्यां वर्तत इत्याशयेनाह—दशेन्द्रियाणामिति। यथा पुमान् इन्द्रो बाह्यदशेन्द्रियाधिष्ठाता तथा सा इन्द्राणी अपि भवति, ततो वा विराट्पदेन उक्तेति। भाष्यकारैस्तु 'अन्नं विराड्' इति श्रुत्यनुरोधेन भोग्यभोक्तृत्वेन जाग्रति द्विधाऽवस्थितस्य आत्मनो यत इयं भोग्यात्मकं रूपं ततो विराडित्युक्ता भोग्यत्वेनान्नत्वादिति'[1] दर्शितम्।।१०७।। एवं जाग्रति द्विधाऽवस्थितोऽयं सर्वेषामात्मा समष्टिरूपेणैको भ्रान्तदृष्ट्या व्यष्टिरूपेण भिन्नो भासत इत्याह—एवमिति। सर्वेषां चक्षुष्मतां चक्षुषा इन्द्रियेण सह तद्गोलकयोरिति यावत्, इन्द्राण्या सह इन्द्रोऽवस्थितः। कीदृशः? समष्टिरूपेण अभिन्नो, विभिन्नवद् व्यष्टिदर्शिनां भासमानः।।१०८।। विश्ववर्णनमुपसंहरति—इयमिति द्वाभ्याम्। अधुना इन्द्रियव्यापारकाले।।१०९।।

अनेनोपदेशेन च वैश्वानरभावं प्रापितोऽसीत्याह—अग्नीति। भोक्ताऽग्निर्भोग्यः सोम इत्यन्यत्र प्रपंचितम्। अतस्त्वमपि भोक्तृभोग्यात्मकस्त्रीपुंसरूपेण द्विधा एकैकस्मिन् शरीरे व्यवस्थितः सन् अग्नीषोमात्मकः सर्वव्यवहारनिर्वाहक उक्तोऽसीत्यर्थः।।११०।। एवं विश्वस्य वैश्वानरात्मकस्य स्वरूपे द्विधाभावावस्थानात्मके प्रदर्शिते। अर्थादितदुक्तं भवति—यत्रेन्द्रेन्द्राण्योः सम्भूयावस्थानं तत् तैजसप्राज्ञयोः हिरण्यगर्भसूत्रात्मेश्वरात्मकयोः रूपमिति।

सामान्यतः दायीं आँख से अधिक साफ दीखता है, बायीं से कम। इसीलिये बायीं आँख में जो विश्व का अर्थात् जीव का रूप है उसका इन्द्राणी रूपसे ध्यान करना चाहिये, यह बताते हैं—स्वर्ग की सभा में स्थित इन्द्र की भोग्या इन्द्राणी इन्द्र के समान भोगों वाली होती है और इंद्र के आस-पास ही किसी महल में रहती है। इसी तरह जगदीश जब जागरण अवस्था में परिच्छिन्न होते हैं तब उन आत्मरूप इंद्र की पत्नी बायीं आँखमें रहा करती है।।१०४-१०५।। स्थूल भोग भोगने वाले अपने पति के साथ यह इंद्राणी नाना तरह से विराजती है, इसलिये उस इन्द्रप्रिया को विद्वान् 'विराट्' भी कहते हैं।।१०६।। किं च दस अक्षरों वाले छंद का नाम भी विराट् है जिसे ध्यानमें रखने से भी इन्द्र-पत्नी 'विराट्' कहलाती है क्योंकि जैसे बाह्य दसों इंद्रियों का अधिष्ठाता है पुरुष या इन्द्र वैसे ही वह भी उनकी अधिष्ठात्री बनती है। (मुख्य अधिष्ठाता पति होगा तो उसकी पत्नी भी तत्तुल्य होगी। वस्तुतस्तु अधिष्ठातृत्वोपाधिरूप वृत्ति पत्न्यंश है और उपहितरूप इंद्रांश है।)।।१०७।।

सभी का आत्मा जाग्रत् अवस्था में यों इंद्र-इन्द्राणी रूप से स्थित है। वह समष्टिरूपसे समझा जाये तो एक ही है लेकिन भ्रान्तों की दृष्टि में वह व्यष्टिरूपसे समझा जाता है, अतः लगता है मानो अनेक हो। चक्षु वाले सभी की इंद्रिय के साथ अर्थात् इन्द्रियगोलकों में इन्द्राणी समेत इंद्र रहता है। वह समष्टिरूप से अभिन्न होने पर भी व्यष्टिदृष्टि से अलग-अलग प्रतीत होता है।।१०८।। हे राजन्! यही जागरण अवस्था है, जिसमें तुम राजा होकर नाना भोग भोगते हुए इस समय (इन्द्रिय-व्यापार के समय) मौजूद हो।।१०९।।

---

१. 'तस्यास्येन्द्रस्य भोक्तुर्भोग्यैषा पत्नी विराडन्नं भोग्यत्वादेव' इति भाष्यम्। अत्रेन्द्रआत्मप्राधान्येन, इन्द्राणी तूपाधिप्राधान्येनेति स्मर्तव्यम्।

इन्द्रेन्द्राण्योर्गृहात्रादि

तयोः स्त्रीपुंसयोरेष हृदयाकाश ईश्वरः । एकान्तगृहतुल्यः स्यात् सम्भोगायेतरेतरम् । । सुषुप्तिस्थानमेतद्धि कथितं वेदवादिभिः ।।१११।।

योऽयं हृदयपद्मस्य कर्णिकाकारसंस्थितः । राजन्! हि लोहितः पिण्डः तयोरन्नमिदं स्फुटम् । ।११२ ।।

सुसूक्ष्माणां हि नाडीनां ग्रथितानां परस्परम् । राजन्! हृदयपद्मस्य केसराणां समन्ततः ।। जालोपमं किमप्यास्ते तत् स्यात् प्रावरणं तयोः ।।११३।।

हृदयान्निर्गता येयमूर्ध्वा नाड्यत्र मूर्धनि। एतयो राजमार्गोऽयं गमनागमने हृदि ।।११४ ।।

अथ तयोरवान्तरविशेषसूचकस्य 'तयोरेष' इत्यादेः 'अवांचः प्राणा' इत्यन्तस्य[1] ग्रन्थस्यार्थमाह—तयोरिति विंशतिश्लोकैः । तयोः स्त्रीपुंसयोः इन्द्रेन्द्राण्योः इतरेतरसम्भोगाय सङ्गतय एकान्तगृहसमो हृदयाकाश उक्तः । कीदृशो हृदयाकाशः? दहरविद्यादौ ईश्वरत्वेनोक्तः, सुषुप्तिस्थानतया च अजातशत्रूपाख्याने वर्णित इत्यर्थः। संस्तूयते संगम्यतेऽत्रेति संस्ताव इति श्रुतिपदार्थः ।।१११।। तयोरिन्द्रेन्द्राण्योः अन्नत्वेन हृदयकमलस्य कर्णिकानिभो रक्तवर्णो मांसपिण्डो ध्येय इत्याह—योऽयमिति । अन्नत्वाभिप्रायं स्वयमेव वक्ष्यति ।।११२ ।। तयोर्वस्त्रत्वेन ध्येयमाह —सुसूक्ष्माणामिति । हे राजन्! हृदयपद्मस्य केसरसमानां नाडीनां परिणामभूतं जालसमं यत् किञ्चिदस्ति तत् तयोः इन्द्रेन्द्राण्योः वस्त्रत्वेन ध्येयमित्यर्थः ।।११३।।

इन्द्रेन्द्राण्योः शयनस्थानाद् बाह्यदेशाद् वा गमनागमनमार्गत्वेन सुषुम्ना नाडी ध्येयेत्याह—हृदयादिति। येयं सुषुम्ना नाडी अत्र शरीरे हृदयकमलाद् मूर्धनि गत्वा ततोपि ऊर्ध्वा ब्रह्मलोकपर्यन्तं निर्गता प्रसिद्धा 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका' इत्यादिश्रुतेः (छां ८.६.६); तद्रूपोऽनयो राजमार्गः श्रुतौ संचरणीपदेनोक्तो बोध्यः । कीदृशः? हृद्देशे वर्तमानो गमनागमनप्रयोजकश्चेत्यर्थः । ।११४ ।। सुषुम्नाया गमनमार्गतां स्फुटयति—अनयेति।

हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें बंताया कि तुम लोकव्यवहार करने वाले हो तथा प्रत्येक शरीर में दो तरह स्थित हो : भोक्ता रूपसे तुमं अग्नि और पुरुष हो एवं भोग्य रूपसे तुम ही सोम और स्त्री हो। (इस तरह अग्नि-सोम रूप वैश्वानर से तुम्हारा भेद नहीं है यह तुम समझ लो।) ।।११०।।

इन्द्र-इन्द्राणी के परस्पर संगम केलिये एकान्त प्रकोष्ठ के समान अध्यात्ममें हृदयाकाश है, जिसे कहीं-कहीं वेद ने ईश्वर कहा है। वेदविचारक उसे ही सुषुप्ति का स्थान भी बताते हैं।१११।। कर्णिका के आकार में स्थित जो यह हृदयकमल का लाल पिण्ड है यही इन्द्र-इन्द्राणी का अन्न है। (लाल मांसपिण्ड में अन्नदृष्टि करनी चाहिये। कर्णिका अर्थात् नोकीला हिस्सा।)।।११२।। हृदय कमल है तो उसके केसर की तरह हैं अत्यंत सूक्ष्म नाडियाँ। वे आपसमें गुँथी हुई हैं, जिससे मानो एक जाल बन गया है। वही इंद्र-इंद्राणी के ओढने का कपड़ा है ऐसा ध्यान करना चाहिये।।११३।। शरीर में हृदयसे मूर्धा तक गयी नाडी है सुषुम्ना, जो शरीर से ऊपर ब्रह्मलोक तक जाती है ऐसा प्रसिद्ध है। हृदय में जाने और वहाँ से आने के लिये इंद्रदम्पती का राजमार्ग यही नाडी है। इसके द्वारा जीव जब शरीर से बाहर निकलता है तब अर्चिरादि देवयान पथ से जाता है और जब तक शरीर से बाहर नहीं निकलता तब तक सुषुम्ना की ही अवयवभूत अन्यान्य नाडियों से नयनादि स्थलों पर जाता आता रहता है।।११४-११५।। सुषुम्ना की मानो शाखायें हों ऐसी

---

१. 'तयोरेष स ्ँस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । अथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः । अथैनयोरेतत् प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव । अथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति, यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येव ताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति । तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः । ।३ ।। तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणाः दक्षिणा दिक् दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वा प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः' इति श्रुतिभागस्य ।

अनया निर्गतो देहाद् बाह्ये यात्यर्चिषं नरः। अन्तर्गच्छन् विनिर्याति नाडीभिर्नयनादिकान्।।११५।।

अन्याश्च सन्ति शतशो यस्याः शखोपमाः शिराः। केशः सहस्रधा भिन्नो भवेच्चेत् स भवेदिह।
उपमानं हि नाडीनां सूक्ष्मतासु नराधिप!।।११६।।

सुषुम्नयाऽथ वा ताभिर्याति गच्छन्नयं सदा। हृदयं सुप्तिसंस्थानं तासु स्वप्नमथापि वा।।११७।।

प्रविविक्ततराहारः

सुषुप्तौ हृदयाकाशे नाडीभिर्येन यात्ययम्। प्रविविक्ततराहारस्तेन सुप्तौ प्रकीर्तितः प्रविविक्तं हि
सूक्ष्मं स्याद् भोग्यं तत् स्वप्नदर्शिनः।।११८।।

स्वप्नसुप्त्योस्तयोर्मध्ये शारीरात् स्वप्नदर्शिनः। सुप्तः सूक्ष्मतराहारो ह्यभोक्ता भोगवानिव।।११९।।

अनया सुषुम्नया मार्गभूतया देहाद् बाह्ये निर्गतो यदा भवति तदा अर्चिषम् अर्चिराद्यभिमानिदेवतोपलक्षितं देवयानं ब्रह्मलोकपन्थानं याति प्राप्नोति। यदा तु शरीरान्तरेव गच्छन् भवति तदा सुषुम्नावयवभूताभिः अन्याभिः नाडीभिः मार्गभूताभिः नयनादिदेशान् यातीति।।११५।। इतरासां हितासंज्ञानां नाडीनां सुषुम्नाया वृक्षोपमायाः शाखोपमत्वं सूक्ष्मतां च सदृष्टान्तमाह—अन्याश्चेति। यस्याः सुषुम्नायाः।।११६।। सुषुम्नायाः सशाखाया आगमनमार्गतां स्फुटयन् सुप्तिस्वप्नयोः देशव्यवस्थामाह—सुषुम्नयेति। सुषुम्नया ताभिः तच्छाखाभूताभिरितरनाडीभिः वा अन्तरागच्छन् भवति तदा हृदयं चेत् प्राप्नोति तदा सुप्तिसंस्थानं सुप्त्यवस्थां प्राप्नोतीति शेषः। गमनागमनयोः तासु नाडीष्वेव मार्गभूतासु तिष्ठन् स्वप्नं प्राप्नोति अयम् इन्द्राणीमिलित इन्द्र इत्यर्थः।।११७।।

सुषुप्ताविति। येन हेतुना नाडीभिः केशस्य सहस्रतमांशसूक्ष्माभिः मार्गभूताभिः सुषुप्त्यर्थं हृदयाकाशे याति तेन हेतुना सूक्ष्मतराहारः सुप्तिकाले प्रोक्तः, यतः स्वप्नदर्शिनः तैजसस्य भोग्यं बुद्धिरूपं शरीरं नाड्यन्तर्गतसूक्ष्मान्नरसोपचितं भवति। सुषुप्तस्तु ततोऽपि परतः स्थित इति भावः। प्रविविक्तपदार्थमाह—सूक्ष्ममिति। श्रुतावेतत्पदमन्नपरम्, आस्रवत्पदं गच्छदित्यर्थकमिति।।११८।। एतत्स्फुटयन् श्रुतिगतेवपदार्थमाह—स्वप्नेति। तयोः नाडीमध्यहृदय-मध्यदेशतया वर्णितयोः स्वप्नसुषुप्त्योः मध्ये स्वप्नदर्शिनः स्वप्नस्य द्रष्टुस्तैजसात् शारीरात् सूक्ष्मशरीराभिमानिनः परतः स्थितो यः सुप्तः प्राज्ञः स तैजसभोगापेक्षया सूक्ष्मतर आहारो यस्यैतादृशो वर्तते यतः अभोक्ताऽपि स्पष्टभोगहीनोऽपि संस्कारभावापन्नबुद्ध्या नियन्त्रितत्वेन भोगवद्भ्यां विश्वतैजसाभ्यां सदृशः। अवस्थात्रयं बुद्ध्युपाधिकस्यैव, बुद्धिश्च आहारपरिणामसूक्ष्मतातारतम्येन अवस्थात्रये त्रिरूपा भवतीति भावः। अत्र भाष्यकारैः प्रविविक्ताहारत्वं तैजसस्यैव विश्वापेक्षया यदुक्तं तत् प्राज्ञस्य समष्टितादात्म्येनाऽसंसारितां स्पष्टयितुम्। एतैस्तु प्राज्ञस्य व्यष्टिरूपेण संसारितां द्योतयितुमेवं व्याख्यातमिति बोध्यम्।।११९।। उक्तमर्थं

सैकड़ों सुसूक्ष्म नसें हैं। उनकी सूक्ष्मता का दृष्टान्त तब संभव हो जब एक केश हजार बार काटा जा सके!।।११६।। इन्द्राणी-समेत इंद्र सुषुम्ना या उसकी शाखानाडियों से हृदय में पहुँचे तो सुषुप्ति अवस्था प्राप्त करता है और नाडियों में ही रह जाये तो स्वप्नकी अवस्था में रह जाता है।।११७।।

क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म नाडियों के रास्ते जीव सोने केलिये हृदयाकाश में जाता है इसीलिये सुषुप्तिकाल में उसे 'सूक्ष्मतर आहार वाला' कहा जाता है। स्वप्न देखने वाले तैजस का भोग्यभूत बुद्धिरूप शरीर नाडियों में विद्यमान सूक्ष्म अन्नरस से पुष्ट होता है, अतः सूक्ष्म होता है और तैजस सूक्ष्मभुक् या सूक्ष्म आहार वाला कहा जाता है। नाडियों में होने पर स्वप्न देखने वाले तैजस नामक जीव की अपेक्षा हृदय में स्थित होकर सुषुप्तिगत प्राज्ञ नामक जीव तैजस की अपेक्षा भी और ज़्यादा सूक्ष्म आहार वाला होता है, अतः उसे 'सूक्ष्मतर आहार वाला' कहा। यद्यपि जाग्रत् या स्वप्न

स्थूलं भुङ्क्ते तदा देवो दक्षिणेऽक्षण्यवस्थितः। नाड्यादिभिर्गतश्चित्ते सूक्ष्मभुक् परिकीर्तितः।।१२०।।

हृदयाकाशतादात्म्यं प्राप्त इन्द्रोऽत्र सप्रियः। आनन्दात्मा भवेत् सुप्तौ देव आनन्दभुक् तथा।।१२१

अस्यान्नं कर्णिकाकारः पिण्डो लोहितरूपधृक्। कथितस्तस्य भोग्यत्वाभिप्रायं वचनं न हि।।१२२।

किन्तु रूपकरूपेण स्थैर्यमस्मिन् यथा भवेत्। अत्यन्तचंचलस्यास्य मनसो बाह्यबोधतः।।१२३।।

सुषुप्तः सर्वविज्ञानरहितो भोगवान् कथम्। दुःखस्योपरमाद् यद्वद् भवेदानन्दभुक् पुमान्। तद्वत् सूक्ष्मतराहारः सुषुप्तः कथितो द्विजैः।।१२४।।

प्रपञ्चयति—स्थूलमिति षड्भिः। जाग्रति दक्षिणेऽक्षणि स्थितः सन् स्थूलं विषयजातं बुद्धिरूपं च भुङ्क्ते। ततो नाडीभिः पुरीतता च चित्ते चित्तस्थाने हृदयकमलकोणेषु स्थितः तैजसः सूक्ष्मभुक् पूर्ववदुक्तः।।१२०।। हृदयेति। यदा तु हृदयकमलमध्यच्छिद्रं दहरादिपदैः प्रसिद्धं प्राप्नोति सप्रियः इन्द्राणीयुक्त इन्द्रः तदा सत्पदवाच्येन भूम्ना तादात्म्यलाभात् स्वयम्प्रकाशानन्दरूपो भवतीत्यभोक्तृत्वं तस्योपपन्नम्। न हि स्वयंप्रकाशानन्दस्य ज्ञानविषयतारूपा भोग्यता सम्भवतीति; साक्षिरूपेण दुःखाभावावगाहनमात्रेण तु आनन्दभुग् इत्युच्यते, उपचारादित्यर्थः।।१२१।। ननु सुप्तौ यद्यभोक्तैव आत्मा तर्हि तस्यान्नत्वेन हृदयमांसपिण्डः कथमुक्तः? इति शङ्कां वारयति—अस्येति द्वाभ्याम्। अस्य इन्द्राण्यैकीभूतस्येन्द्रस्य अन्नत्वेन हृदयकमलकर्णिकाभूतो मांसपिण्डो य उक्तः तद् वचनं तस्य हृदयपिण्डस्य इन्द्रेण भोग्यत्वाभिप्रायकं न भवति किन्तु तद्वाक्यं रूपकरूपेण रूपकालङ्कारघटिताकारेण तथा प्रवृत्तं यथा बाह्यैर्बहिर्मुखैर्बोधैः अत्यन्तचंचलस्यास्य मनसः स्थैर्यं भवेत्। तथा च—चित्तैकाग्र्यफलकध्यानमात्रविधानपरं तद्वाक्यमिति द्वयोरर्थः।।१२२-१२३।। मुख्यो भोगस्तु सुप्ते न सम्भवतीत्याह—सुषुप्त इति। सुषुप्तो यतो विशेषविज्ञानहीनः ततः सुखदुःखविषयीकरणात्मकभोगशाली कथं स्यात्! तस्मादानन्दभुक्त्वं यथौपचारिकं तथा सूक्ष्मतराहारत्वमपि। न हि संस्कारभावापन्नां बुद्धिमयं विशेषतोऽनुभवतीत्यर्थः।।१२४।। सुप्तौ विशेषज्ञानाभावं

की तरह सुषुप्ति में यह स्पष्ट नहीं कि किसी आहार का उपभोग है तथापि उस अवस्था में जीवोपाधिभूत बुद्धि संस्काररूपसे रहती ही है, इसलिये भोग वाले विश्व-तैजस के समान ही प्राज्ञ को आहार वाला कहते हैं। (तीनों अवस्थायें बुद्धिरूप उपाधि वाले आत्मा अर्थात् जीव की हैं। आहार (भोग्य) के परिणाम की सूक्ष्मता के आधिक्य से तीन अवस्थाओं में बुद्धि तीन रूपों वाली होती है। विवरण में स्पष्ट किया है कि सुषुप्ति में भी जीव-ईश्वर विभाग तो बना ही रहता है। प्राज्ञ का समष्टिरूप ईश्वर है और उस दृष्टिसे वह असंसारी कह दिया जाता है। वस्तुतः तत्त्वनिष्ठापर्यन्त अवस्थायें रहते संसारिता बनी रहती है।)।।११८-१६।। जाग्रत् में दायीं आँख में ठहर कर स्थूल (एवं सूक्ष्म) विषयों को आत्मदेव भोगता है। नाडी आदि मार्गों से चित्तस्थानभूत हृदयकमल के कोनों में मौजूद होने पर वही आत्मदेव तैजस नाम पाकर सूक्ष्म विषयों का उपभोग करता है।।१२०।। वही इंद्र जब अपनी प्रिया इन्द्राणी सहित हृदयकमल के मध्यवर्ती दहरादि नामक छिद्र में पहुँच जाता है, तब 'सत्' कहलाने वाले भूमतत्त्व से तादात्म्य प्राप्त कर स्वयम्प्रकाश आनंदरूप हो जाता है। अतः सामान्य अर्थ में उसे तब भोक्ता नहीं कह सकते। फिर भी उस समय दुःख नहीं सुख है, इसी से औपचारिक प्रयोग हो जाता है कि प्राज्ञ आनंद का भोग करता है।।१२१।। कर्णिका के आकार का लाल पिण्ड (हृदय) आनंदभुक् का अन्न कह दिया जाता है लेकिन उसका अभिप्राय यह नहीं कि वह पिण्ड तब आत्मा का भोग्य है। वह कथन तो एक रूपक बनाकर किया गया है ताकि बाह्य ज्ञानों में अत्यंत अस्थिर हुए इस मन को इस परमात्मतत्त्वमें स्थिर किया जा सके।।१२२-१२३।। सुषुप्त पुरुष को कोई भी विशेष अनुभव—घटादिविषयसे विशेषित ज्ञान—होता नहीं तो उसे भोग कैसे होगा, क्योंकि सुख या दुःख को विषय करना ही भोग है? इसलिये जैसे 'आनंदभुक्' गौणप्रयोग है, वैसे ही सुषुप्त को जो 'अधिक सूक्ष्म आहार वाला' कह दिया है वह भी गौण ही है।।१२४।। सुषुप्तिदशा में विशेषों को विषय

सुप्तौ विशेषविषयविज्ञानविलयो भवेत्। आत्मानमप्ययं नैव विजानाति विमोहितः। आनन्दात्मा ततः सुप्तावभोक्ता भोक्तृवत् स्थितः।।१२५।।

दिक्प्राणता

तस्य स्त्रीपुंसरूपस्य हृदयाकाशवासिनः। रक्तपिण्डशिराजालद्वयान्नवसनस्य तु।।१२६।।

प्राच्याद्याः कथिताः सर्वाः प्राणा इति दिशो दश। यथेन्द्रस्य दिविष्ठस्य तथेन्द्रस्य महेशितुः।।१२७

अत्राऽयन्तु विशेषः स्याद् दिग्भिः प्राणैरभिन्नता। इन्द्रस्य सर्वजगतः कारणस्येतरस्य न।।१२८।।

कैमुत्येनाह—सुप्ताविति। यतः सुप्तावात्मानमपि बुद्धिवृत्तिरूपैर्विशेषविज्ञानैः न विषयी करोति ततः सर्वविशेषविज्ञानानां विलयः स्पष्ट इति फलितमाह—आनन्दात्मेति।।१२५।।

सुषुप्तौ व्यष्टिसमष्ट्युपाधिकयोः प्राज्ञेश्वरयोः अभेदस्पष्टीकरणपरस्य 'तस्य प्राची' त्यादिवाक्यस्यार्थमाह—तस्येति पञ्चभिः। तस्य वर्णितस्य महेशितुः इन्द्रस्य जाग्रति स्त्रीपुंसभावेन स्थितस्य हृदयाकाशवासकाले रक्तपिण्डोऽन्नं शिराजालं वसनं च यस्यैतादृशस्य ये सुषुप्तेः पूर्वमविच्छेदेनेश्वराद् भेदप्रयोजकाः प्राणाः[1] शरीरे पूर्वादिदशदिगवच्छेदेन दशधाऽवस्थिता आसंस्तेऽधुना कारणे लयेन कारणात्मना सर्वपदार्थविशिष्टप्राच्यादिदिग्भावमापन्नाः, इति प्राणानुद्दिश्य अधिदेवेश्वराभेदो विधीयत इति। यद्वा दिशः सर्वपदार्थविशिष्टा उद्दिश्य प्राणत्वं विधीयते। प्राणशब्दोऽत्र सुषुप्तौ शिष्यमाणेऽज्ञानात्मनि वर्तते। सुषुप्तदृष्ट्या प्राणविलयेऽपि परदृष्ट्या प्राणसत्त्वात् प्राणशब्दप्रवृत्तिरित्युक्तमिति। अत्र दृष्टान्तः सर्वदिशामाधिपत्येन सर्वदिशः प्रियत्वेन प्राणतया मन्यमानः स्वर्गस्थ इन्द्रः। इति द्वयोरर्थः।।१२६-१२७।। दृष्टान्ताद् विशेषं स्वयमेव दर्शयति—अत्रेति। अत्र दार्ष्टान्तिकेऽयं विशेषः। 'अयम्' कः? वर्णितेन्द्रस्य सर्वजगत्कारणत्वेन सर्वैः दिग्भिः आधिदैविकपदार्थैः, प्राणैः आध्यात्मिकपदार्थैः च अभिन्नता एव भवति। कारणस्य सर्वविकारात्मतायाः कारणरूपेणैक्यस्य च लोकेऽपि प्रसिद्धत्वादिति भावः। इतरस्य

करने वाले अनुभव विलीन हो जाते हैं, अतः तमोऽभिभूत हुआ जीव स्वयं अपने को भी उस समय बुद्धिवृत्तियों से विषय कर जानता नहीं। इससे स्पष्ट है कि आनंदरूप आत्मा सुषुप्ति में भोक्ता है नहीं, भोक्ता की तरह भले ही उसका व्यवहार हो जाता है।।१२५।।

पूर्ववर्णित इन्द्ररूप महेश जब हृदयाकाशमें रहता है तब लाल हृदयपिण्ड उसके अन्न की जगह होता है और नसों का जाल उसके वस्त्रकी जगह होता है। सुषुप्तिसे पूर्व इंद्र को ईश्वर से लगातार अलग रखने वाले जो प्राण शरीर में दसों दिशाओं के संबंध से दस तरह उपस्थित रहते हैं, वे सुषुप्ति में कारण में—प्राज्ञ में, जिसे श्रुति ने 'प्राण' कह दिया है उसमें—विलीन होते हैं। पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं के रूप में कारण ही तो मौजूद है अतः दिशाएँ कारणसे अभिन्न हैं। इसलिये प्राण कारणसे एक होने पर दिशारूप हो जाते हैं यह कहना उचित है। सुषुप्त की दृष्टि से प्राणसमेत सकल संसार विलीन है फिर भी अन्यों को तो प्राण अनुभूयमान रहता है। अत एव प्राज्ञ को प्राण-शब्द से कह दिया जाता है। देवराज इन्द्र दिक्पाल हैं—सभी दिशाओं के मालिक हैं, दिशाओं को प्रिय होने से मानो अपना प्राण ही मानते हैं। अतः दिशाएँ जैसे उनके प्राण हैं वैसे अध्यात्म इंद्र के भी वे प्राण हो जाती हैं। इतना अंतर ज़रूर है कि अध्यात्म इन्द्र तो वास्तवमें जगत्कारण है। अतः सारी दिशाओं से अर्थात् आधिदैविक पदार्थों से और सारे प्राणों से अर्थात् आध्यात्मिक पदार्थों से अभिन्न ही है क्योंकि लोक में भी कार्यों का कारण से अभेद प्रसिद्ध है। स्वर्गराज का दिशाओं से यों अभेद नहीं, वह तो उनका केवल अभिमान ही है। (स्वर्गराजता की उपाधि के परित्याग से तो वे भी प्राज्ञ ही रह जाते हैं, यह भाव है।)।।१२६-१२८।। हृदयाकाश में स्थित होने वाला पुरुष सारे जगत् का कारण है। चारों तरह

१. 'सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः' इत्यंशो व्याख्यायते।

चतुर्विधानां भूतानां पञ्चानां महतामपि। भौतिकानां च सर्वेषां सदा सदसदात्मनाम्।।१२६।।
दिक्कालसहितानां स्याद् हृदाकाशे स्थितः पुमान्। कारणं यद्वदेतत् स्याद् नभोऽभ्रादेर्विलक्षणम्।।१३०।

आत्मैव गन्तव्यः

स एष भवता राजन्! गन्तव्यः सर्वदा पुमान्। इन्धो यो हृदयाकाशे स्थितो दिक्प्राणमूर्तिमान्।।१३१।।
अयमेव भवान् राजन्! अहमन्ये च जन्तवः। देहादेर्भेदतो भिन्नो नभो यद्वद् घटादिना।।१३२।।
राजन्नेष सदा ज्ञेयो घोरसंसारभीरुणा। अस्य ज्ञानं हि विज्ञेयं राजमार्गोऽत्र गच्छताम्।।१३३।।
अवाङ्मनसगम्योऽयं न शक्यो वक्तुमञ्जसा। मया त्वया न बोद्धुं च तेनेदृक् कथितं मया।।१३४।।
नैवं त्वयाऽत्र विज्ञेयो भावरूपो न चाऽपि सः। भावस्य प्रतिषेधो वा भावाभावविवर्जितः।।१३५

दिविष्ठस्य तु तथा न, तस्य हि अभिमानमात्ररूप एव दिग्भिरभेद इत्यर्थः।।१२८।। सुषुप्तौ शिष्यमाणमायोपाधिकस्य सर्वजगत्कारणता सर्ववेदान्तेषु प्रसिद्धेत्याह—चतुर्विधानामिति द्वाभ्याम्। जरायुजादिभेदेन चतुर्विधानां भूतानां प्राणिशरीराणां तथा महतां भूतानाम् आकाशादीनां, तद्विकाराणां स्थूलसूक्ष्मात्मकानां च सदिक्कालानाम् एतेषां सर्वेषां कारणं भवति य एष सुप्तौ हृदयाकाशे वर्णितः पुरुषः। ननु सच्चिदानन्दात्मकः कथमनृतजडदुःखात्मकस्य जगतः कारणम्? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरति—यद्वदिति। यथा निरवयवत्वादिना मेघविद्युदादिभ्यो विलक्षणम् अपि नभो मेघादीनां कारणं तथाऽयमात्माऽपि प्रपञ्चस्य विवर्तस्य अभिन्ननिमित्तोपादानताशालीति द्वयोरर्थः।।१२९-१३०।।

अथ तुरीयनिरूपणपरस्य[1] 'स एष नेती' त्यादिश्रुतिग्रन्थस्यार्थमुत्तरग्रन्थेनाचक्षाणस्तत्र 'स एष' इत्यनयोः पदयोरर्थमाह—स एष भवतेति त्रिभिः। यस्त्वया गन्तव्यत्वेन पृष्टः स एष एव यः पुमान् इन्धत्वेन जाग्रति वर्णितो, हृदाकाशे तैजसत्वद्वारा, दिगादिसर्वपदार्थात्मककारणरूपश्च वर्णित इत्यर्थः।।१३१।। अयमेव तव सर्वेषां च परमार्थत आत्मेत्याह—अयमेवेति। उपाधिमात्रेणाकाशवद्भिन्नो, वस्तुतस्त्वेक इत्युत्तरार्द्धार्थः।।१३२।। अस्यात्मत्वेन अतिसंनिहितत्वेन ज्ञानमात्रमेव प्राप्त्युपायत्वेन राजमार्गभूतं, न ग्रामादाविव क्रियारूपा गतिरत्रेत्याह—राजन्निति।।१३३।। 'नेति नेती' त्यंशस्यार्थमाह—अवाङ्मनसेति त्रिभिः। यतोऽवाङ्मनसगम्यत्वेन सर्वैः साक्षाद् वक्तुमशक्योऽयं तेन मयेदृग् उत्तरश्लोकद्वयोक्तप्रकारेण कथितम् उपदिष्टं भवतीति शेषः।।१३४।। नैवमिति। अत्र मत्कर्तृकोपदेशकाले एवं विधिमुखेनैव न विज्ञेयः किन्तु अतद्व्यावृत्त्या बोद्धव्यो, यतोऽयं भावरूपो भावत्वेन लोके प्रसिद्धा ये पदार्थाः तद्रूपो न भवति तथा भावस्य प्रतिषेधात्मकाभावरूपोऽपि न भवति, यतो भावत्वाभावत्वाभ्यां विवर्जित

के प्राणिदेह, पाँचों महाभूत, उनके स्थूल (सत्) सूक्ष्म (असत्) सभी परिणाम, दिक्, काल आदि सारा प्रपंच उसी सच्चिदानंद से उपजता है। निरवयव होने से बादल, बिजली आदि से सर्वथा विलक्षण आकाश जैसे मेघादि का कारण बन जाता है, ऐसे ही सच्चिदानंद आत्मा असत्य-जड-दुःख संसार का कारण बन जाये तो कोई आश्चर्य नहीं।।१२९-१३०।।

हे राजन्! जिस पुरुष को जाग्रदवस्थामें इन्ध बताया, हृदयाकाशमें रहने पर जो दिग्रूप प्राणात्मक मूर्ति वाला होता है (अर्थात् सर्वरूप होने से कारण है), वही सनातन पुरुष तुम्हारे लिये गन्तव्य है। यही तुम हो, मैं हूँ तथा अन्य जन्तु हैं। देहादि के अंतर से यही विभिन्न प्रतीत होता है जैसे घट आदि से आकाश बँटा हुआ प्रतीत होता है।।१३१-१३२।। घोर संसार से डरने वाले को चाहिये कि हमेशा इस परमात्मा को जानने का प्रयास करे। इस तक पहुँचने वालों केलिये इसका साक्षात्कार ही राजमार्ग है, क्रिया आदि अन्य कोई उपाय इसकी प्राप्ति का नहीं है।।१३३।। यह मन-वाणी से विषय किया नहीं जा सकता। न मैं इसे सीधे-सीधे बता सकता हूँ न तुम समझ ही पाओगे! इसलिये मैं यों समझाता हूँ : मेरे उपदेश में तुम उसे यह न समझ लेना कि वह भावरूप है अर्थात् उसका विधिमुखसे (विधायक पदों द्वारा,

१. 'स एष नेति नेत्यात्मा। अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो न हि शीर्यते, असङ्गो न हि सज्यते, असितो न व्यथते, न रिष्यति।' इत्यंशस्य।

नभो यथा न मेघादिः प्रतिषेधोऽपि नैव तत्। एवमात्मा न विश्वं स्याद् विश्वाभावोऽपि नैव सः।।१३६

सकारणो यथा सर्पो रज्ज्वामेव[1] प्रलीयते। रज्जुज्ञानात्तथा विश्वं भावाभावं सकारणम्।।

आत्मबोधादिदं राजन्नात्मन्येव विलीयते।।१३७।।

अगृह्यआत्मा

अगृह्योऽयं सदैवात्मा बाह्यैराभ्यन्तरैस्तथा। करणैरत एवाऽयं गृह्यते न कथञ्चन।।१३८।।

प्रमाणानां भवेल्लोके विषयः करणैर्हि यः। गृह्यते न त्वगृह्यः स्यात् प्रमाणविषयः क्वचित्।।१३९।।

अर्थो योऽतीन्द्रियो नित्यं बोद्धव्योऽसौ मनसा भवेत्। अन्यथाऽतीन्द्रियोऽर्थोऽयमिति ज्ञानं कथं भवेत्।।१४०।।

इति।।१३५।। अत्र दृष्टान्तमाह—नभ इति। यथा नभो मेघादिरूपं मेघप्रतिषेधरूपं च न भवति एवमात्मा विश्वविश्वाभावोभयात्मको न भवतीत्यर्थः।।१३६।। 'यच्चाप्नोति यदादत्ते' इत्यादिभगवद्व्यासोक्तिमनुरुध्य सर्वं कल्पितं स्वज्ञानेन आदत्ते ग्रसतीति व्युत्पत्तिं प्रदर्शयन्नात्मपदार्थमाह—सकारण इति। स्वारोपप्रयोजकाज्ञानेन सहितः सर्पो ज्ञातायां रज्ज्वां यथा लीयते तथा सह मूलेन विश्वं ज्ञातेऽधिष्ठाने लीयते। अतः सर्वाधिष्ठानमात्मेत्युच्यत इति भावः।।१३७।।

अगृह्यपदार्थमुपबृंहयति—अगृह्योऽयमित्यादिभिः पञ्चाधिकचत्वारिंशता श्लोकैः। ग्रहीतुं विषयीकर्तुमयोग्यत्वादेव ज्ञानादिकरणैः न गृह्यत इति।।१३८।। करणग्राह्यताऽभावे करणविशेषात्मकप्रमाणग्राह्यतारूपं प्रमेयत्वं दूरापास्तमित्याह—प्रमाणानामिति। यो भावः करणैर्गृह्यते विषयी क्रियते स एव प्रमाणविषयत्वेन लोके प्रसिद्धो, न तु तद्विपरीतः। तथा च अगृह्य आत्मा कथं प्रमेयः स्यादिति भावः।।१३९।। ननु बाह्यान्तःकरणविषयत्वं न प्रमाणविषयत्वव्यापकम्, अतीन्द्रिये स्वर्गापूर्वदेवतादौ प्रमाणविषये करणसंसर्गादर्शनाद्? इति शङ्कां वारयति—अर्थ इति। अन्यथा तस्य मनोग्राह्यत्वानङ्गीकारे 'अयमर्थोऽतीन्द्रिय' इति आकारं मनस्यनुभूयमानं ज्ञानं कथम् उपपद्येत? इति। तथा च व्याप्तिज्ञानशब्दज्ञानादिसहकृतं मनोऽतीन्द्रियमपि विषयीकरोतीति भावः। अत्र मनःपदेन तदुपहितः साक्षी विवक्षितः, सिद्धान्ते मनसः करणत्वाभावादिति[2] बोध्यम्।।१४०।।

निष्प्रतियोगिक स्वरूप के बोधक शब्दों से) निरूपण हो सकता है क्योंकि वह अतद्व्यावृत्ति से समझा जाने लायक है, क्या-क्या परमात्मा नहीं है, यह समझ लेने पर परमात्मा खुद-ब-खुद भास जाता है। लेकिन यह भी मत मान लेना कि यह कोई अभाव ही है! यह तो भाव-अभाव दोनों से विलक्षण है। आकाश न मेघादि कहा जा सकता है, न यही कह सकते हैं कि मेघादिका अभाव आकाश है; ऐसे ही आत्मा न विश्व ही है और न विश्वका अभाव ही।।१३४-१३६।। रज्जु की प्रमा हो जाने पर जैसे साँप अपने कारणभूत अज्ञान सहित रज्जुमें ही मानो विलीन हो जाता है, ऐसे ही भाव-अभावरूप विश्व अपने कारण सहित आत्मा में ही विलीन होता है जब आत्मा की अप्रतिबद्ध प्रमा हो जाती है।।१३७।। यह परमात्मतत्त्व बाह्य-आन्तर इंद्रियों से कभी विषय नहीं किया जा सकता, वे इसे किसी तरह विषय करने में समर्थ नहीं, अतः यह अगृह्य अर्थात् अग्राह्य है।।१३८।। लोक में देखा गया है कि प्रमाणों का विषय वही बनता है जो किसी करण द्वारा ग्राह्य है। करण से ग्रहण न किये जाने वाली वस्तु प्रमाण का विषय हो ऐसा कहीं नहीं देखा गया। जो

---

१. रज्ज्वज्ञानस्य कुतो रज्ज्वां विलयः? रज्जुसत्त्वमवशिष्यते, तदज्ञानं न तिष्ठतीत्येतावता तदबोधस्य तस्यां विलय उच्यत इत्यदोषः। न हि रज्ज्वज्ञानस्य रज्जुरुपादानमिह कथ्यते। २. अतींद्रिये शब्दादि करणं, मनस्तु ज्ञानमात्रं प्रति हेतुत्वादपेक्षितमिति 'मनसा बोध्य' इत्यत्र मनो न करणमुक्तमित्यर्थः। न तु साक्षिणः करणत्वमभिप्रेयते!

प्रमाणमप्रमाणं वा प्रमातारमपेक्षते। प्रमा प्रमाया विषयः फलं चाप्यप्रमा तथा।। अप्रमायाश्च विषयः फलं वा तं समाश्रयेत्।।१४१।।

मानामानादिविशेषोऽन्धपरम्परा

मानामाने तथा भग्ने विषयौ तत्फले अपि। विषयौ हि यदा स्यातां तथा भिन्ने परे च ते।। यथाकथञ्चित् पुरुषा वर्णयन्तीह साहसात्।।१४२।।

एवमविषयस्वभावस्यात्मनो ग्रहणायोग्यता दर्शिता। अथात्मभिन्नस्य सर्वस्य विषयस्वभावत्वेन स्वभासकमात्मानं ग्रहीतुं न सामर्थ्यमिति दर्शयितुमात्मभिन्नस्य सर्वस्य विषयस्वभावतामाह—प्रमाणमित्यादिना। प्रमाणं प्रमाकरणम्; अप्रमाणम् अप्रमायाः करणम्; एते द्वे अपि तावत् प्रमातारं प्रमातृत्वोपलक्षितं साक्षिणं स्वसिद्धये समाश्रयतः। न केवलमेते एव किन्तु प्रमा अबाधितार्थगोचरवृत्तिः, तस्या विषयो घटादिरूपः, फलं चावरणभङ्गादिरूपम्; तथाऽप्रमा बाधितार्थगोचरवृत्तिः, तद्विषयः, तत्फलं च, एतानि सर्वाणि साक्षिणं स्वसिद्धये समाश्रयन्ति इति।।१४१।। एवं सति यथा सुचक्षुषः सन्निधौ पयः श्वेतमेव, अन्धानां सदसि तु नानारूपं भवतु नाम! तथा साक्षिणो भासकस्यापेक्षया मानादीनां सर्वेषां विषयत्वमेव, मानत्वादिरवान्तरो विशेषस्तु तेषाम् अन्धपरम्परयैव सिद्ध इत्याह—मानेति। मानामाने प्रमाणाप्रमाणे यदा विषयौ विषयत्वमात्रपात्रं जाते, कीदृशे? भग्ने शिलाभेदनप्रवृत्तकुठारवत् साक्षिणं प्रकाशयितुं प्रवृत्ते सती भग्ने प्रतिहते। फलाश्रयो हि विषय इत्युच्यते, तथा च मानामाने एव भवतः, न साक्षीति भावः। तत्फले इति पदमावर्तते। तथा च तयोर्मानामानयोः फले प्रमाऽप्रमारूपे, तयोः प्रमाऽप्रमयोः फले च विषयनिष्ठे ज्ञाततादिरूपे[1] विषयौ जाते; तथा तयोः विषयौ विषयावेव तदा ते मानामानादिरूपे द्वन्द्वचतुष्टये परस्परं भिन्ने, परे विरुद्धस्वभावे च भवतः, इति यत् पुरुषा वादिनो वर्णयन्ति तद्वर्णनं तेषां साहसाद् एव, विषयत्वेन अविशेषं मानादीनामननुसन्धायैव प्रवृत्तमित्यर्थः।।१४२।।

पदार्थ हमेशा इंद्रियोंसे अतीत हो वह मन से समझा जाता ही है; यदि ऐसा न मानें तो 'यह वस्तु इंद्रियातीत है' यही ज्ञान कैसे होगा? (व्याप्ति, शब्द आदि को सहायता मिलने पर मन इंद्रियातीत को भी विषय कर लेता है यह मानना पड़ता है। 'मन ग्रहण करता, विषय करता है' से समझना चाहिये कि मनउपाधिक आत्मा अर्थात् साक्षी उन्हें विषय करता है।।)।।१३९-१४०।।

इतना ही नहीं, आत्मा से भिन्न जो भी कुछ है वह सभी स्वभावतः विषय ही है अतः उसे भासक आत्मा की ज़रूरत रहती है। अपने भासक को वह अनात्म-पदार्थ भासित करे यह संभव नहीं। प्रमा और अप्रमा के करण, प्रमा उसका विषय और फल, अप्रमा तथा उसके विषय व फल—ये सभी अपनी सिद्धि केलिये प्रमातृत्वोपलक्षित साक्षी का सहारा चाहते ही हैं। अतः इनमें से कोई भी आत्मा को विषय कैसे करे? (यहाँ प्रमा का अर्थ उस वृत्तिसे है जिसके विषय का व्यवहारसीमाओं में बाध नहीं होता। उसका विषय घट आदि संसार है और फल का अर्थ है आवरणनिवृत्ति। जिस विषय का व्यवहारभूमि में ही बाध हो जाये उसे मानो विषय करती वृत्ति अप्रमा है जिसका 'फल' भी मानो वैसी ही निवृत्ति है। 'मानो' इसलिये कि भ्रम में ज्ञानसे स्वतंत्र विषय और उसका निवर्तनीय आवरण अमान्य है।)।।१४१।। जिसकी आँखें स्वस्थ हैं, उसके लिये दूध सफेद ही रहता है, अंधों की संसद् उसे भले ही नाना रंगों का निर्धारित करे! इसी तरह साक्षी तो भासक है अतः उसके लिये प्रमाण-प्रमेय आदि सारा संसार विषयमात्र है; संसार में किसी को प्रमाण, किसी को प्रमेय इत्यादि विभाजन अंधविश्वास ही है! जब यह निर्णीत है कि प्रमाण-अप्रमाण साक्षी के विषय ही हैं तो साक्षी को प्रकाशित करने का उनका मनोरथ भग्न ही होना है ! विषय कहते हैं फल के आश्रय को; साक्षी को विषय करने जाने पर प्रमाण-अप्रमाण का ही प्रतिघात होता है जैसे कठोर शिला पर उसे काटने केलिये कुल्हाड़ी चलायें

१. आदिनाऽप्रमायाः फलं व्यवहार-संस्कारादि कथ्यते।

अमानं मानतो गम्यं यदा स्यात् तद्धि किन्तदा। भवेन्मानं तथात्वे स्यान्मानामानकथा वृथा।।१४३

अपेक्षया यथा मानममानं तद्वदेव हि। अपेक्षयैव मानं स्यादमानं वादिनां बलात्।।१४४।।

मानगम्यममानं यन्मानस्याऽपि न मानता। रज्जुसर्पादिकानां स्याज्ज्ञानेष्वत्र न मानता।।१४५।।

तत्र मानामानयोर्निरूपणे साहसं तावत् स्पष्टयति—अमानमिति। मानामानयोर्मध्ये, अमानं वर्णयन्तो वादिनः किम् अमानस्वरूपं प्रमाणेन गृहीत्वा वर्णयन्ति, अप्रमाणेन वा? अन्त्ये; भ्रान्तत्वं तेषां स्पष्टम्। आद्ये; इदमुच्यते—अमानं मानतो मानेन गम्यं ग्राह्यं यदा स्यात् तदा तद् अमानग्राहकं मानं किं मानं स्याद्? अपि तु न स्यात्, मिथ्यार्थगोचराऽमानग्राहकस्य मानत्वं व्याहतमिति भावः। ननु यदेव यस्य ग्राहकं तदेव तत्र मानमिति चेत्? तर्हि मिथ्यार्थग्राहकममानमपि मानं स्यादित्याशयेनाह—तथात्व इति। तथात्वे ग्राहकमात्रस्य मानत्वे।।१४३।। मानामानकथाया वृथात्वं प्रकारान्तरेण स्पष्टयति—अपेक्षयेति। यथा रूपापेक्षया मानत्वाभिमतं चक्षुर्मानं तथा गन्धापेक्षया तदेवाऽमानमिति।।१४४।। अमानग्राहकत्वे मानस्याऽमानत्वापत्तिं दृष्टान्तेन स्फुटयति—मानेति। यद् यतो मानगम्यं मानेन गृहीतममानस्वरूपमपि भवताङ्गीकृतं, तत एवाऽमानभूतार्थग्राहकत्वादेव मानस्यापि मानता न, मानता गता रज्जुसर्पज्ञानवदित्यर्थः।।१४५।। एवं मानस्य ग्रहणं मानेन, अमानेन वा? आद्ये; स्वेन ग्रहणे,

तो शिला में कोई अंतर नहीं आता, कुल्हाड़ी बिगड़ती है। प्रतिघातरूप फल का आश्रय प्रमाण-अप्रमाण ही होने से वे ही विषय कहलाने योग्य हैं, आत्मा या साक्षी को विषय नहीं कह सकते। जैसे प्रमाण-अप्रमाण वैसे उनके फल प्रमा-अप्रमा भी विषय ही हैं और उनका भी फल जो ज्ञाततादि है, वे भी विषयकोटि में ही रहते हैं। प्रमाणादि के विषय घटादि विषय हैं इसमें कहना ही क्या? इस प्रकार ये सभी विषय हैं। ऐसी परिस्थिति में इन्हें आपसमें विभिन्न और प्रमाण-अप्रमाण आदि को परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाला जो लोग कहते हैं वह उनका साहसमात्र है। वस्तुतः तो इनमें विषयता होने से ये एकरूप ही हैं।।१४२।।

प्रमाण-अप्रमाण को विभिन्न मानकर निर्वचन की कोशिश ग़लत है, यह विचार से निर्णीत हो जाता है : अप्रमाण का निर्वचन करने के लिये उसका स्वरूप बताना होगा, वह प्रमाण से ग्रहण होता है या अप्रमाण से? यदि अप्रमाणका स्वरूप अप्रमाणसे पता चला कर निर्वचनमें प्रवृत्ति है तब स्पष्ट ही निर्वचनकर्ता की भ्रान्तता है! यदि कहो कि अप्रमाण को प्रमाण से जाना जाता है तब भी कहना अटपटा है क्योंकि अप्रमाण के ग्राहक को प्रमाण कहना बनता ही नहीं। (मिथ्यार्थ-विशिष्ट ही अप्रमाण होगा, अतः उसका ग्राहक भी मिथ्यार्थ को विषय करेगा जिससे वह प्रमाण कहला नहीं सकता।) यदि मिथ्यार्थगोचर को भी प्रमाण कहो तब प्रमाण-अप्रमाण इस विभाजन का कोई मायने ही नहीं रहेगा।।१४३।। इतना ही नहीं, यह निर्णीत भी नहीं कि प्रमाण हमेशा प्रमाण ही रहे : रूप की अपेक्षा से चक्षु प्रमाण मानी जाती है लेकिन गंध की अपेक्षा से वही अप्रमाण हो जाती है! अतः प्रमाण-अप्रमाण तो वादियों के अनुसार बदलते रहते हैं, इस पर विचार करना व्यर्थ ही है।।१४४।। जब अप्रमाण को प्रमाणगोचर मान लिया तब प्रमाण की भी प्रमाणता रह कहाँ गयी? रज्जुसर्पादि के ज्ञानों में जैसे प्रमाणता नहीं वैसे ही अप्रमाणग्राहक होने पर प्रमाण में भी नहीं रहेगी।।१४५।।

प्रमाण-अप्रमाण रूप साधनों के बारे में जो बताया कि इनका विभक्त निर्वचन संभव नहीं वह प्रमा और अप्रमा के बारे में भी समझ लेना चाहिये। प्रमा का ग्रहण किससे होगा? यदि अप्रमा से हो तो अप्रमाविषय होने से प्रमा भी अप्रमा ही होगी! यदि प्रमा से हो, तो ग्राहक प्रमा क्या ग्राह्य प्रमासे अभिन्न है या भिन्न? अभिन्न हो तो आत्माश्रय दोष होगा और भिन्न हो तो अन्योन्याश्रय, चक्रक तथा अनवस्था का मार्ग खुल जायेगा। जब प्रमा-अप्रमा के करणों और उनसे जन्य प्रमा-अप्रमा वृत्तियों का भेद ही प्रमाणसिद्ध नहीं तब प्रमाणादि पर आश्रित भेद वाले फल में भेद प्रामाणिक नहीं हो सकता इसमें कहना ही क्या! आवरणनिवृत्ति से उपलक्षित जो अर्थप्रकाशरूप फल उसमें स्वभाव से ही कोई

एवं मायामपि ज्ञेयमुक्तं यत् करणेष्विह। फले नैव विभेदोऽस्ति क्वचिदर्थप्रकाशने।। स्वतोऽतो भेदकं हित्वा किञ्चिन्मानादि कारणम्।।१४६।।

विषयाऽसिद्धिः

विषयेषु न भेदोऽस्ति भेददृष्टेरभावतः। सत्ता ज्ञानेन गन्तव्या ज्ञानं चेदप्रमा भवेत्।।१४७।।
न चैव विषयः सिद्धिं याति कुत्रापि कर्हिचित्। अन्यथा रज्जुसर्पादेः सिद्धिः स्यादप्रमादतः।।१४८

मानताऽसिद्धिः

मानं हि विषयान् गृह्णद् मानं स्यादथ वा स्वतः। प्रथमे नैव सिद्धिः स्यात् सदा विषयमानयोः।१४९
अन्योन्याश्रयताऽपि स्याद् दोषः पक्षे पुरोदिते। स्वतश्चेद् मानता तस्य स्यादमानस्य सा न किम्।।१५०।।

आत्माश्रयः। परेण ग्रहणे, अन्योन्याश्रयादिश्च। अन्त्ये; मानत्वहानिरिति। इममर्थं सिद्धवद् मत्वा, उक्तं न्यायं प्रमादावतिदिशति—एवमिति। मायां प्रमायां तदुपलक्षितायाम् अप्रमायां च ज्ञेयं योज्यं यत् करणेषु मानामानरूपेषु उक्तम् इति। किं प्रमा प्रमयैव ग्राह्या, अप्रमया वा? आद्ये, आत्माश्रयादिः। अन्त्ये, अप्रमात्वापत्तिरिति। यदा करणानां तज्जन्यवृत्तीनां च प्रमासंज्ञानां भेदस्याऽप्रामाणिकत्वं सिद्धं तदा प्रमाणाद्युपाधिक एव यस्य भेदस्तस्य फलस्य भेदोऽप्रामाणिक इति किमु वक्तव्यम्! इत्याह—फल इति। अर्थप्रकाशनरूपे फले—आवरणभङ्गोपलक्षिते—स्वतः स्वभावादेव भेदो नास्ति किन्तु मानादिकम् अतः अनया उपाधितया भेदस्य कारणं प्रयोजकमपेक्ष्यैव भेदः, स चोपाधीनामेव। भेदसाधकाभावो बाधित इत्यर्थः।।१४६।।

एवं मानादीनां विषयसाधकानां भेदस्याऽप्रामाणिकत्वे विषयाणां भेदस्याऽप्रामाणिकत्वं सुतरां सिद्धमित्याह-विषयेष्विति। भेददृष्टेः भेददृष्टिसामग्र्या अभावेऽप्रामाणिकत्वे विषयेषु कथं भेदः सिद्ध्येत्? तदेव स्पष्टयति-सत्तेत्यादिना। सत्ता विषयस्येति शेषः, ज्ञानेन प्रमादिरूपेण। अन्यथाऽप्रमाविषयस्यापि सिद्धौ रज्जुसर्पादीनामपि सिद्धिरप्रमादतः प्रमादाभावकालेऽपि स्यात्; सत्यार्थस्य हि सावधानतादशायां मानं प्रसिद्धम्! इति द्वयोरर्थः।।१४७।।१४८।।

ननु चक्षुरादिमानेन विषयसिद्धिरिति दुराग्रहेण पृच्छतो दुराग्रहं मानत्वाऽसिद्ध्या सोपपत्तिकं खण्डयति—मानं हीति पंचभिः। भवदभिमतं मानं यदा विषयान् गृह्णत् प्रकाशयद् भवति तदा मानं प्रमाणत्वशालि भवति, किं वा स्वतः स्वभावादेव मानम्? आद्ये, विषयमानयोः परस्परसिद्धिसापेक्षसिद्धिकयोः अन्यतरस्यापि सिद्धिर्न स्यात्; न हि परस्परापेक्षाणि कार्याणि लोकेऽपि सिद्ध्यन्तीति भावः।१४९।। ननु सापेक्षाणामपि सिद्धिः कुतो न भवतीति चेत्? परस्परापेक्षाया एव दोषत्वेन प्रतिबन्धकत्वादित्याह—अन्योन्याश्रयतेति। पुरोदिते प्रथमे। अपिशब्देन सापेक्षसिद्धिकस्य तृतीयादेः कल्पनायां चक्रकानवस्थादिर्गृह्यते। अन्ते तु स्वभावादेव मानस्य मानत्वे, अमानस्य अपि स्वभावादेव मानत्वं कुतो न सिद्ध्यतीति? न च स्वभावस्य पर्यनुयोगायोग इति वाच्यम्; सत्यं स्वभावो न पर्यनुयोज्यो यदि प्रामाणिकः स्याद्, अत्र तु न मानमिति भावः।।१५०।। ननु मानानां मानत्वमौत्सर्गिक-

भेद हो यह तो संभव नहीं, प्रमाणादि जब उपाधि हों तभी फल में किसी भेद को समझा जाता है जो भेद वस्तुतः उपाधियों का ही होता है। जब उन उपाधियों में भेद का बाध दिखा दिया तो उनसे उपहित फल में भेद नहीं इसमें कहना ही क्या?।।१४६।।

जब भेददर्शन की सामग्री ही प्रामाणिक हो नहीं सकी तब विषयों में प्रामाणिक भेद नहीं है इसमें कोई संदेह नहीं। प्रमारूप ज्ञान से ही विषयसत्ता का निर्णय करना चाहिये। यदि ज्ञान अप्रमा होगा तो कहीं कोई विषय कभी सिद्ध नहीं होगा। ऐसा न मानें तो जब प्रमाद (असावधानी) नहीं है तब भी रज्जुसर्पादि सिद्ध होने चाहिये क्योंकि सत्य पदार्थ सावधानी से देखने पर उपलब्ध अवश्य होते हैं। इसलिये विषयभेद किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं।।१४७-८।।

परतो यद्यमानत्वममानेषु तथापि हि। मानेनैव भवेत्तद्धि तस्यापि परतों न किम् ।।१५१।।

भवेदमानता तत्र कारणं नैव दृश्यते। इत्युक्तेऽपि भवेत् स्वस्ति मानायास्मै न कर्हिचित् ।।१५२।।

अदर्शनं यथा मानं तदोक्ता दोषसन्ततिः। भवेदमानतायां स्याद् विषयस्याप्यमानता।।१५३।।

ततो विषयसत्तायां मानं नैव लभामहे। माऽमानयोः कथं नाम सत्तायां मानमस्ति ते।।१५४।।

त्वात् स्वाभाविकम्, अमानानां तु दोषेण परगृहीतेनापोद्यते—इति मीमांसकरीत्या मन्यमानं प्रत्याह—परत इति। यदि अमानेषु अमानत्वं परतः परेण दोषग्राहकेण सिद्ध्यति इति मन्यसे तथापि तद् **अमानस्याऽमानत्वं केनचिद् दोषग्राहकेण मानेनैव स्याद् उपपद्येत। तत्रैवं पृच्छ्यते तस्य दोषग्राहकस्य** अपि **तद् अमानत्वं परेण तद्दोषग्राहकेण** किं न भवेद् इति।।१५१।। **ननु दोषग्राहकमानस्याऽमानत्वं भवेदेव यदि तत्र अप्रामाण्यप्रयोजको दोष उपलभ्येत, अत्र तु प्रत्युत अनुपलब्ध्या दोषाभाव एव गृह्यते, इति कथमप्रामाण्यम्? इति शङ्कामनूद्य तन्निरासं प्रतिजानीते—भवेदिति।** त्वदुक्तविधया **दोषग्राहकमानस्य** अमानता **भवेद् एव** परन्तु **तत्र** अमानत्वग्राहकस्य अमानत्वे **कारणं** प्रयोजकं दोषरूपं **न दृश्यत इति** त्वया **उक्तेऽपि** मानस्य **स्वस्ति** कुशलं सिद्धिरूपं दुर्लभमिति।।१५२।। **कुतः? इत्याकाङ्क्षायामाह—अदर्शनमिति।** अदर्शनम् अनुपलब्धिः दोषाभावं मानत्वोपयोगिनं गृह्णन्ती किं **मानरूपा सती** गृह्णाति, अमानरूपा सती वा ? आद्ये, **उक्तविधया स्वाभाविकमानत्वानुपपत्या दोषशङ्कावारणाय उत्तरोत्तरं माना-पेक्षायामनवस्था भवेत्।** अन्त्ये, **विषयस्य** अनुपलब्धिग्राह्यदोषाभावकस्य **अमानतासिद्धिरित्यर्थः।।१५३।।** **फलितमाह—तत इति।** यत **उक्तविधया मानत्वसिद्धिर्नास्ति** तत **एव विषयसत्तासाधकस्याभावः ते** स्वप्रकाशात्मानभ्युपगच्छतो मते। विषयसत्ताऽसिद्धौ च त्वन्मते विषयभानानुमेयसत्ताकयोः **मायाः** प्रमायास्तथाऽमानस्य च सत्तासाधकमानाभावः किमु वाच्य इत्यर्थः।।१५४।।

विषयसिद्धि प्रामाणिक नहीं क्योंकि प्रमाणता ही सही-सही परिभाषित नहीं हो पाती। यह विचारणीय है कि विषयों का ग्रहण करते हुए करणों को प्रमाण मानें या स्वभाववश ही स्वीकार लें कि अमुक करण प्रमाण ही है ? यदि विषय ग्रहण करते हुए प्रमाण मानना इष्ट हो तो न विषय सिद्ध होगा, न प्रमाण! (प्रामाणिक विषय ग्रहण करे तभी करण प्रमाण हो और प्रमाणसिद्ध होने पर ही विषय प्रामाणिक होगा; इस प्रकार दोनों की सिद्धि एक-दूसरे की अपेक्षा रखेगी जिससे अन्योन्याश्रय दोष स्फुट है।) इससे बचने के लिये यदि प्रमाणता को स्वाभाविक मानें तो शंका होगी कि तब अप्रमाणता भी स्वभावतः ही क्यों न मानी जाये ? प्रमाण होना निरपेक्ष अतः औत्सर्गिक है जबकि दोष समझ आने पर अप्रमाणता पता चलती है अतः वह परतः होना ठीक है—ऐसा समाधान मीमांसक करते हैं; किंतु पुनः परीक्षणीय है कि दोष का ग्रहण करने वाला ज्ञान भी अप्रमाण है यह दोषग्राहक किसी अन्य ज्ञान से क्यों पता नहीं चल जाता? ।।१४९-५१।। इस पर यदि कहो कि दोषग्राहक ज्ञान भी अप्रमाण हो तो सकता था लेकिन उसकी अप्रमाणता का हेतुभूत कोई दोष पता चल नहीं रहा इसलिये उसे अप्रमाण नहीं कह सकते; तो इस कथन से भी प्रमाण की सिद्धि दुर्लभ है : प्रमाण बना रहने के लिये अपेक्षित जो दोषाभाव उसका ग्रहण जिस अनुपलब्धि से हो रहा है (कि अप्रमाणता का प्रयोजक दोष है नहीं,) वह १) प्रमाण है या २) अप्रमाण ? यदि वह १) प्रमाण है तो पुनः प्रश्न उठेगा कि अप्रमाण क्यों नहीं? वही उत्तर दोगे कि दोष नहीं है इसलिये अप्रमाण नहीं। 'दोष नहीं है' यह अनुपलब्धि से पता चलेगा, वह प्रमाण होगी या अप्रमाण ? यों अनवस्था ही होगी! २) और यदि अनुपलब्धि अप्रमाण है तो जिसे वह निर्दोष देख रही है वह प्रमाण माना जाने वाला ज्ञान भी अप्रमाण ही हो जायेगा क्योंकि निर्दोषता अप्रामाणिक होने पर वस्तुतः सदोष होगा अतः अप्रमाण होगा।।१५२-३।।

इस प्रकार प्रमाणता सिद्ध न होने से तुम्हारे मतका अनुसरण करने पर हमें विषयों की सत्ता में कोई प्रमाण मिल नहीं रहा। विषयसत्ता की अपेक्षा से ही प्रमा-अप्रमा समझे जाते हैं। जब विषयसत्ता में ही प्रमाण नहीं तब प्रमा-अप्रमा में प्रमाण क्योंकर हो पायेगा? ।।१५४।।

मानादिभेदः कल्पितः

अपि सर्वस्य मेयत्वे कथमेतच्चतुष्टयम्। चतुष्टयस्य चाभावे कथं मानादिसंस्थितिः।।१५५।।

ततो मानादिभेदोऽयं गन्धर्वनगरोपमः। अभिमानेन संसिद्धो वादिनां न तु वस्तुतः।।१५६।।

अपेक्षया हि यद्यत्र भवेत् तत्र न तद् भवेत्[1]। पुरुषत्वं यथा स्त्रीणामपेक्षाजं न विद्यते।।१५७।।

अपेक्षा बुद्धिरुद्दिष्टा बुद्धिर्नार्थग्रहक्षमा। बुद्धित्वाद्यद्वदेषा स्याद् रज्जुसर्पगता सदा।।१५८।।

अर्थग्रहं विनाऽप्येष व्यवहारो यथा भवेत्। लौकिकस्तद्वदेवाऽयं व्यवहारोऽप्यमानतः।।१५९।।

श्रुतेरपि न कोऽप्यस्ति विषयः किन्तु साऽपि हि। भावाभावकृतीरात्मन्यध्यस्यैव प्रवर्तते।।१६०।।

स्वयंप्रकाश आत्माऽतः सिद्ध्यति स्वत एव हि। तस्मान्न मानतस्तस्य सिद्धिः क्वापीह संभवेत्।।१६१

किञ्च मामानयोः फलस्य च मानेन सिद्धिस्वीकारे तेषां मेयत्वस्यैवापत्तौ मा-मान-मेय-फललक्षणस्य चतुष्टयस्य तत्प्रयुक्तस्य व्यवहारस्य च सिद्धिस्तव मते कथं स्यादित्याह—अपीति। सर्वस्य माप्रभृतेः। संस्थितिः व्यवहारक्षमत्वम्।।१५५।। कथं तर्हि सिद्धान्ते सर्वोपपत्तिरिति चेत्? स्वप्नवद् अविद्यामूलकया कल्पनयेत्याह—तत इति। अभिमानेन कल्पनयेति यावत्। कल्पितानां तु साक्षिमात्रभास्यत्वं प्रसिद्धमिति।।१५६।। कल्पितस्य वस्तुतोऽभावं विशदयति—अपेक्षयेति। अपकृष्टा दोषप्रयुक्ता ईक्षा दृष्टिः अपेक्षा, तया यत्र अधिष्ठाने यद्भवेत् सिद्ध्येत् तत् कल्पितं तत्र अधिष्ठाने वस्तुतो न भवेत्, यथा पुरुषवेशशालिनीषु स्त्रीषु पुरुषत्वम् इति।।१५७।। अपेक्षापदार्थप्रदर्शनपूर्वकं कल्पनाया विषयसत्तौदासीन्येऽनुमानमाह—अपेक्षेति। अपकृष्टेक्षारूपा अपेक्षा लोके बुद्धिः इति उद्दिष्टा प्रोक्ता, अत एव नूतनमर्थं कल्पयन्तः कवयो 'मद्बुद्धावेवं भाति' इति व्यवहरन्तीति। तथा चैवं प्रयोगः—बुद्धिः अर्थस्य ग्रहे सत्तासाधने न क्षमा, बुद्धित्वाद्, रज्जुसर्पविषयकबुद्धिवद्—इति। न चाऽप्रयोजकत्वम्, 'नेह नाने' त्यादिश्रुत्यनुगुणत्वादिति।।१५८।। अर्थेति। यथा च एष रज्जुसर्पबुद्धिकृतो व्यवहारो भयकम्पादिलक्षणः सदर्थग्रहं विनाऽपि भवति तद्वदेवाऽयं लौकिकः सर्वोऽपि व्यवहारो विना मानं सिद्ध इत्यर्थः।।१५९।। एवं दृश्यमात्रस्य कल्पितत्वेन साक्षिमात्रभास्यस्य आत्मभानाऽक्षमत्वं दर्शितम्। तत्रौपनिषदत्वप्रसिद्ध्या श्रुतिविषयत्वमाशङ्क्य, तस्यान्यथोपपत्तिमाह—श्रुतेरिति। श्रुतेरपि जडं न तात्पर्यविषयो, मिथ्यात्वात्; नाऽत्मा, स्वयंप्रकाशत्वात्। किन्तु सा श्रुतिः अपि भावाभावपदार्थस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चानुकूलाः कृतीः कर्तृत्वानि जगज्जन्मादिकारणत्वमिति यावत्, आत्मनि अध्यस्य अध्यारोप्य तदपवदन्ती प्रवर्तते बोधयतीत्यर्थः। तथा चावरणभङ्ग एव तदाकारवृत्तिव्युत्पादनेन श्रुतेर्व्यापारो, नात्मप्रकाशने। तावतैव चौपनिषदत्वमिति भावः।।१६०।। फलितमाह—स्वयमिति। क्वापि लोके वेदे च; मानानामावरणभङ्ग एव व्यापारादिति।।१६१।।

किं च यदि यह मानते हो कि सभी कुछ प्रमेय होता है (जैसा न्यायी माना करते हैं) तो प्रमा-प्रमाण-प्रमेय-फल यह चतुष्टय (चार का समूह) कैसे सिद्ध होगा (क्योंकि इसका तो एक अवयव ही है 'प्रमेय')? और यदि यह चतुष्टय नहीं होगा (अर्थात् प्रामाणिक एवं च प्रमेय नहीं होगा) तो प्रमा आदि व्यवहारसाधक कैसे होंगे (क्योंकि अप्रामाणिक को तार्किक व्यवहारका साधक नहीं मानता।) ? ।।१५५।।

इसलिये यही मानना चाहिए कि यह प्रमाणादि सारा भेद गंधर्वनगर की तरह है, वादियों की कल्पना से ही इसकी सिद्धि है। पुरुष वेश धारण करने से स्त्रियों में जैसे पुरुषत्व नहीं आ जाता वैसे जो जहाँ किसी अपेक्षा से होता है वह वहाँ सचमुच नहीं रहा करता। (दृष्टांत में वेशकी अपेक्षा से पुंस्त्व प्रतीयमान है।)।।१५६-७।। 'अपेक्षा' एक

१. 'न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचिद्' इति सर्वज्ञमुनयः।

आत्मनश्चिदभास्यता

अपि मानादिभेदोऽयं प्रमातुः संश्रयाद् भवेत्। प्रमिणोमीति विज्ञानकर्तारं न विहाय हि।
प्रमाणादिविभेदोऽयं दृष्टः केनाऽपि कुत्रचित्।।१६२।।

प्रमाता तु यदा ज्ञेयो भवेद्वादिमते तदा। केनासौ चेतनेन स्यात् स वा स्वेन परेण च।।१६३।।

परविज्ञानपक्षे स्याज्जानाम्येनमितीव धीः। आत्मानमिति नैव स्याद् न ह्यन्योऽन्यात्मतां व्रजेत्।।
आत्मनैवात्मनो ज्ञानं दुष्करं तत् प्रसज्ज्यते।।१६४।।

एवं मानादेर्भास्यत्वेन स्वभासकात्मभासकत्वं नास्तीत्युक्तम्। अथ चेतनभास्यत्वनिरासेन स्वयंप्रकाशत्वं द्रढयितुं पूर्वोक्तमनुवदति—अपीति। अपिशब्दः श्लोकादौ वर्तमानो वाक्यान्तरारम्भसूचक इत्युक्तम्। सर्वो मानादिभेदः प्रमातुः संश्रयात् प्रमातृसिद्धौ सत्यामेव भवतीति प्रसिद्धं सर्वत्र। एवमन्वयमुखेनोक्तं व्यतिरेकमुखेनाह—प्रमिणोमीत्यादिना। अहं प्रमिणोमि सम्यङ्निश्चिनोमि इति-आकारकतया आश्रयं प्रमातारं विना मानादिभेदसिद्धिः न दृष्टेत्यर्थः।।१६२।। प्रमाता त्विति। उक्तविधः प्रमाता स्वरूपभूतस्वप्रकाशचैतन्येनैव सिद्धो, विशिष्टकेवलयोरभेदादिति सिद्धान्तः। अन्यथा वादिनां मतान्यनुसृत्य अहमित्याकारकज्ञानविषयत्वेन सिद्धिस्वीकारे वक्तव्यम्—असौ प्रमाता किं स्वेन आत्मनैव चेतनेन ज्ञानलक्षणक्रियाविषयतां नीयते, परेण वा? इति।।१६३।। अन्त्ये; आह—परेति। यथा देवदत्तो यज्ञदत्तं जानन् 'एनं जानामि' इत्यनुसन्दधाति, तथा परविज्ञानपक्षे 'एनं प्रमातारं जानामि' इति एवमनुसन्दध्याद्, न तु 'आत्मानं जानामि' इति, परस्य परत्र आत्मशब्दप्रयोगानुपपत्तेरिति। आद्ये; आह—आत्मनैवेति। आत्मकर्तृकाऽऽत्मकर्मिका च ज्ञानक्रिया कर्मकर्तृत्वविरोधान्न संभवतीत्यर्थः।।१६४।।

प्रकार का ज्ञान है और ज्ञान किसी अर्थ की सत्ता सिद्ध करने में अक्षम होता है क्योंकि रज्जुसर्प के ज्ञान में यह अक्षमता परखी जा चुकी है। यदि पूछो कि ज्ञान हो और वह अर्थसत्ता सिद्ध करने में अक्षम भी न हो अर्थात् सक्षम हो तो क्या हानि है? इसका उत्तर है कि 'नेह नानास्ति' आदि श्रुति प्रमाणित कर रही है कि अर्थसत्ता है नहीं अतः यदि ज्ञान इससे विरोध रखेगा तो उसका प्रामाण्य नहीं रहना ही उसकी हानि होगी! श्रुति तो निश्चित प्रमाण है, अन्य ज्ञानों में प्रमाणता विचारणीय है अतः श्रुतिविरोध से उन्हीं का प्रामाण्य जाता रहेगा।।१५८।। रज्जुसर्पज्ञान से जैसे डरना, काँपना आदि व्यवहार हो जाता है ऐसे लौकिक सभी व्यवहार बिना किसी सत्य अर्थ के ग्रहण से हो इसमें कोई विरोध नहीं है।।१५९।। अन्य ज्ञानों का क्या कहें! श्रुति का भी कोई विषय नहीं है। जड तो मिथ्या होने से श्रुतितात्पर्य हो नहीं सकता और आत्मा स्वयम्प्रकाश होने से विषय हुआ ही नहीं करता। आत्मप्रबोधन के लिये स्थूल-सूक्ष्म जगत् के जन्मादि के प्रति कर्तृत्व आदि का आत्मा पर अध्यारोप कर उसके अपवाद की प्रक्रिया श्रुति अपनाती है। आवरण हटाने मात्र में श्रुति का व्यापार है, आत्मा के प्रकाशन में है नहीं। इतने से ही आत्मा औपनिषद कहा-समझा जाता है। वह भी श्रुति का विषय हो यह बात नहीं।।१६०।। क्योंकि स्वयंप्रकाश है इसलिये वह स्वतः ही प्रकाशमान है, लोक या वेद कहीं भी उसकी सिद्धि प्रमाण से हो यह संभव ही नहीं (संदिग्धादि हो तो प्रमाण की ज़रूरत भी पड़े। आत्मा तो सभी को हमेशा भास रहा है, अतः प्रमाणका कोई कृत्य नहीं।)।।१६१।।

किं च, प्रमाणादि यह सारा भेद प्रमाता की सिद्धि होने पर ही निर्णीत हो सकता है। 'मैं सही निश्चय कर रहा हूँ, यों जो अनुभव करता है उसे छोड़ दें तो प्रमाणादि यह भेद कहीं किसी को अनुभव में आता नहीं।।१६२।। प्रमाता भी जो उसका वास्तविक तत्त्व है उस स्वप्रकाश चेतन से ही सिद्ध है, और किसी से नहीं। यदि प्रमाता 'मैं' इस ढंग के मानस ज्ञान से सिद्ध माना जाये, जैसा न्यायादिवादी बताते हैं, तो प्रश्न होगा कि जिस ज्ञान का वह विषय हो रहा है, वह ज्ञान उसी प्रमाता को है या किसी अन्य प्रमाता को? ज्ञान होगा तो किसी न किसी चेतन को ही। यदि अन्य

तर्किणां चिज्जडाविवेकः

अपि चेदात्मनात्मानमात्मा वेत्ति स चेतनः। ज्ञानादज्ञो घटोऽप्येवं स्वयं स्वं केन वेत्ति न।।१६५।।

जडरूपो भवेदात्मा घटश्च कथमेतयोः। विशेषो न च मूर्तत्वं नभसो ज्ञानिनां तथा।।१६६।।

न च देहेन सम्बन्धो ज्ञानित्वे स्याद् नियामकः। नभआदेरसौ नैव नास्ति केन नभस्तदा।।१६७।।

एवं स्वस्वामिभावादिसम्बन्धो दुर्भणो भवेत्। भोक्तृता कर्तृता चैवं सर्वत्रैव प्रसज्ज्यते।।१६८।।

यद् यत्र दृश्यते तत्र तत् स्यादित्यप्यपेशलम्। दृष्टिर्नामात्र का ते स्याद् यां समर्थ्य कृती भवान्१६९

किं च तार्किकमते जडेभ्य आत्मनः को विशेष इत्याह—अपि चेदिति। ज्ञानाद् मनःसंयोगजं ज्ञानगुणं प्राप्य चेतनः सन् आत्मानं जानाति, केवलस्तु अज्ञो जड एवेति मते घटोऽपि मनःसंयोगेन आत्मानं कुतो न जानाति? इत्यर्थः। न च घटे मनोयोगो नास्तीति वाच्यम्; अणुत्वेन नित्यानामनेकमुक्तपुरुषसम्बन्धिमनसां सम्बन्धस्य सौलभ्यादिति भावः।।१६५।। जडत्वेन घटात्मनोः साम्ये तव मते घटात्मनोर्विशेषो दुर्वच इत्याह—जडेति। ननु घटस्य मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणत्वरूपम् आत्मनो वैलक्षण्यप्रयोजकमिति चेत्? तर्हि विभोराकाशस्य आत्मत्वप्रसक्तिस्त्वया दुष्परिहरेत्याह—न च मूर्तत्वमित्यादिना। यथा घटे वर्तमानं मूर्तत्वं घटस्यात्मनो विशेषः तथा विभूनां ज्ञानिनां भवदभिमतात्मनां नभसः च कोऽपि विशेषो न अस्तीत्यर्थः।।१६६।। विशेषमाशङ्क्य निराचष्टे—न चेति। शरीरावच्छिन्न आत्मनि ज्ञानं जायत इत्यभ्युपगच्छतस्तव मते देहसम्बन्धोऽपि नियामको ज्ञाननियमनद्वारा आत्मभेदकः अङ्गीकर्तुं न शक्यो यतो नभःप्रभृतेर्विभोः असौ देहसम्बन्धः केन हेतुना नैव नास्ति—किन्त्वस्त्येव, विभुत्वस्य साम्यात्। फलितमाह—नभस्तदेति। तदा शरीरसम्बन्धस्य आत्मत्वनियामकत्वे नभ एवात्मा स्यादित्यर्थः।।१६७।। जडात्मवादिन इष्टापत्तिं निरस्यति—एवमिति। एवं स्वभावतो जडरूपात्मनः स्वीकारे स्वस्वामिभावो जडवर्गेण सह चेतनस्य भोक्तृभोग्यभाव इति यावत्; आदिपदेन उपकार्योपकारकभावादिः सम्बन्धः चेतननिर्वाह्यो दुर्निरूपः स्याद्, आगन्तुकज्ञानहेतोः मनःसंयोगादेरुक्तविधया घटादिदेशेऽपि सौलभ्यात् कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सर्वत्र स्यादिति।।१६८।। ननु न घटादेः कर्तृत्वाद्यापत्तिः, प्रत्यक्षरूपायास्तन्मूलकानुमितिरूपायाश्च

प्रमाता को पूर्वोक्त ज्ञान मानें तब 'इसे जान रहा हूँ' यह बोध होगा न कि 'स्वयं को जान रहा हूँ', क्योंकि एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को 'मैं' यों नही समझ सकता! और यदि प्रमाता-साधक 'मैं'-ज्ञान उसी प्रमाता को होता है यह मानें तो कर्तृ-कर्मविरोध होगा, जानने का कर्ता और कर्म एक प्रमाता ही हो जायेगा जो न्यायी विचारक स्वीकार नहीं सकते।।१६३-१६४।।

गोतमानुयायी जडों से आत्मा का अंतर बताने में भी असमर्थ हैं : मनःसंयोग से उत्पाद्य ज्ञानरूप गुण पाकर चेतन हुआ आत्मा जानता है, बिना मनःसंयोग के वह ज्ञानरहित ही बना रहता है—यह न्यायवेत्ता कहते हैं। उन्हें बताना चाहिये कि तब मनःसंयोग होने पर घट भी खुद को क्यों नहीं जान लेता? स्वतः ज्ञानहीन जैसे आत्मा वैसे घट, तब इनमें अंतर कैसे है? मूर्त अर्थात् सीमित परिमाण वाला होना—यही आत्मा से घट में भेद यदि कहोगे तो आकाश ही आत्मा होने लगेगा क्योंकि वह अमूर्त ही है! ज्ञान वाले आत्माओं में और आकाश में अंतर नहीं बता पाओगे। यदि कहो ज्ञानवान् होने में शरीरसम्बन्ध हेतु बनता है तब भी फायदा नहीं क्योंकि आकाशादि विभु पदार्थों का भी शरीर-सम्बन्ध है ही।।१६५-१६७।। इसी तरह मिलकियत-मालिक का संबंध, उपकार्य-उपकारक का सम्बंध इत्यादि को चेतन से निर्वाह्य कहना संगत नहीं होगा क्योंकि मनःसंयोग घटादि सर्वत्र सुलभ होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी वहाँ हों इसे कैसे रोका जाये?।।१६८।। तार्किक यह कह सकता है कि जो जहाँ दीखता है वही वहाँ हो सकता है; कर्तृतादि का घटादि

दृष्टिपरीक्षा

अस्याऽसिद्धौ यतो नैव ज्ञानमात्रं प्रसिद्ध्यति। अस्य सिद्धौ तया नार्थः सर्वदा फलशून्यया।।१७०।।

अपि दृष्टिर्भवेन्नूनं मानं मानं च नैव हि। सिद्धमद्यापि केन त्वमात्मानं साधयिष्यसि।।१७१।।

अपि मानं भवेन्माया हेतुर्वा सा प्रमा भवेत्। माहेतोर्मानता ते स्यात् प्रदीपस्येव सर्वथा।।१७२।।

तथा च सर्वमानानां मानान्तरमपेक्षितम्। एवं स्यादनवस्थादिदूषणं दुर्भणं तव।।१७३।।

दृष्टेर्व्यवस्थापकतयाऽऽश्रयणाद्? इति तार्किकशङ्कामनूद्य; तन्निरासं प्रतिजानीते—यद् यत्रेति। अपेशलम् असुन्दरम्। त्वयाऽभ्युपगता दृष्टिः किमात्मरूपा, तद्धर्मरूपा वा? आद्ये, अस्मदिष्टापत्तिः। अन्त्ये, धर्मस्य भवन्मते धर्मिभिन्नस्य प्रकाशरूपत्वेऽपि धर्मिणो जडस्य भानं कथम्? न हि पुत्रपाण्डित्येन पितुः पाण्डित्यम्! इत्याशयेनाह—दृष्टिर्नामिति। अत्र आत्मनि त्वदङ्गीकृता दृष्टिः किंस्वरूपा याम् उपपाद्य भवान् कृती कृतार्थः स्यादित्यर्थः।।१६९।। आत्मभिन्नाया दृष्टेरात्मनि नोपकारकत्वमितीममर्थं हेतुत्वेनाह—अस्येति। दृष्ट्यामभ्युपगतायामपि अस्य आत्मनः तद्भिन्नस्य जडस्य यदि असिद्धिः तदा तदाश्रिताया दृष्टेः कथं सिद्धिः? यदि त्वात्मा स्वयंप्रकाशत्वेन मानान्तरेण वा सिद्ध्यति, तदा निष्फलया दृष्ट्या कोऽर्थः? इत्यर्थः।।१७०।। किञ्च त्वया दृष्टिः करणव्युत्पत्त्या प्रमाणरूपाऽभ्युपगम्यते, प्रमाणत्वसिद्धिस्तु पूर्वोक्तरीत्या दुर्लभा, इति कथं तया दृष्ट्याऽऽत्मसिद्धिरित्याह—अपीति। स्पष्टम्।।१७१।। किञ्च भवदभ्युपगता दृष्टिर्मानं भवन्ती किं चक्षुरादिवत्करणव्युत्पत्त्या मानं, भावव्युत्पत्त्या वा? आद्ये, प्रमाकरणत्वलक्षणप्रामाण्यलाभाय स्वजन्यज्ञानस्य प्रमात्वसाधकं मानान्तरमपेक्षणीयम्, एवं तेनान्यत्तेनान्यदित्यनवस्था स्यादित्याह—अपि मानमिति। सा दृष्टिः मानं भवन्ती मायाः प्रमायाः करणं यतस्ततो मानं भवेद् अथ वा प्रमा एव

में प्रत्यक्षादिसे दीखना होता नहीं, अतः उनमें कर्तृतादि मानना संभव नहीं जबकि आत्मामें कर्तृतादि दीखते हैं अतः उसमें मानने चाहिये और यही आत्मा तथा जड में अंतर हो जायेगा। किन्तु न्यायी का यह कथन भी विचारसह नहीं। जिसे वह दीखना या दृष्टि कह रहा है वह क्या वस्तु है? यदि दृष्टि आत्मा ही है तब तो उसने स्वमत छोड़कर वेदांत ही स्वीकार किया! यदि दृष्टि आत्मा नहीं बल्कि उसका धर्म (गुण) है तो समस्या है : धर्म धर्मी से भिन्न होता है ऐसा न्याय में मान्य है। धर्मरूप दृष्टि भले ही प्रकाशरूप हो, उससे धर्मी का (ज्ञानस्वरूप न होने से जड कहलाने योग्य आत्मा का) भान कैसे होगा? पुत्र की विद्वत्ता से पिता तो विद्वान् नहीं होता! अतः 'दीखने' के सहारे भी उक्त विभाजन सिद्ध नहीं हो सकता।।१६९।। आत्मा की सिद्धि के बिना सिर्फ ज्ञान तो सिद्ध हो नहीं सकता क्योंकि आश्रय असिद्ध रहते आश्रित सिद्ध नहीं हुआ करता। और यदि आत्मा सिद्ध हो ही गया तो 'दृष्टि' का कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा! आत्मसिद्धिरूप फल ही उसका प्रयोजन हो सकता था, आत्मा तो दृष्टिसिद्धि से पूर्व ही सिद्ध है तब दृष्टि का कोई फल नहीं रह गया।।१७०।। इतना ही नहीं, दृष्टि से अभिप्राय है प्रमाण से और प्रमाण को असिद्ध किया ही जा चुका है। तब प्रमाणरूप दृष्टिसे आत्मा को कैसे सिद्ध करोगे?।।१७१।। किं च, दृष्टि प्रमाण किस तरह है : क्या प्रमाका करण होने से प्रमाण कही जा रही है या प्रमा होने से ही उसे प्रमाण कहा जा रहा है? यदि प्रमाका करण होने से दृष्टि को प्रमाण कहो तब जैसे दीपक प्रमाहेतु है, ऐसे ही वह भी होगी अतः अपने से जन्य ज्ञान से प्रमात्व का ग्रहण करने वाले अन्य प्रमाण की इसे ज़रूरत रहेगी, फलतः अनवस्था ही होगी। (प्रमाहेतु दीपक प्रमासापेक्ष है ऐसे प्रमाण भी होगा यह अर्थ है।) यों सभी प्रमाणों को अन्य प्रमाणों की आवश्यकता होने से अनवस्थादि दोष होंगे जो अस्वप्रकाशवादियों केलिये असमाधेय होंगे।।१७२-१७३।।

यदि प्रमा ही प्रमाण (दृष्टि) हो तो भी क्या वह स्वयं भासमान है या भासती ही नहीं है? वह भासे ही नहीं तब तो घटादि की तरह प्रमाण हो नहीं सकती। ऐसे ही किसी अन्य द्वारा प्रकाशित होने वाली हो तो भी घटतुल्य होने से अप्रमाण होगी। खुद ही खुद से प्रकाशित हो यह संभव नहीं क्योंकि संसार में ऐसा नहीं देखा जाता कि कोई

माऽपि मानं भवेद्यर्हि तदा सापि कथं भवेत्। भाता सती स्वयं किं साऽप्यथवा भानवर्जिता।।१७४।

भानशून्या भवेन्नैषा मानं घटसमा यतः। भाताऽपि न परेण स्यादुक्तदोषप्रसङ्गतः।। न च स्वेन स्वयं स्वस्य भानं लोके न दृश्यते।।१७५।।

अपि स्वयं यदा भाता तदाऽप्येषा हि कीदृशी। खद्योतसदृशी वा स्यादादित्यसदृशी हि वा।।१७६।

आद्ये खद्योतवन्न स्याद्विषयस्य प्रकाशिका। द्वितीये सर्वविज्ञानमेकबुद्धौ भवेत्तव।।१७७।।

असंसर्गिणोऽगृह्यता

अपि बुद्धिर्यदा जाता विषये न तदा स्वयम्। उत्पद्यते विना तत्र संयोगादीन् कदाचन।।१७८।।

कर्ता भोक्ताऽयमात्मा स्यादिति तेऽवगतं कथम्। नेत्रसंयोगतो नैवं गम्यतेऽत्र कदाचन।।१७९।।

भावव्युत्पत्त्या मानपदार्थभूता सा दृष्टिः भवेद् इति पूर्वार्द्धार्थः। आद्ये, प्रदीपवत् प्रमाहेतोः मानता त्वदभ्युपगता। तथा च स्वजन्यज्ञानप्रमात्वग्राहकमानान्तरापेक्षापरम्परयाऽनवस्था। आदिपदेन निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तिर्ग्राह्या। दुर्भणं दुःखेन समाधेयम्। इति द्वयोरर्थः।।१७२-१७३।। अन्त्ये, या न्यायमते प्रमा प्रसिद्धा सैव साङ्ख्यमते यथा प्रमाणं तथा त्वयाङ्गीकारेऽपि वक्तव्यम्—साङ्ख्यानामिव मानभूता दृष्टिः किं स्वयंप्रकाशा, प्रकाशहीना वा, परप्रकाश्या वा? इति विकल्प्य, अन्त्यावनूद्य निरस्यति—मापीति द्वाभ्याम्। मा प्रमा।।१७४।। भानेति। यदा भानशून्या तदाऽन्धकारस्य घटसाम्यम्। यदा परप्रकाश्या, तदापि घटसाम्यम्, अनवस्थाप्रसङ्गश्चाधिकः, परस्यापि परसापेक्षस्यापेक्षणादित्यर्थः। आद्यं स्वयंप्रकाशविकल्पं निराचष्टे—न च स्वेनेति। स्वेन भाता इति न च वक्तव्यं यतो लोके स्वयं स्वस्य भानं न दृश्यत इत्यन्वयः। त्वया हि शुष्कतार्किकेण लौकिकदृष्टान्तमनुरुद्ध्यैवार्थः साधनीयः। लोके च स्वकर्मकप्रकाशकर्ता कश्चिदर्थो न दृष्ट इत्याशयः।।१७५।। स्वयंभानपक्षेऽपि आत्मभिन्ना दृष्टिः किं खद्योतवत् स्वरूपस्यैव प्रकाशिका, किं वाऽऽदित्यवत् सर्वप्रकाशिका? इत्याह—अपि स्वयमिति।।१७६।। विकल्पयोः क्रमेण विषयाऽसाधकत्वं सर्वज्ञतापत्तिं च दोषमाह—आद्य इति। एकबुद्धौ एकस्याऽर्थस्याऽपि ज्ञानकाले सर्वज्ञानं स्यादिति।।१७७।।

एवं मानस्य दुर्निरूपत्वेन आत्मनो अगृह्यतोक्ता। इदानीमभ्युपेत्यापि चक्षुरादीनां मानतां तत्सन्निकर्षायोग्यतयाऽऽत्मनोऽगृह्यतेति दर्शयति—अपि बुद्धिरिति त्रिभिः। किञ्च यदा बुद्धिः विषये घटादौ जायते तदा अपि स्वयम् एव न जायते किन्तु चक्षुरादिप्रमाणानां संयोगादिसम्बन्धमपेक्ष्यैव जायत इत्यर्थः।।१७८।। ततः किम्? अत आह—कर्तेति। आत्मा कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च विशिष्ट इत्याकारकं ज्ञानं तव कथं जातम्? न हि चक्षुरादीन्द्रियसंयोगेन एवम् उक्ताकारेण ज्ञानं संभवति, 'पराञ्चि खानि' (कठ.२.१.१) इत्यादिश्रुतेः पराक्त्वस्य इन्द्रियसंयोगव्यापकस्य अभावेन तद्व्याप्यस्य इन्द्रियसंयोगस्याऽभावात्। मनस्तु प्रमाणपरतन्त्रत्वाद् वृत्तिं प्रति उपादानत्वेन तां प्रति करणत्वात्, करणत्वाभ्युपगमे चानुमित्यादीनां प्रत्यक्षत्वापाताच्च न प्रमाणमिति भावः।।१७९।। इन्द्रियसंयोगविषयत्वाभ्युपगमे च पराक्पदार्थस्य देहादेरात्मतापत्तिः, तथा च असुरव्यामोहार्थं

पदार्थ ऐसे प्रकाश का कर्ता हो जिसका कर्म भी वह स्वयं हो। किं च दृष्टि को स्वयं भासने वाला मानें तब भी क्या वह जुगनू की तरह सिर्फ खुद को प्रकाशित करती है या आदित्यादि की तरह सभी को प्रकाशित करती है? प्रथम पक्ष मानो तो दृष्टि विषयों का ज्ञान नहीं करा पायेगी और दूसरा विकल्प मानो तो किसी भी एक अर्थ का ज्ञान होने पर सर्वज्ञता हो जानी चाहिये!।।१७४-१७७।।

नेत्रसंयोगतश्चैतज्ज्ञानं देहे विजायते। तथा च मतमायातं बलाद् देवगुरोस्तव।। नानुमानादिकं
किञ्चिद् दृश्यते मूलहीनतः।।१८०।।

द्रष्टेत्यादिश्रुतिर्यद्वद् अद्रष्टेत्यादिका तथा। तस्मादात्मगतौ नैवं मानमेयादि लभ्यते।।१८१।।

अपि सर्वस्य नैवैतदुक्तरीत्याऽत्र लभ्यते। आत्मनस्तु कथं नाम भवेदेतत् सुदुर्लभम्।। अगृह्यस्तत
एवाऽयमुक्तो मात्रा समानया।।१८२।।

चार्वाकमतप्रणेतुर्बृहस्पतेर्मतस्य स्वीकारप्रसङ्ग इत्याह—नेत्रेति। एतद् उक्ताकारकं ज्ञानं यदि नेत्रसंयोगतो जायेत तर्हि देह एव जायेत, तथा च चार्वाकत्वमन्धतमःप्रवेशकारणं बृहस्पतिप्रणीतलोकायतशास्त्रानुसारि प्रसज्जेतेत्यर्थः। इन्द्रियकरणकप्रत्यक्षाऽसम्भवे च प्रत्यक्षमूलकानामनुमानादीनां विषयता दूरतो निरस्तेत्याह— नानुमानादिकमिति।।१८०।। ननु प्रमाणान्तराभावेऽपि कर्तृवाचकतृच्प्रत्ययान्तद्रष्टाश्रोतामन्तेत्यादिपदरूपैतरेयश्रुतिः कर्तृत्वे मानमिति चेद्? न, दर्शनकर्तृत्वादिनिषेधकस्य अद्रष्टाऽश्रोतेत्यादिश्रुत्यन्तरस्याप्यपूर्वार्थत्वेन स्वार्थपरस्य तत्र विद्यमानत्वादित्याह—द्रष्टेत्यादि। द्रष्टेत्यादिका कर्तृत्वानुवादिका श्रुतिर्यथा विद्यते तथाऽद्रष्टेत्यादिका (   ) कर्तृत्वनिषेधिकाऽपि वर्तत इत्यर्थः। 'ब्रह्मैव तेज एव' (बृ.४.४.७) इत्यादिकाऽऽत्मनस्तेजस्त्वेन चैतन्यमात्रताबोधिका; तथा विद्यावस्थायां 'केन कं पश्येद्' (बृ.४.५.१५) इत्यादिका कर्तृत्वं प्रतिक्षिपन्ती च श्रुतिरत्रानुसन्धेया। फलितमाह—तस्मादिति। आत्मनो गतौ ज्ञाने मानादिकं न अस्तीति, किन्तु स्वयंप्रकाशतयैवात्मा भासत इत्यर्थः।।१८१।। परमार्थतो वर्णितरीत्या कस्याप्यर्थस्य ज्ञाने मानादिकं दुर्वचं किमुतात्मनीत्याह—अपि सर्वस्येति। परमफलितमाह—अगृह्य इति। हितोपदेशकत्वेन जननीसमानया श्रुत्या तत एव अगृह्य इति अयम् आत्मा उक्त इत्यन्वयः।।१८२।।

पूर्वोक्त ढंगसे विचार द्वारा निर्णीत है कि प्रमाण को ही परिभाषित नहीं किया जा सकता तो आत्मा प्रमाणग्राह्य नहीं इसमें क्या संदेह! यदि चक्षु आदि को प्रमाण मान लें तो भी उनके संसर्ग के अयोग्य होने से आत्मा अग्राह्य रहेगा ही। घटादि के बारे में ज्ञान खुद-ब-खुद तो पैदा होगा नहीं वरन् चक्षु आदि प्रमाणों का घटादिसे संयोगादि सम्बन्ध होने पर ही घटादि का प्रत्यक्षादि ज्ञान हुआ करता है। आत्मा के बारे में न्यायी को जो यह ज्ञान हुआ कि आत्मा कर्ता-भोक्ता है वह हुआ कैसे? आंखों का आत्मा से संयोग होकर यह ज्ञान हुआ हो यह असंभव है, कारण कि श्रुति ने नियम बताया है कि इंद्रियाँ पराग्विषयक ही हैं, अतः जहाँ इंद्रियसंयोग होगा वहाँ परात्ता (अप्रत्यक्ता, अनात्मता) अवश्य होनी पड़ेगी और परात्ता न होने पर इंद्रियसंयोग होगा ही नहीं! मन तो प्रमाणाधीन रहकर ही वृत्ति बनाता है। स्वयं मन प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि तब अनुमिति आदि भी प्रत्यक्ष ही होने लगेंगे, जो कोई नैयायिक मानता नहीं, अतः बिना किसी प्रमाण के मन ने ही यह प्रमित कर लिया कि आत्मा कर्ता भोक्ता है, यह कहना असंगत हो जायेगा। बल्कि अगर नेत्रों के संयोग से यह आत्मज्ञान हो सके तब तो देहविषयक ज्ञान ही आत्मबोध हो जायेगा। तुम जैसों को देवगुरु द्वारा प्रणीत चार्वाक मत ही स्वीकारना पड़ेगा। जैसे चार्वक असुरों को मोह में डालने के लिये प्रणीत दर्शन है वैसा ही आत्मा को कर्ता-भोक्ता प्रत्यक्ष के बल पर मानने वाला दर्शन भी हो जायेगा। कर्ता-भोक्ता आत्मा में अनुमान भी हो नहीं सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षके ही सहारे प्रवृत्त हो सकता है और जब आत्मगोचर प्रत्यक्ष नहीं तब उस पर टिकने वाला अनुमान कैसे आत्मा को विषय करे?।।१७८-१८०।।

यदि कहा जाये कि वेद में आत्मा को द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आदि कहा है जिससे पता चलता है कि वह दर्शनादि का कर्ता है तो वह कथन भी अधूरा वेद पढ़ने का फल होगा क्योंकि वेद में आत्मा को अद्रष्टा आदि भी तो कहा है। ऐसे ही 'ज्ञानं ब्रह्म' आदि से उसे ज्ञानस्वरूप बताया है तथा अद्वैत में 'देखने' का न कर्ता हो सकता है न कर्म

अशीर्य आत्मा

श्रुत्या सर्वात्मनस्तस्य शीर्णताऽपि न विद्यते। भेदवत् शीर्णतां गच्छेल्लोके यद्वसनादिकम्।।१८३।।

मूर्तिमच्च तथा नायं शीर्यते तत् कथं पुमान्। अशीर्योऽतस्तथोक्तोऽयं श्रुत्या यस्मान्न शीर्यते।१८४

असङ्गः

अपि सङ्गवतां सङ्गाद् दोष आयाति कालतः। यथा जलस्य शीतस्य ह्युष्णता वह्निसङ्गतः।।१८५।।

असङ्गस्य तथा दोषो दृष्टो नैव कथञ्चन। नभसोऽत्र विशुद्धस्य यथाऽब्दादिकृतो नहि।।१८६।।

मूर्तं हि सङ्गवद् दृष्टं परिच्छिन्नं च वादिभिः। तस्माद्विलक्षणस्याऽस्य सङ्गः स्यात् केन हेतुना।।१८७

प्रत्यासत्तिर्भवेत् सङ्गः संयोगादिरथाऽपि वा। फलं तस्य भवेल्लोके कञ्चित् कालं तदात्मता।।१८८।।

अशीर्यपदार्थमाह—श्रुत्येति। श्रुत्या इति पदं पूर्वान्वयि। सर्वात्मकत्वेन हिंसकस्याऽसम्भवात् शीर्णता हननकर्मताऽस्यात्मनो न युज्यते। किञ्च लोके वस्त्रादिकं शीर्णताया अवयवबन्धशैथिल्यरूपाया आश्रयत्वेन प्रसिद्धं, तद् भेदवत् तथा मूर्त्याऽवयवघनीभावात्मकया युक्तं च दृष्टम्। आत्मनि तु शीर्णताव्यापकं तदुभयं भेदवत्त्व-मूर्तिमत्त्वलक्षणं नास्ति, ततस्तद्व्याप्यशीर्यत्वं कथमुच्येतेत्यभिप्रायेण 'यस्मान्न शीर्यतेऽतोऽशीर्य' इति श्रुत्योक्तः। इति द्वयोरर्थः।।१८३-१८४।। एवं स्वाभाविकविक्रियाऽभाव उक्तः। अथागन्तुकदोषाभावपरस्य 'असङ्ग'-पदस्यार्थं दर्शयति—अपि सङ्गवतामिति पञ्चभिः। ये लोके सङ्गवन्तः तेषां सङ्गहेतुको दोषः परिणामादिः आयाति प्राप्नोति कालवशाद् यथा वह्नेः सङ्गात् जलस्य इति।।१८५।। सङ्गस्य दोषप्रयोजकतां व्यतिरेकेणापि दर्शयति—असङ्गस्येति। अब्दो मेघः; आदिपदेन विद्युदादिग्रहः।।१८६।। श्रुतौ 'न हि सज्जत' इत्यनेन सङ्गप्रयोजकयोर्मूर्तत्वपरिच्छिन्नत्वयोरभावः सङ्गाभावे हेतुतया सूचित इत्याशयेनाह—मूर्तं हीति। तस्माद् मूर्तात् परिच्छिन्नाच्च विलक्षणस्य अस्य आत्मनः।।१८७।। सङ्गस्य सफलस्य स्वरूपमभिनयति—प्रत्यासत्तिरिति। प्रति आभिमुख्येन आसत्तिः लाभः—इतरं प्रति गुणीभाव इति यावद्, यथा वह्नेर्जलं प्रति। अथवा संयोगादिः सम्बन्धः। एतदुभयरूपः सङ्गः प्रसिद्धः। तस्य सङ्गस्य फलं तु कञ्चित् कालं तदात्मता तस्य सङ्गप्रतियोगिन आत्मेवात्मा स्वरूपं यस्य तत्त्वम्; यथा वह्निसङ्गेन जलस्य उष्णतया वह्न्यात्मकतेति।।१८८।। आत्मनस्तु अद्वितीयत्वेनोक्तस्य सङ्गस्य

यह भी स्पष्ट किया है। एवं च यही निश्चय युक्त है कि आत्मा के ज्ञानकेलिए प्रमाणादि उपलब्ध नहीं हो सकते, वह स्वप्रकाश चिद्रूप भासता ही है जिसके लिये कोई सहारा नहीं चाहिये। विचारित प्रकार से जब किसी केलिये संसारमें कोई प्रमाण नहीं तब यह सुतराम् दुर्लभ वस्तु आत्मा केलिये भी कैसे हो सकेगी? अतः माताके समान हितोपदेष्टा वेद ने इसे अगृह्य अर्थात् अग्राह्य कहा है जिसे यथाश्रुत ही समझने का प्रयास करना चाहिये।।१८१-१८२।।

सर्वरूप होने से आत्मा की शीर्णता भी नहीं हुआ करती अर्थात् वह हनन-क्रिया का कर्म नहीं बन सकता। लोक में यही देखा गया है कि भेद वाली और मूर्ति वाली (घनीभूत अवयव वाली) वस्तु ही शीर्ण होती है जैसे वस्त्रादि। आत्मा भेद और मूर्ति से रहित है अतः वह शीर्ण हो ही नहीं सकता। इसीसे प्रमाणभूत वेद ने उसे अशीर्य घोषित किया है।।१८३-१८४।।

आत्मामें जैसे स्वाभाविक विकार नहीं ऐसे ही कोई आगन्तुक विकार भी है नहीं। लोक में जो संग वाले (सम्बन्ध वाले) पदार्थ होते हैं उन्ही में कालवश संगहेतुक विकारादि दोष आते हैं जैसे आगके संग से जल में विकार आते हैं। असंगमें किसी तरह दोष हो यह देखा नहीं जाता जैसे नभ विशुद्ध है, असंग है तो बादल, बिजली आदि से

स्वसजातिविजात्युत्थभेदगन्धविवर्जितः। कथं स तादृशः केन तत्फलोऽपि भवेत् पुमान्।।१८९।।

अपि सङ्गवतां सङ्गाद् बन्धादिफलभाजिनाम्। आरम्भकादिहेतूनां वियोगादिसमुद्भवात्। विनाशः सहसा क्वापि शनैर्वाथ क्वचिद् भवेत्।।१९०।।

अयमात्मा यतोऽसङ्गो बध्यते न ततः क्वचित्। विनश्यति न चाप्येष सङ्गाभावेन हेतुना।।१९१।।

विशेषैरखिलैः शून्यो ह्यवाङ्मनसगोचरः। गन्तव्यो भवता राजन् भवान् सर्वात्मकः पुमान्।।१९२।।

अभयलाभः

मा ते भवतु राजेन्द्र! भयं संसारशूलतः। अभयं सर्वजन्तूनामानन्दात्मानमीश्वरम्।। आत्मानमात्मरूपेण प्राप्तोऽस्यैक्येन सर्वदा।।१९३।।

तत्फलस्य चाऽसम्भव इत्याह—स्वसजातीति। यत आत्मा सजातीयादिभेदहीनस्ततः तादृशो वर्णितसङ्गवान् कथं भवेत्? तथा इतरतादात्म्यलक्षणसङ्गफलशाली च कथं भवेद्? इति।।१८९।। असङ्गत्वे चात्मनो नित्यमुक्तत्वं तेन रूपेणाविनाशित्वं च परमपुरुषार्थरूपताप्रयोजकं सिद्धमित्यर्थपरस्य 'असितो न रिष्यति' इति वाक्यस्यार्थमाह—अपि सङ्गवतामिति द्वाभ्याम्। ये लोके सङ्गवन्तः ते बन्धरूपम् आदिपदग्राह्यपरिणामरूपं वा फलं भजन्तो दृष्टाः, तेषां विनाशश्च सम्भवति। कुतः? आरम्भकाणां न्यायमते, साङ्ख्यमते तु परिणामिनां हेतूनाम् उपादानादिकारणानां वियोगस्य विभागस्य आदिपदग्राह्यविनाशस्य वा समुद्भवात्। कीदृशः सङ्गवतां नाशः? क्वचित् सहसा अलक्ष्यक्रमकः। क्वचित् शनैः लक्ष्यक्रमक इत्यर्थः।।१९०।।

आत्मनि त्वसङ्गे सङ्गव्याप्यौ बन्धविनाशौ न सम्भवत इत्याह—अयमात्मेति। न बध्यते न षिञ्धात्वर्थसम्बन्धभाक्।।१९१।। एतदेवात्मनस्तुरीयं रूपं तव गन्तव्यत्वेन निर्दिष्टमभूदित्याह—विशेषैरिति। गन्तव्यो ज्ञानमात्रेण प्राप्यः। अधुना तु तं साक्षात्कुर्वन् भवान् सर्वात्मकः पुमान् सम्पन्नोऽस्तीति चतुर्थपादार्थः।।१९२।। "अभयम्' इत्यादिवाक्यस्यार्थमाह—मा त इत्यादिना। अधुना संसारशूलतो भयं ते मा भवतु त्वयि न सम्भवति यतः सर्वजन्तूनामात्मानमीश्वरम् ईश्वरत्वोपलक्षितम् आनन्दात्मकम् अभयं तत्त्वम् आत्मरूपेण जानन् प्राप्तोऽसि। ज्ञानमात्रेण प्राप्तौ हेतुः—ऐक्येनेति। यद्यात्मा तटस्थो ग्रामादिवत् स्यात् तदा तस्य प्राप्तिः क्रियामार्गेण स्यात्। ऐक्ये तु ज्ञानमेव

उसमें कोई विकार नहीं आता। मूर्त और सीमित ही संगवान् देखा जाता है। आत्मा न मूर्त है न सीमित तो उसका संग होगा क्यों?।।१८५-१८७।। संग का एक अर्थ है अन्य के प्रति आसन्न या गौण बनना जैसे वह्नि जल के प्रति गौण बनती है। संग का दूसरा अर्थ है संयोगादि सम्बन्ध। संग का फल है थोड़ी देर केलिये उसकी तरह स्वरूप हो जाना जिसका संग मिला है, जैसे पानी थोड़ी देर केलिये आग जैसा गर्म हो जाता है।।१८८।। आत्मा सजाति, विजाति, स्वगत तीनों संभव भेदों से रहित है तो उसका संग ही कैसे होगा और संगफल भी कैसे हो सकेगा? भिन्न कुछ हो तब संयोगादि या गौणता संभव हो, आत्मा से भिन्न है ही कुछ नहीं तो ये कैसे संगत हो सकते हैं!।।१८९।। लोकदृष्ट यही है कि संग वाले ही संगसे बंधन, विकार आदि फल पाते हैं और उनके उत्पादक आदि कारणों का वियोगादि होने से वे विनष्ट होते हैं जैसे धागों का वियोग हो जाये तो कपड़ा नष्ट हो जाता है। यह विनाश कहीं अतिशीघ्र हो जाता है, कहीं धीरे-धीरे होता है। यह आत्मा क्योंकि संग वाला नहीं है इसलिये न कभी बँधता है, न नष्ट होता है।।१९०-१९१।।

हे राजन्! सभी विशेषताओं से रहित, मन-वाणी की गिरफ्त में नहीं आने वाला तुरीय आत्मतत्त्व ही आपका गन्तव्य है। आप स्वयं वह सर्वरूप पुरुष हैं। (अभी तक इसे न जानकर क्लेश भोगते रहे, अब मैंने समझा दिया तो आपने उसे जान लिया और उसे जानना ही उसे प्राप्त करना है अतः आप तद्रूप हो चुके हैं)।।१९२।।

१. 'अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि—इति होवाच याज्ञवल्क्यः।' इति श्रुतिवाक्यस्येत्यर्थः।

सर्वप्राणभृतां राजन् ! द्वितीयाद् भयमाव्रजेत् । न द्वितीये भवेज्ज्ञानमात्मनः सर्वतोऽपि हि ।।१९४।।

नात्मनः प्रतिकूलत्वं विद्यते सर्वदेहिनाम् । प्रतिकूलस्य नाऽज्ञाने राजन्! भीतिः प्रजायते ।।१९५।।

तत एवाऽभयं ब्रह्म विज्ञानानन्दरूपभृत् । त्वमेवासि महाराज! सर्वभेदविवर्जितः ।।१९६।।

अहं त्वं सर्वभूतानि यद्वा सदसदात्मकम् । विश्वं ब्रह्माभयं राजन्नेकमेव न चाऽपरम् ।।१९७।।

गन्धर्वनगरं यद्वद् नभसोऽन्यद् न विद्यते । तथा विश्वमिदं राजन्! आत्मनोऽन्यद् न विद्यते ।।१९८।।

माययैव यथाऽऽकाशे गन्धर्वनगरस्थितिः । स्थितिर्विश्वस्य तद्वत् स्यादात्मन्यपि च मायया ।।१९९।।

गन्धर्वनगरं यद्वद् नासीदस्ति भविष्यति । गगने तद्वदेवेदं विश्वमात्मनि सर्वदा ।।२००।।

गन्धर्वनगरं यद्वद् राजन्! सदसदात्मकम् । जडाजडं च गगने दृश्यते भ्रान्तबुद्धिभिः ।।२०१।।

तद्वद्विश्वमिदं सर्वमात्माऽनात्मादिभेदधृक् । आत्मन्येव महाराज! भ्रान्तिबुद्ध्या प्रतीयते ।।२०२।।

तत्प्राप्तिरिति भावः ।।१९३।। नन्वात्मज्ञानेऽपि भयं कुतो न भवतीति चेद्? भयकारणद्वितीयविज्ञानस्य अद्वितीयसतत्त्वात्मकज्ञानस्य च विरोधादित्याशयेनाह—सर्वेति । सर्वेषां प्राणिनां द्वितीयं विज्ञायैव भयं भवति । सर्वतः सर्वस्मिन् बहुशोऽल्पशो वा द्वितीये विज्ञाते आत्मनो ज्ञानं प्रमारूपं च दुर्वचम्, विपरीतरूपावगाहनादिति भावः ।।१९४।। अद्वितीयात्मविज्ञाने च भयप्रयोजकप्रतिकूलताविज्ञानव्यापकद्वितीयज्ञानाभावे कथं भयं स्याद्, आत्मनि प्रतिकूलताऽभावस्य लोकेऽपि प्रसिद्धत्वादित्याह—नात्मन इति । स्पष्टम् ।।१९५।। फलितमाह—तत इति । यतः प्रतिकूलत्वव्यापकद्वितीयवर्जितं ब्रह्म तत एवाऽभयं भवति । तस्य ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं विज्ञानानन्दरूपत्वमपि यतो बिभर्षि ततः त्वमेव सर्वभेदविवर्जितो ब्रह्मासीति यावत् ।।१९६।।

भेदविवर्जितत्वं भेदप्रतियोगिद्वैतबाधेन स्फुटयति—अहमिति । पूर्वार्द्धोक्तं विश्वं जडं बाधासामानाधिकरण्येन, चेतनस्वरूपं तु ऐक्यसामानाधिकरण्येन यतो ब्रह्मैव अत एव अद्वितीयं ब्रह्माऽभयं भवतीत्यर्थः ।।१९७।। कल्पितेन बाधयोग्येन द्वैताभावं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—गन्धर्वेति ।।१९८।। एतादृशस्य विश्वस्य प्रयोजकं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमेवेत्याह—माययैवेति ।।१९९।। कल्पितस्याऽधिष्ठाने त्रैकालिकाऽभावो लोकेऽपि प्रसिद्ध इत्याह—गन्धर्वेति ।।२००।। वस्तुतोऽसतोऽपि भानं भ्रमेण लोकेऽपि प्रसिद्धं, तथाऽस्य द्वैतस्य बोध्यमित्याह—गन्धर्वनगरं यद्वद्राजन्निति द्वाभ्याम् ।।२०१-२०२।। भ्रमकारणं त्वज्ञानमचिन्त्यशक्तिकं यद्विशिष्टस्यात्मनः स्वप्ने नाना-

हे राजेन्द्र! अब आप संसाररूप शूल से डरिये मत । जो सभी जन्तुओं का आनंदरूप आत्मा ईश्वर है उस आत्मा को 'यही मैं हूँ' यों अभेद से आपने हमेशा केलिये पा लिया है।।१९३।। सभी प्राणियों को दूसरे से डर लगता है। जब तक दूसरा जाना जा रहा है तब तक आत्मा का समग्र ज्ञान होता ही नहीं।।१९४।। सभी देहधारियों केलिये आत्मा प्रतिकूल नहीं होता और प्रतिकूल का अज्ञान होने पर डर उत्पन्न होता नहीं।।१९५।।

प्रतिकूलता तभी हो सकती है जब दूसरापन हो, आत्मा में दूसरापन नहीं तो प्रतिकूलता भी नहीं, इसीलिये तुम ही अभय ब्रह्म हो, जो विज्ञान-आनंद स्वरूप है और सारे भेदों से रहित है।।१९६।। मैं, तुम, सभी भूत, यह सारा सद्-असद्रूप जगत् एक निर्भय ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं।।१९७।। जैसे गंधर्वनगर आकाशसे अन्य नहीं ऐसे ही यह विश्व आत्मा से अन्य नहीं है।।१९८।। जैसे आकाश में गंधर्वनगर माया से ही टिकता है, वैसे ही आत्मा में भी विश्व माया से ही टिका है।।१९९।। गगनमें गंधर्वनगर की तरह ही आत्मा में विश्व का तीनों कालों में अत्यन्ताभाव है।।२००।।

यथा शयानः पुरुष एक एव विसाधनः। देशकालादिरहितो भूयाद् नानाविधः स्वयम्।।२०३।।

एवमात्मा महाराज! सर्वसाधनवर्जितः। देशकालादिकं विश्वमेक एव भवत्ययम्।।२०४।।

शयनादुत्थितो यद्वत् स्वाप्नं विश्वं न पश्यति। एवमात्मात्मविज्ञानाद् इदं विश्वं न पश्यति।।२०५।।

आशीर्दक्षिणा

एवमुक्तस्तदा राजा याज्ञवल्क्येन धीमता। मनसा चिन्तयित्वेत्थं नाऽपश्यद् गुरुदक्षिणाम्।।२०६।।

दारपुत्रसमेतं मां राज्यसेनादिसंवृतम्। याज्ञवल्क्याय चेदेवं दास्यामि गुरुदक्षिणाम्।। नैषा तथा समा भूयाद् एतदेव यतोऽधिकम्।।२०७।।

वसुभिः सकलैः पूर्णां भूमिं सागरमेखलाम्। गुरवे दक्षिणां नैतां मन्यन्ते वेदवादिनः।।२०८।।

आत्मा दत्तोऽत्र येनाऽयं दुर्लभः सर्वदेहिभिः। अनेन कोटिजन्मान्ते ब्रह्मचर्यादिसाधनैः।।२०९।।

आत्मलाभात् परो लाभो नास्ति लोकत्रये यतः। स दत्तो येन तस्मै का दक्षिणाऽनात्मसंश्रया।।२१०।।

भाव इत्याह—यथा शयान इति। विसाधनो रथादिसामग्रीहीनः।।२०३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति।।२०४।। दृष्टान्ते यथा प्रबोधादेव स्वाप्नद्वैतनिवृत्तिः तथा तव अधुना प्रबोधाद् द्वैतनिवृत्तेरभयत्वमित्याह—शयनादिति।।२०५।।

एवं याज्ञवल्क्यमुनिनोपदिष्टो राजा आशीर्नमस्क्रिया सर्वस्वं चेति त्रिविधां दक्षिणां ददाविति श्रुतावुक्तम्[1]। तत्र आशीरूपदक्षिणाभिप्रायमाह—एवमुक्त इति द्वादशभिः। इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण।।२०६।। इत्थंपदोक्तं विचारमभिनयति—दारेति पञ्चभिः। माम् आत्मानं सपरिकरम् एवं यथाऽनेन विद्या दत्ता तथा यदि ददामि तथा अपि एषा सपरिकरमद्रूपा दक्षिणा समा न भवति यत एतद् आत्मज्ञानम् अधिकम् इति।।२०७।। आधिक्ये 'यदीमामद्भिः परिगृहीतां प्रयच्छेदेतदेव ततो भूयः' इति च्छान्दोग्यश्रुतिम् (३.११.६) अर्थतः पठति—वसुभिरिति। वसुभिः धनैः।।२०८।। उपपत्तिमप्याह—आत्मेति। योऽनेकजन्माभ्यस्तसाधनैः सर्वदेहिभिर्दुर्लभः, 'आत्मलाभाद् न परं विद्यते' (   ) इति श्रुतौ[2] च यस्य लाभोत्कर्षः प्रसिद्धः स आत्मा येन गुरुणा दत्तः तस्मै देया का समा दक्षिणा,

भ्रान्त-बुद्धि वालों को जड-चेतनसमूहरूप और असद्विलक्षण-सद्विलक्षण गंधर्वनगर गगनमें दीखता है। इसी प्रकार भ्रांति ज्ञान से ही आत्मा में यह सारा ही युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचर विश्व प्रतीत होता है।।२०१-२।। सोया पुरुष रथादि साधनों से रहित रहते हुए और उचित स्थान समय आदि से भी रहित रहते हुए अकेले ही सारा विविध विश्व (सपने में) बन जाता है। ऐसे ही आत्मा सभी साधनों से रहित है और अकेले ही यह देश-कालादि रूप सारा जगत् बन जाता है। नींद से उठा हुआ जैसे सपने की दुनिया नहीं देखता, ऐसे ही आत्मविज्ञान होने पर आत्मा यह संसार नहीं देखता।।२०३-२०५।।

याज्ञवल्क्य से उपर्युक्त उपदेश प्राप्त कर राजा ने आशीर्वाद, नमस्कार और सर्वस्व ये तीन दक्षिणायें भेंट कीं। पहली दक्षिणा थी आशीर्वाद—'हे याज्ञवल्क्य! अभय आपको प्राप्त होवे।' इसका अभिप्राय पुराणमें समझाते हैं : महर्षि से अभय अद्वितीय तत्त्व सुनकर बुद्धिमान् राजा ने मनमें विचार किया कि इस ज्ञानोपदेश के लायक कोई दक्षिणा है ही नहीं। उसने सोचा कि राज्य, सेना, पत्नी, पुत्र सहित स्वयं को भी याज्ञवल्क्य के अर्पण करूँ तो भी आत्मज्ञान ही अधिक होगा, उसके समान वह दक्षिणा हो नहीं पायेगी।।२०६-२०७।। वेदवादी मानते हैं कि सागर-पर्यन्त सारी भूमि

---

१. 'स होवाच जनको वैदेहः—अभयं त्वा गच्छताद् याज्ञवल्क्य! यो नो भगवन् अभयं वेदयसे। नमस्तेऽस्तु। इमे विदेहा अयमहमस्मि।।४।।' इत्यन्त्यवाक्ये। २. आपस्तम्बीयाध्यात्मपटल उपलभ्यते वाक्यम्।

लोकत्रयीं यदा दद्यां जित्वा देवान् सवासवान्।। तदाप्येषा भवेन्नैव दक्षिणा गुरवे मम।।२११।।

इति संचिन्त्य राजाऽसौ जातहर्षो वचोऽब्रवीत्। याज्ञवल्क्यं मुनिं शान्तमपश्यन् गुरुदक्षिणाम्।।२१२।।

याज्ञवल्क्य! यथा सूर्यो गुरुस्तेऽत्र बहिश्चरः। प्राणो नेत्रनिरोधाख्यं तमो हन्त्यतिदुःसहम्।।२१३।।

देहिनां देहिनस्तस्मै तेजसां निधये सदा। प्रयच्छन्त्यत्र ते दीपमपश्यन्तोऽत्र निष्कृतिम्।।२१४।।

उपकारस्य तेनैव तुष्यत्येष प्रभाकरः। तथा भवान् प्रभाकर्तुः शिष्यस्तेन समो यतः।।२१५।।

अभयब्रह्मविज्ञानदाता कामविवर्जितः। भवते गुरवे नान्यामत्र पश्यामि दक्षिणाम्।।२१६।।

यतः सर्वा दक्षिणाऽनात्मभूतैः पदार्थैर्घटितत्वेन अनात्मसंश्रया, तेन तु आत्मा दत्त इति कथं साम्यम्? इति द्वयोरर्थः।।२०९-२१०।। लोकत्रयीमिति। यदीन्द्रादिदेवान् जित्वा त्रिलोकीमपि दद्यां तदापि न समा दक्षिणा, त्रिलोक्याः परिच्छिन्नत्वाद् मिथ्यात्वाच्चेति भावः।।२११।। इति संचिन्त्येति। स्पष्टम्।।२१२।।

राजाऽऽशीरूपदक्षिणाया उपपत्तिमाह—याज्ञवल्क्येति चतुर्भिः। नेत्राणि निरुणद्धीति व्युत्पत्त्या कर्मण्यणन्ता नेत्रनिरोधेत्याकारिका आख्या यौगिकी संज्ञा यस्यैतादृशं लौकिकं तमः तव गुरुः निहन्ति। कीदृशः? बहिश्चरः शरीराद् बहिश्चरन् प्राणः। ते च देहिनः तस्मै सूर्याय दीपं प्रयच्छन्ति। कीदृशा देहिनः? उपकारस्य निष्कृतिं प्रतिक्रियाम् अपश्यन्तः। भवद्गुरुस्तु तावताऽपि तुष्यति। तथा भवान् अपि स्वल्पेन तुष्यतु। कीदृशो भवान्? प्रभाकर्तुः समः शिष्यः विज्ञानेनान्तरतमोहन्तृत्वात् प्रत्युपकारानपेक्षत्वाच्च। इति चतुर्णामर्थः।।२१३-२१६।। एवमवतार्य

सभी धनों से भर कर दी जाये तो भी परमात्मविद्या के उपदेष्टा के अनुरूप वह दक्षिणा नहीं हो पाती।।२०८।। करोड़ों जन्मों तक ब्रह्मचर्यादि साधनों का अनुष्ठान करते रहने वाले देहधारियों के लिये भी दुर्लभ और स्वयं शास्त्र जिसकी प्राप्ति को लोकत्रयमें सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हैं वह आत्मा इन्होंने मुझे कृपाकर प्राप्त करा दिया है तो मैं इन्हें इसके समान क्या दक्षिणा दे सकता हूँ? मैं जो कुछ भेंट करूँगा वह अनात्मा होगा, अतः इनके द्वारा दिये आत्मा के तुल्य हो ही नहीं सकता!।।२०९-२१०।। इन्द्रसमेत देवताओं को ज़ीत कर त्रिलोक भी इन्हें दूँ तो भी मेरे इन गुरु केलिये उपयुक्त दक्षिणा नहीं हो पायेगी।।२११।। इस तरह विचार कर जब राजा को अन्य कुछ दक्षिणा देने योग्य लगी नहीं तब कुछ नवीन बात समझ आने पर उन्होंने सहर्ष उन शान्त महामुनि याज्ञवल्क्य से निवेदन किया :।२१२।।

हे महर्षि याज्ञवल्क्य! हम लोगों के शरीरों से बाहर प्रकाशने वाले होने पर भी जो हैं प्राणरूप ही वे भगवान् आदित्य आपके आचार्य हैं। देहधारी जिसे कष्ट से सहते हैं, वह आँखों को मानो बाँध देने वाला अँधेरा सूर्यदेव क्षणभर में मिटा देते हैं। उनके उपकारों के बदले में देही और तो कुछ उन्हें अर्पित कर नहीं पाते, अतः यद्यपि सूर्यदेव हमेशा सभी तेजों के निधान हैं तथापि लोग उन्हें दीपक समर्पित करते हैं! वे प्रभाकर भी इतने कृपालु हैं कि उतने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। आप प्रकाश करने वाले सूर्य के शिष्य हैं और हैं भी उनके समान क्योंकि आन्तरिक अज्ञान अन्धकार के निवारक हैं। अभयरूप परब्रह्म के विज्ञान का आप मुक्तहस्त दान करते हैं और ,आप्तकाम होने से आपको कामना कोई है नहीं। इसलिये आप श्रीगुरु केलिये अनुरूप कोई और दक्षिणा तो मुझे समझ आ नहीं रही है। मैं आशीर्वादरूप यही दक्षिणा अर्पित कर रहा हूँ—स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीनों जगत् का बाध कर बचने वाला जो तुरीय ब्रह्म है, वही एक निर्भय वस्तु है जो आपने मुझे सुनाई। हे ब्रह्मदेव! वही अभय आपको प्राप्त हो (आपके पास बना रहे)। जो आप मुझे दे रहे हैं वह सदा आपके पास रहे। (आशीर्वाद का अर्थ है आशा व्यक्त करना, जिसे आजकल 'शुभकामना' कहते हैं। पूर्णकाम जगत् को तुच्छ जानता है, अंतः उसे प्रसन्न करने केलिये जगत् का कुछ दिया-लिया नहीं जा सकता। किंतु यावत्प्रारब्ध यह संभावना रहती है कि किसी तीव्रतम कर्मवश उसके अंतःकरण में इकलौती ब्रह्मवृत्ति न रहे, अन्य

अभयं त्वेकमेवोक्तं हित्वा ब्रह्म जगत्त्रयम्। ततस्त्वा गच्छताद् ब्रह्मन्नभयं भयवर्जितम्।। मह्यं दास्यसि यत् त्वं तद् भवते भवतात् सदा।।२१७।।

अज्ञानसूत्रसंजाताः कामादिग्रन्थिशालिनः। कालेन रचिताः पाशा जन्तुपक्षिवधाय ते।।२१८।।

तेभ्योऽहं मोचितो घोरदुःखमग्नोऽतिदीनधीः। दयालुना त्वया ब्रह्मन्! का ते स्याद् गुरुदक्षिणा।।२१९।।

सर्वस्वदक्षिणा

इमे विदेहनामानो देशाः स्फीततमा मुने। मदाज्ञावशगाः सर्वे पुर्या मिथिलया सह।।२२०।।

सदारसुतभृत्योऽहमेतैर्देशैश्च संयुतः। तवास्मि किङ्करो ब्रह्मन्! गुरोर्ब्रह्मात्मरूपिणः।।२२१।।

आदित्यदीपसमामाशिषमभिनयति—अभयन्त्विति। **स्थूलसूक्ष्मकारणरूपं** जगत्त्रयं हित्वा **अवशिष्टं यत्तुरीयं** ब्रह्म **तद् एवैकं भयवर्जितत्वाद्** अभयमुक्तं **मह्यमिति शेषः। ततो मह्यमभयदानात् त्वां प्रत्यपि तदेव** अभयं गच्छतात् **प्राप्नोतु। 'यद्ददाति तदश्नुते' ( ) इति न्यायोऽप्यत्रानुकूल इति सूचयन्नाह**—मह्यमिति।।२१७।।

स्वस्मिन् या पूर्वं भयसम्पदासीत् तां निरूप्य तदपहरणलक्षणोपकारस्य समा दक्षिणा नास्तीत्याह—अज्ञानेति। **अज्ञानमयसूत्ररचिताः कामादिमयग्रन्थिशालिनश्च विपर्ययात्मकाः पाशजालाः** कालेन **अविद्याचित्सम्बन्धतया सिद्धान्ते लक्षितेन निर्मिताः** ते **प्रसिद्धाः सन्ति,** तेभ्योऽहं मोचितः **अस्मि दयामात्रेण। एतादृशोपकारस्य समा का दक्षिणा? इति द्वयोरर्थः।।२१८-२१९।।**

वित्तशाठ्याभावसूचिकायाः सर्वस्वार्पणरूपाया दक्षिणायाः स्वरूपमभिनयति—इम इति **त्रिभिः। स्फीततमाः सम्पन्नतमाः।।२२०।।** सदारेति। **एतैः विदेहसंज्ञैः। ब्रह्माऽभिन्नात्मानं रूपयति प्रतिपादयति इति स तथा, तस्यैवंविधस्य** तव **गुरोः स्वामिनः स्वभूतोहं** यतः **किङ्करः।।२२१।।** दत्तमिति। एतद् **देशादिकं** मया **तुभ्यं** दत्तमित्यपि वक्तुं

भी कोई वृत्ति बननी आवश्यक हो जाये। राजा यहाँ यही शुभकामना कर रहा है कि ऐसा न हो; जिस ब्रह्ममात्रचिंतन में रहते हुए मुझे अभय दिलाया है उसी में आप बने रहें। अब्रह्मवृत्ति बनने से मुक्त को यद्यपि कोई कष्ट नहीं तथापि राजा ने तत्काल बोध पाया है, अतः अपनी स्थिति के अनुसार समझता है कि दुःख-पर्यन्त न सही, असुविधा-पर्यन्त तो बहिर्दृष्टि देगी ही, अतः कामना कर रहा है कि आपको ऐसी असुविधा न हो। मिथ्यात्वेन निश्चित भी बीभत्स दृश्यादि दीखने से उनका न दीखना बेहतर है—यह जब तक लगता है तब तक समाधि या तत्तुल्य स्थिति कमनीय बनी ही रहती है, तदनुसार यह आशीर्वाद है। याज्ञवल्क्य को यह अपेक्षित हो यह ज़रूरी नहीं। दाता जिसे सुखद समझता है वही भेंट करता है, ग्रहीता को उस पदार्थ से सुख भले ही न हो पर भेंटकर्ता की भावनासे सन्तोष हो जाता है। प्रकृतमें, राजा अनात्मा को तुच्छ निर्णीत कर चुका है, यह भी व्यक्त हो जाने से मुनि को यह संतोष भी होगा कि उनका दिया ज्ञान सत्पात्र में सफल हुआ है।)।।२१३-२१७।।

हे ब्रह्मन्! अविद्या से चेतन का सम्बन्धरूप जो काल है उसने अज्ञानरूप धागों में काम-क्रोधादि गाँठें लगाकर विपर्ययरूप पाशजाल फैला रखा था ताकि जन्तुरूप पक्षियों को उसमें फँसा कर वह मारता रह सके। काल के पाशों को कौन नहीं जानता कि वे कितने पीडाकर हैं! मैं उनमें फँसकर घोर दुःख में डूबा हुआ था, मेरी मति मारी गयी थी। आपने मुझे उन पाशों से सद्यः छुड़ा दिया! आप असीम दयाशील हैं। आपके योग्य दक्षिणा मैं क्या अर्पित कर सकता हूँ?।।२१८-२१९।।

इस प्रकार प्रथम दक्षिणा के बाद सर्वस्वदान रूप द्वितीय दक्षिणा राजा ने अर्पित की : हे ब्रह्मन्! मिथिलापुरी समेत यह सारा विदेह राज्य सुसंपन्न और मेरी आज्ञानुसार चलने वाला है। पत्नी, पुत्र, कर्मचारी और देश इन सब के साथ मैं आप का सेवक हूँ। ब्रह्मसे आत्मा अभिन्न है इसके प्रतिपादक श्रीगुरु के निर्देशमें ही मैं रहने वाला हूँ। यह

दत्तमेतन्मया सर्वं तुभ्यमित्यप्यहं न च। वक्तुं शक्तोऽस्मि येनैतत्तवैव स्याद्धि धर्मतः।।२२२।।

अशनेऽपि न मे ब्रह्मन्! स्वातन्त्र्यं विद्यते निजे। भवदाज्ञां विना ब्रह्मन्! कथं ते दातुमुत्सहे।।२२३।

प्रणामदक्षिणा

नमस्ते याज्ञवल्क्याय गुरवे ब्रह्मवेदिने। मुन्याद्याय सदादित्यशिष्याय परमात्मने।।२२४।।

मुनिरङ्गी करोति

एवमुक्तस्तदा राज्ञा याज्ञवल्क्यो मुनीश्वरः। अङ्गीचकार निखिलं स्मयमानमुखाम्बुजः।।२२५।।

न शक्तोऽस्मि, स्वत्वपरित्यागलक्षणदाधात्वर्थस्य बाधानुसन्धानाद्, मदीयस्वत्वस्य परित्यागप्रतियोगिनोऽसत्त्वाद् यतो धर्मशास्त्रमालोच्य सर्वं तवैवेति। तथा हि—अजरामरशरीरप्रदस्य ब्रह्मविद्यादेशिकस्य गुरोः पितृत्वं 'त्वं नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्रश्न.६.८) इत्यादिश्रुतौ, मन्वादिस्मृतौ च प्रसिद्धम्; शिष्यस्य पुत्रत्वेन धनस्वत्वहीनत्वम् 'त्रय एवाऽधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः। एते यत् समुपार्जन्ति यस्यैते तस्य तद् धनम्।।' ( ) इत्यादिस्मृतिप्रसिद्धम्।।२२२।। एतदेव स्फुटयति—अशनेऽपीति। भवदाज्ञां विना भोजनेऽपि यदा मम स्वातन्त्र्यं न अस्ति तदा दानशब्दप्रयोगः कथमुपपद्येतेत्यर्थः।।२२३।।

नमस्काररूपदक्षिणामभिनयति—नमस्त इति। तुभ्यं सदा नमः अस्तु। कीदृशाय? ब्रह्म वेदयति बोधयति स तथा तस्मै। मुनिषु आद्याय प्रथमगण्याय। मन्वाद्याय इति पाठे—मनूनां मन्त्राणामाद्याय अभिव्यक्तिहेतवे, ऋषय इति यावत्। शास्त्रदृष्ट्या परमात्मरूपाय। शेषं स्फुटम्। अत्र दक्षिणानां श्रौतक्रमस्य परित्यागेऽयमाशयः—गुरोरभयप्राप्तेः सिद्धत्वेन आशीः अयुक्ता, सर्वस्वार्पणं तु स्वत्वाभावेन अयुक्तम्, इति ते अभिधाय; कर्तुं शक्यतया युक्तत्वेन नमस्कारस्याऽन्ते निर्देशः—इति।।२२४।।

श्रुतावर्थात् सूचितं याज्ञवल्क्यवाक्यं तदाश्रमगमनं च दर्शयति—एवमुक्त इति षड्भिः। स्पष्टम्।।२२५।।

सब भी धर्मानुसार तो आपका ही है, अतः 'यह मैंने आपको दिया' यों मैं कह भी नहीं सकता! (वेद ने बताया है कि ब्रह्मज्ञानदाता पिता होते हैं और स्मृतियों में कहा है कि पुत्र जो अर्जित करे उस पर पिता की ही मिलकियत होती है, अतः गुरु होने से पिता होने के नाते ये राज्यादि आपके ही हैं, मेरी इन पर मिलकियत ही नहीं कि मैं इन्हें आपको अर्पित करूँ।)।।२२०-२२२।। हे ब्रह्मन्! आपकी आज्ञा के बिना तो मैं स्वयं खा भी नहीं सकता तो आपको कुछ दे सकूँ यह संभव ही कैसे है?।।२२३।।

राजा ने तृतीय दक्षिणा दी प्रणामरूप : आदित्यशिष्य, स्वयं परमात्मरूप, मुनियों में अग्रगण्य, ब्रह्मबोधक, गुरु याज्ञवल्क्य को हमेशा प्रणाम है।।२२४।। (श्रुति में आशीर्वाद, नमस्कार और सर्वस्व—इस क्रमसे अर्पण विधान है। पुराणकार ने विचार किया कि याज्ञवल्क्य स्थितप्रज्ञ होने से उनके लिये आशीर्वाद अयुक्त है और सर्वस्व तो दृश्यकोटिका होने से अयुक्त है ही, अतः इन दो के अनन्तर जो संगत और किया जा सकता है वह प्रणाम अंत में अर्पित होना चाहिये। यह टीकाकार की समीक्षा है।)

राजा जनक द्वारा यों निवेदन करने पर मुनीश्वर याज्ञवल्क्य ने मुस्कराते हुए सारी भेंट स्वीकार ली और बोले 'महाराज! नरेशश्रेष्ठ! तुम्हारे देशसहित तुम्हारा शरीरादि सब मेरा ही है इसमें कोई संशय नहीं! किंतु तुम ख्याल रखना कि उपासना में और राज्यव्यवस्था में लगे रहने से मैंने जो अद्वैत आत्मा समझाया उसे समय बीतने पर भूल मत जाना। मेरे लिये उत्तम दक्षिणा यही है, और कोई नहीं, कि मैंने जो कहा उसे किसी हालत में भूलना मत।।२२५-२२८।। यह

सर्वमेतद् महाराज ममैवात्र न संशयः। सदेशं तव देहादिजातं भूपतिसत्तम[1]।।२२६।।
मयोपदिष्टमात्मानमुपासनपरो[2] भवान्। राज्यव्यग्रश्च मा कालाद् नृप! तं विस्मर क्वचित्।।२२७।।
एषैव परमा राजन्! दक्षिणा मम नाऽपरा। आत्मानं यन्मदुक्तं त्वं न विस्मरसि कर्हिचित्।।२२८।।
इदं सर्वं ममैतत् सत् त्वयि तिष्ठतु किङ्करे। गत्वेदानीं पुनः राजन्नागमिष्यामि कालतः।।२२९।।
इत्युक्त्वा याज्ञवल्क्यः स जगाम स्वगृहं तदा। राज्ञा त्रैवर्णिकैः सार्धं प्रार्थितोऽपि समुत्सुकः।।२३०।।

ज्योतिर्ब्राह्मणप्रसङ्गः

गते मुनीश्वरे राजा राज्यव्यग्रोऽथ कालतः। वैश्वानरात्मविद्यायां कुशलस्तत्परोऽपि च।।
याज्ञवल्क्येन मुनिना स्वोपदिष्टं स विस्मृतः।।२३१।।

अङ्गीकारप्रकारमाह—सर्वमिति। तव देहादिपदार्थजातं सदेशं ममैव इति अत्र न संशयः।।२२६।। तथापि मदपेक्षितां दक्षिणां दातुमर्हसीत्याह—मयोपदिष्टमिति द्वाभ्याम्। तवोपासनपरत्वेन राज्यव्यग्रत्वेन च मदुपदिष्टार्थविस्मरणं सम्भाव्यत इत्यतो ब्रवीमि तं मदुपदिष्टमात्मानं मा विस्मर। एषैव दक्षिणा। इति द्वयोरर्थः। अत्र उपासनपरत्वेन ब्रह्मलोकामिवाञ्छाया राज्यव्यग्रत्वेन उत्कटप्रारब्धस्य च साक्षात्कारप्रतिबन्धकत्वं सूचितम्। विस्मरणे च भयप्राप्तिः 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै.२.७.) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा सूचिता; यद् अविदुष ईश्वराद्भयं तद् विदुषोऽपि भवति यदि विद्वान् अमन्वानः श्रुतार्थमननहीनः स्यादिति श्रुत्यन्तरार्थः।।२२७-२२८।। इदं सर्वमिति। इदं राज्यादिकं सर्वं मदीयं सत् त्वयि किङ्करे तिष्ठतु। अहन्तु इदानीं गत्वा कालान्तर आगमिष्यामि इति।।२२९।।

इत्युक्त्वेति। स्वगृहम् आश्रमं ययौ यतः समाध्युपयोगिनि एकान्तदेशे समुत्सुक उत्कण्ठितः।।२३०।।

एवं गतग्रन्थेन सङ्क्षेपेणोक्तस्यात्मनो विस्तरेण निरूपणपरस्य ज्योतिर्ब्राह्मणस्यार्थं षड्भिः शतैरुपबृंहयंस्तत्र प्रथमकण्डिकाया[3] अर्थं निरूपयति—गत इति द्वाविंशतिश्लोकैः। मुनीश्वरे याज्ञवल्क्ये गते सति राजा जनको राज्यव्यग्रत्वात् तथाऽग्निहोत्रदेवताया अग्नेर्यत् परम् रूपं वैश्वानरविराडादिसंज्ञं तस्यात्मत्वेन चिन्तनरूपायां वैश्वानरविद्यायां कुशलत्वेन तत्परत्वाद् उपासननिष्ठत्वादिति यावत्, याज्ञवल्क्योपदिष्टमर्थं विस्मृतः किञ्चिद् विस्मृतवानित्यर्थः। 'विस्मृत' इति 'आदिकर्मणि' (३.४.७१) इति कर्तरि क्तः।।२३१।। याज्ञवल्क्योऽपीति।

राज्यादि सब मेरा है तथापि मेरे सेवकरूप तुम्हारी देख-रेख में यह सभी बना रहे। राजन्! अभी तो मैं जाता हूँ, फिर कभी समय होने पर आऊँगा।।२२९।।

सब त्रैवर्णिकों समेत राजा ने रुकने की बहुत प्रार्थना की लेकिन एकान्तवास के प्रति अधिक उत्सुक होने से याज्ञवल्क्य अपने घर की ओर लौट गये।।२३०।।

इस प्रकार छह ऋषियों के उपदेश वाले एवं कूर्च नामक प्रथम व द्वितीय ब्राह्मणों का अभिप्राय पुराण में समझाया जहाँ आत्मा का संक्षिप्त परिचय है। इसके अनंतर है ज्योतिर्ब्राह्मण जिसकी व्याख्या छह शतकों तक पुराणमें चलेगी। इस तीसरे ब्राह्मण की भूमिका में प्रथम कंडिका में बताया कि अग्निहोत्रप्रसंग में वार्ता चलने पर याज्ञवल्क्य ने राजा को वर दिया था कि वह चाहे जो प्रश्न उनसे पूछ सकता है। याज्ञवल्क्य अभयोपदेशके बाद कालान्तर में मिथिला आये तो यद्यपि विशेष विवक्षु नहीं थे तथापि राजा ने उस पूर्वप्राप्त वर के आधार पर उनसे ज्योतिरात्मक परमेश्वर के बारे में प्रवचन सुना। यह विषय बाइस श्लोकों द्वारा समझायेंगे।

---

१. मदाज्ञयाऽधुना राज्ये ममतां विना शासयामात्यादिवत्तदैव तत्र वैयग्र्यं न स्यात्। २. निष्ठालाभोपायानुष्ठानं विधीयते।
३. 'जनकँ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम। स मेने न वदिष्य इति। अथ यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ। स ह कामप्रश्नमेव वव्रे। तँ हास्मै ददौ। तँ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ।।१।।' इति।

याज्ञवल्क्योऽपि विज्ञाय लोकाद् दिव्याच्च नेत्रतः। आजगाम पुरं चैनं सभास्थं राजसत्तमम्।।२३२।।
एवं सङ्कल्प्य मतिमान् न वदिष्याम्यनेन हि। वक्ष्यामि वाऽमुना तर्हि ब्रह्मैवोक्तं न चापरम्।।२३३।।
एवं स्थिते स्वयं गत्वा राजानमतिधार्मिकम्। त्रैवर्णिकैर्वृतं सद्भिरूहापोहविशारदैः।।२३४।।
तत्र चित्राः कथास्तेषां प्रवृत्ता राजसन्निधौ। तासु वैश्वानरी विद्या प्रस्तुता कासुचिद् द्विजैः।।२३५।।
राजा तस्यां हि विद्यायां प्रवीणो नितरां ततः। इदमाह सभासंस्थान् सर्वानेव द्विजोत्तमान्।।२३६।।
एनां जानाम्यहं विद्यां कृत्स्नामाहुतिधारिणीम्। फलैर्बहुविधैर्युक्तां ब्रह्मलोकफलप्रदाम्।।२३७।।
अत्र त्रैवर्णिको यस्तु जानाति स तु पृच्छतु। मामेतामथवाऽहं तं पृच्छामि वदताद्धि मे।।२३८।।

याज्ञवल्क्योऽपि तद्राज्ञो वृत्तं लोकमुखाद् दिव्यदृष्टितश्च विज्ञाय जनकराजपुरम् आजगाम, सभास्थं राजानं चाजगाम प्राप। किं कृत्वाऽऽजगाम? एवं सङ्कल्प्य मनसाऽवधार्य। 'एवं' कथम्? अनेन राज्ञा सह न वदिष्यामि आगमनप्रयोजनं योगक्षेमादि न प्रकाशयिष्यामीति। एतेन श्रुतौ 'न वदिष्य इति मेन' इत्यन्वयः सूचितः। तत्र 'एतेन (एनेन) संवदिष्य' इत्यन्वयमभिप्रेत्याह—वक्ष्यामि वेति। अथ वा उक्तं पूर्वमुपदिष्टं ब्रह्मैवामुना सह संवादेन वक्ष्यामि प्रकटीकरिष्यामि। इति द्वयोरर्थः।।२३२-२३३।। एवं स्थित इति। एवं वर्णिते सङ्कल्पे स्थिते दृढीकृते सति याज्ञवल्क्यो मुनी राजान्तिकं गत्वा आदृत उपविवेश इति शेषः।।२३४।। तत्रेति। तत्र राजसदसि सन्निधावुपविष्टैः त्रैवर्णिकैः कृताः कथा वाक्यप्रबन्धाः चित्रा नानाविधाः प्रवृत्ताः। तासु कथासु कासुचित् प्रवृत्तासु द्विजैः वैश्वानरी अग्निहोत्रदेवतासम्बन्धिनी कथा प्रस्तुता प्रवर्तिता।।२३५।। राजेति। तस्याम् अग्निहोत्रसम्बन्धिन्याम्।।२३६।। 'इदं' पदेनोक्तं राजवाक्यमभिनयति—एनामिति। आहुत्योः सायं प्रातर्हुतयोः यो धारः अन्तरिक्षादिलोकपरिपोषणरूपः 'ते इमे आहुती अन्तरिक्षमाविशत' इत्यादिनोक्तः स विषयत्वेन विद्यते यस्याः सा तथा ताम्, आनुषङ्गिकबहुविधफलकां ब्रह्मलोकप्रधानफलकामिति।।२३७।। अत्रेति। अत्र विद्यायां यो विशेषज्ञः स मां पृच्छतु अथवा मे पृच्छते वदताद् उत्तरं ददातु।।२३८।। इत्युक्त इति। स्पष्टम्।।२३९।। तेष्विति। तेषु सभास्थत्रैवर्णिकेषु गृहीतमौनेषु सत्सु

मुनिराज जब अपने आश्रम को लौट गये तब राजा जनक उनकी आज्ञा का पालन करते हुए शासनादि में लगा। समय बीतने पर राज्यव्यवस्था में अधिकाधिक व्यग्रता आ गयी। वह उस उपासना में निपुण और उसके अनुष्ठानमें तत्पर था ही जिसमें अग्निहोत्र-देवता अग्नि के वैश्वानरादि नामक परम रूप को अपने से अभिन्न कर समझा जाता है। इस सब के चलते मुनि याज्ञवल्क्य द्वारा जो उपदेश दिया गया था उसे राजा भूल गया!।।२३१।।

याज्ञवल्क्य को लोगों से और अपनी दिव्य दृष्टि से जनक की स्थिति का पता चला तो वे मिथिलापुरी पुनः पधारे और सभास्थित राजा के पास गये। उन्होंने मनमें निश्चय कर लिया था कि 'मैं राजा से अपने आगमनके प्रयोजनादि के विषय में कुछ नहीं कहूँगा। इससे बात करूँगा तो पूर्वोक्त ब्रह्म की ही चर्चा करूँगा, अन्य किसी की नहीं। (श्रुति में आये अक्षरों का एक संबंध है 'स, मेने, न वदिष्ये' और दूसरा है 'सम्, एनेन, वदिष्ये'। दोनों का एकत्र समावेश पुराणकार ने कर लिया है कि 'या तो कुछ बोलूँगा नहीं और अगर बोलना पड़ा तो पर ब्रह्म की ही चर्चा करूँगा।' टीकाकार ने और भी संगत बनाते हुए बताया है कि 'आगमनहेतु, योग-क्षेम आदि का प्रकाशन नहीं करूँगा, ब्रह्मविषयक संवाद करूँगा'।)।।२३२-२३३।। इस संकल्पपूर्वक वे अतिधार्मिक राजा के पास स्वयं गये। उस समय राजा सभामें विचारकुशल त्रैवर्णिक सज्जनों से घिरा था।।२३४।। वहाँ जनक के पास नाना प्रकार की चर्चायें चल रही थीं, जिनमें ब्राह्मणों ने वैश्वानरविद्या का प्रसंग भी छेड़ दिया। राजा उस उपासना में निष्णात था, अतः सभास्थित सभी उत्तम ब्राह्मणों से बोला—'आहुति-धार को विषय करने वाली, बहुत तरह के फलों वाली, मुख्यतः ब्रह्मलोकरूप फल देने वाली इस सारी

इत्युक्ते सर्व एवैते सभास्था वर्णिनस्तदा। वक्तुं प्रष्टुं च राजानं समर्था नाऽभवन्नमुम् ।।२३९।।

तेषु तूष्णीं स्थितेष्वेको याज्ञवल्क्यो मुनीश्वरः। प्रसङ्गमागतं वीक्ष्य सङ्कल्पं त्यक्तवान् निजम् ।।२४०।

पप्रच्छ तं महाराजं विद्यां वैश्वानरीं प्रति। प्रश्नैर्नानाविधैः सोऽपि तस्मै सर्वमुवाच तत् ।।२४१।।

याज्ञवल्क्योऽपि राज्ञस्तद् बुद्धिकौशलमेक्ष्य हि। दत्तवान् हृष्टचित्तः सन् राज्ञेऽभीष्टतमं वरम् ।२४२

कामप्रश्नवरणम्

राजाऽपि कृतकृत्यः सन् धीमतां पुरतः स्थितः। इत्थं विचार्य मनसा कामप्रश्नमयाचत ।।२४३।।

अनेन पूर्वमादिष्टमात्मज्ञानं महात्मना। मह्यं मयाऽतिमन्दत्वाद् विस्मृतं पापचेतसा ।।२४४।।

अपराधो मयि महान् विद्यते दुष्प्रतिक्रियः। तस्यैषा मम सम्प्राप्ता भाग्यतो हि प्रतिक्रिया ।।२४५।।

विद्यते विविधं वित्तं विद्या नानाविधास्तथा। मम नैवात्मविज्ञानं विस्मृतं यन्मयाऽधुना ।।२४६।।

कामप्रश्नवरेणाऽतः पुनः सम्पादयामि तत्। गुरोरस्माद् महाभागात् सन्तुष्टाद् भाग्ययोगतः ।।२४७।।

कामप्रश्ने वृते तेन निजशिष्येण भूभृता। दत्तवान् याज्ञवल्क्योऽपि तं वरं स्वचिकीर्षितम् ।।२४८।।

याज्ञवल्क्यो हि राज्ञोऽस्य बोधं स्मारयितुं स्वयम्। उक्तमत्रागतो नैव कार्यान्तरमपेक्ष्य सः ।।२४९।

एको याज्ञवल्क्यः तं जनकम् अग्निहोत्रसम्बन्धिनीं विद्यां नानाविधैः प्रश्नैः पप्रच्छ। जनकः अपि याज्ञवल्क्याय सर्वं परिपूर्णमग्निहोत्रम् उवाच इति। कीदृशो याज्ञवल्क्यः? प्रसङ्गं सङ्कल्पत्यागयोग्यकालम् आगतं वीक्ष्य सङ्कल्पं 'न वदिष्यामि' इत्याकारकं, 'ब्रह्मैव वदिष्यामि' इत्याकारकं वा, मौनप्रयोजकं त्यक्तवान् परित्यजन्निति यावत्। न च विरोधः; प्रथमाकारेण योगक्षेमकथाया एव निरोधात्, द्वितीयाकारस्याऽपि कामप्रश्नद्वारा ब्रह्मनिर्णयसाधनाग्निहोत्रप्रश्नेनाऽविरोधादिति भावः। इति द्वयोरर्थः।।२४०-२४१।। याज्ञवल्क्योऽपीति। तद् अग्निहोत्रविद्याविषयकम्। एक्ष्य आलोच्य।।२४२।।

राजापीति। पुरतः स्थितो मुख्यः, इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण कामप्रश्नं कामं समुदायात्मकं प्रश्नं नानारूपप्रश्नमिति यावत्, अयाचत वव्रे। 'कामं रेतो निकाययोः' इति विश्वः।।२४३।। 'इत्थं' पदार्थमभिनयति—अनेनेति चतुर्भिः। अनेन याज्ञवल्क्येन मह्यं यदुपदिष्टं तद्विस्मरणरूपः अपराधो महान् मयि वर्तते। तस्य अपराधस्य प्रतिक्रिया तिरोधानोपायः कामप्रश्नरूपो मया भाग्येन लब्ध इति द्वयोः सम्बन्धः।।२४४-२४५।। 'नष्टलाभो महाभाग्यम्' (   ) इति न्यायेन कामप्रश्नरूपवरलाभो विस्मृतस्य अभीष्टस्य च ज्ञानस्योज्जीवकः परमभाग्यफलमित्याह—विद्यत इति द्वाभ्याम्। मम अन्तिके विविधं पशुहिरण्यादिरूपं मानुषं वित्तं विद्यते तथा दैववित्तात्मिका नानाविधाः सन्त्येव विद्याः; तत्र मम न स्पृहा। यत्र त्वात्मज्ञाने स्पृहा तद् विस्मरणेनाऽऽक्रान्तम्; अतः अभीष्टस्यात्मज्ञानस्य पुनः सम्पादनोपायलाभः परमभाग्यादेवेति द्वयोर्भावः।।२४६-२४७।। कामप्रश्न इति। उक्ताभिप्रायेण भूभृता कामप्रश्ने वृते सति तस्य वरस्य चिकीर्षितत्वाद् आश्रमादागमनप्रयोजनस्य निष्पत्तये सम्पादयितुमिष्टत्वात् तं वरं याज्ञवल्क्यो ददाविति।।२४८।। स्वचिकीर्षितत्वमेव व्यनक्ति—याज्ञवल्क्यो हीति। हि यतो याज्ञवल्क्यो राज्ञ उक्तम् उपदिष्टं बोधं स्मारयितुम् एव आगत इति। तस्य च सम्यक् स्मारणं वरद्वारैवेति भावः।।२४९।। याज्ञवल्क्येनेति।

विद्या को मैं जानता हूँ। (आहुतियों का धार है अंतरिक्षादिलोकों का परिपोषण।) इस सभा में उपस्थित जो कोई त्रैवर्णिक इस बारे में जानकारी रखता हो वह मुझसे कुछ पूछ ले, या मैं पूछता हूँ, मुझे उत्तर देवे!' ।।२३५-२३८।। इस घोषणा पर सभास्थ त्रैवर्णिक न कुछ पूछ सके, न उत्तर ही दे सके।।२३९।। सभी चुप रहे तो एक याज्ञवल्क्य मुनीश्वर ही थे

याज्ञवल्क्येन दत्तेऽस्मिन् वरे राजाऽति हृष्टधीः। एवं विचार्य पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महामुनिम्।।२५०।।

यद्यप्यसौ स्वभावेन शीतलो मुनिसत्तमः। तथापि मम दुष्प्रश्नमथनोत्थितवह्निमान्।। दर्शयेन्मम पन्थानं शाकल्यस्य कदाचन।।२५१।।

अधुना नैव सा भीतिर्विद्यते मम दुर्धियः। प्रष्टुर्नानाविधं प्रश्नं पुनरुक्तमसङ्गतम्।।२५२।।

ज्योतिःप्रश्नप्रत्युक्ती

मुने जागरणावस्थागतोऽयं दिवसे सति। किंज्योतिः पुरुषो भूयादिदं मे वद धार्मिक।।२५३।।

स्पष्टम्।।२५०।। 'एवं' पदोक्तां विचारे वरस्य प्रकृतोपयोगावगाहितामभिनयति—यद्यपीति द्वाभ्याम्। असौ याज्ञवल्क्यो यद्यपि क्षमाशीलत्वेन चन्दनवत् शीतलः तथापि पुनरुक्तत्वादिदोषदुष्टेन प्रश्नेन क्षोभितः सन् शाकल्यगतिं दर्शयेद् इति शङ्कया दुःखेन प्रष्टुं शक्यः। वरसत्त्वे तु तादृशशङ्काऽभावात् पुनरुक्तम् अपि असङ्गतम् अपि च पृच्छतो मम अभयम्। इति द्वयोः सम्बन्धः। अत्रेदं बोध्यम्—शतपथब्राह्मणस्य एकादशे काण्डे चतुर्थे प्रपाठके 'जनको वैदेह' इत्यादिना श्वेतकेतु-सत्यशुष्म-याज्ञवल्क्यै रथान् धावयद्भिः सह अग्निहोत्रविषयो जनकसंवादो याज्ञवल्क्येन कामवरदानं च प्रतिपादितम्, तदेव प्रकृते ग्रन्थकृता किञ्चिद् भेदेन वर्णितमिति।।२५१-२५२।।

एवं वरेण वशीकृतं याज्ञवल्क्यं पृच्छन् राजाऽऽदौ त्वम्पदार्थमात्मानं सङ्घातव्यतिरिक्ततया स्वयंज्योतिष्ट्वेन असङ्गतया च निर्धारयितुं पञ्चभिः कण्डिकाभिः[1] प्रश्नपरम्परां लब्धपूर्वपूर्वोत्तरः कृतवांस्तामभिनयति—मुने! इति अष्टादशभिः। हे मुने! अयं पुरुषः स्थूलसूक्ष्मसङ्घातरूपः श्रुतिगताऽयंपदेन विवक्षितैः जागरणावस्थादेश-कालादिभिः विशिष्टः किंज्योतिः भवति? किं सङ्घातान्तर्वर्तिना केनचिज्ज्योतिषा भास्यः? किं वा सङ्घातव्यतिरिक्तेन

जिन्होंने उचित मौका देखकर अपना न बोलने का संकल्प छोड़ दिया और विविध प्रश्नों से वैश्वानरविद्या के बारे में राजा से पूछा, जिस सब का उत्तर राजा ने भी दे दिया। राजा की उस बुद्धिकुशलता को देख प्रसन्न हुए याज्ञवल्क्य ने भी राजा से अभीष्टतम वर माँगने को कहा।।२४०-२४२।।

बुद्धिमानों में अग्रगण्य राजाने भी कृतकृत्य होकर बहुतेरे प्रश्न पूछने की अनुमति ही अभीष्ट वर रूप में माँगी। राजा की इसमें यह अभिसंधि थी : इन महात्मा ने पहले मुझे आत्मज्ञान का उपदेश दिया था। अत्यंत अल्प मेधा वाला और पापसे आवृत मति वाला होने से मैंने वह ज्ञान भुला दिया! यह मुझसे महान् अपराध हुआ है, जिसका प्रायश्चित्त दुष्कर है। किंतु भाग्यवश मुझे वह अपराध छिपाने का यह उपाय सुलभ हो गया है।।२४३-२४५।। मेरे पास नाना प्रकार का धन और विभिन्न विद्यायें उपस्थित हैं। जिसे मैं अब भूल चुका हूँ वह आत्मज्ञान मेरे पास नहीं है। यथेष्ट प्रश्न रूप वर द्वारा मैं उसे पुनः प्राप्त कर लूँगा। सौभाग्य से ही ये गुरु महाशय मुझ पर सन्तुष्ट हुए हैं।।२४६-२४७।। अपने शिष्य राजा द्वारा यथेष्ट प्रश्न की अनुमति रूप वर माँगने पर याज्ञवल्क्य ने भी तुरन्त वह वर प्रदान किया क्योंकि वह उनकी इच्छा के अनुकूल ही था।।२४८।। याज्ञवल्क्य राजा को आत्मबोध याद दिलाने ही आये थे, अन्य किसी कार्य से नहीं।।२४९।। उन्होंने जब यथेष्ट पूछने की अनुमति दे दी तब प्रसन्नचित्त राजा ने महामुनि से प्रश्न पूछने से पूर्व विचार किया : यद्यपि ये श्रेष्ठ मुनि स्वभाव से शीतल, शान्त, हैं तथापि सदोष प्रश्न रूप मंथन से क्षुब्ध होकर ये मुझे कदाचित् वही रास्ता दिखा सकते थे जो इन्होंने शाकल्य को दिखा दिया था! अब वर मिल जाने से मुझ दुर्बुद्धि को वह भय नहीं रहा। मैं तरह-तरह के प्रश्न पूछता हूँ जिनमें पुनरुक्ति आदि दोष होते हैं और आपसी संबंध भी युक्तियुक्त नहीं होता, अतः महर्षि को क्रोध आ सकता है। (जिससे मैं अब वरकवच से सुरक्षित हो गया हूँ)।।२५०-२५२।।

---

१. 'याज्ञवल्क्य! किंज्योतिरयं पुरुष इति।' इत्यारभ्य 'शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुषः? इति' इत्यन्तैः प्रश्नैः राजा पप्रच्छ।

विशेषणानि वीक्ष्यायं प्रश्ने तदुचितं हि सः। ज्योतिरादित्य इत्याह याज्ञवल्क्यो नृपोत्तमम्।।२५४।।

आदित्ये जगतः प्राणे ह्यस्मिन्नस्तमयं गते। किंज्योतिरिति पप्रच्छ राजा तं मुनिपुङ्गवम्।। चन्द्रमा इति तं प्राह याज्ञवल्क्यो नृपोत्तमम्।।२५५।।

चन्द्रमस्यस्तमायाते किंज्योतिरिति स प्रभुः। पप्रच्छ पुनरप्याह तमग्निरिति विप्रराट्।।२५६।।

अग्नावस्तं गते किं स्याज्ज्योतिरित्येव तं पुनः। पप्रच्छ मुनिशार्दूलं राजा विस्रब्धमानसः।। वागित्येव च सोऽप्याह याज्ञवल्क्यो मुनीश्वरः।।२५७।।

रविसोमाग्निवागाख्यं तज्ज्योतिः सावधारणम्। याज्ञवल्क्येन मुनिना राज्ञ उक्तं सकारणम्।।२५८।।

आदित्यचन्द्रमोऽग्नीनां लोक एकतमेन वै। दृष्ट्वा देशं हि सर्पादिरहितं सुखकारणम्।।२५९।।

आस्ते तत्र च पर्येति गृहक्षेत्रादिभूतले। लोकद्वयफलं यद्वत् कुरुते कर्म सर्वदा।। क्षेत्रादिभ्यो विपर्येति पुनरेव गृहादिकम्।।२६०।।

केनचिज्ज्योतिषा? इति पृच्छते मह्यं वद, हे धार्मिक! वरलक्षणस्वप्रतिज्ञापरिपालकेत्यर्थः।।२५३।। विशेषणानीति। प्रश्नवाक्ये 'अयं-पुरुष'-पदाभ्यामुक्तानि विशेषणानि आलोच्य तस्य व्यतिरिक्तज्योतिर्जिज्ञासया प्रवृत्तस्य प्रश्नस्य उचितं योग्यम् इत्याकारकमुत्तरं याज्ञवल्क्यआह स्म। 'इति' किम्? आदित्यः अस्य ज्योतिः इति।।२५४।। आदित्य इति। जगतः प्राणे 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्रश्न.१.८.) इति श्रुत्यन्तरात्। स्पष्टमन्यत्।।२५५।। चन्द्रमसीति। प्रभुः राजा। अग्निः दीपादिरूपः।।२५६।। अग्नाविति। विस्रब्धं वरेण निःशङ्कं मानसं यस्य स तथा।।२५७।। उक्तं संगृह्णाति—रवीति। एवं सूर्यादिचतुष्टयरूपं ज्योतिः पूर्वपूर्वाभावे सावधारणं सनियमं प्रकाशकं मुनिना राजानं प्रति उक्तं सकारणं कारणेन प्रकाशकार्यरूपहेतुनिर्देशेन सहितमित्यर्थः।।२५८।। आदित्यादित्रये प्रकाशकत्वे हेतुनिर्देशपरस्य 'अस्त' इत्याद्यंशस्यार्थमाह—आदित्येति द्वाभ्याम्। आदित्यचन्द्रमोऽग्नीनां मध्य एकेन

विवेकशील राजा ने प्रश्न प्रारंभ किये शरीर-इंद्रियादि के संघात से विलक्षण आत्मा के बारे में ताकि स्वयंप्रकाश असंग वस्तु स्पष्ट हो। यह संदर्भ पुराण में बता रहे हैं : राजा ने प्रश्न किया—'हे मुने! हे प्रतिज्ञापालक! दिन रहते जाग्रत् अवस्था वाला यह पुरुष किस प्रकाश वाला होता है यह बताइये।' ('यह पुरुष' में 'यह' से स्थूल-सूक्ष्मशरीरों का संघात ही कहा जा सकता है। 'जाग्रत् अवस्था' में तदनुकूल देश-कालादि समझने चाहिये। 'किस प्रकाश' अर्थात् संघात के अंतर्गत कोई वस्तु इसे भासित करती है या उससे बहिर्भूत?)।।२५३।। प्रश्न में जिसके प्रकाशक की जिज्ञासा है, उसके विशेषणों पर विचार कर मुनि ने प्रश्नके अनुसार उत्तर दिया 'वह आदित्य इसकी ज्योति है।'।।२५४।। राजा ने पूछा, 'जगत् का प्राणभूत यह आदित्य जब अस्त हो जाता है तब यह पुरुष किस प्रकाश वाला होता है?' याज्ञवल्क्य ने नृपश्रेष्ठ को उत्तर दिया 'तब इसका प्रकाश चंद्रमा होता है।' राजा ने फिर पूछा 'चंद्र भी जब अस्त होता है तब यह पुरुष किस प्रकाश वाला होता है ?' मुनि ने कहा 'तब अग्नि रूप प्रकाश वाला यह होता है।' (अर्थात् तब दीपक जला कर व्यक्ति देख सकता है।)।।२५५-२५६।। वर पाकर निडर हुए राजा ने पुनः प्रश्न किया 'आग भी बुझ जाये तब इसकी ज्योति क्या होती है?' मुनीश्वर याज्ञवल्क्य ने भी सहज उत्तर दिया 'वाक्।' (अर्थात् ऐसे सूर्य-चंद्र-वह्निरहित अंधकार में शब्द के सहारे व्यवहार हो जाता है।)।।२५७।। इस प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि ने राजा को सूर्य, चंद्र, अग्नि और वाक् (शब्द) इन चार को पूर्वपूर्व के अभाव में नियमतः प्रकाश बताया और वे प्रकाशन किस तरह करते हैं यह भी समझाया (कि आदित्यादि तत्तत् ज्योति से ही यह पुरुष उठने-बैठने चलने आदि का कार्य करता है)।।२५८।। लोक में आदित्य, चंद्र या अग्नि में से किसी एक प्रकाश द्वारा सर्प आदि से वर्जित अनुकूल स्थान देखकर व्यक्ति वहाँ बैठता है, घर खेत आदि भूतल पर चलता है और ऐहिक आमुष्मिक फल देने वाले कर्म करता है तथा खेत आदिसे

गाढे तमसि यत्रायं ज्ञायते न निजः करः। आसनादिकमत्राऽपि वाचा सर्वः करोति हि।।२६१।।

सुखो देशोऽयमत्रास्तीत्युक्ते तत्र सुखं पुमान्। आसनं कुरुते तद्वत् सर्वं पर्यटनादिकम्।।२६२।।

ततो वागपि सम्प्रोक्ता मुनिना ज्योतिषां गणे। कार्यतः शास्त्रतश्चैषा ज्योतिरग्न्यादिवद् भवेत्।।२६३

एवं नानाविधं ज्योतिरादित्यादिकमीरितम्। अङ्गीचकार सम्बोध्य याज्ञवल्क्येति भूपतिः।।२६४।।

स्वप्ने ज्योतिर्विचारः

एवं जागरणे राजा पृष्ट्वा ज्योतींष्यनेकशः। स्वप्नेऽपृच्छत् पुनर्ज्योतिः पुरुषस्याऽस्य धीमतः२६५

वाचोऽप्युपरमो यत्र भवेत् स्वप्ने मुनीश्वर! तत्र किंज्योतिरुद्दिष्टः पुमान् स्वप्नमुपागतः।।२६६।।

प्रकाशेन सर्पादिरहितं सुखकारणम् अनुकूलं देशं दृष्ट्वा तत्राऽऽस्ते तिष्ठति, तथा गृहक्षेत्रादिरूपे भूतले पर्येति गच्छति, तत्र गत्वा च इहामुत्र वा हितं कर्म करोति, तद्वत् तथा क्षेत्रादिभ्यो विपर्येति गृहादि प्रत्यावर्तते। श्रुतौ रेफस्थाने सावर्ण्याल्लकारः प्रयुक्तः। इति द्वयोरर्थः।।२५९-२६०।। वाक्यपर्यायगतस्य 'आस्त' इत्यादिभागस्यार्थमाह—गाढ इति त्रिभिः। यत्र गाढान्धकारे निजहस्तोऽपि न दृश्यते तत्र सर्वो व्यवहारो वागधीनः। तथा हि अन्धकारे 'अयं देशः सुखः' अनुकूल इत्युक्ते सति तत्र देशे आसनं स्थितिं कुरुते, तथा पर्यटनं कुरुते, आदि-पदेन श्रुतौ 'उपन्येति' इति पदेनोक्तं वद[1] उपगमनं ग्राह्यमिति द्वयोरर्थः।।२६१-२६२।। तत इति। तत उक्ताकाराद् कार्याद् मुनिना वाग् ज्योतिष्ट्वेन उक्ता। न केवलमुक्तकार्यादेव वाचो ज्योतिष्ट्वं किन्तु शास्त्रादपि। तथाहि—मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थ-प्रकाशकत्वं कर्मकाण्डे प्रसिद्धमिति। अत्रेदं बोध्यम्—वाग् गन्धादीनामप्युपलक्षणं, गन्धादिज्ञानेनापि अन्ध-कारव्यवहारदर्शनादिति।।२६३।। आत्मप्रकाशसाधने दृष्टान्तभूतानामादित्यादीनां ज्योतिष्ट्वमुक्तं राजाऽङ्गी चकारेत्याह—एवमिति।।२६४।। यो यः पुरुषव्यवहारः स स्वभिन्नप्रकाशप्रयुक्तः, यथा जागरण इति व्याप्तिबलेन यत्र निर्णयश्चिकीर्षितः तं स्वप्नस्थानमुपन्यस्यति राजेत्याह—एवं जागरण इति। स्पष्टम्।।२६५।। वाचोऽपीति। यत्र स्वप्नावस्थायां वाचः, तथा अपिशब्दगृहीतानामादित्यादीनाम् उपरमो विलयो भवति तत्र पुमान् सूक्ष्मसङ्घातरूपः स्वप्नमुपागतः किंज्योतिः किमात्मकज्योतिर्युक्त इति।।२६६।। ननु भवतु तत्र मनो ज्योतिः ? इत्याशङ्कां वारयति—

लौट कर घर भी आ जाता है।।२५९-२६०।। जिस घनघोर अंधेरे में अपना हाथ भी नहीं सूझता वहाँ भी बैठना आदि सभी काम वाणी से ही कर लेता है। कोई बता देता है 'यह जगह बैठने के अनुकूल है' तो व्यक्ति वहाँ आराम से बैठ जाता है। इसी तरह अंधेरे में घूमना फिरना भी हो जाता है।।२६१-२६२।। इसीलिये प्रकाशक-समुदायमें मुनि ने वाणी को भी गिन लिया क्योंकि प्रकाशका कार्य अंधकार में व्यवहार संपादन वाणी भी कर लेती है। शास्त्र भी शब्द को अग्नि आदि की तरह ज्योति मानता है, इससे भी मुनि ने यहाँ उसे गिन लिया। (यज्ञादि से सम्बद्ध द्रव्यादि का प्रकाशन मंत्र करते हैं ऐसा कर्मकाण्ड में माना गया है, अतः प्रकाशन करने वाले होने से शब्दरूप मंत्र ज्योति कहे जाने योग्य हैं।)।।२६३।। राजा ने भी हर प्रश्न के उत्तर में जिस ज्योति का नाम सुना उसे इस पुरुष के प्रकाशक रूपसे स्वीकार किया। (आत्मरूप प्रकाश केलिये आदित्यादि प्रकाश उदाहरण हैं यह राजा समझ रहा था, अतः उनकी प्रकाशता में विवाद करने नहीं लगा।)।।२६४।।

पूर्वविचार से नियम स्थापित हुआ कि पुरुषके सभी व्यवहार पुरुषातिरिक्त प्रकाश के रहते ही संपन्न होते हैं, जैसे जाग्रदवस्था के उठना-बैठना आदि व्यवहार। जाग्रत्कालिक प्रकाशों का निर्णय अधिक कठिन नहीं किन्तु स्वप्न में प्रकाश किसका है यह निश्चय मुश्किल है, अतः राजा ने तद्विषयक प्रश्न किया यह बताते हैं : राजा ने जाग्रदवस्था की अनेक ज्योतियों के बारे में पूछने के बाद बुद्धियुक्त पुरुष के स्वप्न में जो प्रकाशक होता है उसके बारे में प्रश्न उठाया 'हे मुनीश्वर! जहाँ वाणी भी उपशान्त हो जाती है उस स्वप्न अवस्था में पहुँचा पुरुष किस प्रकाश वाला कहा गया है?'।।२६५-२६६।।

---

१. एतत्पदमत्र मास्तु।

यथा नेत्रं भवेन्नैतज्ज्योतिर्जागरणे सदा। विद्यमानं तथा न स्याद् मनो ज्योतिः समावृतम्।।२६७।।

सूर्यचन्द्राग्नयो यद्वदनुग्रहकराः स्मृताः। नेत्रस्यार्थग्रहे तद्वद् इन्द्रियाण्यपि चेतसः।।२६८।।

अपि स्वप्नगतं चेतो मृत्समं विद्यतेऽत्र हि। स्वाप्नानां सर्वभावानामुपादानमिदं यतः।।२६९।।

तेन नेत्रसमं चैतद् मृदादिसदृशं हि वा। विद्यमानं मनो हित्वा स्वप्नगं सर्वबोधकृत्।।२७०।।

आत्मानं तस्य मनस इन्धं साक्षिणमुक्तवान्। याज्ञवल्क्योऽपि राजानं स्वप्ने ज्योतिःस्वरूपिणम्।।२७१।।

आस्तेऽयमात्मना स्वप्ने पर्येति च गृहादिकम्। कुरुते चैव कर्माणि लोकद्वयफलानि सः।
क्षेत्रादिभ्यो विपर्येति यद्वज्जागरणे पुमान्।।२७२।।

यथेति चतुर्भिः। यथा जागरणे विद्यमानम् अपि नेत्रम् आदित्यादिप्रकाशं विना समावृतम् अन्धकाराक्रान्तं सत् ज्योतिः प्रकाशकं न भवेत् तथा स्वप्ने विद्यमानं मनः समावृतम् आवरणाभिभावकसहकारिविनिर्मुक्तं ज्योतिः इति वक्तुमशक्यमित्यर्थः।।२६७।। ननु किं मनसः सहकारि प्रसिद्धमिति चेद्? इन्द्रियवृन्दमित्याह—सूर्येति। यथा नेत्रस्य चक्षुषः अर्थकर्मके ग्रहणलक्षणव्यापारे सूर्यादयोऽनुग्राहकाः, तथा मनस इन्द्रियाणि सहकारीणि। तानि तु स्वप्ने लीनानीति कथं मनो विषयज्योतिष्ट्वं भजेदिति भावः।।२६८।। किं च स्वाप्नपदार्थानां तदाकारवृत्तीनां च परिणामिकारणं मनः, यथा घटस्य मृत्। तथा च तत्र प्रकाशकेन अन्येनैव भवितव्यमित्याह—अपि स्वप्नेति। उपादानं परिणामिकारणम् इदं मनः।।२६९।। फलितमाह—तेनेति। तेन उक्तप्रकारेण स्वाप्नभावानामविद्योपादानकत्वपक्षे मनसो जाग्रत्संस्कारधारणव्यापारेण करणत्वाभ्युपगमेऽपि नेत्रवदनुग्राहकसापेक्षत्वं मनस एव। स्वाप्नभावोपादानकत्वपक्षे तु मृत्समत्वम्। अतः स्वप्नावस्थागतं सर्वबोधकारकं किंचिज्ज्योतिः स्वभिन्नं हित्वाऽनपेक्ष्य स्वप्ने विद्यमानम् अपि मनो न ज्योतिः। तन्मनसोऽनुग्राहकं ज्योतिः स्वप्ने किमिति शेषः।।२७०।।

उक्ताशयेन राज्ञा पृष्टो याज्ञवल्क्यः 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादिवाक्येनोत्तरं ददौ। तस्यार्थमाह—आत्मानमिति त्रिभिः। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्यः पूर्वोक्तं स्मारयन् राजानं प्रति स्वप्न आत्मानं ज्योतिःस्वरूपम् उक्तवान्। कीदृशमात्मानम्? तस्य नेत्रसमतया मृत्समतया च वर्णितस्य मनसः साक्षिणं साक्षाद् द्रष्टारम्, अत एव इन्धे दीप्यत इति व्युत्पत्तिकेन इन्धनाम्ना वार्णितमिति।।२७१।। कथमात्मनः स्वप्ने ज्योतिष्ट्वमिति चेत्? ज्योतिःप्रयुक्तस्यासनादिव्यवहारस्य प्रयोजकत्वादित्याह — आस्तेऽयमिति । उक्तार्थम्।।२७२।। तत इति। ततः

जैसे जागरण में नेत्र हमेशा ज्योति नहीं बनता क्योंकि आदित्यादि के प्रकाश के बिना अंधकार से मानो ढका होने पर देख नहीं पाता, वैसे ही मन स्वप्न में विद्यमान होने पर भी आवरण के अभिभावक सहकारियों के अभावमें ज्योति या प्रकाशक नहीं बन पाता। रूपादि विषय ग्रहण करने में नेत्र पर अनुग्रह करने वाले जैसे सूर्य, चंद्र व अग्नि हैं वैसे ही मन ग्रहण कर सके इसकेलिये आवश्यक सहायक इन्द्रियाँ हैं और वे स्वप्नदशा में विलीन रहती हैं, कार्यकारी होती नहीं।।२६७-२६८।। किं च स्वप्नावस्था में पहुँचा मन तो मिट्टी जैसा हो जाता है क्योंकि स्वप्नदृश्य सभी पदार्थों का वह उपादान होता है! (एवं च घटोपादान मिट्टी जैसे घटप्रकाशक नहीं होती वैसे ही स्वाप्नोपादान मन स्वाप्नों का प्रकाशक नहीं हो सकता।)।।२६९।। मन को स्वप्नमें नेत्रतुल्य मानो चाहे मिट्टी के तुल्य, वह तब विद्यमान होकर भी अपने से भिन्न ज्योति के बिना प्रकाशक बन नहीं सकता। इसलिये स्वप्नके सब ज्ञान कराने वाला प्रकाश क्या है? यह राजप्रश्न का अभिप्राय है। (स्वप्नमें मन नेत्रतुल्य इस दृष्टि से है कि सपने के दृश्यों का उपादान अज्ञान माना जाता है तो जाग्रत् के संस्कारों का धारण करना रूप व्यापार वाला करण मन स्वीकारा जाता है। तब भी जैसे नेत्र प्रकाशापेक्ष है ऐसे मन को भी स्वातिरिक्त प्रकाश की अपेक्षा रहेगी ही। स्वाप्न वस्तुओं का उपादान मन ही है ऐसी भी एक प्रक्रिया है, तब तो उपादानत्व में उपक्षीण मन ज़रूर प्रकाशाकांक्ष हो यह उचित है। प्रक्रियाविरोध इसलिये नहीं कि मन भी अविद्या की ही एक अवस्थाविशेष है।)।।२७०।।

तत आत्मा स्वयंज्योतिः पश्यन्नानाविधां धियम्। स्वप्न इन्धः पुरोक्तोऽयं कथितो मुनिना पुनः२७३

स्वप्नोपस्थापनोपयोगः

रविसोमाग्निवाचोऽयं स्वप्ने सृजति सर्वतः। प्रकाशकान् प्रकाश्यांश्च रथादीनीश्वरो यथा।।२७४।।

अनुग्राह्यांश्च नेत्रादीन् सर्वेषां कारणानि च। महाभूतानि कालांश्च देशांश्चापि दिशस्तथा।।२७५।।

स्थावरान् जङ्गमांस्तद्वज्जन्तूनुच्चावचानपि। समुद्रान् सरितो द्वीपान् गिरीन् मेर्वादिकानपि।।२७६।।

स्वप्ने प्रकाशान्तराभावेऽपि प्रकाशकार्यकरणात् स्वयंज्योतिः परानपेक्षप्रकाशः आत्मा नानाविधां नानारूपां बुद्धिं पश्यन् प्रकाशयन् यः पुरा इन्धसंज्ञया उक्तः स एव पुनः मुनिनाऽयं स्पष्टो ज्योतिष्ट्वेनोक्त इत्यन्वयः।।२७३।। नन्वेवं स्वप्ने गत्वाऽऽत्मनो ज्योतिष्ट्वाभिधानं किमर्थं कृतम्, जागरणेऽपि तस्य स्वयंप्रकाशत्वादिति चेत्? सत्यम्; तथापि बालबुद्धिमनुसरन्त्या श्रुत्या लौकिकप्रकाशाऽसङ्कीर्णस्थलमुदाहृतम्। स्वप्ने ह्यात्मनः सर्वस्रष्टृत्वेन, बुद्धेस्तदेकभास्यत्वेन च ज्योतिष्ट्वे सावधारणं निर्धारिते, जाग्रत्यपि तत् सुबोधं भवतीति। इममाशयं श्लोकशतेन दर्शयन सर्वस्रष्टृत्वं तावदाह—रवीत्यादिना। अयम् आत्मा रविप्रभृतीन् प्रकाशकान् रथादिरूपान् प्रकाश्यांश्च ईश्वरवदेकः सृजति; इति द्वितीयान्तानां षष्ठेन (श्लो.२७६) सम्बन्धः।।२७४।। अनुग्राह्यानिति। आदित्यादिप्रकाशैः अनुग्राह्यान् नेत्रादिरूपभावान् करणतया प्रसिद्धान् सृजति। तथा महाभूतादीन् स्थावरादीन् तथा समुद्रादीन्।

इस प्रश्न पर याज्ञवल्क्य ने भी पूर्वोक्त आत्मोपदेश का स्मरण दिलाते हुए राजा को समझाया कि स्वप्न में वह आत्मा ही प्रकाशरूप है जो मन को बिना व्यवधान के जानता है, स्वतः दीप्तिमान् है। यह जीव सपने में आत्मप्रकाशसे ही बैठता है, घर आदि में घूमता है, इहामुष्मिक-फलक कर्म करता है। जैसे जागरण में खेतादि से घर तक, सूर्यादि के सहारे लौटता है, वैसे ही सपने में जिस प्रकाशके सहारे लौटता है वह आत्मा ही है।।२७१-२७२।।

इस प्रकार महामुनि ने उसी अभय-आत्मतत्त्व को ज्योतीरूप से स्पष्ट कर पुनः समझाया जिसे पहले 'इन्ध' नाम से प्रतिपादित किया था क्योंकि स्वप्न में अन्य कोई प्रकाश अर्थात् ज्ञानोपाय न रहने पर भी परापेक्षारहित प्रकाश होने से नाना रूपों वाली बुद्धि को प्रकाशित करते हुए वही कार्य संपन्न करता है जो कहीं भी प्रकाश किया करता है।।२७३।।

यद्यपि आत्मा प्रकाशरूप है यह जाग्रदवस्था में समझा सकते हैं तथापि स्पष्टतर होनेसे सुगम है अतः स्वप्न में आत्मा के उस स्वरूप का श्रुति ने उपन्यास किया है । सब का उत्पादक और बुद्धि का इकलौता प्रकाशक आत्मा है यह स्वप्न में सभी को स्वीकारना सरल होता है। यों सर्वहेतु-प्रकाशता उस अवस्था में समझ लेने पर जाग्रद् में भी वैसा ही है यह ज्ञान होना आसान है। इस आशय से अगला श्लोकशतक प्रवृत्त है।

जैसे ईश्वर सभी कुछ रच देता है ऐसे ही हम सभी को साक्षात् यह आत्मा स्वप्नावस्था में प्रकाशकरूप से प्रतीयमान रवि, चन्द्र, अग्नि, वाणी आदि और प्रकाश्यरूप से प्रतीयमान रथ, मार्ग आदि सभी को रच देता है। सूर्यादि जिन पर अनुग्रह करते हैं उन नेत्रादि सभी इंद्रियों को, महाभूत, देश, काल, दिशायें, स्थावर-जंगम ऊँचे-नीचे प्राणी, समुद्र, नदियाँ, द्वीप, मेरु, आदि पर्वत, पातालादि नीचे के सातों व भूः आदि ऊपर के सातों विशाल लोक—इन सभी को स्वप्न में आत्मा उत्पन्न कर लेता है। विभिन्न वैभवों से अलंकृत इन्द्रादि लोकपालों की सृष्टि भी स्वप्नलोक में हो जाती है। लोकपाल हैं : इंद्र, अग्नि, यम, रक्षः, वरुण, पवन (वायु), कुबेर, महेश, ब्रह्मा और शेषनाग। स्वप्नमें उत्पन्न होने वाले इतने ही नहीं, विष्णु आदि अन्य देवदेह एवं विभिन्न पशु-पक्षी-वनस्पति आदि जातियों के राजा भी वहाँ पैदा होते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, अपरोक्ष, परोक्ष ब्रह्माण्ड आदि जो कुछ भी है उस सब को यह अकेला आत्मा ही उत्पन्न करता है।।२७४-२७६।।

उरूनपि च पाताललोकान् सप्तापि चापरान् । लोकपालांस्त्विमान् नानाविभूतिभिरधिष्ठितान् । ।२७७ । ।

इन्द्रमग्निं यमं रक्षो वरुणं पवनं तथा। धनदं च महेशानं ब्रह्माणं शेषमेव च।। परानपि च विष्ण्वादीन् नानाजातिप्रभूंस्तथा । ।२७८ । ।

यदस्ति यच्च नास्त्यत्र गम्यते यद् न गम्यते । ब्रह्माण्डादि समग्रं तद् एकः स्वप्ने सृजत्ययम् ।२७९ ।

ब्रह्माऽहमिति यद्वाक्यं श्रुतेस्तद्धि प्रमाणताम् । स्वप्ने गच्छति यस्मात्ते तत्र शोच्याश्च जन्तवः ।२८०

ब्रह्मवद् विविधं विश्वं माययैव सृजन्ति हि। आत्मनः स्थापयन्त्येतत् स्वात्मन्येव महेश्वराः।। संहरन्ति यथाभूतान् जन्तून् नानाविधानिह । ।२८१ । ।

महतो ज्वलतो वह्नेः सरूपा विस्फुलिङ्गकाः । निःसरन्ति यथा स्वप्ने तथा जन्तोश्च जन्तवः । ।२८२ । ।

।२७५-२७६ । । उरूनिति । उरून् विशालान् सप्त पातालाख्यलोकान् तथा अपरान् ऊर्ध्वान् सप्त भूरादिलोकान् तथा तदधिपतींश्च सृजति । ।२७७ । । दशदिक्पतीन् सृजतीत्याह—इन्द्रमिति । ऊर्ध्वदिक्पतिर्ब्रह्मा, अधरदिक्पतिः शेषः । परानिति । परान् ईश्वरविग्रहान् विष्ण्वादीन् तथा नानाजातीन् नानाभेदान् प्रभून् भूपत्यादीन् । ।२७८ । । यदस्तीति । अस्ति स्थूलं, नास्ति सूक्ष्मं, गम्यते प्रत्यक्षं, न गम्यते परोक्षम् । ।२७९ । ।

ब्रह्मेति । आत्मनो ब्रह्मैक्यावगाहकं ब्रह्माऽहमित्याकारकं श्रुतेर्वाक्यं भ्रान्तानामात्मनः परिच्छिन्नत्वदर्शनेन अद्वयैक्यायोग्यतां मन्यमानानाम् अप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितमपि स्वप्ने आलोचिते सति अप्रामाण्यशङ्कानिवृत्त्या प्रमाणतां गच्छति अतिरोहितां प्रमाणतां धारयति । ननु कथं स्वप्नालोचनेन तद्वाक्यार्थयोग्यतानिश्चय इति चेत्? जगज्जन्मादिकारणत्वस्य ब्रह्मलक्षणस्य अद्वितीयतापर्यवसन्नस्य आत्मन्यपि दर्शनाद् इत्याह—यस्माद् इत्यादिना । यस्माद् असामर्थ्यादिना शोच्या अपि जन्तवो ब्रह्मवद् ईश्वरवद् मायाशबलेनात्मनैव नानाविधानां यथाभूतानाम् ईश्वरसृष्टसमानां सृष्ट्यादिकं कुर्वन्ति। इति द्वयोरर्थः। ।२८०-२८१ । । एकस्मादात्मनोऽनेकप्रमातॄणामुत्पत्तौ दृष्टान्तः 'तद्यथा महतोऽभ्याहितादग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति' (बृ.२.१.२०) इति श्रुत्यन्तरे य उक्तः सोऽपि स्वप्ने सुपरिचेय इत्याशयेनाह—महत इति । यथा ज्वलतो वह्नेः सरूपाः समानरूपाः कणा निःसरन्ति तथा एकस्मात् जन्तोः आत्मनः सकाशात् जन्तवः प्रमातारो निःसरन्ति इति । ।२८२ । । जीवसृष्टौ क्रमोऽपीश्वरकर्तृकसृष्ट्या समान

जीव-ब्रह्म के अभेद का अज्ञान मिटाने वाले 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि श्रुति में आये महावाक्यों के बारे में भ्रान्तजनों को शंका बनी रहती है कि वे प्रमोत्पादक नहीं क्योंकि वे लोग आत्मा में परिच्छिन्नता का अनुभव करने से मानते हैं कि जीव-ब्रह्म का अभेद हो नहीं सकता। वे लोग जब स्वप्न का विचार करते हैं तो वह शंका मिट जाने से उक्त वाक्य प्रमाणकृत्य करने में समर्थ हो जाते हैं क्योंकि जगत्के जन्मादि के प्रति कारण होना—यह जो ब्रह्म का लक्षण है वह आत्मा में भी है, यह बात सपने में व्यक्त होती है। असमर्थता आदि से शोकयोग्य हुए भी जीव अपनी माया द्वारा स्वयं से नानाविध प्रपंच वैसे ही उत्पन्न कर लेते हैं जैसे ब्रह्म मायाशबल हो संसार बनाता है। स्वाप्न प्रपंच को जीव अपने में ही स्थापित रखते हैं तथा उस संसार के महेश्वर होने से वे उसे स्वयं में ही विलीन भी कर लेते हैं। केवल उत्पादन में ही (उत्पत्ति क्रिया में ही) ईश्वरतुल्यता नहीं, उत्पाद्य भी वैसा ही होता है जैसा ईश्वरसृष्ट जगत् है। (इसलिये निश्चित होता है कि जीव उसी प्रकार ब्रह्म है जैसे ईश्वर। ईश्वरकी माया और जीव की माया में कुछ भेद भले ही हो, जीव-ईश्वर में भेद नहीं। दोनों की माया है तो अज्ञानरूप ही। दृष्टिसृष्टि या वाचस्पत्य प्रक्रिया में तो स्पष्ट ही जगद्धेतुता जीव में रह जाती है। उन प्रक्रियाओं में जीव-ईश्वर दो पदार्थों का अभेद कैसे? इसका उत्तर है कि उनमें जीव ही ईश्वररूपसे सृष्टि आदि करता है अतः पदार्थभेद प्रसिद्ध हो जाता है। सर्वथापि स्वप्नमें स्पष्ट होता है कि केवल अज्ञान का सहारा लेकर आत्मा दृश्यका निमित्त-उपादान बन सकता है और उस दृश्यादि से आत्मा में द्वैत भी आता नहीं, कारण कि वह द्वैत आत्मा से स्वतंत्र सत्ता वाला नहीं होता। इसीलिये यहाँ याज्ञवल्क्य ने स्वप्न का विस्तार किया है।)। ।२८०-२८१ । ।

यद्वदेव जगत्सृष्टौ ब्रह्म सर्वस्य कारणम्। भूतभौतिकगर्भाढ्यं प्रथमं सृजते मनः।।२८३।।
तस्मिन् सृष्टे विजानाति नामरूपात्मकं जगत्। अव्यक्तनामरूपेऽस्मिन् स्थित आत्मनि सर्वदा।२८४
एवं शयानः पुरुषो मनोमात्रैकसाधनः। मनसा सृजते विश्वमात्मना भासितेन हि।।२८५।।

निरुपाधिरात्माऽभिन्नः

जन्तूनां ब्रह्मणो भेदे स्थूला देहा उदाहृताः। ससूक्ष्मा यद्वदुद्दिष्टाः खस्यैते सघटा गृहाः।।२८६।।
बहिर्वापि गृहे चैतद् घटे वा विषमं न हि। आकाशं विषमत्वं तु गृहकुम्भादिसंस्थितम्।।२८७।।
स्थूलसूक्ष्मशरीरेषु वैषम्यं समुपस्थितम्। ब्रह्मणो न स्वरूपेण कुत्राप्येतत्तथैव हि।।२८८।।

इत्याह—यद्वदेवेति त्रिभिः। यद्वद् यथा सर्वस्य कारणं ब्रह्म ईश्वरः प्रथमं मनो हिरण्यगर्भरूपं सृजते। कीदृशं मनः? स्थूलभूततद्विकारात्मकेन गर्भेण जनिष्यमाणभावेन आढ्यं युक्तम्।।२८३।। तस्मिन्निति। तस्मिन् हिरण्यगर्भरूपे मनसि सृष्टे सति नामरूपात्मकं जगत् स्थूलं सूक्ष्मं च विजानाति विस्पष्टमुपलभते। कीदृशं जगत्? मनःसृष्टेः पूर्वम् आत्मनि ईश्वरेऽव्याकृतनामरूपोपाधिकेऽव्यक्तरूपेण स्थितम्।।२८४।।एवमिति। एवं शयानः अज्ञानव्यष्ट्युपाधिकः पुरुषो व्यष्टिमनस एवैकः असहायः साधनः साधको जनक इति यावत्। सृष्टेन स्वयं प्रकाशितेन च मनसा सर्वं सृजतीति।।२८५।।

ब्रह्माहमिति वाक्यार्थे योग्यतां स्पष्टयितुमुपाधिविनिर्मुक्त आत्मनि भेदो नास्तीति तावद् दर्शयति—जन्तूनामिति त्रिभिः। जन्तूनां प्रमातॄणां ब्रह्मणः सकाशाद् भेदे प्रयोजकाः ससूक्ष्माः स्थूला देहा उक्ताः, 'रूपं रूपं प्रतिरूप' इत्यादिश्रुतौ (बृ.२.५.१९)। यथा खस्य आकाशस्य भेदे प्रयोजकाः सूक्ष्मा घटाः स्थूला गृहा उद्दिष्टा लोके व्यवहृताः।।२८६।। बहिरिति। यथा आकाशं बहिः देशे गृहे घटे वा विद्यमानं विलक्षणं न किन्त्वेकरूपमेव, विषमत्वं तु गृहाद्युपाधिगतमेव।।२८७।। स्थूलेति। तथैव भेद उपाधिष्वेव, स्वरूपेण तु ब्रह्मणः चिद्धातोः कुत्रापि वैषम्यं भेदो न अस्तीति।।२८८।।

धधकती हुई आग से अग्निके समान रूपादि वाले अग्निकण (चिनगारियाँ) जैसे निकलते हैं वैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा आत्मा से स्वप्नदृश्य प्रमाता उत्पन्न हो जाते हैं।।२८२।। जीव की सृष्टि में क्रम भी उसी तरह होता है जिस तरह ईश्वर की सृष्टि में है। सारे संसार का कारण ब्रह्म जगत् की सृष्टि का प्रसंग होने पर सबसे पहले वह मन पैदा करते हैं जो आगे पैदा होने वाले स्थूल भूतों और उनके कार्यों से युक्त होता है।।२८३।। वह मन ही हिरण्यगर्भ का रूप है। वह पैदा हो जाने पर ईश्वर नाम-रूप वाले स्थूल व सूक्ष्म जगत् को विस्पष्ट समझ लेते हैं जो उक्त मन व्यक्त होने से पहले ईश्वर में छिपे हुए थे क्योंकि ईश्वर की उपाधि वे नाम-रूप हैं जो व्यक्त नहीं हैं, छिपे हैं।।२८४।। जैसे ईश्वर वैसे जीव जब गहरी नींद में रहता है तब उसकी उपाधि व्यष्टि (सीमित) अज्ञान होता है और वह अकेला ही, अन्य सहायक के बिना, व्यष्टि (अर्थात् केवल अपने) मन को उत्पन्न कर लेता है और उत्पादित एवं खुद से (आत्मा से) भासित उस मन से वही सब कुछ पैदा कर लेता है।।२८५।।

इस प्रकार समझाया कि सृष्टि-उत्पादकता आदि की समानता से जीव-ईश्वर में अभेद संगत है। अब स्पष्ट करते हैं कि वाक्यार्थभूत अभेद निरुपाधि आत्मरूप है जिससे वाक्य के अभिप्राय में संदेह का कोई स्थान नहीं। विविध प्रमाता—अर्थात् जीव—ब्रह्म से अलग प्रतीत होते हैं इसमें हेतु बनते हैं सूक्ष्म शरीरों समेत स्थूल शरीर। जैसे छोटा घड़ा और बड़ा घर दोनों ही आकाश की उपाधि बन जाते हैं, ऐसे ही दोनों तरह के शरीर आत्मा की उपाधि बन जाते हैं।।२८६।। आकाश बाहर, घर में व घट में विद्यमान होने पर भी आकाश में कोई विलक्षणता नहीं आ जाती है, वह एकरूप ही बना रहता है। सारा भेद घर, घड़ा आदि उपाधियों में ही होता है। इसी तरह स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में विषमताएँ मौजूद हैं, स्वरूपतः चिद्रूप परम ब्रह्म में कहीं कोई भेद है ही नहीं।।२८७-२८८।।

उपाध्यभेदः

सूक्ष्मं शरीरं जन्तूनां मनोमात्रमुदाहृतम्। यथा हिरण्यगर्भोऽयं ब्रह्मणोऽव्यक्तरूपिणः।।२८९।।

निर्मिमीते यथा तेन सूत्रेणैव जगत्पटम्। तथा शयानः पुरुषो मनःसूत्रं जगत्पटम्।।२९०।।

व्यष्टिसमष्ट्योरभेदः

यथैव ज्वलतो वह्नेः कणास्तद्वन्मनांस्यपि। जन्तूनां ब्रह्मणः सूत्राद् विनिर्गच्छन्त्यनेकशः।।२९१।।

यथा वह्निर्महान् दीप्तो दहेच्चापि प्रकाशयेत्। कणा अपि तथा दाहं प्रकाशं च प्रकुर्वते।।२९२।।

एवं सूत्रं यथा विश्वं सृजत्यत्ति च पाति च। तथा मनांसि सर्वाणि शयने सर्वदेहिनाम्।।२९३।।

एवमुपहिताभेदमुक्त्वा उपाधीनामभेदं वक्तुं सूक्ष्मोपाधिस्वरूपं तावदभिनयति—सूक्ष्ममिति। मन एव व्यष्टिरूपं प्रतिप्रमातृ वर्तमानं जन्तूनां सूक्ष्मं शरीरम् उक्तम् सूक्ष्मशरीरस्य मनःप्रधानत्वाद्, यथा ईश्वरस्य हिरण्यगर्भः सूक्ष्मशरीरमिति।।२८९।। ततः स्थूलशरीरोत्पत्तिं समष्टिदृष्टान्तेनाह—निर्मिमीत इति। यथा ईश्वरः तेन हिरण्यगर्भरूपेण सूत्रेण स्थूलजगद्रूपं पटं निर्मिमीते रचयति तथा व्यष्ट्युपाधिकः पुरुषः अपि स्वप्नादौ मनः सूत्रस्थानीयं यस्य एतादृशं जगत्पटं निर्मिमीत इति।।२९०।।

व्यष्टिसमष्ट्योः अभेदं वक्तुं तयोः साधर्म्यमाह—यथैवेति पञ्चभिः। यथा एकस्मात् ज्वलतो वह्नेः नानाविधाः कणाः विनिर्गच्छन्ति उड्डीयमानपार्थिवांशोपाधिकं भेदं व्रजन्ति, तथा सूत्रात्मभूतादेकस्माद् ब्रह्मणः सकाशात् जन्तूनां मनांसि विनिर्गच्छन्ति कार्योपाधिकमेदशालीनि भवन्ति इति।।२९१।। यथा वह्निरिति। यथा च वह्नेः तत्कणानां च दाहकत्वप्रकाशकत्वयोः न विशेषः, तन्महत्त्वाल्पत्वयोः दाह्यप्रकाशा[श्या]ल्पत्वमहत्त्वापेक्षत्वादिति भावः।।२९२।। एवमिति। एवं यथा समष्टेः सूत्रस्य सृष्ट्यादिसामर्थ्यं तथा मनसामपि स्वप्ने प्रसिद्धमित्यर्थः।।२९३।।

यद्यपि उपहित ही अभिन्न-स्वरूप है तथापि विचार करें तो उपाधियाँ भी किसी सत्य भेद से लांछित नहीं हैं। हर प्रमाता केलिये व्यापार करने वाला एक-एक मन है जो सूक्ष्म शरीर का प्रधान अंग है, अतः 'मन' शब्द से सूक्ष्मशरीर भी कह दिया जाता है। अव्यक्त उपाधि वाले ब्रह्म (ईश्वर) का सूक्ष्म-शरीर जैसे पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ है, उसी तरह जीवका सूक्ष्मशरीर है मन। जैसे ईश्वर उस हिरण्यगर्भात्मक धागे से स्थूल संसार रूप कपड़ा बुन लेता है वैसे ही व्यष्टि-उपाधि वाला पुरुष स्वप्न आदि में ऐसे संसाररूप कपड़े को बुन लेता है जिसमें धागा होता है सिर्फ मन! (इसलिये ईश्वर व जीव की उपाधियाँ भी एक ही हैं क्योंकि वे करती इतना ही हैं कि आत्मा स्थूल प्रपंच पैदा कर ले।)।।२८९-२९०।।

बड़ी-छोटी होने पर भी उपाधियाँ कोई सर्वथा अलग पदार्थ नहीं हैं। आग एक रहते हुए भी धक-धक जले तो अनेक समूहों में पुनः-पुनः चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। चिनगारी भी है तो अग्नि ही लेकिन उड़ते हुए पार्थिव अंश जब उपाधिरूप से आगसे सम्बद्ध होते हैं तब उसे उतना छोटा प्रतीत कराते हैं जितने वे स्वयं हैं। ऐसे ही सूत्रात्मारूप एक परमात्मा से जन्तुओं के मन निकल आते हैं अर्थात् स्थूलशरीररूप उपाधियों से युक्त होकर ऐसे हो जाते हैं कि शरीरभेद के कारण वे भी विभिन्न समझे जाते हैं और नाना प्रकारों के कार्यों में हेतु बनते हैं।।२९१।।

जैसे बड़ी आग जलाती और प्रकाशित करती है वैसे ही चिनगारियाँ भी जलाती और प्रकाशित करती हैं, भले ही उनका दाह्य और प्रकाश्य अत्यल्प हो! सूत्रात्मा जैसे विश्व को उत्पन्न-विलीन-रक्षित करता है ऐसे ही सभी देहधारियों के मन शयनावस्था में स्वाप्न जगत् को उत्पन्न करते हैं, व्यवस्थित रखते हैं और समाप्त कर देते हैं।।२९२-२९३।।

स्वाकारेण समानत्वं वह्नेः प्रज्वलतोऽपि हि। कणानां च तथैव स्यात् सूत्रस्य मनसामपि।।२६४।।

अव्याकृते यथैव स्याद् भेदो रूपे न कश्चन। कणानां च महावह्नेः काष्ठभेदं विहाय हि।।२६५।।

सूत्रस्य मनसां चैवं रूपभेदो न विद्यते। विराट्स्थूलशरीराणां भेदमेकं विहाय हि।।२६६।।

साक्षाच्चिद्भास्यं मन एव

सूत्रं यथा जगच्चित्रभित्तिभूतमुदाहृतम्। मनांस्येवं जगच्चित्रभित्तिभूतानि देहिनाम्।।२६७।।

एवं समष्टिव्यष्ट्योर्विश्वसृष्ट्यादितटस्थलक्षणसाम्यमभिधाय स्वरूपलक्षणसाम्यमप्याह—स्वाकारेणेति। यथा दृष्टान्ते स्वाकारेण स्वस्य वह्नेराकारस्तेजस्त्वं लोहितरूपं च तेन वह्नेः कणानां च समानत्वं तथा सूत्रात्मनो मनसां च सूक्ष्मत्वादिरूपसाम्यमित्यर्थः। स्वकारणेति पाठे पूर्वश्लोकद्वयेन स्वरूपतटस्थलक्षणसाम्यमभिधाय अनेन श्लोकेन अव्याकृतेन साम्यं सूक्ष्मसमष्टिव्यष्ट्योरुच्यते। तथा च—यथा प्रज्वलतो वह्नेः सूक्ष्मसमष्टिस्थानीयस्य कणानां च व्यष्टिस्थानीयानां स्वकारणेन तेजःसामान्येन धर्मैः कार्यैश्च साम्यं तथा सूत्रस्य मनसां च कारणेन कारणाज्ञानविशिष्टेन ईश्वरात्मना सृष्टिसामर्थ्यादिधर्मैः साम्यमित्यर्थः।।२६४।। एवं लक्षणसाम्यमुक्त्वा तत्फलमभेदं दर्शयति—अव्याकृत इति द्वाभ्याम्। यथा ज्वलतो वह्नेः कणानां च अव्याकृते तेजःसामान्यात्मके रूपे, उपाधिभूतकाष्ठनिष्ठं भेदं विहाय अनपेक्ष्य न भेदः, तथा सूत्रस्य मनसां च स्वरूपे न भेदः, स्वतस्त्वभेदः। इति द्वयोरर्थः।।२६५-२६६।।

एवं चिद्धातोरेकत्वं तथा उपाधिभूतसमष्टिव्यष्ट्योः अभेदो दर्शितः। अथ चिज्जडयोः द्वैतं वारणीयं, तदर्थं दृग्दृश्यसम्बन्धस्य दृश्यमिथ्यात्वमन्तरेणानुपपन्नस्य सूचनाय चिद्भास्यतां जडस्य दर्शयिष्यमाणः तत्रापि चिता साक्षाद् मन एव प्रकाश्यत इतरस्तु तद्द्वारेति प्रदर्शनोपयोगिनीं चित्तस्य भित्तिस्थानीयतां दर्शयति—सूत्रमिति। यथा स्थूलसमष्टिरूपस्य चित्रस्यालेख्यस्य कुड्यभूतं सूत्रं सूक्ष्मसमष्टिः तथा व्यष्टिमनांस्यपि स्थूलव्यष्टीनां

यहाँ तक बताया कि समष्टि (ईश्वर) और व्यष्टि (जीव) के तटस्थ लक्षण में—सृष्टिहेतुता में—पूरी समानता है। अब यह भी बता देते हैं कि इनके स्वरूपभूत लक्षण में भी कोई अंतर नहीं। आग का अपना आकार या स्वरूप है तेज (गर्मी) और लाल रंग (प्रकाश)। यह स्वरूप जैसा ज्वाला में है वैसा ही चिनगारी में भी। इसी तरह सूत्रात्मा और मन का भी स्वरूप जो सूक्ष्मतादि हैं, वे सर्वथा एक हैं। (इस श्लोक में प्रथम पद 'स्वकारणे' भी पठित है, तदनुसार—) सूक्ष्म समष्टि की दृष्टान्तभूत वह्नि और व्यष्टि की दृष्टांतभूत चिनगारियाँ दोनों अपने कारणभूत तेजोरूप महाभूत के समान हैं क्योंकि इनके धर्म व कार्य वे ही हैं जो तेजस्तत्त्व के। ऐसे ही सूत्रात्मा और मन दोनों का कारण है कारणोपाधिक ईश्वर। ईश्वर जैसे सृष्टि आदि सामर्थ्य वाला है वैसे ही सूत्र और मन भी, अतः उसी के समान हैं। ज्वाला और चिनगारी तेजोरूप तो एक-से हैं, उनमें भेद उनकी उपाधियों का ही है। उनका निजी रूप जो तेजस्त्व है उसमें कोई अंतर नहीं। लंबा आकार आदि जिस उपाधि से है वह लकड़ी आदि लंबी होती है, छोटा आकार आदि जिससे है वह उपाधि पार्थिव-कण छोटा होता है। उपाधियों का ही भेद है, वह्नि एक ही है। इसी तरह सूत्रात्मा और मन का स्वरूप एक ही है, उसमें भेद नहीं। भेद तो समष्टि-स्थूलरूप विराट् शरीर और व्यष्टि-स्थूलरूप स्थूलशरीर-इन उपाधियों से है। विराट् एक है अतः सूत्रात्मा एक प्रतीत होता है, मन अनंत हैं तो प्रमाता (जीव) अनंत प्रतीत होते हैं। विचार से तो जैसे अव्यक्तोपाधि अज्ञानरूप है वैसे ही मन भी अज्ञानरूप ही है, इनमें कोई भेद नहीं है।।२६४-२६५।।

चेतन परमात्मा एक है और उसकी समष्टि-उपाधि एवं व्यष्टि-उपाधियाँ भी अभिन्न हैं, यह अब तक दिखाया। अब समझायेंगे कि चेतन और जड परस्पर सद्वितीय नहीं हैं। यह संगत करने के लिये दृश्य (जड) को मिथ्या सिद्ध

अव्याकृतं यथा सर्वैरप्रकाश्यं प्रकाशकम्। सूत्रस्यापि विराजश्च भूतभौतिकरूपिणः ।।२६८।।

तथाऽज्ञानाश्रयो जन्तुरप्रकाश्यः प्रकाशकः। सूक्ष्माणामपि देहानां स्थूलानामपि सर्वदा ।।२६९।।

मनोव्यतिरेकः

इन्धनाऽभावतो वह्निर्महावह्नौ यथैव हि। लीयतेऽत्र मनांस्येवं सूत्रे मुक्त्यादि गच्छताम् ।।३००।।

स एव च यथा वह्निः भस्मच्छन्नो न कार्यकृत्। पुनश्च भस्मनोऽपाये दहेच्चैवं प्रकाशयेत् ।।३०१।।

भित्तिभूतानीति।।२६७।। यथा दीपेन कुड्ये भासिते तद्गतं चित्रमपि भासितं भवति तथा मन एव समष्टिव्यष्टिरूपं भित्तिभूतं साक्षिणा साक्षाद् भास्यत इत्याह—अव्याकृतमिति। अव्याकृतपदस्य समष्ट्यज्ञानवाचकस्य तदुपाधिक ईश्वरसाक्षिणि लक्षणा। तथा च अव्याकृतम् ईश्वरः साक्षी सर्वैः अस्य उपाधिमायातद्विलासैः अप्रकाश्योऽपि सूत्रस्य तद्द्वारा विराजश्च प्रकाशकः।।२६८।। तथाऽज्ञानेति। तथा अज्ञानसमष्ट्युपाधिकवद् अज्ञानस्य आश्रयः 'अहमज्ञ' इत्याकारेण अज्ञानाभिमानी जन्तुः जीवसाक्षीति यावत्, सूक्ष्मस्थूलशरीरैः अप्रकाश्यः अपि तेषां प्रकाशकः इति। जीवस्यैवाहङ्काराारूढमज्ञानं, नेश्वरस्य इति विशेषः सङ्क्षेपशारीरके प्रपञ्चितः।।२६९।।

एवं महावाक्यार्थयोग्यता दर्शिता। अथ आत्मनि संसारोपलब्धिः मनोऽन्वय एव, मनोव्यतिरेके तददर्शनाद्—इति सूचयितुम्; व्यष्टिमनोव्यतिरेकः त्रिविधः—समष्टौ लये, कारणे लये, अधिष्ठानलये च। तस्यावान्तरभेदं षड्भिः श्लोकैर्दर्शयन् समष्टिलयाख्यं मनोव्यतिरेकं तावदाह—इन्धनेति। यथा लोके पाकाद्यर्थं प्रज्वालितो वह्निः इन्धनाभावे सति महावह्नौ तेजःसामान्ये लीयते तथा हिरण्यगर्भाद्युपासकानाम् उपासनाफलप्रादुर्भावकाले मुक्त्यादि अध्यात्मपरिच्छेदाभावलक्षणां मुक्तिं देवभावावाप्तिलक्षणाम् अतिमुक्तिं च अश्वलप्रश्ने पञ्चमाध्याय उक्तां फलत्वेन गच्छतां मनः सूत्रे समष्टिमनसि लीयत इत्यर्थः। तावताऽपि आध्यात्मिकपरिच्छेदलक्षणसंसारनिवृत्तिः इति भावः ।।३००।। द्वितीयं कारणलये मनोव्यतिरेकं दर्शयति—स एव चेति त्रिभिः। यथा भस्मना छन्नो वह्निः

करना होगा जिसके लिये स्पष्ट समझना चाहिये कि जड केवल चेतन से प्रकाशित होता है। आत्मा सीधे तो मन को प्रकाशित करता है, अन्य सब वह मनको द्वार बनाकर प्रकाशित करता है। इस बात की भूमिका पुराणकार बनाते हैं—स्थूलों की समष्टि रूप चित्र जिस फलक पर बनता है वह है सूत्र अर्थात् सूक्ष्मों की समष्टि और स्थूल-व्यष्टि रूप चित्र भी जिस फलक पर बनता है वह है सूक्ष्म-व्यष्टि अर्थात् मन।।२६६-२६७।। दीपक यदि चित्राधारभूत फलक को प्रकाशित करे तो फलक पर बना चित्र भी प्रकाशित हो जाता है। आत्मा भी जब जगत्-चित्र के आधारभूत मन को प्रकाशित करता है तब मनआधारित जगद्रूप चित्र भी प्रकाशित होता ही है । यहाँ 'मन' से व्यष्टि व समष्टि (सूत्र) दोनों समझने चाहिये। भूत व भूतकार्य—इन रूपों वाले सूत्र और विराट् का प्रकाशक अव्याकृतोपाधिक ईश्वर है जो किसी और से प्रकाश्य नहीं है। साक्षात् वह सूत्रको प्रकाशित करता है और उसके द्वारा विराट् को। इसी तरह 'अज्ञानी हूँ' यों अज्ञानका आश्रय बना जीव-साक्षी सूक्ष्म व स्थूल शरीरों से अप्रकाशित रहते हुए ही सीधे सूक्ष्म शरीर या मन को और उसके द्वारा स्थूल शरीर को प्रकाशित करता है। (प्रकाश्य का तादात्म्याध्यास होने पर ही वह प्रकाशित होता है। अतः शरीर आत्मा से प्रकाशित हैं तो उस पर अध्यस्त ही हो सकते हैं अतः मिथ्या हैं यह भाव है)।।२६८-२६९।।

आत्मा में संसारिता मन रहते ही उपलब्ध होती है, न रहने पर उपलब्ध नहीं होती। मन न रहना तीन तरह होता है—समष्टि प्रलय होने पर, कारणमें विलीन होने पर और अधिष्ठान-अवशेष रहने पर। यह स्फुट करते हैं : लोकदृष्ट है कि भोजनादि पकाने केलिये जलायी आग इन्धन समाप्त होने पर तेजःसामान्य (तेज रूप महाभूत) में विलीन हो जाती है। इसी तरह हिरण्यगर्भ आदि के उपासकों को जब फल मिलने का मौका आता है तब वे अध्यात्म का परिच्छेद छोड़कर अधिदैव से एक होते हैं और उनके मनों का विलय सूत्र में (समष्टि-मन में) हो जाता है। इस अधिदेवभाव की प्राप्ति को मुक्ति और अतिमुक्ति पहले कह चुके हैं। यह मनोलय का एक प्रकार है।।३००।।

सुप्तौ मृतौ च जन्तूनां कर्माभावविभूतिभिः। अभिभूतानि तान्येव सृष्ट्यादि च न कुर्वते।।३०२।।
उद्बोधे कर्मणस्तानि पुनः कुर्वन्ति सर्वदा। सृष्ट्यादिकं न चान्यानि स्वप्ने जागरणेऽपि च।।३०३।
भस्मी कृत्य यथा काष्ठजातं वह्निः क्षयं गतः। मथनेन पुनर्जातु स एव च न जायते।।३०४।।
ब्रह्मज्ञानाग्निना दग्धे स्वात्माज्ञाने तथैव हि। जायमानेषु भूतेषु मुक्तो नैव प्रजायते।।३०५।।

मनोऽन्वयः

निदाघशर्वरीकाले तेज इन्धनवर्जितम्। न प्रकाशं हि सन्तापं कुरुते सर्वदेहिनाम्।।३०६।।

दाहादिकार्यं न करोति, भस्मनोऽपायेऽपसारणे तु यश्छन्न आसीत् स एव दाहादिकं करोति।।३०१।। सुप्ताविति। तथा सुप्तिदशायां मरणदशायां च जन्तूनां तानि मनांसि अग्निरूपाणि भोगप्रदकर्माभावरूपाभिः विभूतिभिः अभिभूतानि छन्नानि सृष्ट्यादिकं न कुर्वन्ति।।३०२।। उद्बोध इति। पुनः कर्मणाम् उद्बोधे तु यानि मनांसि सुप्तिमरणयोः कारणे लीनानि तानि एव स्वप्नजागरणयोः सृष्ट्यादिकं कुर्वन्ति। तथा च कारणे मनोलये किंचित् कालं संसाराननुभवेऽपि पुनरुद्बोधो भवतीति मुक्तेर्विशेष इति भावः।।३०३।। तृतीयमधिष्ठाने लये बाधसंज्ञे सति मनोव्यतिरेकं मुक्तिसंज्ञं प्रदर्शयति–भस्मी कृत्येति द्वाभ्याम्। यथा सर्वं काष्ठचयं भस्मी कृत्य क्षयं गतो वह्निः स एव पुनर्जातु कदाचिदपि न जायते, मथनेनापि वह्न्यन्तरमेव जायत इति।।३०४।। ब्रह्मेति। तथा साधनसम्पन्नेन मनसा तत्त्वज्ञानाग्निभावापन्नेन सविलासाऽज्ञानरूपकाष्ठचये दग्धे सति मनसोऽप्यज्ञानविलासत्वेन दग्धत्वात् प्राण्यन्तरेषु जायमानेषु अपि चित्तजन्मोपाधिकं जन्म अनुभवत्सु अपि मुक्तो न जायते मनोजन्मोपाधिकं जन्म न प्राप्नोतीति। 'जायमानेषु भूतेषु' इत्युक्तिरनेकजीववादाभिप्रायेण। एकजीववादे तु न कोऽपि जायत इति बोध्यम्।।३०५।।

एवं मनोव्यतिरेके संसारव्यतिरेको दर्शितः। अथ मनोन्वये संसारान्वयं प्रपंचयंस्तत्रापि स्वप्ने सूक्ष्मां

कारण में लीन होना दूसरी तरह का लय है। जब मनका अभाव होता है, तब भी संसारिता की उपलब्धि नहीं रह जाती। जैसे राखसे ढकी आग जलाने आदि का कार्य नहीं कर पाती लेकिन राख हटा देने पर वही आग अपने उचित सभी कार्य कर लेती है, वैसे ही सुषुप्ति और मृत्यु की स्थिति में जन्तुओं के मन भोग देने वाले कर्म न होने से प्रतिबद्ध हो जाते हैं अतः सृष्टि आदि नहीं करते और जब फिर से कर्म फलोन्मुख होते हैं तो जो मन विलीन (प्रतिबद्ध) थे वे ही स्वप्न व जाग्रत् में सृष्टि आदि करने लग जाते हैं। यहाँ मन अग्नि की तरह और भोग्यकर्माभाव राख की जगह है। संसार का अनुभव न होना समान होने पर भी कारण रूप से मन बने रहते हैं और कालांतर में पुनः कार्यकारी होते हैं अतः अभिभूतमनस्कता को मोक्ष नहीं समझ सकते। आधिदैविक अभिमान भी न होने से अतिमुक्ति आदि शब्दित मोक्ष भी यह नहीं हो सकता।।३०१-३०३।।

तीसरी तरह का लय है अधिष्ठानमात्र रह जाना। तब जो मन का अभाव है वह मोक्ष का प्रयोजक है। आग जब सारे उपलब्ध ईधन को जला कर स्वयं बुझ जाती है तब मंथन आदि करने पर भी वही आग दुबारा कभी नहीं जल पाती। इस तरह विवेकादि साधनों से भरा-पूरा मन जब तत्त्वज्ञान रूप आग बन जाता है, अखण्डवृत्ति वाला हो जाता है, तब कार्यसमेत अविद्या रूप ईंधन को क्षणमात्र में जला डालता है। तदनंतर अन्य प्राणी भले ही जन्म का अनुभव करें, वह मुक्त तो जन्मानुभव नहीं ही करता। (चित्त का (मनका) स्थूलशरीर से संयोग होने से स्थूल देह में तादात्म्याभिमान होना जन्म है। जब आत्मा में अभिमान समाप्त हो गया तब तद्रूप जन्म संभव नहीं। अन्य मनोयोगों से अन्य प्राणियों के जन्मादि यहाँ बहुजीववाद को सामने रखकर कहे हैं, मुख्य वेदान्त सिद्धान्त एकजीववाद है, तदनुसार अप्रतिबद्ध तत्त्वनिष्ठा होने पर फिर किसी का भी जन्म नहीं होता।)।।३०४-३०५।।

स्वप्नस्थितस्तथैवात्मा सर्वकारणवर्जितः। आत्मनैव सृजत्येतद् विश्वं सदसदात्मकम्।।३०७।।

शिशिरेऽत्र यथा वह्निः इन्धनानि समाश्रितः। शीतं हरति जन्तूनामत्यन्तनिकटस्थितः।।३०८।।

तथा जागरणेऽप्यात्मा स्थूलं देहं समाश्रितः। देशकालादिसापेक्षः सृजत्येतन्न चान्यथा।।३०९।।

स्वप्नजाग्रतोः साम्यम्

स्वप्ने मनो यथा भूयाद् विश्वं सदसदात्मकम्। तथा जागरणेऽप्येतद् मन एव न संशयः।।३१०।।

सृष्टिं, जाग्रति तु स्थूलां सृष्टिम् आत्मा मनोविशिष्टः करोति इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—निदाघेति चतुर्भिः। यथा ग्रीष्मर्तौ रात्रिकाले तेज ऊष्मरूपं प्रकाशहीनं सन्तापमात्ररूपं कार्यमिन्धनानपेक्षमेव करोति, तथा स्वप्ने मनोविशिष्ट आत्मा लौकिकसामग्रीहीनोऽपि आत्मनैव सूक्ष्मं रथादिकं सृजति। तस्य कार्यस्यैषैव सूक्ष्मता यद् बाह्यसामग्र्यनपेक्षत्वम्। एतादृशी सूक्ष्मतैव च स्वप्नस्य मिथ्यात्वे हेतू कृता 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वाद्' (३.२.३) इति सूत्रे। इति द्वयोरर्थः।।३०६-३०७।। बाह्यसामग्रीसापेक्षत्वेन स्थूलां जाग्रत्सृष्टिं व्युत्पादयति— शिशिर इति। यथा शिशिरऋतौ वह्निः शीतहरणलक्षणं कार्यं कुर्वन् इन्धनलक्षणमुपकरणं सान्निध्यं चापेक्ष्यैव करोति तथा जागरण आत्मा देशाद्यपेक्षस्तत्तत्कार्यकरः। देशाद्यपेक्षत्वमेव जाग्रत्कार्यस्य स्थूलत्वं भगवद्व्याससूत्रे कार्त्स्न्यपदेनोक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।३०८-३०९।।

सूत्रकारादिभिः स्वप्ने मिथ्यात्वं कार्त्स्न्याभावेन यत् प्रसाधितं तद् न स्वप्नमात्राभिप्रायेण, किन्तु स्वप्नदृष्टान्तेन जाग्रत्यपि मिथ्यात्वसाधनायेतीममाशयं स्पष्टयन् स्वप्नजाग्रतोः साम्यमभिनयति—स्वप्न इति एकादशभिः। यथा स्वप्ने प्रतीयमानं सदसदात्मकम् अनुकूलप्रतिकूलात्मकं विश्वं मन एव मनोमात्रमेव, मिथ्येति यावत्, तथा जाग्रत्प्रपंचोऽपि इत्यर्थः। अत्र स्वप्नपदार्थानां मायोपादानकत्वपक्षे मनःपदं मनःकारणाज्ञानपरमिति

मन न रहने पर संसार नहीं रहता यह स्पष्ट किया। अब समझायेंगे कि मन रहते संसार रहता ही है। मन हो तो आत्मा स्वप्नमें सूक्ष्म और जाग्रत् में स्थूल सृष्टि उत्पन्न कर लेता है। यह सोदाहरण बताते हैं—ग्रीष्म ऋतु में रात्रिके समय बिना किसी ईंधन के तेजस्तत्त्व सब देहधारियों को गर्मी से सन्तप्त करता है किन्तु प्रकाश नहीं दे पाता। इसी तरह स्वप्नावस्था में मनरूप विशेषण वाला आत्मा, लौकिक सामग्री के बिना ही स्वयं के द्वारा ही भाव-अभावरूप यह विश्व पैदा कर लेता है। (स्वप्नसिद्ध पदार्थ बाहरी उपादानादि कारणों के बिना बन जाते हैं इसीलिये वे सूक्ष्म कहलाते हैं और यही कारण है कि वे मिथ्या होते हैं।)।।३०६-३०७।।

यह लोकदृष्ट है कि शिशिर ऋतु में वह्नि जन्तुओं को अनुभूयमान ठण्ड मिटाती है पर इस के लिये उसे ईंधन की ज़रूरत पड़ती है और जलती आग जन्तु के निकट हो यह भी आवश्यक होता है। ऐसे ही आत्मा जाग्रत् दशा में इस सारे संसार को उत्पन्न करता है पर इसके लिये उसे स्थूल देह में आश्रित होना पड़ता है औद देश-काल आदि की भी उसे आवश्यकता रहती है, इनके बिना वह जागरण में कार्यकारी नहीं हो पाता।।३०८-३०९।। भगवान् बादरायण ने स्वप्न के मिथ्यात्व को दृष्टान्त बनाकर जाग्रत् को मिथ्या सिद्ध किया है, अतः स्वप्न व जाग्रत् में समानता अवश्य है। स्वप्नमें अनुकूल या प्रतिकूल रूपसे अनुभूयमान विश्व मन ही बन जाता है तो जाग्रत् में भी यह सब बनने वाला मन ही है इसमें संशय नहीं। (मन ही दृश्य बन जाता है से तात्पर्य है कि दृश्य मिथ्या ही हैं। यह जैसे स्वप्नमें वैसे जाग्रत् में भी है। 'मन'-शब्द से अज्ञान भी समझ सकते हैं क्योंकि किसी प्रक्रिया में स्वाप्न पदार्थ मन के नहीं अज्ञान के विकार हैं।)।।३१०।। जैसे स्वप्नमें इस मन की वृत्ति क्षीण होने पर घटादि विभिन्न विषय अर्थात् स्वाप्न सद्वय प्रपंच अनुभव में नहीं आता वैसे ही जाग्रदवस्थामें भी मनोनिरोध हो तो द्वैत उपलब्ध नहीं होता।।३११।। सभी प्राणियों को अनुभूत है कि सपने में जब मन शत्रुरूप या मित्ररूप (या उदासीनरूप) परिणाम को प्राप्त होता है तभी द्वेष, राग (या उपेक्षा) वृत्तियाँ बनती हैं अतः उनका हेतु कोई और नहीं वरन् संकल्प (अर्थात् मन) ही है। इसी तरह

निरोधे मनसो यद्वत् स्वप्ने द्वैतं न लभ्यते। तथा जागरणेऽप्यस्य निरोधे लभ्यते न हि। ।३११ । ।
शत्रुमित्रात्मभावेन रागद्वेषादयो यथा। सङ्कल्पेनैव जायन्ते स्वप्ने सर्वशरीरिणाम्। ।३१२ । ।
तथा जागरणेऽप्येते जायन्ते विषयैर्विना। इष्टानिष्टादिविषयाः सङ्कल्पादेव मानसात्। ।३१३ । ।
यावान् जागरणे दृष्टः प्रपंचो देहधारिणा। सुखदुःखकरः सर्वस्तावान् स्वप्नेऽपि विद्यते। ।३१४ । ।
यथा सव्यभिचारत्वं स्वप्नदृष्टस्य वस्तुनः। दृष्टं जागरणे स्वप्ने सुखदुःखकरस्य च। ।३१५ । ।
तथा जागरणावस्थागतस्याखिलवस्तुनः। सुखदुःखकरस्यापि स्वप्ने सव्यभिचारिता। ।३१६ । ।
सुखहेतुर्यथा दृष्टः कदाचिद् दुःखदोऽत्र सः। सर्वो जागरणे स्वप्नेप्येवं सव्यभिचारता। ।३१७ । ।

बोध्यम्। ।३१० । । तत्र हेतुं मनोमात्रान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं दर्शयन् व्यतिरेकं तावदाह—निरोध इति। यथा स्वप्नेऽस्य मनसो निरोधे विषयाकारवृत्तिक्षये द्वैतं तत्तद्विषयरूपं न उपलभ्यते तथा जाग्रत्यपीति। ।३११ । । अन्वयं दर्शयति—शत्रुमित्रेति। यथा स्वप्ने मनसः शत्रुमित्रात्मकेन भावेन परिणामेन रागद्वेषादयो जायमानाः सङ्कल्पमात्रहेतुका एव तथा जागरणेऽप्येते रागादयः तथा रागद्वेषोपेक्षाविषयरूपा इष्टादिपदार्थाः सङ्कल्पादेव जायन्ते विषयैः बाह्योपकरणैः विना इत्यर्थः। जाग्रत्पदार्थेषु बाह्यकारणजन्यत्वाभिमानोऽपि कारणत्वाभिमतानां पूर्वं सङ्कल्पितत्वात्, स्थिरत्वाभिमानोऽपि अभ्यासात्। एतादृशमेव कार्त्स्न्यं जाग्रत्यभ्युपेत्य तदभावेन हेतुना स्वप्ने मिथ्यात्वप्रसाधनं सूत्रकारादिभिः कृतमिति भावः। ।३१२-३१३ । ।

ननु जाग्रत्पदार्थानां दृश्यमाननानाविधसामग्रीजन्यानां कथं मिथ्यात्वमिति चेद्? यदि नानाविधसामग्रीदर्शनमात्रेण सत्त्वमुच्यते तर्हि स्वप्नेऽपि जाग्रद्दृष्टपदार्थानां सर्वेषामुपलब्धेः स्वाप्निकानां भावानां सत्यत्वापत्तिरित्याशयेन आह—यावानिति। स्पष्टम्। ।३१४ । । ननु जाग्रत्पदार्थेषु स्थिरत्वं विशेष इति चेत्? स्थिरत्वं किम् अन्यथाभावशून्यत्वम्? नियतकार्यकरत्वं वा? नाद्यः, तस्यात्मभिन्ने जडे परिणामिनि दुर्वचत्वात्। नान्त्यः, सुखदुःखजनकत्वाभिमतानां विपरीतकार्यजनकताया दृष्टेरित्याह—यथेति त्रिभिः। यथा स्वप्नदृष्टस्य वस्तुनः पदार्थजातस्य जागरणे सव्यभिचारत्वं व्यभिचारेण दृष्टस्वभावपरित्यागलक्षणेन साहित्यं दृष्टम्, स्वप्ने सुखदुःखकरस्य च जागरणे भिन्नकार्यसम्बन्धलक्षणं सव्यभिचारित्वं दृष्टम्, तथा जाग्रत्पदार्थानां स्वप्ने सव्यभिचारत्वं दृष्टम्। इति द्वयोः सम्बन्धः। ।३१५-३१६ । । सुखादिकार्यव्यभिचारितामेव विशदयति—सुखहेतुरिति। यथाऽत्र जागरणे यः सुहृदादिर्भावः सुखहेतुर्दृष्टः स एव कदाचिद् वियोगादिकाले दुःखदो दृष्टः। एवंविधा एव भावाः स्वप्नेऽपि सन्तीति सव्यभिचारता स्पष्टा। एवंविधत्वं स्थिरत्वेऽनुपपन्नमिति भावः। ।३१७ । । न च जाग्रत्स्वप्नयोः पदार्थानां

जाग्रत् में भी इष्ट-अनिष्ट आदि के बारे में होने वाले ये राग, द्वेष आदि, मन के संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं न कि किन्हीं बाहरी उपकरणों से। (संकल्प के क्रम के कारण ही हमें पूर्व कल्पित में कारणबुद्धि व अनंतर कल्पित में कार्यबुद्धि हो जाती है और बार-बार अनुभव करने से हम दृश्यों को स्थिर मान लेते हैं। यों स्वप्नसे जाग्रत् में प्रतीयमान भेद भी मनःकल्पित ही है, विचार करें तो दोनों में अंतर नहीं।)। ।३१२-३१३ । । देहधारी जाग्रत् में जितना विविध सुखप्रद या दुःखप्रद प्रपंच देखता है उतना ही सारा प्रपंच सपने में भी होता है। अतः विविधता या भोगप्रदता को लेकर स्वप्न-जाग्रत् संसारों में भेद नहीं मान सकते। ।३१४ । । स्थिर अर्थात् निश्चित कार्य-कारणता वाले होने से जाग्रत् पदार्थ स्वाप्न वस्तुओं से अलग किये जा सकें ऐसा भी नहीं क्योंकि स्वप्न में सुख-दुःख देने वाले स्वाप्न पदार्थ जाग्रत् में उन सुखादि को नहीं दे पाने से जैसे अपनी कार्यकारिता में व्यभिचारी हैं ऐसे ही जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में अपने नियत कार्य न करने से व्यभिचारी ही हैं। (अर्थात् सपने के पदार्थ यदि जाग्रत् में कार्यकारी न होने से मिथ्या हैं तो जाग्रत् के पदार्थ सपने में कार्यकारी न होने से मिथ्या क्यों नहीं? अवस्था तो जैसे जाग्रत् है वैसे स्वप्न भी।)। ।३१५-३१६ । । जाग्रत् में जो मित्रादि

शुक्रशोणितसम्भूतं यथा जागरणे वपुः। एवं स्वप्नेऽपि जन्तूनां जायते शुक्रशोणितात्॥३१८॥

असत्ये स्वप्नगे दृष्टे यथा ते शुक्रशोणिते। तथा जागरणेऽप्येते असत्ये अपि कारणे॥३१९॥

पिता माता सुतो भ्रातेत्यादि स्वप्नेऽपि विद्यते। यथा जागरणे केन विषमत्वं भवेत्तयोः॥३२०॥

मन एव ततो ज्ञेयं स्वप्ने जागरणेऽपि वा। सदसद्रूपरूपस्य प्रपञ्चस्यास्य कारणम्॥३२१॥

मनः प्रपञ्चकारणम्

तेनैव मनसा सर्वो भेदो विरचितोऽत्र हि। ईशानीशात्मको येन भृशं मोमुह्यते पुमान्॥३२२॥

मन एव ततो ज्ञेयं बन्धे मोक्षे च कारणम्। आत्मनोऽज्ञानमायातं भवेद् बन्धस्य कारणम्॥[1]
त्रिविधस्यापि दुःखस्य भेददर्शनमागतम्॥३२३॥

सामग्रीवैलक्षण्यम्, कल्पितसामग्र्या उभयत्र साम्यात्, सत्यायाः कुत्राप्यभावाद्, इत्याशयेनाह—शुक्रेति। यथा जागरणे शरीरं पितृमात्रंशजं तथा स्वप्नेऽपि। यदि स्वप्नगयोः शुक्रशोणितयोः असत्यत्वं पश्यसि तदा जागरणगयोरपि वाचारम्भणश्रुत्या दर्शितमसत्यत्वं कुतो न पश्यसि, भ्रमसिद्धायाः कारणताया असत्ययोरपि सुवचत्वाद्। इति द्वयोरर्थः॥३१८-३१९॥ कारणकारणानामपि कल्पितानां स्वप्ने सौलभ्यमित्याह—पितेति। तयोः स्वप्नजाग्रतोः॥३२०॥ फलितमाह—मन एवेति। ततः प्रपंचस्य मनोन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। सदसद्रूपं स्थूलसूक्ष्मात्मकं रूपं यस्य स तथा तस्य॥३२१॥

मनसः प्रपञ्चकारणतामेव प्रपञ्चयति—तेनैवेत्यादिना। जीवेशादिनिरूप्यो भेदः अत्र संसारे तेन वर्णितेन मनसा एव निर्मितो येन भेददर्शनेन भृशं मोमुह्यते पुनः पुनः मोहं प्रमादाख्यमृत्युं गच्छति, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ.२.४.१०) इति श्रुतेः॥३२२॥ मन एवेति। तत उक्तविधया सर्वप्रपंचकारणत्वाद् एव मनो बन्धमोक्षयोरपि कारणम्, बन्धमोक्षयोः प्रपञ्चनिरूप्यत्वेन प्रपञ्चान्तर्गतत्वादिति। तत्र बन्धप्रयोजकं मनसो रूपं दर्शयति—आत्मन इति। आत्मविषयकम् अज्ञानम् आवरणरूपम् आयातम् अभिमन्यमानं मनो बन्धस्य अध्यासलक्षणस्य कारणं स्थितिहेतुर्भवति। भेददर्शनं विक्षेपशक्तिरूपम् अज्ञानमभिमन्यमानं तु बन्धफलस्य आध्या-

पदार्थ सुखप्रद हो जाते हैं वे ही वियोगादि-कालमें दुःखप्रद भी देखे ही जाते हैं। यही स्थिति स्वप्न के पदार्थों की है। अतः दृश्य वस्तुओं को स्थिर कहना बनता नहीं।॥३१७॥ जाग्रत् व स्वप्न के पदार्थों में यह अन्तर हो कि उनकी कारणसामग्री विभिन्न है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे जागरणावस्था में शरीर शुक्र-शोणित से पैदा होता है, ऐसे ही सपने में भी जन्तुओं के शरीर रज-वीर्य से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे वे शुक्र-शोणित स्वप्नमें असत्य होते हैं ऐसे ही वे जाग्रत् में भी असत्य ही होते हैं। श्रुति ने सारे ही कार्य को 'कहने पर आधारित' बताया है अर्थात् कार्य केवल कहने भर को है, वास्तविक नहीं। असत्य पदार्थों में भी परस्पर कार्य-कारणभाव भ्रम से समझा जाये यह संगत है क्योंकि सपने के पदार्थों में ऐसा ही देखा जाता है।॥३१८-३१९॥ सपने में भी पिता, माता, पुत्र, भाई आदि होते ही हैं जैसे जाग्रत् में। अतः दोनों अवस्थाओं के पदार्थों में स्वरूपभूत अन्तर कैसे कहा जाये ?॥३२०॥

इस प्रकार मन रहते ही प्रपंच है, मन न रहने पर प्रपंच भी है नहीं, अतः जाग्रत् हो या स्वप्न, स्थूल-सूक्ष्म इस सारे प्रपंच का कारण मन ही है।॥३२१॥ संसार में अनुभूयमान जीव-ईश्वर आदि सारा ही भेद मन से ही निर्मित है, जिस भेदानुभव से आत्मा बारम्बार प्रमाद कहलाने वाली मृत्यु को प्राप्त होता है।॥३२१॥ इसीलिये मन को ही बन्धन और मोक्ष का कारण समझना चाहिये क्योंकि बंध-मोक्ष भी प्रपंचसे निरूपित होने के कारण प्रपंचके अंतर्गत

---

१. कार्योपाधिर्जीवः, स हि बद्धः। आवृत्यनुभवो मनउपाधिक एव। नेश्वरस्याज्ञानशक्तेरावरणं बन्धो वेत्यन्यत्र विस्तरः। नात्र कार्यविद्यातिरिक्तकारणाविद्या निरस्यत इति भ्रमितव्यम्, तथात्वे सुषुप्ति-प्रलययोरनुपपत्तेः पूर्वाचार्यवचोविरोधाच्च।

श्रुत्युक्तं स्वात्मनो रूपं स्वप्रकाशसुखात्मकम्। जानद् मनो भवेज्जन्तोर्मुक्तेरपि च कारणम्।।३२४।।

न बन्धो न च वै मुक्तिर्न च भेदस्य दर्शनम्। आनन्दात्मस्वरूपस्य साक्षिणो मनसोऽपि च।।
विद्यते किन्तु मनसः सर्वमेतन्मनःकृतम्।।३२५।।

क्रीडापरो यथा लोके मर्कटोऽत्यन्तचंचलः। आत्मनैवात्मनो दुःखं कुरुते मरणान्तिकम्।।३२६।।

तथाऽतिचञ्चलं सर्वजन्तूनां मन ईरितम्। आत्मनैवात्मनो दुःखं संसारं कुरुते सदा।।३२७।।

मत्स्योऽगाधे जले यद्वद् स्थितो भयविवर्जितः। बडिशार्थं बहिर्गच्छन् दुःखं प्राणान्तमाव्रजेत्।।३२८।।

आनन्दजलधौ तद्वत् स्वप्रकाशेऽभये स्थितम्। मनो विषयलाभार्थं बहिर्गच्छद् व्रजेद् भयम्।।३२९।।

त्मिकादिदुःखत्रयस्य कारणं क्षेत्रं भवतीत्यर्थः।।३२३।। मोक्षप्रयोजकं तत्त्वज्ञानात्मकं मनसो रूपं दर्शयति—श्रुत्युक्तमिति। मन आत्मनः श्रुत्युक्तं रूपं जानत् सत् जन्तोः मोक्षकारणं भवतीति।।३२४।।

बन्धमोक्षयोर्मनसि निक्षेपे हेतुं शुद्धात्मनो बन्धाद्ययोग्यत्वमाह—न बन्ध इति। आनन्दात्मकं रूपं यस्य एतादृशस्य मनसः तद्विकाराणां च साक्षिण आत्मनो बंधादिकं न अस्ति, किन्तु मनःकृतत्वात् सर्वमेतद् बन्धादिकं मनस एव विद्यते—इति।।३२५।। मनस आत्मनोऽनर्थकरत्वे दृष्टान्तमाह—क्रीडेति। मरणान्तिकं मरणपर्यन्तम्।।३२६।। तथेति। स्पष्टम्।।३२७।।

तत्रापि मनस आत्माकारताप्रच्यावकः काम एव विशेषतो दुःखहेतुरिति सदृष्टान्तमाह—मत्स्य इति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।३२८-३२९।। इन्द्रियाभिमानस्य विशेषतो दुःखजनकतां सदृष्टान्तं दर्शयति—मर्कट इति। ही आते हैं। जब मन को आत्मविषयक अज्ञान का अभिमान होता है तब वह अध्यासरूप बन्धन की स्थिति में हेतु बनता है। जब मन को भेददर्शन का अभिमान होता है तब आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःखों का वह हेतु बन जाता है। जब मन आत्मा के वेदान्तप्रोक्त स्वप्रकाश-आनंदरूप को जानता है तब वह जन्तु के मोक्ष का भी कारण बनता है।।३२२-३२४।।

मन का साक्षी है आत्मा, जिसका निजी रूप है आनंद। उसे न भेददर्शन होता है, न उसका बंधन है और न मोक्ष ही है। इस सभी को करने वाला है मन, अतः बन्धादि को आत्मा का नहीं वरन् मन का ही समझना चाहिये। (मन स्वयं जड है, अतः उसका बन्धन क्या होना है! यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि बन्धनादि मन-रूप उपाधि से ही होता है, आत्मा का इस सबसे कोई सच्चा सम्बन्ध नहीं।)।।३२५।।

संसार में देखा जाता है कि कोई अत्यधिक चंचल बन्दर ज़्यादा ही खेल-कूद में मस्त हो जाता है तो खुद ही अपने लिये ऐसा दुःख पैदा कर लेता है जो उसे मरण तक की पीडा दे डालता है। सब प्राणियों का अतिचंचल मन भी स्वयं अपने लिये हमेशा दुःखरूप संसार बनाता और बढ़ाता रहता है।३२६-३२७।।

स्वभावतः सत्त्वगुणसे निर्मित मन आत्माकार ही हो यह संगत है, पर कामना के कारण वह उस स्थिति से डिगता है और विशेष दुःख पाता है। जब मछली गहरे पानी में होती है तब निर्भय रहती है। बंसरी में लटके अन्नादि बडिश को खाने के लिये जब छिछले पानी में आती है तभी वह पकड़ी जाकर मरती है। इस प्रकार मन स्वप्रकाश आनंद रूप सागर में रहता है जो सागर स्वयं अभयरूप है किन्तु जब वह विषय पाने केलिये उस आत्मस्थिति से बहिर्मुख होता है तभी सारा भय उसे घेर लेता है।।३२८-३२९।।

मर्कटश्चञ्चलो यद्वद् बद्धः सूत्रैर्दिशो दश। धावन् दुःखं समाप्नोति सर्वतो दुःसहं सदा।।३३०।।
इन्द्रियैर्दशभिस्तद्वन्मनोबद्धमभीतवत्।[1] धावद् बन्धमवाप्नोति दुःसहं दुःखमत्र हि।।३३१।।
पारावतो यथाकाशे वर्तते नयनातिगः। वीक्ष्य पारावतीं मन्दस्तत्क्षणाद् भुवमाव्रजेत्।।३३२।।
एवं शब्दादिपैशाचीं निरीक्ष्यात्मन्यवस्थितम्। तत्क्षणाद् बहिरायाति मनो दुःखकरे स्थले।।३३३।।
पाशबद्धो यथा कश्चित् पशुरायात्यनीश्वरः। देशाद् देशान्तरं नित्यं दुःखाद् दुःखकरं भृशम्।।३३४
कर्मपाशैस्तथा बद्धं मनो विषयभूमिकाः। आयाति विवशं नित्यं दुःखाद् दुःखकरीर्भृशम्।।३३५।।

यथा दशरज्जुबद्धस्य मर्कटस्य धावनपरस्य महद् दुःखं तथा दशेन्द्रियाभिमानिनो विषयाभिमुखं धावतश्च बंधदुःखयोः प्रसक्तिः। इति द्वयोरर्थः।।३३०-३३१।। मनसो विषयाभिमुखं वेगेन धावने दृष्टान्तमाह—पारावत इति। यथा पारावतः कपोतः अतिदूरम् आकाशे वर्तमानो नेत्राविषयोऽपि पारावतीं वीक्ष्य तद्रागान्धः त्वरितं भुवं गच्छति।।३३२।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। एवं मनआत्मनि चिदाकाशेऽवस्थितं स्वभावतस्तदाकारताम् आकाशे जन्मत एव घटवत् परिपूर्णतालक्षणां गतमपि यदा शब्दादिविषयरूपां पैशाचीं—प्रज्ञादित्वेन स्वार्थिकाणन्तात् स्त्रियां ङीप्—पश्यति तदा द्वैतदर्शनात्मके दुःखदे स्थले आयाति इति। अत्र शब्दादिविषयाणां पिशाचीत्ववर्णनेन मनसः पिशाचत्वं सूचितम्, तत्सादृश्यस्य आकाशवासित्वरूपस्य च सूचकम् आत्मन्यवस्थितम् इति, इति बोध्यम्।।३३३।।

एवं कामस्य प्रवृत्तिद्वारा दुःखदत्वं प्रदर्श्य अथ कर्मणः फलजनने कामसापेक्षस्य दुःखदत्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—पाशेति। यथा पशुः अजादिः पाशबन्धनेन अनीश्वरः परतन्त्रः सन्नुत्तरोत्तरं दुःखदं देशं याति तथा मनः अपि सकामं शुभाशुभादृष्टरूपपाशबद्धमुत्तरोत्तरं दुःखकरीः विषयभूमीर्याति। इति द्वयोरर्थः।।३३४-३३५।। ननु

इन्द्रियों में अभिमान होना एक खास दुःख का हेतु है। किसी चंचल वानरको दसों दिशाओं में रस्सियों से बाँध दें और वह कोशिश करे दौड़ने की तो हमेशा हर तरफ से असह्य पीडा ही प्राप्त करेगा। इसी प्रकार मन है तो दसों इंद्रियों से बँधा हुआ लेकिन इससे बेखबर हो वह निडर-सा होकर जैसे ही दौड़ने लगता है वैसे ही अपनी बंधदशा महसूस कर संसार में असह्य कष्ट पाता है।।३३०-३३१।। कबूतर आकाश में जब इतना ऊँचा उड़ रहा होता है कि आँखों से दीखता भी नहीं तब सर्वथा स्वच्छन्द होता है। किन्तु उस मूर्ख को जब कबूतरी दीखती है तब उसके प्रति होने वाले रागसे वह अन्धा हो जाता है और तत्काल पृथ्वी पर उतर आता है तथा पकड़ लिया जाता है। ऐसे ही मन आत्माकार रहे तो अत्यन्त आनंद में रहता है। किन्तु जब यह शब्दादिरूप पिशाची को देखता है तो तुरन्त आत्मा से बाहर निकल आता है और इस दुःखद भूमि में फँस जाता है। (जैसे घड़ा बनते समय ही आकाश से भरा पैदा होता है, ऐसे ही मन जब तक जगदाकार न ले तब तक आत्मा के आकार का ही रहे यह स्वाभाविक है। संसार का आकार लेने पर ही वह दुःख पाता है यह भाव है।)।।३३२-३३३।।

प्रवृत्ति कराकर कामना दुःख देती है यह स्पष्ट किया। अब बताते हैं कि फल देने केलिये कर्म को भी कामना की सहायता चाहिये—बकरी आदि जानवर पाशसे बँध जाने पर परतन्त्र होकर एक दुःखद स्थानसे और अधिक दुःखद स्थान पर आता है और यह क्रम निरंतर चलता रहता है। ऐसे ही मन कर्म के पाशों से बँधा है, जिसके कारण परवश हुआ वह बड़े कष्ट से अत्यंत दुखप्रद विषयदेशों में जाता रहता है। (किन्तु तभी जब मन कामना वाला हो, क्योंकि दुःखानुभव केलिये अनिष्टबुद्धि चाहिये जो काम्यसे विरुद्ध के प्रति ही होती है।)।।३३४-३३५।। जैसे मृत्यु भूतल पर सभी जगह भागती रहती है और इसका कोई कारण समझ नहीं आता, वैसे ही यह मन हमेशा आत्मासे बहिर्भूत विषयों की ओर ही दौड़ता है, विषयों के आकार की वृत्ति बनाता है और इसमें भी कारण कोई हो यह समझ नहीं आता।।३३६।।

१. वस्तुतो बद्धं मनस्तथाऽजानदभीतवद्वर्तमानं धावत् सद् बन्धानुभवं प्राप्नोतीत्यर्थः। यावन्न धावति तावदात्मानं बद्धं नानुभवतीत्यभिप्रायः।

अकारणं यथा धावेच्छेषः सर्वत्र भूतले। अकारणं तथैवैतद् मनो याति बहिः सदा।।३३६।।

प्रमत्तैर्वाजिभिर्युक्तैर्बद्धैः शिथिलबन्धनैः। यथा नश्येद् रथी साश्वो बन्धनाद्यैश्च संयुतः।।३३७।।

दुर्दान्तैरिन्द्रियैस्तद्वद् मनोबन्धनसंयुतैः। मनःस्थितः पुमानेष संसारं प्रतिपद्यते।।३३८।।

बालो यथा मुखे स्वस्य विक्रियाः कुरुते यतः। पुरः स्थितेऽतिसंशुद्धे विलोकयति दर्पणे[1]।।३३९

एवं मनोऽपि संसारविक्रियाकारणं सदा। आत्मनि स्वप्रकाशेऽस्मिन् विलोकयति विक्रियाः।।३४०।।

बद्धस्य पशोः देशान्तरनेतृपुरुषस्थानीयोऽत्र कः? इति चेद्; लोकेऽप्रसिद्ध आगमैकबोध्योऽन्तर्याम्येव इति सूचयन्नाह—अकारणमिति। 'शेषः सङ्कर्षणेऽनन्ते, उपयुक्तेतरे वधे' इति विश्वकोशे वधपदोक्तमृत्युरूपशेषस्य सर्वत्र भूतले व्यवस्थया धावनं यथाऽकारणम् अलक्ष्यमाणकारणकम्, तथा मनसोऽपि बहिः तत्तदाकारतालक्षणं धावनं दुर्लक्ष्यकारणकमित्यर्थः। शेष-पदस्थाने शिशुरिति पाठे—अकारणं व्यर्थं यथा शिशोः गृहाङ्गणधावनं तथा मनसो बहिरित्यर्थः। परन्त्वत्र पाठे 'सर्वत्र'-पदाऽस्वारस्यं, सङ्कोचो वा; व्यर्थत्वमात्रबोधनपरत्वं चास्य पद्यस्येति बोध्यम्।।३३६।।

अथ सङ्घाताध्यासरूपायाः कार्याविद्याया अनर्थकरत्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—प्रमत्तैरिति द्वाभ्याम्। यदि कश्चिद् रथी बन्धनाद्यैः संयुतः रथोपरि बद्धपादः आद्यपदग्राह्यविहाररागरथाभिनिवेशयुतश्च स्यात्, तस्य च रथे युक्ता वाजिनः प्रमत्ताः शिथिलबन्धनबद्धाश्च स्युः, स यथा गर्तपातेन साश्वो नश्येत्; तथा मनःस्थितः मनस्तादात्म्याध्यासमापन्न एष पुरुषः दुर्दान्तैः अशिक्षितैः इन्द्रियाश्वैः मनसा प्रग्रहभूतेन क्षणभङ्गुरतालक्षणशिथिलताशालिना बद्धैः युते सङ्घातरूपे रथे स्थितः पुमान् संसारलक्षणगर्तपातं प्राप्नोतीति, 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि-कठश्रुतेः (१.३.३)। इति द्वयोरर्थः।।३३७-३३८।। स च संसारो मनस्येव वर्तमानो भ्रान्त्यात्मनि प्रतीयत इत्येतद् दृष्टान्तेन विशदयति—बाल इति द्वाभ्याम्। यथा बालः स्वमुखे विक्रियाः वक्रत्वादिविकारान् यतः कुरुते तत एव दर्पणे विलोकयति न तु विक्रियाः सन्ति दर्पणे, तथा मनः स्वयं विकृतं सत् स्वनिष्ठा विक्रियाः शुद्धात्मनि पश्यति।

देहादि में 'मैं-बुद्धि' रूप भ्रम को कार्याविद्या कहते हैं क्योंकि यह अविद्या का कार्य है और अविद्या का मुख्य फल जो दुःखप्रदता है उसे यही संभव करता है, अर्थात् अविद्या को कार्यकारी यह भ्रम ही बना पाता है। यह सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—यदि कोई रथारूढ व्यक्ति रथ पर घूमने का शौकीन तो हो लेकिन उसके पाँव रथ पर बाँध दिये गये हों; साथ ही उसके रथ में जुते घोड़े न केवल नशे में हों वरन् उन्हें बाँधने वाली रस्सियाँ, लगाम आदि भी ढीली हों—ऐसी स्थिति वाला रथारूढ व्यक्ति अपने घोड़े, बन्धनादि समेत किसी गड्ढे में गिरकर नष्ट ही होगा। ठीक इसी प्रकार जो पुरुष (आत्मा) मन से तादात्म्य किये बैठा है, उसके इंद्रियरूप घोड़े सही तरह सिखाये नहीं गये हैं और उन्हें नियंत्रित रखने वाले बंधन (लगामादि) मनोरूप हैं अर्थात् प्रतिक्षण बदल जाने से शिथिल हैं, वह जब देहेंद्रियसंघातरूप रथ पर चढ़कर चलता है तब संसाररूप गड्ढे में ही गिरता है!।।३३७-३३८।।

संसार में दुःख पाना भी मनोहेतुक ही है। किसी शुद्ध काँच के सामने बालक खड़ा होकर अपने मुँह को टेढ़ा-मेढ़ा आदिकर बिगाड़े तो दर्पण में भी उन विक्रियाओं को देखता है। वे विक्रियायें हैं उसके मुँह पर, लेकिन देखता है वह उन्हें काँच पर जिसमें वे हैं नहीं। इसी तरह विकार (दुःखादि) होते मन में हैं, वही उनका उपादान है, वही उन विकारों का आकार ग्रहण करता है। लेकिन देखता वह उन विकारों को इस स्वयम्प्रकाश आत्मा में है, जहाँ वे वैसे ही हैं नहीं जैसे दर्पण में मुखविकार! (यद्यपि मन नहीं देखता तथापि मनके कारण ही आत्मा अपने में विकार देखता है जबकि विकार आत्मा में हैं नहीं।)।।३३९-३४०।।

---

१. 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिव' इत्यादि दक्षिणामूर्तिस्तोत्रमनुसन्धेयम्। अत्र दर्पणस्थानीय आत्मेति स्मर्तव्यम्।

सान्निध्यादात्मा हेतुः

अम्लो रसो यथा स्वस्य संनिधौ मुखपङ्कजे। नीरमुत्पादयेत् शीघ्रं क्षोभयेद्वापि मानसम्।।३४१।।

एवमात्मा सदानन्दस्वप्रकाशशरीरवान्। आत्मसंनिधिमात्रेण क्षोभयत्येष मानसम्।।३४२।।

स्वप्ने यथा सृजत्येष मनांसि विविधान्यपि। सृजत्येवं मनोप्येतत् स्वप्नदर्शनकारणम्।।३४३।।

नष्टबीजे यथा लोके बीजहेतुर्वसुन्धरा। निर्बीजैव भवेदेवम् अमना मनसोऽपि हि।। कारणं भगवानीशः स्वात्मज्ञानविवर्जितः।।३४४।।

इति द्वयोरर्थः।।३३९-४०।। ननु जडस्य मनसो विकारकारणत्वमपि कथमिति चेत्? चिदात्मनः संनिधेः प्रतिबिम्बादिपदैः प्रसिद्धस्य प्रभावाद् इति सूचयन्नात्मनः संनिधिमात्रेण प्रेरकत्वं सदृष्टान्तमाह—अम्ल इति। यथा जम्बीरादिरम्लरसवान् पदार्थो दृष्टः सन् जिह्वां वा द्रावयति मनो वा क्षोभयति एवमात्मा संनिधिमात्रेण मनसो विक्रियासु प्रवर्तकः। इति द्वयोरर्थः।।३४१-३४२।। नन्वसङ्गस्यात्मनो मनःक्षोभकत्वमपि कथम्? इति शङ्कां वारयन्, मूलाज्ञानादिपदवाच्यया अचिन्त्यशक्त्या विशिष्टस्य यथा मनआदिसर्जकत्वं तथैतदपीति दर्शयति—स्वप्न इति अष्टभिः। यथा एष आत्मा स्वप्ने सृष्टानां नानाप्रमातॄणां मनांसि सृजति एवं येन मनसा विशिष्टः स्वप्नावस्थां गच्छति तद् मनोऽपि सृजति इति।।३४३।। ननु स्वप्ने मनसां सृष्टिः मनःकृतैव दृष्टेति प्रधानमनःसृष्टिरपि मनोऽन्तरकृता भविष्यतीति शङ्कां सदृष्टान्तं परिहरति—नष्टेति। यथाऽदिराजेन पृथुना पृथिवीदोहनात् पूर्वकाले लोके नष्टबीजे सति पृथुराजप्रेरणया वसुन्धरा यद् बीजहेतुः बभूव तत्र न बीजानां बीजहेतुत्वं किन्तु निर्बीजाया ग्रस्तबीजायाः पृथिव्या एव। एवं भगवानीशः स्वात्मज्ञानविवर्जितो मूलाज्ञानविशिष्टः आत्मैव मनसः कारणम्। कीदृश आत्मा? अमनाः सुषुप्तिप्रलयादौ मनोरहितत्वेन प्रसिद्ध इत्यर्थः।।३४४।।

मन जड है तो उसमें परिवर्तन कैसे संभव हो? परिवर्तन स्वयं कोई वस्तु है नहीं, वह तो कुछ ज्ञानों की अपेक्षा से व्यवहृत होता है अर्थात् ज्ञानों के अन्तर को उपपन्न करने केलिये परिवर्तन की संकल्पना आती है। अतः मन के परिवर्तन भी ज्ञानापेक्ष ही हो सकते हैं। जड होने से स्वतः मन निर्ज्ञान है तो परिवर्तन कैसे?—यह प्रश्न है। उत्तर है कि ज्ञानरूप आत्मा जब मन से अत्यंत संनिहित होता है अर्थात् उससे इतना एकमेक हो जाता है कि यह पता ही नहीं चलता कि ये दोनों पृथक् हैं, तब मन में सारे परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे पूर्वोक्त दृष्टांत में मुख जब दर्पण के अतिसमीप हो गया अर्थात् प्रतिबिम्बरूपसे वह दर्पण में प्रविष्ट हो गया तभी दर्पण में विकार प्रतीत हुए। ऐसे ही आत्मा का आभास पाकर ही मन विकारों को प्राप्त होता है। किन्तु मन में परिवर्तन हो इसके लिये आत्मा की कोई चेष्टा नहीं, उसकी केवल संनिधि पर्याप्त है। पुराणकार इस बात को विलक्षण दृष्टांत से समझाते हैं—जमीरा आदि खट्टा पदार्थ पास में दीख जाये तो तुरन्त मुँह में पानी आ जाता है, मनमें भी या प्रसन्नता या घृणा की भावना उत्पन्न हो जाती है, जब कि इस सबके लिये बेचारे जमीरे ने कुछ किया नहीं है! ऐसे ही आत्मा सद्रूप, आनंदरूप, स्वप्रकाश अर्थात् चिद्रूप है लेकिन केवल अपनी संनिधि के कारण वह मन को विकारों में प्रयुक्त कर देता है। (यहाँ संनिधि से तादात्म्याध्यास समझना चाहिये।)।।३४१-३४२।। आत्मा जैसे सपने में नाना प्रकार के मन पैदा कर लेता है—सपने में दीखने वाले प्राणियों को वह मनस्वी देखता है, अतः उनकी तरह उनके मन भी उसने बनाये हैं—वैसे ही जिस (व्यावहारिक या भौतिक) मन से विशिष्ट होकर वह सपना देख पाता है उसे भी आत्मा ने ही बनाया है। (अभिप्राय है कि असंग होने पर भी आत्मा को मनआदि जगत् का कारण मानना ही पड़ता है जिसे उसकी माया नामक अचिन्त्य शक्ति संभव करती है, अतः उसी सामर्थ्य से वह असंग रहते हुए ही मन को विकृत होने में समर्थ भी बना देता है। अध्यास क्योंकि सत्य नहीं है इसलिये उससे आत्मा की असंगता में कोई अंतर नहीं आता।)।।३४३।।

अज्ञानोपयोगः

यथा मेघादिरहित आकाशोऽत्यन्तनिर्मलः। उत्पत्तिस्थितिनाशानां मेघादेः कारणं भवेत्।।३४५।।
मनआदिप्रपञ्चेन रहितोऽव्याकृतोऽथवा। मनआदिप्रपञ्चस्य कारणं परमेश्वरः।।३४६।।

आत्मनो विकारकारणतायां[1] विकाराणां न विशेषणत्वं, किन्तु मूलाज्ञानादिपदवाच्यायाः शक्तेरेव इत्येतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेति द्वाभ्याम्। यथा आकाशस्य मेघाद्युत्पत्तिकारणत्वं मेघादिहीनस्य अनिर्वाच्यशक्तिविशिष्टस्य एव न मेघादिविशिष्टस्य, तथा प्रपञ्चप्रागभावपदेन अव्याकृतपदेन वा अभिलप्यं यद् अज्ञानं तद्विशिष्ट एव आत्मा प्रपञ्चकारणमिति द्वयोरर्थः।।३४५-३४६।।

सपने में नाना मन उत्पन्न होते हैं, इसके लिये जैसे व्यावहारिक मन की ज़रूरत है क्या ऐसे ही व्यावहारिक मन बने इसके लिये किसी पारमार्थिक मन की भी ज़रूरत है? नहीं है। यह बात दृष्टांत से समझाते हैं—प्राचीन काल में, पृथु ने पृथ्वी दुही उससे पहले, लोक में सभी बीज नष्ट हो गये थे। तब राजा पृथु की प्रेरणा से बीजरहित धरती ही बीजकारण बन गयी थी, उसने बीज पैदा कर दिये थे। (यह कथा विष्णुपुराण में विस्तार से आयी है।) इसी प्रकार जो भगवान् ईश आत्मा अपनी वास्तविकता के अशंक्य अनुभव से वंचित है, वह है मनरहित, क्योंकि गहरी नींद, प्रलय आदि में वह मनस्वी रूप से भासता नहीं, किन्तु वह मनका भी कारण बन जाता है। (दृष्टान्त में पृथिवी ने बीज स्वयं में छिपा लिये थे। दार्ष्टान्त में भी मन अविद्या में लीन रहता है तभी उससे उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् व्यावहारिक मन की उत्पत्ति में कोई पारमार्थिक मन नहीं चाहिये। व्यावहारिक मन ही अपनी कारणदशा में रहता है और 'मैं अज्ञानी हूँ' यों जो आत्मा में अध्यास है उसी से ईक्षणादि क्रम से मन कार्यदशा में व्यक्त हो जाता है। न केवल मन वरन् सारे प्रपंच के बारे में भी यही बात है : प्रातीतिक साँप दीखता है क्योंकि व्यावहारिक साँप देखा-सुना गया है तो क्या व्यावहारिक के लिये पारमार्थिक देखना-सुनना पड़ेगा? नहीं पड़ेगा! क्योंकि व्यावहारिक तो स्वयं ही कभी छिप जाता है, कभी प्रकट हो जाता है। प्रातिभासिक को भी ऐसा ही मानें तो क्या हर्ज़? कोई हर्ज़ नहीं लेकिन प्रायः लोक में ऐसा मानते नहीं। इसलिये व्यावहारिक-प्रातिभासिक का भेद करके व्यवस्था बनाई है। दृष्टिसृष्टि के अनुसार तो व्यावहारिक भी उसी तरह है जैसे प्रातिभासिक। यह प्रथमाध्यायमें विस्तार से कहा था। अचिन्त्यशक्ति माया से सभी उपपन्न है, अतः पहले न होने वाले पदार्थ उत्पन्न कैसे होंगे—यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि जैसे उत्पन्न हुए पदार्थ मिथ्या हैं वैसे ही उनका कारण माया भी। 'नहीं है' से 'है' की स्थिति में कुछ नहीं आया; पहले भी मिथ्या था, बाद में भी मिथ्या है। कार्य कारणभाव तो अपनी-अपनी मान्यता से है; जैसे स्वाप्न पिता-पुत्र में कार्यकारणता लगती है जबकि उनमें वह है नहीं, ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिये। किन्तु प्रकृत में इतना ही विवक्षित है कि जैसे सुषुप्ति में मनोरहित आत्मा रहता है जिससे पुनः जाग्रदादि में मन आ जाता है ऐसे ही प्रलयानंतर भी मन आत्मा से उत्पन्न हो गया, इसके लिये किसी अन्य मन की ज़रूरत नहीं पड़ी।)।।३४४।। जैसे बीजयुक्त धरती से पुनः बीज निकल आये ऐसे प्रलयादि में आत्मा भी प्रपंचयुक्त ही रहता होगा, एवं च प्रपंच भी सनातन होगा?—इस शंका को मिटाते हैं—जैसे बादल आदि से रहित शुद्ध आकाश ही बादलादि के जन्म-स्थिति-नाश का कारण बन जाता है, वैसे ही अव्याकृत कहलाने वाला परमेश्वर मनआदि संसार से रहित होने पर भी उसका कारण बन जाता है। (जैसे आकाश में यह सामर्थ्य माननी पड़ती है कि बिना मेघादि वाला हुआ ही वह अचानक मेघादियुक्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा में भी सामर्थ्य मानी जाती है जिसे अज्ञान कहते हैं। 'अव्याकृत' कहना तो चाहिये अज्ञान को लेकिन क्योंकि उससे विशिष्ट हुआ आत्मा ही जगत्कारण होता है इसलिये आत्मा भी अव्याकृत कह दिया जाता है। मेघादि का कारण आकाश है, यह बात मानकर ग्रंथकार ने अनेक जगह यह दृष्टांत दिया है अतः इस पर शंका नहीं उठानी चाहिये। यदि यह उदाहरण संतोषप्रद न हो तो अन्य उदाहरण खोज लेना चाहिये। रस्सी में साँप किसी भी तरह है नहीं लेकिन साँप की उत्पत्ति-स्थिति-समाप्ति होती रस्सी में ही हैं अतः वह प्रसिद्ध दृष्टांत समझ सकते हैं।)।।३४५-६।।

---

१. प्राकट्याप्राकट्याभ्यां कार्यपरंपरा परिणामपक्षपातिनीह विवक्षितेति मा भ्रमीदित्यतः पृथ्वीदृष्टान्ताद्वैषम्यमाह—विकाराणामिति। तत्र ही ग्रस्तत्वाद्बीजानां विशेषणतैव। प्रकृते नैवम्। नन्वेवं व्यवस्थोपपत्तिर्दुर्वाच्या? बाढम्, तस्या असत्यतामेव प्रतिपिपादयिषुराचार्य इत्यदोषः।

आत्माऽज्ञानाद् भवेद् भिक्षुर्यथा राजा कुतश्चन। राजा वाऽपि भवेद् भिक्षुर्दैवयोगात् कथञ्चन३४७

तथैवायं ब्रह्मरूप आनन्दात्माऽद्वयः पुमान्। आत्माऽज्ञानाद् भवत्येतद् विश्वं सदसदात्मकम्।।३४८।।

जायते म्रियते यद्वद् अजातोऽप्यमृतः पुनः। स्वप्ने जागरणेऽप्येवं जायते म्रियतेऽपि सः।।३४९।।

मनो दृश्यम्

दृश्यैर्घटादिभिर्यद्वद् दृश्यो जागरणे न हि। द्रष्टा स्वप्ने तथैवायं मनसा नैव दृश्यते।।३५०।।

मनो ज्योतिर्यदप्युक्तं क्वापि नैवात्मबोधनात्। किन्त्वात्मव्यतिरेकस्य वस्तुतस्तत्प्रकाशनात्।।३५१।।

नन्वज्ञानमात्रेण कथं विपरीतरूपलाभ इति न शङ्कनीयं, दृष्टत्वाद् इत्याह—आत्मेति। यथा कुतश्चन निमित्ताद् भिक्षुः दरिद्रो विप्रविशेषः अघमर्षणकाले राजा बभूव, तस्य च राजभावनिर्वाहकमात्मनो भिक्षुत्वेनाज्ञानमेव, प्रसिद्धमेतद् वासिष्ठे, तथा राजा लवणो दैवयोगाद् भिक्षुः दरिद्रो बभूव, तस्याप्यात्मनो राजत्वेनाज्ञानमेव भिक्षुत्वनिर्वाहकं, तथा आत्मनोपि आत्माज्ञानाद् नानाविधप्रपञ्चभावः। इति द्वयोरर्थः।।३४७-४८।। नन्वनर्थान्तराणि अज्ञानकृतानि संभाव्यन्ते, जन्ममरणे तु न संभाव्येते, अदृष्टत्वादिति चेत्? स्वप्नेऽनुभूयापि किमपलपसीत्याह—जायत इति। यथाऽजरोऽमरश्च अयं पुमान् स्वप्ने जायमानो म्रियमाणश्च अज्ञानप्रभावाद् दृष्टः, स्वप्नदृष्टानामेतद्रूपत्वात्; तथा जागरणेऽपि जानीहीति।।३४९।।

एवं मूलाज्ञानोपाधिकात्मरूपाद् ईश्वरादुत्पन्नस्य मनसः अविद्याकामकर्मभिः सहकृतस्य सकलप्रपञ्चोपादानतया प्राधान्यमुक्तम्। अथ तस्य चिदेकभास्यतां स्फुटयति—दृश्यैः इत्यादिना। यथा जागरणे घटादिभिर्द्रष्टा पुरुषो न प्रकाश्यते स्वयं तद्दृश्यत्वात्, तथा स्वप्ने दृश्याकारपरिणतं मनो द्रष्टारं न भासयति किन्तु द्रष्ट्रात्मनैव मनो भास्यत इत्यर्थः।।३५०।। ननु मनः स्वयं प्रकाशमेव कुतो न स्यात्, शाकल्यब्राह्मणे पुरुषाष्टकस्य मनो ज्योतिरित्युक्तत्वाद्—इत्याशङ्क्यां तदभिप्रायप्रदर्शनेन वारयति—मन इति। क्वापि शाकल्यब्राह्मणे मनसो ज्योतिष्ट्वं

अपने स्वरूप की जानकारी न रह जाने पर राजा किसी दुरदृष्टवश सपने आदि में भिखारी बन जाता है और भिखारी अनुकूल प्रारब्धवश राजा बन जाता है, यह सब लोक में प्रसिद्ध ही है। ऐसे ही आनंदरूप यह अद्वैत पुरुष आत्मा के अज्ञान के कारण स्थूल-सूक्ष्म यह सारा प्रपंच बना बैठा है। अजर-अमर आत्मा जैसे सपने में जन्मता-मरता है ऐसे ही जाग्रत् में भी जन्म-मरण पाता है। इसमें हेतु सिर्फ अज्ञान है। जन्म-मरण वास्तविक नहीं जैसे सपने में अनुभूयमान जन्मादि वास्तविक नहीं।।३४७-४९।।

आत्मा मूलाज्ञानरूप उपाधि से युक्त हुआ ईश्वर है जिससे मन उत्पन्न होता है जो अविद्या (अभिमान), कामना और कर्मों की सहायता से सारे सांसारिक अनुभव आत्मा को कराता रहता है यह अभी तक बताया। अब कहते हैं कि वह स्वयं तो चेतन आत्मा से प्रकाशित होता है, अतः वस्तुतः जड है।—जाग्रद् अवस्था में यह अनुभूत तथ्य है कि घट आदि दृश्यों द्वारा उन्हें देखने वाला द्रष्टा उनसे प्रकाशित नहीं होता, उनका दृश्य नहीं बनता। ऐसे ही सपने में मन दृश्यों के आकार में रहता है, द्रष्टा को प्रकाशित नहीं करता बल्कि उसी से प्रकाशित होता है। खुद मन ज्ञान वाला नहीं है। शाकल्य ब्राह्मण आदि कुछ स्थलों पर शास्त्र ने मन को 'ज्योति' कहा है लेकिन इस अभिप्राय से नहीं कि वह आत्मा को प्रकाशित करता है ! वरन् इस अभिप्राय से कि आत्मा जब अपने से अन्य पदार्थों का भान करता है तब मन उसका सहायक बनता है। जैसे सर्वानुभूत है कि घटादि के चाक्षुष ज्ञान में आँखें 'ज्योति' बनती हैं, उनका विशेष उपकार है, ऐसे ही मूर्त-अमूर्त विषयों के ज्ञानों में मन हेतु बनता है, अतः उसे ज्योति कह दिया है। वह वृत्ति

यथा लोके भवेज्ज्योतिर्नयनं घटबोधकृत्। मूर्तामूर्तधियो हेतुर्मनो ज्योतिस्तथैव हि।।३५२।।

यथेन्द्रियैर्विजानाति सर्वं सदसदात्मकम्। इन्द्रियाणि तदग्राह्यं मनसा यद्वदेव च। तथा मनः सविषयं पुमानेष प्रकाशयेत्।।३५३।।

अपि यन्मनसः प्रोक्तं कारणं रहितं सदा। नामरूपादिभिः स्वात्माज्ञानं स्वात्मनि संश्रितम्।। प्रकाशयेत्तदप्येष किमु तद्धेतुकं मनः।।३५४।।

इन्द्रियाणि मनस्तद्वत्तारकामणयोऽपि हि। तैजसानि तथान्यानि रत्नादीनि सहस्रशः।।३५५।।

रविसोमाग्नयोऽप्येते बोध्याः सदसदात्मकाः। अचिद्रूपास्ततः सर्वे प्रकाश्याः स्युर्घटादिवत्।।३५६।।

यदुक्तं तद् आत्मानं मनः प्रकाशयति इत्यभिप्रायेण नोक्तं किन्तु आत्मव्यतिरिक्तवस्तूनामात्मकर्तृके भासने मनः साहाय्यमाचरति इत्यभिप्रायेणैवेत्यर्थः।।३५१।। आत्मेतरवस्तुप्रकाशने च चक्षुर्वत् सम्बन्धघटकतामात्ररूपमेव मनसो ज्योतिष्ट्वम् इत्येतद् दर्शयति—यथेति। यथा लोके नयनस्य चक्षुषो घटादिबोधे उपकारकत्वेन ज्योतिष्ट्वं तथा मनसो वृत्तिद्वारा विषयात्मसम्बन्धघटकत्वेन ज्योतिष्ट्वमिति।।३५२।। घटादिभासनकाले मनसः करणत्वविवक्षायामपि चिदपेक्षया मनसो घटादिसमत्वमेवेत्याह—यथेन्द्रियैरिति। यथा बाह्यं सर्वं सदसदात्मकम् अनिर्वचनीयम् इन्द्रियैः विजानाति यथा च तदग्राह्यम् इन्द्रियाग्राह्यं परोक्षं विषयम् इन्द्रियाणि च मनसा जानाति तथा एष पुमान् आत्मा मनः तद्विषयांश्चैकः[1] प्रकाशयेद् इति।।३५३।। आत्मनो मनसो भासकत्वं कैमुत्यन्यायेनाह—अपि यदिति। यन्मनसः कारणम् अज्ञानमात्ममात्राश्रयविषयकं नामरूपकर्मभिः हीनमव्याकृतमिति यावत्, तस्यापि भासकस्य आत्मनः तज्जन्यमनोभासकत्वं किमु वाच्यमित्यर्थः।।३५४।। एवं सकारणे मनसि सिद्धमात्मभास्यत्वं जाग्रत्पदार्थेष्वतिदिशति—इन्द्रियाणीति। यथा मनः चिदात्मना भास्यं तथेन्द्रियादयोऽग्निपर्यन्ताः प्रकाशकत्वेन प्रसिद्धा अपि बोध्याः चिद्भास्याः, सदसद्रूपत्वेन अनिर्वचनीयत्वेन अज्ञानकार्यत्वव्याप्येन अचिद्रूपत्वात्। फलितमाह—तत इत्यादिना। तैजसानि तेजःप्रचुराणि। इति द्वयोरर्थः।।३५५-५६।।

द्वारा विषय का आत्मा से संबंध स्थापित करता है इसी से उसे ज्योति कहते हैं न कि यह मानकर कि वह स्वयं ज्ञान या ज्ञान वाला है।।३५०-५२।। अनिर्वचनीय सभी योग्य बाह्य पदार्थों को यह आत्मा जैसे इंद्रियों द्वारा जानता है, इंद्रियों को और उनकी पहुँच से बाहर के विषयों को मन द्वारा जानता है, उसी प्रकार मन और उसके विषयों को भी यह आत्मा ही जानता है। (यदि मनःस्थानीय कुछ द्वार चाहिये हो तो अविद्यावृत्ति समझ लेनी चाहिये। वस्तुतस्तु जहाँ द्वारका अनुभव न हो, ऐसा न लगे कि 'अमुक से जान रहा हूँ' वहाँ द्वार की कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि स्वप्रकाश को परप्रकाशनार्थ माध्यम की अनिवार्यता अप्रामाणिक है।)।।३५३।। मन का कारण है निजात्मा का अज्ञान। उसमें नाम-रूप-कर्म छिपे रहते हैं। स्वयं अज्ञान आत्मा पर ही टिका है। उस अज्ञान को ही जब आत्मा प्रकाशित करता है तब मन को वह प्रकाशित करे इसमें कहना ही क्या!।।३५४।। इस तरह निश्चित हुआ कि इंद्रिय, मन, तारे, मणियाँ, स्वर्णादि अन्य तैजस पदार्थ, सभी रत्नादि, सूर्य, चंद्र, वह्नि—जो कुछ भी प्रकाशक रूप से प्रसिद्ध है वह सभी चेतनरूप भान का विषय ही है क्योंकि अनिर्वचनीय होने से वह अचेतन है जिससे पता चलता है कि वह अज्ञान का कार्य है। एवं च घट आदि की तरह ये और ऐसे सभी पदार्थ आत्मा के भास्य ही हैं।।३५५-५६।।

ज्ञान से भिन्न जो कोई भी ज्ञानकारण हैं वे जड हैं—यह सभी विचारक मानते हैं, एक बृहस्पति के शिष्यों को छोड़कर! अब ज्ञानके स्वरूप पर भी विचार करना चाहिये। (ज्ञान के हेतु बनते हैं विषय, इंद्रिय आदि जिन्हें सभी

१. 'पुमानेकः' इत्येषां पाठः।

आत्मा सर्वभासकः

बोधेभ्यो व्यतिरिक्तानां कारणानामनेकशः। बोधानां जडता सर्ववादिसिद्धा ह्यसंशयम्। विना सुरगुरोः शिष्यान् बोधेप्येवं विचार्यताम्।।३५७।।

बोधाः स्वयम्प्रकाशाः स्युर्यदि ते तद्भिदा कुतः। स्वप्रकाशेषु भेदोऽयं गृह्यते वा न वा त्वया।।३५८।

एषाऽऽत्मनः सर्वभासकता सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, उपपत्तिबलेनापि सर्वैरभ्युपेयत्वाद् इत्याशयेन सर्वभासकतायामुपपत्तिं प्रपञ्चयति—बोधेभ्य इति चतुर्विंशतिश्लोकैः। बोधानां यानि कारणानि विषयकरणरूपाणि तेषां जडता सर्वैर्वादिभिरङ्गीकृतैव, भूतचैतन्यवादिनो बृहस्पतिशिष्यान् चार्वाकान् विहाय। ते हि ज्ञानविषयत्वेन प्रसिद्धानां भूतानां पृथिव्यादीनां शरीराकारपरिणतानां चैतन्यमिच्छन्ति। परन्तु ते कृतनाशाऽकृताभ्यागमरूपदोषदण्डेन बालैरपि सुजेया इत्युपेक्ष्या इति भावः। ननु ज्ञानकारणानामपि पूर्वज्ञानविशेषणज्ञानव्याप्तिज्ञानादीनां जडत्वं वादिभिर्नाभ्युपगतम् इत्यतो ज्ञानकारणविशेषणं बोधेभ्यो व्यतिरिक्तानाम् इति। तथा च बोधभिन्नेषु प्रकाशत्वं केनापि वक्तुमशक्यमिति भावः। ननु बोधानामेव प्रकाशत्वे किन्तवेति चेत् ? तेषां स्वप्रकाशत्वे परप्रकाशत्वे वा श्रौतात्मसिद्धिरेव। ते हि यदि स्वप्रकाशाः, तदा त एव आत्मा। यदि तु परप्रकाशाः, तदापि तत्साधकतयाऽऽत्मनः सिद्धिरित्याशयेनाह—बोधेपीति। बोधस्वरूपेऽपि एवं वक्ष्यमाणविधया विचारः कर्तव्य इत्यर्थः।।३५७।।

तत्र बोधानां स्वप्रकाशत्वपक्षे ब्रह्मात्मरूपतां साधयति—बोध इति द्वाविंशत्या। ते घटादिबोधाः किं चिद्रूपतया स्वप्रकाशाः, किं वा वृत्तिरूपगौणज्ञानात्मकतया परप्रकाशाः ? इति विचारे[1]; यदि ते स्वयम्प्रकाशाः तदा तेषां बोधानां भिदा भेदः कुतः सिद्ध्यति—किं स्वतः, परतो वा ? नाद्यः, स्वपदेन भेदविवक्षायां भेदेन जडेन स्वसाधनोक्तेर्व्याहतत्वात्। स्वपदेन भेदाश्रयज्ञानविवक्षायां प्रतियोग्यनुयोगिग्रहणसापेक्षस्य भेदग्रहणस्य भेदाश्रयेण कर्तुमशक्यत्वात्, प्रतियोग्यनुयोगिनोरुभयोरपि अविषयत्वभावतालक्षणस्वप्रकाशताशालिनोः ग्रहणायोग्यत्वादिति भावः। अथ द्वितीयं परत इति पक्षं[2] विचारयति—स्वप्रकाशेष्विति। स्वप्रकाशबोधेषु तिष्ठन् भेदस्त्वया भेदाश्रय-

लोग ज्ञान या ज्ञान वाला नहीं मानते। चार्वाक ही विषयादि को महाभूतरूप होने से चेतन मान सकते हैं क्योंकि वे भूतों को चेतन माना करते हैं किंतु चार्वाक मत विचारशीलों के लिये अत्यंत हेय है क्योंकि वह युक्ति-प्रमाण दोनों से रहित है। अतः उस पर यहाँ चर्चा नहीं करते। बाकी सब वादी एकमत हैं कि विषयादि जड हैं। ज्ञान के हेतु दो तरह के होते हैं : ज्ञानरूप और ज्ञानभिन्नरूप। कभी तो एक ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान के प्रति कारण बनता है जैसे व्याप्तिज्ञान कारण बनता है अनुमिति ज्ञान का। और कभी जो ज्ञानकारण बनते हैं वे ज्ञानभिन्न होते हैं जैसे विषय, इंद्रिय आदि। इनमें जो ज्ञानरूप ज्ञानकारण हैं उन्हें सब वादी जड मानते हों ऐसा तो है नहीं क्योंकि जड से जब मतलब होता है ज्ञानभिन्न तब उन्हें जड नहीं माना जाता। इसलिये पुराण में स्पष्ट किया कि ज्ञानरूप कारणों से अतिरिक्त जो कारण हैं उन्हें जड मानने में ऐकमत्य है। इस प्रकार उन कारणों की परीक्षा की जरूरत नहीं। अब ज्ञानों की परीक्षा करेंगे क्योंकि ज्ञान यदि स्वप्रकाश सिद्ध हुए तो वे ही श्रुतिप्रसिद्ध आत्मा होंगे और यदि वे अन्य द्वारा प्रकाशित होने वाले होंगे तो उनका प्रकाशक आत्मा निश्चित हो जायेगा। इसी अभिप्राय से बोध के बारे में आगे का विचार प्रारंभ कर रहे हैं।)।।३५७।।

ज्ञान यदि स्वयम्प्रकाश हैं तो उनमें भेद कैसे ? (घटादिविषयक ज्ञान या वृत्तिरूप माने जायेंगे तो परप्रकाश्य होंगे और या चिद्रूप होने से स्वयं प्रकाश होंगे। जिस पक्ष में वे स्वयं प्रकाश हैं तब प्रश्न होगा कि ज्ञानों का आपसी भेद कैसे सिद्ध होता है—क्या खुद से ही सिद्ध होता है या किसी अन्य से ? खुद भेद तो स्वयं को सिद्ध करेगा नहीं

१. परप्रकाशत्वपक्षः ३८१ तो विचार्यमाणः। २. भेदसिद्धिः परत इति पक्षम्।

गृह्यते यदि सोप्येवं भेद इत्येव गृह्यते। अमीषामिति वा पूर्वे बोधानां किं भवेत्तव।।३५९।।

न हि भेदे गृहीतेऽस्ति नभसो नभसो भिदा। अमीषामिति चेद्भेदो गृह्यते भवता धिया। तथा च स्वप्रकाशत्वं न भवेद्धि घटादिवत्।।३६०।।

भेदोऽयं हि मया ग्राह्यो घटस्य च पटस्य च। एवं प्रतीयमानानां तेषां न स्वप्रकाशता।।३६१।।

अग्रहे नास्ति भेदोऽयं ग्रहणाभावहेतुना। अगृहीतेषु सत्त्वं चेद् नरि शृङ्गं कुतो न सत्।।३६२।।

ज्ञानभिन्नेन परेण गृह्यते विषयी क्रियते न वा ? इति।।३५८।। तत्राद्यं विकल्पयति—गृह्यंत इति। यदि भेदो गृह्यते तदापि किं भेदः अस्ति इति एतावन्मात्राकारेण गृह्यते ? किं वा अमीषां बोधानां भेद इति अनेनाकारेण गृह्यते ? इति। पूर्वे प्रथमे, तव पक्षे बोधानां किं जातम् ? बोधानां हि भेदसम्बन्धस्वरूपा परिच्छिन्नता तदाऽऽपद्येत यदा तेषां प्रतियोगिताऽनुयोगिता वा गृह्येत। सा तु भेद इत्येतावन्मात्राकारे ज्ञाने न भासत इति भावः।।३५९।। एतदेव दृष्टान्तेन स्फुटयति—न हीति। यथा भेद इत्याकारेण भेदे गृहीते आकाशस्य आकाशाद् भेदो न सिद्ध्याति, आकाशस्य प्रतियोगित्वादिनाऽनुल्लेखाद्, अयोग्यतयाऽऽक्षेपस्याप्यप्रसरात्, तथा तटस्थानां बोधानामपीत्यर्थः। द्वितीयं[1] पक्षमादाय निराचष्टे—अमीषामितीति। चेद् यदि अमीषामिति इदंरूपेण बोधान् विषयीकृत्य तद्भेदो गृह्यते तदा परप्रकाश्यानां बोधानां स्वप्रकाशत्वं न स्याद् यथा घटादीनामित्यर्थः।।३६०।। दृष्टान्तं स्फुटयति—भेद इति। यथा मया अमीषां घटादीनां भेदो गृह्यते इति एवं प्रतीतिविषयीक्रियमाणानां तेषां घटादीनां स्वप्रकाशता न दृष्टेति।।३६१।।

एवं स्वप्रकाशानां भेदो ग्रहीतुमशक्यः प्रतियोग्यनुयोगिग्रहणलक्षणायाः सामग्र्या असम्भवात् प्रतियोग्यनुयोगिनोः अविषयस्वभावत्वाद्—इत्युक्तम्। अथ न गृह्यत[2] इति पक्षे दोषमाह—अग्रह इति। अग्रहे भेदस्य ग्रहणाभावपक्षे ग्रहणाभावरूपेण हेतुना भेदो नास्ति भेदात्यन्ताभावएव सिद्ध्येदित्यर्थः। अयं भावः — जडानां

क्योंकि जड है। यदि जिसमें भेद है वह ज्ञान ही उस भेद को सिद्ध करने वाला मानना चाहो तो भी बनेगा नहीं : भेदज्ञान के लिये ज़रूरी है प्रतियोगी और अनुयोगी का ज्ञान अर्थात् जिससे जिसमें भेद जानना हो उन दोनों की जानकारी होने पर ही भेद का ज्ञान हो सकता है। एक ज्ञान का अन्य ज्ञान से भेद जानने के लिये दोनों ज्ञानों का ज्ञान अपेक्षित होगा किंतु स्वप्रकाश मानने पर ज्ञानका ज्ञान होगा ही नहीं तो भेदज्ञान कैसे हो पायेगा ? इस प्रकार यदि ज्ञान स्वप्रकाश है तो उसमें भेद नहीं सिद्ध होगा, एक अखण्ड अद्वितीय ज्ञान ही निश्चित होगा।) यदि कहो कि ज्ञान स्वप्रकाश हैं पर उनका भेद खुद से नहीं अन्य से सिद्ध होता है तो बताओ कि भिन्न होने वाले ज्ञान से अन्य जो तुम हो वह तुम उस भेद को विषय करते हो या नहीं ?।।३५८।। यदि कहो 'हाँ, करते हैं।' तो बताओ कि क्या सिर्फ़ 'भेद' इतना ही ग्रहण करते हो या 'इन बोधों का परस्पर भेद है' यों प्रतियोगी-अनुयोगी सहित भेद का ग्रहण करते हो ? अगर 'भेद' बस इतना ही जानते हो तब तो बोधों में भेद नहीं सिद्ध हुआ ! जब तक ज्ञानों को भेद का अनुयोगी-प्रतियोगी न समझा जाये तब तक उन्हें भेद वाला कैसे कहोगे ? केवल 'भेद' इतना ही जानने से यह तो सिद्ध नहीं होगा कि ज्ञान भिन्न हैं।।३५९।। 'भेद' यों ज्ञान होने पर भी आकाश आकाश से भिन्न नहीं हो जाता क्योंकि आकाश का उस भेद के प्रतियोगी-अनुयोगी रूप से उल्लेख हुआ नहीं। ऐसे ही उक्त ढंग से अनुल्लिखित बोध में भिन्नता सिद्ध नहीं हो पायेगी। इसलिये ज्ञानों में भेद सिद्ध करने के लिये कहना होगा कि तुम्हें बुद्धि से यों ग्रहण होता है 'इन ज्ञानों में परस्पर भेद है'। इसके लिये जरूरी है कि तुम्हें ज्ञान इदंरूप से प्रतीत हुए हैं लेकिन तब ज्ञानों को वैसे ही स्वप्रकाश नहीं मान सकते जैसे घड़े आदि को नहीं मानते।।३६०।। तुम्हें अनुभव है 'मेरे द्वारा घड़े-कपड़े का भेद ग्रहण किया जा रहा है' तो भेदनिरूपक बनने वाले घड़े आदि स्वप्रकाश नहीं हैं। ऐसे ही यदि भेदनिरूपक होकर ज्ञान प्रतीत होंगे तो वे भी स्वप्रकाश माने जायें यह संभव नहीं होगा।।३६१।। यदि कहते हो कि स्वप्रकाश ज्ञानों में तुम्हें भेद का ग्रहण होता

१. 'अमीषामिति वा' श्लो. ३५९ इत्युक्तम्। २. श्लो. ३५८ 'न वा त्वया' इत्युक्ते।

अपि यद् ग्रहणं तच्चेत् स्वप्रकाशं भवेत्तव। तादृशं ग्राहकं न स्यात् सवितुश्चन्द्रमा यथा।।३६३।।
स्वप्रकाशेऽपि भेदश्चेज्ज्ञाने ज्ञाने व्यवस्थितः। न स्वप्रकाशता तेषां तारतम्याद् घटादिवत्।।३६४।।
समानां न भवेत् क्वापि ग्राह्यग्राहकता भुवि। खद्योतानां च दीपानां यस्मादेषा न दृश्यते।।३६५।।
ततो भेदेन शून्याश्चेद् बोधास्ते सुखरूपिणः। न हि भेदं विना दुःखं सुप्त्यादौ लभ्यते नृभिः।।३६६

पराधीनसिद्धिकानां मानाधीना सिद्धिरित्यविवादम्। तेषु च केनचिद् मानेन सिद्धेषु प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तावपि नाऽसत्त्वं निश्चेतुं शक्यते। भेदोऽपि च परसापेक्षत्वेन स्वरूपे निवेशमलभमानो जड एव वाच्यः, श्रुत्यादिबाधितत्वेन भ्रममात्रसिद्धश्च। अतस्तत्र ग्रहणाभावेन लिङ्गेन नृशृङ्गवद् असत्त्वानुमितौ न किञ्चिद् बाधकमिति। एतदेव नृशृङ्गप्रतिबन्द्या दर्शयति—अगृहीतेष्विति।।३६२।। ग्रहणपक्षएव दोषान्तरमाह—अपि यदिति। किं च बोधानां भेदग्रहणपक्षे ग्राहकं ज्ञानान्तरं स्वप्रकाशं, परप्रकाशं वा ? अन्त्ये, अनवस्था। आद्ये, भेदग्रहणाय प्रतियोग्यनुयोगिनौ ग्रहीतुमिष्टावपि कथं गृह्णीयात्, प्रकाशत्वेन समत्वाद्; अन्यथा सूर्याचन्द्रमसोरपि प्रकाश्य-प्रकाशकभावापत्तिरित्यर्थः।।३६३।।

स्वप्रकाशं स्वप्रकाशस्य न साधकमित्येतदेव स्फुटयति—स्वप्रकाशेपीति द्वाभ्याम्। यदि सर्वा ज्ञानव्यक्तयः स्वप्रकाशा अपि परस्परं प्रकाश्यन्त इत्युच्यते, तदा तासां प्रकाश्यप्रकाशकभावनिर्वाहको भेदः तारतम्यरूपोऽपि वाच्यः तत्स्वीकारे तु प्रकाश्यघटादिसमत्वापत्त्या स्वप्रकाशबोधेन स्वप्रकाशस्य प्रकाश इत्युक्तेर्व्याहतत्वं स्पष्टमित्यर्थः।।३६४।। यदि तु उक्तो विशेषो नाङ्गीक्रियते तदापि प्रकाश्यप्रकाशकभावोक्तिः सुतरां व्याहता, खद्योतदीपादीनामपि प्रकाशत्वेन समानां प्रकाश्यप्रकाशकभावादर्शनादित्याह—समानामिति। समानां समानजातीयानाम्।।३६५।।

अथ बोधानां सच्चिदानन्दत्वलक्षणात्मत्वविधानोपयोगिनीं पूर्वोक्तविचारफलभूतां च सुखरूपतां दर्शयति—तत इति। यत उक्तविधया भेदग्रहणं न सम्भवति ततो ग्रहणाभावेन नृशृङ्गवद् भेदाभावसिद्धेः ते बोधाः भेदशून्या इति चेद् अङ्गी कुरुषे तर्हि बोधाः सुखरूपिण इत्यपि निश्चिनोतु भवान्; 'यो वै भूमा तत् सुखम्' (छां. ७.२३) इति श्रुत्युक्तसुखलक्षणयोगात्, श्रुतौ भूमपदस्य भेदशून्यतापरत्वाद्; इति पूर्वार्द्धार्थः। ननु श्रुत्युक्तलक्षणस्य सुखे समन्वयः क्व दृष्ट इति चेत् ? सुषुप्ते समाधौ चेत्याह—न हीति। भेदं भेददर्शनं विना वर्तमाने सुप्त्यादिकाले नृभिः प्राणिभिः दुःखं न दृश्यते, किन्तु सुखमेव तत्र भासत इति प्रसिद्धमित्यर्थः।।३६६।। ननु सुप्त्यादौ भेदाभावलक्षण-

नहीं तब तो भेद सिद्ध ही नहीं होगा क्योंकि ग्रहण न होना पर्याप्त कारण है वस्तु का न होना सिद्ध करने में। यदि अगृहीत चीजों की भी सत्ता हो तो पुरुष के सिर पर सींग क्यों नहीं हो जाते।।३६२।। किं च ज्ञानों के भेद का ग्रहण होता है ऐसा मानने पर प्रश्न होगा कि वह ग्रहण परप्रकाश है कि स्वप्रकाश ? परप्रकाश कहो तो अनवस्था का मार्ग प्रशस्त होगा ही। और यदि तुम्हारे हिसाब से वह भेदग्रहण स्वप्रकाश हो तो समस्या होगी कि वह प्रतियोगी-अनुयोगी बोधों को ग्रहण कर नहीं पायेगा क्योंकि उन बोधों की तरह वह भी प्रकाशरूप होगा तो जैसे सूर्य चंद्रमा को ग्रहण नहीं करता ऐसे भेदज्ञान भी भिन्न ज्ञानों को ग्रहण करेगा नहीं और तब भेद भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि प्रतियोगी आदि ग्रहण किये बिना यह सिद्ध हुआ नहीं करता।।३६३।।

एक स्वप्रकाश अपर स्वप्रकाश को ग्रहण करे यह संगत है ही नहीं। सभी ज्ञानों को स्वप्रकाश मानकर भी उन्हें एक-दूसरे को प्रकाशित करने वाला कहोगे तो स्वीकारना पड़ेगा कि उनमें कोई तारतम्यरूप भेद है जिससे प्रकाश्यता-प्रकाशकता की व्यवस्था बनी रहती है। किंतु तारतम्य मानकर प्रकाश्यता कहते ही ज्ञान भी घटादि के तुल्य हो जायेंगे, वे स्वप्रकाश नहीं रह सकेंगे।।३६४।। और यदि पूर्वोक्त ढंग से ज्ञानों में भेद न कहो—कोई ऐसी खासियत न बताओ जो निर्धारित करे कि कौन किसका प्रकाश्य बनेगा—तो ज्ञान समान होंगे जिससे यह नहीं सिद्ध होगा कि वे परस्पर प्रकाश्य हैं। संसार में कहीं नहीं देखा जाता कि समान पदार्थों में प्रकाश्य-प्रकाशकभाव हो। जुगुनू और दीपज्वाला भी एक-दूसरे को प्रकाशित करते नहीं ! अतः एक स्वप्रकाश को अन्य स्वप्रकाश का साधक मानना संभव नहीं।।३६५।।

स्वप्रकाशा न चेत्ते स्युः तेषां लाभो न सम्भवेत्। दुःखस्येव सुखस्यापि स्वप्रकाशास्ततो ह्यमी ।।३६७

दुःखाभावोऽपि नैव स्यादप्रकाशः कथञ्चन। भेदशून्यैः कथं ह्येतैर्भेदवान् स प्रकाश्यते ।।३६८।।

सुखसत्त्वेऽपि तस्य सुखस्य स्वप्रकाशबोधात्मकत्वे किं मानमिति चेद् ? भानान्यथानुपपत्तिरेवेत्याह—स्वप्रकाशा इति। स्वप्रकाशाः स्वप्रकाशत्वेन वर्णिता बोधा यदि ते सुखरूपा न स्युः तदा तेषां नृणां सुप्त्यादौ सुखस्यापि लाभो न संभवेद्, दुःखस्येव यथा दुःखस्य तदा लाभो नास्ति, ततः स्वप्रकाशा बोधा एव अमी, सुप्तौ भासमानसुखरूपा इत्यर्थः। अयं भावः—सुखस्य स्वप्रकाशबोधभिन्नत्वेऽद्वितीयत्वात्मकस्वलक्षणप्रच्युतिदुःखवद्भेददर्शनव्याप्यता च स्यात् तथा च सुषुप्तौ भेददर्शनहीनायां सुखभानं न स्यादिति।।३६७।। ननु सुषुप्ते दुःखाभावशालित-यैवेच्छाविषयत्वोपपत्त्या बोधाभिन्नसुखसत्त्वं किमर्थं तत्र व्युत्पाद्यते ? इति शङ्कां वारयन्ननन्तत्वविशदीकरणाय बोधानां दुःखाभावरूपतामपि दर्शयति—दुःखाभाव इति। दुःखाभावोऽप्यप्रकाशो बोधात्मकप्रकाशभिन्नश्चेत् तदा नैव स्याद् न सिद्ध्येदित्यर्थः। कथं न सिद्ध्येदित्यत आह—भेदेति। चिद्भिन्नो दुःखाभावः सुप्तौ प्रकाशत इति वदन् प्रष्टव्यः—किमादित्याद्यैः प्रकाश्यते? किं वा बोधैरेव ? नाद्यः सुप्तौ तेषां विलयात्। नान्त्यः, वर्णितविधया भेदहीनैर्बोधैः स दुःखाभावः कथं प्रकाश्यते। कीदृशो दुःखाभावः ? भेदवान् भवताऽत्यन्तं बोधभिन्नत्वेनाऽभिमत इत्यर्थः। चित्प्रकाशे हि द्वयमेव भासते—चित्स्वरूपं, तत्तादात्म्यलक्षणविषयताशालि च, नात्यन्तभिन्नमिति भावः।।३६८।।

प्रसंगानुसार ज्ञान को सत्-चिद्-आनंद बताना है। पूर्वोक्त विचार से निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञान सुखरूप है—। इस प्रकार भेद का ग्रहण असंभव है तो मनुष्य के सींग की तरह भेद भी सिद्ध नहीं होगा जिससे बोधों को भेदरहित मानना अनिवार्य है। ऐसे में यह भी निश्चय कर लेना चाहिये कि वे ज्ञान सुखात्मक भी हैं क्योंकि श्रुति ने बताया है कि जो भेदशून्य होता है वही सुख होता है। इतना ही नहीं, सुषुप्ति व समाधि में जब भेद नहीं होता तो लोगों को किसी दुःख का भी अनुभव नहीं होता। अतः भेद व दुःख का सम्बन्ध है, भेद न होने पर आनंद ही रहता है।।३६६।। भले ही सुषुप्ति आदि में भेदराहित्यरूप सुख हो पर वह ज्ञानरूप है यह कैसे समझें ? बताते हैं—स्वप्रकाशरूप से सिद्ध किये ज्ञान यदि सुखात्मक न हों तो लोगों को सुषुप्ति आदि में सुखानुभव भी वैसे ही नहीं हो सकता जैसे दुःखानुभव नहीं होता, किंतु सुखानुभव होता है अतः सिद्ध हो जाता है कि वह सुख स्वप्रकाश ज्ञानरूप ही है। एवं च स्वप्रकाश ज्ञानों को अभिन्न और सुखरूप मानना ज़रूरी है।।३६७।।

केवल सुख को ही नहीं, दुःखाभाव को भी अप्रकाशरूप—अर्थात् ज्ञानसे अत्यन्त भिन्न—मानना किसी तरह युक्तियुक्त नहीं। दुःखाभाव यदि ज्ञानसे भिन्न हो तो सुषुप्ति में उसका (दुःखराहित्य का) पता कैसे चलेगा ? ज्ञान से दो का ही भान होता है —एक स्वयं ज्ञान का और दूसरा उसका जो ज्ञानसे तादात्म्य को प्राप्त हो जाये। ज्ञान से अत्यंत भिन्न वस्तु का भान ज्ञानसे होता नहीं। ज्ञान भेदशून्य सिद्ध हो चुके हैं और दुःखाभाव को तुम भेद वाला मान रहे हो। ऐसे में उसका भान संभव नहीं होगा जबकि 'दुःख नहीं था' ऐसी स्मृति होती है जिससे पता लगता है कि सुप्ति आदि में दुःखाभाव का भान था।।३६८।। बोध भावरूप हैं तो वे ही दुःखाभावरूप भी कैसे कहे जा रहे हैं ? इसका उत्तर देते हैं—अभाव भी भावों से अत्यंत भिन्न होकर संसार में कहीं नहीं रहता। इसीलिये विद्वानों ने माना है कि घट, अपने से भिन्न सब चीज़ों का अभावरूप भी है। (अभाव जिस पर प्रतीत होता है वह उसका अधिकरण या अनुयोगी कहलाता है जैसे भूतल पर घटाभाव प्रतीत हो तो भूतल घटाभावका अनुयोगी होगा। किंतु विचार करें तो उस भूतल से अतिरिक्त वहाँ घटाभाव कोई स्वतंत्र पदार्थ सिद्ध नहीं होता ! किसी दृष्टि से, अपेक्षा से, भूतल को ही घटाभाव भी समझ लिया जाता है। इसलिये एक भावपदार्थ का अभाव अन्य भावपदार्थ ही होता है, भावविलक्षण अभाव का निरूपण करना संभव नहीं। यह विषय बृहदारण्यक भाष्य के मृत्युविचार में (१.२) देखना चाहिये।)।।३६६।। उक्त ढंग से यदि सारा

अप्यभावो न भावेभ्यो विभिन्नो विद्यते भुवि। यतो घटोऽत्र विज्ञेयः स्वान्याभावो मनीषिभिः ।।३६९

अभावात्मकता चैवं यदि विश्वस्य जायते। जायतां किं विनष्टं नो ह्यद्वितीयात्मवादिनाम् ।।३७०।।

न चाऽभावो द्वितीयः स्यात् सर्वाभावेन हेतुना। सर्वाभाव इदं यत्त्वं ब्रूषे तन्नोऽद्वयं स्मृतम् ।।३७१।।

दुःखाभावस्तु चित्स्वरूप एवेति सूचयन् कथं भावरूपास्ते बोधा दुःखाभावरूपाः ? इति शङ्कां वारयंश्चाह—अप्यभाव इति। किं च अभावपदार्थः अपि भावेभ्यः अधिकरणतयाऽभिमतेभ्यो न भिन्नः किन्तु अनुयोगिभावात्मक एव, यथा घटः स्वेतरेषां सर्वेषामभावात्मकः इति सत्ख्यातिवादिभिरभ्युपगम्यते। ते ह्येवमाहुः—'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' (श्लो. वा. निरालंब. ११८) इति। सर्वे पदार्थाः स्वरूपेण सद्रूपाः, परापेक्षया चाभावरूपाः, भावभिन्नस्त्वभावो नास्ति, भिन्नत्वेन निरूपयितुमशक्यत्वादिति तदर्थः। तथैवास्माभिरप्यभ्युपगम्यत इति भावः।।३६९।। ननु भावान्तराभाववादिमताङ्गी कारे वः को लाभः, प्रत्युत सर्वेषामभावात्मतापत्तिरूपो दोष एवेति चेद्? न, पदे पदेऽद्वैतानुसन्धानस्य सिद्धेरेव फलत्वाद् इति शङ्का-समाधानाभ्यां दर्शयति—अभावात्मकतेति। एवं भावात्मकाभाववादिमतस्वीकारे यदि विश्वस्य पदार्थजातस्य अभावरूपता प्राप्नोति तर्हि प्राप्नोतु, का नो हानिः! प्रत्युत अद्वैतपरिचय एवेति।।३७०।।

ननु कथं सत्ख्यातिमताङ्गीकारेऽद्वैतपरिचयः, प्रत्युत तेषां स्वरूपभेदं मन्वानानामनुसरणे भेद-धीप्रसक्तिरेवेति चेत् ? स्यादेवं यदि सर्वथा तन्मतमनुगम्येत। औपनिषदैस्तु यथा ज्वरकरमपि दधि शर्करया संस्कृत्योपयुज्यते तथा परमतमपि श्रुत्यनुकूलतर्कपरम्पराशर्करया संस्कृत्योपयुज्यत इति न कोऽपि दोष इत्यभिप्रेत्योक्तम्, अतोऽद्वैतसिद्धिमभिनयति—न चेति। घटस्वरूपाद् द्वितीयो भिन्नः अभावः अपि न स्यात् किमुत भावः ! कुतः ? सर्वाभावरूपेण हेतुना। यदि हि किंचिदपि घटस्वरूपाद् भिद्येत तदा घटस्य सर्वाभावरूपेणा-भिधानं व्याहन्येतेति, ततश्च घटस्य अद्वितीयत्वेन ब्रह्मत्वं सिद्धमित्याह—सर्वाभाव इति। सर्वाभावपदेन यद् वस्तु अभिदधासि तद् एव नः अस्माकं श्रुत्यनुगृहीतानाम् अद्वयं ब्रह्म मतम्। न च विरोधः, घटनामरूपयोः पंचीकरण-प्रक्रियया सन्मात्रत्वाद्, सत्ताभानप्रियांशानां ब्रह्मत्वस्य निश्चितत्वात्। तथा चानुगुणोऽयं सत्ख्यातिपक्षोऽस्माकमिति भावः। न चाभावो द्वितीयस्य सर्वाभावोऽपि हेतुना—इति पाठे तु; ननु कथं न हानिः, शून्यतापत्तेः स्पष्टत्वाद्? इति शङ्कावारणपरः श्लोकः। तथा च द्वितीयस्य इतरत्वावच्छिन्नस्य अभावः शून्यतापादकसर्वाभावरूपः न भवति। कुतः? हेतुना—भावप्रधानो निर्देशः, हेतुत्वेनेति। सर्वाभावपदेन यद् उच्यते तदस्मत्सिद्धान्तप्रसिद्धाऽद्वयब्रह्मात्मनैव सिद्ध्यति, इतरथा तु जडस्य असाक्षिकस्य सिद्धिर्दुर्लभा स्याद्; घटादौ सर्वाभावव्यपदेशोऽपि स्वावच्छिन्नचैतन्य-धर्माध्यासाद् निर्वहतीति भावः।।३७१।। अथाभावस्य भावभिन्नत्वाभावं पदार्थत्वानुपपत्त्याऽपि साधयति—अपि

संसार अभावरूप सिद्ध हो तो हुआ करे, अद्वितीय आत्मा स्वीकारने वाले हम औपनिषदों की क्या हानि है ! (अर्थात् घट को घटान्याभाव मानें और ऐसे ही पटादि को भी स्वान्याभाव मानें तो सारी चीजें अभावरूप ही सिद्ध होंगी। इस पर पुराणकार कहते हैं कि यों सिद्ध होने पर अद्वैत का ही परिचय पुष्ट होगा अतः अच्छा ही है ! अद्वैत इसलिये होगा कि सभी कुछ एक अभावात्मक ही हो जायेगा।)।।३७०।।

प्रश्न होगा कि अभाव को अनुयोगिरूप मानने वालों का अनुसरण करने से अद्वैत नहीं सिद्ध होगा क्योंकि वे लोग पदार्थों को स्वरूपतः विभिन्न भी मानते हैं। इसका उत्तर है कि जितनी बात मानने लायक हो उतनी ही वादी से ग्रहण की जाती है, उसकी सारी मान्यतायें नहीं। साथ ही जैसे अकेला दही खाने से नुकसान होता है पर शक्कर मिलाकर खाने से लाभ होता है, इसी तरह श्रुतिसंमत तर्क रूप शक्कर मिला देने पर वादी की बात भी अद्वैतानुकूल हो जाती है। वेदांतों में बताये अद्वैत को हृदयंगम बनाने के लिये परमत का भी उपयोग हो जाये तो हर्ज नहीं। प्रकृत में भी इसी तरह अद्वैत सिद्ध होगा यह पुराणकार बताते हैं—घट को जब बाकी सबका अभाव कहते हो तो अभाव

अपि चाऽत्र पदार्थोऽस्तिपदत्वेन मतोऽपि हि। पदस्य वृक्ष इत्यादेर्नाभावोऽर्थ उदीरितः।।३७२।।
कथं नभोऽप्यभावः स्यात् पदत्वे सति कारणे। वस्त्वन्तरमभावोऽतो न तु भावविवर्जितः।।३७३।।

चेति। किं चाऽत्र परीक्षकव्यवहारे अस्तिपदत्वेन अस्तिपदतादात्म्येन सहितो भावः पदार्थत्वेन मतः, शब्दार्थयोस्तादात्म्यात्; अस्तिपदाभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् इति यावत्। पदस्य तु वृक्ष इत्यादिरूपस्यापि अभावः सद्भिन्नः अर्थो न दृष्टः किमुतास्तिपदस्य! तथा च पदार्थत्वानुपपत्त्याऽपि सर्वस्य सद्रूपतायाः सिद्धिरिति। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः 'स्फुरताऽपि सतो नान्यदभिधातुं घटादिवत्। शक्यते ह्यभिधानेन नाऽसद्वस्तु निरुच्यते।।' (बृ. १.२.१५) इति। स्फुरता व्याख्यानकुशलेनापि सतोऽन्यत् सद्भिन्नम् अभिधातुं घटादिवद् न शक्यते यतोऽभिधानेन नाम्ना सद्रूपेण असद्वस्तु निर्वक्तुमशक्यं, सदसतोः तादात्म्यायोगादिति वार्तिकार्थः।।३७२।।

ननु बाह्याः 'प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधावाकाशं च' इति वदन्तो बुद्धिपूर्वकाऽबुद्धिपूर्वकौ नाशावाकाशं च इत्येतत् त्रयमसदिति मन्यन्ते। तद्दृष्टान्तेन इतरत्रापि असत्त्वमस्तु ? इति शङ्कां निराकरोति—कथमिति। पदत्वे पदतादात्म्यरूपे कारणे सदर्थसाधकहेतौ सति आकाशोऽभावरूपः कथं स्याद् ? न कथंचिदपीत्यर्थः। उपलक्षणं चेदम् अधिकरणत्वेन प्रसिद्धस्याकाशस्याऽसत्त्वं दुर्वचमित्यस्य, असतोऽधिकरणताऽदर्शनात्। सिद्धान्ते नास्तीति पदविषयतां सूक्ष्मत्वप्रयुक्तेति[1] भावः। फलितमाह—वस्त्वन्तरमिति। सत्ख्यातिमत इति शेषः।।३७३।। अस्मत्सिद्धान्तेऽपि

भी घटस्वरूप से भिन्न हुआ नहीं रह पायेगा। जब घट सब का अभाव है तब घटसे भिन्न होकर भाव-अभाव कुछ भी रहेगा कैसे ? सबका अभाव मौजूद है तो सब भी रहें यह संभव नहीं। 'घट है' कहो 'सबका अभाव है' कहो बात एक ही है। अतः घट रहते उससे अलग भाव-अभाव कुछ नहीं रहेगा तो अद्वैत (घटाद्वैत !) सिद्ध हो गया। जिसे तुम सर्वाभाव कह रहे हो वह हमारा अद्वय ब्रह्म है। यह मत समझो कि यों घटाद्वैत ही सिद्ध हुआ क्योंकि घट के पाँच अंश हैं—अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप; इनमें प्रथम तीन तो स्पष्ट ही ब्रह्मरूप हैं और नाम-रूप भी पंचीकरण-प्रकरणप्रोक्त विचार प्रक्रिया से सन्मात्र, ब्रह्ममात्र ही, निश्चित होते हैं। अतः आपाततः यह घटाद्वैत है लेकिन वस्तुतः अद्वितीय ब्रह्म ही यों निर्धारित होता है। पूर्वोक्त सर्वाभावरूपता सुनकर शून्यवादी कह सकता है कि तब अभावाद्वैत ही मान्य हो गया, ब्रह्माद्वैत नहीं। उसको जवाब देने के लिये भी यही श्लोक है क्योंकि इसके प्रथमार्ध का यों भी पाठ मिलता है 'न चाभावो द्वितीयस्य सर्वाभावोऽपि हेतुना'। अर्थ है : इतरमात्र का अभाव ऐसा सर्वाभाव नहीं हो सकता जो शून्य हो क्योंकि तब वह जड होने से सिद्ध ही नहीं हो पायेगा। यही हेतु है कि जिसे तुम सर्वाभाव कहते हो वह हमारा ब्रह्म ही है। ब्रह्म तो स्वप्रकाश चेतन होने से सिद्धिसापेक्ष है नहीं, अतः वही सर्वाभाव हो सकता है। इसलिये शून्याद्वैत की संभावना नहीं।।३७१।।

अभाव को पदार्थ मानने के कारण भी उसे भावभिन्न नहीं कह सकते ! विचारकों के व्यवहार में 'पदार्थ' वही भाव कहा जाता है जिसका 'है'-शब्द से तादात्म्य हो क्योंकि शब्द-अर्थ का तादात्म्य मान्य है। इसलिये पदार्थ का सामान्य लक्षण हुआ 'है'-शब्द द्वारा अभिधेय होना। वृक्ष आदि किसी भी पद का अर्थ सद्भिन्न देखा नहीं जाता तो 'है'-पद का ही अर्थ सद्भिन्न ('नहीं है') हो यह कैसे संभव है ! अतः अभाव यदि पदार्थ है तो उसे सद्रूप ही मानना अनिवार्य है (और अगर उसे पदार्थ ही नहीं मानो तो उसका विचार ही छोड़ना पड़ेगा)।।३७२।। बौद्ध लोग आकाश को अभावरूप मानते हैं, वह भी ग़लत है क्योंकि आकाश भी घट आदि की तरह पदसे तादात्म्यापन्न है अर्थात् पदार्थ है और यह पर्याप्त हेतु है यह सिद्ध करने के लिये कि वह अभाव (असद्) नहीं हो सकता। (आकाश अधिकरणरूप से प्रतीत होता है—जगह में लोक हैं आदि—इससे भी वह अभाव नहीं हो सकता; अन्य भी हेतु हैं जिनसे वह अभावभिन्न सिद्ध होता है पर यहाँ 'पदार्थ होना' कारण दिया गया है।) इसलिये अभाव को अन्य वस्तु मानना पड़ता है, न कि भावरहित (अर्थात् घटाभाव को भूतलादिरूप मानना पड़ता है, न कि सब भाववस्तुओं से अस्पृष्ट कुछ। पूछ सकते हैं कि फिर

---

१. सूक्ष्मत्वम् असत्त्वापादकावरणविशिष्टत्वम्।

अध्यस्तस्येह सर्पस्य यथाऽभावः स्रगीरितः। आत्मा चैवमभावः स्यादध्यस्तस्य जडात्मनः।।
दुःखाभावस्ततो ज्ञेय आनन्दात्मा महेश्वरः।।३७४।।

स्वप्रकाशसुखा बोधाः सर्वे भेदविवर्जिताः। आनन्दात्मोपमास्तस्मादानन्दात्मा समीरिताः।।३७५।।

बोधाभेदाद् विषयाभेदः

बोधेषु च यदा न स्याद् भेदः केन भवेद् भिदा। बोध्येषु न हि बोधस्य भेदशून्यस्य कर्हिचित्।।
घट इत्यादिरूपस्य विषये भेद ईरितः।।३७६।।

'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः' इति वचनस्य (सूतसंहितायाम्) अवशिष्यमाणाधिष्ठानरूप एव अस्य कल्पितस्याऽभाव इत्यर्थकस्य अनुसारेण अभावस्य भावात्मकत्वं सिद्धमेवेति सदृष्टान्तमाह—अध्यस्तस्येति। यथा **स्रजि कल्पितसर्पाभावः स्रग्रूपः तथा प्रपञ्चाभावआत्मरूप इत्यर्थः। फलितमाह**—दुःखेति। **ततो दुःखस्य कल्पितत्वात् परिपूर्णात्मन एव अधिष्ठानत्वाच्च** महेश्वरः **परमात्मैव** दुःखाभावरूप **इत्यर्थः।।३७४।। एवं बोधेषु व्युत्पादितैः परमात्मलक्षणैः परत्वादिभिः परमात्मतां तेषां साधयति**—स्वप्रकाशेति। **यतो बोधाः स्वप्रकाशत्वेन सुखत्वेन भेदहीनत्वेन च** आनन्दोपमाः **परमात्मसमाः ततस्ते भ्रान्तानां भिन्नत्वेन भासमाना अपि वस्तुत आत्मा ब्रह्मेति समीरिताः, महावाक्यैरिति शेषः।।३७५।।**

ननु बोधेषु सजातीयस्वगतभेदयोरभावेऽपि विजातीयविषयभेदः स्थित एवेति चेद्? न, भ्रान्तिदशायां तथात्वेऽपि विवेकेन विषयभेदव्यापकबोधभेदबाधे विषयभेदस्थितेर्दुर्लभत्वादित्याशयेन विषयबोधभेदयोः व्याप्यव्यापकभावं दर्शयति—बोधेष्विति पंचभिः। यदा बोधेषु न भेदः तदा बोध्येषु **विषयेषु** भिदा **भेदः** केन **हेतुना सिद्ध्येत् ? अयं भावः—विषयाणामविद्यादशायामेव भासमानानां प्रातिभासिकत्वेन दृष्टिसृष्टानां बोधरूपा दृष्टिरेव सामग्री, सामग्रीभेदाभावे च कार्यभेदो न दृष्ट इति।** हि यतो घट इत्याकारकस्य भेदशून्यस्य **एकत्वेन लोकप्रसिद्धस्य** बोधस्य विषये **घटे केनापि परीक्षकेण** भेदो न उक्तः, **तथा च बोधभेदो विषयभेदव्यापक**

अभाव को 'नहीं है' शब्द से क्यों कहते हैं ? उत्तर है कि 'नहीं है'-ऐसे व्यवहार का आपादक आवरण जिस पर होता है उसे 'नहीं है'—यों कह दिया जाता है। छिपी चीज़ को 'नहीं है' कहते हैं, इससे वह चीज़ सद्भिन्न अर्थात् असत् नहीं सिद्ध होती।)।।३७३।।

वेदान्तप्रक्रियाओं में जैसे अध्यस्त साँप का अभाव अधिष्ठानभूत मालादिरूप ही कहा जाता है वैसे जडस्वरूप अध्यस्त प्रपंच का अभाव आत्मा ही है। दुःख भी व्यापक आत्मा पर कल्पित ही है अतः आनंदरूप महादेव ही दुःखाभाव समझे जाने चाहिये।।३७४।।

निष्कर्ष निकला कि ज्ञान स्वप्रकाश, सुख और भेदरहित हैं अतः आनंदात्मा के सर्वथा समान होने से महावाक्य उन्हें आनंदात्मा ही कहते हैं। (ज्ञानों में अनेकत्व भ्रमसिद्ध है अत एव उस भ्रम को मिटाने के लिये श्रुतिप्रमाण 'उन्हें' अद्वितीय ब्रह्मरूप बताता है।)।।३७५।।

सजातीय और स्वगत भेद न होने पर भी बोधों में अपने विजातीयों से अर्थात् विषयों से भेद क्यों नहीं रहेगा? इसलिये कि बोधभेद ही विषयभेद का साधक है, जब बोधभेद का निरास हो गया तो विषयभेद रहेगा ही नहीं कि बोधों में विजातीयभेद की संभावना हो ! यह विषय पुराणकार स्पष्ट करते हैं—जब ज्ञानों में भेद नहीं है तब ज्ञेयों में भेद कैसे होगा ? 'घट' आदि रूप जो बोध (अर्थात् घटज्ञान) भेदरहित अर्थात् एक समझा जाता है उसके विषयभूत घटादि में भेद है ऐसा उस ज्ञान के कारण कहीं नहीं कहा जाता। (तात्पर्य है कि घटज्ञान-पटज्ञान विभिन्न हों तो इनके विषयों का भेद कहा-समझा जाये; जब एक ही घटज्ञान होगा तो उसके विषय में भेद की चर्चा व्यर्थ है। यहाँ तक कि व्यक्तिभेद होने पर भी यदि उसका उल्लेख नहीं हो तो विषयभेद का व्यवहार नहीं होता : हमने एक घट देखा।

घटा दश तथा शुक्लो घटश्चैत्रोऽत्र गच्छति। दण्डी मनुजजातीयः सुतो मित्रस्य रूपवान्।।३७७।।

इत्यादावपि नैवास्ति भेदोऽभिन्नेऽत्र बोधने। विशेषणमविज्ञाय विशेष्यं नैति धीर्यतः।।३७८।।

विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं च तयोस्तथा। ज्ञानत्रयेण विज्ञाय पश्चादेकेन गच्छति।।३७६।।

इत्यर्थः।।३७६।। ननु विशिष्टज्ञानविषयाणां विशेषणविशेष्यसंसर्गाणामेकज्ञानविषयत्वेऽपि भेदो दृष्ट इति चेद्? न, तत्रापि 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये व्यवतिष्ठत' इति न्यायेन पूर्वं कल्पितो यो ज्ञानभेदः तदुपाधिक एव विषयभेद इति दर्शयति—घटा इति त्रिभिः। दश घटा इत्यपेक्षाबुद्धिजन्यदशसङ्ख्याप्रकारकं विशिष्टज्ञानं; शुक्लो घट इति स्थिरत्वाभिमतगुणप्रकारकम्; चैत्र इत्यादिना तु एकत्र द्रव्य आर्थक्रमेण जातिगुणक्रियासंज्ञासम्बन्धात्मकपञ्चविशेषणात्मकं ज्ञानमुक्तम्। तथा हि मनुजत्वं जातिः, गतिः क्रिया, चैत्रेति संज्ञा, मैत्रस्य जन्यत्वलक्षणः सम्बन्धश्च। एते छत्री कुण्डली देवदत्त इत्यत्रेव प्रकारतयाऽत्र भान्तीति।।३७७।। इत्यादाविति। इत्यादौ वर्णितविशिष्टज्ञानप्रभृतिस्थलेषु अपि बोधनेऽभिन्ने सति विषयभेदो न बोध्यः, किन्तु बोधभेदत एव विषयभेदः। कथमत्र बोधभेद इति चेद् ? भवदङ्गीकृतन्यायादेवेत्याह—विशेषणमिति। यतो धीर्विशेषणम् अज्ञात्वा विशेष्यं नैति नावगाहते। तथा च पूर्वकालिकज्ञानभेदाधीन एव तत्रापि विषयभेद इति भावः।।३७८।। अस्मत्प्रक्रियायां तु परस्परसापेक्षविशेषणादित्रितयाकारवृत्तित्रयोपाधिकश्चैतन्यभेदव्यवहारः, फलचैतन्याभेदात्तु एकबोधत्वव्यवहारः इति सूचयन्नाह—विशेषणमिति। ज्ञानत्रयेण वृत्तित्रयेण विज्ञाय विषयीकृत्य एकेन फलेन तत् त्रयं विषयीकरोति तदा ज्ञानभेदाभेदव्यवहारयोरुभयोरुपपत्तिरितिभावः।।३७६।।

हम कहीं गये और पीछे से घड़ा बदल गया, वहाँ दूसरा घड़ा रख दिया गया। लौटकर हम फिर देखते हैं 'घड़ा है'। यहाँ दोनों 'घड़ा है' ज्ञानों में फर्क नहीं तो इनके कारण घड़ों में भी फर्क नहीं माना जाता। घड़ों में तभी फर्क माना जायेगा जब ज्ञान में कोई फर्क हो जैसे पहले 'लाल घड़ा है' ज्ञान हुआ हो और बाद में 'काला घड़ा है' इत्यादि। इसलिये ज्ञानभेद को विषयभेद का व्यापक मानना पड़ता है। जब व्यापक ज्ञानभेद ही असिद्ध हो गया तब विषयभेद की असिद्धि का क्या कहना)।।३७६।।

ज्ञान में भेद न होने पर भी विषयभेद होता है : विशिष्ट ज्ञान तो एक होता है पर उसके विषय होते हैं तीन—विशेषण, विशेष्य और उनका सम्बन्ध। अतः ज्ञानाभेद से विषयभेद का बाध कैसे ? इसका उत्तर है कि विशेषणादि का भेद विशिष्टज्ञान से सिद्ध नहीं वरन् इससे पूर्व जो विशेषणादि के अलग-अलग ज्ञान हैं उन्हीं से सिद्ध है। इस बात को पुराण में कहते हैं—'दस घड़े हैं', 'घड़ा सफेद है', 'यहाँ जो सुन्दर दण्डधारी मनुष्य जा रहा है वह मित्रका पुत्र चैत्र है' इत्यादि विशिष्ट ज्ञानों के स्थलों में भी जो विशेषणादि विषयों में भेद है वह विशिष्टात्मक अभिन्न ज्ञान के आधार पर नहीं है। सामान्य नियम है कि विशेषण जाने बिना 'विशेष्य' यह ज्ञान नहीं होता इसलिये यह मान्य है कि विशेषण, विशेष्य और उनका संबंध तीन ज्ञानों से जानकर बाद में एक विशिष्ट ज्ञान विशिष्ट विषय को सिद्ध करता है। विशेषणादि का भेद विशिष्ट ज्ञान से नहीं, उन तीन ज्ञानों से पता चलता है। जिस प्रक्रिया में विशेषणादि ज्ञानों से अलग विशिष्ट ज्ञान नहीं माना जाता उसमें विशेषणादिविषयक वृत्तिभेद से विषयभेद सिद्ध होता है और 'विशिष्टविषयक एक ज्ञान है' यह व्यवहार इससे उपपन्न होता है कि तीनों वृत्तियाँ एक ही 'फल' से— चेतन से—विषय की जाती हैं और उनके द्वारा तीनों विषय भी उससे विषय हो जाते हैं। सर्वथापि ज्ञानभेद ही विषयभेद का उपपादक है।।३७७-७६।। इस प्रकार बोध में भेद की अपेक्षा से ही बोध्य में, विषय में, भेद सिद्ध होता है। बोध में भेद स्वतः है नहीं, वृत्तियों की अपेक्षा से समझा जाता है। अतः जब बोध में ही सत्य भेद नहीं तो विषय में वह कैसे होगा ?।।३८०।।

अतो बोधगतं भेदमपेक्ष्यैव प्रसिद्ध्यति। बोध्यभेदो न बोधे स कथं बोध्ये भवेदयम्।।३८०।।

अस्वप्रकाशरूपास्ते भेदबोधास्ततो ह्यमी। प्रकाश्या घटवत् स्वात्मबोधेनैकात्मरूपिणा।।
स्वप्रकाशेन सर्वेषां बोधानां साक्षिणा सदा।।३८१।।

इत्यभिप्रायवान् याज्ञवल्क्यः स्वप्ने परात्मनः। आत्मज्योतिष्ट्वमाहैतत् सर्वज्योतिः प्रकाशनात्।।३८२।

रविसोमाग्निवागाख्ये ज्योतिष्युपरमं गते। आत्मैव ज्योतिरेकं तदास्तेऽनुपरतं सदा।।३८३।।

कतम आत्मा ?

श्रुत्वैवं जनको राजा पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्। आत्माऽत्र कतमो ब्रह्मन्नेषु देहेन्द्रियादिषु।।३८४।।

अत इति। अत उक्तनियमाद् वृत्त्युपाधिकबोधभेदापेक्ष एव बोधानां [बोध्यानां] विषयाणां भेदः सिद्ध्यति, न स्वतः। वस्तुतस्तु स बोधगतो भेदो न अस्ति, इतरसापेक्षत्वेन मिथ्यात्वात्। विद्यया बोधभेदबाधे तु अयं भेदो बोध्यगतः कथं भवेत् तिष्ठेत् ? स्वाप्निकराजत्वबाधे तन्निरूपितराज्यबाधस्य प्रसिद्धत्वादिति भावः।।३८०।।

एवं स्वप्रकाशत्वपक्षेऽभीष्टात्मसिद्धिर्दर्शिता। अथ परप्रकाशत्वपक्षेऽपि वर्णितात्मसिद्धिः, तदस्वीकारे जगदान्ध्यप्रसङ्गादित्याह—अस्वप्रकाशेति। यदि ते विषयकरणभिन्ना भेदशालिनो बोधा अस्वप्रकाशा इति स्वीक्रियन्ते तथापि घटवत्प्रकाश्यानां तेषां प्रकाशकेन केनचिद्भवितव्यम्, तत्र च भेदग्राहकाणामप्रसरात् स्वप्रकाशानन्दत्वलक्षणं ब्रह्मत्वं सिद्धमेवेत्याशयः।।३८१।। आशयप्रदर्शनमुपसंहरति—इत्यभिप्रायेति। उक्ताशयेन याज्ञवल्क्यः स्वप्ने परमात्मनो धर्ममात्मज्योतिष्ट्वरूपमाह स्म। एतद् उत्तरश्लोकोक्तप्रकारकं यथा भवति तथा आत्मैव ज्योतिः, आत्मज्योतिषो भावः आत्मज्योतिष्ट्वं, कुतः ? सर्वेषां ज्योतिषामपि तेन प्रकाशनात्।।३८२।। 'एतत्'पदोक्तमात्मज्योतिष्ट्वाभिधानप्रकारमभिनयति—रवीति। स्पष्टम्।।३८३।।

अथ 'कतम' इत्यादेः[1] 'पुरुष' इत्यन्तस्य वाक्यस्यार्थं प्रपञ्चयति—श्रुत्वैवम् इत्यादि त्रिंशता श्लोकैः। एवम् उक्ताभिप्रायेण वर्णितमात्मतत्त्वं श्रुत्वा अपि राजा एवं पप्रच्छ। 'एवं' कथम् ? हे ब्रह्मन् ! अत्र सङ्घाते वर्तमानेषु देहेन्द्रियादिषु कतम आत्मा इत्येवमाकारेण। राज्ञः प्रश्नकरणे बीजं तु उक्ताभिप्रायाऽपरिज्ञानम्, 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इति वाक्यस्य यो विपरीतोऽर्थः अस्य संघातस्य आत्मा स्वरूपमेव ज्योतिरित्याकारकः तस्य ग्रहणं चेति बोध्यम्।।३८४।।

इस प्रकार श्लोक ३५८ से प्रारंभ कर बोधों को स्वप्रकाश मानने पर सच्चिदानंद आत्मा की सिद्धि समझायी। अब कहते हैं कि उन्हें पर-प्रकाश्य मानने पर भी आत्मा तो ऐसा ही सिद्ध होगा ! यदि भेदज्ञानों को स्वप्रकाश न मानो तो घटादि की तरह उन्हें प्रकाश्य ही मानना पड़ेगा और उनके प्रकाशक को स्वप्रकाश और भेदरहित मानना होगा अन्यथा पूर्ववत् अनवस्था होगी। एवं च सभी बोधों का जो एक, आत्मरूप, स्वप्रकाश साक्षी है, जिसका निज स्वरूप ज्ञान है, वह निश्चित हो जाता है। उसी के द्वारा भेदज्ञानों का प्रकाश संभव है।।३८१।।

इसी अभिप्रायसे याज्ञवल्क्य ने कहा कि सपने में परात्मा आत्माज्योति है। वहाँ स्पष्ट ही आत्मा सभी ज्योतियों को प्रकाशित करता है। सूर्य, चंद्र, अग्नि और शब्द कहलाने वाली ज्योतियाँ जब कार्यकारी नहीं रह जाती तब अकेला आत्मा ही ज्योति रहता है जो कभी अप्रकाशमान नहीं हो सकता।।३८२-८३।।

श्रुति में इसके आगे प्रश्न उठाया 'आत्मा कौन सा है ?' और उत्तर दिया 'जो यह विज्ञानमय प्राणों में है, हृदय के अंदर ज्योतीरूप पुरुष है वह आत्मा है।' इसका व्याख्यान तीस श्लोकों द्वारा करेंगे।

१. 'कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।' ४.३.७.

उत्तरम्

एवं पृष्टो याज्ञवल्क्य आहैवं नृपतिं प्रति। प्रसिद्धः सर्वजन्तूनामात्मनः शब्दबोधयोः।।३८५।।

विषयः, शब्दबोधाभ्यां रहितश्चेतनः पुमान्। देहेन्द्रियादिकं नैव भवेदात्मा यथा घटः।।३८६।।

प्रश्नविज्ञान एतस्मिन् य आस्ते साक्षिवन्नृप। अयमात्मा सदा साक्षिस्वरूपः सर्वदेहिनाम्।।३८७।।

विज्ञानमयः

नानान्तःकरणेष्वेष स्थितोऽभेदेन चेतनः। वह्निर्यथाऽत्र लोहेषु भेदशून्यो व्यवस्थितः।।३८८।।

यथा लोहमयो वह्निर्लोहस्थो व्यपदिश्यते। विज्ञानमय एवं स स्थितोन्तःकरणेष्वपि।।३८९।।

विज्ञानानि सदा बोधरहितानि स्वरूपतः। आत्मसंनिधिमात्रेण बोधवन्ति भवन्ति हि।।३९०।।

लोहपिण्डा यथा दाहप्रकाशाभ्यां विवर्जिताः। वह्नितादात्म्यमापन्नाः प्रकाशन्ते दहन्ति च।।३९१।।

एवं पृष्ट इति। याज्ञवल्क्यः तु आत्मपदेन संघातस्याधिष्ठानभूततत्त्वं विवक्षितमिति दर्शयन् इतरव्यावृत्तिमुखेन आत्मानम् एवम् आह प्रतिपादयति स्म। 'एवं' कथम् ? आत्मपदार्थः सर्वजन्तूनां प्रसिद्धः एव। कीदृशः ? आत्मसंबन्धिनोः शब्दबोधयोः आत्मेत्याकारकशब्दस्य तदाकारवृत्तेश्च विषयः, शब्दबोधाभ्यां भिन्नश्च। न केवलमात्मशब्देनैव प्रसिद्धः, किन्तु चेतन-पुरुष-शब्दाभ्यां तथा प्रसिद्धः। देहादिकं तु नात्मा यतः साक्ष्यम्। इति द्वयोरर्थः।।३८५-८६।। एवं श्रुतिगतयत्पदार्थमुक्त्वा अयमितिपदार्थमाह—प्रश्नेति। मा दूरं गच्छ, एतस्मिन् प्रश्नानुरूपविज्ञान एव तत्परिचयं कुरु। कथमिति चेत् ? शृणु—यः साक्षिवत् साक्ष्यवर्गात् पृथग्भूतो भासते, अयम् एव आत्मा। अस्य भेदे मानाभावाच्च एकोऽयं सर्वसाक्षिभूत इति।।३८७।।

आत्मनः स्थूलदेहाद् व्यतिरेकस्फोरकस्य विज्ञानमयपदस्यार्थमाह—नानेति सप्तभिः। एष आत्मा नानाविधान्तःकरणेषु विज्ञानपदवाच्येषु अभेदेन आध्यासिकेन तादात्म्यसम्बन्धेन स्थितो यथा अयसि वह्निः भेदशून्यो दुर्लक्ष्यभेद इत्यर्थः।।३८८।। यथेति। स्पष्टम्।।३८९।। तस्यात्मनोऽन्तःकरणे तद्वृत्तिषु च तादात्म्यहेतुतया सवृत्तिकान्तःकरणस्य स्वतो जाड्यं चिदात्मसम्बन्धेन बोधशालित्वं चाह—विज्ञानानीति। स्पष्टम्।।३९०।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—लोहेति त्रिभिः। स्पष्टम्।।३९१।। तथेति। तथा लोहवद् अन्तःकरण उपादानभूते स्थानं

पूर्वोक्त ज्ञानप्रकाश का वर्णन सुनकर राजा जनक ने मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य से पूछा 'हे ब्राह्मणदेवता ! इन शरीर-इंद्रिय आदि में आत्मा कौन-सा है ?' (पूछने से स्पष्ट है कि राजा पूर्वोक्त उत्तर सही नहीं समझा था वरन् उसने संघात के स्वरूप को ही ज्ञानरूप समझ लिया था अतः संघात में ही आत्मा का अवधारण कराने के लिये 'इनमें से कौन आत्मा है ?' यों प्रश्न किया।)।।३८४।।

इस तरह जिज्ञासा व्यक्त की जाने पर याज्ञवल्क्य ने राजा को ऐसे समझाया—राजन् ! आत्मा सब जन्तुओं को प्रसिद्ध ही है। 'आत्मा' इस शब्द और 'आत्मा' इस ज्ञान का विषय आत्मा है यह सब जानते हैं। वह केवल शब्द ही हो या 'आत्मा' इस आकार की वृत्ति ही हो ऐसी बात भी नहीं, इनसे भिन्न है। चेतन, पुरुष आदि शब्दों से भी उसे ही कहा-समझा जाता है। शरीर-इंद्रिय आदि तो घटादि की तरह साक्ष्य होने से आत्मा नहीं हैं। हे राजन् ! अभी जो तुमने प्रश्न किया कि 'आत्मा कौन-सा है ?' उस प्रश्न के अनुरूप तुम्हें ज्ञान भी हुआ होगा। इस ज्ञानमें जो साक्षी की तरह विद्यमान है वही आत्मा है। सब देहधारियों का वह हमेशा साक्षी है। ('साक्षी की तरह' इसलिये की वह साक्ष्य कोटि के पदार्थों से भिन्न है इतना ही विवक्षित है, उसे साक्षी तो 'साक्षिस्वरूपः' से कहा है। वस्तुतस्तु आत्मा साक्षी भी है नहीं, साक्षी का भी प्रत्यग्भूत रूप है क्योंकि साक्षिता अज्ञानप्रयुक्त ही होती है, साक्ष्यसापेक्ष होती है।)।।३८५-८७।।

तथाऽन्तःकरणस्थाना वृत्तयो विविधा इमाः। मानाऽमानादिभेदिन्यो भेदशून्याः सकारणाः।।३६२।।

आत्मतादात्म्यमापन्नाः प्रकाशन्तेऽत्र सर्वतः। प्रकाशयन्ति चैवैतद् विश्वं सदसदात्मकम्।।३६३।।

विज्ञानमय एवातः पुरुषश्चेतनः स्मृतः। यथा लोहमयो वह्निर्दाहभानकरो ज्वलः।।३६४।।

प्राणेष्वित्यस्यार्थः

प्राणानां वायुभेदानामिन्द्रियाणां च सर्वदा। व्यापारेषु भवेद्धेतुस्तेषु तादात्म्यमागतः।। तेन प्राणेष्वयं देवः कथ्यते वेदवादिभिः।।३६५।।

यथा नभो घटेष्वेतद् वर्तते तद् बहिः स्थितम्। चालयन्नखिलान् वृक्षान् यद्वदेष प्रभञ्जनः।। उच्यते तत्र तद्वत् स्यात् प्राणेष्वात्मा परः पुमान्।।३६६।।

स्थितिर्यासां तास्तथाभूता वृत्तयः सकारणाः सोपादाना आत्मतादात्म्यमापन्ना **एव प्रकाशन्ते विषयजातं** प्रकाशयन्ति च। कीदृश्यो वृत्तयः ? **स्मृत्यनुभवविकल्परूपैः** मानाऽमानादिभेदिन्यः। पुनः कीदृश्यः ? भेदशून्याः दुर्लक्ष्यचिद्भेदकाः। **इति द्वयोरर्थः।।३६२-६३।। एवं वृत्तिषु चित्तादात्म्यफलं दर्शितम्। अथात्मन्यपि तत्फलं चेतनत्वव्यवहारलक्षणमाह—** विज्ञानमय एवेति। अतः **आत्मतादात्म्येन सवृत्तिकान्तःकरणस्य बोधधर्मकत्वादेव** विज्ञानमयः **सन्नयं** पुरुषः चेतनो **बोधाश्रय इति स्मृतः। अन्यथा चिद्रूप इत्येव व्यवह्रियेत।** यथा लोहमयः सन् वह्निः **दाहादिकर्ता** ज्वलः **ज्वलनक्रियाकर्ता च व्यवह्रियते, केवलो हि प्रकाशक इत्येवाख्यायत इत्यर्थः।।३६४।।**

अथ प्राणात्मत्वभ्रमवारणपरस्य 'प्राणेषु' इति पदस्य तात्पर्यमाह—प्राणानामिति द्वाभ्याम्। **वायुभेदरूपाणां मुख्यप्राणानाम्** इन्द्रियाणां च **प्राणतादात्म्येन प्राणपदलक्ष्याणां** व्यापारेषु हेतुः **संनिधिमात्रेण प्रयोजको यतो भवति ततः 'प्राणेषु' इत्येवं वैदिकैरात्मा प्रतिपाद्यत इत्यर्थः।।३६५।। विभुमात्मानं प्रत्यपि प्राणानामधिकरणतया निर्देशोऽवच्छेदकत्वेन अभिव्यक्तिस्थानत्वेन वा बोध्यत इति सदृष्टान्तमाह—यथेति।** यथा **विभ्वपि नभः अवच्छेदकेषु घटेषु स्थितम् इत्युच्यते, यथा च व्यापकोऽपि वायुर्वृक्षचालनेनाभिव्यक्तो 'वृक्षेषु' इति वृक्षाधिकरणकतयोच्यते तथा** आत्मा प्राणेषु **इति उच्यत इति।।३६६।।**

'विज्ञानमय' शब्द की व्याख्या करते हैं—यह आत्मा विज्ञान कहलाने वाले नाना प्रकार के अन्तःकरणों में उनसे तादात्म्याध्यास किये हुए रहता है, जैसे लोकमें अग्नि लोहपिण्डों में उनसे अभिन्न हुई रह जाती है। लोहे में स्थित आग जैसे लोहमय कहलाती है, ऐसे ही अंतःकरणों में विद्यमान आत्मा विज्ञानमय कहलाता है। अंतःकरणों का निजी रूप ज्ञानरहित है। आत्मा की तादात्म्यरूप संनिकटता से ही वे ज्ञान वाले होते हैं। लोहपिण्डों में गर्मी और प्रकाश नहीं होते लेकिन जब वे वह्नि का तादात्म्य पा लेते हैं तब गर्म होते हैं, चमकने लगते हैं। इसी प्रकार अंतःकरण में होने वाली प्रमा-अप्रमा आदि भेद वाली ये नाना तरह की वृत्तियाँ और इनका उपादान कारण अंतःकरण क्योंकि आत्मा का तादात्म्य पा लेते हैं इसलिये स्वयं भी प्रकाशमान होते हैं और सभी ओर विषयों को प्रकाशित करते हैं। वृत्तियों को चेतन से पृथक् कर समझ पाना बहुत मुश्किल होता है जैसे तपी दशा में लोहकणों को आगसे पृथक् समझना कठिन होता है। ये वृत्तियाँ ही सद्रूप-असद्रूप इस विश्व को प्रकाशित करती हैं। इसीलिये विज्ञानमय हुआ पुरुष चेतन अर्थात् ज्ञाता समझा जाता है, अन्यथा उसे सिर्फ ज्ञान ही समझना उचित होता। वह्नि तो गर्मीरूप और प्रकाशरूप है, वह लोहमय—लोहपिण्ड से तादात्म्यापन्न—होने पर ही जलाने वाली, प्रकाश करने वाली समझी जाती है। ऐसे ही आत्मा चिन्मात्र है, अन्तःकरण से एकमेक होने पर ही वह ज्ञानवान् समझा जाता है।।३८८-६४।।

आत्मा को श्रुति ने 'प्राणों में' कहा, उसका अभिप्राय है कि देह की तरह प्राण भी आत्मा न समझ लिये जायें। यह समझाते हैं—'प्राण'-शब्द शरीरस्थित विभिन्न कार्य करने वाली वायुओं को भी कहता है और इंद्रियों को भी। उन

हृदीत्यस्यार्थः

आत्मा सर्वगतो ह्येष विशेषाद्धृदि तिष्ठति। यतः समग्रजन्तूनां[1] विज्ञानं हृदि लभ्यते।।३६७।।

आपादमस्तके देहे यद्यप्येषोऽवगच्छति। सुखदुःखे तथाप्येते हार्दाद् विज्ञानतः सदा।।३६८।।

यथा सर्वगतं तेजो भानोरेकं तथापि हि। घटे मणौ सूर्यकान्ते वैषम्येणैव वर्तते।।३६९।।

यथा घटे प्रकाशोऽयं विद्यमानो न लभ्यते। देहाद् बहिस्तथैवात्मा विद्यमानो न लभ्यते।।४००।।

यथा मणौ प्रकाशोऽयं लभ्यते दाहवर्जितः। सुखदुःखे तथा देहे लभ्येते ज्ञानवर्जिते।।४०१।।

प्रकाशश्च यथा दाहो लभ्यते सूर्यकान्तके। सुखदुःखे सविज्ञाने लभ्येते हृदि ते तथा।।४०२।।

अन्तःकरणाद् व्यतिरेकबोधकस्य 'हृदि' इति पदस्य तात्पर्यं दर्शयति— आत्मेति एकादशभिः। सर्वगतस्याप्यात्मनो हृद्देशगतायां बुद्धौ यतो विशेषतोऽभिव्यक्तिः तेन हृदि इति देवः कथ्यते—इत्येकादशेन सम्बन्धः। तत्र हेतुः बुद्धेर्विशेषतो हृद्देशेऽवस्थानमिति।।३६७।। बुद्धेः चित्प्रतिबिम्बग्राहिण्या हृद्देशे विशेषतोऽवस्थाने लोकानुभवं प्रमाणयति—आपादेति। यद्यप्येष जनः सर्वशरीरवर्तिनी सुखदुःखे अवगच्छति तथापि हार्दाद् विशेषतो हृन्निष्ठतया भासमानाज्ज्ञानादेव अवगच्छति। तथा च धर्मतप्तस्य गङ्गाहृदप्रवेशे सर्वाङ्गीणसुखानुभवकालेऽपि ज्ञानस्य हृद्देशे विशेषतः स्थितिः सर्वानुभवसिद्धेति भावः।।३६८।।

उक्तमर्थं दृष्टान्तबलेन विशदयति—यथेति। एकं समानम्।।३६९।। त्रिषु वैषम्यं दर्शयन् दार्ष्टान्तिके योजयति—यथा घटइति त्रिभिः। यथाऽयं सूर्यप्रकाशो घटे विद्यमानः अपि अभिव्यक्तः सन् न लभ्यते, तथा देहाद् बहिरात्मा इत्यर्थः।।४००।। यथा मणाविति। यथा च सूर्यप्रकाशो मणौ स्फटिकादौ प्रतिबिम्बितत्व-लक्षणाभिव्यक्तिशालितयोपलभ्यमानो दाहलक्षणकार्यविशिष्टो न लभ्यते तथा देहे हृदयातिरिक्तदेहप्रदेशेषु सुखदुःखे ज्ञानवर्जिते लभ्येते; सुखदुःखयोरुपसर्जनीभूतज्ञानस्य अङ्गान्तरेषूपलम्भेऽपि अनुसन्धानलक्षणस्य ज्ञानकार्यस्य हृद्देशाद् नान्यत्र उपलम्भ इति यावत्।।४०१।। सूर्यकान्ते तु यथा सकार्यस्य सूर्यप्रकाशस्य उपलब्धिस्तथा हृद्देशे विज्ञानस्येत्याह—प्रकाशश्चेति। पूर्ववदाशयः।।४०२।।

सभी से तादात्म्य कर आत्मा उनके व्यापारों में (वृत्तियों में) प्रयोजक बनता है। अतः उस महादेव को वेदवादी 'प्राणों में' कह देते हैं। जैसे आकाश बाहर-भीतर सर्वत्र है फिर भी उसके अवच्छेदक बनकर उसकी अभिव्यक्ति करने वाले घट आदि में आकाश है ऐसा व्यवहार हो जाता है; या वायु व्यापक है लेकिन वृक्ष हिलाने से व्यक्त होती है तो 'वृक्षों में वायु है' ऐसा व्यवहार हो जाता है, वैसे ही परम पुरुष है विभु फिर भी कह दिया जाता है कि वह प्राणों में है।।३९५-९६।।

आत्मा को श्रुति ने हृदय के अंदर बताया, उसका अभिप्राय व्यक्त करते हैं—यह आत्मा सर्वव्यापक है फिर भी हृदय में खासकर रहता है क्योंकि सभी प्राणियों का अन्तःकरण उनके हृदय में विशेषतः प्रकट होता है। यद्यपि लोग अपने सारे ही शरीर के सुख-दुःख का अनुभव करते हैं तथापि सबको लगता है कि विशेषकर हृदय में प्रकाशमान ज्ञान से सुखादि का अनुभव हो रहा है।।३९७-९८।। सूर्य का सर्वत्र स्थित तेज समान है फिर भी घड़े, मणि और सूर्यकांत में वह किसी विषमता से विद्यमान है; ऐसे ही आत्मा व्यापक है फिर भी कुछ विषमता है : जैसे यह सूर्यप्रकाश घड़े में है सही लेकिन चमचमाता हुआ नहीं दीखता, वैसे ही आत्मा शरीर से बाहर भी है सही लेकिन अनुभव करता हुआ नहीं समझ आता।।३९९-४००।। मणि में यही सूर्य प्रकाश चमकता हुआ तो मिलता है पर जलाने की सामर्थ्य

१. एतद्वाचनिकम्। मनुजानां कथंचिदैकमत्येऽपि जन्त्वन्तरसम्मतिर्दुर्लभा।

अपि सर्वेन्द्रियाणां स्यात् प्रतिष्ठा हृदयाम्बुजम् । तथाऽन्तःकरणस्याऽपि विश्वचित्रविधारिणः४०३

अपि सुप्तिमयं याति विचित्रे हृदयाम्बुजे । सर्वविक्षेपशून्यः सन्नानन्दात्मा महेश्वरः ।।४०४ ।।

अपि विज्ञायते सद्भिर्गुरुशास्त्रोपदेशतः । अष्टाङ्गयोगनिरतैः ब्रह्मचर्यादिसाधनैः[1] ।।४०५ ।।

अपि मार्गप्रकाशोऽस्माद्धृदयाग्रस्य दीपनात् । मुमूर्षोः सर्वदा भूयात् स्थानत्रययियासतः ।।४०६ ।।

अथवा हृत्पदेन हृदयकमलमेव ग्राह्यं, तस्य चात्मानं प्रति अधिकरणता अन्तःकरणद्वारा—इति सूचयन् हृदयस्य सर्वकरणाधारतां शाकल्यब्राह्मणादावुक्तां निरूपयति—अपीति । इन्द्रियाणां तथाऽन्तःकरणस्य विश्वात्मकचित्र-धारकस्य हृदयाम्बुजं प्रतिष्ठा आधार इति ।।४०३ ।। अथवा सर्वभेदकोपाधिलयेन आत्मनः स्वरूपावस्थानलक्षणायाः सुप्तेः स्थानतया हृदयस्यात्माधारता 'हृदि' इत्युक्तेत्याह—अपि सुप्तिमिति । विचित्रे पंचच्छिद्रत्वादिरचनाविशेष-शालिनि ।।४०४ ।। अथवा आत्मोपलब्धिस्थानतया हृदयस्य आत्माधारतोक्तिरित्याह—अपि विज्ञायत इति । यतः सद्भिः अधिकारिभिः हृदयाम्बुज आत्मा विज्ञायते साक्षात्क्रियते ततो वा हृदीत्युक्तमिति सम्बन्धः ।।४०५ ।। अथवा मरणकाले भाविशरीराकारं विशिष्टं ज्ञानं नाडीमार्गप्रकाशकं हृद्देशे जायतेऽतो 'हृदि' इत्युक्तमित्याह—अपि मार्गेति । अपि च स्थानत्रयं ब्रह्मलोकपितृलोकौ कीटपतङ्गभावश्चेति च्छन्दोगश्रुत्युक्तं यियासतो गन्तुमिच्छतो मुमूर्षोः तत्तन्नाडीमयमार्गप्रकाशोऽस्मादुत्क्रान्तिप्रतिपादकश्रुतिप्रसिद्धाद्[2] हृदयाग्रस्य दीपनात् सविज्ञानभावलक्षणप्रज्वलनादेव भूयाद् भवति, अतो वा विशेषाद् 'हृदि' इत्युक्तमिति ।।४०६ ।। फलितमाह—हृदीति । यथा सर्वगोऽपि सवितृप्रकाशः

वाला नहीं मिलता, ऐसे ही हृदय से अन्यत्र शरीर में सुख-दुःख तो उपलब्ध होते हैं पर ज्ञान का खास फल जो अनुसंधान, विचार है, वह उपलब्ध नहीं होता। सूर्यकान्त में दाह और प्रकाश दोनों व्यक्त हो जाते हैं, इसी तरह हृदय में विचार सहित सुख-दुःख उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार व्यापक आत्मा को 'हृदय में' कहना सार्थक है।।४०१-२।।

'हृदि' का एक ढंग से अर्थ किया। अब प्रकारान्तर से उसे समझाते हैं—हृदयकमल सभी इन्द्रियों का आधार है और संसाररूप चित्र धारण करने वाले अंतःकरण का भी वही आधार है। (यह बात शाकल्य ब्राह्मण में समझा चुके हैं। इंद्रियाँ और मन आत्मा को व्यक्त करने की स्फुट उपाधियाँ हैं क्योंकि विचार, ज्ञान और क्रिया से स्पष्ट ही आत्मा का पता चलता है। इनका आधार होने से हृदय को आत्मा का आधार कहना संगत है।)।।४०३।।

हृदय इसलिये भी आत्मा का आधार कहलाता है कि सब परिच्छेदक उपाधियाँ लीन हो जाने पर आत्मा स्वरूपतः वहाँ रहता है ऐसा शास्त्र में प्रसिद्ध है। इसके अनुसार 'हृदि'-कथन उपपन्न करते हैं—यह आनंदरूप महेश्वर सभी विक्षेपों से रहित होकर विचित्र हृदयपंकज में शयन प्राप्त करता है (अतः 'हृदय में आत्मा है' कहना उचित है। हृदय को विचित्र कहा क्योंकि उसकी रचना पाँच छिद्र आदि द्वारा विलक्षण है।)।।४०४।।

और भी कारण है कि आत्मा हृदय में कहा गया है—सद्गुणसंपन्न अधिकारी गुरुओं के और शास्त्र के उपदेशानुसार ब्रह्मचर्यादिसाधनों से युक्त हो योग के आठों अंगों का अभ्यास कर आत्मा का साक्षात्कार हृदय में करते हैं (इसलिये श्रुति ने आत्मा को 'हृदि' बताया है। आत्मा की दहरादि प्रधान उपासनायें हृदय में की जाती हैं जिनसे वहीं आत्मदर्शन होता है। अहम् का मुख्यानुभव हृदय में है, अतः अहंग्रहोपासना भी हृदय में होती है और जब 'अहम्' को ब्रह्म समझते हैं तब भी हृदय में ही समझा जाता है।)।।४०५।।

किं च मरते समय भावी शरीर का जो ज्ञान नाडीमार्ग को प्रकाशित करता है वह उत्पन्न हृदयमें ही होता है, इसलिये भी आत्मा हृदय में कहा है यह पुराणकार समझाते हैं—ब्रह्मलोक, पितृलोक और कीट-पतंगादि योनियाँ ये तीन

---

१. आदिना 'यमेवैष वृणुत' इत्यादिप्रसिद्धवरणं ग्राह्यम्। अष्टाङ्गान्तर्गतमपि ब्रह्मचर्यं पृथगुपात्तं तस्य महत्तातिशयात् सत्यवदनस्य धर्माचरणात्पृथगुक्तेरिव। २. 'हृदयस्याग्रं प्रद्योतते। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति, चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।' बृ.४.४.२।

हृदि तेन सदा देवः सर्वगोऽपि च कथ्यते। मण्डले सवितुर्यद्वत् प्रकाशः सर्वगोऽपि च।।४०७।।

अन्तर्ज्योतिः

अन्तर्ज्योतिरयं देवः आनन्दात्मा परः पुमान्। ज्योतिः प्रकाशकं दृष्टं घटादेरिह वस्तुनः।।
आदित्यादिकमन्यत् स्यादज्योतिर्यदतैजसम्।।४०८।।

आत्मा प्रकाशकस्तद्वत् ज्योतिषोऽज्योतिषोऽपि च। विलक्षणोऽतः सर्वस्माच्छ्रुत्या ज्योतिरितीरितः[1]।४०९

ज्योतिः प्रकाशकं यद्वत् स्वस्मादन्यस्य वस्तुनः। देहाद् बहिर्न हीत्थं तदन्तर्ज्योतिस्ततः स्मृतः।४१०

आत्मानं च परं चात्मज्योतिः सर्वं प्रकाशयेत्। अन्तर्ज्योतिस्ततस्तस्मात् स्वप्रकाशं न चेतरत्।४११

सवितृमण्डलाधिकरणकतया व्यपदिश्यते तत्र विशेषोपलब्धेः, तथाऽऽत्मा सर्वगोऽपि हृदि इत्युक्त इत्यर्थः।।४०७।।

अत्रात्मनि जडत्वव्युदासेन चिद्रूपताविधायकस्य 'अन्तर्ज्योतिः' इति पदस्यार्थमाह—अन्तर्ज्योतिः इति चतुर्भिः। तत्र ज्योतिःपदार्थमाह—ज्योतिरिति। घटादेर्वस्तुनः प्रकाशकमादित्यादिकं ज्योतिः इति दृष्टं प्रसिद्धम् तत आदित्यादेः अन्यद् यद् घटादि अतैजसम् अतेजोमयं तद् अज्योतिः इति प्रसिद्धम् इत्यर्थः।।४०८।। आत्मेति। आदित्यो यथा घटादिभ्यो विलक्षणः सन् घटादीन् प्रकाशयति तद्वद् आत्मा ज्योतिषः आदित्यादेः अज्योतिषः घटादेश्च प्रकाशकः चित्त्वेन तस्माज्जडवर्गाद् विलक्षणः च अतो ज्योतिरिति श्रुत्योक्त इत्यर्थः।।४०९।। 'अन्तः' पदतात्पर्यमाह—ज्योतिरिति। देहाद्बहिः बाह्यमादित्यरूपं ज्योतिः स्वस्मादन्यस्य भिन्नसत्ताकस्य वस्तुनः प्रकाशकं प्रसिद्धम्, आत्मज्योतिः तु इत्थं न भवति किन्तु स्वाभिन्नसत्ताकस्य प्रकाशकं, सर्वविवर्तोपादानत्वेन सर्वान्तरत्वाद्, इत्याशयेन अन्तर्ज्योतिः इत्यात्मोक्त इत्यर्थः।।४१०।। अथवा स्वभासनायेतरानपेक्षत्वम् अन्तर्ज्योतिःपदेनोच्यते। आदित्यादयो हि स्वभासनाय चित्प्रकाशापेक्षा इत्याह—आत्मानमिति।[2] यतः सर्वभासन इतरानपेक्ष आत्मा ततोऽन्तर्ज्योतिः इत्युक्तो यतः तस्माद् आत्मनः इतरत् स्वप्रकाशं न भवतीत्यन्वयः।।४११।।

स्थान प्रसिद्ध हैं। मरकर व्यक्ति इन्हीं में से किसी स्थान पर जाता है। मरणासन्न व्यक्ति के हृदय के अग्रभाग में ही वह प्रकाश होता है जो उचित नाडीमार्ग दिखलाता है। (इसलिये मरते समय हृदय में सिमटकर तभी बाहर जाता है जिससे आत्मा 'हृदय में' कह दिया गया है।)।।४०६।।

जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र है फिर भी 'मंडल में प्रकाश है' विशेष-उपलब्धि के अभिप्राय से कहा जाता है, वैसे ही सर्वव्यापक आत्मदेव भी पूर्वोक्त पाँचों हेतुओं से हृदय में कहा गया है।।४०७।।

आगे श्रुति ने आत्मा को 'अन्तर्ज्योति' कहा है, इसका अभिप्राय समझाते हैं—यह आनंदरूप परम पुरुष आत्मदेव अन्तर्ज्योति है। घटादि वस्तुओं के प्रकाशक को ज्योति कहा जाता है और उनसे अन्य जो पदार्थ तैजस नहीं होते उन्हें अज्योति समझा जाता है। आत्मा को 'ज्योति' इसलिये कहा है कि वह सबका प्रकाशक है—सूर्यादि ज्योतियों का भी और घटादि अज्योतियों का भी। चेतनरूप होने से वह इस सारे जडवर्ग से विलक्षण है। आत्मा को ज्योति ही नहीं 'अन्तर्' भी कहा; उसमें यह रहस्य है : शरीर से बाहर जो आदित्यादि ज्योतियाँ हैं वह ऐसी वस्तुओं को प्रकाशित करती हैं जिनकी सत्ता उन ज्योतियों की सत्ता से निरपेक्ष होती है। आत्मरूप ज्योति ऐसी नहीं। वह सभी का विवर्तोपादान या अधिष्ठान है, अतः सभी के 'भीतर' है। वह जिसे प्रकाशित करता है उसकी सत्ता आत्मसत्ता की अपेक्षा से ही होती है। (अन्य प्रकाश प्रकाश्यसे बाहर रहकर उसे प्रकाशित करता है जबकि आत्मप्रकाश प्रकाश्यों के भीतर रहकर

---

१. ज्योतिःपदवाच्यभिन्नत्वेऽप्यात्मनो ज्योतिर्लक्षणयोगात्तल्लक्ष्यत्वौचित्याच्छ्रुत्या ज्योतिष्ट्वमगादि; नाज्योतिष्ट्वमपि, अज्योतिर्विलक्षणस्यापि तस्य कथंचिदपि तत्पदबोध्यत्वाऽयोगादज्योतिष्ट्वलक्षणानन्वयादिति द्रष्टव्यम्। २. आत्मानमिति स्वप्रकाशत्वस्य वाचोयुक्तिः।

पुरुषः

अनेन ज्योतिषा विश्वं पूर्णमेतच्चराचरम्। ज्योतीरूपस्ततः सोऽयं पुरुषः परिकीर्तितः।।४१२।।

पुरो वा विविधाः कृत्वा पुमान् स्थावरजङ्गमाः। शेते तासु यथा पक्षी तेनायं पुरुषः स्मृतः।।४१३।।

अवस्थयोः समानः

एक एव पुमान् सोऽयं स्वप्ने जागरणे समः। प्राप्नुवन् सुखदुःखानि लोकमेनं परं तथा।।४१४।।

जातो मृतो मृतो जातो घटीयन्त्रसमः सदा। ग्राहं ग्राहं शरीराणि त्याजं त्याजं च भूरिशः।
कर्मपाशनिबद्धः सन्ननुसञ्चरतीश्वरः।।४१५।।

पुरुषपदार्थमाह—अनेनेति द्वाभ्याम्। यथा परीक्षणाय क्षीरे प्रक्षिप्तेन मरकतमणिना स्वभासा सर्वं क्षीरं पूर्यते तथा अनेन आत्मज्योतिषा सर्वं पूर्णं ततः पुरुष इत्युक्तिरित्यर्थः।।४१२।। अथवा पूर्षु वसतीति चतुर्थाध्यायोक्तविधया पुरुषत्वमित्याह— पुर इति। वा अथवा विविधाः स्थावरजङ्गमात्मकाः पुरः शरीराणि कृत्वा तासु पूर्षु शेत आध्यात्मिकसम्बन्धेन[1] स्थितः तेन आत्मनः पुरुषतयोक्तिरिति।।४१३।।

अथोक्तात्मनः कथं संसारित्वमित्याशङ्कावारणपूर्वकम् असङ्गत्वस्वप्रभत्वनिरूपणपरस्य 'स समान' इत्यादिश्रुतिग्रन्थस्य[2] अर्थमुपबृंहयति—एक एव इत्यादिना। सोऽयं वर्णितः पुमान् एकः अद्वितीय एव स्वप्ने जागरणे च सम एकरूपः सन् यथा सुखदुःखानि प्राप्नोति तथा इमं लोकं परं च जन्मान्तरत्वेन प्रसिद्धं प्राप्य सुखदुःखानि प्राप्नुवन् भवतीति।।४१४।। लोकद्वयभ्रमणमेवाभिनयति—जात इति। ग्राहं ग्राहं गृहीत्वा गृहीत्वा, त्याजं त्याजं

उन्हें प्रकाशित करता है यह भाव है। अधिष्ठान को अध्यस्त के 'भीतर' इसलिये कहते हैं कि वह उपादान होता है, अनुस्यूत होता है।) इतना ही नहीं आत्मरूप ज्योति न केवल अन्यों को वरन् खुद को भी प्रकाशित करती है जबकि अन्य ज्योतियाँ ऐसी नहीं, क्योंकि अपनी सिद्धि के लिये उन्हें चित्प्रकाश की ज़रूरत बनी रहती है। स्वप्रकाश होने से बाहरी ज्योति से निरपेक्ष आत्मा के मानो अंदर ही ज्योति है, इसलिये भी उसे 'ज्योति' ही न कहकर 'अन्तर्ज्योति' कहा।।४०८-११।।

श्रुति ने आत्मा को 'पुरुष' भी कहा; उसका अर्थ बताते हैं—इस प्रकाशमान आत्मा को पुरुष इसलिये कहा कि इस ज्योति से ही यह चराचर जगत् पूरा है। (मरकत मणि की परीक्षा बतायी जाती है कि शुद्ध गाय के दूध में उसे डालें तो सारा दूध मणि के रंग का दीखने लगता है। वहाँ वस्तुतः न मणि बिखरती है, न दूध बिगड़ता है, केवल वैसी प्रतीति होती है। इसी तरह जगत् आत्मा से ही सत्ता-स्फूर्ति वाला भास रहा है। भले ही वास्तव में आत्मा-जगत् का संबंध न हो पर संसार में सर्वत्र सत्ता-स्फूर्ति मिलती है, अतः वह आत्मा से ही 'पूर्ण' हो रहा है।)।।४१२।। या आत्मा इसलिये पुरुष है कि जैसे पक्षी घोंसले बनाकर उनमें रहता है ऐसे ही आत्मा स्थावर-जंगम नाना प्रकार के पुर अर्थात् शरीर बनाकर उनमें अध्यासरूप संबंध से निवास करता है।।४१३।।

आगे कण्डिका में बताया कि आत्मा समान रहते हुए दोनों लोकों में संचरण करता है; वह मानो ध्यान करता है और मानो लीला करता है। वह स्वप्नावस्था पाकर इस जाग्रत्-लोक से परे हो जाता है। शरीरादि ही मृत्यु के रूप हैं क्योंकि ये ही उसे निरूपित करते हैं। सपने में पहुँचने पर आत्मा जाग्रत् के इन मृत्यु-रूपों से भी बच जाता है। अब इसे समझायेंगे।

---

१. आध्यासिकसम्बन्धेनेति सुवचम्। २. 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव; स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि।।७।।'

कर्मादिसम्बन्ध आध्यासिकः

यद्यप्ययं पुमान् पूर्णो न चायाति न गच्छति। न कर्ता न च भोक्ता वा विक्रियामात्रवर्जितः।।४१६।।

अन्तःकरणतादात्म्यं सम्प्राप्यात्मा तथापि हि। कर्माणि तत्फलैः सार्धं प्राप्नोत्यात्माविबोधतः।४१७

उष्णे पयसि तत्रत्यं यथोष्णं जायते नभः। अनुष्णं वस्तुतस्तद्वदात्माऽयं परमेश्वरः।।४१८।।

भूत्वा धिया समानः स कर्माणि च फलानि च। प्राप्नोति यत एतस्यां ध्यायन्त्यां ध्यायतीव सः।
चलन्त्यां चलतीवेशः कामिन्यां कामुको यथा।।४१६।।

त्यक्त्वा त्यक्त्वा। कर्मपाशबद्धः सन्ननुसञ्चरति संसरतीति यावत्।।४१५।। ननु परिपूर्णस्य कर्मादिसम्बन्ध एव कथम्? इति शङ्कते—यद्यपीति। विक्रियामात्रवर्जितः सकलविकारहीनः।।४१६।। आविद्यकान्तःकरणतादात्म्याध्यास एवात्मनि कर्मादिसम्बन्धहेतुः इति समाधत्ते—अन्तःकरणेति। अविबोधतः अज्ञानाद् अन्तःकरणसम्बन्धं प्राप्य कर्माणि तत्फलानि च आत्मा प्राप्नोति तत्सम्बन्धं लभत इति यावत्।।४१७।। औपाधिकधर्माध्यासं दृष्टान्तेन स्फुटयति—उष्ण इति। यथा वस्तुतः उष्णत्वानर्हमपि आकाशम् उष्णजलावच्छिन्नं तदन्तिकोर्ध्वदेशावच्छिन्नं च उष्णम् इव भाति, तद्वदयमात्मा वस्तुतः परमेश्वरः अपि अविद्याप्रभावेण बुद्ध्या समानः तादात्म्याध्यासमापन्नः सन् कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्राप्नोति। तथा चानुभूयत इत्याह—यत इत्यादिना। यत एतस्यां बुद्धौ ध्यानव्यापारं कुर्वत्यां तद्भासक आत्मा ध्यायन्निव भासते, तथा बुद्ध्याधारप्राणचलनेन बुद्धौ चलन्त्यां तद्भासक आत्मा चलन्निव भासते, यथा कामिन्यनुसारी कामुक इति द्वयोरर्थः।।४१८-१६।।

विज्ञानमय आदि रूप से जिसका वर्णन किया वह पुरुष अद्वितीय रहते हुए ही स्वप्न और जाग्रत् में एकरूप रहकर जैसे सुख-दुःख भोगता है वैसे ही इस लोक और परलोक में भी भोगता है। यह जन्म लेता है, मरता है और मरकर पुनः जन्म ले लेता है! रेहट की तरह यह हमेशा चलता ही रहता है। कर्म के फंदे में फँसा यह आत्मा बार-बार अनेक शरीर ग्रहण करता व छोड़ता है। है यह ईश्वर लेकिन अज्ञानवश यह संसरण करता रहता है।।४१४-१५।।

यद्यपि यह पुरुष पूर्ण है, न आता है न जाता है, न करता है न भोगता है, सभी विकारों से रहित है; तथापि इस आत्मा को क्योंकि अपने सत्य स्वरूप का अज्ञान है इसलिये यह अंतःकरण से स्वयं को एकमेक समझ लेता है, जिससे इसे फलों सहित कर्मों की प्राप्ति हो जाती है। (अर्थात् मनोध्यासद्वारा कर्तृताध्यास और उससे भोक्तृताध्यास हो जाता है।)।।४१६-१७।। आकाश वस्तुतः कभी गर्म (या ठंडा) नहीं होता लेकिन गर्म पानी में मौजूद आकाश लगता है मानो गर्म हो। ऐसे ही यह आत्मा वास्तव में परमेश्वर है, लेकिन अविद्या के प्रभाव से इसने बुद्धिसे तादात्म्याध्यास कर लिया है जिसके कारण यह कर्मों का कर्ता और उनके फलों का भोक्ता बनता रहता है। यह इसी से सिद्ध है कि बुद्धि ध्यान करती है तब आत्मा ध्यान करता हुआ-सा लगता है और वह चंचल होती है तो यह भी चंचल हुआ-सा लगता है। जैसे कामिनी का अनुसरण करता कामुक उसके बैठने पर बैठता है, वह चल देती है तो पीछे-पीछे चलने लगता है क्योंकि उस पर मुग्ध होता है, इसी तरह बुद्धि पर मुग्ध आत्मा बुद्धि का अनुसरण करता रहता है।।४१८-१६।।

बुद्धि से एकमेक हुआ वह स्वप्रकाश आत्मदेव जब स्वप्न अर्थात् तैजस नाम वाला हो जाता है तब स्वयं द्वारा निर्मित इंद्रजालतुल्य विविध सपने देखता है। उस समय यह बिना मुश्किल के इस जाग्रदवस्था वाले संसार को लाँघ जाता है जैसे कोई महाराजा नाव द्वारा अत्यंत गहरी नदी पार कर गया हो। नाव की जगह यहाँ बुद्धि ही है! जाग्रत् संसार में अध्यात्मदृष्टिसे सबसे प्रधान है स्थूल शरीर। ग्रह-अतिग्रह कहलाने वाले इंद्रिय और विषय भी जाग्रत् संसार को घोर बनाये हुए हैं। यह प्रपंच नाना तरह से फैला है (अधिदैव, अधिभूत आदि; भूत, भविष्य आदि; ऐहिक, आमुष्मिक

स्थूलदेहाध्यासोऽनर्थकरः

स समानो धिया देवः स्वप्नो भूत्वा स्वयम्प्रभः। पश्यन्नानाविधं स्वप्नमिन्द्रजालं स्वनिर्मितम्।।४२०।।
इमं जागरणावस्थं लोकं स्थूलशरीरकम्। विषयेन्द्रियसंयुक्तं मृत्युरूपमनेकधा।।४२१।।
जलबुद्बुदवच्छश्वन्नश्वरं दुःखकारणम्। व्याध्यादिभिः समाविष्टमतिक्रामत्ययं सुखात्।। महाराजो यथा नावा महागाधजलां नदीम्।।४२२।।
स्वप्नद्रष्टा स एवायं पुमान् स्वाप्नस्य संक्षयात्। कर्मणः स्थूलदेहेऽस्मिन् जायमानो यथोदरात्४२३
अहंमानं करोत्यात्मा पुण्यपातकबोधितः। पाप्मभिर्विविधैर्दुःखैर्देही संसृज्यते तदा।।४२४।।
अत्र जागरणे दुःखं वर्णनीयं किमस्ति हि। स्वप्नात् समागतस्यास्य पुंसः प्रत्यक्षदर्शनात्।।४२५।।
यावत् स्थूलस्य देहस्य नाभिमानं जहात्ययम्। तावद् दुखान्यनन्तानि प्राप्नोत्यात्मा परः पुमान्४२६
स उत्क्रामन्नितो देहात् स्वप्नादौ मरणेऽथवा। पाप्मनो भूरिशो दुःखकारणानि बहून्यपि।। स दुःखानि पुमानेष विजहाति क्षणेन हि।।४२७।।

अयं बुद्धितादात्म्याध्यासो यदा स्थूलदेहाध्यासं रचयति तदा सुतरामनर्थकृदिति दर्शयितुं व्यतिरेकं तावदाह—स समान इति त्रिभिः। स धिया साम्यमापन्नो देवः स्वप्नो भूत्वा तैजससंज्ञो भूत्वा स्वप्नं प्रपंचं पश्यन्, स इमं लोकं जाग्रदवस्थाशालिनं स्थूलशरीरप्रधानं सुखाद् अनायासादेव अतिक्रामति उल्लङ्घते, यथा महाराजः सुखाद् महानदीं तरेत्। अत्र नौस्थानीया स्वप्नगामिनी बुद्धिरेव बोध्या। कीदृशमिमं लोकम् ? ग्रहातिग्रहरूपैर्विषयेन्द्रियादिभिर्युक्तम्। पुनः कीदृशम् ? अनेकधा प्रसृतम्; मृत्योः अविद्याकामकर्मात्मिकाया रूपं कार्यमिति यावत्। तथा क्षणभङ्गुरं नानानर्थसङ्कुलं च। इति त्रयाणामर्थः।।४२०-४२२।।

अथ यदा स्थूलशरीराभिमानः तदा दुःखातिशय इत्यन्वयं[1] दर्शयति—स्वप्नेति चतुर्भिः। यः स्वप्नद्रष्टा स एवायं पुमान् स्वप्नस्य भोगप्रदस्य कर्मणः क्षयात् जाग्रद्भोगप्रदपुण्यपातकाभ्यां बोधितः सन् मातुः उदराज्जायमान इव यदा अस्मिन् स्थूले देहे अभिमानं करोति तदा श्रुतौ पाप्मपदोक्तैः विविधैर्दुःखैः संसृज्यते। इति द्वयोरन्वयः।।४२३-२४।। ननु कानि दुःखानि स्थूलदेहाभिमान इति चेत् ? प्रसिद्धत्वान्न तानि वर्णनीयानीत्याह—अत्रेति। स्वप्नात्समागतस्य पुंसो यत् जागरणे दुःखं तत् किं वर्णनीयम् अपि तु न वर्णनीयम्, प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् इत्यन्वयः। ४२५।। उक्तमेव स्फुटयति—यावदिति। स्फुटम्।।४२६।। यथा स्वप्नं गच्छन् देहाभिमानजं दुःखं नाप्नोति तथा मरणादिकालेऽपीत्याह—स उत्क्रामन्निति। उत्क्रामन् लोकान्तरं गच्छन्, इतः प्रत्यक्षात्। दुःखकारणानि दुःखानि च पाप्मपदोदितानि क्षणेन जहाति।।४२७।। एतत् सदृष्टान्तं प्रपंचयति—सोपद्रव इति चतुर्भिः।।४२८-२९।।

आदि; आर्थिक, सामाजिक आदि)। अविद्यात्मक मृत्यु का यह रूप अर्थात् कार्य है। (यद्यपि स्वप्न भी ऐसा ही है तथापि वह कार्योपाधि के व्यवधान से है।) पानी के बुलबुले की तरह यह हमेशा नष्ट होता रहता है। बीमारी आदि से भरा-पूरा होने से यह दुःखका ही कारण बना रहता है। ऐसे जाग्रल्लोक को बड़े आराम से आत्मा छोड़ देता है जब सपने में पहुँच जाता है। (श्रुति ने 'स्वप्नो भूत्वा' कहा जो वैसे ही संगत है जैसे 'बालक होकर, युवक होकर' इत्यादि, क्योंकि आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त करता है उस नाम को भी ग्रहण कर लेता है। वार्तिक में यह स्पष्ट है।)।।४२०-२२।।

सपने में भोग देने वाले कर्म समाप्त होने पर जाग्रत् में भोग प्रदान करने वाले कर्म स्वप्न देखने वाले आत्मा को जगा देते हैं। माँ के गर्भ से पैदा होते हुए जैसे आत्मा स्थूल शरीर में अभिमान करता है, वैसे ही सपने से जगते

१. 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते, स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति।।८।।'

सोपद्रवे यथा देशे मोहात् तत्र वसन् पुमान्। सकारणानि दुःखानि प्राप्नोत्यनिशमेव सः।।४२८।।

एवं देहे वसन्नेष परमात्मा विमोहितः। नानादुःखमवाप्नोति बहुहेतुसमुत्थितम्।।४२६।।

सोपद्रवाद्यथा देशाद् गच्छन्नन्यत्र धीधनः। दुःखं तद्देशजं नैव प्राप्नोत्यन्यत्र संस्थितः।।४३०।।

एवं देहादितो देवो निर्गच्छन् देहसम्भवम्। न कदाचिदवाप्नोति बहुदुःखं सकारणम्।।४३१।।

स्थानद्वयम्

ग्राहं ग्राहं शरीराणि त्यजतो नित्यमेव हि। त्याजं त्याजं तथैवास्य गृह्णानस्यात्मरूपिणः। अयं लोकः परश्चैव स्थानद्वयमुदाहृतम्।।४३२।।

लोकयोरुभयोः सन्धौ जातं स्वप्नं महाधियः। स्थानं तृतीयमिच्छन्ति राजंस्तस्यैव सर्वदा।।४३३।।

सोपद्रवाद् इति। धीधनो बुद्धिमान्।।४३०-४३१।।

एवमष्टमकण्डिकातात्पर्यार्थो दर्शितः। अथ[1] नवमकण्डिकार्थं सप्ततिश्लोकैर्दर्शयंस्तत्र 'आनन्दांश्च

हुए भी। तभी वह नानाविध पापों से अर्थात् दुःखों से युक्त हो जाता है। सपने से आये पुरुष को जाग्रत् में जो दुःख प्राप्त होते हैं उनका क्या वर्णन किया जाये ! वे तो सभी को अपरोक्ष हैं। जब तक यह परम पुरुष स्थूल देह में तादात्म्याध्यास को छोड़ता नहीं तब तक अनंत दुःख पाता है। इस शरीर से जब वह उत्क्रमण करता है—चाहे स्वप्न आदि अवस्थाओं में जाये या मर जाये—तब वह क्षणभर में ही दुःखहेतुभूत बहुतेरे पापों को और बहुत से दुःखों को छोड़ देता है। (बहुत सारे पाप इकट्ठे होकर पुरुष को दुःख देते हैं, अतः पुराण में 'भूरिशः, बहूनि' कहा। इतने सारे होने पर भी देहोत्क्रमण करने से पुरुष इनकी पहुँच से दूर हो जाता है। यद्यपि कर्मफल तो भोगना ही पड़ता है तथापि तात्पर्य है कि फलभोग के लिये देहतादात्म्य अनिवार्य है क्योंकि देह ही भोगायतन है। अतः देहाध्यास मिट जाये तो कर्म-फल से छूटना अर्थसिद्ध है।)।।४२३-२७।। किसी देश में अराजकता आदि से बहुत उपद्रव हो रहे हों और उस देश से मोह होने के कारण—'यह मेरी जन्मभूमि है' इत्यादि अभिमानवश उस स्थान की हेयता न स्वीकारने के कारण—कोई व्यक्ति वहीं बसा रहे तो दिन-रात उसे उपद्रवों का व दुःखों का सामना करना पड़ता है। ऐसे ही परमात्मा प्रबल मोह से ग्रस्त हुआ शरीर में बस गया है, अतः बहुतेरे कारणों से होने वाले विविध दुःख पा रहा है। जो बुद्धिमान् व्यक्ति उपद्रवयुक्त देश से अन्यत्र शांत संपन्न देश में चला जाता है वह उस सोपद्रव देश के दुःख नहीं पाता। ऐसे ही जब आत्मदेव इस देह से निकल जाता है तो इस देह के कारण होने वाले सभी दुःखों को और उनके हेतुओं को (सर्दी-गर्मी आदि को) कभी नहीं प्राप्त करता। (तात्पर्य है कि जब मृत्यु होने या सोने पर ही शरीर-प्रयुक्त दुःख छूट जाते हैं तब अध्यास मिटने पर क्या कहना ! व्यवहारदृष्टि से याद रखना चाहिये कि जागरण में अनुभव किये जाने वाले कर्म न रहने पर ही सोना संभव होता है और इस शरीर में भोगे जाने वाले कर्म समाप्त होने पर ही मरना संभव होता है। ऐसा नहीं कि जैसे देश से भाग जायें तो वहाँ के दुःखों से बच जाते हैं वैसे सोया या मरा जा सके। अथवा देश से भागने की जगह प्रकृत में समाधि का अभ्यास, भूमिकारोहण समझ सकते हैं और वहीं रहकर दुःख से बचने की जगह है बिना भूमिकारोहण के जीवन्मुक्ति।)।४२८-३१।।

अब सत्तर श्लोकों द्वारा नवीं कण्डिका की व्याख्या की जायेगी।

---

१. 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः—इदं च परलोकस्थानं च; सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति— इदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तम् आक्रमम् आक्रम्य उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति। स यत्र प्रस्वपिति अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति। अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।।९।।' इति।

नायं लोको भवेत् स्वप्नः शुक्रशोणितसम्भवे। नाहंमानः शरीरेऽस्ति यतो मृतसमं वपुः।। स्वप्ने भूमौ निपतितं देही जानाति नैव तत्।।४३४।।
लोकः परोऽपि न स्वप्नः स्थूलं देहं न सर्वथा। त्यक्तवान् येन तद्द्रोहे दुःखी भवति निःश्वसन्।।४३५
शरीरस्याऽपरित्यागाद् अहंमानविवर्जनात्। लोकयोरुभयोः सन्धौ जातः स्वप्नस्ततो भवेत्।।४३६।।
अदर्शनाद् यथोडूनां सवितुर्मण्डलस्य च। निर्मले गगने सन्धिरह्नो रात्रेश्च स स्मृतः।।४३७।।
तत्र जातः पदार्थो यः स सान्ध्यः कीर्त्यते यथा। तथा स्वप्नोऽपि सान्ध्यः स्यात् सन्धिजत्वेन हेतुना।।४३८।।

पश्यति' इत्यन्तभागस्य—ननु यदुक्तं 'परलोकं गच्छन्नेतद्देहाभिमानजं दुःखं नाप्नोति' इति तदनुपपन्नम्, परलोकस्यैवाऽभावाद् ? इति शङ्कावारकस्य—अर्थमाह—ग्राहं ग्राहम् इति पंचदशभिः। अस्य पुंसः वस्तुतो ब्रह्मात्मरूपिणः, अविद्यया तु पुर्यष्टकवेष्टितस्य पुनः पुनः शरीराणि गृह्णतस्त्यजतश्च अनुगते द्वे एव स्थाने विहारभूमी इव भवतः। के ते इत्यत आह—अयं प्रत्यक्षो लोकः स्थूलशरीरादिकः, तथा परलोकः—यत्र शरीरे तिष्ठति तद्भिन्नशरीरादिक इति यावत्।।४३२।। ननु परलोके किं मानमिति चेत् ? स्वाप्नं प्रत्यक्षं तावदवधारयेति दर्शयितुं स्वप्नस्य सान्ध्यत्वमाह—लोकयोरिति। केचित्[1] स्वप्नं भोगभूमित्वेन तृतीयं स्थानमिच्छन्ति। महाधियः[2] तु सन्धौ जातत्वेन स्वप्नं सान्ध्यमेवाहुः। तथा च ग्रामद्वयसन्धेर्यथा न ग्रामान्तरत्वं तथा न स्वप्नस्य स्थानान्तरत्वमिति भावः।।४३३।।

तर्हि लोकपरलोकयोः अन्यतरत्र अन्तर्भाव एव वर्णनीयः, किमिति सान्ध्यत्वमुच्यते ? इत्याशङ्कावारणाय अन्यतरत्रान्तर्भावासंभवमाह—नायमिति द्वाभ्याम्। स्वप्न एतल्लोकात्मक एव न भवति, एतच्छरीरेऽभिमानाभावात्। तत्र हेतुः यत इत्यादिनोक्तः; यतः स्वप्ने वर्तमानो देही मृतदेहवद् भूमौ पतितं देहं न जानाति इत्यन्वयः।।४३४।। नापि परलोक एवान्तर्भाव इत्याह—लोक इति। परलोकमात्रात्मक एव न, यतो देही स्थूलं देहं सर्वथा न त्यक्तवान् सर्वथा स्थूलदेहत्यागकर्ता न भवति येन तद्द्रोहे तस्य स्थूलदेहस्य द्रोहे पीडने दुःखी भवति निःश्वसंश्च भवति। तथा चैतत्स्थूलदेहाभिमानात्यन्तपरित्याग ऐहिकपीडाश्वासाभावाभ्यामनुमितः परलोकधर्मः, तदभावः परलोके भेदहेतुः। एवं पूर्वत्रापि बोध्यमिति न वैयधिकरण्यशङ्केति भावः।।४३५।। फलितमाह—शरीरस्येति। ततः शरीरस्याऽपरित्यागाद् एतल्लोकलक्षणाद्, अहंमानपरित्यागात् परलोकलक्षणाच्च स्वप्नः सान्ध्य एव भवेद् इति।।४३६।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—अदर्शनादिति। यथोडूनामदर्शनाद् दिवसलक्षणात्, तथा निर्मले गगनेऽपि सवितृमण्डलादर्शनरूपाद् रात्रिलक्षणात् सायंकालः अहोरात्रयोः सन्धिः एव स्मृतः, न केवलमहः, न वा केवलरात्रिरिति।।४३७।। तत्रेति। तत्र सन्धौ जातः। स्फुटमन्यत्।।४३८।।

यह पुरुष वास्तव में ब्रह्मस्वरूप है लेकिन पुर्यष्टक से घिरकर यह बार-बार स्थूल शरीरों को ग्रहण करता व छोड़ता अर्थात् जन्मता व मरता है। इसकी विहारभूमियाँ दो ही बतायी गयी हैं : १) यह लोक अर्थात् प्रत्यक्ष होता हुआ यह स्थूल देह। २) परलोक अर्थात् जहाँ अभी मौजूद है उससे भिन्न शरीरादि।।४३२।। हे राजन् ! उसी आत्मा की तीसरी भोगभूमि स्वप्न है ऐसा कुछ लोग समझते हैं। विचारशील तो कहते हैं कि दोनों लोकों की संधि मे उत्पन्न होने से वह तीसरा स्थान नहीं हो सकता जैसे दो गाँवों की संधि कोई तीसरा गाँव नहीं हो जाता !।।४३३।।

स्वप्न इहलोकरूप ही हो यह संभव नहीं क्योंकि उस अवस्था में पुरुष को इस स्थूल देह में स्फुट अभिमान नहीं रहता। देहवान् जब सपने में होता है तब यह स्थूल शरीर ज़मीन पर शव जैसा पड़ा हो तो भी वह इसे नहीं जानता। इसलिये सपने को इहलोक में नहीं समझ सकते।।४३४।। और न ही सपना परलोक ही है क्योंकि पुरुष ने स्थूल

१. वार्तिककृतः (बृ. वा. ४. ३. ८३७-८)। २. भाष्यकाराः।

तस्मिन् स्थाने स्थितः सान्ध्ये स्थानयोरुभयोरपि। मध्ये स्थितं सदैवात्मा पश्यति द्वयमेव तत् ।४३६
अस्मिन् देहेऽमुना यत् स्यादनुभूतं शरीरिणा। विलोकयति तत्स्वप्ने यच्च देहान्तरेऽपि वा। ।४४०।
अपि भाविशरीरे यद् अनुभाव्यं भविष्यति। विलोकयेत्तदप्यत्र स्वप्ने कश्चित् कदाचन[1]। ।४४१।।
देहल्यामुपविष्टः सन् यथा कश्चिद् गृहाङ्गणे। विलोकयेत्तयोः सन्धौ स्थितत्वेनैव हेतुना। ।४४२।।
इमं लोकं परं चैव विलोकयति सन्धिगः। आत्मा च सर्वजन्तूनां मम तेऽपि च भूपते। ।४४३।।
यादृशं वपुरेतस्य भविष्यत्यत्र देहिनः। स्थूलस्य वपुषस्त्यागे शुभं वाऽशुभमेव वा। ।४४४।।
संगृह्य स्वप्नगं सोऽयं तच्छरीरं सदा पुमान्। शुभेन सुखमाप्नोति दुःखं तद्वत्परेण च। ।४४५।।
पुण्यकारी सुखान्येयाद् दुःखान्येवं च पातकी। एवं लोकद्वयं पश्येदात्माऽयं परमेश्वरः। ।४४६।।

एवं सान्ध्यत्वं स्वप्नस्योपपाद्य तत्फलं परलोकप्रत्यक्षमवतारयति—तस्मिन्निति। तस्मिन् स्वप्नसंज्ञे सान्ध्ये स्थाने स्थितः सन् आत्मा उभयोः एतल्लोकपरलोकात्मकयोः मध्ये स्थितं पदार्थजातं द्वयम् अतीतमनागतं च पश्यति इति। ।४३६।। तत्राऽतीतस्य ऐहिकामुष्मिकार्थजातस्य स्वाप्नप्रत्यक्षविषयतां दर्शयति—अस्मिन्निति। अस्मिन् वर्तमाने देहे देहान्तरे चातीते यदनुभूतं स्यात् संभवेत् तत् स्वप्ने प्रायोऽवलोकयतीति। ।४४०।। अनागते तद्दर्शयति—अपि भावीति। कदाचन मरणसन्निधौ। ।४४१।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—देहल्यामिति। यथा कश्चिद् देहल्यामुपविष्टः सन् गृहमङ्गणं च पश्येत् तयोः गृहाङ्गणयोः सन्धौ स्थितत्वात्। ।४४२।। दार्ष्टान्तिके योजयति—इममिति। स्पष्टम्। ।४४३।।

'यथाऽऽक्रम' इत्यादिभागस्यार्थं यादृशेनाऽऽक्रमेण आलम्बनेन धर्मादिरूपेण शरीरादिहेतुना सहितो लोकद्वये फलं भुङ्क्ते तादृशः सन्नेव स्वप्ने पापफलानि दुःखानि पुण्यफलानि सुखानि च पश्यतीत्याकारं दर्शयति—यादृशमिति त्रिभिः। अस्य जन्तोः स्थूलदेहत्यागानन्तरं यादृशं वपुर्भविष्यति तत् तादृशमेव स्वप्नगं शरीरं परिगृह्य शुभेन पुण्येन परेण पापेन च सुखदुःखे प्राप्नोति। इति द्वयोः सम्बन्धः। ।४४४-४५।। एतत् स्पष्टयन् फलितमाह—पुण्येति। तथा च परलोके स्वाप्नं प्रत्यक्षं मानं सिद्धम्। एवमन्यदपि श्रुतिस्मृतिपुराणादि बोध्यमिति भावः। ।४४६।।

शरीर को हर तरह से छोड़ नहीं दिया है। इसका पता इससे चलता है कि सपना देखने वाले के स्थूल शरीर को पीडा दें तो वह दुःखी होता है, उसकी श्वासगति बदल जाती है, मुखाकृति बिगड़ जाती है आदि। ।४३५।। इस प्रकार शरीर का पूरी तरह त्याग न होना रूप इहलोक का लक्षण भी स्वप्न में है और स्फुट अहंकार का त्याग रूप परलोक का लक्षण भी, जिससे पता चलता है कि स्वप्न दोनों लोकों की संधि में उत्पन्न होता है। ।४३६।। निर्मल आकाश में जब न तारे दीखें और न सूर्यबिम्ब दीखे तब वह समय दिन-रात की संधि कहलाता है तथा उस समय होने वाले पदार्थ को सान्ध्य कहते हैं। इसी तरह स्वप्न भी संधि में होने वाला है अतः स्वप्न भी सान्ध्य है। ।४३७-३८।।

स्वप्न नामक सान्ध्य स्थान में विद्यमान पुरुष इहलोक व परलोक दोनों में होने वाले अर्थात् अतीत और अनागत पदार्थों को देख लेता है। ।४३९।। इस शरीरधारी ने इस शरीर में जिन चीज़ों का अनुभव किया है और इससे पूर्व के देहों में जिनका अनुभव किया है उन्हें स्वप्न में यह देख लेता है। कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति सपने में वह वस्तु भी देख लेता है जिसका अनुभव भविष्य शरीर में होना है। ।४०४-४१।। जिस तरह कोई देहली (दहलीज) पर बैठा हो तो घर और आंगन दोनों को देख लेता है क्योंकि दोनों के संधिस्थान पर स्थित होता है। उसी तरह हे राजन्! तेरा, मेरा व सभी जंतुओं का आत्मा जब सान्ध्य स्थान (स्वप्न) में पहुँचा रहता है तब इस लोक और परलोक दोनों को देख लेता है। ।४४२-४३।।

---

१. पौर्वदेहिकं बाल्ये, भाविनं चान्त्ये वयसि पश्यतीति वार्तिके (४.३.८४१-४) सम्भावितम्। तत्रैव (८५३) वार्तमानिके वपुष्यदृष्टस्यापि स्वप्ने दर्शनं तस्य जन्मान्तरविषयत्वे सङ्गच्छत इति व्यक्तम्।

स्वप्ने स्वप्रकाशपरिचयः

स यदा वपुषः स्थूलाद् 'अयं लोक' इतीरितात्। स्वाप्नं सन्ध्याभिधं स्थानं पश्यल्ँलोकद्वयं व्रजेत्।।४४७।।

तदा स्थूलस्य देहस्य विषयानिन्द्रियैः सह। आदाय सर्वतो गच्छेद् महाराजो यथा जनान्।।४४८।।

क्रीडन्निह यथा बालः क्रीडायाः साधनं बहु। क्रीडत्यविरतं सर्वं निर्माय च निहत्य च।।४४९।।

यथा स्वप्नगतो देवो निर्माय च निहत्य च। स्वप्रकाशात्मविज्ञानात् स्वप्नान् पश्यत्यनेकशः।।४५०।।

स्वप्रकाशात्मविज्ञानात् पश्यन् स्वप्नानयं पुमान्। क्रीडत्यविरतं देवो ह्यात्मज्योतिर्य ईरितः।।४५१।।

ननूपाधिसंसर्गेण मलिनस्यात्मनो विविक्तं रूपं यावन्नेक्ष्यते तावन्न मोक्षादि संभाव्यते ? इति चेत्; स्वप्ने तावत् स्वयम्प्रकाशतया तत् परिचिनुहीति प्रदर्शकस्य 'स यत्र' इत्यादेरर्थमाह—स यदेत्यादिना। स आत्मा यदा स्थूलाद् देहात् तं विहाय स्वाप्नं स्थानं लोकद्वयं दर्शनाय व्रजेत् तदा स्थूलदेहसम्बन्धिनो विषयान् इन्द्रियाणि च विषयेन्द्रियवासनाः श्रुतौ 'मात्रा'-पदोक्ताः, तासां धारकं मनश्च सहादाय एव गच्छति, यथा राजा गच्छन्ननुचरान् सह नयति तद्वत्। कीदृशादेतल्लोकात् ? 'अयं लोक' इति 'अयमात्मा सर्वेषां भूतानां लोक' इत्यादिवाक्येन तृतीयाध्यायचतुर्थब्राह्मणगतेन सर्वभोग्यतयोक्तात्। एतेन 'सर्वावत्'-पदं सर्वान् अवति पालयतीत्यर्थकतया व्याख्यातमिति।।४४७-४८।। क्रीडन्निति। यथा सिकतायां क्रीडन् सन् बालः क्रीडासाधनं सिकतामयं निर्माय निहत्य भंक्त्वा च क्रीडति तथाऽयमात्मा स्वप्ने विषयाणां निर्माणम्[1] अनुभूतानां भङ्गं च कुर्वन् क्रीडति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४४९-५०।। अस्य च नानापदार्थविषयी करणमेव क्रीडनमित्याह—स्वप्रकाशेति।।४५१।।

देहधारी के वर्तमान स्थूल शरीर का त्याग हो चुकने पर उसे जैसा शुभ या अशुभ शरीर मिलेगा वैसा ही शरीर यह इस जन्म में ही सपने में ग्रहण कर पुण्य-पापवश सुख-दुःख भोग लेता है। पुण्य करने वाला सुख और पापी दुःख भोगता है। इस प्रकार यह परमेश्वर आत्मा दोनों लोक देख लेता है। (आत्मा के इहलोक-परलोक दो स्थान हैं—यह कहने पर शंका हुई कि परलोक में क्या प्रमाण ? तो स्वप्न को देहान्तर में प्रमाण बताया क्योंकि सपने में ऐसा बहुत कुछ दीखता है जो इस जन्म में एकत्र हुए संस्कारों से दीखना संगत नहीं। श्रुति, स्मृति आदि अन्य प्रमाण तो इस बारे में प्रसिद्ध ही हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक गर्भकालिक अनुभवों तक को स्वप्न के प्रति हेतु मान लेते हैं, उससे पूर्व अभी उनकी गति नहीं हुई है। भविष्य भी वर्तमान के स्वप्न का हेतु बनता है यह प्रकृत औपनिषद संकेत है। प्रसंगवश याद रखना चाहिये कि यहाँ सपना सत्य नहीं कहा जा रहा है। यहाँ इतना ही समझा रहे हैं कि सपना उक्त ढंग से सिद्ध करता है कि वर्तमान से अन्य भी शरीरों में हमने अनुभव एकत्र किये हैं। भविष्य-शरीर के अनुरूप शरीर देखना भी असंगत नहीं क्योंकि भविष्यता कोई निरपेक्ष धर्म नहीं है; एक दृष्टि से भविष्य रहते हुए ही वह अन्य दृष्टि से विद्यमान हो सकता है। किं च ईश्वरसंकल्प में तो हमारा भाविदेह भी स्फुट है ही, अतः उसके आधार पर भी हम उसका स्वप्न में प्रारूप देख सकते हैं।)।४४४-४६।।

स्थूल शरीर को पहले 'यह लोक' भी कहा था क्योंकि यह सबका भोग्य बनता है। इसे छोड़कर इह-पर दोनों लोकों का दर्शन करने के लिये आत्मा जब 'सन्ध्या' नामक सपने के स्थान को जाता है तब स्थूलदेह-संबंधी इंद्रियों सहित विषयों को (वासनारूप से) साथ लेकर ही जाता है जैसे राजा अपने अनुचर साथ लेकर जाता है।।४४७-४८।। लोक में बालक बालू आदि में खेलता है तो बालू से अनेक खिलौने बनाते-तोड़ते हुए काफी समय तक लगातार खेलता ही रहता है। इसी तरह सपने में पहुँचा आत्मदेव अपने स्वयंप्रकाश विज्ञान के बल पर स्वप्न के विषयों को बनाते-बिगाड़ते हुए अनेक सपने देख लेता है।।४४९-५०।। जिस देव को आत्मज्योति बताया था वह यही पुरुष है जो स्वप्न देखते

---

१. दृष्टान्ते सिकता, दार्ष्टान्ते त्वविद्यैव। मूले स्वप्रकाशात्मविज्ञानं दर्शनहेतुतयैवोपन्यस्तं—विज्ञानात् पश्यतीति—न तु स्वाप्नविषयनिर्माणहेतुतयेति द्रष्टव्यम्।

स्वप्रकाशात्मविज्ञानमात्मानं परिहाय न। विद्यते ज्योतिरन्यद् यत् स्वयंज्योतिस्ततः पुमान्॥४५२॥
बालकस्य यथैव स्यात् क्रीडासाधनकारणम्। स्वप्नद्रष्टुस्तथैव स्याद् मनः स्वप्नस्य कारणम्॥४५३॥
बालकेन यथा दृश्या विविधा मृत् पुरः स्थिता। स्वप्रकाशात्मना तद्वद् दृश्यं स्वाप्नैः समं मनः॥४५४
अविद्या न भवेत् क्वापि कस्यचिद्धि प्रकाशिका। मनश्च घटवद् दृश्यं नित्यं स्वप्नदृशा यतः॥४५५
इन्द्रियाणि न सन्त्यत्र स्वप्ने जागरणे यथा। रविसोमाग्निवाचोऽपि तेजोरूपाश्च केऽपि न॥४५६।
अगमन्मे मनोऽन्यत्रेत्यादिना गम्यते मनः। सर्वैर्जागरणे येन तेन दृश्यमिदं स्मृतम्॥४५७॥

मनसश्चैतन्यपरीक्षा

चेतनत्वं न चास्यास्ति वादिनः कस्यचिद् मते। यस्याप्यस्ति स वक्तव्यः किमात्मैतदुताऽपरम्॥४५८

'स्वयं दासास्तपस्विन' इत्यत्र प्रयोगे यथा स्वेतरदासाभावो बोध्यते तथा स्वयंज्योतिःपदेन आत्मेतरप्रकाशाभावो बोध्य इति दर्शयन्नाह—स्वप्रकाशेति। स्वप्रकाशमात्मभूतं स्वरूपभूतं विज्ञानं यस्यैतादृशमात्मानं विहाय अन्यज्ज्योतिर्नास्तीत्यर्थः॥४५२॥ ननु मनो ज्योतिर्भवतु इति चेद् ? न, तस्य परिणामित्वेन जडत्वादिति दृष्टान्तेनाह—बालकस्येति। यथा बालकस्य क्रीडासाधनानाम् आर्द्रमृद्विकाराणाम् उपादानं मृद्रूपं प्रसिद्धं तथा स्वप्नभावकारणं मनोऽपि जडमित्यर्थः॥४५३॥ जडत्वाच्च भास्यत्वमेव मनसो, न भासकत्वम् इति तं दृष्टान्तमनुसृत्यैव दर्शयति—बालकेनेति। यथा बालकेन विविधा नानाकारपरिणता पुरः स्थिता च मृत्तिका दृश्या ज्ञानविषयतां नेया तथाऽऽत्मना स्वप्नगं मन इति।॥४५४॥ अस्तु तर्हि अविद्या ज्योतिः—इत्यपि न वाच्यम्; तस्या आवरकत्वेन दृश्यत्वेन च जडत्वस्य स्फुटत्वादित्याह—अविद्येति। स्पष्टम्॥४५५॥ लोके प्रकाशकत्वाभिमतानाम् इन्द्रियादीनामभावोऽपि स्वप्ने निर्विवाद इत्याह—इन्द्रियाणीति। भावा इति शेषः॥४५६॥ मनसो दृश्यत्वेऽनुभवमपि संवादयति—अगमदिति। 'त्वदुक्तार्थं विहाय मे मनोऽन्यत्र गतम्' इत्याद्याकारेण अनुभवेन लोकैः मनो यतो गम्यते विषयी क्रियते तेन मनसो दृश्यत्वे न विवाद इत्यर्थः॥४५७॥

मनसो जडत्वमेव प्रपंचयति—चेतनत्वमित्यादिना। अस्य मनसः चेतनत्वं कस्याप्यास्तिकस्य वादिनो मते

हुए बिना रुके खेल करता रहता है, अर्थात् नाना पदार्थों को विषय करना ही इसका खेल है। स्वप्न में जो यह पदार्थों को विषय करता है उसके लिये इसका अपना स्वप्रकाश विज्ञान ही पर्याप्त है, वहाँ इसे कोई ज्ञानसाधन नहीं चाहिये।॥४५१॥ स्वरूपभूत स्वप्रकाश विज्ञान वाले आत्मा को छोड़कर क्योंकि उसे किसी प्रकाश की अपेक्षा नहीं, इसलिये पुरुष 'स्वयंज्योति' कहा जाता है।॥४५२॥ बालक के खिलौनों का कारण जैसे बालू होती है, वैसे ही स्वप्न देखने वाले के सपने का कारण होता है मन। जैसे बालक अपने सामने पड़ी नाना आकार ग्रहण की हुई बालू देखता है वैसे ही स्वयंप्रकाश आत्मा स्वप्नघटक पदार्थों के आकार में उपस्थित मन को दृश्यतया ही देखता है। अतः स्वप्न में मन को प्रकाश करने वाला नहीं मान सकते।॥४५३-५४॥ स्वप्नावस्था में अविद्या भी मौजूद है लेकिन वह तो आवृत करने के स्वभाव वाली है, कभी किसी को प्रकाशित नहीं करती, अतः उस अवस्था में उसे भी प्रकाशक नहीं कह सकते। मन तो स्वप्नद्रष्टा के लिये घड़े की तरह दृश्य है, न कि दर्शनसाधन कि उसे प्रकाशककोटि में रखा जा सके।॥४५५॥ जाग्रत् की तरह स्वप्न में इंद्रियाँ, सूर्य, चंद्र, अग्नि, वाणी आदि कोई भी नहीं होते, जिन्हें पहले तेजोरूप अर्थात् ज्योतीरूप कहा था। अतः वहाँ आत्मा ही प्रकाश है यह निःसंदिग्ध है।॥४५६॥ मन तो दृश्य है यह सुस्पष्ट है क्योंकि जाग्रत् में ही उसका दृश्यरूप से अनुभव होता है 'मेरा मन अन्यत्र गया था' इत्यादि। एवं च जाग्रत् में ही वह प्रकाश नहीं प्रकाश्य है, तो स्वप्न में वह प्रकाश नहीं इसमें कहना क्या !॥४५७॥

१. 'मन एव गजतुरगाद्यर्थाकारेण विवर्ततेऽविद्यावृत्त्या च ज्ञायत इति केचित्।' इति बिन्दुकारा अवोचन् (श्लो. ८)।

अनात्मत्वे कुतो न स्यात् सर्वमेतद्धि चेतनम्[1]। भूतानां भौतिकानां च मनसो वाऽपि बोधने।।
सति किं मनसा कार्यं चेतनेन समेन तैः।।४५९।।

प्रमाणं सर्वचैतन्ये नास्मदादेस्तु किंचन। आगमोऽनुवदत्येतत् सर्वात्मात्मेत्ययं न हि।।४६०।।

सर्वतामात्मतां तद्वद् बोधं च विदधाति सः। अन्या हि वचनव्यक्तिर्जगत् सर्वं भवेदिदम्।।४६१।।

नास्ति। अथ यस्य बौद्धस्य मते चेतनत्वं मनसोऽस्ति, स वादी एवं वक्तव्यः प्रष्टव्यः। 'एवं' कथम् ? किम् एतद् मन आत्मरूपम्[2] ? उतापरम् अनात्मरूपम् ? इति।।४५८।। अन्त्ये दोषं प्रपञ्चयति—अनात्मत्व इति द्वाविंशतिश्लोकैः। यदि अनात्मत्वेऽपि मनसश्चैतन्यं स्वीक्रियते तदाऽनात्मत्वाविशेषाद् एतत् सर्वं जडजातं चेतनं स्यात्। अत्रेष्टापत्तिं मनोवैयर्थ्यापादनेन वारयति—भूतानामिति। यदा भूतादीनामनात्मनां सर्वेषां बोधनं चैतन्यं स्वीक्रियते तदा मनसो वैयर्थ्यं, दीपेन दीपान्तरवत् केनाप्यनपेक्षितत्वादित्यर्थः।।४५९।।

नन्वागमोक्तत्वात् सर्वत्र चैतन्यं मन्यामहे—इति चेत् ? किमागमोऽनुवादरूपः सन् सर्वं चैतन्यमाह ? किं वा विधिरूपः ? इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह—प्रमाणमिति। आगमो वेदः 'सर्वमात्मैव' इत्याद्याकारक एतत् सर्वं चैतन्यं नानुवदति हि यतः सर्वचैतन्येऽस्मदादिसम्बन्धि प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं न अस्ति यत्सिद्धमागमोऽनुवदेदिति।।४६०।। न द्वितीयः; तस्यागमस्य फलवदनधिगताबाधितविधेयान्तरलाभेन[3] तद्विपरीते जडस्य चेतनत्वे तात्पर्याभावात्, प्रत्युत बाधासामानाधिकरण्येन जडस्य बाधनाद् इत्याशयेनाह—सर्वतामिति। स उक्ताकार आगमः सर्वतादित्रयं विदधाति। सर्पत्वभ्रमापनोदाय रज्जुत्वमिव द्वैतभ्रमापनोदाय अज्ञातं बोधयतीत्यर्थः। तर्हि अनेकविधाने वाक्यभेद इति चेत्? न, पदार्थशोधनद्वारा जायमानमहावाक्यार्थज्ञानक्रमानुसारित्वेन इष्टत्वादित्याशयेनाह—

कोई आस्तिक तो मन को चेतन मानता नहीं। जो वादी इसे चेतन कहे उससे पूछना चाहिये कि क्या यह मन आत्मरूप है या अनात्मरूप ? (आत्मरूप होने पर जो वक्तव्य है वह श्लोक ४८१ से बतायेंगे।)।।४५८।।

यदि मन को अनात्मा मानकर भी उसे चेतन कहो तो बताओ कि यह सभी कुछ जो अनात्मा है वह चेतन क्यों नहीं हो जायेगा ! भूत, भौतिक (घटादि) और मन—सभी में जब चैतन्य मानोगे, क्योंकि अनात्मा सभी हैं, तब मन का कार्य क्या रह जायेगा ? भूतादि के समान न भी चेतन हो तो जैसे एक दीपक को अन्य दीपक की ज़रूरत नहीं पड़ती वैसे ही भूतादि को मन की ज़रूरत नहीं होगी। (और मन घटादि की तरह निर्विवाद पदार्थ तो है नहीं; क्रमिक ज्ञान कराने वाले आदि रूप से उसे सिद्ध करते हैं। जब घटादि स्वतः चेतन हैं तब उनके ज्ञान के लिये मन चाहिये ही नहीं तो मन नामक वस्तु ही 'है' ऐसा नहीं माना जा सकता।)।।४५९।। हमारे अनुभव का कोई प्रमाण इस बात में है नहीं कि सभी कुछ चेतन है। यदि कहो कि 'आत्मा सर्वरूप है' आदि आगम इसमें प्रमाण है; तो विचारणीय है कि यों बताने वाला आगम वाक्य अनुवादरूप है या विधिरूप ? अनुवाद तब होता जब इस बात में प्रत्यक्षादि कोई अन्य प्रमाण होता। वैसा कोई प्रमाण है नहीं, अतः उक्तविध आगम अनुवाद होकर सर्वचैतन्य का साधक नहीं हो सकता।।४६०।। सब को चेतन कहने वाला आगम विधायकविधया प्रमाण हो यह भी संभव नहीं। शास्त्र का तात्पर्य उसमें होता है जो सफल, अनधिगत और अबाधित हो; ऐसे विषय का प्रतिपादक वाक्य विधायकविधया प्रमाण होता है। 'सब आत्मा है' आदि वाक्य से सफल अबाध्य अर्थ समझा जा सके तो प्रतीति-युक्ति से विरुद्ध अर्थ उससे क्योंकर समझा जायेगा ? उक्तविध वाक्यों का अभिप्राय होता है कि जो सब विविध दीख रहे हैं ये वस्तुतः है नहीं, वास्तविक केवल आत्मा है। इस बात को सुस्पष्ट करते हैं—आगम विधान करता है सर्वता का, आत्मता का और बोध (चेतनता)

---

१. मनसएव तथाविधवैशिष्ट्याङ्गीकारे त्वात्मनो नामान्तरं मनोऽभ्युपगतं स्यादित्यभिप्रायः। अणुत्वविनाशित्वादितद्धर्मसदसद्भावयोर्मनोरूपात्मसिद्ध्यनन्तरं विचारयितुं शक्यत्वादिति दिक्। २. अस्य श्लो. ४८१ तो विचारो भविष्यति। ३. 'अबाधिताऽनधिगताऽसन्दिग्धविज्ञानसाधनं प्रमाणमिति' इति प्रमाणसामान्यलक्षणं भामत्याम् (२.१.१४)।

अन्या च सर्वमेतत् स्याच्चेतनं सचराचरम्। आत्मेति च परैव स्यादन्या स्याच्चेतनो हि सः।।४६२।

परश्चेतनतादात्म्यात् सर्वं चेत्तद्धि चेतनम्। अप्यचेतनतादात्म्यादात्मा तेऽचेतनो नं किम्।।
विधानमुभयोस्तुल्यमाधिक्यं किन्तु चेतने।।४६३।।

अन्या हीत्यादि। 'इदं जगत् सर्वम् अद्वितीयात्मकब्रह्मरूपम्' इत्येवंविधा वचनस्य व्यक्तिः स्वरूपमिति यावत्, साऽन्यत्वेनेष्टैव, यतोऽनया तत्पदार्थशोधनं क्रियत इति भावः। तथा तत्पदार्थे चिद्रूपताविधायिका 'एतत् सचराचरं चेतनम्' इत्याकारिका वचनव्यक्तिः अपि पृथगिष्टा। तथा 'आत्मा अस्ति' इत्याकारा वचनव्यक्तिः त्वम्पदार्थस्य सर्वान्तरताबोधनद्वारा शोधिकाऽपि पृथगिष्टा। पर इति पदमुत्तरश्लोकादपकृष्यते। तथा च परः तत्पदार्थः स आत्मैवेत्याकारा चतुर्थी वचनव्यक्तिरपि इष्टैव, महावाक्यरूपत्वाद्। इति द्वयोरर्थः।।४६१-६२।।

यदि चोक्तविधया वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मपरत्वमनभ्युपगम्य उक्तवाक्यस्य चिज्जडयोस्तादात्म्यलक्षण-संसर्गपरत्वमिष्यते तद्बलाच्च जडस्य चेतनत्वमापाद्यते; तदा चितो जडत्वमपि स्याद्, विधीयमानजडता-दात्म्यानुयोगित्वादित्याह—पर इति। प्रथमपदं पूर्वान्वयित्वेन व्याख्यातम्। यदि 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिवाक्यार्थ-त्वेनाभिमतं चेतनतादात्म्यं हेतुत्वेनावलम्ब्य सर्वं जडं चेतनम् इत्युच्येत तदा अचेतनतादात्म्यादात्माऽचेतन इति किम् न उच्यते ? यतस्ते मते विधानं विधीयमानतादात्म्यानुयोगित्वम् उभयोः चिज्जडयोः तुल्यं विनिगमनाहीनम्, तथा च चेतने जडस्य चेतनत्वोपपादने किमाधिक्यं कानुकूला युक्तिः यतस्तदेवाङ्गी क्रियते ? इत्यर्थः।।४६३।।

का। जैसे सर्पभ्रम मिटाने के लिये रज्जुज्ञान कराया जाता है ऐसे आगम जगद्भ्रम मिटाने के लिये सत्य का उद्घाटन करता है। चार ढंगों के वाक्य शास्त्र में मिलेंगे : (१) 'यह जगत् सर्व अर्थात् अद्वितीयस्वरूप ब्रह्म है'। इस ढंग के वाक्य तत्पदार्थ (ईश्वर) का शोधन करने में तात्पर्य रखते हैं। (२) 'चराचर समेत यह सब चेतन है'। इस प्रकार के वाक्य तत्पदार्थ की चिद्रूपता बताते हैं। (३) 'आत्मा है'। इस तरह के वचन त्वंपदार्थ (जीव) के शोधक हैं क्योंकि उसे सर्वान्तर बताने में तात्पर्य रखते हैं। (४) 'जो परम है वह आत्मा है।' इस तरह के वाक्य महावाक्य कहलाते हैं क्योंकि परम अर्थात् तत्पदार्थ का आत्मा अर्थात् त्वंपदार्थ से अभेद बताते हैं। (वादी जो भी वाक्य सारे जगत् की चेतनता सिद्ध करने के लिये उद्धृत करेगा वह इनमें से ही किसी ढंगका होगा, अतः उसका अर्थ या पदार्थ होगा या महावाक्यार्थ। वादिसंमत अनात्मा की चेतनता तो किसी वाक्य का अभिप्रेतार्थ होगा नहीं यह ग्रंथकार का तात्पर्य है।)।।४६१-६२।।
किं च वाक्य में सर्व का चेतन से अभेद कहा है, इसलिये यदि सारे अनात्मजगत् को चेतन मानते हो तो इसी वाक्य से उल्टा ही क्यों नहीं समझ लेते कि आत्मा अचेतन है, क्योंकि अचेतनरूप से प्रसिद्ध सर्व से चेतनरूप आत्मा का अभेद भी तो इस वाक्य का अर्थ निकलता ही है ? तुम्हारे अनुसार वाक्य में अभेद का विधान है और उस अभेद से संबंध चेतन और जड दोनों का ही है। फिर इस वाक्य से जड को ही चेतन मानने के लिये तुम्हारे पास क्या तर्क है ? (इसलिये इस तरह के आगम वाक्यों का अभिप्राय अद्वैत में ही समझना चाहिये, न कि भेद रहते उसकी आत्मरूपतादि में। वल्लभानुसारी अद्वैतव्याख्या का भी इसी तरह निरास हो जाता है क्योंकि वे द्वैतमिथ्यात्व न मानकर अद्वैत स्वीकारना चाहते हैं जो असंगत है।)।।४६३।।

किं च दृष्टानुभव का विरोध रहते वाक्य की प्रमाणता कहीं नहीं मानी जाती। (या अनुभव ग़लत होने से विरोधक्षम नहीं होगा और या वाक्य का कोई अन्य अभिप्राय होगा—यही ऐसे स्थलों पर माना जाता है।) वाक्यवश ऐसा नहीं होता कि आकाशस्थित भास्वान् आदित्य का यज्ञांगभूत स्तम्भ से, यूप से, अभेद हो जाये और सारा संसार अँधेरे में डूब जाये ! ऐसा भी नहीं होता कि वाक्य के बल पर जड जो मुट्ठीभर दर्भ (घास) उससे यजमान का अभेद हो जाये और दर्भ की आहुति के समय यजमान को ही आग में झोंक दें ! ('आदित्य यूप है', 'यजमान मुट्ठीभर घास

अपि दृष्टविरोधे न क्वचिद्वाक्यस्य मानता।[1] मा भूद्यूपेन तादात्म्यं खस्थितस्य प्रभाभृतः।। मा चाभूद्यजमानस्य प्रस्तरेण भृतात्मना।।४६४।।

अपि वाक्येन यत्किंचिद् वैदिकेन विधीयते। पुरुषार्थाय तत् सर्वमिति वैदिकसंस्थितिः।।४६५।।

आत्मनोऽचेतनत्वे वा चैतन्येऽनात्मनोऽपि वा। पुरुषार्थो न कोऽप्यस्ति विदधाति कथं हि तत्।। पुरुषार्थविहीनं यत् प्रमाणं वेद ईश्वरः।।४६६।।

वेदशब्दोऽपि नैवाऽत्र क्वचिद् ब्रूयादनर्थकम्। पुरुषार्थविहीनं यत्तदनर्थकमीरितम्। पुमर्थं वेदयेद्यस्मात् तस्माद् वेदोऽयमीरितः।।४६७।।

किं च जडस्य चैतन्यं न वेदप्रमेयम् अबाधितत्वादितात्पर्यप्रयोजकाभावाद्—इति वक्तुम् अबाधितत्वस्य तात्पर्यव्यापकतां तावदाह—अपि दृष्टेति। अपि च दृष्टेनानुभवेन विरोधे विरुद्धे क्वचिद् अप्यर्थे वेदवाक्यस्य मानता तत्परता न अङ्गी कर्तव्येति शेषः। अङ्गीकारेऽनिष्टं दर्शयति— मा भूदिति। तथाङ्गीकारे हि 'आदित्यो यूप' इति वाक्यबलेन आकाशस्थितस्य प्रभाभृतः आदित्यस्य यूपेन अप्रकाशमयेन तादात्म्यं जगदन्धकारापादकं प्रसज्ज्येत। तथा 'यजमानः प्रस्तरः' इति वाक्यबलेन यजमानस्य प्रस्तरेण दर्भमुष्टिमयेन भृतात्मना जडरूपेण तादात्म्यं स्यात्, तथा च सूक्तवाकेन 'प्रस्तरं प्रहरति' इति विहितसूक्तवाकाख्यमन्त्रकरणकहोमकाले यजमानस्य अग्नौ प्रक्षेपे सर्वक्रियालोपप्रसक्तिः ! तदुभयं मा भूदिति।।४६४।।

अथ फलत्वस्य तात्पर्यलिङ्गस्य व्यतिरेकम् उक्तार्थे दर्शयति—अपि वाक्येनेति। वैदिकेन वाक्येन यत्किंचिद् विधीयते अज्ञातं बोध्यते तत् सर्वं पुरुषार्थप्रयोजकमेव विधीयत इति वेदविदां सिद्धान्त इत्यर्थः।।४६५।। त्वदभिमतोऽर्थस्तु न तथेत्याह—आत्मन इति। आत्मनो जडत्वे, जडस्य चेतनत्वे वा ज्ञाते न किञ्चित् फलम्। अतः तत् जडस्य चैतन्यं पुरुषार्थविहीनं वेद ईश्वरात्मकः कथं विदधीत, यतः प्रमाणं भवति; विफलबोधने हि अप्रामाण्यं प्रसिद्धमिति भावः।।४६६।। अन्वर्थनामा वेदः स्वस्य वेदत्वसंरक्षणायापि नापुरुषार्थरूपमर्थं प्रतिपादयितुं तत्परो भवतीत्याह—वेदेति। वेद इत्याकारकः शब्दो वाचको यस्य आम्नायस्य स प्रमाणराजः अत्र प्रमाणव्यापारे प्रवृत्तः सन् क्वचिदनर्थकम् अपि ब्रूयात् प्रकाशयेत्, यथा चक्षुरिष्टदर्शनायोन्मीलितमनिष्टमपि प्रकाशयति तद्वद्, इति नैव वाच्यम्—इति प्रथमार्द्धार्थः। द्वितीयार्द्धेन अनर्थकस्वरूपमुक्तम्। प्रथमार्द्धोक्तप्रतिज्ञायां हेतुतया वेदपदव्युत्पत्ति-विरोधं दर्शयंस्तद्व्युत्पत्तिमाह—पुमर्थमिति।।४६७।।

है' आदि वाक्य वेद में आये हैं जिन पर विचार कर मीमांसकों ने उनके संगत अर्थ बताये हैं और गौणप्रयोग के सारूप्य, तत्कार्यकारिता आदि हेतु निर्दिष्ट किये हैं। एवं च परीक्षित प्रत्यक्षादि से विरुद्ध अर्थ में शास्त्र प्रमाण नहीं होता। वैसा मानें तो पूर्वोक्त की तरह अनर्गल अभिप्राय मानने पड़ेंगे। भूत-भौतिक प्रपंच को चेतन मानना भी ऐसी ही अनर्गल व्याख्या है यह तात्पर्य है।)।।४६४।।

वेदविचारकों ने सिद्धांत स्वीकारा है कि वेदवाक्य द्वारा जिस किसी अज्ञात बात को बताया जाता है वह सब पुरुषार्थ का प्रयोजक ही होता है। (बेकार की बात शास्त्र नहीं बताता।)।।४६५।। तुम जैसा बता रहे हो वैसे आत्मा को जड या जड को चेतन समझने से कोई फल मिलता नहीं। जड की चेतनता समझने से कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता तो ईश्वररूप वेद उसका विधान कैसे कर सकता है ? वह तो प्रमाण है और विफल का ज्ञान कराये तो अप्रमाण हो जायेगा।।४६६।। जीवों की अभिलाषा के योग्य को पुरुषार्थ कहते हैं। जो पुरुषार्थ से रहित हो उसी को अनर्थक कहते हैं। वेद कहलाने वाला शास्त्र कभी अनर्थक बात कह नहीं सकता क्योंकि पुरुषार्थ का वेदन, ज्ञान, कराने से ही तो उसका नाम वेद पड़ा है। आँख आदि तो इष्ट देखने को खोलें और हमें अनिष्ट दिखा दें यह संभव है लेकिन

१. दृष्टेति परीक्षितप्रत्यक्षादेर्विरोधे सतीत्यर्थः, प्रमाणयोः सतोः परस्परं विरोधाऽयोगात्।

ज्ञानकर्मा विदिः प्रोक्तो ज्ञाने चैष प्रयोजकः। प्रयोजको भवेल्लोके प्रयोज्यापेक्षयैव हि।।
मुख्योऽपरो जघन्यः स्याद् मारी पुंसो लये यथा।।४६८।।

अपेक्षा च भवेत् पुंसः पुरुषार्थे परत्र न। मुख्यः सुखं पुमर्थः स्याद् गौणं तस्यापि साधनम्।।४६९।

आत्मनोऽचेतनत्वं वा चैतन्यं च परस्य वा। न सुखं नापि तस्य स्यात् साधनं कस्यचित् क्वचित्।।४७०।।

अप्रमेयमतस्तस्मिन् कथं स्याद्धि प्रयोजकः। प्रमाणं हि भवेद् वेदः पितुर्वचनसंमितः।।४७१।।

चक्षुरादीनां विषयप्रकाशनप्रवृत्तौ तात्पर्यं न नियामकं, वेदस्य तूपक्रमादिषड्विधलिङ्गगम्यं तद् नियामकम् इति विशेषमभिप्रेत्य तत्र फलस्य नियामकतां न्यायेन साधयति—ज्ञानेति चतुर्भिः। विदिः वेदशब्दघटको विदधातुः ज्ञानकर्मा ज्ञानं कर्म वाच्यं यस्य स तथा, ज्ञानार्थक इति यावत्; एष वेदस्तत्र विदधात्वर्थे ज्ञाने प्रयोजको वेदयतीति व्युत्पत्त्या ज्ञाने प्रेरकत्वेन निर्दिष्टः। प्रेरकत्वं तु मुख्यं तत्रैव लोके प्रसिद्धं यत्र प्रयोज्यस्य क्रियायामपेक्षा रागो भवति, यथा क्षुधितस्य भोजनप्रवर्तके। अपरः प्रयोज्यापेक्षामन्तरेण प्रवर्तकस्तु जघन्यो गौणः[1] प्रयोजकः स्याद् यथा मारी-पदेन मारयतीति व्युत्पत्त्या पुंसो लये मरणे प्रयोजकतया निर्दिष्टोऽपि मृत्युर्गौण एव प्रयोजक इष्यते, पुंसां मरणेऽपेक्षाऽभावादित्यर्थः।।४६८।। कुत्र तर्हि प्रयोज्यस्य पुंसो राग इति चेत् ? फले तत्साधने वेत्याह—अपेक्षेति। पुंसोऽपेक्षा च तत्रैव भवति योऽर्थः पुरुषार्थरूपः स्यात्। पुरुषार्थत्वमपि मुख्यं सुख एव, तत्साधने तु गौणम् इत्यर्थः।।४६९।। उक्तस्य पुमर्थत्वस्य प्रकृते व्यतिरेकमाह—आत्मन इति। आत्मनो यद् अचेतनत्वं यच्च परस्य अनात्मनः चैतन्यम् एतदुभयं सुखरूपं वा, तस्य कस्यचित् सुखविशेषस्य साधनरूपं वा क्वचिद् अपि देशे काले वा न भवतीति।।४७०।। फलितमाह—अप्रमेयमिति। अतः अपुरुषार्थरूपत्वादनात्मगतं चेतनत्वम् अप्रमेयं—प्रमातुमर्हं, प्रमातुमिष्टमिति यावद्, एतादृशं न भवति। एतादृशे च विफलार्थज्ञाने वेदः कथं प्रयोजकः प्रवर्तकः स्याद्, अपि तु न स्यात्। यतः पितृवाक्यवत् प्रमाणं भवति; तादृशार्थप्रतिपादने हि प्रामाण्यं भज्येतेत्यर्थः।।४७१।।

प्रमाण का व्यापार जो अज्ञातज्ञापन उसमें जब वेद प्रवृत्त होगा तो पुरुषार्थ ही बतायेगा। (कुछ वेदार्थ स्वयं पुरुषार्थ है और कुछ पुरुषार्थोपयोगी होने से है, इतना अंतर मान्य ही है। वादी-अनुसारी जड की चेतनता यों परंपरा से भी पुरुषार्थपर्यवसायी नहीं कि उसे किसी अंश में भी माना जा सके।)।।४६७।।

'वेद'-शब्द का घटक है 'विद्' धातु जिसका वाच्य है ज्ञान। उस ज्ञानमें प्रयोजक अर्थात् प्रेरक होने से शब्दराशि-विशेष को वेद कहा जाता है। प्रेरक को प्रयोजक और जिसे प्रेरित किया जाये उसे प्रयोज्य कहते हैं। प्रयोज्य जिस क्रिया में राग रखे उसमें प्रेरित करने वाले की प्रेरकता प्रधान मानी जाती है। प्रयोज्य जो न करना चाहे उसमें उसे प्रयुक्त करने वाला प्रयोजक गौण होता है जैसे कह भले ही दें कि 'मृत्यु पुरुष को मरने के लिये प्रेरित करती है' लेकिन क्योंकि पुरुष मरना चाहते नहीं इसलिये यहाँ मृत्यु को प्रेरक कहना औपचारिक ही है, लगता यही है कि 'मृत्यु पुरुष को मार डालती है'।।४६८।। पुरुष को पुरुषार्थ में ही राग होता है, अन्यत्र नहीं। मुख्य पुरुषार्थ तो सुख ही होता है। सुख का साधन भी पुरुषार्थ तो है किंतु गौण।।४६९।। आत्मा की अचेतनता या अनात्मा की चेतनता न सुख है ओर न वह कभी कहीं सुख का साधन होती है।।४७०।। इसलिये पुरुषार्थरूप न होने से अनात्मा की चेतनता को प्रमाण से समझने लायक नहीं कह सकते। इस प्रकार के निष्फल अर्थ के ज्ञान में वेद कैसे प्रयोजक बनेगा ? वह तो पिता के वचन की तरह प्रमाण है, प्रमेय का प्रमापक है। अनर्थक बात बताने लगे तो प्रमाण ही नहीं रह जायेगा।।४७१।।

१. तत्र वस्तुतः प्रयोज्यो दण्डादिवत्साधनतयैवावबुध्यते, न तु कर्तृतया, कर्तुः स्वातन्त्र्यस्य कांक्षितत्वादिति प्रयोज्यत्वस्यैव तत्र गौणत्वे प्रयोजकताया गौणताऽप्यर्थसिद्धेति भावः।

वेदप्रमेयम्

स्वप्रकाशमतः स्वात्मरूपं सिद्धं ततोऽद्वयम्। कुतर्कमतिभिः पुंभिः प्रपञ्चद्वयदृष्टिभिः। न शक्यं स्वात्मना गन्तुमपि जन्मशतेन तैः[1]।।४७२।।

तेषां यथा प्रपञ्चस्य विलयो बुद्धिमाव्रजेत्। तदर्थमिदमाहैषा श्रुतिर्मातेव नो हिता।।४७३।।

इदं सर्वं भवेदात्मा योऽयं वो हृदये स्थितः। सर्पधारादिकं द्वैतं रज्जुरेव यथाऽद्वया।।४७४।।

न जडे ज्ञानम्

अनुमानं च चैतन्ये जगतो नास्ति किञ्चन। प्रत्युतास्ति भुजा ह्येतत् प्रत्यक्षं परिपालनम्।।४७५।।

किन्तर्हि वेदप्रमेयमिति चेद् ? आत्मतत्त्वमेव अनधिगताऽबाधितत्वे सति फलत्वाद् इत्याह—स्वप्रकाशमिति। अतः आत्मेतरस्य अप्रतिपाद्यत्वात् ततो वेदात् प्रमाणराजात् स्वप्रकाशमद्वयं चात्मनो रूपं सिद्धम् इति। अद्वयत्वेन आनन्दरूपता 'यो.. भूमा' (छां. ७.२३) इति श्रुतिसिद्धा सूचिता। तस्य प्रमाणान्तराऽगोचरत्वेन अपूर्वताम् अबाधिततां चाह—कुतर्केत्यादिना। कीदृशमुक्तमात्मरूपम् ? प्रपंचात्मकं द्वैतं पश्यद्भिः कुतर्कमलिनमतिभिः च तैः लौकिकैः पुंभिः स्वात्मना स्वयमेव जन्मशतेन अपि गन्तुं विज्ञातुं न शक्यम् इति। यदि वेदेतरप्रमाणगम्यं स्यात् तदा तार्किकादयोऽपि तं जानीयुरिति यावत्।।४७२।। यदि जडस्य चेतनत्वं न वेदप्रतिपाद्यं तर्हि 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिवाक्यानां कोऽर्थ इति चेद्? द्वैतबाधेन अद्वैतबुद्ध्यवतारणमेव इत्याह—तेषामिति द्वाभ्याम्। तेषां जिज्ञासूनां बुद्धिं प्रपंचविलयो यथा आरोहेत् तदर्थं मातेव हितकारिणी श्रुतिः इदमाह। 'इदं' किम् ? इदं सर्वं दृश्यं युष्माकं हृदयस्थित आत्मा एव भवति, दृश्यं तु नास्त्येव यथा रज्जौ दृष्टं सर्पजलधारामालादिरूपं द्वैतं रज्जुमात्रम् इत्युपदेश इति द्वयोरर्थः।।४७३-४७४।।

ननु वेदप्रतिपाद्यत्वाभावेऽपि जडस्य चैतन्यमनुमानेन साधयिष्यत इति चेद् ? नेत्याह—अनुमानमिति। जगतः चैतन्यसाधकम् अनुमानं किंचिदपि नास्ति लिङ्गादिसामग्रीविरहादिति भावः, प्रत्युत विपरीतं जडत्वसाधकं त्वनुमानं दृश्यत्वादिलिङ्गकम् अस्ति निर्बाधं भवति हि यतः एतत् प्रत्यक्षं जाड्यावगाहि परिपालकत्वाद् अनुग्राहकत्वाद् अनुमानस्य भुजा इव, सहाय इति यावत्। सिद्धिस्तु सिषाधयिषाबलान्न प्रतिबन्धिकेति भावः।।४७५।।

आत्मा से अतिरिक्त वेद का कोई प्रधान प्रतिपाद्य नहीं है। अतः प्रमाणों में राजा की तरह जो वेद है उससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा का स्वरूप है द्वैतवर्जित चिन्मात्र जो निरपेक्ष भानात्मक है। द्वैतरहित होने से वह आनंद है। प्रपंचरूप द्वैत को ही जो देखने में तत्पर हैं, नाम-रूप-प्रवण हैं, श्रुतिविरुद्ध शुष्क तर्कों से जिनकी बुद्धि मलिन है ऐसे लौकिक पुरुष वेद का सहारा लिये बिना खुद ही उस अद्वैत आत्मा को जान लें यह सैकड़ों जन्मों में भी संभव नहीं। ऐसे लोगों की बुद्धि में प्रपंच का विलय (अवास्तविकता) बैठ सके इस प्रयोजन से माता की तरह हमारा हित करने वाली श्रुति यों समझाती है : यह सब जो दृश्य है वह तुम्हारे हृदय में स्थित आत्मा ही है; दृश्य वस्तुतः है ही नहीं। जैसे रस्सी में भ्रम से प्रतीत होने वाला सर्प या जलधारा आदि द्वैत वास्तविक नहीं होता, अकेली रज्जु ही वास्तविक होती है, उसी तरह 'यह सब आत्मा है' आदि श्रुति का अभिप्राय है कि यह सब नहीं है, केवल आत्मा है।।४७२-७४।। इस प्रकार जगत् की चेतनता में आगम तो प्रमाण नहीं यह निश्चित हुआ।

जगत् चेतन है इस पूर्वपक्षी की मान्यता में कोई अनुमान भी नहीं है बल्कि दृश्यत्व आदि को हेतु बनाकर प्रवृत्त होने वाले अनुमान उल्टा ही सिद्ध करते हैं कि जगत् अचेतन है। जगत् की जडता प्रत्यक्ष से भी प्रतीत हो रही है, अतः जडतासाधक अनुमान को प्रत्यक्ष का सहारा मिलता है जिससे वह निर्बाध है।।४७५।।

---

१. यदि क्वचिच्छ्रवणादिरहितेऽद्वैतबोधो मान्यस्तर्हि जन्मान्तरीयश्रवणं शरणम्। यद्वा वेदमूलकोपदेशस्तेनालाभीति बोध्यम्।

प्रत्यक्षस्य तु नैवास्ति ह्याशाऽस्मास्वत्र कर्हिचित्। प्रत्यक्षमस्मदादेर्न चैतन्ये जगतोऽस्ति हि।।४७६
प्रत्यक्षं जगतो बोधे नास्मदादिविलक्षणे। कुतोऽस्माभिरिदं गम्यं तत् तादृक् तत्र विद्यते।।४७७।।
यदि तस्मिन् प्रमाणानि सन्ति नो विषये कथम्। विद्यन्ते तानि नैवात्र विचित्रा दैवसङ्गतिः।।४७८।।
विषयो नास्ति यत्तत्स्याद् विषयः स्थानजे नरे। विषयो विषयीभावं न यात्यात्मान्तरे स्वतः।।४७६
ततो व्यसनमायातं चैतन्ये मनसस्तव। अनात्मभिः कृतं सर्वैः प्रतिपक्षैर्मनःसमैः।।४८०।।

तर्हि कस्यचित् प्रत्यक्षं जगतश्चैतन्यसाधकं भविष्यति ? इति मन्दाशङ्कां व्यावर्तयितुं; किं जगच्चैतन्यविषयकप्रत्यक्षशाली जनोऽस्मज्जातीयः? किं वाऽस्मद्विलक्षणः ? इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह—प्रत्यक्षस्य त्विति। अस्मासु अस्मज्जातीयेषु जगच्चैतन्यगोचरस्य प्रत्यक्षस्याशा कदाचिद् न कार्या, हि यतः अस्मदादेः जगतः चैतन्यगोचरं प्रत्यक्षं न दृश्यत इत्यर्थः।।४७६।। न द्वितीय इत्याह—प्रत्यक्षमिति। जगतो यो बोधः चेतनत्वमिति यावत्, तद्विषयकं प्रत्यक्षमस्मदादिविलक्षणे जने वर्तमानमपि न अस्ति इति। तत्र हेतुं नृशृंगवत् साधकमानाभावमाह—कुत इति। अस्माभिरिदं कुतो गम्यं ज्ञातव्यं यत् तत् प्रत्यक्षं तादृक् जगच्चैतन्यविषयकं तत्र अस्मद्विलक्षणे जने विद्यत इति।।४७७।।

ननु प्रमाणैरेव उक्तप्रत्यक्षसिद्धिः परन्तु तानि प्रमाणानि युष्मज्जातीयेषु न सन्ति ? इति शङ्कां वारयन्; सर्वकारणोपपन्नेषु मनुष्येषु अप्रसिद्धानां प्रमाणानामसत्त्वमेव, अन्यथा सप्तमरसादीनामपि सिद्ध्यापत्तिरित्याशयेनाह—यदीति। तस्मिन् उक्ते प्रत्यक्षे साधकानि प्रमाणानि यदि सन्ति तर्हि तानि नः अस्माकं गोचरे कुतो न विद्यन्ते; अत्र अर्थे विचित्रा दैवस्य सङ्गतिः घटनेत्यर्थः।।४७८।। जगच्चैतन्यगोचरं प्रत्यक्षं कुत्रचित् पुरुषेऽस्ति, कुत्रचिन्नास्ति इत्येवं स्वीकारे व्याघातम् उपपत्तिहीनत्वं चाह—विषय इति। यद् वस्तु चेतनत्वेन विषयो विषयतार्हं नास्ति तद् एव स्थानजे देशविशेषजे[1] नरे वर्तमानज्ञानस्य विषयी भवति[2] इति; तथा स एव विषय आत्मान्तरे अस्मदादौ वर्तमानज्ञानस्य विषयीभावं न याति, तदपि स्वतः स्वभाव इत्यर्थः। तथा च एकस्य विषयत्वमविषयत्वं व्याहतं, स्वभावमात्रेण च विरुद्धरूपता न युज्यत इति भावः।।४७६।।

मनसोऽनात्मत्वपक्षे दोषप्रपञ्चनमुपसंहरति—तत इति। तत उक्तदोषकदम्बाद् मनसः चेतनत्वस्वीकारे तव वादिनो व्यसनं दुःस्थत्वरूपा विपद् आयातम्। कीदृशं व्यसनम् ? यदि मनसश्चैतन्यं स्वीक्रियते तर्हि सर्वेऽनात्मानश्चेतनाः स्युः—इति प्रतिबन्दीघटकैः अनात्मभिः कृतम्। कीदृशैरनात्मभिः ? मनःसमैः जडत्वादिभिर्धर्मैरित्यर्थः।।४८०।।

जगत् की चेतनता के विषय में हम लोगों को जब कोई प्रत्यक्ष नहीं हो रहा तो यह भी आशा नहीं की जा सकती कि हम जैसे किसी अन्य व्यक्ति को ऐसा प्रत्यक्ष हो जायेगा।।४७६।। हम लोगों से विलक्षण किसी व्यक्ति को जगत् की बोधरूपता का प्रत्यक्ष हो यह भी हम स्वीकार नहीं सकते क्योंकि वैसे व्यक्ति को उक्त ज्ञान है यह हम जानेंगे कैसे? ।।४७७।। यदि उक्त प्रत्यक्ष को सिद्ध करने वाले प्रमाण हैं तो हमें क्यों नहीं उनका अनुभव होता ? संसार में यह विचित्र ही दैवयोग है कि प्रमाण होने पर भी हमारे लिये वे प्रतिबद्ध हैं ! (तात्पर्य है कि स्वस्थ आदि माने जाने वाले लोगों द्वारा जिन प्रमाणों का प्रयोग नहीं हो सकता वे सांसारिक विषयों में प्रमाण ही नहीं होते।)।।४७८।। जो वस्तु चेतन होने से विषय होने योग्य नहीं, वही किसी स्थानविशेष के व्यक्ति को होने वाले ज्ञान का विषय बन जाती है, हम जैसों के आत्मा में विद्यमान ज्ञान का वह विषय नहीं बनती और इस भेदभाव में कोई हेतु नहीं, उस वस्तु का स्वभाव ही है—यह सब मानना संगत नहीं है।।४७६।।

१. प्राप्तावस्थाविशेष इत्यप्यर्थः। २. अविषयत्वेऽपि विषयभावं दर्शयितुं च्वेः प्रयोगः।

मनआत्मत्वपरीक्षा

सात्मता मनसश्चेत् स्याच्चेतनस्यात्र वादिनः। तत्किं तस्य परिच्छिन्नं सर्वगं वा मनो भवेत्।।
परिच्छेदे पुनस्तेन स्मर्यते भूतभौतिकम्।।४८१।।

वस्तुतः कालतश्चास्य देशतोऽपि न कुत्रचित्। वर्ततेऽतस्त्रिधा छेदशून्यं चेन्न मनो भवेत्।।
स्वयंज्योतिरयं ह्यात्मा विज्ञानानन्दरूपभृत्।।४८२।।

मनो नाम त्रिलोकेऽस्मिन् सङ्कल्पशतकारणम्। तैजसं भवता नैतदुक्तं नाम विनाऽधुना।।४८३।।

न हि नाम्नि विवादोऽपि कस्यचित् कर्हिचित् क्वचित्। आत्मेति यं वयं ब्रूमो मन इत्याह तं भवान्।।४८४।।

आत्मादीन्यपि नामानि न विद्यन्ते परात्मनि। अवाङ्मनसगम्येऽस्मिन् स्वप्रकाशात्मबोधने।।४८५

अथाद्य[1] मनस आत्मत्वे सति चेतनत्वपक्षं दूषयति—सात्मतेति षड्भिः। सा किमात्मैतदुतापरमित्यधस्ताद् विकल्पिता आत्मता चेतनस्य मनसो यदि वादिसंमता, तदाप्येवं विचार्यम्। 'एवं' कथम् ? तस्य मनसः चेतनत्वविशिष्टात्मत्ववादिनो मते किं मनः परिच्छिन्नं, विभु वा ? आद्ये तु 'यावद्विकारं विभाग' इति न्यायेन (ब्र. सू. २. ३. ७) भेदस्य कार्यत्वव्याप्यत्वात् तेन मनसा कार्येण धूमेन वह्निवद् भूतभौतिकं कारणं स्मर्यते। भूतानि अपञ्चीकृतानि भौतिकं भुक्तान्नं तेषां समाहारः। तथा च जडकार्यस्य चेतनत्वमात्मत्वं च व्याहतमिति भावः।।४८१।। विभुत्वपक्षे तु आत्मैव त्वया नामान्तरेणोक्त इत्याह—वस्तुत इति त्रिभिः। अस्य वादिनो मते मनः कुत्रचिद् अपि वस्तुनि काले देशे वा न वर्तते, विभूनामवृत्तित्वस्य सिद्धान्तितत्वाद्, अतः त्रिविधपरिच्छेदशून्यमिति चेत् ? तर्हि एवं प्रतिपादितं वस्तु मनो न भवेत्, किन्तु स्वयंज्योतिरादिलक्षण आत्मा एव भवेदिति।।४८२।। मनो नामेति। यच्च अस्मिंस्त्रिलोके त्र्यवयवे लोके सङ्कल्पशतकारणं तैजसं सत्त्वप्रधानं मनो नाम प्रसिद्धं तद् एतद् भवता नोक्तं स्याद्, नाम विना तदीयं नामैव आत्मपरत्वेन भवतोक्तं, न त्वर्थ इत्यर्थः।।४८३।।

नाम्नि तु न विवाद इत्याह—न हीति। स्पष्टम्।।४८४।। ननु विद्यत एवात्र विवादो यतो भवतां सिद्धान्ते

इसलिये मन की चेतनता स्वीकारने पर तुम्हारे लिये यह असाध्य विपत्ति है कि सभी अनात्मा तुम्हारे विरोधी होकर मन से अपनी जडतादि समानता के बल पर स्वयं को चेतन घोषित कर देते हैं !।।४८०।। यहाँ तक मन को अनात्मा किंतु चेतन मानने की परीक्षा हुई।

अब उसे आत्मा मानने पर आने वाले दोष व्यक्त करते हैं : वादी यदि चेतन मन की वह आत्मता मानता है जिसका विचार चल रहा है तो विचारणीय है कि उस वादी के अनुसार मन परिच्छिन्न है या व्यापक ? यदि परिच्छिन्न हो तो उससे अपंचीकृत महाभूत और खाये हुए अन्न की याद आयेगी ! (तात्पर्य है कि जो परिच्छिन्न है वह कार्य होता है और कार्य अपने कारण को याद दिलाता है। मनका कारण सूक्ष्म भूत और अन्न का सूक्ष्मांश हैं जिससे वह अन्नमय कहलाता है। यों जड का कार्य होने पर वह चेतन और आत्मा माना जाये यह ग़लत है।)।।४८१।। परिच्छिन्न न मानकर यदि वादी कहे कि मन किसी देश-काल-वस्तु में नहीं है अर्थात् विभु है, व्यापक है, अतः तीनों परिच्छेदों से रहित है; तब तो वह मन ही नहीं होगा वरन् विज्ञान-आनंद रूप वाला यह स्वप्रकाश आत्मा ही होगा।।४८२।। इस त्रिलोकी में मन उसे कहते हैं जो तैजस अर्थात् सत्त्वप्रधान अंतःकरण सैकड़ों संकल्पों के प्रति कारण बनता है। अपरिच्छिन्न पदार्थ को मन कहकर आपने ऐसी वस्तु तो कही नहीं, केवल 'मन' यह नाम ही लिया, अर्थ उसका आपने आत्मा को बता दिया।।४८३।। कहीं कभी किसी विचारशील को नाम के बारे में विवाद नहीं होता। जिसे हम आत्मा कहते हैं उसे आप मन कह रहे हैं।।४८४।। स्वप्रकाशस्वरूप ज्ञान वाणी व मन की पहुँच से बाहर है, अतः इस परमात्मा के बारे

१. श्लो. ४५८ तमे कृतयोर्विकल्पयोः—इति शेषः।

अध्यस्यन्ते यथाऽन्यानि नामान्यात्मविशारदैः। मन इत्येव चात्रैकमध्यस्यति तथा भवान्।।
परिशेषात्ततो ज्ञेयः स्वयंज्योतिरयं पुमान्।।४८६।।

प्रतीतेरात्मनस्तद्वद् आत्मनो व्यतिरेकिणः। प्रत्यायकस्य चाभावात् स्वयंज्योतिरयं पुमान्।।४८७।।

स्वयंज्योतिष्ट्वे युक्तिः

न ज्ञानमात्मनो भिन्नं स्वप्रकाशं कथंचन। परिच्छेदो भवेद् भेदे परिच्छेदादनात्मता।।४८८।।

ज्ञानात्मनोर्घटस्येव ततो भेदोऽनयोर्न हि। विभेदाभावतश्चापि स्वयंज्योतिरयं पुमान्।।४८९।।

यद्यपि स्यात्तथाप्येष ह्यन्वयव्यतिरेकतः। गम्यते स्वप्नकालेऽत्र स्वयंज्योतिस्ततोऽपि च।।४९०।।

आत्मादिनामानि मुख्यवृत्त्या वर्तन्ते, मनः पदं तु लक्षणया; मन्मते तु विपरीतमिति चेद् ? न, अवाङ्मनसगोचरे लक्षणयैव सर्वशब्दवृत्तेः सिद्धान्तितत्वादित्याशयेनाह—आत्मादीन्यपीति द्वाभ्याम्।स्वप्रकाशात्मबोधने स्वप्रकाशात्मक-बोधरूपे।।४८५।। अध्यस्यन्त इति। यथा आत्मतत्त्वकुशलैः अन्यानि आत्मादि-नामानि अध्यस्यन्त आरोप्यन्ते तथा भवान् मन इति नाम अध्यस्यति इति। अयं भावः—आत्मज्ञानानन्दशब्दाः शबले रूपे व्युत्पन्नाः शुद्धे लक्षणया प्रवर्तन्ते। एतत् सङ्क्षेपशारीरके प्रपञ्चितम् इति। फलितमाह—परिशेषादिति। प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राऽप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे संप्रत्यय इत्युक्तलक्षणात्; प्रकृते तल्लक्षणसमन्वयस्तु—स्वप्ने ज्योतिष्ट्वं भ्रान्तदृष्ट्या यत्र मनसि प्रसक्तं तस्य प्रतिषेधः कृतः, अन्यत्र अविद्यायाम् आवरकत्वेन प्रसिद्धायां तथा जाग्रत्प्रपञ्चे स्वप्नेऽविद्यमाने ज्योतिष्ट्वप्रसक्तिरेव नास्ति इत्यतो हेतोः परिशिष्यमाण आत्मनि ज्योतिष्ट्वसम्प्रत्यय इति।।४८६।। परिशेषमेव व्यनक्ति—प्रतीतेरिति। आत्मनः प्रतीतिर्भासमानता भवति तद्वत् तथा आत्मनः अपेक्षया व्यतिरेकिणः भिन्नस्य प्रत्यायकस्य बोधकस्य अभावोऽपि भवतीत्यतः परिशेषाद् अयम् आत्मा स्वयंज्योतिः इत्यर्थः।।४८७।।

यद्यपि अद्वितीयत्वपरश्रुत्यन्तरानुसारितर्केणापि स्वयंज्योतिष्ट्वमनुसन्धातुं शक्यं तथापि प्रकृत-श्रुत्याऽन्वयव्यतिरेकाख्या युक्तिः सुखबोधाय दर्शितेति निरूपयति—न ज्ञानमिति त्रिभिः। यथा प्राभाकरा आत्मनो धर्मं स्वप्रकाशं ज्ञानं मन्यन्ते तथा न मन्तुं युक्तम्; तथा सति भेदात्मकवस्तुपरिच्छेदाद् अनात्मत्वव्याप्याद् हेतोः अनात्मत्वमेव घटवद् ज्ञानात्मनोः ज्ञानस्यात्मनश्च स्यात् ततोऽनयोः ज्ञानात्मनोः न भेदः। ज्ञानाभेदे च आत्मा स्वयं प्रकाश इति यद्यपि तर्केणैव सिद्ध्यति तथाप्येष आत्मा स्वप्नकाले च येन भासकतया सत्त्वेन इतरेषां भासकत्वाभिमतानाम् आदित्यादीनां व्यतिरेकाच्च सुखेन गम्यते तत इत्यभिप्रायेण स्वयंज्योतिः इत्युक्त इति त्रयाणामर्थः।।४८८-४९०।।

में आत्मा आदि नाम भी मुख्य वृत्ति से प्रवृत्त नहीं होते।।४८५।। आत्मविचार में कुशल अन्य लोग जैसे आत्मा आदि विभिन्न नामों का आरोप करते हैं वैसे आप 'मन' इस एक नाम का यहाँ और अध्यास कर रहे हैं। इस प्रकार स्वप्न में लोकप्रसिद्ध मन को तो आप भी ज्योति नहीं मान रहे। अविद्या और जाग्रत्प्रपंच वहाँ ज्योति नहीं यह कह ही चुके हैं। अतः बचा हुआ आत्मा ही वहाँ ज्योति है यह निर्धारित होता है। आत्मा की प्रतीति वहाँ होती है, आत्मा से अन्य कोई वहाँ प्रतीति कराने वाला है नहीं, इसलिये वहाँ यह आत्मा ही स्वयं ज्योति है यह स्पष्ट है।।४८६-८७।।

स्वप्रकाश ज्ञान को आत्मा से भिन्न—उसका धर्म, गुण—मानना किसी तरह संगत नहीं। आत्मा में भेद होगा तो परिच्छिन्नता भी होगी और परिच्छिन्नता होगी तो वह अनात्मा ही होगा।।४८८।। परिच्छिन्न होने से जैसे घट अनात्मा है, ऐसे ही यदि परिच्छिन्न होंगे तो ज्ञान व आत्मा भी अनात्मा ही होंगे। इसलिये ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं स्वीकारा

स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वम्

सदा दाहक एवाग्निः स्वयंज्योतिः पुमांस्तथा। अव्याकृतजगद्योनिर्नामरूपविवर्जितम्।। ब्रह्म यत् सर्वदेहेषु तदेवात्मा स्वयंप्रभः।।४६१।।

यथा तत् सृजते सर्वम् एतत् सदसदात्मकम्। आत्मा सर्वशरीरेषु स्वयंज्योतिस्तथैव सः।।४६२।।

स्वाप्नानां कर्ता

न हि स्वप्नेऽत्र विद्यन्ते रथाः कनकभूषिताः। अभ्रंलिहध्वजास्तद्वत् पताकाकृतकौतुकाः।। मेघघोषा विचित्रैस्तैः परिपूर्णा परिच्छदैः।।४६३।।

'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इति श्रुतिभागस्य (बृ.४.३.६) आशयं वक्ष्यमाणोपयोगाय प्रकारान्तरेणाह—सदेति। यथा लोके दाहकः काष्ठादिपुञ्जं दहन्नेव अग्निः स्वयंज्योतिः इति व्यपदिश्यते, न तु काष्ठान्तर्गतो भस्मच्छन्नो वा; तथा अयमात्मा स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वेन निर्दिष्टइत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकं स्फुटयति—अव्याकृतेति। अव्याकृतं प्रलयकालेऽनभिव्यक्तनामरूपकं यज्जगत्तस्य योनिः उपादानं सर्वस्य कारणं निमित्तं च यद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिमत् तद् वेदान्तेषु स्वयंज्योतिरिति प्रसिद्धं निरपेक्षत्वात्; तदेव चात्र वाक्ये स्वयंज्योतिःपदेन अनूद्य प्रमातुरात्मत्वेन उच्यत इत्यर्थः।।४६१।। तस्य ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञापकं लक्षणं किमत्र दृष्टमिति चेत् ? जगज्जन्मादिकारणत्वं तटस्थलक्षणं तावदवधारयेत्याह—यथेति। यथा तद् ब्रह्म जगत् सृजते तथा अयमपि इत्यतः स्वयंज्योतिः-शब्दवाच्यः स परमात्मैवायमित्यर्थः। स्वरूपलक्षणं तु सत्यत्वज्ञानत्वादिकं प्रसिद्धमेवेति भावः।।४६२।।

अथोक्ततटस्थलक्षणस्य प्रतिपादिकां 'न तत्र रथा' इत्यादिकां[1] दशमकण्डिकामुपबृंहयति—न हि स्वप्न

जा सकता। ज्ञान से भेद न होने के कारण यह पुरुष (आत्मा) स्वयं ही प्रकाशरूप (ज्ञानरूप) है। यद्यपि यों तर्क से आत्मा की स्वप्रकाशता पता चल जाती है तथापि स्वप्न के विचार से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह तथ्य सिद्ध होकर आराम से समझ आ जाता है इस तात्पर्य से यहाँ इसे श्रुति ने स्वयंज्योति बताया है। (अन्वय-व्यतिरेक इस तरह है : आत्मा और भान का अन्वय है क्योंकि भान जाग्रत् व स्वप्न में है और आत्मा भी दोनों में है। भासकरूप से प्रसिद्ध सूर्यादि का स्वप्न में भान से व्यतिरेक है क्योंकि तब भान तो है लेकिन सूर्यादि नहीं हैं। इसलिये भान और आत्मा का अभेद सिद्ध हो जाता है।)।।४८९-९०।।

'यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है' इस वाक्य का एक ढंग से व्याख्यान किया। आगे बताना है कि सपने में आत्मा सभी दृश्य उत्पन्न करता है। उसकी भूमिकारूप से भी स्वयंज्योति-वाक्य का आशय समझाते हैं : लोक में आग को स्वयंज्योति तभी कहते हैं जब वह लकड़ी आदि को जला रही हो, लकड़ी में या राख में छिपी आग को प्रकाशरूप नहीं कहा जाता। उसी प्रकार यह आत्मा सपने में स्वयंज्योति कहा जा रहा है (जहां इसकी प्रकाशरूपता सुव्यक्त है)। प्रलय में अव्यक्त हुए जगत् का जो अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है, नाम-रूप से रहित है, सभी देहों में मौजूद है, वह ब्रह्म ही स्वयंज्योति आत्मा है। वही वस्तुतः निरपेक्ष ज्ञानरूप है। प्रकृत में 'स्वयंज्योति' शब्द से उसी का अनुवाद कर उसे प्रमाता का (जीव का) आत्मा अर्थात् वास्तविक स्वरूप बताया जा रहा है।।४६१।। जैसे वह ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म इस सारे प्रपंच को उत्पन्न करता है वैसे ही यहाँ कहेंगे कि सारे शरीरों में विद्यमान स्वयंज्योति आत्मा सपने में सब कुछ पैदा करता है। इसलिये स्वयंज्योति कहलाने वाला वह परमात्मा ही यह आत्मा है। (अर्थात् जगद्धेतुता यह जो ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है वह जीव में स्वप्न में दिखाया होने से जीव-ब्रह्मकी एकता विवक्षित है। दोनों में सच्चिदानंदरूप स्वरूप लक्षण तो एक है यह प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार विज्ञानमय का ऐसा वर्णन हो गया कि उसकी ब्रह्मरूपता संगत हो गयी यह इस व्याख्या का चमत्कार है।)।।४६२।।

१. 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानंदा मुदः प्रमुदो भवन्ति अथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता।।१०।।'

रथयुक्ता हया नैव विचित्रगतिकर्णिकाः। वायुवेगाः पुरो भूमिं दृष्ट्वा लज्जामुपागताः।।४६४।।

उत्पतन्त इवाकाशे दारयन्त इवातुराम्। भूमिं भूधरविष्टब्धां पूर्वोत्तरपदद्वयात्।।४६५।।

पन्थानो नैव विद्यन्ते तत्र चित्रा मनोरमाः। मृदुलाः शीतलास्तद्वत् सिक्ताश्चन्दनवारिभिः।।४६६।।

घनापणादिमध्यस्था घटदीपैः प्रकाशिताः। चित्रस्थानस्थिताऽनेकचित्रमण्डनमूर्तिभिः।।४६७।।

अप्सरःसदृशाऽनन्तललनाभिर्विराजिताः। सुवर्णमणिरत्नौघमण्डिताभिः समन्ततः।। दधिलाजादि-
संयुक्तस्वर्णपात्राब्जपाणिभिः।।४६८।।

सन्ति नैवात्र चानन्दाश्चेतनाऽचेतनैः कृताः। यथा जागरणेऽभीष्टयुवतीनां समागमात्।
इष्टादन्नात्तथा पानाद् वसनाऽऽभरणादितः।।४६९।।

इत्यादिसप्तदशभिः। अत्र लोकप्रसिद्धे स्वप्ने रथा न सन्ति। कीदृशाः ? स्वर्णखचिताः। अभ्रंलिहा आकाशस्पर्शिनो ध्वजा येषां ते तथा। पताकाभिः स्वल्पध्वजैः कृतचमत्काराः। मेघध्वनयः। विचित्रोपकरणपरिपूर्णाश्चेति। अत्रेदं बोध्यम्—श्रोतुर्जनकस्य राजत्वात् तदनुकूलतया रथादिपदार्था अत्र निरूप्यन्त इति।।४६३।। रथयुक्ता इति। रथे युज्यन्त इति व्युत्पत्त्या 'रथयोग'- पदोक्ताः तुरगा अप्यत्र न सन्ति। कीदृशाः ? विचित्रा गतिः, कर्णिका कर्णभूषणानि च येषां ते तथा। 'कर्णिका कर्णभूषण' इति विश्वः। पुनः कीदृशाः ? वायुवेगसमवेगोत्कर्षात् पुरतः भूमिं दृष्ट्वा लज्जमाना आकाशं य उत्पतन्ति उत्प्लुत्य गच्छन्ति इव। तथा ये पूर्वोत्तरपदद्वयात् पूर्वतो निधाय उत्तरतो वामतो निहितेन पदद्वयेन कुद्दालसमेन भूमिं विदारयन्तीव। कीदृशीं भूमिम् ? आतुरां विदारणभयव्याकुलामिव। इति द्वयोरर्थः।।४६४-६५।। पन्थान इति। तत्र स्वप्ने पन्थानो रथमार्गाः।।४६६।। घणापनादीति। कीदृशाः पन्थानः ? घनानां निबिडबद्धपङ्क्तीनाम् आपणानाम् आदिपदग्राह्यगृहाणां वा मध्यगताः। पुनः कीदृशाः ? घटदीपैः मङ्गलकलशोपरि निहितदीपैः प्रकाशिताः। चित्रस्थानेत्यादि दीपविशेषणम्; चित्राणाम् आलेख्यानां स्थानेषु स्थितानि यानि चित्राणि तेषां मण्डनभूता विकासिका मूर्तयो येषां ते तथा तैरित्यर्थः।।४६७।। अप्सर इति। पुनः कीदृशाः पन्थानः ? सुरूपाभिः भूषिताभिः मङ्गलहस्ताभिः च ललनाभिर्विराजिताः।।४६८।। सन्ति नैवेति। अत्र आनन्दपदेन इष्टभोगजन्यं सुखं विवक्ष्यते। यथा जागरणेऽभीष्टयुवतीनाम् अन्नपानवस्त्रभूषणादीनां च समागमहेतुका आनन्दाः सन्ति तथा स्वप्ने न सन्ति अस्थिरत्वाद्

अब दसवीं कण्डिका का अर्थ बताते हैं, जिसमें जगज्जन्मादिकारणतारूप तटस्थ लक्षण प्रतिपादित है : लोकप्रसिद्ध सपने में स्वर्णालंकृत, ऊँची ध्वजा वाले, झण्डियों से सजे, मेघतुल्य घोष वाले, विविध उपकरणों से परिपूर्ण (व्यावहारिक) रथ नहीं हुआ करते।।४६३।। वहाँ ऐसे (व्यावहारिक) घोड़े भी नहीं होते जिनकी चाल और कर्णाभूषण विचित्र हों, वायुतुल्य तेज़ी वाले हों, सामने ज़मीन देखकर शरमा जाते हों (कि अब तक इसे पार क्यों नहीं कर पाये!), जो मानो आकाश में उछलते हों, पहाड़ों ने जिसे धारण कर रखा है वह पृथ्वी भी मानो उन से डर जाती हो क्योंकि अगले व पिछले दोनों पैरों से वे उसे खोद डालते हों।।४६४-६५।। सपने में रंग-बिरंगे, मनोरम, मुलायम, ठंडे, चंदनयुक्त जल से सिंचित मार्ग भी नहीं हुआ करते।।४६६।। घने बाज़ार आदि में बीच से गुज़रते रास्ते सपने में (व्यवहारदृष्ट्या) नहीं होते जिन्हें घड़ों पर रखे ऐसे दीपक प्रकाशित कर रहे हों जो चित्रभित्ति पर खिंचे अनेक चित्रों को स्पष्ट दिखा देते हैं।।४६७।। वहाँ ऐसे पथ नहीं होते जिन पर स्वर्ण-मणि-रत्नों के समूहों से हर तरह अलंकृत, अप्सरा-तुल्य अनंत ललनायें घूमती हों जिनके करकमलों में दही, लाजा आदि समेत सोने के बर्तन हों।।४६८।। जाग्रत् अवस्था में जैसे अभिलषित युवतियों के संपर्क से, भोजन, पेय, वस्त्र, आभरणादि से आनंद होता है, ऐसे ही सपने में किसी चेतन या जड द्वारा दिये गये कोई आनंद नहीं होते।।४६९।। प्रिय मिलन और अप्रिय-वियोग से जाग्रत् में जैसे प्रसन्नता होती

सन्ति नैव मुदस्तत्र यथा प्रियसमागमात्। अप्रियस्य वियोगाच्च दृष्टा जागरणे नृणाम्।।५००।।

न पुत्रजननाद्याश्च विद्यन्ते प्रमुदोऽपि हि। यथा जागरणे लोके पुत्रादिरहितस्य तु।।५०१।।

पल्वलानि न नीराणि तत्र जागरणे यथा। निर्गच्छदुदका नैव पुष्करिण्योऽपि सन्ति हि।।५०२।।

प्रासादाद्या गृहा नैवं प्राङ्गणैरुपशोभिताः। न पर्वता वनैः साकं न सरित्सागरादयः।।५०३।।

न च लोका लोकपालैः सहिता नाऽपि वा दिशः। न भूतानि महान्त्यत्र पञ्च चत्वारि नैव च।।५०४।

नभआदीनि तद्वच्च स्वेदजादीन्यनेकशः। न ब्रह्माण्डं न तद्बाह्यं सदसद्वस्तु किञ्चन।।५०५।।

स्वयंज्योतिः स्रष्टा

विद्यते स्वप्नकालेऽस्मिन् मन एकं विहाय तत्। स्वयंज्योतिस्तदाऽऽत्माऽयं कर्ताऽव्याकृतवद्भवेत्।।५०६

मनोभित्ताविदं विश्वं चित्रं सृजति मायया। कर्ताऽऽत्मा रथमुख्यं यत् स्वप्ने नेति समीरितम्।।५०७।।

इति सम्बन्धः।।४९९।। सन्ति नैव मुद इति। यथा जागरणे **प्रियाप्रिययोः लाभवियोगाभ्यां मुदो हर्षा दृष्टास्तथा स्वप्ने** न सन्ति इति।।५००।। न पुत्रेति। यथा जाग्रति लोके **पुत्रादिहीनस्य पुत्रादिलाभजन्याः प्रमुदः प्रकृष्टहर्षाः प्रसिद्धास्तथा न सन्तीति।।५०१।।** पल्वलानीति। **श्रुतिगत-वेशान्त-पदोक्तानि पल्वलानि स्वल्पसरांसि** यथा जागरणे **सन्ति तथा तत्र स्वप्ने न सन्ति। कीदृशानि पल्वलानि ?** नीराणि **जलस्थानोपलक्षकानीत्यर्थः। स्रवन्ती-पदं पुष्करिणीविशेषणत्वेन व्याचष्टे**—निर्गच्छदिति। निर्गच्छत् **स्रवद् उदकं याभ्य एतादृश्यः** पुष्करिण्यो **बृहत्तडागादिरूपा** अपि जाग्रद्वद् न सन्ति इति।।५०२।। **श्रौतानां रथादीनामुपलक्षणत्वालम्बनेन इतरपदार्थानपि अभावप्रतियोगित्वेन आह**—प्रासादाद्या इत्यादिना। **स्पष्टम्।।५०३।।**

न च लोका इति। नभआदीनि पञ्च भूतानि अत्र **न सन्ति। तथा स्वेदजोद्भिज्जादीनि** चत्वारि भूतानि **प्राणिजातयो न सन्ति। तथा** ब्रह्माण्डं **ब्रह्माण्डाद् बाह्यं स्थूलं सूक्ष्मं च** किञ्चन **स्वप्ने** न विद्यते। **मनः तु दृश्याकारपरिणामि एकम् अवशिष्यते। अतः तदा स्वप्ने प्रकाशकान्तराभावेन स्वप्रकाश** आत्मा कर्ता **रथादिविषयाणां तथा भवेद् अव्याकृतोपाधिकेश्वरवद्। इति त्रयाणामर्थः।।५०४-५०६।।**

कर्तृत्वं स्पष्टयति—मन इति। आत्मा रथमुख्यं विश्वम् एव चित्रं नेति समीरितं **'न त्वत्र रथा'** इत्यादिना **निषिद्धं** स्वप्ने मायया सृजति **अतः** कर्ता **इति सम्बन्धः।।५०७।।** अत इति। **यतः स्वप्नेऽस्य प्रभावो दृष्टः** अत एव एष

है ऐसे सपने में कोई वास्तविक प्रसन्नता नहीं होती।।५००।। जैसे जाग्रत्-संसार में पुत्रादिरहित व्यक्ति को पुत्रादि उत्पन्न होने पर खास हर्ष होता है वैसे सपने में कोई (व्यावहारिक) हर्ष नहीं हुआ करता।।५०१।। जाग्रत् की तरह वहाँ लबालब भरे तालाब और पानी के कुण्ड भी (सचमुच) नहीं होते।।५०२।। आँगनों से सुंदर दीखने वाले महलादि घर, वनों समेत पहाड़, नदियाँ, सागर आदि कोई भी पदार्थ सपने में (वास्तव में) होते नहीं हैं।।५०३।। लोकपालों सहित लोक, दिशायें, नभ आदि पाँचों महाभूत, स्वेदजादि चारों तरह के प्राणी, ब्रह्माण्ड या उससे बाहर का स्थूल-सूक्ष्म कोई पदार्थ सपने में नहीं हुआ करता।।५०४-५।। उस एक मन को छोड़कर पूर्वोक्त कोई पदार्थ इस सर्वानुभूत स्वप्न में नहीं होता। तब यह स्वयंज्योति आत्मा उसी प्रकार सारे दृश्यों का कर्ता बनता है जिस प्रकार अव्याकृत उपाधि वाला ईश्वर इस जाग्रत्सिद्ध संसार का कर्ता है।।५०६।।

जिन रथ आदि के बारे में अभी कहा कि वे सपने में नहीं होते वे रथादि प्रधान हैं जिस विश्वात्मक चित्र में वह चित्र आत्मा माया द्वारा मन रूप भींत पर खींच लेता है, इसीलिये उसे स्वाप्न प्रपंच का कर्ता, रचयिता कहते हैं।।५०७।।

अत एव भवेदेष कर्ता विश्वस्य देहगः। मायां विना कथं नाम सृजेदेतच्चराचरम्।।
देशकालनिमित्तादिरहितो निर्गुणः पुमान्।।५०८।।

देशकालनिमित्तादीन् सृष्ट्वा यद्वद् बहिः सृजेत्। ईश्वरस्तद्वदेवायं स्वप्ने देहगतः पुमान्।।५०९।।

अथ मन्त्राः

ब्राह्मणैर्यादृशः स्वप्ने कर्तोक्तः परमेश्वरः। आत्मा सर्वशरीरेषु तादृङ्मन्त्रैरपीरितः।।५१०।।

विषयेन्द्रियजातं यत् स्थूलदेहस्य तत् पुमान्। स्वप्नावलोकतस्त्यक्त्वा सुप्तिशून्यः स्वयम्प्रभः।।५११।।

जडान् सर्वानिमान् भावान् मानसान् हि सकारणान्। प्रकाशयति तैः सर्वैरप्रकाश्यः शरीरभाक्५१२

आत्मा विश्वस्य कर्ता ईश्वरो भवेत्। न त्वत्र मायाहानिः, कार्यान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धेरित्याह—मायामिति। अयं पुमान् निर्गुणत्वेन देशादिहीनो भवति। यदि च मायापि न स्यात् तर्हि कथं सृजेद् इति सम्बन्धः।।५०८।। फलितमाह—देशेति। बहिः जागरणेऽनुभूयमानं विश्वम् ईश्वरो यथा देशादिसृष्टिपूर्वकं सृजति तथा अयम् आत्मा स्वप्ने चराचरं सृजतीत्यर्थः।।५०९।।

'तदेते श्लोका' इत्यस्यार्थमाह—ब्राह्मणैरिति। यथा ब्राह्मणभागैः आत्मनः स्वप्रकाशत्वबोधनाय कर्तृत्वमुक्तं तथा श्लोकपदोक्तैः मन्त्रैः अपि उच्यत इत्यर्थः।।५१०।।

तत्र 'स्वप्नेन' (बृ. ४.३.११)[1] इत्यादेः प्रथममन्त्रस्यार्थमाह—विषयेन्द्रियेति सप्तभिः। स्वप्नावलोकतः स्वप्नदर्शनार्थं स्थूलशरीरसम्बन्धिविषयेन्द्रियसमूहं त्यक्त्वा त्यागेन मृतप्रायं कृत्वा इमान् मानसान् मनःपरिणामभूतान् सर्वान् भावान् सकारणान् कारणाऽज्ञानसहितान् जडान् जाड्यात्मकनिद्रासुप्तान् अयं शरीरभाक् जीवात्मा प्रकाशयति। कीदृशः ? तैः सर्वैरप्रकाश्यः सुप्तिशून्यः अलुप्तदृक् स्वयम्प्रभः चेति द्वयोरर्थः।।५११-५१२।। स्वयंज्योतिरिति।

क्योंकि इसका प्रभाव सपने में देखा गया है इसलिये यह निःसंदेह स्वीकार्य है कि यह देहवर्ती आत्मा जगत्कर्ता ईश्वर से अलग नहीं है। देश-काल-निमित्ति आदि से वर्जित गुणहीन पुरुष (सपने में) इस चराचर जगत् को माया के बिना कैसे उत्पन्न कर सकता है ? (अतः मायासे ही सपना बनाया जाने से पता चलता है कि माया से जगत् बनाने वाला और सपना बनाने वाला एक ही है।) ईश्वर जैसे देश-काल-निमित्त आदि उत्पन्न कर बाह्य जगत् उत्पन्न करता है उसी प्रकार यह देहस्थ पुरुष सपने में सब कुछ उत्पन्न कर लेता है।।५०८-९।।

ब्राह्मण वाक्यों ने आत्मा स्वप्रकाश है यह समझाने के लिये सब शरीरों में विद्यमान आत्मरूप परमेश्वर को स्वप्न में जिस तरह का कर्ता बताया है, वैसा ही मंत्रों द्वारा भी बताया गया है। ('तदेते श्लोका भवन्ति' कहकर श्रुति ने चार मन्त्र उपन्यस्त किये हैं जिनमें यही विषय कहा है।)।।५१०।।

प्रथम मंत्र है—स्वप्नावस्था द्वारा स्थूल शरीर को निश्चेष्ट बनाकर आत्मा अपने ज्ञानरूप से जगा रहता है। जाग्रत् से स्वप्न में जाते हुए वह इंद्रियों की वासनायें साथ ले जाता है और संस्कारों से उत्पन्न विषयों का वहाँ अनुभव करता है। अकेला चलने वाला चेतनरूप पुरुष कर्मानुसार पुनः जाग्रदवस्था में अपना स्वप्रकाश स्वरूप लेकर आ जाता है।—इसका व्याख्यान पुराणकार करते हैं :

स्वप्न देखने के लिये पुरुष स्थूलशरीर सम्बन्धी विषय-इंद्रिय समूह को छोड़कर इन सब जड विषयों को देखता है जो तब मनसे बनते हैं और विषयों में अनुस्यूत उनके कारण को (मन या अज्ञान को) भी यह जानता रहता है। स्वयं इस स्वप्रकाश की दृष्टि कभी लुप्त होती नहीं, अतः यह उन विषयों से तो अप्रकाश्य ही रहता है। आत्मा के स्वयम्प्रकाश स्वरूप को वेद 'शुक्र' कहता है, उसी को लेकर यह जाग्रदवस्था में लौटता है, स्वाप्न विषय लेकर नहीं चला आता ! फिर कर्मगति के अनुसार यह सान्ध्य कहलाने वाली स्वप्नावस्था में जाता है। यों इसका गमनागमन

१. स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्याऽसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरेति स्थानँ् हिरण्मयः पुरुष एकहँ्सः।।इति।।

स्वयंज्योतिःस्वरूपं यत् शुक्रमादाय तत् स्वयम्। आयाति पुनरेवायं गत्वा जागरणं सदा।।५१३।।
स्थानं स्वप्नाभिधं यत्तु सान्ध्यमित्यभिधीयते। हिरण्मयः सदा स्वस्य भासाऽयं भास्वरो यतः।।५१४
एकश्चायं समग्रासु यात्यवस्थास्वहर्निशम्। हित्वाऽवस्थां पूर्वजातां विक्रीडन् बालको यथा।।५१५
चराणां च स्थिराणां च शरीराण्यखिलान्यपि। अन्नपानरसाद्यैश्च पूर्यन्तेऽहर्निशं यतः।।५१६।।
ततस्तानि पुरीशब्दैरुच्यन्ते वेदवादिभिः। शेते पुरीष्वयं यस्मात् तस्मात् स पुरुषः स्मृतः।।५१७।।
एक एव सदावस्था आददानो जहत्तथा। एकहंसः पुमांस्तेन पुरुषश्चेति गीयते।।५१८।।
स्थूलाद् देहाद्यदा स्वप्नं प्रयाति पुरुषस्तदा। देहरक्षाकरं प्राणं मुक्त्वा याति मृतिं विना।।५१९।।
देहाभिमानतो बाह्ये गत्वा स्वप्नान् प्रपश्यति। देहधर्मैरयं सर्वैर्विमुक्तो मरणादिभिः।
स्वेच्छया विचरत्यत्र देहयन्त्रे स्वयंप्रभः।।५२०।।

स्वयंज्योतिः स्वयंप्रकाशं यत् स्वरूपं श्रुतौ शुक्रपदोक्तं तदेव आदाय, अन्यत् सर्वं स्वप्नदृश्यजातं परिहृत्य, जागरणावस्थां गत्वा, पुनरेव स्वप्नाभिधं सान्ध्यं स्थानमायाति इत्यन्वयः। भाष्यव्याख्यातो वैलक्षण्यं तु प्रमेयाविरोधाद् न दोषायेति बोध्यम्। कीदृश आत्मा ? हिरण्मयः; स्वार्थे मयट्, मयटो मकारलोपश्छान्दसः; प्रकाशरूप इत्यर्थः। तत्र हेतुः—यतः स्वस्य भासा भास्वरः। इति द्वयोरर्थः।।५१३-१४।। 'एकहंस'-पदार्थमाह—एकश्चेति। पूर्वां पूर्वाम् अवस्थां हित्वा उत्तरोत्तरां यत एक एव हन्ति गच्छति तत एकहंस इत्युक्त इत्यर्थः।।५१५।। पुरुषपदार्थमाह—चराणामिति द्वाभ्याम्। चराचरशरीराणि अन्नादिरसैः पुनः पुनः पूरणात् पुरीवाचकशब्दैः हलन्तपुर्शब्दप्रभृतिभिः उच्यन्ते तासु पूर्षु वसनात् पुरुष इत्युच्यते। इति द्वयोरर्थः।।५१६-५१७।। चतुर्णामर्थमेव सङ्क्षिप्याह—एक एवेति। स्पष्टम्।।५१८।।

'प्राणेन'[1]—(बृ. ४. ३. १२) इत्यादिद्वितीयमन्त्रस्यार्थमाह—स्थूलादिति। यथा राजा परदेशं गच्छन् स्वराजधानीरक्षार्थं कञ्चित् सामन्तमवस्थाप्य गच्छति तथाऽयं पुरुषः स्थूलदेहाभिमानं परित्यज्य यदा स्वप्नं याति तदा स्थूलदेहरक्षायां प्राणं पञ्चवृत्तिकमवस्थाप्य याति। मरणकाले तु प्राणं सहैव नयतीत्यर्थः।।५१९।। देहेति। स्थूलदेहाभिमानतः श्रुतिगतकुलायपदलक्ष्यार्थाद् बाह्ये गत्वा, तं परित्यज्येति यावत्, स्वप्नान् पश्यति। कीदृशः ? अयं पुरुषः; मरणादिभिः देहधर्मैः मुक्तः; स्वयंप्रभः च। योऽयं यथेच्छं देहान्तरे च नाडीषु[2] विचरति नानाभावान् कल्पयतीत्यर्थः।।५२०।।

चलता रहता है। क्योंकि यह हमेशा अपने ही स्वरूपभूत ज्ञान से भासमान है इसलिये इसे 'हिरण्मय' अर्थात् प्रकाशरूप कहते हैं। पिछली अवस्था छोड़कर अगली अवस्था में यह अकेले ही चला जाता है। सारी अवस्थाओं में दिन-रात यह अकेले ही घूमता रहता है, इसलिये इसे 'एकहंस' भी कहते हैं। यह जाना-आना उसके लिये वैसे ही खेल है जैसे बच्चों के लिये एक खिलौना छोड़कर दूसरे खिलौने से खेलना होता है। चर-अचर सभी शरीर अन्नपानादि के रसों से लगातार पूरे किये जाते हैं इसलिये 'पुरी' कहलाते हैं और उनमें वास करने से आत्मा 'पुरुष' कहलाता है। अकेले ही अवस्थाओं को हमेशा छोड़ता-लेता रहता है इसी से आत्मा को 'एकहंस, पुरुष' कहते हैं।।५११-१८।।

द्वितीय मंत्र है—स्वप्न काल में आत्मा स्थूल शरीर की रक्षा प्राण द्वारा करता है। स्वयं वह अमरणधर्मा तब इस स्थूल शरीर के संबंध वाला नहीं रह जाता—मानो इससे बाहर निकल गया हो—और जहाँ चाहे वहाँ जाता है अर्थात् यथेच्छ उपभोग करता है। इसे स्पष्ट करते हैं :

कोई राजा परदेश जाते समय अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिये किसी विश्वस्त सामंत को जैसे नियुक्त करता है ऐसे ही यह पुरुष स्थूल देह का अभिमान छोड़कर जब स्वप्न की ओर जाता है तब स्थूलशरीर की रक्षा करने वाले प्राण को यहीं छोड़कर जाता है। मरते समय की बात छोड़कर यह नियम है क्योंकि उस समय तो यह प्राण भी साथ

१. 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः।।' इति।। २. तदुक्तं वार्तिककृद्भिः 'नाडीस्त्यक्त्वा यतः स्वप्ने जाग्रद्भोगप्रदाः पुमान्। स्वप्नभोगप्रदा याति बहिर्नीडादतस्तदा।।'४. ३.६४०।। इति।।

स्वेच्छया पर्यटन् देवो यथा मायाविबालकः। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं स्वप्न उच्चावचं वपुः।। आदत्ते च जहात्येष तत्तद्भोगानवाप्नुवन्।।५२१।।

भोगोपकरणं तत्र तत्तत्सृजति तादृशः। स्वयं पिता तथा माता त्राता तद्वद् गुरुः स्वयम्।।५२२।।

जाया सुतादिकं तद्वत् स्वयमेव भवत्ययम्। एवं कल्पयते रूपमुच्चं वाऽवचमेव वा।।५२३।।

भोक्तृत्वकरणं स्वस्य भोगसङ्गविवर्जितः। भोग्यरूपाणि चान्यानि कल्पयत्यात्मनः पुमान्।। तत्तज्जात्यनुकारीणि प्रधानसदृशानि सः।।५२४।।

कदाचित् कामितामाप्तकामः कल्पयतीश्वरः। आत्मनस्तत एवायं कामुकस्वप्नमागतः।।५२५।।

'स्वप्नान्त' इत्यादेस्तृतीयमन्त्रस्य[1] अर्थमाह—स्वेच्छयेति एकादशभिः। एवं स्वप्ने स्वेच्छया पर्यटन् सन् देवः अयमात्मा ब्रह्मा हिरण्यगर्भः तच्छरीरादि उच्चं; स्तम्बः तृणगुच्छः, तच्छरीरपर्यन्तम् अवचं च वपुः आददाति त्यजति च, तत्तद्भोगप्राप्तय इत्यर्थः। श्रुतौ 'अन्त'-शब्दो मध्यवचन इति।।५२१।।नानाभावप्रकारं विशदयति—भोगोपकरणमिति। भोगोपकरणं शरीरेन्द्रियादिकं तत्तद् नानाविधं सृजति। तथा स्वयम् एव पित्रादिरूपो भवति। एवम् अमुना प्रकारेण उत्कृष्टं निकृष्टं वा रूपं कल्पयतीति द्वयोरर्थः।।५२२-२३।। भोक्तृत्वेति। तथा वस्तुतो भोगस्य सङ्गेन सम्बन्धेन विवर्जितोऽपि स्वकीयभोक्तृत्वस्य करणम् आरोपनिमित्तमन्तःकरणवृत्तिविशेषं कल्पयति। तथा भोग्यरूपाणि वस्तूनि; कीदृशानि ? तत्तद् देवादिजातीनां तथा प्रधानस्य कर्मफलभोगस्य सदृशानि योग्यानीत्यर्थः।।५२४।। 'उतेव स्त्रीभिः' इत्यादेः 'जक्षद्' इत्यन्तस्य (बृ. ४.३.१३) अंशस्यार्थमाह—कदाचिदिति पञ्चभिः। अयम् आत्मा आप्तकाम ईश्वरः अपि कदाचिद् आत्मनः कामितां कामिभावं कल्पयति तदा तु कामुकस्वप्नं कामुकैरनुभूयमानं स्वप्नम् आगतः सन् नारीभिर्नेत्रपङ्कजैरालिङ्गितो निभृतं दृष्टः सन् रममाणो हसंश्च सन् शोभने स्वप्नेऽद्भुतं सुखमुपैतीति

ले जाता है। (अन्य इंद्रियादि स्थूल शरीर में कुछ करते नहीं जबकि प्राण अपना कार्य स्वप्न-सुषुप्ति में भी करता रहता है अतः इसे यहाँ छोड़कर जाना बताया।)।।५१६।। स्थूल देह के अभिमान की पकड़ से बाहर होकर यह स्वप्न देखता है। इस स्थूल देह के मरणादि-सभी धर्मों से यह तब छूटा रहता है (तभी वहाँ अपने अलग ही जन्म-जरा-मरणादि देखता रहता है) स्वप्नदशा में यह स्वप्रकाश आत्मा इस स्थूल शरीर के भीतर ही यथेष्ट विचरण करता है। (स्वप्न काल में विविध नाडियों में अवस्थिति होती है। जाग्रत् में जिन नाडियो में चेतन स्फुरता है वे अलग हैं, स्वप्न के लिये जहाँ स्फुरण चाहिये वे पृथक् हैं।)।।५२०।।

तीसरा मंत्र है—स्वप्न में वह देव श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भाव पाकर अनेक वासनामय रूप बना लेता है। वह तब मानो स्त्रियों से प्रसन्न होता है, दोस्तों के साथ हँसता है और कभी शेर आदि से डर भी जाता है !—इसे समझाते हैं—

मायावी बालक की तरह आत्मदेव स्वप्न में अपनी इच्छानुसार लीला करते हुए ब्रह्म से लेकर घास तक के अच्छे-बुरे शरीर लेता-छोड़ता है और उन शरीरों के भोग (सुख-दुःख) भी अनुभव करता है। वहाँ वह नाना प्रकार के शरीर-इंद्रियादि भोगसाधन बना लेता है और स्वयं ही पिता, माता रक्षक, गुरु आदि बन जाता है। ऐसे ही पत्नी, पुत्र आदि भी वह वहाँ खुद ही बनता है। ऊँचे-नीचे रूप वह इसी तरह वहाँ बनाता रहता है। भोग के संबंध से रहित होने पर भी अपने भोक्तृत्व के प्रति साधन बनने वाली वृत्ति आत्मा बना लेता है। (अर्थात् 'मैं भोग रहा हूँ' ऐसी वृत्ति बनाकर स्वयं को भोक्ता समझता है। जाग्रत् में तो अंतःकरण ईश्वरनिर्मित है, अतः उसकी भोक्तृत्वाकार या अहंकारात्मिका वृत्ति के लिये भी हम उत्तरदायी नहीं, बद्ध हैं; लेकिन सपने में जो हम वैसी वृत्ति बनाकर सुख-दुःख भोगते हैं उसके

---

१. 'स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्।।'इति।।

अप्सरःसदृशद्व्यष्टवर्षाभिर्नेत्रपङ्कजैः। आलिङ्गितोऽत्र नारीभिः सोत्कण्ठाभिश्च सर्वतः।।५२६।।

पीनोन्नतकुचद्वन्द्वजघनोत्थितभारतः। प्रस्खलद्गतिभिर्ध्वस्तस्वाकल्पाभरणादिभिः।।५२७।।

सीमन्तलग्नसिन्दूरपीतलोहितभूमिभिः। नन्दनादिवनप्रख्यवनगाभिरितस्ततः।।५२८।।

परितस्तूर्यवादित्रध्वनिध्वनितभूमिभिः। विद्याधरीसमानाभिर्गान्धर्वे कण्ठसौष्ठवे।। रममाण इवोपैति सुस्वप्ने सुखमद्भुतम्।।५२९।।

पश्यन् दुर्गन्धदुष्टानि वस्तूनि ललनाः सदा। मनोहराङ्गहीनोऽयं यथा जागरणे गृही।।५३०।।

पञ्चमेन सम्बन्धः।।५२५।। अप्सर इति। कीदृशीभिर्नारीभिः ? अप्सरःसदृशीभिः द्व्यष्टवर्षाभिः षोडशवर्षाभिः च सोत्कण्ठाभिश्च।।५२६।। पीनोन्नतेति। पुनः कीदृशीभिः ? पीनेनोन्नतेन च कुचद्वन्द्वेन जघनेन चोत्थितः प्रयुक्तो यो भारस्तेन प्रस्खलद्गतिभिः। पुनः कीदृशीभिः ? विह्वलतया ध्वस्तानि आकल्पः पुष्पादिनिर्मितो वेश आभरणानि च यासां तास्तथा ताभिः।।५२७।। सीमन्तेति। पुनः कीदृशीभिः ? सीमन्तलग्नेन सिन्दूरेण पार्वतीयधातुरागेण पीता लोहिता रक्ताश्च भूमयो यदि भवन्ति तद्रूपाभिः गैरिकहरितालमयपर्वतोपत्यकाभूमिशोभामभिभवन्तीभिः इति यावत्। अत्र पीतत्वं शरीरकान्त्या[1] बोध्यम्। पुनः कीदृशीभिः? देववनसमवनगताभिः।।५२८।। परित इति। पुनः कीदृशीभिः ? तूर्यादिध्वनिभिः ध्वनिता सशब्दीकृता विहारभूमयो याभिस्तास्तथा ताभिः। पुनः कीदृशीभिः? गान्धर्वे गानविद्यायां कण्ठस्य सौष्ठवे, मनोहरत्वे च विद्याधरीसमाभिः। अत्र हसन्नित्यर्थकस्य 'जक्षद्' इति श्रुतिगतपदस्यार्थो रममाणपदेनोक्त इति बोध्यम्।।५२९।। कदाचित् पुण्यपापयोर्मिश्रितयोः फलमनुकूलप्रतिकूलोभयलक्षणं प्राप्य; कदाचित्तु केवलपापफलं व्याघ्रादिप्रतिकूलमात्रदर्शनं प्राप्य उद्विग्नो भवति—इत्यर्थपरस्य मंत्रचरमांशस्यार्थमाह—पश्यन्निति द्वाभ्याम्। यथा कश्चिद् गृही जागरणेऽनुकूला ललनाः पश्यन्, तत्संनिहितानि

लिये हम ही ज़िम्मेदार हैं !)। साथ ही जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है उसके अनुरूप भोग्य वस्तुओं का भी यह वहाँ निर्माण कर लेता है किन्तु जैसा कर्मफल इसे भोगना होता है उसके योग्य ही सुखप्रद या दुःखप्रद पदार्थों को यह सपने में तैयार करता है।।५२१-२४।। यद्यपि यह आत्मा पूर्णकाम ईश्वर है तथापि कभी स्वयं को कामुक बना लेता है जिससे यह वैसे सपने में पहुँचता है जैसा कामनापीडितों को आया करता है।।५२५।।

इसे सपना आता है कि अप्सरातुल्य, सोलह साल की, कामोत्तेजित नारियाँ इसे अपने नेत्रकमलों से आलिंगित कर रही हैं, प्रेम से देख रही हैं। वे नारियाँ ऐसी होती हैं कि मोटे और उठे (कसे) हुए स्तनों और जघनों के भार से चलते समय उनके पैर स्थिर नहीं होते ! विह्वलतावश उनके फूल और गहने अस्त-व्यस्त होते हैं।।५२६-७।। माँग में लगे सिन्दूर से वे लाल-पीली भूमि की तरह शोभा पाती हैं (अर्थात् उनकी स्वर्णिम शरीरकान्ति और सिंदूर दोनों का मिला-जुला प्रभाव उस धरती के भी सौंदर्य को फीका कर देता है जो हरिताल और गेरु के पत्थरों से पटी हो। हरिताल एक चमकदार पीला द्रव्य होता है।) स्वप्नदृश्य नारियाँ नंदन आदि वनों जैसे अत्यंत सुंदर बगीचों में इधर-उधर टहला करती हैं।।५२८।। तुरही आदि बाजों की ध्वनियों से उन्होंने हर जगह गुँजायी होती है। उनकी आवाज़ें सुरीली और मीठी होती हैं तथा संगीत में वे विद्याधरकन्याओं के (गंधर्वकन्याओं के) समान निष्णात होती हैं। प्रिय स्वप्न आने पर आत्मा ऐसी स्त्रियों से रमण करते हुए अद्भुत सुख पाता है।।५२६-२९।।

जाग्रत् में ऐसा भी देखा जाता है कि गृहस्थ को अनुकूल स्त्री भी दीख रही होती है, आस-पास बदबूदार गंदे पदार्थ भी दीख रहे होते हैं और उसे अपनी बदसूरती भी याद आ जाती है; फलतः उसे इष्टस्त्रीदर्शन का सुख और अन्य हेतुओं से दुःख भी साथ ही होते हैं। इसी तरह सपने में आत्मा मिश्रित-पुण्यपापरूप हेतु से उत्पन्न अनुकूल-प्रतिकूल

१. अतो हरितालोदाहरणं, तद्वर्णे कान्तिदर्शनात्, पाण्ड्वादिरोगे तददर्शनात्।

तथाऽतीव क्वचित् पश्यन्नाना हेतूत्थितान्यपि। अनन्तं दुःखमाप्नोति प्रतीकारविवर्जितम्।
चोरव्याघ्रादितो यद्वत् पापी जागरणे सदा।।५३१।।

अयमुक्तो मया राजन्नात्मा यस्तस्य जन्तवः। आरामं साधनं च स्यात् क्रीडायास्तु रथादिकम्।।
आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् पश्यन्त्येतं न केचन।।५३२।।

गाढसुप्तं न बोधयेत्

यदाऽयं गाढनिद्रायां वर्तते शयने स्थितः। तदा न बोधयेदेनमिन्द्राण्याऽऽलिङ्गितं हृदि।।५३३।।

स्त्रीपुंसयोरिहैकान्ते यथा स्याद् रममाणयोः। बहिर्निर्गमने क्षोभः सर्वकार्यसमर्थयोः।।५३४।।

दुर्गन्धवस्तूनि प्रतिकूलानि च पश्यन्, स्वस्य मनोहराङ्गहीनतां च प्रतिकूलां मन्यमानो दुःखितो भवेत् तथाऽयमात्मा स्वप्ने नानाहेतुभ्यः संमिश्रितकर्मरूपेभ्यः उत्थितानि अनुकूलप्रतिकूलवस्तूनि, अपिशब्दात् केवलप्रतिकूलानि वस्तूनि पश्यन् अनन्तदुःखम् आप्नोति। केवलप्रतिकूलदर्शनजन्यदुःखे दृष्टान्तमाह—चोरेति अर्धेन। अत्र श्रुतौ बिभेत्येभ्य इति व्युत्पत्त्या भयपदेन चोरादयो विवक्षिता इति बोध्यम्। इति द्वयोरर्थः।।५३०-३१।।

'कश्चन' इत्यन्तस्य[1] चतुर्थमन्त्रस्याऽर्थमाह—अयमुक्त इति। हे राजन्! योऽयं मया त आत्मोक्तः जन्तवस्तस्याऽऽरामम् एव पश्यन्ति, तं केचन न पश्यन्ति, इत्यहो भाग्यहीनता लोकानाम्! इति सम्बन्धः। करणव्युत्पत्त्याऽऽरामपदार्थमाह—आत्मनो व्यतिरिक्तं क्रीडायाः साधनं रथादिकम् इति।।५३२।।

'सुप्त आद्यन्तं त्वरितं न बोधनीयः' इत्याकाराया विवेकिजनप्रसिद्धेरपि हेतोः जाग्रत्प्रपंचासंकरस्थले स्थितिरात्मनः स्वप्रकाशत्वसिद्ध्यनुकूला बोध्या—इत्याशयकस्य[2] 'न प्रतिपद्यत' इत्यन्तब्राह्मणभागस्यार्थमाह—यदाऽयमिति दशभिः। गाढनिद्रापदेन सुषुप्तिः, शयनपदेन तु स्वप्नावस्था विवक्षिता। आत्मन इन्द्रेन्द्राणीरूपकल्पना

दोनों तरह की चीज़ों का अनुभव करते हुए सुखी-दुःखी होता है। या जैसे जाग्रत् में पापकर्म उदय होने पर चोर बाघ आदि से डर ही लगकर दुःख होता है वैसे ही सपने में ऐसा निःसीम दुःख होता है जिससे बचने का कोई उपाय ही नहीं होता। (तात्पर्य इतना ही है कि जाग्रत् की तरह ही सपने में आत्मा कर्मानुसार भोग पाता है, भले ही वहाँ व्यावहारिक पदार्थ नहीं हैं।)।।५३०-३१।।

चौथे मंत्र में कहा है—लोग इस आत्मदेव का खेल ही देखते हैं! इसे कोई नहीं देखता। भाष्यकार यहाँ कहते हैं कि इस मंत्र द्वारा श्रुति हम लोगों की अवस्था पर दुःखी-सी होकर कह रही है कि लोग कितने भाग्यहीन हैं कि जिसे देखना अत्यन्त सरल है ऐसे शुद्ध आत्मा को ये नहीं देख रहे जबकि वह इनकी आँखों के सामने है। अर्थात् सपने का विचार करें तो संसार से अलग कर स्वप्रकाश आत्मा को समझना कठिन नहीं।—इसका अर्थ पुराणकार कहते हैं:

हे राजन्! जिस स्वप्रकाश आत्मा का मैंने वर्णन किया, कोई भी लोग उसकी सही जानकारी नहीं प्राप्त करते। उससे अतिरिक्त, उसकी क्रीडा के जो रथ आदि साधन हैं—जिन्हें श्रुति ने 'आरांम' कहा है—उन्हें ही लोग देखते रहते हैं। (स्वप्न के बारे में भी 'क्या दीखा?' यही सोचते हैं, देखने वाले को नहीं। जाग्रत् में भी दृश्यविचार ही करते हैं, द्रष्टा का विवेक नहीं। 'कोई भी लोग' कहकर साधकों की दुर्लभता बतायी। किसी ने भी नहीं देखा है, ऐसा अभिप्राय नहीं है।)।।५३२।।

---

१. 'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते।' इति। (४.३.१४)। २. 'देहप्रवेश-निर्याणहेतोर्देहाद् गृहादिवत्। बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तत्वम् आत्मनोऽस्यावसीयताम्।।' ४.३.९५०।। इति वार्तिकम्। तत्रानन्दगिरयः—'यथा गृहे प्रविशन् निर्गच्छंश्च चैत्र ततो भिद्यते, तथा देहे प्रवेशाद् निर्गमाच्च आत्मा ततो भिन्नः। तस्मात् तस्य बुद्ध्याद्यतिरिक्तत्वं स्वप्रकाशत्वं च लोकप्रसिद्ध्यादिना निश्चितमित्यर्थः।'

इन्द्रेन्द्राण्योस्तथैव स्याद् बोधे क्षोभो महानिह। सुषुप्ते स्वप्नकाले च तस्मात्तं न प्रबोधयेत्।।५३५

अपि देहस्य नाडीषु पवनोऽनियमाद् व्रजेत्। आत्मनः सहसा बोधे सहसा बोधयेन्न तम्।।५३६।।

अन्तःपुराद्यथाऽऽयाति महाराजे निशादिषु। सहसा सम्भ्रमादस्य सम्भ्रान्ताः सैनिकाः क्रमात्।
मार्गादमार्गतश्चैव पुरस्तस्य व्रजन्ति हि।।५३७।।

अमार्गतः समायाताः पुराट्टालादिभेदनम्। यद्वत् कुर्वन्ति ते तद्वत् प्राणा आत्मसमागमे।। निद्रायाः
सहसा मार्गं हित्वाऽपीयुः कदाचन।।५३८।।

अङ्गभङ्गादिकस्तत्र रोगोऽगदशतैरपि। असाध्यो जायते तस्मात् शयानं न प्रबोधयेत्।।५३९।।

अस्याध्यायस्य नवतितमश्लोकमारभ्याधस्तादुक्ताऽनुसन्धेया। स्फुटमन्यत्।।५३३।। सुप्तप्रबोधने दोषप्रसक्तिं लौकिकन्यायेनोपपादयति—स्त्रीपुंसयोरिति। यथैकान्ते रममाणयोः सर्वकार्यसमर्थयोः अनिवृत्ताभिलाषयोरिति यावत्, एतादृशयोः स्त्रीपुंसोः बहिर्निर्गमने क्षोभो भवति तथा सुषुप्तिस्वप्नयोः एकीभूतयोः इन्द्रेन्द्राण्योः प्रबोधे क्षोभो भवेद्। अतस्सुप्तं न प्रबोधयेद्। इति द्वयोरर्थः।।५३४-३५।। सुप्ताऽप्रबोधने कारणान्तरमपि दर्शयति—अपि देहस्येति। किं च सहसा त्वरितम् आत्मनः प्रबोधे जागरणे सति देहस्य नाडीषु प्राणः अनियमाद् अव्यवस्थया व्रजेद् धावेद्! अतोऽपि न प्रबोधयेदिति।।५३६।। त्वरितप्रबोधने सेन्द्रियप्राणस्य व्याकुलत्वं 'तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः' (बृ. ४.३.३७) इत्यादिव्याख्यास्यमानश्रुत्यनुरोधेनाह— अन्तःपुरादिति त्रिभिः। यथाऽऽवश्यककार्यवशेन महाराजे सम्भ्रमात् सहसा निशादिकालेषु अन्तःपुरादायाति आगच्छति सति अस्य राज्ञः सैनिकाः सम्भ्रान्ताः सत्वराः सन्तो यथाकथञ्चिद् मार्गेण कुपथेन वा तस्य राज्ञः पुरतः संमुखे यान्तीत्यन्वयः।।५३७।। अमार्गत इति। यदा च ते सैनिका अमार्गेण यान्ति तदा पुरस्य अट्टालादीनां प्राकारोपरिस्थगृहादीनाम्, आदिपदेन कुड्यादिग्रहः, तेषां भेदनम् अपि कुर्वन्ति राज्ञः पुरतो गमनाय; तथाऽऽत्मकिङ्कराः प्राणा अपि निद्रायाः सकाशात् सहसा आत्मनो जीवस्य समागमे सति नाडीमार्गं हित्वाऽपीयुः आगच्छेयुरिति।।५३८।। तत्र चिकित्सकप्रसिद्धं दोषमाह—अङ्गेति। तत्र सहसा प्रबोधेऽङ्गभङ्गः अङ्गमोटनं तदादिकः तल्लक्षणको रोगः औषधशतैरपि दुर्निवारो जायत इति।।५३९।। फलितमाह—

मन्त्रोद्धरण के बाद श्रुति ने बताया है कि सोये व्यक्ति को सहसा नहीं जगाना चाहिये क्योंकि वैसा करना उसके स्वास्थ्य के लिये अच्छा नहीं होता; कभी ऐसा भी हो सकता है कि शरीर में जहाँ जैसी चेतना चाहिये, हड़बड़ी में उठने पर वहाँ वैसी चेतना न हो पाये। इसका अब पुराण में स्पष्टीकरण होगा :

जिस समय यह आत्मा गहरी नींद में होता है या सपना देख रहा होता है तब इसे एकाएक जगाना नहीं चाहिये। सोते समय आत्मरूप इन्द्र हृदय में इन्द्राणी से आलिंगित हुआ रहता है (यह पूर्व में श्लोक ९० आदि में कहा ही था)।।५३३।। स्त्री-पुरुष एकान्तमें रमण कर रहे हों और अभी क्रीडा में समर्थ हों तो उन्हें यदि वहाँ से बाहर निकलना पड़े तो कष्ट होता है। स्वप्न व सुषुप्ति में इन्द्र-इन्द्राणी भी आपस में मिले रहते हैं। जगने पर उनका बिछोह होना ही है जिससे उन्हें अत्यधिक दुःख होता है। इसलिये सोये व्यक्ति को जगाना नहीं चाहिये।।५३४-३५।। इतना ही नहीं, व्यक्ति अचानक उठता है तो उसके शरीर की नाडियों में प्रांणवायु यथानियम संचरित नहीं हो पाती। इसलिये भी किसी को सहसा नहीं जगाना चाहिये।।५३६।। किसी आवश्यक कार्य से महाराजा रात को या अन्य किसी अप्रत्याशित समय में अन्तःपुर से अचानक बाहर आये तो उसके सैनिक जल्दबाजी में रास्ते बेरास्ते दौड़कर उसके सामने उपस्थित होते हैं। ऐसे में रास्ता छोड़कर आते समय परकोटे की बुर्जी या दीवार भी तोड़ने में वे देर नहीं करते क्योंकि हड़बड़ाये रहते हैं। इसी तरह आत्मा जब नींद से अचानक जगता है तब उसके नौकररूप प्राण उचित नाडीमार्ग छोड़कर भी स्थूल देह में उपस्थित

प्राणान्तिकेऽपि संजाते कार्ये तस्यात्मनोऽपि वा। शयानं पुरुषं विद्वान् सहसा न प्रबोधयेत्।।५४०

यदि कार्यं महत् किञ्चिद् आत्मनस्तस्य वा भवेत्। मृदुस्पर्शादिभिस्तर्हि शनैस्तं प्रतिबोधयेत्।
अन्यथा सहसा बोधे ह्यचिकित्स्यो गदो भवेत्।।५४१।।

दम्पत्योश्च वियोगोऽयमुभयोर्दुःखदो भवेत्। प्रबोधयेत् पुमान् योऽयं यश्चायं प्रतिबुद्ध्यते।।
उभयोर्जायते पापं दृष्टादृष्टसुखापहम्।।५४२।।

जाग्रत्स्वप्नयोस्तौल्यम्

योऽयं स्वप्नं प्रयात्यात्मा याति जागरणं च सः। आत्मनो नैव भेदोऽस्ति स्वप्ने जागरणेऽपि वा।५४३

प्राणान्तिक इति। प्राणस्य प्रियत्वधर्मेण अन्तिकं समीपम्, प्राणवत् प्रियमिति यावत्। ईदृशेऽपि कार्ये सहसा न बोधयेदिति।।५४०।। कथं तर्हि बोधयेदित्यत आह —यदीति। आत्मन उत्थापकस्य तस्य सुप्तस्य वा यदि महत् कार्यं स्यात् तदा कोमलस्पर्शाद्युपायैः शनैः एव बोधयेत्। विपक्षे दोषमनुवदति—अन्यथेति। अचिकित्स्यः दुर्वारः, गदो रोगः।।५४१।। वर्णितेन्द्रेन्द्राणीयोगानुसारेण अदृष्टदोषमप्याह—दम्पत्योरिति। अयं प्रबोधकृतो वियोगः। उभयोः उत्थापकोत्थाप्ययोः दुःखदः यतः सहसा प्रबोधे उत्थापकस्य अदृष्टसुखापहम्, उत्थाप्यस्य दृष्टसुखहरं पापं जायते प्रादुर्भवतीत्यर्थः।।५४२।।

'अथो खल्वाहुः' इत्यादिवाक्यं[1] भाष्यकृद्भिः स्वप्नमनभ्युपगच्छतां चार्वाकादीनां मतनिरासपरत्वेन योजितं स्वप्ने जाग्रत्प्रपञ्चासङ्करेण स्वयंज्योतिष्ट्वदार्ढ्याय[2]। एते शङ्करानन्दास्तु प्रपञ्चविलयवादिमतानुसारेण जाग्रत्यपि द्वैतं नास्ति तदभावेन स्वयंज्योतिष्ट्वबोधनाय किमर्थं स्वप्नपर्यन्तानुधावनमित्यर्थपरत्वेन व्याकुर्वन्ति—योऽयम् इत्यादिसप्तदशश्लोकैः। जाग्रत्स्वप्नयोः एकः अयमात्मा अनुसन्धानादित्यर्थः।।५४३।।

होने लगते हैं।।५३७-३८।। सहसा जगाने से अंगभंग आदि ऐसे असाध्य रोग होते हैं जो सैकड़ों दवाओं से भी ठीक नहीं हो पाते। इसलिये सोये व्यक्ति को अचानक नहीं जगाना चाहिये।।५३९।। सोये व्यक्ति का या अपना चाहे जितना प्रिय (आवश्यक) कार्य उपस्थित हो, जानकार को चाहिये कि सोये को सहसा जगाने की कोशिश न करे।।५४०।। अगर उसका या अपना कोई अत्यावश्यक काम आ जाये तो कोमल स्पर्श, मृदु ध्वनि, हल्की रोशनी आदि द्वारा धीरे-धीरे सोये को जगाना चाहिये, अन्यथा कठिन रोग हो सकता है।।५४१।। इन्द्र-इन्द्राणी रूप दम्पती को अचानक जगाकर परस्पर वियुक्त करना जगाने और जगने वाले दोनों को दुःख देता है : उठाने वाले को तो पाप लगता है जो अदृष्ट अर्थात् भावी सुख में रुकावट डालता है और जगने वाले का तो अवश्य कोई पाप फलीभूत हुआ है तभी उससे दृष्ट सुख छिन गया। (सोये को अचानक जगाने का प्रसंगागत निषेध है। प्रकृतोपयोगी अभिप्राय है कि 'सोये को अचानक मत जगाओ' यह लौकिक प्रसिद्धि (और शास्त्रीय निषेध) सिद्ध करती है कि आत्मा देहादि से अतिरिक्त है, तभी सोते समय यहाँ से 'चला' जाता है और जगने पर 'आ' जाता है। यह बात आचार्य श्री सुरेश्वर ने स्पष्ट की है।)।।५४२।।

आत्मा स्वप्रकाश है यह स्पष्ट हो जब अन्य प्रकाशों के बिना आत्मप्रकाश मिले इसलिये सपने की चर्चा आयी। वस्तुतः तो जाग्रत् में भी द्वैत है नहीं ! आत्मा से अन्य कोई प्रकाश जाग्रत् में भी नहीं है कि उसकी स्वप्रकाशता संदिग्ध हो। इस तात्पर्य से कहते हैं :

१. 'अथो खल्वाहुः—जागरितदेश एवास्यैष इति; यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति।'

२. 'अन्य आहुः—जागरितदेश एवास्यैष यः स्वप्नः, न सन्ध्यं स्थानान्तरमिहलोकपरलोकाभ्यां व्यतिरिक्तम्;... तदाऽयमात्मा कार्यकरणेभ्यो न व्यावृत्तस्तैर्मिश्रीभूतः, अतो न स्वयंज्योतिरात्मा।... तत्र च हेतुमाचक्षते जागरितदेशत्वे—'यानि...पदार्थजातानि जागरितदेशे पश्यति लौकिकस्तान्येव सुप्तोऽपि पश्यति—इति। तदसत्; इन्द्रियोपरमात्।,... तस्माद् नान्यस्य ज्योतिषस्तत्र सम्भवः ... तस्मादत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवत्येवे'ति तत्र भाष्यग्रन्थः।

अपि केचिद् महात्मान एवमाहुर्महाधियः। दृश्यानां देशयुक्तानां नास्ति भेदः कथञ्चन।। स्वप्ने जागरणे चैव स स्यात् केनात्मनोऽधुना।।५४४।।

देशकालौ यथाऽध्यस्तावात्मन्येव च संस्थितौ। भूतभौतिकदृश्येन सह जागरणे सदा।।
आत्मन्येवमिमौ स्वप्ने कथं भेदस्तयोर्भवेत्।।५४५।।

देशे देशं तथा काले कालं नेच्छन्ति केचन। तस्मिन्नेव हि तद्वस्तु येऽपि सत्यं वदन्त्यदः।।५४६।।

देशो देशे तथा कालः काले तद्वद् घटो घटे। व्यवहारो यथा व्यर्थो देशादेस्तद्वदेव सः। वास्तवत्वं ततो नास्य देशादेर्विद्यते क्वचित्।।५४७।।

अपि केचिदिति। केचित् प्रपञ्चविलयवादिनो महात्मानो द्वैतविस्मरणाद्, महाधियः तत्त्वनिष्ठत्वात्; त एवमाहुः। 'एवं' कथम् ? जाग्रत्स्वप्नयोः दृश्यानां देशस्य च तदुपलक्षितकालस्य च न भेदः आत्मसत्ताऽतिरिक्तसत्ताभावेनाऽसत्त्वाद् असतः प्रतियोगिताऽनर्हत्वादिति भावः। तथा च जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चयोः अधिष्ठानस्य आत्मन एव देशभूतस्य भेदकोपाधिविरहेण कथं भेदशङ्का स्याद् ? इत्यर्थः।।५४४।। एतदेव स्फुटयति—देशकालाविति। भूतभौतिकरूपदृश्यसहितौ देशकालौ जागरणसम्बन्धिनौ आध्यासिकसम्बन्धेन यथाऽऽत्मन्येव संस्थितौ सत्तालाभाय पर्यवसन्नौ, एवं स्वप्नगतावपि तौ आत्मनि एव संस्थितौ। तथा च तदधिष्ठानदृष्ट्या उभयत्र न तयोः प्रपञ्चयोः भेदः; स्वतस्तु असत्त्वादेव न भेदप्रतियोगित्वमिति भावः। एतद्व्याख्यायां श्रुत्यर्थस्तु—अयमेव स्वप्नप्रपञ्चस्याधिष्ठानत्वेन देशभूत आत्मा जागरितप्रपञ्चस्याऽपि देशः, यानि यादृशानि आत्मसत्तया सत्तावन्ति वस्तूनि जागरणे पश्यति तादृशान्येव स्वप्ने। तथा च परमार्थदृष्ट्या न कस्यापि भेद इति।।५४५।।

स्वमतेऽनुकूलां वादिसम्मतिमपि संभावनायै दर्शयति—देश इति। देशे दिग्रूपे, काले च देशान्तरं कालान्तरं च केचन नैयायिकादयो नेच्छन्ति। यच्च तत्रोपपत्तिमपि च वदन्ति, तद् देशकालरूपं वस्तु तस्मिन् देशकालादिस्वरूप एव व्यवहारोपयोगि सत् स्थितम् इत्याकारा; अदः तद् अस्मत्सिद्धान्तानुसारेण सत्यम् अबाधितमेव वदन्तीति योजना।।५४६।। नन्वभेदे कथम् आधाराधेयव्यवहारः ? दृश्यते चासौ—देशकालौ विभू, नित्यौ च—इति। विभुर्हि सर्वदेशवृत्तिरुच्यते; नित्योऽपि सर्वकालवृत्तिरुच्यते; इति चेद् ? यथाऽभावाधिकरणकाभावभेदमनभ्युपगच्छद्भिरपि 'घटाभावे पटाभावः' इति व्यवह्रियते, तथा विकल्परूपे व्यवहारे न किञ्चिद् बाधकमित्याह—देशो देशे तथेति। यथा लोके व्यर्थः अर्थेन विषयेण हीनः विकल्परूपो व्यवहारो दृष्टः तथा भूमिकोक्तरीत्या देशे देशः काले कालः तथा घटो घटे तादात्म्येन वर्तत इत्यादिरूपो व्यवहारोऽपि भवतु इति सम्बन्धः। फलितमाह—वास्तवत्वमिति।।५४७।।

जो यह आत्मा सपने में जाता है वही जगता है। सपना हो या जाग्रद्, आत्मा में कोई भेद नहीं है।।५४३।। ज्ञान से प्रपंच का विलय स्वीकारने वाले बुद्धिमान् महात्मा कहा करते हैं कि जाग्रत् हो या स्वप्न, देश-काल समेत जितने दृश्य हैं उनमें किसी तरह भेद नहीं है क्योंकि आत्मसत्ता से अन्य दृश्यों की कोई सत्ता नहीं है। यों जब भेदक उपाधि ही नहीं तब अधिष्ठानभूत आत्मा में भेद का सवाल ही नहीं पैदा होता।।५४४।। जाग्रत् में भूत-भौतिकात्मक दृश्यों सहित देश और काल जैसे आत्मा पर ही कल्पित हैं, उसी से सत्ता पा रहे हैं, वैसे ही सपने में भी ये आत्मा पर ही अध्यस्त होते हैं, उसी से सत्ता पाते हैं। अतः एक ही अधिष्ठान होने से जाग्रत् व स्वप्न के प्रपंचों में परस्पर भेद नहीं और स्वतः तो वे सत्तारहित होने से भेदप्रतियोगी हो ही नहीं सकते कि उनका आपसी भेद हो। (यहाँ व्याख्येय श्रुति है 'जागरितदेश एव' इत्यादि, जिसका अर्थ है—स्वप्न-प्रपंच का अधिष्ठान आत्मा जाग्रत्प्रपंच का भी अधिष्ठान है। आत्मसत्ता से सत्ता वाले पदार्थ ही आत्मा जाग्रत् में देखता है और वैसे ही स्वप्न में देखता है। इसलिये परमार्थदृष्टि से किसी में भेद नहीं है।)।।५४५।।

व्यवहाराद्भवेत् सत्यं नैव कुत्राऽपि कर्हिचित्। जघन्या सर्वसत्यत्ववादिनो बलतो भवेत्।।५४८।।

देशे देशान्तरं तद्वत् काले कालान्तरं तथा। घटे घटान्तरं स्वस्मिन्नेकस्मिन् भेदवर्जिते।।
अङ्गीकरोति यस्त्वेवं तस्य क्वैषा व्यवस्थितिः।।५४९।।

अव्यवस्थितवादित्वे ह्यव्यवस्थाऽस्य सम्पतेत्। देशकालादिभेदस्य व्यवस्था जीवहेतुतः।।५५०।।

व्यवस्थायां च नैषा स्यात् प्रमाणात् कर्हिचित् क्वचित्। ततो देशस्तथा कालः तत्र यत् सदसद्वपुः।
वस्तुजातं तदध्यस्तमात्मनि द्वयवर्जिते।।५५१।।

सर्पादिकं यथाऽध्यस्तं रज्ज्वां तद्वदिदं जगत्। देशकालादिसहितमध्यस्तं सर्वसाक्षिणि।।५५२।।

ननु व्यवहारजनकस्य भेदस्य कथमसत्त्वमिति चेद् ? न हि व्यवहारः सत्त्वस्य व्याप्यः, गालिदानादौ असत्येनापि वाक्यार्थेन कोपजननदर्शनात्। नापि व्यापकः, सतोऽपि ब्रह्मानन्दस्य लोके व्यवहाराभावाद् इत्याशयेनाह—व्यवहारादिति। व्यवहारमात्रप्रयुक्तं सत्यत्वं कस्यचिदपि पदार्थस्य कुत्रचित् कदाचिद् वा न संमतम्। ये तु मीमांसकादयः सर्वस्य व्यावहारिकपदार्थजातस्य सत्यत्वं वदन्ति तेषां बलात् जघन्या शक्तिलक्षणागौणीनां वृत्तीनां मध्ये पाश्चात्या गौणी वृत्तिः प्रसज्येत। न हि मुख्यं सत्यत्वं दृश्यजातस्य सम्भवतीत्यर्थः।।५४८।। ये तु भेदाभिनिवेशेन देशादौ विभुत्वादिव्यवहाराय अन्यद् देशादिकं मन्यन्ते तेषामनवस्थापत्तिरित्याह—देशे देशान्तरमिति। भेदवर्जितत्वाद् एकस्मिन् देशादौ यो देशान्तरादिकम् अङ्गी करोति तस्य व्यवस्थितिः पर्यवसानं क्व भवेद् ! न कुत्रापीति योजना।।५४९।। यदि कश्चिद् अनेकान्तवादिनामार्हतानामनुगामी एकस्याप्यनेकतामङ्गीकुर्यात्, तं प्रति लोकव्यवहारविरोधरूपं दण्डं प्रक्षिपति[1]—अव्यवस्थितेति। अस्य वादिनः अव्यवस्थितवादित्वे— एकत्वानेकत्वादि-धर्माणामनियमस्याङ्गीकर्तृत्वे, अव्यवस्था शीतस्योष्णत्वम् उष्णस्य शीतत्वम् इत्यादिरूपा सम्पतेत् प्रसज्ज्येत। लोके तु जीवहेतुतः जीवभोगार्थमिति यावद्, देशादिव्यवस्थैव दृश्यत इति शेषः।।५५०।। अथ सिद्धान्ते कथं व्यवस्थेति चेत् ? तत्त्वज्ञानात् पूर्वं स्वप्नवद् भ्रमसिद्धैवेत्याह—व्यवस्थायामिति। सिद्धान्ते व्यवस्थायाम् अपि अङ्गीकृतायाम् एषा व्यवस्था प्रमाणसिद्धा न भवति, किन्तु भ्रमसिद्धेत्यर्थः। तस्माद् अधिष्ठानसत्तामादायैव जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चयोः व्यवहारक्षमत्वेन साम्यमित्याह—तत इति। ततो भ्रमसिद्धत्वाद् देशकालादौ तद्वृत्ति स्थूलसूक्ष्मरूपं जगच्च अद्वितीय आत्मन्यध्यस्तम् इति।।५५१।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—सर्पादिकमिति। स्पष्टम्।।५५२।।

कुछ वादी कहते हैं कि देश में अन्य कोई देश और काल में अन्य कोई काल नहीं रहता। उसी में वही वस्तु—अर्थात् देश में स्वयं वही देश और काल में स्वयं वही काल—इस ढंग से रह भी जाती है कि व्यवहार में उपयुक्त हो जाये। वादियों का यह कथन ठीक ही है।।५४६।। व्यवहार सार्थक ही हो यह ज़रूरी नहीं, 'विकल्प' नामक वाग्व्यवहार होता है जिसका अर्थ कुछ नहीं होता। उसी प्रकार 'देश में देश है, काल में काल है, घट में घट है' इत्यादि देशादि का व्यवहार हो इसमें क्या विरोध है ! (और होता है ऐसा व्यवहार : देश को विभु अर्थात् सब देशों में रहने वाला कहते हैं; काल को नित्य अर्थात् सब समय रहने वाला कहते हैं; इसी तरह तादात्म्य से घट में घट रह जाता है।) इस विचार का तात्पर्य है कि देशादि की कहीं वास्तविकता हो ऐसी बात नहीं।।५४७।।

कोई कहीं नहीं मानता कि केवल व्यवहार किसी चीज़ की सत्यता में पर्याप्त हेतु है। (व्यवहार सत्यसे ही होगा—यह नियम नहीं; गाली देने में झूठी बात बोलते हैं फिर भी झगड़े का व्यवहार बखूब निभ जाता है ! सत्यसे व्यवहार होगा

१. जैनास्तु—चोरोऽयं नाप्येवम्, दण्ड्योऽदण्ड्यश्च, बुभुक्षितोऽबुभुक्षितश्च, ऋणग्रस्तोऽनृणी चेत्याद्यपि व्यवहरेयुः ! तथाऽकुर्वाणा अनेकान्तवादस्य हेयतामेव प्रतिपादयन्ति।

ततो जागरणे यत् स्याद् यच्च स्वप्ने द्वयं जगत् । देशकालादिसहितम् आत्मन्येव प्रलीयते ।।५५३।।

आत्मनश्च न भेदोऽस्ति देशादेरपि नैव सः । रज्जुभेदं विना न स्यात् सर्पादेर्हि यथा भिदा ।।५५४।।

अध्यस्तत्ववर्णनस्य फलमाह—तत इति। ततः अध्यस्तत्वात् जाग्रत्स्वप्नवृत्तिप्रपञ्चयोः द्वयं युगलं सह देशकालाभ्याम् आत्मनि प्रलीयते, आलोचितं सद् आत्ममात्रं भवतीति यावत् ।।५५३।। ततः किम् ? अत आह—आत्मनश्चेति। आत्मा हि सर्वस्य पारमार्थिकं रूपं तद्भेदाभावे न कस्यापि भेदः, रज्जुभेदाभावे तत्र कल्पितसर्पदण्डजलधारादीनां यथा न भेदस्तद्वदिति ।।५५४।।

ही—यह भी नियम नहीं; ब्रह्मस्वरूप आनंद सत्य है पर लोक में उसका कोई व्यवहार नहीं। इसलिये व्यवहारजनक होने से भेद असत्य नहीं हो सकता यह बात ग़लत है।) जो लोग सभी कुछ को—सभी व्यावहारिक पदार्थों को—सत्य कहते हैं उन्हें गौणी वृत्ति से ही वैसा कहना पड़ेगा क्योंकि दृश्य पदार्थों में मुख्य सत्यता तो है नहीं।।५४८।। भेद में आग्रह वाला जो व्यक्ति मानता है कि भेदरहित अतः एक जो देश, खुद उसमें एक अन्य देश रहता है, ऐसे ही काल में कोई और काल रहता है, घड़े में कोई और घड़ा रहता है; उसके इस मानने की समाप्ति कहाँ होनी है ! (अर्थात् उसकी मान्यता अनवस्थाग्रस्त है, क्योंकि द्वितीय देशादि में तृतीय उनमें चतुर्थ यों अनन्त देशादि उसे मानने पड़ेंगे, जिनमें प्रमाण कोई नहीं।)।।५४९।।

जैन लोग 'अनेकान्तवाद' के नाम से अव्यवस्थितता का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि किसी पदार्थादि के बारे में 'वह है ही' या 'नहीं ही है' यों निश्चित करना गलत है, उसे इकट्ठे ही सात तरह से समझना चाहिये : वह है; वह नहीं है; वह है और नहीं है; उसे कह नहीं सकते; वह है और उसे कह नहीं सकते; वह नहीं है और उसे कह नहीं सकते, वह है और नहीं है और उसे कह नहीं सकते ! ये सातों एक-साथ हर चीज़ के बारे में समझने चाहिये ऐसी उनकी मान्यता है। इस दृष्टि के अनुसार किसी को 'एक ही है' यों निर्धारित नहीं कर सकते, अतः एक की भी अनेकता मानने जैसी स्थिति हो जाती है। किन्तु ऐसी अव्यवस्था का प्रतिपादन करने पर प्रतिपादक के सिर अव्यवस्था ही आयेगी—उसके लिये कुछ ठण्डा ही नहीं होगा, गर्म ही नहीं होगा, खाद्य-पेय ही नहीं होगा इत्यादि। संसार में तो जीवों के उपभोगार्थ देशादि की व्यवस्था ही देखी जाती है। अतः अव्यवस्थावाद अत्यंत हेय है। जैन उसे व्यवहार में लगाते भी नहीं अन्यथा किसी को 'चोर ही है' मानकर 'दण्डनीय ही' घोषित न करें या मांस भक्षणादि को 'पाप ही' न कहें।।५५०।।

कोई पूछ सकता है कि औपनिषद देशादि को सदसत्से विलक्षण कहते हैं तो लोकसिद्ध व्यवस्था कैसे उपपन्न करते हैं ? उत्तर है कि तत्त्वज्ञान से पूर्व भ्रमसिद्ध व्यवस्था हमें मान्य है। अव्यवस्था के हम पक्षधर नहीं; हम स्पष्ट कहते हैं कि दृश्य स्वयं सत्ता वाले नहीं ही हैं, ब्रह्म सत् ही है, दृश्य सत् लगते हैं तो ब्रह्मसत्ता से ही इत्यादि। अतः अनिर्वचनीयवाद को अनेकान्तवाद से पृथक् ही समझना चाहिये।

देशादि व्यवस्थित होने पर भी उनकी व्यवस्था कभी कहीं प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, केवल भ्रमात्मक प्रतीति से ही सिद्ध होती है। इसलिये देश, काल, उनमें होने वाले स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ—ये सब अद्वितीय आत्मा पर अज्ञान से कल्पित हैं।।५५१।। जैसे रस्सी पर सर्पादि अध्यस्त होते हैं, ऐसे ही देश-काल आदि समेत यह जगत् सब के साक्षी आत्मा पर अध्यस्त है।।५५२।।

अध्यस्त होने के कारण जाग्रत् और स्वप्न जगत् का देश-कालादि सहित विचार करने पर वह आत्मा में ही विलीन हो जाता है, केवल आत्मा रह जाता है।।५५३।। सबका वास्तविक स्वरूप, अधिष्ठानभूत आत्मा अभिन्न है, अतः उस पर कल्पित देशादि में सत्य भेद नहीं ही हो सकता जैसे रस्सी में भेद हुए बिना उस पर कल्पित सर्पादि में

एकविज्ञानगम्यानां तथैकाश्रयवर्तिनाम्। एकस्य विषयाणां स्याद् भेदः केनाऽत्र हेतुना।।५५५।।
ततो जागरणे देशो यः स स्वप्नेऽपि नाऽपरः। दृश्यानां दृश्यते नैव भेदो देशस्य भेदकृत्।।५५६।।
घटः स्वावयवेष्वेको दृष्टो यो बहिरङ्गणे। गृहमध्ये स चेद् दृष्टः स्वाश्रयेषु भिदा न हि।।५५७।।

अत्र यदि कश्चिदेवं ब्रूयात्—परमार्थदृष्ट्याऽभेदेऽपि विकारदृष्ट्या मम भेदभ्रमो न निवर्तत इति; तं प्रति अद्वैते बुद्ध्यवतरणोपायं सूचयन्नाह—एकेति। विज्ञानं विज्ञानशक्तिरूपमन्तःकरणं, तस्य नानेन्द्रियद्वारोपाधिकभेदशालिन उपाधिविवेकेनैकत्वं तावदवधार्यं 'सर्वेषां विज्ञानानां हृदयमेकायनम्'[1] इति श्रुतेः। तत आश्रयस्य आधारस्य मायाशबलस्य विश्वकारणस्य एकत्वमवधार्यम्। ततः सर्वभासकस्य शुद्धचैतन्यस्य। इति क्रमेण कस्य चित्तमद्वैतं नाधिरोहति! लोके हि विज्ञानादिभेदाभिमानपूर्वक एव हि विषयभेदाभिमानः, विज्ञानाद्यभेदज्ञाने तु कथं दृश्यजातस्य भेदो भायाद्? इत्याशयः। एकस्य चैतन्यस्य, विषयाणां सर्वभावानामिति शेषः।।५५५।। वर्णितार्थस्य प्रकृतोपयोगमाह—तत इति। ततः भेदकत्वाभिमतानां विषयाणामुक्तयुक्त्या भेदाभावात् जागरणस्वप्नयोः देश आत्मरूपक एवेति पूर्वार्द्धार्थः। तत्र दृष्टान्तं सूचयति—दृश्यानामिति। यथाऽऽकाशे दृश्यानां मेघादीनां भेद आकाशरूपदेशस्य भेदकृद् न दृश्यते तथा चिदाकाशरूपदेशस्यापि बोध्यमित्यर्थः।।५५६।।

एवं परमार्थात्मरूपदेशस्य आधेयानां भेदेन न भेद इत्युक्तम्। अथ कल्पितानां देशानां भेदेऽपि एकत्वेन निश्चितस्य भावस्य न भेद इत्याह—घट इति। यथा एक एकत्वेन निश्चितो घटः स्वावयवरूपेषु अन्तरङ्गाश्रयेषु यो दृष्टः स एव बाह्याङ्गणे गृहमध्ये वा बहिरङ्गाश्रये यदि दृष्टः, तथापि स्वाश्रयेषु भिन्नेष्वपि घटस्य भिदा न हि दृष्टेत्यन्वयः। तथा च सर्वपदार्थानां स्वभावभूतमेकत्वं कल्पितदेशादिभिर्नान्यथा भवतीति भावः।।५५७।।

भेद नहीं हुआ करता। (सर्प को जलधारासे वस्तुतः, अर्थात् सत्यता की दृष्टि से भिन्न नहीं कह सकते क्योंकि वस्तुतः तो वहाँ एकलौती रस्सी ही है और सर्पादि स्वयं ही वस्तुतः हैं नहीं। दो रस्सियाँ हों और उन पर दो साँप अध्यस्त हों तब भले ही उन साँपों में भेद मान सकते हैं क्योंकि उनके अधिष्ठान भिन्न हैं। ऐसे अनेक आत्मा तो हैं नहीं कि संसार के पदार्थों में वास्तविक भेद हो सके।)।।५५४।।

यों विचारतः भेद सिद्ध न होने पर भी वह बुद्धि में बैठता नहीं, भेदभ्रम बना रहता है। इसलिये पुराणकार क्रमशः सोचने का ढंग बताते हैं: जिन्हें एक विज्ञान से जाना जाता है और जो एक आश्रय में रहते हैं ऐसे विषयों का एक जो चेतन है उससे भेद क्यों होगा? (विषयभेद निर्भर करता है अनुभवभेद पर। विषयानुभवों का रूप अंतःकरण ही ग्रहण करता है और वह एक ही है, उसमें भेद तो इंद्रियरूप उपाधियों से प्रतीत होता है, अतः औपाधिक होने से मिथ्या है। इस प्रकार एक विज्ञान अर्थात् अंतःकरण से ग्रहण किये जाते हैं तो विषय सचमुच भिन्न नहीं हो सकते। अथवा विषय तब भिन्न हों जब उनके कारण भिन्न हों जैसे सोने और चाँदी से बने गहने भिन्न होते हैं। किन्तु विश्व का कारण मायाशबल ब्रह्म एक ही है, वही सबका आश्रय या आधार है, उसी में सब कार्य रहते हैं। इसीलिये भी विषय भिन्न नहीं हैं। जब विषय भिन्न नहीं तो वे आत्मा को भिन्न कैसे करेंगे? इसलिये उनका भासक आत्मा भी एक ही है, अद्वितीय ही है। यों पहले विज्ञान का अभेद स्थिर करे, फिर ईश्वर का और तब साक्षी का। इस ढंग से चिन्तन करने से अद्वैत बुद्धि में बैठ जायेगा।)।।५५५।।

जिनके कारण भेद माना जाता है उन विषयों में भेद नहीं है, यह उक्त विचार से निश्चित हो गया, इसलिये जो जागरणमें देश अर्थात् अधिष्ठान है वही स्वप्न में भी है; आत्मा ही जाग्रत्-स्वप्न का अधिष्ठान है, और कोई नहीं। जैसे आकाश में दीखने वाले मेघादि का भेद आकाश में भेद नहीं करता वैसे ही चेतन पर दीखने वाले विषय उसमें भेद नहीं करते। (दृष्टांत में भी आकाश पर कल्पित मेघादि ही समझने चाहिये। अथवा—दृश्यभूत सर्पादि का भेद देशभूत रस्सी को सभेद नहीं बनाता यों दृष्टान्त समझना चाहिये। मूल में देशशब्द अधिष्ठानपरक है।)।।५५६।।

---

१. 'सर्वासां विद्यानाम्' इति काण्वपाठः (२.४.११; ४.५.१२)। 'सर्वेषां वेदानाम्' इति माध्यन्दिनीये।

दृश्यानां भेदराहित्यात् स्वप्ने जागरणेऽपि च। देशाभेदो भवेन्नात्मभेदो देशैकरूपतः।।५५८।।

[1]अत आत्मा स्वयंज्योतिः सर्वभेदविवर्जितः। स्वप्ने राजन् मयोक्तस्ते किमन्यत् प्रष्टुमर्हसि।।५५९।।

साधारणदक्षिणादित्सू राजा

एवमुक्ते ततो राजा याज्ञवल्क्यमभाषत। कामप्रश्नवरेणाप्यस्वात्मज्ञानोऽतिबुद्धिमान्।।५६०।।

विद्यामात्रं वदेन्मह्यं यः कश्चिद् ब्राह्मणोत्तमः। एकैकस्यामहं तस्यां तस्मै दास्यामि सर्वदा।।५६१।।

तरुणीनां गवां शास्त्रलक्षणानां सहस्रकम्। गजेन सदृशो यत्र वृषभोऽस्ति महावपुः।।५६२।।

इति मे सर्वलोकोऽयं व्रतं जानात्यतोऽधुना। मुनये गोसहस्रं तु विद्यामात्रप्रदायिने। याज्ञवल्क्याय दास्यामीत्युक्तो राज्ञा मुनीश्वरः।।५६३।।

प्रकृतवाक्यार्थं निगमयति—दृश्यानामिति द्वाभ्याम्। एवं दृश्यानाम् अपि भेदाभावे स्वप्नजागरणयोः एको देशः सिद्धः। स चैको देश आत्मरूप इत्यतः आत्माऽभेदः सिद्ध इत्यर्थः।।५५८।। तथा च आत्मेतरस्यैवाऽभावाद् इतरप्रकाशराहित्यरूपं स्वप्रकाशत्वं सुतरां सिद्धमित्याह—अत इति। स्पष्टम्।।५५९।।

'ब्रूहि' इत्यन्तायाश्चतुर्दश्याः कण्डिकायाः शेषस्याऽर्थमाह—एवमुक्त इति अष्टभिः। एवं मुनिना उक्ते सति राजा मुनिं प्रत्याह स्म। कीदृशो राजा ? कामप्रश्नरूपेण वरेण आप्यं सम्पादयितुमिष्टं स्वात्मज्ञानं येन स तथा, अत एव बुद्धिमान् इति।।५६०।। 'एतावता मया कामप्रश्नफलं तत्त्वज्ञानं न लब्धम् अतः साधारणविद्यादक्षिणां तुभ्यं दास्यामि' इत्याशयकं राजवाक्यमभिनयति—विद्यामात्रमिति त्रिभिः। विद्यामात्रं साधारणविद्यामपि यो मह्यं ब्रूयात् तस्मै गजसदृशवृषभयुक्तं गवां सहस्रं ददामि। कीदृशीनां गवाम् ? गोलक्षणशास्त्रोक्तलक्षणानाम्। तच्छास्त्रं यथा—'अस्राविलरूक्षाक्षामूषकनयनाः शुभप्रदा गावः। प्रविचलचिपिटविषाणा वरटाखरसदृशवर्णाश्च।।' इत्यादि। इति द्वयोरर्थः।।५६१-५६२।। इति म इति। अत इत्यादि स्पष्टम्।।५६३।।

जिसकी एकता निश्चित है वह विभिन्न स्थलों पर दीखने पर भी भिन्न नहीं समझा जाता यह सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—कपालादि अपने अवयवों में रहने वाले जिस घट के बारे में निश्चित है कि वह एक है, वह बाहर आंगन में रखा दीखे, फिर अंदर घर में रखा दीखे—यों उसके आश्रयों में भले ही भेद हो पर घड़े में कोई भेद नहीं हो जाता। अतः कल्पित देशादि के भेद से पदार्थों की स्वाभाविक एकता समाप्त नहीं हो सकती।।५५७।।

क्योंकि दृश्यों में भेद नहीं है इसलिये सपने का व जाग्रत् का देश (अधिष्ठान) अभिन्न है। वह देश आत्मा ही है, अतः आत्मा का अभेद सिद्ध हो जाता है।।५५८।। जब आत्मा से अन्य कुछ है ही नहीं तब स्वप्रकाशता स्वतः सिद्ध है। अन्य कुछ होता तब 'वह प्रकाश है या नहीं' यह विचार संभव भी था; अन्य ही नहीं तो अन्य प्रकाश नहीं है इसमें कहना क्या ! आत्मा प्रकाशमान है ही। यही स्वप्रकाशता है—अन्य प्रकाश न हो और प्रकाशमान हो। इस अभिप्राय से याज्ञवल्क्य प्रसंग पूरा समझकर कहते हैं—हे राजन् ! इसीलिये मैंने तुम्हें बताया कि सपने में आत्मा सब भेदों से रहित स्वयंज्योति होता है। अब और क्या पूछना चाहते हो ?।।५५९।।

मुनि द्वारा यों कहे जाने पर यथेष्ट प्रश्न करने की छूट रूप वर से स्वात्मा का ज्ञान पाना चाहने वाले अत्यन्त बुद्धिमान् राजा ने याज्ञवल्क्य से कहा—।।५६०।। 'जो कोई भी उत्तम ब्राह्मण मुझे साधारण भी विद्या का उपदेश दे तो प्रत्येक विद्या के निष्क्रयरूप से मैं उसे एक हज़ार गायें दान करता हूँ। पशुशास्त्र में बताये उत्तम लक्षणों वाली जवान गायों के साथ एक अत्यंत पुष्ट शरीर वाला वृषभ भी देता हूँ। यह मेरा हमेशा का नियम है, जिसे सब लोग जानते हैं। आप श्रीयाज्ञवल्क्य ने मुझे अभी एक विद्या दी है अतः आपको भी मैं वैसा ही दान देता हूँ, आप ग्रहण करें।' ।५६१-६३।। राजा ने यों स्पष्ट किया कि अभी उसे तत्त्व की समझ नहीं आयी है, मुनि के प्रवचन से उसे साधारण ज्ञान हुआ है।

१. 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति। सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि। अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति' (बृ. ४.३.१४) इति कण्डिकाभागार्थमाह।

विचार्याह मुनिः

मया राज्ञे ब्रह्मविद्या ह्युक्ता सर्वा तथापि ताम्। न ज्ञातवानयं सम्यङ्मम शिष्यो महीपतिः।।५६४।।

किन्तु काचिदियं विद्येत्येतावत् प्रतिबुद्धवान्। इति सञ्चिन्त्य वचनं प्रोवाच नृपतिं तदा।।५६५।।

गोसहस्रं ददाम्यद्य विद्याया निष्क्रयं प्रति। योऽयमित्यादिनोक्तं यज्ज्योतिरात्मस्वरूपकम्।। मया ते प्रोक्तमखिलं तज्ज्ञातं तेन वाऽधुना।।५६६।।

राजप्रश्नः

इत्युक्ते नेति तं प्राह मुनिना स द्विजोत्तमम्। तथा पुनर्द्विवारं तं स मुनिं प्रत्यभाषत।।५६७।।

भवता योऽयमात्मोक्तः प्रथमं स्वप्नगः पुमान्। दोषं पश्याम्यहं तत्र भोगसङ्गसमुत्थितम्।।५६८।।

स्वप्ने यस्मादयं स्त्रीभिः मोदते च हसत्यपि। अन्नं नानाविधं तद्वदत्ति याति न यात्यपि।।५६९।।

उत्तरम्

इत्युक्ते मुनिवर्योऽपि स्वप्नेऽसङ्गत्वसिद्धये। उत्तरं प्रथमं प्राह जनकं मिथिलेश्वरम्।।५७०।।

अर्थलभ्यं मुनिवाक्यं प्रतिपादयति—मयेति त्रिभिः। मुनिस्तु इति सञ्चिन्त्य नृपतिं प्रति प्रोवाच। 'इति' किम्? मया पूर्णायां विद्यायामुक्तायामपि अयं नृपः तस्याः पूर्णतामज्ञात्वा साधारणविद्यात्वेन तां विज्ञातवान् इति द्वयोः सम्बन्धः।।५६४-५६५।। गोसहस्रमिति। विद्यानिष्क्रयाय गोसहस्रं ददामि इति भवद्वाक्यात् सन्दिह्यते—किं भवता तज्ज्ञातं न वा? 'तत्' किम्? यदात्मरूपं ज्योतिः 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (४.३.७) इत्यादिवाक्येनोक्तमिति।।५६६।।

इत्युक्ते नेतीति। इति मुनिना उक्ते सति राजा न ज्ञातम् इति आह स्म। एतेन विशिष्टो मोक्षो येन तस्मै तत्त्वज्ञानाय एव ब्रूहि, पूर्वं तु न सम्यग्बुद्धमित्यर्थको भागो व्याख्यात इति ध्येयम्। एतादृशो राज्ञः प्रतिवचनस्यार्थः पञ्चदश्यां षोडश्यां च कण्डिकायां बोध्य इत्याह—तथेति।।५६७।।

अथ 'स वा एष संप्रसाद' इत्यादिकण्डिकाचतुष्टयस्य तात्पर्यार्थभूतम् उत्तरत्रयम् अर्थाक्षिप्तराजप्रश्न-प्रदर्शनपूर्वकं निरूपयति—भवतेति त्रयोदशभिः। तत्र राजा स्वप्ने वर्णितात्मस्वरूप एवं प्रथमं दोषमुद्भावयन् प्रश्नं चकार। 'एवं' कथम्? हे मुने! भवता 'योऽयम्' इत्यादिवाक्येन स्वप्ने योऽयमात्मोक्तः तस्य अविद्याकाम-कर्मात्मकमृत्योस्तरणं न सम्भवति, यतः स्वप्ने भोगेन कामकर्मकार्येण च समुत्थितं प्रयुक्तं दोषं बन्धाख्यं पश्यामि[1] इत्यर्थः।।५६८।। तं दोषमभिनयति—स्वप्न इति। अयम् आत्मा; अत्ति भुङ्क्ते; याति इष्टदर्शनाय प्रवर्तते; न याति अनिष्टं दृष्ट्वा निवर्तत इति पदार्थः।।५६९।। एवं पृष्टो मुनिः स्वप्नेऽसङ्गत्वं प्रतिपादयन् प्रथममुत्तरं 'स एष सम्प्रसाद' इत्यादिकण्डिकारूपमुक्तवानित्याह—इत्युक्त इति। इत्युक्त इति राज्ञा पृष्टे सति।।५७०।।

याज्ञवल्क्य ने विचार किया—मैंने राजा को सारी ब्रह्मविद्या सुनायी फिर भी मेरा शिष्य यह राजा उसे सही तरह समझ नहीं पाया और सोच रहा है कि मैंने इसे कोई साधारण-सी विद्या ही प्रदान की हो! यह सोचकर उन्होंने मिथिलानरेश से कहा—राजन्! 'विद्या का निष्क्रय हज़ार गायें देता हूँ' ऐसा जो तुमने कहा उससे अब संदेह होता है कि 'जो यह विज्ञानमय' इत्यादि वाक्यों द्वारा मैंने तुम्हें आत्मस्वरूप ज्योति का जो संपूर्ण उपदेश दिया वह तुम समझे हो या नहीं?।।५६४-६।।

मुनि ने यों पूछा तो जनक ने उन द्विजोत्तम को स्पष्ट कहा 'मैं नहीं समझ पाया हूँ'। उन्होंने फिर समझाया पर राजा नहीं समझा तो उन्होंने तीसरी बार समझाया। यों तीन प्रश्न-उत्तर हुए।।५६७।।

१. तुलय 'घ्नन्ति त्वेवैनं, विच्छादयन्तीव, अप्रियवेत्तेव भवति, अपि रोदितीव। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति' (छां. ८.१०.२)।

प्रश्नान्तरम्

राजा पुनर्याज्ञवल्क्यमभिप्रायममुं श्रितः। द्वितीयं पूर्ववत् प्रश्नं कृतवान् बुद्धिसत्तमः।।५७१।।
स्वप्ने भवत्वसङ्गत्वं सूक्ष्मदेहसमाश्रयात्। स्थूलदेहगतः केनाऽसङ्गो जागरणे भवेत्।।५७२।।

तदुत्तरम्

याज्ञवल्क्योऽपि राजानमुत्तरं प्राह पूर्ववत्। अभिप्रायममुं प्राप्य द्वितीयं मुनिपुङ्गवः।।५७३।।
यादृशः सूक्ष्मदेहस्य सङ्गः स्थूलेऽपि तादृशः। नभोवन्निखिलैर्भावैः सक्तोऽप्येष न सज्जते।।५७४।।

द्वितीयं प्रश्नमवतार्याभिनयति—राजेति द्वाभ्याम्। अमुम् उत्तरश्लोकाभिनेयम् अभिप्रायम् आश्रितः सन् बुद्ध्या सत्तमो विद्वत्तमो राजा द्वितीयं प्रश्नं कृतवान् इति।।५७१।। स्वप्न इति। स्वप्ने यद् आत्मनः असङ्गत्वम् उक्तं तत् सम्भाव्यते यतः स्वप्ने शिष्यमाणो देहोऽपि सूक्ष्मत्वादसङ्गः, शिलादावपि तत्प्रवेशस्य प्रसिद्धेः। जाग्रति तु स्थूलदेहेन ससङ्गतया प्रसिद्धेन युक्तायां वर्तमानस्यात्मनः कथमसङ्गत्वम् ? इत्यर्थः।।५७२।।

एवं पृष्टो मुनिः अमुमभिप्रायमाश्रित्य 'एष स्वप्न' इत्यादिवाक्येन उत्तरं द्वितीयं ददावित्याह—याज्ञवल्क्योऽपीति। स्पष्टम्।।५७३।। 'अमुम्' इति पदोक्तमभिप्रायमभिनयति—यादृश इति। 'असङ्ग' इत्यत्र सङ्गपदेन शिलादौ प्रवेशप्रतिबन्धो नोच्यते, किन्तु मूर्तानां मूर्तैरेव क्रियाहेतुकः संयोगः। तदभाव आकाशसम आत्मनि नञा बोध्यते। तथा च भ्रान्त्याऽऽत्मानं परिच्छिन्नं मन्यमानैः यथा सूक्ष्मदेहेन आत्मनः सङ्गः कल्प्यते तथा स्थूलेनापि सङ्गः। तद्भ्रान्तिवारणाय असङ्गपदेनाऽयमर्थ उच्यते—एष आत्मा निखिलैः स्थूलैः सूक्ष्मैर्वा भावैः भ्रान्तदृष्ट्या सक्तोऽपि वस्तुतो न सज्जत इत्यर्थः।।५७४।।

केवल 'नहीं समझा' कहकर राजा चुप नहीं हुआ, उसने उपदेश पर शंका व्यक्त की : 'हे मुने ! 'जो यह विज्ञानमय' आदि वाक्यों द्वारा आपने जिस आत्मा को बताया वह अविद्या-काम-कर्म रूप मृत्यु से छूटा हुआ नहीं है क्योंकि उसमें भोग व आसक्ति से होने वाला बंधन रहता है यह मुझे साफ दीख रहा है। सपने में भी यह आत्मा स्त्रियों से प्रसन्न होता है, हँसता है, विविध आहार खाता है, इष्ट की ओर जाता है, अनिष्ट से भागता है। जाग्रत् की तरह ही सपने में आत्मा रहता है। अतः उसे मुक्तस्वरूप कैसे समझूँ ?'।।५६८-६९।।

राजा के इस प्रश्न पर मुनिवर ने मिथिलाराज जनक को प्रथम उत्तर दिया जिसमें बताया कि सपने में भी आत्मा असंग है। (उत्तर का विस्तार पुराणकार आगे श्लोक ५८१ से करेंगे।)।।५७०।।

बुद्धिमान् राजा ने पहले की तरह फिर प्रश्न किया। राजा का अभिप्राय था कि स्वप्न में जो आत्मा की असंगता कही वह संभव है क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का शरीर सूक्ष्म होता है अतः असंग होता है, इसीसे प्रसिद्ध है कि पत्थर आदि में भी वह शरीर घुस सकता है। लेकिन जाग्रत् में तो आत्मा स्थूल शरीर से युक्त है और यह शरीर आसक्ति वाला ही प्रसिद्ध है। इस अवस्था वाले की असंगता कैसे ?।।५७१-७२।।

याज्ञवल्क्य ने भी समुचित उत्तर दिया। (उनके प्रतिवचन का विस्तार श्लोक ६०३ से करेंगे।) उसका तात्पर्य यह था : आत्मा को 'असंग' कहने का मतलब यह नहीं कि वह पत्थर आदि में घुस सकता है ! 'संग' का मतलब यों घुसने में रुकावट डालने वाली स्थूलता भी नहीं है। कर्मप्रयुक्त संयोग संग-शब्द से कहते हैं जो आकाशतुल्य आत्मा में है नहीं। भ्रान्ति से आत्मा को सीमित मानने वाले जैसे आरोप कर लेते हैं कि उसका सूक्ष्म देह से संबंध है वैसे ही वे उसका स्थूल देह से भी सम्बन्ध कल्पित कर लेते हैं। सूक्ष्म देह से उसका सम्बन्ध जैसा आध्यासिक है, मिथ्या है, वैसा ही स्थूल देह से भी आध्यासिक ही है, मिथ्या ही है। आकाशसमान यह आत्मा भ्रान्तों की दृष्टि से स्थूल-सूक्ष्म सभी शरीरादि पदार्थों से सम्बद्ध होने पर भी वास्तव में किसी से सम्बन्ध वाला नहीं है।।५७३-७४।।

तृतीयप्रश्नः

तृतीयं प्रश्नमाहैतं राजाऽभिप्रायमाश्रितः। यथापूर्वं मुनिं विप्रं वरं प्राप्याऽकुतोभयः।।५७५।।

स्वप्ने जागरणे नित्यं गच्छतो देहिनः कथम्। एकस्यैवोभयं स्थानं न भवेद् दुर्घटं मुने।।५७६।।

माहिष्मत्यां भवेद्योऽयं भूपतिर्न भवेद् हि सः। काश्यामेकस्ततोऽत्रापि भेदः स्थानस्थयोर्भवेद्।।५७७।।

तस्योत्तरम्

तृतीयमुत्तरं विप्रः पुनरेवमभाषत। अभिप्रायेणामुनैनं जनकं मिथिलेश्वरम्।।५७८।।

युगपद् यदि गच्छेत् स पुमान् स्थानद्वयं तदा। स्थानभेदाद् भवेद् भेदो नैवमेष प्रयाति हि।।५७६।

साभिप्रायममी प्रश्ना उत्तरैः सहितास्त्रिधा। जाता एषूत्तराण्येवं प्रवृत्तानि ह्यनुक्रमात्।।५८०।।

महामत्स्यनिदर्शनेन समाधेयं तृतीयं प्रश्नम् अवतार्याऽभिनयति—तृतीयमिति त्रिभिः। एतम् उत्तरश्लोकद्वयेन निरूप्यम् अभिप्रायमाश्रितो राजा पूर्ववत् तृतीयं प्रश्नमाह स्म यतः कामप्रश्नरूपवरलाभेन पुनः पुनः प्रश्ने निर्भय इत्यर्थः।।५७५।। स्वप्न इति। हे मुने ! स्वप्नं जागरणं च गच्छत एकस्य आत्मनः स्वप्नजागरणरूपम् उभयं स्थानं कथं दुर्घटं न भवेत् ? किन्तु दुर्घटमेवेति।।५७६।। एकस्य स्थानद्वयनिष्ठत्वं दुर्घटमित्यत्र दृष्टान्तमाह—माहिष्मत्यामिति। यथा उज्जयिन्यां काश्यां च एको भूपतिर्न तिष्ठेत् किन्तु उज्जयिनीभूपतेः काशीभूपतिर्भिन्न एव, तथा जाग्रत्स्वप्नरूपस्थानस्थयोः आत्मनोर्भेदः स्यादित्यर्थः।।५७७।।

अस्य प्रश्नस्य उत्तरं 'स वा एष बुद्धान्त' इत्यादिकया तथा 'महामत्स्य' इत्यादिकया च कण्डिकया ददावित्याह—तृतीयमुत्तरमिति। अमुनाऽग्रिमश्लोकाभिनेयेन अभिप्रायेण मुनिः तृतीयमुत्तरम् उक्तवानिति।।५७८।। युगपदिति। यदि एकस्मिन् काले स्थानद्वयवृत्तित्वमुच्येत तदा भेदप्रसक्तिर्भवेदेव, उक्तदृष्टान्तात्। परन्तु एष आत्मा एवं युगपत् स्थानद्वयं न प्रयाति किन्तु क्रमेण याति। तथा च यथा एकस्य तीर्थाटकस्य क्रमेण माहिष्मतीं काशीं च गच्छतो न भेदः तथाऽऽत्मनोऽपीत्यर्थः।।५७६।।

तात्पर्यप्रदर्शनं निगमयन् कण्डिकाचतुष्टयस्य श्रौतार्थप्रदर्शनं प्रतिजानीते—साभिप्रायमिति। येऽमी साभिप्रायं सोत्तराः प्रश्नाः त्रिरूपा निरूपिताः तेषाम् उत्तराणि उत्तराभिधायकश्रुतिवाक्यानि एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण क्रमेण प्रवृत्तानि प्रवृत्तव्याख्यानानि बोध्यानीति शेषः।।५८०।।

इस पर राजा को एक और शंका उठी। वर प्राप्त हो चुकने से उसे पूछने में तो कोई डर रह नहीं गया था। अतः उसने तीसरा सवाल भी किया : 'हे मुने ! देही आत्मा हमेशा स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में जाता रहता है लेकिन एक के ही दो स्थान हों यह दुर्घट कैसे नहीं है ? जो राजा माहिष्मती में होता है वही काशी में भी हो ऐसा नहीं होता। जैसे एक ही राजा दोनों जगह मौजूद नहीं हो सकता, अलग-अलग ही होते हैं, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न स्थानों वाले आत्मा भी विभिन्न होने चाहिये।' ।५७५-७७।।

विप्रराज ने जनक को तीसरा उत्तर दिया। (इसका भी विस्तार श्लोक ६०८ से करेंगे।) उसका अभिप्रायं था : वह पुरुष अगर इकट्ठे ही दोनों स्थानों में उपस्थित हो तब स्थानभेद के कारण उसमें भेद प्रसक्त हो किन्तु यह आत्मा इकट्ठे ही दोनों अवस्थाओं में नहीं होता वरन् क्रम से होता है। अतः जैसे एक ही तीर्थयात्री माहिष्मती और काशी दोनों जगह घूम लेता है, इतने से उसे अनेक तीर्थयात्री नहीं मानना पड़ता ! वैसे आत्मा दोनों अवस्थाओं में जाने पर भी है अभिन्न ही।।५७८-७६।।

प्रथमोत्तरविस्तारः

स एवात्मा मया यस्ते स्वयंज्योतिरुदाहृतः। स्वप्नस्थितः कदाचित्तु सम्प्रसादे व्यवस्थितः।।५८१।।

सुषुप्तिः सम्प्रसादाख्या कथिता वेदवादिभिः। सम्यक् प्रसीदति ह्यस्यां शरदीव जलं पुमान्।।५८२

विक्षेपमखिलं हित्वा समनस्कं सुषुप्तिगः। सम्यगात्मस्वरूपेण प्रसीदत्यात्मना स्वयम्।।
सम्प्रसादस्ततो ज्ञेया सुषुप्तिरिह मानवैः।।५८३।।

यद्यप्यत्र न काप्यस्ति रतिर्वा गतिरेव वा। अस्याः प्राप्तेः पुरा पश्चात् स्यातां रतिगती सदा।।
सम्प्रसादे ततो रत्वा चरित्वा च परः पुमान्।।५८४।।

तत्र प्रथमप्रश्नसमाधानपरायाः 'स वा एष सम्प्रसाद' इत्यादिकायाः पञ्चदश्याः कण्डिकाया[1] अर्थं निरूपयति—स एव इत्यादिद्वाविंशतिश्लोकैः। हे राजन्! य आत्मा मया तुभ्यं स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वेनोक्तः स एव कदाचित् सम्प्रसादे व्यवस्थितो भवतीति।।५८१।। अधिकरणव्युत्पत्त्या सम्प्रसादशब्दार्थमाह—सुषुप्तिरिति द्वाभ्याम्। हि यतः अस्यां सुषुप्तावस्थायां सम्यङ् नितरां प्रसीदति कालुष्यं त्यजति।।५८२।। सम्यक्त्वं विवृणोति—विक्षेपमिति। विक्षेपं मनआद्युपाधितद्धर्माध्यासरूपम् अखिलं त्यक्त्वा सदात्मरूपेण तिष्ठन् सम्यक् प्रसीदति इत्यतः सुषुप्तिः सम्प्रसादसंज्ञिकेत्यर्थः।।५८३।। रतेः क्रीडायाः, गतेः नानाविषयाटनरूपायाश्च यद्यपि सुषुप्तौ न सम्भवः तथापि ते स्वप्नगते एवानूद्येते भूतमाविगत्या—इति भाष्यव्याख्यानुरोधेनाह—यद्यपीति। द्वितीयार्द्धस्य 'तथापि' इत्यादिः। तथा च यद्यप्यत्र सुषुप्तौ रतिगती न स्तः तथापि सुषुप्तिप्राप्तेः पूर्वं पश्चाद् वा स्वप्ने रतिगती भवतः ततः ते एव स्वप्नादिगते अनूद्य सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा इत्येवं परः पुमान् उक्त इति सम्बन्धः।।५८४।। एवं पुण्यपापयोरपि

उक्त अभिप्राय वाले जो तीन तरह के प्रश्न-उत्तर हुए उनका परिचय करा दिया है, अब उत्तरों को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।।५८०।।

पंद्रहवी कण्डिका द्वारा प्रथम प्रश्नका उत्तर दिया है। उसमें कहा है कि आत्मा सपने में रति-गति करता है, पुण्य-पाप को सिर्फ देखता है और सुषुप्ति में चला जाता है। फिर जैसे गया था वैसे ही यथास्थान लौट आता है। सपने में जो कुछ इसने देखा है उससे अनुगत हुआ नहीं रहता क्योंकि यह पूर्णस्वरूप चेतन संग से रहित है।—यह याज्ञवल्क्य ने समझाया। इसका पुराणकार व्याख्यान कर रहे हैं—

हे राजन्! स्वप्न में स्थित जिस आत्मा को मैंने तुम्हें स्वयंज्योति बताया वही किसी समय 'सम्प्रसाद' अवस्था को प्राप्त होता है।।५८१।। वेदानुसार प्रवचन करने वाले सुषुप्ति को 'सम्प्रसाद' नाम वाली कहते हैं, क्योंकि उस अवस्था में पुरुष उसी प्रकार भली-भाँति निर्दोष हो जाता है जैसे शरदृऋतु में जलाशयों का जल।।५८२।। मन आदि उपाधियों से और उनके धर्मों से अध्यासरूप सारे विक्षेप को छोड़कर गहरी नींद में आत्मा अपने ही स्वरूप से मौजूद रहता है और खुद अपने ही द्वारा प्रसन्न रहता है, इसीलिये मानव सुषुप्ति को सम्प्रसाद कहते हैं।।५८३।। श्रुत्यक्षरानुसार लगता है कि 'इस संप्रसाद में आत्मा रति-गति करके लौटता है' ऐसा कहा है जबकि सुषुप्ति में कोई रति अर्थात् क्रीडा और गति अर्थात् इधर-उधर घूमना, अथवा रति अर्थात् भोग और गति अर्थात् क्रिया नहीं होते। किंतु श्रुति का अभिप्राय है कि सुषुप्ति में जाने से पहले और सुषुप्ति से आने के बाद तो रति-गति होते ही हैं। चाहे जाग्रत् हो या स्वप्न, दोनों

---

१. 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति स्वप्नायैव। स यत् तत्र किंचित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति, असंगो ह्ययं पुरुषः। इति। एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य। सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि। अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति।।१५।।'

पुण्यपापे च न स्यातां यद्यप्यत्र तथापि ते। सुषुप्तावपि सर्वेषां विद्येते कारणात्मना। अत एते विलोक्यैव स्वप्रकाशात्मना पुमान्।।५८५।।

अनादाविह संसारे सम्प्रसादान् ह्यनेकशः। यथा समागतः पूर्वं पुनरेष तथा व्रजेत्।।५८६।।

यथा गतं तथैवाऽयं समायाति सदा पुमान्। यो गच्छति स भूत्वाऽयं समायाति न चेतरः।।५८७।।

व्याघ्रदेहो यदा सुप्तिं व्रजेद् व्याघ्रो भवेत्तदा। सुषुप्तादागतो नाऽपि तज्जातावपरं वपुः।।५८८।।

दर्शनं यत् सुषुप्तावुक्तं तदपि तयोः सफलयोः सुप्तौ कारणाज्ञानरूपेण स्थितयोरेव बोध्यं, तदानीमभिव्यक्तयोः असम्भवादित्याह—पुण्यपापे इति। यद्यप्यत्र सुषुप्तौ पुण्यपापे न स्याताम् अभिव्यक्ते न भवतः तथापि ते सुषुप्तौ कारणात्मना विद्येते, अतः अभिप्रायाद् एते पुण्यपापे स्वप्रकाशेन अज्ञानभासकरूपेण विलोक्य इत्युक्तमिति शेषः।।५८५।।

'पुनः'-पदार्थमाह—अनादाविति। यथा पूर्वं सम्प्रसादान् गतः तथा पुनरेष व्रजेद् इति।।५८६।। निश्चित आयो गतिः तमभिलक्ष्य—इत्यर्थकस्य 'प्रतिन्याय'पदस्य, तथा यद्योनिकं शरीरं सुप्तेः पूर्वमासीत् तदेव प्राप्नोति—इत्यर्थकस्य 'प्रतियोनि'-पदार्थस्य पूर्वोत्तरार्द्धाभ्यां क्रमेणार्थमाह—यथा गतमिति। तथैव तेनैव गतिमार्गेणेति यावत्। यो यद्योनिशरीरकः सुप्तिं गच्छति स भूत्वा तद्योनिशरीरको भूत्वा समायाति। अत्र 'मुखं व्यादाय स्वपिति' इतिवत् क्त्वाप्रत्ययो बोध्यः।।५८७।।

'प्रतियोनि'पदार्थमेव व्यवहितोत्तरश्रुत्यनुरोधेन[1] विशदयति—व्याघ्रदेह इति द्वाभ्याम्। व्याघ्रः सुप्तिं प्राप्य में कोई-न-कोई रति या गति होती ही रहती है। उन्हीं का अनुवाद सुषुप्ति में कर दिया है, न कि वहाँ रति-गति का होना बताया है। इसी प्रकार सुषुप्ति में पुण्य-पाप अभिव्यक्तदशा में नहीं होते फिर भी कहा कि 'वहाँ आत्मा पुण्य-पाप देखकर ही लौटता है; उसमें भी अभिप्राय है कि सभी लोगों के पुण्य-पाप सुषुप्ति में भी कारणरूप से तो रहते ही हैं, अतः अज्ञान को भासित करने वाले स्वप्रकाशरूप से पुरुष उन्हें भी देख लेता है। (माध्यन्दिन शाखा में यह सम्प्रसाद वाला पर्याय नहीं है, केवल स्वप्नान्त वाला पर्याय है और फिर महामत्स्य का दृष्टान्त समझाया है। उस क्रम में स्पष्टता है लेकिन तीनों अवस्थाओं से विवेक स्फुट नहीं होता। भगवान् वार्तिककार ने जाग्रदादि प्रत्येक अवस्था के तीन-तीन विभाग माने हैं, जाग्रत्-जाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, जाग्रत्सुषुप्ति इत्यादि। उसके अनुसार सुषुप्ति-सुषुप्ति से अन्य दोनों सुषुप्तियों की दृष्टि से वहाँ भी रति-गति संभव है अतः प्रकृत प्रसंग संगत है। अथवा श्रुति ने सुषुप्ति को उदाहरणार्थ कहा है: जैसे वहाँ रति-गति संभव नहीं वैसे ही अन्यत्र भी वे असंभव हैं, भले ही वास्तविकता न जानकर औपाधिक अनुभव जाग्रदादि में हो जायें। इस व्याख्या के लिये श्रुति में 'अरत्वा, अचरित्वा, अदृष्ट्वा' ये पदच्छेद (वा. ४.३.१०४९) समझ सकते हैं। वार्तिक ४.३.१०५४ आदि में यह प्रसंग आया है।)।।५८४-८५।।

श्रुति में 'पुनः आता है' यों पुनः—फिर से—कहा है। उसका अभिप्राय है कि आत्मा का संसरण अनादि है अतः अनेकों बार वह सुषुप्ति में गया है, जैसे पहले जाता रहा है वैसे फिर-फिर जाता है। इसी तरह वहाँ से लौटना भी पहले की तरह ही होता रहता है।।५८६।। यह पुरुष जैसे सुषुप्ति में जाता है हमेशा वैसे ही लौटता है और जिस मनुष्यादि योनि के शरीर वाला जाता है उसी योनि वाला हुआ लौटता है, किसी अन्य योनि वाला होकर नहीं ! बाघ के शरीर वाला होकर जब सोता है तब उठकर बाघ ही रहता है। शरीर भी वही ग्रहण करता है, ऐसा नहीं कि बाघजाति के किसी अन्य ही शरीर में जग जाये ! शेर, भेड़िया, सुअर, कीड़ा, मनुष्य आदि जिस जाति व जिस शरीर वाला सुषुप्ति में जाता है उसी जाति व शरीर वाला लौट भी आता है। (महर्षि याज्ञवल्क्य जनक को समझाना चाहते हैं कि आत्मा

---

१. वस्तुतस्तुच्छान्दोग्य उक्तम् 'तद्य इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदाभवन्ति'।।६.९.३।।इति।।

सिंहो वृको वराहो वा कीटादिर्मनुजोऽपि वा। यज्जातिर्यद्वपुः सुप्तिं गच्छेदायात्यसौ तथा।।५८९।

विक्षेपदर्शनायैव जन्तुः सर्वः समाव्रजेत्। स्वप्नायैवेति तेनेदमुच्यते सावधारणम्।।५९०।।

सुषुप्तादागतः सोऽयं तत्र स्वप्ने व्यवस्थितः। नारीभोगादिकं यत्तत्पश्यत्यात्मा स्वयंप्रभः।। न तेन सज्जते यस्माद् द्रष्टा यद्वद् घटादिना।।५९१।।

विषयज्ञानमात्माऽसङ्गतासाधकम्

स्वसम्बद्धं न कोऽप्यत्र द्रष्टुमर्हति किञ्चन। तथात्वे दृश्यता स्वस्य बलादेव समापतेत्।।५९२।।

समागतः सन् व्याघ्रदेह एव भवति, तत्र च तामेव व्यक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः।।५८८।। सिंह इति। तथा तज्जातितद्व्यक्तिवैशिष्ट्येनेत्यर्थः। स्फुटमन्यत्।।५८९।।

ननु सुषुप्ताद् यत् समायाति तत् स्वप्नायैवेत्यवधारणं नोपपद्यते, सुप्त्यनन्तरं जाग्रत्प्राप्तेरपि दर्शनादिति चेद्? न। स्वप्नपदस्य विपर्ययज्ञानात्मकविक्षेपसामान्यपरत्वादित्याह—विक्षेपेति। तेन स्वप्नपदस्य विक्षेपसामान्यपरत्वेन स्वप्नायैवेति सावधारणमुच्यत इति।।५९०।।

असङ्गताप्रतिपादकभागार्थमाह—सुषुप्तादिति। सुषुप्ताद् आगत्य तत्र विक्षेपात्मके स्वप्ने व्यवस्थितः सन् आत्मा यत् किञ्चिद् नारीभोगादिकं पश्यति, तेन विषयजातेन न सम्बध्यते यतो द्रष्टा[1] भवति। न हि लोकेऽपि द्रष्टा दृश्येन संसृज्यते, यथा घटादिद्रष्टा घटादिना—इति सम्बन्धः।।५९१।।

ननु आत्मनोऽपि अहमित्याकारेण स्वप्ने भानं परे मन्यन्ते[2], तथा च आत्मस्वरूपस्यापि अननुगमापत्तिरिति चेद् ? न; स्वयंप्रकाशस्यात्मनो विषयतया भानं न सम्भवति। परे तदुपाधिबुद्धेर्विषयताम् आत्मनि मन्यमानास्तु भ्रान्ता इत्याशयेन आत्मनो विषयतया भानाङ्गीकार आत्मत्वादेव प्रच्युतिः स्यादित्याह—स्वसम्बद्धमिति। स्वसम्बद्धं स्वेनात्मना विशिष्टमिति यावत्। ईदृशमर्थं कोऽपि द्रष्टुं विषयी कर्तुं नार्हति यतः तथात्वे आत्मविशिष्टस्यार्थस्य विषयत्वे स्वीक्रियमाणे स्वस्य आत्मनो दृश्यता विषयता बलाद् विशिष्टवृत्तेर्धर्मस्य विशेषणवृत्तित्वनियमात् प्रसक्ता भवेत्। तथा च बहिष्ट्वरूपानात्मत्वप्रसक्तिरिति भावः।।५९२।। यद्यात्मनो विषयविशेषणत्वमभ्युपगम्यते

की असंगता का सामान्य व्यवहार से कोई विरोध नहीं। सुषुप्ति में देहादि उपाधियाँ परिच्छेदक नहीं रहतीं, फिर भी जगने पर व्यवस्था बिगड़ नहीं जाती, ऐसे ही वास्तवमें जाग्रत् में भी ये उपाधियाँ आत्मा को परिच्छिन्न नहीं कर रही फिर भी व्यवहार-प्रतीति हो रही है। यद्यपि अंतःकरण या सूक्ष्मशरीर के ही गमन-आगमन को आधार बनाकर यह प्रसंग कहा-समझा जा सकता है तथापि क्योंकि अभी राजा देहनिरपेक्ष आत्मा नहीं समझा है इसलिये यों कहना संगत है।)।।५८७-८९।।

वेद ने कहा कि 'सपने के लिय ही लौटता है' किंतु अनुभव में कभी सुषुप्ति से सीधे जाग्रत् में भी आया जाता है। इसलिये व्याख्या करते हैं—सभी जंतु गहरी नींद से जो लौट कर आते हैं वह विक्षेप का दर्शन करने के लिये ही। जाग्रत् हो या स्वप्न, दोनों हैं तो विक्षेपरूप ही, विपर्ययरूप ही। इसीलिये दृढतापूर्वक श्रुति ने कहा कि सपने के लिये ही लौटता है।।५९०।।

सुषुप्तिसे आकर विक्षेपरूप सपने में स्थित हुआ आत्मा नारीभोग आदि जो कुछ अनुभव करता है उस विषयसमूह से बँध नहीं जाता क्योंकि स्वप्रकाश आत्मा विषयों का सिर्फ द्रष्टा बना रहता है। लोक में भी घटादि का द्रष्टा घटादि से बँध नहीं जाता। (सपने के विषयों से अनासक्ति सर्वानुभूत है, उसके अनुसार जाग्रत् में भी समझनी चाहिये क्योंकि यहाँ भी विषयसंपर्क तो देह-इंद्रियों का ही होता है, आत्मा केवल द्रष्टा ही रहता है।)।।५९१।।

---

१. 'धर्मादिकारणोद्भूतवासनाराशिसाक्षिता। आत्मनोऽकारकस्यैव भोग इत्यभिधीयते।।' ४.३.४५०।। इति 'स्वप्नो भूत्वेमं लोकम्' इति श्रुतिव्याख्यातृवार्तिकम्। २. न मन्यन्त इत्यन्वयः, नुकारः प्रश्ने।

विशिष्टग्रहणं न स्यात् त्रयाणामग्रहे क्वचित्। यो न जानाति सम्बन्धं विशेष्यं वा विशेषणम्।।
प्रपद्यते विशिष्टं स न कदाचित् पुमानिह।।५६३।।

योग-दण्ड-नराणां स्यादग्रहे न ग्रहः क्वचित्। दण्डीति तत एवात्मवैशिष्ट्ये ह्यात्मनो गतम्।।५६४

नैवात्मनात्मनः शक्यो ग्रहः केनाऽपि वस्तुना। गृह्णीयादत्र को नाम मुष्टिं तेनैव मुष्टिना।।५६५।।

अपि स्वस्य ग्रहे स्वस्य सर्वथा स्यादनात्मता। गृह्यमाणं जडं दृष्टम् आत्मता न जडे भवेत्।।५६६।

आत्मता चेज्जडस्य स्याद् घटस्यैषा न किं भवेत्। खादीनां वाप्यमूर्तानां जडानामात्मता न हि५६७

ततः स्वप्नेऽत्र यद् दृश्यं नारीभोगादनादिकम्। सम्बन्धस्तेन न द्रष्टुः द्रष्टृत्वादेव हेतुतः।।५६८।

तदा 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये पर्यवतिष्ठत' इति न्यायेन विषयत्वप्रसक्तिरवश्यं स्यादित्याह—विशिष्टेति। त्रयाणाम् विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धरूपाणाम् अग्रहे विषयीकरणाभावे सति विशिष्टस्य ग्रहणं विषयीकरणं न स्याद्। एतदेव स्फुटयति—यो नेत्यादिना।।५६३।। योगेति। यथा संयोगस्य सम्बन्धस्य, दण्डस्य विशेषणस्य, पुरुषस्य विशेष्यस्य च अग्रहे सति दण्डीति-आकारको विशिष्टग्रहः क्वचिद् अपि न स्यात्। तत एव न्यायाद् आत्मवैशिष्ट्ये विषयाणामङ्गीकृते सति आत्मनो विशेषणी भूतस्य गतं ज्ञानविषयत्वरूपं प्रसज्जेतेति शेषः।।५६४।। तच्च व्याहतमिति सदृष्टान्तमाह—नैवेति। केनापि वस्तुना एवात्मनो ग्रहः कर्तुमशक्यः। यथा दक्षिणहस्तमुष्टिना दक्षिणहस्तमुष्टिः ग्रहीतुमशक्य इति सम्बन्धः।।५६५।। किञ्चात्मनो विषयत्वस्वीकारे विषयत्वव्यापकस्य जडत्वस्य प्रसक्त्याऽनात्मत्वं स्यादित्याह—अपि स्वस्येति। स्वस्य आत्मनः।।५६६।। परिच्छिन्ने विभुनि वा वस्तुनि यत्र यत्र जडत्वं तत्रानात्मत्वमिति व्याप्तिमाह—आत्मतेति। एषात्मता खादीनाम् आकाशकालदिशाम् अमूर्तानां विभूनामपि जडत्वेन आत्मता न दृष्टेति शेषः।।५६७।। उक्तविचारस्य प्रकृतोपयोगमाह—तत इति। ततो ग्राहकस्य ग्राह्यकोटावनिवेशात् स्वप्नदृश्यैः द्रष्टुः न सम्बन्धः, यतो द्रष्टृत्वं दृश्यासम्बन्धव्याप्यत्वात् तत्र हेतुर्भवतीत्यर्थः।।५६८।।

यदि आत्माका विषयसे सम्बंध हो तो विषयज्ञान ही संभव नहीं होगा अतः विषयज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से आत्मा की असंगता सिद्ध करने की विलक्षण रीति अपना कर पुराणकार कहते हैं—संसारमें कोई भी व्यक्ति ऐसी किसी चीज़ को देख (जान) नहीं सकता जो खुद उस व्यक्ति से सम्बद्ध हो ! कारण कि यदि स्वयं से (अर्थात् द्रष्टा से) सम्बद्ध होने के कारण उससे विशिष्ट अर्थ को द्रष्टा के ज्ञान का विषय माना जाये तो न चाहकर भी स्वयं को अपना ही विषय भी स्वीकारना पड़ेगा; विशिष्ट में यदि विषयता रहेगी तो विशेषण में भी उसे रहना अनिवार्य है। और यदि विषयता होगी तो द्रष्टा को आत्मा ही नहीं कह पायेंगे।।५६२।।

जब तक विशेष्य, विशेषण और उनका सम्बंध ये तीनों न जाने जायें तब तक विशिष्ट का कभी ग्रहण नहीं होता। जो पुरुष संबंध, विशेष्य व विशेषण को नहीं जानता वह विशिष्ट को भी कभी नहीं जान पाता। संयोग, दण्ड और पुरुष तीनों को न जाने तो 'दण्डी' ('दण्डधारी पुरुष') ऐसा ज्ञान कभी नहीं होता। एवं च आत्मा से सम्बद्ध अर्थात् उससे विशिष्ट विषयों का ज्ञान मानें तो विशेषण हुए आत्मा को भी उस ज्ञान का गोचर मानना पड़ेगा जब कि ऐसा मानना विरुद्ध है। किसी भी वस्तु द्वारा स्वयं उसी वस्तु का ग्रहण करना संभव नहीं। आखिर उसी मुट्ठी से उसी मुट्ठी को कौन पकड़ सकता है ! कथंचित् अगर द्रष्टा को विषय मान लें तो उसे पूरी तरह अनात्मा ही होना पड़ेगा क्योंकि जो कुछ विषय होता है वह जड देखा गया है और जड में आत्मता होती नहीं। अगर जड भी आत्मा हो तो घट ही क्यों नहीं आत्मा हो जाता? अमूर्त होने पर भी जड होने से ही आकाशादि आत्मा नहीं हैं।।५६३-६७।। इसलिये अनुभवसिद्ध सपने में नारीभोग, अन्नभक्षण आदि जो दीखता है उससे द्रष्टा का सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वह द्रष्टा

यद् येन दृश्यते द्रष्ट्रा तेनासौ बद्ध्यते न हि। यथा पुमान् घटद्रष्टा बद्ध्यते न घटेन सः।।५९९।।

अनन्वागत एवातः तेन दृश्येन तत्र सः। स्वप्नद्रष्टा भवेत् स्वप्नदृश्येनासङ्गरूपधृक्।।६००।।

यत एव पुमान् स्वप्ने सङ्गलेशविवर्जितः। स्वप्रकाशात्मना तस्माद् मोक्षायैष नरेश्वर।।६०१।।

एवमेवेति जनको याज्ञवल्क्यमभाषत। याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य मुनिं तं द्विजसत्तमम्।।६०२।।

द्वितीयोत्तरार्थः

याज्ञवल्क्योऽपि तं प्राह जनकं नृपतिं पुनः। पुंसो जागरणावस्था सर्वस्यास्ति तथैव च।।६०३।।

तत्र मार्गाननेकांश्च दृष्ट्वैव भयमप्यदः। पुण्यं पापं तथात्मानं याति जागरणाय सः। केवलाय बहिष्ट्वाय समायाति यथागतम्।।६०४।।

द्रष्टृत्वस्य दृश्यासम्बन्धेन व्याप्तिं विशदयति—यद्येनेति। येन द्रष्ट्रा यद् दृश्यते तेन दृश्येन असौ द्रष्टा न बद्ध्यते यथा घटद्रष्टा घटेन इत्यन्वयः।।५९९।। फलितमाह—अनन्वागत इति। अतः असङ्गत्वात् तत्र जागरणे स घटद्रष्टा तेन घटादिरूपदृश्येन अनन्वागतः अनुगतो न भवति एव तथा स्वप्नद्रष्टा स्वप्नदृश्येन असङ्गत्वाद् अनन्वागत इति सम्बन्धः।।६००।। तथा च यत् त्वया प्रथमप्रश्ने स्वप्ने ससङ्गत्वदोषेण आत्मनो मोक्षायोग्यत्वं सूचितं तद् निरस्तमित्याह—यत एवेति। यत एष पुमान् उक्तविधया स्वप्ने सङ्गलेशेनापि वर्जितः तस्मात् स्वप्रकाशरूपेण मोक्षाय मोक्षयोग्य एव, हे नरेश्वर! इति।।६०१।।

एवमुक्तो राजा प्रथमप्रश्नोत्तरमेवमेवेत्याकारेण अङ्गीचकारेत्याह—एवमेवेति।।६०२।।

जाग्रत्यसङ्गत्वबोधिकायाः षोडश्याः कण्डिकाया[1] अर्थं वदन् द्वितीयोत्तरमभिनयति—याज्ञवल्क्योऽपीति पञ्चभिः। हे राजन्! सर्वस्य जन्तोः जागरणावस्थाऽपि तथैव स्वप्नावस्थावदेव अस्ति। यथा स्वप्नावस्था द्रष्टुर्न लेपाधायिका तथा जाग्रदवस्थापीत्युत्तरार्द्धार्थः।।६०३।। 'तथैव' इत्युक्तं साम्यमेव स्फुटयति—तत्रेति। तत्र स्वप्ने

है! जो द्रष्टा होता है वह अपने दृश्यसे असम्बद्ध ही होता है।।५९८।। जिस द्रष्टा द्वारा जो विषय देखा जाता है उस दृश्यसे वह द्रष्टा बँधता नहीं है।।५९९।। जाग्रत् में जैसे घटद्रष्टा दृश्यभूत घट से अनुगत नहीं हो जाता क्योंकि असंग है वैसे ही स्वप्नद्रष्टा भी स्वप्नके दृश्यों से अनुगत नहीं होता क्योंकि असंग है।।६००।। हे नरेश! क्योंकि यह आत्मा सपने में थोड़े भी संग से रहित है इसलिये अपने स्वप्रकाशरूप से विद्यमान यह पूर्ण चेतन इसी लायक है कि यह मोक्षरूप हो। (इस प्रकार 'स्वप्नमें संगयुक्त होने से मुक्तस्वरूप कैसे?' यह जो प्रथम प्रश्न था उसका उत्तर पूरा हुआ।)।।६०१।।

जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा 'ऐसा ही है।' फिर 'याज्ञवल्क्य!' यों संबोधित कर उसने पूर्ववत् गोदान की पेशकश की जिससे पूर्वदर्शित द्वितीय प्रश्न ही प्रकट किया।।६०२।।

याज्ञवल्क्य ने भी राजा जनक को फिर से समझाया : हे राजन्! सभी जन्तुओं की जाग्रदवस्था भी स्वप्नावस्था जैसी ही है, जैसे सपना अपने द्रष्टा को लिप्त नहीं करता ऐसे ही जाग्रत् भी द्रष्टा पर लेप की तरह सम्बद्ध नहीं होता।।६०३।। सपने में आत्मा अनके मार्गों को, भय को, पुण्य व पाप के फल से विविध आकार वाले मन को सिर्फ देखकर—न कि कुछ करके—जाग्रदवस्था में चला आता है। सपने से जाग्रत् में यही खासियत है कि इसमें केवल बाहरीपन है। सपने में सुषुप्ति की अपेक्षा बाहिरीपन होने पर भी जाग्रत् की अपेक्षा तो भीतरीपन है ही। ऐसे ही जाग्रत् में कोई

१. 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा' इत्यादि सर्वं पूर्वकण्डिकावत्।

यथा स्वप्ने पुमानेष भवेत् सङ्गविवर्जितः। द्रष्टा दृश्येन निःसङ्गः स्वप्नवत् सङ्गवर्जितः। ।६०५। ।

स्वप्नदृश्यैर्यथा स्वप्ने स्वयमेव न सज्जते। तथा जागरणे दृश्यैरपि द्रष्टा न सज्जते। ।६०६। ।

ततो जागरणेऽप्यात्मा तेनानन्वागतो भवेत्। असङ्गो यत एवायं पुरुषः स्वप्नदृक्समः[1]। ।
अङ्गीचकार राजा तदेवमेवेति पूर्ववत्। ।६०७। ।

तृतीयोत्तरव्याख्या

याज्ञवल्क्योऽपि तं प्राह यथा पूर्वं पुनर्मुनिः। अवस्थाद्वयमेकस्य दृष्टान्तेनातिबुद्धिमान्। ।६०८। ।

अत्र जागरणे रत्वा वध्वाद्यैः स्वात्मनः प्रियैः। गत्वा च विविधान् मार्गान् पुरग्रामादिमध्यगान्। ६०९

सुखदुःखकरीं बुद्धिं पुण्यपापसमुद्भवाम्। दृष्ट्वैव स्वप्नवद् गच्छेत् पुनः स्वप्नं स्वयंप्रभः। ।६१०। ।

अनेकान् नाडीमार्गान् दृष्ट्वा तथा पुण्यपापफलाकारेण परिणतम् आत्मानं बुद्धिं दृष्ट्वैव, न तु किञ्चित् कृत्वा, स आत्मा जागरणाय याति। तत्रैतावान् स्वप्नाद् विशेषः—यद् जागरणे केवलं बहिष्ट्वं वर्तते, स्वप्ने तु यद्यपि जाग्रदपेक्षयान्तरत्वमपि वर्तते तथापि सम्प्रसादापेक्षया बहिष्ट्वाय यथागतं गमनमार्गमनतिक्रम्य आगमनं सममेवेति भावः। ।६०४। । द्रष्टृत्वेन आत्मनोऽसङ्गताऽप्युभयत्र समेत्याह—यथेति। यथैष पुमान् स्वप्ने दृश्येन सङ्गविवर्जितः तथा जाग्रत्यपि दृश्येन सङ्गविवर्जितः यतो द्रष्टृत्वेन निःसङ्गो भवतीत्यन्वयः। ।६०५। । एतदेव स्फुटयति—स्वप्नदृश्यैरिति। स्वयमेव इत्यस्य स्वभावादेवेत्यर्थः। तथा च यथा स्वप्ने द्रष्टा द्रष्टृस्वभावादेव हेतोः स्वप्नदृश्यैर्न सज्जते तथा जागरणेऽपीति सम्बन्धः। ।६०६। । फलितमाह—तत इति। तेन दृश्यजातेन अनन्वागतः असम्बद्धः। शेषं स्पष्टम्। ।६०७। ।

एकस्य क्रमेण स्थानसम्बन्धेऽपि न भेद इत्याकारस्य तृतीयोत्तरस्य प्रतिपादकयोः सप्तदश्यष्टादश्योः कण्डिकयोः अर्थमाह—याज्ञवल्क्योऽपीति षड्भिः। यथा पूर्वं पूर्ववाक्यसमानाकारवाक्यं सप्तदशकण्डिकारूपम् उच्चरन् याज्ञवल्क्यः अष्टादशकण्डिकोक्त-दृष्टान्तेन एकस्य आत्मनः क्रमेण अवस्थाद्वयमाह स्मेति सम्बन्धः। ।६०८। । तत्र सप्तदश्या[2] अर्थं सङ्गृह्णाति—अत्रेति द्वाभ्याम्। अत्र प्रसिद्धे जागरणे स्थूलैः वध्वादिरूपविषयैः रत्वा क्रीडित्वा, तथा स्थूलान् मार्गान् चरित्वा तत्रापि तद्विषयाकारां पुण्यपापाभ्यां सुखदुःखाकारां

भीतरीपन नहीं है। आत्मा जाग्रत् से जैसे सपने में जाता है वैसे ही वहाँ से लौटता भी है। ।६०४। । जैसे स्वप्न में यह द्रष्टा पुरुष दृश्यकें संग से रहित रहता है, ऐसे ही जाग्रत् में भी संगरहित है क्योंकि स्वरूपतः ही असंग है। ।६०५। । स्वप्न में वहाँ के दृश्यों से जैसे यह द्रष्टा स्वभावतः ही सक्त नहीं होता, बँधता नहीं, वैसे ही जागरण में यह दृश्यों से बँधता नहीं। ।६०६। । स्वप्नद्रष्टा की तरह यह पुरुष क्योंकि असंग है इसीलिये जागरण में भी आत्मा दृश्यों से असंबद्ध ही रहता है।

राजा ने यह बात भी स्वीकार ली किन्तु पुनः पूर्ववत् दान देने की घोषणा द्वारा पूर्वोक्त शंका व्यक्त की। ।६०७। ।

पहले की तरह फिर अतिबुद्धिमान् मुनि याज्ञवल्क्य ने उसे उदाहरण से समझाया कि एक ही आत्मा की दो अवस्थायें कैसे संगत हैं। ।६०८। । आत्मा जाग्रत् में अपनी प्रिय वधू आदि से रमण करता है, शहर गाँव आदि से गुजरने वाले विविध मार्गों पर चलता है लेकिन विचार करें तो वहाँ भी वह पुण्य-पाप के फलस्वरूप तत्तद् विषय का आकार लेने वाली बुद्धि को सिर्फ़ देखता ही है, जैसे स्वप्न में। स्वप्रकाश आत्मा जाग्रत् के बाद स्वप्न को चला जाता है ।६०९-६१०। ।

---

१. नन्वेकस्मिन्नात्मनि दृष्टदार्ष्टान्तिकभावोनुपपन्न इति चेन्न। स्वप्नविशिष्टस्य दृष्टान्तत्वात्, जागरणविशिष्टस्य शुद्धस्य च दार्ष्टान्तत्वात्। दृष्टान्तमात्रान्न साध्यसिद्धिरत एव द्रष्टृत्वान्यथानुपपत्तिर्दर्शिता। वस्तुतस्त्वागम एवेह मानम्, अन्यत् तत्साहाय्यायेति।

२. 'स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति स्वप्नान्तायैव। ।१७। ।' इति।

तत्र जागरणात् स्वप्नं स्वप्नाज्जागरणं पुनः। एकस्य गच्छतः पुंसो दृष्टान्तं विद्धि भूपते ।।६११।।

महानद्या यथा कूले उभे गच्छति सर्वदा। एक एव महामीनो ह्यपां वामं च दक्षिणम्।।६१२।।

एवमात्मा सदैवायमेक एव स्वयंप्रभः। स्थानद्वयं प्रयात्यत्र स्वप्नं जागरणं च सः।।६१३।।

सुषुप्त्यवस्था

सुप्तावपि महाराज दृष्टान्तं शृणु धीधन। नीडे स्थितो यथा कश्चित् श्येनो गरुड एव वा।।६१४।।

पक्षी भूमिसमीपस्थं देशं क्रान्त्वा व्रजेत् पुनः। अस्मिन् दूरस्थिते भूमेराकाशे दृष्ट्यगोचरे।।६१५।।

स्त्रियो भक्ष्यस्य वा लाभं समुद्दिश्यैषणावृतः। कोपात् पक्ष्यन्तरं हन्तुमथवा स्वेच्छयैव हि।।६१६।।

गच्छन्नेवं भवेत् श्रान्तः पक्षौ स्वस्य गतिप्रदौ। सङ्कोच्यात्मशरीरेऽसौ नीडमेवाभिधावति।।६१७।।

च बुद्धिं स्वप्नवद् दृष्ट्वैव[1], न तु किञ्चित् कृत्वा, पुनः स्वप्नं व्रजतीति द्वयोः सम्बन्धः।।६०९-६१०।। अष्टादश्या[2] अर्थं दर्शयति—तत्र जागरणाद् इति त्रिभिः। स्पष्टम्।।६११।। महेति। यथैको मीनो महानदीसम्बन्धिनीनाम् अपां जलानां वामदक्षिणरूपे उभे कूले गच्छति इत्यन्वयः।।६१२।। दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति।।६१३।।

अथ स्वप्नजागराभ्यां तद्धर्मैः कामादिभिश्च आत्मनो न स्वाभाविकः सम्बन्धः, तेषां सुषुप्तौ कारणे लयेऽप्यात्मनः तद्भासकत्वेनावस्थानादिति सूचयितुं सदृष्टान्तं सुषुप्तिप्राप्तिप्रतिपादिकायाः 'तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे' (बृ.४.३.१९) इत्यादिकायाः[3] कण्डिकाया अर्थं निरूपयति—सुप्तावपीति षड्भिः। सुप्तौ सुषुप्तिप्राप्तिविषयं दृष्टान्तं शृणु—यथा कश्चित् पक्षी श्येनो गरुडो वा भूमिसमीपस्थम् आकाशदेशं क्रान्त्वा आक्रम्य पुनर्भूमेर्दूरस्थितेऽत एव दृष्टेरगोचरे आकाशे व्रजेद् इति द्वयोरन्वयः।।६१४-६१५।। पक्षिणो दूरगतौ फलरूपं हेतुचतुष्टयं विकल्पितं निर्दिशति—स्त्रिय इति। स्त्रियः पक्षिण्याः प्राप्तिः, भक्ष्यप्राप्तिः, पक्ष्यन्तरहननं, स्वेच्छापूरणं च—इति हेतुचतुष्टयाकारः।।६१६।। गच्छन्नेवमिति। एवं स्त्र्यादिरागद्वेषनिमित्तं यथा भवति तथा दूरं गच्छन् सन् यदा श्रान्तो भवति तदा असौ पक्षी स्वस्य गतिप्रदौ पक्षौ आत्मशरीरे सङ्कोच्य विश्रामाय नीडमेवाभिधावति इति।।६१७।।

यों एक ही पुरुष जाग्रत् से स्वप्न और स्वप्नसे जाग्रत् में पुनः-पुनः आता है, इसकेलिय यह दृष्टांत समझ लो : एक बड़ी मछली किसी बड़ी नदी के जल के दायें व बायें दोनों किनारों पर जैसे हमेशा जाती रहती है उसी प्रकार यह एक ही स्वप्रकाश आत्मा स्वप्न और जागरण इन दोनों स्थानों में जाता रहता है। ('स्वप्न' से यहाँ सुषुप्ति समझनी चाहिये क्योंकि वही स्थान है, प्रसिद्ध सपना तो संधितुल्य बताया गया था, वहाँ जाना अर्थसिद्ध है।)।।६११-६१२।।

स्वप्न, जाग्रत् और उनके धर्म कामनादि से आत्मा का कोई निरुपाधिक संबंध नहीं है। अपने धर्मों सहित ये अवस्थायें सुषुप्तिकाल में अपने कारणभूत अज्ञान में लीन हो जाती हैं, तब भी आत्मा उस अज्ञान का भासक हुआ अवस्थित ही रहता है। यदि स्वभावतः आत्मा जाग्रदादि वाला होता तो उनके न रहने पर यह भी न रहता या कम-से-कम उनके साथ ही लीन हो जाता। यह तो जैसे पक्षी उड़ते-उड़ते थक जाये तो घोसले में चला जाता है ऐसे जाग्रत्-स्वप्न से थककर सुषुप्ति में जाता है, जहाँ कोई कामना नहीं करता, कोई सपना नहीं देखता। यह श्रुति ने उन्नीसवी कंडिका

१. 'आत्मज्योतिषाऽवभासितः कार्यकरणसंघातो व्यवहरति, तेनास्य कर्तृत्वमुपचर्यते, न स्वतः कर्तृत्वम्।' इत्यत्र भाष्यम्। २. 'तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं च, एवमेवाऽयं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति—स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च।।१८।।' इति। ३. 'तद् यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति।।१९।।' इति।

एवमात्मा स्वयंज्योतिः स्वप्नजागरणाम्बरे। कर्मपक्षो व्रजन् श्रान्तो हृदयाकाशमाव्रजेत्।।६१८।।
सम्प्रसादः समुद्दिष्टो यत्र सुप्तो न कञ्चन। कामं कामयते नापि स्वप्नं कञ्चन पश्यति।।६१९।।

अवस्थामार्गभूतनाड्यः

मार्गो योऽयं मया तुभ्यं प्रतिन्यायमितीरितः। अवस्थास्विह सर्वासु गमनागमने सतः।।६२०।।
मार्गभूताः स्थिता एव ह्येता हृदयनिर्गताः। नाड्य एकाधिकं यासां प्रधानं शतमीरितम्।।
शास्त्रेऽत्र कोटिशः सन्ति तासां शाखासमाः शिराः।।६२१।।

एवमात्मेति। एवं यथोक्तदृष्टान्तस्तथाऽयम् आत्मा विक्षेपस्थाने स्वप्नजागरणरूपेऽम्बर आकाशे पुण्यपापरूपपक्षाभ्यां विशिष्टो व्रजन् धावन् सन् यदा श्रान्तो भवति तदा हृदयाकाशं सुप्तिस्थानमागच्छतीति।।६१८।। सम्प्रसाद इति। यत्र हृदयाकाशे सुप्तः सुप्तिविशिष्टोऽयमात्मा वैमल्यप्रवृत्तिनिमित्तकेन सम्प्रसादशब्देनोक्तः। कस्य मलस्य तत्र त्याग इति चेद्? अविद्याकामकर्माख्यस्येत्याह—न कञ्चनेत्यादिना। कामशब्दः कर्मघञन्तः। स्वप्नपदेन विपर्ययाख्या कार्याविद्या बोधिता। तथा च यत्र न कञ्चन विषयमिच्छति न वा कञ्चन विषयं पश्यति इत्यर्थः। विपर्ययरागयोः अभावोक्त्या च तन्निमित्तकर्माभावोऽपि सूचितः।।६१९।।

एवं स्थूलसूक्ष्मशरीराभ्यां तद्धर्मैश्चात्मनः स्वाभाविकः सम्बन्धो न भवति इत्युक्तम्। अथ कारणशरीराद् अविद्याख्याद् आत्मनो विवेकं दर्शयितुम् अविद्यास्वरूपस्य तदावृतात्मस्वरूपस्य च प्रतिपादिकाया विंशतितम्याः कण्डिकाया अर्थं द्वाषष्टिश्लोकैः निरूपयंस्तत्र जाग्रतः सकाशात् स्वप्नसुषुप्तिप्राप्तिद्वारभूतानां नाडीनां स्वरूपप्रदर्शकस्य 'पूर्णा' इत्यन्तभागस्य[1] अर्थं वर्णयति—मार्गो योऽयम् इति नवभिः। हे राजन्! सत आत्मनः सर्वासु अवस्थासु गमनागमनार्थं मार्गो यस्तुभ्यं मया श्रौतप्रतिन्यायपदेनोक्तः स मार्गो हृदयनिर्गतनाडीरूपो बोध्यः। यासां हृदयकन्दनिर्गतनाडीनां मध्य एकाधिकं शतं प्रधानमत्र शास्त्रे वेदान्ते प्रश्नोपनिषदादौ ईरितं। तासां प्रधाननाडीनां में समझाया जिसका व्याख्यान पुराणकार करते हैं : ज्ञानको धन समझने वाले हे महाराजा जनक! सुषुप्ति के बारे में भी दृष्टान्त सुनिये। श्येन, गरुड, (बाज) आदि कोई भी पक्षी हो वह अपने घोसले में रहता है, पहले भूमिके पास, कम ऊँचाई पर, उड़ता है, फिर भूमिसे दूर स्थित आसमान में चला जाता है, जो आसमान दीखता भी नहीं, इतना ऊँचा है। दूर जाने में हेतु होता है या तो मादा पक्षी के पास पहुँचने की इच्छा, या आहार ग्रहण करने की इच्छा, या क्रोधवश किसी अन्य पक्षी को मारने की इच्छा या फिर केवल उड़ने की ही इच्छा! चाहे जिस कारण से उड़े, जब लम्बी उड़ान के बाद वह थक जाता है तब स्वयं को गति देने वाले पंख अपने शरीर में समेट लेता है और आराम करने केलिये अपने घोसले की ओर ही जाता है।।६१३-६१७।। इसी प्रकार यह स्वयंज्योति आत्मा है। पुण्य-पाप इसके पंख हैं। सपना और जाग्रत् वह आकाश हैं जिनमें यह उड़ान भरता है। थकने पर यह हृदयाकाश अर्थात् सुषुप्तिस्थान में चला आता है।।६१८।। उस हृदयाकाश में सुषुप्ति से विशिष्ट हुआ आत्मा 'संप्रसाद' कहलाता है क्योंकि वहाँ इसमें काम-कर्मरूप मल नहीं रहते। सोया व्यक्ति जिस अवस्था में किसी काम्य की कामना नहीं करता, कोई स्वप्न नहीं देखता, वहाँ सम्प्रसाद कहा जाता है।६१९।।

स्थूल-सूक्ष्म शरीर व उनके धर्मों से आत्मा असम्बद्ध है यह समझाया। अविद्यानामक कारणशरीर से भी आत्मा का विवेक स्पष्ट करना है। श्रुति ने बीसवी कंडिका में इसीलिये अविद्याका और उससे आवृत आत्मा का स्वरूप बताया है। वहाँ कहा है कि शरीर में विविध रंगों के रस से भरी अत्यंत सूक्ष्म नाडियाँ हैं, जिनके संपर्क से सूक्ष्मशरीर स्वप्न में विभिन्न अच्छे-बुरे अनुभव प्राप्त करता है। 'मैं ही यह सब कुछ हूँ' ऐसा जब आत्मा को स्थिर निश्चय होता है, वह इसका 'परम लोक' है। इस प्रसंग को विस्तार से पुराण समझायेगा।

१. 'ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः' इति।

सहस्रधा भवेत् केशो यदि भिन्नस्तदोपमा। कथञ्चित् परिमाणे सा भवेद्वापि न वा भवेत्।।६२२।।

आसां हिता इति प्रोक्तं नामधेयं मनीषिभिः। मातुः स्तनस्थिता यद्वत् स्तनन्धयहिताः शिराः।
वपुर्हितास्तथा राजन्! नाड्यो वपुषि संश्रिताः।।६२३।।

अन्नपानरसं शश्वत् सर्वजन्तुहितं यतः। नयन्त्यविरतं तेन हिता एताः शिराः स्मृताः।।६२४।।

अन्नपानरसैः पूर्णाश्चित्रवर्णोपमैः सदा। नीरैर्नानाविधैर्यद्वत् सरितो भूतलस्थिताः।।६२५।।

अन्नपानरसास्तासु शुक्ला नीलाश्च पिङ्गलाः। हरिता लोहिताः सन्ति चित्रकारगृहे यथा।।६२६।।

वल्लीनिभानां शाखाभूता नाड्यस्तु कोटिशो बोध्याः। इति द्वयोः सम्बन्धः। निश्चित आयो मार्ग इति यावत्, तमभिलक्ष्य—इति प्रतिन्यायपदार्थोऽधस्तादुक्तः।।६२०-६२१।। तासां नाडीनां सूक्ष्मतां दर्शयति—सहस्रधेति। यदि एकः केशः सहस्रधा भिन्नो विभक्तो भवेत् तदा तासां नाडीनां परिमाणे सा प्रसिद्धा उपमा दृष्टान्तो भवेद् उपपद्येत अथ वा न भवेत्, ततोऽपि सौक्ष्म्याद् इति भावः।।६२२।। तासां 'हिता' इत्याकारकनामधेयस्य अन्वर्थतां दर्शयति—आसामिति। यथा मातृस्तनगता नाड्यो बालस्य हितकरा मातृभुक्तान्नरसप्रापकत्वात् तथा सर्वशरीरेऽन्नरसप्रापकत्वाद् आसां नाडीनां हिता इति नामोक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।६२३-६२४।। तासां नाडीनां वर्णानन्नपानरसप्रयुक्तान् दर्शयति—अन्नपानरसैरित्यादिना। चित्रा नानाविधवर्णास्तत्प्रयुक्ता उपमाश्च येषामेतादृशैः अन्नरसैः सदा पूर्णाः, नानाविधनीरैः नद्य इव—इत्यन्वयः। तादृशरससम्बन्धाच्च नाड्योऽपि नानारूपा इति भावः।।६२५।। रसानां वर्णान् कीर्तयति—अन्नपानरसास्तास्विति। यथा चित्रकारस्य गृहे शुक्लादिवर्णा रसाः पात्रेषु निहिताः सन्ति तथैतासु नाडीषु कफवातपित्ताऽल्पपित्तरुधिरसम्भृतासु यथाक्रमं शुक्लादिवर्णा निहिता इत्यर्थः। तथा चोक्तं सुश्रुते—'अरुणाः शिराः पित्तवहा नीला वातवहाः स्मृताः। असृग्वहास्तु रोहिण्यो गौर्यः श्लेष्मवहाः स्मृताः।।' अरुणाः पिङ्गला रोहिण्यो रक्ता इति तदर्थः।।६२६।। ननु दूर्वादलश्याम इत्यादौ हरिते नीलपर्याय-

जाग्रत् से स्वप्न-सुषुप्ति में जाने का मार्ग जो नाडियाँ, उनका पहले परिचय देते हैं—याज्ञवल्क्य ने कहा : हे राजन्! आत्मा सभी अवस्थाओं में जिस रास्ते का प्रयोग करता है, जिसे वेद में 'प्रतिन्याय' कहते हैं, उसका स्वरूप है हृदयसे निकली नाडियाँ। वेदान्तशास्त्र में बताया है कि हृदय से निकली उन नाडियों में प्रधान हैं एक सौ एक नाडियाँ और आगे उनसे निकली शाखारूप नाडियों की संख्या तो करोड़ों में है।।६२०-६२१।। नाडियाँ अत्यंत सूक्ष्म हैं। यदि एक बाल के लंबाई में हज़ार टुकड़े किये जायें तो जितना छोटा हिस्सा होगा वह नाडियों के माप के लिये दृष्टान्त हो सकता है, लेकिन वस्तुतः वह भी पूरी तरह सही उदाहरण नहीं होगा क्योंकि नाडियाँ बेहद सूक्ष्म हैं।।६२२।। विचारशीलों ने इन नाडियों का नाम बताया है 'हिता'। माता के स्तनों की नाडियाँ दूध पीते बच्चे केलिये हितकारी होती हैं क्योंकि माँ द्वारा खाये अन्नका परिपक्व रस बालक को दूधरूप से उपलब्ध करा देती हैं। इसी तरह शरीर में स्थित नाडियाँ शरीर का हित करती हैं। खाये-पिये का जो रस है वह सभी जंतुओं का हित करता है। नाडियाँ हमेशा बिना रुके वह रस सारे शरीर में आवश्यकतानुसार पहुँचाती रहती हैं इसलिये उचित ही है कि ये 'हिता' कहलाती हैं।।६२३-६२४।। विचित्र रंगों से जिनकी उपमा दी जा सके, अन्न-पान के परिपाकरूप ऐसे रसों से ये हमेशा भरी रहती हैं जैसे भूतल की नदियाँ अलग-अलग ढंगों के पानी से भरी रहती हैं।।६२५।। चित्रकार की कार्यशाला में जैसे बर्तनों में विविध रंग रहते हैं, वैसे ही नाडियों में अन्नपान के विविध रंगों के रस बहते हैं। कोई रस सफेद, कोई नीले, कोई पीले, हरे, लाल आदि होते हैं। 'नीले' से अंजन की तरह का रंग और 'हरे' से गीली घास जैसा रंग समझना चाहिये। 'पीले' से सोने का रंग विवक्षित है। लाल-सफेद आदि के मेल-जोल से और भी जो रंग हो सकते हैं वे भी कह दिये ही समझने चाहिये क्योंकि बताये रंगों से ही सभी रंग बन जाते हैं। (वैद्यकशास्त्रमें धातुओं के अनुसार नाडियों के रंग समझाये

नीलमञ्जनसङ्काशमीरितं हरितं पुनः। दूर्वादलनिभं तेन नैतयोः पुनरुक्तता। ।६२७। ।

पिङ्गलं स्वर्णवर्णं स्यात् तेन सर्व उदाहृताः। वर्णा ये शुक्लरक्तादेः अन्यथाभावतः स्मृताः।
नाडीमार्गैरयं गत्वा स्वप्नं वा सुप्तिमेति वा। ।६२८। ।

विविधाः स्वप्नाः

स्वप्नो यः स भवेद् द्वेधा दुःखदः सुखदोऽपि च। यथा जागरणं पुंसो दुःखदं सुखदं तथा। ।६२९ । ।

दुःखदा यादृशा भावास्तादृशाः सुखदा अपि। पुंसो जागरणे दृष्टाः स्वप्ने ते तादृशाः स्मृताः। ।६३०

अतः स्वप्ने दुःखकाले दुःखदे कर्मणि स्थिते। एनं स्वप्नदृशं दीनं चोरव्याघ्रवृकादयः। ।६३१। ।

प्रयोगाद् अत्र नीलहरितपदयोः पौनरुक्त्यम्—इत्याशङ्काम् अर्थभेदप्रदर्शनेन वारयति—नीलमिति। अत्र अञ्जननिभं नीलमिति विवक्षितम्। हरितं तु दूर्वादलनिभम् अतो न पुनरुक्तिरिति। ।६२७। । पिङ्गलमिति। पिङ्गलपदेन स्वर्णवर्णसमः पीतवर्णोऽत्र विवक्षितः। नन्वन्येऽपि कफादिसन्निपातजा वर्णाः सन्तीति चेत्? तेऽपि कफादिवर्णोपन्यासेनोपलक्षिता इत्याह—तेनेत्यादिना। तेन कफादिसम्बन्धिनां प्राकृतवर्णानामुपन्यासेन सर्वे वर्णा उदाहृता उपलक्षिताः। के ते? ये वर्णाः शुक्लरक्तादिवर्णानाम् अन्यथाभावतः परिणामतः स्मृताः लोकेऽपि प्रसिद्धा इत्यर्थः। दृश्यन्ते हि चित्रकरा द्वित्रवर्णयोजनेन अपूर्वं वर्णं जनयन्तः। तथा च धातुवैषम्यजाः सर्वे वर्णा अत्र सङ्गृहीता इति भावः। वर्णितनाडीनां प्रकृतोपयोगं दर्शयति—नाडीमार्गैरिति। स्वप्नं वा सुप्तिं वा एतीत्यन्वयः। ।६२८। ।

'अथ यत्रैनम्'[1] इत्यादिभागस्यार्थं वदन् स्वप्ने कार्यद्वारेणाविद्यायाः स्वरूपं स्पष्टयति—स्वप्नो य इत्यादिना। नाडीमार्गं प्राप्य स्वप्नसुषुप्त्योर्मध्ये यः स्वप्नः स जाग्रद्वद् यदा पापसहकृताविद्याजन्यस्तदा दुःखदो भवति, पुण्यसहकृताविद्याजन्यस्तु सुखदो भवतीति द्विविध इत्यर्थः। ।६२९। । नापि स्वप्नपदार्थेष्वपि जाग्रत्पदार्थेभ्यः स्वरूपेण दुःखादिजननव्यापारेण वा विशेष इत्याह—दुःखदा इति। यादृशाः चोरादिरूपाः प्रतिकूलतया ज्ञाताः सन्तो जागरणे दुःखदा दृष्टाः, सुखदा अपि यादृशाः स्रक्चन्दनादिरूपा अनुकूलतया ज्ञातास्ते भावाः स्वप्नेऽपि तादृशा इत्यन्वयः। ।६३०। । तत्र दुःखदं स्वप्नमुदाहरणेन स्फुटयति—अत इति सप्तभिः। अत उक्तसाम्यात् स्वप्ने दुःखभोगकाले दुःखदे पापकर्मणि अविद्यासहकारितया स्थिते सति एनम् आत्मानं स्वप्नदृशं दीनभूतं चोरादयो

हैं। सूक्ष्मशरीर नाडियों के संपर्क में आये तभी कर्तृत्वादि प्रतीत होते हैं अन्यथा नींदादि में नहीं होते। अतः कर्तृतादि की औपाधिकता अत एव मिथ्यारूपता बताने के लिये नाडियों का उल्लेख है। इससे स्वप्नमिथ्यात्व भी सूचित होता है क्योंकि इतनी सूक्ष्म नाडियों में पहाड़ आदि तो रह नहीं सकते जो सपने में दीखते हैं। बृहदारण्यक में २.१.१९, ४.२.३ और ४.३.२० तीन जगह नाडियों का उल्लेख है, जिनके पृथक् प्रयोजन पर आचार्य वार्तिककार ने (४.३.१२१८-२०) प्रकाश डाला है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक के चतुर्थोल्लास में भी नाडियों पर विचार आया है।) आत्मा नाडियों द्वारा जाकर स्वप्न या सुषुप्ति में पहुँचता है। (जाना तो होगा सूक्ष्मशरीर का, उसमें भी प्रधान जो मन या अंतःकरण उसका। आत्मा उससे स्वयं को एक समझे है इसलिये उसी को जाने वाला कहते हैं। भोगकाल हो तो सपने में जाता है और कुछ समय तक कुछ भी भोगने लायक कर्मोद्भव न होना हो तो सुषुप्ति में जाता है।)। ।६२६-६२८। ।

जैसे जाग्रदवस्था सुखद-दुःखद भेद से दो प्रकार की होती है, ऐसे ही आत्मा का सपना यदि पापसहित अविद्या से पैदा होता है तो दुःख देता है और पुण्यसहकृत अविद्या से पैदा होता है तो सुखद होता है। जाग्रत् में जैसे पदार्थ

१. 'अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राऽविद्यया मन्यते' इति भागस्येत्यर्थः।

निष्ठुराः क्रूरकर्माणः शस्त्रैर्दन्तैर्नखैः खुरैः। आकाशसदृशं शस्त्रैरच्छेद्यं वधवर्जितम्। घ्नन्तीव द्रव्यमांसादिलाभार्थं स्वार्थसाधकाः।।६३२।।

यथा जरा वशीकुर्यात् पुमांसं वयसः क्षये। अवश्यं सर्वगं देवं जिनन्तीवेह दुर्धियः।।६३३।।

यथा कुनृपतेर्भृत्या अर्थार्थं धनिनोऽखिलान्। वशीकुर्वन्ति बलतो दीनान्नांथविवर्जितान्।। तथा स्वप्नेऽप्यमुं केचिद् वशीकुर्वन्ति देहिनम्।।६३४।।

यथा काष्ठमयो हस्ती हस्तीव नृपवेश्मनि। सूत्रैर्विद्रावयेद् बालान् भयसंजातवेपथून्। स्वप्ने हस्ती तथा दृष्टो विद्रावयति देहिनम्।।६३५।।

सभायां चित्ररूपायां समायां सर्वतो यथा। मत्वा गर्तमिवाऽप्राज्ञो निपतेद् मूढचेतनः।। एवं गर्तमिव स्वप्ने पतत्यात्माति मूढधीः।।६३६।।

यथाक्रमं शस्त्रादिभिर्द्रव्याद्यर्थं घ्नन्तीव हिन्सन्तीव, यतः स्वार्थसाधकाः। कीदृशमेनमात्मानम्? वस्तुतः अच्छेद्यम् अमरं चेति द्वयोः सम्बन्धः।।६३१-६३२।। अपरमुदाहरति—यथेति। यथा वयस आयुषः क्षये अपचयकाले जरा पुमांसं वशीकुर्यात् तथा केचिद् दुर्बुद्धयो धूर्ताः सर्वगम् अवश्यं वशीभावानर्हमपि एनं देवं जिनन्तीव वशीकुर्वन्तीवेत्यर्थः। यद्यपि ज्याधातुः क्र्यादिको वयोहानौ वर्तते तथापि जीर्णानां पारवश्यप्रसिद्धेः अयमौपचारिकः प्रयोग इति बोध्यम्।।६३३।। एतदेव दृष्टान्तेन स्फुटीकरोति—यथा कुनृपतेरिति। यथा कुत्सितस्य राज्ञो भृत्याः पुरुषा धनाढ्यान् धनं ग्रहीतुं वशीकुर्वन्ति तथा स्वप्न एनं केचिद् वशीकुर्वन्ति इति।।६३४।। तथाविधमन्यं स्वप्नं दर्शयति—यथा काष्ठेति। यथा राजद्वारगतहस्तिवद्दृश्यमानः काष्ठमयो हस्ती सूत्रैः बद्धः चालितः सन् बालान् भयेन कम्पमानान् विद्रावयेत् पलायमानान् कुर्यात् तथा स्वप्नदृष्टो हस्ती एनं विद्रावयेदित्यर्थः। यद्यपि श्रुतौ छोधातुः छेदनार्थकः तथापि विपूर्वकस्य विद्रावणार्थकत्वमपि सम्भवतीति बोध्यम्।।६३५।। तादृशमितरं दर्शयति—सभायामिति। यथा चित्ररूपायां सर्वतः समायां च सभायां समदेशं गर्तवद मत्वा दुर्योधनवद् मूढो निपतेत् तथा स्वप्ने मिथ्यागर्ते निपततीत्यर्थः।।६३६।।

दुःख या सुख देने वाले देखे जाते हैं वैसे ही सपने में भी।।६२९-६३०।। अतः सपने में जब दुःख भोगने का समय होता है तब पापकर्म फल देने लगता है और ऐसा सपना आता है कि स्वप्नद्रष्टा दीन-दुःखी है, चोर बाघ भेड़िये आदि क्रूर चेष्टा वाले स्वार्थ सिद्ध करने वाले प्राणी पैसा, मांस आदि पाने के लिये शस्त्र, दाँत, नाखून, खुर आदि से उसकी हिंसा-सी कर रहे हैं। भले ही आत्मा आकाशतुल्य अर्थात् शस्त्रों से अकाट्य और अमर है फिर भी ऐसा स्वप्न देखते समय दुःखी ही होता है।।६३१-६३२।। या ऐसा स्वप्न आता है कि जैसे उम्र बीत जाने पर बुढ़ापा व्यक्ति को परवश कर देता है ऐसे दुष्टमति धूर्त लोग उसे वश में किये हैं।।६३३।। कभी यों लगता है कि देहधारी को कुछ लोगों ने वैसे ही परवश कर रखा है जैसे किसी बुरे राजा के कर्मचारी अवैध तरह से धन वसूलने केलिये सभी अनाथ दुःखी धनिकों को बलपूर्वक बंधक बना लेते हैं।।६३४।। या ऐसा सपना आता है कि वहाँ दीख रहा हाथी व्यक्ति को वैसे ही खदेड़ रहा है, डराते हुए दौड़ा रहा है, जैसे राजद्वारा पर स्थित हाथी के समान बना लकड़ी का सूत्रसंचालित हाथी भयसे काँपते बच्चों को इधर-उधर दौड़ा देता है।।६३५।। कदाचित् सपने में लगता है कि जैसे विचित्र बनावट वाले हर ओर से समतल सभागृह में नासमझ मूर्ख गड्ढे जैसा मानकर गिर पड़ता है वैसे ही स्वप्नद्रष्टा मूर्खता से गड्ढे जैसी जगह समझ कर गिर पड़ा। (समतल में भी ऊँचा-नीचा लगना फर्श के रंगों से संभव है और दुर्योधन के जीवनमें प्रसिद्ध भी है।)।।६३६।। आत्मा हमेशा अभयरूप है, फिर भी जाग्रद्दशा में जो भय अनुभव करता है वही अविद्यावश सपने

अविद्यया भयदर्शनम्

भयं जागरणे पश्येद्यत् स्वप्नेऽपि तदेव सः। मन्यतेऽविद्ययाऽऽत्माऽयं सर्वमप्यभयः सदा।।६३७।।

विद्या

विशिष्टमात्मनो रूपं सर्वगं सर्वसन्निभम्। स्वप्रकाशं सदानन्दं दद्याद् वा गमयेच्च सा।। तेनैव सा भवेद् विद्या सर्वात्मा चिद्वपुः पुमान्।।६३८।।

अविद्या

ततोऽन्यद्यदसद्रूपं तदविद्येति गीयते। अज्ञानं च भवेत् तद्धि नातोऽन्यद् विद्यते परम्[1]।।६३९।।

स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितः। आनन्दात्मा स्वप्रकाश एकश्चेत् स कथं भवेत्।।६४०।।

चित्ररूपः कथं वास्य सृष्ट्यादिकमितो भवेत्। इत्याक्षेपे यदज्ञानं तदविद्येति गीयते।।६४१।।

अद्वितीयत्वेन निर्भयोऽपि आत्मा स्वप्ने जागरणवद् अविद्यया भयं पश्यतीत्याह—भयमिति। यज्जागरणे भयं पश्येत् तदेव सर्वं स्वप्नेऽप्यविद्ययाऽऽत्मा मन्यते। कीदृशः? सदाऽभयोऽपि—इत्यन्वयः।।६३७।।

अविद्यापदार्थं वक्तुं विद्यास्वरूपमाह—विशिष्टमिति। 'पदान्तरैरपि निर्ब्रूयाद्' इति यास्कोक्तेर्विद्यापदे विपदार्थो विशिष्टम् इति, दपदार्थो दद्याद् इति यापदार्थो गमयेद् इति, 'या प्रापण' इति स्मृतेः। तथा च—विशिष्टं विलक्षणं यतः सर्वगं विभुं सर्वसन्निभं सर्वपदार्थाकारं सर्वात्मानमिति यावत्, स्वप्रकाशं सदानन्दरूपं च; एतादृशम् आत्मनो रूपं दद्यात् संनिहितं कुर्याद्; गमयेद् आत्मतया प्रकाशयेत् च; तेन एतेन योगार्थेन विद्या इत्युच्यते सा च विद्या वृत्त्युपलक्षितचिदात्मरूपेत्यर्थः।।६३८।।

उक्तविद्याविरुद्धमज्ञानमेवाऽविद्येत्युच्यतइत्याह—तत इति। तत उक्तविद्यास्वरूपाद् यदन्यत् परिच्छिन्नानात्मजडाऽसद्दुःखरूपं तदविद्येति उच्यते। सा चाविद्याऽज्ञानरूपैव अतोऽज्ञानान्न भिन्नेत्यर्थः।।६३९।। अविद्याया अज्ञानरूपतां विशदयति—स्वसजातीति। सजातीयादिभेदत्रयराहित्येन आनन्दरूपः स्वप्रकाशः एकः अयमात्मा यदि वस्तुतो भवति तर्हि स चित्ररूपो नानारूपः कथं सम्पन्नः?—इति उक्तरूपाद् आत्मनः सकाशाद् अस्य जडादिरूपस्य जगतः सृष्ट्यादि कथं जातम्?—इत्याकारक आक्षेपे केनचित् कृते सति यद् आक्षेपश्रोतुः चित्ते 'न जानामि' इत्याकारेणानुभूयमानम् अज्ञानं तद् एवाविद्यास्वरूपम्। इति द्वयोरर्थः।।६४०-६४१।।

में भी मानता रहता है।।६३७।।

'अविद्यावश भय मानता है' सुनकर प्रश्न होगा अविद्या क्या है? उसे समझने केलिये जान लेना चाहिये कि विद्या क्या है? 'विद्या' शब्द में वि-द्-या ये तीन अक्षर हैं। 'वि' अर्थात् विशिष्ट; 'द्' अर्थात् देती है; 'या' अर्थात् अवगत कराती है। विद्या जिसे अवगत कराती है, हमें जो देती अर्थात् हमारे मानो पास ला देती है वह आत्मा का स्वरूप विशिष्ट है, खास है : वह सर्वव्यापक है, सभी पदार्थों का आकार ग्रहण किये है, स्वयं ही भासमान है व हमेशा आनंदरूप है। इन्हीं कारणों से अखण्डाकारवृत्ति से उपलक्षित चेतन सर्वस्वरूप पुरुष 'विद्या' कहा जाता है।।६३८।।

उक्त स्वरूप वाली विद्या से जो अन्य होता है अर्थात् परिच्छिन्न, अनात्मा, जड, असत्य, दुःखरूप होता है उसे अविद्या कहते हैं। वह है अज्ञान ही, अज्ञानसे अतिरिक्त कुछ नहीं।।६३९।। अज्ञान का यह सीधा-सा परिचय है : कोई पूछे कि स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों प्रकारों के भेद से रहित यदि यह आनंदरूप स्वप्रकाश आत्मा वास्तव में अद्वितीय है तो यह अनके रूपों वाला कैसे हो गया? और ऐसे आत्मा से असत्-जड-दुःखरूप इस जगत् की उत्पत्ति आदि कैसे होते हैं?—यों प्रश्न पूछे जाने पर श्रोता के मनमें जो अनुभव होता है 'पता नहीं', वही अज्ञान है, वही अविद्या का स्वरूप है।।६४०-६४१।।

---

१. उत्तरपद्याभ्यां वक्ष्यमाणाया मूलाविद्याया मायारूपाया अन्यद् अज्ञानं नाम नास्तीत्यर्थः। मायाऽविद्याभेदवादो नाऽत्र समर्थ्यत इत्यभिप्रायः।

स्वप्नेऽविद्यास्पष्टता

अनया मन्यते स्वप्ने वधं वश्यं पलायनम्। पातं च भयजातं तदसदेव सहेतुकम्।।६४२।।
वध्वादिजनितं मोहमेवमेव विपर्ययम्। स्वप्ने गतः पुमान् व्यर्थं मन्यतेऽविद्ययैव तम्।।६४३।।
उक्तं स्वप्ने न सन्त्यत्र रथाद्यास्तान् विना कथम्। अकारणे कथं स्यातां सुखदुःखे रथादिजे।।६४४।
सुखदुःखकरा भावा न सन्ति हृदये सदा। हृदयस्याल्पदेशत्वाद् रथादेश्च महत्त्वतः।।६४५।।
सृष्टिरप्यत्र तेनैषां स्वप्ने नैवोपपद्यते। वास्तवी हृदये केन वस्तुतः सृज्यते जगत्।।६४६।।
देशकालनिमित्तानामभावे जायते हि यत्। मायाकार्यं भवेत्तत्खे गन्धर्वनगरं यथा।।६४७।।
स्वप्नगस्य भवेच्छक्तिः सर्वसृष्ट्याद्यलौकिकी। येयं सा कथिताऽविद्या सर्वशास्त्रविशारदैः।।६४८।।

एवमविद्यास्वरूपं व्युत्पाद्य तस्याः स्वप्ने स्पष्टतामभिनयति—अनयेति। अनयाऽविद्ययैव स्वप्ने वधादिकं वर्णितं पश्यति। कीदृशं वधादिकम्? सहेतुकमसत्—तस्य वधादेर्हेतवः चोरादयोऽप्यसन्तो मिथ्याभूता इति यावत्। वश्यम् इति भावप्रधानो निर्देशः। वध्वादीति। एवं वध्वादिवदेव वध्वादिवियोगप्रयुक्तं मोहं विषादं तथाऽपरं विपर्ययं, तं प्रसिद्धं स्वप्ने यद् मन्यते तद् अविद्ययैव मन्यते। इति द्वयोरर्थः।।६४२-६४३।। 'अविद्ययैव' इत्यवधारणमुपपादयति—उक्तमिति। श्रुत्या उक्तम्। कथमुक्तमिति चेद्? अत आह—स्वप्न इति। स्वप्ने रथादयो न सन्ति अतः तान् रथादीन् विना तै रथादिभिः जन्ये सुखदुःखे कथं स्यातां सम्भवेताम्, यतः अकारणे प्रसिद्धकारणवर्जिते। अतः 'अविद्ययैव' इत्यवधारणमुपपन्नमिति।।६४४।। असम्भवमेव विशदयति—सुखेति। अल्पदेशे हृदये रथादीनां महतां मानाभावात् सुखादिसामग्र्या मुख्यायाः संभवो नास्ति तेन असंभवेन एषां रथादीनां वास्तवी सृष्टिरपि न सम्भवति। अतः स्वप्ने हृदये वस्तुतो जगत् सृज्यत इति केन वक्तुं शक्यमिति शेषः।।६४५-६४६।। तथा च देशकालादिलक्षणकात्स्न्याभावात् स्वप्नपदार्था माया, 'मायामात्रं तु कात्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वाद्' (ब्र.सू.३.२.३) इति[1] न्यायादित्याह—देशेति। स्वयोग्यदेशाद्यभावेऽपि यज्जायते तद् मायामात्रं, यथा नगराधारताऽनर्हे खे गन्धर्वनगरम् इति।।६४७।।

सा च मायाख्याऽऽत्मनः शक्तिः अविद्यातो न भिन्नेत्याह—स्वप्नगस्येत्यादिना। स्वप्नगस्य आत्मनो येयं

सपने में जो दीखता है वह इस अविद्या से ही। अपना वध, परवशता, दौड़ना, गिरना, डरना और इन सबके हेतुभूत चोर आदि—ये सभी असत्य होते हैं जो आत्मा वहाँ मानता है। बहु आदि, उनसे हुआ मोह तथा अन्य भी सब भ्रम जो स्वप्नावस्था में गया पुरुष अनुभव करता है वह सब अविद्या के कारण ही मानता है, वहाँ कोई पदार्थ नहीं होते जिनसे ऐसी प्रतीतियाँ होती हों।।६४२-६४३।। श्रुति बता ही चुकी है कि सपने में रथादि पदार्थ नहीं हुआ करते, तब रथादिनिमित्तक सुख-दुःख वहाँ कैसे संभव हैं? सुख-दुःख बिना कारण के ही हो जाये यह कैसे संगत है? (अतः वे अनुभव व्यर्थ अर्थात् योग्य विषय वाले नहीं हैं, केवल अविद्या से होते हैं।)।।६४४।। वहाँ सुख-दुःख देते हुए लगने वाले रथादि पदार्थ बड़ी चीज़ें हैं जो हृदय के भीतर हो सकें यह कभी संभव नहीं क्योंकि हृदय तो एक छोटी-सी जगह है। रथादि की सामग्री भी वहाँ नहीं हो सकती जिससे यह भी संभव नहीं कि उन्हें वहाँ तैयार किया जा सके। इसलिये ऐसा कौन बुद्धिमान् कहेगा कि स्वप्नमें हृदय के भीतर ही वास्तवमें जगत् बना लिया जाता है!।।६४५-६४६।। योग्य स्थान, समय व कारण न होने पर जो 'पैदा' हो जाता है वह वैसे ही मायाका कार्य होता है जैसे आकाश में गंधर्वनगर।।६४७।।

---

१. स्वप्ने सृष्टिर्न वास्तवी यतः कात्स्न्येन परमार्थवस्तुधर्मेण अभिव्यक्तस्वरूपो न भवति स्वप्नः। कात्स्न्यं च—देशकालनिमित्तसम्पत्तिः, अबाधश्च। तस्माद् मायामात्रं स्वप्नदर्शनमिति सूत्रार्थः।

यद्यन्यत्र भवेच्छक्तिः अविद्यातस्ततस्तु का। किन्तया सर्वमेवान्तर्नयेद्विश्वं जडाजडम्। ।६४९।।

अथवा सर्वदेशेषु स्वयं गत्वावलोकयेत्। पक्षद्वयेऽपि मायैव सैषा शक्तिः प्रसज्जते। ।६५०।।

अङ्गुष्ठमात्रे हार्देऽस्मिन्नवकाशे कथं जगत्। जडाजडमिदं सर्वमानयेत् सत्यतः पुमान्। ।६५१।।

स्थूणास्थूलं शतपदं भुजङ्गं कर्णरन्ध्रयोः। स्थापयेन्न विना मायां यथा हृदि तथा जगत्। ।६५२।।

बहिरप्यस्य गमनं क्षणाद् द्वीपान्तरादिषु। न मायां परिहाय स्यात् प्राणेष्वत्र वसत्स्वपि। ।६५३।।

अत्र स्थितः क्षणात् सूर्यलोकं गत्वा न चाव्रजेत्। विना मायां यथा तद्वत् स्वप्ने दृष्ट्वा स्वरादिकम्। ।६५४।।

शक्तिः; कीदृशी? सर्वस्य सृष्ट्यादिकरणेन अलौकिकी लोकेऽप्रसिद्धा; साऽविद्या इति तत्त्वविद्भिरुक्ता इत्यर्थः। लोकेऽपि माया मणि-मन्त्रादिक्षोभ्या अविद्यातो न भिन्ना—इत्युक्तं प्रथमेऽध्याये। ।६४८।।

तस्या अविद्यातो भेदशङ्कामेवापाकरोति—यदीति। यदि सा शक्तिः अविद्यातो भिन्नाऽभ्युपेयते ततः तम् अविद्यातो भेदपक्षमाश्रित्यापि का कुत्र कार्ये क्षमाऽभ्युपेयत इत्यर्थः। तस्मात् कार्यद्वयं विकल्पयति—किन्तयेति। तया अविद्याभिन्नत्वेनाभ्युपगतया शक्त्या आत्मस्वप्ने बाह्यं प्रपंचम् अन्तः हृदये नयति प्रापयति? किं वा स्वयं बहिर्गत्वा विलोकयति? अनयोरुभयोः अपि पक्षयोः अविद्यातो भेदस्तस्याः शक्तेर्न सम्भवतीति द्वयोरर्थः। ।६४९-६५०।। अविद्यातो भेदासम्भवप्रतिज्ञायाम् उक्तयोर्व्यापारयोः अविद्यातोऽन्यत्राऽसंभवं हेतुतया वदंस्तत्र प्रथमस्य विश्वान्तरानयनलक्षणस्याऽसंभवमाह—अङ्गुष्ठमात्र इति द्वाभ्याम्। सत्यत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः। तथा च—सत्यं बाह्यप्रपंचं स्वल्पहृदयाकाशे कथमानयेत्? यथा स्थूलस्य शतपादस्य च भुजंगस्य कर्णयोः स्थापनं विना मायाम् अशक्यं तथैतदपीति द्वयोरर्थः। ।६५१-६५२।। द्वितीयस्य बहिर्गत्वावलोकनलक्षणव्यापारस्य अपि मायात इतरत्राऽसम्भवमाह—बहिरपीति। अत्र शयनदेशे प्राणेषु वसत्स्वपि अस्य स्वप्नद्रष्टुः यद् बहिर्द्वीपान्तरादिषु क्षणाद् गमनं तदपि मायां परिहाय न स्याद् इत्यन्वयः। ।६५३।। अत्र दृष्टान्तमाह—अत्र स्थित इति। यथाऽत्र भूलोके स्थितः क्षणात्सूर्यलोकं दृष्ट्वा नागच्छेद् विना मायां, तथा स्वप्ने स्वरादिकं स्वर्गादिकं दृष्ट्वा नागच्छेदित्यर्थः। ।६५४।।

सपने में पहुँचे आत्मा की जो यह अलौकिक शक्ति है जिससे यह सभी की रचनादि कर लेता है उसी को सभी शास्त्रज्ञों ने अविद्या कहा है। ।६४८।। यदि उस शक्ति को अविद्यासे अन्य मानें तो वह क्या होगी? क्या जड-चेतन सारे विश्व को वह हृदय के भीतर पहुँचाने वाली होगी? या उससे आत्मा ही बाहर सब जगह जाकर अनुभव कर लेता है? ये दोनों बातें सचमुच तो हो नहीं सकतीं। और झूठ-मूठ के कार्य करने वाली शक्ति माया ही होती है। ।६४९-६५०।। हृदय में अँगूठा-भर जगह है। जड-चेतन सारे जगत् को वास्तव में वहाँ आत्मा कैसे ला सकता है? खूँटे सा मोटा सौ पैरों वाला साँप कोई अपने कानों के छिद्रों में स्थापित करे यह जैसे माया के बिना संभव नहीं उसी तरह हृदय में बाह्य संसार पहुँचा देना माया के बिना असंभव है। ।६५१-६५२।। और माया के बिना यह भी संभव नहीं कि इस स्थूल देह में प्राणगति बनी रहे और आत्मा क्षणभर में अन्यान्य महाद्वीपों में चला जाये! ।६५३।। जैसे बिना माया के ऐसा नहीं होता कि यहीं भूमि पर स्थित व्यक्ति क्षणभर में सूर्यलोक जाकर लौट आये वैसे ही सपने में स्वर्गादि लोक देख आना मायाके बिना संभव नहीं। ।६५४।। इतना ही नहीं, स्वप्नमें बाह्य विश्व हृदय में लाया जाता है या आत्मा बाहर जाकर देखता है—इन पक्षों का समर्थन कोई श्रुतिवाक्य भी नहीं करता जबकि व्यावहारिक साधनों से हीन स्वप्नद्रष्टा ही स्वप्नमें पदार्थों का रचयिता बन जाता है यह श्रुति ने 'वही कर्ता है' कहकर बताया है। और व्यावहारिक सामग्री के बिना बना सकना तो मायासे ही संभव है। (अत एव बादरायणमुनि ने सपने को मायामात्र कहा है।) ।६५५।

विश्वस्यानयने चित्ते बहिर्गत्वावलोकने। न विद्यते श्रुतिः सृष्टौ सा तु कर्तेति विद्यते।।६५५।।

अपि नीत्वा जगत् सर्वमन्तः पश्यति वा बहिः। गत्वोभयत्र नास्त्यत्र संवादश्चेतनैः समम्।।६५६।।

चेतना वयमानीतास्त्वया स्वप्ने हृदम्बुजे। स्वगृहे वा स्थिता दृष्टा नैवं ब्रूयुः कदाचन।।६५७।।

उत्थाने न च तेनोक्ता मन्यन्तेऽपि कथंचन। अतस्तेषां प्रकल्प्यं स्यादज्ञानं घटकुड्यवत्।।६५८।।

अपि तेऽपि यदा स्वप्नं समकालं हि चेतनाः। विलोकयेयुर्निद्राणास्तदा संभावितं भवेत्।।६५९।।

किञ्चोक्तव्यापारविशिष्टायाः शक्तेरविद्या-भिन्नायाः कल्पनं श्रुतिबाह्यमित्याह—विश्वस्येति। विश्वस्य **बाह्यप्रपंचस्य चित्ते हृदयदेशे आनयनप्रतिपादिका, बहिर्गत्वाऽवलोकनप्रतिपादिका वा काचित् श्रुतिः न अस्ति। हृदयान्तरेव विश्वस्य सृष्टिप्रतिपादिका तु 'स हि सर्वस्य कर्ता' (बृ.४.४.१३) इत्याकारा व्याख्याता[1] श्रुतिरस्ति। तथा च सृष्ट्युपपादिकाऽविद्यैवाभ्युपगन्तव्येति भावः।** भित्तेः इति[2] पाठे तु—**शयनदेशभित्तेः बहिर्गत्वेति सम्बन्धः।।६५५।।**

किं चोक्तव्यापारद्वयसङ्कल्पनं लोकानुभवविरुद्धमित्याह—अपि नीत्वेति **पञ्चभिः। किञ्च स्वप्नकाले** सर्वं जगदन्तः नीत्वा **अथ** बहिर्गत्वा पश्यति **इत्याकारके उभयत्र पक्षद्वये स्वप्नद्रष्टुः चेतनान्तरैः** समं **सह** संवादः **समानानुभवशालित्वं** नास्तीत्यर्थः।।६५६।।

कथं न संवाद इत्याकांक्षायामाह—चेतना इति। यदि अन्तरानयने संवादः स्यात् तदा चेतनाः स्वप्नद्रष्टारं **प्रति एवं ब्रूयुः कथयेयुः। 'एवं' कथम्? अद्य** त्वया स्वप्ने हृदयाम्बुजे वयमानीता इति। **यदि च बहिर्गमने संवादः स्यात् तदा**—अद्य त्वया स्वगृहे स्थिता वयं दृष्टा इति **ब्रूयुः**। अथवा तेन स्वप्नद्रष्ट्रा उत्थानकाले—**'यूयं हृदय आनीताः; स्वगृहे स्थिता दृष्टाः'—इत्येवम्** उक्ताः **सन्तस्तथेति मन्येरन्। ते तु तथा न ब्रुवन्ति न वा मन्यन्ते। एवमपि उक्तव्यापारद्वयकल्पने तेषां चेतनान्तराणां घटादिवद्** अज्ञानं जडत्वमपि कल्पनीयं स्यात्। **जडा ह्यानीता दृष्टा वा न ब्रुवन्ति न मन्यन्ते। तथा चातिगौरवं लोकविरोधश्चेति द्वयोरर्थः।।६५७-६५८।। किं च चेतनान्तराणां स्वप्नेऽन्तरागमनं बहिर्दर्शनं वा स्वाप्निकशरीरवतां जाग्रद्भवशरीरवतां वा? तत्र नाद्य इत्याह**—अपि तेऽपीति। **यदि ते दृश्यमानाः** चेतना अपि निद्राणा **निद्रां प्राप्ताः सन्तः समकालं स्वप्नं पश्येयुः तदा तेषां हृदन्तरानयनादिकं संभावितं संभावनायोग्यं भवेत्। तच्च बाधितमिति भावः। निद्राणा इति चानशन्त[3] धातोः परस्मैपदित्वादिति बोध्यम्।।६५९।। न द्वितीय इत्याह**—हृदय इति। एतान् चेतनान् स्वप्नेऽन्तर्बहिर्वा पश्यन् **स्वप्नद्रष्टा प्रबुद्धः संस्तान्**

किं च सपने में बाह्य जगत् को अपने भीतर ले जाकर अथवा स्वयं बाहर जाकर आत्मा देखता है—इन दोनों ही पक्षों में स्वप्नद्रष्टा और अन्य लोगों का अनुभव तालमेल नहीं खाता।।६५६।। सपने में जो अन्य लोग दीखते हैं, जगने पर उनमें से कोई नहीं कहता 'सपने में आप हमें अपने हृदयकमल में ले गये थे!' या यों भी नहीं कि 'हम अपने घर में ही थे जहाँ आपने (सपने में) आकर हमें देखा!'।।६५७।।

वे नहीं कहते यही नहीं, स्वप्नद्रष्टा भी उठकर उनसे कहे कि 'मैं तुम्हें ले आया था' या 'मैं आकर तुमसे मिला था' तो अन्य लोग किसी तरह मानने को तैयार ही नहीं होते। यदि वे लाये गये या जाकर देखे गये हों और उन्हें यह पता ही नहीं चला तब तो उन्हें जड ही मानना पड़ेगा क्योंकि घटादि ही ऐसे होते हैं कि उन्हें इधर-उधर लाया ले जाया जाये या कहीं पड़े हों और जाकर उन्हें देखा जाये तो उन्हें पता नहीं चलता। यों स्वप्न में वास्तविक पदार्थों से व्यवहार मानने में अनेक दोष हैं।।६५८।।

---

१. बृ. ४.३.१०। सर्वस्येतिपदघटितोत्तरब्राह्मणे श्रुतिः। २. चित्त इत्यस्य स्थान इति शेषः।

३. ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्।।३.२.१२९।। कर्तर्ययम्—भुंजानः, बिभ्राण इत्यादिरूपाणि भवन्ति।

हृदयेऽन्तर्बहिर्वापि पश्यन्नेतान् बहिः स्थितान् । दिवसे पश्यति स्वप्ने दृष्टास्ते न च तादृशाः । ।६६०

एवं तेषामपि स्वप्ने विसंवादो महान् भवेत् । स्वस्य देशान्तरे स्वप्नान् हृदये वापि पश्यताम् । ।६६१

ततो मायामयाः सर्वे बहिर्वा हृदि वा स्थिताः । स्वप्नदृश्याश्चेतना ये वादिनोऽनिच्छतोऽपि ते ।६६२

मायामया यथा जाताश्चेतना अप्यचेतनाः । मायामयास्तथैव स्युर्वादिनोऽनिच्छतोऽपि च । ।६६३ । ।

स्वगृहं राजभवनं स्वप्नद्रष्टा विलोकयेत् । देशान्तरस्थितं शश्वद् गृहदेशे कदाचन । ।६६४ । ।

बहिः स्थितान् एव पश्यति; ते च बहिः स्थिताश्चेतना यादृशाः शरीरादिविशेषणैः तादृशाः स्वप्ने न दृष्टाः किन्तु नानाविपरीतविशेषणवन्तो दृष्टा इत्यर्थः । तथा च स्थूलशरीरविशिष्टानां स्वप्ने हृदन्तरानयनादिकं बाधितमिति भावः । ।६६० । । प्रथमे पक्षे दोषान्तरमाह—एवमिति । एवं तथाऽयमपि दोषः । 'अयं' कः? तेषां चेतनान्तराणां युगपत् स्वप्नेऽपि स्वस्वापेक्षया देशान्तरे हृदये वा परान् पश्यतां तत उत्थाने विसंवादो विरुद्धज्ञानवत्ता, कलह इति यावत् । तस्मान्न हि सर्वेषां देशान्तरस्य हृदयदेशस्य वैकल्यम् । तथा च स्वस्वहृदये देशान्तरे वा परेषां स्थितिं प्रतिपादयतां—'त्वं मम हृदयेऽद्यागतः ।' 'मैवं वद, त्वमेव मम हृदय आगतः ।'—इत्याद्याकारकः कथं कलहो न भवेदित्यर्थः । ।६६१ । । फलितमाह—तत इति । ततः स्वप्नदृश्या ये चेतनाः प्रमातारः ते सर्वे वादिनो मायाकल्पितत्वेन स्वीकर्तव्याः । कीदृशस्य वादिनः? प्रपञ्चसत्यतावादितया मायामयताम् अनिच्छतः अनङ्गीकुर्वतः अपि इत्यर्थः । ।६६२ । ।

चेतनन्यायमचेतनेष्वतिदिशति—मायामया इति । यथा चेतना मायामया जाताः पूर्वयुक्त्या सिद्धाः, तथाऽचेतना अपि मायामया वादिनाऽनिच्छताऽपि मन्तव्या इत्यन्वयः । ।६६३ । । मायामयत्वं स्फुटयितुम् अचेतनानामपि अयोग्यदेशादिसम्बन्धलक्षणकात्स्न्याभावं दर्शयति— स्वगृहमिति चतुर्भिः । देशान्तरस्थितं राजभवनं स्वगृहाभिन्नं

अन्य चेतनों का दर्शनादि स्वप्न में मानें तो क्या उनके भी स्वाप्निक शरीर का दर्शन होता है या जाग्रत् के ही शरीर का? यदि कहो कि स्वाप्न शरीर का दर्शनादि होता है तब यह तभी संभव होगा जब जिसे जो दीख रहे हैं वे भी उसी समय सोते हुए सपना देख रहे हों! लेकिन ऐसा नियत रूपसे कहीं नहीं होता। (तात्पर्य है कि देवदत्त स्वप्नमें जिस यज्ञदत्तशरीर को देखता है—चाहे लाकर या जाकर—वह यज्ञदत्तका जाग्रत्-शरीर नहीं वरन् उसकी भी स्वप्नावस्था का शरीर है—यह मानें तो यह उसी दशा में संभव होगा जब दोनों युगपत् सपना देख रहे हों। इतना ही नहीं, यज्ञदत्त स्वप्नमें जैसे देह वाला, जिस देश-काल अवस्था में हो वैसा ही देवदत्तको दीखे यह भी नियम मानना पड़ेगा। ये सभी अटपटी बाते हैं अतः ऐसा पक्ष अमान्य ही है।)। ।६५९ । । यदि स्वप्नमें अन्यों के जाग्रत्-शरीरों का अपने भीतर या बाहर जाकर देखना माना जाये तब भी असंगत है। वे शरीर रात में पड़े सो रहे होते हैं जबकि स्वप्नद्रष्टा को वे दिनमें घूमते फिरते नज़र आते हैं। जैसे वे सपने में दीखते हैं वैसे वे उस समय हुआ ही करें ऐसा कोई नियम नहीं। ।६६० । । किं च हमें जब दूसरे लोग सपने में दीखते हैं तभी दूसरे भी सपने में हमें देखें यह भी संभव ही है लेकिन तब बड़ा झगड़ा होगा क्योंकि हम कहेंगे 'तुम मेरे हृदय में आये थे' और वे कहेंगे 'ऐसा नहीं, तुम ही हमारे हृदय में चले आये थे'! चाहे अपने-अपने हृदय में लाकर देखना मानो या बाहर जाकर, दोनों पक्षों में इस तरह के विवाद तो रहेंगे ही। ।६६१ । ।

सपने को मायामय न मानने पर पूर्वोक्त अनेक अव्यवस्थाओं की आपत्ति होने से वादी को न चाहते हुए भी मानना पड़ेगा कि सपने में जो चेतन दीखते हैं वे सभी मायामय हैं, चाहे बाहर माने जायें या हृदय में स्थित, हैं मायिक ही, न कि व्यावहारिक या सत्य। ।६६२ । । ऐसे ही जड पदार्थ भी जो सपने में दीखते हैं वे मायिक ही मानना अनिवार्य है। ।६६३ । । कभी ऐसा सपना आता है जिसमें वास्तवमें जो राजभवन हमेशा से किसी अन्य जगह स्थित है वह स्वप्नद्रष्टा को वहाँ दीखता है जहाँ उसका अपना घर है और राजभवन को वह सपने में अपना ही घर समझता है। यदि सच्चे

समुद्रं स्वगृहद्वारि क्वचिदप्यवलोकयेत्। स्थितं योजनसाहस्रं बहुकल्लोलभूषितम्।।६६५।।

अगाधं सरितां नाथमधस्ताल्लक्षयोजनम्। अनेन वपुषा क्वापि गुल्फमात्रं विलङ्घयेत्।।६६६।।

विलङ्घ्य च कदाचित्तु नीलपर्वतमग्रतः। पश्येदित्यादिकं सर्वं तत्रासत् स्वप्नगः पुमान्।।६६७।।

तेन मायामयं सर्वं स्वप्नदृश्यं जडाजडम्। स्वात्मनो देहसहितं कारणं सुखदुःखयोः।।६६८।।

मायामयत्वे संजाते विश्वस्मिन् हि जडाजडे। स्वप्नद्रष्टैव मागावी वर्तेतैतद्धि सुस्थितम्।।६६९।।

तथा च सति केन स्याद् बहिर्गत्वाऽवलोकनम्। स्वप्नस्य केन वा स्वान्तर्नयनं जगतोऽपि च।।६७०

अज्ञानं यद्भवेत्तस्य स्वप्नस्य करणादिषु। सेयं मायेत्यविद्येति कथ्यते वेदवादिभिः।।६७१।।

अविद्यया यथा स्वप्ने पश्यत्येष जडाजडम्। तथा जागरणेऽप्यात्मा विश्वं पश्यत्यविद्यया।।६७२।।

स्वगृहदेशे कदाचित् स्वप्नद्रष्टा विलोकयति इत्यन्वयः।।६६४।। समुद्रमिति। विस्तीर्णं समुद्रं स्वगृहद्वारि स्थितं विलोकयति इति।।६६५।। अगाधमिति। अधस्तादगाधम्, उपरि लक्षयोजनं च समुद्रम् अनेन मानुषेण वपुषा गुल्फमात्रं मन्यमानो लङ्घयेदिति ।।६६६।। विलङ्घ्येति । नीलपर्वतः समुद्रापरपारगो भगवतः पुरुषोत्तमस्य नरसिंहस्य स्वलीलाविग्रहस्य निवासभूमिः प्रसिद्धः; तं परपारे पश्येद् इति। आदिपदेन रात्रौ सूर्योपरागादिग्रहः। एवं तत्र स्वप्ने सर्वमसन्मिथ्याभूतमेव स्वप्नगः पश्यतीत्यर्थः।।६६७।। फलितमाह—तेनेति। तेन वास्तवत्वाभावेन देहसहितं स्वप्नदृश्यं स्वात्मनः सुखादिकारणं सर्वं मायामयम् इत्यन्वयः।।६६८।।

ननु स्वप्नभावोपादानमाश्रयः क इति चेत्? 'स हि सर्वस्य कर्ता' (बृ.४.४.१३) इति श्रुत्या, इतराश्रयानुपपत्त्या च, स्वप्नद्रष्टैवेत्याह—मायामयत्व इति। स्वप्नगतसर्वजडाजडनिष्ठे मायामयत्वे संजाते सिद्धे सति तस्या मायाया आश्रयः स्वप्नद्रष्टैव इति एतत् सुस्थितं श्रुत्युपपत्तिभ्यां सिद्धमित्यर्थः।।६६९।। एवं सति स्वप्नद्रष्टुर्बहिर्गमनस्य विश्वान्तरानयनस्य च कल्पनं वादिनो व्यर्थमित्याह—तथा चेति। स्वप्नस्य स्वप्नदृश्यभावजातस्य बहिर्गत्वावलोकनं जगतः स्वान्तर्नयनं च केन प्रयोजनेन स्यात् कल्पेतेत्यर्थः।।६७०।।

सा च मायाऽज्ञानरूपैव 'माया च तमोरूपा' (नृसिंहोत्त.९) इत्याथर्वणश्रुतेरित्याह—अज्ञानमिति। स्वप्नस्य करणादिषु सृष्ट्यादिषु समर्थं यदज्ञानं तदेव मायाऽविद्यादिपदवाच्यमित्यर्थः।।६७१।। स्वप्नन्यायेन जाग्रत्यपि मायामयत्वं बोध्यं, तदर्थमेव श्रुत्या स्वप्नमिथ्यात्वप्रतिपादनादित्याह — अविद्ययेति। स्पष्टम्।।६७२।। स्वप्न-

राजभवन का दर्शन होता तो ऐसा स्थानव्यत्यास, स्वामित्वव्यत्यास कैसे संभव था?।।६६४।। कभी दीखता है कि अनेक लहरों से सुंदर लगता हजार योजन विस्तृत समुद्र मेरे घर के दरवाजे पर हिलोरें खा रहा है! भले ही वास्तविक समुद्र मेरे वास्तविक घर से हजार योजन दूर हो!।।६६५।। ऐसा सपना भी आता है कि लाख योजन गहरा अगाध समुद्र मैं इसी शरीर से लाँघ गया और पानी मेरे टखनों तक ही आया!।।६६६।। नीलाचल (जगन्नाथ पुरी) है तो समुद्र के इस पार लेकिन सपने में दीखता है कि इधर से जब समुद्र लाँघ कर उस पार गये तब वहाँ नीलाचल के दर्शन हुए! इसी प्रकार और सब भी अघटमान दृश्य दीखते हैं। अतः निश्चित है कि स्वप्नावस्था को प्राप्त पुरुष जो कुछ देखता है वह असत्य ही होता है।।६६७।। इसलिये अपने शरीर सहित जो कुछ भी जड-चेतन सपने में दीखता है और अपने सुख-दुःख का कारण बनता है वह सब मायिक ही है।।६६८।। जब यह सिद्ध हो गया कि वहाँ दृश्य जड-चेतन सभी मायिक है तब यह भी निश्चित है कि वहाँ मायावी अर्थात् मायाका आश्रय स्वप्नद्रष्टा ही है। (श्रुति ने स्वप्नद्रष्टा को ही स्वाप्न पदार्थों का कर्ता कहा है, अतः वही वहाँ मायावी है जैसे जाग्रत् में महेश्वर मायावी हैं।)।।६६९।। जब यह परिस्थिति है तब स्वप्नदृश्य पदार्थ बाहर जाकर या अपने अंदर लाकर देखे जायें इसकी क्या ज़रूरत है! (अर्थात् ऐसी अनर्गल मान्यतायें निरर्थक हैं।)।।६७०।।

स्वप्ने जागरणे नैव भेदः कोऽपीह दृश्यते। द्रष्टृत्वेऽपि च दृश्यत्व आत्मनोऽनात्मनस्तथा।।६७३।।
अतो जागरणे जन्तोर्यत्स्यात् स्वप्नेऽपि तद्भयम्। मन्यतेऽविद्ययैवायं निर्भयो द्वयवर्जितः।।६७४।।

सुषुप्तावात्मा

एष स्वप्नोऽत्र नाडीभिर्गत्वा देहे विलोक्यते। ताभिर्गत्वाऽत्र या सुप्तिर्लोक्यते तन्निशामय।
संप्रसाद इति प्रोक्ता याऽवस्था भवते मया।।६७५।।
नाडीभिर्हृदयाकाशं पुरीतद्वेष्टितं[1] गतः। देवराजोपमो देव इन्द्राण्या भेदवर्जितः।।६७६।।
इन्द्रः स्वयं स्वबोधेन स्वप्रकाशेन बोधितः। स्वयं ज्योतिः परापेक्षां हित्वा देदीप्यते मुहुः।।६७७।।

जागरणयोरभेद एतदर्थमेव पूर्वं प्रपंचित इत्याह—स्वप्न इति। आत्मनो द्रष्टृत्वे, अनात्मनो दृश्यत्वे च स्वप्नजागरणयोः न कश्चिद् विशेषः इत्युक्तमिति शेषः।।६७३।। तथा चाऽविद्ययैव भयं मन्यन्त इति यच्छ्रुत्योक्तं तदुपपन्नमिति निगमयति—अत इति। अतः स्वप्नस्य जाग्रदुपलक्षणत्वात् जागरणे स्वप्ने वा यद्भयं मन्यते तदविद्ययैव मन्यते यतो वस्तुतः अद्वयत्वाद् निर्भय इत्यन्वयः।।६७४।। एवं भेददर्शनलक्षणकार्यद्वारेण अविद्यास्वरूपं स्वप्नमधिकृत्य दर्शितम्।

अथ यादृशात्मस्वरूपमावृत्याऽविद्योक्तं कार्यं करोति तत्स्वरूपं सुषुप्तिमधिकृत्य दर्शयन् 'अथ देव इव' इत्यादिः कण्डिकाशेषस्य[2] अर्थमाह—एष स्वप्न इति सप्तभिः। नाडीमार्गगम्यत्वेनोक्तयोः स्वप्नसुषुप्त्योः मध्ये स्वप्नो वर्णितः। अथ सम्प्रसादशब्दवाच्या ताभिः नाडीभिः गम्या सुषुप्तिरुच्यत इत्यर्थः।।६७५।। नाडीभिरिति। नाडीद्वारा पुरीतद्वेष्टितं हृदयाकाशं गतः इन्द्राण्यभिन्न इन्द्रो देव एष आत्मा प्रसिद्धदेवोपमो राजोपमश्च भवति। तत्र 'दीव्यति', 'द्योतत' इति व्युत्पत्त्या देवपदार्थं, राजते—इतराऽनपेक्षया दीप्यत इति व्युत्पत्त्या राजपदार्थं चाह—स्वयमित्यादिना। स्वबोधेन स्वरूपभूतेन बोधेन स्वप्रकाशेन यतः स्वयम् एव बोधितः ततो देवोपम इत्युक्तः। यतश्च स्वयंज्योतिष्ट्वेन परापेक्षां हित्वा देदीप्यतेऽतिशयेन दीप्यते ततो राजोपम इति द्वयोरर्थः।।६७६-६७७।।

स्वप्न बनाने आदि में समर्थ जो अज्ञान होता है वही वेदवेत्ताओं द्वारा माया, अविद्या आदि कहा जाता है।।६७१।। यह आत्मा जैसे सपने में अविद्या से जड-चेतन प्रपंच का अनुभव करता है उसी तरह जाग्रत् में भी यह अविद्या से ही यह विश्व देख रहा है।।६७२।। आत्मा की द्रष्टृता और अनात्मा की दृश्यता जैसी स्वप्न में होती है वैसी ही जाग्रत् में है, अतः स्वप्न व जाग्रत् में कोई भेद नज़र नहीं आता।।६७३।। इसलिये श्रुति में स्वप्न कहकर जाग्रत् भी सूचित है जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि जाग्रत् हो या स्वप्न, जन्तु को जो कोई भी भय होता है वह अविद्या के कारण ही होता है। द्वैतरहित होने से वास्तव में निर्भय आत्मा जो डर माना करता है वह इसीलिये कि वह अपनी सचाई से बेखबर है।।६७४।।

हे राजन्! अभी मैंने उस स्वप्न का वर्णन किया जो नाडीमार्ग से जाने पर आत्मा शरीर में देखता है। उन्हीं नाडियों में अन्य स्थलों पर पहुँचता है तो इसे जिस सुषुप्ति का अनुभव होता है, जिसे मैंने पहले तुम्हें 'सम्प्रसाद' शब्द से कहा था, उसके बारे में अब बताता हूँ, सुनो।।६७५।। जैसे सुरेश्वर इन्द्र अंतःपुर में शची के साथ अभिन्न हो शयन करता है, ऐसे ही इन्द्र कहलाने वाला यह आत्मदेव नाडियों द्वारा जब उस हृदय में मौजूद जगह पर पहुँचता है जो हृदय पुरीतत् से घिरा है, तब यह भी इन्द्राणी से अभिन्न हो जाता है। उस स्थिति में यह खुद अपने ही स्वप्रकाश ज्ञान से भासमान रहता है। अन्य सब की अपेक्षायें छोड़कर यह स्वयंज्योति पुरुष लगातार अत्यधिक दीप्तिमान बना रहता

---

१. पुरीतद् हृदयवेष्टनम्। शरीरमेव तदुपलक्षितं विवक्षितमिति गार्ग्याजातशत्रुसंवादे (बृ.२.१.१९) भाष्य उक्तम्। इदं चात्रावधेयं यद् 'अथ यत्रे' त्यादि प्रकृतं व्याख्येयं वाक्यं भाष्यवार्तिकयोः स्वप्नपरमेव निरूपितं, न सुषुप्तिपरम्। तत्र 'देव इव राजेव' इतीवशब्दयोगात् तयोरनुभवयोर्मिथ्याविषयत्वम्। 'अहमेवेदं सर्वम्' इत्यत्र इवकाराभावादस्य वस्तुवृत्तत्वमिति विशेषो वार्तिके (श्लो.१२७६-८१) व्यक्ततरः। पुराणकृतां तु 'अथ'- श्रुतिबलादस्यावस्थान्तरपरत्वं सङ्गच्छतेतरामित्यभिप्रायः। २. 'अथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः।।२०।।' इति।

सर्वस्मिन्नेव विक्षेपे समनस्के लयं गते। अप्रतीते च सत्येवं स्वात्माज्ञाने तमोनिभे।।६७८।।
यदा गत्वा प्रयात्यन्तः तादात्म्येन तदा भवेत्। मुक्तेन सदृशः सर्वमहमेवेति मन्यते।। दुःखैः
सर्वैर्विहीनः सन्नानन्दवपुषि स्थितः।।६७९।।

सर्वस्मिन्निति। विक्षेपे विक्षेपशक्तिकार्ये मनःपर्यन्ते सर्वस्मिन् लयं गते सति, एवं मनसोऽपि लीनत्वे सति तमोवदावरकेऽज्ञाने अप्रतीते—अल्पम् अस्फुटं यथा भवति तथा प्रतीते सति; 'अहमज्ञ' इत्याकारकान्तःकरणवृत्त्यारूढस्यैव अज्ञानस्य स्फुटत्वात्, सुषुप्तौ तु सूक्ष्माज्ञानवृत्तिरज्ञानाकारा,[1] अतो नञः अनुदरा कन्या इत्यत्रेव अल्पार्थकत्वम् इति भावः।।६७८।। यदेति। एवं सति हृदयस्यान्तः गत्वा तत्र स्थितं परमात्मानं तादात्म्यसम्बन्धेन[2] यदा अयं जीवः प्रयाति तदा मुक्तेन सदृशो भवेत्। मुक्तस्य लक्षणमाह—सर्वमिति। यः सर्वमात्मैवेति वेत्ति स विद्वान्मुक्त इत्यर्थः अज्ञानमात्रशेषस्य सुप्तस्य ज्ञानाग्निदग्धाऽज्ञानेन मुक्तेन किं साधर्म्यम्? इत्याकांक्षायामाह—दुःखैरिति। सर्वदुःखविवर्जितभूमानन्दे स्थितिः साधर्म्यमित्यर्थः। एतेन मुक्तस्वरूपप्रदर्शनेन कारणाऽज्ञानमपि नात्मनः स्वभावः मुक्तौ तद्व्यतिरेकाद् इति सूचितम्।।६७९।।

है। ('पुरीतत्' से हृदय का वेष्टन या पूरा स्थूल शरीर समझना चाहिये। प्रकृत व्याख्येय श्रुति में कहा है कि सुषुप्ति में आत्मा 'देव' की तरह, 'राजा' की तरह 'मैं ही यह सब हूँ' ऐसा मानता है। देव-शब्द स्वर्गस्थ सुरों की तरह द्योतमान को भी कहता है और राजा-शब्द नरेश की तरह उसे भी कहता है जो बिना अन्य के सहारे दीप्त रहता हो। सुषुप्ति में आत्मा दीप्त रहने केलिये कोई सहारा नहीं चाहता है और द्योतमान रहता ही है, अतः उसे प्रसिद्ध देव और राजा की तरह कहा गया है। यह पुराणकार की खास व्याख्या है। भाष्यादि में इससे कुछ अलग तरह समझाया है। तात्पर्यतः कोई विरोध नहीं।)।।६७६-६७७।।

सुषुप्ति में मन समेत सारा विक्षेप विलीन हो जाता है। अंधेरे-सा ढाँकने वाला निजात्मा का अज्ञान भी तब अस्फुट-सा ही प्रतीत होता है, क्योंकि 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसी मनोवृत्ति रहते ही अज्ञान स्फुट होता है और सुषुप्ति में मन ही नहीं तो ऐसी मनोवृत्ति भी होती नहीं। (अतएव उस समय 'मैं कुछ नहीं जान रहा' यह प्रतीति पता नहीं चलती वरन् स्मरण की उपपत्ति के लिये ही स्वीकारनी पड़ती है।) उस दशा में जीव जब हृदयके भीतर जाकर वहाँ स्थित परमात्मा से तादात्म्य (अभेद) वाला हो जाता है तब मुक्त की तरह हो जाता है। जो सब कुछ को आत्मा ही जानता है, अनुभव करता है, वह विद्वान् मुक्त कहलाता है। सारे दुःखों से रहित व्यापक आनंद में जैसे मुक्त रहता है वैसे ही सुषुप्ति में सब जीव रहते हैं, अतः वहाँ मुक्त से समानता कही। (मुक्तका 'मैं सब हूँ' ज्ञान भी बाधसामानाधिकरण्यसे होता है और सुषुप्त केलिये भी 'सर्व' स्फुरमाण नहीं है, यह समानता भी द्योतित है। प्रसंगवश समझ लेना चाहिये कि विषयनिरपेक्ष आनंद प्रसिद्ध करने केलिये उपनिषदें सुषुप्ति की चर्चा करती हैं। सुषुप्ति में मोक्ष जैसी स्थिति इसी से है। वह मोक्ष ही नहीं है। मोक्ष में अविद्या नहीं रहती जबकि सुषुप्ति में अविद्या रहती ही है, यह दोनों में महान् अंतर है। मोक्ष तभी है जब अखण्डसाक्षात्कार दृढ हो जाये। अत एव 'सुषुप्ति में जीव ईश्वर से एकमेक हो जाता है' इत्यादि जब कहा जाता है तब भी इतना ही अर्थ होता है कि दोनों का अंतर तब स्फुट नहीं रहता। अविद्या रहते दोनों एक नहीं होते। विवरण में (पृ. १९१-१९२ म.अ.सं.) स्पष्ट कहा है कि सुषुप्ति में भी जीव-ब्रह्म विभाजन रहता है। आधुनिक कुछ वेदान्ती अविद्या के सम्प्रदायप्रसिद्ध स्वरूप को न मानकर विक्षेपरूप कार्याविद्या के सहारे ही व्यवस्था बनाने का प्रयास करते हैं, जिससे सुषुप्ति और प्रलय की व्यवस्था नहीं बनती और सुषुप्ति व प्रलय में मोक्ष की आपत्ति भी आती है यह याद रखना चाहिये।)।।६७८-६७९।।

हृदय के भीतर जो स्वप्रकाश सुख है, जिसे वेदांतों में 'आकाश' शब्द से भी निर्धारित किया है, वही आत्मा की प्राप्ति होने पर मिलता है, वही इस जीव का 'परम लोक' है क्योंकि अनात्मसापेक्ष अन्य सभी लोकों से उत्कृष्ट है।।६८०।।

---

१. एतद् विवरणादौ व्यवस्थापितम्। २. नत्वात्यन्तिकेनाऽभेदेन, तस्य ज्ञानं विनाऽयोगात् सुषुप्ते जीवेश्वरविभागस्य च विवरणादिसंमतत्वाद्, अनुभवयुक्तिभ्यां संगतत्वाच्च। अत एव मुक्तेन सदृशो, न मुक्त एवेति। एतेन सुषुप्तिमोक्षवादो मूलाविद्यानिरासकानां प्रत्याख्यातो वेदनीयः।

सोऽयमस्य परो लोकः स्वप्राप्तौ प्राप्यते हि यः। हृदये यदिहाकाशं स्वप्रकाशसुखं स्थितम्। ।६८०।

तस्मात् परं च नानेन लोक्यं शास्त्रशतैरपि। गुरुशास्त्रोपदेशेन लोक्यते यद्धृदम्बुजे।
ब्रह्मलोकादिलोकेषु तदाकाशमिदं परम्। ।६८१।।

एतदेव भवेन्नित्यमतिच्छन्दा इतीरितम्। छन्दांसि वेदगान्येषो ह्यत्येत्यात्मा महेश्वरः। मनसो वचसो
यस्माद् गोचरे वर्तते न सः। ।६८२।।

पापं किमपि नैवास्मिन्नासीदस्ति भविष्यति। ततोऽपहतपाप्माऽयं हृदयाकाश ईरितः। ।६८३।।

नास्य सर्वात्मनो भेदगन्धशून्यस्य किंचन। विद्यते भयमेतस्मादभयं भवतीश्वरः। ।६८४।।

इदमेव सुषुप्तिमुक्तिप्राप्यम् आत्मतत्त्वम् अनात्मभूतेभ्यो लोकेभ्य उत्कृष्टत्वात् परमलोकपदाभिधेयमित्याह—सोऽयमिति। यः स्वप्राप्तौ स्वस्यात्मनः प्राप्तौ सत्यां प्राप्यते लभ्यते सोऽयम् अस्य जीवस्य परमो लोकः। किमात्मकोऽसौ? इत्याकांक्षायामाह—हृदय इति। हृदयान्तः स्वप्रकाशसुखरूपं यदाकाशं स्थितं वेदान्तैर्बोधितं, तदात्मक इति सम्बन्धः। ।६८०।। तत्र कर्मव्युत्पत्त्या लोकपदसमन्वयमाह—तस्मादिति। तस्मात् सर्वान्तराद्वितीयाद् आत्मतत्त्वात् परं भिन्नं शास्त्रैः लोक्यं दर्शनीयं न भवति, मिथ्यात्वात्। आत्मतत्त्वं तूत्तमाधिकारिभिरिह जन्मन्येव गुरुशास्त्रोपदेशेन हृदम्बुजे लोक्यते। उपासकैस्तु ब्रह्मलोकादिलोकेषु गत्वा लोक्यते। अतः तद् चिदाकाशमेव परं लोक्यं, लोक इति यावत्। ।६८१।।

सुषुप्तिमुक्तिप्राप्यात्मरूपप्रतिपादिकायाः 'तद्वा' इत्यादिकाया एकविंशतितम्याः[1] कण्डिकाया अर्थं प्रदर्शयति—एतदेवेति षोडशभिः। एतदेव सुप्तिमुक्तिगम्यमात्मस्वरूपं 'छन्दांसि अतिक्रान्तम्' इति व्युत्पत्तिकेन अतिच्छन्दा इति पदेनोक्तम्, यतो वेदगतानि च्छन्दांसि[2] गायत्र्यादीनि सकलप्रपंचप्रकाशकानि एष आत्मा अत्येति अतिक्रामति, निर्विशेषत्वेन वाङ्मनसयोरगोचरत्वादित्यर्थः। ।६८२।। पापमिति। यतः अस्मिन् हृदयाकाशे परमात्मनि किंचिदपि पापं कालत्रये नास्ति ततः अपहतं निरस्तं पाप्म पापं यस्माद् इति व्युत्पत्तिकेन अपहतपाप्मपदेनोक्त इत्यर्थः। ।६८३।। अभयपदार्थमाह—नास्येति। अस्य ईश्वरस्य हृदयाकाशरूपस्य सर्वभेदशून्यत्वाद् यतो न किंचिद् भयं ततः अभयम् इत्युक्तिरित्यर्थः। ।६८४।। भेदज्ञानशून्यस्य भयाभावे हेतुतां विशदयति—अप्यभेदस्येति।

सब से अधिक प्रत्यक्, अद्वितीय आत्मतत्त्वसे अतिरिक्त कुछ नहीं है जो शास्त्रों द्वारा अवलोकनीय हो क्योंकि तदतिरिक्त सब मिथ्या है। उत्तम अधिकारी गुरु से शास्त्रका उपदेश पाकर इसी जन्ममें हृदयकमलमें आत्मतत्त्वका दर्शन पा लेते हैं। उपासक ब्रह्मलोकादि स्थानों पर पहुँचकर उसी का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिये चिद्रूप आकाश ही परम लोक है। ।६८१।।

सुषुप्ति में गौणरूपसे और मोक्षमें मुख्यरूप से प्राप्य यही आत्मस्वरूप 'अतिच्छन्दा' कहलाता है क्योंकि वेद में आये छन्दों से यह अतीत है; निर्विशेष आत्मा वाणी से अतीत होने के कारण वैदिक छंदों द्वारा भी शक्तिवृत्ति से निरूपित नहीं किया जा सकता। यह आत्मरूप महेश्वर मन-वाणी के घेरे में नहीं आता है। ।६८२।। हृदय में जिसका साक्षात्कार होता है वह आकाश कहलाने वाला आत्मा 'अपहतपाप्मा' भी कहा जाता है क्योंकि उसमें कोई भी पाप

---

१. 'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्यैतद् आप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम्। ।२१।।' इति। अतिच्छन्दा इत्यत्रच्छन्दः कामः, सोतिगतो यतो रूपात् तत् तथोक्तम्। तथा शोकान्तरम् इत्यत्र अन्तरपदम् अवकाशपरम्, अवकाशश्चाभावः, तथा च शोकस्याऽभावो यत्रेत्यर्थः। अथवा शोकस्यान्तरं मध्यं, तत्प्रत्यग्भूतमित्यर्थः।
२. भाष्येऽत्र कामवचनश्छन्दशब्दः स्वरान्तो,न तु सान्तो गायत्र्यादिवाचीति समर्थितम्। वार्तिकेऽपि तथा।

अप्यभेदस्य विज्ञानाद् भवेद् भेदोऽत्र कोऽपि न। कारणाभावतस्तेन नात्मनीह भयं भवेत्।।६८५।

अपि दुःखस्य हेतुत्वात् स्याद्भयं नेतरत् स्वयम्। न च दुःखं किमप्यस्ति स्वप्रकाशे स्वतेजसि।६८६

अपि दुःखं भवेज्ज्ञाने जाते सर्वशरीरिणाम्। न चास्य विद्यते ज्ञानमैक्याद्धृदयगात्मनः।।६८७।।

विशेषज्ञानशून्योऽयं यथा भवति कामुकः। गाढमालिङ्गितोऽभीष्टयोषिता कण्ठलग्नया।।६८८।।

बाह्यं किमपि नैवायं पुत्रवित्तधनादिकम्। वेत्ति नैवान्तरं तद्वदात्मानं युवतिं तथा।।६८९।।

अपि च हृदयाकाशे हि स्वभावभूतत्वादभेद एव स्वप्रकाशबोधेन भासते। भेदस्तु परसापेक्षत्वात् पराभावे कथं भासेत? भेदज्ञानस्य कारणस्याऽभावे च भयं कथं स्यात्? 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ.१.४.२) इति श्रुतेरित्यर्थः।।६८५।।दुःखाभावाच्च अभयत्वमित्याह—अपि दुःखस्येति। अपि इतरद् अपि यद् भयं—बिभेत्यस्मादिति व्युत्पत्त्या भयहेतुर्भवति, ततः स्वयं स्वभावेन न भवति किन्तु दुःखजनकत्वाल्लोके भयं स्यात्। तद् भयत्वप्रयोजकं दुःखम् अत्र हृदयाकाशे किमपि नास्ति। कीदृशे? स्वप्रकाशे इतरानपेक्षप्रकाशे। तत्र हेतुगर्भं विशेषणं स्वतेजसीति। आदित्यादयो हि परतेजसः 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुं.२.२.१०) इति श्रुतेः, 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलं। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।' (गी.१५.१२) इति स्मृतेश्च। तथा च परमेश्वरत्वादत्र न किंचिद् दुःखं तत्प्रयुक्तं भयं चेति भावः।।६८६।।

किं च लोके दुःखस्य व्यापकं विशेषविज्ञानं दृष्टम्। अत्र हृदयाकाशेऽद्वितीयत्वेन विशेषविज्ञानरहिते कथं दुःखं स्यादित्याह—अपि दुःखमिति। किं च सर्वशरीरिणां दुःखं विशेषविज्ञाने जात एव भवेद् इति प्रसिद्धम्। अस्य हृदयगतस्यात्मनस्तु विशेषविज्ञानं न विद्यते। कुतः? ऐक्याद् अद्वितीयत्वादित्यर्थः।।६८७।।

यत्र न विशेषविज्ञानं तत्र न दुःखम्—इत्यत्र श्रोतुर्जनकराजादेः प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—विशेषेति द्वाभ्याम्। यथा कामुकोऽभीष्टयोषिताऽऽलिङ्गितो विशेषज्ञानशून्यो भवति यतो बाह्यान्तरादिकं न वेत्ति इति द्वयोः सम्बन्धः।

न कभी था, न है, न कभी होगा।।६८३।। यह सर्वात्मा है, भेद की गंध से भी रहित है, इसे कोई भय नहीं जिससे यह ईश्वर अभय है।।६८४।। अभेदानुभव हो जाने से आत्मा में कोई भी भेद नहीं होता। भेदज्ञान ही भयका कारण बनता है। जब कारण ही नहीं तब आत्मा में भय भी नहीं होता।।६८५।। अन्य हुआ जो कुछ भी भय देता है वह स्वभावतः नहीं वरन् दुःख का कारण होने से भयप्रद होता है। अन्य-निरपेक्ष ज्ञानस्वरूप आत्मा में दुःख कोई हैं नहीं अतः भय न होना स्पष्ट है।।६८६।। किं च सभी शरीरधारियों को दुःख तभी होता है जब कोई विशेष-ज्ञान हो। हृदय में स्फुरमाण आत्मा में विशेषज्ञान कोई है नहीं क्योंकि वह अद्वितीय है। अतः दुःख संभव नहीं। (विशेषज्ञानं अर्थात् प्रतिकूलतादि किसी विशेषता का ज्ञान। आत्मा ज्ञानरूप है, उसमें कोई विशेषता नहीं।)।।६८७।। विशेषज्ञान न होने पर दुःख नहीं होता, यह अनुभवसे जाना जाता है। (उल्लेखनीय है कि श्रोता जनक व वक्ता याज्ञवल्क्य दोनों गृहस्थ हैं।) : जब कोई कामुक पुरुष कण्ठ से चिपकी चहेती स्त्री के दृढ आलिंगन में बँधा होता है तब उसे पुत्र, संपत्ति, धन आदि किसी बाहरी चीज़ का, अपने भीतर की किसी चिंतादि का, स्वयं अपने शरीर का और उस युवती का कोई विशेष ज्ञान नहीं रह जाता (केवल सुखानुभव रहता है)। इसी प्रकार यह जीव सुषुप्ति में प्राज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर से आलिंगित हो जाता है, हृदयमें स्फुरमाण आकाशशब्दित सुखरूप स्वप्रकाश से एकमेक हो जाता है (जीव का परिच्छिन्न रूप वहाँ पृथक्कर नहीं अनुभव किया जा सकता)। तब जीव भूतादि बाह्य और इंद्रियादि आन्तरिक पदार्थों को तथा सुषुप्ति में बची रहने वाली इस मायाको नहीं जानता और न ही खुद को जान पाता है। हालाँकि तब वह सुखरूप

एवमेव पुमानेष प्राज्ञेनाकाशरूपिणा। स्वप्रकाशेन तादात्म्यात् परिष्वक्तः सुखात्मना।।६९०।।

भूतभौतिकसङ्घातं बाह्यं वेत्ति न किंचन। नैवान्तरमिमां मायामात्मानं च सुखात्मकम्।। इन्द्राण्या सहितं यत् स्यादिन्द्रस्याकाशसंश्रयात्।।६९१।।

आप्तकामः

आप्तकामं तदेव स्याद्रूपं नान्यत्कथंचन। पुत्राद्याः सकलाः कामा आप्यन्त इत एव यत्। ततो रूपमिदं ज्ञेयमाप्तकामं मनीषिभिः।।६९२।।

नास्य कश्चन कामोऽस्ति पुत्रादिविषयो यतः। आनन्दात्मानमेवैकं स्वयंज्योतिर्विहाय हि। आप्तकामं ततस्त्वेतदात्मकाममुदाहृतम्।।६९३।।

।६८८-८९।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। यथोक्तो दृष्टान्त एवमेष पुमान् जीवः सुषुप्तौ हृदयाकाशरूपेण प्राज्ञेन सर्वज्ञेश्वरेण स्वप्रकाशसुखरूपेण तादात्म्यसम्बन्धेन आलिङ्गितः सन् बाह्यं भूतादिकम् आन्तरम् इन्द्रियादिकं तथा इमां सुप्तौ शिष्यमाणां मायाम् अज्ञानं च न वेत्ति, तथात्मानं सुखरूपं न वेत्ति। ननु किं तत् सुखं यदस्य स्वरूपभूतम्? इत्याकांक्षायामाह—इन्द्राण्येति। यत् सुखम् इन्द्राण्या सहितं यथा भवति तथा इन्द्रस्य हृदयाकाशसंश्रयाद् भवति—इन्द्राणीसहित इन्द्रो हृदयाकाशं शयनस्थानम् आश्रित्य यत् सुखं लभते, तदपि विशेषतो न जानातीति यावत्। इति द्वयोरर्थः।।६९०-६९१।।

अप्तकामत्वादिविशेषणानाम् उत्तरोत्तरं हेतुभूतानामर्थं दर्शयति—आप्तेत्यादिना। तदेतत्[1] सुप्तौ मुक्तौ वा गम्यमात्मरूपम् आप्तकामं भवति इति प्रथमार्धेन प्रतिज्ञा। द्वितीयार्धेन—यद् यतो हेतोः इतः अस्माद् एव रूपात् सर्वस्य विवर्तोपादानात् कामाः काम्यमानपदार्था आप्यन्ते लभ्यन्त इत्यर्थकेन आप्ताः कामा यत्रेति व्युत्पत्तिः, 'उपादानलाभे सर्वोपादेयलाभ' इति न्यायानुगृहीता तत्र हेतुतया सूचिता। तृतीयार्धेन तु निगमनम् इत्यपुनरुक्तिरित्यर्थः।।६९२।। उक्तार्थकमाप्तकामत्वमनूद्य तद्धेतुकताम् आत्मकामत्वस्य दर्शयति—नास्येति। यथा कनकं विहाय कुण्डलादिकं नास्ति तथा आनन्दात्मरूपम् एकं सर्वोपादानत्वेनाद्वयं यदेतत् स्वयंज्योतिःस्वरूपं तद् विहाय पुत्रादिविषयः कामः अस्य जीवस्य न अस्तीत्यतः[2] 'आप्तकामम्' इत्युक्तम्। तत उक्तविधाप्तकामत्वादेव इदं रूपं आत्मकामम् इत्युक्तमित्यर्थः।।६९३।।

से अतिरिक्त कुछ नहीं फिर भी उसे इसका अहसास नहीं होता। इन्द्राणी के साथ शयनस्थानमें इन्द्र जब सुख प्राप्त करता है उस समय जैसे उसे कोई विशेष ज्ञान नहीं होता वैसे ही किसी जीव को सुषुप्ति में नहीं होता।।६८८-६९१।।

सुषुप्ति या मोक्ष में मिलने वाला यह आत्मरूप ही आप्तकाम भी है, अन्य कोई रूप नहीं। इसी रूप से पुत्रादि सभी काम्य पदार्थों की आप्ति अर्थात् प्राप्ति होती है क्योंकि यही उनका विवर्तोपादान है। मनीषियों ने इसी कारणसे इस रूप को आप्तकाम कहा है।।६९२।। जैसे स्वर्ण से अतिरिक्त (अन्य) कुण्डल आदि नहीं होते, ऐसे ही सबका उपादान जो यह आनंदरूप अद्वय स्वयंज्योति है उससे अन्य पुत्रादि हैं ही नहीं कि जीव की कामना के विषय हों। इससे यह आप्तकाम ठीक ही कहलाता है क्योंकि सारी कामनायें इसी ने प्राप्त कर रखी हैं, सबका विषय यही है। यही कारण है कि इसे आत्मकाम भी कहते हैं।।६९३।। क्योंकि पुत्रादि अनात्मा के प्रति जीव को कामना नहीं होती (कारण कि वे भी आत्मा ही हैं) इसलिये बचा हुआ आत्मा ही काम्यमान है। आत्मा ही जहाँ काम्यमान हो उस रूप को 'आत्मकाम'

---

१. तदेव-इत्यत्र तदेतद्-इति टीकापाठो भाति। २. 'आत्मनस्तु कामाय' इत्यादिना मैत्रेयीं प्रत्युपदेशात्। वस्तुतस्तु आत्मनोऽन्यभूतपुत्रादेरलीकत्वादेव न तद्विषयः कामः। कुण्डलकामस्यापि हिरण्यं विषयो यथैवं पुत्रादिकामस्यापि विषय आत्मैवेत्यर्थः।

आत्मकामोऽकामः

बाह्ये पुत्रादिके नास्य कामो यस्माद्धि विद्यते। तेनात्मकाममेतत् स्यात् कामाभावादनात्मनि।।६६४।।

अकामं वस्तुतस्तस्मात् कामो नात्मनि विद्यते। अप्राप्ते विषये कामो नित्यप्राप्तेः कथं हि सः।।

आत्मनात्मन एतस्मादाप्तकाममकामकम्।।६६५।।

अशोकः

विद्यते यत्र कामोऽयं सर्वदुःखकरः सदा। स्वरूपे तत्र शोकाद्या जायन्ते तेन तत्र हि।।६६६।।

अकामरूपं केनैतत् शोकवृद्धिर्भविष्यति। अशोकं तत एवैतत् शोकादन्यदितीरितम्।।६६७।।

सर्वाध्यासरहितः

अस्मिन् सुप्ते परे लोके ह्यतिच्छन्दःस्वरूपिणि। विध्वस्तपापसंघाते सर्वदा भयवर्जिते।।६६८।।

कथम् उक्तविधाप्तकामत्वेन आत्मकामत्वम्? इत्याकांक्षायामाह—बाह्य इति। यतः पुत्रादौ कल्पिते कामो न अस्ति इत्यतोऽनात्मनि कामाभावः सिद्धः। ततश्च परिशेषाद् एतद् रूपम् आत्मकामम् आत्मैव कामः काम्यमानो यत्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः।।६६४।। अकाममिति। तस्माद् आत्मकामत्वाद् एतद् रूपम् अकामं भवति। यतो वस्तुतः आत्मनि कामः कामना न विद्यते। कामो हि अप्राप्ते विषये भवति, आत्मनः तु आत्मना स्वभावेन नित्यप्राप्तेः सदा प्राप्तत्वात् सः कामः आत्मनि कथं स्यात् सम्भवेत्? एतस्माद् हेतोः आत्मकामं रूपम् अकामकम् उक्तमित्यर्थः।।६६५।।

शोकान्तरपदार्थमाह—विद्यत इति द्वाभ्याम् यत्र स्वरूपे सर्वदुःखबीजभूतः कामो विद्यते तत्र तेन कामेन प्रयुक्ताः शोकविषादादयो दुःखभेदे [०दा] जायन्ते। तत्र सुप्त्यादौ गम्यमात्मरूपं तु यतोऽकामं भवति ततः शोकादिवृद्धिः कथं स्याद् इत्याशयेन शोकादन्यद्—इत्यर्थकेन शोकान्तरपदेन एतद् रूपम् अशोकम् इत्युक्तमिति द्वयोरर्थः। श्रुतौ शोकपदम् अर्शआद्यजन्तमिति भावः।।६६६-६६७।।

अथोक्तस्य रूपस्य सर्वाध्यास्यविमुक्तत्वप्रतिपादिकाया द्वाविंशतितम्याः कण्डिकाया[1] अर्थं पूर्वकण्डिकार्थानुवाद-पूर्वकमाह—अस्मिन्निति षोडशभिः। अस्मिन् सुप्ते सुप्तिगम्ये स्वरूपे परमलोकत्वाद्यशोकत्वान्तविशेषणतया वर्णिते

कहा गया है।।६६४।। इसीलिये यह रूप अकाम भी है। वास्तविक दृष्टि से आत्मामें (आत्मविषयक) कामना नहीं होती। जो विषय मिला हुआ न हो उसी की कामना हुआ करती है। आत्मा तो स्वभाव से ही हमेशा मिला हुआ ही है तो उसकी कामना कैसे हो? इसलिये आप्तकाम-आत्मकाम रूप ही अकाम है।।६६५।।

सब दुःखों का बीजभूत काम जिस स्वरूपमें रहता है उसी में कामना से शोक, विषाद आदि विविध दुःख होते हैं। सुषुप्ति व मोक्ष में विद्यमान आत्मरूप अकाम है तो वहाँ शोक की बढोतरी क्योंकर होगी! इसी से 'शोक से अन्य' इस अर्थवाले शोकान्तर-पद से यह आत्मरूप अशोक कहा गया है।।६६६-६६७।।

श्रुति में बताया है कि आत्मस्वरूप सब अध्यासों से रहित है, अतः पिता, माता आदि सभी अध्यास वहाँ हैं नहीं। इसी को पुराणकार समझाते हैं : सुषुप्ति के उदाहरण से जिसे समझना चाहिये वह परम लोक अतिच्छंदा है, पापों से अस्पृष्ट है, हमेशा निर्भय है, उसका स्वरूप कुछ-कुछ वैसा आनंद है जैसा हे जनक! रानी के आलिंगन में पड़कर तुम्हें प्राप्त होता है, अंदर-बाहर स्थित सभी के बारे में किसी भी विशेष ज्ञान से रहित वह रूप है, आप्तकाम है, आत्मकाम है, निष्काम है और शोकादि से शून्य है। इस रूप में वह बाप नहीं रह जाता जो स्थूल शरीर का उत्पादक है। माँ भी

१. 'अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणः तापसोऽतापसः अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन, तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति।।२२।।'

महिष्या वा परिष्वङ्गसमानानन्दभाजिनि। अन्तर्बहिः स्थिताशेषविशेषज्ञानवर्जिते।। आप्तात्मकामे निष्कामे शोकादिपरिवर्जिते।।६९९।।

स्थूलदेहस्य जनको जनको न भवेदयम्। जननी नैव जननी कुतो वध्वादयो हि ते।।७००।।

विषयाः सेन्द्रिया नैव भवेयुः स्वात्मरूपतः। देवा अग्न्यादयो नैव ये वागाद्यधिदेवताः।। वेदा ऋगादयो नैव सुप्तौ वेदा भवन्ति ते।।७०१।।

ममाध्यासा न केऽप्यत्र विद्यन्ते जनकादिषु। यथा तथाऽहमोऽध्यासा न सुप्ते सन्ति केचन।।७०२

स्तेनः सुवर्णस्य पुमानथवाऽन्यस्य वस्तुनः। न स्तेनः सुप्तिकाले स्यात् स्वप्रकाशसुखात्मकः।।७०३।।

भ्रूणो यज्ञ इति प्रोक्तस्तस्य कृद् भ्रूण उच्यते। द्विजोत्तमोऽथवा गर्भस्तद्योग्यो भ्रूण ईरितः। तस्य भ्रूणस्य हन्ता स्याद् भ्रूणहत्याविवर्जितः।।७०४।।

स्थूलदेहस्य जनकोऽजनको भवति इति एवं द्वयोः तृतीयादिभिः सम्बन्धः। आप्तात्मकामे आप्तकामे आत्मकामे चेत्यर्थः।।६९८-६९९।। स्थूलेति। वर्णिते स्वरूपे स्थूलदेहस्य जननव्यापारेण यो जनकः पिता सोऽपिता भवति, उक्तस्वरूपस्य स्थूलशरीरसम्बन्धप्रयोजकाविद्याकामकर्मातीतत्वात्। एवं जनन्यादावपि योज्यम्। यदा षाट्कौशिकस्य स्थूलशरीरस्य उपादानभूतावयवकत्वेन अन्तरङ्गयोः मातापित्रोः सम्बन्धत्यागः तदा बहिरङ्गसम्बन्धवतां जायादीनां सम्बन्धत्यागः किमु वाच्य इत्याह—कुत इत्यादिना।।७००।।

अथ सूक्ष्मदेहसम्बद्धानां सम्बन्धत्यागमाह—विषया इति। कर्मव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या च लोकपदेनोक्ता विषयाः शब्दादयः सेन्द्रिया इन्द्रियैः सहिताः तत्र स्वरूपे स्वात्मरूपतः स्वकीयेन विषयत्वादिरूपेण न भवेयुः। तथा ये वागादीनामधिदैवता अभिमानिनोऽग्न्याद्या देवाः ते सुप्तावदेवा भवन्ति। तथा प्रमातृरूपेण सम्बद्धा वेदाः प्रमाणराजा अवेदा भवन्ति, तन्निरूपकसूक्ष्मशरीरसम्बन्धातिक्रमादिति भावः।।७०१।। 'अवेदा' इत्यन्तेन ग्रन्थेन ममत्वेन येऽध्यस्यन्ते आरोप्यन्ते पित्रादयः तेषामभाव उक्तः। 'स्तेन' इत्यादिग्रन्थेन तु 'स्तेनोऽस्मि' इत्यादिरूपेण अहमित्याकारेण येऽध्यस्यन्ते तेषामभाव उच्यते इत्याह—ममाध्यासा इति। स्पष्टम्।।७०२।। स्तेनत्वाभिमानाभावं दर्शयति—स्तेन इति। सुवर्णस्य अन्यस्य वस्तुनः पश्वादेः वा यः स्तेनः चौरः स सुप्तौ स्वप्रकाशसुखरूपत्वाद् अस्तेनः स्तेनत्वाभिमानहीनो भवतीत्यर्थः।।७०३।। भ्रूण इति। भ्रूणशब्दो यज्ञस्य तत्कर्तुश्च वाचकः। अत एव यागस्थवैश्यक्षत्रिययोः वधे ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तमुक्तं स्मृताविति भावः। तथा द्विजोत्तमः अपि भ्रूणः। तथा च विश्वः 'अथ भ्रूणो गर्भिण्यां श्रोत्रियद्विजे' इति। तथा तद्योग्यो द्विजोत्तमत्वयोग्यो गर्भः अपि भ्रूणः। अत एव स्मृतावुक्तं 'गर्भेऽविज्ञाते ब्रह्महा' ( ) इति। एवंविधभ्रूणस्य हन्ता महापातक्यपि सुप्तौ तत्पातकवर्जितो भवतीत्यर्थः।।७०४।।

वहाँ माँ नहीं रहती तो पत्नी आदि के नहीं रहने का कहना ही क्या!।।६९८-७००।। उस आत्मरूप में इंद्रियों समेत विषय अपने विषयत्वादि रूप से नहीं रह जाते। वाणी आदि के अभिमानी अग्नि आदि देवता और ऋगादि वेद वहाँ नहीं रह जाते।।७०१।। सुषुप्तिगम्य उस रूपमें जैसे पितादि के प्रति ममकार का कोई अध्यास नहीं वैसे ही अहंकाराध्यास भी कोई नहीं है।।७०२।। स्वर्ण का या चाहे जिस चीज़ का चोर सुषुप्ति दशा में चोर नहीं रह जाता, केवल स्वप्रकाश सुख रहता है।।७०३।। भ्रूण कहते हैं यज्ञ और यज्ञ करने वाले को। अथवा ब्राह्मण भी भ्रूण कहलाता है। यज्ञकर्ता या ब्राह्मण की हत्या करने वाला भ्रूणहा कहलाता है । गर्भ तो भ्रूण का मुख्य अर्थ है ही, गर्भ नष्ट करने वाला भ्रूणहत्यारा है, महापापी है। सुषुप्ति में वह भी भ्रूणघाती नहीं रहता। (अर्थात् तब उसे यह अभिमान नहीं रहता कि मैं भ्रूणहत्यारा हूँ।)।।७०४।। शूद्र पिता व ब्राह्मणी माँ की सन्तान चण्डाल या चाण्डाल कहलाती है। सुषुप्तिगम्य आत्मरूपमें वह भी चाण्डाल नहीं होता।।७०५।। शूद्र पिता और क्षत्रिया माता की संतान पुल्कस कहलाती है। आत्मरूप

ब्राह्मण्यां शूद्रतो जातश्चण्डाल इति कथ्यते। चण्डाल एव चाण्डालः सोऽचण्डालो भवेदिह।।७०५।।

क्षत्रियायां हि यो जातः शूद्रात्तं पुल्कसं विदुः। कश्चिज्जातिविशेषो वा पुल्कसोऽपुल्कसो भवेत्।।
पुल्कसः पौल्कसो ज्ञेयो नापरः कश्चिदेव सः।।७०६।।

श्रमणो यतिरुद्दिष्टो भवेदश्रमणो हि सः। तापसोऽत्र वनी प्रोक्तः सुप्तौ स स्यादतापसः।।७०७।।

बहुना किमिहोक्तेन सुप्तौ कश्चन नास्त्यसौ। अध्यासो ममतायाः स्याद् यो वा स्यादहमोऽपि
च।।७०८।।

अहंममधिया हीनो हृदाकाशात्मतां गतः। असङ्गः पुण्यपापाभ्यां हार्दान् शोकांस्तरत्ययम्।।७०९।।

स्वप्ने जागरणे नित्यं शोकान् हृदयसंश्रितान्। पुत्रादीष्टवियोगेन संजातान् बहुभेदतः।।७१०।।

अनिष्टस्यापि योगेन जातान् कोटिसहस्रकान्। जानन् को नाम लोकेऽस्मिन् स्वप्ने जागरणेऽपि
वा।। हार्दान् शोकांस्तरेदेष दुःसहानग्निसंभवान्।।७११।

अतो विशेषविज्ञानरहितः सुप्तिमागतः। तीर्णो भवति शोकाब्धीन् हार्दान् नानाविधानपि।।७१२।।

न केवलमागन्तुकैः पापैः सुप्तौ मुक्तो भवति किन्त्वधमजात्यारम्भकैरपीत्याह—ब्राह्मण्यामिति। पूर्वार्द्धेन चण्डाललक्षणमुक्तम्। तृतीयपादेन प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोणिति दर्शितम्। चतुर्थेन तज्जातिसम्बन्धाभावोक्तिरिति।।७०५।। क्षत्रियायामिति। एवं क्षत्रियायां मातरि शूद्रात् पितुः यो जातः स पुल्कसः। अथ वा कश्चिद् अन्यः अधमजातिविशेषः पुल्कसः। स सुप्तौ अपुल्कसो भवति। श्रुतौ तु स्वार्थिकाणन्तत्वेन पौल्कस इत्युक्तमित्यर्थः।।७०६।।

एवमाश्रमसम्बन्धाभावबोधनाय श्रुत्या श्रमण-तापसपदाभ्यां यतिवानप्रस्थावनूद्य तदभावः सुप्तावुक्त इत्याह—श्रमण इति। उद्दिष्ट उक्तः। स सुप्तः।।७०७।। उक्तानां सर्वाध्यासोपलक्षणतामाह—बहुनेति। ममताया अहमो वा अवगाही अध्यासः कोऽपि अत्र सुप्तिगते स्वरूपे नास्ति इत्यन्वयः।।७०८।।

'अनन्वागतम्' इत्यादेः कण्डिकाशेषस्यार्थं वदन्नुक्तार्थे हेतुतयाऽविद्याकामकर्मणामभावमाह—अहमिति। हार्दान् काममूलत्वेन हृदयस्य अन्तःकरणस्य धर्मान् शोकान् अयं सुप्तः तरति अतिक्रामतीत्यर्थः।।७०९।। जाग्रत्स्वप्नयोस्त्वविद्याकामकर्मसम्बन्धाद् न शोकतरणमिति व्यतिरेकमाह— स्वप्न इति द्वाभ्याम्। इष्टानिष्टवियोगयोगाभ्यां जातान् अग्निजतापवद् दुःसहान् हार्दान् शोकान् स्वप्नजागरणयोः अनुभवन् कथं तरेद्—इति द्वयोः सम्बन्धः।।७१०-७११।। फलितमाह—अत इति। स्पष्टम्।।७१२।।

में कोई पुल्कस भी नहीं है। उक्त संकर से अन्य भी पुल्कस नामक जाति है। पुल्कस केलिये ही पौल्कस शब्द प्रचलित है। आत्मरूप में कोई जाति वाला नहीं है।।७०६।। श्रमण अर्थात् संन्यासी और तापस अर्थात् वानप्रस्थ भी सुषुप्तिगम्य आत्मरूप में न संन्यासी होता है न वानप्रस्थी।।७०७।। बहुत कहने से क्या लाभ! सुषुप्तिगत स्वरूप में ममता-अहंता को विषय करने वाला कोई अध्यास नहीं रह जाता। (अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न में हमें 'मैं अमुक हूँ'-'मेरा अमुक है' यों मैं-मेरा के अभिमान होते हैं, जो सुषुप्ति में नहीं रह जाते। मोक्षमें ये अभिमान हमेशा केलिये मिट जाते हैं। परमार्थ आत्मरूपमें ये अभिमान तीनों कालों में नहीं हैं।)।।७०८।। हृदयाकाशरूप आत्मा अहंकार-ममकार से रहित होता है, आसक्ति व कर्मों से रहित होता है और अतंःकरण के धर्मभूत शोकादि लाँघ जाता है।।७०९।। स्वप्न व जाग्रत् में

सुप्तौ विशेषज्ञानाभावः

सुप्तौ विशेषविज्ञानरहितश्चिद्वपुः पुमान्। द्वैताभावादिदं सर्वं नावगच्छति नान्यथा।।७१३।।

दृष्टौ घ्राणे च रसने वाचि च श्रवणेऽपि च। मनस्यपि त्वगाख्ये च बुद्धौ चिच्छक्तिरस्ति या।।७१४।

इन्द्रियेष्वपरेष्वेषा सर्वदाप्यनपायिनी। नभोवद्वर्तते यस्मात् तस्मान्नाज्ञो न चाप्यसन्।।७१५।।

पश्यन् जिघ्रंश्च रसयन् वदन् शृण्वन् सदैव सः। मन्वानोऽपि स्पृशन् जानन् व्यापारानिन्द्रियान्तरैः।
अपरानपि कुर्वाणो न करोति महेश्वरः।।७१६।।

विषयेन्द्रियसङ्घातराहित्यात् सुप्तिगः पुमान्। द्वैताभावान्न चिद्रूपराहित्यादात्मनः सतः।।७१७।।

अथ आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वेऽपि सुप्तौ विशेषविज्ञानाभावोपपादिकानां त्रयोविंशतितम्यादीनाम् अष्टानां कण्डिकानां[1] तात्पर्यार्थं दर्शयति—सुप्ताविति नवभिः। चिद्वपुः स्वयंप्रकाशोऽयं पुमान् यत् सुप्तौ चाक्षुषादिविशेषविज्ञानरहितो भवति, तद् इत्थमवगन्तव्यम्। 'इत्थं' कथम्? द्वैतस्य विभक्तस्य अभावाद् इदं दृश्यजातं न पश्यति इति। अन्यथा स्वरूपभूतप्रकाशाभावात्तु तथा नावगन्तव्यमित्यर्थः।।७१३।। 'नान्यथा' इत्युक्तं स्फुटयति—दृष्टाविति द्वाभ्याम्। दृष्ट्यादिबुद्ध्यन्तपदार्थेषु चाक्षुषादिवृत्तिषु, पाण्यादीतरेन्द्रियवृत्तिषु च प्रतिबिम्बेन अनुगता या चिच्छक्तिरस्ति सा नभोवत्[2] सर्वदाऽनपायिनी वर्तते तस्मात् स्वरूपभूतायाश्चिच्छक्तेरनपायत्वात् सुप्तावात्मा अज्ञो जडः, असन् अभावप्राप्तो वा न भवतीति द्वयोरर्थः।।७१४-७१५।। विशेषविज्ञानं ह्यात्मन औपाधिकं, तद् उपाधीनामिन्द्रियादीनामभावे न भवतीति दर्शयति—पश्यन्निति द्वाभ्याम्। चक्षुरादिबुद्ध्यन्तैः करणैः दर्शनादिज्ञानान्तान् व्यापारान्, तथा इन्द्रियान्तरैः पाण्यादिभिरादानादिव्यापारान् जाग्रति सङ्घातसत्त्वकाले कुर्वाणः अपि महेश्वरः पुमान् यत् सुप्तिगो न करोति तद् उपाधिभूतविषयेन्द्रियसङ्घातराहित्यप्रयुक्ताद् द्वैताभावाद् एव हेतोः बोध्यं, न तु सतः सद्रूपस्य आत्मनः चिदात्मकरूपस्य राहित्याद् अभावाद्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।७१६-७१७।। सतोऽप्युपाधिविशेषाभावे

हमेशा शोक होते रहते हैं क्योंकि शोक चित्त-धर्म हैं और उन दोनों अवस्थाओं में चित्त से आत्माका तादात्म्य रहता है। पुत्रादि इष्टों के वियोग से और अनिष्टों के संबंध से बहुत तरह के हजारों-करोड़ों असह्य शोक संसार में जाग्रत् व स्वप्न में होते हैं जिनसे लगता है मानो आग तपा रही हो। बिना सुषुप्ति और मोक्ष के इन चित्तप्रयुक्त शोकों को कोई कैसे लाँघ सकता है?।।७१०-७११।। इसलिये सुषुप्तिदशा को प्राप्त होने पर विशेषानुभवों से रहित आत्मा हृदय-संबंधी (अंतःकरणप्रयुक्त) नाना प्रकार के शोकसमुद्र तर जाता है।।७१२।।

चैतन्यस्वरूप आत्मा सुषुप्ति में विशेषविज्ञान वाला इसीलिये नहीं होता कि वहाँ द्वैत है ही नहीं कि इस सब का अवगम हो सके! ऐसा नहीं कि वहाँ स्वरूपभूत ज्ञान ही न होवे!।।७१३।। आँख, नाक, जीभ, वाणी, कान, मन, त्वचा, बुद्धि आदि सभी इंद्रियों में प्रतिबिम्बित होने वाली जो चेतनरूप शक्ति है वह आकाश की तरह हमेशा हर जगह बनी ही रहती है। इसलिये आत्मा सुषुप्ति में न असत् (अभावरूप) और न जड (ज्ञानरहित) हो जाता है।।७१४-७१५।। जाग्रत् में कार्यकरणसंघात रहते आत्मा देखता हुआ, सूँघता हुआ, चखता-बोलता-सुनता हुआ, सोचता-छूता-निश्चय करता हुआ या अन्य इंद्रियों से अन्यान्य कार्य करता हुआ हमेशा रहता है, लेकिन सुषिप्ति में वह यह सब कुछ नहीं करता क्योंकि विषय-इंद्रियसंघात न रहने से वहाँ द्वैत नहीं होता। ऐसा नहीं कि वहाँ सच्चिद्रूप आत्मा ही न होता हो!।।७१६-७१७।। (व्याख्येय श्रुति में अनेक व्यापारों के उल्लेख से कहा है कि आत्मरूप ज्ञान रहते ही सुषुप्ति में

---

१. 'यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन् वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्।।२३।। ...जिघ्रति...।।२४।। ...रसयते...।।२५।। ...वदति...।।२६।। ...शृणोति...।।२७।। ...मनुते...।।२८।। ...स्पृशति...।।२९।। ...विजानाति...।।३०।।' इति समानार्थकण्डिकाष्टकम्।

२. घटाद्याकाशसदसद्भावाभ्यामाकाशेऽविशेषवदविशेष आत्मनीत्यर्थः।।

विद्यमानो यथा वह्निर्दाहपाकप्रकाशकृत्। भस्मच्छन्नो न तत् कुर्याद् आत्मैवं सुप्तिगः सदा।।७१८।।

यथा वह्नेः प्रकाशस्य विनाशो नैव विद्यते। द्रष्टुर्दृष्टेस्तथैव स्याद् विनाशो न कदाचन।।७१९।।

भावानां यत् स्वरूपं स्याद् न नश्येद् भावसंस्थितौ। तत् कदाचिद् यथा वह्नेरनाशे नास्ति कर्हिचित्।। उष्णप्रकाशरूपस्य नाशो हेतुशतैरपि।।७२०।।

ततो द्रष्टुरनाशे न दृष्टेर्नाशोऽत्र विद्यते। न च द्रष्टुर्विनाशोऽस्ति ह्यविनाशित्वहेतुतः।।७२१।।

आत्माऽविनाशी

भवेद् द्रष्टुर्विनाशश्चेत् स किं कारणतो भवेत्। कारणाभावतो वापि द्वेधाऽप्येष न संभवेत्।।७२२

आत्मनो व्यतिरिक्तस्य सत्ता नाशस्य केन सा। नाशहेतोः कथं नाम सैषा स्याददतिदुर्भणा।।७२३।।

विशेषकार्याऽकरणं दृष्टान्तेन स्फुटयति—विद्यमान इति। यथा इन्धनसंनिधौ दाहादिकरोऽपि वह्निः तदभावे न करोति, तथाऽऽत्मा सुप्तिगत इत्यर्थः।।७१८।। स्वयंप्रकाशरूपस्य तु न कदाचिद् विनाश इत्याह—यथेति। यथा वह्नेः स्वरूपभूतस्य प्रकाशस्य तेजःसामान्यात्मकस्य इन्धननाशेऽपि न नाशः तथा द्रष्टुः स्वरूपभूतायाः दृष्टेः न कदाचिन्नाश इत्यर्थः।।७१९।। तत्र हेतुमात्मनो द्रष्टुरविनाशितां सदृष्टान्तमुपपादयति—भावानामिति द्वाभ्याम्। सर्वेषां भावानां यत् स्वरूपं तत् स्वरूपिणो भावस्य सम्यक् स्थितौ सत्यां न नश्येत्, यथा वह्नेः नाश एव तद्रूपनाश इत्यर्थः।।७२०।। तत इति। तत उक्तव्याप्तेः द्रष्टुरनाशे नाशाऽभावे सति तत्स्वरूपभूतायाः दृष्टेर्नाशो न विद्यते न संभवति। द्रष्टुः तु विनाशो नास्ति, अविनाशिशीलत्वादित्यर्थः। तथा चैवं श्रुत्यक्षरार्थः—'यद्वैतत्' तत्र सुप्तौ पुरुषो 'न पश्यती'ति मन्यसे, न तथा मन्तव्यं, यतः 'तत्' तत्र 'पश्यन्नेव न पश्यति' तत्र विभक्तद्वैताभावाद् न पश्यतीत्युच्यते, स्वरूपप्रकाशसत्त्वात्तु पश्यन्नित्युच्यते—इति। एवं घ्राणादिवाक्येष्वपीति।।७२१।।

श्रुत्युक्तमात्मनोऽविनाशित्वम् उपपत्त्या विशदयति—भवेदिति सप्तत्रिंशच्छ्लोकैः। यो वादी आत्मनोऽपि विनाशो भवेद् इति मन्यते, स प्रष्टव्यः—किमात्मनो नाशः कारणजन्यः, कारणहीनो[1]वा। नोभयथापि संभवतीत्यर्थः।।७२२।।

तत्र कारणजन्यनाशपक्षं दूषयति—आत्मन इति षोडशभिः। कारणजन्यो नाश इति पक्षेऽपि विचारणीयम्—किं स नाश आत्मभिन्नः, आत्मरूपो वा। अन्त्ये; नाममात्रे विवादः। आद्ये; सद्रूपाद् आत्मनो भिन्नस्य नाशस्य तत्कारणस्य च सा प्रसिद्धा सत्ता केन मानेन स्यात्? सद्भिन्नस्य असत्त्वात्। प्रमाणं न कारकमिति वक्ष्यतीति भावः।।७२३।।

इंद्रियप्रयुक्त चेष्टायें नहीं होतीं। इन्द्रियों का जो प्रयोक्ता है उसके स्वरूपभूत ज्ञान का कभी लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। सुषुप्ति में तो आत्मा से अलग हुआ कुछ और है ही नहीं जिसे आत्मा प्रकाशित करे।) दाह-पाक-प्रकाश करने में समर्थ आग राख से ढकी हो तो दाहादि नहीं करती लेकिन रहती विद्यमान ही है, ऐसे सुषुप्ति में गया आत्मा भी रहता तो हमेशा है।।७१८।। जैसे आगका स्वरूप ही है प्रकाश जिसका कभी विनाश नहीं होता वैसे द्रष्टा (ज्ञाता) का स्वरूप ही है दृष्टि (ज्ञान) जिसका विनाश कभी नहीं होता।।७१९।। पदार्थों के रहते उनका जो स्वरूप होता है उसका कभी नाश नहीं, जैसे वह्नि के रहते उसके जो स्वरूप गर्मी व प्रकाश उनका सैकड़ों कारणों से किसी तरह नाश नहीं होता। इसलिये द्रष्टा का नाश हुए बिना उसकी स्वरूप होने से दृष्टि का नाश नहीं होता और अविनाशी होने से द्रष्टा का कभी नाश होता नहीं।।७२०-७२१।।

---

१. अस्य दोषं श्लो. ७३९ तमे वक्ष्यति।

स्वसजातिविजात्युत्थसर्वभेदविवर्जितः। अयमात्मा कथं तस्मादन्यो नाशः प्रसिद्ध्यति।।७२४।।

कथंतरां च नाशस्य कारणं यच्च दुर्भणम्। कथंतमां भवेन्मानमेतयोरात्मभेदिनोः।।७२५।।

अपि नाशो भवेद्भावो यद्यसौ स घटोपमः। स्वयं नाशी कथं चास्य नाशं कुर्यादसन् स्वयम्।।७२६

आत्मना सदृशो नाशो भवेच्चेन्न भवेद्धि सः। चेतनत्वेन सादृश्यान्नात्मानं नाशयेदयम्।।७२७।।

किं च कस्यापि पदार्थस्य आत्मभेदो न संभवति, आत्मनो वस्तुपरिच्छेदहीनत्वादित्याह—स्वसजातीति। स्पष्टम्।।७२४।। कथंतरामिति। यदा नाशस्य एव सत्ता दुर्लभा तदा तेन नाशेन कार्येण अनुमेयस्य तत्कारणस्य सत्ता कथंतरां भवेत्, सुतरां दुर्लभेत्यर्थः। तथा एतयोः नाशतत्कारणयोः आत्मभेदिनोः आत्मभेदाद् असद्भावं गतयोः साधकं मानं कथन्तमां भवेत् तत्साधकमानस्य सत्ता सुतमां दुर्लभेति यावत्। वक्ष्यमाणविधया मानसत्ताया मेयाधीनत्वाद् इति भावः।।७२५।।

किं च स आत्मनाशो भावरूपोऽभावरूपो वा? इति विकल्प्य; तत्राद्यं निरस्यति—अपि नाश इति त्रिभिः। भावत्वपक्षेऽपि स नाशः किं घटवद् अनित्यः, किं वाऽऽत्मवन्नित्यः? इति विकल्प्य; आद्य इदमुच्यते—यद्यसौ नाशः स्वयं भावः सन् घटोपमः घटवदनित्यो भवेत् तदा स नाशः स्वयं विनाशित्वेन असन् असद्रूपः सन्, अस्य आत्मनः सर्वसाक्षितया नित्यस्य नाशं कथं कुर्याद्? इत्यर्थः।।७२६।। आत्मवन्नित्यत्वपक्षं निरस्यति—आत्मनेति। यदि स नाश आत्मना सदृशो भवेत् तदा स नाशो न भवेत् चेतनत्वेन आत्मसादृश्यात्। न हि चेतनश्चेतनस्य नाशरूपो भवति। तथा च अयमात्मानं न नाशयेदित्यर्थः।।७२७।। किं च साम्यपक्षे, आत्मैव तं कुतो न नाशयेदित्याह—वैपरीत्येति।

आत्मा का नाश नहीं होता यह केवल शास्त्रानुसार ही नहीं मानना, उपपत्ति से भी यही सिद्ध है। द्रष्टा आत्मा का यदि नाश हो तो वह क्या किसी कारण से होगा या बिना कारण ही हो जायेगा? दोनों ही हालतों में होना नहीं है!।।७२२।।

यदि माना जाये कि किसी कारण से आत्मा का नाश होता है तो भी विचारणीय है कि वह नाश आत्मा से अन्य है या आत्मा ही है। यदि कहो कि नाश आत्मा है तब तो केवल नाम का मतभेद है क्योंकि आत्मा तो रह ही गया! यदि नाश और उसका हेतु आत्मा से अन्य हैं तो उनकी सत्ता किस प्रमाण से सिद्ध होगी? आत्मा सद्रूप है, उससे भिन्न हो तो नाश व उसका हेतु असत् होंगे और असत् की सत्ता किसी प्रमाण से सिद्ध होती नहीं। अतः आत्मभिन्न नाश व उसके हेतु का होना कहा ही नहीं जा सकता।।७२३।।

किं च आत्मा स्वगत, सजातीय, विजातीय, सभी भेदों से रहित है तो नाश उससे भिन्न है यह बात कैसे सिद्ध हो सकती है?।।७२४।। जब नाश की ही सत्ता सिद्ध नहीं हो पा रही है तब नाशरूप कार्य से अनुमेय जो उसका कारण उसकी सिद्धि और भी दुर्लभ होनी ही है। और आत्मा से भिन्न होने से असद्रूप इन नाश और उसके कारण का साधक कोई प्रमाण हो सके यह और भी असंभव है।।७२५।।

यह भी विचारणीय है कि आत्मनाश भावरूप है या अभावरूप? यदि कहो वह भावरूप है तब तो घट की तरह अनित्य होगा और जब वह नाश स्वयं ही विनाशी होने से असत् होगा तब सर्वसाक्षी अतः नित्य इस आत्मा का नाश कैसे करेगा?।।७२६।। यदि भावरूप होने से नाश आत्मा की तरह नित्य हो—न कि घट की तरह नश्वर—तब उसे 'नाश' कहना ही ठीक नहीं क्योंकि वह आत्मा की तरह चेतन ही होगा और चेतन को चेतन का नाश नहीं कह सकते।।७२७।। किं च नाश को आत्मतुल्य मानने पर यों विपरीत ही मान लिया जाये तो किस युक्ति से मना किया जा सकता है कि चेतन होने से आत्मा ही नाश का नाश है?।।७२८।। इस तरह आत्मनाश भावरूप नहीं हो सकता।

वैपरीत्यप्रसङ्गं च को वा तत्र निवारयेत्। आत्मना नाशनाशाख्यं चेतनत्वेन हेतुना।।७२८।।

अभावत्वं च कस्य स्याद् अस्येत्येतद् विविच्यताम्। आत्मनो व्यतिरिक्तस्य यद्ययं त्वात्मनोऽत्र किम्। घटाभावेन नैव स्याद् विशेषः कोऽपि वै पटे।।७२९।।

आत्मनश्चेत्तदर्थं स्यान्नाशान्तरगवेषणम्। नात्मनीदं न दृष्टो यद् घटाभावो घटे सति।।७३०।।

प्रागभावादयोऽभावा नाऽयं नाशः कथंचन। तत्त्वे नैवात्मनो नाशः संभवेदस्य योगतः।।७३१।।

तत्र साम्यपक्षे आत्मना एव नाशस्य नाशः कुतो न भवेद्—इत्याकारकं वैपरीत्यप्रसङ्गं को वारयेत्? कीदृशं वैपरीत्यम्? चेतनत्वेन हेतुना विनिगमनाभावद्वारा प्रयुक्तमित्यर्थः।।७२८।।

अथ अभावत्वपक्षं दूषयन्; किमयम् अभावोऽनात्मप्रतियोगिकः, आत्मप्रतियोगिको वा? इति विकल्प्य; आद्ये काऽऽत्मनः क्षतिरित्याह—अभावत्वमिति। अस्य नाशस्य अभावत्वं कस्य स्यात्—किंनिरूपितं स्यात्? यद्यात्मभिन्ननिरूपितं, तदा अत्र आत्मव्यतिरिक्ताभावे सति आत्मनः किं हीनम्? न हि घटस्याऽभावेन पटे कश्चिद् विशेषः हानिसूचको भवतीत्यर्थः।।७२९।।

आत्मप्रतियोगिक इति पक्षं निरस्यति—आत्मन इति। अत्र पक्षेऽपि आत्मा किमेकः किं वाऽनेकः? आद्ये, नाशस्यापि स एवात्मेति नाशः कथमात्मना विरुद्ध्येत? अन्त्ये, नाशेनाऽन्येषामात्मनाम् अपहारेऽपि स्वात्मा नापहृत इत्यतस्तदर्थं नाशस्वरूपभूतात्मनोऽपहारार्थं नाशान्तरस्य गवेषणम् अन्वेषणम् अपेक्षेति यावत्, सा स्यात्, तथा च नाशात्मनाम् उत्तरोत्तरं नाशकल्पनादनवस्थेति भावः। यदि चोत्तरोत्तरं नाशो न कल्प्येत, तदाऽऽत्मनाशो न स्यात्, सामान्याऽभावो यावद्विशेषविरोधीति न्यायविरोधादित्याह—नात्मनीदमिति। इदम् आत्मनाश इति प्रतिज्ञातम् आत्मनि यस्मिन् कस्मिन्नपि सति विद्यमाने न स्याद्, यथैकत्रापि घटे सति घटसामान्याभावो न व्यवह्रियत इत्यर्थः।।७३०।।

एवं सामान्यतोऽभावतां निरस्य विशेषतो निरस्यति—प्रागभावादय इति सप्तभिः। अयम् आत्मनाशः प्रागभावादिरूपो न भवति, यतः तत्त्वे प्रागभावादिरूपत्वे सति अस्य नाशस्य योगेन आत्मनो नाशरूपा काचित् क्षतिः न भवतीत्यर्थः।।७३१।।

यदि उसे अभाव ही मान लिया जाये तो क्या वह अनात्मा का होगा या आत्मा का? यदि अनात्मा का अर्थात् आत्मा से भिन्न का वह अभाव हो तो उससे आत्मा की क्या हानि है! घट का अभाव होने से कपड़े में कोई अंतर नहीं आता।।७२९।।

यदि नाश को आत्मा का अभाव कहो तो आत्मा क्या एक है या अनेक? यदि आत्मा एक हो तो नाश का भी वही आत्मा होगा और अपने ही आत्मा से नाश का विरोध हो नहीं सकता। यदि अनेक आत्मा हों तब नाश से अन्य आत्मा मिट जाने पर भी उसका (नाशका) अपना आत्मा तो मिटेगा नहीं और उसे मिटाने केलिये कोई और नाश खोजना पड़ेगा जिससे अनवस्था स्पष्ट है। जब तक कोई भी—चाहे नाशका ही—आत्मा रहेगा तब तक 'आत्मा का नाश हो गया' ऐसा नहीं कह सकते जैसे घट रहते घटनाश हो गया नहीं कहते। (सामान्याभाव तभी होता है जब सभी विशेष न रहें। उससे पूर्व तत्तद् घट का ही नाश कह सकते हैं। ऐसे ही तत्तद् आत्मा के नाश की चर्चा भले ही हो, आत्मनाश की नहीं हो सकती। और तत्तद् आत्मा परस्पर प्रकाश्य हों, न हों दोनों हालतों में असिद्ध होंगे यह स्वप्रकाशवाद में कह आये हैं। एवं च आत्मनाश संभव नहीं।)।।७३०।।

प्रागभावो यदा नाशस्तदाऽऽत्मा वर्तते न च। वर्तमाने स्वरूपे स्याद् नाशनाशो बलादिह।। आत्मा न वर्तते चेत् स नाशस्तस्य भवेन्न च।।७३२।।

प्रागभावो न कस्यापि भावस्याऽत्र विनाशकः। किन्तु भावेन नाश्योऽयं सर्वदोत्पत्तिकारणम्।।७३३।।

अपि जन्मवतां दृष्टः प्रागभावो मनीषिभिः। आत्मनो जन्मशून्यस्य कथमेवं भविष्यति। न च नाशोऽस्ति संसिद्धो जन्म येन प्रकल्प्यते।।७३४।।

अन्योन्याभावरूपश्चेद् नाशः स्यान्नात्मनो हि सः। आश्रयेऽसति नैवायं स्वयं तिष्ठति कर्हिचित्।।७३५।।

तत्र प्रागभावरूपत्वे हान्यसंभवं वर्णयति—प्रागभाव इति त्रिभिः। नाशस्य प्रागभावरूपताऽभ्युपगमे एवं वादी प्रष्टव्यः। 'एवं' कथम्? प्रागभावकाले किमात्मस्वरूपं वर्तते न वेति। आद्ये, आत्मस्वरूपमेव स्वनाशं प्रतिक्षेप्स्यति। अन्त्ये, परोक्षगालिदानवद् नाशः किमात्मनोऽपकरिष्यति, आत्मना समं सम्बन्धाभावात्, सतोरेव सम्बन्धार्हत्वादित्यर्थः।।७३२।। किं च उत्पादकस्वभावस्य प्रागभावस्य नाशरूपता वक्तुमयुक्तेत्याह—प्रागभावो नेति। स्पष्टम्।।७३३।। किं च जन्मव्याप्यः प्रागभाव आत्मन्यजे कथमुच्येत? न 'ध्रुवं जन्म मृतस्य चे'ति न्यायेन नाशं दृष्ट्वा जन्मापि कल्प्यम्; नाशस्य प्रमाणसिद्धत्वाभावात्। न हि सन्दिग्धेन पीनत्वेन रात्रिभोजनं कल्प्यते। इत्याह—अपि जन्मवतामिति।।७३४।।

अन्योन्याभावरूपतां निराकरोति—अन्योन्येति। यदि नाशोऽन्योन्याभावरूपः तदा स नाश आत्मनो विरोधी न स्यात्। तत्र हेतुम् आत्मनस्तदाश्रयत्वमाह—आश्रय इति। यथा घटपटयोरन्योन्याभावः प्रतियोग्यनुयोग्याश्रितो घटपटयोराश्रययोरभावे न तिष्ठेत्, तथा आत्मनि आश्रये असति अविद्यमाने सति स न तिष्ठेदित्यर्थः।।७३५।।

किं च यह आत्मनाश प्रागभावादिरूप नहीं होगा क्योंकि तब इससे आत्मा की कोई हानि नहीं होगी।।७३१।।

आत्मनाश यदि प्रागभावरूप है तब कहो कि प्रागभावकालमें आत्मा होता है या नहीं? यदि होता है तब तो नाश का ही नाश होना पड़ेगा (क्योंकि प्रतियोगी अपने प्रागभाव को नष्ट करता ही है)! यदि कहो कि तब आत्मा नहीं होता तब वह प्रागभावरूप नाश आत्मा'का' नहीं कहला सकता क्योंकि दो विद्यमान पदार्थों में आपसी संबंध होता है।।७३२।। प्रागभाव आत्मा तो क्या किसी भी भाववस्तु को नष्ट नहीं करता, वह जब कारण बनता है तो उत्पत्तिका ही कारण बनता है और स्वयं ही अपने प्रतियोगी भावपदार्थ से नष्ट हो जाता है। एवं च स्वभावसे ही जो उत्पादक है उसे नाशरूप कहना ग़लत है।।७३३।। मनीषियों ने निश्चित किया है कि प्रागभाव उसी का होता है जो जन्म वाली वस्तु हो। आत्मा तो जन्मरहित है अतः उसका प्रागभाव होगा कैसे? जन्म की कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि कल्पकभूत नाश आत्मा का होता नहीं। (नाश प्रमाणित होता तो 'जो नष्ट होता है वह जन्मवान् होता है' इस व्याप्ति से आत्मा को जन्म वाला मान सकते थे किंतु नाश प्रमाणित है नहीं।)।।७३४।। इस प्रकार आत्मनाश प्रागभावात्मक नहीं हो सकता।

यदि आत्मनाश को अन्योन्याभाव—अर्थात् भेद-रूप कहो तब वह नाश आत्मा का विरोधी नहीं होगा। अन्योन्याभाव अपने प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में आश्रित रहता है और जब वे आश्रय न हों तो वह अन्योन्याभाव भी रह नहीं जाता। जैसे घड़ा-कपड़ा मौजूद हों तो उनमें परस्पर भेद होगा, जब वे होंगे ही नहीं तो उनमें परस्पर होने वाला भेद रहेगा कहाँ? ऐसे ही आश्रयरूप आत्मा न रहने पर खुद यह अन्योन्याभाव कभी नहीं रह सकता। इस तरह आत्मनाश यदि आत्मभेदरूप हो तो आत्मा की नित्यता का विघातक नहीं होगा।।७३५।।

अत्यन्ताभावरूपत्वे नाशस्यात्मा भवेत् सदा। नरशृङ्गोपमो नाऽयं गम्यते तादृशो नृभिः।।७३६।।

प्रध्वंसत्वे च पूर्वोक्तो दोष आयाति सर्वथा। अपि कोऽपि जगत्यस्मिन् भावादन्यो न विद्यते।।७३७

अभावो हि घटाभावः कपालानीति संस्थितिः। भावत्वे पूर्वमुक्तं यद् दूषणं तत् पतेद्बलात्।।७३८।।

अकारणो न कुत्रापि दृष्टो नाशः कथंचन। कारणेऽपि यथा नाशे विकल्पस्तादृशो भवेत्।। दोषा अपि त एव स्युस्तेनाऽहेतुर्न सिद्ध्यति।।७३९।।

अत्यन्ताभावरूपतां निरस्यति—अत्यन्तेति। नाशस्य अत्यन्ताभावरूपत्वे स्वीकृते, आत्मा नृशृंगवद् असत्त्वेनैव प्रतीयेत। न च तथा प्रतीयते, 'अस्मि' इत्येव सर्वस्य आत्मनो भानादित्यर्थः। अयं भावः—दैशिकपरिच्छेदशून्यस्य आत्मनोऽत्यन्ताऽभावोऽभ्युपगम्यमानः केवलान्वय्येवाभ्युपगन्तव्यः। तथा च केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षणमलीकत्वमापद्येत, तच्चानुभवविरुद्धमिति।।७३६।।

ध्वंसरूपतां निराचष्टे—प्रध्वंसत्व इति द्वाभ्याम्। नाशस्य ध्वंसाभावरूपतायां पूर्वमुक्तो दोषगण आत्मसत्तां विहाय नाशस्य सत्ता दुर्लभेत्यादिकः सर्वो योज्यः। ननु ध्वंसस्याऽभावत्वाद् अभावपक्षोक्तदोषयोजनसम्भवेऽपि कथं भावपक्षोक्तदोषयोजना? इत्याशंक्य; तस्य भावरूपतां 'मही घटत्वं घटतः कपालिका, कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः' (वि.पु.२.१२.४२)'[1] इत्यादिविष्णुपुराणोक्तरीत्याऽस्याऽध्यायस्य सप्तषष्ट्यधिकशतत्रयसंख्यापूरकश्लोकाद्युक्तयुक्त्या च सिद्धां स्मारयति—अपि कोऽपीति। अपि च कोऽपि अभावो भावभिन्नो न अस्ति। यथा घटध्वंसाभावो घटोपादानकपालात्मक इति संस्थितिः सिद्धान्तः। तथा च नित्याऽनित्यत्वविकल्पेन भावपक्षोक्तदूषणमपि पतत्येवेति द्वयोरर्थः।।७३७-७३८।।

कारणाजन्यनाशपक्षं दूषयति—अकारण इति। अकारणकनाशाभ्युपगमो दृष्टविरुद्धः। तथा नाशे कारणजन्ये स्वीकृते यादृशो विकल्प आत्मभेदाभेदादिकोटिकः कृतो ये च तत्कोटिषु दोषा उक्ताः, ते सर्वेऽत्रापि पक्षे स्युः। तेन उक्तदोषप्रसङ्गेन अहेतुः हेतुना कारणेन शून्यो नाशो न सिद्ध्यति न युज्यत इत्यर्थः।।७३९।।

आत्मनाश अत्यंताभाव हो तो आत्मा हमेशा नरशृंग की तरह विकल्पवृत्तिरूप से ही भासना चाहिये जबकि लोगों को वह उस तरह असत् नहीं लगता वरन् 'हूँ' यों सत् ही लगता है। इसलिये आत्मनाश अत्यंताभावरूप संभव नहीं।।७३६।।

आत्मनाश प्रध्वंसाभावरूप हो तो पूर्वकथित सब तरह के दोष आ जायेंगे।(ध्वंस आत्मा का हो तो आत्मा रहना ही पड़ेगा क्योंकि ध्वंससंबंधी होने के लिये वर्तमानता चाहिये। ध्वंस अनात्मा का हो तो आत्मा को कोई फर्क नहीं पड़ेगा। ध्वंस जन्मवान् का देखा जाता है, आत्मा अजन्मा है अतः उसका ध्वंस हो भी नहीं सकेगा। ध्वंस रहता है कारण में, आत्मा का कारण कोई नहीं तो वह रहेगा कहाँ? इत्यादि दोष समझ लेने चाहिये।) किं च इस संसार में कोई भी अभाव ऐसा नहीं होता जो भावरूप न हो। उदाहरणार्थ घटका ध्वंसरूप अभाव कपालरूप हुआ करता है। इसी तरह आत्मनाश भी कोई-न-कोई भाव ही होगा जिससे पूर्व में जो अभाव की भावरूपता मानने पर दोष दिये थे वे भी सब प्राप्त हो जायेंगे। (अभावकी भावरूपता विष्णुपुराण में स्पष्ट की है : मिट्टी घड़ा बनती है। घड़ा फूटता है तो ठीकरे बचते हैं। उन्हें चूर दें तो फिर धूल बच जाती है। और बिखराव हो तो भी अणु रह जाते हैं। यों अणु या मिट्टी ही लगातार बनी हुई है, यहाँ वास्तविक दृष्टि से जन्म किसे कहा जाये? इसलिये एक विज्ञानरूप आत्मा ही सत्य है जिसे हम नाना तरहों से मानते रहते हैं। हम मल करते हैं तो कहते हैं भोजन नष्ट हुआ और उसी मल को देखकर सुअर कहेगा भोजन पैदा हुआ! एक कोटि का क्या निश्चय किया जाये? कार्य-कारणता जैसे केवल अपनी दृष्टि की अपेक्षा से है उसी तरह भाव-अभाव भी, यह अभिप्राय है।)।।७३७-७३८।।

१. 'जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयैरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु।। तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचिद् कदाचिद् द्विज! वस्तुजातम् विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम्।।४३।।' इति तत्रोत्तरवाक्यमपि द्रष्टव्यम्।

कारणे कारणं चेत्स्याद्धेतौ हेतुपरम्परा। अहेतौ नित्यतैव स्यात् तद्वदात्मस्वरूपता।। आत्मना स्वात्मनाशादि भवेन्नैव कदाचन्।।७४०।।

मेयसत्ताऽपेक्षं प्रमाणम्

अपि मानं हि यन्नाम नाशहेत्वोः प्रकीर्तितम्। तस्याऽसत्त्वे न सिद्धिः स्यान्नाशहेत्वोः कदाचन।७४१

सत्त्वे सत्यपि तन्मानं मेयेऽसत्यपि संभवेत्। विद्यमानेऽथवा नाद्यो मेयहानिप्रसङ्गतः।।७४२।।

सिंहावलोकनन्यायेन कारणजन्यत्वपक्षे दोषान्तरमाह—कारण इति। नाशस्य यत् कारणं तत् कारणजन्यं, तदजन्यं वा? इति विकल्प्य; प्रथमपक्षे दोषः पूर्वार्द्धेनोक्तः। तदर्थस्तु—कारणे कारणजन्यत्वपक्षे हेतौ कारणे कारणं चेद् अभ्युपगम्यते तदा हेतुपरंपरा स्यात्, तथा चानवस्थेति। अन्त्ये दोषमाह—अहेताविति। अहेतौ कारणस्य कारणाऽजन्यत्वे नित्यत्वेन आत्मत्वापत्तिः। तथा च आत्मा स्वस्वरूपनाशे कथं हेतुः स्यादित्यर्थः।।७४०।।

नन्वात्मनाशः पूर्वोक्तयुक्तिबाधितोऽपि 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा विद्युत्, तथा चाऽयमात्मा' इत्याद्यनुमानबलात् सेत्स्यतीति चेद्? न। मानस्य व्यंजकमात्रस्वभावत्वेन अकारकत्वाद् इति दर्शयन् मानस्य मेयसत्तासापेक्षत्वं प्रपञ्चयति—अपि मानमिति अष्टभिः। अपि च यत् त्वया स्वमतप्रसिद्धं मानं नाशहेत्वोः आत्मनाशस्य तद्धेतोश्च साधकतया प्रकीर्तितम्, तस्य मानस्य सिद्धिः प्रमाणत्वलाभरूपा नाशहेत्वोरसत्त्वे सति कदाचन न स्यात्। तस्माद् मानविषयस्य सत्त्वं वक्तव्यम् इति सम्बन्धः।।७४१।। ततः किम्? अत आह—सत्त्वे सत्यपीति। मेयस्य सत्त्वे सत्यपि अङ्गीकृतेऽपि इदं विचारणीयम्। 'इदं' किम्? यत् प्रमाणं स्वप्रवृत्तेः पूर्वम् असति अविद्यमानेऽपि प्रमेये संभवेत् प्रमाणत्वेन व्यवहारार्हं भवेत्? किं वा विद्यमान एव? तत्र प्रथमः पक्षो न युक्तः, मेयहानिप्रसङ्गतः—मेयं विना प्रमाणत्वलाभे किं मेयेन—इति मेयापलापप्रसङ्गादित्यर्थः।।७४२।। सति चेदिति। विद्यमान एव मेये मानं

श्लोक ७२२ में एक विकल्प रखा था कि नाश कारण से जन्य नहीं होता। उस पक्ष में दोष बताते हैं—पहली बात तो है कि कहीं किसी तरह देखा नहीं गया है कि नाश बिना कारण के हो। कथंचित् स्वीकारें तो भी कारणजन्य नाश मानने पर जितने दोष थे वे इस पक्ष में भी आयेंगे ही। अतः यह पक्ष अत्यन्त असंगत है।।७३६।।

कारणजन्य नाश मानने पर एक और समस्या है : नाश का जो कारण आगे उसका भी कोई कारण होगा, पुनः उसका भी, तो अनवस्था स्पष्ट है। यदि नाश का जो कारण उसका कोई कारण न हो तब तो वह कारण नित्य ही होगा जिससे उसे आत्मा ही मानना पड़ेगा क्योंकि आत्मा नित्य है और आत्मा अपने ही स्वरूप के नाश में हेतु हो यह कभी होगा नहीं। (एवं च कारण शब्द से आत्मा को कहने का प्रसंग होगा, नाम का ही मतभेद रहेगा और नाम में औपनिषदों को कोई आग्रह है नहीं।)।।७४०।।

बौद्ध कह सकता है कि दीपक, बिजली की चमक, बादल आदि दृष्टांतों से निर्धारित होता है कि जो कुछ भी 'है' वह क्षणिक होता है, एक क्षण बाद नहीं रह जाता; आत्मा भी है अतः उसे भी क्षण भर बाद रहना नहीं चाहिये। यों आत्मा का नाश अनुमान से सिद्ध है। इसका जवाब देने के लिये समझना पड़ेगा कि प्रमाण वस्तुस्थिति को अभिव्यक्त करता है, उसमें हेर-फेर नहीं कर सकता। प्रमाण निर्भर करता है प्रमेय की सत्ता पर। इस बात को पुराणकार समझा रहे हैं : नाश और उसके हेतु में जिसे आप प्रमाण कह रहे हैं उसकी सिद्धि तब तक नहीं होगी जब तक नाश और हेतु विद्यमान न हों (क्योंकि विषय न हो तो उसको विषय करता हुआ प्रमाण भी हो नहीं सकता)।।७४१।। प्रमाण केलिये प्रमेय होना ज़रूरी है यह स्वीकारने पर भी यह सोचना चाहिये कि प्रमाण प्रवृत्त हो इससे पहले प्रमेय विद्यमान

सति चेत् स्वबलात्तस्य सत्ता मानबलेन वा। स्वबलेन यदा सा स्याद् मानं तत्र निरर्थकम्।।
बलान्मानस्य चेद् भूयात् सत्ता साऽभाववद्गिरा।।७४३।।

मिथिलायां महाराज्यं वन्ध्यापुत्रः करिष्यति। जनकान्वयसंजातस्त्रीसुतत्वाद्यथा परः।।७४४।।

प्रतिज्ञायां न केऽप्यत्र दोषाः सन्ति कथंचन। वन्ध्यापुत्रश्च नास्त्येव शब्दतो गम्यते यतः।।७४५।।

सत्ता मानबलेनैव यस्मात्सर्वस्य वस्तुनः। वन्ध्यापुत्रवचो मानं बोधकत्वेन हेतुना।।७४६।।

सम्भवति इत्यन्त्यपक्षेऽपि विचारणीयम्—किं प्रमेयस्य सत्ता स्वबलात् प्रमेयस्वभावप्रभावादेव प्रयुक्ता? किं वा मानबलाद् मानस्वभावप्रयुक्तेति? आद्ये, मानं निरर्थकं मानस्य कारकतामिच्छतो मत इति शेषः। व्यंजकत्वेन साफल्यस्य सिद्धान्तसंमतत्वादिति। अन्त्ये दोषमाह—बलान्मानस्येति। यदि मानस्य बलात् सत्ता भवति तर्हि अभाववद्गिरा प्रतिपादकतासम्बन्धेन अभाववत्त्या, तुच्छार्थप्रतिपादिकयेति यावद्, एतादृश्या गिरा वाण्याऽपि सा सत्ता भूयाद् इत्यर्थः।।७४३।।

अभावप्रतिपादिकां गिरम् अनुमानवाक्यविधयाऽभिनयति—मिथिलायामिति। वन्ध्यापुत्रो मिथिलायां वर्तमानः सन् महाराज्यं करिष्यति—इति प्रतिज्ञा। जनकदौहित्रत्वाद्, यथाऽन्यो जनकदौहित्र इत्यर्थः।।७४४।। नन्वस्या गिरः प्रामाण्यमेव नास्ति, कथमनयाऽर्थसत्ताऽऽपाद्यत इति चेत्? शृणु; औत्सर्गिकस्य प्रामाण्यस्य त्रीणि बाधकानि—बाधितार्थत्वम्, अबोधकत्वं, संशयजनकत्वं च। तदुक्तं भट्टैः 'अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः' (श्लो.वा.चो.५४) इति। तत्र प्रमाणस्य कारकतामिच्छतो मते बाधितार्थत्वं न दोषतया वाच्यं, प्रमाणेन सत्यार्थसृष्ट्या तस्य कुत्राप्यसम्भवात्। तस्मात्तन्मते—अबोधकत्वसंशयजनकत्वे एव प्रामाण्याविरोधिनी इति च प्रकृतवाक्ये न स्त इत्याशयेन उक्तवाक्यस्य प्रामाण्यमाह—प्रतिज्ञायामित्यादिना। अत्र वाक्ये, 'साध्यविशिष्टतया धर्मिवचनं प्रतिज्ञा' इति लक्षणलक्षितप्रतिज्ञारूपे पूर्वार्द्धे दोषा निराकांक्षत्वादयो बोधप्रतिबन्धकाः केऽपि न सन्ति। अर्थबाधप्रयोजकाः प्रत्यक्षविरोधादयः प्रतिज्ञादोषा अप्यत्र न सन्ति यतो वन्ध्यापुत्रो ना पुरुषः अस्त्येव, यतः शब्देन गम्यते; तव मानस्य कारकतां वदतो मते बोधकतया प्रमाणभूतेन शब्देन सोऽप्यारब्ध इति यावत्।।७४५।। उक्तमाशयं विशदयति—सत्तेति। यस्मात् त्वन्मते सर्वस्य वस्तुनः सत्ता मानबलेनैव भवति तस्माद् उक्तं वन्ध्यापुत्रप्रतिपादकं वाक्यमपि बोधकत्वेन मानं सद् अर्थसत्तां करोत्विति शेषः।।७४६।। ननूक्तवाक्ये

न होने पर भी क्या उसे प्रमाण माना जा सकता है? या प्रमेय विद्यमान हो तभी प्रमाण मानना संभव है? यदि प्रमेय न रहते भी प्रमाण हो सके तब प्रमेय व्यर्थ ही होने से अमान्य हो जायेगा!।।७४२।। अतः कहना होगा कि प्रमेय विद्यमान रहते ही प्रमाण हो सकता है। किन्तु वह प्रमेय अपने ही बल पर (अर्थात् प्रमाणनिरपेक्ष रहकर) विद्यमान होता है या प्रमाण के बल पर (अर्थात् प्रमेयसत्ता में प्रयोजक होता है प्रमाण)? यदि प्रमेय अपने बल पर विद्यमान है तब प्रमाण निष्प्रयोजन हो जायेगा। (बौद्ध प्रमाण को हमारी तरह व्यंजक तो मानता नहीं बल्कि कारक मानता है क्योंकि ज्ञेयको ज्ञान के अधीन मानता है। यदि ज्ञेय अपनी सत्ता से स्थित हो जाये तो ज्ञान करेगा क्या? इसलिये प्रमेय की स्वतंत्र सत्ता स्वीकारना बौद्ध के लिये संभव नहीं।) यदि प्रमाण के बल पर प्रमेय की सत्ता हो सके तब तो अलीकप्रतिपादक वाक्य से भी प्रमेय विद्यमान होने लगे !।।७४३।। हम कहते हैं 'वंध्यापुत्र मिथिला में महाराज्यसंचालन कर रहा है, क्योंकि जनक के कुल की स्त्री का पुत्र है जैसे जनक के अन्य दौहित्र!' यदि प्रमाणाधीन प्रमेय सत्ता मानो तो हमारे इस अनुमान वाक्य से वंध्यापुत्र यहाँ राज्य भी कर लेगा!।।७४४।।

हमने जो वाक्य अभी सुनाया वह प्रमाण नहीं यह भी बौद्ध कैसे कहेगा? 'बाधित अर्थ को विषय करना'—यह आस्तिकों में प्रसिद्ध दोष वह नहीं दे सकता क्योंकि वह प्रमाण से सत्य अर्थ की सृष्टि मानता है तो इस प्रमाण से ऐसे अर्थ की भी उसे उत्पत्ति ही माननी पड़ेगी। बोध न कराये या संशय कराये तो भी प्रमाण नहीं होता लेकिन उक्त वाक्य संशय नहीं बोध ही करा रहा है। हमने जो प्रतिज्ञा की 'वंध्यापुत्र मिथिला पर राज्य कर रहा है', इसमें कोई दोष किसी भी तरह नहीं है। वन्ध्यापुत्र पुरुष होता ही है क्योंकि शब्द से समझा जा रहा है और तुम मानते हो कि प्रमाण प्रमेय को पैदा कर लेता है तो हमने जब कहा तब वंध्यापुत्र पैदा भी होना चाहिये।।७४५।। तुम्हारे मत में सब वस्तुओं की सत्ता प्रमाण के बल पर हो जाती है अतः वंध्यापुत्र का प्रतिपादक वाक्य जब असंशयरूप बोध करा रहा

अत एव न हेत्वादिदोषः कोऽप्यत्र सम्भवेत्। ततो मेयबलात् सत्ता न मानबलतः क्वचित्।।
अन्यथा मानमेयादि सर्वं स्यादधरोत्तरम्।।७४७।।

न च मेयस्य नाशस्य तद्धेतोर्वा कथंचन। सत्ता दृष्टा ततो मानं निष्फलं नाशहेतुगम्।।७४८।।

आत्मनाशे न प्रमाणम्

अपि मानं भवेन्नात्र प्रत्यक्षं नापरं तथा। आत्मनाऽतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षाभावहेतुतः।।७४९।।

आगमः कोऽपि नैवाऽत्र दृश्यते स्वात्मनाशने। प्रत्यभिज्ञादिमानानि सन्त्यत्र च विपर्यये।।७५०।।

प्रतिज्ञादोषाभावेऽपि आश्रयाऽसिद्धत्वादयो हेतुदोषाः सन्तीत्यप्रामाण्यमिति चेद्? न, त्वन्मते शब्देन आश्रयादेरपि सर्जनादित्याह—अत एवेति।। फलितमाह—तत इति। ततो वन्ध्यापुत्रवाक्यप्रामाण्यापत्तेर्भयात्। अन्यथा मानबलादेव सत्ताङ्गीकारे, अधरोत्तरं विपर्यस्तम्; अलीकवाक्यविरोधेन प्रमाणानामप्रामाण्यप्रसङ्गादिति भावः।।७४७।। उक्तविचारस्य फलं प्रकृते योजयति—न चेति। त्वयाऽऽत्मनाशस्तद्धेतुश्च इत्युभयं मेयं मानगम्यमिष्टम्। तत्तु न सम्भवति। उभयोः सत्ताहीनत्वेन तत्र मानस्य निष्फलत्वात्। मानफलभूताऽभिव्यक्तिर्हि सत एव भवतीत्याशयः।।७४८।।

एवमात्मनाशे मानसंभावनां सामान्यतो निरस्य, विशेषतोऽपि निरस्यति—अपि मानमित्यादिना। अपि च प्रत्यक्षं तदुपजीवकमनुमानादिकं च मानम् आत्मनाशे न सम्भवति, प्रतियोगिन आत्मनोऽतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षाऽयोग्यत्वादित्यर्थः। प्रत्यक्षयोग्यताया व्यापिकाया अभावे व्याप्याया अनुमानादियोग्यताया अप्यभाव इति भावः। न च मन आत्मभासकम्; तस्यात्मभास्यतायाः प्रपञ्चितत्वादिति।।७४९।। अस्तु तर्हि प्रत्यक्षयोग्यताऽनपेक्ष आगमोऽत्रेति चेद्? न; तादृशागमानुपलब्धेरित्याह—आगम इति। आत्मनाशप्रतिपादक आगमः श्रुतिवाक्यम्[1] अत्र वेदे न दृश्यते किन्तु सत्ताप्रतिपादन एव सर्वो वेदो व्यापृत इति भावः। विपर्यय आत्मसत्तासाधने तु प्रत्यभिज्ञादिमानानि सन्ति उपलभ्यन्त इत्यर्थः।।७५०।।

है तो बोध्य अर्थ की सत्ता कर लेगा। (वंध्यापुत्रादि वाक्य प्रमाण नहीं यह तो बौद्ध कह नहीं सकता क्योंकि यही तो अभी विचार चल रहा है।)।।७४६।। क्योंकि तुम्हारे मत में प्रमाणभूत शब्द से प्रमेय उत्पन्न हो जाता है इसलिये हमारे पूर्वोक्त अनुमान में हेतुदोष आदि भी कोई नहीं कहे जा सकते। एवं च प्रमेयकी सत्ता स्वयं उसी के बल पर मानना अनिवार्य है, न कि प्रमाण के बल पर क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमाण-प्रमेयादि व्यवस्थायें अभी बताये ढंग से अस्तव्यस्त हो जायेंगी।।७४७।।

इस विचार से प्रकृत में यह आया : जिसे प्रमाणित करने की कोशिश हो रही है वह आत्मनाश और उसका कारण इन दोनों की सत्ता किसी तरह अनुभव में नहीं आ रही अतः नाश व उसके कारण को विषय करने वाला प्रमाण निष्फल ही है। अर्थात् ऐसा कोई प्रमाण है ही नहीं।।७४८।। यों सिद्ध हुआ कि आत्मनाश में प्रमाणमात्र संभव नहीं।

अब कहते हैं कि एक-एक प्रमाण की परीक्षा से भी पता लगता है कि आत्मनाश किसी प्रमाण का विषय नहीं : आत्मा इन्द्रियातीत है अतः उसका प्रत्यक्ष होता नहीं फलतः उसके नाश का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। एवं च प्रत्यक्ष तो आत्मनाश में प्रमाण है नहीं। प्रत्यक्ष पर निर्भर करने वाले अनुमानादि भी इसीलिये इस विषय में प्रमाण

---

१. बौद्धस्तु शब्दं न प्रमाणमंगीकरोतीति न सौगतागमसिद्ध आत्माभावः। अपरः कश्चनागमिको यद्यात्मनाशं ब्रूते तदाऽनुमानाद् आत्मनित्यतां प्रसाध्य तद्विरुद्धं तदीयमागममेवाप्रमाणी करिष्यामः! उपचरितार्थो वाऽसौ स्यात्, प्रमाणयोर्विरोधाऽसंभवात्। आत्मसत्ता चाऽसाक्षिका न सिद्ध्यति, ससाक्षिकत्वे त्वात्मसिद्धिः, तस्यैव साक्षित्वाद् इत्यादिरीत्यात्मनित्यता निश्चेतव्या।

आत्मनित्यत्वे प्रत्यक्षम्

अद्राक्षं हस्तिनं स्वप्ने यः स जागरणेऽधुना। पश्यामि पङ्कजं नीलं शृणोमि च वचस्तव।।७५१।।

यश्च जागरणेऽद्राक्षं शब्दानशृणवं तथा। गाढं मूढः सुषुप्ते यो नाऽविदं तत्र किंचन।।७५२।।

**दृष्टवानपि यः स्वप्नान् बाल्ये नानाविधानपि। सोऽधुना जरया ग्रस्तः तिष्ठामीह कुरूपभृत्।।
इत्यादि प्रत्यभिज्ञानं वर्तते स्वात्मसंश्रयम्।।७५३।।**

आत्मनित्यतायामनुमानम्

सद्योजातस्य बालस्य स्तन्यपानादिकाः क्रियाः। लिङ्गानि नाशशून्यत्वे पूर्वदेहेऽपि चात्मनः।।७५४।।

तत्र जागरणादिबुद्ध्यवस्थात्रये बाल्यादिशरीरावस्थासु चात्मन ऐक्यावगाहिनीं प्रत्यभिज्ञामभिनयति—अद्राक्षमिति त्रिभिः। त्रयं निगदव्याख्यातम्।।७५१-७५३।।

एवमात्मनोऽविनाशित्वसाधकं प्रत्यभिज्ञालक्षणं प्रत्यक्षं दर्शितम्। अथ अनुमानं नानालिङ्गकमाह—सद्य इति त्रिभिः। जातस्य बालस्य याः स्तन्यपाने, आदिपदोक्तभयादिचेष्टासु च प्रवृत्तिरूपाः क्रियाः, ता लिङ्गभूता अतीतदेहेष्वपि आत्मनोऽविनाशित्वं परम्परयाऽनुमापयन्तीत्यर्थः। तथा हि—प्रवृत्त्या स्वकारणम् इष्टसाधनताज्ञानमनुमीयते। तच्च इष्टसाधनताज्ञानम् अन्वयव्यतिरेकज्ञानाधीनम्। एतज्जन्मन्यनुभवरूपेण असंभवात् स्मृतिरूपमेव वाच्यम्। तथा च स्मृत्या संस्कारा अनुमेयाः। संस्कारैश्च स्वाश्रयो—जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मेति।।७५४।।

होंगे नहीं।।७४९।। प्रत्यक्ष के अयोग्य में वेद प्रमाण होता है लेकिन आत्मनाश में कोई भी वेदवाक्य उपलब्ध नहीं होता बल्कि एक उसी की सत्ता है यही सारा वेद सिद्ध कर रहा है! एवं च आत्मनाश में तो कोई प्रमाण नहीं उससे विपरीत आत्माकी विद्यमानता में प्रत्यभिज्ञा आदि अनके प्रमाण मौजूद हैं।।७५०।। आत्मविषयक ऐसी प्रत्यभिज्ञायें सभी को होती रहती हैं—'जिस मैंने सपने में हाथी देखा था वही अब जाग्रत् में नीलकमल देख रहा हूँ, तुम्हारी बात सुन रहा हूँ।' 'जिस मैंने जाग्रत् में रूप देखे थे, शब्द सुने थे; जो मैं गहरी सुषुप्ति में बोधहीन था, वहाँ कुछ नहीं जान रहा था; जिस मैंने बाल्यावस्था में नाना प्रकार के सपने देखे, वही मैं अब बुढ़ापे से घिर कर कुत्सित रूप वाला हुआ बैठा हूँ' इत्यादि।।७५१-७५३।। यों प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष आत्मा को अविनाशी सिद्ध कर देता है। जब हमें लगता भी है 'रामराज्य में मैं नहीं था' आदि तब हम शरीर के बारे में ही सोच रहे होते हैं और शरीर तो नश्वर है इसमें कहना ही क्या!

अनुमान भी आत्मा को नित्य सिद्ध करता है। जन्म के तुरन्त बाद बच्चा स्तन से दूध पीना आदि अनेक ऐसी प्रवृत्तियाँ करता है जो इसमें चिह्न हैं कि पूर्व देह में भी आत्मा था, वह नष्ट नहीं हुआ है। (बालक की चेष्टा बताती है कि उसे ऐसे संस्कार हैं कि अमुक ढंग से क्रिया करने पर दूध आदि मिलेगा। संस्कार अनुभव पर निर्भर है। इस जन्म में अनुभव हुआ नहीं, कोई शिक्षा मिली नहीं अतः अवश्य पूर्व जन्म में अनुभव से संस्कार बटोरे होंगे। पुनः पूर्वमें पूर्वतर से संस्कार लाया था, इस प्रकार आत्मा नित्य ही सिद्ध होता है। यहाँ 'आत्मा' से जन्मान्तर संबंधी अर्थात् सूक्ष्म शरीर या पुर्यष्टक वाला आत्मा कहकर शुद्ध की नित्यता अर्थात् सिद्ध है। केवल स्थूल शरीर चेष्टा नहीं करता यह मृत देह देखकर निश्चय हो जाता है अतः स्तन्यपानादि में प्रवृत्ति भी केवल स्थूल शरीर के कारण—इसमें स्थित पदार्थों, अंगों आदि के कारण—हो सकती है यह संभावना नहीं।)।।७५४।। किं च समझदार लोग ऐसे पुण्य कर्म करते हैं जिनका दृष्ट लाभ नहीं, हानि भले ही हो, और ऐसे पापों से बचते हैं जिन्हें करने में दृष्ट हानि नहीं, लाभ भले ही हो। उनका

पुण्यपापक्रियास्वेते करणाकरणे अपि। विदुषां भाविदेहेऽपि नाशाभावे भवन्ति हि।।७५५।।
अन्यथानुपपत्त्यादिरूपलिङ्गान्यनेकशः। आत्मनस्तत एवाऽयं विनाशरहितः पुमान्।।७५६।।
द्रष्टा विनाशरहितो यतो दृष्टिस्ततो न सा। नश्यत्यात्मस्वरूपेयं वह्न्यनाशे यथोष्णता।।७५७।।
ततः सुप्तौ पुमानेष द्वैतजालं न पश्यति। द्वैताभावापराधेन न तु दृष्टेरभावतः।।७५८।।

सुप्तावद्वैतम्

यत्र द्वैतमिवाभाति स्वप्ने सुप्तीतरात्मनि। मायाविनिर्मिते तद्वत् तत्समे जागरेऽपि च।।७५९।।
तत्राऽन्यः कर्मणः कर्ता कर्मान्यदवगच्छति। सर्वैराभ्यन्तरैर्बाह्यैः करणैर्भेदमोहितः।।७६०।।

पुण्येति। तथा ये एते विदुषां पुण्यपापक्रियासु करणाकरणे प्रवृत्त्यप्रवृत्ती, अपि-शब्दात् तदनुकूलौ रागद्वेषौ च, तान्येतानि उत्तरकाल उपकारकाणि उत्तरकालिकोपकारकसम्बन्धिनमात्मानं विनाऽनुपपद्यमानानि सन्ति भाविदेहेऽपि आत्मनो विनाशाऽभावे लिङ्गानि भवन्ति इति सम्बन्धः। अन्यथाऽनुपपत्तिः साध्येन साहचर्यनियमरूपा आदिः प्रथमं मुख्यं रूपं सहकारि येषां तानि अन्यथानुपपत्त्यादिरूपाणि, तानि च तानि लिङ्गानि इति विग्रहः। फलितमाह—तत एवायमित्यादिना। इति द्वयोरर्थः।।७५५-७५६।।

द्रष्टेति। यत उक्तयुक्त्या द्रष्टा आत्मा विनाशरहितः सिद्धः तत एव आत्मस्वरूपभूता दृष्टिः न नश्यति, यथा वह्नेरनाशे सति तत्स्वरूपभूतोष्णतेत्यर्थः।।७५७।। तत इति। यत आत्मस्वरूपभूता दृष्टिः अविनाशिनी तत एवं बोध्यम्। 'एवं' कथम्? एष पुमान् सुप्तौ यद् द्वैतजालं न पश्यति; तत्र प्रयोजको द्वैतस्यैवाऽभावलक्षणोऽपराधः, न तु दृष्टेः अभावस्तत्र प्रयोजक इत्यर्थः।।७५८।।

ननु सुप्तौ चितो विशेषाकारतालक्षणस्य द्वैतस्याऽभाव एव कुत इति चेत्? तत्प्रयोजककार्याविद्याऽभावाद् इति दर्शयितुं कार्याऽविद्यायाः सविशेषताकारणत्वस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्पष्टीकरणपराया 'यत्र वा' इत्यादिकाया एकत्रिंशत्तम्याः[1] कण्डिकाया अर्थं दर्शयति—यत्र द्वैतमिति चतुर्भिः। यत्र यस्मिन् काले स्वप्ने स्वप्नावस्थारूपे, तत्समे स्वप्नसमे जागरे जाग्रदवस्थारूपे वा, तद्वद् मायाविनिर्मिते मायाविना निर्मितप्रपंचदर्शनकाले वा द्वैतमिव मिथ्याभूतं द्वैतम् आभाति तत्र काले दर्शनादिक्रियाकर्ता तत्क्रियाकर्मणः अन्यः आत्मानं भिन्नं मन्यमानः सन् स्वस्माद् भिन्नत्वेन कल्पितैः सर्वैः चक्षुरादिभिः बाह्याभ्यन्तरकरणैः कर्मरूपादिकं स्वस्माद् भिन्नतयाऽवगच्छति। अत्र नानाविधविशेषदर्शनप्रयोजकस्तु भेदमोहो, भेदाकारेण परिणताऽविद्यैव। इति द्वयोः सम्बन्धः। कीदृशे

यों करना भी इसका द्योतक है कि भावि शरीरों में आत्मा बना रहेगा, नष्ट नहीं होगा। (भाविदेहों में उचित फल मिलेगा यह जानकर ही विद्वान् सद्यः दुःख भी देने वाले पुण्य करते हैं और यहाँ सुख भी देने वाले पापों से बचते हैं।) यों अन्यथानुपपत्ति आदि सहायक तर्कों वाले अनेक लिंग मिल जाते हैं, अतः आत्मा अविनाशी है।।७५५-७५६।।

क्योंकि पूर्वोक्त ढंग से द्रष्टा आत्मा का विनाश नहीं होता इसीलिये आत्मा की स्वरूपभूत दृष्टि कभी बंद नहीं होती जैसे वह्नि का नाश न होने तक उसकी स्वरूपभूत गर्मी खत्म नहीं होती।।७५७।। इसलिये यह आत्मा सुषुप्ति में द्वैत इसलिये नहीं देखता कि वहाँ द्वैत होता नहीं, नकि इसलिये कि वहाँ दृष्टि—ज्ञान—नहीं होती! दृष्टि तो रहती ही है।।७५८।।

सुषुप्ति में द्वैतजाल इसीलिये नहीं है कि वहाँ कार्याविद्या नहीं है। इस बात को श्रुति में यों कहा है कि जहाँ मानो कोई दूसरा होता है वहीं एक-दूसरे को देख-सुन आदि सकता है। अर्थात् सुषुप्ति में आत्मा से अन्य कुछ है ही

१. 'यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येद् अन्योऽन्यज्जिघ्रेद् अन्योऽन्यद् रसयेद् अन्योऽन्यद् वदेद् अन्योऽन्यच्छृणुयाद् अन्योन्यद् मन्वीत अन्योऽन्यत् स्पृशेद् अन्योन्यद् विजानीयात्।।३१।।'

सुप्तौ तस्याऽप्यभावेन कथं भिन्नं प्रपद्यते। स्वस्मादेकरसाद् विश्वं गन्धर्वनगरोपमम्।।७६१।।

यत्किंचित् सकलं विश्वं भूतभौतिकरूपभृत्। विभक्तं नात्मनः सुप्तावात्मा यदवगच्छति।।७६२।।

मुनेरनुशासनम्

स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जनात्। एको निरन्तरो द्रष्टा सुप्तौ भवति भूपते।। ब्रह्मशब्दाभि-
धेयोऽयं स्वयं ज्योतिः परः पुमान्।।७६३।।

अनुशासनमेवं स चकार मुनिसत्तमः। जनकाय विदेहाय याज्ञवल्क्योऽतिबुद्धिमान्।।७६४।।

याज्ञवल्क्येन या सुप्तिरुक्तैषा परमा गतिः। नातः परं हि गन्तव्यमस्ति लोकत्रयेषु हि।।७६५।।

स्वप्नादौ? सुप्तीतरात्मनि सुप्तिविलक्षणस्वरूपे।।७५९-७६०।। सुप्ताविति। सुप्तौ तु तस्य भेदमोहस्य अपिशब्दात् कामकर्मादेश्च अभावेन स्वस्माद् एकरसाद् विश्वं भिन्नतया कथं प्रपद्येत जानीयादिति सम्बन्धः।।७६१।। तत्र हेतुतया सकलभेदकोपाधीनां सदात्मरूपकारणाद् विभागेनाऽनवस्थानमाह—यत्किंचिदिति। यतः सर्वं विश्वं सुप्तिकाल आत्मनः सकाशाद् विभक्तं विभागेनाऽवस्थितं न भवति यदात्माऽवगच्छेदित्यर्थः।।७६२।।

अथ द्वात्रिंशत्तम्याः[1] कण्डिकाया अर्थं वर्णयति—स्वसजातीति द्वात्रिंशच्छ्लोकैः। श्रुतिगतसलिलपदेन शुद्धत्वाभिधायिना विजातीयभेदस्य, एकपदेन सजातीयभेदस्य, अद्वैतपदेन स्वगतभेदस्य च वारणात् सुप्तौ द्रष्टा एको निरन्तरः सर्वभेदरहित इति यावत्; एतादृशो यतो भवति अत एव अयं ब्रह्मशब्दाभिधेयः, स्वयंज्योतिः च यः परः पुमान् भासमानानन्दत्वेन परमपुरुषार्थरूपो लोकपदेनोक्तः, स एव भवतीत्यर्थः।।७६३।। एवंविध उपदेशो याज्ञवल्क्येन जनकाय कृत इति श्रुतिरधिकारिजनान् प्रत्याह—अनुशासनमिति। स्पष्टम्।।७६४।। किंविधं तदनुशासनम्?—इत्याकाराम् अधिकारिणां पुनरुत्थिताम् आकांक्षामालक्ष्य श्रुत्या 'एषाऽस्य' इत्याद्युक्तम्[2]। तदर्थमाह—याज्ञवल्क्येनेत्यादिना। याज्ञवल्क्येन या सुप्तिरुक्ता सुप्तिगम्यमात्मस्वरूपमुक्तमिति यावत्, एषा सुप्तिगम्यात्मस्वरूपात्मिका अस्य जन्तोः परमा गतिः गन्तव्यं स्थानमित्यर्थः। परमम् उत्तरार्धेनोक्तमिति।।७६५।।

नहीं तो वह किसे देखे! इसकी व्याख्या पुराण में करते हैं : जब सपने में, स्वप्नतुल्य जाग्रत् में, या बाजीगर के खेल में मिथ्या ही सही किन्तु द्वैत प्रतीत होता है तब दर्शनादि क्रियाओं का कर्ता उनके कर्मभूत घटादिसे स्वयं को अन्य समझता है और खुद से भिन्न जिन चक्षु आदि बाह्य-आन्तर करणों को मान रहा होता है उन्हीं से घट आदि विषयों का ग्रहण यों करता है मानो आत्मा से अन्य हों। 'भेदमोह' अर्थात् भेद का आकार ग्रहण की हुई अविद्या ही इसमें हेतु है कि विविध विशेषों के दर्शन होते हैं। होता यह तभी है जब सुषुप्ति से अन्य अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न अवस्थायें हों।।७५९-७६०।। सुषुप्ति में वह भेदमोह और साथ ही कामना, कर्म आदि रहते नहीं तो एकरस निजस्वरूपसे अलग कर विश्व को आत्मा कैसे देखे? जैसे गंधर्वनगर सर्वथा होता नहीं ऐसे तब द्वैत है नहीं तो देखा कैसे जाये!।।७६१।। भूत-भौतिक रूपों वाला जितना कुछ भी यह सारा विश्व है वह सुषुप्ति में आत्मा से अलग कुछ है ही नहीं जो आत्मा उसे देखे।।७६२।।

श्रुतिमें इसके आगे बताया कि याज्ञवल्क्य ने सम्राट् को शुद्ध एक, अद्वैत द्रष्टा का उपदेश दिया, उसी को ब्रह्मलोक कहा। उसे ही उन्होंने परम गति, परम संपत्ति और परम लोक कहा। वही परम आनंद है। अन्य भूत उसी आनंद के हिस्से का सहारा लेकर सुखी होते हैं। फिर मनुष्य के आनंद से पितर, गंधर्व, देव आदि के आनंद की अधिकता बतायी है। इस प्रसंग को पुराणकार विस्तार से कहते हैं :

हे भूमिपाल! सुषुप्ति में द्रष्टा आत्मा एक ही रहता है, उसमें कोई तारतम्य (कमोबेश) नहीं होता और स्वगत सजातीय, विजातीय कोई भेद भी उसमें नहीं होता। जिसे ब्रह्म कहा जाता है, जो स्वयंप्रकाश है, परम पुरुष है वही सुषुप्ति में आत्मा होता है।।७६३।। अतिबुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य ने विदेह-जनक को यों उपदेश दिया था।।७६४।।

१. 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति एष ब्रह्मलोकः सम्राड्! इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः।' २. 'एषाऽस्य परमा गतिः एषाऽस्य परमा सम्पत् एषोऽस्य परमो लोकः।'

यज्ञादिभिर्महापुण्यैर्ब्रह्मचर्यादिसाधनैः। श्रवादिभिस्तथोपायैर्गन्तव्यैषाऽऽत्मरूपिणी।।७६६।।

कुबेरस्य यथा सम्पत् परमा तादृशी नृणाम्। सुषुप्तिः परमा सम्पत् सम्पाद्यं नात्मनः परम्।।७६७।

सुषुप्तौ प्राप्यते सर्वैरेष आत्माऽस्य देहिनः। परो लोको यतो नान्यल्लोकनीयं परं स्मृतम्।।७६८।।

तरुणी रूपसम्पन्ना पुत्रो वा गुणसंयुतः। देहो वा मृदुलो रूपलावण्यसहितो निजः।।७६९।।

गजैः पर्वतसङ्काशैर्हयैराकाशगामिभिः। मेघघोषै रथैस्तद्वत् पादातैरकुतो भयैः।।७७०।।

शङ्खपद्मनिधिप्रख्यैः कोशैश्च क्षयवर्जितैः। कोष्ठागारैस्तथाऽनन्तैर्नानाधान्यप्रपूरितैः।।७७१।।

अप्सरःसदृशानन्तनानावाराङ्गणागणैः। वैजयन्तोपमैः प्रौढप्रासादैः सुमनोहरैः।।७७२।।

इन्द्राणीसदृशस्वात्मजायासङ्गविराजितैः। हृष्टपुष्टप्रजासङ्घैर्देशैरव्याहताज्ञकैः।।७७३।।

इन्द्रस्येव भवेद्राज्यमथवा स्वात्मनः सदा। लोकनीयं यतोऽनेन सुखं संजायते नृणाम्।। परमो लोकनीयोऽयमस्यात्माऽत्र शरीरिणः।।७७४।।

कैर्गन्तव्येति जिज्ञासायां; बहिरङ्गैर्यज्ञादिभिः, अन्तरङ्गैः शमादिभिश्चोपकृतैः श्रवणाद्युपायैरित्याह—यज्ञादिभिरिति। श्रवः श्रवणम्। एषा गतिः।।७६६।।

अस्य रूपस्य परमसम्पद्रूपतामाह—कुबेरस्येति। यथा लोके कुबेरस्य संपत् परमा प्रसिद्धा तथैषा सुषुप्तिः परमा सम्पत्, यतोऽस्यां सुप्तौ आत्मनः सकाशात् परं भिन्नं किंचित् सम्पाद्यं यत्नेन साध्यं न। तथा च नित्यसिद्धत्वाद् आत्मस्वरूपमेव परमा सम्पत्। अन्यास्तु सम्पद आगन्तुकत्वादपरमा इति भावः।।७६७।।

उक्तस्य रूपस्य परमलोकतामाह—सुषुप्ताविति सप्तभिः। य आत्मा सुषुप्तौ सर्वैः प्राप्यते स एषोऽस्य देहिनः लोककामस्य परो लोको लोकनीयः, यत इतः अन्यद् यद् लोकनीयं तत् परम् उत्कृष्टं न भवति किन्त्वपकृष्टमेवेत्यर्थः।।७६८।। उक्तं स्फुटयन्नन्यपदार्थभूतान् कांश्चिद् दर्शयति—तरुणीति। रूपादिसम्पन्नास्तरुण्यादयोऽथवा वर्णितविशेषणैर्गजाद्यैः उपलक्षितमिन्द्रस्येव राज्यं सदातनं स्वात्मनः सम्बन्धि भवेत्, तत् सर्वं परं लोकनीयं न भवति इति षष्ठेनाभिसम्बन्धः। लावण्यं मुक्तावदङ्गकान्तिः।।७६९।। गजैरिति। स्पष्टम्।।७७०।। शङ्खेति। शङ्खादिनिधिस्वरूपं मार्कण्डेयपुराणे द्रष्टव्यम्।।७७१।। अप्सर इति। स्पष्टम्।।७७२।। इन्द्राणीति। एतत्पूर्वार्द्धमपि प्रासादविशेषणम्। अव्याहता अमोघाऽऽज्ञा येषु ते तथा तैः।।७७३।। इन्द्रस्येवेति। पूर्वार्द्धान्वयो दर्शितः। तरुण्यादीनाम् अपरमलोकत्वे हेतुर्द्वितीयार्द्धेनोक्तः। यतोऽनेन तरुण्यादिसाधनेन लोकनीयं नृणां यत् सुखं तत् जायते जन्यम् अनित्यमिति यावद्, इति तदर्थः। फलितमाह—परम इति। तस्माद् अत्र सुप्तौ यः अयमात्मा स एव शरीरिणः परमो लोकनीय इति सम्बन्धः।।७७४।।

याज्ञवल्क्य ने सुषुप्ति द्वारा समझा जा सकने वाला जो आत्मस्वरूप बताया वही परम गति है क्योंकि तीनों लोकों में इससे परे कोई गंतव्य नहीं है।।७६५।। यज्ञादि महान् पुण्यों से, ब्रह्मचर्य आदि साधनों से, श्रवणादि से तथा शास्त्रोक्त सभी उपायों से यह आत्मा ही पाने योग्य है।।७६६।। यह आत्मा ही परम संपत्ति भी है। लोक में जैसे कुबेर की संपत्ति परम रूप से प्रसिद्ध है वैसे यह सुषुप्ति परम सम्पत्ति है क्योंकि इस सुषुप्ति में आत्मा से भिन्न कुछ होता ही नहीं जो यत्नपूर्वक पाया जाये। अन्य सब आगंतुक होने से परम हैं जबकि आत्मा नित्य प्राप्त होने से परम संपत्ति है।।७६७।। यही परम लोक भी है। जो आत्मा सुषुप्ति में सबको प्राप्त होता है, लोक चाहने वाले इस शरीरधारी के लिये वही सर्वाधिक अवलोकनीय है। इससे अन्य जो अवलोकनीय हैं वे परम अर्थात् उत्कृष्ट नहीं वरन् अपकृष्ट

आत्मा परमानन्दः

परमानन्दरूपो यः सुषुप्तौ प्राप्यतेऽमुना। परमत्वं न चाऽसिद्धं गतिसम्पत्स्वरूपिणः।।
लोकस्यानन्दरूपस्य सर्वाधिक्येन हेतुना।।७७५।।

यतः सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च। एतस्यैवोपजीवन्ति मात्रामानन्दरूपिणः।।७७६।।

समुद्रस्य यथा मात्रामुपजीवन्ति खे स्थिताः। मेघा नीरमुचो भूमौ वर्षकाल उपागते।।७७७।।

मात्रा लेशः समुद्दिष्टो यथा स्निग्धस्य वस्तुनः। हस्तस्थितस्य सन्त्यागे हस्ते तिष्ठति किंचन।।७७८

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यान्ता जन्तवो लेशभागिनः। आनन्दस्यास्य तेनाऽयमानन्दः परमः स्मृतः।।७७६।।

परमलोकपदेन यत् परमपुरुषार्थत्वमुक्तं तत्र हेतुतया परमानन्दत्वमाह[1]—परमेति। य आत्मा अमुना शरीरिणा सुप्तौ प्राप्यते स परमानन्दरूपः। अस्तु आनन्दत्वम्, परमत्वं कथम्? इत्यत आह—परमत्वमित्यादि। यथा गतिरूपेण सम्पद्रूपेण लोकरूपेण च परमत्वं नासिद्धं किन्तु सिद्धमेव तथाऽऽनन्दरूपेणाऽपि परमत्वं नासिद्धं, सर्वानन्दाधिक्यादित्यर्थः।।७७५।। कथं सर्वाधिक्यम्? इत्यत आह—यत इति। उपजीवन्ति आश्रित्य वर्तन्ते। मात्रां लेशम्।।७७६।। तत्र दृष्टान्तमाह—समुद्रस्येवेति। यथाऽऽकाशगता वर्षुका मेघाः समुद्रस्य जलसमष्टेः लेशमाश्रित्य स्वरूपाभिव्यक्तिं लभन्त इत्यर्थः।।७७७।। मात्रापदार्थमभिनयति—मात्रेति। यथा स्निग्धस्य घृतादेर्हस्ते गृहीत्वा त्यक्तस्यापि कश्चिल्लेशो हस्ते तिष्ठति स तस्य मात्रेत्युच्यत इत्यर्थः।।७७८।। दार्ष्टान्तिके योजयति—ब्रह्मादीति। ब्रह्मा हिरण्यगर्भः। स्तम्बः तृणादिगुच्छः।।७७६।।

ही होते हैं। (आत्मा सत्य होने से उत्कृष्ट और बाकी सब असत्य होने से निकृष्ट है।)।।७६८।। सांसारिक अवलोकनीय पदार्थ इस प्रकार के होते हैं—रूपसी युवती, गुणवान् पुत्र, सुंदर चमचमाता अपना कोमल शरीर। या अपना राज्य अवलोकनीय होता है। राज्य भी ऐसा-वैसा नहीं बल्कि जिसकी सेना में पहाड़ों जैसे बड़े हाथी हों, आसमान में उड़ने वाले घोड़े हों, बादलों-सा घोष करने वाले रथ हों, किसी कारण भी न डरने वाले सैनिक हों। राज्य में शंख-पद्मादि निधियों के समान अक्षय कोश हों, विविध धान्यों से भरे अनंत कोठार हों, अप्सराओं जैसी अनंत और वैविध्ययुक्त वेश्याएँ हों, वैजयन्त (इंद्र का महल) की तरह अतिमनोरम बड़े महल हों जहाँ इन्द्राणी जैसी अपनी पत्नियों का समूह हो, प्रजायें हृष्ट-पुष्ट हों और कोई स्थान ऐसा न हो जहाँ राजाज्ञा का पालन न होता हो। यों इंद्रराज्य जैसा राज्य अपना हो तो अवलोकनीय होता है। क्योंकि पुर्वोक्त के समान पदार्थों से लोगों को सुख होता है इसलिये ऐसी चीजों को लोकनीय या लोक कहते हैं। किन्तु इन लोकों से पुरुष को सुख *होता* है अर्थात् वह सुख जन्य अतः अनित्य है! इसलिये अजन्य नित्य आनंदरूप जो यह आत्मा सुषुप्ति में समझ आता है वही इस शरीरधारी के लिये परमलोक है। जितने भी लोकनीय पदार्थ संभव लगें, सबमें परम लोकनीय यह अपना आत्मस्वरूप ही है।।७६६-७४।।

शरीरधारी सुषुप्ति में जिस आत्मा को प्राप्त करता है वह परम आनंदस्वरूप है। जैसे गति, सम्पत्ति और लोक रूप से वह आत्मा परम है वैसे आनंदरूप से भी वह परम ही है क्योंकि सभी आनंदों से अधिक आत्मरूप आनंद है।।७७५।। इसमें यही पर्याप्त कारण है कि चराचर सभी प्राणी इस आत्मानंद के लेश भर का सहारा लेकर ही सुख भोगते हैं।।७७६।। वर्षा ऋतु में भूमि पर पानी बरसाने वाले आकाशस्थित बादल जैसे समुद्र के एक हिस्से के सहारे ही स्वरूपलाभ कर लेते हैं वैसे प्राणियों द्वारा भोगा जाने वाला बड़े-से-बड़ा आनंद इस आत्मानंद के अत्यंत छोटे अंश का ही स्फुरण है।।७७७।। श्रुति में कहा है कि अन्य भूत इसी आनंद की 'मात्रा' के सहारे सुख पाते हैं। मात्राशब्द का अर्थ यहाँ है लेश (थोड़ा हिस्सा)। घी आदि चिकना पदार्थ हाथ पर हो, फिर उसे छोड़ दें तो हाथ पर उसका जो थोड़ा-सा हिस्सा बचा रह जाता है उसे उस घी का लेश कहेंगे।।७७८।। हिरण्यगर्भ से तिनके पर्यन्त जितने जन्तु हैं वे इस आत्मानंद का लेश ही पाते हैं अतः यह आनंद परम कहने लायक ही है।।७७६।।

---

१. 'एषोऽस्य परम आनन्दः एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।।३२।।'

आत्मनः परमानन्दं जानीयादेवमत्र हि। आनन्दः सुखनामायमस्ति कश्चिज्जनेष्विह।।
विषयप्राप्तितो जातो मुनजानामहर्निशम्।।७८०।।

अभीष्टमशनं तद्वल्ललनाश्च मनोरमाः। पुत्रमित्रादिकं चैव कारणं तस्य कीर्तितम्।।७८१।।

विषयाणां सुखहेतुत्वं कथम्

यद्यप्येतैरसौ नैव जायते स्वात्मरूपकः। तथापि दुःखहानिं ते कुर्वन्ति विषयाः सदा।।७८२।।

आत्माऽज्ञानेन जन्तूनां तथा बाह्यस्य दर्शनात्। विषये जायते कामः कामाद् दुःखं च जायते।।७८३

विषयावाप्तितः कामो विनश्यति तदा हि सः। यावदन्यो न जायेत तस्मिन्नपि परत्र वा।।७८४।।

कामस्य तस्य नाशेन तज्जं दुःखं विनश्यति। यावद् दुःखविनाशोऽयमात्मन्यस्मिन् स्थितो भवेत्।।७८५।।

अज्ञानावृतमेतावद् विक्षेपरहितं स्फुरेत्। आत्मरूपं ततस्तत् स्यादावृतं सुखशब्दभाक्।।७८६।।

उक्तमर्थमुपपत्त्या विशदयन् संसारदशायामात्मनः परमानन्दताया अभाने प्रयोजकं दर्शयति—आत्मन इत्यादिना। एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण आत्मनः परमानन्दत्वं जानीयात्। तत्र आनन्दत्वं सुखव्यवहारेण साधयति—आनन्द इति। विषयप्राप्तिजन्यत्वेन अभिमतस्य सुखनाम्ना प्रसिद्धस्यानन्दपदार्थस्य सत्त्वे न विवादः कस्यचिदित्याशयः।।७८०।। तस्य विषयाः कारणमिति लौकिका वदन्तीत्याह—अभीष्टमिति। अशनं भक्ष्यम्। तस्य सुखनामकस्य।।७८१।।

तत्राऽपीदं विचार्यम्—विषयाणां किम् उत्पादकत्वलक्षणं कारणत्वम्? किं वा भानप्रतिबन्धकापनयरूपाभिव्यंजकत्वलक्षणम्? तत्र नाद्यः, नित्यात्मस्वरूपलक्षणस्य आनन्दस्य उत्पत्त्ययोगात्। तस्मादन्त्यः पक्षः परिशिष्यत इत्याशयेनाह—यद्यपीति। असौ आनन्दः। दुःखस्य सुखप्रतिबन्धकस्य, हानिं कारणापहारेणाऽपचयम्।।७८२।। किन्तद् दुःखकारणमिति चेत्? काम इत्याह—आत्मेति। यथा तृणप्रच्छादितमंभो विहाय कश्चिद् मृगतृष्णामभिधावेत् तथाऽऽत्मानमानन्दरूपम् अज्ञानावृतं विहाय विषयदर्शिनां काम इच्छा दुःखमूलं भवतीति।।७८३।। विषयेति। विषयप्राप्त्या तु विषयेच्छा उपशाम्यति। सा कामोपशान्तिरपि तावत्तिष्ठति यावत् तस्मिन् पूर्वमिष्टे परत्र तद्भिन्ने वा कामान्तरं न जायत इति।।७८४।। कामस्येति। तस्य विषयगोचरस्य कामविशेषस्य नाशे तज्जं तस्मात् कामविशेषाज्जातं दुःखं विनश्यति। स दुःखविनाशो यावद् आत्मनि बुद्धौ तिष्ठति तावदात्मनो रूपं स्फुरेत्। कीदृशम् आत्मरूपम्? एतावद्विक्षेपरहितम् एतावता प्रतियोगिदुःखव्यक्तिमात्राकारेण विक्षेपेण रहितम्; तत्त्वज्ञानं विनाऽज्ञानाऽनपायाद् अज्ञानावृतं च। तत आवरणानपायात् तद् विक्षेपरहितम् आत्मरूपम् आवृतं सल्लोके सुखशब्देन व्यवह्रियते। इति द्वयोरर्थः। अयं भावः—लोके द्विविधं प्रतिबन्धकम्—

आत्मा परम आनंद है इसे यों समझना चाहिये : आनंद सुख नामक कोई पदार्थ सर्वजनप्रसिद्ध है जो विषयलाभ से मनुष्यों को रात-दिन मिलता है।।७८०।। इच्छित भोजन, मनोनुकूल स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र आदि को सुख का कारण कहा जाता है।।७८१।। यद्यपि सुख आत्मा का स्वरूप है अतः इन विषयों से पैदा नहीं होता तथापि अभीष्ट विषय हमेशा इतना ही कर पाते हैं कि दुःख हट (या कम हो) जाये।।७८२।। जैसे घास से ढके पानी को न जानकर कोई मृगमरीचिका की ओर दौड़े ऐसे आत्मा के अज्ञान के कारण और बाह्य विषय देखने से जन्तुओं को विषय की कामना होती है जिससे दुःख भी होता है।।७८३।। विषय मिलने से वह कामना तब तक उपशान्त रहती है जब तक उसी या किसी अन्य विषय में कोई दूसरी कामना नहीं उत्पन्न हो जाती।।७८४।।

अत एव सुखं नाऽहमिति बोधो नृणां भवेत्। आत्मनस्त्वावृतं यस्मात् संसारे वर्तते वपुः। तेनात्मा सुखरूपोऽहमिति बोधो न जायते।।७८७।।

तमोवृते यथाऽऽकाशे खद्योतो मणिरेव वा। यावत्तमो निहन्त्येष तावदेव च तत् स्फुरेत्।।७८८।।

एवमेवाऽत्र सम्प्राप्तिर्यावती विषयस्य हि। तावत्कामफलं दुःखं निहन्यादात्मनि स्थितम्।।७८९।।

सुखं संजायते तावत् सर्वेषामिह देहिनाम्। तारतम्यं भवेत्तेन सुखस्यात्मस्वरूपिणः।।७९०।।

किंचिदावरणरूपं, यथा रवेर्घनः। किंचिद्विक्षेपरूपं, यथा नेत्रचांचल्यम्। तथा चाऽत्र विक्षेपस्य बुद्धिचांचल्यस्य निवृत्तिमात्रेण अज्ञानावृतस्यैव आत्मनो मेघावृतरवेरिव यद् भानं तथा तत् सुखमिति लोके व्यवह्रियत इति।।७८५-७८६।। अत एवेति। यत आत्मनो रूपमावृतम् अत एव संसारिणाम् 'अहं सुखम्' इत्याकारो बोधो न दृश्यत इति प्रथमदलार्थः उत्तरदलद्वयेन स्फुटीकृतः।।७८७।।

सुखस्य तारतम्यं दृष्टान्तेन स्फुटयति—तमोवृत इति पंचभिः। यथा एष खद्योतो मणिर्वा आकाशगतः सन् यावद्देशावच्छिन्नं तमो निहन्ति तावद्देशावच्छिन्नमेव च तद् आकाशं[1] स्फुरेदिति।।७८८।। एवमिति। एवं विषयप्राप्तिः खद्योतादिसमा दुःखम् इच्छाजन्यं[2] तमोनिभम् आत्माकाशे कल्पितं निहन्ति तावद् अपगतदुःखसपरिमाणमात्मरूपं सुखं जायते विक्षेपरहितं भासत इत्येवं तारतम्यं बोध्यमिति द्वयोरर्थः। अत्र तमोदुःखयोः आवरणविक्षेपत्वरूपोऽवान्तरविशेषो न विवक्षितः। प्रतिबन्धकतामात्रेण साम्यस्य विवक्षितत्वादिति बोध्यम्।।७८९-७९०।।

विषय की कामना से जो दुःख था वह उस कामना के उपशम से समाप्त हो जाता है। वह दुःखविनाश जब तक बुद्धि में रहता है तब तक जितना विक्षेप उस कामनाजन्य दुःख से हो रहा था उतने विक्षेप से रहित आत्मा का स्वरूप स्फुरता है हालाँकि मूलाज्ञानसे ढका ही रहता है। आवृत रहते हुए भी विक्षेप से रहित जो आत्मा का रूप है वही सुख कहा जाता है। (सूर्य न दीखना दो कारणों से संभव है—वह बादलों से ढका है और हमारी आँख स्थिर नहीं हो रही। आँख स्थिर हो जाये पर सूर्य बादलों में ढका ही हो तो भी कुछ तो सूर्य का ज्ञान हो जाता है। ऐसे ही अज्ञान से ढके आत्मा का विक्षेपरहित मन से ग्रहण होने पर सुख हो जाता है। विषयलाभ से आवरण नहीं मिटता, केवल विक्षेप रुकता है, यह भाव है। अतः जो कुछ आचार्यों ने अनानन्दापादक आवरण माना है वह इस प्रक्रिया में अनावश्यक है यह विशेषता समझनी चाहिये।) इसीलिये लोगों को 'सुख नहीं हूँ', ऐसा अनुभव होता है। संसारदशा में आत्मा का स्वरूप क्योंकि अज्ञानसे ढका रहता है इसलिये 'सुखरूप आत्मा हूँ' ऐसा अनुभव नहीं होता ('सुखी हूँ' यों सुखसे स्वयं को पृथक् कर ही समझते हैं)।।७८५-७८७।। आकाश अँधेरे से घिरा हो तो जुगुनू या मणि से जितनी जगह में अँधेरा मिटेगा उतनी जगह का आकाश ही दीखेगा। इसी तरह प्रकृतमें समझना चाहिये : विषयप्राप्ति जुगुनू की तरह है, इच्छाजन्य दुःख अँधेरे की तरह है और आत्मा आकाश की तरह है। विषयकी जितनी प्राप्ति होगी, आत्मा में स्थित कामनाजन्य उतने ही दुःख को मिटायेगी। जितना दुःख हटेगा उतना ही सुख पैदा होगा क्योंकि विक्षेपरहित उतने ही भाग में आत्मा स्फुरेगा। यह प्रक्रिया सब देहधारियों के लिये समान है। इसलिये आत्मस्वरूप होने पर भी अनुभूयमान सुख में कमोबेश संगत है क्योंकि निवृत्त होने वाले दुःख की न्यून-अधिकता से विक्षेपराहित्य में अंतर रहता है। (इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अनंत विषय मिलने से अनंत सुख हो जायेगा! कारण कि प्रथमतः अनंत विषय मिलना असंभव है क्योंकि देश-काल-वस्तु-इंद्रिय आदि के परिच्छेद हैं और दूसरी बात विषयलाभ से विक्षेप हटने पर भी आनंद का आवरण तो नहीं ही हटेगा। अनंत सुख तो अखण्डज्ञान से आवरण हटने पर ही संभव है।)।।७८८-७९०।।

---

१. देशाकाशयोरौपचारिको भेदो यथा राहोः शिर इति। २. इच्छाजन्यमिति स्वरूपपरिचयः। न हीच्छाऽजन्यमस्ति दुःखम्।

केनचिद्धि निमित्तेन खद्योतादेरपायतः। आकाशो न स्फुरेत् सोऽयं प्रतीतोऽपीह देहिनाम्।।७६१।।

तद्वत् कामान्तरप्राप्त्या पूर्वजातं सुखं न हि। प्रतीयते सदेवात्मस्वरूपं सर्वदेहिनाम्।।७६२।।

क्षुतादिजेऽपि लोकेऽस्मिन् सुखे कामस्तदुद्भवः। अस्त्येव यत एतस्य रोधादौ दृश्यते स्फुटः।।७६३

ततो विषयजं नृणां तारतम्याद्यवस्थितम्। प्रसिद्धं सुखमेतस्मिन् लोके बुद्धिमतां सदा।। सुखमेव समुद्दिष्टमानन्दो नाऽपरस्तु सः।।७६४।।

एवं प्रतिबन्धकाभावस्य आत्मभानेऽन्वयो दर्शितः। व्यतिरेकमाह—केनचिदिति। यथा केनचिन्निमित्तेन वायुवेगादिरूपेण खद्योतादेः अपायेऽपगमे सति पुनः तमःप्रादुर्भावाद् आकाशो न स्फुरति। कीदृश आकाशः? खद्योतादिसत्त्वकाले प्रतीतोऽपि। तथा कामान्तरस्य आत्मानन्दभानप्रतिबन्धकदुःखप्रयोजकस्य उत्पत्त्या आत्मरूपं सुखं न भासते। कीदृशम्? कामशान्तिकाले यत् प्रतीतम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।७६१-७६२।।

ननु कामोपशमस्य सुखप्रादुर्भावप्रयोजकत्वं न सम्भवति, पीनसरोगिणश्छिक्काजन्यसुखे व्यभिचारादिति चेद्? न; तत्रापि च्छिक्कानिरोधकाले तदिच्छायाः स्फुटोपलम्भेन अन्यदाप्यस्फुटेच्छाकल्पने बाधाऽभावादित्याह—क्षुतादिज इति। क्षुतं छिक्का। तदुद्भवः तस्मिन् क्षुतादौ विषयतासम्बन्धेन उद्भव उत्पत्तिः यस्य कामस्य स तथा काम इच्छा अस्त्येव यत एतस्य क्षुतादेः निरोधादिकाले स स्फुटो दृश्यत इति। प्रथमादिपदेन उद्गारादिग्रहः, द्वितीयेन अनुदयग्रहः।।७६३।। फलितमाह—तत इति। ततः कामोपशमस्य सुखाविर्भावप्रयोजकत्वात् तारतम्येनावस्थितं वैषयिकं सुखं लोके प्रसिद्धम्। तच्च सुखम् आत्मस्वरूपभूतानन्दाद् न भिन्नम्। यदि हि जन्यमभविष्यत् तदात्मभिन्नमभविष्यत्। इदन्त्वभिव्यंग्यमेवेत्यर्थः।।७६४।।

जो आकाश जुगुनू रहते दीख भी रहा था, किसी कारण से जुगुनू हट जाये तो वह पुनः दीखना बंद हो जाता है। ऐसे ही पहले उत्पन्न हुआ सुख भी जैसे ही कोई दूसरी कामना आ जाती है वैसे ही प्रतीत होना बंद हो जाता है भले ही वह सब देहधारियों का निज स्वरूप है!।।७६१-७६२।।

संसार में छींकने आदि से जो यह सुख होता है वहाँ समझ लेना चाहिये कि छींकने की कामना उत्पन्न हुई थी जिसके पूरा होने पर ही सुख होता है। यद्यपि वह कामना तब स्फुट नहीं होती तथापि यदि छींक आदि रोक दी जाये तब स्फुट हो जाती है। (किं च जब हम छींक, डकार आदि नहीं चाहते उस समय वे आयें तो सुख की जगह दुःख भी होता है। इससे भी सिद्ध है कि छींक आदि से होने वाला सुख कामनापूर्ति का ही है। अभिप्राय है कि सांसारिक सुख कामनानिवृत्तिप्रयुक्त निर्विक्षेप चित्त से आत्मा को विषय करने पर ही होता है।)।।७६३।।

इस दुनिया में लोगों को विषयों से कमोबेश आदि वाला जो प्रसिद्ध सुख होता है वह क्योंकि इसीलिये होता है कि कामना का उपशम सुखके आविर्भावका हेतु बन जाता है, अत एव बुद्धिमान् सदा कहते हैं कि आत्मानंद ही सुख है, अन्य कोई नहीं। (अर्थात् वैषयिक सुख आत्मानंद की ही अत्यंत मटमैली झलक है। आत्म से अन्य कोई पदार्थ सुख हो ऐसी बात नहीं।)।।७६४।।

आत्मस्वरूप आनंद परम है क्योंकि अन्य आनंद उसी का उपाधिपरिच्छिन्न रूप हैं—यह बताया। श्रुति ने आत्मानंद की परमता इस तरह भी कही है कि मनुष्ययोनि में संभव संपूर्ण सुख से सौ गुणा अधिक पितृलोक का सुख है, उससे सौ गुणा गंधर्वलोक का, यों क्रमशः सौ-सौ गुणा अधिक सुख कर्मदेवों का, आजानदेवों का, प्रजापतिलोक का और ब्रह्मलोक का होता है। यों तर-तम रूप से भी ब्रह्मानंद सर्वाधिक बताया है। इस प्रसंग को भी पुराण में विस्तार से निरूपित करते हैं:

आनन्दतारतम्यम्

मनुष्याणां च सर्वेषां प्रसिद्धो योऽधिकः पुमान्। युवा दृढवपुस्तद्वद् भीमार्जुनसमो बली।।७९५।।

सर्वज्ञो व्यासवत् तद्वत् पार्वतीपतिना समः। अस्त्रैर्नानाविधैर्मोक्षसन्धानादिसमन्वितैः।। अश्विनाविव नीरोगः सिद्ध एष प्रकीर्तितः।।७९६।।

समृद्धः पाण्डवो यद्वद् बलानुजसमुत्थितात्। साहाय्यात् तादृशा ज्ञेयः सहायेन समन्वितः।।७९७।।

सर्वेषां द्विपदां तद्वत् सप्तद्वीपनिवासिनाम्। भवेदधिपती राजा चक्रवर्ती महायशाः।।७९८।।

मनुष्याणां हि ये भोगा अन्नपानाङ्गनादयः। तैः सम्पन्नतमः सर्वैराप्तकाम इव स्थितः।।७९९।।

एवं लौकिकसुखानाम् औपाधिकभेदभिन्नानाम् आत्मानन्दमात्रत्वं दर्शितम्। अथेतरत्र आपेक्षिकपरमत्वप्रदर्शनपूर्वकम् आत्मानन्दस्य निरतिशयत्वस्पष्टीकरणपरायाः त्रयस्त्रिंशत्तम्याः कण्डिकाया[1] अर्थं पञ्चत्रिंशच्छ्लोकैर्वर्णयंस्तत्र मानुषानन्दस्य परमकाष्ठां दर्शयति—मनुष्याणामिति सप्तभिः। यः पुमान् युवत्वादिभिर्गुणैः सर्वाधिको भवेत् तस्य य आनन्दः स द्विपदां मनुष्याणां परम इति षष्ठेनाभिसम्बन्धः। तत्र श्रुतिगत-राद्ध-पदेन सिद्धत्वाभिधायिना संगृहीतान् गुणान् दर्शयति—युवेत्यादिना नीरोग इत्यन्तेन। दृढवपुः वज्रसंहननाङ्गः। अस्त्रैः श्रीशंभुसमः। मोक्ष उत्सर्गः। सन्धानं शरादावस्त्रशक्तेराधानम्। आदिपदेन उपसंहारग्रहः। एतन्मन्त्रसमन्वितत्वम् अस्त्रविशेषणम्।।७९५-७९६।।

बाह्योपकरणसम्पन्नत्ववाचकस्य समृद्धपदस्यार्थमाह—समृद्ध इति। यथा बलानुजः श्रीकृष्णस्तत्प्रयुक्तात् साहाय्यात् पाण्डवो युधिष्ठिरोऽर्जुनो वा समृद्ध इति प्रसिद्धस्तथा तादृशा श्रीकृष्णसमेन सहायेन सम्पन्नः प्रकृते समृद्धो ज्ञेय इति सम्बन्धः।।७९७।। अधिपतिपदार्थं चक्रवर्तिराजत्वरूपमाह—सर्वेषामिति। द्विपदां मनुष्याणां तथा पक्ष्यादीनां च सप्तद्वीपवासिनां सर्वेषां चक्रवर्ती स्वतन्त्रो राजा भवेत् सोऽत्र अधिपतिशब्देनोक्त इत्यर्थः।।७९८।। तथा भोग्यैर्भोगोपकरणैर्भोगशक्त्या च सम्पन्नो भवेदित्याह—मनुष्याणामिति।।७९९।।

मनुष्यों में जो पुरुष सबसे अधिक समझा जा सकता है उसे जो सुख होगा वह मनुष्ययोनि का परम, सर्वाधिक, सुख है। कैसा पुरुष सर्वाधिक समझा जाता है? जो जंवान हो, तगड़े शरीर वाला हो, भीम-अर्जुन के समान बल वाला हो, व्यास की तरह सर्वज्ञ हो, विविध अस्त्रों के प्रक्षेप नियंत्रण-निवारण में श्रीशंभु के समान हो, अश्विनी कुमारों जैसा नीरोग हो—ऐसे को 'सिद्ध' शब्द से कहते हैं।।७९५-७९६।। जैसे बलराम के छोटे भाई श्रीकृष्ण द्वारा दी जाने वाली अमोघ सहायता से पाण्डुपुत्र समृद्ध (संपन्न) था, ऐसी जिसे सहायता उपलब्ध हो उसे समृद्ध समझना चाहिये।।७९७।। सातों द्वीपों के वासी मनुष्यादि सभी प्राणियों पर स्वतंत्र शासन करने वाले यशस्वी सम्राट् को अधिपति कहते हैं।।७९८।। ऐसा सिद्ध, समृद्ध, अधिपति खाद्य-पेय-स्त्री आदि उन सभी विषयों से सर्वाधिक संपन्न हो जिन्हे मनुष्य 'भोग' समझते हैं, उसकी मानो कोई कामना अपूर्ण न बची हो, उस चक्रवर्ती पुरुष को जो आनंद होता है वह हम मनुष्यों के लिये परम आनंद समझा जा सकता है।।७९९-८००।। मनुष्यों में इसका यह आनंद परम इसलिये है कि संसार में मनुष्यों में इसकी तरह सुखी और कोई नहीं होता।।८०१।।

---

१. 'स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति अन्येषामधिपतिः, सर्वैः मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः। अथ ये शतं मनुष्याणाम् आनन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानाम् आनन्दः। अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दः। अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दः ये कर्मणा देवत्वम् अभिसम्पद्यन्ते। अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानाम् आनन्दः। यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दः। यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दः। यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथैष एव परम आनन्दः, एष ब्रह्मलोकः सम्राट्! इति होवाच याज्ञवल्क्यः।'

तस्य यो जायते पुंस आनन्दश्चक्रवर्तिनः। अस्माकं द्विपदां सोऽयमानन्दः परमः स्मृतः।।८००।।

एतद्वन्मनुजेष्वत्र सुखी कोऽपि न विद्यते। यतोऽतः परमोऽस्याऽयमानन्दो द्विपदामिह।।८०१।।

आनन्दो यः परः प्रोक्तो द्विपदां तच्छतादपि। अधिको जितलोकानां पितॄणां स्वर्गवासिनाम्।।८०२।।

पितृलोकस्थितानन्दशततोऽप्यधिकः स्मृतः। गन्धर्वलोक आनन्दो गन्धर्वाणां महात्मनाम्।।८०३।।

गन्धर्वलोक आनन्दशततोऽप्यधिकः स्मृतः। आनन्दः कर्मदेवानां ये देवा कर्मणाऽभवन्।।८०४।।

कर्मदेवस्थितानन्दशततोऽप्यधिकः स्मृतः। आजानजानां देवानामानन्दो हि महात्मनाम्।।८०५।।

आजानदेवजानन्दशततोऽप्यधिकः स्मृतः। यस्मात्प्रजापतेर्लोक आनन्दः परमेष्ठिनः।।८०६।।

तस्येति। तस्य वर्णितस्य। श्रुतौ तु आनन्दानन्दिनोरभेदविवक्षया सामानाधिकरण्यमिति बोध्यम्।।८००।। तस्य परमत्वं स्फुटयति—एतद्वदिति। स्पष्टम्।।८०१।।

वर्णितमनुष्यानन्दात् शतगुणाधिकः पितृलोकवासिनामानन्द इत्याह—आनन्द इति। जितः पूर्वकल्पार्जितश्राद्धादिकर्मणा वशीकृतो लोको यैस्ते तथा—इति पितृविशेषणम्। स्वर्गः चन्द्रलोकः।।८०२।। ततोऽपि शतगुणो गन्धर्वानन्द इत्याह—पितृलोकेति। पितृलोकगतानन्दा यदि शतसंख्याः स्युस्ततोऽपि गन्धर्वलोकानन्दव्यक्तिरधिका, खण्डव्यक्तिभ्यः तत्समैकव्यक्तेः आधिक्यस्य लोकेऽपि प्रसिद्धत्वादिति भावः। एवमग्रेऽपि।।८०३।। गन्धर्वेति। गन्धर्वलोके वर्तमानो य आनन्दस्तज्जातीयानां शतात् कर्मदेवानां सम्बन्ध्यानन्दोऽधिकः। ते कर्मदेवा इति ये कर्मणा अग्निहोत्रादिरूपेण लब्धदेवभावाः।।८०४।। कर्मेति। कर्मदेवानन्दानां शतादधिक आजानजदेवसम्बन्ध्यानन्दः। आजानजदेवा नाम ये सृष्ट्यादौ उत्पन्नाः, यागदेवता अग्न्यादयः।।८०५।। आजानेति। आजानजदेवानन्दात् प्रजापतिलोके शतगुणाधिक आनन्दः यस्मात् प्रजापतिलोकानन्दात् परमेष्ठिनो विराजो लोक आनन्दः शतगुणाधिक इति सम्बन्धः।।८०६।। विराडिति।

मनुष्यों का जो परम आनंद कहा, उसकी अपेक्षा सौ गुणे से भी अधिक आनंद चन्द्रलोक में रहने वाले पितरों को होता है जिन्होंने पूर्व कल्प में किये श्राद्ध आदि कर्मों से उस लोक को अपने वश में कर रखा है।।८०२।। पितृलोक के आनंद से सौ गुणे से भी अधिक आनंद गंधर्वलोक में स्थित महामना गंधर्वों को होता है। (यद्यपि श्रुति में सौ-सौ गुणा आधिक्य कहा है तथापि पुराणकार का अभिप्राय है कि जैसे सौ धागों में जितना बल हो उतना किसी एक डोरे में हो तो उसे उन सबसे अधिक ही माना जाता है, इसी प्रकार सौ आनंद जुड़ कर जितना आनंद होता है उतना वह एक ही आनंद है इसलिये उनसे अधिक है! इस तरह श्रुति के अर्थ को ही स्पष्ट किया है। यह व्याख्या संस्कृत टीका में है। सभी जगह पुराणकार का हृदय जहाँ स्पष्ट किया है वहाँ 'सत्प्रसव' का ही सहारा है, यह संस्कृत टीका अत्यन्त उत्तम है इसमें संदेह नहीं।)।।८०३।। गंधर्वलोक के आनंदों से सौ गुणे से भी अधिक है कर्मदेवों का आनंद। जो अग्निहोत्रादि कर्मों के फलरूप से देवता बनते हैं उन्हें कर्मदिव कहते हैं।।८०४।। कर्मदेवों के आनंद से सौ गुणे से भी अधिक आजानदेवों का आनंद है। सृष्टि के आदिकाल में ही जो अग्नि आदि देवता उत्पन्न होते हैं जो यागों से पूजे जाते हैं, वे आजानदेव कहे जाते हैं।।८०५।। आजानदेवों के आनंद से सौ गुणे से भी अधिक है प्रजापतिलोक का आनंद और उससे भी सौ गुणे से अधिक है परमेष्ठी अर्थात् विराट् के लोक का आनंद।।८०६।। विराट् के आनंद से सौ गुणे से भी अधिक आनंद ब्रह्मलोक में है। स्थूल जगत् का कारण 'महेश' नामक सूत्रात्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ

विराडानन्दशततो ब्रह्मलोकेऽधिकः स्मृतः। सूत्रात्मनो महेशस्य जगत्कारणरूपिणः।।८०७।।

इतः परं न देहेषु स्थूलसूक्ष्मविभेदिषु। वर्ततेऽधिक आनन्दः कोऽपि कुत्रापि कर्हिचित्।।८०८।।

वैराग्यायानन्दोक्तिः

अत्र वैराग्यसिद्ध्यर्थं स्थूलसूक्ष्मशरीरगः। आनन्दस्तारतम्येन कथ्यते वेदवादिभिः।।८०९।।

सार्वभौमे जने तद्वत् पितृलोके मनोरमे। गन्धर्वाणां तथा लोके कर्मदेववपुष्यपि।।८१०।।

आजानदेवदेहेऽपि विराज्यपि तथेश्वरे। यो य आनन्द उक्तोऽत्र तं तमाप्नोत्ययं सदा।।८११।।

योऽधीतवेदो विज्ञातवेदार्थः पापवर्जितः। यस्मिन् यस्मिन् हि निष्काम आनन्देऽत्रातिशायिनि।।८१२।।

विराडानन्दशतात् सूत्रात्मनो हिरण्यगर्भस्य निवासभूते ब्रह्मलोके आनन्दः अधिकः। कीदृशस्य सूत्रात्मनः? स्थूलजगत्कारणस्य।।८०७।। शरीरिणामानन्दो हिरण्यगर्भलोकानन्दात् परो नास्तीत्याह—इत इति। इतो हिरण्यगर्भानन्दात्।।८०८।।

वर्णितविधया यदानन्दतारतम्यमुक्तं तत्फलं हिरण्यगर्भानन्दाद् वैराग्यं परमात्मानन्दप्राप्तिसाधनभूतं श्रुतेर्विवक्षितमित्याह—अत्रेति। अत्र हिरण्यगर्भानन्दे।।८०९।। परमवैराग्यस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनतां स्पष्टयितुं वैराग्यतारतम्यानुसारेण तत्तदानन्दप्राप्तिप्रतिपादकानां श्रोत्रियपदघटितवाक्यानामर्थं दर्शयति—सार्वभौम इति त्रिभिः। सार्वभौमे सर्वभूमेरीश्वरे जने मनुष्ये तथा पितृलोके, गन्धर्वलोके, कर्मदेवशरीरे, आजानदेवशरीरे, 'अपि'शब्दोक्तप्रजापतिशरीरे, विराट्शरीरे, ईश्वरपदोक्तहिरण्यगर्भशरीरे च यो य उत्तरोत्तरं शतगुण आनन्द उक्तः तस्य तस्य प्राप्तिसाधनं द्विविधम्। तत्रैकं साधनं सार्वभौमत्वादिसम्पादकं कर्म कालान्तरभाविफलकं प्रसिद्धम्। द्वितीयं सद्यः फलकमाह—तमित्यादिना। तं तम् आनन्दम् अयम् अधिकारी अपि प्राप्नोति। 'अयं' कः? यो वेदाध्ययनार्थज्ञानसम्पन्नो निष्पापो निष्कामश्च। वेदाध्ययनार्थज्ञानाभ्यां हीनो हि जिज्ञासया दुःखितो भवति। पापी तु पापफलभयेन आकुलः। सकामे तु कामनैव सुखप्रतिबन्धिका। तत्र निष्कामत्वतारतम्यानुसारेण तत्तदानन्दविशेषलाभः। इति त्रयाणामर्थः। तथा चोक्तं 'यतो यतो विरज्यते[1] ततस्ततो विमुच्यते' (सं.शा.३.३६४) इति।।८१०-८१२।। फलितमाह—यदेति। यदाऽयम् अधिकारी हिरण्यगर्भानन्दे शरीरिणामा-

का निवासस्थान ब्रह्मलोक है।।८०७।। स्थूल-सूक्ष्म किसी भी तरह के शरीरों में कहीं कभी कोई भी ऐसा आनंद नहीं है जो हिरण्यगर्भ के आनंद से ज़्यादा हो।।८०८।।

वेदविचारक स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में न्यूनाधिक भाव से अनुभूयमान आनंद का वर्णन इसलिये करते हैं कि हिरण्यगर्भानंद से भी वैराग्य हो क्योंकि वैराग्य ही परमानंद की प्राप्ति में असाधारण सहायक है।।८०९।। सारी भूमि के राजा मनुष्य में, मनोरम पितृलोक में, गंधर्वों के लोक में, कर्मदेवों के शरीर में, आजानदेवों के शरीर में, प्रजापतिशरीर में, विराट्-देहमें और हिरण्यगर्भ शरीर में जो-जो आनंद यहाँ बताया गया है उस-उस को वह प्राप्त कर लेता है जो वेद और उसका अर्थ जानने वाला पापहीन व्यक्ति उस-उस अत्यधिक आनंद के प्रति निष्काम होता है। (तात्पर्य है कि जिस विषय की कामना होगी उसे पाकर जो सुख होगा वह सुख उसे प्राप्त ही है जिसे उस विषय की कामना ही नहीं हुई। पूर्वोक्त रीति से सारे ही विषयसुख कामनाजन्य दुःख की निवृत्ति से अभिव्यक्त होते हैं अतः कामना न होने पर दुःख उत्पन्न ही नहीं होगा तो सुख अभिव्यक्त ही रहेगा। जितने अधिक विषयों के प्रति निष्कामता होगी उतना ही अधिक सुख भी हो जायेगा।)।।८१०-८१२।।

---

१. निवर्तत इति सर्वज्ञीये पाठः।

यदा सूत्रेऽपि नैवायमानन्दावधिरूपिणि। कामवानथ तं गच्छेदानन्दं यस्य सोऽपि हि।।८१३।।

सूत्रानन्दो भवेन्मात्राभूतो यः परमः स्मृतः। स तु सौषुप्त आनन्दः परमात्मेति कीर्तितः।।८१४।।

अवाङ्मनसगम्योऽयं तारतम्यविवर्जितः। परमात् सूत्रजानन्दात् परमः परमात्मनः।
आनन्दोऽव्याकृतस्यास्य साक्षिणोऽव्याकृतस्य च।।८१५।।

सूत्रतः परमानन्दः परस्तिष्ठति देहिनः। इति सिद्ध्यर्थमत्रापि श्रोत्रियः कीर्त्यते श्रुतौ।।८१६।।

आनन्दमेनमादिश्य परमानन्दरूपिणम्। याज्ञवल्क्य इदं वाक्यमुक्तवान् जनकं प्रति।।८१७।।

ब्रह्मलोको मया राजन् सुप्तौ यस्ते समीरितः। स एष परमानन्दः सूत्रजादधिको हि यः।।८१८।।

नन्दोत्कर्षपर्यवसानभूमावपि कामवान्न भवति तदा तं हिरण्यगर्भानन्दं गच्छेत्। यः अयं हिरण्यगर्भानन्दो यस्य आनन्दस्य लेशभूतः स आनन्दः परमात्मरूपः सर्वेषां सुषुप्तिगम्यः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८१३-४।।

सुषुप्तानन्दस्य परमत्वमेव स्फुटयति—अवाङ्मनसेति। अयं परमात्मनः स्वरूपभूत आनन्दः सूत्रजानन्दाद् इतरापेक्षया परमाद् अपि परमो, यतोऽवाङ्मनसगोचरः, तारतम्यवर्जितः। कीदृशस्य परमात्मनः? अव्याकृतस्य अव्याकृतोपाधिकत्वेन सविशेषस्य, तत्साक्षितया निर्विशेषस्य चेति सम्बन्धः।।८१५।। अस्य परमात्मानन्दस्य सूचनायैव हिरण्यगर्भानन्दस्य विरक्तश्रोत्रियलभ्यता श्रुतावुक्तेत्याह—सूत्रत इति। देहिनः सूक्ष्मसमष्टिशरीरात् सूत्रतः परं यथा भवति तथा परमात्माऽऽनन्दः तिष्ठति इति अस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थम् अत्र हिरण्यगर्भानन्दप्रतिपादिकायां श्रुतौ श्रोत्रिय उक्तविशेषण आनन्दलब्धत्वेनोक्त इत्यर्थः।।८१६।। आनन्दमिति। स्पष्टम्।।८१७।।

'एष ब्रह्मलोक' इत्यदेः शेषस्यार्थमाह—ब्रह्मेत्यादिना। यो मया तुभ्यं सुप्तौ गम्यो ब्रह्मलोक उक्तः स वर्णितपरमानन्दरूप एवेत्यर्थः।।८१८।।

जब ऐसा वैराग्यवान् अधिकारी उस हिरण्यगर्भानंद में भी कामना वाला नहीं रह जाता जो आनंदके उत्कर्ष की सीमा है तब वह उस हिरण्यगर्भानंद को प्राप्त कर लेता है। यह हिरण्यगर्भानंद भी जिस आनंद का लेशभूत ही है वही वस्तुतः परम है। वह आनंद ही परमात्मा कहा जाता है जिसे सुषुप्ति के अनुभव के अनुसंधान के सहारे समझना चाहिये।।८१३-८१४।। सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का आनंद बाकी सबकी अपेक्षा अधिक है लेकिन उससे भी परे है परमात्मा का स्वरूपभूत आनंद जो मन-वाणी का विषय नहीं और निरपेक्ष होने से जिसमें कमोबेश की संभावना नहीं। अव्याकृतरूप उपाधि वाले सविशेष और अव्याकृत के भी साक्षी निर्विशेष का स्वरूपभूत आनंद ही परम है। (सविशेष-निर्विशेष के आनंद में अंतर नहीं क्योंकि वस्तुतः जो निर्विशेष है वही बद्धदृष्ट्या सविशेष समझा जाता है। हिरण्यगर्भ तक तो आवरण है अतः सुख परिच्छिन्न ही है, ईश्वर में आवरण नहीं अतः सुख में परिच्छेद की संभावना नहीं।)।।८१५।।

आनंदमीमांसा में श्रुति ने ब्रह्मलोकका आनंद कहकर भी यह कहा कि जो वेदज्ञ, निष्पाप, निष्काम होता है वह इसे पा लेता है। यह इसलिये कहा कि जैसे पूर्व पर्यायों में उत्तरोत्तर आनंद पूर्वपूर्व आनंदों से अधिक होता था ऐसे यहाँ भी स्पष्ट हो जाये कि परमानंद सूत्रानंद की (हिरण्यगर्भानंद की) अपेक्षा अधिक ही है।।८१६।।

परमानंदरूप इस आनंदात्मा का उपदेश देकर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा 'राजन्! सुषुप्ति में प्राप्त होने वाला जो ब्रह्मलोक मैंने तुम्हें बताया था वह यही परमानंद है जो हिरण्यगर्भानंद से भी अधिक है।'।।८१७-१८।।

महर्षि अपनी बात कहकर चुप हुए तो राजा ने उनके प्रति उसी तरह की बात कही जिस तरह वह पहले तीन बार कह चुका था और जो उसका यह अभिप्राय सूचित कर देती थी कि वरदान द्वारा वह जो ज्ञान पाना चाहता था वह अभी तक के उपदेश से उसे मिला नहीं।।८१९।।

राजोक्तिः

एवमुक्ते तदा राजा याज्ञवल्क्यमभाषत। त्रिवारं च यथापूर्वं निजाभिप्रायदर्शकः।।८१९।।

सोऽहं त्वयोपदिष्टोऽस्मि विद्यां ते गुरवे गुरोः। गोसहस्रं ददाम्यत्र विद्याया दक्षिणामिमाम्।।
अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि मे नाऽपरं मुने।।८२०।।

अभिप्रायोऽस्य राज्ञोऽयमवस्था भवतेरिताः। स्वप्नो जागरणं सुप्तिरेकस्तासु पुमानपि।।
स्वप्रकाशो निजाऽविद्याविमूढः सुखदुःखभाक्।।८२१।।

वस्तुतः सङ्गशून्योऽपि कर्मणा यात्यहर्निशम्। स्वप्नं जागरणं चैव सुप्तिं कर्मद्वयक्षये। श्रान्तः
सन्नीड्तुल्येऽस्मिन् परमानन्द आत्मनि।।८२२।।

नैतावत्यत्र विज्ञाते मोक्षो भवति कर्हिचित्। मृतिजन्मादयो यस्मात् सन्ति जागरणे सदा।।८२३।।

कामाश्च विविधाः पुंसो नात्मन्येते निराकृताः। नानोपपत्तिभिर्यस्माद् भवताऽतः कथं भवेत्।
संसारी परमानन्दो विपरीतात्मबन्धनः।।८२४।।

एवमिति। एवं मुनिना उक्ते सति राजा मुनिं प्रति तथाऽऽह स्म। 'तथा' कथम्? यथा पूर्वं त्रिवारम् उक्तम्। कीदृशो राजा? निजाभिप्रायस्य वरापरिपूर्तिलक्षणस्य दर्शकः सूचक इत्यर्थः।।८१९।।

तत्र राजवाक्यमभिनयति[1]—सोऽहमिति। हे मुने! सोऽहं त्वया विद्याम् अनुशिष्टः अस्मि। अतः ते गुरवे गुरोर्दक्षिणां गोसहस्ररूपां ददामि। इत ऊर्ध्वं विशेषेण मोक्षो येन उपदेशेन सिद्ध्येत्तमेवोपदेशं कुरु इति सम्बन्धः।।८२०।। एवं वदतो राज्ञोऽभिप्रायमभिनयति—अभिप्रायोऽस्येति पञ्चभिः। हे मुने! भवता एतावदुक्तं यत् स्वप्रकाशो वस्तुतः सङ्गशून्योऽपि पुमान् अविद्यया एकः अवस्थात्रये भ्रमति, तत्रापि कर्मवशेन स्वप्नं जागरणं वाप्नोति, जाग्रत्स्वप्नभोगप्रदक्षये तु श्रान्तः पक्षी नीडमिव आनन्दरूपमात्मानं प्राप्नोति। इति द्वयोरर्थः।।८२१-२२।। नैतावतीति। एतावति अवस्थात्रयविवेकरूपेऽर्थे विज्ञातेऽपि मोक्षो न भवति यतः शरीरान्तरसंचरणस्य जन्ममरणाख्यस्य तद्धेतूनां कामानां च आत्मसम्बन्धनिराकरणं नानोपपत्तिभिर्न कृतं, तन्निराकरणाऽभावे च संसारी परमानन्दरूपः कथं स्यात्? कीदृशः संसारी? विपरीतात्मबन्धनः मोक्षगम्यात्मस्वरूपाद् विपरीतकर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणशोकव्याप्तो

जनक बोला 'हे मुनि! आपके द्वारा विद्या में शिक्षित हुआ मैं इस विद्या के निमित्त आप गुरुदेव को ये हजार गायें दक्षिणारूप में भेंट करता हूँ। इसके बाद आप वह सुनायें जिससे खासकर मोक्ष की प्राप्ति हो, और कुछ न सुनायें।'।।८२०।।

राजा का अभिप्राय यह था : आपने अभी यह समझाया कि स्वप्न-जाग्रत्-सुषुप्ति तीन अवस्थायें हैं जिनमें कर्मवशभूत वह आत्मा दिन-रात भ्रमण करता है जो वस्तुतः असंग स्वप्रकाश है लेकिन अविद्या से विमुग्ध हुआ सुख-दुःख भोग रहा है। स्वप्न और जाग्रत् की प्राप्ति भोगप्रद कर्म रहने से होती है और भोगप्रद कर्म न रहने पर यह सुषुप्ति-अवस्था पाता है जहाँ यह परमानंद निजरूप में पहुँचता है जो उस घोसले की तरह है जिसमें थका पक्षी आराम करने जाता है।।८२१-८२२।। इस विषय में इतना जान लेने पर भी मोक्ष नहीं हो जाता! जाग्रत् अवस्था में मरण-जन्म आदि परिवर्तन हमेशा होते हैं और पुरुष को विविध कामनायें भी होती रहती हैं। अनेक युक्तियों से आपने आत्मा में इन सबका निषेध अभी तक नहीं किया। इसलिये प्रश्न बना रहता है कि मोक्ष में प्राप्य आत्मस्वरूप से उल्टा जो कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि शोकों से घिरा आत्मा है उसी से जो स्वयं को एकमेक समझने वाला संसारी है वह परमानंदरूप कैसे हो सकता

---

१. 'सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि, अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति।'

यावन्न जायते ज्ञानं सन्देहादिविवर्जितम्। तावन्न जायते पुंसो मोक्षो जन्मशतैरपि।।८२५।।

मुनेः सविचारमुत्तरम्

विज्ञायेममभिप्रायं याज्ञवल्क्यो महामुनिः। राज्ञो बुद्धिमिमां दृष्ट्वा भीतोऽभूच्चिन्तयन्निदम्।।८२६।।

सन्ति मे शतशः शिष्या बुद्धिमन्तो न कोऽपि हि। जनकेनामुना राज्ञा सदृशो विद्यते मम।।८२७।।

वरव्याजेन यो विद्यां निखिलामेकहेलया। ग्रहीतुमुद्यतो या तु वर्षपूगैर्न लभ्यते।।८२८।।

निरुद्धोऽस्मि ततोऽनेन सत्यपाशनिबन्धनः। वदाम्यस्मा इमां विद्यामिदानीमेव भूभुजे।।८२९।।

लब्धा या बहुकालेन गुरुशुश्रूषणान्मया। इति संचिन्त्य तं प्राह वाक्यमेतद् मुनीश्वरः।।८३०।।

स्वयंज्योतिः पुमान् यस्ते मयोक्तो राजसत्तम। स एवैष पुमान् बुद्धिसाक्षी देहाख्यपञ्जरे।।८३१।।

मिथ्यात्मैव बन्धनं यस्य स तथा। इति द्वयोरर्थः।।८२३-८२४।। यावच्च संसारधर्मानवगाहि निश्चयरूपं ज्ञानं न जायते तावन्मोक्षो न भवतीत्याह—यावन्नेति। स्पष्टम्।।८२५।।

विज्ञायेति। एतादृशं राज्ञोऽभिप्रायं ज्ञात्वा इदं वक्ष्यमाणप्रकारकं विचारं कुर्वन् मुनिर्भयं[1] प्राप्तवान्, न तूत्तरदानाऽसामर्थ्येन मुनिर्भयं प्राप्त इत्यर्थः।।८२६।। 'इदं'-पदोक्तां मुनेश्चिन्तामभिनयति—सन्तीति। मम शिष्याणां मध्ये जनकसमो बुद्धिमान् कोऽपि न अस्ति; यः अयं जनकः कामप्रश्नरूपेणैकव्यापारेण मदीयां निखिलां विद्यां ग्रहीतुमुद्यत इति द्वयोः सम्बन्धः।।८२७-८२८।। निरुद्धोऽस्मीति। ततो बुद्धिमत्त्वाद् अनेन कामप्रश्नवरं वृतवता राज्ञाऽहं निरुद्धो वशीकृतः अस्मि। यतोऽहं सत्यपाशनिबन्धनः सत्यरूपपाशाधीनः, तस्मादहं बुहकालार्जितां दुर्लभां च विद्याम् अस्मै वदाम्येव। इति एवं विचार्य[2] मुनिः एतद् वक्ष्यमाणं वाक्यम् आह स्मेति द्वयोरर्थः। तथा च दुर्लभाया रहस्यायाश्च विद्यायाः प्रकाशनप्रसङ्ग एव मुनेर्भयकारणमिति भावः।।८२९-८३०।।

एवमतीतग्रन्थेन यद्यपि स्वप्नदृष्टान्तेन परलोकप्राप्तिः, सुप्तिदृष्टान्तेन मोक्षप्राप्तिश्च असङ्गस्यात्मनः सूचिता तथापि तत्र दृष्टान्तमात्रमेवोक्तम् इत्यपरितुष्यता राज्ञा दार्ष्टान्तिकं श्रोतुकामेन पृष्टो मुनिः तावत् परलोकसम्बन्धं निरूपयिष्यन्नात्मनः स्वप्नजाग्रद्भूमिप्राप्तिं यथा स्वप्नाज्जाग्रत्प्राप्तिस्तथा एतच्छरीरात् परशरीरप्राप्तिः इत्येवं दृष्टान्तभावार्हां चतुस्त्रिंशत्तम्या[3] कण्डिकयोक्तवान्। तस्या अर्थमभिनयति—स्वयंज्योतिरिति चतुर्भिः। हे

है?।।८२३-८२४।। जब तक संदेहरहित ज्ञान नहीं हो जाता तब तक सैकड़ों जन्मों में भी पुरुषको मोक्ष नहीं मिल सकता। (अतः मेरा यह संदेह मिटाने की कृपा करें।)।।८२५।। महामुनि याज्ञवल्क्य राजाके इस तात्पर्य को समझकर, उसकी इस सूक्ष्म बुद्धि को देखकर यह सोचते हुए डर गये कि मेरे सैकड़ों बुद्धिमान् शिष्य हैं लेकिन उनमें कोई भी इस राजा जनक के बराबर नहीं है जो वरदानके बहाने एक ही बार में मेरी वह सारी विद्या ग्रहण कर लेना चाहता है जो कई सालों में भी नहीं मिल पाती है! बुद्धिमान् होने के कारण ही यथेष्ट प्रश्न पूछने की छूट रूप वर माँगकर इसने मुझे वशमें कर रखा है और वरदान देकर मैं भी सत्य के पाश से बँधा हूँ। इसलिये इस राजा को यह विद्या मैं अभी ही समझा देता हूँ जिसे गुरुसेवा द्वारा मैंने बहुत समय में प्राप्त किया।—यह विचार कर मुनीश्वर ने राजा को यों पुनः उपदेश दिया।।८२६-८३०।।

---

१. 'अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार—मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीद्—इति।।३३।।' २. 'योग्येऽपि पात्रे मुक्तिफलं ज्ञानं सहसा नोपदेष्टव्यम्—इति वाक्यार्थः।' इति भयवाक्यव्याख्यातृवार्तिकविवरणे (४.३.१८६६) श्रीमदानन्दगिरिस्वामिनः। वयन्तु—उत्तरस्मिन्नध्याये मुनेः संन्यासो वक्ष्यत इति सम्प्रति ज्ञानवानप्यसौ न सर्वथा वीतरागोऽत एव विद्यां सर्वस्वं मन्यमानस्तां याचमानाद् राज्ञो बिभेतीति वर्ण्यते। न हि परिनिष्ठितविद्यस्य योग्यायोग्यशिष्यभेदनिबन्धनं भयं संभवति, शिष्यमात्रस्य सबाधमवलोकनाद्, विद्यया च कस्यापि हानेरयोगाद्—इति युक्तमुत्पश्यामः। आचार्याणामभिप्रायस्तु—अदृढविद्य उपदेशपरो मा भूद्, अधिकारिणमेव परीक्ष्योपदिशेत्, अन्यथा स्वयं ज्ञानदार्ढ्याय यतेत-इति। ३. 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति बुद्धान्तायैव।।३४।।'

सुप्तिं गत्वाऽप्यगत्वा वा स्वप्ने स्वेनैव तेजसा। रत्वा वध्वादिभिः सार्धं गत्वा नाडीरनेकशः।।८३२।।

पुण्यपापं फलावस्थं सुखदुःखस्वरूपकम्। दृष्ट्वैव सङ्गरहितः स्वप्रकाशसुखात्मकम्।।८३३।।

यथागतं यथादेहमेति जागरणं पुनः। अत्र भोगोपभोगाय केवलं नान्यकारणम्।।८३४।।

परलोकप्रयाणम्

आगतोऽत्र यथा स्थूलदेहं कर्मक्षये पुमान्। तथाऽत्र देहमोक्षेऽस्मिन् दृष्टान्तं वच्मि भूपते।।८३५।।

भवत्यत्र यथा लोके शकटं सपरिच्छदम्। यियासतः पुरोऽध्वानं महान्तं धनिकस्य हि।।८३६।।

राजन्! यो मया तुभ्यं स्वयंज्योतिः पुमान् वर्णितः स कदाचित् सुप्तिं गत्वा स्वप्नं गच्छति, कदाचित् सुप्तिं विनापि स्वप्नं गच्छति। एवं स्वप्नं गत्वा तत्र कल्पितैः वधूप्रभृतिभी रत्वा विहृत्य; तथा नानाविधनाडीषु भ्रमित्वा; तथा फलभावापन्नं पुण्यपापं सुखदुःखरूपं दृष्ट्वैव, न तु कृत्वा असङ्गत्वात्, पुनः स्थूलदेहाभिमानरूपं जागरणं प्राप्नोति। किमर्थम्? अत्र स्थूलशरीरे भोगानामुपभोगाय दर्शनायैव। इति चतुर्णां सम्बन्धः।।८३१-८३४।।

परलोकमन्तःकरणवेष्टित ईश्वरप्रेरितश्च गच्छतीति सदृष्टान्तं प्रतिपादयन्त्याः पञ्चत्रिंशत्तम्याः[1] कण्डिकाया अर्थमाह—आगतोऽत्रेति चत्वारिंशच्छ्लोकैः। यथा स्वप्नभोगप्रदकर्मणः क्षये सति अत्र जागरणे स्थूलदेहमागतः तथा एतच्छरीरभोगप्रदकर्मक्षये शरीरान्तरं यातीति शेषः। तत्र शरीरान्तरप्राप्तौ पूर्वशरीरत्यागे दृष्टान्तं शृण्वित्यर्थः।।८३५।। दृष्टान्तमभिनयति—भवतीति द्वाभ्याम्। यथा लोके कस्यचिद् धनिकस्य शकटं सोपकरणं भवेत्। कीदृशस्य धनिकस्य? कस्याश्चित् पुरो नगरस्य महान्तमध्वानं यियासतः गन्तुमिच्छतः।।८३६।। वित्तैरिति। तच्च शकटं

हे श्रेष्ठ राजन्! जिस पुरुष के बारे में मैने तुम्हें कहा था कि वह स्वयं ज्योति है, वही पुरुष इस शरीर नामक पिंजरे में बुद्धि का साक्षी हुआ उपस्थित है। वह कभी सुषुप्ति द्वारा तो कभी सीधे ही स्वप्नावस्था में पहुँचता है। सपने में वह स्वकल्पित स्त्री आदि से रमण करता है तथा नाना प्रकार की नाडियों में भ्रमण करता है जिससे उसे सुख-दुःख का दर्शन होता है जो सुख-दुःख पूर्वकृत पुण्य-पाप के ही फलभूत परिणाम हैं। आत्मा संग से वर्जित है अतः उपाधि का साक्षी ही बना रहता है, स्वयं उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। वह स्वयंप्रकाश आनंदरूप पुरुष जैसे देह से जिस तरह अवस्थान्तर में गया था उसी तरह उसी देह में फिर जग जाता है। स्थूल शरीर में यथाकर्म भोगों का दर्शन करने से अतिरिक्त कोई कारण नहीं जिससे वह पुनः जाग्रत् में आता है।।८३१-८३४।।

श्रुति में पैंतीसवी कंडिका द्वारा समझाया है कि ईश्वर की प्रेरणा से अंतःकरण द्वारा घिरा आत्मा परलोक जाता है। श्रुति ने कहा है कि जैसे सामान से लदा छकड़ा चर्र-मर्र आदि आवाज़ करते हुए जाता है इसी तरह शरीरवासी आत्मा भी परमात्मा से अवभासित होता हुआ आवाज़ करता हुए तब जाता है जब इसका साँस उखड़ने लगता है, यह मरने लगता है। इसकी पुराण में व्याख्या की जा रही है :

हे भूपति! स्वप्न में भोग देने वाले कर्म क्षीण होने पर पुरुष जैसे जाग्रत् में स्थूल शरीर में आता है उसी तरह इस शरीर में भोग देने वाले कर्म समाप्त होने पर यह जाग्रत् में ही स्थूल शरीर छोड़ता है। इस बारे में दृष्टांत बताता हूँ।।८३५।। लोकमें देखा जाता है कि कोई बड़ा धनाढ्य व्यक्ति किसी दूर के नगर को जाने के लिये रास्ते पर निकलता है तो उसका छकड़ा साज-सामान से लदा होता है।।८३६।। नाना प्रकार के धन, बच्चों और पत्नी आदि से भरा छकड़ा विविध आवाज़ें करते हुए धीरे-धीरे चलता है।।८३७।। इसी तरह इस स्थूल देह से जब आत्मा प्रयाण करता है तो सूक्ष्म शरीर छकड़े की जगह होता है और उस पर लदा माल होता है पुण्य-पाप। इसीलिये निकलते हुए यह भी बहुत

१. 'तद् यथाऽनः सुसमाहितम् उत्सर्जद् यायाद् एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेन आत्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतद् ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति।।३५।।'

वित्तैर्नानाविधैः पूर्णं बालकैश्च वधूजनैः । शब्दान् नानाविधान् मुंचन् शनकैः शनकैर्व्रजेत् । ।८३७ । ।

एतस्मात् स्थूलतो देहात् पुंसो निर्गच्छतस्तथा । सूक्ष्मो देहो भवेत् पुण्यपापपूर्णपरिच्छदः । निर्गच्छन्नत एवाऽयं शब्दान् मुञ्चत्यनेकशः । ।८३८ । ।

हा सुता नयसम्पन्ना हा जाये नवयौवने । हा वित्तं बहुसंक्लेशलब्धं नानाविधं मया । । हा मित्राणि सुमित्राणि हा बन्धुजनसङ्गम । ।८३९ । ।

धिङ्मामेतान् विहायाद्य गच्छन्तं पापकारिणम् । दूरमध्वानमत्यन्तम् इत एकाकिनन्त्विह । ।८४० । ।

मया बाल्येऽतिबलिना बालका भर्त्सिता भृशम् । ताडिताश्चापि देवानां मस्तके निहितं पदम् । ।८४१

जननी क्लेशिता तद्वद् मह्यं या हितकारिणी । गर्भे यया धृतः पूर्वं पाषाण इव दुःसहः । ।८४२ । ।

योनियन्त्रं विदार्याऽहं यस्याः क्रकचसंनिभः । निर्गतोऽनन्तदुःखानां कारणं कीटकोपमः । ।८४३ । ।

यया मूत्रं तथाऽमेध्यं मदीयं हस्तपङ्कजात् । स्वकीयादुद्धृतं भूरि मन्मलक्षालनाय हि । ।८४४ । ।

नानाविधवित्तैर्बालकादिभिश्च पूर्णं नानाविधशब्दान् मुञ्चत् कुर्वत् सद् व्रजेत् । ।८३७ । । दार्ष्टान्तिकमाह—एतस्मादिति । तथा पुरुषस्य धनिकस्थानीयस्य परलोकयात्रानुकूलः सूक्ष्मदेहः पुण्यपापलक्षणैः परिच्छदैः सम्भृतः शकटस्थानीयो नाना शब्दान् कुर्वन् यातीत्यर्थः । ।८३८ । । तत्र परलोकयात्राकाले चिदाभासव्याप्तेन अन्तःकरणेन कर्मात्मसंज्ञकेन कृतान् शब्दानभिनयति—हा सुता इत्यादिना । अत्र नीतिसम्पन्नत्वादिगुणकान् पुत्रादीन् संस्मृत्य तद्वियोगेन आत्मनः शोच्यता विवक्षिता इत्यतो 'हा'-शब्दयोगेन पुत्रादिषु न द्वितीयेति बोध्यम् । हा वित्त! यत् त्वं नानाविधं मया बहुसंक्लेशलब्धम् अतः त्वद्वियोगेन मम शोच्यता । सुमित्राणि 'धियो जाड्यं हरति' इत्यादिसन्मित्र-लक्षणसम्पन्नानि । ।८३९ । । उक्तानां वियोगेन आत्मनः शोच्यतामेवाभिनयति—धिङ्मामिति । एतान् विहाय दूरम-ध्वानमेकाकिनमत्यन्तं गच्छन्तं मां धिग् इत्यन्वयः । ।८४० । ।

अथ बाल्यादिकृतानि दुष्कृतानि अनुस्मृत्य ये शब्दाः प्रयुज्यन्ते तानभिनयंस्तत्र बाल्यदुर्वृत्तमनुवदति—मयेति नवभिः । दुर्बलबालानां भर्त्सन-ताडने देवाऽवज्ञां च कृतवानस्मीत्यर्थः । ।८४१ । । तथा जनन्याः परमोपकारकारिकाया बहवोऽपराधाः कृता इत्याह—जननीति । स्पष्टम् । ।८४२ । । जनन्या हितकारितामभिनयति—योनियन्त्रमिति चतुर्भिः । यस्या योनियन्त्रं क्रकचवद् विदार्य अहं कीटवद् निर्गतः । कीदृशोऽहम् ? अनन्तदुःखानां कारणभूतः । तथा च मदुत्पत्तये ययाऽनन्तदुःखान्यङ्गीकृतानीति स्पष्टं हितकारित्वम् । ।८४३ । । यया मूत्रमिति । तथा यया जनन्या मम शरीरशोधनाय मदीयं मूत्रं तथाऽमेध्यं पुरीषं स्वकीयाद् हस्ताद् उद्धृतं उपरि धृतं प्रक्षेपायेति शेषः । ।८४४ । ।

आवाज़ें करता है । ।८३८ । । परलोकयात्रा के समय चिदाभासयुक्त अंतःकरण—जिसे कर्मात्मा भी कहते हैं—ऐसी आवाज़ें निकालता है : 'हाय मैं कितना शोचनीय हूँ कि विनयशील पुत्रों को छोड़कर जाना पड़ रहा है! हाय नौजवान पत्नी छोड़कर जा रहा हूँ । हाय बहुत कष्ट से कमायी नाना प्रकार की धन-संपत्ति छोड़कर जा रहा हूँ! हाय अच्छे दोस्त और बंधुओं की संगति छोड़नी पड़ रही है! इन्हें छोड़कर जाते हुए मुझ पापी को धिक्कार है । लम्बा रास्ता है और मैं अकेला ही यहाँ से हमेशा के लिये जा रहा हूँ! । ।८३९-८४० । । बचपन में मैं अतिबलिष्ठ था तो दुर्बल बालकों की खूब भर्त्सना करता था, कभी उन्हें पीट भी देता था । कभी तो मैंने देवमूर्तियों के माथों पर पैर भी रख दिये थे, देवताओं का अनादर किया था । ।८४१ । । जो मेरा हित करने वाली माँ थी जिसने मुझे पहले गर्भ में रखा था, जो पेट में पत्थर ढोने जैसी असह्य पीडा देने वाला कार्य है, उस माँ को भी मैंने क्लेश दिया । मैंने आरी जैसा होकर उसके योनियंत्र को काट डाला और स्वयं बाहर निकल आया मानो कोई कीड़ा हो ! मैं उस माँ के अनंत दुःखों का हेतु बना । ।८४२-४३ । । मेरा

अन्नपानरसः स्वात्मभक्षितः स्तनसंस्थितः। दत्तो मह्यं यया पूर्वं जीवनाय दिवानिशम्।।८४५।।

वंचयित्वाऽपि चात्मानमन्नपानमनेकधा। मह्यं दत्तं यया स्नेहसम्पूर्णनयनाब्जया।।८४६।।

सा मया बालभावेन राक्षसीवावधारिता। ताडिता च कठोरैस्तैः कर्णबाणैः सुदुःसहैः।। न कृतं वचनं तस्या यथाऽनाप्तजनेरितम्।।८४७।।

पित्रादयस्तथा वृद्धा ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः। सुहृदो बहवश्चान्ये हता निष्ठुरवाक्यतः।।८४८।।

भक्षितान्यप्यभक्ष्याणि निन्दितानि बहून्यपि। कर्माणि च कृतान्येवं बाल्यतो लोकशास्त्रयोः।।८४९।।

यौवने सततं चित्ते संस्थाप्य युवतिं प्रियाम्। ध्यातवान् देववन्मूढः स्वस्य वापि परस्य च।।८५०।।

दुष्पूरेणापि लोभेन वर्द्धमानेन नित्यशः। हृतानि साधुलोकानां मया वित्तानि भूरिशः।।८५१।।

हिरण्यं सपशून् दारान् गृहक्षेत्रधनादिकम्। हृतवानस्मि लोभेन विप्रादेर्न्यायवर्तिनः।।८५२।।

यूनो मम सदा याता दिवसा लिप्सयैव हि। वधूजनसमाश्लेषाद् रात्रयोऽपि गतास्तथा।।८५३।।

ब्रह्महत्यादिकं पापं यच्च[1] तत्र मया कृतम्। नानाविधमनन्तं तद् दुःखराशिफलप्रदम्।।८५४।।

अन्नेति। तथा यया जनन्या स्वभक्षितोऽन्नपानादिरसः क्षीररूपेण स्तनस्थितो मह्यं दत्तो मज्जीवनायेति।।८४५।। वंचयित्वेति। तथा च यया जनन्या आत्मानं वंचयित्वाऽपि आत्मने न दत्वेति यावत्, अन्नादिकं मह्यं दत्तम्। कीदृश्या? प्रेमाश्रुप्लुतनयनया।।८४६।। सेति। सा वर्णिता जननी मया राक्षसीवदनादृता, कर्णलग्नबाणवद् दुःसहैः कठोरवाक्यैः ताडिता च इति। तथा तदीयं वचनम् अनाप्तवाक्यवद् न अनुष्ठितम्।।८४७।। तथा पित्रादयः क्रूरवाक्यैस्ताडिता इत्याह—पित्रादय इति।।८४८।। भक्षितानी। एवमभक्ष्यभक्षणादीनि निन्दितकर्माणि कृतानि, लोकशास्त्रव्यवहारयोः बाल्याद् अबोधात्।।८४९।।

यौवनानौचित्यस्मृतिपूर्वकान् शब्दानभिनयति—यौवन इति पञ्चभिः। यौवने स्वकीयां परकीयां वा युवतिं चित्ते धृत्वा देववत् ध्यातवान् अस्मि, नेश्वरम्।।८५०।।दुष्पूरेणेति। स्पष्टम्।।८५१।। हिरण्यमिति। न्यायानुसारिवृत्तिमतो विप्रादेर्हिरण्यादिकं हृतवानस्मि।।८५२।। यून इति। लिप्सा लाभेच्छा।।८५३।। ब्रह्मेति। तत्र यौवने यद् ब्रह्महत्यादि कृतं तद् अनन्तदुःखदं भविष्यति।।८५४।।

मल धोने के लिये उसने अपने कमल जैसे हाथों से मेरा टट्टी-पेशाब बार-बार उठाकर दूर किया।।८४४।। स्वयं खाकर जो अन्न-पेयका रस उसने अपने स्तनों में रखा था वह उसने मुझे जीवित रखने के लिये दिन-रात पिलाया।।८४५।। स्नेह से भरे नेत्र-कमलों वाली माँ ने खुद न भी खा-पीकर नाना प्रकार का खान-पान मुझे दिया।।८४६।। ऐसी माँ को मैंने बचपने के कारण राक्षसी जैसा माना और कानों में वाण जैसे लगने वाले कठोर वचनों से उसे प्रताडित किया। उसकी आज्ञायें भी मैंने नहीं मानीं मानो किसी ऐसे व्यक्ति के वचन हों जिसकी कोई कीमत नहीं।।८४७।। पिता आदि वृद्ध, विद्वान् ब्राह्मण, हितैषी और अन्य बहुतेरों को मैंने निष्ठुर वचनों से दुःखी किया।।८४८।। लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारों से बचपन के कारण अनभिज्ञ था अतः अभक्ष्य-भक्षण आदि बहुत-से निंदनीय कर्म मैंने किये। (यों मेरा बचपन बुराइयों में ही बीता।)।।८४९।।

जब मैं जवानी में पहुँचा तब अपनी या पराई जो जब प्रिय लगी तब उसी युवति को अपने चित्त में स्थापित कर मुझ मूर्ख ने उसका यों ध्यान किया मानो वही ईश्वर हो!।।८५०।। कभी पूरा न होने वाले, बल्कि हमेशा बढ़ते

१. महापातकिनां संगोऽपि तत्तुल्यदोषावहः।

यदाऽहं जरया ग्रस्तः स्वाङ्गसंचालनाऽक्षमः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तदा मेऽभ्यधिकोऽभवत्।।८५५।।
कामातुरस्य चलितुं शक्त्या विरहितस्य मे। युवतीनामसंप्राप्त्या दुःखं प्राप्त्याऽप्यभून्महत्।।८५६।।
क्रोधाग्निदीप्तगात्रस्य वृद्धस्याशक्तिभाजिनः। यदासीन्मम दुःखं तच्चेतनः कः सहेत ना।।८५७।।
लोभाकुलितचित्तस्य ह्यसमर्थस्य यन्मम। दुःखमासीत् तदेवैकं ब्रह्महत्याफलोपमम्।।८५८।।
कामः क्रोधस्तथा लोभो हृदये योऽभवन्मम। वृद्धस्य तेन तच्चित्रं यन्न दीर्णं हृदम्बुजम्।।८५९।।
अत्र जायास्तथा पुत्रा वार्द्धके समुपस्थिते। कृतवन्तो ममावज्ञां कृमिदष्टशुनो यथा।।८६०।।
कामः क्रोधस्तथा लोभश्चतुर्थो मोह एव च। बाल्यादारभ्य वर्तन्ते सर्वदा नाशवर्जिताः।।८६१।।
दिवसे दिवसे वृद्धिर्वह्नेः प्रज्वलतो यथा। कामादीनां तथा वृद्धिर्दिवसे दिवसे मम।।८६२।।

जरागतानौचित्यस्मृतिपूर्वकान् शब्दान् अभिनयति—यदाहम् इति षड्भिः। स्वाङ्गानां सम्यक् चालनेऽशक्तः।।८५५।। कामातुरस्येति। तत्रावस्थायां युवतीनाम् अप्राप्त्या कामातुरत्वेन दुःखं, तासां प्राप्तौ तु शक्तिराहित्येन दुःखमभूदिति।।८५६।। क्रोधाग्नीति। तथा तत्राऽवस्थायां क्रोधकाले यद् दुःखम् अभूत् तत् चेतनो ना पुरुषः कः सहेत! इति।।८५७।। तथा तत्र लोभदुःखं ततोऽभ्यधिकमित्याह—लोभेति।।८५८।। हृदयच्छिद्रवासिभिः अतिवर्द्धमानैः कामादिभिर्हृदयं यत् कर्कटीवद् न विदीर्णं, तदेव चित्रमित्याह—काम इति। वृद्धस्य मम हृदये यः कामादिः अभवत् तेन हृदम्बुजं यन्न विदारितम् एतदेव चित्रम् इत्यन्वयः।।८५९।। अत्रेति। अत्र वार्द्धके वृद्धत्वे प्राप्ते जायादयो ममावज्ञां सकृमिशुन इव कृतवन्तः।।८६०।। न केवलं जरायामेवैते कामादयः किन्तु बाल्यादावपि। तथा च तेषामुपशमासम्पादनेन वृथा जन्म गतमित्याह—काम इति।।८६१।। कामादेर्विषयप्राप्त्या तु न शान्तिः, यथाऽऽहुत्यादीनामिन्धनानां प्राप्त्या वह्नेरित्याह—दिवस इति। प्रज्वलतः लब्धेन्धनस्य।।८६२।।

अथ मरणकालिकदुःखानुसन्धानजान् शब्दानाह—एवमित्यादिना। एवं कामाद्यनुपशमेन दीनतमं मां मीनं

रहने वाले लोभ से मैंने सज्जनों के धन का खूब हरण किया।।८५१।। न्यायोचित वृत्ति वाले ब्राह्मणादि के भी स्वर्ण, पशु, पत्नी, घर, खेत, धन आदि का मैंने लोभ के कारण अपहरण किया।।८५२।। मुझ जवान के दिन हमेशा कुछ-न-कुछ पाने की इच्छा से घिरे बीतते थे और रातें बीतती थीं कान्तालिंगन में बँधकर।।८५३।। जवानी में मैंने जो ब्रह्महत्यादि विविध पाप किये उनका फल अनंत दुःखसमूह ही मिलना है।।८५४।। (इस तरह मेरी युवावस्था नीच कर्मों से ही भरी रही।

जब मुझे बुढ़ौती ने घेर लिया तब अपने अंग भी ठीक से चलाने में मैं असमर्थ हो गया। मेरे काम-क्रोध-लोभ भी बढ़ गये।।८५५।। तब मैं कामातुर भी रहता था पर चलने की भी मुझमें शक्ति थी नहीं अतः युवतियाँ मिलने-न मिलने दोनों हालतों में मुझे दुःख ही होता था।।८५६।। मुझ अशक्त वृद्ध का शरीर क्रोधरूप अग्नि से जल उठता था; वह दुःख कौन चेतन पुरुष सह सकता है।?।।८५७।। लोभ से आकुल चित्त वाले मुझ सामर्थ्यहीन को जो दुःख होता था वह अकेला ही ब्रह्महत्या के फल के बराबर है!।।८५८।। यही आश्चर्य की बात है कि मुझ वृद्ध का हृदय उसमें होने वाले काम-क्रोध-लोभ से फट नहीं गया!।।८५९।। जब मैं बुड्ढा हो गया तब मेरी पत्नी व पुत्रों ने मेरी वैसे ही अवज्ञा की जैसे उस कुत्ते की की जाती है जिसमें कीड़े पड़ गये हों।।८६०।। काम-क्रोध-लोभ-मोह बालकपन से ही मौजूद हैं, ये नष्ट न होकर हमेशा बने ही रहते हैं।।८६१।। जिस दावाग्नि आदि को इंधन मिलता जाये वह जैसे दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है ऐसे मेरे कामनादि प्रतिदिन बढ़ते गये।।८६२।। मैं जीवन भर पाप इकट्ठा करने में लगा रहा और इस अत्यंत दीन स्थिति में पहुँचा। मैं मानो एक मछली हूँ; मेरा घर ही पोखरी है जिसका गँदला पानी खेत-पत्नी आदि हैं।

एवं दीनतमावस्थागतं पापार्जने रतम्। मृत्युधीवर एषोऽत्र मां मीनं नेतुमागतः।।८६३।।

गृहे क्षेत्रकलत्रादिदुर्जले पल्वले स्थितम्। दुःखत्रयार्कसन्तप्तं कामादिरजसावृतम्।।८६४।।

हा कष्टं! मम गात्राणि कृन्तत्येष सुनिर्घृणः। सूनागृहे विनोदेन क्रकचेन पशोर्यथा।।८६५।।

सूचीभिरिव सर्वाङ्गं भिनत्त्यत्र हि कोऽपि मे। हस्तौ पादौ च वर्तेते मम काष्ठसमाविमौ।।८६६।।

नेत्रे मे वलनं प्राप्ते नाऽहं पश्यामि कञ्चन। मनसा सहितान्यत्र मम सर्वेन्द्रियाण्यपि। स्ववशानि न वर्तन्ते दुर्दान्ताः पशवो यथा।।८६७।।

कण्ठो मे रोधितो भूरिश्लेष्मणा दुःसहेन हि। जाठरः पावकस्त्वेषोप्युपर्युपरि सर्पति। पवनेन समं देहं शोषयंश्च दहंस्तथा।।८६८।।

दशन्ति यदि गात्रेषु वृश्चिका विषकण्टकाः। सर्वेषु कोटिसंख्याता भूयो भूयश्च कोपिताः।।८६९।।

तैर्व्यथा यादृशी नृणां तादृशी मम जायते। इत्यादीन् बहुशः सोऽपि शब्दान् कुर्वन् व्रजेदितः।।८७०

अपि वाचो निरोधोऽपि कण्ठे घुरघुरादिकान्। आप्राणनिर्गमं शब्दान् मुमूर्षुस्त्विह मुञ्चति।। स नाऽऽवर्तत एवाऽयं मुमूर्षुर्याति देहतः।।८७१।।

मृत्युरूपो धीवरो नेतुमागतः। कीदृशं मां मीनम्? गृहरूपे पल्वले स्थितम्। कीदृशे गृहपल्वले? कलत्रादिरूपेण दुष्टेन मलिनेन जलेन पूर्णे। पुनः कीदृशं मां मीनम्? दुःखत्रयरूपार्कतापतप्तम्। पल्वलमीनो रजसा पङ्केन मलिनो भवति, तथाऽहं कामरूपरजसेति द्वयोरर्थः।।८६३-८६४।। हा कष्टमिति। कृन्तति छिनत्ति एष मृत्युः यथा सूनागृहे नानापशुवधस्थाने विनोदार्थं क्रकचेन पशोर्गात्राणि कृन्तेत् तद्वत्।।८६५।। सूचीभिरिति। भिनत्ति विद्धयति कोऽपि अलक्षितः।।८६६।। नेत्रे इति। वलनं विपर्यासम्। तथा समनस्कानीन्द्रियाणि अपि अशिक्षितवृषभवद् वशे न सन्तीति।।८६७।। कफादीनां त्रयाणाम् उद्रेकं दर्शयति—कण्ठ इति। कफेन कण्ठो रोधितो निरुद्धः, उदराग्निश्च दाहरूपः पवनसहित ऊर्ध्वमाक्रामतीति।।८६८।। तदानीन्तनीं पीडां दृष्टान्तेन स्फुटयति—दशन्तीति। विषविशिष्टाः पुच्छकण्टका येषामेतादृशा वृश्चिकाः कोटिसंख्याताः सकोपाश्च भूयो भूयो यदि दशेयुः तज्जन्यपीडासमा पीडा मम वर्तते। इत्यादिशब्दान् कुर्वन्नितः अस्माच्छरीराद् व्रजेद्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८६९-८७०।। अपि वाच इति। किं च वाचो निरोधोऽपि यदि भवेत् तथापि घुरघुराद्याकाराः शब्दाः श्रूयन्त एव। अयं एवंविधशब्दमोक्ता मुमूर्षुः देहतो यात्येव, पुनरिमं देहं प्रति नाऽऽवर्तत इत्यन्वयः।।८७१।।

तीनों (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) दुःख वह तेज़ धूप हैं जिनमें मैं छटपटा रहा हूँ और कामना आदि कीचड़ से लिपटा हुआ हूँ। ऐसे मुझे लेने यह मृत्युरूप धीवर (मछलीमार) उपस्थित हो गया है।।८६३-८६४।। हाय कितना कष्ट है! जैसे बूचड़खाने में पशुशरीरों को मज़ाक में ही आरे से काट डालते हैं ऐसे यह करुणाहीन मृत्यु मेरे अंग-प्रत्यंग काट रहा है।।८६५।। लगता है कोई मेरे सारे शरीर में सुइयाँ चुभो रहा है। मेरे हाथ-पैर लकड़ी-से निष्प्राण हो गये हैं।।८६६।। मेरी आँखें उलट रही हैं। कुछ नहीं देख पा रहा हूँ। मेरा मन और सभी इंद्रियाँ मेरे वश में नहीं रह गये जैसे अशिक्षित पशु वश में नहीं रहते।।८६७।। असह्य बढ़े हुए कफ से मेरा गला रुँध रहा है। यह पेट की गर्मी भी ऊपर की ओर बढ़ रही है, साथ ही वायु भी ऊर्ध्वगति हो रहा है। मेरा शरीर सुखाते व जलाते हुए ये वायु और अग्नि सिमटते जा रहे हैं।।८६८।। जिनकी पूँछ में जहर के काँटे हैं ऐसे करोड़ों बिच्छुओं को बार-बार छेड़ कर क्रोधित किया जाये और वे हमारे सारे शरीर पर बारम्बार डंक मारें तो जैसी पीडा होगी वैसी मुझे हो रही है।'—इस तरह की बहुतेरी

सुषुप्तौ यद्वदेवाऽयं परमानन्दमाप्नुयात्। प्राज्ञं हृदि स्थितं तद्वद् मरणेऽप्येष गच्छति।।८७२।।
यथा विशेषविज्ञानरहितः सुप्तिगो भवेत्। तथा विशेषविज्ञानरहितो मरणे पुमान्।।८७३।।
तत एव मृतौ जन्तोर्भवेत् प्राज्ञेन सङ्गमः। तादात्म्यं तेन सम्प्राप्य शब्दान् मुञ्चन् व्रजत्यदः।।८७४।।
कृतकर्मानुसारेण स्थानं सोऽप्यात्मनो यतः। ऊर्ध्वश्वासी यदा भूयाद् मुमूर्षुर्दीनधीः पुमान्।।८७५।।

देहान्तरलाभः

स पूर्वं दुर्बलो भूत्वा प्रायः पश्चादयं भवेत्। यदाप्यस्य भवेद् देहे दौर्बल्यमणुमात्रकम्। तदा तज्जरया वा स्याद् व्याधिभिर्वाऽपि देहिनः।।८७६।।

एवं सूक्ष्मशरीरस्य सचिदाभासस्य शकटसाम्यं प्रपंचितम्। अथ सारथिसमेन परमेश्वरेण सम्बन्धं दर्शयति—सुषुप्ताविति। परमानन्दरूपं प्राज्ञम् ईश्वरम्।।८७२।। मरणकाले कारणोपाधिकेश्वरप्राप्तौ हेतुतया विशेषज्ञानलक्षणकारणाऽविद्याया अभावमाह—यथेति। स्पष्टम्।।८७३।। तत इति। ततो विशेषज्ञानाभावरूपहेतोः एव जन्तोः मृत्युकाले प्राज्ञेन ईश्वरेण कारणोपाधिकेन जन्तोः सङ्गमः सम्बन्धो भवति। एतेन प्राज्ञेन तादात्म्यं सम्बन्धं प्राप्य वर्णितशब्दान् मुञ्चन् सन् अदः परोक्षं स्थानं शरीरान्तररूपम् आत्मनः सम्बन्धीनि यानि कृतकर्माणि तदनुसारेण याति यतो मरणकाले मुमूर्षुर्दीनधीः भवति। कदा दीनधीर्भवतीति चेद्? यदा ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८७४-८७५।।

अथ पूर्वशरीरत्यागोत्तरशरीरप्राप्तिप्रकारप्रतिपादिकायाः षट्त्रिंशत्तम्याः कण्डिकाया[1] अर्थमाह—स पूर्वमित्यादिपञ्चचत्वारिंशच्छ्लोकैः। प्रायो बाहुल्येनेयं रीतिर्यत् स मुमूर्षुः पूर्वं दुर्बलो भूत्वा पश्चादयम् ऊर्ध्व-

आवाज़ें करते हुए वह जीव इस स्थूल शरीर से प्रयाण करता है।।८६९-८७०।। जब वाणी बंद हो जाती है, कुछ भी बोल नहीं पाता, तब भी कण्ठ में घुर-घुर आदि आवाज मुमूर्षु तब तक निकालता रहता है जब तक उसके प्राण निकल नहीं जाते। यह मुमूर्षु शरीर से चला ही जाता है, इसमें पुनः लौटकर नहीं आता।।८७१।। इस प्रकार बताया कि जैसे छकड़ा चर्र-मर्र करता जाता है ऐसे सूक्ष्म शरीर उक्त आवाज़ें करता हुआ निकलता है।

अब बताते हैं कि सारथिस्थानीय परमेश्वर से तब कैसा सम्बंध होता है—सुषुप्ति में आत्मा हृदयस्थित परमानंदरूप प्राज्ञ को जैसे प्राप्त करता है उसी प्रकार मरने पर भी उसे प्राप्त करता है।।८७२।। जैसे सुषुप्ति में गया पुरुष विशेषानुभवों से रहित होता है उसी तरह मरणावस्था में भी।।८७३।। इसीलिये मृत्युकाल में जन्तु का ईश्वर से सम्बंध हो जाता है। दीनता का अनुभव करने वाले मरणासन्न पुरुष का जब साँस उखड़ जाता है तब वह ईश्वर से तादात्म्य पाकर पूर्वोक्त ढंग की आवाज करते हुए उस दूर जगह—अर्थात् नये शरीर की ओर चल देता है जो इसे खुद किये कर्मों के अनुसार मिलना है। (मृत्युकाल में जीव अपने सूक्ष्म शरीर का संचालन कर नहीं सकता और बिना चेतनसंबंध के शरीर में गति हो नहीं सकती इसलिये जीव ईश्वर से अभिन्न हो जाता है और वह ईश्वर सूक्ष्म शरीर को गति प्रदान कर देता है। यह अभेदप्राप्ति वैसी ही है जैसी सुषुप्ति में होती है।)।।८७४-८७५।।

आगे श्रुति में कहा है कि बुढ़ापे, रोग आदि से कमज़ोर हुआ व्यक्ति जब मरने लगता है तब इन देहांगों से वैसे ही अलग हो जाता है जैसे आम आदि फल टहनी से टूट जाते हैं। यहाँ से वह यथोचित मार्ग से कर्मानुरूप शरीर में प्राणधारण करने के लिये चल देता है। यों पूर्वदेह छोड़ना व अगला शरीर पाना वहाँ बताया है। इसे अब पुराण में समझाते है :

---

१. 'स यत्राऽयमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद्यथाऽऽम्रं वौदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति प्राणायैव।।३६।।'

तत्र देहस्य मोक्षेऽस्मिन् दृष्टान्तं शृणु भूपते। आम्रोदुम्बरसंज्ञानां पिप्पलानां यथा फलम्।
पक्वं वृन्तात् पतेदेव प्रतीकारविवर्जितम्।।८७७।।

एवमस्य शरीरस्य हेतोरारम्भकस्य हि। कर्मणः प्रक्षये देही देहमेतं प्रमुञ्चति।।८७८।।

फलानां तरुभिर्यद्वत् तादात्म्यं पतनात् पुरा। मरणात् पुरतस्तद्वत् स्थूलैर्देहैरिहात्मनः।।८७९।।

तादात्म्येऽपि यथा दृष्टो वियोगः तरुभिः सदा। फलानामात्मनोऽप्येवं वियोगः स्याच्छरीरकैः।।८८०।।

निराधारं यथा नैव फलं नभसि तिष्ठति। वृन्ताद्विनिर्गतं स्वस्मात् सर्ववृक्षसमुद्भवम्।।८८१।।

एवमात्मा विनिर्गम्य पूर्वस्माद् वपुषः सदा। यथागतं यथादेहं वपुरन्तरमाव्रजेत्।।८८२।।

श्वासोपलक्षितदीनधीत्वविशिष्टो भवतीति प्रथमदलार्थः। तच्च दौर्बल्यं द्वाभ्यां हेतुभ्यां भवति—जरया, श्रुतौ उपतपच्छब्दोक्तेन रोगेण वेत्याह—यदापीति दलद्वयेन।।८७६।। तत्रेति। तत्र उक्तदशायां पूर्वदेहत्यागे दृष्टान्तो यथा—आम्रादिवृक्षाणां पक्वं फलं प्रतीकारेण प्रतिरोधोपायेन वर्जितं सद् वृन्ताद् बन्धनादवश्यं पततीति।।८७७।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। हेतोः स्थितिप्रयोजकस्य आरम्भकस्य प्रारब्धफलकस्य कर्मणः प्रक्षये सति देही देहं त्यजति इति।।८७८।। दृष्टान्तस्वारस्यमाह—फलानामिति। स्कन्धादिफलपुष्पपल्लवान्तानाम् अवयवानां समुदायरूपो हि वृक्ष इत्यतः पतनात् पूर्वं फलानां वृक्षेण तादात्म्यम् इति भावः। तथा आत्मनः अपि देहेन आविद्यकं तादात्म्यमिति।।८७९।। नन्वभेदेन भासमानस्य शरीरस्य कथं वियोगो भवतीति कस्यचिन्मन्दमतेः शङ्काऽप्यनेन दृष्टान्तेन निरस्तेत्याशयेनाह—तादात्म्येऽपीति। यथा पतनात्पुरा फलानां तरुभिः सह तादात्म्येऽपि प्रतीयमाने, वियोगो भवति; तथा शरीरैः 'अहं गौर' इत्यादिविधयाऽऽत्मतादात्म्येन भासमानैः आत्मनो वियोगो भवतीत्यर्थः।।८८०।।

एवं पूर्वशरीरं त्यक्त्वा शरीरान्तरमवश्यं यातीत्याह—निराधारमिति द्वाभ्याम्। यथा वृक्षफलजातं स्वस्माद् वृन्ताद् बन्धनाद् विनिर्गतं वियुक्तं सद् निराधारं निरालम्बनं न तिष्ठति किन्त्वाश्रितमेवावतिष्ठते, तथाऽऽत्माऽपि पूर्वशरीराद् विनिर्गम्य शरीरान्तरं व्रजेत्। तच्च शरीरान्तरगमनं यथागतं पूर्वशरीरप्राप्तिप्रकारम् अनतिक्रम्य, तथा यथादेहं पूर्वदेहसजातीयदेहप्राप्तिमनतिक्रम्य। इति द्वयोरर्थः। अत्र 'यथागत-यथादेह'-पदाभ्यां 'प्रतियोन्या'-दिपदद्वयस्यार्थो दर्शितः।।८८१-८८२।।

प्रायः ऐसा होता है कि व्यक्ति पहले दुर्बल होता है फिर मरणासन्न होता है। प्राणी के शरीर में जब थोड़ी भी दुर्बलता होती है तब या बुढ़ापे से और या रोगों से होती है।।८७६।। हे भूपति! दुर्बल होने के बाद शरीर छोड़ने में दृष्टांत सुनो : आम, गूलर, पीपल आदि का पका फल वृन्त से गिर ही पड़ता है, इसके प्रतिरोध का उसके पास कोई उपाय नहीं। (टहनी से फल जिस पतली दण्डी के सहारे जुड़ा होता है उसे वृन्त कहते हैं।) इसी प्रकार इस स्थूल शरीर की स्थिति रखने वाले प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होने पर देही जीव इस देह को पूरी तरह छोड़ देता है, रुकने का इसके पास कोई उपाय नहीं।।८७७-८७८।। गिरने से पहले जैसे फलों का पेड़ों से तादात्म्य होता है (क्योंकि 'वृक्ष' ऐसा व्यवहार पत्ते-फूल-फल आदि सहित को भी विषय करता है और फल को अलग भी समझा जाता है। अथवा फल वृक्ष का अंग होने से उनमें तादात्म्य है; या फलका उपादान भी उसे समझ सकते हैं।) उसी प्रकार मरने से पहले स्थूल शरीरों से आत्मा का (अध्यासरूप) तादात्म्य होता है।।८७९।। तादात्म्य होने पर भी जैसे वृक्षों से फलों का वियोग देखा ही जाता है ऐसे ही इन कुत्सित शरीरों से आत्मा का वियोग भी होता ही है।।८८०।। वृक्षमें उत्पन्न सभी फल अपने-अपने वृन्तों से वियुक्त होने पर आकाश में निराधार नहीं रुकते (वरन् भूमि आदि किसी आधार पर ही आकर

यथागतं यथादेहं प्रायिकं परिकीर्त्यते। देहाद्विनिर्गतो देहं यात्येतन्नियतं स्मृतम्।।८८३।।
ब्रह्मज्ञानं विना नैव सूक्ष्मं देहं[1] विनश्यति। स्थूलं देहं विना नैव सूक्ष्मो देहोऽवतिष्ठते।।८८४।।
संस्कारदोषभावे स्यात् स्थूले वा वपुषि स्थितिः। सूक्ष्मदेहस्य संसारे द्वयी गतिरुदाहृता।।८८५।।
यातनासु तथा स्वर्गे ब्रह्मलोकेऽथ वाऽपि च। भोगः सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलदेहं विना न हि।।८८६।।
सूक्ष्मेण वपुषा नाम भवताद् गमनं बहिः। सूक्ष्मदेहस्थितिर्नैव स्थूलदेहान्तरं विना।।८८७।।

अत्र 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायेन अवधारणवाचकस्य एवकारस्य निवेशो वपुरन्तरमाव्रजेद् इत्यंशे कर्तव्यो, न तु यथागतमित्यंश इत्याह—यथागतमिति। यथागतं यथादेहम् इति यदुक्तं तत् प्रायिकं बाहुल्याभिप्रायेणोक्तं, न तु नियतं सावधारणम्। देहान्तरं यातीत्येतावत्तु नियतमिति सम्बन्धः।।८८३।।

अथास्य श्लोकस्यार्थं स्फुटयन्, तत्र देहान्तरप्राप्तिनियममुपपादयति—ब्रह्मज्ञानमिति सप्तभिः। ब्रह्मज्ञानं विना अविनाशिनः सूक्ष्मशरीरस्य आश्रयेण येन केनचित् स्थूलशरीरेण अवश्यं भवितव्यमित्यर्थः।।८४४।। सूक्ष्मशरीरस्याश्रयापेक्षां विशदयति—संस्कारेति। सूक्ष्मशरीरस्य संसारदशायां द्वयी द्विविधा गतिः अवस्थेति यावत्; यतः सुप्त्यादिकाले संस्काराख्यदोषभावे सूक्ष्मशरीरस्थितिः कारणाज्ञाने संस्काररूपतया स्थितिरिति यावत्। अन्यदा तु स्थूलशरीरालम्बनेन स्थितिरिति।।८८५।। तत्र द्वितीयायां गतौ हेतुतया भोगार्थं सृष्टस्य सूक्ष्मस्य स्थूलं विना भोगजननासामर्थ्यमाह—यातनास्विति। यातनासु पापफलतीव्रपीडाभोगस्थानेषु नरकेषु।।८८६।। ननु—कथं सूक्ष्मस्य गतिद्वयमेवेत्युच्यते, यतः शरीराद् बहिर्निर्गमनलक्षणोत्क्रान्तिकाले तथा परलोकं प्रति गमनकाले आत्मन उत्क्रान्त्यादावुपाधिभूतत्वेन स्थितस्य सूक्ष्मस्य तृतीयाऽपि गतिरङ्गीकार्या, 'संस्कारभावः स्थूलशरीरालम्बनं वा' इत्युक्तयोर्गत्योस्तदानीमसम्भवाद्—इति चेद्? अस्तु तादृशी सूक्ष्मशरीरावस्था, तथापि सा भोगक्षमा न भवति इत्याह—सूक्ष्मेणेति त्रिभिः। यद्यपि केवलेन सूक्ष्मेण वपुषा शरीरेण स्थूलशरीराद् बहिः निर्गमनम् उत्क्रान्त्यादिसंज्ञं भवतु नाम तथापि भोगोपयोगिनी सूक्ष्मदेहस्थितिः स्थूलदेहान्तरम् अन्यत् स्थूलदेहं विना न भवतीत्यर्थः।।८८७।। एतदेव स्फुटयति—अस्त्विति। न चेति चकारो भिन्नक्रमः, अन्यशब्दोत्तरं द्रष्टव्यः। तथा

स्थिर होते हैं), इसी प्रकार आत्मा पूर्व शरीर से निकलकर हमेशा अन्य शरीर ग्रहण कर ही लेता है। जिस ढंग से पूर्व शरीर लिया था उसी ढंग से पुनः नया शरीर प्राप्त करता है।।८८१-८८२।। नया शरीर और उसे ग्रहण करने का ढंग पहले जैसा ही हो यह प्रायः होता है, हमेशा नहीं। इतना निश्चित है कि एक शरीर से जो निकलता है वह अन्य शरीर जरूर पाता है। (देहान्तरसम्बन्धी आत्मा शास्त्र के आधार पर सिद्ध है, अन्य प्रमाणों से नहीं। शास्त्र अन्य देहों की वर्तमान देह से विजातीयता भी संभव मानता है, यह श्लोक ८१२ आदि में स्पष्ट करेंगे। अतः वर्तमान योनि वाला जीव भूत-भविष्य में भी उसी योनि में नियत है यह कुछ अविचारशीलों का प्रचार युक्ति व प्रमाण से विरुद्ध है।)।।८८३।।

ब्रह्मज्ञान के बिना सूक्ष्म शरीर समाप्त नहीं होता और सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर के आश्रित नहीं होता अतः उसके आश्रयभूत किसी-न-किसी स्थूल शरीर का होना अनिवार्य है।।८८४।। संसारावस्था में सूक्ष्म शरीर की दो ही गतियाँ बतायी गयी हैं—या वह कारणभूत अज्ञान में संस्काररूप से रहता है और या किसी स्थूल शरीर में व्यवहार करते हुए रहता है।।८८५।। जहाँ यातनायें मिलती हैं उन नरकों में, स्वर्ग में या ब्रह्मलोक में--कहीं भी स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्म शरीर कोई भोग नहीं कर सकता। (सूक्ष्म बना है भोग के लिये अतः स्थूल का सहारा उसे लेना ही पड़ेगा।)।।८८६।। स्थूल देह छोड़ते वक्त सूक्ष्म शरीर बाहर निकलने की क्रिया आदि भले ही कर ले लेकिन उसकी

---

१. सुषुप्तिप्रलययोर्यद्यपि तद् नश्यति, कारणभावस्यैव नाशत्वात्, तथापि जाग्रदादौ सृष्ट्यादौ च सूक्ष्मस्योद्भवे 'तदेवेदम्' इति प्रत्यभिजानातीश्वरोऽत एव कर्मफलं व्यवस्थापयति। स्थूलस्य नाशो यद्यपि तथैव, तथापि नूलस्थूले प्रत्यभिज्ञाभावात्तस्य नष्टत्वव्यवहारः। प्रत्यभिज्ञाबलादेव सूक्ष्मस्य न तथा व्यवहारः। तत्त्वज्ञानेन तु सूक्ष्मेण सह सर्वस्य प्रपंचस्य बाधलक्षण एव विनाशः क्रियते।

अस्तु नाम गतिर्योऽयं भोगो दुःखफलोऽत्र सः। सूक्ष्मदेहे न चान्यः स्यादन्नपानादिना कृतः।।८८८

गच्छन् गृध्रोऽपि नैवात्ति ह्यपि मांसं मुखे स्थितम्। कथं गच्छदिदं भोगं कुर्यादन्नादिसम्भवम्।।८८९।।

एतस्मात्तत एवाऽयं स्थूलाद् देहाद् विनिर्गतः। सूक्ष्मो देहो व्रजेद् देहं स्थूलमन्यं स्वभोगदम्।।८९०।।

ततो देहाद् विनिष्क्रान्तो देही देहान्तरं व्रजेत्। नियतं नैव नियतं यथादेहं यथागतम्।।८९१।।

नारकाः प्राणिनः केचिद् भवन्ति मनुजा भुवि। कदाचित् सुकृतात् स्वर्गे देवा अपि भवन्ति ते।८९२

च—सूक्ष्मशरीरस्य गतिर्नाम प्रसिद्धा भवतु, तथापि योऽयं भोगः सुखदुःखसाक्षात्काररूपः दुःखफलः 'परिणामतापसंस्कारदुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'[1] (२.१५) इति पातंजलसूत्रोक्तविधया दुःखफलकः, स तथा अन्यश्च भोगस्तत्साधनभूतः अन्नपानादिना कृतः अन्नादिजनितोपकारलक्षणः, स द्विविधोऽपि स्थूलशरीरवियुक्ते सूक्ष्मशरीरे न स्याद् इति सम्बन्धः।।८८८।। पूर्वशरीरं परित्यज्य उत्तरशरीरप्राप्तेः पूर्वं मध्यमार्गे न कोऽपि भोग इत्येतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—गच्छन्निति। यथा भक्षणशक्तो गृध्रोऽपि मुखे स्थितं मांसं गच्छन् सन् नात्ति न भक्षयति किन्तु कुत्रचित् स्थित्वैवात्ति। तथा च इदं सूक्ष्मशरीरम् अशक्तम् एतस्मात् स्थूलाद् गच्छत् सत् कथम् अन्नादिभोगं कुर्याद् इत्यन्वयः।।८८९।। फलितमाह—एतस्मादिति। प्रथमपदं पूर्वान्वयित्वेन व्याख्यातम्। ततः सूक्ष्मस्य भोगार्थं स्थूलापेक्षानियमात् सूक्ष्मो देहः स्थूलाद् देहाद् विनिर्गतः सन् अन्यं स्थूलं देहं स्वस्य सूक्ष्मस्य भोगोपकारकं व्रजेद् एवेति।।८९०।।

उक्तमनूद्य सजातीयशरीरप्राप्त्यंशे नियमो नास्ति इत्याह—तत इति। पूर्वार्द्धोक्ते यत् तद् नियतम्, चतुर्थपादेन तु यदुक्तं तद् न नियतम् इत्यन्वयः।।८९१।। तत्र हेतुतया मरणानन्तरम् अनिश्चितोदयकनानाविधकर्मवशाद् अनियतयोनिप्राप्तिदर्शनमाह—नारका इति द्वाभ्याम्। नारका नरकं भुक्त्वाऽवतीर्णाः संसृष्टपुण्यपापोदये

भोगोपयोगी स्थिति अन्य स्थूल देह के बिना नहीं हो सकती।।८८७। सूक्ष्म शरीर का स्थूल से निर्गमन भले ही देहांतर के बिना हो जाये लेकिन जो यह दुःखफलक भोग है तथा अन्न-पेय आदि से प्राप्त उपकार है, यह स्थूल शरीर के बिना अकेले सूक्ष्म शरीर में नहीं होता। (सभी भोग दुःखफलक हैं। या तो भोग पाप देंगे जिससे भविष्य में दुःख ही होना है। अथवा वे शरीर-मन में दोष पैदा करेंगे जो आगे दुःख देगा। या कम-से-कम अपना संस्कार तो छोड़ेंगे ही जो भोग समाप्त होने के बाद पुनः कामनारूप दुःख उत्पन्न करेंगे। अतः विवेकी के लिये विषयसुख भी दुःख ही हैं।)।।८८८।।

एक देह छोड़कर देहांतर में पहुँचने तक मार्ग में कोई भोग नहीं होता। गीध भी उड़ते हुए मुख में पकड़ा मांस नहीं खाता वरन् कहीं बैठकर ही खाता है तो यह सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीर से जाते हुए अन्नादि का भोग कैसे करेगा! (गीध खाने में समर्थ होकर भी नहीं खाता जबकि सूक्ष्म तो जाते समय भोगमें समर्थ है भी नहीं।)।।८८९।। इस तरह सूक्ष्म देह को भोग के लिये स्थूल देह की ज़रूरत रहती है इसलिये एक स्थूल देह से निकला सूक्ष्म देह ऐसे अन्य स्थूल देह की ओर जाता है जो उसे अपने में बैठकर भोग करने दे।।८९०।।

एवं च यह तो निश्चित है कि एक देह से निकला देही किसी अन्य देह में अवश्य जायेगा लेकिन जाने का ढंग और कहाँ जायेगा यह नियत नहीं (अर्थात् हमेशा एक-सा नहीं होता)।।८९१।। कभी ऐसा होता है कि नरक से मरकर आये प्राणी पृथ्वी पर मनुष्य बन जाते हैं और कभी वे पुण्यवश स्वर्ग में देवता भी बन जाते हैं। ऐसे ही किसी

१. परिणामो रागादिः, तापो धर्मादिः, संस्कारः पुनरिच्छाद्युत्पादक आशयः, एषामनिवार्यता दुःखहेतुता च विवेकिनं क्लिश्नाति। किंच गुणानां सत्त्वादीनां या वृत्तिर्व्यापारः कार्यमित्येतत्, सा त्रिगुणात्मिकैव 'न तदस्ति पृथिव्यां वा' (गी, १८.४०) इति स्मृतेः, गुणाश्च परस्परं विरुद्धाः, सोऽयं विरोधो वृत्तिषु भवति इति नैकान्तेन सुखं नाम किंचिल्लोक इति च विचारयतो दुःखमेव सर्वमिति सूत्रार्थः।

कुतश्चित् पापतो भूमौ देवा अपि भवन्ति च। गच्छेयुर्भूगतास्तेऽपि कदाचिद् नरकान् बहून्।।८९३
अनन्तभवसंजातपुण्यपापसमुत्थितैः। सूत्रैर्निबद्धाः संसारकाष्ठे क्रीडनमर्कटाः।।८९४।।
सर्वलोकस्थिताः सर्वे प्राणिनः स्थिरजंगमाः। क्रीडार्थं जगदीशेन शिशुना विश्वकर्मणा।।८९५।।
आकर्षयेद्धि यत्सूत्रं जगदीशो यदृच्छया। प्राणिनः पुण्यपापाख्यं तत्फलं यात्यनीश्वरः।।८९६।।
सर्वः प्राणी ततः केन गच्छेदेष यथागतम्। यथादेहं च सर्वोऽयम् ईश्वरस्य वशे यतः।।८९७।।
अत ईश्वर एवात्र पुण्यपापप्रवर्तकः। तयोः फलस्य दाता च गतौ देहे च कारणम्।।८९८।।
जन्तुरेष पराधीनः कर्मपाशवशङ्गतः। यथागतं यथादेहं कथमेयादनीश्वरः।।८९९।।
ब्रह्मा भवति यत्राऽयं तृणदेहस्थितः पुमान्। ब्रह्मदेहस्थितस्तद्वत् तृणं भवति तत्क्षणात्।।९००।।

मनुजा भवन्ति। त एव नारकाः कदाचित् केवलसुकृतोदये देवा अपि भवन्ति इति। तथा ये देवास्तेऽपि भूमौ मनुजत्वं प्राप्य नारकशरीराणि प्राप्नुवन्ति। इति द्वयोरर्थः।।८९२-८९३।।

ननु जीवैरलक्ष्यां तत्तद्योनिप्राप्तिं को घटयति इति चेत्? सर्वज्ञ ईश्वर एवेति रूपकेण दर्शयति—अनन्तेति चतुर्भिः। सर्वे प्राणिरूपाः क्रीडनमर्कटाः परमेश्वररूपेण शिशुना विश्वकर्मणा सर्वं कर्म कार्यं यस्य तथाभूतेन संसाररूपे काष्ठे निबद्धाः। कैः? अनेकजन्मानुष्ठितानि यानि पुण्यपापानि शुभाशुभकर्माणि तज्जन्यादृष्टरूपैः सूत्रैः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८९४-८९५।। आकर्षयेदिति। स जगदीशः शिशुः यस्य प्राणिनः सूत्रम् अदृष्टरूपम् आकर्षयेत् फलाभिमुखं कुर्यात् स सर्वः प्राणी अनीश्वरः परतन्त्रः तत्फलं प्राप्नोति।।८९६।। सर्व इति। प्रथमपदद्वयं पूर्वान्वयित्वेन दर्शितम्। तत उक्तविधया फलप्राप्तौ पारतन्त्र्याद् यथागतं यथादेहं च सर्वो गच्छतीति कथमुच्येत यतः सर्व ईश्वरस्य वशे भवतीति।।८९७।। तर्हि कां योनिम् एष यास्यतीति चेद्? अयमस्य कर्मविपाकानुसन्धाता ईश्वरो निर्मास्यतीत्याह—अत इति। तयोः पुण्यपापयोः। गतौ तत्तल्लोकं प्रतीति शेषः। कारणं निमित्तम्।।८९८।। जन्तुरिति। एयात् प्राप्नुयात्।।८९९।। कर्मवशत्वमेव स्फुटयति—ब्रह्मेति। यत्र संसारे तृणदेहगतो जीवः अत्यन्तोत्कृष्टपुण्योदये ब्रह्मा प्रजापतिभावार्हशरीरो भवेत्। तथा स ब्रह्मा तृणदेहं प्राप्नुयाद्

पाप के कारण देवता स्वर्ग में मरकर आते हैं तो पृथ्वी पर मनुष्य बनते हैं और फिर यहाँ मरकर नाना नरकों में जाकर पैदा होते हैं।।८९२-८९३।।

बच्चों का एक खिलौना होता है जिसमें लकड़ी के पाटे पर बंदर आदि के आकार के पुतले धागों से यों बँधे होते हैं कि धागे खींचने से वे पुतले हिलते-डुलते हैं। इसी प्रकार विचार करें तो यह संसार ही लकड़ी का पाटा है जिस पर हम सब प्राणी ही खिलौने के बंदर हैं! सारा विश्व जिनका कार्य है वे परमेश्वर यहाँ खेलने वाले बच्चे हैं और उन्होंने बाँधा हमें उन धागों से है जो उन पुण्य-पापों से बने हैं जिन्हें हमने अनंत जन्मों में बटोरा है। चराचर सभी प्राणी—भूमि के ही नहीं, सभी लोकों में स्थित जन्तु—जगदीश ने खेल के लिये बाँध रखे हैं। प्राणी के पुण्य या पाप रूप जिस धागे को वे जगन्नाथ खीचते हैं, परतंत्र हुआ प्राणी उसी का फल पाता है। कौन-सा धागा कब खीचेंगे इसमें ईश्वर स्वतंत्र हैं। इस प्रकार सभी प्राणी क्यों कि ईश्वर के वश में हैं, फल पाने में परतंत्र हैं, इसलिये यह कैसे कहा जा सकता है कि पूर्वसदृश ढंग से और पूर्वसदृश शरीर में ही जीव जायेगा?।।८९४-८९७।। एवं च संसार में एक ईश्वर ही है जो स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय करता है कि कब किस पुण्य या पाप को फलदान के लिये प्रवृत्त करना है। वही कर्मानुसार फल भी देता है तथा तत्तल्लोक में जाने और वहाँ शरीर पाने में भी उसी की कारणता है।।८९८।। कर्मरूप पाश के वशीभूत यह जंतु तो पराधीन है अतः यह बेचारा असमर्थ जीव पूर्वसदृश ही गति और शरीर कैसे पा सकता है!।।८९९।। तृणशरीर में स्थित जीव भी मरकर अगले जन्म में ब्रह्मा बन सकता है और ब्रह्मा भी मरने पर तत्काल

ततोऽयं नरके स्वर्गे भूमौ नभसि वा व्रजन्। नियमेन विना शश्वद् वायौ भूतोपमः पुमान्। यथागतं यथादेहं न व्रजेन्नियतः सदा।।६०१।।

प्रायेण पूर्वसंस्कारबलीयस्त्वेन हेतुना। यथागतं यथादेहं देही देहान्तरं व्रजेत्।।६०२।।

यथागतं यथादेहं नियमाच्चेदयं व्रजेत्। पुण्यापुण्यव्यवस्थेयं व्यर्था स्याद् वैदिकी सदा।।६०३।।

अनादाविह संसारे प्राथम्याभावहेतुतः। कस्य किं वपुरित्येतन्नियतं नैव लभ्यते।।६०४।।

इदमस्येति नियतौ सादिता संसृतेर्भवेत्। सादिता च न कस्यापि ह्यभीष्टा वादिनोऽत्र हि।।६०५।।

अतिदुष्कृतोदयेन। वस्तुतस्तु यत्र इत्यव्ययम् अप्यर्थे, 'न मर्षये यत्र भवान् वृषलं याजयेद्' ( ) इत्यादौ दृष्टत्वात्। तथा च—तृणदेहस्थितोऽपीत्यर्थः।।६००।। फलितमाह—तत इति। यथा वायुतन्त्रस्य भूतशरीरस्य न नियता गतिस्तथा स्वर्गादौ नियमेन विना जन्तोर्गतिः, तथा च यथागतम् इत्याद्युक्तनियमेन संसारे न व्रजेद् इत्यर्थः।।६०१।।

तर्हि कथं श्रुतौ 'यथागतम्' इत्युक्तमिति चेद्? यस्य पूर्वशरीरसमानस्य शरीरान्तरस्य प्रापकं कर्म उद्भूतं तदभिप्रायेणेत्याह—प्रायेणेति। पूर्वस्य पूर्वसमानस्य देहस्य प्रापका ये ज्ञानकर्मणोः संस्कारास्तेषां प्राबल्ये पूर्वसमानाकारं देहं प्राप्नुयाद् इत्यर्थः।।६०२।। किं च पूर्वसमानदेहप्राप्तिनियमे धर्माधर्मयोः फलनिर्देशि शास्त्रम् अप्रमाणं स्याद् इत्याह—यथागतमिति।।६०३।। संसारस्य अनादित्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्याऽपि समानदेहप्राप्तिनियमो नास्तीत्याह—अनादाविति। यतः संसारे कस्यचिद्भावस्य प्राथम्यं नास्ति इत्यतो हेतोः 'कस्य जन्तोः किंजातीयं शरीरम्' इत्येवं पृष्टो 'नियमेन अस्येदं शरीरम्' इति वक्तुं न शक्नोति इत्यर्थः।।६०४।। अनादित्वान्यथानुपपत्तिं स्फुटयति—इदमिति। अस्य जन्तोः इदं मनुष्याद्यन्यतमविशेषरूपमेव शरीरं योग्यमित्याकारके नियमे सति जन्मान्तरानन्वयात् संसारः सादिः स्यात्। तच्च सर्ववादिनामनिष्टमित्यर्थः।।६०५।।

घास बन सकता है।।६००।। जैसे भूतयोनि में स्थित व्यक्ति बिना नियम हवा में चाहे जहाँ आता-जाता है ऐसे यह आत्मा विना नियम हमेशा नरक, स्वर्ग, भूमिं, आकाश आदि में भटकता रहता है। इसके जाने का तरीका (मार्ग) और शरीर निश्चित नहीं किये जा सकते (क्योंकि ईश्वरेच्छा से ही वे निर्धारित होते हैं)।।६०१।।

प्रश्न होगा कि यदि गति व शरीर को निश्चित नहीं कह सकते तो श्रुति ने 'यथागतं यथान्यायम्' द्वारा कहा क्यों कि पूर्वसदृश गति व शरीर पाता है? उत्तर है : श्रुति का अभिप्राप्य है कि प्रायः (अव्यवहित) पूर्व के संस्कार ही अधिक स्फुट होते हैं इसलिये देहधारी जब अन्य देह की ओर जाता है तब पूर्वसदृश गति और शरीर प्राप्त कर लेता है। (अर्थात् अधिकतर ऐसा होने से श्रुति ने कहा है, न कि नियम के अभिप्राय से।)।।६०२।। यदि पूर्व आगमन और शरीर के ही अनुसार देहान्तरलाभ हो तो यह वेदोक्त पुण्य-पाप की व्यवस्था हमेशा निष्प्रयोजन रह जायेगी।।६०३।। इस अनादि संसार में किसी जन्म को 'पहला' तो कह नहीं सकते इसलिये 'किस जन्तु को किस जाति का शरीर मिलना है?' इस प्रश्न पर 'इसे नियमतः इसी जाति का शरीर मिलता है' यों जातिविशेष का निर्धारण कर कहना सम्भव नहीं।।६०४।। 'इस जन्तु को अमुक जाति का ही शरीर मिलता है' यह नियम मानें तो संसार को प्रारंभ वाला कहना पड़ेगा जो कोई भी विचारशील स्वीकारता नहीं। (तात्पर्य है कि वर्तमान शरीर इसी जाति का क्यों मिला? उत्तर देंगे कि पूर्वशरीर इसी जाति का था इसलिये। पुनः पूछें कि वही शरीर इसी जाति का था यह कैसे? उत्तर देना होगा कि वर्तमान शरीर इस जाति का है इसलिये! अतः एक ही जाति (योनि) में जन्म मिलता है यह युक्ति से नहीं कह सकते। यदि संसार में कोई भी जन्म पहला होता—जिससे पूर्व जन्म हुआ ही नहीं था—तब तो कह सकते थे कि आगे के जन्म उसी पर निर्भर करते हैं और उस जन्म के हेतु के बारे में प्रश्न नहीं बनता क्योंकि वह पहला—अर्थात् निष्कारण—होता। किन्तु संसार सादि मानने पर कार्य-कारण व्यवस्था, कर्म-फल व्यवस्था संगत नहीं होती इससे कोई विचारशील उसे

संसारोऽनादिः

उत्पत्तावपि नैवात्र प्राथम्यं जगतोऽस्ति हि। यथा जागरणे नैव प्राथम्यं विद्यते क्वचित्।
घटीयन्त्रसमा एते विसृष्टिस्थितिसंयमाः।।६०६।।

उत्पन्नं स्थितिमायाति स्थितमुत्पद्यते तथा। उत्पन्नं च स्थितं तद्वद् विनाशमुपगच्छति।। विनष्टं जायते तद्वद् विनष्टमवतिष्ठते।।६०७।।

संसारस्यानादितां विशदयति—उत्पत्ताविति द्वादशभिः। यदा एकस्या उत्पत्तेः प्रवाहः आदिमान् वक्तुं न शक्यः, तदा किमु वाच्यम् उत्पत्त्यादिसमुदायरूपस्य संसारस्य अनादित्वम्! इति प्रथमदलार्थः। तत्र दृष्टान्तो जाग्रदवस्थाप्रवाहो द्वितीयदलार्थः। तत्र हेतुतया घटीयन्त्रसाम्यं तृतीयदलेनोक्तमिति।।६०६।। घटीयन्त्रसाम्यं सत्कार्यवादेनाभिनयति—उत्पन्नमिति। उत्पन्नं लब्धोत्पत्तिकं वस्तु स्थितिं वर्तमानताम् आयाति इत्युत्पत्तिस्थित्योः क्रमनियमो वक्तुमशक्यः। यतः कारणे सूक्ष्मरूपेण स्थितमेवोत्पद्यते। तथा उत्पत्तिस्थित्योरनन्तरं विनाशव्यवहारो दृश्यते। तथा विनाशानन्तरं कारणरूपेण स्थितिव्यवहारो दृश्यत इत्यर्थः। तथा चोत्पत्त्यादीनां पुनः

नहीं मानते। यद्यपि आधुनिक नास्तिक—ईसाई, मुसलमान—संसार को सादि व सान्त मानते हैं और इसमें ईश्वर को स्वतंत्र मानते हैं तथापि वे 'विचारक' नहीं हैं क्योंकि अपनी मान्यता को युक्ति से स्थापित करने की न कोई कोशिश करते हैं न यही उनका मानना है कि युक्तिविरुद्ध होने पर उनका मत ग़लत स्वीकारा जाये। भले ही उनकी विचार-धारा मुनष्यों को हृदयंगम नहीं होती, अत एव उनके अनुयायी विभिन्न दार्शनिक प्रक्रियाओं का निर्माण करते जाते हैं, लेकिन उनकी सांप्रदायिक मान्यता यही है कि संसार के अंदर कार्य-कारण प्रवाह होने पर भी इस पूरे संसार के आदि अंत का प्रवाह नहीं है। वे तो मनुष्य का भी पूर्व-पर जन्म नहीं मानते। यह सब उनकी अविचारकता ही सिद्ध करता है। वैज्ञानिक यद्यपि चेतन अर्थात् स्थूलशरीरातिरिक्त शरीर वाले की चर्चा नहीं करते तथापि मानते हैं कि 'शक्ति-पदार्थ' का आत्यंतिक नाश या उत्पादन नहीं होता जिसका अभिप्राय अनादि-अनंत संसार मानने पर ही संगत होता है, सादि मानने पर नहीं।)।।६०५।।

जैसे किसी जाग्रदवस्था को 'यही पहली है' नहीं कह सकते ऐसे ही जगत् की किसी उत्पत्ति को भी 'यही पहली है' ऐसा नहीं कह सकते। सृष्टि-स्थिति-संहार तो रेहट की तरह क्रमशः चलते ही रहते हैं। (यहाँ 'जगत् की उत्पत्ति' की जगह श्लोकार्थ यों भी समझ सकते हैं : संसार में किसी जन्म क़ो जब 'प्रथम' नहीं कह सकते तब जन्मादि-समुदाय जो यह सारा संसार है इसे अनादि ही मानना होगा इसमें कहना ही क्या! उत्पत्ति प्रथम इसलिये नहीं कि हर उत्पत्ति कारण से होती है और उस कारण की भी उत्पत्ति हुई ही थी! एवं च उत्पत्ति या जन्म के बारे में 'यही प्रथम है' यह निर्धारण असंभव है।)।।६०६।। संसार रेहट-तुल्य है : उत्पन्न पदार्थ स्थित होता है लेकिन कारणमें सूक्ष्मरूप से स्थित पदार्थ ही तो उत्पन्न होता है! तब किसे पहले कहा जाये स्थिति को या उत्पत्ति को? दोनों को प्रवाह रूप से लगातार चलने वाला ही कहना पड़ेगा। इसी तरह उत्पन्न होकर स्थित वस्तु ही नष्ट होती है तो कह सकते हैं कि 'नष्ट' अर्थात् 'नाश-विशिष्ट' रूपसे वह वस्तु पैदा हो गयी—उदाहरणार्थ 'घड़ा फूट गया' का मतलब है 'फूटा घड़ा पैदा हो गया!'—तथा विनष्ट वस्तु ही कारणरूप से स्थित भी रहती ही है। इस प्रकार विनाश के बाद भी घड़ा जन्म और स्थिति प्राप्त करता ही है तो विनाश को अंतिम भी कहना बनता नहीं। (ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ किसी एक ही घड़े आदि पदार्थ को दृष्टि में रख उसके जन्म-स्थिति-विनाश-जन्म आदि अवस्था-भेदों के चक्र का विचार कर रहे हैं। जन्मादि किसी एक अवस्था को प्रथम नहीं कह सकते यह समझा देने पर जन्मादि का समुदाय ही यह संसार है तो यह भी प्रथम या अंतिम नहीं कहा जा सकता, यह समझाना सरल है।)।।६०७।।

सादितां यो वदेदस्य स वक्तव्यः कदेति च। एवमुक्तो यदा कालं नैवाऽयं प्रतिपद्यते। तदा कथं भवेत् सादिः संसारो वादिनोऽधुना।।६०८।।

स्वदेहस्य यदोत्पत्तिस्तदेत्येवं वदेद्यदि। तदापि नैव संसारः सादिरस्य प्रसज्जते।। तद्देहजनकादीनां पूर्वसत्त्वेन हेतुना।।६०६।।

स्वस्य सादिरयं भूयाद् इति चेत् तं वदेदिदम्। संसारो भवतः कोऽयमभिप्रेतस्तमीरय।।६१०।।

अयं देह इति ब्रूयाद् यद्ययं तं वदेदिदम्। नास्माभिरस्य देहस्य सादिता विनिवार्यते।। किन्तु देहमिदं सर्वदेहेभ्यः प्रथमं न हि।।६११।।

पुनर्व्यवहारारूढत्वेन घटीयन्त्रसाम्यमिति भावः।।६०७।। अथ संसारसादितावादिनः चार्वाकादेर्मतपङ्कं प्रश्नोत्तरधारयाऽपाकरोति—सादितामित्यादिना। यः चार्वाकादिः संसारस्य सादितां वदेत् स वादी इति एवं प्रष्टव्यः। 'इति' कथम्? कदा अस्य संसारस्यादिरिति। एवं पृष्टो यदा स आदिकालं न जानाति तदा कथं सादितां प्रतिपादयेदित्यर्थः। तथा च स व्याहतप्रतिज्ञ इति भावः।।६०८।। स्वदेहस्येति। यदि तु धृष्टतया एवं वदेत्। 'एवं' कथम्? अस्य स्वस्य आत्मीयदेहस्य उत्पत्तिः तदा संसारस्यादिरिति। तदापि तदीया प्रतिज्ञा व्याहतैव, तदीयपित्रादीनां पूर्वं सत्त्वादित्यर्थः।।६०६।। स्वस्येति। यदि पुनः स एवं ब्रूयात्। 'एवं' कथम्? मम स्वस्य आत्मनोऽपेक्षया संसारोऽनदिः (? रः सादिः), न तु मत्पित्राद्यपेक्षयेति। तं वादिनं प्रति आस्तिक इदं वदेत् पृच्छेत्। 'इदं' किम्? भवतः संसारः किंरूपोऽभिमतः? इति।।६१०।। अयमिति। एवं पृष्टो वादी यदि एतद्देहरूपः संसारः इति वदेत्। तं प्रति आस्तिक इदं ब्रूयात्। 'इदं'किम्? एतद्देहस्य सादिताऽस्माभिर्न निवार्यते किन्तु अभ्युपगम्यत एव, तथा च तत्साधने तव सिद्धसाधनम्। अस्माभिस्त्वेत् साध्यते यद् अयं देहः सर्वदेहेभ्यः प्रथमो न भवति, इतः पूर्वमपि

जो अविचारक कहता है कि संसार सादि है, शुरुआत वाला है, उससे पूछना चाहिये 'इस संसार का प्रारंभ कब हुआ?' वह प्रारंभ का कोई समय तो बता नहीं सकेगा (क्योंकि 'तभी प्रारंभ है' इसमें उसके पास प्रत्यक्ष-अनुमान हैं नहीं और शब्द को या वह प्रमाण मानता नहीं या माने तो शब्दान्तरके विरोध से निश्चायक नहीं कह सकता। यदि श्रद्धाबल पर शब्दविशेष को ही प्रमाण माने तब भी उसे बताना पड़ेगा कि संसारोत्पत्ति के कालका वह क्या निर्धारण करता है? सूर्यादि तो तब थे नहीं कि इनसे वह कालविशेष का निर्धारण करे और उसे सम्मत ईश्वर नित्य ही है तो वह भी कालविशेष का परिचायक नहीं हो सकता, सामान्य का भले ही हो। अतः 'प्रारंभ' के काल को वह परिभाषित नहीं कर पायेगा जिससे शब्दसिद्ध सादिता भी वह कह नहीं सकता।) यों जब वह आदि का काल ही नहीं बता सकता तब संसार सादि कैसे होगा!।।६०८।। यदि धृष्टतावश वह कहे 'जब मेरा शरीर पैदा हुआ तभी संसार कीं उत्पत्ति है!' तो भी उसका कथन विरुद्ध है : उसके शरीर के उत्पादक तो पहले थे ही अतः संसार उसके (वादी के शरीर के) जन्म से प्रारंभ हुआ हो यह सर्वथा असंगत है।।६०६।।

वादी कह सकता है 'मैं अपनी (स्थूल देह की) अपेक्षासे ही संसार अनादि कह रहा हूँ, न कि अपने पिता आदि की भी अपेक्षा से!' ऐसे मूर्ख से पूछना चाहिये कि 'संसार' से उसका अभिप्राय क्या है?।।६१०।। वह यही कहेगा 'यह जो मेरा दृश्यमान शरीर है इसे ही मैं संसार कह रहा हूँ।' तब उसे समझाना चाहिये कि हम आस्तिक यह मना नहीं करते कि यह शरीर सादि है। हमारा इतना ही कहना है कि सारे संसार में जितने भी देह संभव हैं उनमें तुम्हारा यह दृश्यमान देह प्रथम नहीं है, देहपरंपरा हमेशा रही है।।६११।। वादी कह सकता है 'मेरा तो यह शरीर पहला ही है!' (अर्थात् जैसे ज़मीन हमेशा से है पर हम पहली बार खरीदते हैं तब वह हमारी तो पहली बार ही होती है। उससे पूर्व

ममैतत् प्रथमं देहमिति चेद्वक्ति तं वदेत्। कस्त्वं यस्य भवेऽत्र स्यादिदं हि प्रथमं वपुः।।६१२।।
वपुषोऽन्य इति प्रोक्ते वदेत्तं कुत्र संस्थितः। त्वमस्माद्वपुषः पूर्वं कुतो वाऽत्र समागतः।।६१३।।
आत्मन्येव स्थितः पूर्वमागतोऽस्मि यदृच्छया। एवं चेद्वक्ति तं ब्रूयाद् इतः पूर्वं कुतो भवान्।।६१४।
देहान्तरं न सम्प्राप्तो यदृच्छा वा कुतो न ते। एवमुक्तेन चास्यास्ति नाऽऽप्यं किञ्चिदिहोत्तरम्।।६१५।।
अथ चैवं वदेद् नाऽहं स्मरामि स्वात्मनो वपुः। अतीतम् इति तं ब्रूयादनेकान्तं त्वयेरितम्।
अनुभूतस्य सर्वस्य स्मृतिः कस्याऽत्र विद्यते।।६१६।।

देहपरम्पराऽऽसीदिति। तत्तु त्वया न निराकृतमित्यर्थः।।६११।। ममैतदिति। एवमुक्तो वादी यद्येवं निरपत्रपो ब्रूयात्। 'एवं' कथम्? ममैतद् देहं प्रथमम् एवेति। तं प्रति आस्तिक एवं ब्रूयात् त्वं कः किंस्वरूपो यत्स्वरूपस्य सम्बन्धि अत्र भवे संसार इदं शरीरं प्रथमम् उच्यते? इति।।६१२।। वपुष इति। 'किंस्वरूपः?' इति प्रश्नेनं किं देहरूपः? तदन्यों वा? इति विकल्पः सूचितः। तत्राद्ये, 'मम देह' इत्युक्तिविरोधः, पित्रादिप्रत्यक्षविरोधश्च[1] इत्यनुसन्धाय वादी यदि इति ब्रूयात्—'इति' कथम्?— अहं वपुषोऽन्यः अस्मि इति। तं प्रति आस्तिक इति पृच्छेत्। 'इति' किम्? त्वमस्माद् वपुषः पूर्वं कुत्र संस्थितः? अत्र शरीरे च कुतो हेतोः आगतः? इत्यर्थः।।६१३।। आत्मनीति। एवं पृष्टो वादी यद्येवं वदेत्। 'एवं' कथम्? अहमेतच्छरीरात् पूर्वमात्मन्येव स्थितः, अत्र शरीरे तु यदृच्छया अचिन्तितार्थप्रापकस्वभावेन आगत इति। तं प्रति एवं ब्रूयात्—'एवं' कथम्?—भवानितः पूर्वं देहान्तरं कथं न प्राप्तः? सा ते देहलाभसाधनभूता यदृच्छा वा इतः पूर्वं कुतो न अभूद्? इति। एवं पृष्टे योग्यमुत्तरं नास्तीति द्वयोरर्थः। 'यदृच्छा स्वैरिते' त्यमरः।।६१४-६१५।। अथ चैवमिति। यदि च स वादी स्मरणाभावलिङ्गेन अतीतदेहाभावसाधनाभिप्रायेण एवं वदेद्—अहम् अतीतं देहं न स्मरामीति। तं प्रति एवं ब्रूयात्—त्वया स्मरणाभावरूपम् अतीतदेहाभावस्य साधनम् अनेकान्तं व्यभिचारवदुक्तम् यतः सर्वस्यानुभूतस्य स्मृतिनियमो नास्ति। तथा चाऽर्थाऽभावाऽभावेऽर्थसत्त्वरूपे सत्यपि स्मरणाभावदृष्टेः व्यभिचारः स्फुट इति भावः।।६१६।।

अन्यों की भले ही हो या किसी टापू आदि की ज़मीन पहले किसी की भी न रही हो।) उस वादी से आस्तिक पूछे 'इस संसार में इस शरीर को तुम जिस अपने साथ पहली बार संबद्ध कह रहे हो उस तुम्हारा क्या स्वरूप है? तुम कौन हो जिसका यह पहला शरीर है?'।।६१२।। ('मैं यह शरीर हूँ' ऐसा वह नहीं कहेगा क्यों कि तब इस शरीर को अपना पहला शरीर कहना नहीं बनेगा और मृत्यु की भी व्याख्या नहीं हो पायेगी। अतः) वह कहेगा 'मैं इस शरीर से अन्य हूँ।' उससे आस्तिक पूछे 'इस शरीर की उत्पत्तिसे पहले तुम थे कहाँ? इस शरीर में तुम आये किस कारण से हो?'।।६१३।। वादी कह सकता है 'पहले मैं स्वयं में—खुद में, आत्मा में—ही स्थित था और शरीर में यदृच्छा से ही आ गया हूँ।' (यदृच्छा अर्थात् ऐसा स्वभाव जो विचार के बिना कार्यविशेष प्राप्त करा देता है। जैसे अंधा पत्थर फेंके और वह देवदत्तको लगे तो इसमें यदृच्छा को ही कारण कह सकते हैं। इसके लिये 'अचानक', 'अकस्मात्' आदि शब्द प्रचलित हैं।) तब उससे पूछना चाहिये 'यह शरीर पाने के पहले आपने कोई और शरीर क्यों नही प्राप्त किया? देहप्राप्ति में हेतुरूप जो आपकी यदृच्छा (स्वभावविशेष) है वह इससे पूर्व क्यों कार्यकारी नहीं हुई?' इस प्रश्न पर उसे कोई युक्तिसंगत उत्तर नहीं मिलेगा। (यद्यपि यदृच्छा में 'क्यों' प्रश्न उठाना ठीक नहीं तथापि तात्पर्य है कि यदृच्छा के लिये वादी भी नियम नहीं बना सकता कि एक ही बार वह आत्मा को शरीर प्राप्ति कराती है! अतः आत्मा एक ही बार शरीर पाता है यह नियम नहीं तो वर्तमान हीं पहला है यह कहना असंभव हो जायेगा।)।।६१४-६१५।। यदि वादी कहे 'मुझे अपने अतीत शरीर याद नहीं अतः मैं मानता हूँ कि वे थे ही नहीं।' तो उसे समझाना चाहिये कि याद न होना कोई कारण नहीं है यह मानने में कि वह पदार्थ पहले नहीं था क्योंकि जिसका अनुभव हो चुका है उस सब की याद किसी को

१. पित्रादिप्रत्यक्षं मृतदेहदर्शनमित्यर्थः, ते तव शवं प्रत्यक्षी करिष्यन्ति तदा तव शरीरे सत्यपि त्वं न स्थास्यसीति भावः।

अथ देहोऽहमित्येवं ब्रूयाद् विस्मृतिमागतः। स हि चेत् तं प्रति ब्रूयात् पूर्वोक्तं दूषणं पुनः।।६१७।।

अनादिता ततः सर्वैः श्रयणीयाऽत्र संसृतौ। अनादाविह संसारे पुण्याऽपुण्यव्यवस्थितिः।।६१८।।

पुण्याऽपुण्यव्यवस्थायां यथादेहं यथागतम्। नियतं न भवेत्तस्मात् प्रायिकं वचनं श्रुतेः।।६१६।।

प्रतिन्यायमिदं तद्वत् प्रतियोन्यपि यत् पदम्। तद् द्वयं श्रुतिराहेत्यमभिप्रायवती हि सा।।६२०।।

अनादाविह संसारे योऽधुनेव पुरा गतः। यश्च देहः कदाचित्तु पुनस्तं प्रतिपद्यते।।६२१।।

नरके ब्रह्मलोके वा स्वर्गे वा येन कर्मणा। गतवान् यादृशं भोगं तेषु तादृग्व्रजेत् पुनः।। कर्मणा तादृशेनैव स्थूलदेहग्रहाय हि।।६२२।।

अथ देह इति। स संसारसादितावादी यदि 'वपुषोऽन्यः' इति पक्षे दोषगणं श्रुत्वा 'देहोऽहम्' इत्याकारं देहरूपतापक्षं वदेद्, अवलम्बेत। ननु पित्रादिप्रत्यक्षविरोधेन दूषितं पक्षं कथमवलम्बेत? इत्यत आह—विस्मृतिमागत इति। यतः श्रुतदोषविस्मरणशील इत्यर्थः। तं प्रति पूर्वोक्तं पित्रादिप्रत्यक्षविरोधादिकं दोषं पुनः श्रावयेदित्यर्थः।।६१७।। फलितमाह—अनादितेति। श्रयणीया स्वीकर्तव्या। अनादित्वसिद्धौ पुण्यादिफलव्यवस्था सिद्धा, तस्यां च सत्यां 'यथादेहम्' इत्यादि श्रुतिवचनं प्रायिकं प्रायोऽभिप्रायकमेव। इति द्वयोरर्थः।।६१८-६१६।।

प्रायिकत्वं स्फुटयन् 'यथागतं यथादेहम्' इत्यर्थकयोः श्रुतिगत-'प्रतिन्याय-प्रतियोनि'-पदयोस्तात्पर्यमाह—प्रतिन्यायमिति त्रिभिः। प्रतिन्यायादिपदद्वयमुक्तवती येयं श्रुतिः सा इत्थम् उत्तरश्लोकद्वयेन वक्ष्यमाणाभिप्रायवती बोध्येत्यर्थः।।६२०।। अनादाविति। अनादौ संसारे अनेन पुरा पूर्वं यो यज्जातीयो देहः अधुना इदानीम् इव कदाचिद् गतः प्राप्तः पुनस्तं तज्जातीयमेव प्रतिपद्यते प्राप्नोतीत्यर्थः। अयं भावः—अयं जीवो मृगादिकां यां यां योनिं व्रजति तस्यास्तस्या योनेर्व्यवहारेऽनुपदिष्टोऽपि कुशलो भवतीति प्रसिद्धम्। तच्च पूर्वाभ्यासजन्यसंस्कारमन्तरा न सम्भवति। तथा च कदाचित् प्राप्तपूर्वामेव योनिमेष गच्छति इति विज्ञायत इति।।६२१।। यथागतत्वं विशदयति—नरक इति। नरकादिगताश्च योनयः पूर्वं यादृशभोगप्रदेन येन यज्जातीयेन कर्मणा लब्धाः पुनस्तादृशभोगप्रदे तादृशे कर्मणि फलायोन्मुखे सति तां योनिं लभते। स च योनिलाभः पुनस्तज्जातीयशरीरग्रहस्य हेतुः, संस्कारादृष्टयोरुत्पादनद्वारेत्यर्थः। पुनः प्राणलाभाय इत्यर्थकस्य 'प्राणाय' इति पदस्यार्थः 'स्थूलदेहग्रहाय' इति पदेन दर्शित इति बोध्यम्।।६२२।।

नहीं होती।।६१६।। इस सब विचार से वादी घबराकर अपनी मान्यता भूल जाये और कहे 'मैं शरीर ही हूँ (न कि शरीर वाला कोई आत्मा)।' तो उसे वे दोष समझा देने चाहिये जो पहले कह आये हैं (कि शरीर का हर अवयव तुम हो या समूचा या कोई एक अवयव? तीनों पक्षों में विरोध आते हैं यह प्रथमाध्याय में विस्तार से समझाया था। अन्यत्र भी देहात्मवाद का खंडन किया है। मृत्यु की भी उपपत्ति शरीरात्मवाद में संभव नहीं।)।।६१७।।

इसलिये सभी विचारशीलों को संसार में अनादिता ही स्वीकारनी पड़ेगी। जब अनादिता सिद्ध हो गयी तब इस संसार में पुण्य-पाप की व्यवस्था भी समझना सरल है और तब यह नहीं कह सकते कि मरकर हमेशा एक-सा ही मार्ग और शरीर मिलता है। इसलिये श्रुतिने जो 'प्रतिन्याय, प्रतियोनि' से मार्ग व शरीर की पूर्वसदृशता कही है वह इसी तात्पर्य से संगत सिद्ध होती है कि अधिकतर ऐसा होता है।।६१८-६१६।। श्रुति ने जो 'प्रतिन्यायम्' और 'प्रतियोनि' शब्दों का प्रयोग किया है उसमें श्रुति का यह अभिप्राय है : इस अनादि संसार में जो भी शरीर पहले बीत चुके हैं वे वर्तमान के समान ही थे अर्थात् जो शरीर कभी भी मिलता है वैसा ही शरीर फिर भी मिलता ही है। (मनुष्य ही नहीं जिस भी योनि में जीव पैदा होता है उसके अनुसार बहुतेरे कार्य बिना सीखे ही करता है जिससे पता चलता है कि उसे तदनुकूल संस्कार हैं जो तभी हो सकते हैं जब पहले उसने वैसा शरीर पाया हो। अतः जो शरीर अभी है,

देहान्तरग्रहे दृष्टान्तः

स्थूलदेहग्रहे तत्र कर्मिणो मरणात् परम्। वक्ष्याम्यहं तुभ्यं दृष्टान्तं तं निशामय।।६२३।।

क्षत्रियायां हि वैश्येन जाता उग्राः प्रकीर्तिताः। अथवा क्रूरकर्माण उग्रा लोक उदाहृताः।। अनुलोमा विलोमाश्च सर्व एवाऽत्र मानवाः।।६२४।।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जाताः सूताः सङ्कीर्तिता जनैः। ये स्युः सारथिनः केचित् पुराणज्ञाश्च केचन६२५

अथवा सर्व एवैते वर्णिनोऽपि परे तथा। अनुलोमविलोमाभ्यां जाताः सूता उदाहृताः।।६२६।।

सूताः प्रसूता इत्युक्ताः सर्वे ते देहधारिणः। न हि देहधराः केचिदजाताः सन्ति जन्तवः।।६२७।।

एनः पापमिति प्रोक्तं तत्र ये विनियोजिताः। भृत्याः सामन्तसहिताः प्रत्येनस इतीरिताः।। ग्रामाणामत्र नेतारो ग्रामण्यः परिकीर्तिताः।।६२८।।

सप्तत्रिंशत्तम्याः कण्डिकाया[1] अर्थमाह—स्थूलेति त्रयोदशभिः। कर्मिणो जन्तोः मरणानन्तरं स्थूलदेहान्तरस्य सभोगोपकरणस्य ग्रहे लाभे दृष्टान्तं शृणु इत्यर्थः।।६२३।। तत्र उग्रपदार्थमाह—क्षत्रियायामिति। क्षत्रियायां मातरि वैश्येन पित्रा ये जाताः ते 'उग्र' पदेनोक्ताः। अथवा उग्रकर्मसु वधादिषु विनियुक्ताः सङ्करजातयोऽनुलोमा हीनजातिकायां मातरि उत्कृष्टजातिकात् पितुरुत्पन्नाः, प्रतिलोमास्तद्विपरीताः, वा उग्रपदार्था इत्यर्थः।।६२४।। सूतपदार्थमाह—ब्राह्मण्यामिति त्रिभिः। ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् पितुः जाताः सूता इति प्रसिद्धाः, येषां सारथित्वं पुराणवृत्तज्ञानं वाऽऽजीविकेत्यर्थः।।६२५।। अथवेति। सर्व एव राजोपजीविनश्चातुर्वर्णिकाः सङ्करजातयो वा सूता इति पदेनोक्ता इत्यर्थः।।६२६।। तत्र हेतुतया सूतशब्दस्य योगार्थमाह—सूताः प्रसूता इति। यतः प्रसूता गर्भान्निर्मुक्ताः सूतशब्देनोक्ताः। अयमस्य योगार्थः सर्वप्राणिषु वर्तत इत्यर्थः।।६२७।। प्रत्येनस इति पदस्यार्थमाह—एन इति। एन इति पदं पापवाचकं, तत्र पापे पापिनां दण्डे इति यावत्, ये विनियुक्ता अधिकृता भृत्याः सामन्तेन पुराऽध्यक्षेण सहितास्ते प्रत्येनस इति पदेनोक्तः। ग्रामाध्यक्षास्तु ग्रामणीपदेनोक्ता इत्यर्थः। 'स्यात् सामन्तः

इससे पहले कभी-न-कभी उस जाति का शरीर मिल चुका है। इतना ही अभिप्राय है। अर्थात् पूर्वसदृश का अर्थ 'अव्यवहित पूर्व के सदृश' नहीं है, वरन् 'पूर्व में कभी हुए के सदृश' है। वह पूर्व व्यवहित भी हो सकता है, अव्यवहित भी। इस व्याख्या का फल है कि श्रुति का बाध नहीं करना पड़ता।)६२०-६२१।। नरक, ब्रह्मलोक, स्वर्ग आदि में जैसे कर्म से जैसा भोग पहले मिला था, पुनः जब वैसे कर्म फलोन्मुख होते हैं तब उन्हीं लोकों में वैसे भोगों के लिये तदनुकूल पूर्वसदृश शरीर ही आत्मा ग्रहण कर लेता है।।६२२।।

सैंतीसवीं कंडिका द्वारा श्रुति ने समझाया है कि जैसे जब राजा आ रहा हो तब गाँव में तैनात राजपुरुष उसके आने की तैयारी में जुटते हैं ऐसे ही जिस नये शरीर में यह 'ब्रह्म' अर्थात् जीव जाने लगता है उसमें सारी तैयारी हो जाती है। इसे पुराण में स्पष्ट करते हैं :

हे राजन्! अनादि प्रवाह में जो कर्म करता रहा है वह जन्तु मरने के बाद नये स्थूल शरीर का ग्रहण करता है। इस विषय में जो दृष्टांत मैं सुना रहा हूँ वह तुम सुनो :।।६२३।। क्षत्रिय माँ और वैश्य बाप की संतान उग्र नामक जाति वाली होती है। अथवा अनुलोम-विलोम चाहे जिस जाति के मानव क्रूर ढंग के कर्म करते हैं उन्हें लोकमें उग्र कहते हैं। (माताकी अपेक्षा पिता ऊँची जातिका हो तो संतान अनुलोम और नीच जातिका हो तो संतान प्रतिलोम कहलाती है।)।।६२४।। ब्राह्मणी माँ और क्षत्रिय बाप की संतान सूत जाति की होती है जिसकी जीविका के साधन रथ चलाना

१. 'तद्यथा राजानम् आयान्तम् उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्ते—अयमायाति, अयमागच्छति—इति; एवं हैवं विदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायाति, इदमागच्छतीति।।३७।।'

उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्याद्यास्तथा जनाः। देशस्वामिनमायान्तं राजानं कुत्रचिद्गतम्। आयान्ति संमुखं यद्वत् कृतकौतुकमङ्गलाः।।६२९।।

महद्भिस्तूर्यनिर्घातैः गीतैः कर्णसुखावहैः। नानावाराङ्गनाहस्तस्थितैर्नीराजनैः सह।।६३०।।

अन्नपानानि चित्राणि तत्र तत्र निधाय हि। मनोनयनदेहानां सुखकारीणि भूरिशः।।६३१।।

स्कन्धावारनिवेशार्थं सामन्तानां च भूपतेः। प्रासादान् विविधान् हृष्टाः कल्पयित्वा मनोरमान्।। तत्र तत्रातिदूरं तदतिक्रम्याऽपि भूतलम्।।६३२।।

वार्तां तस्यैव कुर्वन्तो राजा कुत्र समागतः। अयमायात्ययं तद्वद् इत्याद्येव परस्परम्।।६३३।।

एवं सर्वाणि भूतानि देहान्तरसमागमे। कृतकर्मानुसारेण भोगदानि शरीरिणाम्।।६३४।।

पुराध्यक्ष' इति हेमचन्द्रः।।६२८।। पदार्थानुक्त्वा वाक्यार्थमाह—उग्रा इति पञ्चभिः। यथावर्णिता उग्रादयः कुत्रचिद् गत्वा आयान्तं राजानं प्रति सन्मुखं यथा भवति तथा आयान्ति प्रतीक्षन्त इति यावत्। कीदृशाः? कृतानि सम्पादितानि कौतुकानि उत्साहजनकानि मङ्गलानि च यैस्ते तथा। पुनः कीदृशाः? तुर्यनिनदादिभिर्युक्ताः। नीराजनम् आर्तिक्यदीपः।।६२९-६३०।। अन्नेति। किं कृत्वा राज्ञः संमुखं यान्ति? मनःप्रभृतिसुखदानि अन्नादीनि तत्र तत्र निधानभाजनेषु निधाय।।६३१।। स्कन्धेति। पुनः किं कृत्वा? स्कन्धावारस्य सैन्यस्य तथा सामन्तानां तथा भूपतेः च वासार्थं पृथक् पृथक् प्रासादान् तत्र तत्र योग्यस्थानेषु कल्पयित्वा। 'चमूश्चक्रं स्कन्धावार' इति हेमचन्द्रः। पुनः किं कृत्वा प्रतीक्षन्ते? तद् नगराद् अतिदूरम् अपि भूतलमतिक्रम्य इति।।६३२।। वार्तामिति।। पुनः कीदृशास्त उग्रादयः? इत्यादिरूपां वार्तां तस्य राज्ञ एव सम्बन्धिनीं कुर्वन्तः। 'इति' कथम्? राजा कुत्र समागतः? अयं राजा आयाति, अयम् आयाति इति।।६३३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति द्वाभ्याम्। एवं देहान्तरसमागमकाले

या पुराण सुनाना प्रसिद्ध हैं।।६२५।। अथवा वर्ण वाले हों या संकर हों सभी सूत हैं क्योंकि सूत अर्थात् प्रसूत (=पैदा) होने वाले सभी देहधारी हैं। ऐसे कोई देहधारी जन्तु नहीं जो पैदा न होते हों!।।६२६-६२७।। 'एनस्' कहते हैं पाप को। पापियों को दण्डित करने केलिये सामन्त समेत जो नौकर तैनात होते हैं वे प्रत्येनस कहे जाते हैं। गाँव के अध्यक्ष को ग्रामणी कहते हैं।।६२८।।

देशाधिपति राजा कहीं जाकर जब अपने देश लौटने लगता है तब उसके देश के उग्र, प्रत्येनस, सूत, ग्रामणी आदि अधिकारी एवं जनता कौतुक और मंगल के कृत्य करते हुए राजा के संमुख आते हैं, उसकी प्रतीक्षा तथा स्वागत करते हैं। (कौतुक के कृत्य अर्थात् लाठी भाँजना, नटों के खेल इत्यादि।) वे लोग बड़ी तुरहियाँ बजाते हैं, कर्णप्रिय गीत गाते हैं, साथ में नाना वारांगनाएँ रखते हैं जो हाथों में आरती उतारने के लिये दीपक लिये होती हैं।।६२९-६३०।। मन-आँखों व शरीर को सुख देने वाले विचित्र भक्ष्य-पेय भी प्रभूत मात्र में राजा व उनके अनुयायियों के लिये तैयार रखे जाते हैं।।६३१।। राजधानी में पहुँचने से पूर्व, देशमें प्रवेशके बाद यदि राजा को मार्ग में रुकना हो तो दूर-दूर से जाकर अधिकारी व अन्य लोग राजा, सामन्तों और सैनिकों के निवासार्थ नाना प्रकारके मनोरम निवासस्थान प्रसन्नतापूर्वक तैयार करते हैं।।६३२।। वहाँ एकत्र हुए वे लोग राजा की ही बातें करते हैं—'राजा जी कहाँ तक पहुँच गये?' 'ये आ रहे हैं।' 'ये आ ही गये!' इत्यादि।।६३३।।

ऐसे ही जब आत्मा नये शरीर में आने लगता है तब आदित्यादि चेतन भूत और शरीरघटक जड महाभूत सभी जो किये कर्मों के अनुसार शरीरधारियों को भोग देते हैं वे आने वाले के कर्मानुसार भोग लेकर उस पैदा होते कर्मी की अगवानी करते हैं यह कहते हुए 'इस पतिकी संतानरूप से इस पत्नी में यह ब्रह्म पैदा होने आ रहा है।' (आदित्यादि देवता इंद्रियों के अधिष्ठाता बनकर हमें भोग कराते हैं। कर्मानुसार तैयारी से स्पष्ट कर दिया कि यह गर्भाधान काल का वर्णन है। शरीरघटक भूतों की तत्काल वहाँ उपस्थिति तथा उपस्थित पदार्थों की गुणवत्ता या दोषवत्ता आदि जिनसे आगे गर्भ में ही शरीर का विकास प्रभावित होगा, सब कर्मानुसार होते हैं। ऐसे ही करणगोलकों के विकास पर-

अस्यापत्यमिदं ब्रह्म ह्यायातीदमिहेति च। कर्मिणं जायमानं तं प्रत्युद्गच्छन्ति सर्वतः।।
कर्मानुसारिभिर्भोगैरजडानि जडानि च।।६३५।।

अनुगन्तारः

मरणेऽप्युक्तदृष्टान्तं विजानीहि महीपते। यियासन्तं हि राजानं कुत्रचित्तस्य देशगाः। उग्रादयो
यथा यान्ति तमन्वेव त्वरान्विताः।।६३६।।

तथा वागादयः प्राणा मुख्यप्राणेन संयुताः। आत्मानमिममेवानुयान्ति राजन् शरीरगाः।
ऊर्ध्वश्वासी यदा देही मुमूर्षुर्जायते तदा।।६३७।।

अजडानि आदित्यादिदेवतारूपाणि जडानि शरीरारम्भकाणि च सर्वाणि भूतानि कर्मानुसारेण भोगदानि उपकरणानि सम्पाद्य जायमानं देहिनमित्येवं प्रत्युद्गच्छन्ति प्रतीक्षन्ते। 'इति' कथम्? इदं ब्रह्म अस्माकं कर्तृभोक्तृ च अस्य देवदत्तस्य इह पत्न्यामृतुस्नातायां जन्मने आयाति; इदं ब्रह्मेहायातीति जीवे ब्रह्मशब्दप्रयोगो वस्तुतो ब्रह्मत्वाभिप्रायेण। इति द्वयोरर्थः।।६३४-६३५।।

अथ परलोकशब्दितं देहान्तरं यियासन्तं चिदाभासरूपं जीवं केऽनु यान्तीति? जिज्ञासां दृष्टान्तेन परिहरन्त्या अष्टत्रिंशत्तम्याः कण्डिकाया[1] अर्थं दर्शयति—मरण इति द्वाभ्याम्। हे राजन्! मरणे पूर्वदेहपरित्यागेऽप्युक्तराजवृत्तान्तरूपं दृष्टान्तं शृणु—यथा कुत्रचिद् यियासन्तं गन्तुमिच्छन्तं राजानं विज्ञाय तमनु तस्य राज्ञः पश्चादेव यान्ति। के? ये तस्य राज्ञो देशगता भृत्या उग्रादयः।।६३६।।

तथेति। तथा शरीरगा वागादयो गौणप्राणा मुख्येन मुखबिलवासिना प्रधानेन प्राणेन सहिता परलोकं यियासन्तम् आत्मानमनुयान्ति। कदा ? यदा मुमूर्षुरूर्ध्वश्वासी जायत इत्यन्वयः। एतेन मन एव परलोकं यातीत्यादिकाः तार्किकाणां कल्पनाः परास्ताः।। *इति तृतीयब्राह्मणस्य ज्योतिराख्यस्य व्याख्यानम्।।६३७।।*

अधिष्ठातृदेवताओं का प्रभाव भी कर्मानुसार होता है। एवं गर्भादि में औषधि आदि से अच्छा-बुरा असर भी कर्मानुसार समझ लेना चाहिये अर्थात् सत्कर्म होंगे तो उपचार सफल होगा अन्यथा विफल या कदाचित् विपरीत फल वाला भी होगा। यहाँ आते हुए जीव को ब्रह्म इसलिये कहा कि वह वास्तव में ब्रह्म है और इसलिये भी कि अभी तक प्राज्ञसे अन्वारूढ अर्थात् ईश्वर से तादात्म्यापन्न है।)।।६३४-६३५।।

अड़तीसवीं कंडिका में कहा है कि जैसे प्रवास पर जाते राजा के साथ उसके सेवक जाते हैं। ऐसे जीवके साथ प्राण जाते हैं। इसे पुराण में समझा देते हैं :

हे महीपति! मरने में भी राजयात्रा को ही दृष्टांत समझ लो : राजा जब कहीं जाने लगता है तब उसके देशके उग्र आदि शीघ्र ही उसके पीछे चल देते है। (सब उग्रादि नहीं जाते वरन् जिनके लिये निर्धारित होता है कि उन्हें प्रवास में राजा के साथ जाना है वे ही जाते हैं। ऐसे ही उपाधिता समान होने पर भी कुछ ही पदार्थ जीव के साथ जाते हैं।) उसी प्रकार राजन्! जब मरणासन्न देही का साँस उखड़ता है तब शरीरस्थ मुख्य प्राण के साथ वाग् आदि प्राण आत्मा का अनुगमन करते हैं। (अन्यत्र स्पष्ट किया है कि पाँचों ज्ञानेंद्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण, चारों वृत्तियों वाला अंतःकरण, महाभूत, अविद्या, कामनायें और कर्म—ये सभी जीवके साथ प्रयाण करते हैं। अत एव सर्वज्ञ पूज्यपाद आचार्य ने सूत्रभाष्यमें (३.१.१) कहा है 'जीवो मुख्यप्राणसचिवः, सेन्द्रियः, समनस्कः, अविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यते।' प्रकृतमें भी इन सभी का गमन अभिप्रेत है। यहाँ तक बृहदारण्यक के चौथे अध्यायके तीसरे ब्राह्मण की व्याख्या हुई।)।।६३६-६३७।।

---

१. 'तद्यथा राजानं प्रयियासन्तम् उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्ति एवमेवेमम् आत्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति।।३८।। इति तृतीयं ब्राह्मणम्।'

अथ शारीरकब्राह्मणव्याख्या

बलहीनो यदा जन्तुर्न जानाति सुतादिकम् । वागादिभिः समंतात् स तेजोमात्रास्वरूपिणः ।। गृहीत्वा मरणे सर्वान् हृदयाकाशमाव्रजेत् ।।६३८ ।।

नेत्रे घ्राणेऽपि रसने वाचि श्रोत्रे मनस्यपि । त्वचि बुद्धौ तथान्येषु करणेषु स्थितः पुमान् ।।६३६ ।।

हृदयाकाशमागच्छेद् नेत्राद्यैर्हि समं यदा । तदा मुमूर्षुः पुरुषो न पश्यति न जिघ्रति ।।६४० ।।

रसयत्यपि नैवायं वक्ति नाऽयं शृणोति न । मनुते न स्पृशत्येष नैष जानाति न क्वचित् ।।६४१ ।।

इन्द्रियाण्यपराण्येव व्यापारयति न प्रभुः । एकतां हृदयाकाशे गतः सन् परमेश्वरे ।।६४२ ।।

नाऽप्रसिद्धमिदं सर्वं प्राज्ञतादात्म्यमागते । आत्मनीह यतो भूमौ प्रक्षिप्तं तत्समीपगाः ।।६४३ ।।

अथ संसारमोक्षयोः ससाधनयोर्विस्तरेण प्रतिपादकस्य चतुर्थब्राह्मणस्य शारीरकाख्यस्य[1] अर्थमध्यायान्तं यावद् ग्रन्थेन प्रदर्शयंस्तत्र 'इति नु कामयमान' (४.४.६) इत्यन्तभागस्य संसारप्रदर्शकस्यार्थः प्रदर्श्यते—बलहीन इत्यादिश्लोकशतत्रयेणाष्टत्रिंशदधिकेन।[2] यदाऽयं मरणकाले जन्तुः बलहीनो भूत्वा वागादिभिः इन्द्रियैः सुतादिकं विषयजातं न विजानाति न विषयी करोति संमूढो भवतीति यावत्, तदा सर्वान् वागादीन् सहकारिभावान् समन्ताद् गृहीत्वा हृदयाकाशम् आगच्छति। कीदृशान् वागादीन् ? तेजसः सात्त्विकत्वेन प्रकाशप्रधानस्य सूक्ष्मशरीरस्य मात्रारूपान् अंशरूपानित्यर्थः।।६३८।। नेत्र इति। यदैवं नेत्रादौ करणजाते स्थितः चिदाभासरूपः पुरुष हृदयाकाशं प्रति करणदेशेभ्यः परावृत्य गच्छति, एवं सूर्यादिदेवतांशः स्वदेवरूपं प्रतिपद्यते, तदा मुमूर्षुः पुरुषो हृदयाकाशरूपे परमेश्वर एकतां गतः सन् दर्शनादिकं न करोति। इति चतुर्णां सम्बन्धः।।६४२।।

तस्मिन् काले मुमूर्षुकर्तृकदर्शनाद्यभावो लोकेऽपि प्रसिद्ध[3] इत्याह—नाऽप्रसिद्धमिति। इदं मुमूर्षोरदर्शनादिकम्

अभी तक समझाया कि आत्मा कार्य-करणसंघात से अतिरिक्त है, स्वयंप्रकाश है, अवस्थात्रयसे अतीत है, वास्तव में अविद्या-काम-कर्म से रहित निरतिशय आनंद है लेकिन अनादि अविद्या से ग्रस्त हुआ काम-कर्म वाला होकर लोक-लोकान्तर में भटक रहा है यद्यपि रोज़ गहरी नींद में उस आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है जिसका सही तरह विचार करें तो विवेकपूर्वक मोक्ष सुलभ है। अब जिस संसरण से मोक्ष अभिलषणीय है उसके बारे में कुछ और खुलासा करेंगे ताकि वैराग्य होवे और फिर ज्ञानसाधन बताकर आत्मवर्णन करते हुए अध्याय परिसमाप्त करेंगे।

मरते समय जन्तु निर्बल हो जाता है और वाणी आदि विषयों से पुत्रादि विषयों के साथ व्यवहार नहीं कर पाता। उस स्थिति में, तेजस्वी सूक्ष्मशरीर के अंगभूत वागादि इंद्रियों को हर तरफ से बटोर कर हृदयाकाश में इकट्ठा हो जाता है।।६३८।। नेत्र, घ्राण, रसना, वाणी, कान, मन, त्वचा, बुद्धि तथा अन्य करणों में चिदाभास रूप से स्थित आत्मा जब नेत्रादि इंद्रियों सहित हृदयाकाश में आ जाता है तब वह मरणासन्न जीव देखना, सूँघना, चखना, बोलना, सुनना, सोचना, छूना, समझना तथा अन्य इंद्रियों द्वारा भी व्यापार करना पूरी तरह छोड़ देता है। तब वह हृदयाकाशरूप परमेश्वर से एकता पा लेता है। (जब मृत्युकाल में जीव इंद्रियाँ बटोरता है तब इंद्रियों के अधिष्ठाता देवता भी अपने अंश आकर्षित कर लेते हैं।)।।६३६-४२।।

---

१. माध्यन्दिनीये 'स यत्रायं शारीर आत्माऽबल्यं नीत्य' इति शारीरपदं श्रूयते तेनैवेदं शारीरकब्राह्मणमिति व्यवह्रियते। २. 'स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येति अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति। स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेव अन्वाक्रामति। स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथाऽरूपज्ञो भवति।।१।।'—इति चतुर्थाध्यायचतुर्थब्राह्मणारंभः। ३.'एकी भवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रतीत्याहुरेकी...न रसयत इत्या...न वदती...न शृणोती..न मनुत...न स्पृशती... न विजानातीत्याहुः।' इति व्याख्येयो भागः।

इदं वदन्ति नैवायं पश्यत्यस्मान् समीपगान्। न शृणोति वचस्तद्वदस्माभिः समुदीरितम्। ।६४४।।

न जिघ्रति तथा गन्धं मालायाः कण्ठ आत्मनः। रसयत्यपि नैवायं दधिं यन्निहितं मुखे। ।६४५।।

अस्मान् समीपगानेष न च वक्ति सदा प्रियान्। न स्पृशत्यपि नो गात्रं पुत्रादीनां प्रियं सदा। ।६४६।

अतो न मनुते नैव विजानाति भुवि स्थितः। करणोपरमात् सुप्तौ वयं यद्वदवस्थिताः। ।६४७।।

अभावे दर्शनादीनामेकी भावं वदन्ति च। हेतुं सर्वत्र विद्वांसः सुहृदः परितः स्थिताः। ।६४८।।

यदाऽयं हृदयाकाशतादात्म्यं प्रतिपद्यते। मुमूर्षुस्तस्य पुरतो मार्गसन्दर्शनाय हि। हृदयस्याग्रभागोऽत्र प्रज्वलत्यति भूरिशः। ।६४९।।

अप्रसिद्धं न भवति किन्तु प्रसिद्धमेव यतो भूमौ पतितं मुमूर्षुं प्रस्तुत्य तत्समीपगताः पुरुषा इदं वदन्ति। 'इदं' किम्? इत्याकांक्षायां; पार्श्वस्थैः कृतं मुमूर्षोः दर्शनाद्यभावानुवादमभिनयति—नेत्यादिना अवस्थिता इत्यन्तेन। अयं मुमूर्षुः अस्मान् न पश्यति, अस्मदीयं वचः च न शृणोति। इति द्वयोरर्थः। ।६४३। ।६४४।। न जिघ्रतीति। तथा कण्ठे निहितायाः तुलसीदलमालाया गन्धं न जिघ्रति, तथा मुखे निहितं दधि च न आस्वादयति। ।६४५।। अस्मानिति। सदा प्रेमास्पदान् अस्मान्न वक्ति, अस्मदीयं गात्रं च न स्पृशति। ।६४६।। अत इति। यतो बाह्येन्द्रियव्यापारं न करोति अतो विज्ञायते मनोबुद्ध्योरपि व्यापारं न करोति, यथा वयं सुषुप्तिं गताः कञ्चिद् मनःप्रभृतिव्यापारं न कुर्म इत्यर्थः। ।६४७।। अभाव इति। न केवलं दर्शनाद्यभावमेव वदन्ति किन्तु मुमूर्षोर्दर्शनाद्यभावे हेतुतया सर्वेन्द्रियाणां हृदयदेशे सूक्ष्मशरीरेण एकीभावं पिण्डीभावं वदन्ति पार्श्वगा इत्यर्थः। ।६४८।। एतावता कण्डिकाद्वयं व्याख्यातम्।

अथ 'तस्य' इत्यादिकायास्तृतीयकण्डिकाया[1] अर्थमाह—यदेति द्वादशभिः। यदाऽयं मुमूर्षुः हृदयाकाशेन तादात्म्यं प्राप्नोति तदापि परलोकगमनानुकूलविशेषज्ञानाभावो न मन्तव्यो यतः यस्य मुमूर्षोः पुरतः परलोकमार्गस्य सन्दर्शनाय हृदयस्याऽग्रभागो नाडीमुखरूपः प्रज्वलति भाविशरीरप्राप्तिहेतुद्वाराकारचिदाभासव्याप्तवृत्तिरूपेण अधिकं प्रकाशेन युक्तो भवतीत्यर्थः। ।६४९।।

आत्मा जब मरते समय प्राज्ञ (ईश्वर) से एकमेक हो जाता है तब उसकी निश्चेष्टता कोई छिपी बात नहीं है। भूमि पर डाले मरणासन्न व्यक्ति के निकटवर्ती लोग यों कहते ही हैं 'हम पास में हैं लेकिन यह हमें देख नहीं पा रहा, हम जो कह रहे हैं वह सुन नहीं पा रहा, इसके गले में पड़ी तुलसीमाला की सुगंध भी इसे नहीं आ रही, मुहँ में पड़े दही का स्वाद भी नहीं जान रहा। ।६४३-५।। हमेशा इसे प्रिय रहे हम लोग पासमें हैं लेकिन हमसे कुछ बोल नहीं सक रहा। हम प्रिय पुत्रादि को छू भी नहीं रहा। इससे लगता है कि धरती पर पड़ा यह अब कुछ सोच-समझ भी नहीं रहा क्योंकि इसके सभी करण—ज्ञान-क्रिया के साधन—अकार्यकारी हो गये हैं। जैसी सुषुप्ति में हमारी दशा होती है वैसी इसकी हो चुकी है !'। ।६४६-७।। इतना ही नहीं, उसके आस-पास जो जानकार मित्र होते हैं वे यह भी कहते हैं कि उसके न देखने आदि में कारण है कि सारी इंद्रियाँ हृदयाकाश में सूक्ष्मशरीर से संपिण्डित हो गयी हैं। (जैसे बँधे औजारों से मिस्त्री काम नहीं कर पाता ऐसी स्थिति हो गयी है क्योंकि छुट्टी के समय औजार बाँधने की तरह इसने सारी इंद्रियाँ समेट कर एकत्र कर ली हैं।)। ।६४८।।

मरता व्यक्ति जब हृदयाकाशरूप ईश्वर से अभेद प्राप्त कर लेता है तब इसके हृदय का जो किनारा नाडी से सम्बद्ध होता है वह अत्यधिक प्रकाशमान हो जाता है ताकि परलोक जाने का मार्ग दिखा सके। (भाविदेह की प्रप्ति में हेतु जिस द्वार से निकलना बनेगा उस आकार की बुद्धिवृत्ति बनती है जो चिदाभासयुक्त होती है। यद्यपि यहाँ व्यवस्थित

---

१. 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।' टीकायां तृतीयकण्डिकेति माध्यन्दिनक्रमेणोक्तम्। काण्वे तु 'पूर्वप्रज्ञा च' इत्यन्तो ग्रन्थो द्वितीयकण्डिकायाम्।

यथा यियासतो राज्ञो दीपिका राजमार्गगाः। प्रज्वलन्ति तथैवाऽस्य परलोकं यियासतः।।६५०।।

तेनैवैष प्रकाशेन प्रकाशितमहापथः। पुरादेकादशद्वाराद् इन्द्रो निष्क्रामतीश्वरः।।६५१।।

देहान्निर्गमने द्वाराणि

चक्षुःश्रोत्रनसां द्वे द्वे पायूपस्थोदरेष्वपि। मुखे मूर्द्धनि पञ्च स्युः द्वाराण्यस्य विनिर्गमे।।६५२।।

नारकी पायुतो गच्छेत् कामी शिश्नाध्वना पुनः। नाभिमार्गेण निर्याति प्रायः प्रेतसमः पुमान्।६५३

अन्नासक्तस्तु निर्याति मुखतो बहुलो जनः। गन्धप्रियो विनिर्याति नासाविवरतः पुमान्।।६५४।।

यथेति। यथा राज्ञो गन्तुमिच्छतः पुरतो दीपिकाः किंकरकरगताः प्रकाशन्ते तद्वत्।।६५०।। तेनैवेति। तेन हृदयाग्रगतेन प्रकाशेन प्रकाशितो महापथः परलोकमार्गो यस्य एतादृशः सन् इन्द्रः एकादशद्वारात् स्थूलशरीररूपात् पुरान्निष्क्रामति इति।।६५१।। एकादशद्वाराणि गणयति—चक्षुरिति। चक्षुःश्रोत्रनासिकानां प्रत्येकं द्वे द्वे छिद्रे इति षट्, पायूपस्थनाभीनां त्रीणि छिद्राणि, मुखस्यैकं, मूर्ध्नि चैकम्। एतानि सङ्कलितानि एकादशेत्यर्थः।।६५२।। द्वाराणां गन्तव्यानुसारेण विभागमाह—नारकीति चतुर्भिः। नारकी नरकं गन्ता। प्रेतसमः प्रेतयोनिगामी।।६५३।।

रूप से कदम-कदम कर मृत्युप्रक्रिया कही जा रही है तथापि ये कार्य आवश्यकतानुसार अतिशीघ्र भी हो जाते हैं। जैसे आधुनिक स्नायुचक्र के वर्णन में 'देखना-समझना-करना' इतना बताने में—अर्थात् इतनी घटना की शरीर-मन में हुई सारी वैद्युत-रासायनिकादि प्रक्रिया समझाने में—घण्टों लगते हैं जबकि घटना होने में क्षणांश ही बीतता है, इसी तरह समझाने में लम्बा लगने पर भी होने में यह प्रक्रिया अधिक समय लगाये ऐसा नियम नहीं।)।।६४९।।

जब कोई राजा कहीं जाता है तब उसके रास्ते पर दिये जलते हैं ताकि वह रास्ता स्पष्ट देख सके। ऐसे ही जीव जब परलोक जाने लगता है तब उसके हृदय में प्रकाश हो जाता है अर्थात् बुद्धि में उचित मार्ग ग्रहण करने के अनुकूल वृत्ति बन जाती है। यह इन्द्रनामक ईश्वर जब ग्यारह दरवाज़ों वाले इस नगर अर्थात् शरीर से प्रयाण करता है तब उसी रोशनी से परलोक का महापथ प्रकाशित होता है। (महापथ कहते हैं मरणोत्तर जिस रास्ते जीव जाता है। अतः चाहे जिस बड़े रास्ते को इस शब्द से लोक में नहीं कहा जाता। यहाँ 'रोशनी' से भौतिक तेज नहीं बल्कि पूर्वोक्त वृत्तियुक्त चेतन विवक्षित है। ईश्वरनिर्मित बुद्धि का स्वरूप ही ऐसा है कि इस मौके पर उचित वृत्ति बनाती है । इसके लिये जीव को स्फुटरूप से कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता। किं च जीव तब प्राज्ञसे तादात्म्यापन्न है अतः उस समय बुद्धि पर ईश्वर का संपूर्ण नियंत्रण है।)।।६५०-१।।

जीव निकले इसके लिये ग्यारह दरवाज़े हैं—आँख-कान-नाक के दो-दो छिद्र, पायु-उपस्थ-नाभि के एक-एक छिद्र, मुख और मूर्धा (यह अतिसूक्ष्म है और अयोगियों के लिये बंद रहता है।)।।६५२।। नरक जाने वाला जीव पायु से निकलता है, कामुक व्यक्ति भी निकृष्ट लोकों को जाता है अतः शिश्नमार्ग से निकलता है। प्रेतयोनि में जिसे जाना होता है वही प्रायः नाभिसे जाता है।।६५३।। भोजनलोलुप बहुत से व्यक्ति मुँह से निकलते हैं। गंध में आसक्त का निकलना नाक के छेदों से होता है। संगीत का जानकार यदि गंधर्वलोक जाने वाला हो तो कान के रास्ते निकलता है। आँखों से निकला जीव प्रकाशरूप सूर्य या अग्नि चन्द्रादि अन्य तेजोमय भावों को प्राप्त करता है। मूर्धा के मार्ग से निकला अनिंदित ब्रह्मलोक प्राप्त करता है।।६५४-६।। अधम फल देने वाले रास्तों में पायुसे निकृष्ट और कोई नहीं और उत्कृष्ट फल देने वाले मार्गों में मूर्धा से श्रेष्ठ कोई रास्ता नहीं। बाकी मार्गों की अच्छाई-बुराई इन्हीं की तुलना में समझी जाती है।।६५७।।

गीतज्ञः श्रोत्रदेशेन गन्धर्वान् प्रायशो व्रजेत्। चक्षुषो निर्गतो गच्छेत् सवितारं प्रभानिधिम्।।६५५।

अन्यं वा तैजसं कंचिदग्निं वा चन्द्रमेव वा। मूर्द्धतो निर्गतो गच्छेद् ब्रह्मलोकमनिन्दितम्।।६५६।।

अधमत्वे परा सीमा पायुद्वारमुदाहृतम्। उत्तमं च तथा नान्यन्मूर्द्धद्वारात् तु किञ्चन।। अन्येषु तारतम्येन ह्युत्तमाधमता स्थिता।।६५७।।

अनुगन्तारः

अयं यदा विनिर्याति बुद्ध्युपाधिर्महेश्वरः। प्राणस्तदा क्रियाशक्तिस्तमन्वेव व्रजत्ययम्।। प्राणे गच्छति सर्वाणि वागादीन्यनुयान्ति च।।६५८।।

एवमात्मा सविज्ञानो बुद्ध्युपाधिर्महेश्वरः। प्राज्ञतादात्म्यमायातः पुनर्ज्ञानं प्रपद्यते।।६५९।।

तं शरीराद् विनिष्क्रान्तं सुखदुःखोपभोगिनम्। पूर्वसंस्कारसहिते गच्छतो ज्ञानकर्मणी। शुभाशुभे समुद्बुद्धे तादृग्देहं प्रयच्छतः।।६६०।।

अत्रेति। अत्रासक्तो भोजनलोलुपः।।६५४।। गीतज्ञ इति। गीतज्ञः श्रोत्रमार्गेण गन्धर्वलोकं व्रजेत्। चक्षुर्द्वारेण निर्गतः तु सूर्यम् अन्यं वा तेजोमयं भावम् अग्न्यादिकं गच्छति। मूर्द्धद्वारेण गतस्तु ब्रह्मलोकं याति। इति द्वयोरर्थः।।६५५-५६।। अधमत्व इति। अधमफलप्रदद्वाराणां मध्ये पायुद्वारादपकृष्टं नास्ति। उत्कृष्टफलदानान्तु मूर्द्धद्वाराद् उत्कृष्टं न अस्ति। अन्येषु द्वारेषु त्वापेक्षिके उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वे इत्यर्थः।।६५७।।

अयमिति।[1] अयं ज्ञानशक्त्युपाधिको महेश्वरो यदा निर्गच्छति तदा तदनुसारिणो वागादयोऽपि निर्गच्छन्तीत्यर्थः।।६५८।। एवमिति।[2] बुद्ध्युपाधिक आत्मा महेश्वरः सकलसङ्घाताधिपतिः एवम् उक्तविधया मरणकाले प्राज्ञेन कारणोपाधिकेश्वरेण तादात्म्यं सुषुप्ताविव एकतां विशेषज्ञानाभावप्रयोजिकां प्राप्तोपि सविज्ञानो भवति। सविज्ञानपदार्थमेवाह—पुनर्ज्ञानं प्रपद्यत इति। पूर्वं यद् हृदयाग्रभागप्रज्वलनरूपं ज्ञानमुक्तं तद् निर्गमनमार्गाकारम्। इदं तु भाविशरीराकारमिति विशेषः पुनः-शब्दार्थः।।६५९।। पूर्वं परलोकयात्रायां शकटस्थानीयता सूक्ष्मशरीरस्योक्ता। तत्र संभारस्थानीयान् भावान् दर्शयति—तं शरीरादिति। तं बुद्ध्युपाधिकं जीवं शरीराद् विनिष्क्रान्तम् अभिलक्ष्येति शेषः। ज्ञानं मानसं कर्म, कर्म शारीरं तत्; एते द्वे अपि दृष्टरूपेण (? अदृष्ट°) गच्छतः। गत्वा च तादृक् तत्तद्भोगानुकूलं देहं प्रयच्छतः। कीदृशे ज्ञानकर्मणी ? पूर्वसंस्कारेण पूर्वानुभूत-तत्तद्योनिव्यवहाराद्यनुभवजन्येन संस्कारेण तत्र तत्र कौशलप्रयोजकेन सहिते इत्यर्थः।।६६०।।

बुद्धिप्रधान पुर्यष्टक रूप उपाधि वाला यह जीव, जो वास्तवमें महेश्वर है, जब शरीर छोड़कर निकलता है तब क्रियाशक्ति वाला प्राण इसके पीछे जाता है और प्राण के पीछे वागादि सारी इंद्रियाँ निकल जाती हैं।६५८।। बुद्धि-प्रधान उपाधि वाला संघाताधिपति आत्मा पूर्वोक्त ढंग से प्राज्ञ (ईश्वर) से तादात्म्य पाकर फिर 'सविज्ञान' हो जाता है अर्थात् आगे किस शरीर में जाना है इसकी इसे जानकारी हो जाती है।।६५९।। सुख-दुःख भोगने वाला जीव जब शरीर से निकलता है तब पूर्वसंस्कारों समेत ज्ञान और कर्म उसके साथ जाते हैं और अपने अनुसार भोगप्रद शरीर प्राप्त कराते हैं। ('पूर्वसंस्कार' अर्थात् पूर्वजन्मों में एकत्र वे शिक्षायें जो गन्तव्य योनि में पहुँचते ही कार्यसामर्थ्य प्रदान करती हैं। 'ज्ञान' अर्थात् मनसे किये कर्मों से उत्पन्न पुण्य-पाप। 'कर्म' अर्थात् शरीर से किये कर्मों से उत्पन्न पुण्य-पाप।)।।६६०।।

---

१. 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।' २. 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।।२।।'

देहान्तरं संपाद्य याति

स्थूलदेहाद् विनिष्क्रम्य स्थूलदेहविवर्जितः। न तिष्ठति पुमानत्र दृष्टान्तस्तृणयः कृमिः।।६६१।।

यथा तृणजलौकाख्यः कृमिस्तृणगणं व्रजन्। एकं तृणं गृहीत्वैव जह्यात् पूर्वं तृणं सदा।।६६२।।

एवमात्मा वपुष्यस्मिन् स्थूले स्थित्वा परं वपुः। स्थूलं सम्पाद्य निर्गच्छेदप्राप्तौ नैव तस्य सः।।६६३

यथा निर्गच्छतो राज्ञो धनिकस्यापरस्य वा। जीर्णं गृहं परित्यज्य गृहान्तरगतिं प्रति।।६६४।।

पूर्वस्य तु परित्यागो निष्पन्नेऽभिनवे गृहे। भवेदेवं परित्यागो नवे देहेऽत्र देहिनः। निष्पन्ने पूर्वदेहस्य नान्यथा क्वापि कर्हिचित्।।६६५।।

आत्मनः सर्वगत्वेन भेदस्यापि विवर्जनात्। गत्यादयो न सन्त्येव सर्वकर्मफलैः समम्।।६६६।।

यद्यप्यस्य तथाऽप्यत्र बुद्धितादात्म्यहेतुतः। उपपन्नमिदं सर्वं गतिकर्मफलादिकम्।।६६७।।

आत्मनः शरीरान्तरग्रहण-पूर्वशरीरपरित्यागप्रकारयोः स्पष्टीकरणपरायाः चतुर्थकण्डिकाया[१] अर्थं निरूपयति—स्थूलदेहादिति त्रयोविंशतिश्लोकैः। स्थूलदेहविवर्जितः अनालम्बितस्थूलदेहान्तरः सन् पूर्वदेहाद् विनिष्क्रम्य न तिष्ठति किन्त्वालम्ब्यैव देहान्तरं पूर्वदेहाद् विनिष्क्रामति इति अत्र अर्थे दृष्टान्तः तृणयः तृणेषु याति भ्रमति यः कृमिविशेषः स बोद्धव्यः।।६६१।। दृष्टान्तं स्फुटयति—यथेति। स्पष्टम्। श्रुतौ 'आक्रम'-पदेन आक्रम्यत इति व्युत्पत्त्या आलम्बनीयं तृणान्तरादिकमुक्तमिति बोध्यम्।।६६२।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। सम्पाद्य आलम्ब्य पूर्वस्माद् निर्गच्छेत्। शरीरान्तरस्य अप्राप्तौ तु तस्य पूर्वस्य देहस्य स परित्यागो नैव भवतीति।।६६३।। उक्तमर्थं लौकिकदृष्टान्तेनाऽपि स्फुटयति—यथेति द्वाभ्याम्। यथा राजादेर्गृहान्तरगतिं प्रति गृहान्तरप्राप्त्यर्थं जीर्णं गृहं परित्यज्य निर्गच्छतो यः पूर्वस्य परित्यागः सः अभिनवे गृहे निष्पन्ने सत्येव भवेत्, तथा एवं देहिनोऽभिनवे देहे निष्पन्ने सत्येव पूर्वत्यागो भवेदिति द्वयोरन्वयः।।६६४।।६६५।।

ननु पूर्णस्यात्मनः कथं गत्यादिकमिति चेद् ? घटाद्युपहिताकाशवद् बुद्ध्याद्युपहितात्मनि सर्वं संभवतीत्याह—आत्मन इति। यद्यपि सर्वगस्याऽद्वितीयस्य आत्मनो गत्यादयो न सम्भवन्ति तथापि बुद्ध्यादिसम्बन्धात् सर्वमुपपन्नम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।६६६।।६६७।।

पुरुष इस स्थूल देह से निकलने के बाद अन्य स्थूल देह पर बिना आश्रित हुए रहता नहीं जैसे तिनकों पर चलने वाला कीड़ा (जोंक)।।६६१।। तृणजलौका नामक कीड़ा (जोंक) तिनकों पर चलते हुए किसी तिनके को आलंबन रूप से ग्रहण कर लेने के बाद ही पूर्व में आलंबित तिनका छोड़ता है। ऐसे ही आत्मा इस स्थूल शरीर में रहते हुए ही नये स्थूल शरीर का संपादन कर लेता है तभी निकलता है। जब तक नये देह का सहारा नहीं लेता तब तक पुराने शरीर को नहीं छोड़ता।।६६२-३।। कोई राजा या धनिक व्यक्ति पुराना घर छोड़कर नये घर में जाता है तो पिछला घर तभी छोड़ता है जब नया घर तैयार हो जाये। इसी प्रकार देही का नया शरीर निश्चित हो जाने पर ही पूर्व शरीर छूटता है, बिना निश्चित हुए कभी कहीं नहीं छूटता।।६६४-५।।

प्रश्न होगा कि आत्मा पूर्ण है—व्यापक है—तो इसका जाना-आना कैसे ? उत्तर है कि घटाकाश में जैसे गमनागमन हो जाता है वैसे बुद्ध्युपहित आत्मा में भी। यदि कहो वस्तुतः घटादि में ही क्रिया है न कि आकाश में तो यहाँ भी बुद्ध्यादि पुर्यष्टक में ही जाना-आना है न कि आत्मा में। इससे कर्म सांकर्य नहीं होगा क्योंकि चेतन तो एक ही है,

१. 'तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्य आत्मानमुपसंहरति एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।।३।।' टीकोक्तसंख्या माध्यंदिनक्रमेण।

देहस्थबुद्धेर्देहान्तरगतिः

अस्मिन् देहे स्थिता बुद्धिर्नाप्नुयादपरं वपुः। यद्यप्येषा तथाऽप्येवं प्राप्तिर्देहद्वये भवेत्।।६६८।।
वृत्तिभिर्नयनं यद्वद् गच्छेद् नयनमण्डलात्। बहिर्ध्रुवादिकं देशं बहुलक्षादियोजनम्।।६६९।।
धर्माधर्माख्यसंस्कारैरेवं बुद्धिश्च वृत्तिभिः। पूर्वदेहस्थिता देहमन्यं यातीश्वरेच्छया।।६७०।।
नेत्रमण्डलमध्यस्थं नेत्रं गच्छद् ध्रुवादिकम्। तत् प्राप्यापि न वेत्त्येतत् प्राप्तमेतद् मया यथा।।६७१
पूर्वदेहस्थिता बुद्धिः प्राप्य देहान्तरं तथा। प्राप्तमेतन्मया देहं नवं वेत्ति न कर्हिचित्।।६७२।।

ननु बुद्ध्यादेरेव कथं देहान्तरे गत्यादिकम्? इत्यसम्भावनां दृष्टान्तेनापाकर्तुं प्रतिजानीते—अस्मिन्निति। यद्यपि अस्मिन् देहे स्थिता बुद्धिरपरं देहम् आप्नुयाद् इति न सम्भाव्यते तथापि एवं वक्ष्यमाणविधया देहद्वये बुद्ध्यादिप्राप्तिः सम्बन्धरूपा सम्भावनीयेत्यर्थः।।६६८।। 'एवं'-पदोक्तां विधामभिनयति—वृत्तिभिरिति। यथा नयनं चक्षुरिन्द्रियं नयनमण्डलात् स्वगोलकाद् बहिः बाह्यं दूरमपि ध्रुवादिकं देशं वृत्तिभिर्गच्छेद् इति सर्ववादिसम्मतं[1] तथा बुद्धिः पूर्वदेहस्थिताऽपि मरणकाले अन्यं देहं याति। कीदृशी बुद्धिः? धर्माधर्माभ्यां विहितनिषिद्धकर्मजन्यादृष्टाभ्यां पूर्वानुभवजन्यसंस्कारेण च ईश्वरेच्छया च प्रयुक्तेति शेषः। अनेन बुद्धिविशेषणेन जीवनदशायां भाविदेहाकारवृत्तिप्रसङ्गो निरस्तः।।६६९।।६७०।। ननु मरणकाले भाविदेहमनुसन्दधाना बुद्धिः 'अहं देहान्तरं प्राप्ताऽस्मि' इत्येवं कुतो न जानाति? इति शङ्कापि उक्तदृष्टान्तेन निरस्तेत्याह—नेत्रेति द्वाभ्याम्। यथा स्वगोलकस्थं चक्षुः ध्रुवादिकं गच्छत् सत् तत् ध्रुवादिकं प्राप्यापि एतन्न वेत्ति। 'एतत्' किम्? मया एतद् ध्रुवादिकं प्राप्तम् इति, तथा मरणकाले बुद्धिः पूर्वदेहस्थिता देहान्तरं प्राप्य अप्येतद् न वेत्ति। 'एतत्' किम्? मयैतन्नवं देहं प्राप्तम्। इति द्वयोः सम्बन्धः। वेगातिशयात्, जडत्वाच्चेति हेतुः पूरणीयः।।६७१।।६७२।।

जिस उपाधि से उपहित उसमें कर्तृत्व है उसी से उपहित उसी में भोक्तृत्व है। इस तरह कर्तृत्व-भोक्तृत्व एक में ही रहा, न चेतन बदला, न उपाधि बदली। इसे पुराणकार समझाते हैं: यद्यपि यह सत्य है कि क्योंकि यह आत्मा सर्वव्यापक और अद्वितीय है इसलिये सारे कर्मफल और गमन-आगमन इसके हो नहीं सकते, तथापि क्योंकि इसे बुद्धिसे तादात्म्याध्यास है इसलिये इसे कर्मफल मिलना, इसका गमन-आगमन सभी कुछ युक्तिसंगत है। (आखिर व्यापक आत्मा मानने वाले स्वीकारते ही हैं कि क्रिया में हेतु स्थूल शरीर से तादात्म्य ही है अतः प्रकृत व्याख्या सर्वमान्य होने योग्य है। फिर भी अविचारप्रयुक्त आग्रहों से वादी अन्यान्य प्रक्रियायें कल्पित करते हैं। अव्यापक किंतु शरीरभिन्न आत्मा मानने वाले भी शारीरिक क्रियाओं का आत्मा से अध्यासभिन्न क्या संबंध बतायेंगे? अतः वे भी यदि जन्मांतर मानते हैं या स्वर्गादि लोकों में गमन मानते हैं तो उन्हें यही व्यवस्था स्वीकारनी चाहिये।)।।६६६-७।।

यद्यपि यह बुद्धि इस शरीर में रहते हुए अन्य शरीर भी प्राप्त कर ले यह संगत नहीं लगता तथापि दोनों—वर्तमान तथा भावी शरीरों में बुद्धि का रहना इस तरह संगत समझ सकते हैं: चक्षुरिन्द्रिय अपने गोलकभूत नयन से वृत्तिद्वारा निकल कर बहुत लाखों योजन दूर ध्रुव आदि स्थानों तक पहुँच जाती है। ध्रुवदर्शन के समय ध्रुव पर और शरीर में दोनों जगह चक्षुरिन्द्रिय विद्यमान रहती है। इसी प्रकार पुण्य-पाप, संस्कार और ईश्वरेच्छा के बल पर छोड़े जाते शरीर में रहते हुए ही बुद्धि वृत्तियों द्वारा अन्य देह में भी पहुँच जाती है।।६६८-७०।। गोलक में स्थित नेत्रेन्द्रिय ध्रुवादि तक जाते हुए या वहाँ पहुँचकर भी 'मैं यहाँ पहुँची हूँ' ऐसा नहीं समझती। ऐसे ही पूर्वदेह में स्थित बुद्धि देहांतर पाकर भी 'यह नया शरीर मुझे मिल गया' यह कभी समझ नहीं पाती।।६७१-२।। (आँख के जाने में कुछ आधुनिक ढंग के लोग मतभेद रखते हैं तथापि दृष्टांत इतने में है कि सावयव वस्तु इकट्ठे ही दो जगह टिक सकती है, जैसे एक बल्ली दो लोगों के कंधों पर भी टिक जाती है। बुद्धि सांश वस्तु है ही। है यह प्रक्रिया शास्त्र से समझने योग्य ही अतः जो

---

१. सावयववस्तुनः कतिचिदवयवैर्देशान्तरावस्थानं लोकसिद्धमिति दृष्टान्तविशेषे वैमत्येऽपि विवक्षितार्थे सर्वसंमतिः।

तृणजलौकादृष्टान्तार्थः

अभिप्रायं यथा ज्ञात्वा राज्ञस्तस्याऽत्र किङ्कराः। प्रासादमपरं कुर्युः तत्रस्थेऽपि च राजनि।।६७३।।

नयन्ति च विधायान्यं प्रासादं राजकिङ्कराः। हस्त्यश्वादीन् स्थितेऽप्यस्मिन् प्रासादे पूर्वनिर्मिते।।६७४।।

वदन्ति च जनास्तत्र हस्त्यश्वादिसमागमात्। राजा समागतः सोऽयं यदि मार्गेऽपि तिष्ठति।।६७५।।

मुमूर्षोर्देहिनोऽप्येवं कर्माणि विविधानि हि। आरभन्ते वपुस्त्वन्यद् यत्र यास्यत्यसौ मृतः।।६७६।।

आत्मनः सर्वगत्वेन ह्यभिमुख्येन कर्मणाम्। फलाय बुद्धिसंयोगाद् वृत्तिद्वारेण हेतुना।। देहद्वयेऽपि सम्प्राप्तो जन्तुस्तेनाऽत्र कथ्यते।।६७७।।

उपभोक्ष्यति देहेन फलमेकेन देहभाक्। उपभुक्तं परेणाऽपि तेन देहद्वयस्थितः।।६७८।।

देहान्तरं तत्तद्भोगानुकूलमारप्स्यमानान्यपि कर्माणि भाविशरीराकारां वृत्तिमारभन्त इत्येतावदेव तृणजलौकादृष्टान्तेन विवक्षितमित्याशयं दृष्टान्तेन विशदी करोति—अभिप्रायमित्यादिना। यथा राजकिङ्कराः तस्य राज्ञः प्रासादान्तरगमनाभिप्रायं ज्ञात्वा प्रासादान्तरं निर्माय तत्र राज्ञो हस्त्यश्वादीन् नयन्ति। क्व सति ? अस्मिन् राज्ञि पूर्वप्रासादे स्थितेऽपि। तान् अश्वादीन् दृष्ट्वा जना एवं वदन्ति। 'एवं' कथम् ? सोऽयं सोऽयं राजा समागत इति। स च राजा यद्यपि मार्गे पूर्वप्रासादे वा तिष्ठति, तथापि। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।६७३।।६७४।।६७५।। दार्ष्टान्तिकमाह—मुमूर्षोरिति। एवं मुमूर्षोर्देहिनो राजस्थानीयस्य कर्माणि किङ्करस्थानीयानि शरीरान्तरं प्राप्यं प्रासादान्तरस्थानीयं स्वप्नकाल इव प्रातिभासिकं मरणकाल आरभन्ते। तथा च तदाकारा वृत्तिः अश्वादिस्थानीयेति भावः।।६७६।। आत्मन इति। एतेनाभिप्रायेण अत्र जलौकानिदर्शनवाक्ये मरणकाले जन्तुर्देहद्वयेऽपि सम्प्राप्तः सम्बद्धः कथ्यते। 'एतेन' केन ? यदाऽऽत्मा सर्वगः सत्कार्यवादे भाविशरीरेणापि सम्बद्ध एव। कर्माण्यपि भाविशरीराकाराय फलायोन्मुखान्येव। अत एव बुद्धिरपि वृत्तिद्वारेण भाविशरीरेणापि संयुक्तैवेति।।६७७।। देहद्वयस्थितत्वमभिनयति—उपभोक्ष्यतीति। यदाकारा मरणे वृत्तिर्जायते तच्छरीरं भविष्यद्भोग-साधनम्, त्यज्यमानं त्वतीतस्य इति शरीरद्वयसम्बन्धोपपत्तिरिति भावः।।६७८।। भाविशरीराकारवृत्तिरूपैव बुद्धि आदि सूक्ष्म पदार्थ ही स्वीकारना न चाहें उन्हें यह समझ नहीं आयेगी। किंतु वे स्वयं भी इस विषयमें कोई व्यवस्था युक्ति या प्रमाण से नहीं बना सकते।)

तृणजलौका के उदाहरण को अन्य दृष्टान्त से सुस्पष्ट करते हैं : राज्यकर्मचारी जब यह जान लेते हैं कि राजा ने वर्तमान महल छोड़ना निश्चित कर लिया है तब वे नया महल तैयार करने लगते हैं, हालांकि राजा अभी पुराने महल में ही होता है। महल बनाकर हाथी-घोड़े आदि उपकरण भी लाकर वहाँ स्थापित कर देते हैं, अभी राजा पुराने महल में ही होता है।।६७३-४।। राजा नवीन महल में आने के लिये चल दे तो उससे पूर्व ही जो हाथी आदि आये होते हैं उन्हें देखकर लोग कहने लगते हैं 'राजा जी आ गये हैं।'।।६७५।। इसी प्रकार मरणासन्न देही के जो विविध कर्म उत्तर जन्ममें फल देंगे वे उस शरीर को बनाने लगते हैं जिसमें यह देही यहाँ से मरकर जायेगा। जौंक के दृष्टांत में मरते समय जंतु वर्तमान व भावी दोनों शरीरों से सम्बद्ध कहा जा रहा है इसमें ये हेतु हैं—१) आत्मा सर्वव्यापक है; अतः उसका नवीन शरीर से संबंध है ही।२) नया शरीर बनाने के लिये कर्मों ने फलीभूत होना शुरू कर दिया है; इसलिये नवीन शरीर में भोग्य कर्म आत्मा की उपाधि बन गये हैं।३) वृत्तिद्वारा बुद्धि भी दोनों शरीरों से संयुक्त है; इसलिये देही बनने के लिये जो यह जरूरत भी है कि देहस्थ बुद्धि उपाधि हो, वह जरूरत भी पूरी हो चुकी है। एवं च शरीरद्वय से आत्मसम्बंध बताना उचित है।।६७६-७७।।

यथा कण्ठस्थितां मालामन्यद्वा वसनादिकम्। तित्यक्षुरपरं जन्तुर्वीक्षते दूरसंस्थितम्।।६७६।।

पूर्वदेहं तथा जन्तुः तित्यक्षुरपरं निजैः। कर्मभिर्बुद्धिसंस्थानैः प्राप्नोत्यारम्भकैर्नवैः।।६८०।।

अविद्यां गमयित्वादेरर्थः

महावह्निर्ज्वलन् यद्वद् लोहपिण्डं स्वसंनिभम्। गमयेत् सन्त्यजन् लोहं दाहदीप्त्यपराहतः।।६८१।।

अविद्यां गमयेदेवं जडं देहं त्यजन् पुमान्। चैतन्यस्यापहारेण स्वाभिमानस्थितस्य हि।।६८२।।

मृतिकाले भाविशरीरप्राप्तिरितीममर्थं दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथा कण्ठेति द्वाभ्याम्। **यथा भुक्तं मालादिकं तित्यक्षुः त्यक्तुमिच्छुः** अपरं तज्जातीयं वीक्षते तदाकारां चित्तवृत्तिधारां करोति, **तथा जन्तुः अपि पूर्वदेहं तित्यक्षुः अपरदेहाकारां वृत्तिं** कर्मभिः प्रयुक्तां प्राप्नोति। **कीदृशैः कर्मभिः ? नवैः पूर्वशरीरारम्भकभिन्नैः शरीरान्तरस्य** आरम्भकैः **बुद्धिसंस्थानैः च बुद्धेः संस्थानं तत्तद्भोग्याकारः परिणामो यैस्तथा तैः। इति द्वयोरर्थः।।६७६।।६८०।।**

पूर्वदेहस्याविद्यागमनं निहननं च स्पष्टीकरोति—महावह्निरिति **त्रिभिः। लोहम् इति भावप्रधानो निर्देशः। यथा ज्वलन्** देदीप्यमानो **महावह्निः** लोहपिण्डं **स्वसन्निभं स्वतादात्म्येन स्वसमानाकारतां नीतं सन्त्यजन् सन् पुनः** लोहभावं **गमयेत्** प्रापयेत्। **कीदृशो वह्निः ?** दाहदीप्तिभ्यामपराहतः **अपरित्यक्तः, नित्ययुक्त इति यावत्**[१]। **तथा च दाहदीप्ती वह्निधर्मावपि वह्निना त्यक्तं लोहपिण्डं त्यजत इति भावः।।६८१।।** अविद्यामिति। **एवं महावह्निवत्** जडं देहं **चित्तादात्म्याध्यासात्** चेतनायमानं **त्यजन् सन् पुरुषः स्वाभिमानाश्रितस्य चैतन्यस्यापहारेण अविद्याम्** अव्याकृतादिशब्दवाच्याया **अविद्यायाः कारणीभूतायाः स्वभावं, जडत्वमिति यावद्, गमयेदित्यर्थः।।६८२।।**

यह वह अवस्था है ज़ब देही एक शरीर से फल भोग चुका है और अगले से भोगने वाला है। इसी से उसे दोनों शरीरों में विद्यमान कहा है (जैसे पैदल चलते समय पिछले व अगले स्थानों पर एक-एक पैर होता है तो शरीर दोनों जगह स्थित कहा जा सकता है।)।।६७८।। जब कोई व्यक्ति गले की माला, कपड़ा आदि छोंड़ना चाहता है तो उसकी जगह उस तरह की जो वस्तु ग्रहण करनी होती है उस पर नज़र रखता है, उसका बार-बार ध्यान करता है, चाहे वह चीज़ अभी दूर ही हो। ऐसे ही जंतु जब पूर्व शरीर छोड़ने वाला होता है तब उसकी बुद्धि में नवीन देह के आकार की वृत्ति बन जाती है। नये शरीर को उत्पन्न करने वाले निज कर्म ही बुद्धि की उस आकार की वृत्ति बना देते हैं। (कर्मों को बुद्धि सहित जाना है अतः यद्यपि बुद्धि का वर्तमान शरीरारंभक कर्मों से अभी सम्बंध समाप्त नहीं हुआ तथापि वह नवीन-शरीरारंभक-कर्मों के अनुसार नवीन-शरीराकारकी वृत्ति बना लती है जैसे किराये पर लिये पूर्व मकान को छोड़ने से पूर्व, उसमें रहते हुए ही, नये मकान के किरायेनामे इत्यादि कागज़ात तैयार कर लिये जाते हैं।)।।६७९-८०।।

जैसे देदीप्यमान तेज़ आग लोहे के पिण्ड को अपने समान बना लेती है लेकिन उस पिण्ड को छोड़कर जाते हुए उसे पुनः लोहामात्र ही बना दी है। गर्मी और प्रकाश आगसे तो सदा संबद्ध हैं अतः वे उसके साथ चले जाते हैं; लोहे में उनकी प्रतीति इसी से थी कि लोह-अग्नि का तादात्म्य था, जब वह हट गया तो लोहे में गर्मी व चमक भी प्रतीत होना बन्द हो जाते हैं। इसी तरह पुरुष जड स्थूल शरीर को छोड़ते हुए इसे सर्वथा ज्ञानशून्य बना जाता है। पुरुष के अभिमान पर चेतना आश्रित है, अभिमान गया तो चेतना जानी ही है। स्वतः तो शरीर जड अर्थात् ज्ञानशून्य है ही। (जब तक पुरुष को उस स्थूल शरीर में अभिमान था तब तक वह शरीर ज्ञान वाला, चेतना वाला था। अभिमान बुद्धिवृत्ति द्वारा होता है। बुद्धि ने जब इस शरीर की वृत्ति बनाना बंद कर दिया तब आत्मा का इस शरीर में अभिमान समाप्त होना ही है।)।।६८१-२।। जलती वह्नि जो लोहका परित्याग करती है उसी से कह देते हैं कि उसने 'जलता

१. मम तु—पराहतम् इति पठनीयं, लोहमेवंभावं गमयेदित्यर्थः—इति सम्यगिवाभाति।

स्वात्मनस्तु परित्यागाद् हन्ति लोहं यथा ज्वलन्। अन्तरात्मापि च तथा त्यागाद् हन्ति वपुस्त्विदम्।।६८३।।

अविद्या भूतद्वारा देहोपादानम्

लोहपिण्डं निहत्याग्निरन्यं नवतरं व्रजेत्। सुखप्रदं लोहपिण्डं मनसो नयनस्य च।।६८४।।

पूर्वदेहं तथात्मायं हित्वा नवतरं पुनः। कल्याणं सुखदं देहं याति कर्मक्षयेऽस्य हि।।६८५।।

यथा सुवर्णकृल्लोके स्वर्णमेकमनेकधा। पर्यायतः करोत्येवम् आत्माऽविद्यामनेकधा। पर्यायतः करोत्येष नानादेहस्वरूपिणीम्।।६८६।।

अविद्यां गमयित्वा हि पूर्वं देहं परं पुनः। अविद्यातः समादत्ते पुण्यपापवशं गतः।।६८७।।

एतावतैव पूर्वदेहस्य हननमित्याह—स्वात्मन इति। यथा वह्निकर्तृकं लोहहननं परित्यागरूपं तथाऽऽत्मकर्तृकं देहहननमित्यर्थः[1]।।६८३।।

आत्मनो नानाविधशरीरारम्भिका च पञ्चभूताकारपरिणामिनी अव्याकृताख्याऽविद्यैव यथा नानाभूषणोपादानमेकं सुवर्णमेवेति प्रतिपादिकायाः[2] पञ्चमकण्डिकाया अर्थं वर्णयति—लोहपिण्डमिति त्रयोदशभिः। यथा अग्निः पूर्वं लोहपिण्डं निहत्य स्ववियोगेन दीप्त्यादिरहितं कृत्वा अन्यं लोहपिण्डं व्रजेत् तच्च लोहपिण्डं स्वसम्बन्धेन मनोनयनयोः हर्षप्रदं कुर्यात्, तथाऽऽत्माऽपि अस्य पूर्वदेहस्य भोगप्रदानां कर्मणां क्षये सति पूर्वं देहं त्यक्त्वा अन्यं देहं याति तं च कल्याणं मन्यते। इति द्वयोरर्थः।।६८४।।६८५।। तत्र नवं शरीरं पूर्वशरीरोपादानभूताविद्याया एव परिणाम इत्याह—यथेति द्वाभ्याम्। यथा सुवर्णकारः—श्रुतौ 'पेशस्कारि'-[3] पदोक्तः—कुण्डलाङ्गुलीयकादिरूपैः एकं सुवर्णपिण्डं पर्यायेण क्रमेण करोति विपरिणामयति तथा आत्मा अपि अविद्यां नानादेहरूपेण परिणामयतीत्यर्थः।।६८६।। एतदेव स्फुटयति—अविद्यामिति। देहस्य अविद्योपादानम्; पुण्यादिकं तु निमित्तमित्यर्थः।।६८७।।

पिण्ड मार डाला !' ऐसे ही आत्मा शरीर को छोड़ देता है इसी से कहते हैं कि उसने शरीर मार डाला। (श्रुति ने प्रकृत में 'शरीरं निहत्य' शरीर को मारकर और 'अविद्यां गमयित्वा' इसे अविद्यारूप बनाकर आत्मा जाता है ऐसा कहा है, उसे ही पुराण में समझाया)।।६८३।।

श्रुति ने आगे कहा है कि जैसे सुनार पुराना गहना गलाकर मिले सोने से नये गहने घड़ता है ऐसे आत्मा इस शरीर को समाप्त कर इसके उपादान अज्ञान के रूप में पहुँचाकर पुनः उससे नया शरीर बना लेता है। इसे पुराण में समझाते हैं :

आग एक लोहपिण्ड छोड़कर नये पिण्ड में जाती है और उसे दीप्त कर मनोरम व दीखने में सुंदर बना देती है। इसी तरह कर्म समाप्त होने पर आत्मा पूर्व शरीर छोड़कर नये कल्याणकारी सुखद शरीर में चला जाता है। (अर्थात् जिस शरीर में आत्मा जाता है उसे कल्याणकारी और सुखद समझता है। अथवा कल्याण अर्थात् मंगल; शव अमंगल होता है, तदपेक्षया नवीन शरीर मंगल होता है। या श्रुति के कल्याणपद को ही पुराण में सुखद कहकर समझाया

१. 'निहत्याऽचेष्टमापाद्य स्वात्मलिङ्गोपसंहृतेः।। गमयित्वा तथाऽविद्यां जाड्यं निःसंज्ञतामिदम्।' इतीह वार्तिकम्।।(१३५-६)। भाष्यम्—'निहत्य—स्वप्नं प्रतिपित्सुरिव पातयित्वा। अविद्यां गमयित्वा—अचेतनं कृत्वा स्वात्मोपसंहारेण।' इति। २. 'तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यद् नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यद् नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्।।४।।' पंचमतोक्तिः पूर्ववत्। ३. दीर्घान्तः श्रुतौ पाठः।

समीचीनतमं पूर्वं देहं कर्मक्षये पुमान्। मनुते ह्यसमीचीनं भाविकर्मप्रचोदितः।।६८८।।

आगाम्यप्यसमीचीनं समीचीनधिया पुमान्। गृह्णाति सर्वदा जन्तुरीश्वरस्य वशे स्थितः।।६८९।।

मन्त्रौषधिबलैर्यद्वद् रुद्धधीः कुष्ठिनीमपि। रजसावृतगात्रां च कर्णनासादिवर्जिताम्। इन्द्राणीसदृशीमेतां मन्यते परयोषितम्।।६९०।।

इन्द्राणीसदृशीं स्वस्य गुणयुक्तां पतिव्रताम्। कुलप्रसूतां युवतिं हित्वा स्वस्य समीपगाम्।।६९१।।

श्वादिदेहानयं तद्वत् पापपुञ्जविमोहितः। आत्मा नवतमान् स्वस्य सुखदानभिमन्यते।।६९२।।

राजदेवादिकांस्त्यक्त्वा देहान् पूर्वान् मनोरमान्। अनेकसुखसम्पन्नान् पुण्यपुञ्जपरिक्षये।।६९३।।

उत्तरदेहस्य कल्याणतमत्वम् आभिमानिकं दर्शयितुं पूर्वदेहे जन्तोरसमीचीनबुद्धिर्भवतीत्याह—समीचीनमिति। पूर्वदेहं समीचीनमपि असमीचीनं मन्यते।।६८८।। आगामीति। आगामि देहं तु असमीचीनम् अपि समीचीनं मन्यते।।६८९।। दोषोपप्लुतान्तःकरणस्य विपरीतदर्शनं न चित्रमितीममर्थं निदर्शनेन विशदयति—मन्त्रौषधीति चतुर्भिः। यथा कश्चिद् वशीकरणोपायैः मन्त्रादिभिः क्षोभिताविद्यया व्याप्तबुद्धिः नानादोषामपि परस्त्रियम् इन्द्राणीसदृशीं मन्यते सद्गुणां स्वकीयां हित्वा—इति द्वयोरन्वयः।।६९०।।६९१।। दार्ष्टान्तिके योजयति—श्वादीति। तथा जन्तुः पुण्यपरिक्षये राजादिदेहान् मनोरमान् अपि त्यक्त्वा श्वादिदेहान् सुखदान् मन्यते पापोदयवशादिति द्वयोः सम्बन्धः।।६९२।।६९३।। कर्मानुसारेण देहलाभव्यवस्थामाह—यदीति द्वाभ्याम्। यदि पूर्वदेहान्ते पुण्योदयः तदा

है।)।।६८४-५।। लोक में सुनार एक ही सोने को क्रमशः कुंडल, अंगूठी, चूड़ी आदि अनेक प्रकार का बना देता है। ऐसे ही आत्मा अविद्या को क्रमशः अनेक प्रकार से नाना देहों के रूप वाली बना देता है।।६८६।। धर्माधर्म से प्रेरित हुआ—उनके परवश हुआ—आत्मा पूर्व शरीर को नष्ट कर उसकी उपादान दशा अर्थात् अविद्यादशा में पहुँचा देता है, फिर उसी अविद्या से नया शरीर ग्रहण कर लेता है (यद्यपि दशाविशेष उपादान नहीं होती तथापि जैसे तंतुरूपापन्न मिट्टी का पटोपादानरूप से व्यवहार होता है या तरल मीठा दूध ही दही का उपादान समझा जाता है उसी प्रकार पूर्व देह में तादात्म्य-संपादक वृत्ति से रहित दशा वाली अविद्या ही नवीन देह में वैसी वृत्ति की उपादान बनेगी अतः वह दशा विवक्षित है। वस्तुतः उस देह में 'मैं' यह भान न रहना ही उस देह को अविद्यादशा में पहुँचाना है और इस 'भान न रहने से'—अविद्या से—ही नये शरीर में 'मैं'-भान होना है यह भाव है। पुराणकार की शैली में कह सकते हैं कि यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि 'पुराने शरीर का क्या हुआ ?' पता नहीं। 'नया शरीर कैसे मिला ?' पता नहीं।—क्योंकि 'पता नहीं' अज्ञान का ही नाम है।)।।६८७।।

पूर्व देह भी बढ़िया ही था लेकिन कर्मक्षय होने पर पुरुष मानता है वह शरीर अच्छा नहीं है क्योंकि भविष्य शरीर के कर्म उसे नये शरीर की ओर आकर्षित करते हैं।।६८८।। आगे मिलने वाला शरीर भी ऐसा ही है, या निकृष्ट योनि आदि का हो तो घटिया ही है, लेकिन पुरुष को सदा लगता है कि वह अच्छा है ! होता यह इसलिये है कि जंतु ईश्वर के वश में है (अतः ईश्वर इसे जहाँ ले जाना चाहते हैं उसमें शोभनबुद्धि करा देते हैं। लोक में भी किसी व्यक्ति को परिवर्तन के लिये तैयार ऐसे ही किया जाता है कि उसे नवीन स्थिति के लाभों की ओर आकर्षण हो जाये।)।।६८९।। मंत्रों और जड़ी-बूटियों के प्रयोग से जिस आदमी की बुद्धि परवश कर दी गयी है वह शची-समान, गुणवती, पतिव्रता, कुलीन, नवयौवना, अपने पास मौजूद अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्री को इन्द्राणीतुल्य मानने लगता है भले ही वह स्त्री कोढ़ग्रस्त हो, उसका शरीर मिट्टी आदि से मैला ही रहता हो, उसके नाक-कान भी कटे हुए हों।।६९०-९१।।

यदि पुण्योद्भवस्तस्य भवेद् देहस्य सङ्क्षये। तदा नवतमं देहं कल्याणं चैव गच्छति।।६६४।।

पितृगन्धर्वदेवानां विराट् सूत्रात्मनोरपि। याति देहं शुभैः पूर्वसंस्कारज्ञानकर्मभिः।। व्यामिश्रैर्मनुजादीनां श्वादीनामधमैरपि।।६६५।।

एवं संसारशूलेऽस्मिन् वर्तन्ते सर्वदेहिनः। ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ता आत्मज्ञानविवर्जिताः।।६६६।।

स्वरूपे न वैषम्यम्

आनन्दे तारतम्यं यद् वर्णितं तन्निजात्मनः। तारतम्यात् प्रकाशस्य तत्तद् बुद्धेरपेक्षणात्।।६६७।।

तारतम्यं यथा दृष्टमाकाशस्य घटादिषु। आनन्दस्य तथा बुद्धौ तारतम्यं व्यवस्थितम्।।६६८।।

शुभसंस्कारादिभिः पितृलोकादिगतं शुभं देहं प्राप्नोति, मध्यमैः सङ्कीर्णैः मनुष्यादिभावम्, अधमैः श्वादिभावम्। इति द्वयोरर्थः।।६६४-६६५।। एवं जन्तोः संसारभ्रमणप्रकारो दर्शित इत्युपसंहरति—एवमिति। स्पष्टम्।।६६६।।

अथ संसारं प्राप्तस्याप्यात्मनो यत् सर्वाधिष्ठानभूतं शुद्धं स्वरूपं यच्च कल्पितं नानाविधं स्वरूपं तयोरुभयोर्विभज्य प्रदर्शिकायाः षष्ठकण्डिकाया अर्थं पञ्चाशदधिकशतद्वयेन उपबृंहयन्, तत्र आत्मनो ब्रह्मतालक्षणमुद्वत्ताप्रतिपादकस्य प्रथमवाक्यस्यार्थं[1] वर्णयति—आनन्द इति अष्टादशभिः। तत्रात्मन आनन्दलक्षणं स्वरूपं सर्वत्राविशिष्टमेव। यच्च तत्तल्लोकेषु आनन्दस्य तारतम्यम् उक्तं तन्न स्वाभाविकं किन्तु चित्प्रतिबिम्बग्राहिकाया आवरणभंजिकाया वा[2] बुद्धेः सत्त्वोत्कर्षतारतम्यवत्याः सम्बन्धमपेक्ष्य यद् आत्मनः प्रकाशस्य अभिव्यक्तेस्तारतम्यं तदभिप्रायेण बोध्यमित्यर्थः।।६६७।। औपाधिकतारतम्यं दृष्टान्तेन स्फुटयति—तारतम्यमिति। स्पष्टम्।।६६८।।

इसी प्रकार पाप समूह से मोह में पड़ा आत्मा पुण्य क्षीण होने पर अनेक सुखों से संपन्न, मनोहर, राजा देवता आदि पूर्व शरीरों को छोड़कर नवीनतम उपलभ्यमान कुत्ते आदि शरीरों को अपने लिये सुखद मानने लगता है ! (अर्थात् राजा आदि मरता है और अगर उसे अगला जन्म कुत्ते का मिलना है तो उसकी बुद्धि उस राजा आदि शरीर से विरक्त होकर उस कुत्ते शरीर की ओर ही आकृष्ट होती है। जीवको चलाने का ऐश्वर उपाय यही है कि वह अपने वर्तमान में दोषदृष्टि कर इससे विरक्त हो जाये और नये के प्रति आकृष्ट; भले ही वह नया अच्छा हो या नहीं। जीव का पाप फलना होता है तो दुःखद के प्रति और पुण्य फलना हो तो सुखद के प्रति आकर्षण होता है।)।।६६२-३।। यदि पूर्वदेह छूटते समय जंतु का पुण्य फलोन्मुख होता है तो शुभ संस्कार-ज्ञान-कर्मों द्वारा वह नवीनतम और वस्तुतः कल्याणकारी शरीर पाता है जैसे पितर-गन्धर्व-देवताओं का शरीर या विराट् अथवा सूत्रात्मा का शरीर। यदि मरते समय पुण्य-पाप का मिश्रण फलोन्मुख है तो जंतु मनुष्य आदि शरीर पाता है। उस समय पाप कर्म फलोन्मुख हों तो कुत्ते आदि की योनियों में पैदा होता है।।६६४-६५।।

इस प्रकार ब्रह्मा से घास के तिनके तक जितने भी आत्मज्ञानसे विहीन देही हैं वे सब इस संसाररूप शूल पर चढ़े हुये हैं।।६६६।।

अब अगली कंडिका समझायेंगे। इसमें आत्मा का शुद्ध रूप बताकर उसके कल्पित नाना रूप दिखाये हैं। प्रथम वाक्य में आत्माकी ब्रह्मरूपता कही है, उसकी पुराण में व्याख्या करते हैं :

आत्मा का आनन्दात्मक स्वरूप सर्वत्र एकरूप है। आनंद में जिस तारतम्य (कमोबेश) का वर्णन पूर्व में आनंदमीमांसा में किया था वह स्वाभाविक नहीं वरन् उस बुद्धि की अपेक्षासे होने वाले चित्प्रकाश के तारतम्य से है। (अर्थात् कामदुःख के विक्षेप से रहित बुद्धि जितनी सत्त्वोत्कर्ष वाली होती है उतना उसमें ब्रह्मानंद अधिक स्फुरता है।)।।६६७।। जैसे घटादि में आकाश (जगह) का तारतम्य अनुभवसिद्ध है ऐसे बुद्धि की वैसी-वैसी दशा में आनंद

---

१. 'स वा अयमात्मा ब्रह्म।' २. दुःखहानेर्निर्विक्षिप्तायाः पूर्वोक्तायाः (श्लो. ७८५) संग्राहको वाशब्दः।

सूच्यां घटे गृहे तद्वत् प्रासादे नगरेऽपि वा। स्वरूपे न हि वैषम्यं भौतिके घटरूपिणि।।९९९।।

ब्रह्मलोकस्थिते ब्रह्मदेहे देहे शुनोऽत्र वा। न विद्यते हि वैषम्यं सुखे दुःखे तथैव च।।१०००।।

कदन्नेन दरिद्रोऽयं यथा तोषं व्रजेत् सदा। लेह्यादिभिस्तथैवान्ने राजा वा धनिकोऽथ वा।।१००१।।

क्षुधादिभिर्यथा दुःखं दरिद्रो याति मानवः। राजादिकस्तथैवायं धनिकोऽपि प्रयाति हि।।१००२।।

वैषम्येऽपि न वैषम्यं दरिद्रस्येतरस्य वा। विद्यते सुखदुःखौघमत्र लोके मनोगतम्।।१००३।।

क्षुत्पिपासा भयं निद्रा प्रिये रागस्तथाऽप्रिये। द्वेषो मोहो निजे रूप आनन्दात्मन्यधीश्वरे।।१००४।

मलमूत्रविमोक्षाय विषमावाप्तिरेव च। तज्जं सुखं तथा दुःखं सममेतद्धि देहिनाम्।।१००५।।

औपाधिकं तारतम्यं वस्तुत उपहितं न स्पृशति इति दर्शयति—सूच्यामिति। यदा सूचीच्छिद्रादिष्वनुगते भौतिके भूतस्याकाशाख्यस्य सम्बन्धिनि स्वरूपे वैषम्यम् उत्कर्षापकर्षयोगो नास्ति। कीदृशे भौतिकस्वरूपे ? घटरूपिणि घटस्वरूपस्य संयोगसम्बन्धेनाधारेऽपि। तदाऽसङ्गात्मनि औपाधिकधर्मयोगो नास्तीति किमु वाच्यमिति भावः।।९९९।। ब्रह्मेति। अत्युत्कृष्टतया प्रसिद्धे ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य देहे, अत्यपकृष्टे श्वदेहे वा शुद्धात्मनो वैषम्यं न अस्तीति किमु वाच्यं यत आत्मनो यदुपाधिशबलं रूपं भोक्तृत्वेन प्रसिद्धं, यच्च भोग्यं सुखादि तत्रापि वैषम्यं न दृश्यत इत्यर्थः।।१०००।।

तत्र सुखे तद्धेतुकरि च वैषम्याभावमभिनयति—कदन्नेनेति। कदन्नं कुत्सितमन्नं कोद्रवादि तेन यथा दरिद्रस्य तोषः सुखं तथैव राजादेर्लेह्यचोष्यादिभेदैः अन्नैः इति।।१००१।। दुःखतद्धेतोरपि तमाह—क्षुधादिभिरिति।।१००२।। वैषम्येऽपीति। उक्तविधया फलाऽविशेषे सति साधनप्रयुक्तवैषम्येऽपि दरिद्रस्येतरस्य सम्पन्नस्य च न वैषम्यं न विशेषः। कीदृशस्य दरिद्रादेः ? अत्र लोके मनोगतं सुखदुःखौघं समं पश्यत इति शेषः। किंच बहिरङ्गाणां सुखादिसाधनानां वैषम्येऽपि अन्तरङ्गाणां तत्साधनानां रागादीनां साम्यमेवेत्याह—क्षुत्पिपासेत्यादिना। क्षुत्तृड्भयनिद्राश्चतस्रः, प्रियाप्रियगोचरौ रागद्वेषौ द्वौ, तथा आत्मविषयको मोहः, तथा मलमूत्रविमोक्षपूर्वकाले विषमदशाप्राप्तिः—इति दोषाष्टकं तज्जं ततो दोषाष्टकादुपशमद्वारेण जायमानं सुखं, विपर्ययेऽनुपशमे तु दुःखम्, एतद् दोषाष्टकहेतुसहितं

का तारतम्य व्यवस्थित है। सुई का छेद, घड़ा, घर, महल, नगर आदि में जो आकाश होता है उसके निजी रूप में कोई उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता भले ही वह घट आदि का आधार भी होता है। तब असंग आत्मा में कोई तारतम्य नहीं है इसमें कहना ही क्या जब उससे उपाधिधर्मों का कोई सत्य सम्बन्ध भी नहीं है !।।९९८-९।। ब्रह्मलोक में विद्यमान ब्रह्मा का शरीर हो या पृथ्वी पर कुत्ते का, दोनों में कोई विषमता नहीं और न ही उनके सुख-दुःख में विषमता है।।१०००।। जैसे कोई दरिद्र मोटा अनाज खाकर संतोष करता है ऐसे राजा या धनिक लेह्य आदि चतुर्विध व्यंजनों सहित उत्कृष्ट अन्न खाकर संतोष करता है।।१००१।। दरिद्र हो, राजा हो या धनिक हो, भूख आदि से सभी समान दुःख पाते हैं।।१००२।। दरिद्र व राजादि के पास उपलब्ध साधनों में विषमता होने पर भी उन व्यक्तियों में कोई विषमता नहीं है। मन में होने वाले सुख-दुःख को समान समझने वाला सुखी-दुःखी आदि दीखने पर भी लोगों में विषमता नहीं मानता। (या सुख-दुःख मनमें ही देखकर निश्चय रखता है कि ये आत्मा में नहीं अतः आत्मा तारतम्यहीन है।)।।१००३।। बहिरंग सुखादिसाधनों—पशु, पुत्र आदि—में तारतम्य होने पर भी सुखादि के अन्तरंग साधनों में तो सर्वत्र समानता है क्योंकि ये देहधारियों में समान भाव से उपलब्ध हैं—भूख, प्यास, डर, नींद, प्रिय के प्रति राग, अप्रियसे द्वेष, अविवेकशीलता अर्थात् इस बात की गैरजानकारी कि अपना निज स्वरूप आनन्दात्मक ईश्वर है, मल-मूत्र के विसर्जन की अनिवार्यता महसूस करना। इन्हें आठ दोष माना गया है। इनकी उपशान्ति होने से सुख और न होने पर दुःख ये भी सभी देह-

दरिद्रादेस्तथा राज्ञः पशोः कीटादिकस्य वा। जन्तोः कस्यापि नैवाऽत्र वैषम्यं विद्यते भुवि।
अवान्तरेषु वैषम्यं नैव किञ्चिद्धि विद्यते।।१००६।।

एवं हिरण्यगर्भस्य कृमिदष्टस्य वा शुनः। वैषम्ये सति वैषम्यं नैव किञ्चिद्धि विद्यते।।१००७।।

कामक्रोधादयो भावा यथा सन्ति शुनो भुवि। तथैव जगदीशस्य सन्ति ते सूत्ररूपिणः।।१००८।।

शुनोऽपि च निकृष्टोऽयं भगवान् जगदीश्वरः। क्षुधादिविषये यस्मान्नाद्यात् स स्वसुतान्
क्वचित्।।१००९।।

अपि तं पापनिरतं निन्दन्ति सकला जनाः। न तु श्वानं ततः सूत्रदेहं कृष्टतमं स्मृतम्।।१०१०।।

स्वामिने हित एव स्याद् व्यापारः प्रायशः शुनः। कस्मैचिन्न हितस्तस्य व्यापारः सूत्ररूपिणः।।१०११।।

सुखादिकं सर्वदेहिषु समम्। इति द्वयोरर्थः।।१००३-५।। दरिद्रादेरिति। तथा सति लोकदृष्ट्या दरिद्रादीनाम् अवान्तरे वैषम्ये महत्यपि सति कस्यापि जन्तोर्वैषम्यम् अत्र फले न विद्यत इत्यन्वयः।।१००६।।

एवमिति। एवम् उक्तविधया सहान्तरङ्गसाधनैः फलाऽविशेषे सति हिरण्यगर्भस्य अत्युत्कृष्टोपाधेः शुनः च निकृष्टोपाधेः न विशेष इत्यर्थः।।१००७।। तत्र हेतुतया रागादिदोषसाम्यमाह—कामेति। सूत्ररूपिणो हिरण्यगर्भाख्यस्य।।१००८।। न च तत्र क्षुधादयो न सन्तीति वाच्यं, क्षुधया विराडाख्यसुतभक्षणप्रवृत्तेः चतुर्थाध्याये वर्णितत्वादित्याह—शुन इति। स श्वा सुतादने न प्रवर्तते, सूत्रात्मा तु प्रवृत्त इति।।१००९।। किं च शुनः सुतादनादिप्रवृत्तौ निन्दाभयं नास्ति। सर्वगुरोः सूत्रात्मनस्तु तदस्ति इत्याह—अपीति। तं सूत्रात्मानम्।।१०१०।। अपकर्षान्तरमाह—स्वामिन इति। शुनो व्यापारो भषणादिः चौरादिवारकत्वात् स्वामिनोऽनुकूलोऽपि भवति। सूत्रात्मव्यापारस्तु जगत्सृष्ट्याद्यैश्वर्यरूपः न कस्यापि सुखदः। तथा हि—किं कर्मिणां सुखदः ? उपासकानां वा? ज्ञानिनां वा ? नाद्यः; त्रिलोक्यन्तरालवर्तिनां तेषां सूत्रात्मनो निद्रया त्रिलोकीविनाशिकया भयप्रदत्वात्। न द्वितीयः; 'स यत्पूर्वोऽस्माद्' (बृ. १.४.१) इत्यादिश्रुत्या 'स' हिरण्यगर्भः प्रथममैश्वर्यलाभेन इतरानुपासकान् ईर्ष्यादुःखेन तापितवांस्तस्मात् पुरुषसंज्ञ इत्यर्थकया तापदत्वोक्तेः। न तृतीयः; ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकब्रह्मलोकेच्छाजननद्वारा अन्तरायभयप्रदत्वाद् इति भावः। अथवा विराड्भक्षणप्रवृत्तिरूपो व्यापारो न कस्यापि सुखदः, सर्वोपायसम्पन्नसृष्टेः प्रतिबन्धादित्यर्थः।।१०११।।

धारियों में बराबर होते हैं।।१००४-५।। दरिद्रादि, राजा, पशु, कीटादि जन्तु—इनमें लौकिक दृष्टि से चाहे जितनी विषमता हो लेकिन संसार में किसी जन्तु में सुख-दुःख के विषय में कोई विषमता नहीं है। सुख-दुखः फलरूप होने से प्रधान हैं, उनमें तो कोई अंतर नहीं, भले ही अन्य गौण विषयों में तारतम्य हो।।१००६।। इसलिये हिरण्यगर्भ और उस कुत्ते में जिसके देह में कीड़े पड़े हों, प्रतीयमान विषमता होने पर भी अन्तरंगसाधनों समेत फलभूत सुखादि में कोई विषमता नहीं।।१००७।। कामना, क्रोध आदि दुर्भावनायें जैसे पृथ्वी पर कुत्ते में होती हैं वैसे ही हिरण्यगर्भ-नामक जगदीश्वर में भी।।१००८।। बल्कि यह भगवान् जगदीश्वर हिरण्यगर्भ तो कुत्ते से भी ज़्यादा गया-बीता है ! भूख लगने पर कुत्ता अपने पिल्ले तो कभी नहीं खाता जबकि हिरण्यगर्भ भूख लगने पर अपने पुत्र विराट् को ही खाने लगा था!।।१००९।। कुत्ता पाप करे तो कोई निन्दा नहीं करता लेकिन हिरण्यगर्भ को पाप में प्रवृत्त देख-सुन कर सभी लोग उसकी निंदा करते हैं। इसलिये सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का शरीर तो सर्वाधिक निकृष्ट है।।१०१०।। कुत्ते का प्रायः कार्य उसके मालिक का हित ही साधता है लेकिन हिरण्यगर्भ का व्यापार तो किसी के भी हित में नहीं है। अतः इस दृष्टि से भी यह कुत्ते से नीच ही है। (हिरण्यगर्भ जगत् का विस्तारक है; उसका यह कार्य किसका हित करता है ? कर्म करने वालों को वह प्रलय से डराता है अतः वे इससे सुखी नहीं। उपासक हिरण्यगर्भ से ईर्ष्या करते हैं, इससे सुखी नहीं होते, क्योंकि

विद्ययोत्कर्षः

ततो विद्यैव हेतुः स्यादाधिक्ये जगदीशितुः। निकृष्टत्वे शुनस्तद्वद्वैषम्येण विनाऽपि हि।।१०१२।।

आत्मा हिरण्यगर्भे वा शुनि वान्येषु जन्तुषु। एक एव यथाऽऽकाशः सर्वेष्वपि घटादिषु।।१०१३।।

स एवाऽयं महाराज! मम तेऽपि हृदि स्थितः। ब्रह्मरूपो जङ्गमानां स्थावराणां[1] च सर्वगः।।१०१४।।

तर्हि केन गुणेन जगदीशोत्कर्ष इति चेद्? ब्रह्मविद्ययैवेत्याह—तत इति। ततः जगदीशितुः हिरण्यगर्भस्य आधिक्ये हेतुः प्रयोजिका ब्रह्मात्मविद्यैव भवति। अन्यत्र अपकर्षस्य च आत्माऽविद्यैव प्रयोजिका। अन्यद् वैषम्यं तूक्तविधया नास्तीत्यर्थः।।१०१२।।

तथा च कल्पिताविद्यामात्रप्रयुक्तैर्विशेषैः आत्मनोऽस्पृष्टत्वात्, शुद्धत्वे न किंचिद् बाधकमित्याह—आत्मेति। स्पष्टम्।।१०१३।। शुद्धात्मनश्चाऽद्वितीयत्वाद् ब्रह्मत्वे न किञ्चिद् बाधकमित्याह—स एवाऽयमिति। यः सर्वत्राकाशवदनुस्यूतो वस्तुतोऽद्वयश्चात्मा स एव त्वत्प्रभृतीनां हृदि स्थितो ब्रह्मरूप इति।।१०१४।।

एवं सर्वाधिष्ठानभूतं शुद्धात्मस्वरूपं दर्शितम्। अथ कल्पितानामात्मस्वरूपाणां प्रदर्शकस्य 'विज्ञाने' त्यादेः 'पापेने' त्यन्तस्य वाक्यस्य[2] अक्षरार्थं तावदभिनयति—विज्ञानेति एकादशभिः। यः अयमात्मा वर्णितः स अन्य उपासकों की अपेक्षा इसने पहले सिद्धि पाकर उन्हें पछाड़ दिया जिससे वे दुःखी ही हैं। ज्ञानमार्गी भी हिरण्यगर्भ से प्रसन्न नहीं क्योंकि यह साधकों के मन में ब्रह्मलोकप्राप्ति की इच्छा पैदा कराने में सहायक होता है और वह इच्छा तत्त्वज्ञानमें रुकावट बन जाती है। इतना ही नहीं, स्वयं श्रुति ने कहा है कि इसने हम सबकी हिंसा कर रखी है 'व्यतृणत् स्वयम्भूः' अतः इसका कार्य किसी का हितसाधक नहीं।)।।१०११।।

फिर भी जदीश हिरण्यगर्भ में उत्कर्ष है। उनकी श्रेष्ठता भोगादि के कारण नहीं वरन् इसलिये है कि उनमें ब्रह्मविद्या है। इसी तरह कुत्ते की नीचता इसी से है कि उसमें परमात्मा का ज्ञान नहीं। इसके अतिरिक्त कोई विषमता उन दोनों में श्रेष्ठ-कनिष्ठभाव के लिये नहीं बतायी जा सकती।।१०१२।।

इस प्रकार सारी विशेषतायें केवल कल्पित अविद्या के कारण हैं जिनसे आत्मा का वास्तविक स्पर्श भी नहीं अतः उसका शुद्ध ब्रह्म होना सर्वथा संगत है—जैसे घटादि सब उपाधियों में आकाश एक है वैसे हिरण्यगर्भ, कुत्ता या अन्य जन्तुओं में आत्मा एक ही है। हे महाराज ! मेरे और तुम्हारे हृदयों में वही मौजूद है। स्थावर-जंगम सभी में विद्यमान वह आत्मा ब्रह्मरूप ही है।।१०१३-१४।।

श्रुति ने आत्मा की ब्रह्मरूपता सूत्रित करने के बाद विज्ञानमय आदि विभिन्न नामों से आत्मा के कल्पित स्वरूपों का भी परिचय दिया है और अंत में सूत्ररूप से उसका भी संग्रह कर कहा है कि जो उपाधि प्रधान हो उसी के स्वरूप वाला आत्मा बन जाता है। सूत्र का अनुवाद होगा 'यह-मय, वह-मय !' 'यह-वह' से उपाधि कही और 'मय' से बताया कि उसे ही अपना प्रधान स्वरूप मान लेता है। वार्तिक में स्पष्ट किया 'स विज्ञान-मनः-प्राण-चक्षुः-श्रोत्रादि मोहजम्। मन्वानोऽविद्ययाऽऽत्मैति तन्मयत्वं न तु स्वतः।।श्लो. १८२।।' आगे वार्तिक में बताया है कि जो प्रत्यक्ष ही अच्छे-बुरे कर्मादि दीखते हैं उन्हें 'यह-मय' से कहा है और उनसे जो कर्ता की भावना—संस्कारप्रधान मानसिकता—पता चलती है उसे परोक्ष होने से 'वह-मय' द्वारा व्यक्त किया है। स्वयं भाष्यकार ने इस प्रसंग में मार्मिक बात कही है—'अंतःकरण में अनन्त अलग-अलग भावनायें होती हैं जिन्हें स्पष्ट कह भी नहीं सकते। तत्तत्काल में व्यवहार से ही वे समझी जाती हैं कि 'इसके (या मेरे) हृदय में यह भावना है'। उन्ही का संग्रह 'वह-मय' से इष्ट है। इस विषयको पुराण में कहते हैं :

---

१. स्थावराणां वृक्षादीनां हृदीत्यन्वयः। वृक्षादेरपि सूक्ष्मशरीरसत्त्वात्तदंगान्तःकरणमपि भवेत्तस्य च यदपि नियतस्थानं तद्वृक्षस्य हृदयमेव स्यात्। २. 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः, तद्यदेतद् इदंमयोऽदोमय इति।'

कल्पितात्मस्वरूपम्

विज्ञानमय इत्येव यः पुरा ते मयेरितः। विज्ञानोपाधिको यद्वद् विज्ञानमय ईश्वरः।।
मनःप्राणाद्युपाधिः संस्तन्मयः परिकीर्तितः।।१०१५।।

तत्राऽस्मिन् व्यपदेशोऽयमेतादृक् परिकीर्तितः। मनोमयस्तथा प्राणमयश्चक्षुर्मयस्तथा। देवः
श्रोत्रमयस्तद्वदन्येन्द्रियमयोऽपि च।।१०१६।।

पञ्चभूतमयश्चाऽयमात्मा तद्वत् तमोमयः[1]। कामक्रोधमयस्तद्वत् प्रभुर्धर्ममयस्तथा।।१०१७।।

तदभावमयश्चापि तदन्यमय एव च। तद्विरोधिमयोऽप्येष स्वयंज्योतिः परः पुमान्।।१०१८।।

किं बहूक्तेन राजेन्द्र ह्यस्ति नास्तीति यज्जगत्। तत्सर्वमय एवाऽयं यतः सर्वत्र संस्थितः। प्रत्यक्षे
वा परोक्षे वा ततः सर्वमयः पुमान्।।१०१९।।

विज्ञानोपाधिको बुद्ध्युपाधिकः सन् विज्ञानमय इत्येवं पूर्वम् अतीतग्रन्थेऽपि तुभ्यं वर्णितः। स च यथा बुद्ध्युपाधिको विज्ञानमय इत्युक्तः तथा मनःप्रभृत्युपाधिवशाद् मनोमयादिसंज्ञक उक्तः श्रुतावित्यर्थः।।१०१५।। तत्रेति। तत्र उपाधिविशिष्टेऽस्मिन् आत्मनि व्यपदेशो विशिष्टनामशाली व्यवहारः एतादृग् उक्तः। 'एतादृक्' कीदृक्? इत्याकांक्षायामाह—मनोमय इत्यादिना। सर्वत्र 'स्त्रीमयो जाल्म' इतिवत् प्राधान्ये मयट्प्रत्ययः। अन्यानीन्द्रियाणि त्वगादीनि। तथा च त्वङ्मयरसनामयादिनामानि बोध्यानि। पृथिवीमयादीनि भूतसम्बन्धेन नामानि बोध्यानि। तमस्त्वज्ञानम्। अधर्ममयशब्दगतनञाऽभावो भेदो विरोधश्चोक्त इति दर्शयति—तदभावमय इत्यादिपदत्रयेण। धर्माभावो यथा सुषुप्तौ, धर्मभेदो जलताडनादिव्यर्थक्रियासु, धर्मविरोधस्तु निषिद्धक्रियासु प्रसिद्धः। इति त्रयाणामर्थः।।१०१६-१८।। किमिति। अस्ति स्थूलं यत् प्रत्यक्षवाचकेदंपदेनोक्तम्। नास्ति इति सूक्ष्मं यत् परोक्षवाचकादःपदोक्तम्। तत्र सर्वत्र तादात्म्येन स्थितत्वात् सर्वमय इत्यर्थः।।१०१९।।

हे राजन्! जिस आत्मा को मैंने पहले विज्ञानमय रूप से समझाया था कि ईश्वर जब बुद्धि-उपाधि वाला होता है तब विज्ञानमय कहलाता है, वही आत्मा मन-प्राण आदि उपाधियों वाला होने पर विज्ञानमय की तरह मनोमय, प्राणमय आदि कहा जाता है। (एवं च मयट् प्रायार्थक है।)।।१०१५।। उपाधि से विशिष्ट हुए आत्मा का उपाधिपरामर्शयुक्त नाम से व्यवहार होता है जैसे मनोमय (अर्थात् मन है प्रधान उपाधि जिस आत्मा की), प्राणमय, चक्षुर्मय (जब देखना ही प्रधान हो या जो व्यक्ति देखना या आँख को ही जीवन में प्रधान बनाये रखे), श्रोत्रमय, आदि उस-उस इंद्रिय के उल्लेखपूर्वक वह आत्मदेव कहा जाता है।।१०१६।। ऐसे ही आत्मा पाँचों महाभूतों के उल्लेख से बताया जाता है—पृथ्वीमय, आकाशमय आदि। इसी प्रकार तमस्-उपाधि से उसे तमोमय कहते हैं। (तमस् से अंधेरा, अज्ञान या तमोगुण समझ सकते हैं।) ऐसे ही वह प्रभु आत्मदेव काममय, क्रोधमय, धर्ममय आदि होता है। वह अधर्ममय भी होता है जिसे तीन तरह समझ सकते हैं—१) धर्मका अभाव उसकी उपाधि है जैसे गहरी नींद में। २) धर्म से भिन्न क्रियादि उसकी उपाधि हैं जैसे जलताडन आदि बेकार के किंतु अनिषिद्ध काम। ३) धर्मविरोधी क्रियादि उसकी उपाधि है जैसे वे कर्मादि जिन्हें करने का निषेध है। स्वप्रकाश परम पुरुष ये सब रूप धरता रहता है।।१०१७-८।। हे राजेन्द्र! एक-एक नाम के उल्लेख से क्या लाभ! यह समझ लो कि दुनिया में जो भी कुछ 'है' या 'नहीं है' कहा जा सकता है वह सभी आत्मा की उपाधि बनता है जिससे आत्मा उस-मय कहलाता है। बनता सब कुछ उसकी उपाधि ज़रूर है क्योंकि आत्मा सर्वत्र उपस्थित है ही। पदार्थ प्रत्यक्ष हों या परोक्ष, वे 'हैं'-रूप से या 'नहीं हैं'-रूप से समझे जाते हुए आत्मा की

१. श्रुतौ 'अतेजोमय' इत्युक्तम्। तत्र भाष्यम्—'पश्वादिशरीराणि नरकप्रेतादिशरीराणि चातेजोमयानि तान्यपेक्ष्याह अतेजोमय इति।' माध्यन्दिनीये त्वतेजोमयपदमपि नास्ति।

यादृशं कुरुते कर्म यथाकारी भवेदयम्। आचारं यादृशं कुर्याद्यथाचारी परः स्मृतः।।१०२०।।
आचारोऽपि भवेत् कर्म यद्यप्येष तथाऽपि च। देशादेः प्रविभागेन कर्मणोऽन्यत्र लभ्यते।।१०२१।।
कर्माऽत्र स्याद्धि शास्त्रीयं विहितं च परं तथा। आचारो लौकिकस्तद्वद् विहितो निन्दितोऽपि वा।।१०२२।।

अस्यात्मनस्तत्तद्विशेषभावे निमित्तभूतं कर्मेति[1] दर्शयति—यादृशमिति पञ्चभिः। अयम् आत्मा वस्तुतः परः सर्वोत्कृष्टो यादृशं विहितं प्रतिषिद्धं वा कर्म कुर्वन् यथाकारिपदेनोक्तः। एवमुत्तरार्धं योज्यम्।।१०२०।। कर्माचारपदयोरर्थभेदं दर्शयति—आचारोऽपीति द्वाभ्याम्। यद्यपि आचारपदार्थोऽपि कर्मैव तथापि देशकुलावस्थादिपारतन्त्र्येण अनुष्ठीयमानत्वरूपविशेषेण आचारपदार्थः कर्मपदार्थाद् अन्यत्र भिन्नो लभ्यते व्यवह्रियत इति यावत्।।१०२१। एतदेव स्फुटयति—कर्माऽत्रेति। यत् कर्म विहितत्वेनेष्टसाधनत्वेन, निषिद्धत्वेनानिष्टसाधनत्वेन रूपेण वा शास्त्रीयं श्रुत्यादिप्रमाणवेद्यं तत् कर्मपदेन अत्र उक्तम्। यत्तु विहितादिरूपेण लोकाद् देशकुलादिरूपादेव
उपाधि बने ही रहते हैं जिससे इस पूर्ण तत्त्व को सर्वमय कहना संगत है। (अधर्ममय की व्याख्या के अनुसार सर्वत्र अभाव को उपाधि मानना चाहिये। अथवा 'है' से स्थूल समझना चाहिये जो प्रत्यक्ष हो सकता है और 'नहीं है' से सूक्ष्म समझना चाहिये जो परोक्ष रहता है। पूर्व में जीवप्राधान्येन तत्तन्मयता कही थी अर्थात् जिसे अपनी प्रधान उपाधि मानता है उससे जीव विख्यात होता है। सर्वमयता ईश्वरप्राधान्येन कही गयी है क्योंकि यहाँ तात्पर्य है कि सर्वत्र आत्मा है ही अतः जहाँ जो उपाधि है वह इसी को स्वमय बना देती है। एवं च पहले मयट्-प्रत्यय प्रायार्थक था। सर्वमय-प्रसंग में इसे विकारार्थक समझ सकते हैं। सर्पादि जैसे रस्सी के विकार (विवर्त) हैं वैसे सभी कुछ आत्मा का—अज्ञातात्मा का—विकार है। यह भी भगवान् वार्तिककार ने (श्लो. १७७ आदि) सुव्यक्त किया है। भाष्यकार के अनुसार धर्माधर्ममय होने से ही सर्वमय है क्योंकि सभी कुछ धर्माधर्म का ही कार्य है। इस तरह यह जीवपक्षपाती नाम रह जाता है। 'अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः' (बृ. १.४.१६) तथा मधुब्राह्मण इसमें अनुकूल है। प्रकृत में जो आत्मा के कल्पित रूप कहे गये हैं इन्हें 'अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव' इत्यादि से (१.४.७) सूचित किया जा चुका है।)।।१०१६।।

आत्मा उक्तविध विशेषताओं वाला बनता है कर्म के कारण, कर्म ही निमित्त है जिससे यह इन औपाधिक रूपों को ग्रहण करता है यह समझाते हैं—जो आत्मा वास्तविक स्तर पर सब से परे है वही व्यावहारिक स्तर पर जैसा कर्म करता है उसके अनुसार यथाकारी कहलाता है और जैसा आचार रखता है उससे यथाचारी कहलाता है।।१०२०।। यद्यपि आचार भी है कर्म ही तथापि देश आदि के विभाजनों के अनुसार यह कर्म से अलग कर कहा-समझा जाता है—जैसे देशाचार, कुलाचार आदि। (भाष्य में कारण से नियत क्रिया अर्थात् प्रमाणाधीन धर्मादि क्रियायें कही हैं और चरण से अनियत अर्थात् प्रमाणनिरपेक्ष क्रियायें कही हैं। वार्तिक में सब तरह की व्यापारशक्ति करण से और सब प्रकार की ज्ञानयोग्यता चरण से समझी है। चरण अर्थात् आचार धर्म होने से कर्मान्तर्गत होने पर भी अपनी अलग पहचान रखता है। अतः वेद में भी कर्म व आचार का कई जगह पृथक् उल्लेख है जैसे 'जो हमारे अनिंद्य कर्म हों उनका अनुकरण करना न कि अन्यों का, जो हमारे सुचरित हों उन्हें अपनाना' यह तैत्तिरीयोपनिषद् में (१.११.२) गुरुका शिष्यको उपदेश है। इनके सूक्ष्म भेद पर सूत्रों में (३.१.८—११) चर्चा आयी है।)।।१०२१।। पुराणकार स्वयं इन्हें समझाते हैं—इस प्रसंग में विहित हो या निषिद्ध लेकिन हो शास्त्र-सापेक्ष वह कर्म है और जो विहित-निषिद्ध रूप से लोकसिद्ध है—शास्त्रापेक्ष नहीं है—वह आचार कहा गया है। (इस दृष्टि से आधुनिक नैतिकता या सांस्कृतिक सभ्यता को आचार कह सकते हैं।)।।१०२२।। लौकिक या वैदिक अच्छे कर्मों को करे तो आत्मा 'साधुकारी' कहलाता है और बुरे कर्म करे तो 'असाधुकारी' कहलाता है। साधुकारी आगे उत्कृष्ट शरीरादि पाता है अतः कहते हैं कि वह 'साधु' अर्थात् अच्छा हो गया, उसकी अच्छाई निश्चित हो गयी, और असाधुकारी निकृष्ट फल पाता है अतः कहते हैं वह 'असाधु' अर्थात् बुरा

१. 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो, भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।।'

लौकिकं वैदिकं कर्म साधु चेत् कुरुते पुमान्। साधुकारीति सम्प्रोक्तोऽसाधुकारी ततोऽन्यथा।।१०२३।।

साधुकारी भवेत् साधुरसाधुरपरस्तथा। पुण्यः पुण्येन भवति पापः पापेन कर्मणा।।१०२४।।

आत्मस्वरूपम्

पुरुषस्य ततो नाऽत्र कर्माचारौ द्विधा स्थितौ। साध्वसाधू तथा पुण्यपापे लौकिकवैदिके।।१०२५।।

कामः क्रोधस्तथा धर्मः तदन्यादिश्च कश्चन। अज्ञानं च तथा बाह्यतमसा सहितं न हि।।१०२६।।

महाभूतानि पञ्चापि नेन्द्रियाणि दशापि च। क्रियाशक्तिर्न च प्राणो नानाभेदो वपुःस्थितः।
ज्ञानशक्तिस्तथा नाना न बुद्धिमनसी अपि।।१०२७।।

शब्दादिविषयाः सर्वे सुखदुःखसमन्विताः। नैवात्मनो महाराज सर्वे दुःखकराः सदा।।१०२८।।

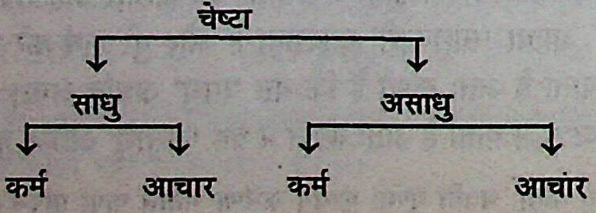
विदितं, तत् कर्म आचारपदेनोक्तमित्यर्थः।।१०२२।। लौकिकमिति। कर्माचारपदाभ्यामुक्तं कर्म साधु समीचीनं कुर्वन् साधुकारीति पदेनोक्तः, तद्विपर्यये तु असाधुकारीति पदेनेत्यर्थः।।१०२३।। तत्फलमाह—साध्विति। यः साधुकारी सः साधुः उत्कृष्टशरीरादिविशिष्टो भवति। साधुकारीत्यादिपदगतं णिनिप्रत्ययं दृष्ट्वा 'अभ्यस्तमेव कर्म फलदम्' इति भ्रमो न कर्तव्यः; यतः सकृदनुष्ठितमपि किञ्चित् कर्म फलदमित्याशयेनाह—पुण्य इति। पुण्यः सत्फलदः, पापः तद्विपरितः।।१०२४।।

उक्तानां विज्ञानमयादिरूपाणां कल्पितत्वं स्फुटयितुं तेषां वस्तुत आत्मन्यभावमाह—पुरुषस्येति चतुर्भिः। यत एतानि रूपाणि उपाधिसम्बन्धात् पुरुषे कल्पितानि ततः कर्माचारौ वस्तुतः पुरुषे न स्तः। कीदृशौ कर्माचारौ? साधुत्वेन असाधुत्वेन च द्विधा विभज्य स्थितौ। तत्र साधू यौ कर्माचारौ तौ लौकिकवैदिकत्वाभ्यां द्विविधपुण्यात्मकौ। असाधू तु लौकिकवैदिकत्वाभ्यां द्विविधपापात्मकावित्यर्थः[1]।।१०२५।। काम इति। तथा कामादयोऽपि पुरुषस्य सम्बन्धिनो न भवन्ति—इति सम्बन्धः। तदन्यादिर्न धर्मभिन्न-धर्मविरोध-धर्माभावाश्चात्मनो न सन्तीत्यर्थः। तमःपदेनोक्तमान्तरमज्ञानं, बाह्यं ध्वान्तं च नेति।।१०२६।। महाभूतानीति। तथा महाभूतादीनि पुरुषस्य सम्बन्धीनि नेति सम्बन्धः। तथा नानाविधप्राणादिरूपा क्रियाशक्तिः, तथा नानाविधचित्तवृत्त्यात्मिका ज्ञानशक्तिः, तत्प्रपञ्चभूते बुद्धिमनसी च; एतानि न सन्तीत्यर्थः।।१०२७।। शब्दादीति। तथा सुख-दुःखलक्षण-फलसमन्विताः शब्दादिविषयाः चात्मसम्बन्धिनो न सन्ति यतस्ते सर्वे परिच्छिन्नाः परिणामादिना दुःखहेतव इति सम्बन्धः।।१०२८।।

हो गया, उसकी बुराई निश्चित हो गयी। ऐसा नहीं कि लगातार अच्छा या बुरा करे तभी फल मिले, जो कोई भी विहित सत्कर्म, सद्भाव आदि होता है वह अच्छा फल देता ही है और हर बुरे कर्म-भाव आदि से बुरा फल मिलता ही है। (प्रायश्चित्तादि विशिष्ट प्रक्रियाओं के बिना पाप कर्म पुण्य कर्म से अकार्यकारी नहीं हो जाता। यह भ्रम नहीं रखना चाहिये कि हमने जो अच्छाई की है उससे हमारे द्वारा की बुराई अब हमें ग़लत फल नहीं देगी। अच्छे-बुरे कर्म अपना-अपना फल अवश्य देते हैं।)।।१०२३-२४।।

क्योंकि ये रूप उपाधियों की अपेक्षा से ही पुरुष पर कल्पित हैं इसलिये कर्म और आचार वस्तुतः पुरुष में नहीं हैं। लौकिक व वैदिक (शास्त्रीय) सत्कर्म 'साधु' और असत्कर्म 'असाधु' समझे जाते हैं। यों बँटे वे कर्म—जिनमें आचार भी आ गया—आत्मा से वास्तविक संबंध वाले नहीं हैं।।१०२५।।

१.



आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरवाङ्मनसगोचरः। स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितः।।१०२९।।

मम तेऽपि तथान्येषां स्थिरजङ्गमदेहिनाम्। सर्वावस्थासु हृदये विशेषेण व्यवस्थितः।। आविमोक्षं शरीरस्य स्फुरत्यविरतं पुमान्।।१०३०।।

स कारणं समग्रस्य जगतोऽस्य महीपते। गन्धर्वनगरस्येव गगनं सङ्गवर्जितम्।।१०३१।।

न जानाति यदाऽयं स्वमानन्दात्मानमव्ययम्। तदा नानाविधं दुःखमेति राजन्नकारणम्।।१०३२।।

विज्ञानमयता दुःखाय

विज्ञानमयतां प्राप्य घोरं संसारकारणम्। शुष्कालाबूसमो भूत्वा प्राप्नोत्येष महेश्वरः।।१०३३।।

वर्णितरूपाणां दुःखहेतूनाम् आत्मनि असम्भवे हेतुतयाऽऽत्मनो भूमभावलक्षणामानन्दरूपतामाह—आनन्देति। स्पष्टम्।।१०२९।। स आत्मा सर्वत्र परिपूर्णो हृद्गुहायां विशेषेण भासत इत्याह—ममेति। शरीरस्थितिपर्यन्तं विशेषेण हृदि स्थितः संश्चकास्तीत्यर्थः।।१०३०।। सोऽयमात्मा सर्वस्य जगतो विवर्तस्योपादानमित्याह—स कारणमिति। स्पष्टम्।।१०३१।। तस्य च नानाविधदुःखप्रयोजकानां विज्ञानमयादिरूपाप्तेर्निदानमात्माज्ञानमेवेत्याह—न जानातीति। अकारणं वास्तवकारणहीनं दुःखमेति प्राप्नोति।।१०३२।।

तत्र तावद् विज्ञानमयताया अनर्थहेतुतां प्रपञ्चयति—विज्ञानमयतामित्यादिना मनोमयो यदाऽयं स्याद् इत्यतः (श्लो. १२१३) प्राक्तनेन ग्रन्थेन। तत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपाधिना कार्याविद्याकामकर्माश्रयेण परिच्छिन्नेन च विज्ञानेन तादात्म्यं प्राप्य एष आत्मा महेश्वरः परिपूर्णोऽपि शुष्कतुम्बीवल्लघुर्भूत्वा संसारस्य कारणं कामकर्मादिसम्बन्धं

काम, क्रोध, धर्म, अधर्म के तीनों विकल्प, अज्ञान, बाहरी तमस्, पाँचों महाभूत, दसों इंद्रियाँ, नाना प्रकार से शरीर में कार्यरत प्राणनामक क्रियाशक्ति, बुद्धि-मन आदि कहलाने वाली विविध प्रकार की ज्ञानशक्ति, सुख-दुःख समेत शब्दादि विषय—ये सभी जो हमेशा दुःखप्रद हैं, आत्मा के साथ किसी भी सत्य संबंधवाले नहीं हैं।।१०२६-८।। आत्मा तो आनंदरूप है, स्वप्रकाश है, मन-वाणी से अतीत है, स्वगत-सजातीय-विजातीय तीनों भेदों से रहित है।।१०२९।। यद्यपि वह सर्वत्र परिपूर्ण है तथापि हृदय में उसका विशेष भान होता है। मेरे, तुम्हारे तथा अन्य सब चर-अचर देहधारियों को जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में वह पुरुष हृदय में खास तरह स्थित हुआ तब तक लगातार स्फुरता रहता है जब तक शरीर छूट नहीं जाता। ('खास तरह' अर्थात् हृदयस्थ बुद्धि क्योंकि चिद्रूपता के प्रतिफलन में समर्थ है इसलिये वहीं चेतना स्फुटतम होती है। 'मैं'—यों प्रकाशना ही 'खास तरह' है। इसके गंभीर विश्लेषण से आत्मा की साक्षिता स्पष्ट होती है ऐसा अनुभवी कहते हैं।)।।१०३०।।

हे महीपति ! जैसे असंग गगन गंधर्वनगर का कारण बन जाता है ऐसे वह आत्मा ही इस सारे जगत् का कारण है।।१०३१।। हे राजन् ! जब तक यह अव्यय-आनंद स्वरूप स्वयं को सही-सही नहीं समझता तब तक बिना किसी संगत कारण के यह नाना प्रकार के दुःख भोगता रहता है।।१०३२।।

यह महेश्वर विज्ञानमय बनकर सूखी तुंबी की तरह हो जाता है और संसरण का जो घोर कारण है उसे प्राप्त कर लेता है। ('विज्ञान' अर्थात् सूक्ष्मशरीर जो कर्तृत्वभोक्तृत्व लाने वाली उपाधि है तथा अहंकार-कामना-कर्म का आश्रय है। उस परिच्छिन्न शरीर से तादात्म्याध्यास होने पर जैसे सूखी तुंबी पानी पर भटकती रहती है वैसे आत्मा भी भटक रहा है। कामना-कर्म आदि से संबंध ही संसरण का घोर कारण है क्योंकि इस संबंध के बिना केवल अज्ञान रहते हुए भी भयभीत नहीं करता जैसे सुषुप्ति में या जैसे सांख्यादिवादियों को।)।। १०३३।। हाथों में बल्ले लिये बच्चे खेलते

दण्डहस्तैर्यथा बालैः कन्दुकः सर्वतो दिशम्। अशान्तं प्रेर्यते तद्वद् विविधैः कर्मभिः पुमान् ।।१०३४
उच्चावचानि देहानि ग्राहं ग्राहं त्यजत्ययम्। त्याजं त्याजं च गृह्णाति घटी यन्त्रस्थिता यथा।।१०३५
ग्राहं ग्राहं जलं याति त्याजं त्याजं तथाऽपरम्। प्राप्नोति शश्वत् सुलभं तथैव नभसः स्थलम् ।।१०३६
एवमेष पुमान् गच्छेत् कदाचिद् वसुधातलम्। पातालं नरकं वाऽपि नभो वा दिवमेव वा।।१०३७।
यद्यच्छरीरमादत्ते ब्रह्मणो वा शुनोऽपि वा। तत्तदात्मतया याति विज्ञानमय ईश्वरः ।।१०३८।।
यद्यत् त्यजति देहं स ब्रह्मणो वा शुनोऽपि वा। तत्तद्विष्ठासमं पश्चात् पश्यत्यस्माद् विनिष्कृतः।।१०३९।।
यदाहारं हि यद् देहं गृह्णात्येष परः पुमान्। तदेवाभ्यधिकं नान्यदिति तत्रावगच्छति।।१०४०।।
अस्य दाहादिना सर्वं दाहाद्यात्मनि मन्यते। चन्दनाद्यनुलेपादि तस्य तद्वदयं व्रजेत्।।१०४१।।
मरणं गर्भवासं च जननं च तथा भुजिम्। उच्चावचेषु देहेषु विज्ञानमय एत्ययम्।।१०४२।।
दुःखात्मकमिदं सर्वं भवतावगतं स्वयम्। राजंस्तथापि किञ्चित्ते वक्ष्ये तत्स्मृतयेऽधुना।।१०४३।।

प्राप्नोति इत्यर्थः।।१०३३।। बुद्धितादात्म्याल्लब्धैर्दोषैः प्रयुक्तं संसारमभिनयति—दण्डेत्यादिना। अशांतं शान्तिः कन्दुकस्य भूमिसंयोगस्तद्रहितं यथा स्यात्तथा। सर्वासु दिक्षु कन्दुकः प्रक्षिप्यते बालैः तथा जीवः कर्मभिः नानायोनिष्विति।।१०३४।। उच्चेति। ग्राहं ग्राहं गृहीत्वा गृहीत्वा। एवं त्याजम् इति। यन्त्रम् अरघट्टाख्यम्।।१०३५।। दृष्टान्तं स्फुटयति—ग्राहमिति। यथा यन्त्रस्थिता घटी जलं ग्राहं ग्राहं त्याजं त्याजं च अपरं जलं याति, नभःस्थलं च प्राप्नोति। कीदृशं जलं नभःस्थलं च ? शश्वत् सुलभं बहुवारं प्राप्तमिति यावत्।।१०३६।। एवमिति। एवं घटीवत्।।१०३७।। तत्तच्छरीरेषु कार्याविद्याव्यापारं दर्शयति—यद्यदिति। आदत्ते नवं लभते। आत्मतया याति आत्मत्वेन मन्यते।।१०३८।। यद्यत्त्यजतीति। अस्मात् शरीरात्।।१०३९।। किं च यस्य देहस्य यो य आहारस्तमेव श्रेष्ठं मन्यत इत्याह—यदाहारमिति।।१०४०।। किं च प्राप्तदेहधर्मान् दाहपूजादीन् आत्मनि मन्यत इत्याह—अस्येति। तस्य अस्य देहस्य।।१०४१।। मरणमिति। एवं विज्ञानमयः सन्नात्मा मरणादिकम् एति प्राप्नोति। भुजिं भोगम्।।१०४२।।

समय गेंद को टिकने न देकर सब ओर फेंकते रहते हैं; नाना प्रकारों के कर्मों से पुरुष भी ऐसे ही नाना योनियों में फेंका जाते हुए अशांत बना है।।१०३४।।

आत्मा बार-बार ऊँचे-नीचे शरीर ग्रहण करता और छोड़ता रहता है जैसे रेहट की मटकी : रेहट में लगी मटकी बार-बार नीचे से पानी लेती है और ऊपर नाली की जगह में उसे छोड़ती है। जहाँ कई बार जा चुकी है वहीं नीचे जल में और ऊपर नाली की जगह में वह मटकी पहुँचती ही रहती है। इसी तरह यह पुरुष कभी भूतल पर आता है, कभी पाताल या नरक में भी पहुँच जाता है, फिर कभी आकाश या द्युलोक तक चला जाता है ! ।।१०३५-७।। ईश्वर विज्ञानमय बनकर जो-जो स्थूल देह पाता है—चाहे ब्रह्मा का हो या कुत्ते का—उस-उस को अपना स्वरूप ही मान बैठता है। (कार्याविद्या अर्थात् अहंकार या अभिमान का यह काम है कि जो स्थूल शरीर मिले उससे आत्मा स्वयं को एकमेक समझने लगे।)।।१०३८।। ब्रह्मा का हो या कुत्ते का, जिस-जिस शरीर को आत्मा छोड़ देता है उससे निकलने के बाद उसे टट्टी की तरह अस्पृश्य, व्यर्थ समझता है! ।।१०३९।। जिस आहार वाले जिस शरीर को यह परम पुरुष ग्रहण करता है उसी आहार को श्रेष्ठ मानने लगता है, अन्य आहारों की अच्छाई इसे नहीं दीखती। (अर्थात् जिस योनि में जीव होता है उसी के भोजन को सर्वश्रेष्ठ मानता है)।।१०४०।। शरीर जलने आदि से आत्मा स्वयं में जलन आदि महसूस करता है, शरीर पर चंदनादि का लेप होने से आत्मा खुद पर ही उसे हुआ समझता है।।१०४१।। यों विज्ञानमय हुआ आत्मा उच्चनीच शरीरों में गर्भवास, जन्म, भोग, मरण आदि का अनुभव कर रहा है।।१०४२।।

विज्ञानमय आत्माऽयमनादिः कर्मयोगतः। देहं त्यजन् महादुःखं प्राप्नोत्येतत् पुरोदितम्।।१०४४।।

नरकदुःखम्

त्यक्त्वा देहं पुनर्याति देहान्तरमयं सदा। नरके तत्र मे भीतिः स्मरणादिह जायते।।१०४५।।

स्वप्नकाले यथा देहः सर्वनाशविवर्जितः। नरके यातनादेहो न नश्यति तथैव सः।।१०४६।।

कर्मणा मनसा वाचा दुःखं यद्यादृशं कृतम्। यस्यानेन पुरा देहे तत्तादृक्तादृशः पुनः।
कोटिकोट्यधिकं सोऽपि कुरुते तस्य देहिनः[1]।।१०४७।।

अदूरा अपि पन्थानः कोटियोजनविस्तृताः। मार्गविप्लावकानां स्युर्नरके क्रूरकर्मणाम्।।१०४८।।

आयसास्तीक्ष्णवदनाः सर्वतो विषकण्टकाः। कुर्वन्ति पादवेधं ते पादत्राणापहारिणाम्।।१०४९।।

मरणान्तसमो भूयात् क्षुधया च पिपासया। नरके गच्छतामन्ननीरपाथेयहारिणाम्।।१०५०।।

नरकदुःखानि वर्णयितुं प्रतिजानीते—दुःखात्मकमिति। हे राजन्! यद्यपि भवता इदं संसरणं सर्वं दुःखात्मकम् इति अवगतं, तथापि तत्स्मृतये तस्य संसारदुःखरूपत्वस्य स्मृतये किञ्चिद् वक्ष्यामि, तच्छृण्विति।।१०४३।। तत्र मरणकाले यद् दुःखं तद् 'उत्सर्जन् याति' (श्लो. ८३५ तः) इति श्रुतिव्याख्यानकाले दर्शितमित्याह—विज्ञानेति। पुरा तृतीयब्राह्मणव्याख्योपान्ते।।१०४४।। अधुना तु नारकदेहप्राप्तौ सत्यां यद् दुःखं तद् वर्ण्यत इत्याह—त्यक्त्वेति। एकं देहं त्यक्त्वा देहान्तरम् अवश्यं जीवो याति। तत्र देहान्तरे नरके प्राप्ते सति यद् दुःखं भवति तस्य स्मरणाद् मम भीतिर्जायते, इह विद्वद्दशायामपीत्यर्थः।।१०४५।। ननूत्कटदुःखकाले यातानादेहः कुतो न नश्यति? इति शङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति—स्वप्नेति। यथा स्वप्ने शिरश्छेदाद्यनुभवेऽपि देहो न नश्यति तथा एतदपीति भावः।।१०४६।। तत्र तत्र लोके सामान्यरूपेण दुःखं वर्णयति—कर्मणेति। अनेन जन्तुना कायादिव्यापारैः यस्य जन्तोः दुःखं यादृशं पूर्वदेहे मानुषलोके कृतं, स दत्तदुःखको जन्तुः तस्य दुःखप्रदस्य देहिनः तादृशमूर्तिः सन्, तादृक् दुःखं कोटिगुणाधिकं करोतीत्यन्वयः।।१०४७।।

अथ विशेषतस्तद्वर्णयति—अदूरा इत्यादिना। मार्गविप्लावकानां मार्गोपद्रवकारिणां क्रूराणाम् अदूरा अपि मार्गाः कोटियोजनविस्तृता भवन्तीति।।१०४८।। आयसा इति। पादत्राणम् उपानदादि, तस्य चौराणां लोहमयाः

हे राजन्! यह सारा संसरण दुःखमय है यह आप जानते ही हैं फिर भी इस बारे में कुछ सुनाता हूँ ताकि याद बनी रहे कि संसार में सुख की गंध भी नहीं है।।१०४३।। पहले आपको बता चुका हूँ कि यह अनादि आत्मा अनादि-प्रवाह में विज्ञानमय हुआ अनादिकर्मपरंपरा के सबंध से जब-जब देह छोड़ता है तब-तब अत्यधिक दुःख पाता है।।१०४४।। एक शरीर छोड़ देने पर इसे अन्य शरीर अवश्य मिलता है। यदि वह नया शरीर नरक में मिले तो जो दुःख होता है उसे याद कर मैं अब भी सिहर उठता हूँ (जब कि मैं विद्वान् हो चुका हूँ)! ।।१०४५।। जैसे सपने का शरीर सपने में पूरा खत्म नहीं होता, सिर आदि कटने पर भी लगता है 'मैं इसी शरीर में हूँ' ऐसे ही नरक में यातना भोगने के लिये मिला शरीर असह्य दुःखों के कारण भी छूटता नहीं।।१०४६।। एक जीवने पिछले किसी भी जन्म में अन्य जीव को कर्म, मन या वाणी से जो और जैसा दुःख दिया था, कालांतर में वह जीव पूर्व में दुःख देने वाले उस जीव को वह और वैसा दुःख देता है लेकिन करोड़ों गुणा बढ़ाकर। दुःख लौटाते समय वह शरीर भी वैसा ही धर लेता है ताकि दुःख पाने वाला पहचान ले! ।।१०४७।।

---

१. 'यादृक्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म। तादृक्च तेन च तथा च तदा च तच्च तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति।।' इति नीतिविदः।

वासोपहारिणां तद्वद्वसनानि हरन्त्यमी। यूनां मातुः पुरस्तद्वत्तन्मात्रादेश्च तत्पुरः।।१०५१।।
सुवर्णहारिणां तद्वत् स्वर्णाकारां त्वचं बलात्। हरन्ति तदतो देहात् शतशोऽपि सहस्रशः।।१०५२।।
ब्रह्मघ्नानां शिरांस्येते मुद्गरैर्वज्रसन्निभैः। आताडयन्ति बलिनस्तप्तलोहं यथा जनाः।।१०५३।।
सुरापानां सुरां तप्तामायसीं पथि भूरिशः। बलात्क्षिपन्ति वदने रुदतां दीनवन्नृणाम्।।१०५४।।
सुवर्णं संमितं स्वर्णं ब्राह्मणस्यापहारिणाम्। तिलशः स्वर्णसदृशं देहं छिन्दन्ति मार्गगाः।।१०५५।।
जननीमधिगन्तॄणां ग्राम्यधर्मेण दुर्धियाम्। छित्वा शिश्नं मुखे क्षिप्त्वा श्वासरोधं विधाय च।१०५६
क्रकचाङ्गीं तप्ततनुं मानवीं तामयोमयीम्। नाथयन्ति यथा पूर्वं ग्राम्यधर्मेण सा गता।।१०५७।।
परदारगतौ चैतत् किञ्चिन्न्यूनमुदीरितम्। दुःखं मृतशरीराणां नरके पापकारिणाम्।।१०५८।।

सविषाः कण्टकाः पादवेधं कुर्वन्तीति।।१०४९-५०।। वास इति। अमी यमपुरुषा वस्त्रचौराणां वस्त्राणि हरन्ति। तथा मातुस्तन्मात्रादेश्च पुरो बालवत् परतन्त्रतया वर्तितव्यत्वे सति ये युवानो युववत् प्रगल्भतया वर्तन्ते तेषां यूनां तद् वर्णितविधं दुःखं भवतीत्यर्थः।।१०५१।। सुवर्णेति। सुवर्णचौराणां त्वचं स्वर्णाकारां स्वर्णवदुज्ज्वलां विधाय तत् तस्मात् स्वर्णापहारदोषाद् अतोऽनुभूयमानाज्जीवतो देहाद् यमदूता हरन्ति इति।।१०५२।। ब्रह्मघ्नानामिति। यथा लोहकारगृहे तप्तं लोहं ताडयन्ति तथा एते यमपुरुषा ब्रह्मघ्नानां शिरांसि ताडयन्तीति।।१०५३।। सुरेति। मद्यपानां मुखे तप्तां सुरां पुनः पुनः पातयन्ति। कीदृशीं तप्तां सुराम् ? आयसीं लोहद्रवरूपाम्।।१०५४।। सुवर्णेति। ब्राह्मणस्य तु सुवर्णं तिलमात्रमपि ये हरन्ति तेषां देहं स्वर्णवदुज्ज्वलं घनं च विधाय यमदूताः तिलशः छिन्दन्ति।।१०५५।। गुरुतल्पगानां गतिमाह—जननीमिति। जननीं गुरुस्त्रियं च ग्राम्यधर्मेण गन्तॄणां शिश्नं छित्वा तेन मुखे क्षिप्तेन श्वासं निरुध्य तैर्जननीगन्तृभिः तां जननीं क्रकचसमानाङ्गत्वादिविशिष्टां नाथयन्ति आक्रामयन्ति पूर्ववद्। इति द्वयोरर्थः।।१०५६-७।। परेति। परदारगाणामपि एतद् गुरुतल्पगेषु यदुक्तं तदेव दुःखं वेदितव्यम्। परन्तु तत्र शिश्नच्छेदतन्मुखरोधौ न स्त इत्यर्थः।।१०५८।।

क्रूरतापूर्ण कृत्यों वाले जो लोग मार्गों पर उपद्रव करते हैं उनके लिये नरक में छोटे रास्ते भी करोड़ों योजन लम्बे हो जाते हैं।।१०४८।। जो लोग पादत्राण अर्थात् जूते-चप्पल आदि चुराते हैं, नरक में चलते समय सब जगह बिखरी लोहे की नोकीली ऐसी कीलें उनके पैरों में चुभती हैं जिनमें जहर लगा होता है।।१०४९।। जो लोग यात्रियों का भोजन व जल चुराते हैं उन्हें नरक में भूख व प्यास से मरणान्त पीडा होती है।।१०५०।। वस्त्र चुराने वालों के नरक में यमभट वस्त्रों का अपहरण कर लेते हैं। माँ, नानी आदि के सामने जो धृष्टता करते हैं उन जवानों को भी इसी प्रकार नरक में अत्यन्त कष्ट दिया जाता है।।१०५१।। स्वर्ण चुराने वाले जब नरक जाते हैं तो उनकी त्वचा स्वर्ण की तरह उज्ज्वल कर यमके सैकड़ों हज़ारों सैनिक कई बार उसे शरीर से उधेड़ते हैं।।१०५२।। लोग जैसे तपा लोहा पीटते हैं ऐसे बलिष्ठ यमपुरुष उनके सिरों को वज्रसमान मुद्गरों से पीटते हैं जो यहाँ ब्रह्महत्या कर चुके होते हैं।।१०५३।। सुरा पीने वाले जब नरक पहुँचते हैं तो भले ही वे लोग दीनों की तरह रो रहे हों लेकिन इसकी परवाह बिना किये सड़क पर ही उनके मुखों में जबर्दस्ती पिघला लोहा रूप तपी सुरा अनंत बार पिलायी जाती है।।१०५४।। ब्राह्मण का तिलभर सोना भी जो चुराता है, नरक में उसका शरीर स्वर्णतुल्य बनाकर यमदूत उसे काटते जाते हैं और शरीर के तिलों जैसे कण बिखर जाते हैं।।१०५५।। जो नष्टमति अपनी माता से दुष्कर्म करता है वह जब नरक जाता है तो उसका शिश्न काटकर उसके मुँह में ठूँसकर उसकी साँस रोकी जाती है और जिस माँ ने चाहकर दुष्कर्म किया हो उसे वहाँ लोहे का शरीर मिलता है जो आरे की तरह हर तरफ से धारदार होता है तथा उन दोनों को आपस में वैसे भिड़ाते हैं जैसे पहले उन्होंने दुष्कर्म किया था।।१०५६-७।। दूसरे की पत्नी से दुष्कर्म कर जो पापी मरकर नरक जाता है उसे भी पूर्वोक्त दुःख से थोड़ा ही कम दुःख दिया जाता है (क्योंकि माता से दुष्कर्म करना अधिक घोर पाप है।)।।१०५८।।

स्त्रीणां फलविचारः

यथा पुंसो भवेद् दुःखं स्वैरिणो ग्राम्यधर्मतः। स्वैरिण्याश्च तथैव स्यान्नरके दुःखमुत्कटम्।।१०५९।।

नपुंसकं वधूर्वापि पुमान् वा पापकृद्यदि। पाप्मनः फलमागच्छेत् पुंसां निर्दिश्यते परम्।।१०६०।।

पश्वादीनामपीच्छन्ति पुण्याऽपुण्यफलं द्विजाः। केचित् कथं भवेन्नैतत् स्त्रीणां धर्माधिकारतः।।१०६१।।

अपि वध्वाः फलाभावे व्यर्थः स्याद्धि करग्रहः। धर्मे चार्थे च कामे च मम त्वं स्याः सहायिनी।
इत्युच्चार्य यतो नैषा पाप्मनः फलमाव्रजेत्।।१०६२।।

दृष्टो न कोऽपि लोकेऽस्मिन् जन्तुर्यः पाप्मनः फलम्। हित्वा धर्मफलं गच्छेत्
प्रमाणैर्विविधैरपि।।१०६३।।

यथा पुरुषस्य दुःखमुक्तं तादृशं व्यभिचारिण्याः स्त्रियोऽपि बोध्यमित्याह—यथेति।।१०५९।। ननु पापफलादेशकेषु 'यो ब्राह्मणायावगुरेत्त'[1] शतेन यातयाद्' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यादिवचनेषु प्रायः पुल्लिँङ्गेनैव पापिनां निर्देशात् कथं स्त्रीणां दुःखमिति चेत्? न; पुल्लिँङ्गनिर्देशस्योपलक्षणार्थत्वाद् इत्याह—नपुंसकमिति। परं केवलं पुंसां सम्बन्धि निर्दिश्यते उपलक्षणाय, न तु पुंस्त्वं विवक्षितम्, उद्देश्यविशेषणत्वाद्, 'ग्रहं संमार्ष्टि' इत्यत्र एकत्ववद्[2] इति चतुर्थपादार्थः।।१०६०।। स्त्रीणां फलसम्बन्धे कैमुत्यन्यायं दर्शयति—पश्वादीनामिति। केचिद् मुनयः पशुपक्ष्यादीनामपि धर्माधर्मफलम् इच्छन्ति स्वीकुर्वन्ति। स्त्रीणां तु पत्नीत्वेन यज्ञाधिकारित्वेन प्रसिद्धानाम् एतत् धर्माधर्मफलं कथं न भवेद् इत्यन्वयः।।१०६१।। ननु पत्नीत्वेनाऽपि यज्ञादिधर्मस्यैव सम्बन्धः?—इत्याशङ्कां वारयति—अपीति। किञ्च वध्वाः स्त्रियाः फलं धर्माधर्मयोरुभयोरपि यदि न स्यात् तदा इत्युच्चार्य पाणिग्रहो व्यर्थः स्यात्। 'इति' किम्? त्वं मम धर्मादौ सहायिनी स्याः सदैव प्राप्तिशीला भवेति। यत एषा स्त्री पाप्मनः फलं न गच्छेत्। तथा च धर्मग्रहणस्य अधर्मस्यापि उपलक्षणत्वात् सहैवेति नियमो भज्येतेति भावः।।१०६२।। किञ्च यो यस्य शुभफलस्य सङ्गी स तस्य अशुभफलमप्यादत्ते इति लौकिकन्यायेनापि पतिधर्मफलभोक्त्र्याः स्त्रियाः पापसम्बन्धो दुर्निवार इत्याह—दृष्ट इति। यथा लोके राजादीनां सम्पत्सम्बन्धिनो विपत्तावपि सम्बन्धिनो दृष्टा इति।।१०६३।।

जैसे लम्पट पुरुष को व्यभिचार के निमित्त से नरक में उत्कट दुःख होता है वैसे ही व्यभिचारिणी स्त्रियों को भी होता है।।१०५९।। नपुंसक, स्त्री या पुरुष, जो कोई पाप करता है उसे उसका फल मिलेगा ही। शास्त्र में पुल्लिँङ्ग शब्दों से कहा ही जाता है, वहाँ यह अभिप्राय नहीं कि वह नियम पुरुषों के लिये ही है।।१०६०।। कुछ ब्राह्मण तो मानते हैं कि पशु आदि को भी पुण्य-पाप का फल मिलता है तब फिर धर्म में अधिकार रखने वाली स्त्रियों को पुण्य-पापका फल क्यों न मिलेगा?।।१०६१।। यदि नारी को फल न मिलना हो तो पाणिग्रहण ही व्यर्थ हो जायेगा! विवाह के समय पति यह कहकर पत्नी का हाथ पकड़ता है कि 'धर्म-अर्थ-काम में तू मेरी साथिन बन।' यदि वह पाप का फल न पाये तो उक्त प्रतिज्ञा भंग होगी (क्योंकि वहाँ धर्म से अधर्म भी समझा ही जाता है)।।१०६२।। नाना प्रकार के प्रमाणों से भी इस लोक में ऐसा कोई भी जन्तु नहीं देखा जाता जो पापका फल छोड़कर केवल धर्मका फल पाता हो।।१०६३।। (जब पति के धर्म का फल पत्नी पाती है तो उसके पाप में भी भागीदार होना पड़ेगा। यहाँ प्रधानतः

१. अवगुरेत् शस्त्रमुद्यमेत्। तं शतगुणयातनामनुभावयेदित्यर्थः। २. ग्रहमिति ग्रहत्वजातिलक्षितानां द्रव्याणां ज्योतिष्टोमाऽपूर्वसाधनानामयं संमार्गः; तं च प्रति द्रव्याणि प्रधानानि, द्वितीयानिर्देशात्, प्रतिप्रधानं च गुणावृत्तेः सर्वेषां संमार्ग इति ग्रहमित्यत्रैकत्वमनादर्तव्यम्। सङ्ख्याविधाने च वाक्यभेदापत्तेरिति शेषलक्षणे (पा. ३. अधि. ७ सू. १३-१५) न्यरूपि।

प्रयोजकस्य फलम्

प्रवर्तकोऽत्र यः पापे जन्तुर्नारी नरोऽपि वा। तस्य स्यादधिकं दुःखं प्रवर्त्यस्य तथा न तत्।।१०६४।।
उभयो रागतः सङ्गे समं दुःखमुदाहृतम्। अज्ञानाच्च बलात् प्रायः कर्तुरेव परस्य न।।१०६५।।

बलात्कृतपापे फलम्

नारी वाऽपि नरो वाऽपि ग्राम्यधर्मं बलाद्यदि। प्राप्नुयान्न भवेत्पापं दुर्बलस्येच्छया विना।।१०६६।।
एवं बलात् कृते पापे प्रतीकारविवर्जिते। कर्तुः पापफलं नैव किन्तु कारयितुर्भवेत्।।१०६७।।
मरणेन प्रतीकारो यद्यप्यत्र भवेत् सदा। निरुणद्धि यदा तच्च परः कर्तुस्तदा न च।।१०६८।।

अथ प्रयोजकादीनां फलं विवेचयति—प्रवर्तक इत्यादिना। स्पष्टम्।।१०६४।। यदि कश्चित् केनचित् कुत्रचित् पापे बलात् प्रवर्तितः सन् स्वयमपि रागवांस्तत्र पापे भवति तदा प्रयोज्यप्रयोजकयोः समं फलं भवतीति ग्राम्यधर्मोदाहरणेनाह—उभयोरिति। उभयोः स्त्रीपुंसोः। यदि त्वन्यतमस्य तत्र प्रवृत्तिः अज्ञानाद् इष्टसाधनत्वज्ञानाभावात्[1] प्रायो बाहुल्येन वर्तमानात् परकीयबलाज्जायेत तदा कर्तुः हेतुसंज्ञकस्य प्रयोजकस्यैव पापं, परस्य प्रयोज्यस्य तु न इत्यर्थः।।१०६५।। एतदेव स्पष्टयति—नारीति द्वाभ्याम्। तत्र प्रथमं स्पष्टम्। द्वितीये—प्रतीकारविवर्जितत्वविशेषणप्रयोगाभिप्रायस्तु—यदि प्रतीकारस्य प्रतिबन्धोपायस्य सम्भवः स्यात् तदा तस्याकरणे कर्तुर्दोषः स्यादेवेति।।१०६६-७।।

बलात् पापकरणप्रसक्तौ मरणेनापि तत्प्रतीकारो विधेयः इति केषांचिद् मुनीनां मतमाह—मरणेनेति। अत्र बलात् पापकरणप्रसङ्गे यदि मरणेनाऽपि प्रतीकारो भवेत् तदा मरणमपि सदा सर्वावस्थासु सम्पाद्यमिति सम्बन्धः। यदा च तद् मरणोपायमपि परः कश्चिद् निरुणद्धि प्रतिबध्नाति, तदाऽपि कर्तुः दोषो न अस्तीत्यर्थः।।१०६८।।
स्त्रीका पत्नीरूप से धर्माधर्म का फल पाने में अधिकार दृष्टि मे लेकर विचार किया। इससे यह भी समझना चाहिये कि स्वतंत्र रूप से किये पापों का फल भी नारियों को भोगना ही पड़ता है जैसे स्वाधिकारानुरूप किये धर्मों का वे स्वातंत्र्येण फल भोगती हैं।)

नारी या नर जो कोई भी जन्तु किसी अन्यको पाप में प्रवृत्त करता है वही फल रूप से अधिक दुःख पाता है, जो प्रवृत्त हुआ है उसे उतना दुःख फल रूप से नहीं मिलता।।१०६४।। यदि कोई किसी के द्वारा प्रेरणा द्वारा पाप में लगाया जाये लेकिन लगने वाला स्वयं भी उस पाप में रागी हो, उसमें सुखानुभव करे, तब लगाने और लगने वाले दोनों को बराबर फल मिलता है। इस बात को अनुचित स्त्रीसंबंध के दृष्टांत से समझाते हैं— यदि स्त्री-पुरुष दोनों रागपूर्वक अनुचित सम्बन्ध करते हैं तो दोनों को बराबर दुःख मिलता है। यदि एक की प्रवृत्ति बिना जाने हुई हो, जो प्रायः तभी होता है जब दूसरे ने जबर्दस्ती की हो, तब जिसने बलात् दुष्कर्म किया उसी को दुःख होता है, अन्य को नहीं।।१०६५।। नर हो या नारी, जिसे बलपूर्वक दुष्कर्म में लगाया गया है उस दुर्बल व्यक्ति को तब तक पाप नहीं लगता जब तक उसे पाप कर्म में स्वयं भी इच्छा न रही हो। (अर्थात् केवल 'अन्य ने कराया' यह बहाना ही हो तो पाप से नहीं बचा जा सकता।)।।१०६६।। ऐसे ही जब किसी के द्वारा बलात् कोई पाप अन्य से कराया जाये और वह अन्य व्यक्ति प्रतिरोध की पूरी कोशिश करके भी स्वयं द्वारा वह पाप किया जाना टाल न पाये तो उस पापका फल करने वाले को नहीं वरन् कराने वाले को ही होता है। (यदि प्रतिरोध संभव था और किया नहीं गया तो करने वाला भी दोषभागी होगा ही।)।।११६७।।

कुछ लोग कहते हैं कि बलात् पाप कराया जाने पर एकं प्रतिरोधोपाय तो हमेशा संभव है कि जिससे कराया जा रहा है वह मर जाये ! हाँ यदि बलशाली ने मरण का उपाय भी रोक रखा हो तब भले ही जिसे करना पड़ रहा है वह पाप से बच जाये।।१०६८।। किन्तु सिद्धान्त के जानकार मुनियों का कहना है कि किसी भी अवस्था में खुद

१. इष्टेत्यत्र अनिष्टेति पिपठिषामि। यथाश्रुते—या प्रवृत्तिः सा न तत्रेष्टसाधनत्वज्ञानात् किन्तु परकीयबलाद् इति योज्यम्।

अपरे केचिदिच्छन्ति मरणं नात्मनः सदा। आत्महत्याऽधिकं पापं महापातककोटितः।।१०६९।।

पापस्याऽकरणे यत्र मृत्युः स्यादात्मनो ध्रुवः। कर्तव्यं पातकं तत्र न कर्तव्यं कथंचन।।१०७०।।

हेतुं चेमं वदन्त्येते बुद्धिमन्तो द्विजोत्तमाः।पापं न बलतः कर्तुः किन्तु कारयितुर्भवेत्। मरणे कर्तुरेव स्यान्न ह्यसौ कारयेदिदम्।।१०७१।।

अकर्तव्यं न कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि। कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि।।१०७२।।

इत्यादि वचनं स्वस्य स्वाधीनकरणस्य तत्। नैतद्बलकृतौ यस्माद् मृतौ दोषोऽत्र विद्यते।।१०७३।।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। मृत्वा तानभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।१०७४

मरणभिन्नेनैवोपायेन पापप्रतीकारो विधेयः, आत्महत्यायाः सर्वपापेभ्योऽधिकत्वात्। यस्तु पापभयेन आत्महत्यां करोति स वृश्चिकाद् भीतः सर्पेण दष्ट इति न्यायस्य विषयो भवेदित्याशयवतां मुनीनां मतं सिद्धान्ततयाऽऽह—अपर इति षड्भिः। केचिद् मुनयः अपरे परेभ्यः पूर्वपक्षिभ्यो भिन्नाः सिद्धान्तविद इति यावत्, त एवं मन्यन्ते। 'एवं' कथम् ? सदा सर्वास्वप्यवस्थासु आत्ममरणं न सम्पाद्यमिति शेषः। तत्र हेतुरुत्तरार्द्धेनोक्तः।।१०६९।। पापस्येति। प्रत्युत यदा पापाऽकरणे मृत्युनिश्चयस्तत्र तादृशे प्रसङ्गे कथञ्चन न कर्तव्यम् अपि पापं कर्तव्यम् इति सिद्धान्तः।।१०७०।। हेतुमिति। एते सिद्धान्तविदो द्विजोत्तमा उक्तार्थे हेतुम् उपपत्तिरूपम् इमं वदन्ति। 'इमं' कम्? यद् बलेन पापकर्तुः न कश्चिद् दोषः, कारयितुः प्रयोजकस्यैव दोषभाक्त्वात्। यदि तु तद्भयेन प्रयोज्य आत्ममरणं सम्पादयिष्यति तदा प्रयोज्यस्यैव दोषः हि यतः असौ प्रयोजक इदं मरणं न कारयति, मरणे न प्रवर्तयति किन्तु पापमात्रे प्रवर्तयतीति यावत्। तथा च मरणे स्वातन्त्र्यलक्षणस्य कर्तृत्वस्याऽक्षतत्वाद् आत्महत्यादोषो भविष्यत्येवेति भावः।।१०७१।। सर्वदा पापनिषेधकवाक्यानां गतिमाह—अकर्तव्यमिति द्वाभ्याम्। अकर्तव्यमित्यादि वचनजातं हि तत् पापनिषेधकं सत् स्वाधीनकरणकस्यैवाऽस्य जन्तोः सम्बन्धि। परबलेन पापकरणे तु एतद् निषेधकं वाक्यं न प्रवर्तते। यस्मात् च मरणेऽयं स्वतन्त्रस्तस्माद् मृतौ हठेन कृतायां दोषो विद्यत एव। इति द्वयोरर्थः।।१०७२-३।। आत्महत्या न कर्तव्या इत्यत्र श्रुतिमपि अनुकूलयति—असुर्या इति। असुर्या असुराणामविवेकिनां योग्याः। आत्महनः आत्मघातिनः[1]।।१०७४।।

मरने की कोशिश नहीं करनी चाहिये क्योंकि करोड़ों पापों से अधिक आत्महत्या का पाप है। (अतः अन्य पाप से बचने के लिये स्वयं मरना बिच्छू से बचने के लिये साँप के बिल में हाथ देने जैसा होगा !)।।१०६९।। जब पाप न करने पर अपनी मृत्यु निश्चित हो तब सर्वथा अकरणीय पाप भी कर लेना चाहिये। (कोई अन्य ज़बर्दस्ती पाप करा रहा हो—उस अवस्था का प्रसंग है यह याद रखना चाहिये। और मृत्यु से प्राणवियोग रूप सर्वहर मृत्यु ही विवक्षित है, न कि कोई भी नुकसान।)।।१०७०।। ऐसा सिद्धान्त स्थापित करने के लिये मुनि लोग उपपत्ति भी देते हैं : जहाँ बलात् पाप कराया जाता है वहाँ करने वाले को नहीं वरन् कराने वाले को पाप लगता है लेकिन पाप करने से बचने के लिये यदि आत्महत्या की तब तो उस आत्महत्या का पाप स्वयं को ही लगेगा क्योंकि पाप कराने वाला तो मरने में प्रवृत्त कर नहीं रहा है, सिर्फ पाप में प्रवृत्त कर रहा है। इस प्रकार उक्त स्थिति में भी आत्महत्या करने पर क्योंकि अपनी इच्छा से वह की होगी इसलिये उसके प्रति स्वयं ही कर्ता माना जाने से आत्महत्या के दोष का भागी बनना पड़ेगा जो अन्य पापों से अधिक भयावह है।।१०७१।। जो तो ऐसे वचन मिलते हैं—'प्राण निकलने की नौबत आये तो भी न करने योग्य कर्म नहीं करना चाहिये, करने योग्य कर्म ही उस हालत में भी करना चाहिये' इत्यादि—वे उन कर्मों के लिये हैं जिन्हें करने में कर्ता स्वतंत्र है। दूसरे के द्वारा बलात् कराये जाने वाले पाप के विषय में उक्त ढंग के वाक्य प्रवृत्त नहीं होते क्योंकि मरने में स्वतंत्र रहते यदि कोशिश पूर्वक मरा जाता है—आत्महत्या की जाती है—तो दोष होता ही है।।१०७२-६।। जो आत्मघाती लोग होते हैं वे मरकर उन लोकों को जाते हैं जो असुरों के अर्थात् अविवेकियों के ही लायक हैं और ऐसे अंधेरे से घिरे हैं कि वहाँ कुछ नहीं दीखता।।१०७४।।

१. क्षत्रियादेरभिमुखसमरे मरणार्थं प्रयाणं तेषां धर्मानुकूलत्वान्न दोषः। एवं तत्र तत्र शास्त्रेषु विहितेन वर्त्मना प्राणत्यागोऽपि न दोषाय।

ततः पापं न कर्तव्यं कारणीयं च कर्हिचित्। प्रयोजकः प्रयोज्यश्च तदिच्छासहितो यदि।। अनुमन्ता तटस्थो यः सामर्थ्ये सति मानवः।।१०७५।।

त्रयाणामपि यद् भूयात् पुण्यपापफलं सदा। अत्र रोगादिवैषम्याद् विषमं तत्प्रजायते।।१०७६।।

प्रायश्चित्ताधिकारः

अज्ञानादिकृते पापे प्रायश्चित्तमुदाहृतम्। पाप्मनो विनिवृत्तस्य न प्रवृत्तस्य कर्हिचित्।।१०७७।।

पापं कुर्वन् परं जन्तुः प्रायश्चित्तं करोति च। प्रायश्चित्तं तदा तस्य भवेत् कुञ्जरशौचवत्।।१०७८।।

ततो नारी नरो वाऽपि प्रायश्चित्तविवर्जितः। नरके दुःखमाप्नोति पापी जन्तुः सुदुःसहम्।।१०७९।।

फलितमाह—तत इति। यद् यस्माद्धेतोः प्रयोजकस्य तथा सरागस्य प्रयोज्यस्य तथा वारणशक्तौ सत्यामपि यस्तटस्थ उपेक्षक इति लक्षितोऽनुमन्ता, एतेषां त्रयाणामपि कर्मफलसम्बन्धो भवति ततः पापं स्वयं न कर्तव्यं, परेण न कारयितव्यं च इत्यन्वयः। अत्र प्रयोजकादौ रोगाद्यापदां तारतम्यानुसारेण फलस्य वैषम्यं तारतम्यं भवति। इति द्वयोरर्थः।।१०७५-६।।

प्रायश्चित्तानुष्ठानेऽपि विषयरागिणां न क्षेममिति दर्शयति—अज्ञानादीति। अज्ञानं व्यामोहः, आदिपदेन विभ्रमो विपत्तिभेदाश्च गृह्यन्ते। एतैरेव निमित्तैः कृते पापे प्रायश्चित्तं यदुक्तं श्रुतिस्मृत्यादौ। तदपि पुनः पापकरणाद् निवृत्तस्यैव क्षेमाय भवति। यस्तु जन्तुः परम् अन्यत् पापं कुर्वन् करिष्यमाणो वा पूर्वपापस्य प्रायश्चित्तं करोति तस्य जन्तोः तत् प्रायश्चित्तं कुञ्जरस्नानवद् व्यर्थम्। इति द्वयोरर्थः।।१०७७-८।। फलितमाह—तत इति। स्पष्टम्।।१०७९।।

क्योंकि (१) प्रयोजक अर्थात् कराने वाला, (२) उस कर्म में राग रखते हुए जो प्रयोज्य बने अर्थात् अन्य की प्रेरणा से करे, और (३) अनुमन्ता अर्थात् उस पापकर्म को रोकने में समर्थ होते हुए भी जो उपेक्षा बरते—इन तीनों को पुण्य-पाप का (जिसे कराने-करने-अनुमति देने का प्रसंग हो उसका) फल मिलता है इसलिये पाप न खुद करना चाहिये, न किसी से कराना चाहिये (और न रोकने की सामर्थ्य रहते उसे होने देना चाहिये)। प्रयोजक आदि यदि रोग आदि किसी आपत्ति से बचने के लिये पापहेतु बनते हैं तो उन आपत्तियों की गंभीरता के अनुसार फल में भी कमोबेश की व्यवस्था है। (उदाहरणार्थ, जीवन-रक्षार्थ ओषधिनिर्माण में कोई पाप करना पड़े तो कराने, करने और होने देने वाले को उतना पाप नहीं लगेगा जितना यदि वह पाप केवल मौज-शौक के लिये है।)।।१०७५-७६।।

ग़ैर जानकारी, भ्रम, ग़लती, आपत्तिदशा इत्यादि निमित्तों से हुए पापों के लिये ही शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है और वह भी उसके लिये जो पुनः उस पाप से दूर रहने की पूरी सावधानी रखेगा। जो जन्तु और पाप करते हुए या आगे भी करेगा यह जानते हुए पूर्वपाप का प्रायश्चित्त करता है उसका वह प्रयास गजस्नान की तरह व्यर्थ जाता है। (हाथी नहा कर तुरंत मिट्टी अपने शरीर पर छिड़क लेता है। एवं च विषयरागियों के लिये प्रायश्चित्त भी कल्याणकारी नहीं। जानकर किये भी कुछ पापों के खास प्रायश्चित्त होते हैं किंतु सामान्य नियम तो यही है जो यहाँ कहा। कहीं-कहीं तो करने में प्रेरित करने के लिये ही केवल प्रशंसारूप में कह देते हैं कि यह सभी तरह के पापों का प्रायश्चित्त है। किंतु जैसे 'सर्वरोगहरो निम्बः' कहने पर भी तत्तद् रोग तत्तद् दवा की ही अपेक्षा रखते हैं ऐसे कुछ सामान्य प्रायश्चित्त होने पर भी तत्तत् पाप के विशिष्ट प्रायश्चित्तों से ही वे पाप प्रतिरुद्ध होते हैं। पूर्व में ज्ञात का भी जब प्रायश्चित्त करते हैं तब यह तो माना ही जाता है कि पुनः वह पाप नहीं किया जायेगा। जानबूझकर बार-बार पाप करें और प्रायश्चित्त से वे मिटते रहें यह सिद्धान्त नहीं है।)।।१०७७-८।।

इस तरह, पापी जंतु नर हो या नारी, यदि प्रायश्चित्त नहीं कर चुका है तो नरक में अतिदुःसह दुःख पायेगा ही।।१०७९।।

संसर्गात् पापम्

यस्तु संवत्सरं सङ्गं महापापिषु केनचित् । कुर्यात् सोऽपि तथैवेयाद् दुःखं नरकगामिनः । ।१०८० । ।

तत्तत्पापफलम्

[1]विवादान् प्राणिनो हन्यात् करुणारहितस्तु यः । तं मार्गे तादृशा जीवा बहुशो घ्नन्ति निर्दयम् ।१०८१

प्राणरोधैस्तथा शस्त्रघातैर्दन्तैश्च निष्ठुरैः । खुरैश्च नखरैस्तद्वत् पादघातैः सुदारुणैः । लोहैस्तीक्ष्णैस्तथा शृङ्गैः प्रहारैर्वज्रसन्निभैः । ।१०८२ । ।

मांसाशिनोऽत्र मांसानि जीवतोऽदन्ति सर्वतः । श्वगृध्रप्रमुखाः सर्वे जन्तवः पिशिताशनाः । ।१०८३ । ।

एवमेव कुटुम्बेन सहितस्याल्पमेधसः । परद्रव्यापहारेण कुटुम्बभरणस्य हि । ।१०८४ । ।

पश्यतस्तस्य खादन्ति सुतान् प्राणादपि प्रियान् । दारान् बन्धुजनांश्चान्यान् जीवतः पिशिताशिनः१०८५

ब्रह्महादिमहापापिनां ये संवत्सरं संसर्गिणस्तेऽपि महापापिनां गम्यं नरकं यान्तीत्याह—यस्त्विति । ब्रह्महादेः नरकगामिनो यादृशं दुःखं भवति तथा संसर्ग्यपि प्राप्नुयादित्यर्थः । ।१०८० । ।

हिंस्रस्य गतिमाह—विवादानिति । विगतो वादः सिंहव्याघ्रादिवत् प्रतिद्वन्द्वितालक्षणो येभ्य एतादृशान् प्राणिनो यो हन्ति तं निर्दयं नरकमार्गे बहवः तादृशा हतसजातीया जीवा प्राणरोधाद्युपायैः घ्नन्ति । इति द्वयोः सम्बन्धः । ।१०८१-२ । । मांसभक्षकस्य गतिमाह—मांसाशिन इति । अत्र मनुष्यलोके मांसभक्षकस्य नरके जीवत एव मांसानि श्वगृध्रादयो भक्षयन्तीति । ।१०८३ । । अधर्मेण कुटुम्बपोषणासक्तस्य गतिमाह—एवमिति अष्टभिः ।

महापापियों में से किसी के साथ भी जो एक साल तक संग कर लेता है वह भी वैसा ही दुःख पाता है जैसा उस महापापी को मिलता है। (छांदोग्योपनिषद् (५.१०.९) में स्पष्ट है कि महापापियों के साथ आचार-व्यवहार रखने वाला उन्हीं के समान दुर्गति पाता है। मनुस्मृति आदि में भी पाँचवाँ महापापी उसी को गिना है जो पूर्वोक्त चारों—या उनमें से किसी—के साथ व्यवहार रखता है। भोजन, विवाह, मैत्री आदि व्यक्तिगत सम्बंधों को बनाना या बनाये रखना यहाँ 'संग' से समझ लेना चाहिये।) । ।१०८० । । (किस पाप का क्या फल यह बताते हुए माता से अशिष्टता के प्रसंग में यह विचार हुआ। अब अन्य पापों के फल बताते हैं।)

जो करुणारहित जीव उन प्राणियों को मार डालता है जो शेर, बाघ आदि की तरह उसके प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गये हैं (अर्थात् जो उसे मार डालने को उद्यत नहीं हैं) वह निर्दय जब नरक जाता है तब जिन्हें उसने मारा था उन्हीं की जाति वाले जीव रास्ते में भी उस पर नाना प्रकार से प्रहार करते हैं। कोई गला घोटता है, कोई शस्त्रप्रहार करता है, कोई निष्ठुर दाँतों से काटता है, कोई खुरों से पीटता है, कोई नाखूनों से नोचता है, कोई अतिकष्टप्रद पैरों की मार से कुचल देता है, कोई लोहे से चोट करता है, कोई पैने सींगों से हमले करता है मानो वज्र गिरा रहा हो । ।१०८१-२ । ।

मनुष्यलोक में जो मनुष्य मांस खाता है, नरक में कुत्ते, गीध आदि मांसभक्षी सभी जन्तु उस व्यक्ति के जीवित रहते ही उसका मांस खाते हैं। ।१०८३ । ।

इसी तरह जो परिवार वाला व्यक्ति परलोक का विचार किये बिना दूसरों के धन की चोरी आदि करके अपने कुटुम्बका पोषण करता है वह जब नरक जाता है तब उसके देखते-देखते उसके प्राणों से भी प्यारे पुत्र-पत्नी-बन्धु आदि को मांसभक्षी बाघादि नोच खाते हैं। ।१०८४-५ । । तथा नरक के रास्ते में वज्र-सी चोंच वाले गीध उसे सपरिवार आसमान

१. श्लो. १०५६ तमे जननीगमनफलोक्तौ प्रसक्तानुप्रसक्तेनैतावान् विषय उक्तः । सम्प्रति श्लो. १०४८त आरब्धं पापविशेषफलबोधनमनुद्रवति ।

क्वचिद् गृध्रास्तमाकाशे वज्रतुण्डा नयन्ति च। कुटुम्बसहितं तद्वद् वह्नावेतं क्षिपन्त्यपि।।१०८६।।
क्वचित् क्वचिच्च महति मूषकादिसमाकुले। जलाशये क्वचिद् भूमौ कठिनायां नभस्थलात्।।१०८७।।
खादयन्तः क्वचित् पापं गृहीत्वा दशनैर्निजैः। कर्षयन्ति मुहुर्दीनं समेऽपि विषमेऽपि च।।१०८८।
क्वचिदग्नौ क्वचिद् वायौ ह्यगाधेऽपि जले क्वचित्। मलमूत्रादिसङ्के वा परपीडाकरः पतेत्।१०८९
आधिभिर्व्याधिभिश्चायं परिपूर्णकलेवरः। क्षुत्पिपासापरिश्रान्तः श्ववत् सर्वैर्निराकृतः।।१०९०।।
तादृशैर्बन्धुभिर्वीत एकाकी वा व्रजेत् पुमान्। यमराजपुरस्यैतं मार्गं घोरतमं मृतः।।१०९१।।

नरकमार्गः

क्वचिन्मार्गे तपत्येष सविता द्वादशात्मकः[1]। ताम्राभधातुभिर्वह्नेर्वह्निज्वालासमावृते। न नीरं न तरुस्तत्र नाश्रयश्चाशनं कुतः।।१०९२।।
कर्मणा मनसा वाचा भूतानां तापकृत् पुमान्। मार्गमेतं समायाति हन्यमानश्च किङ्करैः।।१०९३।।
यथा राजभटाश्चोरं बध्वापाशैः सुदारुणैः। प्रहारैर्विविधैस्तद्वद् निघ्नन्तो निर्दयं मुहुः।।१०९४।।
भर्त्सयन्तश्च तत्कर्म कथयन्तः पुराऽमुना। कृतं यद् बहुधाऽमीषां सराज्ञां विप्रियं मुहुः।।१०९५

अल्पमेधसः परलोकचिन्ताशून्यबुद्धेः परद्रव्यापहारादिना कुटुम्बपोषणपरस्य नरकं गतस्य पश्यतः सतः तस्य सुतादीन् पिशिताशिनो व्याघ्रादयोऽदन्तीति द्वयोः सम्बन्धः।।१०८४-५।। क्वचिदिति। क्वचिद् नरकमार्गदेशे तम् एतम् अधर्मेण कुटुम्बपोषकम्।।१०८६।। क्वचित् क्वचिदिति। ते गृध्रास्तं मूषकव्याप्तदेशादौ नभसः क्षिपन्ति।।१०८७।। खादयन्त इति। क्वचित् च ते गृधास्तं पापं खादयन्तः सन्तो दशनैः कर्षयन्ति आकृष्टं कुर्वन्ति।।१०८८।। क्वचिदग्नाविति। स पापो गृध्रादिभिर्मुक्तः सन्नग्न्यादिषु पतति।।१०८९।। आधिभिरिति। अयम् अधर्मेण कुटुम्बपोषको मानसशारीरपीडाव्याप्तः क्षुधादिव्याकुलश्च श्ववत् सर्वैः अनादृतो भवतीति।।१०९०।। तादृशैरिति। तादृशैः वर्णितदशापन्नैः बन्धुभिः विशिष्ट एकाकी वा यमलोकमार्गं स पापी गच्छतीति।।१०९१।।

मार्गं वर्णयति—क्वचिन्मार्ग इति। तत्र मार्गे द्वादशमूर्तिरादित्यस्तपति। कीदृशे ? अधो ज्वलतो वह्नेः सम्बन्धात् ताम्रवर्णैः धातुभिः युक्ते, वह्निज्वालाव्याप्ते, नीरादिरहिते चेति।।१०९२।। तत्र मार्गे गमनाधिकारिणं निर्दिशति—कर्मणेति। कर्म स्थूलशरीरव्यापारः।।१०९३।। तत्र मार्गे पापिनो यद् यमदूतैर्नयनं तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति द्वाभ्याम्। एषां राजभटानां सराज्ञां राजसहितानां विप्रियं कोपजनकं यत् कर्म कृतं तत् कथयन्तः।।१०९४-५।।

में ले जाकर आग में झोंक देते हैं।।१०८६।। कभी आकाश से उसे ऐसी जगह फेंकते हैं जहाँ चूहे आदि कुतरने-नोचने वाले प्राणी बहुतेरे हों, कभी तालाब में तो कभी कड़ी ज़मीन पर फेंकते हैं।।१०८७।। कभी वे गीध आदि उस पापी को खाते हैं और अपने दाँतों से पकड़कर इधर-उधर रगड़ते हैं। उस दीन से यों वे बार-बार मानो खेलते हैं। अन्यों को पीडा देने वाला वह पापी जब उन गीध आदि से छूटता है तो कभी समतल भूमि पर, कभी ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर, कभी आग में, कभी हवा में, कभी अति गहरे जल में तो कभी टट्टी-पेशाब आदि के ढेर पर गिरता है।।१०८८-९।। अधर्म से जिसने कुटुंब का पोषण किया है उसका शरीर और मन पीडाओं से भरा रहता है, भूख-प्यास से भी वह व्याकुल रहता है लेकिन सभी उसकी वैसी ही उपेक्षा करते हैं जैसी कुत्तों की।।१०९०।। उक्त पापी मरकर जब यमराजके नगर के इस भयंकर मार्ग पर जाता है तो कभी अकेला जाता है और कभी अपने बंधुओं सहित लेकिन बंधुओं की भी उसी की तरह दुर्दशा हो रही होती है।।१०९१।।

नरक के रास्ते में ऊपर से तो बारह मूर्तियाँ धारण करने वाले ये सूर्यदेव तपते हैं। नीचे से वह मार्ग आग की लपटों से घिरा रहता है और आगके कारण उस मार्ग पर पड़े धातु तांबे-से लाल हुए रहते हैं।।१०९२।।

---

१. 'धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा। एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।।' इति द्वादशादित्याः।

एवं बध्वा दृढैः पाशैर्निघ्नन्तो विविधैरपि। प्रहारैर्मुद्गराद्युत्थैर्भर्त्सयन्तश्च किङ्कराः।। नयन्ति नरकग्राममार्गं पापकृतं नरम्।।१०६६।।

आः ! पाप ! भवता कस्माल्लब्ध्वा देहं सुदुर्लभम्। मानुषं भारते वर्षे स्वर्गमोक्षप्रदं सुखात्।। न कृतं सुकृतं किञ्चित् पातकं च कृतं मुहुः।।१०६७।।

रे मन्द ! नरकेऽप्यस्मिन् भविष्यन्ति तवाधुना। दाराः सुतास्तथा चान्ये बान्धवाः सुखवर्जिताः। न भविष्यति किन्त्वेवं सुखं यद्धि त्वमिच्छसि।।१०६८।।

दारादीनां कृते पाप ! भवता पातकं कृतम्। परित्यज्य गताः सर्वे श्मशाने त्वां त ईदृशम्।।१०६६।

कृतं चेत् सुकृतं पूर्वं भवता तत्त्वया सह। समागच्छेद्यथा पापमागतं दुःखदन्त्विदम्।।११००।।

व्याघ्रादिव विभीतानि भूतानि भवतोऽधम!। सर्वदा बलतस्तेषां द्रव्यादेरपहारकात्।।११०१।।

यद्यद्यस्य समीचीनं गोधनं स्त्रीधनादिकं। तत्तत्तस्य हृतं पूर्वं त्वया दुष्कृतकारिणा। अतो नेत्रे च हृदयं गृध्रास्ते पाटयन्त्यमी।।११०२।।

वाक्येन निष्ठुरेणैषां कर्मणा च वधादिना। यः कृतो दुःसहस्तापः सोऽयं ते समुपस्थितः।।११०३

दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। किङ्करा यमस्य। पापकृतं पापकारिणम्।।१०६६।।

यमदूतैः कृतं पापिभर्त्सनवाक्यजातमभिनयति—आः पापेत्यादिना। आस् इत्यव्ययं कोपोक्तौ। वर्षे खण्डे।।१०६७।। बान्धवास्तु नारकशरीरेऽपि सुखवर्जं सन्ति इत्याहुः—रे ! इति।।१०६८।। येषां चिन्तया त्वया सुकृतवैमुख्यं पापौन्मुख्यं च कृतं ते बान्धवास्त्वां श्मशाने त्यक्त्वा गता इत्याहुः—दारादीनामिति।। १०६६।। कृतमिति। यदि त्वया सुकृतं कृतम् अभविष्यत् तदा तत्त्वया सह आगमिष्यद् यथा दुष्कृतम् आगतमिति।।११००।। व्याघ्रादिवेति।।तेषां प्राणिनां द्रव्याद्यपहारकाद् भवतः सकाशात् प्राणिनो व्याघ्रादिव विभीता भयं प्राप्ताः।।११०१।। यद्यदिति। अतः समीचीनपरद्रव्यापहारदोषात्।।११०२।। वाक्येनेति। यः च वाक्यादिना परेषां सन्तापः कृतः स कर्म, मन और वाणी से जिस पुरुष ने प्राणियों को सन्ताप दिया है वह इस मार्ग पर यमदूतों द्वारा पिटता हुआ जाता है।।१०६३।। जैसे राजाके सिपाही चोर को कठोर पाशों से बाँधकर, निर्दयतापूर्वक बार-बार विविध प्रहारों से मारते हुए, उसकी निंदा करते हुए, राजा व सिपाहियों का अप्रिय जो काम उसने कई बार कई ढंग से किया हो उसका उसके सामने कथन करते हुए उसे जेल ले जाते हैं वैसे ही यमदूत पापी को मज़बूत पाशों से बाँधकर, मुद्गर आदि के नाना प्रहारों से मारते हुए और उसकी निंदा करते हुए उसे नरक नाम गाँव के रास्ते पर ले जाते हैं।।१०६४-६।।

यमदूत रास्ते में पापी की भर्त्सना इस प्रकार करते हैं—अरे पापी ! भारत देश में मनुष्य शरीर मिलना अत्यंत दुर्लभ है क्योंकि वह आराम से स्वर्ग या मोक्ष दिला सकता है। तुमने वह पाकर थोड़ा-सा भी पुण्य क्यों नहीं किया? अत्यधिक पाप क्यों किये ?।।१०६७।। अरे मूर्ख ! पत्नी, पुत्र और अन्य बांधव तो तुम्हें अभी इस नरक में भी मिलने वाले हैं लेकिन उन्हें भी कोई सुख नहीं हो रहा होगा। जिस सुख की तुम इच्छा करते रहे हो वह सुख तुम्हे मिलने वाला नहीं।।१०६८।। अरे पापी ! तूने जिन पत्नी आदि के लिये पाप किये वे तुझे श्मशान में ऐसा ही (अकेला ही, पापयुक्त ही) छोड़कर लौट गये।।१०६६।। यदि पहले कुछ पुण्य किया होता तो वह तुम्हारे साथ आता जैसे यह दुःखद पाप आया है।।११००।। अरे अधम ! तूने बलपूर्वक हमेशा दूसरों के धनादि का अपहरण किया जिस कारण सभी लोग तुझसे यों डरते रहे जैसे बाघ से डरते हों ! ।।११०१।। जिस-जिस व्यक्तिके पास गोधन, स्त्रीधन आदि जो-जो अच्छी चीज़ें थीं उन्हें पापकारी तूने पहले चुराया था इसलिये ये गीध तेरी आँखें और हृदय नोच-नोचकर फाड़ रहे हैं।।११०२।।

धिक् त्वां यो भारते जातो नरके पुनरागतः। पुण्यहीनो यथा लोके प्राप्य राज्यं विनश्यति।।११०४।

मानुषाद् वपुषो धूमं धूमाद्रात्रिं ततोऽपि च। कृष्णपक्षं ततो मासान् षड् ये स्युर्दक्षिणायनम्।।११०५।।

ततो रम्यतरं लोकं पितॄणां प्रतिपद्यते। पितृलोकादयं गच्छेदन्तरिक्षं सदोज्ज्वलम्।।११०६।।

आकाशाच्चन्द्रमभ्येति सुधामण्डलमत्र सः। सुखी भोगानवाप्नोति देवैर्दत्तान् मनोरमान्।।११०७।।

एव त्वां प्राप्तः।।११०३।। धिगिति। विनश्यति पतति।।११०४।। पापिन उद्वेगाय—त्वया पितृलोकप्रापकः पितृयाणाख्यः पन्था अपि न वशीकृतः—इति वक्तुं पितृयाणमभिनयति—मानुषादिति त्रिभिः। अत्र धूमादिशब्दाः तदभिमान्यातिवाहिकदेवतापराः[1]। ये षड् मासा दक्षिणायनसंज्ञाः तान् कृष्णपक्षाद् गच्छतीति।।११०५।। तत इति। ततो दक्षिणायनसंज्ञमासेभ्यः।।११०६।। आकाशादिति। अत्र चन्द्रमण्डले सः कर्मी देवाधीनो भोगान् भुङ्क्ते—

निष्ठुर वचनों से एवं वधादि कर्मों से तूने जो इन प्राणियों को असह्य ताप दिया वही आज तुझे मिल रहा है।।११०३।। तुझे धिक्कार है जो भारत जैसी पूण्यभूमि में पैदा होकर फिर यहाँ नरक आया है जैसे संसार में कोई पुण्यहीन व्यक्ति राज्य पा जाये तो भी नष्ट होने से नहीं बच पाता।।११०४।।

यमदूत पापी को सुनाते हैं कि पुण्य से पितृयाण नामक मार्ग पाया जा सकता था जिसे पाने का मौका उसने गँवा कर नरकमार्ग पर आने के ही उपाय किये—मनुष्य शरीर में यज्ञ, दान आदि पुण्य करने वाला मरने पर मनुष्य देह से निकलकर क्रमशः इन देवताओं के पास होते हुए जाता है—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छह मास, और वहाँ से वह पितरों के अतिरमणीय लोक में पहुँचता है। फिर वह हमेशा उज्ज्वल रहने वाले अंतरिक्ष में जाता है जहाँ से सुधामय मण्डल वाले चंद्र को प्राप्त होता है। चंद्रमण्डल में वह देवताओं द्वारा दिये मनोरम भोग पाता है, सुखी रहता है। लेकिन तू पापी उस रास्ते पर नहीं जा पाया। जब स्वर्ग ही तू नहीं जा पाया तब ब्रह्मलोक जा सके इसकी क्या आशा ! (शारीरिक कर्मों से स्वर्ग जाया जा सकता है जब वही नहीं कर पाया तो अत्यधिक सात्त्विकता से संभव उपासना कर ब्रह्मलोक जा सकने की संभावना ही नहीं। उपासना-कर्म दोनों साथ करने पड़ते हैं अतः ब्रह्मलोकेच्छुक को परिश्रम अधिक है। वैध उपासना का मार्ग कर्ममार्ग से अधिक कठिन है। पुराणादि में बताया भक्तिमार्ग इस दृष्टि से तो अतिकठिन है कि उस पर चलने के लिये परमेश्वर से प्रेम चाहिये जो दुर्लभ है लेकिन स्वयं वह मार्ग कर्मादि मार्गों से सरल ही है। किं च अपरम-भक्ति अर्थात् आर्ति आदि मिटाने के लिये की जाने वाली भक्ति शनैः-शनैः परमेश्वर में प्रेम उत्पन्न कर सकती है यदि अनुकूल विचार आदि साथ में रखे जायें और वह भी श्रौत कर्ममार्ग से अत्यधिक सरल है ही। यदि भक्ति परा भक्ति में परिणत हो गयी तब तो वह कर्मोपासना की अपेक्षा अत्युत्कृष्ट फल दे देती है लेकिन अन्यथा उसकी फलप्रदता कार्यकारणभाव से प्रतिबद्ध नहीं है, ईश्वरकृपा पर ही निर्भर है, जबकि श्रौत कर्मोपासना मार्ग कार्यकारणता में बँधा है क्योंकि ईश्वर ने उस उपायजाल की उसी दृष्टि से सृष्टि की है। अतः निश्चितफलकता से श्रौतमार्ग ही उत्कृष्ट है। साथ ही मोक्षप्रद ज्ञानोपदेश श्रुति में प्रधानतः मिलता है अतः मोक्ष की इच्छा से पूर्व भी यदि प्राणी श्रुति के संपर्क में रहे तो उसे मुमुक्षा होना अधिक सुलभ है इससे भी श्रौत मार्ग बेहतर है। 'अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च' (१.४.३९) में स्थापित न्याय से यज्ञ दानादि में विविदिषोत्पादकता भी अधिक प्रबल है पौराणिकादि कर्मों की अपेक्षा, इससे भी श्रौत मार्ग उत्तम है। एवमपि अपनी सामर्थ्य के अनुसार सन्मार्गगामी होना चाहिये।)।।११०५-८।।

ब्रह्मलोक वे लोग जाते हैं जो मनुष्य शरीर पाकर तुच्छ सुखों से विरक्त रहते हैं, शम-दम आदि का सफल अभ्यास करते हैं, यम-नियम आदि आठ अंगों वाले योग से संपन्न होते हैं, शास्त्र से विविध उपासनायें समझकर उनमें

१. आतिवाहिकास्तल्लिंगाद् इति सूत्रम् (४.३.४)। 'स एतान् गमयति' इति पर्याये सिद्धवद् गमयितृत्वमुक्तं भवति लिंगं पूर्वमपि गमयितार उच्यन्ते—इत्यर्थः।

यज्ञदानादिपुण्यस्य कर्ता न त्वं तथा गतः। कुतस्त्वयि भवेदाशा ब्रह्मलोकगतिं प्रति।।११०८।।

मानुषं वपुरास्थाय महात्मानो जितेन्द्रियाः। अष्टाङ्गयोगसम्पन्ना नानोपासनवेदिनः।।११०९।।

उपासनेन केनाऽपि समुपास्य महेश्वरम्। पञ्चाग्निविद्यया वैते ब्रह्मलोकं व्रजन्ति हि।।१११०।।

ब्रह्मलोकमार्गः

दशमद्वारतो येयं ब्रह्मनाडी विनिर्गता। तया गत्वाऽर्चिषं यान्ति तस्माद्यान्ति हि वासरम्।।११११।।

शुक्लपक्षं व्रजन्त्यह्नस्तस्मादप्युत्तरायणम्। उत्तरायणषण्मासाद् ययुः संवत्सरं त्विमे।।१११२।।

देवलोकं प्रयान्त्यब्दाद् देवलोकात् प्रभंजनम्। रथचक्रसमच्छिद्रं वायोरादित्यमीश्वरम्। व्रजेयुश्छिद्रसहितं डम्बरस्येव मध्यतः।।१११३।।

इत्यर्थः।।११०७।। वर्णितवक्ष्यमाणयोः प्रकृतोपयोग उच्यते—यज्ञेति। हे पाप ! यथा यज्ञादिकर्तारो वर्णितमार्गेण पितृलोकं यान्ति तथा त्वं यज्ञादिकर्ता सन् न गतः। एवं शारीरकर्मणाऽपि साध्यं स्वर्गं गन्तुमनर्हे त्वयि मानसकर्मरूपोपासनासाध्यब्रह्मलोकगतिं प्रति का आशा संभावनेत्यर्थः।।११०८।। ब्रह्मलोकगमनाधिकारिणो दर्शयति—मानुषमिति। ये मानुषं वपुः प्राप्य महात्मानः क्षुद्रसुखेभ्यो विरक्ताः, अत एव जितेन्द्रिया यमनियमादियोगाङ्गसम्पन्नाश्च नानोपासनानि शास्त्रतो विज्ञाय तेषु अन्यतमेन पर्यङ्कविद्यादिसंज्ञेन परमेश्वरमहङ्ग्रहेण उपासन्ते, पञ्चाग्निविद्यां वाऽनुतिष्ठन्ति ते ब्रह्मलोकं व्रजन्ति। इति द्वयोरर्थः।।११०९-१०।।

अथ ब्रह्मलोकमार्गस्य देवयानाख्यस्य रूपं तथा ब्रह्मलोकस्वरूपं च छान्दोग्यबृहदारण्यकवाक्योपसंहारपूर्वकं कौषीतकिप्रथमाध्यायानुसारेणाह—दशमेति पञ्चविंशतिश्लोकैः। येयं नाडी 'शतं चैका' (छा. ८.६.६) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा सुषुम्नाख्या दशमद्वारेण शरीराद् बहिः गता, तया[1] मार्गभूतया ते प्रथमम् अर्चिषम् अर्चिरभिमानिनीं देवताम्, ततो दिनाभिमानिनीं देवतां यान्ति इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि।।११११।। शुक्लमिति। दिनात् शुक्लपक्षं, शुक्लपक्षाद् मासषट्करूपम् उत्तरायणम्, उत्तरायणात् संवत्सरं व्रजन्ति इति।।१११२।। देवेति। संवत्सराद् देवलोकं, देवलोकाद् वायुं व्रजन्ति। कीदृशं वायुम् ? आगतायोपासकाय स्वस्मिन् रथचक्रच्छिद्रसमच्छिद्रदायिनम्। वायोः सकाशाद् आदित्यं यान्ति। कीदृशमादित्यम् ? आगताय उपासकाय डम्बराख्यवाद्यविशेषमध्यच्छिद्रसमच्छिद्रदायिनमित्यर्थः।

से किसी एक से महेश्वर की अहंग्रहोपासना करते हैं। उनकी उपासना दृढ हो जाये तब उनहें ब्रह्मलोक मिलता है। अथवा जो पंचाग्निविद्या के अभ्यासी दृढता पा जाते हैं वे ब्रह्मलोक जा सकते हैं। (शम-दम आदि साधन उपासना के लिये भी उतने ही ज़रूरी हैं जितने ज्ञान के लिये लेकिन कर्मत्यागरूप उपरति को उपासनामार्ग में स्थान नहीं। यमादि आठ हैं—१) यम—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अनावश्यक धन उपकरण आदि न बटोरना। २) नियम—सफाई, संतोष, तितिक्षा, मोक्षशास्त्रों का अध्ययन, अपने सब कर्म ईश्वर को समर्पित करना। ३) आसन—जिस ढंग से आराम से स्थिरता पूर्वक बैठा जा सके उस ढंग को सीखकर उसका अभ्यास कर लेना। ४) प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास की गति पर नियंत्रण। ५) प्रत्याहार—जैसे चित्त नियंत्रित है वैसे इंद्रियों को नियंत्रित कर उन्हें विषयसंपर्क से दूर रखना। ६) धारणा—शरीर के नाभिचक्रादि विशिष्ट स्थलों पर या बाह्य मूर्ति आदि पर मन एकाग्र करना। ७) ध्यान—जिस पर धारण की है उस ध्येय के ही आकार की वृत्ति लगातार बनाना (८) समाधि—ध्यान में ही जब केवल ध्येय का स्फुरण रह जाये, 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' यह भाव भी न रहे, तब समाधि कही जाती है। अहंग्रहोपासना का मतलब है कि परमेश्वर का ध्यान अपने से उन्हें अभिन्न समझते हुए करना। 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्रहयन्ति च' (४.१.३) सूत्र में यही सिद्धांत स्थापित किया है। पंचाग्निविद्या स्वयं पुराण में (श्लोक ११४४) बतायेंगे।)।।११०९-१०।।

---

१. अत्र तदोकोधिकरणम् (ब्र.सू. ४.२.९ सू. १७) प्रमाणम्। शरीराद् बहिर्नाडी रश्मिरूपेण गच्छतीतिच्छांदोग्ये (८.६.५) प्रपंचितम्।

आदित्याच्चन्द्रमायान्ति दुन्दुभिच्छिद्रदायिनम्। चन्द्राद् विद्युतमायान्ति ततोऽमानव एत्य तान्।।१११४।।

वरुणेन्द्रप्रजानाथलोकानां परतः स्थितम्। ब्रह्मलोकं नयेद्यत्र तिष्ठत्यारह्रदादिकम्[1]।।१११५।।

पर्यङ्कविद्या

[2]ब्रह्मणा प्रहिता यत्र ह्यायान्त्यप्सरसः सदा। दिव्याः पञ्चशतं पूर्णं नानोपायनपाणयः।।१११६।।

'पटहाडम्बरौ समौ' इत्यमरः।।१११३।। आदित्यादिति। आदित्याच्चन्द्रं दुन्दुभिसंज्ञवाद्यविशेषमध्यच्छिद्रसमच्छिद्रदायिनं प्राप्नुवन्ति। ततो विद्युल्लोकं यान्ति। तत्र विद्युल्लोकेऽमानवो मनुसृष्टावनुत्पन्नः पुरुषविशेष आगत्योपासकं ब्रह्मलोकं प्रति नयति। कीदृशं ब्रह्मलोकम् ? वरुणलोकाद्, इन्द्रलोकात्, प्रजापतिः विराट्; तल्लोकाच्च परतः स्थितम्। पुनः कीदृशम् ? कामक्रोधादिभिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिप्रतिबन्धकैर्विरचितत्वाद् आरसंज्ञकेन ह्रदेन, आदि-पदग्राह्यविजरानद्यादिभिश्च प्रवेशदेशे युक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।१११४-५।।

ब्रह्मणेति। यत्र आरसंज्ञकह्रदापरपारे वर्तमानमुपासकं ब्रह्मणो योग्येनाऽलङ्कारेण अलङ्कर्तुं ब्रह्मणा प्रहिताः प्रेषिताः पञ्चशतसङ्ख्याका अप्सरस आयान्ति, नानाविधान्युपायनानि पाणिषु यासां तास्तथा।।१११६।। तासां

(आचार्य श्रीशंकरानन्द जी की निजी शैली है किसी प्रसंग को पूर्ण स्पष्ट करने के लिये उसके बारे में शास्त्र में जो जानकारी बिखरी हुई है उसे एकत्र कर संगत रमणीय ढंग से उपस्थित कर देना। यहाँ ब्रह्मलोक और उसके मार्ग का प्रसंग आ गया तो छांदोग्य व बृहदारण्यक में जो कुछ उस बारे में बताया है उसे समेटते हुए विशेषतः कौषीतकी उपनिषत् के प्रथम अध्याय के अनुसार उसका सांगोपांग वर्णन कर देंगे। उपनिषदें समझानी ही हैं अतः उसी उपनिषत् के उसी स्थल का प्रसंग आये तभी वह विषय बतायें यह जरूरी नहीं। यहाँ समझा दिया तो उस उपनिषत् के विचार में स्वयं उसे समझ सकते हैं। किं च इस तरह के संग्रह से तत्तद् विषय में औपनिषद मत स्पष्ट होता है अन्यथा केवल उस-उस उपनिषत् का ही मत स्पष्ट हो पाता है।)

यमदूत पापी को तड़पाते हुए ब्रह्मलोक का मार्ग सुना रहे हैं—जो यह ब्रह्मनाडी सुषुम्ना दसवें दरवाजे अर्थात् मूर्धा से बाहर निकली है उसे रास्ता बनाकर वे उपासक क्रमशः इन देवताओं के पास जाते हैं—अर्चिस्, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर, देवलोक, वायु जो उन उपासकों को अपने में से निकलने के लिये वैसा छिद्र प्रदान करता है जैसा रथ के चक्के में होता है, आदित्य जो उन्हें वैसा छिद्र प्रदान करता है जैसा डम्बर में होता है ('डम्बर' एक तरह का ढोल होता है), चन्द्रमा—जो उन्हें दुन्दुभि के छिद्र जैसा छिद्र प्रदान करता है ('दुंदुभि' एक तरह के नगाड़े या डुगडुगी को कहते हैं), विद्युत्। अमानव—जो मनुकृत सृष्टि में उत्पन्न नहीं हुआ—पुरुष आकर वहाँ से उन उपासकों को ब्रह्मलोक ले जाता है जो ब्रह्मलोक वरुण के इन्द्र के और प्रजापति अर्थात् विराट के लोकों से परे है। ब्रह्मलोक में 'आर'-नामक सरोवर आदि हैं। (ब्रह्मलोक पाने में रुकावट डालने वाले काम-क्रोधादि से वह सरोवर बना है अतः 'आर' कहलाता है मानो आरे की तरह उस ओर जाने वालों को काटता हो ! सरोवर के बाद 'आदि' कहकर वहाँ के नदी, वृक्ष आदि का संग्रह है जिन्हें स्वयं पुराण में (श्लोक ११२८) कहेंगे।) ।।११११-५।।

आरसरोवर के इस पार ही उपासक को ब्रह्मा के योग्य अलंकारों से सज्जित करने के लिये ब्रह्मा द्वारा भेजी पूरी पाँच सौ अप्सरायें हाथों में नाना प्रकार की भेंट लेकर आती हैं।।१११६।। सौ अप्सराओं के हाथों में सुगन्धित

---

१. 'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो, मुहूर्ता येष्ठिहा, विजरा नदी, इल्यो वृक्षः, सालज्यं संस्थानम्, अपराजितमायतनम्, इन्द्र-प्रजापती द्वारगोपौ। विभुप्रमितं विचक्षणाऽऽसन्दी, अमितौजाः पर्यङ्कः।' कौषीतकीप्रथमेऽध्याये। २. 'तं पञ्च शतान्यप्सरसां प्रतियन्ति—शतं चूर्णहस्ताः, शतं वासोहस्ताः, शतं फलहस्ताः, शतमाञ्जनहस्ताः, शतं माल्यहस्ताः।' तत्रैव।

शतं सुगन्धपुष्पाणां मालाहस्तं समाव्रजेत् । सुगन्धीनि च दिव्यानि गृहीत्वा शतमाव्रजेत् । ।१११७ । ।
फलानि चाऽस्य दिव्यानि गृहीत्वा शतमाव्रजेत् । चूर्णानि च विचित्राणि सुगन्धीनि समन्ततः । ।१११८ । ।
गृहीत्वा शतमायाति वासोहस्तं शतं परम् । नानालङ्कारहस्तं च व्रजेत् पञ्चमकं शतम् । ।१११९ । ।
[1]ब्रह्मा यथा ब्रह्मलोके देवोऽलङ्क्रियते सदा । अलङ्कुर्वन्त्यमुं तद्वत् तत्र तास्तु समागताः । ।११२० । ।
[2]अलङ्कृतस्ततस्ताभिरागन्ताऽऽरं क्षणेन हि । मनसाऽभ्येत्य निर्याति मुहूर्तान् येष्टिहान् अमून् ।
तं दृष्ट्वा दर्शने सर्वे विद्रुताः स्युर्दिशो दश । ।११२१ । ।

शतपञ्चकस्य उपायनभेदेन विभागमाह—शतमिति त्रिभिः । तासां मध्ये शतम् अप्सरसः सुगन्धिपुष्पनिर्मितमालाहस्ताः समायान्ति । द्वितीयमप्सरसां शतं सुगन्धीनि कर्पूरादिवासिततैलादीनि शरीरांजनोपयोगीनि करेषु गृहीत्वाऽऽयातीत्यर्थः । ।१११७ । । फलानि चेति । अथ तृतीयमप्सरसां शतं दिव्यफलहस्तमागच्छति । चतुर्थं शतम् अङ्गमर्दनोपयोगिनानासुगन्धिचूर्णहस्तमागच्छति । पञ्चमं शतं वासोभिर्वसनैः युक्तहस्तमागच्छति । एतत् पञ्चमं शतं नानालङ्कारहस्तं च बोध्यम् । इति द्वयोरर्थः । ।१११८-९ । । ब्रह्मेति । यथा ताभिरप्सरोरूपाभिः परिचारिकाभिः ब्रह्मा हिरण्यगर्भः प्रतिदिनं भूष्यते, तथाऽमुम् उपासकमपि ब्रह्माज्ञया भूषयन्तीत्यर्थः । ।११२० । ।

अलङ्कृत इति । स ब्रह्मलोकं प्रति आगन्तोपासकः ताभिरलङ्कृतः सन् क्षणेन आरं नाम ह्रदं मनसैव अतीत्य तीर्त्वा परपारे स्थितान् मुहूर्तान् त्रिंशन्मुहूर्तान् प्रति याति । कीदृशान् मुहूर्तान् ? येष्टिह-संज्ञकान् । अमून् मुहूर्तरूपेण सर्वेषां संनिहितानित्यर्थः । येष्टिहनामनिर्वचनं तु—यान्ति ब्रह्मलोकं प्रतीति याः, उपासकाः, तेषाम् इष्टिम् उपासनां नानासङ्कल्पोत्पादनेन घ्नन्तीति तथा—इति । तम् उपासकं विद्याबलेनागतं दृष्ट्वा तस्य दर्शनगोचरदेशात् सर्वे मुहूर्ताः पलायन्त इत्यर्थः । ।११२१ । । पापानीति । ततो विजरानदीतीरंगतस्य उपासकस्य पुष्पों की मालायें होती हैं, सौ दिव्य सुगंधिद्रव्य—अत्तर, फुलेल आदि—लेकर आती हैं, सौ आती हैं उपासक के लिये दिव्य फल लेकर, सौ अप्सरायें विविध प्रकार के सुगंधित चूर्ण लाती हैं जो उपासक के शरीर पर मालिश के काम आते हैं, और आखिरी सौ वस्त्र और अनेक आभरण लेकर आती हैं । ।१११७-१९ । । जैसे ब्रह्मलोक में ब्रह्मा रोज़ सजाये जाते हैं वैसे वे आयी अप्सरायें उपासक को सजाती हैं । ।११२० । ।

उनके द्वारा सुसज्जित उपासक मन से ही 'आर' सरोवर को क्षणभर में पार कर इन 'येष्टिह' नामक मुहूर्तों की ओर आता है । (ये मुहूर्त उस सरोवर के दूसरे किनारे रहते हैं और गिनती में तीस हैं । इन्हें 'इन' कहकर सूचित किया कि ये ही हमारे सामने मुहूर्तरूप से उपस्थित हैं, एक अहोरात्र में तीस ही मुहूर्त होते हैं । इन्हें 'येष्टिहा' कहने में हेतु है कि 'याः' अर्थात् ब्रह्मलोक जाने वाले उपासकों की 'इष्टि' अर्थात् उपासना को विविध संकल्प पैदा करके 'हा' अर्थात् समाप्त करने वाले हैं । तात्पर्य है कि उपासक का उपासना से अतिरिक्त जो समय बीतता है वह उसकी उपासना के लिये घातक है अतः उसे अपने संपूर्ण जाग्रत्काल को उपासना में ही लगाना चाहिये ।) अपनी विद्या के बल से उपासक को वहाँ पहुँचा देख कर वे सब मुहूर्त दसों दिशाओं में स्वयं भाग जाते हैं ताकि उपासक की दृष्टि में न पड़ें । (तात्पर्य है कि जब अन्य किसी संकल्पादि का समय ही न हो तभी स्वयं को कामनादि से पार पहुँचा समझना चाहिये ।) । ।११२१ । ।

फिर वह उपासक 'विजरा' नदी के किनारे पहुँचता है । वहाँ उससे उसके पूर्वकृत पाप दूर होकर विलीन हो जाते हैं और उस उपासक के द्वेषी जीवों में अपने समान दुरदृष्ट पैदा कर देते हैं मानो उपासक ने अपने ही पाप उन द्वेषियों को प्रदान किये हों । इसी प्रकार वह अपने हितकारियों को अपने पुण्य दे देता है । ('साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा

---

१. 'तं ब्रह्मालङ्कारेणाऽलङ्कुर्वन्ति ।' तत्रैव । २. 'स ब्रह्मालङ्कारेणाऽलङ्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्माभिप्रैति । स आगच्छत्यारं ह्रदं, तं मनसाऽत्येति । तमित्वा संप्रतिविदो मज्जन्ति । स आगच्छति मुहूर्तान्येष्टिहांस्तेऽस्मादपद्रवन्ति ।'

[1]पापानि द्वेषिणां दत्त्वा सुहृदां सुकृतानि च। पुत्राणां च धनान्येष जरामरणवर्जितः। मनसा विजरां नाम नदीमभ्येति तत्क्षणात्।।११२२।।

[2]इल्यवृक्षं गतं ब्रह्मगन्धस्तं प्रविशेदिह। ततः शालज्यसंस्थाने रसोऽपि ब्रह्मणो विशेत्।।११२३।।

[3]अथायतनमायाति ब्रह्मणः सोऽपराजितम्। ब्रह्मतेजो विशेदेनं तत्र येनाऽमुना समः।।११२४।।

[4]इन्द्रप्रजापती देवौ द्वारगोपाववस्थितौ। दत्त्वा मार्गमिमौ तस्मा आसाते भीतवत्स्वयम्।।११२५।।

[5]विभुप्रमितमायाति ब्रह्मणः स सभास्थलम्। विशत्यमुं ब्रह्मयशो यशस्वी तत्र तेन सः।।११२६।।

पापादीनि तं परिहृत्य विलीयमानानि द्वेषिप्रभृतिषु स्वसजातीयोत्पत्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा सति एष उपासको जरामरणवर्जितः सन् विजरां नाम नदीं मनसा एव तरतीत्यर्थः।।११२२।। इल्येति। तत इल्यं इला पृथिवी, तन्मयत्वेन इल्यसंज्ञं वृक्षं प्राप्नोति। तत्र प्राप्तमुपासकं ब्रह्मणो योग्यो दिव्यगन्धः प्राप्नोति। ततः शालज्यसंज्ञकं संस्थानं नगरं प्राप्नोति। तत्र गतं ब्रह्मयोग्यो दिव्यो रसः तं प्राप्नोति। शालज्य-नामनिर्वचनं तु—शालावृक्षवत् तथा धनुर्ज्यावच्च सरलत्वेन मनोरमा वापीकूपादिरचना यत्र तत्तथेति।।११२३।। अथेति। तत अपराजितं नाम ब्रह्मण आयतनं मन्दिरं प्राप्नोति। तत्र गतमुपासकं ब्रह्मणस्तेजः प्रविशेद् येन तेजोलाभेन हेतुना अमुना ब्रह्मणा समो भवतीत्यर्थः।।११२४।। इन्द्रेति। तस्य ब्रह्मगृहस्य द्वारपालतयाऽवस्थितौ इन्द्रप्रजापती तस्मै उपासकाय मार्गं दत्त्वा भीतवत् तिष्ठतः।।११२५।।

विभुप्रमितमिति। स उपासको विभुप्रमितेतिसंज्ञकं ब्रह्मणः सभामण्डपं याति। तत्र गतं तं ब्रह्मसम्बन्धियशः प्राप्नोति, तेन यशोलाभेन ब्रह्मणा समो यशस्वी भवति। नामनिर्वचनं तु—विभुना ब्रह्मणैव स्वयं विप्रमितं निर्मितम्—इति भाष्यकृतोक्तम्। वृत्तिकृता तु — विभुरहङ्कारः तेन विमितं तन्मयमिति यावद्—इत्युक्तम्।।११२६।।

ह्यन्ये' ब्र.सू. ३.३.२७ में निर्णय किया है कि यह पुण्य-पाप का उपासक से वियोग हो तभी जाता है जब वह ब्रह्मलोक के लिये जाते समय अपना स्थूल शरीर छोड़ता—अर्थात् मरता—है।) उपासक अपने धन देता है अपने पुत्रों को। ऐसा उपासक बुढापे और मरण से रहित हुआ मन से ही 'विजरा' नदी को क्षण भर में पार कर जाता है। ('मन से' अर्थात् संकल्पमात्र से।)।।११२२।।

वहाँ से उपासक 'इल्य' वृक्ष के पास पहुँचता है। (इला अर्थात् पृथ्वी, पृथ्वीमय होने से वह इल्य है।) वहाँ उपासक को वैसी सुगंध प्राप्त होती है ज़ो ब्रह्मा में होने योग्य है। तदनंतर उपासक 'शालज्य' नगर जाता है। (साल वृक्षों की तरह, धनुष की ज्या अर्थात् प्रत्यंचा की तरह सीधी और मनोरम जहाँ के कूप आदि की रचना है उसे शालज्य कहते हैं।) वहाँ पहुँचने पर ब्रह्मा में होने योग्य दिव्य रस उपासक को प्राप्त होता है।।११२३।।

फिर वह उपासक ब्रह्मा के 'अपराजित' नामक महल पर आता है जहाँ उसमें ब्रह्मतेज प्रवेश कर जाता है जिससे वह ब्रह्मा के समान हो जाता है। इन्द्र और प्रजापति—ये दोनों देव उस महल पर द्वारपाल रूप से उपस्थित हैं, वे इस उपासक के लिये रास्ता छोड़कर स्वयं सहमे हुए एक ओर हो ज़ाते हैं।।११२४-५।।

भीतर पहुँच वह उपासक ब्रह्मा के सभास्थल में प्रवेश करता है जिसे 'विभुप्रमित' कहते हैं। वहाँ उसे ब्रह्मा से सम्बद्ध यश मिलता है और वह ब्रह्मा जैसा यशस्वी हो जाता है।(विभु अर्थात् ब्रह्मा द्वारा प्रमित अर्थात् निर्मित होने से सभामंडप विभुप्रमित है। अथवा विभुसे अहंकार समझना चाहिये, अहंकारमय वह सभागार है यह अर्थ है।)।।११२६।।

---

१. 'स आगच्छति विजरां नदीं, तां मनसैवात्येति। तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते। तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति, अप्रिया दुष्कृतम्। तद्यथा रथेन धावयन् रथचक्रे पर्यवेक्षत एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवं सुकृतदुष्कृते सर्वाणि च द्वन्द्वानि स एष विसुकृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाऽभिप्रैति।।४।।' २. 'स आगच्छतील्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति। स आगच्छति सालज्यं संस्थानं तं ब्रह्मरसः प्रविशति।' ३. 'स आगच्छत्यपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति।' ४. 'स आगच्छति इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तावस्मादपद्रवतः।' ५. 'स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति।'

[1]प्रज्ञाभिधां स आसन्दीं वेदिकां परमेष्ठिनः। प्राप्य प्रज्ञासमायुक्तो व्रजेत् पर्यङ्कमीशितुः।।११२७।।

[2]आसन्दीसंस्थितं चित्रं प्राणाख्यममितौजसम्। पूर्वौ पादौ जगत् सर्वं कालत्रयवशीकृतम्।
इरा श्रीश्च परौ पादौ पर्यङ्कस्य महात्मनः।।११२८।।

बृहद्रथन्तरे ज्ञेये खट्वाङ्गे वामदक्षिणे। मूर्धपादस्थिते भद्रयज्ञायज्ञीयसंज्ञिते।।११२९।।

ऋचश्च सामसहिताः पूर्वपश्चिमसंस्थिताः। पट्टिकाश्च यजूंष्येता वामदक्षिणसंस्थिताः।।११३०।।

प्रज्ञेति। स उपासकः परमेष्ठिनो वेदिकां सभामध्यगतं यत् पर्यङ्कस्थानभूतं काष्ठादिनिर्मितं पादयुक्तम् उन्नतमासनं तद्रूपाम् आसन्दीपदोक्तां बुद्धितत्त्वमयीं प्राप्नोति। तां वेदिकां प्राप्य बुद्धिवृद्धिं प्राप्नोति। ततः तत्र स्थितं ब्रह्मणः पर्यङ्कं प्राप्नोतीत्यर्थः। तस्या वेदिकायाः स्वरूपविन्यासस्तु—बृहत्साम तथा रथन्तराख्यं साम, एते पूर्वगतपादद्वयभावं प्राप्ते स्तः। श्यैतसंज्ञं नौधससंज्ञं च, एते सामनी पश्चिमपादभावं प्राप्ते। तस्या वेदिकायाः उपरि चत्वारः कोणाः। तत्र दक्षिणः कोणो वैरूपाख्यसामरूपः। उत्तरः कोणो वैराजाख्यसामरूपः। पूर्वः कोणः शाक्कराख्यसामरूपः। पश्चिमस्तु रैवताख्यसामरूप इति श्रुत्युक्तो (कौ. १.५) बोध्यः।।११२७।।

पर्यङ्कं वर्णयति—आसन्दीति चतुर्भिः। कीदृशं पर्यङ्कम् ? वर्णिताया आसन्द्या उपरि स्थितं चित्रम् अद्भुतं प्राणरूपम् अमितौजससंज्ञं चेति। तस्य पर्यङ्कस्य पूर्वौ शिरोभागाधाररूपौ पादौ अतीतानागतं तदुपलक्षितं वर्तमानं च यज्जगत् तद्रूपौ। इरा पृथिवी, श्रीः लक्ष्मीश्चैतदुभयरूपौ पश्चिमौ चरमभागाधारभागगतौ पादौ बोध्यावित्यर्थः।।११२८।। बृहदिति। तस्य पर्यङ्कस्य बृहत्साम दक्षिणदीर्घपट्टिकारूपं खट्वाङ्गम्, रथन्तरन्तु उत्तरदीर्घपट्टिकारूपम्, भद्रसंज्ञकं साम पूर्वपादयोर्मध्यगता या लघुपट्टिका तद्रूपम्, यज्ञायज्ञीयसंज्ञं साम तु पादभागाधारयोः पश्चिमपादयोर्मध्यगतपट्टिकारूपमित्यर्थः।।११२९।। ऋचश्चेति। पर्यङ्कपूर्वपश्चिमायता दक्षिणोत्तरायताश्च सूत्रमय्यः पट्टिकाः प्रसिद्धाः, तथाऽत्र गीत्यात्मकसामसहिता ऋचः छन्दोबद्धमन्त्ररूपाः पूर्वपश्चिमायतसूत्रपट्टिकाभूता बोध्याः। यजूंषि संश्लिष्टपठितमन्त्ररूपाणि दक्षिणोत्तरायतसूत्रपट्टिकाभूतानि बोध्यानि इत्यर्थः।।११३०।। सोमांशव इति। तस्य पर्यङ्कस्योपरि यद् मृदु कोमलम् उपस्तरणं तूलकादिरूपं

सभा में ब्रह्मा जी का पर्यंक (पलंग, खाट) जिस लकड़ी की चौकी पर रखा रहता है वह बुद्धितत्त्वमयी आसंदी है जिसका नाम है 'प्रज्ञा'। वहाँ पहुँचने पर उपासक को प्रज्ञा मिलती है, उसकी बुद्धि और बढ़ जाती है। फिर वह उस पर स्थित पर्यंक के पास जाता है।।११२७।। असीम तेज वाला और 'प्राण' कहलाने वाला वह पर्यंक विचित्र है (अद्भुत है)। तीनों कालों द्वारा वश में किया जगत् उसके पूर्व पाये हैं— सिरहाने की तरफ वाले पाये हैं। महात्मा ब्रह्मा के पर्यंक के अन्य दो पाये हैं इरा और श्री। बायें-दायें खट्वांग हैं बृहत्साम और रथन्तरसाम। (पायों का शिरोभाग जोड़ने वाले लम्बे दण्डे उक्त सामात्मक हैं।) सिर और पैरों की ओर स्थित खट्वांग (पाये जोड़ने वाले छोटे दण्डे) भद्रसाम और यज्ञायज्ञीय साम हैं। पूर्व से पश्चिम की ओर जिन रस्सियों से पर्यंक बिना हुआ है वे सामसहित ऋचायें हैं (गीत साम हैं, छन्दोबद्ध मंत्र ऋचा हैं।) दक्षिण से उत्तर की ओर जिन निवार या रस्सियों से पर्यंक बिना है वे यजुर्मंत्र हैं।।११२८-३०।।

---

१. 'स आगच्छति विचक्षणामासन्दीम्। बृहद्रथन्तरे सामनी पूर्वौ पादौ श्यैतनौधसे चापरौ वैरूपवैराजे अनूच्यते शाक्वररैवते तिरश्ची सा प्रज्ञा प्रज्ञया हि विपश्यति।' २. 'स आगच्छति अमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणः, तस्य भूतं च भविष्यच्च पूर्वौ पादौ श्रीश्चेरा चापरौ बृहद्रथन्तरे अनूच्ये भद्रयज्ञायज्ञीये शीर्षण्ये ऋचश्च सामानि च प्राचीनातानानि यजूंषि तिरश्चीनानि।'

'सोमांशवस्तु विज्ञेया मृदूपस्तरणं महत् । क्षीरगौरं तथा वस्त्रमुद्गीथस्तस्य चोपरि । उपबर्हणमाख्यातं श्रीरस्योच्छीर्षकं महत्'[२] ।।११३१।।

तच्चन्द्रकिरणात्मकं बोध्यम् । यच्चास्तरणोपरि श्वेतं वस्त्रं निबध्नन्ति तदत्र उद्गीथरूपं बोध्यम् । उद्गीथो नाम साम्नो भागविशेषः । तत्र पर्यङ्के उपबर्हणं लक्ष्मीरूपम् । उपबर्हणपदार्थमाह—उच्छीर्षकम् इति, उद् ऊर्ध्वं न्यस्यते शीर्षं शिरो यत्र तत्तथा । पूर्वं पादत्वेन वर्णिता लक्ष्मीर्लौकिकी, इयं वैदिकीति भेदो बोध्यः ।।११३१।।

उस पर्यंक पर जो कोमल उपस्तरण या गद्दा बिछा है वह चंद्रकिरणें हैं तथा उस पर जो सफेद चादर बिछी है वह उद्गीथ (नामक सामांग) है । उस पर जो महान् उपबर्हण या सिरहाना रखा है वह श्री है । (पाये रूप से कही लक्ष्मी लौकिक थीं, यहाँ वैदिक श्री को तकिया कह रहे हैं । वैदिक श्री अर्थात् वैदिक ज्ञान ।) ।।११३१।। उस पर ब्रह्मा नामक जगदीश्वर

१. 'सोमांशव उपस्तरणम् उद्गीथ उपश्रीः श्रीरुपबर्हणम्' ।

२. चौकी के अंग		उनमें की जाने वाली दृष्टि
१. आसन्दी		बुद्धितत्त्व (प्रज्ञा)
२. पाये—क) पूर्व की ओर	i	बृहत्साम
	ii	रथन्तरसाम
ख) पश्चिम की ओर	i	श्यैतसाम
	ii	नौधससाम
३. चारों कोने	i दक्षिण	वैरूपसाम
	ii उत्तर	वैराजसाम
	iii पूर्व	शाक्करसाम
	iv पश्चिम	रैवत साम
पलंग व उसके अंग		उनमें की जाने वाली दृष्टि
१. पूरा पलंग		प्राण (नाम है अमितौजस)
२. पाये—क) पश्चिम की ओर	i	अतीत
	ii	अनागत (एवं वर्तमान)
ख) पश्चिम की ओर	i	इरा
	ii	श्री (लौकिक)
३. लम्बाई में पाये जोड़ने वाले दण्डे	i दक्षिण की ओर	बृहत्साम
	ii उत्तर की ओर	रथन्तरसाम
४. i सिरहाने की ओर पाये जोड़ने वाला दण्डा, जो पूर्व की ओर है		भद्रसाम
ii पैरों की ओर पाये जोड़ने वाला दण्डा, जो पश्चिम की ओर है		यज्ञायज्ञीयसाम
५. निवार की पट्टियाँ—i पूर्व-पश्चिम अर्थात् लम्बाई में बिनी		साम सहित ऋचायें
ii दक्षिण-उत्तर अर्थात् चौड़ाई में बिनी		यजु
६. पलंग पर बिछा गद्दा		चंद्रकिरण
७. गद्दे पर बिछी सफेद चादर		उद्गीथ
८. तकिया		लक्ष्मी (वैदिक)

[1]आस्ते तस्मिन् ब्रह्मनामा पूर्वजो जगदीश्वरः। हिरण्यगर्भो यस्मात् स्याद् आनन्दः परमो नहि॥११३२
[2]अश्वत्थः सोमसवनो यस्य नित्यप्रियो मतः। अरण्यावर्णवौ द्वन्द्वं ब्रह्मलोके निवासिनौ॥११३३॥
मनसो जननी येयमविद्या सर्वकारणम्। [3]यस्य प्रिया हि देवी सा ब्रह्मणः सूत्ररूपिणः॥११३४॥
चक्षुषः प्रकृतिर्येयं तेजोरूपा व्यवस्थिता। तेजोमयी महेशस्य च्छाया यस्य महात्मनः॥११३५॥
अम्बाः शब्दालिजननी श्रुतयस्तद्गता धियः। वसन्त्यप्सरसो यस्य परितोऽत्र सुखप्रदाः॥११३६॥
यस्य राष्ट्रे वहन्त्येता नद्यः सर्वसुखप्रदाः। ब्रह्मज्ञानाभिधं नीरं गृहीत्वा सर्वतो दिशम्। जगन्ति
यस्य पुष्पाणि वाससी च महात्मनः॥१३३७॥

आस्त इति। तस्मिन् वर्णिते पर्यङ्के हिरण्यगर्भः तिष्ठति यस्यानन्दादुत्कृष्ट आनन्दो लोके न अस्तीत्युक्तमिति शेषः॥ ११३२॥ अश्वत्थ इति। सोमस्य अमृतस्य स्रावकत्वात् सोमसवननामकः अश्वत्थवृक्षः तस्य हिरण्यगर्भस्य नित्यं प्रियः प्रीतिजनकः तिष्ठति। तथैकोर्णवः 'अर'-संज्ञकः, द्वितीयो 'ण्य'-संज्ञकः; एतौ द्वौ द्वन्द्वं सहभूतौ अमृतपूर्णौ ब्रह्मणः प्रीत्यै तिष्ठत इत्यर्थः॥११३३॥ मनस इति। मनसो माता येयमविद्यारूपा जगत्कारणभूता प्रसिद्धा सा देवस्य हिरण्यगर्भस्य प्रिया मुख्या भार्येति॥११३४॥ चक्षुष इति। तथा येयं चक्षुरिन्द्रियस्य प्रकृतिः उपादानभूता तेजसः सात्त्विकांशात्मिका सा हिरण्यगर्भस्य प्रभोः छाया प्रतिबिम्बरूपेत्यर्थः॥११३५॥ अम्बाइति। वाचकशब्दानुसन्धानपूर्विका जगत्सृष्टिः प्रसिद्धा, 'स भूः' इत्युक्त्वा 'भुवमसृजद्', 'वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः' इति श्रुतिस्मृत्यादौ। तथा च शब्दालिः वाचकशब्दपङ्क्तिः तद्रूपेण जगतो जननीभूता याः श्रुतयो वेदवाक्यानि अम्बापदेनाऽत्रोक्ताः; याश्च तद्गताः ताभिः श्रुतिभिर्लब्धा धियः शाब्दबोधरूपास्ता अम्बायवीय-शब्देनोक्ताः, अम्बाभ्यो यवमात्रमपि नाधिका इत्यर्थकत्वात्। ता एताः श्रुतयः तज्जन्यबुद्धयश्च ब्रह्मलोकेऽप्सरोरूपेण वसन्तीत्यर्थः॥११३६॥ यस्येति। यस्य हिरण्यगर्भस्य प्रभोर्देशे नद्य एताः श्रुतिषु प्रसिद्धा उपासनारूपाः श्रुतौ 'अम्बपा'-शब्देन—अम्बं नेत्रसमं ब्रह्मज्ञानं पान्ति रक्षन्ति इति व्युत्पत्तिकेन—उक्ताः सगुणं निर्गुणं वा ब्रह्मज्ञानं जलवद् धारयन्त्यो वहन्ति। धारावाहित्वं हि नदीनामुपासनानां च सममित्यर्थः। तथा जगन्ति नानाविधानि लोकसंस्थानानि विकाशित्वधर्मेण पुष्पाणि यस्य प्रभोः भोग्यतया सन्ति। तथा सूक्ष्मसमष्ट्यात्मनो हिरण्यगर्भ-शरीरस्य आच्छादकत्वात् तानि जगन्ति वाससी च दुकूलशाटिकात्मकवस्त्रद्वयात्मकानीत्यर्थः॥११३७॥

विराजमान हैं जो हिरण्यगर्भ होने से हम सब के पूर्वज हैं और उनके आनंद से उत्कृष्ट आनंद संसार में कोई नहीं है॥११३२॥ सोम अर्थात् अमृत का स्राव जिससे होता है वह 'सोमसवन' नामक अश्वत्थ वृक्ष उन्हें हमेशा प्रसन्नता देता है। जो अमृत से लबालब भरे हैं, उन 'अर' और 'ण्य' नामके सरोवरों का युगल ब्रह्मा की प्रसन्नतार्थ उपस्थित है॥११३३॥ मन की उत्पादिका जो इस सब की कारणभूत अविद्या है यह सूत्रात्मारूप ब्रह्मा की मुख्य पत्नी है॥११३४॥ चक्षुरिंद्रिय का उपादान जो तेजस्तत्त्वका सात्त्विकांश वह महात्मा महेश अर्थात् हिरण्यगर्भ की तेजोमयी छाया है और उनका प्रकाशमान प्रतिबिम्ब है॥११३५॥ वाचक शब्दों की पंक्ति रूप से जगत् की जननीभूत श्रुतियाँ, जिन्हें अम्बा कहा गया है और उनसे होने वाले शाब्दबोध—ये ही ब्रह्मा के चारों ओर बसने वाली सुखद अप्सरायें हैं। (वाचक शब्द जगत् की जननी इसलिये कि ईश्वर वेदोक्त शब्दों का उच्चारण करके ही उन-उन पदार्थों को उत्पन्न करते हैं।) ॥११३६॥ ब्रह्मा के

१. 'तस्मिन् ब्रह्मास्ते।' २. 'अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयं सरः तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्।' छान्दो. ८.५.३। ३. कौषीतक्यां १.३—'प्रिया च मानसी, प्रतिरूपा च चाक्षुषी पुष्पाण्यावयतौ वै च जगान्यम्बाश्चाम्बावयवीश्चाप्सरसः। अम्बपा नद्यः।'

एवंरूपमुपास्यैनं ब्रह्माणं तस्य चासने। सुतवत् पालितः सोऽपि समारोहत्यशङ्कितः।।११३८।।

संवाद्य ब्रह्मणा पित्रा शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना। अनुज्ञातो वसेत्तेन तत्र तद्वत्सुखं नरः।।११३९।।

हृदयकमलध्यानम्

चक्षुर्वाक्श्रोत्रमनसां वायोश्चापि समन्ततः। प्राणापानौ तथा व्यानसमानौ चापरौ स्मृतौ।।
उदानश्चेति विज्ञेया आश्रयाः पञ्च सूरिभिः।।११४०।।

एवमिति। एवं रूपं वर्णितेन देवयानाध्वना आरहृदादिभिश्च विशिष्टतया ध्येयं ब्रह्माणमुपास्य पर्यङ्कविद्याख्यध्यानगोचरं कृत्वा स उपासकः तस्य ब्रह्मणः आसने पुत्रवत् पालितः पतनस्थानाद्रक्षितो निःशङ्कश्च समारोहति इत्यर्थः।।११३८।। संवाद्येति। तत्र च 'तं ब्रह्मा पृच्छति' (कौ. १.५) इत्यादिशास्त्रे श्रुतिग्रन्थे दृष्टं प्रसिद्धं यद् वर्त्म प्रकारः तेन कृत्वा ब्रह्मणा पित्रा सह संवाद्य संवादं—'कस्त्वमसि? कानि च तवोपकरणानि ? इति चेद्'; 'यस्त्वमसि स एवाहमस्मि, यानि च तवोपकरणानि तान्येव मम'—एवंविधं कृत्वा तेन ब्रह्मणा अनुज्ञातः संस्तत्तुल्यभोगभागी ब्रह्मलोकस्थितिपर्यन्तं ब्रह्मलोके वसति, ततो मुच्यते चेत्यर्थः।।११३९।।

एवं पर्यङ्कविद्या दर्शिता। अथान्यासामपि शाण्डिल्यविद्यादिसंज्ञानाम् अहङ्ग्रहोपास्तीनां ब्रह्मलोकप्रापिकानामुपलक्षणाय तासां सर्वासामङ्गभूतं हृदयकमलध्यानं छान्दोग्यतृतीये[१] प्रसिद्धमभिनयति—चक्षुरिति। चक्षुरिन्द्रियस्य अधिदैवरूपादित्यसम्बद्धस्य अध्यात्मं प्राण आश्रयः। तस्य प्राणस्यापि हृदयकमलपूर्वदिग्गतं छिद्रमाश्रयः। एवमग्निदैवतसम्बद्धवागिन्द्रियस्य अपानमाश्रयः, तस्यापि हृदयकमलदक्षिणच्छिद्रमाश्रयः। तथा पर्जन्यदैवतकमनसः समान आश्रयः, तस्यापि हृदयकमलोदक्छिद्रमाश्रयः। तथा वायोराकाशसम्बद्धस्य उदान आश्रयः, तस्यापि

राष्ट्र में सबको सुख देने वाली नदियाँ ब्रह्मज्ञान नामक जल लेकर सब तरफ बहती हैं। (उपासनायें नदियाँ हैं जिनमें सगुण या निर्गुण ब्रह्मज्ञान जलस्थानीय है। धारावाहिक होना नदी व उपासना में समानता है।) नाना प्रकार के लोक (भूरादि) उस महात्मा हिरण्यगर्भ के उपभोग्य पुष्प हैं और वे ही उनके धोती-दुपट्टा हैं।।११३७।।

इस रूप वाले ब्रह्मा की उपासना कर जब साधक वहाँ पहुँचता है तब वे पुत्र की तरह उसका पालन करते हैं और वह भी निःशंक हुआ उस पर्यंक पर चढ़ जाता है।। ११३८।। जैसा शास्त्र में बताया है उसी प्रकार वह साधक सर्वपिता ब्रह्मा से संवाद कर उनकी अनुमति से उन्हीं की तरह सुखपूर्वक वहाँ रहता है। (शास्त्र में ढंग बताया है कि ब्रह्मा के किन प्रश्नों का क्या उत्तर साधक को देना चाहिये। सार में उनका प्रश्न होता है 'तुम कौन हो ? तुम्हारे उपकरण क्या हैं?' और उत्तर देना चाहिये 'जो आप हैं वही मैं हूँ। जो आपके उपकरण हैं वे ही मेरे हैं।')।।११३९।।

इस प्रकार यमदूतों ने मार्ग समेत ब्रह्मलोक का सांगोपांग वर्णन किया। पर्यंक का खास ढंग से ध्यान करने पर इस तरह का फल मिलता है अतः इस उपासना को 'पर्यंकविद्या' कहते हैं। ब्रह्मलोकफलक अन्य भी उपासनायें हैं। उन सब में हृदयकमल का ध्यान आवश्यक अंग है। वे सभी उपासनायें समझ ली जायें इस उद्देश्य से उन सभी में अनुगत हृदयध्यान को पुराणकार यमदूतों के मुख से यहाँ कहलवा देते हैं।

चक्षु, वाक्, श्रोत्र, मन और वायु के पूरी तरह से पाँच आश्रय विद्वानों ने बताये हैं प्राण, अपान, व्यान, समान, और उदान। वे ही इस हृदयकमल के पाँच छिद्र हैं जो पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्व दिशाओं में हैं। (प्राणादि इन छिद्रों पर आश्रित हैं यह भाव है। छान्दोग्य में बताये क्रम से इस प्रकार समझना चाहिये—

१. त्रयोदशखण्डे।

प्राच्यां प्रतीच्यां च तथा दक्षिणोत्तरयोरपि। ऊर्ध्वं वा हृदि पद्मेऽस्मिन् पञ्च च्छिद्राणि ते स्मृताः ।११४१

पञ्चच्छिद्रे हृदम्भोजे भवता चिन्तितं न हि। ब्रह्मैतद्गुणसंयुक्तं निर्गुणं दूरतः स्थितम् ।।११४२।।

यस्य विज्ञानतो नैनं दुःखमण्वपि गच्छति। शरीरद्वयसंजातमविद्याबीजमद्भुतम् ।।११४३।।

पंचाग्निविद्या

भवता सुकृतं पूर्वं नाग्निहोत्रादिकं कृतम्। द्युपर्जन्यधरारेतःसिग्योषिद्वह्निपञ्चकम् ।।११४४।।

हृदयकमलोर्ध्वच्छिद्रमाश्रयः। इति द्वयोस्तात्पर्यम्। ते प्राणादयः प्राच्यादिवर्तिच्छिद्रात्मका इति तु आश्रिताश्रययोः अभेदविवक्षयोक्तमिति बोध्यम् ।।११४०-१।।

हृदयवर्णनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयति—पञ्चच्छिद्र इति। वर्णितपञ्चच्छिद्रवद्धृदये त्वया सत्यकामादिगुणैः सगुणमपि ब्रह्म न चिन्तितं शाण्डिल्यविद्यादिविधिना न ध्यातम्। निर्गुणं ब्रह्म तु त्वादृशचित्ताद् दूरतरं स्थितम्! यस्य निर्गुणब्रह्मणो ज्ञानाद् एनम् अधिकारिणं प्रति निखिलं संसारदुःखं न आगच्छति। कीदृशं संसारदुःखरूपं फलम्? स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरैः वृक्षाङ्कुरबीजस्थानीयैः प्रयुक्तम्। इति द्वयोः सम्बन्धः ।।११४२-३।।

अहङ्ग्रहोपास्तयो हि प्रत्यग्दृष्टिसाध्यत्वाद् दुष्कराः। अत एव तासां क्रममुक्तिः फलम्। पञ्चाग्निविद्या तु प्रत्यग्दृष्टि-हीनत्वेन सुकरा, अत एव सपुनरावृत्तिब्रह्मलोकप्राप्तिफलका। भवता तु साऽपि न कृतेति बोधयन्तो वाजसनेयिशाखानुरोधेन पञ्चाग्निविद्यामभिनयन्ति—भवतेति षड्भिः। हे जन्तो! भवता द्यौश्च स्वर्गः, पर्जन्यो मेघः, धरा मनुष्यलोकः, रेतःसिक् पुरुषः, योषित् स्त्री च; एतद्रूपं वह्निपञ्चकं न कृतं न ध्यातम्। कीदृशं वह्निपञ्चकम्? सुकृतम् अचिन्त्यं यद् ब्रह्मलोकप्रापकं पुण्यं तज्जनकमिति यावत्। पुनः कीदृशम् ? अग्निहोत्रादिकम् अग्निहोत्रमादिः अधिकारसम्पादकं यस्य तत्तथा। न ह्यग्निहोत्ररहितैः पञ्चाग्निविद्याऽनुष्ठातुं शक्यते, आहिताग्नेः

अध्यात्म	अधिदैवं	अधिप्राण	आश्रय छिद्र	उपासना	फल
चक्षु	आदित्य	प्राण	पूर्व	'तेजोऽन्नाद्यम्'	तेजस्वी अन्नादी
श्रोत्र	चंद्र	व्यान	दक्षिण	'श्रीश्च यशश्च'	श्रीमान् यशस्वी
वाक्	अग्नि	अपान	पश्चिम	'ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यम्'	ब्रह्मवर्चस्वी अन्नादी
मन	पर्जन्य	समान	उत्तर	'कीर्तिः व्युष्टिः'	कीर्तिमान् व्युष्टिमान्
वायु	आकाश	उदान	ऊर्ध्व	'ओजो महः'	ओजस्वी महान्

(व्युष्टि धनादिसंपन्नता।)।।११४०-४१।। (दूत कह रहे हैं—) पाँच छिद्रों वाले हृदयकमल में तुमने सत्यकाम आदि गुणों वाले ब्रह्मा की ही उपासना नहीं की तो निर्गुण की बात ही दूर है ! निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार से अधिकारी को वह दुःख थोड़ा-सा भी नहीं रह जाता जो स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से उत्पन्न होता है और अविद्या जिसका बीज है एवं जो स्वयं मिथ्या होने से आश्चर्यरूप है। (यहाँ संसारदुःख फल है स्थूलशरीररूप वृक्षका जिस वृक्षका अंकुर सूक्ष्मशरीर और बीज कारणशरीर कहलाता है।)।।११४२-३।।

(अहंग्रहोपासनायें मुश्किल हैं क्योंकि उनके लिये प्रत्यगात्मा पर एकाग्र होना पड़ता है। उनका फल भी श्रेष्ठ है क्योंकि उनसे ब्रह्मलोक मिलकर ब्रह्मा के साथ मोक्ष भी मिल जाता है। उन उपासनाओं की अपेक्षा पंचाग्निविद्या सरल है। इससे ब्रह्मलोक तो मिलता है लेकिन मोक्ष नहीं; वहाँ से लौटना पड़ता है। ब्रह्मलोक का प्रसंग होने से उस उपासना का भी उल्लेख कर देते हैं।)

आदित्यवत्सरौ तद्वत् पृथिवीव्यात्तसंयुतः। उपस्थ इति यस्यैतत् समित्पञ्चकमीरितम्।।११४५।।

रश्म्यभ्राग्निप्राणलोमधूमपञ्चकमीरितम्। अहर्विद्युन्निशा जिह्वावक्त्रं योनिश्च पञ्चमम्।।
अर्चिषां पञ्चकं ज्ञेयमङ्गाराणान्तथैव च।।११४६।।

दिशश्चाशनयश्चन्द्रश्चक्षुर्मैथुनकर्मणः। समाप्तेः पूर्व आनन्द आरम्भादुत्तरश्च यः।।११४७।।

विस्फुलिङ्गा इमे यत्र कथिता वेदवादिभिः। अवान्तरदिशः सर्वास्तथा ह्रादनयोऽपराः।।११४८।।

षष्ठाग्नित्वेन ध्यानस्य वाजसनेयिशाखाविहितस्य लोपप्रसङ्गादिति भावः।।११४४।। स्वर्गादीनां यदग्नित्वेन ध्यानं तत्परिपोषकाणाम् अग्न्युपकरणानां कल्पनां प्रपञ्चयंस्तत्र समिद्रूपेण ध्येयान् पदार्थान्निर्दिशति—आदित्येति। सम्यग् इन्धयति दीपयति अग्निमिति समिद् यथा प्रसिद्धाग्नेः, तथा स्वर्गरूपाग्नेः आदित्यः समित्, कर्मणां प्रवर्तकत्वात्। एवं पर्जन्याग्नेः संवत्सरः समित्, संवत्सरेण हि जले संचिते पर्जन्यो वर्षाकाले वृष्टिसमर्थो भवति। तथा मनुष्यलोकाग्निः पृथिव्या सर्वाधारभूतया शोभत इति पृथिवी तस्य समित्। तथा पुरुषो व्यात्तेन व्याख्यानादौ प्रसारितेन मुखेन शोभत इति व्यात्तं मुखं पुरुषाग्नेः समित्। एवं योषा सृष्टिसमर्थेनोपस्थेन दीप्यत इति योनिः योषाग्नेः समिद् इति। तथा च यस्य स्वर्गादिरूपाग्निपञ्चकस्य एतद् आदित्यादिपञ्चकं क्रमेण समित्पञ्चकम् उक्तमित्यर्थः।।११४५।।

समिदुत्थितत्वरूपसाधर्म्याद् धूमत्वेन ध्येया ये पदार्थाः, ये च प्रकाशकत्वादिरूपसाधर्म्याज्ज्वालात्वेन ध्येयाः तान् दर्शयति—रश्मीति। लोमान्तः समाहारद्वन्द्वः। रश्मयः किरणाः, आदित्यात्मकसमिज्जन्यत्वाद् द्युलोकाग्नेः धूमः। अभ्राणि श्वेतमेघाः संवत्सरजन्यत्वात् पर्जन्याग्नेर्धूमः। अग्निः काष्ठादिरूपपृथिवीजन्यत्वाद् मनुष्यलोकाग्नेर्धूमः। प्राणाख्यवायुर्मुखजन्यत्वात् पुरुषाग्नेर्धूमः। लोमानि योनिजत्वाद् योषाग्नेर्धूम इत्यर्थः। अहरादिपञ्चकं यथाक्रममुक्ताग्नीनामर्चिष्ट्वेन ज्ञेयम्। तथा हि—समिज्जन्यत्वे सति प्रकाशकस्यार्चिष्ट्वं प्रसिद्धम्, तच्च अहर्विद्युतोरादित्यजयोरविवादम्। निशायाः तमोमय्याः पृथिवीजन्यत्वं तु 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति शुद्धप्रसिद्धकृष्णवर्णायाः पृथिव्याः शरीरकान्तित्वेन बोध्यम्। रात्रेः प्रकाशकत्वमपि नक्तंचरान् प्रति प्रसिद्धम्। एवं जिह्वावक्त्रं—जिह्वाया वक्त्रे मुखे, अग्रभागे स्थितं वागिन्द्रियं व्यात्तरूपसमिज्जन्यमर्थप्रकाशकं चेति पुरुषाग्नेरर्चिः। उपस्थेन्द्रियार्थत्वात् तद्गोलकसृष्टेः रक्तवर्णसामान्याच्च योषाग्नेर्योनिरर्चिरित्यर्थः। 'अङ्गाराणां तथैव च' इत्यस्योत्तरेण सम्बन्धः।।११४६।। अर्चिष उपशमकाले प्रकाशमानत्वरूपसाधर्म्यादङ्गारत्वेन ध्येयान् पदार्थानाह—दिशश्चेति। दिशो हि अहरुपशमे सन्ध्याकाले नानारूपाः प्रकाशन्ते। तथा विद्युदुपशमेऽशनयः। रात्र्युपशमे च मन्दप्रभः चन्द्रः। वाग्व्यापारोपशमे च चक्षुरिन्द्रियम्। योन्युपशमे च मैथुनमध्यकालिक आनन्दः। इत्येते यथाक्रमं द्युप्रभृत्यग्नीनामङ्गारा इत्यर्थः।।११४७।। विकीर्णत्वसाधर्म्येण विस्फुलिङ्गत्वेन ध्येयान् पदार्थानाह—विस्फुलिङ्गा इति द्वाभ्याम्। यत्र वर्णिताग्निपञ्चके क्रमेण इमे अवान्तरदिगादिरूपा विस्फुलिङ्गा वह्निकणाः प्रोक्ताः। तथा हि—अवान्तरदिशः कोणाः स्वर्गाग्नेः विस्फुलिङ्गाः ह्रादनयो मेघशब्दाः अपराः परेभ्य उत्कृष्टेभ्यो भिन्नाः पर्जन्याग्नेर्विस्फुलिङ्गाः। नक्षत्राणि तारकाः पृथिवीलोकाग्नेर्विस्फुलिङ्गाः; मनुष्यलोके यागादिकर्तार एव हि तारकारूपेण परिणता इति भावः। श्रोत्रं श्रोत्रेन्द्रियवृत्तयः तत्तच्छब्दग्रहणाय विषयदेशं

यमदूत भर्त्सना करते हुए कहते हैं—अरे जन्तु! तूने पहले स्वर्ग-मेघ-मनुष्यलोक-पुरुष-स्त्री इन पाँच अग्नियों का ध्यान भी नहीं किया। इनके ध्यान से वह पुण्य मिलता जो तुझे ब्रह्मलोक पहुँचा देता। इनकी उपासना तभी होती जब तू ने अग्निहोत्र ग्रहण किया होता! अग्निहोत्र ही इस उपासना में अधिकारप्रद कर्म है।।११४४।। इन अग्नियों की समिधा रूप से क्रमशः इन पदार्थों का ध्यान करना था—आदित्य, संवत्सर, पृथ्वी, खुला मुँह और उपस्थ। यों तूने ध्यान नहीं किया।।११४५।। और इनके क्रमशः धुएँ भी इन पदार्थों को समझना था—किरणें, सफेद बादल, आग, प्राणवायु और लोम। इसी तरह पाँचों की ये लपटें समझनी थीं— दिन, बिजली, रात, जीभ के अगले हिस्से पर स्थित वागिन्द्रिय और योनि (उपस्थ)। ऐसे ही पाँचों के अंगारे यों जानने थे—दिशायें, अशनि (बिजली की चमक के बाद गिरने वाली बिजली), चाँद, चक्षु और मैथुनकर्म के मध्य होने वाला आनंद।।११४६-७।। उन अग्नि के विस्फुलिंग वेदज्ञों ने ये बताये

नक्षत्राणि तथा श्रोत्रमानन्दा मैथुनोत्थिताः। यस्मिन्नग्नौ भवेदेतत् पञ्चकं विस्फुलिङ्गकम्।।११४९।।
श्रद्धासोमौ तथा वृष्टिरन्नं रेतश्च पञ्चमम्। होमद्रव्यं च यत्रैते देवा होतार ईरिताः।।११५०।।
आगत्य स्वर्गतस्तत्र कृतकर्मपरिक्षये। तद्रूपं घनतां प्राप्तं मानुषं प्राप्तवान् भवान्।।११५१।।

गच्छन्त्यः पुरुषाग्नेः कणाः। आलिङ्गनाद्यानन्दास्तु योषाग्नेः कणा इत्यर्थः।।११४८-९।। आहुतित्वेन ध्येयांस्तथा होमकर्तृत्वेन ध्येयान् पदार्थानाह—श्रद्धेति। अत्र श्रद्धाशब्देन श्रद्धासाध्यानामग्निहोत्रादिकर्मणां यदपूर्वं परलोकगामिजीवसम्पृक्तं तदुच्यते। तथा च स्वर्गाग्नेः श्रद्धा आहुतिः। सा तत्र गता स्वार्गशरीरारम्भकामृतमयसोमात्मना परिणमते, भोगावसाने च तच्छरीरं शोकाग्निना द्रुतं सद् मेघेषु पतति इत्यतः सोमः पर्जन्याऽग्नेः आहुतिः। ततो वृष्टिरूपेण पृथिव्यां पतति इति वृष्टिर्मनुष्यलोकाग्नेराहुतिः। ततः अन्नरूपेण पुरुषं गच्छति इति पुरुषाऽग्नेः अन्नम् आहुतिः। ततो रेतोरूपेण योषां गच्छति इति योषाग्नेराहुतिः रेत इति। एतासामाहुतीनां होतारः तु देवा यजमानकरणानामधिष्ठातार इन्द्रादयो बोध्या इत्यर्थः।।११५०।।

स्वर्गादवरोहमार्गं स्मारयति—आगत्येति। एवं तत्र स्वर्गे भोगेन कर्मक्षये सति आकाशवायुमेघादिमार्गेण स्वर्गतः आगत्य भवान् मानुषं रूपं प्राप्तवान्। कीदृशं मानुषं रूपम्? यद्वर्णिताहुतीनां स्वरूपं जलप्रधानं तदेव घनीभूतं 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति श्रुतेः (छां.५.३.३)। आपः क्षीरादिरूपाप्प्रधानाग्निहोत्रादिकर्माऽपूर्वरूपाः पञ्चम्यामाहुतौ रेतोरूपायां पुरुषपदवाच्या भवन्तीति श्रुत्यर्थः।।११५१।।

हैं—अवांतर दिशायें (ईशान, आग्नेय आदि), मेघ की आवाज, नक्षत्र, श्रोत्रेन्द्रियकी वृत्तियाँ, आलिंगनादि से होने वाले सुख।।११४८-९।। उनमें आहुति रूप से ध्येय पदार्थ ये थे—श्रद्धा, सोम, बरसात, अन्न, वीर्य। यजमान के करणों के अधिष्ठाता इंद्रादि देवता ही इन पदार्थों का हवन करने वालों के रूप में चिंतनीय थे। लेकिन तुमने यह उपासना भी नहीं की।।११५०।। पंचाग्निविद्या का यह संक्षेप है—

अग्नि	समित् (अग्नि - प्रदीप्त करने वाला)	धूम (समित् से उठनेवाला)	अर्चि (समिज्जन्य प्रकाशक)	अंगारे (अर्चि के उपशम पर प्रकाशमान)	विस्फुलिंग (विखरे हुए)	आहुति (अग्नि में डाली जानेवाली)	होता (आहुति डालने वाला)
१. स्वर्ग	आदित्य - कर्मों का प्रवर्तक होने से।	किरणें	दिन	दिशायें - संध्या के समय नानारूप दीखने के कारण।	अवांतर दिशायें	श्रद्धा—श्रद्धाजन्य पुण्य जो स्वर्ग के शरीर के उत्पादक सोमरूप को लेता है।	यजमान के करणों के अधिष्ठाता देवता
२. मेघ	संवत्सर - सालभर जल भरता है तव वरसता है।	श्वेत मेघ—साल में पैदा होता है।	विजली	अशनि - विजली चमकना वंद होने पर गिरता है।	मेघ का शब्द	सोम - स्वर्गी शरीर पिघल कर मेघ में गिरता है।	
३.मनुष्यलोक	पृथ्वी - इसी से यह लोक शोभा पा रहा है।	अग्नि - पार्थिव काष्ठादि से जलती है।	रात - 'यत् कृष्णं तद् अन्नस्य' के अनुसार काला वर्ण पृथ्वी से मिला है। उल्लू आदि के लिये प्रकाश है।	चन्द्र - रात शांत होने पर भी मंद प्रभा से चमकता है।	नक्षत्र - मनुष्यलोक के यजमान मरकर तारा वनते हैं।	वृष्टि - मनुष्य लोक पर गिरती है।	
४. पुरुष	खुलामुँह - मुँह खोलकर वोलने से शोभा होती है।	प्राण - मुँह से निकलता रहता है।	वाक् - मुँह से वोलते हैं।	चक्षु - मरते समय वाणी वंद होने पर भी आँख देखती है।	श्रोत्रवृत्ति - सुननेके लिये चारों ओर विखर जाती है।	अन्न - पुरुष के मुख में डाला जाता है।	
५. स्त्री	योनि - सृष्टि में समर्थ है।	लोम	उपस्थ - इंद्रिय के लिये गोलक उत्पन्न हुआ और यह लाल भी है।	मैथुन के मध्य का आनन्द - योनि की उप-शान्ति पर होता है।	आलिंगनादि से आनन्द - सारे शरीर में फैला होता है।	रेतस् - स्त्री में डाला जाता है।	

गर्भे दुःखम्

कललादिक्रमेणैव यदभूद्भवतः पुरा। गर्भे दुःखं न तस्याऽयं लेशोऽपि नरकेऽस्ति हि। ।११५२

जननीजठरे वासं कः सहेताऽत्र चेतनः। मलमूत्रादिसम्पूर्णे दुर्गन्धे कृमिसंवृते। ।११५३। ।

जरायुपटसंवीतो जन्तुर्जठरगः सदा। नोच्छ्वासं न च निःश्वासं कर्तुं शक्नोति कर्हिचित्। ।११५४। ।

जाठरो जातवेदाः स जनन्याः प्रज्ज्वलन्मुहुः। गात्रे ते कृतवांस्तापं यं तस्याऽयं न कोऽपि हि ।११५५

भ्रमणं यदभूद् गर्भे तव गर्भप्रभञ्जनात्। समं तेनाऽत्र दुःखं ते नैकेनाऽपि हि विद्यते। ।११५६। ।

निर्गच्छतो योनियन्त्राद् यदासीद् निर्गमेऽपि च। तव दुःखं वयं नास्य वक्तुं शक्ताः कथञ्चन ।११५७

कट्वम्ललवणात्युष्णैरसकृन्मातृभोजनैः। दन्दह्यमानदेहः सन् दशमासान् कथं स्थितः। ।११५८। ।

कृमिभिर्भक्ष्यमाणश्च महासर्पोपमैर्मुहुः। कृपण! त्वं कथं गर्भे स्थितोऽस्याग्निशतोपमे। ।११५९। ।

गर्भदुःखं स्मारयति-कललेति पञ्चदशभिः। हे कृपण! यद् भवतो दुःखं कललबुद्बुदाद्यवस्थाक्रमेण[1] गर्भेऽभूत् तल्लेशसममपि दुःखं नरक नास्ति इति। ।११५२। । तदेव स्फुटयति—जननीति। स्फुटम्। ।११५३। । जरायुपटेति। स्पष्टम् ।।११५४।। जाठर इति। जनन्या जाठरोऽग्निः यं तापं ते गात्रे कृतवान् तस्य तापस्य कोऽपि भागः अयं नरकतापो न भवतीत्यर्थः। ।।११५५।। भ्रमणमिति। यत् च गर्भवायुहेतुकं गर्भे नानाविधं भ्रमणदुःखम् अभूत्, तेन तद्दुःखभेदेन एकेनाऽपि समम् अत्र नरके ते दुःखं न अस्तीत्यर्थः। ।११५६। । निर्गच्छत इति। प्रसूतिकाले यत् तव दुःखं तस्य वर्णने वयं यातनास्वधिकृता अपि न शक्ताः ।।११५७।। कट्वम्लेति। कट्वादिभेदैः स्वसजातीयरसारम्भकैः मातृभुक्तान्नैर्नितरां दह्यमानदेहः सन् भवान्, दश मासान् कथं स्थितः अभूः[2] ? इति।

यमदूत नरकगामी की निन्दा करते हुए उसे स्वर्ग से लौटने का मार्ग भी सुनाते हैं—पूर्वार्जित पुण्य स्वर्ग में सुख भोग कर जब क्षीण हो जाते हैं तब जीव स्वर्ग से आकर मनुष्य देह प्राप्त करता है जो उसी पुण्य का पिण्डीभूत रूप होता है जिसके बल पर वह पूर्वोक्त पाँचों आहुतियों के रूप में अवतरित हुआ। आखिर अनादि संसार-प्रवाह में तुम भी कभी स्वर्ग से यों आकर मनुष्य बने होगे। ।११५१। । (चाहे इस क्रम से आये हो या नहीं, हर हालत में) जन्म से पूर्व गर्भ में कलल आदि अवस्थाओं में जो तुम्हें दुःख हो चुका है उसका अंशमात्र भी दुःख नरक में नहीं है! ।११५२। । कौन चेतन हो सकता है जो माता के गर्भ में रहना सह सके क्योंकि गर्भ मल-मूत्र आदि भरा हुआ, दुर्गन्धयुक्त और कृमियों से घिरा है। ।११५३। । गर्भस्थ जन्तु जरायु नामक वस्त्र में कसकर लिपटा रहता है जिससे वह साँस लेना-छोड़ना भी किसी तरह कर नहीं पाता। ।११५४। । माँ के पेट में सदा जलती आग ने तेरे शरीर को जो ताप दिया उसका यह नरकदुःख थोड़ा-सा हिस्सा भी नहीं है। ।११५५। । गर्भवायु के कारण गर्भ में नाना प्रकार से चक्कर खाने का जो दुःख हुआ था उस जैसा एक भी दुःख नरक में नहीं होता। ।११५६। । योनि से निकलने में जो दुःख निकलते हुए तुम्हें हुआ उसके वर्णन में हम भी असमर्थ हैं जबकि हमारा कार्य ही यातना देना है! ।११५७। । माता बार-बार कड़वा, खट्टा, नमक और अधिक गर्म भोजन करती थी जिससे गर्भ में तुम्हारा शरीर अतिशय जलन का अनुभव करता था, उसे सहते हुए तुम दस महीने रहे कैसे ? ।११५८। । थोड़े-से सुख के लालच में सर्वस्व खोने वाले जन्तु! मानो सैकड़ों आगों से तप्त गर्भ में बड़े साँपों जैसे कृमियों द्वारा बार-बार डंसे जाते हुए तुम रह कैसे पाये ? ।।११५९। । अरे नीच मूर्ख! जननी के गर्भ में जो तुम्हारी दुर्दशा हुई उसका उल्लेख करते हुए हम ही खिन्न और भयभीत हो जाते हैं। ११६०। ।

१. योनिप्रवेशादेकरात्रोषितं कललं, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदमित्यादि गर्भोपनिषदि। २. °भूदिति ?

जननीजठरे मन्द! या तेऽभूद् दुर्दशाऽधम! तां वदन्तो वयं खिन्नगात्रा भयमुपागताः ।।११६०।।

नरकग्राममासाद्य दुःखं कल्पशतैरपि। भवेत्तेनोपमीयेत जननीजठरे स्थितिः ।।११६१।।

नारीणां सुरतं पुंसा दुरन्तं गर्भधारणात्। भवेद् गर्भस्थितस्याऽपि परोक्षं तन्न गीयते ।।११६२।।

अपरं भद्रमित्येव ब्रूयान्नूनमिति स्थितिः। उपेतं सुरतं तेन कथयन्ति महाधियः ।।११६३।।

अहो ग्राम्येण धर्मेण नारीं पुंसोऽधिगच्छतः। रेतःसिचो भवेद्धत्या द्वयोः स्त्रीबालयोस्तदा ।।११६४।।

गर्भधात्र्यास्तथा नार्याः सङ्गमे पुरुषस्य हि। आत्मनश्च भवेद्धत्या गर्भस्यापि न संशयः ।।११६५।।

पापफलं नरकदुःखम्

अस्मिन् संसारचक्रे त्वं स्वान्यघातकरो मुहुः। पतितो दुःखमप्याप्तो दुःसहं देहधारिभिः। तत्सर्वं विस्मृतस्तत्र कृतवान् पातकं पुनः ।।११६६।।

।।११५८।। कृमिभिरिति। हे कृपण! क्षुद्रसुखलोभेन बह्वर्थविघातक! अग्निशतव्याप्तदेशवत्तापमये जनन्युदरे कृमिभिर्भक्ष्यमाणः सन् कथं स्थित इति।।११५९।। जननीति। हे मन्द ! अधम! तव गर्भे प्राप्तां दुर्दशां वक्तुमस्माकं न शक्तिः, तद्वर्णने भयेन खिन्नगात्रत्वादिति।।११६०।। तस्य दुःखस्य भयहेतुतामेव स्पष्टयन्ति—नरकेति। नरकरूपं ग्रामं प्राप्य कल्पशतावच्छिन्नं दुःखं यदि कस्यचित् स्यात् तदा गर्भदुःखमुपमानं लभेतेत्यर्थः।।११६१।। मातुर्ग्राम्यधर्मप्रसक्तौ गर्भस्थस्य सुतरां दुःखं भवतीति दर्शयन्ति—नारीणामिति चतुर्भिः। गर्भधारणाद् उत्तरकाले यद् नारीणां पुंसा सह सुरतं तद् गर्भस्थितबालस्य, अपिशब्दाद् नारीपुंसोश्च दुरन्तं दुःखपरिणामकं भवति, परन्तु तद् दुरन्तत्वं परोक्षत्वाल्लोके न व्यवह्रियत इत्यर्थः।।११६२।। अपरमिति। ये मनीषिणो दुरन्तत्वं जानन्ति ते उपेतम् इति भावे क्तः; तथा च उपगमनं ग्राम्यधर्मं दुरन्तं सन्तं सुरतम् इति यत् कथयन्ति तत्र हेतुरियं स्थितिः शिष्टाचाररूपैव भवति। 'इयं' का ? अपरं स्वभिन्नं भद्रत्वेन प्राशस्त्यबोधकशब्देन एव ब्रूयाद् व्यवहरेदिति। अत्र स्वमुखेन स्वापकर्षबोधनमपि शिष्टाचार इति 'अपर'-पदेन सूच्यत इति।।११६३।।

दुरन्ततामेव विशदयन्ति—अहो! इति द्वाभ्याम्। रेतःसेकपर्यन्तग्राम्यधर्मार्थं नारीं गुर्विणीं गच्छतः पुंसो द्वयोः स्त्रीबालयोः हत्या दोषो भवेद् इत्यर्थः।।११६४।। गर्भेति। तथा नार्याः पुरुषसङ्गमे प्रवृत्तौ आत्महत्या-गर्भहत्यारूपौ दोषौ भवत इत्यर्थः।।११६५।।

एवं पुनः पुनरनुभूतमपि दुःखं विस्मृत्य यत् त्वया दुष्कृतं कृतं तस्येदं नरकदुःखं फलमित्याहुः—अस्मिन्निति चतुर्भिः। हे कृपण! स्वान्यघातकरः 'कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः' (१७.३) इति भगवद्वाक्योक्तविधया

नरक में सौ कल्पों में जो दुःख होता है वह एक बार गर्भवास के बराबर है! ।।११६१।। गर्भ धारण करने के बाद यदि स्त्री-पुरुष मैथुनाचार करते हैं तो न केवल उन स्त्री-पुरुष को वरन् गर्भस्थित बालक को भी दुःख सहना पड़ता है। स्त्री-पुरुषका आपसी व्यवहार प्रच्छन्न रहता है इसलिये इस कृत्य की दुःखदता का लोक में खुलासा नहीं किया जाता।।११६२।। शिष्टाचार है कि अन्यों के बारे में अच्छा ही कहना चाहिये—वे जो करें उसे भी 'अच्छा ही कर रहे हैं' ऐसा कहना चाहिये क्योंकि वह बुरा है यह निर्णय करने वाले हम कौन होते हैं ? भगवान् उनसे करा रहे हैं तो अच्छा ही होना चाहिये—इसलिये जो बुद्धिमान् जानते भी हैं कि ग्राम्यधर्म(मैथुनाचार) दुःखद होता है वे भी उसे 'सुरत' शब्द से कहते हैं।।११६३।। जो पुरुष गर्भिणी नारी से रेतःसिंचनपर्यन्त ग्राम्यधर्मानुष्ठान करता है उसे स्त्री और बालक दोनों की हत्या का दोष होता है।।१६६४।। नारी यदि गर्भिणी होने के बाद अपनी पहल पर पुरुषसंगम करती है तो उसे अपनी और गर्भ की हत्या का दोष लगता है।।११६५।।

विष्ठासमं समाश्रित्य भूतानां स्वं विनश्वरम्। निन्दितं कृतवान् भूयः कर्म यल्लोकशास्त्रयोः।।
तस्येदं फलमप्याप्तं किमर्थमनुतप्यते।।११६७।।

न ते दुःखस्य कर्तारो वयं नाऽयं विभावसुः। भूतान्यपि तथान्यानि भवानेवाऽत्र कारणम्।।११६८।।

आत्मनः प्रतिकूलं यः परेषामाचरेत् पुमान्। कर्मणा मनसा वाचा तस्याऽन्नं तद्धि यद्भवेत्।।११६९

साधुद्रोहः

भवता सर्वजन्तूनां सर्वदोपद्रवः कृतः। साधूनां समचित्तानां[1] विशेषेण च दुर्धिया।।११७०।।

अरण्यादिस्थितान् दृष्ट्वा नैष्ठिकान् ब्रह्मचारिणः। वनस्थांश्च यतींस्तद्वत् कामुकेनेरितं त्वया११७१

अन्नपानोपभोगं चेत् कुर्वन्त्येते द्विजोत्तमाः। अस्मद्वत् कुत एतेषां ब्रह्मचर्यादिकं तपः।।११७२।।

स्वपरपीडाकरस्त्वमस्मिन् संसारचक्रे पतितो दुःसहं दुःखं प्राप्तोऽपि तत्सर्वं विस्मृतः कर्तरि क्तो बाहुलकात्। तत्र मानुषदेहे पुनः पापं कृतवान् इति। ११६६।। विष्ठेति। यच्छरीरं पित्रोः विष्ठासमं विनश्वरं भूतानां श्वसृगालादीनां पृथिव्यादीनां वा स्वं ममत्वविषयं च, तद् आत्मत्वेन आश्रित्य यत् त्वं निन्दितं भूयः पुनः कृतवान् असि तस्येदं नरकदुःखं फलत्वेन प्राप्तम्। अतोऽधुना कृताकृतानुतापो वृथेत्यर्थः।।११६७।। न त इति। वयं दूताः, विभावसुः सूर्यपुत्रः, अन्यानि भूतानि गृध्रादीनि च तव दुःखहेतवो न भवन्ति, किन्तु भवानेव तथेत्यर्थः।।११६८।। आत्मनो दुःखहेतुताप्रयोजकं दर्शयन्ति—आत्मन इति। यस्माद्धेतोः आत्मनः प्रतिकूलं यत्तदेव परस्य आचरति शरीरादिभिः, तत् परस्मै दत्तं प्रतिकूलं तस्य प्रतिकूलकर्तुः अन्नम् अन्नवदवश्यभोग्यं भवेदित्यर्थः।।११६९।।

यद् अकृतम् अनुतापजनकं सत्कर्मजातं तत् प्रदर्शितपूर्वमित्यभिसन्धाय, यत् कृतम् अनुतापकं मनोवाक्कायैः कृतं दुष्कृतं तत् स्मारयन्ति—भवतेत्यादिना। भवताऽसुरप्रकृतिकेन सर्वतापकेन साधवो विशेषेण तापिता इत्यर्थः।।११७०।।

तत्र साधुतापे प्रवृत्तिप्रयोजिकां साधुषु कृतां दुर्भावनां स्मारयन्ति—अरण्यादीति। आदिपदेन एकान्तस्थानपरिग्रहः। यथा पित्तदूषितचक्षुष्कः शङ्खं पीतवर्णं पश्यति तथा कामदूषितेन भवता नैष्ठिकादिषु

इस संसार प्रवाह में तुमने बार-बार अपनी और दूसरों की हत्या की और फिर-फिर इसी आवर्त में पड़ते रहे। देहधारण करने वालों के लिये असह्य दुःख तुमने झेला लेकिन वह सब भूलकर तुमने पुनः पाप ही एकत्र किया।।११६६।। शरीर तो माँ-बाप की विष्ठा जैसा है, कुत्ते, सियार आदि ही जब उसे नोच-नोच कर खाते हैं तब समझते हैं 'यह मेरा है, दूसरा कैसे खा रहा है ?'; ऐसे निकृष्ट शरीर को तुमने 'मैं' समझा यही एक नीच कर्म है। फिर तुमने ऐसे कर्म किये जो लोक में और शास्त्रों में निंदित हैं। उसी सबका यह फल तुम्हें अब मिल रहा है। अब किसलिये अनुताप करते हो ? समय रहते क्यों नहीं सँभले ? ।।११६७।। तुम्हारे दुःखका हेतु हम, यमराज या ये नोचने-खाने वाले गीध आदि नहीं हैं। तुम खुद अपने दुःख का कारण हो।।११६८।। जिस परिस्थिति में हमारे लिये किया जाने पर जो हमें दुःखप्रद लगे वह यदि हम कर्म, मन या वाणी से अन्य के प्रति करते हैं तो उसका दुष्फल हमें अवश हो भोगना पड़ता है। (हमें वही खाना अर्थात् भोगना पड़ता है।)।।११६९।।

अरे पापी! तुमने हमेशा सभी जन्तुओं का अपकार ही किया है। दुष्ट निश्चय रखकर तुमने खासकर उनका विरोध किया जो सज्जन अपना चित्त संतुलित रखने का प्रयास करते हैं, छल-कपट नहीं करते, भगवान् का चिन्तन करते हैं।।११७०।।

---

१. सुखदुःखसहिष्णूनाम्, अन्तर्बहिस्तुल्यचेष्टानाम्, निर्दोषब्रह्मविचारतत्पराणाम्।

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दांश्चेन्नयनादिभिः। गृह्णन्ति मनसा तद्वत् सुखदुःखे महाधियः।।११७३।।

कर्मेन्द्रियैश्च कर्माणि कुर्वन्ति यदि केन ते। मैथुनं नैव कुर्वन्ति विजनेऽस्मिन्नवस्थिताः।।११७४।।

आहारं च तथा निद्रां तृतीयं चाऽत्र मैथुनम्। जीवन् जन्तुस्त्यजेन्नायमिन्द्रियैर्विकलो न चेत्।।११७५

अपि व्यापारशून्यं न किञ्चिदस्तीन्द्रियं भुवि। कथमेषां प्रजननं स्वव्यापारविवर्जितम्।।११७६।।

अपि कामेन बाध्यन्ते तृणाहारा मृगा वने। जले मीनो जलाहारः सर्पाश्च पवनाशिनः।। अन्नादा बुद्धिमन्तोऽमी कथं कामविवर्जिताः।।११७७।।

युवानः परचित्तानां हारिणो लोकवञ्चकाः। मार्जारव्रतमास्थाय दाम्भिका निवसन्त्यमी।। वित्तस्त्रीहारिणो नृणां साधूनां क्रूरचेतसः।।११७८।।

नासाग्रनयना एते ध्यायन्ति युवतिं सदा। तथा परस्य वित्तानि ह्यर्जितान्यतिदुःखतः।।११७९।।

सकामतामारोप्य इत्थं दुर्विनीतवाक्यजातमुक्तमित्यर्थः।।११७१।। तद् दुर्विनीतवाक्यजातमभिनयन्ति—अन्नेत्यष्टभिः। एते ब्रह्मचर्यादिरूपतपोहीनाः, अन्नाद्युपभोक्तृत्वाद्, अस्मद्वदित्यर्थः।।११७२।। रूपेति। इतरेन्द्रियनिरोधाभाववत्सु एतेषु का नाम उपस्थनिरोधलक्षणब्रह्मचर्यसम्भावना! इति द्वयोरर्थः।।११७३-४।। किञ्च सकलेन्द्रिये जीवति ब्रह्मचर्यं न दृष्टं कुत्रापीत्याह-आहारमिति।। ११७५।। अपि व्यापृतेतरेन्द्रियकस्य एकत्र इन्द्रिये व्यापाराभावो न सम्भाव्यत इत्याह—अपीति। प्रजननम् उपस्थेन्द्रियम्।।११७६।। किञ्च जलमात्राहारादिभिरपि अविजितस्य कामस्य विशिष्टान्नस्वादकेषु का विजयाशेत्याह—अपि कामेनेति।।११७७।। फलितमाह—युवान इति। तस्माद् इति आदिः।।११७८।। नासाग्रेति। एतेषां ध्यानमपि परकीययुवतिविषयकं परकीयद्रव्यविषयकं चेत्यर्थः।।११७९।।

जंगल आदि में रहने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों को देखकर तुझ कामुक ने ऐसी बातें कहीं 'स्वयं को द्विजोत्तम मानने वाले ये लोग जब हमारी तरह भोजन करते हैं, पानी पीते हैं तो इनका ब्रह्मचर्य आदि तप कैसे सिद्ध होता है ? (अर्थात् नहीं होता।) ।।११७१-२।। नयन आदि से रूप, गंध, रस, स्पर्श और शब्द का ये ग्रहण करते ही हैं, मन से सुख-दुःख ग्रहण करते ही हैं, कर्मेन्द्रियों से कर्म भी करते हैं तब यह कैसे माना जाये कि इस एकान्त में ये लोग एक मैथुन ही नहीं करते ? ये लोग बहुत चतुर हैं (अतः छिपकर वह भी करते ही हैं)।।११७३-४।। यदि इंद्रियों में कोई कमी न हो तो जीता हुआ जन्तु ये तीन कभी नहीं छोड़ता—खाना, सोना और मैथुन।।११७५।। इनकी देहभूमि में अन्य कोई इंद्रिय अपने व्यापार से रहित नहीं तो एक उपस्थेन्द्रिय ही कैसे निश्चेष्ट है ?।। ११७६।।

तिनके खाने वाले जंगलवासी हिरण, जल खाकर रहने वाली पानी में मछलियाँ और हवा खाकर जीने वाले साँप—ये सूक्ष्म और अनुत्तेजक आहार वाले भी जब कामना से पीडित होते देखे जाते हैं तो कामभोग के बारे में जानकारी रखने वाले और हमारी तरह का भोजन करने वाले ये लोग कामना से बचे हैं यह कैसे संभव है?।।११७७।। दीखते भले हैं पर चित्त इनका क्रूर है। ये जवान लोग अपने आडम्बर और वाग्जाल से दूसरों का मन मोह लेते हैं और लोगों को ठग लेते हैं। अपनी अच्छाई स्वयं विज्ञापित करने वाले ये लोग 'बिल्ली-व्रत' का पालन करते हुए यहाँ निवास करते हैं। (बिल्ली जब चूहे की ताक में पूर्ण एकाग्र होती है तब कोई कह नहीं सकता कि हमले की तैयारी में है। हिंदी में इसे 'बगुला-भक्ति' कहते हैं। ऐसे ही ये लोग जो व्रतादि करते दीखते हैं वह भोगप्राप्ति के लिये ही है।) सीधे-सादे लोगों के धन, स्त्री आदि का ये लोग हरण कर लेते हैं।। ११७८।। नाक की नोक पर दृष्टि एकाग्रकर ये लोग

स्त्रीद्रोहः

एवं धर्मरता सर्वे दूषिता भवता नराः। साध्व्यो नार्यश्च दुर्दान्तचेतसा पापकारिणा।।११८०।।

साध्वीं नारीं विलोक्याह भवान् पापविमोहितः। का वधूः पुरुषं नेच्छेद्युवती रूपशालिनम्।।११८१।।

पितरं भ्रातरं वापि सुतं वापि नयान्वितम्। नारीणां स्यन्दते योनिर्दृष्ट्वा रूपान्वितं नरम्।।११८२।

नूनं दृष्टनिमित्तेन केनचिन्नाधिगच्छति। स्वस्य सा बहुमानेन लोकानां लज्जयाऽपि च। भीत्या पत्यादिकानां वा स्थानकाऽभावतोऽपि वा।।११८३।।

अधस्तात् पुरुषं दृष्ट्वा विलोकयति या वधूः। त्रैलोक्यं लोकयेदेषा मनसा काममोहिता।।११८४।।

विवेकाक्रान्तचित्तानां[1] पुरुषाणां[2] महात्मनाम्[3]। हरेद् धैर्यं स्मरः केन वध्वा नापहरिष्यति।।११८५।।

साध्वीभूता स्थिता नारी विज्ञेया व्यभिचारिणी। गणिकाया इयं यस्मात् स्वजनानपि वञ्चयेत्।।११८६।।

यथा नैष्ठिकादयो दूषितास्तथाऽन्येऽपि धार्मिकाः पुरुषाः पतिव्रताश्च दूषिता इत्याहुः—एवमिति।।११८०।। पतिव्रतासु प्रयुक्तं दुर्विनीतवाक्यजातमभिनीयते—साध्वीमिति षड्भिः। का युवतिः परपुरुषं नेच्छेद्! यतः पित्रादिकमपि रूपिणं दृष्ट्वा नारीणां योनिः स्यन्दत इति द्वयोः सम्बन्धः।।११८१-२।। नूनमिति। नूनम् इति सम्भवे। तथा च—दृष्टे निमित्ते परपुरुषं सा नाधिगच्छति इति यद्युच्यते, तत् सम्भाव्यत इत्यर्थः। दृष्टनिमित्तानि एव निदर्शयति—स्वस्येति। मानलज्जाभीतिस्थानाभावरूपाणि चत्वारि दृष्टनिमित्तानीत्यर्थः।।११८३।। अधस्तादिति। परपुरुषं दृष्ट्वाऽधोविलोकनं साध्वीलक्षणं तु व्यभिचारि, त्रिलोकीवर्तिनानापुरुषध्यानार्थत्वस्याऽपि सम्भवादित्यर्थः।।११८४।। विवेकेति। विवेकिनामिन्द्रादीनां धैर्यहारकस्य स्मरस्य वधूचित्तहरणं किमुत! इत्यर्थः।।११८५।। फलितमाह—साध्वीति। तस्मात् साध्वीत्वेन प्रसिद्धा स्त्री गणिकाया अधिका व्यभिचारिणी ज्ञेया, स्वजनवञ्चकत्वादिति।।११८६।।

दूसरे की औरत और अत्यंत कष्ट से कमायी दूसरों की संपत्तियों का ही ध्यान करते हैं।' ।११७९।।—धर्म में संलग्न लोगों की तुमने हमेशा इस तरह निंदा की।

इतना ही नहीं, सर्वथा अनियंत्रित चित्त वाले व पाप ही करने वाले तू नीच ने पतिव्रता नारियों के बारे में भी ऐसी बातें खुले-आम कहीं जो कोई शिक्षित व्यक्ति मन में भी नहीं लाता।।११८०।। अपने पापों से स्वयं तेरी मति सही-गलत समझने में असमर्थ थी लेकिन तूने अपने मन में नहीं झाँका बल्कि सुशील स्त्रियों को देखकर यों कहा—'ऐसी कौन औरत होती है जो रूपवान् मर्द न चाहे ? बाप, भाई, बेटा या और कोई शालीन पुरुष अगर सुंदर हो तो उसे देखते ही स्त्रियों की योनि गीली हो जाती है। (अर्थात् तीव्र उपभोगेच्छा हो जाती है।)।।११८१-२।। यह तो संभव है कि यदि कोई अनिवार्य प्रतिबंधक हो तो नारी परपुरुष से सम्बन्ध न रखे। स्वयं अधिक अभिमान वाली होने से, लोकलाज से, पति आदि के डर से या कुकर्म करने के लिये ज़गह ही न मिलने से भले ही औरत रुक जाये, स्वभावतः तो वह पराये सुंदर मर्द की ओर आकृष्ट ही रहती है।।११८३।। किसी पुरुषको देखकर जब नारी आँखें झुकाकर नीचे देखती है तब समझ लेना चाहिये कि कामना से परवश हुई वह मन से सारी त्रिलोकी का अवलोकन कर रही है (कि इस व्यक्ति से कहाँ कैसे संपर्क हो सकता है ?)।।११८४।। जिन्हें धर्म-अधर्म की स्पष्ट जानकारी होती है, जिनमें काफी

१. सौभर्यादीनाम्। २. विश्वामित्रादीनाम्। ३. चतुर्मुखादीनाम्।

इत्यादिवादिना सर्वं भवता कलुषीकृतम्। जगत्सूत्रं यथा वस्त्रं तैलस्नेहेन सर्वदा।।११८७।।

देवादिद्रोहः

भवता निन्दिता देवा गुरवश्च तपोधनाः।। पितृमात्रादिकाः सर्वे ह्यधिक्षिप्ताश्च बान्धवाः।।११८८

लोभमाश्रित्य दुष्पूरं कामं चाऽधम! सर्वदा। परेषां विविधं वित्तं दाराश्चापहृता मुहुः।।११८९।।

मनसा चिन्तितं भूरिजन्तूनां तापकारणम्। इदं कृत्वा करिष्येऽदो दुःखमस्य स्ववैरिणः।।११९०।।

अनेन स्नेहमतुलं कृत्वा पश्चाच्छनैरहम्। एतं दुःखोदधौ शत्रुं पातयिष्यामि कालतः।।११९१।।

इत्यादि भवता भूरि कर्मणा मनसा गिरा। कृतमित्यादिवचनाः किङ्कराः पापकारिणाम्।।११९२।।

नरकादौ सर्वत्र दुःखम्

नरकेषु च सर्वेषु मार्गस्थानादिभेदिषु। कुर्वन्ति दुःखमतुलं दुःखिनां दीनचेतसाम्।।११९३।।

इत्यादीति। एवंविधदुर्वाक्यानि वदता भवता सर्वं धर्मस्वरूपं कलुषी कृतं दूषितम्। कीदृशं धर्मस्वरूपम्? जगदात्मकपुष्पमाल्यस्य सूत्रवद्धारकम्। केन किमिव ? कलुषी कृतं तैलेन वस्त्रम् इवेत्यर्थः।।११८७।। भवतेति। अधिक्षिप्ता अनादृताः।।११८८।। लोभमिति। यथा क्रोधेन देवनिन्दादिकं कृतं तथा लोभकामाभ्यां परवित्तं दाराश्च हृताः।।११८९।। मनसेति। तथा मनसा परतापोपायाश्चिन्तिताः। तां चिन्तामभिनयति—इदमित्यादिना। अस्य वैरिण इदं सुकरं दुःखसाधनं कृत्वाऽदः दुष्करमपि दुःखसाधनं करिष्ये। तथा अनेन वैरिणा पूर्वं स्नेहं कृत्वा पश्चाच्छनैः शनैः एतं वैरिणं दुःखाम्बुधौ पातयिष्यामि इति द्वयोः सम्बन्धः।।११९०-१।।

दूतवाक्यमुपसंहरन् नरकदुःखमुपलक्षयति—इत्यादीतिद्वाभ्याम्। इत्यादिरूपं दुष्कृतं भवता शरीरादिभिः कृतम्, इत्यादिवाक्यजातं वदन्तो यमकिङ्करा नरकेषु पापिनां दुःखं कुर्वन्ति। कीदृशेषु नरकेषु ? मार्गादिदेशभेदेन भिन्नेषु। केचिद् हि तप्तबालुकादयो यममार्गे नरकभेदाः, केचिद् यमपुर्यां, केचिच्च पातालाधः। इति द्वयोरर्थः।।११९२-३।।

तपोबल भी है, जो पुरुष अतः बलिष्ठ हैं, कामदेव उनका भी धैर्य हर लेते हैं तो बेचारी स्त्री का क्यों नहीं हरेंगे ?।।११८५।। इसलिये जो नारी पतिव्रता बनकर रहती है उसे वेश्या से भी अधिक पुंश्चली समझना चाहिये क्योंकि यह तो अपने परिवारी लोगों को भी ठग रही है।।११८६।।'—इस तरह की पापावह अशिष्ट बातें कर तूने उस धर्म के स्वरूप को ही कलुषित किया जो धर्म जगद्रूप पुष्पमाला को संग्रथित किये रहने वाला धागा है। तेल की चिकनाई लगने से जैसे कपड़ा हमेशा गंदा ही होता है ऐसे तेरे द्वारा धर्म पर लांछन ही लगाये गये।।११८७।।

देवता, गुरुजन, तपस्वी, पिता, माता, बन्धु आदि सभी की तूने निंदा ही की।।११८८।।

अरे नीच! कभी तृप्त न होने वाले लोभ के वश में होकर तूने हमेशा दूसरों की विविध संपत्तियाँ हड़पीं और अनियंत्रित कामना के वश में होकर बार-बार पराई औरतों का अपहरण किया।।११८९।। मनसे तुमने बहुतेरे जंतुओं को दुःख देने के उपायों का ही विचार किया कि 'अपने इस वैरी को पहले इस सुकर तरीके से पीडित कर अमुक दुष्कर तरह से और भी पीडित करूँगा। अमुक दुश्मन से पहले स्नेह का प्रदर्शन कर धीरे-धीरे समय आने पर इसे दुःखसमुद्र में फेंक दूँगा' इत्यादि। यों मन-कर्म-वचन से तूने बहुतेरे दुराचार कर रखे हैं।

इस तरह पापियों को कोसते हुए यमकिंकर उन्हें नरक के रास्ते में और नरक ले जाने के बाद भी अतुलनीय कष्ट देते हैं। नरक और उसके मार्ग बहुत-से हैं जहाँ अलग-अलग पापों के कारण जाना पड़ता है। यद्यपि वहाँ दुःख भोगते हुए जंतु का चित्त दीनता का—निरुपाय-असहाय अवस्था का—अनुभव करता है तथापि पाप का फल भोगना आवश्यक है क्योंकि व्यवहार की यही ईश्वरकृत मर्यादा है अतः यम अपने भटों से पापियों को घोर यातनायें देते हैं।।११९०-९३।।

नानाविधमिदं दुःखं नरके देहधारिणाम्। यथाऽत्र नरके दुःखं तथा सर्वत्र जन्मनि। शरीरस्य स्थितौ तद्वद् मरणेऽपि च दुःसहम्।।११६४।।

ब्रह्मलोके तथा स्वर्गे भूमौ वा वासुकेः पुरे। चतुर्विधानां देहानां देहमेकं प्रजायते।।११६५।।

सुखं सातिशयं तत्र सर्वत्रैव शरीरिणः। पराधीनं तथा तोकं साधनैर्जायतेऽपि च।।११६६।।

समानेभ्यो भयं तद्वद् अधिकेभ्यश्च नित्यशः। क्लेशश्च सुमहानत्र जायते नाऽत्र संशयः।।११६७।।

ब्रह्मलोके तथा स्वर्गे भोगवत्यां तथैव च। मरणाद् विद्यते भीतिः भोगेच्छा सैव दारुणा।।११६८।।

भूमौ मरणतो यावद् भोगेच्छा चैव दुःसहा। बान्धवादिविनाशेन दुःखं सञ्जायते नृणाम्।।११६९।।

तत्ततोऽप्यधिकं दुःखं कोटिकोटिगुणं भवेत्। भोगवत्यां तथा स्वर्गे ब्रह्मलोके च देहिनाम्।।१२००।।

नरकदुःखमन्यत्राप्यतिदिशति—नानाविधमिति। यद् इदं नानाविधं नरके दुःखं वर्णितं तत् केवलं नरक एव न भवति किन्तु सर्वत्र शरीरस्य जन्मस्थितिमरणेषु प्रसिद्धमित्यर्थः।।११६४।। तत्र सर्वत्र जन्मदुःखं विशदयति—ब्रह्मेति। वासुकिपुरं पातालम्। देवशरीरमपि सूक्ष्मभूतानि उद्भिद्य जायमानत्वाद् उद्भिज्जमिति बोध्यम्।।११६५।। स्थितिदुःखमुपलक्षयति—सुखमिति। तत्र तेषु लोकेषु सुखं सातिशयं पराधीनं साधनजन्यं च। तथा च यथाक्रमम् ईर्ष्या-भय-नाशचिन्ताभिर्व्याप्तमित्यर्थः।।११६६।। समानेभ्य इति।। अत्र शरीरस्थितौ।।११६७।।

मरणदुःखस्य सर्वत्रान्वयमाह—ब्रह्मलोक इति पञ्चभिः। यतो भोगेच्छा दारुणा उत्कटा ततः सर्वत्र लोके मरणभीरिति।।११६८।।

भूमाविति। यादृशं भूलोके मरणेन बान्धवविनाशेन वा दुःखं ततः कोटिगुणं, भोगवती नागपुरं, तत्प्रभृति लोकेषु बोध्यं, तत्र भोगाधिक्यादिति द्वयोरर्थः।।११६९-१२००।।

देहधारियों को जैसे नरक में नाना प्रकार का दुःख मिलता है वैसा ही कहीं भी जन्म होने पर मिल जाता है! शरीर की स्थिति रहते और मृत्यु काल में भी नरक-सा दुःख सुलभ है।।११६४।। ब्रह्मलोक, स्वर्ग, भूलोक, पाताल—जहाँ कहीं जीव पैदा होगा उसे उद्भिज्जादि किसी एक प्रकार का शरीर ही मिलना है।।११६५।। उक्त सभी जगह शरीरधारी को जो सुख उपलब्ध होता है वह इन खासियतों वाला होता है—१) उससे अधिक सुख किसी-न-किसी के पास प्रतीत होता है, फलतः ईर्ष्या पैदाकर संताप देता है। २) किसी अन्य के नियंत्रण में होता है अर्थात् हमें सुखी करना किसी अन्य के हाथ में होता है, फलतः भय देकर सन्तप्त करता है। ३) सीमित मात्रा में होता है, फलतः नष्ट होकर दुःख देता है। ४) साधनों से उत्पन्न होता है, फलतः चिन्ताएँ देकर दुःखी करता है कि 'साधनदोष से हानि न हो जाये' इत्यादि (जैसे घी खाकर सुख होता है पर चिन्ता लगती है 'घी कहीं धमनियाँ सँकरी न कर दे!')।।११६६।। शरीर की स्थिति रहते जो अपने बराबरी के हैं उनसे घबराहट रहती है कि परेशान न करें, जो अधिक बलवान् हैं उनसे सदा डर लगा रहता है और प्रतिदिन के व्यवहारों में अत्यंत क्लेश बना रहता है इसमें आज के जमाने में क्या संशय!।।११६७।। क्योंकि उत्कट भोगेच्छा जीव में होती है इसलिये ब्रह्मलोक हो या स्वर्ग, पृथ्वी हो या पाताल, मरने से तो सभी जगह डर लगता है।।११६८।। जब तक भोगों के प्रति उत्कट आकर्षण है तब तक मरने पर या बांधव आदि के नाश से जितना दुःख होता है उससे करोड़ों गुणा अधिक पाताल, स्वर्ग और ब्रह्मलोक में होता है।।११६९-१२००।। सभी जगह कोई-न-कोई पिता, माता, पत्नी, पुत्र, नाना प्रकार के रिश्तेदार, दोस्त, दुश्मन, तटस्थ लोग देहधारी को मिलते ही हैं चाहे वह ब्रह्मलोक जाये, स्वर्ग जाये या नागों को प्रिय पाताल में जाये।।१२०१-२।।

सर्वत्र जनकः कश्चिज्जननी चाऽपि विद्यते। दाराः सुतास्तथा बन्धुर्जनो नानाविधो हि यः।।१२०१।।

मित्राणि शत्रवस्तद्वद् उदासीना इमे जनाः। देहिनोऽत्र यथा सन्ति तथा देहान्तरेऽपि वा। ब्रह्मलोके तथा स्वर्गे पाताले पन्नगप्रिये।।१२०२।।

हिरण्यगर्भो भगवानस्माकं पूर्वजो हि सः। सर्वाधिकसुखो देवः शरीरी च त्रयीश्वरः।।१२०३।।

अनेककल्पकोटीनां कर्ता स्थितिविधायकः। हर्ता तथैक एवाऽयं द्वैतगन्धविवर्जितः।।१२०४।।

पादपाद्यत एतानि ब्रह्माण्डोदुम्बराणि हि। शतशः कोटिशश्चैव भवन्ति न भवन्ति च।।१२०५।।

विभूतयस्तु यस्यैता ब्रह्मलोकादिसंश्रयाः। मानस्या जायया सार्धं पर्यङ्के परमेश्वरः। ब्रह्मलोके वसत्येष वेदात्मा चतुराननः।।१२०६।।

यस्तिष्ठत्यमरावत्यां शचीहृदयनन्दनः। देवानां प्रथमो देवस्त्रिलोक्याः पतिरीश्वरः।।१२०७।।

लोकपालाष्टकं तद्वदष्टकं कुलजेषु च। सर्वेष्वधिकमत्यन्तं वासुक्यादिकमद्भुतम्।।१२०८।।

एवं मनुजपक्ष्यादिप्रभवो विविधा अपि। देहभाजः सुखं तेषां न किञ्चिदिह विद्यते।।१२०९।।

बान्धववियोगदुःखमपि सर्वत्रेति स्पष्टयितुं सर्वत्र बान्धवसत्त्वमाह — सर्वत्रेति द्वाभ्याम्। द्वयं स्पष्टम्।। १२०१-२।।

यदा सशरीरत्वं हिरण्यगर्भादीनामपि दुःखसम्बन्धप्रयोजकं तदा अन्यत्र किमुत! इति दर्शयितुं हिरण्यगर्भं तावद्वर्णयति—हिरण्यगर्भ इति चतुर्भिः। योऽयं हिरण्यगर्भो भगवान्, ये चेन्द्रादयः प्रभवः, तेषां सर्वेषां किञ्चन सुखं नास्ति, शरीरित्वाद्—इति सप्तानां सम्बन्धः। कीदृशो हिरण्यगर्भः? अस्माकं कार्योपाधीनां जीवानां पूर्वजः प्रथमजः। त्रय्या वेदत्रयसम्प्रदायस्य ईश्वरः प्रवर्तकः ।।१२०३।। अनेकेति। विविधसृष्टिप्रकाराणां कर्ता, पालकः, हर्ता च। सहसिद्धविद्यया द्वैतहीनश्च।। १२०४।। पादपादिति। समष्टित्वेन पादपसमाद् यस्माद् व्यष्टिजीवदृष्टि-सृष्टानि ब्रह्माण्डरूपोदुम्बराणि प्रभवन्ति जायन्ते, न भवन्ति यत्र लीयन्ते चेत्यर्थः।।१२०५।। विभूतय इति। यस्य विभूतय एताः प्रजापत्यादिरूपाः प्रजापतिलोकादिषु वसन्ति यश्च प्राणरूपे पर्यङ्के स्थितो ब्रह्मलोके वसति इति।।१२०६।। यस्तिष्ठतीति; यः चेन्द्रोऽमरावतीवासी।।१२०७।। लोकेति। यच्च पूर्वादिदिगधिपतिरूपं लोकपालाष्टकं, यच्च नागकुलेषु अधिकत्वेन प्रसिद्धं वासुक्यादिकमष्टकम् आदिपदेन तक्षक-पद्मकादिग्रहः।।१२०८।।

एवमिति। ये च मनुजादिप्रभवः, एतेषां शरीरिणां विवेकिदृष्ट्या सुखं न अस्तीत्युक्तम्।।१२०९।। तत्र

हमारी क्या कही जाये, हिरण्यगर्भ की हालत भी ऐसी ही है! हमारे पूर्वज—प्रथमज—हैं भगवान् हिरण्यगर्भ। वेदसंप्रदाय के प्रवर्तक उन देव को शरीरधारियों में सबसे ज्यादा सुख है।।१२०३।। नाना प्रकार की अनेक सृष्टियों के वे ही रचयिता हैं, उनके संचालक-संरक्षक हैं और अंत में उन्हें समाप्त भी करते हैं। वे अकेले ही हैं, उन्हें किसी द्वैत की गंध भी नहीं आती! ।।१२०४।। हिरण्यगर्भ ही वह वृक्ष हैं जिन पर सैकड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डरूप उदुम्बर (गूलर) के फल लगते और नष्ट होते हैं।।१२०५।। प्रजापतिलोक आदि में जो प्रजापति आदि हैं वे सब हिरण्यगर्भ की ही विभूतियाँ हैं, उन्हीं के वैभव की मूर्तियाँ हैं। वेदस्वरूप, चतुर्मुख वे परमेश्वर ब्रह्मलोक में पर्यंक पर अपनी पत्नी मानसी सहित विराजते हैं।।१२०६।। और जो अमरावती में रहते हैं वे इंद्र भी प्रसिद्ध है कि सुखसंपन्न हैं। देवताओं में प्रमुख देव वे त्रिलोकी के मालिक देवराज शची का मन प्रसन्न रखते हैं!।।१२०७।। ऐसे ही आठ लोकपाल, नाग-कुलों में श्रेष्ठ

जनने मरणे तद्वद् वैषम्ये विषयोत्थिते। सुखदुःखकरे तद्वद् भूतावासे च नश्वरे।। कृमेः सूत्रात्मनश्चाऽस्य वैषम्यं नैव विद्यते।।१२१०।।

सशरीरो हि लोके नो सुखदुःखविवर्जितः। विज्ञानमय आत्मा कः शरीरेण विवर्जितः।।१२११।।

विज्ञानमयतां प्राप्य तत एष निरञ्जनः। उच्चावचानि देहानि प्राप्नोत्यविरतं पुमान्।।१२१२।।

मनोमयत्वादिलाभः

मनोमयो यदाऽयं स्यात् तदाऽस्यैतत् प्रजायते। इच्छा नानाविधास्तद्वत् सङ्कल्पोऽपि शुभाशुभे।।१२१३।।

शुभाऽशुभत्वहेतुर्यः संशयो विविधस्तथा। आस्तिक्यं च तथा जन्तोः नास्तिक्यं च सुदारुणम्।।१२१४।।

धैर्याऽधैर्ये तथा लज्जा बुद्धिश्चिन्ता शरीरिणाम्। भीत्यादिकं च देवस्य मनोरूपस्य सम्भवेत्।।१२१५।।

हेतुतया जन्माद्यविशेषमाह—जनन इति। ये इमे जन्ममरणे, यच्च विषयोत्थितं विषयगतं शान्तघोरमूढत्वाऽऽख्यं वैषम्यं तारतम्यम्। कीदृशम्? सुखादिप्रयोजकम्। यश्चाऽयं नश्वरो भूतावासः पाञ्चभौतिकं शरीरम्। एतेषां सम्बन्धे कृमिमारभ्य सूत्रात्मपर्यन्तं विशेषो न अस्तीत्यर्थः।।१२१०।। फलितमाह—सशरीर इति। विज्ञानमय आत्मा सुखदुःखाभ्यां विवर्जितः कथं स्याद्! यतः सशरीरः। तथा च श्रुतिः 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति' (छा.८.१२.१) इति।।१२११।। एतादृशोऽनर्थो बुद्धितादात्म्याध्यासस्य फलमित्युपसंहरति—विज्ञानमयतामिति। स्पष्टम्।।१२१२।।

मनस्तादात्म्याध्यासस्य फलमनर्थं दर्शयति—मनोमय इति त्रिभिः। एतद् इच्छादिकम्। सङ्कल्प इच्छाकारणं शुभत्वादिप्रकारकं विशिष्टज्ञानम्। तथा शुभत्वादिप्रकारकः संशयो विचिकित्सापदोक्तः। तथा श्रद्धादिपदवाच्यम् आस्तिक्यादिकं जायते। तथा च श्रुतिः 'कामः सङ्कल्प' इत्याद्या (बृ. १.५.३) कामादीनां मनोधर्मत्वं प्रतिपादयति। इति त्रयाणामर्थः।।१२१३-५।।

वासुकि आदि आठ भी सुखी रूप में प्रख्यात हैं।। १२०८।। इसी तरह मनुष्य, पक्षी आदि में भी विविध देहधारी माना जाता है कि सुखी हैं। किन्तु जब विवेक का अंजन लगा कर देखते हैं तो सुस्पष्ट हो जाता है कि इन्हें कुछ भी सुख नहीं है!।।१२०९।। कृमि से लेकर हिरण्यगर्भ तक इन चीजों में कोई फर्क नहीं— जन्म, मरण, भूख-प्यास-मलत्यागेच्छादि विषम परिस्थितियाँ, विषयजन्य वे परिस्थितियाँ जो सुख-दुःख का अनुभव देती हैं और नश्वर शरीर।।१२१०।। संसार में ऐसा कौन विज्ञानमय आत्मा होगा जो शरीररहित हो और शरीरयुक्त रहते कोई भी ऐसा नहीं हो सकता जो सुख-दुःख से बच पाये।।१२११।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वास्तव में अविद्या कलंक से भी अस्पृष्ट यह सर्वापरोक्ष पूर्ण चेतन बुद्धि में तादात्म्याध्यास कर लगातार अच्छे-बुरे शरीर पाता रहता है।।१२१२।। (श्लो. १०३३ से यहाँ तक विज्ञानमय की दशा का विस्तार किया।)

आत्मा जब मनोमय हो जाता है, मन में तादात्म्याध्यास कर लेता है, तब ये भाव पैदा होते हैं—नाना प्रकार की इच्छायें; शुभ-अशुभ विषयक संकल्प; शुभता-अशुभता का हेतु नाना प्रकार का संशय (अशुभ में प्रवृत्ति रोकने से शुभता का हेतु और शुभ में रोकने से अशुभता का हेतु संशय बन जाता है क्योंकि संशय प्रवृत्ति का प्रतिबंधक है); आस्तिकता अर्थात् शास्त्र, परलोक आदि में श्रद्धा; नास्तिकता अर्थात् अश्रद्धा; धैर्य; अधीरता; लज्जा; निश्चय; चिन्ता; भय इत्यादि। आत्मदेव जब मनके रूप से अपने रूप को अलग नहीं समझता तब इसी तरह के सैकड़ों भाव पैदा होने लगते हैं।।१२१३-५।।

देवः प्राणमयो भूत्वा पञ्चधा देहमास्थितः। दशधा शतधा तद्वद् नाडीभेदादनेकधा।।१२१६।।
उच्छ्वासादेर्भवेद्धेतुर्जीवनस्य च सर्वदा। अन्नादोऽनेकधाऽनेककर्मणां परमेश्वरः।।१२१७।।
नीलपीतादिरूपाणां शब्दानां च महेश्वरः। चक्षुःश्रोत्रमयो भूत्वा ग्राहकः परिकीर्तितः।।१२१८।।
परिशिष्टेन्द्रियात्मत्वं प्राप्यात्मा सर्वगः पुमान्। कुरुते विविधे लोके सर्वदा ज्ञानकर्मणी।।१२१९।।
पञ्चभूतमयो भूत्वा देहानेष चतुर्विधान्। दशधा विषयांस्तद्वत् प्रयच्छति शरीरिणाम्।।१२२०।।
अविद्यामय आत्माऽयं भवेदावरणं सदा। आनन्दात्मस्वरूपस्य विक्षेपस्य च कारणम्।। भूत्वा तमोमयो देवो निद्रादेः कारणं स्मृतम्।।१२२१।।
तथा काममयो भूत्वा प्रजोत्पत्तेस्तु कारणम्। दुःखोदर्कस्य बहुशः सुखस्य विविधस्य च ।।१२२२।

प्राणतादात्म्याध्यासस्य फलं तद्धर्माध्यासमाह—देव इति। प्राणापानादिरूपेण पञ्चधा, नागकूर्मादिभेदसंयोजने[1] दशधा, नाडीभेदेन तु अनेकधा भूत्वा ऊर्ध्वश्वासादिव्यापारस्य जीवनव्यवहारस्य च हेतुर्भवति। तथाऽनेकधाऽन्नादः अन्नभोक्ता सन् अनेकबलसाध्यकर्मणां कर्ता भवति। इति द्वयोरर्थः।।१२१६-७।।

इन्द्रियाध्यासस्य फलमाह—नीलेति। चक्षुर्मयः सन् नीलादिरूपाणां, श्रोत्रमयश्च तारादिशब्दानां ग्राहको भवति। एवमितरज्ञानेन्द्रियतादात्म्यं प्राप्य तत्तद्विषयज्ञानम्, इतरकर्मेन्द्रियतादात्म्येन च तत्तत् कर्म करोति। इति द्वयोरर्थः।।१२१८-९।।

पृथिव्यादिभूततादात्म्यस्य फलमाह—पञ्चेति। भूतमयो भूत्वा शरीरिणां दशेन्द्रियनिरूपितत्वेन दशविधानां विषयाणां च निर्वाहको भवति।।१२२०।। 'अतेजोमय' इति पदेऽतेजःपदेन तमो ग्राह्यं; तच्चाऽविद्यारूपं प्रसिद्धान्धकाररूपं वा इत्यभिप्रेत्य द्वयोस्तादात्म्याध्यासस्य फले दर्शयति—अविद्येति। यदाऽविद्यामयो भवति तदा स्वरूपावरणस्य विक्षेपस्य च कारणं भवति। अन्धकारमयस्तु निद्रास्वप्नादीनां कारणं भवति इत्यर्थः।।१२२१।।

काममयत्वस्य तदाह—तथेति द्वाभ्याम्। सृष्टेः, तथा दुःखमुदर्क उत्तरकाले यस्यैतादृशस्य राजससुखस्य,

आत्मदेव ही प्राणमय अर्थात् प्राण में तादात्म्य भ्रम वाला होकर देह में स्थित है। प्राणादि भेदों से वह पाँच तरह बँटा है; उन्हीं में नाग आदि भी जोड़ लें तो दस तरह बँटा है; विभिन्न नाड़ियों में तो सैकड़ों तरह से बँटा है। यों अनेक उपाधियों से वह अनेक तरह स्थित है।।१२१६।। श्वास-प्रश्वास आदि का वही कारण है और जीवनका तो हमेशा वही हेतु है। वह परमेश्वर ही अनेक प्रकार से अन्नभोक्ता है और अनेक कर्मों में समर्थ है।।१२१७।। इसी तरह इन्द्रियों से अध्यास हो जाये तो उनके विषयों से आत्मा संबद्ध हो जाता है। चक्षुर्मय (चक्षु से तादात्म्यापन्न) होकर वह महेश्वर नीले पीले आदि रूपों को ग्रहण करने वाला एवं श्रोत्रमय होकर शब्द ग्रहण करने वाला कहा जाता है।।१२१८।। इसी तरह इन्द्रियों से भी तादात्म्य वाला होने पर सर्वव्यापक पुरुष लोक में हमेशा नाना प्रकार के ज्ञान और कर्म करता रहता है।।१२१९।।

यही पाँच भूतों से तादात्म्य पाकर शरीरधारियों को उद्भिज्जादि चारों तरह के शरीर प्रदान करता है और दसों इन्द्रियों के संबंध वाले दस प्रकार के विषय उन्हें देता है। (यद्यपि रूपादि वाले पाँच प्रकार के विषय हैं तथापि कर्मेन्द्रियों के क्रियामय 'विषय' जो पकड़ना आदि हैं उन्हें भी पैदा तो आत्मदेव भूततादात्म्य पाकर ही करते हैं।)।।१२२०।।

यह आत्मा अविद्यामय आनन्दात्मस्वरूप का हमेशा आवरण करता है और विक्षेप का (जैसा आत्मा नहीं है उसकी वैसी प्रतीति का) कारण बनता है। अन्धकारमय हुआ वही देव सुषुप्ति व स्वप्न का हेतु होता है।।१२२१।।

काममय होकर प्रजाओं की उत्पत्ति में वही कारण बनता है। प्रायः फलतः दुःखप्रद विविध सुखों का भी कारण

---

१. 'नागो हिक्काकरः कूर्मो निमेषोन्मेषकारकः। क्षुतं करोति कृकरो देवदत्तो विजृंभणम्। स्थौल्यं धनंजयः कुर्याद् मृतं चापि न मुञ्चति।।' ६.१७।मानसोल्लासवार्तिके।

गच्छेत् काममयो भूत्वा दीनाद्दीनतमां दशाम्। वधूजनस्य च सदा क्रीडामर्कटको भवेत्।।
पुण्यपापकरस्तद्वत् शुभाशुभकरोऽपि च।।१२२३।।
यदा क्रोधमयो भूयात् प्रायः पापकरस्तदा। दुःखं चाऽतुलमाप्नोति वह्निमध्ये स्थितो यथा।।१२२४
ब्रह्महत्यादिपापानि याति क्रोधमयः पुमान्। कुम्भीपाकादिकांस्तद्वद् नरकानतिदारुणान्।।१२२५।।
कामक्रोधावुभौ ज्ञेयौ संसारस्य च कारणम्। अतन्मयो यदा भूयाज्जीवन्मुक्तस्तदा भवेत्।।१२२६।।
धर्माऽधर्ममयो भूत्वा कारणं सुखदुःखयोः। उच्चनीचत्वभेदस्य निर्भेदे पाञ्चभौतिके।।१२२७।।
एवं सर्वमयो भूत्वा सर्वमेवाधिगच्छति। प्रत्यक्षं च परोक्षं च तादृशो जगदीश्वरः।।१२२८।।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुः कर्माचारादि किञ्चन। तेन तेनोच्यते सर्वैरभिधानविवर्जितः।।१२२९।।
नाऽयं साधुरसाधुर्न न पापः पुण्य एष न। सर्वसङ्गविनिर्मुक्तो नभोवत् सर्वगः पुमान्।।१२३०।।
साधुवादं तथा कीर्तिं तथैव बहुलं सुखम्। प्राप्नोति पुण्यकृत् तद्वद् विपरीतं परः पुमान्।।१२३१।।

तथा दैन्यस्य, तथा पुण्यपापयोः, तथा इदं शुभमिदमशुभमिति दृष्टेश्च कारणं भवति। इति द्वयोरर्थः।।१२२२-३।।

क्रोधमयत्वस्य तदाह—यदेति। कदाचिच्छरणागतत्राणादौ शरणागतविरोधिप्रभृतिविषयकः क्रोधो धर्महेतुरपि भवति इत्यतः प्रायः पापतत्फले प्रति क्रोधस्य हेतुत्वमुक्तम्।।१२२४-५।। अक्रोधमयत्वमकाममयत्वस्य अपि उपलक्षणमित्यभिप्रेत्य तत्फलमाह—कामेति। संसारो जननादिप्रवाहः। चकारात् तन्निमित्ताऽदृष्टादिग्रहः। तयोः कारणभूतौ कामक्रोधौ, तयोरभावो जीवन्मुक्तलक्षणमित्यर्थः।।१२२६।।

अदृष्टतादात्म्यफलमाह—धर्मेति। सुखदुःखयोः तथा पार्थिवत्वादिना निर्भेदे समानेऽपि पाञ्चभौतिके शरीरे य उच्चनीचादिभावलक्षणो भेदो विशेषः, तस्यापि कारणं भवेदिति।।१२२७।। एवं परिशिष्टपदार्थानां परोक्षादिरूपाणां तादात्म्याध्यासस्य तत्तत्फलं बोध्यमित्याह—एवमिति। तादृशः प्रत्यक्षमयः परोक्षमयश्च सन्।।१२२८।।

अस्य तत्तद्भावे प्रधानं निमित्तं कर्मैवेति दर्शयति-यद्यदिति त्रिभिः। आचारादिरूपं यादृशं कर्म करोति तेन तेन तत्तत्कर्मप्रयुक्तेन साधुप्रभृतिनाम्ना उच्यतेऽयं, वस्तुतः अभिधानविवर्जितः अपि इति।।१२२९।। अभिधानविवर्जितत्वं स्पष्टयति—नायमिति।।१२३०।। साधुवादमिति। तत्रापि यः पुण्यकृत् स साधुवादं प्रशंसां च सुखं च प्राप्नोति। परः पापकृत् तु विपरीतम् असाधुवादादिकं प्राप्नोतीत्यर्थः।।१२३१।।

आत्मा कामना से तादात्म्य पाने पर ही होता है।।१२२२।। काममय होकर वह अत्यंत दीन दशा पा जाता है क्योंकि हमेशा ऐसा बंदर बना रहता है जिसे युवतियाँ इशारों पर नचाती हैं। पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ कर्म भी काममय होने पर ही करता है। (पुण्यादि से अदृष्ट और शुभादि से दृष्ट भेद समझने चाहिये। अथवा 'यह शुभ है वह अशुभ है इस दृष्टि को करता है' यह अर्थ है। कामनानुकूल में शोभनबुद्धि और उसके प्रतिकूल में अशोभनबुद्धि प्रसिद्ध है।)।।१२२३।।

जब यह क्रोधमय बनता है तब प्रायः पाप कर लेता है जिससे अतुलनीय दुःख भी पाता है मानो पाँचों तरफ से आग से घिर गया हो! क्रोधमय पुरुष ब्रह्महत्यादि महापाप भी कर डालता है जिनसे कुंभीपाक आदि दारुण नरकों में जाता है।।१२२४-५।।

कामना और क्रोध—इन दोनों को संसार का (संसरण का) कारण जान लेना चाहिये। जब आत्मा काम-क्रोधमय नहीं रह जाता तब वह जीवन्मुक्ति का कारण होता है।।१२२६।। धर्ममय व अधर्ममय होने पर आत्मा सुख व दुःख का कारण होता है और जो पांचभौतिक शरीर पार्थिवादि रूप से समान है उसमें ऊँचा-नीचा आदि भेद का भी कारण होता है।।१२२७।। इस तरह प्रत्यक्ष व परोक्ष जो कुछ है उससे तादात्म्य वाला होकर जगदीश्वर ही प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी का हेतु होता है।।१२२८।।

जंतु कर्म, आचार आदि जो-जो भी करता है उस-उस से उसका नाम पड़ जाता है। वास्तव में वह नामों वाला है नहीं।।१२२९।। यह पुरुष अच्छा, बुरा, पापी, पुण्यकारी कुछ नहीं है क्योंकि सभी सम्बन्धों से रहित है, आकाश की तरह सर्वव्यापक है।।१२३०।। पुण्यकारी को प्रशंसा, कीर्ति और अधिक सुख मिलता है, पापकारी को निंदा, अपकीर्ति

कामः संसारकारणम्

अत्र केचिन्महात्मान एवमाहुर्विचक्षणाः। पुरुषो निर्गुणोऽसङ्गः सर्वभेदविवर्जितः। स्वयं न कुरुते किञ्चित् कार्यकारणमण्वपि।।१२३२।।

अविद्यासङ्गमासाद्य ह्यविद्याजं तु दुर्भणम्। प्रथमं कुरुते कामं ततः सर्वमयो भवेत्।।१२३३।।

सङ्कल्प्य यत एवाऽयं बहुस्यामिति वै पुरा। ससर्ज सकलं विश्वं देवः सदसदात्मकम्।।१२३४।।

अन्योऽपि जन्तुरत्राऽयं चेतनो जातमात्रकः। इदं भवतु मे भूयाद् इदं मेत्येव चिन्तयन्।।१२३५।।

प्रथमं तत एवाऽमुं संसारं बहुदुःखदम्। प्राप्नोति विवशो भूत्वा कालपाशसमावृतः[1]।। १२३६।।

एवं कर्मप्राधान्यं पूर्वपक्षत्वेन दर्शितम्। अथ सिद्धान्तः—काम एवाऽविद्याजन्यः संसारकारणमित्याकारकः श्रुत्या 'अथो खल्वाहुः' इत्यादिना[2] कण्डिकान्तवाक्येनोक्तः। तमभिनयति—अत्रेति चतुर्दशभिः। अत्र संसारनिदानविचारे केचिद् अतिकुशला एवमाहुः। 'एवं' कथम्? आत्माऽसङ्गाऽद्वितीयत्वात् स्वतः किञ्चद् अपि नारमते; किन्तु अविद्यायाः सङ्गं सम्बन्धं प्राप्य प्रथमं कामं कुरुते ततः सर्वं भावं लभते। कीदृशम् अविद्यासङ्गम्? अविद्याजम् अविद्ययैव प्रयुक्तम्, अत एव दुर्भणम् अनिर्वाच्यम्। इति द्वयोरर्थः।।१२३२-३।। अत एव सृष्टिवाक्येषु कामपूर्विका सृष्टिः 'सोऽकामयत' इत्यादिषूक्तेत्याह—सङ्कल्प्येति। अयम् ईश्वरः यतः सङ्कल्प्यैव ससर्ज इति सम्बन्धः।।१२३४।।

अत एव जीवप्रवृत्तिरपि सर्वा कामपूर्विकैव दृश्यत इत्याह—अन्य इति। अन्य ईश्वरभिन्नः 'इदं मे भवतु इदं च मा भवतु' इति प्रथमं चिन्तयन्नेव भवति, ततः संसारदशाः प्राप्नोति। इति द्वयोरर्थः।।१२३५-६।।

और अधिक दुःख मिलता है (अतः सुख-दुःखादि पुण्यादि के सापेक्ष हैं, न कि स्वयं आत्मा के स्वरूप या केवल उसी के धर्म; एवं च वे औपाधिक अर्थात् मिथ्या हैं।)।।१२३१।।

यहाँ तक बताया कि सर्वमय बनाने वाली प्रमुख चीज़ कर्म है, तदनुसार ही अच्छी-बुरी उपाधियाँ मिलती जाती हैं। किन्तु वास्तविकता है कि कर्म इसमें अंतिम कारण नहीं है बल्कि कर्म में प्रेरित करने वाली और जिसके रहते ही कर्म सफल हो सकता है वह कामना इसकी (कर्मकी) अपेक्षा प्रधान हेतु है सर्वमयता में। अतः श्रुति ने यहाँ कहा कि रहस्यवेत्ता तो पुरुष को काममय ही कहते हैं। आत्मा जिस कामना वाला होता है वैसा निश्चय करता है और निश्चयानुसार कर्म करता है जिससे कर्मानुरूप फल पाता है। एवं च कामना को कर्मापेक्षया अधिक महत्त्वका माना गया है। इसे पुराण में समझाते हैं—

संसार के कारण का विचार करने में अत्यंत कुशल आचार्य तो यों समझाते हैं : पुरुष गुण-आसक्ति-भेद से सर्वथा रहित है। वह स्वयं—निरुपाधि रहकर—किसी कार्य या कारण को प्रारंभ नहीं करता। अविद्या से सम्बद्ध हुआ ही आत्मा कर्मादि से पूर्व कामना करता है। अविद्यासंबंध अनिर्वचनीय है क्योंकि स्वयं अविद्या से ही वह संबंध भी है! (जैसे सर्प अविद्या से दीख रहा है तो उसका पुरोवर्ती से संबंध भी तो उसी से दीख सकता है; ऐसे अविद्या-संबंध भी आविद्यक है। अविद्या अनादि है, संबंध भी अनादि है क्योंकि आत्मा से असंबद्ध अविद्या अलीक है कारण कि अज्ञात आत्मा से अतिरिक्त अज्ञान नहीं हुआ करता।) यों अविद्यासंबद्ध हुआ जीव कामना कर फिर सर्वमय होता है।। १२३२-३।। सृष्टि के आरंभ में भी इस आत्मदेव ने 'बहुत हो जाऊँ' ऐसा संकल्प कर ही स्थूल-सूक्ष्म सारे विश्व को पैदा किया। जैसे ईश्वररूप में किया वैसे ही जीवरूप में भी चेतन संसार में पैदा होते ही सर्वप्रथम 'मुझे यह मिले, यह नहीं' यों सोचता है, तभी बहुत दुःख देने वाले इस संसार में भटकना आरंभ करता है। एवं च महाकाल का जो कामना नामक फन्दा है उसी से यह जीव परवश होता है।।१२३४-६।।

१. कामपाशेति पिपठिषामि। २. व्याख्यायमाने बृहदारण्यके ४.४.—'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।।५।।'

अनर्थान्तरमुक्तं हि कामेच्छादेर्मनीषिभिः। कामोऽपि योषितां सङ्गः सङ्गेच्छा परिकीर्तितः।।१२३७।।

इच्छामात्रं ततः कामो बीजमत्र प्रकीर्तितम्। संसारपादपस्याऽस्य कारस्करसमस्य हि।।१२३८।।

पुमान् फलमयो नित्यं संसारी परिकीर्तितः। विज्ञानमय इत्यादिभेदो नैवाऽपरः पुमान्।।१२३९।।

हेतुं काममयत्वेऽस्य वदन्त्येतं महाधियः। देहधारी पुरः काममिच्छाख्यं कुरुतेऽधमः।।१२४०।।

इदं प्रियं समाप्स्यामि हास्याम्यप्रियमप्यदः। इति यादृग्भवेत्कामः तादृङ् निश्चयवान् पुमान्।।१२४१।।

यादृशं निश्चयं कुर्यात् तादृक् कर्म समारभेत्। अस्मिन् लोके परस्मिन् वा सुखदं दुःखहानिदम्।।१२४२।।

यादृशं कुरुते कर्म पापपुण्यसमाश्रयम्। शुभाशुभं ततस्तस्य फलमेति पुमान् सदा।।१२४३।।

कामपदार्थं दर्शयति—अनर्थान्तरमिति। काम इच्छा रागः स्पृहा—इति अनर्थान्तरम् एतेषां पदानाम् अर्थान्तरं भिन्नोऽर्थो न भवतीति महर्षिभिः उक्तम्। येऽपि योषितां सङ्गः काम इत्याहुः तैरपि सङ्गेच्छा एव कामः प्रोक्तः, अन्यत्र तु लक्षणयैव कामशब्दो वर्तत इत्यर्थः।।१२३७।। फलितमाह—इच्छेति। तत इच्छाया एव कामपदमुख्यार्थत्वाद् इच्छारूपः कामः संसारवृक्षस्य बीजभूतः। कारस्करः 'कुचला'—इति प्रसिद्धफलको वृक्ष इत्युक्तम्।। १२३८।। पुमानिति। अस्य संसारवृक्षस्य फलस्थानीयस्तु विज्ञानमयमनोमयादिपदोक्तो नानाविधावस्थावान् पुरुषो बोध्यः, अपरो ब्रह्मात्मपदाभिधेयावस्थाशाली पुरुषस्तु न फलं, तस्य ज्ञानाभिव्यङ्ग्यस्य नित्यसिद्धत्वादित्यर्थः।।१२३९।।

हेतुमिति। अस्य संसारिणः कामप्रधानत्व इमं हेतुं च ते विचक्षणाः प्रवदन्ति। 'इमं' कम् ? स देही प्रथमम् 'इति' आकाराम् इच्छां करोति। 'इति' किम् ? इदम् इष्टं प्राप्स्यामि, इदमनिष्टं त्यक्ष्यामि चेति। सा कामपदवाच्या इच्छा यादृशी भवति तादृशं कर्तव्यगोचरं निश्चयं क्रतुशब्दवाच्यं करोति। यादृशं च निश्चयं करोति तादृशं लोकद्वयोपकाराय कर्म करोति। यादृशं च कर्म करोति तादृशं शुभाशुभं फलमाप्नोति। इति चतुर्णामर्थः।।१२४०-३।।

विचारशील कहते हैं कि काम, इच्छा, कामना, राग, स्पृहा इत्यादि सब पर्यायवाची हैं। कहीं श्रद्धेय आचार्य कामना से स्त्री के प्रति तीव्र आकर्षण कथित मानते हैं लेकिन वहाँ भी उनका अभिप्राय स्त्रीसंगति की इच्छा से ही तो है। इसलिये इच्छामात्र ही कामना है। संसारवृक्षका बीज कामना कही गयी है। यह वृक्ष 'कुचला' नामक वृक्ष की तरह है(जिसका फल विषैला होता है)।।१२३७-८।। विज्ञानमय-मनोमय आदि भेदों वाला जो हमेशा संसरण करने वाला पुरुष है वह संसारवृक्ष के फल की जगह बताया गया है न कि परमात्मा।।१२३९।।

यह संसारी कामप्रधान है इसमें विद्वान् यह कारण बताते हैं : देहधारी यह नीच जीव पहले इच्छानामक कामना करता है कि 'इस प्रिय को पाऊँ, उस अप्रिय को छोड़ दूँ।' जैसी कामना होती है पुरुष वैसे ही निश्चय वाला बनता है और उसी के अनुसार कर्म प्रारंभ करता है जो इस लोक या परलोक में दुःखनिवृत्ति और सुख प्रदान करे। पुण्य-पाप रूप शुभ या अशुभ जैसा कर्म पुरुष करता है उससे उसका वैसा ही अच्छा-बुरा फल पाता है, यही हमेशा का नियम है।।१२४०-३।। यद्यपि यह हमेशा कर्म करता इसीलिये है कि सुख मिले और दुःख दूर हो तथापि संसार दशा में ऐसा हो नहीं सकता कि सारे दुःख मिटकर सुख-ही-सुख मिल जाये! सुख पाने के उपायरूप काम्य कर्म आदि साधन हैं जरूर लेकिन उनके अनुष्ठान में कुछ-न-कुछ कमी रहना अनिवार्य है जिससे सुख ही मिलता रहे यह संभव नहीं। इतना ही नहीं, सांसारिक सुख भी दुःखबहुल ही है! इसकी प्राप्ति से पूर्व और समाप्ति के बाद तो दुःख है ही, उपलब्धिकाल में भी ईर्ष्या-भय-विषयान्तरेच्छा-अशक्ति आदि दुःख बने रहते हैं। इसलिये भले ही कुछ एक काम्यकर्म सही-सही कर

प्राप्तये परिहाराय सर्वदा सुखदुःखयोः। कर्म यद्यप्ययं कुर्यात् तथाऽप्यत्र न तद् भवेत्।।१२४४।।

साधनादेश्च वैगुण्यात् सत्यप्यस्मिन् सदैव हि। सुखस्य दुःखबाहुल्याद् दुःखमेव व्रजेत् पुमान्।।१२४५।।

ततः कामेन संसारं दुःखरूपं समाप्नुयात्। मानसेन सदा देही दुःसहं बहुदेहजम्।।१२४६।।

मंत्रसंवादः

यत्रासक्तो भवेज्जन्तुर्भाविकर्मप्रचोदितः। ब्रह्मलोके तथा स्वर्गे भूमौ वा नरकेऽथ वा।।१२४७।।

तत्रैव कर्मणा तेन सहितो लिङ्गदेहभाक्। प्राप्नोति मरणादूर्ध्वं स्थूलदेहं न संशयः।।१२४८।।

स्वर्गादौ यदि सक्तोऽयं सुकृती देवदेहभाक्। उपभुज्य फलं स्वर्गे याति भूमौ परत्र वा।।१२४९।।

ननु सुखदुःखप्राप्तिपरिहारकामनया यागादि कुर्वतः कथं दुःखम् ? इति शङ्कां वारयति—प्राप्तय इति त्रिभिः। यद्यपि सुखदुःखयोः यथाक्रमं प्राप्तये परिहाराय च अयं कर्म करोति तथाऽप्यत्र संसारे तत् सुखप्राप्त्यादिरूपं फलं न भवति। यतः अस्मिन् काम्यकर्मरूपे साधने सत्यपि वर्तमानेऽपि कामिनामवश्यंभावी साधनवैगुण्यादिदोषो भवति। किञ्च सांसारिकसुखस्य दुःखसंसर्गनियमोऽपि भवति अतः स कामी दुःखमेव आप्नोति। इति द्वयोरर्थः।।१२४४-५।। फलितमाह—तत इति। मानसेन मनोधर्मेण कामेन दुःखमेवाप्नोतीति।।१२४६।।

'तदेव सक्तः' (बृ. ४.४.६)[1] इत्यादेर्मन्त्रस्य काममयत्वसंवादकस्य अर्थमुपबृंहयति—यत्रेति ऊनत्रिंशच्छ्लोकैः। अयं जन्तुः प्रबलैर्भाविफलैः कर्मभिः प्रेरितो मरणकाले यत्र ब्रह्मलोकादिगतभोगे सक्त उत्कटरागवान् भवति तत्रैव ब्रह्मलोकादौ स्थूलदेहं प्राप्नोति इति। कीदृशः? तेन रागोत्पादकेन कर्मणा सहितः रागाश्रयेण सूक्ष्मशरीरेण विशिष्टश्च। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१२४७-८।। स्वर्गादाविति तत्र यदि देवलोकादौ सक्तो भवति तदा देवपितृगन्धर्वादिदेहेन तत्तल्लोकभोगान् भुक्त्वा भोगान्ते प्रोदितकर्मानुसारेण पृथिव्यादिलोकेषु स्थूलदेहं लभत इत्यर्थः।।१२४९।।

लें पर उनसे हमें जो सुख मिलेगा वह भी है दुःख ही। एवं च देहधारी आत्मा अपने मन में होने वाली कामना से सदा इस संसार को ही पाता है जिसका स्वरूप वह असह्य दुःख ही है जो जन्मप्रवाह के बहुत शरीरों में मिलता रहता है।।१२४४-६।।

पुरुष की कामप्रधानता में स्वयं वेद ने मंत्र का प्रमाण दिया है। मंत्र में कहा है—जीव अपने कर्मों सहित वहीं जाता है जहाँ इसका लिंग अर्थात् मन अत्यधिक आसक्त होता है। जो कर्म यहाँ अर्जित करता है उस कर्म का फल भोगकर उस भोगभूमिरूप लोक से इस कर्मभूमिरूप लोक में लौट आता है ताकि और कर्म करे! कामनायुक्त आत्मा का यह चक्र है। इस मंत्र का पुराण में व्याख्यान करते हैं।

जब जन्तु मरने लगता है तब अगले जन्म में भोगे जाने वाले कर्मों के अनुसार इसकी आसक्ति प्रकट होती है(जैसा श्लोक ६४९ आदि में विस्तार से बता चुके हैं।) उस समय जंतु ब्रह्मलोक, स्वर्ग, भूमि, नरक आदि जहाँ कहीं की ओर आकृष्ट होता है, मरकर वह उसी जगह स्थूल शरीर प्राप्त करता है। (पापवश नरक की ओर भी आकर्षण होता है, यह कह चुके हैं। देखा भी जाता है कि लोग अच्छे-भले रास्ते छोड़कर ऐसे मार्ग अपनाते हैं जो स्पष्ट ही दुःखद हैं।) लिंगदेह को लिये हुए प्राणी जब जन्मांतर की ओर जाता है तब कर्म उसके साथ जाते हैं। यदि जीव के सत्कर्म

१. 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानः।'

भूमौ चेद्भारते वर्षे स्वर्गी त्रैवर्णिको भवेत्। स्वर्गकर्मक्षये सोऽयं पूर्ववत् कुरुते हि तत्।।१२५०।।
स्वर्गाद् भूमिं ततः स्वर्गं स्वर्गाच्च पुनरेव ताम्। प्रायशो याति मनुजः क्वचित्तु नरकादिषु।।१२५१।।
पाताले नरके तद्वद् ब्रह्मलोके तथा दिवि। भूमौ च विविधान् देहान् याति काममयः पुमान्।।१२५२
दिवसे यादृशी यस्य वासना वर्तते यथा। तादृशं शयनं प्राप्तो देहमाप्नोति सर्वदा।।१२५३।।
एवं जन्मान्तरे यस्य यादृशी वासना भवेत्। तादृशं वपुराप्नोति देहपातात् परं पुमान्।।१२५४।।
कर्मभिः पुण्यपापाख्यैः प्रेरितस्तन्मनाः पुमान्। देहान्ते चिन्तयेद्यत्तत् प्राप्नुयात् समनन्तरम्।।१२५५।।

भूमाविति। स स्वर्गीयभोगक्षये भूमौ जायमानो यदि त्रैवर्णिको भवेत् तदा स पूर्वसंस्कारेण पुनः स्वर्गप्रापकं कर्म करोति।।१२५०।। केवलकर्मिणामेतद् यातायातं घटीयन्त्रवदनुवर्तत एवेत्याह—स्वर्गादिति। ततः भूमेः, तां भूमिम्। मनुज इष्टापूर्तकारीति शेषः। क्वचित् पापाधिक्ये।।१२५१।। कर्मरूपबीजस्य तत्तदारम्भे कामात्मकसलिलसंयोग एव प्रयोजक इत्यावेदयति—पाताल इति।। १२५२।। वासनात्मना चित्ते स्थितस्य कामस्य मरणकालेऽभिव्यक्तस्य शरीरान्तरारम्भकत्वं स्वप्नदृष्टान्तेनोपपादयति—दिवस इति। यस्य पुंसो यादृशी यद्विषयिका वासना रागादिसंस्काररूपा यथा उत्कटत्वादिरूपेण दिवसे वर्तते स शयनं स्वप्नं प्राप्तः तादृशं देहं सृजते। एवं देहपातानन्तरमपि। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१२५३-४।। एतदेव स्फुटयति—कर्मभिरिति। तन्मनाः स कामो मनसि यस्य स तथा, देहान्ते कर्मानुसारेण यद् यत् चिन्तयेत् तत् तत् प्राप्नुयाद् इति।।१२५५।।

फलोन्मुख हैं तो वह स्वर्गादि में आसक्त होता है जिससे मरकर वह देवतादि शरीर पाता है। स्वर्गादि में कर्मफल भोगकर जब आगे बढ़ता है तब पुनः फलोन्मुख कर्मानुसार पृथ्वी या अन्य लोकों में जन्म प्राप्त करता है। स्वर्ग से आने वाला यदि भूमि पर भारत देश में त्रैवर्णिक पैदा होता है तो पूर्वसंस्कारों से पहले की तरह पुण्य करे यही सामान्यतः होता है।।१२४७-५०।। जो जीव केवल कर्मों पर आश्रित हैं उनका रेहट की तरह यही पर्यटन क्षेत्र है—स्वर्ग से पृथ्वी, यहाँ से स्वर्ग, वहाँ से फिर पृथ्वी। प्रायः इसी खण्ड में भ्रमण होता है लेकिन कभी जब पाप बढ़ जायें तो नरकादि में भी चक्कर लगा आता है।।१२५१।।

यदि सुखादिप्रद विषयरूप फलों के प्रति बीज है कर्म तो उसे कामनारूप जल का सिंचन चाहिये। काममय पुरुष ही पाताल, नरक, ब्रह्मलोक, स्वर्ग, भूमि आदि में नाना प्रकार के शरीर पाता है।।१२५२।। प्रायः देखा गया है कि जाग्रत् में जिस व्यक्ति की जिसके बारे में जैसी उत्कट आदि वासना—अर्थात् रागादिसंस्कार—होती है, स्वप्न में वह वैसा ही शरीर प्राप्त करता है। (यहाँ जाग्रत् उसी दिन का नहीं समझना चाहिये जिस रात सपना आता है। यहाँ तो कह रहे हैं कि सपने का निर्माण प्रमुखतः उन वासनाओं से होता है जो जाग्रत् में बटोरी हुई हैं। क्योंकि 'निर्माण' है इसलिये हू-ब-हू पूर्वदृष्टादि दीखे ऐसा नहीं किन्तु जो दीखता है उसका कारण पूर्वानुभूत की वासनायें है। जैसे मिट्टी है तो नये-नये बर्तन बना सकते हैं ऐसे वासनाओं से सपने में नये विषय बन जाते हैं। स्वप्नानुभव वासनाजन्य हैं इसी के आधार पर आधुनिक मनोविश्लेषक प्रयोगादि करते हैं। उन्हें इस दृष्टि से भी विचार करना चाहिये कि वहाँ जीव की रचनात्मकता भी प्रकट होती है—श्रुति उसे वहाँ 'कर्ता' बताती है— न कि केवल भोक्तृता। इस दृष्टि से प्रयोग करें तो संभवतः प्रेरणापूर्वक स्वप्नों पर जीवका स्वातन्त्र्य स्थापित किया और बढ़ाया जा सकता है। सपनों में जब स्वतंत्रता होगी तो जाग्रत् में भी वह आयेगी ही क्योंकि 'मानस-शारीरिक रोगों' के अनुसंधान व्यक्त कर रहे हैं कि मानस और बाह्य जगत् में कम-से-कम जीव अर्थात् शरीरधारी के परिप्रेक्ष्य में कोई ऐसा दृढ विभाजन नहीं है जो दोनों को पृथक् रख सके।) इसी तरह जिस पुरुष की पूर्व जन्म में जैसी वासना होती है, शरीर छूटने के बाद अगला जन्म वैसा ही वह पा लेता है। पुण्य-पाप कहलाने वाले कर्मों द्वारा प्रेरित हुआ काममय पुरुष शरीर छोड़ते हुए जिसका चिंतन करता है, अगले जन्म में वह प्राप्त कर लेता है।।१२५३-५।। मरने पर ही पूर्व शरीर के आरंभक कर्म समाप्त होते हैं और

पूर्वकर्मक्षयस्तस्य मरणे सति जायते। अनारम्भस्तथा भाविकर्मणो मरणात् पुरा।।१२५६।।
अस्मिन्नवसरे देवः कर्मकाराविनिर्गतः। सत्यसङ्कल्प आत्माऽयं चिन्तयेद् यद् भवेद्धि तत्।।१२५७।।
गृह्णीयाद् बहुधा देहान् नटो यद्वद् यदृच्छया। आत्मा तथैव संसारी कामाद् देहान् अवाप्नुयात्१२५८
कामिनो निश्चयो भूयाद् निश्चितस्यापि कर्मिता। कर्मिणः कामिता चैवं क्रमेणैतत् प्रवर्तते।१२५९
कर्मानुसारतो भूयाद् इच्छा जन्तोः शुभाऽशुभा। इच्छानुसारतो ज्ञेयाः संस्कारा बुद्धिहेतवः।।१२६०।।

नन्वेवं चिन्तितसिद्धिर्मरणात् पूर्वं कुतो न भवतीति चेत्? प्रारब्धफलकर्मलक्षणप्रतिबन्धकसत्त्वादित्याह—पूर्वेति। तस्य जन्तोः मरणकाले पूर्वकर्मणः प्रारब्धाख्यस्य क्षयो भवति। मरणात् पूर्वं तु भाविफलकर्मणो योऽनारम्भः फलाऽजनकत्वरूपः स तथा प्रारब्धकर्मणः प्रतिबन्धकतयैवेत्यर्थः।।१२५६।। एतदेव स्फुटयति—अस्मिन्निति। अस्मिन्नवसरे मरणकाले प्रारब्धकर्मरूपायाः काराया बन्धनागाराद् विनिःसृतो मुक्तः सन् सत्यसङ्कल्पत्वाद् यद् इच्छति तद् आप्नोतीत्यर्थः।।१२५७।। गृह्णीयादिति। यदृच्छया स्वैरितया, स्वातन्त्र्येणेति यावत्।।१२५८।।

काममूलकं संसारचक्रमभिनयति—कामिन इति त्रिभिः। सकामस्य कर्तव्यगोचरो निश्चयो भवति, तादृशनिश्चयवतश्च कर्मानुष्ठानं, तादृशकर्मानुसारेण पुनः कामोदय इति क्रमेण एतत् संसारचक्रं प्रवर्तत इत्यर्थः।।१२५९।। कामजन्यस्य कर्मणः पुनः कामोदयहेतुतामेव विशदयति—कर्मेति। चित्तभूमौ द्विविधाः संस्कारास्तिष्ठन्ति— कर्मजन्याश्च, ज्ञानजन्याश्च। तत्र कर्मजन्यसंस्कारैः स्वफलारम्भोपपत्तये इच्छा तावज्जन्यते।

मरने से पूर्व भाविकर्म फलजनक नहीं बन पाते। (यों प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध होने के कारण जीवित काल में हम कामनानुसार शरीरान्तर नहीं पा सकते। जो तो कामनादि मनोवृत्तियों के कारण स्थूल शरीर में अच्छे-बुरे परिवर्तन परिलक्षित होते हैं वे प्रारब्धकर्मों के अनुसार ही अतः कुछ सीमाओं में ही हेर-फेर देखी जाती है, ऐसा नहीं कि कामनादिसे जीवित काल में ही मनुष्य मच्छर बन जाये!)। मरने के सर्वसुलभ अवसर पर ही आत्मदेव प्रारब्धकर्म के कारागार से छूटता है। तब सत्यसंकल्प हुआ आत्मा जो चाहता है वही पा लेता है।(पूर्व में कह चुके हैं कि जीव तब ईश्वर से तादात्म्य पा जाता है और ईश्वर सत्यसंकल्प है ही। वस्तुतस्तु जीव का कारावास इतना दीर्घ है कि कारागृह ही बदलते हैं, उसकी सजा समाप्त नहीं हो पाती। प्रारब्ध की जेल से छूटते ही वह अगले शरीर में भोग्य कर्मों की हिरासत में चला जाता है और उन्हीं के अनुसार इच्छा करता है जिससे नये प्रारब्ध की जेल में भर्ती हो जाता है। क्योंकि मरते समय की वह इच्छा कर्मानुसार है इसलिये पूरी होती है, इतने से ही जीव को तब सत्यसंकल्प कह दिया जाता है।) जैसे नट अपनी स्वतंत्र तात्कालिक इच्छा से नाना प्रकार के शरीर धारण कर लेता है वैसे ही संसारी आत्मा अपनी मरणकालिक इच्छा से शरीर पा लेता है।।१२५६-८।।

कामना जिसका मूल है उस संसार-चक्र का यह हाल है—कामी को कामपूर्ति के अनुकूल कर्तव्य के बारे में निश्चय होता है, निश्चय वाला वैसा कर्म करता है, कर्म से एकत्र सामग्री के अनुसार वह फिर कामना वाला बन जाता है! यों यह संसार चक्र चल रहा है। (यद्यपि चक्र में काम या कर्म किसी एक को मूल कहना नहीं बनता तथापि सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि कर्ममयता की अपेक्षा काममयता हमारे ज्यादा प्रत्यक् है— कर्ता से भोक्ता भीतरी है 'ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा'—अतः उसमें हम ज़्यादा स्फुट होने से उसे नियंत्रित करना हमारे लिये अधिक सरल है बजाये कर्म नियंत्रित करने के। यद्यपि कामना से कर्मों पर नियंत्रितता की तरह कर्मों से कामनाओं पर नियंत्रण भी देखा जाता है—कर्माभ्यास से वैसी ही कामना होने लगती है—तथापि कामना पर बुद्धि का भी नियंत्रण है जबकि कर्म पर बुद्धि कामना द्वारा ही नियंत्रण करती है अतः कामना को काबू में करने के शम-दम रूप देहप्रधान और विवेक-वैराग्य रूप बुद्धिप्रधान दो उपाय हैं जिस कारण सरलता संभव है। अध्यात्मशास्त्र चक्र रोकने की दृष्टि से प्रधानता का निर्धारण करता है अतः कामना ही प्रधान है।)।।१२५९।। चित्त में दो तरह के संस्कार होते हैं— कर्मजन्य और ज्ञान

भाविबुद्ध्यनुसारेण कुर्यात् कर्म शुभाशुभम्। भूयाच्छुभाशुभेष्विच्छा तस्य कर्मानुसारतः।।१२६१।।

काम एव ततो ज्ञेयो जाते देहेऽत्र कारणम्। क्रतोः कर्मकरस्याऽस्य निश्चयापरसंज्ञिनः।।१२६२।।

एतस्मिंस्तत एवाऽयं संसारे कारणं स्मृतम्। काम इच्छाभिधो यस्य तृप्तिकृद् नैव किञ्चन।।१२६३

कामो दुष्पूरः

यत् पृथिव्यं व्रीहियवं यच्चास्ति बहु किञ्चन। एकस्याऽपि न पर्याप्तं पुंसः कामाग्निधारिणः।।१२६४।।

दरिद्रो भगवानिन्द्रः सदा यस्माद् न तस्य सः। ब्रह्मलोकः समग्राणामानन्दानां हि योऽवधिः।१२६५

कामाग्नेस्तत एतस्य नेन्धनं विद्यते भुवि। स्वर्गे वा ब्रह्मलोके वा दहतो जगतां त्रयम्।।१२६६।।

ये तु बुद्धिहेतवो ज्ञानारम्भका ज्ञानजन्याः संस्काराः ते यत्रेच्छा तदनुकूलकर्तव्यादिज्ञानसन्तानारम्भका बोध्या इत्यर्थः।।१२६०।। भावीति। भाविबुद्धिः कर्तव्यनिश्चयः, तदनुसारेण कर्म करोति। तदनुसारेण पुनः इच्छा जायत इत्यर्थः।।१२६१।। फलितमाह—काम एवेति द्वाभ्याम्। तस्माद् देह उत्पन्ने सति कर्मकरस्य कर्मारम्भप्रयोजकस्य क्रतोः सङ्कल्पस्य कर्तव्यनिश्चयरूपस्य कारणभूतः काम एव बोध्य इत्यर्थः।।१२६२।। एतस्मिन्निति। ततः च एतस्मिन् संसारे काम एव कारणं बोध्यम्। स च काम इच्छारूपो यस्य तृप्तिकृद् उपशामकं लौकिकं किञ्चिद् न अस्तीत्यर्थः।।१२६३।।

कामस्य विषयैरनुपशाम्यतावादिपुराणवाक्यमर्थतः पठति—यदिति। सर्वमन्नं हिरण्यादिकं च वस्तुजातम् एकस्यापि पुंसः तृष्णाशमक्षमं न भवतीत्यर्थः।।१२६४।। अत्रार्थे त्रिलोकीराज एव ब्रह्मलोकानन्दकामनया तप्यमानमुदाहरणमित्याह—दरिद्र इति। तस्य इन्द्रस्य, सः प्रसिद्धो ब्रह्मलोको न अस्ति।।१२६५।। यदा च इन्द्रस्य इयं दशा तदा किमु वाच्यमन्येषां कामदुःखमित्याह—कामाग्नेरिति। यत इन्द्रेऽपि नोपशान्तिः तत एवं ज्ञायते—यद्यपि प्रसिद्धाग्नेः घृतकुल्यादिकं तर्पकमिन्धनं महाभारते प्रसिद्धं, तथापि त्रिलोकीं दहतः कामाग्नेः तर्पकम् इन्धनं कुत्रापि न अस्ति—इति।।१२६६।।

जन्य। कर्मजन्य संस्कार कर्मफल भुगवाने के अनुकूल शुभ-अशुभ इच्छायें जन्तु के मानस में पैदा करते हैं। ज्ञानजन्य संस्कारों का पता इच्छा के अनुसार चलता है अर्थात् इष्ट के अनुकूल जो कर्तव्यादि, उनके ज्ञान की धारा वे संस्कार बहाते हैं। (तात्पर्य है कि ज्ञानसंस्कारों पर निर्भर करता है हम किसे इष्ट समझें और इष्टविषयक इच्छा के उद्बोधन में कारण कर्म है—पुण्य होगा तो मिलने वाले की ही इच्छा होगी, पाप हुआ तो उसकी इच्छा होगी जिसे मिलना नहीं है।)।।१२६०।। भावी अर्थात् कर्तव्य के निश्चय के अनुसार जन्तु शुभ या अशुभ कर्म करता है जिसके फलस्वरूप पुनः अच्छी-बुरी इच्छायें होती हैं।।१२६१।। इस तरह, शरीर उत्पन्न हो चुकने पर कामना ही उस निश्चय नामक क्रतु का कारण समझनी चाहिये जो कर्म का आरंभ कराता है। अतः इस संसार के प्रति कामना—जिसे इच्छा भी कहते हैं—कारण है। उस कामना को तृप्त करने वाला कुछ नहीं है।।१२६२-३।।

पुराणों में स्पष्ट किया है कि सारी पृथ्वी पर जौ-चावल एवं और बहुत कुछ जो है, कामनारूप अग्नि को स्वयं में धारण करने वाले एक पुरुष के लिये भी वह सब पर्याप्त नहीं है। (अर्थात् सारे भोग्य एक को मिल जायें तो भी उसे लगेगा नहीं कि ये पर्याप्त हैं!)।।१२६४।। भगवान् इंद्र भी हमेशा दरिद्र ही हैं क्योंकि उन्हें वह ब्रह्मलोक प्राप्त नहीं है जो सब आनंदों की सीमा है।।१२६५।। इसलिये तीनों लोकों को जलाने वाली कामाग्नि को तृप्त कर देने लायक ईंधन पृथ्वी पर क्या, स्वर्ग और ब्रह्मलोक में भी नहीं है।। १२६६।। सूक्ष्मशरीररूप गाड़ी पर कामनारूप बख्तर चढ़ा

कामकञ्चुकपुंयानमभेद्यं सर्ववस्तुभिः। आश्रित्य त्रिषु लोकेषु सञ्चरत्येष सर्वदा।।१२६७।।

कामो हि मानसी वृत्तिः प्रथमा परिकीर्तिता। जगत्पटस्य निर्माणसूत्रभूता मनीषिभिः।।१२६८।।

अविद्या कामद्वारा हेतुः

अविद्या मन आश्रित्य वर्तते जयकाशिनी। मनः कामं समाश्रित्य जयेद् विश्वं चराचरम्।।१२६९।।

इच्छाहीनेषु किं कुर्याद् मनोवृत्तिसहस्रकम्। अविद्या वाऽपि जननीविश्वस्यात्मविमोहिनी।।१२७०।।

इच्छाहीनेन विज्ञातं सुखदुःखप्रदं भवेत्। मनोऽपि न भवेत्तद्वद् निश्चयस्याऽपि कारणम्।।१२७१।।

सन्तोऽप्यसन्त एव स्युः प्राणाः श्वासादिहेतवः। दशेन्द्रियाणि भूतानि पञ्चाऽपि वपुषा सह।१२७२

काम एव च संसारस्य विवेकाद् बिभ्यतस्त्राणकृद् इति रूपकेण दर्शयति—कामेति। एष जीवः कामात्मकेन कञ्चुकेन वर्मणा रक्षितं पुयानं शिबिकातुल्यं वाहनं सूक्ष्मशरीररूपम्, अत एव सर्ववस्तुभिः विवेकराजसैन्यैः अभेद्यम् आश्रित्य त्रिलोकीवर्तिषु चतुरशीतिलक्षयोनिषु भ्रमतीत्यर्थः।।१२६७।। अत एव च प्राधान्याद् मनोवृत्तीनाम् अभिनायिकायां 'कामः सङ्कल्प' इत्यादिकायां श्रुतौ कामाख्यवृत्तेः प्रथमकीर्तनमित्याह—कामो हीति। हि यतः कामरूपा वृत्तिः जगद्रूपस्य पटस्य निर्माणसूत्रस्थानीया, अत एव श्रुतौ प्रथमं कीर्तितेत्यर्थः।।१२६८।।

नन्वन्यत्र अविद्याया मनसश्च संसारदुःखकारणेषु प्राधान्यमुच्यते, अत्र कामस्य प्राधन्योक्तौ को हेतुरिति चेत्? तयोरपि कामद्वारैव दुःखप्रयोजकत्वमित्याह—अविद्येति। संसारकारणेषु प्राधान्यरूपेण जयेन काशिनी प्रसिद्धिमती यद् अविद्या वर्तते तत्र मन एवालम्बनत्वेन प्रयोजकम् । मनोऽपि उक्तं जयं कामरूपवृत्तिप्रभावाद् एव प्राप्नोतीत्यर्थः।।१२६९।। कामस्य दुःखनिदानत्वं व्यतिरेकेण स्फुटयति—इच्छेति चतुर्भिः। इच्छाहीनेषु जनेषु सवृत्तिकं मनो वा अविद्या वा विश्वजननी किं दुःखं कुर्याद् इति सम्बन्धः। न हि सुषुप्तौ समाधौ च वर्तमानयोः अविद्यामनसोः दुःखजनकत्वमिति भावः।।१२७०।। इच्छाहीनेनेति। यत इच्छाहीनेन विज्ञातम् अपि विषयजातं तत्र सुखादिप्रयोजकं न भवति। तथा इच्छाहीनस्य मनः कर्तव्यगोचरनिश्चयं प्रति कारणं न भवति इति।।।१२७१।। सन्त इति। तथा इच्छाहीनस्य श्वासप्रश्वासादिव्यापारशालिनः प्राणापानादयः सन्तो वर्तमाना अपि असन्तो दुःखाऽप्रयोजकत्वेन अविद्यमानसमाः। तथा दशेन्द्रियाणि, पञ्च भूतानि, शरीरं च—एतानि असत्प्रायाणि

हुआ है जिससे वह विवेक सेना के सभी अस्त्रों से अभेद्य है! यह जीव उस बख़्तरबंद गाड़ी में चढ़कर तीनों लोकों में चौरासी लाख तरह के शरीरों में बेखटके हमेशा घूमता रहता है।।१२६७।। जगद्रूप वस्त्र का निर्माण करने वाला प्रधान धागा कामना नामक मनोवृत्ति है अतएव मनके व्यापारों का उल्लेख श्रुति ने कामना से प्रारंभ किया है।।१२६८।।

यद्यपि समस्त विक्षेप का मूल कारण अविद्या है तथापि वह दुःखद रूप से कार्यकारी तभी होती है जब मनका सहारा लेती है। माया की विजयी रूप से प्रसिद्धि तभी है जब वह मनआकार लेकर आक्रमण करती है। ऐसे ही यद्यपि बंध-मोक्ष का कारण कहलाने वाला मन चराचर विश्व को अपने नियंत्रण में रखता है तथापि तभी जब कामास्त्र का सफल प्रक्षेप कर पाता है। जिस व्यक्ति में इच्छा नहीं है उसे हजारों मनोवृत्तियाँ और आत्मा को मोह में डालकर जगत् पैदा करने वाली अविद्या क्या दुःख दे सकते हैं! (इसी से समाधि में अविद्या और मन रहकर भी योगी को कोई दुःख नहीं दे पाते।)। जिस व्यक्ति में कामना नहीं उसे ज्ञायमान विषय भी सुख-दुःख नहीं दे पाते और उसका मन भी किसी विषयप्राप्ति आदि प्रवृत्ति का निश्चय नहीं कराता है। उसके लिये तो श्वास-प्रश्वासका कारणभूत प्राण, दसों इंद्रियाँ, पाँचों महाभूत और शरीर—ये होते हुए भी नहीं हैं क्योंकि इनसे उसे कोई सरोकार नहीं है।।१२६९-७२।। जवानी की

तथा युवतयो नूनं यौवनाऽग्निप्रदीपिताः। शत्रवः क्रूरकर्माणः कर्मणा मनसा गिरा। धर्मः सुखप्रदस्तद्वद् अधर्मो दुःखदस्तदा।।१२७३।।

सर्वं सर्वकरं पुंसामिच्छासत्त्वेन हेतुना। अनिच्छतो हि के दाराः पुत्रा लोकाश्च देहिनः।।१२७४।।

तस्मादिच्छैव संसारो नान्यः कश्चन विद्यते। इच्छाविरहितो जन्तुर्जीवन्मुक्तसमो भवेत्।।१२७५।।

इच्छया विविधं दुःखम् उच्चावचशरीरजम्। अस्माभिर्दृश्यते यादृक् तादृक् कामी समाप्नुयात्।।१२७६।।

अकामो निर्दुःखः

दैवयोगाद् यदा कामरहितो जायते पुमान्। स दुःखं नेदमाप्नोति कथञ्चित् कर्हिचित् क्वचित्।।१२७७।।

बोध्यानीत्यर्थः।।१२७२।। तथेति। तथा युवत्यादयोऽपि इच्छाहीनस्य अकिञ्चित्करा इत्यर्थः।।१२७३।। अन्वयमप्याह—सर्वमिति। सर्वं कारणजातं सर्वकरं सर्वस्य कार्यस्याऽऽरम्भकं यद् भवति तत्र सर्वत्रेच्छायाः सत्त्वमेव प्रयोजकं यतोऽनिच्छन्तं प्रति दारादीनाम् अकिञ्चित्करत्वं लोकेऽपि प्रसिद्धमित्यर्थः।।१२७४।। फलितमाह—तस्माद् इति। स्पष्टम्।।१२७५।। संसारप्रकरणोपसंहारकस्य 'इति नु कामयमान' इति वाक्यस्य (४.४.६.) अर्थमाह—इच्छयेति। यादृशमिह लोके दृश्यमानं दुःखं कामी प्राप्नोति तज्जातीयं नानायोनिषु प्राप्नोतीत्यर्थः।।१२७६।।

अथ वर्णितसुषुप्तेर्दार्ष्टान्तिकं मोक्षं प्रतिपादयतः'अथ' इत्यादेर्ग्रन्थस्य (४.४.६)[१] अर्थं प्रपञ्चयंस्तत्रापि 'एति' इत्यन्तस्य अर्थं दर्शयति—दैवेति चतुर्विंशतिश्लोकैः। दैवयोगात् पुण्योदयकृतो यः प्रतिबन्धकदुरितापायः तद्योगाद् यदा कामरहितो भवति तदा संसारदुःखं न अनुभवति किन्तु मुक्तो भवतीत्यर्थः।।१२७७।। तच्च कामरहितत्वं मुख्यं ब्रह्मात्मविद्ययैव भवतीति प्रदर्शके 'अकाम' इत्यादिविशेषणसमुदाये पूर्वं पूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्य हेतुतां विशदयति—कामशून्य इति चतुर्भिः। योऽयं सर्वदुःखाऽभावयोग्यः पुमान् उक्तः स कामैः शून्यो रहितो भवेत्।

गर्मी से तपी युवतियाँ, कर्म, मन और वाणी से क्रूर चेष्टाओं वाले शत्रु, सुखफलक पुण्य, दुःखफलक पाप—ये सब निष्काम के लिये कोई मायने नहीं रखते।।१२७३।। सभी पदार्थ पुरुष के प्रति कुछ भी तब कर सकते हैं जब पुरुष को इच्छा हो। जिसे इच्छा नहीं उस देही के लिये पत्नी, पुत्र व लोक सब अकिंचित्कर हो जाते हैं। इसलिये इच्छा ही संसार है, और कोई नहीं। इच्छारहित व्यक्ति जीवन्मुक्त जैसा हो जाता है। हम लोगों को जैसा विविध दुःख अनुभव में आ रहा है, ऊँचे-नीचे शरीरों में उत्पन्न होने वाला वैसा दुःख कामनावान् को इच्छा द्वारा मिलता रहता है। (अर्थात् कामी चाहे जिस योनि में जाये, दुःखी रहेगा।)।।१२७४-६।।

यों सकामकी अवस्था का वर्णन कर श्रुति ने कहा है कि जो कामना नहीं करता, अकाम है, निष्काम है, वही आप्तकाम और आत्मकाम है। उसके प्राण नहीं निकलते। वह ब्रह्म रहते हुए भी ब्रह्म पा लेता है। इस श्रुतिभाग को पुराण में सुस्पष्ट करेंगे :

दैवयोग से—सौभाग्य से, ईश्वरानुग्रह से, विवेक सफल होने पर —जब पुरुष कामना से रहित हो जाता है तब उसे यह दुःख कभी, कहीं, किसी तरह भी नहीं मिलता। सभी दुःखों से बचा रहने वाला जो यह पुरुष है वह कामनाओं से रहित होता है क्योंकि वैराग्य से उसकी सारी कामनायें निकल गयी हैं। यह वैसा निष्काम होता है जैसा सुषुप्तिदशा में सभी होते हैं। (निष्काम होने से ही सभी तब परमानंद पाते हैं। बाकी तो जब उठते हैं तब कामनायें पुनः आ जाती हैं, इसने वैराग्याग्नि से कामबीज भून दिये अतः सुषुप्ति में अविद्यामय हो जाने पर उनके पुनः प्ररोह की संभावना नहीं।) क्योंकि इस अकाम पुरुष ने पुत्रादि सभी कमनीय पदार्थ पूरी तरह पा लिये हैं जो सकाम व्यक्ति को कभी नहीं मिल

१. 'अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति; ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।'

कामशून्यो भवेद्योऽयं यस्मात् कामविनिर्गमात्। वैराग्येण यथा सुप्तौ निष्कामो जायते पुमान्।।१२७८।।

निष्कामोऽनेन यत् पुंसा प्राप्ताः कामाः सुतादयः। साकल्येन सदा नैव प्राप्यन्ते कामिना हि ते।।१२७९।।

आत्मकामो यतोऽयं स्याद् निष्कामः पुरुषोत्तमः। प्राप्ताः सदात्मना सर्वे यतः कामाः सुतादयः।।१२८०।।

आत्मकामस्ततो ज्ञेय आप्तकामः पुमानिह। आप्तकामस्तु निष्कामो निष्कामोऽकाम ईरितः।।१२८१।।

कदाचित् किञ्चिदेवाऽत्र कामिना तनयादिकम्। प्राप्यते नश्वरं भूयः कामाग्नेर्दीप्तिकारणम्।।१२८२।।

आत्मकामस्तथा नैव प्राप्नोत्येतत् सुतादिकम्। किन्तु विश्वमहं कृत्स्नं प्राप्नोत्येव सदैव सः।१२८३

कुतः? यस्माद् वैराग्येण सर्वकामविनिर्गमाद् निष्क्रान्ता कामा यस्माद् इति व्युत्पत्तिसमन्वयाद् हेतोः निष्कामो जायते भवति, यथा सुषुप्तौ निष्कामत्वं वर्णितं तद्वद् इत्यर्थः।।१२७८।। ननु निष्कामपदोक्तः सर्वकामविनिर्गम एव तस्य कुत इति चेद्? आप्तकामपदोक्तात् सर्वकामलाभाद् हेतोरित्याह—निष्कामोऽनेनेति। यद् यतः अनेन पुंसा सर्वे पुत्रादयः कामाः काम्यमानपदार्थाः साकल्येन प्राप्ताः ये सकामेन सदा नैव प्राप्यन्ते तस्मादयं निष्काम इति सम्बन्धः। न हि प्राप्तेऽर्थे कस्यापीच्छोदेतीति भावः।।१२७९।। तत्र हेतुरात्मकामत्वमित्याह—आत्मेति। यतोऽयं निष्कामः पुरुषोत्तमः आत्मकामः तत एव आप्तकाम इति पूर्वार्द्धसम्बन्धः। ननु कथमात्मकामत्वम् आप्तकामत्वे हेतुः इति चेद्? ब्रह्मविद्यया लब्धस्यात्मनः सर्वरूपत्वादित्याह—प्राप्ता इति। यतः सद्रूपेण सर्वविवर्तोपादानेन, अत एव भूमानन्दरूपेण आत्मना सर्वे काम्यमाना भावाः तेन विदुषा लब्धाः—इत्युत्तरार्द्धार्थः।।१२८०।। तस्मादात्मकामत्वमेव परम्परया कामाभावरूपेऽकामत्वे हेतुरिति फलितमाह—आत्मेति। स्पष्टम्।।१२८१।। आत्मकामत्वस्य अकामत्वं प्रति हेतुतामेव स्फुटयति—कदाचिदिति। कामिना पुरुषेण यत् किञ्चित् प्राप्यते तत् तृष्णाशामकं न भवति, किन्तु तृष्णां वर्द्धयत्येव, विकारित्वेन अनित्यत्वादित्यर्थः।।१२८२।। आत्मेति। आत्मकामः तु विद्वान् एतत् सुतादिकं विषयजातं तथा कामिवत् कर्मसाध्यतया पराग्भावेन च न प्राप्नोति; किन्तु 'विश्वं सर्वम् अहं भवामि' इति आकारया विद्यया कृत्स्नं विषयजातं सदैव आत्मभावेन प्राप्नोति इत्यर्थः।।१२८३।।

पाते, इसलिये यह निष्काम है—इसकी सारी कामनायें निकल गयी हैं।।१२७७-९।। पुरुषों में श्रेष्ठ यह निष्काम व्यक्ति आत्मकाम है—आत्मा से अन्य के प्रति कामना नहीं रखता—इसीलिये यह आप्तकाम है—इसने सारे काम्य विषय पा लिये हैं। आत्मा को ही चाहकर श्रवणादि करने पर इसे तत्त्वज्ञान हो गया है जिससे इसने सद्रूप से सुतादि सारे काम्य विषय प्राप्त कर लिये हैं। (जिसे पता चल गया कि काम्य पदार्थ एक सद् के विवर्तमात्र हैं और उस सत् को उसने अपने से एक जान लिया उसके लिये अब न मिला हुआ क्या रह गया ?) इसलिये आत्मकाम पुरुष को ही संसार में आप्तकाम समझना चाहिये। आप्तकाम ही निष्काम होता है, वही अकाम कहलाता है।(आत्मकाम अर्थात् आत्मान्य की इच्छा के हेतुभूत अज्ञान से रहित होने पर आप्तकाम होता है अर्थात् सभी कुछ मिला हुआ हो जाता है। तभी सारी कामना निकलती है। उसे कामना 'दबानी' नहीं पड़ती, विषयाभाव के निश्चय से कामना समाप्त हो जाती है। जब वासना रूप से भी कामना न रहे तभी वह अकाम होता है।) कामना वाले को जो पुत्रादि विषय मिलते हैं वे कभी-कभार और थोड़ी मात्रा में उपलब्ध होते हैं। न केवल वे विषय नाशवान् होते हैं वरन् पुनः कामाग्नि को भड़का जाते हैं। आत्मकाम को सुत आदि विषय यों नहीं मिलते! उसे वे सदा के लिये यों मिलते हैं—'सारा विश्व मैं हूँ'।।१२८०-३।।

सन्तोषसुखम्

अपि दुःखं सुखं नृणां धनिनां तोषिणां तथा। विषमं सर्वदा तद्वद् दुःखादुःखकरं महत्।।१२८४

इतश्चेतश्च धावन् स धनी राजादिकाज्जनात्। दुःखं बहुविधं प्राप्य सुखमाप्नोति मानवः।।१२८५।।

दरिद्रस्तुष्टहृदयो दुःखं किञ्चिन्न गच्छति। यथाप्राप्ताशनो लोके मोदते देवराजवत्।।१२८६।।

न तस्यास्ति भयं किञ्चिद् राजतश्चोरतोऽपि वा। यथाऽत्र धनिनो नित्यं विद्यते सततं भयम्।।१२८७

अल्पायासेन सन्तोषः सुखं यच्छति देहिनम्। आयासान्महतोऽसाध्यात् कामो यच्छति वा न वा।।१२८८।।

किञ्च तिष्ठतु ब्रह्मात्मविद्यया कामाभावस्य परमानन्दहेतुत्वम्, लोकेऽपि कामाभावलक्षणसन्तोषवताम् आनन्दोत्कर्षः प्रसिद्ध इत्याह—अपीति। विषमम् इति भावप्रधानो निर्देशः। तथा च लोकेऽपि धनिनां धनतृष्णावतां तथा सन्तोषिणां परस्परं विषमत्वं वैलक्षण्यं यथाक्रमं दुःखरूपं सुखरूपं च प्रसिद्धम्। कीदृशं धनिनां दुःखम् ? उत्तरकालेऽपि दुःखकरम्। कीदृशं तोषिणां सुखम्? उत्तरकालेऽपि सुखकरमित्यर्थः।।१२८४।। तत्र धनिनां दुःखरूपं वैषम्यं स्फुटयति—इत इति। धनी हि बह्वायासी राजादिभ्यो हेतुभ्यो बहु दुःखं प्राप्य कदाचित् किञ्चिद् राजसं सुखं प्राप्नोति।।१२८५।। तोषिणां सुखरूपं तदाह—दरिद्र इति। तुष्टहृदयः तु दरिद्रः अपि यथाप्राप्तस्य अनायासेन लब्धस्य भोक्ता सदा सात्त्विकं सुखमाप्नोतीत्यर्थः।।१२८६।। किञ्च तोषिणो भयमपि नास्ति यद् धनिनां दुःखदमित्याह—न तस्येति। तस्य तोषिणः।।१२८७।। तस्मात् सन्तोषस्य सुखप्रयोजकत्वं निश्चितं, कामस्य तु नानाऽऽयासविशिष्टस्याऽपि तत् सन्दिग्धमित्याह—अल्पेति। अल्पायासेन स्वल्पोद्यमेनाऽपि सन्तोषः सुखविकासकः, कामः तु असाध्यात् कष्टसाध्याद् महायासादपि दुःखमेव ददातीत्यर्थः।।१२८८।। मनोगतः सन्तोषः सर्वभावान्

ब्रह्मज्ञान से कामना की आमूल निवृत्ति की बात जाने दें तो भी यह प्रसिद्ध है कि कामना न होना सुखावह है क्योंकि संतोषी को उत्कृष्ट आनंद मिलता है—धनी नरों के लिये सुख भी दुःख ही है जबकि संतोषियों के लिये उल्टा है अर्थात् दुःख भी सुख ही है। इस प्रकार धनिकों को सर्वदा दुःख है जबकि सन्तोषियों को सर्वदा सुख है। धनिकों का सुख न केवल तत्काल वरन् भविष्य में भी महान् दुःख देता है जबकि संतोषियों का दुःख भी भविष्य के किसी महान् दुःख का कारण नहीं बनता।।१२८४।। धनी मानव इधर से उधर दौड़ता है, राजा आदि से नाना प्रकार का दुःख पाता है तब जाकर कुछ सुख हासिल करता है। दरिद्र भी यदि संतोषपूर्ण हृदय वाला है तो उसे कोई दुःख नहीं होता। संसार में जो मिल गया उसी का भोग करते हुए वह इंद्र की तरह आनंद करता है।।१२८५-६।। संतोषी को न राजा का व न चोर का डर है जैसा धनिक को हमेशा रहता है। (यहाँ धनी से कामनावान् और दरिद्र को संतोषी समझना चाहिये। तात्पर्य है कि धन की उपलब्धि-अनुपलब्धि यहाँ नहीं कह रहे। जिसे धन उपलब्ध है वह भी संतोषी है तो सुखी रहेगा। उसे भी भय नहीं होगा क्योंकि यदि राजा छापा डालकर या चोर सेंध लगाकर ले गया तो भी इसे संतोष रहेगा। ऐसे ही संतोषी अनावश्यक आयासशील नहीं होगा; प्रमादी नहीं वरन् सात्त्विक कर्ता (गी. १८.२६) होगा। अतः दौड़ने-भागने के दुःख से बच जायेगा। प्रायः ऐसों के पास अधिक धन बचता नहीं इसलिये संतोषी को दरिद्र रूप में बताते हैं। निर्धन भी जब कामना वाला होता है तब अत्यधिक दुःख पाता ही है किन्तु अधिकतर उसकी बुद्धि और कल्पना का क्षेत्र सीमित होता है अतः सीमित वस्तुओं के ही अभाव का उसे दुःख भी होता है और चाहे मजबूरी में ही सही, वह संतोष करने का प्रयास तो करता ही है। इसलिये दरिद्र को संतोषी कह देते हैं।)।।१२८७।। सन्तोष देहधारियों को सुख अवश्य देता है और वह भी स्वल्प उद्यम से, जबकि कष्टसाध्य अत्यधिक प्रयास से भी कामना

यथा पादस्थितं चर्म सर्वदा सुखकारणम् । पान्थानामेवमेव स्यात् सन्तोषो देहधारिणाम् । ।१२८९ । ।

वसुधां सकलां कश्चिद् यथा कुर्यामकण्टकाम् । मृदुलां चेति सङ्कल्प्य पान्थः क्लेशमवाप्नुयात् । ।१२९० । ।

तथा कामानवाप्स्यामीत्येवं सङ्कल्प्य कामुकः । प्रवृत्तो दुःखमाप्नोति सुखमाप्नोति वा न वा ।१२९१

न सुखं सार्वभौमस्य विद्यते न बिडौजसः । ब्रह्मणो न सुखं यत् स्यात् पुंसः कामविवर्जनात् । ।१२९२ । ।

निष्कामो मुच्यते

अकामस्यात्मविज्ञानमहं ब्रह्मेति जायते । जाते तस्मिन् न निर्याति तस्य लिङ्गं मनो बहिः । ।१२९३ । ।

अन्तः शरीर एवैते प्राणा लिङ्गशरीरगाः । तेन सार्धं विलीयन्ते ह्यन्तर्दीपो यथा गृहे । ।१२९४ । ।

सुखमयान् करोति इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा पादगतम् उपानद्रूपं चर्म सर्वदेशानां कण्टकराहित्यप्रयोजकं पान्थान् प्रति, तद्वदित्यर्थः । ।१२८९ । । उक्तमर्थं व्यतिरेकेणाऽपि स्फुटयति—वसुधामिति द्वाभ्याम् । यथा कश्चित् पान्थ इति आकारकेण सङ्कल्पेन दुःखितो भवति । 'इति' किम्? अहं सर्वां मार्गभूमिं निष्कण्टकां कोमलां च कुर्याम् इति । ।१२९० । । तथेति । तथा सकामः पुरुषः 'अहं सर्वान् काम्यमानपदार्थान् अवाप्स्यामि सम्पादयिष्यामि' इत्येवं सङ्कल्प्य दुःखितो भवति, तस्य सुखलाभस्तु सन्दिग्ध इत्यर्थः । ।१२९१ । । परिणामादिकमालोचयतां निष्कामानां दृष्ट्या तु ब्रह्मलोकपर्यन्तं न सुखं किन्तु आत्मन्येव तद् इत्याह—न सुखमिति । बिडौजस इन्द्रस्य । ।१२९२ । ।

कामांभावस्य ब्रह्मात्मविद्याद्वारा मोक्षप्रयोजकतां विवृणोति—अकामस्येति । ब्रह्मलोकेच्छादिरूपप्रतिबन्धकाभावे सति महावाक्येन आत्मसाक्षात्कारो जायते । ततः कर्मणां बीजशक्तिदाहात् कर्मारम्याया लोकान्तराकारायाः समुत्क्रान्तिहेतोः दीर्घभावनाया असम्भवात् तस्य विदुषो मनःप्रधानं लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं बहिः स्थूलशरीराद् न निर्गच्छति । तथा सति सूक्ष्मशरीरगताः प्राणाः सेन्द्रियवायवः तेन मनसा सह शरीराभ्यन्तर एव विलीयन्ते स्वविवर्तोपादाने विलयं यान्ति, गेहान्तर्देशे दीपवद् । इति द्वयोरर्थः । ।१२९३-४ । ।

सुख दे यह जरूरी नहीं; कभी देती है पर प्रायः नहीं देती । जैसे पैरों में पहना जूता यात्रियों को हमेशा सुख देता है वैसे संतोष हमेशा सब प्राणियों को सुख देता है । कोई यात्री संकल्प कर ले कि 'सारी पृथ्वी को निष्कण्टक और कोमल बना डालूँगा' तो उसे केवल क्लेश ही मिल सकता है । इसी तरह कामुक यह संकल्प करके कि 'काम्य विषय पा लूँगा' जब प्रवृत्ति करता है तब दुःख तो अवश्य प्राप्त करता है, सुख पाये या नहीं । सार्वभौम सम्राट्, देवराज इंद्र और साक्षात् हिरण्यगर्भ को वह आनंद प्राप्त नहीं है जो कामनारहित होने से पुरुष को मिलता है । ।१२८८-९२ । ।

निष्काम व्यक्ति को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव होता है । उस ज्ञान के हो जाने पर उसका मनःप्रधान सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीर से बाहर नहीं निकलता । सूक्ष्मशरीर में स्थित ये प्राण और मन शरीर के अंदर ही विलीन हो जाते हैं जैसे घर में भीतर जलता दिया वहाँ बुझ जाता है (जब ईंधन समाप्त हो जाता है । पूर्व में कह चुके हैं कि मरणकालिक कामना ही उत्तर शरीर तक ले जाती है । ज्ञान से सब कर्म समाप्त हो गये तो वे किसी कामना को प्रेरित कैसे करें ? यों भी यह निष्काम हो चुका है । अतः परशरीरगमन संभव नहीं । देह के भीतर कार्य कर रहे थे, कार्य करना बंद कर देते हैं, यह विलय है । आत्मा सबका विवर्ताधिष्ठान है । जब कार्य प्रतीत नहीं होते तो कह देते हैं अपने कारण में गये, ऐसे ही कह दिया जाता है कि उस मुक्त के प्राण आत्मा में ही लीन हो जाते हैं ।) । ।१२९३-४ । । पहले भी यह (जीव) ब्रह्म ही था । 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध के बाद ब्रह्म ही हो जाता है । उसके प्राण जब अनुभव में नहीं आते, नष्ट हो जाते हैं, तब वह, जिसके वे प्राण प्रतीत हो रहे थे, ईश्वर से अन्य क्या रह सकता है! (अथवा वह निर्विशेषभाव पा लेता है लेकिन अज्ञानियों को वह सविशेष ईश्वर हुआ लगता है ।) । घट नष्ट होने से पहले महाकाश घट में (भी) था, घट नष्ट होने पर सिर्फ महाकाश ही रह जाता है । ऐसे ही पुरुष के प्रसंग में समझ लेना चाहिये । जैसे, 'आकाश

ब्रह्मरूपः पुरैवाऽयम् अहं ब्रह्मेति बोधतः। ब्रह्मैव भवतीशः स प्राणनाशादनन्तरम्।।१२९५।।

महाकाशं यथा पूर्वं घटनाशाद् घटे नभः। घटनाशे महाकाशं भवत्येवं पुमानिह।।१२९६।।

यथा विशुद्ध आकाशे गन्धर्वनगरादिकम्। आकाशाज्ञानतो भूयाद् आत्माऽज्ञानात्तथा जगत्।।१२९७।।

निष्काम आत्मनीशेऽस्ति कामबीजो जगत्तरुः।जायते स्वात्मविज्ञाने बीजनाशाद् विनश्यति।।१२९८।।

आत्माऽज्ञानादयं जातकामः कामाज्जगत्त्रयम्। आत्मज्ञानाद् विनश्येत् तत् सर्वमज्ञानमात्मगम्।।१२९९

अज्ञाननाशतः कामो मूलाभावाद् विनश्यति। कामनाशाद् जगद्वृक्षो निर्बीजो न भविष्यति।।१३००।।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। तदा मर्त्योऽमृतो भूयाद् ब्रह्माप्यास्मिन् कलेवरे।।१३०१।।

नन्वेवं विदुषः करणवर्गस्य विलयेऽपि शेषी चिद्धातुः क्व गच्छतीति चेद् ? न कुत्रापीत्याह—ब्रह्मरूप इति। अयं विदुष आत्मा तत्त्वज्ञानात् पूर्वम् आवृतब्रह्मभाव आसीद्, इदानीं तु निरावरणः सर्वविशेषविनिर्मुक्तश्च विद्वद्दृष्ट्या भवति। अज्ञान् प्रति तु ईशः सर्वेश्वरो भवतीत्यर्थः।।१२९५।। आरोपितपरिच्छेदनिवृत्तौ ब्रह्मभावे दृष्टान्तमाह—महाकाशमिति। यथा महाकाशम् एव घटनाशात् पूर्वं घटे नभः घटावच्छिन्नाकाशरूपमभूत् तच्च घटनाशोत्तरं महाकाशम् एव भवति, तथा विदुष आत्मापीत्यर्थः।।१२९६।। उक्तार्थमुपपादयति—यथा विशुद्ध इति। यथा विशुद्धमाकशमज्ञातं सद् गन्धर्वनगरादीनां क्षेत्रं तथाऽऽत्मा वस्तुतो विशुद्धो निष्कामः च कल्पिताऽज्ञानेन विषयी कृतो जगद्वृक्षस्य कामबीजकस्य क्षेत्रम्। तत्त्वज्ञानाग्निसम्पर्कात् तस्य क्षेत्रभावे सबीजे विलुप्ते जगद्वृक्षो न भविष्यति। इति द्वयोरर्थः।।१२९७-८।। उक्तमर्थमेव सङ्क्षिप्याऽऽह—आत्मेति। अयमात्मा। तत् क्षेत्रभावापादकम् अज्ञानम्। इति द्वयोरर्थः।।१२९९-१३००।।

उक्तार्थदार्ढ्यापादकस्य—निष्कामत्वे जीवतोऽपि मुक्तिः, किमुत विदेहस्य—इति प्रदर्शकस्य[1] मन्त्रस्यार्थमुपबृंहयति—यदेति ऊनविंशतिश्लोकैः। यदाऽस्य पुंसो हृदि बुद्धौ श्रिताः स्थूलसूक्ष्मरूपाभ्यां वर्तमानाः सर्वे कामा इच्छाभेदा पुत्रैषणादिसंज्ञाः प्रमुच्यन्ते शान्ता भवन्ति तदा मर्त्यो मरणधर्माऽपि पुमान् अस्मिन् एव देहे ब्रह्म आप्य लब्ध्वाऽमृतो भवतीत्यर्थः।।१३०१।। एतदुपपादयति—अहमिति। देहादिष्वध्यासरूपोऽभिमान एव

ही है' यह जानकारी न होने से विशुद्ध आकाश में गंधर्वनगर आदि दीखते हैं वैसे ही आत्मा के अज्ञान से यह जगत् दीख रहा है। वस्तुतः निष्काम किन्तु अज्ञात ईश्वररूप आत्मा में जगत् नामक वृक्ष पैदा होता है जिसका बीज है कामना। स्वात्मा का विज्ञान हो जाने पर बीज नष्ट हो जाने से जगद्वृक्ष नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने अज्ञान से कामनायुक्त हुआ है और कामना से त्रिविध संसार पैदा हुआ है। आत्मगत सारा अज्ञान जो आत्मा को जगद्वृक्ष की जन्मभूमि बना रहा है, आत्मज्ञान से समाप्त हो जाता है। अज्ञान नष्ट होने से कामना भी विनष्ट हो जाती है क्योंकि उसका उपादान ही नहीं बचता। कामना न रहने पर जगत् भी वैसे ही नहीं बचता जैसे बीज ही मिट जाने पर वृक्ष नहीं रहता।।१२९५-१३००।।

श्रुतिमें मंत्र द्वारा यहाँ कही बात को प्रायः उन्हीं शब्दों में दुहराकर पुराणकार उस पर और चिन्तन करते हैं। जब इस जीव की बुद्धि में व्यक्त व अव्यक्त रूप से वर्तमान सभी कामनायें—जो पुत्रैषणादि नामों से प्रसिद्ध हैं—शान्त हो जाती हैं तब मरणधर्मा लगने वाला यही पुरुष इस शरीर में ही ब्रह्म को प्राप्त कर अमर हो जाता है।।१३०१।। देहादि में अध्यास—जिसे अभिमान कहते हैं—कामनाका हेतु बनता है। जो कुशलमति विद्वान् शरीर में मैं-बुद्धि नहीं

१. 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।' बृ.४.४.७।।

अहंमानस्य सन्त्यागी देहे देहाद् विनिर्गतः। सति देहेऽपि चेत् स स्याद् देहस्थोऽपि न देहगः।।१३०२
कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः। तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः।।१३०३।।
ब्रह्मज्ञानाद् विना नाऽयं कामो नश्यति सर्वथा। जीवतश्चेदिदं जातं सति देहे विमुक्तिभाक्।।१३०४।।
आनन्दात्मन ईशस्य स्वयं ज्योतिःस्वरूपिणः। साक्षात्कृतिर्भवेद् मुक्तिः सति देहे गतेऽस्ति हि१३०५

कामानां प्रयोजकः। तस्य अभिमानस्य देहविषयकस्य त्यागी देहाद् विनिर्गतो जनः **सर्वो भवति। यदि तु देहे सति विद्यमानेऽपि सः अभिमानो न स्याद् निवर्तेत,** देहस्थोऽपि जीवन्नपि न च देहगः, **मुक्तएवेत्यर्थः।।१३०२।। मुक्तत्वे हेतुतया मोक्षलक्षणयोगमाह**—कामानामिति। **हृदयबुद्धिसाक्षिणि यः** कामानां **बुद्धिधर्माणां** वास **आरोपः सम्बन्धः।** तेषां **कामानां** सर्वात्मना **समूलानां** नाशो **बाधस्तु** मोक्ष **इति।।१३०३।। स चात्यन्तिकः कामनाशः तन्मूलाविद्योच्छेदकब्रह्मज्ञानेन यदि जीवनावस्थायामेव जन्येत तदा जीवत एव मुक्तिं को वारयेद्?—इत्याह—ब्रह्मेति। इदं** काम**मूलोच्छेदकं ब्रह्मज्ञानम्।।१३०४।। यदा ब्रह्मज्ञानं बन्धोच्छेदकं तदा ब्रह्मसाक्षात्कार एव मोक्षलक्षणम्, इत्याह**— आनन्देति। **ब्रह्मसाक्षात्कारः** सति देहे मुक्तिः **जीवन्मुक्तिलक्षणम्,** देहे गते **विदेहावस्थायां या मुक्तिस्तां प्रति ब्रह्मसाक्षात्कारस्य लक्षणत्वं तु** हि **निश्चितमेव 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादिच्छन्दोगश्रुतेः (६.१४.२) इत्यर्थः।।१३०५।।**

रखता उसे देह से निकल चुका ही जानना चाहिये क्योंकि देह रहते भले ही वह देह में स्थित प्रतीत हो पर वस्तुतः वह देह से अपरिच्छिन्न ही होता है।(अथवा श्लोकार्थ है कि शरीर में निरभिमान जब शरीर छोड़ देता है तब सर्वरूप होता ही है किन्तु यदि प्रारब्ध से उसका शरीर रहता है तो उसमें व्यवहार करते हुए प्रतीयमान होने पर भी वह वास्तव में उसमें नहीं है। अथवा यह बता रहे हैं कि देह में अभिमान न रहने पर तद्देहसंबद्ध कामनायें हट जाती हैं जैसे मरने पर अतः यदि देह रहते भी वह निरभिमानता आ जाये तो जीवित रहते ही आत्मा मुक्त है।)।।१३०२।।

हृदय अर्थात् बुद्धि के साक्षी पर कामनादि बुद्धिधर्मों का अध्यास ही संसार कहा गया है। विचारकों ने बताया है कि उन बुद्धिधर्मों का उनके कारण समेत बाध मोक्ष है। (आचार्य सुरेश्वर ने अद्वैतप्रक्रिया की आधारभूत स्वीकृति बतायी है 'यद्यविद्यैकहेतुः स्यात् संसारित्वं तदात्मनः। विद्यार्थोऽयं समारम्भो युज्यते नान्यथा सति।। बृ. वा. ४.४. श्लोक. १७१।।' कि आत्मज्ञान के लिये प्रयास तभी संगत है जब संसरण का हेतु केवल अविद्या हो। अतः यहाँ भी पुराण में यही लक्षण कहा क्योंकि अध्यास अविद्यानिबंधन ही होता है। इसी प्रकार 'सर्वात्मना नाश' अर्थात् न कार्यरूप से तथा न कारणरूप से रहना केवल बाध से होता है अतः बाधोपलक्षित आत्मा को मोक्षस्वरूप यहाँ समझाया है। यद्यपि श्रुति व पुराण में—'हृदि श्रिताः', 'हृदये वासः'—कामनाओं को हृदयस्थ अर्थात् बुद्धिस्थ कहा है तथापि अभिमानरहित बुद्धि में तो कामना रहेगी नहीं अतः बुद्धितादात्म्यापन्न में ही कामना बतायी गयी जाननी चाहिये। सभी बुद्धिधर्मों को कामना से इसलिये एकत्र किया कि दुःख देने वाला यही प्रधान धर्म है यह दिखा चुके हैं। यद्यपि कामनादि धर्म न भी कहकर केवल देहाध्यास को बंधन और उसके बाध को मोक्ष कह सकते थे तथापि देहाध्यास 'मैं कामी, क्रोधी, लम्बा, मोटा' आदि रूप वाला ही होने से उस अध्यास के ही परिचायक रूप में कामना का उल्लेख है एवं यह भी द्योतित करने के लिये यों कहा कि कामनानिवृत्ति अध्यासनिवृत्ति का चिह्न है।)।।१३०३।।

यह सर्वानर्थमूल कामना बिना ब्रह्मसाक्षात्कार के हर तरह से—व्यक्त अव्यक्त रूप से—नष्ट नहीं होती। जीवित रहते ही तत्त्वनिष्ठा हो सकती है। यदि वह प्राप्त हो गयी तो शरीर-प्रतीति रहते भी आत्मा मुक्त ही है। स्वयंप्रकाश आनंद प्रत्यक्स्वरूप ईश्वर का अप्रतिबद्ध अपरोक्ष वह मोक्ष है जो शरीर रहते और शरीर चले जाने पर एकरूप रहता है।।१३०४-५।। क्योंकि मनस्वियों ने कहा है कि हृदय में कामनाओं का अवस्थान आत्मा का बंधन है इसलिये जब ब्रह्मवेत्ता उक्त बंधन वाला नहीं तो उसे जीवन्-मुक्त—अर्थात् जीवित रूप में उपलब्ध होते हुए भी बंधनरहित—कहना

कामानां हृदये स्थानं बन्ध उक्तो मनीषिभिः। स्वस्य नाऽयं तथा तेन जीवन्मुक्तः प्रकीर्तितः।१३०६

आत्मनो वरणं माया चिदंशः काम एव वा। बन्ध उक्तो द्वयाऽभावाद् ब्रह्मविद् मुक्त ईरितः।।१३०७

सम्बन्धेनाऽऽत्मनो दृश्यं पश्येच्चेद् बन्ध[1] ईरितः। विना तेनैष सम्पश्येद् मुक्तो जीवन् भवेत् पुमान्।।१३०८।।

मुक्तस्य लोकयात्रा

कर्मणा यद्वदेव स्यात् प्रमत्तादेः शुभाशुभम्। आहारादिकमेवं स्याज्जीवन्मुक्तस्य देहिनः।।१३०९।।

ननु नित्यमुक्तत्वेन प्रसिद्धस्यात्मनः कीदृशो बन्धो यः साक्षात्कारेण निवर्त्यते? इत्याशङ्कां वारयन् बन्धस्वरूपं विशदयति—कामानामिति त्रिभिः। कामानां यद् हृदि स्थानं वास उक्तविधः स स्वस्य आत्मनो बन्धः। अयं विद्वांस्तु तथा वर्णितबन्धवान् न भवति। तेन बंधाभावेन जीवन्नपि मुक्त उच्यत इत्यर्थः।।१३०६।। बन्धसर्वस्वमाह—आत्मन इति। अस्ति अविद्यायाः शक्तिद्वयम्—आवरण-विक्षेपनामकम्। तत्र विक्षेपशक्तेरप्यस्ति रूपद्वयम्—एकं प्रपञ्चभानापादकम्, द्वितीयं प्रपञ्चे रागोत्पादकमिति। तत्र यद् आत्मनो वरणं माया आवरणशक्तियुक्ता मायाऽविद्या, यश्च विक्षेपशक्तिरूपः कामः आसक्तिरूपो रागः; कीदृशः? चिदंशः परिपूर्णायाः चित अंशत्वस्य परिच्छिन्नत्वरूपस्य प्रयोजकः, एतदुभयात्मको बन्धो यदा निवर्तते तदा जीवन्मुक्तिः। यदा तु प्रपञ्चभानापादको विक्षेपशक्तिभागोऽपि निवर्तते तदा विदेहमुक्तिरिति भावः।।१३०७।। सम्बन्धेनेति। यदि दृश्यजातं शरीरत्रयरूपम् आत्मनः सम्बन्धेन तादात्म्यरूपेण स्वत्वरूपेण वा सम्बद्धं दृश्यं पश्यति तदाऽयं पुमान् बद्ध इति वाच्यः। असङ्गात्मदर्शी तु जीवन् मुक्त इति निश्चय इत्यर्थः।।१३०८।।

नन्वेवंविधस्य जीवन्मुक्तस्य कथं लोकयात्रानिर्वाहः? इति शङ्कां निदर्शनैः परिहरति—कर्मणेत्यादिना। कर्मणा प्रारब्धविपाकेन प्रयुक्तं यथा प्रमत्तस्य बालादेश्च आहारादिकं शुभमशुभं वा भवत्येव तथाऽस्याऽपीत्यर्थः।।१३०९।।

उचित ही है।।१३०६।। आत्मा का ढका होना अर्थात् अविद्या और चेतन को परिच्छिन्न बनाने वाली कामना ये ही दो बंधन कहे गये हैं। इन दोनों के न होने से ब्रह्मज्ञानी मुक्त कहलाता है। (यह अभिप्राय है—अविद्या की दो तरह की सामर्थ्य है : एक तो अविद्या अपने आश्रय के लिये अपने विषय को ढाँके रखती है अर्थात् अविद्याश्रय को अविद्याविषय का यथार्थ स्फुट अवभास नहीं होता। दूसरी, अपने आश्रय से उन विषयों का व्यवहार कराती है जो विषय वास्तव में हैं ही नहीं! यह व्यवहार भी दो तरह का होता है : एक तो उस प्रकार के असत्य विषयों का केवल प्रतीत होना; और दूसरा उन विषयों के प्रति राग आदि होना। परिपूर्ण चेतन स्वयं को सीमित इन रागादि के कारण समझता है; यद्यपि परिच्छिन्न वह अविद्या व अध्यास से है तथापि रागादि उद्‌भूत न हों तो उस परिच्छिन्नता का अनुभव स्फुट नहीं होता। इस तरह जीव तीन ढंगों से बँधा है—१) आत्मा को जानता नहीं, २) प्रपंच का अनुभव कर रहा है; ३) प्रपंच में राग आदि वाला है। न जानना और राग—ये दो बंधन खुल जायें तो वह जीवन्मुक्ति है। इनके सहित जब तीसरा बंधन—प्रंपचानुभव—भी खुल जाये तब विदेहमुक्ति है।)।।१३०७।। आत्मा दृश्य को अपने से सम्बद्ध देखे तो बँधा हुआ है और अपने सम्बन्ध के बिना देखे तो जीवन्मुक्त होता है। ('दृश्य' अर्थात् त्रिविध शरीर और 'सम्बद्ध' अर्थात् तादात्म्याध्यासयुक्त अथवा दृश्य से अविद्यादि घटपर्यन्त सभी समझने चाहिये। आत्मा सच्चिदानन्द है और सभी को सद् आदि से सम्बद्ध ही देखता है। जब बाध द्वारा दृश्य का सत् से सनातन असम्बन्ध स्फुर जाता है तब आत्मा जीवन्मुक्त है।)।।१३०८।।

जीवन्मुक्त का जीवनव्यवहार कैसे होता है इसे सोदाहरण पुराणकार स्पष्ट करते हैं—जैसे प्रारब्धकर्म से ही प्रमत्त आदि को (पागल, बच्चे आदि जो आजीविका या भोजन पाने के लिये भी कोई प्रयास नहीं करते) अच्छा-बुरा भोजनादि मिल जाता है वैसे ही जीवन्मुक्त देही को प्रारब्ध से सभी भोग प्राप्त होते हैं।।१३०९।।

---

१. बद्ध इति टीकापाठः।

गर्भवासे स्थितो जन्तुर्नवमाद् मासतः पुरा। रसान् नानाविधान् यद्वद् भुञ्जानोऽपि न वेत्त्यमून्।।१३१०।।

बालोन्मत्तजडादिर्वा नानाभोगान् समाप्नुवन्। न वेत्ति तद्वदेवाऽयं जीवन्मुक्तः पुमानपि।।१३११।।

यथा कश्चित् प्रमत्तोऽत्र किञ्चिदेव प्रपद्यते। आत्मानमेवमेवैष जीवन्मुक्तः प्रपद्यते।।१३१२।।

अस्य जीवन्मुक्तस्य चित्तं तु सर्वाधिष्ठानचिन्ताव्यग्रं नारोपितविशेषेषु आदरं दधाति इत्यत्र दृष्टान्तमाह—गर्भेति। यथा गर्भगो बालो नवममासात् पूर्वं नानाविधान् मातृभुक्तान्नरसान् भुञ्जानोऽपि विशेषतो न वेत्ति, तथाऽयमपीति।।१३१०।। तथा स्वरूपनिष्ठातारतम्यानुसारेण मासजातबालादयोऽपि अत्र दृष्टान्ता इत्याह—बालोन्मत्तेति। ।।१३११।। अस्य चित्तं यद् आत्मविवेकप्रवणमेव भवति तत्र दृष्टान्त उच्यते—यथेति। यथाऽशोकवनिकान्यायेन—रावणेन कुत्रचिद् वने निधेया सीता अशोकवनिकायामेव धृता—इत्यर्थकेन प्रमत्तादिचित्तं कुत्रचिद् एकत्र विषये प्रायशो लग्नं भवति, तथाऽस्य मुक्तस्य चित्तम् आत्मविषयिकायां प्रतिपत्तौ

मुक्तका मन अधिष्ठानदर्शन में मग्न रहता है, आरोपित भेदों की ओर ध्यान नहीं देता इसे भी दृष्टांत से कहते हैं—नवें महीने अर्थात् बाहर निकलने से पहले गर्भवास में विद्यमान जंतु जैसे नाना प्रकार के रसों का उपभोग करने पर भी उनसे बेखबर रहता है वैसे जीवन्मुक्त भी विविध भोगों का अनुभव करते हुए भी उनसे तटस्थ रहता है।(बालक को गर्भ में पुष्टि देने वाले अनेक तत्त्व हैं लेकिन उसे उनके बारे में कुछ पता नहीं, वे अपनी निर्धारित प्रक्रिया से कार्य करते रहते हैं। मुक्त भी इसी तरह सांसारिक विशेषों की ओर कोई ध्यान नहीं देता, वे विशेष ईश्वरकृत नियमों के अनुसार मुक्त के देह में अन्तर लाते रहते हैं। कुछ पदार्थ या परिस्थितियाँ उसके मन में काम-क्रोधादि परिवर्तन भी ला सकते हैं किन्तु वह स्वयं इससे भी बेखबर रहता है, अधिष्ठानभूत आनंद के रसास्वादन में मग्न रहता है।)।।१३१०।। आत्मनिष्ठा में कमोबेश भी होता है। अलग-अलग तरह के लोगों के दृष्टांत से कम-अधिक निष्ठाओं वाले मुक्तों की अवस्था बताते हैं—बच्चे, पागल, मूर्ख आदि लोग नाना प्रकार के भोग पाते हुए भी उन्हें जानते नहीं हैं, इसी प्रकार यह जीवन्मुक्त पुरुष भी। (बच्चा अन्य भेदों को महत्त्व नहीं देता केवल तत्काल अच्छा लगने और बुरा लगने वालों का भेद करता है। कुछ विद्वान् इसी तरह तात्कालिक व्यवहार चला लेने से अतिरिक्त कोई संसार-व्यवहार नहीं रखते। पागल किसी एक-दो पदार्थों के प्रति विशेष जागरूक होता है, बाकी सारी दुनिया भूला रहता है। कुछ विद्वान् भी शास्त्र, उपासना आदि किन्हीं विशेषों का ख्याल रखते हैं, अन्यों का नहीं। मूर्ख स्वयं आग्रही नहीं होता, अन्यों द्वारा जो ग्राह्य-त्याज्य आदि समझा दिया जाये उससे वैसा ही व्यवहार करता रहता है। कुछ विद्वान् भी सांसारिक विषयों में स्वयं निराग्रही रहकर संस्कारानुरूप व्यवहार का निर्वाह कर लेते हैं। हर हालत में, निष्ठा जितनी ज्यादा होगी उतना ही भेदव्यवहार कम होगा यह नियम है। 'भेदव्यवहार' अर्थात् मुक्त द्वारा बुद्धि में आहार्य अध्यास कर भेद का कथन-आदान आदि व्यवहार। जो तो परदृश्य व्यवहार है उसमें कम-ज्यादा का कोई अर्थ नहीं क्योंकि सर्वथा भेदनिष्ठ रहते हुए भी अभेददर्शिता का व्यवहार हो सकता है और अभेदनिष्ठ का भी व्यवहार भेदभावपूर्ण मिल सकता है। अतः मुक्त जिस कारण से जीवित समझा जाता है वह है उन देहादि में 'मैं'-प्रतीति; बंधनदशा में तो देहादि में 'मैं'-बुद्धि अबाधित होती है जबकि मुक्त को वैसी केवल बाधित प्रतीति है जैसे स्फटिकज्ञ को रक्त स्फटिक की। उस प्रतीति के आधार पर कुछ व्यवहार उस संघात की ओर से प्रवृत्त होते हैं। उन्हीं व्यवहारों की कमी निष्ठानुसार होगी। जो तो प्रतिक्रियात्मक व्यवहार हैं जिन्हें संकल्पपूर्वक प्रवृत्त नहीं करना पड़ता, उनका कमोबेश तो प्रारब्धादि के अनुसार है, उससे निष्ठा का सीधा संबंध नहीं, इतना भले ही हो कि अनुकूल प्रारब्ध होने से निष्ठा के उपाय कारगर होंगे, प्रतिकूल होने से उसमें कठिनाई होगी।)।।१३११।। मुक्त का चित्त आत्माकारवृत्ति के प्रवाह को ही क्यों प्रधानता देता है ? उत्तर है— संसार में कोई ऐसे पागल होते हैं जो किसी एक बात को ही समझते हैं— हर समय उसी का उन्हें अनुभव होता है चाहे वहाँ पदार्थ कुछ न हो; या स्वयं को कोई विशिष्ट व्यक्ति—देवता, भूत या मनुष्यादि—ही समझते हैं। इसी प्रकार यह जीवन्मुक्त आत्मा को ही जानता रहता है। (अर्थात् यद्यपि मुक्त का चित्त क्या सोचता रहे इससे मोक्ष में यवमात्र फर्क नहीं पड़ता तथापि जो वह आत्मप्रवण होता है उसमें अविद्या दशा का अभ्यास ही कारण है जैसे पागलपन से पूर्व के विचार आदि

सुशीलोऽत्र यथा कश्चिद् देही दैवादियोगतः। विस्मृतात्मस्वरूपः सन् कुरुते निन्दितं न हि।।१३१३

शान्तो दान्तस्तथैवाऽयं सर्वकामविवर्जितः। निन्दितं कुरुते नैव जीवन्मुक्तः कदाचन।।१३१४।।

वासनाभिर्यथा मत्तः शास्त्रार्थान् प्रतिपद्यते। वासनाभिस्तथा चायं जीवन्मुक्तोऽपि नो गुरुः।१३१५

विचाररूपायामेव लगतीत्यर्थः।। १३१२। अस्य निषिद्धाचरणे प्रवृत्त्यभावमपि दृष्टान्तेन उपपादयति—सुशील इति द्वाभ्याम्। यथा कश्चिद् देही सुशीलः सदाचारपरः दैववशाद् उत्पन्नप्रमादादिरोगवशात् स्वकीयं कुलादिप्रभावं विस्मरन्नपि पूर्वाभ्यासेन निन्दितं न करोति तथा जीवन्मुक्तः अपि मुमुक्षुदशाऽनुष्ठितशमाद्यभ्यासवशाद् निन्दिते न प्रवर्तते। इति द्वयोरर्थः ।।१३१३-४।। तस्य शास्त्रार्थप्रवृत्तिं दर्शयति—वासनाभिरिति। यथा कश्चित्पण्डित उन्मादादिरोगव्याप्तोऽपि अभ्यस्तान् शास्त्रार्थान् एव प्रकाशयति, तथाऽस्माकं जिज्ञासूनां गुरुर्जीवन्मुक्तोऽपि इत्यर्थः।।१३१५।।

से पागल की सनक हो जाती है।)।।१३१२।। जीवन्मुक्त स्वतंत्र है तो पाप ही क्यों नहीं करता रहता ? उत्तर है—संसार में देखा जाता है कि कोई अच्छे स्वभाव का व्यक्ति दुर्भाग्यवश या नशे आदि से यदि अपने कुल आदि को भूल जाता है तो भी ऐसे आचार में प्रवृत्त नहीं होता जो निंदित हो (भुलाने से पहले जिसे वह निंदित समझता हो)। इसी प्रकार यह मुक्त जब मुमुक्षु था तभी इसने इंद्रियों और मन की बहिर्मुखता समाप्त कर प्रत्यक्चिन्ता की आदत डाल ली थी। और सभी कामनाओं से रहित हो चुका था। जब यह मुक्त हुआ तो भी इसके देहादि वैसी ही प्रवृत्ति करेंगे जैसी साधनावस्था में इसने उन्हें सिखा दी है, अतः यह निंदित कर्म नहीं करता। आदत सही होने पर भी कामनावेग से गलत कार्य होते हैं लेकिन इसने कामनायें पहले ही समाप्त कर दी हैं तो उनके वेग की संभावना ही नहीं।।१३१३-४।। मुक्त शास्त्रव्याख्यानादि व्यवस्थित कार्य कैसे कर लेता है ? उत्तर है—परिनिष्ठित विद्वान् जब भांग पीकर नशे में होता है तो वासनानुसार वह शास्त्र का सही अर्थ ही बताता है (या गायक आदि मदमस्त होकर भी उचित स्वरादि का ही प्रयोग करते हैं लेकिन तभी जब उनमें सही स्वरादि की प्रचुर वासना है)। ऐसे ही हमारे ये जीवन्मुक्त गुरुदेव जो शास्त्रव्याख्यान आदि करते हैं उसके लिये उन्हें अपनी स्थिति से च्युत होकर पद-वाक्य-प्रमाणादि का चिंतन नहीं करना पड़ता वरन् पूर्व में एकत्र शास्त्रसंस्कारों से वे सही शब्द ही, सही अर्थ ही और सही प्रमाण ही समझाते जाते हैं। (नशे में भी शास्त्र के स्फुरण का प्रसिद्ध उदाहरण अप्पयदीक्षित का है जिन्होंने नशे की हालत में आत्मार्पण-स्तोत्र रचकर गाया था। जैसे बेहद नशे में यह सब संभव नहीं ऐसे समाधि या पंचमादि भूमिकाओं में शास्त्रव्याख्यानादि भी संभव नहीं। किं च नशे में गलत बात मुँह से निकलने पर भी उस पण्डित का पाण्डित्य खंडित नहीं होता, कोई उसे मूर्ख नहीं मानता, ऐसे ही जीवन्मुक्त कदाचित् शब्द-अर्थ-प्रमाण का अनुचित प्रयोग करे तो भी उसके तत्त्वज्ञान में कोई अंतर नहीं आता।)।।१३१५।। उपदेश देने के लिये तो शिष्यों की योग्यता के भेद को दृष्टि में रखना पड़ता है अतः अद्वैत आत्मा की ओर ही स्वाभाविक दृष्टि वाला जीवन्मुक्त उपदेश कैसे देता है ? उत्तर है : अनेक विषयों का जानकार मायावी (बाजीगर) खुद ही अनेक मायिक रूप वाले लोग बना लेता है और अपने अकेलेपन को मानो भूलकर वह उन माया-व्यक्तियों को शास्त्र-शिक्षा भी दे देता है। ऐसे ही यह व्यापकस्वरूप हुआ जीवन्मुक्त भी गुरु-शिष्यादि भेदों का व्यवहार कर लेता है। (बच्चों में भी देखा जाता है कि गुड्डे-गुड्डियों को नाम आदि देकर उन्हें अलग-अलग पाठ पढ़ाते आदि है। अथवा स्वप्न में सभी ऐसा करते हैं! विद्वान् भी जानता है कि गुरु-शिष्य आदि सब भेद प्रतीतिमात्रसिद्ध हैं पर प्रारब्धानुसार प्रतीति रहते तदनुकूल अध्यापनादि भी कर लेता है।)।।१३१६-७।। यों जीवन्मुक्त जीवननिर्वाह के लिये जो द्वैत का अनुमोदन करता है वह क्योंकि मिथ्यारूप से निश्चित होता है इसलिये मुक्त की कोई हानि नहीं करता, इसे भी दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये—दृश्यमिथ्यात्वादि के चिंतन का अभ्यासी, शास्त्रों के रहस्य समझने वाला, वेदान्तवासनायुक्त कोई पुरुष सोते हुए स्थूल शरीर से बेखबर हो सपने देखते हुए कभी अचानक सपने में ही यह भी समझ ले कि 'ये सपने ही हैं' और स्वाप्न शिष्यों को उपदेश भी करे तो उसमें उस सबके प्रति कोई आसक्ति नहीं

मायावी विस्मृतिं प्राप्तः सर्वशास्त्रविशारदः। एकाकित्वे स्वरूपस्य स्वकृतैर्बहुरूपकैः।।१३१६।।
स यथा गुरुशिष्यादिभेदो निर्भेद एव हि। आनन्दात्मा तथा चाऽयं गुरुशिष्यादिभेदवान्।।१३१७।।
यथा शयानः पुरुषः स्थूलदेहं न वेत्त्यसौ। स्वप्नान् पश्यन् हि स स्वप्ने स्वप्ना[1] इत्येव मन्यते।१३१८
कदाचिद् दैवयोगेन स्वयं शास्त्रार्थतत्त्ववित्। वासनावासितस्तत्र ह्युपदेशं करोति च।।१३१९।।
जीवन्मुक्तस्तथा देहद्वयं नैवावगच्छति। साज्ञानं तद्विजानन् स कुरुते चोपदेशनम्।।१३२०।।

विदुषो न देहदुःखम्

अभिमानस्य सन्त्यागे देहे सत्यपि देहिनः। तामसस्याऽपि सपदिर्दुःखं तज्जं न जायते।।१३२१।।
विदुषः किमुतैतत् स्याद् धीमतोऽतिविवेकिनः। दुःखं देहोत्थितं यस्माद् देहेऽहङ्कारभाङ् न सः।।१३२२।।

ननु योग्यायोग्यशिष्यभेदज्ञानाधीनम् उपदेशव्यवहारं स जीवन्मुक्तः अद्वैतात्मदर्शी कथं करोति ?—इति शङ्काम् अपि दृष्टान्तेनैव परिहरति—मायावीति द्वाभ्याम्। यथा कश्चिद् मायावी सर्वशास्त्रज्ञः स्वयं कृतैर्बहुभी रूपैः स्वस्य एकाकित्वेऽद्वितीयत्वे विस्मृतिं प्राप्त 'इव' इति शेषः। ईदृशः संस्तेषां पाठनादिकं कुर्याद्; यथा च स वस्तुतो निर्भेदः अपि सभेद इव। तथाऽयं जीवन्मुक्तो विद्वान् आनन्दात्मरूपेण अद्वितीयोऽपि प्रारब्धभोगोपयुक्ताऽविद्यालेशेन गुरुशिष्यादिभेदम् अपि पश्यति। इति द्वयोरर्थः।।१३१६-७।। तस्य जीवन्मुक्तस्य विशेषतः प्रपञ्चं विस्मृत्य जीवनमात्रप्रयुक्तं भेददर्शनं न बन्धाय भवति मिथ्यात्वेन निश्चितत्वाद् इत्येतदपि दृष्टान्तेन विशदयति—यथेति त्रिभिः। यथा कश्चित् स्वप्नावस्थां गतः स्थूलदेहविस्मरणं सर्वसुप्तसाधारणं धर्मं धारयन् कदाचित् दैवयोगेन स्वप्नपदार्थानपि 'इमे स्वाप्नाः' स्वप्नपदार्था इति एवं मन्यमानः तत्र न सज्जेत नासक्तो भवेत्, तथाऽभ्यस्तशास्त्रवासनया तदुपदेशे प्रवर्तेत; तथाऽयं विद्वान् अपि साज्ञानं सकारणशरीरं स्थूलसूक्ष्मरूपं देहद्वयं समष्टिव्यष्टिरूपं मिथ्यात्वेन जानन्नुपदेशादिकं करोति, न बद्ध्यते च। इति त्रयाणामर्थः।।१३१८-२०।।

ननु जीवन्मुक्तस्य सशरीरत्वेन उपलभ्यमानस्य बन्धावस्थायाः को विशेषः ? इत्याशङ्कावारकस्य 'तद्यथा' इत्यादेः[2] 'तेज एव' इत्यन्तग्रन्थस्यार्थं वर्णयति—अभिमानस्य इत्येकविंशतिश्लोकैः। तामसस्य सपदिरपि देहे कञ्चुकरूपे अभिमानस्य त्यागे सति कञ्चुकखण्डनादिकृतं दुःखं न भवति, किमुत सत्त्वातिशयशालिनो विदुषो देहप्रयुक्तं दुःखं न भवति ! इति द्वयोरर्थः।।१३२१-२।।

हो सकती। इसी प्रकार जीवन्मुक्त अज्ञान सहित बाकी दोनों शरीरों को भी सत्य नहीं समझता और इनकी असत्यता का भान रहते ही वह उपेदश भी कर लेता है अतः इस व्यवहार से उसे कोई आसक्ति या बंधन नहीं आ सकता।।१३१८-२०।।

जीवन्मुक्त शरीरधारी है तो बंधन की अवस्था से उसमें भेद क्या है यह श्रुति ने साँप की केचुली के उदाहरण से समझाया है। बाँबी में केचुली छोड़कर साँप उससे बाहर निकल आता है तो वह केचुली दीखती साँप-सी है पर होती बेजान ही है और उसे काटें, फाड़ें तो साँप को कुछ अंतर नहीं पड़ता। ऐसे ही तत्त्वनिष्ठ जब अध्यास छोड़कर शरीर से निकल गया तो भले ही देह जीवित लगे पर वस्तुतः उसमें 'जीव' है नहीं क्योंकि अध्यासवान् ही जीव कहलाता है। और उस शरीर के किसी विकार से विद्वान् को कोई अंतर नहीं । वह प्राण का भी प्राण अमृत ब्रह्म स्वप्रकाश चिद्रूप से ही बना रहता है। इस श्रुतिभाग को अब पुराण में स्पष्ट करेंगे—

तामस योनियों में उत्पन्न सर्पादि भी अपने शरीर में जब अभिमान छोड़ देते हैं तो वह शरीर पड़ा रहे तो भी उसके निमित्त उन्हें कोई दुःख नहीं होता, तब अत्यंत सात्त्विक आत्मवेत्ता के बारे में क्या कहना! जो अत्यन्त विवेकी पदार्थशोधनपूर्वक शास्त्रानुसार अखण्डवृत्ति बना चुक कर प्रतिबंधकनिवृत्तिपूर्वक अद्वैतानुभव कर रहा है उसे देहप्रयुक्त दुःख होगा क्यों जब वह देह में अभिमान वाला रहा ही नहीं।।१३२१-२२।।

१. 'स्वाप्ना' इति टीकापाठः। २. 'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेवेदं शरीरं शेते। अथायम् अशरीरः अमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (४.४.७)।

कञ्चुकं हि यथा सर्पः त्यक्त्वा द्वारि बिलस्य च। उल्बाख्यं मृतकं स्वस्य देहं पश्यन् न सज्जते।।१३२३

एवं विद्वानिमं देहमभिमानविवर्जितः। पश्यन्नपि न तेनाऽयं सज्जते सङ्गवर्जितः।।१३२४।।

भूताविष्टं यथा देहं सुखं दुःखं च गच्छति। न सुखं नाऽपि दुःखं वा भूतं तत्राधिगच्छति।।१३२५।।

एवं मुक्तस्य देहोऽपि सुखदुःखे समाप्नुयात्। कर्मतो नैव मुक्तोऽयं पुण्यपापविवर्जितः।।१३२६।।

जीवन्मुक्तः सुखदुःखयोः समः

शिशोर्यथा भवेल्लोके विज्ञानं सुखदुःखयोः। रागद्वेषविहीनस्य तद्वद् मुक्तस्य सर्वदा।।१३२७।।

उक्तं विशदयति—कञ्चुकमिति द्वाभ्याम्। यथा सर्पः त्यक्तं कञ्चुकं पश्यन् अपि न सज्जते तद्धर्मान् आत्मनि मत्त्वा न दुःखितो भवति इति यावत्। कीदृशम्? उल्बाख्यम् उल्बं गर्भवेष्टनी भूतं सूक्ष्मं चर्म, तत्तुल्यत्वेन तन्नाम्ना व्यवहर्तव्यम्। पुनः कीदृशम्? स्वस्य मृतकं देहं स्वकीयमृतदेहसमम्। तथा विद्वान् अपि इमं वर्तमानं देहं विवेकेन त्यक्तं पश्यन्नपि न पश्यतीति द्वयोरर्थः।।१३२३-१३२४।। अभिमानलक्षणसम्बन्धेन शरीरविशिष्ट एव पुंसि दुःखं, न त्यक्ताभिमाने—इत्येतद् दृष्टान्तेन विशदयति—भूतेति। यथा भूतेन देवजातिविशेषेण आविष्टं व्याप्तं शरीरं परशरीराभिमानविशिष्टं भूतमिति यावत्, तत्कर्तृ दुःखं प्रहारादिकृतं, सुखं पूजादिकृतं च प्राप्नोति; यत्तु तत्र शरीरे भूतं तच्छरीराभिमानहीनं सत् ते सुखदुःखे न आप्नोति। एवं जीवन्मुक्तस्य देहोऽपि अभिमानलक्षणसम्बन्धेन यदा व्याप्तो भवति तदा सुखदुःखे कर्मकृते प्राप्तो भवति, तद्देहगतो विद्वांस्तु शरीरविविक्तः सुखदुःखे नैव आप्नोति। इति द्वयोरर्थः।।१३२५-१३२६।।

एवं जीवन्मुक्तस्य समाधिकाले प्रारब्धकर्मफलाननुभव उक्तः। अथ तस्य व्युत्थानकालेऽपि[1] सुखदुःखयोः अनुभवे बद्धेभ्यो विशेषमाह—शिशोरिति। यथा अतीतानागतचिन्ताशून्यं शिशुकर्तृकं सुखादिज्ञानं रागाद्यजनकं

गर्भ वेष्टन की तरह दीखने से गर्भविष्टनार्थक 'उल्ब' शब्द से कही जाने वाली केचुली दीखती है मानो मरे साँपका शरीर हो। बिल के मुँह पर केचुली छोड़ने के बाद उसे देखते हुए भी साँप उसमें आसक्त नहीं होता। इसी तरह आत्मज्ञ अभिमानरहित होकर इस शरीर को देखते हुए भी इसमें आसक्त नहीं होता क्योंकि वह स्वरूपतः ही संग के अयोग्य है (और उसे संगी बनाने वाली माया मिट चुकी है।)।।१३२३-४।। शरीर में अभिमान रखने पर ही उसका दुःख हमें मिलता है इसे सदृष्टान्त समझाते हैं—किसी शरीर में भूतावेश हो जाता है तो उतनी देर उस शरीर का मूल जीव शरीराभिमान खो बैठता है और भूत उस पर अभिमान रखता है। तब शरीर को जो सुख-दुःख मिलते हैं उनका भूत को अनुभव होता है, शरीर के मूल मालिक को नहीं। ऐसे ही मुक्त का शरीर भी जब प्रतीयमान अभिमान से चेतनावान् होता है तब कर्मफलभूत सुख-दुःख भोग लेता है किन्तु मुक्त पुण्य-पाप से असम्बद्ध है अतः वे भोग उसे नहीं मिलते। (अर्थात् व्युत्थानकाल में भी मुक्त स्वयं को असंग-उदासीन जानते हुए शरीरादि में आहार्य अभिमान ही करता है जिससे सुखादि भी अभिमान-सम्बद्ध ही हो पाते हैं, मुक्तसे असम्बद्ध ही रहते हैं। यहाँ 'देह' से सूक्ष्म भी समझ लेना चाहिये।)।।१३२५-२६।।

मुक्तकी स्वयं की दृष्टि से उसकी भोगकालिक स्थिति बतायी। अब कहते हैं कि बद्ध जीवों की अपेक्षा उसका सुख-दुःख का अनुभव भी अन्तर वाला होता है : राग-द्वेष रहित स्तनन्धय के सुखदुःखानुभव की तरह ही मुक्त को सुखादि का अनुभव होता है। (अर्थात् वह अनुभव राग-द्वेषादि पैदा नहीं करता।) किं च जैसे लोक में कोई अतिवृद्ध असमर्थ मरणासन्न रोगी होता है तो अपने बहू-बेटों की इच्छानुसार ही सुख-दुःख पाता है वैसे ही अन्यों की इच्छा से हुए व्यापारों के ही फलस्वरूप आत्मवित् सुखादि पाता है। (अर्थात् अपनी ओर से सुखादि के लिये कुछ नहीं करता।)

१. समाधिव्युत्थानभेदेन मुक्तस्यावस्थाद्वयसमर्थनं विवरणानुसारीति ज्ञेयम्।

यथाऽत्र स्थविरो रोगी ह्यशक्तो मृतिमागतः। सुखदुःखे परेच्छायां प्राप्नुयादात्मवित्तथा।।१३२८।।

प्रसङ्गात् क्षेत्रमायातो यथा कश्चिद् धनी पुमान्। अलाभे न विषादी स्याल्लाभे हृष्टो न चाऽत्र सः।।१३२९।।

लाभालाभौ तथैवाऽस्य जीवन्मुक्तस्य सर्वदा। हर्षं चैव विषादं च न सञ्जनयतः क्वचित्।।१३३०।।

भृतको भृतिमेवेच्छन् नात्यल्पं बहु वा क्वचित्। स्वामीव कुरुते कर्म कालावधिविलोकनः।।१३३१।।

जीवन्मुक्तस्तथैवाऽयं व्यापारेष्वव्यवस्थितः। आत्मानमवलोक्यैव तिष्ठत्यामरणं सदा।।१३३२।।

प्रारब्धाद् जीवनम्

दारुयन्त्रं यथा सूत्रैर्गच्छेत् तत् सर्वतोदिशम्। कर्मसूत्रैस्तथा देहो जीवन्मुक्तस्य गच्छति।।१३३३।।

यथा चर्ममयो हस्ती सुखदुःखकरो भवेत्। कर्मानुसारतः पुंसां जीवन्मुक्तवपुस्तथा।।१३३४।।

तथाऽस्यापीत्यर्थः।।१३२७।। किञ्च ते सुखदुःखे अपि परेच्छासाध्यव्यापारादेव विदुषो भवत इत्याह—यथाऽत्रेति। यथा लोके कश्चिद् वृद्धो रोगकृताशक्तः हेतोः मृतिं मृत्युसमावस्थां प्राप्तः सन् परेषां वध्वादीनाम् इच्छायां निमित्तभूतायामेव सुखदुःखादिकं प्राप्नोति, तथाऽयमपीत्यर्थः।।१३२८।।

तस्य लौकिकौ लाभालाभौ हर्षादिकं न कुरुत इत्येतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—प्रसङ्गादिति द्वाभ्याम्। यथा कश्चित् कर्षको भूयसा धनेन तुष्टमनाः कदाचित् क्षेत्रं गतः संस्तत्र सस्यसम्पत्तेः अलाभं पश्यन् यद्वद् न विषीदति, ततो लाभं वा पश्यन् न हृष्यति; तथाऽयं विद्वानपि ब्रह्मानन्दतुष्टो लौकिकलाभालाभयोः हर्षादिकं नाप्नोति। इति द्वयोरर्थः।।१३२९-३०।।

तस्य चित्तमात्मचिन्तायामेव प्राधान्येन वर्तत इत्येतद् दृष्टान्तेन दर्शयति—भृतक इति। यथा भृतको वेतनोपजीवी भृतिं वेतनम् एव मनसा चिन्तयन् गृहस्वामिवद् नात्यल्पं, मध्यविधं, बहु वा कर्म करोति। कीदृशः? वेतनकालावधिदर्शी। तथाऽयं जीवन्मुक्तः अपि लौकिकव्यापारेषु अव्यवस्थितः अतत्परः, आत्मदर्शनप्रधान एव तिष्ठति। इति द्वयोरर्थः।।१३३१-३२।।

तस्य लोकयात्रामचिन्तयतोऽपि प्रारब्धकर्मवशाद् लोकयात्रा निर्वहति इति निदर्शयति—दारुयन्त्रमिति। अत्र सूत्रबद्धं दारुयन्त्रं तदेव यत् कार्पाससूत्राणां खनिभूतं; तस्य भ्रमणं यथा सूत्रप्रयुक्तं प्रसिद्धम्; तथा विद्वद्देहस्य प्रारब्धकर्मरूपसूत्रप्रयुक्तमित्यर्थः।।१३३३।। वीतरागस्य विदुषः शरीरमेव सुहृदां दुर्हृदां च भावानुसारेण हर्षादिकरं भवति इत्यत्र दृष्टान्तमाह — यथा चर्मेति। चर्ममयः कुतुकाय चर्मणा निर्मितः।।१३३४।। शरीरयात्रार्थं

संसारी भी अत्यन्त धनी व्यक्ति किसी मौके पर खेत में पहुँचकर देखता है कि फसल अच्छी नहीं है तो सिर नहीं धुनने लगता और फसल बढ़िया देखकर फूल कर कुप्पा नहीं हो जाता। इसी तरह जीवन्मुक्त को, जो ब्रह्मानंद से सन्तुष्ट है उसे, लाभ व हानि कभी कहीं हर्ष या विषाद नहीं दे पाते। दिहाड़ी पर कार्यरत मज़दूर मिलने वाले पैसों का ही चिन्तन करता है, मालिक की तरह अर्थात् बहुत कम या बहुत ज्यादा काम नहीं करता, हमेशा समय पूरा होने की ओर ध्यान रखता है। (मालिक कभी आलस्यादि से स्वल्प भी कार्य करता है क्योंकि उसे कोई टोकने वाला तो है नहीं। और कभी स्वार्थवश बहुत ज्यादा कर लेता है। मज़दूर न उतना कम करता है क्योंकि डाँट सुननी पड़ती है और न अधिक ही करता है।) इसी प्रकार यह जीवन्मुक्त मरणपर्यन्त आवश्यक लौकिक व्यापार अतत्परता से ही करता है, हमेशा आत्माका ही चिंतन करता है और मानो मरने की इन्तजार ही करता है। (नारदपरिव्राजकोपनिषत् में भी 'कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते। नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्। कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा।।'३.६३।। ऐसा बताया है।)।।१३२७-३२।।

आनिपातं यथा गच्छेद् बाणो मुक्तो धनुष्मता। आरब्धकर्मभिस्तद्वद् देहोऽप्यामरणं व्रजेत्।।१३३५।।

भूताविष्टो यथा कर्ता कुर्वन् वेत्ति न किञ्चनं। व्यवहारं तथा कुर्वन् जीवन्मुक्तो न वेत्त्यमुम्।।१३३६

मुक्तो ब्रह्म

एतादृशीं यदाऽवस्थां प्राप्तो भवति मानवः। तदा विनाशमायाते सति वाऽस्मिन् शरीरके।
शरीरत्रयहीनः स्यादमृतो जन्यभावतः।।१३३७।।

प्राणस्याऽयं भवेत् प्राणः प्राणापानविवर्जितः। स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितः।
ब्रह्मैवात्मप्रकाशत्वात् तेज एव न चापरम्।।१३३८।।

साधनविज्ञानाय पुनः प्रश्नः

एवमात्मानमाज्ञाय राजा सम्यग् गुरोर्मुखात्। कारणं ब्रह्मविज्ञाने ज्ञातवान् न महीपतिः।१३३९

मनोव्यापाराभावेऽपि पूर्वसंस्काराद् देहप्रवृत्तौ दृष्टान्तमाह—आ निपातमिति।।१३३५।। देहेन्द्रियादिभिः कृतमपि कर्म ब्रह्मनिष्ठावेशवशाद् न जानातीति दर्शयति—भूतेति।।१३३६।।

एतादृशीमवस्थां प्राप्तो विद्वान् सशरीरतया दृश्यमानोऽपि अशरीरः अमृतश्च वाच्यः, तद्दृष्ट्या सविलासाऽज्ञानदाहाद्—इति वदन्, अशरीरा-ऽमृतपदयोः तत्र समन्वयं दर्शयति—एतादृशीमिति। जनेः शरीरधर्मस्य अभावाद् अमृतः।।१३३७।। तत्र हेतुतया प्राणादिशब्दैः सूचितमखण्डब्रह्मात्मत्वमाह—प्राणस्येति। यतः अयं विद्वान् वस्तुतः प्राणादिवर्जितत्वेऽपि सन्निधिमात्रेण सर्वप्राणानां चालकत्वात् प्राणपदलक्ष्यम्, अद्वितीयत्वाद् ब्रह्मपदलक्ष्यम्, सर्वान्तरचित्प्रकाशरूपत्वात् तेजःपदलक्ष्यम्, एवकारसूचिताऽखण्डात्मकं च यद्वस्तु तद्रूप एव भवतीत्यर्थः।।१३३८।।

एवं ज्ञेयं तत्त्वं ज्ञात्वाऽपि राजा पुनः साधनविशिष्टां विद्यां श्रोतुकामः पूर्ववत् सहस्रदक्षिणादानवाक्यमेवोवाच

कठपुतली धागों के अनुसार ही सब ओर जाती है। जीवन्मुक्त का शरीर भी प्रारब्धकर्म रूप धागों से ही चलता है। चमड़े से बना हाथी लोगों को अपने-अपने कर्मानुसार सुखःदुःख देता है—पुण्योदय वाला उससे प्रसन्न होता है, पापोदय वाला दुःखी भी हो जाता है। जीवन्मुक्तका शरीर भी अन्यों को सुख-दुःख उन्हीं के कर्मानुसार देता है, मुक्त न किसी को सुखी और न किसी को दुःखी करता है। (हालाँकि सभी शरीरों की यही स्थिति है फिर भी बद्ध जीव स्वयं भी अन्यों के सुख-दुःख के लिये चेष्टा करते हैं और स्वयं को अन्यों के सुखादि का जनक मानते हैं। विद्वान् की न कोई चेष्टा और न कोई ऐसी मान्यता होती है।) धानुष्क द्वारा छोड़ा तीर गिरने पर्यंत आगे जाता ही है। ऐसे ही प्रारब्धकर्मों के कारण देह भी मरने पर्यन्त कार्यकारी रहता ही है। जिस पर भूतावेश हो वह कुछ करने पर भी 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा नहीं समझता। जीवन्मुक्त भी व्यवहार करते हुए स्वयं को उसका कर्ता नहीं समझता।।१३३३-३६।।

मानव जब ऐसी स्थिति पा जाता है तब उसका शरीर विद्यमान हो चाहे नष्ट हो जाये, वह तो तीनों शरीरों से रहित होता है। क्योंकि उसका जन्म ही हुआ नहीं इसलिये वह मृत्युवर्जित है। प्राण-अपान आदि वाला न होने पर भी यह प्राण का भी प्राण है क्योंकि इसकी सँनिधि से ही प्राण में प्राणनादिकी सामर्थ्य है। स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेद आत्मा में—इस मुक्त में—नहीं हैं। वह ब्रह्म ही है। क्योंकि वह चिद्रूप प्रकाश है इसलिये उसे 'तेज' कह देते हैं। वही अखण्ड तत्त्व है। (श्रुति में मुक्त को अशरीर आदि कहा है, उसी की यहाँ व्याख्या है।१) अशरीर—तीनों शरीरों से अध्यास निकल चुका होने से। २) अमृत—जन्मवान् की मृत्यु अनिवार्य है और यह जन्मरहित हो चुका है अतः मरने की संभावना भी नहीं। ३) प्राण—सँनिधि-मात्र से प्राणादिका प्रेरक है। ४) ब्रह्मैव—अद्वितीय होने से व्यापक है। तेज—चित्प्रकाशात्मक है। एव—अखण्ड है।)।।१३३७-३८।।

न हि शब्दः श्रुतोऽशुद्धमनसः[1] प्रमितिप्रदः। इत्यभिप्रायवान् भूयो राजा पूर्ववदब्रवीत्।।१३४०।।

प्राप्तविद्योऽस्मि सोऽहं ते याज्ञवल्क्य! ददाम्यहम्। गवां सहस्रं विद्याया निष्क्रयं मुनिसत्तम!।।१३४१।।

इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि मन्त्रब्राह्मणभागतः। साधनं विविधं तस्मा उक्तवान् मुनिसत्तमः।।१३४२।।

प्रतिवचनम्

पन्थाः सूक्ष्मोऽतिविततः पुराणः सुखदो नृणाम्। विषयी कृत्य मां जातो बोधश्चरमजन्मनि।।१३४३।।

इत्याशयकस्य कण्डिकाशेषस्य[2] अर्थमाह—एवमिति त्रिभिः। एवं तत्त्वं ज्ञात्वाऽपि राजा ब्रह्मविद्यासाधनं यतो न ज्ञातवान्, इति अतः पूर्ववद् अब्रवीत्। कीदृशो राजा? इत्यभिप्रायवान्। 'इति'किम्? अशुद्धमनसा श्रुतः अपि शब्दः प्रमितिप्रदः फलाधायको न भवति, इत्यतः सत्त्वशुद्धिसाधनमपि श्रोतव्यम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१३३९-४०।। पूर्ववद् वाक्यमभिनयति—प्राप्तेति।।१३४१।।

एवं पृष्टो मुनिः मन्त्रैः ब्राह्मणवाक्यैश्च ससाधनां विद्यां वक्तुमुपचक्रम इत्याह—इत्युक्त इति।।१३४२।। तत्र ब्रह्मविद्यैव मोक्षमार्ग इत्यवधारकस्य 'अणुः' इत्यादेः प्रथममन्त्रस्य[3] अर्थमाह—पन्था इति पञ्चभिः। साक्षात्कृतात्मतत्त्वो मुनिः एवमाह। 'एवं' कथम्? योऽयं चरमजन्मनि मां ममात्मानं विषयी कृत्य बोधो जातः स एव सूक्ष्मादिविशेषणकः मोक्षस्य पन्था इति सम्बन्धः।।१३४३।। एष पन्था अतिदुर्गमो मयैव वेदमनुसृत्य ज्ञातः,

पुराणकार कहते हैं—राजा जनक गुरुमुख से यों आत्मतत्त्वको सही तरह समझने पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार का उपाय नहीं जान पाया। यद्यपि शब्द ही साक्षात्कारात्मक ज्ञान देने में सक्षम है तथापि जिसका मन अशुद्ध है उसे शब्द भी प्रमा नहीं करा सकता। इसलिये चित्तशुद्धि के साधन भी जानने के अभिप्राय से राजा ने कृतकृत्यता न दिखाकर पहले की तरह ही कहा—'हे याज्ञवल्क्य! मैंने विद्या प्राप्त की। विद्याके निष्क्रय रूपमें हज़ार गायें आप श्रेष्ठ मुनि को भेंट करता हूँ।'।।१३३९-४१।।

यह सुनकर याज्ञवल्क्य भी समझ गये और मंत्रों व ब्रह्मण वाक्यों से उन्होंने उसे विविध साधन समझाये।।१३४२।।

याज्ञवल्क्य ने प्रवचन आरंभ किया यह बताते हुए कि ब्रह्मविद्या ही मोक्षमार्ग है : जो इस परान्त जन्म में मेरे बारे में मुझे ज्ञान हुआ है यही लोगों को मोक्षसुख देने वाला सूक्ष्म, अत्यन्त विस्तृत और पुराना रास्ता है।।१३४३।।

(इस जन्मके बाद जन्म नहीं होने से यह 'परान्त' है जैसा वेद ने 'परान्तकाले परामृताः' इत्यादि कहा है। यह सूक्ष्म है क्योंकि इसे समझना मुश्किल है। क्योंकि यह ज्ञान पूर्ण वस्तु को विषय करता है इसलिये इसे विस्तृत कहते हैं। माध्यंदिन में 'विततः' की जगह 'वितरः' कहा है जिसका अर्थ है कि यह संसार सागर से तर जाने का विस्पष्ट उपाय है। यह पुराना है क्योंकि सनातन श्रुति ने इसे प्रकाशित किया है। श्रुतिमें कहा है कि 'यह मार्ग मुझे छू गया है', तात्पर्य है मैंने यह ज्ञान पा लिया है। द्रढिष्ठ अनुभूति हो तो हिन्दी में भी 'छू जाने' का प्रयोग होता है। श्रुति ने यह भी कहा 'अनुवित्तो मयैव' अर्थात् मैंने इसका अनुवेदन कर लिया। वहाँ भाष्य है 'अनुवेदनं नाम विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानतानिष्ठाप्राप्तिः, भुजेरिव तृप्त्यवसानता।' अर्थात् विद्या पाकर उसकी सफलता के प्रतिबंधक मिटा लिये हैं। मन्त्रके उत्तरार्ध का अर्थ है—बुद्धिमान् ब्रह्मवेत्ता इसी रास्ते से मोक्ष पाते हैं। जीवित समय में ही मुक्त होकर शरीर छूटने पर विदेहकैवल्य प्राप्त कर लेते हैं। इस मंत्र को स्पष्ट करते हैं—) सब देहधारियों को सर्वात्मता देने वाला जो यह मार्ग

---

१. मनसा—इति टीकापाठो भाति। ३. 'अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः।।'४.४.८।। २. 'सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः।।'

ज्ञातो मयैव यो नित्यं सर्वदः सर्वदेहिनाम्। मदन्यः कोऽमुमध्वानं जानीयादतिदुर्गमम्।।[1]
गुरुर्वेदात्मकस्तस्माज्जानाम्येनमहं मुनिः।।१३४४।।

तेन मार्गेण विद्वांसो ब्रह्मचर्यादिसाधनाः। अपि गच्छन्त्यतिसुखं स्वर्गं लोकं स्वयंप्रभम्।।१३४५।।

विलीना इव तिष्ठन्ति गत्वाऽऽनन्दात्मरूपकम्। दुःखैर्नानाविधैर्मुक्ता निश्चलाः स्वात्मनि
स्थिताः।।१३४६।।

रागद्वेषादिनिर्मुक्ता अज्ञानेन विवर्जिताः। देहाभिमानसन्त्यागाद् ऊर्ध्वं निर्बन्धना जनाः।।१३४७।।

उपासकानां मोक्षमार्गः

हार्दादित्ये तथा बाह्ये संलग्नो योऽत्र वर्तते। ब्रह्मज्ञानाख्यमार्गेण सोन्त एकी भवेदपि।।१३४८।।

फलवत्तया दृष्टश्चेत्याह—ज्ञात इति। सर्वदः सर्वात्मभावप्रदो यः अयं पन्थाः मयैव सर्वज्ञेन ज्ञात इति सम्बन्धः।।१३४४।। 'मयैव' इत्येवकारः अयोगव्यवच्छेदार्थो, न तु अन्ययोगव्यवच्छेदार्थ इत्यभिप्रायेण तत्फलमितरेषामपि साधनसम्पन्नानां भवतीति दर्शयति—तेनेति। तेन ज्ञानरूपेण मार्गेण अन्ये विद्वांसोऽपि ब्रह्मानन्दरूपं स्वर्गं गच्छन्ति इति सम्बन्धः।।१३४५।। तत्फलस्य इतरमार्गगम्यफलेभ्यो वैलक्षण्यं गन्तृविशेषणैराह—विलीना इति द्वाभ्याम्। विलीनाः सिन्धौ सैन्धवपिण्डवत् तद्भावं गताः तिष्ठन्ति, जीवन्तोऽपीति शेषः। देहाभिमानत्यागाद् ऊर्ध्वं निर्बन्धना मुक्ताः। श्रुतौ तु ऊर्ध्वशब्दस्यौकारः छान्दसः। इति द्वयोरर्थः।।१३४६-४७।।

केचिद् मणिप्रभायां मणिदर्शिन इव सुषुम्नानाडीरूपं मोक्षमार्गमाहुः। तन्मतप्रदर्शकस्य[2] द्वितीयमन्त्रस्य अर्थमाह—हार्देति पञ्चभिः। यः सुषुम्नारूपो मार्गः हृत्कमलगतादित्यमारभ्य बाह्यादित्येन सम्बद्धः वर्तते सः मार्गः अन्ते ब्रह्मणा सह मोक्षकाले[3] ब्रह्मज्ञानाख्यमार्गेण सह एकी भवति तुल्यफलो भवतीत्यर्थः।।१३४८।। तमेव

है इसे मैंने ही जाना है। इस दुर्गम पथ को मुझ से अन्य और कौन जान सकता है! मैं वेदरूप गुरु हूँ, मैं मुनि इसे जानता हूँ। (जो आत्मा की अद्वैतता जानेगा वही तत्त्वनिष्ठारूप मार्ग प्राप्त कर सकता है, आत्मभेदर्शी नहीं। वेदोपाधिक ईश्वर से भी अपना अभेद जानने वाला ही यह अखण्डबोध प्राप्त करता है।)।।१३४४।। 'मैंने ही पाया है' से यह न समझना कि तुम्हें नहीं मिलेगा! ब्रह्मचर्य आदि साधनों से संपन्न जो भी विद्वान् इस मार्ग पर दृढतापूर्वक चलते रहते हैं वे अत्यंतसुखरूप स्वप्रकाश स्वर्गलोक पा जाते हैं। (अर्थात् 'मैंने पाया है ही' यों 'ही' का इतना ही मतलब है कि मुझे प्राप्त हुआ है इसमें संदेह नहीं। स्वर्ग से यहाँ मोक्ष कहा है।)।।१३४५।। अन्य मार्गों की अपेक्षा इस से जाने पर जिस फलावस्था में पहुँचते हैं वह भी विलक्षण है—आनन्दरूप आत्मरूप उस स्वर्ग में पहुँचकर लोग मानो विलीन हुए रहते हैं जैसे समुद्र में नमक की डली डाल दें तो उसमें विलीन हो जाती है। नाना प्रकार के सभी दुःखों से वे छूट जाते हैं। स्वयं अपने में ही रहते हैं, कोई चंचलता उनमें नहीं आती। (अपने में रहना अर्थात् अखण्डातिरिक्त कोई भान न होना। अन्य भान ही चांचल्य है।) राग-द्वेष आदि और अज्ञान का इनसे स्पर्श भी नहीं रहता। देहमें अभिमान त्याग देने के बाद लोग बंधनरहित हो जाते हैं। (अभिमानत्याग आत्यंतिक या बाधरूप समझना चाहिये।)।।१३४६-४७।।

उपासकों की नाडीमार्गसे गति होती है। नाडियाँ विभिन्न रसों से भरी हैं। अतः विभिन्न रंगों की हैं ही । इस बात को श्रुतिने मार्गप्रकरण में मन्त्रसे कहा है, उसे पुराणमें समझाते हैं—जो सुषुम्ना रूप मार्ग हृदयकमल में स्थित आदित्यसे

---

१. 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' (२.२१) इति काठकेऽपि। २. 'तस्मिञ्शुक्लमुतनीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च।।' ३. 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्' (४.३.१०) इत्यत्रैतन्निरूपितमपि।

सगुणब्रह्मलोकस्य मार्गः सूर्ये तथा हृदि। रश्मिनाडीमयो नित्यं वर्तते राजमार्गवत्।।१३४९।।

तस्मिन् शुक्लं तथा नीलं पिङ्गलं हरितं तथा। लोहितं चेत्येवमादिरूपमाहुर्मनीषिणः।।१३५०।।

चित्रवर्णस्त्वयं पन्था ब्रह्मणा साक्षिरूपिणा। ज्ञातस्तेन व्रजेन्नित्यं सगुणब्रह्मचिन्तकः।।१३५१।।

पञ्चाग्निवित् तथाऽन्योऽपि गृहस्थाऽन्यत्रयाऽऽश्रमी। स्वाश्रमोचितमत्यन्तं पुण्यकर्म विधाय हि।।१३५२।।

मार्गमभिनयति—सगुणेति। सूर्ये हृदि च संलग्न इति शेषः। रश्मिनाडीमयः सूर्यात् प्रसृताभी रश्मिभिः, हृदयात् प्रसृताभिर्नाडीभिश्च निर्मितः; 'ता आदित्यात् प्रतायन्त' इत्यादिच्छन्दोगश्रुतेः (८.६.२)।।१३४९।। नाना-विधान्नरसपूर्णत्वेन तस्य नानाविधान् वर्णानुपासकाः प्राहुरित्याह—तस्मिन्निति। तस्मिन् सगुणब्रह्मलोकमार्गे।।१३५०।। अयं सगुणोपासकैर्गम्यो मार्गः साक्षिप्रत्यक्षसिद्ध इत्याह—चित्रेति। सगुणब्रह्मणोऽहङ्ग्रहेणोपासकाः तेन गच्छन्ति। तथा पञ्चाग्निविद्[1] गृहस्थोऽपि तेन मार्गेण गच्छति। तथा अन्योऽपि गृहस्थभिन्नाश्रमी ऊर्ध्वरेतस्त्वेन श्रुतौ 'तैजस'-पदोक्तः स्वाश्रमकर्मात्मकपुण्यकर्ता तेन गच्छति। इति द्वयोरर्थः। भाष्यव्याख्यानभेदस्तु प्रमेयाऽविरोधात् समाधेयः।।१३५१-५२।।

प्रारंभ हो आकाशस्थित आदित्य से सम्बद्ध है वह भी ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग से तब एक हो जाता है जब ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के साथ मुक्त होने का मौका आता है। (सर्वथा अपुनरावृत्ति फल वाली ब्रह्मोपासनाओं के फलस्वरूप ब्रह्मलोक जाने वाले वहाँ ब्रह्मा के उपदेशादि से सम्यग्ज्ञान अत्यन्त सुस्पष्ट प्राप्त कर मुक्त होते हैं यह शास्त्रमें निर्धारित है।)।।१३४८।। सगुणब्रह्मके लोक जाने का रास्ता सूर्य और हृदय से संलग्न है। सूर्य से उपासककी मूर्धापर्यन्त वह मार्ग सूर्यकी किरणरूप है और हृदयसे मूर्धापर्यन्त वह नाडीरूप है। राजमार्ग की तरह वह हमेशा (रात्रि आदि में भी) यात्रार्थ उपलब्ध रहता है। उपासक उस मार्ग में नाना रूप बताते हैं जैसे सफेद, नीला, स्वर्णिम, हरा, लाल इत्यादि। विभिन्न रंगों वाला यह रास्ता साक्षिरूप ब्रह्मको ही प्रत्यक्षसिद्ध है। सगुणब्रह्म की अहंग्रह-उपासना जो पूरी कर लेता है वह इसी मार्ग से जाता है। (तभी अपुनरावृत्ति फल अवश्य प्राप्त करता है।) पंचाग्नि-उपासना करने वाले भी इस मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं। (किन्तु उनका पुनरावर्तन संभव है। इस कल्प तक तो नहीं लौटेंगे।) गृहस्थाश्रमसे अन्य तीनों आश्रमों वाले अपने-अपने आश्रमके लिये उचित अतिपुण्यमय कर्म करते हैं और साथ में ब्रह्मोपासना भी करते हैं तो वे भी इस मार्ग से ब्रह्मलोक चले जाते हैं। (अन्याश्रमियों के लिये पुराणमें स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी श्रुति ने क्योंकि उनके लिये 'ये च... सत्यमुपासते' यों सत्य ब्रह्मकी उपासना का विधान कर दिया है इसलिये केवल स्वाश्रम कर्मों से नहीं वरन् साथ में ईश्वरोपासना भी करें तब ब्रह्मलोक पायेंगे। त्रिदण्डी व आश्रम संन्यासियों को भी इस रीति से गति उपलब्ध हो जायेगी। परमहंस तो एषणात्रय छोड़ चुके हैं अतः वे गति के अधिकारी नहीं किन्तु जो उनमें भी तत्त्वनिष्ठा न पा सकें और प्रणवोपासना में तत्पर रहें वे ब्रह्मलोक पाकर क्रममोक्ष प्राप्त कर लेते हैं यह 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः' सूत्र में (१.३.१३) स्थापित सिद्धान्त से समझा जा सकता है। पंचीकरण प्रकरण, माण्डूक्य सूचित उपासना, ध्यानदीपप्रकरण आदि भी ऐसे अधिकारियों के लिये उपाय हैं।अतः वे यद्यपि लोककामना छोड़ चुकने से ब्रह्मलोक चाहते नहीं फिर भी मोक्ष चाहते ही हैं अतः क्रममोक्ष के अंगरूपसे उन्हें ब्रह्मलोक मिल जाता है।)।।१३४९-५२।।

श्रुति ने इसके बाद दो मंत्रों द्वारा ज्ञानसे अन्य मार्गों को हेय बताया है ताकि ज्ञानमार्ग में ही मुमुक्षु प्रवृत्त हो।

---

१. 'स एनान् ब्रह्म गमयति' (छां.४.१५.५), 'त य एवमेतद् विदुः, ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति...पुरुषो. ..ब्रह्मलोकान्...गमयति तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ.६.२.१५) इत्यादिश्रुतेः। गीतागूढार्थदीपिकायाम् (६.४०) अत एव श्रुतेः श्रद्धालोः श्रवणादिपरायणस्य मुमुक्षोः सद्योमोक्षाभावे ब्रह्मलोकलाभो निरूपितः।

ज्ञानभिन्नपन्थानो हेयाः

अन्धन्तमो विशन्त्येते पुत्रदारादिमोहदम्। धूमादिमार्गतो गत्वा स्वर्गं केवलकर्मिणः।।१३५३।।
ब्रह्मेन्द्रादीन् सुरांस्तद्वद् नानोपासनया हि ये। आराधयन्ति कर्मिभ्यः तेऽधिकां संसृतिं ययुः।१३५४
देवताविद्यया गत्वा परमैश्वर्यमत्र ते। कर्मिभ्योऽभ्यधिकासक्ता दारादिषु भवन्ति हि।।१३५५।।
विद्यया कर्मणा वाऽपि सक्ता दारसुतादिषु। कञ्चित् कालं सुखं प्राप्य पश्चाद् दुःखमिमे ययुः।१३५६
असुखा नाम ये लोका अन्धेन तमसा वृताः। मृत्वा तानभिगच्छन्ति ये स्वज्ञानविवर्जिताः।।१३५७।।

अथ ब्रह्मविद्यारूपमार्ग एव मुमुक्षुभिरुपादेय इति बोधयितुं तदितरमार्गाणां हेयताबोधकयोः तृतीयचतुर्थमन्त्रयोः[1] अर्थमाह—अन्धमिति नवभिः। ये केवलं कर्मिणो यागदानादिरूपकर्मात्मकाविद्याशालिनः ते धूमादिकेन दक्षिणमार्गेण स्वर्गं गच्छन्तोऽपि अन्धं तमः देहाभिमानरूपं व्रजन्ति। कीदृशं तत्तमः? पुत्रदारादिसक्तिद्वारा विवेकचक्षुःपिधायकत्वाद् अन्धम् अन्धत्वकरमित्यर्थः। एतेन केवलपापकारिणः कीटपतङ्गादिभावलक्षणतृतीय-मार्गगामिनः[2] अन्धन्तमो विशन्तीति किमु वाच्यम्! इति सूचितम्।।१३५३।। तथोपासनारूपां विद्यामनुतिष्ठन्तोऽपि देवभावद्वाराऽतिरमणीयविषयेषु आसक्त्यतिशयात् पूर्वेभ्योऽधिकं तमो विशन्तीत्याह—ब्रह्मेन्द्रादीनिति। स्पष्टम्।।१३५४।। आधिक्यं विशदयति—देवतेति। देवताविषयकया विद्ययोपासनया त उपासकाः परमैश्वर्यं लब्ध्वा कर्मिभ्यः अधिकां दारादिषु सक्तिं लभन्त इत्यर्थः।।१३५५।। ततश्च तमसो हेतोः जन्मपरम्परां दुःखरूपां ते कर्मिण उपासकाश्च प्राप्नुवन्तीत्याह—विद्ययेति। इमे उपासकाः कर्मिणश्च विद्यया कर्मणा च कञ्चित् कालं सुखलेशं प्राप्य पश्चात् जन्मपरम्परारूपं दुःखं ययुः प्रापुरिति।।१३५६।।

आत्माऽज्ञानरूपतमसः फलमेव दुःखात्मकसंसाररूपं दर्शयति—असुखा इति। नाम इति प्रसिद्धौ। लोकाः कर्मफलानि। स्वपदार्थ आत्मा।।१३५७।।

मंत्र कहते हैं— जो केवल कर्म करते हैं वे ऐसे तम में प्रवेश करते हैं जहाँ कुछ दीखता नहीं। उनमें भी जो उपनिषदों के अर्थ से कोई सरोकार नहीं रखते वे और अधिक अंधेरे में पहुँचते हैं। आत्मज्ञान से रहित लोग जिन अंधेरों में पहुँचते हैं वहाँ के भोगों में सुख नहीं है।—इस मंत्रार्थ का विस्तार करते हैं :

जो मनुष्य उपासना न कर केवल कर्म करते हैं वे धूमादि रास्ते से स्वर्ग पहुँचकर अंधा बना देने वाले तम में प्रवेश करते हैं जो उन्हें पुत्र-पत्नी आदि के प्रति मोह प्रदान करता है। (यहाँ तमसे देहाभिमान और मोह से ममताभिमान समझना चाहिये।) इसी तरह जो लोग ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं की नाना उपासनाओं द्वारा आराधना करते हैं वे कर्मियों से भी अधिक संसरण पाते हैं! देवोपासना से वे अत्यधिक ऐश्वर्य पाकर इन पत्नी आदि में उनकी अपेक्षा ज्यादा आसक्त होते हैं जो केवल कर्म से स्वर्ग जाते हैं।(कारण है कि उपासकों को विषय अत्यंत रमणीय मिलते हैं, स्वर्ग में केवल रमणीय ही प्राप्त होते हैं। लोक में भी साधारण विषय की अपेक्षा विशेष विषय में अधिक आसक्ति देखी जाती है। अत एव अनासक्ति के अभ्यासी को अपने निर्वाह केलिये अधिक सौंदर्य, सुविधा आदि वाले पदार्थों का उपयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि स्वभावतः ही वे पदार्थ अधिक आसक्ति के हेतु बनते हैं।) पत्नी-पुत्र आदि में आसक्त लोग उपासना या कर्म के फलस्वरूप कुछ समय सुख पाकर पुनः जन्मप्रवाहरूप दुःख ही पाते हैं। जिन्हे स्वयं अपनी वास्तविकता की जानकारी नहीं है वे मरकर उन लोकों को जाते हैं जो न केवल अंधकारमय तम से ढके रहते हैं वरन् जिनके बारे में प्रसिद्ध भी है कि वे सुखरहित हैं। (अर्थात् आत्माका अज्ञान वह तम है जिसमें दुःखरूप संसार मौजूद है।)।।१३५३-५६।।

१. 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।' 'अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः।।' २. मार्गत्रयं छान्दोग्यपञ्चमे दशमखण्डे वर्णितम्।

त्रिषु मार्गेषु विशेषः

एवमेते त्रयो मार्गाः कथिताः सर्वदेहिनाम्। अन्धे तमसि यो मार्गो ब्रह्मज्ञानपथं हि सः। न परम्परयाऽप्येष याति याम्यपुरं गतः।।१३५८।।

विद्याकर्मवतां मार्गावुक्तौ तौ कर्हिचित् क्वचित्। ब्रह्मज्ञानपथं यातो जन्तोर्भाग्योदये सति।।१३५९।।

ब्रह्मविज्ञानमार्गेऽस्मिन् सुखदुःखविवर्जिते। याति यस्तस्य सदृशा इमे मार्गास्त्रयोऽपि हि।।१३६०।।

पुण्यविद्याफले ब्रह्मलोके पुण्यफलेऽपि च। स्वर्गभूम्यादिके तद्वद् नरके पाप्मनः फले।।१३६१।।

ज्ञानान्मोक्षः

सुखदुःखे शरीरस्य नात्मनस्ते कथञ्चन। शरीरस्थस्ततस्ताभ्यामसम्बद्धः पुमानयम्।।१३६२।।

व्याख्यातमन्त्रयोस्तात्पर्यार्थमाह—एवमिति। एते छान्दोग्यादौ प्रसिद्धाः। सर्वेषां सात्त्विकादिभेदशालिनां देहिनां संसारिणां सम्बन्धिनः त्रयो देवयानपितृयाणतृतीयस्थानाख्याः पन्थानो यद्यपि एवं तमोद्वारा दुःखमयलोकप्रदत्वेन कथिताः तथाप्येष विशेषो बोध्य इति शेषः। 'एष' कः? तेषां मध्ये यो मार्गः केवलम् अन्धे तमसि वर्तमानः तृतीयस्थानाख्यः सूचितः, स ब्रह्मज्ञानाख्यं तुरीयं पन्थानं परम्परयाऽपि न स्पृशति, यतो याम्यपुरं निरयजातं प्रत्येव गतः। तथा चोक्तं गीतासु 'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।' (१६.१९) इति।।१३५८।। यस्तु विद्यावतां सम्बन्धी देवयानाख्यः पन्थाः, यश्च सत्कर्मिणां सम्बन्धी पितृयाणाख्यः, तौ इमौ परम्परया चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञानाख्यमार्गोपयोगिनौ भवत इत्याह—विद्येति। यातः प्राप्नुतः।।१३५९।। यस्तु ब्रह्मविद्याख्ये तुरीयमार्गे चरति, तेन त्रयोऽपि मार्गा हेया इत्याह—ब्रह्मेति। सदृशा हेयत्वेनेति शेषः।।१३६०।। तानेव त्रीन् मार्गान् फलभेदेन विभजते—पुण्येति। तत्र देवयानाख्यः पन्थाः सत्कर्मसमुच्चितसगुणविद्याफले ब्रह्मलोके पर्यवसन्नः। पितृयाणाख्यस्तु केवलसत्कर्मफले स्वर्गादिलोके पर्यवसन्नः। तृतीयस्थानाख्यस्तु केवलपापफले नरके पर्यवसन्न इत्यर्थः।।१३६१।।

अथ ब्रह्मविद्याफलं सर्वदुःखनिवृत्तिलक्षणं प्रतिपादयितुम् 'आत्मानम्' इत्यादेः[1] पञ्चममन्त्रस्याऽर्थमाह—सुखेति द्वादशभिः। सुखदुःखे शरीरस्य उपाधेरेव धर्मौ नात्मनः, तथा सति शरीरस्थः अपि आत्मा ताभ्यां सुखदुःखाभ्याम् असम्बद्धः—इति सम्बन्धः।।१३६२।। एवंविधोऽप्यात्मा शरीरधर्मान् आत्मनि मन्यमानस्तप्यत इत्याह—देहमिति।

सब देहधारियों को मरने के बाद मिलने वाले ये तीन रास्ते शास्त्रमें कहे हैं—देवयान, पितृयाण और तीसरा इनसे अन्य यहीं पैदा होने मरने वाला रास्ता। यद्यपि तीनों सांसारिक फल ही देते हैं तथापि इनमें कुछ अंतर भी है : जो तीसरा रास्ता सिर्फ अँधियारे तम में ही भटकाता है वह ब्रह्मज्ञाननामक चौथे रास्ते को परंपरा से भी नहीं छूता क्योंकि नरकों की ओर ही जाता है। उपासकों के और कर्मियों के जो क्रमशः देवयान और पितृयाण नामक रास्ते हैं वे यदि जन्तु का सौभाग्य हो तो कभी कहीं उस ब्रह्मज्ञानमार्ग से उसे मिला देते हैं। (अर्थात् कर्म व उपासना का विनियोग करें तो चित्तशुद्धि मिल जाती है जिससे चौथे मार्ग में प्रवेश हो जाता है। स्वर्ग व ब्रह्मलोक में भी ब्रह्मज्ञान की संभावना बनी रहती है जो नरकों में दुर्लभ है।) जो श्रेष्ठ पुरुष सुख-दुःखरहित इस ब्रह्मानुभवके रास्ते चलता है उसके लिये बाकी तीनों मार्ग एक जैसे हेय हैं। देवयानमार्ग उस ब्रह्मलोक में पहुँचकर समाप्त होता है जहाँ पुण्य और विशिष्ट उपासनाओं के संमिश्रण से जाया जाता है। पितृयाण स्वर्ग, भूमि आदि उन स्थानों तक जाता है जहाँ केवल सत्कर्मका फल भोगा जाता है। तीसरा रास्ता उस नरक में जाता है जहाँ केवल पाप का फल मिलता है। अतः जो लोकैषणा छोड़ चुके उसके लिये तीनों रास्ते व्यर्थ हैं।।१३५७-६१।।

ब्रह्मज्ञानका फल श्रुतिने मंत्रमें यों कहा है—'यह हूँ' यों यदि आत्मा को कोई पुरुष जान लेता है तो क्या चाहते हुए, किस काम्य फल के लिये शरीर के पीछे परेशान होगा!—इसे पुराणमें समझाते हैं :

---

१. 'आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।।'

देहं हि सुखदुःखाभ्यां ज्वलन्तमनुसञ्ज्वलेत्। देहतादात्म्यमापन्नो मूढः सर्वोऽप्ययं पुमान्। सुखं भूयादितीच्छायां सुखकामाय सर्वदा।।१३६३।।

आनन्दात्मा स्वयं ज्योतिर्निःशेषसुखसागरः। एवंभूतं सदा सन्तं हृदये स्वे महेश्वरम्।।१३६४।।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीत्यहं नरः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।।१३६५।।

विज्ञातात्मस्वरूपस्य मोहो यस्माद् निवर्तते। तन्निवृत्तौ निवर्तेत देहतादात्म्यधीरपि।।१३६६।।

तादात्म्यबुद्ध्यभावे यद् देहतापः कथं भवेत्। सदानन्दस्वरूपस्य पुंसो देहात् परस्य हि।।१३६७।।

तादात्म्यमग्निना यावद् अयसो विद्यतेऽत्र हि। वह्निं ज्वलन्तं ज्वलति तावदेव तु लोहकम्।।१३६८।।

तादात्म्येऽपगते कस्माज्ज्वलन्तमनुसञ्ज्वलेत्। एवं सञ्ज्वलतो ह्यात्मा देहादन्यो न संज्वलेत्।।१३६९।।

लोकेऽपि पुत्रमित्रादिं यावदात्मतया पुमान्। गृह्णाति तावदाप्नोति दुःखं त्यक्तेन चान्यथा।।१३७०।।

अयं पुमान् स्वात्मतत्त्वे मूढत्वाद् देहतादात्म्यमापन्नः सन् देहम् उपाधिं संसारधर्मैस्तप्यमानम् अनुसृत्य ज्वलेत् तप्यत इव। कुतः? सुखेच्छायां सत्यां सुखस्य कामाय भोगाय। कीदृशः पुमान्? सर्वोऽपि वस्तुतः सर्वात्माऽपि। यद्वा सर्वः सर्वप्रकारो लोके पण्डितत्वादिना प्रसिद्धः अपि इत्यर्थः।।१३६३।। आनन्दात्मेति। यस्तु नरः अयं साक्षादपरोक्षः पुरुषः पूर्णः अहमस्मि इति एवम् आत्मानं जानीयात्, स किमिच्छन् कस्य भोगाय वा शरीरम् अनुसृत्य तप्येत। कीदृशमात्मानम्? 'एवंभूतात्' सदा हृदये वर्तमानाद् महेश्वरादभिन्नं, सदा हृदये वर्तमानं च। 'एवं' कथम्? इत्यत उक्तम्—आनन्दात्मेति। निःशेषाणां सुखानां प्रतिबिम्बभूतानां सागरो बिम्बस्थानीयः। इति द्वयोरर्थः।।१३६४-६५।। विदुषस्तापनिवृत्तौ हेतुतया विद्यया कार्यकारणरूपाऽविद्ययोः प्रहाणमाह—विज्ञातेति। विज्ञातमात्मस्वरूपं येन स तथा तस्य मोहः कारणाविद्या तत्कार्यदेहात्मधीश्च निवर्तत इति।।१३६६।। धर्म्यध्यासाभावे च तत्प्रयुक्तो दुःखादि-तद्धर्माध्यासः कथं स्यादित्याह—तादात्म्येति। परस्य भिन्नस्य।।१३६७।।एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—तादात्म्यमिति द्वाभ्याम्। तादात्म्यम् अभेदाध्यासः लोहस्य वह्निना सह यावद् वर्तते तावद् लोहं वह्नेः अनुकारि भवति। तादात्म्याभावे तु नैवम्। तथा तप्यमानाद् देहाद् अन्यो विविक्तः सन् आत्मा न तप्यते। इति द्वयोरर्थः।।१३६८-६९।।

तादात्म्याभिमानो लोकेऽपि दुःखदत्वेन प्रसिद्ध इत्याह—लोकेऽपीति। पुत्रादिकं यदाऽऽत्मत्वेन मन्यते तदा तद्दुःखेन दुःखितो भवति। त्यक्तेन च पुत्रादावात्माभिमानेन अन्यथा तद्दुःखेन दुःखभागी न भवतीत्यर्थः।।१३७०।।

सुख व दुःख उपाधिभूत शरीर के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं। अतः आत्मा शरीर में रहते हुए भी उनसे सम्बन्ध वाला नहीं है। ये सभी पुरुष क्योंकि स्वात्मा के बारे में मूर्ख हैं इसलिये खुद को शरीर से एकमेक समझकर शरीर जब सुख-दुःख से जलता है तो स्वयं को भी जलता हुआ महसूस करते हैं! 'मुझे सुख मिले' यह इच्छा होने पर सुखप्रद काम्य पदार्थों के लिये पुरुष हमेशा शरीर का अनुसरण कर सन्ताप पाते हैं। (यहाँ सुख से भी ताप विवेकी-दृष्टिसे कहा अथवा सुख-दुःख दोनों की ही अधिकता में स्थूल देह अधिक गर्म हो जाता है इसलिये ऐसा कहा।)।।१३६२-६३।।

हमेशा आनंदस्वरूप, स्वप्रकाश, सब सुखों का सागर रहते हुए महेश्वर अपने हृदयमें आत्मरूपसे विद्यमान है। यदि नर उन्हें जान लेता है कि 'यह मैं हूँ' तो वह क्या चाहते हुए, किस भोगके लिये शरीर का अनुसरण कर स्वयं ताप पाये? ('यह मैं हूँ' अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष परिपूर्ण सत् प्रत्यक् जाने।)।।१३६४-६५।। जिसे आत्मस्वरूप का विज्ञान हो गया उसका आत्मसंबन्धी अज्ञान निवृत्त हो जाने से उसे देह में तादात्म्याध्यास भी रह नहीं सकता क्योंकि अध्यास अविद्या का ही कार्य है। जब तादात्म्यनिश्चय (देह से स्वयं को एकमेक समझना) नहीं रहता तब देह से अस्पृष्ट जो सद्-आनंद पुरुष है उसे देहताप का स्वयं में अनुभव क्योंकर होगा? आग से लोहे का तादात्म्य रहते ही आग जलने पर लोहा जलता है। जब तादात्म्य मिट जाता है तब आग का जलना लोहे का जलना नहीं रह जाता। इसी तरह जलते शरीर से अन्य हो चुका जो आत्मा वह शरीर की जलन से नहीं जलता।।१३६६-६९।।

यदाऽभिमानसन्त्यागं पुत्रादौ कुरुते पुमान्। न तद्दुःखं तदाप्नोति यथा मार्गस्थितो परः।।१३७१

एवं देहाभिमानेन दुःखी भवति निर्गुणः। अभिमानस्य सन्त्यागाद् न स दुःखं समाप्नुयात्।।१३७२।।

मुक्त ईश्वरः

गुरुशास्त्रोपदेशेन येन ज्ञातः परः पुमान्। आनन्दात्माऽत्र सङ्घाते प्रविष्टो दुर्विवर्तने।।१३७३।।

स्वयंज्योतिःस्वरूपोऽयं हार्दपद्मे व्यवस्थितः। सर्वगः सर्वसङ्घातात् सर्वथा यो विलक्षणः।। स
विश्वकृद् भवेदस्य कर्ता विश्वस्य येन हि।।१३७४।।

तस्य सर्वो भवेल्लोकः सुखदुःखप्रदो हि यः। यथा रज्जौ भवेत् सर्वः सर्पधारादिकोऽपरः।।१३७५।।

ब्रह्मलोकादिको लोको नरकान्तो य ईरितः। मार्गत्रयेण सम्प्राप्यो नास्मादन्योऽस्ति कश्चन।।१३७६।।

'त्यक्तेन चान्यथा' इत्येतदेव विशदयति—यदेति। यथा मार्गगामी तटस्थतया देवदत्तपुत्रादिसम्बन्धि दुःखं नाप्नोति इति तुरीयपादार्थः।।१३७१-७२।।

न केवलं ब्रह्मविद्यया दुःखनिवृत्तिरेव भवति किन्तु विश्वकर्तृत्वलक्षणमीश्वरत्वं सर्वात्मभावश्च भवति इति प्रदर्शकस्य 'षष्ठमन्त्रस्याऽर्थमाह—गुर्विति पञ्चभिः। अत्र देहेन्द्रियादिसङ्घाते दुर्विवर्तने दुःखेन विशिष्टं वर्तनं प्रवेशमार्गो यत्र तत्तथा तत्र, गह्वर इति यावत्। अत्र प्रविष्टः स्वयंज्योतिरादिविशेषणः, आनन्दरूपः आत्मा येन अधिकारिणा गुरुशास्त्रोपदेशेन ज्ञातः स विश्वकृत्पदार्थविश्वकर्तृत्ववान् भवति। इति द्वयोरर्थः।।१३७३-७४।। तस्येति। यः स्तम्बादिब्रह्मलोकान्तो लोकः सुखदुःखप्रदः प्रसिद्धः सर्वः तस्य विदुषो ब्रह्मात्मतया सर्वाधिष्ठानस्य आधेयो भवेत्; यथा रज्जौ कल्पितसर्पजलधारादण्डादिकः सर्वः अपरः प्रपञ्चो रज्ज्वधिकरणक इत्यर्थः।।१३७५।।

संसार में भी पुरुष जब तक पुत्र-मित्र आदि को आत्मारूपसे समझता है तभी तक उनके दुःखसे दुःखी होता है। उनमें अभिमान छोड़ देने पर उनके दुःखसे दुःखी नहीं होता। जब पुत्रादि में अभिमान नहीं रखता तब उनके दुःखसे वैसे ही दुःखी नहीं होता जैसे राहगीर जिसका उनसे कोई संबंध नहीं है वह दुःखी नहीं होता। इस प्रकार निर्गुण परमात्मा देहाभिमान से ही दुःखी होता है। अभिमान छोड़ देने पर दुःख नहीं प्राप्त करता।।१३७०-७२।।

श्रुति ने अगले मंत्रमें कहा है कि इस कष्टप्रद गहन संसार में प्रविष्ट आत्मा को, जिसने जान लिया, उसका आत्मरूपसे साक्षात्कार कर लिया वह सबको बनाने वाला है, सब का कर्ता है, उसी का लोक है, वही लोक है। यों मुक्त को ईश्वर से अभिन्न बताया है। इसकी पुराण में व्याख्या करते हैं :

जिस में प्रवेश कर बर्ताव करना दुःखद है उस शरीरेन्द्रियसंघात में घुसा परम पुरुष हृदय कमल में विशेषरूप से स्थित है। वह आनंदरूप, स्वप्रकाश, सर्वव्यापक और सभी संघातों से अलग है। जिस अधिकारी ने गुरु और शास्त्रके उपदेश से उसकी सच्चाई जान ली वह विश्वकृत् हो जाता है क्योंकि इस विश्व का वही कर्ता है। सुख-दुःख देने वाला सारा संसार उस विद्वान् का ही हो जाता है जैसे सर्प-धारा आदि अन्य सभी रस्सी पर ही टिकते हैं। (अर्थात् कल्पित अपने अधिष्ठान पर ही भासने से 'उसका' ही कहा जा सकता है। विद्वान् अधिष्ठान ब्रह्म से एक है अतः प्रपंच उसी पर कल्पित है तो उसी का हुआ।)।।१३७३-७५।। तीनों मार्गों से पाये जा सकने वाले जो ब्रह्मलोक से नरक तक के लोक हैं वे इस ब्रह्मभूत विद्वान् से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। आधिदैविक आदि भेदों वाला स्थूल-सूक्ष्म यह सारा विश्व यह आत्मा ही है जैसे सर्पादि रज्जु ही होते हैं।।१३७६-७७।।

---

१. 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देह्ये गहने प्रविष्टः। स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव।।' इति ४.४.१३।

किन्तु सर्वमिदं विश्वमधिदैवादिभेदभाक्। सदसद्रूप आत्माऽयं रज्जुः सर्पादिकं यथा।।१३७७।।

ज्ञानालाभे हानिः

ततो मार्गत्रयं हित्वा संसारवनमध्यगम्। ब्रह्मबोधेन सूक्ष्मेण मार्गेण विततेन च। गच्छेज्झटिति राजेन्द्र! मृत्युर्यावन्न चाव्रजेत्।।१३७८।।

त्रैवर्णिकशरीरेषु स्थित्वैवात्मानमव्ययम्।जानीयाद् यस्य विज्ञानाद् भवामः सर्वमेव भो!।।१३७९।।

अधिकारिशरीरेषु ह्यात्मनो निश्चयो न चेत्। भविता भविता हानिरस्माकं महती नृप!।।१३८०।।

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं विद्युत्सम्पातचञ्चलम्। तथा कुर्वीत न यथा पुनर्दुःखं समाव्रजेत्।।१३८१।।

आददीत कथं राजन्! हस्ततः प्रच्युतं घृतम्। सैकते वह्निसन्तप्ते योऽपि स्यादतिबुद्धिमान्।।१३८२।।

सुलभाः सततं देहा नानायोनिषु भूपते। उच्चावचासु जन्तूनां मानुषं परिहाय हि।।१३८३।।

उक्तार्थे हेतुतया कल्पितस्य अधिष्ठानाद् भिन्नसत्ताकत्वाभावमाह—ब्रह्मेति द्वाभ्याम्। वर्णितो लोकः सर्वोऽपि अस्माद् भिन्नसत्ताको न भवति, किन्तु सर्वम् अध्यात्मादिभेदभिन्नं स्थूलसूक्ष्मरूपं विश्वम् अस्य विदुष आत्मा एव भवति, बाधासामानाधिकरण्येन। इति द्वयोरर्थः।।१३७६-७७।।

अधिकारिदेहं लब्ध्वा यदि उक्तरूप आत्मा न ज्ञायते तदा महती अनर्थपरम्परा भवतीति प्रदर्शकस्य[1] सप्तममन्त्रस्याऽर्थमुपबृंहयति—ततः इत्यादिभिरष्टाधिकपञ्चाशच्छ्लोकैः। ततः ब्रह्मज्ञानलक्षणस्य मार्गस्य सर्वोत्कृष्टफलकत्वाद् भवाटवीगतमार्गत्रयं हित्वा ब्रह्मज्ञानरूपमार्गेण ब्रह्माऽभिन्नं लोकं जीवनावस्थायामेव साधयेदित्यर्थः।।१३७८।। त्रैवर्णिकेति। जानीयाद् आत्मज्ञानसाधनं वेदान्तश्रवणादिकमनुतिष्ठेद् यतः सर्वं सर्वात्मकं ब्रह्म भवामः सद्यो लभामह इत्यर्थः।।१३७९।। अधिकारीति। आत्मनिश्चयो यदि न भविता न भविष्यति, तदा महापुरुषार्थप्रतियोगिकत्वाद् महती हानिः भविष्यति इति ज्ञेयमिति शेषः।।१३८०।। दुर्लभमिति। स्पष्टम्।।१३८१।। लब्धज्ञानसामग्र्याः पुनर्दुर्लभत्वे दृष्टान्तमाह—आददीतेति। यथा सिकताव्याप्तदेशे पतितस्य घृतस्य उपादानं दुष्करं बुद्धिमताऽपि, तथैतदपीति।।१३८२।। तत्र मानुषभावादिसामग्रीदौर्लभ्यमेव स्फुटयति—सुलभा इति। मानुषभाव एव तावद् दुर्लभः, तत्रापि अधिकारिभावो दुर्लभतरः, तल्लाभादधिको लाभो न अस्ति। इति

श्रुति ने मंत्र द्वारा यह भी कहा है कि यदि यहीं रहते हुए हम आत्मा को नहीं जान पाये तो महान् विनाश होगा। उसे जानने वाले ही अमृत होते हैं, बाकी दुःख ही पाते हैं।— इसे विस्तार से स्पष्ट करते हैं :

हे राजेन्द्र! क्योंकि ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग सबसे श्रेष्ठ है इसलिये संसार नामक जंगल में ही जाने वाले तीनों रास्ते छोड़कर सूक्ष्म और वितत (या वितर) ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग पर ही झट-से चल देना चाहिये जब तक हमें मृत्यु नहीं निगल लेती। त्रैवर्णिक शरीरों में रहते हुए ही इस अव्यय आत्मा को जान लेना चाहिये जिसके अनुभव से हम सर्वरूप हो जायेंगे। हे नृप! अधिकारप्राप्त शरीरों में रहते हुए यदि हमें आत्मयाथात्म्य का शास्त्रानुसारी निश्चय नहीं हुआ तो हमारी बड़ी हानि होगी।।१३७८-८०।। बिजली चमकने जैसी चंचल दुर्लभ मनुष्यता पाकर ऐसा कुछ कर लेना चाहिये ताकि पुनः कभी दुःख न मिले । हे राजन्! आग से तपी बालू पर हाथ से गिरे घी को अत्यन्त चतुर व्यक्ति भी उठा नहीं सकता!।।१३८१-८२।। एक मुनष्य शरीर को छोड़कर बाकी सभी अच्छी-बुरी योनियों के विविध शरीर हमेशा सुलभ

---

१. 'इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद् वयं न चेद् अवेदिर्महती विनष्टिः। ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवाऽपियन्ति।'४.४.१४।

तत्राऽपि भारते वर्षे ह्यधिकारिवपुर्यदि। लभ्यते नृपशार्दूल नातोऽधिकतमं क्वचित्।।१३८४।।

विषयाः सन्ति राजेन्द्र! दिवि वा नरकेऽपि वा। प्राणिनां तेन तेनैव देहेन सदृशाः सदा। कर्मणा तेन तेनैव प्राप्यन्ते स्वयमेव हि।।१३८५।।

कर्मार्थं भारतं वर्षं मनुजानां विनिर्मितम्। कृत्वाऽत्र विविधं कर्म विविधं देहमाप्नुयात्। उच्चावचेषु लोकेषु दारपुत्रादिसंयुतम्।।१३८६।।

भारतात् पुरुषो गच्छेत् पातालं स्वर्गतोऽधिकम्। सप्तभेदविभिन्नं यद् नानाभोगैः प्रपूरितम्।।१३८७।।

नृत्यन्त्य इव यत्रैता नागकन्या मनोरमाः। पीनोन्नतकुचद्वन्द्वप्रस्फुरद्धरिचन्दनाः।।१३८८।।

मणिमुक्तावलीकान्तिकान्ताननसुधाकराः। चित्रस्थिता यथा यूनां धैर्यसर्वस्वहारिकाः।।१३८९।।

स्वर्गे न तादृशी काचिद् विद्यते ललना भुवि। कुतः सा सुन्दरी जात्या तादृशी स्यादिहाङ्गना।।१३९०

घनीभूतमिदं प्रायः सुकृतं तलवासिनाम्। पातालमिति यत् प्रोक्तं नानाभेदं विचित्रकम्।।१३९१।।

अत्र सूर्येण सदृशा मणयः सन्ति कोटिशः। नागानां नागकन्यानां मस्तकेषु महात्मनाम्।।१३९२।।

द्वयोरर्थः।।१३८३-८४।। विषयास्तु न दुर्लभाः, तत्प्राप्तेस्तद्देहप्रापकैः कर्मभिरवश्यारम्भ्यत्वाद् इत्याह—विषया इति। हि यतः तत्तद्देहयोग्या विषयाः तेन तेन तद्देहारम्भकेण कर्मणा प्राप्यन्ते, अतः सर्वत्र सुलभा इति सम्बन्धः।।१३८५।। मानुषदेहस्य सर्वेष्टसाधकत्वं दौर्लभ्यप्रयोजकं दर्शयति—कर्मार्थमिति। स्पष्टम्।।१३८६।।

तत्र पाताललोकभोगप्रदं कर्म अपि भारतखण्ड एव साध्यमित्याह—भारतादिति। भारताद् भारतखण्डे कृतात् सुकृताद् हेतोः। भोगैः सुखसाधनैः।।१३८७।। नृत्यन्त्य इवेति। यत्र पाताल एताः प्रसिद्धा नागकन्याः, 'नृत्यन्त्य इव' इत्यस्य सविलासा इत्यर्थः। पीनेषु उन्नतेषु च कुचद्वन्द्वेषु प्रस्फुरद् विलसद् हरिचन्दनं यासां तास्तथा।।१३८८।। मणीति। पुनः कीदृश्यः? मण्याद्यावलीनां कान्त्या कान्तानि मनोहराणि आननानि एव सुधाकरा यासां तास्तथा। चित्रलिखिताभिः सदृश्यः। धैर्यरूपस्य सर्वस्वस्य हारिकाः।।१३८९।। स्वर्ग इति। यदा तादृशी सा प्रसिद्धा जात्या स्वभावेन सुन्दरी च ललना स्वर्गे न विद्यते तदा इह भुवि लोके तादृशी कुतः स्यात् सम्भाव्येत! इति।।१३९०।। घनीभूतमिति। प्राय इत्युत्प्रेक्षायाम्। तथा च—पातालवासिनां सुकृतम् एव घनीभूतं पातालरूपेण परिणतमित्युत्प्रेक्ष्यत इत्यर्थः।।१३९१।। अत्रेति। अत्र पाताले।।१३९२।। चन्द्रेति। मुक्त-पदम् अर्शआद्यजन्तम्।

हैं। मुनष्यों में भी यदि भारत देश में अधिकारी का शरीर मिल जाये तो इससे अधिक हमें सौभाग्यवश और कुछ नहीं मिल सकता। (अधिकारी अर्थात् वेदाधिकारी क्योंकि वेदपूर्वक ज्ञानाधिकार मनुष्यमात्र को भी सुलभ नहीं है।) विषय तो स्वर्ग-नरक सर्वत्र सुलभ है। प्राणियों को जो-जो शरीर मिलता है उसी के लायक विषय कर्मानुसार उन्हें खुद-ब-खुद मिलते चले जाते हैं।।१३८३-८५।। भारतदेश बना है ताकि मनुष्य यहाँ कर्म करे। यहाँ विविध कर्म कर वह अच्छे-बुरे लोकों में विविध शरीर पायेगा, साथ में पत्नी-पुत्रादि भी मिलेंगे।।१३८७।।

भारतसे पुरुष पाताल भी जा सकता है जो स्वर्ग से भी अधिक भोगसंपन्न है! अनेक भोगों से—सुखसाधनों से—भरा-पूरा पाताल सात भेदों में बँटा है। वहाँ मनोरम नागकन्यायें मानों नाचती रहती हैं। उनके स्थूल और कसे स्तनों पर हरिचंदन शोभा देता है। मणियों व मोतियों की लड़ियों की चमक से मनोहर हैं उनके मुखचंद्र। जैसे चित्रमें संभावनासे अधिक सौंदर्य व्यक्त किया जा सकता है ऐसे उनका सौंदर्य अकल्पनीय है। जवानों के धैर्यरूप सर्वस्वका

चन्द्रबिम्बसमप्रख्यैः मुक्तैर्बिल्वसमानकैः। प्रकम्पितेषु गात्रेषु हाराः सन्ति सहस्रशः।।१३६३।।
असूर्यम्पश्य इत्येतत् स्मरणं सार्थकं मुनेः[1]। पाताले न हि कोऽप्यत्र सूर्यं पश्यति देहभाक्।।१३६४।
पूर्वदेवा वसन्त्यत्र पन्नगाश्च महाश्रियः। भोगिनो नाम यत्रैतत् सार्थकं जायते सदा।।१३६५।।
वासुकिश्चाऽत्र वसति कण्ठे यः शूलिनः स्थितः। शेषश्चाऽत्र महानागः शयनं योऽसुरद्विषः।।१३६६।।
तक्षकश्च महानागो रथे यः सवितुः स्थितः। नास्ति यस्य प्रतीकारो विषस्याऽत्र कथञ्चन।।१३६७।।
कर्कोटकस्तथा नागो महान् नलसखो हि यः। पद्मश्चैव महापद्मः सशङ्खः कुलिकस्तथा।।
एलापत्रक इत्याद्याः कुलजा विषधारिणः।।१३६८।।
अनेककोटिसङ्ख्यातैः बन्धुभृत्यादिभिर्वृताः। कुण्डलादिविभूषासु देवादीनां य ईरिताः।।१३६९।।
विश्वकर्मसमो दैत्यो मयो मायाविशारदः। विप्रचित्तिस्तथाऽन्येऽपि सन्ति शक्रस्य वैरिणः।।
बल्याद्याः शतशो येभ्यो भीता देवाः सदाऽऽसते।।१४००।।
वर्णयन्ति सदा स्वर्गे पातालानि[2] मुनीश्वराः। नारदाद्याः समागत्य पातालेभ्यो दिवं प्रति।।१४०१।।
अस्यां स्वर्गे तथा ब्रह्मलोके राजन्! भवानपि। वेत्ति यत् प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः सुखमद्भुतम्।।१४०२।।

तथा च—मुक्तावद्भिः बिल्वसमैः च गुच्छैः घटिता हाराः सहस्रशो यत्र सन्तीति।।१३६३।। असूर्यमिति। मुनेः पाणिनेः स्मरणं स्मृतिविषयी भूतं यद् असूर्यंपश्य इति पदं तत्र पाताल एव सार्थकं मुख्यार्थकम्, तत्रत्यैः सूर्याऽदर्शनात्। इतरत्र राजदारादौ तु गौणमेवेत्यर्थः।।१३६४।। पूर्वेति। अत्र पाताले पूर्वदेवा असुरा नागाश्च श्रीमन्तो वसन्ति यत्र येषु नागेषु भोगिन इति एतत् पदं सार्थकं परिपूर्णसर्वार्थकम्। भोगपदार्थास्तु 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इति प्रसिद्धाः। भूमप्रशंसयोरिनिरिति भावः।।१३६५।। तत्र नागेषु मुख्यान् दर्शयति—वासुकिरिति त्रिभिः। महादेवकण्ठभूषाभूतो वासुकिः, नारायणशय्याभूतः शेषः च अत्र पाताले वसति।।१३६६।। तक्षक इति। सूर्यरथवासित्वेन प्रसिद्धो महाविषः तक्षकः अप्यत्र वसतीति।।१३६७।। कर्कोटक इति। नलस्य दमयन्तीभर्तुः मित्रत्वेन प्रसिद्धः कर्कोटकनामा। तथा पद्मादयश्च सबान्धवा अत्र वसन्ति। महादेवादीनां कुण्डलादिभूषणरूपत्वेन प्रसिद्धाः। आदिपदेन देवीगरुडादयो ग्राह्याः। मातलिजामाता नागो हि गरुडभूषणमिति प्रसिद्धं भारते।।१३६८-६९।। असुरमुख्यान् प्रदर्शयति—विश्वेति। मयो विप्रचित्तिः बलिः इत्याद्या देवभयप्रदा असुरा यत्र वसन्ति।।१४००।। एतादृशं पातालप्रभावं पातालात् स्वर्गमागता नारदाद्याः कथयन्तीत्याह—वर्णयन्तीति।।१४०१।। हे राजन्! पृथिव्यादिलोकेषु यद्यत् सुकृतफलं तद्भवान् जानात्येवेत्याह—अस्यामिति। अस्यां पृथिव्याम्।।१४०२।।

वे हरण कर लेती हैं। वैसे स्वाभाविक सौंदर्य वाली कोई स्त्री स्वर्ग में भी नहीं है तो इस पृथ्वी पर वैसी होने की संभावना ही कहाँ है? नाना भेदों वाला रंग-बिरंगा पाताल मानो वहाँ के वासियों के पुण्य का ही घनीभूत रूप है। विशालहृदय नागों की नागकन्याओं के मस्तकों पर करोड़ों मणियाँ हैं जो सूर्य के समान हैं। बिल्वफल के समान आकार वाले और चंद्रबिम्ब जैसे चमकने वाले मोतियों के हज़ारों हार उनके चंचल शरारों को अलंकृत करते हैं। मुनि पाणिनि ने जो 'असूर्यंपश्य' शब्द बनाया है वह पाताल में ही सार्थक है क्योंकि वहाँ कोई भी देहधारी सूर्य नहीं देखता।।१३८८-६४।।

पातालमें असुर और अत्यधिक श्रीसम्पन्न नाग निवास करते हैं। वहीं नागों का 'भोगी' नाम सदा सार्थक है। ('भोग' शब्द के सभी अर्थ वहाँ उनमें घटते हैं। भोगशब्द के ये अर्थ हैं—सुख, स्त्री आदि को दिया जाने वाला वेतन, साँप का फण, साँप का शरीर। ये वहाँ प्रभूत मात्र में हैं।)।।१३६५।। जो शूलधारी शंकर में स्थित वासुकि है और जो असुरद्वेषी विष्णु का पलंग महानाग शेष है दोनों का निवासस्थान पाताल है। सूर्य के रथ में महानाग तक्षक है जिसके

१. 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' ३.२.३६। सूर्यं न पश्यन्तीति असूर्यम्पश्या राजदाराः। २. सप्तधा भिन्नताया उक्तत्वाद् भेदापेक्षया बहूक्तिः।

तत् सर्वं भारते वर्षे मानुषाद् देहतो व्रजेत्। दुःखं यद् नरकेषूक्तं गच्छेत् तदपि भारतात्। तथा विदेहकैवल्यं भारतादेव संव्रजेत्।।१४०३।।
क्षेत्रेषु जायते धान्यं भुज्यते तद् गृहेषु च। यथा तथा भारतेऽत्र कर्म लोकान्तरे फलम्।।१४०४।।
यद्यप्यत्र भवेद् ब्रह्मविद्या लोकान्तरेऽपि च। तथापि पाक्षिकी तत्र राजन्नत्र सुनिश्चिता।।१४०५।।
हस्तस्थितं महापिण्डं दधियुक्तोदनस्य तम्। परित्यज्य करं लेढि तृप्तिकामो यथाऽज्ञधीः।।१४०६।
तथैव मानुषे देहे हित्वा ब्रह्मात्मबोधनम्। लोकान्तरे य इच्छेत् स विज्ञेयो बालिशः पुमान्।।१४०७
इतो निर्गमने कस्य किंस्वित् कर्म भविष्यति। इति को वेद येनाऽयं सुस्थितोऽपि पुमाञ्शिशुः१४०८
सन्ति सुप्तानि शतशः प्रतिबद्धानि कर्मभिः। कोटिजन्मार्जितान्यस्य पुण्यपापात्मकानि हि।१४०९
ततः शरीरसन्त्यागाद् उद्भवे पाप्मनोऽपि च। किं करिष्यति वै देही नष्टे द्यूते महाग्लहे।।१४१०।।

तत् सर्वं सुकृतफलं, तथा दुष्कृतफलं नरकादिकं, तथा तत्त्वज्ञानफलं विदेहकैवल्यं च भारतभवमनुष्यदेहादेव लभ्यत इत्याह—तत्सर्वमिति।।१४०३।।

भारतस्य क्षेत्रसाम्यमाह—क्षेत्रेष्विति।।१४०४।। यद्यपि ब्रह्मविद्याऽधिकारो देवशरीरेष्वपि साधितः 'तदुपर्यपि' इत्यधिकरणे (१.३.२६), तथापि पुनः ब्रह्मविद्यायोग्यदेहलाभस्य सन्दिग्धत्वाद् अत्रैव यतितव्यमित्याह—यद्यपीति। तत्र देहान्तरे। पाक्षिकी सन्दिग्धा।।१४०५।। यस्तु देहान्तरे विद्यालाभाशया इह तदर्थं न यतते स 'पिण्डं त्यक्त्वा करं लेढि' इति न्यायस्य गोचर इत्याह—हस्तेति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।१४०६-०७।।

लोकान्तरे विद्यालाभस्य पाक्षिकत्वं स्फुटयति—इत इति त्रिभिः। इतो मनुष्यदेहाद् निर्गमने। स्विद् इति वितर्के। किं कर्म फलाभिमुखं भविष्यति इति को वेद! न कोऽपीति। येन अनेन संशयेन हेतुना यः पुमान् सुस्थितः पुरुषार्थचिन्ताशून्यः शिशुः एव बुधैर्मत इति शेषः।।१४०८।।तदुपपादकतयाऽनेकसंचितकर्मणां स्थितिमाह—सन्तीति। सुप्तानि सूक्ष्मरूपेण स्थितानि। कर्मभिः प्रारब्धफलैः प्रतिबद्धानि कर्माणि शतशः सन्ति इति।।१४०९।। तथा च यदि पापमेव मरणानन्तरमुद्भवेत् तदाऽयं किं कुर्याद्! इत्याह—तत इति।

विष की कोई दवा नहीं है, वह भी यहीं का निवासी है। राजा नल का मित्र कर्कोटक नामक महान् नाग, पद्म, महापद्म, सशंख, कुलिक, एलापत्रक इत्यादि श्रेष्ठ कुलों वाले विषधर नाग अपने करोड़ों बन्धुओं-सेवकादिओं से घिरे यहाँ मौजूद हैं जो देवता आदि के कुण्डल आदि अलंकारों के रूप में प्रसिद्ध हैं।।१३९६-९९।।

विश्वकर्मा जैसा कुशल और स्वयं मायाविकर्म में सिद्धहस्त मय, विप्रचित्ति, बलि आदि सैकड़ों इन्द्रशत्रु पाताल में हैं जिनसे देवता हमेशा ही डरे रहते हैं। नारदादि मुनीश्वर पातालों से जब स्वर्ग जाते हैं तब वहाँ पातालों का वर्णन करते रहते हैं। हे राजन्! पृथ्वी पर, स्वर्ग में और ब्रह्मलोक में प्राणियों को पुण्यवश जो अद्भुत सुख प्राप्त होता है उसे आप भी जानते ही हैं।।१४००-१४०२।।

भारतदेश में मनुष्य शरीर पाकर यहाँ किये पुण्यों से ही सुखमय लोकों की प्रप्ति होती है। नरकों में जो दुःख बताया था वह भी यहाँ किये पाप से मिलता है। और विदेहमोक्ष भी भारत में पैदा हुए अधिकारी शरीर से ही मिलना सुलभ है।।१४०३।। फसल पैदा खेतों में होती है लेकिन खाई घरों में जाती है। ऐसे भारत भूमिमें कर्म किया जाता है, फल लोकान्तर में मिलते हैं। ।।१४०४।। यद्यपि कर्मों से ब्रह्मविद्या में यह विशेषता है कि यह यहाँ तो होती ही है, अन्य लोकों में भी हो सकती है तथापि अन्य लोकों में इसकी प्राप्ति संदेहास्पद रहती है जबकि यहाँ सुनिश्चित है। (संदेहास्पद इसलिये कि लोकांतर में विद्यायोग्य शरीरादि मिलेगा यह निश्चित अभी नहीं किया जा सकता।) ।।१४०५।। हाथ में दही-चावल का बड़ा पिण्ड रखा हो, उसे फेंक कर कोई हाथ चाटे कि उसी से भूख मिट जायेगी तो वह अत्यंत मूर्ख ही होगा। ऐसे ही मनुष्य शरीर में ब्रह्मात्मविज्ञान का प्रयास न कर जो चाहे कि लोकान्तर में ज्ञान हो जायेगा, उस पुरुष को महामूर्ख ही समझना चाहिये। यहाँ से निकलते समय किसका कौन-सा कर्म फलोन्मुख होगा

दीव्यन् पुनः पुनर्नैष तं ग्लहं लभते क्वचित्। तथा संसारदुर्धूते नष्टे नरवपुर्ग्लहे। संसारी कितवः केन प्राप्नुयात् पुनरप्यदः।।१४११।।

पाताले देवलोके वा ब्रह्मलोकेऽथ वा पुनः। नरके भूमिभागे वा शरीराणि समाप्नुवन्।।१४१२।।

तत्र तत्र च वै देहे पारतन्त्र्यादिदूषितम्। सुखाभिधं समाप्नोति दुःखमेव शरीरभाक्।।१४१३।।

यैरयं मानुषं देहं कितवैर्निर्जितः पुमान्। विषयैर्निर्जिते द्यूते स्वयं ते सर्वतोऽप्यमुम्।।१४१४।।

अभिधावन्ति लोकेषु कितवा जितभूमिकाः। पराजयाय सततं तत्र तत्र कृतोद्यमाः।।१४१५।।

विषयैः कितवैः सोऽपि सदा दुर्धूतदेविभिः। हृतपुण्यधनः पापकौपीनोऽत्रावशिष्यते।।१४१६।।

महान् ग्लहो जेतव्यं द्रव्यं तस्मिन् द्यूतकाले नष्टे पराजिते सतीत्यर्थकश्चतुर्थपाद उत्तरान्वयी।।१४१०।। दीव्यन्निति। यथा एष कितवः द्यूते कदाचिद् आगते महाग्लहे नष्टे सति पुनः दीव्यन् अपि तं तादृशं ग्लहं पुनः न लभते—इत्यन्वयः। तथा संसारिरूपः कितवः संसाररूपे दुर्धूते नरदेहरूपे ग्लहे नष्टे सति अदः महाग्लहरूपं नरवपुः पुनः केन हेतुना प्राप्नुयाद्! इति।।१४११।। द्यूते पराजिताः प्रच्छन्नं प्रकाशं च दुःखमनुभवन्ति इति प्रसिद्धं, तथाऽयं संसार्यपि भारतखण्डे पराजितः सन्नानायोनिषु सुखाभासप्रच्छन्नं प्रकाशं वा दुःखमाप्नोतीत्याह—पाताल इति द्वाभ्याम्। पारतन्त्र्यादि-इति आदिपदेन क्षयादिग्रहः।।१४१२-१३।।

अयं च कितवानां स्वभावः प्रसिद्धो लोके यत् ते यं मूढमेकवारं जयन्ति तं यत्र कुत्रापि गतं सुतरां जेतुमुद्यमं कुर्वन्ति, यावत् स कौपीनमात्रशेषो न भवेदिति। तथाऽत्र भारते विजयशालिनो विषयरूपकितवा देहान्तरेष्वनुव्रजन्तोऽस्य जन्तोः पुण्यरूपं धनं विजित्य पापरूपकौपीनशेषमेनं कुर्वन्तीत्याह—यैरयमिति त्रिभिः। अयं संसारी पुमान् यैर्विषयैः कितवैः मानुषं देहं महाग्लहरूपं निर्जितो मुषितः; 'अकथितं च' (१.४.५१) इति द्विकर्मकजिधातोः गौणे कर्मणि क्तः; ते विषयकितवा द्यूते जिते सति अमुं पराजितं पुमांसं लोकान्तरगतमपि सम्यक् पराजेतुम् अभिधावन्ति, यतो जितभूमिकाः जिता वशीकृता भूमिका नानारूपपरिग्रहरूपा यैस्ते तथा; 'भूमिका रचनायां तु रूपान्तरपरिग्रह' इति हैमः। एवमनुगतैर्विषयकितवैः स्वर्गलोकादौ हृतपुण्यधनः पापकौपीनशेषश्च सन् नरकखट्वायामधोमुखः पतति। इति त्रयाणामर्थः।।१४१४-१६।।

यह कौन जानता है ! अतः जो यहाँ पुरुषार्थलाभ के लिये प्रयासशील नहीं वह बालिग दीखते हुए भी नादान है। प्राणी ने करोड़ों जन्मों में अनंत पुण्य-पाप बटोरे हैं जो अभी प्रारब्धकर्म द्वारा प्रतिबद्ध हुए मानो सोये पड़े हैं। अतः शरीर छूटने पर अगर पाप ही फलोन्मुख हो जाये तो जो अभी निश्चिन्त है वह शरीरी क्या कर लेगा ? (पापयोनियों में ज्ञान संभव नहीं। मनुष्य से श्रेष्ठ योनियों में संभव है ऐसा बादरायणाचार्य ने कहा है।) ।।१४०६-१०।।

'ग्लह' कहते हैं जुआ जीतने पर मिलने वाली धनराशि को। कोई जुआरी एक बार महान् ग्लह हार जाता है तो बार-बार दाव लगाने पर भी उस ग्लह को पुनः जीत नहीं पाता। संसार भी एक कष्टमय जुआ है जिस में नरशरीर ही ग्लह है। संसारी यहाँ जुआरी है। यदि यहाँ इस ग्लह को हाथ से निकल जाने दिया तो पुनः इसे कैसे पायेगा?।।१४११।। जैसे जुए में हारे लोग दुःख भोगते हुए इधर-उधर भटकते हैं वैसे ही भारतखण्ड में जो इस मनुष्यशरीर से ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त कर इसे खो देता है वह पाताल, देवलोक, ब्रह्मलोक, नरक, पृथ्वी में ही भारत से अन्यत्र शरीर पाता है और सभी जगह इसे सुख के नाम पर दुःख ही मिलता है क्योंकि वह परतंत्रतादि से युक्त ही होता है। (अर्थात् विषयसुख परतंत्रता, क्षयिष्णुता, तारतम्य आदि से ग्रस्त होने से दुःख ही अधिक होता है।)।।१४१२-१३।।

जुआरियों का स्वभाव होता है कि वे जिस मूर्ख को एक बार जीत लेते हैं, उसे जहाँ कहीं भी पायें फिर हराने की कोशिश तब तक करते हैं जब तक बेचारे के पास सिर्फ लंगोटी ही बचती है! इसी तरह विषयरूप जुआरी भारत में जीव को हरा कर जब यह उनसे मानो छिपकर देहान्तर में जाता है तब वहाँ भी उसके सामने पहुँचकर पुनः जुए में उसका पुण्यरूप धन भी जीत लेते हैं और पाप की लंगोटी ही जीव के पास बचती है! (पहले मनुष्यशरीर रूप

ततो देहस्य पतनाद् ऊर्ध्वमज्ञानिनामिह। महती नष्टिरायाता राजन्! पापावशेषिणी।।१४१७।।
मा भूदियं महाराज! ह्यस्माकमधिकारिणाम्। अत्रैव ब्रह्मविज्ञानं करिष्यामो ध्रुवं वयम्।।१४१८।।

ज्ञानाद् विषयारिनिवृत्तिः

शास्त्रसाक्षिकमस्माभिरारब्धं द्यूतमत्र तैः। दुर्धूतदेविभिर्द्यूते कितवैर्विषयैः सह।।१४१९।।
जेष्यामः कितवानेतान् नित्यं दुर्धूतदेविनः। विषयानस्ति नः साक्षि शास्त्रं राजन्! स्थिरो भव १४२०
विषयाः कितवा राजन् जेतारः साक्षिवर्जिताः। दुर्धूतदेवनैः केन जेष्यन्त्यस्मान् शठा इमे।।१४२१।।

एवं हानिः प्रमादिनामापततीत्याह—तत इति। नष्टिः हानिः। आयाता अवश्यं भाविनीति यावत्।।१४१७।। वयं तदापत्तिभयादिह जन्मन्येव विज्ञानं साधयाम इत्याह—मा भूदिति।।१४१८।।

ननु ब्रह्मविज्ञानेन कथं कितवभयनिवृत्तिः? इत्याशङ्क्य; सोपकरणस्य ब्रह्मविज्ञानस्य विषयज्ञानकितवरूपारिनिवृत्तिसाधनतां विशदयति—शास्त्रेत्यादिना। ब्रह्मज्ञानसाधनमध्यात्मशास्त्रं साक्षितया यत्र स्थितम् एतादृशं द्यूतम् अत्र अधिकारिशरीरेऽस्माभिः तैः विषयकितवैः सह आरब्धम्। कीदृशैस्तैः? द्यूते द्यूतकाले दुर्धूतैः कपटपाशकैः कृत्वा देवनशीलैः।।१४१९।। जेष्याम इति। अधुना तान् विषयान् कितवान् वञ्चकान् जेष्याम एव यतो नः अस्माकम् अनुकूलं शास्त्रं शास्त्ररूपं साक्षि अस्ति विद्यते। इतस्त्वमपि तान् जेतुं स्थिरो दृढनिश्चयो भव इति।।१४२०।। ते च निःसाक्षिके द्यूत एव जेतारोऽधुना केन हेतुना जेष्यन्तीत्याह—विषया इति। शठाः सम्मुखे हितवद्भासमानाः परोक्षेऽनिष्टकरा इमे विषयाः।।१४२१।। पूर्वं विषयकितवैः सह द्यूते नरवपुरात्मको ग्लहः कृतः। स हि विषयाणामपि भोगोपयोगी। अधुना शास्त्ररूपसाक्षिणाऽनुग्रहमात्रेण अस्मान् अधिकारिणः प्रति एवं हितमुक्तम्—यूयं ब्रह्मचर्यादिरूपं ग्लहं कुरुत, तस्मिन् विषयकितवैः जितेऽपि भवतां जय एव, ब्रह्मचर्यादिकं दृष्ट्वा विषयैः

धन जीता, फिर पुण्यरूप धन जीता।) इस बात को पुराण में कह रहे हैं—जिन विषयरूप जुआरियों ने इस पुरुष से मानुष देहरूप ग्लह जीत लिया वे यह जुआ जीत कर स्वयं हर तरफ से उन लोकों की ओर दौड़ते हैं जहाँ यह जीव जाता है। ये जुआरी अनेक रूप धारण करने में कुशल हैं। ये वहाँ भी इसे हराने केलिये विविध उपाय करते हैं। दुष्टतापूर्ण जुआ खेलने वाले विषयरूप जुआरियों द्वारा जब जीवका पुण्यधन भी जीत लिया जाता है तो उसके पास केवल पाप की लंगोटी बचती है जिसे पहने वह औंधे मुँह नरक में जा गिरता है।।१४१४-१६।।

इसलिये राजन्! अज्ञानियों को देह छूटने के बाद महान् हानि का ही सामना करना पड़ेगा जिसमें उनके पास केवल पाप बच जायेगा। महाराज! हम अधिकारियों की ऐसी हानि न हो! हम लोग अवश्य यहीं ब्रह्मानुभव पा लेंगे। (अधिकारी से वेदाधिकारी और साथ ही विवेकादि साधनसम्पन्न समझने चाहिये।)।।१४१७-१८।।

ब्रह्मविज्ञान और इसके साथी अवश्य ही विषयरूप जुआरियों को, दुश्मनों को समाप्त कर देंगे। जुआ खेलते समय विषयरूप जुआरी दुर्धूत खेलते हैं अर्थात् ऐसे पासों से खेलते हैं जो जुए के नियमों के विरुद्ध हैं, जिनमें वे अपने हित के लिये हेर-फेर कर सकते हैं। अधिकारीशरीर में—अर्थात् ज्ञानाधिकारी बनकर ज्ञानार्थ प्रयासशील शरीर में—हमने उन विषय-जुआरियों से अब जो जुआ शुरू किया है उसमें ब्रह्मज्ञान के साधनभूत अध्यात्मशास्त्र को मध्यस्थ बना दिया है जो उन्हे गलत पासों को प्रयोग नहीं करने देगा। हे राजन्! आप भी इन्हें जीतने को तैयार हो जाइये। हम इन्हें ज़रूर जीत लेंगे। ये कपटद्यूत में ही माहिर हैं, सही खेल में नहीं और अब शास्त्र हमारा साक्षी (मध्यस्थ) है जो कपट होने नहीं देगा। जब तक मध्यस्थ नहीं था तभी तक इन धोखेबाजों ने हमें जीता। अब क्योंकर ये हमें हरा पायेंगे!।।१४१९-२१।।

ब्रह्मचर्यादिभिर्ग्लहैः शास्त्रसाक्षिनिरूपितैः। दुर्द्यूतदेविनः शत्रून् जेष्यामः क्षणतोऽधुना।।१४२२।।

बाणैर्यज्ञादिभिश्चापि निहत्योन्मार्गवर्तिनः। बध्वा शमादिभिः पाशैर्विषयारीनथाऽपरान्।।

स्वल्पशेषान् हि जेष्यामो ब्रह्मचर्यादिभिर्ग्लहैः।।१४२३।।

एतेषां जनकं तद्वज्जननीं च वयं नृप। बन्धुभिः सहितां मत्तां धक्ष्यामो ब्रह्मवह्निना।।१४२४।।

अन्यस्मिन्नन्यबुद्धिर्या जननी सा प्रकीर्तिता। आत्मावरणसंयुक्ता कितवानां दुरात्मनाम्।।१४२५।।

मनः पिता तथा बन्धुजनोऽयं वासनागणः। वयं ब्रह्म स्म इत्येवं महता ज्ञानवह्निना।। दग्ध्वा कुटुम्बसहितान् विषयान् विजयेमहि।।१४२६।।

पलायनाद्—इति आशयेनाह—ब्रह्मेति। ग्लाहैरिति। दीर्घादित्वं स्वार्थिकाणन्तत्वेन बोध्यम्। शास्त्रेण साक्षिभूतेनापि अनुग्रहेण निरूपितैः प्रदर्शितैः ब्रह्मचर्यारण्यवासादिरूपैः ग्लाहैः लाप्यमानद्रव्यैः निश्चितं तान् जेष्याम इति।।१४२२।।

ननु बहवो विषयाऽरयो द्यूतमात्रेण कथं जेतव्याः? इति शङ्कां वारयन्नाह—बाणैरिति। ये तावद् उन्मार्गे शास्त्रबाह्यमार्गे चरन्ति विषयारयस्तान् शास्त्रविहितयज्ञदानादिबहिरङ्गसाधनैः दूरगतानां हननसाधनत्वेन बाणसमैः निहत्य तेषां शिरःसमं प्रमादमृत्युं शास्त्रोक्तकर्मलक्षणाविद्यया छित्वेति यावत्, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' (ई.११) इति श्रुतेः। तथाऽपरान् निषेधाभावेन सन्निहितान् विषयारीन् शमदमाद्यन्तरङ्गसाधनैः प्रवृत्तिविरोधित्वेन पाशसमैः बध्वा व्युत्थानदशायां कदाचिद् उपलभ्यमानत्वेन स्वल्पावशिष्टान् विषयारीन् ब्रह्मचर्यादिग्लहकेन द्यूतेन जेष्याम इत्यर्थः।।१४२३।।

तथा प्रमाणेश्वरशास्त्रदृष्टिजेन ब्रह्मज्ञानाग्निना तान् सबान्धवान् दग्धान् करिष्याम इत्याह—एतेषामिति त्रिभिः। एतेषां विषयारीणां मत्तां गर्वितां; धक्ष्यामो दग्धान् करिष्यामो ब्रह्मज्ञानाग्निनेति।।१४२४।। नन्वेषां जनकादयः किंरूपाः? इत्याकांक्षायामाह—अन्यस्मिन्निति विक्षेपावरणलक्षणशक्तिद्वयवत्यविद्यैव तेषां जननीत्यर्थः।।१४२५।। मन इति। तेषां स्रष्टृत्वेन मनः पिता भवति, 'मनः प्रजापतिमसृजद्' इत्यादिश्रुतेः। तथा कार्यकाले सन्निहितत्वसाधर्म्येण तेषां वासनागणो बन्धुस्थानीयः। तद्दाहकोऽग्निस्तु 'ब्रह्मास्मि' इति ज्ञानात्मक इत्यर्थः।।१४२६।।

पहले विषयों से जुआ खेलते समय मनुष्य शरीर को ग्लह बनाया था, वह विषयभोग के लिये भी उपयोगी होता है। अब शास्त्रने हमें समझा दिया है कि विषयों से जुआ खेलते हुए ग्लह रखना चाहिये ब्रह्मचर्यादि को ताकि विषय जीतें तो भी लाभ हमें ही मिले क्योंकि ब्रह्मचर्यादि देखकर विषय खुद ही भाग जायेंगे! इस तात्पर्य से पुराणकार कहते हैं—शास्त्ररूप साक्षी ने (मध्यस्थ ने) जिनकी घोषणा की है उन ब्रह्मचर्य, अरण्यवास आदि को ग्लह रखकर अब हम क्षणभर में ही धोखे का जुआ खेलने वाले इन दुश्मनों पर विजय पा लेंगे।।१४२२।।

जो तो गलत रास्तों पर चलने वाले विषयशत्रु हैं उनकी हम यज्ञादिरूप बाणों से हत्या कर देंगे। (अर्थात् शास्त्रानुसारी ही बने रहेंगे तो निषिद्ध विषय अपने आप दूर रहेंगे।) अन्य विषयरूप शत्रुओं को हम शमादिरूप पाशों से बाँध लेंगे। (अर्थात् शास्त्रानुमत विषयों की ओर प्रवृत्ति को शमादि द्वारा रोकें तो वे आकृष्ट नहीं करेंगे।) यों जो थोड़े बहुत दुश्मन बचेंगे उन्हे ब्रह्मचर्यादिरूप ग्लह दाव पर लगा कर जुए द्वारा हरा देंगे।।१४२३।। हे राजन्! इनके बंधुओं समेत इनके पिता और इनकी गर्वित माता को ब्रह्मज्ञानरूप आग से जला डालेंगे। दुष्ट हृदय वाले विषयरूप जुआरियों की माता है अविद्या जो आत्मस्वरूप को ढाँक कर जो जैसा नहीं है उसे वैसा दिखाती है। जुआरियों का पिता है मन और यह वासनाओं का समूह ही इनके बंधु हैं। 'हम ब्रह्म हैं' इस महान् ज्ञानवह्नि से सकुटुम्ब विषयों को भस्मसात् कर ज़रूर विजयी होंगे।।१४२४-२६।।

एतैः पराजिता राजन्! बहुकृत्वः पुरा वयम्। यथेमे सकला लोका लोकपालास्तथेश्वरः।।१४२७।।
अद्यप्रभृति ते सर्वे ह्यप्रमत्ता वयं स्थिताः। अक्षैर्बाणैश्च जेष्यामो विषयान् कितवानमून्।।
शास्त्रसाक्षिबलेनैव मा ते भवतु साध्वसम्।।१४२८।।

वेदरूपेणेश्वरानुग्रहः

कृष्णसाक्षिबलेनैव यथा पञ्चाऽपि पाण्डवाः। अधमान् धार्तराष्ट्रांस्तान् कितवान् कलहप्रियान्।।१४२९
अस्पष्टकेऽत्र दुर्द्यूते कितवैर्विषयैः सह। महती नष्टिरुद्दिष्टा नास्माकमिदमीदृशम्।।१४३०।।
वामदेवादयो यद्वद् विषयान् कितवानमून्। जित्वा मरणनिर्मुक्ता बभूवुः स्वात्मरूपिणः।।१४३१।।

नन्वेवं तेषां सर्वथा उच्छेद्यत्वस्य प्रयोजकोऽपराधः कुतो भवद्भिर्निश्चितः? इत्याकाङ्क्षायामाह—एतैरिति। एतैः विषयकितवैः वयं बहून् वारान् पराजिता इत्यत्रार्थे यथा साक्षित्वेन प्रमाणभूताः सन्ति। के? इमे पृथिव्यादयो लोकाः, तथा लोकपाला धर्मराजादयः, तथेश्वरः अन्तर्यामी चेत्यर्थः। तदुक्तं मनुना—'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च। अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्।।' इति। हृदयशब्देन साक्षिण ईश्वरस्य ग्रहणमिति।।१४२७।। अधुना तु वयं शास्त्रसाक्षिप्रसादात् सावधानाः सन्तस्तान् जेष्याम एवेत्याह—अद्येति। ते ये पूर्वं पराजिताः सर्वे वयम् अधिकारिणः अक्षैः इन्द्रियरूपपाशकैः; प्रवृत्तिविशेषेण जयादिप्रयोजकत्वं हि पाशकानाम् इन्द्रियाणां च तुल्यो धर्मः; तत्र रागादिहीनेन्द्रियप्रवृत्तिः अधिकारिणां जयावहेति बोध्यम्, 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।' (गी. २.६४) इति स्मृतेः। तथा बाणैः बहिरङ्गसाधनरूपैश्च तानरीन् शास्त्रानुगृहीताः सन्तो जयेमेत्यर्थः।।१४२८।।

यथा सर्वसाक्षी परमेश्वरः श्रीकृष्णरूपेण पाण्डवान् अनुजग्राह तथाऽस्मानपि वेदरूपेण अनुगृह्णातीत्याह—कृष्णेति। धार्तराष्ट्रान् जितवन्त इति शेषः। तथा चोक्तं गीतासु 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं त' इत्यादि (१६.२४)।।१४२९।। ये तु शास्त्रविमुखास्ते पराजीयन्त एव, 'अशास्त्रविहितं घोरम्' (१७.५) इत्यादिभगवदुक्तेः इत्याह—अस्पष्टकेत्रेति। ये तु अस्पष्टकं शास्त्ररूपसाक्षिवर्जितं द्यूतं कुर्वन्ति तेषाम् अत्र दुर्द्यूते महती हानिरिति। अस्माकं तु इदं द्यूतम् ईदृशं शास्त्रसाक्षिराहित्येन अस्पष्टं न भवतीत्यर्थः।।१४३०।। तस्माद् वयमपि शास्त्रानुगृहीताः

राजन्! अबसे पूर्व कई बार ये हमें हरा चुके हैं। इस बात में पृथ्वी आदि सभी लोक, धर्मराज आदि लोकपाल और स्वयं ईश्वर साक्षी हैं। (अतः पहल विषयों ने की है इसलिये इन्हें समूल उखाड़ फेंकने में कोई गलती नहीं!) पहले हार चुके हम लोग अब से सावधान रहेंगे। इन विषयजुआरियों को पासों से और बाणों से जीत लेंगे। आप डरिये मत, शास्त्र को इस बार साक्षी बनाया है जो विषयों का कोई अनुचित दाव नहीं लगने देगा। (यहाँ पासों से रागादिरहित इंद्रियाँ और बाणों से बहिरंग साधन यज्ञादि समझने चाहिये। शास्त्र पर श्रद्धा रखकर ही साधनानुष्ठान में तत्परता संभव है।)।।१४२७-२८।।

सबके साक्षी परमेश्वर ने श्रीकृष्णरूप से जैसे पाण्डवों पर अनुग्रह किया था वैसे उन्हीं ने वेदरूप से हम पर अनुग्रह किया है इस अभिप्राय से कहते हैं—जैसे श्रीकृष्ण को अपना साक्षी अर्थात् पथ-प्रदर्शक बनाकर ही पाँचों पांडव अधम लड़ाकू जुआरी धृतराष्ट्रपुत्रों को जीत सके थे (ऐसे हम भी वेद को साक्षी अर्थात् पथ-प्रदर्शक बनाकर ही अवश्य जीतेंगे)। विषयजुआरियों से यदि शास्त्र-साक्षी के बिना जुआ खेला जाये तो वे अवश्य उसमें कपट का प्रयोग करेंगे और खेलने वाले को बहुत नुकसान होगा किन्तु हमारा जुआ अब वैसा नहीं वरन् शास्त्रसाक्षिक है अतः हम फायदे में रहेंगे। (शास्त्र का अनुसरण न कर जो मनोमुखी या शास्त्रविरोधियों के अनुसरण से की जाने वाली तपस्या, धर्मचर्या आदि है वह विषयों पर विजय कभी नहीं दिलायेगी। विषयपरवश रखते हुए भले ही कुछ सुखाभास, शान्त्याभास की प्राप्ति हो जाये पर विषयपरतंत्रता से सनातन छुटकारा उनसे संभव नहीं।)।।१४२९-३०।। राजेन्द्र! जिस प्रकार वामदेव

वयं तथैव राजेन्द्र जित्वैतान् कितवानिह। ब्रह्माऽमृतं भविष्यामो नात्र कार्या विचारणा।।१४३२।।
शास्त्रसाक्षिपरित्यागाद् विषयैः कितवैः समम्। दुर्द्यूतदेविभिर्द्यूतं प्रारब्धं यैरबुद्धिभिः।।१४३३।।
हृतपुण्यधनास्तेऽमी पापकौपीनशेषिताः। तत्र तत्र महाराज! दुःखाद् दुःखमुपागताः।।१४३४।।
पक्षिणः स्थावरास्तद्वद् ग्राम्यारण्यविभेदिनः। पशवश्चाऽपि सर्पाद्या दृश्यन्ते सर्वतः स्थिताः।।१४३५।।
विषयाः कितवा राजन्! एते दुर्द्यूतदेविनः। अनक्षहृदयान् पुंसो जयन्त्यक्षैः कृताभिधैः।।१४३६।।
अथाक्षहृदयं ब्रह्म ज्ञातमस्माभिरञ्जसा। विज्ञानाद् यस्य सततं पुमानक्षैर्न जीयते।।१४३७।।

ज्ञानात् परितापहानिः

गुरुशास्त्रोपदेशेन यदैतमनुपश्यति। ह्यक्षहृदयं ब्रह्म स्वात्मानं देवमञ्जसा।। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो निन्दति स्वयम्।।१४३८।।

शुकवामदेवादिवद् अरीन् जित्वा ब्रह्मभावलक्षणं स्वाराज्यं लभेमहीत्याह—वामेति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।१४३१-३२।। ये तु शास्त्रसाक्षिविमुखाः तैः दीव्यन्ति, तेऽधोभावलक्षणं दुर्गतिं लभन्त इत्याह—शास्त्रेति। यैरबुद्धिभिः मूढैः शास्त्रं विना द्यूतमारब्धं ते पापरूपकौपीनमात्रशेषाः सन्तो दुःखं यान्तीति द्वयोः सम्बन्धः ।।१४३३-५।। यथा द्यूतागारे पराजितानां मण्डली दृश्यते तथेयं प्रकृते पापयोनीनां मण्डली बोध्येत्याह—पक्षिण इति। पक्षिणः च स्थावराः च ग्राम्यारण्यभेदभिन्नाः; पशवश्च सर्पाद्याः च येऽमी दृश्यन्ते ते सर्वे विषयकितवैः पराजितानाम् आकारा बोध्या इति सम्बन्धः।।१४३५।।[1] 'तद्विदुः' इत्यादिभागस्यार्थमाह—विषया इति द्वाभ्याम्। लोके हि कितवा अनक्षहृदयान् अक्षानुकूलताप्रयोजकाक्षहृदयाख्यमन्त्रविशेषज्ञानशून्यान् एव जयन्ति कृताभिधैः कृताः कल्पिताः कृतत्रेताद्वापरकलिरूपा अभिधाः संज्ञा येषां तादृशैः अक्षैः पाशकैरिति।।१४३६।। अथेति। यथा नलेन राज्ञा ऋतुपर्णाद् अक्षहृदयं ज्ञातं, तद्विज्ञानाद् विषयकितवान् जयाम एवेत्यर्थः।।१४३७।।

उत्कार्येऽष्टममन्त्रं[2] समन्वितं करोति—गुर्विति त्रिभिः। सर्वेश्वरब्रह्मरूपमात्मानम् अन्तर्यामित्वेन अक्षहृदयभूतं यदा उपदेशानुसारेण हृदि सन्निहितः साक्षात् करोति तदा श्रुतिगत-'जुगुप्सा'-पदोक्तां निन्दाम् अनुतापरूपां न

आदि इन विषयजुआरियों को जीतकर अमर हो गये, स्वात्मरूप पा गये, हम भी उसी प्रकार इन पर विजय पाकर अमृत ब्रह्म हो जायेंगे इसमें कोई शंका करनी ही नहीं चाहिये।।

दुष्टतापूर्ण जुआ खेलने वाले इन विषयजुआरियों से जो मूर्ख शास्त्र को साक्षी रखे बिना जुआ खेलने लग जाते हैं वे अपना सारा पुण्य हार जाते हैं और पापकी लंगोटी पहने इधर-उधर अधिकाधिक दुःख पाते रहते हैं। पक्षी, पेड़-पौधे, ग्रामीण पशु (गाय आदि), जंगली पशु, सर्प आदि जो सब तरफ दीख रहे हैं ये पूर्व में अपना पुण्य हारकर ही पाप ओढ़े भटक रहे हैं।।१४३१-३५।।

राजन्! दुष्ट-जुआ खेलने वाले ये विषयजुआरी 'कृत' नामक पासों से उन लोगों को जीत लेते हैं जो 'अक्षहृदय' से अपरिचित होते हैं। (कृत, त्रेत, द्वापर और कलि—ये पासों के नाम उनकी संख्या के अनुसार रखे जाते हैं। 'अक्षहृदय' वे मंत्र हैं जिनके सही प्रयोग से पासों को अपने अनुकूल चलाया जा सकता है।) अब हमने ब्रह्मरूप अक्षहृदय पूरी तरह समझ लिया है जिसे लगातार जाने रहे तो पुरुष जुए में हारता नहीं।।१४३६-३७।।

श्रुतिने अगले मंत्र में बताया है कि भूत-भव्य के ईशान आत्मदेव को जब साक्षात् जान लेता है तब विजुगुप्सा नहीं करता। विजुगुप्सा से निंदा अभिप्रेत मानकर उस मंत्र का अर्थ कह रहे है। गुरुमुखसे शास्त्र का उपदेश पाकर जब अधिकारी अपने हृदय में इस 'अक्षहृदय' अर्थात् ब्रह्म को—जो स्वात्मा प्रकाशमान, भूत-भविष्यका शासक है—

१. सप्तममन्त्रोत्तरार्द्धस्य। २. 'यदैतदनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।।' इति।

अथाक्षहृदयं ज्ञात्वा विषयैः कितवैरहम्। दुर्धूतदेविभिर्नित्यं सर्वप्राण्योघवञ्चकैः।।१४३९।।
जातोऽपि भारते वर्षे ह्यधिकारिशरीरभाक्। पुण्यविद्याग्लहं सर्वं निर्जितोऽस्मि क्षणेन हि।।
पापकौपीनशेषश्च कृतोऽस्मीति कदाचन।।१४४०।।

आत्मा नित्यचित्

नास्य नाशः कथञ्चित् स्याद् आत्मनः सर्वदेहिनाम्। कर्ता भोक्ता तथा माता नात्मा किन्तु ततः परः।।१४४१।।

यस्मादर्वागयं कालो नानाभेदः प्रवर्तते। संवत्सरः सहाहोभिः ब्रह्मादीनां महात्मनाम्।।१४४२।।

आत्मज्योतिस्तदन्येन ज्योतिषा न प्रकाश्यते। तदेव ज्योतिषां ज्योतिः सूर्यादीनां विराजते।।१४४३।।

करोतीत्यर्थः।।१४३८।। अनुतापरूपात्मनिन्दामभिनयति—अथेति द्वाभ्याम्। अथाऽक्षहृदयं ज्ञात्वा 'इति' न निन्दति। 'इति' कथम्? अहं भारते खण्डे जातः सन् विषयकितवैः पुण्यरूपं विद्यारूपं च ग्लहं निर्जितोऽस्मि पापकौपीनशेषश्च कृतोस्मि। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१४३९-४०।।

आत्मनो नित्यत्वसर्वभासकत्वसर्वसत्ताप्रदत्वानां प्रतिपादकस्य[1] नवममन्त्रस्यार्थमाह—नास्येति चतुर्भिः। आत्माऽविनाशी यतः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रमातृत्वलक्षणविकारवान् न भवति, किन्तु ततः कर्त्रादिरूपाद् विकारिणः परः साक्षिरूप इत्यर्थः।।१४४१।। तत्र हेतुतया कालापरिच्छेद्यत्वमाह—यस्मादिति। ब्रह्मा हिरण्यगर्भः, तत्प्रभृतीनाम् अहोभिः सहस्रयुगादिरूपैः अवयवैः सहितः संवत्सरात्मा कालो नानाविधो यस्मात् साक्षिरूपाद् आत्मनः अर्वाग् एव विकारेषु परिच्छेदाय प्रवर्तते—इति।।१४४२।। आत्मेति। तद् आत्मज्योतिः अन्येन ज्योतिषा न प्रकाश्यते यतः तदेव सूर्यादीनां ज्योतिषां ज्योतिः प्रकाशकं सद् विराजत इति।।१४४३।। स एषात्मैव सर्वसत्ताप्रदत्वाद् 'आयुः' इत्युच्यत

साफ-साफ समझ लेता है तब स्वयं की निंदा नहीं करता अर्थात् उसे कोई परिताप नहीं रह जाता। ब्रह्म जानकर वह अपनी ऐसी निंदा कभी नहीं करता—'मैं भारत में वेदविद्या का अधिकारी होकर पैदा हुआ था लेकिन सब प्राणियों को ठगने वाले, सदोष जुआ खेलने वाले विषयजुआरियों ने क्षणभर में ही मेरे सारे पुण्य और विद्या का ग्लह जीत लिया एवं मुझे ऐसा बना दिया कि मेरे पास केवल पाप की लंगोटी बची है!'।।१४३८-४०।। (भगवान् भाष्यकार ने विजुगुप्सा का अर्थ बताया है स्वयं को भगवान् से छिपाकर रखने की इच्छा। जब तक ईश्वर से भेद-दर्शन रहेगा तब तक यह इच्छा स्वाभाविक है। इसी के चलते अनेक दर्शनवेत्ता अद्वैत से डरते हैं, उन्हें अभय में भी भय दीखता है, अपने 'व्यक्तित्व' का लोप प्रतीत होता है। अद्वैतनिश्चय के बल पर ही यह इच्छा मिटती है। जो मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि अपने 'आत्मा' के ही दो स्तरों में संघर्ष के कारण मनोविकृतियाँ पनपती हैं उन्हें भी समझ लेना चाहिये कि वह संघर्ष द्वैत रहते मिटेगा नहीं क्योंकि जो जब जिसे भिन्न मानेगा उससे स्वयं को किसी हद तक छिपाये बिना नहीं रहेगा। अतः अद्वैतनिष्ठा से ही मनोदशा निर्दोष हो सकती है। भाष्यकार ने निंदा-अर्थ भी ग्रहण कर कहा है कि सब को अपना आत्मा समझने से वह किसी की निंदा नहीं करता।)

अगले मंत्रमें श्रुति ने कहा है कि काल जिसे परिच्छिन्न नहीं करता वह अमृत सब ज्योतियों का प्रकाशक है, देवता उसकी आयु रूपसे उपासना करते हैं। इसे समझाते हैं—इस आत्मा का किसी तरह नाश नहीं होता। आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता और न प्रमाता ही है। कर्तृत्व आदि विकारों वाले चिदाभास से यह साक्षी रूप आत्मा परे ही है। इस साक्षी से अन्य जो कुछ भी प्रतीयमान है उसी को सीमित करते हुए नाना भेदों वाला काल प्रवृत्त है। काल का रूप संवत्सर बताया गया है। जिसके हिस्से हैं दिन। महान् ब्रह्मा आदि के दिन, देवताओं के दिन, पितरों के दिन इत्यादि रूप से दिन अनेक प्रकार के होते हैं अतः काल नाना रूपों वाला है। (एवं च वह सापेक्ष पदार्थ है, न कि निरपेक्ष सिद्ध

१. 'यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तति। तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्।।' इति

न प्राणो नाप्यपानो वा भवेदायुः शरीरिणाम् । ज्योतिषां ज्योतिरेवाऽयम् आयुर्देवैः सुनिश्चितः ।।१४४४ ।।

सर्वाधारः

यस्मिन् पञ्चजनाः पञ्च प्राणाद्याः सन्ति सर्वदा । भूतैश्चतुर्भिरपरैः आकाशोऽपि च सर्वगः ।।१४४५ ।।

तमेव ज्योतिषां ज्योतिः जानाम्यात्मानमीश्वरम् । मरणादिविनिर्मुक्तमहं विद्वांश्च तादृशः ।।१४४६ ।।

प्राणादेः प्रत्यग्भूतः

प्राणश्चक्षुस्तथा श्रोत्रं मनो ज्योतिः पुरेरितम् । वागादि कथितं लोक एतज्ज्योतिश्च पञ्चकम्१४४७

इत्याह—न प्राण इति । आयुः जीवनप्रदः अयम् आत्मा ज्योतिषां ज्योतिर्भूत एव देवैः आयुः इति निश्चितः—इति ।।१४४४ ।।

आत्मनो ब्रह्मत्वयोग्यतास्फुटीकरणार्थं सर्वाधारताप्रतिपादकस्य[1] दशममन्त्रस्यार्थमाह—यस्मिन्निति द्वाभ्याम् । प्राणाद्या वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चजनसंज्ञका यत्राधिष्ठाने सन्ति तथा परैः भूतैः पृथिव्यादिभिः सहित आकाशः च यत्र तिष्ठति तमेव अहं सर्वभासकम् ईश्वरम् अमृतम् आत्मानं जानामि । तं विद्वान् जानन् सन् अहं तादृशः सर्वाधिष्ठानादिरूपः सम्पन्नोऽस्मीति द्वयोरर्थः ।।१४४५-४६ ।। पञ्चजनपदार्थानां प्राणादीनां स्वरूपं प्रदर्श्य तद्भासकतया तदान्तरत्वमात्मनः प्रतिपादयत एकादशस्य[2] मन्त्रस्यार्थमाह—प्राण इति त्रिभिः । प्राणश्चक्षुश्श्रोत्रमनांसि चत्वारि, तथा पुराऽतीतमन्त्रे 'ज्योतिषां ज्योतिः' इति षष्ठ्यन्तज्योतिःपदेन ईरितं वागादि पञ्चकम्, तद्धि लोकेऽपि अन्धकारादौ प्रकाशकत्वेन कथितं प्रसिद्धमिति यावत् । आदिपदेन चन्द्रादित्यादयो गृह्यन्ते । एतज्ज्योतिः एतेषां प्राणादीनां यद् ज्योतिः प्रकाशकं तत्त्वम् । कीदृशम्? पञ्चकं पञ्चभिः[3] प्राणादिशब्दैः प्रथमाविभक्त्यन्तैः कायते वस्तु ।).वह आत्मरूप ज्योति किसी अन्य ज्योतिसे प्रकाशित नहीं की जाती बल्कि सूर्यादि प्रकाशों को वही आत्मा प्रकाशित करते हुए विराजमान है। (जड प्रकाश को भी प्रकाशरूपता अर्थात् तमोनिवर्तकता ब्रह्म ही देता है। वस्तुतस्तु जडप्रकाश चित्प्रकाश से प्रकाशित हुआ ही कार्यकारी है अर्थात् ज्ञायमान होने पर ही व्यवहार्य है। दृष्टिसृष्टि में तो यह स्पष्ट है, सृष्टिदृष्टि में भी सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा ज्ञायमान की ही व्यवहार्यता है। अथवा चिदभिन्न सत् से सत्ता पाते हुए ही व्यवहारक्षम है यह अभिप्राय है। सर्वथापि आत्मा को रोशनीरूप नहीं वरन् ज्ञानरूप समझना चाहिये) ।।१४४१-४३ ।। शरीरधारियों की आयु—जीवनप्रद वस्तु—न प्राण है न अपान। देवताओं ने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है कि ज्योतियों का प्रकाशक यह आत्मा ही आयु है। (कठोपनिषत् ५.५ का अनुसंधान कर लेना चाहिए। 'ब्रह्म आयु है' यों उपासना भी करें तो आयु बढ़ती है, ऐसा आचार्यों ने बताया है।) ।।१४४४ ।।

अगले मंत्र में आत्मा को सबका आधार कहा गया है। मंत्रार्थ है, जिसमें पाँचों पंचजन और आकाश प्रतिष्ठित है उस अमृत ब्रह्म को ही मैं आत्मा मानता हूँमैं—जो इस सत्य को जानता हूँ वह—भी अमृत ही हूँ। 'पंचजन' स्वयं अगले मंत्रमें बतायेंगे। भाष्यमें तो गंधर्व, पितर, देव, असुर व राक्षस—ये पाँचों 'पंचजन' शब्द से लिये हैं। विकल्पतः निषाद समेत चार वर्णों को भी इससे बोध्य माना है। संख्योपसंग्रहाधिकरण में (ब्र.सू.१.४.३.११-१३) इसी शब्द पर विचार है। ऐतरेय ब्राह्मण में (३.३.७) देव, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरायें, सर्प और पितरों को मिलाकर पंचजन कहा है। इसलिये गिनती में तात्पर्य नहीं, सर्वाधिष्ठानता कहनी है। इस मंत्रके अर्थ का उपन्यास करते हैं—प्राणादि पाँचों पंचजन और अन्य चारों महाभूतों सहित सर्वव्यापक आकाश भी हमेशा जिस पर अधिष्ठित है वह ज्योतियों का प्रकाशक ईश्वर मरण आदि विकारों से रहित है। उसे मैं अपना आत्मा जान रहा हूँ और जानने मात्र से मैं भी वैसा ही अमृत हो गया हूँ। ('वैसा' अर्थात् वही।) ।।१४४५-४६ ।।

---

१. 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्माऽमृतोऽमृतम् ।।' इति। २. 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युः ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ।।' इति। ३. 'अन्नस्यान्नम्' इति माध्यंदिने-ऽधिकं तत्परामृश्य पंचभिरित्युक्तम्।

आत्मेति ज्ञानवन्तो ये निश्चितं तैस्तु सर्वदा। ब्रह्माक्षहृदयं पूर्णं पुराणं नाशवर्जितम् ।।१४४८।।
उत्पत्तेर्जगतः पूर्वमेकमेव व्यवस्थितम्। परतो नाशतो मध्ये नैकधेव व्यवस्थितम् ।।१४४९।।

मनसाऽऽत्मा ज्ञेयः

न बाह्यैरिन्द्रियैरेतत् सर्वभेदविवर्जितम्। श्रुत्युक्तमात्ममननसंस्कारसचिवेन हि। मनसैवावगन्तव्यं ब्रह्मरूपं निरञ्जनम् ।।१४५०।।

प्रतिपाद्यते तत्तथा; कैधातोः शब्दार्थात् 'सुपि स्थ' इति (३.२.४) योगविभागात् कप्रत्ययः। तथा च 'प्राणादीनां प्राणादिरूपं सर्वान्तरं तत्त्वम् आत्मा' इति इत्थं ज्ञानवन्तो ये भवन्ति तैः एव अक्षहृदयतयोक्तं ब्रह्म ज्ञातमिति द्वयोरर्थः ।।१४४७-४८।। अग्रयपदार्थमाह—उत्पत्तेरिति। कीदृशमात्मतत्त्वम्? जगत उत्पत्तेः पूर्वं तथा जगतो नाशतः परतः अनन्तरं च एकम् एकरूपम् एव अवस्थितम्। तयोः मध्ये तु कल्पितोपाधिभिः नैकधेव नानारूपमिव स्थितमिति सम्बन्धः। अग्रयशब्दो हि अपेक्षावशात् पूर्वमपरं च अभिधत्त इति भावः।।१४४९।।

द्वादशमन्त्रस्य[1] आत्मज्ञानसाधनमद्वितीयत्वं तदविज्ञानेऽनर्थं च प्रतिपादयतोऽर्थमाह—न बाह्यैरिति एकोन-

अगले मंत्र में श्रुति ने कहा है कि जो प्राणके प्राणको, चक्षुके चक्षु को, श्रोत्रके श्रोत्रको, मनके मन को जानते हैं वे अनादि चिरन्तन ब्रह्म का निश्चय कर पाये हैं। यहाँ प्राणादि का प्राणादि आत्मा को कहकर सूचित किया है कि इन व्यापारों से उपलक्षित प्रत्यगात्मा को समझने के लिये कह रहे हैं जिसे विषयतया नहीं समझ सकते अतः इन्हें चिह्न बनाकर ही उसे समझना चाहिये। इसका तात्पर्य शास्त्रप्रकाशिका में सुव्यक्त किया है 'पूर्वमन्त्रे—विद्वान् ब्रह्म—इत्युक्तम्। सा विद्या कथं स्याद्? इत्यपेक्षायाम्; यथा त्वम्पदार्थविदां वाक्यार्थधीरूपा सोदेति इति एतमर्थं 'प्राणस्य' इत्यादिर्मन्त्रो दर्शयति।' (४.४.श्लो.६४३) अर्थात् महावाक्य समझने के लिए ज़रूरी त्वम्पदार्थ का ज्ञान कैसे पाया जाये यह इस मन्त्र में कहा है। केनोपनिषत् में इसी दृष्टि से आत्मबोध का विस्तृत उपदेश किया गया है। इस मंत्र की पुराणकार व्याख्या करते हैं—

प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और पूर्व में कहे वाक् आदि जो संसार में भी ज्योति रूप में प्रसिद्ध हैं, इन सब का जो प्रकाशक है वह भी प्राणादि पाँचों नामों से कह दिया जाता है। जिन्होंने निश्चय कर लिया है कि वही आत्मा है उन्हीं ने पूर्ण, पुराण, नाशरहित उस ब्रह्म को जाना है जिसे अभी 'अक्षहृदय' कहा था। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व और उसके नाश के बाद वह आत्मा अकेला ही रहता है। बीच में अर्थात् जगत्काल में वही अनेक प्रकार का हुआ प्रतीत होता है। (प्राणादि पाँच नाम हैं प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन। माध्यंदिनशाखा में 'अन्न का अन्न' इतना अधिक कहा है। 'अन्न का' अर्थात् अन्नमय शरीर का भी वह 'अन्न' है अर्थात् इसे शरीर बनने की सामर्थ्य दे रहा है। 'प्राण का प्राण'—यहाँ जो द्वितीय प्राणशब्द है वह ब्रह्म के लिये है। ऐसे ही पाँचों में समझना चाहिये। पाँच की संख्या में कोई विशेषता नहीं, सभी को सत्ता-स्फूर्ति देने वाला उन्हीं सब के नामों से व्यवहृत होता है, स्वयं तो नामरहित है।)।।१४४७-४९।।

श्रुतिने अगले मंत्र में कहा कि मनसे ही यह अनुदर्शन करना चाहिये कि यहाँ अनेक कुछ नहीं है। जो यहाँ अनेक जैसा भी देखता है वह एक के बाद एक मृत्यु पाता रहता है। इसे पुराण में समझाते हैं:

श्रुतिमें बताया जो अद्वितीय आत्मा सभी भेदों से रहित है वह आँख आदि बहिरिन्द्रियों से विषय नहीं किया जाता। आत्मविषयक मनन के संस्कारों से सहकृत मन से ही निष्कलंक ब्रह्मरूप आत्मा समझा जा सकता है। ('मनन के संस्कार' कहकर श्रवण और निदिध्यासन भी सूचित कर दिये। इन तीनों द्वारा ही मन में अखण्डवृत्ति बनती है : 'एवं ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितैः। यदैकत्वमेतानि उपगतानि तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं

१. 'मनसैवानु द्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।' इति।

मनः सर्वार्थविषयं निर्मितं परमेष्ठिना। त्रिकालं कालतोऽतीतं मनसा तेन गच्छति।।१४५१।।
यद्यप्येतद् भवेद् नृणां व्यवस्थावर्जितं मनः। तथाऽपि तस्य नैव स्याद् अपराधः कथञ्चन।।१४५२।।
न मनःश्रोत्रसहितः पुमान् रूपं प्रपद्यते। चक्षुष्मानिव लोकेऽस्मिन् नेत्राभावेन हेतुना।।१४५३।।
नीलं पीतं तथा गृह्णन्नन्धो नैव भवेत् क्वचित्। अपराधी यथा लोके निष्प्रमाणं मनस्तथा।।१४५४
गृह्णीयाद् भेदमेवायं करणैर्नयनादिभिः। भेदाभेदं च मनसा सर्वार्थत्वेन हेतुना।।१४५५।।
मनसैव ततो ब्रह्म सर्वभेदविवर्जितम्। आत्मरूपं महाभाग! स्थिरजङ्गमदेहिनाम्।।१४५६।।

पञ्चाशच्छ्लोकैः। एतत् सर्वभेदविवर्जितम् अद्वितीयं श्रुत्युक्तम् आत्मनो रूपं बाह्यैरिन्द्रियैः अवगम्यं न भवति किन्तु श्रवणमननादिसंस्कृतेन मनसैवावगन्तव्यम् इति सम्बन्धः।।१४५०।। मनस आत्मदर्शनयोग्यतां स्पष्टयति—मन इति। यद्यपि बाह्येन्द्रियाणि आत्मदर्शनाऽयोग्यानि एव सृष्टानि 'पराञ्चि खानि' (क.४.१) इत्यादि श्रुतेः, तथापि मनः सर्वार्थविषयं परमेष्ठिना प्रजापतिना सृष्टमिति प्रकृतश्रुतेरेव विज्ञायत इति भावः। तेन मनसः सर्वार्थत्वेन हेतुना त्रिकालं कालत्रयसम्बन्धि दृश्यजातं, तथा कालतोऽतीतम् आत्मतत्त्वं च मनसा पुमानवगच्छति इत्यर्थः।।१४५१।। परन्तु प्रमाणसहकृतस्य एव मनसः सर्वार्थदर्शनसामर्थ्यमित्याह—यद्यपीति चतुर्भिः। यद्यपि मनो व्यवस्थावर्जितम् एकत्रार्थे निश्चयरूपस्थितिरहितमेव भवेत् प्रायशो दृश्यते, तथापि तस्य मनसः प्रमाणरूपसहकारिहीनस्य विभ्रान्तत्वरूपोऽपराधो न मन्तव्यः, सहकारिणं विना कार्यासिद्धेः लोकेऽपि दृष्टत्वादिति भावः।।१४५२।। सहकारिणं विना कार्यवैगुण्यं न दोषाय इत्येतद् उदाहरणेन स्फुटयति—न मन इति। यथा लोके चक्षुष्मान् पुमान् रूपं पश्यति तथा मनःसहकृतश्रोत्रसहितोऽपि पुमान् रूपं न पश्यति। कुतः? रूपदर्शनकरणस्य नेत्रस्याऽभावात्। तथा प्रमाणाऽसहकृतं मनो यदि एकत्र अनवस्थितं तथापि न अपराधि। इति द्वयोरर्थः।।१४५३-५४।। गृह्णीयादिति। अयं प्रमाता चक्षुरादिबाह्यकरणैः सहितो भेदमेव गृह्णीयात्। मनसा तु भेदग्राहिप्रमाणसहकृतेन भेदम्, अभेदग्राहिवेदान्तवाक्यादिप्रमाणसहकृतेन अभेदम् आत्मरूपं गृह्णीयाद् निश्चिनुयाद् इत्यर्थः।।१४५५।। फलितमाह—मनसैवेति। गृह्णीयाद् इति शेषः।।१४५६।।

प्रसीदति, नान्यथा श्रवणमात्रेण।' भाष्य (बृ. २.४.५) 'मन से ही' का अर्थ बाह्येन्द्रियव्यावृत्ति है न कि शास्त्ररूप प्रमाण की व्यावृत्ति यह पुराणकार ने स्पष्ट कर दिया।)।।१४५०।। परमेष्ठी ब्रह्मा ने मन ऐसा साधन बनाया है जो कालत्रय से परिच्छिन्न और कालसे अतीत सभी अर्थों को विषय कर लेता है अतः मनसे आत्मा जान लिया जाता है।।१४५१।।

यद्यपि लोगों का यह मन एक विषय के निश्चय पर स्थिर नहीं रहता तथापि इसमें मनका कोई अपराध नहीं (क्योंकि उसे उचित सहकारी न मिलने से वह ऐसा है)। जिस पुरुषके पास मन और कान हैं, आँख नहीं, वह रूप नहीं देख पाता जैसे आँखों वाला देख लेता है। नीले को पीला समझे तो लोक में भी अंधे को अपराधी नहीं मानते। ऐसे ही प्रमाण की सहायता बिना मिले मन एक विषय के निश्चय पर नहीं टिकता तो इसमें उसका कोई अपराध नहीं है। प्रमाता नयनादि साधनों से केवल भेद ग्रहण कर सकता है लेकिन क्योंकि मन सभी को विषय करता है इसलिये भेदग्राही प्रमाणों की सहायता से मन प्रमाता को भेद का ज्ञान कराता है तो अभेदग्राही वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण की सहायता से आत्मरूप अभेद का भी निश्चय करा देता है। (अतः दोष मनका नहीं वरन् हमारा है जो इसे अभेदप्रमाण उपलब्ध नहीं करा रहे।) हे महाभाग! इसलिये स्थिर-चर देहियों के आत्मा, त्रिविध भेद से रहित ब्रह्म को मन से ही जानना चाहिये।।१४५२-५६।।

लोक में 'नाना' कहते हैं भेद वाली वस्तु को। इस ब्रह्म में कोई भी भेद वाली वस्तु किसी तरह नहीं है। (जिन दो चीजों की आपसी अपेक्षा से भेद समझा जा सकता है वे भेद वाली हैं अर्थात् सभी उपाधियाँ। कोई भी उपाधि ब्रह्ममें वस्तुगत्या नहीं है।)।।१४५७।।

नेह नानास्ति

नानेति कथ्यते लोके भेदवद् वस्तु सर्वथा। इह ब्रह्मणि किञ्चिद् न भेदवद् वस्तु विद्यते।।१४५७।

ब्रह्मपदार्थः

ब्रह्मशब्दो भवेद् नित्यं बृहतोऽर्थस्य वाचकः। बृहत्वं न भवेल्लोके भेदवत्यत्र वस्तुनि।।१४५८।।
मुख्यो गौणस्तथा ज्ञेयः शब्दार्थः शाब्दिकैः सदा। मुख्ये सति न गौणः स्यादेषाऽप्यत्र व्यवस्थितिः।।१४५९।।
ततो बृहदिदं किञ्चिद् वस्तु लोकेषु गीयते। गौणमापेक्षिकं तद्धि न मुख्यं ब्रह्मणा विना।।१४६०।।
परिच्छिन्नं भवेद्यद्धि बृहत् तत् केन कथ्यते। परितश्छेदवज्ज्ञेयं परिच्छिन्नं मनीषिभिः।। परिच्छेदवत् स्वल्पं स्याद् यद्वदामलकं करे।।१४६१।।
बृहदभ्यधिकं ज्ञेयं परिच्छिन्नं तथात्मकम्। इदं विरुद्धमेकस्मिन् केन धर्मद्वयं भवेत्।।१४६२।।
अधिकं चेद् न तत् स्वल्पं स्वल्पं चेद् अधिकं न हि। स्वल्पत्वमधिकत्वं तद् एकस्मिन् नोपपद्यते।।१४६३।।
परिच्छेदो भवेत् त्रेधा सर्वभावेषु सर्वदा। देशतः कालतस्तद्वत् केषुचित् तत् स्वरूपतः।।१४६४।।

'नेह नाना' इत्यंशार्थमाह—नानेत्यादिना। नाना-पदेन सर्वं भेदवद् वस्तु उच्यते, तद् इह ब्रह्मात्मनि न अस्तीत्यर्थः।।१४५७।।

तत्र हेतुतया ब्रह्मत्वानुपपत्तिं दर्शयति—ब्रह्मेत्यादिना। ब्रह्मशब्दः अयं बृहतः अपरिच्छिन्नस्य वाचकः, तच्च भेदवति वस्तुपरिच्छिन्ने न अस्तीत्यर्थः।।१४५८।। लोके तु गजादिषु बृहत्वव्यवहार आपेक्षिकतया गौणः सोऽत्र न ग्राह्य इति वक्तुं न्यायं स्मारयति—मुख्य इति। पदार्थो द्विविधो—मुख्यो गौणश्च; यथा व्रीहिपदार्थः शालिबीजरूपो मुख्यो, नीवाररूपो गौणः।।१४५९।। तत इति। तत उक्तव्यवस्थाऽनुसाराद् लौकिकवस्तुजातं बृहत्पदस्य गौणोऽर्थ एव, तन्मुख्यार्थस्तु ब्रह्मैवेत्यर्थः।।१४६०।।लौकिकवस्तुनो मुख्यबृहत्वासम्भवं विरोधहेतुकं विशदयति—परिच्छिन्नमिति। परिच्छिन्नं तद् अल्पं भवेद् यथा करदेशावच्छिन्नम् आमलकम् इति।।१४६१।। बृहदिति। बृहत्पदवाच्यम् अभ्यधिकरूपम्, परिच्छिन्नपदवाच्यं तु तथात्मकं स्वल्परूपम्। इदम् अभ्यधिकत्व-स्वल्पत्वरूपं धर्मद्वयम् एकत्र वस्तुनि कथमन्वियादित्यर्थः।।१४६२।। विरोधमभिनयति—अधिकमिति। स्पष्टम्।।१४६३।। परिच्छेदत्रैविध्यं प्रथमाध्याये वर्णितं स्मारयति—परिच्छेद इति। स्वरूपतो वस्तुतः।।१४६४।।तत्र वस्तुपरिच्छेदं स्वरूपसजातीयविजातीय-

यदि भेदवान् कुछ भी हो तो 'ब्रह्म' यह नाम ही घट नहीं पायेगा!—'ब्रह्म' शब्द हमेशा अपरिच्छिन्न का वाचक है। जो चीज़ भेद वाली अर्थात् वस्तुपरिच्छेद वाली है उसमें बृहत्व अर्थात् अपरिच्छिन्नता नहीं हो सकती। शब्द-अर्थ के विचारकों को सदा याद रखना चाहिये कि शब्द के दो तरह के अर्थ होते हैं—मुख्य और गौण। (संगतिग्रहण से अतिरिक्त किसी विचार की अपेक्षा के बिना शब्द से प्रतीत होने वाला मुख्य अर्थ और गुणसम्बन्ध आदि के विचार की अपेक्षा से प्रतीत होने वाला गौण अर्थ होता है।) इन अर्थों के बारे में यह भी व्यवस्था है कि किसी प्रसंग में मुख्य अर्थ समझना संभव हो तो गौण अर्थ नहीं समझा जाता। इसलिये संसारान्तर्वर्ती जो कोई भी वस्तु बृहत् कही जाती है वह क्योंकि सापेक्ष बड़ी होती है इसलिये बृहत-शब्द का गौण अर्थ ही है। ब्रह्मसे अन्य कुछ नहीं है जो बृहत्-शब्द का मुख्य अर्थ हो। (ब्रह्म अर्थात् बृहत्। निरपेक्ष अर्थ ही मुख्य होगा क्योंकि हमेशा उस शब्द से व्यवहार्य होगा। जो सापेक्ष बड़ा है वह तो कभी छोटा भी कहा जा सकता है अतः हमेशा बृहत् ही नहीं कहा जाने से बृहत् का मुख्य अर्थ नहीं। ब्रह्म का बड़प्पन निरपेक्ष है, वह 'किसी से' बड़ा नहीं, स्वरूपतः ही अपरिच्छिन्न है। अतः ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ वही

स्वरूपात् सर्वभावानां परिच्छेदो मनीषिभिः। इष्टो ब्रह्म विहायैकं सर्वभेदविवर्जितम्।।१४६५।।

न हि स्वरूपतो भेदो ब्रह्मण्यस्ति यथा तरौ। शाखास्कन्धादिरूपोऽयमेकस्मिन्नुपलभ्यते।।१४६६।।

ब्रह्मणो न सजातीयैः कृतो भेदोऽस्ति कश्चन। खण्डमुण्डादिभिर्यद्वद् गोभिर्गोः शुक्लरूपिणः।।१४६७।।

विजातीयैश्च तस्माद्यो भेदः कोऽपि न दृश्यते। ब्रह्मणो घटकुड्याद्यैः यद्वद् मनुजदेहिनः।।१४६८।।

सदसच्छब्दधीगम्यं यत्किञ्चिद् वस्तु विद्यते। जगत्यस्मिन् हि तत् सर्वं ब्रह्म भेदविवर्जितम्।।१४६९।।

भावाभावात्मकं यद्वद् गन्धर्वनगरं महत्। कालत्रयेऽपि गगनाद् भिन्नं नैवास्ति किञ्चन।।१४७०।।

प्रतियोगिकतया त्रिविधमन्यत्र दर्शयन् ब्रह्मणि तदभावमाह—स्वरूपादिति चतुर्भिः। अद्वितीयरूपं ब्रह्म विहाय सर्वलौकिकवस्तुषु वस्तुपरिच्छेदस्तिष्ठतीत्यर्थः।।१४६५।। तत्र स्वरूपप्रतियोगिकं तमुदाहृत्य तद्व्यतिरेकं ब्रह्मण्याह—न हीति। यथा वृक्षे शाखादिवैलक्षण्यरूपः स्वरूपभेदस्तिष्ठति न एवं ब्रह्मणि इत्यर्थः।।१४६६।। सजातीयात् तं तथाह—ब्रह्मण इति। यथा शुक्लवर्णे गवि वृषभे खण्डादिव्यक्तिभ्यो भेदः, एवं न ब्रह्मणीति। खण्डोऽङ्गहीनः, मुण्डः शृङ्गहीनः।१४६७।। विजातीयात् तं तथाह—विजातीयैरिति। तस्मात् सजातीयभेदाभावलब्धकैमुत्यन्यायाद् विजातीयैः निरूपितो भेदोऽपि ब्रह्मणि न विद्यते, यादृशो मनुष्यस्य घटादिभिरिति।।।१४६८।।

सर्वविधभेदाभावे ब्रह्मणः सर्वात्मकतां हेतुतयाह—सदसदिति। जगति यावद् वस्तुजातं तत् सर्वं ब्रह्म एव भवतीत्यर्थः।।१४६९। एतत् स्फुटयति—भावेति द्वाभ्याम्। भावाभावात्मकम् अनिर्वचनीयं गन्धर्वनगरं यथा न आकाशात् कदाचिद् भिन्नं तथा विश्वं ब्रह्मणः। इति द्वयोरर्थः ।।१४७०-१।। विश्वस्य ब्रह्मभेदाभावे ब्रह्मणि कल्पितत्वं हेतुमाह—देशेति। साश्रितौ आश्रितैः पदार्थजातैः सहितौ देशकालौ यथा स्वप्ने हृदम्बुजावच्छिन्ने चिद्वस्तुनि जायेते

है। 'मुख्य' का 'शक्य' ही अर्थ समझना ज़रूरी नहीं, अव्यभिचारी अर्थ को मुख्य कह सकते हैं।)।।१४५८-६०।। जो परिच्छिन्न हो उसे बृहत् कैसे कहा जाये ? मंनीषियों के अनुसार परिच्छिन्न उसे समझना चाहिये जिसके हर ओर रिक्त स्थान हो! अतः परिच्छेद वाली वस्तु छोटी ही होगी जैसे हथेली पर रखा आँवला। बृहत् कहते हैं उसे जो सबसे अधिक हो और परिच्छिन्न हुआ स्वल्प; ये दोनों विरुद्ध धर्म एक में कैसे होंगे? यदि सर्वाधिक है तो वह स्वल्प नहीं होगा और स्वल्प है तो सर्वाधिक नहीं होगा। स्वल्पता और अधिकता दोनों एक में होना असंगत है। अतः परिच्छिन्न चीज़ बृहत्-शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है।।१४६१-६३।।

हमेशा सभी पदार्थों में तीन तरह से परिच्छेद हो सकता है—देश से, काल से और कुछ में परिच्छेद होता है वस्तु से। (कुछ में वस्तु से परिच्छेद होता है यह इस अभिप्राय से कहा कि देश और काल का देश और काल से परिच्छेद न होने पर भी वस्तु से परिच्छेद होता ही है अतः उन में भी वस्तु से परिच्छेद अवश्य है।) सारे भेदों से रहित जो एक ब्रह्म है उससे अतिरिक्त सभी पदार्थों में वस्तु से परिच्छेद मनीषियों को स्वीकार है। जैसे एक ही वृक्षमें शाखा-तना आदि से निरूपित परिच्छेद उपलब्ध होता है (अर्थात् शाखादि प्रत्येक से वृक्ष को अलग समझा जाता है) ऐसे ब्रह्म में किसी वस्तुसे निरूपित भेद नहीं है। जैसे सफेद साँड में उसी की जाति वाले लंगड़े साँड का, सींगरहित साँड का भेद रहता है ऐसे ब्रह्ममें अपनी जाति वाले किसी पदार्थ का कोई भेद नहीं रहता (क्योंकि ब्रह्म की जाति है ही नहीं)। जैसे मनुष्य में अपने से भिन्न जाति वाले घड़े, दीवाल आदि का भेद होता है ऐसे भी ब्रह्म में उपलभ्य नहीं (क्योंकि ब्रह्म की कोई जाति नहीं)।।१४६४-६८।।

सर्वात्मा होने से ब्रह्म सभी भेदों से रहित है। इस संसार में 'है' या 'नहीं है' कही व समझी जाने वाली जो कुछ भी वस्तु है वह सब ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म भेदरहित है। जैसे दीखनेके कारण 'है' कहा जाने वाला और बाधित होने से 'नहीं है' कहा जाने वाला महान् गंधर्वनगर तीनों कालों में गगन से भिन्न कुछ नहीं है इसी प्रकार ईश्वररूप

तथा विश्वमिदं सर्वं प्रतीतं ब्रह्मणीश्वरे। कालत्रयेऽपि नैवास्ति भिन्नं तद् ब्रह्मणः क्वचित्।।१४७१।।

देशकालौ यथा स्वप्ने जायेते हृदयाम्बुजे। साश्रितौ तद्वदेवैतौ जायेते ब्रह्मणीश्वरे।।१४७२।।

परमानन्दरूपं यज्ज्योतिषां ज्योतिरव्ययम्। भेदशून्यं स्वरूपेण सर्वत्रैव व्यवस्थितम्।।१४७३।।

गगनस्य यथा नास्ति भेदः स्वात्मनि कर्हिचित्। ब्रह्मणोऽपि तथा नास्ति भेदश्चैतन्यरूपिणा।।१४७४।।

अन्तर्बहिः समं यद्वत् पुत्तिकानागदेहयोः। आकाशमात्मनो रूपं तद्वत् समतमं स्मृतम्।।१४७५।।

देशकालस्वरूपं च सर्वं सर्वस्य सर्वदा। ब्रह्मैव न ततोऽन्यत् स्यात् किञ्चिद् वस्त्वन्तरं हि सत्।१४७६

सर्पादयो यथा भावा रज्ज्वामेव व्यवस्थिताः। आदौ मध्ये तथा चान्ते रज्जोरन्ये न केचन।।१४७७

देशकालादयो भावाः तद्वद् ब्रह्मण्यवस्थिताः। आदौ मध्ये तथा चान्ते ब्रह्मणोऽन्ये न केचन।१४७८

कल्प्येते तथा एतौ जाग्रत्कालिकौ ब्रह्मणि इत्यर्थः।।१४७२।। ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमाह—परमेति। यद् ब्रह्म।।१४७३।।

तत्पदार्थस्य ब्रह्मणः त्वम्पदार्थाद् भेदशङ्कां वारयति—गगनस्येति। यथा गगनस्य स्वात्मनि स्वरूपभेदो न अस्ति तथा चैतन्यरूपिणा आत्मना त्वम्पदार्थेन ब्रह्मणोऽपि न भेद इत्यर्थः।।१४७४।। तत्र हेतुतया 'समो मशकेन समो नागेन' (बृ.१.३.२२) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं सर्वत्र परिपूर्णतालक्षणसाम्यरूपं ब्रह्मणः स्वभावमाह—अन्तरिति। पुत्तिका स्वल्पमशकजातिः, नागो गजः; तद्देहयोः आकाशं यथा समं तथा सर्वत्रात्मरूपमित्यर्थः।।१४७५।। तत्र हेतुतया ब्रह्मण एव सर्वरूपतयाऽवस्थानमाह—देशेति। सर्वस्य सम्बन्धि यद् देशकालादिकं स्वरूपं तत् सर्वं ब्रह्मैव, न ततोऽन्यद् इत्यर्थः।।१४७६।।

ब्रह्मणि कल्पितविश्वस्य अन्यत्वाभावं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—सर्पादय इति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्।।१४७७-७८।।

ब्रह्ममें प्रतीत होता यह सारा विश्व तीनों कालों में ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। जिन पर वे आश्रित हैं उन पदार्थों सहित देश और काल जैसे सपने में हृदयकमल से उपहित आत्मा में ही पैदा होते हैं वैसे जाग्रत् में ये ईश्वररूप में पैदा होते हैं। (एवं च देश, काल और सब वस्तु क्योंकि ब्रह्म में कल्पित हैं इसलिये उसे परिच्छिन्न नहीं कर सकते।)।।१४६९-७२।।

जो सब प्रकाशों को प्रकाशत्व देने वाला अव्यय ब्रह्म है उसका रूप परम आनन्द है। वह सभी भेदों से रहित है और सभी में 'स्व' के रूप में मौजूद है। (आनंद, चित्, अद्वितीय, प्रत्यक्—ये ही ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। इसलिये ब्रह्म होने के कारण वह नाना वाला नहीं हो सकता।)।।१४७३।।

जीवसे भी ब्रह्म भिन्न नहीं—जैसे आकाश में खुद आकाश का भेद कभी नहीं है। छोटा मच्छर हो या बड़ा हाथी, दोनों के शरीरों के भीतर-बाहर आकाश एक-समान है। ऐसे ही आत्मा का रूप आकाश से भी अधिक समान है। हमेशा ही सबके देश, काल और स्वरूप—ये सभी ब्रह्म ही हैं क्योंकि जो कुछ भी है वह ब्रह्मसे अन्य लगने पर भी उससे अन्य हो नहीं सकता। ('सबके देश आदि' अर्थात् घटदेश, घटकाल और घटस्वरूप आदि)।।१४७४-७६।। जैसे सर्पादि पदार्थ अपने अधिष्ठानभूत रस्सी में ही अध्यस्त हैं; प्रतीति से पूर्व, प्रतीतिकाल में और प्रतीति समाप्त होने के बाद भी ये रस्सी से अलग कुछ नहीं हैं; वैसे ही देश काल आदि पदार्थ ब्रह्म में ही अध्यस्त हैं, प्रतीति और उससे आगे-पीछे कभी भी ये ब्रह्मसे अन्य कुछ नहीं हैं।१४७७-७८।। शरीरधारियों का यह भेदरहित आत्मा परब्रह्म आदि पदों से कहा जाता

अयमात्मा परं ब्रह्म भेदशून्यः शरीरिणाम् । अत्रैव ब्रह्मशब्दोऽयं मुख्यो नान्यत्र कर्हिचित् । ।१४७९ । ।

एतस्मादधिकं यस्मात् किञ्चिदत्र न विद्यते । सर्वाधिकस्ततो वेदैः कथ्यते स महेश्वरः । ।
सर्वाधिकत्वाद् भेदोऽस्मिन् कोऽपि नास्ति कथञ्चन । ।१४८० । ।

यदि भेदो भवेद् न स्याद् ब्रह्मताऽत्र कदाचन । ब्रह्मता चेद् भवेद् नैष भेदः कोऽपि कथञ्चन । ।१४८१

अन्तरङ्गतयाऽऽदेया ब्रह्मणो ब्रह्मता न तु । बहिरङ्गसमो हेयो भेदस्तस्या विघातकृत् । ।१४८२ । ।

आत्मा ब्रह्म

आत्मता ब्रह्मता ज्ञेया तन्नाशे स्वात्मनो भवेत् । नाशस्तस्माद् वरं भेदनाशो भवतु सर्वथा । ।१४८३ ।

तथा च 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ.४.४.५) इति श्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्मपदमुख्यार्थत्वम् आत्मन एव सिद्धमित्याह—अयमिति । सर्वशरीरिणाम् अयम् अपरोक्ष आत्मा भेदशून्यत्वाद् ब्रह्म भवति, तच्च ब्रह्मत्वम् अस्यैव मुख्यम् इत्यर्थः । ।१४७९ । । एतदेव स्फुटयति—एतस्मादिति । यस्माद् हेतोः एतस्माद् आत्मनः किञ्चिदधिकं न विद्यते ततो वेदैः ब्रह्मादिपदघटितवाक्यैः स आत्मा सर्वाधिकत्वलक्षणमहेश्वरत्ववान् उच्यते । तस्मिन्नस्मिन् भेदस्य नावकाश इत्यर्थः । ।१४८० । । तत्र हेतुतया ब्रह्मत्वभेदयोः विरोधमाह—यदीति । अत्र आत्मनि । ।१४८१ । । एवं विरोधे सति ब्रह्मत्वभेदयोः उभयोः उपादातुमशक्यत्वेन अन्यतरस्य हेयत्वप्रसङ्गे, परसापेक्षत्वेन बहिरङ्गो भेद एव हेयः, न तु निरपेक्षस्वरूपा ब्रह्मता, 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायाद् इत्याह—अन्तरङ्गतयेति । आदेया ग्रहीतव्या ब्रह्मताऽन्तरङ्गत्वात् । भेदस्तु हेयः त्यक्तव्यो यतः तस्या ब्रह्मताया विघातक इत्यर्थः । ।१४८२ । ।

ब्रह्मताया अन्तरङ्गत्वे हेतुम् आत्मतारूपतामाह—आत्मतेति । ब्रह्मताऽऽत्मतारूपा ज्ञेया । आत्मपदं हि सर्वान्तरस्य वस्तुनो वाचकं, 'यदाप्नोति' इत्यादि श्रुतेः ([1]) इत्युक्तम् । तन्नाशे तस्या ब्रह्मताया नाशे सति

है । ब्रह्म-शब्द का यही मुख्य अर्थ है, और कोई नहीं क्योंकि यही है जिससे अधिक यहाँ कुछ नहीं है । इसलिये वेदों द्वारा वह सर्वाधिक आत्मा ही महेश्वर कहा गया है । सबसे अधिक होने के कारण ही इसमें किसी तरह कोई भेद नहीं है । यदि भेद होता तो आत्मा ब्रह्म नहीं हो सकता था । जब यह निश्चित है कि यह ब्रह्म है तो कोई भेद किसी तरह भी है नहीं यह भी स्वतः सिद्ध है । ब्रह्मता और भेद दोनों एकत्र नहीं रहते तो ब्रह्म में किसे मानना उचित है? अंतरंग अर्थात् निरपेक्ष होने से ब्रह्म की ब्रह्मता ही स्वीकार्य है न कि ब्रह्मता का विरोधी भेद । वह तो बहिरंग जैसा है अतः त्याज्य है । (बहिरंग अर्थात् अन्य की अपेक्षा रखने वाला । भेद अनुयोगी-प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है । बहिरंग जैसा इसलिये कहा कि बहिरंग तो अंतरंग से समानसत्ताक प्रसिद्ध है लेकिन भेद ब्रह्मस्वरूप से न्यूनसत्ताक है अतः अवश्य हेय है ।) । ।१४७९-८२ । ।

ब्रह्मता सुरक्षित रखनी चाहिये, भेद के पक्षमें ब्रह्मता छोड़नी नहीं चाहिये क्योंकि वह आत्मता है—यह जान लेना चाहिये कि ब्रह्मता आत्मतारूप है । ब्रह्मता का नाश होने पर स्वात्मा का ही नाश होगा । अतः यही अच्छा है कि भेद का ही हर तरह नाश हो । (अभिप्राय है कि ब्रह्म होना और आत्मा होना एक ही बात है क्योंकि दोनों का अर्थ एक व्यापक प्रत्यक् ही है । भेद को स्वीकारने से व्यापक वस्तु ब्रह्म को तिलांजलि देने का मतलब होगा स्वयं अपने को नकारना क्योंकि जो व्यापक नहीं होगा वह प्रत्यक् भी नहीं होगा—जैसे घट! अतः भेदसत्यत्ववादी न केवल ब्रह्मघती हैं वरन् आत्मघाती भी हैं, वे तो नैरात्म्यवादी नास्तिक ही हैं ।) । ।१४८३ । । जो बुद्धिमान् कामुक और धन के लोभी होते

---

१. 'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानयम् । यच्चास्य सततं भावस्तस्मादात्मा निरुच्यते । । लिंगपु. १.७०.९६ । ।' बृहद्वार्तिके (१.४.७३६-४५) 'यच्चाप्नोति' इत्याद्युदाहृत्य विस्तरेण व्याख्यातम् ।

कामुका अर्थलुब्धाश्च इदमाहुर्महाधियः। आत्मनाशे समुत्पन्ने त्यजेत् सर्वमशङ्कितः।।१४८४।।
आत्मसम्बन्धनाशेऽपि भेदिनोऽपि बहिर्दृशः। सर्वं त्यजन्ति केनाद्य त्यक्ष्यामो न वयं जडम्।।१४८५
आत्महानौ भवेन्नाशो ह्यत्यक्तस्याऽपि सर्वथा। जडस्य तत एवेदमस्माभिस्त्याज्यमेव हि।।१४८६।।
विनाशे स्वात्मनो नाशं जगतः प्रवदन्त्यमी। शिष्याः सुरगुरोर्ये च तादृशाः पामरा जनाः।।
प्रामाणिकाः कथं तस्य नाशे नाशं वदन्ति न।।१४८७।।
अजडेन विना सिद्धिं जडं याति न कर्हिचित्। अजडो ज्योतिषां ज्योतिरात्माऽन्यज्जडमीरितम्।।१४८८।
सन्तानस्य यथा नाशे स्वात्मनो न तथैव हि। जडनाशे न नाशोऽस्ति ब्रह्मणोऽद्वयरूपिणः।। ततो
जडस्य सन्त्यागं कुर्मो न ब्रह्मणः क्वचित्।।१४८९।।

तद्रूपात्मतानाशाद् आत्मन आत्मपदार्थस्य नाशः स्यात्। तदपेक्षया भेदनाश एव कर्तुमुचित इत्यर्थः।।१४८३।। आत्मरक्षार्थं भेदस्त्यक्तव्य इत्यत्र 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेद्' इति नीतिविदां वचनमप्यनुकूलमित्याह—कामुका इति। येषामर्थकामौ पुरुषार्थौ ते नीतिविदोऽपि एवं वदन्ति। 'एवं' कथम्? आत्मनाशप्रसङ्गे तद्रक्षार्थं सर्वं त्यजेद् इति।।१४८४।। अत्र कैमुत्यन्यायं दर्शयति—आत्मेति। ये भेदिनो भेददर्शिनो बहिर्दृशः बहिर्मुखाश्चेति आत्मसम्बन्धिनो देहादेः आत्मत्वेनाऽभिमतस्य नाशप्रसङ्गे सर्वं तदन्यत् त्यजन्ति। वयं निष्कामत्वादिभिस्तद्विपरीताः सन्तः अद्य परमपुरुषार्थमोक्षसम्पादनकाले जडं भेदजातं न त्यक्ष्याम इत्यत्र को हेतुः? तथा च, यदा गौणात्मरक्षार्थं सर्वत्यागः प्रसिद्धः, तदा मुख्यात्मरक्षार्थं दुःखरूपस्य जडस्य च भेदस्य त्यागः किमुत! इति भावः।।१४८५।। ये तु जडाभिनिवेशेन आत्मत्यागे समुद्यताः तेऽतिमुग्धाः, आत्महानौ जडस्याप्यपहाराद् इत्याह—आत्महानाविति। आत्महानौ जातायां स्वयम् अत्यक्तस्याऽपि जडस्य कृपणधनन्यायेन नाशो भवति ततः तमेतं न्यायमनुसन्धाय इदं जडजातम् अस्माभिस्त्याज्यमेव इत्यर्थः।।१४८६।। आत्मनाशे सर्वनाश इत्येतद् बाह्यानामपि सम्मतमित्याह—विनाश इति। ये सुरगुरोः शिष्याः चार्वाकाः, ये च तत्सदृशाः पामराः, तेऽपि देहरूपस्यात्मनो नाशे जगन्नाशं वदन्ति; तदा प्रामाणिका वैदिकाः तथा कथं न वदेयुः? इत्यर्थः।।१४८७।।

तत्रोपपत्तिमप्याह—अजडेनेति। न ह्यसाक्षिकं किञ्चित् सिद्ध्यति। तत्रात्मा साक्षी, तदन्यद् जडं साक्ष्यम्। तद् आत्मानं विना कथं सिद्ध्येद्?।।१४८८।। ननु सर्वजडविनाशे तत्साधकं ब्रह्माऽपि कथं तिष्ठेत्? इत्याशङ्कां वारयति—सन्तानस्येति। यथा सन्तानस्य बुद्धिवृत्तिरूपज्ञानप्रवाहस्य सुषुप्त्यादौ नाशेऽपि तत्साक्षिण आत्मनो न नाशः, तथा सर्वजडनाशेऽपि तत्साधकब्रह्मणो न नाश इत्यर्थः।।१४८९।।

हैं वे भी कहा करते हैं कि अपने नाश की परिस्थिति आये तो बिना सोचे बाकी सब छोड़ देना चाहिये (ताकि अपने को बचाया जा सके)।।१४८४।। भेददर्शी बहिर्मुख लोग जब आत्मा से सम्बद्ध, आत्मा माने जाते, देहादि के विनाश के मौके पर उससे अन्य सब छोड़ने को तैयार होते हैं तो हम निष्काम लोग आज जब परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त करने का मौका है तब जड इस भेदसमूह को क्यों नहीं छोड़ेंगे! (जब गौणात्मा के लिये ही सब छोड़ना लोकसंमत है तब मुख्यात्मा के लिये दुःखरूप जड भेद छोड़ना चाहिये इसमें कहना ही क्या!)।।१४८५।। जड को यदि किसी तरह नहीं भी छोड़ेंगे तो आत्मनाश होने पर उसका (हमारे लिये) तो नाश होना ही है। इसलिये हमें इसे छोड़ ही देना चाहिये। बृहस्पति के शिष्य चार्वाक या असुर लोग और उन्हीं की तरह के परममूर्ख लोग भी कहते हैं 'स्वात्मा का—देहका—नाश हो जाने पर जगत् का ही नाश हो जाता है!' तब हम वैदिक लोग आत्मनाश से सर्वनाश क्यों नहीं कहेंगे?।।१४८६-८७।।

अजड अर्थात् चेतन साक्षी के बिना कोई जड सिद्ध नहीं होता। ज्योतियों की ज्योति आत्मा ही चेतन है, साक्षी है, बाकी सब जड हैं। (अतः आत्मनाश होने पर भेदादि जड सिद्ध ही नहीं होगा।)।।१४८८।। जैसे सुषुप्ति आदि में मनोवृत्तियों का प्रवाह नष्ट हो जाने पर भी साक्षिरूप स्वात्मा नष्ट नहीं होता वैसे ही जड का नाश होने पर भी अद्वय

ब्रह्मणि न भेदः

अपि ब्रह्मणि भेदोऽयं ग्रहीतुं नैव शक्यते। अगृहीतः कथं भेदः सिद्ध्येदत्रात्मरूपिणि। ब्रह्मेति भेदशून्यं स्यात् तत्र भेदग्रहः कुतः।।१४६०।।

रज्जौ सर्पस्थितिर्यद्वद् अवस्थाने भवेन्न हि। ब्रह्मण्येवमवस्थानं न भेदस्योपपद्यते।।१४६१।।

प्रकाशे तमसो यद्वद् मायया स्यादवस्थितिः। ब्रह्मण्यपि तथा भेदो माययैवावतिष्ठते। वस्तुतो नैव भेदोऽयं कोऽपि ब्रह्मस्वरूपिणः।।१४६२।।

ततो भेदः स्वरूपेण देशकालादिभिः कृतः। वन्ध्यासुतसमो ज्ञेयः शब्दधीवपुरेव सः।।१४६३।।

ब्रह्मणो यदि किञ्चित् स्यादन्यत्तत्र भवेदयम्। यदाऽभूत् सकलं ब्रह्म तदाऽयं क्व भविष्यति।।१४६४।।

शब्दधीबलतस्तेन नानेवायं व्यवस्थितः। शशशृङ्गनिभो भेदो वन्ध्यापुत्रसमस्तथा।।१४६५।

किञ्च यथोष्णस्वभावे वह्नौ शैत्यं प्रमातुमशक्यं तथा अद्वितीयस्वभावे ब्रह्मणि भेद इत्याह—अपि ब्रह्मणीति। अत्र ब्रह्मणि आत्मपदार्थरूपे ज्ञातुमशक्यो भेदः कथं सिद्ध्येद् इति। कथं ज्ञातुमशक्यः? इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मपदार्थमाह—ब्रह्मेतीति।।१४६०।। ब्रह्मणि वस्तुतो भेदाभावं दृष्टान्तेन स्फुटयति—रज्जाविति। यथा रज्जुरूपेऽवस्थाने आधारे सर्पस्य वस्तुतो न स्थितिः, तथाऽत्र ब्रह्मणि भेदस्य इति।।१४६१।। किन्त्वविद्ययैव कल्पितः स इत्याह—प्रकाश इति। माययाऽविद्यया, तमसो घूककल्पितस्य, प्रकाशे सूर्ये स्थितिः।।१४६२।। विचारदशायां स भेदः शशशृङ्गवद् अलीक इत्याह—तत इति। ततः वस्तुतोऽसम्भवात् स्वरूपादिभिर्निरूपितो भेदः शब्दमात्ररूपो ज्ञानमात्ररूपो वा बोध्यो, न तु अर्थात्मेत्यर्थः।।१४६३।। भेदस्य वस्तुतोऽसम्भवमेव स्फुटयति—ब्रह्मण इति। यदि ब्रह्मणः सकाशाद् अन्यत् किञ्चिद् अपि वस्तु स्यात् तदा भेदः स्वरूपं लभेत, तदेव तु नास्ति, ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वादित्यर्थः।।१४६४।। शब्देति। तेन अयं भेदः शब्दबुद्ध्योर्बलादेव स्थितः शशशृङ्गादिवदिति।।१४६५।।

स्वरूप वाला ब्रह्म नष्ट नहीं होता। (अर्थात् साक्षिके बिना साक्ष्य सिद्ध नहीं होता लेकिन साक्ष्य बिना स्वप्रकाश आत्मा तो स्वतः सिद्ध है।) इसलिये 'नेह नानास्ति' श्रुति के अनुसार हम जड का—भेद का—ही त्याग (बाध) करेंगे, ब्रह्मका कभी त्याग करने वाले नहीं।।१४८६।।

किं च विचार्यमाण यह भेद ब्रह्ममें ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि भेदरहित को ही ब्रह्म कहते हैं। जहाँ भेद है ही नहीं वहाँ उसका ग्रहण कैसे होगा? और जब आत्मस्वरूप ब्रह्म में भेद का ग्रहण नहीं होता तो उसमें भेद सिद्ध क्योंकर हो सकेगा? रज्जुरूप अधिष्ठान में जैसे साँप की कोई स्थिति नहीं वैसे ब्रह्ममें भेद रहना असंगत है। जिस प्रकार प्रकाशरूप सूर्य में जो उल्लू द्वारा कल्पित अंधेरा रहता है वह अविद्या के कारण ही है उसी प्रकार ब्रह्ममें भेद भी मायासे ही रहता है। वास्तवमें तो व्यापक स्वरूप वाले आत्मा का इस भेद से कोई संबंध नहीं है (क्योंकि भेद ही वास्तवमें कुछ है नहीं)।।१४६०-६२।। इसलिये देश-काल-वस्तु की अपेक्षा से समझा जाने वाला भेद न केवल सम्बंधि-रूप से वरन् स्वरूपसे भी वैसा ही असत् समझना चाहिये जैसे वन्ध्यापुत्र। 'भेद'-शब्द सुनकर वृत्ति तो बनती है लेकिन उस वृत्ति का विषय बनने लायक अर्थ असंभव है। ब्रह्म से अलग कुछ होता तो यह भेद उसमें रह जाता किन्तु जब ब्रह्म ही सब कुछ बना है तो भेद रहेगा कहाँ? अतः जो यह नाना की तरह (विभिन्न जैसा) उपस्थित हुआ लग रहा है यह केवल शब्द से उत्पन्न आकार-विशेष की वृत्ति के सहारे ही 'है'-व्यवहार प्राप्त कर रहा है, वस्तुतः तो भेद शशशृंग या वन्ध्यापुत्र की तरह असत् ही है।।१४६३-६५।। शब्द और तज्जन्य वृत्ति भी भेद के ही मध्यवर्ती हैं अतः नाना-विध जैसा दीखने वाला भी भेद आत्मस्वरूप ब्रह्ममें है नहीं। (भेद की सिद्धि शब्द-वृत्ति के बल पर ही है यह निश्चित

शब्दबुद्ध्योश्च भेदस्य मध्यतः पतनेन हि। नानेवाऽपि न भेदोऽस्ति ब्रह्मण्यात्मस्वरूपिणि।।१४६६।।
अवाङ्मनसगम्येऽस्मिन् स्वप्रभे निर्द्वयात्मनि। नानेवाऽपि च यः पश्येद् मृत्योर्मृत्युं स गच्छति१४६७
भेदबुद्धिर्हि संसारं दुःखदं सम्प्रयच्छति। स्वरूपेणाऽपि दृश्यो न भेदस्तु परमात्मनि।।१४६८।।
दुःखाद् दुःखतमं तेन नरकादिशरीरजम्। दुःखमाप्नोति सततं भेददृग् ब्रह्मणीश्वरे।।१४६६।।

अखण्डं ब्रह्म

यत एवं ततो ब्रह्म ज्योतिषां ज्योतिरव्ययम्। अवाङ्मनसगम्यं तद् अप्रमेयं सुनिश्चलम्।।१५००।।
द्रष्टव्यमेकधैवात्मरूपं सर्वशरीरिणाम्। स्वसजातिविजात्युत्थभेदगन्धविवर्जितम्।।१५०१।।

शब्दबुद्ध्योश्चेति। शब्दश्च बुद्धिश्चैते द्वे यदा भेदस्य मध्ये पततः प्रतिभूवद् मध्ये तिष्ठतः, स्वयं भेदेन दृष्टे शब्दबुद्धी विषयं भिन्नतया दर्शयत इति यावत्; तदा नानेव नानाविध इव दृश्यमानोऽपि भेदो वस्तुनि ब्रह्मणि नास्ति इत्यर्थः।।१४६६।। भेददर्शनप्रयुक्तमनर्थं दर्शयति—अवाङ्मनसेति। मृत्योर्मृत्युं पुनः पुनः मृत्युम्।।१४६७।। तत्र हेतुं संसारावस्थानमाह—भेदबुद्धिरिति। हि यतो भेदबुद्धिः संसारवर्द्धिका तत आत्मनि भेदं न पश्येद् इति।।१४६८।। दुःखादिति। तेन संसारपातेन नरकादिरूपमतिदुःखं भेददर्शी प्राप्नोतीत्यर्थः।।१४६६।।

त्रयोदशस्य मन्त्रस्य[1] एकधेत्यादेः ब्रह्माऽखण्डत्वावधारणपरस्यार्थमाह—यत इति चतुर्भिः। यत एवं वर्णितविधया भेदराहित्यं ततः सर्वेषाम् आत्मरूपं ब्रह्म एकधैव सर्वद्वैताभावलक्षणाऽखण्डत्वेनैव ज्ञेयम्। कीदृशम्? सर्वभासकम्, अवाङ्मनसगोचरत्वाद् अप्रमेयम्, अविषयस्वभावम्। इति द्वयोरर्थः। श्रुतौ मेयशब्दस्य एकाराभावश्छान्दसः। अत्र बुद्धिगम्यत्वाऽप्रमेयत्वयोः विरोध एवमाचार्यैः परिहृतः—'वृत्तिव्याप्तिमपेक्ष्यैव वेद्यत्वं प्राहुरात्मनः। चिदन्तरानपेक्षत्वाद् अवेद्यत्वं तथाऽऽगमाः।।' ( ) इति ।।१५००-१।। 'विरजो' रजसा मलेन

कर चुके। वे शब्द-वृत्ति खुद परस्पर भिन्न समझे जाते हुए जब अपने से भिन्न किसी भेदनामक अर्थ को ज्ञात करायें तभी भेद वस्तु प्रमाणित हो। एवं च भेदसाधक शब्द-वृत्ति स्वयं भेदाश्रित हैं अतः वे उसे प्रमाणित नहीं कर सकते। और यदि शब्द-वृत्ति जिस भेदपदार्थ को सिद्ध करें वह शब्द-वृत्ति से भिन्न न हो—अपने से भेदेन उसे सिद्ध न करें—तब वही बात रही जो सिद्धान्ती कह रहा है कि शब्द-वृत्ति से अलग भेदनामक कोई अर्थ नहीं है! जो है ही नहीं वह ब्रह्म में भी नहीं हो सकता।)।।१४६६।। मन-वाणीके अगोचर स्वप्रकाश अद्वैत आत्मा में जो व्यक्ति भेद जैसा भी कुछ समझता है वह बार-बार मृत्यु ही पाता है। (भेद जैसा अर्थात् भेदाभेद। भेदवादी माध्वादि तो अतिनिकृष्ट हैं ही, भेदाभेदवादी रामानुजादि भी मृत्युचक्र में ही रहने का उपाय बताते हैं।) क्योंकि भेदबुद्धि दुःखद संसार को ही बढ़ाती रहती है इसलिये परमात्मा में भेद को तो स्वरूप से भी नहीं देखना चाहिये। (अर्थात् ईश्वरसम्बद्ध रूप से नहीं देखे इतना ही नहीं 'भेद है' यही नहीं देखना चाहिये। ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं लेकिन जागतिक पदार्थ परस्पर भिन्न हो सकते हैं इत्यादि भी नहीं समझना चाहिये। इससे वल्लभानुयायियों का संग्रह है, उनका मत भी अग्राह्य है।) ईश्वर रूप ब्रह्म में जो भेद देखता है वह संसारसागर में पड़ता है जिससे नरकादि के शरीरों से होने वाला अधिकाधिक दुःख पाता है।।१४६७-६६।।

अगला मंत्र है कि आकाश से परे जो शुद्ध जन्महीन महान् ध्रुव (कूटस्थ) आत्मा है उस ध्रुव (अविनाशी) अप्रमेय का एक तरह ही—वह विज्ञानघन है बस ऐसे ही—अनुदर्शन करना चाहिये। इसे समझाते हैं :

क्योंकि भेद है ही नहीं इसलिये सबका आत्मा जो ब्रह्म उसे समस्त द्वैत के अभावसे उपलक्षित अर्थात् अखण्ड ही जानना चाहिये। वह ब्रह्म लौकिक प्रकाशों की स्फूर्ति का निरपेक्ष हेतु है, उसमें कभी कमी नहीं आती, वह शब्दशक्ति का विषय नहीं, शास्त्राचार्योपदेश के संस्कारों से रहित मन उसे समझ नहीं सकता, प्रमाण भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं अतः वह अप्रमेय—प्रमाणों का अविषय—है, उसमें किसी तरह का परिवर्तन संभव नहीं और वह स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदों वाला नहीं है।।१५००-१।।

---

१. 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशाद् अज आत्मा महान् ध्रुवः।।'

अविद्या विश्वरूपेयं जननी सरुजोऽस्य सा। भेदस्य वर्तते ह्यर्वाङ्नीरुजो ब्रह्मरूपिणः।।१५०२।।

ततो जन्मादिरहित आत्माऽयं निश्चलः परः। देशतः कालतस्तद्वत् स्वरूपाच्च महांस्तथा।।१५०३।।

प्रज्ञां कुर्वीत

तमेव भेदरहितं विज्ञाय गुरुशासनात्। धीमान् बालसमो भूत्वा रागद्वेषविवर्जितः।।१५०४।।

श्रुतिश्रवणतात्पर्यमननध्यानसंयुतम्। मनसोऽन्तरवस्थानं सर्वदा दुःखवर्जितम्।। प्रज्ञाभिधं प्रकुर्वीत त्यक्त्वा शास्त्रमनात्मगम्।।१५०५।।

कामकर्मादिरूपेण रहितम् आत्मरूपम् 'आकाशाद्' अव्याकृताख्यमायारूपात् 'परम्'—इत्याकारं तृतीयपादार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—अविद्येति। इयम् 'अहमज्ञ' इत्यनुभूयमाना अविद्या आकाशाऽव्याकृतादिपदैः श्रुतिप्रसिद्धा ब्रह्मरूपिण आत्मनः सकाशाद् अर्वाग् एव वर्तते, साक्ष्यपेक्षया साक्षिणः परत्वस्य प्रसिद्धत्वादिति भावः। कीदृशी अविद्या? अस्य भेदस्य जननी विश्वरूपा नानारूपा च। कीदृशस्य भेदस्य? सरुजो राजसत्वेन सन्तापकस्य। कीदृशाद् ब्रह्मरूपिण आत्मनः? नीरुजः रुग्भिः सन्तापैर्हीनाद् आनन्दरूपाद् इति यावद् इत्यर्थः।।१५०२।। तत इति। ततो वस्तुतो मायासंसर्गहीनत्वात् सर्वविकाररहित आत्मनि निश्चलः कूटस्थः, देशादिपरिच्छेदहीनत्वाद् महान् परिपूर्णश्च मत इत्यर्थः।।१५०३।।

विदुषाऽऽत्मनिष्ठेन इतरत् सर्वं त्याज्यमिति बोधकस्य[1] चतुर्दशमन्त्रस्यार्थमाह—तमेवेति एकसप्ततिश्लोकैः। तम् उक्तलक्षणमात्मानं गुरूपदेशाच्छ्रुत्वा अनात्मप्रतिपादकशास्त्रं हित्वा च मनसोऽन्तरवस्थानं विलयरूपं प्रज्ञाभिधं श्रुतिगतप्रज्ञापदेन विवक्षितं कुर्वीतेति सम्बन्धः। कीदृशं मनसोऽन्तरवस्थानम्? श्रुतिश्रवणेन तत्तात्पर्यार्थमननेन ध्यानेन निदिध्यासनेन च संयुतम्, श्रवणादिप्रभावाद् असम्भावनाविपरीतभावनाभ्यां वर्जितमिति यावत्। एतद् विशेषणं योगप्रसिद्धविदेहप्रकृतिलयादिसाम्यवारणार्थं बोध्यम्। कीदृशोऽधिकारी? धीमान्। धीमत्वविवरणम्—रागद्वेषराहित्यरूपं बालसाम्यम्। इति द्वयोरर्थः।।१५०४-५।।

सन्तापक भेद की उत्पादिका, 'मैं अपने व्यापक स्वरूप को नहीं जानता' यों अनुभूयमान, आकाश अव्याकृतादि शब्दों से शास्त्र में प्रसिद्ध, नाना रूपों वाली अविद्या सन्तापहीन आनंदात्मक ब्रह्मरूप आत्मा से क्योंकि दूर ही है इसलिये यह आत्मा जन्मादि से रहित, कूटस्थ, श्रेष्ठ और देश-काल-वस्तुओं के परिच्छेदों से वर्जित परिपूर्ण है।।१५०२-३।।

आगे मंत्रसे श्रुति कहती है कि धीर ब्राह्मण को चाहिये कि उसी को जानकर प्रज्ञा करे। बहुत्वबोधक शब्दों का चिंतन न करे क्योंकि वह केवल वाणी को थकाना है। भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट किया कि 'प्रज्ञा' करने के साधन हैं संन्यास, शम, दम, उपरम, तितिक्षा और समाधान। इन्हें करने को कहा जा रहा है। आत्मबोधक भी प्रणवादि स्वल्प शब्दों का ही अब सहारा लेना चाहिये। विस्तृत शास्त्र का प्रयोग तो किया जा चुका तभी विज्ञान हुआ जिसके बाद प्रज्ञा करने को कह रहे हैं। इस वाक्य पर वार्तिक में प्रभूत विचार है, 'प्रज्ञा करने' के बारे में अनेक अर्थ उपस्थित किये हैं। प्रयोजक ज्ञान के बाद विचारपूर्वक अखण्डसाक्षात्कार की प्राप्ति पुरुषार्थ सिद्ध करती है यही वहाँ भाष्यानुसारी अर्थ स्पष्ट (श्लो.८३४-५) है। पुराण में विद्वान् को आत्मनिष्ठा से अन्य सभी छोड़ देना चाहिये इस अभिप्रायसे व्याख्या करेंगे—

बुद्धिमान् साधक को चाहिये कि सबसे पहले राग-द्वेष छोड़कर बालक जैसा हो जाये। फिर गुरु के उपदेश से केवल उसी आत्मा की जानकारी प्राप्त करे जो सभी भेदों से रहित है। इस जानकारी तक जितना अनिवार्य है उतना सहारा लें चुकने के बाद अनात्मसम्बन्धी सभी शास्त्रों का विचारादि छोड़ दे और प्रज्ञा करे। प्रज्ञा कहते हैं मन की हमेशा क्लेशरहित वह स्थिति जिसमें वह कोई अनात्माकार न ग्रहण करे और वेदान्तों के श्रवण, उनके अर्थके ऊहापोह एवं निश्चित स्वरूप के आकार की वृत्ति स्थिर रखने में लगा रहे।।१५०४-५।।

---

१. 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति।।' इत्यन्तिममन्त्रः।

आत्मनो व्यतिरिक्तं यल्लोकशास्त्राद्यनिन्दितम्। अभिध्यातं तदप्यत्र वागादेर्दुःखकृद् भवेत्।।१५०६।।

भारं वहन् यथा जन्तुर्दुःखी भवति सर्वथा। विषयं वर्तमानं च सेवमानस्तथा पुमान्।।१५०७।।

यावतो हृदयाम्भोजे विषयान् मनसः प्रियान्। अभिध्यायेदयं जन्तुः विहायात्मानमव्ययम्।।१५०८।।

इन्द्रियाणां हि तावन्तो भाराः श्रमकरा हि ते। एतैर्वागादयः खेदं शास्त्रीयैरपि यान्ति ते।।१५०९।।

सन्त्यजेत्तत एवाऽमून् प्रज्ञामात्मस्वरूपगाम्। कुर्वीत न मनो भूयो यथा याति सखेदताम्।।१५१०।।

इतरस्य हेयत्वमुपपादयति—आत्मन इति। लोकः लौकिकपदार्थजातं, शास्त्रं तत्प्रतिपादकम् आदिपदग्राह्यं तत्साधनं च अनिन्दितम् अनिषिद्धमपि अभिध्यातं चिन्तितं सत् प्रवृत्तिद्वारा वागादेः इन्द्रियस्य केवलश्रमरूपदुःखहेतुरेव भवेद् अतो हेयमिति भावः।।१५०६।। विषयसम्बन्धस्य दुःखहेतुतामेव स्फुटयति—भारमिति त्रिभिः। चकारोऽप्यर्थको भिन्नक्रमः। तथा च—अतीतानागतां चिन्तां विहाय वर्तमानम् एव विषयं सेवमानः अपि जनो भारवाहकवद् दुःखी भवेत्, किमुत अतीतानागतचिन्ताकुलः! इत्यर्थः।।१५०७।। यावत इति। अयं जन्तुः आत्मानं विहाय यावतो यत्परिमाणान् विषयान् अभिध्यायेत् चिन्तयेत् तावन्तस्ते ध्याता विषया प्रवृत्तिद्वारा इन्द्रियाणां वृथाश्रमहेतव एव, यत एतैः विषयैः शास्त्रीयैः शास्त्राऽविरुद्धैः अपि वागादयः खेदम् एव यान्ति, फलस्य सुखस्य प्रत्यगात्मरूपस्य इन्द्रियैः असंस्पर्शात्। इति द्वयोरर्थः।।१५०८-९।। फलितमाह—सन्त्यजेदिति। ततः श्रममात्रहेतुत्वाद् अमून् विषयान् सन्त्यजेत्। तांस्त्यक्त्वा च प्रज्ञाम् आत्मस्वरूपाकारां कुर्वीत यथा मनः पुनः सखेदतां दुःखितां न प्राप्नुयादित्यर्थः।।१५१०।।

संसार में और शास्त्रों में जिसकी निंदा नहीं है ऐसा भी जो अनात्म पदार्थ है उसका भी यदि चिन्तन किया जाये तो वाणी आदि इन्द्रियों को दुःख ही देता है। (भगवान् ने क्रम बताया ही है कि विषयध्यान से संग, काम, क्रोध, संमोह, विस्मृति, बुद्धिनाश और अंत में प्रणाश होता है। अतः विषय—सभी अनात्मा—का चिंतन त्याज्य है।)।।१५०६।।

जैसे भार ढोता जन्तु हर तरह दुःखी होता है वैसे जब विद्यमान विषय का सेवन करते हुए भी पुरुष दुःख पाता है तब अतीत अनागत की भी चिन्ता से आकुल हुआ दुःख पायेगा इसमें कहना ही क्या! यह प्राणी अव्यय आत्मा से अतिरिक्त जितने भी मनोरम विषयों का मनमें चिन्तन करेगा उतने ही वे विषय इंद्रियों पर बोझ बनकर उनसे परिश्रम करायेंगे। शास्त्रों द्वारा अनुमोदित विषयों से भी वाणी आदि इंद्रियाँ दुःख ही पाती हैं। (क्योंकि सुख तो आत्मा है जिसका इंद्रियों से ग्रहण होता नहीं बल्कि इंद्रियों की बहिर्मुखता से वह सुखस्वरूप सर्वथा छिप जाता है।)।।१५०७-९।। क्योंकि ये केवल श्रम के हेतु बनते हैं इसलिये विषयों को स्थूल रूपसे छोड़ने के साथ इनके बारे में किसी भी प्रकार का विचार भी छोड़ देना चाहिये और आत्मा के स्वरूप के आकार की मनोवृत्ति बनानी चाहिये ताकि मन फिर दुःख न पाये। ('मन दुःख न पाये' अर्थात् मनउपाधिक प्रमाता दुःख न पाये। इससे ध्वनित होता है कि तीव्र विवेकपूर्वक हुए विज्ञान से साक्षी की निर्विकारता के बारे में निःशंक होने पर भी भासमान प्रमातृरूप तभी दुःखों से बच सकेगा जब अनात्मानु-सन्धान त्यागकर आत्मा में ही निष्ठा रखेगा जिसके लिये यथावश्यक श्रवणादि का सहारा लेता रहेगा।)।।१५१०।।

अपने आत्मा के साक्षात्कार के लिये प्रवृत्त वे ही हैं जिन्होंने ऐसे उपायों से आत्मा को जाना है—१) नामोपासनादि विभिन्न प्रयासों से नहीं वरन् उन्हीं उपायों से जिनमें श्रवणादि प्रधान हैं। २) अन्नमयादि पाँच कोशों की आलोचना से जो शुद्ध आत्मा को जानने के लिये वैसे ही कदम हैं जैसे सूक्ष्म पर दृष्टि एकाग्र करने के लिये स्थविष्ठ-स्थवीयान्-स्थूल

साधनानि

एवं ये ज्ञातवन्तस्ते प्रवृत्ताः स्वात्मबोधने। श्रवणादिमुखैरेवोपायैर्नापरनामभिः।।१५११।।

द्वारैः पञ्चावयवकैः बुद्धिशुद्धिकरैरपि। ब्रह्मचर्यादिसम्पन्ना ऊहापोहविशारदाः।।१५१२।।

संसारसागरं तीर्त्वा प्रवृत्त्यात्मावलोकनात्। दृष्टो मतः परेणैष दृश्यते नैव कर्हिचित्।।१५१३।।

व्याकरणशास्त्रमनात्मनिष्ठम्

इयं रूढिरयं योगो गुणोऽयं लक्षणा तथा। हानाऽहानकरी तद्वद् उभयीयं हि लक्षणा।।१५१४।।

एवम् इतरविस्मरणमेव आत्मदर्शनं, तस्यैव साधनानि श्रवणादीनीत्याह—एवमिति त्रिभिः। एवं य आत्मानं ज्ञातवन्तः त एव स्वात्मनो बोधने साक्षात्कारे प्रवृत्ता बोध्या इति शेषः। कैर्ज्ञातवन्तः? श्रवणादिसंज्ञैरुपायैः, तथा पञ्चावयवकैः अन्नमयाद्यानन्दमयान्तकोशैः तेषां शिरःपक्षद्वयमध्यपुच्छैः पञ्चावयवकत्वात्। कीदृशैः कोशैः? द्वारैः शुद्धात्मज्ञाने स्थूलारुन्धतिन्यायेन द्वारभूतैः। पुनः कैः? बुद्धिशुद्धिकरैः बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनैः। कीदृशास्ते? ब्रह्मचर्येण आदिपदग्राह्यैकान्तवासादिभिश्च सम्पन्ना विचारकुशलाश्च। इति द्वयोरर्थः।।१५११-१२।। संसारेति। एवं संसारसागरं द्वैतजातं तीर्त्वा विस्मृत्य, प्रवृत्त्या प्रकृत्याऽन्तर्लीनया चित्तवृत्त्या अवलोकनाद् आवरणध्वंसाद् आत्मा दृष्टः साक्षात्कृतः, मतः सम्मतः, परेण उक्तभिन्नेन प्रकारेण तु न दृश्यते न दृष्टतया व्यवह्रियत इत्यर्थः।।१५१३।।

'परेणैष न दृश्यत' इत्येतत् स्फुटयितुं पराग्दृष्टीनां शास्त्राध्ययनमपि रोगिणाम् अपथ्याशनवद् दोषोत्कर्षहेतुरेव भवतीति दर्शयंस्तत्र पदशास्त्रे व्याकरणे प्रसिद्धान् कांश्चित् पदार्थान् व्यामोहकतयाऽनुवदति—इयमिति अष्टभिः। 'इत्यादि'-रूपपदविषयकज्ञानात् पुमान् पराग्दृष्टिः भृशम् अतिशयेन मोमुह्यते पुनः पुनर्मोहं विपर्ययसन्तानमुपैति प्राप्नोति इत्यष्टमेन अभिसम्बन्धः। 'इति' कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्; इयं रूढिः इत्यादि योज्यम्। रूढिः समुदायशक्तिः, यथा विप्रादिपदे[1]। योगः अवयवशक्तिः यथा पाचकादिपदे। गुणो गुणद्वारेण शब्दस्याऽन्यत्र वृत्तिः, यथा

परं नेत्र स्थिर करने पड़ते हैं। ३) बुद्धि को शुद्ध करने वाले ब्रह्मचर्य, एकान्तवास आदि साधनों से (और पूर्व में बहिरंग यज्ञादि साधनों से)। जो विचारकुशल शम-दमादि वाले साधक इन साधनों का अनुष्ठान तत्परता से करते हैं वे ही ज्ञानमार्ग के पथिक हैं।।१५११-१२।। यों द्वैत को भूलकर जब स्वभावतः चित्तवृत्ति आत्माकार ही रहती है तब आवरण का ध्वंस होने पर आत्माका साक्षात्कार होता है। इससे अन्य किसी तरीके से वह कभी नहीं दीखता।।१५१३।।

आत्मा से अन्य बातें बताने वाले शास्त्र मुमुक्षु के लिये वैसे ही हैं जैसे रोगी के लिये कुपथ्य। पद-वाक्य-प्रमाण शास्त्र ही प्रधान माने जाते हैं। इनके प्रतिपाद्यों के अवलोकन से स्पष्ट पता चलता है कि मोक्ष में उपयोगी ये कुछ नहीं बता पाते। इनके विचारणीय विषय और प्रक्रियायें अधिक ही मोह में डालने में कुशल हैं। पहले पदशास्त्र के ही प्रधान विषय दिखाते हैं ताकि इनकी व्यामोहकता व्यक्त हो जाये :

अब जो बताने जा रहे हैं इनके विज्ञान से पुरुष अत्यधिक घने मोह में ही पड़ता है—१) यह रूढि है अर्थात् रूढि का लक्षण। शब्द के प्रकृति-प्रत्ययरूप अवयवों का बिना विचार किये समूचा शब्द जिस अर्थ का बोध कराता है उस अर्थ में उस शब्द की रूढि कही जाती है जैसे 'विप्र' शब्द की रूढि ब्राह्मण अर्थ में है। २) यह योग है। पद के अवयवों के शक्यार्थ से जब पद अर्थ कहता है तब योगसे अर्थबोधन कहा जाता है जैसे 'पाचक' शब्द जब भोजन पकाने वाले को कहता है। ३) यह गुण है। शब्द जब अपने अर्थ में स्थित किसी गुण द्वारा अन्य अर्थ कहे तब वह शब्द का गुणात्मक व्यापार होता है जैसे तेजस्विता-गुण द्वारा 'अग्नि' शब्द किसी बालक का बोधक हो जाता है। ४) अपना अर्थ छोड़ने-न छोड़ने वाली दोनों तरह की लक्षणा। लक्षणा अर्थात् रूढ-अर्थ के सम्बंध से अन्य अर्थ का शब्द से बोधन। यह दो प्रकार की होती है : एक में तो रूढ अर्थ पूरी तरह छूट जाता है जैसे 'गंगा पर मकान है' मे गंगाप्रवाह

---

१. 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र'-इत्यादिनौणादिकेन निपातनाद् विप्रपदम्।

स्वार्थस्य लक्षितेनेयं लक्षणा नोपचारतः। प्रकृतेर्बलमेतद्धि प्रत्ययस्य बलं त्विदम्।।१५१५।।
कारकं त्विदमुद्दिष्टम् इदं स्यादप्यकारकम्। क्रियेयं स्यात्तथा कर्म क्रियाकर्मेदमेव च।।१५१६।।

अग्निर्माणवक इत्यत्र तेजस्वित्वगुणेन अग्निशब्दस्य माणवके वृत्तिः। लक्षणा शक्यार्थसम्बन्धेन वृत्तिः। सा उभयी द्विविधा—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था च। तत्र आद्या स्वार्थस्य हानकरी, यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ। अन्त्या स्वार्थाऽहानकरी, यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् इत्यादावित्यर्थः।।१५१४।। स्वार्थस्येति। प्रथमपदं पूर्वान्वयित्वेन दर्शितम्। इयं द्विरेफादिपदगता लक्षणा लक्षितेन बहुव्रीहौ परमतप्रसिद्धया लक्षणया लक्षितं यद् भ्रमर-पदं तद्द्वारेण अलिप्रभृतिपदार्थे बोध्या, नोपचारतः उपचारो नाम गुणयोगः, ततो हेतोरियं लक्षणा न बोध्या; न हि रेफद्वयस्य कश्चिद् धर्मोऽलिशरीरे वर्तत इति भावः। एवं पदवृत्तिभेदं विचार्य प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्राधान्यव्यवस्थामाह—प्रकृतेरिति। यत्र प्रत्ययस्य द्योतकत्वं तत्र द्योत्योऽर्थो विशेषणमेवेति सिद्धान्तात् प्रकृतेः प्रकृत्यर्थस्य बलं प्राधान्यं, यथा अश्वक इत्यल्पार्थे कनि अल्पोऽश्व इत्यर्थः। तद्वाचकत्वस्थले तु प्रत्ययार्थप्राधान्यं, यथा पाचक इत्यत्र पाककर्तेत्यर्थ इति भावः।।१५१५।। कारकमिति। इदं क्रियाजनकभावरूपं कर्त्रादिषड्विधं कारकपदाभिधेयम् उद्दिष्टम् उक्तम्। इदं शेषरूपं निपातादिरूपं च अकारकम् उद्दिष्टम्। इयं धात्वर्थरूपा क्रिया उक्ता। तथा इदं तण्डुलादिकं पाकादिक्रियया फलाश्रयत्वेनेष्टतमादिरूपं कर्म उक्तम्। तथा इदं 'पश्य, मृगो धावति' इत्यत्र मृगकर्तृकधावनरूपं क्रियाकर्म क्रियारूपं कर्मेत्यर्थः।।१५१६।। धातुरिति। अयं स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकरूपो धातुः पचादिः सकर्मक उक्तः।

अर्थ छोड़ कर किनारा ही समझा जाता है। दूसरी में रूढ अर्थ रखते हुए अन्य अर्थ भी समझा जाता है जैसे 'कौवों से दही बचाना' में कौवों सहित बिल्ली-कुत्ते भी समझ लिये जाते हैं।।१५१४।। ५) यह लक्षित से लक्षणा है, न कि उपचार से। अर्थात् शब्द की एक वृत्ति मानते हैं 'लक्षितलक्षणा'। जैसे 'द्विरेफ' शब्द भौंरे का बोध लक्षितलक्षणा से कराता है क्योंकि पहले इससे 'भ्रमर' इस शब्द की लक्षणा होती है और उसके द्वारा भौंरा अर्थ पता चलता है। द्विरेफ-पद भ्रमर-पद में शक्त तो है नहीं अतः उसे लक्षित ही करेगा। 'उपचार' कहते हैं गुण-सम्बंध को। द्विरेफ में उपचार से अर्थात् गुणसम्बंध से लक्षणा नहीं है क्योंकि दो 'र'-अक्षरों का कोई धर्म भौंरे में नहीं है!—इस प्रकार तो पदशास्त्री लोग पदों के व्यापारों का चिन्तन करते हैं।

प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ में भी इनका विचार चलता है : ६) जहाँ प्रत्यय द्योतक होता है (न कि वाचक) वहाँ द्योत्य अर्थ विशेषण ही होता है अतः वहाँ प्रकृतिका अर्थ ही प्रधान होता है जैसे 'अश्वक' शब्द में प्रकृतिप्रधानता से अर्थ होता है 'अल्प अश्व', यहाँ अल्पता कन्-प्रत्ययसे द्योत्य है। ७) जहाँ प्रत्यय वाचक होता है वहाँ उसी का अर्थ प्रधान होता है जैसे 'पाचक' शब्द में प्रत्ययार्थ कर्ता विशेष्यभूत अर्थ है और प्रकृत्यर्थ पाक विशेषणभूत अर्थ है।।१५१५।।

८) इसे कारक कहते हैं। क्रिया के कर्ता आदि षड्विध जनकों को, कारणों को, या क्रिया से सीधे ही अन्वित (संबद्ध) होने वाले पदार्थों को कारक कहा जाता है। ९) यह अकारक होता है। क्रिया से सीधे ही जो सम्बद्ध नहीं वे पदार्थ एवं निपात आदि को अकारक माना जाता है। (निपात 'च, तु' आदि वे शब्द हैं जिनका स्थूल बाह्य अर्थ नहीं होता।) १०) यह क्रिया है। धातु कुछ (बाइस सौ के लगभग) परिगणित शब्द हैं जिनका अर्थ क्रिया कहलाता है। ११) यह कर्म है। क्रियाप्रयुक्त फल का आश्रय होने से जो सर्वाधिक इष्ट हो उसे कर्म कहते हैं जैसे 'चावल को पकाओ' में पकने वाला चावल कर्म है। १२) यह क्रियाकर्म है। जब क्रिया ही किसी अन्य क्रिया के प्रति कर्म हो तब उसे क्रियाकर्म कहते हैं (इसके लिये द्वितीया विभक्ति नहीं चाहिये) जैसे 'देखो, हरिण दौड़ रहा है' यहाँ देखने का कर्म है हरिण का दौड़ना।।१५१६।।

१३) यह सकर्मक धातु है। जहाँ व्यापार एक में हो और उसका फल दूसरे में वहाँ क्रिया और उसका वाचक शब्द (धातु) सकर्मक कहलाता है जैसे 'पच्'-पकाना; यहाँ व्यापार करेगा देवदत्तादि और गलना आदि होगा चावल में अतः यह सकर्मक धातु है। १४) यह अकर्मक धातु है। जहाँ फल और व्यापार एकत्र हों वहाँ क्रिया और धातु अकर्मक

धातुः सकर्मकश्चाऽयमयं निष्कर्मकोऽपरः। अयं प्रयोजकस्याह व्यापारमपरोऽपि हि। प्रयोज्यस्य तथा जन्तुर्विशिष्टं भाषते ध्रुवम्।।१५१७।।

प्रत्ययोऽयं सुबुद्दिष्टस्तिङेषोऽपि न चापरः। प्रत्यये प्रत्ययो भूयादस्मिन्नुभयरूपिणि।।१५१८।।

तद्धितोऽयं कृदेष स्यादेष कृत्यादिकः परः। समासोऽयं तथैवायं समासान्तपरोऽपि च।।१५१९।।

सनादिर्नामधात्वादावेष स्त्रीप्रत्ययः परः। अपत्यादिषु चैवायं चतुरर्थोऽयमीरितः।।१५२०।।

तत्समानाधिकरणव्यापारवाचकस्तु अकर्मक इत्यर्थः। अयं णिच्प्रत्ययः सकर्मकधातुर्वा प्रयोजकस्य प्रेरकस्य व्यापारमाह। अपरो णिच्प्रकृतिरूपो धातुः, अकर्मकधातुर्वा, प्रयोज्यस्य स्वतन्त्रकर्तुः व्यापारमाहेत्यर्थः। तत्रोदाहरणम्—घटो भवतीति भूधातुरकर्मको भाविणिच्प्रकृतिश्च प्रयोज्यमाह। तथा अयं नियमो बोध्यः। 'अयं' कः? यत् पदं प्रकृतिरूपं प्रत्ययरूपं वा जन्तुर्भाषते तद् विशिष्टम् एव भाषते, 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्यय' इति वचनादिति भावः।।१५१७।। प्रत्ययोऽयमिति। अयं स्वौजसित्यादिरूपः प्रत्ययः सुप्संज्ञकः तिप्तस्झीत्यादिस्तु तिङ्संज्ञकः। अस्मिन् सुप्तिङ्रूपे प्रत्यये जाते सति अपरः प्रत्ययो न जायत इत्यर्थः; प्रायेणेति शेषः, अन्यथा 'पचतितराम्' इति तरप्, 'तत' इति पञ्चम्यन्तात् तसिश्च न स्यादिति बोध्यम्।।१५१८।। तद्धितोऽयमिति। एष 'यूनस्तिः'[1] इत्यादिकस्तद्धिताधिकारपठितः प्रत्ययस्तद्धितसञ्ज्ञकः। तथा एष 'कृदतिङ्'[2] इत्यधिकारपठितः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञकः। तथा एष कृदधिकारे ण्वुलः प्राक्[3] पठितः तव्यदादिः प्रत्ययः कृत्यसञ्ज्ञः। कीदृशः? परः सामान्यविशेषयोर्भेदपक्षे कृत्सामान्याद् भिन्न इत्यर्थः। तथा अयं 'प्राक्कडारात् समास' (२.१.३-२.२.३८) इत्यधिकारे पठितसूत्रैर्निष्पन्नो 'भूतपूर्वा'दिशब्दः समाससञ्ज्ञकः। तथा अयं 'द्वित्रा' इत्यादिकः समासः समासान्तसञ्ज्ञकडजादिप्रत्ययान्त इत्यर्थः।।१५१९।। सनादिरिति। धात्वादाविति धातुपदं भावप्रधानम्। तथा च—सनादिः सन्क्यच्काम्यजित्यादिर्द्वादशविधः प्रत्ययः धात्वादौ धातुत्वारम्भे निमित्तमिति शेषः, 'सनाद्यन्ता धातव' (३.१.३२) इत्यनुशासनादित्यर्थः। एष ङीप्टाबादिः प्रत्ययः परः तद्धितभिन्नः तदधिकारात् पूर्वं पाठादिति भावः। तथा अयम् अणादिः प्रत्ययः अपत्याद्यर्थेषु विहितः। तथा अयं 'तदस्मिन्नस्ती' त्याद्यर्थचतुष्टये (४.२.६७) विहितः प्रत्ययः चतुरर्थ इत्युक्तः।।१५२०।।

होते हैं जैसे 'नृत'-नाचना। १४) यह प्रयोजक के व्यापार का वाचक है। प्रयोजक अर्थात् प्रेरक। णिच्-प्रत्यय और सकर्मक धातु जिसके व्यापार को (चेष्टाजन्य शारीरिक पूर्वापरीभाव को) कहते हैं वह प्रयोजक होता है। 'देवदत्त यज्ञदत्तसे कार्य करवा रहा है'—यहाँ 'करवा'—यह णिच्प्रत्ययांत का हिंदी स्थानापन्न रूप है— बता रहा है देवदत्त को जो प्रयोजक है। १५) अन्य कुछ शब्द प्रयोज्यका व्यापार कहते हैं। णिच्प्रत्यय जिस प्रकृति में लगा हो वह प्रकृतिभाग प्रयोज्यका व्यापार कहता है जैसे 'करवा' में 'कर' से वह पता चलता है जो यज्ञदत्त का व्यापार है; या 'खुदवा रहा है' इतना ही कहें तो कोई खोद रहा है यह भी पता चल जाता है जो 'खुद'-इससे पता चला। अकर्मक धातु भी प्रयोज्य अर्थात् स्वतंत्र कर्ता का व्यापार कहते हैं। १६) यही नियम है कि जन्तु विशिष्ट का ही प्रयोग करता है। 'विशिष्ट' अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय को परस्पर सम्बद्ध रूप से। केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय नियमतः असंदिग्ध निर्णीत अर्थ न बता सकने से शिष्टों द्वारा बोले नहीं जाते। अतः इन्हें मिला कर ही बोलने का नियम है।।१५१७।।

१७) यह—अर्थात् 'सु' आदि—प्रत्यय 'सुप्' कहलाते हैं। १८) इसे —'तिप्' आदि को—'तिङ्' प्रत्यय कहते हैं। १९) सुप् या तिङ् प्रत्यय लग चुकने पर प्रायः अन्य कोई प्रत्यय नहीं लगता।।१५१८।।

२०) यह—अर्थात् 'तद्धित' के अधिकार के अन्तर्गत कथित प्रत्यय—तद्धित है। (अधिकार का अर्थ शीर्षक समझ सकते हैं; 'तद्धित' यह मानो शीर्षक लिख कर इसके अन्तर्गत जो प्रत्यय विहित हैं वे तद्धित प्रत्यय कहलाते

१. ४.१.७७। 'तद्धिताः' ४.१.७६, आ पंचमसमाप्तेरधिकारोऽयम्। २. ३.१.९३। ३. 'कृत्याः' ३.१.९५, अधिकारोऽयं ण्वुलः (३.१.१३३) प्राक्।

भावादिषु तथा चाऽयमयं वचनभेदकृत्। इत्यादिपदविज्ञानाद् भृशं मोमुह्यते पुमान्।।१५२१।

पूर्वमीमांसा नाध्यात्मशास्त्रम्

वाक्येऽप्येवं महाराज! विद्वान् मोहमुपैति सः। एतत् पदमिदं वाक्यमयं शब्दपरोऽस्ति ह। तथेयं शून्यताऽमीषां पदानां हि विभागतः।।१५२२।।

भावादिष्विति। तथा अयं घञादिः प्रत्ययो भावादिषु आदिपदेन कर्तृभिन्नकारकेषु च बोध्यः। परन्तु अयं घञादिर्यदा भावे भवति तदा वचनस्य तदुपलक्षितलिङ्गस्य च भेदं विशेषं करोति, कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति सिद्धांतादित्यर्थः। इत्यादीत्यर्द्धं व्याख्यातमिति।।१५२१।।

वाक्यशास्त्रे मीमांसायां प्रसिद्धान् पदार्थान् कांश्चित् तथानुवदति—वाक्येऽपीत्याद्येकत्रिंशता श्लोकैः। 'एवं' कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—एतत् पदम् इत्यादि योज्यम्। एतद् वर्णसमुदायात्मकं पदं बोध्यम्। तथा एतत् पदसमुदायात्मकं वाक्यम्। तथा अयं ज्योतिष्टोमादिशब्दः शब्दपरः 'विष्णुमुच्चारय' इत्यादाविव स्वस्वरूपस्यैव उपस्थापकः। स हि स्वभिन्नपदाऽनुपस्थित एव यागादिनाऽभेदसम्बन्धेन अन्वेतीति भावः। तथा अमीषां 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम' इति वाक्यगतपदानां विभागतः एकैकप्रयोगकाले शून्यता वाक्यार्थाबोधकत्वलक्षणाकाङ्क्षा इयम् अनुभवसिद्धा वर्तते, अत एषां मिलितानां वाक्यत्वमिति शेषः।।१५२२।।

हैं।) २१) यह—अर्थात् 'कृदतिङ्' के अधिकार में पठित प्रत्यय—कृत् हैं। २२) कृत्से भिन्न कुछ प्रत्यय हैं जो कृत्य कहलाते हैं। २३) यह समास है। जिन शब्दों की निष्पत्ति उन सूत्रों से होती है जो पाणिनिग्रंथ में २.१.३ और २.२.३८ के मध्य आते हैं वे समास कहे जाते हैं। २४) इसे समासान्तपर कहते हैं। 'समासान्त' कहलाने वाले कुछ प्रत्यय हैं, वे जिन समस्तशब्दों में लगे हों उन्हें समासान्तपर कहते हैं।।१५१६।। २५) सनादि प्रत्यय धातुत्व के व्यवहार में निमित्त हैं। सन् आदि बारह तरह के प्रत्यय जब लगते हैं तब उन सन्-आदि युक्त शब्दों को धातु मानकर उचित व्यवहार किया जाता है। २६) ये अन्य कुछ प्रत्यय स्त्रीप्रत्यय हैं। ङीप्, टाप् आदि प्रत्यय लगने पर शब्द स्त्रीलिंगी हो जाता है, उन प्रत्ययों को स्त्रीप्रत्यय कहते हैं। पाणिनिग्रंथ में ४.१.३ से ४.१.८२ तक इनका प्रसंग है। २७) ये 'अण्' आदि—प्रत्यय अपत्यादि (पुत्रादि) अर्थ में होते हैं। ४.१.८२ से आगे इनका प्रकरण है। २८) यह चतुरर्थ प्रत्यय है। ४.२.६७ से इनका विषय है।।१५२०।।

२६) यह प्रत्यय भाव आदि अर्थों में होता है। 'भाववचनाश्च' ३.३.११ से आगे इनका प्रसंग है। और इन प्रत्ययों वाले शब्द विभिन्न लिंगादि में ही प्रयुक्त होंगे। —इस प्रकार पदसम्बन्धी शास्त्र के अनुसन्धान से पुरुष हमेशा अधिकाधिक मोहग्रस्त ही होता है।।१५२१।।

हे महाराज ! इसी तरह वाक्य अर्थात् मीमांसा शास्त्र में उलझा विद्वान् भी आत्मसत्यता के बारे में अज्ञानी ही रहता है। उस शास्त्र में भी अनात्मगोचर इस तरह के विश्लेषण होते रहते हैं :

१) यह पद है। सुबाद्यन्त को ही पद माना जाये, या शक्त को ही, या बोधक को ही, या निश्चित बोधक को ही, या वर्णसमूह को इत्यादि विचार किया जाता है। २) यह वाक्य है। वाक्यात्मक शब्द ही प्रधानतः शब्दप्रमाण में आता है अतः वाक्य विचारा जाता है। ३) यह 'शब्दपर' है। जो शब्द अर्थ नहीं वरन् अपने ही स्वरूप का बोधक हो उसे शब्दपर कहते हैं, जैसे ''विष्णु' बोलो' कहने पर श्रोता समझ लेता है कि 'विष्णु' यह शब्द उच्चारण करने को कह रहे हैं अतः यहाँ 'विष्णु' यह शब्दपर है। शब्दों के ऊह के लिये और शब्दालम्बनक उपासनाओं के लिये यह विचार जरूरी होता है। किं च नामधेय का विचार—अध्याय १ पाद ४—भी इसी संबंध में है। ४) इन पदों का विभाग करने से—इन्हें हटा लेने से—वाक्य में खालीपन महसूस होता है इसलिये इन्हें वाक्य में अवश्य मिलाना चाहिये। 'खालीपन' अर्थात् साकांक्षता। जितने शब्दों के बिना निराकांक्षता न हो उतने वाक्य में अवश्य रखने चाहिये।।१५२२।।

इदं वाक्यान्तरं यस्माद् विभागे विद्यते न हि। आकाङ्क्षा पदसङ्घस्य पूर्ववाक्यस्थितस्य हि ।१५२३

एकमर्थं वदेदेकं वाक्यं वा पदमेव वा। द्वितीये वचने तस्य भेदो भवति सर्वथा।।१५२४।।

वर्णाः सर्वगता नित्या विवर्ता ब्रह्मणोऽपि ते। स्थानप्रयत्नैः शुद्धैरिति वा संस्कृता हि ते।।१५२५।।

अभिव्यक्ताश्च ताल्वादिसंयोगैः कर्णमण्डलीम्। क्रमादस्यागताः सन्तः क्रमबुद्धिमुपागताः।।१५२६।।

एकवाक्यलक्षणपरस्य 'अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्याद्' इति सूत्रस्यार्थमाह—इदमिति द्वाभ्याम्। इदम् 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इति वाक्यम् उक्तज्योतिष्टोमवाक्याद् वाक्यान्तरं भिन्नं वाक्यं भवति यतो विभागे पृथक् प्रयोगे, एतद्गतपदसङ्घस्य तथा पूर्वमुक्तं यज्ज्योतिष्टोमवाक्यं तत्र स्थितस्य च पदसङ्घस्य परस्परम् आकाङ्क्षा न अस्तीत्यर्थः।।१५२३।। एकमिति। एकम् एकवारं प्रयुक्तं पदं वाक्यं वा एकम् एव अर्थं वदेत्, द्वितीयस्याप्यर्थस्य वचने प्रतिपादने तस्य वाक्यस्य भेदो[1] भवति, विधेयभेदाद् वाक्यभेद इति सिद्धान्तादित्यर्थः।।१५२४।। पदवाक्ययोः स्वरूपघटकानां वर्णानां तत्त्वं मतभेदेनाह—वर्णा इति द्वाभ्याम्। वर्णाः सर्वगता विभवो नित्याः चेति पूर्वमीमांसका वदन्ति। उत्तरमीमांसकानां मते तु ते वर्णाः परब्रह्मणो विवर्ता मायया तत्र ब्रह्मणि कल्पिताः, आकाशादिवद् व्यावहारिकसत्ताशालिन इति विशेषो भिन्नक्रमस्य वा-शब्दस्यार्थः। 'ते वर्णा' इति शिक्षाद्युक्तप्रकारेण शुद्धैः दोषसङ्कररहीतैः स्थानैः कण्ठादिभिः, प्रयत्नैः स्पृष्टादिभिश्च ध्वनिद्वारा संस्कृता भवन्तीत्यर्थः।।१५२५।। अभिव्यक्ता इति। ते वर्णाः ताल्वादिस्थानेषु आभ्यन्तरवायुसंयोगैः अभिव्यक्ताः सन्तः अस्य श्रोतुः कर्णमण्डलीं श्रोत्रदेशं क्रमाद् वक्तृमुखजन्यवायुना श्रोतृश्रोत्रपिधायकवाय्वपसारणक्रमेण अभ्यागताः, प्राप्ताश्च सन्तः क्रमबुद्धिं क्रमेणोपलब्धिम् उपागताः पदरूपा वाक्यरूपाश्च कथ्यन्त इति शेषः।।१५२६।। ननु पदादिरूपेण वर्णानां

५) यह पूर्व की अपेक्षा अन्य वाक्य है क्योंकि इसका स्वतंत्र प्रयोग करने पर न इसमें आये शब्द और न पूर्ववाक्य में आये शब्द साकांक्ष रहते हैं। २.१ अधि. १४ में बताया है कि एक अर्थ के प्रतिपादक शब्द मिलकर एक वाक्य होते हैं। वाक्य में उतने ही शब्द मानने चाहिये जितनों में से किसी को भी हटाने पर—या एक से अधिक को भी हटाने पर—वाक्य में या हटे हुए खण्ड में साकांक्षता रह जाये।।१५२३।। ६) एक बार प्रयुक्त वाक्य और पद एक ही अर्थ का बोधक हो सकता है, एकाधिक अर्थ मानने से 'वाक्यभेद' होता है। वार्तिककार कुमारिल ने कहा है 'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते' (श्लो. प्रत्यक्ष ९)। वाक्यभेद अर्थात् एक वाक्य या शब्द का इकट्ठे ही अनेकार्थक होना मीमांसकों ने महत्त्वपूर्ण दोष माना है।।१५२४।।

७) वर्ण अर्थात् ककारादि अक्षर विभु और नित्य हैं। ८) उत्तर मीमांसक उन्हें ब्रह्म पर माया से कल्पित मानते हैं। ९) उचित स्थानों और प्रयत्नों से निष्पन्न ध्वनि से उनका संस्कार होता है। स्थान अर्थात् कण्ठ तालु आदि और प्रयत्न अर्थात् स्पृष्ट आदि जो शिक्षाग्रंथों में और व्याकरण-प्रक्रिया ग्रंथों में बताये जाते हैं।।१५२५।। १०) तालु आदि स्थानों से आन्तर वायु का संयोग होने पर वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। जब वर्ण श्रोता के कान तक क्रमशः पहुँचते हैं तब क्रमविशिष्ट रूप से उपलब्ध होने पर उन्हें पद वाक्य आदि कहा जाता है। वर्णों का क्रमशः पहुँचना अर्थात् वक्ता के मुख से निकली वायु के कारण एक-के-बाद-एक वायवीय परिणामों के बाद जब श्रोता के कान में वायुपरिणाम उसी वर्ण को अभिव्यक्त करता है जिसे वक्ता ने प्रथमतः अभिव्यक्त किया था तब वर्ण वक्ता से श्रोता तक पहुँचा ऐसा व्यवहार होता है।।१५२६।। ११) पद, वाक्य आदि से जन्य ज्ञानों का कारण पद आदि का वह अन्तिम वर्ण है जिसे पूर्व-पूर्वतर वर्णानुभवों से जन्य संस्कार सहायता दे रहे हैं। (अर्थात् क्रमशः सुने जाते वर्णों को याद रखते हुए

१. वाक्यस्य भेदो वाक्यभेदः, भेदो नानात्वम्।

संस्कारसचिवो योऽयमन्त्यवर्णः पदादिषु। पदवाक्यादिबुद्धीनां कारणं स प्रकीर्तितः।।१५२७।।

नित्यः शब्दार्थयोस्तद्वत् सम्बन्धः पदवाक्ययोः। अर्थस्याकृतिरूपस्य शब्दः स्याद् बोधकः सदा।।१५२८।।

स्मारयन्त्यात्मनो ह्यर्थं वाक्यगानि पदानि हि। तेनाऽभिधायकान्याहुः पदानि पदकोविदाः।।१५२९।।

वाक्यार्थप्रत्ययायैव यद्यप्येषां प्रवर्तनम्। नान्तरीयकसम्बन्धाद् बोधयन्ति हि तानपि।।१५३०।।

बोधकत्वं न सम्भवति, तदुपलब्धीनां यौगपद्याऽसम्भवाद्? इति शङ्कां वारयति—संस्कारेति। पदादिषु पदवाक्यमहावाक्येषु वर्तमानो योऽयम् अन्त्यवर्णः स एव पदादिजन्यबुद्धीनां कारणत्वेनोक्तः कीदृशोन्त्यवर्णः? संस्कारसचिवः पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहकृत इत्यर्थः।।१५२७।। औत्पत्तिकसूत्रार्थं[1] पूर्वार्द्धेन आकृत्यधिकरणार्थं[2] चोत्तरार्धेन सूचयति—नित्य इति। पदवाक्ययोः सम्बन्धिनौ यौ शब्दार्थौ; शब्दो वर्णात्मको घटकतया तत्सम्बन्धी, अर्थस्तु बोध्यतया इति; तयोः सम्बन्धो बोध्यबोधकभावरूपः स नित्यः स्वाभाविको, न तु केनचित् कृत इत्यर्थः। नन्विदमयुक्तं, सम्बन्धनित्यत्वस्य सम्बन्धिनित्यताधीनत्वाद् वर्णव्यक्तीनां नित्यत्वेऽपि अर्थव्यक्तीनां नित्यत्वाऽसम्भवाद्? इत्यत आह—अर्थस्येति। आकृतिः जातिः, तद्रूपस्यैव अर्थस्य शब्दः प्रतिपादकः, व्यक्तिबोधस्तु लक्षणया भवतीति भावः।।१५२८।। तत्र वर्णानामनुभावकत्वं वाक्यरूपेणैव भवतीत्याह—स्मारयन्तीति। यतो वाक्यगतानि पदानि आत्मनः अर्थं पदार्थं स्मारयन्ति तेन तावता व्यापारेण पदान्यभिधायकान्याहुः नत्वनुभावकत्वेन इति सम्बन्धः।।१५२९।।वाक्यार्थेति। यद्यप्येषां पदानां प्रवर्तनम् उच्चारणं वाक्यार्थबोधायैव क्रियते, तथापि पदानि तान् पदार्थान् अपि बोधयन्ति। कुतः? नान्तरीयकसम्बन्धात् अन्तरा विना भवतीति अन्तरीयकं, तद्भिन्नं नान्तरीयकम्, अविनाभावीति यावत्। तादृशात् सम्बन्धात्; पदार्थबोधनं विना वाक्यार्थबोधनानुपपत्तेरिति यावत्[3]।।१५३०।।

जो आखिरी वर्ण सुना जाये वह पूर्व में सुने वर्णों के संस्कारों का भी सहारा लेकर समूचे पद का ज्ञान कराता है जिससे पदार्थ स्मरण हो पाता है।)।।१५२७।। १२) पद और वाक्य से संबद्ध जो वर्णात्मक शब्द और अर्थ होते हैं उनमें परस्पर बोध्य-बोधकता संबंध सनातन है। अर्थात् पद में शक्ति निहित है जिससे वह अर्थबोध कराता है। किसी व्यक्ति ने यह निर्णय नहीं किया कि अमुक पद अमुक अर्थ बताये। १३) शब्द हमेशा आकृतिरूप अर्थ का ही बोध कराता है। 'आकृति' से जाति समझ सकते हैं जैसे घटाकृति अर्थात् घटत्व। शब्द इन सामान्यों को ही कहते हैं क्योंकि इनकी अनुगति के निमित्त से ही शब्दों की विषयता अनुगत रहती है; 'घट' शब्द उन सबको कह लेता है जहाँ 'घटत्व' हो अतः घटका अर्थ घटत्व होना उचित है, लक्षणा से व्यक्ति को समझा जा सकता है।।१५२८।।

१४) पदविषयक विद्या के जानकार पदों को अभिधायक कहते हैं क्योंकि वाक्यघटक पद अपने-अपने अर्थों की याद दिलाते हैं। (पद अनुभव नहीं कराते, याद दिलाते हैं।)।।१५२९।। १५) यद्यपि पदों का उच्चारण वाक्यार्थ समझाने के लिये ही होता है तथापि क्योंकि पदार्थबोध के बिना वाक्यार्थबोध संभव नहीं इसलिये पद पदार्थों का भी बोध कराते ही हैं।।१५३०।। १६) इसलिये वाक्य में आये पदों से याद दिलाये अर्थ ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं

---

१. 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' १.१.५ जैमि.। औत्पत्तिको नित्यः। २. 'शक्तिग्रहादियुक्तिभ्य आकृतेरर्थतोचिता। क्रियापर्यवसानाय व्यक्तिस्तत्रोपलक्ष्यताम्।।' इति १.३. दशमाधिकरणे द्वितीयवर्णके सिद्धांतकारिका न्यायमालायाम्। ३. 'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले।। वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्।।' इति वाक्याधिकरणे (श्लो. ३४२-३) श्लोकवार्तिकम्।

तेनाऽभिहित एवार्थो बाह्ये[1] यात्यन्वयं सदा। सच्चिदानन्दरूपोऽयमात्मेत्यादिस्वरूपके।।
येषामाकाङ्क्षता तेषां सम्बन्धस्तत्र कीर्तितः।।१५३१।।

कारकाख्यं पदं वाक्यं नियतं न भवेत् क्वचित्। अनेकं वा भवेदेकं तथा शेषोऽप्यवाचकः।।१५३२।।

क्रियापदं सदैवैकं वाक्ये स्याद् नाधिकं क्वचित्। वाक्यं वाक्यान्तराकाङ्क्षं न यत् तद् वाक्यमीरितम्। तत्र प्रकरणं केचिद् वदन्त्यन्ये विपश्चितः।।१५३३।।

क्रियावाक्येषु विज्ञेयौ लिङ्लोटौ हि विधायकौ। कृत्याश्च वैदिके तद्वल्लकारः पञ्चमो हि यः।।१५३४

भट्टसम्मतम् अभिहितान्वयवादमभिनयति—तेनेति। तेन पदानां स्मृतिमात्रजननोपक्षीणत्वेन वाक्ये वर्तमानैः पदैः अभिहिताः स्मारिता अर्था एव अन्वयं वाक्यार्थं यान्ति बोधयन्ति। कीदृशे वाक्ये? 'सच्चिदानन्दरूपोऽयमात्मा' इत्यादिरूपे। एतद् विशेषणं प्रकृताभिप्रायेणेत्यर्थः। अर्थ इत्येकवचनं तु जात्यभिप्रायेण बोध्यम्। ननु कियन्तः पदार्था वाक्यार्थपूरका इति चेद्? यावन्त आकाङ्क्षिता इत्याह—येषामिति। येषां पदार्थानाम् आकाङ्क्षता साकाङ्क्षत्वं तेषां तावतां तत्र वाक्यार्थे सम्बन्धः घटकत्वरूपः कीर्तित इत्यर्थः।।१५३१।। वाक्यार्थः क्रियापदार्थेनैव पूर्यत इति सूचयंस्तदितरेषां वाक्यार्थाऽपूरकत्वं 'तद्भूताधिकरण'[2] सिद्धान्तमाह—कारकाख्यमिति। कारकाख्यं कारकं कर्तृकर्मादिरूपम् एवाख्यात्यभिदधातीति कारकाख्यम्, एतादृशं पदम् एकमनेकं वा वाक्यं वाक्यभावापन्नं भवेद् इति नियतं नियम इत्यर्थः। तथा शेषः षष्ठ्यर्थः अपि एकोऽनेको वा अवाचको वाक्यार्थाऽप्रतिपादक इत्यर्थः। क्रियालक्षणया तु कारकादिपदानामपि वाक्यार्थबोधकत्वं भवति, यथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यादौ देवतादिवाचकपदानां यागलक्षणयेति भावः।।१५३२।। एकेन क्रियापदेन एकं वाक्यं पूर्यत इत्याह—क्रियेति। एकम् एव क्रियापदं वाक्ये स्याद् इति सम्बन्धः। यतो हेतोः यद् वाक्यं वाक्यान्तरापेक्षं वाक्यान्तरसापेक्षं न भवति तदेव वाक्यमीरितम्। तत्र वाक्यस्य वाक्यान्तरापेक्षायां तु प्रकरणलक्षणप्रमाणं केचिद् वदन्ति। कीदृशाः केचिद्? विपश्चितः सर्वज्ञाद्भट्टपादादन्ये। भट्टपादस्तु तत्र महावाक्यमाह। तदुक्तम् 'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।।' इति। तथा च प्रमाणान्तराभ्युपगमो वृथा, उभयाकाङ्क्षारूपस्य प्रकरणस्य वाक्यभावकल्पनोपक्षीणत्वाद् इति भावः।।१५३३।।

तत्र विधायकवाक्यलक्षणानि सङ्गृह्णाति—क्रियावाक्येष्विति। क्रियायाः साध्यार्थस्य प्रतिपादकेषु वाक्येषु विधेः प्रवर्तनारूपस्य प्रतिपादका लिङ्लोट्लेट्लकाराः, कृत्यसञ्ज्ञाः तव्यदादिप्रत्ययाश्च बोध्या इत्यर्थः।।१५३४।।

(पद तो केवल याद दिलाने में सक्षम हैं) जैसे 'यह आत्मा सच्चिदानन्दरूप है' इत्यादि वाक्य में। १७) वाक्यार्थ में उन पदार्थों का सम्बन्ध माना जाता है जो साकांक्ष हों। अर्थात् साकांक्ष पदार्थ ही आपस में मिलकर वाक्यार्थ बनाते हैं।।१५३१।। १८) यह नियम है कि कारकवाचक पद ही वाक्य बनाते हैं, वे पद अनेक हो सकते हैं या एक भी पद हो सकता है। तात्पर्य है कि क्रियापदार्थ से ही वाक्यार्थ पूरा होता है। १९) अकारकपदार्थों के बोधक शब्द वाक्यार्थ का प्रतिपादन नहीं कर पाते।।१५३२।। २०) एक वाक्य में हमेशा एक ही क्रियापद होता है, ज्यादा नहीं। २१) जो वाक्य किसी अन्य वाक्य की आकांक्षा नहीं रखता वही वाक्य कहा जाता है। २२) विद्वानों से अन्य कुछ विचारक वहाँ 'प्रकरण' नामक प्रमाण मानते हैं जहाँ एक वाक्य किसी अन्य वाक्य की अपेक्षा रखता है।।१५३३।।

---

१. अत्र 'वाक्ये' इति पाठ उचितः, टीकानुरूपश्च। २. 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' १.१.२५। सिद्धार्थकपदानां भावनार्थकेन सह पाठाद् वाक्यार्थबोधो भवति, पदानां वाक्यार्थधीहेतुत्वादिति सूत्रार्थः।

अपूर्वार्थे विधिर्ज्ञेयो लोके वेदे च सर्वदा। प्रमाणान्तरतोऽप्राप्ते विधिर्वेदे न चान्यथा।।१५३५।।
मन्त्रब्राह्मणभागेन वेदो द्वेधा प्रकीर्तितः। अङ्गादिलक्षणैर्युक्तो विध्याद्यर्थसमावृतः।।१५३६।।
विधेरर्थात् परस्त्वर्थो ह्यर्थवाद इतीरितः। परकृत्यादिभेदेन भिद्यते स सहस्रधा।।१५३७।।
अपूर्वमपि चेदर्थं विरुद्धं भाषते क्वचित्। प्रमाणैर्गुणवादाख्यः सोऽर्थवाद इतीरितः।।१५३८।।

अप्राप्तार्थ एव विधिरिति दर्शयन् प्राभाकराभिमतलौकिकापूर्वार्थतां निरस्यति— अपूर्वार्थ इति। सर्वत्र अपूर्वार्थे विधिर्ज्ञेयः। अपूर्वपदार्थमाह—प्रमाणान्तरतोऽप्राप्त इति। प्रमाणान्तरेणाऽज्ञात इत्यर्थः। विधिः लिङाद्यर्थो वेदे, अन्यथा लोकाद् विलक्षणो न च भवति। तथा च प्राभाकराभिमतमलौकिकमपूर्वं विध्यर्थत्वेन न स्वीकार्यमिति भावः।।१५३५।।

वेदपदार्थमाह—मन्त्रेति। अङ्गेषु शिक्षा-कल्पादिषु[1], आदिपदग्राह्यमीमांसादिशास्त्रेषु च प्रदर्शितानि यानि लक्षणानि अपौरुषेयवाक्यत्वादीनि[2] तैः युक्तो वाक्यसमूहो वेदपदार्थो बोध्यः। कीदृशः ? विध्याद्यर्थैः विधि-निषेध-देवतादिस्वरूपात्मकार्थैः युक्तः। स द्वेधा[3] मन्त्ररूपेण ब्राह्मणरूपेण चेत्यर्थः। तत्र मन्त्रलक्षणं—मन्त्रत्वेन वैदिकप्रसिद्धत्वम्। तद्भिन्नत्वं ब्राह्मणत्वम्—इति बोध्यम्।। १५३६।। अर्थवादं लक्षयति—विधेरिति। विधेः विधायकवाक्यस्य अर्थाद् विधेयरूपात् परो भिन्नः अर्थवाद इतिपदोक्तेन वेदभागेन ईरित उक्त इत्यर्थः स च अर्थवादः परकृतिप्रभृतिरूपैः[4] अनेकधा। तत्र परकृतिः नाम परकीया; तत्र हेतुर्यथा—'शूर्पेण जुहोति' इत्यत्र 'तेन ह्यन्नं क्रियत' इति हेतुनिर्वचनम्। साधारणी कृतिर्व्यापारः, यथा दर्शयागप्रकरणे बहुनाम्नः कस्यचिद् वृत्तमुक्तं 'माषानेव मह्यं पचते' ति। आदि-पदेन हेतुनिर्वचनादयो ग्राह्याः, यथा 'वज्रहस्तः पुरन्दरः'।। १५३७।। गुणवादाख्यमर्थवादभेदं लक्षयति—अपूर्वमिति। अपूर्वमप्यर्थं यदि प्रमाणान्तरैः विरुद्धं भाषते सोऽर्थवादो गुणवाद इत्युक्तः। एतेन प्रमाणान्तरसिद्धार्थाभिधानेऽनुवादत्वं, प्रमाणान्तरसंवाद-विसंवादयोरभावे भूतार्थवादत्वमिति[5] सूचितम्।। १५३८।।

साध्य क्रिया के प्रतिपादक वाक्यों में लिङ्-लोट्-लेट् लकार और 'कृत्य' कहलाने वाले 'तव्यत्' आदि प्रत्यय ही विधि अर्थात् प्रवर्तना के बोधक होते हैं।।१५३४।। २४) लोक में और वेद में विधि हमेशा उसी अर्थ में समझनी चाहिये जो अपूर्व हो। 'अपूर्व' अर्थात् जो अन्य प्रमाणों से अज्ञात हो। ('अन्य' अर्थात् प्रकृत विधि।) २५) वेद में लिङ् आदि का वही अर्थ है जो लोक में।।१५३५।।

२६) शिक्षा आदि अंगों व मीमांसा आदि शास्त्रों में प्रदर्शित लक्षणों से युक्त और विधि आदि अर्थों वाला वाक्यसमूह वेद है जो मंत्र और ब्राह्मण इन दो हिस्सों में बँटा है। 'विधि आदि अर्थों' अर्थात् विध्यर्थ, निषेधार्थ और देवतादिस्वरूप। स्वरूप या सिद्धार्थ में पूर्वमीमांसक वेदवाक्यका तात्पर्य नहीं मानता, उत्तरमीमांसक मानता है।।१५३६।। २७) विधि (और निषेध) के अर्थ से अन्य अर्थ को 'अर्थवाद' कहते हैं। (अर्थवाद नामक वेदभाग वही अर्थ कहता है जो विधेय नहीं होता। विधि-निषेध में प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिये अन्य बातें बताने वाले हिस्से को अर्थवाद कहते हैं।) परकृति आदि हजारों तरह के अर्थवाद होते हैं। (परकृति अर्थात् जहाँ किसी यज्ञादि के बारे में बतायें कि किसी अन्य ने भी ऐसा किया। कहीं हेतु का उल्लेख होता है कि अमुक कार्य क्यों करना या नहीं करना चाहिये। कहीं निर्वचन करते हैं अर्थात् शब्द की व्याख्या करते हैं। इसी तरह अन्य भी भेद हैं अर्थवादों के।) ।।१५३७।। २८) जो अर्थवाद बताता तो अपूर्व बात है लेकिन वह बात होती अन्य प्रमाणों के विरुद्ध है, वह अर्थवाद गुणवाद कहा जाता है; जैसे यूप को आदित्य कहना।। १५३८।।

---

१. व्याकरणनिरुक्तज्योतिषच्छन्दःसु। २. अनादिपरम्पराप्राप्तत्वादीनि। ३. विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादैरपि पञ्चधा वेद आपदेवादिभिरुक्तः। ४. स्तुति-निन्दा-परकृति-पुराकल्प-भेदेन चतुर्विधोऽर्थवादः। ५. एतत्तूत्तरमीमांसकमतसंग्रहेणोक्तं, 'विरोधे गुणवाद' इत्यादेः श्रीसुरेश्वरोक्तित्वात् (बृ. सं. ५६७)।

क्रियापदं हि यद्वाक्ये दृश्यते नैव कर्हिचित्। कार्यस्तत्रानुषङ्गोऽस्य वाक्यात् पूर्वापरस्थितात्।।
कारकाणां पदेष्वेवं केचिदाहुर्मनीषिणः।।१५३९।।

सन्निधानं न यत्रास्ति वाक्ये वाक्यस्य कस्यचित्। अध्याहारस्तु तत्रैव कार्यो नान्यत्र
कर्हिचित्।।१५४०।।

आकाङ्क्षादिवशात् तद्वद् वचनव्यत्ययादिकम्। एवं लोके च सर्वत्र साधारणमुदीरितम्।।१५४१।।

सङ्गतिग्रहसापेक्षः शब्दः स्वार्थस्य बोधकः। य एव लौकिकाः शब्दा वैदिकाश्च त एव हि।।१५४२।

विध्यर्थो धर्म उद्दिष्टो ब्रह्म वाऽपूर्वरूपकम्। अर्थवादादिकं सर्वं मानं विध्यर्थमीरितम्।।
स्तुतिनिन्दादिकं कृत्वा प्रवृत्तिं जनयेद्यतः ।।१५४३।।

पूर्वमीमांसाद्वितीयाध्यायप्रसिद्धस्य अनुषङ्गाधिकरणस्य[1] तात्पर्यमाह—क्रियापदमिति। यत्र वाक्ये क्रियापदं न दृश्यते तत्र पूर्वस्माद् उत्तराद् वाक्याद् अनुषङ्गः तत्र स्थितस्यैव बुद्ध्या परामर्शरूपः कार्यः। एवं कारकवाचकपदानामपि अनुषङ्ग इति केचिद्[2] भाष्यकारादय आहुः इत्यर्थः।। १५३९।। अध्याहारादिस्थलमाह—सन्निधानमिति द्वाभ्याम्। यत्र वाक्य उपयोगिपदघटितस्य कस्यचित् पूर्वस्योत्तरस्य वा वाक्यस्य सन्निधानं सामीप्यं न अस्ति तत्रैवाध्याहारोऽनुक्तपदप्रक्षेपरूपः कार्य इति सम्बन्धः। यथा 'इषे त्वे' ति मन्त्रे 'छिनद्मी'ति पदाध्याहारः, हे शाखे! इषे अन्नाय त्वां छिनद्मीति तदर्थः ।।१५४०।। आकाङ्क्षादीति। तथा आकाङ्क्षायोग्यतादिवशात् पदानां वचनादीनां विपर्ययः कर्तव्यः[3]। यथा पशुयागमन्त्रे 'सन्ते प्राणो वातेन गच्छतां समङ्गानि यजत्रैः' इत्यत्र; हे पशो! ते प्राणो वातेन सङ्गच्छतां सङ्गतो भवेत् तथाऽङ्गानि च ते यजत्रैः यज्ञोपकरणैः सङ्गच्छन्ताम् इति वचनव्यत्ययः। एवं लोकेऽपि अयं न्यायः साधारणः इत्यर्थः। आदिपदेन वाक्यान्यथात्वकरणरूपव्यवधारणकल्पना ग्राह्या। तदुदाहरणं यथा—'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेद्' इत्यत्र प्रतिगृह्णीयाद् इत्यस्य प्रतिग्राहयेद् इत्यर्थ इति।।१५४१।। लोकवेदाधिकरणार्थमाह[4]— सङ्गतीति। यतः सर्वः शब्दः सङ्गतिग्रहसापेक्षः, सङ्गतिश्च पदपदार्थसम्बन्धरूपा लोकत एव ग्राह्या। अतो ये लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, तेषां भूयोऽवयवसामान्यशालिनां यत्किञ्चित् स्वरादिवैलक्षण्यं न धर्मिभेदापादकमिति भावः।।१५४२।। एवं पदपदार्थानां लोकवेदयोः अविशेषेऽपि वाक्यार्थो वेदेऽपूर्व एवेत्याह[5]—विध्यर्थ इति। विधेः अज्ञातज्ञापकत्वलक्षणविधित्वशालिनो वेदवाक्यस्य अर्थो द्विविधः—पूर्वकाण्डे धर्मरूपः, उत्तरकाण्डे च ब्रह्मरूपः। उभयोरपूर्वत्वात् प्रमाणान्तराऽविषयत्वादित्यर्थः। अर्थवादमन्त्रादिकं तु विधेयस्तुतिं तदितरनिन्दां देवतादिस्मृतिं च कृत्वा प्रवृत्तिं जनयत् सद् विध्यर्थे विधिवाक्यार्थ एव प्रमाणमित्यर्थः।।।१५४३।।

२९) जिस वाक्य में क्रियापद न सुनाई दे वहाँ पिछले या अगले वाक्य में आये क्रिया पद को उन वाक्यों से संबद्ध समझते हुए ही इस वाक्य से भी सम्बद्ध समझ लेना चाहिये। इसी तरह कारकवाची पद की कमी भी पूरी कर लेना चाहिये। ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।।१५३९।।

३०) जहाँ वाक्यपूर्ति के लिए ज़रूरी पद आस-पास के वाक्यों में न मिले वहीं अध्याहार करना चाहिये। न कहे पद को श्रोता अपनी तरफ से जोड़े—यह अध्याहार है। ।।१५४०।। ३१) आकांक्षा, योग्यता आदि के अनुसार पदों के वचन आदि बदल लेने चाहिये। यह नियम लौकिक वाक्यों में भी लागू होता है। ('प्राण जाये और अंग भी'—इतना कहा है। यहाँ 'जायें' यों बहुवचनांत बनाकर 'जाये' का सम्बन्ध कर लेना चाहिये। ऐसे ही अन्यत्र समझ सकते हैं) ।। १५४१।। ३२) शब्द अपने अर्थ का बोध तभी कराता है जब पद-पदार्थ का सम्बन्ध समझा जा चुका हो और वह प्रायः लोक में ही समझ सकते हैं इसलिये जो लौकिक शब्द और अर्थ होते हैं वे ही वेद में भी होते हैं।।१५४२।।

१. २.१.१६ सू ४३–५। २. पदार्थाध्याहारवादिभ्योऽन्ये। ३. नवमतृतीयपादेऽयं विचारः। ४. १. ३. १०। ५. 'तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' १.१.५ इति सूत्रमत्र मानम्।

विनियोगः प्रयोगश्च ह्युत्पत्तिश्चाऽप्यधिक्रिया। चतुर्विधं हि विज्ञेयं विधिवाक्यं मनीषिभिः।।१५४४
केन किं कथमित्येतदंशत्रयमुदीरितम्। भावनायाश्च वाक्यार्थेऽथाऽपूर्वं चेष्टसाधनम् ।।१५४५।।
कर्माणि प्राकृतान्यत्र कानिचिद् वैकृतान्यपि। इदमेवं प्रकुर्वीतेत्यादि प्राकृतमीरितम्। एतद्वदिदमप्यत्र यदुक्तं वैकृतं हि तत्।।१५४६।।

विधिभेदानाह—विनयोग इति। कर्मस्वरूपबोधक उत्पत्तिविधिः। अङ्गाङ्गिभावबोधको विनियोग-विधिः। प्रयोगः क्रमेणानुष्ठानं, तद्बोधकः प्रयोगविधिः। अधिक्रिया फलसम्बन्धः, तद्बोधकोऽधिकारविधिः। इत्येवं विधिवाक्यं चतुर्विधम् इत्यर्थः।।१५४४।।एकवाक्यताप्रयोजकमाकाङ्क्षात्रयं, तथाऽपूर्वकल्पनाप्रकारं च दर्शयति—केनेति। भावना अपूर्वोत्पत्त्यनुकूलव्यापाररूपता तत्प्रतिपादकस्य वाक्यस्यार्थे साधनं, साध्यम् इतिकर्तव्यता चेत्याकारकम् अंशत्रयं केनेत्याद्याकारकाकाङ्क्षविषयभूतमुक्तं, तेन न वाक्यभेद इति भावः। अथ वाक्यार्थबोधोत्तरम् इष्टस्य स्वर्गादेः साधनं साधनस्य यागादेः व्यापारभूतम् अपूर्वं कल्पनीयमित्यर्थः।।१५४५।। कर्मणां भेदमाह—कर्माणीति। कर्माणि द्विविधानि—प्राकृतानि, वैकृतानि चेति। तत्र प्रकृतौ समग्राङ्गोपदेशवति यागे दर्शपूर्णमासादौ इदं कर्म एवं कुर्वीत इति एवं विधीयमानं प्रयाजादि प्राकृतम् इत्युच्यते। विकृतौ सौर्यादियागे 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इत्येवं विधीयमानमङ्गजातं वैकृतम् इत्युच्यत इत्यर्थः। ।।१५४६।।

३३) पद-पदार्थ लोक और वेद में समान हैं लेकिन वेद में वाक्यार्थ अपूर्व ही होता है। अज्ञात का ज्ञान कराने वाला वेदवाक्य विधि कहलाता है। उसका अर्थ धर्म या ब्रह्म होते हैं क्योंकि ये ही अन्य प्रमाणों से अज्ञेय होने के कारण अपूर्व हैं। अर्थवाद, मंत्र आदि सब तो विधि वाक्य के अर्थ में ही प्रमाण हैं क्योंकि स्तुति, निंदा आदि कर वे प्रवृत्ति या निवृत्ति ही पैदा करते हैं। (यहाँ वेदान्तों को नहीं समझना चाहिये, क्रिया में या उससे हटने में प्रवृत्त करने वाले अर्थवादों को ही समझना चाहिये।) ।।१५४३।।

३४) मनीषियों को विधिवाक्य चार प्रकार का जान लेना चाहिये— क) विनियोग विधि—जहाँ अंगों का अंगी से सम्बन्ध बताया जाये जैसे 'दध्ना जुहोति'। ख) प्रयोग विधि—क्रमशः अनुष्ठान बताने वाला वाक्य। यह कोई स्वतंत्र वाक्य नहीं होता वरन् अन्य विधियों को मिलाकर बना वाक्य होता है जिसमें सारा विषय स्पष्ट हो जाता है। ग) उत्पत्ति विधि—कर्म के स्वरूप का बोध कराने वाला वाक्य, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति'। घ) अधिकार विधि—फलसम्बन्ध का बोध कराने वाला वाक्य, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'।।१५४४।।

३५) 'अपूर्व' पैदा हो इसके लिये होने वाला व्यापार भावना कहलाता है जिसे प्रतिपादित करने वाले वाक्य के अर्थ में साधन, साध्य और इतिकर्तव्यता (करने का ढंग) ये तीन अंश होते हैं जो 'किससे ?' 'क्या ?' और 'कैसे?' इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं। ३६) स्वर्गादि फल दे सके इसके लिए साधनभूत यागादि का व्यापार 'अपूर्व' मानना चाहिये। ('अपूर्व' अर्थात् पुण्य। इसकी सिद्धि इसी रूप में है कि क्रियात्मक धर्म तो यहीं नष्ट हो गया अतः कालान्तर में फल नहीं दे सकता इसलिये मानना चाहिये कि इसने किसी 'अपूर्व' पदार्थ को उत्पन्न किया है जो कालान्तर तक रहकर फल देगा।)।।१५४५।।

३७) कर्म दो प्रकार के होते हैं—(क) प्रकृति और (ख) विकृति। (क) जिस यागादि के समग्र अंगों का उपदेश मिलता है वह प्रकृति कर्म कहलाता है जैसे दर्शपूर्णमास। उसमें 'यह कर्म ऐसे करो' यों जिनका विधान है उन्हें प्राकृत कहते हैं जैसे प्रयाजादि। (ख) जिन यागादि के अंग अन्य यागों से समझने पड़ते हैं, जिनके लिये कहा है 'इसे उसकी तरह करना', उन्हें विकृति कर्म कहते हैं। 'प्रकृति की तरह विकृति करनी चाहिये' इस नियम से विकृति में विहित अंग वैकृत कहे जाते हैं।।१५४६।।

३८) शास्त्रविहित कर्म जो पृथक्-पृथक् हैं उनमें हेतु शब्द आदि हैं। अर्थात् अलग शब्दों से विधान मिलने के कारण कर्म अलग माने जाते हैं जैसे 'होम करो', 'दान दो' यों होम और दान विभिन्न शब्दों से विहित हैं अतः अलग-अलग कर्म हैं। ३९) नाना शाखाओं में विहित कर्मों में कुछ अंगकर्म हैं और कुछ अंगी कर्म हैं। कौन किसका अंग या अंगी है इसका निर्धारण श्रुति आदि द्वारा होता है। (यहाँ 'श्रुति' अर्थात् वेद में आये शब्द। ये तीन प्रकार

शब्दादिभिर्विभिन्नानि कर्माण्येतानि सर्वशः। अङ्गाङ्गिभेदभिन्नानि नानाशाखागतानि च।
श्रुत्यादिभिस्तु नियता तेषामङ्गाङ्गिता मता।।१५४७।

शब्दादिक्रमतस्तेषामनुमानं समीरितम्। त्रैवर्णिकैः सपत्नीकैरेकानेकैर्व्यवस्थितम्।।१५४८।।

द्रव्यादिदर्शनेनैव दर्शकस्य विशेषतः। अस्येयं विकृतिर्ज्ञेया नान्यथा सा मनीषिभिः।।१५४९।।

शब्दादिभिरिति। शब्दः शब्दान्तरम्, आदिपदेन अभ्यास-संज्ञा-सङ्ख्या-गुण-प्रकरणान्तराणि[1] गृह्यन्ते। उदाहरणानि यथाक्रमम्—१) दद्यात्, जुहुयाद् इति। २) समिधो यजति, तनूनपातं यजति इति। ३) अथैष ज्योतिः, अथैष सर्वज्योतिः इति। ४) सप्तदशप्राजापत्यान् आलभेतेति। ५) वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमिति। ६) कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वति।—इत्याद्याकाराणि बोध्यानि। तानि च कर्माणि कानिचिद् अङ्गानि शेषभूतानि, यथा प्रयाजादीनि। कानिचिद् अङ्गीनि प्रधानानि, यथाऽऽग्नेयादीनि। तेषाम् अङ्गाङ्गिभावे प्रमाणानि तु श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यारूपाणि[2] बोध्यानीत्यर्थः। एतेन प्रयोज्यप्रयोजकभावः चतुर्थाध्यायार्थोऽपि सूचितः। यदर्थमङ्गस्यानुष्ठानं तत् प्रयोजकम्; यथा 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति' इत्यत्र पुरोडाश एव कपालप्रयोजकः, कपालः प्रयोज्य इति।।१५४७।।

पञ्चमषष्ठयोरर्थं सूचयति—शब्दादिक्रमत इति। तेषां कर्मणाम् अनुमानम् अङ्गाङ्गिभावनिश्चयोत्तरं मानं परिमाणम्, इयत्तारूपम्, शब्दादिभिः—श्रुत्य-ऽर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्तिरूपैः[3]। षड्भिः प्रमाणैर्बोध्यमित्यर्थः। उदाहरणानि मीमांसाप्रकरणेषु प्रसिद्धानि। कीदृशं कर्मणां परिमाणम्? त्रैवर्णिकैः सपत्नीकैः[4] अधिकारिभिः व्यवस्थितं व्यवस्थया क्रियमाणम्। कीदृशैरधिकारिभिः? एकानेकैः[5] यागेषु एकसङ्ख्याकैः, सत्रेषु अनेकसङ्ख्याकैरित्यर्थः।।१५४८।।

के होते हैं— क) विधात्री श्रुति—लिङादि। ख) अभिधात्री श्रुति—जैसे 'इन्द्र' आदि। ग) विनियोक्त्री श्रुति—जहाँ एक ही प्रत्यय अपने दो अर्थों में शेषशेषिभाव बताये; या एक पद अपने दो हिस्सों में उसे बताये; या विभक्ति शेषत्व अथवा शेषित्व बताये वहाँ विनियोक्त्री श्रुति होती है। जैसे 'पशुना यजेत' में कारक के प्रति एकत्व संख्या शेष है यह तृतीया श्रुति ने ही बता दिया अतः एकप्रत्ययरूप विनियोक्त्री श्रुति है। 'यजेत' यहाँ प्रत्ययोक्त भावना के प्रति याग को शेष बताया है अतः एकपद रूप विनियोक्त्री श्रुति है। विभक्तियाँ भी शेषत्व या शेषित्व बताती हैं: द्वितीया और चतुर्थी शेषित्व बताती हैं और तृतीया, पंचमी व सप्तमी शेषत्व बताती हैं। षष्ठी दोनों बताने में समर्थ है, योग्यतानुसार निर्णय किया जाता है कि कहाँ क्या बता रही है।) ।।१५४७।।

४०) कर्मों का परिमाण पुनः शब्दादि छह प्रमाणों से समझा जाता है। (परिमाण अर्थात् क्रम; किस के बाद क्या करना इसके निर्णायक विभिन्न प्रमाण हैं। जैसे कहीं कह दिया कि अमुक करके ऐसा करे तो 'करके' इस श्रुति से क्रम बता दिया। या कहीं प्रयोजनवश क्रम समझा जाता है अर्थात् जिसकी जरूरत पड़नी है उसे पहले तैयार कर लेना चाहिये और जिसमें जरूरत पड़नी है वह काम बाद में करना चाहिये; इत्यादि) ४१) त्रैवर्णिक पुरुष सपत्नीक ही कर्माधिकारी हैं। ४२) यागों में एक एवं सत्रों में अनेक यजमान होते हैं।।१५४८।।

४३) विवेकी को द्रव्यादि के विचार से ही निर्णय करना चाहिये कि 'इस प्रकृति की यह विकृति है'। मनीषियों को बिना विचारे इस बारे में निश्चय नहीं करना चाहिये। (अर्थात् प्रकृति-विकृति कर्मों में द्रव्य, देवता आदि की समानता मिलने से प्रकृति-विकृतिभाव का निश्चय करे, सर्वथा विसदृश कर्मों में यह भाव न मान ले।) ।।१५४९।।

१. एतत्सर्वं द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे विचारितम्। प्रकरणान्तरचर्चा तत्रैव तृतीयपाद एकादशाद्यधिकरणेषु। २. तृतीयाध्यायप्रथमपादे प्राधान्येन श्रुतिविचारः। ३. २. १- २ इत्यनयोः लिंगवाक्ययोः, ३.३.४ तमे प्रकरणस्य तत्रैव पंचमे स्थानस्य षष्ठे च समाख्याया विचारः। सप्तमादावेषां बलाबलचिन्ता। ३. अयं च पंचमाद्यस्य विषयः। ४. षष्ठप्रथमे विचारः। ५. षष्ठद्वितीये प्रथमद्वितीययोरधिकरणयोश्चर्चा।

विकृतौ सर्वदैवोहः पदादीनां मनीषिभिः। बाधश्च खलु विज्ञेयस्तत्र सर्वेषु कर्मसु।।१५५०।।
अन्यार्थं हि कृतेन स्याद् उपकारः परस्य यः। स प्रसङ्गः परं तन्त्रम् एकं नानार्थसिद्धये।।१५५१।।
य इत्यादि पुमान् वक्ति ह्यन्यच्चाऽपि सदा वदेत्। ब्रह्मज्ञाने यतः सन्ति यज्ञादीनि सहस्रशः।
साधनान्यहमेवैतत् सर्वं वेद्मि न चाऽपरः।।१५५२।।

सप्तमाष्टमयोरर्थं सूचयति—द्रव्यादीति। दर्शकस्य इति कर्तरि षष्ठी। तथा च दर्शकेन विवेकिना विकृतिगतं द्रव्यदेवतादिकं दृष्ट्वा 'इयं विकृतिः अस्य कर्मण' इति विशेषतः[1] प्रकृतिविकृतिभावो ज्ञेय इत्यर्थः। यथा सौर्ययागे एकदेवताकत्वम् औषधिद्रव्यकत्वं च निश्चित्य आग्नेयपुरोडाशविकृतित्वं ज्ञायत इति। एतेन चोदनालिङ्गाख्य-प्रमाणप्रदर्शनेन प्रत्यक्षवचनातिदेशो,[2] नामातिदेशश्च[3] सूचितः। तयोरुदाहरणं च 'समानमितरत् श्येनेन' इति; कुण्डपायिनामयने'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इति च बोध्यम्। ।।१५४९।।

नवमदशमयोरर्थं सूचयति—विकृताविति। विकृतियागे प्रकृतितः प्राप्तमन्त्रादिगतानां पदपदावयव-सामसंस्काराणाम् ऊहः प्रधानानुसारेण रूपान्तरापत्तिरूपो ज्ञेयः। तथा तत्र विकृतौ कर्मसु विशेष- विहिताङ्गैः सर्वेषु पूर्णेषु सत्सु प्राकृताङ्गानां बाधो निवृत्तिरूपो विज्ञेयः। यथा 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति मन्त्रस्य सौर्ययागे 'सूर्याय जुष्टम्' इत्यादिप्रयोगरूप ऊहः[4]। शतकृष्णलचरौ च[5] व्रीहीणां तत्संस्काराणाम् अवहननादीनां च बाधः।।१५५०।।

द्वादशैकादशयोरर्थमाह—अन्यार्थमिति। यत्र अन्यार्थं कृतेन अङ्गेन अन्यस्य उपकारः स प्रसङ्ग इत्युच्यते। यथा (१२.१.१) पशुयागे पश्वर्थं कृतैः प्रयाजैः पुरोडाशस्योपकारः इति। यत्र तु एकम् एकवारं कृतं कर्म नाना-प्रधानानाम् अङ्गभूतं तत् तन्त्रम् इत्युच्यते। यथा पूर्णमासे (११.१.८) आग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीयाख्यप्रधानानां सकृदनुष्ठितप्रयाजा उपकारकाः। ।।१५५१।।

पूर्वमीमांसार्थमुपसंहृत्य उत्तरमीमांसापदार्थांस्तथोपलक्षयति—य इत्यादीति। यः पण्डितंमन्यः इत्यादि पूर्वमीमांसापदार्थजातं सदसि वदति सः अन्यच्च शास्त्रान्तरार्थजातम् एवं वदेत्। 'एवं' कथम् ? ब्रह्मज्ञान-साधनानाम् अहमेव वेत्तेति। ज्ञात्वाऽपि साधनाननुष्ठाने न त्रपते! इत्यतिचित्रमिति भावः।।१५५२।।

४४) विचारशीलों को चाहिये कि विकृति में जब प्रकृति से पद आदि लायें तो उनमें यथायोग्य परिवर्तन भी कर लें। (जैसे 'अग्नये' इत्यादि मंत्र सूर्यदेवताक याग में लाये तो 'अग्नये' की जगह 'सूर्याय' कहे, इत्यादि) ४५) विकृति कर्म जिन अंगों से परिपूर्ण हों उन अंगों को प्रकृति से नहीं लाना चाहिये। (कहीं उपयोग न होने से, विकृति में विशेष अंगका उपदेश होने से और कहीं स्पष्ट निषेध होने से यह बाध होता है।) ।।१५५०।।

४६) एक के प्रयोजन से निर्वर्तित अंग जब अन्यका भी उपकार करे तब उसे 'प्रसंग' कहते हैं (जैसे निमंत्रित व्यक्ति के लिये मिष्टान्न आदि बना हो तो अनिमंत्रित भी यदि जवाई आ जाये तो उसे भी उसमें से खिला देते हैं।) ४७) जहाँ एक बार अनुष्ठित कर्म अनेक प्रधानों का अंग बन जाये वहाँ 'तन्त्र' कहा जाता है। (जैसे पूर्णमास याग में प्रयाजों को एक बार ही करना पड़ता है और वे आग्नेय आदि तीनों प्रधान कर्मों की सांगता संपन्न कर देते हैं।) ।।१५५१।।

स्वयं को पंडित समझने वाला जो व्यक्ति पूर्वोक्त ढंग के पूर्वमीमांसाप्रसिद्ध विषय सभा में बोलता है वह ऐसा भी कह सकता है 'क्योंकि हजारों यज्ञादि ब्रह्मज्ञान में साधन हैं इसलिये मैं ही ज्ञान-साधन जानता हूँ, और कोई नहीं जानता! (अर्थात् मीमांसक यदि ब्रह्मज्ञान मानते हैं तो उपासनारूप ही मानते हैं अतः बादरायण की चतुर्लक्षणी को

---

१. अष्टमाध्यायप्रथमपादे द्वितीयाधिकरणमत्र निदर्शनम्। २. ७.१.२। ३. ७.३.१। ४. ६.१.१३ न्यायमालायाम्। ५. दशमद्वितीये विचारः।

न्यायशास्त्रं व्यामोहकम्

इदं त्र्यवयवं वाक्यम् एतद् द्व्यवयवं तथा। पञ्चावयवमेतत् स्यात् साधनं चेतरन्न हि।।१५५३।।

अयमात्माऽऽश्रयस्तर्को ह्ययमन्योन्यसंश्रयः। चक्रग्रहस्त एषोऽपि ह्यनवस्थाहतोऽपरः। प्रसङ्गहत एष स्यात् प्रतितर्कहतोऽपरः।।१५५४।।

प्रमाणशास्त्रे न्याये प्रसिद्धान् कांश्चित् पदार्थान् व्यामोहकतयाऽनुवदति—इदमिति पञ्चभिः। इदं प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपम्, उदाहरणोपनयनिगमनरूपं वा, त्र्यवयवं परार्थानुमानवाक्यं मीमांसकैरुच्यते। इदम् उदाहरणोपनयरूपं द्व्यवयवं बौद्धैरुच्यते। तथापि एतत् न्यायशास्त्रे प्रसिद्धं प्रतिज्ञादिनिगमनान्तमेव वाक्यं साधनं साध्यनिश्चयोपयोगि स्यात्, पूर्णत्वादित्यर्थः।।१५५३।। अनुमानमूलव्याप्तिज्ञानमूलत्वेन प्रधानस्य तर्कस्य षड्भेदान् आत्माश्रया-ऽन्योन्याश्रय-चक्रका-ऽनवस्था-व्याघात-प्रतिबन्दिरूपान् प्राचीनसम्मतान् अभिनयति—अयमिति। तार्किक एवं परान् दूषयति 'एवं', कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्; त्वन्मते अयमात्माश्रयाख्यस्तर्क इत्यादि योज्यम्। तत्र १) स्वसिद्धौ स्वापेक्षणे बाधकस्तर्क आत्माश्रय इत्युच्यते। यथा स्वभाववादिनं स्वयं जन्यतां कार्याणां स्वी कुर्वन्तं प्रत्युच्यते 'यदि कार्यं स्वजन्यं स्यात् तर्हि स्वपूर्वकालवृत्ति स्याद्'इति। २) एवं परस्परापेक्षणे बाधकस्तर्कः अन्योन्याश्रयः। ३) अपेक्षणद्वयव्यवहिते पूर्वापेक्षणे बाधकस्तर्कः चक्रकम्। ४) अपर्यवसितोत्तरापेक्षणे बाधकस्तर्कः अनवस्था इति। ५) प्रसङ्गहतो व्याघातः। यथा 'यदि वह्निः शीतो न स्यात् तदा वह्निरेव न स्याद्' इत्यादिः यं प्रकृत्य इदमुक्तं 'सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना। न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः।।' इति। ६) प्रतितर्कः प्रतिबन्दी, तुल्या युक्तिरिति यावत्। तया हतः प्रतिरुद्धः। यथा 'शब्दो यदि नित्यो न स्यात् तदा श्रावणो न स्याद्' इति मीमांसकेनोक्ते नैयायिक आह 'शब्दो यदि अनित्यो न स्यात् तदा कृतिसाध्यो न स्याद्' इति।। १५५४।।

तो व्यर्थ ही समझते हैं। ऐसे ही कुछ अद्वैती संन्यास से डरकर स्वीकारते हैं कि यज्ञादि करते रहने से ज्ञान शीघ्र मोक्ष देगा! वे भी मानो संन्याससंप्रदाय को मोक्षौपयिक साधनों से बेखबर मानकर स्वयं को ही साधनेवत्ता समझते हैं। पुराणकार का अभिप्राय है कि उक्त मीमांसा जानने वाले श्रवणादि में तत्पर नहीं हो पाते क्योंकि धर्म के बोधक वाक्यों के विचार के नियमों को ही पर्याप्त मान कर उन्हीं के बल पर ब्रह्म वाक्यों का अर्थ समझने का उन्हें भ्रम हो जाता है।) ।।१५५२।।—यहाँ तक मीमांसा के बारहों अध्यायों का दिग्दर्शन कराया।

जैसे पद और वाक्य शास्त्र ऐसे ही प्रमाणशास्त्र अर्थात् न्याय भी अनात्मचर्चा से व्यामोह में ही डालता है। वहाँ ऐसे विचार मिलते हैं—

१) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय, निगमन यों तीन ही अवयवों का उल्लेख करने वाले वाक्य को मीमांसक परार्थानुमान में पर्याप्त मानते हैं जबकि उदाहरण और उपनय रूप दो अवयवों वाले को ही बौद्ध पर्याप्त मानते हैं, किन्तु न्यायशास्त्रानुसार पाँचों अवयवों का उल्लेख करने वाला वाक्य ही साध्य का निश्चायक होता है, दो या तीन अवयव वाला नहीं। (साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है, जैसे 'पर्वत वह्निमान् है'। साध्य-सिद्धि के चिह्न का बोधक हेतु नामक अवयव है, जैसे 'क्योंकि धूमवान् है'। व्याप्ति दिखाते हुए दृष्टांत बताना उदाहरण है, जैसे 'जो धूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है यथा रसोई'। व्याप्ति से विशिष्ट लिंग पक्ष पर है यह कहना उपनय है, जैसे 'वह्निव्याप्य धूम वाला यह पर्वत है'। उक्त विशिष्ट लिंगवश पक्ष में साध्य का निर्णय कहने वाला निगमन नामक अवयव है, जैसे 'इसलिये पर्वत वह्निमान् है'।) ।।१५५३।।

तार्किक अन्यों को दोष देते हुए यों कहता है : (२) 'तुम्हारे मत में आत्माश्रय नामक तर्क है।' (अनिष्ट का प्रसंग होना तर्क कहलाता है। आत्माश्रय अनिष्ट है क्योंकि साधक नहीं हो पाता। अपनी ही सिद्धि के लिये अपनी

इष्टापत्त्या स्वयं ग्रस्त एषोऽनिष्टाकृतौ तथा। व्याप्त्या हीनस्त्वयं तर्को विपरीतोऽप्ययं तथा।
अनुग्राहकशून्योऽयम् अयं स्यादप्रयोजकः।।१५५५।।

आपादकोऽत्र विज्ञेयो हेत्वाभासोऽपि दुर्बलः। आपाद्यं च तथैवैतद् आश्रयादिविवर्जितम्।।१५५६।।

असत्तर्कानाह—इष्टापत्त्येति। यत्र तर्के परस्य इष्टमेव सिद्ध्यति; यथा 'यदि विषयाणां भेदो ज्ञानाद् न स्यात् तदा तेषां सत्यत्वं न स्याद्' इति अद्वैतवादिनं प्रति आपादने; तादृशस्तर्क इष्टापत्त्या ग्रस्त उच्यते। यश्च तर्कः प्रतिवादिनोऽनिष्टस्याकृतौ अकरणे पर्यवसन्नः, पराऽनिष्टाऽनारम्भक इति यावत्, सोऽपि तथा इष्टापत्तिग्रस्तवद् असन्नित्यर्थः। यथा व्यवहारे यदि कर्मवैचित्र्यं न स्यात् तदा सृष्टिवैचित्र्यं न स्याद्—इति कर्मवैचित्र्यसाधने परमार्थद्वैतवादिनो न किञ्चिद् अनिष्टमिष्टं वेति। यत्र अव्याप्येन अव्यापकापादनं, यथा वह्निना धूमस्य, (स) तर्को व्याप्तिहीनः। यत्र तु व्यापकं प्रथमं निर्दिश्य व्याप्यम् आपाद्यते, यथा यदि धूमो न स्यात्तदा वह्निर्न स्याद् इति, स तर्को विपरीत उच्यते। यस्य तर्कस्य अनुग्राहकं प्रमाणान्तरं नास्ति सः अनुग्राहकशून्यः। अयम् अनुग्राहकशून्य एव अप्रयोजक उच्यत इत्यर्थः। यथा यदि नित्यः फलारम्भको न स्यात्तदा स्वरूपयोग्य एव न स्याद् इत्यादिः।।१५५५।।

हेत्वाभासान् सूचयति—आपादक इति। साध्यस्य आपादकः साधकतयोपन्यस्तोऽयं हेतुः हेत्वाभासः यतो दुर्बलः व्याप्तिपक्षधर्मतारूपेण बलेन हीनः। तथाऽत्र तवाऽनुमाने आपाद्यं साध्यम् आश्रयेण आदिपदग्राह्यया प्रसिद्ध्या च हीनमित्यर्थः।।१५५६।।

ही ज़रूरत पड़ना आत्माश्रय होता है। जैसे जो माने कि वस्तुएँ खुद-ब-खुद पैदा होती हैं उनके मत में खुद के जन्म के लिये खुद की जरूरत पड़ना—यह आत्माश्रय है।) (३) यह अन्योन्याश्रय तर्क है। (स्वभिन्न होने पर भी यदि स्वका साधक स्वकी अपेक्षा रखे तो यह दोष कहा जाता है।) (४) यह तुम्हारा चक्रग्रह या चक्रक तर्क है। (स्वसाधक का साधक यदि स्वकी अपेक्षा रखे अर्थात् तीसरी कोटि में स्वकी अपेक्षा पड़े तो चक्रक दोष कहलाता है।) (५) यह अन्य तर्क अनवस्था से दूषित है। (यदि अपेक्षित साधकों की शृंखला अनंत हो तो यह दोष होता है।)।। (६) यह व्याघात है। (प्रमाण से बाधित अर्थ वाला होने पर प्रसंगहत या व्याघात कहा जाता है। जैसे 'यदि आग ठण्डी न हो तो वह आग ही न रहे!' यह तर्क दिया जाये तो प्रसंगहत कहलायेगा) (७) यह प्रतितर्क से कटा हुआ है। (जिसकी काट का दूसरा तर्क मौजूद हो उसे प्रतितर्क अर्थात् विरुद्ध तर्क से पराहत कहते हैं।) ।।१५५४।। (८) यह खुद इष्टापत्ति से युक्त है। (वादी को दिया दोष यदि वादी के सिद्धान्त के अनुकूल ही हो तो दोषदाता का तर्क इष्टापत्ति से युक्त होने से व्यर्थ माना जाता है। प्रतिवादी को जो इष्ट अर्थात् स्वीकृत है उसे ही उस पर आपत्तिरूप से लादने का प्रयास वादी के लिये निष्फल होने से वादी की ग़लती माना जाता है।) (९) यह अनिष्ट का अनापादक होने से इष्टापत्ति जैसा ही गलत है। (प्रतिवादी के सिद्धान्त में दोष न दे पाये अतः उसके लिये अनिष्ट न हो तो वादी का तर्क विफल होने से ग़लत है।) ६) यह तर्क व्याप्तिरहित है। (अव्याप्य से जब अव्यापक का आपादन करें तो यह दोष होता है जैसे कहें कि 'वह्नि है तो धूम ज़रूर है', तब यह दोष है क्योंकि बिना धूम के भी वह्नि होती ही है।) (१०) यह विपरीत तर्क है। (व्यापक के निर्देश से व्याप्यका आपादन करें तो यह दोष है जैसे 'यदि धूम न हो तो वह्नि भी न होगी' इत्यादि।) (११) इस तर्क पर अनुग्रह करने वाला कोई नहीं अतः यह सदोष है। (तर्क पर प्रमाण का अनुग्रह अर्थात् समर्थन चाहिये अन्यथा वह तर्क व्यर्थ होता है। इसी को 'अप्रयोजक' नाम से भी कहते हैं क्योंकि अपने द्वारा तर्कित पदार्थ को मनवाने में यह असमर्थ होता है।)। १५५५।।

(१२) व्याप्ति और पक्षधर्मता रूप बल से रहित होने पर हेतुरूप से कहा हुआ भी हेत्वाभास ही होता है। (१३) साध्यतया कहा यदि आश्रयहीन या अप्रसिद्ध हो तो भी उसके लिये उपन्यस्त हेतु वस्तुतः हेत्वाभास ही है।।१५५६।।

दृष्टान्तो नास्ति कोऽप्यत्र समीचीनो हि यो भवेत्। उदाहरणमस्योक्तं व्यर्थमेवाऽत्र दुर्धिया। न स्याद् निगमनस्यास्य ह्युपयोगोऽत्र कश्चन।।१५५७।।

शास्त्रवासनायां दोषः

इत्यादितर्कसंसक्तचित्तश्चञ्चलधीरयम्। एतत् सर्वमहं वेद नान्यो वेत्तीति मन्यते।।१५५८।।

एवं मन्वान आत्मानं गर्वं परमुपागतः। दन्तदर्शं श्वभिः श्वेव व्यर्थं क्रोधमुपाव्रजेत्।।१५५९।।

क्षुधा निद्रा पिपासा वा बहु कस्य न जायते। अहर्निशं प्रसार्याऽऽस्यं क्रोष्टेवैषोऽत्र वर्तते।।१५६०

दृष्टान्त इति। दृष्टान्तस्य समीचीनत्वं साध्यादिमत्तयोभयवादिप्रसिद्धत्वम्। उदाहरणम् उदाहरणसंज्ञं वाक्यम् अत्र अनुमाने मन्दबुद्धिना वादिना व्यर्थमुक्तम्, विपरीतत्वेन व्याप्त्यनिश्चायकत्वाद् इति भावः। तथा हेतुनिर्देशोत्तरप्रतिज्ञावचनरूपस्य निगमनस्य विपरीतः प्रयोगो व्यर्थ इत्यर्थः।।१५५७।।

वर्णितप्रपंचस्य प्रकृतोपयोगमाह—इत्यादी-त्यादिना। अयं शास्त्रवासनावान् उक्तविधतर्केषु एव सक्तचित्तो रजसा व्याप्तधीत्वाद् आत्मानं सर्वज्ञं मन्यत इत्यर्थः।।१५५८।। एवमिति। एवं सर्वज्ञतया आत्मानं मन्यमानः अतिमानी दन्तदर्शं सकलान् दन्तान् दर्शयन् व्यर्थं क्रुद्ध्यति। सर्वदन्तदर्शने दृष्टान्तः श्वभिर्वेष्टितः श्वेति। 'कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये' (३.४.२९) इति णमुल्। ।१५५९।।

अनात्मविदः शास्त्रज्ञत्वेऽपि इतरजन्तुभ्यः को विशेषः ? क्षुत्पिपासादिधर्मैः साम्यात्; यदि तु वाचाटत्वमात्रं विशेषः, तदा बहुक्रोशनेन लब्धक्रोष्टुनाम्ना शृगालेन साम्यम् ! इत्याह—क्षुधेति। दिवा क्षुत्पिपासादिभिः नक्तं निद्रया च सर्वजन्तुषु भूयस्या मुखप्रसारणसाम्ये क्रोशनाधिक्यं क्रोष्टुः साम्यातिशयं पुष्णातीति भावः। एषः पण्डितंमन्यः।। १५६०।। अकारणमिति। अयं पण्डितमानी अकारणं निष्प्रयोजनं विवेकिनो जनान् अधिक्षिपति अवजानाति। तथा अर्थकर्तॄन् व्याख्यातॄन् उपहसति।।१५६१।। पिशुन इति। आरोप्य असतोऽपि कल्पयित्वा

(१४) इस बारे में कोई समीचीन दृष्टांत नहीं है। (उभयवादिसंमत या कम से कम जिसके लिये प्रयोग किया है उसे संमत कोई दृष्टान्त न हो तो कहा होने पर भी हेतु नहीं हेत्वाभास होता है।)

(१५) इस अनुमान में मंदबुद्धि वाले वादी ने जो उदाहरणवाक्य कहा है वह विपरीत होने से व्याप्तिनिश्चय नहीं कराता(अतः हेतु वस्तुतः हेत्वाभास है)। (१६) इस अनुमान में इस निगमन से कोई फायदा नहीं। (जहाँ निगमनवाक्य प्रतिज्ञानुरूप न हो वहाँ यह दोष होता है।) ।।१५५७।।

इस प्रकार शुष्क तर्कों में जिसका मन रम जाता है वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता फिर भी 'मैं यह सब जानता हूँ जो और कोई नहीं जानता' यों अपने को वह सर्वज्ञ माने रहता है ।।१५५८।। अपने को यों सबसे ज्यादा समझदार मानते हुए उसे अत्यधिक गर्व हो जाता है जिससे वह दाँत दिखाते हुए व्यर्थ ही क्रोध करता है जैसे कुत्तों से घिरा कुत्ता दाँत दिखाकर गुर्राता है ! ।।१५५९।। शास्त्र जानने से इसने पाया क्या ? बहुतेरी भूख, प्यास और नींद तो किसे नहीं लगती! ये तो सभी प्राणियों को सुलभ हैं। संसार में दिन-रात मुँह फाड़े चिल्लाना यदि इसकी विशेषता है तो भी मानना पड़ेगा कि इसने इतनी मेहनत से सियार की ही समानता पायी! ।।१५६०।। यह पंडितंमन्य बिना कारण इन सब ब्रह्मचिंतन में तत्पर विवेकियों की अवज्ञा करता है और व्याख्याकारों की हँसी उड़ाता है।। १५६१।। गलत अफवाह फैलाने वाले दुष्टों की तरह यह दुर्वादी सज्जनों पर हमेशा ऐसे दोषों की कल्पना कर दोषारोपण करता है जो उनमें कभी हो नहीं सकते। पण्डितापसद निर्लज्ज होकर कहता है 'इस बारे में पाणिनि भ्रम में थे।' 'इस विषय

अकारणमिमान् सर्वान् विदुषो ब्रह्मचिन्तकान्। अधिक्षिपत्ययं तद्वद् अर्थकर्तॄन् हसत्यपि।।१५६१।।

पिशुनो दुर्जनो यद्वद् आरोप्यापि वदेदयम्। दोषान् साधुजनस्येत्थं दुर्वादी ह्येष नित्यशः।।१५६२।।

पाणिनिस्त्वत्र विभ्रान्तो भ्रमचित्तोऽत्र जैमिनिः। अविचार्यैवमाहात्र भगवान् बादरायणः।।१५६३।।

वेदवाक्यमिदं मत्तवाक्येन सदृशं त्विह। क्षिप्तं वा केनचिद् नैव व्यर्थमेतद् भविष्यति।।१५६४।।

स्वरवर्णक्रमादौ च पाठकानेष निन्दति। अहो ! एतैरयं वेदः सर्वोऽप्यत्र विनाशितः[1]।।१५६५।।

वदन्नीदृशगर्वाढ्यो गुरुमप्यवमन्यते। यादृशी वर्तते बुद्धिर्मम तीक्ष्णा न तादृशी।। मद्गुरोर्ब्रह्मणो वैषा नासीदस्ति भविष्यति।।१५६६।।

समुद्रस्येव कल्लोला मम वाचो मनोरमाः। निर्यान्त्यविरतं चित्राः पदवाक्योक्तलक्षणाः।।१५६७।।

इत्यादि बहुधा प्राप्य विद्वत्ताभारमातुरः। क्रोशत्यतोऽतिनिन्द्योऽयं दुर्जनो रासभो यथा।।१५६८।।

साधूनां दोषान् अयं पण्डितपाशो[2] वदेद् इत्थं वक्ष्यमाणविधया।।१५६२।। 'इत्थं'—पदार्थमभिनयति— पाणिनिरिति। अत्र एतत्सूत्रनिर्माणे। तृतीया-ऽत्र-पदस्य एतत्सूत्र इत्यर्थः। इदं पदमहं सर्वं वेद्मीति भावः।।१५६३।। वेदेति। इदं वेदवाक्यमिह प्रकरणे प्रमत्तवाक्यवदसङ्गतम् अतः केनचिद् अत्र प्रक्षिप्तं भविष्यति। अथवा न व्यर्थं सार्थकमेव भविष्यति, एतदर्थमहमेव वेद्मीति भावः।।१५६४।। स्वरवर्णेति। आदिपदेन पदादिग्रहः। तथा स्वानभ्यस्ते स्वाराद्युच्चारणप्रकारे वेदपाठकान् एष पण्डितमानी निन्दति। कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम् आह—अहो! इत्यादि।।१५६५।। वदन्निति। ईदृशगर्वाढ्यो वदन्नात्मश्लाघां कुर्वन् गुरुमप्यवजानाति। तदभिनयति—यादृशीति। मद्बुद्धिसदृशी बुद्धिः मद्गुरोः दुर्लभैव! तस्या ब्रह्मण्यपि संशय एव! इत्यर्थः।।१५६६।।तत्र निरर्गलरमणीयवाक्यप्रवृत्तिं हेतुमाह—समुद्रस्येति। पदवाक्यशास्त्रयोः उक्तानि लक्षणानि यासां तास्तथा।।५६७।। एवंविधस्य बहुभाषणं भारक्रान्तक्रोशनसमं मत्वा विवेकिभिः स उपेक्षणीय इत्याह—इत्यादीति। विद्वत्तां दुःखदत्वाद् भारसमां प्राप्य इत्यादि उक्तप्रकारं बहुधा यत् क्रोशति अतोऽयं दुर्जन इति सम्बन्धः।।१५६८।।

में जैमिनि की बुद्धि सही नहीं समझ पायी।' 'कहलाते भगवान् हैं लेकिन बादरायण ने इस सूत्र में यह बात बिना विचारे ही कह दी है!' इस प्रकरण में आया यह वेदवाक्य किसी नशेबाजकी बात जैसा असंगत है। हो सकता है किसी ने ग्रंथ में बाद में जोड़ दिया हो। मैं जैसी व्याख्या करूँ वैसा ही इसका अभिप्राय मानो अन्यथा यह वाक्य निरर्थक होगा!' ।।१५६२-४।।

स्वर, वर्ण, क्रम आदि के बारे में यही वेदपाठ करने वालों की भी निंदा करता है 'अरे! इन्होंने इस सारे ही वेद को इस समय बिगाड़ रखा है।' ।१५६५।।। ऐसे गर्व वाला वह जब अपनी प्रशंसा करने लगता है तब अपने गुरु की भी अवज्ञा कर जाता है 'मेरी बुद्धि जैसी कुशाग्र है वैसी मेरे गुरु की तो नहीं ही थी, ब्रह्मा जी की वैसी है यह भी संदिग्ध ही है! आगे भी किसी की ऐसी होनी नहीं। वर्तमान में तो खैर मैं ही अकेला ऐसा बुद्धिमान् हूँ। व्याकरण मीमांसा आदि शास्त्रों में प्रशंसित गुणों वाली, वैविध्यपूर्ण और मन-भावन मेरी वाणी धाराप्रवाह बहती है मानो समुद्र की लहरें हों!' ।।१५६६-७।। यों यह अनेक प्रकार से अनर्गल बातें बोलता रहता है मानो विद्वत्ता इस पर कोई बोझ हो गया हो जिससे व्याकुल हो यह कराह रहा हो। इसलिये यह दुष्ट व्यक्ति गधे जैसा मूर्ख होने से अत्यंत निंदनीय है।।१५६८।।

---

१. श्लोकद्वयोक्तविधयाऽधुनाप्यार्यसमाजानुयायिन आहुः। २. 'याप्ये पाशप्' ५.३.४७।

गृहक्षेत्रकलत्रादि दुस्त्यजं सर्वजन्तुभिः। त्यक्त्वाऽपि न त्यजत्येष गर्वपर्वतमद्भुतम्।।१५६९।।

दध्योदनं यथा कश्चिद् भारभृन्मस्तकस्थितम्। परित्यज्य वहेद् व्यर्थं पाषाणं हस्तिसन्निभम्।।१५७०।।

तथा सुखकरं सर्वं त्यक्त्वा दारादिकं पुमान्। दुःखदं गर्वमत्यन्तं वहत्येष सुदुर्वहम्।। १५७१।।

नानुध्यायेद् बहून् शब्दान् स्वात्मने हितकृत्ततः। शब्दानां बहुशो ध्यानं वाचो विग्लापनं हि तत्।।१५७२।।

चतुःस्तनीं कामधेनुं क्षीरिणीं जननीसमाम्। वाचं ग्लानिं नयेत् को वा चेतनः पुरुषो भुवि।।१५७३

तस्मात् प्रज्ञां विधायैव ब्रह्मणि स्वात्मरूपिणि। व्यापारमिन्द्रियाणां हि जह्यादेवाऽविचारयन्।१५७४

केचित् प्रव्रजिता अप्युक्तविधपाण्डित्यगर्वभारं वहन्ति; तानुद्दिश्याह—गृहेति। जन्तुभिः दुस्त्यजं गृहादि त्यक्त्वाऽपि भारेण दुःखदत्वात् पर्वतखण्डसमं गर्वं न त्यजति इति अद्भुतम् इत्यन्वयः।। १५६९।। 'गर्वपर्वतम्' इत्येतत् स्फुटयति—दध्योदनमिति। यथा कश्चिद् भारभृद् भारवाहक उपकारकं दध्योदनं विहाय महापाषाणं शिरसि धारयेत् तथा उपकारकं दारादिकं त्यक्त्वा गर्वरूपमहापाषाणस्य धारणं वृथा। इति द्वयोरर्थः।।१५७०-१।।

फलितमाह—नानुध्यायेदिति। विग्लापनं वृथा श्रान्ती करणम् ।।१५७२।।

वाग्रूपधेनुः प्रसादितैवाऽमृतं स्रवति, न तु ग्लानिं नीता सतीत्याह—चतुरिति। स्वाहाकारवषट्कारस्वधाकारहन्तकाररूपा देवपितृमनुष्याणां सप्तमाध्यायोक्तविधया तर्पकाश्चत्वारः स्तना यस्याः सा तथा, ताम्। अमृतमयक्षीरप्रदां वाग्रूपां धेनुं को विवेकी ग्लानिं प्रापयेद् ? इत्यर्थः।।१५७३।। केन वाग्धेनुस्तुष्यति ? इत्याकाङ्क्षां पूरयन् निगमयति—तस्मादिति स्पष्टम्।।१५७४।।

घर, खेत, पत्नी आदि छोड़ना सभी के लिये मुश्किल है किन्तु उन्हें छोड़ने वालों में भी ऐसे मिल जाते हैं जो गर्व नामक अद्भुत पहाड़ से नीचे उतर ही नहीं पाते! ।।१५६९।। कोई भार ढोने वाला सिर पर रखे दही-चावल को फेंक कर हाथ-भर का बेकार का पत्थर माथे पर रख ले—ऐसी ही स्थिति उसकी है जिस पुरुष ने सुखप्रद पत्नी आदि सब छोड़कर अत्यंत दुःख देने वाले गर्व को ढोना प्रारम्भ कर दिया। प्रत्यक्ष दुःख, लोकनिंदा और पाप—तीनों का हेतु होने से गर्व तो मूर्ख के भी ढोने लायक नहीं है।।१५७०-१।।

सार यही है कि जो अपना हित करना चाहे उसे बहुतेरे शब्दों के चिंतन में नहीं उलझना चाहिये क्योंकि वह व्यर्थ में वाणी (और बुद्धि) को थकाता ही है, कोई लाभ नहीं करता। ('बहुतेरे शब्द' अर्थात् बहुत्व या भेद सत्य है इसे सिद्ध करने वाले शब्द। इनका कथन करते रहने का फल वार्तिक में 'वाक्-तालु-गलशोषणम्' (६६४) बताया है। अत एव भगवान् शंकराचार्य ने उपदेशसाहस्री के पार्थिव प्रकरण में कहा है 'त्यक्त्वाऽतो ह्यन्यशास्त्रोक्तीः मतिं कुर्याद् दृढां बुधः।। श्रद्धाभक्ती पुरस्कृत्य हित्वा सर्वमनार्जवम्। वेदान्तस्यैव तत्त्वार्थे व्यासस्याभिमते तथा।।' ६६-७।।) १५७२।। चार स्तनों से युक्त, दूध देने वाली, माता के समान, कामधेनु इस वाणी को कौन विवेकी पुरुष ग्लानि दे सकता है! इसलिये स्वात्मरूप ब्रह्म में प्रज्ञा प्राप्त कर अन्य किसी चिंता के बिना इन्द्रियचेष्टाओं को उपरत कर देना चाहिये। (अकार-उकार-मकार-नाद ये चार स्तन हैं। ज्ञान दूध है। सर्वकामनिवर्तक होने से कामधेनु है।) ।।१५७३-४।। श्लोक १३४३ से यहाँ तक मंत्रों का व्याख्यान हुआ।

अगली कण्डिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आचार्यों ने भाष्य में इसकी अवतरणिका में कहा है 'सहेतुकौ बन्धमोक्षावभिहितौ मन्त्रब्राह्मणाभ्याम्। श्लोकैश्च पुनर्मोक्षस्वरूपं विस्तरेण प्रतिपादितम्। एवमेतस्मिन्नात्मविषये सर्वो वेदो यथोपयुक्तो भवति तत्तथा वक्तव्यमिति तदर्थेयं कण्डिकाऽऽरभ्यते।' आत्मा के सन्दर्भ में सारे वेद का उपयोग यहाँ बतायेंगे। प्रारंभ में परमात्मा का वर्णन किया है। उस भाग की पुराण में व्याख्या करते हैं :

ईश्वराऽभेदचिन्तनम्

अथ चेद् मनसोऽत्यन्तचञ्चलस्य प्रमाथिनः। अशक्यो निग्रहः कर्तुं तदा वक्ष्यामि ते नृप ।।१५७५
स एवैष महानात्मा ह्यजो यः परिकीर्तितः। प्राणे ज्ञानमयो योऽयम् आकाशो यो हृदि स्थितः।।
यस्मिन् ज्ञानमयः शेते सुषुप्ते सति सर्वदा।।१५७६।।
अयं ज्ञानमयो यस्माद् आधाराधेयभेदवान्। अभिन्नः सुप्तिसमये मयोक्तः स महानजः।।१५७७।।
सर्वमेतज्जगद् राजन्! वशे यस्याऽत्र वर्तते। मन्त्रवादिवशे[1] यद्वत् सकलं भूतभौतिकम्।।१५७८।।
अयं वा सकलैर्जीवैः हृदि स्वस्य वशी कृतः। अपत्यैर्जननी यद्वत् स्वेषु स्निग्धा वशी कृता।।१५७९

'स वा एष' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यं[2] सङ्गमयति— अथेति। अथ इति पक्षान्तरपरिग्रहे। यदि त्वं निर्गुणे मनसो विलयरूपं निग्रहं कर्तुं न शक्नोषि, तथापि सगुणेश्वराभेदचिन्तनरूपमुपायान्तरं वक्ष्यामीत्यर्थः।।१५७५।। 'स वा' इत्यादेः 'असम्भेदाय' इत्यन्तस्य आत्मप्रभावकथनपरस्य अर्थमाह—स एव इत्यूनविंशतिश्लोकैः। आत्मा महान् परिपूर्णः अजो जन्मादिविकारहीनः स एव । 'स' कः ? योऽतीतग्रन्थे कीर्तितः। कथं कीर्तितः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—प्राण इत्यादि। प्राण इति जातावेकवचनम्। तथा च, यः प्राणेषु वायुभेदेषु इन्द्रियेषु च सन्निहितो, ज्ञानमयः बुद्धितादात्म्यापन्न उक्तः, तथा हृदि हृत्कमलान्तराकाशे आकाशरूपः अजातशत्रूपाख्यान उक्तः यस्मिन् हृदन्तराकाशे विज्ञानमयो जीवः, यस्माद्, ल्यब्लोपे पञ्चमी, यमादाय जाग्रदादौ आधाराधेयभेदवान् व्यपदिश्यते, सुप्तिसमये तु स विज्ञानमयः येन अभिन्न एव भवति, स महानजः सर्वेषामात्मतया मयोक्त इत्यर्थः।।१५७६-७।। आत्मनो मायाशबलस्य ऐश्वर्यं विशदयंस्तत्र वशित्वं द्वेधाऽऽह—सर्वमिति द्वाभ्याम्। यस्य आत्मनो वशेऽधीनत्वे सर्वं भूतभौतिकात्मकं जगद् वर्तते यथा मन्त्रा वादिनः सिद्धमन्त्रस्य वशे लोक इत्यर्थः।।१५७८।। अयं वेति। अथ वा अयम् आत्मा सर्वस्य हृदयागारं परित्यज्य न यातीत्यनेन वश्यसाधर्म्येण वशीत्युच्यते; वशोऽधीनत्वं, तद्वत्त्वाद् इति भावः। तत्र जननी दृष्टान्तः। 'वशो जन्मस्पृहायत्तेष्वधीनत्वप्रभुत्वयोः' इति हैमः।।१५७९।।

हे राजन्! अत्यंत चंचल, मानो मथ डालने वाले मन को यदि तुम निर्गुण तत्त्व में विलीन नहीं कर पाओ तो एक अन्य उपाय बताता हूँ जिसमें सगुण ईश्वर से स्वयं को अभिन्न समझने की कोशिश है।।१५७५।।

पहले जिसे प्राणों में सन्निहित कहा था, बुद्धि से एकमेक हुआ बताया था, हृदय में आकाशरूप कहा था, सुषुप्ति के समय हमेशा जीव जिसमें सोता है, जाग्रदादि में जिसे लेकर कहा जाता है कि जीव उसमें आधृत है, सुषुप्ति के समय जीव जिससे अभिन्न हो जाता है, वही यह परिपूर्ण आत्मा है जो जन्मादि विकारों से रहित है। ('हृदय में आकाशरूप' यह बृहदारण्यक में २.१.१.७ में बताया है। पुराण में इस पर तृतीयाध्यायमें विचार कर चुके हैं। 'प्राणों में संनिहित' में प्राण से मुख्य प्राण एवं इंद्रियाँ दोनों समझने चाहिये।) ।।१५७६-७।। हे राजन् ! जैसे जिसने मंत्रों को सिद्ध कर लिया उसके वश में मंत्र होते हैं वैसे सब हिस्सों समेत भूत-भूतकार्य यह सारा जगत् उसी के अधीन है। या जैसे अपने पर स्नेह रखने वाली माता बच्चों द्वारा वश में कर ली जाती है ऐसे सभी जीवों ने अपने हृदय में इस परमात्मा को वश में कर रखा है। इसलिये इसे वशी कहते हैं ! (तभी यह हृदय छोड़कर जा नहीं सकता!) ।।१५७८-९।। गृहस्थ, जैसे अपने घर पर प्रशासन करता है ऐसे यह परमात्मा सारे जगत् पर प्रशासन करता है। जैसे सूर्य अपने वंश में पैदा हुए राजाओं के रूप में मालिक बनकर पालन करता है ऐसे परमात्मा सारे जगत् का मालिक होकर इसका पालन करता है।।१५८०।।

---

१. 'मन्त्रा वादिवशे' इति टीकानुसारी पाठो युक्तश्च। यथाश्रुते मंत्रवादी मांत्रिकः, भूताः प्रेताः भौतिकं तत्कृत्यम्। २. 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवाऽसाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' इति तद्भागमित्यर्थः।

सर्वमीष्टे जगत् सोऽयं स्वगृहं हि गृही यथा । अधिष्ठाय जगत् सर्वं पाति चैवं यथा रविः ।।१५८० ।
कर्मणा सुकृतेनैष नाधिकः स्यात् कथञ्चन । सुकृती हि यथा लोके भूयान् स्याद् यशआदिना१५८१
कर्मणा पातकेनाऽयं कनीयान् न भवेत् क्वचित् । लघुर्भवति पापेन यथा पापरतो जनः ।।१५८२ ।।
एष सर्वेश्वरो देवः पुण्यपापविवर्जितः । राजादिवज्जगत् सर्वमीष्टे वैषम्यवर्जितः ।।१५८३ ।।
भूताधिपतिरप्येष यद्वदेष दिवाकरः । भूतपालोऽप्ययं यद्वच्छिशूनां जननी यथा ।।१५८४ ।।
एष देवः स्वयंज्योतिः परमानन्दरूपभाक् । वर्णाश्रमादिमर्यादाधारकः सेतुरीरितः ।।१५८५ ।।
पारावारान्तरे यद्वद् नीरपूरस्य धारकः । नद्याः काष्ठादिजो दृष्टः सेतुः सकलजन्तुभिः ।।१५८६ ।।
एषां भूरादिलोकानां तद्वदेष विधारकः । असाङ्कर्याय सर्वेषां स्वेन स्वेनात्मना सदा ।।१५८७ ।।
यद्ययं न भवेल्लोके मर्यादानां विधारकः । महाभूतान्यमून्यत्र को नाम विनिवारयेत् ।। १५८८ ।।

तत्र हेतुभूतं प्रभुत्वलक्षणमीशत्वं, तदुपपादकमधिपतित्वं चाह–सर्वमीष्ट इति। सोऽयम् आत्मा सर्वं जगदीष्टे प्रशास्ति। तथा अधिष्ठाय प्रभुर्भूत्वा पाति च, यथा सूर्यः स्ववंश्यराजरूपेण पाति तद्वदित्यर्थः।।१५८०।।

अस्य शुभाऽशुभकर्मभिः वृद्धिहानी न भवत इत्याह-कर्मणेति द्वाभ्याम्। यथा लोके सुकृती यशःप्रभृतिभिः वर्धमानो भवति तथा न अयमित्यर्थः। यथा च पातकी यशआदिना कनीयान् हीनो भवति तथा नाऽयम्। इति द्वयोरर्थः।।१५८१-२।। कर्मणा हानिवृद्ध्योरभावे हेतुतया सर्वेश्वरत्वादीन् योजयति–एष इति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्।।१५८३-४।।

अस्य सकलमर्यादाधारकत्वेन सेतुतां प्रतिपादयति–एष देव इत्यादिना।।१५८५।। सेतुपदार्थमाह–पारेति। यथा नद्याः पारस्य परतीरस्य अवारस्य अपरतीरस्य च अन्तरे मध्ये काष्ठादिनिर्मितः सेतुः जलप्रवाहस्य मर्यादाकरः सर्वलोकप्रसिद्ध इत्यर्थः।। १५८६।। दार्ष्टान्तिके योजयति–एषामिति। तथा एष आत्मा एषां पृथिव्यादिलोकानां स्वेन स्वेन आत्मना रूपेण विधारको व्यवस्थापकः असङ्कराय, स्वार्थे ष्यञ् ।।१५८७।। विधारकत्वं विशदयति यदीति। यद्ययम् आत्मा मर्यादाकरो न भवेत् तदा पृथिव्यादिमहाभूतानि मर्यादामुल्लङ्घमानानि को वारयेद् ? इति ।।१५८८।।

जैसे लोक में सत्कर्म करने वाला यश आदि से समृद्ध हो जाता है ऐसे परमात्मा पुण्य कर्म के कारण किसी तरह बेहतर नहीं होता और जैसे पाप में तत्पर व्यक्ति पाप के कारण यशआदिरहित हो जाता है ऐसे परमात्मा पाप कर्म से कभी छोटा नहीं होता।। १५८१-२।। सब का ईश्वर यह परमात्मदेव पुण्य व पाप से अस्पृष्ट है। राजा आदि की तरह यह सारे जगत् का शासन बिना किसी विषमता के करता है। (अच्छा राजा अपराधी को दण्ड और योग्य को पुरस्कार देता है तो वह विषमता नहीं क्योंकि उन्हीं के कर्मानुसार दे रहा है। ऐसे ही कर्मानुरूप फल देने वाला परमेश्वर विषमतारहित है।) सूर्य की तरह यह सभी भूतों का अधिपति है, मालिक है। शिशुओं का जैसे जननी पालन करती है ऐसे यह सभी भूतों का पालन करता है।।१५८३-४।।

परम आनंद रूप वाला यह स्वप्रकाश महादेव वर्ण आश्रम आदि मर्यादाओं को नियंत्रित रखने वाला सेतु कहा गया है। सभी जन्तुओं ने देखा है कि दोनों किनारों के बीच नदी प्रवाह को मर्यादित रखने वाला लकड़ी आदि से बना सेतु होता है। (आज-कल बन्धानुमा 'एनीकट' बनाते हैं जिससे एक ओर अधिक पानी रुका रहता है, नियंत्रित मात्रा में निकलकर बहता रहता है और उसके ऊपर चलकर लोग नदी पार भी कर लेते हैं।) उसी प्रकार यह आत्मा इन पृथ्वी आदि सब लोकों को हमेशा उनके अपने-अपने स्वरूप में व्यवस्थित रखता है ताकि उनका आपस में संकर न हो जाये। संसार में यदि यह आत्मा मर्यादाओं को धारण करने वाला न हो तो महाभूतों को मर्यादा-उल्लंघन करने से कौन रोक सकता है ? ।।१५८५-८।।

बलवीर्यादिसम्पन्नान् क्षत्रियान् पावकोपमान्। शस्त्रास्त्रकोविदांस्तद्वत् सुशूरानकुतो भयान्।
धर्मे प्रवर्तयेदेतान् कोऽन्योऽनभ्यधिकान् भुवि।।१५८९।।
ब्राह्मणान् क्रोधसन्दीप्तान् शापानुग्रहकारिणः। निवारयेच्च को नाम दहतो निखिलं जगत्।।१५९०।।
आशीविषनिभांस्तद्वत् तामसानतिकोपिनः। निवारयति को नाम सर्वदा प्राणिहिंसने।।१५९१।।
अम्भोनिधीनगाधोदान् कल्लोलशतमालिनः। निवारयेच्च को नाम जगदाचमनं प्रति।। १५९२।।
नदीनामपि नीराणि को नयेन्निम्नभूमिकाम्। वसुधां नीरसंस्थानां को मज्जन्तीं निवारयेत्।।
सूर्यादीन् अपि खाद् अस्मात् पततः को निवारयेत्।।१५९३।।
इत्यादिकं समग्रस्य लोकस्याऽस्य विधारणम्। क्रियते येन स ज्ञेयः सेतुरात्मा महेश्वरः।।१५९४।।

वहिर्मुखतानिवृत्त्युपायः

बहिर्मुखेन मनसा यदि ज्ञातुं न शक्यते। तदुपायः समुक्तोऽस्ति ब्राह्मणैर्वेदवादिभिः।।१५९५।

बलेति। तथा बलादिसम्पन्नांस्तेजस्विनः क्षत्रियान् प्रियव्रतादीन् भुवि अनभ्यधिकान् स्वाधिकवर्जितान् एतस्मादात्मनः अन्यः को धर्मे प्रवर्तयेदिति।।१५८९।। ब्राह्मणानिति। तथा दुर्वासःप्रभृतीन् ब्राह्मणान् जगद्दाहात् को वारयेद् ? इति।।१५९०।। आशीति। तथा सर्पवत् क्रोधनान् सिंहादीन् तामसान् जन्तून् सकलप्राणिहिंसोद्यमात् को वारयेद् ? इति।।१५९१।। अम्भोनिधीनिति। तथा समुद्रान् जगदाचमनं प्रत्युद्यतान् को वारयेद्? इति। जगदाचमने सति इति पाठे जगत आचमने ग्रासे सति प्रसक्ते—इत्यर्थः।।१५९२।। नदीनामिति। को नदीनां जलानि मर्यादया चालयति ? को भुवं जलस्थां मज्जन्तीं स्तम्भयति ? को वा सूर्यादीन् खात् पततो वारयति ? इति।।१५९३।। इत्यादिकमिति। आदिशब्दः प्रकारे। तथा च इति-प्रकारकं लोकविधारणं येन आत्मनेश्वररूपेण क्रियते स त्वया आत्मत्वेन ज्ञेय इत्यर्थः।।१५९४।।

'तमेतम्' इत्यादेः 'अनाशकेन' इत्यन्तस्य[1] वाक्यस्यार्थं निरूपयति—बहिर्मुखेन इत्यूनपञ्चाशच्छ्लोकैः। यदि 'सगुणात्माऽपि बहिर्मुखेन मनसा ज्ञातुं न शक्यते' इति मन्यसे, तदा तदुपायः चित्तान्तर्मुखताया उपायोऽपि वेदविद्भिरुक्तः, तं कुरुष्वेति शेषः।।१५९५।। तत्र मनसो बहिरन्तर्वा तात्पर्येण प्रवृत्तौ प्रयोजिकेच्छैवेत्याह—बहिर्मुखमिति।

संसार में बल और वीरता आदि वाले बहुत से क्षत्रिय आग जैसे तेजस्वी हैं। वे शस्त्रों और अस्त्रों के पारंगत जानकार हैं, शूरता वाले और निडर हैं। उनसे अधिक समर्थ कोई प्राणी भूलोक में नहीं है। परमात्मा से अन्य कौन हो सकता है जो उन्हें धर्म में ही प्रवृत्त रखे (अधर्म का सेवन न करने दे) ? ।।१५८९।। शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ ब्राह्मणों को क्रोधवश सारा जगत् जला डालने से रोकने वाला इस परमात्मा से अन्य कौन है ? ।।१५९०।। सर्पों की तरह क्रुद्ध होने वाले शेर आदि तामस जन्तुओं को हमेशा प्राणिहिंसा करने से सिवाय परमात्मा के और कौन रोक सकता है ? ।।१५९१।। अगाध जल वाले, सैकड़ों लहरों की मालाओं वाले समुद्रों को जगत् पी जाने से निवारित करने वाला परमात्मा से अतिरिक्त कौन है ?।।१५९२।। नदियों के जल को नीचे की ओर ही कौन बहाता है ? जल पर तैरती भूमिको डूबने से कौन बचाता है ? सूर्यादि को भी इस आसमान से गिर पड़ने से कौन रोकता है ?।।१५९३।।—इस ढंग से इस सारे संसार को जो मर्यादित रखता है उस सेतुरूप महेश्वर को ही तुम आत्मा समझो। (अर्थात् इन सब विचारों से ईश्वर को समझकर उसका अपने से अभेदेन ध्यान करना चाहिये।) ।।१५९४।।

आगे कण्डिका कहती है कि ब्राह्मण इस आत्मा को जानने की कोशिश वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और अनशन द्वारा करते हैं। इसका अर्थ समझाते हैं :

---

१. 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति।

बहिर्मुखं समायाति मनोऽत्र विषयेच्छया। यथा तथैव तद्गच्छेद् अन्तरात्मेच्छया स्वयम्। ।१५९६।।
समीचीनं यदा यद्धि विजानाति मनः स्वयम्। तदा तद् याति सहसा प्रतिबन्धविवर्जितम्। ।१५९७।।
विषयस्याऽत्र सौन्दर्ये ज्ञात इच्छा स्वयं भवेत्। ततः सौन्दर्यविज्ञान आत्मनो यत्नवान् भवेत्१५९८
अदृष्टाज्जायते ज्ञानं यथाऽनिष्टेषु वस्तुषु। अदृष्टादेव तद्वत् स्याद् अभीष्टेष्वपि सर्वदा। ।१५९९।।
अशुभज्ञानहेतुः स्यात् पापं यद्वद् नृणामिह। शुभज्ञानस्य तद्वत् स्याद् हेतुः पुण्यं महात्मनाम्। ।१६००।।
यज्ञदानादिकं पुण्यमुक्तं शास्त्रेऽस्ति सर्वदा। तेन विज्ञान उत्पन्न इच्छा तस्मिन् स्वयं भवेत्। ।१६०१
यज्ञाद्या यद्यपि प्रोक्ताः स्वर्गादिफलहेतवः। आत्मनोऽपि च विज्ञाने तथाप्येते भवन्ति हि। ।१६०२।

स्पष्टम्। ।१५९६।। इच्छायाः कारणं च दोषज्ञानाभावविशिष्टं विषयसौन्दर्यज्ञानमेवेत्याह—समीचीनमिति। समीचीनं सुन्दरम्। प्रतिबन्धो दोषज्ञानं, तद्धीनम्। ।१५९७।।

विषयस्येति। यतो विषयसौन्दर्यज्ञानम् इच्छाकारणं प्रसिद्धम् अतः चित्तस्य आत्मप्रवणतारूपान्तर्मुखता-सिद्ध्यर्थम् आत्मनः सौन्दर्यं परमानन्दादिरूपतां जानीयाद् इत्यर्थः। ।१५९८।। आत्मनः सौन्दर्यज्ञाने प्रयोजकं च प्रतिबन्धनिवर्तकं शुभादृष्टमितिसदृष्टान्तमाह—अदृष्टादिति। यथाऽनिष्टवस्तुविषयकज्ञानं प्रति अदृष्टं प्रयोजकं, तथा इष्टपदार्थज्ञानं प्रति अपीत्यर्थः। ।१५९९।। तत्राऽदृष्टस्य व्यवस्थामाह—अशुभेति। स्पष्टम्। ।१६००।। पुण्यस्वरूपं कथयंस्तस्यात्मज्ञानेच्छाप्रयोजकतामाह—यज्ञेति। शास्त्रविहितं यज्ञदानादिकं 'पुण्यम्' इति उक्तम्। तेन पुण्येन आत्मसौन्दर्ये ज्ञाते सति इच्छा तत्र स्थितिहेतुः स्वयम् अनायासेन भवेद् इति। ।१६०१।।

ननु स्वर्गादिफलेषु तत्तद्वाक्यैर्विनियुक्तानां यज्ञादीनां कथम् आत्मज्ञानार्थत्वम् ? इति शङ्कां वारयन्; एकस्य कर्मणो भिन्नार्थविनियोजकयोः द्वयोः वाक्ययोः सामर्थ्याद् उभयार्थत्वम् अपि भवतीति संयोगपृथक्त्वन्यायम्[1] अभिनयति—यज्ञाद्या इति द्वाभ्याम्। यद्यपि यज्ञादयः पूर्वकाण्डपठितस्वर्गकामादिवाक्यैः स्वर्गादिफलहेतवः प्रोक्ताः तथापि तएव यज्ञादयः आत्मविज्ञानेऽपि हेतवो भवन्तीति सम्बन्धः। प्रकृतवाक्यबलाद् इति भावः। ।१६०२।। एतद्

हे राजन् ! अगर तुम समझो कि बहिर्मुखी मन से सगुण आत्मा भी जाना नहीं जा सकता तो वेदवादी ब्राह्मणों ने चित्त को अन्तर्मुख करने के उपाय भी बताये हैं, उन्हीं का अनुष्ठान करो। जैसे अशिक्षित दशा में मन विषयकामना से अनात्मा की ओर उन्मुख होता है वैसे ही अन्तरात्मा की ओर इच्छा हो जाये तो वह स्वयं आत्मा में स्थिर रहने की कोशिश करेगा। (तत्पर हुआ मन इच्छा के कारण ही प्रवृत्ति करता है, बाहर की ओर जाये चाहे भीतर की। अतः मनोनियंत्रण का उपाय अनुकूल इच्छा उत्पन्न करना है। जिसमें दोष नहीं सुंदरता है ऐसा समझा जाये उसकी इच्छा स्वाभाविक है—) मन जब जिसे समीचीन—ठीक, सुंदर—समझ लेता है तब बिना रुकावट के वह स्वंय ही एकाएक उस ओर चल देता है। ।१५९५-७।। क्यों कि विषय की सुंदरता जान लेने पर उस विषय की इच्छा स्वयं होती है इसलिये कोशिश करनी चाहिये कि आत्मा का सौंदर्य समझ आये। (आत्मा का सौंदर्य उसका नित्य प्रकाशमान आनंद स्वरूप ही है।)। ।१५९८।। जैसे अनिष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्रारब्धवश होता है ऐसे अभीष्ट वस्तुओं का ज्ञान भी हमेशा प्रारब्ध-वश ही होता है। अशुभ ज्ञानों के प्रति जैसे लोगों का अपना पाप कारण है वैसे ही शुभ ज्ञानों के प्रति कारण है पुण्य जो लोगों ने उस स्थिति में एकत्र किया है जब उनके चित्त में नीचता नहीं थी। (अर्थात् मन को निर्देशित करने के लिये इच्छा चाहिए, उसके लिए सौंदर्य का ज्ञान चाहिए और उसके लिए शुभ प्रारब्ध चाहिये। पुण्य उस ज्ञान के होने में भी हेतु बनेगा और उसकी रुकावटें भी हटायेगा।)। । १५९९-१६००।। शास्त्र में यज्ञ, दान आदि को हमेशा पुण्य कहा है। उस की सहायता से सौंदर्य विज्ञान हो जाने पर आत्मा के बारे में खुद ही इच्छा हो जायेगी। ।१६०१।। (एवं च यदि उत्कट आत्मेच्छा नहीं है तो जानना चाहिये कि आत्मा की परमार्थ सच्चिदानंदरूपता का पूर्ण निश्चय नहीं है।)

१. ४.३ अधि. ३ सू. ६। अस्मिन् विषये ब्रह्मसूत्रेषु ३.४ अधि. ६,८ अपि द्रष्टव्ये।

त एवास्माकमाकाङ्क्षावशाद् दर्शादिकं यथा। नित्यं काम्यं तदेव स्याद् एवं यज्ञादयोऽपि नः।।
स्वर्गप्रदाः स्वविज्ञाने भविष्यन्त्यत्र हेतवः।।१६०३।।

आश्रमभेदेन यज्ञदानादिभेदः

यज्ञो दानं तपस्तद्वद् अनाशकमथापरम्। वर्णाश्रमादिभेदेन कर्तव्यं शास्त्रकीर्तितम्।।१६०४।।

ज्योतिष्टोमादिका यज्ञा गृहिणां परिकीर्तिताः। स्वाध्याययोगयज्ञाश्च तथाऽन्याश्रमिणामपि।
ज्ञानयज्ञा विशेषेण[1] यतीनां परिकीर्तिताः।।१६०५।।

दानं नानाविधं तद्वद् अन्नधान्यादिकं महत्। यतेरन्याश्रमस्थस्य सर्वस्याप्यत्र कीर्तितम्।।१६०६।।

दृष्टान्तेन स्फुटयति—त एवेति। प्रथमपदद्वयं पूर्वान्वयित्वेन व्याख्यातम्। यथा यद् दर्शपूर्णमासादिकं 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इति वाक्याद् नित्यं, तदेव 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्योत्थाया अस्माकम् अधिकारिणाम् आकाङ्क्षाया वशात् सम्बन्धात् काम्यमपि भवति। तथा यज्ञादयोऽपि नः अस्माकमधिकारिणां स्वर्गकामादिवाक्योत्थाकाङ्क्षावशात् स्वर्गादिप्रदा अपि अत्र 'यज्ञेन' इत्यादिवाक्ये सति स्वस्य आत्मनो विज्ञानेऽपि हेतवो भवन्तीत्यर्थः।।१६०३।।

अत्र वाक्य उक्तानां यज्ञदानतपोऽनशनानां स्वरूपाणि नानाविधानि वर्णाश्रमभेदापेक्षया व्यवस्थितरूपाणि बोध्यानीत्याह—यज्ञ इति। अपरं चतुर्थम्।।१६०४।। तत्र यज्ञस्वरूपाणां व्यवस्थामाह—ज्योतिरिति। ज्योतिष्टोमादिरूपा द्रव्यसाध्या यज्ञा गृहिणां यथाऽधिकारं कर्तव्यतयोक्ताः। स्वाध्यायो जपः, योगः समाधिः च; एतद्रूपा यज्ञाः तु गृहस्थभिन्नाश्रमिणाम्, अपि-शब्दाद् गृहस्थानामपि यथावकाशं कर्तव्याः। तथा ज्ञानाभ्यासरूपा यज्ञा यतिभिः विशेषेण प्राधान्येन कर्तव्याः, इतराश्रमिभिस्तु कर्मप्रधानैरुपसर्जनत्वेन इत्यर्थः।।१६०५।। दानस्वरूपव्यवस्थामाह—दानमिति। अन्नं सिद्धान्नम्, धान्यम् आमान्नम्, आदिपदेन गवादयः। एतादृशद्रव्यसाध्यं दानं यतिभिन्नाश्रमस्थैः सर्वैः कर्तव्यतयोक्तमित्यर्थः।।१६०६।।

यद्यपि यज्ञादि स्वर्गादि फलों के हेतु कहे गये हैं तथापि क्योंकि यहाँ श्रुति ने ही उनका विनियोगांतर बता दिया है इसलिये वे ही आत्मविज्ञान के भी हेतु बन जाते हैं। दर्शादि कर्म स्वरूपतः वही रहते हैं पर कर्ता की इच्छा के अनुसार नित्य या काम्य हो जाते हैं। (यदि फलेच्छा के बिना किये जायें तो नित्य होते हैं और यदि स्वर्गादि के निमित्त किये जायें तो कामनासाधक होते हैं। क्योंकि अलग-अलग वाक्यों में उन्हें यावज्जीवन करने के लिये भी कहा है और विशिष्ट फल के लिये करने को भी कहा है इसलिये कर्त्ता जब जिस वाक्य के अनुसार करता है तब उस के अनुसार फल होता है।) इसी प्रकार स्वर्गकामादि वाक्यों से यदि हमें स्वर्गादि की इच्छा होगी तो यज्ञादि हमें स्वर्गादि देंगे और 'यज्ञेन' आदि वाक्य से प्रेरित हो यदि हम उनका अनुष्ठान आत्मविज्ञान के लिये करेंगे तो वे आत्मज्ञान के हेतु बन जायेंगे।।१६०२-३।।

यज्ञ, दान, तप और अनशन—इन्हें अपने-अपने वर्ण-आश्रम के भेद के अनुसार शास्त्रोक्तरीति से सम्पन्न करना चाहिये।।१६०४।। गृहस्थों के लिये ज्योतिष्टोम आदि द्रव्यसाध्य यज्ञ कर्तव्यरूप से बताये गये हैं। स्वाध्याय अर्थात् जप और योग अर्थात् ध्यानाभ्यास—ये यज्ञ मुख्यतः गैरगृहस्थों के लिये हैं। पर गृहस्थ भी मौके के अनुसार इन्हें करे तो अच्छा है। ज्ञानयज्ञ अर्थात् ज्ञानसाधन अमानित्वादि का अभ्यास करते हुए श्रवणादि का ही अनुष्ठान करते रहना खासकर संन्यासियों के लिये कर्तव्य है, अन्य लोग गौणरूप से इसका अनुष्ठान कर सकते हैं।।१६०५।। संन्यास से अन्य आश्रम वाले सभी के लिये शास्त्र में नाना प्रकार का महान् दान बताया है जैसे पके भोजन का दान, कच्चे अनाज का दान, गोदान आदि।।१६०६।

---

१. 'ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म, यज्ञादीनि चेतरेषां, तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः' इति सूत्रभाष्यम् (३.४. सू. २०)।

यतीनामभयदानम्

चतुर्विधेभ्यो भूतेभ्यः कर्मणा मनसा गिरा। आत्मवत् प्रतिकूलानाम् अकृत्याख्यमुदीरितम्।।
दानमेतत् परं नास्मादधिकं किञ्चिदस्ति हि।।१६०७।।

सर्ववर्णाश्रमादिस्थैः कर्तव्यमधिकं स्मृतम्। यतिभिस्तु विशेषेण कर्तव्यमिदमेव[1] हि। आश्रमोऽयममीषां स्यात् सर्वभूताभयाय हि।।१६०८।।

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्युदीरयन्। निर्गच्छत्यत्र परमो हंसोप्यन्यो यतिस्तथा।।१६०९।।

ततस्तस्य तदेवोक्तं दानं परममण्वपि। यथा नैव भवेत् पीडा देहेन्द्रियमनस्स्विह।।१६१०।।

चतुर्विधानां भूतानां तथा कुर्वीत सर्वदा। विद्यादेर्न्यस्तकर्मीयं दानं नैवान्यथा क्वचित्।।१६११।।

वित्तैर्नानाविधैः पूर्णां त्रिलोकीं ब्रह्मणे यदि। न्यायलब्धां कुरुक्षेत्रे सूर्यग्रह उपागते। स्वदेहसहितां दद्यात् श्रद्धया परयान्वितः।।१६१२।।

यतेस्तु सर्वभूताऽभयसम्पादनरूपमेव दानमिति दर्शयति—चतुर्विधेभ्य इति त्रिंशता श्लोकैः। जरायुजादिचतुर्विधभूतसम्प्रदानकम् एतद् दानं परम् उत्कृष्टं स्मृतम्। 'एतत्' किम्? आत्मवत् सर्वभूतानां प्रतिकूलस्य या शरीरादिभिः अकृतिः अनाचरणं, तदभयमित्यर्थः।।१६०७।। सर्वेति। एतद् दानं सर्वेषाम् अधिकं प्रशस्तम्। यतिभिस्तु एतद् एव कर्तव्यम्। एतदनुष्ठानायैव संन्यासाश्रमस्य विधानादित्यर्थः।।१६०८।। अभयदानोद्देश्यकत्वं संन्यासाश्रमस्य संन्यासकरणमन्त्रादेव सिद्धमित्याह—अभयमिति। मत्तः स्वस्माद् अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामीत्यर्थकं स्वाहान्तं मन्त्रम् उच्चारयन्नेव यतः परमश्रौतो यतिः, तथाऽन्यः स्मार्तः कुटीचक-बहूदक-हंसान्यतमरूपः पूर्वाश्रमाद् निर्गच्छति निष्क्रामतीत्यर्थः।।१६०९।।

तत इति। यतः तस्य यतेः तदेव सर्वभूताभयप्रदानमेव परमं दानं प्रोक्तं, ततो यतिस्तथा कुर्वीत। 'तथा' कथम्? यथा चतुर्विधानां भूतानां देहेन्द्रियमनस्सु अणु किञ्चिद् अपि पीडा न भवेद् इत्यन्वयः। न्यस्तं त्यक्तं कर्म येन स न्यस्तकर्मा, तद्योग्यं न्यस्तकर्मीयं विद्यादेः विद्यायाः तत्साधनस्य च यद् दानं तदपि अन्यथा प्रतिष्ठालाभाद्युद्देशेन क्वचिदपि न उक्तम्, किन्तु शरणागतस्य अभयोद्देशेनैव विद्यादिकं यतिर्दद्याद् इति यावत्। इति द्वयोरर्थः।।१६१०-११।। सर्वाभयदानस्य सर्वदानेभ्य उत्कर्षं कैमुत्यन्यायेनाह—वित्तैरिति त्रिभिः। सर्ववित्तपूर्णां न्यायार्जितां च सर्वां पृथ्वीं ब्रह्मणे ब्रह्मविद्यया ब्रह्मी भूताय विप्राय कुरुक्षेत्रे सूर्यग्रहणकाले परमश्रद्धया यदि कश्चिद् दद्यात् ततः तद्दानाद्

संन्यासी के लिये कर्तव्य दान का विस्तार से वर्णन करते हैं—जिससे अधिक श्रेष्ठ और कोई दान नहीं वह परमदान है सब प्राणियों को अभय का दान देना जिसका स्वरूप है कि कर्म, मन या वाणी द्वारा किसी भी प्राणी के प्रतिकूल कुछ वैसे ही न करना जैसे अपने प्रतिकूल नहीं करते हैं। यह दान सबसे ज्यादा प्रशंसित है। सभी वर्णों और, आश्रमों वालों को यह दान यथाशक्ति करना ही चाहिये किन्तु संन्यासियों के लिये तो यही खास कर्तव्य दान है। सभी प्राणियों को अभय देने के लिये ही संन्यासियों का यह चौथा आश्रम है। 'मुझसे सभी प्राणी निडर रहें, उन्हें मुझ से अभय मिले' यों मंत्र बोलते हुए ही परमहंस एवं अन्य संन्यासी पूर्वाश्रम का त्याग करते हैं इसलिये संन्यासी के लिये यह श्रेष्ठ दान ही कर्तव्य है, उसे यह अवश्य करना चाहिये। चारों तरह के प्राणियों के शरीर, इंद्रिय, मन में यति के निमित्त से थोड़ी भी पीडा न हो यह यति को हमेशा कोशिश करनी चाहिये। जो कर्मों का परित्याग कर चुका है वह विद्या और विद्यासाधनों का दान भी अपनी शरण में आये व्यक्ति को अभय देने के लिये ही करे, न कि प्रतिष्ठा पाने आदि प्रयोजनों से।।१६०७-११।।

१. नच कर्मणां संन्यासाद् दानस्यापि कर्मत्वात् कर्तव्यतोक्तिरयुक्ता; अत एव पूर्वश्लोके 'अकृत्याख्यम्' इत्येवं प्रकृतदानस्वरूपं निरूपितम्। भयाऽप्रदानमेवात्र दानम् तच्च नैष्कर्म्यरूपम्।

ततोऽपि ह्यधिकं दानम् अभयं परिकीर्तितम्। स्थिरजङ्गमभूतानां मध्ये कस्याऽपि देहिनः।।१६१३।।
स्थिरजङ्गमभूतानां सर्वेषामभयं सदा। ददाति सर्वथा सर्वदेशे यः कोऽपि मानवः।। तस्माद् दानात् परं दानं सदृशं च न विद्यते।।१६१४।।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा योऽत्र चरेद् यतिः। अस्मिन् देहे तथाऽन्यस्मिन् भयं तस्य न विद्यते।१६१५
चतुर्विधानां भूतानां कर्मणा मनसा गिरा। अहिंसायां सदा धर्मश्चतुष्पाद्धि व्यवस्थितः।।१६१६।।
कर्मणा भूतहिंसा या प्रसिद्धा मरणप्रदा। चतुर्विधानां भूतानां शस्त्रघातादिका च या। शरीरे रोगजननं हिंसा मन्त्रौषधादिना।।१६१७।।

अप्यधिकं स्थावरादीनामेकस्य अपि जन्तोः अभयदानम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१६१२-१३।। यस्तु सर्वभूतेभ्योऽभयं सदा सर्वत्र च ददाति तद्दानस्य उत्कर्षः किमु वाच्य इत्याह—स्थिरेति। स्पष्टम्।।१६१४।। अभयदानफलप्रदर्शकम्[1] 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः। न तस्य त्रिषु लोकेषु भयं भवति कर्हिचिद्।।' इति वाक्यम् अर्थतः पठति—अभयमिति। चरति आत्मविद्यामभ्यसति स त्रिषु (स्थूल-) सूक्ष्मकारणात्मकेषु समष्टिव्यष्टिलोकेषु भयं द्वितीयदर्शनजं नाप्नोति, अद्वितीयब्रह्मभावं प्राप्नोति इति यावत्।।१६१५।।

सर्वभूताभयप्रदानोत्कर्षं स्फुटयंस्तल्लक्षणभूताया अहिंसायाः सर्वधर्मान्तर्भावकत्वेन उत्कर्षमाह—चतुर्विधानामिति हि यतः चतुर्विधभूतानां शरीरवाङ्मनोभिः अपीडनरूपायाम् अहिंसायां चतुष्पात् पादचतुष्टयेन सत्य-दया-तपो-दानाख्येन विशिष्टः पूर्ण इति यावद्, व्यवस्थितो विशेषेण अधर्मसङ्करराहित्यात्मकस्पष्टत्वेन स्थित इत्यर्थः।।१६१६।। एतत् स्पष्टयितुं प्रतियोगिभूतां शरीरादिकृतां हिंसामधर्मरूपां निर्दिशति—कर्मणेति नवभिः। चतुर्विधभूतानां कर्मणा स्थूलशरीरव्यापारेण प्रयुक्ता या शस्त्रघातादिरूपा हिंसा, या च मन्त्रेण मन्त्र-साध्या-ऽभिचाराख्ययागेन ओषधादिना च परशरीरे रोगजननात्मिका सा द्विविधा शारीरत्वेन प्रसिद्धा एव इति सम्बन्धः

कोई श्रद्धालु व्यक्ति कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के समय ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को नाना प्रकार की सम्पत्तियों से भरी-पूरी विधिवत् प्राप्त की हुई त्रिलोकी और साथ में अपना शरीर भी परम श्रद्धा से दान में देवे तो भी उससे अधिक फल वाला दान कहा जायेगा चराचर प्राणियों में से किसी एक देही को भी अभय देना! ।।१६१२-३।। जो कोई भी मनुष्य सभी चराचर प्राणियों को हमेशा, हर जगह, हर तरह से अभय दान देता है (उसके उस दान के उत्कर्ष का क्या कहना!) उस दान के समान कोई और दान नहीं है तो उससे बेहतर की तो संभावना ही कहाँ ? ।।१६१४।। जो यति यहाँ सब प्राणियों को अभय प्रदान कर आत्मविद्या के अभ्यासमें ही तत्परता से संलग्न रहता है उसे इस शरीर में या अन्य किसी शरीर में किसी तरह का भय नहीं रहता। ('इस शरीर' से व्यष्टि त्रिविध स्थूलादि शरीर और 'अन्य' से समष्टि त्रिविध शरीर समझने चाहिये। अद्वितीय ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो चुकने से उसे भय नहीं रहता क्योंकि भय सदा द्वितीय से ही होता है। अथवा 'स्वयं में अहिंसा दृढ हो जाये तो अपने पास आये व्यक्ति के मन से भी अपने प्रति वैरभाव निकल जाता है' इस पातंजलसूत्र से (२.३५) सर्वाभयप्रद को यहाँ किसी से डर नहीं रहता और क्योंकि यहाँ भय नहीं दिया इसलिये आगे भी भय मिलने की संभावना नहीं रहती।)।।१६१५।।

कर्म, मन और वाणी से चारों प्रकार के प्राणियों को पीडा न देना रूप अहिंसा में चार पैरों वाला धर्म हमेशा स्पष्ट रूप से स्थित रहता है। (सत्य-दया-तप-दान ये धर्म के चार पैर हैं। अहिंसा में स्पष्ट इसलिये कि वहाँ अधर्म की मिलावट नहीं है।)।।१६१६।।

---

१. मनुस्मृतौ 'यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्। तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः। यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्। तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन।।' ६.३९-४०।। इत्युक्तम्। एवम् 'अहिंसया च भूतानाम् अमृतत्वाय कल्पते'(श्लोक ६०)।।

वित्तदारादिहरणं नराणामधिकं सदा। हिंसनं तत्र विज्ञेयमाधिद्वारेण कर्मजम् । ।१६१८ । ।
पापस्य राजभृत्यादेः कथनं हिंसनं गिरा। अपकीर्तेश्च करणं दोषकीर्तिर्गुणेष्वपि । ।१६१९ । ।
गुणानां परकीयानां मनसाऽसहनं च यत् । विद्याकीर्त्यादिजातानाम् अन्यदारादिचिन्तनम् । ।१६२० । ।
प्राप्त्यर्थं स्वस्य विज्ञेयं तथा द्रोहस्य चिन्तनम् । चतुर्विधानां भूतानां मानसं हिंसनं स्मृतम् । ।१६२१
परवैर्यादिबुद्ध्याादिदानमेतदुदाहृतम् । उपायहिंसनं तच्च लोके नानाविधं भवेत् । ।१६२२ । ।
असत्यवचनं तद्वद् भूतानां दुःखकारणम् । आत्मनो वाऽत्र लोके वा परलोके च हिंसनम् । ।१६२३ । ।

। ।१६१७ । । वित्तेति । यद् नराणां वित्तादिहरणं तदपि पूर्वोक्ताद् अधिकं कर्मजं हिंसनं ज्ञेयम्, परस्य आधिः मानसपीडा, तद्द्वारा प्राणवियोगानुकूलत्वाद् इत्यर्थः । ।१६१८ । । वाचिकीं हिंसामभिनयति—पापस्येति । परकीयपापस्य राजपुरुषादेः पुरतः प्रकाशनं, यच्च निन्दाकरणं, यच्च परकीयगुणेषु दोषाविष्करणम्, एवंविधं वाचिकं हिंसनं बोध्यम् इत्यर्थः । ।१६१९ । । मानसहिंसनमाह—गुणानामिति । यद् विद्यादिजातानां परकीयगुणानां मनसाऽसहनं मत्सराख्यं, यच्च परकीयदारादीनां स्वं प्रति प्राप्त्यर्थं चिन्तनं, यच्च भूतानां द्रोहस्य नाशोपायस्य चिन्तनम्, एवंविधं मानसं हिंसनं बोध्यम् । इति द्वयोरर्थः । ।१६२०-१ । ।

उक्तमानसादिव्यापाराणां परम्परया हिंसनत्वम् इति दर्शयन् परम्पराहिंसामुदाहरति—परेति । परकीयवैरिप्रभृतिभ्यो यद् बुद्धेर्धनादीनां च दानं तद् हिंसोपायत्वाद् उपायहिंसनम् इति प्रोक्तं लोके नानाविधं प्रसिद्धमिति । ।१६२२ । । तथाऽनृतभाषणमपि हिंसनमेव, लोके परलोके वा भूतानां स्वस्य वा दुःखहेतुत्वाद् इत्याह—असत्येति । यतो लोकद्वये भूतानाम् आत्मनश्च[1] दुःखकारणम् अतोऽसत्यवचनमपि हिंसनमेवेति सम्बन्धः । ।१६२३ । ।

स्थूलशरीर के व्यापार से की जाने वाली प्राणिहिंसा प्रसिद्ध ही है जैसे चारों तरह के प्राणियों में किसी को शस्त्र के आघात आदि से मार डालना, मंत्रप्रयोग से या जहरादि देकर दूसरे के शरीर में रोग पैदा कर देना इत्यादि । ।१६१७ । । लोगों के धन, पत्नी आदि का अपहरण कर लेना पूर्वोक्त की अपेक्षा अधिक दोषावह कर्मप्रयुक्त हिंसा है क्योंकि यह दूसरे को मानसिक पीडा देकर उसके प्राणान्त का हेतु बनती है। (तत्काल न मरे तो भी मनःपीडा उसे कुछ अंश में दुर्बल कर मरणोन्मुख बना देती है।) । ।१६१८ । ।

वाणी से की जाने वाली हिंसा है किसी अन्य के पाप को राजपुरुष आदि से कह देना, निंदा करना, अन्य के गुणों में भी दोष ढूँढना इत्यादि । ।१६१९ । ।

मानस हिंसा इस तरह की होती है— विद्या, कीर्ति आदि से जो अन्यों के गुण प्रकट हों उन्हें मन में सहन न करना अर्थात् परकीय गुण जानने पर उससे अपने मन में यह भाव आना कि 'मुझे यह न सुनना आदि पड़े तो बेहतर है', या उस व्यक्ति के सत्य-असत्य दोषों का चिंतन होने लगना इत्यादि। अन्य की पत्नी आदि को अपने लिये हथियाने का विचार करना, चारों तरह के प्राणियों में से किसी के नाश के उपायों का चिंतन करना इत्यादि सभी मानस हिंसायें हैं। (शरीर से न करने पर भी मन से कर लें तो भी पाप होगा ही क्योंकि मानसिक हिंसा का भी निषेध है।) । ।१६२०-१ । ।

नाना प्रकार की 'उपायहिंसा' भी लोक में प्रसिद्ध है। किसी के दुश्मन आदि को सूझ, धन आदि देना जिससे वह उसकी हिंसा कर सके—यह हिंसा का एक उपाय होने के कारण उपायहिंसा कही जाती है। (साक्षात् सूझ आदि न देने पर भी अन्यान्य प्रकारों का आश्रयण करते हैं जिससे परम्परया अपने विरोधी को मानसादि पीडा प्राप्त होती है, वह सब उपायहिंसा है।) । ।१६२२ । । इसी प्रकार क्योंकि इस लोक और परलोक में प्राणियों को और स्वयं वक्ता

१. 'न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानम्' (गी. १३.२८) इति स्मृतेः स्वस्मै दृष्टादृष्टपीडादानं हिंसैवेति सर्वः पापाचार उपलक्षणीयः ।

यज्ञादिधर्मकरणे प्रवृत्तस्य निवारणम्। स्वयं चाऽकरणं पुंसः कुतर्काद्यैस्तु हिंसनम्।।१६२४।।
शौचादीनां तु सन्त्यागः कर्तव्यानां सदाऽऽत्मनः। अकर्तव्यस्य करणं कुलात्मादेस्तु हिंसनम्।।१६२५।।
एतस्माद् विपरीतः स्याद् धर्मः शास्त्रोक्तलक्षणः। अहिंसायां ततः सर्वोऽप्यन्तर्भवति सर्वदा।।१६२६।
अहिंसा परमो धर्मस्तत एवाऽत्र कीर्त्यते। अहिंसा सर्वथा सर्वैः कर्तव्या बुद्धिजीविभिः।।१६२७।।

अनृतस्य परलोके परेषां स्वस्य च हिंसनरूपतां स्फुटयन् नास्तिक्यमपि हिंसैवेत्याह—यज्ञादीति। यत् कुतर्काद्यैः परस्य धर्मे प्रवृत्तस्य निवारणम्, यच्च स्वयं धर्माऽनाचरणम्, तत् स्वस्य परेषां च हिंसनम् एव, निन्दा-नरकादिहेतुत्वाद् इत्यर्थः।।१६२४।। एवं सर्वं विहिताकरणं निषिद्धाचरणं च आत्मनः कुलादेश्च पातित्यादिहेतुत्वाद् हिंसैवेत्याह—शौचादीनामिति। विहितानां शौचादीनाम् अकरणं, प्रतिषिद्धस्याचरणं च स्वस्य कुलादेश्च[1] पातित्यादिहेतुत्वाद् हिंसनम् एव। यथा विश्वामित्रपुत्रैः शुनःशेपज्येष्ठीकरणात्मिकायाः पितुराज्ञाया अकरणाद् म्लेच्छत्वप्राप्तिरूपं हिंसनं स्वस्य स्वकुलस्य च कृतमिति। देशहिंसनोदाहरणं च यथा—दण्डकाख्येन राज्ञाऽगस्त्यकन्याधर्षणेन देशनाशः कृत इति रामायणे प्रसिद्धमिति। एतेन निद्रातन्द्रादितामसवृत्तीनाम् अपि वृथा कालक्षेपिकानाम् उदर्कदुःखप्रयोजकत्वाद् हिंसनत्वमिति सूचितम्।।१६२५।। एतस्मादिति। एतस्मात् प्रपञ्चिताद् हिंसास्वरूपाद विपरीतरूपो धर्मः शास्त्रे प्रसिद्धः, ततः स धर्मः सर्वोऽपि अहिंसायामन्तर्भवति इति।।१६२६।। अहिंसेति। तत उक्तविधया सर्वधर्मान्तर्भावकत्वाद् एव परमधर्मत्वम् अहिंसायाः शास्त्रेषूक्तम्। अतः सर्वैः विवेकिभिः अहिंसा कर्तव्या इति। सर्वथा सर्वयत्नेन।।१६२७।।

को दुःख देता है इसलिये झूठ बोलना भी हिंसा ही है।।१६२३।। कोई व्यक्ति यज्ञादि धर्म करने में प्रवृत्त हो और कुतर्क आदि से उसे व्यामोह में डालकर धर्म करने से रोकना भी हिंसा है तथा स्वयं धर्म का आचरण न करना भी हिंसा है क्योंकि यों रोकने और खुद भी न करने से यहाँ निंदा सुननी पड़ती है जिससे दुःख होता है एवं आगे नरकादि में जाना पड़ता ही है।।१६२४।। विहित शौच आदि न रखना, अपने कर्तव्यों का पालन न करना, हमेशा वह करना जो करने लायक न हो—ये सब भी क्योंकि अपना और अपने कुल आदि का पतन कराते हैं इसलिये हिंसा ही हैं। (व्यर्थ समय खोना भी भविष्य में दुःख देता है अतः हिंसा ही है।) ।।१६२५।।

हिंसा के इस सर्वसंग्राहक स्वरूप से विपरीत वह आचरण है जिसमें शास्त्रकथित धर्म के लक्षण घटते हैं इसलिये अहिंसा के अन्तर्गत सारा धर्म आ जाता है। इसी से सद्ग्रन्थों में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। अतः सब विवेकियों को हर तरह से अहिंसा का आचरण अवश्य करना चाहिये। अहिंसा से धर्म—पुण्य—तो होता ही है, मोक्ष भी अहिंसक के मानो हाथमें ही है। उसे अर्थ व काम प्राप्त हो जाते हैं इसमें क्या कहना क्योंकि वे तो धर्म-मोक्ष की अपेक्षा बहुत सुलभ हैं। (अहिंसा से प्राप्य पुण्य में यह विशेषता है कि वह नैष्कर्म्यपक्षपाती होता है अतः अन्य पुण्यों से श्रेष्ठ है। प्रवृत्ति कर्मों के अंग भले ही पुण्योत्पादक हों, साथ में कुछ-न-कुछ ऐसा भी होना सहज होता है जो कर्मांग न होते हुए पापावह है क्योंकि भगवान् ने भी कहा है कि धूम-वह्नि की तरह आरंभ-दोष का साहचर्य है। अहिंसा में वह संभावना नहीं अतः यह बेहतर पुण्य है। वैराग्यादि वाला ही अहिंसक हो सकता है। रागादि वाला बलात् अहिंसा का अभ्यास करेगा तो स्वयं को दुःखी रखकर वस्तुतः आत्महिंसा ही करेगा अतः पाप का भागी ही बनेगा। अत एव इसे संन्यासी के लिये मुख्य कार्य कहा व अन्यों के लिये यथाशक्ति।)।।१६२६-२८।।

---

१. 'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च। कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च। शिल्पेन, व्यवहारेण, शूद्रापत्यैश्च केवलैः। गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया।। अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्। कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मंत्रतः।।' मनु ३.६३-५।। इति विप्रकुलनाशहेतवः। 'न नग्नः स्नानमाचरेत्' (मनु ४.४५) 'ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृद् मनो वार्युपांजनम्। वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्।।' (५.१०५) 'विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थम्' (५.१३४) इत्यादि विहितशौचादिविषये द्रष्टव्यम्।

तया धर्मस्तथा मोक्षो भवेत्तेषां करे स्थितः। अर्थकामौ च किं नाम वक्तव्यौ सुलभौ हि यौ।।१६२८

ब्रह्मचर्ये यमान्तर्भावः

ब्रह्मचर्यमहिंसायाम् अन्तर्भवति सर्वदा। उदर्के महती हिंसा जन्तूनां भोगतः स्त्रियः।।१६२९।।

ग्राम्यधर्मेण गमनाद् योषितां यौवने सति। भवेद् गर्भो यतो नारीगर्भयोर्मरणोपमम्। मरणं वा भवेद् दुःखं दुःसहं देहधारिभिः।।१६३०।।

नारीसंयोगतो वीर्यं देहकारागृहप्रदम्। जन्तूनां यत एतत् स्यात् त्रिविधं दुःखमद्भुतम्।।१६३१।।

रेतःसिचस्ततः पापं भवेदत्यन्तदुःखदम्। ब्रह्मचर्ये कृते नैतद् भवेत् किञ्चिद्धि हिंसनम्।।१६३२।।

अहिंसायाः फलमाह—तयेति। तया अहिंसया धर्मः अशुक्लकृष्णाख्यो योगशास्त्रे प्रसिद्धः; तथा मोक्षः च करे स्थितो वश्यो भवति। ससाधनेतरपदार्थलाभस्तु सुकरत्वात् तस्याः फलत्वपदवीयोग्य इत्यर्थः।।१६२८।।

अत एव 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इति योगसूत्रे (२.३०) अहिंसाया आदौ कीर्तनम्, तस्याः सर्वयमान्तर्भावकत्वाद् इति वक्तुं तदितरयमानां तत्रान्तर्भावं दर्शयति—ब्रह्मेति षड्भिः। ब्रह्मचर्यं स्त्रीव्यतिकराभावरूपम् अहिंसान्तर्गतमेव, स्त्रीसम्बन्धस्य उदर्क उत्तरफले संसारसंततिरूपे दुःखप्रदत्वाद् इत्यर्थः।।१६२९।। इह लोकेऽपि स्त्रीसम्बन्धस्य परपीडाकरव्यापाररूपं हिंसात्वं प्रसिद्धमित्याह—ग्राम्येति द्वाभ्याम्। ग्राम्यधर्मेण इति प्रकृत्यादित्वात्[1] तृतीया। तथा च—यौवने ग्राम्यधर्मरूपाद् योषिद्गमनाद् गर्भो जायते यतो गर्भभावाद् नारीतद्गर्भयोः मरणतुल्यं मरणरूपं वा दुःसहं दुःखं जायत इति प्रसिद्धमित्यर्थः।।१६३०।। नारीति। किं च नारीसंयोगात् पुंसो रेतो जनिष्यमाणजन्तवे देहरूपस्य कारागृहस्य बन्धनागारस्य प्रदायकं भवेद् यतो देहकारागृहलाभाद् एतद् अध्यात्मादित्रिविधं दुःखं जन्तूनां स्यादिति।।१६३१।। रेत इति। रेतः सिञ्चतीति रेतःसिक्, तस्य रेतःसिचः पुंसः ततो नारीसंसर्गत उक्तविधदुःखदं पापं जायते। ब्रह्मचर्ये कृते तु एतद् उक्तविधं हिंसनं न किञ्चिद् जायते। अतो ब्रह्मचर्यमहिंसायामन्तर्भूतम् इति सम्बन्धः।।१६३२।। अहिंसक इति। अहिंसको वर्णितसर्वहिताचरणरूपाऽहिंसापरः

योगसूत्रों में 'यम' नामक योगांग के घटकों की गणना अहिंसा से इसीलिये आरंभ की कि इसमें सभी यमों का अंतर्भाव हो जाता है। इसे पुराणकार समझाते हैं : ब्रह्मचर्य अहिंसा के अंतर्गत ही आ जाता है क्योंकि स्त्रियों का भोग करने से जन्तुओं को भविष्य में महान् दुःख होने से वह भोग उनके लिये आत्महिंसा ही है। (स्त्रीसंग से संसरणदुःख तो मिलना ही है अन्य दुःख भी अभी बतायेंगे। अथवा अवैधसंग तो पापप्रद होने से हिंसा है और वैध संग के लिये आवश्यक गृहसंपादनादि आजीविकोपायों से पाप हमेशा सुलभ होता है यह अर्थ है।) ।।१६२९।। यौवन में नारी से ग्राम्यधर्मानुष्ठान (मैथुन) करने से गर्भधारण होता है जिससे नारी और गर्भ को मरणतुल्य दुःख होता है और कदाचित् तो वे मर भी जाते हैं। देहधारियों के लिये असह्य दुःख उन्हें होता है (अतः ग्राम्यधर्म हिंसा ही हुई)। ।।१६३०।। नारीसंयोग के कारण पुरुष का वीर्य पैदा होने वाले जन्तु को शरीर रूप जेल में डाल देता है जिससे जन्तुओं को आध्यात्मिक आदि तीनों तरह के दुःख भोगते रहना पड़ता है। ये दुःख अद्भुत हैं, रोज़ नये रूप लेकर आते रहते हैं। इस प्रकार नारी में वीर्य का सिंचन करने वाले पुरुष को अत्यंत दुःखद पाप अवश्य होता है (क्योंकि उसने नारी और पैदा होने वाले जन्तु को अत्यधिक दुःख दिया, हिंसा की)। ब्रह्मचर्य का पालन करने से यह कोई भी हिंसा हो नहीं पायेगी। अतः अहिंसा में ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव है।।१६३१-२।। अहिंसक महामुनि संसार में प्राणियों से कर्म, मन या वाणी द्वारा

---

१. 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीयासूत्रे (२.३.१८) वार्तिकम्। प्रकृत्यादिराकृतिगणः।

अहिंसकोऽत्र भूतानां कर्मणा मनसा गिरा। वदेदसत्यं केनाऽयं निर्निमित्तं महामुनिः।।१६३३।।
परद्रव्यापहारं च कुरुते केन हेतुना। परिग्रहं कथं कुर्याद् भूतपीडाविवर्जितः।।१६३४।।
अहिंसा तत एवेयं यमानां जननी मता। अहिंसकोऽत्र यः कश्चित् स ज्ञेयः पुरुषोत्तमः।।१६३५।
अहिंसैव ततो दानं यतीनां परमं स्मृतम्। अन्येषामपि किन्त्वन्यैः कर्तुं नैतद्धि शक्यते।।१६३६।।

तपोऽनशने

सर्ववर्णाश्रमस्थानां स्वधर्मपरिवर्तिनाम्। शास्त्रस्थेन विधानेन तप एतदुदीरितम्।।१६३७।।

पुमान् अत्र लोकेऽनृतभाषणं, स्तेयं, परिग्रहं च संचयरूपं किमर्थं करिष्यति? अतः सत्याऽस्तेयाऽपरिग्रहरूपा यमा अपि अहिंसायामन्तर्भूताः। इति द्वयोरर्थः।।१६३३-४।।

फलितमाह-अहिंसेति। ततः सर्वयमान्तर्भावकत्वाद् अहिंसा जननीव अभ्यर्हितत्वेन यमानामादौ निर्दिष्टेत्यर्थः। तथा चोक्तं योगभाष्ये[1]—'इतरे च यमनियमाः तदवदातकरणायैवोपादीयन्त' इति। तस्या अहिंसाया अवदातत्वस्य शुद्धत्वस्य करणायेति तदर्थः। तस्माद् अहिंसकः सर्वोत्तम इत्यर्थः।। १६३५।। अहिंसैवेति। तत एकानुष्ठानेन सर्वधर्मसिद्धिरूपलाघवाद् अहिंसारूपं परमं दानं यतीनां भारादुद्विग्नानां कर्तव्यतया विहितम्। यद्यप्यन्येषामाश्रमिणामपि एतद् अहिंसारूपं दानं कर्तुं योग्यं, तथापि शक्यं न भवति, परिग्रहादेः परपीडाकरस्य सर्वथा तैस्त्यक्तुमशक्यत्वाद् इति भावः।।१६३६।।

तपोविभागमाह—सर्वेति। सर्वेषां वर्णिनामाश्रमिणां च स्वस्वधर्माविरोधेन शास्त्रोक्तविधिना एतत् शरीरेन्द्रियमनसां नियमरूपं तपो भगवद्गीतादिषु उक्तमित्यर्थः ।।१६३७।। अनशनविभागमाह—शास्त्रेणेति त्रिभिः।

बिना कारण असत्य का व्यवहार क्यों करेगा ? (अतः सत्य भी अहिंसा के अंतर्गत है। 'बिना कारण' अर्थात् असत्य के प्रति हिंसाभाव ही कारण है क्योंकि अपने लाभ आदि के लिये अन्य को असत्य बोलते हैं जो उसे दुःख ही देने वाला है। अहिंसक ने वह भाव मन से हटा रखा है अतः वह झूठ का आचार सोच भी नहीं सकता तो करेगा क्या!) अहिंसक दूसरे के स्वत्व की चीज़ों का अपहरण क्यों करेगा और जब वह किसी भी प्राणी को कोई पीडा नहीं देने का नियम पालन करता है तो वह धनादि का संचय क्यों करेगा? (अपहरण तो स्पष्ट ही दुःखद है। धनादि के संचय से भी दरिद्र आदि को ईर्ष्यादि दुःख होते हैं। हर पदार्थ को कोई न कोई भोगना चाहता है। हम संग्रह कर लें तो उसे दुःख होता है। अतः अहिंसक संग्रह भी नहीं कर सकता। एवं च अस्तेय और अपरिग्रह का भी अहिंसा में अन्तर्भाव स्पष्ट है।) इसलिये अहिंसा यमों की माता मानी गयी। लोक में जो कोई भी अहिंसक हो उसे पुरुषों में उत्तम मानना चाहिये।।१६३३-५।।

क्योंकि इस एक के ही अनुष्ठान से सभी धर्म संपन्न हो जाते हैं इसलिये संन्यासियों के लिये यही सर्वश्रेष्ठ दान विहित है। अन्यों के लिये भी अहिंसा—अभयदान-करना—योग्य तो है लेकिन रागादिवश वे हमेशा ऐसा कर नहीं सकते। ।।१६३६।।

यज्ञ व दान समझाकर तप व अनशन समझाते हैं— सभी वर्णों और आश्रमों में स्थित लोग शास्त्रोक्त तरीके से अपने धर्म का पालन करें यह तप है। (अथवा भगवद्गीता आदि में शरीर-इंद्रिय-मन का नियंत्रणरूप जो तप कहा है उसका अपने धर्म से सामंजस्य बैठाकर अनुष्ठान करना प्रकृत श्रुति में तप कहा जा रहा है। भाष्य में यहाँ 'अनशनरूप तप' ऐसा अर्थ माना है। वार्तिक में नियमवश द्वन्द्वों का सन्ताप सहना यहाँ तप स्वीकारा है।) ।।१६३७।। यतियों से अतिरिक्त सभी वर्णाश्रम वालों के लिये परम अनशन है उन विषयों का भी यथाशक्ति सेवन न करना जिनके लिये शास्त्र में अनुमति है। यति के लिये करने योग्य यह अनशन है—ऐहिक और आमुष्मिक विषयों की किंचित् भी इच्छा न करना, जैसा भी मिल जाये वैसे भिक्षान्न और वस्त्र से शरीर का निर्वाह कर लेना। इससे अन्य अनशन उसके लिये नहीं है।।१६३८-९।।

---

१. 'अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमाः तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते।' इति भाष्यवाक्यम् (२.३०)। सत्याद्यनाचारे मलिना स्यादहिंसेति ते कार्यतयोच्यन्त इत्यर्थः।

शास्त्रेणाऽप्यनिषिद्धानां विषयाणामसेवनम्। सर्ववर्णाश्रमाणां यत् स्याददोऽनशनं परम्।।१६३८।।
यथाशक्ति यतिं हित्वा यतेरनशनं त्विदम्। इच्छामात्रस्य सन्त्याग इहामुत्रार्थसंश्रयः।।१६३९।।
यथोपपन्नभैक्षेण वाससाऽपि च तादृशा। विधारणं तु देहस्य यतेरुक्तं न चाऽपरम्।।१६४०।।

यज्ञादेर्ज्ञानकारणता

एवं यज्ञस्तथा दानं तपोऽनशनमेव च। चतुष्टयं भवेत् पुण्यं ब्रह्मविज्ञानकारणम्।।१६४१।।
जाते ब्रह्मणि विज्ञाने दृष्टाऽदृष्टसहायतः। इच्छा विषयसौन्दर्यात् स्वयमेव प्रजायते।।१६४२।।
अदृष्टाज्जायते दृष्टं दृष्टाज्ज्ञानं प्रजायते। इच्छा ज्ञानाद् भवेच्चित्तम् इच्छातो न बहिर्व्रजेत्।।१६४३।।

मुनिर्भवेत्

यदा चित्तं बहिर्नैति स्वात्मनो दैवयोगतः। तदा तस्मिन् हि विज्ञानं दृढमस्य प्रजायते।।१६४४।।
ततो मुनिर्भवेदेष आत्मज्ञो ब्राह्मणो यतः। आत्मानमेव विज्ञाय मुनिर्भवति नान्यथा।।१६४५।।

यत् शास्त्रेण अनिषिद्धानामपि विषयाणां यथाशक्ति असेवनं भोगत्यागः, एतद् यतिं हित्वा सर्वेषां वर्णाश्रमाणां योग्यम् अनशनम् इत्यन्वयः।।१६३८।। यथेति। प्रथमपादः पूर्वान्वयित्वेन दर्शितः। यतेः तु योग्यम् इदमनशनम्। 'इदं' किम्? इहाऽमुत्र वा विद्यमानपदार्थेषु इच्छालेशस्य अपि अकरणम्, तथा यथोपपन्नेन यथाप्राप्तेन भिक्षान्नेन, तादृशा यथोपपन्नेन वाससा च देहस्य विधारणं निर्वहणम्। इति द्वयोरर्थः।।१६३९-४०।। एवमिति। एवंविधयज्ञादिचतुष्टयरूपं पुण्यं ब्रह्मविज्ञानहेतुतयोक्तमित्यर्थः।।१६४१।।

यज्ञादीनां दृढविज्ञानजनने द्वारमाह—जात इति द्वाभ्याम्। यदा दृष्टाऽदृष्टरूपेभ्यः सहायेभ्यो ब्रह्मविज्ञानं जायते तदा ब्रह्मरूपविषयस्य स्वभावसुन्दरत्वात् तत्र इच्छा स्वयमेव जायत इति।।१६४२।। अदृष्टादिति। तत्र अदृष्टाद् यागादिजन्यसुकृतरूपाद् दृष्टं गुरुशास्त्राधिकारिशरीरादिलाभरूपं जायते, ततो गुरुप्रभृतिलाभरूपाद् दृष्टाद् आत्मज्ञानं परोक्षं जायते, तत आत्मसाक्षात्कारेच्छा जायते, इच्छया च चित्तस्य आत्मनि एकाग्रत्वं, जायत इत्यर्थः। तथा च सामग्रीसम्पादनाय प्रतिबंधकदुरितापनयाय च यागादिपुण्यम् अपेक्षितमिति भावः।।१६४३।।

ननु किमर्थमात्मविज्ञानमपेक्षणीयं, महाप्रभावैः कर्मभिरेव वयं कृतार्थाः ? इति शङ्कावारकस्य, 'मुनिर्भवति' इत्यन्तवाक्यस्य[1] अर्थमाह—यदा चित्तमिति त्रिभिः। यदा चित्तैकाग्र्यं भवति तदा दृढम् असम्भावनादिभिरनास्कन्दनीयं महावाक्यजं ज्ञानं जायते। ततो दृढज्ञानाद् एष ब्राह्मणो मुनिः जीवन्मुक्तिफलक-

इस प्रकार के यज्ञ, दान, तप और अनशन—ये चारों वह पुण्य है जो ब्रह्मविज्ञान में कारण पड़ता है। दृष्ट उपायों से, शास्त्राभ्यास, सत्संग आदि और यज्ञादिमूलक अदृष्ट उपायों से जब ब्रह्म के सौंदर्य के बारे में पता चल जाता है तब ब्रह्मरूप विषय की स्वाभाविक और अब ज्ञात सुंदरता के कारण उसे पाने की इच्छा स्वयमेव हो जाती है। यागादि से प्राप्त पुण्य से दृष्ट की प्राप्ति होती है अर्थात् गुरु मिलते हैं, शास्त्रग्रंथ और उन्हें समझने की बुद्धि मिलती है, अधिकारी शरीर मिलता है, इत्यादि। इस दृष्ट सामग्री से परमात्मा के बारे में पता चलता है जिससे आत्मसाक्षात्कार की इच्छा होती है। इच्छा दृढ होने पर ही चित्त आत्मा में एकाग्र होता है, वहाँ से चंचल नहीं होता, विषयों से आकृष्ट नहीं होता।।१६४०-३।।

विचार्यमाण कण्डिका में आगे कहा है कि 'इसे ही जान कर अधिकारी मुनि—संन्यासी—होता है। इसी लोक की इच्छा करते हुए संन्यासी लोग प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। यों जान चुके और जानना चाहने वाले दोनों के लिए संन्यास-विधान है। इस भाग की पुराण में व्याख्या करते हैं :

१. 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।' इति।

यदा यज्ञादिभिः पुण्यैरिच्छा भवति देहिनः। आत्मनि ब्रह्मरूपेऽस्मिन् स्वयंज्योतिःसुखाऽद्वये।।१६४६।।

विविदिषासंन्यासः

इच्छावन्तो महात्मान एतमेवात्मरूपिणम्। संन्यासिभिः सदा दृश्यमवाङ्मनसगोचरम्। इच्छन्तः सर्वकर्माणि संन्यस्यन्ति महाधियः।।१६४७।।

कर्मासक्तस्य नैव स्यात् कर्हिचित् स्वात्मनि स्थितिः। निषिद्धकाम्ययोस्त्यागो न शक्यो देहधारिभिः।। कर्तुमस्य तु शक्यत्वेऽप्यस्ति दोषो महानयम्।।१६४८।।

नित्यं नैमित्तिकं कर्म देशकालाद्यपेक्षया। चोदितं कर्मिभिः कार्यमन्यैराश्रमिभिः सदा। अकृतौ तस्य तेषां स्यात् प्रत्यवायोऽतिदुःखदः।।१६४९।।

ज्ञानशीलताशाली भवति यतो हेतोः यदा यज्ञादिभिः आत्मनि ब्रह्मरूपे दृढा ज्ञानेच्छा जायते तदात्मानं विज्ञायैव मुनिः जीवन्मुक्तिलक्षणो भवति, नान्यथा इतरत्कर्मफलं प्राप्य। इति त्रयाणां सम्बन्धः। ।।१६४४-६।।

उक्तविधमुनित्वकामनया विविदिषासंन्यासविधायकस्य 'प्रव्रजन्ति'[1] इत्यन्तवाक्यस्यार्थमाह—इच्छावन्त इति द्वादशभिः। इच्छावन्त इत्यतिशयार्थे मतुप्; तथा च उत्कृष्टेच्छाशालिनो भोगकार्पण्यरहिता इति यावत्। एतेन प्रव्रजनशीलवाचकस्य प्रव्राजिपदस्यार्थः सूचितः। एतादृशा महात्मान एतमेव आत्मरूपं लोकम् इच्छन्तः सन्तः सर्वकर्माणि संन्यस्यन्ति इत्यन्वयः।।१६४७।। कर्मणः त्याज्यत्वे हेतुं विक्षेपरूपत्वं दर्शयन्, अयं विक्षेपो यतिभिन्नाश्रमिभिः परिहर्तुं न शक्यत इत्याह—कर्मेत्यादिना। कर्मानुष्ठानपरस्य आत्मज्ञाने स्थितिः निष्ठा दुर्लभा। कर्मत्यागस्तु इतराश्रमिभिः दुष्करः। तथा हि प्रायेण निषिद्धानां काम्यानां च कर्मणां त्याग एव कर्तुमशक्यो दृश्यते, तेषां स्थूलसूक्ष्मदेहाभिमानिनां भोगानुकूलत्वात्। अस्य निषिद्धकाम्यत्यागस्य कथंचिद् विवेकेन कर्तुं शक्यत्वेऽपि अयम् उत्तरश्लोके वक्ष्यमाण उभयतःपाशरज्जुनिभो दोषो प्राप्नोत्येव इत्यर्थः।।१६४८।। तं दोषमभिनयति—नित्यमिति। कर्मिभिः अन्यैराश्रमिभिः चोदितं शास्त्रविहितं नित्यं सन्ध्याग्निहोत्रादिकं, नैमित्तिकम् उपरागस्नानादिकं च देशकालानुसारेण अवश्यं कर्तव्यम्, अन्यथा प्रत्यवायापत्तेरित्यर्थः। तथा च—करणे आत्मैकाग्र्यहानिः, अकरणे तु प्रत्यवायप्राप्तिः! इत्युभयतःपाशा रज्जुरिति भावः।।१६४९।।

सौभाग्य से जब चित्त स्वात्मा से बहिर्मुख नहीं होता, आत्मा में ही एकाग्र रहता है तब साधक को आत्मा के बारे में दृढ ज्ञान होता है। (दृढ अर्थात् असंभावना और विपरीतभावना से अस्पृष्ट। महावाक्य से हुआ अभेद ज्ञान संशय-विपर्यय के कारण अदृढ होता है, वे मिट जाने पर वह ज्ञान स्थिर हो जाता है।)।।१६४४।। आत्मवेत्ता ब्राह्मण दृढ ज्ञान पाकर मुनि हो जाता है। जब देही को यज्ञ आदि पुण्यों से स्वप्रकाश सुख अद्वैत ब्रह्मरूप इस आत्मा को जानने की इच्छा हो जाती है तब वह आत्मा का साक्षात्कार कर लेने पर ही मुनि होता है, कर्मफल पाकर मुनि नहीं होता। ('कर्मफल पाकर' अर्थात् प्रयोजक ज्ञान पाकर। 'मुनि' अर्थात् जीवन्मुक्ति देने वाले ज्ञान के स्वभाव वाला अर्थात् विद्वत्संन्यासी।)।।१६४५-६।।

उक्त मुनि बनने के लिये जिज्ञासु भी कर्मत्याग अर्थात् संन्यास ग्रहण करे यह बताते हैं—मुख्य संन्यासी हमेशा उस आत्मा का दर्शन करते रहते हैं जो मन-वाणी से परे है। जो साधक उसी के साक्षात्कार की उत्कट इच्छा रखते हैं वे भोगों से विमुख हो जाते हैं। ऐसे बुद्धिमान् महात्मा इस आत्मरूप लोकको ही चाहते हुए सारे कर्मों का परित्याग कर देते हैं। (शमादियुक्त हो श्रवणादि से अन्य वैध लौकिक-अलौकिक कर्मों को छोड़ देते हैं। श्रवणादि के लिये अनिवार्य भोजन, स्नान आदि अनिषिद्ध ढंग से करते हैं।)।।१६४७।। कर्मों में आसक्त व्यक्ति की स्वात्मा में निष्ठा कभी नहीं हो सकती। देहधारी—जब तक संन्यासी नहीं है—निषिद्ध और कामनापूरक कर्म नहीं छोड़ सकते (क्योंकि ये कर्म भोगियों के अनुकूल होते हैं)। किसी तरह विवेकादि से काम्य-निषिद्ध छोड़ सकें तो भी यह एक महान् दोष

---
१. 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति।

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण त्यक्तं कर्म सुखाय हि। अन्यथा दुःखदं तत् स्याद् इति वेदव्यवस्थितिः ।।१६५०।।

स्रगादिविषयेष्वेव वर्तते यस्य मानसम्। व्यग्रं स विषयासक्तः कथमात्मनि गच्छति ।।१६५१।।

अपि निर्विषयं चित्तं जातं यदि हि कर्मिणः। किमर्थं कर्मजं भारं वहति स्वस्य दुःखदम् ।।१६५२।।

कर्तव्यानीति कर्माणि शास्त्रं वक्त्यधिकारिणम्। विषयप्रार्थनाहीनो ह्यधिकारी कथं त्वयम् ।।१६५३।।

संन्यासविधिना कर्मत्यागे तु न दोष इत्याह—शास्त्रोक्तेनेति। इति वेदव्यवस्थितिः नित्यादिकर्मविधायकानां संन्यासविधायकानां च वाक्यानां विषयव्यवस्थया[1] सिद्धोऽयमर्थ इत्यर्थः। भगवताऽप्युक्तं 'मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः' (१८.७) इति।।१६५०।। विषयव्यवस्थामेव स्फुटयति—स्रगादीत्यादिना। यस्य मानसं स्रक्चन्दनादिसांसारिकविषयेषु व्यग्रं रागि स आत्मविषयकविज्ञानं कथं प्राप्नुयादित्यर्थः। तथा च तेन कर्मैव कर्तव्यमिति भावः।।१६५१।।

संन्यासाधिकारिणं निर्दिशति—अपीति। निर्विषयं विषयेभ्यो नितरां विरतं यस्य चित्तं स कर्मभारं किमर्थं वहेदित्यर्थः।।१६५२।। तत्रोपपत्तिमाह—कर्तव्यानीति। अधिकारः फलसंबन्धः फलकामनादिरूपः तद्वन्तं प्रति एव शास्त्रं कर्म विधत्ते। अयं वीतरागः तु कथं तदधिकारी स्यादित्यर्थः। नित्यकर्मसु सामान्यरूपेण फलकामोऽधिकारी, स्वर्गपश्वादिविशेषरूपेण फलकामस्तु काम्येषु इति विभागो बृहदारण्यकभाष्यादौ[2] द्रष्टव्यः।।१६५३।। तत इति।

प्राप्त होता ही है : संन्यास से अन्य आश्रम वाले कर्मियों को शास्त्रविहित नित्य और नैमित्तिक कर्म देश, काल आदि के अनुसार हमेशा अवश्य करने पड़ते हैं, उन्हें न करने पर कर्मियों को अत्यंत दुःखद प्रत्यवाय (दोष) लगता है। (एवं च—कर्म करें तो आत्मा में चित्त एकाग्र नहीं रख सकते यह हानि और न करें तो प्रत्यवाय लगता है यह हानि यों दोनों तरफ नुकसान ही है।)।।१६४८-९।।

यद्यपि कर्माधिकारी के लिये कर्म करना-न करना दोनों समस्या हैं तथापि संन्यास की विधि के अनुसार कर्म त्यागकर केवल ब्रह्मसंस्थता के लिये यत्नशील होने पर नित्यादि न करने का कोई प्रत्यवाय नहीं लगता—वेद में आये कर्मविधायक और त्यागविधायक वाक्यों का परस्पर विरोध नहीं वरन् उनकी यह व्यवस्था है कि शास्त्रविहित ही ढंग से कर्मत्याग करने पर वह कल्याण का हेतु होता है, विधि के अनुसरण के बिना मोह आदि से कर्म छोड़ना दुःख का हेतु होता है। जिसका चित्त गहने आदि विषयों में ही आसक्त है, उन्हीं के चिंतन में परेशान रहता है, वह आत्मसाक्षात्कार कैसे पा सकता है ? ऐसे को कर्म ही करने चाहिये।(विषयाभिलाषा रहने तक कर्म करने चाहिये। जब विषयाकर्षण क्षीण हो और परमार्थ पाने की इच्छा दृढ़ हो तब कर्म छोड़कर श्रवणादि में लगना चाहिये।)।।१६५०-१।।

कर्मानुष्ठान करते रहकर जिस व्यक्ति का चित्त विषयों की ओर जाना स्वभावतः छोड़ चुका है वह स्वयं को दुःख देने वाला कर्म-बोझ अब क्यों ढोयेगा ? 'कर्म करने चाहिये' यों शास्त्र ने अधिकारियों के लिये आज्ञा दी है। विषयों की चाह जिसे नहीं रही वह अधिकारी क्यों रहेगा ? (फल से सम्बन्ध अधिकार कहलाता है। अर्थात् फलकामना रहने तक ही अधिकार हो सकता है। फलेच्छा न रह जाने पर कर्माधिकार ही समाप्त हो गया तो कर्म कैसे किये जायें? नित्य-नैमित्तिक कर्म भी उसी के लिये कर्तव्य हैं जिसे सामान्यतः कर्मफल की इच्छा है। विशिष्ट फल चाहने वाले के लिये काम्य कर्मों का विधान है। एवं च कामनारहित के लिये किसी कर्म का विधान नहीं।) इसलिये जिस महात्मा का चित्त विषयाकर्षण से मुक्त है उसका अधिकार समाप्त हो चुकने से उसके लिये कर्मत्याग स्वतः ही प्राप्त है, उसी त्याग का शास्त्र ने विधान किया है। (कामना छूटने पर कर्म छोड़ने को उद्यत व्यक्ति यदि यावज्जीवादि विधियों के

१. पुरुषार्थ-परामर्शाधिकरणयोः (३.४.१-२) शक्यो विचारो द्रष्टुम्। २. 'अविद्वत्कामिकर्तव्यतां ह्यवोचाम सर्वकर्मणाम्' इत्यादि भाष्यम् (४.५.समाप्तौ)।

ततो निर्विषयं चित्तं यस्य जातं महात्मनः। तस्य त्यागं वदत्येतत् कर्मणां शास्त्रमागतम्।।१६५४।।
यथाऽत्र विषयाः कुर्युर्बहिर्दृष्टिं शरीरिणाम्। कर्माण्यपि तथा कुर्युर्नित्यादीनि हि देहिनः।।१६५५।।
भिक्षाटनादिभिर्नैव क्रियतेऽत्र बहिर्दृशिः। नियता यादृशी नृणामग्निहोत्रादिकर्मभिः।।१६५६।।
अक्रतौ प्रत्यवायोऽपि नास्ति भिक्षाटनादिषु। यादृशो विद्यते लोके ह्यग्निहोत्रादिकर्मणाम्।।१६५७।।
ततः कर्माणि सन्त्यज्य नैष्कर्म्याश्रममागताः। आत्मानं द्रष्टुकामास्ते सर्वसङ्गविवर्जिताः।।१६५८।।

विद्वत्संन्यासः

विद्वान्सो येऽभवन् पूर्वे ब्राह्मणाः स्वात्मवेदिनः। विक्षेपकारकत्वेन तत्यजुः कर्म तेऽपि हि।। किमु यैर्नैव विदित आत्मा साक्षादयं पुमान्।।१६५९।।

ततः सरागस्यैव कर्माधिकारित्वाद् यस्य चित्तं विरक्तं तं प्रति एतत् प्रकृतं शास्त्रं कर्मणां त्यागं वदति। कीदृशं त्यागम्? आगतं कर्मप्रयोजनाऽभावेन स्वयं प्राप्तमित्यर्थः। तदुक्तं 'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः। कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव।।' (नै. सि. १.४९) इति।।१६५४।। प्रत्यक्प्रवणताविरोधित्वेन विषयवद् विरक्तः कर्म नित्यमपि त्यजेदित्याह—यथेति। बहिर्दृष्टं प्रत्यग्विवेकवैमुख्यम्।।१६५५।।

ननु संन्यासेऽपि भिक्षाटनादिरूपं कर्म अवशिष्यत एवेति तद्वद् नित्यान्यपि तिष्ठन्तु ? इति शङ्कां विशेषप्रदर्शनेन वारयति—भिक्षेति द्वाभ्याम्। अग्निहोत्रादीनि कर्माणि कर्मप्रवणचित्तेनैव कर्तुं शक्यानि, अकरणे प्रत्यवायप्रयोजकानि च। भिक्षाटनादीनि तु भोजने मुखं प्रति हस्तव्यापारवद् अन्यपरचित्तेन अपि कर्तुं शक्यानि, न नियताम् आवश्यकीं बहिर्दृशिं बहिर्मुखतां कुर्वन्ति; न वाऽकरणे प्रत्यवायप्रयोजकानि—इति विशेषः। इति द्वयोरर्थः।।१६५६-७।। फलितमाह—तत इति। ते ज्ञानाधिकारिणः सर्वसङ्गविवर्जिता जाता इति शेषः।।१६५८।।

यस्य गृहस्थाश्रमादौ तत्त्वसाक्षात्कारेऽपि जीवन्मुक्तिलक्षणमुनित्वं न सिद्ध्यति तेन विद्वत्संन्यासः कार्य इति बोधकस्य 'एतद् ब्रह्म' इत्यादेः 'भवत' इत्यन्तवाक्यस्य[1] अर्थमाह—विद्वांस इति त्रयोदशभिः। पूर्वमपि ये ब्रह्मात्मसाक्षात्कारवन्तोऽभूवंस्तेऽपि विक्षेपजनकत्वेन कर्म संन्यस्तवन्तः। यैस्तु आत्मा न साक्षात्कृतः ते विविदिषया संन्यस्यन्ति इति किमु वाच्यमित्यर्थः।।१६५९।। विद्वत्पदार्थविशेषणभूतं ज्ञानं साक्षात्काररूपं ग्राह्यमिति

कारण कर्म न छोड़ने का निश्चय करे तो संन्यास विधि उसे कर्मत्याग में प्रवृत्त कर देती है। जो स्वयमेव छोड़ेगा उसे केवल 'कैसे छोड़ना है' यह इतिकर्तव्यतांश ही शास्त्र से जानना होगा।) जैसे संसार में विषय शरीरधारी के मनको प्रत्यगात्मा के विवेक से विमुख कर देते हैं वैसे ही नित्यादि कर्म भी, अतः विरक्त को कर्मत्याग करना ही चाहिये।।१६५२-५।। संन्यासी जीवननिर्वाह के लिये भिक्षाटन आदि करता है किन्तु उन चेष्टाओं से निश्चित बहिर्मुखी वृत्ति नहीं बनती जैसी अग्निहोत्रादि कर्मों से लोगों की बनती है। (अन्यमनस्क होकर भी भिक्षा लेने जाया जा सकता है, आत्मविचार करते हुए भी घूमा-फिरा जा सकता है जैसे राजनीति आदि की चर्चा करते हुए लोग खाते-पीते रहते हैं। अग्निहोत्रादि यों अन्यत्र चित्त लगाकर नहीं होंगे, उनका अनुष्ठान द्रव्यादि की ओर ध्यान देकर ही होगा।) भिक्षाटनादि न करने पर कोई दोष भी नहीं लगता जैसे अग्निहोत्रादि न करने पर लगता है।(एवं च कर्म करने-न करने पर विचार का विरोधी है जबकि भिक्षाटनादि दोनों हालतों में विरोधी नहीं अतः इनकी अग्निहोत्रादि से तुलना नहीं।) इसलिये जो ज्ञान पाने के अधिकारी हैं वे केवल आत्मसाक्षात्कार की कामना रखते हैं, सारी आसक्तियाँ छोड़ देते हैं और कर्म छोड़कर उस आश्रम को ग्रहण करते हैं जहाँ निष्कर्मता ही धर्म है।।१६५६-८।।

१. 'एतद्ध स्म वैतत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा। उभे हि एते एषणे एव भवतः।।'

प्रत्यक्षतोऽपि दृष्टो यैः करामलकवत् पुमान्। स्वयंज्योतिः सदानन्दो भेदगन्धविवर्जितः।।१६६०।।

विक्षेपकारणं कर्म नित्यं विषयवद् भवेत्। इति विज्ञाय सन्त्यज्य कर्म चक्रुर्न कामनाम्।।१६६१।।

विप्रा भवद्भिः केनाऽयं न कृतो दारसङ्ग्रहः। सुखप्रजाद इत्युक्ता एवमाहुर्महाधियः।।१६६२।।

सुखं नैवाधिकं किञ्चिदात्मनो विद्यतेऽत्र भोः। तच्चाऽस्ति सर्वदाऽस्माकं साधनादिविवर्जितम्।।१६६३।

प्रजातिसुखसिद्ध्यर्थ इह चाऽपि परत्र वा। द्वारद्वारतया स स्यात् सुखरूपाश्च ते वयम्। प्रजया किं करिष्यामः श्वादीनां विद्यते हि या।।१६६४।।

दर्शयन्नुक्तं स्फुटयति—प्रत्यक्षत इति। यैः स्वयंज्योतिरादिरूप आत्मा प्रत्यक्षतो दृष्टः तेऽपि कर्मणो विषयभोगवद् विक्षेपरूपतां विज्ञाय सर्वविषयकामनां सन्त्यज्य कर्म न चक्रुः संन्यस्तवन्त इति यावद्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१६६०-१।। विप्रा इति। ते च महाधियो विद्वांस इति उक्ताः पृष्टाः सन्त एवं वक्ष्यमाणविधया आहुः उत्तरं दत्तवन्तः। 'इति' कथम्? हे विप्राः! भवद्भिर्दारसङ्ग्रहः किमर्थं न कृतः? कीदृशो दारसङ्ग्रहः? सुखप्रजादः सुखहेतु-सन्ततिप्रदायक इत्यर्थः।।।१६६२।।

तेषामुत्तरवाक्यमभिनयति—सुखमिति त्रिभिः। आत्मस्वरूपभूतसुखाद् अधिकं सुखं न अस्ति। तच्च आत्मरूपं सुखं साध्यसाधनभावविवर्जितम् अस्माकम् अपरोक्षमित्यर्थः।।१६६३।। प्रजातीति। इह लोके परलोके वा प्रजातिसुखस्य सन्ततिप्रयुक्तसुखस्य सिद्ध्यर्थः साधको द्वारद्वारतया परम्परया स दारसङ्ग्रहः स्यात्। वयं तु ते विद्वांसः स्वयंसुखरूपाः सन्तः प्रजया किं प्रयोजनं साधयामः? न हि तया मोक्षे कश्चिदुपकारः, निरययोनिष्वपि विद्यमानत्वादित्यर्थः।।१६६४।। न चास्माकं क्षुद्रसुखकामना, आनन्दनिधिरूपत्वादित्याहुः — अस्माकमिति। हि

व्याख्यायमान कण्डिका आगे बताती है कि प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं ने निर्णय किया कि 'हमारे लिये इस आत्मा से अतिरिक्त कुछ प्राप्य नहीं तो प्रजा आदि से हमें क्या प्रयोजन?' उन्होंने प्रजा की इच्छा नहीं की। वे पुत्र-वित्त-लोक की एषणाओं से विमुख हो संन्यासी के उपयुक्त आचरण करने लगे। पुत्रेच्छा ही धनेच्छा है, धनेच्छा ही लोकेच्छा है; ये दोनों इच्छायें ही हैं— इसका पुराण में विस्तार करते हैं :

प्राचीन काल में भी जो ब्राह्मण आत्मा के जानकार हुए हैं उन्होंने कर्म छोड़ा ही क्योंकि कर्म उनकी ब्रह्मनिष्ठा बनी रहने में रुकावट डालता था। जब साक्षात्कार कर चुके लोग भी कर्म की उद्वेजकता नहीं सह सके तब जिन्होंने इस आत्मपुरुष का साक्षात्कार नहीं पाया है वे विविदिषु कर्म छोड़ें इसमें कहना ही क्या!।।१६५९।। स्वप्रकाश सद्रूप आनंदरूप अद्वैत पुरुष का जिन्होंने वैसा स्पष्ट अपरोक्ष ज्ञान पा लिया था जैसा हमें हाथ पर रखे आँवले का होता है, उन्होंने भी 'विषयों की तरह कर्म भी हमेशा आत्मबुद्धिप्रवाह में रुकावट डालने वाले ही होते हैं' यह निश्चय कर कर्मों का परित्याग ही किया, साधनों सहित कामनायें छोड़ दीं।।१६६०।। उनसे जब पूछा गया 'हे विप्रो! सुखद संतति देने वाला पत्नीसंग्रह आपने क्यों नहीं किया?' तब उन महान् बुद्धिमानों ने यह उत्तर दिया : 'अरे! आत्मा से ज़्यादा सुख संसार में है नहीं और साध्यसाधनभाव-रहित वह आत्मरूप सुख हमेशा हमें अपरोक्ष है। सुख के लिये संतान और संतान के लिये पत्नी—यों सुखके उपाय के भी उपाय रूप से पत्नी ग्रहण की जाती है; अथवा इहलोक या परलोक में सुख देने वाले कर्म करने में दम्पती का अधिकार होने से कर्म करने के लिये पत्नी ग्रहण की जाती है; इस तरह व्यवधानपूर्वक सुख देती है अतः पत्नी ग्रहण करते हैं; कुछ सुख वह स्वयं भी उपाय बनकर दे सकती है; हर हालत में सुख पाने के लिये पत्नी ग्रहण की जाती है। हम तो स्वयं ही सुखरूप हैं! ('हमें सुख किसी से मिल सकता है' यह हमारा भ्रम मिट गया तो हम पत्नी-ग्रहण क्यों करते?) सन्तति से भी हम क्या करेंगे? मोक्ष में उससे कोई उपकार होना नहीं। सन्तान तो कुत्ते आदि की भी हो जाती है। (अतः संतान कोई दुर्लभ सुख नहीं देती।)।।१६६१-४।। हमारे

अस्माकं विद्यते ह्येषामानन्दोऽयं निधेः समः। अक्षयः स्वात्मनोऽभिन्नः स्वयंज्योतिः सदद्वयः।।१६६५।।
इत्येवं वादिनः सर्वे कृतदारास्तथाऽपरे। अगृहीत्वैव दाराणां पाणिं परमनिर्वृताः।।१६६६।।

एषणा

पुत्राणामपि वित्तानां लोकानां चोभयात्मनाम्। इहामुत्र सुखार्थानां परित्यज्यैषणात्रयम्।
भिक्षाचर्यं चरन्ति स्म संन्यासाश्रममागताः।।१६६७।।
पुत्रैषणाऽत्र या प्रोक्ता सैव वित्तैषणा स्मृता। पुत्राणामपि वित्तत्वं पितुः स्याद् गोधनादिवत्।१६६८
वित्तैषणा तु या प्रोक्ता सा स्याल्लोकैषणा सदा। वित्तं हि सुखहेतुः स्याल्लोको नाकादिको यथा।।१६६९।।
उभे एव ततो ज्ञेये एषणे वेदवादिभिः। सुखे चैका द्वितीया स्यात् साधने तस्य सर्वदा।।१६७०।।
असाधनं सुखं येषां सर्वातिशयवर्जितम्। वर्तते केन ते कुर्युः एषणामुभयीमपि।।१६७१।।

यतः एषां लौकिकानंदानां बिम्बभूत आनन्दः अस्माकं स्वात्मनः स्वरूपाद् अभिन्नो निधिवद् अक्षयः स्वयंज्योतिरादिलक्षणः अयम् अपरोक्षो वर्तत इत्यर्थः।।१६६५।। इत्येवमिति। इत्येवं वादिनः ते सर्वे विद्वांसः संन्यासाश्रममागताः सन्तो भिक्षाचर्यं भिक्षां चरन्ति स्म कुर्वन्ति स्म। कीदृशास्ते ? केचित् कृतदाराः विवाहिताः। केचिद् अपरे; 'अपर'-पदार्थमाह—अगृहीत्वेति। दारपाणिग्रहणमकृत्वैव तुष्टाः। किं कृत्वा ? पुत्राणां वित्तानां लोकानां च सम्बन्धि एषणात्रयं कामनात्रयं परित्यज्य। कीदृशानां लोकानाम् ? ऐहिकामुष्मिकभोगसाधनत्वेन उभयात्मनां द्विविधानाम्। इति द्वयोरर्थः।।१६६६-७।।

वस्तुतस्तु वर्णितत्रिविधैषणा एकत्वेनैव गम्या, साधनैषणात्वेन सर्वासां सङ्ग्रहात्। द्वितीया तु फलैषणा। इति एषणाद्वैविध्यमेव। इति वक्तुं वर्णितमेषणात्रयं साधनैषणात्वेन एकी करोति—पुत्रैषणेति द्वाभ्याम्। पुत्रैषणा वित्तैषणात्वेनैव मन्तव्या, पुत्राणामपि गोसुवर्णादिरूपवित्तवद् भोगोपकरणत्वेन वित्तत्वात्। तथा वित्तैषणाऽपि लोकैषणात्वेन मन्तव्या, लोकपदस्य भोगसाधनवाचित्वाद्, वित्तस्याऽपि च स्वर्गादिवद् भोगसाधनत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।१६६८-९।। फलितमाह—उभे इति। फलतत्साधनविषयकत्वेन संसार एषणाद्वैविध्यमेवेत्यर्थः।।१६७०।। विद्वांसस्तु नित्यसिद्धसुखरूपत्वात् साधनस्य अनपेक्षितत्वाच्च द्विविधामपि एषणां न कुर्वन्तीत्याह—असाधनमिति असाधनं साधनाऽनपेक्षं निरतिशयं सुखं येषां वर्तते ते द्विविधाम् एषणां किमर्थं कुर्वीरन्नित्यर्थः।।१६७१।।

पास तो खजाने जैसा, कभी कम न होने वाला, स्वतः प्रकाशमान, सद्रूप, अद्वैत, यह आनंद निजस्वरूप से अभिन्न हुआ मौजूद है। (अतः इसके लवलेशमात्ररूप लौकिक सुख हम कैसे चाह सकते हैं?)'।।१६६५।। ऐसा उत्तर देने वाले वे सभी विद्वान् संन्यासाश्रम में स्थित हुए। उनमें कुछ विवाहित थे जिन्होंने पत्नी आदि छोड़कर संन्यास ग्रहण किया और कुछ ने संतोषपूर्वक ब्रह्मचर्य ही रखा था, पाणिग्रहण संस्कार से बचे ही रहे थे।।१६६६।।

पुत्रों की इच्छा, धन-संपत्ति की इच्छा एवं ऐहिक-आमुष्मिक सुखों के उपायभूत दोनों तरह के लोकों की इच्छा इन तीन इच्छाओं को सर्वथा छोड़कर वे संन्यासाश्रम ग्रहण करके ऐसा आचरण करते थे जैसे भीख माँगना। (अर्थात् भीख माँगना उनके आचरण का निदर्शन है। उन्हें किसी पर स्वामित्वका बोध नहीं था और न ही वे सामान बटोरकर रखते थे। वार्तिक में कहा है 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या ह्याकिंचन्यैकसंश्रया। अममाऽपरिग्रहोक्तेर्निष्कर्मा मुनिरुच्यते।।' ।।३.५ श्लोक १२७।। 'लोक' अर्थात् विषय दो प्रकार के हैं—कुछ दृष्ट सुख देते हैं और अन्य अदृष्ट सुख।)।।१६६७।। जिसे यहाँ पुत्रैषणा कहा है वही वित्तैषणा मानी जाती है क्योंकि पुत्र भी पिता के वैसे ही धन हैं जैसे गोधन। जो वित्तैषणा (धनेच्छा) कही वह लोकैषणा ही है क्योंकि स्वर्गादि लोकों की तरह धन भी सुखहेतु ही है। (साधन की इच्छा और फल की इच्छा—ये ही दो एषणायें हैं। पुत्र-वित्त-लोकों की इच्छायें तो साधनेच्छा का ही अभिव्यंजन है।)।।१६६८-९।। इसलिये वैदिकों को हमेशा समझना चाहिये कि एषणायें दो ही हैं : एक एषणा सुख को विषय करती है और दूसरी सुख के उपाय को।।१६७०।। जिन ब्रह्मवेत्ताओं के पास सर्वाधिक निरतिशय और साधननिरपेक्ष सुख वर्तमान है वे ये दोनों एषणायें क्यों करेंगे! (सर्वातिशय और अतिशयवर्जित को मिलाकर पुराण में 'सर्वातिशयवर्जितम्' कहा है।) ।।१६७१।।

आत्मवर्णनम्

स्वयंज्योतिः पुरोक्तो य आनन्दात्मा महेश्वरः। स एवात्मतया राजन्! विद्वद्भिरधिगम्यते।।१६७२

एष पृष्टो मया पूर्वं शाकल्याय महात्मने। मूर्तामूर्तजगद्भावाभावरूपविवर्जितः।।१६७३।।

स्वयंज्योतिः स वागाद्यैः अग्न्याद्यैश्च न गृह्यते। ग्राहकत्वं हि सापेक्षं सर्वदोक्तं मनीषिभिः।।१६७४।।

ग्राहकग्रहणग्राह्यफलसम्बन्धभेदभाक्। ग्रहणं जायते यस्मान्न तु भेदविवर्जितम्।।१६७५।।

स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितः। आनन्दात्मा ततोऽगृह्यः स्वयंज्योतिः परः पुमान्।।१६७६।।

अशीर्यस्तत एवाऽयं भेदाभावेन हेतुना। न शीर्यते यतः स्वात्मा यथा वस्त्रादिकं शनैः।।१६७७।।

आत्मनः संन्यासादिसहकृतज्ञानैकलभ्यत्वस्फुटीकरणाय उत्पाद्यविकार्यादिकर्मफलविलक्षणस्वरूपं प्रदर्शयतः 'स एष' इत्यादेः 'न रिष्यति' इत्यन्तस्य[1] वाक्यस्यार्थमाह—स्वयमिति नवभिः। यः पूर्वग्रन्थे आनन्दादिरूपतया महेश्वरो वर्णितः स विद्वद्भिः आत्मतयैव अधिगम्यत इति सम्बन्धः।।१६७२।। एष इति। एष एव मया पूर्वं शाकल्याय पृष्टः। कीदृशः? 'नेति नेति' इति वाक्यगतनञ्द्वयेन मूर्तामूर्तजगतोः भावाभावयोः वा क्रमेण निषेधेन; तद्वर्जित इत्यर्थः।।१६७३।। 'अगृह्य'-पदार्थमाह—स्वयं ज्योतिरिति। स आत्मा स्वयं ज्योतिः अविषयः, अतो वागाद्यैः आध्यात्मिकैः अग्न्यादित्यादिभिः बाह्यैश्च प्रकाशैः न गृह्यते न प्रकाश्यते। तत्रोपपत्तिमाह—ग्राहकत्वमित्यादिना। हि यतो ग्राहकत्वं ग्राहकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतं ग्रहणम् इतरसापेक्षं बुधैः उक्तमित्यर्थः।।१६७४।। ग्रहणस्य प्रकाशनरूपस्य भेदसापेक्षत्वेऽनुभवं प्रमाणयति—ग्राहकेति। यस्माद् ग्राहकादिपञ्चपदार्थानां कर्तृकरणकर्मतन्निष्ठ-फलतत्सम्बन्धानां भेदशाल्येव ग्रहणं प्रकाशनं लोके जायमानं दृष्टं, न तु तद्भेदहीनमित्यर्थः।।१६७५।। आत्मा तु सर्वभेदहीनः कथं ग्राह्यः स्याद् ?—इत्याह—स्वसजातीति स्पष्टम्।।१६७६।। अशीर्य इति। भेदाभावहेतुकात् ततो विषयत्वाभावाद् अयम् आत्मा अशीर्यः हिंसनयोग्यो न भवति, यतो हिंस्रशिरोमणेः कालस्य सम्बन्धात् परिणामरूपं विशरणमपि वस्त्रादिवद् आत्मनि न दृश्यत इत्यर्थः।।१६७७।। अत एवेति। अतो भेदाभावाद् एव

श्रुति ने यहाँ स्पष्ट किया कि आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है कि वह कर्म से नहीं मिल सकता अतः संन्याससहित ज्ञान से ही प्राप्त होता है। कण्डिका में कहा कि यह आत्मा 'नेति नेति' है। यह अग्राह्य है, अशीर्य है शीर्ण नहीं होता, असंग है, बँधा नहीं है, व्यथित नहीं होता, नष्ट नहीं होता।—इसे समझाते हैं :

हे राजन्! जिस आनंदरूप महेश्वर को पहले स्वयंज्योति कहा था वही विद्वानों को आत्मरूप से समझ आता है। महात्मा शाकल्य से मैंने इसी के बारे में पूछा था जो मूर्त-अमूर्त जगत् के भाव-अभाव से रहित है।('नेति नेति' में मूर्त-अमूर्त दोनों के भाव और अभाव दोनों का निषेध है अर्थात्—न मूर्त का भाव है, न उसका अभाव और न अमूर्त के ही भाव या अभाव हैं। मूर्त से पृथ्वी आदि तीन और अमूर्त से वायु-आकाश यों पाँचों भूतों का सर्वभावेन निषेध हो गया, पुनरुक्ति से निषेध का भी निषेध हो गया अतः निष्प्रतियोगिक अद्वैत आत्मा कह दिया गया।)।।१६७२-३।। वह आत्मा स्वयंज्योति है अतः वाणी आदि आध्यात्मिक और वह्नि आदि बाह्य प्रकाशों का विषय नहीं, उनसे प्रकाशित नहीं होता, वे इस तक 'पहुँचते' नहीं। मनीषी बताते हैं कि 'ग्राहक' (ग्रहण करने वाला) शब्द वहीं प्रयोग होता है जहाँ किसी अन्य की अपेक्षा से ग्रहण हुआ हो अर्थात् जन्य ग्रहण हो तो उसके कर्त्ता को ग्राहक कह सकते हैं। संसार में जो कोई भी 'ग्रहण' होता है उसके कर्ता, साधन, विषय—ये परस्पर और ग्रहण से विभिन्न होते हैं, ऐसे ही उस ग्रहण का फल और ग्रहण का फलादि से सम्बन्ध—ये भी परस्पर और ग्रहण से विभिन्न होते हैं। ऐसा कोई ग्रहण अर्थात् प्रकाशन—प्रकाश में आना—लोक में नहीं मिलता जो इन विभिन्न कर्त्रादि वाला न हो। आत्मा तो स्वगत, सजातीय,

---

१. 'स एष नेति नेत्यात्मा। अगृह्यो न हि गृह्यते। अशीर्यो न हि शीर्यते। असंगो न हि सज्यते। असितो न व्यथते। न रिष्यति।' इति।

अत एवाभितः स्वात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः। सङ्गवद्भेदवद् दृष्टं भेदवच्च प्रबध्यते।।१६७८।।
विनश्यति च नात्माऽतः सज्जते न विनश्यति। न च दुःखं समाप्नोति किञ्चिद् दुःखविवर्जितः।।१६७९।।
एषणात्रयनिर्मुक्ता भिक्षाचर्यपरायणाः। यं जानन्ति महात्मानस्तं को वेत्ति पुमान् सुधीः।।१६८०

ज्ञानफलम्

एतमेवात्मविज्ञानसम्पन्नं पुरुषोत्तमम्। सुखदुःखकरे नित्यं पुण्यपापे सुदुःसहे।।१६८१।।
अकर्तुश्च तथा कर्तुः सदा सन्तापकारके। न तापयत इत्यन्ते तापदे सर्वदेहिनाम्।। १६८२।।

आत्मा अभितः उभयतोऽन्तर्बहिर्वा वर्तमानैः सर्वपदार्थैः **सङ्गहीनो यतो भेदवद् एव वस्तु सङ्गवद् दृष्टम् इति सम्बन्धः। किं च भेदवद् एव वस्तु प्रबद्ध्यते** बन्धं प्राप्नोति विनश्यति च, आत्मा तु अतो **भेदाभावाद्** न सज्जते न **बद्ध्यते** न विनश्यति च न वा **क्रियासम्बन्धप्रयुक्तं** दुःखमाप्नोति। इति **द्वयोरर्थः।।१६७८-९।।**
एतादृशस्वभावत्वादेव आत्मविज्ञानेऽधिकारिणः सकलकर्मत्यागिन उक्ता इत्याह—एषणेति। स्पष्टम्।।१६८०।।

उक्तात्मविज्ञानफलप्रदर्शकस्य 'एतमुह' इत्यादेः[1] वाक्यस्यार्थमाह—एतमेव इत्येकादशभिः। एतम् आत्मविदं पुरुषोत्तमं पुण्यपापे न तापयतः। **कीदृशे ? सुखदुःखरूपफलारम्भणेन** सुदुःसहे **उत्कटवेगतया प्रसिद्धे। पुनः कीदृशे?** इति **वक्ष्यमाणप्रकारेण** कर्तुरकर्तुश्च सदा तापके, अन्ते **उत्क्रमणानन्तरं विशेषतश्च तापके। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१६८१-२।।**

विजातीय सभी भेदों से अस्पृष्ट है अतः आनंदरूप स्वयंज्योति वह परम पुरुष 'अगृह्य' अर्थात् अग्राह्य है, ग्रहण से असंबद्ध है। (ग्रहण अर्थात् वृत्तिज्ञान प्रतिबिम्बस्थानीय है जिससे बिंब का कोई वास्तविक संबंध नहीं तथापि अध्यासकी तुल्यसत्ता में उसकी निवृत्ति करने वाला होने से वृत्तिज्ञान प्राप्तव्य है। आत्मा ग्रहण करके जो चाहिये वह इस वृत्तिज्ञान से मिल जाता है अतः इसे आत्मग्रहण कह देते हैं, इससे आत्मा ग्राह्य नहीं हो जाता यह भाव है।)।।१६७४-६।।

किसी भी भेद का इससे कोई सम्बन्ध नहीं अतः आत्मा अशीर्य है, हिंसा के अयोग्य है। जैसे कपड़ा आदि धीरे-धीरे कमज़ोर पड़कर नष्ट होता है ऐसे निज आत्मा विशीर्ण नहीं होता क्योंकि विशीर्णता परिणामरूप है जो कालसम्बन्ध से होता है जबकि भेदभूमि वाले काल का आत्मा से सम्बन्ध है नहीं।।१६७७।। भेदरहित होने के कारण ही आत्मा अपने भीतर और अपने से बाहर के पदार्थों से संग वाला नहीं है। भेदवाली चीज़ ही संगवाली देखी गयी है। ऐसे ही भेदयुक्त वस्तु ही बँधती और विनष्ट होती है, आत्मा निर्भेद होने से न बँधता है (न सक्त होता है) और न नष्ट होता है। दुःखहीन आत्मा कोई दुःख नहीं पाता (क्योंकि दुःख होता है क्रियासंबंध से और वह आत्मा का है नहीं)।। १६७८-९।।

तीनों एषणाओं से रहित, भिक्षोपलक्षित आचरण वाले महात्मा जिसे जानते हैं उसे कौन सुधी पुरुष (वैसा अधिकारी बने बिना) जान सकता है ! ।।१६८०।।

श्रुति ने आत्मज्ञान का फल दिखाते हुए कहा है कि ज्ञानी को ऐसा हर्ष या शोक नहीं होता कि 'मैंने यह शुभ कर्म कर लिया, या यह अशुभ कर्म कर लिया।' किये और न किये—दोनों के बारे में उसे संताप नहीं होता।—इसे समझाते हैं :

उक्त प्रक्रिया से जो उत्तम पुरुष आत्मानुभव से संपन्न हो चुका है उसे पुण्य-पाप ताप नहीं देते जो पुण्य-पाप अज्ञानियों को हमेशा सुख-दुःख देते ही हैं। जो कर्म करता है और जो नहीं करता दोनों को कर्म संताप देते हैं और शरीर छोड़ने पर तो वे विशेषकर कष्ट देते हैं। आत्मविद्वान् को कर्म कोई ताप नहीं देते। (कारण स्पष्ट है कि वह जान चुका है कर्म का उससे कोई सम्बन्ध नहीं।)।।१६८१-२।। पाप करते समय भी ताप देता है क्योंकि कर्म—चाहे

---

१. 'एतमुहैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवम् इत्यतः कल्याणमकरवमिति। उभे उ हैवैष एते तरति, नैनं कृताकृते तपतः।।२२।।'

करणात् तापयेत् पापं कर्तारं फलतोऽपि च। सुकृतं करणात् तद्वत् स्वफलस्य क्षयादिना।।१६८३।।
गर्वेण तापयेत् तद्वद् अकर्तारं हि पाप्मनः। लोकदुःखाऽसहिष्णुत्वात् तापयेच्चापरं हि तत्।।१६८४
सुकृतं दुःखसम्प्राप्त्या ह्यकर्तारं प्रतापयेत्। लोकद्वयेऽपि लोकानामुच्चतावीक्षणेन च।।१६८५।।
अस्मिन् देहस्य जननाद् मरणान्तमहं सदा। पापान्यंकरवं तद्वत् पुण्यानि न तथा परम्। एवं सङ्कल्पतश्चाऽपि तपतः पुण्यपातके।।१६८६।।
तरत्येष उमे एते दुस्तरे पुण्यपातके। आत्मविज्ञानसम्पन्नो हनूमानिव सागरम्।।१६८७।।

तत्र सदा तापकत्वं पुण्यपापयोर्विशदयति—करणादिति त्रिभिः। पापं पापरूपं कर्म 'कष्टं कर्म' इति न्यायात् करणाद् अनुष्ठानक्लेशात् तापयेत्। तथा फलतः फलरूपेण तापयेत्। एवं सुकृताख्यमपि कर्म करणाद् अनुष्ठानक्लेशात् तथा फलरूपेण क्षयित्वाच्च कर्तारं तापयति इत्यर्थः।।१६८३।।

एवं कर्तारं प्रति उभयोः तापकत्वमुक्त्वा अकर्तारं प्रत्यपि तापकत्वं विशदयति—गर्वेणेति। पाप्मनः पापस्य अकर्तारं तत् पापं गर्वद्वारा तापयति। दृश्यन्ते ह्यज्ञाः पापाऽकरणे गर्विता इति भावः। तथा अपरं पुण्यं तत् कर्म अकर्तारं कृपादुःखेन तापयति; पुण्यं हि लोकोपकाररूपं, तद् अकृतं सद् उपकार्याणां दुःखितलोकानां दर्शने कृपया दुःखयति। तदुक्तम्—'ईर्षुर्घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः। परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिनः।।' इति।।१६८४।। सुकृतमिति। तथा सुकृतं पापफलस्य दुःखस्य प्रतिबन्धाकरणेन अकर्तारं तापयति। तथा इहामुत्र वा लोकानां स्वाननुष्ठितकर्मफलानां भोग्यानां स्वभोग्येभ्य उत्कर्षस्य दर्शनेन ईर्ष्याद्वारा सुकृतम् अकर्तारं तापयतीत्यर्थः।।।१६८५।। अन्ते दुःखदत्वं विशदयति—अस्मिन्निति। 'अस्मिन् लब्धे मनुष्यलोके जननमारभ्य मरणपर्यन्तम् अहं पापानि अकरवं कृतवानस्मि, तथा परं केवलं पुण्यानि न अकरवम्'— इत्याकारेण सङ्कल्पेन पुण्यपापे अन्ते तापयत इत्यर्थः।।१६८६।।

विद्वांस्तु विज्ञानबलेन तयोः अश्लेषादिरूपं[1] तरणं करोति यथा जाम्बवदादिप्रकाशितं स्वमहिमानमनुसृत्य हनूमता सिन्धुस्तीर्ण इत्याह-तरतीति। एष विद्वान्। एते पुण्यपापे।।१६८७।। सङ्कल्पवन्तं हि पुण्यपापे तापयतः।

पाप हो—करने में श्रम पड़ता ही है, और फलरूप से भी दुःख ही देता है। ऐसे ही पुण्य भी करते समय दुःख देता ही है और क्षयिष्णु फल देकर भी क्लेश ही देता है। (पुण्यफल सुख हर क्षण क्षीण होता है तब दुःख अवश्य होता है।)।।१६८३।। जो पाप नहीं करता उसे पाप गर्व देकर संतप्त करता है (अर्थात् उसे इस बात का गर्व हो जाता है कि 'मैं पाप नहीं करता, अतिश्रेष्ठ हूँ।') जो पुण्य नहीं करता उसे पुण्य कर्म भी 'कृपादुःख' से ताप देता है। यदि वह पुण्य करता तो लोगों का उपकार होता, पुण्य नहीं किया तो उपकार से वंचित लोगों का दुःख देखकर उसे संताप होता है, यही 'कृपादुःख' है। (नीतिकार ने छह को हमेशा दुःखी बताया है—ईर्ष्यालु, कृपालु, असंतोषी, क्रोधी, सदा शंकालु, दूसरे के भाग्य के सहारे जीने वाला।)।।१६८४।। पुण्य भी उसे संताप देता है जिसने पुण्य नहीं किया : न किया गया पुण्य पापफलभूत दुःख में रुकावट नहीं लाकर अकर्ता को ताप देता है। ('यदि मैंने पुण्य किया होता तो मुझे दुःख न मिलता'—यों वह संतप्त रहता है जिसने पुण्य नहीं किया।) ऐसे ही वह जब अपने को उपलब्ध भोग्यों से श्रेष्ठ भोग्य इस लोक या परलोक में देखता सुनता है तो उसे ईर्ष्या का ताप होता है (कि 'मैं जो पुण्य नहीं कर पाया वह इन लोगों ने क्यों कर लिया कि मुझसे ज़्यादा सुखी हैं!') ।।१६८५।। अन्तकाल में भी पुण्य-पाप ताप देते हैं—मरते समय व्यक्ति यह सोचते हुए ग्लानि से सन्तप्त होता है—'इस शरीर में पैदा होने से मरने तक मैंने पाप ही किये, पुण्य नहीं किये।' (इस प्रकार अज्ञानी को करने-न करने दोनों हालतों में पाप-पुण्य ताप देते हैं)।।१६८६।। आत्मवित् तो विज्ञान

१. 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्। इतरस्याप्यसंश्लेषः पाते तु' इति सूत्रे ४.१.१३-१४।

विदुषो नास्ति सङ्कल्पः कोऽपि कुत्राऽपि कर्हिचित्। अनेन कर्मणा स्वर्गः सुकृतेन भविष्यति।।
अनेन नरकस्तद्वद् महता पातकेन मे।।१६८८।।

पुत्रपश्वादिकं तद्वद् ममानेन भविष्यति। अस्मिन्नेव शरीरेऽदो नेत्यदृष्टफलप्रदम्।।१६८९।।

तथाऽनेन महारोगो लोकेऽकीर्तिश्च दारुणा। भविष्यत्यचिरादेव स्वार्थसिद्धिं प्रकुर्वतः।।१६९०।।

इत्यादिबोधतो यस्माद् नाऽस्य तापप्रदे इमे। ब्रह्मवित् तत एवाऽयं पुण्यपापे तरेत् सदा।।१६९१।।

ब्राह्मणस्य महिमा

मन्त्रोऽप्याह महाराज! विद्वांसमिति सर्वदा। ब्राह्मणस्यात्मविदुषो महिमाऽयं महानहो।। नित्यः
कालत्रयेऽप्यस्य न विपर्येति कर्हिचित्।।१६९२।।

विदुषस्तु सङ्कल्प एव नास्तीति कथं तापयतः ? इत्याह—विदुष इति। सङ्कल्पभेदानभिनयति—अनेनेत्यादिना। स्पष्टम्।।१६८८।। पुत्रेति। अनेन पुत्रेष्ट्यादिरूपकर्मणा अस्मिन्नेव शरीरे पुत्रादिफलं भविष्यति, तथा अदः स्वाराज्यादिफलम् अस्मिन्नेव शरीरे न भविष्यति इति इत्यतो हेतोः वाजपेयादिकर्म अदृष्टफलप्रदं पारलौकिकमेवेत्यर्थः।।१६८९।। तथाऽनेनेति। तथाऽनेन ब्राह्मणापकारादिरूपेण कर्मणा स्वार्थस्य स्वकीयप्रयोजनस्य सिद्धिं कुर्वतो मम कुष्ठादिरोगोऽपकीर्तिश्च भविष्यति इति।।१६९०।। इत्यादीति। इत्यादिरूपेण बोधेन संकल्पेन तापके इमे पुण्यपापे अस्य विदुषः तापप्रदे न भवतः, ततो ब्रह्मवित् पुण्यपापे तरति इत्युच्यत इत्यर्थः।।१६९१।।

उक्तार्थसंवादकस्य ऋक्संज्ञकमन्त्रस्य[1] अर्थमाह-मन्त्रोऽपीति त्रिभिः। हे महाराज! उक्तविधं विद्वांसं मन्त्रोऽपि इति इत्थं प्रतिपादयति। 'इति' कथम्? आत्मविदो ब्राह्मणस्य अयं स्वरूपभूतो महिमा कूटस्थनित्यः कालत्रये-

के बल से पुण्य-पाप से परे हो जाता है जैसे हनुमान् अपनी महिमा जानकर समुद्र पार कर गये थे ! पुण्य-पाप का महासागर लाँघना अत्यंत असंभव है लेकिन आत्मा के साक्षात्कार से संपन्न (अर्थात् दृढतम साक्षात्कार वाला) विद्वान् इन्हें लाँघ जाता है।१६८७।। संकल्प करने वाला ही पुण्य-पाप से संतप्त होता है। विद्वान् को किसी भी विषय में कभी कोई संकल्प नहीं होता। 'इस पुण्य कर्म से स्वर्ग होगा। इस महान् पाप से मुझे नरक मिलेगा। इस कर्म से मुझे इसी शरीर में पुत्र-पशु आदि मिलेंगे। अमुक फल इस शरीर में नहीं मिलेंगे अतः यह कर्म पारलौकिक फल देगा। इस दारुण कर्म से स्वार्थसिद्धि करने वाले मुझे शीघ्र ही महान् रोग होगा और लोक में अपकीर्ति मिलेगी।'—इत्यादि ढंग से चलने वाले संकल्पों द्वारा पुण्य-पाप संताप देते हैं। विद्वान् संकल्प करता नहीं तो उसे वे ताप भी नहीं दे पाते। इसीलिये ब्रह्मवेत्ता हमेशा के लिये पुण्य-पाप तर जाता है।।१६८८-९१।।

श्रुति ने यहाँ एक मंत्र उद्धृत किया है जिसमें कहा है कि ब्राह्मण की यह नित्य महिमा है जो कर्म से घटती-बढ़ती नहीं। उस महिमा के ही स्वरूपका जानकार बनना चाहिये, उसे जानकर पाप कर्म से सम्बन्ध नहीं रहता।—इसे पुराण में बताते हैं :

हे महाराज! ऐसे विद्वान् के बारे में मंत्र भी हमेशा यह कहता है कि अहो! आश्चर्य है; आत्मज्ञ ब्राह्मण की यह महिमा महान् है। इसकी इस नित्य महिमा में भूत-भविष्य-वर्तमान् में कोई परिवर्तन नहीं आता। अन्यों की तरह यह पुण्य कर्म से बढ़ती नहीं और पापी की तरह यह पाप कर्म से छोटी नहीं हो जाती। (विद्वान् की महिमा उसका स्वरूप ही है। स्वरूप में हानि-वृद्धि नहीं तो महिमा में कैसे हो!)।।१६९२-९३।। पहले ब्रह्मरूप हो चुके ब्राह्मण की ही

---

१. 'तदेतदृचाभ्युक्तम्—एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन इति।'

वर्धते कर्मणा नाऽयं सुकृतेन यथा परः। कनीयानपि पापीव न भवेत् पातकेन च।।१६६३।।

तस्यैव ब्राह्मणस्याऽयं महिमा ब्राह्मणो भवेत्। पदनीयात्मविज्ञानाद् योऽद्वयात्मवपुःस्थितः। को नामान्यस्तरेदेते दुस्तरे पुण्यपातके।।१६६४।।

शमादिविधिः

यस्मात् पूर्वेऽपि विद्वांसः पुण्यपापविवर्जिताः। एषणात्रयनिर्मुक्ता जाता भिक्षाटने रताः। आत्मलोकेन सम्पन्नाः परिव्राजो जितेन्द्रियाः।।१६६५।।

तस्माद् यज्ञादिभिः क्षीणपातकः शुद्धमानसः। आत्मेच्छुः प्रव्रजेदेवंगुणो भूत्वा सदा मुनिः।।१६६६।।

ऽनन्यथाभावाद् इत्यर्थः।।१६६२।। यतः शुभाशुभकर्मकृतवृद्धिहानिरहित इत्याह—वर्धत इति।। १६६३।। तस्यैवेति। तस्य पुरा ब्रह्मी भूतस्य ब्राह्मणस्य महिमा स्वरूपभूतं महिमानं प्राप्तः अयम् इदीनींतनो ब्राह्मणोऽपि भवेत्। कीदृश इदानीन्तनब्राह्मणः ? यः पदनीयस्य; यथा पदेन पादचिह्नेन गवादिर्बुध्यते तथा अस्ति-भाति-प्रियम्-इत्याकारैः पदैः वेदनीयस्य आत्मनो विज्ञानाद् अद्वयादिरूपतया स्थितः। अन्यथा पुण्यपापाभ्यामतीतो महिमा दुर्लभ इत्यर्थः।।१६६४।।

वर्णितफलकमात्मज्ञानमुद्दिश्य शमाद्यन्तरङ्गसाधनविधानपरस्य 'तस्माद्' इत्यादेः 'पश्यति' इत्यन्तस्य[1] अर्थमाह—यस्मादिति ऊनविंशतिश्लोकैः। यस्मात् पूर्वेऽपि विद्वांसो विवेकिन इह जन्मनि जन्मान्तरे वा अनुष्ठितैः यज्ञादिभिः शुद्धान्तःकरणत्वात् पुण्यपापाभ्यां तत्प्रयोजकैषणात्रयेण च रहिताः सन्त आत्मनो लोकस्य दर्शनस्य दार्ढ्यरूपसम्पत्तिफलकं जितेन्द्रियत्वादि अन्तरङ्गसाधनसम्पन्नं भिक्षाटनोपलक्षितं पारिव्राज्यं संन्यासं कृतवन्त इत्यर्थः।।१६६५।।

तस्मादिति। तस्माद् इदानीन्तनोऽपि यज्ञादिभिः क्षीणपातकत्वेन शुद्धमानसः आत्मेच्छुः आत्मज्ञानसम्पत्तिकामः, एवंगुणो वक्ष्यमाणशमादिगुणसम्पन्नः सन् प्रव्रजेदिति।।१६६६।। तत्र शमदमौ पूर्वोत्तरार्धाभ्याम् अभिनयति—मनसेति। बालवद् रागादिराहित्यं शमम् इन्द्रियनिरोधात्मकं दमं च कुर्यादित्यर्थः। शमादीनां पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरं प्रति

स्वरूपभूत महिमा को आज का भी वह ब्राह्मण प्राप्त करता है जो 'पदनीय' आत्मा के साक्षात्कार से अद्वैत आत्मरूप से प्रतिष्ठित है। उससे अन्य कौन हो सकता है जो इन मुश्किल से लाँघे जाने वाले पुण्य-पाप को लाँघ जाये ? ('पदनीय' अर्थात् पदों द्वारा ज्ञेय; जैसे पैरों के चिह्नों से गाय, चोर आदि का पता चलता है ऐसे ही 'अस्ति-भाति-प्रिय'—इन चिह्नों से आत्मा का पता चलता है। श्रुति के 'पदवित्' का भाष्य में अर्थ किया है 'पदवित्—पदस्य वेत्ता। पद्यते गम्यते ज्ञायत इति महिम्नः स्वरूपमेव पदं, तस्य पदस्य वेदिता।' पहले (१.४.७) श्रुति कह चुकी है 'तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा', वहाँ पदनीय का भाष्य में अर्थ है 'ज्ञातव्य'।) ।।१६६४।।

उक्त फल वाले आत्मविज्ञान के अंतरंग साधनों का श्रुति ने विधान किया कि क्योंकि यों श्रेष्ठ फल का एकमात्र उपाय ज्ञान है इसलिये इसे समझने वाले को चाहिये कि शांत, दान्त, उपरत, तितिक्षु समाहित (और श्रद्धालु) होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे, सभी को आत्मा देखे।—इसे विस्तार से समझाते हैं :

प्राचीन काल के विवेकी भी जन्म-जन्मान्तर में अनुष्ठित यज्ञादि से शुद्धचेतस्क हो ऐसे पुण्य-पाप से रहित हो गये थे जो ब्रह्मनिष्ठा में प्रतिबंधक बनें और तीनों एषणायें छोड़कर आत्मा के दर्शन से संपन्न हो जितेंद्रिय रहते हुए परिव्राजक बनकर भिक्षा से जीवननिर्वाह करते थे। इसलिये अब भी मनस्वी को चाहिये कि यज्ञादि से पाप क्षीण कर अपना मानस शुद्ध कर ले और सिर्फ़ आत्मा को चाहते हुए इन गुणों वाला होकर संन्यास ग्रहण करे।।१६६५-६।।

---

१. 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति' इति। माध्यंदिने शान्तइत्यत्रश्रान्तः, समाहित इत्यत्र श्रद्धावित्त इति च पठ्यते।

मनसा विषयान् सर्वान् परित्यज्यार्भकोपमः। दशेन्द्रियाणि संयम्य दुर्दान्तानिव वाजिनः।।१६६७।।

यथोपपन्नलाभेन वर्तयेत् स्वकलेवरम्। हर्षं न लाभतो गच्छेद् विषादं नाप्यलाभतः।।१६६८।।

कर्मणा मनसा वाचा पीडां भूतैः कृतामपि। देहेन्द्रियमनःस्वेष जानन् कोपं च न व्रजेत्।।१६६९।।

विचारयेदिदं स्वस्य चित्ते स्वच्छतमे सदा। निन्दां यदि प्रकुर्वन्ति ममेमे बान्धवास्ततः। मया समर्जितं पापं सर्वमेव नयन्त्यमी।।१७००।।

इतः परं ममामीभिः कार्या कोपकृतिस्त्विह। यतो दुःखकरं पापं मम सर्वं नयन्त्यमी।।१७०१।।

परोपकारनिरता अहो एते महाधियः। मनसो वचसः स्वस्य दुःखं दत्वा हि दुःखदम्। मम पापं हरन्त्येते स्वस्य दुःखकरं सदा।।१७०२।।

हेतुत्वात् क्रमेण उपन्यासः।।१६६७।। सन्तोषातिशयरूपामुपरतिमाह—यथोपपन्नेति। यथोपपन्नम् अनायासागतम् ।।१६६८।।

तितिक्षां क्षमारूपामभिनयति—कर्मणेति दशभिः। शरीरादिभिः कृता भूतैः प्राणिभिः पीडा मम देहादिषु एव वर्तते, न मत्स्वरूप इति जानन् न कुप्येद् इत्यर्थः।।१६६९।। विचारयेदिति। भूतैरपकृतश्च इदम् एवंविधं विचारं कुर्याद्। 'इदं' किम्? इत्याकाङ्क्षायाम्; निन्दाम् इत्यादि योज्यम्। यदीमे लोका मां निन्दन्ति तदा बान्धवा एव, मदर्जितपापहरणरूपोपकारकारित्वादित्यर्थः।।१७००।। बान्धवत्वे हेतुमुपकारमेव विशदयति—इत इति। का उपकृतिः इति च्छेदः।। १७०१।। परोपकारेति। किं च एते निन्दकत्वेन भासमाना मम ते परोपकारिणः सज्जना एव यतः स्वकीये मनसि वाचि च मदीयदोषचिन्तनादिरूपं दुःखम् आयासं दत्वा निधाय मम दुःखदं पापं हरन्ति। कीदृशं पापम् ? स्वस्य दुःखकरं—ह्रियमाणं सत् स्वस्य हर्तुः दुःखप्रयोजकमित्यर्थः। तथा च शम्भोः हलाहलपानमिव परपापहरणं सज्जनानां न चित्रं परन्तु एते निन्दका दुर्जनत्वेन प्रसिद्धा इति चित्रमिति भावः।।१७०२।।

बालक की तरह मन से सब विषयों का परित्याग कर दे और मुश्किल से नियंत्रण में आने वाले घोड़ों की तरह उच्छृंखल दसों इंद्रियों का संयम करे। (शमादि में पूर्व धर्म उत्तर धर्म का हेतु बनता है अतः क्रम है तथापि ये सभी धर्म एक-दूसरे को बढ़ाते हैं अतः सभी का यथाशक्ति साथ-साथ अभ्यास करना चाहिये।)।।१६६७।। बिना आयास जो मिले उससे अपने शरीर का निर्वाह कर ले। प्राप्ति से हर्ष और न मिलने (या खो जाने) से विषाद का अनुभव न करे ।।१६६८।।

अन्य प्राणी कर्म, मन और वाणी से पीडा दें तो साधक याद रखे कि 'वह पीडा देह-इंद्रिय-मन में ही है, मेरे स्वरूप में नहीं' अतः कोप न करे।।१६६९।। अपने अतिस्वच्छ हृदय में उसे हमेशा यों विचार करना चाहिये : 'यदि लोग मेरी निंदा कर रहे हैं तो मेरे बांधव ही हैं। क्योंकि मेरे द्वारा बटोरे सारे पाप को ये लिये जा रहे हैं। संसार में इससे ज्यादा मेरा ये और क्या उपकार कर सकते हैं, क्योंकि मेरे सारे दुःखदायी पाप को ये ले जा रहे हैं! ।।१७००-१।। धन्य हैं ये अतिबुद्धिमान् लोग जो परोपकार में संलग्न हैं! अपने मन-वाणी को दुःख देकर भी ये मेरा दुःखप्रद पाप ले रहे हैं जो इन्हें भी हमेशा दुःख ही देगा! (मेरे दोष का चिंतन व कथन इन्हें आयासका कष्ट तो दे ही रहा है आगे भी दुःख देगा ही फिर भी जैसे शंभु ने हलाहल पी लिया था वैसे ये मेरा पाप मुझसे छुड़ाकर स्वयं ग्रहण कर रहे हैं। ये सज्जन हैं अतः इनका यों परोपकारी होना आश्चर्य नहीं बल्कि आश्चर्य तो है कि निंदक लोग दुर्जन समझे जाते हैं!)'—यों तो तब सोचना चाहिये जब लोग निंदा करें। (दूसरे की निंदा करने से उसका पाप निंदक को भोगना पड़ता है। ब्रह्मवेत्ता के पाप उसके द्वेषियों को भोगने पड़ते हैं ऐसा श्रुतियों में कहा है। 'पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्' (मनु ११.५०) आदि से क्रमशः सच्चे और झूठे परकीय दोषों का प्रकाशन पापावह बताया गया है। अतः विद्वान् के निंदक उसके पाप तो बटोर ही रहे हैं साथ में खुद भी पाप ही कर रहे हैं।)।।१७०२।।

मह्यं द्रुह्यन्ति मनसा बत कस्मादमी वृथा। मा भूद् अन्त्यजयोनित्वम् एतेषां मम चिन्तनात् ।१७०३
हस्तयोः पादयोः कस्माद् व्यथामेते प्रकुर्वते। स्वस्य मे ताडनादेषां मा भूद् दुःखं यथा मम। ।१७०४
नैते कुर्वन्ति मे किञ्चिद् दुःखमत्र समागताः। पुरा कृतं मया यत्तु तदेवात्र करोति मे। ।१७०५।।
एते मम शरीराणि गुरुशास्त्रोपदेशतः। मा भूदेतेषु तद् दुःखं यदस्ति मयि सम्प्रति। ।१७०६।।
सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। मम गात्रसमा जीवा मा कश्चित् पापमाप्नुयात्। ।१७०७।।
इत्यादि चिन्तयित्वाऽयं निर्विकारो भवेत् सदा। दुःखे भूतकृते स्वस्य देहेन्द्रियमनःस्वपि ।१७०८

एवं निन्दाकाले विचारमुक्त्वा भूतानां स्वं प्रति जिघांसां दृष्ट्वा कर्तव्यं विचारमभिनयति—मह्यमित्यादिना। अमी लोकाः कस्माद् मह्यं द्रुह्यन्ति जिघांसन्ति ? मदनिष्टचिन्तनफलं चाण्डालयोनित्वमेषां मास्तु इति कामये। तदुक्तं मनुना—'परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथाऽनिष्टानि चिन्तयन्। वितथाऽभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु।'[1] अभिध्यायन् स्पृहयन्; वितथाः पाखण्डाः तत्राभिनिवेशी आग्रहवानिति। ।१७०३।। हस्तयोरिति। यथा स्वस्य हस्तयोः पादयोः वा स्वयं ताडनमनुचितं तथा मे शरीरस्य ताडनं ते लोकाः कस्मात् कुर्वन्ति ? एकात्मकत्वाविशेषेण स्वाङ्गवत् पराङ्गताडनस्याऽपि अयुक्तत्वाविशेषात्। अहं तु एवं कामये—एतेषां स्वस्य मे स्वशरीरतुल्यस्य मच्छरीरस्य ताडनाद् मद्वद् दुःखं माऽस्तु इत्यर्थः। ।१७०४।। मद्दुःखदं तु मया पुरा कृतं दुष्कृतमेवेत्याह—नैत इति। स्पष्टम्। ।१७०५।। एते इति। यत एते प्राणिदेहाः सर्वेऽपि एकस्यात्मनः शरीराणि इति गुरुशास्त्रोपदेशात् सिद्धम् अत इति कामये यत् सम्प्रति अधुना मयि मच्छरीरे यद् दुःखं तद् एतेषु प्राणिषु मा भूद् इति। ।१७०६।। तस्मादेवमस्त्वित्याह—सर्वइति। गात्रं शरीरम्। ।१७०७।। इत्यादीति। स्वस्य देहादिषु भूतैः दुःखे कृते सति वर्णितविधविचारेण निर्विकारो भवेद् इति सम्बन्धः। ।१७०८।।

जब अन्य प्राणिगण हिंसा करने को उद्यत हों तो विद्वान् को यों विचार करना चाहिये—'अनुकंपा का विषय है; ये लोग मन से व्यर्थ ही मेरे प्रति द्रोह क्यों रखते हैं—मेरी हिंसा क्यों करना चाहते हैं ? मैं तो यही चाहता हूँ कि मेरे अनिष्ट की अभिलाषा रखते हुए मेरे अनिष्ट के बारे में सोचने से ये अन्त्यज योनियों में पैदा न हो जायें। (मनु महाराज ने कहा है कि पराये धन को हथियाने के लिये उसका चिंतन करना, मन से किसी के अनिष्टका चिंतन करना और असत्य बात का आग्रह रखना—ये मानस कुकर्म हैं जिनके फलस्वरूप अन्त्यज होकर पैदा होना पड़ता है। उन्होंने वाङ्मय कुकर्म भी कहे हैं जिनके फलस्वरूप पशु-पक्षी बनना पड़ता है—अप्रिय ढंग से बोलना, झूठ बोलना, अनुपस्थित व्यक्ति के दोष बोलना (निंदा) और ऐसी बातें बोलना जो कोई अच्छा प्रयोजन न सिद्ध करें। पेड़-पौधों की योनि दिलाने वाले शारीरिक कुकर्म हैं—अन्याय से दूसरे की चीज़ हड़प लेना, शास्त्र में जिसकी अनुज्ञा नहीं वह हिंसा और अन्य की पत्नी से शारीरिक संबंध करना।)। ।१७०३।। मुझे पीटने की प्रक्रिया में ये अपने हाथ-पैरों को व्यथा क्यों दे रहे हैं ? मैं कामना करता हूँ कि जैसे चोट खाकर मुझे दुःख हो रहा है ऐसे इन्हें न हो। ।१७०४।। यहाँ इकट्ठे हुए ये लोग मुझे कुछ भी दुःख नहीं दे रहे! मैंने ही पहले जो पाप किया है वही अब मुझे दुःख दे रहा है। ।१७०५।। गुरुओं के और शास्त्र के उपदेश से प्रमाणित है कि ये सभी प्राणिदेह मुझ एक आत्मा के ही शरीर हैं अतः मैं यही चाहता हूँ कि मुझे अभी जो दुःख हो रहा है वह इन्हें कभी न हो। ।१७०६।। संसार में सभी सुखी रहें, सब नीरोग रहें। मेरे शरीर जैसे ही सब जीव हैं, कोई भी पाप न बटोरे। ।१७०७।।—अपने देह-इंद्रिय-मन में जब किसी प्राणी के निमित्त से दुःख हो तो पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर विद्वान् निर्विकार रहने का यत्न करे। (विकार अर्थात् प्रतिशोधभाव। अन्य द्वारा प्रयुक्त दुःख से अपने में यह न लाये कि 'इसका बुरा हो' बल्कि दर्शित दिशा में सोचकर अपने दुःखकी जिम्मेदारी स्वयं की ही माने और दूसरों के कल्याण की ही अभिलाषा करे।)। ।१७०८।।

---

१. 'परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।। शरीरजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्।।'१२. ५.९।। इति मनुस्मृतिसन्दर्भानुसारिश्लोकोऽयम्।

सावधानः सदा भूयादात्मनो दर्शनाय हि। गुरुशास्त्रोपदेशेन परमास्तिक्यमागतः।।१७०६।

आत्मानं पश्येत्

तर्कैर्नानाविधैः सम्यक् शास्त्रमार्गानुसारिभिः। यथोपदिष्टं त्वेतस्मिन् प्रत्ययानां प्रवाहतः।।१७१०।।

सह ब्रह्माहमस्मीति शास्त्रेण करणेन च। मनस्यवस्थितं देवं मनसैवावलोकयेत्।। यदुक्तं ज्योतिषां ज्योतिरानन्दात्मानमद्वयम्।।१७११।।

समाधानं श्रद्धां च दर्शयति—सावधान इति। अवधानं चित्तैकाग्र्यं, तद्भावरूपं समाधानं गुरुप्रभृत्युपदेशानुसारिविश्वासरूपां श्रद्धां च कुर्यादित्यर्थः।।१७०६।।

तर्कैरिति। चकारो भिन्नक्रमः। तथा च—उक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं सम्यक् शास्त्रं वेदान्तरूपं तन्मार्गानुसारिभिः उत्तरमीमांसाप्रसिद्धैः तर्कैः श्रवणमननसंज्ञैः तथा यथोपदिष्टम् उपदेशानुसारेण एतस्मिन् आत्मतत्त्वे प्रत्ययानां चित्तवृत्तीनां प्रवाहरूपेण निदिध्यासनेन च सह कृतेन ब्रह्माहमस्मि इत्यादिरूपेण शास्त्रेण करणेन उपकृतं यन्मनस्तेनैव देवमवलोकयेत् साक्षात्कुर्यात्। कीदृशं देवम्? मनसि साक्षितया स्थितम्। पुनः कीदृशम् ? यज्ज्योतिषां ज्योतिरुक्तं तद्रूपम्। पुनः कीदृशम् ? अद्वयत्वानन्दरूपम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१७१०-१।।

तितिक्षाका वर्णन कर अब समाधान व श्रद्धा बताते हैं—आत्मा के साक्षात्कार के लिये हमेशा अपना चित्त सावधान—एकाग्र—रखे और गुरु व शास्त्र के उपदेश के बारे में 'ऐसा ही है' यह निश्चय रखे। (साक्षात्कार से पूर्व यह निश्चय विश्वासरूप होगा और बाद में अनुभवरूप। अपने वर्तमान अनुभव को शास्त्रादि के तुल्य न मानकर हीन मानना चाहिये जैसे वैद्यकादि शास्त्र जब किसी पदार्थ को सदोष कहता है तो प्रत्यक्षादि से न लगने पर भी वैसा ही मानते हैं अथवा आधुनिक भौतिकादि विज्ञानों में प्रबलता मानकर प्रत्यक्षादि से प्रसिद्ध निरपेक्ष तथ्यों को देश-काल आदि की परिधि से प्रभावित अतः अनिरपेक्ष स्वीकारते हैं। जैसे सफलता लौकिक शास्त्रों के प्राबल्य का प्रयोजक है ऐसे अध्यात्मशास्त्र के भी प्रामाण्याधिक्य में हेतु यही है कि उसमें बताये साधनों के अनुष्ठान से मोक्ष मिल जाता है, प्रत्यक्षादि के सहारे रहने से नहीं मिलता। अत एव कह चुके हैं कि 'यहीं जान लिया तो सत्य है नहीं तो महान् विनाश है' इत्यादि।)।।१७०६।।

शास्त्र (शारीरकमीमांसा) में दिखाये मार्ग का अनुसरण करने वाले नाना प्रकार के तर्कों से जैसा वेदान्तों में उपदिष्ट है वैसे आत्मा का निश्चय दृढ करना चाहिये और इसी आत्मा के आकार की मनोवृत्तियाँ लगातार बनती रहें इसकी कोशिश करनी चाहिये। इन दोनों का सहारा लेते हुए 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि प्रमाणभूत शास्त्र से मन में उस महादेव की प्रमा कर लेनी चाहिये जो मन में ही उपस्थित है, जिसे ज्योतियों की ज्योति कहा था, जो अद्वय आनंदरूप है। (यों श्रवण-मनन-निदिध्यासन का विधान स्पष्ट कर दिया। मनन-निदिध्यासन सहकृत श्रवण तत्त्वधी का हेतु है इस मुख्य साम्प्रदायिक प्रक्रिया को ही पुराणकार ने समर्थन दिया। प्रयोजक श्रवण के बाद शास्त्र का वही अर्थ है यह निर्णय करने के लिये किया विचार और वह अर्थ युक्तिविरुद्ध नहीं है यह निर्णय करने के लिये किया विचार जब अपने संतोष लायक हो जाता है तभी महावाक्य बुद्धि में अप्रतिबद्ध अखण्ड ज्ञान पैदा करते हैं। पूर्वोक्त विचारों से अतिरिक्त यह भी ज़रूरत रहती है कि मन को आत्मा पहचानने की आदत पड़े। सूक्ष्म विषयों में निपुणता के लिये उन्हें अन्य सबसे पृथक् कर भलीभाँति जान लेना पड़ता है तभी उन्हें तुरंत पहचाना जा सकता है जैसे स्वर, रत्न आदि। विचारित शास्त्रीय अखण्ड तत्त्व का भी जब समाधि में पूर्ण परिचय हो जाता है तभी वाक्यजन्य प्रमा बिना रुकावट के तुरंत ही अज्ञान को निवृत्त करती है। यह समाधि-अभ्यास चाहे 'समाहित' से समझें चाहे 'निदिध्यासन' से इससे कोई अंतर नहीं पड़ता, प्रक्रिया का विषय है, किंतु मोक्षौपयिक ज्ञान के लिये करना ज़रूर पड़ता है।)।।१७१०-१।।

तेन ज्ञानेन विध्वस्ता स्वात्मावरणरूपिणी। विक्षेपजननी माया पुनर्नैव भविष्यति।।१७१२।।

अस्याः सर्वात्मना नाशे सर्वमात्मेति सर्वदा। पश्यत्यात्माऽऽत्मनो भासा ह्यवाङ्मनसगोचरः।।१७१३।।

पापतरणम्

एवं य आत्मविल्लोके उभे सुकृतदुष्कृते। अल्पे च महती राजंस्तरतस्तपतोऽपि न।।१७१४।।

किन्तु ते एव विद्वान् स तरेद् नौरर्णवं यथा। तपेच्च गगनाद् वह्निस्तूलराशिं यथा क्षणात्।।१७१५

अनेन विदुषा प्राप्यो य एतैः साधनैः सदा। पुण्यपापैर्विनिर्मुक्तो ह्यविद्यागन्धवर्जितः।।

असंशयस्ततः प्रोक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म भूतकृत्।।१७१६।।

सुषुप्ते सर्वसम्प्राप्यो ब्रह्मलोकः पुरेरितः। एष बुद्धिप्रचाराणां साक्षी सर्वशरीरिणाम्।।१७१७।।

तत्साक्षात्कारात् किं भवति ? इत्याकाङ्क्षायाम्; परिच्छेदहेतोः अविद्याया निवृत्त्या सर्वात्मभाव इत्याह—तेनेति द्वाभ्याम्। तेन ब्रह्मात्मविषयकेन विज्ञानेन आवरणविक्षेपरूपशक्तिद्वयवती माया यतो बाधिता भवति इत्यत आत्मानं सर्वरूपं विदुष आत्मा पश्यति। कया ? स्वरूपभूतया भासा, यतो वागाद्यविषयः। इति द्वयोरर्थः।।१७१२-३।।

'नैनम्' इत्यादेः 'दास्याय'[1] इत्यन्तस्य वाक्यस्यार्थमाह-एवमिति द्वादशभिः। य एवम् आत्मवित् तत्स्वरूपं पुण्यपापे न तरतो न प्राप्नुतो, न वा तपतः तापयतः, किन्तु स विद्वान् एव ते पुण्यपापे तरेत् तयोः पारं गच्छेद् यथा नौः अर्णवम्। किं च स विद्वान् ते पुण्यपापे तपेद् दहेद् यथा गगनाद् उत्थितो वैद्युतोऽग्निः तूलराशिम्। इति द्वयोरर्थः।।१७१४-५।। अनेनेति। वर्णितेन विदुषा वर्णितैः साधनैः प्राप्यो य आत्मा स यतः पापैः तदुपलक्षितैः पुण्यैःतन्मूलभूताविद्यया च वर्जितः अत एव असंशयश्च, अतो हेतोः ब्राह्मणो ब्रह्मविद् ब्रह्मैव प्रोक्तः, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'(मुं. ३.२.९) इति श्रुतेः। कीदृशं ब्रह्म? भूतकृत् जगत्कारणत्वोपलक्षितमित्यर्थः।।१७१६।।

सुषुप्त इति। यः पूर्वं सुप्तौ सर्वगम्यब्रह्मलोकतया वर्णितः स एव सर्वबुद्धिसाक्षितया ते दर्शित इत्यर्थः।।१७१७।। अयमिति। अयम् आत्मा सर्वेषां हृदि स्थितः सर्वभासकानन्दरूपो मरणाद्यवस्थासु अविद्यया

अप्रतिबद्ध हो चुके आत्मसाक्षात्कार से वह माया विध्वस्त, बाधित, हो जाती है जिसका यही निरूपण है कि 'मैं आत्मा की सच्चिदानंदरूपता नहीं जानता' और जो नाना प्रकार के ज्ञान पैदा करती है। बाधित हो चुकने के बाद वह माया पुनः हो नहीं सकती। माया पूरी तरह नष्ट हो चुकने पर मन-वाणी का अविषय आत्मा अपने ही ज्ञानप्रकाश से हमेशा 'परिपूर्ण आत्मा' ऐसा अनुभव करता है।(अपने से अतिरिक्त 'सब' कुछ नहीं रह जाता।)।।१७१२-३।।

श्रुतिदर्शित फलावस्था को समझाते हैं— हे राजन् इसी शरीर में यों जो आत्मवेत्ता हो जाता है उसे कम या ज्यादा कैसे भी पुण्य-पाप प्राप्त नहीं होते, उसे ताप नहीं देते, बल्कि वह विद्वान् ही उन्हें तर जाता है जेसे मज़बूत जलपोत समुद्र पार कर जाता है और उन्हें वैसे ही तुरंत जला डालता है जैसे आसमान से गिरने वाली बिजली रुई के रेशे को क्षण भर में जला देती है। (जैसे रुई के रेशे को जलाने के लिये जरूरी गर्मी से अनंत गुणा शक्ति उस बिजली में है ऐसे तत्त्वज्ञान की सामर्थ्य का अनन्तवाँ हिस्सा ही कर्मदहन से अभिव्यक्त होता है।)।।१७१४-५।।

वर्णित विद्वान् दर्शित साधनों से जिस आत्मा को पाता है वह पुण्य-पापों से हमेशा ही छूटा है, अविद्या की बू तक उसे नहीं आती, उसके बारे में कोई संदेह संभव नहीं, उसे ही जगत्कारण ब्रह्म कहते हैं! पहले जिसके बारे में कहा था कि वह ब्रह्मलोक है जो गहरी नींद में सबको मिलता है, सब शरीरधारियों की अंतःकरणवृत्तियों का साक्षी है, उसका ही तुम्हें अब दर्शन करा दिया।।१७१६-७।। हे राजन्! मेरे, तेरे और अन्य भी सभी देहधारियों के हृदय

---

१. 'नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति, विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति।'

अयं हृदि स्थितो राजन् मम तेऽप्यन्यदेहिनाम्। अयं हि ज्योतिषां ज्योतिरानन्दोऽयं परः स्मृतः।।१७१८।।

मरणे जनने वाऽयं तथाऽवस्थात्रयेऽपि वा। अविद्यया महाराज! गच्छन्नपि न गच्छति।।१७१६।।

अभयं ब्रह्म यत् पूर्वं मया ते कथितं नृप! तदेवाऽयमितो नान्यः सन्नसन्नाऽत्र विद्यते।।१७२०।।

उपदेशसमाप्तिः

इति ते कथितं सम्यक् ज्ञानं साधनसंयुतम्। सम्राट्! प्रसन्नचित्तस्त्वं प्रतिबुद्धोऽसि धीधन!।।१७२१

राजा प्रतिबुद्धः सर्वस्वं ददौ

इत्युक्ते याज्ञवल्क्येन प्रतिबुद्धो नराधिपः। अनयोक्त्या निजं बोधमुक्तवान् मुनये तदा।।१७२२।।

इमे विदेहा ये पूर्वं तुभ्यं दत्ता मयि स्थिताः। सुतादिसहितोऽहं च पुरतोऽयं स्थितस्तव।।१७२३।।

स्वदास्याय च मां ब्रह्मन्! गृहीत्वैतान् व्रजापरम्। स्थानकं तिष्ठ वाऽत्र त्वम् आसे नाऽहं त्वया विना।।१७२४।।

गच्छन् भ्रमन् अपि, वस्तुतो मरणादिकं न गच्छति, सर्वसंसारधर्मातीत इति यावत्।।१७१८-६। अभयमिति। यत् पूर्वं कूर्चब्राह्मणे अयम् आत्मा अभयं ब्रह्म इति तुभ्यमुक्तं तदेव अभयं ब्रह्मेहात्मतया वर्णितम् इति व्यतिहारभेदाद् न पौनरुक्त्यमिति भावः। अत्र आत्मनि अन्यो भिन्नसत्ताकः सन् स्थूलः असन् सूक्ष्मो वा कश्चिद् भावो न विद्यत इत्यर्थः।।१७२०।।

इति त इति। हे सम्राट्![1] महाराज! त्वं प्रबुद्धोऽसि इति अतः प्रसन्नचित्तो भवेति।।१७२१।। इत्युक्त इति।[2] याज्ञवल्क्येन इत्युक्ते सति राजा अनया बोधपूर्तिबोधकसहस्रदक्षिणावाक्यविलक्षणया उक्त्या वचनभङ्ग्या स्वं बोधं परिपूर्णं ज्ञापितवानित्यर्थः।।१७२२।। तां वचनभङ्गीमभिनयति—इमइति द्वाभ्याम्। हे ब्रह्मन्! इमे विदेहानां निवासो जनपदो ये पूर्वमेव मयाऽर्पिता मयि न्यासवत् स्थिताः, अहं च सानुबन्धः संमुखे स्थितः अस्मि। मामेतांश्च मत्सुतादीन् दास्याय दासकर्मणे गृहीत्वा स्वीकृत्य अपरं स्थानं गच्छ, इह वा तिष्ठ। अहं तु त्वया विना नासे न

में यही स्थित है। प्रकाशों का यही प्रकाश है, यही परम आनंद है, इसे कोई कभी भूल ही नहीं सकता। हे महाराज! ऐसा लगता भले ही है कि यह अविद्या से जाग्रदादि एवं जन्म-मृत्यु अवस्थाओं में जा-आ रहा है लेकिन सत्य है कि यह सभी संसार-धर्मों से अतीत है। हे नृप! पहले तुम्हें मैंने जिसे अभय ब्रह्म कहा था वही यह आत्मा है। इससे अन्य संसार में स्थूल-सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। हे सम्राट्! साधनों समेत सम्यग् ज्ञान का तुम्हें परिपूर्ण उपदेश दे दिया। तुम बुद्धिरूप धन से संपन्न हो, तुम्हें प्रतिबोध प्राप्त हो गया है, प्रसन्नचित्त बने रहो।।१७१८-२१।।

याज्ञवल्क्य द्वारा यों उपसंहार करने पर प्रबोध पा चुके राजा ने मुनि को अपनी समझ इस कथन द्वारा बतायी—'हे ब्रह्म! विदेह का यह राज्य मैं पहले आपको अर्पित कर चुका था (बृ.४.३), धरोहररूप से ही यह मेरे पास है। अब इस राज्य और अपने पुत्रादि सहित मैं आपके सामने खड़ा हूँ। मुझे और इन सबको अपने दासरूप से आप ग्रहण कीजिये, फिर हमें सेवकरूप से साथ लेकर चाहे अन्यत्र कहीं जाइये और चाहे यहीं रहिये। आपके बिना मैं नहीं रहूँगा।'।।१७२२-४।।

१. 'एष ब्रह्मलोकः सम्राड्! एनं प्रापितोऽसि। इति होवाच याज्ञवल्क्यः।' २. 'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्याय। इति।।२३।।'

उत्तरकथा

इत्युक्तो याज्ञवल्क्योऽपि राजस्नेहसमावृतः। मिथिलोपवने तस्थौ कृत्वाऽऽसनमनिन्दितम्।।१७२५।।

पश्चात् संन्यस्य जायायै ब्रह्मविद्यां समर्प्य च। राज्ञा तेन समं प्राप्तः स्थानमावृत्तिवर्जितम्।।१७२६।।

श्रुत्युक्तो विद्यासंक्षेपः

स एवाऽयं महानात्मा जरामरणवर्जितः। अन्नादो वसुदानश्च रातेर्दातुः परायणम्।।१७२७।।

सम्प्रदानवपुर्भूत्वा दत्तमन्नादिकं वसु। अत्ति दाता च भोक्ताऽयं भवेज्जन्मान्तरेऽत्र वा। वसु नानाविधं तद्वद् दातृरूपः प्रयच्छति।।१७२८।।

स्थास्यामि। इति द्वयोरर्थः।।१७२३-४।। इत्युक्त इति। स्नेहः अनुग्रहः। आसनं स्थानम्।।१७२५।।

उत्तराध्यायार्थजिज्ञासामुत्थापयति—पश्चादिति। स मुनिः पश्चाज्जायायै ब्रह्मविद्यां समर्प्य संन्यस्य च राज्ञा सह मोक्षं प्राप्तः।।१७२६।।

पूर्वग्रन्थ इतिहासरूपेण वर्णितं यदात्मतत्त्वं तस्य सगुणं निर्गुणं च रूपं तद्विज्ञानफलं च कण्डिकाद्वयेन[1] उक्तम्। तत्र ध्येयस्य सगुणरूपस्य प्रदर्शिकायाः प्रथमकण्डिकाया अर्थमाह—स एवेति द्वाभ्याम्। यो वर्णितः स एवात्मा सगुणरूपेण अन्नादः सर्वोपाधिषु स्थित्वा सर्वान्नानां भोक्ता; तथा वसुदानः वसोर्धनस्य कर्मफलात्मकस्य दाता च; यतो रातेः धनस्य दातुः च परायणं परमालम्बनम्। तत्र रातेः भोग्यरूपधनस्य परायणत्वाद् अन्नादः। दातुः यजमानस्य प्रतिभूवत् परायणत्वाद् वसुदान इति विभागः। चतुर्थपादरूपा श्रुतिः पञ्चमान्तेऽपि व्याख्यातेति।।१७२७।। अन्नादत्ववसुदानत्वरूपविशेषणद्वयेन उपासनस्य फलमाह—सम्प्रदानेति। अयम् उक्तविशेषणात्मोपासकः सम्प्रदानवपुः नानोपायनानां पात्ररूपो भूत्वा लोकैः दत्तम् अन्नादिरूपं वसु धनम् अत्ति भुङ्क्ते। तथा यतो दाता अत्र जन्मान्तरे वा भोक्ता भवति इत्यतो दातृरूपः प्रशस्तो दाता सन् नानाविधं वसु धनं प्रयच्छति ददातीत्यर्थः।।१७२८।।

राजा की ऐसी श्रद्धापूर्ण बात सुनकर याज्ञवल्क्य को जनक पर स्नेह हुआ और मिथिला के ही एक उपवन में रमणीय स्थान बनाकर वे वहाँ ठहर गये।।१७२५।। कुछ समय बाद याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी को ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर संन्यास ग्रहण किया और राजा समेत वह मोक्ष नामक स्थान पाया जहाँ से लौटा नहीं जाता। (इसका यह मतलब नहीं कि जनक को उपदेश देते समय मुनि मुक्त नहीं थे या राजा उपदेश सुनकर मुक्त नहीं हुआ। 'विद्वान् भी संन्यास करे' यह आचार दिखाने के लिये मुनि ने संन्यास लिया यह तात्पर्य है और जीवन समप्ति के बाद दोनों विदेहमुक्त हुए यह अभिप्राय है।)।१७२६।।

यहाँ तक जनक-याज्ञवल्क्य संवाद है। श्रुति ने संवाद शैली से हटकर इसी आत्मतत्त्वका संक्षिप्त वर्णन किया कि वही यह महान् अज आत्मा अन्नाद और वसुदान है। ऐसा जानने वाला वसु पाता है। वही यह महान् अज आत्मा अजर, अमर, अमृत, अभय, ब्रह्म है, अभय ही ब्रह्म है। जो ऐसा जानता है वह अवश्य ही अभय ब्रह्म होता है।—इसे पुराण में कहते हैं :

बुढ़ापे और मृत्यु से रहित वही यह आत्मा अन्नाद है अर्थात् सभी उपाधियों में रहकर सभी अन्नों का भोग करता है। यही वसुदान भी है—कर्मफलरूप धन का दाता है। धनदान (आदि सत्कर्म) करने वालों का यही परायण है, उन्हें कालान्तर में सुफल मिलेगा इसका जमानती यही आत्मा है।।१७३७।। महान् अज, अन्नाद और वसुदान—इन

१. स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद।' 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माऽभयं वै ब्रह्मामयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।।' इति चतुर्थं ब्राह्मणम्।

विज्ञानानन्दरूपोऽयं जनकाय महात्मने। याज्ञवल्क्येन मुनिना कीर्तितो भयवर्जितः।।१७२९।।

दुःखं जनिमृतिप्रोक्तं प्राप्नुयाज्जरसा मृतः। अजरोऽमर आत्माऽतो जायते म्रियते न च।।१७३०।।

देहद्वयविनिर्मुक्तो मायया च विवर्जितः। सर्वगो ब्रह्मरूपोऽयं नभोवद् मुनिनेरितः।।१७३१।।

अध्यायसमाप्तिः

इति ते कथितं सर्वं जनकाय यदैरयत्। याज्ञवल्क्यो महाप्राज्ञः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।१७३२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे बृहदारण्यकयाज्ञवल्क्यकाण्डसारार्थप्रकाशे याज्ञवल्क्यजनकसंवादो नाम षष्ठोऽध्यायः।।

अन्त्यकण्डिकायाः सफलनिर्गुणविद्यानिगमनरूपाया अर्थं दर्शयति—विज्ञानेति त्रिभिः। अयम् आत्मा विज्ञानादिरूपो मुनिना जनकाय अभयत्वेन वर्णित इत्यर्थः।।१७२९।। अभयत्वे हेतुतयाऽजरत्वादिकं योजयति—दुःखमित्यादिना। यो हि जरसा मृतो जरया मरणेन च संबद्धः स जन्मादिकालिकं दुःखं भयं च प्राप्नुयात्। अयम् आत्मा तु न तथा, यतोऽजरादिरूप इति सम्बन्धः ।।१७३०।। तत्र हेतुर्ब्रह्मत्वलक्षणं महत्त्वमित्याह—देहेति। स्पष्टम्।।१७३१।।

उपसंहरति—इतीति। ऐरयद् उक्तवान्।।१७३२।।

यः षष्ठो विश्वमारभ्य देवः षष्ठीपतेः पिता। स षष्ठार्पणसन्तुष्टः कष्टं दृष्ट्या प्रतक्षति।।

अस्यार्थः—विश्वतैजसप्राज्ञविराट्सूत्रेश्वरात्मकानाम् अवस्थानां गणने यः षष्ठ ईश्वरः, षष्ठीपतेः स्कन्दस्य पिता च, स षष्ठस्य अध्यायस्य, मनसो वा षष्ठेन्द्रियस्य अर्पणेन तुष्टः सन् दृष्ट्या सानुग्रहकटाक्षेण, स्वरूपाविर्भावेण वा, कष्टम् अज्ञानेन तत्कार्येण वा प्रयुक्तं, प्रतक्षति हरति इति।

।। इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतौ आत्मपुराणटीकायां सत्रसवाख्यायां षष्ठोऽध्यायः समाप्तः।।

विशेषणों वाले आत्मा का उपासक विभिन्न उपहार पाता है और लोगों द्वारा दिये अन्नादि धन का भोग करता है। क्योंकि दानकर्ता इस या अगले किसी जन्म में पुण्यफल को भोगता है इसलिये वह उपासक अच्छा दाता बनकर नाना प्रकार का धन दान में देता है।१७२८।। महात्मा जनक के कल्याणार्थ मुनि याज्ञवल्क्य ने इस विज्ञान-आनंदरूप अभय का उपदेश दिया था।।१७२९।। बुढ़ापा भोगकर मरा व्यक्ति जन्म-मृत्यु के दुःख भोगता है। आत्मा अजर-अमर है अतः वह न पैदा होता है, न मरता है।। १७३०।। मुनि ने जिसका उपदेश दिया वह सर्वव्यापक, ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से और शरीरों के कारणभूत अज्ञान से रहित है।।१७३१।।

शिष्य को पुराण सुनाते हुए श्री गुरु कहते हैं—इस प्रकार तुझे वह सब सुना दिया जो महाप्राज्ञ याज्ञवल्क्य ने जनक को समझाया था। और क्या सुनना चाहते हो?।।१७३२।।

।। छठा अध्याय पूरा हुआ।।

ॐ

बृहदारण्यक-याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादः

सप्तमोऽध्यायः

शिष्यप्रश्नः

ब्रह्मविद्यामिमां श्रुत्वा जनकायसमीरिताम्। याज्ञवल्क्येन शिष्योऽसौ गुरुवक्त्रारविन्दतः।। पप्रच्छ स्वगुरुं भूयो ब्रह्मविद्याश्रयां कथाम्।।१।।

भगवन्! भवताख्यातम् ऐतरेयसमीरितम्। ज्ञानं नानाविधाख्यानयुक्तं वैराग्यसंयुतम्।।२।।

यच्च कौषीतकिप्रोक्तं सूर्योक्तं च विभागशः। इन्द्रप्रतर्दनाख्यानम् अद्भुतं रोमहर्षणम्।। अजातशत्रोः संवादो दृप्तबालाकिना तथा।।३।।

मधुनो याज्ञवल्क्यस्य तृतीयस्य खिलस्य च। काण्डत्रयस्य यो वंशो भिन्नाऽभिन्नश्च कश्चन।।४।।

सप्तभिः करणैर्द्वारैः प्रमा यस्य प्रजायते। स देवः सप्तमः सम्यक् सप्तमेऽत्र विविच्यते।।

ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च इत्याकारैः सप्तभिः करणैः एकायनप्रक्रियायां वक्ष्यमाणविधया प्रमेयत्वाद् आत्मा 'सप्तम'-पदवाच्य इति भावः।।

बृहदारण्यकतृतीयाध्याये षष्ठाध्याये च पठितमैत्रेयीब्राह्मणस्यार्थम् उपबृंहयितुं तत्र शिष्यजिज्ञासां पूर्वोक्तानुवादपूर्विकां दर्शयति—ब्रह्मेति दशभिः। याज्ञवल्क्येन जनकाय उक्तां ब्रह्मविद्यां गुरुमुखात् श्रुत्वा शिष्यो भूयः पप्रच्छ इति सम्बन्धः।।१।। भगवन्निति द्वयं स्पष्टम्।।२-३।। मधुन इति। षडध्यायीरूपे बृहदारण्यके द्वाभ्यां

याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी से संवाद

सातवाँ अध्याय

बृहदारण्यक उपनिषत् में दूसरे और चौथे अध्यायों में याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी से संवाद वर्णित है जिसमें आत्मज्ञानका उपदेश है। आत्मा की प्रियरूपता को प्रमुखता देकर यहाँ वर्णन है जैसे श्वेतकेतुविद्यामें सद्रूपताको और ऐतरेयोपनिषत् में चिद्रूपता को। प्रस्थानत्रयी-साहित्य में पति-पत्नी के संवाद रूप में ब्रह्मविद्या का यह इकलौता, मनोहारी, स्पष्ट, सर्वांगपूर्ण और महत्त्वशाली वर्णन है। उपनिषत् में दो बार इस प्रकरण की उपस्थिति इसके मूल्य की द्योतक है। प्रथम बार अद्वैत आत्मा की प्रतिज्ञा रूप से और दूसरी बार उसके निगमन रूप से इसका नियोजन है यह भगवत्पूज्यपादों ने समझाया है। आचार्य श्रीशंकरानंद जी बृहदारण्यक उपनिषत् के ब्रह्मविद्याभाग की व्याख्या का उपसंहार करते हुए इस अध्यायमें वही प्रसंग अनूठे रोचक ढंग से व्यक्त करेंगे।

श्रीमान् याज्ञवल्क्यने जनक को जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था उसे अपने श्रीगुरुके मुखसे सुनकर शिष्य ने पुनः अपने गुरु से ब्रह्मविद्यासम्बन्धी कथा के बारे में इस तरह जिज्ञासा व्यक्त की—।।१।।

अश्विनोः सह संवाद ऋषिणा सर्वदर्शिना। दध्यङ्ङाथर्वणात्ताभ्यां प्राप्ता विद्याऽतिदुर्लभा।। पूर्णस्य ब्रह्मणस्तद्वत् शक्रेण च दिवौकसा।।५।।

परोपकारनिरतो दध्यङ्ङाथर्वणो मुनिः। प्राप्तवान् व्यसनं शक्रादश्विभ्यां च सुदुःसहम्।।६।।

याज्ञवल्क्यस्य संवादो मुनिभिश्चाश्वलादिभिः। विजयस्तस्य विप्रस्य शाकल्यस्य मृतिस्तथा।।७।।

जनकस्योपदेशो यो याज्ञवल्क्यकृतो महान्। पुनश्च कामवरतो यतो राजाऽभवत् कृती।।८।।

तत्रान्ते भवता प्रोक्तं याज्ञवल्क्यो महामुनिः। जायायै ब्रह्मविज्ञानं दत्वा संन्यासमागतः।।९।।

तदहं श्रोतुमिच्छामि जायाया आह यद् द्विजः। कीदृशं तद्धि विज्ञानं यदुक्तं प्रव्रजिष्यता।।१०।।

द्वाभ्यामध्यायाभ्यां घटितानां काण्डानां त्रयम्। तत्र प्रथमं मधुनो मधुविद्यायाः प्राधान्येन प्रकाशकत्वाद् मधुकाण्डमित्याख्यायते। द्वितीयं याज्ञवल्क्यसम्बन्धाद् याज्ञवल्क्यकाण्डमिति। तृतीयं तु खिलस्य परिशिष्टार्थस्य सम्बन्धात् खिलकाण्डमिति। तेषाम् अन्तेषु प्रोक्तवंशानां भेदोऽभेदश्च कश्चन अद्भुतो व्याख्यात इति सम्बन्धः।।४।। अश्विनोरिति। सर्वज्ञेन दधीचा मुनिना सह अश्विनोः संवादो व्याख्यातः। ताभ्याम् अश्विभ्यां ततो मुनेर्यथा पूर्णब्रह्मविद्या प्राप्ता, इन्द्रेण[1] च; तथा व्याख्यातम्। एवमग्रेऽपि।।५।। परोपकारेति। व्यसनं शिरश्छेदरूपां विपत्तिम्।।६।। याज्ञवल्क्यस्येति। स्पष्टम्।।७।। जनकस्येति। कामवरतः कामवरेण। यतः कामवरप्रभावाद् राजा कृती कृतकृत्यो जातः।।८।। तत्रेति। तत्र कामवरप्रयुक्तसंवादाध्याये। प्रव्रजिष्यता संन्यासोद्यतेन।।९-१०।। इति

'हे भगवन्! आपने प्रारंभ में महर्षि ऐतरेय द्वारा प्रोक्त ज्ञान सुनाया जिसमें अनेक प्रकार की कथायें थीं और वैराग्योत्पादक विचारपूर्ण वर्णन थे। तदनंतर आपने कौषीतकि ऋषि द्वारा कथित दो प्रसंग सुनाये—पहला तो अद्भुत रोमांचक था इन्द्र-प्रतर्दन संवाद और दूसरा था दर्पयुक्त बालाकी से राजा अजातशत्रुका संवाद।।२-३।। उसके बाद सूर्यदेव द्वारा प्रोक्त वाजसनेयी शाखा की बृहदारण्यक उपनिषत् के प्रकरणों का आपने व्याख्यान किया। मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्यकाण्ड और खिलकाण्ड के ऋषिवंशों का आपने अद्भुत सामंजस्य से वर्णन किया जिससे स्पष्ट हुआ कि वंशों में कितने अंश में भेद और कितने में अभेद है। फ़िर आपने सर्वज्ञ-ऋषि दधीचि से अश्विनीकुमारों के संवाद का वर्णन किया कि पूर्ण ब्रह्मकी अतिदुर्लभ विद्या उन्होंने दध्यङ् आथर्वण से प्राप्त की। देवराज इंद्र ने भी उनसे जो उपदेश लिया वह भी आपने मुझे सुनाया। मुनि दधीचि तो सबके उपकार में संलग्न थे पर इंद्र और अश्विनीकुमारों ने उन पर कैसी विपत्ति डाली! उस असह्य कष्ट से भी अविचलित रहकर वे सत्य पर स्थिर रहे!।।४-६।। मुनिकाण्ड में आपने याज्ञवल्क्य का आश्वलादि से संवाद, याज्ञवल्क्य की जीत और शाकल्य की मृत्यु का मार्मिक वर्णन किया।।७।।

याज्ञवल्क्य ने जनक को जो महान् उपदेश दिया और यथेष्ट प्रश्न पूछने की अनुमति रूप वरदान से राजा ने बार-बार पूछ कर जिस ज्ञानसे कृतकृत्यता प्राप्त की वह आपने अत्यंत विस्तार से सुस्पष्ट कर दिया। उसी कथा की समाप्ति में आपने बताया कि महामुनि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी को ब्रह्मविज्ञान प्रदान कर संन्यासी बने थे। उन श्रेष्ठ ब्राह्मण ने पत्नी से जो कहा वह मैं सुनना चाहता हूँ, संन्यास को उद्यत याज्ञवल्क्य ने जो बताया वह विज्ञान कैसा था?'।।८-१०।।

---

१. इन्द्रेण यथा वैराग्योपयोगिवर्णनपर्यन्तं प्राप्तं तथापि भवता व्याख्यातमित्यर्थः।

गुरोरुत्तरारम्भः

इत्युक्ते गुरुरत्यन्तं सन्तुष्टहृदयस्तदा। मधुनो याज्ञवल्क्यस्य काण्डद्वयसमीरिताम्। वैदिकीं शिष्यमाहैतां कथां कर्णसुखप्रदाम्।।११।।

याज्ञवल्क्यवर्णनम्

धर्मात्मा याज्ञवल्क्योऽयम् आसीद् वाजसनेयकः। बाल्यादारभ्य तेजस्वी विषयेषु गतस्पृहः।।१२।।
विकारीव बहिर्भाति चित्तदोषविवर्जितः। लोकोपकारनिरतो बाल्ये तपउपाश्रितः।।१३।।
नारीवृकसमाकीर्णे प्रविष्टो यद् घने वने। न चचाल मुनिर्धैर्याद् धीराणां प्रथमः स्थितः।।१४।।

तत्तपः

वर्षासु स्थण्डिलेष्वेव वसत्यावरणं विना। वृक्षपर्वतवत् तिष्ठन् गृह्णन् धारामपोमयीम्।।१५।।
उष्णकाले च मध्याह्ने बहुतप्तशिलादिषु। वसत्यावरणं हित्वा वह्नीनां मध्यतः स्थितः।।१६।।
शीतकाले स्थिरे तोये स्थले हिमचयावृते। चित्ते विकारशून्यः सन् निमग्न इव तिष्ठति।।१७।।
आराधयन्नमुं देवं ज्योतीरूपं त्रयीमयम्। मण्डलस्थितमादित्यं तदेकनयनः सदा।।१८।।
पर्णमूलफलाहारः शोषयन्नात्मनो वपुः। तृतीये दिवसे भुङ्क्ते क्वापि षष्ठे महामुनिः।।१९।।
द्वादशे दिवसे क्वापि श्रमनिद्राविवर्जितः। मनसा ब्रह्म परममादित्यं चिन्तयन्मुहुः।। पित्रा दत्तां च सावित्रीं सर्वदा प्रजपन् गिरा।।२०।।

पृष्टो गुरुर्मधुकाण्डे याज्ञवल्क्यकाण्डे च प्रोक्तस्य मैत्रेयी-ब्राह्मणस्य अर्थोपबृंहिकां कथां वक्तुमुपचक्रम इत्याह—इत्युक्त इति।।११।।

तत्र प्रथमकण्डिकार्थं पादोनशतद्वयश्लोकैरुपबृंहयन्[1] बाल्यादारभ्य याज्ञवल्क्यकथामाह—धर्मात्मेत्यादिना। अयं धर्मात्मा याज्ञवल्क्यो बाल्यादारभ्य विषयेषु गतस्पृह आसीत्।।१२।। तत्र हेतुमाह—विकारीवेति द्वाभ्याम्। विकारीव विकारितुल्यः। तपउपाश्रितः तपोरतः।।१३।। नारीति। यद् यतो घने गह्वरे वने नारीभिरिन्द्रप्रेषिताभिः वृकवद् रहसि उपयान्तीभिर्व्याप्ते प्रविश्य तपस्यन् धैर्याद् न चचाल यतो धीराणां प्रथमो मुख्यः।।१४।। तस्य तपो वर्णयति—वर्षास्विति षड्भिः। वर्षाकाले छत्रादिकमावरणं विना स्थण्डिलेष्वेव वृक्षादिवद् निश्चलो वसति।।१५।। उष्णेति। स्पष्टम्।।१६।। शीतेति। हिमचयः तुहिनराशिः, तद्व्याप्ते।।१७।। आराधयन्निति। तदेकनयन आदित्यप्रणिहितदृष्टिः।।१८।। पर्णेति। पर्णाद्याहारेण क्रमेण देहं शोषयन्नादित्यम् एव परब्रह्मरूपेण ध्यायन् पित्रा उपनयनकाल उपदिष्टां गायत्रीं जपंश्च तेपे।।१९-२०।।

शिष्य के इस प्रश्न से गुरु का हृदय अतीव संतुष्ट हुआ। मधुकाण्ड और याज्ञवल्क्यकाण्ड दोनों में प्रतिपादित, कानों को प्रिय लगने वाली, वेदोक्त यह कथा गुरु ने शिष्यको सुनायी।।११।।

जनक के गुरुरूप से जिनका वर्णन किया वे वाजसनेयक याज्ञवल्क्य बचपनसे ही धर्मात्मा, तेजस्वी और विषयों की ओर निःस्पृह थे। यद्यपि बाहरसे लगता था कि उनमें कामादि विकार हैं तथापि वे चित्त के सभी संभव दोषों से रहित थे। उनका व्यवहार इसीलिये था कि लोगों का उपकार हो। बचपनमें ही उन्होंने पर्याप्त तपस्या की थी। वे घने जंगल में तपोरत थे जहाँ इन्द्र ने नारियाँ भेजीं जो भेड़ियों की तरह एकांत में उन्हे घेरे रहीं लेकिन मुनि ने धैर्य नहीं छोड़ा क्योंकि धैर्यवानों में वे अव्वल हैं।।१२-१४।।

---

१. 'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य' (४.५.१) इति कण्डिकारम्भगतयाज्ञवल्क्यपदमवलम्ब्य तच्चरितं वर्णयति।

सूर्यदर्शनम्

एवं तपस्यतस्तस्य विघ्नराशेश्च बिभ्यतः। अप्रमत्तस्य विप्रस्य काले महति भास्करः।। वरदो मांसनयनगोचरोऽभूत् पुमाकृतिः।।२१।।

एताभ्यामेव पाणिभ्यां मूर्ध्नाऽनेनोरसा तथा। पद्भ्यामाभ्यां च सहसा पतितो दण्डवद् भुवि।।२२।।

दुर्दर्शं जगतां प्राणं दृष्टवांस्तपसः फलम्। याज्ञवल्क्योऽपि संहृष्टस्तुष्टाव च यथामति।।२३।।

देवोऽपि च जगत्प्राण आनन्दाश्रुविलोचनः। रोमांचकञ्चुको भूत्वा पस्पर्श मुनिपुङ्गवम्।। पाणिभ्यां वचनं चेदमाह भक्तप्रियो रविः।।२४।।

वरलाभः

वत्स! त्वं बहुधा क्लेशं प्रथमे यद् वनं गतः। वरं वरय भद्रं ते दास्यामीप्सितमेव ते।।२५।।

एवमिति। एवं तपः कुर्वतो विघ्नभयेनाऽप्रमत्तस्य बहुकाले व्यतीते, आदित्यः पुरुषरूपेण प्रादुरासेत्यर्थः।।२१।। एताभ्यामिति। पाण्यादिविशेषणैः एतच्छब्दैः प्रत्यक्षविषयस्थूलशरीरसम्बन्धबोधकैः मानसत्वं व्यावर्त्यते। तथा च क्रमेण भूमिस्पर्शिभिः पाणि-मूर्द्ध-हृदय-पादैः दण्डवत् प्रणतो याज्ञवल्क्यः जगतः प्राणभूतमादित्यं पश्यन्, तुष्टाव। इति द्वयोः सम्बन्धः। जगत्प्राणत्वे श्रुतिस्तु 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य' इत्याथर्वणे (प्रश्न.१.८) प्रोक्ता।।२२-२३।।

देवोऽपीति। रविर्देवोऽपि प्रसन्नः पाणिभ्यां मुनिं स्पृष्टवान् इदं वचनमाह चेति। 'इदं' किम्? हे वत्स! त्वं प्रथमे वयसि वनं गतो बहुधा क्लेशं प्राप्तः, अतो वरं गृहाण। इति द्वयोरर्थः।।२४-२५।। इत्युक्त इति। तिर्यग्दृष्टिः

तपस्या करते हुए वे वर्षा ऋतु में बिना किसी छप्पर के चबूतरों पर रहते थे। पेड़, पहाड़ आदि जैसे वे जलधारा सहते हुए खड़े रहते थे।।१५।। ग्रीष्म ऋतु में वे दोपहर में भी बहुत तपी शिला आदि पर चारों ओर आग से घिर कर नग्न रहते थे।।१६।। सर्दी के मौसममें वे बर्फसे घिरे स्थिर जल में प्रायः पूरा शरीर डुबाकर रहते थे लेकिन उनका चित्त निर्विकार बना रहता था।।१७।। यह सब करते हुए वे सूर्यबिम्बमें स्थित प्रकाशरूप वेदात्मक आदित्यदेव पर ही दृष्टि एकाग्र रख हमेशा उन्हीं का ध्यान करते रहते थे।।१८।।

अपना शरीर सुखाते हुए वे पत्ते, मूल और फल ही खाते थे। आहार भी वे घटाते जाते थे—पहले हर तीसरे दिन खाते थे, फिर छठे दिन खाने लगे और बाद में बारहवें दिन भी खाकर रहे! थकान और नींद उनके पास भी नहीं आती थी। मनसे वे लगातार आदित्यरूप परब्रह्म का चिंतन और वाणी से सदा उस गायत्री का जप करते थे जिसका उपदेश उपनयनके समय उनके पिता ने दिया था।।१९-२०।।

विघ्नों के डर से हमेशा सावधान उस विप्रबालक को यों तपस्या करते बहुत समय बीत जाने पर वरदान देने को उत्सुक सूर्यदेव पुरुषाकार में याज्ञवल्क्य के मांसमय नेत्रों के विषय बने, प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिया।।२१।। आराध्य का दर्शन पाते ही याज्ञवल्क्य तुरन्त दण्डवत् प्रणाम करने लगे, इन्हीं हाथों, मस्तक, वक्ष और पैरों को उन्होंने धरती पर टिका दिया।।२२।। जगत् के प्राणरूप सूर्य का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है पर तपस्याके फलस्वरूप याज्ञवल्क्यको उनका दर्शन प्राप्त हुआ जिससे प्रसन्न हो उन्होंने अपनी बुद्धिके अनुसार आदित्य की स्तुति की।।२३।। जगत्प्राण सूर्यदेव भी अत्यंत प्रसन्न थे, उनकी आँखें आनंद के आँसुओं से भर आयी थीं और उनका सारा शरीर रोमांचित हो रहा था। भक्तों पर स्नेह रखने वाले श्रीरवि ने दोनों हाथों से मुनिश्रेष्ठ का स्पर्श किया और कहा 'वत्स! तुम बचपन में हीं वनमें

इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि प्राह देवं प्रभाभृतम्। बद्धाञ्जलिपुटो मूर्ध्नि तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः।।२६।।

भगवन्! जगतः प्राण! कर्मसाक्षिन्! महेश्वर! न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित् तथाऽप्येतद् वदाम्यहम्।।२७

पूर्वगुरोः शापः

वैशम्पायननामानं व्यासशिष्यमहं सदा। देववत् पूजयन्नासं कर्मणा मनसा गिरा।।२८।।

तस्य सङ्केतभेदेन ब्रह्महत्या वृथाऽभवत्। ब्रह्मघ्नं खिन्नवदनमवदं गुरुमप्यहम्।। गुरुभक्त्यैव च तथा बटूनामनुकम्पया।।२६।।

भवान् वृद्धो महाभाग! प्रायश्चित्ते क्षमो न हि। अशक्ताश्च तथा सर्वे शिष्यास्ते ब्रह्मचारिणः।।३०।।

बाला इमे हि कठिनदेहोऽहं यौवनोन्मुखः। प्रायश्चित्तं करिष्यामि ब्रह्महत्याकृते तव।।३१।।

इत्युक्ते दैवयोगेन गुरुः कोपमुपागतः। मामभाषत कोपेन बहुशो निर्घृणो यथा।। मुञ्च मुञ्चेति विद्यां त्वं मद्दत्तां विप्रनिन्दक!।।३२।।

अतितेजस्विनः संमुखं द्रष्टुमशक्यत्वात्।।२६।। याज्ञवल्क्यवाक्यमभिनयति—भगवन्निति द्वादशभिः। स्पष्टम्।।२७।। वैशम्पायनेति। अहं वैशम्पायनं गुरुं देववत् सेवितवानस्मीति।।२८।। तस्येति। तस्य गुरोः ऋषीणां सङ्केतस्य 'ऋषिर्योऽद्य महामेरौ समाजे नागमिष्यति। तस्य वै सप्तरात्रात्तु ब्रह्महत्या भविष्यति।।' इति विष्णुपुराणे (द्रष्टव्य वि.पु.३.५.३-१३) प्रसिद्धस्य भेदनेन प्रयुक्ता वृथा पादप्रहारमात्रेण स्वस्त्रीयस्य मरणरूपा ब्रह्महत्या जाता। तया खिन्नं प्रायश्चित्ताय शिष्यानाज्ञापयन्तं च तं प्रति भक्त्या, बटूनां ब्रह्मचारिणाम् अनुकम्पया च एवम् अवदम् उक्तवानस्मीत्यर्थः।।२६।। गुरुं प्रति उक्तं वाक्यं श्रावयति—भवानिति द्वाभ्याम्। भवतो वृद्धत्वाद् एतेषां बालत्वाच्च प्रायश्चित्ताऽशक्तेः हेतोः अहम् एव नववयाः प्रायश्चित्तं ब्रह्महत्याकृते ब्रह्महत्याया निवृत्त्यर्थं करिष्यामि। इति द्वयोरर्थः।।३०-३१।। इत्युक्त इति। इति मया उक्ते सति कुपितो गुरुः माम् इत्युवाच। 'इति' किम्? हे विप्रनिन्दक!

आकर नाना प्रकार के क्लेश पाकर तपोरत हो अतः तुम्हारा अवश्य कल्याण हो। तुम वर माँगो, तुम जो चाहोगे वह मैं दूँगा।'।।२४-२५।। यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने माथे पर अंजलि बाँधी, सिर झुकाकर नीचे की ओर ही देखते हुए प्रभाकर देव से यों निवेदन किया :।।२६।।

'हे भगवन्! आप सारे संसार के प्राण हैं, कर्मों के साक्षी हैं, महान् ईश्वर हैं। आपसे कुछ छिपा नहीं है फिर भी आपकी आज्ञा है इसलिये मैं कह रहा हूँ :।।२७।। महर्षि व्यास के शिष्य श्री वैशंपायन का मैं छात्र था जिनकी मैं कर्म-मन-वाणी से वैसे ही आराधना करता था जैसे देवताओं की।।२८।। ऋषियों ने घोषणा की थी कि महामेरु पर आयोजित सभा में जो निमंत्रित ऋषि नहीं उपस्थित होगा उससे सात दिनों में ब्रह्महत्या हो जायेगी। किसी कारण मेरे अध्यापक उस सभा में नहीं पहुँचे जिससे व्यर्थ ही उनके हाथों ब्रह्महत्या हो गयी!—उन्होंने अपने भांजे को पैर से ठोकर ही मारी थी और वह मर गया। गुरु को ब्रह्महत्या लगने से खिन्नतायुक्त मुख वाला देख गुरुभक्ति और जिन्हें उन्होंने प्रायश्चित्त करने के लिये आज्ञा दी थी उन सहपाठियों पर अनुकंपा से मैंने उन्हें कहा, 'हे महाभाग! आप वृद्ध हैं, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने में अशक्त हैं। आपके सभी ब्रह्मचारी शिष्य भी असमर्थ हैं क्योंकि इनकी अभी बाल्यावस्था ही है। मैं जवान हो रहा हूँ अतः मेरा शरीर पुष्ट है इसलिये ब्रह्महत्या के दोष की निवृत्ति के लिये आपकी ओर से मैं ही प्रायश्चित्त कर लूँगा।'।।२६-३१।। मैंने जब यह कहा तो मेरे दुर्भाग्य से मेरे गुरु को क्रोध आ गया और निर्दयकी भाँति क्रूरता से कई बार मुझे कह दिया 'अरे ब्राह्मणनिंदक! मेरी दी विद्या छोड़! छोड़ दे विद्या।'।।३२।। यह सुनकर

एवमुक्तोऽहमप्येनं प्रणिपातादिना बहु। प्रसादयितुमारब्धः कर्मणा मनसा गिरा।।३३।।

ब्रह्महत्यार्तचित्तः सनिर्घृणोऽभूदतीव सः। कोपसंरक्तनयनो मामेतत् पुनरुक्तवान्।।३४।।

प्रसादयसि मां चेत् त्वमधिकं विप्रनिन्दक!। इतो दास्यामि ते शापं देहप्राणादिहारकम्।।३५।।

मुञ्च तस्मादिमां विद्यां मद्दत्तां क्षणतो यदि। लोकद्वयसुखेच्छा ते ह्यन्यथाऽद्य विनङ्क्ष्यसि।।३६।।

इत्युक्ते भीतिमापन्नस्तस्मादहमुपारमम्। क्षमापणाददां चास्मै विद्यां वान्तेन कर्मणा।।३७।।

सोऽहं विद्याविहीनोऽस्मि भवन्तं शरणं गतः। मानुषात् प्रार्थये नैनां पूर्वदुःखमनुस्मरन्।।३८।।

इत्युक्तो भगवान् सूर्यो याज्ञवल्क्यं महामुनिम्। वेदान् षडङ्गसहितान् रहस्यादिसमन्वितान्।
चतुरोऽध्यापयामास स्थापयित्वा रथे निजे।।३९।।

अम्भिणी यद्वदेतस्य शिष्याऽभूत्सवितुः पुरा। तथैव याज्ञवल्क्योऽपि शिष्योऽभूत् प्रीतिवर्द्धनः।।४०।।

विप्रेष्वपकर्षदर्शिन्! त्वं मद्दत्तां विद्यां मुञ्च मुञ्चेति।।३२।। एवमुक्तोऽहमिति। स्पष्टम्।।३३।। ब्रह्मेति। स गुरुः ब्रह्महत्यया व्याकुलचित्तत्वेन अत्यन्तं निर्घृणः सन् मामेतत् पुनः उवाच। 'एतत्' किम्? यदि त्वं मत्प्रसादने उद्यमं करिष्यसि तदा इतः अधिकं देहादिहारकं शापं दास्यामि। तस्मान्मद्दत्तां विद्यां मुञ्च एव यदि ते लोकद्वयहितेच्छा, अन्यथा तदत्यागे तु अद्य शीघ्रं विनङ्क्ष्यसि। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।३४-३६।।

इत्युक्त इति। इति गुरुणा उक्ते सति अहं तस्माद् गुरोः भीतः सन् क्षमापणादुपारमं निवृत्तोऽभवम्, तद्दत्तां विद्यां चादां दत्तवानस्मीत्यर्थः।।३७।। फलितमाह—सोऽहमिति। स्पष्टम्।।३८।। एवमुक्तो रविस्तस्याचार्यत्वम् 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।' (मनु.२.१४०) इत्युक्तलक्षणं चकारेत्याह—इत्युक्त इति। अङ्गानि शिक्षादीनि, रहस्यादयः अपूर्वश्रुत्यर्थबोधका निगमादिग्रन्थाः, तत्सहितांश्चतुरो वेदानध्यापयामासेति।।३९।। अम्भिणीति। अम्भिणीनाम देवता स्त्रीवंशे आदित्यशिष्यतया वर्णिता; तत्तुल्यो याज्ञवल्क्योऽभूद् इत्यर्थः।।४०।।

मैंने प्रणाम आदि कर कर्म-मन-वाणी से कई तरह उन्हे मनाने की कोशिश की।।३३।। ब्रह्महत्या के दोष से उनका चित्त प्रकृतिस्थ नहीं था, वे अत्यंत निष्करुण हो गये और क्रोध से लाल आँखों वाले हो फिर मुझे बोले 'ब्राह्मणों की निंदा करने वाले! मुझे मनाने की और कोशिश यदि की तो मैं ऐसा शाप दूँगा जो तेरे देह प्राण आदि भी नष्ट कर देगा! अगर तुझे इहलोक-परलोक में सुख पाने की इच्छा है तो मेरी दी हुई विद्या तत्काल छोड़ दे, नहीं तो तू नष्ट हो जायेगा।'।।३४-३६।। यह सुनकर मैं डर गया और क्षमायाचना करना छोड़कर मैंने वमन कर विद्या उन्हे लौटा दी।।३७।। (उस वमन की हुई विद्या को वहाँ उपस्थित अन्य छात्रों ने तीतर बनकर चुग लिया और वे 'तैत्तिरीय शाखा' वाले प्रसिद्ध हुए।) इस प्रकार मैं विद्यासे रहित हो चुका हूँ, आपकी शरण आया हूँ। पूर्व के उस दुःखद अनुभव को याद कर मैं किसी मनुष्यसे विद्या नहीं लेना चाहता।'।।३८।।

यह प्रार्थना सुनकर सूर्य भगवान् ने महामुनि याज्ञवल्क्य को छहों अंगों सहित, रहस्यादि-समेत चारों वेद पढ़ा दिये। अपने रथ पर बैठाकर उन्होंने याज्ञवल्क्य को प्रशिक्षित किया। इन आदित्य की पहले जैसे अम्भिणी नामक शिष्या थी वैसे ही सूर्य की प्रसन्नता बढ़ाने वाले शिष्य याज्ञवल्क्य भी हुए। (छह अंग हैं शिक्षा, कल्प,व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। 'रहस्य' अर्थात् उपनिषत्। उपनिषत् वेद के अंतर्गत हैं फिर भी प्रधानता बताने के लिये उनका अलग से उल्लेख हो जाता है। 'रहस्यम् उपनिषद्; वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ् निर्देशः'—कुलूकभट्ट (मनु.२.१४०)। वेदों के गंभीर अर्थों को बताने वाले अन्य ग्रंथ भी 'रहस्य' से समझे जा सकते हैं।)।।३९-४०।।

अधीताय सूर्याज्ञा

स तु संजातविज्ञानः संन्यासाय समुद्यतः। ब्रह्मचर्याश्रमादेव निस्पृहो दारसङ्ग्रहे।।४१।।

विरक्तं वीक्ष्य शिष्यं तं भगवान्रविरब्रवीत्। याज्ञवल्क्याऽत्र विद्यायाः प्रयच्छ गुरुदक्षिणाम्।।४२।।

सम्प्रदायप्रवृत्त्याख्यां वेदानध्यापयाऽखिलान्। त्रैवर्णिकान् गृहस्थः सन् पश्चात् संन्यासमाव्रज। ब्रह्मविद्यां च संन्यस्य वद वा पूर्वमेव वा।।४३।।

इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि तथेति गुरुशासनम्। गृहीत्वा शिरसा भूमिं समागाद् भास्करो यथा।।४४।।

विवाहादिनाऽपाकरोदृणानि

पितुराज्ञामलं प्राप्य जनकाच्च धनं बहु। स्नातो दारद्वयं चक्रे याज्ञवल्क्यः समागतः।। कात्यायनस्य तनयां मित्रयोश्च महाधियम्।।४५।।

ऋषीणां ब्रह्मचर्येण ऋणं दत्तं यथाऽमुना। देवानां च पितॄणां च दत्तवान् स तथैव तत्।।४६।।

अग्निष्टोमादिकान् यज्ञान् कृतवान् बहुदक्षिणान्। स्वात्मनः सदृशान् पुत्रान् कन्यकाश्चोदपादयत्।।४७।।

स त्विति। स याज्ञवल्क्यः सर्वं वेदार्थं विज्ञाय ब्रह्मचर्यदेव प्रव्रजितुमुद्यतोऽभूद् दारादिसङ्ग्रहे विरक्तत्वादित्यर्थः।।४१।। विरक्तमिति। तं विरक्तं वीक्ष्य रविः एवम् उक्तवान्। 'एवं' कथम्? हे याज्ञवल्क्य! त्वं सम्प्रदायप्रवृत्तिरूपां गुरुदक्षिणां देहि। कथं सम्प्रदायः प्रवर्तनीयः? इत्याकाङ्क्षायामाह—वेदानित्यादि। त्वं गृहस्थः सन् वेदान् अधिकारिणः प्रति पाठय, ततः संन्यस्य। ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तनं तु संन्यासात्पूर्वम् उत्तरं वा कुरु। इति द्वयोरर्थः।।४२-४३।। एवमाकारां गुरोराज्ञां 'तथाऽस्तु' इति प्रणतेन शिरसा गृहीत्वा याज्ञवल्क्यो भूलोकम् आगमद् इत्याह—इत्युक्त इति। भास्करो यथा तेजसा रविसमः।।४४।। पितुरिति। समागतो याज्ञवल्क्यः पितुः यज्ञवल्काख्यस्य आज्ञां प्राप्य स्नातः समावर्तनाख्यसंस्कारं प्राप्तः सन् जनकराजाद् धनं च प्राप्य द्वे भार्ये उदवहत्। तत्रैका नाम्ना कात्यायनी, कतगोत्रस्यापत्यत्वात्। द्वितीया मैत्रेयीसंज्ञा, मित्रयुसंज्ञकस्याऽपत्यत्वाद् इत्यर्थः। पित्र्ययज्ञफलम् इति पाठे दारद्वयविशेषणम्; पित्र्यं पितृप्रीतिदं कर्म, यज्ञो देवप्रीतिदं, तदुभयानुष्ठानफलकमित्यर्थः।।४५।। ऋषीणामिति। यथा ब्रह्मचर्येण ऋषीणामृणममुना याज्ञवल्क्येनापाकृतं तथा देवानाम् ऋणापाकरणार्थं यज्ञान्, पितॄणाम् ऋणापाकरणार्थम् अपत्योत्पादनं च कृतवान्[1]। इति द्वयोरर्थः।।४६-४७।।

अध्ययन कर लेने पर याज्ञवल्क्य को विज्ञान प्राप्त हो गया। विवाह की अनिच्छा रखते हुए वे ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करने को उत्सुक थे। शिष्य को वैराग्यवान् देखकर रवि भगवान् ने कहा, 'याज्ञवल्क्य! अब विद्या की यही गुरुदक्षिणा दो कि तुम सम्प्रदाय चलाओ : गृहस्थ रहकर त्रैवर्णिकों को सारे वेद पढ़ाओ, बाद में संन्यासी बन जाना। ब्रह्मविद्या का उपदेश चाहे संन्यास के अनंतर करना और चाहे पहले भी कर लेना।'।।४१-४३।। यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने भी गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और भास्कर जैसे ही तेजस्वी होकर वे सूर्यरथ से उतर कर पृथ्वी पर लौट आये।।४४।।

लौटकर अपने पिता यज्ञवल्क से आज्ञा लेकर याज्ञवल्क्य ने समावर्तन संस्कार प्राप्त किया और राजा जनक से बहुतेरा धन ग्रहण कर उन्होंने दो पत्नियों से विवाह किया। कात्यायन और मित्रयु ऋषियों की पुत्रियाँ कात्यायनी और मैत्रेयी याज्ञवल्क्य की पत्नियाँ थीं। दोनों ही अपने-अपने ढंग से बुद्धिमती थीं।।४५।। जैसे ब्रह्मचर्याश्रम के पालन

---

१. 'अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।।' इति मनुः ६:३६।। 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति च श्रुतिः। ब्रह्मचारिणः केवलम् ऋषिऋणप्राप्तिः, तदपाकरण एव तस्य शक्तेः, नेतरयोः, अतः तस्य संन्यासाधिकारोऽपि वर्तते।

ऋणं यद्यपि नैवास्ति विरक्तस्यास्य किञ्चन। तथाप्याश्रमसम्बन्धाद् ऋणमस्मिन्नुपागतम्।।४८।।

आश्रमाद् ऋणम्

ब्रह्मचर्याश्रमी यद्वद् ऋषीणां हि भवेदृणी। ऋणी गृहस्थश्च तथा देवपित्रोः सदा भवेत्।।४६।।

संन्यासे तु कृते न स्याद् यत् स्यात् पूर्वाश्रमे ऋणम्। लौकिकं च यथा न स्याद् ऋणं तद्वद्धि वैदिकम्। संन्यासिनामतः पूर्वं विदुषोऽपि भवेद्धि तत्।।५०।।

नैमित्तिकं निमित्ते स्याद् नियतं लोकवेदयोः। ऋणत्रये निमित्तं स्यात् पूर्वोक्तं ह्याश्रमद्वयम्।।५१।।

आश्रमक्रमः

द्विजानामाश्रमाभावो न प्रशस्तः कदाचन। वनवासस्य नियतः काल उक्तो मनीषिभिः।।५२।।

ननु तस्य विरक्तस्य ऋणप्रसङ्ग एव कथम्? इति शङ्कां वारयति—ऋणमिति। आश्रमयोः ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यरूपयोः सम्बन्धाद् अस्मिन् याज्ञवल्क्ये ऋणं प्रसक्तमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते' (तै.सं.६.३.१०) इत्यादिः। तत्र जायमान इत्यस्य उपनयनादिना कर्माधिकारी सम्पद्यमान इत्यर्थः।।४८।। एतमर्थं स्फुटयति—ब्रह्मचर्याश्रमीति सप्तभिः। यथा ब्रह्मचर्याश्रमपरिग्रहे वेदाध्ययनापनोद्यस्य आर्षस्य ऋणस्य प्राप्तिस्तथा गृहस्थाश्रमसम्बन्धाद् यज्ञाद्यपनोद्यस्य देवाद्यृणस्य प्राप्तिरित्यर्थः।।४६।। तीव्रवैराग्येण संन्यासे तु न किञ्चिद् ऋणमिति लोकेऽपि प्रसिद्धमित्याह—संन्यासे त्विति। यत् पूर्वाश्रमसम्बन्धि ऋणं तत् संन्यासे कृते निवर्तते—इति पूर्वदलार्थः। तदुक्तं भागवतेऽपि (११.५.४१) 'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नाऽयमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्।।' इति। कर्त्तं भेदम्। यथा लौकिकोत्तमर्णानामृणं संन्यासिनाम् असम्बन्धितया प्रसिद्धं तथा वैदिकम् ऋष्यादिसम्बन्ध्यपि ऋणं संन्यासिनाम् असम्बन्धि मतम् अतः संन्यासात् पूर्वं विदुषोऽपि तद् ऋणम् आश्रमसम्बन्धात् स्यादेवेत्यर्थः।।५०।। किं च संन्यासात् पूर्वं ऋणत्रयापाकरणं नैमित्तिकन्यायेन विदुषापि कर्तव्यमित्याह—नैमित्तिकमिति। निमित्ते पुत्रजन्मादौ जातं नैमित्तिकं जातेष्ट्यादिरूपं नियतम् अवश्यकर्तव्यं स्याद् इति लोकवेदयोः प्रसिद्धम्। तथा ब्रह्मचर्यगृहस्थरूपम् आश्रमद्वयम् ऋष्यादिऋणापाकरणकर्मणि निमित्तम् इत्यर्थः।।५१।। यदि पूर्वाश्रमद्वयमृणसम्बन्धप्रयोजकं तर्हि तदकृत्वा प्रथमं वानप्रस्थाश्रम एव शुद्धिकामेन कर्तव्यः? इति शङ्कां वारयति—द्विजानामिति। 'अनाश्रमी न तिष्ठेत क्षणमेकमपि द्विज' इति स्मृतेः (   ) आश्रमाभावस्य अयुक्तत्वाद् वनवासस्य वक्ष्यमाणविधया गृहस्थोत्तरकालिकत्वनियमाच्च

से याज्ञवल्क्य ने ऋषियों का ऋण चुकाया था ऐसे ही देवताओं और पितरों का ऋण गृहस्थ होकर उन्होंने चुकाया।।४६।। प्रभूत दक्षिणा देकर उन्होंने अग्निष्टोम आदि यज्ञ किये। अपने जैसे योग्य पुत्र और पुत्रियाँ भी उत्पन्न की।।४७।। याज्ञवल्क्य वैराग्यसंपन्न थे अतः उन्हे कोई ऋण प्राप्त नहीं था फिर भी क्योंकि उन्होंने आश्रम ग्रहण किया था इसलिये वे अधमर्ण हो गये थे। (जिसमें जो ऋण चुकाने की सामर्थ्य हो वह उससे अधमर्ण हो जाता है यह ऋषि-देव-पितृ ऋणों के बारे में शास्त्रीय व्यवस्था है। ऋषि ऋण ब्रह्मचर्याश्रमके धर्मों के पालन से चुकता है अतः जो उस आश्रमको ग्रहण करता है उस पर वह ऋण रहता है और उसे वह चुकाना जरूरी हो जाता है। बाकी दोनों ऋण गृहस्थ बनने पर प्राप्त होते हैं। इस तरह आश्रम स्वीकारते ही अधमर्णता हो जाती है। वैराग्यसंपन्न होने से याज्ञवल्क्य संन्यासाधिकारी थे और संन्यासी पर कोई ऋण नहीं होता, लेकिन गुरु की आज्ञासे उन्होंने जब गृहस्थाश्रम ग्रहण कर लिया तब चुकाने की सामर्थ्य आ जाने से उन पर ऋण भी चढ़ गये।)।।४८।।

जैसे ब्रह्मचारी ऋषियों का ऋणी होता है वैसे गृहस्थ हमेशा देवताओं और पितरों का ऋणी हो जाता है। संन्यास ले लेने पर वह ऋण नहीं रह जाता जो पूर्व आश्रम में रहते हुए था। जैसे पूर्वाश्रम में लिये लौकिक ऋण से संन्यास ले चुकने पर वह अधमर्ण नहीं माना जाता वैसे ही वैदिक ऋण भी उस पर नहीं रह जाते। संन्याससे पहले तक तो ब्रह्मवेत्ता पर भी ऋण रहता है।।४६-५०।। लोक व शास्त्र में प्रसिद्ध है कि निमित्त हो तो नैमित्तिक अवश्य करना चाहिये जैसे पुत्रजन्म हो तो जातेष्टि करनी ही चाहिये। प्रकृतमें ब्रह्मचर्य व गृहस्थ ये दो आश्रम निमित्त हैं जिन्हे ग्रहण करने पर तीनों ऋण चुकाना कर्तव्य हो जाता है।।५१।।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्य तथाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्।।५३।।
ब्रह्मचर्याद् गृहाद् वाऽपि वनाद् वा प्रव्रजेद् यथा। न तथा ब्रह्मचर्यादिर्वनवासः श्रुतौ श्रुतः।।५४।।
आनिपाताच्छरीरस्य ह्येकमाश्रममाश्रितः। तिष्ठेदित्यादिवचनं न क्रमं विनिवारयेत्।।५५।।
किन्तु चेज्जायते प्रीतिर्ब्रह्मचर्ये गृहे वने। रागतस्तत्र न स्थेयं सङ्कल्प्यैव वसेदिह।।५६।।
तथा सत्युपरिप्राप्तक्रमाश्रमपरिग्रहम्। विना न प्रत्यवेयात् स यथा रागी जनोऽपरः।।५७।।

प्रथमं शुद्धिकामेन पूर्वाश्रमद्वयं कर्तव्यमेवेत्यर्थः।।५२।। वनवासस्य गृहस्थोत्तरकालिकत्वे मनुवाक्यमर्थतः पठति—गृहस्थस्त्विति। वली चर्मशैथिल्यम्, 'कृदिकाराद्'[1] इति ङीप्। पलितं केशशुक्लता। तयोः समाहारं यदा देहे पश्येत्, पौत्रोत्पत्तिं वा, तदा वनस्थो भवेदित्यर्थः।।५३।।

संन्यासस्य वैराग्यमेव प्रयोजकं, 'यदि वेतरथे' त्यादिजाबालश्रुतेः (जा.खण्ड४) वनवासस्य तु तादृशश्रुत्यभावात् क्रम एवेत्याह—ब्रह्मेति। यथा जाबालश्रुतौ ब्रह्मचर्याद्युत्तरं संन्यास उक्तः तथा ब्रह्मचर्यादिः ब्रह्मचर्यम् आदि प्रथमं यस्य तादृशो ब्रह्मचर्योत्तर इति यावद्, वनवासः क्वापि श्रुतौ न श्रुतः। तथा च तद्विषये पूर्वोक्त एव नियम इत्यर्थः।।५४।। ननु 'ब्रह्मचर्यं परिचरेदाशरीरविमोक्षणाद्' (   ) इत्यादिना वसिष्ठादिवचनेन बाधितत्वात् क्रमनियमोऽयुक्त इति चेद्? न। तस्य वचनस्य प्रत्युत क्रमदार्ढ्यसम्पादकत्वाद् इत्याशयेनाह—आनिपातादिति। आमरणम् एकमाश्रमं सेवमानः तिष्ठेद् इत्याद्यर्थकं वसिष्ठादिवचनं क्रमं न निवारयेत्, किन्तु द्रढयेद् इति शेषः।।५५।। अस्य वचनस्य क्रमदार्ढ्यसम्पादकतां विशदयति—किन्त्विति द्वाभ्याम्। किन्तु इत्यस्य पूर्वान्वयः। यदि ब्रह्मचर्यादौ प्रीती रागः स्यात् तदाऽऽनिपातसङ्कल्पं कृत्वैव तत्र वस्तव्यम्। तथा सति सङ्कल्पे कृते सति उपरि उत्तरं कर्तव्यतया प्राप्तस्य क्रमशाल्याश्रमस्य परिग्रहं ग्रहणम् अकुर्वन् न प्रत्यवेयाद् न दोषं प्राप्नुयात्। तत्र

यदि उक्त दो आश्रम ही ऋणप्राप्ति केलिये निमित्त बनते हैं तो इनमें प्रवेश किये बिना पहले ही वानप्रस्थाश्रम क्यों न ले लिया जाये? इसलिये कि विद्वानों ने वानप्रस्थ बनने का उचित काल गार्हस्थ्य के बाद ही माना है। अधमर्ण न बनना पड़े इसके लिये किसी आश्रम को ग्रहण न करें तो क्या दोष है? द्विजों के लिये यह कभी अच्छा नहीं होता कि वे आश्रमरहित रहें। (अर्थात् ब्रह्मचर्यादि किसी न किसी आश्रम को स्वीकार कर उसके धर्मों का पालन करते हुए ही रहना चाहिये।)।।५२।। मनु आदि का निर्देश है कि गृहस्थ जब देखे कि उसकी चमड़ी ढीली पड़ गयी, बाल सफेद हो गये और पुत्र का पुत्र उत्पन्न हो गया तब उसे वानप्रस्थ बन जाना चाहिये।।५३।। जैसे वेद ने कहा है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ, चाहे जिस आश्रम के बाद संन्यास ग्रहण कर सकते हैं, ऐसे ब्रह्मचर्य के बाद सीधे ही वानप्रस्थ ले सकते हैं यह कहीं नहीं कहा है।।५४।। कुछ महर्षियों का वचन कि 'आमरण एक आश्रम का ही पालन करते हुए रहना चाहिये', इस बात का विरोध नहीं करता कि ब्रह्मचर्य आदि क्रमसे आश्रमों में प्रवेश करना चाहिये।।५५।।

उस वचन का अभिप्राय है कि यदि यथाविधि गृहीत ब्रह्मचर्यादि किसी आश्रम में ही रहने से प्रसन्नता हो तो सिर्फ राग के कारण उसमें बना ही न रहे, यह संकल्प करके रुके कि 'आमरण उसी में रहूँगा'। ऐसा संकल्प कर लेने पर उसे इस बात का दोष नहीं लगता कि निमित्त उपस्थित होने पर भी उसने अगला आश्रम नहीं स्वीकारा। यदि केवल इसलिये रुकता है कि उस आश्रम से राग है, आमरण उसी में रहने का निर्णय नहीं करता, तब उसे उचित मौके पर अगले आश्रममें प्रवेश न करने का दोष लग जाता है।।५६-५७।। जैसे गृहस्थ आपत्काल में जंगलमें रह जाये इतने से वानप्रस्थ नहीं हो जाता या नाटकादि में यतिवेष धारण करने से संन्यासी नहीं हो जाता वैसे ही ब्रह्मचारी भी

१. 'बह्वादिभ्यश्च' इत्यनन्तरं गणसूत्रं 'कृदिकारादक्तिनः' इति कौमुद्याम्।

ब्रह्मचारी वने तिष्ठन् वनस्थो न भवेत् क्वचित्। गृही यथाऽरण्यवासी तथैषोऽपि यतिस्तथा।।५८

नैष्ठिको ब्रह्मचारी यदृषीणामृणभाङ् न सः। देवानां च पितृणां च गृही यद्वद् भवेदृणी।।५९।।

अपाकृत्य ऋणं तस्माद् वनं पश्चात् समाव्रजेत्। ऋणत्रयविनिर्मुक्तो नान्यथा तं क्रमाश्रमम्।।६०।।

ब्रह्मचर्याश्रमं यद्वदगत्वा न गृही भवेत्। गृहाश्रममगत्वैवं वनी नैव भवेत् क्वचित्।।६१।।

त्रयाणामिति संसिद्धः क्रमः श्रुत्यादिना सदा। चतुर्थ आश्रमे सोऽयं बाधितेऽस्ति तदादिना।।६२।।

चतुर्थमाश्रमं हित्वा न भावोऽस्ति हि कस्यचित्। द्विजस्याश्रमिणो न स्याद् द्विज आश्रमवर्जितः।।६३।।

वैधर्म्ये दृष्टान्तः—रागी जनः। इति द्वयोरर्थः।।५६-५७।। ननु नैष्ठिकब्रह्मचार्यपि वनवासादिरूपं वानप्रस्थादिसम्बन्धि कर्म कृत्वा वानप्रस्थादिभावम् आत्मनः साधयतु, तथा च किमर्थमुक्तव्यवस्था कल्प्यते? इति शङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति—ब्रह्मचारीति। यथैष प्रसिद्धो गृही आपत्काले वनवासं कुर्वन् 'अरण्यवासी' वानप्रस्थो न भवेत्, तथा च यतिकर्म भिक्षाटनकाषायधारणादिकं कुर्वन् यतिः न भवेत्, तथा ब्रह्मचारी वनवासादिना वनस्थादिसंज्ञो न भवेद् इति सम्बन्धः।।५८।। तत्र हेतुतया वनस्थादिभ्यो विशेषमृणसम्बन्धमाह—नैष्ठिक इति। यद्यपि स नैष्ठिको ब्रह्मचारी गृहिवद् देवानां पितृणां च ऋणी न भवति, तथापि ऋषीणाम् ऋणभाग् एवेति सम्बन्धः।।५९।। फलितं नियममभिनयति—अपाकृत्येति। अत्र पूर्वार्धार्थ एव उत्तरार्धेन स्फुटी क्रियते। तं वानप्रस्थरूपं क्रमाश्रमं क्रमवन्तमाश्रमम्। अन्यथा ऋणसत्त्वे न समाव्रजेद् इति सम्बन्धः।।६०।। वानप्रस्थस्य क्रमवत्त्वमेव स्फुटयति—ब्रह्मचर्येति। यथा द्विजानां गृहित्वं ब्रह्मचर्यपूर्वकमेव, तथा वनस्थत्वं गार्हस्थ्यपूर्वकमेवेत्यर्थः।।६१।। तत्र प्रमाणमाह—त्रयाणामिति। त्रयाणां ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवनस्थत्वानाम् इति उक्तविधः क्रमः श्रुत्यादिकेन प्रमाणेन सिद्धः। तथा च जाबालश्रुतिः 'ब्रह्मचर्याद् गृही भवेद्' इत्याद्या। दक्षस्मृतिश्च 'त्रयाणामानुलोम्यं स्यात् प्रातिलोम्यं न विद्यते। प्रातिलोम्येन यो याति न तस्मात् पापकृत्तमः।।' इति। वैराग्यमात्रकारणकस्य संन्यासस्य तु न केनचिद् आश्रमेण क्रमनियम इत्याह—चतुर्थ इति। सोऽयं क्रमः तदादिना श्रुत्यादिना बाधितः। तत्र श्रुतिः 'यदि वेतरथा' इत्याद्योक्ता। स्मृतिश्च 'यदेव चास्य वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु तदैव संन्यसेद्' इत्याद्याऽनुसन्धेया।।६२।।

'न्यासो हि ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः (महाना.२१.२) संन्यासस्य ब्रह्माश्रमत्वात् 'तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरम्' (बृ.२.५.१९) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धब्रह्मवदेव केनचित् पौर्वापर्यं नास्ति इति सूचयन् संन्यासाद् उत्तरः कश्चिदाश्रमो नास्तीत्याह—चतुर्थमिति। हि यतः आश्रमिणो द्विजस्य चतुर्थमाश्रमं हित्वा कस्यचिद् आश्रमस्य भावः सत्ता नास्ति इति प्रसिद्धं 'तद्भूतस्य तु नाऽतद्भाव' इति (ब्र.सू.३.४.४०) व्याससूत्रादौ। तथा द्विज आश्रमवर्जितो न स्याद् इत्यपि

रहता वनमें है पर उससे वह वानप्रस्थ नहीं हो जाता! (अतः उस जैसा आचार करना पर्याप्त नहीं विधिवत् आश्रम ग्रहण करना ज़रूरी है।)।।५८।। यद्यपि नैष्ठिक ब्रह्मचारी गृहस्थ की तरह देवताओं और पितरों का ऋणी नहीं होता तथापि ऋषियों का तो ऋणी होता ही है।।५९।। इसलिये ऋण चुकाने के बाद ही वानप्रस्थ बना जा सकता है। तीनों ऋण उतर चुकें तभी क्रमप्राप्त वानप्रस्थ लेना चाहिये, बिना ऋण चुकाये नहीं।।६०।। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम ग्रहण किये बिना गृहस्थ नहीं बना जाता ऐसे गृहस्थाश्रम में गये बिना वानप्रस्थ भी नहीं बना जाता।।६१।।

ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों का यही क्रम है यह श्रुति-स्मृति प्रमाणों से निश्चित है। इस क्रमनियम का बाध चौथे अर्थात् संन्यास आश्रमके लिये ही है यह भी श्रुति-स्मृति से ही निर्धारित है। संन्यासग्रहण केलिये पर्याप्त निमित्त वैराग्य है अतः उससे पूर्व किसी आश्रम का होना ज़रूरी नहीं।।६२।।

ऋणाद् वनी वनस्थोऽयं शुद्धो भवति सर्वथा। आश्रमाभ्यां हि पूर्वाभ्यामृणं दत्वा यतो गतः।।६४।

ऋषीणामनृणो यद्वद् गृहस्थोऽत्र वनी तथा। सर्वेषामनृणी न्यासी संन्यासादेव केवलात्।। ऋणी गृहाश्रमाज्जातो विद्वानपि ततो मुनिः।।६५।।

याज्ञवल्क्यसंकल्पः

देवानां च पितॄणां च कृपया दत्तवानिदम्। विचार्यैवं हि मतिमान् सूर्यशिष्यस्तपोधनः।।६६।।

ऋषीणामृणमत्यर्थमनायासाद् मयार्पितम्। समर्प्यैव ततः शेषं प्राणिनां तदृणद्वयम्। संन्यस्यामि ततोऽमीषां पङ्क्तिभेदो न सम्भवेत्।।६७।।

प्रसिद्धम्। तथा च दक्षः 'अनाश्रमी नैव तिष्ठेदब्दमेकमपि द्विजः। आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्तीयते हि सः।। (   ) इति। तथा च संन्यासोत्तर आश्रमो नास्तीति भावः। व्याससूत्रार्थस्तु—तद्भूतस्य ऊर्ध्वरेतस्काश्रमं प्राप्तस्य अतद्भावः अवरोहः नास्ति नियमाद् 'आविमोक्षाच्छरीरस्य' इत्यादिरूपात्, अतद्रूपात् श्रुतीनामवरोहप्रतिपादकरूपाभावात्, तादृशशिष्टाचाराभावाच्चेति।।६३।। तस्माद् अनृण एव वनवासं कुर्यादित्याह—ऋणादिति। ऋणपदमर्श आद्यजन्तम्। तथा च ऋणाद् ऋणद्वयवतो गृहस्थाश्रमाद् उत्तरं वनी भवेत्। यस्तु वनस्थः स सर्वथा शुद्धोऽनृणो भवति, पूर्वाश्रमाभ्यामपाकृतर्णत्वादित्यर्थः।।६४।। संन्यासी तु सर्वेषामनृणी इत्याह—ऋषीणामिति। यद्वद् गृहस्थ ऋषीणाम् अनृणी, वनी च त्रयाणामनृणी, तथा संन्यासी सर्वेषाम् अनृणः, संन्यासस्य ऋणसम्बन्धाभावप्रयोजकताया लोकेऽपि प्रसिद्धत्वादित्यर्थः। फलितमाह—ऋणी गृहाश्रमादिति।।६५।।

याज्ञवल्क्यस्य गृहस्थाश्रमेऽतिशयेन दानादिप्रवृत्तौ प्रयोजकमाह—देवानामिति त्रिभिः। स तपोधनो मुनिः एवं विचार्य देवानां पितॄणां च तोषाय प्रवृत्तया कृपया इदं गोसुवर्णान्नादिकं द्रव्यं दत्तवान् इत्यन्वयः।।६६।। 'एवं' कथम्? इत्याकाङ्क्षां पूरयति—ऋषीणामिति। मया ब्रह्मचर्याश्रमसम्पत्त्याऽनायासेन ऋषीणामृणं समर्पितम्। अथ ततः ऋषिभ्यः शेषप्राणिनां देवादिरूपाणां तत् प्रसिद्धम् ऋणद्वयं समर्प्य सम्यग्दत्त्वा एव संन्यस्यामि संन्यासं करिष्यामि, यथा त्रयाणाम् अमीषाम् ऋष्यादीनां पङ्क्तिभेदो विषमार्चनरूपो न भवेद् इत्यर्थः।।६७।। एवं चेति। एवं सति

आश्रमी द्विज चौथे अर्थात् संन्यास आश्रम से यदि च्युत होता है तो उसे किसी आश्रममें प्रवेश नहीं है, वह सर्वथा बहिष्कार का ही पात्र है। और द्विज को बिना किसी आश्रम को ग्रहण किये रहना नहीं चाहिये यह शास्त्रमें घोषित है। (तात्पर्य है कि संन्यासके बाद कोई आश्रम नहीं लिया जा सकता और उससे पूर्व भी कोई नियत आश्रम नहीं है। जैसे ब्रह्म अपूर्व अनपर है वैसे ही उसे दिलाने में उपयोगी आश्रम भी!)।।६३।। ऋणयुक्त दोनों आश्रमों के बाद ही वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि पूर्व दो आश्रमों में ऋण चुकाकर वानप्रस्थ आश्रम को प्राप्त होता है इसलिये वह शुद्ध होता है, उस पर कोई ऋण नहीं रहता।।६४।। जैसे गृहस्थ पर ऋषिऋण नहीं होता क्योंकि ब्रह्मचर्य से वह उसे चुका चुकता है एवं वानप्रस्थी पर तीनों ऋण नहीं रहते, वैसे संन्यासी पर किसी का भी ऋण नहीं रहता, इसमें प्रयोजक संन्यास ही है क्योंकि लोक में भी संन्यासी पर ऋण को बोझ नहीं माना जाता। अस्तु; मुनि याज्ञवल्क्य विद्वान् होते हुए भी जो ऋणी बने उसमें कारण था कि उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था।।६५।।

बुद्धिमान्, तपोधन, सूर्यशिष्य याज्ञवल्क्यने जो देवताओं और पितरों के संतोषके लिये प्रवृत्त कृपा से अत्यधिक द्रव्यादि का समर्पण किया उसके पीछे उनकी सोच यह थी : 'मैंने बिना विशेष प्रयास के ऋषियों का ऋण अच्छी तरह चुका दिया। उनसे अतिरिक्त प्राणियों के जो मुझ पर दो ऋण हैं उन्हे भी भली-भाँति चुका कर ही संन्यास लूँगा जिससे ऋषि, देवता और पितरों की अर्चना में विषमता नहीं होगी। वे एक ही पंक्ति में उपस्थित पूज्य हैं, उनके

एवं च सति वाक्यं यद् गुरोस्तच्च कृतं मया। भविष्यति प्रवृत्तस्य निवृत्तस्याध्वपालनात्।।६८।।

तद्गृहवर्णनम

चित्रोऽभूदाश्रमस्तस्य गृहस्थस्य महामुनेः। दिवारात्रौ च सततं सर्वभूतोपकारकः।।६९।।

द्विभार्यः पुत्रसम्पन्नो धनिको मुनिसत्तमः। यज्ञैर्होमैश्च देवानामाश्रयोऽभूदहर्निशम्।।७०।।

नित्यैः स्वाध्यायवचनैर्ऋषीणां च महात्मनाम्। प्रजाभिः पिण्डदानाद्यैः पितॄणां स्वर्गवासिनाम्।।७१।।

सायं वासादिभिस्तद्वदन्नपानैर्मनोरमैः। धनादिभिश्च दानेन मनुष्याणां तथाऽर्थिनाम्।।७२।।

तृणोदकादिदानेन पशूनां विविधात्मनाम्। एवं भाण्डादिलेपेन धान्यादिपतनैरपि। श्ववायसादिजन्तूनां कीटादीनां समाश्रयः।।७३।।

स्वाहा-वषट्-स्वधा-हन्तकारैर्वाचः स्तनैः सदा। देवाः सपितरस्तद्वद् मनुष्याः सर्वतः स्थिताः।।७४।।

दुन्दुभेरिव निर्घातैराकार्यन्ते गृहेऽस्य हि। याज्ञवल्क्यः प्रसिद्धोऽयं बभूवैवं पुरा गृही।।७५।।

ऋणत्रयापाकरणोत्तरं संन्यासे कृते सति गुरोः भगवत आदित्यस्य वाक्यम् आज्ञारूपं सम्यक् कृतं भविष्यति। कुतः? प्रवृत्तस्य निवृत्तस्य चाधिकारिणो गम्यतया सम्बन्धिनौ यावध्वानौ अभ्युदयं निःश्रेयसं च प्रति गामिनौ मार्गौ तयोः पालनात् सेवनादित्यर्थः।।६८।।

'अयमात्मा सर्वेषां भूतानां लोक' इत्यादिमधुकाण्डप्रथमाध्यायप्रसिद्धकण्डिकानुसारिणं तस्य मुनेर्गृहाश्रमं वर्णयति—चित्र इति षड्भिः। चित्रः पश्यतां विस्मयकरः।।६९।। द्विभार्य इति। स मुनिः द्विभार्यत्वादिविशेषणको यागादिभिः देवानामाश्रय उपकारकः अभूद् इत्यर्थः।।७०।। नित्यैरिति। तथा नित्यवेदपाठादिभिः ऋषीणाम् आश्रयः। प्रजोत्पादनश्राद्धादिभिः पितॄणां चाश्रयोऽभूत्।।७१।। सायमिति। सायंकाले वासादिभिः धनान्तैः सम्पादितेन दानकर्मणा मनुष्याणाम् आश्रयोऽभूदिति।।७२।।

तृणोदकेति। तथा तृणादिदानेन पशूनाम् आश्रयः। भाण्डलेप-कणप्रक्षेपबलिदानादिभिः श्वादीनां चाश्रयोऽभूदिति।।७३।। स्वाहेति। यथा धनिनां गृहे दुन्दुभिशब्दैः अन्नार्थिन आकार्यन्ते आहूयन्ते तथा तद्गृहे स्वाहाकारादिरूपाणां वाग्धेनुस्तनानां खिलकाण्डप्रथमाध्यायप्रसिद्धानां (बृ.५.८) मध्ये स्वाहाकार—वषट्काराभ्यां देवा आकार्यन्ते, स्वधाकारेण च पितरः, हन्तकारेण हर्षद्योतकेन मनुष्या आकार्यन्ते। एवंविधो गृही सोऽभूत्। इति द्वयोरर्थः।।७४-७५।।

प्रति पंक्तिभेद करना अनुचित होगा। यों कर लेने से मेरे गुरु की आज्ञा का भी पालन हो जायेगा क्योंकि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग दोनों का मैं सेवन कर चुकूँगा।'।६६-६८।।

जब वे महामुनि गृहस्थ थे तब उनका घर देख सभी आश्चर्य करते थे। दिन-रात वहाँ सभी प्राणियों का उपकार होता ही रहता था।।६९।। द्विपत्नीक, संतानयुक्त, धनिक वे श्रेष्ठ मुनि दिन-रात यज्ञों व होमों द्वारा देवताओं का उपकार करते थे। प्रतिदिन वेदपाठ और अध्यापन द्वारा वे महात्मा ऋषियों का उपकार करते थे। प्रजोत्पादन से और पिण्डदान आदि से वे स्वर्गीय पितरों का उपकार करते थे। मनुष्यों का उपकार वे कई तरह से करते थे—शाम को अतिथि आये तो आवास एवं मनोनुकूल अन्न-पान की व्यवस्था करते थे, जरूरतमंदों व याचकों को वे धनादि प्रदान करते थे इत्यादि।।७०-७२।।

कात्यायनीकौशलम्

कात्यायनीति या तस्य भार्याऽभूत् सा विचक्षणा। गृहकर्मणि नारीणां प्रज्ञायां नीतिमास्थिता।।७६।।

गृहकुड्यादिसर्वत्र संमार्जयति सर्वदा। भूमिं च देहलीं तद्वद्वेदिकामङ्गणं तथा।।७७।।

तथा सर्वत्र धवलं गृहं रक्तं च कुत्रचित्। करोति चित्रितं क्वापि हस्तकौशलमास्थिता।।७८।।

भाण्डानि च घटांस्तद्वत् प्रक्षालयति सर्वदा। करकांश्च विचित्रैस्तु न्युब्जपात्रैस्तु[1] संयुतान्।।७९।।

भीमसेननलादीनां मतमास्थाय नित्यशः। लेह्यं पेयं तथा चोष्यं भोज्यं चेति चतुर्विधम्। अन्नं पचति सा नित्यं सूर्यपाकादिना मुहुः।।८०।।

श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां नित्यं शुश्रूषणे रता। देवरांश्च तथा ज्येष्ठान् बान्धवानतिथीनपि। ननान्द्राद्याः[2] स्त्रियस्तद्वत् पूजयेत् सा यथोचितम्।।८१।।

इत्येवमाद्या नारीणां प्रज्ञया सदृशी तया। ललना नाऽपरा काचिदासीदस्ति भविष्यति।।८२।।

उपोद्घाततया[3] तस्य भार्यां नाम्ना कात्यायनीं वर्णयति—कात्यायनीति सप्तभिः। तस्य मुनेः या कात्यायनी नाम भार्या सा नारीणां प्रज्ञायां नीतिं कौशलम् आस्थिता सती गृहकर्मणि विचक्षणाऽभूद् इत्यन्वयः।।७६।। तस्या गृहकर्मकौशलमेव प्रपञ्चयति—गृहेति। देहलीं द्वारदेशम्। वेदिकां यागभूमिम्।।७७।। तथेति। सर्वत्र बहुदेशेषु।।७८।। भाण्डानीति। करकान् कमण्डलून्, न्युब्जपात्राणि कमण्डल्वादिमुखपिधायकलघुपात्राणि, तैः सह।।७९।। भीमेति। यथा भीमसेनादयः पाकविद्यायां प्रसिद्धाः तथा साऽपीत्यर्थः। सूर्यपाक आतपेन पचनम्। आदिपदेन पुटपाकपिठरपाकादिग्रहः।।८०।। श्वश्रूश्वशुरेति। स्पष्टम्।।८१।। इत्येवमिति। इत्येवं प्रज्ञया नारीणामाद्या प्रथमगण्याऽभूत्, तया सदृशी च अपरा न अभूदित्यर्थः।।८२।।

घास, जल आदि देकर वे नाना पशुओं का उपकार करते थे। बर्तन आदि साफ करने पर जो अन्नादि फैंकते थे, जो दाने बिखेरते थे या ऐसे भी जो अनाज आदि गिर जाता था उस सबसे वे कुत्ते, कौवे, कीड़े आदि जन्तुओं का उपकार करते थे।।७३।। जैसे धनिकों के घरों में डुगडुगी बजाकर अन्नार्थी बुलाये जाते हैं ऐसे वाणी के चारों स्तनों से याज्ञवल्क्य के घर सर्वत्र स्थित प्राणी बुलाये जाते थे : 'स्वाहा' और 'वषट्' इन शब्दों से देवताओं को निमंत्रण दिया जाता था, 'स्वधा' शब्द से पितरों को और 'हन्त' शब्द से मनुष्यों को। इस प्रकार प्राचीन काल में ये मुनि एक सुप्रसिद्ध गृहस्थ थे।।७४-७५।।

याज्ञवल्क्य की जो कात्यायनी नामकी पत्नी थी वह नारियों के योग्य प्रज्ञा के कौशल वाली थी, घर के काम में अत्यन्त कुशल थी। घर की दीवाल इत्यादि सब को वह हमेशा झाड़ू आदि से साफ रखती थी। ज़मीन, दरवाजा, यागभूमि, आंगन इत्यादि कहीं गंदगी नहीं रहने देती थी।।७६-७७।। उसके हाथों में चित्रकारी की कुशलता थी अतः ज़मीन, दीवार आदि सर्वत्र वह घर को चित्रों से सजाती थी, पहले सर्वत्र सफेद रंग लगाकर फिर कहीं लालसे कहीं अन्य रंगों से सुंदर आकृतियाँ बनाती थी।।७८।। भाँडे, घड़े, कमण्डल और उनके ढक्कन सभी को वह हमेशा माँजकर साफ रखती थी।।७९।। भीमसेन, नल इत्यादि के पाकशास्त्रों में बताये ढंगका विचार कर वह रोज़ चारों तरह का भोजन बनाती थी—चाटने लायक, पीने लायक, चूसने लायक और चबाने लायक। अन्न को वह अलग-अलग ढंगों से पकाती थी जैसे सौर ऊर्जा से, कण्डों में, चूल्हे पर लकड़ी से, भापसे इत्यादि।।८०।। सास, ससुर और पति की वह हमेशा सेवा में लगी रहती थी। देवर, जेठ, अन्य रिश्तेदार, ननद, अन्य स्त्रियाँ, जो भी घर के लोग थे उनका यथोचित सत्कार वह सावधानी से किया करती थी।।८१।। इस प्रकार वह गृहिणियों में प्रथमगण्य थी। उसके समान घर सँभालने

१. पितृदेवादिकार्योपयोगिपात्राणि न्युब्जेत्युच्यन्ते। २. सपत्नीप्रभृतयः। ३. 'द्वे भार्ये बभूवतुः—मैत्रेयी च कात्यायनी च' 'स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी' इति (४.५) श्रुतेर्व्याख्या। 'गृहप्रयोजनान्वेषणलक्षणा प्रज्ञा' इति भाष्यकृतः।

ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी

द्वितीयाऽप्यस्य भार्याऽभूद् मैत्रेयीति च विश्रुता। प्रमत्तसदृशी नित्यमुद्विग्ना दुःखदर्शनात्।।८३।।

काऽहं किमात्मिका कस्मादेनं[1] लोकमुपागता। कुत्र स्थिता मया किं च गन्तव्यं मरणे सति।।८४।।

कोऽयं पतिरिति प्रोक्तः के सुताः काश्च कन्यकाः। किं दुःखं किं च मे तद्वत् सुखं के चक्षुरादयः८५

कोऽयं जनो मया दृश्य एवमादि सदैव सा। चिन्तयन्ती भृशं क्लिन्ना मृतवत्सेव वर्तते।।८६।।

याज्ञवल्क्योऽपि तत्सर्वं जानात्यस्या मनोगतम्। गृहस्थाश्रमसिद्ध्यर्थम्[2] आदिदेश पुरा च ताम्।८७

याज्ञवल्क्यस्य वैराग्यम्

स्वयमेकान्त आसीनः कदाचिद् मुनिसत्तमः। इदं विचारयामास काले बहुतिथे गते।।८८।।

अहो दुःखं महत् प्रोक्तं प्राणिनां प्राणधारणम्। यत्र कारागृहं देहः सप्तधातुस्त्रिदोषभाक्।
पूयविण्मूत्रसम्पूर्णो दुर्गन्धातिभयप्रदः।।८९।।

तस्य द्वितीयां भार्यां ज्ञानाधिकारितया वर्णयति[3]—द्वितीयेति चतुर्भिः। दुःखदर्शनात् सांसारिकदुःखालोचनात्।।८३।। काऽहमिति। सा एवमादि सदा चिन्तयन्ती सती मृतवत्सा गौः इव भृशं क्लिन्ना द्रुतचित्ता सदा वर्तते स्म। 'एवं' कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—काऽहम् इत्यादि योज्यम्। अहं का? किं देहादिसङ्घातरूपा तदन्या वेति? अन्यत्वेऽपि किमात्मिका? किं जडरूपा चिद्रूपा वा? एवमग्रेऽपि। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।८४-८६।। याज्ञवल्क्योऽपीति। मुनिस्तु तस्याश्चित्तवृत्तिं जानन्नपि गृहनिर्वाहाय गृहकर्मण्येव पूर्वम् आदिदेश आज्ञापितवानित्यर्थः।।८७।।

तस्य मुनेः करिष्यमाणसंन्यासोपयोगिवैराग्यकारणं संसारदोषदर्शनम् 'अन्यद्वृत्तम्' इत्याद्यंशेन[4] (बृ.४.५.१) सूचितं प्रपंचयति—स्वयमित्यादिना। गृहस्थाश्रमानुष्ठानेन बहुतिथे भूयसि काले गते सति स मुनिः कदाचिदेकान्ते स्थितः इदं वक्ष्यमाणविधं विचारयामासेति।।८८।। 'इदं'-पदार्थमभिनयति—अहो! इत्यादिना। अहो! इत्यद्भुते। प्राणिनां प्रियत्वेन प्रसिद्धं यत् प्राणधारणं तदेव दुःखं यत्र यदर्थं देहरूपं कारागृहं स्वीकर्तव्यम्। देहविशेषणानि सप्तधातुत्वादीनि स्फुटानि।।८९।।

की प्रज्ञा वाली कोई और स्त्री न पहले थी, न आज है और न आगे होगी ही!।।८२।।

याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी का नाम मैत्रेयी था। वह संसारदुःख के विचार से हमेशा परेशान रहती थी मानो पगली हो! जिस गायका बछड़ा मर गया हो उसका मन जैसे निरन्तर दुःखी रहता है वैसे यह इस तरह सोचती रहकर हमेशा रुआँसी रहती थी : मैं कौन हूँ? देहादि का संघात ही मैं हूँ या और कुछ? मेरा स्वरूप क्या है, जड या चेतन? इस लोक में क्यों, कहाँ से और कैसे आयी हूँ? मेरा स्थायी धाम क्या है, जब लोकों में नहीं आती-जाती तो कहाँ रहती हूँ? मरने पर मैं कहाँ जाऊँगी, कहीं जाऊँगी भी कि नहीं? जिसे 'पति' कहते हैं वह है कौन? पुत्र-पुत्रियाँ भी सही-सही कौन हैं? मुझे जो सुख-दुःख होते हैं वे चीज़ क्या हैं? आँख आदि इंद्रियाँ क्या होती हैं?—इस तरह का विचार वह लगातार करती रहती थी।।८३-८६।। याज्ञवल्क्य उसके मन में जो कुछ था वह सब जानते थे लेकिन उन्होंने शुरू से ही उसे निर्देश दे रखा था कि गृहस्थ आश्रम सही ढंग से चलाये (पत्नी के लिये वह आश्रमकर्म होने से मन शुद्ध करने का उपाय बनेगा यह उनका भाव था)।।८७।।

---

१. कुतो लोकात्कथं चेत्यर्थः। २. आश्रमसिद्धिस्ततो मनोनैर्मल्यप्राप्तिरित्यभिप्रायः। विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापीत्यधिकरणे (३.४.८) तत्कर्मणां विद्याहेतुत्वं स्थापितम्। ३. 'तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव' (४.५) इति श्रुतिं व्याचष्टे। ४. 'अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन्' इति।

शिरोऽक्षिरोगातिसारप्लीहगुल्मादिकं[1] तथा। भगन्दरगुदावर्तगण्डमालाद्यनेकधा। दुःखं व्याधिसमुत्पन्नं सर्वावस्थासु यच्च तत्।।६०।।

सर्पवृश्चिकलूतादिजातं दुःखं तथा परम्। शीतातपादिसंजातं दुःखमन्यच्च दुःसहम्।।६१।।

शत्रुभिर्दुर्जनैस्तद्वत् क्रियते दुर्जयैरिह। कर्मणा मनसा वाचा दुःखं त्रासकरं सदा।।६२।।

बाल्ये मोहादवाप्नोति दुःखमत्रातिदुःसहम्। रागाद् द्वेषात् तथा शोकाद् अशक्त्या बहुरूपया।।६३।।

सर्वावस्थासु सततं दुःखमत्र नियच्छति। प्राणानामागमे तद्वद् निर्गमे च महद्भयम्।। गर्भवासे च मरणे न हि दुःखं ततोऽधिकम्।।६४।।

एवमादीनि दुःखानि विविधानि बहूनि च। देहमाश्रित्य जायन्ते लोकेऽस्मिन् हि परत्र वा।।६५।।

तत्र देहे वर्तमानानि आध्यात्मिकादिदुःखानि दर्शयति—शिरोक्षीति षड्भिः। शिरोरोगाक्षिरोगातिसारादिव्याधिजं यद् दुःखं, यच्च कामक्रोधादि-सर्वावस्थासु आधिसमुत्पन्नं दुःखं तद् आध्यात्मिकत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः। तत्र गुदावर्तः पाय्विन्द्रियनिरोधरूपः। गण्डमाला कर्णकण्ठादिषु विस्फोटरूपपङ्क्तिरूपा। इतरे रोगाः प्रसिद्धाः।।६०।। सर्पेति। लूता तन्तुवायाख्यकीटः शरीरोपरि परिभ्रमणेन कण्डूत्यादिकारी प्रसिद्धः। तथा च सर्पादिजं शत्रुप्रभृतिजं चाऽधिभौतिकम्। शीताद्युत्पातजं चाधिदैविकं दुःखं भयप्रदं प्रसिद्धम्। इति द्वयोर्भावः।।६१-६२।। बाल्य इति। बाल्ये मोहरागद्वेषशोकैर्नानाविधया अशक्त्या च प्रयुक्तं दुःखमत्र देहे प्रसिद्धम्। तथाऽन्यदपि बोध्यम्।।६३।। अभिनिवेशाख्यं क्लेशमभिनयति—सर्वावस्थास्विति। प्राणानामागमे नूतनदेहे प्रवेशे, देहाद् निर्गमे च स्मर्यमाणे सति यद् महद्भयं 'मा न भूवम्' इत्याद्याशीःप्रयोजकं, तत् सर्वावस्थासु दुःखं नियच्छति नियतं करोति। तत उक्तभयजाद् दुःखाद् अधिकं दुःखं गर्भवासादावपि न अस्तीत्यर्थः।।६४।। फलितमाह—एवमिति। स्पष्टम्।।६५।। मुक्त[2]-

बहुत काल यों बीत जाने पर एक बार वे श्रेष्ठ मुनि एकान्तमें बैठकर स्वयं इस प्रकार विचार करने लगे : अहो! आश्चर्य है। प्राणी प्राणधारण करते हैं इसे बड़ा दुःख बताया गया है। सात धातुओं वाला, तीन दोषों से युक्त, पीप-टट्टी-पेशाब से भरा, दुर्गन्ध से ही डरा देने वाला शरीर यहाँ कारागार है।।८८-८९।। शरीर में व्याधियों से दुःख होते ही रहते हैं : कभी सिरदर्द, कभी आँखें दूखने आती हैं, कभी पेचिस लग जाती है, प्लीहा ('स्प्लीन') सूज जाता है, वातव्याधियाँ होती हैं, भगन्दर होता है, मलावरोध हो जाता है, गण्डमाला निकल आती है (कान, गले आदि में फोड़े हो जाते हैं) आदि। इनसे अतिरिक्त काम-क्रोधादि अवस्थाओं में मानससन्ताप से भी दुःख होता है। मानस आधि एवं शारीरिक व्याधि से उत्पन्न दुःख आध्यात्मिक नामसे प्रसिद्ध हैं जो देहरूप कारागार में अविरत भोगने पड़ते हैं।६०।। साँप, बिच्छू, मकड़ी आदि जन्तुओं से भी दुःख मिलता रहता है, सर्दी-गर्मी आदि से भी असह्य कष्ट होता है, जिन्हें हम जीत नहीं पाते ऐसे शत्रुओं और दुर्जनों द्वारा कर्म-मन-वाणीसे दिया पड़ाप्रद दुःख हमेशा भोगना पड़ता है।।६१-६२।। बाल्यावस्था में भी अविवेक, राग, द्वेष, शोक, और नाना प्रकार की असमर्थता से अत्यन्त असह्य दुःख इस शरीर में भोगना पड़ता है।।६३।। प्राण जब नये शरीरमें आते हैं और जब मरते हुए शरीर से निकलते हैं तब का दुःख याद करने से जो अत्यधिक भय होता है वह निश्चित कर देता है कि देहमें रहते हर हालत में दुःख है ही (क्योंकि वह याद आता रहता है)। इस भयके दुःख से तो गर्भवास मृत्यु आदि का दुःख भी अधिक नहीं है! (अर्थात् उपस्थित मृत्युकी अपेक्षा भी मृत्युभय अधिक दुःख देता है।)।।६४।। यह लोक हो या परलोक, देह में आश्रित होने पर इस तरह के विविध बहुतेरे दुःख होते रहते हैं।।६५।।

---

१. गुल्मेति वातरोगः। २. विगतसन्देहोपि प्रतीतिकालमात्मानं दुःखिनं मन्यमानो गीताष्टादशोक्तो ब्रह्मभूत इह मुक्तपदार्थः। तादृश एकान्तेपि देहदुःखमनुभवतीति प्रवृत्तिशीलश्चेत्किमिति नानुभवेदित्यर्थः। तथा च यदैकान्तवासिमुक्तस्यापि दुःखं तदा मादृशमुक्तस्य तदित्यत्र कः प्रश्न इत्यर्थः। याज्ञवल्क्यः संन्यासात् पूर्वमपि मुक्तस्त्वासीदत एव तदुपदेशः सफलो बभूवेति द्रष्टव्यम्।

मुक्तस्याऽपि भवेद् दुःखं देहमेकान्तवासिनः। मादृशस्य कुतो न स्यात् संसारासक्तचेतसः।।६६।।

अहो! सङ्गोऽस्य देहस्य ह्येकस्याऽप्यतिदुःखदः। आत्मैक्येन गृहीतस्य किमु दारादिरूपिणः।।६७।।

सङ्गो विनाशहेतुः स्यात् सर्वेषामिह देहिनाम्। निःसङ्गो निर्गुणो यस्मात्सङ्गाद् दुःखमुपागतः।।६८।।

स्वभावाच्छीतलं तोयमुष्णं भवति सङ्गतः। वह्नेस्ततोऽत्र सङ्गोऽयमतिदुःखप्रदः स्मृतः।।६६।।

सङ्गात्कुठारजनिताद् वृक्षश्छेदं समाप्नुयात्। शस्त्रसङ्गात् तथा कायः प्राणिनां शतधा व्रजेत्।।१००।।

सङ्गाद् बहिर्मुखं याति मनोन्तर्यत् प्रवर्तते। दुर्धियां प्राणिनां सङ्गात् पापी दुःखं समाप्नुयात्।
निर्दुःखो दुःखिनां सङ्गाद् दुःखी संजायते जनः।।१०१।।

स्यापीति। मुक्तस्य वीतरागस्य अपि देहं दुःखरूपं स्यात्, किमुतान्यस्येत्यर्थः।।६६।। यदैकत्राऽपि देहेऽहंममाभिमानलक्षणः सङ्गो दुःखदः तदा किमु वाच्यं दारपुत्राद्यनेकदेहसङ्गस्य दुःखदत्वमित्याह—अहो! सङ्ग इति। गृहीतस्य अभिमतस्य दारादिरूपस्य देहस्य सङ्गो दुःखद इति किमु वाच्यम्! इति।।६७।।

तदर्थं सङ्गस्य अनर्थहेतुतां प्रपञ्चयति—सङ्ग इति नवभिः। निर्गुणत्वाद् असङ्गोऽप्यात्मा यतः सङ्गाद् दुःखम् आगतः।।६८।। तदुदाहरणेन स्फुटयति—स्वभावादित्यादिना। स्पष्टं द्वयम्।।६६-१००।। सङ्गाद् बहिरिति। यद् मनः स्वभावाद् अन्तः आत्माभिमुखं प्रवर्तते। तदुक्तम्[1]—'आत्माऽनात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्' इति। तदपि सङ्गाद् बहिर्मुखं याति इति। तथा पापी संचितपापशाल्यपि दुःखं सङ्गाद् एव पापफलं दुःखम् अनुभवतीति

एकान्तवासी मुक्त पुरुष का भी देह दुःखरूप ही होता है तो मुझ जैसे संसार में आसक्त चित्त वाले का शरीर दुःखालय क्यों न होगा! (यहाँ 'मुक्त' अर्थात् विदेहमुक्त—भाविजन्मराहित्य वाला।)।।६६।। अहो! इस एक शरीर को अपने से एक मान लेते हैं तो ही इसके प्रति यह आसक्ति अत्यंत दुःख देती है तब पत्नी आदि के शरीरों के प्रति भी आसक्ति हो जाये तो दुःख का कहना ही क्या!।।६७।।

सब देहधारियों के विनाश का कारण संग ही है क्योंकि असंग निर्गुण आत्मा भी संग के कारण दुःखमय संसार में भटक रहा है।।६८।। पानी स्वभावसे शीतल है पर आग का संग मिल जाये तो गर्म हो जाता है। इसलिये—स्वभाव को भी परिवर्तित प्रतीत कराने वाला होने से—यह संग संसार में सर्वाधिक दुःखप्रद समझा जाता है।।६६।। आखिर पेड़ जो कटता है वह कुल्हाड़ी के संग से ही तो! शस्त्रों का संग हो जाये तो प्राणियों के शरीर सौ तरह से कट जाते हैं।।१००।। जो मन स्वाभाविक रूपसे अंतर्मुखी है वह भी संगवश बहिर्मुखी हो जाता है। कुबुद्धि प्राणियों के संगसे पापी को दुःख मिलता है (अर्थात् कुसंग से पाप कर उसका फल दुःख मिलता है। अथवा दुःखका दृष्ट निमित्त कुबुद्धिजनों का संग बनता है। अथवा कुबुद्धि प्राणियों के संगसे मन बहिर्मुख होता है—यों अन्वय है। पापी जो दुःख पाता है वह भी संग के कारण क्योंकि पापसे उसका संग है।) दुःखहीन व्यक्ति भी दुःखियों के संगसे दुःखी हो जाता है (जैसे शोकसभा आदि में)।।१०१।। संसार में संगका फल हमें प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जिसे कामनादि नहीं हैं वह भी जब कामनादि वालोंका संग करने लगता है तो कामी आदि बन जाता है। (अत एव विवेकी को संसारियों से न्यूनतम अनिवार्य व्यवहार से अतिरिक्त संग नहीं करना चाहिये अन्यथा संसारोन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा। यद्यपि संग का सब पर बराबर असर

---

१. मधुसूदनस्वामिभिर्गीताटीकायाम्। भगवद्वार्तिककाराश्च 'प्रत्यक्चिदाकृतिस्तत्र सर्वदा धर्मधर्मिणोः। हेत्वन्तरानपेक्षत्वादात्मत्वात् संनिधेः सदा। आत्माकृतिरतो नित्या तद्धेतोः संभवात् सदा। अज्ञानादेश्च चिद्रूपं तथाथात्यात्र वार्यते।। धर्माधर्माद्यपेक्षत्वाद् अन्यत्वाच्चान्यवस्तुनः। शब्दाद्याकारता तस्मात् कादाचित्की धियो भवेद्।।४.४. श्लो ६५१-६५३।।' इति प्रत्यपीपदन्।

एवं काम्यादिसंसर्गात् कामादिपरिवर्जितः। काम्यादिर्जायते जन्तुः प्रत्यक्षमिदमत्र नः।।१०२।

अपि संनिधिमात्रेण भावाः कुर्वन्ति विक्रियाम्। अम्लो रसो यथा कुर्याद् दन्तेषूदकनिर्गमम्।।१०३।।

जडेष्वपि च दृष्टेयं विक्रिया भावसंनिधेः। लोहमाकर्षयेद् दूरात् पाषाणश्चुम्बको यतः[1]।
अयस्कान्तस्तथैवैतद् भ्रामयेद् दारुयन्त्रवत्।।१०४।।

चेतनस्य तु सांनिध्याच्चेतनस्येह किं पुनः। वक्तव्या विक्रिया यस्माद् नानैकेयं प्रदृश्यते।।१०५।।

एवमेव वपुर्दुःखं सर्वेषामिह देहिनाम्। दारादिसङ्गतेर्जातं ममानेकमिदं वपुः।।१०६।।

यद् वनेऽहमहो! धैर्यं प्राप्य वैराग्यमाश्रितः। विष्ठावान्तसमं पश्यन् देहं तप उपाश्रितः।।१०७।।

प्रसिद्धम्। तथा निर्दुःखः शान्तात्माऽपि दुःखिनाम् सभायामुपविष्टो दुःखी भवतीति प्रसिद्धमित्यर्थः।।१०१।। एवं कामिप्रभृतीनां सङ्गात् तथाभूतो भवतीति प्रसिद्धमित्याह—एवमिति। इदं सङ्गफलं प्रत्यक्षं प्रसिद्धम् अत्र लोके नः अस्माकम्।।१०२।। किं च संनिधिमात्रेण विकारहेतुत्वं विषयाणां स्वभाव एवेति दाडिमाद्यम्लपदार्थदर्शने दन्तादिजलस्रावेण निश्चितमित्याह—अपीति।।१०३।। यदा जडेष्वपि सङ्गप्रयुक्ता विक्रिया दृश्यते तदा चेतनेषु किं वाच्यम्! इत्याह—जडेष्वपीति द्वाभ्याम्। यदा भावस्य पदार्थविशेषस्य संनिधिहेतुका विक्रिया जडेष्वपि दृष्टा यथा चुम्बकायस्कान्तपदाभ्यां व्यवह्रियमाणः पाषाणविशेषो लोहमाकर्षयेद् दारुयन्त्रवद् भ्रामयेत् चेति प्रसिद्धं; तदा चेतनस्य दारादिशरीरस्य सान्निध्यात् चेतनस्य विक्रिया किं वक्तव्या व्याख्यातुं शक्या? अपि तु न। यस्माद् एकापीयं चेतनगता विक्रियाऽवान्तरभेदाद् नाना बहुविधा दृश्यते। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१०४-१०५।। फलितमाह—एवमिति। एवं सङ्गविधया एव सर्वेषां देहिनां वपुः देहं दुःखरूपं जातम्। तत्र चाऽहमेव दृष्टान्त इत्याह—दारादीति। यथा ममेदं वपुः दारपुत्रादिसङ्गतिवशाद् अनेकम् अनेकविक्षेपमयं जातम् इत्यर्थः।।१०६।।

सङ्गस्य विक्षेपकारणत्वे व्यतिरेकम् अन्वयं च प्रमाणयति—यद् वन इति। यद्[2] यस्माद् अहं यदा ब्रह्मचर्यकाले एकाकी देहादपि विरक्तः तपः कृतवान् अस्मि तदा मम धैर्यविलोपं स्वर्गाङ्गना अपि नाकुर्वन्। इदानीं वार्धके

नहीं पड़ता तथापि पड़ता अवश्य है। जो उस असर से बचा दीखता है उसकी भी उस बचने में शक्ति तो क्षीण होती ही है और संस्कार एकत्र हो जाते हैं जो कालान्तर में खतरा बन सकते हैं।)।।१०२।। संनिधि के कारण विकार पैदा करना यह तो वस्तुओं का स्वभाव है! खट्टा रस दखते ही दाँतों के बीच पानी निकलने लगता है!।।१०३।। जड चीजों में भी देखा जाता है कि अन्य पदार्थ की संगति का असर होता है—चुम्बक पत्थर काफ़ी दूर से लोहे को आकृष्ट कर लेता है। वह लोहे को यों घुमा लेता है मानो कोई लकड़ी का यंत्र हो (जो घूमने के ही लिये बनाया हो)।।१०४।। जब अचेतनों का यह हाल है तब चेतनों की संनिधि से चेतन के विकारों का क्या कहना! चेतनों पर प्रभाव भले ही एक 'विकार'-शब्द से कह दिया जाये पर वह विकार होता अच्छे-बुरे बहुत तरह का है।।१०५।।

इस प्रकार संग द्वारा ही सब का शरीर दुःखमय बनता है। मेरा यह शरीर जो अनेक विक्षेप करने वाला बन गया है वह पत्नी आदि से संगति के कारण ही। (अथवा संगवश मेरे अनेक शरीर हो गये हैं; पत्नी आदि के शरीर भी 'मेरे' रूपसे ही प्रतीत होते हैं, भले ही उनमें मिथ्यात्मता न हो, गौणात्मता तो होती ही है।)।।१०६।।

अहो! अब याद कर भी अचंभा होता है! जब मैं धीरतापूर्वक विरक्त हुआ जंगल में तप करता था तब यह शरीर मुझे निकाले हुए मल जैसा दीखता था। तब मेरा धैर्य स्वर्ग से आयी वे सुंदरियाँ भी नहीं छुड़ा पायीं जो हमेशा

१. यथेति युक्तं पठितुम। २. तद् धैर्यमिति ११७ तमेन सम्बन्धः।

नाकुर्वन् मम धैर्यस्य विलोपं वामलोचनाः। स्वर्गादभ्यागताः शश्वद् बहुमन्मथमन्थराः।।१०८।।
केतकीचम्पकादीनां गन्धान् देहोत्थितैर्मुहुः। गन्धैरधिक्षिपन्त्यस्ताः काञ्चनोत्पलसंनिभाः।।१०९।।
पीनोन्नतकुचद्वन्द्वजघनापहृताम्बराः। पूर्णचन्द्राननास्तद्वद् वसनाभरणैर्युताः।।११०।।
उद्दामभावपिशुनैः कटाक्षैर्धैर्यहारिभिः। मृदुलैः सस्मितैः श्लक्ष्णैः सिद्धैर्गुर्वर्थसंयुतैः।।१११।।
वचनैः कामदावाग्निदीपकैर्भूरिकीर्तितैः। प्रस्खलत्पदविन्यासैर्मंजुमञ्जीरमञ्जुलैः।।११२।।
श्लथद्दुकूलवलयैः काञ्चीताराऽङ्गदादिभिः। सहितैः खिन्नसर्वाङ्गैः तथा रोमाञ्चकञ्चुकैः।।११३।।
भ्रष्टसीमन्तसिन्दूरनयनाञ्जनसंयुतैः। ललाटोरःस्थलस्थानबहुकुङ्कुमचन्दनैः।।११४।।
समं समेतकुसुमधम्मिल्लपतनेन च। कन्दर्पदर्पविलसद्धासवादित्रगीतकैः।।११५।।

दारादिसङ्गतिप्रभावाद् मम धैर्यं वृथा गतम् इति एकादशं (११७) यावद् अभिसम्बन्धः। बहुमन्मथेन मन्थरा मन्दगतयः।।१०७-१०८।। केतकीति। पुनः कीदृश्यः स्वर्गाङ्गनाः? स्वदेहगन्धैः केतक्यादिगन्धान् अभिभवन्त्यः।।१०९।। पीनोन्नतेति। पुनः कीदृश्यः? पीनाद् उन्नतात् कुचद्वन्द्वात् जघनाच्च वायुनाऽपहृतम् अम्बरं यासां तास्तथा। तद्वत् पूर्णचन्द्रवद् दीप्तिमद्भिः वसनादिभिः युताः चेति।।११०।। ताश्च कैः मम धैर्यं न हृतवत्यः? इत्याकाङ्क्षायाम्; तत्र कारणतया प्रसिद्धान् भावान् दर्शयति—उद्दामेति। उत्कृष्टाभिप्रायसूचकैः कटाक्षैः, तथा मृदुलादिभूरिकीर्तितत्वान्तैः विशेषणकैः वचनैः। तत्र श्लक्ष्णत्वं मनोहरत्वम्, सिद्धत्वं प्रसिद्धवाच्यार्थकत्वम्, गुर्वर्थत्वं गम्भीराभिप्रायकत्वम्, भूरिकीर्तितत्वं दीर्घललितस्वरेण उच्चारितत्वम्। स्फुटमन्यत्। तथा मञ्जीरशिञ्जितशालिभिः पदन्यासैश्च। इति द्वयोरर्थः।।१११-११२।। श्लथदिति। तथा खिन्नैः श्रमभराक्रान्तैः सर्वाङ्गैः। कीदृशैः सर्वाङ्गैः? श्लथद्दुकूलादिभिः सहितैः। तत्र तारा मस्तकभूषणम्, अथवा तारत्वं भास्वरत्वम् अङ्गदविशेषणम् इति। पुनः कीदृशैरङ्गैः? रोमाञ्चमयकञ्चुकविशिष्टैः।।११३।। भ्रष्टेति। तथा भ्रष्टेन विकीर्णेन सीमन्तगतसिन्दूरेण नयनाञ्जनेन च सहितैः ललाटादिगतैः कुङ्कुमादिभिः।।११४।। सममिति। तथा समेतानि सम्यग् ग्रथितानि कुसुमानि यत्र तादृशस्य धम्मिल्लस्य केशपाशस्य पतनेन ग्रन्थिविमोकेन समं सहवर्तमानकन्दर्पदर्पेण विलसद्भिः हासादिभिः।।११५।।

अधिक कामना से युक्त होती हैं। उनके शरीरों से निकलती सुगंध केतकी (केवड़ा), चम्पा आदि की सुगंधों को भी मात करती थी। वे मानो स्वर्गनिर्मित कमल थीं। उनके मांसल सुघड़ स्तनों व जघनों पर से कभी वस्त्र खिसक जाता था फिर भी मेरा मन आकृष्ट नहीं होता था। उनके मुख पूर्णचंद्र-से आह्लादक थे और वे दिव्य चमकदार वस्त्र-आभरणों से सजी होती थीं।।१०७-११०।। उनके कटाक्ष अनेकों को धैर्यच्युत कर चुके हैं क्योंकि उनके उत्तेजक भावों की मानो चुगली कर देते हैं! मुस्कराहट के साथ उनके वचन मनोहारी व कोमल होते हैं।। यद्यपि शब्दचयन सामान्य होता है तथापि अभिप्राय गंभीर निकलते हैं। दीर्घ व ललित स्वर में वे बोलती हैं तो कामनारूप दावाग्नि स्वयमेव जल उठती है। ऐसी रमणियाँ अपनी बातों से मुझे अधीर नहीं कर पायीं थीं। सुंदर नूपुरों से रमणीय दीखने वाले पैरों का वे यों विन्यास करती थीं मानो उत्तेजनादि के कारण वे ठीक-से चल न पा रही हों! ढीले होते कपड़ों व वलयों से, करधनी टीका अंगद आदि गहनों से उनका सारा शरीर थका-सा होता था और मानो हमेशा रोमांचित रहती थीं।।१११-११३।। उनकी माँगों में सिन्दूर डला होता था, आँखों में अंजन होता था, ललाट, वक्ष आदि बहुत-से अंगों पर कुंकुम, चंदन आदि लगे होते थे। इन सबसे भी वे मुझे नहीं आकृष्ट कर पायीं।।११४।। सुन्दर तरह से जिनमें फूल गुथे होते थे वे उनके केशपाश कभी खुलकर बिखर जाते थे तो वे ऐसे हँसती, ताली आदि बजाती और गीत गाती थीं मानो कामदेव का दर्प ही विलास कर रहा हो! इससे भी तब मुझमें अंतर नहीं ला सकीं।।११५।। इंद्र ने उन्हें भेजा था अतः उस जंगल को भी नंदन आदि देववन-सा बना दिया था। कोकिल आदि के स्वरों से मिश्रित, वसंतकालिक मलयाचल की

कोकिलादिस्वरासक्तवसन्तमलयानिलैः। मन्दाकिनीजलप्रान्तमृदुलैर्वालुकाञ्चितैः।।११६।।

नन्दनादिवनेष्वन्तर्देशैर्देवैर्निषेवितैः। मम धैर्यं हृतं नाद्य वार्धके तद् गतं वृथा।।११७।।

मांसाऽसृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जाऽस्थिसंहतिः। देहो मम तथाऽमीषां दाराणां सुखकारणं।।११८।।

मृज्जलैर्बहुशो देहो मया प्रक्षाल्यते निजः। न सोऽपि शुद्धो जातोऽस्ति दुःखदो दुःसहः परम्।।११९

दारा मद्वन्निजं देहं नैवं प्रक्षालयन्त्यमी। तेषु मोहं विना केन सुखमत्र भविष्यति।।१२०।।

पीनोन्नतस्तनौ स्यातां वध्वाः प्रथमयौवने। पीडितस्य यथा ग्रन्थी रोगादुरसि निर्गतौ।।१२१।।

स्तनयोश्च स्फिजोर्नैव वस्तुतो विद्यतेऽन्तरम्। शेषो देहः समः स्त्रीणां पुंसश्च स्मरनिर्गमे।।१२२।।

पायोर्योनेश्च वैषम्यं छिद्रयोर्नैव विद्यते। नारीदेहो द्विपायुः स्यादेकपायु च पुंवपुः।।१२३।।

कोकिलादीति। तथा नन्दनादिवनेषु अन्तः वर्तमानैः देशैः स्थलविशेषैः; कीदृशैर्देशैः? कोकिलादिस्वरविशिष्ट-वसन्तादिशालिभिः मन्दाकिनीजलसान्निध्येन कोमलैः, वालुकाराजितैः, देवसेवितैश्चेति। इन्द्राभ्यनुज्ञातदेवमायया तपःस्थानेऽपि नन्दनाद्युपलम्भो न चित्रमिति बोध्यम्। न हृतम् अहृतपूर्वं मम धैर्यं वार्धके वृथा विभ्रममात्रेण गतम्। इति द्वयोरर्थः।।११६-११७।।

विभ्रमनिमित्तकत्वरूपं वृथात्वमेव स्फुटयति—मांसेति। मांसादिसंहतिरूपो दारादिदेहो मम सुखकारणम् इति विभ्रमत्वं स्फुटमिति भावः।।११८।। एतदेव व्यनक्ति—मृज्जलैरिति। यदा मद्देहो बहुशः प्रक्षाल्यमानोऽपि वस्तुतः अशुद्ध एव। तदुक्तं 'स्थानाद् बीजाद् उपष्टम्भाद् निष्यन्दाद् निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।।' (द्रष्टव्य योगभाष्य २.५) इति। स्थानं जनन्युदरम्, बीजं शुक्रशोणिते, उपष्टम्भो भुक्ताहारपरिणामः, निष्यन्दो नवद्वारप्रस्रावः, निधनं श्रोत्रियशरीरस्य अपि अशुचित्वकारणम्, आधेयत्वं स्वाभाविकत्वाभाव इति तदर्थः। अत एव विवेकिनो दुःखदो दुःसहश्च परं केवलम्। दाराः तु मद्वत् शौचमपि न कुर्वन्ति, तेषु दारेषु सुखबुद्धिः मोहं विना कथमुपपद्येत! इति द्वयोरर्थः।।११९-१२०।। मोहमेव प्रपञ्चयन् रोगजमांसग्रन्थिनिभयोः स्तनयोः स्वर्णकलशधीर्मुधैवेत्याह—पीनोन्नताविति। पीडितस्य रोगिण इत्यर्थः।।१२१।।

किं च पुरुषस्य स्वदेहसमे नारीदेहे विशेषबुद्ध्या प्रयुक्ता सुखहेतुत्वबुद्धिः बाधितार्थैवेत्याह—स्तनयोरिति त्रिभिः। स्फिजौ कटिगतमांसपिण्डौ। अन्तरं विशेषः। स्मरनिर्गमे स्मरवेगापगमकाले। स्तनभागाच्छेषः स्त्रीपुंसदेहः सम इति।।१२२।। पायोरिति। यतो पाय्वादिस्वरूपभूतयोः छिद्रयोः वैषम्यं न, अत इदं सिद्धम्। 'इदं' किम्?

बयारें वहाँ बहती थीं। मंदाकिनी के किनारे जैसी मृदुल बालू वहाँ बिछी थी। नंदन आदि में जैसे स्थानों पर देवता आनन्द करते हैं वैसा वह स्थान बन गया था। लेकिन इस सब से भी मेरा धैर्य हटा नहीं था। वह धैर्य आज इस बुढ़ौती में भी दुर्लभ हो गया है! व्यर्थ ही उसे मैंने खो दिया।।११६-११७।।

विभ्रमवश ही मैंने धैर्य खो दिया! मेरे शरीर की तरह इन पत्नियों के शरीर भी मांस, खून, पीप, विष्ठा, मूत्र, स्नायु, मज्जा, हड्डी आदि के संघात ही हैं। फिर भी मेरे लिये सुखकारण बने हुए हैं! मैं अपना शरीर मिट्टी-पानी से बहुत बार साफ करता रहता हूँ फिर भी यह शुद्ध हो गया हो ऐसा नहीं। यह तो केवल दुःखद और असहनीय ही है। मेरी तरह ये पत्नियाँ तो अपना शरीर साफ भी नहीं रखतीं! इन्हें जो मैं सुख समझता हूँ वह अविवेक के बिना कैसे हो सकता है?।।११८-१२०।। स्त्री के यौवनारंभ में जो स्थूल उठे स्तन होते हैं वे वैसे ही होते हैं जैसे रोगसे पीडित की गाँठें निकली हों। फिर भी मोहवश सुखद प्रतीत होते हैं।।१२१।। वास्तवमें स्त्रीके स्तनों और पुरुषके नितंबों में कोई खास अंतर नहीं है और बाकी शरीर तो दोनों का एक-सा ही है। कामवेग रहते ही शरीरों में अंतर दीखता है, वेग निकल जाने के बाद विचार करें तो अंतर नहीं है।।१२२।। पायु और योनि दोनों छिद्र ही हैं, दोनों में कोई भेद

एवमस्मिन् वधूदेहः पुंदेहसदृशस्सदा। मम या बुद्धिरुत्पन्ना सुखोऽयमिति सा वृथा।।१२४।।

अपि ग्राम्येण धर्मेण नारीहृदयसंस्थितम्। पुरुषं गच्छतः कस्माद् मम लज्जा न जायते।।१२५।।

देहयोर्योगतो भूयात् सुखं प्राणिषु नैव तत्। आलिङ्ग्यन् सुतं[1] स्नेहाज्जननीं युवतिं युवा।।१२६।।

सुता वा युवतिः स्वस्य युवानं पितरं मुहुः। आलिङ्ग्यन्ती संस्नेहात् कस्मादेनं न गच्छति।।१२७।।

भगिनीभ्रातरौ यद्वद् युवानौ स्नेहिनौ मिथः। आलिङ्ग्यन्तौ केनेमौ सुखमेतन्न गच्छतः।।१२८।।

परस्परं हि विद्विष्टौ दम्पती दैवयोगतः। आलिङ्ग्यन्तौ केनेमौ सुखं नैवाऽत्र गच्छतः।।१२९।।

ततो मानस एवाऽयं भावः स्त्रीपुंसयोर्मिथः। सुखप्रदो भवेदत्र निःसुखेऽस्मिन् कलेवरे।।१३०।।

अहो भूतैरिवाविष्टः पतनोत्पतनादिकम्। कृतवानस्मि संमोहाद् नारीनरकभूमिषु।।१३१।।

अहो मे हृदये शश्वज्ज्योतिषां ज्योतिरद्वयः। परमानन्दरूपोऽयम् आत्मा तिष्ठति सर्वदा।।१३२।।

अत आह—नारीत्यादि। एकः पायुर्यस्य तत्तथा पुंवपुः पुंशरीरम्।।१२३।। एवमिति। एवम् उक्तविधया वधूदेहः पुंदेहसदृशः सिद्धः। अस्मिन् वधूदेहे सुखः सुखजनकः अयमिति आकारा या मम धीः उत्पन्ना सा वृथा बाधितार्थेत्यर्थः।।१२४।। किञ्च नारीदेहमात्रस्य स्त्रीत्वेऽपि तदन्तरात्मनः पुरुषत्वमेव, 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु' (बृ.२.१५.१८) इति श्रुतेः। तथा च ततः त्रपाम् अकुर्वतो ममात्यन्तमनौचित्यमित्याह—अपि ग्राम्येणेति। स्पष्टम्।।१२५।। किञ्च कामसुखस्य भावनाविशेष एवोपशान्तिद्वारा प्रयोजको, न नार्यादिदेहयोगः; अन्वयव्यभिचारादित्याह—देहयोरिति पञ्चभिः। देहयोगस्य हेतुत्वे युवा सुतो जननीम् आलिङ्गन् युवतिः सुता वा सम्यक् स्नेहाद् युवानं पितरम् आलिङ्गन्ती सती एनं कामुकप्रसिद्धम् आनन्दं कस्माद् न गच्छति? अतो देहयोगो न हेतुः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१२६-१२७।। उदाहरणान्तरे आह—भगिनीति द्वाभ्याम्। स्नेहिनौ स्नेहवन्तौ। विद्विष्टौ द्वेषं प्राप्तौ।।१२८-१२९।। फलितमाह—तत इति। भावो विकारः।।१३०।।

स्ववृत्तं स्मृत्वोपहसति—अहो! इति। नारीरूपासु नरकभूमिषु।।१३१।। किं च परमानन्दरूपम् अतिसंनिहितं चात्मानं विहाय सुखाय नारीनरकाश्रयणं मम अनौचित्यसीमानम् आवेदयतीत्याह—अहो! म इति द्वाभ्याम्। अहो! अतिचित्रं यद् आत्मा साक्षाद् अपरोक्षो वर्तते तं विहाय सुखेप्सया नरक आश्रीयते। इति द्वयोः

नहीं। इतना ही कह सकते हैं कि स्त्रीशरीर में दो पायुछिद्र हैं जबकि पुरुषशरीरमें एक ही!।।१२३।। इस प्रकार पुरुषशरीर जैसा ही जो स्त्रीशरीर उसमें मुझे यह लगना कि 'यह सुख है' वह गलत ही है।।१२४।। नारीके भी हृदय में तो पुरुष ही स्थित है (क्योंकि श्रुति ने 'पुरुष' को सभी शरीरों में व्याप्त बताया है)। अतः पुरुष से ही ग्राम्यधर्म (=समागम) करते हुए मुझे लज्जा क्यों नहीं आती? ।।१२५।।

नारीशरीर से संबंध भी सुखप्रद हो ऐसा नहीं, कामनासुख तो एक खास भावना पर ही निर्भर करता है : शरीरों के संबंधसे प्राणियों को कामसुख होता हो ऐसी बात नहीं अन्यथा जवान पुत्र अपनी जवान माता का स्नेह से आलिंगन करते हुए या युवती पुत्री अपने जवान पिता का स्नेह से बार-बार आलिंगन करते हुए भी कामुकप्रसिद्ध सुख क्यों नहीं प्राप्त करते? परस्पर प्रेम रखने वाले जवान भाई-बहन भी आलिंगन से वह सुख क्यों नहीं पाते? जिन पति-पत्नी को आपस में द्वेष हो गया हो वे यदि किसी कारण आलिंगन करते हैं तो उन्हें सुख क्यों नहीं होता?।।१२६-१२९।। (इसलिये इस सुखरहित शरीर के बारे में जो एक मानसिक भाव है—कामना है—वही स्त्री-पुरुषको आपस में सुख देता है।।१३०।।

---

१. सुत इति पठनीयम्।

आनन्दात्मानमेतं तं स्वस्थं प्रियतमं सदा। सुहृदं सर्वजन्तूनां पितृमात्रादिरूपकम्। परित्यज्य सुखप्रेप्सुर्नारीनरकमागतः।।१३३।।

मत्तः पापतमः को वा पितृमात्रादिघातकः। सर्वात्मानममुं यस्माद्धतवानस्म्यवज्ञया।।१३४।।

पामरेभ्योऽप्यहं तुच्छो जानन्नात्मानमद्वयम्। अयं बहिर्मुखो जातो नैते जानन्ति तं प्रभुम्।।१३५।।

अहो! तेऽपि च नेच्छन्ति वृद्धा वृद्धां च योषितम्। अहं वृद्धोऽत्र संजातो जरसाऽथ वशी कृतः।१३६

दारा अपि तथैवैते शुष्ककाष्ठसमा मम। भेरीसमोदरास्तद्वन्नाऽपि स्पष्टपयोधराः।।१३७।।

अपत्यपीतसर्वस्वहतदृष्टिपयोधराः। किं स्विदद्यापि मे चित्रं मनस्तेषु प्रवर्तते।।१३८।।

सङ्गादनर्थः

अहो भगवतस्तस्य गुरोर्मण्डलवर्तिनः। ममाज्ञाऽभूदपत्यार्थे सम्प्रदायप्रवर्तने।।१३९।।

सम्बन्धः।।१३२-१३३।। किं च महताम् अवज्ञैव हननं, यथा तुङ्कारेण गुरूणामिति कर्णपर्वणि प्रसिद्धम्; तथाऽऽत्मवधे सर्वपापान्तर्भावः 'अन्यथासन्तमात्मानम्' (मनु.४.२५५)[1] इत्यादिस्मृतिप्रसिद्धः। तथा च सर्वात्मकस्य आत्मनोऽवज्ञया उपेक्षारूपया हनने सर्वपापप्रसक्तिरित्याह—मत्त इति। मत्तः मत्सकाशात्।।१३४।। अपि च ज्ञात्वात्मावमानः पामरेभ्योऽपकर्षमावहति इत्याह—पामरेभ्य इति। तुच्छः अपकृष्टः। यतः अहमात्मानं जानन् बहिर्मुखो जातः, एते पामरास्तु तम् आत्मानं न जानन्ति इति।।१३५।। किं च वार्धके मान्मथा विकारा लोकदृष्ट्याऽप्यनुचिता इत्याह—अहो! तेऽपीति त्रिभिः। ते पामरा अपि वृद्धाः सन्तः वृद्धां नेच्छन्ति। तथा च अहमपि वृद्धो, दारा अपि वृद्धाः, शुष्ककाष्ठसमत्वादिभ्यः। पयोधरयोः स्पष्टत्वम् उन्नतत्वम्, तदभावात्। इति द्वयोरर्थः।।१३६-१३७।। अपत्येति। तथाऽपत्यैः पीतं सर्वस्वं ययोस्तौ तथा, हता उद्वेजिता दृष्टिर्याभ्यां तौ तथाविधौ पयोधरौ येषां दाराणां ते तथा, तेषु मे मनः स्विद् इति वितर्के किं किमर्थं प्रवर्तत इति चित्रम् इति सम्बन्धः।।१३८।।

अहो! संमोहवश मैं नारीरूप नरकभूमियों में वैसे ही गिरा-उठा जैसे भूतों से आविष्ट लोग करते हैं।।१३१।। अत्यंत आश्चर्य है! मेरे हृदयमें ज्योतियों की शाश्वत ज्योति, अद्वय, परमानंद रूप यह आत्मा हमेशा रहता है। अपने में स्थित, सदा सर्वाधिक प्रिय, हितकारी, सभी जन्तुओं के माता-पिता इस आनंदरूप आत्मा को छोड़कर सुख चाहकर मैं नारीरूप नरक में पहुँच गया!।।१३२-१३३।। अपने माता-पिता की हत्या करने वाला भी कोई मुझसे अधिक पापी नहीं होगा क्योंकि मैंने तो उपेक्षा कर इस सर्वात्मा की ही हत्या कर रखी है। (महान् व्यक्ति की अवज्ञा ही हत्यातुल्य होती है। आत्मा सबसे महान् है। किं च आत्मा के बारे में गलतफहमी को व्यास आदि ने भी सभी पापों का संपिंडितरूप बताया है।) मैं तो पामरों से—लौकिक, मूर्खों से—भी अपकृष्ट हूँ क्योंकि अद्वय आत्मा को जानते हुए भी बहिर्मुखी हो गया; वे बेचारे तो उस प्रभु को जानते नहीं।।१३४-१३५।। अहो! वे पामर भी वृद्ध होने पर वृद्ध स्त्री के प्रति कामुक नहीं रह जाते जबकि मैं यहाँ बुड्ढा हो गया हूँ, बुढौती ने बेबस कर दिया है, मेरी पत्नियाँ भी मेरी तरह वृद्ध हैं, सूखी लकड़ी जैसी हो गयी हैं, इनके पेट ढोल-से बेढंगे हो गये हैं, स्तन भी झूल गये हैं, स्तनों का सर्वस्व तो बच्चे पी चुके, अब दीखने पर वे बुरे ही लगते हैं; लेकिन अब भी मेरा मन इनमें क्योंकर रमता है यह एक आश्चर्यमय रहस्य ही है।।१३६-१३८।।

---

१. 'किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा। योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।।' इति व्यासवचो वार्तिके (२.४.२५३) निर्दिष्टम्।

सम्प्रदायो महान् मत्तो जातो वेदचतुष्टये। शिष्याः प्रशिष्यास्तच्छिष्या यतो मे सन्ति कोटिशः१४०

तेषु जातेष्वपि मया न त्यक्तं गृहबन्धनम्। इति सञ्चिन्त्य मे जाये वर्तेते यद्वनेऽधुना।।
स्निग्धे मयि तयोर्मोहाद् दाहो मद्वर्जनाद् भवेत्।।१४१।।

ततोऽहमनयोः कञ्चित् कालं दत्वा सुखं ततः। स्वकार्यं साधयिष्यामि ह्युपकारकृते सति।।१४२।।

कालः कश्चित् मया नीत एवमेव तथा परः। एतयोर्यदि नापत्यमुत्पाद्याहमितो गतः।। मद्वियोगात्तदा नूनमुद्विग्ने ते भविष्यतः।।१४३।।

ततस्तयोरपत्यानि शीघ्रमुत्पादयाम्यहम्। उत्पन्नेषु च पुत्रेषु नयामि कालमात्मनः।।१४४।।

जातकर्मादिसंस्कारान् करिष्ये तनयेष्वहम्। कृतेषु तेषु चैवाहं कृतवानायुषो व्ययम्।।१४५।।

एवं विद्यां प्रदास्यामि तनयेभ्यो मयि स्थिताम्। जातविद्येषु दाराणां संयोगो भवतान्मम।।१४६।।

तनयानां सुतास्तद्वत् पतिभिर्यान्तु सङ्गमम्। द्वन्द्वी भावे प्रजायास्तु तत्प्रजां द्रष्टुमुद्यतः।।१४७।।

किं च गुरोराज्ञापूर्तावपि मम गृहरागसन्ततिरूपोऽनर्थः सङ्गस्यैव फलमित्याह—अहो भगवत इति दशभिः। अहो! इति विषादे। 'अहो धिगर्थे शोके च करुणार्थविषादयोः' इति हेमचन्द्रः। तथा च गुरोः आज्ञा अपत्योत्पादन-सम्प्रदायप्रवर्तनयोः एव अभूद्, मया तु अधिकः कालक्षेपः कृत इति विषाद इति भावः।।१३६।। विषादमेव विशदयति—सम्प्रदाय इत्यादिना। तत्र सम्प्रदायो नानाशिष्यादिपरम्परारूपो मत्तो जात इति।।१४०।। तेष्विति। तेषु शिष्यादिषु जातेष्वपि इति सञ्चिन्त्य मया गृहरूपं बन्धनं न त्यक्तम्। 'इति' किम्? मदीये भार्ये वने वर्तेते, अधुना त्यागे तु तयोर्मद्वर्जनाद् मद्वियोगाद् दाहो भवेद् इति।।१४१।। तत इति। भार्ययोर्वियोगाऽसहिष्णुत्वाद् अनयोः भार्ययोः।।१४२।। काल इति। परः तदुत्तरः कश्चित् कालः एवमेव एवंविधविचारेणैव मया नीतः। 'एवं' कथम्? इत्याकाङ्क्षायामाह—एतयोरित्यादि। एतयोः भार्ययोः। इतो गृहाश्रमाद् उद्विग्ने तप्ते।।१४३।। तत इति। नयामि अतिवाहयामि।।१४४।। जातेति। तेषु तनयसंस्कारेषु।।१४५।। एवमिति। एवम् इति मया चिन्तितम्। 'इति' किम्? तनयेभ्यः स्वगतां विद्यां दास्यामीति। तनयेषु जातविद्येषु इति चिन्तितं यत् तनयानां दारसंयोगो भवतात्। तथा सुताः कन्यकाः पतिभिः सङ्गमं यान्तु इति। प्रजाया अपत्यानां द्वन्द्वी भावे परिणये जातेऽपि तत्प्रजां पौत्रादिरूपां द्रष्टुम् अहम् उद्यतः। इति द्वयोरर्थः।।१४६-१४७।। अहमिति। अहं-पदं पूर्वान्वयित्वेन दर्शितम्। एवं स्थिते। एवं

बड़े विषाद की बात है कि मंडलवर्ती मेरे गुरु उन भगवान् आदित्य की मुझे आज्ञा हुई थी पुत्रोत्पादन और सम्प्रदाय चलाने के लिये (किन्तु उसके बाद भी मैं संसार में ही समय बिताता रहा)।।१३६।। चारों वेदों का महान् संप्रदाय मुझसे प्रवृत्त हुआ। करोड़ों की संख्या में मेरे शिष्य, प्रशिष्य और उनके भी शिष्य हो गये हैं। इतने शिष्य हो जाने पर भी मैंने अपने घर का बंधन नहीं छोड़ा क्योंकि मैं यों सोचता रहा : मेरी प्रिय पत्नियाँ यहाँ वनमें रहती हैं, मैं इन्हें छोड़ जाऊँगा तो मेरे प्रति अपने मोह से इन्हें मेरे बिना दुःख होगा। इसलिये मैं इन्हें कुछ समय सुख देकर प्रत्युपकार कर लूँ, बाद में अपने कल्याण का कार्य संपन्न कर लूँगा।।१४०-१४२।। कुछ समय तो मैंने यों बिता दिया। उसके बाद मैंने सोचा कि यदि इनसे सन्तान पैदा किये बिना मैं चला गया तो मेरे वियोगसे ये अवश्य सन्तप्त रहेंगी। इसलिये जल्दी ही मैं सन्तान पैदा कर लेता हूँ, पुत्र उत्पन्न हो जायेंगे तब अपना समय कर्मत्यागपूर्वक आत्मचिंतनमें लगाऊँगा।।१४३-१४४।। पुत्र उत्पन्न हुए तो मैंने सोचा इनमें जातकर्म आदि संस्कार तो कर ही दूँ! यों मैंने आयु बिता दी।।१४५।। उनके संस्कार हो गये तो मैंने सोचा जो मेरे पास विद्या है वह इन्हें सिखा दूँ। फिर सोचा कि मेरे सामने ही इनके विवाह हो जायें। लड़कों की तरह लड़कियों के विवाहों के प्रयासों में लगा रहा। सब बच्चे ब्याह गये तो नाती-पोते देखने की इच्छा हो गयी!।।१४६-१४७।।

अहमेवं स्थिते चित्तं मम धावति दुर्धियः। अहो! पापतमः सङ्गश्चतुर्थाश्रमगामिनाम्। मादृशोऽपि यतः सङ्गात् प्रापितोऽत्र दशामिमाम्।।१४८।।

करामलकवद् यस्य प्रत्यक्षं ब्रह्म वर्तते। सङ्गस्तेनापि कर्तव्यो न केनाऽपीह कर्हिचित्।।१४९।।

विशेषतस्तु नारीणां युवतीनां ततोऽपि च। मूर्तिमानेष नरको द्विपाद् योषिदितीरितः।।१५०।।

बलिष्ठो नरकस्तद्वद् युवतिः [1]पतितोऽत्र यः। उद्धर्तुं स्वं न शक्तः स्याद् विद्वानपि समाहितः।।१५१

निदर्शनमहं तेषां भाविनां विदुषामिह। युवत्या नरकाद्यस्मादुद्धर्तुं स्वं न हि क्षमः।।१५२।।

अहो! निष्पन्नयोगोऽपि सङ्गात् पतति निश्चितम्। अहमेतादृशो विद्वान् नरकेऽत्र यतः स्थितः।।१५३

नरकग्राममार्गोऽयं नारीदेहः प्रकीर्तितः। सर्वथा[2] परिवर्ज्योऽतो मोक्षमार्गं यियासता।।१५४।।

चतुर्थाश्रममार्गेण गच्छतामिदमेव हि। महद् भयं समुद्दिष्टं नारीदेहसमुद्भवम्।।१५५।।

न सर्पाद् व्याघ्रतो नैव चोरेभ्यो न च राजतः। न जलाद् न विषाद् नाग्नेर्नाधेर्व्याधेश्च विद्यते।।१५६

देवेभ्यो न च भूतेभ्यो भयं किञ्चिदुपाव्रजेत्। चतुर्थाश्रममार्गेण गच्छतामधिकारिणाम्। विहाय योषितस्तद्वद् युवतीश्च विशेषतः।।१५७।।

कामादिदोषमयतया स्थिते निश्चिते संसारे यद् मम मनो धावति तत इति निश्चितम् यत् सङ्गः पापतमः अतिपापनिदानम्, यतीनां तु विशेषतः स तथा यतो मादृशो विद्वान् ईदृशदशां गत इति सम्बन्धः।।१४८।।

सङ्गदोषानेव प्रपञ्चयति—करेत्यादिना 'इत्यादि बहुधा' (१७३) इत्यतः पूर्वतनेन ग्रन्थेन। स्पष्टम्।।१४९।। विशेषत इति। नारीणां तत्रापि युवतीनां सङ्गस्तु विशेषतो वर्ज्यः यतो द्विपात् पादद्वयसंचारी नरकः अयम् या योषिदिति।।१५०।। बलिष्ठ इति। युवतिरूपो नरको बलिष्ठोऽतिबलवान्। अत्र युवतिरूपनरके यः पतितः स स्वम् आत्मानम् उद्धर्तुं न शक्नोति, तत्र अहम् एव दृष्टान्तः। इति द्वयोरर्थः।।१५१-१५२।। अहो! इति। निष्पन्नयोगो योगारूढः। अत्र नारीरूपे।।१५३।। नरकेति। नरकरूपग्रामस्य मार्गः। यियासता गन्तुमिच्छता।।१५४।। चतुर्थेति। संन्यासमार्गेण मोक्षं गच्छतां मार्गमध्ये नारीदेहत एव भयं, न सर्पादिभ्य इति त्रयाणां भावः।।१५५-१५७।।

क्योंकि कामना, प्रवृत्ति आदि की यह पूर्वोक्त ढंग की प्रकृति है और मुझ कुबुद्धि का चित्त भी इसी ओर दौड़ता रहा है इसलिये यह निश्चित है कि चौथे आश्रममें जाने वालों के लिये संग ही सर्वाधिक पाप है। मुझ जैसा जानकार भी इसी संग के कारण इस दुर्दशा को प्राप्त हो गया।।१४८।। जिसे ब्रह्म हाथमें रखे आँवले-सा प्रत्यक्ष हो उसे भी कभी किसीसे संग नहीं करना चाहिये।।१४९।। खासकर पुरुषों को नारियों का, उनमें भी युवतियों का संग सर्वथा नहीं करना चाहिये। स्त्री तो दो पैरों पर चलने वाला मूर्तिमान् नरक ही कहा गया है।।१५०।। युवतीरूप नरक अतिबलवान् है। समाहित विद्वान् भी यदि उस नरक में पड़ जाये तो अपना उद्धार नहीं कर सकता। भविष्यके विद्वानों के लिये मैं याज्ञवल्क्य ही इसमें स्फुट दृष्टान्त बन गया हूँ क्योंकि युवतीरूप नरकसे अपना उद्धार करने में अक्षम रहा।।१५१-१५२।। यह निश्चित है कि योगारूढ विद्वान् भी संगके कारण पतित हो जाता है क्योंकि मैं ऐसा जानकार रहते हुए इस नारीरूप नरकमें पड़ा हूँ।।१५३।। जो मोक्षके मार्ग पर चलना चाहे उसे नारी शरीर से हर तरह बचना चाहिये क्योंकि यह नरक नामक गाँव का ही रास्ता है।।१५४।। संन्यासरूप मार्ग से मोक्षकी ओर जाने वालों के लिये सबसे बड़ा भय यही है जो नारीदेह से उत्पन्न होता है। साँप, बाघ, चोर, राजा, जल, जहर, आग, मानसिक रोग, शारीर रोग, देवता, भूत इत्यादि से उन्हें डरने की कोई ज़रूरत नहीं जो अधिकारी संन्यास द्वारा मोक्ष पाने की कोशिश में लगे हैं। स्त्री और खासकर युवतियों को छोड़ अन्य किसी से उन्हें डर नहीं है।।१५५-१५७।।

---

१. आसक्त इत्यर्थः। २. सर्वथा—दर्शनस्मरणभाषणादिव्यवहारमात्रं न कुर्यादित्यर्थः।

स्मरणाज्जायते कामो वधूनां धैर्यनाशनः। दर्शनाद् वचनात् स्पर्शात् कस्मादेष न सम्भवेत्।।१५८।।

आत्मनः क्षेममन्विच्छंश्चतुर्थाश्रममागतः। न कुर्याद् योषितां सङ्गं मनसा वपुषेन्द्रियैः।।१५९।।

विलीयते घृतं यद्वद् अग्नेः संसर्गतस्तथा। नारीसंसर्गतः पुंसो धैर्यं नश्यति सर्वथा।।१६०।।

एक एव प्रतीकारो नारीसर्पविषे भुवि। आसामस्मरणं तद्वद् दर्शनादेश्च वर्जनम्।।१६१।।

तच्च सङ्गवताऽशक्यं मया निवसताऽत्र हि। ततः सर्वात्मना नारीसङ्गं त्यक्ष्याम्यहं सदा।।
विनङ्क्ष्याम्यन्यथा सङ्गाद् देहान्तरसमाप्तितः।।१६२।।

वासना यत्र यस्य स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति। स्वप्नवद् मरणे ज्ञेयं वासनातो वपुर्नृणाम्।।१६३।।

कामिनां कामिनीनां च सङ्गात् कामी भवेत् पुमान्। देहान्तरे ततः क्रोधी लोभी मोही च जायते१६४

निष्कामलभ्यस्य मोक्षस्य मार्गे नारीप्रयुक्तं भयमिदमेव यत् स्मरणादिना कामादिवृत्तिजननमित्याह—स्मरणादिति। यदा वधूनां स्मरणाद् अपि कामो जायते तदा दर्शनादेः किमु वाच्यमित्यर्थः।।१५८।। आत्मन इति। यतिः शुभमिच्छन् मनआदिभिः योषित्सङ्गं न कुर्यात्, तत्संसर्गस्य घृताग्निसंसर्गवद् द्रावकत्वाद्। इति द्वयोरर्थः।।१५९-१६०।। एक एवेति। नारीरूपसर्पस्य विषे प्रसक्ते, एकमेवौषधं यद् नारीस्मरणादिवर्जनमिति।।१६१।। तच्चेति। तच्च नारीस्मरणादिवर्जनं मयाऽत्र गृहाश्रमे वसता त्यक्तुम् अशक्यम् अतः संन्यसिष्यामि, अन्यथा सङ्गाऽत्यागे देहान्तरलाभद्वारा विनङ्क्ष्यामि इत्यर्थः।।१६२।। सङ्गस्य देहान्तरहेतुत्वं कामद्वारकं विशदयति—वासनेति द्वाभ्याम्। वासना पूर्वकर्मानुभवजन्यः संस्कारः स कामिनां देहान्तरहेतुः स्वप्नवदिति। परलोकस्य स्वप्नसाम्यं च प्रपंचितं षष्ठे (श्लो.८३५ इत्यादि)। स च कामः कामिनीनां सङ्गात् जायते स्वसंस्कारद्वारा देहान्तरे रागद्वेषादिसन्ततिं च करोति, ततः पुनर्जन्मान्तरबीजोद्भवः। तदुक्तं 'क्लेशसलिलावसिक्तायां चित्तभूमौ धर्माधर्मावङ्कुरं जनयत' इति। इति द्वयोर्भावः।।१६३-१६४।। कामादीनां तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धद्वाराऽपि संसारहेतुत्वमित्याह — कामेति।

स्त्रियाँ याद आने से ही ऐसी कामना उत्पन्न होती है जो अधीर कर देती है तो उनके दर्शन, वार्तालाप और स्पर्श से कामना न पैदा हो यह कैसे संभव है?।।१५८।। जिसने चौथा आश्रम ग्रहण कर लिया हो वह यदि अपना कल्याण चाहे तो उसे मन, शरीर और नेत्रादि इंद्रियों से स्त्रियों का संग नहीं करना चाहिये। जैसे आगकी निकटता से घी पिघल जाता है वैसे ही नारी के संसर्ग से पुरुषका धैर्य पूरी तरह नष्ट हो जाता है।।१५९-१६०।। संसार में नारीरूप सर्प के विष से बचने का एक ही तरीका है कि इन्हें देखने आदिका कोई व्यवहार न करे और इन्हें याद न करे। (जो बचपनसे संन्यास लेने तक दीखी हों उनके स्मरण की संभावना है, उन्हें याद न करे। ऐसे ही पत्र-पत्रिकादि में चित्र, वर्णन, कथानक आदि न देखे-पढ़े ताकि अन्यान्य सच्ची-झूठी स्त्रियों के रूपादि का संस्कार पड़े।)।।१६१।।

संगवान् रहते हुए मैं यहाँ निवास करता रहूँगा तो यह संभव नहीं कि इनका दर्शनादि न करूँ। इसलिये अब सदा के लिये नारीसंग पूरी तरह छोड़ दूँगा क्योंकि ऐसा न किया तो संगके कारण देहान्तर पाकर अपना विनाश ही करने वाला बनूँगा।।१६२।। जिसे जिस विषयकी वासना होती है वह सपने में वैसा ही विषय देखता है। सपने की तरह ही मरते समय भी वासनानुसार ही वह शरीर लोगों को प्रतीत होता है जो मरने के बाद मिलना है।।१६३।। कामियों और कामिनियों के संग से पुरुष कामी बन जाता है। कामना वाला होने से क्रोधी, लोभी और मोही भी अवश्य होता है।।१६४।। काम-क्रोधादि के संसर्ग से मन अशुद्ध हो जाता है। उत्पन्न हुआ ज्ञान भी अशुद्ध मन में ठहर नहीं पाता, समाप्त हो जाता है, तो अशुद्ध मनमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता इसमें क्या संदेह है! मन शुद्ध हुए बिना आत्मानुभव

कामक्रोधादिसंसर्गाद् अशुद्धं जायते मनः। अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं तच्च विनश्यति। दूरापास्तो भवेत्तत्र तस्योत्पादोऽत्र दुर्लभः।।१६५।।

कामक्रोधादिसंसक्तो ब्रह्मज्ञानविवर्जितः। मार्गद्वयपरिभ्रष्टः तृतीयं मार्गमाव्रजेत्।।१६६।।

तृतीयेऽध्वनि सम्प्राप्तः पुण्यविद्याविवर्जितः। कीटादिदेहभाजी सन् नरकाच्च न निःसरेत्।।१६७।।

कामिनां कामिनीनां च सङ्गादेवं समाव्रजेत्। कल्पकोट्यादिकं कालं दुःखं सुखविवर्जितः।।१६८।।

कामिनीनां यथा सङ्गो दुःखदः कामिनामपि। तथैव वर्णयन्ते ते यतः कामं च कामिनीम्।।१६९।।

वर्णनाच्छब्दसामर्थ्याज्ज्ञानं नारीषु जायते। ज्ञानेन चित्तगृहगा योषिदग्निर्दहेदिदम्।।१७०।।

श्रेयस्कामस्ततो नित्यं चतुर्थाश्रममागतः। कामिनां कामिनीनां च सङ्गं सर्वात्मना त्यजेत्।।१७१।।

कामादिसम्बन्धात् मनोऽशुद्धं जायते। अशुद्धे च मनसि जातमपि[1] ज्ञानं विनश्यति प्रतिबन्धात् कार्यकरं न भवति। तत्र अशुद्धे मनसि तस्य ज्ञानस्य उत्पादः तु दूरापास्तो दूराद् निरस्तः अत एव दुर्लभ इति।।१६५।। ततः किम्? अत आह—कामेति। कामादिमान् ब्रह्मज्ञानाद् उपासनाकर्मलक्षणमार्गद्वयाच्च परिभ्रष्टः संस्तृतीयं मार्गं 'जायस्व म्रियस्व' इत्यादिश्रुत्युक्तं (छां.५.१०.८) प्राप्नुयादिति।।१६६।। तृतीय इति। स्पष्टम्।।१६७।।

कामिनीसङ्गवत् कामिसङ्गोऽपि परित्याज्य उक्तविधदुःखहेतुत्वादित्याह—कामिनामिति। एवम् उक्तविधया।।१६८।। तत्र कामिसङ्गस्य दुःखजनने द्वारमाह—कामिनीनामिति द्वाभ्याम्। तथैव कामिनां सङ्गोऽपि दुःखदो यतः ते कामिनः कामादिकं वर्णयन्ति, तद्वर्णनाच्च नारीविषयं ज्ञानं जायते यतः 'अत्यन्ताऽसत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि' (श्लो.वा. चोदना.६) इति शब्दसामर्थ्यं प्रसिद्धमस्ति। तेन ज्ञानेन च मनोरूपे गृहे कल्पिता योषिद् अग्निवद् दहेत् तापयेद्। इति द्वयोरर्थः।।१६९-१७०।। फलितमाह—श्रेयस्काम इति। स्पष्टम्।।१७१।। तत्र

दुर्लभ है।।१६५।। काम-क्रोध आदि में ही लगा रहने वाला ब्रह्मज्ञान से वंचित ही रहेगा और उपासना व कर्म के मार्गों से भी भ्रष्ट होकर 'मरो-जिओ' के तीसरे रास्ते पर ही भटकता रहेगा। तीसरे रास्ते पर भी यह पुण्य और विद्या (=उपासनाबल) से रहित ही पहुँचेगा अतः कीट आदि देह पायेगा जिस नरक से शीघ्र निकल नहीं सकेगा। (पुण्यादि के लिये भी स्त्रीलंपटता आदि से बचना जरूरी है यह भाव है। वस्तुतः मोक्षमार्गी का प्रसंग है; वह पुण्यादि मार्ग छोड़कर विचारमार्ग पर चला है, यदि इससे भ्रष्ट हुआ तो पुण्यादि के सहारे के बिना ही पतित होगा यह अभिप्राय है। वैराग्य की साधनता के विधान में तात्पर्य है अतः जन्मान्तरीय पुण्यादि की सहायता आदि का प्रश्न नहीं उठा सकते।)१६६-१६७।।

कामियों व कामिनियों के संगके कारण ही करोड़ों कल्पों जितना काल सुखशून्य दुःखपूर्वक बिताना पड़ता है।।१६८।। जैसे कामिनियों का संग वैसे ही कामियों का संग भी दुःखद ही है क्योंकि वे काम और कामिनी का ही वर्णन करते हैं, वर्णन सुनकर नारियों के बारे में ज्ञान हो जाता है क्योंकि शब्द में सामर्थ्य है कि अज्ञात विषय का भी ज्ञान करा सकता है, और ज्ञान हो जाने पर मनोरूप घर में जो कल्पित स्त्री होती है वह मन को सन्तप्त करती रहती है। (स्थूल स्त्री तो कदाचित् दुर्व्यवहार आदि से अपने प्रति वैराग्य भी उत्पन्न करा सकती है लेकिन कल्पनालोक की स्त्री तो हमेशा मनोनुकूल ही होने से आकर्षक ही बनी रहेगी।)।।१६९-१७०।।

इसलिये जो कल्याणेच्छुक संन्यासी बन चुका उसे कामियों और कामिनियों का संग पूरी तरह हमेशा छोड़े रहना

---

१. पूर्वजन्मादिसंस्कारात्प्रतिभातमपीत्यर्थः। वस्तुतस्तु—विविक्तपदार्थो जनः श्रवणमात्राज्जानीयात् किन्तु वैराग्याभावे तत्र न निस्तिष्ठेद्येन तन्त्रश्येदित्यर्थः। उत्तरार्धे-अत्यन्ताशुद्धमनसि विवेकोऽपि न संभवति येन पदार्थज्ञानं स्यात् तदा वाक्यार्थज्ञानं नैव भवेद्-इत्युक्तम्।

महावाते ज्वलन् दीपो यथा कार्यकरो न हि। सङ्गे सति तथा ब्रह्मज्ञानं कार्यं करोति न।। विद्यमानं कथं तद्धि तत्रोत्पत्तुं समर्हति।।१७२।।

इत्यादि बहुधा चित्ते चिन्तयित्वा तदा मुनिः। इदं विचिन्तयामास पुनश्च करुणान्वितः।।१७३।।

भार्ययोरुपचिकीर्षुः

यावत्कालमयं गच्छेत् पुमान् सप्तपदं भुवि। तावत्कालं स्थितो जन्तुः सह मित्रमुदाहृतम्।। सद्भिर्बहुतिथं कालं भार्याभ्यान्तु स्थितो ह्यहम्।।१७४।।

ब्रह्मविद्याऽधिकारश्च कात्यायन्या न विद्यते। स्त्रीप्रज्ञैव यतः सेयं न जानाति हिताहितम्।।१७५।।

मयि प्रव्रजिते चिन्ताशोषमेषा गमिष्यति। वित्तेन नैव सन्तोषं मैत्रेयी तु गमिष्यति।।१७६।।

एषा संसारसन्तप्ता मोक्षमेव समिच्छति। अस्या न विद्यते कामो यौवनेऽपि कदाचन।।१७७।।

स्नेहश्च न निजेऽप्यस्ति देहे केन परत्र सः। पत्यादिषु भवेदस्या सर्वदोद्विग्नचेतसः।।१७८।।

हेतुतया उक्तां सङ्गस्य ज्ञानप्रतिबन्धकतां स्मारयति—महावात इति। यथा महति वाते ज्वलन् दीपः कार्यं मार्गप्रकाशादिरूपं न करोति, तथा सङ्गे ब्रह्मज्ञानं विद्यमानमपि कार्यम् अविद्याध्वंसनं न करोति। तत् ज्ञानं, तत्र सङ्गकाले, उत्पत्तुं जन्म लब्धुं कथम् अर्हतीति।।१७२।।

एवं त्यागस्य योग्यतां विचार्य पुनः भार्ययोः उपकारोपयोगि इदं वक्ष्यमाणं चिन्तयामासेत्याह—इत्यादीति।।१७३।। 'इदं'-पदोक्तं विचारमभिनयति—यावदिति षड्भिः। सप्तपादन्यासान् यावता कालेन गच्छेत् तावत्कालं येन सह यः स्थितः स तस्य मित्रं सद्भिः उक्तः, अहन्तु भार्याभिः सह चिरं स्थितः अस्मीति सम्बन्धः।।१७४।। ब्रह्मेति। स्त्रीप्रज्ञा स्त्रीयोग्या प्रज्ञा गृहकौशलरूपा यस्याः सा तथा। हिताहितं मोक्षबन्धरूपम्।।१७५।। मयीति। एषा मैत्रेयी मयि प्रव्रजिते सति चिन्तया शोषं गमिष्यति इति संभाव्यते; वित्तेन तु तोषं नैव गमिष्यति, संसारविरक्तत्वात्, तत्त्वं च संसारदोषदर्शनेन मोक्षैककामत्वाद्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१७६-१७७।। स्नेहश्चेति। अस्या मैत्रेय्या यदा निजेऽपि शरीरे स्नेहो नास्ति तदा पत्यादिषु सः स्नेहः केन स्यादिति।।१७८।। अनुवृत्तिमिति। एषा यद् मत्सेवां करोति

चाहिये।।१७१।। तेज़ हवा चलती हो तो दीपक इतना हिलता है कि कुछ दिखा नहीं पाता। ऐसे ही आसक्ति के रहते ब्रह्मज्ञान भी कार्यकारी नहीं हो पाता। पूर्व से मौजूद ज्ञान भी जब आसक्ति के कारण कारगर नहीं रहता तो आसक्ति की उपस्थिति में ज्ञान पैदा हो कैसे सकेगा?।।१७२।।

मुनि याज्ञवल्क्य ने पूर्वोक्त ढंग से काफी विचार किया। फिर करुणायुक्त हो उन्होंने यह भी सोचा।।१७३।।

ज़मीन पर सात कदम चलने में जितनी देर लगती है उतनी देर जो व्यक्ति साथ रह जाये उसे सज्जनों ने 'मित्र' माना है। मैं तो इन दोनों पत्नियों के साथ बहुत लंबे समय से रह रहा हूँ!।।१७४।। इनमें कात्यायनी ब्रह्मज्ञान की अधिकारिणी नहीं है। स्त्रियों के लिये उचित घर के रख-रखाव की जानकारी ही उसे है, मोक्ष-बंधन आदि सूक्ष्म हित-अहित वह समझती नहीं है।।१७५।। मैं संन्यासी बन जाऊँगा तो यह मैत्रेयी चिन्ता से सूखती जायेगी क्योंकि इसे धन से संतोष होगा नहीं। यह संसार से विरक्त है, इसे दुःख समझती है और केवल मोक्ष चाहती है। जवानी में भी यह विषयकामुक नहीं थी। इसे अपने शरीर पर भी कोई स्नेह नहीं तो पति आदि अन्यों से क्या स्नेह होना है! इसका चित्त तो सदा उद्विग्न ही रहा, बंधमोक्ष की चिंता ही करता रहा।।१७६-१७८।। यह जो मेरी सेवा करती है वह भी धर्म के डर से,

अनुवृत्तिं करोत्येषा मयि धर्मविभीतितः। न तु कामेन ललना पत्यौ यद्वत् परा भुवि। अथ वक्ष्यामि तेनाऽहं ब्रह्मज्ञानमनिन्दितम्।।१७९।।

वित्तविभागाय प्रतिजानीते

इति संचिन्त्य संन्यासं करिष्यन्निदमुक्तवान्। मैत्रेयीति च सम्बोध्य मैत्रेयीं मुनिसत्तमः।।१८०।।

अरे जाये प्रिये न्यासं चतुर्थं योग्यमाश्रमम्। करिष्याम्यहमत्र त्वं गृहस्थत्वं विहाय हि।।१८१।।

हन्त जाये ततः कुर्वे वित्तभागं तवाधुना। कात्यायन्याऽनया सार्द्धं पश्चात् सुखकरं द्वयोः।।१८२।

एवमुक्ताऽतिसङ्खिन्ना संसारभरमन्थरा। अप्राप्तावसरा पूर्वं सा होवाच पतिं प्रति।।१८३।।

धनादमरताप्रश्नः

भगवन्! वित्तमिच्छामि मरणेन विवर्जितम्। त्वया दत्तं न चान्यत्तु लोके यद् मरणप्रदम्।।१८४

तद् धर्मभयाद्, न तु लौकिकललनावत् कामतः। तेन अस्या ज्ञानाधिकारित्वेन अथ संन्यासात् प्रथमं ब्रह्मज्ञानम् अस्यै उपदेक्ष्यामि इत्यर्थः।।१७९।।

प्रथमकण्डिकार्थमुपसंहरन् द्वितीयकण्डिकार्थमुपक्रमते[1]—इति संचिन्त्येति। भविष्यत्संन्यासकर्ता मुनिः मैत्रेयीं हे मैत्रेयि! इति सम्बोध्य इदं वाक्यम् उक्तवानिति।।१८०।। 'इदं' किम्? इत्याकांक्षायामाह—अरे! इति। अरे! प्रिये! अहं गृहस्थत्वं विहाय चतुर्थमाश्रमं करिष्यामि अत्र त्वम् 'अनुमन्यस्व' इति शेषः। 'अत्रत्यम्' इति पाठे गृहस्थत्वविशेषणम्, अत्र कर्माधिकारे सति भवं प्रसिद्धमिति तदर्थः।।१८१।। हन्तेति। हन्त इत्यनुकम्पायाम्। कात्यायन्या सह तव वित्तविभागं करिष्यामि येन पश्चात् सुखं भवेदिति।।१८२।।

तृतीयकण्डिकार्थं[2] प्रपंचयति—एवमिति द्वाविंशतिश्लोकैः। एवमुक्ता संसाराद् भारादिव अत्यन्तम् उद्विग्ना मैत्रेयी पूर्वम् अलब्धावसराऽप्यवसरं प्राप्य इदम् उवाच इति।।१८३।। 'इदं'-पदोक्तं मैत्रेयीवाक्यमभिनयति—

न कि कामना से, जैसे संसार में अन्य औरतें करती हैं। इसलिये अधिकार वाली होने से मैत्रेयी को निर्दुष्ट ब्रह्मज्ञान सुना कर तब संन्यास ग्रहण करुँगा।।१७९।।

यों निश्चय कर शीघ्र ही संन्यास लेने वाले श्रेष्ठ मुनि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा 'मैत्रेयी! अरे प्रिय पत्नी! अब मैं गृहस्थाश्रम छोड़कर, जैसा मेरे लिये उचित है, चौथा अर्थात् संन्यास आश्रम ग्रहण करुँगा। इसके लिये तू अनुमति दे। (गृहस्थ को भार्या की अनुमति के बिना संन्यास नहीं लेना चाहिये। कौषीतकीशाखा की श्रुति में माता, पिता, भार्या, पुत्र, मित्र, बन्धु—सभीके अनुमोदन का उल्लेख है। अतः वार्तिक में कहा है 'भार्याद्यनुज्ञापूर्वो हि संन्यासो विहितः श्रुतौ। अतोऽनुज्ञार्थमेवाह मैत्रेयीमृषिरात्मनः।।'२.४.३६)।।१८०-१८१।। क्योंकि मैं जाने वाला हूँ इसलिये इस कात्यायनी से तेरा बँटवारा कर देता हूँ, दोनों का धन अलग-अलग निश्चित कर देता हूँ ताकि बाद में तुम दोनों को आराम रहे।'।।१८२।।

मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य ने यों कहा तो वह अत्यंत उद्विग्न हुई। संसारके भार से तो वह पहले ही थकी हुई थी। पहले इस संदर्भ में कुछ कहने का उसे मौका मिला नहीं था, अब जब पति ने बात छेड़ी कि 'धन रहेगा तो सुखसे जीवन बीतेगा', तब वह याज्ञवल्क्य से कहने लगी—।।१८३।।

१. 'मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः—प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि। हन्त! तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति।।२।।' इति चतुर्थाध्याये। मधुकाण्डीये तु प्रथममेव 'मैत्रेयी' त्यादिनारंभः। 'प्रव्रजिष्यन्' इत्यत्र 'उद्यास्यन्' इति तत्र श्रुतम्। २. 'सा होवाच मैत्रेयी—यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्याद् स्याम् न्वहं तेनामृताऽऽहो ३. नेति ?—'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितँ स्याद्, अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेनेति।।३।।'

पृथिवी सकला चेत् स्यात् पूर्णा वित्तेन मे मुने। त्वया दत्ताऽत्र तेनाऽहम् अमृता स्यां न वेति तत्। वद पश्चादहं त्वत्तो वित्तमिच्छामि धार्मिक!।।१८५।

नेतितदुत्तरम्

इत्युक्ते याज्ञवल्क्यस्तां नेत्याह मुनिसत्तमः। शरीरी कोऽत्र वित्तेन नश्वरेणाऽविनश्वरः।। भवेत् प्रत्युत वित्तेन मरणं प्राप्नुयात् सदा।।१८६।।

वित्तवान् राजतस्तद्वत् चोरेभ्योऽपि च दुर्जनात्। राजादिभ्योऽपि सततं मृत्युमाप्नोति दुःखतः।।१८७।।

वित्तवान् को हि लोकेऽस्मिन् निश्चिन्तः कुत्रचिद् वसेत्। अपि स्वप्नेऽपि तस्यास्ति भयं राजादिजं महत्।।१८८।।

निर्धनानां सदा दैवमनुकूलं हि जायते। धनिनां प्रतिकूलं तत् प्रायशो भुवि दृश्यते।।१८९।।

यतोऽत्र धनिनो लोके रोगिणः क्षुद्विवर्जिताः। अल्पायुषो ह्यतृप्ताश्च धनराशौ महत्यपि।।१९०।

विरोधिनश्च सततमन्तः पुत्रादिभिर्जनैः। केचिद् बहिश्च दृश्यन्ते श्वभिः श्वानो यथा भुवि।।१९१।।

भगवान्निति **द्वाभ्याम्**। हे भगवन्! **अमृतत्वकरमेव** वित्तमिच्छामि **इत्यर्थः**।।१८४।। पृथिवीति। **यदि सकला पृथ्वी वित्तपूर्णा मदीया** स्यात् **तदा तेन वित्तेन** अहम् **अमृतभावं प्राप्ता भवेयं,** न वा? इति **अनयोः पक्षयोरेकं पक्षमवधारय** पश्चाद् अहं **योग्यतामालोच्य** वित्तं **ग्रहीष्यामि इत्यर्थः**।।१८५।।

इत्युक्त इति। इति **मैत्रेय्या उक्ते सति मुनिर्द्वितीयं पक्षं नेति-आकारकमेव अवधारितवान् इति प्रथमदलार्थः**। **तमुपपादयति**—शरीरीत्यादिना। नश्वरेण **नाशशीलेन** वित्तेन कः शरीरी अविनश्वरः **अमृतः** भवेत्! प्रत्युत वित्तेन **तत्साध्येन कर्मणा च मरणम्** एव प्राप्नुयाद् **इत्यर्थः**।।१८६।। तत्र **वित्तस्य मृत्युभयप्रदत्वं लोकेऽपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयति**—वित्तवान् इत्यादिना। दुःखतः **दुःखद्वारा**।।१८७।। वित्तवान् को हीति। **स्पष्टम्**।।१८८।। **व्यतिरेकं दर्शयति**—निर्धनानामिति। अनुकूलं **नीरोगत्वादिप्रयोजकत्वाद् इति भावः**।।१८९।। **अनुकूलत्वमेव धनिषु व्यतिरेकेण स्फुटयति**—यतोऽत्रेति। **दृश्यन्त इति सम्बन्धः**।।१९०।। विरोधिन इति। अन्तः **प्रच्छन्नं** पुत्रादिभिर्विरोधिनः केचिद् **धनिनो दृश्यन्ते, केचित्तु** बहिः **स्फुटमपि** श्वभिः **श्ववद् विरोधिनो** दृश्यन्त **इत्यर्थः**।।१९१।। चित्त इति।

'हे भगवन्! आपका दिया मैं वही वित्त चाहती हूँ जो नाशरहित हो, संसार में मरण देने वाला धन मुझे नहीं चाहिये। मुने! आप सारा भूमंडल धन से भरकर मुझे प्रदान करें तो क्या मैं उससे अमृत हो जाऊँगी या नहीं ?—पहले मुझे यह बताइये। हे धार्मिक! फिर मैं योग्यता का विचारकर आपसे धन ग्रहण करूँगी।' ।।१८४-५।।

यह सुनकर मुनिवर याज्ञवल्क्य बोले—नहीं : संसार में कौन शरीरी नश्वर धन से अविनाशी बन सकता है? बल्कि धन से हमेशा मौत मिलेगी।।१८६।। सम्राट्, चोर, दुर्जन, राजा आदि सभी से धनी को दुःखपूर्वक मृत्यु ही प्राप्त होती है। ऐसा कौन धनी हो सकता है जो इस संसार में निश्चिन्त हो कहीं बस सके! उसे तो राजा आदि का महान् भय सपने में भी लगा रहता है।।१८७-८।। निर्धनों का भाग्य हमेशा उनके प्रति अनुकूल होता है जबकि पृथ्वी भर में यही दीखता है कि धनिकों का भाग्य प्रायः उनके प्रतिकूल रहता है। यह इसी से पता चल जाता है कि लोक में धनी प्रायः रोगी होते हैं, उन्हें भूख लगती नहीं, उनकी आयु भी कम रहती है और महान् धनराशि पास होने पर भी अतृप्त बने रहते हैं। कुछ धनिकों का अपने पुत्रादि से भीतर-ही-भीतर विरोध चलता रहता है और कुछ सबके सामने

चित्ते व्याकुलता तेषां [1]कर्तव्यासक्तचेतसाम्। वर्तते नैव गच्छन्ति यथा ते सुखमण्वपि।।१६२।

नैतैः कुर्वन्ति सततं साधवः स्नेहमद्भुतम्। धनहीनैर्यथा शोच्यैर्नित्यं क्षुत्क्षामदेहिभिः।।१६३।।

[2]धनमत्ताः प्रकुर्वन्ति पापानि विविधानि हि। दरिद्राः सर्वतो भीता नैव कुर्वन्ति किञ्चन।।१६४।।

अवजानन्ति धनिनो देवान् राज्ञो गुरूनपि। अतिथीन् ब्राह्मणांस्तद्वद् वेदवेदाङ्गपारगान्। मनुजान् बुद्धिसम्पन्नान् अगाधान् जलधीनिव।।१६५।।

दुःखान्यपि बहून्येते गच्छन्त्यविरतं जनाः। पक्षद्वयेऽपि मैत्रेयि! भूतोपद्रवकारकाः।।१६६।।

इत्यादिकं धनी दुःखं प्राप्नुयाद् निर्धनो न तत्। शक्त्यभावेन मैत्रेयि! धनिनो निर्धनो वरः।।१६७

धनिनां जीवितं यादृक् तादृगेव तवाऽपि च। धनलाभाद्धि मैत्रेयि! भविष्यति न संशयः।।१६८।।

वित्तासक्तेषु पतिषु चलचित्तेषु सर्वदा। अमृतत्वस्य नैवाशा यथा तेऽपि तथैव सा।।१६९।।

तेषां धनिनाम् 'इदं कर्तव्यम् इदं न कर्तव्यम्' इति चिन्तया तथा व्याकुलता वर्तते यथा अणु स्वल्पमपि सुखं न गच्छेयुः इत्यर्थः।।१६२।। नैतैरिति। किं च साधवो जना यथा निर्धनैः स्नेहं कुर्वन्ति तथैतैः धनिभिः स्नेहं न कुर्वन्ति इति सम्बन्धः। कीदृशैर्निर्धनैः? शोच्यैः अनुग्राह्यैः क्षुधया कृशत्वात्।।१६३।। धनेति। तथा धनिनो धनमदेन पापानि कुर्वन्ति, दरिद्राः तु न तथेति।।१६४।। अवेति। तथा धनिनो देवादीन् वेदपारगब्राह्मणान्तान् अवजानन्ति, तथा समुद्रवद् गम्भीरान् ब्रह्मविदुषो मनुष्यान् अप्यवजानन्तीति।।१६५।। दुःखान्यपीति। तथा एते धनिनो जना बहूनि दुःखानि अपि गच्छन्ति। कीदृशाः? स्वपक्षे परपक्षे च वर्तमानानां भूतानाम् उपद्रवकारकाः। तदुक्तं गीतासु 'कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतनाः [तसः ?]। मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।'। (१७.६) इति। कर्षयन्तः क्लेशयन्तः।।१६६।। इत्यादिकमिति। इत्यादिकं दुःखं धनी प्राप्नुयाद् न तु निर्धनः, परदुःखजननादौ सामर्थ्याभावाद् अतो निर्धनो धनिनः सकाशाद् वर इति।।१६७।। धनिनामिति। हे मैत्रेयि! यदि त्वं धनं लप्स्यसि तदा यादृशं प्रकृष्टोपकरणशालि धनिनां जीवनं स्यात् तादृशं तवाऽपि भविष्यति इति।।१६८।। वित्तासक्तेष्विति। पतिषु धनस्य स्वामिषु तदासक्त्या चलचित्तेषु अमृतत्वस्य यथा नैवाशा तथा तवापि धनसक्तायाः सा अमृतत्वाशा न भविष्यतीति।।१६९।।

भी झगड़ते रहते हैं जैसे कुत्तों से कुत्ते लड़ते रहते हैं। धनिकों का चित्त व्याकुल रहता है क्योंकि हमेशा सोचते हैं 'फायदे के लिये यह करें, वह न करें'। थोड़ा भी सुख उन्हें नहीं नसीब होता।।१८९-९२।। साधु लोग भी धनिकों पर वैसा अद्भुत स्नेह नहीं रखते जैसा उन निर्धनों पर रखते हैं जो हमेशा अनुग्रह के योग्य होते हैं, भूख से उनका शरीर दुर्बल रहता है।।१६३।। धन के नशे वाले नाना प्रकार के पाप करते हैं लेकिन दरिद्र सब तरफ से डरते रहते हैं, कोई पाप नहीं करते।।१६४।। देवता, राजा, गुरु, अतिथि, वेद-वेदांगों में पारंगत विद्वान् ब्राह्मण, अगाध समुद्र जैसे बुद्धिमान् मनुष्य—ऐसे सभी की धनी लोग अवज्ञा करने में नहीं चूकते। धनिकों को लगातार बहुतेरे दुःख भी मिलते रहते हैं। वे लोग अपने-पराये सभी लोगों के विरोध में कुछ-न-कुछ उपद्रव करते ही रहते हैं। यों धनी दुःख पाते हैं पर निर्धन उस तरह दुःखी नहीं रहते। दूसरों को भी निर्धन दुःखी नहीं करते क्योंकि इतनी उनके पास सामर्थ्य ही नहीं होती। अतः मैत्रेयी! धनी से निर्धन श्रेष्ठ है।।१६५-७।। तुझे धन मिल जायेगा तो तेरा जीवन वैसा ही हो सकता है जैसा धनिकों का होता है। वित्त में आसक्त, चंचल चित्तों वाले धनपतियों की तरह तेरे लिये भी अमृतता की कोई आशा नहीं होगी।१६८-६।

---

१. कर्तव्यं च लौकिकं धार्मिकं वा भवेत्। २. साधूनां कृपापात्रता पापहीनतानिमित्तेति दर्शयति-धनेति।

अमृतत्वं हि मोक्षः स्याद् मोक्षो देहाद्यभावतः। अज्ञानस्य विनाशः स्याद् आनन्दात्मावबोधतः२००

धनिनां चलचित्तानां भवेद् बोधः कथं हि सः। बोधाभावे कथं नाशमज्ञानं तु गमिष्यति।।२०१।।

अज्ञानानाशतः केन सूक्ष्मदेहं विनश्यति। सूक्ष्मदेहस्य संस्थाने न नश्येत् पुण्यपातकम्।।२०२।।

पुण्यपातकसंस्थाने स्थूलो देहो विजायते। सति स्थूलशरीरेऽस्मिन् सुखदुःखोपभोगवान्।।२०३।।

न मरिष्यति को नाम शरीरी योऽपि पूर्वजः। अमृतत्वस्य नैतस्माद् आशा वित्तेन विद्यते।।२०४।

मैत्रेय्या वैराग्यम्

इत्युक्ता याज्ञवल्क्येन मैत्रेयी तमभाषत। अमृतत्वस्य नैवाशा यदि वित्तेन विद्यते।
किमहन्तेन वित्तेना कुर्यां मरणहेतुना।।२०५।।

भगवंस्तत एवैतद् मा भूद् मम कदाचन। कात्यायन्यै भवत्वेतद् वित्तं ते सकलं पते।।२०६।।

भिक्षाहारेण देहं स्वम् आ निपाताद् यथा भवान्। धारयिष्यत्यहं तद्वद् धारयिष्यामि सुव्रत।।२०७।

धनिषु अमृतत्वाशाऽभावम् अमृतत्वसामग्र्यभावेन उपपादयति—अमृतत्वमिति पञ्चभिः। अमृतत्वशब्दवाच्यस्य मोक्षस्य प्रयोजको देहादिसम्बन्धाभावः, तत्प्रयोजकोऽज्ञानाभावः, अज्ञानाभावस्य तु प्रयोजक आत्मबोधः। तत्र धनासक्तेषु आत्मबोधो दुर्लभः, तदभावे अज्ञाननाशाऽभावः। इति द्वयोरर्थः।।२००-१।। अज्ञाननाशत इति। अज्ञाननाशाऽभावे च तत्कार्यसूक्ष्मदेहस्य स्थितिः, तत्स्थितौ च तदाश्रितपुण्यपापयोः स्थितिः, तत्स्थितौ च पुनः स्थूलशरीरोत्पत्तिः, तत्सत्त्वे च कर्मान्तरारम्भप्रयोजकसुखदुःखोपभोगो मरणं च इति पूर्वजः हिरण्यगर्भोऽपि शरीरी को न मरिष्यति इति फलितमाह—अमृतत्वस्येति। इति त्रयाणामर्थः।।२०२-४।।

चतुर्थकण्डिकार्थमाह[1]—इत्युक्तेति द्वाविंशतिश्लोकैः। एवम् उक्ता मैत्रेयी तं मुनिं प्रति इति अभाषत। 'इति' किम्? इत्याकांक्षायामाह—अमृतत्वस्येत्यादि। यदि वित्तं नाऽमृतत्वसाधनं तदाऽमृतत्वकामाऽहं तेन वित्तेन किं प्रयोजनं साधयेयम्, न किंचिदपीत्यर्थः।।२०५।। भगवन्निति। ततो मदिष्टासाधनत्वाद् एतद् धनं कात्यायन्यर्थमेव अस्तु, हे पते! स्वामिन्! ।।२०६।। देहधारणं तु अहं भवद्वद् भिक्षान्नेनैव करिष्यामीत्याह—भिक्षेति। आनिपाताद्

अमृतता है मोक्ष। मोक्ष होता है देहादि से सम्बन्ध न रह जाने पर जिसके लिये जरूरी है अज्ञान मिटे जो तभी हो जब आनंदरूप आत्मा का साक्षात्कार हो। वह साक्षात्कार चंचल चित्त वाले धनिकों को कैसे होगा? आत्मज्ञान हुए बिना अज्ञान कैसे नष्ट होगा? ।।२००-१।। बिना अज्ञान नष्ट हुए सूक्ष्म देह क्यों नष्ट होने लगा? सूक्ष्म देह रहते पुण्य-पाप बने ही रहेंगे जिनसे पुनः स्थूल शरीर पैदा हो जायेगा। और वह रहते सुख-दुःख का उपभोग करना ही पड़ेगा। (साथ में नये कर्म भी एकत्र हो जायेंगे)। चाहे प्रथमज हिरण्यगर्भ ही हो, शरीरधारी ऐसा कौन होगा जो मरेगा नहीं? इसलिये धन से अमरता की तो आशा भी नहीं।।२०२-४।।

मुनि के इस वर्णन को सुनकर मैत्रेयी उनसे कहने लगी—'यदि धन से अमरता की आशा नहीं तो मरणकारणभूत उस धन से मैं क्या प्रयोजन सिद्ध करूँ? हे भगवान्! क्योंकि यह मेरे इष्ट का उपाय नहीं इसलिये धन मुझे कदापि नहीं चाहिये। आपका सारा धन कात्यायनी ही पाये।।२०५-६।। जैसे आप भिक्षान्न से शरीर धारण करेंगे वैसे मैं भी मरण पर्यन्त भीख माँग कर ही गुजारा कर लूँगी। क्योंकि भिक्षा से भी जीवन-निर्वाह हो सकता है इसलिये हे मुनिश्रेष्ठ!

---

१. 'सा होवाच मैत्रेयी—येनाऽहं नाऽमृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्? यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ।।४।।'

जीवनेऽपि ततो मा भूद् मम देहस्य चिन्तनम्। भवतो मुनिशार्दूल गच्छतो ह्याश्रमान्तरम्।।२०८।।

दश मासानहं गर्भे रक्षिता येन केनचित्। देवः स एव मे चिन्तामधुनाऽपि करिष्यति।।२०९।।

अपि विप्र! यदा देहो गमिष्यति तदा मम। दुर्गन्धो दुस्तरो भार आधिव्याधिसमाकुलः।
अनेकदुःखजनको यास्यत्येष महामुने।।२१०।।

पापाद् वित्रस्तचित्ताऽहं नैवास्था मे कलेवरे। भूरिभारकरे नित्यं दोषदुःखशताकरे।।२११।।

आहारग्रहणे नित्यं प्रवृत्तास्म्यतिदुःखतः। यथा राजभटैर्जन्तुः बाध्यमानः प्रवर्तते।।२१२।

आहारग्रहणात् कामः क्रोधश्चाऽपि हि जायते। लोभो मोहस्तथा तद्वद् निद्रा तन्द्रादयोऽपि च।।
मलमूत्रविसर्गोऽपि ह्याहारादेव जायते।।२१३।।

कर्मज्ञानेन्द्रियाण्यत्र मनोदेहयुतानि च। व्यापारान् विविधान् कुर्युराहारादेव नान्यथा।।२१४।।

क्षुधैका बाधते ब्रह्मन्नाहाराग्रहणे सदा। ग्रहणे तस्य बाधन्ते कामाद्याः कोटिशत्रवः।।२१५।।

कामेन मम या ब्रह्मन् कृता दीनतमा दशा। तां त्वं वेत्थ न वक्तव्यमत्र कामकृतं तव।।२१६।।

आ मरणात्।।२०७।। जीवनेऽपीति ततो भिक्षयाऽपि निर्वाहसंभवाद् मद्देहस्य जीवने निर्वाहेऽपि भवतः चिन्ता माऽस्तु।।२०८।। जीवनचिन्ताकरणं मौढ्यमेव विश्वंभरदेवप्रभावानालोचनमूलत्वाद् इत्याशयेनाह—दशेति केनचिद् अचिन्त्यप्रभावेण येन देवेन अहं गर्भे रक्षिता स एव इदानीमपि मद्रक्षां करिष्यतीति।।२०९।। अपि च जीवनालाभेन देहापगमेऽपि न मे भयं प्रत्युत उपकारः, देहस्य भारभूतत्वादित्याह—अपि विप्रेति। दुस्तरः दुःखेन तर्तुं धारयितुं शक्य इति यावत्।।२१०।। किं च प्रवृत्तिद्वारा पापहेतावत एव दोषाणां दुःखशतानां चाकरभूते देहे ममासक्तिर्नास्तीत्याह—पापादिति।।२११।। आहारेति। या मम नित्यं भोजने प्रवृत्तिः साऽपि न रागात् किन्तु राजभटप्रेरितजन्तोरिव पारतन्त्र्याद् इत्यर्थः।।२१२।।

आहारग्रहणे दोषान् प्रपंचयति—आहारग्रहणादिति। अन्नाहरणात् कामादयो जायन्ते तथा इन्द्रियाणि च प्रवर्तन्ते। इति द्वयोरर्थः।।२१३-४।। क्षुधैकेति। भोजनाऽकरण एकं क्षुधा दुःखं, भोजने तु कामादिकृतानि बहूनि

संन्यास ग्रहण करते हुए आप मेरे शरीर के जीवन के बारे में चिंता मत कीजिये। २०७-८।। माता के गर्भ में जिस किसी देवता ने दस महीने मेरी रक्षा की वही अब भी मेरी चिन्ता कर लेगा। और यदि शरीर छूट ही जाता है तो मुझे लाभ ही है! दुर्गन्धयुक्त, जिसे धारण करना मुश्किल, आधि-व्याधि से आकुल, अनेक दुःखों का उत्पादक यह शरीर मुझसे दूर हो जायेगा।।२०९-१०।। मेरा चित्त पाप से त्रस्त है (और शरीर प्रवृत्ति द्वारा पाप का हेतु बनता ही है) अतः हमेशा सैकड़ों दोषों व दुःखों के खजाने, अत्यधिक बोझ बने इस शरीर के प्रति मुझे कोई आसक्ति नहीं है।।२११।।

मैं रोज़ भोजन भी अत्यंत दुःखपूर्वक करती हूँ जैसे राजा के सैनिकों द्वारा बलात् कोई जन्तु प्रवृत्त कराया जा रहा हो।।२१२।। आहार ग्रहण करने से काम, क्रोध, लोभ, मोह, निद्रा, तन्द्रा (अर्धनिद्रा, आलस्य) आदि पैदा होते हैं। मल-मूत्र का विसर्जन भी इसलिये करना पड़ता है कि आहार ग्रहण किया होता है।।२१३।। मन और शरीर समेत कर्म व ज्ञान की इंद्रियाँ आहार के कारण ही विविध चेष्टायें करती हैं, अन्यथा नहीं कर सकतीं।।२१४।। हे ब्रह्मदेव! भोजन न करने पर इकलौती भूख ही पीडा देती है जबकि खा लेने पर कामनादि करोड़ों शत्रु दुःख देने लगते हैं! ।।२१५।। कामना से मेरी जो अतिदीन दशा हुई है वह आप से छिपी नहीं है। कामना ने मेरे साथ जो किया वह आपको बताने

कामदुःखफलं ब्रह्मन् सद्यो नारीषु जायते। गर्भस्तस्य च तद् दुःखं धारणे मोचनेऽपि च।। नरकादपि तद् भूयो मरणाच्चाऽपि कोटिशः।।२१७।।

कामः कारस्करो वृक्षो नारीणामिह जन्मनि। ददाति कटुकं यत्तत् फलं दुःखोदधिप्रदम्। प्रत्यक्षं न नराणां तद् नारीणामिव सर्वदा।।२१८।।

तेन दुःखेन मे देहो न गतो यत् तदद्भुतम्। वज्रसारवपुः प्रायो नारी धात्रा विनिर्मिता।।२१९।।

क्रोधादीनां तु यद् दुःखं तज्जानासि स्वयं मुने। न वक्तव्यं मया तत्र सर्वज्ञस्य पुरस्तव।।२२०।

कामादिमरणाच्छ्रेयः क्षुधया मरणं मुने। एक एकेन शक्नोति योद्धुं शूरतमेन च।।२२१।।

अशूरैर्बहुभिश्चैको भटः शूरतमोऽपि च। सीदेत् सङ्ग्राममागत्य शस्त्रास्त्रकुशलोऽपि च ।।२२२।।

एकया क्षुधया कर्तुं ब्रह्मन् प्रबलयाऽपि च। शक्तास्मि कलहं दुर्गं दुर्बलाऽपि मुनीश्वर। दुर्बलैरपि कामाद्यैः बहुभिर्नोत्सहे मुने।।२२३।।

ततो वित्तं विना देहो न तिष्ठेच्चेत् कदाचन। भार एष तदा विप्र मम यास्यत्युपेक्षितः।।२२४।।

विद्याप्रार्थना

मौर्ख्येण नैव देहं स्वं त्यक्ष्यामि मुनिसत्तम। भवानिव प्राप्तलाभसन्तुष्टा जितमानसा।।२२५।।

दुःखानीत्यर्थः।।२१५।। तत्र यद् मम कामकृतं दुःखं तद् भवान् जानात्येवेत्याह—कामेनेति।।२१६।। कामदुःखेति। कामदुःखस्य फलं गर्भरूपं नारीणां सद्यो जायते। तद् दुःखं तु गर्भदुःखं तु नरकाद् मरणात् चाधिकमित्यर्थः।।२१७।। कामः कारस्कर इति। कामरूपो वर्णितकारस्करवृक्षः कटुरसं फलं यद् नारीणां दुःखदं प्रसूते तद् नारीवद् नरा न जानन्तीत्यर्थः।।२१८।। तेनेति। तेन दुःखेन मम देहावशेषोऽपि चित्रम्। अत एव उत्प्रेक्षते यद् नारीदेहो वज्रमय इत्यर्थः।।२१९।। क्रोधादीनान्त्विति। स्पष्टम्।।२२०।। कामादीति कामादिभिर्बहुभिः प्रयुक्ताद् मरणाद् एकया क्षुधया प्रयुक्तं मरणभयं श्रेष्ठं मन्ये। तत्र न्यायमाह— एक एकेनेत्यादिना। यथा एकः शूरः एकेन शूरेण योद्धुं शक्तो बहुभिः तु अशूरैः अपि सङ्ग्रामे एकः कुशलः अपि सीदेद् दुःखितो भवेद्। इति द्वयोरर्थः।।२२१-२।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एकयेति। दुर्गं दुष्करमपीत्यर्थः।।२२३।। फलितमाह—ततो वित्तमिति।।२२४।।

की जरूरत नहीं।।२१६।। कामना के दुःख का फल नारियों को तुरंत मिलता है—गर्भ। उसका धारण करने और उसे निकालने में जो दुःख होता है वह नरक से अधिक है, मरने से करोड़ों गुणा अधिक है! ।।२१७।। कामना कारस्कर का वृक्ष है। वह नारियों को इसी जन्म में जो कडुवा और दुःखका समुद्र प्रदान करने वाला फल देता है वह जैसा नारियों को हमेशा प्रत्यक्ष है वैसा पुरुषों को हो नहीं सकता।।२१८।। उस दुःख से मेरा शरीर अब तक छूट नहीं गया यही एक आश्चर्य है! लोग ठीक ही कहते हैं कि विधाता ने नारी ऐसी बनायी है कि उसका शरीर लगभग वज्र का बना हुआ है।।२१९।। हे मुनि! क्रोधादि के दुःख से तो आप भी परिचित हैं। आप सर्वज्ञ हैं, आप से उस बारे में क्या कहूँ?।।२२०।। कामना आदि बहुतेरों की मार से मरने की अपेक्षा एक भूख से मरना बेहतर है। एक योद्धा एक अत्यंत शूरवीर से भी लड़ सकता है जबकि शस्त्र-अस्त्र चलाने में कुशल शूरतम योद्धा भी यदि अकेला हो और उसे संग्राम में बहुतेरे गैर-शूरों से भी लड़ना पड़े तो परेशान ही होता है।।२२१-२।। मुनीश्वर! प्रबल भूख भी यदि अकेली हो तो दुर्बल होने पर भी मैं उससे दुष्कर युद्ध कर लूँगी लेकिन काम आदि चाहे दुर्बल ही सही लेकिन बहुतेरे होंगे तो उनसे लोहा लेने की मुझमें हिम्मत नहीं है।।२२३।। इसलिये यदि धन के बिना कदाचित् यह शरीर न रहा तो मुझ पर से यह उपेक्षित भार ही हटेगा, मेरा कोई अनिष्ट नहीं होगा।।२२४।।

ततो यदि भवान् किञ्चिद् अमृतत्वस्य कारणम्। वेत्ति मह्यं वदत्वेतत् कृपा चेद् विद्यते मयि। ।२२६।

वित्तव्यर्थताप्रदर्शनेनोपक्रमः

इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि वक्तुं ब्रह्म महामुनिः। अङ्गी चकार सकलं वित्तं प्रति तयेरितम्। ।२२७।।

भवेद् यद्यपि वित्तेन धर्मः कामश्च सर्वदा। अमृतत्वं तथापि स्याद् न वित्तेन कदाचन। ।२२८।।

अपि वित्तेन कामोऽयं जायते तेन किं सुखम्। नारीसम्भोगजं तत् स्याद् इति चेन्नात्र किंचन।।
सुखं मोहं विहाय स्यात् प्रहारेष्विव दुर्धियः ।२२९।।

परन्तु यथा मम मौर्ख्यं नश्येत् तथा विधेहि इत्याशयेन आह—मौर्ख्येणेति। यथाऽहं मौर्ख्येण विशिष्टा देहं न त्यक्ष्यामि भवद्वत् तोषादिशालिनी च भवेयम् तथाऽनुगृहाण इति शेषः। ।२२५।। ततो यदीति। ततो भवान् यदि किञ्चिद् मोक्षकारणं वेत्ति तदा तदेव मह्यं वदेति। ।२२६।।

अथ पञ्चम्याः 'कण्डिकाया अर्थेन मैत्रेयीवाक्यानुमोदनरूपेण सूचित्तं वित्तस्य अमृतत्वासाधनत्वांगीकारं प्रपञ्चयति—इत्युक्त इति पञ्चदशभिः। इति मैत्रेय्या उक्ते सति तस्या अधिकारं विज्ञाय ब्रह्म वक्तुम् इच्छन् मुनिः तया वित्तविषयकं यद् वाक्यमुक्तं तत् सर्वम् अङ्गी कृतवानिति। ।२२७।। अङ्गीकारमेव अभिनयति—भवेद् इत्यादिना। यदि वित्तस्य धर्मकामौ पुरुषार्थौ प्रति साधनत्वम् इष्यते तथापि अमृतत्वं प्रति साधनत्वं न अस्तीत्यर्थः। ।२२८।। वस्तुतस्तु धर्मकामौ पुरुषार्थौ प्रत्यपि वित्तस्य साधनत्वं नास्ति इति दर्शयंस्तत्र कामस्य पुरुषार्थत्वमेव न भवति, तत्फले सुखत्वस्य भ्रममात्रसिद्धत्वाद् इत्याह—अपि वित्तेनेति। वित्तेन कामो विषय-सम्बन्धो जायते तेन कामेन किं सुखं न किञ्चिदपि। नारीसंसर्गजं चेद् ? न। अत्र हि नारीसंसर्गे श्रान्तपादप्रहारन्यायेन मोहं भ्रमं विना न किञ्चित् सुखम् इत्यर्थः। ।२२९।।

हे श्रेष्ठ मुनि! मैं यह नहीं चाहती कि मूर्ख रहती हुई अपना देह छोड़ूँ! आपकी तरह मैं वह लाभ पाना चाहती हूँ जिससे चिर संतोष मिले, मन पर मेरी विजय हो जाये। ।२२५।। अतः यदि आप अजरता का कोई उपाय जानते हों और मुझ पर कृपा हो तो वह मुझे बताइये।' ।२२६।।

मैत्रेयी द्वारा यों कहने पर महामुनि ने ब्रह्म का उपदेश देने के लिये पहले उस सब को स्वीकृति दी जो उसने धन के बारे में कहा था। ।२२७।। उन्होंने समझाया—धन से धर्म और काम तो हमेशा प्राप्त हो सकते हैं लेकिन अमरता उससे कभी नहीं मिल सकती (इस प्रसंग में धन का अभिप्राय धनसाध्य कर्म से भी है। कर्म से भी मोक्ष अलभ्य है।)। ।२२८।।

विचार करें तो पुरुषार्थभूत धर्म-काम के लिये भी धन साधन नहीं क्योंकि जहाँ तक कामना की बात है, उसे पुरुषार्थ कहना नहीं बनता कारण कि उसके फल को सुख तो भ्रम से ही माना जाता है। इस आशय को पुराण में व्यक्त करते हैं—विषयसम्बंध रूप काम-नामक पुरुषार्थ धन से संभव होता है लेकिन उस काम से सुख क्या होता है! यदि कहो नारी के संभोग से जन्य सुख कामसुख है तो भी व्यर्थ बात है। भ्रम से अतिरिक्त उसमें भी कोई सुख नहीं है। जैसे मूर्ख थका हो और उस पर कोई पैर से ठोकरें मारे—लताड़े—तो उस मूर्ख को बड़ा सुख मिलता है, ऐसे ही भोगेच्छा से आर्त मूर्ख संभोग से समझता है सुख हो गया!। ।२२९।। मान भी लें कि वह सुख है तो भी उसमें धन

---

१. 'स होवाच याज्ञवल्क्यः—प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति। ।५।।' मधुकाण्डे— 'स होवाच याज्ञवल्क्यः— प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषसे। एह्यास्स्व व्याख्या" इति।

अप्यर्थरहितानां तत् श्वादीनामपि दृश्यते। पुरुषस्य यथा नारी शुनस्तद्वच्छुनी मता। अत एव न पुष्पादिभोगजं तत् सुखं भवेत्।।२३०।।
अपि वित्तविहीना ये भ्रमराः कोकिला अपि। गन्धान् जिघ्रन्ति च रसान् रस्यानास्वादयन्ति च।२३१
शृण्वन्ति च तथा शब्दान् गीतवादित्रजान् मुहुः। देवालयादिसंस्थानाः पश्वाद्या अपि जन्तवः।२३२
पश्यन्ति ललितं रूपं निर्धनाः पुरुषा अपि। लोके वाराङ्गनादीनां युवतीनामशङ्किताः।।२३३।।
तथैव मृदुलान् स्पर्शान् मक्षिकाद्याश्च जन्तवः। दुर्लभानपि गच्छन्ति ह्यपि ते राजयोषिताम्।।२३४।।
सर्वं सर्वधनी नापि प्राप्नुयाद् विषये स्थितम्। धनेन निर्धनोऽप्यत्र किञ्चित् क्वापि समाप्नुयात्।।२३५।।
धर्मोऽपि परलोकस्य सुखदः केवलाद् धनात्। भवेदेतच्च नियतं नैव लोकेऽत्र दृश्यते।।२३६।।
निर्धना बहवः स्वर्गं प्राप्तास्ते गृहिणोऽपि हि।मुद्गलाद्या महात्मानो नित्यं क्षुत्क्षामवर्चसः।।२३७।।
धनिनो बहवस्तद्वद्रता यास्यन्ति यान्ति च। नरकं तेन न स्वर्गो धनेनैवात्र लभ्यते।।२३८।।

तादृशसुखं प्रत्यपि धनस्य व्यतिरेकव्यभिचारं दर्शयति—अप्यर्थेति। तत् कामसुखम्। अत एव कामसुखं प्रति अर्थस्य अहेतुत्वादेव पुष्पचन्दनादिभोगजं सुखम् अपि तद् अर्थजं न भवेद् इत्यर्थः।।२३०।। अपि वित्तेति। निर्धना अपि भ्रमरा गन्धान् जिघ्रन्ति, कोकिलाः च रस्यान् आस्वादनीयान् आम्रादिरसान् स्वादयन्तीति।।२३१।। शृण्वन्तीति। तथा देवालयादिगताः पश्वाद्या अपि गीतादिशब्दान् शृण्वन्ति इति।।२३२।। पश्यन्तीति। तथा निर्धना अपि पुरुषा वाराङ्गनादीनां रूपं पश्यन्ति इति।।२३३।। तथैवेति। तथा मक्षिकाद्या राजयोषितामपि दुर्लभान् स्पर्शान् गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति।।२३४।। अन्वयव्यभिचारमपि दर्शयति—सर्वमिति। सर्वधनी बहुविधधनोऽपि धनेन सर्वं विषयसुखं न प्राप्नुयात्। यत् किञ्चिद् विषयसुखं तु दरिद्रोऽपि प्राप्नुयादिति।।२३५।।

धर्मं प्रत्यपि वित्तस्य अहेतुत्वं व्यभिचारेण स्फुटयति—धर्मोऽपीति। एतद् धनस्य धर्महेतुत्वं नियतम् अव्यभिचारि न दृश्यते।।२३६।। निर्धना इति। मुद्गलाख्यो विप्रः सकुटुम्बः शिलोञ्छवृत्त्याऽर्जितं प्रस्थपरिमितमन्नम् अतिथये दत्वा स्वर्गं गतः इति भारते[1] प्रसिद्धम्। तत्प्रभृतयो गृहस्था अपि क्षुत्कृशाः स्वर्गं गताः श्रूयन्ते।।२३७।। धनिकास्तु प्रायशः प्रमादेन नरकयोग्या एव कालत्रये प्रसिद्धा इत्याह—धनिन इति। स्पष्टम्।।२३८।। ननु यागादयो कहाँ साधन है ? जिनके पास कोई धन नहीं ऐसे कुत्ते आदि भी वह सुख पाते देखे जाते हैं। पुरुष को जैसे नारी अच्छी लगती है वैसे कुत्ते को कुतिया। इसी प्रकार फूल आदि के भोग से हुआ सुख भी धनहेतुक नहीं है। धनहीन भौंरे, कोयल आदि भी सुगंध सूँघते हैं, स्वादिष्ट रस पीते हैं।।२३०-१।। संगीत श्रवण का सुख धन पर निर्भर करे यह भी नहीं : मंदिर आदि में रहने वाले पशु-पक्षी आदि भी निर्धन रहते हुए ही गीत-वाद्य आदि पर्याप्त सुनते हैं।।२३२।। सुन्दर रूप देखकर सुख लेने के लिये भी धन नहीं चाहिये क्योंकि लोक में निर्धन पुरुष भी सभा आदि में वेश्याओं को देख लेते हैं और अन्य युवतियों को भी वे निःसंकोच देख पाते हैं (धनिक तो संकोचपूर्वक ही देखते हैं)।।२३३।। कोमल स्पर्श पाने के लिये धन जरूरी नहीं : मक्खी आदि जन्तु भी अत्यन्त कोमल पदार्थ छू लेते हैं, बल्कि वे तो उन रानियों के भी मुखों का स्पर्श कर लेते हैं जिन्हें राजा से अन्य धनिक भी देख तक नहीं सकते!।।२३४।। जिसके पास हर तरह का पर्याप्त धन है वह भी धन से सारा ही विषयसुख नहीं पा सकता और कहीं कुछ सुख तो निर्धन भी पा ही लेता है।।२३५।। इस प्रकार धन कामसुख का साधन नहीं।

१. वनपर्वणि २६१ अध्याये। दुर्वासा मुनिरतिथिर्बभूव, नैकदिनानि च तस्य सर्वमन्नं चखाद, तथापि स विना कोपं ददात्येवेति सन्तुष्टो मुनिस्तस्मै स्वर्गं ददौ, स पुनस्तं न गृह्णाति स्मेति संक्षेपः।

अग्निष्टोमादयो यज्ञा यदि न स्युर्धनं विना। मा भूवन् काममेतेषां फलं स्वर्गो भविष्यति।। उपाया विविधा यस्माद् दृश्यन्ते स्वर्गसाधने।।२३९।।

अप्यमी नामृतत्वस्य कारणं स्युः कथंचन। स्वर्गस्य कारणत्वे स्यात् समत्वं तपआदिभिः।।२४०।।

अग्निष्टोमादयस्तेन भवन्तु धनकारणात्। अमृतत्वस्य नैव स्याद् आशा तेनोक्तहेतुतः।।२४१।।

इत्यभिप्रायवान् विप्रो याज्ञवल्क्यो वचोऽब्रवीत्। मैत्रेयीममृतत्वस्य प्रीतिदं[1] मुनिसत्तमः।।२४२।

मैत्रेयीं प्रशंसति

मैत्रेयि! तव वाक्येन प्रिये! प्रीतिर्ममाऽभवत्। प्रिया सती यतः प्राह भवती प्रीतिदं वचः।। प्रियं वृतवती तद्वद् मम तेऽपि तथा नृणाम्।।२४३।।

धनं विना न स्युरिति चेद्? न सन्तु; तत्फलस्य स्वर्गस्य उपायान्तरेणाऽपि संभवेन क्षत्यभावाद् इत्याह—अग्निष्टोमादय इति। उपाया जपयज्ञादयः।।२३९।।

किं च धनस्य मोक्षं प्रति हेतुता यागादिद्वारैव वक्तव्या। तत्र यागादीनामेव मोक्षं प्रति हेतुता नास्ति, किमुत वित्तस्य! इत्याह—अप्यमीति। अमी अग्निष्टोमादयो ज्ञानमात्रलभ्यममृतत्वं प्रति न हेतव इति प्रसिद्धम्। यदि तु स्वर्गस्य हेतवः तदाऽभ्युदयार्थरूपं तपःप्रभृत्युपायतुल्यत्वमेषामस्तु। तथा च स्वर्गार्थमप्येषां नावश्यकता इति भावः।।२४०।। फलितमाह—अग्निष्टोमादय इति। ।।२४१।।

एवं तात्पर्यार्थम् उक्त्वाऽस्याः कण्डिकाया अक्षरार्थमाह—इत्यभिप्रायवानिति सप्तभिः। उक्ताशयवान् मुनिः मैत्रेयीं प्रति इदं वक्ष्यमाणश्लोकषट्कामिनेयं वचोऽब्रवीत्। कीदृशं वचः ? अमृतत्वप्राप्तिदं मोक्षाधिकारसूचकमिति यावत्।।२४२।। मैत्रेयीति। हे मैत्रेयि ! यतो भवती पूर्वमपि प्रिया सती प्रीतिदं वित्तहेयत्वप्रतिपादकं वचः प्राह तथा मम तव सर्वेषां च यत् प्रियं वस्तु ज्ञानद्वाराऽमृतसाधनत्वात् तद् वृतवती च, ततः तव वाक्येन मम प्रीतिः अभवद् इति सम्बन्धः। 'अभूद्' इति वक्तव्ये 'अभवद्' इत्युक्तिः कालविस्मृतिबोधनद्वारा हर्षातिशयसूचिका।।२४३।।

परलोक में सुख देने वाला धर्म भी केवल धन से होता ही हो यह संसार में नियमित रूप से देखा नहीं जाता ।।२३६।। मुद्गल आदि महाशय जो हमेशा भूख से कमज़ोर रहते थे और ऐसे निर्धन बहुत से गृहस्थ स्वर्ग गये हैं और बहुतेरे धनी नरक गये हैं, जा रहे हैं और आगे भी जाते रहेंगे (क्योंकि वे प्रायः प्रमादी होने से सदा से नरक के योग्य प्रसिद्ध हैं)। इसलिये स्वर्ग धन से ही मिलता हो यह बात नहीं।।२३७-८।। धन के बिना अग्निष्टोम आदि यज्ञ संपन्न नहीं किये जा सकते तो न सही, पर उनका फल जो स्वर्ग वह तो धन के बिना भी मिल ही जायेगा क्योंकि स्वर्ग दिलाने वाले अनेक प्रकार के साधन हैं।।२३९।। इस तरह धर्म का भी निश्चित उपाय धन हो यह बात नहीं है।

धन को मोक्ष के प्रति हेतु इसी से कह सकते हैं कि उससे यागादि किये जाते हैं जो मोक्ष देंगे। जब यागादि ही मोक्षप्रद नहीं तो धन मोक्षोपाय नहीं इसमें कहना ही क्या! ज्ञानमात्र से प्राप्य अमरता के लिये ये अग्निष्टोमादि किसी भी तरह साधन नहीं हैं। ये केवल स्वर्ग दिला सकते हैं अतः तप इत्यादि के समान ही हैं।।२४०।। इसलिये धन के कारण अग्निष्टोम आदि भले ही हों, अमरता की तो उससे कोई आशा नहीं।।२४१।।

इस तात्पर्य से मुनिश्रेष्ठ वेदज्ञ याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ये वचन कहे जो अमरता के अधिकार के सूचक हैं—।।२४२।।

---

१ प्रतीदम् इति टीकापाठः। प्राप्तिदमिति वा।

त्वमेव मम जायेति त्वत्तो जातोऽस्म्यहं यतः। प्रीतिमान् बहुशोऽनेन वचसा भृशमेव च।।२४४।

जायेति त्वादृशी प्रोक्ता ललना त्वपरा भुवि। भार्येति प्रोच्यते यस्माद् भरणीयाऽशनादिभिः।।२४५।।

एहि जाये! समीपं मे निष्कामस्यात्मवेदिनः। निष्काममप्रियमात्मानं पृच्छन्ती प्रीतिकारिणी।।२४६।।

आश्रमे पुरतः सुभ्रु! यथापूर्वमशङ्किता। भवत्या मा भवेल्लज्जा स्त्रीणां यास्ति निसर्गतः।।२४७।।

उपदेशप्रतिज्ञा

हन्त जाये प्रिये तुभ्यं व्याख्यास्याम्यमृतं हि तत्। त्वया पृष्टं मम त्वं हि वीक्षमाणा मुखाम्बुजम्।
सावधानमनास्तद्वद् दत्तकर्णाऽवधारय।।२४८।।

त्वमेवेति। लोके पुत्ररूपेण यतो जायते सा 'जाया' इति प्रसिद्धम्। वस्तुतस्तु पुत्रादयोऽपि पदार्थाः तादृशप्रीतिविशिष्टरूपेण यतो जायन्ते सा जायेति वक्तव्या, तादृशी च त्वमेव असि यतोऽहं त्वत्तः उक्तविधवचनेन करणेन प्रीतिविशिष्टरूपेण जातोऽस्मि इत्यर्थः।।२४४।। जायेतीति। त्वादृशी एव जायेति पदेन वक्तव्या, अपरा तु ललना भार्येति एव वक्तव्या, अशनवसनादिभिः भरणक्लेशदायकत्वाद्।।२४५।।

एहीति। तस्माद् हे जाये! त्वं मम निष्कामस्य निष्कामत्वेन सदृशी आत्मानं पृच्छन्ती सती पुरतः समीपमेहि, या च लज्जा स्त्रीणां निसर्गतः स्वभावतः प्रसिद्धा तां मा कुरु। इति द्वयोरर्थः।२४६-७।।

हन्तेति। हन्त हर्षे। हे जाये! अहं त्वत्पृष्टम् अमृतसाधनं वक्ष्यामि त्वं तु चक्षुः श्रोत्रे मनश्च प्रणिधाय मदुक्तम् अवधारय इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—या याज्ञवल्क्यकाण्डे पञ्चमी कण्डिका सा मधुकाण्डे चतुर्थीति। एवमग्रेऽपीति।।२४८।।

अथ षष्ठीं[1]नवत्या श्लोकैः व्याकुर्वंस्तत्र आत्मन्येव चित्तैकाग्र्यकर्तव्यताबोधनाय आत्मनः परमानन्दरूपताबो-

हे प्रिय मैत्रेयि! तेरी बात से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। तू पहले से ही मुझे प्रिय है, ये सुखद वचन कहकर तू और भी प्रिय हो गयी। तू ने उसका वरण किया है जो तेरा, मेरा और सभी प्राणियों का वास्तविक प्रिय है।।२४३।। क्योंकि मैं तुझ से ही प्रसन्न हुआ हूँ इसलिए तू ही मेरी जाया है! तेरे इस वैराग्यपूर्ण वचन से मुझे बहुत और उत्कट सुख हुआ है।(जिसे द्वार बनाकर पति पुत्रादि रूप से पैदा होता है उसे जाया कहते हैं। पुत्रादि सुख देते हैं। याज्ञवल्क्य पत्नी से सुखी हुए, मानो 'सुखी' इस रूप से वे उसी से पैदा हुए हों! अतः वही जाया है यह तात्पर्य है। जिससे पैदा हुआ जाये वह जाया—इस व्याकरण के अनुसार यहाँ ऐसा कहा है।)।।२४४।। तुझ जैसी ही 'जाया' कही जाती है। अन्य तरह की पत्नियाँ तो 'भार्या' हैं क्योंकि उन्हें भोजन आदि से भरते ही रहना पड़ता है।।२४५।। मैं आत्मवेत्ता निष्काम हूँ; तू उसी आत्मा के बारे में पूछ रही है जो निष्कामों को प्रिय होता है। तू मुझे प्रसंनता दे रही है। मेरे निकट आ जा। हे सुंदरी! पहले जैसे तू आश्रम में मेरे सामने आने में लज्जा करती थी, जैसा स्त्रियों के लिये स्वाभाविक है, वैसे अब लज्जा मत कर, निःशंक हो मेरे संमुख बैठ।।२४६-७।। तूने जिस अमृतता के बारे में पूछा है, मैं उसे समझाता हूँ। तू मेरे मुँह की तरफ देख, मन से सावधान हो और कान लगाकर ध्यान से सुन, समझ।।२४८।।—यों भूमिका बाँध उन याज्ञवल्क्य ने आत्मा की परमानंदरूपता अन्वय-व्यतिरेक से समझायी।(अन्वय—जहाँ आत्मा का सम्बंध है वहाँ प्रियता जरूर है। व्यतिरेक—जहाँ आत्मसम्बंध नहीं वहाँ प्रियता भी नहीं होती।)।।२४९।।

१. 'स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। जायायै...पुत्राणां...वित्तस्य ...पशूनां...ब्रह्मण...क्षत्रस्य...लोकानां...देवानां...वेदानां...भूतानां...सर्वस्य...भवति।'

इत्युक्त्वा याज्ञवल्क्यः स परमानन्दरूपताम्। आत्मनोऽन्वयतः तद्वद् व्यतिरेकादुवाच ताम्। ।२४६।।

आत्मा परमानन्दः

अरे! भवति मैत्रेयि! पतिस्ते हि प्रियः सदा। जाया मम तथा त्वं च प्रियास्यतितरां बहु। ।२५०।।

आवयोः प्रीतिरत्यर्थम् इतरेतरदेहयोः। इतरेतरकामाय न कथञ्चन भामिनि!। ।२५१।।

किन्तु स्वस्य प्रियार्थं ते प्रियोऽस्मि पतिरात्मनः। ममाऽपि त्वं तथा जाया प्रियासि स्वात्मनः कृते। ।२५२।।

आत्मनः सुखमिच्छन्त्या नार्याः कामाग्निदीपनात्। अन्नवस्त्रादिलोभाच्च जायतेऽत्र पतिः प्रियः२५३

आत्मनः प्रतिकूले तु पत्यौ प्रीतिर्न जायते। अन्यनार्यादिसंसक्ते नारीणां कर्हिचित् प्रिये!। ।२५४।।

जायायां प्रीतिमांस्तद्वत् पतिर्भवति कामुकः। पाकादिकृतिलोभाच्च नान्यथा कर्हिचित् प्रिया। ।२५५।।

आत्मनः प्रतिकूला या भवेज्जाया रतादिषु। न तस्यां प्रीतिमान् दृष्टः पतिरत्र कथञ्चन। ।२५६।।

आत्मैव प्रिय एवाऽयं जाये प्रियतमो मतः। स्वयंज्योतिः सदानन्दः स्त्रियः पुंसश्च सर्वदा। ।२५७।।

धकस्य 'सर्वं प्रियं भवति' इत्यन्तभागस्यार्थमाह—इत्युक्त्वेति चतुर्विंशतिश्लोकैः। अन्वयः स्वसम्बन्धेन प्रियत्वप्रयोजकत्वरूपः। व्यतिरेकः स्वसम्बन्धाभावे प्रियत्वाभावप्रयोजकत्वरूपः। ताभ्याम् आत्मनः परमानन्दरूपतामुवाच इति। ।२४६।। अरे! इति। अरे मैत्रेयि! इदं भवति प्रसिद्धम्। 'इदं' किम्? यत् ते मद्रूपः पतिः प्रियः प्रीतिकरः। मम च त्वं जाया प्रियाऽसि इति। ।२५०।। आवयोरिति। परन्तु इयं मम तव च प्रीतिः स्वभिन्नस्य कामाय उपकाराय न भवति किन्तु स्वस्य एव कामाय। इति द्वयोरर्थः। ।२५१-२।। तत्र नार्याः पतिगोचरप्रेम्णः स्वात्मार्थतां विशदयति—आत्मन इति। कामाग्न्युपशमद्वारा अन्नादिलाभद्वारा च आत्मनः सुखाय नार्याः पतिः प्रियो भवति इति। ।२५३।। एतद् व्यतिरेकेण स्फुटयति—आत्मनः प्रतिकूल इति। अन्यनारीसक्त्यादिना प्रतिकूले पत्यौ तु नारीणां प्रीतिर्न दृश्यते इत्यर्थः। ।२५४।।

पतिप्रेम्णोऽपि तथात्वमाह—जायायामिति। कामाग्निशान्तिद्वारा पाकादिकृतिद्वारा च आत्मोपकाराय पतेः जायायां प्रीतिः इत्यर्थः। ।२५५।। एतदपि व्यतिरेकेण विशदयति-आत्मनः प्रतिकूला येति। रतादिषु रतप्रभृतिव्यापारेषु।। २५६।। फलितमाह—आत्मैवेति। यथा शर्करा स्वतो मधुरा, इतरेषां मधुरताऽऽधायकत्वाद् मधुरतमा च, तथा आत्मा प्रियत्वात् प्रियतमत्वाच्च परमानन्दरूप इत्यर्थः। ।२५७।।

अरे मैत्रेयी! तुझे—पत्नियों को—पति सदा प्रिय होता है; वैसे ही मुझे—पतियों को—पत्नी प्रिय होती है, और तू तो बहुत ज्यादा प्रिय है! ।२५०।। हे भामिनि! हमें एक-दूसरे के शरीरों के प्रति जो अत्यन्त प्रेम है वह किसी भी तरह एक-दूसरे के उपकार के लिये नहीं है किन्तु अपने ही उपकार के लिये है। तेरी अपनी प्रसन्नता के लिये तेरा मुझ पति से प्रेम है। मेरी भी तू प्रिय पत्नी मेरी अपनी खुशी के लिये है। ।२५१-२।। अपने लिये सुख चाहती नारी कामाग्नि के सन्ताप से (अर्थात् उसके उपशम के लिये) और अन्न वस्त्र आदि पाने के लिये पति से प्रेम करती है। ।२५३।। पति अपने (पत्नी के) प्रतिकूल हो तो प्रेम नहीं हो पाता। (सामान्य अनुकूलता रखने पर भी) यदि पति किसी अन्य नारी में आसक्त हो तो पत्नी को वह किसी हालत में प्रिय नहीं होता। या और किसी शौक में उसका सारा ध्यान जाता हो तो भी पत्नी को वह प्रिय नहीं होता। ।२५४।। इसी प्रकार पति जो पत्नी से प्रेम करता है वह इसीलिये कि वह कामुक होता है और उसे पका भोजन आदि मिल जाता है! यदि ऐसा न हो तो पत्नी उसे कभी प्रिय नहीं होती। जो पत्नी सुरतादि में अपने (पति के) प्रतिकूल रहे उस पर किसी तरह प्रेम रखने वाला पति संसार में देखा नहीं जाता। ।२५५-६।। हे जाये! यह आत्मा ही प्रिय है! स्त्री-पुरुषों को सदा सर्वाधिक प्रिय यह स्वप्रकाश सदानन्द आत्मा ही है। ।२५७।।

जायापती यथा तद्वत् पुत्रवित्तगवादिकाः। ब्रह्मक्षत्राभिधे जाती लोका भूरादिका अपि।।२५८।।
देवा वेदाश्च भूतानि स्थावराणि चराणि च। किं बहूक्तेन मैत्रेयि! जगत् सर्वमिदं च यत्। स्वात्मनः सुखदं सर्वं प्रियं स्याद् नेतरत् क्वचित्।।२५९।।
पुत्रादयः प्रिया ये स्युः प्रतिकूला न ते प्रियाः। तत एव स्वकामाय प्रियास्तेषां प्रियाय न।।२६०।
यद्यपीदं जगत् सर्वं पतिजायादिकीर्तितम्। प्रतिकूलं मुदे न स्याद् अनुकूलमपि स्थितम्।।२६१।
तथापि प्रातिकूल्येन गृहीतं न सुखाय च। आनुकूल्यग्रहादेव जन्तूनां सुखकृद् भवेत्।।२६२।।

उक्तन्यायम् अन्यत्रापि अतिदिशति—जायेति। यथा जायापती स्वात्मार्थं प्रियत्वेन उक्तौ तथा पुत्रश्च वित्तं च गवादयः पशवश्च ब्राह्मणजातिश्च क्षत्रियजातिश्च भूरादयो लोकाश्च देवाश्च वेदाश्च स्थावरादिभूतानि च एतैः उपलक्षितं सर्वं जगत् च एतत् सर्वं स्वात्मोपकारार्थमेव प्रियं, न अन्यथा। इति द्वयोरर्थः।।२५८-९।। 'नेतरद्' इत्युक्तमेव स्फुटयति—पुत्रादय इति। ये पुत्रवित्तादयः प्रियत्वेन प्रसिद्धाः तेऽपि प्रतिकूलाः सन्तः प्रिया न भवन्ति, अतः स्वकामाय स्वस्य पित्रादेः प्रयोजनाय एव प्रियाः, तेषां पुत्रादीनां प्रयोजनाय प्रिया न भवन्तीत्यर्थः।।२६०।।

ननु किमिति पदार्थानाम् आत्मसम्बन्धेन प्रियत्वम् उच्यते, स्वभावादेव तत् किं न स्याद् ? इति शङ्कते—यद्यपीति। यद्यपि वर्णितं पतिजायादिरूपं सर्वं जगत् प्रतिकूलं स्थितं सद्—मुदे मुदं जनयितुं योग्यं न स्याद्, अनुकूलं स्थितं तु मुदे स्याद् इति सम्बन्धः। तथा च स्वभावादेव प्रियत्वादिकम् इति भावः।।२६१।। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आत्मोपकारकत्वलक्षणानुकूलत्वज्ञानमेव प्रियत्वप्रयोजकम् इत्युत्तरयति—तथापीति। दृश्यते हि सुहृदोऽपि अनुकूलस्य प्रतिकूलतया बुद्धस्य अप्रियत्वम्, प्रतिकूलतया स्थितस्यैव वैरिणोऽपि अनुकूलतया बुद्धस्य प्रियत्वम्। तथा च तत् पतिजायादिकं प्रतिकूलतया ग्रहात् ज्ञानाद् न सुखदम्, अनुकूलतया ग्रहादेव च सुखदं भवेद् इति सम्बन्धः। स्वाभाविकत्वे तु अन्यथात्वं न स्यात्, 'न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद् रवेः' (बृ.सं. वार्ति. श्लो. ५६) इति न्यायेन इति भावः।।२६२।। यदि च स्वभावतः पदार्थानां प्रियत्वं स्यात् तदा अतीतदशायामपि

जैसे पति-पत्नी, वैसे ही पुत्र, धन, गाय आदि, ब्राह्मण-क्षत्रिय कहलाने वाली जातियाँ, भूः आदि लोक, देवता, वेद, चर-अचर प्राणी, एक-एक कहाँ तक गिनाऊँ! यह जो सारा ही जगत् है वह सब तभी प्रिय है जब अपने को सुख देता हो, जो अपने को सुख न दे वह कभी प्रिय नहीं होता।।२५८-९।। (कदाचित् जो प्रतिकूल व्यक्ति पर भी प्रेम होता है वह भी कर्तव्यादि-बुद्धि से स्वयं को सुख देता है : 'वह चाहे जैसा हो मैं तो प्रेम ही करूँ' इस इच्छा को पूरा करता है तभी तक होता है। जहाँ मोहवश ऐसा होता है वहाँ भी उस प्रेम से स्वयं को संतोष मिलता है तभी प्रेम रहता है।) पुत्र आदि जो प्रिय रूप से सब को अनुभव में आते हैं वे भी प्रतिकूल हो जायें तो प्रिय नहीं रहते। अतः वे अपने (पिता आदि के) लिये ही प्रिय होते हैं न कि उनके (पुत्र आदि के) लिये।।२६०।।

पदार्थ स्वभावतः प्रिय होते हों ऐसी बात नहीं : पति, पत्नी आदि पूर्वोक्त सारा जगत् प्रतिकूल होने पर सुखद नहीं होता, अनुकूल होने पर सुखद होता है यह यद्यपि कह सकते हैं तथापि विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि पति आदि भले ही अनुकूल हो पर यदि पत्नी आदि उसे प्रतिकूल समझती है तो उसे वह सुख नहीं दे पाता। जंतुओं को तभी संसार सुख देता है जब उसे अनुकूल समझा जाये। (अर्थात् अनुकूल होने से नहीं वरन् वैसा लगने से यह सुख देता है, प्रिय होता है। ऐसे ही प्रतिकूल होने से नहीं वरन् वैसा लगने से यह दुःख देता है, अप्रिय होता है।) ।२६१-२।। स्थितिकाल में अनुकूल रहने वाला भी पति-पत्नी आदि सारा संसार विनाशकाल में तो दुःख देता ही है। अतः कोई भी जड पदार्थ स्वरूपतः अनुकूल नहीं है। एक चेतन आत्मा ही स्वरूप से हमेशा अनुकूल है। (यदि जड चीज़ें स्वभाव से अनुकूल होतीं तो जैसे वे उपस्थित दशा में अनुकूल हैं वैसे ही अतीत दशा में भी होनी चाहिये, क्योंकि दशा बदलने

विनाशे दुःखदं सर्वं पतिजायादिकं जगत्। अनुकूलमपि स्थित्यां ततो नैवानुकूलता।। जडवर्गस्य कस्यापि विनाऽऽत्मानं हि चेतनम्।।२६३।।

तथापि ग्रहणं तस्य यदि स्यादनुकूलतः। तदा प्रियं भवेत् तत्तु नान्यथा देहिनः क्वचित्।।२६४।।

पतिजायादिकं तेन न प्रियं स्यात् स्वरूपतः। किन्तु स्वस्य प्रियत्वेन सुखदत्वेन हेतुना। आनन्दात्मा प्रियतमः ततः सर्वस्य देहिनः।।२६५।।

प्रियतमत्वोपपादनम्

दुःखं तत्साधनं नैव प्रियं कस्यापि देहिनः। पतिजायादिकं यत्तु प्रियं तत् सुखसाधनम्। सुखं तस्मात् प्रियं तेन युक्तं प्रियतरं सदा।।२६६।।

सुखमप्यात्मकामाय प्रियं न सुखकामतः। सदा विज्ञायमानं वै सुखं शत्रोर्नहि प्रियम्।।२६७।।

आत्मार्थं हि प्रियं तस्मात् सुखं प्रियतरं यतः। ततः प्रियतमः शश्वदानन्दात्मा तु देहिनाम्।।२६८।

प्रियत्वं स्याद्, न च तथा दृश्यत इत्याह—विनाश इति। विनाशे सत्कार्यवादिप्रसिद्धेऽतीतताख्यपरिणामे सर्वं पत्यादिकं दुःखदं यत् स्थित्यां स्थितिकालेऽनुकूलमपि इति। ततः अनुकूलत्वस्य स्वाभाविकत्वव्यतिरेकदर्शनात् कस्यापि जडस्य आत्मसम्बन्धानादरेण अनुकूलता नैव अस्ति इति सम्बन्धः।।२६३।। आत्मोपकारकत्वज्ञानस्य त्वन्वयो दृश्यत इत्यतः तदेव प्रियत्वप्रयोजकमित्याह—तथापीति। तथापि प्रियत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावेऽपि तस्य पतिजायादिपदार्थस्य अनुकूलतः अनुकूलत्वेन यदि ग्रहणं स्यात् तदा पत्यादिकं प्रियं भवेद् इति।।२६४।। फलितमाह—पतीति। स्वरूपतः स्वभावतः पत्यादिकं प्रियं न भवति किन्तु स्वस्य आत्मनो मुख्यप्रियत्वेन यत् सुखदत्वं स्वसम्बन्धिषु सुखत्वप्रयोजकत्वं तेन हेतुना प्रियत्वम्। ततः च आत्मा प्रियतम इति सम्बन्धः।।२६५।।

आत्मनः प्रियतमत्वं स्फुटयितुम् अप्रियं प्रियतरं च दर्शयति— दुःखमिति। दुःखं तत्साधनं च अप्रियम्। पत्यादिकं सुखसाधनत्वात् प्रियम् इत्युच्यते। सात्त्विकान्तःकरणवृत्तिरूपं सुखं तु तस्मात् सुखसाधनाद् अधिकं प्रियं भवति तेन प्रियतरपदेन वक्तुं युक्तम् इत्यर्थः।।२६६।। तादृशसुखापेक्षयाऽपि प्रियत्वाद् आत्मा प्रियतम इति वक्तुमेव सुखस्य आत्मापेक्षयाऽपकर्षमाह—सुखमपीति। सुखमपि वृत्तिरूपं यत् प्रियं भवति तद् आत्मनः कामाय स्फुटत्वरूपप्रयोजनाय, यतः शत्रोः सुखं विज्ञायमानम् अपि न प्रियं दृष्टमित्यर्थः। सुखप्रेम्णः सुखार्थत्वे वैरिसुखेऽपि प्रेमा स्यादिति भावः।।२६७।। आत्मार्थमिति। यत इतरापेक्षया प्रियतरमपि सुखम् आत्मार्थं प्रियं तत आत्मा प्रियतम इति सम्बन्धः।।२६८।। फलितमात्मनो भासमानपरमानन्दरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वमाह — [1]स्वयमिति। ब्रह्मणो से स्वभाव में परिवर्तन नहीं आता। जिसमें परिवर्तन आता है वह स्वभाव होता नहीं। आत्मा किसी भी दशा में अनुकूल ही होता है, प्रिय ही होता है, अतः वह स्वभावतः प्रिय है।) ।।२६३।। स्वभावतः प्रिय न होने पर भी पति, पत्नी आदि का यदि यों ग्रहण है कि वह अनुकूल है, तब वह प्रिय बन जाता है और वैसे ग्रहण नहीं होता तो देही को कभी प्रिय भी नहीं होता।।२६४।। तात्पर्य है कि पति आदि स्वरूप से प्रिय नहीं हैं। किन्तु आत्मा ही मुख्य प्रिय है और वह अपने सम्बन्धी को भी सुखरूप से प्रतीत करा देता है जिस कारण वे पदार्थ प्रिय लगते हैं। एवं च सभी देहियों का प्रियतम आनंदरूप प्रत्यगात्मा ही है।।२६५।।

दुःख और उसके साधन किसी भी देहधारी को प्रिय नहीं होते। जो तो पति-जाया आदि प्रिय हैं वे सुखसाधन होते हैं। उन साधनों से भी अधिक प्रिय है 'सुख' कहलाने वाली अन्तःकरण की सात्त्विक वृत्ति जिसे 'प्रियतर' कहना उचित है।।२६६।। वृत्तिरूप सुख भी जो प्रिय होता है वह अपने लिये अर्थात् आत्मा को स्फुट करता है इसलिये। सुख के लिये सुख प्रिय हो ऐसा नहीं क्योंकि शत्रु का सुख जाना जाते हुए भी प्रिय नहीं होता।।२६७।। अन्यों की अपेक्षा प्रियतर जो सुख वह भी अपने लिये ही प्रिय होता है इसलिये देहियों का सनातन प्रियतम तो आनंदरूप आत्मा

१. आनंदत्वेऽप्यचितोऽपुरुषार्थता स्यात्तत्राह—स्वयमिति। एतेन 'आनन्दी भवति' इत्यादेर्वैष्णवमतानुसारि व्याख्यानं प्रत्याख्यातम्।

स्वयं ज्योतिः सदानन्दः परमो ब्रह्मणोऽपि च। आनन्दस्योपजीवन्ति मात्रां ब्रह्मादयोऽस्य हि।।२६९।

परसम्बन्धरहितं भासमानं सदा सुखम्। स्वर्गानन्दाधिकं स्वात्मा मैत्रेय्येषोऽत्र देहिनाम्।।२७०।

आत्मदर्शनाय श्रवणादि

अरे जाये! प्रिये! तस्माद् मैत्रेय्यत्राधिकारिभिः। करामलकवत् स्वात्मप्रत्यक्षज्ञानसिद्धये।।२७१।।

आत्मा ब्रह्माऽहमस्मीति ह्येवमादिश्रुतेर्वचः। श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाख्य-गुरोर्वक्त्रारविन्दतः।।

श्रोतव्यमसकृच्छान्त-दान्तादिगुणयोगिभिः।।२७२।।

वेदवाक्याविरुद्धेन तर्केण च विचारयेत्। व्यासादिभिः समुत्थेन प्रत्यक्षस्थैर्यकारिणा।।२७३।

हिरण्यगर्भानन्दात् परमः सदातनो ब्रह्मानन्दः हि यतः अस्य ब्रह्मस्वरूपभूतस्य आनन्दस्य मात्रां लेशं हिरण्यगर्भादयः उपजीवन्ति आश्रित्य वर्तन्त इत्यर्थः।।२६९।। स च ब्रह्मानन्द आत्मरूप इत्याह—परेति। यद् ब्रह्मलोकान्त-स्वर्गानन्दाधिकं परसम्बन्धेन द्वैतेन रहितं सुखं तद्रूपोऽयमात्मेत्यर्थः।।२७०।।

उक्तविधया परमानन्दरूपात्मनः परमपुरुषार्थत्वम्, इतरत्र हेयत्वं च विज्ञाय चित्तैकाग्र्यशालिनं प्रत्यात्मसाक्षात्काराय श्रवणादि-विधायकस्य 'निदिध्यासितव्य' इत्यन्तवाक्यस्य[1] अर्थमाह— अरे! इति चतुर्दशभिः। हे मैत्रेयि! तस्माद् आत्मन एव परमपुरुषार्थत्वाद् अत्र आत्मज्ञानेऽधिकारिभिः शमादिगुणसम्पन्नैः आत्मसाक्षात्काराय 'अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्माऽहमस्मि' इति एवंविधं श्रुतेर्वचो वाक्यजातम् असकृत् श्रोतव्यम्। कुतः ? श्रोत्रियत्वादिलक्षणक-गुरोः मुखाद्। इति द्वयोरर्थः।।२७१-२।।

मननमाह—वेदेति। वेदवाक्याऽविरुद्धेन तर्केण विचाररूपं मननं कुर्यात्। कीदृशेन तर्केण? व्यासादिभिः व्यासो[2] विस्तारः, एकस्य कारणस्य नानारूपतयाऽवस्थानम् इति यावद्,आदिपदेन समासरूपः कारणे कार्याणां प्रलयः; तथाऽऽत्मनः सर्वावस्थासु अनुगमरूपोऽन्वयः, इतरेषां व्यतिरेकश्च गृह्यते। एवंविधपदार्थालोचनजन्येन अत एव आत्मसाक्षात्काररूपप्रत्यक्षस्य सहकारिणा[3] असंभावनादिदोषवारकेणेत्यर्थः। तदुक्तं गीतासु-'यदा भूतपृथग्भावम्' (१३.३०) इत्यादि। व्याप्त्यादिभिः—इति पाठे तर्कपदेन अनुमानग्रहः, आदिपदेन च पक्षधर्मतादिग्रह इति।।२७३।।

ही है।।२६८।। हिरण्यगर्भ के आनंद से भी परम है स्वप्रकाश सद्रूप आनंद क्योंकि ब्रह्म के स्वरूपभूत इस आनंद के लेश का सहारा लेकर ब्रह्मा आदि भी आनंदित होते हैं।।२६९।। मैत्रेयी! देहधारियों का यह जो निज आत्मा है यह ऐसा सनातन प्रकाशमान सुख है जो स्वर्ग के आनंद से भी अधिक है और किसी भी अनात्मा के (द्वैत के) सम्बन्ध से रहित है।।२७०।।

अरे प्रिय पत्नी मैत्रेयि! क्योंकि आत्मा ही परम पुरुषार्थ है इसलिये जो आत्मज्ञान में अधिकारी हैं उन्हें हाथ में रखे आँवले की तरह प्रत्यगात्मा के अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिये शम,दम आदि शिष्यगुणों से सम्पन्न हो वेदज्ञ और ब्रह्मवेत्ता गुरु के मुख से बार-बार यह आत्मा ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, इत्यादि वेदवचनों का श्रवण करना चाहिये।।२७१-२।। श्रवण के साथ मनन अर्थात् विचार भी करना चाहिये। वेदवाक्यों का विरोध न करने वाले तर्कों से विचार करने से प्रत्यक्ष में स्थिरता आती है। तर्क जैसे—एक ही कारण नाना रूपों में फैल जाता है; कारण में कार्य विलीन हो जाते हैं, आत्मा सब अवस्थाओं में अनुस्यूत है, अनात्मा सभी कभी-न-कभी नहीं भी रहते हैं; इत्यादि। इन तर्कों के सहारे विचार

---

१. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। २. याज्ञवल्क्यो वक्तेति विचार्य व्यासपदं व्याचष्टे—विस्तार इति। यदि पुराणकारवचनमेतत् तर्हि शारीरकाऽविरोधाध्यायः परामृश्यत इति बोध्यम्। ३. 'युक्तिभिः ज्ञाननिर्मली करणस्य च विधयाऽपेक्षितत्वात्'— शारीरकन्यायसंग्रहः ३.४.४७।

मनसो योग्यता या स्यात् कारणं ज्ञानसन्ततेः। एकस्मिन् विषये चैकं जानीयात् सर्वदेहिनाम्।।
तामप्यात्मनि कुर्वीत बहिश्चारनिवारिणीम्।।२७४।।

एवं तर्कैस्तथा ध्यानैः सन्देहादिविवर्जितम्। आगत्यान्तर्मनः कुर्यात् प्रत्यक्षं वाक्यमानतः।।२७५।।

चक्षुरादीनि यद्वत् स्युर्मानामानसमानि हि। मनोऽपि तद्वदेव स्याद् मानामानसमं हि तत्।।२७६।।

वस्तुयोगो यथा हेतुः प्रत्यक्षे चक्षुरादिजे। मनोयोगस्तथा हेतुः प्रत्यक्षे मानसेऽपि च।।२७७।

निदिध्यासनमाह—मनस इति। मनसो या एकस्मिन् विषये योग्यता एकाग्रतातिशयरूपा सा ज्ञानस्य साक्षात्कारस्य सन्ततेः धारायाः कारणं भवति। सा कथं कर्तव्या ? इत्याकांक्षायामाह—एकमिति। प्रथमं सर्वदेहिनां मध्ये कंचिद् एकं जानीयाद् ध्यायेत्। तदुक्तं पतञ्जलिना 'यथाऽभिमतध्यानाद् वा' (१.३९) इति। पुनश्च तां चित्तयोग्यताम् आत्मनि कुर्याद् यथा पुनश्चित्तस्य बहिश्चारो बहिर्मुखता न स्याद् इत्यर्थः।।२७४।।

एवंविधश्रवणादिसंस्कृतमनःसहकृताद् महावाक्याद् आत्मसाक्षात्कारो भवतीत्याह—एवमिति। सन्देहः असंभावना। आदिपदेन विपरीतभावना। ताभ्यां हीनं मनः अन्तरागत्य प्रत्यक्प्रवणतां लब्ध्वा महावाक्यरूपं प्रमाणफलं प्रत्यक्षम् आत्मसाक्षात्कारं जनयेदित्यर्थः।।२७५।।

ननु स्वतन्त्रमेव मन आत्मसाक्षात्कारं कुतो न जनयेद्? इति शङ्कां वारयति—चक्षुरादीनीति। मानम् अबाधितार्थगोचरवृत्तिरूपम्, अमानं च बाधितार्थगोचरवृत्तिरूपं, तयोः समानि पक्षपातरहितानि यथा चक्षुरादीनि बहिरिन्द्रियाणि प्रसिद्धानि—न हि चक्षुषः 'पीतं शङ्खं न पश्यामि' इत्यादिरूप आग्रहः!—तथा मनसोऽपि वृत्त्युपादानस्य प्रमाणाप्रमाणरूपवृत्तिषु न पक्षपात इत्यर्थः। महावाक्यं तु प्रमाणमेव जनयतीति तदेव प्रधानमिति भावः।।२७६।।

तर्हि स्वतन्त्रं वाक्यमेव साक्षात्कारं जनयेद् ? इत्याशङ्कामपि वारयन्नाह—वस्तुयोग इति। यथा चक्षुरादिना जन्ये प्रत्यक्षे चक्षुरादेर्विषयेण योगोऽपेक्षितः तथा मानसे मनःपरिणामतया मनसि वर्तमाने प्रत्यक्षेऽपि वस्तुना साकं योगोऽपेक्षित इत्यर्थः। अयं भावः—महावाक्येनाऽपि आत्मसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्मनस्येव जननीया। तस्याश्च साक्षात्कारत्वं ज्ञेयेन मनःसंयोगमन्तरेण[1] न घटत इत्यतो मनःसंयोगोऽपि वाक्यस्यापेक्षितः—इति।।२७७।।

कर लेने से असंभावना आदि प्रतिबंधक हट जाते हैं।।२७३।। आत्मसाक्षात्कार स्थिर रूप से बना रहे इसमें कारण पड़ती है मन की एक विषय पर अत्यंत एकाग्र होने की योग्यता। सभी देहधारियों के लिये ज्ञाननिष्ठा का यह प्रमुख उपाय समझना चाहिये। आत्मा के बारे में भी चित्त की ऐसी योग्यता बना लेनी चाहिये जो उसे अनात्म-विषयों में विचरण करने से रोके रखे। (यों निदिध्यासन का विधान हुआ।)।।२७४।।

श्रवणादि के संस्कारों वाले मन की सहायता से महावाक्य आत्मा का साक्षात्कार कराता है : पूर्वोक्त ढंग से तर्क व ध्यान द्वारा संदेह और विपरीत भावना से रहित हुआ मन प्रत्यगात्मा की ओर अभिमुख होकर महावाक्यरूप प्रमाण से अपरोक्ष आत्मज्ञान उत्पन्न करता है।।२७५।।

जैसे चक्षु आदि इंद्रियाँ प्रमा और अप्रमा दोनों की उत्पत्ति के लिये समान भाव से सहयोग देती हैं—आँख ऐसा आग्रह नहीं रखती कि 'पीला शंख नहीं देखूँगी!'—उसी प्रकार मन भी सभी वृत्तियों का उपादान है अतः प्रमा या अप्रमा के प्रति पक्षपात नहीं रखता, प्रमा ही उत्पन्न करे ऐसा उसका नियम नहीं। इसलिये अकेला मन आत्मप्रमा नहीं पैदा

---

१. तदाकारत्वमेवात्र तत्संयोगः। अपरोक्षविषयकप्रमाया अपरोक्षत्वनियमः। 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेरात्माऽऽपरोक्ष्यमविवादम् इति तस्य शब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्षं भवेत्। अनात्मविषयस्य त्विन्द्रियसंयोगापेक्षयाऽऽपरोक्ष्यमिति विशेषः। 'मनोयोग'-शब्दः सावधानतायामपि प्रसिद्ध इति स्मर्तव्यम्। वस्तुयोग-मनोयोगपदयोर्योगपदार्थभेदेऽपि योगपदं समानमित्येतावता दृष्टदार्ष्टान्ततेति भावः।

मननध्यानसंयुक्तं मनोऽत्र श्रुतिमानतः। प्रत्यक्षं जनयेज्ज्ञानम् आनन्दात्मनि निर्द्वये।।२७८।।
प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न आत्माऽविद्या विनश्यति। तन्नाशाद् नाशमायाति दुःखं सर्वमिदं जगत्।।२७९।।
स्वयं ज्योतिस्ततस्तस्य भासा द्वैतविवर्जितः। आनन्दात्मा प्रियतम आविर्भवति सर्वतः।।२८०।।
अभ्रादिनाशतो यद्वद् गगनं भाति केवलम्। अविद्यानाशतो भाति ह्यानन्दात्मैवमद्वयः।।२८१।।
स्वप्नाद् बुद्धो यथा स्वाप्नं दुःखं मिथ्येति मन्यते। आत्मज्ञानात् तथा विद्वानिदं मिथ्येति मन्यते।।२८२।।

फलितमाह—मननेति। मननिदिध्यासनाभ्यां युक्तं मनः श्रुतिरूपेण प्रमाणेन आत्मनि साक्षात्कारं स्फुटी कुर्याद् इत्यर्थः।।२७८।। ततः किं भवति ? इत्यत आह—प्रत्यक्षेति। दुःखं दुःखरूपं जगत् कर्तृत्वादीति।।२७९।। स्वयमिति। सविलासाऽज्ञान-निवृत्त्यनन्तरं स्वयं ज्योतिः आनन्दरूप आत्मा तस्य अधिकारिण आविर्भवति। कीदृशः? भासा स्वरूपविकासेन द्वैतविवर्जितः, अत एव आनन्दरूपः प्रियतमश्चेति।।२८०।। अविद्यानाशे विशदात्मभानं दृष्टान्तेन स्फुटयति—अभ्रादीति। अभ्रं मेघः। आदिपदेन नीहारादिग्रहः।।२८१।।

जीवन्मुक्तस्य भासमानमपि द्वैतं मिथ्यात्वेन निश्चिततत्वाद् नाऽद्वैतविज्ञानविरोधीति दर्शयन्, द्वैतस्य मिथ्यात्वं सदृष्टान्तं व्युत्पादयति—स्वप्नादिति। इदं दृश्यजातम्।।२८२।।

करता, इसके लिये वह महावाक्यरूप प्रमाण की अपेक्षा रखता है जो नियमतः प्रमा का ही जनक होता है। (वाक्य अधिकारी को बोध देता है। वाक्य से भ्रम अनधिकार के कारण होता है, वाक्य के कारण नहीं। पीतशंख आदि भी अविद्यावृत्ति से दीखते हैं यह प्रक्रिया है किन्तु अनुभव तो यही होता है कि आँख आदि से दीख रहे हैं अतः पुराण में ऐसा कहा। असम्बद्ध अवर्तमान तो अविद्यावृत्ति से भी कैसे दीखेगा? यदि उसकी अनिर्वचनीय सामर्थ्य है तो आँख आदि में ही वैसी सामर्थ्य मानने में क्या हर्ज है? अतः उस प्रक्रिया में विशेष आदर नहीं।)।।२७६।। वाक्य भी अकेला ही साक्षात्कार नहीं पैदा करेगा, मन की सहायता से ही करेगा : जैसे आँख आदि से होने वाले प्रत्यक्ष के लिये जरूरी है कि आँख आदि का विषय से सम्बन्ध हो वैसे ही मनोवृत्तिरूप से मन में वर्तमान प्रत्यक्ष के लिये मनका वस्तु से सम्बन्ध जरूरी है। (महावाक्य भी वृत्ति तो मन में ही पैदा करेगा। वह वृत्ति 'साक्षात्कार' तभी होगी जब ज्ञेय आत्मा से मन का सम्बन्ध हो। अतः जैसे मनको वाक्य की वैसे वाक्य को मनः-सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है आत्मापरोक्ष पैदा करने के लिये।)।।२७७।। एवं च मनन व निदिध्यासन से युक्त मन श्रुतिरूप प्रमाण से इस आनंदरूप अद्वय आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है।।२७८।। अखण्ड साक्षात्कार पैदा हो जाने पर आत्मसम्बन्धी अज्ञान का बोध हो जाता है जिससे यह सारा कर्तृत्वादि दुःखरूप जगत् समाप्त हो जाता है।।२७९।। कार्यों समेत अज्ञान निवृत्त हो चुकने पर अधिकारी के लिये हर तरफ आत्मा प्रकाशमान हो जाता है; वह आनन्दरूप प्रियतम आत्मा स्वप्रकाश है और उसका स्वरूप इतना विकसित है—फैला है—कि वह द्वैत से रहित है! (आत्मा इतना फैला है, व्यापक है, कि जो कुछ दूसरा हो सकता था वह सब इसने अपने में समेट लिया है।)।।२८०।। जैसे बादल आदि हट जाने से केवल गगन दीखने लगता है वैसे ही अविद्या नष्ट हो जाने पर आनंदात्मा अद्वय स्फुरने लगता है।(बादल आदि भी वस्तुतः गगन से अन्य नहीं अतः कल्पित होने से स्वकाल में भी उसे सद्वय नहीं बनाते यह पुराणकार ने कई जगह कहा है।)।।२८१।।

जीवन्मुक्त को प्रतीत होता द्वैत क्योंकि मिथ्यारूप से निश्चित रहता है इसलिये अद्वैतज्ञानका विरोध नहीं करता यह स्पष्ट करने के लिये द्वैत का मिथ्यात्व सोदाहरण दिखाते हैं—सपने से जग चुका व्यक्ति जैसे सपने के दुःख को मिथ्या समझता है उसी तरह आत्मज्ञान हो चुकने पर विद्वान् इदन्तया गृह्यमाण सभी को मिथ्या जानता है।।२८२।।

महाराजो यथा स्वप्ने निर्भयो भयमागतः। पश्यत्यकारणं पश्चात् प्रतिबुद्धो न पश्यति।।२८३।।

आत्माऽज्ञानात् तथा दुःखम् आनन्दात्माऽत्र मन्यते। आत्मज्ञानात् पुनः स्वस्मिन्निदं मिथ्येति मन्यते।।२८४।।

जगन्मिथ्या

गन्धर्वनगरं यद्वज्जायते खे ह्यविद्यया। अविद्यया जगत्सर्वम् आत्मन्येवं प्रजायते।।२८५।।

गन्धर्वनगरं यद्वद् नासीन्नास्ति न भाव्यपि। गगने नगरं यद्वद् भूमौ क्षेत्रं पिनाकिनः।।२८६।।

आत्मन्येवं जगत् सर्वं नासीद् नास्ति न भाव्यपि। दुःखरूपं हि मैत्रेयि! निर्दुःखे निर्द्वये सति।।२८७

[1]दोषात् तैमिरिको यद्वच्चन्द्रं भिन्नं प्रपश्यति। आत्मानं च तथा भिन्नं दोषादेवावलोकयेत्।।२८८।।

दृष्टान्तान्तरमाह— महाराज इति। यथा चक्रवर्ती राजा निर्भयः अपि स्वप्न आगतोऽकारणं भयं पश्यति, प्रतिबुद्धः तु भयं न पश्यति।।२८३।। **दार्ष्टान्तिके योजयति**—आत्माज्ञानादिति। **स्पष्टम्।।२८४।।**

अथ कण्डिकाशेषस्य[2] आत्मज्ञानात् सर्वज्ञानप्रतिपादकस्य अर्थसंभावनाय प्रपञ्चस्य आत्मसत्ताऽतिरिक्तसत्ताराहित्यं मिथ्यात्वेन प्रपञ्चयति—गन्धर्वेति सप्तदशभिः। **यथाऽऽकाशे** गन्धर्वनगरमविद्यया **एव जायते तथा आत्मनि जगद् अपि।।२८५।। तस्यातिरिक्तसत्ताऽभावमाह**—गन्धर्वनगरमिति। गन्धर्वनगरं यद्वद् नासीद् **इति। यथा गगने** गन्धर्व-नगरं कालत्रयेऽपि **नास्ति। तत्रैव वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह**—नगरमित्यादिना। **यथा** पिनाकिनः **शिवस्य क्षेत्रभूतं नगरं** वाराणसीसंज्ञं **भूमौ स्थितमित्यर्थः। वस्तुतस्तु 'वियत्स्था सा पुरी दिव्या तेन योगबलाद् धृता' इति काशीं प्रस्तुत्य कालीपुराणोक्तेः; तथा 'गच्छ वाराणसीं व्यास! यत्र विश्वेश्वरः शिवः। न तत्र युग-धर्मोऽस्ति नैव लग्ना वसुन्धरा।।' इत्यादित्यपुराणोक्तेश्च साधर्म्येणाऽपि दृष्टान्त इति बोध्यम्।।२८६।। दार्ष्टान्तिके योजयति**—आत्मनीति। न हि निर्दुःखे दुःखरूपं जगत् सम्भवति—इति **द्वितीयदलार्थः।।२८७।। आत्मभेदमिथ्यात्वमपि दृष्टान्तेन स्फुटयति**—दोषादिति। तैमिरिकः **तिमिराख्यरोगवान् यथा चन्द्रम् अनेकं दोषाद्**

चक्रवर्ती राजा वास्तव में निर्भय होने पर भी स्वप्नावस्था में आकर बिना कारण भयका अनुभव करता है, बाद में जगने पर डरता नहीं है। इसी प्रकार आनंदरूप आत्मा स्वयं को न जानने से ही संसारदशा में दुःखानुभव कर रहा है। आत्मज्ञान से उसे स्पष्ट हो जाता है कि सच्चिदानंदरूप प्रत्यगात्मा में ही यह सब मिथ्या प्रपंच प्रतीत हो रहा है। (यहाँ श्लोक में 'पुनः' शब्द 'तु'-शब्द के अर्थ में है। 'आत्मज्ञानात्तु मिथ्या मन्यते' यह अर्थ है।)।।२८३-४।।

श्रुति में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि आत्मज्ञान से ही यह सब जान लिया जाता है। यह तभी संभव है जब प्रपंच की आत्मसत्ता से अतिरिक्त अर्थात् स्वतंत्र सत्ता न हो अर्थात् वह मिथ्या हो। अतः पुराण में स्पष्ट करते हैं कि प्रपंच मिथ्या है— जैसे गंधर्वनगर आकाश में अविद्या से उत्पन्न होता है वैसे ही सारा जगत् आत्मा में अविद्या से पैदा होता है।।२८५।। जैसे भूमि पर पिनाकधारी महादेव का क्षेत्र काशीनगरी मौजूद है ऐसे तो गगन में गंधर्वनगर न था, न है, न होगा। सारा जगत् भी आत्मा में न था, न है, न हो सकता ही है! दुःखरहित अद्वितीय सत् में दुःखरूप संसार संभव ही नहीं है।।२८६-७।। 'तिमिर' नामक रोग वाला व्यक्ति जैसे दोष के कारण ही चाँद को अनेक देखता है उसी प्रकार अज्ञानी अज्ञानरूप दोष से ही आत्मा को भिन्न समझता है। ('आत्मा' समझना भ्रम नहीं, उसे अनेक, सद्वय समझना भ्रम है जैसे चाँद देखना भ्रम नहीं, उसे अनेक देखना भ्रम है।)।।२८८।। बालक अपनी अंगुली से अपनी

१. भ्रमे नाधारांशोऽध्यस्त इति संसर्गाध्यासं सूचयति—दोषादिति। आत्मेति न भ्रमः, तस्य भिन्नत्वमेव भ्रम इति व्याचिख्यासन्ति।
२. 'मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।।६।।' मधुकाण्डे 'मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्' इति।

अङ्गुल्या नयनं यद्वद् विष्टभ्य स्वस्य बालकः। केशोण्ड्रकमसत् पश्येद् गगने चित्ररूपकम्।।२८९।।
जगदेतदसद् दुःखम् आनन्दात्मनि केवले। असत्याविद्यया बालतुल्य एष प्रपश्यति।।२९०।।
दिशां मोहो यथा लोके विदुषामपि जायते। आनन्दात्मनि सम्मोहो विदुषामेवमस्त्यपि।।२९१।।
निश्चितोऽपि यथा शङ्खो धवलो भाति पित्ततः। पीतो गुडस्तथा तिक्तो मधुरोऽपि विभाति हि।।२९२
स्वयं ज्योतिस्तथैवायम् आनन्दात्मा सुनिश्चितः। दुःखरूपेण मैत्रेयि! भाति भेददृशाऽधुना।।२९३।
रिङ्गत्तरङ्गतरलं जलं भाति यथोषरे। तृषार्तस्य स्वदोषेण मध्याह्नादिषु गच्छतः।।२९४।।
एवं विषयसंजातमृगतृष्णस्य दुर्धियः। आनन्दात्मनि निर्भेदे भेद एष प्रतीयते।।२९५
शुक्तिकायां यथा रूप्यं भाति लुब्धस्य सर्वथा। आनन्दात्मन्येवमेतद् भाति भेददृशो जगत्।।२९६।

एव पश्येत् तथा **अज्ञोऽपि** आत्मानम् इति।।२८८।। दृष्टान्तान्तरमाह—अङ्गुल्येति। केशोण्ड्रकम् मयूरपक्षतन्तुनिभतन्तुसमुदायरूपं, यथा बालकोऽङ्गुल्या नेत्रनिरोधेन पश्यति; तथा असद् मिथ्याभूतं दुःखरूपं च जगद् असत्या मिथ्यारूपयाऽविद्यया बालवद् मूढोऽयं जीवः पश्यति। इति द्वयोरर्थः।।२८९-९०।।

ननु प्रपञ्चस्य आविद्यकत्वेऽविद्याविरोधिविद्याशालिनां प्रपञ्चो न भासेत ?—इति शङ्कामपि दृष्टान्तेन परिहरति—दिशामिति। यथा दिग्भ्रमो विदुषामपि दृष्टः तथाऽऽत्मनि सम्मोहो विपरीतदर्शनं विदुषामपि सममिति।।२९१।। प्रारब्धसंरक्षिताऽविद्यालेशरूपदोषवशाद् विदुषामपि प्रपञ्चभानं दृष्टान्तेनोपपादयति—निश्चितोऽपीति। यथा पित्तोद्रेके सति धवलत्वेन निश्चितः शङ्खः पीतो भाति, गुडः च मधुरत्वेन निश्चितः तिक्तः कटुर्भाति, तथाऽऽनन्दात्माऽपि दुःखात्मकप्रपञ्चरूपेण भाति भेददृशा भेदज्ञानेन सह इति शेषः। अधुना जीवन्मुक्तिकाले। इति द्वयोरर्थः।।२९२-३।।

अथ मूढस्य प्रपञ्चदर्शनं दृष्टान्तैर्विशदयति—रिङ्गदिति पञ्चभिः। रिङ्गत इतस्ततः प्रचलन्तो ये तरङ्गास्तैश्चञ्चलं जलं यथा तृषार्तस्य भाति तथा सतृष्णस्य अज्ञस्य नानायोनिमयः प्रपञ्च आत्मनि। इति द्वयोरर्थः।।२९४-५।। शुक्तिकायामिति। स्पष्टम्।।२९६।। मन्दान्धकार इति। शेषकं सर्पम्। स्वभीतितः

आँख मसल कर आकाश में विचित्र रूपों वाले असत् केशोण्ड्रक (बालों के गुच्छे जैसे) देखता है। बालक जैसा ही मूढ यह जीव अद्वितीय आनंदरूप आत्मा में मिथ्या अविद्या से इस असत् दुःखरूप जगत् को देख रहा है। (बालक तो वैसा देखकर मज़ा लेता है जबकि जीव दुःखी हो रहा है अतः मूढ है। आँख मसलने की जगह यहाँ अहंकार है, इसके बिना अविद्या दुःख नहीं दे पाती।)।।२८९-९०।।

लोक में देखा जाता है कि दिशाओं के जानकार को भी कदाचित् दिग्भ्रम हो जाता है; इसी प्रकार आत्मतत्त्व के जानकार को भी आनंदरूप आत्मा में विपरीत-दर्शन (द्वैत, दुःख आदि की प्रतीति) होना संगत है।२९१।। जिसे निश्चय है कि शंख सफेद है, गुड़ मीठा है, उसे भी पित्तदोष से शंख पीला और गुड़ तीता लगता है। ऐसे ही सुनिश्चित है कि यह आनंदरूप आत्मा स्वप्रकाश ही है फिर भी अभी—जीवन्मुक्ति काल में—यह भेदभाव सहित दुःखरूप से प्रतीत हो रहा है। (पित्त की जगह यहाँ प्रारब्ध द्वारा बचा रखा अविद्या का लेश है।)।।२९२-३।।

ऊषर भूमि में दोपहर के समय यात्रा करते प्यासे को अपने दोषवश ही दूर स्थान पर हिलोरें लेता जल दीखता है! इसी प्रकार जिस दुर्बुद्धि को विषयों की ऐसी प्यास लगी है जो मृगतृष्णा जैसे बुझने वाली नहीं, वह अभिन्न आनंदरूप आत्मा में यह सारा भेद देखता है। (दृष्टांत में प्यास और दार्ष्टांत में विषयाभिलाष दोष है।)।।२९४-५।। जैसे लालची को सींप में सर्वथा चाँदी दीख जाती है वैसे ही भेददृष्टि वाले को आनंदात्मा में यह जगत् दीखता है। ('भेददृष्टि' अर्थात् नाम-रूपात्मक भेद को प्रधानता देने वाली दृष्टि, सोच।)।।२९६। मंदान्धकार रहते पुरुष रस्सी में साँप या ठूँठ में चोर

मन्दान्धकारे पुरुषो रज्ज्वां पश्यति शेषकम्। अथवा स्थाणुगं चोरं पश्यत्येष स्वभीतितः।।२६७।।
आनन्दात्मनि निर्दुःखे स्वप्रकाशे तथा जडम्। दुःखरूपमनात्मैतद् मूढः पश्यति सर्वथा।।२६८।
पतिजायादिकं विश्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते। यथा स्वप्ने तथैवैतद् नास्ति जागरणेऽपि च।।२६९।
आत्मैवैतज्जगत् सर्वं पतिजायादिभेदवत्। मैत्रेयि! तस्य विज्ञानं प्रत्यक्षं त्वं प्रसाधय।।३००।।
अभयेन[1] च संयुक्तमनसा श्रुतिवाक्यतः। ततो दुःखमिदं जाये पुनर्नैव गमिष्यसि।।३०१।।
आत्मा सर्वमिदं यस्माद् गन्धर्वनगरादिकम्। यथा खं तत एवात्मश्रुत्याद्यैर्जगतोऽपि ते।।३०२।।
श्रवणं मननं ध्यानं दर्शनं चात्मनो हि यत्। सर्वं तज्जगतोऽपि स्यात् सर्वमात्मनि तद् यतः।।३०३।
अपि सर्वस्य विज्ञान उपयोगो न विद्यते। अर्थज्ञताऽपि नैव स्यात् सुखं पत्त्यादिवत् ततः।।३०४।।

स्वचित्तगतभयरूपदोषात्।।२६७।।आनंदात्मनीति।एतद् जगद् अनात्म निःस्वरूपं मिथ्याभूतमिति यावत्।।२६८।। पतीति। यथा च स्वप्ने कल्पितं पत्यादिकम् असत्यं तथा जाग्रत्यपीति।।२६९।। फलितमाह—आत्मैवेति। यतः सर्वमात्मैव अतः तस्य आत्मनः प्रत्यक्षरूपं ज्ञानं त्वं साधय। केन ? संयुक्तेन समाहितेन मनसा सहकृतं यच्छ्रुतिवाक्यं तेन। तथा अभयेन 'अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।।' (गौड. ३.३९) इति प्रसिद्धमयाकरणेन। तत्फलं सकलसंसार-दुःखनिवृत्तिः। इति द्वयोरर्थः।।३००-१।।

एवमवतारितस्य अक्षरार्थमाह-आत्मेति अष्टभिः। यथा गन्धर्वनगरादिकं खम् आकाशमात्रं तथा सर्वमिदमात्मैव यस्माद् भवति तत आत्मनः सर्वस्य पारमार्थिकस्वरूपत्वात् ते त्वया कृतैः आत्मनः श्रवणाद्यैः जगतोऽपि श्रवणादिकं कृतं स्याद् हि यतः आत्मनः सम्बन्धि यत् श्रवणादिकं तत् जगतोऽपि सम्बन्धि स्यात्, यतः तत् सर्वं जगद् आत्मनि कल्पितत्वात्तन्मात्रम्। इति द्वयोरर्थः।।३०२-३।। एवमात्मनि ज्ञाते तद्विवर्तस्य जगतः स्वरूपजातम् आनुषङ्गिकतया ज्ञातं भवतीत्युक्तम्। प्राधान्येन तु नानाविशेषं जगद् न ज्ञेयम्, अविहितत्वाद् अपुरुषार्थत्वाद् अशक्यत्वाच्च इत्याह—अपि सर्वस्येति द्वाभ्याम्। सर्वस्य सविशेषस्य जगतो विज्ञाने विज्ञानरूपक्रियायाम् उपयोगः सम्बन्धबोधकं वाक्यं 'सर्वं जानीयाद्' एवमाद्याकारकं न विद्यते। तथा जगतो ज्ञाने सति अर्थज्ञता पुरुषार्थज्ञताऽपि न अस्ति, जगतः सुख-दुःखाभाव-भिन्नत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावाद् इति भावः। नाऽपि जगत् पुरुषार्थसाधनम् इत्याह—नैवेति। ततः जगतो रूपविशेषेभ्यः सर्वेभ्यः सुखं नैव स्यात् जायेत, यथा पतिजायादिभ्यः सुखं जायत इति वैधर्म्यदृष्टान्तः। न हि हिमालयावयवपाषाणानां प्रत्येकज्ञानात् किञ्चित् सुखं दृश्यत इति भावः।।३०४।।

देखता है क्योंकि उसके चित्त में भयरूप दोष स्फुट रहता है। इसी तरह मूढ जीव स्वप्रकाश, दुःखहीन, आनंदरूप प्रत्यगात्मा में दुःखमय और वास्तविक स्वरूप से रहित (मिथ्या) यह जगत् हर तरह से अनुभव करता रहता है।।२६७-८।। जैसे सपने में पति-पत्नी आदि संसार आत्मा से अलग कुछ नहीं होता ऐसे ही जाग्रत् में भी यह आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है।।२६९।। मैत्रेयि ! पति-पत्नी आदि भेदयुक्त यह सारा जगत् आत्मा ही है। तू उस आत्मा के अपरोक्ष साक्षात्कार के लिये कोशिश कर। बिना डरे, एकाग्र मन से श्रुति के महावाक्यों के अर्थ को समझने से ही यह साक्षात्कार होगा। फिर तुझे संसार दुःख कभी प्राप्त नहीं होगा। ('बिना डरे' इसलिये कि आज तक सर्वस्व समझा नाम-रूप बाधित हो जायेगा—यह डर स्वाभाविक है।)।।३००-१।।

जैसे गंधर्वनगरादि वस्तुतः आकाशमात्र ही होते हैं वैसे ही यह सारा संसार केवल आत्मा ही है। क्योंकि आत्मा ही बाकी सब का भी पारमार्थिक स्वरूप है इसलिये तू जो आत्मा का श्रवण, मनन, ध्यान और दर्शन करेगी वही जगत् का भी श्रवणादि हो जायेगा, कारण कि वह सारा जगत् आत्मा में कल्पित होने से आत्ममात्र है।।३०२-३।।(इस प्रकार स्पष्ट है कि 'एक को जान लेने से सब जान लिया जाता है' का अर्थ है कि सब जिस एक पर अध्यस्त हैं उसे सही

१. अभयेन संन्यासेन संयुक्तं मनो मननं श्रुतिवाक्यं श्रवणं ताभ्याम्, निदिध्यासनस्य संन्यासेन गतार्थतेति केचिद् व्याचक्षते।

उपयोगेऽपि सर्वस्य न शक्यं श्रवणादिकम्। कर्तुं ततो न तज्ज्ञेयं दुःखदं स्वात्मनः सदा।।३०५।।
अथ चेत् त्वमिदं ज्ञातुं स्त्रीस्वभावात् समिच्छसि। तथापि तस्य विज्ञान उपायोऽयं न चापरः।।
आत्मनः श्रवणादीनां करणं तस्य तद् भवेत्।।३०६।।
मृत्तिकायास्तु विज्ञानाद् यथा विज्ञायते नृभिः। घटादि सकलं तस्याः कार्यं व्यवहितं च यत्।।३०७
देशकालस्वभावैर्हि यत् स्याद् व्यवहितं सदा। ज्ञायते मृन्मयं सर्वं मृत्कार्यं न मृदोऽपरम्।।३०८।।
आत्मकार्यं जगत् सर्वम् आत्मनो नापरं तथा। ज्ञायते स्वात्मनो ज्ञानात् श्रवणादेः सदा प्रिये।।३०९

अनर्थाय भेददृष्टिः

अपि भेददृशां पुंसामिह लोके परत्र वा। न सुखं विद्यते जाये! कुतो मोक्षो भविष्यति।।३१०।।

अशक्यत्वमाह—उपयोग इति। उपयोगेऽपि **सकलकार्यस्य अदृष्टारब्धत्वेन सुखाद्युपयोगेऽपि सर्वस्य श्रवणादिकम् अशक्यं, प्रत्युत** आत्मनो दुःखदं **च, क्लेशरूपत्वात्।** अतः तत् **जगतो विशेषरूपजातं** न ज्ञेयम् **इति सम्बन्धः** ।।३०५।। अथ चेद् इति। अथ **इति पक्षान्तरे।** यदि त्वं **स्त्रीस्वभावात् कुतूहलरूपाद्** इदं **सर्वं जगत्** ज्ञातुम् **इच्छसि** तथापि तस्य **सर्वजगतो ज्ञानेऽयम्** एव उपायः। **'अयं'** कः ? **यद्** आत्मनः श्रवणादीनां करणमिति। **यतः** तद् **आत्मीयं श्रवणादिकं** तस्य **जगतोऽपि स्यादु इत्यर्थः।।३०६।। उपादानं हि विकाराणां पारमार्थिकं रूपं, तज्ज्ञाने च सर्वे विकारा ज्ञायन्त इत्येतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति**-मृत्तिकाया **इति द्वाभ्याम्।** यथा **मृदो ज्ञानात्** सकलं **मृत्कार्यं घटादिरूपं** ज्ञायते, **मृदभिन्नत्वात्।** कीदृशं **कार्यम्?** व्यवहितम् **अपि;** व्यवधानं **देशादिभिः त्रिधा, तत्र देशेन यथा**—**देशान्तरस्थे; कालेन यथा**—**अतीतादौ; स्वभावेन यथा**—**परोक्षे द्व्यणुकादौ। इति द्वयोरर्थः।।३०७-८।। दार्ष्टान्तिके योजयति**—आत्मेति। नापरम् **अभिन्नं यतः,** तत आत्मनः **श्रवणादिहेतुकज्ञानाज्ज्ञायत इति।।३०९।**

तरह समझ लेने से पता चल जाता है कि सब की सचाई क्या है। जगत् के विभिन्न विशेष जानने के लिये शास्त्र ने नहीं कहा, न ही उससे परमपुरुषार्थ मिलेगा और न वह किसी के लिये संभव भी है! इसे व्यक्त करते हैं—) किंच सारे जगत् के प्रत्येक विशेष को जानने का कोई उपयोग नहीं, उससे कोई पुरुषार्थानुभव भी नहीं होगा और जैसे पति-जाया आदि से सुख मिलता है ऐसे जगत् के सभी विशेषों से कोई सुख मिलेगा नहीं। संसार के सभी विशेषों का कुछ-न-कुछ उपयोग होने पर भी सब का श्रवणादि करना संभव ही नहीं है बल्कि उस कोशिश में खुद को क्लेश ही होगा। अतः संसार के सब विशेष जानने योग्य नहीं।।३०४-५।। स्त्रियों के लिये कौतूहल स्वाभाविक है अतः अगर तू सारे संसार को जानना भी चाहे तो उसका अन्य कोई उपाय नहीं, यही उपाय है कि आत्मा का श्रवणादि कर; वही संसार का भी श्रवणादि हो जायेगा। (संसार की प्रमा ही चाही जा सकती है। संसार की सच्चाई का पता चलना ही संसार की जानकारी है। हर विशेष की वास्तविकता आत्मा ही है अतः मिथ्या संसार को मिथ्या जानना ही उसकी प्रमा है जो आत्मज्ञान से होती है। अतः जगत् का श्रवणादि तो आत्मा का श्रवणादि नहीं हो सकता, वह तो 'बहुत शब्द' ही है जिसके अनुध्यान का गत अध्याय में निषेध किया था, पर आत्मश्रवण को जगत् का श्रवण कहा जा सकता है।)।।३०६।। मिट्टी जान लेने से लोग उसके घट आदि सभी कार्य जान लेते हैं चाहे वे कार्य हमेशा व्यवहित (किसी व्यवधान या रुकावट से छिपे) ही रहते हों। व्यवधान तीन तरह संभव है—देश का, अतः दूर देश का मृत्कार्य प्रत्यक्ष नहीं होता। काल का, अतः भूत-भावी मृत्कार्य प्रत्यक्ष नहीं होता। स्वभाव का, अर्थात् स्वभाव से ही कुछ कार्य प्रत्यक्ष के अयोग्य होते हैं जैसे द्व्यणुक—मिट्टी के दो परस्पर जुड़े परमाणु। किन्तु क्यों कि मिट्टी का कोई भी कार्य मिट्टी से अतिरिक्त नहीं होता इसलिये मिट्टी जान लेने से सारे मृत्कार्य जान ही लिये गये यह कहना संगत है। इसी प्रकार सारा नाम-रूपात्मक प्रपंच आत्मा का विवर्त है अतः आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है इसीलिये श्रवणादिजन्य आत्मज्ञान से यह सब जान लिया जाता है।।३०७-९।।

आत्मवद् यदि जायेयं पत्यादिषु न वर्तते। पतिर्वापि च जायादौ ततस्ते सन्त्यजन्ति तम्। ।३११।।

पतिः पुत्रस्तथा वित्तं पशवो विविधा अपि। नारीं जहति विज्ञाय स्वात्मनो भेदकारिणीम्। ।३१२।

पुत्रादिसहिता तद्वत् पतिं नारी त्यजेद्धिया। स्वस्मिन् भेददृशं ज्ञात्वा निस्पृहा तत्र सर्वदा। ।३१३।।

चेतनाचेतनं वस्तु यावदात्मसमं जनः। स्त्रीपुंसवपुरेषोऽत्र रक्षयेत् तावदेव तत्। ।३१४।।

सुखदं तस्य चेद् भेदमेष पश्यति मन्दधीः। तस्य दुःखमवाप्नोति वियोगादिसमुत्थितम्। ।३१५।।

तत आत्मैव लोकेऽस्मिन् पतिजायादिकं स्थितम्।। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न वक्तव्यं मयाऽत्र तत्। ।३१६।।

भेदेन दर्शनस्य अनर्थहेतुताबोधिकायाः सप्तमकण्डिकाया[1] अर्थं प्रपञ्चयति—अपि भेदेति त्रिंशच्छ्लोकैः। किं च भेददर्शिनां लोकद्वये सुखम् अपि दुर्लभम् किमुत मोक्षः! इत्यर्थः। ।३१०।। तत्र इहलोके भेददर्शिनां सुखाभावं स्फुटयति—आत्मवदिति। ते भेदेन दृष्टाः, तं भेददर्शिनं त्यजन्तीति। तथा च श्रुतौ 'परादान' पदेन निरसनम् उच्यते। तच्च स्वरूपाद् बहिष्करणरूपम् अनादरे पर्यवस्यतीति बोध्यम्। ।३११।। पतिरिति। तथा पत्यादयो नारीं त्यजन्ति। कीदृशीम्? स्वस्माद् भेदं वैषम्यं कुर्वाणाम्। ।३१२।। पुत्रादीति। तथा नार्यपि भेददर्शिनं पतिं ज्ञात्वा धिया बुद्ध्या त्यजेद् उपेक्षेत[2]। ।३१३।।

चेतनेति। स्त्रीपुंसवपुः स्त्रीरूपः पुंरूपो वा जनो मनुष्यः जडं चेतनं वा वस्तु यावद् आत्मवत् पश्यन् पालयेत् तदा तत् सुखदं भवति। यदि तु द्वेषप्रयोजकं तत्र भेदं पश्यति तदा तस्य भेददृष्टवस्तुनो वियोगादिप्रयुक्तं दुःखं प्राप्नोति। इति द्वयोरर्थः। ।३१४-५।।

तत इति। यो हि यद्रूपो भवति स तद्विपरीतरूपेण दृष्टः कुप्यति—इति न्यायेन आत्मभेददृष्ट्याऽपकारकत्वदर्शनेन पत्यादीनाम् आत्मैव रूपम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धम् इति अत्र मया न वक्तव्यम्, किन्तूक्तमेवेत्यर्थः। ।३१६।। पतिजायेति। यथा भेददृष्टेः पत्यादिकं दुःखदं तथा ब्राह्मणादिजातिरपि अद्वितीयरूपाद् आत्मनो

किं च भेददृष्टि वाले लोगों को इस लोक व परलोक दोनों जगह सुख नहीं मिलता तो उन्हें मोक्ष कैसे मिलेगा? ।।३१०।। पत्नी पति से या पति पत्नी से आत्मा की तरह व्यवहार न करे—वरन् अपने और उसमें भेदभाव रखकर व्यवहार करे—तो जिसके प्रति भेददृष्टि की जाती है वह भेददृष्टि करने वाले का परित्याग कर देता है, उसे आदरणीय नहीं समझता। ।३११।। जो नारी अपने से भिन्न मान कर व्यवहार करती है उसे पति, पुत्र, धन और यहाँ तक कि गाय, कुत्ते आदि विविध पशु भी छोड़ देते हैं! (उसे प्रेमभाव से नहीं देखते)। ।३१२।। जब नारी समझ लेती है कि 'यह मुझ से भेदभाव रखता है' तो हमेशा देखा जाता है कि वह पति के प्रति आकृष्ट नहीं होती बल्कि चाहे संतान वाली भी हो, भेददर्शी पति का सन्त्याग कर देती है, कम-से-कम उपेक्षा तो करती ही है। ।११३।। स्त्री हो या पुरुष वह जब तक जड चेतन पदार्थों को अपने जैसा मानकर उनकी रक्षा करे तभी तक वे पदार्थ उसे सुख देते हैं। यदि वह मूर्ख उनमें भेद देखता है—अपने जैसा न देखकर भेदभाव से व्यवहार करता है—तो भेददृष्टि से देखे पदार्थ के वियोगादि से दुःख ही पाता है। (अर्थात् वह चेतन हुआ तो छोड़कर चला जाता है, जड हुआ तो पूरा ध्यान न पाने से शीघ्रतर नष्ट हो जाता है।)। ।३१४-५।।

---

१. 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं...लोकाः...देवा...वेदा...भूतानि...सर्वं...। इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा। ।७।।' २. न तु सर्वथा ततो वियुक्ता भवेत् तथात्वस्य लोकशास्त्रयोर्निन्दनात्।

पतिजायादिकं यद्वद् भेददृष्टेर्हि दुःखदम्। ब्रह्मक्षत्राभिधे जाती आत्मनोऽन्ये विलोकिते।
एतस्मादपयातस्ते जन्मन्यस्मिन् पंरत्र च।।३१७।।

पातित्यादिसमुद्भूतदोषादस्मिन् हि जन्मनि। पराकुरुत एते तमात्मनो भेददर्शिनम्।।३१८।।

जन्मान्तरे त्वसम्प्राप्त्या स्वस्य दीनतमं जनम्। पराकुरुत एवं ते भेदिनं दुःखकारणम्।।३१६।।

यथा जाती तथा लोका देवा वेदाश्च सर्वदा। लोकद्वयेऽपि पुरुषमपाकुर्वन्ति भेदिनम्।।३२०।।

लोकापाकरणादेष नरकान् प्रतिपद्यते। देवापाकरणाद् दुःखं याति तत्रापि दारुणम्।।३२१।।

लोकापाकरणादस्मिन् लोके भ्रमति सर्वदा। श्ववद् दुःखमवाप्नोति वेदापाकरणात्तथा।।३२२।।

भिन्नतया दृष्टा सती एतस्माद् भेददर्शिनः अपयाति विमुखी भवति, अपकारं करोतीति यावत्, लोकद्वयेपीत्यर्थः। जातेरात्मभेददर्शनाकारस्तु 'अहं ब्राह्मणजातिरेव अस्मि, न ब्रह्म' इत्यादिरूपो बोध्यः।।३१७।। तत्कृतमनर्थमभिनयति—पातित्येति। पातित्यम्—'योन्यथा सन्तमात्मानम्' (मनु ४.२५५) इत्यादि प्रसिद्धदुष्कृतप्रसङ्गः। तत्कृतो दोषः—पञ्चक्लेशप्रचयः। पराकुरुतः अपकुरुतः। एते ब्रह्मक्षत्रजाती।।३१८।। जन्मान्तरे त्विति। जन्मान्तरे तु स्वस्य ब्राह्मणादिजातेः दुर्लभत्वेन अपकृष्टजातिप्राप्त्येति यावत्। दीनतमं कुर्वत्यौ ते ब्रह्मक्षत्रजाती पराकुरुतः, कम्? भेदिनं भेददर्शिनम्। कीदृशम्? दुःखकारणम्—स्वस्यैव स्वयं दुःखहेतुभूतम् इत्यर्थः।।३१६।। यथा जाती इति। यथा ब्राह्मणक्षत्राख्यजाती अपाकुरुतः तथा देवादयोऽपि भेददर्शिनम् अपाकुर्वन्ति इति।।३२०।।

लोकापाकरणफलं दर्शयति—लोकापाकरणाद् इत्यादिना। तत्र भेददर्शनकुपितैः स्वर्गादिलोकैः कृतं यद् अनादरणात्मकमपाकरणं तत्फलं नरकप्राप्तिः। तादृशदेवकृतापाकरणफलं तु नारकीयदुःखप्राप्तिरित्यर्थः।।३२१।। लोकापाकरणादस्मिन्निति। तथाऽस्मिन्नेव लोके श्ववद् दीनतया भ्रमणं लोकापाकरणफलं बोध्यम्। वेदापाकरणे तु यद् दुःखमवाप्नोति तद् उच्यत इति शेषः।।३२२।। वेदापाकरणमिति। वेदापाकरणं भेददर्शनकुपितैर्वेदैः कृतं यद्

जिसका जो स्वरूप है उससे विपरीत समझकर उसे देखा जाये तो उसे बुरा लगता है—यह सर्वसंमत है। (जैसे भले आदमी को लफंगा समझें तो उसे बुरा ही लगेगा।) हरेक को बुरा लगता है यदि उसे आत्मा न समझा जाये। इससे निश्चित है कि सबका स्वरूप आत्मा ही है! आत्मदृष्टि-संतोष के अन्वय-व्यतिरेक से निर्णय हुआ कि इस लोक में स्थित पति, पत्नी आदि सब आत्मा ही हैं। इसमें और हेतु देने की ज़रूरत नहीं।।३१६।।

जैसे पति,पत्नी आदि भेददृष्टि के कारण दुःखप्रद हो जाते हैं वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय कहलाने वाली जातियाँ भी यदि आत्मा से अन्य समझी जाती हैं तो इसी जन्म में और जन्मान्तर में भी वे इस भेददर्शी से विमुख हो जाती हैं। ('मैं ब्राह्मण आदि ही हूँ, परब्रह्म नहीं हूँ', ऐसा समझना ही जाति को आत्मा से अलग समझना है और यों समझने वाले से जाति विमुख इसलिये कि जाति उसका जो उपकार कर सकती है कि वर्णाश्रमधर्म से चित्त शुद्ध कर वह तत्त्वनिष्ठ बने, वह उपकार नहीं करती। 'कैवल्यात् तं पराकुर्याद् विप्रजातिः' (२.५.२५२) ऐसा वार्तिक में कहा है।) ।।३१७।। जो जातियों को आत्मा से भिन्न समझता है उसके लिये इसी जन्म में ये जातियाँ यह अनर्थ करती हैं कि वह अपने स्वरूप से पतित हो जाता है और पाँचों क्लेश भोगता रहता है। (अभिमान, 'मैं सब से पृथक् हूँ' ऐसा अनुभव, राग, द्वेष, मरने का डर —ये पाँच क्लेश हैं।)।।३१८।। जो इनसे भेददृष्टि रखता है उसका जन्मांतर में ये न मिलने से अनर्थ करती हैं, वह ब्राह्मणादि होकर नहीं पैदा होता कि शास्त्रीय कर्मादि से मोक्षमार्ग पर चल सके। अतः वह अत्यंत दीन दशा को प्राप्त होता है। यों भेददर्शी स्वयं अपने ही दुःख का कारण बनता है।।३१६।। जातियों की तरह ही लोक, देव, वेद आदि सभी उस पुरुष का इस लोक व परलोक में सदा उपकार ही करते हैं जो उन्हें आत्मा से भिन्न समझता है।।३२०।। लोक इसका अपकार करते हैं अतः वह मरकर नरकों में भटकता है। देव अपकार करते हैं अतः वहाँ

वेदापाकरणं ज्ञेयमस्मिन् वा परजन्मनि। शूद्रादिजातिमांस्तद्वद् व्रात्यादिर्वा त्रिवर्णभाक्।।३२३।।

पदवाक्यस्वरादेर्वा न्यूनतोच्चारणे सति। स्वाधीनोच्चारणा नैते भवेयुर्वा कदाचन।।३२४।।

अर्थज्ञानादिशून्यत्वं तेषु वा सर्वदा भवेत्। विस्मृतिर्वाऽपि तेषां स्यादर्थतः पाठतोऽपि वा।।
तदुक्ताऽकरणं वाऽपि कारणैर्बहुधैव तत्।।३२५।।

एवं भूतानि सर्वाणि स्थावराणि चराणि च। परा कुर्वन्ति सततं ह्यात्मनो भेददर्शिनम्।।३२६।।

भूतैः पराकृतिर्ज्ञेया तत्तज्जातिसमुद्भवे। कर्मभिर्मानसैर्वाग्भिः प्राणिभिः स्थिरजङ्गमैः।।३२७।।

अपकारस्य करणमुपकारस्य चाऽकृतिः। लोकद्वयेऽपि सर्वत्र सर्वथा सर्वदैव हि।।३२८।।

अपाकरणं तत्फलमिति यावत्। तद् अस्मिन् परस्मिन् वा जन्मनि बोध्यम्। तत्फलं किमात्मकम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—शूद्रादीत्यादि। शूद्राद्यपकृष्टजातिलाभः त्रैवर्णिकानां व्रात्यत्वस्य संस्काराराहित्यरूपस्य, आदिपदग्राह्य-पातित्यस्य वा प्राप्तिः फलतया बोध्येत्यर्थः।।३२३।। पदेति। तथा त्रैवर्णिकानां वेदाध्ययने पदादीनां न्यूनता सा तत्फलम्। तथा एते पदादयः स्वाधीनोच्चारणाः सम्यगुच्चारणविषया यद् न भवेयुः एतदपि तत्फलमित्यर्थः।।३२४।। अर्थेति। अध्ययने जातेऽपि यत् तेषु पदादिषु अर्थज्ञानतद्विनियोगादिज्ञानशून्यत्वं, या च तेषां पदादीनां पाठादिविस्मृतिः, यच्च तदुक्तस्य वेदविहितस्य अकरणं, तत्सर्वं तत्फलमित्यर्थः।।३२५।। एवं भूतानीति। यथा उक्ता लोकादयो भेददर्शिनम् अपाकुर्वन्ति तथा भूतानि प्राणिनः सर्वेऽप्यपाकुर्वन्तीति।।३२६।। भूतैः पराकृतिरिति। भूतैः कृता पराकृतिः अपकारोऽयमेव बोध्यः। अयं कः? यल्लोकद्वये तत्तज्जातिषु प्राणिभिः कर्तृभिः शरीरवाङ्मनोभिः कृत्वा प्रतिकूलाचरणम् अनुकूलानाचरणं च इति द्वयोः सम्बन्धः।।३२७-८। किं बहुना,

भी दारुण दुःख पाता है।।३२१।। लोकों के अपकार से ही वह भेददर्शी पुरुष इस लोक में कुत्ते की तरह दर-दर भटकता और हमेशा दुःख पाता है। वेद अपकार करते हैं तो इसी जन्म में त्रैवर्णिक पैदा हुआ व्यक्ति भी व्रात्य आदि बन जाता है। या जन्मान्तर में शूद्रादि जाति वाला पैदा होता है। (आठ वर्ष के ब्राह्मण का, ग्यारह वर्ष के क्षत्रिय का और बारह वर्ष के वैश्य का यज्ञोपवीत कर देना चाहिये। कठिनाई हो तो ब्राह्मण का सोलह वर्ष तक, क्षत्रिय का बाइस तक और वैश्य का चौबीस वर्ष तक यज्ञोपवीत कर देना चाहिए। इस समय तक भी यदि संस्कार न हो तो वे 'व्रात्य' कहे जाते हैं, शिष्ट उनकी निंदा करते हैं। जब तक ये प्रायश्चित्त न कर लें ऐसों से विवाहादि संबंध आपत्काल में भी नहीं करना चाहिये।—यह मनुस्मृति में (२.३६-४०) व्रात्य के बारे में बताया है। 'व्रात्य आदि' में आदि से अन्य तरह पतित होना समझना चाहिये। पतित शब्द से महापातकी कहा जाता है ऐसा कुलूकभट्ट ने (मनु.३.१५०) बताया है।)।।३२२-३।। वेद द्वारा किया उपकार यह भी होता है कि वेदोच्चारण करते हुए पद, वाक्य, स्वर आदि की कमी रह जाती है; स्वर, मंत्र आदि सही ढंग से याद नहीं रह पाते; वेद के शब्दादि के अर्थ पता नहीं रहते; मंत्रादि के विनियोग मालूम नहीं होते; वेद के शब्द और अर्थ भूल जाते हैं; नाना कारणों से वे कर्म नहीं किये जाते जिन्हें वेद ने आवश्यक बताया है; इत्यादि।।३२४-५।। इसी प्रकार जो उन्हें आत्मा से भिन्न समझता है उसका अपकार चराचर सब भूत भी करते हैं : वह भेददर्शी जिस भी योनि में जाये वहाँ सभी स्थिर-चर प्राणी कर्म-मन-वाणी से उसके प्रतिकूल ही आचरण करते हैं, अनुकूल कुछ भी नहीं करते। इसी लोक में नहीं परलोक में भी पैदा हो तब भी अन्य प्राणी अपकारपरायण ही रहते हैं। सब जगह, सब तरह से और हमेशा भेददर्शी का वे अपकार ही करते हैं।।३२६-८।। इस तरह पाँचों महाभूतों सहित सारा जगत् सदा उसका अपकार करता है जो जगत् को आत्मा से अलग समझता है।।३२९।। विमोहित जीव

एवं सर्वं जगत् पञ्चमहाभूतसमन्वितम्। पराकरोति सततमात्मनो भेददर्शिनम्। ।३२९।।
यद्यद् भेदेन सम्पश्येद् एष स्वस्माद् विमोहितः। तत्तद् दुःखं करोत्यस्य जडं वाऽजडमेव वा। ।३३०
अप्राप्त्या दुःखसंज्ञेयं प्रियं सर्वं शरीरिणाम्। लोकद्वये तथा प्राप्त्या दुःखमेतत् करोति तत्। ।३३१
केनचिद्धि निमित्तेन भोगाभावात्तथा गतौ। अन्यत्राऽप्यथ वा स्वस्माद् विच्छेदाद् नाशतोपि वा३३२
एवं सर्वमपाकुर्याद् भेददृष्टं जडाजडम्। द्रष्टव्यं परमं नैतद् द्रष्टव्यं कर्हिचित् क्वचित्। ।३३३।।
एष भेददृशां दोषो लोकद्वय उदाहृतः। एतद्दोषात्तथा जाये न द्रष्टव्यस्त्वया हि सः। ।३३४।।
विपरीतदृशां यस्माद् दुःखं भवति दारुणम्। विपरीतमिदं ज्ञानं त्यक्तव्यं सर्वथा ततः। ।३३५।।
स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः सम्यग्ज्ञानमितीरितम्। ।३३६।।
एतस्मादात्मनो भिन्नं यद्यत् पश्यति किञ्चन। विपरीतं भवेदेतज्ज्ञानं भेदावलोकनात्। ।३३७।।

सर्वं जगत् पञ्चभूतात्मकं भेददर्शिनमपाकरोति इत्याह—एवं सर्वमिति। ।३२९।। अपकारो नाम दुःखकरणमिति दर्शयन्नेव उक्तं स्फुटयति—यद्यदिति। अयमज्ञः यद्यद् वस्तु जडं चेतनं वा स्वस्माद् भेदेन पश्येत् तत्तद् अस्य दुःखं करोति इति। ।३३०।। अप्राप्त्येति। तथा प्रियरूपं वस्तु तु प्राप्त्या स्वसम्बन्धेन दुःखकरमित्युत्तरार्द्धार्थः। ।३३१।। प्राप्तस्यापि प्रियस्य दुःखदत्वं नानानिमित्तप्रयुक्तं दर्शयति—केनचिदिति। केनचित् प्रतिबन्धकेन भोगाभावात् तथाऽन्यत्र गतौ गमने सति यः स्वस्माद् विच्छेदो वियोगः तस्मात्; तथा नाशाद् वा प्रियं दुःखकरमित्यर्थः। ।३३२।। एवमिति। यत एवम् उक्तविधया सर्वं भेदेन दृष्टम् अपाकुर्यात् तत एतद् भेदविशिष्टं वस्तु न द्रष्टव्यं, किन्तु यत् परमं सर्वभावानां सर्वोत्कृष्टं रूपं ब्रह्मपदाभिधेयं तदेव द्रष्टव्यम् इति सम्बन्धः। ।३३३।।

तत्र 'नैतद् द्रष्टव्यम्' इत्युक्तां भेददर्शनस्य अनर्थकारितां विशदयति—एष इति द्वाभ्याम्। एष सर्वापकारकत्वरूपो दोषो भेददृशां यतो भवति अतः स भेदः त्वया न द्रष्टव्यः। ।३३४।। विपरीतेति। स्पष्टम्। ।३३५।।

'द्रष्टव्यं परमम्' इत्येतत् स्फुटयति—स्वसजातीति। अद्वितीयत्वाद् आनन्दरूपः स्वप्रकाशश्च अयमात्मा इत्याकारकमेव ज्ञानं 'सम्यग्' इत्युक्तं श्रुतिषु। ।३३६।। द्वैतावगाहि तु सर्वमेव ज्ञानं भ्रान्तिरूपमित्याह—एतस्मादिति। भेदस्य मिथ्याभूतस्य अवलोकनाद् अवगाहनात्। ।३३७।। तस्माद् ब्राह्मणजात्यादिकं सर्वं ब्रह्मैवेति निश्चितमित्याह—

जड-चेतन जिसे भी अपने से अन्य देखता है वह उसे दुःख ही देता है। ।३३०।। सब प्रिय पदार्थ शरीरधारियों के लिये दुःख कहलाने लायक होते हैं जब वे प्राप्त न हों और कदाचित् प्राप्त होने पर भी वे दुःख देते हैं! यह इहलोक-परलोक उभयत्र समान है। कभी तो किसी प्रतिबंधक के कारण प्राप्त भी प्रिय का भोग नहीं हो पाता तो वह दुःख देता है; अन्यत्र चले जाने पर अपने से जो वियोग होता है उसके कारण प्रिय दुःख देता है; नष्ट होकर वह दुःख देता ही है। ।३३१-२।। इस प्रकार जिस भी जड-चेतन को भेददृष्टि से देखा जाता है वह अपकार अवश्य करता है। इसलिये पदार्थ भेद वाले नहीं देखने चाहिये वरन् जो सभी पदार्थों का सबसे उत्कृष्ट स्वरूप है जिसे ब्रह्म कहते हैं उसे ही देखना चाहिये। ।३३३।। भेददृष्टि वालों का यही दोष बताया गया है जो उनके दोनों लोक बिगाड़ता है कि वे सब को आत्मा से अलग देखकर उनका निरादर करते हैं। इसी दोष से बचने के लिये तुझे भेददर्शन नहीं करना चाहिये। ।३३४।। क्योंकि विपरीत देखने वाले दारुण दुःख पाते हैं। इसलिये यह विपरीत ज्ञान, भेददृष्टि, हर तरह से छोड़ने ही लायक है। ।३३५।।

स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों से रहित स्वप्रकाश आनंद ही आत्मा है—इस आकार का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। ।३३६।। इस आत्मा से भिन्न जो कुछ भी देखा जाये वह विपरीत ज्ञान ही होगा क्योंकि मिथ्या भेद का ज्ञान होगा। ।३३७।।

ब्रह्मक्षत्रमतो लोका देवा वेदाः सभूतकाः। सर्वं जडाजडं चैतद् ब्रह्मैवेत्यवधारय।।३३८।।

आनन्दात्मा ततो ब्रह्म निर्द्वयोऽयं महेश्वरः। ब्रह्मक्षत्रादिकं यस्मात् ततोऽन्यद् नैव विद्यते।।३३९

मननरीतिः

जडाजडमिदं विश्वमस्मिन्नस्त्यात्मनस्तथा। जायते लीयते चाऽत्र सदैतद् निखिलं प्रिये।।३४०।।

अविद्याऽप्यत्र संजात आत्मज्ञाने विलीयते। दृष्टान्तांस्तत्र ते वक्ष्ये मनसः स्थैर्यहेतुकान्।।३४१।

तामसा राजसा भावाः सात्त्विकाश्च त्रिधा स्थिताः। आत्मनो भेदरहिताः स्थितिकाले यतः प्रिये!।।३४२।।

भेरीं शङ्खं तथा तन्त्रीं दृष्टान्तान् वच्मि भामिनि। मा ते भवतु संमोहः स्थितौ मे विदुषो गिरा।३४३

ब्रह्मक्षत्रमिति।।३३८।। उपसंहरति—आनन्दात्मेति। स्पष्टम्।।३३९।।

एतावता श्रवणरीतिः प्रपंचिता। अथ मननरीतिप्रदर्शकस्य अष्टम्यादिकण्डिकाष्टकस्य[1] तात्पर्यार्थमाह—जडाजडमिति द्वाभ्याम्। जडाजडं सर्वं जगद् अस्मिन् वर्णिते आत्मन्येव अस्ति तत्सत्तयैव सत्तावत् सत् तिष्ठति। तथाऽस्मादेवात्मनो जायते। तथाऽत्रैवात्मनि लीयते। विश्वं लीयत इति किमु वाच्यं यतो विश्वभ्रमोपादानभूताऽविद्याऽप्यत्र आत्मनि तत्त्वज्ञाने जाते सति लीयते; अत आत्माऽद्वितीय इति शेषः। तत्र स्थित्यादिकालेषु आत्मनोऽद्वितीयत्वेन मनसो यत् स्थैर्यम्—असम्भावनानिरासेन स्थिरत्वं, तद्धेतुः—फलं येषां तादृशान् दृष्टान्तान् ब्रवीमि। इति द्वयोरर्थः।।३४०-१।।

तत्र स्थितिकाले दृष्टान्तप्रदर्शकस्य कण्डिकात्रयस्य अर्थं प्रपञ्चयति—तामसा इति द्वाविंशतिश्लोकैः। ये तामसादिरूपैः त्रिविधा भावाः ते स्थितिकाले भेदरहिता इत्यत्रार्थे सम्भावनाहेतून् भेर्यादिरूपान् दृष्टान्तान् यतो वच्मि अतः ते व्यामोहो माऽस्तु। कया ? स्थितौ अद्वितीयत्वप्रतिपादिकया मद्गिरा। इति द्वयोः सम्बन्धः।।३४२-३।।

अतः ब्राह्मण-क्षत्रिय जातियाँ, लोक, देव, भूतों सहित वेद, यह सारा जड-चेतन जगत् ब्रह्म है बस यही निश्चय रखना चाहिये।।३३८।। इसलिये यह आनंदरूप आत्मा ही ब्रह्म है, अद्वैत शिव है क्योंकि उससे पृथक् ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि कुछ नहीं है।।३३९।।—इस तरह श्रवण की रीति बतायी। शास्त्रप्राधान्येन कैसा समझना चाहिये यह उपदेश दिया।

अब मनन की रीति बताते हैं—जड-चेतन यह विश्व इस आत्मा में ही है, आत्मसत्ता से ही सत्तावान् हुआ मौजूद है। आत्मा से ही यह उत्पन्न होता है। प्रिये! यह सब हमेशा आत्मा में ही लीन होता है। आत्मज्ञान होने पर तो प्रपंच-प्रतीति कराने वाली अविद्या भी आत्मा में विलीन हो जाती है। जगत् के स्थिति आदि कालों में भी आत्मा अद्वितीय ही रहता है। इस बारे में 'ऐसा असंभव है' यह भावना हटाने में उपयोगी उदाहरण सुनाता हूँ।।३४०-१।।

स्थिति काल से संदर्भ में यों समझना चाहिये : तामस, राजस और सात्त्विक—तीन तरह स्थित जो पदार्थ हैं वे स्थितिकाल में आत्मा से भेद वाले नहीं हैं। यह जिनसे संभावित हो जायेगा ऐसे भेरी, शंख और तंत्री के दृष्टांत सुनाऊँगा। स्थितिकालिक अद्वितीयता बताने वाले मुझ विद्वान् की बातों से तुझे व्यामोह न हो जाये!।।३४२-३।। भेरी (ढोल), शंख और वीणा दण्डाघात आदि यथायोग्य निमित्त होने पर क्रूर, मध्यम और प्रिय शब्द हमेशा उत्पन्न करते

१. 'स यथा दुदुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः।।८।। ...शङ्खस्य... ।।९।। ...वीणायै...।।१०।।

भेरी शङ्खस्तथा वीणा क्रूरमध्यममञ्जुलान्। शब्दान् कुर्वन्ति सततं निमित्ते सति भामिनि।।३४४।।

भेरीशब्दस्तथा शङ्खशब्दोऽयमपरस्तथा। वीणाशब्द इति त्रेधा विशेषग्रहणं सति।
भेर्यादिशब्दसामान्याऽग्रहे नैवास्ति किञ्चन।।३४५।।

भेर्यादिशब्दसामान्यग्रहणे सत्यनन्तरम्। भैरः शाङ्खस्तथा वैणः शब्दोऽयं गृह्यते नृभिः।।३४६।।

सदानन्दात्मरूपस्य ज्योतिषां भासकस्य च। एवमग्रहणे नैव ग्रहणं कस्यचिद् भवेत्।।३४७।।

दृष्टान्तस्वरूपं व्याकरोति—भेरीति त्रिभिः। यथा भेर्यादयो वाद्यविशेषा निमित्ते दण्डमुखवायुकोणाद्यभिघातरूपे सति क्रूरान् वीरादिरसव्यञ्जकान्, मध्यमान् भयानकादिरसव्यञ्जकान्, मञ्जुलान् शृङ्गारादिरसव्यञ्जकांश्च शब्दान् उच्चनीचाद्यवान्तरभेदान् कुर्वन्तीत्यर्थः।।३४४।। भेरीशब्द इति। ते च शब्दविशेषा भेरीशब्दत्वादिसामान्यैः त्रेधा। तानि च त्रीणि सामान्यानि शब्दत्वसामान्यापेक्षया विशेषरूपाणि। हे सति! तेषां विशेषाणां ग्रहणं तु भेर्यादिशब्दसामान्यानां भेरीशब्दत्वादिरूपाणाम् अवान्तरसामान्यानां शब्दत्वरूपमहासामान्यस्य च अग्रहेऽग्रहणे सति नैव भवति, किन्तु भेर्यादिशब्दव्यापकसामान्यस्य ग्रहणे सति एव अनन्तरं भैरः भेरीसम्बन्धादिकृतो विशेषः तद्विशेषरूपश्च शब्दो गृह्यते। इति द्वयोरर्थः।

अत्रेदं बोध्यम्—'दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन' इत्यादिश्रुतौ दुन्दुभिपदेन शब्दत्वाख्यमहासामान्यव्याप्यं दुन्दुभिशब्दत्वसामान्यमुक्तम्। दुन्दुभ्याघातपदेन च तद्विशेषो वीरादिरसव्यञ्जकः शब्द उक्तः। शब्दपदेन च तद्विशेषा उच्चादिशब्दा उक्ताः। एवं शङ्खादिवाक्येऽपीति।।३४५-६।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—सदानन्दात्मेति। एवम् आत्मनोऽस्तिभातिप्रियमिति त्रिविधसामान्यरूपस्य स्फुरणरूपेण, महासामान्यरूपस्य च अग्रहणे सति कस्यापि पदार्थविशेषस्य ग्रहणं न भवतीत्यर्थः।।३४७।।

हैं (यहाँ क्रमशः भी वाद्यों की ध्वनियाँ क्रूरादि समझ सकते हैं या प्रत्येक वाद्य अवसरानुरूप क्रूरादि ध्वनियाँ करता है यह समझ सकते हैं।)।।३४४।। शब्दत्व और भेरीशब्दत्व आदि सामान्यों का ग्रहण हुए बिना भेरीशब्द, शंखशब्द, वीणाशब्द इन तीनों तरह के विशेषों का ग्रहण नहीं होता। भेरी आदि के शब्दसामान्य का ग्रहण होने के बाद ही लोग समझते हैं कि यह भेरी संबंधी है, शंखसंबंधी है, वीणासंबंधी है आदि। (अर्थात् पहले पता चलता है कि आवाज़ है, फिर यह कि ढोल की आवाज़ है और अंत में यह कि ढोल की अमुक (ऊँची, नीची, कोने की, बीच की आदि) आवाज़ है।)।।३४५-६।। इसी प्रकार ज्योतियों का भासक जो सदानंद आत्मा उसके ग्रहण के बिना किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं हो सकता। (जैसे शब्दसामान्य सुने बिना शब्दविशेष नहीं सुन सकते ऐसे सच्चिदानंद के स्फुरे बिना नाम-रूप नहीं भास सकते।)।।३४७।। संसार में जिस भी पदार्थ का ग्रहण किया जाता है वह हिरण्यगर्भात्मक ही है। पदार्थों का ग्रहण नाना तरह से होता है—यह, यह (अधिक निकटस्थ), वह, मैं आदि; और अनिर्वचनीय ममतादि प्रकारों से भी होता है—मेरा है, उसका है आदि। (क्योंकि नाना तरह से गृह्यमाण सभी हैं एक ही इसलिये जैसे एक रस्सी ही सर्प, माला आदि अनेक तरह ग्रहण की जाती है वैसे एक चेतन ही सब तरह ग्रहण हो रहा है।)।।३४८।। 'तुम' शब्द का अर्थ 'यह' इत्यादि अनेक तरह कहा जाता है और 'मैं' शब्द का अर्थ भी 'मैं, मेरा' आदि तरह से कहा जाता है। (संसार के सब पदार्थ 'वह', 'यह' आदि सर्वनामों से कहे जा सकते हैं। सभी सर्वनाम या उसे कहते हैं जो 'मैं' का अर्थ है या उसे जो 'तुम' का अर्थ हैं। यद्यपि 'तुम' सम्बोध्य चेतन को ही कहते हैं तथापि जैसे वह मैं-से भिन्न होता है वैसे घटादि भी और सत्ता तो दोनों की एक ब्रह्म ही है अतः सभी गैर-मैं के बोधक सर्वनामों को 'तुम' का अर्थ कहने वाला बता दिया। इस तरह 'मैं' और 'तुम' के अंतर्गत विश्व के सारे पदार्थ आ गये। अब इन दोनों का अभेद सिद्ध होने से अद्वैत स्फुट हो जायेगा! यह मनन की श्रुतिसंमत रीति है।)।।३४९।।

अयं वाऽप्येष वा भावः स चाऽहं चाऽत्र गृह्यते। प्रथमादिक एवाऽयमसत्सन्ममतादिभिः।।३४८।।

युष्मदोऽर्थः समुद्दिष्ट इदमादिरनेकधा। अहं-ममादिभिर्भावैरस्मदोऽप्यर्थ ईरितः।।३४६।।

लक्षणया युष्मदस्मत्पदयोरैकार्थ्यम्

युष्मच्छब्दोऽत्र यं ब्रूते ह्यस्मच्छब्दोऽपि तं पुनः। अर्थमाह यतो नेमौ भिन्नार्थौ स्तो विचारतः।।३५०

वागादि यो गतः शङ्खश्चेतनो देहसङ्गतः। अस्मदर्थं विजानाति मनसा भिन्नमेव सः।।३५१।।

युष्मदर्थात् परोऽप्येवमवगच्छति देहभाक्। अधिष्ठितं जडं सर्वं केनचिच्चेतनेन हि।।३५२।।

न यदात्मतया जन्तुर्गृह्णीयादस्ति नाऽत्र तत्। अविद्यामीश्वरः स्वात्मबुद्ध्या गृह्णाति निर्दयः।।३५३।।

अविद्याकार्यमखिलं सूक्ष्मं स्वात्मतया प्रभुः। हिरण्यगर्भो गृह्णाति विराजो जनकः पुमान्।।३५४।।

आत्मनः सामान्यरूपतां सर्वत्र अनुगमेन स्फुटयति—अयं वेत्यादिना। इदमादिभिरस्मदन्तैः सर्वनामसंज्ञैः शब्दैः विशेषसमर्पकैः, तथाऽसत्सद्भिरनिर्वचनीयैः ममत्वादिभिः प्रकारैश्च यो भावो गृह्यते विषयी क्रियते स सर्वोपि प्रथमादिक एव इत्यन्वयः। प्रथमः समष्ट्युपाधिको हिरण्यगर्भादिसंज्ञः, 'स वै शरीरी प्रथम' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः[1]। तथा च एकश्चेतन एव, स च सर्वात्मना स्थितो रज्जुरिव सर्पधारादिरूपैरिति भावः।।३४८।।

तद्रूपाणां युष्मदस्मच्छब्दार्थत्वरूपाभ्यां द्वेधा स्थितिरित्याह-युष्मदोऽर्थ इति। तत्र इदमादिशब्दैः उक्तो भावः युष्मच्छब्दार्थः। युष्मच्छब्दो हि सम्बोध्यचेतनाभिधायकः; चेतनसत्ता च जडेष्वपीति भावः। तथा अहंशब्देन प्रधानतया प्रत्यक्चेतनाभिधायकेन, ममशब्देन च उपसर्जनतया प्रत्यक्चेतनाभिधायकेन, आदिपदग्राह्यैः अनिदंपदादिभिः च अस्मदर्थतया स भाव उक्त इत्यर्थः।।३४६।।

भागत्यागलक्षणया[2] तु युष्मदस्मच्छब्दौ तुल्यार्थावित्याह—युष्मच्छब्दोऽत्रेति। अत्र उक्तविभागे सति अपि विचारतः विचारे क्रियमाणे यमर्थं युष्मच्छब्दो वदति तम् एव अस्मच्छब्दोऽपि वदति प्रतिपाद्यचेतनांशस्य उभयत्र समानत्वादिति।।३५०।। तयोः समानार्थत्वं स्फुटयितुं युष्मदर्थतया प्रसिद्धे पराक्पदार्थेऽप्यस्मदर्थसत्त्वं दर्शयति—वागादीति द्वाभ्याम्। यः पदार्थः शङ्खः शङ्खादिजडरूपतया प्रसिद्धोऽपि यदा वागादिकं करणजातं गतः प्राप्तोऽभवद् भवेद्वा तदा चेतनः चेतनत्वव्यवहारयोग्यो देहसङ्गतः देहतादात्म्याभिमान्यपि सन् अस्मदर्थम् आत्मानं युष्मदर्थात् स्वाऽपेक्षया भिन्नात् सर्वस्माद् भिन्नमेव अवगच्छति। एवम् अन्योऽपि युष्मदर्थतयाऽभिमतश्चेतनः स्वात्मानं सर्वस्माद् भिन्नतयाऽवगच्छति। सर्वजडस्य चेतनव्याप्तत्वेन तच्छरीरत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।३५१-२।। सर्वस्य जडस्य चेतनाधिष्ठितत्वमेव विशदयति— न यदात्मतयेति। यद् जडं चेतन आत्मतया न गृह्णाति एतादृशं जडं किञ्चिद् नाऽस्ति यतः सर्वेषां जडानां मूलभूताऽविद्या ईश्वरेण उपाधित्वलक्षणशरीरत्वेन गृहीता सूक्ष्म-

विचार करें तो पता चलता है कि पूर्वोक्त व्यावहारिक विभाजन रहने पर भी 'तुम' शब्द जो अर्थ कहता है उसे ही 'मैं' शब्द भी कहता है क्योंकि इनके द्वारा प्रतिपाद्य चेतनांश समान होने से ये भिन्नार्थक हैं ही नहीं।।३५०।। यद्यपि शंख जडरूप से प्रसिद्ध है तथापि जो शंख वाणी आदि इंद्रियाँ (पुर्यष्टक) प्राप्त किये रहता है वह चेतन ही होता है, उसे (शंखकीट को) अपने देह में तादात्म्याभिमान भी होता है। वह अपने मन से सभी 'तुम'-शब्दार्थों से 'मैं'-शब्दार्थ को अलग ही समझता है। इसी प्रकार अन्य देहधारी भी जिन्हें हम 'तुम' समझते हैं वे स्वयं को सभी 'तुम'-शब्दार्थों से पृथक् ही समझते हैं। सारा ही जड किसी-न-किसी चेतन से अधिष्ठित (व्याप्त, तादात्म्यबुद्धिविषय) ही होता है।

१. उद्धृतवाक्यं पौराणिकतया प्रसिद्धम्। २. 'इदं सर्वं यदयमात्मे' ति वाक्येऽभेदउक्त इति लक्षणया विना तदनुपपत्तिरनुसन्धेया।

अविद्याकार्यमखिलं स्थूलं स्वात्मतया विराट्। महाभूतादिसहितं ब्रह्माण्डं प्रतिपद्यते।।३५५।।

जडजातं परं सर्वं कश्चित्किञ्चित्प्रपद्यते। जन्तुरात्मतया तस्मात् सर्वं चेतनपालितम्।।३५६।।

एकैकापेक्षया सर्वं युष्मदर्थो भवेत् सदा। गृहीतं स्वतयाऽन्यत्र[1] स्वग्रहे चाऽस्मदर्थता।।३५७।।

अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मा कस्यापि नैव सः। अर्थः शब्दस्य किन्त्वत्र स्फुरणं परिकीर्तितम्।
शब्दार्थज्ञानरूपस्य प्रपञ्चस्यानपायि तत्।।३५८।।

एकार्थौ तत एवेमौ शब्दौ यौ युष्मदस्मदौ। इदमाद्यास्ततः शब्दास्तयोरर्थस्य वाचकाः।।
एकार्थास्तेऽपि विज्ञेयास्तमःसत्त्वरजोऽभिधाः।।३५९।।

समष्टिश्च हिरण्यगर्भेण शरीरतया गृहीता। इति द्वयोरर्थः।।३५३-४।। अविद्याकार्यमखिलमिति। **तथा स्थूलसमष्टिं** विराट् **शरीरतया गृह्णातीत्यर्थः।।३५५।।** जडजातमिति। **तथा सर्वं व्यष्टिरूपं** जडजातम् **अपि अनेकचेतनैः शरीरतया गृहीतमित्यर्थः।।३५६।। एवं सति सर्वस्य भावस्य भावनाभेदेन युष्मदस्मच्छब्दार्थतेत्याह**—एकैकापेक्षयेति। सर्वं **वस्तु प्रत्येकस्य सर्वस्य अपेक्षया** स्वतया **स्वकीयतया** गृहीतं **सद्** युष्मदर्थो भवेत्, अन्यत्र **युष्मदर्थाद् भिन्ने तु** अस्मदर्थता। **क्व ? सति** स्वग्रहे **स्वत्वेन आत्मत्वेन ग्रहणे सतीत्यर्थः।।३५७।। वस्तुतस्तु आत्मा कस्यापि पदस्य वाच्यार्थो न भवति किन्तु लक्ष्य एव, अधिष्ठानत्वेन सर्वसम्बद्धत्वादित्याह**—अवाङ्मनसेति। कस्यापि **पदस्य अर्थो वाच्यो न भवति** किन्तु **अत्र आत्मनि स्वरूपतया वर्तमानं यत्** स्फुरणं तत् सर्वप्रपञ्चस्य अनपायि **अधिष्ठानत्वेन व्यापकं भवति। अतो लक्ष्यमेवेति शेषः।।३५८।। फलितमाह**—एकार्थाविति। ततः **तमात्मरूपं लक्ष्यार्थमादाय** युष्मदस्मदौ **समानार्थौ। तयोरेकार्थत्वे तु तदर्थव्याप्यार्थका इदमादिशब्दा** अप्येकार्थाः। **कीदृशा इदमादिशब्दाः ? तामसादिपदार्थानां प्रतिपादका इत्यर्थः।।३५९।।**

संसार में ऐसा कोई जड नहीं है जिसे कोई-न-कोई जन्तु 'मैं' न समझता हो। अविद्या को भी 'मैं'- बुद्धि से दयाहीन ईश्वर ग्रहण करता है। अविद्याजन्य सभी सूक्ष्म पदार्थों को 'मैं' समझते हैं जो विराट् के जनक पुरुष प्रभु हिरण्यगर्भ हैं। अविद्या के सब स्थूल कार्यों को—महाभूतों समेत ब्रह्माण्ड को—विराट् 'मैं' समझता है। अन्य जो व्यष्टिरूप जड पदार्थ हैं उनमें किसी को कोई जन्तु, अन्य को कोई और जन्तु आत्मरूप से समझता है। इसलिये सभी चेतन द्वारा पालित हैं।३५१-६।। हर-एक 'स्व' की अपेक्षा से कहने पर जो स्व के रूप में नहीं समझा जाता वह शब्द हमेशा 'तुम' शब्द का अर्थ हो जाता है। स्व.के रूप से ग्रहण होने पर 'मैं' शब्द का अर्थ हो जाता है। (तात्पर्य है कि जिसे हम मैं नहीं समझते उसे 'तुम' समझते हैं चाहे वह स्वयं को 'मैं' और हमें 'तुम' समझता है! अतः 'तुम' और 'मैं' शब्दों के सर्वथा स्वतंत्र अर्थ नहीं हैं, इनके अर्थों में सापेक्ष भेद है। सापेक्ष मिथ्या होता है। अतः इनके अर्थों में कोई भेद नहीं है। फलतः इन्हीं के विशेष यह, वह आदि शब्दों के भी भिन्न अर्थ नहीं हो सकते जिससे स्थितिकाल में ही अद्वैत सिद्ध होता है।)।।३५७।। यह आत्मा मन-वाणी का विषय नहीं। यह किसी भी शब्द का वाच्यार्थ नहीं है। शब्द-अर्थ-ज्ञानरूप प्रपंच का अधिष्ठान होने से प्रपंच में व्यापक (अनुगत) वह स्फुरण है जो आत्मा का स्वरूप है। इसलिये आत्मा शब्दों से लक्ष्य ही होता है। (वाच्यसंबंध लक्षणा होती है, अधिष्ठानता यहाँ संबंध है।)।।३५८।। आत्मरूप उस लक्ष्यार्थ की दृष्टि से 'तुम' और 'मैं' शब्द एक अर्थ वाले ही हैं। 'यह' आदि शब्द भी इन्हीं के अर्थों के वाचक हैं, जब ये ही एकार्थक हैं तब उनकी ('वह' आदिकी) भी एकार्थकता सुनिश्चित है। तामस, सात्त्विक, राजस पदार्थों के वाचक 'यह' आदि शब्द भी आत्मरूप लक्ष्यार्थ की दृष्टि से अद्वैत अर्थ के ही बोधक हैं।।३५९।।

---

१. स्वतयाऽन्यत्र गृहीतं सर्वं युष्मदर्थ इत्यन्वयः। यद् न स्वतया गृह्यते तद् युष्मदर्थ इत्यर्थः।

लक्ष्यस्वरूपम्

सर्वत्र चैक एवाऽयं ज्योतिषां ज्योतिरव्ययः। आनन्दात्मा स्फुरत्यस्मिन् विशेषोऽध्यस्यते नृभिः॥३६०॥
यथा भेर्यादिसामान्ये स्फुरत्यविरते सति। भैरादिकस्ततो ज्ञेयो विशेषो मन्दबुद्धिभिः॥३६१॥
अहन्त्वमयमित्यादिव्यवहारो न सम्भवेत्। असति स्फुरणे तच्च ज्योतिषां ज्योतिरीरितम्॥३६२॥
स्थितौ सर्वं जगत्तस्मादानन्दात्मा स्वयंप्रभः। उक्तः प्रियतमो यस्ते प्रिये! तस्मान्न चापरः॥३६३॥

अद्वैतादुत्पत्तिः

उत्पत्तौ शृणु दृष्टान्तमात्मनो भेदवर्जने। महतो ज्वलतो वह्नेः स्फुलिङ्गा धूमसंयुताः। जायन्ते सदृशाः केचिद् यथा विसदृशा अपि॥३६४॥

योऽयं सर्वपदानामेको लक्ष्यार्थः स किमात्मकः? इत्यपेक्षायाम् आह—सर्वत्रेति। सर्वत्र सर्वपदार्थेषु॥३६०॥ वर्णितात्मभानपूर्वकमेव सर्वभानमित्येतद् उक्तदृष्टान्तयोजनपूर्वकमाह—यथेति द्वाभ्याम्। यथा भेर्यादिशब्दसामान्येऽविरते—उपराममप्राप्ते, अत एव स्फुरति भासमाने सति भैरः भेरीशब्दान्तर्गतो विशेषः, श्रुतौ 'बाह्य'-पदोक्तो ज्ञेयो भवति। तथा सर्वोऽहमादिव्यवहार आत्मस्फुरणे सति भवति, असति तु न भवति। इति द्वयोरर्थः॥३६१-२॥

स्थितिदृष्टान्तव्याख्यानमुपसंहरति—स्थिताविति। तस्मात् स्थितिकाले सर्वमद्वितीयात्मरूपमेव। कोऽसावात्मेति चेद्? यस्ते तुभ्यं प्रियतमत्वेन उक्तः स एव नाऽपर इत्यर्थः॥३६३॥

अथोत्पत्तेः पूर्वमपि अद्वैतप्रतिपादिकाया एकादशकण्डिकाया[1] अर्थं प्रपंचयति—उत्पत्ताविति ऊनपंचाशच्छ्लोकैः।

सभी पदों का जो एक लक्ष्यार्थ वह सर्वत्र एक ही है, ज्योतियों की ज्योति है, इसमें कभी कमी आती नहीं, आनंदस्वरूप है, उसके स्फुरणे पर ही लोग विशेषों का (नाम-रूपों का) अध्यास करते रहते हैं।॥३६०॥ जैसे भेरी आदि का शब्दसामान्य लगातार स्फुरित होता रहता है तभी मंदबुद्धि वाले समझते रहते हैं 'यह भेरीशब्द का अमुक विशेष है', ऐसे ही आत्मस्फुरण रहते 'मैं-तुम-यह' आदि व्यवहार होता है, आत्मा स्फुरे बिना नहीं होता। वही आत्मा ज्योतियों की ज्योति कहा गया है। (दृष्टान्त में भेरीशब्दसामान्य को सत्य और शब्दविशेष को कल्पित कहा; जो कान से सुना जाये, जिसे यन्त्रादि से मापा जा सकता है, वह शब्दसामान्य है, उसकी 'वैषयिक सत्ता' है, श्रोता से निरपेक्ष उसका अपना स्वरूप है। शब्दविशेष वह है जिसे वीरादि रस का अभिव्यंजक आदि माना जाता है, जो प्रिय-अप्रिय आदि होता है; वह श्रोता के संस्कारों पर निर्भर करता है अतः उसकी 'ज्ञातृसापेक्ष सत्ता' है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्दसामान्य क्योंकि एकरूप है, निरपेक्ष है इसलिये सत्य है और शब्दविशेष विभिन्न श्रोताओं के लिये विभिन्न रूपों वाले हैं, सापेक्ष हैं इसलिये प्रातिभासिक हैं। दार्ष्टान्त में भी सच्चिदानंदस्वरूप एकरस निरपेक्ष सत्य है। मैं आदि व्यवहार पूर्वदर्शित रीति से सापेक्ष अतः असत्य है क्योंकि 'न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्' यह सर्वज्ञमुनि की घोषणा है।)॥३६१-२॥ प्रिये मैत्रेयि! इसलिये स्थितिकाल में सारा जगत् स्वयंप्रकाश आनंदरूप आत्मा है। जिसे मैंने प्रियतम बताया था वही यह आत्मा है, और कोई नहीं। ('इसलिये'—१) एकार्थक शब्दों से व्यवह्रियमाण पदार्थ अभिन्न होते हैं जैसे जल, पानी, नीर आदि से कहा जाने वाला महाभूत; सारा संसार जिन शब्दों से कहा जाता है वे सब एकार्थक हैं, इसलिये संसार अभिन्न है। २) जिसके लगातार भासमान रहने पर जो विशेष प्रतीत होते हैं वे उस लगातार भासमान पर कल्पित होते हैं जैसे भेरी शब्दविशेष भेरीशब्द-सामान्य पर; आत्मस्फुरण रहने पर ही सांसारिक विशेष प्रतीत होते हैं, इसलिये ये विशेष आत्मस्फुरण पर कल्पित हैं अतः उससे भिन्न नहीं हैं। इत्यादि ढंग से विचार करना चाहिये।)॥३६३॥

१. 'स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि॥११॥'

आनन्दात्मन एवं तच्चेतनोऽचेतनं जगत्। सर्वमुत्पद्यते नित्यं प्रिये! भेदविवर्जनात्।।३६५।

जडाजडमिदं जातं जानीषे त्वं स्वयं प्रिये। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।।३६६।।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। इत्यादिवचनाद्धित्वा वेदराशेस्तु सम्भवम्।।३६७।।

वेदानां शब्दसन्दर्भरूपाणामत एव ते। वक्ष्याम्युत्पत्तिमखिलामानन्दात्मस्वरूपतः।।३६८।।

अग्नेर्यद्वद् विजातीयो धूमो मैत्रेयि जायते। अभ्रंलिहो महान् लोके शुष्कार्द्रेन्धनसंचयात्।।३६९।।

एवं नानाविधज्ञानसम्पन्नात् परमात्मनः। शब्दराशिरयं वेदो विजातीयः प्रजायते।।३७०।।

जगत उत्पत्त्युपलक्षितकालेऽपि यद् आत्मनो भेदवर्जनं भेदराहित्यं तत्र दृष्टान्तं शृणु—यथा भेदवर्जनात् कार्योत्पत्तेः पूर्वं निर्भेदात् ज्वलत आहितेन्धनाद् वह्नेः धूमाः तदुपलक्षिताः स्फुलिङ्गाङ्गारादयश्च जायन्ते, तथाऽऽत्मनः सर्वं जगत् जायते। इति द्वयोः सम्बन्धः।।३६४-५।। जडाजडमिति। हे प्रिये! इदं स्थूलं जगत् जडाजडरूपं यथा हिरण्यगर्भाज्जातं तथा त्वं स्वयं जानीषे। कुतः ? 'तेषां च नामरूपाणि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः' इत्यादिस्मृतिवाक्यात्, सूर्येत्यादिश्रुतिवाक्याच्च। परन्तु वेदात्मकशब्दराशेः सम्भवं त्वं न जानीषे। इति द्वयोरर्थः।।३६६-७।। वेदानामिति। अतः त्वयाऽविज्ञातत्वाद् एव वेदानामुत्पत्तिः परमात्मन एव अखिला सर्वविधा हिरण्यगर्भादिव्यापारानपेक्षा इति यावत्, सा यथा भवति तथा तुभ्यं वक्ष्यामि इत्यर्थः।।३६८।। अग्नेरिति। यथाऽनायासाद् अग्नेः स्वरूपाद् विलक्षणो धूमो जायते तथा चिद्रूपात् परमात्मनः शब्दात्मकत्वेन विलक्षणो वेदो जायते। इति द्वयोरर्थः।।३६९-७०।।

जगत् की उत्पत्तिका जो काल समझा जाता है उसमें भी आत्मा की भेदरहितता, अद्वितीयता के लिये दृष्टान्त सुन : महान् जलती आग से चिन्गारी, धुँआ आदि उत्पन्न होते हैं जिनमें कुछ—जैसे चिन्गारी—आग जैसे होते हैं। और कुछ—जैसा धूम—आग जैसे नहीं भी होते। इसी तरह कार्योत्पत्ति से पूर्व जिसमें कोई भेद नहीं उस आनंद-आत्मा से यह चेतन-अचेतन सारा जगत् हमेशा उत्पन्न होता है। ('हमेशा' अर्थात् हर बार सृष्टि के समय। एकरूप आग से अनेकरूप कार्य होते हैं ऐसे ही एकरूप आत्मा से नानारूप जगत्।)।।३६४-५।। हे प्रिये! 'उस महेश्वर ने वेद के शब्दों से ही जगत् का निर्माण किया', 'विधाता ने पहले की तरह ही सूर्य-चंद्र बनाये' इत्यादि वचनों से तुम जानती ही हो कि जड-चेतन यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है। वेदरूप शब्दराशि भी उन्हीं से बनी यह अभी तुम्हे पता नहीं है। इसलिये मैं बताता हूँ कि शब्दों में ग्रथित रूप वाले वेदों की सारी उत्पत्ति आनंदात्मस्वरूप अर्थात् परमात्मा से ही होती है। ('सारी उत्पत्ति' अर्थात् जैसे सिर्फ माया को उपाधि रूप से ग्रहण कर महाभूत पैदा होते हैं वैसे वेद भी केवल माया की उपाधि से हुए हैं, इनके लिये समष्टिसूक्ष्मादि उपाधियाँ द्वार नहीं बनीं। सारसंग्रह में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है 'आनुपूर्वीस्वरादिविशेषवद्वाक्यात्मनो वेदस्य रज्जुसर्पादेरिव अज्ञातब्रह्मविवर्तत्वेन अभौतिकत्वात्।'(२.६)। अत एव जन्मादिसूत्र से पृथक् शास्त्रयोनिसूत्र शास्त्रोत्पत्ति समझाने के लिये रचना पड़ा यह मान्य है। मैत्रेयी बाकी की उत्पत्ति जानती थी लेकिन प्रायः वेद अपौरुषेय कहलाने से उसे भ्रम हो सकता था कि वेद ईश्वर से भिन्न होंगे अतः याज्ञवल्क्य स्पष्ट कर रहे हैं। वेदप्रामाण्य आगे स्थापित करेंगे।)।।३६६-८।। हे मैत्रेयि! सूखे-गीले ईंधन के ढेर में लगी आग से अत्यधिक धुआँ उत्पन्न होता है जो आसमान छूता है और आग की अपेक्षा विजातीय होता है यह लोक में प्रत्यक्ष है। ऐसे ही विभिन्न ज्ञानों से संपन्न परमात्मा से यह वेद उत्पन्न होता है जो क्योंकि शब्दराशिरूप है इसलिये परमात्मा से विजातीय है। (ईंधनस्थानीय यहाँ माया और 'धर्म-ब्रह्म का उपदेश दूँ' ऐसा संकल्प समझने चाहिये।)।।३६९-७०।।

वेदप्रामाण्यचर्चा

शब्दे मानान्तरापेक्षा जायते यत्र तत्र सः। उत्पद्यते विचार्यैव यथालोकरवोऽधुना।।३७१।।

नायं तथा समुत्पन्नः किन्तु निःश्वाससन्निभः। स्वप्रभादात्मनो जातो यथाभूतार्थवादिनः।।३७२।।

विचार्य पुरुषोऽसम्यग्रचयेद् वचनं हि यत्। पौरुषेयं हि तज्ज्ञेयं वेदवाक्यं न चेदृशम्।।३७३।।

अविचार्य तु यद् ब्रूयाद् ब्रह्मलोकेप्यनीश्वरः। स्वार्थं व्यभिचरेत्तत्तु नैवमीश्वरभाषितम्।।३७४।।

ततो मानान्तरापेक्षा वेदवाक्ये न विद्यते। न स्वार्थव्यभिचारश्च मानं तेनाऽयमीरितः।।३७५।।

ननु यदि वेद उत्पद्यते तदा तस्य पौरुषेयत्वापत्तिः ? इति शङ्कां वारयितुं तदुत्पत्तिं लौकिकशब्दोत्पत्तेर्विलक्षणां दर्शयति—शब्द इति द्वाभ्याम्। यत्र शब्दे जायमाने विवक्षितार्थनिश्चयाय प्रमाणान्तरापेक्षा जायते तत्र व्यवहारे स शब्दो विचार्यैव आलोचनपूर्वकमेव उत्पद्यते यथाऽऽधुनिको लोकरवः लौकिकशब्द इत्यर्थः।।३७१।। नायमिति। अयं वेदस्तु तथा आलोचनपूर्वकं न जायते किन्तु निःश्वासवद् अयत्नत एव परमात्मनो जायत इत्यर्थः।।३७२।। तथा च पुरुषेण अर्थालोचनपूर्वकं निर्मितं वाक्यं पौरुषेयम्। तादृशं तु वेदवाक्यं न भवतीत्याह—विचार्येति। यद् वचनं पुरुषो विचार्य रचयेत् तत् पौरुषेयम् इत्युक्तम्। कीदृशं तद्वचनम्? असम्यग् यावच्चिन्तितार्थप्रकाशनाऽसमर्थम्। न हि सिताक्षीरादिमाधुर्यावान्तरविशेषः पुरुषवचसा प्रकाशयितुं शक्यः। वेदवाक्यं तु ईदृशं विचारजन्यमसम्यग् न भवतीत्यर्थः।।३७३।। तर्हि पौरुषेयमपि वाक्यम् अविचार्यैवोक्तं वेदवत् प्रमाणं स्यादिति चेद् ? न। प्रमत्तगीतवदर्थव्यभिचारित्वेन सुतराम् अप्रामाण्याद् इत्याशयेनाह—अविचार्येति। अनीश्वर ईश्वरभिन्नः पुरुषो ब्रह्मलोकेऽपि वर्तमानो यद् वाक्यम् अविचार्य ब्रूयात् तत् स्वार्थं व्यभिचरेद् एवेति नियमः। ईश्वरभाषितं तु वेदरूपम् एवम् अविचार्योक्तत्वे सति स्वार्थव्यभिचारि न भवतीत्यर्थः।।३७४।। ततोऽज्ञाताबाधितार्थत्वेन वेदस्य मुख्यं प्रामाण्यं सिद्धमित्याह—तत इति। ततः अविचार्येश्वरोक्तत्वात् प्रतिपाद्यार्थप्रकाशनाय प्रमाणान्तरापेक्षा स्वार्थव्यभिचारश्च न अस्ति तेन अनुवादकत्व-बाधितार्थत्व-रूपदोषद्वयाभावेन वेदो मानं प्रमाणराज ईरितः।।३७५।।

वेद उत्पन्न होते हैं तो पौरुषेय होंगे ? इस शंका का स्पष्ट समाधान करते हैं—जहाँ शव्द होने पर उसके विवक्षित अर्थ के निश्चय के लिये अन्य प्रमाण की ज़रूरत पड़े वहाँ यही देखा गया है कि वह शब्द विचारपूर्वक ही पैदा किया जाता है जैसे अभी हमारी बात-चीत में कहे जाते शब्द। किन्तु यह वेद उस प्रकार विचारपूर्वक नहीं पैदा होता बल्कि जैसे हम साँस छोड़ते हैं ऐसे बिना किसी यत्न के ही यह उस स्वप्रकाश परमात्मा से पैदा हुआ है जो सत्य ही बोलता है।।३७१-२।। पुरुष विचारः कर जिस असम्यक् वचन की रचना करता है वह वचन पौरुषेय होता है। वेदवाक्य ऐसा नहीं है। ('असम्यक्' इसलिये कि बुद्धिस्थ समूचा अर्थ किसी भी शब्द से नहीं कहा जा सकता! भामती में बताया 'सर्वमेव हि वाक्यं नेदन्तया वस्तुभेदं बोधयितुमर्हति' (पृ. ५)। अत एव एक ही विषय के 'सही' वर्णन भी विभिन्न होते हैं, अलग लोग अलग ढंग से कहते हैं, फिर भी सभी तरहों से कहा जा चुका ऐसा नहीं निर्णीत हो सकता। अतः विचारपूर्वक भी जीव जो कहेगा वह असम्यक् ही होगा।)।।३७३।। जीव तो चाहे ब्रह्मलोक में भी क्यों न हो, बिना विचारे वह जो बात कहेगा वह अपने अर्थ के अनुरूप नहीं होगी। किंतु ईश्वरप्रोक्त वेदरूप वचन ऐसा नहीं; वह विचारपूर्वक नहीं कहा गया लेकिन है वह अपने अर्थ के अनुरूप ही, सच्चे अर्थ का ही बोधक है।।३७४।। इस प्रकार वेदवाक्य को अपने प्रतिपाद्य अर्थ के प्रकाशन के लिये न किसी अन्य प्रमाण की ज़रूरत है और न ऐसा ही है कि वह जैसा कहता है वैसी वास्तविकता न हो। अत एव यह सर्वप्रवल प्रमाण कहलाता है।३७५।।

शब्दमात्र औत्सर्गिकमानता

अप्यनाप्तेन चोक्तस्य व्यभिचारो न विद्यते। शब्दस्यार्थेन कुत्रापि कथं वेदस्य स स्मृतः।।३७६।।

सन्ति तीरे फलान्यस्य नद्या इति वचो यतः। अर्थबोधं करोत्येव परमर्थो न दृश्यते। अबोधकत्वात् प्रत्यक्षं तत्र मानं न तद्भवेत्।।३७७।।

शब्दस्तु बोधकत्वेन मानं तत्र भविष्यति। मानामानव्यवस्थेयं बोधाऽबोधकृता यतः।।३७८।।

बोधकं च न चेद् मानं येषां तेषां कुतो हि तत्। मानस्य मानता नैव समर्थायाः प्रवृत्तितः।।३७९।।

प्रवृत्तेरपि बोधेन विना नैवोदयो यतः। कुतः सामर्थ्यमेतस्या बोधशून्यं भविष्यति।। समर्थता च विज्ञेया सुखदुःखकृतेर्बलात्।।३८०।।

अथ वेदप्रामाण्ये कैमुत्यन्यायं स्फुटयन् लौकिकशब्दानामपि औत्सर्गिकं प्रामाण्यं मीमांसकमतप्रसिद्धं[1] दर्शयति—अप्यनाप्तेनेत्यादिना। अपि किं च अनाप्तेन विप्रलम्भकतया प्रसिद्धेन पुरुषेण अपि उक्तस्य शब्दस्य वाक्यस्य अर्थव्यभिचारो न भवति, किमुत वेदस्य अपौरुषेयस्य सः अर्थव्यभिचारो भवेदित्यर्थः।।३७६।। अनाप्तोक्तवाक्यमुदाहृत्य तस्य मानतामुपपादयति—सन्तीति द्वाभ्याम्। अस्य पथिकस्य योग्यानि फलानि नद्यास्तीरे सन्ति इति आकारकम् अनाप्तोक्तमपि वाक्यम् अर्थस्य नदीतीरगतफलरूपस्य बोधं करोत्येव अतस्तदप्युत्सर्गतः प्रमाणमेवेति शेषः। परन्तु सोऽर्थो न दृश्यते वाक्यश्रवणकाले पथिकेन न साक्षात्क्रियते। अतः तत्र अर्थे प्रत्यक्षं न मानं भवेद् अबोधकत्वाद् इति सम्बन्धः।।३७७।। शब्दस्त्विति। किन्तु तत्र अर्थे शब्द एव मानं बोधकत्वाद्, यतो मानामानयोर्व्यवस्था स्वरूपविभागो बोधकत्वाबोधकत्वाभ्यामेव कृता। मानं हि व्यञ्जकं, न कारकम्। अतो बोधकतयैव तस्य मानत्वं विज्ञेयं नान्यथेत्यर्थः।।३७८।।

संवादिप्रवृत्त्याऽनुमेयं ज्ञानप्रामाण्यमितिवदतां नैयायिकादीनां मतं प्रत्याह—बोधकमिति। येषां वादिनां मते बोधकमात्ररूपं मानं [न] भवति तेषां मते तद् मानस्वरूपं कुतः सिद्ध्यति? समर्थायाः प्रवृत्तेर्हेतोरिति चेद्? नेत्यर्थः।।३७९।। तत्र समर्थां प्रवृत्तिं हेतुतया वदन् प्रष्टव्यः—किं प्रवृत्तेः सामर्थ्यं समो बोधेन समानोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तत्त्वम् इति व्युत्पत्त्या शकन्ध्वादित्वेन च समानविषयत्वरूपं ? किं वा सम्यग् विद्यमानोऽर्थः फलं यस्याः इति व्युत्पत्त्या सम्प्रयोजनत्वरूपम्? आद्ये, साम्यप्रतियोगिनं बोधं प्रति एव प्रवृत्तेर्लिङ्गत्वं भविष्यति इति सूचयन् प्रवृत्तेस्तद्धर्मसामर्थ्यस्य च बोधसापेक्षतामाह—प्रवृत्तेरपीति। बोधेन इष्टसाधनता विषयकेन विना प्रवृत्तिसामान्यस्य अपि उदयाभावाद् एतस्याः प्रवृत्तेः सामर्थ्यं बोधशून्यं बोधनिरपेक्षं कुतः स्यादित्यर्थः। अन्त्येऽपि, सुखादिलक्षणप्रयोजनोपयोगिनं बोधमात्रमेव आक्षिपेत्—प्रवृत्तिर्न प्रमाणं, परम्परया प्रयोजकत्वेनान्यथा-सिद्धत्वाद्—इति दर्शयंस्तादृशी च समर्थताऽनाप्तवाक्येऽप्यस्तीत्याह—समर्थता चेति। सुखदुःखयोः कृतेरारम्भस्य बलाद् अन्यथानुपपत्तेः विज्ञेया समर्थता त्वनाप्तवाक्येऽप्यस्तीति शेषः।।३८०।। अनाप्तवाक्ये तत्सत्त्वमेव

अनाप्त द्वारा कहे शब्द का भी अर्थ से व्यभिचार कहीं नहीं होता तो वेद का स्वार्थ से व्यभिचार कैसे हो सकता है! ।।३७६।। कोई अनाप्त—झूठ बोलने वाला—व्यक्ति कहता है 'यह यात्री ग्रहण करे इस लायक फल नदीकिनारे मौजूद हैं।' यह वाक्य अपने अर्थ का ज्ञान कराता ही है अतः उत्सर्गतः सामान्य नियम के अनुसार यह भी प्रमाण ही है। वाक्य सुनते समय (या बाद में भी) वह अर्थ (नदीतीर पर मौजूद फल) पथिक को दीखता नहीं अतः यही कह सकते हैं कि उस अर्थ में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है क्योंकि वह उस अर्थ का बोधक नहीं बन पा रहा।।३७७।। शब्द तो उस अर्थ में प्रमाण ही है क्योंकि उस अर्थ का बोध करा रहा है। जो बोधक होता है वह प्रमाण होता है, जो बोधक नहीं होता वह प्रमाण नहीं होता—यही व्यवस्था है।।३७८।।

---

१. ज्ञानमात्रे प्रामाण्यमङ्गीकुर्वतामस्ति द्विविधं प्रामाण्यम्—औत्सर्गिकं, विचारितं चेत्यादि रत्नरक्षा-न्यायरत्नावल्यादौ द्रष्टव्यम्।

न ह्यनाप्तस्य वाक्येन प्रवृत्तस्याऽत्र वादिनः। सुखदुःखे न जायेते नदीतीरस्य दर्शनात्।।३८१।।
प्रवृत्तिर्नैव काचित् स्यादुभयोर्लोकवेदयोः। कुर्याद् या सुखमेवैकं दुःखगन्धविवर्जितम्।।३८२।।
अपि कुत्रापि नैवास्ति सुखं दुःखविवर्जितम्। इति तार्किकसङ्केतो महानस्ति यतो हि ते।।३८३।।
भीता मोक्षेऽपि नेच्छन्ति परमानन्दरूपिणि। आनन्दं तत एवैतद् यत्किंचित् त्वीरितं भवेत्।।३८४।
बोधकत्वं ततो माने मानतायां हि कारणम्।[1] बोधको विद्यते शब्दः प्रत्यक्षं नैव तादृशम्।।
ततोऽनाप्तस्य वाक्ये स्याच्छब्दो मानमनिन्दितम्।।३८५।।

व्यतिरेकमुखेनाह—न हीत्यादिना। अनाप्तस्य वादिनो वक्तुः वाक्येन प्रवृत्तस्य पथिकस्य नदीतीरं दृष्ट्वा सुखादिकं न जायत इति न हि, किन्तु जायत एवेत्यर्थः।।३८१।। ननु फललाभे पथिकः सुखमेव प्राप्नुयाद् इति वक्तव्ये सुखदुःखयोरुभयोः फलत्वेन निर्देशोऽनुचित इति चेत्? किमस्थाने भ्रान्तोऽसि! किं न जानासि प्रवृत्तिसामान्यस्य दुःखहेतुतां, 'कष्टं कर्मे' ति न्यायसिद्धाम्? इत्याशयेनाह—प्रवृत्तिर्नैवेति। एतादृशी प्रवृत्तिः कापि न अस्ति या सुखमेव जनयेदित्यर्थः।।३८२। अत्रार्थे तार्किकसिद्धान्तोऽप्यनुकूल इत्याह—अपि कुत्रापीति। दुःखविवर्जितं दुःखाऽसमानाधिकरणं सुखं कुत्रापि नास्ति इति आकारकः तार्किकाणां सङ्केतोऽभिप्रायो महान् दुरतिक्रमः अस्ति। तस्य महत्त्वमुपपादयति—यत इत्यादिना। ते तार्किका यतः स्वसङ्केताद् भीताः सन्तः श्रुतिप्रसिद्धपरमानन्दरूपे मोक्षेऽपि आनन्दं नेच्छन्ति नाङ्गी कुर्वन्ति, किन्तु दुःखाभावरूपतयैव मोक्षस्य पुरुषार्थतामुपपादयन्ति इत्यतस्त्वया यदेतत् प्रवृत्तेः सुखमात्रहेतुत्वमुक्तं तद् यत्किंचित् तुच्छम्। इति द्वयोरर्थः।।३८३-४।।

फलितमाह—बोधकत्वमिति। तत उक्तविधया मानस्य बोधमात्रजननक्षमत्वाद् माननिष्ठायां मानतायां बोधकत्वम् एव कारणं प्रयोजकम्। तच्च बोधकत्वं यादृशं शब्दे वर्तते तादृशं प्रत्यक्षादौ नास्ति। अतोऽनाप्तवाक्यरूपोदाहरणेऽपि शब्दो मानम् इति अनिन्दितं युक्तमेवेत्यर्थः।।३८५।।

जिन तार्किकादि के मत में बोधक प्रमाण नहीं माना जाता उनके अनुसार प्रमाण का स्वरूप कैसे सिद्ध होगा? समर्थ प्रवृत्ति से प्रमाण की प्रमाणता होती है यह अमान्य है। (समर्थ प्रवृत्ति पर स्वयं विचार कर रहे हैं—)।।३७९।। प्रवृत्ति समर्थ है इसका एक अर्थ यह है कि प्रवृत्ति का विषय वही है जो बोध का विषय है। दूसरा अर्थ है कि प्रवृत्ति सप्रयोजन है। प्रथम अर्थ ग्रहण करें तो बोधसमानार्थक प्रवृत्ति से बोध में प्रामाण्य कहना होगा किंतु बोधके बिना तो प्रवृत्ति का ही उदय नहीं होता तो प्रवृत्ति की समर्थता बोधनिरपेक्ष कैसे होगी? (और बोधापेक्ष समर्थता यदि बोधप्रामाण्य निर्धारित करे तो फलतः यही माना कि बोधप्रामाण्य बोध पर निर्भर है!) दूसरा अर्थ ग्रहण करें तो 'प्रयोजन' से सुख-दुःख ही कह सकते हैं और वह समर्थता अनाप्तवाक्य में भी समझी जा सकती है क्योंकि वह सुख-दुःख उत्पन्न कर देता है! अनाप्त वक्ता के वाक्य से प्रवृत्त पथिक को नदीतट देखकर सुख या दुःख नहीं होता ऐसा तो है नहीं। (अतः पथिकप्रवृत्ति भी समर्थ है तो अनाप्तवाक्य प्रमाण ही होना पड़ेगा!)।।३८०-१।। लौकिक हो या वैदिक, प्रवृत्ति ऐसी कोई नहीं होती जो दुःख से सर्वथा रहित केवल सुख प्रदान करे।।३८२।। किं च तार्किकों का यह महान् सिद्धांत है कि दुःखरहित सुख कहीं नहीं होता, इसीलिये तो जो मोक्ष श्रुति के अनुसार परमानंदरूप है, उसमें भी वे आनंद नहीं स्वीकारते क्योंकि डरते हैं कि आनंद होगा तो दुःख भी साथ ही चला आयेगा! अस्तु। उक्त विचार से स्पष्ट है कि समर्थ प्रवृत्ति से प्रामाण्य मानना असंगत है।३८३-४।।

इसलिये प्रमाण की प्रमाणता में बोधकता ही कारण है। शब्द बोधक है जबकि (पूर्वोक्त स्थल पर) प्रत्यक्ष बोधक नहीं है। एवं च अनाप्तवाक्य में भी शब्द प्रमाण ही है यह युक्तियुक्त है।।३८५।। उस वाक्य का भले ही नकार सहित अन्य वाक्य से बाध हो जाये क्योंकि वर्णसमुदाय में नकार बलवान् है (पर इतने से बाधपूर्व उसके प्रामाण्य

१. 'न च संवादलक्षणं प्रामाण्यम् अपि तु बोधलक्षणम् इति प्रमाणविदां स्थितिः' इति पंचपादिकायाम्(पृ. ५६५)।

नञ्प्राबल्यम्

कामं तस्यापि बाधोऽस्तु नकारसहितेन च। वाक्यान्तरेण बलवान्नकारो वर्णसंहतौ।।३८६।।

मृगाणां हि यथा सिंहो वर्णानां तादृशः स्मृतः। नकारस्तेन बलवान् अन्यशब्दार्थहारकः।।३८७।।

नकारयोर्विरोधे स्यादुभयोरप्रमाणता। तृतीयं तत्र विज्ञेयं मानमन्याप्रपीडितम्।।३८८।।

नकारयोर्विरोधे तु दुर्बलो लोकवेदयोः। लौकिकः शङ्कितो दोषो लौकिकेऽस्ति न वैदिके।।३८९।।

अन्ययोः शब्दयोर्यद्वद् विरोधो लोकवेदयोः। लौकिको दुर्बलो नैवं वैदिको दोषवर्जितः।।३९०।।

मानं ज्ञापकम्

कखगादिस्तु यः शब्दः सोऽपि चेद् वर्णगोचरम्। बोधमुत्पादयेत् कस्मादप्रमाणमयं भवेत्।।३९१।।

विप्रलम्भकवाक्यादावपि यदुक्तं प्रामाण्यं तदपि बाधावतारात् पूर्वमेव, 'अपवादविषयं परिहृत्य उत्सर्गस्थितेः', इत्याशयेनाह—काममिति। तस्य प्रमाणत्वेन व्यवहृतस्य पश्चाद् नकारसहितेन नञ्घटितेन वाक्यान्तरेण बाधो भवतु नाम, नैतावता औत्सर्गिकस्य पूर्वकालिकप्रामाण्यस्य काचित् क्षतिः इति शेषः। प्रपञ्चितं हि भाष्यकारैः बाधपर्यन्तं लौकिकवैदिकप्रमाणानां प्रामाण्यम् 'अहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधय' इत्यादिना।

नञ्घटितवाक्यस्यैव बाधकतायां प्रयोजकं बलवत्त्वमाह—बलवानित्यादिना। नकारो निषेधवाचको वर्णो वर्णानां संहतौ समुदायमध्ये बलवान् मृगाणां सिंहवत्; स्वसम्बद्धपदार्थानां सत्तालक्षणप्राणापहारकत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।३८६-७।। यत्र तु समानविषयौ द्वौ निषेधौ स्यातां—यथा समयोर्वादिनोर्विप्रतिपत्तौ—तत्रोभयोः नञ्घटितवाक्ययोः परस्परप्रतिबन्धेन निश्चयाजनकत्वात्ताभ्यामपरं किञ्चित् प्रमाणं निश्चयाय अन्वेष्टव्यमित्याह—नकारयोरिति। तृतीयम् अपि मानं तद् अन्वेष्यं यस्य चतुर्थादिकं बाधकं न स्याद् इति चतुर्थपादार्थः।।३८८।।तत्रापि यदि एकं निषेधवाक्यं लौकिकं स्याद् द्वितीयं तु वैदिकं, तत्र तृतीयमानान्वेषणा न कर्तव्या, द्वयोरेकस्य दौर्बल्यनिश्चयाद् इत्याह—नकारयोर्विरोधे त्विति। लोकवेदयोः लौकिकवैदिकयोः नकारयोः विरोधे तु लौकिको दुर्बलो यतः शङ्कितो दोषो लौकिके भवति, न वैदिक इति सम्बन्धः।।३८९।। एतदेव स्फुटयति—अन्ययोरिति। अन्ययोः केवललौकिकयोः शब्दयोः नदीतीरफलभावाऽभावप्रतिपादकयोः यद्वद् विरोधो भवति तथा लौकिकवैदिकयोरपि परलोकनास्तित्वसत्त्वादिप्रतिपादकयोः विरोधो भवति तत्र लौकिकः सम्भावितदोषत्वाद् दुर्बलो, वैदिकः तु न तथेत्यर्थः।।३९०।।

बोधकत्वलक्षणं प्रामाण्यं तु शब्दस्वरूपमात्रपरेष्वपि वाक्येषु विद्यत इत्याह—कखगादिरिति। स्पष्टम्।।३९१।। यस्त्विति। यस्तु शब्दो 'दश दाडिमानि षडपूपा' इत्यादिवाक्यरूपो बोधं न जनयति। तस्य अप्रमाणत्वेऽपि अस्माकं

को मना नहीं किया जा सकता)।।३८६।। जैसे जानवरों में शेर है वैसे वर्णों में नकार है जो अन्य शब्दों के अर्थ की सत्ता हटा लेता है।।३८७।। जहाँ दो नकार ही परस्पर विरोधी हों वहाँ दोनों ही प्रमाण नहीं हो पाते। उस परिस्थिति में निश्चायक कोई तीसरा प्रमाण होता है जिसका कोई बाधक न हो।।३८८।। यदि परस्पर विरोधी नकारों में एक वैदिक हो और दूसरा लौकिक तो लौकिक ही दुर्बल होता है क्योंकि लौकिक में दोष की शंका की जा सकती है, वैदिक में नहीं। नकार ही नहीं अन्य शब्दों में भी यही नियम है कि लौकिक शब्द व वैदिक शब्द का विरोध होने पर लौकिक ही दुर्बल होता है, निर्दोष वैदिक शब्द नहीं।।३८९-९०।।

यस्तु नोत्पादयेद् बोधं कामं सोऽमानमस्तु नः। न चाऽत्र च्छिद्यते किञ्चिद् बोधमानत्ववादिनाम्। ।३६२।।

अपि सर्वाणि मानानि विरुद्धानि परस्परम्। नकारानुग्रहाज्जेतुं प्रभवन्ति पराणि हि। ।३६३।।

तस्माद् वर्णगणे ज्ञेयो नकारो बलवानिह। बलवत्त्वात् स चेद् बोधं करोत्यस्तु स सर्वदा। ।३६४।।

ततः शब्दो न कोऽप्यस्ति बोधको यो न मानताम्। गच्छेदतः कुतो वेदो मानतां न गमिष्यति। ।३६५

वेदेतिहासादिपदार्थः

एवं मानशिरोरत्नभूतो वेदो महानयम्। मन्त्रब्राह्मणभागेन द्विधाभूतः स्वभावतः। ।३६६।।

ऋग्यजुःसामभिस्तद्वदथर्वाङ्गिरसा सह। चातुर्विध्यं समापन्न इतिहासादिभेदवान्। ।३६७।।

बोधकत्वलक्षणप्रामाण्यवादिनां न काचिद् हानिरित्यर्थः। ।३६२।। किं च न प्रवर्तकतालक्षणं प्रामाण्यं, किन्तु बोधकतामात्ररूपमित्यत्र निषेधवाक्यमेव उदाहरणम्, तस्य अभावमात्रबोधकत्वेन प्रामाण्यस्य समन्वयसूत्रे भाष्यकारैः प्रपञ्चनाद् इत्याशयेन निषेधवाक्यप्रामाण्यमाह—अपि सर्वाणीति द्वाभ्याम्। परस्परं विरुद्धानि **यानि प्रत्यक्षादीनि** मानानि तानि कर्मभूतानि जेतुं पराणि अविरुद्धानि मानानि कर्तॄणि क्षमन्ते। कुतः ? नकारानुग्रहात्; **निषेधवाक्येन विरुद्धानां शिथिली करणद्वाराऽनुगृहीतत्वादिति।** तस्मात् **स्वानुग्रहेण अन्येषां बलाधायकत्वाद् बलवत्त्वेन प्रसिद्धो** नकारो **यदा स्वार्थबोधं जनयति इति अनुभवसिद्धं तदा स नकारजो बोधः** सर्वदाऽस्तु **अबाधितार्थकः संस्तिष्ठतु। इति द्वयोरर्थः। तथा तादृशनिषेधवाक्यवद् बोधकतामात्ररूपं प्रमाणत्वमिति भावः। ।३६३-४।। फलितमाह—** तत इति। **तत उक्तयुक्तेर्बोधकत्वेन लौकिकशब्दोऽप्यौत्सर्गिकप्रामाण्यभाजनं भवति किमुत वेदो निरस्तदोषाशङ्क इत्यर्थः। ।३६५।।**

एवं वेदस्य अपौरुषेयतया निरस्तदोषाशङ्कस्य स्वतः प्रामाण्यम् उपपाद्य अथ तद्विभागप्रतिपादकस्य 'यद् ऋग्वेद' इत्यादेर्वाक्यशेषस्य अर्थमाह—एवमित्यादिना। स्वभावतः प्रमाणानां शिरोमणिभूतो वेदः प्रथमं द्विधाभूतो—मन्त्ररूपो ब्राह्मणरूपश्चेति। तत्र मन्त्ररूपो मन्त्रत्वेन प्रसिद्धत्वलक्षणकः ऋग्यजुःसामाथर्वभेदेन चतुर्विधः। मन्त्रभिन्नत्वलक्षणकब्राह्मणरूपस्तु इतिहासादिश्रुत्युक्ताष्टविधभेदवान्। इति द्वयोरर्थः। ।३६६-७।।

केवल सार्थक शब्द ही नहीं, यदि 'क-ख-ग' आदि शब्द भी वर्णविषयक बोध उत्पन्न करता है तो वह शब्द अप्रमाण क्यों होगा ?। ।३६१।।

जो तो बोध नहीं उत्पन्न करता वह भले ही प्रमाण न हो। इससे बोध की प्रमाणता मानने वाले हम लोगों का कोई नुकसान नहीं। ।३६२।।

परस्पर विरुद्ध सभी प्रमाणों पर विजय पाने में नकार का अनुग्रह पाकर अविरुद्ध प्रमाण सक्षम हो जाते हैं, इसलिये वर्णों में नकार बलवान् है अतः वह यदि बोध कराये तो वह बोध हमेशा रह सकता है।(परस्पर विरुद्ध प्रमाणों पर अविरुद्ध प्रमाण तभी विजय पाते हैं जब कहा जाये कि 'वे प्रमाण *नहीं* हैं' अतः नकार के सहारे ही वे विजयी होते हैं।)। ।३६३-४।।

इस प्रकार कोई भी ऐसा बोधक शब्द नहीं है जो प्रमाण न हो तो वेद क्यों प्रमाण नहीं होगा!। ।३६५।। स्वभाव से ही प्रमाणों में सिरमौर यह महान् वेद दो तरह बँटा है—मंत्र और ब्राह्मण। दोनों तरह बँटा वेद चार प्रकार का है—ऋक्, यजु, साम और अथर्वांगिरस। वेद के कुछ प्रसंग इतिहास आदि कहे जाते हैं।। ।३६६-७।। 'प्रसिद्ध है कि ऐसा हुआ था'—यों कहा प्रसंग इतिहास है जैसे 'प्रसिद्ध है कि जनक था' इत्यादि। ऐसे स्थल वेद में कई जगह

इतिहास इति प्रोक्त इति हेति बभूव यत्। जनको हेत्यादिरूपो वेदेऽनेकत्र संस्थितः।।३९८।।

सृष्टिः स्थितिर्लयो यत्र कीर्त्यते मूलकारणात्। आकाशाद् वायुरित्यादि वंशोऽपि च महानयम्।।
विराजस्तनयस्यास्य मनोः स्वायम्भुवस्य च।।३९९।।

सृष्टिजानां हि सर्वेषां कर्माणि विविधानि च। इदं पुराणं विज्ञेयं पञ्चलक्षणसंयुतम्।।४००।।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तरास्थितिः। वंश्यानुचरितं यच्च तत् पुराणमिति स्थितम्।।४०१।।

उप इत्यादिका प्रोक्ता विद्याऽत्रोपासना सदा। सत्यस्य सत्यमित्यादिका स्थितोपनिषद् द्विजैः।४०२

श्लोका मन्त्रास्तथा सूत्रमात्मेत्यादि समीरितम्। मन्त्राणामर्थकथनं व्याख्यानमिति कीर्तितम्।।४०३।

तत्रेतिहासस्य स्वरूपमाह—इतिहास इति। इति इत्थं ह प्रसिद्धम् आस बभूव इति व्युत्पत्त्या 'जनको ह वैदेह' इत्यादिरूपो वेदभाग इतिहासपदेन उक्त इत्यर्थः।।३९८।।

पुराणाख्यं वेदभागं लक्षयति—सृष्टिरिति त्रिभिः। सर्गपदोक्ते[1] सृष्टिस्थिती प्रतिसर्गपदोक्तः प्रलयश्च 'आकाशाद् वायुः' इत्येवंविधवाक्यैः यत्रोच्यते। तथाऽयं पौतिमाष्यादिरूपो महान् विद्याया वंशः। स्वायम्भुवमनोः स्थितिर्वंशश्च यत्रोच्यते तत्। सृष्टिजानां ब्राह्मणादीनां कर्माणि च यत्रोच्यन्ते। एतादृशपञ्चलक्षणको वेदभागः पुराणम् इत्युच्यते। इति द्वयोरर्थः।।३९९-४००।। लक्षणं पठति—सर्गश्चेति। स्पष्टम्।।४०१।।

विद्योपनिषदोः स्वरूपमाह—उपेति। उपेतिपदादिकेन 'उपासीत' इति पदेन विधीयमाना उपासना 'विद्या' इत्युच्यते। तथा रहस्यं देवतादिनाम 'उपनिषद्' इत्युच्यते। यथा 'सत्यस्य सत्यम्' इति ब्रह्मणो नाम चतुर्थाध्याय उक्तमित्यर्थः।।४०२।।

श्लोकादिपदार्थानाह—श्लोका इति। ब्राह्मणे पठिता मन्त्राः श्लोका इत्युच्यन्ते। तथा बह्वर्थस्य सङ्क्षेपेण प्रतिपादकं वाक्यं सूत्रम् इत्युच्यते, यथा 'आत्मेत्येवोपासीत' इति वाक्यं ब्रह्मविद्यायाः संक्षिप्य प्रतिपादकत्वाद् 'विद्यासूत्रम्' इति भाष्यकारादिभिर्व्यवहृतम्। मन्त्रार्थविवरणरूपं ब्राह्मणं तु व्याख्यानमिति उक्तमित्यर्थः।।४०३।।

हैं।।३९८।। वेद के कुछ संदर्भ पुराण भी हैं : जहाँ मूलकारण से सृष्टि-स्थिति प्रलय कहे जाते हैं—जैसे 'आकाश से वायु हुआ', यह महान् वंश बताया जाता है—जैसे 'पौतिमाष्य से पौतिमाष्य' इत्यादि; विराट् के पुत्र इस स्वायम्भुव मनु का कथन होता है—जैसे 'फिर पति और पत्नी हो गये' इत्यादि (बृ. १.४.३); सृष्टि में पैदा हुए सभी के विविध कर्म बताये जाते हैं—जैसे सारे ही विधि आदि प्रसंग;—ये सभी स्थल पुराण कहे जाते हैं। पुराण के ये पाँच लक्षण हैं—सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों का चरित्र बताया जाये उसे पुराण कहते हैं। इन लक्षणों वाले वेदभाग सुलभ हैं।।३९९-४०१।। वेद में 'विद्या' भी है : 'उपासना करे' इत्यादि शब्दों से विधीयमान उपासना ही विद्या है। वेद में 'उपनिषत्' भी हैं : 'सत्यका सत्य' इत्यादि जहाँ देवता आदि के रहस्यमय नाम कहे हैं उसे द्विजों ने उपनिषत् निर्णीत किया है।।४०२।। वेदों के ब्राह्मणभाग में आये मंत्र 'श्लोक' कहे जाते हैं। संक्षेप में बहुतेरा अर्थ प्रतिपादित करने वाले वाक्य को 'सूत्र' कहते हैं जैसे 'आत्मा—यों ही उपासना करनी चाहिये' इत्यादि। मन्त्रों का अर्थ समझाने वाला ब्राह्मणभाग 'व्याख्यान' कहलाता है।।४०३।। बहुत-से विषय का संग्राहक वाक्य सूत्र होता है, अर्थवाद आदि सहित उसके अर्थ का विस्तृत वर्णन 'अनुव्याख्यान' होता है। सूत्र का अर्थ बहुत गंभीर होता है। अतः उसका बार-बार (तरह-तरह से)

---

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।। इति प्रसिद्धम्।

अनुव्याख्यानमित्येतद् उक्तसूत्रार्थकीर्तनम्। अर्थवादादिभिः सार्द्धं ग्रन्थेन महता हि यत्।।४०४।।
अत एवानुशब्दोऽयं व्याख्याने सूत्रगे भवेत्। पुनः पुनर्यतः सूत्रं व्याकरोत्यर्थगौरवात्।।४०५।।
अनेकार्थत्वमस्य स्याद् भूषणं सूत्ररूपिणः। वाक्यस्य न परस्येव दूषणं कर्हिचिद् भवेत्।।४०६।।
पिण्डीभूतान् बहूनर्थान् सूचयत्यात्मना हि यत्। व्यापारैर्विविधैर्नित्यं तत्सूत्रं परिकीर्तितम्।।४०७।।
अष्टभेदः समुद्दिष्टो वेदकल्पद्रुमो महान्। ऋगादिभिश्चतुःस्कन्धः शाखाभिः शतधा गतः।।४०८।।
एवमेष समुत्पन्नो ब्रह्मणो ब्रह्म जन्मना। शब्दात्मको वेदराशिरर्थस्तस्याप्ययं तथा।।४०९।।
योगो महांस्तथा दानं बहिर्वेदि सहस्रधा। सुखदुःखे तथैवास्मिन् जन्मन्यपि परत्र च।।४१०।।

अनुव्याख्यानपदार्थमाह—अन्विति द्वाभ्याम्। यत् सङ्ग्राहकवाक्यरूपं सूत्रमुक्तं तस्य अर्थवाद-मन्त्रादिरूपेण ग्रन्थेन अर्थप्रपंचकं वाक्यजातम् अनुव्याख्यानम् इति उक्तमित्यर्थः।।४०४।। अत एवेति। यतस्तादृशं वाक्यजातं कर्तृ, अनेकविधत्वेन गुरुभूतार्थकं सूत्रं पुनः पुनः व्याकरोति विशदी करोति अत एव इमं विशेषं बोधयितुमेव 'अनुव्याख्यानम्' इति पदे 'अनु'-शब्दः पठ्यत इत्यर्थः। एतदुदाहरणं तु उक्तसूत्रोत्तरं वाक्यजातमुत्तराध्यायसमाप्तिं यावद् बोध्यम्।।४०५।। ननु 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति' इति न्यायविरोधात् सूत्रस्याऽनेकार्थत्वं कथमिति चेद्? न; आवृत्त्या तत्सम्भवात्। न चावृत्तिरेव दोषः। सूत्रस्वरूपघटकत्वेन तस्य भूषणत्वात्। आगन्तुकस्यैव दोषत्वात्। इत्याशयेन सूत्रस्यानेकार्थतामुपपादयति—अनेकार्थत्वमिति द्वाभ्याम्। अस्य सूत्ररूपिणो वाक्यस्यानेकार्थत्वं भूषणम् एव, न इतरवाक्यवद् दूषणं यतः पिण्डीभूतबह्वर्थसूचकत्वादेव सूत्रसंज्ञां प्राप्तम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४०६-७।।

अष्टेति। एवं ब्राह्मणभागेऽष्टविधो वेदरूपः कल्पद्रुम ऋग्यजुःसामाथर्वात्मकस्कन्धचतुष्टयशाली नानाशाखश्च ब्रह्मणो ब्रह्मरूपात् क्षेत्रात् समुत्पन्नः। कीदृशो वेदकल्पद्रुमः? जन्मना ब्रह्मणो जन्मरूपान्निमित्ताद् ब्रह्म ब्रह्मशब्दार्थः। एषा वेदसृष्टिरर्थसृष्टेः अप्युपलक्षणमित्याशयेनाह—शब्दात्मक इति। यथा शब्दात्मको वेदराशिः ब्रह्मण उत्पन्नः तथा तदर्थोऽपि। इति द्वयोरर्थः।।४०८-९।। प्रवाहनित्यतया नित्यस्य वेदस्य अर्थभूतान् पदार्थान् सामान्यतः संगृह्णाति— योग इति त्रिभिः। योगादिसंज्ञानि वस्तूनि अनायासाद् महेश्वराद् निःश्वासवद् निर्गतानि इति तृतीयेन सम्बन्धः। तत्र योगः कर्मयोगज्ञानयोगभेदेन प्रथमं द्विविधः, अवान्तरभेदैस्तु बहुविधः, महान् महाप्रभावः। तथा बहिर्वेदि वेदेः यागार्थसंस्कृतभूमेः बहिः वर्तमानं, स्वतन्त्रमिति यावत्, ईदृशं दानम्। अस्य कर्मयोगेन सङ्ग्रहेऽपि पृथगुपादानं ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन प्राशस्त्यबोधनार्थम्। तथा सुखादिरूपम् ऐहिकमामुष्मिकं वा

व्याख्यान करने के कारण सूत्र की व्याख्या करने वाले हिस्से के नाम में 'अनु' यह शब्द रखा गया है। अनेक अर्थ होना सूत्ररूप वाक्य का गुण है, अन्य वाक्यों की तरह दोष नहीं। सूत्र कहते ही उसे हैं जो पिण्डीभूत—संगृहीत—बहुतेरे अर्थों की सूचना विविध वृत्तियों से हमेशा दे।।४०४-७।।

इस प्रकार यह वेदनामक कल्पतरु आठ भेदों वाला कहा गया है। ऋक् आदि इसके चार तने हैं और शाखाओं द्वारा यह सैकड़ों तरह बँटा है। यह सारा वेद भी ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है अतः वेद को भी ब्रह्म कहते हैं। जैसे शब्दात्मक वेद ब्रह्म से उत्पन्न है उसी प्रकार उसका यह अर्थ भी ब्रह्म से ही पैदा हुआ है।।४०८-९।। वेद के अर्थ जैसे—महान् योग (कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि); जो यागांग नहीं हैं ऐसे हज़ारों तरह के दान; इस जन्म में और परलोक में मिलने वाले सुख-दुःख रूप फल; सुखादि के भोग में साधन बनने वाले स्थावर और चर सब शरीर; अपने अभिमानिदेवताओं समेत सभी महाभूत; ग्यारहों इंद्रियाँ; प्राण; इत्यादि। ये सब महेश्वर से बिना किसी प्रयत्न के निकले हैं जैसे हम लोग निःश्वास छोड़ते हैं।।४१०-२।।

तत्साधनानि सर्वाणि स्थावराणि चराणि च। महान्त्यपि च भूतानि स्वदेहसहितान्यपि। ।४११।।
एकादशेन्द्रियगणप्राणादिसहितानि च। निःश्वासवदनायासाद् निर्गतानि महेश्वरात्।४१२।।

प्रलयेऽद्वितीयता

जडाजडानामन्तेऽपि दृष्टान्तमवधारय। यथा सर्वाणि नीराणि सरितामभ्रगानि च। ।४१३।।
साक्षादायान्ति वेगेन तं परम्परयाऽपि वा। समुद्रं सरितां नाथं सर्वातिशयवर्जितम्। ।४१४।।
एवं सर्वाणि भूतानि संहारे समुपस्थिते। आनन्दात्मानमायान्ति मैत्रेयि! परमेश्वरम्। ।४१५।।

लयप्रकारः

विषया इन्द्रियाण्येव स्वकीयानि प्रयान्ति हि। इन्द्रियाण्यपि भूतानि करणान्यात्मनोऽपि च। ।४१६
भूतानि च प्रयान्त्येनमानन्दात्मानमीश्वरम्। मैत्रेयि! सन्त्यसच्छब्दभाञ्ज्यपि प्रलये सति। ।४१७।।
स्पर्शस्त्वचं रसो जिह्वां गन्धो घ्राणं व्रजत्यपि। चक्षुश्चैव च रूपाणि श्रोत्रं शब्दाश्च लौकिकाः ।४१८

फलमिति।।४१०।। तत्साधनानीति। तयोः सुखदुःखयोः भोगसाधनभूतानि स्थावरादिशरीराणि। तथाऽऽकाशादिपञ्च-महाभूतानि; कीदृशानि? स्वं पञ्चभूतानां स्वरूपं देहो येषान्ते स्वदेहाः स्वाभिमानिदेवास्तैः सहितानि। एतेनान्ये देवा अप्युपलक्षिताः। सूक्ष्मशरीरघटकैः इन्द्रियादिभिः सहितानि च। इति द्वयोरर्थः। ।४११-२।।

अथ प्रलयेऽद्वितीयत्वप्रतिपादिकाया द्वादशकण्डिकाया[1] अर्थमाह—जडाजडानामित्यष्टभिः। जडाजडरूपाणां दृश्यानाम् अन्ते प्रलयेऽपि ब्रह्माद्वैतत्वबोधकं दृष्टांतं शृणु। यथा पार्थिवानि मेघगतानि च नीराणि साक्षात् परम्परया वा समुद्रं यान्ति। कीदृशम्? स्वातिरिक्तेषु सर्वेषु जलस्थानेषु अतिशयहीनं, सर्वतोऽधिकमिति यावत्। अत्र समुद्रशब्देन जलसामान्यमुच्यते, तत्प्राप्तिश्च तद्रूपेण अवस्थानमिति वदतीति। ।४१३-४।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। स्पष्टम्। ।४१५।।

ननु केन क्रमेण भूतपदोक्तानि जन्यवस्तूनि लयं यान्ति? इत्याकाङ्क्षायां; तत्क्रममाह—विषया इति। दृष्टिसृष्टिविधया शब्दादिविषयाणाम् इन्द्रियाणि उत्पत्तिहेतुत्वात् श्रुतिगतैकायनपदोक्तलयस्थानताशालीनि, अतो विषया इन्द्रियेषु लीयन्ते। इन्द्रियाणि तु स्वोपादानकारणभूतेषु लीयन्ते। तानि भूतानि तु सन्ति स्थूलानि असच्छब्दभाञ्जि सूक्ष्माणि च प्रलयकाले मायोपाधिकं परमात्मानं प्रयान्ति। इति द्वयोरर्थः। ।४१६-७।। विषयादीनामिन्द्रियादिषु लयप्रकारमेव विशदयति—स्पर्श इति चतुर्भिः। स्पर्शादयो विषयाः त्वगादिषु लीयन्त इति यथाक्रमं सम्बन्धो बोध्यः। लौकिका वैदिकशब्दभिन्नाः। ।४१८।। अभिलाषा इति। सङ्कल्पो मनसि, विद्यापदोक्ता वृत्तयस्तु हृदय-शब्दोक्तायां बुद्धौ लीयन्ते। तथा सर्वे व्यापारा हस्तयोः, सर्व आनन्दाश्च उपस्थे। ।४१९।। आनन्दा

हे मैत्रेयि! जड-चेतन दृश्यों का प्रलय होने पर भी अद्वैत ही रहता है इसे उदाहरण से समझ : नदी, बादल आदि का सारा पानी सीधे ही या क्रमशः तेज़ी से उस समुद्र में ही आता है जो नदियों का पति है और जिससे अधिक पानी कहीं नहीं है। इसी प्रकार संहार उपस्थित होने पर सारे भूत आनन्दस्वरूप परमेश्वर में आ जाते हैं। ।४१३-५।।

भूत परमात्मा में किस क्रम से आते हैं यह समझाते हैं : रूपादि पदार्थ अपने को विषय करने वाली इंद्रियों में लीन होते हैं, इन्द्रियाँ अपने कारण महाभूतों में लीन होती हैं। सत्-असत् कहलाने वाले स्थूल-सूक्ष्म भूत इस आनंदात्मा मायोपाधिक परमात्मा में लीन होते हैं। प्रलय के समय विलय का यही क्रम है। ।४१६-७।। स्पर्श त्वक् में, रस जिह्वा में, गन्ध घ्राण में, रूप चक्षु में और लौकिक शब्द श्रोत्र में लीन होते हैं। (वैदिक शब्दों का लय वाक् में बतायेंगे।)। ।४१८।।

१. 'स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेव सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्..गन्धानां नासिके...रसानां जिह्वा...रूपाणां चक्षुः...शब्दानां श्रोत्रं...संकल्पानां मनः...विद्यानां हृदयं...कर्मणां हस्तौ...आनन्दानामुपस्थः...विसर्गाणां पायुः...अध्वनां पादौ...वेदानां वागेकायनम्। ।१२।।' माध्यन्दिनीये—'...वेदानां हृदयम्...विद्यानां वाग्...' इति व्यत्ययः, समानमन्यत्।

अभिलाषा अशेषा ये मनो बुद्धिं च वृत्तयः। हस्तौ सर्वाणि कर्माणि यान्त्युपस्थं च सर्वतः।।४१९।

आनन्दाश्च विसर्गास्तु पायुं पादौ गतागतम्। निखिलो वेदराशिश्च वाचमेव प्रयात्ययम्।।४२०।।

गत्वैवं कारणं सर्वं कारणैः सहितं सदा। प्रयाति परमात्मानं मैत्रेयि! प्रलये सति।।४२१।।

मोक्षेऽद्वैतम्

ब्रह्मविज्ञान उत्पन्ने यथा माया लयं व्रजेत्। तथा मैत्रेयि! दृष्टान्तं शृणु वक्ष्यामि तेऽधुना।।४२२।।

इति। तथा सर्वे विसर्गा पायौ, गमनादिकं पादयोः, वेदात्मकशब्दस्तु वाचि लीयत इति। अत्र वेदस्य वाचि लयाभिधानाभिप्रायस्तु वेदस्य अध्ययनाख्यवाग्व्यापारविषयता नियता इति तस्य वाचा विशेषतः सम्बन्धः; लौकिकशब्दानान्तु अनिच्छतोऽपि श्रोत्रस्य विषयतां गच्छतां श्रोत्रेण विषयसम्बन्धात् तत्रैव लय उक्त इति बोध्यम्।।४२०।। गत्वैवमिति। यथा क्षुद्रनद्यो गङ्गां प्राप्य तया सह समुद्रं यान्ति एवं सर्वाणि कार्याणि कारणानि प्राप्य तैः सह परमकारणं परमात्मानं प्रलये यान्तीत्यर्थः।

अत्र भाष्यकारैरुक्तो लयक्रम इत्थं बोध्यः[1]— इन्द्रियवाचकैः त्वगादिशब्दैः लक्षितेषु स्पर्शादिविषयसामान्येषु विषयविशेषाणां लयः। बाह्यविषयसामान्यानां च मनोविषयसामान्ये सङ्कल्पसामान्ये लयः, तेषां सङ्कल्पमात्ररूपत्वात्। सङ्कल्पसामान्यस्य च बुद्धिव्यापारसामान्ये विज्ञानाख्ये। तस्य मायाशबलात्मनीति।।४२१।।

एवं प्राकृतप्रलये मोक्षदृष्टान्तभूतेऽद्वितीयत्वमात्मन उक्तम्। अथ[2] दार्ष्टान्तिके मोक्ष आत्माऽद्वितीयता-विशदीभावपरायास्त्रयोदशकण्डिकाया[3] अर्थं प्रपञ्चयति — ब्रह्मविज्ञान इति चतुर्विंशत्या श्लोकैः। यथा च सारी अभिलाषाएँ अर्थात् संकल्प मन में और निश्चय वृत्तियाँ बुद्धि में लीन होती हैं। सारे कर्म हाथों में, सारे आनंद उपस्थ में, सारे विसर्ग (छोड़ने) पायु में, जाना-आना पैरों में और सारी वेदराशि वाक् में लीन होती है। (विषय का करण में लय है अतः कर्मेन्द्रियों के विषयों का उन्हीं में लय है। अध्ययन नामक वाणी के व्यापारका विषय वेद अवश्य बनता है अतः उसका वाक् से नियमित संबंध है जिससे लौकिक शब्दों से पृथक् कर उसका वाक् में यहाँ श्रुति ने लय कहा है।)।।४१९-२०।। मैत्रेयि! प्रलय होने पर इस तरह सब कार्य अपने कारणों में विलीन होकर सदा कारणों सहित परमात्मा में विलीन होते हैं। (जैसे छोटे नदी-नाले गंगा आदि में लीन होते हैं और गंगादि समुद्र में, ऐसे कार्य अपने कारणों में लीन होते चले जाते हैं अतः अंत में आकाश ही बचता है जो परमात्मा में लीन हो जाता है। साक्षात् मायोपाधिक से यदि और भी कुछ चीज़ें उत्पन्न होने वाली मानें जैसे अंधकार, काल आदि, तो वे भी सीधे ही अपने कारण में विलीन होते हैं यह मान्य है। इस रीति से पूर्वोक्त उत्पत्ति-प्रक्रिया के अनुसार वेद का ईश्वर में लय समझ लेना चाहिये। वाङ्मय वेद का वाक् द्वारा विलय और मनोमय वेद का ईश्वर में विलय यह व्यवस्था स्वीकार्य है; वाङ्मय की तरह मनोमय वेद तो स्वीकृत ही है, मनोमय कोष वेदों से ही निर्मित बताया है। मनोविलय से अतिरिक्त वेदविलय इसलिये कि वेद न केवल मन में है वरन् ईश्वर की मायोपाधि में भी है, अतः मनउत्पत्ति से पूर्व ही वेद के शब्द याद कर उनसे सृष्टि करते हैं।)।।४२१।।

---

१. 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' इति सूत्रम् (२.३.१४)। तत्र 'उपपद्यत' इत्युक्तत्वाद्यथोपपत्ति लयक्रमोऽस्त्विति मुनेर्मतं प्रतीयते। अध्यारोपक्रमाद् विपरीतोऽपवादक्रम इत्यभ्युपगम्य दृष्टिसृष्टिरीत्याऽत्र पुराणे पूर्वं वर्णनात्तथा विलयोऽपि वर्णित इति प्रक्रियान्तराश्रयणाद् न सूत्रभाष्यादिविरोधः। भर्तृप्रपञ्चमते तु विषयज्ञानानामिन्द्रिये लय इति व्याख्यायते। तथात्वे विषयलयोऽनुक्तस्तिष्ठति। प्रकृतपुराणे परं विषया एवेन्द्रियेषु लीयमाना उच्यन्ते। प्रपंचमतेपि ज्ञानानामिव विषयाणामिन्द्रियेषु लय उक्तः किन्त्विन्द्रियाणां विषयाऽकारणत्वात्सोऽसङ्गतः। पुराणकृतां तु विनेन्द्रियाणि विषयाऽसिद्धेस्तेषां तानि कारणानीति संमतम्। 'भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः' (कौ.३.८) इत्यादि श्रुतिरप्यनुसन्धेया। २. 'यस्तु बुद्धिपूर्वः प्रलयो ब्रह्मविदां ब्रह्मविद्यानिमित्तः, अयम् 'आत्यन्तिक' इति आचक्षते, अविद्यानिरोधद्वारेण यो भवति, तदर्थोऽयं विशेषारम्भ' इति भाष्यम्। ३. 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति। न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमि।—इति होवाच याज्ञवल्क्यः।।१३।।'

द्रवरूपाणि नीराणि प्रयान्ति घनतां यथा। सैन्धवादेस्तथैवात्माऽविद्यया घनतां गतः।।४२३।।
दशदिक्षु तथा मध्ये बहिरन्तश्च कश्चन। यथा घने न भेदोऽस्ति तथात्मन्यपि नास्त्यसौ।।४२४।।
द्रवरूपं घनीभावं नीरं याति निमित्ततः। यथा तथैव संसारी भवत्यात्मा विचक्षणः।।४२५।।
नीरप्रक्षेपमात्रेण घनो यद्वल्लयं व्रजेत्। ब्रह्मविद्याजले तद्वद् नाशं मायाघनो व्रजेत्।।४२६।।
समुद्रजलभेदे स्याद् घनता लवणे यथा। आनन्दात्मविभेदेऽपि मायाऽस्माकं तथैव सा।।४२७।।

विद्योत्पत्तौ सविलासमायाया आत्यन्तिकः प्रलयो भवति तत्स्फुटी भावाय सैन्धवखिल्याख्यं दृष्टान्तं शृणु इत्यर्थः।।४२२।। दृष्टान्तं दार्ष्टान्तिकं चाऽभिनयति—द्रवेत्यादिना। सैन्धवं सामुद्रं लवणम्, आदिपदेन हिमकरकादिग्रहः, तद्रूपस्य कार्यस्य उपादानभूतानि समुद्रादिनीराणि दृष्टादृष्टनिमित्तवशात् परिणामदशायां घनतां मूर्ततां पिण्डीभावरूपां यथा यान्ति तथा शुद्धात्माऽपि अविद्यारूपनिमित्तेन घनतां जीवभावरूपां यातीत्यर्थः।।४२३।। दशेति। यथा च उक्तरूपे सैन्धवघने सामुद्रलवणपिण्डे पूर्वादिभागेषु कुत्रापि लवणसमुद्रजलाद् भेदो नास्ति तथा जीवात्मन्यपीत्यर्थः।।४२४।। द्रवरूपमिति। यथा च द्रवरूपं समुद्रजलं क्षेत्रपाताऽऽतप-संयोगादिरूपनिमित्तवशाद् घनतां याति तथाऽऽत्माऽपि कार्यकारणरूपाऽविद्याऽऽत्मकनिमित्तवशात् संसारं यातीत्यर्थः।।४२५।। यथा सैन्धवघनस्य लयप्रयोजकं नीरप्रक्षेपमात्रं तथा जीवघनस्य मायामयस्य लयप्रयोजकं ब्रह्मविद्यया ब्रह्मरूपजले प्रक्षेपमात्रमित्याह—नीरेति। घनः सैन्धवः। ब्रह्मविद्याजले विद्यात्मके ब्रह्मरूपजले प्रक्षेपाद् नाशम् अदर्शनं मायाघनो जीवो व्रजेद् इति।।४२६।। समुद्रजलेति। यथा लवणे वर्तमाना घनता समुद्रजलाद् भेदे पृथग्भाव एव स्याद् उपलभ्येत तथा पूर्णात्मनः सकाशाद् भेददर्शनकाल एव अस्माकं जीवानां माया मायामयः संसारो दृश्यत इत्यर्थः।।४२७।। आदाविति। यथा कालत्रये कुत्रचिद् अंशे वा सामुद्रं लवणं समुद्रतः समुद्रजलाद्

अभी दिखाया प्रलय तो उदाहरण के लिये है कि प्रसिद्ध महाप्रलय में जैसे अद्वैत होता है वैसे ही मोक्ष दशा में भी होता है। मोक्ष में अद्वितीयता को अब सुस्पष्ट करते हैं—मैत्रेयि! ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर माया जैसे विलीन होती है उसके अनुरूप दृष्टांत अब सुनाता हूँ।।४२२।। जिस प्रकार समुद्र का तरल जल सैंधव आदि घने (ठोस) रूपों वाला हो जाता है उसी प्रकार अविद्यारूप निमित्तवश आत्मा जीवरूप से घनीभूत है। (सैंधव अर्थात् समुद्री नमक की डली। समुद्री जल किसी-न-किसी निमित्त से उस ठोसावस्था में आता है, वह निमित्त प्राणिकर्मरूप अदृष्ट भी है और सुखाना आदि दृष्ट भी। समुद्रजल की जगह परमात्मा है और डली की जगह जीव।)।।४२३।। सैंधव में समुद्रजल से कोई भेद नहीं है, दशों दिशाओं से देखें, चखें, बीच से, भीतर से, बाहर से चाहे जहाँ से परीक्षा करें, समुद्रजल से सैंधव में कोई अंतर नहीं मिलेगा। इसी प्रकार जीव और आत्मा में भी कोई अंतर नहीं है!।।४२४।। तरल समुद्रजल खेत में डालना, धूप में सुखाना आदि निमित्तों से घनीभूत हो जाता है। ऐसे ही यह ज्ञानरूप आत्मा कार्य-कारण रूपों वाली अविद्या के निमित्त से संसारी जीव बना है। (डले की स्थिति में यत्किंचित् जल अवश्य होता है अन्यथा डले रूप से स्थिति नहीं रहती यह प्रत्यक्ष है अतः समुद्रजल का ही घनीभूत रूप दृष्टान्त समझाने के लिये बताया है। समुद्रजल को एक पदार्थ मानकर उदाहरण समझना चाहिये, न कि जल और अन्य वस्तुओं का मिश्रण।)।।४२५।।

सैंधव को जल में डाला जाय इतने से ही वह विलीन हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानात्मक ब्रह्मरूप जल में डलते ही वह जीवरूप से अनुभूयमान नहीं रह जाता जो माया से मानो घना होकर अभी जीवरूप से भासमान है। (ब्रह्म में जीव का डलना ही अखण्डसाक्षात्कार कहा जाता है। बार बार माया के उल्लेख से सावधान कर रहे हैं कि केवल दृष्टांतानुरोध से यहाँ भेदाभेद का वर्णन नहीं समझना चाहिये; समुद्रजल से सैंधव अभिन्न होने पर भी सैंधव से वह अभिन्न नहीं इत्यादि प्रश्न नहीं उठाने चाहिये क्योंकि दृष्टांत से सिद्ध नहीं किया जा रहा वरन् समझने में सरलता लाई जा रही है जिसके कारण निरवयव के लिये सावयव जल का दृष्टांत है अतः दार्ष्टांत से काफी विलक्षणता हो सकती है। अभिप्रायानुसार दृष्टांत समझा जाता है यही सर्वत्र नीति है।)।।४२६।।

आदावन्ते तथा मध्ये सामुद्रं न समुद्रतः। भेदं यथा समायाति तद्वज्जीवाः परात्मनः।।४२८।।

घनता नश्वरी यद्वत् सामुद्रस्य न नीरता। जीवता नश्वरी तद्वद् आत्मनो नात्मता सति!।।४२६।।

घनताया यथा नाशे सामुद्रं नाशमाप्नुयात्। संसारित्वं तथाऽविद्यानाशाद् नाशं प्रयाति तत्।।४३०

सर्वतो लवणं यद्वत् क्षारमेतद् न चाऽपरम्। घनतामपि सम्प्राप्तं पूर्वं पश्चाच्च सर्वदा।।४३१।।

अरे! मैत्रेयि! तद्वत् स्याद् आत्मा सर्वत्र सर्वदा। स्वयंज्योतिःस्वभावोऽयं न कदाचिदितोऽपरः।।४३२।।

विद्यमानः प्रकाशोऽयं सवित्रादेर्यथा नृभिः। तमसावृतनेत्रैर्न लभ्यते कस्यचित् क्वचित्।।४३३।।

एवं मायातमश्छन्ननयनैः पुरुषैः सदा। न लभ्यते स्वयंज्योतिः आत्मा सर्वगतः पुमान्।।४३४।

अन्यासक्तो यथा लोके न पश्यति पुरः स्थितम्। तद्वत् संसारसंसक्तो नानन्दात्मानमीक्षते।।४३५।।

न भेदं वस्तुतो भजति तथा जीवा अपि ब्रह्मण इत्यर्थः।।४२८।। यथा च सामुद्रलवणे घनीभावोऽनित्यः तथा विद्यानाश्यं जीवत्वमपीत्याह—घनेति। हे सति!।।४२६।। यथा च दृष्टान्ते घनत्वनाशमात्रेण लवणनाशव्यवहारः तथाऽविद्यानाशमात्रेण मोक्षे जीवनाशव्यवहारो, न तु चेतनांशस्य नाशादित्याह—घनताया इति।।४३०।। सर्वत इति। यथा च लवणं घनी भावावस्थाया वर्तमानत्वे ततः पूर्वं पश्चाच्च सर्वांशेषु क्षारैकरसमेव तथात्मापि सर्वदा सर्वांशेषु च चिदेकरसः, इतः स्वयंप्रकाशचित्स्वभावाद् अपरोऽन्यस्वभावो न। इति द्वयोरर्थः।।४३१-२।।

यद्यात्मा स्वयंज्योतिःस्वभावस्तदा सर्वेषां कुतो न प्रकाशते ? इति शङ्कां परिहरति—विद्यमान इति। यथा सूर्यादिप्रकाशो विद्यमानः अपि तमोरोगावृतनेत्रैः कस्यचिद् अपि विषयस्य सम्बन्धितया क्वचिद् अपि न दृश्यते तथा मायारूपतमसाच्छादितबुद्धिदृष्टिकैः[1] आत्मा न लभ्यते। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४३३-४।। कारणाज्ञानस्य आत्मभानप्रतिबन्धकताम् उक्त्वा कार्याविद्याया अपि तथात्वमाह—अन्यासक्त इति। अन्यासक्तः कान्तादिगतमनाः पुरःस्थितमपि यथा न पश्यति तथाऽऽत्मानमपीत्यर्थः।।४३५।।

लवण में घनरूपता तभी तक उपलब्ध होती है जब तक वह समुद्रजल से पृथक् प्रतीत होता है। इसी तरह पूर्णात्मा से स्वयं को भिन्न समझते समय ही हम जीवों को माया—यह मायामय संसार—उपलब्ध होती है।।४२७।। घनावस्था में आने से पूर्व, उस अवस्था में और उसे छोड़ने पर, कभी भी समुद्री नमक समुद्र से वास्तविक भेद वाला नहीं होता। इसी तरह जीव भी तीनों कालों में, किसी भी अंश में ब्रह्म से वास्तविक भेद वाले नहीं हैं।।४२८।। हे सती मैत्रेयी! समुद्र का घनीभाव नाशवान् है न कि जलस्वरूप; आत्मा की भी जीवरूपता ही नश्वर है न कि आत्मस्वरूप।।४२६।। घनावस्था न रहने पर सैंधव (समुद्री नमक की डली) नष्ट हो जाता है; अविद्या बाधित हो चुकने पर वह संसारिता—जीवरूपता—भी नष्ट हो जाती है।।४३०।। घनावस्था पाकर, उससे पूर्व और पश्चात् हमेशा यह नमक हर ओर से खारा ही होता है, और किसी रस वाला नहीं; आत्मा भी हमेशा सभी अवस्थाओं में एकमात्र चिद्रूप ही है, स्वप्रकाश स्वभाव वाले इस आत्मा का इससे अतिरिक्त कोई स्वभाव नहीं है।।४३१-२।।

सूर्यादि का यह प्रकाश विद्यमान होने पर भी तमोरोग से ढकी आँखों वाले लोगों को किसी भी विषय से संबद्ध हुआ कहीं भी यह नहीं दीखता। इसी प्रकार पूर्ण व्यापक स्वप्रकाश आत्मा उन पुरुषों को कभी उपलब्ध नहीं होता

---

१. अज्ञानं भित्त्वा ततः परस्यात्मनोऽदर्शनाद् बुद्धेरुपरि आवरणमिव अज्ञानं वर्तत इति रूपकतयोक्तम्। स्वयोग्यविषयाऽदर्शनप्रयोजकस्यैव स्वं प्रति आवरणत्वप्रसिद्धेरावृताऽऽज्ञानेन धीरिति युक्तं वक्तुम्।

विशेषज्ञानजनकं स्थूलं देहमुदीरितम्। जीवतो भौतिकं तस्य नाशादेष विनश्यति।।
स्वयंज्योतिरनन्तात्मा परिच्छेदविवर्जितः।।४३६।।

लोहस्य ज्वलतो नाशाद् अनु नाशं व्रजेद् यथा। वह्निरात्मा तथा देहनाशादेष विनश्यति।। मरणे
देहतो भिन्नो देहतादात्म्यमागतः।।४३७।।

अभिप्रायेणामुनैवं याज्ञवल्क्य उदैरयत्। आत्मनाशवचो विद्वान् धीमतां पुरतः स्थितः।।४३८।।

मरणे सुप्तिवत् सर्वजन्तूनां विलयो भवेत्। विशेषज्ञानमात्रस्य भेददृष्टिकरस्य हि।।४३९।।

भेददृष्टौ विलीनायां दुःखं किञ्चिन्न पश्यति। मरणेऽनेन देहेन कदाचिद् मनुजो भुवि।।४४०।।

अस्यात्मनो विशेषज्ञानलक्षणां घनतां विहाय अद्वितीयरूपेण मुक्ताववस्थानं मरणावस्थादृष्टान्तेन वक्तुम् उक्तघनताविशिष्टस्य शरीरनाशेन नाशमाह—विशेषेति द्वाभ्याम्। जीवतः प्राणान्धारयतः सूक्ष्मशरीरविशिष्टस्येति यावत्; एतादृशस्य आत्मनो यदिदं पाञ्चभौतिकं स्थूलं शरीरं तद् विशेषज्ञानस्य मनुष्योऽहमित्यादिरूपस्य घनतामयस्य जनकं प्रसिद्धम्। तस्य भौतिकशरीरस्य नाशे तु एष घनताविशिष्ट आत्मा स्वयंज्योतिरादिलक्षणोऽपि नश्यति विशिष्टरूपाभावं प्राप्तो भवतीत्यर्थः।।४३६।। तत्र दृष्टान्तमाह—लोहस्येति। यथा वह्नितादात्म्येन ज्वलनाश्रयत्वेन प्रसिद्धस्य लोहपिण्डस्य नाशे सति लोहपिण्डतादात्म्येन चतुष्कोणत्वादि-तद्धर्मविशिष्टस्य वह्नेरपि नाशो व्यवह्रियते तथा देहभिन्नोऽपि आत्मा देहतादात्म्येन जीवनकाले तद्धर्मभागी मरणावस्थायां देहनाशे सति तत्तादात्म्यप्रयुक्तविशेषविशिष्टरूपेण नश्यतीत्युच्यत इत्यर्थः।।४३७।।

एतच्च मरण आत्मनाशाभिधानं विशेषज्ञानाभावसाधर्म्येण मोक्षे दृष्टान्तत्वाभिप्रायेणैवेत्याह—अभिप्रायेणेति त्रिभिः। याज्ञवल्क्य आत्मनाशं यदुक्तवान् तद् अमुनाऽभिप्रायेण इत्यन्वयः।।४३८।। 'अमुना' केन? इत्याकाङ्क्षायाम्; तमभिप्रायमभिनयति—मरण इति। मरणावस्थायां सर्वस्य भेदभानप्रयोजकस्य विशेषज्ञानस्य विलयात् पूर्वदेहगतं किञ्चिदपि दुःखं न पश्यति इति तस्य मोक्षदृष्टान्तत्वयोग्यता। इति द्वयोरर्थः।।४३९-४०।।

जिनकी बुद्धिदृष्टि मायारूप तम से ढकी है।।४३३-४।। संसार में प्रसिद्ध है कि मन अन्यत्र आसक्त हो तो सामने रखी वस्तु भी नहीं दीखती, इसी प्रकार यह सत्य है कि संसार में आसक्त व्यक्ति आनंदात्मा को नहीं देख पाता। (अर्थात् कारणाविद्या तो जीव को ब्रह्मदर्शन से रोकती है पर इसमें उसे पूर्ण सहायता कार्याविद्या देती है, उसी के सहारे कारणाविद्या बरकरार है।)।।४३५।।

स्वयं को किसी-न-किसी विशेष से तादात्म्यापन्न समझना घनता है। मोक्ष में यह समझ—गैर समझ—सर्वथा समाप्त हो जाती है। इसे स्पष्ट करने के लिये उदाहरण के तौर पर मृत्यु का उल्लेख किया जाता है क्योंकि तब भी एक विशेष से छूटे हुए तादात्म्य की स्थिति होती है। इस अभिप्राय से कहते हैं—प्राण धारण करते हुए आत्मा को 'मैं मनुष्य हूँ', इत्यादि जो विशेषज्ञान होता है उसका हेतु पांचभौतिक स्थूल शरीर कहा जाता है। निःसीम, अनंतस्वरूप स्वप्रकाश आत्मा स्थूल शरीर नष्ट हो जाने पर उससे विशिष्ट नहीं रह जाता। कह सकते हैं कि विशिष्टरूप से वह आत्मा ही नष्ट हो जाता है! ।।४३६।। वह्नि से तादात्म्य पाकर जलने वाले लोहपिण्ड का नाश होने पर लोहपिण्ड से तादात्म्य के कारण चौकोर आदि हुई आग भी जैसे नष्ट हो जाती है वैसे ही यद्यपि देह से भिन्न है तथापि देह के तादात्म्य से जीवनकाल में आत्मा देहधर्मों वाला हो जाता है अतः मृत्यु से देह नष्ट होने पर 'उन धर्मों वाला' रूप से आत्मा भी नष्ट हो जाता है।।४३७।।

यद्यप्यस्तीह विलयः सुप्तौ भेदस्य सर्वतः। विशेषज्ञानमात्रस्य हेतोर्दुःखप्रदस्य हि।।४४१।।

तथाप्येष पुनर्गत्वा देहेऽस्मिन् जागरं पुमान्। दुःखमाप्नोति मरणे नैनं देहं पुनर्व्रजेत्।। ततः सुप्तिं परित्यज्य मृतिमाह मुनीश्वरः।।४४२।।

भूतावासस्य भूतानां नाशाद् यद्वदयं पुमान्। अनेन जनितं दुःखं भूतावासेन नाप्नुयात्। विशेषज्ञानशून्यः सन् स्वप्रकाशैकबोधवान्।।४४३।।

अविद्यानाशतस्तद्वद् विशेषज्ञानसङ्क्षये। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः पुनर्दुःखं न गच्छति।।४४४।।

अविद्यायाश्च सद्भावाद् मृतो देहान्तरात् पुनः। दुःखमेति न मुक्तोऽयं मायानाशात् कदाचन।।४४५।।

ननु सुप्तिरपि विशेषज्ञानाद्यभाववती, अतः सैव कुतो न दृष्टान्ततयोक्तेति शङ्कते—यद्यपीति। भेदस्य विशेषज्ञानस्य च दुःखहेतोः यद्यपि सुप्तौ अपि लयो भवतीत्यर्थः।।४४१।। तथापि मोक्ष आत्यन्तिकदुःखाभाव-बोधनाय मरणावस्थैव दृष्टान्तत्वयोग्या, न सुषुप्तिः, तदनन्तरं जागरण एतद्देहदुःखानां सर्वैरनुभूयमानत्वाद् इत्याह—तथापीति। तथापि एष पुमान् पुनः सुप्त्यनन्तरम् अस्मिन्नेव देहे जागरं प्राप्य दुःखमाप्नोति, मरणे सति तु एनं देहं सदुःखं पुनर्न व्रजति। तत इति। मोक्षदृष्टान्तत्वयोग्यतामभिप्रेत्य मुनिः भूतावासस्य पाञ्चभौतिकस्य देहस्य मृतिं मरणावस्थामुक्तवान्, न सुप्तिमित्यर्थः।।४४२।।

एवं मरणावस्थाया दृष्टान्तत्वयोग्यतामुपपाद्य तस्या दृष्टान्तत्वमभिनयति—भूतावासस्येति। प्रथमपदं पूर्वान्वयित्वेन दर्शितम्। यद्वदयं स्वप्रकाशबोधरूपः पुमान् भूतानां शरीराकारपरिणतानां नाशानन्तरम् अनेन भूतावासेन शरीरेण जनितं दुःखं नाप्नुयाद्, विशेषज्ञानशून्यत्वाद् इति सम्बन्धः।।४४३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—अविद्येति। तथाऽविद्यानाशेन आत्यन्तिकलयेऽपि पुनः संसारदुःखाऽप्राप्तिरित्यर्थः।।४४४।। मरणे तु दुःखाभावो नात्यन्तिको, दुःखबीजाऽविद्याऽवशेषाद्; अतो दृष्टान्ततयैव तदभिधानमित्याशयेनाह—अविद्याया इति। मृतो जन्तुः अविद्याशेषात् पुनः देहान्तरं प्राप्य दुःखमेति, मुक्तः तु मायारूपबीजदाहाद् न कदाचन दुःखमाप्नोतीति विशेष इत्यर्थः।।४४५।।

बुद्धिमानों में अग्रगण्य ब्रह्मविद् याज्ञवल्क्य ने जो आत्मनाश की बात कही वह इस अभिप्राय से : सुषुप्ति की तरह मरने पर सभी जंतुओं के भेददृष्टि लाने वाले सभी विशेषज्ञानों का विलय हो जाता है। पृथ्वी पर कोई भी मनुष्य मरने पर भेददृष्टि विलीन होने के बाद इस देह से किसी दुःखका कभी अनुभव नहीं करता। (एवं च विशेषज्ञान न रहने पर दुःख नहीं रहता अतः मोक्ष में विशेषज्ञान की संभावना भी न रह जाने से दुःख की भी संभावना नहीं रह जाती।)।।४३८-४०।। दुःखप्रद भेद और उसके हेतुभूत सभी विशेषज्ञानों का हर तरह विलय यद्यपि गहरी नींद में भी होता है तथापि यह जीव सुषुप्ति के बाद पुनः इसी शरीर में जाग्रदवस्था पाकर दुःख प्राप्त करता है जबकि मरने के बाद इस शरीर में पुनः नहीं आता। इसी से मुनीश्वर ने सुषुप्ति को छोड़कर प्राणियों के आवास रूप शरीर की मृत्यु को दृष्टांत रूप से कहा (क्योंकि दार्ष्टान्त में बताना चाहते थे कि पुनः दुःख नहीं होता।)।।४४१-२।। शरीर के आकार में स्थित भूत नष्ट होने के बाद स्वप्रकाश बोधरूप आत्मा को इस शरीर से जनित दुःख नहीं भोगने पड़ते क्योंकि इससे संबद्ध विशेषज्ञानों से वह रहित हो जाता है; इसी प्रकार अविद्या नष्ट होने पर सभी विशेषज्ञान भली-भाँति समाप्त हो जाते हैं अतः स्वयंप्रकाश आनंदरूप आत्मा फिर दुःख नहीं पाता।।४४३-४।। मृत व्यक्ति तो अन्य देह पाकर पुनः दुःख भोगता है क्योंकि दुःखबीज अविद्या बची ही रहती है। किन्तु यह मुक्त आत्मा कभी दुःख नहीं पा सकता क्योंकि वह बीजरूप माया ही नहीं रह गयी है।।४४५।।

आत्मनाशशङ्का

अभिप्रायमिमं तस्य मुनेर्गम्भीरचेतसः। अजानती वधूरेवं पप्रच्छाकुलमानसा।।४४६।।

पते! सर्वप्रियतमः पुरात्माऽयं त्वयेरितः। अधुना तस्य नाशोऽपि भूतावासविनाशतः।।४४७।।

ततस्ते वाक्यपवनो मनस्तूलमिदं मम। इतस्ततो नयत्यत्र व्यवस्थानविवर्जितम्।।४४८।।

मोमुह्यते मनो मेऽत्र भगवन् वचनात्तव। अभिप्रायमजानत्या राज्ञोऽयं सेवको यथा।।४४९।।

तृणलुब्धा यथा धेनुर्दूरं यात्यविवेकतः। तृणच्छन्नेऽतिमहति पङ्के मज्जति दीनधीः।।४५०।।

तथा ते वाक्यपङ्केऽस्मिन् मग्नाऽस्मि मुनिसत्तम! आत्मविज्ञानलोभेन भवन्तं प्रष्टुमुद्यता।।४५१।।

आत्मनो न विनाशोऽस्ति मयैतद् बहुशः श्रुतम्। ब्राह्मणेभ्यो महाभाग! भवतश्च प्रसङ्गतः।।४५२।।

इदानीं तत् परावृत्तं निश्चितं सकलं मम। देहनाशमनु स्वात्मा नश्यतीति तवोक्तितः।।४५३।।

औपाधिकविशेषभावस्यैव लयो, नाऽद्वितीयस्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपस्य इत्येतदेव स्फुटयन्त्याः चतुर्दशकण्डिकाया[1] अर्थं प्रपञ्चयति—अभिप्रायमिति त्रयोविंशत्या श्लोकैः। उक्ताभिप्रायमज्ञात्वा मैत्रेयी एवं पप्रच्छ—हे पते! पूर्वं त्वया आत्मा सच्चिदानन्दरूप उक्तः। इदानीन्तु भूतात्मकोपाधिनाशात् तन्नाश उच्यते, इति विरोधः। इति द्वयोरर्थः।।४४६-७।। तत इति! तत उक्तविप्रतिषेधात् त्वद्वाक्यरूपः पवनो मदीयमनोरूपं तूलं सर्वतो भ्रामयतीत्यर्थः।।४४८।। मोमुह्यत इति। आत्मस्वरूपे तव वचनाद् मे मनोऽतिशयेन मोहं प्राप्नोति, अभिप्रायाज्ञानाद्, राज्ञोभिप्रायमजानन् सेवक इवेति।।४४९।। किं च 'वृद्धिमिच्छतो मूहलहानि'रिति न्यायो ममापन्नः! पूर्वावगतात्मनो नाशश्रवणात्। इत्याशयमावेदयति—तृणेति चतुर्भिः। परावृत्तं विपरीतं जातम्। चतुष्टयं स्पष्टम्।।४५०-३।।

गांभीर्ययुक्त मन वाले मुनि के इस अभिप्राय को न समझती हुई आकुल मन वाली मैत्रेयी ने यों पूछा : 'पतिदेव! पहले आपने बताया कि यह आत्मा सर्वाधिक प्रिय है अर्थात् नित्य ज्ञानरूप आनंद है, और अब आप शरीरनाश से उसका नाश भी कह रहे हैं! यों विरुद्ध सी बात कहता आपका वाक्यरूप पवन मेरे मनरूप तूल को (रूई का रेशा) इधर से उधर डुला रहा है, किसी निर्णय पर नहीं पहुँचने दे रहा।।४४६-८।। हे भगवन्! जैसे राजा का अभिप्राय न समझने पर सेवक किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है उसी प्रकार तात्पर्य से अनभिज्ञ मेरा मन आपके वचन से आत्मा के स्वरूप के बारे में अत्यधिक मोह की स्थिति में पहुँच गया है।।४४९।। घास के लोभ में गाय बिना विचारे बहुत दूर निकल जाती है और तिनकों से छिपे गहरे कीचड़ में फँसकर अत्यंत दीनता का अनुभव करती है; इसी तरह आत्मानुभव के लालच से मैं आपसे पूछने में प्रवृत्त हुई पर आपका वाक्य मेरे लिये कीचड़ बन गया जिसमें मैं धँस गयी हूँ।।४५०-१।। हे महाभाग! आपसे भी और अन्य ब्राह्मणों से भी प्रसंग आने पर मैंने कई बार सुना है कि आत्मा का विनाश नहीं होता किंतु अब जब आप ने कहा कि देहनाश के साथ ही स्वात्मा भी नष्ट हो जाता है तो पहले किया सारा निश्चय उलट गया!'।।४५२-३।।

पत्नी द्वारा यों कहने पर महामुनि याज्ञवल्क्य परम कृपालु हो मैत्रेयी को अपना अभिप्राय यों समझाने लगे :।।४५४।। मैत्रेयि! मेरी बात से तू मोह में मत पड़, पूर्व के निश्चय उलट जाने का दुःख भी मत कर, अपना चित्त स्थिर कर।।४५५।। जो मोह (गलत ज्ञान) तुझे हुआ है वैसा मोह पैदा करने वाली बात मैंने नहीं कही है। पूर्वोक्त वचन और अभी कही बात से मेरा क्या अभिप्राय है यह न समझ पाने से ही तुझे यह मोह हुआ है।।४५६।। मेरा

१. 'सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपिपन्, न वा अहमिमं विजानामीति। स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा।।१४।।'

परिहारः

इत्युक्ते याज्ञवल्क्योऽपि मैत्रेयीं प्रत्यभाषत। कृपया परयाऽऽविष्टः स्वाऽभिप्रायं महामुनिः।।४५४।।

मा ते भवतु संमोहो मैत्रेयि वचनाद् मम। मा च खेदं व्रजाद्य त्वं स्वस्थचित्ता भव प्रिये!।।४५५।।

नाऽहं मोहं ब्रवीमि त्वं प्रतिपन्नाऽसि यं प्रिये। अरे मैत्रेय्यभिप्रायं मदीयं नैव बुद्ध्यसे। पूर्वोक्तं वचनं चैव येन मोहमिमं गता।।४५६।।

विज्ञानघन एवाऽयम् आत्मा मायापरिक्षये। घनतां तां परित्यज्य स्वप्रकाशोऽवतिष्ठते।।४५७।।

विशेषज्ञानविलये सत्यप्यस्य न दुःखिता। अस्मिन्नर्थ इदं तुभ्यमुक्तं मरणमात्मनः।।४५८।।

देहनाशमनु स्वात्मनाशो नैव स्वभावतः। इत्यभिप्रायतो जाये! स्वात्मनो नाश ईरितः।।४५९।।

घटनाशमनुप्राप्तनाशं यद्वद् घटस्थितम्। भवेद् नभस्तथाऽऽत्माऽपि देहनाशाद् विनश्यति।।४६०।।

अरे मैत्रेयि! नित्योऽसावानन्दात्मा स्वयंप्रभः। विज्ञानैकस्वभावश्च मरणे सर्वदेहगः।।४६१।।

एवमुक्तो मुनिः स्वाभिप्रायं प्रकाशितवान् इत्याह—इत्युक्त इति।।४५४।। मा त इति। हे मैत्रेयि! मद्वचनात् तव मोहः पूर्वावगतहानिचिन्ताप्रयुक्तः खेदश्च मास्त्विति।।४५५।। नाऽहमिति। हे प्रिये! त्वं यं मोहं प्रतिपन्ना प्राप्ताऽसि तस्य मोहस्य हेतुतया मोहपदप्रतिपाद्यं वाक्यं नाहं ब्रवीमि, त्वं तु अस्थाने विभ्रान्ताऽसीत्यर्थः। तत्र हेतुश्च पूर्वापरवाक्याभिप्रायाऽनालोचनमेवेत्याह—अरे! इति। येन एतद्वचनाऽभिप्रायं पूर्ववचनाभिप्रायं च न बुद्ध्यसे तेन इमं मोहं गताऽसीति सम्बन्धः।।४५६।। मया तु यदभिप्रेतं तच्छृणु इत्याह—विज्ञानेति त्रिभिः। चिन्मात्ररूपोऽयमात्मा मायया जीवतारूपां घनतां प्राप्तः। मायायाः परिक्षये सति स्वरूपेणैव तिष्ठति। तस्यां चावस्थायाम् औपाधिकानां विषयविशेषज्ञानानां हानावपि नानन्दस्वरूपहानिः। इति बोधयितुमेव मरणावस्थोक्ता। इति द्वयोरर्थः।।४५७-८।। तदवस्थोपन्यासेन च इति सूचितं यद् आत्मस्वरूपेऽविनाशिनि उपाधिधर्मो नाश एवाऽऽरोप्य व्यवह्रियते। उपाधिनाश एव हि लोकैर्दृश्यः, न तु अविषयात्मनाशः। इति दर्शयति—देहनाशमिति। देहनाशमनुसृत्य आरोप्य एव आत्मनाशव्यवहारो, न स्वरूपनाशमादाय इत्यर्थः।।४५९।।

एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—घटनाशमिति। यथा घटस्थितं नभः घटीयं नाशमारोप्यैव नाशवद् उच्यते तथा देहनाशमारोप्य आत्माऽपि मूढैः नाशवान् उच्यत इत्यर्थः।।४६०।। स्वस्वरूपेण अविनाशितामेव स्फुटयति—अरे! इत्यादिना। आत्मनाशे कृतनाशाऽकृताऽभ्यागमादिदोषप्रसङ्गोऽपि इति सूचयन् विशिनष्टि—सर्वदेहग इति।।४६१।।

यह तात्पर्य है : यह आत्मा वस्तुतः चिन्मात्ररूप है। माया से इसमें जीवरूप घनता आती है। माया का बाध हो जाने पर आत्मा स्वप्रकाश ही रह जाता है।।४५७।। विशेषज्ञानों का विलय होने पर भी यह दुःखी नहीं होता—इसे समझाने के लिये मैंने तुझे आत्मा के मरने की बात कही।।४५८।। स्वात्मा का नाश यह स्पष्ट करने के लिये कहा कि देहनाश के कारण ही 'आत्मा नहीं रहा, नष्ट हो गया' ऐसा व्यवहार होता है, स्वरूप से आत्मा नष्ट नहीं होता (अन्यथा उसके नाश के लिये देहनाश के उल्लेख की आवश्यकता न रहती)।।४५९।।

जैसे घटस्थित आकाश घटके नाश से नाशको प्राप्त हो जाता है वैसे आत्मा भी देहनाश से नष्ट हो जाता है। (घटनाश का आकाश पर आरोपमात्र है, देहनाश का भी आत्मा पर आरोप ही है।)।।४६०।। अरे मैत्रेयि! यह आनंद आत्मा नित्य है, स्वप्रकाश है, इसका स्वभाव चेतन ही है। एक शरीर में मरने के बाद क्रमशः सभी शरीरों में

देहाद्यभावतो नृणां मरणे सति सर्वदा। ज्ञानानि जनिमन्त्यत्र न जायन्ते कदाचन।।४६२।।
जनिमज्ज्ञानरहित आनन्दात्मा स्वयंप्रभः। द्वैतावगतिशून्यत्वाद् इदं दुःखं न गच्छति।।४६३।।
संसारेऽपि कुतो गच्छेद् मुक्तावाविद्यकं हि तत्। अविद्यारहितो यत्र द्वैताशाऽपि न विद्यते।।४६४।
अविनाशी ततः स्वात्मा विशेषज्ञानसंक्षये। स्वप्रभोऽपि न जानाति द्वैताभावेन हेतुना।। यथा सुप्तौ
मृतौ चैव मुक्तावपि तथैव सः।।४६५।।
सुप्तौ मृतौ तथा मुक्तावानन्दात्मा स्वयंप्रभः। अविनाशी स्वस्वभावं न जहाति कदाचन।।४६६।।
सुतादीन् विषयान् सुप्तौ स्वप्रभोऽपि न गच्छति। अभावाद् द्वैतजालस्य करणादिकरूपिणः।।४६७।।
ज्ञानकर्मेन्द्रियगणे देहान्तःकरणेऽपि च। वर्तते सर्वदाऽप्यात्मा यतः सर्वगतः पुमान्।।४६८।।
सुप्तौ मृतौ तथा मुक्तावविनाशी स्वयंप्रभः। मैत्रेयि! तत एवाऽयं चिच्छक्तिर्भेदवर्जितः।।
अग्न्यादिवत्स्वभावोऽस्य न विपर्येति कर्हिचित्।।४६९।।

उपाध्यभाव आत्मस्वरूपभानेऽनुकूल एव, विशेषज्ञानात्मकप्रतिबन्धकाभावरूपत्वाद् इत्याह—देहाद्यभावत इति त्रिभिः। देहेन्द्रियादीनामभावेऽनुपलम्भे सति जनिमन्ति ज्ञानानि बुद्ध्यादिवृत्तिरूपाणि न जायन्ते। तादृशदशायां च संसारेऽप्यात्मा दुःखं न गच्छति, किमुत अद्वितीयभावरूपायां मुक्तौ! इति त्रयाणां सम्बन्धः।।४६२-४।।

यश्च तादृशदशायाम् आत्मा द्वैतं न जानाति स द्वैतस्य असत्त्वलक्षणाऽपराधाद्, नात्मनि भासनाऽक्षमत्वरूपादित्याह— अविनाशीति। यथा सुप्तौ मृतौ च चिद्रूपेण विद्यमानोऽपि आत्मा द्वैताभावादेव द्वैतं न जानाति तथा मुक्तावपि इति सम्बन्धः।।४६५।। आत्मस्वरूपं तु न कदाचिद् अन्यथा भवति, अविनाशित्वाद् इत्याह—सुप्ताविति। न जहाति न त्यजति।।४६६।। द्वैताभावाद् द्वैताज्ञानं सुप्तिदृष्टान्तेन स्फुटयति—सुतादीनिति। करणादिकरूपिण इन्द्रियादिरूपस्य।।४६७।। यच्च मुक्तावात्मनः स्वरूपं तत् संसारदशायामपि विद्यते परन्तु देहादिसम्बन्धाद् न स्फुटमवभासत इत्याशयेनाह—ज्ञानेति। ज्ञानेन्द्रियादिसत्त्वकाल आत्मस्वरूपं चैतन्यमनुगतमेवेत्यर्थः।।४६८।। फलितमाह—सुप्ताविति। सुषुप्त्यादौ स्वप्रकाशाऽद्वितीयचिदात्मकमात्मस्वरूपं नान्यथा भवतीत्यर्थः।।४६९।।

जाता है तो इसे सर्वथा नष्ट होने वाला तूने समझ कैसे लिया ?।।४६१।। मृत्यु हो जाने पर देह-इंद्रियादि का सर्वदा अभाव हो जाने पर लोगों को जन्य ज्ञान कभी पैदा नहीं होते। जन्यज्ञानों से रहित स्वप्रकाश आनंदरूप आत्मा क्योंकि द्वैतानुभव नहीं करता इसलिये यह प्रसिद्ध दुःख भी नहीं पाता। जब संसार में रहते हुए भी विशेषज्ञान न रहने पर दुःख से दूर हो जाता है तब मोक्ष में अविद्यारहित हुआ आत्मा अविद्याजन्य वह दुःख क्योंकर अनुभव करेगा? वहाँ तो द्वैत क्या उसकी आशा भी नहीं है।।४६२-४।।

इसलिये स्वात्मा अविनाशी है। विशेषज्ञान क्षीण हो जाने पर स्वप्रकाश रहता हुआ भी आत्मा द्वैतानुभव नहीं करता क्योंकि तब द्वैत है नहीं। जैसे सुषुप्ति व मृत्यु में चिद्रूप से विद्यमान रहते हुए भी आत्मा द्वैत नहीं जानता क्योंकि उन अवस्थाओं में द्वैत होता नहीं वैसे मोक्ष में भी स्वप्रकाश आनंदरूप आत्मा ही होता है, द्वैत होता नहीं कि उसे जाना जाये।।४६५।। सुषुप्ति हो, मृत्यु हो या मोक्ष, स्वप्रकाश आनंदात्मा अविनाशी है, वह अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ता।।४६६।। सुषुति में स्वप्रकाश रहता हुआ भी आत्मा पुत्र आदि विषयों को नहीं जानता क्योंकि इंद्रिय आदि द्वैतजगत् तब नहीं होता।।४६७।। ज्ञानेंद्रिय-कर्मेन्द्रिय के समूह में, देह में, अंतःकरण में आत्मस्वरूप चैतन्य हमेशा रहता है क्योंकि पुरुष तो सर्वव्यापक है (लेकिन अविद्या रहते वह स्वरूप छिपा-सा है जबकि मोक्ष में वह सुस्पष्ट रहता है।)।।४६८।। मैत्रेयि! इसीलिये सुषुप्ति, मृत्यु व मोक्ष में यह भेदरहित, ज्ञानरूप शक्ति वाला स्वयंप्रभ अविनाशी ही है। जैसे अग्नि आदि का स्वभाव नहीं बदलता ऐसे इसका स्वभाव कभी नहीं बदलता।।४६९।।

अविद्यया द्वैतभानम्

स्वयंज्योतिःस्वभावेऽस्मिन्नानन्दात्मनि निर्द्वये। वस्तुतो विद्यते नैव द्वैतं किञ्चिन्न कर्हिचित्।।४७०।।

ततो मायामयं द्वैतं द्वैतवद् वर्ततेऽत्र तत्। संसारित्वदशाकाले निःसंसारस्वरूपिणः।।४७१।।

यदा द्वैतमिवैतद्धि स्वरूपं स्वात्मनो भवेत्। अन्यदेवान्यमात्मानं नानाभेदसमन्वितम्।।४७२।।

विषयत्वं समापन्नं जगद्रूपमनेकधा। सुखदुःखकरं ब्रह्मज्ञानादर्वाक् शरीरिणाम्।
एकादशेन्द्रियैरन्तर्बहिश्चैवाधिगच्छति।।४७३।।

अविद्यायां विलीनायामानन्दात्मस्वरूपिणि। स्वप्रभे ब्रह्मविज्ञानाद् भेदगन्धविवर्जिते।। कर्तृकर्मादिरहिते कः किं केनाऽधिगच्छति।।४७४।।

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञाने न देहाः स्थिरजङ्गमाः। ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यत्र नैव स्युर्विषयैः सह।।४७५।।

सुखदुःखादिभिः सार्द्धं नैवान्तःकरणं क्वचित्। कारणाभावतो यस्मादविद्या नाशमागता।।४७६।।

एवं शोधितस्य त्वंपदार्थस्य परिपूर्णताप्रतिपादनेन ब्रह्मविद्यायाः तद्दृढिमप्रयोजकसंन्यासस्य चाभिनयपरायाः पञ्चदशकण्डिकाया[1] अर्थम् आध्यायान्तग्रन्थेन प्रपञ्चयन्; तत्र द्वैतभानस्य अविद्याव्याप्यताप्रतिपादकस्य 'येनेदम्' इत्यतः पूर्वग्रन्थस्यार्थमाह—स्वयंज्योतिरिति दशभिः। अस्मिन् आत्मनि वस्तुतो द्वैताऽसम्भवात् संसारित्वदशाकाले यद् द्वैतं कार्यकारणात्मकं द्वैतवद् द्वितीयचन्द्रादिवद् वर्तते तद् मायामयम् इति द्वयोरर्थः।।४७०-१।। तत्रान्वयव्याप्तिं स्फुटयति—यदेति। यदा एतद् आत्मनः स्वरूपद्वैतापेक्षया अन्यदेव विलक्षणमेव, अद्वैतमिति यावत्, तद् द्वैतमिव मायया द्वैताकारेण भासमानमिव भवति तदाऽयं जीवात्मानम् अन्यं तत्पदार्थाद् भिन्नं, विश्वतैजसादिभेदवन्तं प्रमात्रादिभेदवन्तं वा; तथा नानाविधं विषयात्मकं जगद्रूपं च एकादशेन्द्रियैः अन्तर्बहिः वा वर्तमानं पश्यति। कीदृशम् जगद्रूपम्? अनेकधा सुखदुःखकरम्। इति द्वयोरर्थः।।४७२-३।। व्यतिरेकं स्फुटयति—अविद्यायामिति किंशब्द आक्षेपे। अविद्याहीनस्वरूपे त्रिपुटी न सम्भवतीत्यर्थः।।४७४।। तत्र हेतुतया त्रिपुटीरूपकाणामन्तर्बाह्यभावानामभावम् अविद्यात्मककारणाभावप्रयुक्तमाह—सर्वं ब्रह्मेति। सर्वं ब्रह्मेति सति अत्र आत्मस्वरूपे देहादयः कारणाभावाद् न सन्ति। कारणाभाव एव कुतः? इत्यत आह—यस्माद् इत्यादि। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४७५-६।।

स्वभावतः स्वप्रकाश इस अद्वैत आनंदात्मा में कोई द्वैत वस्तुतः कभी नहीं है।।४७०।। इसलिये स्वरूप से असंसारी आत्मा के संसरण की दशा के समय यहाँ जो द्वैत जैसा मौजूद है वह द्वैत मायाकार्य ही है।।४७१।। आत्मा का यह विलक्षण स्वरूप ही जब मानो द्वैतावस्थ होता है तब यह अपने को ईश्वर से अन्य और विभिन्न भेदों वाला समझता है, ग्यारहों इंद्रियों द्वारा विषय बने भीतर-बाहर स्थित, सुख-दुःख देने वाले जगद् रूप को देखता है। शरीरियों को जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तभी तक आत्मा यों भेदावलोकन करता है।।४७२-३।। ब्रह्मानुभव से आनंदात्मा स्वप्रभ अभिन्न कर्तृ-कर्मादि से रहित आत्मा में जब अविद्या लीन हो जाती है (बाधित हो जाती है) तब कौन किससे किसे देखे? ।।४७४।। 'सब ब्रह्म है' यह अनुभव हो जाने पर स्थिर-चर शरीर, ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ, विषय, सुख-दुःख, अंतःकरण आदि कुछ कहीं नहीं रह जाता क्योंकि इनका कारण ही नहीं रह जाता, अविद्या नष्ट हो चुकती है।। ४७५-६।। अविद्या के अभाव से क्योंकि सभी वस्तुओं का विनाश हो जाता है। इसलिये स्वयंज्योति आनंदात्मा ही बचता है।।४७७।।

---

१. 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति...जिघ्रति...रसयते...अभिवदति...शृणोति...मनुते...स्पृशति...विजानाति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्...जिघ्रेत्...येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्!'

अविद्याऽभावतो यस्माद् विनाशः सर्ववस्तुनः। जातस्तेन स्वयंज्योतिरानन्दात्माऽवतिष्ठते।।४७७।।

अस्मिन्नात्मनि को नाम पश्येत् किं केन वा कथम्। कुत्र कालेऽपि कस्मिन् वा किं च तस्य फलं भवेत्।।४७८।।

आत्माऽप्रकाश्यः

अपि द्वैतमिवेदं स्याद् यदात्माऽयं स्वयंप्रभः। तदापि स्वात्मनो भिन्नं जानीते सकलो जनः।। नात्मानं कर्हिचित् क्वापि विज्ञातारं स्वयंप्रभम्।।४७९।।

सर्वमात्मेति तु यदा जातमात्मावबोधतः। तदा तु निर्द्वयं देवं स्वप्रभं कोऽधिगच्छति।।४८०।।

विज्ञातारमहं जान इति यो निश्चितो भवेत्। पृच्छामस्तं वयं मन्दं केन तेऽधिगतस्त्विति।।४८१।।

यद् यो जानाति मनुजस्तत् केनाऽपि न चान्यथा। ततस्तवाऽऽत्मविज्ञानं केनेत्येतत् समीरय।।४८२

मूर्तामूर्तं द्वयं सर्वं तदभावश्च नात्मनि[1]। अविद्यारहिते सोऽयं गृह्यते केन हेतुना।। अगृह्यः सर्वकरणैर्बाह्यैश्चाभ्यन्तरैरपि।।४८३।।

ततश्चात्मा केवलोऽवशिष्यत इत्याह—अविद्याऽभावत इति। स्पष्टम्।।४७७।। अस्यां दशायां ज्ञानलक्षणा क्रियाऽपि न सम्भवतीत्याह—अस्मिन्निति। अस्मिन् अविद्याविनिर्मुक्ते तस्य दर्शनस्य फलम् आवरणभङ्गादिरूपम् अपि कथं जायेत! सिद्धत्वादिति।।४७८।।

ननु तदानीमात्मानमेव जानीयाद्? इति शङ्कां वारयन्; 'विजानीयाद्' इत्यन्तवाक्यस्याऽर्थमाह—अपीति द्वाभ्याम्। यदाऽविद्याकाले द्वैतमिव भवति तदापि सर्व आत्मभिन्नमेव ज्ञानस्य विषयी करोति, नात्मानम् इति प्रसिद्धम्। विद्योदयानन्तरम् आत्मानं न विषयी करोति इति किमु वाच्यम्! इति द्वयोरर्थः।।४७९-८०।।

उक्तार्थ उपपत्तिम् 'अगृह्य'दिपदैः सूचितां प्रपञ्चयति—विज्ञातारम् इत्यादिना। सर्वस्य विज्ञातारम् आत्मानम् अहं ज्ञानस्य विषयी कुर्याम् इति यो वदति स मूढ एवं प्रष्टव्यः। 'एवं' कथम्? त्वयाऽऽत्मा केन करणेन ज्ञातः? इति।।४८१।। ज्ञानेन विषयी करणे करणमवश्यमपेक्षितमित्याह यद् य इति। यो मनुजो यद् वस्तु ज्ञानस्य विषयी करोति तद् विषयी करणं केनचित् करणेनैव इत्यर्थः।।४८२।। तत्र मूर्तामूर्तलक्षणं द्वैतं तदभावश्च करणतया न वाच्यः, अविद्यारहितात्मनि सदा तदभावात्; अत एव अयमात्मा श्रुतौ 'अगृह्य' इत्युक्त इत्याह—मूर्तेति। स्पष्टम्।।४८३।।

अविद्यारहित आत्मा में कौन किससे क्यों कहाँ किस समय किस फल के लिये क्या देखे! ।।४७८।। (अर्थात् तब क्रियारूप ज्ञान भी नहीं रहता क्योंकि आवरणनिवृत्ति आदि जो उसके प्रयोजन थे वे संपन्न हो चुके। स्वरूपज्ञान ही रहता है।)

अविद्यादशा में जब द्वैत है जैसा लग रहा है तब भी स्वप्रभ आत्मरूप सभी लोग अपने से भिन्न को ही ज्ञान का विषय बनाते हैं, स्वप्रकाश विज्ञाता आत्मा को कहीं कभी कोई नहीं जानता। अतः जब आत्मा के अवबोध से सभी कुछ एक आत्मा ही हो गया तब उस अद्वैत स्वप्रभ महादेव को कौन ज्ञान से विषय कर सकता है! ।४७९-८०।।

---

१. अनुयोगिसमानसत्ताकप्रतियोगिनो ह्यभावो विचारयोग्यस्तादृशो नास्त्यात्मनीत्यर्थः।

अपि गृह्यं विशीर्येत कालतस्तच्छनैः शनैः। यथा वस्त्रादिकं शीर्यम् अशीर्यो गृह्यते कथम्।।४८४

अपि यच्छीर्यते लोके युक्तं स्वावयवैर्हि तत्। न शीर्यते ततः स्वात्मा संयोगरहितः सदा।।४८५।।

अपि सक्तस्य भीतिः स्याच्छरीरस्य यथाऽत्र हि। इन्द्रियैर्योगतश्चात्मा निर्भयः केन सज्जते।। अस्ति भीतौ व्यथा दृष्टा विनाशस्याऽपि कारणम्।।४८६।।

अविनाशी व्यथाशून्य आत्मा केन भयं व्रजेत्। निर्ममः सज्जते केन निःसङ्गः शीर्यते कथम्।। अशीर्यो गृह्यते केन ह्यगृह्ये करणं तु किम्।।४८७।।

भावाभावविनिर्मुक्ते निर्माये स्वप्रकाशके। करणादेश्च वार्तापि ह्युपपन्ना कथं भवेत्[1]।।४८८।।

ततो नैवात्मविज्ञाने करणं श्रुतिमार्गतः। लभ्यते नाऽपि योगस्य दर्शनेन च केनचित्।।४८९।।

किं च यदि आत्मनो गृह्यत्वं स्यात् तदा गृह्यत्वव्यापकानि शीर्यत्वादीनि अपि स्युरिति तर्कं[2] सूचयन्, शीर्यत्वादीनां तद्व्यापकतां धाराविधया दर्शयति—अपि गृह्यमिति त्रिभिः। शीर्यत्वम् अवयवशैथिल्येन नाशशीलत्वम्।।४८४।। शीर्यत्वस्य व्यापकं च अवयवद्वारा संयोगित्वलक्षणं सङ्गित्वम्[3] इत्याह—अपि यच्छीर्यत इति। यच्छीर्यते तद् अवयवैः कृत्वा युक्तं संयोगवद् अपि भवति, आत्मा तु न तथेत्यर्थः।।४८५।। सङ्गस्य व्यापकं च भयमित्यस्य व्यथा तस्याश्च विनाशकारणसम्बन्ध इत्याह—अपि सक्तस्येति। सक्तस्य सङ्गिनो भयं दृष्टं यथा इन्द्रियैः तदुपलक्षितविषयैश्च योगिनः शरीरस्य इति। तथा भीतौ सत्यां व्यथा दृष्टाऽस्ति। व्यथायां सत्यां च विनाशकारणसन्निधानं दृष्टमित्यर्थः।।४८६।। व्यापकाभावे च व्याप्याभाव इत्याह—अविनाशीति। आत्मा यतः अविनाशी ततो व्यथाशून्यः। एवमग्रेऽपि योज्यम्।।४८७।। किं चात्मनः स्वभावमालोच्याऽपि करणादिकं तत्स्वरूप-भाने न वाच्यमित्याह—भावाभावेति। स्पष्टम्। ४८८।। फलितमाह—तत इति। औपनिषदमतेन पातञ्जलमतेन च आत्मभाने करणं केनचिदपि वक्तुमशक्यमित्यर्थः।।४८९।।

जो मंदमति इस निश्चय वाला है कि 'सबके विज्ञाता को मैं जानता हूँ—ज्ञान का विषय बना चुका हूँ', उससे हम पूछते हैं—तुमने किस करण से उसे जाना?।।४८१।। जो मनुष्य जिसे जानता है उसे किसी करण से ही जानता है, बिना करण के नहीं। इसलिये तुम बताओ कि तुमने आत्मा को किस करण से जाना, ज्ञान का विषय बनाया?।।४८२।। आत्मा में मूर्त-अमूर्त दोनों नहीं हैं और न इन दोनों का अभाव ही है! आत्मा अविद्या से भी वर्जित है। ऐसा आत्मा किस हेतु से—करण, साधन से—ग्रहण किया जा सकता है? अन्तःकरण व बहिःकरण सभी से उसे अग्राह्य स्वयं श्रुति ने कहा है। (मूर्तामूर्त करण अर्थात् इंद्रियाँ जो मूर्तामूर्त महाभूतों से निर्मित हैं वे उसे ही विषय करती हैं जो मूर्त या अमूर्त हो और मूर्त-अमूर्त के अभाव के भी ज्ञान में हेतु बनती हैं; जो मूर्त-अमूर्त और इनके अभाव वाला नहीं वह इन्द्रियगोचर भी नहीं हो सकता। अत एव इंद्रियजन्य ज्ञान के आधार पर होने वाले अनुमान आदि का भी विषय नहीं हो सकता। शास्त्र स्वयं उसे अग्राह्य कह रहा है तो वह शास्त्रीय ज्ञान का भी विषय हो यह संभव नहीं।)।।४८३।। किं च जिसका ग्रहण हो सकता है वह समय से धीरे-धीरे नष्ट होता ही देखा गया है जैसे कपड़े आदि ग्राह्य हैं तो नाशशील भी हैं। आत्मा नाशवान् नहीं तो ग्राह्य कैसे होगा!।।४८४।। संसार में जो नाशवान् मिलता है वह अपने अवयवों के संयोग वाला भी होता है, उसके अवयव आपस में मिले होते हैं। आत्मा हमेशा अवयवसंयोग से रहित है अतः नाशवान् हो नहीं सकता।।४८५।। जो संयोग वाला होता है उसमें डर भी होता है जैसे इंद्रियों व विषयों से संयोग वाला (संबंध वाला) है तो शरीर भययुक्त भी है। आत्मा अभय है तो संयोगी क्यों होगा? तथा भय होने पर व्यथा भी देखी

१. परप्रकाशेऽनित्ये हि करणवार्ता सङ्गच्छत इति भावः। २. आकाशोपि महाप्रलयादौ नश्यतीति स्मर्तव्यम्। ३. पटादावुपादानस्यैवावयवत्वदर्शनाद् मायैवाकाशावयवा इत्यंगीक्रियते।

आत्मा सुरगुरोः शिष्यैरुक्तो रूपादिमानयम्। ऐन्द्रियस्तर्हि तस्याऽपि करणं ग्रहणे न हि।।४९०।।

सर्वस्य करणस्यास्य सङ्घातान्तर्निपातनात्। ततः कर्त्रैव सर्वं स्यात् करणं नैव किंचन। इन्द्रियाणां यदाऽऽत्मत्वं तदाऽप्युक्तं व्यवस्थितम्।।४९१।।

देहेन्द्रियादिसङ्घाताद् व्यतिरिक्तो यदा पुमान्। रूपादिमांस्तदा तस्य चक्षुराद्यैरदर्शनात्। न तानि करणानि स्युर्मनोऽप्येतैर्विना न च।।४९२।।

अथ चार्वाकादिवैशेषिकान्तमतेष्वपि करणाऽसंभवं प्रपञ्चयति—आत्मेति नवभिः। ये तावद् बृहस्पतिशिष्येषु चार्वाकेषु देहेन्द्रियमनःप्राणान् आत्मत्वेन पश्यत्सु प्रथमं पृथिव्यप्तेजोवायुसङ्घातात्मकं देहं रूपादिमत्तयेन्द्रिय-विषयत्वेन आत्मत्वाऽनर्हमपि आत्मानं मन्यन्ते, तेषां मते तस्य देहरूपात्मनो भाने करणं न हि सम्भवेदित्यर्थः।।४९०।। कथम्? इत्याकाङ्क्षायामाह— सर्वस्येति। तन्मते हि यद्यद् नेत्रादिकं करणत्वेन विवक्ष्यते तत्तत् कर्तृत्वेन आक्रान्तं, सङ्घातलक्षणात्मन एव ज्ञानकर्तृत्त्वात्, सङ्घातस्य च संहतमात्ररूपत्वात्। तथा च सर्वं करणत्वेन विवक्षितं कर्तृरूपमेव स्याद्, न करणं, भेदाभावात्। करणत्वस्य कर्तृभेदनियतत्वाद् इत्यर्थः। एतद् उक्तं दूषणम् इन्द्रियसङ्घातात्मवादिमतेऽपि योज्यम्। देहस्तु तन्मते न करणं, ज्ञानक्रियां प्रति कर्मत्वात्। एवं बाह्यविषया अपि। इन्द्रियेभ्य आन्तरो भावस्तु तैरनभ्युपगमादेव न करणमिति भावः।।४९१।। देहेन्द्रियादीति। यैरपि देहेन्द्रियसमुदायाद् भिन्नो मानोरूपः, प्राणरूपः, कर्तृभोक्तृरूपो वाऽऽत्माऽभ्युपगम्यते ते प्रष्टव्याः—किमात्मा रूपादिमान्? नीरूपो वा? आद्ये, तस्य रूपादिमत इन्द्रियैर्मनसा वा अनुपलभ्यमानत्वात् तानि इन्द्रियाणि तदुपलब्धौ न करणानि वक्तुं शक्यानि। मनो रूपादिमत ग्रहण इन्द्रियैर्विनाऽसमर्थत्वाद् न करणत्वेन वाच्यमित्यर्थः।।४९२।। अन्त्ये, आह—नीरूपोऽपीति।

जाती है और विनाशकारण की निकटता भी देखी जाती है। आत्मा अविनाशी और इसलिये व्यथा से रहित है अतः वह सभय क्यों होगा? जो ममता-रहित है वह संग वाला नहीं होता और असंग नाशवान् नहीं होता। अविनाशी का ग्रहण किससे होगा? अग्राह्य में करण कौन बन सकता है?।।४८६-७।। भाव-अभाव से अस्पृष्ट, मायाहीन, स्वयंप्रकाश के बारे में करण आदि की बात भी संगत कैसे हो सकती है?।।४८८।। इसलिये श्रुतिमार्ग से और योगदर्शनानुसार विचार करें तो आत्मा को ज्ञानगोचर बनाने के लिये कोई करण किसी को नहीं मिल सकता।।४८९।।

श्रौत और योगियों की बात रहने दें तो भी आत्मा ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। बृहस्पति के शिष्य चार्वाक इंद्रियगोचर रूपादि वाले इस शरीर को आत्मा कहते हैं, उसके भी ग्रहण के लिये करण कोई नहीं है! ।।४९०।। जो सारे करण हैं—इंद्रियाँ हैं—वे क्योंकि देहसंघात के ही अंतर्गत आ जाते हैं इसलिये कर्ता ही हो सकते हैं, करण नहीं। जिस मत में इंद्रियों को आत्मा मानते हैं उसके अनुसार भी आत्मज्ञान में करण नहीं मिल सकता। (देहात्मवादी नेत्रादि को ही आत्मज्ञान अर्थात् देहज्ञान में करण कह सकता है किन्तु क्योंकि वे नेत्रादि संघात के अंग हैं और संघात ही उनके अनुसार आत्मा है इसलिये संघात—अतः इंद्रियाँ भी—ज्ञान का कर्ता ही होगा, न कि करण; यह व्याप्ति देखी गयी है कि जहाँ कर्तृ-भेद होता है वहीं करणता होती है अर्थात् करण वही होता है जो कर्ता नहीं जैसे लकड़हारा कर्ता है और उससे भिन्न कुल्हाड़ी करण है। यदि इंद्रियाँ ही आत्मा हैं तब भी वे कर्ता होने से करण नहीं अतः आत्म-ज्ञान के लिये फिर भी करण दुर्लभ रहा। शरीर तो इंद्रियों का कर्म हो सकता है, करण नहीं। इंद्रियों से आन्तरिक कुछ वे चार्वाक मानते नहीं। इस प्रकार अत्यंत स्थूल चार्वाक मत में ही जब आत्मज्ञान के लिये करण नहीं तो अन्यत्र कहाँ होगा!)।।४९१।।

जब वादी कहते हैं कि आत्मा देह-इंद्रिय के संघात से अलग है तब वे उसे अगर रूप आदि वाला मानें तो क्योंकि आँख आदि से उसका दर्शन नहीं होता इसलिये इन्हें वैसे आत्मा के ज्ञान का करण नहीं मान सकते और मन भी इंद्रियों के बिना रूपादि वाले के ज्ञान का कारण बनता नहीं है।।४९२।। यदि वे आत्मा को नीरूप (अर्थात् ऐंद्रिय गुणों से रहित) मानें तो भी वह मन से ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि करण को जरूरत होती है कर्ता की और जब आत्मा कर्म (ज्ञानविषय) बन गया है तो करण को प्रयुक्त करने वाला कर्ता कौन होगा? यदि आत्मा कर्म न

नीरूपोऽपि यदाऽयं स्यात् तदापि मनसा न हि। गृह्यते करणं यस्मात् कर्तारं समपेक्षते।।४६३।।

आत्माऽयं कर्मतां प्राप्तः कर्ता तस्य भवेद्धि कः। अकर्मत्वेऽपि कर्तैव कर्म किं नु भविष्यति।।४६४

एकस्याऽपि सदा न स्यादपाये कर्तृकर्मणोः। करणं यत एतत् स्यात् सापेक्षं कर्तृकर्मणोः।।४६५।।

करोत्यनेन सततं कर्ता कर्मणि किञ्चन। यस्मात्ततोऽत्र करणमुक्तमेतद् मनीषिभिः।।४६६।।

एकदैव च नैकस्य व्यापारे भेदवर्जिते। कर्तृता कर्मता दृष्टा ह्युपपन्नाऽथ वा भवेत्।।४६७।।

अदृष्टमुपपत्त्याऽपि हीनमङ्गी करोषि चेत्। करणादिविभागेन विनाऽप्यस्य प्रकाशनम्। अङ्गी करोषि कस्मान्न मूढ! मादिप्रवेदिनम्।।४६८।।

श्रुतिरप्यात्मनो ज्ञाने करणं नैव वस्तुतः। अस्माकं किन्तु वचनाच्छ्रुतेर्वृत्तिः प्रजायते।।४६९।।

यदाऽयं देहेन्द्रियसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा नीरूपः स्वीक्रियते तदाऽपि मनः तद्ग्रहणे करणं वक्तुमशक्यम्। तदा हि आत्मा कर्म वा स्यात्, कर्ता वा। आद्ये, कर्तृहान्या करणत्वहानिः! करणत्वस्य कर्तृसापेक्षत्वात्। अन्त्ये तु, नु इति वितर्के, आत्मग्रहणक्रियायामात्मभिन्नं किं कर्म भविष्यति ? न किंचिदपि। तथा च कर्महान्या करणत्वहानिः। इति द्वयोरर्थः।। ४६३-४।। कर्तृकर्मणोर्मध्येऽन्यतरस्याऽपि हाने करणस्य करणत्वं न स्यात्, तस्य कर्तृकर्मसापेक्षत्वाद् इत्याह—एकस्यापीति। व्याख्यातम्।।४६५।।

सापेक्षतां स्फुटयितुं करणलक्षणमाह—करोतीति। येन कर्ता कर्मनिष्ठं किञ्चित् फलं जनयति तत् करणम् इति उक्तम् इत्यर्थः। तदुक्तं हरिणा 'क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्।।' इति। एतेन अकर्मकधातुयोगे तृतीया हेत्वर्थे बोध्येति सूचितम्।।४६६।। युगपदेकत्र व्यापार एकस्यात्मनः कर्तृत्वं कर्मत्वं च न सम्भवति, दृष्टिविरोधाद् उपपत्तिविरोधाच्च इत्याह—एकदैवेति।।४६७।। किं च प्रमाणन्यायविरुद्धं युगपदेकस्य कर्मकर्तृत्वमङ्गी कृत्य श्रुत्यनुभवसिद्धं स्वयंप्रकाशत्वम् अनभ्युपगच्छता स्वमौढ्यमेवाविष्क्रियते ! इत्याह—अदृष्टमिति। हे मूढ! करणादिविभागेन करणस्वरूपस्य आदिः कारणं निर्वाहक इति यावत्; ईदृशो यः कर्तृकर्मणोः विभागो भेदः, तेन विनाऽपि अस्य आत्मनः प्रकाशनं भाने करणं दृष्ट्युपपत्तिविरुद्धमपि अङ्गी करोषि चेत्, तदा मादिप्रवेदिनं मा प्रमा आदिपदेन अप्रमादिग्रहः, तेषां प्रवेदिनं साक्षिणं स्वप्रकाशं श्रुत्यादिप्रसिद्धं कस्माद् नाङ्गी करोषि, कोऽत्र भारः ? इत्यर्थः। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः 'प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च। कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भावना कुतः।' (१.४.८७४) इति।।४६८।।

कथं तर्हि सिद्धान्ते श्रुतेः करणत्वमिति चेद्? आत्मभानप्रतिबन्धकावरणापसारणेन गौणमित्याह—श्रुतिरपीति द्वाभ्याम्। वस्तुतः श्रुतिरपि आत्मभाने करणं न भवति किन्तु तां श्रुत्वा अस्माकम् अधिकारिणाम् आत्माकारा वृत्तिः

बनकर कर्ता ही रहे तो आत्मग्रहण की क्रिया का कर्म और हो कौन सकता है? जब कर्म ही नहीं तो करण की चर्चा ही व्यर्थ हो जायेगी।।४६३-४।। कर्ता या कर्म में से एक का भी अभाव होने पर करण कभी नहीं होता क्योंकि कर्ता व कर्म की अपेक्षा से ही करण हुआ करता है।।४६५।। कर्ता कर्म में कोई फल जिससे उत्पन्न करता है वही मनीषियों द्वारा करण कहा जाता है। (अतः करण अन्य दोनों के सापेक्ष है।)।।४६६।। एक ही समय में एक ही व्यापार के प्रति एक ही वस्तु कर्ता व कर्म दोनों हो यह न देखा जाता है, न संगत ही है।४६७।। अरे मूढ ! कर्ता-कर्म के भेद के बिना भी आत्मा का ग्रहण न प्रमाणसिद्ध है, न युक्तियुक्त, यदि तुम उसे मान सकते हो तो प्रमा-अप्रमा आदि के साक्षी स्वप्रकाश तत्त्व को ही क्यों नहीं मान लेते जो श्रुति आदि से सिद्ध भी है? ।।४६८।।

वृत्त्या तया तमो नाशं याति स्वात्मावरोधनम्। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिस्ततो भति स्वयं हि नः॥५००
एवं मन्दमतेऽप्यात्मज्ञाने लोकसमाश्रयात्। करणं नास्ति केनेदं भवेद् वेदसमाश्रये।।५०१।।
देहादेर्नात्मता दृष्टा जडत्वात् करकादिवत्। ततोऽजडः स्वयंज्योतिः आनन्दात्मैव निर्द्वयः।।५०२।।
विज्ञाता सर्वबुद्धीनां साक्ष्येवात्मा न चापरः। विज्ञातारमरे केन जानीयात्तत एव हि। मैत्रेयि !
करणेनायमानन्दात्मानमव्ययम्।।५०३।।

आत्मनिष्ठा सम्पाद्या

ततस्त्वमपि मैत्रेयि! सर्वप्रियतमं त्विमम्। स्वयंज्योतिःस्वभावेन स्वप्रकाशं[1] सदाऽद्वयम्।।५०४।।
आनन्दात्मानमात्मस्थम् आत्मनैवावधारय। पतिपुत्रादिकं हित्वा दुःखजातमिदं प्रिये।।५०५।।
एवमुक्तं मया तुभ्यं प्रिये! स्वात्मानुशासनम्। एतावदेव विज्ञेयममृतत्वं न संशयः।।५०६।।

जायते, तया वृत्त्या च स्वात्मावरोधनम् आत्मस्वरूपावरकं तमः अज्ञानं नश्यति, ततः स्वयम् एव आत्मा भाति। इति द्वयोरर्थः।।४९९-५००।। फलितमाह—एवमित्यादिना। केवललोकदृष्ट्याश्रयणाद् ये मन्दास्तेषां मतेऽपि करणम् आत्मभाने न सम्भवति, किमुत वैदिकमताश्रयणे! इत्यर्थः।।५०१।।

किन्तद् वैदिकमतम्? इत्याकाङ्क्षायामाह—देहादेरिति। करकः कमण्डलुः तत्प्रभृतिवत् जडत्वाद् देहादीनामनात्मत्वम् इत्यविवादम्। तेषां च भानम् आध्यासिकचित्सम्बन्धं विना न सम्भवतीत्यतः तेषां मिथ्यात्वात् सर्वाधिष्ठानभूत आत्माद्वय इत्यर्थः।।५०२।। स चाऽद्वयः सर्वबुद्धिसाक्षिणो न भिन्न इति बोधयितुं मधुकाण्डे 'विज्ञातारम्' इत्याद्युक्तम् इति सूचयंस्तस्य अविषयतां भाने करणानपेक्षतारूपां निगमयति—विज्ञातेति। स आत्मा साक्षिरूप एव। तं च केन करणेन जानीयाद्! इति सम्बन्धः।।५०३।।

एवमात्मानं विज्ञाय त्वया तन्निष्ठतैव सम्पाद्येत्याह—तत इति। पत्यादिकं दृश्यजातं विस्मृत्य स्वयम्प्रकाशात्मानन्दैकरसिका भव। इति द्वयोरर्थः।।५०४-५।। एवमिति। यत् त्वया अमृतत्वम् अमृतत्वसाधनं पृष्टं

वास्तव में वेद भी आत्मा के भान में करण नहीं बनता। होता यह है कि वेद का श्रवण करने से हम अधिकारियों की बुद्धि में आत्मा के आकार की वृत्ति उत्पन्न होती है और उस वृत्ति से आत्मस्वरूप ढाँकने वाला अज्ञान नष्ट हो जाता है। आत्मा तो स्वयं ही भासता है, वेदादि करण से उसका भान नहीं है।।४९९-५००।।

इस प्रकार मूर्खों के मतों में भी—जो मत साधारण लोगों की दृष्टि पर आधारित हैं उनमें भी—आत्मा के ज्ञान के लिये कोई करण सिद्ध नहीं होता तो स्वप्रकाश आत्मा मानने वाले वैदिक सिद्धांत में आत्मज्ञान के लिये करण की संभावना ही कैसे होगी ? ।।५०१।।

जड होने से शरीरादि आत्मा नहीं है जैसे कमण्डलु आदि। अतः जो जड नहीं है वह अद्वितीय आनंदरूप आत्मा स्वप्रकाश ही है।(आत्मा अद्वैत इसलिये है कि द्वैत का ज्ञान होता है! यह तभी संभव है जब द्वैत का आत्मा से संबंध हो। वह तभी संभव है जब द्वैत आत्मा पर अध्यस्त हो। यों द्वैत मिथ्या है तो आत्मा अद्वैत होना ही हुआ।)।।५०२।। विज्ञाता कहलाने वाला आत्मा सभी बुद्धियों का साक्षी ही है, उससे अन्य नहीं। मैत्रेयि ! इसलिये उस अव्यय आनंदात्मा विज्ञाता को किस करण से जाना जा सकता है ! (साक्षी अर्थात् बिना माध्यम के प्रकाशने वाला) ।।५०३।।

मैत्रेयि ! प्रिये ! क्योंकि तुम अमृत ही होना चाहती हो और उसका यही उपाय है इसलिये पति-पुत्र आदि इस दुःखसमूह को छोड़कर तुम सर्वाधिक प्रिय इस सदा अद्वैतरूप आनंदात्मा को आत्मरूप से ही—'यही मैं हूँ' यों—समझो जो स्वभावतः खुद ही भासमान होने से किसी अन्य भान की या करण की ज़रूरत नहीं रखता और तुम्हारे अंदर ही पाँचों कोशों की प्रतिष्ठा रूप से—वर्तमान है।।५०४-५।। प्रिये ! इस प्रकार जो मैंने तुम्हें सुनाया है यही स्वात्मा का

१. प्रकाशेऽन्यानपेक्षाऽनेनोच्यते, स्वभावान्तेन च प्रकाशरूपतेति।

अरे मैत्रेयि ! नैवान्यद् अमृतत्वं हि विद्यते। मुक्त्वात्महृदये सन्तमानन्दात्मानम द्वयम्। ।५०७।।

ज्ञानानन्तरं न जन्म

आत्मनस्त्वस्य विज्ञानाद् मरणं ते पुनर्न हि। भविष्यति वपुस्त्यागात् तस्माद् मैत्रेय्यनन्तरम्। ।५०८।।

एवं स्वहृदये सन्तं स्वयंज्योतिःस्वरूपिणम्। आनन्दात्मानमद्वैतमनन्तमविनाशिनम्। ।५०९।।

परित्यज्य बहिश्चित्तं मा कृथास्त्वं कदाचन। तथा च मरणं भूयो न भविष्यति ते प्रिये। ।५१०।।

मुनेः संन्यासः

एवमुक्त्वा मुनिवरो याज्ञवल्क्यः प्रियां निजाम्। मैत्रेयीं जातवैराग्यः प्रवव्राज गृहाश्रमात्। ।५११।।

आत्मशक्तिं गुणैर्गूढाम् आत्मनोऽन्यां विलोकयन्। विचारात् कारणानां यां दृष्टवन्तो मुनीश्वराः५१२

तद् आत्मविद्यारूपमुक्तमित्यर्थः। ।५०६।। अरे इति। सर्वान्तराद्वितीयात्मज्ञानाद् अन्यद् अमृतत्वसाधनं न अस्तीत्यर्थः। ।५०७।।

आत्मनस्त्विति। अस्यात्मनो ज्ञानप्रभावाद् एतद्देहत्यागानन्तरं पुनर्मरणं ते न भविष्यति इति। ।५०८।। एतदेव स्फुटयति—एवमिति। उक्तविधया हृदयस्थमात्मानम् अद्वैतं निश्चित्य चित्तस्य तत्प्रवणताकरणं विज्ञानं, तत्फलं तु पुनः संसाराभावः। इति द्वयोरर्थः। ।५०९-१०।।

उक्तात्मज्ञानदार्ढ्याय विद्वत्सन्न्यासः कार्य इति दर्शयन् मुनिः संन्यस्तवानित्याह— एवमुक्त्वेति। स्पष्टम्। ।५११।।

उत्तराध्यायजिज्ञासाम् उत्थापयति—आत्मशक्तिमिति द्वाभ्याम्। किं कुर्वन् मुनिः प्रवव्राज ? आत्मनः शक्तिं मायां प्रकृत्यादिपदवाच्यां सत्त्वादिगुणैः गूढाम् आत्मनः सच्चिदानन्दलक्षणाद् अन्यां विलक्षणां मिथ्यात्वेन विलोकयन् सन्। यां शक्तिं कालादीनां जगत्कारणानां विचारेण मुनयः साक्षात्कृतवन्त इत्यर्थः ।५१२।। तां च शक्तिं न

उपदेश है। अमृतत्व के साधन रूप से इतना ही जानने लायक है इसमें संदेह नहीं। ।५०६।। अरे मैत्रेयि ! अपने हृदय में विद्यमान अद्वैत आनंदरूप आत्मा से अन्य अमृत और कुछ नहीं है, इसे जानने के अतिरिक्त अमृत होने का उपाय भी और कुछ नहीं है। ।५०७।। मैत्रेयि ! इस आत्मा के विज्ञान के प्रभाव से वर्तमान शरीर छूटने के बाद तुझे फिर कभी मरना नहीं पड़ेगा। (ज्ञान से शरीर छूटने के बाद मरना नहीं पड़ता। 'ज्ञान से शरीर छूटना' अर्थात् देह का बाध हो जाना।)। ।५०८।। प्रिये ! अपने हृदय में विद्यमान, स्वप्रकाशरूप, आनंदात्मा, अद्वैत, अनन्त, अविनाशी को छोड़कर तू कभी चित्त को बाहर की ओर उन्मुख मत कर (विषयाकार मत बना, द्वैतसत्यत्व का आकार मत लेने दे) यों रहेगी तो तेरा पुनः मरण नहीं होगा। ।५०९-१०।।—यहाँ तक याज्ञवल्क्य का उपदेश है।

अपनी प्रिय मैत्रेयी को यों आत्मतत्त्व समझा कर मुनिवर याज्ञवल्क्य ने गृहस्थाश्रम छोड़कर प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण की क्योंकि गार्हस्थ्यादि के प्रति उनका वैराग्य अप्रतिबद्ध हो चुका था। ।५११।। (इससे उन्होंने दिखाया कि आत्मज्ञान की पूर्ण दृढता के लिये विद्वान् को भी संन्यास ही करना चाहिये।)

याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण उस माया को मिथ्या समझते हुए किया जो सच्चिदानंदरूप आत्मा से विलक्षण है, आत्मा की शक्ति है, सत्त्वादि गुणों से आच्छादति है, और मुनीश्वरों ने कारणों पर विचार कर जिसका दर्शन पाया था। ।५१२।। शुद्धमना मुनियों को उसके बारे में निश्चय इसी ज्ञान से हुआ था कि माया के द्वारा आत्मा ही जगत् का हेतु है। ।५१३।।

आत्मैव जगतो हेतुर्माययेत्येव दर्शनात्। यस्या विनिश्चयो जातो मुनीनां भावितात्मनाम्।।५१३।।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः। मित्रे शत्रौ स्वदेहे च साधौ पापे द्वयात्मनि।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते समो भूत्वा महामुनिः।।५१४।।

प्रवृत्तमिन्द्रियगणं नाऽमुं द्वेष्टि कदाचन। स्वव्यापारे निवृत्तं च तस्मात् काङ्क्षति नैव सः।।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा मुनीश्वरः।।५१५।।

देहेन्द्रियैर्मनोयुक्तैर्भूतानामभयप्रदः। चचार वसुधां कृत्स्नां रविचन्द्रविदेशितः।।५१६।।

मैत्रेयीवृत्तान्तम्

याज्ञवल्क्यो यथा तद्वद् मैत्रेय्यपि चचार ह। संन्यासलिङ्गरहिता भुवमात्मस्वरूपिणी।।५१७।।

द्विजोत्तमस्य लिङ्गं स्याच्चतुर्थाश्रमवासिनः। वर्णिनामपि नान्येषां कुत एतत् स्त्रियो भवेत्।।५१८।।

स्वतन्त्रत्वेन निश्चितवन्तः, किन्तु आत्मनो जगत्कारणत्वादिनिर्वाहकत्वेन तच्छेषतयेत्याह—आत्मैवेति। आत्मैव जगतः प्रधानं कारणं, माया तु तत्रोपकरणम् इत्ययमर्थो यदा दृष्टः तदैव यस्याः शक्तेः विनिश्चयः शुद्धात्मनां मुनीनां जात इत्यर्थः।।५१३।।

शीतोष्णेति। पुनः किं कृत्वा प्रवव्राज ? ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जगति समो भूत्वा। कीदृशे ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जगति? शीतोष्णादि-साधुपापान्तरूपैः द्वयात्मनि उभयरूपे, अनुकूलप्रतिकूलात्मक इति यावत्। स्वदेहे च इति चकारेण परदेहग्रहः।।५१४।। प्रवृत्तमिति। सः मुनिः इन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिवृत्त्योः उदासीनोऽभवत्। किं कृत्वा ? गुणा बाह्यान्तरकरणात्मका एव गुणेषु विषयेषु प्रवृत्ति-निवृत्तिस्वभावाः, आत्मा तु सदा निर्विकार इति भगवद्गीतोक्तं विचारं कृत्वा।।५१५।। देहेन्द्रियैरिति। एवं मनोवाग्देहैः भूतानामभयप्रदः सन् विचचार। कीदृशः ? रविचन्द्रविदेशितः रविचन्द्राभ्यां विशेषेण देशितः। भागवतैकादशोक्तविधया दत्तात्रेयवद् इतरेषां विकारित्वेऽपि निर्विकारत्वलक्षणां शिक्षां प्रापितः। रविचन्द्रवदीशतः—इति पाठे; ईशत इति भावप्रधानो निर्देशः। ईशत्वेन निर्विकारत्वलक्षणैश्वर्येणेत्यर्थः।।५१६।।

मैत्रेयीवृत्तान्तमाह—याज्ञवल्क्य इत्यादिना। संन्यासलिङ्गं दण्डादिकं, तद्रहिता। आत्मस्वरूपिणी आत्मस्वरूपानुसन्धानपरा।।५१७।। 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्। बाहुजातोरुजातानां नाऽयं धर्मो विधीयते।।' इति वाक्यानुसारेण स्त्रियो दण्डग्रहणानधिकारं कैमुत्येनाह—द्विजोत्तमस्येति। अन्येषां क्षत्रियाणां वैश्यानां च।।५१८।।

संन्यास से पूर्व महामुनि ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सारे संसार के प्रति समभाव वाले हो गये थे। संसार में अनुकूल व प्रतिकूल दोनों ढंग की चीज़ें भरी पड़ी हैं जैसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, सम्मान-अपमान, मित्र-शत्रु, अपना शरीर, सज्जन-दुर्जन आदि। सभी की ओर से वे पूर्ण तटस्थ थे।।५१४।। मुनीश्वर ने विचार कर लिया था कि बाह्य व आन्तर करण विषयों से व्यवहार करते हैं इससे आत्मा सविकार नहीं हो जाता अतः इंद्रियाँ अपने व्यापार में प्रवृत्त होती थीं तो वे उनसे द्वेष नहीं करते थे और इसीलिये इंद्रियाँ निवृत्त होती थीं तो वे उस स्थिति के प्रति साकांक्ष नहीं होते थे।('इसीलिये' अर्थात् इंद्रियों की निश्चेष्टता से आत्मा निष्कर्मा नहीं हो जाता यह जानने के कारण)।।५१५।। सभी भूतों को याज्ञवल्क्य ने देह-इंद्रिय-मन से अभयदान कर दिया था और जैसे सूर्य व चंद्र निर्विकार भाव से चलते ही रहते हैं, किसी स्थान-विशेष में आसक्त नहीं होते और बिना भेदभाव के सभी को प्रकाश देते हैं, वैसे मुनि भी संपूर्ण वसुधा पर विचरण करने लगे (और जैसा उनके आचार्य ने कहा था (श्लो.४३) ब्रह्मविद्या का उपदेश देते रहे)।।५१६।।

याज्ञवल्क्य की तरह ही आत्मस्वरूप हुई मैत्रेयी भी गृहबंधन से छूट कर विचरने लगी किन्तु संन्यास का लिंग (चिह्न) जो दण्ड उससे वह रहित थी।।५१७।। द्विजों में उत्तम ब्राह्मण ही जब चौथा आश्रम ग्रहण करता है तब लिंग-धारण करता है, अन्य वर्णियों को अर्थात् क्षत्रिय-वैश्य के लिये भी दण्डधारण का विधान नहीं है तो स्त्री को दण्ड-धारण का मौका कहाँ ।।५१८।। चौथे आश्रम वालों के ब्रह्मचर्य आदि धर्म का पालन स्त्री आदि करें वही उनके लिये

अब्राह्मणानां स्त्रीणां च न लिङ्गम्

ब्रह्मचर्यादिकं धर्मं चतुर्थाश्रमवासिनाम्। योषिदाद्याश्च कुर्वन्तु (द्या-?) आश्रमस्य विधारणम्५१९

विटादिवेषयुक्तोऽपि चरेद्धर्ममनिन्दितम्। आश्रमेऽनधिकारो य उत्तमाश्रमिणः सदा।।५२०।।

कामं त्रैवर्णिकस्त्रीणां तथा क्षत्रियवैश्ययोः। विज्ञानं वेदवाक्येन कारयेद् ब्राह्मणः स्वयम्।।५२१।।

चतुर्थमाश्रमं नैव कारयेत्तु कदाचन। लिङ्गधारणरूपं तम् अलिङ्गं धर्मतः समम्।।५२२।।

ब्राह्मणाद् इतरे तु दण्डधारणादिकम् अकृत्वाऽहिंसासत्यादिकं यतिधर्मं कुर्वीरन् तेषां साधारणधर्मत्वेनाऽपि पुराणादिषु विधानाद् इत्याशयेनाह—ब्रह्मचर्यादिकमिति। चतुर्थाश्रमवासिनां यो ब्रह्मचर्यादिरूपो धर्मः तदनुष्ठान-रूपम् उत्तमाश्रमधारणं योषित्क्षत्रियाद्याश्च कुर्वन्तु इति सम्बन्धः। ब्रह्मचर्यम् उपस्थसंयमः।।५१९।। एतदेव स्फुटयति—विटादीति। विटः खिङ्गः, 'विटोऽद्रौ लवणे खिङ्गे' इति विश्वः। य आश्रमेऽनधिकारः अधिकारहीनः स आश्रमिण आश्रमाधिकारिणः प्रति उक्तं विहितम् अहिंसादिकं धर्मं कुर्वीत। कीदृशः सन् ? शैलूषादीनां वेषेण प्रच्छन्नः चरन्नपीत्यर्थः।।५२०।।

उक्ताधिकारिणां विद्यालाभाय गुरुशिष्यव्यवस्थामाह—काममित्यादिना। ब्राह्मणो गुरुः द्विजस्त्रीणां क्षत्रियवैश्ययोः च आत्मज्ञानं स्वयम् एव उच्चारितेन वेदवाक्येन कामं यथेच्छं कारयेत् जनयेत्। एतेषां वेदवाक्यश्रवणे शूद्रवत् पर्युदासाद्यभावाद् मैत्रेयीब्राह्मणाद्यनुसारिशिष्टाचाराच्चेति भावः। परन्तु अध्ययनं स्त्रीणां नास्तीति स्वयमेव वक्ष्यतीति।।५२१।। चतुर्थमिति। स ब्राह्मण उक्ताधिकारिणां लिङ्गधारणरूपं चतुर्थमाश्रमन्तु न कारयेत्। यदि तं चतुर्थाश्रमं कारयेत्तदा अलिङ्गं दण्डादिलिङ्गरहितं ब्रह्मचर्यादिधर्मैः समवेतं कारयेत्। न वा केपि विप्रभिन्नाः तं लिङ्गधारणरूपं चतुर्थाश्रमं कुर्युः, यदि कुर्युः तदाऽलिङ्गं धर्मतः समं कुर्युः हि यतो धर्ममात्रानुष्ठाने न कोऽपि श्रुत्यादिविरोधो विद्यते। विशेषानुष्ठाने स तु विद्यते। उभयत्र उदाहरणं शूद्रः—यथा शूद्रस्य श्रौतस्मार्तयागेषु

आश्रम स्वीकारना हो जाता है। (दण्ड आदि चिह्न ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं, संन्यासी के लिये उचित उपस्थनिग्रह, शमादि, श्रवणादि में तत्पर रहना आवश्यक है। दण्ड आदि लिंग वैध है अतः जिसके लिये विहित है उसे ही फल देगा। जिसके लिये विहित नहीं उसे वह फल नहीं देगा। अनधिकारी उसका हठात् ग्रहण कर शास्त्रीय व्यवस्था में अश्रद्धा अतः ज्ञानमार्ग में भी अपना अनधिकार ही प्रदर्शित करेगा। बाह्य प्रवृत्ति छोड़ने के लिये संन्यास है, लिंगनिमित्तक प्रवृत्तियों के लिये नहीं। अतः भिक्षा आदि के लोभ से लिंग धारण करे तो भी अब्राह्मण अपनी अमुमुक्षुता ही व्यक्त करेगा। ब्राह्मण के लिये लिंगधारण धर्म है। वह भी यदि बिना वैराग्य के लिंग धारण करता है तो कैवल्य का भागी नहीं होगा, चतुर्थाश्रम के धर्म नियमतः करता रहा तो सद्गति पा जायेगा।) ।।५१९।। जो संन्यासाश्रम ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है लेकिन ऐहिक-आमुष्मिक विषयों से विरक्त ओर मुमुक्षु है उसे भी चाहिये कि आश्रम वालों के लिये विहित जो अनिंदित धर्म हैं उनका हमेशा आचरण करे, भले ही वह विटादिवेष से युक्त हो। (विट वेश्याओं के दलाल आदि को कहते हैं। उस वेष में रहकर भी अहिंसादि संन्यास धर्मों का पालन हो सकता है क्योंकि अध्यात्म धर्मों के लिये वेष का कोई महत्त्व नहीं। अतः लिंगानधिकारी धर्मपालन पर दृढ रहे, वेषधारण के लिये उत्सुक नहीं। 'अनिंदित धर्म' इसलिये कहा कि वेदपूर्वक श्रवण करना कुछ लोगों के लिये निंदित है अतः अनधिकारी वैसे धर्मों का पालन न करे जो उसके लिये निंदित हों, पुरण प्रकरण आदि के श्रवण से ज्ञान प्राप्त करे।) ।।५२०।।

ब्राह्मण को चाहिये कि त्रैवर्णिक स्त्रियों को तथा क्षत्रिय-वैश्य पुरुषों को वेदवाक्यों द्वारा आत्मविज्ञान बिना संकोच कराये (क्योंकि इन्हें वेदवाक्य सुनने का कोई निषेध नहीं है)।।५२१।। लिंगधारणरूप—दण्ड आदि धारण रूप—चौथे आश्रम में क्षत्रिय-वैश्य एवं स्त्रियों का प्रवेश कभी नहीं कराना चाहिये वरन् उन्हें वह संन्यासाश्रम ग्रहण कराना चाहिये जिसमें लिंगधारण नहीं होता किंतु संन्यासाश्रम के ब्रह्मचर्यादि धर्म वे ही होते हैं जो सलिंग आश्रम के। आश्रम

कारयेत् केऽपि कुर्युर्वा न धर्मकरणेन हि। विरोधो विद्यते यद्वद्यागे शूद्रस्य कीर्तितः।।५२३।।

अब्राह्मणानां स्त्रीणां चोपदेष्टृत्वव्यवस्था

क्षत्रियाश्च तथा वैश्याः तद्वत् त्रैवर्णिकाः स्त्रियः। विद्यावन्तोऽपि नान्येभ्यः कुर्युरात्मोपदेशनम्।
उपदेशेऽपि विप्रस्य केऽपि नैवाधिकारिणः।।५२४।।

क्षत्रियः क्षत्रियं वाऽपि वैश्यं वाऽपि द्वयोः स्त्रियः। विप्राद्यभावतः कामं शिष्यं कुर्वीत धर्मवित्५२५

वैश्यं वैश्यस्तथा वैश्यस्त्रियो वा धर्मसंयुताः। शिष्यत्वेन प्रगृह्णीयात् कामं नोत्तमवर्णगाः।।५२६।।

स्त्रियस्त्रैवर्णिकानां स्युः गुरवो नैव कर्हिचित्। अनधीता यतस्त्वेता वेदवाक्याविचक्षणाः।।५२७।।

सम्प्रदायस्य विच्छेदे कामं त्रैवर्णिकस्त्रियः। उपदेशान् प्रकुर्वन्तु समानानधमान् प्रति।।५२८।।

त्रैवर्णिकास्तु विज्ञाय सम्प्रदायं स्वयं धिया। वेदेभ्योऽप्यवगच्छन्तु वक्त्रभावे स्थिते सति।।५२९।।

'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त' (   ) इत्यादिवाक्यैः पर्युदासः, तत्तुल्यदानादिसाधारणधर्मेषु अनुमतिः, 'नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्च यज्ञान् न हापयेद्' (   ) इत्यादिवाक्यैः। इति द्वयोरर्थः।।५२२-३।।

क्षत्रियाश्चेति। विद्यावन्त इति 'पुमान् स्त्रिया' (१.२.६७) इत्येकशेषः। क्षत्रियादयो विद्यावन्तोऽपि आत्मविद्यायाम् अन्येषां गुरुत्वं न भजेरन्, ब्राह्मणं प्रति तु सुतराम् इत्युत्सर्ग इत्यर्थः।।५२४।। उक्तोत्सर्गस्य अपवादस्थलं प्रपञ्चयन् क्षत्रियादिभिरावश्यकत्वे स्वसजातीयोऽपकृष्टो वा शिष्यः कार्य इत्याह—क्षत्रिय इत्यादिना क्षत्रियः क्षत्रियवैश्ययोः, तयोः क्षत्रियवैश्ययोः सजातीयानां स्त्रीणां च गुरुः भवेद् यदि ब्राह्मणः तज्जातीया स्त्री वा गुरुत्वयोग्या न लभ्येत इत्यर्थः।।५२५।। वैश्यस्तु वैश्यं सजातीयां स्त्रियं वा कामं शिष्यतां नयेत्। उत्तमवर्णगा ब्राह्मणक्षत्रियजातीयाः स्त्रियस्तु शिष्यतां न नयेद् इत्याह—वैश्यमिति।।५२६।। स्त्रियस्तु द्विजानां गुरुत्वं न प्रतिपद्येरन्, अध्ययनहीनत्वेन तेभ्योऽपकृष्टत्वाद् इत्याह—स्त्रिय इति।।५२७।। सम्प्रदायस्येति। यदा तु सम्प्रदायप्रवर्तकः कश्चित् पुरुषो न लभ्यते तदा स्त्रियः अपि समानजातीयानाम् अपकृष्टजातीयानां च विद्योपदेशिका भवेयुरित्यर्थः।।५२८।। त्रैवर्णिका इति। त्रैवर्णिका अपि उत्तमगुरोरलाभे सति सम्प्रदायमात्रं कुतश्चिद् विज्ञाय वेदवाक्येभ्यः सम्यग्ज्ञानं स्वयम् एव सम्पादयन्तु इत्यर्थः।।५२९।।

ग्रहण कराने वाला ब्राह्मण तो यह नियम रखे ही, ग्रहण करने वालों को भी यह ध्यान रखना चाहिये कि वे लिंगधारण रूप चौथा आश्रम न ग्रहण करें। लिंगधारण वाले आश्रम के धर्मों का पालन कोई करे इसमें शास्त्र से कोई विरोध नहीं जैसे शूद्र के याग में कहा गया है। (अर्थात् शूद्र को याग करने का निषेध है लेकिन दान, प्रणाम, जप आदि की अनुमति है, ऐसे ही अब्राह्मण व स्त्रियों को लिंगधारण का निषेध है पर अहिंसादि धर्मपालन की अनुमति है।)।।५२२-३।।

क्षत्रिय, वैश्य और त्रैवर्णिक स्त्रियाँ विद्यावान् होने पर भी अन्यों को आत्मविद्या का उपदेश न दें। निम्नलिखित मर्यादा से उपदेश देने पर भी ब्राह्मण को उपदेश देने में क्षत्रिय, वैश्य और स्त्रियाँ अधिकारी नहीं हैं।५२४।। यदि गुरु बनने योग्य ब्राह्मण न मिलते हों तो धर्मज्ञ क्षत्रिय क्षत्रिय-वैश्य स्त्री-पुरुषों को भले ही शिष्य बना ले।।५२५।। वैश्य भी वैश्य पुरुषों को और धर्मयुक्त वैश्य स्त्रियों को शिष्यरूप से ग्रहण कर सकता है किन्तु अपने से उत्तम वर्ण वालों को शिष्य न बनावे।।५२६।। स्त्रियाँ त्रैवर्णिकों की गुरु कभी नहीं हो सकतीं क्योंकि वे अध्ययनशून्य होती हैं, वेदवाक्यों में प्रवीण नहीं होतीं।।५२७।। यदि सम्प्रदाय चलाने वाला पुरुष न उपलब्ध हो तो भले ही त्रैवर्णिक स्त्रियाँ अपने समान और अपने से अधम वर्ण वालों को उपदेश देवें।।५२८।। त्रैवर्णिकों को चाहिये कि ऐसी हालत में जब वेदपूर्वक उपदेष्टा न मिलता हो तब संप्रदाय तो ग्रहण कर लें किन्तु फिर स्वयं बुद्धि लगाकर वेदों से भी सम्यग् ज्ञान संपन्न करें।।५२९।।

ब्राह्मणानां स्त्रियो विप्रो गुरुरुक्तो न चापरः। अन्यस्याऽपि भवेदेष गुरुः सर्वशरीरिणः।।५३०।।

अत्राऽपि कुलविद्यादिसम्पन्नः पितृतस्तथा। मातृतश्चाऽपि सम्बुद्धः प्रशस्तो गुरुरीरितः।।५३१।।

पतिः सर्वत्र नारीणां प्रथमः प्रोच्यते गुरुः। तदभावाद् भवेदन्य उत्तमोऽपि समोऽपि वा।।५३२।

इतरेषां पुराणादेर्बोधनम्

वर्णो नैव निकृष्टः स्याद् अधमः कस्यचिद् गुरुः। कस्यांचिदपि विद्यायाम् आपद्यपि च कर्हिचित्।।५३३।।

शूद्रादयस्तदीयाया योषितो यदि धर्मतः। वर्तन्ते तत्र विज्ञेयं पुराणादेश्च वाक्यतः।। उपदेशनमत्र स्याद् वेदवाक्याद् नं कर्हिचित्।।५३४।।

अधमाद्विद्यालाभप्रकारः

यदाऽधमो गुरुर्ब्रूयात् कदाचित् सङ्कटे सति। वर्णिनो विक्रयादेव विद्यामस्मात् समाप्नुयात्।।५३५।।

ब्राह्मणजातीयायाः स्त्रियो गुरुस्तु विप्र एव, तस्य सर्वगुरुत्वाद् इत्याह-ब्राह्मणानामिति।।५३०।। अत्रापीति। अत्र विप्राणां मध्येपि ईदृशो विप्रः प्रशस्तो गुरुः उक्तो यः कुलीनः, बाल्ये मात्रा सम्बुद्धः शिक्षितः, ततः पित्रा, तत आचार्येण इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान्'[1] (   ) इति।।५३१।।

तत्रापि स्त्रियाः पतिरेव मुख्यो गुरुः, तस्य विद्यागुरुत्वाऽसम्भवे त्वन्योऽपि उत्तमजातीयः समजातीयो वा गुरुः कार्य इत्याह-पतिरिति।।५३२।।

वर्णो नैवेति। निकृष्टोऽधमो विप्रापेक्षयाऽधमानां क्षत्रियादीनां मध्ये निकृष्टो वर्णः शूद्रस्तु कदाचिद् आपद्यपि कस्यामपि विद्यायां गुरुर्न स्याद् इत्यर्थः। एतेन आपदि क्षत्रियादेर्गुरुत्वमनुमतम् इति।।५३३।। शूद्रादय इति। आदिपदेन सङ्करजातयः। तदीयाः शूद्रजातीयाः। एतेषाम् आत्मजिज्ञासायां सत्यां पुराणकाव्यादिवाक्यश्रवणेन ज्ञानं सम्पाद्यम्। अत्र शूद्रादिषु वेदवाक्येन उपदेशनं तु कदाचिद् न कर्तव्यमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः 'पद्यु वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्मात्तत्समीपे नाध्येतव्यम्' (   ) इति। पद्यु पादयुक्तम्।।५३४।।

यदाऽधम इति। यदाऽधमोऽधमजातीयो गुरुत्वेन ब्रूयाद् विद्योपदेष्टा स्यात् तदोत्तमजातीयो विद्याकामः तस्माद् अधमजातीयगुरोः सकाशाद् विद्यां विक्रयादेव धनादिविनिमयैनैव प्राप्नुयात्। सङ्कटे—उत्तमजातीय-गुरुलाभाऽसम्भवरूपापदीत्यर्थः।।५३५।। निःस्पृह इति। यदि तु सोऽधमजातीयगुरुः तत्र धने निःस्पृहः स्यात् तदा

ब्राह्मणों की स्त्रियों का गुरु विप्र ही कहा गया है, और कोई नहीं। अन्य भी शरीरधारियों का यह गुरु होता है।।५३०।। ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ गुरु वह कहा गया है जो कुलीन हो, विद्या सदाचार आदि से संपन्न हो, पिता माता और आचार्य से शिक्षित हो।।५३१।। नारियों के लिये मुख्य गुरु पति कहा गया है। यदि वह योग्य न हो, या उपलब्ध न हो, तो उत्तम या समान वर्ण वाला योग्य विद्वान् उनका गुरु हो सकता है।।५३२।।

क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र अधम वर्ण हैं, इनमें शूद्र निकृष्ट है, वह किसी भी विद्या में, कभी भी, आपत्तिकाल में भी किसी का गुरु न बने।।५३३।। शूद्र आदि और उनकी स्त्रियाँ यदि धर्मपूर्वक रहते हों तो उन्हें आत्मा के बारे में पुराण आदि के वाक्यों से विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। शूद्र आदि को वेदवाक्य से कभी उपदेश नहीं देना चाहिये।।५३४।।

उत्तम जातीय गुरु मिलना असंभव हो या ऐसी ही कोई अन्य संकट की परिस्थिति हो और कभी अधम जातीय गुरु उपदेश देवे तो उस वर्णी से (क्षत्रिय-वैश्य से) विक्रय से ही विद्या लेनी चाहिये (अर्थात् धन आदि मूल्य के विनिमय

१. द्र. बृ. ४.१.२. , छां. ६.१४.२।

निःस्पृहो यदि तत्रापि तदाऽन्यविद्ययाऽऽप्नुयात्। विद्यागुरुश्च नो तस्माद् अधिकं कारयेत् क्वचित् ।।५३६।।

अश्वपत्यादिकान् दृष्ट्वा गुरूनधमवर्णिनः। प्राचीनशालप्रभृतीन् शिष्यानुत्तमवर्णिनः।। इदमुक्तं न तच्छस्तं कदाचित् सति सम्भवे ।।५३७।।

मैत्रेयी सकलं त्वेतद् वेद यस्मात्ततोऽत्र सा। पत्युः सम्प्राप्तविज्ञाना ब्रह्मचर्यादिसंयुता। चतुर्थाश्रमलिङ्गेन शून्या भूमिं चचार सा ।।५३८।।

याज्ञवल्क्यस्य मैत्रेय्या वैषम्यं लिङ्गधारणम्। अभून्नैवापरं किञ्चिच्चतुर्थाश्रमधर्मतः।।५३९।।

उपसंहारः

इत्युक्तं याज्ञवल्क्येन ब्रह्मज्ञानं मयेरितम्। मैत्रेय्याः किं पुनर्भूयः श्रोतुमिच्छसि सुव्रत।।५४०।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे बृहदारण्यकयाज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादो नाम सप्तमोऽध्यायः।।

काञ्चिद् विद्यां दत्वा ततो विद्यामाप्नुयात्। स च गुरुः तस्मात्—ल्यब्लोपे पञ्चमी—तमुत्तमजातीयं शिष्यं प्राप्य अधिकं पादसंवाहनादिकं न कारयेदित्यर्थः। तदुक्तं मनुना 'अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः।।'(२.२४१) इति। अत्र मनुवाक्ये चकारः पादसंवाहनादिरूपसेवाव्यावृत्त्यर्थ इति तद्व्याख्यातारः। श्रुतिश्च 'तान् हानुपनीय' (छां. ५.११.७) इति। तान् उद्दालकादीन् अनुपनीय पादग्रहणमकारयित्वा एव राजाश्वपतिः तेभ्यो विद्यां ददाविति तदर्थः।।५३६।।

अश्वपत्यादिकानिति। अश्वपत्यादिकान् उत्तमजातीयोद्दालकादिमुनीनां गुरून् दृष्ट्वा श्रुतिप्रसिद्धान् विज्ञाय मन्वादिभिः इदम् अपकृष्टगुरोः सकाशाद् विद्याग्रहणम् उक्तम्, परन्तु तत् सम्भव उत्तमगुरुलाभयोग्यत्वे सति न शस्तं न कर्तव्यमित्यर्थः।।५३७।।

एतां सकलमर्यादां जानाना मैत्रेयी दण्डादिरहिता सती प्रच्छन्नवेषेण विचचारेत्याह—मैत्रेयीति।।५३८।। याज्ञवल्क्यस्येति। तदा याज्ञवल्क्यस्य दण्डादिधारणमात्ररूपो विशेषो मैत्रेयीसकाशाद् अभूत्। समदृष्टित्वादि-धर्मास्तु समा एवाऽभवन्नित्यर्थः।।५३९।।

उपसंहरति—इत्युक्तमिति ।।५४०।।

से ही उपदेश ग्रहण करना चाहिये)।।५३५।। यदि वह उपदेष्टा धनादि न लेना चाहे तो अन्य विद्या के विनिमय से आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये(अर्थात् आत्मविद्या के बदले में उसे कोई और विद्या जो अपन पास हो वह प्रदान करनी चाहिऐ।) ऐसे विद्यागुरु को भी चाहिये कि उत्तमजातीय शिष्य से अधिक सेवा न कराये।।५३६।। अश्वपति आदि अधम वर्ण वाले गुरु और प्राचीनशाल आदि उत्तम वर्ण वाले शिष्यों का वर्णन श्रुतियों में देखकर यह कहा कि अधमवर्ण वाले से विद्या ली जा सकती है किन्तु अन्य उपाय रहते वैसा करना कभी अच्छा नहीं होता।।५३७।।

हितार्थं यजमानस्य यस्य सप्ताऽपि मूर्तयः। तत्र मानमयं पूर्णः सप्तम्यां सप्तमोऽजनि।।१।।

यस्य अष्टमूर्तेः यजमानाख्यमूर्त्त्युपकारार्थं सप्त शिष्टाः पञ्चभूतरविचन्द्रात्मिका मूर्तयः सदा उद्यताः तत्र अस्य प्रमोः स्वरूपे मानभूतोऽयं सप्तमोऽध्यायः सप्तम्यां तिथौ पूर्णो जात इत्यर्थः।

इति श्रीदत्तकुलतिलक-कृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां ***सप्तमोऽध्यायः।।७।।***

मैत्रेयी यह सब समझती थी इसलिये उसने अपने पति से ही विज्ञान प्राप्त किया और चौथे आश्रम के लिंग से रहित ही वह ब्रह्मचर्य आदि धर्मों का पालन करते हुए पृथ्वी पर विचरण करती रही।।५३८।। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी में लिंगधारण का ही अंतर था। चौथे आश्रम के धर्म की दृष्टि से उनमें कोई अंतर नहीं था।।५३९।।

आत्मपुराण सुनाने वाले श्रीगुरु अध्याय समाप्त करते हुए कहते हैं– हे सुव्रत ! याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया वह मैंने तुम्हें सुना दिया। आगे क्या सुनना चाहते हो ?।।५४०।।

।।इति सातवाँ अध्याय।।

मधुमुन्याख्यसद्विद्ये आचार्यकृपया श्रुते। आत्मावरणनाशाय भूयास्तां शम्भ्वनुग्रहात्।।

33 દલીલો

પંના- 691 – 696